॥ श्रीहरिः ॥ 465

साधन-सुधा-सिन्धु

परम श्रद्धेय स्वामीजी महाराजके पूर्वप्रकाशित महत्त्वपूर्ण प्रवचनों एवं लेखोंका अनूठा संग्रह

एक साधकोपयोगी दुर्लभ ग्रन्थ

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरि: ॥

नम्र निवेदन

प्रस्तुत ग्रन्थमें परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजके उन लेखों एवं प्रवचनोंका अनूठा संग्रह है, जो अबतक अनेक पुस्तकोंके रूपमें अथवा स्वतन्त्र रूपमें प्रकाशित होते रहे हैं। भगवत्प्रेमी साधकोंके लिये यह संग्रह बहुत उपयोगी है और शीघ्र एवं सुगमतापूर्वक परमात्मतत्त्वका अनुभव करानेमें बहुत सहायक है।

वर्तमान समयमें साधन और साध्यका तत्त्व सरलतापूर्वक बतानेवाले ग्रन्थोंका अभाव-सा दीखता है। इससे साधकोंको सही मार्ग-दर्शनके बिना बहुत कठिनाई होती है। ऐसी स्थितिमें परमात्मप्राप्तिके अनेक सुगम उपायोंसे युक्त तथा बहुत ही सरल एवं सुबोध भाषा-शैलीमें लिखित प्रस्तुत ग्रन्थका प्रकाशन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रत्येक देश, वेश, भाषा, मत, सम्प्रदाय आदिके साधकके लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। प्रत्येक साधकको इस ग्रन्थमें अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये पूरी सामग्री मिलेगी।

इस ग्रन्थमें वि० सं० २०१० से लेकर अबतक (वि० सं० २०५३ तक) अलग-अलग समयपर लिखित एवं प्रकाशित लेखोंका संग्रह किया गया है। अतः प्रत्येक शीर्षकके अन्तर्गत दिये गये लेखोंका क्रम भी समयके अनुसार रखा गया है। पाठकोंसे प्रार्थना है कि यदि उनको कहीं परस्पर विरोध दीखे तो पहलेके लेखोंकी अपेक्षा आगेके लेखको ही महत्त्व दें।

यद्यपि इस ग्रन्थमें पुनरावृत्ति भी हुई है, तथापि समझानेकी दृष्टिसे इस प्रकारकी पुनरावृत्ति होना दोष नहीं है, प्रत्युत उपयोगी है। उपनिषद्में भी 'तत्त्वमसि'—इस उपदेशकी नौ बार पुनरावृत्ति हुई है। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें आया है—'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (४। १। १)।

शुक्लयजुर्वेदसंहिताके उव्वटभाष्यमें आया है—'संस्कारोज्ज्वलनार्थं हितं च पथ्यं च पुनः पुनरुपदिश्यमानं न दोषाय भवतीति' (१। २१) अर्थात् संस्कारोंको उद्बुद्ध करनेके उद्देश्यसे हित तथा पथ्यकी बातका बार-बार उपदेश करनेमें कोई दोष नहीं है।

परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजने इस ग्रन्थमें जो बातें लिखी हैं, वे केवल सीखने-सिखानेके लिये (बुद्धिका विषय) नहीं हैं, प्रत्युत अनुभव करनेके लिये हैं। परमशान्तिकी प्राप्तिके इच्छुक सभी पाठकोंसे नम्र निवेदन है कि वे इस ग्रन्थको मनोयोगपूर्वक पढ़ें, समझें और लाभ उठायें।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरि: ॥

विषय-सूची

ज्ञानयोग (आध्यात्मिक साधना)

कर्मयोग (भौतिक साधना)

भक्तियोग (आस्तिक साधना)

सर्वोपयोगी

समाज-सुधार

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या

ज्ञानयोग (आध्यात्मिक साधना)

॥ श्रीहरिः ॥

साधन-सुधा-सिन्धु

ज्ञानयोग (आध्यात्मिक साधना)

गीताका ज्ञेय-तत्त्व

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार ज्ञेयका अर्थ परब्रह्म परमात्मा है। विचार करनेपर प्रतीत होता है कि ज्ञेय उसे कहते हैं जो जाना जा सके, जानने योग्य हो अथवा जिसे जानना आवश्यक हो। इन तीनोंमें प्रथम जाना जा सकनेवाला ज्ञेय है संसार; क्योंकि यह नश्वर जगत् ही इन्द्रियोंके द्वारा या अन्तःकरणके द्वारा जाना जाता है तथा जिन साधनोंसे हम संसारको जानते हैं, वे साधन भी वास्तवमें इस ज्ञेय संसारके ही अन्तर्गत हैं। इस संसारका जानना भी उपयोगी है, पर वह जानना है उसके त्यागके लिये। अर्थात् यह संसार ज्ञेय होते हुए भी त्याज्य है। वस्तुतः ज्ञेय एकमात्र परमात्मा ही हैं। इसे गीताने स्पष्ट कहा है—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। (१५।१५)

वेद्यं पवित्रम्— (९।१७)

तेरहवें अध्यायमें श्रीभगवान्ने ज्ञानके बीस साधनोंका नाम 'ज्ञान' बताकर उन साधनोंसे जिसका ज्ञान होता है, वह ज्ञेय-तत्त्व परमात्मा है—यह बात स्पष्ट कही है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

(गीता १३।१२)

इस श्लोकके पहले चरणमें वे ज्ञेय-तत्त्वको बतलानेकी प्रतिज्ञा करते हैं, दूसरे चरणमें उसके जाननेका फल अमृतकी प्राप्ति बतलाते हैं, तीसरे चरणमें उसका नाम लक्षणके साथ बतलाते हैं और चौथे चरणमें उस ज्ञेय-तत्त्वकी अलौकिकताका कथन करते हैं कि वह न सत् कहा जा सकता है न असत्! इस प्रकार इस श्लोकके द्वारा परमात्माके निर्गुण-निराकार रूपका वर्णन करते हैं। अगले श्लोकमें परमात्माके सगुण-निराकार रूपका वर्णन करते हैं—

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(गीता १३।१३)

'सब जगह उनके हाथ-पैर हैं, सब जगह उनकी आँखें, सिर और मुँह हैं और सब जगह वे कानवाले हैं तथा सबको घेरकर वे स्थित हैं।' जैसे सोनेके ढेलेमें सब जगह सब गहने हैं, जैसे रंगमें सब चित्र होते हैं, जैसे स्याहीमें सब लिपियाँ होती हैं, जैसे बिजलीके एक होनेपर भी उससे होनेवाले विभिन्न कार्य यन्त्रोंकी विभिन्नतासे विभिन्न रूप धारण करते हैं— एक ही बिजली बर्फ जमाती है, अँगीठी जलाती है, लिफ्टको चढ़ाती-उतारती है, ट्राम तथा रेलको चलाती है, शब्दको प्रसारित करती तथा रेकार्डमें भर देती है, पंखा चलाती है तथा प्रकाश करती है—इस प्रकार उससे अनेकों परस्पर विरुद्ध और विचित्र कार्य होते देखे जाते हैं। इसी प्रकार संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि अनेक परस्पर विरुद्ध और विचित्र कर्म एक ही परमात्मासे होते हैं; पर वे परमेश्वर एक ही हैं—इस तत्त्वको न समझनेके कारण ही लोग कहते हैं कि जब परमात्मा एक है, तब संसारमें कोई सुखी और कोई दुःखी क्यों है? उन्हें पता नहीं कि जो ब्रह्म निर्गुण, निराकार तथा मन-वाणी और बुद्धिका अविषय है, वही सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाला सगुण-निराकार परमेश्वर है। इनकी एकताका प्रतिपादन करते हुए ही गीता कहती है—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

(१३।१४)

'सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित होते हुए भी वे सम्पूर्ण इन्द्रियोंका कार्य करते हैं और आसक्तिरहित होते हुए भी सबका धारण-पोषण करते हैं। सर्वथा निर्गुण होते हुए भी सम्पूर्ण गुणोंके भोक्ता हैं।'

तथा—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

(गीता १३।१५)

वे सब प्राणियोंके बाहर-भीतर हैं और चर-अचर प्राणिमात्र भी वे ही हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे वे अविज्ञेय हैं; क्योंकि वे **'अणोरणीयान्'**—अणुसे भी अणु हैं। जाननेमें

आनेवाले जड पदार्थोंकी अपेक्षा उनका ज्ञान सूक्ष्म है और ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञाता अत्यधिक सूक्ष्म है। फिर वह जाननेमें कैसे आ सकता है ? श्रुति भी कहती है—

'विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ?'

उसीकी चित्-शक्तिसे बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंको जाननेमें समर्थ होती हैं। वह ज्ञेय-तत्त्व दूर-से-दूर और समीप-से-समीप है। देशकी दृष्टिसे देखनेपर पृथ्वीसे समीप शरीर, शरीरसे समीप प्राण, प्राणसे समीप इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे समीप मन, मनसे समीप बुद्धि, बुद्धिसे समीप जीवात्मा तथा उसका भी प्रेरक और प्रकाशक सर्वव्यापी परमात्मा है और दूर देखनेपर शरीरसे दूर पृथ्वी, पृथ्वीसे दूर जल, जलसे दूर तेज, तेजसे दूर वायु, वायुसे दूर आकाश, आकाशसे दूर समष्टि मन, मनसे दूर महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे दूर परमात्माकी प्रकृति तथा प्रकृतिसे अति दूर स्वयं परमात्मा है। अतः देशकी दृष्टिसे परमात्मा दूर-से-दूर है। इसी प्रकार कालकी दृष्टिसे परमात्मा दूर-से-दूर तथा समीप-से-समीप है। वर्तमान कालमें तो वह परमात्मा है; क्योंकि जड वस्तुमात्र प्रत्येक क्षण नाशको प्राप्त हो रही है; अतएव उनकी तो सत्ता है ही नहीं। यदि सत्ता मानें भी तो उससे भी समीप वह सत्य-तत्त्व है और भूतकालकी ओर देखें तो दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, चतुर्युग, कल्प, परार्ध, ब्रह्माकी आयु तथा उससे भी पूर्व—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।'

वे सजातीय, विजातीय तथा स्वगत-भेदसे शून्य सत्स्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही थे तथा भविष्यमें भी उसी प्रकार क्षण, पल, दण्ड, घड़ी, प्रहर, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, चतुर्युग, कल्प, परार्ध तथा ब्रह्माकी आयुके बाद भी वे ही परमात्मा रहेंगे—**'शिष्यते शेषसंज्ञः।'** अतएव दूर-से-दूर भी वही तत्त्व विद्यमान है।

जिस ज्ञानके अन्तर्गत देश-काल-वस्तुकी प्रतीति होती है, वह चित्स्वरूप ज्ञान ही है तथा उसके अन्तर्गत आनेवाले देश-काल-वस्तुमात्र क्षणभर भी स्थिर न रहकर केवल परिवर्तनशील प्रतीत होते हैं। परिवर्तनशीलतामें वस्तु न होकर केवल क्रिया है और वह क्रिया भी केवल प्रतीत होती है, वस्तुतः वहाँ क्रिया भी न टिककर केवल ज्ञानमात्र ही है। वह ज्ञान चिन्मात्र है, ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। वही अवश्य जाननेयोग्य वस्तु है—

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

उसके जान लेनेके बाद ज्ञात-ज्ञातव्य, प्राप्त-प्राप्तव्य होकर कृतकृत्यता हो जाती है, अर्थात् न कुछ जानना बाकी रह जाता है और न पाना बाकी रहता है, न करना ही बाकी रहता है। वह ज्ञेय-तत्त्व—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥

(गीता १३। १६)

—अनेक आकारोंके विभक्त प्राणियोंमें अविभक्त है अर्थात् विभागरहित एक ही तत्त्व विभक्तकी तरह प्रतीत होता है। अनेक व्यक्तियोंमें सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करनेवाला एक ही तत्त्व विद्यमान है। वही जगत्की उत्पत्ति करनेवाला होनेके कारण ब्रह्मा कहलाता है, पालन करनेवाला होनेके कारण विष्णु कहलाता है और संहार करनेवाला होनेके कारण महादेवरूपसे विराजमान है।

'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः'—वह ज्योतियोंका भी ज्योतिःस्वरूप है। अर्थात् जैसे घट-पट आदि भौतिक पदार्थोंका प्रकाशक सूर्य है तथा वह सूर्य घट-पट आदिके भाव और अभाव दोनोंको प्रकाशित करता है, जैसे सूर्यके प्रकाश-अप्रकाशको निर्विकाररूपसे नेत्र प्रकाशित करता है, नेत्रके देखनेकी क्रिया तथा नेत्रकी ठीक-बेठीक अवस्थाको एकरूप रहता हुआ मन प्रकाशित करता है, मनकी शुद्धाशुद्ध अनेक विकारयुक्त क्रियाको बुद्धि निर्विकाररूपसे प्रकाशित करती है तथा बुद्धिके भी ठीक-बेठीक कार्यको आत्मा प्रकाशित करता है, उसी प्रकार समष्टि-सृष्टि, उसकी नाना क्रियाओं तथा अक्रिय अवस्थाओंको शुद्ध चेतनरूप परमात्मा प्रकाशित करता है। अतः वह ज्योतियोंका भी ज्योति है तथा अज्ञान-रूप अन्धकारसे अत्यन्त भिन्न है। वह केवल ज्ञानरूप है, वही जाननेयोग्य है तथा गीतामें अ० १३, श्लो० ७ से ११ तक बतलाये हुए अमानित्व, अदम्भित्व आदि बीस साधनोंसे प्राप्त किया जा सकता है। वह सबके हृदयमें सदा-सर्वदा विद्यमान रहता है। भगवान्ने स्पष्ट कहा है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः। (गीता १५। १५)

तथा—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

(गीता १८। ६१)

वही सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान, सर्वरूप परमात्मा है, वही सर्वथा जाननेयोग्य है। वही परब्रह्म परमात्मा, जहाँ जगत् तथा जगदाकाररूपमें परिणत होनेवाली प्रकृतिका अत्यन्त अभाव है, वहाँ 'निर्गुण-निराकार' कहलाता है। उसी परमात्माको जब प्रकृतिसहित जगत्के कारणरूपमें देखते हैं, तब वह सगुण निराकाररूपसे समझमें आता है तथा जब उसे हम सम्पूर्ण संसारके स्रष्टा, पालक और संहारकके रूपमें

देखते हैं, तब वही ब्रह्मा, विष्णु और महादेव—इन त्रिदेवोंके रूपमें ज्ञात होता है। वही परमात्मा जब धर्मका नाश और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंके विनाश और धर्मकी स्थापनाके लिये राम-कृष्ण आदि विविध रूपोंमें अवतार लेते हैं तथा संत-मतके अनुसार वे ही परमात्मा ज्योतिरूपमें साधकोंके अनुभवमें आते हैं। उनका वर्णन संतोंने पतिरूपमें तथा अमरलोकके अधिपतिके रूपमें किया है तथा यह भी बतलाया है कि 'वे ही हंसरूप संतोंको अमरलोकसे संसारमें भक्तिका प्रचार तथा संसारका उद्धार करनेके लिये भेजते हैं।' वे ही दिव्यवैकुण्ठाधिपति, दिव्य-गोलोकाधिपति, दिव्यसाकेताधिपति, दिव्यकैलासाधिपति, दिव्यधामके अधिपति, सत्यलोकके अधिपति आदि विभिन्न नामोंसे पुकारे जाते हैं तथा इनकी प्राप्तिका ही परमात्माकी प्राप्ति, मोक्षकी प्राप्ति, परमस्थानकी प्राप्ति, परमधामकी प्राप्ति, आद्यस्थानकी प्राप्ति, परम शान्तिकी प्राप्ति, अनामय पदकी प्राप्ति, निर्वाण—परम शान्तिकी प्राप्ति आदि-आदि अनेक नामोंसे गीतामें तथा अन्यान्य ग्रन्थोंमें निरूपण किया गया है। वही सर्वोपरि परमतत्त्व श्रीगीताजीका ज्ञेय-तत्त्व है, जिसकी प्राप्तिके स्वरूपका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २२)

—जिस स्थितिकी प्राप्तिके बाद वह कभी विचलित नहीं होता। मनुष्यके विचलित होनेके दो कारण होते हैं—एक तो जब वह प्राप्त वस्तुसे अधिक पानेकी आशा करता है; दूसरे, जहाँ वह रहता है, वहाँ यदि कष्ट आ पड़ता है तो वह विचलित होता है। इन दोनों कारणोंका निराकरण करते हुए भगवान् कहते हैं कि उस ज्ञेय-तत्त्वकी प्राप्तिसे बढ़कर कोई लाभ नहीं है। उसकी दृष्टिमें भी उससे बढ़कर कोई अधिक लाभ नहीं दीखता; क्योंकि उससे बढ़कर कोई तत्त्व है ही नहीं तथा तत्त्वज्ञ महापुरुषमें सुखका भोक्तापन रहता नहीं। अतएव व्यक्तित्वके अभावमें भारी-से-भारी दुःख आ पड़नेपर भी विचलित कौन हो और कैसे हो? वह महापुरुष तो सदा निर्विकार-रूपमें स्थित रहता है। वह गुणातीत हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

(गीता १४। २२—२५)

अर्थात् हे अर्जुन! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको, रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको भी न तो प्रवृत्त होनेपर बुरा मानता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा करता है; जो मनुष्य उदासीन (साक्षी) के समान स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता तथा 'गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं'—यों समझकर जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है एवं उस स्थितिसे चलायमान नहीं होता; जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ सुख-दुःखको समान समझता है तथा मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाव रखता है, धैर्यवान् है, प्रिय और अप्रियको समान देखता है तथा अपनी निन्दा और स्तुतिमें भी समान भाववाला है; जो मान और अपमानको समान समझता है, मित्र और शत्रुके पक्षमें समभाव रखता है, वह सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित पुरुष गुणातीत कहलाता है।

गीताके ज्ञेय-तत्त्वकी अनुभूतिका यही फल है।

प्राप्त और प्रतीति

दो वस्तुएँ हैं—प्राप्त और प्रतीति। इन दोनोंमें फरक है। प्राप्त 'परामात्मा' और प्रतीति 'संसार' है। जो प्राप्त है, वह तो दीखता नहीं और जो प्रतीत हो रहा है, वह रहता नहीं।

'मैं हूँ'—यह जो अपनी सत्ता है, अपना होनापन है, यह प्राप्त है। कारण कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि और मूर्च्छा—इन अवस्थाओंमें अपने सत्ताका कभी भी अभाव नहीं होता। परंतु यह सत्ता दीखती नहीं। जो शरीर और संसार दिखायी दे रहे हैं, उनकी केवल प्रतीति हो रही है, वास्तवमें उनकी सत्ता नहीं है।

जो प्राप्त है, उसका कभी नाश नहीं होता। वह सबको सदा ही प्राप्त है। परंतु उसकी प्रतीति नहीं होती अर्थात् उसका ज्ञान 'इदंता' से नहीं होता। जैसे आँखसे संसार दीखता है, पर आँखको किससे देखें? ऐसे ही जो सबको जाननेवाला है, सबका आधार है, सबका प्रकाशक है, उसको किससे देखें? **'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** (बृहदारण्यक० २।४।१४)।

परन्तु जैसे जिससे यह संसार दिखायी देता है, वही आँख है, ऐसे ही जिसकी सत्तासे यह संसार प्रतीत हो रहा है, जिसके आधारपर संसार टिका हुआ है, जिसके प्रकाशसे संसार प्रकाशित हो रहा है, वही प्राप्त (परमात्मतत्त्व) है।

जो प्रतीत होता है, वह संसार कभी एकरस रहता ही नहीं। वह प्रतिक्षण बदल रहा है। यह कोई अपरिचित बात नहीं है, सीधी-सादी सबके प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। यदि संसार रहनेवाला होता तो फिर वह बदलता कैसे? परन्तु इस बातको जानते हुए भी हम इसे मानते नहीं, प्रत्युत संसारको 'है' मान लेते हैं। जिस 'है' से यह संसार प्रकाशित हो रहा है, जिस 'है' के आधारपर यह दीख रहा है, उसको प्राप्त करनेमें बड़ी कठिनता मान ली। बड़े आश्चर्यकी बात है कि जो नित्यप्राप्त है, उसको अप्राप्त मान लिया और जो प्रतिक्षण बदल रहा है, उसको प्राप्त मान लिया।

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥ (मानस १। ११७। ४)—परमात्माकी सत्तासे ही यह जड माया (संसार) मूढ़ताके कारण सत्यकी तरह दीखती है। मूढ़ताके कारण यह सत्य भले ही दीखे, पर वास्तवमें सत्य है नहीं। इस संसारको देखनेवाली इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और दीखनेवाला संसार—ये दोनों एक ही जातिके हैं। शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिका प्रकाशक जीवात्मा और संसारमात्रका प्रकाशक परमात्मा—ये दोनों भी एक ही जातिके हैं। जीवात्मा और परमात्मा नित्यप्राप्त हैं; क्योंकि ये नित्य रहते हैं तथा शरीर और संसार नित्य ही अप्राप्त हैं; क्योंकि ये प्रतिक्षण बदलते हैं। जो प्रतिक्षण बदल रहा है, बह रहा है, वह टिकेगा कैसे? टिक सकता ही नहीं, प्रत्यक्ष बात है। आपका जो बचपन था, वह कहाँ गया? पहले जो परिस्थिति थी, वह कहाँ गयी? यह सब-का-सब 'नहीं'में ही भरती हो रहा है। परंतु जो 'नहीं'में भरती होनेवालेको जानता है, वह 'नहीं'में भरती कैसे होगा? वह तो है ही। यदि वह नहीं हो तो फिर 'नहीं'को जानेगा कौन? जो 'नहीं'को जाननेवाला है, उसकी प्राप्तिके लिये क्या करें? कुछ नहीं करें। कुछ नहीं करनेका अर्थ आलस्य, अकर्मण्यता, प्रमाद नहीं है। कुछ नहीं करनेका अर्थ है—जो 'है' है, उसमें स्थित हो जाय। गीताने कहा है—**'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।'** (६। २५)। तात्पर्य है कि जो आत्मा सर्वत्र गया हुआ है (**'अतति सर्वत्र गच्छति इति आत्मा'**) अर्थात् जो सर्वत्र परिपूर्ण है, उसमें स्थित हो करके कुछ भी चिन्तन न करे। कारण कि परमात्माका चिन्तन करोगे तो अपनी स्थितिसे नीचे आ जाओगे। परमात्माको अपनेसे अलग माननेपर ही चिन्तन होगा, क्योंकि चिन्तनमें जिसका चिन्तन किया जाय, वह और चिन्तन करनेवाला—दोनों अलग-अलग होते हैं। इसलिये 'है' में स्थित होकर चुप हो जायँ—यह युक्ति बहुत बढ़िया है। चुप होनेसे 'है' में अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जायगा। इस स्वतःसिद्ध स्थितिको गीताने **'स्वस्थः'** (१४। २४) पदसे कहा है। वास्तवमें सभी मनुष्य 'स्व' में ही स्थित रहते हैं, पर भूलसे अपनी स्थिति 'पर'-(शरीर-) में मान लेते हैं।

गीताने कहा है—**'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'** (१३। २०) अर्थात् पुरुष सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु बनता है। कौन-सा पुरुष सुख-दुःखोंका भोक्ता बनता है? **पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्'** (१३। २१) अर्थात् प्रकृतिस्थ पुरुष ही प्रकृतिजन्य गुणोंका, सुख-दुःखोंका भोक्ता बनता है। वह सुख-दुःखमें सम कब होता है? 'स्व' में स्थित होनेपर। 'स्व' में स्थित होनेमें भी क्या कोई मेहनत करनी पड़ती है? 'स्व'में स्थित तो हैं ही। इसलिये कोई भी चिन्तन न करें। इस अवस्थामें जितना ठहर सको, उतना ठहर जाओ। कोई स्फुरणा पैदा हो तो उसको सत्ता न दो; वह अपने-आप नष्ट हो जायगी। पैदा होनेवाली चीज नष्ट होनेवाली होती है। पैदा होनेके बाद खास काम नष्ट होना ही है। अतः नष्ट होनेवाली चीजका क्या खयाल करें? आ गयी तो आ गयी, चली गयी तो चली गयी। लहर उठ गयी, फिर शान्त हो गयी। इसमें राजी और नाराज क्या हों? आयी हुई चीज जाती हुई दीख जाय तो क्या अपराध हो गया? उसको अच्छी और मन्दी समझना ही फँसना है। वह आयी है तो उसको जाने दो। उसकी उपेक्षा करो, उससे उदासीन रहो।

लोग मनको रोकनेके लिये बहुत मेहनत करते हैं, पर मन रुकता नहीं। मनको रोकना नहीं है। मनको न तो रोकना है और न चलाना है। मन जैसा है, वैसा ही छोड़ दो; उसकी उपेक्षा कर दो, उदासीन हो जाओ। फिर संकल्प-विकल्प आप-से-आप मिट जायँगे। वे तो आप-से-आप ही मिट रहे हैं। जान-बूझकर उनको मिटानेकी आफत क्यों मोल लेते हो? उनको मिटानेकी चेष्टा करना ही उनको सत्ता देना है।

भगवान्‌ने अपनी तरफसे कहीं ऐसा नहीं कहा कि मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास करना चाहिये, प्रत्युत **'शनैः शनैरुपरमेत्'** (६। २५) पदोंसे उपराम होनेके लिये कहा है। मनको पकड़नेके विषयमें अर्जुनके पूछनेपर ही भगवान्‌ने उनको बताया कि अभ्यास और वैराग्यसे यह मन पकड़ा जाता है (६। ३३—३५)। अर्जुनने दो श्लोकोंमें प्रश्न किया और

भगवान्‌ने दो श्लोकोंमें ही उत्तर दे दिया। इतना थोड़ा भगवान् किसी प्रश्नके उत्तरमें बोले ही नहीं। दो श्लोकोंमें भी भगवान्‌ने केवल आधे श्लोकमें ही उत्तर दिया और आधे श्लोकमें अर्जुनकी बातका समर्थन किया। फिर भगवान्‌ने बताया कि मनको पकड़नेमात्रसे मुक्ति नहीं होती, मनको वशमें करना चाहिये—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(६। ३६)

'जिसका मन वशमें नहीं है, उच्छृङ्खल है अर्थात् सांसारिक भोगोंमें जिसकी रुचि है, उसके द्वारा योग प्राप्त करना कठिन है। परंतु जिसका मन वशमें है, ऐसे यत्न करनेवाले साधकको योग प्राप्त हो सकता है।' मनको वशमें करनेका अर्थ यह नहीं है कि मनको मैं पकड़ लूँ, एकाग्र कर लूँ। मनके वशमें न होना ही मनको वशमें करना है। इसी तरह भगवान्‌ने इन्द्रियोंके तथा राग-द्वेषके वशमें न होनेकी बात कही है—'**रागद्वेषवियुक्तैस्तु·····प्रसादमधिगच्छति॥**' (२। ६४); '**इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे·········परिपन्थिनौ॥**' (३। ३४)। वशमें न होनेका अर्थ है कि उसके कहनेके अनुसार काम न करे और उसकी दशा देखकर चिन्तित न हो। वह ज्यों बहता है, त्यों बहता रहे। स्वयं उससे अलग रहे, तटस्थ रहे। वास्तवमें आप उससे तटस्थ ही हो। आप उसके साथ रहते नहीं हो। वह तो बदलता है, पर आप नहीं बदलते हो। आप बिलकुल उससे अलग हो। इस तरह उसको अपनेसे अलग जानना है।

मनके चंचल होनेसे आपका क्या बिगड़ गया? आप तो ज्यों-के-त्यों हो और वह बह रहा है। यह भी एक तमाशा है। मनको ठीक करनेमें कई वर्ष लग जाते हैं, पर ठीक होता नहीं। ठीक कैसे हो? वह ठीक होनेवाला है ही नहीं। आप तो उलटे उसको बल देते हो, उसको चंचल बनाते हो और कहते हो कि मनको रोकते हैं। संसारको याद करते हो और कहते हो कि भगवान्‌का पूरा भजन-ध्यान करते हैं। एकान्तमें घण्टाभर बैठे, तो उसमें कितनी देर भगवान् याद आये? भगवान्‌को तो याद करना पड़ता है, पर संसार आप-से-आप याद आता है। इस विषयमें एक बात बड़ी शान्तिसे समझनेकी है कि जो आप-से-आप याद आता है, उसकी आपपर जिम्मेवारी नहीं होती। अतः जो आप-से-आप याद आता है, उसमें मुफ्तमें ही क्यों उलझते हो? स्फुरणा आप-से-आप उत्पन्न होती है और आप-से-आप शान्त हो जाती है, आप क्यों आफतमें पड़ते हो? मनुष्यकी जिम्मेवारी करनेपर होती है। जिसको आप करते ही नहीं, प्रत्युत जो आप-से-आप होता है, उसकी जिम्मेवारी आपपर नहीं है। आप जवानसे बूढ़े हो गये, तो क्या आपपर इसकी जिम्मेवारी है कि आप बूढ़े क्यों हो गये? आपने गलती क्यों की? ऐसे ही आप संसारको याद नहीं करते, पर संसार आप-से-आप याद आता है तो इसकी जिम्मेवारी आपपर नहीं है। इसलिये आप अपनी तरफसे कुछ भी चिन्तन न करें—'**न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।**' चिन्तन आ जाय तो वह जैसे आया है, वैसे ही चला जायगा। आप उसमें कुछ दखल न करें। यह बहुत ही बढ़िया युक्ति है। आपके विश्वासके लिये कहता हूँ कि हमारेको तो यह युक्ति बहुत वर्षोंके बाद मिली है। आप तो इस युक्तिको अभी ही काममें ले लो। मनकी उपेक्षा कर दो। बस, आप ठीक ठिकाने आ गये। मनके साथ मिलकर उसको एकाग्र करनेकी चेष्टा करना इतना बढ़िया उपाय नहीं है। कारण कि ऐसा करनेसे उसको सत्ता मिलेगी, उसको महत्त्व मिलेगा। जो है ही नहीं, उसको मिटानेकी चेष्टा करनेका अर्थ है—उसको 'है' मानना।

चिन्तन या तो भूतकालका होता है या भविष्यकालका। वर्तमानका चिन्तन नहीं होता। अतः जो वर्तमानमें है ही नहीं उसको 'है' मान लिया—यही तो गलती की है। उसको 'है' मानकर फिर उसको मिटाते हो तो यह मिटाना नहीं हुआ, प्रत्युत उसको दृढ़ करना हुआ। जो घटना बीत गयी, वह अब है ही नहीं और जो घटना भविष्यमें हो सकती है, वह भी अब नहीं है। जो अभी है ही नहीं, उसको तो पकड़ते हो, उससे युद्ध करते हो, पर जो परमात्मा अभी है, उसकी तरफ देखते ही नहीं! वर्तमानमें जो केवल परमात्मा ही है, उसको तो मानते ही नहीं और जो वास्तवमें है ही नहीं, उसको मान लिया। वास्तवमें वर्तमानकालकी सत्ता ही नहीं। भूत और भविष्यकी संधिको ही वर्तमान कह देते हैं। वर्तमान तो एकमात्र परमात्मा ही है। भगवान् कहते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

(गीता ७। २६)

'जो प्राणी भूतकालमें हो चुके हैं, जो वर्तमानमें हैं और जो भविष्यमें होंगे उन सबको मैं जानता हूँ, पर मेरेको कोई नहीं जानता।'

यहाँ '**अहं वेद**' पदोंमें केवल वर्तमान कालका प्रयोग करनेका तात्पर्य है कि परमात्माके लिये सब कुछ वर्तमान ही है। अतः वर्तमानमें सत्तारूपसे एक परमात्मा ही है। अब उसका चिन्तन क्या करें? उसमें ही पूरे डूबे रहें। वह हमारा

है, हम उसके हैं। वह हमारेमें है—'**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत**' (गीता १३ । २)। अब उसकी प्राप्तिमें कठिनता किस बातकी ? उसकी प्राप्तिके समान सुगम काम कोई है ही नहीं। पर सुगम भी तब कहा जाय, जब कुछ करना पड़े। जब कुछ करना ही न पड़े, तब उसको सुगम भी कैसे कहें ? उसको कठिन माना है इसलिये कठिनताका भाव दूर करनेके लिये कहते हैं कि यह तो बड़ा सुगम है !

परमात्मा है और सदा ही प्राप्त है—इसपर दृढ़ रहना है। चाहे कितनी ही उथल-पुथल हो जाय, वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। संसार तो निरन्तर बहता है, पर वह परमात्मा 'है' रूपसे वही रहता है।

★

मैं-मेरापन कैसे मिटे ?

मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है—यह मान्यता ही खास भूल है। यही मूल भूल है। आप विचार करो कि शरीर मिला है और मिली हुई चीज अपनी नहीं होती। अपनी चीज सदा ही अपनी रही है, कभी बिछुड़ती नहीं; शुरूसे अन्ततक अपनी रहती है। परंतु मिली हुई चीज सदा साथ नहीं रहती, बिछुड़ जाती है; अतः वह अपनी कैसे हो सकती है ? स्वयं पहले भी था और पीछे भी रहेगा, बीचमें शरीर मिला तो स्वयं कैसे हुआ ?

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

(गीता १३।१)

अर्थात् 'यह' रूपसे कहे जानेवाले शरीरको 'क्षेत्र' कहते हैं और इस क्षेत्रको जो जानता है, उसको ज्ञानीजन 'क्षेत्रज्ञ' नामसे कहते हैं; अतः क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—ये दो चीजें हैं। जैसे 'मैं' खम्भेको जानता हूँ तो खम्भा जाननेमें आनेवाली चीज हुई और मैं खम्भेको जाननेवाला हुआ। जो जाननेवाला होता है, वह जाननेमें आनेवाली वस्तुसे अलग होता है—यह नियम है। हम शरीरको जानते हैं; अतः शरीरसे अलग हुए। हम कहते हैं—यह मेरा पेट है, यह मेरा पैर है, यह मेरी गर्दन है, यह मेरा मस्तक है, ये मेरी इन्द्रियाँ हैं, यह मेरा मन है, यह मेरी बुद्धि है आदि-आदि। जो 'यह' है, वह मैं (स्वरूप) कैसे हो सकता है ? 'अहम्' अर्थात् मैं-पन भी 'यह' है। जिस प्रकाशमें शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि दीखते हैं, उसी प्रकाशमें 'अहम्' भी दीखता है। जो दीखनेवाला है, वह अपना स्वरूप कैसे हो सकता है ?

मैं यह शरीर नहीं हूँ—इस बातको दृढ़तासे मान लो। मैं न कभी शरीर था, न कभी शरीर हो सकता हूँ, न शरीर रहूँगा और न अभी वर्तमानमें मैं शरीर हूँ। मैं शरीरसे बिलकुल अलग हूँ। इसकी पहचान क्या है ? अगर मैं शरीरसे अलग न होता, शरीरसे मेरी एकता होती तो मरनेपर शरीर भी मेरे साथ चला जाता अथवा शरीरके साथ मैं भी रह जाता। परन्तु न तो मेरे साथ शरीर जाता है और न मैं शरीरके साथ रहता हूँ, फिर शरीर मैं कैसे हुआ ? जैसे, मकानसे मैं चला जाता हूँ तो मकान मेरे साथ नहीं जाता। मकान यहीं रहता है और मैं चला जाता हूँ। अतः मकान और मैं दो हैं, एक नहीं। इसी तरह शरीर और मैं दो हैं, एक नहीं—ऐसा ठीक बोध होनेपर अहंता मिट जाती है।

मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है और शरीर मेरे लिये है—ये तीन खास भूलें हैं। वास्तवमें न तो मैं शरीर हूँ, न शरीर मेरा है और न शरीर मेरे लिये ही है। शरीर मेरे लिये कैसे नहीं ? मैं नित्य-निरन्तर रहनेवाला हूँ और शरीर नित्य-निरन्तर बदलनेवाला है। यह शरीर नित्य-निरन्तर मेरेसे वियुक्त हो रहा है। कोई ऐसा क्षण नहीं है, जिस क्षणमें यह मेरेसे वियुक्त न होता हो। मनुष्य मानता है कि जब शरीर मर जाता है, तब शरीरका वियोग होता है; अतः जन्मसे मृत्युतक शरीर हमारा रहा। यह बहुत स्थूल दृष्टिसे मानना है। सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो शरीर प्रतिक्षण ही मर रहा है। मान लो कि किसीकी आयु सौ वर्षकी है और वह एक वर्षका हो गया, तो क्या अब सौ वर्ष बाकी रहे ? अब तो निन्यानबे वर्ष ही बाकी रहे। दृष्टि इस तरफ होती है कि बालक बढ़ रहा है—बिल्कुल गलत बात है, बालक तो घट रहा है। हम भी यही सोचते हैं कि हम बढ़ रहे हैं, हम जी रहे हैं— बिलकुल झूठी बात है; सच्ची बात तो यह है कि हम मर रहे हैं। जैसे मरनेके बाद शरीरसे वियोग हो जाता है—ऐसा हम मानते हैं ऐसे ही हमारा शरीरसे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। अतः जो हरदम वियुक्त होता है, वह 'मेरे लिये' कैसे हो सकता है ? विचार करें कि शरीरपर मेरा आधिपत्य चलता है क्या ? अगर चलता है तो शरीरको बीमार मत होने दो, कमजोर मत होने दो, कम-से-कम मरने तो दो ही मत। जब इसपर हमारा आधिपत्य चलता ही नहीं, तो फिर यह 'मेरा' कैसे हुआ ? बालकपनमें जो मैं था वही मैं अब भी हूँ। अपना होनापन तो निरन्तर वैसा-का-वैसा दीखता है, पर शरीर निरन्तर बदलता है; अतः शरीर 'मैं' कैसे हुआ ?

शरीरकी मात्र संसारके साथ एकता है। जिन पाँच

तत्त्वोंसे यह संसार बना है। उन्हीं पाँच तत्त्वोंसे यह शरीर बना है—

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥

(मानस ४।११।२)।

शरीर हमें संसारकी सेवाके लिये मिला है, अपने लिये नहीं। हमारेको शरीर क्या निहाल करेगा ? शरीर हमारे क्या काम आयेगा ? शरीरको अपना और अपने लिये न मानकर प्रत्युत संसारका और संसारके लिये ही मानकर उसको संसारकी सेवामें लगा दें—यही हमारे काम आयेगा।

आपको शंका हो सकती है कि इस शरीरसे हम जप करते हैं, ध्यान करते हैं, चिन्तन करते हैं, सेवा करते हैं, तो यह शरीर हमारे ही तो काम आया ? वास्तवमें शरीर आपके काम नहीं आया। कारण कि आपके स्वरूपतक कोई क्रिया और पदार्थ पहुँचता ही नहीं। जप, ध्यान आदि करनेसे विवेक विकसित होता है और अन्तःकरणमें संसारका महत्त्व मिटता है। विवेककी पूर्ण जागृति होनेपर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है। कारण कि नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव जड शरीर-संसारके द्वारा नहीं होता, प्रत्युत शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर होता है। शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद विवेकसे होता है, क्रियासे नहीं; अतः शरीर हमारे काम नहीं आया, शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद ही हमारे काम आया !

शरीरको अपने लिये मानेंगे तो शरीरसे सम्बन्ध जुड़ेगा। हम परमात्माका चिन्तन करते हैं तो उसमें मन-बुद्धि लगाते हैं। मन-बुद्धि प्रकृतिके हैं कि आपके हैं ? ये तो प्रकृतिके हैं। प्रकृति 'पर' है और आप स्वयं 'स्व' हैं। अतः परमात्माका चिन्तन करनेमें आपको पराधीन होना पड़ेगा, जडका सहारा लेना पड़ेगा। ध्यान लगाओ तो जडका सहारा लेना पड़ेगा। समाधि लगाओ तो जडका सहारा लेना पड़ेगा, परन्तु चिन्मयतामें स्थिति जडताके त्यागसे होगी। जडताकी सहायता लेनेसे, जडताकी आवश्यकता समझनेसे उसका त्याग कैसे करेंगे ? जब शरीर आदि जड चीजोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे ही कल्याण होगा तो फिर ये शरीर आदि हमारे क्या काम आये ?

इस बातको ठीक तरहसे समझें कि शरीर हमारे लिये कैसे हुआ ? आप भजन-ध्यान करो, दान-पुण्य करो, सेवा करो, पर ये सब कल्याण करनेवाले तब होंगे, जब आपका यह भाव होगा कि ये सब मेरे नहीं हैं और मेरे लिये नहीं हैं। जब ये मेरे और मेरे लिये नहीं हैं, तो फिर इनको करें ही क्यों ? इनको इसलिये करना है कि हमने दूसरोंसे लिया है। शरीर भी दूसरोंसे मिला है। अन्न-जल भी दूसरोंसे लिया है। हवा भी दूसरोंसे मिलती है। हम रास्तेपर चलते हैं तो सड़क भी दूसरोंसे मिली है। छाया भी दूसरोंसे मिली है। मकान भी दूसरोंसे मिला है। दूसरोंसे मिली हुई चीज दूसरोंकी सेवामें लगा देनी है, जिससे कर्जा उतर जाय। पुराना कर्जा उतार देना है और नया कर्जा लेना नहीं है। यह हमारे काम आ जाय, यह हमारी बात माने, हमारा कहना माने—यह इच्छा रहेगी तो नया कर्जा चढ़ता रहेगा। जड़ आपके काम कैसे आयेगा ? आप तो चेतन हो। तो हम क्या करें ? जड़तासे पिण्ड छुड़ानेके लिये चाहे संसारकी सेवा करें, चाहे भगवान्‌की सेवा करें, अपने लिये कुछ न करें। गीतामें आया है—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

(१७।२०)

'दान देना कर्तव्य है—ऐसे भावसे जो दान देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर अनुपकारीको दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।'

—इस श्लोकमें व्याकरणकी एक आश्चर्यकी बात आयी है। भगवान्‌ने '**अनुपकारिणे**' पदमें चतुर्थी विभक्ति दी है और '**देशे काले च पात्रे च**' पदोंमें सप्तमी विभक्ति दी है। कम-से-कम '**पात्रे च**' में तो सप्तमी नहीं कहनी चाहिये थी, '**पात्राय**' कहना चाहिये था। वहाँ सप्तमी कैसे हो गयी ? इसका तात्पर्य क्या है, पूरा तो भगवान् जानें और व्यासजी महाराज जानें, अपनेको तो पता नहीं। हम कोई विद्वान् तो हैं नहीं, परंतु हमारी धारणामें '**देशे काले च पात्रे च**' का अर्थ है—'देश, काल और पात्रकी प्राप्ति होनेपर (**प्राप्ते सति**)'। '**अनुपकारिणे**' का अर्थ यह नहीं है कि उपकार करनेवालेको दान मत दो, प्रत्युत जिसने हमारा उपकार किया है, उसको देनेमें दान मत मानो। 'अनुपकारी' का अर्थ है—जिसने पहले कभी हमारा उपकार नहीं किया, अभी भी उपकार नहीं करता है और भविष्यमें भी उससे किञ्चिन्मात्र भी उपकार की आशा नहीं है, ऐसे अनुपकारीको निष्कामभावसे दान देना 'सात्त्विक दान' है। तात्पर्य यह हुआ कि देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर अपना सम्बन्ध न रखते हुए दान दिया जाय। अगर उपकारीको दान दिया जायगा, तो दानके साथ सम्बन्ध जुड़नेसे वह 'राजस दान' हो जायगा—'**यत्तु प्रत्युपकारार्थं·····तद्दानं राजसं स्मृतम्॥**' (१७।२१)। कारण कि राग अर्थात्

सम्बन्ध जोड़ना रजोगुणका स्वरूप है—**'रजो रागात्मकं विद्धि'** (१४।७)। दानके साथ सम्बन्ध न रहनेसे 'सात्त्विक दान' वास्तवमें दान नहीं है, यह तो त्याग है।

जैसे दानका हमारे साथ सम्बन्ध न रहे ऐसे ही जप-ध्यानका भी हमारे साथ सम्बन्ध न रहे, सेवाका भी हमारे साथ सम्बन्ध न रहे। किसीकी सेवा करके हम समझें कि हमने बड़ा काम किया, तो यह गलती है। कारण कि हमारे पास जो कुछ है, उसपर उसीका हक लगता है। हमारे पास जो शक्ति है वह शक्ति समष्टिकी है। समष्टिसे अलग कोई शक्ति हमारे पास है क्या ? विद्या, बुद्धि, योग्यता, अवस्था आदि जो कुछ भी हमें प्राप्त है, वह हमें समष्टिसे मिली है। समष्टिकी चीज समष्टिकी सेवामें लगा दी तो क्या अहसान किया ? उसीकी चीज उसीकी सेवामें लगा देना ईमानदारी है। उस चीजके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेंगे तो मैंपन आयेगा। मैंपन आनेसे मेरापन भी आयेगा और 'मेरे लिये' भी आयेगा।

न तो यह मैं हूँ और न यह मेरा है, जो 'यह' होता है, वह 'मैं' नहीं होता और जो 'मैं' होता है वह 'यह' नहीं होता। शरीर 'यह' है, मन 'यह' है, बुद्धि 'यह' है, प्राण 'यह' है, मैंपन भी 'यह' है; अतः ये सब हमारा स्वरूप कैसे हुए ? शरीर-संसारके साथ माना हुआ मैं-मेरेपनका सम्बन्ध ही जन्म-मरणका कारण है, अतः इस सम्बन्धको जल्दी-से-जल्दी मिटा देना चाहिये।

══ ★ ══

भगवान्‌से नित्ययोग

श्रोता—भगवान् तो प्रत्यक्ष नहीं दीखते, पर धन प्रत्यक्ष दीखता है; तो फिर धनका आश्रय कैसे छोड़ें ?

स्वामीजी—वास्तवमें धन है ही नहीं, दीखे कहाँसे ? अभी आपको धन कहाँ दीखता है ? धनका आश्रय हरदम दीखता है, धन हरदम नहीं दीखता। इस बातपर खूब विचार करो। धन आता हुआ दीखता है अथवा जाता हुआ दीखता है, रहता हुआ नहीं दीखता। धन पहले था नहीं और बादमें रहेगा नहीं, पर भगवान् पहले भी थे अब भी हैं और बादमें भी रहेंगे। भगवान् आते-जाते हैं ही नहीं। अतः यह कैसे कहा जाय कि भगवान् नहीं दीखते और धन दीखता है ? हाँ, भगवान् नेत्रोंसे नहीं दीखते। वे तो बुद्धिरूपी नेत्रोंसे दीखते हैं, आस्तिक-भावसे दीखते हैं।

धनका आश्रय पहले नहीं था, पहले (छोटी अवस्थामें) माँका आश्रय था। धनका आश्रय बादमें पकड़ा है। परन्तु भगवान्‌का आश्रय पहलेसे है। उनके आश्रयसे अनन्त ब्रह्माण्ड चल रहे हैं। उनका आश्रय पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। उनके आश्रयका कभी अभाव नहीं होता। परन्तु धनका आश्रय सदा रहेगा—यह बात है ही नहीं।

धन सदा साथमें नहीं रहेगा। हम धनके साथ नहीं रहेंगे और धन हमारे साथ नहीं रहेगा। परन्तु भगवान् सदा हमारे साथ रहेंगे। हम भगवान्‌के बिना नहीं रह सकते और भगवान् हमारे बिना नहीं रह सकते। हमारी ताकत नहीं है कि हम भगवान्‌से अलग हो सकें। इतना ही नहीं, भगवान्‌की भी ताकत नहीं है कि वे हमारेको छोड़कर अलग रह सकें। जिस दिन भगवान् हमारेको छोड़कर अलग रहेंगे, उस दिन हम एक अलग भगवान् हो जायँगे। इस प्रकार दो भगवान् हो जायँगे, जो कि सम्भव नहीं है। अतः भगवान् हमारा साथ छोड़ ही नहीं सकते, इसलिये भगवान्‌का ही आश्रय लेना चाहिये।

आश्रय उसीका लेना चाहिये, जिसकी स्वतन्त्र सत्ता हो। जिसकी परतन्त्र सत्ता हो, उसका आश्रय हमें लेना ही नहीं है। भगवान्‌की स्वतन्त्र सत्ता है; अतः हमें भगवान्‌का ही आश्रय लेना चाहिये। वे भगवान् कभी हमारेसे अलग नहीं होते। हमारेसे अलग होनेकी उनमें सामर्थ्य ही नहीं है। भगवान् सर्वव्यापक हैं, सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें परिपूर्ण हैं, अतः वे हमें कैसे छोड़ देंगे ? अगर छोड़ देंगे तो वे सर्वव्यापक कैसे हुए ? भगवान्‌को छोड़कर हम रह ही नहीं सकते। हम रहेंगे तो उसीमें रहेंगे, नहीं रहेंगे तो उसीमें रहेंगे, जन्मेंगे तो उसीमें रहेंगे, मरेंगे तो उसीमें रहेंगे और जन्म-मरणसे रहित (मुक्त) हो जायँगे तो उसीमें रहेंगे। हम भगवान्‌को छोड़कर नहीं रह सकते और भगवान् हमें छोड़कर नहीं रह सकते। हम दूसरेका आश्रय लेते हैं, यही बाधा है।

एक विशेष बात है, आपलोग ध्यान देकर सुनें। बात गहरी है, पर बड़ी सरलतासे बताता हूँ। 'मैं हूँ'—इसका अनुभव सबको है। मैं हूँ कि नहीं हूँ—इसमें कभी सन्देह होता है क्या ? इसमें क्या किसीकी गवाही लेनी पड़ती है ? किसीको पूछना पड़ता है कि बताओ मैं हूँ कि नहीं हूँ ? 'मैं हूँ'—यह अनुभव स्वाभाविक तथा स्वतन्त्रतासे है। मैं कैसा हूँ, क्या हूँ—यह चाहे हम न जानें, पर 'मैं हूँ'—इस अपने होनेपनमें कभी हमें संदेह नहीं होता। इससे सिद्ध हुआ कि मैं अनेक जन्मोंमें था, इस जन्ममें भी हूँ और आगे भी रहूँगा। अभी जागनेमें, सोनेमें, स्वप्नमें भी मैं निरन्तर हूँ। बचपनसे

लेकर अभीतक बीचमें कभी मैं नहीं रहा, किसी समय मैं नहीं था—ऐसी बात हुई है क्या? अपनी सत्ता नित्य-निरन्तर अनुभवमें आती है कि 'मैं हूँ'। यह एकदम सबके अनुभवकी बात है। इस नित्य-निरन्तर रहनेवाली हमारी सत्तामें कभी कमी नहीं आती। कमी आये बिना हमारे भीतर कामना कैसे हो सकती है? हमारे भीतर कामना तभी होती है, जब हम उत्पत्ति-विनाशवाले शरीरको अपने साथ मान लेते हैं। जब शरीर, पदार्थ, परिवार आदिको अपने साथ मान लेते हैं; तब उनमें कमी आनेसे हमारे भीतर कामना होती है। अतः शरीर, परिवार, धन-सम्पत्ति, वैभव आदिको अपने साथ न मानें; क्योंकि ये सब तो बदलनेवाले हैं और मैं निरन्तर रहनेवाला हूँ! बालकपन, जवानी, बुढ़ापा, रोग-अवस्था, नीरोग-अवस्था—ये सब अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, पर मैं सदा ज्यों-का-त्यों रहता हूँ।

शरीर बदलनेके साथ आप अपना बदलना भी मान लेते हैं, पर वास्तवमें आप बदलते नहीं हैं। आपके बचपनका अभाव हो गया; तो आपका अभाव भी हो गया क्या? जैसे 'मैं हूँ'— इसका कभी अभाव नहीं होता, ऐसे ही भगवान्‌का कभी अभाव नहीं होता। वे सदासे हैं और सदा रहेंगे। सन्तोंके, शास्त्रोंके कहनेसे पता लगता है कि 'सदा' तो मिट जायगा, पर भगवान् रहेंगे। कारण कि 'सदा' नाम कालका है और भगवान् कालको भी खा जाते हैं—

ब्रह्म-अगनि तन बीचमें, मथकर काढ़े कोय।
उलट कालको खात है, हरिया गुरुगन होय॥
नवग्रह चौंसठ जोगनी, बावन वीर पर्जन्त।
काल भक्ष सबको करे, हरि शरणे डरपन्त॥

तात्पर्य है कि काल भी नष्ट हो जाता और परमात्मा रहते।

'मैं हूँ'—इसमें 'हूँ'-पना शरीरको लेकर है। यदि शरीरसे सम्बन्ध न रहे तो 'है'-पना ही रहेगा 'तू है', 'यह है', 'वह है' और 'मैं हूँ'—इन चारोंके सिवाय कुछ है ही नहीं। इनके सिवाय पाँचवाँ कोई हो तो बताओ? इन चारोंमें केवल 'मैं' के साथ ही 'हूँ', आया है, बाकी तीनोंके साथ 'है' आया है। 'मैं' लगानेसे ही 'हूँ' हुआ है—**'अस्मद्युत्तमः'**। यदि 'मैं' को साथमें नहीं लगायें तो 'है' ही रहेगा। इस 'है' में कभी कमी नहीं आती। कारण कि सत्‌में कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २।१६) वह नित्य-निरन्तर रहता है। उस नित्य-निरन्तर रहनेवाले परमात्मतत्त्वमें ही मैं हूँ—केवल इतनी बात आप मान लो। इसके सिवाय और आपको कुछ नहीं करना है।

यह एक बड़ा भारी वहम है कि करनेसे ही परमात्मप्राप्ति होगी। अतः भजन करो, जप करो, सत्संग करो, स्वाध्याय करो, ध्यान करो, समाधि लगाओ। इस प्रकार करनेपर ही बड़ा भारी जोर है। बातोंसे कुछ नहीं होगा, करनेसे होगा—यह धारणा रोम-रोममें बैठी हुई है। परंतु मैं इससे विलक्षण बात कहता हूँ कि 'है' रूपसे जो सर्वत्र परिपूर्ण सत्ता है, जिसमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता, उसीमें ही मैं हूँ। 'मैं' और वह 'है' एक ही है। जब ऐसा ठीक तरहसे जान लिया तो फिर क्या करना रहा? क्या जानना रहा? क्या पाना रहा? मैं नित्य-निरन्तर परमात्मामें हूँ—यह असली शरण है। उस सर्वत्र परिपूर्ण 'है'-(परमात्मतत्त्व-) से अलग कोई हो ही नहीं सकता। उस 'है' की ही प्राप्ति करनी है, 'नहीं' की प्राप्ति नहीं करनी है। 'नहीं' की प्राप्ति होगी तो अन्तमें 'नहीं' ही रहेगा। जो नहीं है वह प्राप्त होनेपर भी रहेगा कैसे? इसलिये 'है' की ही प्राप्ति करनी है और उस 'है'की प्राप्ति नित्य-निरन्तर है। हम उसमें हैं और वह हमारेमें है।

यह सबका अनुभव है कि 'मैं हूँ' और मैं वही हूँ, जो बचपनमें था। अवस्था बदल गयी, समय बदल गया, संयोग बदल गया, साथी बदल गये, भाव बदल गये; परंतु आप बदले हो क्या? आप नहीं बदले। ऐसे ही सब संसार बदलता है, पर परमात्मा नहीं बदलते। हम उस परमात्माके अंश हैं, संसारके अंश नहीं हैं। संसारके अंश शरीरको तो हमने ('मैं' और 'मेरा' मानकर) पकड़ा है। वास्तवमें वह हमारा नहीं है, प्रत्युत संसारका है।

'हूँ' तो 'है' से कमजोर ही है। कारण कि 'हूँ' शरीरको लेकर (एकदेशीय) है और शरीर कमजोर है ही। शरीर तो नहीं रहेगा, पर 'है' तो रहेगा ही। 'है' (परमात्मा) समुद्र है और 'हूँ' उसकी तरंग है। तरंग शान्त होनेपर भी समुद्र तो रहता ही है। अतः हमारा स्वरूप 'है' से अभिन्न है—इस बातको आप मान लो। समझमें न आये, तो भी मान लो। इतनी बात मान लो कि मैं उसका हूँ। ऐसा मानकर जप करो, कीर्तन करो, स्वाध्याय करो, सत्संग करो। 'हूँ' का 'है' ही है।

'हूँ' बदलता है और 'है' नहीं बदलता—यही बात मैं कहना चाहता हूँ। यह सार बात है। सनकादि ऋषियोंका भी यही ज्ञान है। ब्रह्मा आदिका भी यही ज्ञान है। व्यासजी महाराजका भी यही ज्ञान है। शुकदेवजीका भी यही ज्ञान है। जितने सन्त-महात्मा हुए हैं, उनका भी यही ज्ञान है। इस ज्ञानसे आगे कुछ है नहीं। कैवल्य ज्ञान भी इसके सिवाय और कुछ नहीं है। किसी मत-मतान्तरमें इससे बढ़कर कोई चीज है नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं। इतनी सरल और इतनी ऊँची बात है। इसको हरेक भाई-बहन, साधारण पढ़ा-लिखा, बिलकुल

पढ़ा-लिखा और बिना पढ़ा-लिखा भी समझ सकता है, इतनी सीधी बात है ! इससे बड़ी बात आपको कहीं भी नहीं मिलेगी। ऐसा इसलिये कहता हूँ कि आप इसका आदर करें, इसको महत्त्व दें कि ऐसी ऊँची बात आज मिल गयी ! उपनिषदोंमें आता है कि बहुत-से आदमियोंको तो ऐसी बात सुननेको भी नहीं मिलती—**'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः'** (कठ० १ । २७) । उम्र बीत जाती है और सुननेको नहीं मिलती।

अब आपको एक और बात बताऊँ कि अभी आपकी जैसी मान्यता है, ऐसी मान्यता आगे न रहे तो कोई बात नहीं आप घबराना नहीं कि हमें यह बात हरदम याद नहीं रहती। आपको अपना नाम हरदम याद रहता है क्या ? हरदम याद न रहनेपर भी जब देखो, तब दीखता है कि मैं अमुक नामवाला हूँ। इसी तरह यह बात हरदम भले ही याद न रहे, पर विचार करते ही यह चट याद आ जायगी कि बात तो ऐसी ही है। इससे सिद्ध होता है कि यह बात मिटी नहीं है, इसकी भूली नहीं हुई है। इसकी भूली तब मानी जाय, जब आप इस बातको रद्दी कर दो, यह कहो कि मैं इस नामवाला नहीं हूँ। अतः बीचमें यह बात याद न आनेपर भी इसकी भूली नहीं हुई है, नहीं हुई है, नहीं हुई है। इस बातको रद्दी करो तो बात दूसरी है, नहीं तो आठ पहरमें एक बार भी याद नहीं आये, तो भी बात ज्यों-की-त्यों ही रहेगी। 'है' कैसे मिट जायगा ? इतनी ऊँची, इतनी बढ़िया, इतनी पक्की बात है ! मान लो तो बेड़ा पार है।

★

अपने अनुभवका आदर

एक बहुत सीधी-सरल और सबके अनुभवकी बात है। केवल उसका आदर करना है, उसको महत्त्व देना है, उसको कीमती समझना है। जिस तरह आपने रुपया, सोना, चाँदी, हीरा, पन्ना आदिको कीमती समझ रखा है, इस तरह इस बातको कीमती समझो, इसको महत्त्व दो तो अभी इसी क्षण उद्धार हो जाय। इसको महत्त्व नहीं देते, इसी कारणसे बन्धन हो रहा है; और कोई कारण नहीं है। रुपये तो किसीके पास हैं और किसीके पास नहीं, पर यह बात सबके पास है। कोई भी इससे रहित नहीं है। परंतु इस बातको महत्त्व न देनेसे इसका अनुभव नहीं हो रहा है—

लाली लाली सब कहे, सबके पल्ले लाल।
गाँठ खोल देखे नहीं, ताते फिरे कंगाल॥

वह गाँठ खुलनेकी बात बताता हूँ। जो सन्त-महात्माओंसे सुनी है, पुस्तकोंमें पढ़ी है, वही बात कहता हूँ। एकदम सच्ची बात है। श्रुति, युक्ति और अनुभूति—ये तीन प्रमाण मुख्य माने गये हैं। अभी मैं जो बात कहने जा रहा हूँ, वह श्रुति-(शास्त्र-) सम्मत, युक्तिसंगत और अनुभवसिद्ध है।

आप अपनेको मानते हैं कि 'मैं वही हूँ, जो बचपनमें था अर्थात् बालकपनमें जो था वही आज हूँ और मरनेतक मैं वही रहूँगा।' शास्त्र, सन्त अपनी संस्कृतिके अनुसार आप ऐसा भी मानते हैं कि पहले जन्मोंमें भी मैं था और इसके बाद भी अगर मेरे जन्म होंगे तो मैं रहूँगा। बालकपन भी अभी नहीं है और मृत्युका समय भी अभी नहीं है; पहलेके जन्म भी अभी नहीं हैं और आगेके जन्म भी नहीं हैं; परन्तु 'मैं अभी हूँ।' तात्पर्य यह हुआ कि मैं नित्य-निरन्तर हूँ और शरीर बदलते हैं। शरीरोंके बदलनेपर भी मैं किंचिन्मात्र भी नहीं बदलता। शरीर तो प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। एक क्षण भी ऐसा नहीं, जिसमें ये न बदलते हों। परन्तु इनमें रहनेवाला मैं (स्वरूप) अनन्त युग, अनन्त ब्रह्मा बीतनेपर भी कभी बदलता नहीं। अतः बदलनेवाले शरीर और न बदलनेवाले अपने-आपको मिलायें नहीं, प्रत्युत अलग-अलग कर लें। बस, इतना ही काम है। जब इन दोनोंको मिलाकर देखते हैं, तब अज्ञान हो जाता है; और जब इनको अलग-अलग देखते हैं तब ज्ञान हो जाता है।

आप जानते हैं कि बचपनमें मैं जो था, वही मैं आज हूँ। इस ज्ञानको शास्त्रीय भाषामें 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। इसी ज्ञानको '**तत्त्वमसि**'—वही (**परमात्मा**) तू है' कहते हैं। ऊँचा-से-ऊँचा महावाक्य भी यही है और साधारण-से-साधारणका अनुभव भी यही है। केवल इसपर दृढ़ रहना है कि जो बदलता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। वृत्तियाँ बदलती हैं, अवस्थाएँ बदलती हैं, घटनाएँ बदलती हैं, परिस्थितियाँ बदलती हैं, व्यक्ति बदलते हैं, वस्तुएँ बदलती हैं, पर मैं बदलनेवाला नहीं हूँ। मैं बदलनेवालेको देखनेवाला हूँ। बदलनेवाला वही देखता है, जो स्वयं न बदलनेवाला होता है। इसलिये मैं सदा रहता हूँ। मेरा स्वरूप कभी बदलता नहीं और शरीर कभी स्थिर रहता नहीं। मैं वही हूँ, पर शरीर वही नहीं है। ऐसे ही परमात्मा वही हैं, पर संसार वही नहीं है। जो सत्ययुग, त्रेता, द्वापर आदि अनन्त युगोंसे पहले थे, वे ही परमात्मा आज हैं। अनन्त युग बदल जायँगे तो भी परमात्मा वे ही रहेंगे। अतः मैं और परमात्मा एक हैं तथा शरीर और संसार एक हैं।

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
(मानस ४।११।२)

भूल यह हुई है कि शरीरको तो संसारसे अलग मान लिया कि 'यह तो मैं हूँ और यह मैं नहीं हूँ' और अपनेको परमात्मासे अलग मान लिया कि मैं तो यहाँ हूँ और 'परमात्मा न जाने कहाँ हैं!' शरीर संसारसे कभी अलग हो ही नहीं सकता। ब्रह्माजीकी भी ताकत नहीं कि शरीरको संसारसे अलग कर दें। जिस धातुका संसार है, उसी धातुका शरीर है। स्थूल-शरीरकी स्थूल-संसारके साथ एकता है, सूक्ष्म-शरीरकी सूक्ष्म-संसारके साथ एकता है, कारण-शरीरकी कारण-संसारके साथ एकता है। परंतु हमारी परमात्माके साथ एकता है। हम परमात्माके अंश हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७)। परमात्मा और परमात्माका अंश दो नहीं हैं।

शरीरके साथ हमारी एकता नहीं है, पर उसके साथ एकता मान ली और परमात्माके साथ हमारी एकता है, पर उसके साथ एकता नहीं मानी—यह केवल मान्यताका फर्क है और कुछ फर्क नहीं। हमने मान्यता गलत कर रखी है। शरीर बदलता है, पर आप नहीं बदलते। संसार बदलता है, पर परमात्मा नहीं बदलते। अतः न बदलनेवाले हम परमात्माके साथ एक हैं और बदलनेवाला शरीर संसारके साथ एक है—यह विवेक मनुष्यमात्रमें स्वतःसिद्ध है। यह कभी मिट नहीं सकता।

संसार और परमात्माका, हमारे शरीरका और हमारे स्वरूपका जो दो-पना (अलगाव) है, यह कभी मिटेगा नहीं। यह नित्य-निरन्तर रहनेवाला है। परंतु मनुष्य इस बातका आदर नहीं करता, इसको महत्त्व नहीं देता। 'मैं शरीरसे अलग हूँ'—इस बातको उसने रद्दी कर रखा है और 'यह शरीर मैं हूँ'—'इस बातको पकड़ रखा है। परंतु शरीरके साथ एकताको अभीतक कोई पकड़कर रख सका नहीं और रख सकेगा नहीं। अतः शरीर और संसार एक हैं तथा मैं और परमात्मा एक हैं। मैं और परमात्मा एक हैं—इस विषयमें मतभेद है। द्वैत-मतवाले परमात्माके साथ जातिसे एकता मानते हैं और अद्वैत-मतवाले स्वरूपसे एकता मानते हैं। परन्तु मैं और शरीर एक नहीं हैं—इस विषयमें कोई मतभेद नहीं है। श्रीशंकराचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीविष्णुस्वामी, श्रीचैतन्य महाप्रभु आदि जितने महापुरुष हुए हैं, उन्होंने द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद आदि नामोंसे अपने-अपने दर्शनोंमें परमात्माके साथ जीवका घनिष्ठ सम्बन्ध माना है। परंतु शरीरके साथ अपना सम्बन्ध किसीने भी नहीं माना है। शरीर-संसारके साथ हमारी एकता नहीं है—इस विषयमें सभी आचार्य, दार्शनिक, विद्वान् एकमत हैं। जिस विषयमें सभी एकमत हैं, उस बातको आप मान लो। हम शरीर-संसारके साथ एक नहीं हैं, हम तो परमात्माके साथ एक हैं—यही ज्ञान है। इस ज्ञानको दृढ़तासे पकड़ लें; इसमें बाधा क्या है?

शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण हम शरीरके सुखसे अपनेको सुखी मानते हैं। शरीरका मान होनेसे हम अपना मान मानते हैं। शरीरकी बड़ाई होनेसे हम अपनी बड़ाई मानते हैं। शरीरके निरादरसे हम अपना निरादर मानते हैं। शरीरके अपमानसे हम अपना अपमान मानते हैं। वास्तवमें शरीरको कोई पीस डाले तो भी हमारा कुछ नहीं बिगड़ता। एक दिन इस शरीरको लोग जला ही देंगे, पर हमारा बाल भी बाँका नहीं होगा। हमारे स्वरूपका किञ्चिन्मात्र भी हिस्सा नहीं जलेगा, नष्ट नहीं होगा। अतः संसार हमारा निरादर कर दे, अपमान कर दे, निन्दा कर दे, दुःख दे दे, शरीरका टुकड़ा-टुकड़ा कर दे तो क्या हो जायगा? गीताने कहा है—**'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते'** (६।२२) अर्थात् परमात्मस्वरूप आत्यन्तिक सुखमें स्थित मनुष्य बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता। किसी कारणसे शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ तो भी वह अपने स्वरूपसे विचलित नहीं होता, महान् आनन्दसे इधर-उधर नहीं होता। हाँ, शरीरको पीड़ा हो सकती है, मूर्छा आ सकती है, पर दुःख नहीं हो सकता। इतना आनन्द सांसारिक वस्तुओंसे कभी नहीं हो सकता। परंतु आपने मैं और शरीर दो हैं—इस बातका अनादर कर दिया और शरीरके साथ एक होकर उसके दुःखमें दुःख और सुखमें सुख मान लिया; इसको कृपा करके न मानें।

श्रोता—शरीर तो प्रत्यक्ष दीखता है; इसको कैसे नहीं मानें?

स्वामीजी—दीखता है तो दीखता रहे, इसको मानो मत। दर्पणमें अपना मुख दीखता है तो उस मुखको आप दर्पणमें मानते हो क्या? नहीं मानते। दर्पणमें दीखनेवाले मुखको आप पकड़ सकते हो क्या? नहीं पकड़ सकते। अतः जो दीखता है, उसको आप मत मानो। मैं शरीर हूँ—यह दर्पणमें दीखनेवाले मुखकी तरह दीखता है, वास्तवमें है नहीं। अगर आप और शरीर एक होते तो शरीर आपसे छूट नहीं सकता और आप शरीरको छोड़ नहीं सकते। परन्तु मरनेपर शरीर छूट जाता है और आप शरीरको छोड़ देते हो; आप और शरीर एक नहीं हुए। जैसे, मैं मकानमें बैठा हूँ तो मेरे बिना

भी यह मकान रहता है और इस मकानके बिना भी मैं रहता हूँ; अतः मैं मकान नहीं हूँ। हम मरे हुए मनुष्योंको, पशुओंको देखते हैं कि उनके शरीर तो यहीं पड़े हैं, पर उनमें रहनेवाला जीवात्मा चला गया है। वे दोनों अभी अलग हुए हों, ऐसी बात नहीं है। वे तो पहलेसे ही अलग थे। अगर जीवात्मा और शरीर एक होते तो जीवात्माके साथ शरीर भी चला जाता अथवा शरीरके साथ जीवात्मा भी यहीं रहता। परंतु न तो जीवात्माके साथ शरीर रहता है और न शरीरके साथ जीवात्मा रहता है। अतः शरीर और जीवात्मा दो हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं। इन दोनोंको अलग-अलग जानना ही ज्ञान है, जिसका वर्णन भगवान्‌ने गीताके आरम्भमें किया है (२।११—३०)। अपने उपदेशके आरम्भमें ही भगवान्‌ने बताया कि शरीर और शरीरी, देह और देही—ये दोनों अलग-अलग हैं। शरीर सदा बदलनेवाला है, पर शरीरी कभी बदलनेवाला, नष्ट होनेवाला नहीं है। इस प्रकार जान लेनेपर शोक हो ही नहीं सकता; क्योंकि नाश होनेवालेका नाश होगा ही, इसमें शोककी क्या बात? और अविनाशी सदा अविनाशी ही रहेगा, इसमें शोक किस बातका?

जैसे आप अपनेको शरीरमें मानते हैं, ऐसे ही परमात्मतत्त्व सम्पूर्ण संसारमें है। सम्पूर्ण संसारमें होते हुए भी परमात्माका संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। सब-का-सब संसार उथल-पुथल हो जाय, तो भी परमात्माका कुछ नहीं बिगड़ता। ऐसे ही आपका शरीर उथल-पुथल हो जाय तो भी आपका कुछ नहीं बिगड़ता। आप जैसे हो, वैसे ही रहते हो। आपने गुणोंका संग माना है, शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माना है, इसलिये जन्म-मरण होते हैं—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३।२१)। गुणोंका संग छोड़नेपर जन्म-मरण हैं ही नहीं। गुणोंका संग आपने माना है; अतः उसको न माननेपर वह सम्बन्ध मिट जायगा।

यह एक सीधी, सच्ची बात है कि आप नित्य-निरन्तर रहते हैं और शरीर एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, नित्य-निरन्तर बदलता है। यह बात सुननेपर अच्छी लगती है, ठीक (सही) लगती है, फिर भी यह बात रहती नहीं—ऐसा आप मत मानो। यह बात कभी जा नहीं सकती। अनन्त युगोंसे यह बात वही रही, तो अब कैसे चली जायगी? पहले इस बातकी तरफ लक्ष्य नहीं था, अब लक्ष्य हो गया—इतना फर्क पड़ गया बस। यह बात न तो पहले गयी थी, न अब जायगी। यह तो सदा ऐसी ही रहेगी। याद न रहे तो भी यह ऐसी ही रहेगी। इसका अनुभव न हो तो भी यह बात ऐसी ही रहेगी। जैसे, अभी यह खम्भा दीखता है। बाहर चले जाओ तो यह खम्भा नहीं दीखेगा, तो यह खम्भा मिट गया क्या? जो बात सही है, वह तो ज्यों-की-त्यों ही रहेगी।

श्रोता—फिर बाधा क्या लग रही है?

स्वामीजी—दूसरोंसे सुख लेते हैं—यही खास बाधा है। अब दूसरोंको सुख देना शुरू कर दो। इतने दिन तो सुख लिया है, अब सुख देना शुरू कर दो, बस। निहाल हो जाओगे!

रुपया-पैसा मेरेको मिल जाय, आराम मेरेको मिल जाय, सुख मेरेको मिल जाय, मान मेरा हो जाय, बड़ाई मेरी हो जाय—यही महान् बाधा है और इससे मिलेगा कुछ भी नहीं। रुपया-पैसा, मान-बड़ाई आदि मिल भी जायँ तो टिकेंगे नहीं और टिक भी जायँ तो आपका शरीर नहीं टिकेगा। शुद्ध हानिके सिवाय केश-जितना भी लाभ नहीं होगा। इतने नुकसानकी बातको भी नहीं छोड़ोगे तो क्या छोड़ोगे?

संसारसे सुख लेनेकी जो कामना है, यही बाधा है। धन, मान, भोग, जमीन, मकान आदिकी कई तरहकी कामनाएँ हैं, पर मूलमें कामना यही है कि मेरे मनकी बात पूरी हो जाय, मैं जैसा चाहूँ वैसा हो जाय। अगर इसकी जगह यह भाव हो जाय कि मेरे मनकी न होकर भगवान्‌के मनकी हो जाय अथवा संसारके मनकी हो जाय तो निहाल हो जाओगे, इसमें सन्देह नहीं। भगवान्‌के मनकी बात पूरी हो जाय—यह भक्तियोग हो गया। संसारके मनकी बात पूरी हो जाय—यह कर्मयोग हो गया। मेरे मनकी बात है ही नहीं, मन मेरा है ही नहीं, यह तो प्रकृतिका है—यह ज्ञानयोग हो गया।

★

अनुभव और विश्वास

बहुत सरल और सुगम दो बातें हैं—एक बात तो अनुभवकी है और एक बात विश्वासकी है। अनुभवकी बात यह है कि संसार प्रतिक्षण बदल रहा है, कभी एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता। विश्वासकी बात यह है कि परमात्मा सब जगह हैं। वे सदा ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं, कभी बदलते नहीं। कई युग बदल जाते हैं, कई ब्रह्मा बदल जाते हैं, पर वह परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों ही रहता है। ऐसे ही उसके अंश जीवात्माका भी कभी अभाव नहीं होता।

जो अपरिवर्तनशील है, वह परमात्मतत्त्व सब देशमें, सब कालमें, सम्पूर्ण वस्तुओंमें, सम्पूर्ण प्राणियोंमें परिपूर्ण है।

वह सबको प्राप्त है। उसकी तरफ दृष्टि न हो—यह अलग बात है, पर वह तत्त्व अप्राप्त नहीं है; क्योंकि वह सबमें परिपूर्ण है और सबको मिला हुआ है। उसका कभी अभाव नहीं होता; क्योंकि वह भावरूप है। केवल उधर दृष्टि नहीं है, वह तो है ही। दृष्टि करो तो वही है; दृष्टि न करो तो वही है। आप उसको मानें तो भी वही है, न मानें तो भी वही है। आप जानें तो वही है, न जानें तो वही है। अब इसमें आप यह विश्वास कर लें कि वह परमात्मतत्त्व प्राप्त है। फिर उसका अनुभव हो जायगा।

आपको अनुभवकी यह बात बतायी कि सब संसार बदलनेवाला है और विश्वासकी यह बात बतायी कि परमात्मतत्त्व नहीं बदलनेवाला है और सबको प्राप्त है। जो बदलनेवाला और अनित्य है, वह 'प्रतीत' हो रहा है। जो नहीं बदलनेवाला और नित्य है, वह 'प्राप्त' है। इस प्रकार दो भेद हुए—एक प्रतीत है और एक प्राप्त है।

हम कहते हैं कि धन मिल गया, मान मिल गया, आदर मिल गया आदि-आदि, पर वास्तवमें मिला कुछ नहीं। यह तो प्रतीति है। यदि वास्तवमें मिल जाता तो फिर और मिलनेकी इच्छा नहीं रहती। जबतक मिलनेकी, पानेकी इच्छा है, तबतक वास्तविक चीज मिली नहीं। गीता साफ कहती है—**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।**(६।२२) जिस लाभकी प्राप्ति होनेपर उससे बढ़कर कोई दूसरा लाभ है—ऐसा वह मान ही नहीं सकता। जबतक भीतर यह इच्छा रहेगी कि और लाभ मिले, चाहे धन मिले, चाहे मान मिले, चाहे स्वास्थ्य मिले, तबतक वास्तवमें आपकी वस्तु आपको मिली नहीं—यह पक्की बात है। अपनी वास्तविक वस्तु मिल जानेपर 'और मिले'— यह इच्छा सदाके लिये शान्त हो जाती है। फिर कोई इच्छा बाकी नहीं रहती।

जो दीखता तो है, पर मिलता नहीं—इसका नाम 'प्रतीति' है। मनुष्यके भीतर 'प्रतीति' का जितना आदर है, उतना 'प्राप्त'का आदर नहीं है—यह है समस्या! अतः जो 'प्राप्त' है, उसपर दृढ़तासे विश्वास करना है कि बालकपनमें मैं जो था, वही मैं आज हूँ। शरीर बदला, मन बदला, भाव बदले, इन्द्रियाँ बदलीं, देश बदला, काल बदला, परिस्थिति बदली, घटनाएँ बदलीं, क्रियाएँ बदलीं—यह सब कुछ बदला, पर मैं नहीं बदला; मैं तो वही हूँ। वेदान्तमें आत्माकी नित्यताके लिये यह प्रबल युक्ति है कि 'मैं वही हूँ।'

कोई दो आदमी आठ-दस वर्षोंके बाद मिले। उनमें एक बड़ी अवस्थामें था और एक छोटी अवस्थामें था। छोटी अवस्थावालेने पूछा—'बाबाजी, आप मेरेको जानते हो?' बड़ी अवस्थावालेने उत्तर दिया—'भैया, मैं तो नहीं जानता, तुम मेरेको जानते हो क्या?' छोटी अवस्थावालेने कहा—'हाँ, मैं तो आपको जानता हूँ। देखो, अमुक समयमें मैं आपसे मिला था और हम दोनोंमें अमुक-अमुक बातें हुई थीं। मुझमें ज्यादा परिवर्तन होनेसे आप पहचान नहीं सके।' बड़ी अवस्थावाला बोला—'अच्छा वही हो तुम।' छोटी अवस्थावालेने पूछा—'आजकल कैसा चल रहा है!' बड़ी अवस्थावालेने उत्तर दिया—'आजकल तो बड़ी तकलीफमें हूँ। पैदा है नहीं और आफत आ रही है। तुम कैसे हो?' छोटी अवस्थावालेने कहा—'हमारा काम तो बहुत अच्छा चल रहा है।' अब इसमें विचार यह करना है कि मैं भी वही हूँ और तू भी वही है—इसमें सन्देह नहीं, पर परिस्थितिमें बहुत बड़ा अन्तर है। दोनोंकी अवस्था बदल गयी, परिस्थिति बदल गयी, पर वे दोनों वही हैं। अतः आपके साथ न अवस्था रहती है, न परिस्थिति रहती है, आप स्वयं इनसे अलग हैं। ये सब बदलनेवाले हैं, प्रतीतिमात्र हैं। इनको सच्चा माननेसे ही अनर्थ होते हैं। जितने भी अनर्थ होते हैं, इनको स्थायी माननेसे ही होते हैं।

अब प्रश्न होता है कि प्रतीति तो दीखती है, पर प्राप्त नहीं दीखता; अतः हम प्राप्तको कैसे मानें? उपनिषदोंमें एक वाक्य आता है—**'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** (बृहदारण्यक २।४।१४) 'जो सबको जाननेवाला है, उसको किससे जानें?' जैसे आँखसे सब कुछ दीखता है, पर आँख नहीं दीखती। दर्पणमें आँखकी आकृतिको भले ही देख लो, पर आँख (नेत्रेन्द्रिय) नहीं दीखती अर्थात् जो देखनेकी शक्ति है, वह नहीं दीखती। उस देखनेकी शक्तिसे ही सब कुछ दीखता है। ऐसे ही यह प्रतीति जिससे प्रतीत होती है, जो इस प्रतीतिको जाननेवाला है, वह प्राप्त है। अगर वह न होता तो प्रतीति किसको होती? जो इस परिवर्तनशील प्रतीतिको देखनेवाला है उसको ईश्वर कह दो, जीवात्मा कह दो, सत् कह दो, ब्रह्म कह दो—ये उसको कहनेके कई नाम हैं, वास्तवमें वह एक ही तत्त्व है।

अब एक शंका होती है कि परमात्मतत्त्व तो प्राप्त है ही, चाहे उसको प्राप्त बताओ अथवा न बताओ, फिर उसपर विश्वास करनेकी क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि जबतक परमात्मापर हमारा विश्वास नहीं होगा, तबतक परमात्मा प्राप्त होते हुए भी हमारे काम नहीं आयेंगे। विश्वास करो तो लाभ होगा, नहीं तो कुछ नहीं मिलेगा, केश भी नहीं मिलेगा। इसलिये परमात्मापर श्रद्धा-विश्वास तो करने ही पड़ेंगे। अभी मैंने उस परमात्मतत्त्वकी 'है' की प्रबल-युक्ति

बतायी कि जिससे प्रतीति होती है, वह 'है' है। पर लाभ उस 'है' को माननेसे, उसपर विश्वास करनेसे ही होगा।

एक आदमीकी गाय बीमार हो गयी। वह वैद्यके पास गया। वैद्यने कहा कि आप गायको आध पाव काली मिर्च पीसकर दे देना और उसके ऊपर पावभर घी दे देना। उसने बाजारसे आध पाव काली मिर्च खरीदी और पीसकर गायको खिला दी। दूसरे दिन वह वैद्यके पास आकर बोला—'साहब, गाय तो और ज्यादा बीमार हो गयी!' वैद्यने कहा—'कैसे हो गयी? उसको काली मिर्च दी थी क्या?' वह बोला—'हाँ, दी थी'। वैद्यने पूछा— 'घी दिया था क्या?' वह बोला—'घी तो नहीं दिया साहब! क्योंकि घी तो गायमें था ही, देनेकी क्या जरूरत?' 'मेरी गायके रोजाना पावभर घी निकलता ही है। कल मैंने गायको दुहा ही नहीं, तो वह पावभर घी उसके भीतर ही रहा; और काली मिर्च उसको दे ही दी।' गायको न दुहनेसे, काली मिर्च देनेसे और घी न देनेसे गरमी ज्यादा बढ़ गयी, जिससे गाय ज्यादा बीमार हो गयी। गायमें घी होते हुए वह काममें नहीं आया। अगर घीको निकालकर उसे देते तो वह काम आ जाता। इसी तरह वह परमात्मतत्त्व प्राप्त होते हुए भी श्रद्धा-विश्वासके बिना हमारे कुछ काम नहीं आयेगा। प्राप्त होते हुए भी वह हमारे लिये अप्राप्तकी तरह ही रहेगा। उस प्राप्त-तत्त्वकी प्राप्ति-(अनुभूति-) के लिये ही तो हम सब यहाँ इकट्ठे हुए हैं। वह प्राप्त है तो फिर दीखता क्यों नहीं—ऐसी चटपटी लगेगी, तब उसका अनुभव होगा। केवल बातें बनाते रहोगे तो कुछ हाथ नहीं लगेगा। मेरी तरह आप भी व्याख्यान दे दोगे, पर मिलेगा कुछ नहीं। इसलिये कहता हूँ कि आप उस तत्त्वसे वञ्चित क्यों रहते हो? बच्चेको मालूम हो जाय कि माँ यहाँ है तो वह रोने लग जायगा कि माँ है तो मुझे गोदमें क्यों नहीं लेती! 'परमात्मतत्त्व प्राप्त है'—ऐसा इसलिये कहा है कि उसको जाननेके लिये आपमें चटपटी लग जाय। 'वह तो प्राप्त ही है, अब उसको जाननेकी, उसपर विश्वास करनेकी क्या जरूरत'—यह तो महान् मूर्खता है। प्राप्तकी ही प्राप्ति (अनुभूति) करनी है। उसकी प्राप्ति प्रतीतिको सच्चा न माननेसे ही होगी—यह है चाबी। प्रतीतिको सच्चा माननेसे उसकी प्राप्ति कभी नहीं होगी, भले ही कितना पढ़ जाओ, चारों वेद पढ़ जाओ, छहों शास्त्र पढ़ जाओ। प्रतीतिको सच्चा मानते रहोगे कि धन भी है, सम्पत्ति भी है, उससे हम ऐसे हो जायँगे, नीरोग हो जायँगे, इतने मकान बना लेंगे आदि-आदि, तो सीधे नरकोंमें जाओगे, कोई रोकनेवाला नहीं। नरकोंमें जानेसे न धन रोकेगा, न मकान रोकेगा, न कुटुम्बी रोकेंगे।

श्रोता—महाराजजी! यह तो पता चलता है कि प्रतीति रहनेवाली नहीं है, फिर भी वह हमें आकृष्ट करती है।

स्वामीजी—आप प्रतीतिको प्रतीति न मानकर नित्य मानते हैं, तभी वह खींचती है। सिनेमामें बढ़िया भोजन दीखनेपर उसको खानेकी प्रवृत्ति होती है क्या? नहीं होती; क्योंकि जानते हैं कि मिलेगा कुछ नहीं। ऐसे ही संसारसे भी कुछ मिलनेवाला नहीं है। आज दिनतक संसारसे किसीको कुछ नहीं मिला। आप चाहे मिला हुआ मान लो, पर है यह कोरा वहम! संसार कहते ही उसको हैं, जो जा रहा है—**'सम्यक् प्रकारेण सरतीति संसारः'**। जो प्रतिक्षण जा रहा है, वह मिला कहाँ? इस संसारसे विमुख होनेपर ही उस परमात्मतत्त्वका अनुभव होगा।

═══ ★ ═══

शरीरसे अलगावका अनुभव

भगवान्‌ने मनुष्यको कल्याणकी सामग्री कम नहीं दी है, प्रत्युत बहुत ज्यादा दी है। उम्र भी बहुत ज्यादा दी है। कल्याण मिनटोंमें हो सकता है, पर उसके लिये वर्षोंकी उम्र दी है। थोड़े-से विचारसे कल्याण हो सकता है, पर विचार करनेकी शक्ति बहुत दी है। सब सामग्री इतनी ज्यादा दी है कि मनुष्य अपना कल्याण कई बार कर ले! जब कि वास्तवमें एक बार कल्याण करनेके बाद दूसरी बार कल्याण करनेकी जरूरत ही नहीं रहती। बहुत विचित्र सामग्री भगवान्‌ने मनुष्यको दी है। जैसे, एक बातपर आप विचार करें—आपको इस बातका बिल्कुल पक्का ज्ञान है कि बचपनसे लेकर आजतक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना सब बदल गये, पर मैं वही हूँ। बदलनेवालेको छोड़ दे और जो नहीं बदला है, उसको पकड़ ले तो अभी इसी क्षण बेड़ा पार है! जो बदलता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है और जो नहीं बदलता वह मेरा स्वरूप है। बस इतना ही काम है।

अनेक परिस्थितियोंमें, अनेक घटनाओंमें आप एक रहते हैं। अनेक देशोंमें घूम-फिरकर भी आप एक रहते हैं। बहुत समय बीतनेपर भी आप वही रहते हैं। सब कुछ बदलनेपर भी आप वही रहते हैं। जो वही रहता है, कभी बदलता नहीं, उसको आप बदलनेवालोंसे अलग करके देखें तो बस, तत्त्वज्ञान हो गया; और उन दोनोंको मिलाकर देखें तो

अज्ञान हो गया।

साधन करनेवाले भाई-बहनोंके मनमें एक बात जँची हुई है कि मन निर्विकार हो जाय, किसी घटनाका असर न पड़े तो तत्त्वज्ञान हो गया; और असर पड़ता है तो तत्त्वज्ञान नहीं हुआ। इस बातको आप ठीक तरहसे समझें कि असर किसपर पड़ता है ? असर मनपर पड़ता है, बुद्धिपर पड़ता है, शरीरपर पड़ता है, इन्द्रियोंपर पड़ता है; पर आप तो वही रहते हैं अर्थात् आपपर असर नहीं पड़ता। रुपये आये, नफा हुआ तो आपका मन प्रसन्न हो गया; और रुपये चले गये, घाटा लग गया तो आपका मन दुःखी हो गया। नफा-नुकसान होनेसे मनपर दो तरहका असर हुआ, पर आप तो वही रहे। नफा हुआ तो आप दूसरे थे और नुकसान हुआ तो आप दूसरे थे—ऐसा होता है क्या ? अगर आप एक नहीं रहते तो नफा और नुकसान— दोनोंका ज्ञान किसको होता ? आप तो सम ही रहते हैं, एक ही रहते हैं। आपपर असर पड़ता ही नहीं है। असर पड़ता है मन-बुद्धिपर।

तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुष भी बचपनसे जवान और बूढ़ा हो जाय तो उसको दिखना कम हो जायगा, सुनना कम हो जायगा, चलना-फिरना कम हो जायगा, पर उसके ज्ञानमें क्या फर्क पड़ा ? शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि—ये सब तो बदलनेवाले ही हैं। इनमेंसे कोई बदल गया, किसीपर असर पड़ गया तो क्या हो गया ? आप उसके साथ मिलकर अपनेको (स्वरूपको) सुखी-दुःखी मान लेते हो—यह गलती होती है। आप इस बातपर दृढ़ रहो कि मैं तो वही हूँ। सुखके समयमें जो था, वही दुःखके समयमें हूँ और दुःखके समयमें जो था, वही सुखके समयमें हूँ। इस प्रकार आने-जानेवालेके साथ न मिलकर अपने-आपमें स्थित रहना ही 'स्वस्थ' होना है—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४ । २४)। आने-जानेवालेके साथ मिलकर सुखी-दुःखी होना 'प्रकृतिस्थ' होना है—**'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते'** (गीता१३ । २१)। प्रकृतिमें स्थित आप हो नहीं पर जान-बूझकर उसमें स्थित हो जाते हो। आप न सुखमें हो, न दुःखमें; न लाभमें हो, न हानिमें; न किसीके जन्ममें हो, न किसीके मरणमें; आप इन सबसे अलग हो। आप जान-बूझकर इनको खींच करके ले लेते हो और सुखी-दुःखी हो जाते हो; फिर कहते हो कि बोध नहीं होता ! आप इसी बातमें स्थित रहो कि मैं तो वही हूँ। नफा हुआ तो मैं वही हूँ, नुकसान हुआ तो मैं वही हूँ। आप 'स्व'में (अपने-आपमें) स्थित हो जाओ, बस। 'स्व' सदा ही निर्विकार है। 'स्व' में कभी विकार होता ही नहीं। विकार अन्तःकरणमें होता है और उसके साथ मिलकर आप भी अपनेमें विकार मान लेते हो और सुखी-दुःखी होते हो।

आपके मनमें अच्छी आ जाय, मंदी आ जाय, शोक हो जाय, चिन्ता हो जाय, हर्ष हो जाय, राग हो जाय, द्वेष हो जाय—ये सब होनेपर भी आप अपनेमें स्थित रहो, उनसे मिलो मत। उनके साथ मिलते हो—यह प्रकृतिस्थ होना है। प्रकृतिस्थ होनेसे फिर पाप भी लगेगा, दुःख भी होगा, चौरासी लाख योनियाँ भी होंगी, नरक भी होंगे, जन्म-मरण भी होंगे—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३ । २१)। अतः जो बनते हैं, बिगड़ते हैं; आते हैं, जाते हैं, उनको देखकर भी आप अपनेमें स्थित रहो; क्योंकि आप उनको देखनेवाले (उनसे अलग) हो। सुखदायी परिस्थितिको भी आप देखते हो और दुःखदायी परिस्थितिको भी आप देखते हो। संयोगको भी आप देखते हो और वियोगको भी आप देखते हो। देखनेवाला दीखनेवाली वस्तुओंसे अलग होता है—यह नियम है। अतः देखनेवाले आपमें क्या फर्क पड़ा ? देखनेवाले आप तो वही रहे।

हम गङ्गाजीके किनारे खड़े हैं। बहुत-से सिलपट (लकड़ीके टुकड़े) बहते हुए आ गये और हमारे पाससे होकर निकले तो हम खिलखिलाकर हँस पड़े कि आज तो आनन्द हो गया ! दूसरे दिन हम वहीं खड़े रहे, पर एक भी सिलपट हमारे पाससे होकर नहीं निकला, सब उधरसे बहते हुए निकल गये तो हम जोर-जोरसे रोने लगे। कोई पूछे कि भाई, रोते क्यों हो ? तो हम बोले कि आज एक भी सिलपट हमारे पाससे नहीं निकला। आप विचार करें, सिलपट हमारे पाससे निकले अथवा दूरसे बह जाय, उससे हमारेपर क्या फर्क पड़ा ? हम सिलपटको छूते ही नहीं। सिलपट हमारे पास रहता ही नहीं, वह तो बहता है और हम एक जगह खड़े हैं। परंतु वह पाससे होकर बह गया तो राजी हो गये और दूरसे होकर बह गया तो रोने लगे—यह मूर्खता ही तो हुई ! ऐसे ही आपके यहाँ बेटा हुआ तो आप राजी हो गये और बेटा मर गया तो रोने लग गये। किसी दूसरे आदमीके यहाँ भी लड़का हुआ और मर गया, पर तब आप रोते नहीं। उसके यहाँ धन आया और चला गया, पर आप नहीं रोते। आपके यहाँ धन आकर चला जाय तो आप रोते हो। आपके पास पहले था नहीं, बीचमें हो गया, फिर चला गया तो आप जैसे पहले थे, वैसे ही रहे, फिर रोना किस बातका ? आप अपनेमें स्थित रहोगे तो रोओगे नहीं। परंतु आने-जानेवाली वस्तुओंके साथ चिपकोगे तो रोओगे मुफ्तमें।

संसारका दुःख आपने मुफ्तमें पकड़कर लिया हुआ है।

वास्तवमें दुःख है नहीं। भगवान्‌ने दुःख पैदा किया ही नहीं। आप ही दुःख पैदा कर लेते हो। आपको क्या शौक लगा है, पता नहीं ! आप बदलनेवालेके साथ मिलो मत। मिलोगे तो दुःखी होना पड़ेगा। मैं बदलनेवालेसे अलग हूँ—ऐसा देखते रहो। उनसे अलगावका साफ अनुभव होते ही सब दुःख, विकार मिट जायँगे।

श्रोता—हम तो उनसे मिले हुए ही हैं, अलग कैसे हों ?

स्वामीजी—मिले हुए आप हो ही नहीं, अगर मिले हुए होते तो आप अभीतक बच्चे ही रहते, बूढ़े होते ही नहीं। परन्तु आप कहते हो कि मैं जो बालकपनमें था, वही मैं आज हूँ, जब कि बालकपन आपके साथ नहीं रहा और आप बालकपनके साथ नहीं रहे। फिर आप मिले हुए कहाँ हो ? शरीर आदि बदलनेवाले हैं और आप न बदलनेवाले हैं। आपने भूलसे अपनेको उनसे मिला हुआ मान लिया। बस, इसको आप मत मानो। हम उनसे मिले हुए हैं—ऐसा दीखनेपर भी इसको आदर मत दो, प्रत्युत अपने अनुभवको आदर दो कि मैं उनसे अलग हूँ। कैसे अलग हूँ कि बचपनसे लेकर अबतक शरीर बदल गया, पर मैं वही हूँ। यह बिलकुल प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। आप शरीर आदिसे अलग हैं तभी तो बचपन बीत गया और आप रह गये। ऐसे ही यह जवानी और वृद्धावस्था भी बीत जायगी, पर आप रहोगे। जैसे बचपनके समय आप उससे अलग थे, ऐसे ही आज जवानीमें और वृद्धावस्थामें भी आप अलग हो। अगर फिर भी इसका ठीक अनुभव न हो, तो व्याकुल होकर भगवान्‌से कहो कि 'महाराज ! हमारेको इसका अनुभव नहीं हो रहा है। इतनी बात पक्की जान लो कि हम हैं तो अलग ही, चाहे अनुभव हो या न हो। अगर अलग न होते तो मरनेपर शरीर यहाँ नहीं रहता, साथमें जाता अथवा शरीरके साथ आप भी यहाँ रहते। परन्तु न आप शरीरके साथ रहते हो और न आपके साथ शरीर जाता है, फिर दोनों एक कैसे हुए ? मकानमें मैं रहता हूँ तो मकान मैं कैसे हो गया ? मैं मकानमें आता हूँ और मकानसे चला जाता हूँ, तो मकान और मैं अलग-अलग हुए। ऐसे ही शरीर भी एक मकान है और आप उसमें रहनेवाले हो। आप उसमें रहते हो और निकल भी जाते हो। उसके साथ आप एक नहीं हो।

मैं शरीरसे अलग हूँ—ऐसा अनुभव न हो तो भी इसको जबर्दस्ती मान लो। जैसे बीमारीसे छूटनेके लिये आप कड़वी-से-कड़वी दवा, चिरायते आदिका काढ़ा भी आँखें मीचकर पी लेते हो, ऐसे ही स्वस्थ होनेके लिये आप 'मैं अलग हूँ'—ऐसा मान लो। फिर भी ठीक अलग न दीखे तो व्याकुल हो जाओ कि अलग अनुभव जल्दी कैसे हो ! व्याकुलता जोरदार हो जायगी तो चट अनुभव हो जायगा। परन्तु भोगोंमें रस लेते रहोगे, सुख लेते रहोगे तो चाहे कितना ही पढ़ जाओ, पण्डित बन जाओ, चारों वेद पढ़ जाओ, पर शरीरसे अलगावका अनुभव कभी नहीं होगा।

═══ ★ ═══

विकारोंसे कैसे छूटें ?

साधन करनेवालोंके मनमें एक बात गहरी बैठी हुई है कि हम सत्संगकी बातें सुनते तो हैं, पर वे काममें नहीं आतीं। इसपर आप खूब विचार करें। जिसको आप काममें आना मानते हैं, वह वास्तवमें आपकी भूल है। भूल यह है कि आप उस ज्ञानको असत्‌में लाना चाहते हैं, जब कि वास्तवमें आपको असत्‌से ऊँचा उठना है। सुननेमें तो आप असत्‌से ऊँचा उठते हैं, पर परीक्षा करते हैं असत्‌के साथ मिलकर। असत्-(शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-) में तो विकार होते ही रहते हैं और आप उन विकारोंको अपने सत्-स्वरूपमें मानते रहते हैं और कहते हैं कि बातें आचरणमें नहीं आतीं।

आप साक्षात् परमात्माके अंश हैं। आपमें कोई विकार नहीं है। परंतु आपने भूलसे असत्‌के साथ 'मैं' और 'मेरा' का सम्बन्ध मान लिया अर्थात् नाशवान् शरीरको तो 'मैं' मान लिया और नाशवान् पदार्थोंको 'मेरा' मान लिया। इस प्रकार असत्‌को 'मैं' और 'मेरा' माननेसे आपका असत्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ गया। असत् कभी निर्विकार रह ही नहीं सकता। असत्‌के साथ सम्बन्ध जुड़नेसे आप असत्‌में होनेवाले विकारोंको अपनेमें मानते रहते हैं और कहते हैं कि सत्संगकी बातें काममें नहीं आतीं।

विकार तो आते हैं और चले जाते हैं, पर आप वैसे-के-वैसे ही रहते हैं। अतः आप अपने स्वरूपमें ही स्थित रहें, माने हुए मैं-मेरेपनमें स्थित न रहें। अपने स्वरूपमें स्थित रहनेसे आप सुख-दुःखमें सम अर्थात् निर्विकार हो जायँगे—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४।२४)। इस प्रकार सत्संगमें सुनी बात आपके काममें आ जायेगी।

जो स्वरूपमें स्थित न होकर प्रकृतिमें स्थित होता है, वही प्रकृतिजन्य गुणोंका, सुख-दुःखोंका भोक्ता बनता है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

(गीता १३।२१)

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥
(गीता १३ । २०)

'मैं' और 'मेरा'—यही प्रकृति है, माया है—'**मैं अरु मोर तोर तैं माया**' (मानस ३ । १५ । १) । इस मायाको पकड़कर कहते हैं कि बात काममें नहीं आती ! मायाको पकड़नेसे तो विकार पैदा होंगे । इसलिये आप सावधान रहें । विकारोंको अपनेमें मत मानें ।

जो कुछ दीखता है, वह सब प्रकृतिका है । अतः अपना कुछ नहीं है । अपने तो केवल प्रभु हैं, जो सदा हमारे साथ हैं । हमारा स्वरूप सत् है । सत्का कभी अभाव नहीं होता, उसमें कभी कोई कमी नहीं आती और कमी आये बिना हमारेमें कोई चाहना नहीं होती । अतः अपने लिये कुछ नहीं चाहिये । अपने लिये कुछ करना भी नहीं है । आपकी स्वाभाविक स्थिति सत्में है और असत्में स्वाभाविक क्रिया हो रही है । उन क्रियाओंके साथ हम मिल जाते हैं और उन क्रियाओंको अपनेमें मिला लेते हैं—यह गलती होती है । इसलिये हमारा यह विवेक साफ-साफ रहे कि हमारा कुछ नहीं है, हमारेको कुछ नहीं चाहिये और हमारेको कुछ नहीं करना है । पुराने अभ्याससे अगर असत्के साथ अपना सम्बन्ध दीख भी जाय तो थोड़ा ठहरकर विचार करें कि यह तो जाननेमें आनेवाला है और मैं इसको जाननेवाला हूँ । 'जाननेमें आनेवाले' से 'जाननेवाला' सर्वथा अलग होता है । हम खम्भेको देखते हैं तो खम्भा हमारेमें थोड़े ही आ जायगा ! खम्भा तो जाननेमें आनेवाली चीज है । जाननेमें आनेवाली चीज जाननेवालेमें नहीं होती ।

जिसको यह कहते हैं, वह 'मैं' नहीं हो सकता—यह नियम है । 'यह' तो 'यह' ही रहेगा । भगवान्ने शरीरको 'यह' कहा है—'**इदं शरीरम्**' (गीता १३ । १) । अतः यह शरीर 'मैं' कैसे हो सकता है ? शरीर 'मेरा' भी नहीं हो सकता; क्योंकि हम स्वयं भगवान्के अंश हैं । '**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५ । ७) और शरीर, इन्द्रियाँ आदि प्रकृतिके अंश हैं—'**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि**' (गीता १५ । ७) । अतः शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मानना भूल है । जितने भी विकार आते हैं, वे सब मनमें, बुद्धिमें, इन्द्रियोंमें ही आते हैं । स्वयंमें विकार कभी आता ही नहीं । विकार आता है और चला जाता है—इसको आप जानते हो । आने-जानेवाला विकार आपमें कैसे आ सकता है ? इस बातको पक्का कर लो कि मैं रहनेवाला हूँ और ये विकार आने-जानेवाले हैं । विकारोंको आने-जानेवाले और अनित्य समझकर उनको सह लो अर्थात् निर्विकार रहो—'**आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व**' (गीता २ । १४) ।

यह नियम है कि संसारके साथ मिलनेसे संसारका ज्ञान नहीं होता और परमात्मासे अलग रहनेपर परमात्माका ज्ञान नहीं होता । संसारसे अलग होनेपर ही संसारका ज्ञान होगा और परमात्मासे अभिन्न होनेपर ही परमात्माका ज्ञान होगा । इसलिये यदि असत्के साथ मिल जाओगे तो न सत्का ज्ञान होगा और न असत्का ज्ञान होगा । कारण यह है कि वास्तवमें संसारसे हमारी भिन्नता है और परमात्मासे हमारी अभिन्नता है ।

श्रोता—अन्तःकरण शुद्ध होनेसे तो ज्ञान हो जायगा ?

स्वामीजी—तो अन्तःकरण शुद्ध कर लो, मना कौन करता है ? परन्तु भाई, शुद्ध करनेसे अन्तःकरण इतना जल्दी शुद्ध नहीं होगा, जितना जल्दी सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे शुद्ध होगा । कारण कि असत् (अन्तःकरण) की सत्ता मान करके आप उसको शुद्ध करना चाहोगे तो उसमें बहुत देरी लगेगी और वह होगा भी नहीं । यदि असत्की सत्ता न मानकर उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लो तो बहुत जल्दी काम बनेगा ।

भगवान्ने कहा है—'**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते**' (गीता १३ । १) अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीनों ही शरीर '**इदम्**' होनेसे अपनेसे अलग हैं और 'क्षेत्र' नामसे कहे जाते हैं । जो इनको जानता है, वह 'क्षेत्रज्ञ' नामसे कहा जाता है—'**एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः**' (गीता १३ । १) । उस क्षेत्रज्ञकी दृष्टि क्षेत्रकी तरफ न होकर भगवान्की तरफ हो जाय—'**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि**' (१३ । २) । **भगवान्की तरफ दृष्टि होनेसे जितनी** शुद्धि होगी, उतनी अन्तःकरणको शुद्ध करनेकी चेष्टासे शुद्धि नहीं होगी । आप परमात्माके साथ जितने अभिन्न रहोगे, उतनी ही आपमें स्वाभाविक शुद्धि आयेगी । मनमें, इन्द्रियोंमें, शरीरमें, व्यवहारमें, सबमें स्वतः ही शुद्धि आयेगी । कारण कि आपने सत्के साथ अभिन्नता कर ली, मूल चीज पकड़ ली । अब इसमें कठिनता क्या है ? बहुत सीधी-सरल बात है ।

आप आने-जानेवाले असत् पदार्थोंके साथ सम्बन्ध न जोड़कर अपने सत् स्वरूपमें स्थित रहो । जब आप असत् पदार्थोंसे सुख लेने लग जाते हो, तब असत्का संग हो जाता है । असत्का संग करनेके बाद आप अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिये जोर लगाते हैं और समझते हैं कि हम ठीक कर रहे हैं—यही उलझन है, यही असमर्थता है । जोर लगानेपर भी जब काम नहीं बनता, तब हताश हो जाते हैं कि भाई, हमारेसे तो यह काम नहीं बनता । क्यों नहीं बनता कि आपने असत्को पकड़ लिया । असत्को न पकड़ें तो अपना स्वरूप बना-बनाया, ज्यों-का-त्यों ही है ।

शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि प्रकृतिमें स्थित हैं—**'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि'** (गीता १५।७)। इनमें आप उस सत्‌को लाना चाहते हैं और जब वह आता नहीं; तब कहते हैं कि सत्संगकी बात हमारे व्यवहारमें नहीं आती, हमारे आचरणमें नहीं आती! असत् (अन्तःकरण) को अपना मानकर उसे शुद्ध करना चाहोगे तो कैसे शुद्ध होगा? उसको अपना मानना ही अशुद्धि है। ममता ही मल है—**'ममता मल जरि जाइ'** (मानस ७।११७क)। मलको लगाकर शुद्ध करना चाहते हो तो कैसे शुद्ध होगा?

ये बातें सुनकर आपमें हिम्मत आनी चाहिये कि अब हम यह भूल नहीं करेंगे; क्योंकि अब हमने इसको ठीक समझ लिया। असत्‌को 'मैं' और 'मेरा' मान लिया—मूलमें यहाँसे भूल हुई। यही मूल भूल है। इस भूलको मिटाकर अपने निर्विकार स्वरूपमें स्थित हो जाओ। जबतक भूल न मिटे, तबतक चैन नहीं आना चाहिये। छोटा बालक हर समय अपनी माँकी गोदीमें रहना चाहता है। गोदीसे नीचे उतरते ही वह रोने लग जाता है। आप भी हर समय सत् (भगवान्) की गोदीमें रहो। असत्‌में जाते ही रोने लग जाओ कि अरे! कहाँ आ पड़े! हम तो गोदीमें ही रहेंगे। फिर असत्‌का सम्बन्ध सुगमतासे छूट जायगा।

═══ ★ ═══

सार बात

अबतक मैंने जो कुछ सुना, पढ़ा और समझा है, उसका सार बताता हूँ। वह सार कोई नयी बात नहीं है, सबके अनुभवकी बात है। मनुष्यका स्वभाव है कि वह सदा नयी-नयी बात चाहता है। वास्तवमें नयी बात वही है, जो सदा रहनेवाली है। उस बातकी ओर आप ध्यान दें। बहुत ही लाभकी बात है और बहुत सीधी सरल बात है। उसे धारण कर लें। दृढ़तासे मान लें तो अभी बेड़ा पार है। अभी चाहे ऐसा अनुभव न हो, पर आगे अनुभव हो जायगा—यह निश्चित है। विद्या समय पाकर पकती है—**'विद्या कालेन पच्यते।'** अतः आप उस सार बातको आज ही मान लें। जैसे, खेती करनेवाले जमीनमें बीज बो देते हैं, और कोई पूछे तो कहते हैं—खेती हो गयी। ऐसे ही मैं कहता हूँ कि उस बातको दृढ़तापूर्वक मान लें तो कल्याण हो गया! हाँ, जिसकी विशेष उत्कण्ठा होगी, उसे तो अभी तत्त्वका अनुभव हो जायगा और कम उत्कण्ठा होगी तो अनुभवमें देर लगेगी।

यह जो संसार है, यह प्रतिक्षण नाशकी ओर जा रहा है—यह सार बात है। साधारण-सी बात दीखती है, पर बहुत बड़ी सार बात है। यह देखने, सुनने, समझनेमें आनेवाला संसार एक क्षण भी टिकता नहीं, निरन्तर जा रहा है। जितने भी जीवित प्राणी हैं सब-के-सब मृत्युमें जा रहे हैं। सारा संसार प्रलयमें जा रहा है। सब कुछ नष्ट हो रहा है। जो दृश्य है, वह अदृश्य हो रहा है। दर्शन अदर्शनमें जा रहा है। भाव अभावमें परिणत हो रहा है। यह सार बात है। यह सबके अनुभवकी बात है। इसमें किसीको किञ्चिन्मात्र भी शंका-सन्देह नहीं है। अभी 'है' रूपसे जो कुछ दिखता है, वह सब 'नहीं' में जानेवाला है। शरीर, धन, जमीन, मकान, कुटुम्ब, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, पद, अधिकार, योग्यता आदि सब-के-सब 'नहीं' अर्थात् अभावमें जा रहे हैं। यह बात ध्यानपूर्वक सुन लें, समझ लें और मान लें। बिलकुल सच्ची बात है। संसारको 'है' अर्थात् रहनेवाला मानना ही भूल है।

स्मृति (याद) दो प्रकारकी होती है—(१) क्रियात्मक, जैसे नाम-जप करना आदि, और (२) ज्ञानात्मक। क्रियात्मक-स्मृति निरन्तर नहीं रहती है, पर ज्ञानात्मक-स्मृति निरन्तर रहती है। जान लिया तो बस जान ही लिया। जाननेके बाद फिर विस्मृति, भूल नहीं होती। क्रियात्मक-स्मृतिमें जब क्रिया नहीं होती, तब भूल होती है। ज्ञानात्मक-स्मृतिकी भूल दूसरे प्रकारकी है। जैसे एक व्यक्ति अपने-आपको ब्राह्मण मानता है। वह दिनभरमें एक बार भी याद नहीं करता कि मैं ब्राह्मण हूँ। काम न पड़े तो महीनेभर भी याद नहीं करता। परन्तु याद न करनेपर भी भीतर 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह ज्ञानात्मक याद निरन्तर रहती है। उससे कभी कोई पूछे तो वह अपनेको ब्राह्मण ही बतलायेगा। इस यादकी भूल तभी मानी जायगी, जब वह अपनेको गलतीसे वैश्य, क्षत्रिय या हरिजन मान ले। इसी तरह यदि संसारको रहनेवाला, सच्चा मान लिया, तो यह भूल है। इसलिये यह अच्छी तरह मान लें कि संसार निरन्तर नाशमें जा रहा है। फिर चाहे यह बात याद रहे या नहीं। मानी हुई बातको याद नहीं करना पड़ता। मानी हुई बातकी ज्ञानात्मक-स्मृति रहती है। बहनें-माताएँ मानती हैं कि 'मैं स्त्री हूँ' तो इसे याद नहीं करना पड़ता। भाई लोग मानते हैं कि 'मैं पुरुष हूँ' तो इसे याद नहीं करना पड़ता। ऐसे ही साधुको 'मैं साधु हूँ' ऐसे याद नहीं करना पड़ता, कोई माला नहीं फेरनी पड़ती। मान लिया तो बस, मान ही लिया। विवाह होनेके बाद व्यक्तिको सोचना नहीं पड़ता कि विवाह हुआ या नहीं। इसी तरह आप आज ही विशेषतासे विचार कर लें कि

संसार प्रतिक्षण जा रहा है। यह अभी जिस रूपमें है, उस रूपमें यह सदा रह सकता ही नहीं।

दूसरी बात, जो संसार 'नहीं' है, वह 'है' के द्वारा ही दीख रहा है। जैसे, एक व्यक्ति बैठा है और उसके सामनेसे बीस-पचीस व्यक्ति चले गये। पूछनेपर वह कहता है कि बीस-पचीस आदमी यहाँसे होकर चले गये। यदि वह व्यक्ति भी उनके साथ चला जाता, तो कौन समाचार देता कि इतने व्यक्ति यहाँसे होकर गये हैं ? पर वह व्यक्ति गया नहीं, वहीं रहा है, तभी वह उन व्यक्तियोंके जानेकी बात कह सका है। रहे बिना गयेकी सूचना कौन देगा ? इसी प्रकार परमात्मा रहनेवाला है और संसार जानेवाला है। यदि आप यह बात मान लें कि संसार जा रहा है, तो आपकी स्थिति स्वाभाविक ही सदा रहनेवाले परमात्मामें होगी, करनी नहीं पड़ेगी। जहाँ संसारको रहनेवाला माना कि परमात्माको भूले। संसारको प्रतिक्षण जाता हुआ मान लेनेसे परमात्माकी याद न आनेपर भी आपकी स्थिति वस्तुतः परमात्मामें ही है।

संसार जा रहा है—यह बहुत श्रेष्ठ और मूल्यवान् बात है, सिद्धान्तकी बात है, वेदों और वेदान्तकी बात है, महापुरुषोंकी बात है। परमात्मा रहनेवाले हैं और संसार जानेवाला है। वह परमात्मा 'है' रूपसे सर्वत्र परिपूर्ण है। सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—ये युग बदलते हैं, पर परमात्मा कभी नहीं बदलते। वे सदा ज्यों-के-त्यों रहते हैं। दो ही खास बातें हैं कि संसार नहीं है और परमात्मा हैं; संसार जानेवाला है और परमात्मा रहनेवाले हैं। यदि आपने इन बातोंको मान लिया, तो मानो बहुत बड़ा कार्य कर लिया, आपका जीवन सफल हो गया। फिर तत्त्वज्ञान, भगवत्प्राप्ति, मुक्ति आदि सब इसीसे हो जायगी।

संसार निरन्तर जा रहा है, ऐसा देखते-देखते एक स्थिति ऐसी आयेगी कि अपने लिये संसारका अभाव हो जायगा। एक परमात्मा ही है और संसार नहीं है—ऐसा अनुभव हो जायगा। संतोंने कहा है—*'यह नहिं यह नहिं यह नहिं होई, ताके परे अगम है सोई।'* यही सार बात है। इसे हृदयमें बैठा लें। सबके अनुभवकी बात है कि पहलेकी अवस्था, परिस्थिति, घटना, क्रिया, पदार्थ, साथी आदि अब कहाँ हैं ? जैसे वे चले गये, वैसे अभीकी अवस्था, परिस्थिति, पदार्थ आदि भी चले जायँगे। ये तो निरन्तर जा ही रहे हैं। संसारकी तो सदासे ही जानेकी रीति चली आ रही है—

कोई आज गया कोई काल गया कोई जावनहार तैयार खड़ा।
नहीं कायम कोई मुकाम यहाँ चिरकालसे यही रिवाज रही॥

आरम्भसे ही यह रिवाज चली आ रही है कि संसार एक क्षण भी रुकता नहीं। यह सबका अनुभव है। इस अनुभवका आदर नहीं करते, यही गलती है। इसीसे बारम्बार जन्म-मरण होता है। अतः आज ही दृढ़तापूर्वक मान लें कि संसारमात्र प्रतिक्षण जा रहा है। यही सार बात है।

—★—

मुक्ति सहज है

एक बहुत ही बढ़िया, श्रेष्ठ बात है। इस ओर आप ध्यान दें तो विशेष लाभ होगा। बात यह है कि हम भगवत्प्राप्ति, जीवन्मुक्ति, तत्त्वज्ञान, परमप्रेम, कल्याण, उद्धार आदि जो कुछ (ऊँची-से-ऊँची बात) चाहते हैं, उसकी प्राप्ति स्वतःसिद्ध है। यह बहुत ही मूल्यवान् बात है। इसे आप मान लें। इसे समझानेमें मैं अपनेको असमर्थ समझता हूँ। लोगोंकी धारणा है कि माननेसे क्या होता है? केवल मान लेनेसे क्या लाभ होगा? इसलिये मेरी बातको सुनकर टाल देते हैं।

अब आप ध्यान दें। गीतामें भगवान्ने कहा है—**'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।।'** (१३।१९) 'प्रकृति और पुरुष दोनोंको ही तू अनादि जान'। और **'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।'** (१३।२) 'हे अर्जुन! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान।' अभिप्राय यह है कि प्रकृति और पुरुष दोनों भिन्न-भिन्न हैं—ऐसा मान लें। आप पुरुष हैं और प्रकृति आपसे भिन्न है। तात्पर्य यह निकला कि आप जिससे अलग अर्थात् मुक्त होना चाहते हैं, उस प्रकृतिसे आप स्वतः मुक्त हैं। केवल आपने अपनी इच्छासे प्रकृतिको पकड़ रखा है, उसे स्वीकार कर रखा है। प्रकृतिको पकड़नेसे ही दुःख और बन्धन हुआ है। इसे छोड़ दें तो आप ज्यों-के-त्यों (जीवन्मुक्त) ही हैं।

आप निरन्तर रहनेवाले हैं और प्रकृति निरन्तर बदलनेवाली है। वह आपसे स्वाभाविक अलग है। प्रकृतिने आपको नहीं पकड़ा है अपितु आपने ही प्रकृतिको पकड़ा है और मैं-मेरेकी मान्यता की है। मैं-मेरेकी मान्यता करना ही भूल है। यह जो इन्द्रियोंसहित शरीर है, यह 'मैं' नहीं है और जो संसार है, वह 'मेरा' नहीं है। इस बातको मान लेना है और कुछ नहीं करना है। कारण कि वस्तुतः बात ऐसी ही है। आप निरन्तर रहनेवाले और संसार निरन्तर जानेवाला है—इस ओर केवल दृष्टि करनी है, और कुछ नहीं करना है। यह करना-कराना सब प्रकृति संसारके राज्यमें है। जिस क्षण यह विचार हुआ कि हम संसारसे अलग हैं, उसी क्षण मुक्ति है।

संसारसे सम्बन्ध माननेमें खास बात है—उससे सुख लेनेकी इच्छा। यह सुख लेनेकी इच्छा ही सम्पूर्ण दुःखों, पापों, अनर्थों, दुराचारों, अन्यायों आदिकी जड़ है। जबतक सांसारिक पदार्थोंके संग्रह और सुख-भोगकी इच्छा रहेगी, तबतक चाहे कितनी ही बातें सुन लो, पढ़ लो, सीख लो और चाहे त्रिलोकीका राज्य प्राप्त कर लो, फिर भी दुःख मिटेगा नहीं—यह पक्की बात है। संग्रह और सुख-भोगकी वृत्ति चेष्टा करनेसे नहीं मिटेगी। यहाँ चेष्टाकी बात ही नहीं है। आपने मैं-मेरेकी मान्यता की हुई है। मानी हुई बात न माननेसे ही मिटती है, चेष्टासे नहीं। विवाह होनेपर स्त्री पुरुषको अपना पति मान लेती है, तो इसमें (पति माननेमें) कौन-सी चेष्टा करनी पड़ती है? बस, केवल मानना होता है। किसीसे सम्बन्ध जोड़नेमें और सम्बन्ध तोड़नेमें सब स्वतन्त्र हैं। वास्तवमें हमारा सम्बन्ध केवल परमात्मासे है। भूलसे हमने प्रकृतिसे सम्बन्ध जोड़ लिया। अब उस माने हुए सम्बन्धको तोड़ लेना है—बस, यही काम है। परमात्मासे हमारा सम्बन्ध स्वाभाविक और सच्चा है, और प्रकृतिसे हमारा सम्बन्ध अस्वाभाविक और बनावटी है। अस्वाभाविक और बनावटी सम्बन्धको तोड़ देना है। वह टूटेगा प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध न माननेसे। पहले अपनेको बालक मानते थे, पर क्या अब अपनेको बालक मानते हैं? तो जैसे बालकपनके साथ आपने मान्यता की थी, वैसी ही अब जवानीके साथ मान्यता कर ली कि 'मैं जवान हूँ'। ऐसे ही 'मैं रोगी हूँ', 'मैं नीरोग हूँ' आदि मान्यताएँ कर लीं। वृद्धावस्थाके साथ मान्यता कर ली और फिर मृत्युके साथ मान्यता कर ली। विचार करें कि मान्यता करनेके सिवा आपने और कौन-सी चेष्टा की? जैसे आपने पहले अपनेको बालक माना, वैसे ही अब अपनेको बालक न मानकर जवान मान लिया। तो केवल मान्यता-ही-मान्यता है। न कोई चेष्टा है, न कोई विचार। इतनी सुगम बात संसारमें है ही नहीं। केवल संयोगजन्य सुखकी इच्छाके ही कारण कठिनाई हो रही है। वह संयोगजन्य सुख भी ऐसा है कि जिससे परिणाममें दुःख-ही-दुःख मिलता है। सुखकी लालसासे महान् अनर्थ होगा ही। इसे टालनेकी ताकत ब्रह्माजीमें भी नहीं है। रुपये मिल जायँ तो सुखी हो जाऊँगा, पदार्थ मिल जायँ तो सुखी हो जाऊँगा—यहीं सारी बात अटकी हुई है। आजतक इन पदार्थोंसे किसीको पूर्ण सुख नहीं मिला। मिल सकता ही नहीं। बालकपनसे ही सुख लेनेके पीछे पड़े हैं। अबतक कितना सुख ले लिया, बताओ? धन भी इकट्ठा किया है, विषय भोग भी भोगे हैं, थोड़ी-बहुत मान-बड़ाई भी मिली है—इस प्रकार संसारका थोड़ा नमूना आप-हम सभीने देखा ही है। पर बताओ कि क्या इनसे अभीतक तृप्ति हुई है? क्या इनसे पूर्ण सुख मिला है? यदि नहीं मिला तो फिर इनके पीछे क्यों पड़े हो? क्या कोई वहम बाकी रह गया है? बाकी यही रहा है कि बढ़िया दुःख मिलेगा! सिवाय दुःखके और कुछ नहीं मिलेगा। यह कोई मामूली, खेल-तमाशेकी बात नहीं है। संयोगजन्य सुख लेनेसे परिणाममें दुःख होता ही है। सच्चा सुख, आनन्द बाहरसे नहीं आता अपितु भीतरसे निकलता है। सच्चे सुखका अन्त नहीं आता। एक बार मिलनेपर फिर कभी बिछुड़ता नहीं। पर जबतक बाहरका सुख लोगे, उसकी इच्छा करोगे, उसे महत्त्व दोगे, तबतक भीतरका सुख मिलेगा नहीं। संयोगजन्य सुखकी इच्छाको दूर करनेका उपाय है 'दूसरोंको सुख कैसे मिले' ऐसी जोरदार इच्छा। भीतरमें व्याकुलता उत्पन्न हो जाय कि दूसरोंका दुःख कैसे मिटे? मैं करनेपर जोर नहीं देता हूँ अपितु भाव बनानेपर जोर देता हूँ। भावसे चट काम होता है। भाव हो, तो करना स्वतः हो जायगा। सम्पूर्ण प्राणियोंके सुखका भाव होनेपर अपने सुखकी लालसा सुगमतापूर्वक मिट जायगी और अपने सुखकी लालसा मिटनेपर प्राप्त वस्तु-(मुक्ति, प्रेम आदि-) का अनुभव सुगमतापूर्वक हो जायगा।

संयोगमें वियोगका दर्शन

संसारमें संयोग और वियोग—दो चीजें हैं। जैसे आप और हम मिले तो यह संयोग हुआ तथा आप और हम अलग हुए तो यह वियोग हुआ। तो ये जो संयोग और वियोग हैं, इन दोनोंमें वियोग प्रबल है। तात्पर्य यह कि संयोग होगा कि नहीं होगा—इसका तो पता नहीं, पर वियोग जरूर होगा—यह पक्की बात है। जिसका वियोग हो जाय, उसका फिर संयोग होगा— यह निश्चित नहीं, पर जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग होगा—यह निश्चित है। इससे यह सिद्ध होता है कि जितने भी संयोग हैं, सब वियोगमें जा रहे हैं। प्रत्येक संयोगका वियोग हो रहा है। यह सबके अनुभवकी बात है। अब इसमें बुद्धिमानीकी बात यह है कि जिसका वियोग अवश्यम्भावी है, उसके वियोगको हम अभी, वर्तमानमें ही मान लें। फिर मुक्ति, तत्त्वज्ञान, बोध अपने-आप हो जायगा। कितनी सरल बात है!

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, 'मैं' पन—सबका एक दिन वियोग हो जायगा। आप इनके वियोगका अनुभव

वर्तमानमें ही कर लें। प्रत्येक संयोग वियोगमें बदल जाता है, इसलिये वास्तवमें वियोग ही है, संयोग है ही नहीं। संयोगरूपी लकड़ी निरन्तर वियोगरूपी आगमें जल रही है।

जीवका वास्तविक सम्बन्ध परमात्माके साथ है; जिसे 'योग' कहते हैं। इसका कभी वियोग नहीं होता। वस्तुतः परमात्मासे जीवका वियोग कभी हुआ ही नहीं। जीव केवल परमात्मासे विमुख हो जाता है। मनुष्यका संसारसे संयोग होता है, योग नहीं होता। संयोगका तो वियोग हो जाता है, पर योग सदा रहता है। जैसे यहाँ हम दो महीनेके लिये आये हैं। अब पंद्रह-बीस दिन गुजर गये, तो क्या अब भी दो महीने हैं? ये पंद्रह-बीस दिन वियुक्त हो गये, हम इनसे अलग हो गये और अलग हो ही रहे हैं। एक दिन पूरा वियोग हो जायगा। ऐसे मात्र पदार्थ, परिस्थिति, अवस्था आदिका हमसे वियोग हो रहा है। कोई नया संयोग होगा तो वह भी वियोगमें जायगा। इसमें क्या सन्देह है, बताओ? तो इस वियोगको ही हम महत्त्व दें, इसे ही सच्चा मानें। फिर परमात्मामें स्वतः हमारी स्थिति हो जायगी। कारण कि सचाईसे ही सचाईमें स्थिति होती है। परमात्मामें स्थितिका ही नाम है—मुक्ति।

जो अवश्यम्भावी है अर्थात् जिसका होना निश्चित है उस वियोगको पहले ही स्वीकार कर लें, तो फिर अन्तमें रोना नहीं पड़ेगा—

मन पछितैहै अवसर बीते।
अंतहुँ तोहिं तजैंगे पामर! तू न तजै अब ही ते॥

(विनय-पत्रिका १९८)

वर्तमानमें ही वियोगको स्वीकार कर लेना 'योग' है—**'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।'** (गीता ६।२३) 'दुःखरूप संसारके संयोगके वियोगका नाम योग है।' संयोगमें विषमता रहती है। संयोगके बिना विषमता नहीं होती। संयोगका त्याग करनेसे विषमता मिट जाती है और योग प्राप्त हो जाता है—**'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २।४८)। फिर न कोई दुःख रहता है, न सन्ताप रहता है, न जलन या हलचल ही रहती है।

जबतक संयोग है, तबतक प्रेमसे रहो, दूसरोंकी सेवा करो—***'सबसे हिलमिल चालिये, नदी नाव संजोग॥'*** जितनी बन सके, सेवा कर दो। बदलेमें किसी वस्तुकी आशा मत रखो। जिनसे वियोग ही होगा, उसकी आशा रखे ही क्यों? माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु आदि जितने भी हैं, उन सबसे एक दिन वियोग होगा। उनसे अच्छे-से-अच्छा व्यवहार कर दें। मनकी यह गलत भावना निकाल दें कि वे बने रहेंगे। जो मिला हुआ है, वह सब जा रहा है, फिर और मिलनेकी आशा क्यों रखें? और मिलेगा कि नहीं मिलेगा—इसका पूरा पता नहीं, पर मिल जाय तो रहेगा नहीं—इसका पूरा पता है। फिर उसके मिलनेकी इच्छा करके व्यर्थ अपनी बेइज्जती क्यों करें?

राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि भी रहते नहीं अपितु जा ही रहे हैं। ये सब विनाशी हैं और जीव अविनाशी है—***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी।'*** विनाशीका संग छोड़ना मुक्ति है और अविनाशीमें स्थित होना भक्ति है। विनाशीका वियोग हो ही रहा है। इस वियोगको अभी ही स्वीकार कर लें। फिर मुक्ति और भक्ति—दोनों स्वतःसिद्ध हैं।

मुक्तिका रहस्य

हम सबके अनुभवकी बात है कि जब गाढ़ नींद आती है, तब कुछ भी याद नहीं रहता। रुपये, पदार्थ, कुटुम्ब, जमीन, मकान आदि कुछ भी याद नहीं रहता। ऐसी स्थितिमें हमें कोई दुःख होता है क्या? गाढ़ नींदमें किसी भी प्राणी-पदार्थका सम्बन्ध न रहनेपर भी हमें दुःख नहीं होता अपितु सुख ही होता है। इससे सिद्ध हुआ कि संसारके सम्बन्धसे सुख नहीं होता। अभी आप सोचते हैं कि हमें धन मिल जाय, ऊँचा पद मिल जाय, मान-बड़ाई मिल जाय, भोग मिल जाय, आराम मिल जाय तो हम सुखी हो जायँगे। विचार करें कि जब गाढ़ निद्रामें किसी भी प्राणी-पदार्थसे सम्बन्ध न रहनेपर भी दुःख नहीं होता, और सुख होता है तब इन वस्तुओंकी प्राप्तिसे सुख मिल जायगा क्या? इस बातपर गहरा विचार करें।

जाग्रत्‌की वस्तु स्वप्नमें और स्वप्नकी वस्तु सुषुप्तिमें नहीं रहती। तात्पर्य यह कि जाग्रत् और स्वप्नकी वस्तुओंके बिना भी हम रहते हैं। इससे सिद्ध यह हुआ कि वस्तुओंके बिना भी हम सुखपूर्वक रह सकते हैं अर्थात् हमारा रहना वस्तु, अवस्था आदिके आश्रित नहीं है। इसलिये वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति आदिके द्वारा हम सुखी होंगे और इनके बिना हम दुःखी होंगे—यह बात गलत सिद्ध हो गयी।

जाग्रत्‌में भी अनेक पदार्थोंके बिना हम रहते हैं, पर सुषुप्तिमें तो सम्पूर्ण पदार्थोंके बिना हम रहते हैं और उससे हमें शक्ति मिलती है। अच्छी गहरी नींद आनेपर स्वास्थ्य अच्छा होता है और जगनेपर व्यवहार अच्छा होता है। नींदके बिना मनुष्यका जीना कठिन है। नींद लिये बिना उसे चैन नहीं पड़ता। इससे सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण वस्तुओंके अभावके

बिना हम रह नहीं सकते। वस्तुओंका अभाव बहुत आवश्यक है। अतः अनुभवके आधारपर हमारी यह मान्यता गलत सिद्ध हो गयी कि धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब आदिके मिलनेसे ही हम सुखी होंगे और उनके बिना रह नहीं सकेंगे।

सुषुप्तिमें वस्तुओंके बिना भी हम जीते हैं। जीते ही नहीं, सुखी भी होते हैं और शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि सबमें ताजगी भी आती है। जाग्रत्‌में जब वस्तुओंसे सम्बन्ध रहता है, तब हमारी शक्ति क्षीण होती है और नींदमें वस्तुओंका सम्बन्ध न रहनेसे शक्ति संचित होती है। वस्तुओंके सम्बन्ध-विच्छेदके बिना और नींदमें क्या होता है ? यदि जाग्रत् अवस्थामें ही हम वस्तुओंसे अलग हो जायँ, उनसे अपना सम्बन्ध न मानें, उनका आश्रय न लें, तो जीवन्मुक्त हो जायँ ! नींदमें तो बेहोशी (अज्ञान) रहती है, इसलिये उससे जीवन्मुक्त नहीं होते। सम्पूर्ण वस्तुओंसे सम्बन्ध-विच्छेद होना मुक्ति है। मुक्तिमें जो आनन्द है, वह बन्धनमें नहीं है। मुक्तिमें आनन्द होता है—वस्तुओंसे सम्बन्ध छूटनेसे। नींदमें जब वस्तुओंको भूलनेसे भी सुख-शान्ति मिलती है, तब जानकर उनका सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे कितनी सुख-शान्ति मिलेगी !

शरीर और संसार एक है। ये एक-दूसरेसे अलग नहीं हो सकते। शरीरको संसारकी और संसारको शरीरकी आवश्यकता है। पर हम स्वयं (आत्मा) शरीरसे अलग हैं और शरीरके बिना भी रहते ही हैं। शरीर उत्पन्न होनेसे पहले भी हम थे और शरीर नष्ट होनेके बाद भी रहेंगे—इस बातका पता न हो तो भी यह तो जानते ही हैं कि गाढ़ निद्रामें जब शरीरकी यादतक नहीं रहती, तब भी हम रहते हैं और सुखी रहते हैं। शरीरसे सम्बन्ध न रहनेसे शरीर स्वस्थ होता है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर आप भी ठीक रहोगे और संसार भी ठीक रहेगा। दोनोंकी आफत मिट जायेगी। शरीरादि पदार्थोंकी गरज और गुलामी मनसे मिटा दें तो महान् आनन्द रहेगा। इसीका नाम जीवन्मुक्ति है। शरीर, कुटुम्ब, धन आदिको रखो, पर इनकी गुलामी मत रखो। जड़ वस्तुओंकी गुलामी करनेवाला जड़से भी नीचे हो जाता है, फिर हम तो चेतन हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंसे हम अलग हैं। ये अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, पर हम नहीं बदलते। हम इन अवस्थाओंको जाननेवाले हैं और अवस्थाएँ जाननेमें आनेवाली हैं। अतः इनसे अलग हैं। जैसे, छप्परको हम जानते हैं कि यह छप्पर है तो हम छप्परसे अलग हैं—यह सिद्ध होता है। अतः हम वस्तु, परिस्थिति, अवस्था आदिसे अलग हैं—इसका अनुभव होना ही मुक्ति है।

═ ★ ═

जाग्रत्‌में सुषुप्ति

एक बहुत सुगम बात है। उसे विचारपूर्वक गहरी रीतिसे समझ लें तो तत्काल तत्त्वमें स्थित हो जायँ। जैसे राजाका राज्यभरसे सम्बन्ध होता है, वैसे ही परमात्मतत्त्वका मात्र वस्तु, व्यक्ति, क्रिया आदिके साथ सम्बन्ध है। राजाका सम्बन्ध तो मान्यतासे है, पर परमात्माका सम्बन्ध वास्तविक है। हम परमात्माको भले ही भूल जायँ, पर उसका सम्बन्ध कभी नहीं छूटता। आप चाहे युग-युगान्तरतक भूले रहें तो भी उसका सम्बन्ध सबसे एक समान है। आपकी स्थिति जाग्रत्, स्वप्न या सुषुप्ति किसी अवस्थामें हो, आप योग्य हों या अयोग्य, विद्वान् हों या अनपढ़, धनी हों या निर्धन, परमात्माका सम्बन्ध सब स्थितियोंमें एक समान है। इसे समझनेके लिये युक्ति बताता हूँ। आप मानते हैं कि बालकपनमें था, अभी मैं हूँ और आगे वृद्धावस्थामें भी मैं रहूँगा। बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था—तीनोंका भेद होनेसे 'था', 'हूँ' और 'रहूँगा' ये तीन भेद हुए, पर अपने होनेपनमें क्या फर्क पड़ा ? भूत, वर्तमान और भविष्य— तीनोंमें अपना होनापन (सत्ता) तो एक ही रहा। अतः आप कैसे भी हों, कैसे भी रहें, आपकी सत्ता एक समान अखण्ड रहती है। आपका कभी अभाव नहीं होता। वह सत्ता ही शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिको सत्ता-स्फूर्ति देती है। वह शरीरादिके आश्रित नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आप हरदम 'है' में स्थित रहते हैं। जड़ वस्तु, क्रिया आदिका सम्बन्ध न रखकर 'है' से सम्बन्ध रखना है। यह जाग्रत्‌में सुषुप्ति है।

वह सत्ता मन, बुद्धि, इन्द्रियों, शरीरकी क्रियाओंमें अनुस्यूत है। वही मन, बुद्धि आदिका प्रकाशक, आधार है। उस सर्व-प्रकाशक, सर्वाधारमें हमें स्थित रहना है। वह सत्ता सदा ज्यों-की-त्यों रहती है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, स्थिरता, चंचलता, योग्यता, अयोग्यता, बालकपन, जवानी, वृद्धावस्था, विपत्ति, सम्पत्ति, विद्वत्ता, मूर्खता आदि सभी उस सत्तासे प्रकाश पाते हैं। वस्तुतः उसमें आपकी स्थिति स्वतःसिद्ध है। केवल उसकी ओर लक्ष्य, दृष्टि करनी है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके साथ सम्बन्ध ही मोह है। इस मोहका नाश होनेपर स्मृति जाग्रत् हो जाती है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (गीता १८। ७३)। स्मृतिका अर्थ—जो बात पहलेसे ही थी, उसकी याद आ गयी। कोई नया ज्ञान होना स्मृति नहीं है। अब चाहे कुछ हो जाय, चाहे कोई व्यथा

आ जाय, अपनी सत्तामें क्या फर्क पड़ता है? केवल अपनी सत्ताकी ओर दृष्टि करनी है, फिर इसी क्षण जीवन्मुक्ति है। इसमें कोई अभ्यास नहीं करना है।

सत्ताकी ओर दृष्टि न करें, तब भी वह वैसी-की-वैसी ही रहती है। पर उस ओर दृष्टि न करनेसे आप अपनी स्थिति क्रियाओं, पदार्थों, अवस्थाओं आदिमें मानते हैं। भोजन करते समय 'मैं खाता हूँ', जल पीते समय 'मैं पीता हूँ', जाते समय 'मैं जाता हूँ' आदि सब स्थितियोंमें 'हूँ' समान ही रहता है। यदि 'मैं' को हटा दें तो 'हूँ' नहीं रहेगा अपितु 'है' रहेगा। वह 'है' सदा ज्यों-का-त्यों रहता है।

खोया कहे सो बावरा पाया कहे सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं ज्यों-का-त्यों भरपूर॥

इस 'है' में स्थित होते ही अखण्ड समाधि, जाग्रत्, सुषुप्ति हो जाती है।

★

हमारा स्वरूप सच्चिदानन्द है

यह जो आप मानते हैं कि 'मैं हूँ' तो इसमें एक विशेष बात ध्यान देकर सुनें। आप अकेले 'मैं हूँ' ऐसा मानते हो तो यह 'हूँ' पना एकदेशीय है, और 'तू है', 'यह है', 'वह है'—ये 'है' पना व्यापक है। तो यह 'है' ही 'मैं'के कारण 'हूँ' बना। अगर 'मैं' न हो तो केवल 'है' ही रहेगा। तो यह 'मैं' तब होता है, जब कुछ चाहना होती है। मनुष्य कुछ करना चाहता है, कुछ जानना चाहता है, कुछ पाना चाहता है। तो कुछ-न-कुछ चाहना है, तभी 'मैं हूँ' है। अगर कुछ भी चाहना न रहे, तो 'है' ही रहेगा।

आपने अनादिकालसे 'हूँ' (जो 'नहीं' है) में अपनी स्थिति मान रखी है। 'है'में स्थिति होनेपर 'हूँ' नहीं रहता। इसकी तो ऐसी महिमा हमने पढ़ी है कि एक बार जो 'है' में स्थित हो गया, तो फिर उसे जानने, करने, पानेकी किञ्चिन्मात्र भी जरूरत नहीं रहती। वह 'है' में स्थित हो गया तो न करना रहा, न जानना रहा, न पाना रहा। कुछ भी नहीं रहा। एक 'है' ही रह गया। वहाँ तो पूर्णता है। जबतक साथमें नहीं रहता है, तबतक पूर्णता नहीं होती। पूर्णतामें आंशिकरूपसे भी 'नहीं' नहीं रहता। तो एक बार 'है'में स्थिति होनेपर फिर कभी उसमें 'हूँ' नहीं आता। जो 'हूँ'का पुराना संस्कार है, वह मन-बुद्धिमें स्फुरित हो सकता है, पर 'है' में 'हूँ' नहीं आता। मन-बुद्धिमें इसलिये आता है कि मन-बुद्धि उसके साथ रहे हैं। इसलिये जैसे कोई पुरानी बात याद आ जाय, ऐसे 'हूँ' आता है। वास्तवमें तो 'हूँ' है ही नहीं, फिर आये कहाँसे? जो याद आ जाय वह वास्तवमें होती नहीं। केवल पुरानी देखी, सुनी, भोगी हुई वस्तुकी यादमात्र आती है, वस्तु तो आती नहीं। ऐसे ही 'हूँ' की याद आ जाय, तो वह है नहीं। उस 'है'में सबकी स्थिति है।

अब एक खास बात बतायी जाती है। ध्यान देकर सुनें। वह यह कि वास्तवमें हम क्या चाहते हैं— इसकी तरफ खयाल करें। कई तरहकी चाहनाएँ इकट्ठी करनेके कारण मनुष्य वास्तवमें क्या चाहता है, इसे भूल गया। पर भूलनेपर भी भूलता नहीं। उसे हरदम याद रहता है, परन्तु पूछनेपर ठीक जवाब नहीं दे सकता; क्योंकि उसने इसपर अभी विचार ही नहीं किया। यदि विचार करें तो यह पता लगता है कि मैं सदा रहना चाहता हूँ। कोई भी व्यक्ति ऐसा कभी नहीं चाहता कि मैं मिट जाऊँ। किसी वक्त दुःखमें ऐसा कहता है कि मर जाऊँ तो सुखी हो जाऊँ। वह शरीरको दुःखका कारण मानता है, इसलिये दुःख मिटानेके लिये शरीरको मिटाना चाहता है कि मैं सुखी हो जाऊँ। तो मैं बना रहूँ और सुखी रहूँ—यह चाहना तो रहती ही है। धन, सम्पत्ति, वैभव, मान, बड़ाई, नीरोगता आदिकी जो चाहना होती है, यह असली हमारी चाहना नहीं है। हमारी चाहना तो सदा रहनेकी है। और सदा रहनेका नाम 'है' है। जो नित्य-निरन्तर रहता है, उसे ही 'है' कहते हैं। उस 'है'में स्थित होते ही हमारी नित्य-निरन्तर रहनेकी चाहना पूरी हो जाती है। पर यदि दूसरी चाहना करता है, तो 'है'से अलग हो जाता है; क्योंकि जो चीज अभी नहीं है, उसे पानेकी चाहना हुई, तो चाहना 'नहीं'की ही हुई। 'नहीं'को पकड़नेसे ही चाहना होती है। यदि 'नहीं'को न पकड़े, तो 'है'में ज्यों-का-त्यों है।

चाहना सदा 'नहीं'की होती है। 'है'पन तो सदा रहता है, कभी मिटता नहीं। जिस अंशमें 'है'से विमुख होते हैं, उसी अंशमें 'नहीं'की चाहना करते हैं। चाहनासे ही उस अंशमें 'है'से अलग होते हैं, नहीं तो 'है'से अलग होनेकी सामर्थ्य किसीमें है नहीं। चाहनेपर भी अपना होनापन तो मानते ही हैं। 'नहीं'की चाहनाका त्याग कर दें, फिर 'है'में स्थिति स्वतःसिद्ध है।

हम ज्ञान चाहते हैं, जानना चाहते हैं। तो यह जानना भी 'है'में स्वतः सिद्ध है, पर 'नहीं'को पकड़नेसे जाननेकी चाहना होती है। यदि 'नहीं'को न पकड़ें तो जाननेकी चाहना भी समाप्त हो जायगी।

हम क्या नहीं चाहते हैं? हम दुःखी होना नहीं चाहते हैं। 'है'में दुःख है ही नहीं। ज्ञानमें दुःख है ही नहीं। किसी बातका

ज्ञान हुआ, तो स्वतः एक शान्ति, एक सुखका अनुभव होता है; क्योंकि ज्ञान आनन्दरूप है।

इस प्रकार हमारी चाहना हुई—सत्, चित् और आनन्दकी प्राप्ति, जो स्वतः अपनेमें है। जो मिटता है, उसे 'असत्' कहते हैं, पर जो कभी नहीं मिटता, उसे 'सत्' कहते हैं। जिसमें ज्ञान नहीं है, उसे जड़ कहते हैं। तो ज्ञानमात्र चेतन है। जहाँ कभी दुःख आता ही नहीं, वही आनन्द है। तो ये सत्, चित् और आनन्द सबको स्वतः प्राप्त हैं। हमारा स्वरूप सच्चिदानन्द है। अब जहाँ उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुको पकड़ा कि आफत आयी। जो उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तु है, वह आपका स्वरूप नहीं है। उसे पकड़नेसे ही दुःख पा रहे हैं। धन नहीं है, पुत्र नहीं है, घर नहीं है—इस प्रकार कई तरहकी नहीं-नहींको पकड़ लिया। इसी कारण अपने सच्चिदानन्दस्वरूपका अनुभव नहीं हो रहा है।

प्रश्न—अपने स्वरूप 'है'में स्थिति होनेके बाद भी पुराने संस्कार आते हैं क्या ?

उत्तर—पुराने संस्कार 'है'में नहीं आते, मन-बुद्धिमें आते हैं। संस्कार तो मन-बुद्धिमें पड़े हुए हैं, पर उनको अपनेमें मान लेते हो। अनादिकालसे ही मन-बुद्धिमें आनेवाले संस्कारोंको अपनेमें मानते चले आये हैं। पर ये अपनेमें आते ही नहीं। कारण कि ये आने-जानेवाले हैं और स्वयं रहनेवाला है। आने-जानेवालेका प्रवेश मन-बुद्धिमें तो हो सकता है, पर 'है'में कभी प्रवेश नहीं हो सकता। 'है'में 'नहीं'का प्रवेश कैसे हो सकता है ? केवल आप नहींको भूलसे अपनेमें मानकर उससे सम्बन्ध जोड़ लेते हैं।

स्वरूपमें आकर्षण-विकर्षण भी बिलकुल नहीं है। ये तो मन-बुद्धिमें हैं। थोड़ा-सा ध्यान दें कि आकर्षण और विकर्षण— ये दोनों किसी ज्ञानके अन्तर्गत दीखते हैं। तो उस ज्ञानमें ये दोनों कहाँ हैं ? जैसे प्रकाशमें हाथ दीखता है, तो हाथके अन्तर्गत प्रकाश नहीं है, बल्कि प्रकाशके अन्तर्गत हाथ है। ऐसे ही मन-बुद्धिमें होनेवाले आकर्षण-विकर्षण ज्ञानके अन्तर्गत हैं। ज्ञान कहो या 'है' कहो। उसमें आपकी स्वतःस्वाभाविक स्थिति है।

प्रश्न—जबतक यह शरीर है, तबतक अन्तःकरणमें ये विकार होते रहेंगे ?

उत्तर—नहीं, बिलकुल नहीं ? अन्तःकरणके विकार शरीरके रहनेसे सम्बन्ध नहीं रखते। अन्तःकरणमें विकार रहते हैं—असत्को सत् माननेसे, 'है'को 'नहीं' माननेसे। असत्को सत् माना कि विकार आये। असत्को सत् न माननेसे शरीरके रहते हुए भी विकार नहीं आयेंगे। शरीरका वृद्ध होना, कमजोर होना आदि विकार तो अवस्थाके अनुसार स्वतः स्वाभाविक होंगे। पर आकर्षण-विकर्षण आदि जो विकार हैं, ये नहीं होंगे। ये तो असत्में सत्-बुद्धि होनेसे ही होते हैं। खूब विचार करो। असत् असत् ही है और सत् सत् ही है। आप 'है'में स्वतः स्थित हो। स्थित न होनेपर ही स्थित होना पड़ता है। जिसमें पहलेसे ही स्थित हो, उसमें स्थित क्या होना ? आप 'है'में स्थित हो, तभी आने-जानेवाले दीखते हैं।

किस पुरुषने किस परिस्थितिमें कौन-सी चेष्टा की, यह सिवाय उसके दूसरा कोई नहीं जान सकता। इसलिये किसीपर आक्षेप न करके सत्यका निर्णय करना चाहिये। दूसरेको सामने रखकर सत्यका निर्णय कभी नहीं हो सकता। अपनेको सामने रखो। यदि दूसरेका आदर्श लेना पड़े, तो शुभ कार्योंमें ही लो, अशुभ कार्योंमें नहीं।

भीतर भाव रहे कि नयी बात क्या हो गयी ? जो बात प्रतिक्षण हो रही है, वही तो हुई। यदि इसमें कोई नयी बात दीखती है तो दृश्य हर समय अदृश्यमें जा रहा है—इस तरफ दृष्टि नहीं है, तभी मरनेका सुनकर चिन्ता होती है, मनमें चोट लगती है। यह तो मृत्युलोक है। मरनेवालोंका ही लोक है। यहाँ सब मरने-ही-मरनेवाले रहते हैं। मृत्युके सिवाय और है ही क्या ? प्रत्यक्षमें ही सब कुछ अभावमें जा रहा है। इस बातको ठीक तरह समझ लो। जो जीवन है, वह मृत्युमें जा रहा है। अभीतक जितने दिन जी गये, उतना मर ही गये, जी गये, यह बात तो झूठी है। और मर गये, यह बात बिलकुल सच्ची है। इस बातको समझना है, याद नहीं करना है।

अब कहो कि जितने दिन जी गये उसमें मरनेकी क्रिया दिखायी नहीं देती। तो विचार करें कि यदि काले बाल नहीं मरते तो आज बाल सफेद कैसे हो गये ? आप कहें कि रूपान्तरित हो गये, तो मरनेमें क्या होता है ? रूपान्तर ही तो होता है। पहले जैसे जीता हुआ दिखता था, वैसे अब नहीं दीखता। आधी उम्र आपकी चली गयी, तो आधा मर ही गये ! आधी उम्र चली गयी—यह बात तो आप मानते हो, पर आधा मर गये—यह आपकी समझमें नहीं आता। पर वास्तवमें एक ही बात है। केवल शब्दोंमें अन्तर है, भावमें बिलकुल अन्तर नहीं। सुननेमें कड़ा इसलिये लगता है कि जीनेकी इच्छा है। पर बात सच्ची है। आधी उम्र चली गयी—यह बात जँचती है, तो जँची हुई बातको ही मैं पक्का करता हूँ। इतना ही मेरा काम है। मैं कोई नयी बात नहीं सिखाता। तीन बातें होती हैं—सीखी हुई, मानी हुई और जानी हुई। उसे पक्का मान लो, पक्का जान लो—इतना ही मेरा कहना है। फिर बात हमेशा जाग्रत् रहेगी। उसमें संदेह नहीं होगा। तो जितनी उम्र बीत गयी, उसमें संदेह होता है क्या ? संदेह नहीं होता तो उतना मर गया—इसमें संदेह कैसे रह गया ? शरीर हरदम जा रहा है, यह बात बिलकुल सच्ची है।

मैं अपनी बीती बात बताऊँ कि जिस दिन मैंने यह समझा कि यह दृश्य अदृश्यमें जा रहा है, मुझे इतनी प्रसन्नता हुई कि ओहो ! कितनी मार्मिक बात है ! कितनी बढ़िया बात है ! मैं ठगायी नहीं करता हूँ, झूठ नहीं बोलता हूँ। आप थोड़ा ध्यान दो कि शरीर मरनेकी तरफ जा रहा है कि जीनेकी तरफ ? बिल्कुल सच्ची बात है कि यह तो मरनेकी तरफ जा रहा है। दृश्य अदृश्यकी तरफ जा रहा है, तो यह मरनेकी तरफ जा रहा है। दृश्य अदृश्यमें जा रहा है तो वह भी मरनेकी तरफ जा रहा है। मेरे मनमें बात आयी कि जैसे बालक पाठ पढ़ता है तो उसे क,ख,ग,घ, एक बार याद हो गये, तो फिर याद हो ही गये। फिर उससे पूछो तो वह तुरन्त बता देगा। याद नहीं करना पड़ेगा। तो ऐसे आप भी चलते-फिरते हरदम याद कर लो कि यह सब जा रहा है। दृश्य अदृश्यमें जा रहा है। भाव अभावमें जा रहा है। जीवन मृत्युमें जा रहा है। दर्शन अदर्शनमें जा रहा है। इस प्रकार इसे हरदम याद रखो तो अपने-आप इसका प्रभाव पड़ जायेगा और बड़ा भारी लाभ होगा। बालककी तरह इस पाठको सीख लो। जितना सुखका लोभ है, जितना जीनेका लोभ है, उतना इस बातका आदर नहीं है। लोभ और आदर दो चीजें हैं। इस बातका आदर कम है, लोभका आदर ज्यादा है। आदर कम है, यही भूल है। तो आजसे ही इस बातका आदर करो।

★

सत्य क्या है ?

हमें तो अपना उद्धार करना ही है, चाहे कुछ भी हो—इस निश्चयकी लोगोंमें कमी है। यह इच्छा जितनी जोरदार होगी, उतनी ही संसारसे अरुचि हो जायगी। सत्संगमें पारमार्थिक बातोंको सुननेसे (अपने-उद्धारकी) रुचि होती है, और सांसारिक भोग भोगनेके बाद (भोगोंसे) अरुचि होती है। तो इन दोनोंको स्थायी कर लें अर्थात् सत्संगकी रुचि और भोगकी अरुचि—इन दोनोंको पक्का कर लें। यह आपका काम है।

अभी सत्संगमें रुचि हो तो सत्संगसे उठते ही इस बातका निश्चय कर लें कि अब यही काम करना है, तो यह स्थायी हो जायगी। अगर यह स्थायी हो गयी तो सब काम बन गया। यह अपने उद्धारका काम बहुत सुगम है, केवल रुचिकी जरूरत है। भीतर एक बात जँची हुई है कि यह काम जल्दी नहीं होता, देरी लगती है। यह बहुत घातक चीज है। परमात्मतत्त्वके लिये भविष्यकी आशा बहुत ही घातक है। भविष्यकी आशा उस वस्तुके लिये होती है जो कर्मजन्य हो, जिससे देश-कालकी दूरी हो। पर जो सब देश, काल, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदिमें पूर्णरूपसे विराजमान हो, उसके लिये भविष्य नहीं होता। सांसारिक कामोंके लिये जैसे भविष्यकी आशा होती है, वैसे परमात्मतत्त्वके लिये भी भविष्यकी आशा रखना कि इसमें बहुत समय लगेगा—यह बहुत गलत धारणा है।

मैं आपको वही बातें सुनाता हूँ, जो मुझे अच्छी लगती हैं और जिनसे मुझे बहुत लाभ हुआ है। आप इन बातोंका

आदर करें तो बहुत जल्दी लाभ हो सकता है। जैसे एक राजाका राज्यकी सम्पूर्ण वस्तुओंपर, सम्पूर्ण गाँवोंपर शासन रहता है—सम्बन्ध रहता है, उससे भी बहुत विशेष सम्बन्ध परमात्माका है। बहुत विशेष यह कि इन वस्तुओंकी सत्ता ही उस परमात्मामें दीख रही है। नहीं तो एक क्षण भी न ठहरनेवाला संसार सच्चा क्यों दीखता ! तो इससे परमात्माका नित्य-निरन्तर सम्बन्ध है ही। किसी क्षण भी उसका वियोग सम्भव नहीं, ऐसा उसका नित्ययोग निरन्तर बना हुआ है। संसारके संयोगके वियोगका नाम ही 'योग' है—**'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम् ॥'** (गीता ६ । २३)। इस क्षणभङ्गुर संसारसे वियोग स्वीकार करते ही योग हो जाता है। वियोग तो प्रतिक्षण हो ही रहा है। तो अभी ही वियोगका अनुभव कर लें।

संसारके भोगोंसे अरुचि सबकी ही होती है। उस अरुचिको संसारी लोग स्थायी नहीं करते और भोगोंसे जो सुख मिलता है, उस रुचिको स्थायी करते हैं। यहीं गलती होती है। साधकको चाहिये कि वह उस अरुचिको स्थायी करे।

प्रश्न—संसारसे वियोगका अनुभव होनेपर उसकी नश्वरता या असत्यताका ज्ञान तो हो जाता है, लेकिन सत्य क्या है—इसका पता कैसे लगेगा ? हम किस प्रकार जानें कि यह सत्य-तत्त्व है ?

उत्तर—देखो भाई, मेरे विचारमें तो सत्यकी अभिलाषा कम है, इसलिये लगन नहीं है। सत्यकी बात इतनी सरल, इतनी बढ़िया और इतनी प्रत्यक्ष है कि क्या बताऊँ ! अब ध्यान दें। जिससे आपको असत्यका ज्ञान होता है, वही सत्य है। असत्यका ज्ञान असत्यसे नहीं होता। अब बताओ कितना नजदीक है वह सत्य !

बहुतोंका यह प्रश्न रहता है कि संसार तो नाशवान् है ही, पर परमात्मा अविनाशी है—इसका क्या पता ? अरे, अविनाशीके बिना विनाशी दीखता ही नहीं। बिना सत्यके असत्यका भान ही नहीं होता। असत्य तभी असत्य दीखता है, जब आप सत्यमें स्थित होते हैं। तो सत्यमें आपकी स्थिति स्वतःसिद्ध है। बस यहींपर डटे रहो। न जाने सत्य क्या होता है ? प्राप्ति क्या होती है ? तत्त्वज्ञान क्या होता है ? जीवन्मुक्त क्या होता है ? क्या यों सींग हो जाते हैं, कि कोई पूँछ हो जाती है, कि कोई पंख लग जाते हैं, क्या हो जाता है ? न जाने इस प्रकार क्या-क्या कल्पना कर रखी है !

कृपानाथ ! आप इतनी कृपा करो। बस इतनी ही बात है कि असत्यका जिसे बोध होता है, वही सत्य है। कोई पूछे कि सब कुछ दीखता है, पर आँख नहीं दीखती ? तो जिससे सब कुछ दीखता है, वही आँख है। आँखको कैसे देखा जाय कि यह आँख है ? दर्पणमें देखनेपर भी देखनेकी शक्ति नहीं दीखती, वह शक्ति जिसमें है, वह स्थान दीखता है। तो सुनने, पढ़ने, विचार करनेसे जो आपको ज्ञान होता है, वह ज्ञान जिससे होता है, वही सत्य है। वही सबका प्रकाशक और आधार है। वही ज्ञानस्वरूप है, वही चेतनस्वरूप है, वही आनन्दस्वरूप है।

जैसे दर्पणमें मुख दीखता है, ऐसे ही यह संसार दीखता है। संसार स्थिर नहीं रहता, बदलता रहता है—यह अपने अनुभवकी बात है। अब यहीं देखें। पहले यहाँ बिलकुल जंगल था, अब मकान बन गया। यह आपकी देखी हुई बात है। यह कौन-सा सदा रहेगा ! एक दिन सफाचट हो जायगा, कुछ नहीं रहेगा। तो सब मिट रहा है, प्रतिक्षण मिट रहा है। इसे मिटता हुआ ही मान लें।

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥
(मानस १। ११७। ४)

कितनी सुन्दर बात कही छोटे-से रूपमें ! जिसकी सत्यतासे यह जड़ माया मूढ़ताके कारण सत्यकी तरह दीखती है, वही सत्य है। जैसे चनेके आटेकी बूँदी बनायी जाय, बिलकुल फीकी, तो उसे चीनीमें डालनेसे वह मीठी हो जाती है। चनेका फीका आटा भी मीठा लगने लगता है, तो यह मिठास उसकी नहीं है। उन मीठी बूँदियोंको मुँहमें थोड़ी देर चूसते जाओ, तो वे फीकी हो जायँगी, क्योंकि वे तो फीकी ही थीं। तो बताओ कि चीनी मीठी हुई कि बूँदी मीठी हुई ? जो फीकेको भी मीठा करके दिखा दे, वह स्वयं मीठा है ही। ऐसे जो असत्यको भी सत्यकी तरह दिखा दे, वह सत्य है ही।

प्रकाश और अंधकार—दोनोंका जिससे ज्ञान होता है, वह अलुप्त प्रकाश है अर्थात् वह प्रकाश कभी लुप्त होता ही नहीं। वह क्रियाओं और अक्रियाओंको, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिको, सम्पूर्ण अवस्थाओंको प्रकाशित करता है। सब अवस्थाएँ उससे जानी जाती हैं। उसीमें आप हरदम स्थित रहें। उससे नीचे न उतरें।

मैं शरीर नहीं हूँ

अपनेको शरीर माननेसे ही जन्म-मरण, दुःख, संताप, चिन्ता आदि सभी आफतें आती हैं। शरीर अपना स्वरूप है नहीं, यह प्रत्यक्ष है। बचपनमें जैसा शरीर था, वैसा अब नहीं है; अब इतना बदल गया कि पहचान नहीं होती, परंतु 'मैं वही हूँ'—इसमें सन्देहकी कहीं गुंजाइश भी नहीं है। तो कम-से-कम यह विचार करें कि शरीर मैं नहीं हूँ। मैं न स्थूल शरीर हूँ, न सूक्ष्म शरीर हूँ और न कारण शरीर हूँ। स्थूल शरीरकी स्थूल संसारके साथ एकता है—

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥

(मानस ४। ११। २)

अब वह कौन-सा शरीर है, जो इन पाँचोंसे रहित है? संसारके साथ शरीरकी बिलकुल अभिन्नता है। संसार 'यह' नामसे कहा जाता है, फिर उसका एक छोटा-सा अंश 'मैं' कैसे हो गया? ऐसे ही सूक्ष्म शरीरकी सूक्ष्म संसारके साथ एकता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन, बुद्धि—ये सब सूक्ष्म संसारके ही अंश हैं। यह जो वायु चलता है, इसीके साथ प्राणोंकी एकता है। ऐसे ही सब इन्द्रियों, मन, प्राण, आदिकी एकता है। सब एक ही धातुके हैं। ऐसे ही कारण शरीरकी कारण संसारके साथ एकता है। सूक्ष्म शरीरसे आगे कुछ पता नहीं लगता, ऐसा जो अज्ञान है, वह कारण शरीर है। इसमें प्रकृति (स्वभाव) होती है। प्रकृति सबकी भिन्न-भिन्न होनेपर भी धातु (पञ्चमहाभूत) एक है, ऐसे प्रकृति एक है। सुषुप्तिमें सभी एक हो जाते हैं, भिन्नता रहती ही नहीं। तो इस प्रकार कारण शरीर सब एक ही हुए। अब इसमें यह मैं हूँ और यह मैं नहीं हूँ; यह मेरा है और यह मेरा नहीं है—यह बात सच्ची नहीं है। यह व्यवहारके लिये कामकी है। अपनेको शरीर मानना गलती है। इस गलतीको हम आज मिटा दें तो महान् शान्ति मिल जाय, बड़ा भारी आनन्द मिल जाय। पर सुनकर केवल सीख लेनेसे यह गलती नहीं मिटती। यह शरीर इदंतासे दीखना चाहिये—'**इदं शरीरम्**' (गीता १३। १)। जैसे यह छप्पर अलग दीखता है, ऐसे शरीरका भी अनुभव होना चाहिये कि यह अलग है, मैं इसे जाननेवाला हूँ। इसे सीखना नहीं है। सीखना या मानना ज्ञान नहीं होता। दृढ़ मान्यता भी ज्ञान-जैसी प्रतीत होती है, पर मान्यता मान्यता ही होती है, बोध नहीं। उसका साफ-साफ बोध होना चाहिये। परिवर्तनशील वस्तु मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा अनुभव हो जाय, तो तत्त्वज्ञान हो गया, मुक्ति हो गयी, परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो गयी, स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी। और वह नित्यप्राप्तकी प्राप्ति है; क्योंकि अपना स्वरूप अप्राप्त हुआ ही कब? और जो प्रतिक्षण बदलता है, वह कभी किसीको प्राप्त कैसा? वह कभी किसीको प्राप्त हुआ ही नहीं। प्राप्त तो स्वरूप ही है। परंतु अप्राप्तको प्राप्त माननेसे जो प्राप्त है, वह अप्राप्त जैसा हो गया। जबतक अप्राप्तको अप्राप्त नहीं मानेंगे तबतक प्राप्तकी प्राप्ति नहीं दीखेगी।

सुनकर सीख लेने और मान लेनेका नाम ज्ञान नहीं है। ज्ञान ऐसी चीज नहीं है। ज्ञान तो एकदम, उसी क्षण होता है। उसमें अभ्यास नहीं है। अभ्यास करना उपासना है। उपासना उपासना ही है, बोध नहीं। शरीर मैं हूँ—ऐसा दीखनेपर बेचैनी हो जाय तो बोध हो जायगा। जैसे नींदमें पड़े हुए आदमीको सूई चुभाई जाय, तंग किया जाय तो चट नींद खुल जाती है। ऐसे ही अपनेको शरीर माननेका दुःख, जलन पैदा हो जाय कि क्या करूँ? कैसे करूँ? यह अभ्यास कैसे मिटे? तो फिर यह मिट जायगा। जो चीज मिटती है, वह होती नहीं और जो चीज होती है, वह मिटती नहीं—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**' (गीता २। १६) शरीरमें मैं-पन और मेरा-पन मिटता है, तो मूलमें है नहीं—यह पक्की बात है।

सबसे पहले साधकको दृढ़ताके साथ यह मानना चाहिये कि 'शरीर मैं हूँ और यह मेरा है' यह बिलकुल झूठी बात है। हमारी समझमें नहीं आये, बोध नहीं हो, तो कोई बात नहीं। पर शरीर 'मैं नहीं हूँ' और 'मेरा नहीं है, नहीं है, नहीं है'—ऐसा पक्का विचार किया जाय, जोर लगाकर। जोर लगानेपर अनुभव नहीं होगा, तब वह व्याकुलता, बेचैनी पैदा हो जायगी, जिससे चट बोध हो जायगा।

शरीर मैं नहीं हूँ—इस बातमें बुद्धि भले ही मत ठहरे, आप ठहर जाओ! बुद्धि ठहरना या नहीं ठहरना कोई बड़ी बात नहीं है। यह मैं नहीं हूँ—यह खास बात है। '**अहं ब्रह्मास्मि**' 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह इतना जल्दी लाभदायक नहीं है, जितना 'यह मैं नहीं हूँ' यह लाभदायक है। दोनों तरहकी उपासनाएँ हैं; परंतु 'यह मैं नहीं हूँ' इससे चट बोध होगा। लेकिन खूब विचार करके पहले यह तो निर्णय कर लो कि शरीर 'मैं' और 'मेरा' कभी नहीं हो सकता। ऐसा पक्का, जोरदार विचार करनेपर अनुभव नहीं होनेसे दुःख होगा। उस दुःखमें एकदम शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी ताकत है। वह दुःख जितना तीव्र होगा, उतना ही जल्दी काम हो जायगा।

'मैं क्या हूँ?' ऐसा विचार मत करो। इसमें मन-बुद्धि साथमें रहेंगे। जड़की सहायताके बिना 'मैं क्या हूँ?' ऐसा

प्रश्न उठ ही नहीं सकता, और समाधान भी जड़को साथ लिये बिना कर ही नहीं सकते। इसलिये जड़की सहायतासे जड़की निवृत्ति एवं चिन्मयताकी प्राप्ति नहीं होती, नहीं होती, नहीं होती। 'मैं चिन्मय हूँ' इसमें बुद्धिकी सहायता है और अहंता भी साथमें रहेगी ही। पर 'यह जड़ मैं नहीं हूँ, नहीं हूँ, नहीं हूँ' तो इसमें जड़तापर 'नहीं' का जोर लगेगा। चिन्तन भी जड़ताका है और निषेध भी जड़ताका है। तो जैसे झाड़ू और कूड़ा-करकट एक धातुके हैं, और झाड़ूसे कूड़ा-करकट साफ करके झाड़ू भी बाहर फेंक दिया जाय, तो साफ मकान पीछे रह जायगा, उसके लिये उद्योग नहीं करना पड़ेगा, ऐसे ही जड़ताके द्वारा जड़ताकी निवृत्ति करनेपर ब्रह्म पीछे रह जाता है, उस-(ब्रह्म-)के लिये उद्योग नहीं करना पड़ता। बिना प्रकृतिकी सहायता लिये उद्योग होता ही नहीं।

'मैं यह नहीं हूँ'—इसमें 'मैं' और 'यह' एक जातिके हैं। यह जो 'मैं' है, यह दो तरफ जाता है। एक 'मैं' जड़ताकी तरफ जाता है और एक 'मैं' चेतनताकी तरफ जाता है। चेतनताकी तरफ 'मैं' माननेसे (कि 'मैं चिन्मय हूँ') जड़ताका 'मैं' मिटेगा नहीं और जड़ताकी तरफ 'मैं' माननेसे (कि 'मैं यह नहीं हूँ') स्वतः रहेगा। इसलिये साधकके लिये 'मैं यह हूँ' कि अपेक्षा 'मैं यह नहीं हूँ' बहुत ज्यादा उपयोगी है। मैंने दोनों तरहकी बातें पढ़ी हैं और उनपर गहरा विचार किया है। इसलिये मैं अपनी धारणा कहता हूँ। आपको नहीं जँचे तो आप जैसा चाहें करें। पर निषेधात्मक साधनसे स्वरूपमें स्थिति जितनी जल्दी होती है, उतनी जल्दी विध्यात्मक साधनसे नहीं होती। ऐसे ही दुर्गुण-दुराचारोंका त्याग किया जाय, तो सद्गुण-सदाचार जल्दी आयेंगे। जैसे 'मैं सत्य बोलूँगा' इस बातमें जितना अभिमान रहेगा, उतना 'मैं झूठ नहीं बोलूँगा' इसमें अभिमान नहीं रहेगा। झूठ नहीं बोलकर कौन-सा बड़ा भारी काम कर लिया, और सत्य बोलकर बड़ा भारी काम कर लिया—ऐसा भाव रहेगा! इसलिये सत्य बोलनेका अभिमान जल्दी टूटेगा नहीं।

बुद्धि साथमें रहनेपर जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो ही नहीं सकता; क्योंकि जिससे सम्बन्ध-विच्छेद करना है, उस-(शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि-)को ही साथ ले लिया! इस तरफ विचार न करनेसे ही बहुत वर्ष लग जाते हैं। साधक सोचता रहता है, चिन्तन करता रहता है और स्थिति वहीं-की-वहीं रहती है। जैसे कोल्हूका बैल उम्रभर चलता है, पर वहीं-का-वहीं रहता है, वैसी दशा रहती है साधककी! इसलिये इस विषयपर खूब गहरा विचार करनेकी आवश्यकता है।

★

भय और आशाका त्याग

प्रश्न—साधन, भजन, सत्संग करते हैं फिर भी संसारके प्रवाहका असर क्यों पड़ जाता है ?

उत्तर—देखो भैया ! मैं एक बात कहता हूँ उसकी तरफ ध्यान दें। संसारका प्रभाव किसपर पड़ता है ? गहरा विचार करना। संसारका प्रभाव संसारपर ही पड़ता है। स्वरूपपर संसारका प्रभाव नहीं पड़ता। पहले प्रभाव पड़ा और अभी प्रभाव नहीं रहा। यह ज्ञान है कि नहीं ? इसका उत्तर दो।

प्रश्न—एक बात मनमें आती है कि ये सत्सङ्गमें तो जँच जाता है पीछे नहीं रहता।

उत्तर—पीछे मत रहो। सत्संगमें जँच गयी है न। तो पीछे रहना तुम देखना चाहते हो, यही बहुत बड़ी गलती है। उसका सुधार कर लो अभी। सुधार यह है कि यह व्यवहारमें नहीं रहता अर्थात् अन्तःकरणमें नहीं रहता और अन्तःकरणमें वृत्तियाँ तो व्यवहारके अनुसार होंगी। अगर वैसे वृत्तियाँ न हो तो व्यवहार कैसे होगा ? भोजन ही कैसे होगा ? बोलना भी कैसे होगा ? चलना भी कैसे होगा ? कुछ भी बोलना न हो तो कैसे होगा ? जैसा व्यवहार होगा वैसी वृत्तियाँ होंगी, पर व्यवहार और एकान्त दोनोंका ज्ञान किसीको होता है कि नहीं होता है ? दोनोंका ज्ञान जिसको होता है उसके ज्ञानमें व्यवहार और एकान्त है। इस बातको समझ लो तो अभी निहाल हो जाओ।

मानो व्यवहार और व्यवहाररहित अक्रिय अवस्था। अक्रिय और सक्रिय—ये दोनों अवस्थाएँ हैं। दोनों ही प्रवृत्ति हैं। अक्रिय भी प्रवृत्ति है और सक्रिय भी प्रवृत्ति है। ये तो तुमने सुना ही होगा कि सक्रिय प्रवृत्ति और अक्रिय प्रवृत्ति नहीं है, परन्तु अक्रिय भी प्रवृत्ति है और सक्रिय भी प्रवृत्ति है। अक्रिय और सक्रिय जिस प्रकाशमें प्रकाशित होते हैं उस प्रकाशमें प्रवृत्ति नहीं है। वह प्रकाश एकान्तमें बैठे हुए साफ दीखता है, व्यवहार करते हुए नहीं दीखता है। तो न दीखनेपर भी व्यवहारमें प्रवृत्तिका ज्ञान किसको हो रहा है ? प्रवृत्ति भी तो जाननेमें आती है। आती है न ? तो जाननापन तो रहता है कि नहीं ? केवल जानना है उसमें प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों नहीं हैं। बड़ी सीधी बात है, बहुत ही सरल बात है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों जिससे प्रकाशित होते हैं, उसमें प्रवृत्ति-निवृत्ति कुछ नहीं है। न प्रवृत्ति है न निवृत्ति है। समझमें आ गया न ? तो इसमें तुम डटे रहो। वृत्तियोंका एक रूप देखना

छोड़ दो आजसे। वृत्तियाँ एक रूप बनी रहें। ये आज तुम छोड़ दो मेरे कहनेसे। ये जबतक पकड़े रहोगे, तबतक तुम्हें सन्तोष नहीं होगा और ये आज ही छोड़ दो। अभी-अभी। व्यवहारमें कैसे ही रहो। क्योंकि वास्तवमें नित्य रहनेवाली चीज तो प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंका प्रकाशक है। तो निवृत्तिको क्यों इतना महत्त्व देते हो। वास्तविक तो प्रकाश है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों जिस प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं, वह प्रकाश वास्तविक है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों अवास्तविक हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों सापेक्ष हैं। प्रवृत्तिकी दृष्टिसे निवृत्ति है और निवृत्तिकी दृष्टिसे प्रवृत्ति है। वास्तवमें जो प्रकाश है उसमें न निवृत्ति है न प्रवृत्ति है। ठीक है न यह ? तो इसमें तुम्हारी स्थिति है। मेरे कहनेसे मान लो और यह जो वहम है कि प्रवृत्ति जबतक रहती है और बीचमें जो असर पड़ता है, तबतक हम तो ठीक नहीं हुए, यह वहम छोड़ दो।

ध्यान देना इस बातपर। किसके द्वारा छूटता है ? कि निवृत्ति आयी, प्रवृत्ति गयी। निवृत्ति गयी, प्रवृत्ति आयी। कहाँ गयी, कहाँ आयी बताओ। प्रवृत्ति-निवृत्तिका अभाव हुआ कि नहीं ? इनका अभाव हुआ तो 'द्वारा' की जरूरत क्या ? एक ऐसा आग्रह छोड़ दो। किसके द्वारा कि तुम्हारे खुदके द्वारा। 'ऐसी वृत्ति निरन्तर रहे' यह आग्रह छोड़ दो। इसमें हानि नहीं होगी। बहुत साफ है इसमें सन्देह नहीं है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों प्रकाशित होती हैं स्वतः और ये होती रहें। अपने कोई मतलब नहीं है। दुनियामात्रमें प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है कि नहीं ? जागृतमें काम करते हैं। नींदमें काम नहीं करते। दीखता है न। उससे तुम्हारे क्या फर्क पड़ता है ? दुनियामें जो प्रवृत्ति होती है उससे तुम्हारेमें फर्क पड़ता है क्या ? तुम्हारे प्रकाशमें जो स्वयं प्रकाश स्वरूप हैं उसमें फर्क नहीं पड़ता है न। तो इसकी चिन्ता क्यों करते हो ? ये जो संसारकी प्रवृत्ति-निवृत्ति है वही तुम्हारे शरीरकी प्रवृत्ति-निवृत्ति है। दोनों बिल्कुल एक धातुकी हैं।

प्रश्न—संसारके प्रवाहमें बह जाते हैं जिससे सन्तोष नहीं होता।

उत्तर—यह तो गलती करते हो। सन्तोष क्यों नहीं होता है ? इसका कारण है कि आप समझते हैं कि अन्तःकरण निर्विकार रहे—यह आपने पकड़ लिया। अन्तःकरण निर्विकार नहीं होता—यह पकड़ छोड़ दो। अन्तःकरण निर्विकार रहना चाहिये—यह छोड़ दो। निर्विकार कैसे रहेंगे, जब यह कार्य है प्रकृतिका ? यह निर्विकार कैसे रहेगा ? इसमें तो विकार होगा।

प्रश्न—महाराजजी ! एक बात कहूँ, आप कहते हैं न कि ये छोड़ दो। तो एक भय-सा लगता है। ऐसा विचार आता है कि छोड़नेसे कहीं मेरा पतन न हो जाय।

उत्तर—इसीलिये मैंने बार-बार कहा कि मेरे कहनेसे छोड़ दो। यह क्यों कहा ? क्योंकि भय है तुम्हें। तुम्हारे भयका असर है मेरेपर। तुम भयभीत हो रहे हो। इसलिये कहता हूँ तुम डरो मत। जबतक यह पकड़ है, तबतक वास्तविक स्थिति नहीं होगी। वास्तविक स्थितिमें यह पकड़ ही बाधक है और कोई बाधक नहीं है। प्रकाशमें पतन होता ही नहीं। प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनोंमें प्रकाश समान रहता है। ये बताओ उसमें फर्क पड़ता है क्या ? उसमें फर्क नहीं पड़ता तो उसका पतन कैसे हो जायगा ? तुम मानते हो अन्तःकरणमें निर्विकारता आ जाय। अगर आ जाय तो—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

(गीता १४। २२)

ये कहना कैसे बनता ? प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह अगर होता, तो **'न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति'** कैसे कहते ?

प्रश्न—यह तो महाराजजी ! उन महापुरुषोंकी बात है जिनको साक्षात्कार हो गया।

उत्तर—वे महापुरुष हम ही हैं। वे महापुरुष अलग नहीं हैं। हम ही महापुरुष हैं। प्रकाशका नाम ही महापुरुष है। डरो मत इसमें। बिलकुल डर नहीं। ये जो सामान्य प्रकाश है, इस स्थितिवालेको ही महापुरुष कहते हैं। महापुरुष कहो चाहे ब्रह्म कहो। उस सामान्य प्रकाशमें क्या फर्क पड़ता है ? तो सामान्य ब्रह्म है वह एक है। एक तो भय छोड़ दो और एक आगे कुछ विलक्षणता होगी, इस आशाको छोड़ दो। ये दो छोड़ दो। ये दो ही बाधक हैं असली।

निषिद्ध आचरणकी इच्छा हो जाती है। तो निषिद्ध आचरण छूट जायगा। यह सुनकर डर लगता है न। तो छोड़ते डर लगता है इससे सिद्ध होता है कि निषिद्ध आचरणको आपने महत्त्व दिया है। और महत्त्व देकर छोड़ते हैं तो कैसे छूटेगा उसका आदर आपने कर दिया। उपेक्षा करो। एक करना, एक न करना दो चीज हुई। और एक उपेक्षा तीसरी चीज हुई। क्रिया करनेमें तो विधि करना है, निषिद्ध नहीं करना है। परन्तु भीतरमें विधि और निषेध दोनोंसे उदासीन रहो। क्योंकि विधि और निषेध दोनों दीखते हैं किसी प्रकाशमें। उस प्रकाशका सम्बन्ध न विधिके साथ है और न निषेधके साथ है। विधिका सम्बन्ध निषेधके साथ है। निषेधकी निवृत्ति करनेके लिये विधि है। विधि रखनेके लिये विधि नहीं है।

इसलिये विधि-निषेध, भय और आशा—ये दोनों छोड़ दो। बात खयालमें आयी कि नहीं ? मेरी बात समझमें आयी कि नहीं ? विधि और निषेधमें विधिका लोभ है और निषेधका भय है। ये भय और लोभ जबतक रहेंगे, तबतक आपकी स्वरूपमें स्थिति नहीं होगी। इसलिये भय और लोभकी बेपरवाही कर दो। ये छूट जायेंगे। बेपरवाही करो केवल बेपरवाही। आ गया भय तो आ गया। लोभ हो गया तो हो गया। आपकी अवस्थामें कहता हूँ। हर एकके लिये मैं नहीं कहता हूँ। हर एक बात तो समझेगा नहीं, उलटा असर हो जायगा और आपके उलटा असर नहीं होगा, नहीं होगा, नहीं होगा। क्योंकि ये जब समझमें आ गयी कि विधि और निषेध—ये करना चाहिये और ये नहीं करना चाहिये, ये दोनों होते हैं और मिटते हैं, आते हैं और जाते हैं और आने-जानेवालोंकी रहनेवालेपर कोई जिम्मेवारी नहीं है, रहनेवालेपर कोई असर नहीं है, रहनेवालेमें कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है, न निषेधसे बनता है, न विधिसे बनता है ! और न निषेधसे बिगड़ता है, न विधिसे बिगड़ता है, उसका बनता-बिगड़ता है ही नहीं, तो आपपर असर कैसे पड़ेगा ?

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥

(गीता १४। २३)

वह विचलित होता ही नहीं है। मानो ज्यों-का-त्यों रहता है यह अर्थ हुआ इसका। भय और आशा ये दोनों छोड़ो। भय और आशामें संसार मात्र बँधा है। किसी प्रकारका न तो भय हो और न किसी प्रकारकी आशा हो। जितना चुप रह सको, चुप रहो। और हे नाथ ! मेरेसे नहीं छूटती कहते रहो। कह सकते हो कि नहीं ? जितना मिनट चुप रह सको चुप रह जाओ। इस शरणागतिमें और चुप रहनेमें बड़ी भारी ताकत है। तो आप निर्बलोंको बल आ जायगा और वह कार्य हो जायगा। आपमें तो आ जायगा बल और काम हो जायगा सिद्ध। आपमें बल आयेगा निर्विकार रहनेसे और सिद्ध होगा शरण होनेसे। चुप होनेसे शक्ति आती है।

यह बात अनुभव-सिद्ध है कि बोलते-बोलते बोलना बन्द हो जायगा। पड़े रहो बोलनेकी शक्ति आ जायगी। शक्ति स्वतः आती है निष्क्रिय होनेसे और सक्रिय होनेसे शक्ति नष्ट होती है। जितने भोग-संग्रहके लिये काम करते हैं उनमें थकावट होती है। नींद लेनेसे थकावट दूर हो जाती है और शक्ति आती है। निष्क्रिय होनेसे करनेकी शक्ति आती है यह तो अनुभव है न ? इसलिये निष्क्रिय रहनेसे शक्ति आ जायेगी। और हे नाथ ! ऐसा कहनेसे काम सिद्ध हो जायेगा। यह रामबाण उपाय है। इसमें सन्देह हो तो बोलो। तो शरण होकर निसन्देह हो जाओ। यह तुम्हारा असली इलाज है ! इस अवस्थामें चुप होनेमें परिश्रम नहीं करना है। कोई क्रिया हो गयी तो हो गयी, नहीं हुई तो नहीं हुई। अपने मतलब नहीं। अपनी तरफसे कोई क्रिया न तो करो और न ही ना करो। दोनोंसे उदासीन रहो। क्रिया हो तो होती रहे। इस तरह तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुष जिसको कहते हैं उसकी अभी-अभी सिद्धि हो गयी।

★

अपनी जानकारीको महत्त्व दें

एक बहुत बढ़िया बात है। आप कृपा करके ध्यान दें। जिसको जो परिस्थिति मिली है, उसीको सर्वोपरि मानकर उसका सदुपयोग करे तो कल्याण हो जायगा। जितनी वस्तुएँ मिली हैं, उनसे ज्यादा वस्तुओंकी जरूरत नहीं है। आपके पास जितनी विद्या है, उससे ज्यादा जाननेकी जरूरत नहीं है। आपके पास जो बल है, उससे ज्यादा बलकी जरूरत नहीं है। आपको जो बल, बुद्धि, योग्यता, परिस्थिति आदि मिली है, उसीके सदुपयोगसे परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी। यह एकदम सच्ची और सिद्धान्तकी बात है।

आपके पास जानकारीकी कमी नहीं है, प्रत्युत उस जानकारीका आप ठीक उपयोग नहीं करते, उसको महत्त्व नहीं देते—इस बातकी कमी है। अभी जो परिस्थिति हमारे सामने है, वह सदा ऐसी ही नहीं बनी रहेगी—यह ज्ञान आपमें कम नहीं है, पूरा-का-पूरा है। इस ज्ञानका आप सदुपयोग करें तो यह ज्ञान आपके उद्धारके लिये काफी है, किञ्चिन्मात्र भी कम नहीं है। इसका सदुपयोग यह है कि आप प्राप्त परिस्थितिमें फँसें नहीं, उसमें राजी-नाराज न हों।

श्रोता—यह ज्ञान तो हमें है, पर जैसा चाहते हैं, वैसा ज्ञान नहीं है।

स्वामीजी—आपको जिसका ज्ञान है, उसका सदुपयोग आप करते हैं क्या ? जिस वस्तुको आप नाशवान् समझते हो, उसको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है कि नहीं ?

श्रोता—होती है।

स्वामीजी—तो फिर नाशवान् कहाँ समझते हैं, अगर वास्तवमें आप नाशवान् समझते तो फिर उसको पानेकी इच्छा आपमें नहीं होती। जो नाशवान् है, उसके मिलनेसे क्या लाभ

होगा? जैसे धनवान्‌के पास धन होता है, धन नहीं हो तो वह धनवान् नहीं कहलाता, ऐसे ही संसारके पास नाश-ही-नाश है। जो नाशवान् है, वह हमें निहाल कैसे करेगा?

आप स्वयं नाशवान् नहीं हैं, प्रत्युत शरीर नाशवान् है। आपको जो वस्तु मिली हुई है, वह नष्ट होनेवाली है, पर आप स्वयं नष्ट होनेवाले नहीं हो। वस्तु पहले भी नहीं थी और बादमें भी नहीं रहेगी तथा वर्तमानमें भी प्रतिक्षण नाशकी तरफ जा रही है। परन्तु आप पहले भी थे और आगे भी रहोगे। आपकी सत्ता निरन्तर रहती है। हमारे पास प्रश्न आया था कि हम भविष्यमें रहेंगे—इसका ज्ञान वर्तमानमें कैसे हो? इसका उत्तर है कि आप बुरा काम करते हुए डरते हैं और अच्छा काम करते हुए राजी होते हैं; क्योंकि आपका यह भाव रहता है कि बुरा काम करनेसे हम आगे दुःख पायेंगे और अच्छा काम करनेसे हम आगे सुख पायेंगे। इससे सिद्ध हुआ कि आपने भविष्यमें अपनी सत्ता मान रखी है। अगर भविष्यमें हम अपनी सत्ता न मानें तो फिर स्वर्गमें कौन जायगा? नरकोंमें कौन जायगा? पुनर्जन्म किसका होगा? मुक्ति किसकी होगी? कल्याण होनेपर आनन्द आपको होगा कि दुनियाको होगा? तात्पर्य है कि आप तो रहेंगे और शरीर आदि पदार्थ नहीं रहेंगे।

आप विचार करें कि नाशवान्‌के द्वारा अविनाशीको सुख कैसे मिल सकता है? नाशवान् कहनेका अर्थ है कि उसके पास नाश-ही-नाश है, नाशके सिवाय कुछ नहीं है।

अंतहुँ तोहि तजैंगे पामर तू न तजै अबही ते।

जो चीज नष्ट होनेवाली है, उसका उपयोग करो, पर उसका भरोसा मत करो, उसको अपना आधार मत बनाओ कि यह हमें निहाल करेगी। थोड़ा ध्यान दें, जो चीज अभी आपके पास नहीं है, उसके मिलनेसे आप निहाल कैसे हो जायँगे? जो चीज अभी नहीं है, वह बादमें भी नहीं रहेगी, बिछुड़ जायगी, अतः वह आपको सुखी कैसे करेगी? वह मिलेगी कि नहीं मिलेगी—इसका पता नहीं है, और मिल भी जायगी तो रहेगी नहीं, क्योंकि जो नाशवान् है, उसका नाश होगा ही।

शरीर आदि नाशवान् हैं—ऐसा आप जानते तो हैं, पर मानते नहीं अर्थात् जाने हुएको महत्त्व नहीं देते। अगर आप अपनी जानकारीको महत्त्व देते तो आप नाशवान् वस्तुओंपर भरोसा नहीं करते, उनकी आशा नहीं करते, उनके मिलनेपर राजी नहीं होते, उनके न मिलनेपर दुःखी नहीं होते, उनके बने रहनेकी इच्छा नहीं करते, उनके नष्ट होनेकी चिन्ता नहीं करते। हम जैसी परिस्थिति चाहते हैं, वैसी परिस्थिति न मिलनेपर दुःख होता है तो यह दुःख केवल मूर्खताका है। मूर्खताके सिवाय और कुछ नहीं है इसमें। जो वस्तु, परिस्थिति रहनेवाली नहीं है, उसको रखना चाहते हैं और उसके नष्ट होनेपर दुःखी होते हैं—यह मूर्खता नहीं तो और क्या है? हमारेपर कोई आफत आ जाय, दुःख आ जाय तो सोचते हैं कि यह मिटे कैसे? पर वास्तवमें देखा जाय तो वह मिट ही रहा है। चाहे अनुकूलता हो, चाहे प्रतिकूलता हो, वह रहनेवाली है ही नहीं। मिली हुई चीज बिछुड़नेवाली होती है।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥

(वाल्मीकि॰ २। १०५। १६)

'समस्त संग्रहोंका अन्त विनाश है, लौकिक उन्नतियोंका अन्त पतन है, संयोगोंका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है।'

जिसका वियोग हो जायगा, उसके संयोगसे सुख कैसे लिया जाय? उसके वियोगसे हम दुःखी क्यों हों? न सुख रहनेवाला है और न दुःख रहनेवाला है। आप रहनेवाले हैं। रहनेवाला आने-जानेवालेसे सुखी-दुःखी होता है तो उसकी मूर्खता ही है।

जो कभी नष्ट नहीं होता और जो अभी मौजूद है, उस परमात्माकी प्राप्तिसे ही सदा रहनेवाला सुख मिलेगा। उस परमात्माके सिवाय मानमें, सम्मानमें, बड़ाईमें, आराममें, रुपये-पैसेमें, कुटुम्बमें, धनमें कहीं भी आप सन्तोष करेंगे तो आपके साथ विश्वासघात होगा।

मैं वह बात कहता हूँ, जो आपके अनुभवमें है। चाहे कोई धुरंधर विद्वान् हो, चाहे एक अक्षर भी पढ़ा हुआ न हो, उसके भी अनुभवमें जो बात है, वह बात मैं कहता हूँ। मैं किसी वर्णकी, किसी आश्रमकी, किसी जातिकी, किसी सम्प्रदायकी बात नहीं कहता हूँ, प्रत्युत मनुष्यमात्रके अनुभवकी बात कहता हूँ। जिसका संयोग होता है, उसका वियोग होगा ही—यह बात किसकी है, बताओ? यह बात हिन्दुओंकी है या मुसलमानोंकी है या ईसाईयोंकी है? बालकोंकी है या जवानोंकी है या बूढ़ोंकी है? स्त्रियोंकी है या पुरुषोंकी है? साधुओंकी है या गृहस्थोंकी है? किसकी है यह? यह तो सबकी बात है। इस बातको आप महत्त्व दें तो निहाल हो जायँ! महत्त्व देना क्या कि आने-जानेवाली वस्तु, परिस्थितिसे आप सुखी-दुःखी न हों।

जिसका वियोग हो जायगा, उसका सहारा आप क्यों लेते हैं? आपने पहले उसका सहारा लिया और उसका वियोग होनेसे आपको दुःख भी हुआ, फिर भी आप उसीका

सहारा लेते हैं और बार-बार दुःख पाते हैं! अगर आप उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुसे राजी-नाराज न हों तो आपको अनुत्पन्न परमात्मतत्त्व मिल जायगा। जो उत्पत्ति-विनाशशील हैं, जिसके आदि और अन्तको आप जानते हैं, उसकी इच्छा करना तथा उसके मिलनेसे राजी होना ही उलझन है। इसके सिवाय आपकी उलझन कोई है ही नहीं । इस उलझनको आप मिटा दो तो आपको परमात्मतत्त्व मिल जायगा। उस परमात्मतत्त्वका कभी नाश (वियोग) नहीं होता। वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है, क्योंकि वह सत् है। सत्का कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २।१६)।

आपका अपमान होता है तो आप बड़े दुःखी हो जाते हैं तो अपमान टिकनेवाला है क्या? आपका सम्मान होता है तो आप राजी हो जाते हैं तो सम्मान टिकनेवाला है क्या? आप तो रहनेवाले हैं। रहनेवाला आने-जानेवालेसे सुखी-दुःखी हो जाता है—यह बड़े आश्चर्यकी बात है। भगवान्ने गीतामें सबसे पहले यह उपदेश दिया—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

(गीता २।१२)

मैं, तू और ये राजा लोग पहले नहीं थे—यह बात भी नहीं है तथा आगे नहीं रहेंगे—यह बात भी नहीं है। ऐसा कहनेका तात्पर्य क्या हुआ? कि अभी जो यह परिस्थिति है, यह नहीं रहेगी। जो वस्तु, परिस्थिति नहीं रहेगी, वह आ गयी तो क्या हो गया? और वह चली गयी तो क्या हो गया? नाशवान्के मिलनेसे क्या राजी होते हो? सम्मान मिल गया तो क्या हो गया? सम्मानसे आपको क्या मिला? केवल धोखा मिला। धोखेके सिवाय कुछ नहीं मिला। आप जान-जानकर धोखा क्यों खाते हो? आपको आजसे ही होश आनी चाहिये कि अब हम सम्मानमें राजी नहीं होंगे और अपमानमें नाराज नहीं होंगे। कारण कि आदर भी ठहरनेवाला नहीं है और निरादर भी ठहरनेवाला नहीं है। सुख भी ठहरनेवाला नहीं है और दुःख भी ठहरनेवाला नहीं है। यह मिला तो क्या फर्क पड़ा और नहीं मिला तो क्या फर्क पड़ा? जो नाशवान् ही है, वह मिला तो भी नहीं मिला और नहीं मिला तो भी नहीं मिला। वास्तवमें नाशवान्का सदा ही वियोग है, संयोग है ही नहीं। संयोग केवल आपका माना हुआ है। जिसका सदा ही वियोग है, जो आपके साथ रहनेवाला है ही नहीं, उसमें राजी-नाराज क्या हों? यह बात सच्ची है कि नहीं?

श्रोता—बिलकुल सच्ची है।

स्वामीजी—बिल्कुल सच्ची है तो आज ही, अभी-अभी मान लो, देरीका काम नहीं है। इसके लिये मिनट-दो-मिनटका भी भविष्य नहीं है। आने-जानेकी वस्तुओंसे राजी-नाराज नहीं होओगे तो अविनाशी वस्तु मिल जायगी। न मिले तो मेरा कान पकड़ लेना।

★

तत्त्वप्राप्तिमें देरी नहीं है

जो बात हमारी उन्नतिके लिये ठीक नहीं है, सच्ची नहीं है, हमारे लिये लाभदायक नहीं है, उसका त्याग कर दें—इतनी ही बात है, कोई लम्बी-चौड़ी बात नहीं है। त्यागसे तत्काल ही शान्ति मिलती है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (१२। १२)। उसमें कोई बाधा लगती हो तो बतायें, जिससे उसपर आपसमें विचार करें। साफ-साफ, सरलतासे कह दें। इसमें मान होगा, अपमान होगा, स्तुति होगी, निन्दा होगी, लोग क्या कहेंगे, क्या नहीं कहेंगे—इन सब बातोंको छोड़ दें। अगर अपना कल्याण करना हो तो लोग चाहे कुछ भी कहें, कुछ भी करें, उस तरफ ध्यान न दें।

तेरे भावै जो करौ, भलौ बुरौ संसार।
'नारायन' तू बैठके, अपनौ भवन बुहार॥

त्यागका, कल्याणका काम अभी करनेका है। यह काम धीरे-धीरे करनेका, कई दिनोंतक करनेका है—यह बात नहीं है। पर लोगोंके भीतर यह बात बैठी हुई है कि यह तो समय पाकर होगा। सज्जनो! मैंने खूब विचार किया है। यह बात भविष्यकी है ही नहीं। भविष्यकी बात वह होती है, जिसका निर्माण किया जाता है। निर्माण करनेमें समय लगता है। परन्तु जो वस्तु पहलेसे ही है, उसमें समय नहीं लगता। वह तत्काल सिद्ध होती है। अतः जो बात हमारी जानकारीमें झूठी है, असत्य है, ठीक नहीं है, लाभदायक नहीं है, उसका त्याग कर देना है, बस। जो त्याग होता है, वह तत्काल होता है। त्याग धीरे-धीरे नहीं होता और ग्रहण भी धीरे-धीरे नहीं होता।

भगवान्‌ने कहा है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'** (गीता २। १६) 'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत् वस्तुका अभाव नहीं होता।' फिर कहा है—**'उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥'** अर्थात् इन दोनोंके तत्त्वको तत्त्वदर्शी पुरुषोंने देखा है। देखा है—ऐसा कहा है, किया है—ऐसा नहीं कहा है। करनेमें देरी लगती है, देखनेमें देरी नहीं लगती। अगर देरी लगती है, समय लगता

है, तो आपने देखना पसन्द नहीं किया है, करना पसन्द किया है। ज्ञान है, भक्ति है, योग है—ये तत्काल सिद्ध होते हैं। इनकी सिद्धि वर्तमानकी वस्तु है। अगर यह वर्तमानकी वस्तु न हो, अभी सिद्ध होनेवाली न हो तो फिर सिद्ध कैसे होगी? इसका निर्माण करना नहीं है, कहींसे लाना नहीं है, कहीं ले जाना नहीं है, इसमें कोई परिवर्तन करना नहीं है, फिर इसमें समयकी क्या जरूरत है? इसपर विचार कर लें।

श्रोता—महाराजजी! हमलोगोंमें ऐसा भाव बैठा है कि महाराजजीमें तो त्याग-वैराग्य था, साधना थी, उससे अन्तःकरण शुद्ध हो गया तो चटपट काम हो गया। हमलोगोंका अन्तःकरण शुद्ध है नहीं, इसलिये यह बात हमारे भीतर बैठती नहीं!

स्वामीजी—आपकी यह बात बिलकुल असत्य है। देखो, मैं आपसे एक बात कहता हूँ। आपको विश्वास दिला दूँ—यह तो मेरी सामर्थ्य नहीं है। यह बात मेरे तो बैठी हुई है; आपके न बैठे, यह बात है ही नहीं। आपका अन्तःकरण कितना ही अशुद्ध हो, गीताने कहा है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥
(४।३६)

'अगर तू सम्पूर्ण पापियोंसे भी अधिक पापी है, तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।'

'पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः' कहकर आखिरी हद कर दी! इतना संस्कृतका बोध तो बहुतोंको होगा कि **'पापेभ्यः'** शब्द बहुवचन होनेसे सम्पूर्ण पापियोंका वाचक है, फिर भी इसके साथ **'सर्वेभ्यः'** शब्द दिया। **'सर्वेभ्यः'** शब्द भी सम्पूर्णका वाचक है! अब विचार करें कि ये दोनों शब्द देनेके बाद भी भगवान्‌ने **'पापकृत्तमः'** शब्द और दिया है, जो अतिशयताबोधक है। पहले **'पापकृत्'** होता है, फिर **'पापकृत्तर'** होता है और फिर **'पापकृत्तम'** होता है। यह आखिरी बात है। सम्पूर्ण संसारमें जितने भी पापी हो सकते हैं, उन सम्पूर्ण पापियोंसे भी अत्यधिक पापी! उसका अन्तःकरण कितना अशुद्ध होगा, बताओ? क्या आपके यह जँचती है कि मैं भी ऐसा ही पापी हूँ? नहीं जँचती न? भगवान् बताते हैं कि ऐसा महान् पापी भी ज्ञानरूपी नौकासे सम्पूर्ण पापोंसे तर जाता है। ऐसा कहकर फिर आगेके श्लोकमें कहते हैं—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥
(४।३७)

'हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको सर्वथा भस्म कर देती है, ऐसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको सर्वथा भस्म कर देती है।'

बहुत भभकती हुई जोरदार आग हो, मामूली आग नहीं, उसके लिये **'समिद्धः अग्निः'** शब्द दिये। **'अग्निः'** शब्द एकवचन है। उसके साथ बहुवचन शब्द **'एधांसि'** (ईंधन) दिया। भस्मके लिये **'भस्मसात्'** शब्द कहा। **'भस्मसात्'** का अर्थ होता है—सर्वथा भस्म कर दे, उसकी राख भी न बचे। इस तरह ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण पापोंको भस्मसात् कर देती है। पहले कहा कि ज्ञानरूपी नौकासे सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे तर जायगा। दूसरा दृष्टान्त इसलिये दिया कि समुद्रसे तरनेपर समुद्रका अभाव नहीं होता, समुद्र रह जाता है। उस रह जानेके सन्देहको मिटानेके लिये दूसरा दृष्टान्त दिया कि ज्ञानरूपी अग्निसे सम्पूर्ण पापोंका सर्वथा नाश हो जाता है, कोई पाप बाकी नहीं रहता। यहाँ **'कर्माणि'** कहनेसे भी काम चल जाता, फिर भी इसके साथ **'सर्व'** शब्द दिया। तात्पर्य है कि संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध—सभी कर्मोंका नाश हो जाता है। अब इसमें देरीका क्या काम?

श्रोता—महाराजजी! आप जो बात कहते हैं, वह युक्तिसे ठीक जँचती है, पर अकसर अपने अन्तःकरणकी स्थिति देखकर मन बिलकुल डाँवाडोल हो जाता है कि यहाँ तो पोल है सारी!

स्वामीजी—अब ध्यान देकर सुनना। अन्तःकरण 'करण' है कि 'कर्ता' है? यह तो करण है और तत्त्व करणसाध्य (करणसे प्राप्त होनेवाला) नहीं है, वह तो करणनिरपेक्ष है। अगर वह करणसाध्य होता तो हम आपकी बात मान लेते कि हाँ, ठीक है। करणसाध्य वह होता है, जिसका निर्माण किया जाता है, जो कहींसे लाया जाता है, कहीं ले जाया जाता है, जिसमें परिवर्तन किया जाता है। इस तरह जिसमें क्रियाके द्वारा कुछ-न-कुछ विकृति आती है, वहाँ करण काम करता है। जिसमें विकृति नहीं आती, उसमें करण काम नहीं करता। तत्त्वप्राप्तिमें करणकी अपेक्षा नहीं है। करणसे तो सम्बन्ध-विच्छेद करना है। अरे भाई! जिसको छोड़ना है, उसको शुद्ध और अशुद्ध क्या करना? शुद्ध है तो छोड़ दिया, अशुद्ध है तो छोड़ दिया।

श्रोता—महाराजजी! **'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४।२४), **'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'** (गीता १२।१३) आदि लक्षण दीखें, तब मालूम दे कि अन्तःकरण शुद्ध हुआ है। वैसे लक्षण दीखें नहीं तो यही दीखता है कि कुछ नहीं हुआ।

स्वामीजी—देखो, मैंने कल रात भी कहा था और अब

भी कहता हूँ। यह तो आपको विश्वास है कि मैं आपको धोखा नहीं देता हूँ ?

श्रोता—हाँ, विश्वास है।

स्वामीजी—तो मैं आपको कहता हूँ कि आप भले ही कितने ही पापी हों, बड़े भारी पापी हों, पर अभी बोध हो सकता है। यह बात केवल मेरे लिये नहीं है। मेरे लिये होती तो आपको क्यों कहता ? आपके लिये, मेरे लिये—दोनोंके लिये यह बात है। हमारे पापोंका कितना ही बड़ा दर्जा हो, कितनी ही डिग्रीका पाप हो, इससे कोई मतलब नहीं। सभी पाप भस्मसात् हो जाते हैं।

श्रोता—पापकी वासना भी उठती जाती है महाराजजी !

स्वामीजी—पापकी वासना उठती है तो उठने दो। यह मेरी एक बात मान लो आप। पापकी मनमें आये तो आने दो, खराब संकल्प आये तो आने दो। आप इनसे डरो ही मत। इनकी कसौटी कसो ही मत। पाप टिक ही नहीं सकेंगे, भस्म हो जायँगे अपने-आप। पाप करणके ऊपर नहीं टिके हुए हैं। पाप कर्ताके ऊपर टिके हुए हैं। इसलिये करण शुद्ध नहीं है—इसकी क्यों चिन्ता करते हो आप। कर्ता शुद्ध हो जाय तो करण आप-से-आप शुद्ध हो जायगा। इसपर विचार करो कि कर्ता शुद्ध होनेपर करण अशुद्ध कैसे रहेगा ? आप अगर ठीक हैं तो क्या कलम गलत लिखेगी ? कलम तो करण है और आप कर्ता हैं। गीताने '**अपि चेदसि**' 'अगर तू ऐसा है'—यह कहा है। 'अगर करण ऐसा है' यह नहीं कहा है।

आप इतने बैठे हैं। इनमें कोई भी ऐसा बिलकुल नहीं मान सकता कि मैं तो संसारके सम्पूर्ण पापियोंसे भी अधिक पापी हूँ। एक नम्रता-प्रदर्शनके लिये भले ही कह दो कि ऐसा पापी मैं हूँ, ***'मो सम कौन कुटिल खल कामी';*** परन्तु आपके हृदयमें जैसे 'तत्त्वप्राप्तिमें देरी नहीं है' यह बात नहीं जँचती, ऐसे ही हृदयमें यह बात भी नहीं जँचती होगी कि मैं सबसे अधिक पापी हूँ। कोई मान ही नहीं सकता कि महाराज सत्संग करते हैं, नाम-जप करते हैं, पाठ-पूजन करते हैं, सन्ध्या-गायत्री करते हैं; कुछ-न-कुछ करते ही हैं। फिर यह कैसे मान लें कि हम सबसे अधिक पापी हैं ? अगर ऐसा हो तो जलन पैदा हो जायगी। जलन पैदा होगी तो तत्काल कल्याण हो जायगा, देरी नहीं लगेगी। यह जो जलन है, इसमें पापोंका नाश करनेकी बहुत शक्ति है।

श्रोता—महाराजजी ! संस्कार ऐसे बैठे हुए हैं कि साधनासे ही होगा; भजन, जप, कीर्तनसे ही होगा। बार-बार पुस्तकोंमें भी ऐसा ही पढ़ते हैं, जिससे यह बात भीतरमें कूट-कूटकर बैठी हुई है।

स्वामीजी—पुस्तकें मैंने भी पढ़ी हैं। मैंने पुस्तकें नहीं पढ़ी हों, ऐसी बात नहीं है। परन्तु मैं जो बात कहता हूँ, वह भी पुस्तकोंसे ही कहता हूँ। अभी मैंने जो दो श्लोक गीताके कहे हैं, इसमें समय लगनेकी बात कहाँ आती है ? यह बात जैसे यहाँ ज्ञानमें कही गयी है, ऐसे ही भक्तिमें भी कही गयी है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है।'

दोनों ही जगह (४। ३६ और ९। ३० में) '**अपि चेत्**' पद आये हैं। तात्पर्य है कि ऐसा तू नहीं है; परन्तु अगर तू अथवा दूसरा कोई ऐसा हो भी जाय तो भी कल्याण हो जाय। अगर ऐसा नहीं है तो फिर बात ही क्या है ! '**साधुरेव स मन्तव्यः**' 'उसे साधु ही मान लेना चाहिये' ऐसा कहनेका क्या अर्थ है ? तुम्हारेमें साधुपना नहीं दीखता, '**अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्**' नहीं दीखता तो भी मान लो। ज्ञानमें तो जान लो और भक्तिमें मान लो। ये दोनों बातें तत्त्वसे जाननेके अन्तर्गत आती हैं।

तत्त्वसे मान लेनेका नाम ही जानना है। मान लेनेका जो प्रभाव है, वह जाननेसे कम नहीं है। जैसे, बालक मान लेता है कि यह मेरी माँ है। यह मानी हुई बात है, जानी हुई, अनुभव की हुई बात नहीं है। '**यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।**' (गीता १०। ३) यहाँ '**वेत्ति**' का अर्थ मानना है, जानना नहीं; क्योंकि मनुष्य भगवान्‌को अनादि जानेगा कैसे ? इसे तो मानेगा ही। ऐसे ही '**जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।**' (४। ९) इसमें भी माननेकी बात है; क्योंकि भगवान्‌के जन्म और कर्मको वही जान सकेगा, जो भगवान्‌के जन्म और कर्मसे पहले होगा। भगवान्‌के जन्म और कर्म (उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करने आदि) से पहले कौन हुआ है ? अतः यहाँ '**तत्त्वतः वेत्ति**' का अर्थ दृढ़तापूर्वक मानना ही है। '**भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्। सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा……**' (५। २९) इसमें भी '**ज्ञात्वा**' माननेके अर्थमें आया है।

श्रोता—इसमें महाराजजी, परोक्ष ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान…… ?

स्वामीजी—देखो, अभी आप पुस्तकोंकी कोई बात मत लाओ। पुस्तकोंका प्रमाण देकर मेरेको चुप करना चाहोगे तो

मैं चुप हो जाऊँगा। और क्या होगा ? परन्तु नतीजा क्या निकलेगा ? अपनी समस्या उलझेगी, सुलझेगी नहीं। मैं साफ कहता हूँ कि ज्ञान परोक्ष होता ही नहीं, हो सकता ही नहीं। ज्ञान अपरोक्ष ही होता है। ज्ञान होगा तो वह परोक्ष कैसे होगा ? और परोक्ष होगा तो वह ज्ञान कैसे होगा ? अनुभूति दो कैसे होगी ? जानना दो कैसे होगा ? इसपर भी खूब विचार करो, मैंने किया है ऐसा। ग्रन्थोंसे लाभ होता है, पर नुकसान ज्यादा होता है। यह बात तो नास्तिकताकी दीखती है। परन्तु मेरा विचार ऐसा ही हुआ है। अगर आप अपना कल्याण चाहते हैं तो अभी-अभी इन बातोंको छोड़ दो। अनुभूति परोक्ष होती ही नहीं।

श्रोता—किसी चीजको मान लिया तो यह हुआ परोक्ष ज्ञान ......।

स्वामीजी—यह मानी हुई बात है ही नहीं, यह तो सीखी हुई बात है। मानी हुई बात और होती है, सीखी हुई बात और होती है, जानी हुई बात और होती है। तोता 'राधेकृष्ण-गोपीकृष्ण' कहना सीख लेता है तो वह परोक्ष-ज्ञानी हो गया ! परोक्षज्ञान हो ही नहीं सकता। जो परोक्ष है, वह ज्ञान कैसे ? अन्तःकरण, इन्द्रियाँ 'अक्ष' हैं, इससे 'पर' होगा, वह ज्ञान कैसे होगा ? यह तो एक प्रक्रिया है। प्रक्रियाके अनुसार चले तो यह भी ठीक है। इस प्रक्रियामें पहले विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षा—इस साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न हो। फिर श्रवण, मनन और निदिध्यासन करे। फिर तत्त्वपदार्थसंशोधन करे। यह बहुत लम्बा रास्ता है। इसमें तत्काल सिद्धि नहीं होती।

श्रोता—महाराजजी ! आपने कहा कि हम शरीर नहीं हैं; शरीर आत्मासे भिन्न है। आपके कहनेसे हमने इसको मान लिया।

स्वामीजी—यह मानना मानना नहीं है बाबा, यह सीखना है। मेरी बात याद रखो कि यह मानना है ही नहीं। अनुभूति चाहे न हो, पर मान्यता दृढ़ होनी चाहिये। जैसे पार्वतीजीकी नारदके उपदेशपर दृढ़ मान्यता थी—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥
(मानस १।८१।३)

भगवान् शङ्कर भी कहें तो भी नारदजीके उपदेशको नहीं छोड़ूँगी। भगवान्से भूल हो सकती है, पर नारदजीसे भूल नहीं हो सकती। इसको कहते हैं मानना। शरीर और मैं दो हैं। ब्रह्माजी भी कह दें कि शरीर और तुम एक हो तो उनकी भूल हो सकती है, पर हमारी नहीं हो सकती। हमारी समझमें न भी आये तो भी बात तो ऐसी ही है। इस प्रकारकी दृढ़ मान्यता ज्ञानके समान उद्धार करनेवाली है। यह परोक्ष नहीं है। आपने विवाह किया तो स्त्रीको अपनी मान लिया। अब इसमें सन्देह होता है क्या ? विपरीत धारणा होती है क्या ? बताओ। माननेके सिवाय और इसमें क्या है ? स्त्री सती हो जाती है, आगमें जल जाती है—केवल माननेके कारण। जलनेपर भी आग बुरी नहीं लगती।

हरदोई जिलेमें इकनोरा गाँव है। उस गाँवमें अभी एक सती हुई। करपात्रीजी महाराजने बताया कि मैंने खुद जाकर उस स्थानको देखा है और बात सुनी है। पति दूर था और लड़की अपने मामाके यहाँ थी। उसने पतिकी बीमारीका हाल सुना। फिर उसको मालूम हुआ कि वे मर गये तो कहा कि मुझे जल्दी पहुँचा दो। फिर कहा कि अब मैं वहाँ पहुँच नहीं सकती; क्योंकि उनकी दाहक्रिया पहले ही हो जायगी। मैं तो यहीं सती हो जाऊँगी। सबने ऐसा करनेसे रोका। रात्रि थी। दीया जल रहा था। उसने दीयेपर अँगुली रख दी। वह अँगुली यों जलने लगी, जैसे मोम जलती हो। उसने कहा कि मेरेको यहाँ रखोगे तो तुम्हारा घर जल जायगा। इसलिये मुझे बाहर जाने दो। उन्होंने कहा कि अच्छा, तुम्हें जाने देंगे तो उसने यों दीवारसे रगड़ करके अँगुली बुझाई। करपात्रीजीने कहा कि जहाँ अँगुली बुझाई, वह जगह मैं देख करके आया हूँ। दीवारपर उसके निशान थे। लड़कीको घरवाले बाहर ले गये, पर कहा कि हम न लकड़ी देंगे, न आग देंगे। नहीं तो आफत हो जाय कि आदमी जला दिया। उसने भगवान् सूर्यसे प्रार्थना की कि महाराज ! आप मुझे आग दो। वह वहीं खड़ी-खड़ी जल गयी ! पासमें पीपलका वृक्ष था, वह आधा जल गया। वहाँके मुसल्मानोंने बताया कि हमने देखा है। अब उसमें कौन-सा ज्ञान था, बताओ ? वे चले गये, अब मैं नहीं रह सकती। उन्हींकी अंश हूँ मैं। उनकी दाहक्रिया हो गयी, मेरी कैसे नहीं होगी ? इसको मान्यता कहते हैं। सुन लिया और सीख लिया—इसका नाम मान्यता नहीं है। इसका नाम सीखना है। सीख करके व्याख्यान दे देते हैं, खूब पुस्तकें लिख देते हैं।

ज्ञान अपरोक्ष ही होता है, परोक्ष होता ही नहीं। मैंने इस बातपर विचार किया है, और इससे बढ़कर मैं क्या कहूँ ? एकदम तत्काल सिद्धि हो जाती है, ऐसी बात है यह। एक दूसरी बात कहता हूँ। आपकी मान्यतासे आपको लाभ है या मेरी मान्यतासे आपको लाभ है ? आपको लाभ किस बातमें

है ? आप अभी परोक्ष-अपरोक्ष लिये बैठे हो, ऐसी मान्यतासे लाभ है या मैं जो कहूँ, उस बातसे लाभ है ? लाभकी बात भी नहीं समझते आप ! अगर धोखा होगा तो आज दिनतक कौन-सा अच्छा काम हुआ है ? धोखा ही हुआ है। एक मेरे कहनेसे और धोखा हो जायगा ! परन्तु मैं कहूँ, उसमें धोखा होगा नहीं, हो सकता नहीं, होना सम्भव ही नहीं। एकदम सच्ची बात है।

पंढरपुरमें चातुर्मास किया तो उसमें मैंने यह बात कह दी कि तत्काल सिद्धि हो जाती है। उन्होंने यही कहा कि ऐसा नहीं होता है। अभिमानकी बात है, मैंने जोर देकर कह दिया कि मराठी भाषा मेरेको आती नहीं और यहाँके सन्तोंकी वाणी मैंने पढ़ी नहीं। परन्तु मेरा विश्वास है कि यहाँ जो एकनाथजी महाराज, तुकारामजी महाराज, ज्ञानेश्वरजी महाराज आदि अनुभवी सन्त हुए हैं, उनकी वाणीमें तत्काल सिद्धिकी बात जरूर आयेगी। उनकी वाणीमें यह बात आये बिना रह सकती नहीं। इतनेमें एक आदमी बोला कि हाँ, अमुक-अमुक जगह तत्काल सिद्धिकी बात आती है।

गीता कह रही है—**'अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।'** इसको मान लो। इस बातकी उलझन मत रहने दो। अन्तःकरण अशुद्ध होनेपर भी ज्ञान हो सकता है। अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध होनेपर बाकी क्या रहा ? अन्तःकरणको शुद्ध करना और अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद करना—यह दो चीजें हैं। बड़े जोरसे कहता हूँ कि अन्तःकरणको अपना मानकर शुद्ध करोगे तो नहीं होगा शुद्ध। क्यों नहीं होगा ? मेरा अन्तःकरण है—यही अशुद्धि है। गोस्वामीजीने ममताको ही मल कहा है—***'ममता मल जरि जाइ'*** (मानस ७। ११७ क)। मल लगाकर धोते हो, शुद्ध करते हो तो होगा शुद्ध ? ममता रखोगे तो अन्तःकरण कभी शुद्ध नहीं होगा। गीताने भी ममता छोड़नेके लिये कहा है—**'निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति'** (२। ७१)।

—★—

अन्तःकरणकी शुद्धिका उपाय

ये राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि उत्पन्न और नष्ट होते हैं, आते और जाते हैं। परन्तु आप उत्पन्न-नष्ट होते हो और आते-जाते हो क्या ? नहीं। तो फिर ये (राग-द्वेषादि दोष) आपसे अलग हुए न ? अलग होनेसे ये आपमें नहीं हैं—यह बात दृढ़ हुई। अतः दृढ़तासे यह विचार होना चाहिये कि ये मेरेमें नहीं हैं। अगर ये आपमें होते तो जबतक आप रहते, तबतक ये भी रहते और आप न रहते तो ये भी न रहते। परन्तु आप तो रहते हो और ये नहीं रहते। ये आगन्तुक हैं, आप आगन्तुक थोड़े ही हैं ! आपका भाव (होनापन) तो निरन्तर रहता है। गाढ़ नींदमें 'मैं हूँ' ऐसा स्पष्टभाव नहीं होता तो भी जगनेपर यह भाव होता ही है कि अभीतक मैं सोया था, अब जग गया हूँ। मैं सोया था, उस समय मेरा अभाव था, यह नहीं दीखता। अपना भाव तो निरन्तर अपने अनुभवमें आ रहा है और इन दोषोंका आगन्तुकपना प्रत्यक्ष हमारे अनुभवमें आ रहा है। इसका भाव और अभाव—दोनों हमारी समझमें आते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि ये राग-द्वेष आदि आपके स्वरूपमें नहीं हैं, प्रत्युत आपके मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें आते हैं। परन्तु शरीरको मैं-मेरा माननेसे इनके साथ अपने सम्बन्धका अभाव नहीं दीखता।

देखो, एक बात बतायें। आप ध्यान देकर सुनें। हमारेको संसारके जितने भी ज्ञान होते हैं, वे सब सांसारिक पदार्थ शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरणको साथ लेकर ही होते हैं। परन्तु स्वयंका बोध शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरणको साथ लेनेसे नहीं होता। अब यह जो बात है कि अन्तःकरण शुद्ध होनेसे संसारका ज्ञान साफ होगा, पर स्वरूपका बोध कैसे होगा ? इसपर शंका करो।

श्रोता—महाराजजी ! अन्तःकरण शुद्ध होनेसे अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा तो बोध अपने-आप हो जायगा।

स्वामीजी—जड-चेतनका, सत्-असत्का, नित्य-अनित्यका जो विवेक है, उस विवेकको महत्त्व न देनेसे ही बोध नहीं हो रहा है। विवेकको महत्त्व देनेसे अविवेक मिट जायगा और बोध हो जायगा। वह विवेक आपमें है और अभी है। उस विवेकको आपने प्रकाशित नहीं किया, उसको आपने उद्बुद्ध नहीं किया, उसको जाग्रत् नहीं किया, उसका आदर नहीं किया, उसको महत्त्व नहीं दिया—यह गलती हुई। अन्तःकरण शुद्ध होनेसे क्या हो जायगा ? शुद्ध होनेसे एक बात है कि इधर (पारमार्थिक) रुचि हो जायगी, और कुछ नहीं।

एक बड़ी मार्मिक बात है, जिस तरफ साधकका ध्यान नहीं जाता। परमात्मतत्त्वका अथवा स्वरूपका बोध करण-निरपेक्ष है, करण-सापेक्ष नहीं है। इसलिये करण शुद्ध हो या अशुद्ध, उससे विमुख होनेसे वह बोध हो जायगा।

श्रोता—अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना उससे सम्बन्ध टूट सकता है क्या ?

स्वामीजी—वास्तवमें तो सम्बन्ध है नहीं, पर सम्बन्ध

मान लिया है। माना हुआ सम्बन्ध नहीं माननेसे मिट जायगा। इसमें शुद्धि-अशुद्धिसे क्या लेन-देन !

श्रोता—यह मान्यता बिना अन्तःकरण शुद्ध हुए भी हो सकती है क्या ?

स्वामीजी—बिल्कुल हो सकती है। आपके भीतर यह भाव होना चाहिये कि मेरी मुक्ति हो जाय, मुझे बोध हो जाय। मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जाय, उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय—यह बात वास्तवमें सम्बन्धको दृढ़ करनेवाली है। किसीको मिटाना चाहते हो तो मिटानेसे पहले उसकी सत्ता मानते हो। अगर सत्ता नहीं मानते तो फिर मिटाते किसको हो ? सत्ता मानते हो, तभी तो आप सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहते हो। सम्बन्ध है—यह मान्यता होती है, तब उसको दूर करते हो। मैं कहता हूँ कि सम्बन्ध है ही नहीं ! उस (शास्त्रीय) प्रणालीमें और इस प्रणालीमें यही खास फरक है। जैसे, वेदान्त-ग्रन्थोंमें आता है कि '**अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चयते**' अध्यारोप और अपवाद—इन दोनोंसे निष्प्रपञ्चका प्रपञ्च होता है अर्थात् परमात्माका विवेचन होता है। तो मैं कहता हूँ कि जब अपवाद ही करना है तो अध्यारोप करो ही क्यों ?

श्रोता—मेरा प्रश्न यही उठ रहा है कि अन्तःकरणकी शुद्धि हुए बिना मान्यता बनती नहीं।

स्वामीजी—मैं कहता हूँ कि बनती है। अन्तःकरणको लेकर बनाओगे तो नहीं बनेगी। देखो, सनकादिकोंने जाकर ब्रह्माजीसे प्रश्न किया कि मन विषयोंमें फँसा हुआ है और विषय मनमें बसे हुए हैं तो फिर मनको विषयोंसे अलग कैसे करें ? तो उत्तर दिया कि इन दोनोंसे ही सम्बन्ध-विच्छेद कर दो—'**मद्रूप उभयं त्यजेत्**' (श्रीमद्भा० ११। १३। २६)। यही तो मैं कहता हूँ। इस साधनको क्यों नहीं पकड़ते आप ? यह शास्त्रकी बात है, मेरे घरकी नहीं है। मेरे घरकी इतनी ही बात है कि इसीको जोरसे पकड़ना चाहिये, दूसरेको नहीं। अध्यारोप करो, उसको रखो, फिर उसको दूर करो; क्यों आफतमें फँसते हो ? है ही नहीं हमारेमें। इससे साधककी जल्दी सिद्धि होती है, इसलिये इसका आदर करो। यह प्रणाली मेरी नहीं है और न किसीका ठेका है इसपर। यह तो सामान्य बात है।

श्रोता—महाराजजी ! जहाँ जिज्ञासा होती है, मान्यता होती है, वहींपर हमारी भोगोंमें रुचि पैदा होती है।

स्वामीजी—भोगोंकी रुचि है, सुखभोगकी इच्छा है—यही घातक है। इसका आप त्याग नहीं करते, इसीलिये सम्बन्ध-विच्छेदकी बात कठिन दीखती है, नहीं तो यह बहुत सुगम और बहुत सरल है।

श्रोता—यह सुखभोगकी इच्छा ही खास बीमारी है महाराजजी।

स्वामीजी—खास बीमारी है तो इसको दूर करो। वास्तवमें जब आपकी समझमें आ गयी कि यह बीमारी है तो बीमारी आपसे दूर हो गयी। आँखमें लगा हुआ अंजन आँखसे नहीं दीखता। अंजन आँखसे तब दीखता है, जब वह आँखसे दूर हो—अँगुलीपर लगा हो।

श्रोता—स्वामीजी ! दोषको जानते हुए भी और इसको दूर करना चाहते हुए भी यह दूर क्यों नहीं होता ?

स्वामीजी—जबतक सुखकी इच्छा है, तबतक वह दोष दूर नहीं होगा। जैसी सुखभोगकी इच्छा है, वैसी त्यागकी इच्छा नहीं है। सुखभोगकी इच्छा ज्यादा प्रबल है। उसकी अपेक्षा उसके त्यागकी इच्छा बहुत कमजोर है।

श्रोता—यह सही बात है महाराजजी, सुखभोगकी रुचि ज्यादा है।

स्वामीजी—तो सुखभोगकी रुचिको दूर करो, और उस रुचिको दूर करनेमें आपको अभ्यास करना पड़ेगा। अगर अभ्यास न करके 'यह मेरेमें है नहीं'—इसको मान लो तो बहुत जल्दी काम हो जाय। वास्तवमें अन्तःकरणकी शुद्धि करनेकी अपेक्षा अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद करो तो यह बहुत जल्दी सिद्धि करनेवाली बात है। सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे जो शुद्धि होगी, वह शुद्धि करनेसे नहीं होगी। बच्चा माँकी गोदीमें रहता हुआ शुद्ध नहीं होता। माँके मोह-पूर्वक स्नेहमें पला हुआ बालक निर्मोही नहीं हो सकता। बापका मोह कम होता है तो बापके पास रहनेवाला बालक सुधरेगा। अध्यापकका मोह और कम होता है तो उसके पास रहनेवाला बालक और ज्यादा सुधरेगा। तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्तका मोह होता ही नहीं, इसलिये उसके पास कोई रहेगा तो वह बहुत शुद्ध हो जायगा, सुधर जायगा। इस तरह आप अन्तःकरणको अपना मानते रहोगे तो वह शुद्ध नहीं होगा। मेरापनरूपी मल तो लगाते जाते हो और कहते हो कि शुद्ध कर लूँगा ! कैसे शुद्ध कर लोगे ? मेरा है ही नहीं—यह बात बहुत ही शुद्ध करनेवाली है और जल्दी शुद्ध करनेवाली है। इसी बातको लेकर मेरी प्रणाली और तरहकी दीखती है। वह (दूसरी) प्रणाली भी मेरी पढ़ी हुई है और देखी हुई है तथा यह प्रणाली भी देखी हुई है। उस प्रणालीमें देरी लगती है, जल्दी सिद्धि नहीं होती। आप ही देख लो कि इतने वर्षोंसे सत्संग करते हैं, साधन करते हैं, पर वास्तविक सिद्धि कितनोंको मिली ? अशुद्धिको आदर देते हुए, अपनेमें मानते

हुए उसको दूर करना चाहते हैं। इससे वह दूर होगी नहीं। वास्तवमें आपके स्वरूपमें यह है नहीं। '**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते** ॥' (गीता १३। ३१) अर्थात् शरीरमें स्थित रहता हुआ भी आपका स्वरूप शरीरमें स्थित नहीं है, कर्ता और भोक्ता नहीं है। इस प्रकार सीधे स्वरूपको ही पकड़नेकी मेरी प्रणाली है। यह कोई नयी बात नहीं है।

श्रोता—पर स्वामीजी! रामायणमें तो ज्ञानको कठिन बताया गया है और आप कहते हैं कि सरल है?

स्वामीजी—आप प्रमाण दोगे तो मैं चुप हो जाऊँगा, पर मैं मानूँगा थोड़े ही इस बातको! आप रामायणकी बात कहोगे तो हृदयमें गोस्वामीजी महाराजका आदर होनेके कारण मैं चुप हो जाऊँगा। परन्तु जो सरल है, वह कठिन कैसे हो जायगा? गोस्वामीजी महाराजने इसको सरल कहा है—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ ॥

(७। ७३ ख)

यह और किसीकी वाणी है क्या? बोलो।

श्रोता—महाराजजी! बात समझमें आती तो है, पर आकर भी नहीं आती!

स्वामीजी—भाई, बात एक ही है। वह है—सुख-भोगकी इच्छा। इसको आप छोड़ते नहीं! सुख भोग लें और संग्रह कर लें—ये दो चीजें हैं। मेरे पास वस्तु हो जाय, रुपया हो जाय, इतना आधिपत्य हो जाय और इनसे मैं सुख भोग लूँ—यह खास बाधा है। न सुख बाधक है और न संग्रह बाधक है। सुख और संग्रहकी जो इच्छा है, यही महान् बाधक है। इस इच्छासे लाभ किसी तरहका नहीं है और नुकसान किसी तरहका बाकी नहीं है। नरक, चौरासी लाख योनियाँ, सन्ताप, जलन, चिन्ता, भय—ये सब इस इच्छामें हैं।

श्रोता—इस इच्छाको मिटानेके लिये क्या किया जाय?

स्वामीजी—दूसरेका हित कैसे हो? दूसरेको सुख कैसे हो? दूसरेका सम्मान कैसे हो? दूसरेको आराम कैसे मिले?—यह लगन लग जाय। जहाँ अपने सुखकी इच्छा है, उस जगह दूसरेके सुखकी इच्छा हो जाय, लगन लग जाय तो अपने सुख और संग्रहकी इच्छा मिट जायगी। न मिटे तो कहना!

जो दूसरोंके हितमें रत हैं, उनको भगवान्‌ने सगुण और निर्गुण—दोनोंकी प्राप्ति बतायी है। सगुणकी प्राप्तिमें बताया—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः** ॥' (गीता १२। ४) और निर्गुणकी प्राप्तिमें बताया—'**लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः···· सर्वभूतहिते रताः** ॥' (गीता ५। २५)।

यह जो आप ज्ञानमार्ग समझकर इन बातोंको टाल देते हो, कृपानाथ! ऐसा न करो। ज्ञानमें, भक्तिमें, कर्मयोगमें—सबमें विवेक उपयोगी है। विवेकके बिना आपका साधन ठीक तरहसे चलता ही नहीं। विवेक तो उसके लिये भी उपयोगी है, जो स्वर्गकी प्राप्ति चाहता है, सकाम भावसे सिद्धि चाहता है। उसका शरीर तो यहीं रह जायगा, फिर स्वर्ग जायगा कौन? इसलिये जो बन्धनका कारण है, उसमें भी विवेक जरूरी है। जो अपना उद्धार चाहता है, उसके लिये तो विवेक बड़ा भारी उपयोगी है। जो इसकी उपेक्षा करते हैं, वे गलती करते हैं। भगवान्‌ने तो गीताका आरम्भ ही इसीसे किया है कि शरीर और शरीरी, देह और देही दो हैं, एक नहीं है। वास्तविकता यही है। इसी वास्तविकताका अनुभव करना है। वास्तविकताका अनुभव नहीं करोगे तो और क्या अनुभव करोगे?

श्रोता—विवेक परमात्माका स्वरूप है क्या?

स्वामीजी—हाँ, स्वरूप हो जाता है। विवेक नाम है दो चीजोंका और परमात्मा है एक चीज। विवेक परमात्मामें परिणत हो जाता है। विवेककी जगह परमात्मा ही रह जाता है।

श्रोता—विवेकको कैसे जाग्रत् करें?

स्वामीजी—यही तो मैं माथापच्ची कर रहा हूँ। आप और हम मिल करके अभी कर क्या रहे हैं? विवेकको जाग्रत् करनेकी बात ही कर रहे हैं। विवेकके लिये अभ्यास जरूरी नहीं है, विचार जरूरी है। अभ्याससे मुक्ति नहीं होती और विचारसे मुक्ति बाकी नहीं रहती।

★

मुक्ति स्वतःसिद्ध है

लोगोंने प्रायः ऐसा मान रखा है कि हम उद्योग करके विशेष स्थिति प्राप्त कर लेंगे, तब हमारा कल्याण होगा। यह बात अच्छी है, पर पूरी अच्छी नहीं। वास्तवमें कल्याण, मुक्ति स्वतःसिद्ध है। वह करनेसे नहीं होती। परन्तु आज यह बात कहनेवाला आदमी अपराधी होता है! लोग उसका विरोध करते हैं कि यह ठीक नहीं कहता है, गलत कहता है। परन्तु वास्तवमें बात ऐसी ही है। हम कुछ भी करेंगे तो वह प्रकृतिजन्य पदार्थोंके साथ सम्बन्ध जोड़े बिना हो ही नहीं सकेगा। पदार्थोंसे सम्बन्ध जोड़ना ही बन्धन है। हम कुछ भी करेंगे तो शरीरकी सहायता लेंगे, इन्द्रियोंकी सहायता लेंगे, बुद्धिकी सहायता लेंगे, कम-से-कम एक देशमें 'अहम्' को पकड़कर ही कुछ करेंगे। अगर अपनेको एक देशमें नहीं

पकड़ेंगे, किसीमें ममता नहीं करेंगे तो हमारेसे करना कैसे बनेगा? अतः करनेसे मुक्ति नहीं होती। करनेसे जो चीज होती है, वह नाशवान् होती है। कारण कि प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। क्रियासे जो फल मिलता है, उसका भी संयोग और वियोग होता है। जो की जाती है, वह चीज नित्य नहीं होती।

मुक्ति त्यागसे होती है। पदार्थ और क्रियारूपसे जो प्रकृति है, उसके साथ हमारी ममता और अहंता न हो तो हमारी स्वतः मुक्ति है। हमने ही ममता और अहंता करके बन्धन कर रखा है। वह हम छोड़ेंगे तो छूटेगा, नहीं तो न गुरु छुड़ा सकते हैं, न संत छुड़ा सकते हैं और न भगवान् ही छुड़ा सकते हैं। भगवान् तभी छुड़ा सकते हैं, जब आप अपनेको भगवान्के सुपुर्द कर दोगे, अन्यथा भगवान् स्वतः किसीको भी नहीं छुड़ाते। जितने भी अच्छे पुरुष होते हैं, वे किसीपर भी अपना मत नहीं लादते कि तुम ऐसा ही करो। पूछो तो समाधान कर देंगे, हितकी बात कह देंगे; परन्तु जबर्दस्ती नहीं करेंगे। भगवान् भी जबर्दस्ती नहीं करते। हम यह तो कह देते हैं कि भगवान्को हमारा उद्धार कर देना चाहिये, पर अगर हम भगवान्के शरण हुए ही नहीं तो वे हमारा उद्धार कैसे कर देंगे? किसीकी स्वतन्त्रताको भगवान् छीनते नहीं। आप सब तरहसे भगवान्को स्वतन्त्रता दे दो तो भगवान् सब काम कर देंगे।

आपकी अहंता और ममता ही पतन करनेवाली चीज है। इनको आप किसी तरहसे छोड़ दो तो उद्धार हो जायगा। बात इतनी विलक्षण है कि जिसकी मैं महिमा नहीं कह सकता! अगर हम शरीरकी ममता सर्वथा छोड़ दें तो शरीर प्रायः बीमार नहीं होगा। इन्द्रियोंकी ममता छोड़ दें तो इन्द्रियोंमें बुराई नहीं रहेगी। मनकी ममता छोड़ दें तो मनमें बुराई नहीं रहेगी। बुद्धिकी ममता छोड़ दें तो बुद्धिमें बुराई नहीं रहेगी। ऐसे ही मैं-पनके साथ जो ममता (अपनापन) है, उसका त्याग कर दें तो कोई बुराई नहीं रहेगी। मूल बात यह है कि बुराई केवल हमारे सम्बन्ध जोड़नेसे आयी है। हम जितना सम्बन्ध जोड़ करके आग्रह करते हैं, ममता करते हैं, उतनी उसमें बुराई आती है, अशुद्धि आती है। अगर सर्वथा ममता और अहंता छोड़ दें तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है। यह बात समझमें आनी कठिन है। ध्यान दें तो समझमें आ जायगी। परन्तु इस तरफ भाई लोग ध्यान देते ही नहीं!

अब एक प्रश्न है कि मुक्ति होनेसे जीवोंका जन्म-मरण मिट जायगा तो संसार ही मिट जायगा! क्योंकि जितने जीवोंकी मुक्ति होगी, उतने जीव संसारमें कम हो जायँगे और इस प्रकार कम होते-होते सर्वथा मिट जायँगे। इसलिये मुक्ति होनेके बाद फिर जन्म नहीं होता—यह बात नहीं है। जीव महाप्रलयतक जन्म नहीं लेते; पर महासर्गमें पुनः जन्म ले लेते हैं—ऐसा लोगोंने सिद्धान्त बना लिया है। इसका कारण क्या है? कि उन्होंने ऐसा मान रखा है कि मुक्ति कृत्रिम है, हमारे करनेसे होती है, इसलिये सदा कैसे रह सकती है? परन्तु वास्तवमें मुक्ति स्वतःसिद्ध है, स्वाभाविक है, कृत्रिम नहीं है। करना अस्वाभाविक है। अस्वाभाविकताको मिटा दोगे तो स्वाभाविकता ज्यों-की-त्यों रह जायगी। इस विषयको गहरे उतरकर समझो।

आप थोड़ा विचार करो कि जिन रुपयोंको आपने अपना मान रखा है, उन्हीं रुपयोंकी चिन्ता आपको होती है। रुपये तो दुनियामें अनगिनतीके पड़े हैं, पर उनकी चिन्ता आपको नहीं होती। अतः चिन्ता होनेमें रुपया कारण नहीं है, अपनापन कारण है। जिन व्यक्तियोंको आपने अपना मान लिया है, उनको लाभ होता है तो आपको सुख होता है और उनको हानि होती है तो आपको दुःख होता है। परन्तु जिनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, उनको लाभ हो या हानि, वे मर जायँ या रह जायँ, हमें कोई सुख-दुःख नहीं होता। जिनसे ममता कर रखी है, उनका ही बन्धन है। जिनमें ममता नहीं है, उनका बन्धन हमारेको नहीं है।

विचार करके आप देखें तो ममताका त्याग बहुत सुगम है। जिसको हमने 'मेरा है' मान रखा है, उसको 'मेरा नहीं है' माननेमें हम स्वतन्त्र हैं, पराधीन नहीं हैं। परन्तु उससे सुख लेना चाहते हैं, इसलिये पराधीन बन जाते हैं। संयोगजन्य सुखमें फँसोगे तो पराधीनतासे बच नहीं सकोगे। भगवान् साफ कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

सम्बन्धजन्य जो सुख हैं, वे दुःखोंके ही कारण हैं और आदि-अन्तवाले हैं, इसलिये विवेकी पुरुष उनमें रमण नहीं करता। जो उनमें रमण नहीं करता, उसका कल्याण हो जाता है।

संयोगजन्य सुखकी लोलुपता ही संसारमें बाँधनेवाली चीज है। मैंने पहले भी कहा था, आज भी कह दूँ। मैंने पढ़ाई की, सत्संग किया, व्याख्यान दिये, इतनेपर भी मेरा समाधान नहीं हुआ कि बात क्या है? यह बन्धन कहाँ है? फिर संतोंकी कृपासे यह बात मेरी समझमें आयी कि जो सम्बन्धजन्य सुखकी इच्छा है, यही मूल बन्धन है। सुखकी

इच्छा समाधितक रहती है। यह सुखकी इच्छा ही बाँधनेवाली है। इस बातपर आप पूरा विश्वास करो।

श्रोता—मालूम पड़ता है कि यह सही बात है।

स्वामीजी—सही बात है—ऐसा मालूम पड़ता है तो फिर खटपट मिटती क्यों नहीं ? कहीं-न-कहीं दोष है। जिस बातसे खटपट मिटती है, उस बातका ज्यादा आदर करो। खटपट मचती है तो उसके मूलमें क्या है—उसकी निगाह करो। जहाँ कहीं मनमें खलबली मचे तो स्वयं विचार करो कि मूलमें कहाँ दोष हुआ ? क्या दोष हुआ ? तो कहीं-न-कहीं ममता की है, पक्षपात किया है, सुखभोगकी इच्छा की है, किसी लाभकी इच्छा की है, कुछ-न-कुछ लेनेकी इच्छा की है नहीं तो खलबली हो ही नहीं सकती।

श्रोता—परमात्माके लिये व्याकुलता होती है तो उसमें कोई सांसारिक सुख आनेसे हम उस सुखकी तरफ चले जाते हैं, व्याकुलताकी तरफ नहीं आते; ऐसे समय क्या करें ?

स्वामीजी—व्याकुलतामें रहो, भोगमें मत जाओ। भोगको मत पकड़ो, भोगके कारणको अर्थात् रागको पकड़ो और उसको मिटाओ।

अपनी यह बात हुई है न, इससे बड़ा लाभ होता है। आप-से-आप सोचोगे तो यह बाधा नहीं मिटेगी और आपसमें खुल करके बात करते ही इसको मिटानेमें आपको मदद मिलेगी। यह मैंने देखा है। मेरेको कोई समझा देता है तो वह काम मेरे लिये बहुत सुगम होता है। स्वयं मैं सोचता हूँ, समझता हूँ तो भी फरक पड़ता है। परन्तु दूसरेके समझानेसे बहुत जल्दी फरक पड़ता है। मेरी प्रकृति ऐसी है तो मैं समझता हूँ कि दूसरोंकी प्रकृति भी ऐसी होगी। मेरी जो यह समझानेकी प्रवृत्ति होती है, इसको मैं बढ़िया नहीं मानता हूँ। दूसरोंको उपदेश देना, दूसरोंको समझाना अपनी मूर्खताको स्वीकार करना है, अपने अभिमानको स्वीकार करना है, दूसरोंको बेसमझ मानना है। दूसरोंको बेसमझ मानना और अपनेको समझदार मानना गुण नहीं है, दोष है, पतनकी चीज है। ऐसा मानते हुए भी मेरी समझानेकी प्रवृत्ति होती है। क्यों होती है ? इसमें कई कारण हो सकते हैं। विचारपूर्वक देखता हूँ तो मेरेको कोई समझाये तो मुझे लाभ होता है; अतः दूसरोंको कोई समझाये तो उनको भी लाभ होता होगा, इसलिये मेरी समझानेकी प्रवृत्ति होती है। आपसमें बात होनेसे विषय बहुत साफ हो जाता है और वैसा अनुष्ठान करनेमें बड़ी मदद मिलती है। अतः आपसमें विचार-विनिमय हो, विचारोंका आदान-प्रदान हो। केवल उपदेश देकर गुरु बन जानेसे लाभ नहीं होता। आपसमें दोनों समान समझकर विचार करें। किसी विषयमें मैं जानता हूँ और किसी विषयमें आप जानते हैं तो टोटलमें बराबर ही हुए न ? ऐसे बराबर हो करके विचार करें। आपका कहना मैं मानूँ और मेरा कहना आप मानो। इससे अपने दोनोंको ही लाभ होगा। परन्तु यह कब होगा ? जब कहनेवाला अपनेमें अभिमान न करे कि मैं तो जानकार हूँ और ये अनजान हैं। हमें भी जानकारी करनी है और आपको भी जानकारी करनी है—ऐसा समझकर विचार करें तो हमारी जानकारी बढ़ेगी और ज्ञान होगा।

श्रोता—पुराना लिया हुआ सुख बराबर याद आता रहता है !

स्वामीजी—तो फिर सुखभोगका नतीजा अच्छा नहीं निकला है न ? अभीतक उस पुराने सुखभोगके संस्कार पड़े हुए हैं। अभीतक उन संस्कारोंसे हमारा छुटकारा नहीं हुआ है। अतः अब इस सुखभोगकी आसक्तिको छोड़ना चाहिये—यह सिद्ध होता है।

सुखकी लोलुपता कैसे छूटे ? यह प्रश्न है। सुखकी लोलुपतामें आकर हम फँस जाते हैं। जानते हुए, कहते हुए, समझते हुए, पढ़ते हुए भी उसमें फँस जाते हैं। अतः उससे छूटनेके लिये बड़ा सीधा सरल उपाय है कि दूसरेको सुख कैसे पहुँचे ? यह भाव बना लें। घरमें माँ-बापको सुख कैसे हो ? स्त्रीको सुख कैसे हो ? बच्चोंको सुख कैसे हो ? भाई-भौजाईको सुख कैसे हो ? पड़ोसियोंको सुख कैसे हो ? दुनियाको सुख कैसे हो ? मित्रोंको सुख कैसे हो ? मेरे द्वारा क्या सेवा की जाय, जिससे इनको सुख हो जाय, इनका हित हो जाय, इनका कल्याण हो जाय ? इनकी बात कैसे रहे ? इनका आदर कैसे रहे ? इनकी प्रशंसा कैसे हो ?—यह वृत्ति अगर आपकी जोरदार हो जायगी तो सुखभोगकी रुचि मिट जायगी।

'बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि।'

(विनयपत्रिका १५८)

पुजानेकी तो ज्यादा प्रीति है और पूजनेकी थोड़ी है। सुख लेनेकी तो ज्यादा इच्छा है और सुख देनेकी थोड़ी है। अगर देनेकी ही इच्छा हो जाय तो काम ठीक हो जायगा।

श्रोता—सुख लेनेमें तो तत्काल सुख मिलता है, पर सुख देनेमें तत्काल सुख मिलता नहीं।

स्वामीजी—पढ़ाई करते समय बालकको पढ़ाईमें सुख नहीं दीखता, खेलमें सुख दीखता है। परन्तु गुरुजनोंके पढ़ानेसे पढ़ना शुरू कर देता है और कुछ परीक्षाएँ पास कर लेता है तो पढ़ाईमें लगन लग जाती है। अतः पहले यह सूखी शिलाकी तरह है। सूखी शिलामें न नमक है, न चीनी है, कोई स्वाद नहीं, तो सूखी शिला कैसे चाटी जाय ? परन्तु कोई कह

दे कि चाटो, ठीक हो जायगा तो उसके कहनेसे चाटने लग जाओ। ऐसे ही ये कहते हैं, इसलिये इस सुखको छोड़ दो और दूसरोंको सुख दो। इतना विश्वास तो है कि ये हमारे हितके लिये कहते हैं। भगवान्‌के वचन हमारे कल्याणके लिये हैं, इसलिये उनके कहनेसे शुरू कर दो। भगवान्‌ने कहा कि सात्त्विक सुख आरम्भमें जहरकी तरह है और परिणाममें अमृतकी तरह है—**'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्'** (गीता १८।३७)। आरम्भमें जहरकी तरह है—यह बात पहले मेरी समझमें नहीं आयी। सात्त्विकतामें तो आरम्भमें ही आनन्द है, सुख है और भगवान् आरम्भमें जहरकी तरह कहते हैं—यह कैसे ? विचार करनेपर समझमें आया कि राजस-तामस सुखका त्याग करनेमें कठिनता आती है, इसलिये सात्त्विक सुख पहले जहरकी तरह दीखता है।

आप इस बातपर विचार करो कि दूसरोंको सुख कैसे हो। दूसरेकी बात कैसे रहे ? दूसरेका कल्याण कैसे हो ? भगवान् कहते हैं कि जिनकी प्राणिमात्रके हितमें प्रीति होती है, वे मेरेको प्राप्त होते हैं—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।'** (गीता १२।४)। जो हमें दुःख देते हैं, उनको भी सुख कैसे हो ?—***'उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥'*** (मानस ५।४१।४)। फिर सन्तपना आ जायगा।

दूसरोंका हित करनेमें ही हमारा हित है। जैसे, हम दर्पणमें अपना मुख देखते हैं तो अगर हमारा मुख पूर्वकी तरफ होगा तो दर्पणमें हमारा मुख पश्चिमकी तरफ होगा। हमारा दायाँ उसमें बायाँ और हमारा बायाँ उसमें दायाँ दीखेगा। अब दर्पणमें जैसा दीखता है, उसके अनुसार हम चलेंगे तो उलटे चले जायँगे। संसाररूपी दर्पणमें सुख लेना अच्छा दीखता है और सुख देना बुरा दीखता है। अब उसीके अनुसार चलेंगे तो दशा बुरी होगी; क्योंकि ज्ञान आरम्भमें ही उलटा हो गया! ***'धुर बिगड़े सुधरे नहीं, कोटिक करो उपाय।'*** आरम्भमें ही काम बिगड़ गया! दीखता ऐसा है कि हमारा स्वार्थ सिद्ध हो जायगा, हमें सुख मिल जायगा, पर परिणाममें दुःख ही मिलेगा। इसलिये अगर अपना कल्याण चाहते हो तो इस चालको बदलना होगा, नहीं तो आफत-ही-आफत आयेगी। दूसरेको सुख देनेसे अपने सुख-भोगकी इच्छा मिटती है—यह बात एकदम सबके अनुभवकी है।

श्रोता—सेवा करनेसे तत्काल सुख तो नहीं मिलता, पर तत्काल अभिमान जरूर आता है!

स्वामीजी—अभिमानमें भी तो एक सुख मिलता है कि मैं ऐसा हूँ! हमें इस अभिमानके सुखको भी छोड़ना है—ऐसा विचार करो तो वह छूट जायगा। जैसे अपनी लड़कीका ब्याह करना है—यह विचार रहनेसे अपने लड़केमें जितनी ममता होती है, उतनी अपनी लड़कीमें ममता नहीं होती। इसी तरह अभिमानके सुखको छोड़ना है—यह पक्का विचार हो जायगा तो अभिमानजन्य सुखमें ममता नहीं रहेगी।

★

सबमें परमात्माका दर्शन

स्नान करते समय जब आप साबुन लगाकर रगड़ते हो, उस समय आपका स्वरूप कैसा दीखता है ? बुरा दीखता है। बुरा दीखनेपर भी मनमें ऐसा नहीं रहता कि मेरा स्वरूप बुरा है। मनमें यह रहता है कि यह रूप साबुनके कारण ऊपर-ऊपरसे ऐसा दीखता है, वास्तवमें ऐसा है नहीं। ऐसे ही कोई दुष्ट-से-दुष्ट व्यक्ति दीखे तो मनमें यह आना चाहिये कि यह ऊपर-ऊपरसे ऐसा दीखता है, भीतरसे तो यह परमात्माका अंश है। काले कपड़े पहननेसे क्या मनुष्य काला हो जाता है ? जैसा उसका स्वरूप है, वैसा ही रहता है। ऐसे ही दुष्टता और सज्जनता अन्तःकरणमें रहती है। परमात्माका जो अंश है, उसमें फरक नहीं पड़ता। एक जीवन्मुक्त है, भगवत्प्रेमी है, सिद्ध महापुरुष है और एक दुष्ट है, कसाई है जीवोंकी हत्या करता है, चोरी करता है, डाका डालता है, तो उन दोनोंमें परमात्मतत्त्व एक ही है। उस तत्त्वमें कोई फरक नहीं है। जो परमात्मतत्त्वको चाहता है, वह उस तत्त्वकी तरफ देखता है। व्यवहारमें यथायोग्य बर्ताव करते हुए भी साधककी दृष्टि उस तत्त्वकी तरफ ही रहनी चाहिये। उस तत्त्वकी तरफ दृष्टि रखनेवालेका नाम ही 'समदर्शी' है। व्यवहारमें समता लानेवाले, सबके साथ खाना-पीना, ब्याह आदि करनेवाले 'समवर्ती' हैं, समदर्शी नहीं। 'समवर्ती' नाम यमराजका है—**'समवर्ती परेतराट्!'** (अमरकोष १। १। ५८); क्योंकि मौत सबकी समान होती है। अतः ज्ञानीका नाम है—समदर्शी और यमराजका नाम है···· समवर्ती। ज्ञानी समदर्शी क्यों है ? कि वह सबमें समरूप परमात्माको देखता है। दुष्ट आदमीको देखकर अगर दुष्टताका भाव पैदा होता है तो वह समदर्शी नहीं है, परमात्मतत्त्वका जिज्ञासु नहीं है; कम-से-कम उस समय तो नहीं है।

एक स्थूल दृष्टान्त आता है। एक वैरागी बाबा थे। उनके पास सोनेकी बनी हुई एक गणेशजीकी और एक चूहेकी मूर्ति थी। बाबाजीको तीर्थमें जाना था। वे दोनों मूर्तियोंको सुनारके पास ले गये और कहा कि इनको ले लो और इनकी कीमत दे दो, जिससे तीर्थ घूम आयें। दोनों मूर्तियोंका वजन बराबर

था, इसलिये सुनारने दोनोंकी बराबर कीमत कर दी। बाबाजी चिढ़ गये कि जितनी कीमत गणेशजीकी, उतनी ही कीमत चूहेकी—ऐसा कैसे हो सकता है! चूहा तो सवारी है और गणेशजी उसपर सवार होनेवाले हैं, उसके मालिक हैं। सुनार बोला कि बाबाजी! हम गणेशजी और चूहेकी कीमत नहीं करते, हम तो सोनेकी कीमत करते हैं। सुनार मूर्तियोंको नहीं देखता, वह तो सोनेको देखता है। ऐसे ही परमात्मतत्त्वको चाहनेवाला साधक प्राणियोंको न देखकर उनमें रहनेवाले परमात्मतत्त्वको देखता है।

परमात्मा सबके भीतर हैं—यह बहुत ऊँचे दर्जेकी चीज है। उतना न समझ सको तो इतना समझ लो कि 'सब परमात्माके हैं।' यह सुगमतासे समझमें आ जायगा कि ये जितने प्राणी हैं, सब परमात्माके हैं। परमात्माके हैं तो ऐसे क्यों हो गये? कि ज्यादा लाड़-प्यार करनेसे बालक बिगड़ जाता है। ये परमात्माके लाड़ले बालक हैं, इसलिये बिगड़ गये। बिगड़नेपर भी हैं तो परमात्माके ही! अतः उनको परमात्माके समझकर ही उनके साथ यथायोग्य बर्ताव करना है। जैसे हमारा कोई प्यारा-से-प्यारा भाई हो और उसको प्लेग हो जाय तो प्लेगसे परहेज रखते हैं और भाईकी सेवा करते हैं। जिसकी सेवा करते हैं, वह तो प्रिय है, पर रोग अप्रिय है। इसलिये खान-पानमें परहेज रखते हैं। ऐसे ही किसीका स्वभाव बिगड़ जाय तो यह बीमारी आयी है, विकृति आयी है। उसके साथ व्यवहार करनेमें जो फरक दीखता है, वह केवल ऊपर-ऊपरका है। भीतरमें तो उसके प्रति हितैषिता होनी चाहिये।

भगवान् सबके सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५। २९)। ऐसे ही सन्तोंके लिये आया है कि वे सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद् होते हैं—**'सुहृदः सर्वदेहिनाम्'** (श्रीमद्भा० ३। २५। २१)। सुहृद् होनेका मतलब क्या? कि दूसरा क्या करता है, कैसे करता है, हमारा कहना मानता है कि नहीं मानता, हमारे अनुकूल है कि प्रतिकूल—इन बातोंको न देखकर यह भाव रखना कि अपनी तरफसे उसका हित कैसे हो? उसकी सेवा कैसे हो? हाँ, सेवा करनेके प्रकार अलग-अलग होते हैं। जैसे, कोई चोर है, डाकू है, उनकी मारपीट करना भी सेवा है। तात्पर्य है कि उनका सुधार हो जाय, उनका हित हो जाय, उनका उद्धार हो जाय। बच्चा जब कहना नहीं मानता तो क्या आप उसको थप्पड़ नहीं लगाते? उस समय क्या आपका उससे वैर होता है? वास्तवमें आपका अधिक स्नेह होता है, तभी आप उसको थप्पड़ लगाते हैं। भगवान् भी ऐसा ही करते हैं। जैसे, बच्चे खेल रहे हैं और किसी माईका चित्त प्रसन्न हो जाय तो वह स्नेहवश सब बच्चोंको एक-एक लड्डू दे देती है। परन्तु वे उद्दण्डता करते हैं तो वह सबको थप्पड़ नहीं लगाती, केवल अपने बालकको ही लगाती है। ऐसे ही भगवान्‌का विधान हमारे प्रतिकूल हो तो वह उनके अधिक स्नेहका, अपनेपनका द्योतक है।

दूसरेके साथ स्नेह रखते हुए बर्ताव तो यथायोग्य, अपने अधिकारके अनुसार करना चाहिये, पर दोष नहीं देखना चाहिये। किसीके दोष देखनेका हमारा अधिकार नहीं है। जैसे, नाटकमें एक मेघनाद बन गया और एक लक्ष्मण बन गया। दोनों एक ही कम्पनीके हैं। पर नाटकके समय कहते हैं—अरे, तेरेको मार दूँगा। आ जा मेरे सामने खत्म कर दूँगा। वे शस्त्र-अस्त्र भी चलाते हैं। परन्तु भीतरसे उनमें वैर है क्या? नाटकके बाद वे एक साथ रहते हैं, खाते-पीते हैं; क्यों? उनके हृदयमें वैर है ही नहीं।

सन्तोंके लिये कहा गया है—

संतों की गति रामदास, जग से लखी न जाय।
बाहर तो संसार-सा, भीतर उल्टा थाय॥

बाहरसे वे संसारका बर्ताव करते हैं, पर भीतरसे परमात्मतत्त्वको देखते हैं। भीतरसे उनका किसीके साथ द्वेष नहीं होता और सबके साथ मैत्री तथा करुणाका भाव होता है—**'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'** (गीता १२। १३)। हृदयसे वे सबका हित चाहते हैं।

अब प्रश्न यह है कि हमारी दृष्टि सम कैसे हो? एक तो आपमें यह बात दृढ़तासे रहे कि 'मैं तो साधक हूँ, परमात्मतत्त्वका जिज्ञासु हूँ' और एक यह बात दृढ़ रहे कि 'सबमें परमात्मा हैं।' सबमें परमात्माको कैसे देखें? इस बातको थोड़ा ध्यानसे सुनें। 'मनुष्य है'—इसमें जो 'है'-पना है, सत्ता है, वह कभी मिटती नहीं। वह बुरा हो या भला हो, दुराचारी हो या सदाचारी हो, उसमें जो 'है'-पना है, वह मिटेगा क्या? बढ़िया-से-बढ़िया चीजोंमें भी वह 'है'-पना है और कूड़ा-करकट आदिमें भी वह 'है'-पना है। उन चीजोंका रूप बदल जाता है, पर 'है'-पना (सत्ता) नहीं बदलता। कूड़ा-करकटको जला दो तो वह राख बन जायगा, उसका रूप दूसरा हो जायगा। पर उसकी सत्ता दूसरी नहीं हो जायगी। वह सत्ता परमात्माकी है। उस सत्ताकी तरफ दृष्टि रखो। जो परिवर्तन होता है, वह प्रकृतिमें होता है। आपको संक्षेपसे प्रकृतिका स्वरूप बतायें तो एक वस्तु और एक क्रिया—ये दो प्रकृति हैं। वस्तु भी बदलती रहती है और क्रिया भी बदलती रहती है। यह बदलना प्रकृतिका है। आप प्रकृतिके जिज्ञासु नहीं हैं, परमात्माके जिज्ञासु हैं। अतः बदलनेवालेको न देखकर रहनेवाले 'है'-पनको देखो। संसार है, मनुष्य है, पशु

है, पक्षी है; यह जीवित है, यह मुर्दा है—इसमें तो फरक है, पर 'है' में क्या फरक पड़ा ? नफा हो गया, नुकसान हो गया; पोतेका जन्म हुआ, बेटा मर गया तो नफा-नुकसानमें, जन्मने-मरनेमें फरक है, पर दोनोंके ज्ञानमें क्या फरक पड़ा ? न उस वस्तुकी सत्तामें फरक पड़ा और न आपके ज्ञानमें फरक पड़ा।

व्यवहार तो स्वाँगके अनुसार ही होगा। हम साधु हैं तो साधुकी तरह स्वाँग करेंगे। गृहस्थ हैं तो गृहस्थकी तरह स्वाँग करेंगे। सामने जो व्यक्ति है, परिस्थिति है, उसको लेकर बर्ताव करना है। परन्तु भीतरसे, सिद्धान्तसे यह रहे कि सबमें एक परमात्मतत्त्वकी सत्ता है। सत्यरूपसे, ज्ञानरूपसे और आनन्दरूपसे सबमें परमात्मा ही परिपूर्ण है।

एक काल्पनिक सत्ता होती है और एक वास्तविक सत्ता होती है। पैदा होनेके बाद होनेवाली सत्ता काल्पनिक है और पैदा न होनेवाली अर्थात् नित्य रहनेवाली सत्ता वास्तविक है। जैसे, बालक पैदा हुआ, तो पैदा होनेके बाद 'बालक है' ऐसा दीखता है। पैदा होनेसे पहले वह बालक नहीं था। बालक होनेके बाद फिर वह जवान हो जाता है। इस प्रकार यह बदलनेवाली काल्पनिक सत्ता प्रकृतिकी है। मूलमें परमात्मतत्त्वकी वास्तविक सत्ता है, जो कभी बदलनेवाली नहीं है। परमात्मतत्त्वका जिज्ञासु उस न बदलनेवाली सत्ताको देखता है और संसारी आदमी बदलनेवाली सत्ताको देखता है, एककी दृष्टि पारमार्थिक है और एककी दृष्टि सांसारिक है। जैसे स्थूल दृष्टिसे माँ, बहन और स्त्री एक समान ही दीखती है, पर भाव-दृष्टिसे देखें तो माँ, बहन और स्त्री—तीनों अलग-अलग दीखती हैं। बाहरकी स्थूल दृष्टि तो पशुकी दृष्टि है, मनुष्यकी दृष्टि नहीं। साधककी दृष्टि तत्त्वपर रहती है, इसलिये वह सब जगह एक परमात्माको ही देखता है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो सबमें मेरेको देखता है और सबको मेरेमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

एक बच्चेने माँसे कहा कि 'माँ! मेरेको गुड़ चाहिये।' माँने कहा कि ग्वार ले जा और बदलेमें बनियेके यहाँसे गुड़ ले आ। बच्चा घरसे ग्वार ले गया और बनियेसे बोला कि मुझे गुड़ चाहिये। बनियेने तौलकर ग्वार ले लिया और गुड़ तौलकर दे दिया। बच्चा सोचने लगा कि बनिया कितना मूर्ख है! ग्वार-जैसी चीज पशुओंके खानेकी है, मनुष्यके कामकी नहीं है, उसके बदलेमें यह मेरेको गुड़ देता है। इस तरह ग्वार और गुड़पर दृष्टि रहनेके कारण बच्चेको बनिया मूर्ख दीखता है। परन्तु बनियेकी दृष्टि पैसोंपर है कि ग्वार कितने पैसोंका है और गुड़ कितने पैसोंका है। बनिया दो तरहसे पैसे कमाता है—माल लेता है तो सस्ता लेता है और बेचता है तो मँहगा बेचता है। अतः उसने ग्वारमें नफा अलग लिया और गुड़में नफा अलग लिया। बनियेको ग्वार और गुड़से क्या मतलब ? उसको तो पैसा पैदा करना है। ऐसे ही साधककी दृष्टि परमात्मतत्त्वपर होती है। सबमें जो परमात्मा है, उसीको प्राप्त करना है, संसारसे क्या मतलब ?

साधकको व्यवहार तो यथायोग्य करना है, पर महत्त्व परमात्मतत्त्वको ही देना है, व्यवहारको नहीं। व्यवहारमें किसीने आदर कर दिया तो क्या हो गया ? किसीने निरादर कर दिया तो क्या हो गया ? आदर करनेवाला तो हमारा पुण्य क्षीण करता है और निरादर करनेवाला हमारा पाप नष्ट करता है। हमारा लाभ किसमें है—पाप रखनेमें कि नष्ट करनेमें ? जो हमें दुःख देता है, अपमान करता है, निन्दा करता है, तिरस्कार करता है, वह हमारे पापोंका नाश करता है। जो हमारा आदर-सत्कार करता है, वाह-वाह करता है, वह हमारे पुण्योंका नाश करता है। हम पापोंका नाश करनेका उद्योग करते हैं, पर निरादर करनेवाला हमारे पापोंका नाश स्वतः ही कर रहा है। यह उसकी कितनी कृपा है! उसका हमारेपर कृपा करनेका आशय नहीं है, पर वह क्रिया तो हमारे लाभकी ही कर रहा है। वह हमारा हितैषी नहीं है, पर क्रिया तो हमारे हितकी ही कर रहा है। वह जो करता है, वह हमारे लिये ठीक ही होगा, बेठीक हो ही नहीं सकता।

एक मार्मिक बात है कि साधकके लिये कोई परिस्थिति अनिष्टकारी होती ही नहीं। संसारका जितना व्यवहार है, वह सब-का-सब साधन-सामग्री है। सुखदायी-दुःखदायी, अनुकूल-प्रतिकूल जो कुछ सामने आता है, वह सब साधन-सामग्री है। इसलिये साधकको सावधान रहना चाहिये। सावधानी ही साधन है। साधक वह होता है, जो हर समय सावधान रहता है।

दिलमें जाग्रत रहिये बन्दा।
हेत प्रीत हरिजन सुं करिये, परहरिये दुखद्वन्द्वा॥

जब अच्छा और मन्दा होता है, राग और द्वेष होता है तो हम जाग्रत् कहाँ रहे! अतः मैं साधक हूँ और मेरे साध्य परमात्मा हैं— इसकी जागृति रखते हुए साध्यकी प्राप्तिके लिये यथायोग्य बर्ताव करना है।

★

मन-बुद्धि अपने नहीं

अपने स्वरूपमें स्थित होनेकी बात जहाँ आती है, वहाँ हम उन्हीं मन और बुद्धिसे स्थित होना चाहते हैं, जिनमें संसारके संस्कार पड़े हैं। वे मन और बुद्धि संसारकी तरफ ही दौड़ते हैं। हमारे पास मन और बुद्धि लगानेके अलावा कोई उपाय है नहीं। ऐसी स्थितिमें हम मन-बुद्धिसे कैसे अलग हों ?

हम मन-बुद्धिको परमात्मामें लगाते हैं तो वे संसारकी तरफ जाते हैं। इसमें मुख्य बात यह है कि हमारे भीतरमें संसारका महत्त्व जँचा हुआ है। उत्पत्ति-विनाशशीलका जो महत्त्व अन्तःकरणमें बैठा हुआ है, उसको हमने बहुत ज्यादा आदर दे दिया है—यह बाधा हुई है। इस बाधाको विचारके द्वारा निकाल दो तो यह 'ज्ञानयोग' हो जायगा। इससे पिण्ड छुड़ानेके लिये भगवान्‌की शरण लेकर पुकारो तो यह 'भक्तियोग' हो जायगा। जितनी वस्तु अपने पास है, उसको व्यक्तिगत न मानकर दूसरोंकी सेवामें लगाओ और कर्तव्य-कर्म करो तो अपने लिये न करके केवल दूसरोंके हितके लिये करो तो यह 'कर्मयोग' हो जायगा। इन तीनोंमें जो आपको सुगम दीखे, वह शुरू कर दो।

वस्तुओंको व्यक्तियोंकी सेवामें लगाओ। समाधि भी सेवामें लगा दो। अपने शरीरको, मनको, बुद्धिको सेवामें लगा दो। केवल दूसरोंको सुख पहुँचाना है और स्वयं बिलकुल अचाह होना है। जडकी कोई भी चाह रखोगे तो बन्धन रहेगा, इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। यह बात खास जँच जानी चाहिये कि संसारकी कोई भी चाह रखोगे तो दुःखसे, बन्धनसे कभी बच नहीं सकते; क्योंकि दूसरोंकी चाहना रखेंगे, दूसरोंसे सुख चाहेंगे तो पराधीन होना ही पड़ेगा और ***'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं'*** (मानस १।१०२।३)। कुछ भी चाह मत रखो तो दुःख मिट जायगा।

बुद्धि संसारमें जाती है तो उसको जाने दो। बुद्धि आपकी है कि आप बुद्धिके हो ? स्वयं विचार करो, सुन करके नहीं। आपकी बुद्धि संसारमें जाती है तो आप बुद्धिमें अपनापन मत रखो। बुद्धि तो आपकी वृत्ति है। उसको चाहे जहाँ नहीं लगा सको तो उससे विमुख हो जाओ कि मैं बुद्धिका द्रष्टा हूँ, बुद्धिसे बिलकुल अलग हूँ। स्वयं बुद्धिको जाननेवाला है। बुद्धि एक करण है और परमात्मतत्त्व करण-निरपेक्ष है। पढ़ाईके समय भी मेरी यह खोज रही है कि जीवका कल्याण कैसे हो ? मेरेको जब यह बात मिली कि परमात्मतत्त्व करण-निरपेक्ष है, तब मुझे बड़ा लाभ हुआ, बड़ी प्रसन्नता हुई। आप इस बातपर आरम्भमें ही ध्यान दो तो बड़ा अच्छा रहे ! तत्त्व वृत्तिके कब्जेमें नहीं आयेगा। प्रकृतिकी वृत्ति प्रकृतिसे अतीत तत्त्वको कैसे पकड़ेगी ? अतः यह विचार आप पक्का कर लो कि तत्त्वकी प्राप्ति करण-निरपेक्ष है, करण-सापेक्ष नहीं है। करण-निरपेक्षको हम कैसे मानें ? करणकी तरफसे आप चुप हो जाओ। करणको न अच्छा समझो, न मन्दा समझो। यदि करणको कर्ता ग्रहण नहीं करे तो कर्ता करणसे स्वतः अलग है। करणसे अपनेको अलग अनुभव करके चुप हो जाओ। अगर हो सके तो सेकेण्ड , दो सेकेण्ड चुप हो जाओ, चिन्तन कुछ भी मत करो—**'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'** (गीता ६।२५)। कुछ भी चिन्तन नहीं करोगे तो आपकी स्थिति स्वरूपमें होगी। यह बहुत ही बढ़िया साधन है।

हम कुछ भी चिन्तन नहीं करते, पर चिन्तन हो जाता है तो क्या करें ? इस विषयमें एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि जब कोई चिन्तन आता है, तब साधक उसको हटाता है। साधन करनेवालोंका प्रायः यही उद्योग रहता है कि दूसरी बात याद आये तो उसको हटाओ और परमेश्वरमें लगाओ। इस उद्योगसे जल्दी सिद्धि नहीं होती, साधक जल्दी सफल नहीं होता। सफलताकी कुंजी यह है कि उस चिन्तनकी उपेक्षा कर दो। कोई ऊँची या नीची वृत्ति आये तो उसको महत्त्व मत दो। वृत्तिको न हटाओ और न लगाओ। हटाओ तो वृत्तिको महत्त्व दिया और लगाओ तो वृत्तिको महत्त्व दिया। वृत्तिको महत्त्व देनेसे जडताका महत्त्व आयेगा, स्वरूपका महत्त्व नहीं रहेगा। यह मार्मिक बात है। आपकी दृष्टि इधर हो जाय, इसलिये कहता हूँ कि यह बात मेरेको बहुत प्रिय लगी है, बहुत उत्तम लगी है। इससे बहुत लाभ होता है।

मन-बुद्धिकी उपेक्षा करो। उसमें अच्छा-मन्दा कुछ भी आये, कुछ भी चिन्तन मत करो। जो चिन्तन आ जाय, उसकी उपेक्षा कर दो। उसके साथ विरोध मत करो, उसको हटाओ मत, पकड़ो मत। यदि यह उपेक्षा करनेकी अटकल आ जाय तो बहुत लाभ होगा। चिन्तनसे उदासीन हो जाओ। न उसको भला समझो, न उसको बुरा समझो। भला समझनेसे भी सम्बन्ध जुड़ता है और बुरा समझनेसे भी सम्बन्ध जुड़ता है। जिन्होंने भगवान्‌से प्रेम किया, उनका भी उद्धार हुआ और जिन्होंने भगवान्‌से वैर किया, उनका भी उद्धार हुआ। परन्तु जिन्होंने कुछ भी नहीं किया, उनका उद्धार नहीं हुआ। अतः संसारसे प्रेम करोगे तो फँसोगे, वैर करोगे तो फँसोगे; क्योंकि प्रेम या वैर करनेसे संसारका सम्बन्ध हो जायगा। संसारका सम्बन्ध तोड़ना ज्ञानयोगकी खास बात है।

विवेक सत्-असत्का निर्णय करता है। अतः विवेकको महत्त्व देकर असत्की उपेक्षा कर दो। वृत्तियाँ पैदा होती हैं और नष्ट होती हैं, इस कारण ये असत् हैं। जिसका उत्पत्ति-विनाश होता है तथा जिसका आरम्भ और अन्त होता है, वह असत् है। जो असत् है, वह अपने-आप मिटता है; अतः उसको मिटानेका उद्योग करना बिलकुल निरर्थक है। जो उत्पन्न हुआ है, उसका खास काम मिटना ही है। लड़का पैदा हुआ तो उसका आवश्यक काम क्या है ? आवश्यक काम है—मरना ! वह बड़ा होगा कि नहीं, उसका ब्याह होगा कि नहीं, उसके बेटा-बेटी होंगे कि नहीं—इसमें सन्देह है, पर वह मरेगा कि नहीं—इसमें सन्देह नहीं है। अतः उसका खास काम मरना ही है। इसी तरह वृत्ति पैदा हुई तो उसका खास काम नष्ट होना ही है। इसलिये उसको नष्ट करनेके लिये उद्योग करना, बल लगाना, बुद्धि लगाना, समय लगाना बिलकुल मूर्खता है और उसको रखनेकी चेष्टा करना भी मूर्खता है। जो चीज रहेगी ही नहीं, उसको रखनेकी इच्छा करना ही तो महान् दुःख है। परन्तु हमारे भाई चेतते ही नहीं, क्या करें ! न तो रखनेकी इच्छा करनी है और न हटानेकी इच्छा करनी है; किन्तु अपने कर्तव्यका पालन करना है, जिससे सबको सुख हो, आराम हो। जो अपने-आप मिट जायगी, रहेगी नहीं, उसकी उपेक्षा कर दो—***'देखो निरपख होय तमाशा'।*** यह बहुत लाभकी चीज है। अतः बुद्धिसे तटस्थ हो जाओ कि हमें मतलब नहीं इससे। तटस्थ हुआ नहीं जाता—ऐसा मत मानो। अभी ऐसा दीखता है कि इससे हम अलग नहीं हो सकते, पर ऐसी बात है नहीं। इसके लिये युक्ति बतायी कि आप बुद्धिके हो या बुद्धि आपकी है। यह मामूली बात नहीं है, बहुत ही कामकी बात है। बुद्धिके हम नहीं हैं, हमारी बुद्धि है। हमारी बुद्धि है; अतः इसको हम काममें लें या न लें। परन्तु हम बुद्धिके होते तो मुश्किल हो जाती।

वृत्तिकी उपेक्षा करो तो आपकी स्वरूपमें स्थिति स्वतःसिद्ध है। परन्तु वृत्तिका निरोध करनेमें बहुत अभ्यास करना पड़ेगा। वृत्तिकी उपेक्षामें कोई अभ्यास नहीं है। गीताका योग क्या है ? **'समत्वं योग उच्यते'** (२।४८)। **'सम'** नाम परमात्माका है। परमात्मामें स्थित होना गीताका योग है और चित्तवृत्तियोंका निरोध करना योगदर्शनका योग है। आप कहते हैं कि मन नहीं रुकता ! पर मन रोकनेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है परमात्मामें स्थित होनेकी। जहाँ आप चुप होते हैं, वहाँ आप परमात्मामें ही हैं और परमात्मामें ही रहोगे; क्योंकि कोई भी क्रिया, वृत्ति, पदार्थ, घटना, परिस्थिति परमात्माको छोड़कर हो सकती है क्या ? वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, घटना आदिकी उपेक्षा कर दो तो परमात्मामें ही स्थिति होगी। हाँ, इसमें नींद-आलस्य नहीं होना चाहिये। नींदमें तो अज्ञान (अविद्या) में डूब जाओगे। नींद खुलनेपर कहते हैं कि 'मेरेको कुछ पता नहीं था', पर आप तो उस समय थे ही। अतः नींद-आलस्य तो हो नहीं और चलते-फिरते भी आप चुप हो जायँ, कुछ भी चिन्तन न करें। यह गीताका योग है। इससे बहुत जल्दी सिद्धि होगी। योगदर्शनके योगमें बहुत समय लगेगा। आप परमात्मामें वृत्ति लगाओगे तो वृत्ति आपका पिण्ड नहीं छोड़ेगी, वृत्ति साथ रहेगी। इसलिये मन-बुद्धिकी उपेक्षा करो, उनसे उदासीन हो जाओ। अभी लाभ मत देखो कि हुआ तो कुछ नहीं ! आप इसकी उपेक्षा कर दो। दवाईका सेवन करो तो वह गुण करेगी ही।

आप खयाल करें। बुद्धि करण है और मैं कर्ता हूँ; बुद्धि मेरी है, मैं बुद्धिका नहीं हूँ—यह सम्बन्ध-विच्छेद बहुत कामकी चीज है। आप बुद्धि हो ही नहीं। कुत्ता चिन्तन करता है तो आपपर क्या असर पड़ता है ? कुत्तेकी बुद्धिके साथ अपना जैसा सम्बन्ध है, वैसा ही अपनी बुद्धिके साथ सम्बन्ध है। आपकी आत्मा सर्वव्यापी है तो कुत्तेमें भी आपकी आत्मा है। फिर आप कुत्तेके मन-बुद्धिकी चिन्ता क्यों नहीं करते ? कि कुत्तेके मन-बुद्धिको आपने अपना नहीं माना। तात्पर्य यह हुआ कि मन-बुद्धिको अपना मानना ही गलती है।

जो अलग होता है, वह पहलेसे ही अलग होता है। सूर्यसे प्रकाशको कोई अलग कर सकता है क्या ? आप शरीरसे अलग होते हैं तो पहलेसे ही आप शरीरसे अलग हैं। आप मुफ्तमें ही अपनेको शरीरके साथ मानते हैं। शरीरमें आप नहीं हो और आपमें शरीर नहीं है। खुद जडतामें बैठ गये तो अहंता हो गयी और जडताको अपनेमें बैठा लिया तो ममता हो गयी। अहंता-ममतासे रहित हुए तो शान्ति स्वतःसिद्ध है— **'निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति'** (गीता २।७१)।

★

निर्दोषताका अनुभव

भगवान्‌का साक्षात् अंश होनेसे जीवका भगवान्‌से साधर्म्य है। अतः जैसे भगवान् निर्दोष हैं, ऐसे जीव भी स्वरूपसे सर्वथा निर्दोष है। यह निर्दोषता अपने उद्योगसे लायी हुई नहीं है, प्रत्युत स्वतःसिद्ध और सहज है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस ७। ११७। १)

मनुष्योंके भीतर यह बात बैठी हुई है कि हम दोषोंको दूर करेंगे, निर्दोष बनेंगे, तब भगवान्‌की प्राप्ति होगी। परन्तु सांसारिक वस्तुओंको प्राप्त करनेका जो तरीका है, वह तरीका परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका नहीं है। सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति तो अप्राप्तकी प्राप्ति है, पर परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नित्यप्राप्तकी प्राप्ति है। स्वरूप स्वतः स्वाभाविक निर्दोष तथा नित्यप्राप्त है। अतः इस निर्दोषताको स्वीकार करना है, इसको बनाना नहीं है और दोषोंसे उपरत होना है, उनको मिटाना नहीं है। तात्पर्य है कि अपनेमें निर्दोषता तो वास्तवमें है और सदोषता मानी हुई है, है नहीं। अतः इस मान्यताका त्याग करना है। अगर दोषोंको अपनेमें स्वीकार करके फिर उनको दूर करनेका प्रयत्न करेंगे तो वे दूर नहीं होंगे, प्रत्युत और दृढ़ हो जायँगे। कारण कि दोषोंको अपनेमें मानकर उनको सत्ता देंगे, तभी तो उनको मिटानेका उद्योग करेंगे!

यह प्रत्येक साधकका अनुभव है कि साधन करनेसे पहले दोष जितने वेगसे आता था, उतने वेगसे अब नहीं आता; जितनी देर ठहरता था, उतनी देर अब नहीं ठहरता; और जितनी जल्दी आता था, उतनी जल्दी अब नहीं आता। ऐसा फर्क अपनेमें देखकर साधकका उत्साह बढ़ना चाहिये कि वास्तवमें दोष अपनेमें नहीं हैं। अगर ये अपनेमें होते तो ऐसा फर्क देखनेमें नहीं आता। तात्पर्य है कि दोषोंमें तो फर्क पड़ा, पर अपनेमें कोई फर्क नहीं पड़ा; अतः दोष अपनेसे अलग हैं।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि जितने भी दोष हैं, सब असत् हैं और असत्‌के सम्बन्धसे पैदा हुए हैं। जैसे नींदके सम्बन्धसे जाग्रत्‌की विस्मृति हो जाती है और स्वप्न दीखने लगता है, ऐसे ही असत्‌के सम्बन्धसे स्वतःसिद्ध निर्दोषताकी विस्मृति हो जाती है और दोष दीखने लगते हैं। दोष स्वप्नकी सृष्टिके समान दीखते तो हैं, पर वास्तवमें इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

दोष आगन्तुक हैं, पर निर्दोष स्वरूप आगन्तुक नहीं है। यह सबका अनुभव है कि दोषोंके आनेपर भी हम रहते हैं और दोषोंके चले जानेपर भी हम रहते हैं। दोष आते-जाते हैं, पर हम आते-जाते नहीं, प्रत्युत ज्यों-के-त्यों रहते हैं। हमें दोषोंके आने-जानेका भान होता है तो इससे अपनेमें स्थायीरूपसे निर्दोषता सिद्ध होती है। कारण कि निर्दोष हुए बिना दोषोंका भान नहीं होता। हम निर्दोष हैं, तभी दोषोंका भान होता है और जिसका भान होता है, वह अपनेसे दूर होता है। कैसा ही दोष क्यों न हो, वह मन-बुद्धिमें ही आता है, अपनेमें कभी नहीं। परन्तु मन-बुद्धिके साथ तादात्म्य होनेसे दोष अपनेमें दीखने लगता है। प्रकृतिका कार्य होनेसे मन-बुद्धि भी दोषी और अनित्य हैं। हमारा सम्बन्ध न मन-बुद्धिके साथ है और न उनमें आनेवाले दोषोंके साथ।

जो आदि और अन्तमें नहीं होता, वह मध्यमें भी नहीं होता, यह सिद्धान्त है—**'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा'** (माण्डूक्यकारिका ४। ३१)। जैसे दर्पणमें मुख पहले भी नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें प्रत्यक्ष दीखनेपर भी वह वास्तवमें है नहीं। ऐसे ही अपनेमें दोष पहले भी नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें दीखते हुए भी वह अपनेमें नहीं है। जैसे दर्पणमें मुखकी प्रतीति है, ऐसे ही अपनेमें दोषोंकी प्रतीति है, वास्तवमें दोष हैं नहीं।

जैसे अपनेमें दोष नहीं हैं, ऐसे ही दूसरेमें भी दोष नहीं हैं। सबका स्वरूप स्वतः निर्दोष है। अतः कभी किसीको दोषी नहीं मानना चाहिये अर्थात् निर्दोष स्वरूपकी तरफ ही स्वतः दृष्टि रहनी चाहिये। ऐसा समझना चाहिये कि दूसरेने आगन्तुक दोषके वशीभूत होकर क्रिया कर दी, पर न तो वह क्रिया स्थायी रहेगी तथा न उसका फल स्थायी रहेगा। क्रिया और फल तो नहीं रहेंगे, पर स्वरूप रहेगा। अगर हम दूसरेमें दोष मानेंगे तो उसमें वे दोष आ जायँगे; क्योंकि उसमें दोष देखनेसे हमारा त्याग, तप, बल आदि भी उस दोषको पैदा करनेमें स्वाभाविक सहायक बन जायगा, जिससे वह व्यक्ति दोषी हो जायगा। अतः (सिद्धान्तकी दृष्टिसे) पुत्र, शिष्य आदिको स्वरूपसे निर्दोष मानकर और उनमें दीखनेवाले दोषको आगन्तुक मानकर ही उनको (व्यवहारकी दृष्टिसे) शिक्षा देना चाहिये। उनमें निर्दोषता मानकर ही उनके आगन्तुक दोषको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

अगर मन-बुद्धिमें कोई दोष पैदा हो जाय तो उसके वशमें नहीं होना चाहिये—**'तयोर्न वशमागच्छेत्'** (गीता ३। ३४)

अर्थात् उसके अनुसार कोई क्रिया नहीं करनी चाहिये। उसके वशीभूत होकर क्रिया करनेसे वह दोष दृढ़ हो जायगा। परन्तु उसके वशीभूत होकर क्रिया न करनेसे एक उत्साह पैदा होगा। जैसे, किसीने हमें कड़वी बात कह दी, पर हमें क्रोध नहीं आया तो हमारे भीतर एक उत्साह, प्रसन्नता होगी कि आज तो हम बच गये! परन्तु इसमें अपना उद्योग न मानकर भगवान्‌की कृपा माननी चाहिये कि भगवान्‌की ही कृपासे आज हम बच गये, नहीं तो इसके वशीभूत हो जाते! इस तरह साधकको कभी भी कोई दोष दीखे तो वह उसके वशीभूत न हो और उसको अपनेमें भी न माने।

मूल दोष है—मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग। हम असत्‌की सत्ता मान भी सकते हैं और नहीं भी मान सकते; छल, कपट, हिंसा आदि कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते—यह मिली हुई स्वतन्त्रता है। जबसे हमने इस स्वतन्त्रताका दुरुपयोग किया, तभीसे जन्म-मरण आरम्भ हुआ। अब इसका दुरुपयोग न करनेसे ही जन्म-मरणसे छुटकारा होगा। इसलिये साधकको चाहिये कि वह मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग न करे। दुरुपयोग न करनेसे निर्दोषता सुरक्षित रहेगी।

जब मनुष्य मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके असत्‌का संग करता है, तब वह असत्‌के संगसे होनेवाले संयोगजन्य सुखमें आसक्त हो जाता है। संयोगजन्य सुखकी आसक्तिसे ही सम्पूर्ण दोष पैदा होते हैं।

असत् पदार्थोंमें जो रुचि है, भोग और संग्रहमें जो अच्छापन दीखता है, सुख दीखता है और उसको पानेकी जो इच्छा होती है—यही सम्पूर्ण दोषोंकी जड़ है। संयोगजन्य सुखकी इच्छा उसीमें पैदा होती है, जो दुःखी है। दुःखी आदमी ही सुखकी इच्छा करता है और सुख भी उसीको मिलता है, जो दुःखी होता है; जैसे-भोजनका सुख उसीको मिलता है, जो भूखा होता है। सुखके बाद दुःख आता है, यह नियम है—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'** (गीता ५।२२)। इस प्रकार सुखके पहले भी दुःख है और सुखके बाद भी दुःख है—ऐसा समझनेसे सुखकी इच्छाका त्याग हो जाता है; क्योंकि दुःखको कोई भी नहीं चाहता। सुखकी इच्छाका त्याग होनेपर स्वतःसिद्ध निर्दोषताका अनुभव हो जाता है।

निर्दोषता कृतिसाध्य नहीं है। निर्दोषताको कृतिसाध्य माननेसे अभिमान आता है, जो सम्पूर्ण दोषोंका आश्रय है। वास्तवमें निर्दोषता स्वतःसिद्ध, स्वाभाविक और सहज है। इस निर्दोषताकी रक्षा करना साधकका काम है। निर्दोषताकी रक्षा करनेका तात्पर्य है—अपनेमें निर्दोषताको निरन्तर स्थायीरूपसे स्वीकार करना और अपनेमें दोषोंको स्वीकार न करना। मेरेमें दोष नहीं हैं—ऐसा मान लेनेके बाद फिर कभी दोष आता हुआ दीखे तो 'हे नाथ! हे नाथ!!' कहकर भगवान्‌को पुकारना चाहिये। भगवान् अपने शरणागत भक्तोंके योग और क्षेमका वहन करते हैं—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (गीता ९।२२) अर्थात् निर्दोषताकी रक्षा करते हैं और आगन्तुक दोषको दूर करते हैं, फिर हम चिन्ता क्यों करें? जिसकी कृपासे हमें अपनेमें निर्दोषताका ज्ञान हुआ है, वही उस निर्दोषताकी रक्षा भी करेगा—इस प्रकार भगवान्‌की कृपाको स्वीकार करनेसे दोषोंका आना-जाना भी रुक जायगा।

निर्दोषताका अनुभव करनेके लिये जैसे भगवान्‌को पुकारना एक उपाय है, ऐसे ही अपनेमें निर्दोषताकी दृढ़ स्वीकृति भी एक उपाय है। 'है' रूपसे अपनी जो सत्ता है, वह सर्वथा निर्दोष है। सत्तामात्रमें कोई दोष, विकार सम्भव ही नहीं है। उस निर्दोषतामें सबकी स्थिति स्वतः है, स्वाभाविक है, सहज है, नित्य है और स्वयंसिद्ध है। अपनी इस निर्दोषताको दृढ़तासे स्वीकार करके बाहर-भीतरसे चुप हो जाय। चुप होनेसे अर्थात् निर्दोष सत्ताको ही महत्त्व देनेसे दोषोंके सर्वथा अभावका अनुभव स्वतः हो जाता है। यह अनुभव एक बार हो जानेपर फिर सदाके लिये वैसा ही रहता है; क्योंकि यह अभ्यास नहीं है, प्रत्युत वास्तविकताका अनुभव है।

नित्ययोग तथा उसका अनुभव

प्रकृति और पुरुष—दोनोंको ही अनादि कहा गया है—'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' (गीता १३। १९)। अनादि होते हुए भी दोनोंका स्वभाव अलग-अलग है। प्रकृतिमें तो निरन्तर क्रिया होती है; किन्तु पुरुषमें क्रिया होती ही नहीं। दोनोंके इस भेदको ठीक तरहसे समझ लेना चाहिये।

शास्त्रोंमें वर्णन आता है कि प्रकृतिकी एक अक्रिय अवस्था होती है और एक सक्रिय अवस्था होती है। परन्तु वास्तवमें सक्रिय अवस्थाकी अपेक्षासे अक्रिय अवस्था कही जाती है। प्रकृतिकी सूक्ष्म क्रिया अक्रिय अवस्थामें भी कभी बन्द नहीं होती। जैसे, हम कभी जागते हुए काम-धंधा करते हैं और कभी सब काम-धंधा छोड़कर नींद लेते हैं; परन्तु

शरीरके नाशकी क्रिया कभी बन्द नहीं होती। नींदमें भी तीन तरहकी क्रिया होती है। एक क्रिया नींदके पकनेकी होती है*, एक क्रिया थकावट मिटकर ताजगी आनेकी होती है और तीसरी एक क्रिया शरीरके नाशकी (उम्र नष्ट होनेकी) होती है। नाशकी यह क्रिया स्वतः-स्वाभाविक निरन्तर होती रहती है। जब सृष्टि पैदा होती है, तब भी यह क्रिया होती है और जब सृष्टिका लय हो जाता है, तब भी यह क्रिया होती है। सृष्टिका लय होनेपर प्रकृति निष्क्रिय कही जाती है, पर किस विषयमें? सृष्टि-रचनाके विषयमें। वास्तवमें प्रकृति कभी निष्क्रिय नहीं होती। जाग्रत्में, स्वप्नमें, सुषुप्तिमें, मूर्च्छामें, समाधिमें, सर्गमें, प्रलयमें, महासर्गमें, महाप्रलयमें, हर समय प्रकृतिमें क्रिया होती रहती है। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, धन, सम्पत्ति, वैभव आदि तथा तारे, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, समुद्र आदि जितना दृश्य (प्रकृतिका कार्य) दीखता है, सबमें प्रतिक्षण क्रिया हो रही है। इस प्राकृत क्रियामें उत्पत्ति और विनाशका एक क्रम (प्रवाह) चलता है और यह क्रम ही स्थितिरूपसे दीखता है, वास्तवमें स्थिति है नहीं। जैसे, हम कहते हैं कि गंगाजीका जल कलकी जगह ही बह रहा है तो इसमें दो बातें हैं—(१) 'कलकी जगह' और (२) 'बह रहा है।' तात्पर्य है कि कलकी जगह दीखनेपर भी जल स्थिर नहीं है, प्रत्युत निरन्तर बह रहा है। इसी तरह ये शरीर-संसार स्थिर दीखते हुए भी निरन्तर बह रहे हैं, नाशकी तरफ जा रहे हैं। परन्तु परमात्मतत्त्व और अपने स्वरूपमें क्रिया नहीं है। ये सदा ज्यों-के-त्यों रहते हैं। अगर इनमें किंचिन्मात्र भी क्रिया होती तो ये सदा ज्यों-के-त्यों नहीं रहते, प्रत्युत बदल जाते।

प्रकृतिकी प्रत्येक क्रिया हमारे स्वरूपसे निरन्तर अलग हो रही है और अलग है। यह सबका अनुभव है कि बालकपनमें मैं ऐसा करता था और आज मैं ऐसा करता हूँ। परन्तु बालकपनमें मैं जो था, वही मैं आज हूँ। बालकसे जवान और जवानसे बूढ़ा हो गया—यह प्राकृत क्रिया हुई और मैं वही हूँ—यह अक्रिय स्वरूप हुआ। बालकसे जवान और जवानसे बूढ़ा होनेके लिये कोई उद्योग नहीं करना पड़ता, प्रत्युत यह परिवर्तनरूप क्रिया शरीरमें स्वतः-स्वाभाविक हो रही है। स्वयंने शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया, इसलिये शरीरमें होनेवाली क्रिया अपनेमें दीखने लग गयी; जैसे—मैं बालक हूँ, मैं जवान हूँ, मैं बूढ़ा हूँ, मैं रोगी हूँ, मैं नीरोग हूँ आदि। शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही अज्ञान है और शरीरको स्वयंसे सर्वथा अलग अनुभव कर लेना ही ज्ञान है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।
(गीता १३। २)

साधकको ऐसा अनुभव करना चाहिये कि जितनी भी क्रिया होती है, वह सब शरीरमें ही होती है। उम्र भी शरीरकी ही होती है। स्वयंकी उम्र नहीं होती। काल भी शरीरको ही खाता है। चाहे स्थूलशरीरकी क्रिया हो, चाहे सूक्ष्मशरीरकी चिन्तन, मनन, ध्यान आदि क्रिया हो, चाहे कारणशरीरकी समाधि हो†, सबको काल निरन्तर खा रहा है। परन्तु स्वयंको काल नहीं खाता। स्वयंमें कोई क्रिया नहीं है। वह सम्पूर्ण क्रियाओंका साक्षी है। उस क्रियारहित स्वयंमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव करना ही मुक्ति है और क्रियासहित शरीरमें स्थित होना ही बन्धन है।

क्रिया और अक्रियाको दूसरे शब्दोंमें प्रवृत्ति और निवृत्ति भी कह सकते हैं। संसारकी प्रत्येक प्रवृत्तिकी स्वतः निवृत्ति हो रही है। प्रवृत्तिके समय भी निवृत्ति ज्यों-की-त्यों विद्यमान है। हम सोते हैं, जागते हैं, बैठते हैं, चलते हैं, सुनते हैं, बोलते हैं तो इन सब क्रियाओंमें भी नाशकी तरफ जानेवाली क्रिया (निवृत्ति) निरन्तर हो रही है। यह निवृत्ति नित्य है। इसका कभी नाश नहीं होता। इस नित्य निवृत्तिको ही गीताने **'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'** (३। २८), **'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते'** (५। ९) आदि पदोंसे कहा है।

हम पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति करते हैं, पर वास्तवमें प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत निवृत्ति ही होती है। जैसे, धन प्राप्त हो गया तो वास्तवमें धनकी निवृत्ति हुई है। किसी आदमीको पचास वर्ष धनी रहना है और एक वर्ष बीत गया तो अब वह पचास वर्ष धनी नहीं रहेगा, उसकी एक वर्षकी धनवत्ता निवृत्त हो गयी। इस तरह क्रियामात्र निरन्तर हमारेसे निवृत्त हो रही है अर्थात् अलग हो रही है। परन्तु संयोगकी रुचिके कारण हमें निवृत्तिमें भी प्रवृत्ति दीखती है। अगर संयोगकी रुचि मिट जाय तो नित्ययोगकी प्राप्ति हो जायगी।

अपने स्वरूपमें अथवा परमात्मतत्त्वमें अपनी स्थितिका नाम नित्ययोग है। इस नित्ययोगकी प्राप्तिके लिये ही सब साधन हैं। यह नित्ययोग ही गीताका योग है, जिसकी

* नींद लेते समय कोई बीचमें ही हमें जगा देता है तो हम कहते हैं कि कच्ची नींदमें जगा दिया। इससे सिद्ध होता है कि नींदमें भी पकनेकी क्रिया होती है।

† समाधिमें भी क्रिया होती है, तभी उससे व्युत्थान होता है।

परिभाषा भगवान्‌ने दो प्रकारसे की है—(१) समताका नाम योग है—'**समत्वं योग उच्यते**' (२।४८) और (२) दुःखस्वरूप संसारके संयोगके वियोगका नाम योग है—'**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (६।२३) । चाहे समता कह दो, चाहे संसारके संयोगका वियोग कह दो, दोनों एक ही हैं। तात्पर्य है कि समतामें स्थिति होनेपर संसारके संयोगका वियोग हो जायगा और संसारके संयोगका वियोग होनेपर समतामें स्थिति हो जायगी। दोनोंमेंसे कोई एक होनेपर नित्ययोगकी प्राप्ति हो जायगी। इसीको शास्त्रोंमें मूलाविद्यासहित जगत्‌की निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति कहा गया है। गीताने मूलाविद्यासहित जगत्‌की निवृत्तिको कहा है—'**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' और परमानन्दकी प्राप्तिको कहा है—'**समत्वं योग उच्यते**।' मूलाविद्यासहित जगत्‌की निवृत्तिका नाम भी योग है और परमानन्दकी प्राप्तिका नाम भी योग है। इस योगकी प्राप्तिमें संयोगकी रुचि और क्रियाकी रुचि ही खास बाधक है। पदार्थ अच्छे लगते हैं, करना अच्छा लगता है—यही खास बाधा है। पदार्थ और क्रिया प्रकृतिका स्वरूप है। अगर पदार्थों और क्रियाओंका आकर्षण न रहे तो अपने अक्रिय स्वरूपका स्वतः अनुभव हो जायगा*। मूलमें पदार्थोंके संयोगकी रुचि ही बाधक है; क्योंकि संयोगकी रुचि होनेसे ही क्रियाकी रुचि होती है। क्रियाकी रुचिसे कर्तृत्वाभिमान आता है और कर्तृत्वाभिमानसे देहाभिमान दृढ़ होता है। अगर संयोगकी रुचि न रहे तो क्रियाकी रुचि नहीं होगी; क्योंकि किसी-न-किसी प्रयोजनकी सिद्धिके लिये ही क्रिया की जाती है।

संयोगकी रुचि कैसे नष्ट हो? इसके तीन उपाय हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग†। कर्मयोगमें—जो भी क्रिया करें, दूसरोंके हितके लिये ही करें, अपने लिये नहीं। स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरकी सब क्रियाएँ दूसरोंके हितके लिये करनेसे अपनेमें क्रिया और पदार्थकी रुचि नष्ट हो जायगी‡। ज्ञानयोगमें—सब क्रियाएँ प्रकृति और उसके कार्यमें हो रही हैं, अपने स्वरूपमें कोई क्रिया नहीं हो रही है—इस विवेकको महत्त्व दें तो यह रुचि नष्ट हो जायगी। भक्तियोगमें—सभी क्रियाएँ भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही करें तो यह रुचि नष्ट हो जायगी। इस तरह क्रियाओंको चाहे संसारके लिये करो, चाहे प्रकृतिमें होनेवाली मान लो, चाहे भगवान्‌के लिये करो। क्रियाओंके साथ अपना कोई सम्बन्ध मत मानो; क्योंकि सम्बन्ध माननेसे ही अपनेमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व आता है। क्रियाओंके साथ अपना सम्बन्ध न माननेसे करने और पानेकी रुचि मिट जायगी और नित्ययोगकी प्राप्ति हो जायगी।

हमारेको भोग मिल जायँ, पदार्थ मिल जायँ, रुपये मिल जायँ—इस तरह संयोगकी रुचि तो रहती है, पर संयोग नहीं रहता। कारण कि संसारका नित्य वियोग है। जिसका नित्य वियोग है, उसका संयोग कैसे रहेगा? संसारमात्रका निरन्तर अपने स्वरूपसे स्वतः वियोग हो रहा है। पहले भी वियोग था, पीछे भी वियोग रहेगा और वर्तमानमें संयोगके समय भी निरन्तर वियोग हो रहा है। तात्पर्य है कि संसारका वियोग ही सत्य है। वियोग होनेपर फिर संयोग हो जाय—इसका तो पता नहीं है, पर जिसका संयोग हुआ है, उसका वियोग अवश्य होगा; क्योंकि संसारका संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है।

संसारके संयोगमें दुःख-ही-दुःख है। इसलिये भगवान्‌ने संसारको दुःखरूप कहा है—'**दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (६।२३); '**दुःखालयम्**' (८।१५)। कारण कि प्रत्येक संयोगका वियोग होता ही है; और वियोगमें

---

* यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते। सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ (गीता ६।४)

'जिस समय न इन्द्रियोंके भोगोंमें तथा न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस समय वह सम्पूर्ण संकल्पोंका त्यागी मनुष्य योगारूढ़ कहा जाता है।

† योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ (श्रीमद्भा० ११।२०।६)

'अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने तीन योगमार्ग बताये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इन तीनोंके सिवाय दूसरा कोई कल्याणका मार्ग नहीं है।'

‡ एक क्रिया होती है, एक कर्म होता है और एक कर्मयोग होता है। शरीर बालकसे जवान तथा जवानसे बूढ़ा होता है—यह क्रिया है। क्रियासे न पाप होता है, न पुण्य होता है; न बन्धन होता है, न मुक्ति होती है। जैसे, गङ्गाजीका बहना क्रिया है। अतः कोई डूबकर मर जाय अथवा खेती आदि कोई परोपकार हो जाय तो गङ्गाजीको पाप-पुण्य नहीं लगता। जब मनुष्य क्रियासे सम्बन्ध जोड़कर कर्ता बन जाता है, तब वह क्रिया फलजनक कर्म बन जाती है। कर्मसे बन्धन होता है। कर्मबन्धनसे छूटनेके लिये जब मनुष्य निःस्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये ही कर्म करता है, तब वह कर्मयोग हो जाता है। कर्मयोगसे बन्धन मिटता है और मुक्ति होती है—'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते' (गीता ४।२३); 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' (गीता ३।९)।

दुःख होता है—यह सबका अनुभव है। अगर हम संयोगकी इच्छा छोड़ दें तो उसका वियोग होनेसे दुःख नहीं होगा। संयोगकी इच्छा ही दुःखोंका घर है। संयोगकी इच्छा क्यों होती है? कि हम संयोगजन्य सुख भोगते हैं तो अन्तःकरणमें उसके संस्कार पड़ जाते हैं, जिसको वासना कहते हैं। फिर जब भोग सामने आते हैं, तब वह वासना जाग्रत् हो जाती है, जिससे संयोगकी रुचि पैदा होती है। संयोगकी रुचिसे इच्छा पैदा हो जाती है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है कि संयोगजन्य जितने भी सुख हैं, वे सब आदि-अन्तवाले और दुःखोंके कारण हैं अर्थात् उनसे दुःख-ही-दुःख पैदा होते हैं। इसलिये विवेकी मनुष्य उनमें रमण नहीं करता*। कारण कि संयोगजन्य सुखोंका वियोग होगा ही। अगर उनमें रमण करनेकी इच्छा करेंगे तो वह दुःख ही देगा।

सम्पूर्ण प्राकृत पदार्थों और क्रियाओंका निरन्तर ही हमारे स्वरूपसे वियोग हो रहा है। यह वियोग करना नहीं पड़ता, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक तथा सहज ही वियोग होता है। इस-वियोगको हम स्वीकार कर लें अर्थात् संयोगकालमें ही वियोगका अनुभव कर लें तो संयोगकी इच्छा मिट जायगी। संयोगकी इच्छा मिटते ही योगकी प्राप्ति स्वतः हो जायगी। उसकी प्राप्तिके लिये कुछ करना नहीं पड़ेगा। कारण कि वास्तवमें योग स्वतः-स्वाभाविक प्राप्त है। शरीरकी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि-अवस्थामें तथा संसारकी सर्ग, प्रलय, महासर्ग और महाप्रलय-अवस्थामें भी योग ज्यों-का-त्यों है। सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें ज्यों-का-त्यों रहनेसे इसको 'नित्ययोग' कहते हैं।

जिसका निरन्तर वियोग हो रहा है, उसके संयोगकी इच्छा छोड़ दो तो योगकी प्राप्ति हो जायगी अथवा एक 'है'-रूप परमात्मतत्त्वमें स्थित हो जाओ तो योगकी प्राप्ति हो जायगी और संसारका स्वतः वियोग हो जायगा। दोनोंमेंसे किसी एकको कर लो तो दोनों अपने-आप हो जायँगे। इसमें एक मार्मिक बात है कि अलग उसीसे होना है, जो पहलेसे ही अलग है तथा अलग हो रहा है और प्राप्ति उसीकी करनी है, जो पहलेसे ही प्राप्त है। हमें संसारसे अलग होना है तो संसार सदा ही हमारेसे अलग है और परमात्माको प्राप्त करना है तो परमात्मा सबको सदा प्राप्त हैं। तात्पर्य है कि संसारका वियोग और परमात्माका नित्ययोग क्रियासाध्य नहीं है, प्रत्युत ये दोनों सहज तथा स्वाभाविक हैं। आवश्यकता केवल माने हुए संयोगकी रुचि मिटानेकी है। चाहे माने हुए संयोगकी रुचि मिटा दो, चाहे परमात्माके साथ अपने नित्ययोगको पहचान लो, जो पहले भी था, पीछे भी रहेगा और अब भी ज्यों-का-त्यों है।

★

* ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ (गीता ५। २२)

जिज्ञासा और बोध

जिज्ञासाका विषय वास्तवमें जीव और जगत् हैं, परमात्मा नहीं। कारण कि जिज्ञासा अधूरी जानकारी (सन्देह) में होती है अर्थात् जिस विषयमें हम कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते, वहाँ जिज्ञासा होती है†। अतः जिस विषयको किंचिन्मात्र भी नहीं जानते, उसमें जिज्ञासा नहीं होती और जिस विषयको पूरी तरह जानते हैं, उसमें भी जिज्ञासा नहीं होती; क्योंकि उसका अनुभव होता है। परमात्माके विषयमें हम बिलकुल नहीं जानते; अतः परमात्मा जिज्ञासा या विचारका विषय नहीं है, प्रत्युत मान्यताका विषय है। जीव और संसारको हम पूरी तरह नहीं जानते; जैसे—मैं हूँ और संसार है— यह तो जानते हैं, पर मैं क्या हूँ और संसार क्या है—यह तत्त्वसे नहीं जानते। अतः जीव और संसार जिज्ञासाके विषय हैं।

यद्यपि शास्त्रोंमें परमात्माको भी जिज्ञासाका विषय माना गया है—'**जगज्जीवपरात्मनाम्**', तथापि यह जिज्ञासाका विषय उन्हींके लिये है, जो वेदादिक शास्त्रोंपर और भक्तोंपर श्रद्धा-विश्वास रखते हों। वेदादिक शास्त्रोंमें और सन्तवाणीमें परमात्माका वर्णन किया गया है; अतः उस वर्णनको लेकर उनमें परमात्माकी जिज्ञासा होती है। तात्पर्य है कि परमात्माकी जिज्ञासा उनमें होती है, जो शास्त्र और सन्तको मानते हैं अर्थात् शास्त्रमें लिखा है, भक्तोंसे सुना है, पर अनुभव नहीं है—इसको लेकर जिज्ञासा होती है। जो वेदादिक शास्त्रोंको और भक्तोंको नहीं मानते, उनमें परमात्माकी जिज्ञासा नहीं होती। परन्तु जीव और जगत्‌की जिज्ञासा आस्तिक-नास्तिक सभीमें हो सकती है; क्योंकि मैं हूँ और जगत् है—इसका अनुभव सबको होता है। परमात्माका ऐसा अनुभव न होनेसे

† जितना जानते हैं, उसीको पूरा मानकर जानकारीका अभिमान करनेसे मनुष्य नास्तिक बन जाता है; और उसमें सन्तोष न करके जितना जानते हैं, उसमें सन्तोष न करनेसे तथा जानकारीका अभाव खटकनेसे मनुष्य जिज्ञासु बन जाता है।

परमात्मा उनकी मान्यताका विषय होता है अर्थात् या तो वे परमात्माको मानते हैं अथवा नहीं मानते। इसीलिये आस्तिक और नास्तिक—दोनों दर्शन पाये जाते हैं।

जिज्ञासुमें 'मैं जिज्ञासु हूँ'—ऐसा अहम् अर्थात् व्यक्तित्व रहता है। जबतक अहम् रहता है, तबतक वह बातें तो सीख लेता है, पर उसको बोध नहीं होता। परन्तु सच्ची जिज्ञासा रहनेसे उसमें एक व्याकुलता पैदा होती है कि 'मैंने इतना जान लिया, पर मेरेमें कोई फर्क नहीं पड़ा, कोई विलक्षणता नहीं आयी! राग-द्वेष, हर्ष-शोक वही होते हैं, अनुकूलता-प्रतिकूलताका वही असर पड़ता है!' ऐसी व्याकुलता होनेपर वह अहम्‌से सर्वथा विमुख हो जाता है। अहम्‌से सर्वथा विमुख होनेपर जिज्ञासु नहीं रहता, प्रत्युत शुद्ध जिज्ञासा रह जाती है और वह जिज्ञासा ज्ञान (बोध) में परिणत हो जाती है। ज्ञान होनेपर अहम् अर्थात् प्रकृति तथा प्रकृतिके कार्यका सर्वथा अभाव हो जाता है और चेतन-स्वरूप ज्यों-का-त्यों रह जाता है अर्थात् प्राप्त हो जाता है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि ज्ञान जड़का ही होता है, चेतनका नहीं। कारण कि चेतन तो ज्ञानस्वरूप ही है। अन्तःकरणमें जडका महत्त्व होनेसे ही उसका अनुभव नहीं होता था। उसका अनुभव होनेपर अनुभवमात्र रह जाता है, अनुभव करनेवाला नहीं रहता; ज्ञानमात्र रह जाता है, ज्ञानी नहीं रहता।

★

अहम्‌का नाश तथा तत्त्वका अनुभव

सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिका अभाव होनेपर भी जो शेष रहता है, वही तत्त्व है। उस तत्त्वका अभाव कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं। उस तत्त्वमें हमारी स्थिति स्वतः है। इसलिये वह तत्त्व हमारेसे अलग नहीं है और हम उससे अलग नहीं हैं। वह हमारेसे दूर नहीं है और हम उससे दूर नहीं हैं। वह हमारेसे रहित नहीं है और हम उससे रहित नहीं हैं। वह हमारा त्याग नहीं कर सकता और हम उसका त्याग नहीं कर सकते। वही तत्त्व सबका प्रकाशक, सबका आधार, सबका आश्रय, सबका रक्षक, सबका उत्पादक, सबका ज्ञाता, प्रेमास्पद, अन्तरात्मा, आत्मदृक्, विश्वात्मा आदि अनेक नामोंसे कहा जाता है। उस नित्यप्राप्त तत्त्वका अनुभव करनेमें कोई भी मनुष्य असमर्थ, पराधीन, अनधिकारी नहीं है। वह तत्त्व केवल उत्कट अभिलाषामात्रसे प्राप्त हो जाता है।

तत्त्वको लेकर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि जो दार्शनिक भेद हैं, उनका आग्रह ही तत्त्वके अनुभवमें बाधक है*। कारण कि तत्त्वमें कोई भेद नहीं है। जितने भी दार्शनिक भेद हैं, वे सब तभीतक हैं, जबतक अहम् है। अहम्‌से परिच्छिन्नता उत्पन्न होती है और परिच्छिन्नतासे भेद उत्पन्न होता है। अतः जबतक अहम् रहता है, तबतक भेदका नाश नहीं होता। अहम्‌के मिटनेपर कोई भेद नहीं रहता, केवल तत्त्व रह जाता है।

अहम् क्या है—इसपर विचार करें। गीतामें आया है—'**अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा**' (७।४); '**महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च**' (१३।५)। सांख्यकारिकामें आया है—'**प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारः**'। श्रीमद्भागवतमें सात्त्विक, राजस और तामस—तीन प्रकारके अहम्‌का वर्णन आया है—'**वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत्**' (११।२४।७)। ये सब-के-सब अहम् सर्वथा जड (प्रकृति)के वाचक हैं। इसलिये भगवान्‌ने अहम्‌को इदंतासे कहा है; जैसे—'**एतद् यो वेत्ति**' (१३।१)। तात्पर्य है कि अहम् प्रकाश्य है और तत्त्व प्रकाशक है। अहम् ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला) है और तत्त्व ज्ञाता है। प्रकाश्यके साथ प्रकाशककी और ज्ञेयके साथ ज्ञाताकी सर्वथा एकता कभी हो नहीं सकती।

जीव अहम्‌के साथ तादात्म्य करके अपनेको 'मैं हूँ' इस प्रकार अनुभव करता है†। इसमें 'मैं' तो प्रकृतिका अंश है और 'हूँ' चेतनका अंश है। तात्पर्य है कि 'मैं' की 'नहीं' के

---

* जिनमें अपने मतका आग्रह होता है, वे मतवाले होते हैं। मतवालेकी बात यथार्थ नहीं होती। सन्तोंने कहा है—

मतवादी जानै नहीं, ततवादी की बात। सूरज ऊगा उल्लुवा, गिनै अँधेरी रात॥
हरिया तत विचारियै, क्या मत सेती काम। तत्त बसाया अमरपुर, मत का जमपुर धाम॥
हरिया रत्ता तत्त का, मत का रत्ता नांहि। मतका रत्ता से फिरै, तांह तत पाया नांहि॥

† अहम्‌के सम्बन्धसे ही मैं, तू, यह और वह—ये चार भेद होते हैं। अहम्‌का सम्बन्ध न रहे तो मैं, तू, यह और वह—ये चारों नहीं रहेंगे, प्रत्युत इन सबका प्रकाशक एक 'है' रहेगा। उस 'है' में ये चारों ही नहीं हैं।

साथ और 'हूँ' की 'है' के साथ एकता है। वास्तवमें 'मैं' के साथ सम्बन्ध होनेसे ही 'हूँ' है। अगर 'मैं' का सम्बन्ध छोड़ दें तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' रहेगा। वह 'है' तत्त्वका स्वरूप है।

जब जीव भूलसे अपनेमें अहम्‌को स्वीकार कर लेता है, तब उसमें जडता, परिच्छिन्नता, विषमता, अभाव, अशान्ति, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विकार आ जाते हैं। अतः अपनेमें माने हुए अहम्‌को मिटानेके लिये अपनेमें तत्त्व ('है') को स्वीकार करना है; क्योंकि तत्त्वमें अहम् नहीं है। अहम्‌के मिटनेपर जडता, परिच्छिन्नता, विषमता आदि विकारोंका सर्वथा अभाव हो जाता है। अपनेमें तत्त्वको स्वीकार करना भेद (द्वैतभाव) का पोषक नहीं है, प्रत्युत भेदका नाशक है; क्योंकि अपनेमें तत्त्वको स्वीकार करनेसे अहम् नहीं रहता। जब अहम् नहीं रहेगा तो फिर अहम्‌से उत्पन्न होनेवाले भेद और विकार कैसे रहेंगे?

अहम्‌को मिटानेके लिये चाहे 'हूँ' की जगह 'है'को स्वीकार कर लें, चाहे 'हूँ' को 'है' के अर्पित कर दें अर्थात् 'है'-रूपसे सर्वव्यापी परमात्मतत्त्वकी शरण हो जायँ। ऐसा करनेसे अहम् नहीं रहेगा अर्थात् मैं-तू-यह-वह नहीं रहेगा, प्रत्युत केवल 'है' रह जायगा। जैसे, चाकूको खरबूजेपर गिरायें अथवा खरबूजेको चाकूपर गिरायें, कटेगा खरबूजा ही, ऐसे ही 'है' को 'हूँ' में मिलायें अथवा 'हूँ' को 'है' में मिलायें, नाश 'हूँ' की परिच्छिन्नताका ही होगा और 'है' रह जायगा।

वास्तवमें देखा जाय तो 'है' को 'हूँ' में माननेकी अपेक्षा 'हूँ' को 'है' में मानना श्रेष्ठ है। कारण कि 'हूँ' में पहलेसे ही परिच्छिन्नताका संस्कार रहता है, इसलिये 'है' को 'हूँ' में माननेसे परिच्छिन्नता जल्दी नष्ट नहीं होती। अतः स्वरूपमें स्थित होनेकी अपेक्षा स्वकीय परमात्माका आश्रय लेना श्रेष्ठ है*। जब स्वरूप अहम्‌से विमुख होकर स्वकीय परमात्माकी शरणागति स्वीकार कर लेता है अर्थात् 'मैं केवल भगवान्‌का हूँ, अन्य किसीका कभी किंचिन्मात्र भी नहीं हूँ'—इस वास्तविकताको स्वीकार कर लेता है, तब वह माया (अपरा प्रकृति) को तर जाता है अर्थात् उसके अहम्‌का सर्वथा नाश हो जाता है—'**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते**' (गीता ७।१४)। तात्पर्य है कि स्वरूपमें स्थित होनेपर तो सूक्ष्म अहम् रह सकता है, पर भगवान्‌का आश्रय लेनेपर अहम् सर्वथा मिट जाता है। कारण कि भगवान् स्वयं शरणागत भक्तके अहम्‌का नाश कर देते हैं†। अहम्‌का नाश होनेपर देश, काल, क्रिया आदि तो नहीं रहते, पर 'है' (सत्) रह जाता है; ज्ञानी तो नहीं रहता, पर ज्ञान (चित्) रह जाता है; सुख-दुःख तो नहीं रहते, पर आनन्द रह जाता है अर्थात् एक सत्-चित्-आनन्दघन तत्त्व ही रह जाता है, जिसको गीताने '**वासुदेवः सर्वम्**' (७।१९) कहा है।

वह तत्त्व सब देश, काल, क्रिया आदिमें परिपूर्ण है, पर उसमें देश, काल, क्रिया आदि नहीं हैं। उस तत्त्वकी प्राप्तिके लिये क्रिया करना वास्तवमें तत्त्वसे अलग होना है; क्योंकि क्रिया करनेसे कर्ता रहेगा और तत्त्वकी अप्राप्ति रहेगी। ऐसे ही आत्मचिन्तन करनेसे आत्मबोध नहीं होगा; क्योंकि आत्मचिन्तन करनेसे चिन्तक रहेगा और अनात्माकी सत्ता रहेगी। तत्त्वको अप्राप्त मानेंगे, तभी तो उसकी प्राप्तिके लिये क्रिया करेंगे! अनात्माकी सत्ता मानेंगे, तभी तो अनात्माका त्याग और आत्माका चिन्तन करेंगे!

तत्त्वको जाननेकी चेष्टा करेंगे तो तत्त्वसे दूर हो जाँयगे; क्योंकि तत्त्वको ज्ञेय (जाननेका विषय) बनायेंगे, तभी तो उसको जानना चाहेंगे! तत्त्व तो सबका ज्ञाता है, ज्ञेय नहीं। सबके ज्ञाताका कोई और ज्ञाता नहीं हो सकता। जैसे, आँखसे सबको देखते हैं, पर आँखसे आँखको नहीं देख सकते; क्योंकि आँखकी देखनेकी शक्ति इन्द्रियका विषय नहीं है।

---

* परमात्माके सिवाय कोई स्वकीय (अपना) नहीं हो सकता; क्योंकि वास्तवमें स्वकीय वही हो सकता है, जो हमारेसे अलग न हो सके और हम उससे अलग न हो सकें। जो कभी मिले और कभी अलग हो जाय, वह स्वकीय नहीं हो सकता।

† जिनमें विवेककी प्रधानता है, ऐसे भक्त अहम्‌का आश्रय छोड़कर अर्थात् संसारका त्याग करके भगवान्‌के आश्रित होते हैं। परन्तु जिनमें विवेककी प्रधानता नहीं है, पर भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास अधिक है, ऐसे भक्त अहम्‌के साथ (जैसे हैं, वैसे ही) भगवान्‌के आश्रित होते हैं। ऐसे भक्तोंके अहम्‌का नाश भगवान् स्वयं करते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता १०।१०-११)

'उन नित्य-निरन्तर मेरेमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे उनको मेरी प्राप्ति हो जाती है।'

'उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके स्वरूपमें रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपकके द्वारा सर्वथा नष्ट कर देता हूँ।'

अतः वह तत्त्व स्वयं ही स्वयंका ज्ञाता है—'**स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम**' (गीता १० । १५) ।

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥
(मानस १ । ११७ । ३)

प्रकृतिके सम्बन्धके बिना तत्त्वका चिन्तन, मनन आदि नहीं हो सकता। अतः तत्त्वका चिन्तन करेंगे तो चित्त साथमें रहेगा, मनन करेंगे तो मन साथमें रहेगा, निश्चय करेंगे तो बुद्धि साथमें रहेगी, दर्शन करेंगे तो दृष्टि साथमें रहेगी, श्रवण करेंगे तो श्रवणेन्द्रिय साथमें रहेगी, कथन करेंगे तो वाणी साथमें रहेगी। ऐसे ही 'है' को मानेंगे तो मान्यता तथा माननेवाला रह जायगा और 'नहीं' का निषेध करेंगे तो निषेध करनेवाला रह जायगा। कर्तृत्वाभिमानका त्याग करेंगे तो 'मैं कर्ता नहीं हूँ'—यह सूक्ष्म अहंकार रह जायगा अर्थात् त्याग करनेसे त्यागी (त्याग करनेवाला) रह जायगा। इसलिये न मान्यता करें, न निषेध करें; न ग्रहण करें, न त्याग करें, प्रत्युत जैसे हैं, वैसे रहें अर्थात् 'है' में स्थिर होकर बाहर-भीतरसे चुप हो जायँ। चुप होना है—यह आग्रह (संकल्प) भी न रखें, नहीं तो कर्तृत्व आ जायगा; क्योंकि चुप स्वतःसिद्ध है।

मैं, तू, यह, वह—इन चारोंको छोड़ दें तो एक 'है' (सत्तामात्र) रह जाता है। उस 'है' में स्थिर (चुप) हो जायँ तथा अपनी ओरसे कुछ भी चिन्तन न करें—'**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्**' (गीता ६ । २५) । यदि अपने-आप कोई चिन्तन हो जाय तो उससे न राग करें, न द्वेष करें; न राजी हों, न नाराज हों; न अच्छा मानें, न बुरा मानें। उसको न अपना मानें, न अपनेमें मानें, प्रत्युत उसकी उपेक्षा कर दें, उससे उदासीन हो जायँ। वास्तवमें वह अपनेमें नहीं है। उससे राग-द्वेष करना द्वन्द्व है। यह द्वन्द्व तत्त्वके अनुभवमें खास बाधा है—'**तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ**' (गीता ३ । ३४) ।

इस प्रकार यदि एक-दो सेकेण्ड भी चुप (सत्तामात्रमें स्थिर) हो जायँ तो उससे एक शक्ति मिलेगी, जो संयोगकी रुचिका, संसारकी आसक्तिका नाश कर देगी। कारण कि अक्रिय तत्त्वमें अपार शक्ति है। सभी शक्तियाँ अक्रिय तत्त्व ('है') से ही प्रकट होती हैं, उसीमें स्थित रहती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं। संसारमें प्रत्येक क्रियाके बाद अक्रियता आती है और उस अक्रियतासे ही पुनः क्रिया करनेकी शक्ति मिलती है। जैसे, बोलते-बोलते कुछ देर चुप हो जायँ तो पुनः बोलनेकी शक्ति आ जाती है। चलते-चलते थककर गिर जायँ तो कुछ देर ठहरनेसे पुनः चलनेकी शक्ति आ जाती है। दिनभर कार्य करते-करते रात्रिमें सो जायँ तो पुनः शरीरमें ताजगी, कार्य करनेकी शक्ति आ जाती है। इस प्रकार प्रत्येक क्रिया, वृत्ति आदिकी सन्धिमें वह अक्रिय तत्त्व झलकता है—

सब वृत्ति हैं गोपिका, साक्षी कृष्ण स्वरूप।
सन्धिमें झलकत रहे, यह है रास अनूप॥

उस अक्रिय तत्त्वमें चुप हो जायँ तो उस स्वतःसिद्ध तत्त्वका अनुभव हो जायगा। वास्तवमें चुप स्वतः, स्वाभाविक और सहज है। इसमें कोई उद्योग नहीं करना है, प्रत्युत केवल 'नहीं' की अस्वीकृति करनी है।

करण-निरपेक्ष तत्त्व

जिससे क्रियाकी सिद्धि होती है, जो क्रियाको उत्पन्न करनेवाला है, उसको 'कारक' कहते हैं। कारक छः प्रकारके होते हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। इन छहों कारकोंकी आवश्यकता सांसारिक क्रियाओंकी सिद्धिमें ही है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कारकोंकी आवश्यकता नहीं है अर्थात् वहाँ कारक नहीं चलते। कारण कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति क्रियासे नहीं होती। तात्पर्य है कि सब कारक प्रकृतिमें हैं और प्रकृतिके कार्य हैं। प्रकृतिसे अतीत तत्त्वमें कोई कारक नहीं है। कारकोंमें प्रकृतिजन्य पदार्थ और क्रियाका आश्रय लेना पड़ता है, जिससे अभ्यासकी सिद्धि होती है। अभ्याससे एक नयी अवस्थाका निर्माण होता है, तत्त्वका अनुभव नहीं होता; क्योंकि तत्त्वमें अवस्था नहीं है। तत्त्वका अनुभव तो विवेकके द्वारा होता है। यह विवेक प्राणिमात्रको स्वतः प्राप्त है। परन्तु मनुष्यके सिवाय अन्य प्राणियोंमें जो विवेक है, उससे उनका शरीर-निर्वाह तो हो जाता है, पर तत्त्वज्ञान नहीं होता। कारण कि विवेकका उपयोग वे केवल शरीर-निर्वाहमें ही करते हैं। उससे आगे (शरीरसे अतीत तत्त्वमें) उनकी जिज्ञासा नहीं होती* ।

* अन्य प्राणियोंमें यह विवेक स्थावरकी अपेक्षा जंगममें अधिक रहता है। जंगममें भी जलचरकी अपेक्षा थलचर प्राणियोंमें और थलचरकी अपेक्षा नभचर प्राणियोंमें अधिक विवेक रहता है। परन्तु उनमें यह विवेक शरीर-निर्वाहतक ही सीमित रहता है, जिससे वे खाद्य-अखाद्य, सरदी-गरमी, परिश्रम-आराम, संयोग-वियोग आदिकी भिन्नताको जान लेते हैं। परन्तु सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक उनमें जाग्रत् नहीं होता। कारण कि उनमें विवेकके योग्य बुद्धि नहीं है और अधिकार भी नहीं है। यह विवेक मनुष्यमें ही जाग्रत् होता है। कारण कि मनुष्यके सिवाय अन्य योनियाँ भोगप्रधान हैं। मनुष्य अपने विवेकको महत्त्व देकर शरीरसे अतीत तत्त्वकी प्राप्ति कर सकता है, जन्म-मरणके बन्धनसे छूट सकता है। अतः मनुष्यपर अपना उद्धार करनेकी विशेष जिम्मेवारी है; क्योंकि जिसके पास इन्कम (आय) है, उसीपर इन्कम टैक्स लगता है।

मनुष्य अपने विवेकका सदुपयोग करके, विवेकका आदर करके देवताओंसे भी ऊँचा उठ सकता है, भगवान्‌को भी अपने वशमें कर सकता है। परन्तु भोगेच्छाके कारण अपने विवेकका दुरुपयोग करके, विवेकका अनादर करके पशुओंसे भी नीचा गिर सकता है और चौरासी लाख योनियों तथा नरकोंमें जा सकता है* ! इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपने विवेकका आदर करे, विवेक-विरोधी कोई कार्य न करे।

प्राणिमात्रमें अपरा (जड) और परा (चेतन) दोनों प्रकृतियाँ हैं। 'अहम्' अपरा प्रकृति है† और 'जीव' परा प्रकृति है। अहम् और जीव अर्थात् जड और चेतनके सम्बन्धका ही नाम चिज्जडग्रन्थि है—

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
(मानस ७। ११७। २)

जड-चेतनकी यह ग्रन्थि मिथ्या है, सत्य नहीं है, क्योंकि जड और चेतन एक-दूसरेसे सर्वथा विरुद्ध हैं। चेतन प्रकाशक है, जड प्रकाश्य है। चेतन अपरिवर्तनशील है, जड परिवर्तनशील है। चेतन कभी मिटता नहीं, जड कभी टिकता नहीं। दोनोंका स्वभाव अलग-अलग है। परन्तु अलग-अलग स्वभाव होते हुए भी दोनोंका एक-दूसरेसे वैर-विरोध नहीं है। इतना ही नहीं, चेतन जडका प्रकाशक है, सहायक है। असत्‌की सिद्धि भी सत्-रूप चेतनसे ही होती है। चेतन ही असत्‌को सत्ता देता है। हाँ, तत्त्वकी जिज्ञासाका असत् (जड) से वैर है; क्योंकि जिज्ञासासे जडके साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इसलिये एक दृष्टिसे तत्त्वकी अपेक्षा तत्त्वकी जिज्ञासा श्रेष्ठ है। भोगेच्छा तो संसार (पदार्थ और क्रिया)से सम्बन्ध जोड़ती है, पर जिज्ञासा संसारसे सम्बन्ध तोड़ती है। भोगेच्छामें जडता (अहंकार) की मुख्यता रहती है और जिज्ञासामें चेतनकी मुख्यता रहती है। तात्पर्य है कि मनुष्य जड-अंशकी प्रधानतासे संसारकी, भोगोंकी इच्छा करता है और चेतन-अंशकी प्रधानतासे अपने उद्धारकी, मुक्तिकी, परमात्मतत्त्वकी इच्छा (जिज्ञासा) करता है।

मनुष्य जबतक जड-अंश (अहंता) की प्रधानतासे संसारके भोगोंमें लिप्त रहेगा, तबतक उसको कभी परमशान्ति, परम आनन्द नहीं मिलेगा। ब्रह्माका पद मिल जाय तो भी उसको परमशान्ति नहीं मिलेगी। परिवर्तनशील वस्तुसे अपरिवर्तनशीलको शान्ति कैसे मिल सकती है? असत्से सत्‌की पूर्ति कैसे हो सकती है? परन्तु जब मनुष्य चेतनकी प्रधानताको लेकर (जडताका त्याग करते हुए) चलेगा, तब जड-अंश (अहम्) मिट जायगा और शुद्ध चेतन रह जायगा। जड-अंश मिटनेसे आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जायगा। आसक्तिका सर्वथा अभाव होनेपर पूर्णता हो

---

* मनुष्य होकर भी अपने विवेकका आदर न करनेसे जैसा पतन होता है, वैसा पतन पशुका भी नहीं होता! झूठ, कपट, बेईमानी, धोखेबाजी, अन्याय, हिंसा आदि पाप मनुष्य ही करता है, पशु नहीं करते। पशु नये पाप नहीं करते, प्रत्युत पूर्वजन्ममें किये गये पापोंका ही फल भोगकर उन्नतिकी ओर जाते हैं, पर मनुष्य सुख-लोलुपताके कारण नये-नये पाप करके पतनकी ओर जाता है। अपने विवेकको वह नये-नये पापोंकी खोज करनेमें ही लगा देता है। भोगासक्तिके कारण उसका विवेक इन्द्रियोंके भोगोंतक ही सीमित रहता है, उससे ऊँचा नहीं उठता—'कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः' (गीता १६। ११)। इस प्रकार पशु तो अपने कर्मोंका फल भोगकर मनुष्ययोनिकी तरफ आते हैं, पर मनुष्य नये-नये पाप करके पशुयोनिसे भी नीचे (नरकोंमें) चले जाते हैं और जा रहे हैं! इसलिये ऐसे मनुष्यके संगको नरकवाससे भी बुरा कहा गया है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥ (मानस ५। ४६। ४)

कारण कि नरकोंमें तो पाप नष्ट होकर शुद्धि आती है, पर दुष्टोंके संगसे अशुद्धि आती है, पाप बनते हैं।

† गीतामें भगवान्‌ने अपरा प्रकृतिके आठ भेद बताये हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार (७। ४-५)। इन सबमें बन्धनका मुख्य कारण 'अहंकार' ही है। पृथ्वी, जल, तेज आदिमें परस्पर बहुत तारतम्य होनेपर भी वे सब एक जातिके (अपरा) ही हैं। अतः जिस जातिकी पृथ्वी है, उसी जातिका अहंकार है अर्थात् अहंकार भी मिट्टीके ढेलेकी तरह जड है! इस रहस्यकी ओर विशेष लक्ष्य करानेके लिये ही भगवान्‌ने अहंकारको 'क्षेत्र' बताते हुए 'एतत्' पदका प्रयोग किया है—'एतद्यो वेत्ति' (१३। १)। इस प्रकार 'अहम्' को इदंतासे कहनेका तात्पर्य है कि यह अपने स्वरूपसे अलग है और जाननेमें आनेवाला है। कारण कि इदम् कभी स्वयं (स्वरूप) नहीं होता और स्वयं कभी इदम् नहीं होता। जीव भूलसे इस 'अहम्'के साथ एकता कर लेता है अर्थात् अहम्‌को अपना स्वरूप मान लेता है, जिससे उसका आकर्षण जडताकी ओर हो जाता है और वह जडताके वशमें हो जाता है।

जायगी* अर्थात् वह कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य हो जायगा। वास्तवमें पूर्णता तो स्वतःसिद्ध है। जडके सम्बन्धसे ही पूर्णताका अनुभव नहीं होता। जडके सम्बन्धका अत्यन्ताभाव होनेपर, जडसे सर्वथा असंग होनेपर स्वतः पूर्णताका अनुभव हो जाता है, जो पहलेसे ही है। परन्तु केवल परमात्मतत्त्वकी, स्वरूपके बोधकी जिज्ञासा होनेसे; भगवान्‌के प्रेमकी, दर्शनकी अभिलाषा होनेसे ही यह होगा। तात्पर्य है कि जिज्ञासा होनेसे विवेक विशेषतासे जाग्रत् होगा, जिससे जडतासे असंगता हो जायगी। असंगता होते ही जडकी निवृत्ति अर्थात् अहंकारका अभाव हो जायगा। अहंकारका अभाव होनेसे ममताका भी स्वतः अभाव हो जायगा† और अपने असंग स्वरूपका अनुभव हो जायगा। इसमें कोई कारक काम नहीं करेगा।

सब कारकोंमें 'कर्ता' मुख्य है। कर्तामें चेतनकी झलक आती है, अन्य कारकोंमें नहीं। वास्तवमें 'कर्ता' नाम चेतनका नहीं है। यह माना हुआ कर्ता है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७)। इसलिये गीतामें जहाँ भगवान्‌ने कर्ममात्रकी सिद्धिमें पाँच हेतु (अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव) बताये हैं, वहाँ शुद्ध आत्मा (अपने स्वरूप)को कर्ता माननेवालेकी निन्दा की है कि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है, वह दुर्मति है‡। कारण कि स्वरूपमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही नहीं हैं—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१)। जब स्वरूप कर्ता नहीं है तो फिर कर्ता कौन होता है? इसको भगवान्‌ने गीतामें कई प्रकारसे बताया है; जैसे— सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं अर्थात् प्रकृति कर्ता है (१३। २९); सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणोंके द्वारा होती हैं; गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं अर्थात् गुण कर्ता हैं (३। २७-२८; १४। २३); गुणोंके सिवाय अन्य कोई कर्ता है ही नहीं (१४। १९); इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं अर्थात् इन्द्रियाँ कर्ता हैं (५। ९)। तात्पर्य है कि कर्तृत्व प्रकृतिमें ही है, स्वरूपमें नहीं। इसीलिये अपने चेतन स्वरूपमें स्थित तत्त्वज्ञ महापुरुष 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' ऐसा अनुभव करता है—**'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'** (गीता ५। ८) **तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥'** (गीता ३। २८)। भगवान् भी कहते हैं कि जब मनुष्य गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता अर्थात् वह क्रियामात्रमें ऐसा अनुभव करता है कि गुणोंके सिवाय दूसरा कोई कर्ता नहीं है और अपनेको गुणोंसे बिलकुल असम्बद्ध अनुभव करता है (जो वास्तवमें है §, तब वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है $।

गीतामें भगवान्‌ने कर्तापनमें प्रकृतिको और भोक्तापनमें पुरुषको हेतु बताया है x। पुरुष (चेतन)को भोक्तापनमें हेतु क्यों बताया? सुख-दुःखका अनुभव अर्थात् भोग चेतनमें ही हो सकता है, जडमें नहीं। सुखी-दुःखी चेतन ही होता है। क्रिया तो जडमें होती है, पर क्रियाका फल (सुखी-दुःखी होना) पुरुषमें होता है। परन्तु वास्तवमें प्रकृतिस्थ अर्थात् अहम्‌में स्थित पुरुष ही सुख-दुःखका भोक्ता बनता है—**'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्'** (गीता १३। २१) तात्पर्य है कि अहंकारका सम्बन्ध रहनेसे ही पुरुष सुख-दुःखका भोक्ता बनता है। यदि अहंकारका सम्बन्ध न रहे तो पुरुष सुख-दुःखका भोक्ता नहीं बनता अर्थात् वह सुखी-दुःखी न होकर अपने स्वतःसिद्ध आनन्दस्वरूपमें स्थित रहता है—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४। २४)। अतः भोक्तापन भी केवल माना हुआ है, वास्तवमें नहीं है। तात्पर्य है कि चेतनमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व पहलेसे ही नहीं हैं, इसीलिये ये

---

* जबतक आसक्तिका सर्वथा अभाव नहीं होता, तबतक ऊँची-से-ऊँची बातें कर सकते हैं, बढ़िया विवेचन कर सकते हैं, व्याख्यान दे सकते हैं, पुस्तकें लिख सकते हैं; परन्तु परमशान्तिकी प्राप्ति नहीं कर सकते।

† जब चेतन जडतासे सम्बन्ध जोड़ता है, तब उसमें 'मैं-पन' उत्पन्न होता है। शरीरमें मैं-पन और मेरा-पन (अहंता और ममता) दोनों होते हैं तथा अन्य पदार्थोंमें मेरा-पन होता है। परन्तु पदार्थोंको लेकर अपनेमें अभिमान करनेसे मैं-पन भी साथमें मिल जाता है और दृढ़ हो जाता है; जैसे—मैं धनवान् हूँ आदि। [अपनेमें विद्या, बुद्धि, योग्यता आदिका आरोप करनेसे तो 'अभिमान' होता है और धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद आदिको लेकर अपनेमें बड़प्पनका आरोप करनेसे 'दर्प' (घमण्ड) होता है।] जड-अंश हटनेसे मैं-पन और मेरा-पन नहीं रहते, स्वरूप रह जाता है। स्वरूपमें मैं-पन और मेरा-पन दोनों ही नहीं हैं।

‡ तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ (गीता १८। १६)

§ स्वरूप (आत्मा) गुणोंसे सर्वथा रहित है—'निर्गुणत्वात्' (गीता १३। ३१)। गुण प्रकाश्य हैं, आत्मा प्रकाशक है। गुण परिवर्तनशील हैं, आत्मा अपरिवर्तनशील है। गुण अनित्य हैं, आत्मा नित्य है।

$ नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ (गीता १४। १९)

x कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ (गीता १३। २०)

मिटते हैं* । यदि चेतनमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व होते तो चेतनके रहते हुए वे कभी मिटते ही नहीं।

जब स्वरूपमें कर्तृत्व ही नहीं है, 'कर्ता'-रूपी कारकके साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है, तब इसका सम्बन्ध अन्य कारकोंके साथ कैसे होगा ? अतः पहले साधकको सिद्धान्तसे यह निर्णय करना होगा कि मेरे स्वरूपमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व, अहंता-ममता नहीं है। यद्यपि यह निर्णय बुद्धि (करण)में दीखता है, तथापि 'ये मेरेमें नहीं हैं'—यह अनुभव स्वयंको होता है। स्वयंका यह अनुभव करना करण-निरपेक्ष साधन है। तात्पर्य है कि पहले बुद्धिसे विचार होता है। विचारके बाद बुद्धिका निर्णय होता है कि मेरेमें कारकमात्रका अभाव है। परन्तु इस अभावका अनुभव करनेवाला स्वयं है। स्वयंको होनेवाले इस अनुभवमें कोई करण नहीं है, प्रत्युत करणसे सम्बन्ध-विच्छेद है।

जिस जगह क्रिया होती है, उसको अधिष्ठान (अधिकरण) कहते हैं। परन्तु जहाँ स्वयं अधिष्ठान है, वहाँ क्रिया नहीं है अर्थात् स्वयं किसी भी क्रियाका अधिष्ठान नहीं है। स्वयंमें सबका आरोप होता है, क्योंकि आरोप होनेकी जगह तत्त्व ही है। तत्त्वके सिवाय आरोपित वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। इसलिये स्वयंको सबका अधिष्ठान, आश्रय, आधार, प्रकाशक कहा जाता है।

इस प्रकार स्वयंमें कर्ता, कर्म, करण, अधिकरण आदि कोई भी कारक नहीं है† । अतः स्वरूपका बोध अथवा परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति जडताके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जडताके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है।

═══ ★ ═══

* यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ (गीता १८। १७)

† कारकोंमें कर्ता, कर्म, करण और अधिकरण—ये चारों तो क्रियामें विकृत (परिणत) होते हैं, पर सम्प्रदान और अपादान क्रियामें विकृत नहीं होते, प्रत्युत क्रियामें सहायकमात्र होते हैं, इसलिये इनमें कर्मकर्तृप्रयोग नहीं होता। जैसे, 'सुपात्रको दान दिया'—यह सम्प्रदान कारक है। दान देनेसे दान लेनेवालेमें कोई विकृति नहीं आती। यदि कोई लेनेवाला न हो तो दान सिद्ध नहीं होता, इसलिये दानमें सहायक होनेसे इसको कारक कहा गया है। ऐसे ही 'गाँवसे आया'—यह अपादान कारक है। गाँवसे आनेपर गाँवमें कोई विकृति नहीं आती। परन्तु आनेमें सहायक होनेसे इसको कारक कहा गया है।

कर्म चार प्रकारके होते हैं—उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और आप्य [कहीं-कहीं निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य—ये तीन प्रकार बताये गये हैं]। इनमेंसे 'आप्य' कर्ममें भी कोई विकृति नहीं आती; जैसे—'मैंने धन प्राप्त किया' तो धनमें कोई विकृति नहीं आयी।

असत्‌का वर्णन

जिसका किसी भी देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें अभाव है, उसका कहीं भी भाव नहीं है अर्थात् उसका सदा ही अभाव है, और वह असत् है—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६)।

जो किसी देशमें है और किसी देशमें नहीं है, वह किसी भी देशमें नहीं है। जो किसी कालमें है और किसी कालमें नहीं है, वह किसी भी कालमें नहीं है। जो किसी क्रियामें है और किसी क्रियामें नहीं है, वह किसी भी क्रियामें नहीं है। जो किसी वस्तुमें है और किसी वस्तुमें नहीं है, वह किसी भी वस्तुमें नहीं है। जो किसी व्यक्तिमें है और किसी व्यक्तिमें नहीं है, वह किसी भी व्यक्तिमें नहीं है। जो किसी अवस्थामें है और किसी अवस्थामें नहीं है, वह किसी भी अवस्थामें नहीं है। जो किसी परिस्थितिमें है और किसी परिस्थितिमें नहीं है, वह किसी भी परिस्थितिमें नहीं है। जो किसी घटनामें है और किसी घटनामें नहीं है, वह किसी भी घटनामें नहीं है अर्थात् उसका सभी घटनाओंमें अभाव है।

जो किसी शरीरमें है और किसी शरीरमें नहीं है, वह किसी भी शरीरमें नहीं है। जो किसी वर्णमें है और किसी वर्णमें नहीं है, वह किसी भी वर्णमें नहीं है। जो किसी जातिमें है और किसी जातिमें नहीं है, वह किसी भी जातिमें नहीं है। जो किसी आश्रममें है और किसी आश्रममें नहीं है, वह किसी भी आश्रममें नहीं है। जो किसी समुदायमें है और किसी समुदायमें नहीं है, वह किसी भी समुदायमें नहीं है; यदि है तो वह आगन्तुक है।

जो कर्तृत्व किसी व्यक्तिमें है और किसी व्यक्तिमें नहीं है, वह किसीमें भी नहीं है अर्थात् वास्तवमें कर्तृत्व है ही नहीं, केवल माना हुआ है। काम, क्रोध और लोभवृत्ति कभी होती हैं और कभी नहीं होतीं तो वस्तुतः उनका नहीं होना ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार मोह, मद और मत्सरवृत्ति कभी होती हैं और कभी नहीं होतीं तो वस्तुतः उनका नहीं होना ही सिद्ध होता है। अर्थात् उनका सदा ही अभाव है। यदि ये वृत्तियाँ वास्तवमें होतीं तो कभी घटतीं अथवा मिटती नहीं।

वास्तवमें काम-क्रोधादि विकारोंकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। विकार और सत्ता परस्परविरोधी हैं। जो विकार है, उसकी सत्ता कैसे ? और जिसकी सत्ता है, उसमें विकार कैसे ? परन्तु अज्ञानवश अपनेमें काम-क्रोधादि विकारोंकी सत्ता माननेसे वे अपनेमें दीखने लग जाते हैं। उनको अपनेमें मानकर उनको मिटानेकी चेष्टा करते हैं तो उनकी सत्ता और दृढ़ होती है*। इसी तरह मनको सत्ता दी है, तभी स्फुरणाएँ और संकल्प हैं। स्फुरणा और संकल्प परिवर्तनशील हैं। सत्तामें परिवर्तन नहीं होता और जिसमें परिवर्तन होता है, उसकी सत्ता नहीं होती।

जिसका सदा ही अभाव है, उसकी सत्ता भूलसे मानी हुई, दी हुई है। मानी हुई सत्ताकी सत्ता नहीं होती, कल्पना की हुई सत्ताकी सत्ता नहीं होती, दी हुई सत्ताकी सत्ता नहीं होती। इसी तरह संसारकी सुनी हुई, कही हुई और चिन्तन की हुई सत्ताकी सत्ता नहीं होती; क्योंकि वास्तवमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। परन्तु स्वयं सत्-स्वरूप है; अतः यह जिसकी सत्ता मान लेता है, उसकी सत्ता दीखने लग जाती है; जैसे— अग्निमें लकड़ी, कोयला, कंकड़, पत्थर, ठीकरी आदि जो भी रखें, वही चमकने लग जाता है।

असत्‌का भान तो हो सकता है, पर उसकी सत्ता नहीं हो सकती। कारण कि जिसका कभी भी और कहीं भी अभाव है, उसका सदा-सर्वत्र अभाव-ही-अभाव है। परन्तु सत्-तत्त्व परमात्माका किसी भी देशमें अभाव नहीं है, किसी भी कालमें अभाव नहीं है, किसी भी क्रियामें अभाव नहीं है, किसी भी वस्तुमें अभाव नहीं है, किसी भी व्यक्तिमें अभाव नहीं है, किसी भी अवस्थामें अभाव नहीं है, किसी भी परिस्थितिमें अभाव नहीं है, किसी भी घटनामें अभाव नहीं है। जिसका कभी भी और कहीं भी अभाव नहीं है, उसका सदा-सर्वत्र भाव-ही-भाव है— **'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति आदि तो पहले नहीं थे, पीछे नहीं रहेंगे और वर्तमानमें भी प्रतिक्षण अभावमें जा रहे हैं। परंतु परमात्मा पहले भी था, पीछे भी रहेगा और वर्तमानमें भी ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। परमात्मामें कभी फर्क था नहीं, कभी फर्क होगा नहीं, कभी फर्क है नहीं और कभी फर्क हो सकता नहीं। वह नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। वह किसीकी दृष्टिमें है और किसीकी दृष्टिमें नहीं है तो इससे उसका अभाव सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत यह तो दृष्टिदोष है, दृष्टिका अभाव है, जिससे वह होता हुआ भी नहींकी तरह दीखता है।

संसारकी सहज-स्वाभाविक तथा नित्य-निरन्तर निवृत्ति है और परमात्माकी सहज-स्वाभाविक तथा नित्य-निरन्तर प्राप्ति है। संसारकी प्रतीति है, प्राप्ति नहीं। प्रतीतिकी प्राप्ति नहीं होती और प्राप्तकी प्रतीति नहीं होती। प्रतीतिकी सर्वथा निवृत्ति है। इस निवृत्तिका कभी नाश नहीं होता अर्थात् संसारके अभावका कभी अभाव नहीं होता, प्रत्युत नित्य ही अभाव रहता है।

जिनका संसारमें राग है, उन्हींको यह कहना पड़ता है कि 'संसार नहीं है, परमात्मा है'। जिनका संसारमें राग नहीं है, उनको केवल 'परमात्मा है' इतना ही कहना पड़ता है। जैसे, रस्सीमें साँप दीखे तो सभय व्यक्तिसे कहते हैं कि 'साँप नहीं है, रस्सी है'; परन्तु निर्भय व्यक्तिसे केवल 'रस्सी है' यही कहना पड़ता है। तात्पर्य है कि संसारमें राग होनेपर, संसारकी सत्ता माननेपर ही संसारकी निवृत्ति करनी पड़ती है, नहीं तो जिसकी सहज-स्वाभाविक, नित्य-निरन्तर निवृत्ति है, उसकी निवृत्ति कहना बनता ही नहीं!

संसारका स्वरूप है—पदार्थ और क्रिया। जब अज्ञताके कारण संसारकी सत्ता मान लेते हैं, तब पदार्थको लेकर संयोग (पाने)की रुचि और क्रियाको लेकर करनेकी रुचि होती है। पदार्थोंके संयोगकी और करनेकी रुचि होनेसे नित्य निवृत्तिमें भी प्रवृत्ति प्रतीत होती है। परन्तु प्रवृत्ति प्रतीत होनेपर भी निवृत्ति ज्यों-की-त्यों रहती है। अतः पदार्थोंके संयोगकी और करनेकी रुचिके परिणाममें अभावके सिवाय कुछ नहीं मिलता और अभावको कोई भी नहीं चाहता।

जीवका जड-अंशकी प्रधानतासे संसारकी तरफ भी आकर्षण होता है और चेतन-अंशकी प्रधानतासे परमात्माकी तरफ भी आकर्षण होता है। दोनोंमें आकर्षण होते हुए भी संसारके आकर्षणसे परिणाममें अभाव ही मिलता है अर्थात्

* यहाँ एक शंका होती है कि यदि काम-क्रोधादि विकारोंकी सत्ता ही नहीं है तो फिर उनको अपनेमें मान लेनेसे साधकका पतन कैसे हो जाता है ? इसका समाधान यह है कि जैसे कोई भयंकर स्वप्न आता है तो नींद खुलनेके बाद भी हृदयमें धड़कन, शरीरमें कँपकँपी आदि होते हैं अर्थात् स्वप्नकी घटनाका प्रभाव जाग्रत्‌में पड़ता है, ऐसे ही सत्ता न होनेपर भी अपनेमें मान लेनेके कारण काम-क्रोधादि विकार साधकका पतन कर देते हैं। पतन होनेका अर्थ है—पहले जैसी स्थिति थी, वैसी स्थिति न रहना; साधकपनेका न रहना। जब साधकपना नहीं रहेगा तो फिर साध्यकी प्राप्ति कैसे होगी ? जैसे पतनकी बात है, ऐसे ही उत्थानकी भी बात है। अद्वैत तत्त्वमें गुरु-शिष्यका भेद नहीं है, पर गुरु-शिष्यके संवादसे शिष्यको तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है।

कुछ भी नहीं मिलता और परमात्माके आकर्षणसे परिणाममें प्रेम मिलता है, परमात्मा मिलता है, जिसके मिलनेसे कुछ भी मिलना बाकी नहीं रहता है। प्रेम तथा बोध—दोनों एक ही हैं। बोधके बिना प्रेम 'आसक्ति' है; क्योंकि संसारके अभावका बोध न होनेपर संसारमें आसक्ति होती है, प्रेम नहीं होता और प्रेमके बिना बोध 'शून्य' है; क्योंकि संसारका अभाव करते-करते अभाव (शून्य) ही शेष रह जाता है।

असत्से अलग हुए बिना असत्का ज्ञान नहीं होता; क्योंकि वास्तवमें हम असत्से सर्वथा अलग हैं। सत्से अभिन्न हुए बिना सत्का ज्ञान नहीं होता; क्योंकि वास्तवमें (स्वरूपसे) हम सत्से सर्वथा अभिन्न हैं। असत्से अलग होनेका अर्थ है—असत्में राग न होना और सत्से अभिन्न होनेका अर्थ है—सत्में प्रियता होना।

सदा-सर्वदा निवृत्त रहनेपर भी असत्का राग, आकर्षण, महत्त्वबुद्धि, सुखबुद्धि रहते हुए असत्का ज्ञान अर्थात् निवृत्ति नहीं होती और सदा-सर्वदा प्राप्त रहनेपर भी सत्में प्रियता हुए बिना सत्का ज्ञान अर्थात् प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत केवल चर्चा अर्थात् सीखनामात्र होता है। सीखनेमात्रसे अपनी जानकारीका अभिमान तो हो सकता है, पर अनुभव नहीं हो सकता।

असत्में राग न होनेसे असत्का ज्ञान हो जाता है। असत्का ज्ञान होते ही अर्थात् असत्को असत्-(अभाव) रूपसे जानते ही असत्की निवृत्ति तथा सत्की प्राप्ति हो जाती है और सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है। सत्में प्रियता होनेसे सत्का ज्ञान हो जाता है। सत्का ज्ञान होते ही अर्थात् सत्को सत्-(भाव) रूपसे जानते ही सत्की प्राप्ति हो जाती है और आनन्द मिल जाता है।

असत्की निवृत्ति और सत्की प्राप्ति—ये दोनों एक ही हैं। ऐसे ही सम्पूर्ण दुःखोंका नाश और आनन्दकी प्राप्ति भी एक ही हैं, केवल कहनेमें भेद है। कारण कि वास्तवमें असत् कभी था नहीं, है नहीं और रहेगा नहीं, पर सत् (परमात्मा) सदा ही था, है और रहेगा। सत्को मानें या न मानें, जानें या न जानें, स्वीकार करें या न करें, अनुभव करें या न करें, सत्की सत्ता सदा विद्यमान रहती है।

वर्णनातीतका वर्णन

[साधकको चाहिये कि वह एकान्तमें बैठकर शुद्ध वृत्तिसे इस लेखको पढ़े। केवल शब्दोंपर दृष्टि न रखकर अर्थ एवं तत्त्वकी तरफ दृष्टि रखते हुए पढ़े, पढ़कर विचार करे और विचार करके बाहर-भीतरसे चुप हो जाय तो तत्त्वमें स्वतःसिद्ध स्थिरता जाग्रत् हो जायगी अर्थात् सहजावस्थाका अनुभव हो जायगा और मनुष्यजीवन सफल हो जायगा।*]

सत्-तत्त्व एक ही है। उस तत्त्वका वर्णन नहीं होता; क्योंकि वह मन (बुद्धि) और वाणीका विषय नहीं है— **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** (तैत्तिरीय० २।९), ***'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥'*** (मानस १।३४१।४)। जहाँ वर्णन है, वहाँ तत्त्व नहीं है और जहाँ तत्त्व है, वहाँ वर्णन नहीं है। उस तत्त्वकी तरफ लक्ष्य नहीं है, इसलिये केवल उसका लक्ष्य करानेके लिये ही उसका वर्णन किया जाता है। परन्तु जब उसका लक्ष्य न करके कोरा सीख लेते हैं, तब वर्णन-ही-वर्णन होता है, तत्त्व नहीं मिलता। उसका लक्ष्य रखकर वर्णन करनेसे वर्णन तो नहीं रहता, पर तत्त्व रह जाता है। तात्पर्य है कि उसका वर्णन करते-करते जब वाणी रुक जाती है, उसका चिन्तन करते-करते जब मन रुक जाता है, तब स्वतः वह तत्त्व रह जाता है और प्राप्त हो जाता है। वास्तवमें वह पहलेसे ही प्राप्त था, केवल अप्राप्तिका वहम मिट जाता है।

प्रकृतिजन्य कोई भी क्रिया, पदार्थ, वृत्ति, चिन्तन उस तत्त्वतक नहीं पहुँचता। प्रकृतिसे अतीत तत्त्वतक प्रकृतिजन्य पदार्थ कैसे पहुँच सकता है? अतः तत्त्वका वर्णन नहीं होता,

* यहाँ प्रश्न होता है कि जो वर्णनातीत है, उसका वर्णन कैसे? और जिसका वर्णन होता है, वह वर्णनातीत कैसे? इसका उत्तर है कि यद्यपि तत्त्व वर्णनातीत है, तथापि उसका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ उसका वर्णन किया गया है। गीतामें भी भगवान्‌ने 'अचिन्त्यरूपं अनुस्मरेत्' (८।९) पदोंसे अचिन्त्यका चिन्तन करनेकी बात कही है तो जो अचिन्त्य है, उसका चिन्तन कैसे? और जिसका चिन्तन होता है, वह अचिन्त्य कैसे? इसका तात्पर्य है कि यद्यपि परमात्मा अचिन्त्य है, तथापि चिन्तन करनेवाला उसको लक्ष्य बना सकता है। इसी तरह गीतामें गुणातीतके लक्षण बताये गये हैं (१४।२१—२५) तो जो गुणातीत है, उसके लक्षण कैसे? और जिसके लक्षण हैं, वह गुणातीत कैसे? क्योंकि लक्षण तो गुणोंसे ही होते हैं। इसका तात्पर्य है कि लोग पहले जिस शरीर और अन्तःकरणमें गुणातीतकी स्थिति मानते थे, उसी शरीर और अन्तःकरणके लक्षणोंका वे उसमें आरोप करते हैं कि यह गुणातीत मनुष्य है। अतः वे लक्षण गुणातीत मनुष्यको पहचाननेके संकेतमात्र हैं। ऐसे ही समतामें स्थित मनुष्यकी स्थिति पहचाननेके लिये बताया कि जिसका मन समतामें स्थित है, वह समरूप ब्रह्ममें ही स्थित है (५।१९)।

प्रत्युत प्राप्ति होती है। उसकी प्राप्ति भी अप्राप्तिकी अपेक्षासे कही जाती है अर्थात् उसको अप्राप्त माना है, इसलिये उसकी प्राप्ति कही जाती है। वास्तवमें वह तत्त्व स्वतः सबको नित्य-निरन्तर प्राप्त है। अप्राप्तिकी तो मान्यतामात्र है। असत्‌को सत् माननेसे, अप्राप्तको प्राप्त माननेसे ही वह तत्त्व अप्राप्तकी तरह दीखने लग गया। असत्‌को जितनी सत्ता देंगे अर्थात् महत्त्व देंगे, उतनी ही उसकी सत्ता दीखेगी और वह तत्त्व अप्राप्त दीखेगा। अप्राप्त दीखनेपर भी वह नित्यप्राप्त है अर्थात् न दीखनेपर भी तत्त्वमें कभी किंचिन्मात्र भी फर्क नहीं पड़ता। यह सिद्धान्त है कि प्राप्ति उसीकी होती है, जो सदासे प्राप्त है और निवृत्ति उसीकी होती है, जिसकी सदासे निवृत्ति है। तात्पर्य है कि मिलेगा वही, जो मिला हुआ है और बिछुड़ेगा वही, जो बिछुड़ा हुआ है। नया कुछ भी मिलनेवाला और बिछुड़नेवाला नहीं है। नया मिलेगा तो वह ठहरेगा नहीं, बिछुड़ ही जायगा।

जितने भी भेद हैं, सब-के-सब प्रकृति (असत्)में ही हैं। तत्त्वमें किंचिन्मात्र भी कोई भेद नहीं है। जब प्राकृत पदार्थोंकी सत्ता मानते हुए, उनको महत्त्व देते हुए उस तत्त्वका वर्णन करते हैं, तब वह तत्त्व केवल बुद्धिका विषय हो जाता है और उसमें भेद दीखने लग जाता है* । सभी भेद सापेक्ष होते हैं। अपेक्षा छोड़ें तो कोई भेद नहीं रहता, एक निरपेक्ष तत्त्व रह जाता है। जैसे, दिनकी अपेक्षा रात है और रातकी अपेक्षा दिन है, पर सूर्यमें न दिन है, न रात है अर्थात् वहाँ नित्य प्रकाश है। समुद्रकी अपेक्षा तरंग है और तरंगकी अपेक्षा समुद्र है, पर जल-तत्त्वमें न समुद्र है, न तरंग है।† ऐसे ही गुणोंकी अपेक्षासे उस तत्त्वको सगुण-निर्गुण और आकारकी अपेक्षासे उस तत्त्वको साकार-निराकार कहते हैं। वास्तवमें तत्त्व न सगुण है, न निर्गुण है; न साकार है, न निराकार है।

वह एक ही तत्त्व प्रकाश्यकी अपेक्षासे 'प्रकाशक' आश्रितकी अपेक्षासे 'आश्रय' और आधेयकी अपेक्षासे 'आधार' कहा जाता है। प्रकाश्य, आश्रित और आधेय तो व्याप्य, विनाशी एवं अनेक हैं, पर प्रकाशक, आश्रय और आधार व्यापक, अविनाशी एवं एक है। प्रकाश्य, आश्रित और आधेय तो नहीं रहेंगे, पर प्रकाशक, आश्रय और आधार रह जायगा; किन्तु प्रकाशक, आश्रय और आधार—ये नाम नहीं रहेंगे, प्रत्युत एक तत्त्व रहेगा। तात्पर्य है कि तत्त्व न प्रकाश्य है, न प्रकाशक है; न आश्रित है, न आश्रय है; न आधेय है, न आधार है।

वह एक ही तत्त्व शरीरके सम्बन्धसे शरीरी, क्षेत्रके सम्बन्धसे क्षेत्री तथा क्षेत्रज्ञ, क्षरके सम्बन्धसे अक्षर, दृश्यके सम्बन्धसे द्रष्टा और साक्ष्यके सम्बन्धसे साक्षी कहलाता है। तात्पर्य है कि तत्त्व न शरीर है, न शरीरी है; न क्षेत्र है, न क्षेत्री तथा क्षेत्रज्ञ है; न क्षर है, न अक्षर है; न दृश्य है, न द्रष्टा है; न साक्ष्य है, न साक्षी है।

वह तत्त्व अनेककी अपेक्षासे एक है। जडकी अपेक्षासे वह चेतन है। असत्‌की अपेक्षासे वह सत् है। अभावकी अपेक्षासे वह भावरूप है। अनित्यकी अपेक्षासे वह नित्य है। उत्पन्न वस्तुकी अपेक्षासे वह अनुत्पन्न है। नाशवान्‌की अपेक्षासे वह अविनाशी है। असत्-जड-दुःखरूप संसारकी अपेक्षासे वह सत्-चित्-आनन्द-रूप है। प्राकृत पदार्थोंकी अपेक्षासे वह प्राप्त अथवा अप्राप्त है। कठिनताकी अपेक्षासे उसको सुगम कहते हैं, नहीं तो जो नित्यप्राप्त है, उसमें क्या

---

* शास्त्रोंमें तत्त्वका जो वर्णन आता है, वह हमारी दृष्टिसे है। हमने असत्‌की सत्ता मान रखी है, इसलिये शास्त्र हमारी दृष्टिके अनुसार, हमारी भाषामें असत्‌की निवृत्ति और सत्-तत्त्वका वर्णन करते हैं। यही कारण है कि दृष्टिभेदसे दर्शन अनेक हैं। अनेक दर्शन होते हुए भी तत्त्व एक है। जबतक द्रष्टा, ज्ञाता, दार्शनिक और दर्शन हैं, तबतक तत्त्वके वर्णनमें भेद है। जबतक भेद है, तबतक तत्त्व नहीं है; क्योंकि तत्त्वमें भेद नहीं है। दूसरे शब्दोंमें जबतक अहम् (जड-चेतनकी ग्रन्थि) है, तबतक भेद है। अहम्‌के मिटनेपर कोई भेद नहीं रहता, केवल एक तत्त्व ('है') रह जाता है।

† ईश्वर और जीवके विषयमें दो तरहका वर्णन है—पहला, ईश्वर समुद्र है और मैं उसकी तरंग हूँ अर्थात् तरंग समुद्रकी है; और दूसरा, मेरा स्वरूप समुद्र है और ईश्वर उसकी तरंग है अर्थात् समुद्र तरंगका है। इन दोनोंमें तरंग समुद्रकी है— यह कहना तो ठीक दीखता है, पर समुद्र तरंगका है—यह कहना ठीक नहीं दीखता; क्योंकि समुद्र अपेक्षाकृत नित्य है और तरंग अनित्य (क्षणभंगुर) है। अतः तरंग समुद्रकी होती है, समुद्र तरंगका नहीं होता। अगर अपनेको समुद्र और ईश्वरको तरंग मानें तो इस मान्यतासे अनर्थ होगा; क्योंकि ऐसा माननेसे अभिमान पैदा हो जायगा तथा अहम् (चिज्जडग्रन्थि अर्थात् बन्धन) तो नित्य रहेगा और ईश्वर अनित्य हो जायगा ! कारण कि जीवमें अनादिकालसे अहम् (व्यक्तित्व)का अभ्यास पड़ा हुआ है। अतः जहाँ स्वरूपको अहम् कहेंगे, वहाँ वही अहम् आयेगा, जो अनादिकालसे है। उस अहम्‌के मिटनेसे ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त दोनों बातोंके सिवाय तीसरी एक विलक्षण बात है कि जल-तत्त्वमें न समुद्र है, न तरंग है अर्थात् वहाँ समुद्र और तरंगका भेद नहीं है। समुद्र और तरंग तो सापेक्ष हैं, पर जल-तत्त्व निरपेक्ष है।

कठिनता और क्या सुगमता ? तात्पर्य है कि तत्त्व न अनेक है, न एक है; न जड है, न चेतन है; न असत् है न सत् है; न अभावरूप है, न भावरूप है; न अनित्य है, न नित्य है; न उत्पन्न है, न अनुत्पन्न है; न नाशवान् है,न अविनाशी है; न असत्-जड-दुःखरूप है, न सत्-चित्-आनन्दरूप है; न प्राप्त है, न अप्राप्त है; न कठिन है, न सुगम है अर्थात् शब्दोंके द्वारा उस तत्त्वका वर्णन नहीं होता।

वह तत्त्व परतःसिद्धकी अपेक्षासे स्वतःसिद्ध है। अस्वाभाविककी अपेक्षासे वह स्वाभाविक है। अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकका आरोप कर लिया तो 'बन्धन' हो गया, स्वाभाविकमें अस्वाभाविकताका आरोप कर लिया तो 'संसार' हो गया और अस्वाभाविकताको अस्वीकार करके स्वाभाविकका अनुभव किया तो 'तत्त्व' हो गया और अतत्त्वसे मुक्ति हो गयी अर्थात् है-ज्यों हो गया ! तत्त्व न परतःसिद्ध है, न स्वतःसिद्ध है; न स्वाभाविक है, न अस्वाभाविक है। परतःसिद्ध-स्वतः-सिद्ध, स्वाभाविक-अस्वाभाविक तो सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है।

उस तत्त्वको 'है' कहते हैं। वास्तवमें वह 'नहीं' की अपेक्षासे 'है' नहीं है, प्रत्युत निरपेक्ष है। अगर हम 'नहीं' की सत्ता मानें तो फिर उसको 'नहीं' कहना बनता ही नहीं; क्योंकि 'नहीं' और सत्तामें परस्परविरोध है अर्थात् जो 'नहीं' है, उसकी सत्ता कैसे और जिसकी सत्ता है, वह 'नहीं' कैसे ? वास्तवमें 'नहीं' की सत्ता ही नहीं है। परन्तु जब भूलसे 'नहीं' की सत्ता मान लेते हैं, तब उस भूलको मिटानेके लिये 'यह नहीं है, तत्त्व है' ऐसा कहते हैं। जब 'नहीं' की सत्ता ही नहीं है, तब तत्त्वको 'है' कहना भी बनता नहीं। तात्पर्य है कि 'नहीं' की अपेक्षासे ही तत्त्वको 'है' कहते हैं। वास्तवमें तत्त्व न 'नहीं' है और न 'है' है।

गीतामें आया है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
(१३। १२)

'जो ज्ञेय है, उस तत्त्वका मैं अच्छी तरहसे वर्णन करूँगा, जिसको जानकर मनुष्य अमरताका अनुभव कर लेता है। वह तत्त्व अनादि और परब्रह्म है। उसको न सत् कहा जा सकता है और न असत् कहा जा सकता है।'*

तात्पर्य है कि उस तत्त्वका आदि (आरम्भ) नहीं है जो सदासे है, उसका आदि कैसे ? सब अपर हैं, वह पर है। वह न सत् है,न असत् है। आदि-अनादि, पर-अपर और सत्-असत्का भेद प्रकृतिके सम्बन्धसे है। वह तत्त्व तो आदि-अनादि, पर-अपर और सत्-असत्से विलक्षण है। इस प्रकार भगवान्ने ज्ञेय-तत्त्वका जो वर्णन किया है, वह वास्तवमें वर्णन नहीं है, प्रत्युत लक्षक (लक्ष्यकी तरफ दृष्टि करानेवाला) है। इसका तात्पर्य ज्ञेय-तत्त्वका लक्ष्य करानेमें है, कोरा वर्णन करनेमें नहीं।

सन्तोंकी वाणीमें भी आया है कि न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है, न तुरीय है; न बन्धन है, न मोक्ष है आदि-आदि। कारण कि ये सब तो सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है। निरपेक्ष भी वास्तवमें सापेक्षकी अपेक्षासे है। तत्त्व भी वास्तवमें अतत्त्वकी अपेक्षासे कहा जाता है; अतः उसको किस नामसे कहें ? उसका कोई नाम नहीं है अर्थात् वहाँ शब्दकी गति नहीं है। शब्दसे केवल उसका लक्ष्य होता है†।

तत्त्व न प्रत्यक्ष है, न अप्रत्यक्ष है; न परोक्ष है, न अपरोक्ष है; न छोटा है, न बड़ा है; न अन्दर है, न बाहर है; न ऊपर है, न नीचे है; न नजदीक है, न दूर है; न भेद है, न अभेद है, न भेदाभेद है; न भिन्न है, न अभिन्न है, न भिन्नाभिन्न है। कारण कि ये सब तो सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है। जैसे सूर्यमें न प्रकाश है, न अँधेरा है और न प्रकाश-अँधेरा दोनों हैं। कारण कि जहाँ प्रकाश है, वहाँ अँधेरा नहीं होता और जहाँ अँधेरा है, वहाँ प्रकाश नहीं होता, फिर प्रकाश-अँधेरा दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं ? ऐसे ही तत्त्वमें न ज्ञान है, न अज्ञान है और न ज्ञान-अज्ञान दोनों हैं। वहाँ न ज्ञाता है, न ज्ञान है, न ज्ञेय है; न प्रकाशक है, न प्रकाश है, न प्रकाश्य है; न द्रष्टा है, न दर्शन है, न दृश्य है;

---

* गीतामें परमात्माका तीन प्रकारसे वर्णन आता है—

(१) परमात्मा सत् भी है और असत् भी है—'सदसच्चाहम्' (९। १९); (२) परमात्मा सत् भी है, असत् भी है और सत्-असत्से पर भी है—'सदसत्तत्परं यत्' (११। ३७) (३) परमात्मा न सत् है और न असत् है—'न सत्तन्नासदुच्यते' (१३। १२)। इसका तात्पर्य यही है कि वास्तवमें परमात्माका वर्णन नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह मन, बुद्धि और शब्दसे अतीत है।

† यदि कहनेवाला अनुभवी और सुननेवाला सच्चा जिज्ञासु हो तो शब्दके द्वारा शब्दातीत, इन्द्रियातीत तत्त्वका भी ज्ञान हो जाता है—यह शब्दकी विलक्षण, अचिन्त्य शक्तिका प्रभाव है। परन्तु ऐसा होना तभी सम्भव है, जब केवल शब्दोंपर दृष्टि न रखकर तत्त्वकी तरफ दृष्टि रखी जाय। अगर तत्त्वकी तरफ दृष्टि नहीं रहेगी तो सीखनामात्र होगा अर्थात् कोरा वर्णन होगा, तत्त्व नहीं मिलेगा।

न ध्याता है, न ध्यान है, न ध्येय है। तात्पर्य है कि तत्त्वमें त्रिपुटीका सर्वथा अभाव है। कारण कि त्रिपुटी सापेक्ष है, पर तत्त्व निरपेक्ष है। वास्तवमें जहाँ स्थित होकर हम बोलते हैं, सुनते हैं, विचार करते हैं, वहीं सापेक्ष और निरपेक्षकी बात आती है; तत्त्व वास्तवमें न सापेक्ष है, न निरपेक्ष है।

वह तत्त्व वास्तवमें अनुभवरूप है। उसको गीताने 'स्मृति' कहा है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (१८।७३)। स्मृति भी विस्मृतिकी अपेक्षासे है; परन्तु तत्त्वकी स्मृति विस्मृतिकी अपेक्षासे नहीं है, प्रत्युत अनुभवरूप है। कारण कि स्मृतिकी तो विस्मृति हो सकती है, पर अनुभवका अननुभव (विस्मृति) नहीं हो सकता। तत्त्वकी विस्मृति नहीं होती, प्रत्युत विमुखता होती है। तात्पर्य है कि पहले ज्ञान था, फिर उसकी विस्मृति हो गयी—इस तरह तत्त्वकी विस्मृति नहीं होती*। अगर ऐसी विस्मृति मानें तो स्मृति होनेके बाद फिर विस्मृति हो जायगी! इसलिये गीतामें आया है—**'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्'** (४।३५) अर्थात् उसको जान लेनेके बाद फिर मोह नहीं होता। अभावरूप असत्‌को भावरूप मानकर महत्त्व देनेसे तत्त्वकी तरफसे वृत्ति हट गयी—इसीको विस्मृति कहते हैं। वृत्तिका हटना और वृत्तिका लगना—यह भी साधककी दृष्टिसे है, तत्त्वकी दृष्टिसे नहीं। तत्त्वकी तरफसे वृत्ति हटनेपर अथवा विमुखता होनेपर भी तत्त्व ज्यों-का-त्यों ही है। अभावरूप असत्‌को अभावरूप ही मान लें तो भावरूप तत्त्व स्वतः ज्यों-का-त्यों रह जायगा।

═★═

* ज्ञान होनेपर नयापन कुछ नहीं दीखता अर्थात् पहले अज्ञान था, अब ज्ञान हो गया—ऐसा नहीं दीखता। ज्ञान होनेपर ऐसा अनुभव होता है कि ज्ञान तो सदासे ही था, केवल उधर मेरी दृष्टि नहीं थी। यदि पहले अज्ञान था, अब ज्ञान हो गया—ऐसा मानें तो ज्ञानमें सादिपना आ जायगा, जब कि ज्ञान सादि नहीं है, अनादि है। जो सादि होता है, वह सान्त होता है और जो अनादि होता है, वह अनन्त होता है।

चुप-साधन

बाहर-भीतरसे चुप हो जाना 'चुप-साधन' है। भीतरसे ऐसा विचार कर लें कि मेरेको कुछ करना है ही नहीं। न स्वार्थ, न परमार्थ; न लौकिक, न पारलौकिक, कुछ भी नहीं करना है। ऐसा विचार करके बैठ जायँ। बैठनेका बढ़िया समय है—प्रातः नींदसे उठनेके बाद। नींदसे उठते ही भगवान्‌को नमस्कार करके बैठ जायँ। जैसे गाढ़ नींदमें किंचिन्मात्र भी कुछ करनेका संकल्प नहीं था, ऐसे ही जाग्रत्-अवस्थामें किंचिन्मात्र भी कुछ करनेका संकल्प न रहे। चिन्तन, जप, ध्यान आदि कुछ भी नहीं करना है। परन्तु 'चिन्तन आदि नहीं करना है'—यह संकल्प भी नहीं रखना है; क्योंकि 'न करने' का संकल्प रखना भी 'करना' है। वास्तवमें 'न करना' स्वतःसिद्ध है। मन-बुद्धि आदिको स्वीकार करके ही 'करना' होता है।

अब किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं करना है—ऐसा विचार करके चुप हो जायँ। यदि मन न माने तो 'सब जगह एक परमात्मा परिपूर्ण हैं'—ऐसा मानकर चुप हो जायँ। सगुणकी उपासना करते हों तो 'मैं प्रभुके चरणोंमें पड़ा हूँ'—ऐसा मानकर चुप हो जायँ। परन्तु यह दो नम्बरकी बात है। एक नम्बरकी बात तो यह है कि कुछ करना ही नहीं है। इस प्रकार चुप होनेपर भीतरमें कोई संकल्प-विकल्प हो, कोई बात याद आये तो उसकी उपेक्षा करें, विरोध न करें। उसमें न राजी हों, न नाराज हों; न राग करें, न द्वेष करें। शास्त्रविहित अच्छे संकल्प आयें तो उसमें राजी न हों और शास्त्रनिषिद्ध बुरे संकल्प आयें तो उसमें नाराज न हों। स्वयं भी उन संकल्पोंके साथ न चिपकें अर्थात् उनको अपना न मानें।

आप कहते हैं कि मन बड़ा खराब है, पर वास्तवमें मन अच्छा और खराब होता ही नहीं। अच्छा और खराब स्वयं ही होता है। स्वयं अच्छा होता है तो संकल्प अच्छे होते हैं और स्वयं खराब होता है तो संकल्प खराब होते हैं। अच्छा और खराब—ये दोनों ही प्रकृतिके सम्बन्धसे होते हैं। प्रकृतिके सम्बन्धके बिना न अच्छा होता है और न बुरा होता है। जैसे सुख और दुःख दो चीज हैं, पर आनन्दमें दो चीज नहीं हैं अर्थात् आनन्दमें न सुख है, न दुःख है। ऐसे ही प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित तत्त्वमें न अच्छा है, न बुरा है। इसलिये अच्छे और बुरेका भेद करके राजी और नाराज न हों।

संकल्प आयें अथवा जायँ, उसमें पहलेसे ही यह विचार कर लें कि वास्तवमें संकल्प आता नहीं है, प्रत्युत जाता है। भूतकालमें हमने जो काम किये हैं, उनकी याद आती है अथवा भविष्यमें कुछ करनेका विचार पकड़ रखा है, उसकी याद आती है कि वहाँ जाना है, वह काम करना है आदि। इस तरह भूत और भविष्यकी याद आती है, जो अभी है ही नहीं। वास्तवमें उसकी याद आ नहीं रही है, प्रत्युत स्वतः जा रही है। मनमें जो बातें जमी हैं, वे निकल रही हैं। अतः आप उससे सम्बन्ध मत जोड़ें, तटस्थ हो जायँ। सम्बन्ध नहीं

जोड़नेसे आपको उन संकल्पोंका दोष नहीं लगेगा और वे संकल्प भी अपने-आप नष्ट हो जायँगे; क्योंकि उत्पन्न होनेवाली वस्तु स्वतः नष्ट होती है—यह नियम है।

संसारमें बहुत-से पुण्यकर्म होते हैं, पर क्या हमें उनसे पुण्य होता है ? ऐसे ही संसारमें बहुत-से पापकर्म होते हैं, पर क्या हमें उनका पाप लगता है ? नहीं लगता। क्यों नहीं लगता ? कि हमारा उनसे सम्बन्ध नहीं है। उनके साथ हमारा सहयोग नहीं है। जैसे संसारमें पुण्य-पाप हो रहे हैं, ऐसे ही मनमें संकल्प-विकल्प हो रहे हैं। हम उनको करते नहीं और करना चाहते भी नहीं। हम उनके साथ चिपक जाते हैं तो उनकी पुण्य और पापकी, अच्छे और बुरेकी संज्ञा हो जाती है, जिससे उनका फल पैदा हो जाता है और वह फल हमें भोगना पड़ता है। इसलिये उनके साथ मिले नहीं। न अनुमोदन करें, न विरोध करें। संकल्प-विकल्प उठते हैं तो उठते रहें। यह करना है और यह नहीं करना है—इन दोनोंको उठा दें। गीतामें आया है—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। (३।१८)

करने और न करने—दोनोंका ही आग्रह न रखें। करनेका आग्रह रखना भी संकल्प है और न करनेका आग्रह रखना भी संकल्प है। करना भी कर्म है और न करना भी कर्म है। करनेमें भी परिश्रम है और न करनेमें भी परिश्रम है। अतः करने और न करने—दोनोंसे किंचिन्मात्र भी कोई मतलब न रखकर चुप हो जायँ तो प्रकृतिका सम्बन्ध छूट जाता है और स्वतः परम विश्राम प्राप्त हो जाता है; क्योंकि क्रियारूपसे प्रकृति ही है। वह क्रिया चाहे शरीरकी हो, चाहे मनकी हो, सब प्रकृतिकी ही है। इस प्रकार बाहर-भीतरसे चुप हो जायँ तो जिसको तत्त्वज्ञान कहते हैं, जीवन्मुक्ति कहते हैं, सहज समाधि कहते हैं, वह स्वतः हो जायगी।

उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा।
कनिष्ठा शास्त्रचिन्ता च तीर्थयात्राऽधमाऽधमा॥

—छोटा-से-छोटा साधन तीर्थयात्रा है। उससे ऊँचा शास्त्रचिन्तन है। शास्त्रचिन्तनसे ऊँची ध्यान-धारणा है; और ऊँची-से-ऊँची सहजावस्था (सहज समाधि) है*, उस सहजावस्थामें आप पहुँच जायँगे !

सहजावस्था न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है, न मूर्च्छा है और न समाधि है। सुषुप्ति और सहजावस्थामें फर्क यही है कि सुषुप्तिमें तो बेहोशी रहती है, पर सहजावस्थामें बेहोशी नहीं रहती, प्रत्युत होश रहता है, जागृति रहती है, ज्ञानकी एक दीप्ति रहती है—

आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।
(गीता ४।२७)

वास्तवमें चुप होना नहीं है, प्रत्युत चुप तो स्वाभाविक है। जिनके वेदान्तके संस्कार हैं, वे समझ जायँगे कि आत्मा न कर्ता है, न भोक्ता है। अतः सहजावस्था स्वाभाविक है।

चुप होते समय अगर नींद आने लगे तो जप-कीर्तन करना शुरू कर दो, खड़े हो जाओ। परन्तु जबतक नींद न आये, तबतक 'कुछ नहीं करना है'—इसीमें (चुप) रहो। एक-दो सेकेण्ड भी इस प्रकार चुप हो जाओ तो बड़ा लाभ है। अगर आधा मिनट चुप हो जाओ तो बड़ी शक्ति पैदा होती है। चुप रहनेमें जो शक्ति पैदा होती है, वह शक्ति करनेमें कभी पैदा नहीं होती, प्रत्युत करनेमें तो शक्ति खर्च होती है। हम काम करते-करते थक जाते हैं तो फिर सो जाते हैं। गहरी नींदमें सब थकावट दूर हो जाती है और मनमें, इन्द्रियोंमें, शरीरमें ताजगी आ जाती है, करनेकी शक्ति आ जाती है। ऐसे ही प्रलयमें चुप हो जाते हैं तो सर्गकी सामर्थ्य आ जाती है। महाप्रलयमें चुप हो जाते हैं तो महासर्गकी सामर्थ्य आ जाती है। इस प्रकार जितनी भी सामर्थ्य है, वह सब-की-सब न करनेसे आती है। न करना ही परमात्माका स्वरूप है, जो नित्यप्राप्त है—

दौड़ सके तो दौड़ ले, जब लगि तेरी दौड़।
दौड़ थक्या धोखा मिट्या, वस्तु ठौड़-की-ठौड़॥

न करनेका जो माहात्म्य है, वह करनेका है ही नहीं, कभी हुआ ही नहीं, कभी होगा भी नहीं और हो सकता ही नहीं। न करनेमें जो सामर्थ्य है, वह करनेमें है ही नहीं। कारण कि

* प्रवृत्ति (करना) और निवृत्ति (न करना)— दोनों ही प्रकृतिके राज्यमें हैं। निर्विकल्प समाधितक सब प्रकृतिका राज्य है; क्योंकि निर्विकल्प समाधिसे भी व्युत्थान होता है। क्रियामात्र प्रकृतिमें ही होती है और क्रिया हुए बिना व्युत्थान होना सम्भव ही नहीं है। इसलिये चलने, बोलने, देखने, सुनने आदिकी तरह बैठना, खड़ा होना, मौन होना, सोना, मूर्च्छित होना और समाधिस्थ होना भी क्रिया है। तात्पर्य है कि जबतक प्रकृतिका सम्बन्ध है, तबतक समाधि भी कर्म ही है, जिसमें समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर कोई अवस्था नहीं होती, प्रत्युत 'सहज समाधि' अथवा 'सहजावस्था' होती है, जिससे कभी व्युत्थान नहीं होता।

सहजावस्था वास्तवमें अवस्था नहीं है, प्रत्युत अवस्थासे अतीत है। अवस्थातीत कोई अवस्था नहीं होती। अवस्थाभेद प्रकृतिमें है, स्वरूपमें नहीं। इसलिये सहजावस्थाको सबसे उत्तम कहा गया है।

करनेका आरम्भ और अन्त होता है; अतः करना अनित्य है। परन्तु न करनेका आरम्भ और अन्त नहीं होता; अतः न करना नित्य है।

कुछ दिन विचार किये बिना यह चुप होनेकी अटकल आती नहीं। आप कुछ दिन विचार करेंगे, तब समझमें आयेगी। अभी समझमें न आनेपर भी 'ऐसी सहजावस्था होती है'—यह मान लें। इस सहजावस्थाका वर्णन शास्त्रोंमें और सन्तोंकी वाणीमें भी बहुत कम आता है। सींथल (राजस्थान)में श्रीहरिरामदासजी महाराज हुए। उनकी वाणीमें आता है—

सहजां मारग सहज का, सहज किया विश्राम।
'हरिया' जीव र सीव का, एक नाम अरु ठाम॥
सहज तन मन सहज पूजा। सहज सा देव नहीं और दूजा॥

उन्होंने अपना परिचय भी इस प्रकार दिया—

हरिया जैमलदास गुरु, राम निरंजन देव।
काया देवल देहरो, सहज हमारे सेव॥

'श्रीजैमलदासजी महाराज हमारे गुरु हैं। जो प्रकृतिसे अत्यन्त अतीत हैं, वे राम हमारे देव हैं। यह शरीर हमारा देवल (देवस्थान) है। सहज (कुछ न करना) ही हमारी सेवा है।'

कबीरदासजी महाराजकी वाणीमें आता है—

साधो सहज समाधि भली।
गुरु-प्रताप जा दिन तैं उपजी, दिन-दिन अधिक चली॥
जहँ-जहँ डोलों सोइ परिकरमा, जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवों तब करौं दण्डवत, पूजों और न देवा॥
कहों सो नाम, सुनों सो सुमिरन, खाँव-पियों सो पूजा।
गिरह-उजाड़ एक सम लेखों, भाव न राखों दूजा॥
आँख न मूँदों, कान न रूँधों, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानों हँसि-हँसि, सुन्दर रूप निहारौं॥
सबद निरंतर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी।
ऊठत-बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसी तारी लागी॥
कह कबीर यह उनमनि रहनी, सो परगट करि भाई।
दुख-सुख से कोई परे परमपद, तेहि पद रहा समाई॥

ऐसी सहजावस्थाकी प्राप्तिका उपाय है—बाहर-भीतरसे चुप हो जाना अर्थात् कुछ न करना। कुछ न करनेसे सब कुछ हो जाता है।

हमें करना कुछ है ही नहीं—न पहले करना था, न अभी करना है, न बादमें करना है। भगवान्‌का भी चिन्तन नहीं करना है। भगवान्‌के चरणोंमें गिर जाना है, पर चरणोंका चिन्तन नहीं करना है। न संसारका चिन्तन करना है, न भगवान्‌का। मनका निरीक्षण भी नहीं करना है। मनका निरीक्षण तभी करेंगे, जब मनके साथ अपना सम्बन्ध मानेंगे, जबकि मनके साथ हमारा सम्बन्ध है ही नहीं। अतः मनकी तरफ देखना ही नहीं है। यह कोई मामूली चीज नहीं है, बहुत ऊँची चीज है! यह सब साधनोंका अन्तिम साधन है। कुछ न करनेमें सब साधन एक हो जाते हैं। जैसे अरबों रुपयोंका एक पैसा भी अंश है, ऐसे ही जिसको परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति, जीवन्मुक्ति, सहज समाधि कहते हैं, उसका अंश है यह। इसको सन्तोंने 'मूक सत्संग' और 'अचिन्त्यका ध्यान' भी कहा है।

★

सत्स्वरूपका अनुभव

एक वस्तुका निर्माण (बनाना) होता है और एक वस्तुका अन्वेषण (ढूँढ़ना) होता है। ढूँढ़नेसे वही चीज मिलती है, जो पहलेसे थी। जो चीज बनायी जाती है, पैदा की जाती है, वह पहले नहीं होती प्रत्युत बननेके बाद होती है। परमात्मतत्त्व पैदा नहीं किया जाता। वह कृतिसाध्य नहीं है। जो कृतिसाध्य नहीं है, उसमें कर्ता, कर्म, करण आदि कोई भी कारक लागू नहीं होता। करना सब प्रकृतिमें होता है—**'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'** (गीता ३।२८), **'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्'** (गीता १४।१९), **'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते'** (गीता ५।९), **'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः'** (गीता ३।२७)। प्रकृतिसे अतीत तत्त्वमें क्रिया है नहीं, कभी हुई नहीं, कभी होगी नहीं, कभी हो सकती नहीं। वह परमात्मतत्त्व तो ज्यों-का-त्यों है। 'नहीं' की तरफ जो आकर्षण है, इसके सिवाय उसकी प्राप्तिमें कोई बाधा नहीं है। 'नहीं' को सत्ता भी आपने ही दी है। उसकी खुदकी सत्ता तो है ही नहीं। अपने बचपनको आपने छोड़ा है क्या ? किसीने छोड़ा हो तो बता दो कि किस तारीखको बचपन छोड़ा ? बचपन तो अपने-आप छूट गया। यह असत् एक क्षणभर भी नहीं टिकता। इसके बदलनेकी गतिको देखा जाय तो इसको दो बार आप देख नहीं सकते। पहले जैसा देखा, दूसरी बार देखनेसे वह वैसा नहीं रहा, बदल गया। अब आपके खयालमें आये या न आये, यह बात अलग है।

जो वर्षमें बदलता है, वही महीनेमें बदलता है, वही दिनमें बदलता है, वही घण्टेमें बदलता है, वही मिनटमें, सेकेण्डमें बदलता है। सिवाय बदलनेके संसारमें और कुछ तत्त्व ही नहीं है—**'सम्यक् प्रकारेण सरति इति संसारः'**, **'गच्छति इति जगत्'**। जो हरदम बदलता है, उसको तो आप स्थायी मानते हैं और जो कभी बदला नहीं, कभी बदलेगा

नहीं, कभी बदल सकता नहीं, उसकी प्राप्तिको कठिन मानते हैं। जो निरन्तर रहता है, कभी बदलता नहीं, उसकी प्राप्ति कठिन है तो फिर सुगम क्या है? वह तो स्वतः-स्वाभाविक है, सिर्फ उधर दृष्टि करनी है।

आप ध्यान दें, यह जो, 'संसार है' ऐसा दीखता है, यह 'है'-पना क्या संसारका है? अगर संसारका है तो फिर बदलता क्या है? सत्का तो अभाव होता नहीं और संसारका अभाव प्रत्यक्ष हो रहा है। अवस्थाका, परिस्थितिका, घटनाका, देशका, कालका, वस्तुका, व्यक्तिका, इन सबका परिवर्तन होता है—यह प्रत्यक्ष हमारे अनुभवकी बात है। स्थूल-से-स्थूल बात बतायें कि आप यहाँ नहीं आये तो भी प्रकाश वैसा ही था और आप आ गये तो भी प्रकाश वैसा ही है। आप आयें या चले जायँ, प्रकाशमें क्या फर्क पड़ता है? ऐसे ही आप कभी दरिद्री हो जायँ, कभी धनी हो जायँ, कभी बीमार हो जायँ, कभी स्वस्थ हो जायँ, कभी आपका सम्मान हो जाय, कभी अपमान हो जाय, पर आपके होनेपनमें क्या फर्क पड़ता है? आपका जो होनापन है, सत्ता-स्वरूप है, उसमें आप स्थित रहो—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**' (गीता १४।२४)। तात्पर्य है कि आपकी सत्ता निरन्तर रहनेवाली है। अगर आपकी सत्ता नहीं रहेगी तो चौरासी लाख योनियाँ कौन भोगेगा, नरक कौन भोगेगा, स्वर्ग आदि लोकोंमें कौन जायगा? आपकी सत्ता निरन्तर ज्यों-की-त्यों है। उसमें कोई परिवर्तन हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं।

विचार करें, आपके होनेपनमें कौन-से करणकी सहायता है? किस कारककी सहायतासे आपका होनापन है? आपका होनापन करण-निरपेक्ष है। अपने होनेपनमें रहते हुए भी आप उससे चिपकते हैं, जो नहीं है। वास्तवमें उससे कभी चिपक सकते नहीं। किसीकी ताकत नहीं कि असत्के साथ चिपक जाय, असत्के साथ रह जाय। कैसे रह जायगा? असत् तो परिवर्तनशील है। पर मेहनत सब उसीके साथ चिपकनेकी होती है। कोरी फालतू मेहनत होती है। अपने होनेपनमें क्या फर्क पड़ता है? क्रियाओं और पदार्थोंके परिवर्तनको अपनेमें मान लो तो आपकी मरजी है, होनेपनमें तो कोई परिवर्तन है नहीं। आने-जानेवालोंमें परिवर्तन है, प्रकाशमें परिवर्तन नहीं है। ऐसे जो सबका प्रकाशक है, स्वयंप्रकाश है, प्रकाशस्वरूप है, उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता। जो है, उसमें नहींपना नहीं हो सकता और जो नहीं है, उसमें है-पना नहीं हो सकता—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**।' (गीता २।१६)। असत्की सत्ता नहीं होती और सत्का अभाव नहीं होता। सत् सदा ज्यों-का-त्यों, अटल, अखण्ड रहता है और उसमें सबकी स्थिति स्वतः है। परन्तु जो मिटता है, उसमें आप स्थिति मान लेते हैं कि मैं धनी हूँ, मैं रोगी हूँ, मैं नीरोग हूँ, मेरा सम्मान है, मेरा अपमान है। मिटनेवालेको आप पकड़ नहीं सकोगे, चाहे युग-युगान्तरोंतक मेहनत कर लो! अपनी स्वतःसिद्ध सत्तामें स्थित हो जाओ तो गुणातीतके सब लक्षण आपमें आ जायँगे। वास्तवमें वे लक्षण आपमें हैं, पर बदलनेवालेके साथ मिल जानेसे उनका अनुभव नहीं हो रहा है।

श्रोता—महाराजजी! क्रियाओंमें भी तो वही सत्ता है!

स्वामीजी—क्रियाओंकी सत्ता है ही नहीं। क्रियाएँ तो आरम्भ होती हैं और नष्ट होती हैं। मैंने व्याख्यान शुरू किया और अब खत्म हो रहा है। क्रिया और पदार्थ सब खत्म होनेवाले हैं।

श्रोता—बिना सत्ताके क्रिया कैसे हुई? सत्ता है, तभी तो क्रिया हुई!

स्वामीजी—तो बस, सत्ता हुई मूलमें, क्रिया कहाँ हुई? यही तो हम कहते हैं! क्रियाका अभाव होता है। सत्ताका अभाव कभी होता ही नहीं। बिलकुल प्रत्यक्ष बात है। इसका कोई खण्डन कर सकता ही नहीं। किसीकी ताकत नहीं कि इसका खण्डन कर दे। असत्की सत्ता भी सत्के अधीन है, सत्की सत्ता भी सत्के अधीन है। असत्की स्वतन्त्र सत्ता कभी हुई नहीं, कभी होगी नहीं, कभी हो सकती नहीं। इसलिये अपने स्वरूपमें स्थित रहो, इधर-उधर चलो ही मत। '**समदुःखसुखः स्वस्थः**'—सुख-दुःख तो आते-जाते हैं, इसमें आप स्वतः ही सम हो। अगर आप सम नहीं हो तो यह सुख हुआ और यह दुःख हुआ—इन दोनोंका ज्ञान कैसे होता है? सुख आता है तो आप सुखके साथ मिलकर सुखी हो जाते हो और दुःख आता है तो दुःखके साथ मिलकर दुःखी हो जाते हो। अगर आप सुखके साथ मिल ही जाते तो फिर दुःखके साथ नहीं मिल सकते और दुःखके साथ मिल जाते तो फिर सुखके साथ नहीं मिल सकते। अतः वास्तवमें आप सुख-दुःख दोनोंसे अलग हो, पर भूलसे अपनेको सुख-दुःखके साथ मिला हुआ मानकर सुखी-दुःखी हो जाते हो। सुख और दुःख तो बदलनेवाले हैं, पर आप न बदलनेवाले हो। आपके सामने कभी सुख आता है, कभी दुःख; कभी मान होता है, कभी अपमान; कभी आदर होता है, कभी निरादर; कभी विद्वत्ता आती है, कभी मूर्खता; कभी रोग आता है, कभी नीरोगता; पर आप वही रहते हो। अगर वही नहीं रहते तो इन सबका अलग-अलग अनुभव कैसे होता? अगर अलग-अलग अनुभव होता है तो फिर आपका अभाव कैसे हुआ? सुख-दुःख आदिका अभाव हुआ। अतः

कृपानाथ ! आप इतनी कृपा करो कि अपने होनेपनमें स्थित रहो। आपका होनापन स्वतःसिद्ध है, कृतिसाध्य नहीं है। उधर दृष्टि नहीं डाली, बस इतनी बात है !

श्रोता—महाराजजी, अन्तःकरणमें राग-द्वेष रहते हुए ही क्रियाएँ होती हैं !

स्वामीजी—बिलकुल क्रियाएँ होती हैं राग-द्वेष रहते हुए; परन्तु आपका कभी अभाव होता है क्या ? कितना ही राग-द्वेष हो जाय, कितना ही हर्ष-शोक हो जाय, आपमें कुछ फर्क पड़ता है क्या ?

श्रोता—फर्क न पड़नेपर भी साधकमें घबराहट रहती है कि राग-द्वेष तो हो रहे हैं !

स्वामीजी—आप राग-द्वेषको पकड़ लेते हो, बहते हुएको पकड़ लेते हो, तब घबराहट होती है। राग रहता नहीं, द्वेष रहता नहीं, वैर रहता नहीं, सुख रहता नहीं, दुःख रहता नहीं; जो रहता नहीं, उसको पकड़ लेते हो। आप उसको पकड़ो मत। आप तो वैसे-के-वैसे रहते हो। अगर वैसे नहीं रहते तो सुख और दुःखको, राग और द्वेषको आप अलग-अलग कैसे जानते हो। रागके समय रहते हो, वही द्वेषके समय रहते हो; द्वेषके समय रहते हो, वही रागके समय रहते हो, तब दोनोंका अनुभव होता है। जिसको दोनोंका अनुभव होता है, उसमें दोनों कहाँ हैं ?

यह एक वहम है कि अन्तःकरण शुद्ध होनेसे कर्ता शुद्ध हो जायगा। सभी कारक क्रियाके होते हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण—ये सब क्रियाके हैं, प्रकृतिके हैं। यह प्रकृति जिससे प्रकाशित होती है, वह ज्यों-का-त्यों रहता है। अतः आप राग-द्वेषसे डरो मत। ये तो मिटनेवाले हैं, आने-जानेवाले हैं। असत् तो मिट रहा है। किसीकी ताकत नहीं कि असत्‌को स्थिर रख सके और सत्‌का विनाश कर सके। असत् तो टिक नहीं सकता और सत् मिट नहीं सकता। असत्‌में किसीकी स्थिति हुई नहीं, होगी नहीं और हो सकती नहीं; एवं सत्‌से अलग कोई हुआ नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं।

श्रोता—असत्‌में स्थित होकर ही तो भोक्ता बनता है !

स्वामीजी—बिलकुल, इसमें कहना ही क्या है ! वह असत्‌में स्थिति मान लेता है, स्थित होता नहीं। अगर आपकी स्थिति सत्‌में है तो फिर असत्‌में स्थिति कैसे हुई ? अगर असत्‌में स्थिति है तो फिर सत्‌में स्थिति कैसे हुई ? रागमें आपकी स्थिति है तो द्वेष कैसे हुआ ? द्वेषमें आपकी स्थिति है तो राग कैसे हुआ ? राग और द्वेष तो संसारके हैं, उसमें आप लिप्त हो जाते हो। आपमें न राग है, न द्वेष है, न हर्ष है, न शोक है। बड़ी सीधी-सरल बात है। इसमें कठिनताका नामोनिशान ही नहीं है !

श्रोता—फिर गड़बड़ी कहाँ है ?

स्वामीजी—असत्‌को आप छोड़ना नहीं चाहते—यहाँ ही गड़बड़ी है ! संयोगजन्य सुख आपने मान रखा है, यहाँ गड़बड़ी है।

श्रोता—असत्‌का त्याग कैसे हो ?

स्वामीजी—अरे ! असत्‌को आप पकड़ सकते ही नहीं। किसीकी ताकत नहीं कि असत्‌को पकड़ ले। असत्‌का त्याग क्या करना है, त्याग तो अपने-आप हो रहा है !

सुख और दुःख, राग और द्वेष—दोनोंका जिसको अनुभव होता है, उसमें न सुख है, न दुःख है, न राग है, न द्वेष है, न हर्ष है, न शोक है। जो इन सबसे रहित है, वह आपका स्वरूप है। जिसमें राग-द्वेष आदि होते हैं, वह आपका स्वरूप नहीं है। सीधी बात है ! राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि जो दो चीजें हैं, वे आपमें नहीं हैं। वे बेचारी तो आपके सामने गुजरती हैं। कभी राग हो गया, कभी द्वेष हो गया, कभी हर्ष हो गया, कभी शोक हो गया, कभी निन्दा हो गयी, कभी प्रशंसा हो गयी। ये तो होनेवाले हैं और मिटनेवाले हैं। अब होनेवाले और मिटनेवालेको पकड़कर आप सुखी-दुःखी होते हैं ! ये तो आपके सामने आते हैं, बीतते हैं, गुजरते हैं। आप ज्यों-के-त्यों रहते हो। आपमें फर्क पड़ता नहीं, आप बदलते नहीं। जो नहीं बदलता, वह आपका स्वरूप है और जो बदलता है, वह प्रकृतिका है। इतनी ही बात है, लम्बी-चौड़ी बात ही नहीं है। कृपानाथ ! कृपा करो, आप अपने स्वरूपमें स्थित रहो। स्वरूपमें आपकी स्थिति स्वतः है। आगन्तुक सुख-दुःखमें, आगन्तुक राग-द्वेषमें आप अपनी स्थिति जबरदस्ती करते हो, और उसमें आपकी स्थिति कभी रह सकेगी नहीं। आप कितना ही उद्योग कर लो, न रागमें, न द्वेषमें, न सुखमें, न दुःखमें आपकी स्थिति रह सकेगी। कारण कि आप इनके साथ नहीं हो, ये आपके साथ नहीं हैं। आप कहते हैं कि मिटता नहीं, हम कहते हैं कि टिकता नहीं !

श्रोता—इनमें अपनी जो स्थिति मान रखी है, उस मान्यतासे छूटनेका साधन क्या है ?

स्वामीजी—साधन यही है कि नहीं मानेंगे। जो भूलसे मान लिया, उसको नहीं मानना ही साधन है। कितनी सीधी-सरल बात है ! कठिनताका नाम-निशान ही नहीं है। निर्माण करना हो, बनाना हो, उसमें कहीं कठिनता होती है, कहीं सुगमता होती है। जो ज्यों-का-त्यों विद्यमान है, उसको जाननेमें क्या कठिनता है ?

श्रोता—जिस समय राग-द्वेष आते हैं, उस समय तो प्रभावित हो जाते हैं !

स्वामीजी—तो प्रभावित होना आपकी गलती हुई, राग-द्वेषकी थोड़े ही गलती हुई ! आप राग और द्वेष—दोनोंको जानते हो और दोनोंसे अलग हो। अब आप अलग होते हुए भी प्रभावित हो जाते हो, मिल जाते हो तो यह गलती मत करो।

श्रोता—उसका असर पड़ता है।

स्वामीजी—आप उसको आदर देते हो तो असर पड़ता है। आदर दोगे तो असर पड़ेगा ही ! ये तो आगन्तुक हैं। गीता साफ कह रही है—'**आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व**' (२।१४) 'ये आने-जानेवाले और अनित्य हैं, इनको सह लो, विचलित मत होओ।' आप मुफ्तमें विचलित होते हो, पत्थर उछालकर सिर नीचे रखते हो ! इसमें दूसरेका क्या दोष है ?

श्रोता—यह सहना अभ्याससे आयेगा क्या ?

स्वामीजी—आप सहते ही हो, नहीं तो आप क्या करोगे ? सुख आ जाय, उस समय आप क्या करोगे ? दुःख आ जाय, उस समय आप क्या करोगे ? जबरदस्ती तो सहते ही हो, जानकर सह लो तो निहाल हो जाओ ! नहीं तो भोगना पड़ेगा ही। नहीं सहोगे तो कहाँ जाओगे ? चाहे सुख आये, चाहे दुःख आये, आप तो ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(गीता २।१५)

'हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! सुख-दुःखमें सम रहनेवाले जिस धीर मनुष्यको ये मात्रास्पर्श, (पदार्थ) व्यथा नहीं पहुँचाते, वह अमर हो जाता है।'

ये प्राकृत पदार्थ किसको व्यथा नहीं पहुँचाते ? जो सम रहता है, उसको। आप सम नहीं रहते तो कभी सुख पाते हो, कभी दुःख पाते हो। आपने मुफ्तमें बड़े परिश्रमसे बन्धनको पकड़ा है, पर वह टिकेगा नहीं, टिक सकता नहीं। परन्तु आप नये-नये बन्धनको पकड़ते रहते हो। बचपन छूट गया तो जवानीको पकड़ लिया और जवानी छूट गयी तो वृद्धावस्थाको पकड़ लिया। आगन्तुकको पकड़कर मुफ्तमें दुःख पाते रहते हो। कृपा करो, आप अपने स्वरूपमें स्थित रहो।

श्रोता—महाराजजी ! तुलसीदासजीको जब शारीरिक कष्ट हुआ तो वे भी सम नहीं रह सके और उन्होंने हनुमानबाहुक लिखा, तो हमारी क्या ताकत है कि सम रह जायँ ?

स्वामीजी—वे सम नहीं हुए तो उनकी मरजी, आप क्यों विषम होते हैं ? गोस्वामीजी हों या दूसरा कोई हो, हम उनकी पंचायती करते ही नहीं; हम तो अपनी पंचायती करते हैं ! आप क्यों सुखी-दुःखी होते हो ? कहीं ऐसा लिखा है कि जो तुलसीदासजीमें नहीं हुआ, वह आपमें नहीं होगा ? तुलसीदासजीके छोरा-छोरी नहीं हुए, पर आपके हो गये ! तुलसीदासजीमें जो बीमारी नहीं आयी, वह आपमें आ गयी ! जो तुलसीदासजीमें नहीं आयीं, वे कई बातें आपमें आ गयीं ! आपमें जो बातें आयी हैं, वे सब तुलसीदासजीमें आयी थीं क्या ? जितनी आपपर बीती है, उतनी तुलसीदासजीपर बीती थी क्या ? फिर तुलसीदासजीको बीचमें क्यों लाते हो ?

मैं तो अपने अनुभवकी बात आपको कहता हूँ, न तुलसीदासजीकी बात कहता हूँ, न शंकराचार्य आदिकी बात कहता हूँ। आप अनुभव करके देखो। अगर आपको अनुभव करना है तो इधर-उधरकी बात मत करो। आपसे चर्चा करके मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि वास्तवमें अपने कल्याणकी इच्छा है ही नहीं। अपने कल्याणकी इच्छावाला दूसरी बात कर नहीं सकता। कल्याणकी सच्ची इच्छा हो तो सब सम्बन्ध तोड़कर भजनमें लग जाय। किसीसे न लेना है, न देना है, न आना है, न जाना है; किसीसे कोई मतलब नहीं। रोटी मिल जाय तो खा ली, और न मिले तो कोई परवाह नहीं—***'जाहि विधि राखे राम ताहि विधि रहिये, सीताराम सीताराम सीताराम कहिये।'*** यदि रोटी न मिलनेसे मर जाओगे तो क्या रोटी खाकर जीते रहोगे ? क्या रोटी खानेवाला कभी मरता नहीं ? समय आनेपर सबको मरना पड़ेगा ही। इसलिये कोई करे या न करे, हमें तो अपना कल्याण करना है।

कल्याण स्वतःसिद्ध है, बन्धन स्वतःसिद्ध नहीं है। बन्धन कृत्रिम है और आपका बनाया हुआ है। आप अपने-आपका अनुभव करो कि बालकपनसे आजतक आप वही हो कि दूसरे हो ? अवस्थाएँ बदलीं, देश बदला, काल बदला, परिस्थिति बदली, पर आप वही रहे। जो बदलता है, उसको ले-लेकर आप सुखी-दुःखी होते हो। आप अपने होनेपनमें स्थित रहो। जो बदलता है, उसमें क्यों स्थित होते हो ?

दौड़ सके तो दौड़ ले, जब लगि तेरी दौड़।
दौड़ थक्या धोखा मिट्या, वस्तु ठौड़-की-ठौड़॥

श्रोता—स्वामीजी ! अपने स्वरूपमें भी स्थित होना है और शरीरको चारा भी देना है.......।

स्वामीजी—दोनोंमें अपने स्वरूपमें स्थित होना है। शरीरके पीछे क्यों पड़े हो ? वह तो नष्ट हो रहा है।

श्रोता—उसको चारा तो देना पड़ेगा महाराजजी !

स्वामीजी—चारा देनेके लिये कौन मना करता है? कभी मना किया है मैंने स्वप्नमें भी? पर अपनेको क्यों देना पड़ेगा, जिसको गरज है, वह दे या न दे। आप कहाँसे लाओगे देनेके लिये? लोगोंका इधर-से-उधर दिया है और उधर-से-इधर लिया है, और आपने क्या किया है? जो हैं, उन्हीं चीजोंमें उथल-पुथल किया है। चारा देना पड़े या न पड़े, कोई आवश्यकता नहीं आपको। जो जीवन्मुक्त महापुरुष होते हैं, उनकी लोगोंको गरज हो तो वे उन्हें अन्न दें, वस्त्र दें, नहीं तो मरने दें! उस महापुरुषको तो संसारसे कोई मतलब नहीं है, संसारसे कुछ लेना नहीं है। जिनको दूधकी गरज है, वे दूध देनेवाली गायका पालन अपने-आप करेंगे, ऐसे ही जिनको जीवन्मुक्त महापुरुषकी गरज है, वे उनका पालन अपने-आप करेंगे। नहीं करेंगे तो उसको लेना है ही नहीं। उसका तो काम बन गया है!

आवश्यकताके अनुसार अन्न लेना, जल लेना और सोना —इन तीन चीजोंके लिये मैं मना करता ही नहीं। भूख भी लगेगी, प्यास भी लगेगी, नींद भी आयेगी, ये तो आती रहेंगी, अपना क्या मतलब है इनसे? जैसे कभी धूप आती है, कभी छाया आती है, कभी वर्षा आती है, कभी हवा चलती है, कभी ठण्डी आती है, कभी गरमी आती है, ऐसे ही भूख भी लगती है, प्यास भी लगती है। कभी संयोग होता है, कभी वियोग होता है; यह तो होता ही रहता है। इसको क्या आदर दें? हो गया तो क्या, नहीं हो गया तो क्या! आप तो वैसे-के-वैसे ही रहे। प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है!

मुक्ति सहज है

एक बात बताता हूँ। बहुत ध्यान देनेकी और बड़ी सरल बात है। जिसको जीवन्मुक्ति कहते हैं, तत्त्वज्ञान कहते हैं, उसका तत्काल अनुभव हो जाय—ऐसी बात है ! अनुभव भी इतना सहज-स्वाभाविक है कि जैसे—'*संकर सहज सरूपु सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा ॥*' (मानस १।५८।४)। केवल आपको उधर दृष्टि डालनी है, और कुछ नहीं करना है ! वह आप सबका अनुभव है; परन्तु आप उधर ध्यान नहीं देते हैं, उसको महत्त्व नहीं देते हैं, इतनी ही बात है !

बहन-भाई सब ध्यान देकर सुनें। बाल्यावस्थासे अभीतक आपका शरीर बदला है, भाव बदले हैं, विचार बदले हैं; देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, सब बदले हैं। परन्तु आप बदले हो क्या ? कोई स्वीकार नहीं करेगा कि मैं बदल गया। शरीरके बदलनेसे अपना बदलना मान लेते हैं, पर शरीर बदलता है, आप नहीं बदलते हो। आपको शरीरके बदलनेका ज्ञान है। बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था शरीरकी हुई, आपकी अवस्था कहाँ हुई ? आप तो अवस्थाको जाननेवाले हो। जाननेमें आनेवाला बदला है, जाननेवाला नहीं बदला। केवल इसकी तरफ ख्याल करना है कि मैं बदलनेवाला नहीं हूँ। इसमें क्या परिश्रम है ?

'*ईस्वर अंस जीव अबिनासी*'—इस अविनाशीपनका आप अनुभव करो कि शरीर विनाशी है और मैं अविनाशी हूँ। इतनी ही बात है। लम्बी-चौड़ी बात नहीं है। मेरी स्थिति 'नहीं बदलना' है। बदलना मेरी स्थिति नहीं है, प्रत्युत शरीरकी स्थिति है। बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था—इन तीन अवस्थाओंका आपको अनुभव है, शरीरको अनुभव नहीं है। अनुभव आप करते हो; शरीर क्या अनुभव करेगा ? ऐसे ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिका आप अनुभव करते हो। आप जाग्रत्‌में भी रहते हो, स्वप्नमें भी रहते हो और सुषुप्तिमें भी रहते हो।

आप जाग्रत्‌में और स्वप्नमें रहते हो—इसका तो आपको अनुभव होता है, पर आप सुषुप्तिमें भी रहते हो—इसका अनुभव करनेमें थोड़ा जोर पड़ता है। पर मैं सीधी बात बताता हूँ। मैं किस जगह सोया, कब सोया—यह ज्ञान सुषुप्ति (गाढ़ नींद) में नहीं है। परन्तु जाग्रत् और स्वप्नमें देश, काल आदिका ज्ञान है। अतः देश, काल आदिके अभावका ज्ञान भी आपमें है और इनके भावका ज्ञान भी आपमें है। सुषुप्तिके समय इनके अभावका अनुभव नहीं होता; क्योंकि उस समय अनुभव करनेके औजार (अन्तःकरण-बहिःकरण) नहीं थे, वे अविद्यामें लीन हो गये थे। परन्तु सुषुप्तिसे जगनेपर आपको अनुभव होता है कि मैं वही हूँ, जो सुषुप्तिसे पहले था; परन्तु बीचमें मेरेको कुछ पता नहीं था। अतः सुषुप्तिके समय जाग्रत् और स्वप्नके ज्ञानका अभाव था, पर आपका अभाव नहीं था। यदि आपका अभाव होता तो 'मेरेको कुछ पता नहीं था'—ऐसा कौन कहता ? ऐसी गाढ़ नींद आयी कि मेरेको कुछ पता नहीं रहा तो 'कुछ पता नहीं'—इस बातका तो पता है न ? जैसे, बाहरसे कोई आवाज दे कि अमुक आदमी घरमें है कि नहीं ? तो भीतरसे एक आदमी कहता है कि वह आदमी घरमें नहीं है। परन्तु ऐसा कहनेवाला भी नहीं है क्या ? अगर कहनेवाला नहीं है तो 'वह आदमी घरमें नहीं है'—यह कौन कहता ? ऐसे ही सुषुप्तिमें अगर आप नहीं होते तो 'मेरेको कुछ भी पता नहीं था'—यह कौन कहता ?

जाग्रत् और स्वप्नमें ज्ञान रहता है और सुषुप्तिमें ज्ञान नहीं रहता तो ज्ञानके भाव और अभाव—दोनोंका ज्ञान आपमें है।

प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आप अवस्थाओंकी गिनती कर लेते हो। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंका आपको ज्ञान है, तभी आप इन तीनोंकी गिनती करते हो। अगर इन तीनोंमें आप नहीं रहते, तीनोंका आपको ज्ञान नहीं रहता तो इनकी गिनती कौन करता? अतः बाल्यावस्थासे अभीतक सब अवस्थाओंमें और जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति-अवस्थामें आप रहते हो, पर ये अवस्थाएँ नहीं रहतीं। जो नहीं रहता, वह संसार और शरीर है तथा जो रहता है, वह परमात्माका साक्षात् अंश है। 'मैं अविनाशी हूँ'—इसका ज्ञान करानेके लिये ही यह बात कह रहा हूँ। आपके सामने आनेवाली अवस्थाएँ विनाशी हैं, परिस्थितियाँ विनाशी हैं, घटनाएँ विनाशी हैं, देश-काल और क्रिया विनाशी हैं; परन्तु आप अविनाशी हो और देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति आदि सबके भाव-अभावको जानते हो। आप अविनाशी हो और चेतन, अमल तथा सहजसुखराशि हो—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस ७।११७।१)

आप चेतन हो। चेतन किसको कहते हैं? स्थूलरीतिसे अपनेमें जो प्राण हैं, उनके होनेसे चेतन कहते हैं। परन्तु प्राण चेतनका लक्षण नहीं है; क्योंकि प्राण वायु है, जड है। चेतनका लक्षण है—ज्ञान। आपको जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिका ज्ञान होता है तो आप चेतन हो। जाग्रत्-अवस्थाको स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थाका ज्ञान नहीं है। स्वप्न-अवस्थाको जाग्रत् और सुषुप्ति-अवस्थाका ज्ञान नहीं है। सुषुप्ति-अवस्थाको जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थाका ज्ञान नहीं है। अवस्थाओंको ज्ञान नहीं है। शरीरोंको ज्ञान नहीं है, प्रत्युत आपको ज्ञान है। अतः आप ज्ञानस्वरूप हुए, चेतन हुए।

आप अमल हो। राग-द्वेष, हर्ष-शोक, अनुकूलता-प्रतिकूलताको लेकर जितने विकार हैं, वे सब मल हैं। जितना मल आया है, अवस्थाओंमें आया है। जाग्रत्में मल आया, स्वप्नमें मल आया, सुषुप्तिमें मल (अज्ञान) आया; परन्तु आप तो अमल ही रहे। आप तीनों अवस्थाओंको जाननेवाले रहे। आपमें दोष नहीं है। आप दोषोंके साथ मिलकर अपनेको दोषी मान लेते हो। दोष आगन्तुक हैं और आप आगन्तुक नहीं हैं—यह प्रत्यक्ष बात है। दोष निरन्तर नहीं रहते, पर आप निरन्तर रहते हैं। शोक-चिन्ता, भय-उद्वेग, राग-द्वेष, हर्ष-शोक—ये सब आने-जानेवाले हैं और अनित्य हैं—**'आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत'** (गीता २।१४)। भगवान्‌ने कितनी बढ़िया बात कही कि आने-जानेवालोंको सह लो, उनके साथ मिलो मत। सुख भी आने-जानेवाला है, दुःख भी आने-जानेवाला है। परन्तु आप इन आने-जानेवालोंको जाननेवाले हो।

आप सहजसुखराशि हो। सुषुप्तिमें कोई आफत नहीं रहती, दुःख नहीं रहता। आप रुपयोंके बिना रह सकते हैं, आप भूखे-प्यासे रह सकते हैं, आप सांसारिक भोगोंके बिना रह सकते हैं, पर नींदके बिना नहीं रह सकते। नींदके बिना तो आप पागल हो जाओगे। इसलिये वैद्यजीसे, डाक्टरसे कहते हो कि गोली दे दो, ताकि नींद आ जाय। नींदमें क्या मिलता है? संसारके अभावका सुख मिलता है। यदि जाग्रत्-अवस्थामें संसारके अभावका ज्ञान हो जाय, संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय तो जाग्रत्-अवस्थामें ही दुःख मिट जाय; और परमात्मामें स्थिति हो जाय तो आनन्द मिल जाय! इसको ही मुक्ति कहते हैं।

दुःख कहाँ है? दुःख संसारके सम्बन्धमें है। जाग्रत् और स्वप्नमें संसारका सम्बन्ध रहता है, इसलिये शान्ति नहीं मिलती। संसारको भूल जाते हो, तब शान्ति मिलती है। यदि संसारका त्याग और परमात्मामें स्थिति हो जाय तो कितना आनन्द होगा! भूलनेमात्रसे सुख मिलता है। भूलनेमात्रसे मनको ताकत मिलती है, बुद्धिको ताकत मिलती है, इन्द्रियोंको ताकत मिलती है, शरीरको ताकत मिलती है। परन्तु संसारके साथ रहनेसे मन थकता है, बुद्धि थकती है, इन्द्रियाँ थकती हैं, शरीर थकता है। संसारका अभाव होता है गाढ़ नींदमें। उस नींदके बिना आप आठ पहर भी नहीं रह सकते। आजकलकी एक बात मैंने सुनी है। पहले मारपीट करके अपराधीसे सच बुलाया करते थे। परन्तु आजकल उसको नींद नहीं लेने देते तो वह सच बोल जाता है। वह जाग्रत्से इतना घबरा जाता है कि सच बोल जाता है। मारपीटसे वह इतनी जल्दी सच नहीं बोलता। अतः नींद नहीं लेना कोई मामूली दुःख नहीं है। नींदमें बहुत बड़ा सुख मिलता है। आप कहते हो कि ऐसे सुखसे सोया कि कुछ पता नहीं था। तो दुःख किसका है? दुःख संसारके सम्बन्धका है। अतः आप सुखराशि हो। अगर सुखराशि नहीं हो तो नींद क्यों चाहते हो? विश्राम क्यों चाहते हो? काम-धंधा करो आठों पहर! नींदमें शरीरको विश्राम मिलता है, मन-बुद्धि-इन्द्रियोंको विश्राम मिलता है। संसारको भूल जानेसे आनन्द मिलता है। अगर संसारका त्याग कर दो तो बड़ा भारी आनन्द मिलेगा और स्वरूपमें स्थिति हो जायगी। स्वरूपमें आपकी स्थिति

स्वतः-स्वाभाविक है और स्वरूपमें महान् आनन्द है।

आप अविनाशी, चेतन, अमल और सहजसुखराशि हैं। यदि आप अविनाशी न होते तो आपको बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्थाका ज्ञान नहीं होता; जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि-अवस्थाका ज्ञान नहीं होता। आप स्वयं नित्य-निरन्तर रहते हो और ये अवस्थाएँ निरन्तर नहीं रहतीं। ये आपके साथी नहीं हैं और आप इनके साथी नहीं हो। इनके साथ रहना अज्ञान है और इनके साथ न रहनेका, इनके संगके अभावका अनुभव करना ज्ञान है, बोध है, जीवन्मुक्ति है। प्रत्यक्ष बात है, सबका अनुभव है। अब केवल इस ज्ञानको महत्त्व देना है।

आपने रुपयोंको महत्त्व दे रखा है, भोगोंको महत्त्व दे रखा है, शरीरको महत्त्व दे रखा है, कुटुम्बको महत्त्व दे रखा है, जमीन-मकानको महत्त्व दे रखा है। कुटुम्बको महत्त्व दे रखा है, जमीन-मकानको महत्त्व दे रखा है। इस तरह नाशवान्‌को जो महत्त्व दे रखा है, यही अनर्थका मूल है। जिनका कुछ भी महत्त्व नहीं है, जो क्षणभंगुर हैं, एक क्षण भी स्थिर नहीं रहते, उनको तो आपने महत्त्व दे दिया, और आप निरन्तर रहते हो, उसको आप महत्त्व देते ही नहीं! महत्त्वकी चीज तो यह है। केवल इस विवेकको महत्त्व देना है, इतनी ही बात है! यह सब बदलता है, पर आप नहीं बदलते। आप वही रहते हो। सबका अभाव होनेपर आप सुखका अनुभव करते हो। नींदमें आप संसारको भूल जाते हो तो उसमें आपको ताजगी मिलती है, सुख मिलता है। ऐसे ही आप जाग्रत्-अवस्थामें अपने-आपमें स्थित हो जाओ। मैं समाधिकी बात, अन्तःकरणकी एकाग्रताकी बात नहीं कहता हूँ। अपने-आपमें आपकी स्थिति स्वतः है। जाग्रत्‌में, स्वप्नमें, सुषुप्तिमें, मूर्च्छामें, समाधिमें, किस अवस्थामें आपकी स्थिति नहीं है? आपकी स्थिति स्वतः है, इसको आप पहचानो। आने-जानेवालोंके साथ नहीं मिलना है—इसका नाम है ज्ञान। इनके साथ मिल जाना है—इसका नाम है अज्ञान। इतनी ही तो बात है! अनेक ग्रन्थोंको पढ़नेसे बोध नहीं होगा और इस बातको आप मानो तो बोध हो जायगा! वास्तवमें यह व्यक्तिगत बात नहीं है, सबकी बात है। सबके अनुभवकी बात है।

श्रोता—बात स्पष्ट समझमें आती है, पर व्यवहारकालमें इतना घुल-मिल जाते हैं कि यह विवेक लुप्त-सा हो जाता है!

स्वामीजी—व्यवहारमें जागृति नहीं रहती, इसका कारण क्या है? कि व्यवहारमें आनेवाली नाशवान् वस्तुओंको आपने महत्त्व दे दिया। आपको कितनी जोरदार भूख लगी हुई हो और सिनेमामें आपका मनचाहा बहुत बढ़िया, गरमागरम भोजन दीखता हो तो उसको खानेकी मनमें आती है क्या? मुँहमें पानी आ जायगा, भोजनकी याद आ जायगी, पर उसको खानेका मन करता है क्या? आपको प्यास लगी है और परदेपर दीखता है कि ठण्डा जल आ रहा है, गंगाजी बह रही है, पर मन करता है पीनेका? नहीं करता कारण क्या है? कि उसको महत्त्व नहीं दिया।

श्रोता—परन्तु सिनेमामें निश्चय हो जाता है कि यह है नहीं!

स्वामीजी—अन्नदाता! यही तो मैंने बताया है कि इन सबके अभावका निश्चय करो। जाग्रत् नहीं है, स्वप्न नहीं है, सुषुप्ति नहीं है, मूर्च्छा नहीं है, समाधि नहीं है। इनके अभावका अनुभव करो; बस, यही बात कहनी है। जैसे सिनेमामें अभावका अनुभव होता है; क्योंकि वह प्रत्यक्ष आपके सामने बदलता है और आप नहीं बदलते। यह बात मैंने बहुत बार कही है, सैकड़ों-हजारों बार कही है कि पहले इस शरीर और संसारसे सम्बन्ध नहीं था, पीछे इस शरीर और संसारसे सम्बन्ध नहीं रहेगा तथा तीसरी बात यह कि अब सम्बन्ध दीखते हुए भी ये प्रतिक्षण बदल रहे हैं। इनके परिवर्तनका प्रत्यक्ष ज्ञान आपको है। आज दिनतक इतने वर्ष हम जी गये—यह बिलकुल गलत है। जी नहीं गये, प्रत्युत मर गये। जन्मनेके बाद ही मरना शुरू हो गया। बालक दो दिनका हुआ तो उसकी उम्रमेंसे दो दिन कम हो गये। प्रत्यक्ष बात है कि ये सब शरीर पहले नहीं थे और पीछे नहीं रहेंगे तथा वर्तमानमें भी नहींमें जा रहे हैं। अतः संसार 'नहीं'-रूप ही हुआ। **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)—असत्‌की तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। आप सत्-रूप हो और असत्-रूप संसारको जाननेवाले हो। संसार जाननेमें आनेवाला है। यह है नहीं। होता तो ठहरता। बाल्यावस्था सच्ची होती तो ठहरती, युवावस्था सच्ची होती तो ठहरती, वृद्धावस्था सच्ची होती तो ठहरती, धनवत्ता सच्ची होती तो ठहरती, निर्धनता सच्ची होती तो ठहरती। कोई नहीं ठहरता। इस अनित्यताका आपको प्रत्यक्ष अनुभव है। इसको आदर दो, महत्त्व दो। अब इसमें कठिनता क्या है? इसको महत्त्व नहीं देते हो, इसलिये भूल जाते हो। आपके सौ रुपये खो जायँ तो क्या भूल जाओगे? कई बार याद आयेगा कि रुपये चले गये! पर ज्ञान चला जाय तो इसकी परवाह ही नहीं है। आपको!

श्रोता—महाराजजी! पदार्थोंके प्रति राग रहते हुए उनकी सत्ताका अभाव नहीं होता।

स्वामीजी—मैं कहता हूँ कि भोजनमें राग रहते हुए भी सिनेमाके भोजनमें सत्ताका अभाव कैसे हुआ ?

श्रोता—वहाँ तो यह जँच गया है कि पदार्थ नहीं है।

स्वामीजी—अच्छा, ये पदार्थ हैं क्या ?

श्रोता—यह इतना स्पष्ट समझमें नहीं आ रहा है।

स्वामीजी—इसका स्पष्टरूपसे अभाव समझनेकी कोशिश ही नहीं की है आपने ! सिनेमामें पहलेसे ही जानते हैं कि ये नहीं हैं। परन्तु यहाँ पहले ही मान लेते हैं कि ये हैं। यह 'है'-पना आपका बनाया हुआ है, इसमें तो है नहीं।

श्रोता—संसारका 'है'-पना अन्दर बैठा हुआ है, वह निकल नहीं रहा है। बात तो यहाँ अटक रही है !

स्वामीजी—अच्छी बात है, अब ध्यान देकर सुनना आपलोग। 'है'-पना अर्थात् सत्ता दो तरहकी होती है। एक सत्ता हरदम रहती है और एक सत्ता उत्पन्न होनेके बाद होती है।* आपकी सत्ता निरन्तर रहनेवाली है और शरीर-संसारकी सत्ता पैदा होकर होनेवाली है, निरन्तर रहनेवाली नहीं है। आप कहते हो कि सत्ता मिटती नहीं है, मैं कहता हूँ कि सत्ता टिकती नहीं है !

नदीके किनारे एक सन्त खड़े थे। लोग बोले कि देखो महाराज, नदी बह रही है और वहाँ पुलपर आदमी बह रहे हैं। सन्त बोले कि पुल भी बह रहा है ! जैसे नदी बह रही है, आदमी बह रहे हैं, ऐसे पुल भी बह रहा है—यह कैसे मान लें ? सन्तने पूछा कि जिस दिन पुल बना था, उतना नया है आज ? तो इतना बह गया कि नहीं ? पूरा बहनेपर बिखर जायगा। ऐसे ही संसार भी बह रहा है। संसारकी सत्ता उत्पन्न और नष्ट होनेवाली है। इस सत्ताको तो आपने महत्त्व दे दिया, पर नित्य रहनेवाली सत्ताको आपने महत्त्व नहीं दिया। शरीर, संसारकी सत्ता तो अपने सामने पैदा होती और नष्ट होती है। अतः नित्य रहनेवाली सत्ताको महत्त्व दो।

श्रोता—रागके रहते हुए 'संसार नहीं है'—यह निश्चय हो जायगा क्या ?

स्वामीजी—मैं कहता हूँ कि अभी मेरे कहनेसे आपको अभावका कुछ ज्ञान हुआ कि नहीं ?

श्रोता—हाँ जी !

स्वामीजी—तो इस समयमें क्या राग मिट गया ?

श्रोता—नहीं मिटा।

स्वामीजी—तो रागके रहते हुए अभावका ज्ञान होता है न ? आप राग-द्वेषपर विचार मत करो, भाव-अभावपर विचार करो। सुगम बात बताता हूँ कि राग-द्वेष दूर नहीं हुए तो कोई परवाह नहीं; परन्तु इनकी सत्ता नहीं है—यह बात तो मानो आप। संसारकी सत्ता नहीं तो राग-द्वेष कहाँ टिकेंगे ? मिट जायँगे। आप राग-द्वेषकी चिन्ता मत करो, इनकी बेपरवाह करो। राग हो गया तो हो गया, कोई परवाह नहीं। द्वेष हो गया तो हो गया, कोई परवाह नहीं। न रागको पकड़ो, न द्वेषको पकड़ो। जो पैदा होता है, वह नष्ट होता है। रागकी भी पैदा होनेवाली सत्ता है, द्वेषकी भी पैदा होनेवाली सत्ता है, पदार्थोंकी भी पैदा होनेवाली सत्ता है। यह सत्ता वास्तवमें सत्ता नहीं है। इसमें क्या बाधा लगती है ?

श्रोता—संसारको कैसे भूला जाय ?

स्वामीजी—जैसे नींद आनेपर संसारको भूल जाते हो। अभी मेरी बात सुनते हो तो अभी अपना घर याद है क्या ? अब याद दिलानेसे याद आ गया, नहीं तो भूले हुए थे। ऐसे ही संसारको भूल जाओ। जो नाशवान् है, उसके भूलनेका, उसके अभावका तो अनुभव होता है, पर आप उसको महत्त्व नहीं देते। आप संसारके अभावको और परमात्माके भावको महत्त्व नहीं देते। संसारके अभाव और परमात्माके भावका ज्ञान तो आपको है, अब कृपानाथ ! इतनी कृपा करो कि इस ज्ञानको महत्त्व दो। बालूकी भीत (दीवार) हो और नदीके ऊपर बनाना चाहें तो क्या ठहर जायगी ? ये राग-द्वेष तो बालूकी भीत हैं और संसार नदीकी तरह बह रहा है। बहते हुए संसारमें ये राग-द्वेष कैसे टिकेंगे ? इतनी बात याद रखो कि यह बहनेवाला है, रहनेवाला नहीं है। सुखदायी अथवा दुःखदायी कोई परिस्थिति आये, वह रहनेवाली नहीं है। इतनी बात याद रखो तो सुगमतासे महान् अनुभव हो जाय, बोध हो जाय !

★

* इस विषयको विस्तारसे समझनेके लिये 'गीता-दर्पण'में आया 'गीतामें द्विविध सत्ताका वर्णन' शीर्षक लेख पढ़ना चाहिये !

मुक्तिका सरल उपाय

जो बात वास्तवमें है, उसको माननेमें क्या जोर आता है ? जैसे, यह गीताभवन है—ऐसा माननेमें कोई परिश्रम पड़ता है ? ये गंगाजी बह रही हैं—ऐसा माननेमें कोई जोर आता है ? सच्ची बातको ज्यों-का-त्यों माननेमें क्या जोर आता है ? ऐसी एक बात आपको बतायी जाती है। भगवान् कहते हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७) 'यह जीव मेरा अंश है' और गोस्वामीजी महाराज लिखते हैं—***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'*** (मानस ७।११७।१)। अतः आप अपनेको ईश्वरका अंश, बेटा-बेटी मान लो तो क्या जोर आता है ? शास्त्रोंमें अगर आदर है तो भगवान्‌का है और उससे भी ज्यादा सन्त-महात्माओंका है। भगवान् और सन्त-महात्मा—दोनों ही कहते हैं कि जीव परमात्माका अंश है। आप किसी भी कुलमें जन्मे हों, किसी भी सम्प्रदायमें हों, आपमें कैसी ही योग्यता हो, आप पढ़े-लिखे हों या नहीं हों; परन्तु अंश तो परमात्माके ही हो। पूत तो पूत ही होता है। वह भले ही सपूत अथवा कपूत हो जाय, पर पूत होनेमें फर्क पड़ता है क्या ? कपूत क्या पूत नहीं होता ? इसी तरह हम कैसे ही हैं, पर भगवान्‌के हैं। बहनें हृदयसे मान लें कि मैं तो भगवान्‌की प्यारी पुत्री हूँ। ऐसा माननेमें क्या जोर आता है ? मूलमें, ठेठसे सच्ची बात है यह। भगवान्‌के अंश कह दो या बेटा-बेटी कह दो, एक ही बात है। संसारके माँ-बाप तो हर जन्ममें बदलते हैं, पर भगवान् कभी बदलते हैं क्या ? उस भगवान्‌के ही हम सब हैं। अच्छे हैं, बुरे हैं, भले हैं, मन्दे हैं, पढ़े-लिखे हैं, अपढ़ हैं, पुण्यात्मा हैं, पापी हैं, कैसे ही हैं, पर हैं तो भगवान्‌के ही ! अब इस बातको माननेमें क्या बाधा लगती है ? कौन-सी फजीती होती है ? क्या बेइज्जती होती है आपकी ?।

कोई रेलवेमें काम करता है तो वह कहता है कि हम रेल-कर्मचारी हैं, बैंकमें काम करता है तो कहता है कि हम बैंकके कर्मचारी हैं, किसी दूकानमें काम करता है तो कहता है कि हम अमुक सेठके, अमुक दुकानदारके आदमी हैं, किसी मिलमें काम करता है तो कहता है कि हम अमुक मिलके आदमी हैं। क्या वह माँ-बापका न होकर रेलवेका है। क्या माँ-बापका न होकर बैंकका है ? कोई कह सकता है कि मैं माँ-बापका तो नहीं हूँ, पर रेलवेका हूँ ! माँ-बापका नहीं हूँ, बैंकका हूँ ! माँ-बापका तो वह रहता ही है। ऐसे ही आप मनुष्यशरीरमें आये हो तो भगवान्‌के होकर मनुष्य हो। गीतामें लिखा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(२।२२)

'मनुष्य जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर दूसरे नये कपड़े धारण कर लेता है, ऐसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंमें चला जाता है'।

कपड़े बदलनेसे क्या मनुष्य दर्जीका हो जाता है ? ऐसे ही आपने मनुष्यके, पशुके, वृक्षके कई कपड़े पहन लिये, कई शरीर धारण कर लिये, पर रहे तो भगवान्‌के ही। सच्ची बात है। सच्ची बातको भी नहीं मानोगे तो किसको मानोगे ? सच्ची बात कहनेवालोंमें भी भगवान् और उनके भक्त—इन दोनोंकी बहुत इज्जत है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

(मानस ७।४७।३)

दोनों ही कहते हैं कि तुम परमात्माके हो। अतः इतनी-सी बात मान लो कि हम कैसे ही हैं, हैं बड़े घरके ! हमारा घराना कौन-सा है, यह याद करो। हम भगवान्‌के हैं। भगवान् सब कुछ कर सकते हैं, नरकोंमें भेज सकते हैं, स्वर्गमें भेज सकते हैं, चौरासी लाख योनियोंमें भेज सकते हैं, पर 'यह मेरा नहीं है' ऐसा नहीं कह सकते, नट नहीं सकते। भगवान्‌के वचन हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

(गीता १६।१९)

'उन द्वेष करनेवाले, क्रूर स्वभाववाले और संसारमें महान् नीच, अपवित्र मनुष्योंको मैं बार-बार आसुरी योनियोंमें गिराता ही रहता हूँ।' कोई पूछनेवाला हो कि महाराज ! उनको आसुरी योनियोंमें, नरकोंमें गिरानेका आपको क्या अधिकार है ? तो भगवान् यही कहेंगे कि तू पूछनेवाला कौन है ? वे मेरे हैं ! माँ बच्चेको स्नान कराती है तो बच्चा रोता है। आप उससे कहो कि बच्चा रो रहा है, तेरेको दया नहीं आती ? तो वह कहेगी कि जा-जा, तेरा है कि मेरा है ? ऐसे ही *'जाहि विधि राखे राम, ताहि विधि रहिये। सीताराम सीताराम सीताराम कहिये॥'* कितनी सीधी, सरल बात है !

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

(मानस ३।११।११)

जैसे धनी, राजकीय आदमी होते हैं, उनके मनमें एक

गरमी होती है कि 'हम राजकीय आदमी हैं'! ऐसे ही आपके मनमें भी गरमी आनी चाहिये कि 'हम भगवान्‌के हैं'! भगवान् कहते हैं—*'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'* (मानस ७।८६।२)। अतः हम भगवान्‌के हैं और भगवान्‌के भी प्यारे हैं, साधारण नहीं हैं। दुनियामें कोई आपको भला-बुरा कुछ भी कहे, पर भगवान् कहते हैं कि मेरे उत्पन्न किये सब मेरेको प्यारे लगते हैं। काला-कलूटा, कुरूप बालक हो, पर उसकी माँसे पूछो कि कैसा है? क्या वह माँको भी बुरा लगता है? इसी तरह जीव कैसे ही हैं, नरकोंमें हैं, स्वर्गमें हैं, वैकुण्ठमें हैं, पृथ्वीपर हैं, पर भगवान्‌के प्यारे हैं—**'सब मम प्रिय'**। अतः मनमें ऐसा उत्साह आना चाहिये कि हम भगवान्‌के हैं; कैसी मौजकी बात है! हम अविनाशी, चेतन, अमल और सहजसुखराशि हैं—यह बात समझमें आये या न आये, पर इतना तो मान ही सकते हैं कि हम भगवान्‌के हैं। कितने आनन्दकी बात है!

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

अपना बालक किसको बुरा लगता है? अपनी माता किसको बुरी लगती है? हमारी माता भी भगवान् हैं और पिता भी भगवान् हैं। यहाँ हमारा जन्म तो थोड़े वर्षोंसे ही हुआ है और थोड़े वर्ष ही रहनेवाला है। यह जो हाड़-मांसका शरीर है न, यह सब बिखर जायगा! परन्तु हम भगवान्‌के हैं—यह नहीं बिखरेगा। हम कहीं जायँ, किसी योनिमें जायँ; जहाँ जायँ, वहाँ भगवान्‌के ही रहेंगे। भगवान् कहते हैं कि मैं नरकोंमें भेजता हूँ; अतः यदि हम नरकोंमें जायँगे तो भगवान्‌के भेजे ही जायँगे! जो भगवान्‌को अपना और अपनेको भगवान्‌का मानता है, वह क्या नरकोंमें जा सकता है? जा ही नहीं सकता। अगर चला भी जाय तो क्या हर्ज है? ठाकुरजीने भेजा है, हर्ज क्या है! सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)ने कहा था कि मौका पड़े तो मैं नरकोंमें जाऊँ; क्योंकि यहाँ लोग सांसारिक सुखमें लगे हुए हैं, इसलिये अपनी (सत्संगकी) बात सुनते नहीं। नरकोंमें दुःखी-ही-दुःखी हैं, इसलिये वे अपनी बात ज्यादा सुनेंगे। अतः नरकोंमें जाकर सत्संग करायें तो बड़ा अच्छा है!

महाभारत, स्वर्गारोहणपर्वमें आता है कि जब देवदूत युधिष्ठिरको नरकोंके रास्तेपर ले गये, तब नारकीय जीव कहने लगे कि महाराज युधिष्ठिर! आप ठहरो, आपकी हवा लगनेसे हमारेको शान्ति मिलती है। यह सुनकर युधिष्ठिरने कहा कि हम तो यहीं ठहरेंगे। जहाँ हड्डी, मांस, मल, मूत्र आदि बिखरा पड़ा है और महान् दुर्गन्ध आ रही है, ऐसी गन्दी जगह होनेपर भी वे कहते हैं कि हम तो यहीं ठहरेंगे; क्योंकि हमारे ठहरनेसे इनको सुख मिल रहा है! तात्पर्य है कि जो अच्छे पुरुष होते हैं, वे अपना सुख नहीं देखते। अपना सुख तो पशु भी देखता है। सूअर, कुत्ता, ऊँट, गधा भी अपना सुख देखता है। वही अगर मनुष्य भी देखने लगे तो मनुष्य क्या हुआ?

भगवान्‌ने मनुष्यको सेवा करनेका अधिकार दिया है। अतः तनसे, मनसे , वचनसे दूसरोंकी सेवा करो। अपने पासमें जो कुछ है, उसीसे सेवा करो। कोई पूछे तो रास्ता बता दो, प्यारसे उत्तर दे दो। जल पिला दो। हमें तो सबको सुख ही पहुँचाना है। आपके हृदयमें दूसरोंको सुख पहुँचानेका भाव होगा, तो परिचित और अपरिचित, सबको प्रसन्नता होगी। आपके दर्शनसे दुनियाको शान्ति मिलेगी। कितनी उत्तम बात है! कुछ भी न कर सको तो बैठे-बैठे मनमें विचार करो कि सब सुखी कैसे हो जायँ? सब भगवान्‌के भक्त कैसे हो जायँ? भगवान्‌से कहो कि हे नाथ! सब आपके भक्त हो जायँ; सब आपके भजनमें लग जायँ; सब सत्संगमें लग जायँ; सब सत्-शास्त्रमें लग जायँ। अच्छी पुस्तकोंसे बहुत लाभ होता है। मैंने पुस्तकोंसे बहुत लाभ उठाया है और अब भी उठा रहा हूँ। आप भी देखो। यह असली लाभकी बात है! दूसरोंको अच्छी पुस्तकें पढ़नेके लिये दो और कहो कि एक बार पढ़कर देखो तो सही, शायद आपको बढ़िया लगे। पढ़कर हमें लौटा देना और दूसरी पुस्तक ले लेना। इस तरह अच्छी पुस्तकोंका प्रचार करो, जिससे लोगोंका भाव बदले। इसके समान दूसरी सेवा नहीं है। दान-पुण्यसे बढ़कर सेवा है यह! दूसरेको सत्-शास्त्रमें लगा देना, भजनमें लगा देना, सत्संगमें लगा देना बहुत ऊँची सेवा है। मुफ्तमें कल्याण होता है! कलकत्तेके एक वैश्य भाईने मेरेसे कहा कि हमारे जो मालिक हैं, वे रोजाना कहा करते थे कि तुम सत्संगमें चलो। परन्तु मेरेको अच्छा नहीं लगता था। जब उन्होंने कई बार कह दिया, तब सोचा कि ये कहते हैं तो चलो! वे सत्संगमें गये। केवल इस लिहाजसे गये कि ये मालिक हैं और बार-बार कहते हैं तो सत्संगमें चलो। काम खोटी होगा तो इनका होगा! वे सत्संगमें गये तो उनका मन लग गया और वे रोजाना जाने लग गये। ऐसे ही हरेकको प्यारसे, स्नेहसे सत्संगमें लगाओ। भीतरमें यह भाव रखो कि सबका कल्याण हो जाय! सबका उद्धार हो जाय! सबकी मुक्ति हो जाय!

पाप करनेवाले, अन्याय करनेवाले, खराब रास्ते जानेवाले भी अपनेको दीखें तो समझना चाहिये कि ये भगवान्‌के प्यारे हैं। भगवान्‌ने *'सब मम प्रिय'* कहा है, यह नहीं कहा कि 'भक्त मम प्रिय'! उन्होंने मात्र जीवको अपना

प्यारा बताया है। अतः जो पाप, अन्याय करते हैं, वे भी भगवान्‌के प्यारे हैं, पर भगवान्‌के लाड़में बिगड़े हुए हैं। ज्यादा लाड़ करनेसे बच्चा बिगड़ जाता है ! इसलिये उनपर दया करो और उनको भगवान्‌में लगाओ, भगवान्‌के सम्मुख करो। कोई रोगी है, पर हमारेमें उसको नीरोग करनेकी योग्यता नहीं है तो उसको वहाँ ले जाओ, जहाँ मुफ्तमें दवाई मिलती हो। ऐसे ही जो पाप करनेमें लगे हुए हैं, उनको अच्छी बातें सुनाओ, पुस्तकें दो। यह नहीं कर सको तो उनको सत्संगमें ले जाओ। सत्संग एक औषधालय है। यहाँ आनेपर कोई-न-कोई दवा लागू पड़ जायगी।

हमारेको कलकत्तेमें एक सज्जन मिले। उन्होंने एक बहुत बढ़िया बात बतायी कि मैं भगवान्‌से कहता हूँ—'हे नाथ ! सबका पालन तो आपको करना है ही, कहीं-कहीं मेरेको भी मौका दे दो, मेरेको भी निमित्त बना दो। किसीको अन्न दे दें, किसीको वस्त्र दे दें, किसीकी सहायता कर दें, किसीको कुछ दे दें ! करना भी आपको है, देना भी आपको है, पर साथमें थोड़ा-सा मेरेको भी निमित्त बना दो।' इस तरह आप भी भगवान्‌से कहो कि हे नाथ ! आप सभीका पालन-पोषण करते हैं और सभी आपको प्यारे हैं, इतनी कृपा और करो कि कहीं-न-कहीं मेरेको भी निमित्त बना दो। जहाँ योग्य समझो, उस जगह लगा दो। किसी तरहसे मैं भी लोगोंके हितमें निमित्त बन जाऊँ। ऐसे भगवान्‌से कहो और अपनी तरफसे ऐसा भाव रखो कि सब भगवान्‌के भक्त बन जायँ ! यहाँ एक सज्जन थे। वटवृक्षके नीचे सत्संग हो रहा था। उधर बद्रीनारायणकी तरफ जो रास्ता जाता है, उसपर कई लोग जा रहे थे। उनको देखकर वे सज्जन कहते थे कि मेरे मनमें आता है कि वे लोग उधरसे जा रहे हैं, अगर यहाँसे होकर जायँ तो थोड़ा सत्संग कर लें ! ऐसा भाव बनानेमें कोई पैसा लगता है ? भगवान् कहते हैं—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः**' (गीता १२।४) 'जो प्राणिमात्रके हितमें रत हैं, वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं।' प्राणिमात्रके हितका भाव भजन है। भजन भी वजनदार है, मामूली नहीं। बीमार पड़े हों तो पड़े-पड़े भी भाव यह रखो कि सब भगवान्‌के भक्त हो जायँ। हे नाथ ! सब आपके दर्शनमें लग जायँ, आपके प्रेममें लग जायँ, आपके भजनमें लग जायँ। कितनी बढ़िया बात है ! वे भजनमें लगें या न लगें, यह आपका ठेका नहीं है। नहीं लगे तो उनकी मर्जी ! हम कहें कि सत्संगमें चलो, वे कहें कि चल हट, हम नहीं जायँगे ! तो अच्छा बाबा, ठीक है ! मूँडवामें एक सज्जन थे। वे लोगोंसे कहते कि सत्संगमें चलो, लोग कहते कि वक्त नहीं है। दूसरे दिन फिर कहते कि सत्संगमें चलो तो लोग फिर कहते कि वक्त नहीं है। तीसरे दिन फिर कहते कि सत्संगमें चलो ! लोग ताड़ना करते, पर वे परवाह ही नहीं करते। अब ठाकुरजी उनपर राजी नहीं होंगे तो किसपर राजी होंगे ! किसीसे कुछ लेना नहीं, कोई स्वार्थका सम्बन्ध नहीं, फिर भी भाव यह है कि लोग सत्संगमें लग जायँ, भजनमें लग जायँ, भगवान्‌के सम्मुख हो जायँ। ऐसा भाव बनानेमें क्या खर्चा लगता है आपका ? एक कहावत आती है—***'हींग लगे न फिटकड़ी, रंग झकाझक आये।'*** आध्यात्मिक उन्नति करनेकी यह अटकल किसी-किसीके हाथ लगती है। ऐसी बढ़िया विद्या है यह !

श्रोता—अभी आपने कहा, भगवान्‌से प्रार्थना करें कि हमें भी थोड़ा सेवाका मौका दो, तो ऐसा भगवान्‌से कहना अच्छा है या सेवा करनेवाली संस्थाओंमें जाकर कहना अच्छा है ?

स्वामीजी—दोनों ही करो। हम भिक्षाको जाते हैं तो माई पूछती है कि महाराज ! रोटी लाऊँ या खिचड़ी ? तो हम कहते हैं कि रोटीके ऊपर खिचड़ी ले आ ! हमें तो नफेकी बात लेनी है। किसीने पण्डितजीसे पूछा कि महाराज ! आप भोजन करोगे कि परोसा ले जाओगे ? वे बोले कि भोजन भी करेंगे, परोसा भी ले जायँगे और यजमानको राजी भी रखेंगे ! ऐसा आप भी करो। खुद भी लगो, औरोंको भी लगाओ। जैसे धनी आदमीकी तरह-तरहसे आमदनी होती है, चारों तरफसे धन आता है, ऐसे आप भी सच्चे हृदयसे लग जाओ तो चारों तरफसे लाभ हो जाय !

श्रोता—जब सब भगवान्‌के प्रिय हैं, तो फिर संसारमें अन्याय क्यों हो रहा है ?

स्वामीजी—अन्याय होता नहीं है, अन्याय करते हैं। अन्याय करनेवाला जिसको कष्ट देता है, वह उसके पापोंका फल है, जिसको भोगकर वह शुद्ध हो रहा है। अतः उसपर अन्याय नहीं होता, प्रत्युत करनेवाला अन्याय करता है। मैंने पहले ही कह दिया कि भगवान्‌की सृष्टिमें कपूत-सपूत सब तरहके होते हैं। परन्तु जिसको दुःख दिया जा रहा है, उसका बुरा नहीं हो रहा है, प्रत्युत उसका भला हो रहा है। अपने पापोंका फल भोगकर वह शुद्ध, पवित्र हो रहा है। अतः कोई कहे कि हमारेपर अन्याय हो रहा है तो बिलकुल झूठी बात है। अन्याय होता ही नहीं। भगवान्‌के रहते हुए, भगवान्‌के राज्यमें अन्याय हो सकता है क्या ? नहीं हो सकता।

बलियामें हमारेको एक सज्जन मिले थे। वे ईसाको बड़ा मानते थे। मैंने उनसे कहा कि ईसाई-धर्मकी ऊँची-से-ऊँची जो बात आप बताओगे, उससे बढ़कर बात मैं सनातनधर्ममें

बता दूँगा। उन्होंने बताया कि ईसाको क्रासपर चढ़ा दिया तो उन्होंने प्रभुसे प्रार्थना की कि हे नाथ! इनको सद्बुद्धि दो! भक्तोंके चरित्रकी एक गुजराती पुस्तक है। उसमें लिखा है कि कुछ चोर चोरी करके भागे। पुलिसको पता लगा तो वह पीछे भागी। चोरोंने देखा कि पीछे पुलिस आ रही है तो उन्होंने जंगलमें बैठे एक बाबाजीके पास सामान रख दिया और जंगलमें छिप गये। बाबाजी आँखें बंद किये हुए भजन कर रहे थे। पुलिस वहाँ आयी और चोरीका सामान पड़ा देखकर लगी मारने बाबाजीको कि चोरी करके साधु बना बैठा है! तब बाबाजीने यह नहीं कहा कि इनको सद्बुद्धि दो। वे बोले— ***'बधूं तू जाणे छे'*** अर्थात् हे प्रभो! सब कुछ आप ही जानते हैं! अभी मैंने कोई कसूर नहीं किया, बैठा-बैठा भजन कर रहा हूँ, फिर भी मार पड़ रही है तो पहले मैंने कोई-न-कोई पाप किया था, जिसका मेरेको पता नहीं है, जो मेरेको याद नहीं है। इस तरह बाबाजीने उनकी दुर्बुद्धि मानी ही नहीं, प्रत्युत इसको भगवान्‌का ही विधान माना।

═══ ★ ═══

करण-निरपेक्ष परमात्मतत्त्व

श्रोता—करणनिरपेक्ष साधनकी दृष्टिसे जो कर्तव्य आप सिखाते हैं, उसका स्वरूप क्या है ?

स्वामीजी—आप करण-निरपेक्ष साधनपर जोर मत लगाओ, प्रत्युत इस बातपर जोर लगाओ कि भगवान्‌की प्राप्तिके लिये जड चीज (करण आदि) की सहायताकी आवश्यकता नहीं है। जैसे आपने सुना है कि करण एक है, ऐसे आप जानते हैं कि कारक कितने होते हैं ? कारक छः होते हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। कारक शब्दका अर्थ क्या है ? जिससे क्रियाकी सिद्धि होती है, उसको कारक कहते हैं। कोई भी क्रिया कारकके बिना नहीं होती। अतः व्याकरणमें जहाँ इसका विवेचन हुआ है, वहाँ पहले ऐसा अर्थ किया है कि जो क्रियाका सम्बन्धी हो, उसको कारक कहते हैं। उसपर विचार करते-करते कहा कि षष्ठी कारक नहीं है; क्योंकि उसका क्रियाके साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है। परन्तु '**राज्ञः पुरुषः गच्छति**' 'राजाका पुरुष जाता है'—इसमें राजाका सम्बन्ध पुरुषके साथ और पुरुषका सम्बन्ध गमनरूपी क्रियाके साथ होनेसे राजाका सम्बन्ध परम्परासे क्रियाके साथ हो गया; अतः राजा कारक होना चाहिये ? ऐसी शंका होनेपर यह निर्णय किया गया कि जो क्रियाको पैदा करनेवाला हो, उसका नाम कारक है—'**क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्**'।

प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है—यह सबका अनुभव है। जैसे मैंने व्याख्यान आरम्भ किया तो उसकी समाप्ति भी होगी। आप कोई भी काम करो, उसका आरम्भ और अन्त जरूर होता है। जिसका आरम्भ और अन्त होता है, वह अनन्तका प्रापक नहीं होता। जो खुद ही उत्पन्न और नष्ट होता है, वह अनन्तकी प्राप्ति करानेवाला कैसे होगा ? वस्तुमात्र, व्यक्तिमात्र, परिस्थितिमात्र, क्रियामात्र उत्पन्न और नष्ट होनेवाली है। उत्पन्न और नष्ट होनेवाली ही क्रिया होती है तथा उत्पन्न और नष्ट होनेवाले ही पदार्थ होते हैं। ऐसे उत्पन्न और नष्ट होनेवाले जडके द्वारा अनुत्पन्न चिन्मय तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत जडके त्यागसे चिन्मय तत्त्वकी प्राप्ति होती है। अतः करण-निरपेक्षका अर्थ केवल करणसे रहित ही नहीं है, प्रत्युत कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण—छहों कारकोंसे रहित है। कारकमात्र क्रियाजनक होते हैं और क्रिया उत्पन्न एवं नष्ट होनेवाली होती है। उत्पन्न और नष्ट होनेवाली क्रियासे अनुत्पन्न तत्त्वकी प्राप्ति कैसे होगी ? अतः परमात्मतत्त्व कर्ता-निरपेक्ष है, कर्म-निरपेक्ष है, करण-निरपेक्ष है, सम्प्रदान-निरपेक्ष है, अपादान-निरपेक्ष है और अधिकरण-निरपेक्ष है। तात्पर्य है कि कोई भी कारक परमात्माको पकड़ नहीं सकता; क्योंकि सभी कारक उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। उत्पन्न और नष्ट होनेवालेके त्यागसे अनुत्पन्न तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी तो किसकी प्राप्ति होगी ? जहाँ उत्पन्न और नष्ट होनेवालेसे उपराम हुए, अनुत्पन्न तत्त्व प्राप्त हो जायगा।

वास्तवमें अनुत्पन्न तत्त्व अप्राप्त नहीं है। उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंका, वस्तुओंका सहारा ही उसमें बाधक है। उत्पन्न और नष्ट होनेवाली क्रिया, वस्तु, परिस्थिति, अवस्था, घटना आदिका जो महत्त्व अन्तःकरणमें पड़ा हुआ है, यही उस तत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक है। अतः करण-निरपेक्ष कहनेका तात्पर्य करणके साथ विरोध नहीं है, प्रत्युत उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुके द्वारा अनुत्पन्न तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती—इसमें तात्पर्य है।

श्रोता—नाशवान्‌का महत्त्व कैसे छूटे ?

स्वामीजी—दूसरोंका हित करनेसे। अपनी शक्तिके अनुसार दूसरोंका हित करो। अन्नक्षेत्र खोलो, प्याऊ लगाओ, औषधालय खोलो। इस तरहसे लोगोंके हितकी भावना होनेसे महत्त्व छूटेगा। वस्तु हमारेको मिल जाय—यह जडको खींचनेका उपाय है, और जबतक जडको खींचते रहोगे, तबतक चिन्मय तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी। इन वस्तुओंके द्वारा

दूसरोंका हित हो—यह जब होगा, तब मात्र क्रिया और पदार्थका प्रवाह लोगोंके हितकी तरफ हो जायगा और चिन्मय तत्त्व शेष रह जायगा, उसकी प्राप्ति हो जायगी। जड़ तो स्वतः नष्ट होता है। जडका खिंचाव तो रह जाता है, पर जड नहीं रहता। बाल्यावस्था रह गयी क्या ? नहीं रही तो युवावस्था रहेगी क्या ? धनवत्ता रहेगी क्या ? यह बनी रहे और मेरी तरफ आ जाय—ऐसी मान्यता ही बाधा है। अब इसकी जगह यह भाव हो जाय कि दूसरोंका हित हो, दूसरोंका भला हो तो जडताका त्याग हो जायगा और त्याग होते ही तत्काल परमशान्तिकी प्राप्ति हो जायगी—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२।१२)। अतः करण-निरपेक्षका तात्पर्य त्यागमें है। जडकी सहायता जडकी प्राप्तिमें तो उपयोगी हो सकती है, पर चिन्मय तत्त्वकी प्राप्तिमें जडकी सहायता काम नहीं करती।

एक बात और बतायें। कोई आदमी सदावर्त खोलता है तो क्या उसका लक्ष्य यह होता है कि मैं दुनियामात्रकी भूख मिटा दूँगा ? क्या **'सर्वभूतहिते रताः'** का अर्थ यह होता है कि मैं सबका हित कर ही दूँगा ? यह नहीं है। अपनी शक्ति दूसरोंकी सेवामें लगानेमें ही तात्पर्य है। सबकी भूख दूर करनेका, सबका दुःख दूर करनेका उसका ठेका नहीं है। जितना अन्न मैं खाता हूँ, उसके सिवाय अपने पास जो अन्न है, वह दूसरोंके काम आ जाय। **'सर्वभूतहिते रताः'**का तात्पर्य है—अपने स्वार्थका त्याग करना। कारण कि स्वार्थका जो लोभ है, यही तो बाधक है। ऐसे ही वस्तुओंका, पदार्थोंका, व्यक्तियोंका, अवस्थाओंका मनमें जो महत्त्व अंकित है, यही परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक है। जब दुनियामात्र मिलकर एक आदमीकी भी पूर्ति नहीं कर सकती, उसको सुखी नहीं कर सकती तो फिर एक आदमी सम्पूर्ण दुनियाकी पूर्ति कैसे कर देगा ? अपनी पूरी शक्ति लगा देनेकी ही जिम्मेवारी है, दूसरोंका दुःख दूर कर देनेकी जिम्मेवारी नहीं है।

श्रोता—हमारा तो सारा समय जडताकी प्राप्तिमें ही लग रहा है !

स्वामीजी—तो फिर परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी अन्नदाता ! और चाहे सो हो जाय ! गीताने साफ कहा है कि जड चीजोंसे सुख भोगना और उनका संग्रह करना—इन दोमें जिसकी आसक्ति होती है, उसमें परमात्माको प्राप्त करनेका निश्चय भी नहीं हो सकता, प्राप्त करना तो दूर रहा (गीता २।४४) ! संसारमें मेरा नाम हो जाय, मेरेको आराम मिले, मैं धनी बन जाऊँ—इस तरह जड चीजोंकी जबतक मनमें लालसा है, तबतक चिन्मय तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी। यह तात्पर्य है करण-निरपेक्षका ! आप ध्यान दें। करण-निरपेक्षका अर्थ है कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति जडकी अपेक्षा नहीं रखती, प्रत्युत जडके त्यागकी अपेक्षा रखती है। क्रिया और पदार्थ, व्यक्ति और वस्तु, अवस्था और परिस्थिति—इनके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। इनकी उपेक्षा हो जाय, त्याग हो जाय, भीतरसे इनका महत्त्व हट जाय तो तत्काल प्राप्ति हो जायगी; क्योंकि परमात्मा अप्राप्त नहीं है, प्रत्युत नित्यप्राप्त है। संसार अप्राप्त है, पर उसको प्राप्त मानते हैं, प्राप्त करना चाहते हैं, यही बाधा है। यह बाधा सुगमतासे दूर होती है—**'सर्वभूतहिते रताः'** होनेसे। प्राणिमात्रके हितमें हमारी प्रीति हो जाय। प्रीति होनेसे क्या होगा ? स्वार्थकी जो भावना है, व्यक्तिगत सुखभोगकी जो इच्छा है, वह हटेगी, और वह जितनी हटेगी, उतने ही आप चिन्मय तत्त्वके नजदीक पहुँच जाओगे। उस तत्त्वसे विमुखता हुई है, अलगाव नहीं हुआ है।

दूसरोंको सुख पहुँचानेसे अपने सुखभोगकी इच्छा मिटती है। माता बालकका पालन करती है तो वह बालकको भूखा नहीं रहने देती, खुद भूखी रह जाती है। ऐसे ही केवल दुनियामात्रका हित करनेकी जोरदार इच्छा होगी तो अपनी स्वार्थबुद्धिका त्याग सुगमतासे हो जायगा।

श्रोता—दो बात मालूम पड़ती है कि जडताका त्याग करना और अन्तःकरणको साधनरूपमें प्रयुक्त नहीं करना।

स्वामीजी—साधनमें प्रयुक्त न करनेका तात्पर्य है कि यह हमारा नहीं है और हमारे लिये नहीं है, औरोंका है और औरोंके लिये है। न अन्तःकरण हमारे लिये है, न बहिःकरण हमारे लिये है। न इन्द्रियाँ हमारे लिये हैं, न शरीर हमारे लिये है, न सम्पत्ति हमारे लिये है। हमारी कहलानेवाली जितनी चीजें हैं, वे हमारी नहीं हैं और हमारे लिये भी नहीं हैं—ये दो बातें दृढ़ करनी हैं। स्वार्थबुद्धि, संग्रहबुद्धि, सुखबुद्धि, भोगबुद्धि नहीं होनी चाहिये, फिर सब ठीक हो जायगा यही करण-निरपेक्षका तात्पर्य है।

करण किसका नाम है ? जिस साधनके अनन्तर तत्काल क्रियाकी सिद्धि हो जाय, उसका नाम करण है। जैसे, **'रामेण बाणेन हतो वाली'** 'रामके बाणसे बालि मरा' तो बालिके मरनेमें बाण हेतु हुआ; अतः बाण करण हुआ। यद्यपि बाणके चलनेमें धनुष, डोरी, हाथ आदि सब हेतु हैं, तथापि बालि बाणसे मरा है, धनुष, डोरी आदिसे नहीं। अतः जिससे बालि मर गया, उस बाणको करण कहेंगे। करणसे क्रियाकी सिद्धि होती है, उससे परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो जायगी ?

श्रोता—महाराजजी ! क्रियाकी सिद्धिमें तो कर्ता भी रहता है ?

स्वामीजी—हाँ, कर्ता भी रहता है, कर्म भी रहता है, करण भी रहता है, सम्प्रदान भी रहता है, अपादान भी रहता है और अधिकरण भी रहता है।

श्रोता—फिर यह केवल करण-निरपेक्ष कैसे हुआ ?

स्वामीजी—करण-निरपेक्ष इसलिये कहा है कि क्रियाकी सिद्धि करणके व्यापारके बाद ही होती है। करणका लक्षण बताया है—'**साधकतमं करणम्**' (पाणि० अ० १।४।४२)। साधक नहीं, साधकतर नहीं, साधकतम बताया है। क्रियाकी सिद्धिमें जो अत्यन्त उपकारक होता है, उसका नाम 'करण' होता है। अतः अत्यन्त उपकारक जो कारक है, वह करण भी जिसकी प्राप्तिमें हेतु नहीं है, फिर दूसरे कारक हेतु कैसे हो जायँगे ? यह तात्पर्य है करण-निरपेक्ष कहनेका !

श्रोता—इसे यदि कारक-निरपेक्ष कहें तो क्या हर्ज है ?

स्वामीजी—बिलकुल कारक-निरपेक्ष कह सकते हैं। परन्तु क्रियाकी निष्पत्ति करणके बाद होती है—'**क्रियाया निष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरं करणत्वं भवेत् तेन**'। क्रियाके होनेमें सब कारक कारण हैं—'**क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्**', पर करणके व्यापारमें क्रियाकी सिद्धि हो ही जाती है। अतः करण-निरपेक्ष कहनेसे कारक-निरपेक्ष हो गया।

श्रोता—इसका मतलब यह हुआ कि करणके द्वारा हम जो क्रिया करें, वह '**सर्वभूतहिते रताः**' होनी चाहिये ?

स्वामीजी—ध्यान दें, परमात्मा क्रियारूप नहीं हैं। अतः परमात्माकी प्राप्तिमें प्राणिमात्रका हित कारण नहीं है, प्रत्युत प्राणिमात्रके हितका भाव कारण है। अतः अपना भाव, उद्देश्य, लक्ष्य बदल दिया जाय तो सब ठीक हो जायगा। जैसा भाव, उद्देश्य, लक्ष्य होगा, उसके अनुसार ही व्यवहार होगा। अतः लक्ष्य केवल दूसरोंके हितका हो, अपने स्वार्थ और सुखका न हो।

श्रोता—रामने बालिको मारनेका पहले निश्चय किया, फिर बाण काममें लिया। यदि बाण काममें नहीं लेते तो केवल निश्चयसे बालि मर जाता क्या ?

स्वामीजी—क्रियाकी सिद्धिमें ही करणकी अपेक्षा है। परमात्मा क्रियाका विषय है ही नहीं। करण विशेष होनेसे क्रिया विशेष होगी, कर्ता कैसे विशेष हो जायगा ? कलम अच्छी होनेसे लिखना अच्छा होगा, लेखक कैसे अच्छा हो जायगा ? कल्याण करणका करना है कि कर्ताका करना है ? मुक्ति करणकी होगी कि कर्ताकी होगी ? करणके द्वारा कर्ताकी मुक्ति कैसे हो जायगी ? करणके द्वारा तो क्रिया होगी।

क्रियाकी सिद्धिमें करण प्रधान है। अतः करण-निरपेक्ष कहनेसे स्वतः ही कारक-निरपेक्ष हो गया। कारकसे क्रियाकी सिद्धि हो जायगी, दुनियाका काम हो जायगा, पर परमात्मा कैसे प्राप्त होगा ?

श्रोता—आप कहते हैं कि परमार्थका कार्य करना चाहिये, अन्नक्षेत्र खोलना चाहिये, प्याऊ लगानी चाहिये तो उनका फल भोगनेके लिये पुनः जन्म लेना पड़ेगा और इस तरह जन्म-मरणसे कभी छुटकारा नहीं होगा !

स्वामीजी—पारमार्थिक कार्यसे कल्याण नहीं होता। कल्याण निष्कामभावसे होता है। बन्धन कामनासे ही होता है। कामना नहीं होगी तो कल्याण ही होगा, और क्या होगा ? जन्म-मरणका कारण तो कामना ही है। अतः कामनाका त्याग करना है।

★

स्वतःसिद्ध तत्त्व

एक वस्तुका निर्माण होता है, वस्तु बनायी जाती है, और एक वस्तुका अन्वेषण होता है अर्थात् वस्तु ज्यों-की-त्यों मौजूद है, केवल उसपर दृष्टि डाली जाती है। वस्तुके निर्माणमें तो देरी लगती है, पर दृष्टि डालनेमें देरी नहीं लगती। वस्तु खोई हुई थी अथवा उधर खयाल नहीं था, खयाल करनेसे वह मिल गयी—इसमें निर्माण नहीं होता। इसपर आप थोड़ा विचार करें।

जहाँ निर्माण होता है, वहाँ कारक होते हैं। कारक वह होता है, जो क्रियाका जनक हो। क्रिया उसीमें होती है, जिसमें कुछ पैदा होता हो। परन्तु परमात्मतत्त्व स्वतः है। भगवान्‌ने कहा है—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१) 'यह पुरुष शरीरमें रहता हुआ भी न करता है, न लिप्त होता है।' अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला मनुष्य अपनेको कर्ता मान लेता है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७)। इसलिये सची बातको स्वीकार कर ले कि मैं कुछ नहीं करता हूँ—**'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'** (गीता ५। ८), और—

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

'जिसका अहंकृतभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

त्याग उसीका होता है, जिसका सम्बन्ध नहीं है। जिसका अटल सम्बन्ध होता है, उसका त्याग नहीं होता। तात्पर्य है कि वास्तवमें तो सम्बन्ध है नहीं, पर सम्बन्ध मान लिया— इस मान्यताका त्याग होता है। जैसे, सूर्यमेंसे कोई प्रकाश नहीं निकाल सकता; क्योंकि वे एक हैं। ऐसे ही अगर स्वयंमें कर्तृत्व होता तो निकलता नहीं। परन्तु स्वयंमें कर्तृत्व नहीं है, अहंकृतभाव नहीं है—**'न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१)। अहंकृतभाव बनाया हुआ है, भूलसे माना हुआ है, उसको छोड़ दे तो तत्त्व ज्यों-का-त्यों मिल जाय। इसलिये अर्जुनने कहा—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (१८। ७३) स्मृति प्राप्त हो गयी, याद आ गयी। कोई बात याद आ गयी तो उसमें क्या परिश्रम करना पड़ा? याद भी करना नहीं पड़ता, प्रत्युत स्वतः याद आती है—**'स्मृतिर्लब्धा'**। पहले भूल गये थे, उधर ख्याल नहीं था, अब याद आ गयी, ख्याल आ गया। भक्तियोगमें हम भगवान्‌के हैं—यह याद आ गयी। ज्ञानयोगमें मेरा स्वरूप निर्विकार है—यह याद आ गयी। कर्मयोगमें संसार मेरा और मेरे लिये नहीं है—यह याद आ गयी। याद आना करण-सापेक्ष नहीं है, प्रत्युत करण-निरपेक्ष है। केवल करण-निरपेक्ष ही नहीं, कर्ता-निरपेक्ष, कर्म-निरपेक्ष, सम्प्रदान-निरपेक्ष, अपादान-निरपेक्ष और अधिकरण-निरपेक्ष भी है। उसमें कोई कारक लागू नहीं होता। कारण कि वह क्रियासाध्य वस्तु नहीं है, प्रत्युत स्वतःसिद्ध है।

जैसे, पहले हम नहीं जानते थे कि ये गंगाजी हैं। अब जान गये कि ये गंगाजी हैं तो इसमें क्या परिश्रम हुआ? जब गंगाजीको नहीं जानते थे, तब भी गंगाजी थीं। अब गंगाजीको जान गये तो भी गंगाजी हैं। गंगाजी तो ज्यों-की-त्यों हैं। कभी गहरी नींद आती है तो जगनेपर 'हम कहाँ हैं'—इसका पता ही नहीं चलता। फिर ख्याल जाते ही पता चलता है कि हम अमुक जगहमें हैं तो इसमें क्या परिश्रम होता है? केवल उधर दृष्टि नहीं थी। इसी तरह यह याद आ जाय कि हम तो परमात्माके हैं; हम कर्ता नहीं हैं; हम असंग हैं—**'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'** (बृहदारण्यक० ४। ३। १५)। यह शरीर तथा संसार पहले मेरा था नहीं, फिर मेरा रहेगा नहीं, अभी मेरा है नहीं—इस तरफ दृष्टि चली जाय। अब इसमें क्या उद्योग है? क्या परिश्रम है? ये हमारे कुटुम्बी हैं तो ये कितने दिनोंसे हैं और कितने दिनतक रहेंगे? ये पहले नहीं थे, पीछे नहीं रहेंगे और अब भी नहींमें ही जा रहे हैं। प्रत्यक्ष बात है! व्याख्यान देना आरम्भ किया तो उस समय जितना व्याख्यान देना बाकी था, उतना अब नहीं रहा, कम हो गया। ऐसे कम होते-होते वह समाप्त हो जायगा। पहले व्याख्यान नहीं था, पीछे व्याख्यान नहीं रहेगा और व्याख्यानके समय भी व्याख्यान नहींमें जा रहा है। इसी तरह जन्मसे पहले शरीर नहीं था, बादमें नहीं रहेगा और अब भी निरन्तर नहींमें जा रहा है। जितनी उम्र आ गयी, उतना शरीर छूट गया। अतः संसारका सम्बन्ध हरदम छूट रहा है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद था और सम्बन्ध-विच्छेद रहेगा तथा अब भी सम्बन्ध-विच्छेद ही हो रहा है।

श्रोता—महाराजजी! परमात्मामें तो क्रिया नहीं है; लेकिन साधन तो करण-सापेक्ष ही होना चाहिये?

स्वामीजी—आप करण-सापेक्ष साधन करो तो उसके लिये मैं मना नहीं करता। साधन दो तरहका होता है, एक तो जहाँ हम स्थित हैं, वहाँसे ऊँचा उठना होता है और एक जहाँ हमें पहुँचना है, वहाँ प्रवेश होता है। ऊँचा उठनेके लिये तो करण-सापेक्ष है, पर प्रवेशमें करण-सापेक्ष नहीं है। जैसे हमें यहाँसे दूसरी जगह जाना हो तो यहाँसे चलना होगा, पर जहाँ जाना है, वहाँ प्रवेश होनेके बाद क्या चलना होगा? ऐसे ही जो वास्तविक तत्त्व है, उसको पहलेसे ही देखें तो वह ज्यों-का-त्यों ही है; अतः इसमें करण-सापेक्ष क्या होगा? केवल भूलको मिटाना है; जो गलती की है, उसका सुधार करना है।

गलतीको गलती समझते ही गलती मिट जाती है—यह एक कायदा है। यह सही नहीं है, गलत है—इतना जानते ही गलती मिट जाती है। इसमें उद्योग क्या है? जैसे मैंने कहा कि शरीर पहले नहीं था और पीछे नहीं रहेगा तथा अभी जितने दिन शरीर रहा, उतने दिन हमारा और शरीरका सम्बन्ध-विच्छेद हुआ है। अब इसमें उद्योग क्या करोगे? साधन क्या करोगे? पहले उधर ख्याल नहीं था, यह ख्याल था कि हम तो जी रहे हैं। अब यह ख्याल आ गया कि हम मर रहे हैं। केवल ज्ञानमें ही फर्क पड़ा। सही बात ध्यानमें आ गयी—यह फर्क पड़ा। इसमें करण-सापेक्ष साधन क्या हुआ? सीखना करण-सापेक्ष होगा; क्योंकि किसीने सिखाया, पुस्तक पढ़ी, याद किया, तो यह करण-सापेक्ष होगा; परन्तु वस्तुस्थितिमें करण-सापेक्ष कैसे होगा? जो है, उसकी तरफ केवल दृष्टि डालनी है—***'संकर सहज सरूपु सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥'*** (मानस १। ५८। ४)।

★

सत्-असत्का विवेक

श्रोता—संसारका सम्बन्ध नहीं है—यह बात बुद्धितक तो समझमें आ गयी, पर आगे साफ नहीं है!

स्वामीजी—कोई बात नहीं! बुद्धितक समझमें आ गयी तो भी अच्छा है। आप यह मान लो कि वास्तवमें बात ऐसी ही है। आपका बालकपन अभी है क्या? नहीं है तो बालकपनका वियोग हो गया न? बालकपनका वियोग हो गया तो अभी जो अवस्था है, उसका वियोग नहीं होगा क्या? आगे जो अवस्था आयेगी, उसका वियोग नहीं होगा क्या? कोई भी अवस्था आये, कैसी ही परिस्थिति आये, उसका वियोग होगा ही—इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु सबका वियोग होनेपर भी परमात्माका वियोग नहीं होगा; क्योंकि परमात्मा सबमें परिपूर्ण है और सबसे अतीत है। जैसे, यह आकाश कहाँ नहीं है? जहाँ हम सब बैठे हैं, वहाँ भी आकाश है और जहाँ हम सब नहीं हैं, वहाँ भी आकाश है। ऐसे ही जहाँ हमलोग हैं, वहाँ भी परमात्मा हैं और जहाँ हमलोग नहीं हैं, वहाँ भी परमात्मा हैं। परमात्मा सबके भीतर बाहर, ऊपर, नीचे, सर्वत्र परिपूर्ण हैं और सबसे अतीत भी हैं।

ये सब शरीर पहले नहीं थे, आगे नहीं रहेंगे और अब भी निरन्तर नहींमें ही जा रहे हैं। जैसे बालकपन नहीं रहा, ऐसे यह भी नहीं रहेगा, पर परमात्मा रहेंगे। बालकपन नहीं रहा तो क्या आप भी नहीं रहे? अतः परमात्मा है और संसार नहीं है। परमात्मा है—इसको मानो तो योग हो गया और संसार नहीं है—इसको मानो तो योग हो गया। समताका नाम योग है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २।४८) और दुःखरूप संसारके वियोगका नाम भी योग है—'**तं विद्याद्दुःखसंयोग-वियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (गीता ६।२३)। संसारका वियोग होनेपर समता ही रहेगी; क्योंकि संसार विषम है और परमात्मा सम है—'**समं सर्वेषु भूतेषु**' (गीता १३।२७)। व्यक्ति अलग-अलग हैं, पर आकाश अलग-अलग नहीं है, प्रत्युत एक है। ऐसे ही वह परमात्मा एक है। वह सबमें है और सबसे अतीत भी है। संयोगमें भी वही है और वियोगमें भी वही है। पहले भी वही था, पीछे भी वही रहेगा और अब भी वही है।

संसार नहीं है और परमात्मा है—ये दो बातें आप मान लें। यह जो संसार दीखता है, यह पहले नहीं था, आगे नहीं रहेगा और अब भी नहींमें जा रहा है। वह परमात्मा पहले भी था, आगे भी रहेगा और अब भी है। संसार नहीं है—ऐसा कहो अथवा परमात्मा है—ऐसा कहो, एक ही बात है। इसमें क्या बाधा लगती है?

श्रोता—जो नहीं है, उसके लिये पाप कर देते हैं तो खाली कहना-सुनना हुआ!

स्वामीजी—जो है, उसको मुख्य मानो। कसौटी लगाकर उसको शिथिल मत करो, प्रत्युत कसौटीको शिथिल करो। भूलको महत्त्व न देकर सही बातको महत्त्व दो। पाप निरन्तर नहीं रहता। जो निरन्तर नहीं रहता, उसपर जोर मत दो, प्रत्युत जो निरन्तर रहता है, उसीपर जोर दो। आप स्वयं अनुभव करो कि निरन्तर कौन रहता है? पाप निरन्तर रहता है या अपना होनापन (स्वरूप) निरन्तर रहता है? जो निरन्तर रहता है, उसीपर दृढ़ रहो तो सब ठीक हो जायगा।

पाप हो जाता है, अन्याय हो जाता है, झूठ-कपट हो जाता है तो क्या 'है' का अभाव हो जाता है? आप 'है' की तरफ देखो। 'है' में कोई फर्क पड़ता है क्या? जब आप 'नहीं' को 'है' मान लेते हो, तब बाधा लगती है। 'नहीं' को 'नहीं' मानो और 'है' को 'है' मानो। कोई पाप हो गया तो भूल हो गयी बीचमें! भूलके आधारपर 'है' का निषेध क्यों करते हो?

श्रोता—'है' को मान लिया, पर प्रत्यक्ष अनुभव हुए बिना यह मान्यता टिकती नहीं है!

स्वामीजी—देखो भाई! यह आँखसे नहीं दीखेगा। देखना दो तरहका होता है—एक आँखसे होता है और एक भीतरमें माननेसे होता है। भीतरसे अनुभव हो जाय, बुद्धिसे बात जँच जाय—इसको देखना कहते हैं। यह 'है' आँखसे कभी दीखेगा ही नहीं। यह तो माननेमें ही आता है। आपका नाम, जाति, गाँव, मोहल्ला, घर क्या अभी देखनेमें आ रहे हैं? देखनेमें नहीं आ रहे हैं तो क्या ये नहीं हैं? जो देखनेमें नहीं आता, वह होता ही नहीं—ऐसी बात नहीं है। जो देखनेमें नहीं आता, वही होता है। परमात्मा देखनेमें न आनेपर भी हैं। नाम, जाति आदिके होनेमें कोई शास्त्र आदिका प्रमाण नहीं है, प्रत्युत यह केवल आपकी कल्पना है। परन्तु परमात्माके होनेमें शास्त्र, वेद, सन्त-महात्मा प्रमाण हैं और उसको माननेका फल भी विलक्षण (कल्याण) है। इसलिये परमात्माको दृढ़तासे मानो।

गलती तो पैदा होनेवाली और मिटनेवाली है, पर परमात्मा पैदा होनेवाला और मिटनेवाला नहीं है। पैदा होनेवाली वस्तुसे पैदा न होनेवाली वस्तुका निषेध क्यों करते हो? हमारेसे झूठ-कपट हो गया तो यह परमात्माका होनापन थोड़े ही मिट गया! परमात्माके होनेमें क्या बाधा लगी? यह मानो कि पाप हो गया तो वह भूल हुई, पर परमात्मा है—यह

भूल नहीं है। परमात्माको जितनी दृढ़तासे मानोगे, उतनी भूलें होनी मिट जायँगी। जिस समय भूल होती है, उस समय आप 'परमात्मा है'—इसको याद नहीं रखते। इसकी याद न रहनेसे ही भूल होती है। जो 'है' उससे विमुख हो जाते हैं, उसको भूल जाते हैं, तब यह भूल होती है। इसलिये अपनेको उससे विमुख होना ही नहीं है। कभी अचानक कोई भूल हो भी जाय तो उस भूलको महत्त्व मत दो। जो सच्ची चीज है, उसको महत्त्व दो। भूल तो मिट जाती है, पर परमात्मा रहता है, मिटता है ही नहीं। जो हरदम रहता है, उसको मानो। अब बोलो, क्या बाधा लगी ?

श्रोता—वर्षोंसे यह बात सुनते हैं, पर फिर भी खालीपन मालूम देता है !

स्वामीजी—पर खालीपनका ज्ञान आपको है कि नहीं ? खालीपनका ज्ञान भी खाली है क्या ? आप ज्ञानका तो निरादर करते हैं और खालीपनका आदर करते हैं। ज्ञान तो ठोस है, उसमें खालीपन है ही नहीं। खालीपन (नहीं) को जाननेवाला ठोस (है) ही हुआ, खाली कैसे हुआ ? वास्तवमें खालीपन है नहीं। असत्की सत्ता माननेसे ही खालीपन दीखता है; क्योंकि असत्की सत्ता नहीं है। तात्पर्य है कि आपने असत्की सत्ता मान रखी है और असत्की प्राप्ति होती नहीं, तब खालीपन दीखता है। दूसरी बात, आपने खालीपनकी सत्ता मानी है तो क्या सत्ता खाली होती है ? सत्ता भी खाली नहीं होती और ज्ञान भी खाली नहीं होता। सत्ता (सत्) और ज्ञान (चित्)—दोनों परमात्माके स्वरूप हैं। अब परमात्मा है—इसको माननेमें क्या बाधा लगी ? इसको आप रद्दी मत करो। इस तरफ आप खयाल नहीं करते, इतनी ही बाधा है। इसका अभाव थोड़े ही हुआ है ? इधर खयाल करना है—इतना ही काम है आपका।

परमात्मा ज्यों-का-त्यों है। उसको कोई बनाना नहीं है, पैदा करना नहीं है, केवल उधर खयाल करना है कि वह है। उसका हमारे साथ नित्य-सम्बन्ध है, नित्ययोग है। संसारके वियोगका अनुभव होनेपर परमात्माके नित्ययोगका अनुभव हो जायगा। परमात्माका नित्ययोग मानो तो 'योग' हो जायगा और संसारका नित्यवियोग मानो तो 'योग' हो जायगा। बात एक ही ठहरेगी ! आप इसको महत्त्व नहीं दे रहे हैं। जो आने-जानेवाले हैं, उन रुपयों आदिको तो महत्त्व देते हो, पर रहनेवालेको महत्त्व नहीं देते। आने-जानेवालेको अस्वीकार करो और रहनेवालेको स्वीकार करो। अस्वीकार करनेका नाम भी 'योग' है और स्वीकार करनेका नाम भी 'योग' है।

जो चीज आदि और अन्तमें नहीं होती, वह बीचमें भी नहीं होती—यह सिद्धान्त है। जैसे, स्वप्न आया तो उससे पहले स्वप्न नहीं था, बादमें भी स्वप्न नहीं रहा; अतः स्वप्नके समय भी 'नहीं' ही मुख्य था, स्वप्न मुख्य नहीं था। इसलिये 'नहीं' निरन्तर रहा। इसी तरह संसार पहले नहीं था, पीछे नहीं रहेगा और वर्तमानमें भी निरन्तर 'नहीं' में ही जा रहा है; अतः इसमें 'नहीं' ही मुख्य है। इसमें बाधा क्या लगी ?

श्रोता—'नहीं' की ममता-आसक्ति नहीं मिटती !

स्वामीजी—ममता-आसक्ति रहें चाहे न रहें, परमात्मा तो रहेगा ही। ममता, आसक्ति, कामना आदि तो आने-जानेवाले हैं और वह रहनेवाला है। रहनेवालेकी तरफ दृष्टि रखो। जो आता है और मिटता है, उसकी तरफ दृष्टि मत रखो, उसको महत्त्व मत दो। जो आता है, जाता है; बनता है, बिगड़ता है; पैदा होता है, मिटता है, उसका क्या महत्त्व है ? परमात्मा न आता है, न जाता है, न बनता है, न बिगड़ता है, न पैदा होता है, न मिटता है, इसलिये वह 'है'। आसक्ति हो जाय तो होने दो, कामना हो जाय तो होने दो, उसकी परवाह मत करो। 'है' को दृढ़ रखो। आसक्ति हो जाय तो उसमें भी वह है। कामना हो जाय तो उसमें भी वह है। कुछ भी हो जाय वह तो ज्यों-का-त्यों ही है। उस 'है' की तरफ विशेष ध्यान होगा तो ये ममता, आसक्ति, काम, क्रोध आदि सब मिट जायँगे, रहेंगे नहीं। 'है' को मान लो तो 'नहीं' कैसे रहेगा ? जिसका नाम ही 'नहीं' है, वह कैसे टिकेगा ? इसमें बाधा यही है कि आप इसका आदर नहीं करते, इसको महत्त्व नहीं देते। अभी आपको दस रुपये मिल जायँ तो उसका एक महत्त्व है, पर जो नित्य-निरन्तर रहता है, उसका महत्त्व नहीं है—यह बड़े आश्चर्यकी बात है ! शास्त्रोंने, वेदोंने, पुराणोंने 'है' को ही महत्त्व दिया है। सन्त-महात्माओंने भी इसीको महत्त्व दिया है, तभी तो संसारके बनने-बिगड़नेका उनपर असर नहीं पड़ता। जो निरन्तर रहता है, उस 'है'में क्या फर्क पड़े ? क्या दुःख हो ? क्या सन्ताप हो ?

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

जो है, वह आँखोंसे नहीं दीखता। जो आँखोंसे दीखता है, वह रहता नहीं। कहते हैं कि जो आँखोंसे नहीं दीखता, उसको कैसे मानें ? यह समझदारका प्रश्न नहीं है। समझदारका प्रश्न तो यह होना चाहिये कि जो आँखोंसे दीखता है, उसको कैसे मानें ? क्योंकि आँखोंसे जो दीखता है, वह तो मिटता है, बिगड़ता है, बदलता है। यह बिलकुल प्रत्यक्ष बात है। जो स्थिर नहीं रहता, बदलता है, उसको हम कैसे मान सकते हैं ? नदीमें जैसे जल बहता है, ऐसे सब संसार

बह रहा है, मौतकी तरफ जा रहा है, अभावकी तरफ जा रहा है। इसको हम 'है' कैसे मानें? बड़ी सीधी और सरल बात है। इसमें कठिनता है ही नहीं। कठिनता यही है कि आप इसको महत्त्व नहीं दे रहे हैं, इसको कीमती नहीं समझ रहे हैं।

जो पुरुष संसारको महत्त्व नहीं देते, धन-सम्पत्तिको महत्त्व नहीं देते, वे भी जीते हैं कि नहीं? आप महत्त्व नहीं दोगे तो क्या मर जाओगे? जो महत्त्व नहीं देते, उनके पास कोई अधिक महत्त्ववाली वस्तु है, तभी तो महत्त्व नहीं देते! उनमें यह सन्देह ही नहीं होता, शंका ही नहीं होती कि इसके बिना काम कैसे चलेगा! जैसे, बचपनमें आप खिलौनोंको महत्त्व देते थे, पर अब उनको महत्त्व नहीं देते। कारण कि अब आपने रुपये आदि चीजोंको महत्त्व दे दिया। रुपये आदिको महत्त्व न देकर सत्-तत्त्व ('है') को महत्त्व दो तो असत्‌की सत्ताका स्वतः ही निरादर हो जायगा।

★

वासुदेवः सर्वम्

गीतामें भगवान्‌ने एक बड़ी विलक्षण बात बतायी है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(७ । १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तमें अर्थात् मनुष्यजन्ममें* 'सब कुछ वासुदेव ही हैं'—ऐसे जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

ज्ञान किसी अभ्याससे पैदा नहीं होता, प्रत्युत जो वास्तवमें है, उसको वैसा ही यथार्थ जान लेनेका नाम 'ज्ञान' है। **'वासुदेवः सर्वम्'** (सब कुछ परमात्मा ही हैं)—यह ज्ञान वास्तवमें है ही ऐसा। यह कोई नया बनाया हुआ ज्ञान नहीं है, प्रत्युत स्वतःसिद्ध है। अतः भगवान्‌की वाणीसे हमें इस बातका पता लग गया कि सब कुछ परमात्मा ही है, यह कितने आनन्दकी बात है ! यह ऊँचा-से-ऊँचा ज्ञान है। इससे बढ़कर कोई ज्ञान है ही नहीं। कोई भले ही सब शास्त्र पढ़ ले, वेद पढ़ ले, पुराण पढ़ ले, पर अन्तमें यही बात रहेगी कि सब कुछ परमात्मा ही है; क्योंकि वास्तवमें बात है ही यही !

संसारमें प्रायः कोई भी आदमी यह नहीं बताता कि मेरे पास इतना धन है, इतनी सम्पत्ति है, इतनी विद्या है, इतना कला-कौशल है। परन्तु भगवान्‌ने ऊँचे-से-ऊँचे महात्माके हृदयकी गुप्त बात हमें सीधे शब्दोंमें बता दी कि सब कुछ परमात्मा ही है। इससे बढ़कर उनकी क्या कृपा होगी !

जितना संसार दीखता है, वह चाहे वृक्ष, पहाड़, पत्थर आदिके रूपमें हो, चाहे मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके रूपमें हो, सबमें एक परमात्मा ही परिपूर्ण हैं। परमात्माकी जगह ही यह संसार दीख रहा है। बाहरसे संसारका जो रूप दीख रहा है, यह तो एक चोला है, जो प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, नाशवान् है। परन्तु इसके भीतर सत्तारूपसे एक परमात्मतत्त्व है, जो अपरिवर्तनशील है, अविनाशी है। भूल यह होती है कि ऊपरके चोलेकी तरफ तो हमारी दृष्टि जाती है, पर उसके भीतर क्या है—इस तरफ हमारी दृष्टि जाती ही नहीं ! इसलिये भगवान् कहते हैं—**'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'** (गीता १८ । ५५) 'मनुष्य मेरेको तत्त्वसे जानकर फिर तत्काल मेरेमें प्रविष्ट हो जाता है।' तत्त्वसे जानना क्या है ? जैसे सूती कपड़ोंमें रूईकी सत्ता है, मिट्टीके बर्तनोंमें मिट्टीकी सत्ता है, लोहेके अस्त्र-शस्त्रोंमें लोहेकी सत्ता है, सोनेके गहनोंमें सोनेकी सत्ता है, ऐसे ही संसारमें परमात्माकी सत्ता है—यह जानना ही तत्त्वसे जानना अर्थात् अनुभव करना है†।

सोनेसे बने गहनोंके अनेक प्रकार हैं; कोई गलेमें पहननेका है, कोई हाथोंमें पहननेका है, कोई कानोंमें पहननेका है, कोई नाकमें पहननेका है, आदि-आदि। उन गहनोंकी अनेक प्रकारकी आकृतियाँ हैं, अनेक प्रकारके नाम हैं, अनेक प्रकारका उपयोग है, अनेक प्रकारका तौल है, अनेक प्रकारका मूल्य है। वे सब तो अनेक प्रकारके हैं, पर सोना अनेक प्रकारका नहीं है। जिसमें कोई प्रकार नहीं है, जो एक ही है, उसको जानना ही तत्त्वसे जानना है। ऐसे ही संसारमें मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, पहाड़, पत्थर, ईंट, रेत, चूना,

---

* यह मनुष्य-शरीर बहुत जन्मोंका अन्तिम जन्म है। इसके बाद मनुष्य नये जन्मकी तैयारी कर ले तो नया जन्म हो जायगा, नहीं तो इसके बाद जन्म नहीं है। जन्म होता है संसारकी आसक्तिसे—'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' (गीता १३ । २१)। आसक्ति न हो तो जन्म होनेका कोई कारण नहीं है।

† गहनोंमें सत्ता सोनेकी है, गहनोंकी नहीं, इसलिये बनावटी गहनोंकी अपेक्षा (स्थूलदृष्टिसे) सोनेको सत्य कह देते हैं। वास्तवमें सोनेकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। सम्पूर्ण सृष्टिमें एक परमात्मतत्त्वकी ही स्वतन्त्र सत्ता है। उस सत्य परमात्मतत्त्वकी तरफ दृष्टि करानेके लिये ही रूई, मिट्टी, लोहा, सोना आदिको सत्य कहा गया है।

मिट्टी आदि तो अनेक प्रकारके हैं, पर जो उनके भीतर रहनेवाला है, उसका कोई प्रकार नहीं है। वह प्रकाररहित तत्त्व ही परमात्मा है।

जैसे गहनोंमें परिवर्तन होता है, पर सोनेमें परिवर्तन नहीं होता। गहने बदल जाते हैं, पर सोना वही रहता है। ऐसे ही संसारमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है, पर इसमें जो अपरिवर्तनशील परमात्मतत्त्व है, वह ज्यों-का-त्यों रहता है। भगवान्‌ने कहा है—**'विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति'** (गीता १३। २७) अर्थात् नष्ट होनेवालोंमें जो एक नष्ट न होनेवाला तत्त्व है, उसको देखनेवाला ही वास्तवमें सही देखता है। जैसे, स्थूल-दृष्टिसे देखा जाय तो कपड़े सब नष्ट हो जाते हैं, पर रूई रहती है। बर्तन सब नष्ट हो जाते हैं, पर मिट्टी रहती है। अस्त्र-शस्त्र सब नष्ट हो जाते हैं, पर लोहा रहता है। गहने सब नष्ट हो जाते हैं, पर सोना रहता है। ऐसे ही सब-का-सब संसार नष्ट होनेवाला है, पर परमात्मतत्त्व नष्ट होनेवाला नहीं है। उस कभी न बदलनेवाले और कभी नष्ट न होनेवाले तत्त्वकी तरफ ही देखना है, उसको ही मानना है, उसको ही जानना है, उसको ही महत्त्व देना है।

जैसे हम कहते हैं कि 'यह पदार्थ है' तो इसमें पदार्थ तो परिवर्तनशील संसार है और 'है' अपरिवर्तनशील परमात्मतत्त्व है। संसारमें देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति आदि तो अनेक हैं, पर उन सबमें 'है' (सत्ता) रूपसे विद्यमान परमात्मतत्त्व एक ही है। साधककी दृष्टि निरन्तर उस 'है' (परमात्मतत्त्व) पर ही रहनी चाहिये*। वह 'है' एक ठोस चीज है और सबको नित्य-निरन्तर प्राप्त है। संसार कभी किसीको प्राप्त हुआ नहीं, प्राप्त है नहीं, प्राप्त होगा नहीं और प्राप्त हो सकता नहीं। हमसे भूल यह होती है कि हम उस शरीर-संसारको 'है' (प्राप्त) मान रहे हैं, जो वास्तवमें है नहीं। शरीर पहले नहीं था—यह सबका अनुभव है, आगे यह शरीर नहीं रहेगा—यह भी सबका अनुभव है और शरीर प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है—यह भी सबका अनुभव है। इस अनुभवको ही महत्त्व देना है।

अगर भक्तिकी दृष्टिसे देखें तो सब रूपोंमें एक परमात्मा ही हमारे सामने आते हैं। हमें भूख लगती है तो अन्नरूपसे वे ही आते हैं, हमें प्यास लगती है तो जलरूपसे वे ही आते हैं, हम रोगी होते हैं तो ओषधिरूपसे वे ही आते हैं, हम भोगी होते हैं तो भोग्यरूपसे वे ही आते हैं, हमें गरमी लगती है तो छायारूपसे वे ही आते हैं, हमें सरदी लगती है तो वस्त्ररूपसे वे ही आते हैं। तात्पर्य है कि सब रूपोंसे परमात्मा ही हमें प्राप्त होते हैं। परन्तु हम उन रूपोंमें आये परमात्माका भोग करने लग जाते हैं तो परमात्मा दुःखरूपसे, नरकरूपसे आते हैं!

प्रश्न—परमात्मा अन्न, जल आदि नाशवान् वस्तुओंके रूपमें क्यों आते हैं?

उत्तर—हम अपनेको शरीर मानकर अपने लिये वस्तुओंकी आवश्यकता मानते हैं और उनकी इच्छा करते हैं तो परमात्मा भी वैसे ही बनकर हमारे सामने आते हैं। हम असत्‌में स्थित होकर देखते हैं तो परमात्मा भी असत्-रूपसे ही दीखते हैं। हम परमात्माको जैसा देखना चाहते हैं, वे वैसे ही दीखते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)। जैसे बालक खिलौना चाहता है तो माँ रुपये खर्च करके भी उसको खिलौना लाकर देती है, ऐसे ही हम जो चाहते हैं, परम दयालु परमात्मा उसी रूपसे हमारे सामने आते हैं। अगर हम भोगोंको न चाहें तो भगवान्‌को भोगरूपसे क्यों आना पड़े? बनावटी रूप क्यों धारण करना पड़े?

—★—

* समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ (गीता १३। २७)
'जो नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्माको नाशरहित और समरूपसे स्थित देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है।'

प्राप्त तत्त्वका अनुभव

एक दीखनेवाली वस्तु है और एक न दीखनेवाली वस्तु है। दीखनेवाली वस्तु 'प्रतीति' है† और न दीखनेवाली वस्तु 'प्राप्त' है। प्रतीतिको जड (प्रकृति) कहते हैं, जिसका असत्-रूपसे वर्णन किया जाता है और प्राप्तको चेतन (पुरुष) कहते हैं, जिसका सत्-रूपसे वर्णन किया जाता है—**'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि'** (गीता १३।१९)। प्रतीतिकी तो स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और प्राप्तकी सत्ता ही होती है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २।१६)।

जड और चेतन—दोनों परस्परविरोधी स्वभाववाले हैं।

† प्रतीतिके दो भेद हैं—प्रतीति और भान। प्रतीति इन्द्रियोंका विषय है और भान अन्तःकरणका विषय है। प्रतीति स्थूल है और भान सूक्ष्म है। सांसारिक पदार्थों, व्यक्तियों आदिकी प्रतीति होती है और इन्द्रियोंका, अहम्‌का भान होता है। तात्पर्य है कि प्रतीति और अनुभव—दोनोंके बीचमें भान है। भानका ज्ञाता स्वयं (आत्मा) है।

जड तो नित्य-निरन्तर बदलता रहता है, एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता और चेतन नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है, कभी एक क्षण भी बदलता नहीं। जैसे रात और दिनका कभी परस्पर संयोग नहीं हो सकता, ऐसे ही जड और चेतनका भी कभी परस्पर संयोग नहीं हो सकता। परन्तु गीतामें आया है कि सम्पूर्ण प्राणी जड-चेतनके संयोगसे पैदा होते हैं* । इसका तात्पर्य यह है कि चेतन ही जडके साथ अपना संयोग मानता है अर्थात् जड-चेतनका संयोग केवल चेतनकी मान्यता है, वास्तवमें है नहीं—**'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७।५); **'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'** (गीता १५।७)। इस माने हुए संयोगको छोड़नेकी जिम्मेवारी भी चेतनपर ही है; क्योंकि इसने ही जडको पकड़ा है।

जब चेतन जडके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब तादात्म्यरूप अहम् पैदा होता है। यह अहम् न केवल चेतनमें है और न केवल जडमें है, प्रत्युत जड-चेतनके माने हुए संयोग (चिज्जडग्रन्थि) में है। यह अहम् ही संसार-बन्धनका मूल कारण है। इस अहम्से ही ममता, कामना आदि अनेक दोषोंकी उत्पत्ति होती है। अतः इस अहम्को मिटानेके लिये साधक चाहे संसारकी दृष्टिसे ऐसा मान ले कि 'संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है' चाहे परमात्माकी दृष्टिसे ऐसा मान ले कि 'सब कुछ परमात्मा ही है'†।

श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने संसारकी दृष्टिसे कहा है—

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च॥

(११।२८।४)

'संसारकी सब वस्तुएँ वाणीसे कही जा सकती हैं और मनसे सोची जा सकती हैं; अतः वे सब असत्य हैं। जब द्वैत नामकी कोई वस्तु ही नहीं है तो फिर उसमें क्या अच्छा और क्या बुरा?'

परमात्माकी दृष्टिसे कहा है—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(११।१३।२४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे‡ जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है— यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार कर लें।'

ग्रहण उसीका किया जाता है, जिसकी सत्ता हो। संसारकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है, वह एक क्षण भी नहीं ठहरता, फिर वह ग्रहणमें आ ही कैसे सकता है? चेतनसे चेतनका ही ग्रहण होता है। स्वयं (आत्मा) चेतन है; अतः वह चेतन परमात्मतत्त्वको ही ग्रहण करता है, जडको नहीं। परन्तु जब स्वयं जडके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह जड शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके द्वारा जडताको ही ग्रहण करता है। जडताको ग्रहण करनेसे वह चिन्मय तत्त्व (परमात्मा) से विमुख हो जाता है और उसमें जडता (शरीर) की मुख्यता हो जाती है। जडताकी मुख्यताको मिटानेके लिये साधकको चाहिये कि वह 'यह सब नहीं है'—इस वास्तविकताको दृढ़तासे मान ले§। ऐसा माननेसे उसका जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और 'सब कुछ परमात्मा ही है'—यह अनुभवमें आ जायगा$। तात्पर्य है कि उसके द्वारा जडताका ग्रहण नहीं होगा, प्रत्युत परमात्माका ही ग्रहण होगा।

जैसे, मनुष्यकी दृष्टि जब गहनोंकी तरफ, उनके नाम, रूप, आकृति, तौल, मूल्य तथा उपयोगकी तरफ रहती है, तब उसकी दृष्टिमें सोनेकी मुख्यता नहीं रहती। ऐसे ही जब मनुष्यकी दृष्टि संसारकी तरफ रहती है, तब उसकी दृष्टि परमात्माकी तरफ नहीं जाती। अगर वह दृढ़तासे ऐसा मान ले कि 'यह सब नहीं है' तो उसकी दृष्टिमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव हो जायगा और 'सब कुछ परमात्मा ही है'—यह अनुभवमें आ जायगा। तात्पर्य है कि उसकी दृष्टिमें संसार नहीं रहेगा, प्रत्युत परमात्मा ही रहेगा—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७।१९), जो कि वास्तवमें है।

जैसे सोनेको जाननेवाला मनुष्य सोना और गहना—दोनोंको ही जानता है, ऐसे ही परमात्मतत्त्वको जाननेवाला तत्त्वज्ञ महापुरुष सत्तायुक्त परमात्मा (प्राप्त) को भी जानता है और सत्तारहित संसार (प्रतीति) को भी जानता है—

---

* यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ (गीता १३।२६)

† ज्ञानकी रुचिवाला साधक मानता है कि 'यह सब नहीं है' और भक्तिकी रुचिवाला साधक मानता है कि 'सब कुछ परमात्मा ही है'। रुचिभेद होनेपर भी परिणाममें दोनों एक हो जाते हैं अर्थात् दोनोंको यह अनुभव हो जाता है कि एक परमात्मतत्त्वके सिवाय कुछ नहीं है।

‡ यहाँ 'मनसा' से अन्तःकरण, 'वचसा' से सभी कर्मेन्द्रियाँ और 'दृष्ट्या' से सभी ज्ञानेन्द्रियाँ लेनी चाहिये।

§ देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं॥ (मानस २।९२।४)

$ जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि। (मानस १।७)

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
(गीता २। १६)

'असत्‌का तो भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है। तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने इन दोनोंका ही अन्त अर्थात् तत्त्व देखा है।'

असत् (प्रतीति) के दो विभाग हैं—शरीर तथा संसार। शरीरको संसारकी सेवामें समर्पित कर देना 'कर्मयोग' है और संसारसे सुख चाहना 'जन्ममरणयोग' है। सत् (प्राप्त) के भी दो विभाग हैं—आत्मा तथा परमात्मा। आत्माका अपने-आपमें स्थित हो जाना 'ज्ञानयोग' है और अपने-आपको परमात्माके समर्पित कर देना 'भक्तियोग' है। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनोंमेंसे किसी एकके भी पूर्ण होनेपर माने हुए अहम्‌का नाश हो जाता है।

प्रतीति करण-सापेक्ष है; और जो प्रतीतिसे अतीत परमात्मतत्त्व (प्राप्त) है, वह करण-निरपेक्ष है। अतः परमात्मतत्त्वका अनुभव अभ्याससाध्य नहीं है अर्थात् उसके अनुभवके लिये शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि करणोंकी किञ्चिन्मात्र भी अपेक्षा (आवश्यकता) नहीं है। इनकी आवश्यकता केवल संसारके लिये है, अपने लिये नहीं।

अभ्याससे केवल अवस्थाका परिवर्तन तथा एक नयी अवस्थाका निर्माण होता है। अवस्थातीत तत्त्वका अनुभव अभ्याससे नहीं होता, प्रत्युत अनभ्याससे होता है। अनभ्यासका अर्थ है—कुछ न करना। करनामात्र प्रकृतिके सम्बन्धसे ही होता है। प्रकृतिके सम्बन्धके बिना चेतन कुछ कर सकता ही नहीं, करना बनता ही नहीं। अतः उसपर करनेकी जिम्मेवारी भी नहीं है। चेतनमें कर्तृत्व है ही नहीं, फिर उससे क्रिया कैसे होगी? जब लेखक ही नहीं है, तो फिर लेखन-क्रिया कैसे होगी? चेतन अहंकारसे मोहित होकर केवल अपनेमें कर्तृत्वकी मान्यता कर सकता है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७)। वास्तवमें वह न कर्ता है, न भोक्ता है—**'न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१)। अतः तत्त्वका अनुभव करनेके लिये क्रिया और पदार्थको महत्त्व देना महान् अज्ञान है। क्रिया और पदार्थका उपयोग संसारके हितके लिये है। अपने हितके लिये तो इनसे सर्वथा असंग, उपराम होना है।

तत्त्वका अनुभव प्रतीतिके द्वारा नहीं होता, प्रत्युत प्रतीतिके त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) से होता है। कारण कि प्रतीतिका आश्रय ही बाँधनेवाला है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। प्रतीतिका आश्रय, सहायता लिये बिना अभ्यास नहीं होता। जिसका आश्रय लेया जायगा, उसका त्याग कैसे होगा? उसका तो महत्त्व ही बढ़ेगा। इसलिये तत्त्वको अभ्याससाध्य माननेसे एक बड़ी हानि यह होती है कि जिससे बन्धन होता है, उसीको मनुष्य तत्त्वप्राप्तिमें सहायक मान लेता है और उसकी महत्ता तथा आवश्यकताका अनुभव करता है। अतः अभ्याससे बन्धन अथवा प्रतीतिकी पराधीनता ज्यों-की-त्यों सुरक्षित रहती है, जिसके कारण प्रतीतिका त्याग करना बड़ा कठिन होता है। जैसे, बेड़ी चाहे लोहेकी हो अथवा सोनेकी, बन्धनमें कोई फर्क नहीं पड़ता। फर्क पड़ता है तो केवल इतना ही पड़ता है कि लोहेकी बेड़ीका त्याग करना तो सुगम होता है, पर सोनेकी बेड़ीका त्याग करना बड़ा कठिन होता है; क्योंकि अन्तःकरणमें सोनेका महत्त्व है!

स्वयं (स्वरूप) के सामने एक तो प्रतीति (संसार) है और एक प्राप्त (परमात्मा) है। प्रतीतिके सम्मुख होना बन्धन है और प्राप्तके सम्मुख होना मुक्ति है। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो मुक्तिका अभाव कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं। प्राप्तकी सत्ता न मानकर प्रतीतिकी सत्ता मानना ही बन्धन है और प्रतीतिकी सत्ता न मानकर प्राप्तकी सत्ताका अनुभव करना ही मुक्ति है। अतः बन्धन और मोक्ष केवल मान्यतामें है, स्वरूपमें नहीं।

प्रश्न—जो प्राप्त है, वह परमात्मतत्त्व नहीं दीखता और जो प्रतीति है, वह संसार दीखता है—इसका क्या कारण है?

उत्तर—जैसे, शरीरका मुख्य आधार हड्डी है, पर वह दीखती नहीं। जो मुख्य आधार नहीं है, वह चमड़ी दीखती है। जिसमें ताकत है, वह चीज दीखती नहीं और जो चीज दीखती है, उसमें ताकत नहीं। ऐसे ही परमात्मा संसारके मुख्य आधार हैं, पर वे नहीं दीखते, प्रत्युत संसार दीखता है। जो वास्तवमें है, वह दीखता नहीं और जो दीखता है, वह वास्तवमें है नहीं।

जैसे हड्डी पिताके अंशसे और चमड़ी माताके अंशसे उत्पन्न होती है*। अतः शरीर माता-पिताका अंश है। परन्तु शरीरमें न माता दीखती है, न पिता दीखता है। ऐसे ही संसार

---

* अस्थि स्नायुश्च मज्जा च जानीमः पितृतो गुणाः॥
त्वङ्मांसं शोणितं चेति मातृजान्यपि शुश्रुम। (महा॰ शान्ति॰ ३०५। ५-६)

'हड्डी, स्नायु और मज्जा—इनको मैं पितासे प्राप्त हुए गुण समझता हूँ तथा त्वचा, मांस और रक्त—ये मातासे प्राप्त हुए गुण हैं, ऐसा मैंने सुना है।'

प्रकृति और परमात्माके संयोगसे उत्पन्न होता है* । परन्तु संसारमें न प्रकृति दीखती है, न परमात्मा दीखते हैं, प्रत्युत केवल प्रकृतिका कार्य दीखता है !

शरीरमें गलेसे ऊपरी भागको 'उत्तमाङ्ग' कहते हैं; क्योंकि श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ उसमें स्थित हैं। उत्तमाङ्गमें भी 'मुख' प्रधान है; क्योंकि रसना (ज्ञानेन्द्रिय) और वाक् (कर्मेन्द्रिय) —ये दोनों इन्द्रियाँ मुखमें स्थित हैं। शरीरके अन्य किसी भी अङ्गमें दो इन्द्रियाँ एक साथ स्थित नहीं हैं। हड्डी भी मुखमें ही दाँतरूपसे दिखायी देती है। ऐसे ही संसारमें जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुषको भी मुखके समान जानना चाहिये। मुख प्रायः बन्द रहता है, पर विशेष प्रसन्न होनेसे मुख खुल जाता है और उसमें दाँत दीखने लग जाते हैं। ऐसे ही जिज्ञासुके सामने आनेपर वे महापुरुष विशेष प्रसन्न हो जाते हैं तो परमात्मतत्त्वका बोध प्रकट हो जाता है—

'ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत।'

(श्रीमद्भा० १।१।८, १०।१३।३)

गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥

(मानस १।११०।१)

जैसे बछड़ा सामने आ जाय तो गायके स्तनोंमें दूध आ जाता है, ऐसे ही जिज्ञासु सामने आ जाय तो उस महापुरुषकी कृपा उमड़ पड़ती है। जिज्ञासु अपनी जिज्ञासाके अनुसार जितना ज्ञान ले सकता है, उतना ले लेता है।

—★—

* मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ (गीता १४।३-४)

सबके अनुभवकी बात

किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये एक 'निर्माण' होता है और एक 'अन्वेषण' होता है। सांसारिक वस्तुओंका तो निर्माण होता है और परमात्मतत्त्वका अन्वेषण होता है। कारण कि निर्माण तो उस वस्तुका होता है, जो अभी विद्यमान नहीं है, पर अन्वेषण उस वस्तुका होता है, जो पहलेसे ही विद्यमान है। नयी वस्तुके निर्माणमें देरी लगती है और अभ्यास, प्रयत्न करना पड़ता है। परन्तु जो पहलेसे ही विद्यमान है, उसकी प्राप्ति तत्काल होती है; क्योंकि वह स्वतःसिद्ध है। अतः उसकी प्राप्तिके लिये अभ्यास करनेकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत केवल उधर दृष्टि डालनेकी आवश्यकता है। उधर दृष्टि गयी और प्राप्ति हुई !

गीतामें आया है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

(१३ । ३१)

'अनादि और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी आत्मतत्त्व शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।' तात्पर्य है कि इसको कर्तृत्व और भोक्तृत्व (लिप्तता) का अभाव करना नहीं पड़ता, प्रत्युत इसमें अकर्तृत्व और निर्लिप्तता स्वतःसिद्ध है। अपनेको शरीरमें स्थित माननेपर भी यह कर्ता और भोक्ता नहीं बनता। जिस समय यह अपनेको शरीरमें स्थित देखता तथा मानता है, उस समय भी वास्तवमें यह शरीरमें स्थित नहीं है। कारण कि जैसे सूर्यका अमावस्याके साथ संयोग नहीं हो सकता, ऐसे ही चेतनतत्त्वका जड शरीरके साथ संयोग नहीं हो सकता। अतः जडके साथ संयोग (शरीरमें स्थिति) केवल चेतनकी मान्यता है। मान्यताके सिवाय और कुछ नहीं है ! अपनेमें कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी केवल मान्यता है। मान्यता छूटी और प्राप्ति हुई ! मान्यताको छोड़नेके लिये क्रिया (करने) की जरूरत नहीं है, प्रत्युत भाव (मानने) और बोध (जानने) की जरूरत है।

क्रिया करनेसे जो अनुभव होगा, वह तत्त्वका अनुभव नहीं होगा; क्योंकि क्रिया करनेसे उत्पन्न हुई वस्तुके साथ ही संयोग होता है, अनुत्पन्न तत्त्वका अनुभव नहीं होता। अनुत्पन्न तत्त्वका अनुभव क्रियाओंसे असंग-होनेपर ही होगा। क्रियासे अर्थात् अभ्याससे तत्त्वज्ञान नहीं होता, प्रत्युत एक नयी अवस्था बनती है। जैसे, रस्सेपर चलना हो तो अभ्यास करेंगे, तब चल सकेंगे, नहीं तो गिर जायँगे। दूसरी बात, अभ्यास करेंगे तो पहलेवाले अभ्यासको रद्दी करके ही करेंगे। योगदर्शनमें आया है—'**तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः**' (१ । १३) 'किसी एक विषयमें स्थिरता प्राप्त करनेके लिये बार-बार प्रयत्न करनेका नाम अभ्यास है।' अतः यदि प्रयत्न करेंगे तो पहला प्रयत्न रद्दी करेंगे, तभी दूसरा प्रयत्न करेंगे। दूसरा प्रयत्न रद्दी करेंगे, तभी तीसरा प्रयत्न करेंगे। तात्पर्य है कि जब हम अपने ज्ञानको रद्दी करते हैं, तभी अभ्यासकी जरूरत पड़ती है, नहीं तो अभ्यासकी क्या जरूरत है ?

यह सबका अनुभव है कि ऐसा कोई वर्ष, महीना, दिन, घण्टा, मिनट और क्षण नहीं है, जिसमें शरीरका परिवर्तन अथवा वियोग न होता हो। परन्तु चेतनतत्त्वका कभी किसी

भी वर्ष, महीना, दिन, घण्टा, मिनट और क्षणमें परिवर्तन अथवा वियोग नहीं होता अर्थात् उसका नित्ययोग है। इस चेतन तत्त्व (स्वरूप) की नित्यताका अनुभव भी सबको है; जैसे—आज तो मैं ऐसा हूँ, पर बचपनमें मैं ऐसा था, इस तरह पढ़ता था—ऐसा कहनेमात्रसे सिद्ध होता है कि शरीर, क्रिया, परिस्थिति आदि बदले हैं, मैं नहीं बदला हूँ, प्रत्युत मैं वही हूँ। शरीर आदिके परिवर्तनका अनुभव सबको है, पर स्वयंके परिवर्तनका अनुभव किसीको नहीं है। जीव अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये चौरासी लाख योनियोंमें जाता है, नरक और स्वर्गमें जाता है—ऐसा कहनेमात्रसे सिद्ध होता है कि चौरासी लाख योनियाँ छूट जाती हैं, नरक और स्वर्ग छूट जाते हैं, पर स्वयं वही रहता है। योनियाँ (शरीर) बदलती हैं, जीव नहीं बदलता। जीव एक रहता है, तभी तो वह अनेक योनियोंमें, अनेक लोकोंमें जाता है। भगवान्‌ने भी अनित्य पदार्थ और क्रियाकी तरफसे दृष्टि हटाकर नित्य तत्त्वकी तरफ दृष्टि करानेके लिये कहा है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

(गीता २। १२)

'किसी कालमें मैं नहीं था—यह बात नहीं है अर्थात् मैं जरूर था, तू नहीं था—यह बात भी नहीं है अर्थात् तू भी जरूर था तथा ये राजालोग नहीं थे—यह बात भी नहीं है अर्थात् ये राजालोग भी जरूर थे; और इसके बाद मैं, तू तथा ये राजालोग नहीं रहेंगे—यह बात भी नहीं है अर्थात् मैं, तू तथा ये राजालोग नित्य रहेंगे ही।' तात्पर्य है कि मैं कृष्णरूपसे, तू अर्जुनरूपसे तथा ये राजारूपसे पहले भी नहीं थे और आगे भी नहीं रहेंगे, पर सत्तारूपसे हम सब (जीवमात्र) पहले भी थे और आगे भी रहेंगे। शरीरको लेकर मैं, तू तथा राजालोग—ये तीन हैं, पर सत्ताको लेकर एक ही हैं।

—यह दृष्टि आत्मतत्त्वकी तरफ है, शरीरकी तरफ नहीं।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(गीता २। २२)

'मनुष्य जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर दूसरे नये कपड़े धारण कर लेता है, ऐसे ही देही (जीवात्मा) पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंमें चला जाता है।'

कपड़े अनेक होते हैं, पर कपड़े पहननेवाला एक ही होता है। पुराने कपड़े उतारनेसे मनुष्य मर नहीं जाता और दूसरे नये कपड़े पहननेसे उसका जन्म नहीं हो जाता। तात्पर्य है कि मरना और जन्मना शरीरोंका होता है, स्वयंका नहीं।

जो अनेक योनियोंमें अनेक सुख-दुःखोंको भोगता है, वह स्वयं किसीके साथ लिप्त नहीं होता, कहीं नहीं फँसता। अगर वह लिप्त हो जाय, फँस जाय तो फिर चौरासी लाख योनियोंको कौन भोगेगा? यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि हरदम जाग्रत्‌में भी हम नहीं रहते, हरदम स्वप्नमें भी हम नहीं रहते, हरदम सुषुप्तिमें भी हम नहीं रहते, हरदम मूर्च्छामें भी हम नहीं रहते और हरदम समाधिमें भी हम नहीं रहते। तात्पर्य है कि स्वयं इन सब अवस्थाओंसे अलग और इनको जाननेवाला है। जो सम्पूर्ण अवस्थाओं, सम्पूर्ण परिस्थितियों, सम्पूर्ण क्रियाओं तथा सम्पूर्ण पदार्थोंके संयोग-वियोगको जाननेवाला है, वह स्वयं एक ही रहता है। अगर स्वयं एक अवस्थामें लिप्त हो जाय तो वह दूसरी अवस्थामें कैसे जायगा और उससे अपनेको अलग अनुभव कैसे करेगा? परन्तु वह दूसरी अवस्थामें जाता है और उससे अपनेको अलग अनुभव करता है। अतः मैं इन सब अवस्थाओंसे, परिस्थितियोंसे, क्रियाओंसे, पदार्थोंसे अलग हूँ—इस अपने अनुभवका ही आदर करना है, इसको ही महत्त्व देना है, इसको ही स्वीकार करना है। इसको सीखना नहीं है। सीखनेसे लाभ नहीं होगा, प्रत्युत अभिमान हो जायगा। इन अवस्थाओं आदिसे अपनेको अलग अनुभव करनेका नाम ही 'ज्ञान' है और इनके साथ मिल जानेका नाम ही 'अज्ञान' है।

स्वयंमें कर्तृत्व और लिप्तता नहीं है। यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि मनुष्य कभी कुछ करता है और कभी कुछ करता है, कभी किसीमें लिप्त होता है और कभी किसीमें लिप्त होता है। कर्तृत्व और लिप्तता कभी किसीमें निरन्तर नहीं रहते, प्रत्युत बदलते रहते हैं। मनुष्य जो भी करता है, उसकी समाप्ति होती ही है। वह जिसमें भी लिप्त होता है, उसका वियोग (उपरति) होता ही है। जैसे, भोजनमें पहले बड़ी लिप्तता, रुचि रहती है। परन्तु ज्यों-ज्यों भोजन करते हैं, त्यों-त्यों वह रुचि कम होती जाती है और अन्तमें उससे अरुचि हो जाती है। इस प्रकार कर्तृत्व और लिप्तता निरन्तर नहीं रहती, पर स्वयं निरन्तर रहता है। स्वयंमें अकर्तृत्व और निर्लिप्तता स्वतःसिद्ध है। मनुष्य कर्ता होता है, तब भी स्वयं रहता है। कर्ता नहीं होता, तब भी स्वयं रहता है। लिप्त होता है, तब भी स्वयं रहता है। लिप्त नहीं होता, तब भी स्वयं रहता है। हम कभी बैठते हैं, कभी सोते हैं, कभी कहीं जाते हैं, कभी किसीसे मिलते हैं तो ये अलग-अलग हुए, पर हम एक ही रहे। अतः स्वयं वही रहता है—यह बात बिलकुल अपने विवेकसे सिद्ध है। इसमें क्रियाकी क्या आवश्यकता है?

तात्पर्य है कि तत्त्व स्वतःस्वाभाविक है। उसकी प्राप्तिमें कोई क्रिया नहीं है, कोई परिश्रम नहीं है। वह सम्पूर्ण देश,

काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, घटना, परिस्थिति आदिमें 'है' (सत्ता) रूपसे विद्यमान है। देश, काल आदि तो नहीं हैं, पर तत्त्व है। देश, काल आदि तो विकारी हैं, पर तत्त्व निर्विकाररूपसे ज्यों-का-त्यों रहता है। जब साधक अपने-आपको खो देता है अर्थात् उसमें मैंपन, परिच्छिन्नता, व्यक्तित्व नहीं रहता, तब वह तत्त्व रह जाता है अर्थात् अनुभवमें आ जाता है।

तत्त्व अनादि-अनन्त और स्वतःसिद्ध है। वह जैसा है, वैसा ही उसको जानना है और उसको जाननेपर वह जैसा था, वैसा ही रहता है। तात्पर्य है कि ज्ञान (बोध) होनेपर ऐसा अनुभव नहीं होता कि इतने दिन मैं अज्ञानी था, अब ज्ञानी हो गया हूँ अथवा मेरा अज्ञान मिट गया है और मेरेको ज्ञान हो गया है।

संसारकी निवृत्ति और परमात्माकी प्राप्ति स्वतः है। नित्यनिवृत्तकी ही निवृत्ति होती है और नित्यप्राप्तकी ही प्राप्ति होती है। वास्तवमें न निवृत्ति है, न प्राप्ति है। इसलिये तत्त्वज्ञान होनेपर न निवृत्ति होती है, न प्राप्ति होती है, प्रत्युत निवृत्ति-प्राप्तिकी दृष्टि (मान्यता) मिटती है और तत्त्व है ज्यों रह जाता है*। इसी तरह वास्तवमें न ज्ञान है, न अज्ञान है। आजतक कभी कोई ज्ञानी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। कारण कि ज्ञानमें व्यक्तित्व नहीं है। अतः ज्ञान और ज्ञानी, अज्ञान और अज्ञानी—ये दोनों अज्ञानियोंकी दृष्टिमें ही हैं। इसलिये साधक माना हुआ है और सिद्ध स्वतःसिद्ध है!

प्रश्न—परमात्मतत्त्व इतना सुगम है कि उधर दृष्टि डालनेमात्रसे उसकी प्राप्ति हो जाय तो फिर इसमें बाधा क्या लग रही है?

उत्तर—जिस रीतिसे सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति होती है, उसी रीतिसे परमात्माकी प्राप्ति भी होती है—यह मान्यता परमात्मप्राप्तिमें बहुत बाधक है। सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति तो कर्मसे होती है, पर परमात्माकी प्राप्ति कर्मसे नहीं होती, प्रत्युत भाव और बोधसे होती है। कारण कि सांसारिक वस्तुओंको तो बनाना पड़ता है, पैदा करना पड़ता है, कहींसे लाना पड़ता है, उनके लिये कहीं जाना पड़ता है; परन्तु परमात्माको बनाना नहीं पड़ता, पैदा नहीं करना पड़ता, कहींसे लाना नहीं पड़ता, उसके लिये कहीं जाना नहीं पड़ता। परमात्मा सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, अवस्था आदिमें ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। उसकी प्राप्तिकी जोरदार जिज्ञासा नहीं है, इसीलिये उसकी प्राप्ति नहीं हो रही है। जिज्ञासा न होनेका कारण है—शरीरके साथ एकता मानकर सुख भोगना। जैसे जालमें फँसी हुई मछली आगे नहीं बढ़ सकती, ऐसे ही सांसारिक सुखमें फँसे हुए मनुष्यकी दृष्टि परमात्माकी तरफ बढ़ ही नहीं सकती। इतना ही नहीं, सांसारिक सुख (भोग और संग्रह) में आसक्त मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिका निश्चय भी नहीं कर सकता†!

सुख भोगना अपने विवेकका अनादर है। अगर मनुष्य अपने विवेकको महत्त्व दे तो वह सुख नहीं भोग सकेगा। कारण कि भोग्य वस्तुको स्थायी मानकर ही सुखभोग होता है। उसको स्थायी माने बिना सुखभोग हो ही नहीं सकता। शरीर-संसार प्रतिक्षण बदलते हैं, एक क्षण भी स्थिर नहीं रहते—ऐसा विवेक होनेपर मनुष्य सुख भोग ही नहीं सकता। कारण कि विवेककी जागृति होनेपर मनुष्यकी स्थिति शरीरमें नहीं रहती, प्रत्युत स्वरूपमें रहती है। इसलिये मनुष्यको अपने विवेकको महत्त्व देना चाहिये। अगर मनुष्य अपने विवेकको महत्त्व नहीं देगा तो क्या वृक्ष महत्त्व देंगे? क्या पशु महत्त्व देंगे? उसमें और पशुमें फर्क क्या हुआ?

संसारमें कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है; प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण नाशकी ओर जा रही है—इस बातको सीखना नहीं है, प्रत्युत समझना है, अनुभव करना है। अनुभव करनेपर सुखासक्ति नहीं रहेगी।

★

* खोया कहे सो बावरा, पाया कहे सो कूर। पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर॥

† भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (गीता २।४४)

'उस पुष्पित (भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिका वर्णन करनेवाली) वाणीसे जिनका अन्तःकरण भोगोंकी तरफ खिंच गया है और जो भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती।'

अहंकार तथा उसकी निवृत्ति

जीवके बन्धनका मूल कारण है—अहंकार। अहंकार दो तरहका होता है—

१. अपरा (जड) प्रकृतिका धातुरूप अहंकार (गीता ७।४; १३।५)। इसको अहंवृत्ति (वृत्तिरूप समष्टि अहंकार) भी कहते हैं।

२. चेतनके द्वारा अपरा प्रकृतिके साथ माने हुए सम्बन्धसे होनेवाला तादात्म्यरूप अहंकार। इसको चिज्जडग्रन्थि (ग्रन्थिरूप व्यष्टि अहंकार) भी कहते हैं।

धातुरूप अहंकारमें कोई दोष नहीं है; क्योंकि यह अहंकार मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदिकी तरह एक करण ही है। इसलिये सम्पूर्ण दोष तादात्म्यरूप अहंकारमें अर्थात् देहाभिमानमें ही हैं—**'देहाभिमानिनि सर्वे दोषाः प्रादुर्भवन्ति'**। जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञ भगवत्प्रेमी महापुरुषमें तादात्म्यरूप अहंकारका सर्वथा अभाव होता है; अतः उसके कहलानेवाले शरीरके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ धातुरूप अहंकारसे ही होती हैं*। परन्तु जड प्रकृतिके कार्य शरीरको अपना स्वरूप मान लेनेके कारण मनुष्य अज्ञानवश अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता मान लेता है और बँध जाता है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (३।२७)।

तादात्म्यरूप अहंकार ('मैं हूँ') से परिच्छिन्नता (एकदेशीयता) आती है। परिच्छिन्नता आते ही इस अहंकारके कई भेद हो जाते हैं। वर्ण, आश्रम, शरीर, अवस्था, योग्यता, सम्बन्ध, व्यवसाय, धर्म, उपासना आदिको लेकर अहंकारके सैकड़ों-हजारों भेद हो जाते हैं। जैसे, वर्णको लेकर—'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं क्षत्रिय हूँ' आदि; आश्रमको लेकर—'मैं ब्रह्मचारी हूँ', 'मैं गृहस्थ हूँ' आदि; शरीरको लेकर—'मैं पुरुष हूँ', 'मैं स्त्री हूँ', 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं देवता हूँ' आदि; अवस्थाको लेकर—'मैं बालक हूँ', 'मैं जवान हूँ' आदि; योग्यताको लेकर—'मैं पढ़ा-लिखा हूँ', 'मैं अपढ़ हूँ', 'मैं समझदार हूँ' आदि; सम्बन्धको लेकर—'मैं पिता हूँ', 'मैं माता हूँ', 'मैं पुत्र हूँ' आदि; व्यवसायको लेकर—'मैं अध्यापक हूँ', 'मैं व्यापारी हूँ' आदि; धर्मको लेकर—'मैं हिन्दू हूँ', 'मैं मुसल्मान हूँ', 'मैं ईसाई हूँ' आदि; उपासनाको लेकर—'मैं निर्गुणोपासक हूँ', 'मैं सगुणोपासक हूँ', 'मैं रामका उपासक हूँ', 'मैं कृष्णका उपासक हूँ' आदि। ये सब-के-सब भेद अहम्‌में ही हैं, तत्त्वमें नहीं। इन सबमें 'मैं' तो अनेक हैं, पर 'हूँ' (सत्ता) एक ही है†।

सम्पूर्ण सृष्टि त्रिगुणात्मक है। श्रीमद्भागवतमें अहंकारको भी तीन प्रकारका बताया गया है—सात्त्विक, राजस और तामस। अतः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके जितने भी भेद सृष्टिमें पाये जाते हैं, वे सब अहंकारमें ही हैं। जबतक व्यष्टि अहंकार रहता है, तबतक साधकोंमें और उनके साधनोंमें भेद रहता है। परन्तु तत्त्वकी प्राप्ति होनेपर भेद नहीं रहता। जबतक दार्शनिकोंमें और दर्शनशास्त्रका अध्ययन करनेवालोंमें किञ्चित् भी व्यष्टि अहंकार रहता है, तबतक दर्शनोंका भेद रहता है‡। अहम्‌के कारण ही दार्शनिकोंमें परस्पर विरोध और अपने-अपने मतका आग्रह (पक्षपात) रहता है, जिससे वे अपने मतका मण्डन और दूसरेके मतका खण्डन करते हैं। तात्पर्य है कि सूक्ष्म अहम् (आंशिक व्यक्तित्व) रहनेसे ही मतभेद होता है, तत्त्वमें मतभेद नहीं है। अहम्‌का अत्यन्त अभाव होनेपर भेद नहीं रहता, प्रत्युत तत्त्व रहता है। तत्त्वमें अहम् नहीं है और अहम्‌में तत्त्व नहीं है। अहम्‌से पृथक्ता पैदा होती है। जहाँ पृथक्ता है, वहाँ बोध कहाँ और जहाँ बोध है, वहाँ पृथक्ता कहाँ?

---

* धातुरूप अहंकारसे होनेवाली क्रियाओंको गीतामें कई प्रकारसे बताया गया है; जैसे—सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं (१३।२९); प्रकृतिके गुणोंद्वारा ही सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं (३।२७); गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (३।२८; १४।२३); गुणोंके सिवाय अन्य कोई कर्ता नहीं है (१४।१९); इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं (५।९)।

† यह तादात्म्यरूप अहंकार प्राणिमात्रमें रहता है। अतः पशु-पक्षियोंमें भी अपनी जातिका अहंकार रहता है, इसीलिये वे अपनी जातिवालोंके साथ ही रहते हैं और अपनी जातिमें ही सन्तान उत्पन्न करते हैं। उनकी एक-एक जातिमें भी परस्पर अलग-अलग अहंकार रहता है। जैसे, एक मोहल्लेका कुत्ता दूसरे मोहल्लेमें जाता है तो दूसरे मोहल्लेका कुत्ता उसको वहाँ आने नहीं देता, उससे लड़ाई करता है—'कुत्ता देख कुत्ता गुर्राया, मैं बैठा फिर तू क्यों आया'? इस तरह प्राणियोंमें अहंताभेद तो है, पर सत्ता भेद नहीं है।

‡ न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा—ये छः आस्तिक (ईश्वरकी सत्ता माननेवाले) दर्शन हैं। न्यायदर्शन और वैशेषिक दर्शनमें भौतिकताकी प्रधानता है। योगदर्शन और सांख्यदर्शनमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनोंका ही वर्णन है। पूर्वमीमांसामें स्वर्गादिकी प्राप्ति और उत्तरमीमांसा (वेदान्तदर्शन)में ब्रह्मकी प्राप्ति मुख्य है। इन दोनों दर्शनोंको 'मीमांसा' कहनेका तात्पर्य है कि इनमें अपने विचार (दर्शन अर्थात् अनुभव) की मुख्यता नहीं है, प्रत्युत वैदिक मन्त्रोंपर विचारकी मुख्यता है। इन दोनोंमें वेदान्त-दर्शनके कई भेद हैं; जैसे—अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद आदि।

'मैं हूँ'—इसमें 'मैं' जड है और 'हूँ' चेतन है। जडकी मुख्यतासे संसारकी इच्छा और चेतनकी मुख्यतासे परमात्माकी इच्छा उत्पन्न होती है। तात्पर्य है कि संसारकी इच्छामें 'मैं' की प्रधानता और परमात्माकी इच्छामें 'हूँ' की प्रधानता रहती है। 'मैं' (जड) की प्रधानता होनेसे जीव संसारी होता है और 'हूँ' (चेतन) की प्रधानता होनेसे जीव साधक होता है। अतः मुख्यरूपसे तादात्म्यरूप अहंकारके दो भेद हैं—१. लौकिक अहंकार, जैसे—'मैं संसारी हूँ' और २. पारमार्थिक अहंकार; जैसे—'मैं साधक हूँ'।

१. लौकिक अहङ्कार

जब मनुष्यका उद्देश्य असत् भोग और संग्रहको प्राप्त करनेका हो जाता है, तब उसमें 'मैं संसारी हूँ'—यह लौकिक अहंकार रहता है। ऐसा अहंकार दृढ़ होनेपर मनुष्य निरन्तर संसारी रहता है। सांसारिक कार्य करते समय तो वह संसारी रहता ही है, साधन करते समय भी वह संसारी ही रहता है। इसलिये वह जो भी साधन करता है, वह कामनाको लेकर (कामनापूर्तिके लिये) ही करता है और वह साधन उसमें साधकपनका अभिमान बढ़ानेवाला होता है। अभिमान अहंकारका ही स्थूलरूप है।

जब मनुष्यमें भोग भोगने और संग्रह करनेकी प्रवृत्ति अधिक हो जाती है, तब उसमें स्वार्थ और अभिमान आ जाते हैं, जो कि आसुरी सम्पत्ति है। स्वार्थ और अभिमान आनेसे उसका अहंकार आसुरी सम्पत्तिवाला हो जाता है—**'अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः'** (गीता १६।१८); **'दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः'** (गीता १७।५)। आसुरी सम्पत्तिवाला अहंकार भयंकर नरकोंमें ले जाता है—**'पतन्ति नरकेऽशुचौ'** (गीता १६।१६)।

अगर ऐसा मानें कि ज्ञान (मुक्ति) होनेपर आसुरी सम्पत्तिवाला अहंकार ही मिटता है, तादात्म्यरूप अहंकार नहीं मिटता तो यह मान्यता ठीक नहीं है। कारण कि आसुरी सम्पत्तिवाला अहंकार मिटनेसे नरकोंसे तो रक्षा होती है, पर मुक्ति नहीं होती। मुक्ति तो तादात्म्यरूप अहंकार मिटनेसे ही होती है। आसुरी सम्पत्तिवाला अहंकार तो तादात्म्यरूप अहंकारका ही स्थूल रूप है, जो जीवमात्रमें रहता है। इसी तादात्म्यरूप अहंकारको लक्ष्य करके भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—**'अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि'** (गीता १८।५८); **'यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे'** (गीता १८।५९)।

अहंकारकी उत्पत्ति अविद्यासे होती है—**'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां'**······' (योगदर्शन २।३-४)। ज्ञान होनेपर अविद्याका नाश हो जाता है। जब अविद्या नहीं रहेगी, तो फिर अविद्यासे होनेवाला अहंकार कैसे रहेगा? जिस ज्ञानसे अविद्या न मिटे, वह ज्ञान कैसा? वह तो सीखा हुआ ज्ञान है, अनुभव किया हुआ ज्ञान नहीं। अगर तादात्म्यरूप अहंकार नहीं मिटेगा तो जैसे बीजसे वृक्ष पैदा हो जाता है, ऐसे ही प्राकृत पदार्थ, व्यक्ति, क्रिया, परिस्थिति आदिका संग पाकर वह अहंकार भी आसुरी सम्पत्तिवाला हो जायगा।

गीतामें जहाँ ज्ञानके साधनोंका वर्णन हुआ है, वहाँ भगवान्‌ने अहंकारसे रहित होनेकी बात कही है—**'अनहङ्कार एव च'** (गीता १३।८)। जब साधकमें भी यह अहंकार दूर हो सकता है तो फिर सिद्ध होनेपर यह कैसे रहेगा? सिद्ध होनेपर तो तादात्म्यरूप अहंकारका सर्वथा नाश हो जाता है। भगवान्‌ने कर्मयोगमें **'निर्ममो निरहङ्कारः'** (गीता २।७१) पदोंसे, ज्ञानयोगमें **'अहङ्कार······विमुच्य निर्ममः'** (१८।५३) पदोंसे और भक्तियोगमें **'निर्ममो निरहङ्कारः'** (१२।१३) पदोंसे तादात्म्यरूप अहंकारके नाशकी ही बात कही है।

२. पारमार्थिक अहङ्कार

जब मनुष्यका उद्देश्य केवल सत्-तत्त्वको प्राप्त करनेका हो जाता है, तब वह उसकी प्राप्तिके लिये 'मैं साधक हूँ'—इस पारमार्थिक अहंकारको लेकर साधन करता है। 'मैं साधक हूँ'—यह अहंकार मुक्त करनेवाला है*। अहम्‌में बैठी हुई बात निरन्तर रहती है। अतः 'मैं साधक हूँ'—ऐसा अहंकार दृढ़ होनेपर साधकके द्वारा निरन्तर साधन होता है। साधन करते समय तो वह साधक रहता ही है, सांसारिक कार्य करते समय भी वह साधक ही रहता है। इसलिये वह जो भी सांसारिक कार्य करता है, वह अपने साधनके अनुरूप ही करता है। जैसे लोभी आदमी ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता, जिससे धनका नाश हो, ऐसे ही वह साधक अपने साधनसे विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं करता।

साधककी साधनसे और साधनकी साध्यसे एकता होती

---

* 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥'

'दासोऽहं कौसलेन्द्रस्य'—यह पारमार्थिक अहंकार है। वास्तवमें यह अहंकार नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास है और तादात्म्यरूप अहंकारका नाश करके मुक्ति देनेवाला है।

है। इसलिये जबतक साधक साधनमें तल्लीन नहीं होता, तबतक साध्य (परमात्मतत्त्व) की प्राप्ति नहीं होती। जबतक साधकमें अहंकार रहता है, तबतक वह साधनमें तल्लीन नहीं होता। अहंकार मिटनेपर साधक साधनमें तल्लीन हो जाता है अर्थात् साधक नहीं रहता, प्रत्युत साधनमात्र रह जाता है। साधनमात्र रहते ही साधन साध्यमें परिणत हो जाता है अर्थात् साध्यकी प्राप्ति हो जाती है।

साधनभेदसे कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये तीन भेद भी अहंकारके कारण ही होते हैं। साधक ज्यों-ज्यों साधनमें आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों अहंकार मिटता जाता है और ज्यों-ज्यों अहंकार मिटता है, त्यों-त्यों कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगका भेद भी मिटता जाता है। कर्मयोगमें अहंकारके रहते हुए भी साधन किया जा सकता है, जो कर्मयोग सिद्ध होनेपर मिट जाता है। ज्ञानयोगमें अहंकार ब्रह्मके साथ मिल जाता है। भक्तियोगमें अहंकार भगवान्‌के अर्पित हो जाता है। तात्पर्य है कि कर्मयोगमें अहम् शुद्ध होता है, ज्ञानयोगमें अहम् मिटता है और भक्तियोगमें अहम् बदलता है। अहम्‌का शुद्ध होना, मिटना और बदलना—ये तीनों परिणाममें एक हो जाते हैं।

कर्मयोग भौतिक साधना है, ज्ञानयोग आध्यात्मिक साधना है और भक्तियोग आस्तिक साधना है। भौतिक साधनामें 'अकर्म' की मुख्यता रहती है, आध्यात्मिक साधनामें 'आत्मा' की मुख्यता रहती है और आस्तिक साधनामें 'परमात्मा' की मुख्यता रहती है। इसलिये कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंमें एक अकर्मको देखता है—**'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः'** (गीता ४। १८); ज्ञानयोगी सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक आत्माको देखता है—**'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'** (गीता ६। २९); और भक्तियोगी सबमें एक परमात्माको देखता है अर्थात् अनुभव करता है—**'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'** (गीता ६। ३०)। अकर्म, आत्मा तथा परमात्मा—तीनों तत्त्वसे एक ही हैं। अतः 'अकर्म' में आत्मा भी है और परमात्मा भी है, 'आत्मा' में अकर्म भी है और परमात्मा भी है तथा 'परमात्मा'में अकर्म भी है और आत्मा भी है। तात्पर्य है कि अहंकारके कारण अकर्म, आत्मा और परमात्मा—ये तीन भेद होते हैं। तत्त्वमें ये तीन भेद नहीं हैं।

अकर्मका अनुभव करनेसे कर्मयोगी कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ करना शेष नहीं रहता। आत्माका अनुभव करनेसे ज्ञानयोगी ज्ञातज्ञातव्य हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ जानना शेष नहीं रहता। परमात्माका अनुभव करनेसे भक्तियोगी प्राप्तप्राप्तव्य हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ पाना शेष नहीं रहता।

कृतकृत्य होनेसे कर्मयोगी ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य भी हो जाता है, ज्ञातज्ञातव्य होनेसे ज्ञानयोगी कृतकृत्य और प्राप्तप्राप्तव्य भी हो जाता है तथा प्राप्तप्राप्तव्य होनेसे भक्तियोगी कृतकृत्य और ज्ञातज्ञातव्य भी हो जाता है। कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य होनेसे तादात्म्यवाला अहंकार सर्वथा नष्ट हो जाता है और तत्त्व रह जाता है अर्थात् अनुभवमें आ जाता है। फिर साधकोंके साधनोंका भेद नहीं रहता। साधक साधन होकर साध्य हो जाता है।

प्रश्न—हमारा स्वरूप अहम् (मैंपन) से रहित है—इसका अनुभव कैसे करें?

उत्तर—सत्तामात्र अर्थात् केवल होनापन ही हमारा स्वरूप है। इस सत्तामात्रके सिवाय और सबका अभाव है। जितना देखने, सुनने और समझनेमें आता है तथा जिन यन्त्रों (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि) से देखते, सुनते और समझते हैं एवं देखना, सुनना और समझना—ये सब-के-सब क्षणभङ्गुर हैं अर्थात् इनकी एक क्षण भी सत्ता (अस्तित्व) नहीं है। परन्तु स्वतःसिद्ध सत्ताका क्षणमात्र भी कभी अभाव हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं।

अपना जो होनापन (स्वरूप) है, उसमें 'मैं' नहीं है और जो 'मैं' है, उसमें होनापन नहीं है। जितने भी विकार हैं, सब मैंपनमें ही हैं, स्वरूपमें नहीं। सत्तारूप होनेसे स्वरूपमें स्वतः निर्लिप्तता है। इस स्वतःसिद्ध सत्ता (स्वरूप) में कभी कोई विकार हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं। मैंपनका नित्य-निरन्तर विकारी रहनेका स्वभाव है और स्वरूपका नित्य-निरन्तर निर्विकार रहनेका स्वभाव है। स्वतःसिद्ध सत्तामें न कर्तृत्व है, न भोक्तृत्व है—**'न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१); न करना है, न करवाना है—**'नैव कुर्वन्न कारयन्'** (गीता ५। १३)।

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
(७। ४)

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पञ्चमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी अपरा प्रकृति है।'

तात्पर्य है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—ये सब एक ही जातिके (अपरा) हैं। अतः जिस जातिकी पृथ्वी है, उसी जातिका अहम् (मैंपन)

है अर्थात् मिट्टीके ढेलेकी तरह मैंपन भी जड और दृश्य है। जैसे पदार्थ दृश्य हैं, ऐसे यह मैंपन भी दृश्य है अर्थात् पदार्थोंकी तरह यह मैंपन भी जाननेमें आनेवाला है। हमारा स्वरूप अहम्‌से अलग है—इसका लक्ष्य करानेके लिये एक बात कही जाती है।

सुषुप्ति (गाढ़ नींद) से जगनेपर हम कहते हैं कि मैं ऐसे सुखसे सोया कि मेरेको कुछ पता नहीं था। पता इसलिये नहीं था कि उस समय अहम् नहीं था अर्थात् अहम् अविद्यामें लीन हो गया था। परन्तु हम तो उस समय थे ही। अगर हम न होते तो 'कुछ भी पता नहीं था'—इसका पता किसको लगता? जगनेके बाद कौन कहता कि मेरेको कुछ भी पता नहीं था? पता लगानेवाला जो अहंभाव था, वह तो नहीं था, पर हम तो थे ही। जैसे, एक घरमें कोई आदमी है। बाहरसे कोई आवाज देता है कि क्या घरमें अमुक आदमी है? तो वह घरके भीतरसे कहता है कि घरमें नहीं है, तो क्या 'घरमें नहीं है'—ऐसा बोलनेवाला भी नहीं है? अगर घरमें कोई नहीं होता तो कौन कहता कि वह घरमें नहीं है? बोलनेवाला तो है ही। इस तरह सुषुप्तिमें 'मेरेको कुछ भी पता नहीं था'—इसको जाननेवाला तो था ही। तात्पर्य है कि सुषुप्तिमें मैंपन तो नहीं रहता, पर अपना होनापन रहता है अर्थात् सुषुप्तिमें मैंपनसे रहित अपनी सत्ता सिद्ध होती है।

हम मैंपनके भाव और अभाव दोनोंको जाननेवाले हैं। मैंपनका अभाव होता है, पर हमारा अभाव नहीं होता। सब संसार मिट जाय तो भी हमारी सत्ता रहती है। अतः सत्ता (होनापन) हमारा स्वरूप है। मैंपन हमारा स्वरूप नहीं है।

★

करणसापेक्ष-करणनिरपेक्ष साधन और करणरहित साध्य

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहनेवाले साधकोंके लिये साधनकी दो शैलियाँ हैं—करणसापेक्ष अर्थात् क्रियाप्रधान शैली और करणनिरपेक्ष अर्थात् विवेकप्रधान शैली। जिस शैलीमें करण (इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि) तथा क्रियाकी प्रधानता रहती है, उसको 'करणसापेक्ष साधन' कहते हैं और जिस शैलीमें सत्-असत्के विवेककी प्रधानता रहती है, उसको 'करणनिरपेक्ष साधन' कहते हैं।

करण क्या है ?

क्रियाकी सिद्धिमें जो प्रधान हेतु होता है, उसको 'करण' कहते हैं। जैसे, सुननेमें कान करण है, स्पर्श करनेमें त्वचा करण है, देखनेमें आँख करण है, चखनेमें रसना करण है, सूँघनेमें नाक करण है, चिन्तन करनेमें चित्त करण है, किसी बातको समझनेमें बुद्धि करण है, कर्ता-भोक्ता बननेमें अहम् करण है। तात्पर्य है कि सांसारिक कार्य करनेके जितने औजार हैं, वे सब 'करण' कहलाते हैं।

शरीरमें कुल तेरह करण हैं। श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण, वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—ये दस (ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ) 'बहिःकरण' हैं तथा मन, बुद्धि और अहंकार—ये तीन 'अन्तःकरण'* हैं।

करणसापेक्ष और करणनिरपेक्ष क्या है ?

जिसमें करणकी अत्यन्त आवश्यकता रहती है, वह 'करणसापेक्ष' होता है और जिसमें करणकी आवश्यकता नहीं रहती, वह 'करणनिरपेक्ष' होता है। जैसे, क्रियाकी सिद्धिमें करणकी अत्यन्त आवश्यकता रहती है; क्योंकि करणके बिना क्रियाकी सिद्धि नहीं होती; अतः क्रियाकी सिद्धि करणसापेक्ष है। परन्तु परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें करणकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वह तत्त्व क्रियासे अतीत है; अतः परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करणनिरपेक्ष है।

करणनिरपेक्ष और करणरहितमें अन्तर

साधन करणनिरपेक्ष होता है और साध्य करणरहित होता है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करणनिरपेक्ष है, पर परमात्मतत्त्व करणरहित है।

दो व्यक्ति बातचीत करते हैं तो उसमें बोलनेके लिये जीभकी और सुननेके लिये कानकी जरूरत है, पर त्वचाकी जरूरत नहीं है। इसलिये उनकी बातचीतको त्वचानिरपेक्ष तो कह सकते हैं, पर त्वचारहित नहीं कह सकते। कारण कि अगर मनुष्य त्वचारहित होगा तो वह बातचीत कैसे कर सकेगा ? ऐसे ही साधन करणनिरपेक्ष तो होता है, पर करणरहित नहीं होता।

पढ़ाई चक्षुनिरपेक्ष तो होती है, पर चक्षुरहित नहीं होती। चक्षुनिरपेक्ष कहनेका तात्पर्य है कि जिसके चक्षु हैं, वह भी पढ़ाई कर सकता है और जिसके चक्षु नहीं हैं, वह भी

* कहीं मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये चार अन्तःकरण बताये गये हैं, कहीं मन, बुद्धि और अहङ्कार—ये तीन अन्तःकरण बताये गये हैं और कहीं मन (चित्त) और बुद्धि (अहङ्कार)—ये दो अन्तःकरण बताये गये हैं। इन सबमें 'अहंकार' मुख्य है।

(कानसे सुनकर) पढ़ाई कर सकता है। अगर पढ़ाईको चक्षुरहित कहें तो जिसके चक्षु है, वह पढ़ाई कैसे कर सकेगा ? इसी तरह साधन करणनिरपेक्ष होता है, करणरहित नहीं होता।

शरीरसे 'निरपेक्ष' होनेपर मुक्ति होती है, 'सापेक्ष' होनेपर बन्धन होता है और 'रहित' होनेपर मृत्यु होती है।

धनके दृष्टान्तसे करणनिरपेक्षताका विवेचन

धन (मुद्रा) वस्तुप्राप्तिका साधन है, साध्य नहीं। वास्तवमें देखा जाय तो धन खुद वस्तुप्राप्तिका साधन नहीं है, प्रत्युत धनका खर्च (त्याग) ही वस्तुप्राप्तिका साधन है। कारण कि वस्तुकी प्राप्ति धनसे नहीं होती, प्रत्युत धनके खर्चसे होती है। अगर वस्तुकी प्राप्ति धनसे होती तो हमारे पास धन रहते हुए ही अर्थात् धनको खर्च किये बिना धनसे ही वस्तु पैदा हो जाती ! परन्तु खर्च करनेसे ही धन हमारे अथवा दूसरोंके काम आता है। अतः धनको महत्त्व न देकर उसके खर्चको ही महत्त्व देना है; क्योंकि धन महत्त्वकी चीज नहीं है, प्रत्युत उसका खर्च ही महत्त्वकी चीज है। इसी तरह करण साधन है, साध्य नहीं है। वास्तवमें करणका त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) ही तत्त्वप्राप्तिका साधन है; क्योंकि तत्त्वकी प्राप्ति करणके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत करणके त्यागसे होती है। अतः करणको महत्त्व न देकर उसके त्यागको ही महत्त्व देना है।

जबतक हम धनका महत्त्व मानेंगे, तबतक हम धनका खर्च नहीं कर सकेंगे। ऐसे ही जबतक हम करणका महत्त्व मानेंगे, तबतक हम करणसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकेंगे। अतः साधकको आरम्भमें ही यह बात समझ लेनी चाहिये कि करण महत्त्वकी चीज नहीं है, प्रत्युत उसका त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) ही महत्त्वकी चीज है। अतः करणको काममें लेते हुए भी उसका महत्त्व न रहे, उसकी अपेक्षा न रहे, तब करणनिरपेक्ष साधन होगा।

अगर हम धनको महत्त्व देंगे तो हमारी संग्रहबुद्धि हो जायगी। संग्रहबुद्धि होना अर्थात् धनके संग्रहको महत्त्व देना पतनकी खास चीज है। धनके संग्रहको महत्त्व देनेवाला मनुष्य बड़े-बड़े पाप, अन्याय, अत्याचार कर बैठता है। अतः धनका त्याग (खर्च) तो साधन है, पर वस्तुप्राप्तिको धनके अधीन मानकर धनका संग्रह करना महान् असाधन है। इसी तरह करणका त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) तो साधन है, पर तत्त्वप्राप्तिको करणके अधीन मानकर करणकी सहायता लेना महान् असाधन है। तात्पर्य है कि धनको काममें तो लेना है, पर महत्त्व धनको न देकर उसके खर्चको ही देना है। ऐसे ही करणको काममें तो लेना है, पर महत्त्व करणको न देकर उसके सम्बन्ध-विच्छेदको ही देना है। अगर हम करणको महत्त्व देंगे तो करण बाँधनेवाला हो जायगा और हम करणसे अतीत नहीं हो सकेंगे। करणसे अतीत हुए बिना करणरहित तत्त्वकी प्राप्ति कैसे होगी ?

जीवन-निर्वाहके लिये हमें अन्न, जल, वस्त्र आदिकी आवश्यकता है, धनकी आवश्यकता नहीं। धन मिले चाहे न मिले, पर वस्तु मिलनी चाहिये। हमारे पास केवल धन हो और अन्न, जल, वस्त्र आदि न हों तो हम जी नहीं सकेंगे। परन्तु हमारे पास केवल अन्न, जल, वस्त्र आदि हों और धन न हो तो हम अच्छी तरह जी जायँगे। यहाँ शंका हो सकती है कि धन पासमें न हो तो वस्तु कैसे मिलेगी ? इसका समाधान है कि धन पासमें न होनेपर भी प्रारब्धके अनुसार अथवा भगवान्‌के विधानसे वस्तु मिल सकती है* । जैसे, कहीं परिश्रम (नौकरी) करनेसे बदलेमें वस्तु मिल जाती है; कोई भेंट, पुरस्कार आदि देता है तो वस्तु मिल जाती है; खेती करनेसे अनाज मिल जाता है; वस्तुके बदलेमें वस्तु मिल जाती है; जिनके पास धन (मुद्रा) नहीं है, उन साधुओं आदिको भी जीवन-निर्वाहकी वस्तुएँ मिल जाती हैं, आदि। तात्पर्य है कि जीवन-निर्वाहके लिये धनकी अपेक्षा नहीं है। वस्तु धनसे ही मिलती है—यह धनकी अपेक्षा है। वस्तु धनसे भी मिलती है और धनके बिना भी मिलती है—यह धनकी निरपेक्षता है। इसी तरह परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें करणकी अपेक्षा नहीं है अर्थात् वह करणनिरपेक्ष है†।

करणकी आवश्यकता कहाँतक है ?

जैसे जूतीकी आवश्यकता तभीतक है, जबतक मार्गपर काँटे-कंकड़ हैं, ऐसे ही साधनमें करणकी आवश्यकता तभीतक है, जबतक विवेककी कमी है अर्थात् विवेक पूर्णतया जाग्रत् नहीं हुआ है। विवेक जाग्रत् न होनेका कारण है—अपने विवेकको महत्त्व न देना। भोग और संग्रहकी आसक्तिके कारण ही मनुष्य अपने विवेकको महत्त्व नहीं देता‡।

---

* प्रारब्ध पहले रचा, पीछे रचा शरीर। तुलसी चिन्ता क्यों करे, भज ले श्रीरघुबीर॥

† यहाँ करणनिरपेक्ष साधनको समझनेके लिये धनका दृष्टान्त दिया गया है। वास्तवमें दृष्टान्त कभी पूरा नहीं घटता, प्रत्युत आंशिकरूपसे ही घटता है। अगर वह पूरी तरह घट जाय तो वह दृष्टान्त नहीं रहेगा, प्रत्युत दार्ष्टान्त हो जायगा। अतः दृष्टान्त तत्त्वको समझनेके लिये केवल संकेत है।

‡ भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (गीता २। ४४)

'भोग तथा ऐश्वर्य (संग्रह)का वर्णन करनेवाली वाणीसे जिनका अन्तःकरण भोगोंकी तरफ खिंच गया है और जो भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती।'

जैसे झाड़ू वहींतक काम आता है, जहाँतक कूड़ा-करकट है, ऐसे ही विवेकवती बुद्धि वहींतक काम आती है, जहाँतक संसारमें महत्त्वबुद्धि है। जैसे झाड़ू और कूड़ा-करकट—दोनों एक ही जातिके हैं, ऐसे ही करण और संसार—दोनों एक ही जातिके हैं। कूड़ा-करकट दूर होनेपर जैसे झाड़ूको भी दूर कर देते हैं, ऐसे ही संसारमें महत्त्वबुद्धिका त्याग होनेपर करणका भी त्याग हो जाता है।

करणनिरपेक्ष साधनमें करणको काममें लेना है करणका त्याग करनेके लिये, न कि साथमें रखनेके लिये। अगर करणमें महत्त्वबुद्धि होगी तो उसका त्याग नहीं हो सकेगा। करणमें महत्त्वबुद्धि होनेका तात्पर्य है—करणके द्वारा ही तत्त्वकी प्राप्ति मानना।

करण साधन है, साध्य नहीं। साध्य तो करणरहित परमात्मतत्त्व ही है। अतः करणका सदुपयोग तो करना है, पर उसकी अपेक्षा नहीं रखनी है। अपेक्षा रखनेसे करणकी पराधीनता रहेगी। जडकी पराधीनता, दासता रहनेसे चिन्मय तत्त्व नहीं मिलेगा। करणकी अपेक्षा न रखनेसे जडकी दासता नहीं रहेगी और साधक स्वतन्त्रतापूर्वक स्वतन्त्रता (मोक्ष) को प्राप्त कर लेगा।

संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करणनिरपेक्ष होनेसे ही होता है। जबतक करणकी अपेक्षा रहेगी, तबतक संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होगा; क्योंकि करण भी संसार ही है।

करणको काममें लेना दोष नहीं है, प्रत्युत उसमें महत्त्वबुद्धि रखना, उसका आश्रय लेना, उसके अधीन होना, उसकी अपेक्षा रखना दोष है। अतः बुद्धिको काममें लेना है, उसका सदुपयोग करना है, पर उसका आश्रय नहीं लेना है। साधकको विचार करना चाहिये कि क्या मैं बुद्धि हूँ ? अगर मैं बुद्धि नहीं हूँ तो मैं बुद्धिका हूँ अथवा बुद्धि मेरी है ? अगर बुद्धि मेरी है तो इससे सिद्ध होता है कि मैं बुद्धिसे अलग हूँ; मेरे लिये बुद्धिकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत बुद्धिको मेरी जरूरत है। अतः बुद्धिको छोड़कर अपने स्वरूपमें स्थित होना है। जबतक बुद्धि साथमें रहेगी, तबतक राग-द्वेषका अभाव नहीं होगा और अहम् (परिच्छिन्नता या व्यक्तित्व) बना रहेगा।

जैसे आँख दीखनेमें छोटी-सी होते हुए भी इतनी सूक्ष्म और व्यापक है कि भूमण्डल, तारा, नक्षत्र आदि सब देखनेके बाद भी जगह खाली रहती है। ऐसा नहीं होता कि बस, अब जगह खाली नहीं रही, अब और नहीं देख सकते। जो वस्तु आँखसे नहीं दीखती, वह मन-बुद्धिसे दीखती है अर्थात् जाननेमें आती है। बुद्धि इतनी सूक्ष्म और व्यापक है कि समस्त वेद-पुराणादि शास्त्र, अनेक विद्याएँ, अनेक भाषाएँ और लिपियाँ, चारों युगों और चौदह भुवनोंका ज्ञान तथा ब्रह्माकी आयु भी बुद्धिके जाननेमें आती है। फिर भी ऐसा नहीं होता कि बस, अब जगह खाली नहीं रही, अब और नहीं जान सकते। बुद्धिमें ऐसी विलक्षणता होनेपर भी बुद्धि दृश्य ही है, द्रष्टा नहीं; क्योंकि बुद्धि करण (अन्तःकरण) है। करण प्रकृतिका कार्य होता है। करणके द्वारा हम प्रकृतिको तो जान ही नहीं सकते, प्रकृतिके कार्यको भी पूरा नहीं जान सकते, फिर प्रकृतिसे अतीत तत्त्वको जान ही कैसे सकते हैं ?

अगर हम ब्रह्मको बुद्धिसे जाननेकी चेष्टा करते हैं तो हमने मानो ब्रह्मको बुद्धिका विषय बना लिया अर्थात् ब्रह्म तो दृश्य (एकदेशीय) हो गया और बुद्धि द्रष्टा (व्यापक) हो गयी। बुद्धिमें वही विषय आता है, जो बुद्धिसे छोटा होता है। अतः जबतक हम ब्रह्मको बुद्धिके ज्ञानसे देखेंगे, बुद्धिसे उसपर विचार करेंगे, तबतक हमारी स्थिति जडमें ही रहेगी। कारण कि सांसारिक विषयोंसे लेकर बुद्धितक सब प्रकृतिका कार्य होनेसे दृश्य (जड) ही है। इसीलिये कहा है—

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद्दृश्यं दृक् तु मानसम्।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव तु न दृश्यते॥

(वाक्यसुधा १)

'सर्वप्रथम नेत्र द्रष्टा हैं और रूप दृश्य है, फिर मन द्रष्टा है और नेत्रादि इन्द्रियाँ दृश्य हैं, फिर बुद्धि द्रष्टा है और मन दृश्य है। अन्तमें बुद्धिकी वृत्तियोंका भी जो द्रष्टा है, वह साक्षी (स्वयंप्रकाश आत्मा) किसीका भी दृश्य नहीं है।'

तात्पर्य है कि शब्दादि विषयोंमें होनेवाले परिवर्तनको इन्द्रियाँ जानती हैं; अतः विषय दृश्य हैं और इन्द्रियाँ द्रष्टा हैं। इन्द्रियोंमें होनेवाले परिवर्तनको मन जानता है; अतः इन्द्रियाँ दृश्य हैं और मन द्रष्टा है। मनमें होनेवाले संकल्प-विकल्प, चंचलता-स्थिरता आदि विकारोंको बुद्धि जानती है; अतः मन दृश्य है और बुद्धि द्रष्टा है। बुद्धिमें होनेवाले विकारों (समझना, न समझना अथवा कम समझना आदि)को स्वयं जानता है; अतः बुद्धि दृश्य है और स्वयं (स्वरूप) द्रष्टा है। स्वयं अपरिवर्तनशील तथा निर्विकार है; अतः वह किसीका

भी दृश्य नहीं है, प्रत्युत सबका द्रष्टा है*—

१. **'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** (बृहदा० २।४।१४)

'सबके विज्ञाताको किसके द्वारा जाना जाय?'

२. **'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'** (बृहदा० ३।७।२३)

'इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है।'

३. **'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता'** (श्वेताश्वतर० ३।१९)

'वह सम्पूर्ण ज्ञेयको जानता है, पर उसका ज्ञाता कोई नहीं है।'

करणरहित (करणनिरपेक्ष) परमात्मतत्त्व

जिससे क्रियाकी सिद्धि होती है, जो क्रियाको उत्पन्न करनेवाला है, उसको 'कारक' कहते हैं—**'क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्'**। कारक छः होते हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण†। ये छहों कारक क्रियाकी सिद्धिमें ही काम आते हैं, परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें नहीं। कारण कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति क्रियासाध्य नहीं है। सभी कारक प्रकृतिमें हैं और प्रकृतिके कार्य हैं; परन्तु परमात्मतत्त्व प्रकृतिसे अतीत है। अतः कोई भी कारक परमात्मतत्त्वतक नहीं पहुँच सकता। इसलिये परमात्मतत्त्व करणनिरपेक्ष (करणरहित) है अर्थात् वह कर्तानिरपेक्ष, कर्मनिरपेक्ष, करणनिरपेक्ष, सम्प्रदाननिरपेक्ष, अपादाननिरपेक्ष और अधिकरणनिरपेक्ष है‡।

शंका—जब परमात्मतत्त्व सभी कारकोंसे निरपेक्ष है तो फिर उसको केवल करणनिरपेक्ष कहनेका क्या तात्पर्य है?

समाधान—क्रियाकी सिद्धि करणके व्यापारके बाद तत्काल ही होती है§। अतः करण क्रियाकी सिद्धिमें अत्यन्त उपकारक होता है—**'साधकतमं करणम्'** (पाणि० अ० १।४।४२)। जैसे, **'रामके बाणसे बालि मारा गया'**—इस वाक्यमें 'बाण' करण है; क्योंकि बालिके मरनेमें बाण हेतु हुआ। यद्यपि बाणके चलनेमें धनुष, प्रत्यंचा, हाथ आदि कई कारक हेतु हैं, तथापि बालि बाणसे मारा गया, धनुष आदिसे नहीं। अतः परमात्मतत्त्वको करणनिरपेक्ष कहनेका तात्पर्य यह हुआ कि जो क्रियाकी सिद्धिमें अत्यन्त उपकारक है, वह 'करण' भी जब उसकी प्राप्तिमें हेतु नहीं है तो फिर दूसरे कारक उसकी प्राप्तिमें हेतु हो ही कैसे सकते हैं? इसलिये करणनिरपेक्ष कहनेसे परमात्मतत्त्व स्वतः कारकनिरपेक्ष सिद्ध हो जाता है; क्योंकि वह कारकोंसे अतीत है।

कारकोंमें 'कर्ता' मुख्य होता है; क्योंकि सब क्रियाएँ कर्ताके ही अधीन होती हैं। अन्य कारक तो क्रियाकी सिद्धिमें सहायकमात्र होते हैं। इसलिये कर्ता स्वतन्त्र होता है—**'स्वतन्त्रः कर्त्ता'** (पाणि० अ० १।४।५४)। परमात्मतत्त्व किसी भी क्रियाका कर्ता नहीं है। गीताने परमात्मतत्त्वमें कर्तापनका निषेध जगह-जगह और तरह-तरहसे किया है; जैसे—

१. **शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥** (१३।३१)

'यह आत्मा शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

२. **प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।**
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ (१३।२९)

'जो सम्पूर्ण क्रियाओंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही की जाती हुई देखता है अर्थात् प्रकृतिको कर्ता देखता है और स्वरूपको अकर्ता देखता (अनुभव करता) है, वही यथार्थ देखता है।'

३. **तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।**
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ (१८।१६)

'जो कर्मोंके विषयमें शुद्ध आत्माको कर्ता मानता है, वह

---

* जैसे धनके सम्बन्धसे 'धनवान्' कहलाता है; किन्तु धनका सम्बन्ध न रहनेपर धनवान् (व्यक्ति) तो रहता है, पर 'धनवान्' नाम नहीं रहता। ऐसे ही दृश्यके सम्बन्धसे 'द्रष्टा' कहलाता है; किन्तु दृश्यका सम्बन्ध न रहनेपर द्रष्टा तो रहता है, पर 'द्रष्टा' संज्ञा नहीं रहती। तात्पर्य है कि एक ही चिन्मय तत्त्व (समझनेके लिये) दृश्यके सम्बन्धसे द्रष्टा, साक्ष्यके सम्बन्धसे साक्षी, करणके सम्बन्धसे कर्ता और शरीरके सम्बन्धसे शरीरी कहा जाता है। वास्तवमें उस तत्त्वका कोई नाम नहीं है। वह केवल अनुभवरूप है।

† कर्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च। अपादानाधिकरणे चेत्याहुः कारकाणि षट्॥

‡ जो करणरहित होता है, वह करणसापेक्ष तो नहीं हो सकता, पर करणनिरपेक्ष हो सकता है। अतः यहाँ करणसापेक्षके संस्कारवालोंको समझानेके लिये (करणनिरपेक्ष साधनकी दृष्टिसे) परमात्मतत्त्वको 'करणनिरपेक्ष' कह दिया गया है। वास्तवमें परमात्मतत्त्व 'करणरहित' ही है।

§ क्रियायाः फलनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्। विवक्ष्यते यदा तत्र करणं तत्तदा स्मृतम्॥ (वाक्यपदीय ३।७।९०)

दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है।'

४. **प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।**
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥
(३।२७)

'सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं अर्थात् गुण कर्ता हैं; परन्तु अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अज्ञानी मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा मानता है।'

५. **तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।**
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥
(३।२८)

'हे महाबाहो! गुणविभाग और कर्मविभागको तत्त्वसे जाननेवाला महापुरुष 'सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता।'

६. **नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।**
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥
(१४।१९)

'जब विवेकी (विचारकुशल) मनुष्य तीनों गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और अपनेको गुणोंसे पर (सर्वथा निर्लिप्त) अनुभव करता है, तब वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।'

७. '**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते**' (५।९)

'सम्पूर्ण इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं अर्थात् इन्द्रियाँ कर्ता हैं।'

८. **नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।**
(५।८)

'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी 'मैं (स्वयं) कुछ भी नहीं करता हूँ'—ऐसा माने अर्थात् अनुभव करे।'

—इस प्रकार कहीं प्रकृतिको, कहीं गुणोंको और कहीं इन्द्रियोंको कर्ता कहनेका तात्पर्य यह है कि परमात्मतत्त्वमें कर्तृत्व नहीं है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व संसारका स्वरूप है। जब परमात्मतत्त्व कर्ता ही नहीं है तो फिर अन्य कारक वहाँतक पहुँच ही कैसे सकते हैं? अतः उसकी प्राप्ति करणके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत करणके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। उपनिषद्‌में आया है—

१. '**न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः**'।
(केन० १।३)

'उस ब्रह्मतक न तो नेत्रेन्द्रिय जाती है, न वाणी जाती है और न मन ही जाता है।'

२. **यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।**
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
(केन० १।५)

'जो मन (अन्तःकरण) से मनन नहीं किया जाता, प्रत्युत जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है, उसीको तू ब्रह्म जान। जिस इसकी लोक उपासना करता है अर्थात् जिसका ज्ञान अन्तःकरणसे होता है, वह ब्रह्म नहीं है।'

३. **नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।**
(कठ० २।३।१२)

'वह परमात्मतत्त्व न तो वाणीसे, न मनसे और न नेत्रोंसे ही प्राप्त किया जा सकता है।'

४. **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।**
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥
(कठ० १।२।२३; मुण्डक० ३।२।३)

'यह आत्मतत्त्व (परमात्मा) न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त हो सकता है। यह जिसको स्वीकार कर लेता है, उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है; क्योंकि यह (परमात्मा) उसके लिये अपने यथार्थ स्वरूपको प्रकट कर देता है।'

परमात्मा उसी साधकको मिलते हैं, जिसको वे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं और वे उसीको स्वीकार करते हैं, जो केवल उनको ही प्राप्त करना चाहता है—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**' (गीता ४।११)। तात्पर्य है कि परमात्मा साधककी उत्कट अभिलाषासे प्राप्त होते हैं, श्रवणादि साधनोंसे नहीं। शांकरभाष्यमें आया है—

'**यमेव परमात्मानमेवैष विद्वान्वृणुते प्राप्तुमिच्छति तेन वरणेनैष परमात्मा लभ्यो नान्येन साधनान्तरेण, नित्यलब्धस्वभावत्वात्।**'

'जिस परमात्माको यह विद्वान् वरण करता अर्थात् प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, उस वरण करनेके द्वारा ही यह परमात्मा प्राप्त होनेयोग्य है। नित्यप्राप्तस्वरूप होनेके कारण यह परमात्मा किसी अन्य साधनसे प्राप्त नहीं हो सकता।'

गीतामें आया है—'**श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्**' (२।२९) 'इसको सुनकर भी कोई नहीं जानता।' तात्पर्य है कि जैसे संसारमें सुननेमात्रसे विवाह नहीं होता, प्रत्युत स्त्री और पुरुष एक-दूसरेको पति-पत्नीरूपसे स्वीकार करते हैं, तब विवाह होता है, ऐसे ही सुननेमात्रसे परमात्मतत्त्वको कोई भी नहीं जान सकता, प्रत्युत सुननेके बाद जब स्वयं उसको स्वीकार करेगा अथवा उसमें स्थित होगा, तब स्वयंसे उसको जानेगा। अतः सुननेमात्रसे मनुष्य ज्ञानकी बातें सीख सकता है, सुना

सकता है, लिख सकता है, पर अनुभव नहीं कर सकता।

'मैं हूँ'—इस तरह अपने होनेपन (सत्ता)का जो अनुभव होता है, यह किसी करणसे नहीं होता। तात्पर्य है कि अपना होनापन किसी करणके अधीन नहीं है, प्रत्युत स्वतःसिद्ध है। अतः जब अपने होनेपनका अनुभव करनेके लिये भी किसी करणकी आवश्यकता नहीं है तो फिर परमात्मतत्त्व क्या हमारेसे भी कमजोर है कि उसके अनुभवके लिये करणकी आवश्यकता हो?

सत्ता (तत्त्व) करणरहित है—इसका सुषुप्तिमें अस्पष्ट अनुभव प्रत्येक मनुष्यको होता है*। सुषुप्तिमें ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सब अविद्यामें लीन हो जाते हैं, पर स्वयं रहता है। इसलिये सुषुप्तिसे जगनेपर (उसकी स्मृतिसे) हम कहते हैं कि मैं ऐसा सुखपूर्वक सोया कि मेरेको कुछ पता नहीं था। इस स्मृतिसे सिद्ध होता है कि सुखका अनुभव करनेवाला और 'कुछ पता नहीं था' यह कहनेवाला तो था ही! नहीं तो सुखका अनुभव किसको हुआ और 'कुछ पता नहीं था'—यह बात किसने कही?

एक स्त्रीकी नथ कुएँमें गिर गयी। उसको निकालनेके लिये एक आदमी कुएँमें उतरा और जलके भीतर जाकर उस नथको ढूँढ़ने लगा। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वह नथ उसके हाथ लग गयी तो उसको बड़ी प्रसन्नता हुई। परन्तु उस समय वह कुछ बोल नहीं सका; क्योंकि वाणी (अग्नि) और जलका आपसमें विरोध है। जलसे बाहर आनेपर ही वह बोल सका कि 'नथ मिल गयी!' ऐसे ही सुषुप्तिमें करणोंके लीन होनेपर मनुष्य सुखका अनुभव तो करता है, पर उसको व्यक्त नहीं कर सकता; क्योंकि बोलनेका साधन नहीं रहा। सुषुप्तिसे जगनेपर ही उसको सुषुप्तिके सुखकी स्मृति होती है। स्मृति अनुभवजन्य होती है—'**अनुभवजन्यं ज्ञानं स्मृतिः**'।

इस प्रकार सुषुप्तिमें करणोंके अभावका अनुभव तो सबको होता है, पर अपने अभावका अनुभव किसीको कभी नहीं होता। करण हमारे बिना नहीं रह सकते, पर हम (स्वयं) करणोंके बिना रह सकते हैं और रहते हैं। सत्तामात्र, चिन्मयतामात्र हमारा स्वरूप है। इस नित्य सत्ताको किसीकी अपेक्षा नहीं है; परन्तु सत्ताकी अपेक्षा सबको है। अतः सत्ताका बोध करणोंके द्वारा नहीं होता, प्रत्युत करणोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे होता है।

एक मार्मिक बात है कि सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति जिस रीतिसे होती है, उस रीतिसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। संसारका कोई भी काम करणके बिना नहीं होता। जो भी काम होता है, करणसे ही होता है। कारण कि अप्राप्त सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति तो क्रियासे होती है, पर नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति क्रियासे नहीं होती—'**नास्त्यकृतः कृतेन**' (मुण्डक० १।२।१२); क्योंकि वह क्रियासे अतीत तत्त्व है। अतः उसकी प्राप्तिके लिये करणकी आवश्यकता नहीं है।

जैसे कण्ठी गलेमें है और गला कण्ठीमें है, पर वहम हो गया कि कण्ठी खो गयी तो इस वहम (अज्ञान)को मिटानेके लिये किसी करणकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत ज्ञानकी जरूरत है। ज्ञान कण्ठीको पैदा नहीं करता, प्रत्युत वहम मिटाता है। अतः किसी वस्तुको बनानेमें, पैदा करनेमें तो करणकी जरूरत है, पर जो स्वतःसिद्ध (पहलेसे ही विद्यमान) तत्त्व है, उसमें करणकी क्या जरूरत है?

खोया कहे सो बावरा, पाया कहे सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर॥

परमात्मतत्त्वका अनुभव स्वयंको होता है, करणको नहीं। अतः परमात्मतत्त्वका अनुभव करनेके लिये हम करणकी जितनी आवश्यकता मानेंगे, उतनी ही परमात्मतत्त्वके अनुभवमें देरी लगेगी। वास्तवमें हमें नित्यप्राप्त तत्त्वकी ही प्राप्ति करनी है और नित्यनिवृत्तकी ही निवृत्ति करनी है, नया कुछ नहीं करना है। अतः इसमें किसी करण अर्थात् क्रियाकी अपेक्षा नहीं है। इसलिये गीता कहती है—

१. '**आत्मन्येवात्मना तुष्टः**' (२।५५)

'अपने-आपसे अपने-आपमें ही सन्तुष्ट रहता है।'

२. **यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।**
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ (३।१७)

'जो मनुष्य अपने-आपमें ही रमण करनेवाला तथा अपने-आपमें ही तृप्त एवं अपने-आपमें ही सन्तुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

३. '**उद्धरेदात्मनात्मानम्**' (६।५)

'अपने द्वारा अपना उद्धार करे।'

४. **यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।** (६।२०)

'जिस अवस्थामें स्वयं अपने-आपमें अपने-आपको देखता हुआ अपने-आपमें सन्तुष्ट हो जाता है।'

५. '**पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना**' (१३।२४)

* सत्ताका स्पष्ट अनुभव करणोंके लीन होनेपर (सुषुप्तिमें) नहीं होता, प्रत्युत करणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर (जाग्रत्-सुषुप्तिमें) होता है।

'अपने-आपसे अपने-आपमें परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं।'

६. **'पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्'** (१५।११)

'अपने-आपमें स्थित परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं।' भगवान्‌के लिये भी अर्जुनने कहा है—

'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।' (१०।१५)

'हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने-आपसे अपने-आपको जानते हैं।'

उपनिषद्‌में भी आया है—

१. **'आत्मन्येवात्मानं पश्यति'** (बृहदा० ४।४।२३)

'आत्मामें ही आत्माको देखता है।'

२. **'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'** (बृहदा० ४।४।६)

'ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

३. **आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्।** (केन० २।४)

'अमृतत्व अपने-आपसे ही प्राप्त होता है। विद्यासे तो अज्ञानान्धकारको निवृत्त करनेका सामर्थ्य मिलता है।'

केनोपनिषद्‌के उपर्युक्त मन्त्रके शांकरभाष्यमें आया है—

'आत्मना विन्दते स्वेनैव नित्यात्मस्वभावेनामृतत्वं विन्दते। नालम्बनपूर्वकम्। विन्दत इति आत्मविज्ञानापेक्षम्। यदि हि विद्योत्पाद्यममृतत्वं स्यादनित्यं भवेत्कर्मकार्यवत्। अतो न विद्योत्पाद्यम्। यदि चात्मनैवामृतत्वं विन्दते किं पुनर्विद्यया क्रियत इत्युच्यते। अनात्मविज्ञानं निवर्तयन्ती सा तन्निवृत्त्या स्वाभाविकस्यामृतत्वस्य निमित्तमिति कल्प्यते। यत आह 'वीर्यं विद्यया विन्दते।'

'अमरत्व तो आत्मासे—अपने नित्यात्मस्वभावसे ही प्राप्त करते हैं, किसीके आश्रयसे नहीं। **'विन्दते'**—इससे यह समझना चाहिये कि उसकी प्राप्ति आत्मविज्ञानकी अपेक्षा रखनेवाली है। यदि अमृतत्व विद्यासे उत्पन्न किया जानेयोग्य होता तो कर्मफलके समान अनित्य हो जाता। इसलिये वह विद्यासे उत्पाद्य नहीं है। यदि कहो कि जब अमृतत्व स्वतः ही मिल जाता है तो विद्या उसमें क्या करती है? तो इसमें हमें यह कहना है कि वह अनात्मविज्ञानको निवृत्त करती हुई उसकी निवृत्तिके द्वारा स्वाभाविक अमृतत्वकी हेतु बनती है; क्योंकि 'विद्यासे अज्ञानान्धकारको निवृत्त करनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है'—ऐसा कहा भी है।'

धनसहायमन्त्रौषधितपोयोगकृतं वीर्यं मृत्युं न शक्नोत्यभिभवितुमनित्यवस्तुकृतत्वात्; आत्मविद्याकृतं तु वीर्यमात्मनैव विन्दते, नान्येन इत्यतोऽनन्यसाधनत्वादात्मविद्यावीर्यस्य तदेव वीर्यं मृत्युं शक्नोत्यभिभवितुम्।'

'धन, सहाय, मन्त्र, ओषधि, तप और योगसे प्राप्त होनेवाला वीर्य (सामर्थ्य) अनित्य वस्तुका किया हुआ होनेसे मृत्युका पराभव करनेमें समर्थ नहीं है; किन्तु आत्मविद्यासे होनेवाला वीर्य तो आत्माद्वारा ही प्राप्त किया जाता है, अन्य किसीसे नहीं। इसलिये आत्मविद्याजनित वीर्य किसी अन्य साधनसे प्राप्त होनेवाला नहीं है; अतः वही वीर्य मृत्युका पराभव कर सकता है।'

तात्पर्य यह हुआ कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति स्वयंको होती है, करणको नहीं। अतः उसकी प्राप्तिके लिये अन्तःकरणकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेदकी जरूरत है। जिससे सम्बन्ध-विच्छेद करना है, वह कैसा है और कैसा नहीं है, इससे क्या मतलब?

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च॥

(श्रीमद्भा० ११।२८।४)

'संसारकी सब वस्तुएँ वाणीसे कही जा सकती हैं और मनसे सोची जा सकती हैं; अतः वे सब असत्य हैं। जब द्वैत नामकी कोई वस्तु ही नहीं है तो फिर उसमें क्या अच्छा और क्या बुरा?'

शंका—अन्तःकरणको शुद्ध किये बिना उससे सम्बन्ध-विच्छेद कैसे होगा?

समाधान—वास्तवमें परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये अन्तःकरणकी आवश्यकता समझना और अन्तःकरणसे अपना सम्बन्ध मानना ही अन्तःकरणकी अशुद्धि है। बोध अन्तःकरणसे नहीं होता, प्रत्युत विवेककी जागृतिसे होता है और स्वयंको होता है। जैसे कलम बढ़िया होनेसे लिखावट तो बढ़िया हो सकती है, पर लेखक बढ़िया नहीं हो जाता, ऐसे ही अन्तःकरण शुद्ध होनेसे क्रियाएँ तो शुद्ध हो सकती हैं, पर कर्ता शुद्ध नहीं हो जाता। कर्ता शुद्ध होता है अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर; क्योंकि अन्तःकरणसे अपना सम्बन्ध मानना ही अशुद्धिका मूल कारण है। अपनापन (ममता) ही मल है—*'ममता मल जरि जाइ'* (मानस ७।११७ क)।

गीतामें आया है—

'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥' (२।४८)

—इसकी व्याख्या करते हुए श्रीशंकराचार्यजी महाराज कहते हैं—**'फलतृष्णाशून्येन क्रियमाणे कर्माणि सत्त्वशुद्धिजा ज्ञानप्राप्तिलक्षणा सिद्धिस्तद् विपर्ययजा**

असिद्धिस्तयोः सिद्ध्यसिद्ध्योरपि समस्तुल्यो भूत्वा कुरु कर्माणि। कोऽसौ योगो यत्रस्थः कुर्वित्युक्तमिदमेव तत् सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वं योग उच्यते।'

'फल तृष्णारहित पुरुषके द्वारा कर्म किये जानेपर अन्तःकरणकी शुद्धिसे उत्पन्न होनेवाली ज्ञानप्राप्ति तो सिद्धि है और उससे विपरीत (ज्ञानप्राप्तिका न होना) असिद्धि है। ऐसी सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर अर्थात् दोनोंको तुल्य समझकर कर्म कर। वह कौन-सा योग है, जिसमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहा है? यही जो सिद्धि और असिद्धिमें सम होना है, इसीको योग कहते हैं।'

तात्पर्य यह हुआ कि साधकको अन्तःकरणकी शुद्धि-अशुद्धिकी अपेक्षा न रखकर सम रहना चाहिये। कारण कि अन्तःकरणकी शुद्धि और अशुद्धि—दोनोंका जो प्रकाशक (साक्षी) है, वह शुद्धि-अशुद्धिसे रहित (सम) है। अतः अन्तःकरणको शुद्ध करनेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत सम होनेकी अर्थात् अन्तःकरण तथा उसकी शुद्धि-अशुद्धि दोनोंका त्याग करके अपने स्वरूपमें स्थित होनेकी जरूरत है, जो कि स्वतःसिद्ध है। भागवतोक्त हंसगीतामें भगवान् कहते हैं—

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः॥
गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत्॥

(११।१३।२५-२६)

'यह चित्त विषयोंका चिन्तन करते-करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्तमें प्रविष्ट हो जाते हैं, यह बात सत्य है, तथापि विषय और चित्त—ये दोनों ही मेरे स्वरूपभूत जीवके देह (उपाधि) हैं अर्थात् आत्माका चित्त और विषयके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है।'

'इसलिये बार-बार विषयोंका सेवन करते रहनेसे जो चित्त विषयोंमें आसक्त हो गया है और विषय भी चित्तमें प्रविष्ट हो गये हैं, इन दोनोंको अपने वास्तविक स्वरूपसे अभिन्न मुझ परमात्मामें स्थित होकर त्याग देना चाहिये।'

ऐसी ही बात श्रीरामचरितमानसमें भी आयी है—

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

(७।४१)

प्रश्न—क्या परमात्माका सगुण-साकार रूप भी करणनिरपेक्ष है?

उत्तर—हाँ, परमात्माका सगुण रूप भी वास्तवमें निर्गुण होनेसे करणनिरपेक्ष (करणरहित) ही है*। परमात्माको चाहे निर्गुण कहें, चाहे सगुण कहें, वे सत्त्व-रज-तम तीनों गुणोंसे सर्वथा अतीत हैं। वे सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके लिये गुणोंको स्वीकार करते हैं, पर ऐसा करनेपर भी वे गुणोंसे सर्वथा अतीत ही रहते हैं, गुणोंसे बँधते नहीं†। अतः परमात्माके ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूप भी तत्त्वसे निर्गुण ही हैं।

वास्तवमें परमात्मा सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि सब कुछ हैं। सगुण-निर्गुण आदि तो उनके विशेषण (नाम) हैं। जो परमात्मा गुणोंसे कभी नहीं बँधते, जिनका गुणोंपर पूरा आधिपत्य होता है, वे ही परमात्मा निर्गुण होते हैं। अगर परमात्मा गुणोंसे बँधे हुए और गुणोंके अधीन होंगे तो वे कभी निर्गुण नहीं हो सकते। निर्गुण तो वे ही हो सकते हैं, जो गुणोंसे सर्वथा अतीत हैं और जो गुणोंसे सर्वथा अतीत हैं, ऐसे परमात्मामें ही सम्पूर्ण गुण रह सकते हैं। जो अपनेको गुणोंसे बँधा हुआ मानता है, वह जीव भी परमात्मप्राप्ति होनेपर जब गुणातीत कहा जाता है—**'गुणातीतः स उच्यते'** (गीता १४।२५), तो फिर परमात्मा गुणोंसे आबद्ध कैसे हो सकते हैं? वे तो नित्य ही गुणातीत हैं।

जब परमात्मा सगुण-साकार रूपसे प्रकट होते हैं, तब उनके करण भी प्राकृत (मायिक) नहीं होते, प्रत्युत चिन्मय होते हैं—

'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' (गीता ४।९)

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥

(मानस २।१२७।५)

भगवान्‌का साकार रूप जीवोंके शरीरोंकी तरह हाड़-मांसका (जड) नहीं होता। जीवोंके शरीर तो पाप-

* सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ (गीता १३।१४)
'वे परमात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करनेवाले हैं; आसक्तिरहित हैं और सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण करनेवाले हैं तथा गुणोंसे रहित हैं और सम्पूर्ण गुणोंके भोक्ता हैं।'

† त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्। मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ (गीता ७।१३)
'इन तीनों गुणरूप भावोंसे मोहित यह सब जगत् इन गुणोंसे पर अविनाशी मेरेको नहीं जानता।'

पुण्यमय, नाशवान्, रोगी, विकारी, पाञ्चभौतिक और रज-वीर्यसे पैदा होनेवाले होते हैं, पर भगवान्‌का शरीर पाप-पुण्यसे रहित, अविनाशी, रोगरहित, विकार-रहित, चिन्मय तथा स्वतः प्रकट होनेवाला होता है। जीवोंके शरीरोंकी अपेक्षा देवताओंके शरीर भी दिव्य होते हैं, पर भगवान्‌का शरीर देवताओंके शरीरोंसे भी अत्यन्त विलक्षण, परम दिव्य होता है, जिसको देखनेके लिये देवता भी लालायित रहते हैं—

देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥

(गीता ११। ५२)

भगवान्‌के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—सब-के-सब चिन्मय हैं। भगवान्‌का एक नाम 'आत्मारामगणाकर्षी' भी है। भगवान्‌के चरणकमलोंकी गन्धसे नित्य-निरन्तर परमात्म-तत्त्वमें स्थित रहनेवाले सनकादिकोंके चित्तमें भी हलचल पैदा हो गयी थी—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥

(श्रीमद्भा० ३। १५। ४३)

'प्रणाम करनेपर उन कमलनेत्र भगवान्‌के चरणकमलके परागसे मिली हुई तुलसी-मञ्जरीकी वायुने उनके नासिका-छिद्रोंमें प्रवेश करके उन अक्षर परमात्मामें नित्य स्थित रहनेवाले ज्ञानी महात्माओंके भी चित्त और शरीरको क्षुब्ध कर दिया।'

तात्पर्य है कि सगुण होते हुए भी परमात्मा वास्तवमें निर्गुण ही हैं*। इसलिये सगुणकी उपासना करनेवाला साधक भी तीनों गुणोंका अतिक्रमण कर जाता है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

(गीता १४। २६)

'जो मनुष्य अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मेरा सेवन करता है, वह इन गुणोंका अतिक्रमण करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है।'

सगुणकी उपासना करनेवाला निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्तिका पात्र कैसे होता है? इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

(गीता १४। २७)

'ब्रह्म, अविनाशी अमृत, शाश्वतधर्म और ऐकान्तिक सुखकी प्रतिष्ठा (आश्रय) मैं ही हूँ।'

उपर्युक्त श्लोकमें 'ब्रह्म तथा अविनाशी अमृतकी प्रतिष्ठा मैं हूँ'—यह निर्गुण-निराकारकी बात है [भगवान्‌ने **'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि'** (गीता ५। १०) और **'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'** (गीता ९। ४) पदोंमें भी अपनेको (सगुण-साकारको) ब्रह्म तथा अव्यक्तमूर्ति कहा है।] 'शाश्वत-धर्मकी प्रतिष्ठा मैं हूँ'—यह सगुण-साकारकी बात है [अर्जुनने भी भगवान्‌को **'शाश्वतधर्मगोप्ता'** (गीता ११। १८) कहा है।] 'ऐकान्तिक सुखकी प्रतिष्ठा मैं हूँ'—यह सगुण-निराकारकी बात है [ध्यानयोगके प्रकरणमें इसी ऐकान्तिक सुखको 'आत्यन्तिक सुख' कहा गया है (६। २१)।]

इसी प्रकार ग्यारहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें भी **'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्'** पदोंसे निर्गुण-निराकारकी बात आयी है; **'त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्'** पदोंसे सगुण-निराकारकी बात आयी है; और **'त्वं शाश्वतधर्मगोप्ता'** पदोंसे सगुण-साकारकी बात आयी है। ग्यारहवें अध्यायके ही चौवनवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥

'हे शत्रुतापन अर्जुन! इस प्रकार मैं अनन्यभक्तिसे ही तत्त्वसे जाननेमें, देखनेमें और प्रवेश (प्राप्त) करनेमें शक्य हूँ।'

—यहाँ भी भगवान्‌ने सगुणकी उपासनासे निर्गुणकी प्राप्ति बतायी है। जैसे, **'ज्ञातुम्'** पद निर्गुण-निराकारके लिये, **'द्रष्टुम्'** पद सगुण-साकारके लिये और **'प्रवेष्टुम्'** पद सगुण-निराकार तथा निर्गुण-निराकार दोनोंके लिये आया है। तात्पर्य है कि सगुणकी उपासना करणसापेक्ष दीखते हुए भी परिणाममें करणनिरपेक्ष ही है।

---

* भागवतमें सगुणको निर्गुण भी माना गया है; जैसे—

वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते। तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतं तु निर्गुणम्॥ (११। २५। २५)

'वनमें रहना सात्त्विक है, गाँवमें रहना राजस है, जुआघरमें रहना तामस है और मन्दिरमें रहना निर्गुण है।'

सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी। तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा॥ (११। २५। २७)

'आत्मज्ञानमें श्रद्धा सात्त्विक है, कर्ममें श्रद्धा राजस है, अधर्ममें श्रद्धा तामस है और मेरी सेवामें श्रद्धा निर्गुण है।'

करणसापेक्ष साधन

चित्तवृत्तिकी पाँच अवस्थाएँ हैं—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें मूढ़ और क्षिप्त वृत्तिवाला मनुष्य ध्यानयोगका अधिकारी नहीं होता। जिसका चित्त कभी परमात्मामें लगता है, कभी नहीं लगता—ऐसा विक्षिप्त वृत्तिवाला मनुष्य ही ध्यानयोगका अधिकारी होता है।

विक्षिप्त वृत्तिवाला साधक अपने चित्तको संसारसे हटाकर परमात्मामें लगानेका अभ्यास करता है*। जब उसका चित्त परमात्मामें लग जाता है, तब ध्यान-अवस्था होती है। ध्यानावस्थामें ध्याता, ध्यान और ध्येय—यह त्रिपुटी रहती है। ध्यान करते-करते जब ध्याता और ध्यान नहीं रहते, प्रत्युत एक ध्येय रह जाता है, तब चित्तवृत्ति एकाग्र हो जाती है†। चित्तवृत्ति एकाग्र होनेपर संप्रज्ञात (सविकल्प) समाधि होती है‡। ध्येयमें तीन बातें रहती हैं—ध्येय, ध्येयका नाम और नाम-नामीका सम्बन्ध। संप्रज्ञात-समाधिका दीर्घकालतक अभ्यास करनेपर जब नामकी स्मृति न रहकर केवल नामी (ध्येय) रह जाता है, तब चित्तवृत्ति निरुद्ध हो जाती है। चित्तवृत्ति निरुद्ध होनेपर असंप्रज्ञात (निर्विकल्प) समाधि होती है।

असंप्रज्ञात-समाधि दो तरहकी होती है—सबीज और निर्बीज। जब संसारकी सूक्ष्म वासना रहती है, तब सबीज समाधि होती है। सबीज समाधिमें अहम् (मैं-पन)के साथ सम्बन्ध रहता है। अहम्के सम्बन्धसे दो अवस्थाएँ होती हैं—समाधि और व्युत्थान। सूक्ष्म वासनाके कारण इस सबीज समाधिमें अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं। ये सिद्धियाँ सांसारिक दृष्टिसे तो ऐश्वर्य हैं, पर परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें विघ्न हैं§। जब योगी इन सिद्धियोंमें न फँसकर इनसे उपराम (वासनारहित) हो जाता है, तब निर्बीज समाधि होती है। निर्बीज समाधिमें अहम्से, कारणशरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और योगी अपने सहज स्वरूपमें स्थित हो जाता है.$ जिससे फिर कभी व्युत्थान नहीं होता। इसको सहज समाधि, सहजावस्था अथवा गुणातीत-अवस्था भी कहते हैं।

यद्यपि करणसापेक्ष साधनमें करण (क्रिया)की प्रधानता रहती है, तथापि साधकका लक्ष्य परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेसे परिणाममें उसका करणसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और उसको परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है।

करणनिरपेक्ष साधन—

करणनिरपेक्ष साधन गीताकी एक विलक्षण देन है, जिसमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। इस साधनमें सत्-असत्के विवेककी प्रधानता है। विवेक अनादि और स्वतःसिद्ध हैx। यह बुद्धिमें प्रकाशित होता है, पर बुद्धिका गुण नहीं है। यद्यपि सत्-असत्का विवेक सभी साधनोंमें रहता है, तथापि करण-निरपेक्ष साधनमें साधक आरम्भसे ही इस विवेकको महत्त्व देता है, जिससे यह विवेक स्वयं उसका मार्गदर्शक हो जाता है। विवेकको महत्त्व देनेसे उसमें जडकी दासता अर्थात् क्रिया और पदार्थका आश्रय नहीं रहता, प्रत्युत उसकी निरपेक्षता रहती है। जडके आश्रयसे तत्त्वकी प्राप्ति अथवा बोध नहीं होता, प्रत्युत संसारका कार्य होता है। जडका आश्रय सर्वथा मिटनेपर जडकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती और जडकी स्वतन्त्र सत्ता न रहनेपर विवेक ही तत्त्वबोधमें परिणत हो जाता है। इस प्रकार करणनिरपेक्ष-साधनमें विवेक मुख्य है।

१. सत्-असत्का विवेक

गीताके उपदेशका आरम्भ विवेकसे ही हुआ है; जैसे—

एक शरीर है और एक शरीरी (शरीरवाला) है। शरीर प्रकृतिका अंश और शरीरी परमात्माका अंश है। शरीर और

---

* यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ (गीता ६।२६)

† यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता। योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ (गीता ६।१९)

'जैसे स्पन्दनरहित वायुके स्थानमें स्थित दीपककी लौ चेष्टारहित हो जाती है, योगका अभ्यास करते हुए यतचित्तवाले योगीके चित्तकी वैसी ही उपमा कही गयी है।'

‡ स्थूलशरीरसे क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे चिन्तन और कारणशरीरसे समाधि होती है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीर 'करण' हैं।

§ ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः। (योगदर्शन ३।३७)

$ यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया। यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ (गीता ६।२०)

'योगका सेवन करनेसे जिस अवस्थामें निरुद्ध चित्त उपराम हो जाता है तथा जिस अवस्थामें स्वयं अपने-आपमें अपने-आपको देखता हुआ अपने-आपमें सन्तुष्ट हो जाता है।'

x गीतामें आया है—'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' (१३।१९)

'प्रकृति और पुरुष—दोनोंको ही तुम अनादि समझो।' अतः जैसे प्रकृति और पुरुष अनादि हैं, ऐसे ही इन दोनोंका भेद (विवेक) भी अनादि है।

शरीरी दोनों ही अशोच्य हैं। तात्पर्य है कि शरीरीका कभी नाश नहीं होता; अतः उसके लिये शोक करना नहीं बनता और शरीरका नाश निरन्तर होता है; अतः उसके लिये भी शोक करना नहीं बनता। शरीर-शरीरीकी इस भिन्नताको जाननेवाले विवेकी पुरुष किसी भी मृत अथवा जीवित प्राणीके लिये कभी शोक-चिन्ता नहीं करते। उनकी दृष्टि नाशवान् शरीरकी तरफ न रहकर अविनाशी शरीरीकी तरफ ही रहती है। वे देखते हैं कि शरीर पहले भी नहीं थे और बादमें भी नहीं रहेंगे, पर उनमें रहनेवाला शरीरी पहले भी था और बादमें भी रहेगा। अतः शरीरोंके आने-जानेका उसपर कोई असर नहीं पड़ता। कारण कि जैसे शरीर बालकसे जवान और जवानसे बूढ़ा हो जाता है, पर स्वयं ज्यों-का-त्यों रहता है (इसीलिये हम कहते हैं कि जो मैं बचपनमें था, वही मैं आज हूँ), ऐसे ही एक शरीरसे दूसरे शरीरकी प्राप्ति होनेपर भी स्वयं ज्यों-का-त्यों रहता है। तात्पर्य है कि अवस्थाएँ बदलती हैं, स्वयं नहीं बदलता (२।११—१३)।

जैसे शरीर नाशवान् और परिवर्तनशील है, ऐसे ही सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थ नाशवान् और परिवर्तनशील हैं। उन पदार्थोंमें हमारी अनुकूलताकी भावना हो जाती है तो वे सुख देनेवाले हो जाते हैं और प्रतिकूलताकी भावना हो जाती है तो वे दुःख देनेवाले हो जाते हैं। शरीरादि सम्पूर्ण प्राकृत पदार्थ आने-जानेवाले, उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। वे एक क्षण भी स्थिर नहीं रहते। जिस मनुष्यपर इन प्राकृत पदार्थोंके आने-जानेका किंचिन्मात्र भी असर नहीं पड़ता, वह परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है (२।१४-१५)।

नाशवान् शरीरादि पदार्थ 'असत्' हैं और अविनाशी शरीरी 'सत्' है। असत्‌की तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। असत्‌की जो सत्ता प्रतीत होती है, वह भी वास्तवमें सत्‌की सत्तासे ही है। अतः सत् और असत्—दोनोंके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुष एक सत्-तत्त्वका ही अनुभव करते हैं अर्थात् उनकी दृष्टिमें एक सत्-तत्त्वके सिवाय और किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। यह सत्-तत्त्व सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त है। संसारका नाश होनेपर भी इस सत्-तत्त्वका कभी नाश नहीं होता। परन्तु देखने और जाननेमें आनेवाले जितने शरीर हैं, वे सब-के-सब असत् हैं। उनका प्रतिक्षण ही नाश हो रहा है। उनको 'नाशवान्' कहते हैं; क्योंकि नाशके सिवाय उनमें और कुछ है ही नहीं। जैसे शरीरोंका विनाशीपना नित्य है, ऐसे ही उनमें रहनेवाले शरीरीका अविनाशीपना नित्य है (२।१६—१८)।

यह शरीरी न किसीको मारता है और न किसीसे मारा जाता है अर्थात् यह मरने-मारनेकी क्रियाओंसे सर्वथा रहित है। जो इसको मरने-मारनेवाला मानते हैं, वे मनुष्य वास्तवमें इसको जानते नहीं। कारण कि यह शरीरी जन्म-मरणसे रहित, नित्य-निरन्तर रहनेवाला, शाश्वत और अनादि है। शरीरमें तो छः विकार होते हैं—उत्पन्न होना, सत्तावाला दीखना, बदलना, बढ़ना, क्षीण होना और नष्ट होना; परन्तु शरीरी इन छहों विकारोंसे रहित है। अतः शरीरके मारे जानेपर भी यह मारा नहीं जाता। जो मनुष्य शरीरीको इस प्रकार छहों विकारोंसे रहित जान लेता है, वह कैसे किसको मारे और कैसे किसको मरवाये ? तात्पर्य है कि शरीरी किसी भी क्रियाका न तो कर्ता (करनेवाला) है और न कारयिता (करवानेवाला) है (२।१९—२१)।

मरना और जीना शरीरोंका होता है, शरीरीका नहीं। जैसे पुराने कपड़े उतारनेसे मनुष्य मर नहीं जाता और दूसरे नये कपड़े पहननेसे मनुष्यका जन्म नहीं हो जाता, ऐसे ही पुराने शरीरोंको छोड़नेपर शरीरी मर नहीं जाता और नये शरीरोंमें जानेपर शरीरीका जन्म नहीं हो जाता। शरीरोंके बदलनेपर भी शरीरी ज्यों-का-त्यों ही रहता है। इस शरीरीको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती। कारण कि यह शरीरी अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है। तात्पर्य है कि काटना, जलाना आदि क्रियाएँ संसारमें ही चलती हैं। शरीरीपर इन क्रियाओंका किंचिन्मात्र भी असर नहीं पड़ता। यह शरीरी सब कालमें है और सब वस्तुओंमें है। इसमें आने-जानेकी और हिलनेकी क्रिया नहीं है। देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदि तो नहीं रहते, पर शरीरी रहता है। यह शरीरी स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे अतीत है। ये शरीर तो नहीं रहते, पर शरीरी रहता है (२।२२—२५)।

शरीर पहले भी नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा तथा बीचमें भी इसका प्रतिक्षण उत्पत्ति और विनाश हो रहा है। यह नित्यजात और नित्यमृत है। कारण कि यह प्रतिक्षण पहली अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थाको धारण करता रहता है। पहली अवस्थाको छोड़ना मरना हुआ और दूसरी अवस्थाको धारण करना जन्मना हुआ। इस प्रकार नित्यजात और नित्यमृत होनेके कारण वास्तवमें इस शरीरकी स्थिति है ही नहीं। उत्पत्ति-विनाशकी परम्पराको ही स्थिति कह देते हैं। इसलिये जो पैदा हुआ है, उसकी मृत्यु अवश्य होगी, इसका कोई परिहार (निवारण) नहीं कर सकता (२।२६-२७)।

शरीर पहले भी अव्यक्त था और बादमें भी अव्यक्त हो जायगा, केवल बीचमें ही व्यक्त दीखता है। परन्तु शरीरी

व्यक्त-अव्यक्त भावसे रहित है। वास्तवमें शब्दोंके द्वारा इस शरीरीका वर्णन नहीं हो सकता। जैसे सांसारिक वस्तुएँ देखने, कहने, सुनने और जाननेमें आती हैं, ऐसे यह शरीरी देखने, कहने, सुनने और जाननेमें नहीं आता। कारण कि यह इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिका विषय नहीं है। जानने, बोलने, सुनने आदिकी शक्तियाँ संसारमें ही काम करती हैं। शरीरीको तो स्वयंसे ही जाना जा सकता है; क्योंकि यह करणनिरपेक्ष तत्त्व है (२। २८-२९)।

इस प्रकार शरीरीके अविनाशीपनको जो जान लेता है, उसमें शोक, चिन्ता, भय, उद्वेग आदि विकार नहीं होते। अगर उसमें ये विकार होते हैं तो वास्तवमें उसने शरीरीको जाना नहीं है। तात्पर्य है कि असत्‌की सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है—इस बातको केवल सीखना नहीं है, प्रत्युत इसका अनुभव करना है। शोक केवल सीखनेसे नहीं मिटता, प्रत्युत अनुभव करनेसे मिटता है। अनुभव होनेसे शोक टिक सकता ही नहीं (२। ३०)।*

इस प्रकार शरीर और शरीरीके भेदको समझना और समझकर स्वीकार करना अपने विवेकका आदर है। विवेकमें सत् और असत् दोनों रहते हैं। विवेकका आदर करनेसे सत्‌का आदर और असत्‌का निरादर स्वतः हो जाता है। असत्‌का निरादर होनेसे साधक असत्‌से ऊँचा उठ जाता है और स्वतःप्राप्त सत्-तत्त्वको प्राप्त कर लेता है।

सत् अपना स्वरूप है और असत् प्रकृतिका स्वरूप है। जब साधक अपने विवेकका आदर करता है अर्थात् विवेकको महत्त्व देता है, तब उसके साधनमें सत् (स्वयं)की प्रधानता होती है और जब वह अपने विवेकका आदर नहीं करता, तब उसके साधनमें असत् (इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि)की प्रधानता होती है।

२. विवेककी आवश्यकता

मनुष्योंके अन्तःकरणमें यह बात बड़ी गहराईसे बैठी हुई है कि जो कुछ होगा, करनेसे ही होगा। परमात्माकी प्राप्ति भी तभी होगी, जब उसके लिये उद्योग करेंगे। जब संसारका काम भी बिना कुछ किये नहीं होता तो फिर सबसे ऊँचे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति बिना कुछ किये कैसे हो जायगी? आदि-आदि। इतना ही नहीं, वेदोंमें, शास्त्रोंमें, सन्तवाणीमें, सब जगह परमात्मप्राप्तिके लिये प्रायः करनेकी बातपर ही जोर दिया गया है।

वास्तवमें 'जो कुछ होगा, करनेसे ही होगा'—यह बात उसीमें लागू होती है, जो उत्पन्न होनेवाला और अप्राप्त है। जो अनुत्पन्न और नित्यप्राप्त है, उसमें यह बात लागू नहीं होती। कारण कि अनुत्पन्न और नित्यप्राप्त तत्त्वका निर्माण नहीं करना है, उसको कहींसे लाना नहीं है, प्रत्युत उसका अन्वेषण करना है, अनुभव करना है, उसकी तरफ लक्ष्य करना है। तात्पर्य है कि कुछ करनेकी बात संसारके लिये है, परमात्माके लिये नहीं। संसारकी प्राप्तिका जो तरीका है, वह तरीका परमात्माकी प्राप्तिका नहीं है। कारण कि संसार सब समय सबको समानरूपसे प्राप्त नहीं है, जब कि परमात्मा सब समय सबको समानरूपसे प्राप्त हैं। वे परमात्मा सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें समानरूपसे परिपूर्ण हैं। संसारको प्राप्त मान लिया, 'नहीं'को 'है' मान लिया, इसी कारण परमात्मतत्त्व ('है') का अनुभव नहीं हो रहा है।

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंकी प्राप्ति तो कर्म करनेसे होती है, पर अनुत्पन्न तत्त्वकी प्राप्ति अपने विवेकको महत्त्व देनेसे होती है। अतः परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति क्रियासाध्य नहीं है, प्रत्युत विवेकसाध्य है। अपने विवेकको महत्त्व देना ही 'करणनिरपेक्ष साधन' है।

जैसे विवेक करणनिरपेक्ष है, ऐसे करणसापेक्ष साधन विवेकनिरपेक्ष नहीं है। वास्तवमें कोई भी साधन विवेकनिरपेक्ष हो ही नहीं सकता। कारण कि विवेकको तो क्रियाकी आवश्यकता नहीं है, पर क्रियाको विवेककी बड़ी भारी आवश्यकता है। विवेकके बिना क्रिया जड है और

* गीतामें भगवान्‌ने उपदेशके आरम्भमें, मध्यमें और अन्तमें—तीनों ही जगह शोक-चिन्ता न करनेकी बात कही है। इसका तात्पर्य यह है कि सुख-दुःखमें बाहरके पदार्थ, परिस्थिति आदि कारण नहीं हैं। जिसके भीतर शोक-चिन्ता नहीं है, वही वास्तवमें सुखी है और जिसके भीतर शोक-चिन्ता है, वही वास्तवमें दुःखी है। देखनेमें भी आता है कि पासमें अत्यधिक धन आदि पदार्थ होनेपर भी धनी व्यक्ति दुःखी रहते हैं और पासमें धन आदि पदार्थोंका अभाव होनेपर भी तत्त्वज्ञ सन्त-महात्मा सुखी रहते हैं। इसीलिये धनी व्यक्ति तो सुख-शान्तिके लिये सन्त-महात्माओंके पास जाते हैं, पर सन्त-महात्मा सुख-शान्तिके लिये धनी व्यक्तिके पास नहीं जाते। परन्तु आज लोग भीतरकी शान्तिका आदर न करके बाहरकी वस्तुओं (धन आदि) का ही आदर करते हैं, उनका ही संग्रह करते हैं और बाहरके सुखको ही सुख मानकर उसके लिये नसबन्दी, गर्भपात-जैसे महापाप करते हैं! अगर वे बाहरके सुखका आदर न करके भीतरके सुख-शान्तिका आदर करें तो सब-के-सब जीवन्मुक्त हो जायँ, सदाके लिये सुखी हो जायँ!

क्रियाके बिना विवेक चिन्मय तत्त्वज्ञान है। इसलिये कर्मोंसे मनुष्य बँधता है और विवेकसे मुक्त हो जाता है—

'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।'

(महा० शान्ति० २४१। ७)

तपस्या, यज्ञ, दान, तीर्थ, व्रत आदि जितने भी श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कर्म हैं, उनके बलपर परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। भगवान् कहते हैं—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥

(गीता ११। ४८)

'हे कुरुप्रवीर! मनुष्यलोकमें इस प्रकारके विश्वरूपवाला मैं न वेदोंके पढ़नेसे, न यज्ञोंके अनुष्ठानसे, न दानसे, न उग्र तपोंसे और न मात्र क्रियाओंसे तेरे (कृपापात्रके) सिवाय और किसीके द्वारा देखा जाना शक्य हूँ।'

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

(गीता ११। ५३)

'जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है, इस प्रकारका मैं न तो वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ।'

जब साधक इन तपस्या, यज्ञ, दान आदिसे ऊँचा उठ जाता है, तब उसको परमात्माकी प्राप्ति होती है—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

(गीता ८। २८)

'योगी इसको जानकर वेदोंमें, यज्ञोंमें, तपोंमें तथा दानमें जो-जो पुण्यफल कहे गये हैं, उन सभी पुण्यफलोंका अतिक्रमण कर जाता है और आदिस्थान परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

तपस्या आदि करके जब मनुष्य हार जाता है, उसमें अपने बलका अभिमान नहीं रहता, तब परमात्माकी प्राप्ति होती है। तात्पर्य है कि जिस बलका अभिमान परमात्मप्राप्तिमें बाधक है, वह बल जब तपस्यासे खर्च हो जाता है, जल जाता है, तब परमात्माकी कृपासे उनकी प्राप्ति होती है। अतः परमात्मप्राप्तिमें अपने बल, बुद्धि, योग्यता, विद्वत्ता आदिका अभिमान ही बाधक है—

संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥

(मानस ७। ७४। ६)

'ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च'

(नारदभक्तिसूत्र २७)

'ईश्वरका भी अभिमानसे द्वेषभाव और दैन्यसे प्रियभाव है।'

अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं—

न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥

(गीता १०। १४)

'हे भगवन्! आपके प्रकट होनेको न तो देवता जानते हैं और न दानव जानते हैं।'

तात्पर्य है कि देवताओंमें जो दिव्यता है, वह भगवान्‌को जाननेमें कुछ भी काम नहीं आती। जब देवता भी भगवान्‌को नहीं जान सकते तो फिर दानव उनको जान ही कैसे सकते हैं? परन्तु अर्जुन दानवोंके द्वारा भी भगवान्‌को न जाननेकी बात कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि दानवोंके पास मायाकी बहुत विलक्षण शक्ति है; परन्तु वह मायाशक्ति भी भगवान्‌को जाननेमें कुछ काम नहीं आती। अतः मनुष्य, देवता, दानव आदि कोई भी अपने बलसे, अपनी योग्यतासे, अपनी बुद्धिसे भगवान्‌को नहीं प्राप्त कर सकते।

सब-के-सब साधन मिलकर भी परमात्माकी प्राप्ति नहीं करा सकते। वास्तवमें सभी साधन अपने बलका अभिमान खर्च करनेके लिये ही हैं। अतः साधनसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत अपने बलका अभिमान (जो परमात्म-प्राप्तिमें बाधक है) दूर होता है। साधन करते-करते जब साधकको यह पता लग जाता है कि अपनी सामर्थ्यसे कुछ नहीं होगा, तब उसका अभिमान मिट जाता है और परमात्म-प्राप्ति हो जाती है—

दौड़ सके तो दौड़ ले, जब लगि तेरी दौड़।
दौड़ थक्या धोखा मिट्या, वस्तु ठौड़-की-ठौड़॥

जिसकी स्फुरणामात्रसे अनन्त ब्रह्माण्ड पैदा हो जाते हैं, उसको सम्पूर्ण संसार देकर भी कोई कैसे प्राप्त कर सकता है? हमारा अधिकार उसीपर हो सकता है, जिसमें हमारेसे कम बल, बुद्धि, योग्यता, विद्वत्ता आदि हो। परमात्मामें बलकी कमी नहीं है। उनमें अनन्त बल है। परन्तु उनमें निर्बलता नहीं है। वह निर्बलता हमारे पास है! इसलिये निर्बल होकर पुकारनेसे वे प्राप्त हो जाते हैं—

जब लगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सर्‌यो नहिं काम।
निरबल ह्वै बलराम पुकार्‌यो, आये आधे नाम॥
सुने री मैंने निरबल के बल राम।

'अशक्तानां हरिर्बलम्' (ब्रह्मवैवर्त० गण० ३५। ९६)

प्रश्न—कर्मका उपयोग कहाँ है?

उत्तर—कर्मका उपयोग संसारसे ऊँचा उठनेके लिये है। संसारसे ऊँचा उठनेका तात्पर्य है—क्रियाकी आसक्ति (करनेका वेग) और पदार्थकी आसक्ति (राग) का मिट जाना। अगर मनुष्य अपने विवेकके द्वारा इन दोनोंको न मिटा सके तो कर्मयोगसे इनको मिटाये। कर्मयोगसे अर्थात् निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये कर्तव्य-कर्म करनेसे कर्मोंके वेगकी तथा वर्तमान रागकी निवृत्ति हो जाती है और फलेच्छाका त्याग करनेसे नया राग पैदा नहीं होता। कर्मोंका वेग तथा रागकी निवृत्ति होनेसे मनुष्य योगारूढ़ हो जाता है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

(गीता ६। ३-४)

'जो योगमें आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये कर्तव्य-कर्म करना कारण है और उसी योगारूढ़ मनुष्यका शम (शान्ति) परमात्मप्राप्तिमें कारण है।' (तात्पर्य है कि परमात्मप्राप्तिमें कर्म कारण नहीं है, प्रत्युत कर्मोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे होनेवाली शान्ति कारण है।)

'जिस समय न इन्द्रियोंके भोगोंमें तथा न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस समय वह सम्पूर्ण संकल्पोंका त्यागी मनुष्य योगारूढ़ कहा जाता है।'

तात्पर्य है कि कर्मोंका उपयोग वहींतक है, जहाँतक प्रकृतिका राज्य है। प्रकृतिसे अतीत तत्त्वमें कर्मोंका सर्वथा अभाव हो जाता है; क्योंकि क्रिया और पदार्थ सब प्रकृतिजन्य हैं।

प्रश्न—कर्मयोग करणसापेक्ष है या करणनिरपेक्ष?

उत्तर—कर्मयोग करणनिरपेक्ष अर्थात् विवेकप्रधान साधन है। अगर विवेककी प्रधानता न हो तो 'कर्म' होगा, 'कर्मयोग' होगा ही नहीं। 'कर्म' करणसापेक्ष है, पर 'योग' करणनिरपेक्ष है। तात्पर्य है कि योग (समता) की प्राप्ति क्रियासे नहीं होती, प्रत्युत विवेकसे होती है। अतः कर्मयोग कर्म नहीं है।

योगकी अपेक्षा कर्म दूरसे ही निकृष्ट है—'**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय**।' (गीता २। ४९)। जैसे पर्वतसे अणु बहुत दूर है अर्थात् अणुको पर्वतके पास रखकर दोनोंकी तुलना नहीं की जा सकती, ऐसे ही योगसे कर्म बहुत दूर है अर्थात् योग और कर्मकी तुलना नहीं की जा सकती। योगके बिना कर्म निरर्थक है*।

कर्मयोगमें 'कर्म हमारे लिये है ही नहीं'—यह विवेक मुख्य रहता है। अपने लिये किया गया प्रत्येक कर्म, यहाँतक कि समाधि भी बन्धनकारक है। कारण कि जबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है, तबतक करना और न करना—दोनों ही कर्म हैं अर्थात् चलने, बोलने, देखने आदिकी तरह बैठना, मौन होना, सोना, समाधि लगाना आदि भी कर्म ही है। कर्मका सम्बन्ध संसारके साथ है, स्वरूपके साथ नहीं। स्थूलशरीरकी स्थूल संसारके साथ एकता है, सूक्ष्मशरीरकी सूक्ष्म संसारके साथ एकता है तथा कारणशरीरकी कारण संसारके साथ एकता है। अतः स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रियाएँ, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और ध्यान तथा कारणशरीरसे होनेवाली समाधि संसारके लिये ही है, अपने लिये (व्यक्तिगत) नहीं। सत्स्वरूपमें कभी किञ्चिन्मात्र भी कोई कमी नहीं आती; अतः उसके लिये किसी क्रियाकी आवश्यकता सम्भव ही नहीं है। स्वरूपपर कुछ करनेका दायित्व भी नहीं है अर्थात् उसको अपने लिये कुछ करना ही नहीं है। कुछ करनेका दायित्व उसीपर होता है, जो कर सकता हो। करणोंके बिना कोई कर्म किया ही नहीं जा सकता। करण प्रकृतिमें हैं तथा प्रकृतिके ही कार्य हैं। स्वरूपमें कोई भी करण नहीं है; क्योंकि वह प्रकृति तथा उसके कार्यसे सर्वथा अतीत तत्त्व है। अतः स्वरूपके लिये कुछ करना बनता ही नहीं। इसलिये कर्मयोगी निःस्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है, जिससे वह प्रकृतिके सम्बन्ध (कर्म-बन्धन) से छूट जाता है—

'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।'

(गीता ४। २३)

प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर उसका 'करना' तथा 'न करना'—दोनोंसे ही कोई सम्बन्ध नहीं रहता—

'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।'

(गीता ३। १८)

३. मान्यताके परिवर्तनसे मुक्ति

गीतामें आया है—

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।

(२। २४-२५)

* योगके बिना 'कर्म' और 'ज्ञान' दोनों निरर्थक हैं, पर 'भक्ति' निरर्थक नहीं है। कारण कि भक्तिमें भगवान्‌के साथ सम्बन्ध रहता है; अतः भगवान् स्वयं भक्तको योग प्रदान करते हैं—'ददामि बुद्धियोगं तम्' (गीता १०। १०)।

'यह आत्मा नित्य रहनेवाला, सबमें परिपूर्ण, अचल, स्थिर स्वभाववाला और अनादि है। यह प्रत्यक्ष नहीं दीखता, यह चिन्तनका विषय नहीं है और इसमें कोई विकार नहीं है।'

—ऐसे स्वभाववाले स्वयं (आत्मा)ने नित्य-निरन्तर बदलनेवाले नाशवान्‌के साथ केवल मान्यतामात्रसे संग कर लिया तो वह चौरासी लाख योनियोंमें चला गया—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥**' (गीता १३। २१)। केवल परिवर्तनशीलके साथ सम्बन्ध माननेसे कितना अनर्थ हो गया कि वह अनन्त जन्मोंसे मुफ्तमें ही दुःख पा रहा है! यह कितने आश्चर्यकी बात है! अब यदि वह इस असत्य मान्यताको छोड़ दे और सत्य तत्त्वको स्वीकार कर ले तो इसमें परिश्रम क्या है? इसमें करण, क्रिया और कर्ताका क्या काम है? इसमें परिश्रमकी गन्ध भी नहीं है। इसमें कुछ करना सम्भव ही नहीं है। इसके लिये कुछ करना मानो इस तत्त्वसे विमुख होना है!

जो किसी भी देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें हमारेसे अलग नहीं हो सकता तथा हम उससे अलग नहीं हो सकते, उसकी प्राप्तिके लिये परिश्रम कैसे? वह हमें स्वतः-स्वाभाविक, नित्य-निरन्तर प्राप्त है। उसके लिये कुछ करना नहीं है, कुछ लाना नहीं है, कहीं जाना नहीं है! केवल उसकी तरफ लक्ष्य करना है—'***संकर सहज सरूपु सम्हारा।***' इससे सुगम और क्या हो सकता है?

जैसे ब्राह्मण हर समय अपने ब्राह्मणपनेमें स्थित रहता है (अपने ब्राह्मणपनेको न याद करता है, न भूलता है) तो इसके लिये उसको कोई परिश्रम या अभ्यास नहीं करना पड़ता। ऐसे ही साधकको हर समय अपने होनेपन (स्वरूप)में स्थित रहना है। इसके लिये उसको कोई अभ्यास नहीं करना है। ब्राह्मणपना तो बनावटी (माना हुआ) है, पर अपना होनापन पहलेसे ही स्वतःसिद्ध है। ब्राह्मणपनेमें तो 'मैं ब्राह्मण हूँ'—ऐसा अहंकार है, पर अपने होनेपनमें कोई अहंकार नहीं है।

शरीर (संसार) प्रतिक्षण बदल रहा है, नष्ट हो रहा है—यह प्रत्यक्ष हमारे देखनेमें आता है तो इससे हमारा अविनाशीपना ही सिद्ध होता है। कारण कि नाशवान्‌को अविनाशी ही देख सकता है। बदलनेवालेको न बदलनेवाला ही देख सकता है। अब अपने अविनाशी, न बदलनेवाले स्वरूपमें स्थित होनेके लिये कोई श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि करना चाहे तो भले ही करे, पर वास्तवमें कुछ करनेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत केवल सत्य तत्त्वको स्वीकार करनेकी जरूरत है। जब झूठी मान्यताके लिये भी अभ्यास नहीं किया था तो फिर सच्ची मान्यताके लिये क्या अभ्यास करना पड़ेगा? अभ्याससे एक नयी अवस्था बन जायगी, अवस्थातीत बोध नहीं होगा। तत्त्व अवस्था नहीं है, प्रत्युत अवस्थातीत है।

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
(मानस ७। ११७। ४)

जब झूठी बात भी इतनी दृढ़ हो सकती है कि छोड़नेमें कठिनाई हो तो फिर सच्ची बात दृढ़ क्यों नहीं हो सकती? सच्ची बात दृढ़ न होनेमें मुख्य बाधा है—संयोगजन्य सुखकी लोलुपता अर्थात् संसारका आकर्षण। परन्तु यह बाधा भी वास्तवमें साधककी बनायी हुई है और वह इसको मिटा सकता है। कारण कि उसमें इस बाधाको मिटानेका बल भी है, योग्यता भी है, अधिकार भी है, विवेक भी है और इसके लिये संसारकी, सन्त-महात्माओंकी तथा भगवान्‌की सहायता भी प्राप्त है।

प्रश्न—संसारका आकर्षण कैसे मिटायें?

उत्तर—विवेक-विचारपूर्वक देखा जाय तो संसारका आकर्षण जड़ (मन-बुद्धि-अहम्)में ही है, स्वयंमें नहीं है। परन्तु जड़से तादात्म्यके कारण स्वयंने इसको अपनेमें मान लिया है। संसार तो बहता है, पर स्वयं रहता है। कभी पूर्वसंस्कारवश ऐसा दीखता है कि स्वयं भी भोगोंमें बह गया, पर वास्तवमें स्वयं बहा नहीं है, प्रत्युत अहम्‌के कारण तादात्म्य होनेसे उसने अपना बहना मान लिया है। स्वयंका बहना त्रिकालमें भी सम्भव नहीं है। वह शरीरमें स्थित होते हुए भी भोगोंसे लिप्त नहीं होता—

'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।'
(गीता १३। ३१)

जैसे संसार निरन्तर मिट रहा है, ऐसे ही उसका आकर्षण भी निरन्तर मिट रहा है। उत्पन्न होनेवाली यावन्मात्र वस्तु मिटती है—यह नियम है। अतः उसको रखनेका प्रयत्न करना भी भूल है और उसको मिटानेका प्रयत्न करना भी भूल है! इसलिये साधकको चाहिये कि वह उस आकर्षणको महत्त्व न दे, प्रत्युत उसकी उपेक्षा (बेपरवाह) कर दे। उपेक्षा करनेसे वह अपने-आप मिट जायगा। जैसे, पानीमें मिट्टी मिली हुई हो तो हम ज्यों-ज्यों हाथसे मिट्टीको थपकाकर नीचे बैठानेका प्रयत्न करेंगे, त्यों-ही-त्यों मिट्टी ऊपर आयेगी। अगर हम पानी और मिट्टीको बिलकुल न छेड़ें तो मिट्टी अपने-आप नीचे बैठ जायगी। ऐसे ही परिश्रम आदि कुछ करनेसे संसारका आकर्षण नहीं मिटेगा। उसकी उपेक्षा करके चुप हो जायँ तो वह अपने-आप मिट जायगा और शुद्ध स्वरूप रह जायगा; क्योंकि मिटना संसारका स्वभाव है और शुद्ध रहना स्वयंका स्वभाव है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥
(मानस ७। ११७। २)

मेरेमें आकर्षण है और वह मिटता नहीं है—इस भावसे ही भोगोंका आकर्षण टिका हुआ है। कारण कि हम सब सत्यसङ्कल्प परमात्माके साक्षात् अंश हैं और परमात्मारूपी कल्पवृक्षके नीचे हैं; अतः हम जैसा भाव रखेंगे, वैसा ही हो जायगा। इसलिये 'आकर्षण मेरेमें नहीं है'—यह भाव आकर्षणको मिटानेका रामबाण उपाय है; क्योंकि यह वास्तविकता है और वास्तविकताको दृढ़तासे स्वीकार करना साधकका कर्तव्य है।

मन-बुद्धि और संसार (विषय)—दोनों एक ही जातिके हैं। इसलिये मन-बुद्धिका अपनी ही जातिके संसारकी तरफ आकर्षण हो रहा है तो इससे अपनी सत्तामें क्या फर्क पड़ा? अतः साधकको चाहिये कि वह मन-बुद्धि तथा उसमें रहनेवाला आकर्षण—दोनोंको छोड़कर स्वयंमें स्थित रहे—'**मद्रूप उभयं त्यजेत्**' (श्रीमद्भा० ११। १३। २६)*

४. निषेधात्मक साधन

साधन दो तरहका होता है—निषेधात्मक और विध्यात्मक। विवेक निषेध करता है और करण (क्रिया) विधि करता है। अतः निषेधात्मक साधन विवेकप्रधान अर्थात् 'करणनिरपेक्ष' होता है और विध्यात्मक साधन क्रियाप्रधान अर्थात् 'करण-सापेक्ष' होता है। परमात्मतत्त्व वास्तवमें करणनिरपेक्ष है†; अतः उसकी प्राप्ति निषेधात्मक साधनसे तत्काल होती है, जब कि विध्यात्मक साधनसे उसकी प्राप्तिमें देरी लगती है। निषेधात्मक साधन करनेवाला योगभ्रष्ट भी नहीं होता; क्योंकि निषेधात्मक साधनमें असत्, नाशवान्‌का तत्काल निषेध हो जाता है। परन्तु विध्यात्मक साधन करनेवाला योगभ्रष्ट हो सकता है; क्योंकि विध्यात्मक साधनमें असत्‌का सहारा लेना पड़ता है। अतः उसमें असत् (मन-बुद्धि-अहम्)की सत्ता बहुत दूरतक साथ रहती है।

परमात्मतत्त्वको विधिरूपसे कभी प्राप्त नहीं कर सकते, प्रत्युत निषेधरूपसे ही प्राप्त कर सकते हैं। कारण कि परमात्मतत्त्व नित्यप्राप्त है। नित्यप्राप्तके अनुभवमें अप्राप्त संसारसे माना हुआ सम्बन्ध ही बाधक है। नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अन्वेषण होता है और अप्राप्त संसारका निर्माण होता है। अन्वेषणमें निषेधात्मक साधन चलता है और निर्माणमें विध्यात्मक साधन चलता है। अतः परमात्मतत्त्वका अनुभव संसारके सम्बन्धका निषेध (त्याग) करनेसे होता है। सबका निषेध करनेपर जो शेष रहता है, वही परमात्मतत्त्व है। तात्पर्य है कि असत्‌का निषेध (त्याग) करनेपर सत्-तत्त्वकी विधि (स्थापना) करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये सन्तलोग संसारका त्याग करते हुए परमात्मतत्त्वकी खोज करते हैं—

'ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः'
(श्रीमद्भा० १०। १४। २८)

न कर्मसे, न सन्तानसे, न धनसे, प्रत्युत केवल त्यागसे ही सन्तोंने अमरत्व प्राप्त किया है—

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'
(कैवल्य० १। २)

त्यागसे तत्काल परमशान्ति प्राप्त होती है—

'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२। १२)

पारमार्थिक उन्नतिमें त्याग ही मुख्य है। हिरण्यकशिपु, रावण आदि असुरों-राक्षसोंमें भी तपस्या आदि नियम (विधि) तो मिलते हैं, पर त्याग (निषेध) नहीं मिलता। त्याग केवल परमात्मप्राप्ति चाहनेवालोंमें ही मिलता है। इसलिये नियमोंके पालनकी अपेक्षा अहिंसादि यमोंके पालनको श्रेष्ठ बताया गया है—

यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित्।
(श्रीमद्भा० ११। १०। ५)

करणनिरपेक्ष साधनमें करणोंका त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) है। करणसापेक्ष साधनमें भी अन्तमें करणोंका त्याग होनेसे ही तत्त्वप्राप्ति होती है। त्याग करण (जड)का ही होता है, तत्त्वका नहीं। कारण कि त्याग उसीका होता है, जो स्वतः हमारा त्याग कर रहा है अर्थात् जिससे हमारी एकात्मता नहीं है। तात्पर्य है कि नित्यप्राप्तकी ही प्राप्ति होती है और अप्राप्तका ही निषेध होता है। 'है'की ही प्राप्ति होती है और 'नहीं'की

---

* इस विषयको विस्तारसे समझनेके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'सहज साधना' पुस्तकका पहला लेख और 'नित्ययोगकी प्राप्ति' पुस्तकका तेरहवाँ एवं चौदहवाँ लेख विशेषरूपसे पढ़ने चाहिये।

† परमात्मतत्त्वके विशेषण दो तरहसे कहे गये हैं—निषेधात्मक और विध्यात्मक। अक्षर, अव्यक्त, अचिन्त्य, अचल, अव्यय, अविनाशी आदि विशेषण 'निषेधात्मक' हैं और सर्वव्यापी, कूटस्थ, ध्रुव, सत्, चित्, आनन्द आदि विशेषण 'विध्यात्मक' हैं। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो परमात्माके विध्यात्मक विशेषणोंका तात्पर्य भी निषेधात्मक ही है; जैसे—परमात्माको 'सत्' कहनेका तात्पर्य है कि वे 'असत्' नहीं हैं; 'सर्वव्यापी' कहनेका तात्पर्य है कि वे 'एकदेशीय' नहीं हैं आदि।

ही निवृत्ति होती है। 'है' सदा स्वतः प्राप्त है ही और 'नहीं' सदा स्वतः निवृत्त है ही!

'परमात्मतत्त्व है'—ऐसा मानना भी वास्तवमें 'संसार नहीं है'—इस प्रकार संसारका निषेध करनेके लिये ही है। इसी तरह 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इसका तात्पर्य भी वास्तवमें 'मैं संसारका नहीं हूँ और संसार मेरा नहीं है'—इस प्रकार संसारका निषेध करनेमें ही है। यह भक्तिकी विशेषता है कि अनन्यभावपूर्वक 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस प्रकार विधिमुखसे माने हुए साधनको भी भगवान् कृपा करके सिद्ध कर देते हैं* अर्थात् भक्तका अनन्यभाव पूर्ण कर देते हैं, अभावरूप संसारका सदाके लिये अभाव कर देते हैं। तात्पर्य है कि भक्त अहम्‌को बदलता है और भगवान् उसके अहम्‌को मिटा देते हैं†।

जबतक निषेध नहीं होता, तबतक विधिकी सिद्धि नहीं होती। मीराबाईने कहा है—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'*** तो इसमें ***'दूसरो न कोई'***—यह निषेध है। इस निषेधसे ऐसी सिद्धि हुई कि उनका शरीर भी चिन्मय होकर भगवान्‌के विग्रहमें लीन हो गया! कारण कि जडताकी निवृत्ति होनेपर चिन्मयता ही शेष रहती है। ***'मेरे तो गिरधर गोपाल'***—ऐसा तो बहुत-से मनुष्य मानते हैं, पर इससे भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो जाती। अगर इसके साथ ***'दूसरो न कोई'***—ऐसा भाव नहीं होगा तो संसारके अन्य सम्बन्धोंकी तरह भगवान्‌का भी एक और नया सम्बन्ध हो जायगा! अगर 'मेरा कोई नहीं है'—इस तरह सर्वथा निषेध हो जाय तो बोध हो जायगा। बोध होते ही नित्यप्राप्तकी प्राप्ति हो जायगी। कारण कि जबतक दूसरी सत्ताकी मान्यता है, तभीतक विवेक है। दूसरी सत्ताकी मान्यता न रहे तो वह तत्त्वबोध ही है।

'योग' निषेधमें ही होता है—

'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।'

(गीता ६। २३)

'जिसमें दुःखोंके संयोगका वियोग (संसारका निषेध) है, उसीको योग नामसे जानना चाहिये।'

परन्तु **'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २। ४८) 'समताको योग कहा जाता है'—यह विधि है। जो संसारकी सत्ता मानते हैं, उनको संसारमें विषमता दीखती है। इसलिये उनकी दृष्टिको विषम संसारसे हटाकर समरूप परमात्माकी तरफ करनेके लिये **'समत्वं योग उच्यते'** कहा गया है। विधिमें करण साथमें रहता है, इसीलिये समतामें अन्तःकरणकी स्थिति बतायी गयी है— **'येषां साम्ये स्थितं मनः'** (गीता ५। १९)।

विधिमें 'मैं-पन' साथमें रहनेसे साधन सिद्ध होनेमें देरी लगती है। जैसे, 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह विधि है। यह अहंग्रह उपासना है, बोध नहीं। कारण कि मैंपनमें ब्रह्म नहीं है और ब्रह्ममें मैंपन नहीं है। अतः मैंपन केवल कल्पना है। ब्रह्मका तो अनुभव है और संसारकी प्रतीति है; परन्तु मैंपनका न अनुभव है, न प्रतीति है, प्रत्युत यह केवल अज्ञानीकी मान्यता है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७)।

प्रकृति और प्रकृतिका कार्यमात्र प्रकाश्य है और परमात्मा प्रकाशक हैं। प्रकाश्य और प्रकाशक—इन दोनोंमें ही मैंपन नहीं है, फिर मैंपन कहाँ रहा? तात्पर्य है कि मैंपन केवल कल्पित है। अगर मैंपनका निषेध कर दिया जाय तो तत्काल सिद्धि हो जाती है—**'निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति'** (गीता २। ७१)।

विधिकी अपेक्षा निषेध श्रेष्ठ और बलवान् है। परन्तु जिनके भीतर उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका महत्त्व है, उनको निषेध मुख्य नहीं दीखता, प्रत्युत विधि मुख्य दीखती है कि अमुक आदमीने इतना दान किया, इतने तीर्थ किये, इतने व्रत-उपवास किये आदि। इसलिये वे विधिको तो ग्रहण करते हैं, पर निषेधको टाल देते हैं। उनकी यह मान्यता रहती है कि विधि करनेसे ही उन्नति होगी। वास्तवमें निषेधकी जितनी आवश्यकता है, उतनी विधिकी आवश्यकता नहीं है। विधि करनेमें कमी रह सकती है, पर निषेध करनेमें विधि स्वतःसिद्ध हो जाती है तथा उसमें कोई कमी भी नहीं रहती। जैसे, सत्य बोलना विधि है और झूठ न बोलना निषेध है। सत्य बोलनेवाला कभी झूठ भी बोल सकता है, पर झूठ न बोलनेवाला या तो सत्य बोलेगा अथवा चुप रहेगा। सत्य बोलनेका तो महत्त्व दीखता है, पर झूठ न बोलनेका उतना महत्त्व नहीं

* अन्यके निषेधका उद्देश्य होनेसे ही 'अनन्यभाव' होता है। अतः 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस विधिमें भी (अनन्यभाव होनेके कारण) अन्यके निषेधकी ही मुख्यता है।

दीखता। इसलिये सत्य बोलनेसे 'मैं सत्यवादी हूँ' ऐसा अहंकार आ सकता है, पर झूठ न बोलनेसे अहंकार आ ही नहीं सकता। इतना ही नहीं, मौनकी अपेक्षा भी झूठ न बोलना श्रेष्ठ है; क्योंकि मौन रहनेवाला जब कभी बोलेगा, तब झूठ भी बोल सकता है, पर झूठ न बोलनेवाला जब कभी बोलेगा, सत्य ही बोलेगा। तात्पर्य है कि विधिमें अर्थात् अपने उद्योगसे किये गये साधनमें अहंकार ज्यों-का-त्यों बना रहता है; क्योंकि उद्योग अहंकारपूर्वक ही होता है। कर्ता (करनेवाला) रहेगा, तभी तो उद्योग होगा! यद्यपि निषेधमें भी अहंकार (निषेध करनेवाला) रहता है, तथापि साधकमें अहंकारके त्यागका ही उद्देश्य रहनेसे वह बाँधनेवाला नहीं होता। जिसका साधन विवेकप्रधान होता है, उसमें निषेधका अहंकार टिक ही नहीं सकता।

भलाई करना विध्यात्मक साधन है और बुराईका त्याग करना निषेधात्मक साधन है। भलाई करनेसे कहीं-न-कहीं बुराई रह सकती है, पर बुराई न करनेसे भलाई सर्वथा आ जाती है। कारण कि भलाई असीम है। कितनी ही भलाई करें, पर वह बाकी रहेगी ही। भलाई करनेसे भलाईका अन्त नहीं आता, पर बुराई न करनेसे बुराईका अन्त आ जाता है। तात्पर्य है कि भलाई करनेसे भलाई बाकी रहती है, पर बुराई न करनेसे भलाई बाकी नहीं रहती।

'करना' सीमित और 'न करना' असीम होता है। अतः भलाई करनेसे सीमित भलाई होती है और बुराई न करनेसे असीम भलाई होती है। तात्पर्य है कि भलाई स्वतःसिद्ध है और बुराई आगन्तुक है। परन्तु जब हम बुराईको स्वीकार करके भलाई करते हैं अर्थात् भलाईको कृतिसाध्य मानते हैं, तब हमारे द्वारा पूरी भलाई नहीं होती। बुराईको स्वीकार न करनेसे भलाई अपने-आप होती है, करनी नहीं पड़ती, अपने-आप होनेवाला साधन असली होता है और जो साधन किया जाता है, वह नकली होता है तथा उसके साथ अभिमान रहता है। अगर हम बुराईका त्याग कर दें तो भलाई न करनेपर भी हम अपने-आप भले आदमी हो जायँगे।

अगर हम बुराईका त्याग कर दें अर्थात् किसीका बुरा न करें, किसीका बुरा न सोचें, किसीकी बुराई न देखें, किसीकी बुराई न सुनें, किसीकी बुराईकी चर्चा न करें तथा किसीको स्वरूपसे कभी किंचिन्मात्र भी बुरा न समझें तो ऐसा करनेपर दो बातें होंगी—हम कुछ नहीं करेंगे अथवा कुछ करेंगे तो भलाई ही करेंगे। दोष तो करनेसे ही आता है। हम कुछ नहीं करेंगे तो दोष कैसे आयेगा? क्योंकि कुछ न करनेसे प्रकृतिका सम्बन्ध नहीं रहता तथा स्वतःसिद्ध निर्दोष स्वरूपमें स्वतःस्थिति हो जाती है। इसलिये भलाई करनेकी अपेक्षा बुराई न करना श्रेष्ठ है।

तन कर मन कर वचन कर, देत न काहू दुःख।
तुलसी पातक हरत है, देखत उनका मुख॥

मूलमें हमें असत्का ही त्याग करना है, सत्को प्राप्त नहीं करना है; क्योंकि सत् स्वतःसिद्ध प्राप्त है। असत्का त्याग होनेपर सत् ही शेष रहता है, असत् शेष नहीं रहता। अतः हम असत्का त्याग करेंगे तो सत्कर्म, सच्चर्चा, सच्चिन्तन और सत्संग स्वतः होंगे, करने नहीं पड़ेंगे।

सत्से अलग कोई हो ही नहीं सकता और असत्के साथ कोई रह ही नहीं सकता। परन्तु जब हम सत्को प्राप्त करनेका उद्योग करते हैं, तब असत् (इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि)का सहारा लेना ही पड़ता है। कारण कि असत्की सहायताके बिना उद्योग हो ही नहीं सकता। असत्का सहारा रहनेपर सीमित साधन होता है। जैसे हाथसे दीवारको नहीं पकड़ सकते, ऐसे ही सीमित साधनसे असीम तत्त्वको नहीं पकड़ सकते। असत्का त्याग (अस्वीकृति) करनेपर सत्की प्राप्ति स्वतः हो जाती है; क्योंकि वह स्वतःप्राप्त है। त्याग उसीका होता है, जो सदासे ही त्यक्त है और प्राप्ति उसीकी होती है, जो सदासे ही प्राप्त है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। साधकका काम केवल इतना है कि वह विवेकपूर्वक असत्का संग न करे, असत्को स्वीकार न करे।

५. अहंता-ममताका निषेध

करणनिरपेक्ष साधनमें सत्-असत्के विवेककी मुख्यता होनेसे अहम्का नाश जल्दी और सुगमतासे हो जाता है; क्योंकि अहम् भी असत् (जड) ही है। गीताने पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—इन आठोंको अपरा (जड) प्रकृति कहा है*। ऐसा कहनेका तात्पर्य यह

---

* भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (गीता ७। ४)

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—इन आठोंमें जातीय एकता तो है, पर स्वरूपकी एकता नहीं है अर्थात् जाति एक होनेपर भी इनका स्वरूप अलग-अलग है [एक अनेकमें अनुगत हो तो उसको जाति कहते हैं]। परन्तु सत्तामें स्वरूपकी एकता है। अतः सत्ता तो एक है, पर करण एक नहीं है। सत्तामें भेद सम्भव नहीं है और करणोंमें एकता सम्भव नहीं है। कुछ दार्शनिक सत्तामें (जीव तथा ईश्वरकी) भेद मानते हैं और कुछ नहीं मानते। जैसे, जबतक सायुज्य मुक्ति न हो, तबतक वैष्णव दार्शनिक सत्तामें भेद मानते हैं। दार्शनिकोंमें यह मतभेद

है कि जैसे पृथ्वी जड और जाननेमें आनेवाली है, ऐसे ही अहम् भी जड और जाननेमें आनेवाला है। अतः गीताने अहम्को इदंतासे कहा है; जैसे—'**एतद् यो वेत्ति**' (१३ । १)। 'इदम्' (यह) कभी 'अहम्' (मैं) नहीं होता; अतः अहम्को इदंतासे कहनेका तात्पर्य है कि यह अपना स्वरूप नहीं है। परन्तु जब चेतन (जीव) इस अहम्के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह बँध जाता है।

अहम्के सम्बन्धसे परिच्छिन्नता पैदा होती है और परिच्छिन्नतासे सम्पूर्ण भेद पैदा होते हैं। भेदोंमें मैं-मेरेका भेद मुख्य है, जिसको अहंता और ममता नामसे कहा गया है। मैं-मेरेका भेद आठ प्रकारका है—मैं और मेरा, तू और तेरा, यह और इसका, वह और उसका। मैं, तू, यह, वह—ये चारों अहंताके रूप हैं और मेरा, तेरा, इसका, उसका—ये चारों ममताके रूप हैं।

मैं, तू, यह और वह—ये चारों ही एक-दूसरेकी दृष्टिमें चारों बन सकते हैं। जैसे—राम, श्याम, गोविन्द और गोपाल—ये चार व्यक्ति हैं। राम और श्याम एक-दूसरेके सामने हैं, गोविन्द उनके पास है और गोपाल उनसे दूर है। राम अपनेको 'मैं' कहता है, अपने सामनेवाले श्यामको 'तू' कहता है, पासवाले गोविन्दको 'यह' कहता है और दूरवाले गोपालको 'वह' कहता है। अगर श्याम अपनेको 'मैं' कहे तो वह रामको 'तू' कहेगा, गोविन्दको 'यह' कहेगा और गोपालको 'वह' कहेगा। अगर गोविन्द अपनेको 'मैं' कहे तो वह श्यामको 'यह' कहेगा और रामको 'तू' कहेगा अथवा श्यामको 'तू' और रामको 'यह' कहेगा तथा गोपालको 'वह' कहेगा। अगर गोपाल अपनेको 'मैं' कहे तो वह राम, श्याम और गोविन्द—तीनोंको 'वह' कहेगा। इस प्रकार राम, श्याम, गोविन्द और गोपाल—ये चारों ही एक-दूसरेकी दृष्टिमें मैं, तू, यह और वह बन सकते हैं। इन चारोंमें 'मैं' सबसे कमजोर है। कारण कि एक व्यक्तिको हजारों-लाखों आदमी तू, यह और वह कह सकते हैं, पर 'मैं' अकेला वही एक व्यक्ति कह सकता है!

मैं-मेरा ही माया है, जिसके त्यागपर सबने विशेष जोर दिया है*। परन्तु स्वरूप मायारहित है। स्वरूपमें 'मैं' और 'मेरा'—दोनों ही नहीं हैं। वह 'मैं' और 'मेरा'—दोनोंका प्रकाशक है, आश्रय है, आधार है, अधिष्ठान है। अतः स्वतःसिद्ध विवेकके द्वारा मैं और मेराको छोड़कर उसके प्रकाशक, आश्रय, आधार, अधिष्ठानमें स्थित होना (जो कि पहलेसे ही है) करणनिरपेक्ष साधन है।

६. कर्तापन-भोक्तापनका निषेध

मात्र क्रियाएँ प्रकृतिमें ही होती हैं। प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है। वह किसी भी अवस्था (सर्ग-प्रलय, महासर्ग-महाप्रलय)में क्षणमात्र भी अक्रिय नहीं रहती। प्रकृतिमें होनेवाली क्रियाको भगवान्ने गीतामें अनेक प्रकारसे बताया है; जैसे—सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं (१३ । २९); सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणोंके द्वारा होती हैं; अतः गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (३ । २७-२८; १४ । २३); गुणोंके सिवाय अन्य कोई कर्ता है ही नहीं (१४ । १९); इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं (५ । ९); स्वभाव ही बरत रहा है (५ । १४); सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिमें पाँच हेतु हैं—अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव (१८ । १३-१४)। इस प्रकार क्रियाओंको चाहे प्रकृतिसे होनेवाली कहें, चाहे प्रकृतिके कार्य गुणोंसे होनेवाली कहें, चाहे इन्द्रियोंसे होनेवाली कहें, वास्तवमें एक ही बात है। एक ही बातको अलग-अलग प्रकारसे कहनेका तात्पर्य यह है कि स्वयं (चेतन) किसी भी क्रियाका किंचिन्मात्र भी कर्ता नहीं है। जैसे प्रकृति कभी अक्रिय रहती ही नहीं, ऐसे ही स्वयंमें कभी क्रिया होती ही नहीं। परन्तु जब स्वयं प्रकृतिके अंश अहम्के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है अर्थात् अहम्को अपना स्वरूप मान लेता है, तब वह स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरमें होनेवाली क्रियाओंका कर्ता अपनेको मानने लगता है—'**अहङ्कार-**

भी तभीतक है, जबतक सूक्ष्म अहम् है। अहम् न रहनेसे सब दार्शनिक एक हो जाते हैं अर्थात् अहम्का नाश होनेपर दार्शनिक नहीं रहते, प्रत्युत दर्शन (तत्त्व) रहता है।

* १. मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥ (मानस ३ । १५ । २)

२. मैं मेरे की जेवरी, गल बँध्यो संसार। दास कबीरा क्यों बँधे, जाके राम अधार॥

'गीतामें भी भगवान्ने तीनों योगोंमें अहंता-ममताका त्याग बताया है; जैसे—कर्मयोगमें 'निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति' (२ । ७१) ज्ञानयोगमें 'अहङ्कारं……विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते' (१८ । ५३) और भक्तियोगमें 'निर्ममो निरहङ्कारः……यो मद्भक्तः स मे प्रियः' (१२ । १३-१४)। कर्मयोगमें निर्मम-निरहङ्कार होनेसे परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है, ज्ञानयोगमें निर्मम-निरहङ्कार होनेसे ब्रह्ममें स्थिति हो जाती है और भक्तियोगमें निर्मम-निरहङ्कार होनेसे परमप्रेमकी प्राप्ति हो जाती है।

विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' (गीता ३।२७)। जैसे कोई मनुष्य चलती हुई रेलगाड़ीमें बैठा है, चल नहीं रहा है तो भी रेलगाड़ीके सम्बन्धसे वह अपनेको चलनेवाला मान लेता है और कहता है कि 'मैं जा रहा हूँ।' ऐसे ही स्वयं जब क्रियाशील प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध मानने लगता है, तब वह कर्ता न होते हुए भी अपनेको कर्ता मान लेता है। अपनेको कर्ता माननेसे वह प्रकृतिकी जिस क्रियासे सम्बन्ध जोड़ता है, वह क्रिया उसके लिये फलजनक 'कर्म' बन जाती है। कर्मसे बन्धन होता है—**'कर्मणा बध्यते जन्तुः'** (संन्यासोपनिषद् २।९८; महा० शान्ति० २४१।७)।

कर्म करना और कर्म न करना—ये दोनों ही प्रकृतिके राज्यमें हैं। अतः प्रकृतिका सम्बन्ध होनेपर चलने, बोलने, देखने, सुनने आदिकी तरह बैठना, खड़ा होना, मौन होना, सोना, मूर्च्छित होना, श्रवण-मनन-निदिध्यासन करना, ध्यान करना, समाधि लगाना आदि क्रियाएँ भी 'कर्म' ही हैं। इसलिये भगवान्‌ने शरीर, वाणी और मनसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंको 'कर्म' माना है—**'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।'** (गीता १८।१५) तथा शरीर, वाणी और मनकी शुद्धिके लिये शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपका वर्णन किया है (१७।१४—१६)। इसी तरह गीतामें चौथे अध्यायके चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक जिन यज्ञोंका वर्णन आया है तथा वेदोंमें जिन यज्ञोंका वर्णन हुआ है, उन सबको कर्मजन्य माना गया है—**'कर्मजान्विद्धि तान्सर्वान्'** (४।३२)।

भगवान्‌ने ज्ञानेन्द्रियोंको भी कर्मेन्द्रियाँ ही माना है। इसलिये गीतामें ज्ञानेन्द्रियोंका वर्णन तो आया है, पर 'ज्ञानेन्द्रिय' शब्द कहीं नहीं आया है। देखना, सुनना, स्पर्श करना आदि ज्ञानेन्द्रियोंकी क्रियाओंको भी गीतामें कर्मेन्द्रियोंकी क्रियाओंके साथ ही सम्मिलित किया गया है*। तीसरे अध्यायके छठे-सातवें श्लोकोंमें भी ज्ञानेन्द्रियोंको कर्मेन्द्रियोंके अन्तर्गत ही माना गया है; क्योंकि ज्ञानेन्द्रियोंके बिना मिथ्याचार भी सिद्ध नहीं होगा और कर्मयोगका अनुष्ठान भी नहीं होगा†। जहाँ कर्मके तीन (सात्त्विक, राजस, तामस) भेद बताये गये हैं, वहाँ भी 'ज्ञानेन्द्रिय' शब्द नहीं आया है (गीता १८।२३—२५)। ज्ञानेन्द्रियोंके विषयोंके लिये भी **'पञ्च चेन्द्रियगोचराः'** (गीता १३।५) पद दिया गया है।

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध। मनुष्य वर्तमानमें जो कर्म करता है, वे 'क्रियमाण' कर्म हैं। भूतकालमें (इस जन्ममें अथवा पहलेके अनेक मनुष्य-जन्मोंमें) किये हुए जो कर्म अन्तःकरणमें संगृहीत हैं, वे 'संचित' कर्म हैं। संचितमेंसे जो कर्म फल देनेके लिये उन्मुख हो गये हैं अर्थात् जन्म, आयु और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें परिणत होनेके लिये सामने आ गये हैं, वे 'प्रारब्ध' कर्म हैं। क्रियमाण कर्म अनेक प्रकारके कहे गये हैं। जैसे, व्याकरणकी दृष्टिसे कर्म चार प्रकारके हैं—उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य (मलापकर्ष तथा गुणाधान) और आप्य [कहीं-कहीं निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य—ये तीन प्रकार कहे गये हैं]। न्यायकी दृष्टिसे कर्म पाँच प्रकारके हैं—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन। धर्मकी दृष्टिसे भी कर्म पाँच प्रकारके हैं—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रायश्चित्त और आवश्यक कर्तव्य-कर्म। ये सभी प्रकारके कर्म प्रकृतिके सम्बन्धसे होनेवाले हैं। प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित स्वयं (स्वरूप) कभी किंचिन्मात्र भी किसी कर्मका कर्ता नहीं है। भगवान्‌ने स्वरूपको कर्ता माननेवालेकी निन्दा की है कि उसकी बुद्धि शुद्ध अर्थात् विवेकवती नहीं है, वह दुर्मति है‡। परन्तु जो अहम्‌को अपना स्वरूप नहीं मानता, ऐसा तत्त्वज्ञ

---

* नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ (गीता ५।८-९)

'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी देखता, सुनता, छूता, सूँघता, खाता, चलता, ग्रहण करता, बोलता, त्याग करता, सोता, श्वास लेता तथा आँखें खोलता और मूँदता हुआ भी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं—ऐसा समझकर 'मैं (स्वयं) कुछ भी नहीं करता हूँ'—ऐसा माने।'

यहाँ देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना और खाना—ये पाँच क्रियाएँ ज्ञानेन्द्रियोंकी हैं। चलना, ग्रहण करना, बोलना और मल-मूत्रका त्याग करना—ये चार क्रियाएँ कर्मेन्द्रियोंकी हैं। सोना—यह एक क्रिया अन्तःकरणकी है। श्वास लेना—यह एक क्रिया प्राणकी है। आँखें खोलना तथा मूँदना—ये दो क्रियाएँ उपप्राणकी हैं। तात्पर्य है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरमें होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिमें ही होती हैं, स्वयंमें नहीं। अतः स्वयंका किसी भी क्रियासे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है।

† कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन। कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ (गीता ३।६-७)

‡ तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ (गीता १८।१६)

महापुरुष स्वयंको कर्ता अनुभव नहीं करता—**'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'** (गीता ५। ८)'; तात्पर्य है कि अहम्‌को अपना स्वरूप माननेसे जो **'अहङ्कारविमूढात्मा'** हो गया था, वही अपनेको अहम्‌से अलग अनुभव करनेपर **'तत्त्ववित्'** हो जाता है।

अहङ्कारसे मोहित होकर स्वयंने भूलसे अपनेको कर्ता मान लिया तो वह कर्म तथा उनके फलोंसे बँध गया और चौरासी लाख योनियोंमें चला गया। अब यदि वह अपनेको अहम्‌से अलग माने और अपनेको कर्ता न माने अर्थात् स्वयं वास्तवमें जैसा है, वैसा ही अनुभव कर ले तो उसके तत्त्ववित् (मुक्त) होनेमें आश्चर्य ही क्या है? तात्पर्य है कि जो असत्य है, वह भी जब सत्य मान लेनेसे सत्य दीखने लग गया तो फिर जो वास्तवमें सत्य है, उसको मान लेनेपर वह वैसा ही दीखने लग जाय तो इसमें क्या आश्चर्य है?

वास्तवमें स्वयं जिस समय अपनेको कर्ता-भोक्ता मानता है, उस समय भी वह कर्ता-भोक्ता नहीं है—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१)। कारण कि अपना स्वरूप सत्तामात्र है। सत्तामें अहम् नहीं है और अहम्‌की सत्ता नहीं है। अतः 'मैं कर्ता हूँ'—यह मान्यता कितनी ही दृढ़ हो, है तो भूल ही! भूलको भूल मानते ही भूल मिट जाती है—यह नियम है। किसी गुफामें सैकड़ों वर्षोंसे अन्धकार हो तो प्रकाश करते ही वह तत्काल मिट जाता है, उसके मिटनेमें अनेक वर्ष-महीने नहीं लगते। इसलिये साधक दृढ़तासे यह मान ले कि 'मैं कर्ता नहीं हूँ'*। फिर यह मान्यता मान्यतारूपसे नहीं रहेगी, प्रत्युत अनुभवमें परिणत हो जायगी।

जब चेतनमें कर्तापन है ही नहीं तो फिर उसको सुख-दुःखके भोक्तापनमें हेतु क्यों कहा गया है—**'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।'** (गीता १३। २०)? इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि अहम्‌के साथ तादात्म्य करनेसे ही चेतन सुख-दुःखका भोक्ता बनता है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

(गीता १३। २१)

चेतनको भोक्तापनमें हेतु बतानेका कारण यह है कि सुखी-दुःखी चेतन ही हो सकता है, जड नहीं। इसमें भी एक मार्मिक बात है कि अहम्‌के साथ तादात्म्य होते हुए भी वास्तवमें चेतन सुख-दुःखका भोक्ता नहीं है—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥'** (गीता १३। ३१)। तात्पर्य है कि कर्ता-भोक्ता अहम् है, स्वयं (चेतन) नहीं।

तादात्म्य क्या है? एक चार कोनोंवाला लोहा हो और उसको अग्निसे तपा दिया जाय तो यह लोहे और अग्निका तादात्म्य है। तादात्म्य होनेसे लोहेमें जलानेकी ताकत न होनेपर भी वह जलानेवाला हो जाता है और अग्नि चार कोनोंवाली न होनेपर भी चार कोनोंवाली हो जाती है। ऐसे ही जड (अहम्) और चेतनका तादात्म्य होनेपर जडकी सत्ता न होनेपर भी सत्ता दीखने लग जाती है और कर्ता-भोक्ता न होनेपर भी चेतन कर्ता-भोक्ता बन जाता है।

जैसे चुम्बककी तरफ लोहा ही खिंचता है, अग्नि नहीं खिंचती; परन्तु लोहेसे तादात्म्य होनेके कारण अग्नि भी चुम्बककी तरफ खिंचती हुई प्रतीत होती है। ऐसे ही भोगोंकी तरफ अहम् ही खिंचता है, चेतन नहीं खिंचता। अहम्‌के बिना केवल चेतनका भोगोंमें आकर्षण हो ही नहीं सकता। अहम्‌के साथ एक होनेसे ही स्वयं भोक्ता बनता है अर्थात् अपनेको सुखी-दुःखी मानता है। अतः वास्तवमें अहम् ही कर्ता-भोक्ता बनता है, चेतन नहीं।

'मैं हूँ'—यह जड-चेतनका तादात्म्य है। इस 'मैं हूँ'में ही भोक्तापन रहता है। अगर 'मैं' न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' रहेगा। जैसे लोहे और अग्निमें तादात्म्य न रहनेसे लोहा पृथ्वीपर ही रह जाता है और अग्नि निराकार अग्नि-तत्त्वमें लीन हो जाती है, ऐसे ही अहम् तो प्रकृतिमें ही रह जाता है और 'हूँ' ('है'का स्वरूप होनेसे) 'है'में ही विलीन हो जाता है। 'है'में भोक्तापन नहीं है। तात्पर्य है कि भोगोंमें 'हूँ' खिंचता है, 'है' नहीं खिंचता। 'हूँ' ही कर्ता-भोक्ता बनता है, 'है' कर्ता-भोक्ता नहीं बनता। अतः 'हूँ'को न मानकर 'है'को ही माने अर्थात् अनुभव करे।

सुख-दुःखके आने-जानेका और स्वयंके रहनेका अनुभव सबको है। पापी-से-पापी मनुष्यको भी इसका अनुभव है। ऐसा अनुभव होनेपर भी मनुष्य आगन्तुक सुख-दुःखके साथ मिलकर सुखी-दुःखी हो जाता है। इसका कारण यह है कि 'मैं अलग हूँ और सुख-दुःख अलग हैं'—इस विवेकका वह

* जड-चेतनकी ग्रन्थि होनेसे 'मैं'का प्रयोग जड (तादात्म्यरूप अहम्)के लिये भी होता है और चेतन (स्वरूप)के लिये भी होता है। जैसे, 'मैं कर्ता हूँ'—इसमें जडकी तरफ दृष्टि है और 'मैं कर्ता नहीं हूँ'—इसमें (जडका निषेध होनेसे) चेतनकी तरफ दृष्टि है। जिसकी दृष्टि जडकी तरफ है अर्थात् जो अहम्‌को अपना स्वरूप मानता है, वह 'अहङ्कारविमूढात्मा' है और जिसकी दृष्टि चेतन (अहंरहित स्वरूप)की तरफ है, वह 'तत्त्ववित्' है।

आदर नहीं करता, इसको महत्त्व नहीं देता, इसपर कायम नहीं रहता। वास्तवमें स्वयं सुखी-दुःखी नहीं होता, प्रत्युत अहम्‌के साथ मिलकर अपनेको सुखी-दुःखी मान लेता है। तात्पर्य है कि सुख-दुःख केवल मान्यतापर टिके हुए हैं।

सुख-दुःखका आना, रहना और जाना—ये तीन अवस्थाएँ सबके अनुभवमें आती हैं। वास्तवमें ये तीन न होकर एक ही हैं। कारण कि सुख-दुःखके आते ही उसी क्षण उनका जाना शुरू हो जाता है। उनका रहना सिद्ध होता ही नहीं। तात्पर्य है कि सुख-दुःख तो निरन्तर बह रहे हैं, अभावमें जा रहे हैं, पर अज्ञानके कारण हमने ही उनको पकड़ा है अर्थात् उनको आते हुए और रहते हुए माना है। वास्तवमें 'वे बह रहे हैं'—ऐसा कहना भी सुख-दुःखकी सत्ताको लेकर है। अगर उनको सत्ता न दें तो वे हैं ही नहीं ! जब हैं ही नहीं तो फिर बहें क्या ?

७. स्वतःप्राप्त और सहज निवृत्ति

स्वतःप्राप्त कभी अप्राप्त नहीं होता और सहज निवृत्तिका कभी नाश नहीं होता। स्वतःप्राप्त तत्त्व है और सहज निवृत्ति प्रकृति है। सहज निवृत्तिके दो भेद हैं—प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्तिमें भी सहज निवृत्ति है और निवृत्तिमें भी सहज निवृत्ति है। परन्तु स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो सहज निवृत्तिका भान प्रवृत्तिके समय नहीं होता, प्रत्युत प्रवृत्तिके आदि और अन्तमें होता है। तात्पर्य है कि प्रकृति निरन्तर क्रियाशील होनेसे कभी अक्रिय नहीं रहती। अतः प्रकृतिकी क्रियाशीलता ही स्थूल दृष्टिसे सर्ग और प्रलय, महासर्ग और महाप्रलय—इन दो अवस्थाओंके रूपमें प्रतीत होती है*। परन्तु स्वतःप्राप्त तत्त्वमें क्रिया नहीं है; अतः उसमें क्रियाकी सहज निवृत्ति है।

जिसमें क्रिया नहीं है, वह नित्यप्राप्त है और जिसमें क्रिया है, वह कभी किसीको प्राप्त हुआ नहीं, प्राप्त है नहीं, प्राप्त होगा नहीं तथा प्राप्त हो सकता नहीं। तात्पर्य है कि क्रियाशील प्रकृतिकी प्रतीति तो होती है, पर प्राप्ति नहीं होती। सहज निवृत्तिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? अविवेकके कारण स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई आदिकी प्राप्ति दीखती तो है, पर वास्तवमें इनकी अप्राप्ति ही है। कारण कि ये पहले भी अप्राप्त थे, पीछे भी अप्राप्त हो जायँगे तथा वर्तमानमें भी ये हमारेसे निरन्तर वियुक्त हो रहे हैं। अतः इनकी निरन्तर निवृत्ति (सम्बन्ध-विच्छेद) है, प्राप्ति नहीं है।

तत्त्वकी प्राप्ति भी स्वतःसिद्ध है और प्रकृतिकी निवृत्ति भी स्वतःसिद्ध है। तत्त्वकी प्राप्तिका नाम भी 'योग' है—**'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २।४८) और प्रकृतिकी निवृत्तिका नाम भी 'योग' है—**'दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्'** (गीता ६।२३)।

—इस प्रकार विवेकको प्रधानता देकर, अपनी विवेक-शक्तिका उपयोग करके सहज निवृत्तिकी निवृत्ति और स्वतःप्राप्तकी प्राप्ति स्वीकार करना करणनिरपेक्ष साधन है।

८. संसारका अभाव और परमात्मतत्त्वका भाव

देखने, सुनने तथा चिन्तन करनेमें जितना भी संसार आ रहा है, इसका पहले भी अभाव था, पीछे भी अभाव हो जायगा तथा वर्तमानमें भी यह निरन्तर अभावमें जा रहा है—

देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं॥

(मानस २।९२।४)

इसका इतनी तेजीसे परिवर्तन हो रहा है कि इसको दो बार नहीं देख सकते अर्थात् एक बार देखनेमें यह जैसा था, दूसरी बार देखनेमें यह वैसा नहीं रहता। इसमें केवल परिवर्तन-ही-परिवर्तन है। परिवर्तनके पुंजका नाम ही संसार है।

वस्तुके उत्पन्न होते ही उसके नाशका क्रम (परिवर्तन) आरम्भ हो जाता है। जैसे, जमीनमें बीज डालते हैं तो पहले मिट्टी-पानीके संयोगसे बीज कुछ फूलता है। फिर वह फूटता है तो उसमेंसे अंकुर निकलता है। अंकुरसे फिर दो पत्तियाँ निकलती हैं। फिर वह बढ़कर पौधा बनता है। पौधा बढ़ते-बढ़ते वृक्ष बनता है। फिर वह वृक्ष भी धीरे-धीरे पुराना होकर अन्तमें गिर जाता है। तात्पर्य है कि बीजके बढ़नेसे लेकर वृक्ष बननेतक उसमें निरन्तर परिवर्तन हुआ है। ऐसे ही स्त्री गर्भधारण करती है तो गर्भमें पहले एक पिण्ड बनता है। फिर उसके बढ़नेपर उसमेंसे वृक्षकी शाखाओंकी तरह एक सिर, दो हाथ और दो पैर निकलते हैं। फिर आँख, कान, नाक आदि नौ छिद्र बनते हैं। फिर हृदय आदिका निर्माण होते-होते नवें मासमें वह सम्पूर्ण अंगोंसे युक्त होकर गर्भाशयसे बाहर आता

---

* सर्गके आरम्भसे सर्गके मध्यतक प्रकृति सर्गकी ओर चलती है और सर्गके मध्यसे प्रकृति प्रलयकी ओर चलती है। ऐसे ही प्रलयके आरम्भसे प्रलयके मध्यतक प्रकृति प्रलयकी ओर चलती है और प्रलयके मध्यसे प्रकृति सर्गकी ओर चलती है। जैसे, सूर्योदय होनेपर प्रकाश मध्याह्नतक बढ़ता जाता है और मध्याह्नसे सूर्यास्ततक प्रकाश घटता जाता है। सूर्यास्त होनेपर अन्धकार मध्यरात्रितक बढ़ता जाता है और मध्यरात्रिसे सूर्योदयतक अन्धकार घटता जाता है। तात्पर्य है कि जैसे प्रकाश और अन्धकारकी क्रिया निरन्तर होती रहती है, ऐसे ही प्रकृतिमें सर्ग और प्रलय, महासर्ग और महाप्रलयकी क्रिया भी निरन्तर होती रहती है, कभी मिटती नहीं।

(जन्म लेता) है। जन्मके बाद वह प्रतिक्षण बढ़ता रहता है। जन्मसे लेकर दो वर्षतक उसकी 'शिशु'-अवस्था होती है। दोसे पाँच वर्षतक उसकी 'कुमार'-अवस्था होती है। पाँचसे दस वर्षतक उसकी 'पौगण्ड'-अवस्था होती है। दससे पन्द्रह वर्षतक उसकी 'किशोर'-अवस्था होती है। पन्द्रहसे तीस वर्षतक उसकी 'युवा'-अवस्था होती है। तीससे पचास वर्षतक उसकी 'प्रौढ़'-अवस्था होती है। पचास वर्षसे आगे उसकी 'वृद्ध'-अवस्था होती है* । फिर उसकी मृत्यु हो जाती है। मृत्युके बाद सूक्ष्म-शरीर तथा कारण-शरीर—दोनोंको लेकर जीव परलोकगमन करता है और स्थूलशरीर यहीं पड़ा रह जाता है। उस स्थूलशरीरमें अनेक विकार (फूलना, सड़ना आदि) होने लगते हैं। उसको जलानेसे वह राख बन जाता है, पशु-पक्षियोंके खानेसे वह विष्ठा बन जाता है और जमीनमें गाड़नेसे वह कृमि बन जाता है।

तात्पर्य यह हुआ कि गर्भसे लेकर अन्ततक शरीरमें निरन्तर परिवर्तन होता है। उत्पन्न होते ही उसमें विनाशकी क्रिया आरम्भ हो जाती है। इसलिये जन्म लेनेके बाद बालक बड़ा होगा कि नहीं होगा, पढ़ेगा कि नहीं पढ़ेगा, व्यापार आदि कार्य करेगा कि नहीं करेगा, डॉक्टर, इंजीनियर आदि बनेगा कि नहीं बनेगा, विवाह करेगा कि नहीं करेगा, उसकी सन्तान होगी कि नहीं होगी आदि सब बातोंमें सन्देह रहता है, पर वह मरेगा कि नहीं मरेगा—इस बातमें कोई सन्देह नहीं रहता; क्योंकि यह निरन्तर मर रहा है।

इस प्रकार संसारमात्रमें कोरा परिवर्तन-ही-परिवर्तन है। ऐसा कोई वर्ष नहीं, जिसमें परिवर्तन न होता हो। ऐसा कोई महीना नहीं, जिसमें परिवर्तन न होता हो। ऐसा कोई दिन नहीं, जिसमें परिवर्तन न होता हो। ऐसा कोई घंटा नहीं, जिसमें परिवर्तन न होता हो। ऐसा कोई मिनट नहीं, जिसमें परिवर्तन न होता हो। ऐसा कोई सेकेंड नहीं, जिसमें परिवर्तन न होता हो। जैसे नदी निरन्तर बहती ही रहती है, एक क्षणके लिये भी रुकती नहीं, ऐसे ही संसारके नाशका प्रवाह निरन्तर चलता रहता है, एक क्षणके लिये भी रुकता नहीं।

वास्तवमें संसारका प्रवाह नदीके प्रवाहसे अथवा विद्युत्‌की गतिसे भी तेज है, जिसमें नदीका प्रवाह भी प्रवाहित हो रहा है तथा विद्युत्‌की गति भी गतिशील हो रही है ! नदीके किनारे खड़े एक सन्तने कहा कि जैसे नदी बह रही है, ऐसे ही पुलपर आदमी बह रहे हैं। दूसरे सन्त बोले कि आदमी ही नहीं, खुद पुल भी बह रहा है ! कैसे ? जिस दिन यह पुल बना, उस दिन यह जैसा नया था, वैसा आज नया नहीं है और जैसा आज है, वैसा आगे नहीं रहेगा, प्रत्युत पुराना होकर एक दिन गिर जायगा। तात्पर्य यह हुआ कि इसमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, यह निरन्तर अभावमें जा रहा है।

प्रत्येक देश (स्थान)का पहले भी अभाव था, पीछे भी अभाव हो जायगा और अब भी निरन्तर अभाव हो रहा है। प्रत्येक वर्ष, महीना, पक्ष, वार, तिथि, नक्षत्र, घंटा, मिनट, सेकेंड आदिका तथा भूत, भविष्य और वर्तमान कालका प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक वस्तु परिवर्तनका पुंज है। प्रत्येक व्यक्ति जन्मसे पहले भी नहीं था, मृत्युके बाद भी नहीं रहेगा तथा बीचमें भी प्रतिक्षण मृत्युकी ओर जा रहा है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि-अवस्था तथा बालक, जवान और वृद्धावस्था आदि सम्पूर्ण अवस्थाओंका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है। एक क्षण पहले जैसी अवस्था थी, दूसरे क्षणमें वैसी अवस्था नहीं रहती। अनुकूल, प्रतिकूल तथा मिश्रित—कोई भी परिस्थिति निरन्तर नहीं रहती। परिस्थितिमात्रका निरन्तर अभाव हो रहा है। प्रत्येक सुखदायी तथा दुःखदायी घटनाका निरन्तर अभाव हो रहा है। जन्म-मरण, संयोग-वियोग आदि कोई भी घटना टिकती नहीं। कोई भी क्रिया निरन्तर नहीं रहती। प्रत्येक क्रियाका आदि और अन्त होता है। तात्पर्य है कि प्रत्येक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना और क्रियामें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। परन्तु इस परिवर्तनको जो जाननेवाला है, वह अपरिवर्तनशील तत्त्व है। कारण कि जो बदलता है, वह बदलनेवालेको नहीं जान सकता। जो नहीं बदलता, वही बदलनेवालेको जान सकता है। गीतामें आया है—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।

(८। १९)

'वही यह प्राणिसमुदाय उत्पन्न हो-होकर लीन होता है।'

—जो उत्पन्न हो-होकर लीन होता है, वह बदलनेवाला नाशवान् संसार है और जो वही रहता है, वह न बदलनेवाली अखण्ड सत्ता है। संसारमें केवल परिवर्तन है और सत्तामें केवल अपरिवर्तन है। बदलनेवालेका नाम ही संसार है और न बदलनेवालेका नाम ही परमात्मतत्त्व है। परमात्म-

* स्त्रीकी अवस्था जन्मसे लेकर दो वर्षतक 'बालिका', दोसे पाँच वर्षतक 'कुमारी', पाँचसे दस वर्षतक 'कन्या' [इसमें भी आठवें वर्षमें 'गौरी' और नवें वर्षमें 'रोहिणी'], दससे पन्द्रह वर्षतक 'किशोरी' या 'मुग्धा', पन्द्रहसे तीस वर्षतक 'युवती', तीससे पचास वर्षतक 'प्रौढ़ा' और पचाससे आगे 'वृद्धा' कहलाती है।

तत्त्वकी सत्तासे ही यह संसार सत्तावाला ('है'-रूपसे) दीख रहा है—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥
(मानस १।११७।८)

जैसे, हम कहते हैं कि 'यह मनुष्य है, यह पशु है, यह वृक्ष है, यह मकान है' आदि तो इसमें 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो पहले भी नहीं थे, पीछे भी नहीं रहेंगे तथा वर्तमानमें भी प्रतिक्षण अभावमें जा रहे हैं; परन्तु 'है' रूपसे जो सत्ता है, वह सदा ज्यों-की-त्यों है। तात्पर्य है कि 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो संसार है और 'है' परमात्मतत्त्व है। संसारकी तो सत्ता नहीं है और परमात्मतत्त्वका अभाव नहीं है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २।१६)।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहम्—ये आठों अपरा प्रकृति हैं (गीता ७।४)। इन आठोंमें क्रिया, परिवर्तन अथवा विकृति होती है, पर ये जिसकी सत्तासे सत्तावान् प्रतीत होते हैं, उस 'है'में कभी किंचिन्मात्र भी कोई क्रिया, परिवर्तन अथवा विकृति नहीं होती। वह नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। जैसे, हम कहते हैं कि 'पृथ्वी है' तो इसमें दो शब्द हैं—'पृथ्वी' और 'है'। जब भूकम्प आता है, तब वह पृथ्वीमें आता है, 'है'में नहीं आता। पेड़-पौधे पृथ्वीपर उगते हैं, 'है' पर नहीं उगते। जल कभी बर्फ बनकर जम जाता है, कभी भाप बनकर उड़ जाता है, पर 'है' न जमता है, न उड़ता है। जल ठण्डा या गर्म होता है, 'है' ठण्डा या गर्म नहीं होता। अग्नि कभी जलती है, कभी शान्त होती है, पर 'है' न जलता है, न शान्त होता है। वायु कभी स्थिर रहती है, कभी बहती है, पर 'है' न स्थिर रहता है, न बहता है। बादल आकाशको आच्छादित करते हैं, पर 'है'को आच्छादित नहीं करते। शब्द आकाशका, स्पर्श वायुका, रूप अग्निका, रस जलका और गन्ध पृथ्वीका गुण है, पर 'है'में ये गुण नहीं हैं। स्थिर या चंचल मन होता है, 'है' नहीं होता। संकल्प-विकल्प मनमें होते हैं, 'है'में नहीं होते। कभी ठीक समझना, कभी कम समझना और कभी बिलकुल न समझना बुद्धिमें है, 'है'में नहीं है। सम्पूर्ण क्रियाएँ अहम् (धातुरूप समष्टि अहंकार)में होती हैं, 'है'में कभी किंचिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं होती। इसी अहम्‌के साथ सम्बन्ध जोड़कर जीव मान लेता है कि 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं ऊँचा हूँ, मैं नीचा हूँ' आदि। परन्तु 'है' कभी सुखी-दुःखी, कर्ता-भोक्ता, मूर्ख-विद्वान्, ऊँचा-नीचा आदि नहीं होता।

हम कहते हैं कि 'संसार है' तो परिवर्तन संसारमें होता है, 'है'में नहीं होता। जैसे, 'काठ है' तो विकृति काठमें आती है, 'है'में नहीं आती। काठ जलता है, 'है' नहीं जलता। काठ जलकर कोयला हो गया तो जो पहले 'काठ है', वही अब 'कोयला है', तो 'है'में क्या फर्क पड़ा ? ऐसे ही काठ कटता है, 'है' नहीं कटता। पानीमें काठ बहता है, 'है' नहीं बहता। काठ कभी गीला होता है, कभी सूखा होता है, पर 'है' कभी गीला या सूखा नहीं होता। काठ कभी एकरूप रहता ही नहीं और 'है' कभी अनेकरूप होता ही नहीं।

जो बदले, वह संसार है और जो कभी न बदले, वह 'है' अर्थात् परमात्मतत्त्व है। संसारकी सत्ता तो उत्पन्न होनेके बाद है, पर 'है'की सत्ता उत्पन्न होनेके बाद नहीं है, प्रत्युत पहलेसे ही स्वतःसिद्ध है—**'नायं भूत्वा भविता वा न भूयः'** (गीता २।२०)। अतः संसारकी सत्ता अवास्तविक (मानी हुई) तथा एकदेशीय है और 'है'की सत्ता वास्तविक और अनन्त है।

संसारको 'है'की आवश्यकता है, पर 'है'को संसारकी आवश्यकता नहीं है। कारण कि संसारकी सत्ता 'है'के अधीन है, पर 'है'की सत्ता संसारके अधीन नहीं है। जैसे प्रकाशमें सब वस्तुएँ दीखती हैं तो सबसे पहले प्रकाश दीखता है, वस्तुएँ पीछे दीखती हैं, ऐसे ही सबसे पहले 'है' दीखता है, संसार पीछे दीखता है। परन्तु भोग तथा संग्रहमें आसक्त मनुष्य केवल संसारको ही देखते हैं—**'कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः'** (गीता १६।११) और तत्त्वज्ञ महापुरुष संसारको न देखकर केवल 'है'को ही देखते हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७।१९)।

९. एकदेशीय सत्ता और अनन्त सत्ता

साधककी समस्या यह है कि जिसकी सत्ता नहीं है, जो एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, उस संसारका (भोगोंका) तो आकर्षण होता है, पर जिसकी सत्ता है, जो नित्य-निरन्तर विद्यमान है, उस तत्त्वका आकर्षण नहीं होता ! जो 'नहीं' है, उसका असर पड़ता है और जो 'है', उसका असर नहीं पड़ता ! अब इसपर विचार किया जाता है।

वास्तवमें 'नहीं'को 'है' माननेसे ही भोग होता है। संसारको स्थायी माने बिना उसका भोग हो ही नहीं सकता। संसारकी स्थिति वास्तवमें है ही नहीं। उसका प्रतिक्षण ही नाश हो रहा है। नाशके इस क्रम (प्रवाह)को ही स्थिति कह देते हैं। परन्तु भोग भोगते समय इस बातका ज्ञान नहीं रहता। सुखभोगकी इच्छा इस ज्ञानको तिरस्कृत (रद्दी) कर देती है अर्थात् सुखभोगकी इच्छा भोगोंको सत्ता दे देती है। अतः

भोगोंकी सत्ता नहीं है, नहीं है, नहीं है—ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाय तो सुखभोगकी इच्छा मिट जायगी अथवा एक परमात्म-तत्त्वकी ही सत्ता है, है, है—ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाय तो सुखभोगकी इच्छा मिट जायगी।

'नहीं' निरन्तर 'नहीं'में जा रहा है और 'है' निरन्तर 'है'में रह रहा है। नित्यनिवृत्तकी निरन्तर निवृत्ति हो रही है और नित्यप्राप्तकी निरन्तर प्राप्ति हो रही है। इस वास्तविकताका अनुभव करनेके लिये अहंकार (एकदेशीयपना)को मिटाना बहुत आवश्यक है।

अपनेमें 'मैं हूँ' इस प्रकार जो एकदेशीयपना (अहम्) दीखता है, उसीसे परिच्छिन्नता, विषमता, व्यक्तित्व, अभाव, जडता, अशान्ति, कर्तृत्व, भोगेच्छा आदि विकार पैदा होते हैं। यह एकदेशीयपना ही तत्त्वसे भेद, दूरी तथा विमुखता पैदा करता है। जबतक अपनेमें एकदेशीयपना रहता है, तभीतक भोगोंमें आकर्षण रहता है। इस एकदेशीयपने (मैंपन)को मिटानेका उपाय है—अपनेमें परमात्मतत्त्वकी सत्ता ('है')को स्वीकार करना।

अपनेमें अपने सिवाय परमात्मतत्त्वकी सत्ता माननेसे क्या द्वैत नहीं आ जायगा? द्वैत नहीं आयेगा, प्रत्युत द्वैतभावका नाश हो जायगा। कारण कि अपनेमें जो एकदेशीय सत्ता दीखती है, उसमें परमात्मतत्त्वकी अनन्त सत्ताको स्वीकार करनेसे वह एकदेशीय सत्ता मिट जायगी। एकदेशीय सत्ता मिटते ही द्वैतभाव, परिच्छिन्नता, विषमता, व्यक्तित्व आदि विकारोंका नाश हो जायगा। ये सब विकार एकदेशीय सत्तामें ही दीखते हैं।

जिस सत्ताके अन्तर्गत अनेक ब्रह्माण्ड हैं, उस अनन्त सत्तामें और एकदेशीय सत्तामें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। भगवान् कहते हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
(गीता १३। २)

'हे भारत! तू सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मेरेको ही समझ।'

तात्पर्य है कि वास्तविक सत्ता दो नहीं है, प्रत्युत एक ही है—**'वासुदेवः सर्वम्'**। अपरा प्रकृतिके जिस अंशमें सम्पूर्ण क्रियाएँ हो रही हैं, उस अंश अर्थात् 'अहम्'के साथ सम्बन्ध मान लेनेसे सत्तामें भेद दीखने लग जाता है। जिसने अहम्के साथ सम्बन्ध माना है, वह एकदेशीय सत्ता हो जाती है। इस एकदेशीय सत्ताको ही जीव, ईश्वरका अंश, परा प्रकृति, क्षेत्रज्ञ आदि नामोंसे कहते हैं। इस एकदेशीय सत्ताको ही 'मैं हूँ'—इस रूपसे जाना जाता है। यह एकदेशीय सत्ता जिस अनन्त सत्ताका अंश है, उस अनन्त सत्ताको ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् आदि नामोंसे कहते हैं। उस अनन्त सत्ताको भी 'है'-रूपसे जाना जाता है। इस प्रकार अहम्के कारण एक ही सत्ताके दो भेद हो जाते हैं—एकदेशीय सत्ता (जीव) और अनन्त सत्ता (ब्रह्म)।

'मैं हूँ'—यह जड-चेतनकी ग्रन्थि है। इसमें 'मैं' जड (प्रकृति)का अंश है और 'हूँ' चेतन (परमात्मा)का अंश है। 'मैं'-पनकी प्रकृतिके साथ एकता है और 'हूँ'की परमात्मा ('है')के साथ एकता है। 'मैं'-पनके कारण ही 'है' 'हूँ'-रूपसे दीखता है। अगर 'मैं-पन' न रहे तो 'हूँ' 'है'में समा जायगा। सभी 'हूँ' 'है'में समा जाते हैं, पर 'है' 'हूँ'में नहीं समा सकता। वास्तवमें 'हूँ' 'है'में समाया हुआ ही है! उस 'है'में 'मैं'-पन नहीं है। तात्पर्य है कि 'मैं'-पन (अहम्)से ही सत्तामें 'हूँ' और 'है'का भेद होता है। इसलिये सत्ताभेदको मिटानेके लिये 'मैं'-पनका नाश करना आवश्यक है। यह 'मैं'-पन भूलसे माना हुआ है। यह भूल अपनेमें अर्थात् व्यक्तित्वमें है, सत्ता (तत्त्व)में नहीं। इस एक भूलमें ही अनेक भूलें हैं! इस भूलको मिटानेके लिये 'हूँ'को 'है'में मिलाना बहुत आवश्यक है। 'हूँ'को 'है'में मिलानेसे 'मैं' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' (तत्त्व) रह जायगा।

हम मानी हुई एकदेशीय सत्ता 'मैं हूँ'को तो दृढ़तासे अनुभव करते हैं, पर तत्त्वकी अनन्त सत्ताको मानते हैं* इस विपरीतताका कारण अहंकार ही है। अहंकारको मिटानेके लिये एकदेशीय सत्ताको अनन्त सत्तामें मिला दें अर्थात् समर्पित कर दें, जो कि वास्तवमें है। ऐसा करनेसे मानी हुई एकदेशीय सत्ता नहीं रहेगी, प्रत्युत देश-कालादि भावोंसे अतीत अनन्त सत्ता रह जायगी। तात्पर्य है कि अनन्त सत्ताकी मान्यता मान्यतारूपसे नहीं रहेगी, प्रत्युत पहले जितनी दृढ़तासे एकदेशीय सत्ताका भान होता था, उससे भी अधिक दृढ़तासे अनन्त सत्ताका अनुभव स्वतः होने लगेगा।

एक मार्मिक बात है कि अनन्त सत्ताको एकदेशीय

* वास्तवमें 'मैं हूँ'—यह एकदेशीय सत्ता हमारी झूठी मान्यता है, अनुभव नहीं—'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' (गीता ३। २७)। इस झूठी मान्यताके कारण ही अनन्त सत्ताका (जो कि पहलेसे ही ज्यों-की-त्यों विद्यमान है) अनुभव नहीं होता अर्थात् उसकी तरफ हमारी दृष्टि नहीं जाती। इसलिये 'मैं हूँ' इस झूठी मान्यताको मान्यताके द्वारा ही मिटानेकी बात गीतामें आयी है—'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (५। ८)।

सत्तामें मिलानेकी अपेक्षा एकदेशीय सत्ताको अनन्त सत्तामें मिलाना श्रेष्ठ है। कारण कि एकदेशीय सत्तामें अनादिकालसे माने हुए अहंकारके संस्कार रहते हैं; अतः जब उसमें अनन्त सत्ताकी स्थापना करेंगे, तब वह अहंकार जल्दी नष्ट नहीं होगा। परन्तु एकदेशीय सत्ताको अनन्त सत्तामें मिलानेसे अहंकार सर्वथा नहीं रहेगा। कारण कि अनन्त सत्ता मानी हुई नहीं है, प्रत्युत वास्तविक है।

वास्तवमें जीव और ब्रह्मकी एकता करना ही भूल है। जीव और ब्रह्मकी एकता आजतक न कभी हुई है, न होगी और न हो ही सकती है। कारण कि जीवमें ब्रह्मभाव नहीं है और ब्रह्ममें जीवभाव नहीं है। अतः जीव और ब्रह्मकी एकता न करके जीवभाव अर्थात् अहम् (मैं-पन)को मिटाना है। अहम्‌के मिटते ही केवल ब्रह्म रह जाता है। इसीको गीताने **'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९) कहा है। इसीलिये यह कहा गया है कि जीवको ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत जीवभाव मिटनेपर ब्रह्मको ही ब्रह्मकी प्राप्ति होती है—

'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक॰ ४। ४। ६)
'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्डक॰ ३। २। ९)
'ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः' (गीता ५। २०)

भगवान्‌ने अहम् मिटनेके बाद ही ब्राह्मी स्थिति होनेकी बात कही है—

निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
(गीता २। ७१-७२)

ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होनेपर फिर कभी अहम्‌से मोहित (अहंकारविमूढात्मा) होनेकी सम्भावना नहीं रहती।

तात्पर्य है कि वास्तविक सत्ता एक ही है। एकदेशीय, उत्पन्न होनेवाली, व्यावहारिक और प्रातिभासिक (प्रतीत होनेवाली) सत्ता वास्तवमें सत्ता नहीं है, प्रत्युत सत्ताका आभासमात्र है अर्थात् वह सत्ताकी तरह दीखती है, पर सत्ता नहीं है। वास्तविक सत्ता अनुभवमें आनेवाली वस्तु नहीं है, प्रत्युत अनुभवरूप है। हम उसको इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि (करण)के द्वारा देखना, अनुभव करना चाहते हैं—यह हमारी भूल है। जो इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे देखा जायगा, वह सत् कैसे होगा? जो सबको देखनेवाला (प्रकाशित करनेवाला) है, उसको कौन देख सकता है? अतः उस वास्तविक सत्ताका अनुभव करना हो तो साधक बाहर-भीतरसे चुप हो जाय, कुछ भी चिन्तन न करे।

१०. शरणागति

जिसमें विचारकी प्रधानता नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता है, ऐसा साधक 'मैं संसारका नहीं हूँ और संसार मेरा नहीं है, प्रत्युत मैं परमात्माका हूँ और परमात्मा मेरे हैं'—इस प्रकार संसारसे विमुख होकर परमात्माके सम्मुख हो जाय अर्थात् परमात्माके शरण हो जाय।

जब साधक अपनेको किसी साधनके योग्य नहीं मानता अर्थात् अपनी शक्तिसे कुछ कर नहीं सकता और परमात्माको प्राप्त किये बिना रह नहीं सकता, तब वह शरणागतिका अधिकारी होता है*। जैसे नींद स्वाभाविक आती है, उसके लिये कोई परिश्रम (अभ्यास) नहीं करना पड़ता, ऐसे ही जब साधक संसारसे निराश हो जाता है और परमात्माकी आशा छूटती नहीं, तब वह स्वाभाविक ही परमात्माके शरण हो जाता है। शरण होनेके लिये उसको कोई अभ्यास नहीं करना पड़ता। कारण कि शरण होनेमें किसी करणकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत भावकी जरूरत है। भाव स्वयंका होता है, किसी करणका नहीं। जैसे, कन्याका विवाह होता है तो 'अब मैं पतिकी हूँ' ऐसा भाव होते ही उसका माँ-बापसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और पतिके साथ सम्बन्ध हो जाता है। पतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेमें किस करणकी जरूरत है? किस अभ्यासकी जरूरत है? अर्थात् किसी भी करणकी, अभ्यासकी जरूरत नहीं है। 'मैं पतिकी हूँ'—यह मान्यता (स्वीकृति) स्वयंकी है, किसी करणकी नहीं†। मन-बुद्धि प्रकृतिके अंश हैं और स्वयं परमात्माका अंश है। अतः परमात्माके शरण होनेमें मन-बुद्धि आदि किसीकी किञ्चिन्मात्र भी जरूरत नहीं है, प्रत्युत स्वयंकी जरूरत है। परमात्माके शरण स्वयं होता है, मन-बुद्धि नहीं। तात्पर्य है कि परमात्माकी प्राप्तिमें बोध और भावकी अपेक्षा है, करणकी अपेक्षा नहीं

* हौं हार्‌यौ करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै। तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥
(विनयपत्रिका ८९)

† मन-बुद्धिसे जो मान्यता होती है, उसकी विस्मृति हो जाती है, पर स्वयंसे होनेवाली मान्यताकी विस्मृति नहीं होती, उसको याद नहीं रखना पड़ता। जैसे, 'मैं विवाहित हूँ'—यह मान्यता स्वयंसे होती है; अतः याद न रखनेपर भी इसकी कभी भूल नहीं होती। विवाहमें तो नया सम्बन्ध होता है, पर परमात्माका सम्बन्ध अनादिकालसे स्वतः है। जब नये (बनावटी) सम्बन्धकी भी विस्मृति नहीं होती तो फिर स्वतःसिद्ध सम्बन्धकी विस्मृति हो ही कैसे सकती है? 'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्' (गीता ४। ३५)।

है। जहाँ स्वयंसे काम होता है, वहाँ करणकी अपेक्षा नहीं होती।

एक 'पर'का आश्रय (पराश्रय) है और एक 'स्व'का आश्रय (स्वाश्रय) है। आठ भेदोंवाली अपरा प्रकृति (पंचमहाभूत, मन, बुद्धि तथा अहंकार) अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म, तथा कारण—तीनों शरीर तथा संसार 'पर' है और इनका आश्रय 'पराश्रय' है। क्रिया और पदार्थका आश्रय स्थूल-शरीरका आश्रय है, मन-बुद्धिका अर्थात् चिन्तन, मनन, ध्यान, आदिका आश्रय सूक्ष्मशरीरका आश्रय है और अहङ्कारका, स्वभावका एवं समाधिका आश्रय कारण शरीरका आश्रय है।

स्वरूपका आश्रय भी 'स्वाश्रय' है और परमात्माका आश्रय भी 'स्वाश्रय' है* कारण कि 'स्व'के दो अर्थ होते हैं—स्वयं (स्वरूप) और स्वकीय। परमात्मा स्वकीय हैं; क्योंकि उनका हमारे साथ अखण्ड सम्बन्ध है। तात्पर्य है कि जो किसी भी देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें हमारेसे अलग नहीं हो सकता और हम उससे अलग नहीं हो सकते, वही 'स्वकीय' (अपना) हो सकता है। जो प्रत्येक देश, काल, क्रिया, वस्तु आदिमें निरन्तर हमारेसे अलग हो रहा है, उसका आश्रय (पराश्रय) लेनेके कारण ही स्वकीयका आश्रय (स्वाश्रय) अनुभवमें नहीं आ रहा है।

जीवके बन्धनका मुख्य कारण है—अहंकारका आश्रय (पराश्रय)। अहङ्कारका आश्रय ही ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। अहंकारका संग ही गुणोंका संग है; क्योंकि अहंकार भी सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों गुणोंवाला होता है—**'वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत्'** (श्रीमद्भा० ११। २४। ७)। अहङ्कारका आश्रय लेनेसे जीव अपनेको और अहम्‌को अलग-अलग नहीं देखता, प्रत्युत एक ही देखता है। अतः उसमें परिच्छिन्नता, व्यक्तित्व, पराधीनता, अभाव, बन्धन, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि दोष आ ही जाते हैं। अहङ्कारका आश्रय छूटते ही सब दोष निवृत्त हो जाते हैं। अहङ्कारका आश्रय (पराश्रय) छोड़नेके लिये 'निराश्रय' अथवा 'स्वाश्रय' होना आवश्यक है।

कर्मयोगमें 'निराश्रय' अर्थात् कर्मफलके आश्रयका त्याग होता है—**'अनाश्रितः कर्मफलम्'** (गीता ६। १); **'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः'** (गीता ४। २०)। जो भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तु है, वह सब 'कर्मफल' है। कर्मफलका आश्रय लेनेसे बार-बार जन्म-मरण होता है और मिलता कुछ नहीं—**'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५। १२)। कारण कि प्रत्येक कर्मका आदि और अन्त होता है, फिर उससे मिलनेवाला फल अविनाशी कैसे हो सकता है? निराश्रय होते ही स्वतःसिद्ध 'स्वाश्रय' (स्वरूपके आश्रय)का अनुभव हो जाता है।

ज्ञानयोगमें 'स्वाश्रय' अर्थात् स्वरूपका आश्रय होता है। स्वरूपके आश्रयसे साधकको मुक्ति प्राप्त होती है। परन्तु स्वरूपके आश्रयमें अहंकारका लेश रह सकता है; क्योंकि इसमें मुक्ति (स्वतन्त्रता)का अभिमानी रह जाता है। इसीलिये गीताने **'अहं ब्रह्मास्मि'** (मैं ब्रह्म हूँ)को ऊँचा नहीं माना है, प्रत्युत **'वासुदेवः सर्वम्'** (सब कुछ परमात्मा ही हैं)को ऊँचा माना है; क्योंकि इसमें अहंकार (व्यक्तित्व) सर्वथा नहीं रहता।

भक्तियोगमें 'स्वाश्रय' अर्थात् स्वकीय परमात्माका आश्रय होता है। 'स्व' (स्वरूप)का आश्रय लेनेकी अपेक्षा 'स्वकीय'का आश्रय लेना श्रेष्ठ है; क्योंकि 'स्व'का आश्रय लेनेसे मनुष्य मुक्ति (अखण्डरस) प्राप्त कर सकता है, पर अलौकिक प्रेम (अनन्तरस) प्राप्त नहीं कर सकता†। प्रेमकी प्राप्ति स्वकीय परमात्माका आश्रय लेनेसे ही होती है। प्रेम प्राप्त होनेपर अहंकार सर्वथा नष्ट हो जाता है‡।

११. चुप-साधन

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ साधन है—चुप होना अर्थात् कुछ भी चिन्तन न करना। यह सर्वोपरि करण-निरपेक्ष साधन है। चिन्तन करनेसे ही संसारका सम्बन्ध चिपकता है। कारण कि चिन्तन करने, वृत्ति लगानेका अर्थ है—नाशवान्, परिवर्तनशील वस्तुको महत्त्व देना। नाशवान्‌को

---

* आश्रय, अवलम्बन, अधीनता, प्रपत्ति और सहारा—ये सभी शब्द 'शरणागति'के पर्याय हैं; परन्तु इनमें थोड़ा भेद है; जैसे—पृथ्वीके आधारके बिना हम रह नहीं सकते, ऐसे ही भगवान्‌के आधारके बिना हम रह न सकें—यह भगवान्‌का 'आश्रय' है। हाथकी हड्डी टूट जाय तो डॉक्टरलोग उसपर पट्टी बाँधकर उसको गलेके सहारे लटका देते हैं, ऐसे ही भगवान्‌का सहारा लेने (पकड़ने)का नाम 'अवलम्बन' है। भगवान्‌को मालिक मानकर उनका दास बन जाना 'अधीनता' है। भगवान्‌के चरणोंमें गिर जाना 'प्रपत्ति' है। जलमें डूबते हुएको किसी वृक्ष, शिला आदिका आधार मिल जाय, ऐसे ही संसार-समुद्रमें डूबनेके भयसे भगवान्‌का आधार लेना 'सहारा' है।

† भगवान्‌ने मुक्ति तो पूतनाको भी दे दी थी, पर यशोदाको अपने-आपको ही दे दिया।

‡ ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ (गीता १८। ५४)

महत्त्व देना, उसकी आवश्यकता मानना, उसकी सहायता लेना ही तत्त्वप्राप्तिमें मुख्य बाधा है। अविनाशीकी प्राप्ति नाशवान्‌के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत नाशवान्‌के त्यागसे होती है। जडके द्वारा चेतनकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? असत्‌के द्वारा सत्‌की प्राप्ति कैसे हो सकती है? परिवर्तनशीलके द्वारा अपरिवर्तनशीलकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? क्षणभंगुरके द्वारा सर्वथा निर्विकार तत्त्वकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? नाशवान्, जड, असत्, परिवर्तनशील, क्षणभंगुरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर तत्त्वकी प्राप्ति स्वतः ही है! इसलिये नाशवान्‌को महत्त्व देनेका, उसकी सहायता लेनेका भाव साधकको आरम्भसे ही नहीं रखना चाहिये। शास्त्रमें आया है—**'देवो भूत्वा देवं यजेत्'** 'देवता होकर देवताका पूजन करे।' अतः अक्रिय एवं अचिन्त्य होकर ही अक्रिय एवं अचिन्त्य तत्त्वको प्राप्त करना चाहिये।

गीतामें आया है—

'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।
(६।२५)

'परमात्मस्वरूपमें मन (बुद्धि)को सम्यक् प्रकारसे स्थापन करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे।'

तात्पर्य है कि सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें एक ही परमात्मतत्त्व 'है' (सत्ता)-रूपसे ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। देश, काल आदिका तो अभाव है, पर परमात्मतत्त्वका नित्य भाव है। इस प्रकार साधक पहले मन-बुद्धिसे यह निश्चय कर ले कि 'परमात्मतत्त्व है'। फिर इस निश्चयको भी छोड़ दे और चुप हो जाय अर्थात् कुछ भी चिन्तन न करे। न तो संसारका चिन्तन करे, न स्वरूपका चिन्तन करे और न परमात्माका ही चिन्तन करे। कुछ भी चिन्तन करेगा तो संसार आ ही जायगा। कारण कि कुछ भी चिन्तन करनेसे चित्त (करण) साथमें रहेगा। करण साथमें रहेगा तो संसारका त्याग नहीं होगा; क्योंकि करण भी संसार ही है। इसलिये **'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'** (कुछ भी चिन्तन न करे) — इसमें करणसे सम्बन्ध-विच्छेद है; क्योंकि जब करण साथमें नहीं रहेगा, तभी असली ध्यान होगा। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चिन्तन करनेपर भी वृत्ति रहती ही है, वृत्तिका अभाव नहीं होता। परन्तु कुछ भी चिन्तन करनेका भाव न रहनेसे वृत्ति स्वतः शान्त हो जाती है। अतः साधकको चिन्तनकी सर्वथा उपेक्षा करनी है।

कुछ भी चिन्तन न करनेके बाद यदि अपने-आप कोई चिन्तन आ जाय तो साधक उससे न राग करे, न द्वेष करे; न उसको अच्छा माने, न बुरा माने और न अपनेमें माने। चिन्तन करना नहीं है, पर चिन्तन हो जाय तो उसका कोई दोष नहीं है। अपने-आप हवा बहती है, सरदी-गरमी आती है, वर्षा होती है तो उसका हमें कोई दोष नहीं लगता। दोष तो करनेका लगता है। अतः चिन्तन हो जाय तो उसकी उपेक्षा रखे, उसके साथ अपनेको मिलाये नहीं अर्थात् ऐसा न माने कि चिन्तन मेरेमें होता है और मेरा होता है। चिन्तन मनमें होता है और मनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

साधकमें चिन्तन न करनेका भी आग्रह नहीं होना चाहिये। उसमें न मन लगानेका आग्रह हो, न मन हटानेका आग्रह हो; न मनको स्थिर करनेका आग्रह हो, न मनकी चंचलता मिटानेका आग्रह हो; न किसी वृत्तिको लानेका आग्रह हो, न किसी वृत्तिको हटानेका आग्रह हो; न आँख-कान खोलनेका आग्रह हो, न आँख-कान बन्द करनेका आग्रह हो; न कुछ करनेका आग्रह हो, न कुछ नहीं करनेका आग्रह हो—**'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन'** (गीता ३।१८)। इस प्रकार कोई भी आग्रह न रखकर साधक उदासीन हो जाय तथा चुप हो जाय—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
(गीता १४।२३)

'जो उदासीनकी तरह स्थित है और जो गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता तथा गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—इस भावसे जो अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है और स्वयं कोई भी चेष्टा नहीं करता।'

जैसे नींद लेनेके लिये कोई उद्योग, परिश्रम नहीं करना पड़ता, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक नींद आती है, ऐसे ही चुप होनेके लिये कोई उद्योग नहीं करना है, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक चुप, शान्त हो जाना है। साधक दिनमें कई बार, काम करते-करते एक-दो सेकेण्डके लिये भी चुप, शान्त हो जाय तो उसको वास्तवमें चुप होना आ जायगा अर्थात् जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद तथा स्वतःसिद्ध तत्त्वका अनुभव हो जायगा। फिर वह सब कार्य करते हुए भी निरन्तर चुप रहेगा, यही समाधिसे भी ऊँची 'सहजावस्था' है।

उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा।
कनिष्ठा शास्त्रचिन्ता च तीर्थयात्राऽधमाऽधमा॥

अवस्थाके संस्कारवालोंको समझानेके लिये इसको 'सहजावस्था' कह देते हैं, पर वास्तवमें यह अवस्था नहीं है, प्रत्युत अवस्थातीत है। कारण कि अवस्था प्रकृतिमें होती है, तत्त्वमें नहीं। वास्तवमें चुप-साधनसे साधक सहजावस्था (सहज समाधि), तत्त्वज्ञान, जीवन्मुक्ति, भगवद्दर्शन आदि जो

चाहता है, वही उसको मिल जाता है। चुप होनेसे साधक स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे सुगमतापूर्वक अतीत हो जाता है तथा उसका अहम् अपने-आप मिट जाता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि किसी भी योगमार्गका साधक क्यों न हो, चुप-साधन सभीके लिये अत्यन्त उपयोगी है। यह चुप-साधन सभी शक्तियोंका खजाना है; क्योंकि सम्पूर्ण शक्तियाँ अक्रिय तत्त्वसे ही पैदा होती हैं और उसीमें लीन होती हैं। इस साधनसे एक विलक्षण शान्ति मिलती है, जिससे राग-द्वेषादि दोषोंको दूर करनेकी सामर्थ्य स्वतः आती है और अनुकूलता-प्रतिकूलताका असर नहीं पड़ता। इतना ही नहीं, जो लाभ धर्ममेघ समाधिसे भी नहीं होता, वह लाभ चुप-साधनसे हो जाता है। तात्पर्य है कि चुप-साधन सम्पूर्ण साधनोंका अन्तिम साधन है, जिससे पूर्णता हो जाती है अर्थात् **'वासुदेवः सर्वम्'** (सब कुछ परमात्मा ही हैं)—ऐसा अनुभव हो जाता है*।

शंका—करणनिरपेक्ष साधनका जो विवेचन हुआ है, उसका चिन्तन-मनन करेंगे, तभी तो अपने विवेकका आदर होगा! चिन्तन-मनन मन-बुद्धि (करण)से ही होता है, फिर यह करणनिरपेक्ष साधन कैसे हुआ?

समाधान—साधनको 'करणनिरपेक्ष' (विवेकप्रधान) कहा गया है, 'करणरहित' (क्रियारहित) नहीं। करणनिरपेक्ष साधनमें जबतक साधकमें किञ्चित् भी परिच्छिन्नता है, तबतक वह चिन्तन-मनन करता है, पर उसमें मुख्यता चिन्तन-मनन करनेकी अर्थात् तत्त्वमें मन-बुद्धि लगानेकी न होकर विवेककी ही होती है। अचिन्त्य तत्त्वकी तरफ दृष्टि रहनेसे उसमें विवेकका आदर मुख्य होता है। तात्पर्य है कि इस विवेचनका लक्ष्य चिन्तन-मनन, ध्यान, एकाग्रता, समाधि आदिकी तरफ नहीं है, प्रत्युत चिन्तन-मनन आदिसे अतीत तथा इनको प्रकाशित करनेवाला जो वास्तविक तत्त्व है, उसकी तरफ है।

वास्तवमें विवेकका आदर करनेके लिये चिन्तन-मनन अथवा अभ्यास करनेकी जरूरत ही नहीं है, प्रत्युत गलत मान्यताको मिटाकर वास्तविक बातकी स्वीकृति करनेमात्रकी जरूरत है। अभ्यास करणोंसे होता है और स्वीकृति स्वयंसे होती है। अभ्याससे तत्त्वबोध कभी हुआ नहीं, होगा नहीं, होना सम्भव ही नहीं। कारण कि अभ्याससे एक नयी अवस्था बनती है तथा परिच्छिन्नता और दृढ़ होती है, फिर उससे अवस्थातीत तथा अपरिच्छिन्न तत्त्वकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? तात्पर्य है कि केवल गलत मान्यताका निषेध करना है, अभ्यास नहीं करना है।

करणसापेक्ष साधनमें भी विवेक रहता है और करण-निरपेक्ष साधनमें भी करण रहता है। परन्तु करणसापेक्ष साधनमें करण (क्रिया)की प्रधानता रहती है तथा करणनिरपेक्ष साधनमें विवेककी प्रधानता रहती है।

करणसापेक्ष साधनकी महिमा भी विवेकके कारण ही है, करणके कारण नहीं। विवेकके बिना करण अन्धा है। अगर करणके साथ विवेक न हो तो करणसापेक्ष साधन चलेगा ही नहीं। इसीलिये साधनको 'करणरहित' न कहकर 'करणसापेक्ष' अथवा करणनिरपेक्ष कहा गया है। अगर करणसापेक्ष साधनमेंसे विवेक निकाल दिया जाय तो जडता आ जायगी अर्थात् साधन बनेगा ही नहीं और करणनिरपेक्ष साधनमेंसे करण निकाल दिया जाय तो चिन्मयता आ जायगी अर्थात् बोध हो जायगा, साधन सिद्ध हो जायगा। विवेकके बिना करण जड, पत्थर है और करणके बिना विवेक बोध है। चिन्मयता (बोध)की प्राप्तिमें जडकी मानी हुई सत्ता ही बाधक है।

विवेक आधा सत् और आधा असत् है अर्थात् विवेकमें सत्-असत् दोनों हैं, पर करण पूरा असत् ही है! विवेकमें सत्-असत् दोनों रहनेसे असत् तो छूट जायगा और सत् रह जायगा। अतः विवेकमें तो ग्राह्य (सत्) और त्याज्य (असत्) दोनों अंश रहते हैं, पर करणमें केवल त्याज्य अंश (असत्) ही रहता है। अतः विवेक तो बोधमें परिणत होता है और करणका सम्बन्ध-विच्छेद होता है, जो कि पहलेसे ही है। तात्पर्य यह हुआ कि विवेकमें जडके त्यागकी सामर्थ्य है, पर करणमें जडके त्यागकी सामर्थ्य नहीं है; क्योंकि करण खुद जड ही है।

करणसापेक्ष और करणनिरपेक्ष साधनमें भेद

एक निर्माण होता है और एक अन्वेषण होता है। निर्माण उस वस्तुका होता है, जो पहले न हो तथा कृतिसाध्य हो और अन्वेषण उस वस्तुका होता है, जो पहलेसे ही स्वतःसिद्ध हो। करणसापेक्ष साधनमें अभ्यासके द्वारा एक नयी वस्तुका निर्माण होता है और करणनिरपेक्ष साधनमें अवस्थातीत तथा नित्यप्राप्त तत्त्वका अन्वेषण होता है—**'ह्यतस्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः'** (श्रीमद्भा० १०। १४। २८); **'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्'** (गीता १५। ४)।

करणसापेक्ष साधनकी मुख्य बात है—मन-बुद्धि (करण)को परमात्मामें लगानेसे ही उनकी प्राप्ति होती है। करण-निरपेक्ष साधनकी मुख्य बात है—नित्यप्राप्त परमात्माकी प्राप्ति करणके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत करणके त्यागसे स्वतः होती है।

करणसापेक्ष साधनमें बुद्धिकी प्रधानता होती है; अतः उसमें ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति, जगत् आदि सब बुद्धिके विषय होते हैं। करणनिरपेक्ष साधनमें विवेककी प्रधानता होती है। करणके उपयोगमें तो विवेककी आवश्यकता है, पर

विवेकके उपयोगमें करणकी आवश्यकता नहीं है।

करणसापेक्ष साधनमें करण (बुद्धि)से सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर बोध होता है और करणनिरपेक्ष साधनमें विवेक ही बोधमें परिणत हो जाता है; क्योंकि विवेक नित्य है और करण अनित्य है।

ज्ञानमयी वृत्तिसे जगत्को ब्रह्ममय देखना अर्थात् वृत्तियोंको लेकर चेतनको देखना करणसापेक्ष साधन है और विवेकके द्वारा वृत्तियोंकी उपेक्षा करके स्वतःसिद्ध स्वरूपमें स्थित होना करणनिरपेक्ष साधन है। जैसे, तुलसीसे बनी मालामें मणियोंके मध्यमें सूतको देखना अर्थात् मणियोंको साथ रखते हुए सूतको देखना करणसापेक्ष साधन है और आरम्भमें मणियोंके मध्यमें सूतको देखकर फिर मणियोंको छोड़ देना अर्थात् केवल सूतको देखना करणनिरपेक्ष साधन है।

मैं, तू, यह और वह—इन चारोंमें 'है' (सत्ता) समान है; परन्तु 'मैं'का साथ होनेसे वह 'है' एकदेशीय 'हूँ' बन जाता है। 'मैं'को लेकर 'है'को देखना करणसापेक्ष साधन है। अतः 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह मान्यता (बुद्धिसे होनेके कारण) करणसापेक्ष है और 'मैं नहीं है, ब्रह्म ही है'—यह मान्यता (स्वयंसे होनेके कारण) करणनिरपेक्ष है।

रसीमें साँप दीखता है—इसमें रज्जूपहित (रज्जुकी उपाधिवाला) चेतन 'अधिष्ठान' है, साँप 'अध्यस्त' है और रसीमें साँपका दीखना 'अध्यास' है। अध्यस्त वस्तुको लेकर अधिष्ठानका ज्ञान करना करणसापेक्ष साधन है और विवेककी प्रधानतासे अध्यस्त वस्तुका बाध (अत्यन्त अभावका अनुभव) करके अधिष्ठान (चेतन तत्त्व)में स्थित होना करणनिरपेक्ष साधन है।

करणसापेक्ष साधनमें अभ्यास मुख्य है और करणनिरपेक्ष साधनमें विवेकका आदर मुख्य है। अभ्यासमें क्रिया है और विवेक क्रियारहित है।

करणसापेक्ष साधनमें 'क्रिया' (करने)की मुख्यता है और करणनिरपेक्ष साधनमें 'भाव' (मानने) और 'बोध' (जानने)की मुख्यता है।

करणसापेक्ष साधनमें अभ्यास मुख्य होनेके कारण तत्काल सिद्धि नहीं मिलती* और करणनिरपेक्ष साधनमें विवेकका आदर मुख्य होनेके कारण तत्काल सिद्धि मिलती है। कारण कि करणसापेक्ष साधनमें तो एक अवस्था बनती है, पर करणनिरपेक्ष साधनमें अवस्था नहीं बनती, प्रत्युत अवस्थासे सम्बन्ध-विच्छेद होता है तथा अवस्थातीत स्वतःसिद्ध तत्त्वका अनुभव होता है।

करणसापेक्ष साधनमें मुमुक्षाकी मुख्यता है और करण-निरपेक्ष साधनमें जिज्ञासाकी मुख्यता है। मुमुक्षामें बन्धनसे छूटनेकी इच्छा रहती है और जिज्ञासामें तत्त्वको जाननेकी इच्छा रहती है। अतः मुमुक्षामें बन्धनके दुःखकी प्रधानता है और जिज्ञासामें सत्-असत्के विवेककी प्रधानता है।

मनको भगवान्में लगाना करणसापेक्ष साधन है और संसारके सम्बन्धका निषेध करके 'मैं भगवान्का हूँ तथा भगवान् मेरे हैं'—इस प्रकार अपने-आपको भगवान्में लगाना करणनिरपेक्ष साधन है।

करणसापेक्ष साधनमें मनको साथ लेकर स्वरूपमें स्थिति होती है—**'यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।'** (गीता ६। १८); अतः मनके साथ सम्बन्ध रहनेसे योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है—**'योगाच्चलितमानसः'** (गीता ६। ३७)। परन्तु करणनिरपेक्ष साधनमें मनके साथ सम्बन्ध न होनेके कारण योगभ्रष्ट (चलितमना) होनेकी सम्भावना रहती ही नहीं। करणनिरपेक्ष साधनमें पहलेसे ही मनके साथ सम्बन्धका त्याग रहता है।

जैसे आरम्भमें कोई साधक सकाम होता है और कोई निष्काम होता है, पर सकाम साधकको अन्तमें निष्काम होनेपर ही तत्त्वका अनुभव होता है। ऐसे ही आरम्भमें कोई करण-सापेक्ष (क्रियाप्रधान) साधन करता है और कोई करणनिरपेक्ष (विवेकप्रधान) साधन करता है, पर करणसापेक्ष साधन करनेवालेको अन्तमें करणनिरपेक्ष होनेपर ही तत्त्वका अनुभव होता है; क्योंकि तत्त्व करणरहित है। दोनोंमें भेद इतना ही है कि करणसापेक्ष साधनमें पराधीनता रहती है, अहम्का जल्दी नाश नहीं होता, साधक अन्तकालमें योगभ्रष्ट हो सकता है और तत्त्वकी प्राप्ति देरीसे तथा कठिनतासे होती है। परन्तु करणनिरपेक्ष साधनमें स्वतन्त्रता रहती है, अहम्का नाश जल्दी होता है, योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती ही नहीं और तत्त्वकी प्राप्ति जल्दी तथा सुगमतासे हो जाती है†।

* तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः। (योगदर्शन १। १३-१४)

'चित्तकी स्थिरताके लिये प्रयत्न करना अभ्यास है। वह अभ्यास बहुत समयतक निरन्तर और आदरपूर्वक साङ्गोपाङ्ग सेवन किया जानेपर दृढ़ अवस्थावाला होता है।'

† संकर सहज सरूपु सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥ (मानस १। ५८। ४)

हरीया जाणै सहज कु, सहजां सब कुछ होय। सहजां सांई पाइयै, सहजां विषिया खोय॥

सहजां मारग सहज का, सहज किया विश्राम। हरिया 'जीव'र सींव का, एक नाम अर ठाम॥

(वासुदेवः सर्वम्)

भगवत्तत्त्व अथवा परमात्मतत्त्व वह तत्त्व है, जिसमें कभी किञ्चिन्मात्र भी कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता, जो सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें समानरूपसे परिपूर्ण है, जो सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप है और जो जीवमात्रका वास्तविक स्वरूप है। वह एक ही तत्त्व निर्गुण-निराकार होनेसे 'ब्रह्म', सगुण-निराकार होनेसे 'परमात्मा' तथा सगुण-साकार होनेसे 'भगवान्' नामसे कहा जाता है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भागवत १।२।११)

वही एक तत्त्व संसारमें अनेक रूपोंसे भास रहा है। जिस प्रकार स्वर्णसे बने गहनोंमें नाम, आकृति, उपयोग, तौल और मूल्य अलग-अलग होते हैं एवं ऊपरसे मीना आदि होनेसे रंग भी अलग-अलग होते हैं, परंतु इतना होनेपर भी स्वर्णतत्त्वमें कोई अन्तर नहीं आता, वह वैसा-का-वैसा ही रहता है। इसी प्रकार जो कुछ भी देखने, सुनने, जाननेमें आता है, उन सबके मूलमें एक ही परमात्मतत्त्व विद्यमान है; इसीके अनुभवको गीतामें '**वासुदेवः सर्वम्**' कहा है (७।१९)।

इस तत्त्वकी प्राप्तिके लिये संसारमें तीन योग मुख्य माने जाते हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कर्मयोगमें साधक कर्म-बन्धनसे मुक्त होकर भगवत्तत्त्वको प्राप्त हो जाता है—

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

(गीता ४।२३)

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ५।६)

ज्ञानयोगमें साधक परमात्माको तत्त्वसे जानकर उनमें प्रविष्ट हो जाता है—

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।

(गीता १८।५५)

भक्तियोगमें साधक अनन्यभक्तिसे भगवान्‌को तत्त्वसे जान लेता है, उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है और उनमें प्रविष्ट हो जाता है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

(११।५४)

साधक अपनी रुचि, विश्वास और योग्यताके अनुसार चाहे योगमार्गसे चले, चाहे ज्ञानमार्गसे चले, चाहे भक्तिमार्गसे चले, अन्तमें इन सभी मार्गोंके साधकोंको एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है। वही एक तत्त्व शास्त्रोंमें अनेक नामोंसे वर्णित हुआ है। उस तत्त्वका अनुभव होनेके बाद फिर कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता।

यदि साधककी समझमें यह बात आ जाय, तो उपर्युक्त किसी भी मार्गसे भगवत्तत्त्व अथवा परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति बहुत सुगमतासे हो सकती है*। कारण यह है कि परमात्मा सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। उनका कभी कहीं अभाव नहीं है। इसलिये स्वतःसिद्ध, नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कठिनताका प्रश्न ही नहीं है। नित्यप्राप्त परमात्माकी प्राप्तिमें कठिनाई प्रतीत होनेका प्रधान कारण है—सांसारिक सुखकी इच्छा। इसी कारण साधक

---

* कर्मयोगसे सुगमतापूर्वक तत्त्वप्राप्ति—

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति। निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ (गीता ५।३)

'हे महाबाहो! जो मनुष्य न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी समझनेयोग्य है; क्योंकि द्वन्द्वोंसे रहित वह सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

ज्ञानयोगसे सुगमतापूर्वक तत्त्वप्राप्ति—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः। सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ (गीता ६।२८)

'अपने-आपको सदा परमात्मामें लगाता हुआ पापरहित योगी सुखपूर्वक ब्रह्मप्राप्तिरूप अत्यन्त सुखको प्राप्त हो जाता है।'

भक्तियोगसे सुगमतापूर्वक तत्त्वप्राप्ति—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ (गीता ८।१४)

'हे पार्थ! अनन्यचित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसको सुगमतासे प्राप्त हो जाता हूँ।'

[इस विषयको विस्तारसे जाननेके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीता-दर्पण' पुस्तकमें 'गीतामें तीनों योगोंकी समानता' शीर्षक लेख देखना चाहिये।]

१-यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्। अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ (गीता १८।२२)

२-सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते। अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ (गीता १८।२०)

३-बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (गीता ७।१९)

संसारसे अपना सम्बन्ध मान लेता है और परमात्मासे विमुख हो जाता है। संसारसे माने हुए सम्बन्धके कारण ही साधक नित्यप्राप्त भगवत्तत्त्वको अप्राप्त मानकर उसकी प्राप्तिको परिश्रम-साध्य एवं कठिन मान लेता है। वास्तवमें भगवत्तत्त्वकी प्राप्तिमें कठिनता नहीं है, प्रत्युत संसारके त्यागमें कठिनता है, जो कि निरन्तर हमारा त्याग कर रहा है। अतएव भगवत्तत्त्वका सुगमतासे अनुभव करनेके लिये संसारसे माने हुए संयोगका वर्तमानमें ही वियोग अनुभव करना अत्यावश्यक है, जो तभी सम्भव है जब संयोगजन्य सुखकी इच्छाका परित्याग कर दिया जाय।

तत्त्व-दृष्टिसे एक परमात्मतत्त्वके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं—ऐसा ज्ञान हो जानेपर मनुष्य फिर जन्म-मरणके चक्रमें नहीं पड़ता। भगवान् कहते हैं—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।

(गीता ४। ३५)

'जिसे जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा।'

वह तत्त्व ही संसाररूपसे भास रहा है। परंतु जबतक उधर दृष्टि नहीं जाती, तबतक संसार-ही-संसार दीखता है, तत्त्व नहीं। जैसे, जबतक 'यह गङ्गाजी हैं'—इस तरफ दृष्टि नहीं जाती, तबतक वह साधारण नदी ही दीखती है। परमात्मतत्त्व तत्त्वदृष्टिसे ही देखा जा सकता है।

तीन प्रकारकी दृष्टियाँ

मनुष्यकी दृष्टियाँ तीन प्रकारकी हैं—(१) इन्द्रियदृष्टि (बहिःकरण),[१] (२) बुद्धिदृष्टि (अन्तःकरण)[२] और (३) तत्त्वदृष्टि (स्वरूप)[३]—ये तीनों दृष्टियाँ क्रमशः एक-एकसे सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ हैं।

संसार असत् और अस्थिर होते हुए भी इन्द्रियदृष्टिसे देखनेपर सत् एवं स्थिर प्रतीत होता है, जिससे संसारमें राग हो जाता है। बुद्धिदृष्टिमें वस्तुतः विवेक ही प्रधान है। जब बुद्धिमें भोगों-(इन्द्रियों तथा उनके विषयों-)की प्रधानता नहीं होती, अपितु विवेककी प्रधानता होती है, तब बुद्धिदृष्टिसे संसार परिवर्तनशील और उत्पन्न एवं नष्ट होनेवाला दीखता है, जिससे संसारसे वैराग्य हो जाता है।

जड-चेतन, नित्य-अनित्य, सत्-असत् आदि दो वस्तुओंके अलग-अलग ज्ञानको 'विवेक' कहते हैं। यह विवेक प्राणिमात्रमें स्वतः विद्यमान है। पशुपक्षियोंमें शरीर-निर्वाहके योग्य ही (खाद्य-अखाद्यका) विवेक रहता है; परंतु मनुष्यमें यह विवेक विशेषरूपसे जाग्रत् होता है। विवेक अनादि है। भगवान् कहते हैं—

'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।' (गीता १३। १९) 'प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको ही तू अनादि जान।'

—इस श्लोकार्द्धमें आये 'उभौ' (दोनों) पदसे यह सिद्ध होता है कि जैसे प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं, वैसे ही इन दोनोंका भेद ज्ञानरूप विवेक भी अनादि है। **'उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥'** (गीता २। १६) 'तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने सत्-असत् दोनोंका ही तत्त्व देखा है'—इस श्लोकार्द्धमें आये **'उभयोः'** पदसे भी यही बात सिद्ध होती है।

जिस प्रकार प्रकाश बल्बमें नहीं होता, अपितु बल्बमें आता है, उसी प्रकार यह अनादिसिद्ध विवेक भी बुद्धिमें पैदा नहीं होता, अपितु बुद्धिमें आता है। इन्द्रियदृष्टिकी अपेक्षा बुद्धिदृष्टिकी प्रधानता होनेसे विवेक विशेष स्फुरित होता है, जिससे सत्की सत्ता और असत्के अभावका अलग-अलग ज्ञान हो जाता है। विवेकपूर्वक असत्का त्याग कर देनेपर जो शेष रहता है, वही तत्त्व है। तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर एक भगवत्तत्त्व अथवा परमात्मतत्त्वके सिवा संसार, शरीर, अन्तःकरण, बहिःकरण आदि किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता सत्यत्वेन किञ्चिन्मात्र भी नहीं रहती। तब एकमात्र **'वासुदेवः सर्वम्'**—'सब कुछ वासुदेव ही हैं'—इसका बोध हो जाता है।

इस प्रकार यह संसार बहिःकरण-(इन्द्रियों-)से देखनेपर नित्य एवं सुखदायी, अन्तःकरण-(बुद्धि-) से देखनेपर अनित्य एवं दुःखदायी तथा तत्त्वसे देखनेपर परमात्मस्वरूप दिखायी देता है।

साधककी विवेकदृष्टि और सिद्धकी तत्त्वदृष्टिमें अन्तर यह है कि विवेकदृष्टिसे सत् और असत्—दोनों अलग-अलग दीखते हैं और सत्का अभाव नहीं एवं असत्का भाव नहीं—ऐसा बोध होता है। इस प्रकार विवेकदृष्टिका परिणाम होता है—असत्के त्यागपूर्वक सत्की प्राप्ति। जहाँ सत्की प्राप्ति होती है वहाँ तत्त्वदृष्टि रहती है। तत्त्वदृष्टिसे संसार कभी सत्यरूपसे प्रतीत नहीं होता। तात्पर्य है कि विवेक-

दृष्टिमें सत् और असत्—दोनों रहते हैं और तत्त्वदृष्टिमें केवल सत् रहता है।

विवेकको महत्त्व देनेसे इन्द्रियोंका ज्ञान लीन हो जाता है। उस विवेकसे परे जो वास्तविक तत्त्व है, वहाँ विवेक भी लीन हो जाता है।

वास्तविक दृष्टि—वस्तुतः तत्त्वदृष्टि ही वास्तविक दृष्टि है। इन्द्रियदृष्टि और बुद्धिदृष्टि वास्तविक नहीं है; क्योंकि जिस धातुका संसार है, उसी धातुकी ये दृष्टियाँ हैं। अतः ये दृष्टियाँ सांसारिक अथवा पारमार्थिक विषयमें पूर्ण निर्णय नहीं कर सकतीं। तत्त्वदृष्टिमें ये सब दृष्टियाँ लीन हो जाती हैं। जैसे रात्रिमें बल्ब जलानेसे प्रकाश होता है; परंतु वही बल्ब यदि मध्याह्नकालमें (दिनके प्रकाशमें) जलाया जाता है तो उसके प्रकाशका भान तो होता है, पर उस प्रकाशका (सूर्यके प्रकाशके सामने) कोई महत्त्व नहीं रहता; वैसे ही इन्द्रियदृष्टि और बुद्धिदृष्टि अज्ञान (अविद्या) अथवा संसारमें तो काम करती हैं; पर तत्त्वदृष्टि हो जानेपर इन दृष्टियोंका उसके (तत्त्वदृष्टिके) सामने कोई महत्त्व नहीं रह जाता। ये दृष्टियाँ नष्ट तो नहीं होतीं, पर प्रभावहीन हो जाती हैं। केवल सच्चिदानन्दरूपसे एक ज्ञान शेष रह जाता है; उसीको भगवत्तत्त्व या परमात्मतत्त्व कहते हैं। वही वास्तविक तत्त्व है। शेष सब अतत्त्व हैं।

साध्यतत्त्वकी एकरूपता

जैसे नेत्र तथा नेत्रोंसे दीखनेवाला दृश्य— दोनों सूर्यसे प्रकाशित होते हैं, वैसे ही बहिःकरण, अन्तःकरण, विवेक आदि सब उसी परम प्रकाशक तत्त्वसे प्रकाशित होते हैं—**'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** (श्वेताश्वतर० ६। १४)। जो वास्तविक प्रकाश अथवा तत्त्व है, वही सम्पूर्ण दर्शनोंका आधार है। जितने भी दार्शनिक हैं, प्रायः उन सबका तात्पर्य उसी तत्त्वको प्राप्त करनेमें है। दार्शनिकोंकी वर्णन-शैलियाँ तथा साधन-पद्धतियाँ तो अलग-अलग हैं, पर उनका तात्पर्य एक ही है। साधकोंमें रुचि, विश्वास और योग्यताकी भिन्नताके कारण उनके साधनोंमें तो भेद हो जाते हैं, पर उनका साध्यतत्त्व वस्तुतः एक ही होता है।

नारायण अरु नगरके, रज्जब राह अनेक।
भावे आवो किधरसे, आगे अस्थल एक॥

दिशाओंकी भिन्नताके कारण नगरमें जानेके अलग-अलग मार्ग होते हैं। नगरमें कोई पूर्वसे, कोई पश्चिमसे, कोई उत्तरसे और कोई दक्षिणसे आता है; परन्तु अन्तमें सब एक ही स्थानपर पहुँचते हैं। इसी प्रकार साधकोंकी स्थितिकी भिन्नताके कारण साधन-मार्गोंमें भेद होनेपर भी सब साधक अन्तमें एक ही तत्त्वको प्राप्त होते हैं। इसीलिये संतोंने कहा है—

पहुँचे पहुँचे एक मत, अनपहुँचे मत और।
संतदास घड़ी अरठकी, ढुरे एक ही ठौर॥

प्रत्येक मनुष्यकी भोजनकी रुचिमें दूसरेसे भिन्नता रहती है; परंतु 'भूख' और 'तृप्ति' सबकी समान ही होती है अर्थात् अभाव और भाव सबके समान ही होते हैं। ऐसे ही मनुष्योंकी वेश-भूषा, रहन-सहन, भाषा आदिमें बहुत भेद रहते हैं; परंतु 'रोना' और 'हँसना' सबके समान ही होते हैं अर्थात् दुःख और सुख सबको समान ही होते हैं। ऐसा नहीं होता कि यह रोना या हँसना तो मारवाड़ी है, यह गुजराती है, यह बँगाली है आदि! इसी प्रकार साधन-पद्धतियोंमें भिन्नता रहनेपर भी साध्यकी 'अप्राप्तिका दुःख' और 'प्राप्तिका आनन्द' सब साधकोंको समान ही होते हैं।

वह परमात्मतत्त्व ही ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करता है, विष्णुरूपसे सबका पालन-पोषण करता है और रुद्ररूपसे सबका संहार करता है—**'भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥'** (गीता १३। १६)। वही तत्त्व अनेक अवतार लेकर, अनेक रूपोंमें लीला करता है। इस प्रकार अनेक रूपोंसे दीखनेपर भी वह तत्त्व वस्तुतः एक ही रहता है और तत्त्व-दृष्टिसे एक ही दीखता है। इस तत्त्वदृष्टिकी प्राप्तिको ही दार्शनिकोंने मोक्ष, परमात्मप्राप्ति, भगवत्प्राप्ति, तत्त्वज्ञान आदि नामोंसे कहा है।

सहज-निवृत्तिरूप वास्तविक तत्त्व

संसारमें एक तो प्रवृत्ति (करना) होती है और एक निवृत्ति (न करना) होती है। जिसका आदि और अन्त हो, वह क्रिया अथवा अवस्था कहलाती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों ही क्रियाएँ अथवा अवस्थाएँ हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे प्रवृत्ति क्रिया है, वैसे ही निवृत्ति भी क्रिया है। प्रवृत्ति निवृत्तिको और निवृत्ति प्रवृत्तिको जन्म देती है। क्रिया और अवस्थामात्र प्रकृतिकी ही होती है तत्त्वकी नहीं। इस दृष्टिसे प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों प्रकृतिके राज्यमें ही हैं। निर्विकल्प समाधितक प्रकृतिका राज्य है; क्योंकि निर्विकल्प समाधिसे भी 'व्युत्थान' होता है। अतएव जागने, चलने, बोलने, देखने, सुनने आदिके समान सोना, बैठना, मौन होना, मूर्च्छित होना, समाधिस्थ होना आदि भी क्रियाएँ अथवा अवस्थाएँ ही हैं।

अवस्थासे अतीत जो अक्रिय परमात्मतत्त्व है, उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों ही नहीं हैं। अवस्थाएँ बदलती हैं, पर वह तत्त्व नहीं बदलता। वह वास्तविक तत्त्व सहज-

निवृत्तिरूप है। उस तत्त्वमें मनुष्यमात्रकी (स्वरूपसे) स्वाभाविक स्थिति है। वह परमतत्त्व सम्पूर्ण देश, काल, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदिमें स्वाभाविकरूपसे ज्यों-का-त्यों विद्यमान रहता है। अतएव उस सहज-निवृत्तिरूप परमतत्त्वको जो चाहे, जब चाहे, जहाँ चाहे प्राप्त कर सकता है। आवश्यकता केवल प्राकृत-दृष्टियोंके प्रभावसे मुक्त होनेकी है।

'स्वयम्'का प्रकृतिसे माना हुआ सम्बन्ध ही 'अहम्' कहलाता है। साधक प्रमादवश अपनी वास्तविक सत्ताको (जहाँसे 'अहम्' उठता है अथवा जो 'अहम्' का आधार है) भूलकर माने हुए 'अहम्' को ही (जो उत्पन्न होनेपर सत्तावान् है) अपनी सत्ता या अपना स्वरूप मान लेता है। माना हुआ 'अहम्' बदलता रहता है, पर वास्तविक तत्त्व (स्वरूप) कभी नहीं बदलता। इस माने हुए 'अहम्' को भगवान्ने इदंतासे कहा है; जैसे—**'अहङ्कार इतीयम्'** (गीता ७।४) और **'अपरा इयम्'** (गीता ७।५)। जबतक यह माना हुआ 'अहम्' रहता है तबतक साधकका प्रकृति-(प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप अवस्था-)से सम्बन्ध बना रहता है, और उसमें साधक निवृत्तिको अधिक महत्त्व देता रहता है। यह 'अहम्' प्रवृत्तिमें 'कार्य'-रूपसे और निवृत्तिमें 'कारण'-रूपसे रहता है। 'अहम्'का नाश होते ही प्रवृत्ति और निवृत्तिसे परे जो वास्तविक तत्त्व है, उसमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है। फिर तत्त्वज्ञ पुरुषका प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसा होनेपर प्रवृत्ति और निवृत्तिका नाश नहीं होता, अपितु उनका बाह्य चित्रमात्र रहता है। इस प्रकार वास्तविक तत्त्वमें अपनी स्वाभाविक स्थितिके अनुभवको ही दार्शनिकोंने सहज-निवृत्ति, सहजावस्था, सहज-समाधि आदि नामोंसे कहा है।

प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप संसारसे माने हुए प्रत्येक संयोगका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। कारण यह है कि संसारसे माना हुआ संयोग अस्वाभाविक और उसका वियोग स्वाभाविक है। विचारपूर्वक देखा जाय तो संयोगकालमें भी वियोग ही है अर्थात् संयोग है ही नहीं। परंतु संसारसे माने हुए संयोगमें सद्भाव (सत्ता-भाव) कर लेनेसे वियोगका अनुभव नहीं हो पाता। तात्त्विक दृष्टिसे देखा जाय तो जिसका वियोग होता है, उस प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। जैसे, बाल्यावस्थासे वियोग हो गया, तो अब उसकी सत्ता कहाँ है ? जैसे वर्तमानमें भूतकालकी सत्ता नहीं है, वैसे ही वर्तमान और भविष्यत्कालकी भी सत्ता नहीं है। जहाँ भूतकाल चला गया, वहीं वर्तमान जा रहा है और भविष्यत्काल भी वहीं चला जायगा। इसीलिये भगवान्ने गीतामें कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२।१६)

'असत्की तो सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है। इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंके द्वारा देखा गया है।'

प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप संसारसे वियोगका अनुभव होनेपर सहज-निवृत्तिरूप वास्तविक तत्त्वका ज्ञान हो जाता है और वियुक्त होनेवाले संसारकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार न करनेसे वह तत्त्वज्ञान दृढ़ हो जाता है।

तत्त्वप्राप्तिका उपाय—तत्त्वको प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय है—एकमात्र तत्त्वप्राप्तिका ही उद्देश्य बनाना। वास्तवमें उद्देश्य पहले बना है और उस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मनुष्य-शरीर पीछे मिला है। परंतु मनुष्य भोगोंमें आसक्त होकर अपने उस (तत्त्व-प्राप्तिके) उद्देश्यको भूल जाता है। इसलिये उस उद्देश्यको पहचानकर उसकी सिद्धिका दृढ़ निश्चय करना है। उद्देश्यपूर्तिका निश्चय जितना दृढ़ होता है, उतनी ही तेजीसे साधक तत्त्वप्राप्तिकी ओर अग्रसर होता है। उद्देश्यकी दृढ़ताके लिये सबसे पहले साधक बहिःकरण-(इन्द्रियदृष्टि-) को महत्त्व न देकर अन्तःकरण-(बुद्धि अथवा विचारदृष्टि-)को महत्त्व दे। विचारदृष्टिसे दिखायी देगा कि जितने भी शरीरादि सांसारिक पदार्थ हैं, वे सब-के-सब उत्पत्तिसे पहले भी नहीं थे और विनाशके बाद भी नहीं रहेंगे एवं वर्तमानमें भी वे निरन्तर बदल रहे हैं। तात्पर्य यह कि सब पदार्थ आदि और अन्तवाले हैं। जो पदार्थ आदि और अन्तवाला होता है, वह वास्तवमें होता ही नहीं; क्योंकि यह सिद्धान्त है कि जो पदार्थ आदि और अन्तमें नहीं होता, वह वर्तमानमें भी नहीं होता— **'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा'** (माण्डूक्यकारिका)। इस प्रकार विचार-दृष्टिको महत्त्व देनेसे सत् और असत्, प्रकृति और पुरुषके अलग-अलग ज्ञान-(विवेक-)का अनुभव हो जाता है और साधकमें वास्तविक तत्त्व-(सत्-)को प्राप्त करनेकी उत्कट अभिलाषा जाग्रत् हो जाती है। संसारके सुखको तो क्या, साधनजन्य सात्त्विक सुखका भी आश्रय न लेनेसे परम व्याकुलता जाग्रत् हो जाती है। फलतः साधक संसार-(असत्-) से सर्वथा विमुख हो जाता है और उसे तत्त्वदृष्टि प्राप्त हो जाती है, जिसके प्राप्त होनेसे एकमात्र

सत्-तत्त्व—भगवत्तत्त्वकी सत्ताका अनुभव हो जाता है।

व्यवहारके विविध रूप

साधारण (विषयी) पुरुष, विवेकी (साधक) पुरुष और तत्त्वज्ञ (सिद्ध) पुरुष—तीनोंके भाव अलग-अलग होते हैं। साधारण पुरुष संसारको सत् मानकर राग-द्वेषपूर्वक प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप व्यवहार करते हैं। इसके आगे विचारदृष्टिकी प्रधानतावाले विवेकी पुरुषका व्यवहार राग-द्वेषरहित एवं शास्त्रविधिके अनुसार होता है*। विवेकदृष्टिकी प्रधानता रहनेके कारण—किञ्चित् राग-द्वेष रहनेपर भी उसका (विवेकदृष्टि-प्रधान साधकका) व्यवहार राग-द्वेषपूर्वक नहीं होता अर्थात् वह राग-द्वेषके वशीभूत होकर व्यवहार नहीं करता†। उसमें राग-द्वेष बहुत कम— नहींके बराबर रहते हैं। जितने अंशमें अविवेक रहता है, उतने ही अंशमें राग-द्वेष रहते हैं। जैसे-जैसे विवेक जाग्रत् होता जाता है, वैसे-वैसे राग-द्वेष कम होते चले जाते हैं और वैराग्य बढ़ता चला जाता है। वैराग्य बढ़नेसे बहुत सुख मिलता है; क्योंकि दुःख तो रागमें ही है‡। पूर्ण विवेक जाग्रत् होनेपर राग-द्वेष पूर्णतः मिट जाते हैं। विवेकी पुरुषको संसारकी सत्ता दर्पणमें पड़े हुए प्रतिबिम्बके समान असत् दीखती है। इसके आगे तत्त्वदृष्टि प्राप्त होनेपर तत्त्वज्ञ पुरुष स्वप्नकी स्मृतिके समान संसारको देखता है। इसलिये बाहरसे व्यवहार समान होनेपर भी विवेकी और तत्त्वज्ञ पुरुषके भावोंमें अत्यन्त अन्तर रहता है।

साधारण पुरुषमें इन्द्रियोंकी, साधक पुरुषमें विवेक-विचारकी और सिद्ध पुरुषमें स्वरूपकी प्रधानता रहती है। साधारण पुरुषके राग-द्वेष पत्थरपर पड़ी लकीरके समान (दृढ़) होते हैं। विवेकी पुरुषके राग-द्वेष आरम्भमें बालूपर पड़ी लकीरके समान एवं विवेककी पूर्णता होनेपर जलपर पड़ी लकीरके समान होते हैं। तत्त्वज्ञ पुरुषके राग-द्वेष आकाशमें पड़ी लकीरके समान (जिसमें लकीर खिंचती ही नहीं, केवल अँगुली दीखती है) होते हैं; क्योंकि उसकी दृष्टिमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती।

ज्ञानीके व्यवहारकी विशेषता

तत्त्वज्ञान होनेसे पूर्वतक साधक (अन्तःकरणको अपना माननेके कारण) तत्त्वमें अन्तःकरणसहित अपनी स्थिति मानता है। ऐसी स्थितिमें उसकी वृत्तियाँ व्यवहारसे हटकर तत्त्वोन्मुखी हो जाती हैं, अतः उसके द्वारा संसारके व्यवहारमें भूलें भी हो सकती हैं। अन्तःकरण-(जडता-)से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर जड-चेतनके सम्बन्धसे होनेवाला सूक्ष्म 'अहम्' पूर्णतः नष्ट हो जाता है। फिर तत्त्वज्ञ पुरुषकी स्वरूपमें नित्य-निरन्तर स्वाभाविक स्थिति रहती है। इसलिये साधनावस्थामें अन्तःकरणको लेकर तत्त्वमें तल्लीन होनेके कारण जो व्यवहारमें भूलें हो सकती हैं, वे भूलें सिद्धावस्थाको प्राप्त तत्त्वज्ञ पुरुषके द्वारा नहीं होतीं, अपितु उसका व्यवहार स्वतः स्वाभाविक सुचारुरूपसे होता है और दूसरोंके लिये आदर्श होता है§। इसका कारण यह है कि अन्तःकरणसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर तत्त्वज्ञ पुरुषकी स्थिति तो अपने स्वाभाविक स्वरूप अर्थात् तत्त्वमें हो जाती है और अन्तःकरणकी स्थिति अपने स्वाभाविक स्थान—शरीर-(जडता-)में हो जाती है। ऐसी स्थितिमें तत्त्व तो रहता है, पर तत्त्वज्ञ (तत्त्वका ज्ञाता) नहीं रहता अर्थात् व्यक्तित्व (अहम्) पूर्णतः मिट जाता है। व्यक्तित्वके मिटनेपर राग-द्वेष कौन करे और किससे करे? उसके अपने कहलानेवाले अन्तःकरणमें अन्तःकरणसहित संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अत्यन्त अभाव हो जाता है और परमात्मतत्त्वकी सत्ताका भाव नित्य-निरन्तर जाग्रत् रहता है। अन्तःकरणसे अपना कोई सम्बन्ध न रहनेपर उसका अन्तःकरण मानो जल जाता है। जैसे गैसकी जली हुई

---

* तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ (गीता १६। २४)

'तेरे लिये कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू इस लोकमें शास्त्र-विधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है।'

† इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ (गीता ३। ३४)

'इन्द्रिय, इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष व्यवस्थासे स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याण-मार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।'

‡ साधकको चाहिये कि वह इस साधनजन्य सुखमें सन्तोष अथवा सुखका भोग न करें भगवान् कहते हैं कि—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्। सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ (गीता १४। ६)

'हे निष्पाप अर्जुन! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है। वह सुखके सम्बन्ध (भोग) से और ज्ञानके सम्बन्ध-(अभिमान-) से साधकको बाँधता है।'

§ यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ (गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ (वचनोंसे) प्रमाण देता है, दूसरे मनुष्य उसीके अनुसार आचरण करते हैं।'

१-सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि। प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ (गीता ३। ३३)

२-तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (गीता ४। ३४)

३-अहम्का नाश होनेपर तत्त्वज्ञ महापुरुषकी भगवान्के साथ एकता हो जाती है—'मम साधर्म्यमागताः' (गीता १४। २); अतः उसके द्वारा होनेवाली मात्र क्रियाएँ भगवत्प्रेरित ही होती हैं।

बत्तीसे विशेष प्रकाश होता है, वैसे ही उस जले हुए अन्तःकरणसे विशेष ज्ञान प्रकाशित होता है।

जिस प्रकार परमात्माकी सत्ता-स्फूर्तिसे संसारमात्रका व्यवहार चलते रहनेपर भी परमात्मतत्त्व-(ब्रह्म-)में किञ्चित् भी अन्तर नहीं आता, उसी प्रकार तत्त्वज्ञ पुरुषके स्वभाव[1], जिज्ञासुओंकी जाननेकी अभिलाषा[2] और भगवत्प्रेरणा[3]—इनके द्वारा तत्त्वज्ञ पुरुषके शरीरसे सुचारुरूपसे व्यवहार होते रहनेपर भी उसके स्वरूपमें किञ्चित् भी अन्तर नहीं आता। उसमें स्वतःसिद्ध निर्लिप्तता रहती है*। जबतक प्रारब्धका वेग रहता है, तबतक उसके अन्तःकरण और बहिःकरणसे आदर्श व्यवहार होता रहता है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप संसारसे अतीत एवं प्राकृत दृष्टियोंसे अगोचर जो सर्वत्र परिपूर्ण भगवत्तत्त्व अथवा परमात्मतत्त्व है, वही सम्पूर्ण दर्शनोंका आधार एवं सम्पूर्ण साधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। उसका अनुभव करके कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य हो जानेके लिये ही मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। मनुष्य यदि चाहे तो कर्मयोग, ज्ञानयोग अथवा भक्तियोग—किसी भी एक योगमार्गका अनुसरण करके उस तत्त्वको सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। उसे चाहिये कि वह इन्द्रियों और उनके विषयोंको महत्त्व न देकर विवेक-विचारको ही महत्त्व दे और 'असत्' से माने हुए सम्बन्धमें सद्भावका त्याग करके 'सत्' का अनुभव कर ले।

सत्ता दो प्रकारकी होती है—पारमार्थिक और सांसारिक। पारमार्थिक सत्ता तो स्वतःसिद्ध (अविकारी) है, पर सांसारिक सत्ता उत्पन्न होकर होनेवाली (विकारी) है। साधकसे भूल यह होती है कि वह विकारी सत्ताको स्वतःसिद्ध सत्तामें मिला लेता है, जिससे उसे संसार सत्य प्रतीत होने लगता है अर्थात् वह संसारको सत्य मानने लगता है†। इस कारण वह राग-द्वेषके वशीभूत हो जाता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह विवेकदृष्टिको महत्त्व देकर पारमार्थिक सत्ताकी सत्यता एवं सांसारिक सत्ताकी असत्यताको अलग-अलग पहचान ले। इससे उसके राग-द्वेष बहुत कम हो जाते हैं। विवेकदृष्टिकी पूर्णता होनेपर साधकको तत्त्वदृष्टि प्राप्त हो जाती है, जिससे उसमें राग-द्वेष सर्वथा मिट जाते हैं और उसे भगवत्तत्त्वका अनुभव हो जाता है।

भगवत्तत्त्व सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु और व्यक्तिमें परिपूर्ण है। अतः उसकी प्राप्ति किसी क्रिया, बल, योग्यता, अधिकार, परिस्थिति, सामर्थ्य, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके आश्रित नहीं है; क्योंकि चेतन-(सत्य-)की प्राप्ति जडता-(असत्य-)के द्वारा नहीं, अपितु जडताके त्यागसे होती है।

मनुष्य यदि अपने ही अनुभवका आदर करे तो उसे सुगमतापूर्वक तत्त्वप्राप्ति हो सकती है। यह प्रत्येक मनुष्यका अनुभव है कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधिकी अवस्थाएँ तो परिवर्तनशील तथा अनेक होती हैं, पर इन अवस्थाओंको जाननेवाला अपरिवर्तनशील तथा एक रहता है। यदि अवस्थाओंको जाननेवाला अवस्थाओंसे अतीत न होता, तो अवस्थाओंकी भिन्नता, उनकी गणना, उनके परिवर्तन (आने-जाने), उनकी सन्धि और उनके अभावका

---

* अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ (गीता १३। ३१)
प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव। न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ (गीता १४। २२)
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते। गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ (गीता १४। २३)

† अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्। आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥ (वाक्यसुधा २०)
'अस्ति, भाति, प्रिय, रूप तथा नाम— इन पाँचोंमें प्रथम तीन ब्रह्मके रूप हैं और अन्तिम दो जगत्‌के।'
—इस श्लोकमें आया 'अस्ति' पद परमात्माके स्वतःसिद्ध (अविकारी) स्वरूपका वाचक है और—
'जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यति।' (निरुक्त १। १। २)
'उत्पन्न होना,अस्तित्व धारण करना, सत्तावान् होना, बदलना, बढ़ना, क्षीण होना और नष्ट होना—ये छः विकार कहे गये हैं।'
यहाँ आया हुआ 'अस्ति' पद संसारके विकारी स्वरूपका वाचक है। तात्पर्य यह है कि इस विकाररूप 'अस्ति' में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है; यह एक क्षण भी एकरूप नहीं रहता।

ज्ञाता (जाननेवाला) कौन होता? ये अवस्थाएँ 'अहम्' (जडसे माने हुए सम्बन्ध-) पर टिकी हुई हैं और 'अहम्' सत्यतत्त्वपर टिका हुआ है। तात्पर्य यह है कि एक सत्यतत्त्वके सिवा अन्य किसी भी अवस्था आदिकी और माने हुए 'अहम्' की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इस प्रकार अवस्थाओंसे तथा 'अहम्' से अपने-आप-(स्वरूप-) को अलग अनुभव करनेपर तत्त्वज्ञान हो जाता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जानेपर 'अहम्' और 'अहम्' की अवस्थाओंकी स्वतन्त्र सत्ता सत्यत्वेन किञ्चित् भी नहीं रहती। जिस प्रकार समुद्र और लहरोंमें सत्ता जलकी ही है, समुद्र और लहरोंकी किसी भी कालमें कोई स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। उसी प्रकार 'अहम्' और अवस्थाओंमें एक भगवत्तत्त्वकी सत्ता है अर्थात् सर्वत्र एक भगवत्तत्त्व ही शेष रह जाता है। इसीको गीताने **'वासुदेवः सर्वम्'** कहा है।

★

जिन खोजा तिन पाइया

परमात्मतत्त्व अद्वितीय है। उपनिषद्में आया है—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

(छान्दोग्य० ६।२।१)

'हे सोम्य! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था'।

तात्पर्य है कि वह तत्त्व अद्वैत है। उस तत्त्वमें किसी भी तरहका भेद नहीं है। भेद तीन तरहका होता है—स्वगत भेद, सजातीय भेद और विजातीय भेद। जैसे, एक शरीरमें भी पैर अलग हैं, हाथ अलग हैं, पेट अलग है, सिर अलग है—यह 'स्वगत भेद' है। वृक्ष-वृक्षमें कई भेद हैं, गाय-गायमें अनेक भेद हैं—यह 'सजातीय भेद' है। वृक्ष अलग हैं और गाय, भैंस, भेड़ आदि पशु अलग हैं—यह स्थावर और जंगमका भेद 'विजातीय भेद' है। परमात्मतत्त्व ऐसा है कि उसमें न स्वगत भेद है, न सजातीय भेद है और न विजातीय भेद है। परमात्मतत्त्वमें कोई अवयव नहीं है, इसलिये उसमें 'स्वगत भेद' नहीं है। जीव भिन्न-भिन्न होनेपर भी स्वरूपसे एक ही हैं; अतः उसमें 'सजातीय भेद' भी नहीं है। उस तत्त्वके सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं, इसलिये उसमें 'विजातीय भेद' भी नहीं है। वह परमात्मतत्त्व सत्तारूपसे एक ही है।

जैसे, समुद्रमें तरंगें उठती हैं, बुद्बुद पैदा होते हैं, ज्वार-भाटा आता है, पर यह सब-का-सब जल ही है। इस जलसे भाप निकलती है। वह भाप बादल बन जाती है। बादलोंसे फिर वर्षा होती है। कभी ओले बरसते हैं। वर्षाका जल बह करके सरोवर, नदी-नालेमें चला जाता है। नदी समुद्रमें मिल जाती है। इस प्रकार एक ही जल कभी समुद्ररूपसे, कभी भापरूपसे, कभी बादलरूपसे, कभी बूँदरूपसे, कभी ओलारूपसे, कभी नदीरूपसे और कभी आकाशमें परमाणु-रूपसे हो जाता है। समुद्र, भाप, बादल, वर्षा, बर्फ, नदी आदिमें तो फर्क दीखता है, पर जल-तत्त्वमें कोई फर्क नहीं है। केवल जल-तत्त्वको ही देखें तो उसमें न समुद्र है, न भाप है, न बूँदें हैं, न ओले हैं, न नदी है, न तालाब है। ये सब जलकी अलग-अलग उपाधियाँ हैं। तत्त्वसे एक जलके सिवाय कुछ भी नहीं है। इसी तरह सोनेके अनेक गहने होते हैं। उनका अलग-अलग उपयोग, माप-तौल, मूल्य, आकार आदि होते हैं। परन्तु तत्त्वसे देखें तो सब सोना-ही-सोना है। पहले भी सोना था, अन्तमें भी सोना रहेगा और बीचमें अनेक रूपसे दीखनेपर भी सोना ही है। मिट्टीसे घड़ा, हाँडी, ढक्कन, सकोरा आदि कई चीजें बनती हैं। उन चीजोंका अलग-अलग नाम, रूप, उपयोग आदि होता है। परन्तु तत्त्वसे देखें तो उनमें एक मिट्टीके सिवाय कुछ भी नहीं है। पहले भी मिट्टी थी, अन्तमें भी मिट्टी रहेगी और बीचमें अनेक रूपसे दीखनेपर भी मिट्टी ही है। इसी प्रकार पहले भी परमात्मा थे, बादमें भी परमात्मा रहेंगे और बीचमें संसाररूपसे अनेक दीखनेपर भी तत्त्वसे परमात्मा ही हैं— **'वासुदेवः सर्वम्।'**

यह संसार दीखता है, इसमें अलग-अलग शरीर हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन शरीर हैं। कोई स्थिर रहनेवाला (स्थावर) शरीर है, कोई चलने-फिरनेवाला (जंगम) शरीर है। स्थिर रहनेवालोंमें कोई पीपलका वृक्ष है, कोई नीमका वृक्ष है, कोई आमका वृक्ष है, कोई करीलका वृक्ष है। तरह-तरहके पौधे हैं, घास हैं। चलने-फिरनेवालोंमें कई तरहके पशु-पक्षी, मनुष्य आदि हैं। ये सभी पृथ्वीपर हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पञ्चमहाभूत हैं। इनसे आगे समष्टि अहंकार है। फिर महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) है। महत्तत्त्वके बाद फिर मूल प्रकृति है। ये सब मिलकर संसार हैं। संसारके आदिमें भी परमात्मा हैं, अन्तमें भी परमात्मा हैं और बीचमें अनेक रूपसे दीखते हुए भी तत्त्वसे परमात्मा ही हैं।

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११।१३।२४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ

ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार कर लें।'

देखने, सुनने और चिन्तन करनेमें जितना संसार आता है, वह मोहमूल ही है; क्योंकि उसकी वास्तविक और स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं—

देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं॥
(मानस २। ९२। ४)

संसार पहले नहीं था, पीछे नहीं रहेगा, केवल बीचमें बना हुआ दीखता है। बनी हुई (बनावटी) चीज निरन्तर मिट रही है और स्वतःसिद्ध परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। वह एक परमात्मतत्त्व ही अनेक रूपोंसे दीखता है।

परमात्मतत्त्व एक होते हुए भी अनेक रूपोंसे दीखता है और अनेक रूपोंसे दीखनेपर भी स्वरूपसे एक ही रहता है। कारण कि वह एक ही था, एक ही है और एक ही रहेगा। वह एक रूपसे दीखे तो भी वही है और अनेक रूपसे दीखे तो भी वही है। जलसे बने भाप, बादल, बर्फ आदि सब जल ही है, सोनेसे बने गहने सोना ही है, मिट्टीसे बने बर्तन मिट्टी ही है। इसी तरह जो अनेक रूपोंमें एक परमात्मतत्त्वको ही देखता है, वही तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त, ज्ञानी-महात्मा होता है। कारण कि उसको यथार्थ ज्ञान हो गया, उसने परमात्माको तत्त्वसे जान लिया। तत्त्वसे जानते ही वह परमात्मामें प्रविष्ट हो जाता है—**'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'** (गीता १८। ५५)। फिर एक तत्त्व ही शेष रह जाता है।

परमात्मतत्त्व पहले एक था, पीछे एक रहेगा और अभी अनेक रूपोंसे दीखता है—ये तीनों बातें काल-(भूत, भविष्य और वर्तमान-) को लेकर हैं। परन्तु उस तत्त्वमें काल है ही नहीं। इसी तरह वहाँ न देश है, न क्रिया है, न वस्तु है, न व्यक्ति है, न घटना है, न परिस्थिति है, न अवस्था है। केवल एक अद्वैत तत्त्व है।

प्रश्न—परमात्मतत्त्वका स्वरूप क्या है?

उत्तर—परमात्मतत्त्वका स्वरूप है—सत्तामात्र। वह सब देशमें, सब कालमें, सम्पूर्ण वस्तुओंमें, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें, सम्पूर्ण अवस्थाओंमें, सम्पूर्ण घटनाओंमें, सम्पूर्ण परिस्थितिमें, सम्पूर्ण क्रियाओंमें 'हैं'- (सत्ता) रूपसे विद्यमान है। उस चिन्मय, ज्ञानस्वरूप सत्तामें मैं, तू, यह, वहका भेद नहीं है। वह इन सबसे अतीत तत्त्व है। ये सब तो उसके भीतर की गयी कल्पनाएँ हैं। जैसे आकाशमें बादल हैं, समुद्रमें लहरें हैं, मनमें मनोराज्य है, स्वप्नद्रष्टामें स्वप्न है, ऐसे ही परमात्मतत्त्वमें देश, काल, वस्तु आदिकी प्रतीति है। वह तत्त्व सम्पूर्ण प्रतीतियोंका आश्रय, आधार और प्रकाशक है। उसके अन्तर्गत अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न और लीन होते रहते हैं, पर वह ज्यों-का-त्यों रहता है।

जब हम प्रतीतिको सत्ता देते हैं, तब यह कहते हैं कि परमात्मतत्त्व प्रतीतिका आश्रय, आधार और प्रकाशक है। जब सर्वत्रको सत्ता देते हैं, तब यह कहते हैं कि परमात्मतत्त्व सर्वत्र परिपूर्ण है। जब हम 'नहीं' की सत्ता मानते हैं, तब यह कहते हैं कि परमात्मतत्त्व 'है'-रूपसे विद्यमान है। असत्‌की सत्ता माननेपर ही परमात्मतत्त्वको सत् कहते हैं। यदि असत्‌की सत्ता न मानें तो परमात्मतत्त्वको सत् कहना बनता ही नहीं! जैसे, हमारे यहाँ रात और दिन दो होते हैं; परन्तु सूर्यमें न रात होती है, न दिन होता है। वहाँ तो दिन-ही-दिन है, पर रात न होनेसे उसका नाम दिन नहीं है। दिन नाम रातकी अपेक्षासे होता है। रात नहीं है तो दिन कैसे?

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥
(मानस १। ११६। ३)

भगवान् 'दिनेश' (दिनके स्वामी) हैं—ऐसा तभी कहना पड़ता है, जब दिनकी सत्ता मानते हैं। वहाँ लवलेश-मात्र भी मोह-निशा नहीं है—ऐसा तभी कहना पड़ता है, जब निशाकी सत्ता मानते हैं। वहाँ दिन और निशा कहना बनता ही नहीं। ऐसा कहना वहीं बनता है, जहाँ द्वैत हो। **'नोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया।'** अर्थात् शंका-समाधान द्वैतभाषासे ही होता है। तात्पर्य है कि दूसरेकी कुछ-न-कुछ सत्ता मानकर ही परमात्माका वर्णन, विवेचन, विचार, चिन्तन, प्रश्नोत्तर आदि होता है।

योगवासिष्ठमें रामजी और वसिष्ठजीका संवाद आता है। रामजीने वसिष्ठजीसे पूछा कि महाराज! आप जिस ब्रह्मकी बात कहते हैं, वह ब्रह्म क्या है, कैसा है? यह सुनकर वसिष्ठजी चुप हो गये। थोड़ी देरके बाद रामजीने फिर कहा कि महाराज! उस ब्रह्मका वर्णन कीजिये। वसिष्ठजीने कहा कि मैंने उसका वर्णन कर दिया! तात्पर्य है कि मौन ही उस ब्रह्मका वर्णन है। वहाँ इन्द्रियाँ नहीं हैं, मन नहीं है, बुद्धि नहीं है, प्रश्न नहीं है, उत्तर नहीं है, शब्द नहीं है, अर्थ नहीं है, कुछ नहीं है, केवल मौन है। मौन ही गुरुका व्याख्यान है, जिससे शिष्योंके सब सन्देह मिट जाते हैं—**'गुरोस्तु मौनमाख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः'**।

उपनिषद्‌में शिष्य अपने गुरुके प्रति कहता है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥

(केन॰ २।२)

अहम्—मैं
सुवेद—तत्त्वको भलीभाँति जान गया हूँ—
इति न मन्ये—ऐसा मैं नहीं मानता (और)
नो इति—न ऐसा ही मानता हूँ कि
न वेद—मैं तत्त्वको नहीं जानता; (क्योंकि)
वेद च—जानता भी हूँ।
वेद—मैं तत्त्वको जानता हूँ (अथवा)
न वेद—नहीं जानता हूँ—
च इति नो—ऐसा सन्देह भी नहीं है।
नः—हमारेमेंसे
यः—जो कोई भी
तत्—उस तत्त्वको
वेद—जानता है,
तत्—वही मेरे उक्त वचनके तात्पर्यको
वेद—जानता है (कि यह अहंरहित सहजावस्था है)।

तात्पर्य है कि उस परमात्मतत्त्वमें मन, बुद्धि, वाणी आदिकी कोई गति नहीं होती—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

(तैत्तिरीय॰ २।९)

'मनसहित वाणी आदि सब इन्द्रियाँ उसे न पाकर जहाँसे लौट आती हैं।'

'मन समेत जेहि जान न बानी' (मानस १।३४१।४)

उस परमात्मतत्त्वका अनुभव उत्पन्न नहीं होता। यदि अनुभव उत्पन्न होगा तो वह मिट जायगा। परमात्मतत्त्व तो अनुभवस्वरूप ही है। केवल उसकी तरफ दृष्टि जाती है। दृष्टि जानेसे हृदय-ग्रन्थिका भेदन हो जाता है, सब संशय मिट जाते हैं और सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥*

(मुण्डक॰ २।२।८)

'मैं हूँ'—यह हृदय-ग्रन्थि है। 'है' की तरफ दृष्टि हो जानेसे न 'मैं' रहता है और न 'हूँ' रहता है अर्थात् हृदय-ग्रन्थिका भेदन हो जाता है। परमात्मतत्त्व क्या है, कैसा है, कौन है—ये सन्देह नहीं रहते। संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध कर्मोंका क्षय हो जाता है। परमात्मतत्त्व पर (प्रकृति) से भी पर है। सबसे पर (प्रकृति) भी जहाँ अवर (तुच्छ) हो जाती है अर्थात् वहाँतक नहीं पहुँच सकती, उस परावर (पर-से-पर) परमात्मतत्त्वका वर्णन हो ही कैसे सकता है? ऐसे परमात्मतत्त्वकी तरफ लक्ष्य होनेपर वह ज्यों-का-त्यों रह जाता है।

परमात्मतत्त्वके लिये कुछ भी कहें, सुनें, पढ़ें, विचार करें, चिन्तन करें, वह दूसरेकी कुछ-न-कुछ सत्ता माननेसे ही होगा। वास्तवमें उसका वर्णन, विचार, चिन्तन, संकेत आदि कुछ भी नहीं हो सकता। किसी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, नाम, रूप आदिकी कुछ-न-कुछ कल्पना करके ही उसका वर्णन हो सकता है। ऐसा वह स्वतःसिद्ध चिन्मय तत्त्व है। उसका स्वरूप सत्तामात्र है, जिसकी किसी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिके साथ कभी किञ्चिन्मात्र भी लिप्तता है नहीं, हुई नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं।

प्रश्न—उस तत्त्वकी प्राप्तिके लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर—परमात्मतत्त्व किसी देश, काल आदिमें बँधा हुआ नहीं है। वह सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तुओंमें, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें, सम्पूर्ण घटनाओंमें, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें, सब अवस्थाओंमें विद्यमान है और इन सबसे अतीत भी है। जो सबमें विद्यमान है, वह हमारेमें भी विद्यमान है और जो सब समयमें विद्यमान है, वह अभी भी विद्यमान है। अगर वह हमारेमें नहीं है तो उसको सबमें विद्यमान नहीं कह सकते। अगर वह अभी नहीं है तो उसको सब समयमें विद्यमान नहीं कह सकते। जो हमारेमें है और अभी है, उसकी प्राप्तिके लिये परिश्रमकी जरूरत नहीं है। परिश्रम तो उसकी प्राप्तिमें होता है, जो देश, काल, वस्तु आदिसे कुछ दूर हो। अतः हम परिश्रम करेंगे, उद्योग करेंगे, पुरुषार्थ करेंगे, क्रिया करेंगे, तब उस तत्त्वकी प्राप्ति होगी—ऐसी बात नहीं है। क्रिया करनेसे तो हम उससे दूर होंगे; क्योंकि क्रिया प्रकृतिमें होती है और प्रकृति सत् नहीं है। प्रकृतिसे तो हमारा निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है। कोई भी अवस्था निरन्तर नहीं रहती। परन्तु सत्-तत्त्वसे किसीका भी सम्बन्ध-विच्छेद कभी हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं और है नहीं। फिर उसके लिये किसी परिश्रमकी क्या आवश्यकता है? इसलिये शास्त्रमें आया है—**'सन्मात्रं सुगमं नृणाम्'** अर्थात्

* क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥ (श्रीमद्भा॰ १।२।२१)
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥ (श्रीमद्भा॰ ११।२०।३०)

सत्तामात्रकी प्राप्ति मनुष्योंके लिये बहुत सुगम है। वास्तवमें उसकी प्राप्तिको सुगम कहना भी नहीं बनता। सुगमता-कठिनता तो अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिमें होती है। जो नित्यप्राप्त है, उसके लिये क्या सुगमता और क्या कठिनता? जैसे—'मैं हूँ' इस प्रकार अपनी सत्ताका अनुभव सभीको है। वस्तु, परिस्थिति, अवस्था आदिके अभावका अनुभव सबको होता है, पर स्वयंके अभावका अनुभव किसीको कभी नहीं होता, प्रत्युत सबको सदा ही अपने भावका अनुभव होता है। साधकको चाहिये कि वह 'मैं हूँ'—इसमें 'मैं' को आदर न देकर 'हूँ' को अर्थात् निर्विकार नित्य सत्ताको आदर दे। 'हूँ' को आदर देनेसे 'मैं' (अहम्) मिट जायगा और 'है' रह जायगा।

अपनी सत्ता (होनापन) सत् है और मैं-पन (अहंकार) असत् है। असत्का त्याग करनेसे सत्का संग अर्थात् सत्में प्रेम होता है, सत्का साक्षात्कार होता है, सत्में निष्ठा होती है, सत्में स्थिति होती है। वास्तवमें असत् निरन्तर हमारा त्याग कर रहा है। जो निरन्तर हमारा त्याग कर रहा है, उसका ही त्याग करना है अर्थात् उसीसे विमुख होना है। शरीर निरन्तर हमारा त्याग कर रहा है, प्राण निरन्तर हमारा त्याग कर रहे हैं, मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ निरन्तर हमारा त्याग कर रही हैं। हम निरन्तर जी रहे हैं—यह तो वहम है, पर हम निरन्तर मर रहे हैं—यह सच्ची बात है। शरीर निरन्तर हमारेसे अलग हो रहा है—यही उसका निरन्तर मरना है। हम स्वयं ज्यों-के-त्यों हैं। स्वयंकी जो सत्ता बचपनमें थी, वही आज भी है। परन्तु शरीर जो बचपनमें था, वही आज है—ऐसा हम नहीं कह सकते। शरीर वह नहीं है, मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ वे नहीं हैं, भाव वे नहीं हैं, सिद्धान्त वे नहीं हैं, सामग्री वह नहीं है, साथी वे नहीं हैं, देश (स्थान) वह नहीं है, काल वह नहीं है, अवस्था वह नहीं है, परिस्थिति वह नहीं है; परन्तु मैं स्वयं वही हूँ जो पहले था। 'मैं वही हूँ'—इसमें स्थिति होनेका नाम ही तत्त्वकी प्राप्ति है। इसीको जीवन्मुक्ति, तत्त्वज्ञान, कल्याण, उद्धार कहते हैं। यही असली सत्संग है। इसका उपाय यह है कि जब सुषुप्तिसे जाग्रत्में आयें अर्थात् नींदसे जग जायँ, तब अपने बिछौनेपर ही सुखपूर्वक बैठ जायँ और जाग्रत्में सुषुप्तिका अनुभव करें। तात्पर्य है कि जैसे सुषुप्तिमें कुछ भी याद नहीं था, अहम् भी याद नहीं था, ऐसे ही जाग्रत्में भी अहम्की याद न रहे अर्थात् अहम्की उपेक्षा कर दें।

अहम् नहीं है—इसमें 'नहीं' भी अहम् है और 'है' भी अहम् है। कारण कि 'नहीं' की अपेक्षा 'है' और 'है' की अपेक्षा 'नहीं' है। तत्त्वमें 'नहीं' और 'है' दोनों ही नहीं हैं अर्थात् तत्त्व निरपेक्ष है। इस प्रकार 'अहम् नहीं है'—इसका भी निषेध कर दें और चुप हो जायँ। कुछ भी चिन्तन न करें, न संसारका, न परमात्माका, न स्वयंका। अगर चिन्तन आता है तो उसकी उपेक्षा कर दें। जो अपने-आप आता है, उसके पाप-पुण्यके भागी हम नहीं बनते। जैसे, संसारमें बहुत-सी हत्याएँ होती हैं और बहुत-सा उपकार होता है, पर हम न तो हत्याके पापके भागी होते हैं, न उपकारके पुण्यके भागी होते हैं। कारण कि वह होता है, हम नहीं करते। जो होता है, उसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। जो होता है, वह मिटता है। जो मिटता है, वह असत् है। जो असत् है, उसका हमारेसे स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद है।

संकल्प पहले नहीं था, पीछे पैदा हो गया और फिर मिट जायगा। संकल्पका होना भी मिटनेमें है और मिटना भी मिटनेमें है। मिटनेके प्रवाहको ही होना कहते हैं। मरनेके प्रवाहको ही जीना कहते हैं। अतः जो संकल्प अपने-आप होता है, उसकी उपेक्षा कर दें। उसको न अच्छा समझें, न बुरा समझें; न अपना समझें, न दूसरेका समझें। वह बना रहे—यह भावना भी न करें और वह मिट जाय—यह भावना भी न करें। यही जीवन्मुक्त-अवस्था है। गीतामें आया है—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥
(१४।२२)

'हे पाण्डव! प्रकाश, प्रवृत्ति तथा मोह—ये सभी अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ तो भी गुणातीत मनुष्य 'ये क्यों आ गये'—ऐसे इनसे द्वेष नहीं करता और ये सभी निवृत्त हो जायँ तो इनके आनेकी इच्छा नहीं करता।'

मनमें कोई भाव आ गया तो वह जायगा—यह नियम है। जो उत्पन्न हुआ है, वह मरेगा—यह नियम है। जाते हुएको हम भूलसे आया हुआ मान लेते हैं। वास्तवमें वह आया नहीं है, प्रत्युत जा रहा है। उत्पन्न नहीं हुआ है, प्रत्युत मर रहा है। जो जा रहा है, मर रहा है, उसके लिये क्या हर्ष और क्या शोक? क्या राजी और क्या नाराजी? जो जा रहा है, उसकी तरफ दृष्टि न डालें। सात्त्विक वृत्ति आयी या राजसी वृत्ति आयी अथवा तामसी वृत्ति आयी; संयोग हुआ या वियोग हुआ; आया या गया, कुछ न देखें—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
(गीता १४।२३)

'जो उदासीनकी तरह स्थित है* और जो गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता तथा गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—इस भावसे जो अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है और स्वयं कोई भी चेष्टा नहीं करता।'

वास्तवमें न कुछ आया है, न गया है; न उत्पन्न हुआ है, न नष्ट हुआ है, प्रत्युत गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं। अपना उससे कुछ प्रयोजन नहीं, कुछ लेन-देन नहीं। इस प्रकार तटस्थ रहकर चुप, शान्त हो जायँ तो हमारी स्थिति स्वतः तत्त्वमें ही रहेगी। तत्त्वमें स्वतः-स्वाभाविक स्थितिका नाम ही जीवन्मुक्ति है, कल्याण है, उद्धार है।

अभ्यास और विवेचन

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके साधन दो प्रकारके हैं— क्रियाप्रधान और विवेकप्रधान। क्रियाप्रधान साधनमें अभ्यासकी मुख्यता होती है और विवेकप्रधान साधनमें विवेचनकी मुख्यता होती है। इन दोनोंमेंसे किसी भी साधनको करें, अन्तमें विवेककी मुख्यतासे ही परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होगी। कारण कि क्रियाका तो आदि और अन्त होता है, पर विवेकका आदि और अन्त नहीं होता। अतः परिणाममें क्रियाका तो अन्त हो जाता है और विवेक तत्त्वबोधमें परिणत हो जाता है।

विवेचनका स्वरूप है—गहरा विचार करना कि तत्त्व क्या है? विचार करनेसे जो अतत्त्व है, उसकी निवृत्ति हो जाती है। अतत्त्वकी निवृत्ति होनेपर तत्त्व ज्यों-का-त्यों शेष रह जाता है, अनुभवमें आ जाता है। अतः विवेचन परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका मुख्य साधन है। श्रीशंकराचार्यजी महाराज कहते हैं—

को दीर्घरोगो भव एव साधो किमौषधं तस्य विचार एव ॥

(प्रश्नोत्तरी ७)

'दीर्घरोग क्या है? हे साधो! संसारमें आना (जन्म-मरण) ही दीर्घरोग है। उसकी दवा क्या है? विचार ही उसकी दवा है।' कारण कि अविचारसे ही बन्धन हुआ है।

विचार दो तरहका होता है। एक विचार करना होता है और एक विचार उदय होता है। जो विचार किया जाता है, उसमें तो क्रिया है; परन्तु जो विचार उदय होता है, उसमें क्रिया नहीं है। विचार करनेमें तो बुद्धिकी प्रधानता रहती है, पर विचार उदय होनेपर बुद्धिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अतः तत्त्वबोध विचार करनेसे नहीं होता, प्रत्युत विचार उदय होनेसे होता है। तात्पर्य है कि तत्त्वप्राप्तिके उद्देश्यसे विचार करते-करते 'संसारके साथ मेरा सम्बन्ध है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं'—इस विचारका उदय होता है। विचारका उदय होते ही विवेक बोधमें परिणत हो जाता है अर्थात् असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और सम्बन्ध-विच्छेद होते ही तत्त्वबोध हो जाता है। विचारका उदय होनेको ही गीताने '**स्मृतिर्लब्धा**' (१८। ७३) कहा है।

विवेचनसे विचारका उदय होता है और अभ्याससे नयी अवस्था पैदा होती है। उदय होना और पैदा होना—दोनोंमें बड़ा अन्तर है। जो चीज उदय होती है, वह पहलेसे ही विद्यमान होती है और जो चीज पैदा होती है, वह पहलेसे विद्यमान नहीं होती। जैसे, सूर्य उदय होता है, पैदा नहीं होता। हमारी आँखोंके आगेसे आड़ हट जाती है तो उसको सूर्यका उदय होना कह देते हैं और आगे आड़ आ जाती है तो उसको सूर्यका अस्त होना कह देते हैं। जिस जगहसे सूर्यका उदय होना दीखता है, उसको 'उदयाचल' कहते हैं और जिस जगहसे सूर्यका अस्त होना दीखता है, उसको 'अस्ताचल' कहते हैं। वास्तवमें प्रत्येक जगह ही उदयाचल और अस्ताचल है। ऐसे ही अविचार (अज्ञान) की आड़ हट जाती है तो उसको विचारका उदय होना कहते हैं। वास्तवमें अज्ञान है नहीं, तभी वह मिटता है। अज्ञानका अर्थ ज्ञानका अभाव नहीं है, प्रत्युत विवेकका अनादर करना, जाने हुएको महत्त्व न देना ही अज्ञान है।

जीव सत्यसंकल्प परमात्माका अंश है। अतः जब यह अपनेमें अज्ञानको स्वीकार कर लेता है, तब अज्ञानकी सत्ता न होनेपर भी सत्ता दीखने लग जाती है—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस १। ११७। ४)

इसलिये अज्ञानका नाश एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है—'**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।**' (गीता ४। ३५) कारण कि जब अज्ञानकी सत्ता ही नहीं है, तो फिर पुनः अज्ञान कैसे होगा? अतः नित्यनिवृत्त अज्ञानकी ही निवृत्ति होती है और नित्यप्राप्त तत्त्वकी ही प्राप्ति होती है।

अभ्याससे अप्राप्तकी प्राप्ति होती है और विवेचनसे नित्यप्राप्तकी प्राप्ति होती है। अतः अभ्यास सांसारिक वस्तुकी प्राप्तिमें काम आता है और विवेचन परमात्मतत्त्वकी खोजमें काम आता है। यद्यपि विवेचनके बिना अभ्यास नहीं होता,

* एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं, फिर किससे उदासीन हों? इसलिये यहाँ 'उदासीनवत्' 'उदासीनकी तरह' कहा है।

तथापि केवल विवेचनसे सांसारिक वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती। जैसे, तबला बजाना सीखते हैं तो पहले उसका विवेचन करते हैं, बोल सीखते हैं, फिर उसका अभ्यास करते हैं। केवल विवेचन करनेसे मनुष्य बोल तो सीख जाता है, पर तबला नहीं बजा सकता। परन्तु केवल विवेचन करनेसे मनुष्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर सकता है।

अभ्याससे नींद आती है और विवेचनसे नींद उड़ जाती है। कारण कि जितना अधिक अभ्यास करते हैं, उतनी ही थकावट आती है और विवेचनमें जितना गहरा उतरते हैं, उतनी ही थकावट दूर होती है तथा बुद्धिमें स्वच्छता आती है। अभ्याससे एक नयी अवस्थाका निर्माण होता है और विवेचनसे अवस्थातीत तत्त्वका अनुभव होता है।

परमात्मतत्त्व नित्यप्राप्त है; अतः उसकी खोज (नित्यप्राप्तकी प्राप्ति) होती है, निर्माण (अप्राप्तकी प्राप्ति) नहीं। परमात्मतत्त्वकी खोजके लिये जब साधक विवेचन करता है, तब उसका विवेक विकसित होकर तत्त्वबोधमें परिणत हो जाता है। परन्तु जब वह केवल सीखनेके लिये विवेचन करता है, तब वह अत्यधिक मोहमें आबद्ध हो जाता है—'**द्वैताद्वैतमहामोहः**'। कारण कि सीखना बुद्धिका संग्रह (परिग्रह) है। यह सिद्धान्त है कि संग्रह संग्रहीको दबाता (पराधीन बनाता) है, उसकी फजीती करता है और त्याग त्यागीको स्वतन्त्र बनाता है, उसकी इज्जत बढ़ाता है। जैसे, धनका संग्रह करनेवाला धनके कारण अपनेको बड़ा मानता है तो वास्तवमें धन ही बड़ा हुआ, वह खुद तो छोटा ही हुआ! वह अपनेको धनका मालिक मानता है, पर वास्तवमें उसका गुलाम हो जाता है तो यह उसकी फजीती ही हुई! तात्पर्य है कि संग्रहमें जडकी मुख्यता होती है और त्यागमें चेतनकी मुख्यता होती है। अतः संग्रह करनेसे स्वयं दब जाता है तथा जड़ता आ जाती है और अनुभवसे संग्रह दब जाता है तथा चेतनता आ जाती है। संग्रह कितना ही क्यों न हो, सीमित ही होता है, पर त्याग सदा असीम होता है। सीमित वस्तुसे सीमित संसारकी प्राप्ति होती है और असीम वस्तुसे असीम परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है। अतः साधकको परमात्मतत्त्वकी खोज (अनुभव) के लिये विवेचन करना चाहिये, बुद्धिके संग्रहके लिये अर्थात् सीखनेके लिये नहीं। इसलिये सन्तोंने कहा है—

जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी डूबन डरी, रही किनारे बैठ॥

★

सत्-असत्का विवेक

श्रीमद्भगवद्गीतामें आया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(२। १६)

'असत्का भाव विद्यमान नहीं है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है।'

इस श्लोकार्धमें तीन धातुओंका प्रयोग हुआ है—

१ **'भू सत्तायाम्'**—जैसे, **'अभावः'** और **'भावः'**।

२ **'अस् भुवि'**—जैसे, **'असतः'** और **'सतः'**।

३ **'विद् सत्तायाम्'**—जैसे, **'विद्यते'** और **'न विद्यते'**।

यद्यपि इन तीनों धातुओंका मूल अर्थ एक (सत्ता) ही है, तथापि सूक्ष्मरूपसे ये तीनों अपना अलग अर्थ भी रखते हैं; जैसे—**'भू'** धातुका अर्थ 'उत्पत्ति' है, **'अस्'** धातुका अर्थ 'सत्ता' (होनापन) है और **'विद्'** धातुका अर्थ 'विद्यमानता' (वर्तमानमें सत्ता) है।

'नासतो विद्यते भावः' पदोंका अर्थ है—**'असतः भावः न विद्यते'** अर्थात् असत्की सत्ता विद्यमान नहीं है। असत् वर्तमान नहीं है। असत् उपस्थित नहीं है। असत् प्राप्त नहीं है। असत् मिला हुआ नहीं है। असत् मौजूद नहीं है। असत् कायम नहीं है। जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका नाश अवश्य होता है—यह नियम है। उत्पन्न होते ही तत्काल उस वस्तुका नाश शुरू हो जाता है। उसका नाश इतनी तेजीसे होता है कि उसको दो बार कोई देख ही नहीं सकता अर्थात् उसको एक बार देखनेपर फिर दुबारा उसी स्थितिमें नहीं देखा जा सकता। यह सिद्धान्त है कि जिस वस्तुका किसी भी क्षणमें अभाव है, उसका सदा अभाव ही है। अतः संसारका सदा ही अभाव है। संसारको कितना ही महत्त्व दें, उसको कितना ही ऊँचा मानें, उसका कितना ही सहारा लें, उसकी कितनी ही गरज करें, पर वास्तवमें वह विद्यमान है ही नहीं। असत् प्राप्त है ही नहीं। असत् कभी प्राप्त हुआ ही नहीं। असत् कभी प्राप्त होगा ही नहीं। असत्का प्राप्त होना सम्भव ही नहीं है।

'नाभावो विद्यते सतः' पदोंका अर्थ है—**'सतः अभावः न विद्यते'** अर्थात् सत्का अभाव विद्यमान नहीं है। दूसरे शब्दोंमें, सत्की सत्ता सदा विद्यमान है। सत् सदा वर्तमान है। सत् सदा उपस्थित है। सत् सदा प्राप्त है। सत् सदा मिला हुआ है। सत् सदा मौजूद है। सत् सदा कायम है। किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदिमें सत्का अभाव नहीं होता। कारण कि देश, काल आदि तो असत् (अभावरूप) हैं, पर सत् सदा

ज्यों-का-त्यों रहता है। उसमें कभी किञ्चिन्मात्र भी कोई परिवर्तन नहीं होता, कोई कमी नहीं आती। अतः सत्का सदा ही भाव है। परमात्मतत्त्वको कितना ही अस्वीकार करें, उसकी कितनी ही उपेक्षा करें, उससे कितना ही विमुख हो जायँ, उसका कितना ही तिरस्कार करें, उसका कितनी ही युक्तियोंसे खण्डन करें, पर वास्तवमें उसका अभाव विद्यमान है ही नहीं। सत्का अभाव होना सम्भव ही नहीं है। सत्का अभाव कभी कोई कर सकता ही नहीं—'**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति**॥' (गीता २। १७)

जैसे, नदी निरन्तर बहती है, एक क्षणके लिये भी स्थिर नहीं रहती। परन्तु वह जिस आधारशिलाके ऊपर बहती है, वह शिला निरन्तर स्थिर रहती है, एक इंच भी आगे बहकर नहीं जाती। नदीमें कभी स्वच्छ जल आता है, कभी कूड़ा-कचरा आता है, कभी पुष्प बहते हुए आ जाते हैं, कभी कोई मुर्दा बहता हुआ आ जाता है, कभी कोई मनुष्य तैरता हुआ आ जाता है; परन्तु शिलामें कोई फर्क नहीं पड़ता। वह ज्यों-की-त्यों अपनी जगह स्थित रहती है। तात्पर्य है कि जो निरन्तर बहता है, वह 'असत्' है और उसका भाव (होनापन) विद्यमान नहीं है एवं जो निरन्तर रहता है, वह 'सत्' है और उसका अभाव (न होनापन) विद्यमान नहीं है।

भगवान् कहते हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(गीता २। ६९)

'सभी मनुष्योंकी जो रात है, उसमें संयमी मनुष्य जागता है और जिसमें साधारण मनुष्य जागते हैं, वह तत्त्वको जाननेवाले मुनिकी दृष्टिमें रात है।'

सांसारिक मनुष्य रात-दिन भोग और संग्रहमें ही लगे रहते हैं, उनको ही महत्ता देते हैं, सांसारिक कार्योंमें बड़े सावधान और निपुण होते हैं, तरह-तरहके कला-कौशल सीखते हैं, लौकिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें ही अपनी उन्नति मानते हैं, सांसारिक पदार्थोंकी बड़ी महिमा गाते हैं, सदा जीवित रहकर सुख भोगनेके लिये बड़ी-बड़ी तपस्या करते हैं, देवताओंकी उपासना करते हैं, मन्त्र-जप करते हैं। परन्तु जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुष तथा सच्चे साधकोंकी दृष्टिमें वह बिलकुल रात है, अन्धकार है, उसका किञ्चिन्मात्र भी महत्त्व नहीं है। कारण कि उनकी दृष्टिमें ब्रह्मलोकतक सम्पूर्ण संसार विद्यमान है ही नहीं*।

जैसा है, वैसा अनुभव करनेका नाम 'ज्ञान' है और जैसा है ही नहीं, उसको 'है' मान लेनेका नाम 'अज्ञान' है। जिनको असत्के अभावका और सत्के भावका अनुभव हो गया है, वे तत्त्वज्ञानी हैं, जीवन्मुक्त हैं, विदेह हैं, स्थितप्रज्ञ हैं, गुणातीत हैं, भगवत्प्रेमी हैं, वैष्णव हैं। परन्तु जो असत्का भाव और सत्का अभाव मानते हैं, असत्को प्राप्त और सत्को अप्राप्त मानते हैं, वे अज्ञानी हैं, बेसमझ हैं, विपरीत बुद्धिवाले हैं।

भगवान् कहते हैं—

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २। १६)

असत्का अभाव और सत्का भाव—दोनोंके तत्त्व-(निष्कर्ष-) को जाननेवाले जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुष एक सत्-तत्त्वको ही देखते हैं अर्थात् स्वतः-स्वाभाविक एक 'है' का ही अनुभव करते हैं†। तात्पर्य है कि असत्का तत्त्व भी सत् है और सत्का तत्त्व भी सत् है अर्थात् दोनोंका तत्त्व एक 'सत्' ही है—ऐसा जान लेनेपर उन महापुरुषोंकी दृष्टिमें एक सत्-तत्त्व—'है'के सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं।

असत्की सत्ता विद्यमान न रहनेसे उसका अभाव और सत्का भाव सिद्ध हुआ और सत्का अभाव विद्यमान न रहनेसे उसका भाव सिद्ध हुआ। निष्कर्ष यह निकला कि असत् है ही नहीं, प्रत्युत सत् ही है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)। सत्के सिवाय और कुछ है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं तथा होनेकी सम्भावना ही नहीं।

★

* आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन॥ (गीता ८। १६)

† 'पश्य' क्रियाके दो अर्थ होते हैं—देखना और अनुभव करना (जानना)—'पश्यार्थैश्चानालोचने' (पाणि० अष्टा० ८। १। २५)।

अवस्थातीत तत्त्वका अनुभव

[पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे इस लेखको मनोयोगपूर्वक धीरे-धीरे, समझ-समझकर पढ़ें।]

श्रीमद्भगवद्गीतामें आया है—

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

(२। २४)

'यह सत्य-तत्त्व नित्य रहनेवाला, सबमें परिपूर्ण, अचल, स्थिर स्वभाववाला और अनादि है।'

जैसे, गङ्गाजी निरन्तर बहती रहती हैं, पर जिसके ऊपर बहती हैं, वह आधारशिला ज्यों-की-त्यों स्थिर रहती है। गङ्गाजीका जल कभी स्वच्छ होता है, कभी मटमैला होता है। कभी जल कम हो जाता है, कभी बाढ़ आ जाती है। कभी जल गरम हो जाता है, कभी ठण्डा हो जाता है। कभी तेज प्रवाहके कारण जल आवाज करने लगता है, कभी शान्त हो जाता है। परन्तु आधारशिला ज्यों-की-त्यों रहती है, उसमें कभी कोई फर्क नहीं पड़ता। इसी तरह कभी जलमें मछलियाँ आ जाती हैं, कभी सर्प आदि जन्तु आ जाते हैं, कभी लकड़ीके सिलपट तैरते हुए आ जाते हैं, कभी पुष्प बहते हुए आ जाते हैं, कभी कूड़ा-कचरा आ जाता है, कभी मैला आ जाता है, कभी गोबर आ जाता है, कभी कोई मुर्दा बहता हुआ आ जाता है, कभी कोई जीवित व्यक्ति तैरता हुआ आ जाता है। ये सब तो आकर चले जाते हैं, पर आधारशिला ज्यों-की-त्यों अचल रहती है। ऐसे ही सम्पूर्ण अवस्थाएँ, परिस्थितियाँ, घटनाएँ, क्रियाएँ आदि निरन्तर बह रही हैं, पर सबका आधार स्वयं (सत्य-तत्त्व) ज्यों-का-त्यों अचल रहता है। परिवर्तन अवस्थाओं आदिमें होता है, तत्त्वमें नहीं।

वास्तवमें अवस्थाओंकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। कारण कि जिसका कभी कहीं भी अभाव होता है, उसका सदा सब जगह ही अभाव होता है और वह असत् होता है—**'नासतो विद्यते भावः'**। जिसका कभी कहीं भी अभाव नहीं होता, उसका सदा सब जगह ही भाव होता है और वह सत् होता है—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। अवस्थाओंमें सत्ताका अभाव है और स्वयंमें परिवर्तन (क्रिया) का अभाव है। अज्ञानके कारण ही मनुष्यको स्वयंकी सत्ता अवस्थाओंमें दीखती है और अवस्थाओंका परिवर्तन स्वयंमें दीखता है। अतः अवस्थाओंकी सत्ता मानना भी भ्रम अर्थात् मिथ्या है और स्वयंमें परिवर्तन मानना भी भ्रम है। अवस्थामें स्वयंको देखना भी भ्रम है और स्वयंमें अवस्थाको देखना भी भ्रम है। तत्त्वबोध होनेपर यह भ्रम नहीं रहता।

अगर हम अवस्थाओंमें होते और अवस्थाएँ हमारेमें होतीं तो हम एक अवस्थामें ही रहते, दूसरी अवस्थामें जा सकते ही नहीं। एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थामें वही जा सकता है, जो अवस्थाओंसे अलग है। यह हमारा प्रत्यक्ष अनुभव भी है कि कोई भी अवस्था निरन्तर नहीं रहती, पर हम स्वयं निरन्तर रहते हैं।

जैसे, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि और मूर्च्छा—ये पाँच अवस्थाएँ हैं। जाग्रत्-अवस्थामें स्वप्न-सुषुप्ति-समाधि-मूर्च्छाका अभाव है, स्वप्न-अवस्थामें जाग्रत्-सुषुप्ति-समाधि-मूर्च्छाका अभाव है, सुषुप्ति-अवस्थामें जाग्रत्-स्वप्न-समाधि-मूर्च्छाका अभाव है, समाधि-अवस्थामें जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-मूर्च्छाका अभाव है और मूर्च्छा-अवस्थामें जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-समाधिका अभाव है। परन्तु अपना अभाव किसी भी अवस्थामें नहीं है और अपनेमें सम्पूर्ण अवस्थाओंका अभाव है—यह सर्वानुभूत स्वतःसिद्ध बात है। जैसे अभी जाग्रत्-अवस्थामें स्वप्न-सुषुप्ति आदि अवस्थाओंका अभाव है, ऐसे ही स्वयंमें जाग्रत्-अवस्थाका भी अभाव है। तात्पर्य है कि स्वयंमें कोई भी अवस्था नहीं है। वह अवस्थातीत तत्त्व है।

जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओंकी तरह बाल, युवा और वृद्ध—ये तीनों भी अवस्थाएँ हैं। बाल्यावस्थामें युवावस्था-वृद्धावस्थाका अभाव है, युवावस्थामें बाल्यावस्था-वृद्धावस्थाका अभाव है और वृद्धावस्थामें बाल्यावस्था-युवावस्थाका अभाव है। परन्तु अपना अभाव किसी भी अवस्थामें नहीं है और अपनेमें सम्पूर्ण अवस्थाओंका अभाव है। इसको यों भी कह सकते हैं कि जैसे अभी युवावस्थामें बाल्यावस्था-वृद्धावस्थाका अभाव है, ऐसे ही स्वयंमें युवावस्थाका भी अभाव है। जो सम्पूर्ण अवस्थाओंमें रहनेवाला है, उसमें अवस्था कहाँ है? मणियोंकी मालामें सूतकी तरह सम्पूर्ण अवस्थाओंमें अपनी सत्ता अनुस्यूत है। जैसे सूतमें मणियाँ नहीं हैं, ऐसे ही सत्ता (स्वरूप) में अवस्थाएँ नहीं हैं।

जैसे उपर्युक्त अवस्थाएँ शरीरमें होती हैं, ऐसे ही उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय—ये तीन अवस्थाएँ संसारमें होती हैं। उत्पत्ति-अवस्थामें स्थिति और प्रलयका अभाव है, स्थिति-अवस्थामें उत्पत्ति और प्रलयका अभाव है तथा प्रलय-अवस्थामें उत्पत्ति और स्थितिका अभाव है। परन्तु परमात्मतत्त्वका अभाव किसी भी अवस्थामें कभी नहीं है और परमात्मतत्त्वमें सम्पूर्ण अवस्थाओंका सदा अभाव है।

व्यष्टि (शरीर) में स्वयंकी सत्ता है और समष्टि (संसार) में परमात्मतत्त्वकी सत्ता है। व्यष्टि और समष्टिका भेद भी

कल्पित है तथा स्वयं और परमात्मतत्त्वका भेद भी कल्पित है।

धनवत्ता-निर्धनता, विद्वत्ता-मूर्खता, सरोगता-नीरोगता, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि सब अवस्थाएँ हैं। धनवत्ताके समय निर्धनताका अभाव है और निर्धनताके समय धनवत्ताका अभाव है। परन्तु स्वयंका अभाव दोनों ही अवस्थाओंमें नहीं है और स्वयंमें दोनों ही अवस्थाओंका अभाव है। इसको यों भी कह सकते हैं कि धनको सत्ता और महत्ता देनेसे ही धनवत्ता और निर्धनता हैं। अगर धनको सत्ता और महत्ता न दें तो न धनवत्ता है, न निर्धनता है।

विद्वत्तामें मूर्खताका अभाव है और मूर्खतामें विद्वत्ताका अभाव है। जैसे विद्वत्तामें मूर्खताका अभाव है, ऐसे ही स्वयंमें विद्वत्ताका भी अभाव है और जैसे मूर्खतामें विद्वत्ताका अभाव है, ऐसे ही स्वयंमें मूर्खताका भी अभाव है। विद्याको सत्ता और महत्ता देनेसे ही विद्वत्ता और मूर्खताका भान होता है। अगर विद्याको सत्ता और महत्ता न दें तो न विद्वत्ता है, न मूर्खता है। विद्वत्ता और मूर्खता दोनों सापेक्ष अवस्थाएँ हैं। निरपेक्ष सत्ता (स्वयं) में न विद्वत्ता है, न मूर्खता।

रोगावस्थामें नीरोगताका अभाव है और नीरोगावस्थामें रोगका अभाव है। परन्तु स्वयंका अभाव दोनों ही अवस्थाओंमें नहीं है और स्वयंमें दोनों ही अवस्थाओंका अभाव है। अगर स्वयं दोनों अवस्थाओंमें होता तो अवस्थाके बदलनेपर स्वयं भी बदल जाता और अवस्थाके बदलनेका ज्ञान भी स्वयंको नहीं होता। अगर स्वयंमें दोनों अवस्थाएँ होतीं तो अवस्थाका भेद नहीं होता और अवस्थाका अभाव भी नहीं होता तथा एक ही अवस्था निरन्तर रहती। परन्तु अवस्थाओंके बदलनेका अनुभव तो सबको होता है, पर अपने बदलनेका अनुभव कभी किसीको हुआ नहीं, होगा नहीं, है नहीं और हो सकता नहीं।

अनुकूलताके समय प्रतिकूलता नहीं है और प्रतिकूलताके समय अनुकूलता नहीं है। परन्तु जिसको इन दोनों अवस्थाओंका ज्ञान है, उस स्वयंमें न अनुकूलता है, न प्रतिकूलता है। अनुकूलताकी अपेक्षा प्रतिकूलता है और प्रतिकूलताकी अपेक्षा अनुकूलता है। निरपेक्ष सत्ता (स्वयं) में न अनुकूलता है, न प्रतिकूलता।

बन्धन-अवस्थामें मुक्तिका अभाव है और मुक्त-अवस्थामें बन्धनका अभाव है। जैसे बन्धन-अवस्थामें मुक्ति नहीं है, ऐसे ही स्वयंमें बन्धन-अवस्था भी नहीं है और जैसे मुक्त-अवस्थामें बन्धन नहीं है, ऐसे ही स्वयंमें मुक्त-अवस्था भी नहीं है। बन्धनकी अपेक्षा मुक्ति है और मुक्तिकी अपेक्षा बन्धन है। अपेक्षा न हो तो स्वयंमें न बन्धन है, न मुक्ति।

इसी तरह सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मान-अपमान, निन्दा-प्रशंसा आदि भी अवस्थाएँ हैं, पर जो इन अवस्थाओंको जाननेवाला है, उसमें ये अवस्थाएँ नहीं हैं।

जैसे सूक्ष्मदृष्टिसे देखें तो प्यास और जल—दोनोंमें कोई फर्क नहीं है। प्यास लगनेपर जलका चिन्तन होता है और जिसका चिन्तन होता है, उसके साथ सम्बन्ध होता है। जब जल पीते हैं, तब प्यास शान्त हो जाती है। अतः प्यास और जल—दोनोंमें जातीय एकता (सजातीयता) है। जलकी इच्छा ही प्यास है, जलका अभाव प्यास नहीं है। ऐसे ही धनकी इच्छा ही निर्धनता है*, धनका अभाव निर्धनता नहीं है। जैसे, कुत्तेके पास धनका अभाव है, पर वह निर्धन नहीं कहलाता। विरक्त, त्यागी पुरुषको कोई निर्धन नहीं कहता। तात्पर्य है कि जैसे, प्यास और जल एक है, ऐसे ही धनवत्ता और निर्धनता, विद्वत्ता और मूर्खता आदि भी एक हैं, क्योंकि दोनों ही सापेक्ष अवस्थाएँ हैं। अतः पहले मैं निर्धन था, अब मैं धनवान् हूँ; पहले मैं मूर्ख था, अब मैं विद्वान् हूँ—यह केवल अवस्थाका परिवर्तन है। परन्तु स्वयं अवस्थातीत है। ऐसे ही मनुष्य स्वर्गमें जाता है अथवा ब्रह्मलोकमें जाता है तो यह केवल अवस्थाका परिवर्तन है—'**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।**' (गीता ८। १६)।

वास्तवमें प्यासकी जितनी सत्ता है, उतनी जलकी सत्ता नहीं है। कारण कि प्याससे जलके साथ सम्बन्ध जुड़ता है और प्यास मिटनेसे जलके साथ सम्बन्ध-विच्छेद होता है। ऐसे ही संसारकी इच्छासे संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ता है और परमात्माकी इच्छासे परमात्माके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। संसारकी प्राप्ति होनेपर संसारकी इच्छा मिटती नहीं, प्रत्युत और बढ़ती है; क्योंकि संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति होनेपर परमात्माकी इच्छा पूर्ण हो जाती है; क्योंकि परमात्माकी नित्य सत्ता है। तात्पर्य है कि संसारकी प्राप्ति होनेपर भी कमीकी पूर्ति नहीं होती, प्रत्युत कमी बढ़ती है। जैसे, धन मिलनेपर भी धनकी इच्छा बढ़ती है और इच्छा बढ़नेसे धनका अभाव तथा दुःख, सन्ताप, जलन आदि बढ़ते हैं। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति होनेपर कमीका सदाके लिये अत्यन्त अभाव हो जाता है तथा कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता; क्योंकि परमात्मामें कमी है ही नहीं।

अगर हम अवस्थाओंकी सत्ताको स्वीकार करें तो

* 'को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः' (प्रश्नोत्तरी ५)

अवस्थाओंकी अनित्यता तथा अनेकता और अपनी नित्य तथा एक सत्ता अनुभवमें आती है और अगर हम अवस्थाओंकी सत्ताको स्वीकार न करें अर्थात् अवस्थाओंकी कल्पना न करें तो एकमात्र अपनी नित्य सत्ता स्वतः ज्यों-की-त्यों अनुभवमें आती है। इसको यों भी कह सकते हैं कि हम अवस्थाओंकी सत्ताको मानें तो उनका भाव दीखता है और उनकी सत्ताको न मानें तो उनका अभाव दीखता है; परंतु अपनी सत्ताको मानें अथवा न मानें, उसका भाव ही दीखता है, अभाव कभी नहीं दीखता। इसलिये गीताने कहा है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'** (२।१६) अर्थात् असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है। जो विद्यमान है, वह तत्त्व है और जो विद्यमान नहीं है, वह अतत्त्व है। तत्त्वमें अतत्त्व नहीं है और अतत्त्वमें तत्त्व नहीं है। परन्तु यह कथन अतत्त्वकी सत्ता माननेसे ही है।

अवस्थाओंकी सत्ता स्वीकार करके अपनेको अवस्थामें और अवस्थाको अपनेमें माननेसे संसारमें प्रवृत्ति (करना) और निवृत्ति न करना होती है। उस प्रवृत्ति और निवृत्तिको लेकर अपनेमें 'कर्तृत्व' दीखता है और उसके फलको लेकर अपनेमें 'भोक्तृत्व' दीखता है। अगर अवस्थाओंकी सत्ता स्वीकार न करें तो अपनेमें अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वका अर्थात् वास्तविक एवं निरपेक्ष निर्विकारताका अनुभव स्वतः हो जाता है।

जब साधक वर्तमानमें **'नैव किञ्चित्करोमि'** (गीता ५।८) 'मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूँ'—इस प्रकार स्वयंको अकर्ता अनुभव करने लगता है, तब उसके सामने एक बड़ी समस्या आती है। जब उसको भूतकालमें किये हुए अच्छे कर्मोंकी याद आती है, तब वह सुखी हो जाता है कि मैंने बहुत अच्छा काम किया, बहुत ठीक किया! और जब उसको निषिद्ध कर्मोंकी याद आती है, तब वह दुःखी हो जाता है कि मैंने बहुत बुरा काम किया, बहुत गलती की। इस प्रकार भूतकालमें किये गये कर्मोंके संस्कार उसको सुखी-दुःखी करते हैं। इस विषयमें एक मार्मिक बात है।

स्वरूपमें कर्तापन न तो वर्तमानमें है, न भूतकालमें था और न भविष्यमें ही होगा। अतः साधकको यह देखना चाहिये कि जैसे वर्तमानमें स्वयं अकर्ता है*, ऐसे ही भूतकालमें भी स्वयं अकर्ता था। कारण कि वर्तमान ही भूतकालमें गया है। स्वरूप सत्तामात्र है और सत्तामात्रमें कोई कर्म करना बनता ही नहीं। कर्म केवल अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाले अज्ञानी मनुष्यके द्वारा ही होते हैं—

'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥'

(गीता ३।२७)

साधकको भूतकालमें किये हुए कर्मोंकी याद आनेसे जो सुख-दुःख होता है, चिन्ता होती है, यह भी वास्तवमें अहंकारके कारण ही है। वर्तमानमें अहंकारविमूढात्मा होकर अर्थात् अहङ्कारके साथ अपना सम्बन्ध मानकर ही साधक सुखी-दुःखी होता है। स्थूलदृष्टिसे भी देखें तो जैसे अभी भूतकालका अभाव है, ऐसे ही भूतकालमें किये गये कर्मोंका अभी प्रत्यक्ष अभाव है। अतः भूतकालके अभावको भावरूपसे देखना, भूतकालकी घटनाओंको सत्ता देकर राजी-नाराज होना बिलकुल गलतीकी बात है।

सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो जैसे भूतकालमें वर्तमानका अभाव था, ऐसे ही भूतकालका भी अभाव था! इसी तरह वर्तमानमें जैसे भूतकालका अभाव है, ऐसे ही वर्तमानका भी अभाव है। परन्तु सत्ताका नित्य-निरन्तर भाव है। तात्पर्य है कि सत्तामात्रमें भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनोंका ही सर्वथा अभाव है। सत्ता कालसे अतीत है। उस कालातीत, अवस्थातीत सत्तामें किसी कालविशेष और अवस्थाविशेषको लेकर कर्तृत्व और भोक्तृत्वका आरोप करना अज्ञान है। साधक भूतकालकी स्मृतिमें ऐसा आरोप कर लेता है और सुखी-दुःखी होता है तो यह उसकी बड़ी भारी गलती, असावधानी, भूल है। कारण कि यह अहंकारविमूढात्माकी स्मृति है, सत्ता (तत्त्व) की नहीं।

स्वयं सत्तामात्र तथा बोधस्वरूप है। बोधका अनादर

---

* शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ (गीता १३।३१)

'यह आत्मा शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ (गीता १८।१५-१६)

'मनुष्य शरीर, वाणी और मनके द्वारा शास्त्रविहित अथवा शास्त्रविरुद्ध जो कुछ भी कर्म आरम्भ करता है, उसके ये (अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव) पाँचों हेतु होते हैं। परन्तु ऐसे पाँच हेतुओंके होनेपर भी जो उस (कर्मोंके) विषयमें केवल (शुद्ध) आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है।'

करनेसे हमने असत्‌को स्वीकार किया और असत्‌को स्वीकार करनेसे अविवेक हुआ। तात्पर्य है कि बोधसे विमुख होकर हमने असत्‌को सत्ता दी और असत्‌को सत्ता देनेसे विवेकका अनादर हुआ। वास्तवमें बोधका अनादर किया नहीं है, प्रत्युत अनादर है। अगर ऐसा मानें कि हमने बोधका अनादर किया तो इससे सिद्ध होगा कि पहले बोधका आदर था। परन्तु बोध एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है—**'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।'** (गीता ४। ३५)। अतः बोधका अनादर किया नहीं, प्रत्युत यह अनादि और सान्त है। विवेकका आदर करनेसे, उसको महत्त्व देनेसे अविवेक मिट जाता है और बोधकी स्मृति प्राप्त हो जाती है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (गीता १८। ७३)।

अपनी सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। उस सत्तामें स्थिति ही तत्त्वज्ञान (बोध) है और उस सत्ताके साथ कुछ-न-कुछ मिला लेना ही अज्ञान है। अपनी सत्तामें अहम् नहीं है; परंतु उसमें अहम्‌को मिला लेनेसे अहम्‌की सत्ता दीखने लगती है और अपने स्वतःसिद्ध सत्ताका अभाव दीखने लगता है अर्थात् उससे विमुखता हो जाती है। अहम्‌के कारण ही जीव है। अगर अहम् न हो तो जीव है ही नहीं, प्रत्युत केवल ब्रह्म ही है। बूँद तो समुद्रमें मिली हुई ही है, केवल मान्यताके कारण वह समुद्रसे अलग दीखती है। वास्तवमें एक जल-तत्त्वकी ही सत्ता है। जल-तत्त्वमें न बूँद है, न समुद्र।

स्वयंके अभावका अनुभव किसीको भी कभी नहीं होता, पर संसारके अभावका अनुभव सबको होता है। वास्तवमें अभावरूपका ही अभाव होता है और अनुभवरूपका ही अनुभव होता है। कूड़ा-करकट भी नहीं है, झाड़ू भी नहीं है और झाड़ूसे कूड़ा-करकट दूर करके मकानको साफ करनेका उद्योग भी नहीं है, केवल मकान ही है! इसी तरह न संसार है, न करण है और न संसारको हटानेका उद्योग (साधन) है, केवल सत्तामात्र है। सत्ता ('है') के सिवाय और सब कुछ माना हुआ है।

जिसने अहंकारके साथ तादात्म्य माना है, वह जीव ही पाप-पुण्यका कर्ता तथा उनके फलका भोक्ता बनता है। जीव ही सुखी और दुःखी होता है। जीव ही बन्धनमें पड़ता और मुक्त होता है। परन्तु सत्तास्वरूप स्वयं न कर्ता बनता है, न भोक्ता; न सुखी होता है, न दुःखी; न बँधता है, न मुक्त होता है।

अहङ्कारको सत्ता न दे तो न अहङ्कार है, न जीव (सत्ता देनेवाला) है। दृश्यको सत्ता न दे तो न दृश्य है, न द्रष्टा है। सत्तास्वरूप तत्त्व स्वतः ज्यों-का-त्यों है। उसमें न अनुभविता है, न अनुभव है, न अनुभाव्य ही है; न ज्ञाता है, न ज्ञान है, न ज्ञेय ही है, प्रत्युत त्रिपुटीरहित, अवस्थातीत अनुभवमात्र, ज्ञानमात्र है।

करणसे अतीत तत्त्व

उपनिषदोंमें आया है कि मनके द्वारा परमात्मतत्त्वको प्राप्त नहीं किया जा सकता; जैसे—

१. **यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।** (केन० १।५)

२. **न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागगच्छति नो मनः।** (केन० १।३)

३. **नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।** (कठ० २।३।१२)

परन्तु इसके साथ ही मनके द्वारा परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेकी भी बात आयी है; जैसे—

१. '**मनसैवानुद्रष्टव्यम्**' (बृहदा० ४।४।१९)

२. '**मनसैवेदमाप्तव्यम्**' (कठ० २।१।११)

—इन दोनों बातोंका सामञ्जस्य कैसे हो, इसपर कुछ विचार किया जाता है।

परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेके साधन दो प्रकारके हैं—करणसापेक्ष अर्थात् क्रियाप्रधान साधन और करणनिरपेक्ष अर्थात् विवेकप्रधान साधन। करणसापेक्ष साधनमें अन्तःकरणकी प्रधानता रहती है और करणनिरपेक्ष साधनमें विवेकपूर्वक अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेदकी प्रधानता रहती है। अतः उपनिषदोंमें आये '**यन्मनसा न मनुते**' आदि पदोंमें करणनिरपेक्ष साधनकी बात कही गयी है और '**मनसैवानुद्रष्टव्यम्**' पदमें करणसापेक्ष साधन (ध्यानयोग) की बात कही गयी है। साधन चाहे करणसापेक्ष हो, चाहे करणनिरपेक्ष हो, परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करणनिरपेक्षतासे अर्थात् विवेककी प्रधानतासे ही होती है। कारण कि परमात्मतत्त्व करणसे अतीत है; अतः कोई भी करण वहाँतक नहीं पहुँचता।

दृष्टान्तरूपसे यह कहा जा सकता है कि '**यन्मनसा न मनुते**' आदि पदोंमें फलव्याप्ति है और '**मनसैवानुद्रष्टव्यम्**' पदमें वृत्तिव्याप्ति है। परन्तु दार्ष्टान्तरूपसे यह बात ठीक नहीं बैठती। वास्तवमें परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें न वृत्तिव्याप्ति चलती है, न फलव्याप्ति।

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें वृत्तिव्याप्ति तभी हो सकती है, जब वह वृत्ति (मन-बुद्धि) का विषय हो। परन्तु वह वृत्तिका विषय है ही नहीं; वृत्ति वहाँतक पहुँचती ही नहीं। करणरहित परमात्मतत्त्वमें वृत्ति (करण) कैसे सम्भव है? अनुत्पन्न

निर्विकल्प तत्त्वमें उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वृत्ति कैसे हो सकती है ? यदि चेतन तत्त्वमें वृत्ति मानें तो वह गुणातीत एवं निर्विकार कैसे हुआ ?

पकड़में आनेवाली चीज छोटी होती है और पकड़नेवाला बड़ा होता है। नेत्रोंसे वही वस्तु दीखती है, जो नेत्रोंकी पकड़में (अन्तर्गत) आती है। इन्द्रियोंसे उसी वस्तुका ज्ञान होता है, जो इन्द्रियोंसे छोटा होता है। कार्यमें कारण तो रहता है, पर कार्यके अन्तर्गत कारण नहीं आ सकता; जैसे—घड़ेमें पृथ्वी (मिट्टी) तो रहती है, पर घड़ेके अन्तर्गत पृथ्वी नहीं आ सकती। प्रकृति कारण है और वृत्ति कार्य है। जब वृत्तिसे प्रकृतिको भी नहीं पकड़ा जा सकता, तो फिर प्रकृतिसे अतीत परमात्मतत्त्वको कैसे पकड़ा जा सकता है? जब परमात्मतत्त्वतक प्रकृति भी नहीं पहुँचती, तो फिर प्रकृतिका कार्य वृत्ति वहाँतक कैसे पहुँचेगी ?

'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' में मनका सांसारिक विषयोंसे, जड़तासे विमुख होना है। मन जड़तासे तो हट जाता है और चेतन तत्त्वको पकड़ नहीं सकता, तब वह थककर स्वतः शान्त हो जाता है*। तात्पर्य है कि ध्यानयोगमें साधक अपने मनको संसारसे हटाकर परमात्मामें लगानेका अभ्यास करता है। मनका संसारसे हटना ही परमात्मामें लगना है। अतः वृत्ति केवल संसारके त्यागमें ही काम आती है। जैसे, लकड़ीको जलाकर अग्नि भी स्वतः शान्त हो जाती है, ऐसे ही संसारका त्याग होनेपर वृत्तिका भी स्वतः त्याग हो जाता है। अतः वास्तवमें वृत्ति संसारकी निवृत्तिमें ही काम आती है, तत्त्वकी प्राप्तिमें नहीं। इसलिये **'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'** का तात्पर्य निषेधमें ही है, विधिमें नहीं†।

जैसे कोई राजा रथपर बैठकर रनिवासतक जाता है तो वह रथको बाहर ही छोड़ देता है और अकेले रनिवासके भीतर जाता है, ऐसे ही करणसापेक्ष साधन करनेवाला भी अन्तमें करणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करके अकेले (स्वयं) ही परमात्मतत्त्वमें प्रवेश करता है। जैसे रथके सम्बन्धसे मनुष्य 'रथी' कहलाता है, ऐसे ही अहम्‌के सम्बन्धसे आत्मा 'जीव' कहलाता है। जब वह अहम्‌का सम्बन्ध छोड़ देता है, तब जीवपना नहीं रहता, प्रत्युत एक तत्त्व रहता है। इसलिये जीवको ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत ब्रह्मको ही ब्रह्मकी प्राप्ति होती है—**'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'** (बृहदा० ४।४।६)। तात्पर्य है कि जीवभाव मिटनेपर एक ब्रह्म ही ज्यों-का-त्यों रह जाता है।

एक मार्मिक बात है कि जडताके द्वारा जडताका त्याग नहीं हो सकता, प्रत्युत जड-उपहित चेतनके द्वारा ही जडताका त्याग हो सकता है। अतः वृत्ति-उपहित चेतन ही संसारकी निवृत्ति करता है, वृत्ति नहीं। कारण कि वृत्ति खुद ही जड है, फिर वह जडताकी निवृत्ति कैसे करेगी ?

मुख्य बात यह है कि जडके द्वारा चेतनका ज्ञान नहीं होता। अगर जडके द्वारा चेतनका ज्ञान हो जाय तो विशेषता जडकी ही हुई, चेतनकी नहीं; क्योंकि जड ज्ञानका जनक हुआ और ज्ञान जन्य हुआ।

'यन्मनसा न मनुते' और **'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'** आदि पदोंसे यह भाव भी निकलता है कि मन-बुद्धि तो परमात्मातक नहीं पहुँच सकते, पर सर्वसमर्थ तथा सर्वव्यापी परमात्मा मन-बुद्धितक पहुँच ही सकते हैं। इतना ही नहीं, मन-बुद्धिके द्वारा परमात्माका ही ग्रहण होता है; क्योंकि परमात्माके सिवाय और कोई सत्ता विद्यमान है ही नहीं। इसलिये भगवान् कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११।१३।२४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार कर लें।'

प्रश्न—गीतामें परमात्मप्राप्तिसे होनेवाले आत्यन्तिक सुखको बुद्धिग्राह्य कहा गया है—**'सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्'** (६।२१)। जब प्रकृतिसे अतीत सुखको बुद्धि नहीं पकड़ सकती, तो वह बुद्धिग्राह्य कैसे हुआ ?

उत्तर—आत्यन्तिक सुखको बुद्धिग्राह्य कहनेका यह तात्पर्य नहीं है कि वह बुद्धिकी पकड़में आनेवाला है। बुद्धि तो प्रकृतिका कार्य है, फिर वह प्रकृतिसे अतीत सुखको कैसे पकड़ सकती है ? इसलिये अविनाशी सुखको बुद्धिग्राह्य कहनेका तात्पर्य उस सुखको तामस सुखसे विलक्षण बतानेमें ही है। निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होनेवाला सुख

---

* यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया। यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ (गीता ६।२०)

† गीतामें आये 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति' (१३।२४), 'चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते' (६।१८), 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' (६।२५), 'पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः' (१५।१०) आदि पदोंका भी यही भाव समझना चाहिये।

तामस होता है* । गाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) में बुद्धि अविद्यामें लीन हो जाती है और आलस्य तथा प्रमादमें बुद्धि पूरी तरह जाग्रत् नहीं रहती। परन्तु स्वतःसिद्ध अविनाशी सुखमें बुद्धि अविद्यामें लीन नहीं होती, प्रत्युत पूरी तरह जाग्रत् रहती है। अतः बुद्धिकी जागृतिकी दृष्टिसे ही उसको 'बुद्धिग्राह्य' कहा गया है। वास्तवमें बुद्धि वहाँतक पहुँचती ही नहीं। इसी तरह अविनाशी सुखको 'आत्यन्तिक' कहकर उसको सात्त्विक सुखसे और 'अतीन्द्रिय' कहकर उसको राजस सुखसे विलक्षण बताया गया है।

जैसे दर्पणमें सूर्य नहीं आता, प्रत्युत सूर्यका बिम्ब आता है, ऐसे ही बुद्धिमें वह आत्यन्तिक सुख नहीं आता, प्रत्युत उस सुखका बिम्ब, आभास आता है, इसलिये भी उसको 'बुद्धिग्राह्य' कहा गया है।

तात्पर्य यह हुआ कि स्वयंका शाश्वत सुख सात्त्विक, राजस और तामस सुखसे भी अत्यन्त विलक्षण अर्थात् गुणातीत है। उसको बुद्धिग्राह्य कहनेपर भी वास्तवमें वह बुद्धिसे सर्वथा अतीत है—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१)।

उपनिषद्‌में आया है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

(कठ० १। ३। १०-११)

'इन्द्रियोंसे विषय पर हैं, विषयोंसे मन पर है, मनसे बुद्धि पर है और बुद्धिसे महान् आत्मा (महत्तत्त्व) पर है, महत्तत्त्वसे अव्यक्त (मूल प्रकृति) पर है और अव्यक्तसे भी पुरुष पर है। पुरुषसे पर और कुछ नहीं है। वही पराकाष्ठा (अन्तिम सीमा) है, वही परा गति है।'

═══ ★ ═══

* यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः। निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ (गीता १८। ३९)

अहम् हमारा स्वरूप नहीं

जैसे हम कहते हैं कि यह शरीर है, यह हाथ है, यह पैर है, यह पेट है; यह मकान है, यह दीवार है, यह खम्भा है; यह मनुष्य है, यह पशु है, यह वृक्ष है, तो ऐसा कहनेका अर्थ होता है कि हम अलग हैं और ये अलग हैं। यह मकान है तो मैं मकान नहीं हो सकता। इसी तरह यह अहंकार है तो मैं (स्वयं) अहङ्कार नहीं हो सकता। इस प्रकार अहंताको इदंतासे देखें। यह बहुत ऊँचे दर्जेकी वास्तविक और अकाट्य बात है, और जिससे तत्काल तत्त्वबोध हो जाय—ऐसी बात है!

अहम् दृश्य है और जाननेमें आता है। जैसे सूर्यका प्रकाश व्यापक होता है और उसके अन्तर्गत वस्तुएँ दीखती हैं, ऐसे ही एक व्यापक ज्ञानके अन्तर्गत अहम् दीखता है। जैसे आकाशमें अनेक तारोंके होनेपर भी आकाशका विभाग नहीं होता। एक आकाशके अन्तर्गत ही अनन्त तारे दीखते हैं। ऐसे ही एक ज्ञानके अन्तर्गत ही अनन्त अहंकार (मैंपन) दीखते हैं। जैसे सब-के-सब तारे एक आकाशमें हैं, ऐसे सब-के-सब अहंकार एक ज्ञानमें हैं। वह ज्ञान हमारा स्वरूप है। अहम् हमारा स्वरूप नहीं है। अहम्को अपना स्वरूप मान लिया—यही गलती हुई है। स्वरूप तो अहम्को प्रकाशित करनेवाला है। जैसे, हम आँखसे सब वस्तुओंको देख सकते हैं, पर आँखसे आँखको नहीं देख सकते; क्योंकि जिससे सब दीखता है, वही आँख है। ऐसे ही जिससे 'मैंपन' दीखता है, वही तत्त्व है। तात्पर्य है कि 'मैंपन' इदंतासे दीखता है, पर 'मैंपन' को देखनेवाला तत्त्व (ज्ञान) इदंतासे नहीं दीखता।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ जाननेमें आनेवाली (प्रकाश्य) हैं। जाग्रत् और स्वप्नमें तो अहम् रहता है, पर सुषुप्तिमें अहम् नहीं रहता, प्रत्युत अविद्यामें लीन हो जाता है। वह सुषुप्ति भी जाननेमें आती है अर्थात् 'ऐसी गहरी नींद आयी कि कुछ पता नहीं था'—यह भी एक ज्ञानके अन्तर्गत दीखता है। वह ज्ञान मात्र प्रतीतिका प्रकाशक, आश्रय और आधार है। तात्पर्य है कि प्रकाशित होनेवाली वस्तु हमारा स्वरूप नहीं है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ अलग-अलग हैं, पर उनको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान अलग-अलग नहीं है। ऐसे ही उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय; आदि, मध्य और अन्त; भूत, भविष्य और वर्तमान आदि सब-के-सब एक ज्ञानके अन्तर्गत ही प्रकाशित होते हैं। ये सब तो उत्पन्न और नष्ट होते हैं, पर इनका जो आश्रय है, आधार है, अधिष्ठान है, प्रकाशक है, वह ज्ञान उत्पन्न और नष्ट नहीं होता, प्रत्युत ज्यों-का-त्यों रहता है। अहम् निरन्तर नहीं रहता, पर उसको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान निरन्तर रहता है। उस ज्ञानकी दृष्टिसे अहम् भी इदम् ही है।

जितने भी परिवर्तन होते हैं, सब उस ज्ञानके अन्तर्गत ही होते हैं। वह ज्ञान कहीं आता-जाता नहीं, प्रत्युत ज्यों-का-त्यों अटल रहता है—

'कूटस्थमचलं ध्रुवम्' (गीता १२। ३)
'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः'
(गीता २। २४)

जैसे, प्रकाशके अन्तर्गत आदमी आते-जाते हैं, पर प्रकाश आता-जाता नहीं। सब आ जायँ तो प्रकाश रहता है, सब चले जायँ तो प्रकाश रहता है; थोड़े आ जायँ तो प्रकाश रहता है, कोई न आये तो प्रकाश रहता है। प्रकाशमें न कोई बाधा लगती है, न कोई हानि होती है, न कमी होती है, न वृद्धि होती है, न परिवर्तन होता है ! संसारमें कभी अनुकूलता आती है, कभी प्रतिकूलता आती है; कभी सुख होता है, कभी दुःख होता है; कभी ठीक होता है, कभी बेठीक होता है; कभी नफा होता है, कभी नुकसान होता है; कभी संयोग होता है, कभी वियोग होता है; कभी जन्म होता है, कभी मरण होता है; कभी रोग होता है, कभी नीरोगता होती है—ये सब तो अलग-अलग होते हैं, पर जिसके अन्तर्गत ये सब होते हैं, उस ज्ञानमें क्या फर्क पड़ता है ? वह ज्ञान ज्यों-का-त्यों रहता है। उस ज्ञानका नाम ही आत्मा है और वही परमात्मतत्त्व है। उस ज्ञानके अन्तर्गत ही अहंता (मैंपन) है। इस प्रकार अहंताको इदंतासे देखें तो जीवन्मुक्ति स्वतःसिद्ध है !

प्रश्न—अहम्‌को अपनेसे अलग, स्पष्टरूपसे कैसे देखें ?

उत्तर—यह विचार करें कि हमें अहम्‌का जो भान होता है कि 'मैं हूँ', यह एक देशमें होता है या सर्वदेशमें ? प्रत्येक व्यक्तिको अलग-अलग अपने अहम्‌का भान होता है; अतः अहम्‌का भान एक देशमें होता है। मैं, तू, यह और वह—इन चारोंका एक-एक देशमें भान होता है। चारोंका भान जिस ज्ञानमें होता है, वह ज्ञान एक देशमें नहीं है। उस ज्ञानमें स्थित होकर देखें तो अहम् स्पष्टरूपसे अपनेसे अलग एक देशमें (इदंतासे) दीखेगा। अगर स्पष्टरूपसे न दीखे तो विवेककी जागृति नहीं हुई है। विवेककी जागृति न होनेका कारण है—विवेकका आदर न करना, उसको महत्त्व न देना। अनादिकालसे हम 'मैंपन' को अपना स्वरूप मानकर देखते आये हैं, इसलिये अपनेसे अलग स्पष्टरूपसे 'मैंपन' दीखनेमें कठिनता होती है। अगर अपने विवेकको महत्त्व दें तो यह स्पष्टरूपसे अपनेसे अलग दीखने लग जायगा। अहम् स्पष्टरूपसे दीखे अथवा अस्पष्टरूपसे दीखे, है तो दीखनेवाला (दृश्य) ही—यह निःसन्देह बात है !

एक कुत्ता घरके आगे बैठा है। दूसरा कुत्ता वहाँ आता है तो उसको देखकर वह गुर्राता है—**'कुत्ता देख कुत्ता गुर्राया, मैं बैठा तू क्यों आया ?'** यह उस कुत्तेका अहङ्कार है। जो अहंकार उस कुत्तेमें है और जो अहंकार हमारेमें है, उसमें कोई फर्क नहीं है। अहङ्कार दोनोंमें वैसा-का-वैसा ही है। अतः जैसे कुत्तेका अहङ्कार इदंतासे दीखता है, ऐसे ही अपनेमें भी इदंतासे अहङ्कार दीखना चाहिये।

जाग्रत् और स्वप्नमें 'मैंपन' दीखता है और सुषुप्तिमें 'मैंपन' नहीं दीखता—इस प्रकार 'मैंपन'का भाव और अभाव दोनों हमारे जाननेमें (देखनेमें) आते हैं। जिसको 'मैंपन'के भाव और अभावका ज्ञान होता है, उस नित्य तथा चिन्मय तत्त्वका कभी अभाव नहीं होता और उसमें 'मैंपन' भी कभी नहीं होता। इस बातकी ओर विशेष लक्ष्य करानेके लिये भगवान् कहते हैं—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
(गीता १३। १)

'हे कौन्तेय ! यह-रूपसे कहे जानेवाले शरीरको क्षेत्र (अपरा प्रकृति) कहते हैं और इस क्षेत्रको जो जानता है, उसको ज्ञानिजन क्षेत्रज्ञ (परा प्रकृति) नामसे कहते हैं।'

—इस श्लोकके पूर्वार्धमें शरीरके लिये **'इदम्'** शब्द और उत्तरार्धमें **'एतत्'** शब्द आया है। व्याकरणकी दृष्टिसे **'इदम्'** और **'एतत्'** में अन्तर है। **'इदम्'** अंगुलिनिर्देशमें प्रयुक्त होता है। **'इदम्'** की अपेक्षा भी ज्यादा नजदीकको 'एतत्' कहते हैं। अतः यहाँ **'इदम्'** शब्द शरीरके लिये और **'एतत्'**शब्द अहम्‌के लिये मानना चाहिये; क्योंकि शरीरमें भी अहम् ज्यादा नजदीक है। इस अहम्‌को भी जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है। इस क्षेत्रज्ञकी परमात्माके साथ अभिन्नता है—**'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत'** (गीता १३। २)।

क्षेत्रका स्वरूप क्या है ? इसे भगवान् बताते हैं—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥
(गीता १३। ५-६)

'मूल प्रकृति, समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व), समष्टि अहंकार, पाँच महाभूत, दस इन्द्रियाँ, मन और इन्द्रियोंके पाँच विषय—यह चौबीस तत्त्वोंवाला क्षेत्र है। इच्छा, द्वेष, सुख,

दुःख, संघात, चेतना (प्राणशक्ति) और धृति—ये क्षेत्रके सात विकार हैं* । इस प्रकार विकारोंसहित यह क्षेत्र संक्षेपसे कहा गया है।'

यहाँ भगवान्ने चौबीस तत्त्वोंवाले शरीरको तथा उसके सात विकारोंको इदंतासे कहा है—**'एतत् क्षेत्रम्'**†। यहाँ विशेष ध्यान देनेकी बात है कि जब अहंकारका कारण 'महत्तत्त्व' और 'मूल प्रकृति'को भी इदंतासे कह दिया, तो फिर अहङ्कारके **'इदम्'** होनेमें कहना ही क्या है ! अहम्से नजदीक महत्तत्त्व है और महत्तत्त्वसे नजदीक प्रकृति है, वह प्रकृति भी **'एतत् क्षेत्रम्'**में है। तात्पर्य है कि अहम् (क्षेत्र) हमारा स्वरूप है ही नहीं। जो मनुष्य स्वयंको और अहम् (प्रकृति) को अलग-अलग जान लेता है, उसका फिर कभी जन्म नहीं होता और वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

(गीता १३ । २३)

'इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य अलग-अलग जानता है, वह सब तरहका (शास्त्र-विहित) बर्ताव करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता।'

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

(गीता १३ । ३४)

'इस प्रकार जो ज्ञानरूपी नेत्रसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अन्तर (विभाग) को तथा कार्य-कारणसहित प्रकृतिसे स्वयंको अलग जानते हैं, वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

प्रश्न—अहम् मेरा स्वरूप नहीं है—इस बातपर दृढ़ कैसे रहा जाय ?

उत्तर—ऐसा प्रश्न तभी उठता है, जब इस बातको अभ्याससाध्य मानें। वास्तवमें यह अभ्याससाध्य नहीं है, प्रत्युत विवेकसाध्य है। विवेकमें दृढ़ता-अदृढ़ता होती ही नहीं, प्रत्युत दृढ़ता ही होती है ! अतः अहम् मेरा स्वरूप नहीं है—इस बातपर न दृढ़ रहना है, न अदृढ़ रहना है । यह बात है ही ऐसी—इस तरह इसको स्वीकार कर लेना, जान लेना है। इससे विचलित नहीं होना है। कारण कि अपने विवेकको महत्त्व देनेसे स्पष्ट दीखता है कि अहम् मेरा स्वरूप नहीं है, प्रत्युत दृश्य है; क्योंकि इसका भान होता है।

स्वरूप जल है, अहम् मिट्टी है और विवेक फिटकरी है। जैसे जलमें मिट्टी मिली हुई हो तो फिटकरी घुमानेसे मिट्टी स्वतः नीचे बैठ जाती है और स्वच्छ जल शेष रह जाता है, ऐसे ही विवेकको महत्त्व देनेसे स्वरूपमें माना हुआ अहम् स्वतः नीचे बैठ जाता है और शुद्ध (निर्विकार) स्वरूप शेष रह जाता है। वास्तवमें अहम् है ही नहीं। अहम् केवल मान्यता (मानी हुई सत्ता) है। जैसा है, वैसा ज्यों-का-त्यों जान लेनेका नाम ही ज्ञान है। है और तरहका, जाने और तरहका—यही अज्ञान है।

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

(महा० उद्योग० ४२ । ३७)

'जो अन्य प्रकारका होते हुए भी आत्माको अन्य प्रकारका मानता है, आत्माका अपहरण करनेवाले उस (आत्मघाती) चोरने कौन-सा पाप नहीं किया ? अर्थात् सब पाप कर लिये।'

जैसा है, वैसा जाननेमें क्या परिश्रम है ? इसमें न कहीं जाना है, न कुछ लाना है, न कुछ करना है। केवल वास्तविक तत्त्वकी ओर लक्ष्य करना है।

—★—

* परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर 'इच्छा' और 'द्वेष' सर्वथा मिट जाते हैं। 'सुख' और 'दुःख' अर्थात् अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिका ज्ञान तो होता है, पर उससे कोई विकार पैदा नहीं होता। प्रारब्धके अनुसार 'संघात' (शरीर) रहता है, पर उससे मैं-मेरापनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अन्तःकरणसे तादात्म्य न रहनेसे 'चेतना' और 'धृति'-रूप विकारोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

† लोग स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंको सबसे नजदीक ('मैं' रूपसे) मानते हैं, इसलिये भगवान्ने मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार आदिको 'एतत्' शब्दके अन्तर्गत लिया है।

तत्त्वज्ञान क्या है ?

(आत्मज्ञान तथा परमात्मज्ञान)

तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें दो मुख्य बाधाएँ हैं—मोह और शास्त्रीय मतभेद। गीतामें आया है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ५२-५३)

'जिस समय तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदलको तर जायगी, उसी समय तू सुने हुए और सुननेमें आनेवाले भोगोंसे वैराग्यको प्राप्त हो जायगा।'

'जिस कालमें शास्त्रीय मतभेदोंसे विचलित हुई तेरी बुद्धि निश्चल हो जायगी और परमात्मामें अचल हो जायगी, उस कालमें तू योगको प्राप्त हो जायगा।'

अज्ञान, अविवेकको 'मोह' कहते हैं। अविवेकका अर्थ विवेकका अभाव नहीं है, प्रत्युत विवेकका अनादर है। अतः विवेकका आदर नहीं करना, उसको महत्त्व नहीं देना, उसकी तरफ खयाल नहीं करना 'अविवेक' है। विवेक स्वतःसिद्ध है। विवेकज्ञान साधन है और तत्त्वज्ञान साध्य है। जैसे साध्यरूप तत्त्वज्ञान स्वतःसिद्ध है, ऐसे ही साधनरूप विवेक-ज्ञान भी स्वतःसिद्ध है।

अज्ञानका चिह्न 'राग' है—**'रागो लिङ्गमबोधस्य चित्त-व्यायामभूमिषु।'** शरीर, धन-सम्पत्ति, परिवार, मान-बड़ाई आदि किसीमें भी राग होना अज्ञानका, मोहका लक्षण है। जितना राग है, उतना ही मोह है, उतना ही अज्ञान है, उतनी ही मूढ़ता है, उतनी ही गलती है, उतनी ही बाधा है। इस रागके ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि अनेक रूप हैं।

दूसरी बाधा है—श्रुतिविप्रतिपत्ति अर्थात् शास्त्रीय मतभेद। कोई कहते हैं कि अद्वैत है, कोई कहते हैं कि द्वैत है, कोई कहते हैं कि विशिष्टाद्वैत है, कोई कहते हैं कि शुद्धाद्वैत है, कोई कहते हैं कि द्वैताद्वैत है, कोई कहते हैं कि अचिन्त्यभेदाभेद है—इस प्रकार अनेक मतभेद हैं। इन मतभेदोंके कारण साधककी बुद्धि भ्रमित हो जाती है और उसके लिये यह निश्चय करना बड़ा कठिन हो जाता है कि कौन-सा मत ठीक है, कौन-सा बेठीक है!

—इस प्रकार मोह और शास्त्रीय मतभेद अर्थात् सांसारिक मोह और शास्त्रीय मोह—दोनोंसे तरनेपर ही तत्त्वज्ञानका, नित्ययोगका अनुभव होता है। केवल अपने कल्याणका उद्देश्य हो और रुपये-पैसे, कुटुम्ब-परिवार आदिसे कोई स्वार्थका सम्बन्ध न हो तो हम मोहरूपी दलदलसे तर गये! पुस्तकोंकी पढ़ाई करनेका, शास्त्रोंकी बातें सीखनेका उद्देश्य न हो, प्रत्युत केवल तत्त्वको समझनेका उद्देश्य हो तो हम श्रुति विप्रतिपत्तिसे तर गये! तात्पर्य है कि हमें न तो मोहकी मुख्यता रखनी है और न शास्त्रीय मतभेदकी मुख्यता रखनी है। किसी मत, सम्प्रदायका भी कोई आग्रह नहीं रखना है *। इतना हो जाय तो हम योगके, तत्त्वज्ञानके अधिकारी हो गये! इससे अधिक किसी अधिकार-विशेषकी जरूरत नहीं है। अब इस बातपर विचार करना है कि तत्त्वज्ञान क्या है?

तत्त्वज्ञान सबसे सरल है, सबसे सुगम है और सबके प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। तात्पर्य है कि इसको करनेमें, समझनेमें और पानेमें कोई कठिनता है ही नहीं। इसमें करना, समझना और पाना लागू होता ही नहीं। कारण कि यह नित्यप्राप्त है और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सदा ज्यों-का-त्यों मौजूद है। तत्त्वज्ञान जितना प्रत्यक्ष है, उतना प्रत्यक्ष यह संसार कभी नहीं है। तात्पर्य है कि हमारे अनुभवमें तत्त्वज्ञान जितना स्पष्ट आता है, उतना स्पष्ट संसार नहीं आता। इस बातको इस प्रकार समझना चाहिये। जीव अनेक योनियोंमें जाता है। वह कभी मनुष्य बनता है, कभी पशु-पक्षी बनता है, कभी देवता बनता है, कभी राक्षस बनता है, कभी असुर बनता है, कभी भूत-प्रेत-पिशाच बनता है तो शरीर वही नहीं रहता, पर जीव स्वयं सत्तारूपसे वही रहता है। स्वभाव वही नहीं रहा, आदत वही नहीं रही, भाषा वही नहीं रही, व्यवहार वही नहीं रहा, लोक (स्थान) वही नहीं रहा, समय वही नहीं रहा; सब कुछ बदल गया, पर स्वयंकी सत्ता नहीं बदली। अगर सत्ता वही नहीं रहेगी तो तरह-तरहके नाम तथा रूप कौन धारण करेगा? इसलिये गीतामें आया है—

---

* नारायण अरु नगरके, रज्जब राह अनेक। भावे आवो किधर से, आगे अस्थल एक॥
पहुँचे पहुँचे एक मत, अनपहुँचे मत और। संतदास घड़ी अरठ की, ढुरे एक ही ठौर॥
जब लगि काची खीचड़ी, तब लगि खदबद होय। संतदास सीज्यां पछे, खदबद करै न कोय॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
(८।१९)

'वही यह प्राणिसमुदाय उत्पन्न हो-होकर लीन होता है।'

जो उत्पन्न हो-होकर लीन होता है, वह शरीर है और जो वही रहता है, वह जीवका असली स्वरूप अर्थात् चिन्मय सत्ता (होनापन) है। यह 'आत्मज्ञान'का वर्णन हुआ। अब 'परमात्मज्ञान'का वर्णन किया जाता है। सृष्टिमात्रमें 'है'के समान कोई सार चीज है ही नहीं। लोक-परलोक, चौदह भुवन, सात द्वीप, नौ खण्ड आदि जो कुछ है, उसमें सत्ता ('है') एक ही है। यह सब संसार प्रतिक्षण बदलता है, इतनी तेजीसे बदलता है कि इसको दो बार नहीं देख सकते। जैसे, नया मकान कई वर्षोंके बाद पुराना हो जाता है तो वह प्रतिक्षण बदलता है, तभी पुराना होता है। इस प्रतिक्षण बदलनेको ही भूत-भविष्य-वर्तमान, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय, सत्य-त्रेता-द्वापर-कलियुग आदि नामोंसे कहते हैं। प्रतिक्षण बदलनेपर भी यह हमें 'है'-रूपसे इसलिये दीखता है कि हमने इस बदलनेवालेके ऊपर 'है' (परमात्मतत्त्व) का आरोप कर लिया कि 'यह है'। वास्तवमें यह है नहीं, प्रत्युत 'है' में ही यह सब है। यह तो निरन्तर बदलता है, पर 'है' ज्यों-का-त्यों रहता है। 'है' जितना प्रत्यक्ष है, उतना यह संसार प्रत्यक्ष नहीं है। जो निरन्तर बदलता है, वह प्रत्यक्ष कहाँ है? 'है' इतना प्रत्यक्ष है कि यह कभी बदला नहीं, कभी बदलेगा नहीं, कभी बदल सकता नहीं, बदलनेकी कभी सम्भावना ही नहीं। इसलिये गीतामें आया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
(२।१६)

'असत्‌का भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है।'

तात्पर्य है कि जो निरन्तर बदलता है, उसका भाव कभी नहीं हो सकता और जो कभी नहीं बदलता, उसका अभाव कभी नहीं हो सकता। 'नहीं' कभी 'है' नहीं हो सकता और 'है' कभी 'नहीं' नहीं हो सकता। असत् कभी विद्यमान नहीं है और 'है' सदा विद्यमान है। जिसका अभाव है, उसीका त्याग करना है और जिसका भाव है, उसीको प्राप्त करना है—इसके सिवाय और क्या बात हो सकती है! 'है' को स्वीकार करना है और 'नहीं'को अस्वीकार करना है—यही वेदान्त है, वेदोंका खास निष्कर्ष है।

जो सत्ता ('है') है, वह 'सत्' है, उसका जो ज्ञान है, वह 'चित्' (चेतन) है तथा उसमें जो दुःख, सन्ताप, विक्षेपका अत्यन्त अभाव है, वह 'आनन्द' है। सत्‌के साथ ज्ञान और ज्ञानके साथ आनन्द स्वतः भरा हुआ है। ज्ञानके बिना सत् जड है और सत्‌के बिना ज्ञान शून्य है। किसी भी बातका ज्ञान होते ही एक प्रसन्नता होती है—यह ज्ञानके साथ आनन्द है। परमात्मतत्त्व सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। वह सच्चिदानन्द परमात्मतत्त्व 'है'-रूपसे सब जगह ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है।

साधकको 'सत्' और 'चित्' (चेतन) की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये। सत्‌का स्वरूप है—सत्तामात्र और चित्‌का स्वरूप है—ज्ञानमात्र। उत्पत्तिका आधार होनेसे यह 'सत्ता' (सत्) है तथा प्रतीतिका प्रकाशक होनेसे यह 'ज्ञान' (चित्) है। यह सत्ता और ज्ञान ही 'चिन्मय सत्ता' है, जो कि हमारा स्वरूप है। जैसे, सुषुप्तिमें अनुभव होता है कि 'मैं बड़े सुखसे सोया अर्थात् मैं तो था ही'—यह 'सत्ता' है और 'मुझे कुछ भी पता नहीं था'—यह 'ज्ञान' है। तात्पर्य है कि सुषुप्तिमें अपनी सत्ता तथा अहम्‌के अभावका (मुझे कुछ भी पता नहीं था—इसका) ज्ञान रहता है। जैसे, आँखसे सब वस्तुएँ दीखती हैं, पर आँखसे आँख नहीं दीखती; अतः यह कह सकते हैं कि जिससे सब वस्तुएँ दीखती हैं, वही आँख है। ऐसे ही जिसको अहम्‌के भाव और अभावका ज्ञान होता है, वही चिन्मय सत्ता (स्वरूप) है। उस चिन्मय सत्ताके अभावका ज्ञान कभी किसीको नहीं होता। चित् ही बुद्धिमें ज्ञान-रूपसे आता है और भौतिक जगत्‌में (नेत्रोंके सामने) प्रकाश-रूपसे आता है। बुद्धिमें जानना और न जानना रहता है तथा नेत्रोंके सामने प्रकाश और अँधेरा रहता है। जैसे सम्पूर्ण संसारकी स्थिति एक सत्ताके अन्तर्गत है, ऐसे ही सम्पूर्ण पढ़ना, सुनना, सीखना, समझना आदि एक ज्ञानके अन्तर्गत है। ये सत् और चित् सबके प्रत्यक्ष हैं, किसीसे भी छिपे हुए नहीं हैं। इनके सिवाय जो असत् है, वह ठहरता नहीं है और जो जड़ है, वह टिकता नहीं है। सत् और चित्‌का अभाव कभी विद्यमान नहीं है एवं असत् और जडका भाव कभी विद्यमान नहीं है। सत् और चित् सबसे पहले भी हैं, सबसे बादमें भी हैं और अभी भी ज्यों-के-त्यों हैं।

जिनकी मान्यतामें कालकी सत्ता है, उनके लिये यह कहा जाता है कि परमात्मतत्त्व भूतमें भी है, भविष्यमें भी है और वर्तमानमें भी है। वास्तवमें न तो भूत है, न भविष्य है और न वर्तमान ही है, प्रत्युत एक परमात्मतत्त्व ही है। वह परमात्मतत्त्व कालका भी महाकाल है, कालका भी भक्षण करनेवाला है—

(१) ब्रह्म अगनि तन बीचमें, मथकर काढ़े कोय।
उलट कालको खात है, हरिया गुरुगम होय॥

(२) **नवग्रह चौसठ जोगिणी, बावन बीर प्रजंत।**
काल भक्ष सबको करै, हरि शरणै डरपंत॥

(करुणासागर ६४)

काल उसीको खाता है, जो पैदा हुआ है। जो पैदा ही नहीं हुआ, उसको काल कैसे खाये ? ऐसा वह परमात्मतत्त्व जीवमात्रको नित्यप्राप्त है। उस सर्वसमर्थ परमात्मतत्त्वमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वह कभी किसीसे अलग हो जाय, कभी किसीको अप्राप्त हो जाय। वह नित्य-निरन्तर सबमें ज्यों-का-त्यों विद्यमान है, नित्यप्राप्त है। यह 'परमात्मज्ञान' है।

आत्मज्ञान और परमात्मज्ञान एक ही है। कारण कि चिन्मय सत्ता एक ही है, पर जीवकी उपाधिसे अलग-अलग दीखती है। भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५। ७)

'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा सदासे मेरा ही अंश है।'

प्रकृतिके अंश 'अहम्'को पकड़नेके कारण ही यह जीव अंश कहलाता है। अगर यह अहम्को न पकड़े तो एक सत्ता-ही-सत्ता है। सत्ता (होनेपन) के सिवाय सब कल्पना है। वह चिन्मय सत्ता सब कल्पनाओंका आधार है, अधिष्ठान है, प्रकाशक है, आश्रय है, जीवनदाता है। उस सत्तामें एकदेशीयपना नहीं है। वह चिन्मय सत्ता सर्वव्यापक है। सम्पूर्ण सृष्टि (क्रियाएँ और पदार्थ) उस सत्ताके अन्तर्गत है। सृष्टि तो उत्पन्न और नष्ट होती रहती है, पर सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। गीतामें आया है—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥

(१३। ३२)

'जैसे सब जगह व्याप्त आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे कहीं भी लिप्त नहीं होता, ऐसे ही सब जगह परिपूर्ण आत्मा किसी भी देहमें लिप्त नहीं होता।'

तात्पर्य है कि चिन्मय सत्ता केवल शरीर आदिमें स्थित नहीं है, प्रत्युत आकाशकी तरह सम्पूर्ण शरीरोंके, सृष्टिमात्रके बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है। वह सर्वव्यापी सत्ता ही हमारा स्वरूप है और वही परमात्मतत्त्व है। तात्पर्य है कि सर्वदेशीय सत्ता एक ही है। साधकका लक्ष्य निरन्तर उस सत्ताकी ओर ही रहना चाहिये।

प्रश्न—सत्तामें एकदेशीयता दीखनेमें क्या कारण है ?

उत्तर—सत्ताको बुद्धिका विषय बनानेसे अथवा मन, बुद्धि और अहम्के संस्कार रहनेसे ही सत्तामें एकदेशीयता दीखती है। वास्तविक सत्ता मन-बुद्धि-अहम्के अधीन नहीं है, प्रत्युत उनको प्रकाशित करनेवाला तथा उनसे अतीत है। सत्तामात्रमें न मन है, न बुद्धि है, न अहम् है।

प्रश्न—यह एकदेशीयता कैसे मिटे ?

उत्तर—एकदेशीयता मिट जाय—यह आग्रह भी छोड़कर सत्तामात्रमें स्थित (चुप) हो जाय। चुप होनेसे मन-बुद्धि-अहम्के संस्कार स्वतः मिट जायँगे। जैसे समुद्रमें बर्फके ढेले तैर रहे हों तो उनको गलानेके लिये कुछ करनेकी जरूरत ही नहीं है, वे तो स्वतः गल जायँगे। ऐसे ही सत्तामात्रमें शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम् आदिकी प्रतीति हो रही है तो उनको न हटाना है, न रखना है। चुप अर्थात् निर्विकल्प होनेसे वे स्वतः गल जायँगे*।

सत्तामात्रको देखें तो वह कभी बद्ध हुआ ही नहीं, प्रत्युत सदा ही मुक्त है। अगर वह बद्ध होगा तो कभी मुक्त नहीं हो सकता और मुक्त है तो कभी बद्ध नहीं हो सकता। बन्धनका भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और मुक्तिका अभाव विद्यमान नहीं है। बन्धनकी केवल मान्यता है। वह मान्यता छोड़ दें तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है।

मानवमात्र तत्त्वज्ञानका अधिकारी है; क्योंकि सत्तामें सब मनुष्य एक हो जाते हैं। क्रूर-से-क्रूर भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस आदिमें भी वही सत्ता है और सौम्य-से-सौम्य सन्त, महात्मा, तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी आदिमें भी वही सत्ता है। वह सत्ता परमात्मसत्तासे सदा अभिन्न है। केवल उस सत्ताके सम्मुख होना है। इसमें क्या अभ्यास है ? क्या परिश्रम है ? क्या कठिनता है ? क्या दुर्लभता है ? क्या परोक्षता है ? सत्तामें न मल है, न विक्षेप है, न आवरण है। अभ्यास तो दृढ़ और अदृढ़ दो तरहका होता है, पर सत्ता दो तरहकी होती ही नहीं। सत्ता और उसका ज्ञान होता है तो सदा दृढ़ ही होता है, अदृढ़ होता ही नहीं।

अनुकूल-से-अनुकूल परिस्थितिमें भी वही सत्ता है,

* एक निर्विकल्प अवस्था होती है और एक निर्विकल्प बोध होता है। निर्विकल्प अवस्था करण-सापेक्ष होती है और निर्विकल्प बोध करण-निरपेक्ष होता है। तात्पर्य है कि निर्विकल्प अवस्था मन-बुद्धिकी होती है और निर्विकल्प बोध मन-बुद्धिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर स्वयंसे होता है। निर्विकल्प अवस्थामें निर्विकल्पता अखण्डरूपसे नहीं रहती, प्रत्युत उससे व्युत्थान होता है। परन्तु निर्विकल्प बोधमें निर्विकल्पता अखण्डरूपसे रहती है और उससे कभी व्युत्थान नहीं होता। निर्विकल्प अवस्थासे भी असंग होनेपर स्वतःसिद्ध निर्विकल्प बोधका अनुभव हो जाता है।

प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितिमें भी वही सत्ता है। जीवनमें भी वही सत्ता है, मौतमें भी वही सत्ता है। अमृतमें भी वही सत्ता है, जहरमें भी वही सत्ता है। स्वर्गमें भी वही सत्ता है, नरकमें भी वही सत्ता है। रोगमें भी वही सत्ता है, नीरोगमें भी वही सत्ता है। विद्यामें भी वही सत्ता है, अविद्यामें भी वही सत्ता है। ज्ञानीमें भी वही सत्ता है, मूढ़में भी वही सत्ता है। मित्रमें भी वही सत्ता है, शत्रुमें भी वही सत्ता है। धनीमें भी वही सत्ता है, निर्धनमें भी वही सत्ता है। बलवान्‌में भी वही सत्ता है, निर्बलमें भी वही सत्ता है। चिन्मय सत्ता तो वही (एक ही) है। अगर हम उस सत्तामें ही रहें तो सत्ताके सिवाय ये अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि कुछ है ही नहीं। जैसे, छोटा बालक माँकी गोदीमें ही रहता है, गोदीसे नीचे उतरते ही रोने लग जाता है, ऐसे ही हम उस सत्तामें ही रहें, सत्तासे नीचे उतरें ही नहीं, कभी उतर जायँ तो व्याकुल हो जायँ! चाहे अनुकूलता आ जाय, चाहे प्रतिकूलता आ जाय; चाहे जन्म हो जाय, चाहे मृत्यु हो जाय; चाहे नीरोगता आ जाय, चाहे बीमारी आ जाय; चाहे संयोग हो जाय, चाहे वियोग हो जाय; चाहे सम्पत्ति आ जाय, चाहे विपत्ति आ जाय; चाहे मुनाफा हो जाय, चाहे घाटा लग जाय; चाहे करोड़पति हो जाय, चाहे कँगला हो जाय; चिन्मय सत्तामें क्या फर्क पड़ता है? सत्तामें कुछ होता है ही नहीं। उसमें न कुछ हुआ है, न कुछ हो रहा है, न कुछ होगा और न कुछ हो सकता ही है। कुछ भी होगा तो वह टिकेगा नहीं और सत्ता मिटेगी नहीं। उस सत्तामें हमारी स्थिति स्वतः है।

'है' में हमारी स्थिति स्वतः है और 'नहीं'में हमने स्थिति मानी है। मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ; मैं बालक हूँ, मैं जवान हूँ, मैं बूढ़ा हूँ; मैं बलवान् हूँ, मैं निर्बल हूँ; मैं विद्वान् हूँ, मैं मूर्ख हूँ—यह सब मानी हुई स्थिति है। वास्तवमें हमारी स्थिति निरन्तर 'है'में है। उस 'है'के सिवाय किसीकी भी सत्ता नहीं है। उस 'है'के समान विद्यमान कोई हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। वह सदा ज्यों-का-त्यों मौजूद है। वह सभीके प्रत्यक्ष है, किसीसे बिलकुल भी छिपा हुआ नहीं है। यही ब्रह्मज्ञान है, तत्त्वज्ञान है। जो 'है' (चिन्मय सत्ता) में स्थित है, वही तत्त्वज्ञानी है, जीवन्मुक्त है, महात्मा है। गीतामें आया है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

(१३।२७)

'जो नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्माको नाशरहित और समरूपसे स्थित देखता है ('नहीं' को न देखकर केवल 'है'को देखता है), वही वास्तवमें सही देखता है।'

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥

(१३।२८)

'क्योंकि सब जगह समरूपसे स्थित ईश्वरको समरूपसे देखनेवाला मनुष्य अपने-आपसे अपनी हिंसा नहीं करता, इसलिये वह परमगतिको प्राप्त हो जाता है।'

तत्त्वज्ञानका सहज उपाय

हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है और उसमें अहम् नहीं है—यह बात यदि समझमें आ जाय तो इसी क्षण जीवन्मुक्ति है! इसमें समय लगनेकी बात नहीं है। समय तो उसमें लगता है, जो अभी नहीं है और जिसका निर्माण करना है। जो अभी है, उसका निर्माण नहीं करना है, प्रत्युत उसकी तरफ दृष्टि डालनी है, उसको स्वीकार करना है; जैसे—

संकर सहज सरूपु सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥

(मानस, बाल० ५८।४)

दो अक्षर हैं—'मैं हूँ'। इसमें 'मैं' प्रकृतिका अंश है और 'हूँ' परमात्माका अंश है। 'मैं' जड है और 'हूँ' चेतन है। 'मैं' आधेय है और 'हूँ' आधार है। 'मैं' प्रकाश्य है और 'हूँ' प्रकाशक है। 'मैं' परिवर्तनशील है और 'हूँ' अपरिवर्तनशील है। 'मैं' अनित्य है और 'हूँ' नित्य है। 'मैं' विकारी है और 'हूँ' निर्विकार है। 'मैं' और 'हूँ' को मिला लिया—यही चिज्जडग्रन्थि (जड-चेतनकी ग्रन्थि) है, यही बन्धन है, यही अज्ञान है। 'मैं' और 'हूँ' को अलग-अलग अनुभव करना ही मुक्ति है, तत्त्वबोध है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि 'मैं' को साथ मिलानेसे ही 'हूँ' कहा जाता है। अगर 'मैं' को साथ न मिलायें तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' ही रहेगा। वह 'है' ही अपना स्वरूप है।

एक ही व्यक्ति अपने बापके सामने कहता है कि 'मैं बेटा हूँ', बेटेके सामने कहता है कि 'मैं बाप हूँ', दादाके सामने कहता है कि 'मैं पोता हूँ,' पोताके सामने कहता है कि 'मैं दादा हूँ', बहनके सामने कहता है कि 'मैं भाई हूँ', पत्नीके सामने कहता है कि 'मैं पति हूँ', भानजेके सामने कहता है कि 'मैं मामा हूँ', मामाके सामने कहता है कि 'मैं भानजा हूँ' आदि-आदि। तात्पर्य है कि बेटा, बाप, पोता, दादा, भाई, पति, मामा, भानजा आदि तो अलग-अलग हैं, पर 'हूँ' सबमें

एक है। 'मैं' तो बदला है, पर 'हूँ' नहीं बदला। वह 'मैं' बापके सामने बेटा हो जाता है, बेटेके सामने बाप हो जाता है अर्थात् वह जिसके सामने जाता है, वैसा ही हो जाता है। अगर उससे पूछें कि 'तू कौन है' तो उसको खुदका पता नहीं है! यदि 'मैं' की खोज करें तो 'मैं' मिलेगा ही नहीं, प्रत्युत सत्ता मिलेगी। कारण कि वास्तवमें सत्ता 'है' की ही है, 'मैं' की सत्ता है ही नहीं।

बेटेकी अपेक्षा बाप है, बापकी अपेक्षा बेटा है—इस प्रकार बेटा, बाप, पोता, दादा आदि नाम अपेक्षासे (सापेक्ष) हैं; अतः ये स्वयंके नाम नहीं हैं। स्वयंका नाम तो निरपेक्ष 'है' है। वह 'है' 'मैं'को जाननेवाला है। 'मैं' जाननेवाला नहीं है और जो जाननेवाला है, वह 'मैं' नहीं है। 'मैं' ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला) है और 'है' ज्ञाता (जाननेवाला) है। 'मैं' एकदेशीय है और उसको जाननेवाला 'है' सर्वदेशीय है। 'मैं'से सम्बन्ध मानें या न मानें, 'मैं' की सत्ता नहीं है। सत्ता 'है' की ही है। परिवर्तन 'मैं' में होता है, 'है' में नहीं। 'हूँ' भी वास्तवमें 'है' का ही अंश है। 'मैं'-पनको पकड़नेसे ही वह अंश है। अगर मैं-पनको न पकड़ें तो वह अंश ('हूँ') नहीं है, प्रत्युत 'है' (सत्तामात्र है) 'मैं' अहंता है और 'मेरा बाप, मेरा बेटा' आदि ममता है। अहंता-ममतासे रहित होते ही मुक्ति है—

निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

(गीता २।७१)

यही 'ब्राह्मी स्थिति' है*। इस ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त होनेपर अर्थात् 'है' में स्थितिका अनुभव होनेपर शरीरका कोई मालिक नहीं रहता अर्थात् शरीरको मैं-मेरा कहनेवाला कोई नहीं रहता।

मनुष्य है, पशु है, पक्षी है, ईंट है, चूना है, पत्थर है—इस प्रकार वस्तुओंमें तो फर्क है, पर 'है' में कोई फर्क नहीं है। ऐसे ही मैं मनुष्य हूँ, मैं देवता हूँ, मैं पशु हूँ, मैं पक्षी हूँ—इस प्रकार मनुष्य आदि योनियाँ तो बदली हैं, पर स्वयं नहीं बदला है। अनेक शरीरोंमें, अनेक अवस्थाओंमें चिन्मय सत्ता एक है। बालक, जवान और वृद्ध—ये तीनों अलग-अलग हैं, पर इन तीनों अवस्थाओंमें सत्ता एक है। कुमारी, विवाहिता और विधवा—ये तीनों अलग-अलग हैं, पर इन तीनोंमें सत्ता एक है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि—ये पाँचों अवस्थाएँ अलग-अलग हैं, पर इन पाँचोंमें सत्ता एक है। अवस्थाएँ बदलती हैं, पर उनको जाननेवाला नहीं बदलता। ऐसे ही मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध—इन पाँचों वृत्तियोंमें फर्क पड़ता है, पर इनको जाननेवालेमें कोई फर्क नहीं पड़ता। यदि जाननेवाला भी बदल जाय तो इन पाँचोंकी गणना कौन करेगा? एक मार्मिक बात है कि सबके परिवर्तनका ज्ञान होता है, पर स्वयंके परिवर्तनका ज्ञान कभी किसीको नहीं होता। सबका इदंतासे भान होता है, पर अपने स्वरूपका इदंतासे भान कभी किसीको नहीं होता। सबके अभावका ज्ञान होता है, पर अपने अभावका ज्ञान कभी किसीको नहीं होता। तात्पर्य है कि 'है' (सत्तामात्र) में हमारी स्थिति स्वतः है, करनी नहीं है। भूल यह होती है कि हम 'संसार है'—इस प्रकार 'नहीं'में 'है'का आरोप कर लेते हैं। 'नहीं' में 'है' का आरोप करनेसे ही 'नहीं' (संसार) की सत्ता दीखती है और 'है' की तरफ दृष्टि नहीं जाती। वास्तवमें 'है में संसार'—इस प्रकार 'नहीं'में 'है' का अनुभव करना चाहिये। 'नहीं'में 'है'का अनुभव करनेसे 'नहीं' नहीं रहेगा और 'है' रह जायगा।

भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २।१६)

'असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है अर्थात् असत्‌का अभाव ही विद्यमान है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् सत्‌का भाव ही विद्यमान है।'

एक ही देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदिमें अपनी जो परिच्छिन्न सत्ता दीखती है, वह अहम् (व्यक्तित्व, एकदेशीयता) को लेकर ही दीखती है। जबतक अहम् रहता है, तभीतक मनुष्य अपनेको एक देश, काल आदिमें देखता है। अहम्‌के मिटनेपर एक देश, काल आदिमें परिच्छिन्न सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत अपरिच्छिन्न सत्तामात्र रहती है।

वास्तवमें अहम् है नहीं, प्रत्युत केवल उसकी मान्यता है। सांसारिक पदार्थोंकी जैसी सत्ता प्रतीत होती है, वैसी सत्ता भी अहम्‌की नहीं है। सांसारिक पदार्थ तो उत्पत्ति-विनाशवाले हैं, पर अहम् उत्पत्ति-विनाशवाला भी नहीं है। इसलिये तत्त्वबोध होनेपर शरीरादि पदार्थ तो रहते हैं, पर अहम् मिट

---

* एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति। स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ (गीता २।७२)

'हे पार्थ! यह ब्राह्मी स्थिति है। इसको प्राप्त होकर कभी कोई मोहित नहीं होता। इस स्थितिमें यदि अन्तकालमें भी स्थित हो जाय तो निर्वाण (शान्त) ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।'

जाता है। अतः तत्त्वबोध होनेपर ज्ञानी नहीं रहता, प्रत्युत ज्ञानमात्र रहता है। इसलिये आजतक कोई ज्ञानी हुआ नहीं, ज्ञानी है नहीं, ज्ञानी होगा नहीं और ज्ञानी होना सम्भव ही नहीं। अहम् ज्ञानीमें होता है, ज्ञानमें नहीं। अतः ज्ञानी नहीं है, प्रत्युत ज्ञानमात्र है, सत्तामात्र है। उस ज्ञानका कोई ज्ञाता नहीं है, कोई धर्मी नहीं है, कोई मालिक नहीं है। कारण कि वह ज्ञान स्वयंप्रकाश है; अतः स्वयंसे ही स्वयंका ज्ञान होता है। वास्तवमें ज्ञान होता नहीं है, प्रत्युत अज्ञान मिटता है। अज्ञानके मिटनेको ही तत्त्वज्ञानका होना कह देते हैं।

एक प्रकाश्य (संसार) है और एक प्रकाशक (परमात्मा) है अथवा एक 'यह' है और एक उसका आधार, प्रकाशक, अधिष्ठान 'सत्ता' है। अहम् न तो प्रकाश्य ('यह') में है और न प्रकाशक (सत्ता) में ही है, प्रत्युत केवल माना हुआ है। जिसमें संसार ('यह') की इच्छा भी है और परमात्मा (सत्ता) की इच्छा भी है, उसका नाम 'अहम्' है और वही 'जीव' है। तात्पर्य है कि जडके सम्बन्धसे संसारकी इच्छा अर्थात् 'भोगेच्छा' है और चेतनके सम्बन्धसे परमात्माकी इच्छा अर्थात् 'जिज्ञासा' है। अतः अहम् (जड-चेतनकी ग्रन्थि) में जड-अंशकी प्रधानतासे हम संसारको चाहते हैं और चेतन-अंशकी प्रधानतासे हम परमात्माको चाहते हैं*। माने हुए अहम्का नाश होनेपर भोगेच्छा मिट जाती है और जिज्ञासा पूरी हो जाती है अर्थात् तत्त्व रह जाता है। वास्तवमें परमात्माकी इच्छा भी संसारकी इच्छाके कारण ही है। संसारकी इच्छा न हो तो तत्त्वज्ञान स्वतःसिद्ध है।

साधनकी ऊँची अवस्थामें 'मेरेको तत्त्वज्ञान हो जाय, मैं मुक्त हो जाऊँ'—यह इच्छा भी बाधक होती है। जबतक अन्तःकरणमें असत्‌की सत्ता दृढ़ रहती है, तबतक तो जिज्ञासा सहायक होती है, पर असत्‌की सत्ता शिथिल होनेपर जिज्ञासा भी तत्त्वज्ञानमें बाधक होती है। कारण कि जैसे प्यास जलसे दूरी सिद्ध करती है, ऐसे ही जिज्ञासा तत्त्वसे दूरी सिद्ध करती है, जब कि तत्त्व वास्तवमें दूर नहीं है, प्रत्युत नित्यप्राप्त है। दूसरी बात, तत्त्वज्ञानकी इच्छासे व्यक्तित्व (अहम्) दृढ़ होता है, जो तत्त्वज्ञानमें बाधक है। वास्तवमें तत्त्वज्ञान, मुक्ति स्वतःसिद्ध है। तत्त्वज्ञानकी इच्छा करके हम अज्ञानको सत्ता देते हैं, अपनेमें अज्ञानकी मान्यता करते हैं, जब कि वास्तवमें अज्ञानकी सत्ता है नहीं। इसलिये तत्त्वज्ञान होनेपर फिर मोह नहीं होता—'**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्**' (गीता ४। ३५); क्योंकि वास्तवमें मोह है ही नहीं। मिटता वही है, जो नहीं होता और मिलता वही है, जो होता है।

साधकको स्वतःस्वाभाविक एकमात्र 'है' (सत्ता) का अनुभव हो जाय—इसीका नाम जीवन्मुक्ति है, तत्त्वबोध है। कारण कि अन्तमें सबका निषेध होनेपर एक 'है' ही शेष रह जाता है। वह 'है' अपेक्षावाले 'नहीं' और 'है'—दोनोंसे रहित है अर्थात् उस सत्तामें 'नहीं' भी नहीं है और 'है' भी नहीं है। वह सत्ता ज्ञानस्वरूप है, चिन्मयमात्र है। वह सत्ता नित्य जाग्रत् रहती है। सुषुप्तिमें अहंसहित सब करण लीन हो जाते हैं, पर अपनी सत्ता लीन नहीं होती—यह सत्ताकी नित्यजागृति है। वह सत्ता कभी पुरानी नहीं होती, प्रत्युत नित्य नयी ही बनी रहती है; क्योंकि उसमें काल नहीं है। उस सत्तामात्रका ज्ञान होना ही तत्त्वज्ञान है और सत्तामें कुछ भी मिलाना अज्ञान है।

★

* मैं सदा जीता रहूँ, कभी मरूँ नहीं—यह 'सत्'की इच्छा है; मैं सब कुछ जान लूँ, कभी अज्ञानी न रहूँ—यह 'चित्'की इच्छा है और मैं सदा सुखी रहूँ, कभी दुःखी न होऊँ—यह 'आनन्द'की इच्छा है। इस प्रकार सत्-चित्-आनन्दस्वरूप परमात्माकी इच्छा जीवमात्रमें रहती है। परन्तु जड़से सम्बन्ध माननेके कारण उससे भूल यह होती है कि वह इन इच्छाओंको नाशवान् संसारसे ही पूरी करना चाहता है; जैसे—वह शरीरको लेकर जीना चाहता है, बुद्धिको लेकर जानकार बनना चाहता है और इन्द्रियोंको लेकर सुखी होना चाहता है।

सबसे सुगम परमात्मप्राप्ति

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके समान सुगम और जल्दी सिद्ध होनेवाला कार्य कोई है नहीं, था नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं ! परिश्रम और देरी तो उस वस्तुकी प्राप्तिमें लगती है, जो है नहीं, प्रत्युत बनायी जाय। जो स्वतः स्वाभाविक विद्यमान है, उसकी प्राप्तिमें परिश्रम और देरी कैसी ? जैसे, गङ्गाजीको पृथ्वीपर लानेमें बहुत जोर पड़ा और अनेक पीढ़ियाँ खतम हो गयीं, पर अब 'गङ्गाजी हैं'—ऐसा जाननेमें क्या जोर पड़ता है ? क्या देरी लगती है ? परंतु स्वयंकी भूख, लगन न हो तो यह सुगमता किस कामकी ? अगर स्वयंकी लगन हो तो सब-के-सब मनुष्य सुगमतापूर्वक और तत्काल जीवन्मुक्त हो सकते हैं !

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति, जीवन्मुक्ति सबसे सुगम कैसे है— इस विषयको समझनेकी चेष्टा करें। प्रत्येक मनुष्यका यह अनुभव है कि 'मैं हूँ'। बचपनसे लेकर आजतक शरीर सर्वथा बदल गया, पर मैं वही हूँ और आगे वृद्धावस्थामें शरीर बदलनेपर भी मैं वही रहूँगा। शरीर बदलेगा, पर मैं नहीं

बदलूँगा। तात्पर्य है कि शरीरमें परिवर्तन होनेपर भी सत्तामें परिवर्तन नहीं होता। हम शरीरको छोड़कर दूसरी योनियोंमें भी जायँगे, तो भी सत्ता नहीं बदलेगी अर्थात् हम वही रहेंगे। अगर हम देवता बन जायँ तो भी हम वही रहेंगे, मनुष्य बन जायँ तो भी हम वही रहेंगे, पशु-पक्षी बन जायँ तो भी हम वही रहेंगे, वृक्ष-लता बन जायँ तो भी हम वही रहेंगे, भूत-प्रेत-पिशाच बन जायँ तो भी हम वही रहेंगे। स्थावर-जंगम किसी भी योनिमें जायँ, स्वयंकी सत्ता निरन्तर ज्यों-की-त्यों रहती है।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंमें हम वही रहते हैं। सुषुप्तिसे उठनेपर हम कहते हैं कि मैं ऐसे सुखसे सोया कि मेरेको कुछ भी पता नहीं था। परंतु 'मेरेको कुछ पता नहीं था'—इसका पता तो था ही। अतः सुषुप्तिमें भी हमारी सत्ता सिद्ध होती है। सुषुप्तिकी तरह ही प्रलय-महाप्रलय होते हैं। प्रलय-महाप्रलयमें भी सब जीवोंकी सत्ता रहती है। जैसे सुषुप्तिसे जाग्रत्में आते हैं, ऐसे ही जीव प्रलय-महाप्रलयसे सर्ग-महासर्गमें आते हैं। तात्पर्य है कि महासर्ग और महाप्रलयमें, सर्ग और प्रलयमें, जन्म और मृत्युमें स्वयंकी सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। वह चिन्मय सत्ता (होनापन) ही हमारा स्वरूप है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहम् हमारा स्वरूप नहीं है; क्योंकि ये सब दृश्य हैं।

शरीर बदलता है, मन बदलता है, बुद्धि बदलती है, भाव बदलते हैं, सिद्धान्त बदलते हैं, मान्यता बदलती है, देश बदलता है, काल बदलता है, वस्तु बदलती है, व्यक्ति बदलता है, अवस्था बदलती है, परिस्थिति बदलती है, घटना बदलती है, सब कुछ बदलता है, पर सत्ता नहीं बदलती। सबका संयोग और वियोग होता है, पर सत्ताका संयोग और वियोग नहीं होता। जो बदलता है और जिसका संयोग-वियोग होता है, वह हमारा स्वरूप नहीं है। जो कभी नहीं बदलता और जिसका कभी वियोग नहीं होता, वही हमारा स्वरूप है। मनुष्यका ढाँचा (बनावट) और तरहका है तथा कुत्तेका ढाँचा और तरहका है, पर सत्ता दोनोंमें एक ही है। वह सत्ता न तो स्त्री है, न पुरुष है, न देवता है, न पशु-पक्षी है, न भूत-प्रेत है। ऐसे ही सत्ता न ज्ञानी है, न अज्ञानी है; न मूर्ख है, न विद्वान् है; न निर्बल है, न बलवान् है; न साधु है, न गृहस्थ है; न ब्राह्मण है, न शूद्र है; न हल्की है, न भारी है; न छोटी है, न बड़ी है; न सूक्ष्म है, न स्थूल है। चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष हो, चाहे देवता हो, चाहे पशु हो, चाहे भूत-प्रेत हो, चाहे ज्ञानी हो, चाहे अज्ञानी हो, चाहे कसाई हो, चाहे सन्त-महात्मा हो, चाहे तत्त्वज्ञानी हो, चाहे भगवत्प्रेमी हो, सत्ता सबमें एक ही है। वह चिन्मय सत्ता न बदलती है, न मिटती है, न आती है, न जाती है। वह सत्ता हमारा स्वरूप है; बस, इतनी ही बात है। इससे अतिरिक्त कोई बात नहीं है। शास्त्रमें, वेदमें, वेदान्तमें इससे बढ़िया बात क्या आती है? ब्रह्मकी बात कहें तो वह भी सत्ता ही है। हमारेसे गलती यही होती है कि उस सत्ताके साथ कुछ-न-कुछ मिला लेते हैं। अगर कुछ न मिलायें तो जीवन्मुक्त ही हैं! कुछ भी मिलायेंगे तो बँध जायँगे। मैं स्त्री हूँ तो बँध गये, मैं पुरुष हूँ तो बँध गये, मैं बालक हूँ तो बँध गये, मैं जवान हूँ तो बँध गये, मैं बूढ़ा हूँ तो बँध गये, मैं रोगी हूँ तो बँध गये, मैं नीरोग हूँ तो बँध गये, मैं समझदार हूँ तो बँध गये, मैं बेसमझ हूँ तो बँध गये! चिन्मय सत्ताके साथ कुछ भी मिलाना बन्धन है और कुछ भी न मिलाना मुक्ति है। चिन्मय सत्ताके सिवाय हमारा और कोई स्वरूप है ही नहीं। यही तत्त्वज्ञान है। इसीको ब्रह्मज्ञान कहते हैं। कोई भले ही षट्शास्त्र पढ़ ले, अठारह पुराण पढ़ ले, अठारह उपपुराण पढ़ ले, चार वेद पढ़ ले, हजारों वर्षोंतक पढ़ाई कर ले, पर इससे बढ़कर कोई बात मिलेगी नहीं। इससे बढ़कर कोई बात है ही नहीं, मिले कहाँसे? इसलिये सन्तोंने कहा है—

बावर बेद बिदुष बावरियो, पोथी पुस्तक फंदा।
भोला नर मांही उलझाना, उलट न देखे अंधा॥

प्रश्न—जीवात्माकी सत्ता और परमात्माकी सत्ता—दोनों एक हैं या अलग-अलग?

उत्तर—सत्ता एक ही है; परंतु सत्तामें अहम् ('मैं') को मिलानेसे सत्तामें भेद दीखने लग गया। कारण कि अहम्से परिच्छिन्नता पैदा होती है और परिच्छिन्नतासे सम्पूर्ण भेद पैदा होते हैं। वास्तविक सत्ता अहंरहित होनेसे अपरिच्छिन्न है। उस सत्तामें सबकी स्वतः-स्वाभाविक स्थिति है; परंतु अहम्की स्वीकृतिके कारण उसका अनुभव नहीं हो रहा है।

अहम्को जीवित न रखना साधकका खास काम है। 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह भाव अहम्को जीवित रखता है। कारण कि 'मैं' ब्रह्म नहीं है और ब्रह्ममें 'मैं' नहीं है। 'मैं' में 'हूँ'को मिलाना और 'हूँ'को 'मैं' में मिलाना 'चिज्जडग्रन्थि' है। यह 'मैं' अर्थात् अहम् केवल माना हुआ है, वास्तवमें है नहीं। इसलिये इसको जहाँ भी लगायें, वहीं प्रवेश कर जाता है। जडमें प्रवेश करके कहता है कि 'मैं शरीर हूँ', 'मैं धनवान् हूँ' आदि तथा चेतनमें प्रवेश करके कहता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', 'मैं शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हूँ' आदि। परंतु दोनोंमें अहम् वही-का-वही है।

'मैं ब्रह्म हूँ'—यह अनात्मा (असत्, जड, उत्पत्ति-

विनाशशील)का तादात्म्य है। कारण कि अनात्माके तादात्म्यके बिना, अनात्माकी सहायताके बिना केवल आत्मतत्त्वसे परमात्माका चिन्तन, ध्यान, समाधि आदि हो ही नहीं सकते। चिन्तन, ध्यान आदि करेंगे तो अनात्माकी पराधीनता स्वीकार करनी ही पड़ेगी, अनात्माका आदर करना ही पड़ेगा। जिसकी सहायता लेंगे, उसका त्याग भी कैसे होगा और अनात्माका त्याग किये बिना आत्मतत्त्वका अनुभव भी कैसे होगा? आत्मतत्त्वका अनुभव तो अनात्मासे असंग होनेपर ही होगा।

जिसकी प्रतीति होती है, वह दृश्य (शरीर) भी हमारा स्वरूप नहीं है और जिसका भान होता है, वह अहम् भी हमारा स्वरूप नहीं है। अहम्‌को साथमें रखते हुए साधन करेंगे तो नयी अवस्थाकी प्राप्ति तो हो सकती है, पर अवस्थातीत तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अवस्थातीत तत्त्वकी प्राप्ति अहम्‌का अभाव होनेपर ही होती है। अहम्‌के रहते हुए यह अभिमान तो हो सकता है कि 'मेरेको बोध हो गया, मैं ज्ञानी हो गया, मैं जीवन्मुक्त हो गया', पर वास्तविक बोध, तत्त्वज्ञान, जीवन्मुक्ति अहम्‌का अभाव होनेपर ही होती है। तात्पर्य है कि सत्तामात्रका ज्ञान सत्ताको ही होता है, 'मेरेको' नहीं होता। सत्ता तो ज्ञानस्वरूप ही है और उस ज्ञानका ज्ञाता कोई नहीं है; क्योंकि जब ज्ञेयकी सत्ता ही नहीं, तो फिर ज्ञाता संज्ञा कैसे?

जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थामें अहम्‌का भाव दीखता है और सुषुप्ति-अवस्थामें अहम्‌का अभाव दीखता है। अहम्‌का भाव और अभाव—दोनोंको चेतन-तत्त्व प्रकाशित करता है। जो भाव और अभावको प्रकाशित करता है, वह 'सत्' है तथा जिसका भाव और अभाव होता है, वह 'असत्' है। जैसे नेत्र प्रकाश और अंधकार—दोनोंको प्रकाशित करता है, ऐसे ही विवेक अहम्‌के भाव और अभाव—दोनोंको प्रकाशित करता है। अहम्‌का भाव मिटकर अभाव रह जाय, जडता मिटकर चेतन रह जाय तो विवेक बोधमें परिणत हो जाता है।

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति भी सुगम है और अहम्‌की निवृत्ति भी सुगम है। कारण कि परमात्मतत्त्वकी नित्यप्राप्ति है और अहम्‌की नित्यनिवृत्ति है। अहम्‌को मिटानेका प्रयत्न करनेसे अहम्‌का विवेचन तो होता है, पर अहम् मिटता नहीं। परंतु सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मसत्ताका अनुभव होनेसे अहम् मिट जाता है। इसलिये गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

'मया ततमिदं सर्वम्' (९।४)

'यह सब संसार मेरेसे व्याप्त है।'

तात्पर्य है कि संसारमें सत्ता ('है') रूपसे एक सम, शान्त, सद्‌घन, चिद्‌घन, आनन्दघन परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है*। जिसका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है, उस संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। अज्ञानके कारण संसारमें जो सत्ता प्रतीत हो रही है, वह भी परमात्मतत्त्वकी सत्ताके कारण ही है—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस १।११७।४)

भगवान् कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११।१३।२४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार कर लें।'

तात्पर्य है कि चिन्मय सत्तारूपसे केवल परमात्मतत्त्व ही ग्रहणमें आ रहा है। कारण कि ग्रहण सत्ताका ही होता है। जिसकी सत्ता ही नहीं, उसका ग्रहण कैसे होगा?

जब सबमें एक अविभक्त सत्ता ('है') ही परिपूर्ण है, तो फिर उसमें मैं, तू, यह और वह—ये चार विभाग कैसे हो सकते हैं? अहंता और ममता कैसे हो सकती है? राग-द्वेष कैसे हो सकते हैं? जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसको मिटानेका अभ्यास भी कैसे हो सकता है?

भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २।१६)

'असत्‌का भाव विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है।'

तात्पर्य है कि असत्‌की नित्यनिवृत्ति है और सत्‌की नित्यप्राप्ति है। नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति और नित्यप्राप्तकी प्राप्तिमें क्या कठिनता और क्या सुगमता? क्या करना और क्या न करना? क्या पाना और क्या खोना?

खोया कहे सो बावरा, पाया कहे सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर॥

सर्वत्र परिपूर्ण चिन्मय सत्तामें न देश है, न काल है, न

---

* भगवान्‌ने गीतामें जीवात्माके लिये भी 'येन सर्वमिदं ततम्' (२।१७) कहा है और परमात्माके लिये भी 'येन सर्वमिदं ततम्' (८।२२;१८।४६) कहा है। तात्पर्य है कि जीवात्मा और परमात्मा—दोनोंकी सर्वत्र परिपूर्ण सत्ता एक ही है।

वस्तु है, न व्यक्ति है, न अवस्था है, न परिस्थिति है, न घटना है। उस सत्तामें न आना है, न जाना है; न जीना है, न मरना है; न लेना है, न देना है; न करना है, न नहीं करना है; न समाधि है, न व्युत्थान है; न बन्धन है, न मोक्ष है; न भोगेच्छा है, न मुमुक्षुता है; न बोलना है, न सुनना है; न पढ़ना है, न लिखना है; न प्रश्न है, न उत्तर है। उसमें न कोई लाभ है, न हानि है; न कोई बड़ा है, न छोटा है; न कुछ बढ़िया है, न घटिया है—

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।

(श्रीमद्भा० ११।२८।४)

'जब द्वैत नामकी कोई वस्तु ही नहीं है, तो फिर उसमें क्या अच्छा और क्या बुरा?'

अच्छा-बुरा, ठीक-बेठीक, विधि-निषेध—यह सब मनुष्यलोककी मर्यादा है। मर्यादापर ठीक चलना मनुष्यका कर्तव्य है। मर्यादापर ठीक चलनेसे विवेकका आदर होता है और विवेकके आदरसे वह विवेक बोधमें परिणत हो जाता है। बोध होनेपर कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता अर्थात् मनुष्य कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य हो जाता है।

आजतक देव, राक्षस, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि अनेक योनियोंमें जो भी कर्म किये हैं और उनका फल भोगा है, उनमेंसे कोई भी कर्म और फलभोग सत्तातक नहीं पहुँचा! आकाशमें कभी सूर्यका प्रकाश फैल जाता है, कभी अँधेरा छा जाता है, कभी धुआँ छा जाता है, कभी काले-काले बादल छा जाते हैं, कभी बिजली चमकती है, कभी वर्षा होती है, कभी ओले गिरते हैं, कभी तरह-तरहके शब्द होते हैं, गर्जना होती है; परंतु आकाशमें कोई फर्क नहीं पड़ता। वह ज्यों-का-त्यों निर्लिप्त-निर्विकार रहता है। ऐसे ही सर्वत्र परिपूर्ण सत्तामें कभी महासर्ग और महाप्रलय होता है, कभी सर्ग और प्रलय होता है, कभी जन्म और मृत्यु होती है, कभी अकाल पड़ता है, कभी बाढ़ आती है, कभी भूचाल आता है, कभी घमासान युद्ध होता है; परंतु सत्तामें कोई फर्क नहीं पड़ता। कितनी ही उथल-पुथल हो जाय, पर सत्ता ज्यों-की-त्यों निर्लिप्त-निर्विकार रहती है। इसलिये गीतामें आया है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

(१३।२७)

'जो नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्माको नाशरहित और समरूपसे स्थित देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है।'

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥

(१३।२९)

'जो सम्पूर्ण क्रियाओंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही की जाती हुई देखता है और अपने-आपको अकर्ता देखता अर्थात् अनुभव करता है, वही वास्तवमें सही देखता है।'

इस प्रकार सत्तामात्रमें स्थितिका अनुभव करके चुप हो जाना चाहिये। चुप होनेके लिये साधक तीन बातोंपर विचार करे—

(१) 'मैं' और 'मेरा' कुछ नहीं है; क्योंकि स्वरूप सत्तामात्र है और सत्तामात्रके सिवाय दूसरा कुछ नहीं है, फिर मैं और मेरा कौन हुआ?

(२) मेरेको कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि सत्तामें किञ्चिन्मात्र भी कोई कमी नहीं है, फिर वस्तुकी इच्छा कैसे की जाय?

(३) अपने लिये कुछ नहीं करना है; क्योंकि जिन करणोंसे कर्म होते हैं, वे करण भी प्रकृतिमें हैं और जो कर्म करनेवाला है, वह अहङ्कार (कर्तापन) भी प्रकृतिमें है। अतः स्वरूपमें करनेकी योग्यता भी नहीं है और करनेका दायित्व भी नहीं है।

इस प्रकार विचार करके चुप हो जाय, सब ओरसे विमुख होकर सत्तामात्रमें स्थिर हो जाय। यह 'चुप साधन' है। न तो स्थूलशरीरकी क्रिया हो, न सूक्ष्मशरीरका चिन्तन हो और न कारणशरीरकी सुषुप्ति हो, तब चुप साधन होता है। इसमें कोई क्रिया नहीं है, प्रत्युत जिससे क्रिया प्रकाशित होती है, उस अक्रिय तत्त्वमें स्वतःसिद्ध स्थिति है। इसमें वृत्तिको लगाना या हटाना भी नहीं है, प्रत्युत जिस ज्ञानके अन्तर्गत वृत्ति दीखती है, उस ज्ञानमें स्वतःसिद्ध स्थिति है। यह चुप साधन समाधिसे भी ऊँची चीज है; क्योंकि इसमें बुद्धि और अहम्से सम्बन्ध-विच्छेद है। इसलिये समाधिमें तो लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद—ये चार दोष (विघ्न) रहते हैं, पर चुप साधनमें ये दोष नहीं रहते।

चिन्मय सत्तामात्र अक्रिय है और उसमें अनन्त सामर्थ्य है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, लययोग, हठयोग आदि जितने भी योग हैं, वे सब इस अक्रिय तत्त्वसे ही प्रकट होते हैं। यह अक्रिय तत्त्व सम्पूर्ण साधनोंकी भूमि है अर्थात् सभी साधन इसीसे प्रकट होते हैं और इसीमें लीन होते हैं। चुप साधनसे अक्रिय तत्त्व (सत्तामात्र) में अपनी स्वतःस्वाभाविक तथा सहज स्थितिका अनुभव हो जाता है अर्थात् अहम् मिट जाता है और सम, शान्त, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन

परमात्मतत्त्व शेष रह जाता है—

ढूँढ़ा सब जहाँ में, पाया पता तेरा नहीं।
जब पता तेरा लगा तो अब पता मेरा नहीं॥

संतोंने इस अवस्थातीत सहजावस्थाका वर्णन इस प्रकार किया है—

अपन पौ आपहि में पायो।
शब्द-हि-शब्द भयो उजियारा, सतगुरु भेद बतायो॥
जैसे सुन्दरी सुत लै सूती, स्वप्ने गयो हिराई।
जाग परी पलंग पर पायो, न कछु गयो न आई॥
जैसे कुँवरी कंठ मणि हीरा, आभूषण बिसरायो।
संग सखी मिलि भेद बतायो, जीव को भरम मिटायो॥
जैसे मृग नाभी कस्तूरी, ढूँढत बन बन धायो।
नासा स्वाद भयो जब वाके, उलटि निरन्तर आयो॥
कहा कहूँ वा सुख की महिमा, ज्यों गूंगे गुड़ खायो।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, ज्यों-का-त्यों ठहरायो॥

तात्पर्य है कि जो साधक अपनेमें 'मैं हूँ'—इस प्रकार परिच्छिन्न (एकदेशीय) सत्ताका अनुभव करता था, वही 'मैं' (अहम्) के मिटनेपर अपरिच्छिन्न सत्ताका अनुभव कर लेता है अर्थात् 'हूँ' में ही 'है' को पा लेता है। फिर 'हूँ' नहीं रहता, प्रत्युत एकमात्र 'है' ही रहता है।

राग-द्वेष, हर्ष-शोक, कर्तृत्व-भोक्तृत्व, जडता, परिच्छिन्नता आदि सब विकार अहम्में रहते हैं। उस अहम्को साधकने अपनेमें स्वीकार किया है, इसलिये अहम्को मिटानेके लिये अपनेमें परमात्मतत्त्वको स्वीकार करना अर्थात् 'हूँ' में 'है' को स्वीकार करना आवश्यक है।

एक मार्मिक बात है कि 'हूँ' में 'है' को मिलानेकी अपेक्षा 'हूँ' को 'है'में मिलाना बढ़िया है। 'मैं' भगवान्का ही हूँ, अन्य किसीका नहीं हूँ—इस प्रकार अपने-आपको भगवान्के अर्पित कर देना, भगवान्की शरणमें चले जाना ही 'हूँ'को 'है' में मिलाना है। 'हूँ' में 'है' को मिलानेसे सूक्ष्म परिच्छिन्नता रह सकती है; क्योंकि 'हूँ' में अनादिकालसे परिच्छिन्नताके संस्कार पड़े हुए हैं, जो कि 'है' में नहीं हैं। इसलिये 'हूँ' को 'है' के अर्पित करनेसे परिच्छिन्नताका, अहम्का सुगमतापूर्वक सर्वथा अभाव हो जाता है।

चाहे 'हूँ' को 'है' में मिलायें, चाहे 'है' में 'हूँ' को मिलायें, दोनोंका परिणाम एक ही होगा अर्थात् 'हूँ' नहीं रहेगा, 'है' रह जायगा। जैसे— कर्मयोगी कर्ममें अकर्मको तथा अकर्ममें कर्मको देखता है—**'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः'** (गीता ४। १८); अतः परिणाममें कर्म नहीं रहता, अकर्म रह जाता है। ज्ञानयोगी सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्माको तथा आत्मामें सम्पूर्ण प्राणियोंको देखता है— **'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'** (गीता ६। २९); अतः परिणाममें प्राणी नहीं रहते, आत्मा रह जाती है। भक्तियोगी सबमें भगवान्को और भगवान्में सबको देखता है—**'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'** (गीता ६। ३०); अतः परिणाममें सब नहीं रहते, भगवान् रह जाते हैं। अकर्म, आत्मा और भगवान्—तीनों तत्त्वसे एक ही हैं।

═══ ★ ═══

असत्‌का त्याग तथा सत्‌का खोज

जिसको हम असत् जानते हैं, उसका त्याग करनेसे स्वतःसिद्ध तत्त्वका अनुभव हो जाता है। वास्तवमें असत्‌की सत्ता विद्यमान है ही नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**'। असत्‌का अत्यन्त अभाव है। मैं, तू, यह और वह—इन चारोंकी सत्ता ही नहीं है। जो कुछ भी देखने, सुनने, मानने, चिन्तन करनेमें आता है, वह वास्तवमें है ही नहीं। इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और अहंकार—ये तीनों ही नहीं हैं।

हम जानते हैं कि संसार निरन्तर बदलता है। यह जैसा पहले था, वैसा अब नहीं है और जैसा अब है, वैसा आगे नहीं रहेगा। परंतु ऐसा जानते हुए भी हम संसारकी सत्ता मानते हैं—यह जाने हुए असत्‌की सत्ताको स्वीकार करना है। जाने हुए असत्‌की सत्ताको स्वीकार करना तथा उसको महत्त्व देना ही बन्धनका मूल कारण है।

मनुष्यमात्रमें असत्‌का त्याग करनेकी सामर्थ्य भी है और स्वतन्त्रता भी! असत्‌का त्याग करनेमें कोई भी असमर्थ और पराधीन नहीं है। अब विचार इस बातपर करना है कि असत्‌को असत्-रूपसे जानते हुए भी उसका आकर्षण क्यों हो रहा है? उसका त्याग क्यों नहीं हो रहा है?

जब हम अपनेमें असत्‌की सत्ता स्वीकार कर लेते हैं और सत्ता स्वीकार करके उसको महत्ता दे देते हैं, तब असत्‌का आकर्षण होता है। संयोगजन्य सुखकी इच्छा करना ही अपनेमें असत्‌की सत्ता और महत्ताको स्वीकार करना है। हम विचारके समय तो संसारको असत् मानते हैं, पर अन्य समय असत्‌के संगका सुख भोगते हैं, इसीलिये (सुखासक्तिके कारण) असत्‌का त्याग करनेमें कठिनता मालूम दे रही है।

संयोगजन्य सुखके पहले उसके अभावका दुःख है, अन्तमें उसके वियोगका दुःख है तथा बीचमें भी उसका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है—यह ज्ञान होनेपर सुखकी इच्छा

मिट जाती है। कारण कि अभाव ही शेष रहता है और अभावमें सुख हो नहीं सकता। गीतामें आया है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(५।२२)

'हे कुन्तीनन्दन ! जो इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे पैदा होनेवाले भोग हैं, वे आदि-अन्तवाले और दुःखके ही कारण हैं। अतः विवेकी मनुष्य उनमें रमण नहीं करता।'

विवेकका अनादर करनेके कारण मनुष्य आरम्भको देखता है, परिणामको नहीं। सुखभोगके परिणाममें दुःख आयेगा ही—यह नियम है। कारण कि सुखभोगके परिणाममें अपनी शक्तिका ह्रास और भोग्य वस्तुका नाश होता ही है—यह नियम है। यदि मनुष्य सुखभोगके परिणामपर विचार करे, उसके परिणामको महत्त्व दे तो सुखभोगकी रुचि मिट जायगी; क्योंकि दुःख और अभावको कोई भी नहीं चाहता। दुःख और अभाव स्वाभाविक अरुचिकर होता है। इसलिये गीता कहती है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

(१८।३८)

'जो सुख इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे आरम्भमें अमृतकी तरह और परिणाममें विषकी तरह होता है, वह सुख राजस कहा गया है*।'

तात्पर्य है कि आरम्भमें भोग्य-पदार्थ बड़े अच्छे लगते हैं और उनमें बड़ा सुख मालूम देता है। परंतु उनको भोगते-भोगते जब परिणाममें वह सुख नीरसतामें परिणत हो जाता है और उससे सर्वथा अरुचि हो जाती है, तब वही सुख विषकी तरह मालूम देता है। वास्तवमें सुखकी रुचि बनावटी है और अरुचि स्वाभाविक है।

केवल दूसरोंको सुख देनेका स्वभाव बन जाय तो सुखासक्ति सुगमतापूर्वक मिट जाती है। कारण कि असत्‌से सुख लेनेके कारण ही अपनेमें असत्‌के त्यागकी असामर्थ्य तथा असत्‌की पराधीनता प्रतीत होती है। इसलिये साधकको यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि मेरेको असत्‌से सुख लेना ही नहीं है।

एक मार्मिक बात है कि ढीली प्रकृतिवाला अर्थात् शिथिल स्वभाववाला मनुष्य असत्‌का जल्दी त्याग नहीं कर सकता। एक विचार किया और उसको छोड़ दिया। फिर दूसरा विचार किया और उसको छोड़ दिया—इस प्रकार बार-बार विचार करने और उसको छोड़ते रहनेसे आदत बिगड़ जाती है। इस बिगड़ी हुई आदतके कारण ही वह असत्‌के त्यागकी बातें तो सीख जाता है, पर असत्‌का त्याग नहीं कर पाता। अगर असत्‌का त्याग कर भी देता है तो स्वभावकी ढिलाईसे फिर उसको सत्ता दे देता है। स्वभावकी यह शिथिलता स्वयं साधककी बनायी हुई है। अतः साधकके लिये यह बहुत आवश्यक है कि वह अपना स्वभाव दृढ़ रहनेका बना ले। एक बार वह जो विचार कर ले, फिर उसपर वह दृढ़ रहे—**'भजन्ते मां दृढव्रताः'** (गीता ७।२८)। छोटी-सी-छोटी बातमें भी वह दृढ़ (पक्का) रहे तो उसमें असत्‌का त्याग करनेकी शक्ति आ जायगी।

साधकमें एक तो असत्‌की रुचि (भोगेच्छा) है और एक सत्‌की भूख (जिज्ञासा) है। यह सिद्धान्त है कि असत्‌की रुचि असत्‌में नहीं होती और सत्‌की भूख सत्‌में नहीं होती। जिसमें असत्‌की रुचि और सत्‌की भूख है, वह जीव है। रुचि 'कामना' है और भूख 'आवश्यकता' है। कामना कभी पूरी नहीं होती, प्रत्युत उसकी निवृत्ति ही होती है। परंतु आवश्यकता पूरी होनेवाली ही होती है। मनुष्यमें केवल कामना तो नहीं रह सकती, पर केवल आवश्यकता रह सकती है। केवल आवश्यकता रहते ही उसकी पूर्ति हो जाती है। जैसे जबतक लकड़ी रहती है, तबतक आग रहती है। लकड़ी समाप्त होते ही आग शान्त हो जाती है। ऐसे ही जबतक कामना (भोगेच्छा) है, तबतक आवश्यकता (जिज्ञासा) है। कामनाके कारण ही आवश्यकता है। इसलिये कामना मिटते ही आवश्यकता पूरी हो जाती है। अतः साधकको चाहिये कि वह आवश्यकतामें कामनाको मिला दे अर्थात् उसके जीवनमें कामना न रहे, प्रत्युत एक आवश्यकता ही रहे। असत्‌की रुचि न रहे, प्रत्युत सत्‌की ही रुचि रहे और सत्‌की ही भूख रहे। सत्‌की भूख ही जिज्ञासा कहलाती है। जिज्ञासा और जिज्ञास्य-तत्त्वमें कोई भेद नहीं है। परंतु जबतक जिज्ञासु रहता है अर्थात् अहम् रहता है, तबतक जिज्ञासा और जिज्ञास्य-तत्त्वकी एकता स्पष्ट नहीं होती। अहम्‌के मिटनेपर जिज्ञासु नहीं रहता, प्रत्युत जिज्ञासामात्र रह जाती है। जिज्ञासामात्र रहते ही जिज्ञासा जिज्ञास्य-तत्त्वसे एक हो जाती है अर्थात् आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है।

* रजोगुण रागरूप ही होता है—'रजो रागात्मकं विद्धि' (गीता १४।७) और उसका फल दुःख ही होता है—'रजसस्तु फलं दुःखम्' (गीता १४।१६)।

असत् नित्यनिवृत्त है, इसलिये उसका त्याग होता है और सत् नित्यप्राप्त है, इसलिये उसकी खोज होती है। निर्माण और खोज—दोनोंमें बहुत अन्तर है। निर्माण उस वस्तुका होता है, जिसका पहलेसे अभाव होता है और खोज उस वस्तुकी होती है, जो पहलेसे ही विद्यमान होती है। सत्का अभाव विद्यमान है ही नहीं—**'नाभावो विद्यते सतः'**; अतः सत्की खोज होती है, निर्माण नहीं होता। जब साधक सत्की सत्ताको स्वीकार करता है, तब खोज होती है। खोजके दो प्रकार हैं—एक तो कण्ठी कहीं रखकर भूल जायँ तो हम उसको जगह-जगह ढूँढ़ते हैं और दूसरा, कण्ठी गलेमें ही हो तथा वहम हो जाय कि कण्ठी खो गयी तो हम उसको जगह-जगह ढूँढ़ते हैं। परमात्मतत्त्वकी खोज गलेमें पड़ी कण्ठीकी खोजके समान है। तात्पर्य है कि जिस परमात्मतत्त्वको हम चाहते हैं और जिसकी हम खोज करते हैं, वह परमात्मतत्त्व अपनेमें ही है! परंतु संसार अपनेमें नहीं है। जो अपनेमें है, उसकी खोज करनेसे परिणाममें वह मिल जाता है। परंतु जो अपनेमें नहीं है, उसकी खोज करनेसे परिणाममें वह मिलता नहीं; क्योंकि उसकी सत्ता ही नहीं है।

परमात्मतत्त्व कभी अप्राप्त है ही नहीं। उसकी विस्मृति हुई है, अप्राप्ति नहीं हुई है। यह विस्मृति अनादि और सान्त (अन्त होनेवाली) है। जैसे दो व्यक्ति आपसमें एक-दूसरेको पहचानते नहीं तो यह अपरिचय कबसे है—इसको कोई बता नहीं सकता। हम संस्कृत भाषा नहीं जानते तो यह न जानना कबसे है—इसको हम बता नहीं सकते। तात्पर्य है कि व्यक्तियोंकी सत्ता, हमारी सत्ता, संस्कृत भाषाकी सत्ता तो पहलेसे ही है, पर उनका परिचय पहलेसे नहीं है। ऐसे ही विस्मृतिके समय भी परमात्मतत्त्वकी सत्ता ज्यों-की-त्यों है। परमात्मतत्त्व तो नित्यप्राप्त है, पर उसकी विस्मृति है अर्थात् उधर दृष्टि नहीं है, उससे विमुखता है, उससे अपरिचय है, उसकी अप्राप्तिका वहम है। परमात्मतत्त्वकी खोज करनेपर यह विस्मृति मिट जाती है और स्मृति प्राप्त हो जाती है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (गीता १८।७३)।

परमात्मतत्त्वकी खोजमें अभ्यास नहीं है। अभ्यास करनेसे हम तत्त्वसे अलग हो जाते हैं। ज्यों अभ्यास करते हैं, त्यों तत्त्वसे अलग होते हैं। इसलिये कहा है—

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥

(मानस ७।११६।६)

अगर साधकको अभ्यास करना ही हो तो इतना ही अभ्यास करे कि 'मुझे कुछ नहीं करना है!' हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है। सत्तामात्रमें कभी किञ्चिन्मात्र भी कोई कमी नहीं आती। कारण कि भावका अभाव हो ही कैसे सकता है! इसलिये अपने लिये कभी किञ्चिन्मात्र भी किसी चीजकी जरूरत हुई नहीं, है नहीं, होगी नहीं और हो सकती नहीं। अतः अपने लिये अपनेको कुछ नहीं करना है। करने तथा न करनेका आग्रह होनेसे अहंकार आता है और करने तथा न करनेका आग्रह न होनेसे अहंकार छूट जाता है। असत्के संगके बिना स्वरूप कुछ कर सकता ही नहीं; क्योंकि स्वरूपमें कर्तृत्व है ही नहीं। समाधिमें भी असत्का संग रहता है, जिसके कारण समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। परंतु कुछ न करनेमें असत्का संग नहीं है। पहले भी कुछ नहीं था, पीछे भी कुछ नहीं रहेगा; अतः अभी भी कुछ नहीं है—**'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा'** (माण्डूक्यकारिका ४।३१)। कुछ नहीं रहना निरन्तर है। घोर-से-घोर प्रवृत्तिमें भी निवृत्ति निरन्तर है। इस निवृत्तिको अर्थात् कुछ नहीं करनेको ही 'परम विश्राम' कहा गया है—**'पायो परम बिश्रामु'** (मानस ७।१३०।छं० ३)। श्रमका तो आदि और अन्त होता है, पर विश्रामका आदि और अन्त नहीं होता। विश्राम निरन्तर रहता है। श्रमके समय भी विश्राम ज्यों-का-त्यों रहता है। परंतु हमारी दृष्टि श्रमपर ही रहती है, विश्रामकी तरफ नहीं जाती। असत्का सर्वथा त्याग होनेपर नित्यप्राप्त विश्रामकी प्राप्ति हो जाती है।

वास्तवमें असत्के त्यागमें ही सत्की खोज निहित है। ज्ञान भी असत्का ही होता है, सत्का नहीं। असत्को असत्-रूपसे जानना ही ज्ञान है। ज्ञानसे असत्की निवृत्ति हो जाती है और सत् ज्यों-का-त्यों शेष रह जाता है; क्योंकि सत् नित्यप्राप्त है। असत्की मानी हुई सत्ता और महत्ता ही नित्यप्राप्त सत्के अनुभवमें बाधक है। अतः सत्की प्राप्ति तो स्वतःसिद्ध है, कमी असत्के त्यागकी ही है। सत्की प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत असत्की निवृत्ति होती है। असत्की सत्ता कल्पित है, उसका कोई मूल आधार नहीं है। अतः असत्का त्याग स्वतः है, सुगम है और श्रेष्ठ है! इसमें एक मार्मिक बात है कि वास्तवमें असत्का त्याग नहीं करना है, प्रत्युत असत्के अभावका अनुभव करना है—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २।१६) 'असत्की सत्ता विद्यमान नहीं है।' कारण कि त्याग करनेसे अहम् (त्यागी) शेष रहेगा, जब कि अभावको स्वीकार करनेसे अहम् शेष नहीं रहेगा। जबतक अहंरूपी अणु है, तबतक असत्का संग है। असत्का वास्तविक त्याग अहंरूपी अणुके टूटनेपर ही होता है।

स्वरूपमें अहम् नहीं है। अहंरहित स्वरूपका बोध ही वास्तविक बोध है। अहंरहित स्वरूपका बोध होनेके लिये दो

युक्तियाँ बहुत कामकी हैं—

(१) सुषुप्तिमें अहम् नहीं रहता, पर स्वरूप रहता है। अतः सभीको सुषुप्तिके समय अहम्के अभावका और स्वयंके भावका अनुभव होता है, जिसका स्पष्ट बोध जगनेपर होता है। जैसे, जगनेके बाद हम कहते हैं कि 'मैं ऐसे सुखसे सोया कि कुछ पता नहीं था'; परंतु 'कुछ पता नहीं था'—इसका तो पता था ही। अतः 'कुछ पता नहीं था'—यह अहम्का अभाव है और इसका ज्ञान जिसको है, वह अहंरहित स्वरूप है।

(२) जीव अनेक योनियोंमें जाता है तो योनियाँ बदलती हैं, शरीर बदलते हैं, पर स्वयं वही रहता है। अलग-अलग योनियोंमें अहम् भी अलग-अलग रहता है, पर स्वयंकी सत्ता सभी योनियोंमें एक ही रहती है।

'मैं हूँ'—यह अहंसहित सत्ता है और 'है'—यह अहंरहित सत्ता है। साधकको चाहिये कि वह 'मैं हूँ' को न देखकर 'है' में ही रहे। 'मैं' (अहम्) तो 'तू', 'यह' और 'वह' हो जाता है, पर 'है' सदा 'है' ही रहता है। तात्पर्य है कि 'मैं' तो बदलता है, पर 'है' नित्य ज्यों-का-त्यों रहता है। परंतु जबतक 'मैं' रहता है, तबतक 'है'का अनुभव नहीं होता, प्रत्युत 'हूँ'का ही अनुभव होता है। 'हूँ' में 'मैं' (असत्)का अंश भी है और 'है' (सत्) का अंश भी है। परंतु 'मैं' की मुख्यता रहनेके कारण 'है' गौण हो जाता है। तात्पर्य है कि 'मैं'का संस्कार मुख्य होनेसे अन्तःकरणमें 'मैं' ही छाया रहता है, जिससे 'है'का अनुभव नहीं होता। इतना ही नहीं, 'मैं'की मुख्यता होनेसे 'है' भी 'मैं'के आश्रित दीखता है, जो कि वास्तवमें है नहीं। जब साधक यह अनुभव कर लेता है कि 'मैं' एकदेशीय, दृश्य (दीखनेवाला) और ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला) है, तब आकाशमें तारेकी तरह 'मैं' अल्प हो जाता है अर्थात् 'मैं'की मुख्यता मिट जाती है। मुख्यता मिटनेपर 'मैं' गौण हो जाता है और 'है' मुख्य हो जाता है। 'है' की मुख्यता होनेपर 'मैं'की कृत्रिम सत्ता लुप्त हो जाती है; क्योंकि जो अल्प होता है, वह मर्त्य होता है—**'यदल्पं तन्मर्त्यम्'** (छान्दोग्य० ७। २४। १)। 'मैं' के मिटनेपर 'हूँ' 'है'में परिणत हो जाता है, जो कि पहलेसे ही है—

तेरा साहिब है घट मांही, बाहर नैना क्यों खोले।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, साहिब पाया तृण-ओले॥

'मैं' ही तृण है, जिसकी ओटमें 'है' छिपा हुआ है! इस प्रकार अहंरहित स्वरूपके साक्षात्कारको ही उपनिषद्में कहा है—

आत्मानं चेद् विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः।

(बृहदा० ४। ४। १२)

इस अहंरहित चिन्मय सत्तामें न देश है, न काल है, न वस्तु है' न क्रिया है, न व्यक्ति है, न घटना है, न परिस्थिति है, न अवस्था है। न जड है, न चेतन है, न स्थावर है, न जंगम है, न लोक है, न परलोक है, कुछ नहीं है, केवल चिन्मय सत्तामात्र है। इस चिन्मय सत्तामें सबकी स्वतःस्वाभाविक स्थिति है। सत्तामें स्वतःस्वाभाविक स्थितिको ही परम विश्राम, सहज समाधि, सहजावस्था* आदि नामोंसे कहा गया है। सहजावस्था स्वतःसिद्ध है। उसमें न प्रयत्न है, न अप्रयत्न है; न करना है, न नहीं करना है; न संयोग है, न वियोग है; न भाव है, न अभाव है; न स्थिरता है, न चञ्चलता है; न आना है, न जाना है। यह सहजावस्था कभी बनती-बिगड़ती नहीं। चाहे महाप्रलय हो जाय, चाहे महासर्ग हो जाय, चाहे करोड़ों ब्रह्माजी बीत जायँ, पर सहजावस्था ज्यों-की-त्यों रहती है—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

(गीता १४। २)

'इस ज्ञानका आश्रय लेकर जो मनुष्य मेरी सधर्मताको प्राप्त हो गये हैं, वे महासर्गमें भी उत्पन्न नहीं होते और महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होते।'

भगवान्ने बहुत ही मार्मिक बात कही है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

'असत्की सत्ता विद्यमान नहीं है अर्थात् असत् नित्य-निरन्तर निवृत्त है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् सत् नित्य-निरन्तर प्राप्त है।'

सत्ता एकमात्र सत्-तत्त्वकी ही है। असत्की सत्ता है ही नहीं। सत्-ही-सत् है, असत् है ही नहीं। जो निरन्तर बदल रहा है तथा नाशकी तरफ जा रहा है, उस असत्की सत्ता हो ही कैसे सकती है? जो भी सत्ता और महत्ता दीखनेमें आती है, वह सब सत्के कारण ही है। एक मार्मिक बात है कि सत् ही असत्को सत्ता देता है। कारण कि सत् असत्का विरोधी नहीं है, प्रत्युत सत्की जिज्ञासा असत्की विरोधी है। इसलिये ज्ञानी महापुरुष अज्ञानीसे द्वेष नहीं करते, प्रत्युत उनका भी

* वास्तवमें सहजावस्था कोई अवस्था नहीं है, पर उस तत्वको समझनेके लिये अपनी भाषासे उसको सहजावस्था कह देते हैं। वास्तवमें भाषा वहाँतक पहुँचती ही नहीं।

आदर करते हैं। ब्रह्माजी भगवान्से कहते हैं—

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्राभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।२२)

'यह सम्पूर्ण जगत् स्वप्नकी तरह असत्य, अज्ञानरूप तथा दुःख-पर-दुःख देनेवाला है। आप परमानन्द, ज्ञान-स्वरूप तथा अनन्त हैं। यह मायासे उत्पन्न एवं मायामें विलीन होनेपर भी आपमें आपकी सत्तासे सत्यके समान प्रतीत होता है।'

यदि असत् (सृष्टि) की सत्ताको मानें तो भी उसका सनातन तथा अव्यय बीज* सत् ही है—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।

(गीता ७।१०)

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

(गीता ९।१८)

यदि असत्की सत्ता न मानें तो उसका बीज भी नहीं है, प्रत्युत केवल सत्-ही-सत् है—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

सत्-तत्त्वमें न आकर्षण है, न विकर्षण; न उपरति है, न आसक्ति; न सकामभाव है, न निष्कामभाव; न पूर्णता है, न अपूर्णता; केवल सत्-ही-सत् है। आकर्षण-विकर्षण, उपरति-आसक्ति आदि सब सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है। अतः साधककी दृष्टि सत्की तरफ ही रहनी चाहिये। जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसकी तरफ क्या देखें?

जब सत्के सिवाय कुछ है ही नहीं, तो फिर इसमें क्या अभ्यास करें? क्या चिन्तन करें? इसमें न कुछ करना है, न कुछ सोचना है, न कुछ निश्चय करना है, न कुछ प्राप्त करना है और न कुछ निवृत्त करना है। अतः असत्की निवृत्ति करनी ही नहीं है; क्योंकि असत् नित्यनिवृत्त है और सत्की प्राप्ति करनी ही नहीं है, क्योंकि सत् नित्य-निरन्तर प्राप्त है—ऐसा विचार करके चुप हो जायँ, कुछ भी चिन्तन न करें। न संसारका चिन्तन करें, न परमात्माका चिन्तन करें; क्योंकि चिन्तन करनेसे हम संसारके साथ जुड़ते हैं और परमात्मासे दूर होते हैं। अतः चिन्तन नहीं करना है, प्रत्युत चिन्तन करनेकी शक्ति जिससे प्रकाशित होती है, उसमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव करना है। जिस ज्ञानके अन्तर्गत वृत्तियाँ दीखती हैं, उस ज्ञानमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव करना है। अपने-आप कोई चिन्तन, स्फुरणा आ जाय तो उसकी तरफ ख्याल न करके उसकी उपेक्षा कर दें। जैसे जलके स्थिर (शान्त) होनेपर उसमें मिली हुई मिट्टी अपने-आप नीचे बैठ जाती है, ऐसे ही चुप होनेपर सब विकार अपने-आप शान्त हो जाते हैं, अहम् गल जाता है और वास्तविक तत्त्व (अहंरहित सत्ता) का अनुभव हो जाता है।

★

* बीज वृक्षसे पैदा होता है और वृक्षको पैदा करके खुद नष्ट हो जाता है। परन्तु परमात्मामें ये दोनों ही दोष नहीं हैं—यह बतानेके लिये यहाँ 'सनातन' (७।१०) और 'अव्यय' (९।१८) शब्द आये हैं। तात्पर्य है कि 'सनातन' होनेसे परमात्मा उत्पन्न नहीं होते और 'अव्यय' होनेसे परमात्मा अनन्त सृष्टियोंको उत्पन्न करके भी स्वयं ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं।

सहजनिवृत्ति और स्वतःप्राप्ति

जिसको साधक करना चाहता है, वह स्वतः ही हो रहा है ! जैसे, वह संसारकी निवृत्ति करना चाहता है तो संसारकी सहज-निवृत्ति निरन्तर हो रही है और वह परमात्माको प्राप्त करना चाहता है तो परमात्मा स्वतःप्राप्त हैं।

एक विभाग जड प्रकृति (शरीर तथा संसार) का है और एक विभाग चेतन तत्त्व (जीवात्मा तथा परमात्मा) का है। प्रकृतिकी सहज-निवृत्ति है और तत्त्वकी स्वतःप्राप्ति है।

प्रकृतिमें निरन्तर परिवर्तनरूप क्रिया हो रही है। वह किसी भी अवस्थामें अक्रिय नहीं रहती। प्रवृत्ति और निवृत्ति अथवा सर्ग-महासर्ग और प्रलय-महाप्रलय—दोनों ही अवस्थाओंमें प्रकृतिकी क्रियाशीलता (सहजनिवृत्ति) ज्यों-की-त्यों रहती है। अतः उसकी प्रतीति तो होती है, पर प्राप्ति नहीं होती। तात्पर्य है कि अपना शरीर तथा स्त्री, पुत्र, धन, जमीन, मकान आदि पहले भी हमारे साथ नहीं थे, बादमें भी हमारे साथ नहीं रहेंगे तथा अभी भी निरन्तर हमारेसे बिछुड़ रहे हैं। परंतु तत्त्वकी स्वतःप्राप्ति है; क्योंकि वह कभी भी हमारेसे बिछुड़ता नहीं। जैसे यह सबका अनुभव है कि बचपनमें हमारा शरीर जैसा था, वैसा अब नहीं है, सर्वथा बिछुड़ गया और अब भी निरन्तर बिछुड़ रहा है; परंतु हम स्वयं वही हैं, जो कि बचपनमें थे। अतः जो निरन्तर बिछुड़ रहा है, वह असत् है तथा उसकी सहजनिवृत्ति है और जो वही है, कभी बिछुड़ता नहीं, वह सत् है तथा उसकी स्वतःप्राप्ति है।

असत्‌की सहज निवृत्ति है अर्थात् उसकी निवृत्ति करनी नहीं पड़ती, प्रत्युत वह स्वतः निरन्तर निवृत्त हो रहा है। यह

सहजनिवृत्ति स्वतःसिद्ध है। इस सहजनिवृत्तिका कभी अभाव होता ही नहीं, इसमें कभी बाधा पड़ती ही नहीं, इसमें कभी विश्राम होता ही नहीं।

जैसे पृथ्वी अपनी धुरीपर निरन्तर घूम रही है, ऐसे ही देखने-सुनने-समझनेमें जो संसार आता है, उसकी निरन्तर निवृत्ति हो रही है। संसारमात्र निरन्तर अभावमें जा रहा है। चाहे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हो, चाहे जन्म, जीवन और मरण हो, चाहे बालक, जवान और वृद्धावस्था हो, सहजनिवृत्ति ज्यों-की-त्यों है। घोर-से-घोर प्रवृत्तिमें भी सहजनिवृत्ति ज्यों-की-त्यों है, उसका भान चाहे न हो।

सत्‌की स्वतःप्राप्ति है। सत् कभी अप्राप्त हुआ ही नहीं, अप्राप्त है ही नहीं, अप्राप्त होगा ही नहीं, अप्राप्त होना सम्भव ही नहीं। वह सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। सत्‌की प्राप्ति स्वतःसिद्ध है, करनी नहीं पड़ती। पापी-से-पापी, अज्ञानी-से-अज्ञानी मनुष्य हो अथवा पुण्यात्मा, तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी महापुरुष हो, सत् (स्वतःप्राप्त तत्त्व) किसीको भी अप्राप्त नहीं है। फर्क केवल इतना है कि अज्ञानी उसका अनुभव नहीं करता और ज्ञानी उसका अनुभव करता है। प्राप्तको अप्राप्त और अप्राप्तको प्राप्त मान लिया—इस भूलके कारण ही स्वतःप्राप्तका अनुभव नहीं होता।

जिसकी निरन्तर सहजनिवृत्ति है, उसका सुख लोलुपता-पूर्वक आकर्षण ही स्वतःप्राप्तके अनुभवमें खास बाधक है। आकर्षणका कारण है—असत्‌की सत्ता और महत्ता, जो कि हमारी ही दी हुई है। अगर हम असत्‌को सत्ता और महत्ता न दें तो उसकी ताकत नहीं है कि वह हमारेको अपनी तरफ आकर्षित कर सके। जैसे, पहले भोगे हुए भोगकी याद आती है तो एक सुखका अनुभव होता है और दुःखकी याद आती है तो दुःखका अनुभव होता है। सुख-दुःखका वह भोग अभी नहीं है, उसका वर्तमानमें सर्वथा अभाव है, फिर भी उसके चिन्तनमात्रसे सुख अथवा दुःख मिलता है। इससे सिद्ध हुआ कि हमने उसको सत्ता और महत्ता दी है, जो कि अभावरूप है! अगर सत्ता और महत्ता न देते तो जिसका वर्तमानमें अभाव है, उस भूतकालके चिन्तनसे सुख अथवा दुःख नहीं होता।

जैसे भूतकालकी वस्तु वर्तमानमें अप्राप्त है, ऐसे ही वर्तमानमें मिली हुई वस्तु भी अप्राप्त है! मिली हुई वस्तु निरन्तर बिछुड़ रही है। जैसे भूतकालकी वस्तु याद आयी और भूल गयी, ऐसे ही वर्तमानकी वस्तु मिल गयी और बिछुड़ गयी—दोनोंमें क्या फर्क हुआ? उसकी प्राप्ति सिद्ध नहीं होती, प्रत्युत निवृत्ति ही सिद्ध होती है।

यह नियम है कि जो किसी भी जगह अप्राप्त है, वह सभी जगह अप्राप्त है। जो किसी भी समय अप्राप्त है, वह सदा ही अप्राप्त है। जो किसी भी वस्तुमें अप्राप्त है, वह सभी वस्तुओंमें अप्राप्त है। जो किसी भी मनुष्यको अप्राप्त है, वह सभी मनुष्योंको अप्राप्त है। जो किसी भी अवस्थामें अप्राप्त है, वह सभी अवस्थाओंमें अप्राप्त है। जो किसी भी परिस्थितिमें अप्राप्त है, वह सभी परिस्थितियोंमें अप्राप्त है। तात्पर्य है कि जो किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदिमें अप्राप्त है, वह कहीं भी प्राप्त नहीं है; क्योंकि मिला हुआ निरन्तर बिछुड़ रहा है। अतः वास्तवमें संसार कभी प्राप्त हुआ नहीं, प्राप्त है नहीं, प्राप्त होगा नहीं, प्राप्त होना सम्भव ही नहीं। जिसकी निरन्तर सहजनिवृत्ति है, उसकी प्राप्ति हो ही कैसे सकती है?

संसारमें राग होनेके कारण ही सहजनिवृत्तिमें भी प्रवृत्ति दीखती है, अप्राप्त भी प्राप्त दीखता है। जैसे हमारी उम्र प्रतिक्षण नष्ट हो रही है, शरीर प्रतिक्षण मर रहा है; परन्तु असत्‌में रागके कारण हमें दीखता है कि हम (शरीरसे) जी रहे हैं।

असत्‌के रागके कारण ही यह कहना पड़ता है कि सहजनिवृत्ति निरन्तर हो रही है। वास्तवमें तो संसार सहज-निवृत्त, स्वतःनिवृत्त, नित्यनिवृत्त ही है। भगवान्‌ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २। १६)

'असत्‌का भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है। तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने इन दोनोंका ही अन्त (तत्त्व) देखा है।'

जो निवृत्त है, वह 'असत्' है और वह कभी प्राप्त नहीं होता। जो प्राप्त है, वह 'सत्' है और वह कभी निवृत्त नहीं होता। निवृत्तका नित्यवियोग है और प्राप्तका नित्ययोग है। असत्‌का केवल अभाव-ही-अभाव है और इस अभावका कभी अभाव (नाश) नहीं होता। सत्‌का केवल भाव-ही-भाव है और इस भावका कभी अभाव नहीं होता। असत् असत् ही है और सत् सत् ही है। असत् है ही नहीं और सत् है ही! तत्त्वज्ञ महापुरुषोंने सत् और असत्— दोनोंका ही तत्त्व देखा है। तात्पर्य है कि सत्‌का तत्त्व भी सत् है और असत्‌का तत्त्व भी सत् है अर्थात् दोनोंका तत्त्व सत् (सत्तामात्र) ही है।

असत्‌को सत्ता देनेसे ही निवृत्त (सहजनिवृत्त) और प्राप्त

(स्वतःप्राप्त)—ये दो विभाग कहे जाते हैं। असत्‌को सत्ता न दें तो न निवृत्त है, न प्राप्त है, प्रत्युत सत्तामात्र ज्यों-की-त्यों है! दूसरे शब्दोंमें, जबतक असत्‌की सत्ता है, तबतक विवेक है। असत्‌की सत्ता मिटनेपर विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है; क्योंकि जब असत्‌की सत्ता है ही नहीं, तो फिर सत् ही शेष रहेगा। इसीको गीताने **'वासुदेवः सर्वम्'** कहा है।

जैसा है, वैसा जान लेनेका नाम 'ज्ञान' है। है और तरहका, जाने और तरहसे—इसका नाम 'अज्ञान' है। जैसे, संसारकी निरन्तर सहजनिवृत्ति हो रही है—ऐसा जानना ज्ञान है और संसार प्राप्त है—ऐसा जानना अज्ञान है। परमात्मतत्त्व स्वतःप्राप्त है—ऐसा जानना ज्ञान है और परमात्मतत्त्व अप्राप्त है—ऐसा जानना अज्ञान है। अतः साधकके लिये खास बात यह है कि वह 'संसारकी निरन्तर सहजनिवृत्ति हो रही है और तत्त्व सभीको स्वतः प्राप्त है'—इस ज्ञान (विवेक) को महत्त्व दे। महत्त्व देनेसे यह ज्ञान ही तत्त्वज्ञानतक पहुँच जायगा और अज्ञान सर्वथा मिट जायगा।

प्रश्न—संसारकी निरन्तर सहजनिवृत्ति हो रही है—यह तो प्रत्यक्ष दीखता है, पर तत्त्व स्वतःप्राप्त है—यह कैसे दीखे?

उत्तर—जिस ज्ञानके अन्तर्गत सहजनिवृत्ति दीखती है, वह ज्ञान निरन्तर स्वतःप्राप्त है। कारण कि निरन्तर मिटनेवालेको मिटनेवाला नहीं देख सकता, प्रत्युत रहनेवाला ही देख सकता है। जानेवालेका अनुभव जानेवालेको नहीं हो सकता, प्रत्युत रहनेवालेको ही हो सकता है। विनाशीका अनुभव विनाशीको नहीं हो सकता, प्रत्युत अविनाशीको ही हो सकता है। बदलनेवालेको बदलनेवाला नहीं जान सकता, प्रत्युत न बदलनेवाला ही जान सकता है। सीमितका ज्ञान सीमितको नहीं हो सकता, प्रत्युत असीमको ही हो सकता है।

जाननेवालेका विभाग अलग है और जाननेमें आनेवालेका विभाग अलग है। जाननेवाला 'सत्' है और जाननेमें आनेवाला 'असत्' है। न बदलनेवाला 'सत्' है और बदलनेवाला 'असत्' है। अतः जिससे सहजनिवृत्ति दीखती है, वही स्वतःप्राप्त है और वही हमारा स्वरूप है।

देखनेवाला 'है' है और दीखनेवाला 'नहीं' है। इसीलिये कहा है—

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

'नहीं'को 'है' माननेसे दृष्टि 'नहीं' में ही अटक जाती है, 'है'तक पहुँचती ही नहीं, फिर 'है' कैसे दीखे? अतः साधकको चाहिये कि वह जिस ज्ञानके अन्तर्गत 'नहीं' दीख रहा है, उस ज्ञानमें स्थिर अर्थात् चुप हो जाय। फिर जो अभी नहीं दीखता है, वह दीखने लग जायगा!

संसारमें तरह-तरहकी क्रियाएँ हो रही हैं, व्यवहार हो रहा है, परिवर्तन हो रहा है, पर वह सब जिसके अन्तर्गत हो रहा है, उस 'है'में क्रिया, व्यवहार, परिवर्तन आदि कुछ नहीं है। वह नित्य सत्ता ('है') ज्यों-की-त्यों है। कोई जन्म रहा है, कोई मर रहा है; कोई आ रहा है, कोई जा रहा है; कोई हँस रहा है, कोई रो रहा है; कोई सुखी है, कोई दुःखी है; कोई क्रुद्ध है, कोई शान्त है; कोई भोगमें लगा है, कोई योगमें लगा है; कोई बोल रहा है, कोई चुप बैठा है; कोई जाग रहा है, कोई सो रहा है; परन्तु इन सबमें एक ही सत्ता समानरूपसे ज्यों-की-त्यों परिपूर्ण है। उस सत्तामें कभी किञ्चित् भी कोई फर्क नहीं पड़ता। अतः मर्यादापूर्वक सब व्यवहार करते हुए भी साधककी दृष्टि उस समरूप सत्तापर ही रहनी चाहिये। गीतामें आया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(५।१८)

'ज्ञानी महापुरुष विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणमें और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी एवं कुत्तेमें भी समरूप परमात्मतत्त्वको देखनेवाले होते हैं।'

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥
(१३।२७)

'जो नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्माको नाशरहित तथा समरूपसे स्थित देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है।'

यह नित्य सत्ता ही कर्मयोगकी दृष्टिसे 'अकर्म' है, ज्ञानयोगकी दृष्टिसे 'आत्मा' है और भक्तियोगकी दृष्टिसे 'भगवान्' है। इसलिये कर्मयोगी कर्ममें अकर्मको तथा अकर्ममें कर्मको देखता है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
(गीता ४।१८)

ज्ञानयोगी सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्माको तथा आत्मामें सम्पूर्ण प्राणियोंको देखता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
(गीता ६।२९)

भक्तियोगी सबमें भगवान्‌को तथा भगवान्‌में सबको देखता है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
(गीता ६। ३०)

तात्पर्य है कि कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंमें एक अकर्म (कर्मोंके साथ सम्बन्धका अभाव अर्थात् निर्लिप्तता) को ही देखता (अनुभव करता) है, ज्ञानयोगी सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक आत्माको ही देखता है और भक्तियोगी सबमें एक भगवान्‌को ही देखता है। कर्मयोगी कर्म और कर्मफलके साथ सम्बन्ध न रखकर केवल दूसरोंके हितके लिये सब कर्म करता है। अतः उसको कर्मोंके साथ सम्बन्धके अभावका अर्थात् निर्लिप्तताका अनुभव हो जाता है। जैसे मनमें कभी हरिद्वारका चिन्तन होता है, कभी कलकत्तेका चिन्तन होता है और मनमें वहाँकी अलग-अलग वस्तुएँ, प्राणी आदि दीखने लगते हैं तो वह सब कुछ मन ही बना हुआ है। मनोराज्यमें एक मनके सिवाय किसी भी प्राणी-पदार्थकी सत्ता नहीं है। ऐसे ही ज्ञानयोगीकी दृष्टिमें एक आत्माके सिवाय और किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। जैसे ब्रह्माजीने ग्वालबालोंको और बछड़ोंको चुरा लिया तो भगवान् श्रीकृष्ण ही ग्वालबाल, बछड़े आदि अनेक रूपोंमें हो गये। भगवान्‌की इस लीलाका पता किसीको भी नहीं लगा। एक दिन गायोंका अपने बछड़ोंके प्रति और गोपोंका अपने बालकोंके प्रति अपूर्व स्नेह देखकर बलदेवजीको शंका हुई तो उन्होंने देखा कि एक भगवान् श्रीकृष्ण ही बछड़ों और ग्वालबालोंके रूपमें बने हुए हैं। ऐसे ही भक्तियोगी सब रूपोंमें भगवान्‌को ही देखता है अर्थात् उसकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय और किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती।

चाहे अकर्म कहें, चाहे आत्मा कहें और चाहे भगवान् कहें, तत्त्वसे तीनों एक (बोधस्वरूप सत्तामात्र) ही हैं। उस चिन्मय सत्ता ('है') की तरफ दृष्टि, लक्ष्य चला जाय—यही उसकी प्राप्ति है! फिर भी कोई दोष, विकार दीखे तो साधकको घबराना नहीं चाहिये। जैसे साँपको देखकर हम डर गये, पर उसी समय पता लगा कि यह तो रस्सी है। रस्सीका पता लगनेपर भी कुछ देरतक भयका असर रहता है, हाथोंमें कँपकँपी रहती है, हृदय धड़कता रहता है। परंतु यह कँपकँपी, धड़कन अपने-आप शान्त हो जाती है। ऐसे ही साधककी दृष्टि एक 'है' पर ही रहे तो सब विकार अपने-आप शान्त हो जायँगे। वह 'है' इतना ठोस है कि उसमें कोई दूसरी चीज प्रवेश कर सकती ही नहीं। उसमें किसी शंका आदिके लिये स्थान ही नहीं है। जब हमारी दृष्टि वहाँ नहीं थी, तब भी वह 'है' ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण था और अब वहाँ दृष्टि जानेपर भी वह ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है—

दौड़ सके तो दौड़ ले, जब लगि तेरी दौड़।
दौड़ थक्या धोखा मिट्या, वस्तु ठौड़-की-ठौड़॥

इसी बातको अर्जुनने कहा है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (गीता १८। ७३) 'मेरा मोह नष्ट हो गया है तथा स्मृति प्राप्त हो गयी है।'

भूल मिटनेका नाम 'स्मृति' है। भूल जाने हुएकी ही होती है और जाननेके अन्तर्गत ही प्रकाशित होती है। जिसकी सत्ता विद्यमान नहीं है, उसको विद्यमान मान लिया—यह भूल है। भूलको भूलरूपसे जानते ही भूल मिट जाती है और स्मृति प्राप्त हो जाती है। इस स्मृतिकी फिर कभी विस्मृति नहीं होती **'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।'** (गीता ४। ३५) कारण कि स्मृति अर्थात् बोध एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है। तात्पर्य है कि बोधकी आवृत्ति नहीं होती। बोध एक बार अनुभवमें, दृष्टिमें आ गया तो सदाके लिये आ ही गया! वास्तवमें बोधका अभाव विद्यमान है ही नहीं अर्थात् बोध स्वतःप्राप्त है और उसको जाननेवाला अन्य कोई नहीं है। जबतक बोधको जाननेवाला अन्य कोई है, तबतक वास्तवमें बोध हुआ ही नहीं। स्वयं बोधस्वरूप है और उसको जाननेवाला भी स्वयं ही है, जैसा कि अर्जुनने भगवान्‌के लिये कहा है—**'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम'** (गीता १०। १५) 'हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने-आपसे अपने-आपको जानते हैं।'

प्रश्न—बोध स्वतःप्राप्त कैसे है?

उत्तर—यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि नाशवान् हमारे जाननेमें आता है और हम उसको जाननेवाले हैं। अहम् हमारे जाननेमें आता है और हम उसको जाननेवाले हैं। विकार हमारे जाननेमें आते हैं और हम उनको जाननेवाले हैं। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदि सबका अभाव हमारे जाननेमें आता है, पर अपना (स्वयंका) अभाव कभी हमारे जाननेमें नहीं आता। जो जाननेमें आता है, वह हमारेसे अलग है और जो जानता है, वह हमारा स्वरूप है। जो जाननेमें आता है, वह असत् है तथा उसकी सत्ता विद्यमान नहीं है और जो जाननेवाला है, वह सत् है तथा उसका अभाव विद्यमान नहीं है। अतः जाननेमें आनेवाला और जाननेवाला—दोनोंका विभाग बिलकुल अलग-अलग है—यह वास्तविक बात हमारे जाननेमें आ गयी, अनुभवमें आ गयी, दृष्टिमें आ गयी, तो फिर इसमें क्या अभ्यास है? हम एक नदीको देख रहे हैं और किसी जानकार आदमीने बताया कि यह गङ्गाजी है, तो अब इसमें क्या

अभ्यास है ? यह गङ्गाजी है—यह ज्ञान एक ही बार होगा, बार-बार नहीं होगा और सदाके लिये होगा। कारण कि सच्ची बात कभी कच्ची नहीं हो सकती और कच्ची बात कभी सच्ची नहीं हो सकती। सच्ची बातको स्वीकार करनेमें क्या परिश्रम है ? अभ्यास तो दृढ़-अदृढ़ होता है, पर सच्ची बातकी स्वीकृति कभी अदृढ़ होती ही नहीं ! तात्पर्य यह हुआ कि बोध तो स्वतःप्राप्त है, पर हमारे पुराने संस्कार, पुरानी मान्यताएँ उसमें बाधक हो रही हैं, जो कि असत्-रूप हैं और सत्तारूपसे मानी हुई हैं; जैसे—सब काम धीरे-धीरे, समय पाकर होते हैं, फिर बोध तत्काल कैसे हो जायगा ? अनादिकालका अज्ञान इतनी जल्दी कैसे मिट जायगा ? आदि-आदि। यह सब हमारा वहम है। एक गुफामें लाखों वर्षोंसे अँधेरा हो और उसमें दीपक जला दिया जाय तो क्या अँधेरा दूर होनेमें भी लाखों वर्ष लगेंगे ?

साधकको आज ही यह बात समझकर दृढ़ कर लेनी चाहिये कि असत्का विभाग ही अलग है। स्वयंका असत्से सम्बन्ध कभी हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, है ही नहीं और होना सम्भव ही नहीं। असत्से तादात्म्य (मैं-मेरापन) के कारण ही असत्का आकर्षण स्वयंमें दीखता है। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो असत्में ही असत्का आकर्षण है, असत्में ही असत्की सत्ता और महत्ता है, असत्में ही सब दोष हैं, असत्में ही सब विकार हैं, असत्में ही कर्ता और भोक्ता है, असत्में ही उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हैं, असत्में ही भूत, भविष्य और वर्तमान है, असत्में ही क्रिया और पदार्थ हैं, असत्में ही जन्म-मरण है, असत्में ही बन्धन है ! स्वयं (सत्) तो इन सबको जाननेवाला तथा इनसे अलग है। ये जन्म-मरण आदि सब बातें तो भूतकालकी हैं, उनकी सत्ता ही नहीं है। परन्तु स्वयं सदा वर्तमान है। गीतामें आया है—

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ (१३।२३)

अर्थात् जो सर्वथा वर्तमान है, उसका फिर जन्म नहीं होता। कारण कि जो सदा वर्तमान ही रहता है, वह कैसे मरेगा ? और बिना मरे फिर जन्म भी कैसे होगा ? वर्तमान तो सदा निर्दोष ही होता है।

प्रश्न—मनुष्य जो भी दोष करता है, वह वर्तमानमें ही करता है, फिर वर्तमान निर्दोष कैसे ?

उत्तर—वर्तमानका अर्थ है—स्वयं; क्योंकि स्वयं निरन्तर वर्तमान (विद्यमान) रहता है—'**नाभावो विद्यते सतः।**' स्वयंका वर्तमान होना कालके अधीन नहीं है अर्थात् इसमें भूत, भविष्य और वर्तमानका भेद नहीं है। अतः स्वयंका स्वरूप है—सत्तामात्र। यह सत्ता निरन्तर रहनेवाली और सर्वथा निर्दोष है—'**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**' (गीता ५।१९)। इसलिये किसीका भी वर्तमान दोषी नहीं है।

अगर कालकी दृष्टिसे विचार करें तो भी वर्तमानकाल सबका निर्दोष है। कारण कि मनुष्य भूतकालमें किये दोषसे ही अपनेको दोषी मानता है। दोषके समय मनुष्य अपनेको दोषी नहीं मानता; क्योंकि उस समय उसमें बेहोशी, असावधानी रहती है। अतः वर्तमानमें वह है तो निर्दोष ही !

दोषोंकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। गुणोंकी कमीको ही दोष कह देते हैं। निर्दोषता स्वतःसिद्ध है और कमी अपनी ही बनायी हुई है। असत्को सत्ता और महत्ता देनेसे ही अपनेमें कमी प्रतीत होती है। अतः सम्पूर्ण दोषोंकी प्रतीति असत्को सत्ता और महत्ता देनेसे ही है। अगर असत्को सत्ता और महत्ता न दें तो दोषोंकी प्रतीति है ही कहाँ ?

दोषोंका भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और निर्दोषताका अभाव विद्यमान नहीं है। दोषोंका आदि और अन्त होता है, पर निर्दोषताका आदि और अन्त नहीं होता। इसलिये दोषोंके आदि-अन्तका, आने- जानेका तथा अभावका अनुभव तो सबको होता है, पर अपने (स्वयंके) आदि-अन्तका, आने-जानेका तथा अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता; क्योंकि स्वयं निरन्तर निर्दोष, निर्विकार रहता है। तात्पर्य है कि दोषोंकी सहजनिवृत्ति है और निर्दोषता स्वतःप्राप्त है।

★

विभागयोग

गीतामें आया है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

(१३।१९)

'प्रकृति और पुरुष—दोनोंको ही तुम अनादि समझो।'

तात्पर्य है कि एक प्रकृति-विभाग है और एक पुरुष-विभाग है। शरीर तथा संसार प्रकृति-विभागमें हैं और आत्मा तथा परमात्मा पुरुष-विभागमें हैं। जैसे प्रकृति और पुरुष अनादि हैं, ऐसे ही इन दोनोंके भेदका ज्ञान अर्थात् विवेक भी अनादि है; अतः विवेक-दृष्टिसे देखें तो ये दोनों विभाग एक-दूसरेसे बिलकुल असम्बद्ध हैं अर्थात् दोनोंमें किञ्चिन्मात्र भी कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रकृति तो असत्, जड़ तथा दुःखरूप है और पुरुष सत्, चित् तथा आनन्दरूप है। प्रकृति नाशवान्, विकारी तथा क्रियाशील है और पुरुष अविनाशी, निर्विकार तथा अक्रिय है। प्रकृतिकी नित्यनिवृत्ति है और

पुरुषकी नित्यप्राप्ति है। गीताके आरम्भमें भी भगवान्‌ने इसी विभागका वर्णन शरीर और शरीरी, देह और देही आदि नामोंसे किया है* । अतः इस विभागको ठीक-ठीक समझना प्रत्येक साधकके लिये बहुत आवश्यक तथा शीघ्र बोध करानेवाला है। कारण कि शरीर और शरीरीको एक मानना ही बन्धन है और इन दोनोंको बिलकुल अलग-अलग अनुभव करना ही मुक्ति है। भगवान् कहते हैं—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥
(गीता १३ । ३४)

'जो ज्ञानचक्षु (विवेकदृष्टि)से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागको तथा कार्य-कारणसहित प्रकृतिसे स्वयंको अलग जानते हैं, वे परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं।'

जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, वे सब-की-सब प्रकृति-विभागमें ही होती हैं। इसलिये गीतामें आया है कि सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
(१३ । २९)

प्रकृतिके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको ही, कहीं 'गुणोंसे होनेवाली क्रियाएँ और कहीं इन्द्रियोंसे होनेवाली क्रियाएँ कहा गया है; जैसे—सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं—**'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः'** (३ । २७); गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—**'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'** (३ । २८); गुणोंके सिवाय अन्य कोई कर्ता है ही नहीं—**'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति'** (१४ । १९); इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं—**'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते'** (५ । ९) आदि। तात्पर्य है कि क्रियाका विभाग प्रकृतिमें ही है, पुरुषमें नहीं। अतः प्रकृति कभी किञ्चिन्मात्र भी अक्रिय नहीं होती और पुरुषमें कभी किञ्चिन्मात्र भी क्रिया नहीं होती। इसलिये गीतामें आया है कि तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी 'मैं (स्वयं) लेशमात्र भी कुछ नहीं करता हूँ'—ऐसा अनुभव करता है—**'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'** (५ । ८); स्वयं न करता है, न करवाता है—**'नैव कुर्वन्न कारयन्'** (५ । १३); यह पुरुष शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (१३ । ३१); जो स्वरूपको अकर्ता देखता (अनुभव करता) है, वही यथार्थ देखता है—**'यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति'** (१३ । २९); जो आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है—**'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥'** (१८ । १६) आदि।

शरीर-वाणी-मनके द्वारा जितनी क्रियाएँ होती हैं, वे सब-की-सब प्रकृतिमें ही होती हैं। पुरुष (स्वयं) में कभी किञ्चिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं होती। जंगलमें वृक्ष पैदा होते हैं, बढ़ते हैं और नष्ट हो जाते हैं तो प्रकृतिकी जो समष्टि शक्ति वहाँ काम कर रही है, वही समष्टि शक्ति इस व्यष्टि शरीरमें भी काम कर रही है। खाना-पीना, सोना-जगना आदि सब-का-सब व्यवहार प्रकृतिमें स्वतः हो रहा है। जैसे, भोजन पचाते नहीं हैं, प्रत्युत स्वतः पचता है। बालक माँकी गोदीमें स्वतः बड़ा होता है। शरीरकी अवस्थाएँ स्वतः बदलती हैं। मकान स्वतः पुराना होता है। वर्षा स्वतः होती है। नदी स्वतः बहती है। ऐसे ही अपने कहलानेवाले शरीरके द्वारा खाना-पीना आदि क्रियाएँ भी स्वतः होती है। अतः साधकका भाव हर समय यही रहना चाहिये कि क्रियाएँ हो रही हैं, मैं लेशमात्र भी कुछ नहीं करता हूँ—**'नैव किञ्चित्करोमि।'** कारण कि क्रियाका विभाग ही अलग है।

सृष्टिमात्रमें स्वतः क्रिया हो रही है। उस क्रियाका लेशमात्र भी कोई कर्ता नहीं है। न परमात्मा कर्ता है, न जीव कर्ता है। स्वतः होनेवाली क्रियाके लिये कर्तृत्वकी जरूरत ही क्या है? प्रकृतिमें स्वाभाविक क्रियता है और पुरुषमें स्वाभाविक अक्रियता है। परन्तु जब पुरुष प्रकृतिके अंश अहम्‌के साथ तादात्म्य मान लेता है, तब वह प्रकृतिमें होनेवाली क्रियाको अपनेमें स्वीकार करके 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानने लगता है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३ । २७)। तात्पर्य है कि वह कर्ता बनता नहीं, केवल कर्तापनकी मान्यता कर लेता है। अपनेको कर्ता मानते ही उसपर शास्त्रीय विधि-निषेध लागू हो जाते हैं और उसको कर्मफलका भोक्ता बनना पड़ता है। वस्तुतः स्वरूपमें लेशमात्र भी कर्तृत्व नहीं है। कर्तृत्वका विभाग ही अलग है। आजतक देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, यक्ष, राक्षस आदि अनेक योनियोंमें जो भी कर्म किये गये हैं, उनमेंसे कोई भी कर्म स्वरूपतक नहीं पहुँचा तथा कोई भी शरीर स्वरूपतक नहीं पहुँचा; क्योंकि कर्म और शरीर (पदार्थ) का विभाग ही अलग है और स्वरूपका विभाग ही अलग है।

जैसे चार कोनोंवाले किसी लोहेके टुकड़ेको अग्निसे तपा

* पुरुष ही अहम्‌को स्वीकार करनेसे जीव, क्षेत्रज्ञ, शरीरी, देही आदि नामोंसे कहा जाता है।

दिया जाय तो लोहेसे तादात्म्य होनेके कारण अग्नि भी चार कोनोंवाली दीखने लगती है। ऐसे ही प्रकृतिसे तादात्म्य (प्रकृतिस्थ) होनेपर सर्वथा निर्विकार पुरुषमें भी प्रकृतिका विकार दीखने लगता है। जैसे चुम्बककी तरफ लोहा ही खिंचता है, अग्नि नहीं खिंचती; परन्तु लोहेसे तादात्म्य होनेके कारण अग्नि भी चुम्बककी तरफ खिंचती हुई दीखने लगती है। ऐसे ही प्रकृतिसे तादात्म्य होनेपर सर्वथा अक्रिय पुरुषमें भी प्रकृतिकी क्रिया दीखने लगती है। तात्पर्य है कि वास्तवमें प्रकृतिके साथ मिले बिना पुरुष किञ्चिन्मात्र भी कर्ता और भोक्ता नहीं बन सकता। गीतामें आया है—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्॥

(गीता १३। २०-२१)

'कार्य तथा करणकी उत्पत्तिमें एवं पुरुषके कर्तृत्वमें प्रकृति हेतु कही जाती है और सुख-दुःखके भोक्तापनमें पुरुष हेतु कहा जाता है। परन्तु प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिजन्य गुणोंका भोक्ता बनता है।'

तात्पर्य है कि क्रियामात्र प्रकृतिमें ही होती है, पर क्रियाका फल अर्थात् सुख-दुःखकी मान्यता पुरुषमें ही होती है। कारण कि सुख-दुःखका भोग चेतनमें ही हो सकता है, जड़में नहीं। परन्तु वास्तवमें प्रकृतिस्थ पुरुष ही सुख-दुःखका भोक्ता बनता है। प्रकृतिमें स्थिति पुरुषने मानी है, वास्तवमें है नहीं। इसलिये पुरुष किसी भी लोकमें अथवा योनिमें चला जाय, वह वास्तवमें प्रकृतिस्थ होता ही नहीं। वह तो नित्य-निरन्तर स्वस्थ ('स्व'में स्थित) ही रहता है—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**' (गीता १४। २४)। जब वह शरीरस्थ ही नहीं है, तो फिर वह प्रकृतिस्थ कैसे हो सकता है? परन्तु जैसे एक स्त्रीके साथ पति-पत्नीका सम्बन्ध मान लेनेसे उसके पूरे कुटुम्बके साथ सम्बन्ध हो जाता है, ऐसे ही एक शरीरमें अपनी स्थिति मान लेनेसे उसका मात्र प्रकृतिके साथ सम्बन्ध हो जाता है। तात्पर्य है कि शरीरस्थ होते ही पुरुष प्रकृतिस्थ हो जाता है। अगर वह शरीरस्थ न हो तो प्रकृतिस्थ भी नहीं होता। वास्तवमें स्वयं न शरीरस्थ है, न प्रकृतिस्थ, प्रत्युत वह सर्वत्र स्थित है—'**सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते**' (गीता १३। ३२)। सम्पूर्ण क्रियाएँ उसके अन्तर्गत होती हैं। वह सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंका प्रकाशक और आधार है। क्रियाओंका तो आरम्भ होकर अन्त हो जाता है और पदार्थ उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, पर उनका प्रकाशक और आधार ज्यों-का-त्यों रहता है। क्रिया और पदार्थ प्रकृतिमें हैं। स्वयंमें न क्रिया है, न पदार्थ है।

करनेकी जिम्मेवारी उसीपर होती है, जो कुछ कर सकता है। जैसे, कितना ही चतुर चित्रकार हो, बिना सामग्री (रंग, ब्रश आदि) के वह चित्र नहीं बना सकता, ऐसे ही पुरुष बिना प्रकृतिकी सहायताके कुछ नहीं कर सकता। अतः पुरुषपर कुछ करनेकी जिम्मेवारी हो ही नहीं सकती। चिन्मय सत्तामात्रमें कोई कमी नहीं आती, वह सर्वथा पूर्ण है; अतः पुरुषको अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। चिन्मय सत्ताके सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं; अतः पुरुषको किसी साथीकी जरूरत नहीं है। इस प्रकार 'मुझे (स्वयंको) कुछ करना है ही नहीं, मुझे कुछ चाहिये ही नहीं और मेरा कुछ है ही नहीं'—ये तीन बातें ठीक समझमें आ जायँ तो प्रकृतिके साथ तादात्म्य नहीं रहेगा। प्रकृतिसे तादात्म्य न रहनेपर प्रकृतिमें क्रिया तो रहेगी, पर भोग करनेवाला कोई नहीं रहेगा।

गीतामें आया है—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

(१३। ३३)

'हे भारत! जैसे एक ही सूर्य सम्पूर्ण संसारको प्रकाशित करता है, ऐसे ही क्षेत्रज्ञ (पुरुष) सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है।'

तात्पर्य है कि जैसे सूर्य सम्पूर्ण जगत् (दृश्यमात्र)को प्रकाशित करता है और उसके प्रकाशमें सम्पूर्ण शुभ-अशुभ क्रियाएँ होती हैं, पर सूर्य उन क्रियाओंका न तो कर्ता बनता है और न भोक्ता ही बनता है। ऐसे ही स्वयं सम्पूर्ण लोकोंके सब शरीरोंको प्रकाशित करता है अर्थात् उनको सत्ता-स्फूर्ति देता है, पर वास्तवमें स्वयं न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है अर्थात् उसमें न कर्तृत्व आता है, न भोक्तृत्व। तात्पर्य है कि स्वयंमें प्रकाशकत्वका अभिमान नहीं है। इसलिये सिद्ध महापुरुषके लिये स्पष्ट कहा गया है—

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥

(गीता ४। २०)

'वह कर्मोंमें अच्छी तरहसे लगा हुआ भी वास्तवमें किञ्चिन्मात्र भी कुछ नहीं करता।'

स्वरूपमें लेशमात्र भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है—यह स्वतःसिद्ध बात है। इसमें कोई पुरुषार्थ नहीं है अर्थात् इसके लिये कुछ करना नहीं है, केवल इधर विवेकदृष्टि करनी है। तात्पर्य है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्वको मिटाना नहीं है, प्रत्युत इनको अपनेमें स्वीकार नहीं करना है, इनके अभावका अनुभव करना है; क्योंकि वास्तवमें ये अपनेमें हैं ही नहीं! इसलिये

साधकको अपनेमें निरन्तर अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वका अनुभव करना चाहिये। अपनेमें निरन्तर अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वका अनुभव होना ही जीवन्मुक्ति है।

स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है और उसमें किञ्चिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं होती—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(गीता १३। ३१)

'हे कौन्तेय! यह पुरुष स्वयं अनादि और निर्गुण होनेसे अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है, न लिप्त होता है।'

जैसे बाहरसे अनेक तरंगें उठती हुई दीखनेपर भी गहराईमें समुद्र शान्त रहता है, ऐसे ही बाहरसे (व्यवहारमें) सब क्रियाएँ होते हुए भी साधकके भीतर स्थिरता रहनी चाहिये। तात्पर्य है कि बाहरसे '**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' होते हुए भी भीतरसे '**न करोति न लिप्यते**' रहना चाहिये अर्थात् चिन्मय सत्तामात्रमें स्थित रहना चाहिये।

साधकसे प्रायः यह भूल होती है कि वह खाना-पीना, सोना-जगना आदि लौकिक क्रियाओंको तो प्रकृतिमें होनेवाली मान लेता है—'**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**', पर जप, ध्यान, समाधि आदि पारमार्थिक क्रियाओंको अपने द्वारा होनेवाली तथा अपने लिये मानता है। वास्तवमें यह साधकके लिये बाधक है! कारण कि ज्ञानयोगकी दृष्टिसे नीची-से-नीची क्रिया हो अथवा ऊँची-से-ऊँची क्रिया हो, है वह प्रकृतिकी ही! लाठी घुमाना और माला फेरना—दोनों क्रियाएँ अलग-अलग होनेपर भी प्रकृतिमें ही हैं। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥

(गीता १८। १५)

'मनुष्य शरीर, वाणी और मनके द्वारा शास्त्रविहित अथवा शास्त्रनिषिद्ध जो कुछ भी कर्म आरम्भ करता है, उसके ये (अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव) पाँचों हेतु होते हैं।'

तात्पर्य है कि खाना-पीना, सोना-जगना आदिसे लेकर जप, ध्यान, समाधितक सम्पूर्ण लौकिक-पारमार्थिक क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं। अतः साधकको चाहिये कि वह पारमार्थिक क्रियाओंका त्याग तो न करे, पर उनमें अपना कर्तृत्व न माने अर्थात् उनको अपने द्वारा होनेवाली तथा अपने लिये न माने। क्रिया चाहे लौकिक हो, चाहे पारमार्थिक हो, उसका महत्त्व वास्तवमें जडताका ही महत्त्व है। शास्त्रविहित होनेके कारण पारमार्थिक क्रियाओंका अन्तःकरणमें जो विशेष महत्त्व रहता है, वह भी जडताका ही महत्त्व होनेसे साधकके लिये बाधक है*।

जैसे सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिकी हैं, ऐसे ही सम्पूर्ण पदार्थ भी प्रकृतिके ही हैं—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥

(गीता १८। ४०)

'पृथ्वीमें या स्वर्गमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवाय और कहीं भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो।'

अतः क्रिया और पदार्थ—दोनों ही प्रकृति-विभागमें हैं। पुरुष-विभागमें किञ्चिन्मात्र भी न क्रिया है, न पदार्थ। क्रियाका आदि और अन्त होता है तथा पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश तथा संयोग और वियोग होते हैं; परन्तु पुरुष आदि-अन्त, उत्पत्ति-विनाश तथा संयोग-वियोगसे सर्वथा रहित है—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो-
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(गीता २। २०)

'यह शरीरी न कभी जन्मता है और न कभी मरता है। यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला नहीं है। यह जन्मरहित, नित्य-निरन्तर रहनेवाला, शाश्वत और पुराण (अनादि) है। शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

करना, होना और है—ये तीन विभाग हैं। 'करना' होनेमें और 'होना' 'है'में बदल जाय तो अहङ्कार सर्वथा नष्ट हो जाता है। जिसके अन्तःकरणमें क्रिया और पदार्थका महत्त्व है, ऐसा असाधक (संसारी मनुष्य) मानता है कि 'मैं क्रिया कर रहा हूँ'—'**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७)। जो कर्ता बनता है, उसको भोक्ता बनना ही पड़ता है। जिसमें विवेककी प्रधानता है, ऐसा साधक अनुभव

* भगवान्‌के लिये की गयी उपासनामें भगवान्‌की कृपा प्रधान होती है; अतः इसमें साधकका कर्तृत्व नहीं है। क्रिया, कर्म, उपासना और विवेक—चारों अलग-अलग हैं। 'क्रिया' किसीके भी साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ती। 'कर्म' अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति (फल)के साथ सम्बन्ध जोड़ता है। 'उपासना' भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ती है। 'विवेक' जड़-चेतनका सम्बन्ध-विच्छेद करता है।

करता है कि 'क्रिया हो रही है'—**'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'** (गीता ३।२८) अर्थात् 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ'—**'नैव किञ्चित्करोमीति'** (गीता ५।८)। परन्तु जिसको तत्त्वज्ञान हो गया है, ऐसा सिद्ध महापुरुष केवल सत्ता तथा ज्ञप्तिमात्र ('है')का ही अनुभव करता है—**'योऽवतिष्ठति नेङ्गते'** (गीता १४।२३)। वह चिन्मय सत्ता सम्पूर्ण क्रियाओंमें ज्यों-की-त्यों परिपूर्ण है। क्रियाओंका तो अन्त हो जाता है, पर चिन्मय सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। महापुरुषकी दृष्टि क्रियाओंपर न रहकर स्वतः एकमात्र चिन्मय सत्ता ('है') पर ही रहती है।

जबतक 'करना' है, तबतक अहंकारके साथ सम्बन्ध है; क्योंकि अहंकार (कर्तापन) के बिना 'करना' सिद्ध नहीं होता। करनेका भाव होनेपर कर्तृत्वाभिमान हो ही जाता है। कर्तृत्वाभिमान होनेसे 'करना' होता है और करनेसे कर्तृत्वाभिमान पुष्ट होता है। इसलिये किये हुए साधनसे साधक कभी अहङ्काररहित हो ही नहीं सकता। अहङ्कारपूर्वक किया गया कर्म कभी कल्याण नहीं कर सकता; क्योंकि सब अनर्थोंका, जन्म-मरणका मूल अहंकार ही है। अपने लिये कुछ न करनेसे अहङ्कारके साथ सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् प्रकृतिमात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह क्रियाको महत्त्व न देकर अपने विवेकको महत्त्व दे। विवेकको महत्त्व देनेसे विवेक स्वतः स्पष्ट होता रहता है और साधकका मार्गदर्शन करता रहता है। आगे चलकर यह विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है। तत्त्वज्ञान होनेपर चिन्मय सत्तामात्र शेष रहती है। वह सत्ता सर्वथा असंग है—**'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'** (बृहदा० ४।३।१५)। उस सत्तामें स्वतःसिद्ध स्थिति ही मुक्ति है और उसके सिवाय अन्य (प्रकृति तथा उसके कार्य) का संग ही बन्धन है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३।२१)।

प्रश्न—जो क्रिया हम संकल्पपूर्वक करते हैं, उसमें स्पष्ट ही ऐसा दीखता है कि 'मैं कर रहा हूँ'। जैसे भूख लगनेपर हम भोजन करनेका संकल्प करते हैं तो यह स्पष्ट दीखता है कि 'मैं भोजन करता हूँ'। अतः क्रियामात्र प्रकृतिमें ही होती है, मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूँ—यह कैसे मानें?

उत्तर—वास्तवमें संकल्प भी प्रकृति (मन)में ही होता है। परन्तु विवेक स्पष्ट न होनेके कारण अर्थात् मनसे तादात्म्य माननेके कारण संकल्प अपनेमें दीखता है। भूख लगना स्वयंका धर्म नहीं है, प्रत्युत प्राणोंका धर्म है*। भोजन प्राणोंके पोषणके लिये होता है, अपने पोषणके लिये नहीं। परन्तु प्राणोंके साथ तादात्म्य होनेसे ऐसा मालूम होता है कि 'मेरेको भूख लगी है' और यह संकल्प होता है कि मैं भोजन करूँ। यदि प्राणोंके साथ एकता न मानें तो भूख लगनेपर भोजन करनेका संकल्प नहीं होगा, प्रत्युत स्फुरणा होगी। स्फुरणा और संकल्पका भेद समझना बहुत आवश्यक है। स्फुरणा तो पैदा होकर मिट जाती है, पर संकल्प पैदा होनेके बाद मिटता नहीं, प्रत्युत उससे फिर कामना पैदा हो जाती है—**'सङ्कल्पप्रभवान् कामान्'** (गीता ६।२४)। स्फुरणा दर्पणकी तरह है। दर्पणपर दृश्य बहुत स्पष्ट दीखता है, पर दर्पण उस दृश्यको पकड़ता नहीं। परन्तु संकल्प कैमरेकी फिल्मकी तरह है। कैमरेकी फिल्मपर पड़ा दृश्य पकड़ा जाता है। अतः स्फुरणामें निर्लिप्तता रहती है और संकल्पमें लिप्तता होती है।

सिद्ध महापुरुषमें स्फुरणा होती है और साधारण मनुष्य तथा साधकमें संकल्प होता है। जड़तासे तादात्म्य होनेके कारण साधकको जडताकी कमी अपनेमें दीखती है। परन्तु जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर सिद्धको जड़ताकी कमी अपनेमें कभी नहीं दीखती; क्योंकि उसकी स्थिति स्वतःसिद्ध चिन्मयतामें होती है। सिद्धका यह स्वाभाविक अनुभव होता है कि क्रियामात्र प्रकृतिमें ही है, स्वयंमें किञ्चिन्मात्र भी नहीं। सिद्धका जो अनुभव होता है, उसीका साधक आदरपूर्वक अनुकरण करता है।

प्रश्न—अनुकरण करनेका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—क्रियामात्रका अपने साथ सम्बन्ध कभी था नहीं, है नहीं, होगा नहीं और होना सम्भव ही नहीं—इस बातको दृढ़तासे मान लेना ही सिद्धके अनुभवका अनुकरण करना है।

प्रश्न—दृढ़तासे माननेके लिये जो बुद्धि लगानी पड़ेगी अर्थात् बुद्धिका सम्बन्ध रहेगा, जिससे यह करण-सापेक्ष हो जायगा?

उत्तर—हाँ, पहले बुद्धि लगानी पड़ेगी, कहने और सुननेके लिये वाणी और श्रोत्र भी लगाने पड़ेंगे; परन्तु उद्देश्य तत्त्वको जाननेका (अनुभव करनेका) होनेसे परिणाममें बुद्धि आदि करणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा।

प्रश्न—गीतामें आया है कि कोई भी मनुष्य **(कश्चित्)**, किसी भी अवस्थामें **(जातु)**, क्षणमात्र भी **(क्षणमपि)**कर्म किये बिना नहीं रह सकता (३।५), फिर कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कैसे होगा?

* क्षुधा पिपासा प्राणस्य मनसः शोकमोहकौ। जन्ममृत्यू शरीरस्य षडूर्मिरहितः स्वयम्॥

उत्तर—क्रियामात्र केवल प्रकृतिमें ही होती है। परन्तु प्रकृतिके साथ अपना तादात्म्य स्वीकार करनेसे मनुष्य प्रकृतिजन्य गुणोंके अधीन हो जाता है—'**अवशः**' तथा उसका क्रियाके साथ सम्बन्ध हो जाता है। इसलिये प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध माननेवाला कोई भी मनुष्य जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, समाधि तथा सर्ग-महासर्ग, प्रलय-महाप्रलय आदि किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

(गीता ३।५)

प्रश्न—सुषुप्ति, मूर्च्छा तथा समाधि-अवस्थामें क्रिया कैसे होती है?

उत्तर—मनुष्य सोता हो और कोई उसको बीचमें ही जगा दे तो वह कहता है कि मेरेको कच्ची नींदमें जगा दिया! इससे सिद्ध होता है कि सुषुप्तिके समय भी नींदके पकनेकी क्रिया हो रही थी। ऐसे ही मूर्च्छा और समाधिके समय भी क्रिया होती है। पातञ्जलयोगदर्शनमें इस क्रियाको 'परिणाम' नामसे कहा है*।

'परिणाम'का अर्थ है—परिवर्तनकी धारा अर्थात् बदलनेका प्रवाह †।

तात्पर्य है कि समाधिके आरम्भसे लेकर व्युत्थान होनेतक क्रिया होती रहती है। अगर क्रिया न हो तो व्युत्थान हो ही नहीं सकता। समाधिके समय परिणाम होता है और समाधिके अन्तमें व्युत्थान होता है। प्रकृतिकी सम्पूर्ण अवस्थाओंसे अतीत है—सहजावस्था। सहजावस्था स्वरूपकी होती है, जिसमें किञ्चिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं है। अतः सहजावस्थामें परिणाम तथा व्युत्थान कभी होता ही नहीं।

प्रश्न—सहजावस्थाकी प्राप्तिका उपाय क्या है?

उत्तर—उपाय है—अपने लिये कुछ न करना अर्थात् खाना-पीना आदि साधारण क्रियाओंसे लेकर जप, ध्यान, समाधितक सम्पूर्ण क्रियाएँ दूसरेके लिये करना। कारण कि क्रियाएँ दूसरे (प्रकृतिके) विभागमें ही हैं, स्वरूप-विभागमें नहीं। मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और शरीर भी दूसरे अर्थात् प्रकृतिके ही हैं। निःस्वार्थभावसे दूसरोंके हितके लिये सब कर्म करना 'कर्मयोग' है। मैं कुछ भी नहीं करता हूँ, गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—ऐसा देखना 'ज्ञानयोग' है। केवल भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही सम्पूर्ण कर्म करना 'भक्तियोग' है। अपने लिये सब कर्म करना 'जन्ममरणयोग' है।

कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग—तीनों दृष्टियोंसे अपने लिये लेशमात्र भी कुछ न करनेसे क्रिया और पदार्थसे अर्थात् प्रकृति-विभागसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और एक चिन्मय सत्तामात्रमें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है। यही सहजावस्था है। यह सहजावस्था स्वतःसिद्ध है, की नहीं जाती। जो की जाती है, वह सहजावस्था नहीं होती, प्रत्युत कृत्रिम अवस्था होती है। इस सहजावस्थाका अनुभव होनेपर फिर कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता।

* व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः॥ ९॥
सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः॥ ११॥
ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः॥ १२॥ (विभूतिपाद)

† 'अथ कोऽयं परिणामः? अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः' (योगदर्शन, विभूतिः १३ का व्यासभाष्य)। 'यह परिणाम क्या है? अवस्थित द्रव्यके पूर्व धर्मकी निवृत्ति होकर अन्य धर्मकी उत्पत्ति (अवस्थान्तर) ही परिणाम है।'

'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' (२। ५५)

'अपने-आपसे अपने-आपमें ही सन्तुष्ट रहता है।'

'उद्धरेदात्मनात्मानम्' (६। ५)

'अपने द्वारा अपना उद्धार करे।'

'यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति' (६। २०)

'जब स्वयं अपने-आपमें अपने-आपको देखता हुआ अपने-आपमें सन्तुष्ट हो जाता है।'

तात्पर्य है कि वह तत्त्व स्वसंवेद्य है, परसंवेद्य नहीं। मनसे जो चिन्तन किया जाता है, वह मनके विषय (अनात्मा) का ही चिन्तन होता है, परमात्माका नहीं। बुद्धिसे जो निश्चय किया जाता है, वह बुद्धिके विषयका निश्चय होता है, परमात्माका नहीं। वाणीसे जो वर्णन किया जाता है, वह वाणीके विषयका ही वर्णन होता है, परमात्माका नहीं। तात्पर्य है कि मन-बुद्धि-वाणीसे प्रकृतिके कार्यका ही चिन्तन, निश्चय तथा वर्णन किया जाता है। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति मन-बुद्धि-वाणीसे विमुख (सम्बन्ध-विच्छेद) होनेपर ही होती है। उपनिषद्में आया है—

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

(केन० १। ४)

'जो वाणीसे नहीं बोला जाता, प्रत्युत जिससे वाणी बोली जाती है, उसीको तू ब्रह्म जान। वाणीसे बोलनेमें आनेवाले जिस तत्त्वकी लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।'

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

(केन० १। ५)

'जो मन (अन्तःकरण) से नहीं जाना जाता, प्रत्युत जिससे मन जाना हुआ कहा जाता है, उसीको तू ब्रह्म जान। मन-बुद्धिसे जाननेमें आनेवाले जिस तत्त्वकी लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।'

प्रकृतिके कार्य मन-बुद्धि-वाणीसे जब प्रकृतिका भी वर्णन नहीं हो सकता, तो फिर प्रकृतिसे अतीत तत्त्वका वर्णन हो ही कैसे सकता है? हम प्रकृतिके राज्य (शरीर-संसार) में बैठे हैं। अतः प्रकृतिके अंश (मन-बुद्धि-इन्द्रियों) से ही हम सत्-तत्त्व (परमात्मा) का वर्णन करते हैं; परन्तु वह वर्णन वास्तवमें असत्का ही होता है। सत्का वर्णन तो कभी हुआ नहीं, होगा नहीं, होना सम्भव ही नहीं! इसलिये उपनिषद्में आया है—

वाचा वदति यत्किञ्चित्संकल्पैः कल्प्यते च यत्।
मनसा चिन्त्यते यद्यत्सर्वं मिथ्या न संशयः॥

(तेजोबिन्दु० ५। ४५)

'वाणीसे जो कुछ बोला जाता है, संकल्पोंसे जो कुछ कल्पना की जाती है तथा मनसे जो कुछ चिन्तन किया जाता है, वह सब-का-सब मिथ्या ही है, इसमें कोई संशय नहीं है।'

शास्त्रोंमें, सन्तवाणीमें परमात्माका जो वर्णन हुआ है, वह परमात्मतत्त्वका लक्ष्य करानेके लिये ही है। कारण कि परमात्माका वर्णन नहीं किया जा सकता, प्रत्युत शाखाचन्द्र-न्यायसे परमात्माका निर्देश किया जा सकता है। अतः शास्त्र और सन्त शब्दोंसे शब्दातीतका लक्ष्य कराते हैं, वर्णनसे वर्णनातीतका लक्ष्य कराते हैं। जैसे लक्ष्यतक बन्दूक नहीं पहुँचती, प्रत्युत गोली पहुँचती है, ऐसे ही परमात्मातक शब्द (वर्णन) नहीं पहुँचता, प्रत्युत परमात्माका उद्देश्य होनेसे साधकका भाव परमात्मातक पहुँचता है। परन्तु यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं बैठता; क्योंकि वास्तवमें साधकका भाव परमात्मा-तक नहीं पहुँचता, प्रत्युत केवल उसका भ्रम, वहम-अज्ञान मिटता है, जिससे उसको अपनेमें ही नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है। तात्पर्य है कि शब्द परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं कराता, प्रत्युत उसकी अप्राप्तिका वहम मिटाता है।

शब्दमें अचिन्त्य शक्ति है। जब मनुष्य सोता है, तब इन्द्रियाँ मनमें, मन बुद्धिमें और बुद्धि अविद्या (अज्ञान) में लीन हो जाती है। परन्तु जब सोये हुए मनुष्यका नाम लेकर उसको पुकारा जाता है, तब वह जग जाता है। अतः शब्दमें इतनी शक्ति है कि वह अविद्यामें लीन हुई श्रवणेन्द्रियतक भी पहुँच जाता है और मनुष्यको जगा देता है*! अन्य इन्द्रियोंमें तो अपने-अपने अपरोक्ष विषयका ज्ञान करानेकी ही शक्ति है, पर श्रवणेन्द्रियमें अपरोक्ष विषयका ज्ञान करानेके साथ-साथ परोक्ष विषयका भी ज्ञान करानेकी शक्ति है। तात्पर्य है कि जिस विषयका हम त्वचासे स्पर्श नहीं कर सकते, नेत्रोंसे देख नहीं सकते, जीभसे चख नहीं सकते और नाकसे सूँघ नहीं सकते, उस विषयको भी हम कानोंसे सुनकर जान सकते हैं।

---

* शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् शब्दादेवापरोक्षधीः। प्रसुप्तः पुरुषो यद्वत् शब्देनैवावबुध्यते॥ (सदाचारानुसंधानम् १९)

'शब्दमें अचिन्त्य शक्ति होनेके कारण जैसे सोया हुआ मनुष्य शब्दमात्रसे जग जाता है, ऐसे ही परमात्मतत्त्व भी शब्दमात्रसे प्रत्यक्ष हो जाता है।'

निर्बलत्वादविद्याया आत्मत्वाद् बोधरूपिणः। शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाद् विद्मस्तं मोहहानतः॥

'अविद्याके दुर्बल होनेसे और आत्माके बोधस्वरूप होनेसे एवं शब्दमें अचिन्त्य शक्ति होनेसे मोह नष्ट होनेपर हम परमात्मतत्त्वको जान लेते हैं।'

इसलिये सब साधनोंमें 'श्रवण' की मुख्यता है। कानोंसे सुनकर ही उसके अनुसार कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगका अनुष्ठान करनेसे हम परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं। यद्यपि नेत्रोंसे शास्त्रको पढ़कर भी परोक्ष विषयका ज्ञान होता है, तथापि शब्दका ही लिखितरूप होनेसे वह भी मूलमें शब्दकी शक्ति ही है। शास्त्रज्ञान भी जैसा अनुभवी पुरुषसे सुनकर होता है, वैसा केवल पढ़नेसे नहीं होता* ।

एक तो शब्दकी शक्ति है और एक अनुभवकी शक्ति है। अनुभवरहित शब्द तो केवल बारूदसे भरी बन्दूकके समान है, जो केवल आवाज करके शान्त हो जाती है, पर अनुभव-युक्त शब्द गोलीसे भरी बन्दूकके समान है, जो आवाजके साथ-साथ चोट भी करती है। इसलिये अनुभवी-सन्तकी वाणीका श्रोतापर जैसा असर पड़ता है वैसा असर अनुभव न किये हुए पुरुषकी वाणीका नहीं पड़ता। शास्त्रमें भी आया है कि जिस वक्तामें निम्नलिखित चार दोष होते हैं, उसकी वाणीका दूसरोंपर असर नहीं पड़ता और वह वाणी वास्तविक तत्त्वका विवेचन भी नहीं कर सकती—

(१) **भ्रम**—वस्तु जैसी हो, वैसी न दीखकर और तरहकी दीखे—यह 'भ्रम' है। अगर वक्ताके अन्तःकरणमें संसारकी सत्ता और महत्ता होगी तो वह तत्त्वकी जो बात कहेगा, उसका दूसरोंपर असर नहीं पड़ेगा; क्योंकि उसके अन्तःकरणमें संसारकी सत्ता और महत्ता अखण्डरूपसे रहती है। अतः उसकी बात सीखी हुई न होकर अनुभव की हुई होनी चाहिये। अगर उसको अपनी बातपर कोई सन्देह हो तो स्पष्टरूपसे कह देना चाहिये कि मैं इस विषयमें निःसंदिग्ध नहीं हूँ। छिपाव न करके स्पष्टरूपसे कही बातका दूसरोंपर असर पड़ता है।

(२) **प्रमाद**—असावधानी (बेपरवाह) को 'प्रमाद' कहते हैं। अगर वक्ता जो विषय जानता है, उसका तत्परतासे विवेचन नहीं करता, मन लगाकर ठीक तरहसे नहीं कहता, दूसरोंको समझानेमें उपेक्षा (बेपरवाह) करता है तो उसकी बातका दूसरोंपर असर नहीं पड़ता।

(३) **लिप्सा**—रुपये-पैसे, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार, सुख-आराम आदि कुछ भी पानेकी इच्छाको 'लिप्सा' कहते हैं। अगर वक्तामें लिप्सा होगी तो वह स्पष्ट बात नहीं कह सकेगा, प्रत्युत वही बात कहेगा, जिससे स्वार्थ सिद्ध हो। अगर उसको स्वार्थमें बाधा लगती दीखेगी तो वह सच्ची बातको भी छिपा लेगा।

(४) **करणापाटव**—करणोंमें पटुता, कुशलता न होनेको 'करणापाटव' कहते हैं। वक्ता जिन मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि करणोंसे अपने भाव प्रकट करता है, उनमें कुशलता नहीं है, वह श्रोताकी भाषाको नहीं जानता, श्रोताके भाव, योग्यता आदिको नहीं समझता, श्रोताको उसकी योग्यताके अनुसार समझानेके लिये वह दृष्टान्त, युक्ति आदि नहीं जानता तो उसकी बात दूसरोंकी समझमें नहीं आती और उसका असर भी नहीं पड़ता।

वाणीके इन चारों दोषोंसे रहित वक्ता बहुत दुर्लभ होता है। शास्त्रमें आया है—

शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पण्डितः।
वक्ता शतसहस्रेषु दाता जायेत वा न वा॥

(व्यासस्मृति ४। ५८-५९; स्कन्दपुराण मा० कुमा० २। ७०)

'सैकड़ों मनुष्योंमें कोई एक शूर पैदा होता है, हजारोंमें कोई एक पण्डित पैदा होता है, लाखोंमें कोई एक वक्ता पैदा होता है, दाता तो पैदा हो भी अथवा न भी हो!'

* वचन आगले सन्तका, हरिया हस्ती दन्त। ताख न टूटे भरमका, सैंधे ही बिनु सन्त॥

अविनाशी रस

उपनिषद्में आया है—'**रसो वै सः**' (तैत्तिरीय० २। ७) 'वह परमात्मतत्त्व रसस्वरूप है।' तात्पर्य है कि रस वास्तवमें परमात्मतत्त्वमें ही है, जो शान्त, अखण्ड तथा अनन्त है। उस परमात्मतत्त्वका ही अंश होनेसे जीवात्मामें भी वह रस स्वतःस्वाभाविक है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस ७। ११७। १)

परंतु शरीरसे सम्बन्धकी मान्यता मुख्य होनेके कारण जीवात्माको वह रस सांसारिक भोगोंमें, इन्द्रियोंके विषयोंमें दीखने लगता है अर्थात् उसकी भोगोंमें रसबुद्धि हो जाती है। भोगोंका यह रस नाशवान् होता है, जब कि परमात्माका रस अविनाशी होता है। अतः भोगोंका रस तो नीरसतामें बदल जाता है तथा उसका अन्त हो जाता है, पर परमात्माका रस नित्य-निरन्तर सरस रहता है तथा बढ़ता ही रहता है।

भोगोंके रसकी दो अवस्थाएँ होती हैं—संयोग (सम्भोग) और वियोग (विप्रलम्भ)। इनमें संयोग-रसकी

अपेक्षा वियोगरस श्रेष्ठ है; क्योंकि वियोगमें जो रस मिलता है, वह संयोगमें नहीं मिलता। जैसे, जबतक भोजन न मिले, तबतक 'भोजन मिलेगा'—इस (मिलनकी लालसा)में जो सुख मिलता है, वह भोजन मिलनेपर नहीं रहता, प्रत्युत प्रत्येक ग्रासमें क्षीण होते-होते अन्तमें सर्वथा मिट जाता है और भोजनसे अरुचि पैदा हो जाती है ! परंतु परमात्माका रस इससे बहुत विलक्षण है। वह संयोग और वियोग—दोनों ही अवस्थाओंमें समानरूपसे बढ़ता ही रहता है, न तो घटता है और न मिटता ही है !

भोगोंकी सत्ता और महत्ता माननेसे भीतरमें भोगोंके प्रति एक सूक्ष्म आकर्षण, प्रियता, मिठास पैदा होती है, उसका नाम 'रस' है। किसी लोभी व्यक्तिको रुपये मिल जायँ और कामी व्यक्तिको स्त्री मिल जाय तो भीतर-ही-भीतर एक खुशी आती है, यही 'रस' है। भोग भोगनेके बाद मनुष्य कहता है कि 'बड़ा मजा आया'—यह उस रसकी ही स्मृति है। यह रस अहम् (चिज्जडग्रन्थि) में रहता है। इसी रसका स्थूल रूप राग, सुखासक्ति है।

जबतक रसबुद्धि रहती है, तबतक प्रकृति और उसके कार्य (क्रिया और पदार्थ) की पराधीनता रहती है। रसबुद्धि निवृत्त होनेपर पराधीनता मिट जाती है, भोगोंके सुखकी परवशता नहीं रहती, भीतरसे भोगोंकी गुलामी नहीं रहती।

भोगोंके रसमें जननेन्द्रियका रस बड़ा प्रबल माना गया है। इसलिये कामको जीतना बड़ा कठिन होता है। संसारमें रुपयोंके विषयमें ईमानदार आदमी तो मिल सकते हैं, पर स्त्रीके विषयमें ईमानदार आदमी मिलना अपेक्षाकृत कठिन है। ईमानदार आदमी किसीके लाखों रुपये अपने पास सुरक्षित रख सकता है, पर किसीकी स्त्रीको अपने पास सुरक्षित रखना, विचलित न होना बहुत कठिन है। भर्तृहरिजी लिखते हैं—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यस्तरेत्सागरे॥

'जो वायु-भक्षण करके, जल पीकर और सूखे पत्ते खाकर रहते थे, वे विश्वामित्र, पराशर आदि भी सुन्दर स्त्रियोंके मुखको देखकर मोहको प्राप्त हो गये, फिर जो लोग शाली धान्य (सांठी चावल) को घी, दूध और दहीके साथ खाते हैं, वे यदि अपनी इन्द्रियका निग्रह कर सकें तो मानो विन्ध्याचल पर्वत समुद्रपर तैरने लगा !'

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित् प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥

'इस पृथ्वीपर कुछ लोग तो मतवाले हाथीका मस्तक विदीर्ण करनेमें शूर हैं और कुछ लोग प्रचण्ड सिंहको मारनेमें दक्ष हैं। परंतु ऐसे बलवान् पुरुषोंके सामने मैं दृढ़तापूर्वक कहता हूँ कि कामदेवके मदको चूर्ण करनेवाले पुरुष विरले ही हैं।'

ऐसी प्रबल जननेन्द्रियका रस भी रसबुद्धि निवृत्त होनेपर सर्वथा नष्ट हो जाता है ! कारण कि काम कितना ही प्रबल क्यों न हो, है तो वह नाशवान् ही ! कामको जीतना कठिन तो हो सकता है, पर असम्भव नहीं ! कठिन भी उसीके लिये है, जिसने शरीरादि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंकी सत्ता और महत्ता मान रखी है। अगर साधक शरीरमें अपनी स्थिति मानेगा तो उसको काम सतायेगा ही। यदि वह स्वरूप (सत्तामात्र) में अपनी वास्तविक स्थितिको पहचान ले तो काम नष्ट हो जायगा, क्योंकि स्वरूप (सत्तामात्र)में काम, क्रोध आदि विकार नहीं हैं। कारण कि स्वरूपमें कोई कमी है ही नहीं, वह पूर्ण है, फिर उसमें काम कैसे आयेगा ?

रसबुद्धिके रहते हुए जब भोगोंकी प्राप्ति होती है, तब मनुष्यका चित्त पिघल जाता है तथा वह भोगोंके वशीभूत हो जाता है। परंतु रसबुद्धि निवृत्त होनेके बाद जब भोगोंकी प्राप्ति होती है, तब तत्त्वज्ञ महापुरुषके चित्तमें किञ्चिन्मात्र भी कोई विकार पैदा नहीं होता। उसके भीतर ऐसी कोई वृत्ति पैदा नहीं होती, जिससे भोग उसको अपनी ओर खींच सकें। जैसे पशुके आगे रुपयोंकी थैली रख दें तो उसमें लोभ-वृत्ति पैदा नहीं होती और सुन्दर स्त्रीको देखकर उसमें काम-वृत्ति पैदा नहीं होती। पशु तो रुपयोंको और स्त्रीको जानता नहीं, पर तत्त्वज्ञ महापुरुष रुपयोंको भी जानता है और स्त्रीको भी ! जैसे हम अंगुलीसे शरीरके किसी अंगको खुजलाते हैं तो खुजली मिटनेपर अंगुलीमें कोई फर्क नहीं पड़ता, कोई विकृति नहीं आती, ऐसे ही इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन होनेपर भी तत्त्वज्ञके चित्तमें कोई विकार नहीं आता, वह ज्यों-का-त्यों निर्विकार रहता है। कारण कि रसबुद्धि निवृत्त हो जानेसे वह अपने सुखके लिये किसी विषयमें प्रवृत्त होता ही नहीं। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरोंके हित और सुखके लिये ही होती है। अपने सुखके लिये किया गया विषयोंका

चिन्तन भी पतन करनेवाला हो जाता है* और अपने सुखके लिये न किया गया विषयोंका सेवन भी मुक्ति देनेवाला हो जाता है†।

जबतक अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी भोगोंकी सत्ता और महत्ता रहती है, भोगोंमें रसबुद्धि रहती है, तबतक परमात्माका अलौकिक रस प्रकट नहीं होता। बाहरसे इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर अर्थात् भोगोंका त्याग करनेपर भी भीतरमें रसबुद्धि बनी रहती है। तत्त्वबोध होनेपर यह रसबुद्धि सूख जाती है, निवृत्त हो जाती है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(गीता २। ५९)

'निराहारी‡ (इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेवाले) मनुष्यके भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर रसबुद्धि निवृत्त नहीं होती। परंतु परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेपर इस स्थितप्रज्ञ मनुष्यकी रसबुद्धि भी निवृत्त हो जाती है।'

तात्पर्य है कि जब संसारसे अपनी भिन्नता तथा परमात्मासे अपनी अभिन्नताका अनुभव हो जाता है, तब नाशवान् (संयोगजन्य) रसकी निवृत्ति हो जाती है। नाशवान् रसकी निवृत्ति होनेपर अविनाशी (शान्त, अखण्ड तथा अनन्त) रसकी जागृति हो जाती है।

तत्त्वबोध होनेपर तो रस सर्वथा निवृत्त हो ही जाता है, पर तत्त्वबोध होनेसे पहले भी उसकी उपेक्षासे, विचारसे, सत्संगसे, सन्तकृपासे रस निवृत्त हो सकता है। जिनकी रसबुद्धि निवृत्त हो चुकी है, ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुषके संगसे भी रस निवृत्त हो जाता है।

कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग—तीनों साधनोंसे नाशवान् रसकी निवृत्ति हो जाती है। जब कर्मयोगमें सेवाका रस, ज्ञानयोगमें तत्त्वके अनुभवका रस और भक्तियोगमें भगवत्स्मरणका रस मिलने लगता है, तब नाशवान् रस स्वतः छूट जाता है। जैसे बचपनमें खिलौनोंमें रस मिलता था, पर बड़े होनेपर जब रुपयोंमें रस मिलने लगता है, तब खिलौनोंका रस स्वतः छूट जाता है, ऐसे ही साधनका रस मिलनेपर भोगोंका रस स्वतः छूट जाता है।

═★═

* ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ (गीता २। ६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले मनुष्यकी उन विषयोंमें आसक्ति पैदा हो जाती है। आसक्तिसे कामना पैदा होती है। कामनासे क्रोध पैदा होता है। क्रोध होनेपर सम्मोह (मूढ़भाव) हो जाता है। सम्मोहसे स्मृति भ्रष्ट हो जाती है। स्मृति भ्रष्ट होनेपर बुद्धिका नाश हो जाता है। बुद्धिका नाश होनेपर मनुष्यका पतन हो जाता है।'

† रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ (गीता २। ६४-६५)

'वशीभूत अन्तःकरणवाला साधक राग-द्वेषसे रहित अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त हो जाता है। प्रसन्नता प्राप्त होनेपर साधकके सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है और ऐसे प्रसन्न चित्तवाले साधककी बुद्धि निःसन्देह बहुत जल्दी परमात्मामें स्थिर हो जाती है।'

‡ शब्दादि विषय इन्द्रियोंके आहार हैं। उन विषयोंसे जिसने अपनी इन्द्रियोंको हटा लिया है, उसको यहाँ 'निराहारी' कहा गया है।

॥ श्रीहरि: ॥

विषय-सूची

कर्मयोग (भौतिक साधना)

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

कर्मयोग (भौतिक साधना)

कर्मयोग

समतापूर्वक कर्तव्यकर्मोंका आचरण करना ही कर्मयोग कहलाता है। कर्मयोगमें खास निष्कामभावकी मुख्यता है। निष्कामभाव न रहनेपर कर्म केवल 'कर्म' होते हैं; कर्मयोग नहीं होता। शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म करनेपर भी यदि निष्कामभाव नहीं है तो उन्हें कर्म ही कहा जाता है, ऐसी क्रियाओंसे मुक्ति सम्भव नहीं; क्योंकि मुक्तिमें भावकी ही प्रधानता है। निष्कामभाव सिद्ध होनेमें राग-द्वेष ही बाधक हैं—**'तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ'** (गीता ३।३४); वे इसके मार्गमें लुटेरे हैं। अतः राग-द्वेषके वशमें नहीं होना चाहिये। तो फिर क्या करना चाहिये?—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३।३५)

—इस श्लोकमें बहुत विलक्षण बातें बतायी गयी हैं। इस एक श्लोकमें चार चरण हैं। भगवान्‌ने इस श्लोककी रचना कैसी सुन्दर की है! थोड़े-से शब्दोंमें कितने गम्भीर भाव भर दिये हैं। कर्मके विषयमें कहा है—

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः'

यहाँ **'श्रेयान्'** क्यों कहा? इसलिये कि अर्जुनने दूसरे अध्यायमें गुरुजनोंको मारनेकी अपेक्षा भीख माँगना 'श्रेय' कहा था—**'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके'** (२।५); किंतु **'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'** (२।७) में अपने लिये निश्चित 'श्रेय' भी पूछा और तीसरे अध्यायमें भी पुनः निश्चित 'श्रेय' ही पूछा—**'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्'** (३।२) यहाँ भी 'निश्चित' कहा और दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें भी **'निश्चितम्'** कहा है। भाव यह है कि मेरे लिये कल्याणकारक अचूक रामबाण उपाय होना चाहिये। वहाँ अर्जुनने प्रश्न करते हुए कहा—**'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन'** (३।१); यहाँ **'ज्यायसी'** पद है। इस ज्यायसीका भगवान्‌ने **'कर्मज्यायो ह्यकर्मणः'** (३।८)में **'ज्यायः'** कहकर उत्तर दिया कि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। यहाँ भगवान्‌ने भीख माँगनेकी बात काट दी। तो फिर कर्म कौन-सा करे? इसपर बतलाया कि जो स्वधर्म है, वही कर्तव्य है; उसीका आचरण करो। अर्जुनके लिये स्वधर्म क्या है? युद्ध करना। १८वें अध्यायके ४३वें श्लोकमें भगवान्‌ने क्षत्रियके जो स्वाभाविक कर्म बतलाये हैं, क्षत्रिय होनेके नाते अर्जुनके लिये वे ही कर्तव्यकर्म हैं। वहाँ भी भगवान्‌ने **'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः'**—(१८।४७) कहा है। स्वधर्मका नाम स्वकर्म है। यहाँ स्वकर्म है—युद्ध करना। **'स्वधर्मः'** के साथ **'विगुणः'** विशेषण क्यों दिया? अर्जुनने तीसरे अध्यायके पहले श्लोकमें युद्धरूपी कर्मको 'घोर कर्म' बतलाया है। इसीलिये भगवान्‌ने उसके उत्तरमें उसे **'विगुणः'** बतलाकर यह व्यक्त किया कि स्वधर्म विगुण होनेपर भी कर्तव्यकर्म होनेसे श्रेष्ठ है। अतः अर्जुनके लिये युद्ध करना ही कर्तव्य है; तथा दूसरे अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने बतलाया कि धर्मयुद्धसे बढ़कर क्षत्रियके लिये दूसरा कोई कल्याणकारक श्रेष्ठ साधन है ही नहीं।

'परधर्मात् स्वनुष्ठितात्'

मतलब यह है कि परधर्ममें गुणोंका बाहुल्य भी हो और उसका आचरण भी अच्छी तरहसे किया जाता हो तथा अपने धर्ममें गुणोंकी कमी हो और उसका आचरण भी ठीक तरहसे नहीं बन पाता हो, तब भी परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्म ही **'श्रेयान्'** —अति श्रेष्ठ है। जैसे पतिव्रता स्त्रीके लिये अपना पति सेव्य है, चाहे वह विगुण ही हो। श्रीरामचरितमानसमें कहे हुए—

बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥

—ये आठों अवगुण अपने पतिमें विद्यमान हों और उसकी सेवा भी साङ्गोपाङ्ग नहीं होती हो, तथा पर-पति गुणवान् भी हो और उसकी सेवा भी अच्छी तरह की जा सकती हो, तो भी पत्नीके लिये अपने पतिकी सेवा ही श्रेष्ठ है,

वही सेवनीय है; पर-पति कदापि सेवनीय नहीं। उसी प्रकार स्वधर्म ही '**श्रेयान्**' (श्रेष्ठ) है, परधर्म कदापि नहीं।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

—इससे भगवान्‌ने यह भाव बतलाया है कि कष्टोंकी सीमा मृत्यु है और स्वधर्म-पालनमें यदि मृत्यु भी होती हो तो वह भी परिणाममें कल्याणकारक है। तात्पर्य यह कि परधर्ममें प्रतीत होनेवाले गुण, उसके अनुष्ठानकी सुगमता और उससे मिलनेवाले सुखकी कोई कीमत नहीं है; क्योंकि वह परिणाममें महान् भयावह है। बल्कि अपने धर्ममें गुणोंकी कमी, अनुष्ठानकी दुष्करता और उसमें होनेवाले कष्ट भी महान् मूल्यवान् हैं; क्योंकि वह परिणाममें कल्याणकारक है। फिर जिस स्वधर्ममें गुणोंकी कमी भी न हो, अनुष्ठान भी अच्छी प्रकार किया जा सकता हो तथा उसमें सुख भी होता हो, वह सर्वथा श्रेष्ठ है—इसमें तो कहना ही क्या है।

उपर्युक्त श्लोककी व्याख्याके अनुसार मनुष्योंको कर्तव्य-कर्मोंका निष्कामभावसे अनुष्ठान करनेमें लग जाना चाहिये।

सभी कर्तव्य कर्मोंका नाम यज्ञ है

गीताजीके श्लोकोंसे तो यही बात सिद्ध होती है कि सब कर्मोंका नाम यज्ञ है। कैसे सिद्ध होती है, इसपर विचार किया जाता है। यज्ञोंका विशेष वर्णन आता है गीताके चौथे अध्यायमें २४वें श्लोकसे ३२वें श्लोकतक। इनका प्रकरण आरम्भ होता है चौथे अध्यायके २३वें श्लोकसे। उसमें भगवान् कहते हैं—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

इसमें बतलाया गया है कि यज्ञके लिये आचरित सम्पूर्ण कर्म सर्वथा विलीन हो जाते हैं। अर्थात् वे शुभाशुभ फलका उत्पादन नहीं करते, फलदायक—बन्धनकारक नहीं होते, जन्म देनेवाले नहीं होते। कर्मोंकी प्रविलीनताका यही अर्थ है।

इसी बातको दूसरे ढंगसे भगवान् कहते हैं तीसरे अध्यायके ९वें श्लोकमें—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

यज्ञार्थ कर्मसे भिन्न कर्ममें लगनेपर यह लोकसमुदाय कर्मोंके बन्धनमें बँधता है।

अर्थात् यज्ञके अतिरिक्त जो भी कर्म होते हैं, वे सभी बन्धनकारक होते हैं। केवल यज्ञार्थ कर्म बन्धनकारक नहीं होते। उपर्युक्त दोनों ही स्थलोंमें 'यज्ञ' शब्द आया है। चौथे अध्यायके २४वें श्लोकसे भगवान् यज्ञोंका वर्णन आरम्भ करते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

इस प्रकरणमें चौदह यज्ञोंका उल्लेख किया गया है, जिनमें 'प्राणायाम'का नाम भी आया है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥
(४।२९)

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
(४।३०)

ऊपर 'जुह्वति' क्रिया दी गयी है, आगे और भी क्रियाएँ बतायी गयी हैं। जैसे उसी अध्यायके २८वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥

दान-पुण्य आदि जितने भी कर्म पैसोंसे या पदार्थोंसे सिद्ध होते हैं, उन्हींको 'द्रव्ययज्ञ' कहा गया है। इसी प्रकार जिसमें इन्द्रियोंका, मनका, शरीरका संयम किया जाय, उस तपस्याको भी 'यज्ञ' कहा गया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—पातञ्जलयोगके ये आठ अङ्ग तथा हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग आदि जो अन्य योग हैं, उन्हें भगवान्ने 'योगयज्ञ' कहा है। स्वाध्याय अर्थात् वेदोंका अध्ययन, स्मृतियोंका पाठ तथा इन सबका मनन—इन्हींको भगवान्ने 'स्वाध्याययज्ञ' नाम दिया है तथा इनके द्वारा उत्पन्न हुई समझको, इतना ही नहीं, किसी भी बातको गहराईसे समझनेको 'ज्ञानयज्ञ' कहा है। भगवान्ने 'यज्ञ' नामसे इन सबको अभिहित किया है। वे इस यज्ञके प्रकरणका उपसंहार करते हैं चौथे अध्यायके ३२वें श्लोकमें—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

इस श्लोकमें यज्ञोंको कर्मजन्य बताया गया है। इसके पूर्ववर्ती श्लोकमें श्रीभगवान् कहते हैं—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।

—जो बात भगवान्ने ४थे अध्यायके २३वें श्लोकमें कही थी—

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।

—उसीका उपसंहार एक प्रकारसे वे चौथे अध्यायके

३१वें श्लोकमें करते हैं—'यज्ञशिष्ट अमृतका भोजन करनेवाले सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।'* इसी प्रकार तीसरे अध्यायके १३वें श्लोकमें देखिये—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।

'यज्ञशेष भोजन करनेवाले सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं।' अब देखिये—सब पापोंसे मुक्त हो जाना, सम्पूर्ण कर्मोंका लीन हो जाना और यज्ञसे ब्रह्मकी प्राप्ति—ये तीनों एक ही बात है, सबका तात्पर्य एक ही निकलता है। तीसरे अध्यायके नवें और तेरहवें तथा चौथे अध्यायके तेईसवें और इकतीसवें—इन चारों श्लोकमें यज्ञका फल बताया गया है—परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति, सम्पूर्ण पापोंका नाश और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद। अतः जितने भी उपाय परमात्माकी प्राप्तिके हैं, वे सब-के-सब गीतामें 'यज्ञ' नामसे अभिहित हुए हैं—यह बात उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हो गयी। बीचमें द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, प्राणायामयज्ञ आदि सभी यज्ञोंकी चर्चा आ गयी। दान, तप, होम, तीर्थसेवन, व्रत—ये सब-के-सब 'यज्ञ' शब्दके अन्तर्गत आ गये—यह मानना ही पड़ेगा।

चौथे अध्यायके ३२वें श्लोकमें यह कहकर कि 'वेदकी वाणीमें बहुत-से यज्ञोंका विस्तारसे वर्णन हुआ है'—भगवान्‌ने दहरादिकी उपासनाका भी 'यज्ञ' शब्दमें अन्तर्भाव कर दिया, जिनका वर्णन गीतामें नहीं है, अपितु उपनिषद्‌में आया है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

'इन सबको तू कर्मोंसे उत्पन्न जान—'**कर्मजान् विद्धि**' और इस प्रकार जाननेसे तू मुक्त हो जायगा—'**एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे**।'

चौथे अध्यायके १५वें श्लोकमें श्रीभगवान् कहते हैं—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥

यहाँ भी भगवान्‌ने कर्मपर जोर दिया है। उपर्युक्त श्लोकमें '**एवं ज्ञात्वा**'से इस तत्त्वको जाननेकी बात जो कही गयी है, वह जिस प्रसंगसे कही गयी है, वह प्रसंग चौथे अध्यायके १३वें श्लोकमें आता है। वह इस प्रकार है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

यहाँ भी 'कर्म' शब्द आया है। इस कर्मके तत्त्वपर ध्यान देना चाहिये। कर्ममात्रका नाम 'यज्ञ' है—यह बात अब बतलायी जाती है। चौथे अध्यायके १३वें श्लोककी अवतारणा हुई है उसी अध्यायके नवें श्लोकसे। नवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—'**जन्म कर्म च मे दिव्यम्**'—मेरा जन्म-कर्म दिव्य है। वह कर्म दिव्य क्यों है? अपने कर्मोंकी दिव्यताका प्रकरण भगवान्‌ने चलाया है १३वें श्लोकसे और जन्मकी दिव्यता भगवान्‌ने कही है चौथे अध्यायके छठे श्लोकसे। वहाँ उन्होंने जन्मकी दिव्यताके साथ अपने जन्मका हेतु बताया और कहा कि 'मेरा जन्म-कर्म दिव्य है, इस बातको जो जानता है, वह मुक्त हो जाता है।' चौथे अध्यायके १३वें श्लोकमें श्रीभगवान् कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

'चातुर्वर्ण्यकी जब मैंने रचना की, तब यह मेरा कर्म हुआ; और मैं उसका कर्ता हुआ; तथापि तू मुझ कर्ताको भी अकर्ता जान।' इसके बाद वे कहते हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

'मुझे कर्म बाँधते नहीं और मेरी कर्मफलमें कोई स्पृहा नहीं है—इस प्रकार जो जान लेता है, वह कर्मोंसे नहीं बँधता।' इस प्रकार भगवान्‌ने अपना कर्म बताया और यह भी बताया कि जो उनके कर्मोंका रहस्य जान लेता है, वह बँधता नहीं है। वह क्यों नहीं बँधता? इसके दो हेतु बताये गये हैं—**तस्य कर्तारमपि मां विद्धि अकर्तारम्**'—उन कर्मोंके कर्ता होते हुए भी मुझको अकर्ता समझ।' इस कथनसे तात्पर्य यह निकला कि 'भगवान् कर्तृत्वाभिमानसे रहित हैं।' साथ ही '**न मे कर्मफले स्पृहा**' कहकर वे बताते हैं कि मुझमें कर्मफलकी इच्छा नहीं होती।' जिस कर्ममें कर्तृत्वका अभिमान न हो और फलकी इच्छा न हो, वह कर्म बन्धनकारक नहीं होता, यह सिद्धान्त है। इसलिये भगवान् कहते हैं—'**इति मां योऽभिजानाति**'—'जो कोई भी मुझे ऐसा जान लेता है,' '**कर्मभिर्न स बध्यते**'—'कर्मसे वह नहीं बँधता है।' मेरी तरह कर्तृत्व-अभिमान और फलासक्तिसे रहित होकर कोई भी कर्म करेगा, वह भी नहीं बँधेगा। इस प्रकार भगवान्‌ने अपने कर्मोंकी दिव्यता बतायी। जो कर्म बाँधनेवाले हैं, वे ही कर्म मुक्तिदायक हो जायँ, यह दिव्यता है कर्मोंकी। इसीलिये कर्मयोगके प्रसंगमें भगवान्‌ने दूसरे अध्यायमें कहा है—'**योगः कर्मसु कौशलम्**'—'कर्मोंमें योग ही 'कुशलता' है।' 'योग' किसका नाम है? '**समत्वं योग उच्यते**'—'समताको ही योग कहा जाता है।' यह समता कैसे प्राप्त होती है? '**सङ्गं त्यक्त्वा**' और '**सिद्ध्यसिद्ध्योः**

* 'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।'

समो भूत्वा'—मनुष्य आसक्तिका त्याग करे और सिद्धि-असिद्धिमें सम हो जाय, तब समता आती है। समताका नाम ही योग है और योग ही कर्ममें कुशलता है। जो कर्म बाँधनेवाले हैं, वे ही मुक्ति देनेवाले हो जायँ—यही कर्मोंकी कुशलता है। इसीलिये कहा गया है—

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः॥

कुछ लोग कहते हैं कि जबतक मुमुक्षा उत्पन्न न हो, तभीतक कर्म करना है और मुमुक्षा उत्पन्न हो जानेपर मनुष्यको चाहिये कि वह संन्यास ले ले और कर्मोंका त्याग कर दे। यह अद्वैत-वेदान्तकी प्रक्रिया है। पर चौथे अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।

'मुमुक्षु पुरुषोंने ऐसा जानकर कर्म किया है।'—कर्म किया है, कर्मोंका त्याग नहीं।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।

'इसलिये तू कर्म ही कर,' **'कर्मैव कुरु।'** इस प्रकार भगवान्ने यहाँ कर्म करनेपर ही जोर दिया। फिर चौथे अध्यायके १६वें श्लोकमें वे कहते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

'कर्म क्या है, अकर्म क्या है'—इस बातको लेकर बड़े-बड़े पण्डित भी मोहमें पड़ जाते हैं। अब मैं तुझे वह कर्म कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभसे—बन्धनसे मुक्त हो जायगा।' इस प्रकार १६वें श्लोकसे उपर्युक्त प्रसंगका उपक्रम करके उपसंहार करते हैं उसी अध्यायके ३२वें श्लोकमें। १६वें श्लोकमें उन्होंने जो बात कही—**'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'** वही बात चौथेके ३२वेंमें उपसंहार करते हुए कही है—**'एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।'** इसी कर्मके अन्तर्गत यज्ञ हैं। जितने भी शुभ कर्म हैं, उन्हींका नाम है—'यज्ञ' और उन्हीं कर्मोंके द्वारा भगवान्के पूजनकी बात कही गयी है। अठारहवें अध्यायके ४६वें श्लोकमें—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।'** पूजाका ही नाम यज्ञ है। इस प्रकार जितने भी कर्म हैं, वे सब-के-सब यज्ञ हैं। 'यज्ञ' शब्दके अन्तर्गत जितने भी कर्तव्य-कर्म हैं, वे सब आ गये। अब जरा ध्यान देकर विचार करें—'यज्ञ' शब्दका क्या अर्थ होना चाहिये? गीताके अनुसार यज्ञ आदि जितने भी शुभ कर्म हैं, सब-के-सब 'यज्ञ' शब्दके अन्तःपाती हैं। इसी 'यज्ञ' शब्दका चतुर्थी विभक्तिमें रूप होता है, **'यज्ञाय'**—यज्ञके लिये। 'यज्ञार्थ'का भी वही अर्थ होता है जो 'यज्ञाय'का है। तीसरे अध्यायके ९वें श्लोकमें आया है—**'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'।'** यज्ञार्थ कर्मको छोड़कर अन्य सभी कर्म बन्धनकारक होते हैं।' 'यज्ञार्थ कर्म'का अर्थ है—यज्ञके लिये किये जानेवाले कर्म। चौथे अध्यायके २३वें श्लोकमें कहा है—**'यज्ञायाचरतः,'** यज्ञके लिये कर्म करनेका अर्थ है—कर्मके लिये कर्म करना अर्थात् लोकसंग्रहके लिये कर्तव्यमात्र करना। फलकी इच्छा, आसक्ति, कामना, कर्तृत्व-अभिमान आदि कुछ भी नहीं रखना। लोकसंग्रहकी बात भगवान् कहते हैं—तीसरे अध्यायके २०वें, २१वें श्लोकोंमें—**'लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि।'** इसके बाद वे २२ वें श्लोकमें कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

'मेरे लिये तीनों लोकोंमें न तो कोई कर्तव्य शेष है और न कोई ऐसी प्राप्तव्य वस्तु ही बाकी है, जो अबतक मुझे प्राप्त न हुई हो, तो भी मैं कर्ममें प्रवृत्त होता हूँ।' इसका अर्थ यह हुआ कि केवल कर्तव्य-बुद्धिसे, लोकसंग्रहकी दृष्टिसे, लोक-शिक्षाके लिये कर्म किये जाने चाहिये। अपना कोई स्वार्थ न रहे, कोई कर्तृत्व-अभिमान नहीं, ममता नहीं, आसक्ति नहीं, विषमता नहीं, किसी प्रकारकी कोई इच्छा नहीं, कोई आग्रह नहीं एवं कहीं कोई लगाव नहीं। निर्लिप्त होकर जो कर्म किये जाते हैं, वे सब कर्म 'यज्ञ' हो जाते हैं। कर्म किया जाय यज्ञार्थ—यज्ञके लिये ही; लोकपरम्परा सुरक्षित रखना ही उसका उद्देश्य हो, लोगोंका पतन न हो—इसी भावसे कर्म किया जाय, वह होगा 'यज्ञार्थ कर्म'। 'यज्ञ' शब्दका यह तात्पर्य निकला।

अब दूसरी दृष्टिसे देखिये कि 'यज्ञ' शब्दका क्या अर्थ होना चाहिये। गीताके चौथे अध्यायमें जो 'यज्ञ' शब्द आया है, उसी यज्ञके विषयमें अर्जुनने सत्रहवें अध्यायके प्रारम्भमें एक बात पूछी है—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥

'शास्त्रविधिका त्याग करके जो यजन करते हैं, उनकी निष्ठा कौन-सी है?' जितने यज्ञ होते हैं, सब-के-सब शास्त्र-विधिसे सम्पन्न होते हैं—**'कर्मजान्विद्धि तान्सर्वान्।'** **'एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे'**—'वे यज्ञ वेदवाणीमें कहे गये हैं।' वेदवाणीमें कहे गये अर्थात् शास्त्रोंमें उनका विधान किया गया है। परंतु अर्जुनके प्रश्नमें शास्त्रविधिके त्यागपूर्वक यजनकी बात कही गयी है। इसीपर यह प्रश्न उठाया गया है कि शास्त्रविधिका उल्लङ्घन करके जो यजन

करते हैं, उनकी निष्ठा कौन-सी होगी। शास्त्रविधिके त्यागका फल तो विपरीत होना चाहिये और यजन-पूजनका फल उत्तम होना चाहिये। दोनोंके सम्मिलित परिणामस्वरूप उनकी निष्ठा कौन-सी होगी—यही प्रश्न अर्जुनके मनमें उठा, जिसका उत्तर भगवान्‌ने दिया है सत्रहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें। वैसे तो सत्रहवाँ अध्याय पूरा इस प्रश्नके उत्तरके रूपमें है, पर यज्ञके विषयमें उत्तर दिया गया है चौथे श्लोकमें—

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥

इससे यह सिद्ध हो गया कि सात्त्विक, राजस, तामस—तीन तरहकी निष्ठा उनकी होती है। पूजा होती है देवताओंकी। प्रश्न यह होता है कि '**यजन्ते**' द्वारा जिनके पूजनकी बात कही गयी है, वे देवता कौन हैं और उनका यजन क्या है? इनमेंसे पहले प्रश्नका उत्तर उपर्युक्त श्लोकमें यह दिया गया है कि सात्त्विकोंके पूजनीय सात्त्विक देवता हैं; राजस पुरुषोंके पूजनीय यक्ष-राक्षस और तामस पुरुषोंके पूजनीय प्रेत और भूतगण हैं। इनमें जो सात्त्विक आराधक हैं वे क्या करते हैं तथा राजस-तामस आराधक क्या करते हैं?—इसका उत्तर चौदहवें अध्यायमें विस्तारसे दिया गया है तथा उनकी गति चौदहवें अध्यायके १८वें श्लोकमें कही गयी है। विस्तारमें जानेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। यहाँ सातवें श्लोकसे भगवान् इसका प्रकरण प्रारम्भ करते हैं। भगवान् कहते हैं—आहार तीन तरहका होता है। परंतु उसके प्रकारोंका उल्लेख करते हुए वे यह नहीं कहते कि 'उक्त आहार कौन-कौन-से हैं' प्रत्युत यह बतलाते हैं कि 'सात्त्विक, राजस एवं तामस लोगोंके प्रिय लगनेवाले आहार कौन-कौन-से हैं।' यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'उन्होंने ऐसा क्यों किया?' इसका उत्तर यह है कि 'अर्जुनने शास्त्रविधिको छोड़कर श्रद्धापूर्वक यजन करनेवालोंकी निष्ठा पूछी थी।' इसपर भगवान् सत्रहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहते हैं—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

अन्तःकरणके अनुसार श्रद्धा होती है, ऐसी दशामें श्रद्धासे ही उसकी निष्ठाका पता लगेगा। उसकी यजन-क्रिया और श्रद्धासे ही उसकी पहचान होगी। शास्त्रविधि तो उसने छोड़ दी, अतः उस कसौटीपर उसे नहीं कसा जायगा। ऊपर कहा गया है कि 'श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है और जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह होता है;—इस न्यायसे श्रद्धावान् पुरुष भी तीन ही तरहके होंगे। श्रद्धा होती है अन्तःकरणके अनुरूप। इसलिये तीन ही तरहके आहार उन्हें रुचिकर होंगे। जो किसी भी प्रकारकी पूजा—उपासना नहीं करते, उनकी निष्ठाका पता लगेगा उनके आहारसे। पूजा चाहे कोई न करे, आहार तो वह करेगा ही। उसीसे उसकी निष्ठाकी पहचान हो जायगी। इसीलिये भगवान् आहारकी बात कहते हैं—'**आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।**' कुछ लोग कहते हैं कि सत्रहवें अध्यायके ७वें श्लोकमें तीन प्रकारके आहारका वर्णन है, परंतु वास्तवमें यह बात है नहीं। भगवान्‌ने आहारके साथ 'प्रिय' शब्द दिया है। 'प्रिय' शब्द इसलिये दिया गया है कि जैसा आहार मनुष्यको प्रिय होता है, वैसी ही उसकी प्रकृति होगी और जैसी उसकी प्रकृति है, श्रद्धा है, निष्ठा है; वैसा ही आहार उसे प्रिय लगेगा। आहारकी प्रियतामें आहारका वर्णन तो स्वतः हो गया। सात्त्विक पुरुषोंको सात्त्विक आहार प्रिय लगता है; राजस पुरुषोंको राजस एवं तामस पुरुषोंको तामस आहार प्रिय लगता है। अन्तःकरण आहारके अनुरूप बनता है। सातवें श्लोकके पूर्वार्द्धमें आहारकी बात कहकर फिर उत्तरार्धमें यज्ञ, तप तथा दानके तीन भेद किये हैं। यहाँ यह प्रश्न होता है कि आहारके साथ भगवान्‌ने यज्ञ, तप और दानकी बात क्यों छेड़ी? आहारकी चर्चा तो आयी थी परीक्षाके लिये। इसका उत्तर यह है कि अर्जुनने अपने मूल प्रश्नमें यजन-पूजन करनेवालोंके विषयमें पूछा था। यजनके अन्तर्गत दान और तप भी आ जाते हैं। इसीलिये आगे चलकर सत्रहवें अध्यायके २३वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

'परमात्माके नाम हैं—'ॐ, तत् और सत्। ब्राह्मणोंको, वेदोंको, यज्ञोंको जिस परमात्माने बनाया, उसी परमात्माके ये तीनों नाम हैं।' यज्ञकी क्रिया सम्पन्न करनेवाले ब्राह्मण, यज्ञकी विधि बतानेवाले वेद और यजनकी क्रियाका नाम यज्ञ। परमात्माने इन तीनोंको रचा, इसीलिये सत्रहवें अध्यायके २४वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥

अतएव 'हरिः ॐ' इस प्रकार उच्चारण करके ही यज्ञानुष्ठान प्रारम्भ करना चाहिये एवं इसी प्रकार ब्रह्मवादी पुरुष करते आये हैं। इसके बाद भगवान् कहते हैं—

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥

(१७।२५-२६)

भगवान्के नामोंका उल्लेख यहाँ इसलिये किया गया कि यज्ञ-दान-तपमें कोई अङ्ग-वैगुण्य रह जाय या कोई कमी रह जाय तो परमात्माके नामोच्चारणसे उसकी पूर्ति कर दी जाय; क्योंकि परमात्मासे ही यज्ञ पैदा हुए, परमात्मासे ही ब्राह्मण पैदा हुए और वेद भी प्रकट हुए परमात्मासे ही। इनमें कोई कमी रहेगी तो इन सबके मूल परमात्माका नाम लेनेसे उसकी पूर्ति हो जायगी। अठारहवें अध्यायके ५ वें श्लोकमें भी इन्हीं तीन शुभ कर्मोंका उल्लेख हुआ है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

कहीं-कहीं शुभ कर्मोंकी संख्या चार भी कही गयी है, जैसे आठवें अध्यायके २८ वें श्लोकमें वेदाध्ययन, यज्ञ, तप और दान—चारका नाम आया है। कहीं-कहीं पाँचका भी उल्लेख हुआ है—जैसे ग्यारहवें अध्यायके ४८वें श्लोकमें—'**न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।**' वेद, यज्ञ, दान, तपके अतिरिक्त पाँचवीं क्रिया भी आ गयी। नवें अध्यायके २७वें श्लोकमें यज्ञ, दान आदिके साथ भोजनका उल्लेख हुआ है—'**यदश्नासि**' कहकर। इस प्रकार शुभ कर्मोंके नामपर कहीं छःका, कहीं पाँचका, कहीं चारका, कहीं तीनका और कहीं केवल एक यज्ञका ही निर्देश भगवान्ने किया है। एक यज्ञके उल्लेखसे सम्पूर्ण शुभ कर्मोंका उल्लेख हो गया। '**यत्करोषि**' के अन्तर्गत चारों वर्णोंके जीविकोपयोगी कर्म भी आ गये, जिनका वर्णन श्रीभगवान्ने १८वें अध्यायके ४१वें श्लोकसे प्रारम्भ करके ४२वें श्लोकमें ब्राह्मणके कर्म, ४३वेंमें क्षत्रियके एवं ४४वेंमें वैश्यके तथा शूद्रके कर्म बताये हैं। फिर ४५वें श्लोकमें उन कर्मोंसे होनेवाली सिद्धिका उल्लेख किया है—'**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।**' जो सिद्धि यज्ञोंसे बतायी गयी, वही यहाँ वर्णोचित कर्मोंसे बतायी गयी है और उसकी प्राप्तिका प्रकार ४६ वें श्लोकमें कहा गया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

'**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**'से कर्मद्वारा पूजाकी बात आयी। तब ये कर्म यज्ञरूप ही हुए न?

माताएँ रसोई बनायें और ऐसा मानें कि मैं इस रूपमें भगवान्का पूजन कर रही हूँ तो रसोई बनाना भी भगवान्का पूजन हो जायगा। मनुजी महाराजने रसोई बनानेकी क्रियाको भी 'यज्ञ' कहा है। मनुजी महाराजने लिखा है कि स्त्रीका पतिदेवके घरमें जाना ही उसका गुरुकुल-वास है। कारण, पति ही उसका एकमात्र गुरु है—'**पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्।**' वहाँ रसोई बनाना उसके लिये है—'अग्निहोत्र'। अग्निहोत्र ही यज्ञ है। इसी प्रकार विद्यार्थी अपने अध्ययनको यज्ञ मान सकता है। निष्कामभावसे तथा शुद्ध रीतिसे किये गये सांसारिक सभी कार्य 'यज्ञ'रूप होते हैं। आयुर्वेदका जाननेवाला केवल जनताके हितके लिये वैद्यका काम करे तो उसके लिये वही यज्ञ है। इस प्रकार गीताके अनुसार कर्तव्यमात्र ही यज्ञ—भगवान्का पूजन बन जाता है। अवश्य ही कर्ममात्र भगवान्का पूजन तब होगा, जब आप उसे भगवान्की पूजाके लिये करें। परंतु यदि भाव आपका वैसा नहीं होगा तो '**यो यच्छ्रद्धः स एव सः।**' जो जैसी श्रद्धावाला होगा उसकी निष्ठा वैसी ही होगी। आप रुपयोंके लिये व्यापार करेंगे तो आपको रुपया मिलेगा, आपका किया हुआ व्यापार यज्ञ नहीं होगा; क्योंकि आपकी वैसी श्रद्धा और वैसा भाव नहीं है। जहाँ आपका वैसा भाव होगा वहीं आपका कर्म यज्ञ बन जायगा।

अब अपने विचार करें कि यज्ञ क्या है और देवता क्या हैं? देवता तो हुए यज्ञका फल देनेवाले उसके अधिष्ठातृ-देवता। अब उनका यज्ञके द्वारा पूजन करना है तो पूजन आहुतिके द्वारा भी होता है और कर्तव्यकर्मोंके द्वारा भी। कर्तव्यकर्मोंके द्वारा पूजन सब कोई कर सकते हैं। मनुष्य है मध्यलोक—मर्त्यलोकका निवासी। स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताललोक—इन तीन लोकोंके समुदायका नाम है—त्रिलोकी। त्रिलोकीके मध्यमें रहनेवाला है—मनुष्य। भगवान्ने मनुष्यको मध्यमें निवास इसीलिये दिया है कि वह देवताओंकी भी तृप्ति कर सकता है और नरक एवं अधोलोकोंमें रहनेवालोंकी भी तृप्ति कर सकता है। सबका तर्पण होता है। द्विजातिलोग देवताओंका तर्पण करते हैं, ऋषियोंका तर्पण करते हैं, पितरोंका तर्पण करते हैं, भूतप्राणियोंका तर्पण करते हैं तथा भूत, प्रेत, पिशाच आदि योनियोंमें गये हुए बान्धवोंका तर्पण करते हैं। जिनके वंशमें कोई नहीं रहा, उनका भी तर्पण करते हैं। इस विषयमें तर्पणकी विधि देखें। जिनके कोई जल देनेवाला नहीं, उनका भी तर्पण करते हैं। साँप-बिच्छू आदि जितने अधोगतिमें गये हुए जन्तु हैं, जितने मध्यगतिको प्राप्त हैं और जितने ऊर्ध्वगतिमें गये हुए हैं सबको, यहाँतक कि ऊँचे-से-ऊँचे भगवान्को भी तर्पण करते हैं। समुद्रको तर्पण करते हैं। समुद्रमें जल कम है क्या, जो जलसे उसकी तृप्ति की जाय? तात्पर्य यह कि मध्यमें रहनेवाला यह मनुष्य सम्पूर्ण लोकोंके जीवोंको तृप्त करता है। इस प्रकार सबको तृप्त करनेका अधिकार भगवान्ने मनुष्यको दिया है। वह त्रिलोकीके जीवोंको ही नहीं, भगवान्को भी तृप्त करता है। भगवान्की भी

भूख-प्यास मिटानेवाला यदि कोई है तो वह मनुष्य ही है। भगवान् नवें अध्यायके ३४वें श्लोकमें कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

'मुझमें मन लगा, मेरा ही भजन कर, मेरा पूजन कर और मुझे ही नमस्कार कर।' यहाँ यह प्रश्न होता है 'भगवान्‌को भी भूख लगती है क्या?' 'हाँ'! 'क्यों उनमें भी कोई कमी है?' 'हाँ'—विनोदकी-सी बात है। जीव जो अधोगतिमें जा रहे हैं, यही भगवान्‌में कमी है। सारा संसार मिलकर भगवान्‌का स्वरूप है। अतः जो अधोगतिमें जाते हैं, उतना अङ्ग भगवान्‌का ही तो अधोगतिमें जाता है। यही भगवान्‌की भूख है। भगवान् कहते हैं—'तू अपना सब कुछ मेरे अर्पण कर दे तो तेरा कल्याण हो जाय और मेरा काम बन जाय।' इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि भगवान्‌की तृप्ति भी मनुष्य कर सकता है। जीव-जन्तुओंकी तृप्ति तो वह करता ही है। भगवान् तो यहाँतक कहते हैं कि 'भक्त मुझे बेच दे तो मैं बिक जाता हूँ।' ***'मैं तो हूँ भगतनको दास, भगत मेरे मुकुटमणि'***—ऐसी दशामें बताइये कि भक्त भगवान्‌के इष्ट हैं कि नहीं? अर्जुनको भी भगवान् अठारहवें अध्यायके ६४वें श्लोकमें कहते हैं—'**इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।**' 'तू मेरा इष्ट है········।' जीव भगवान्‌को इष्ट मानता है। भगवान् कहते हैं—'तू मेरा इष्ट है।' जो भगवान्‌को अपना मन सौंप देता है, उसे भगवान् अपना इष्ट मान लेते हैं, उसका आज्ञापालन करते हैं। रामावतारमें भगवान् कहते हैं—'मैं सीताका त्याग कर सकता हूँ, समुद्रमें कूद सकता हूँ, अग्निमें प्रवेश कर सकता हूँ, परंतु पिताकी आज्ञा भंग करनेकी मुझमें शक्ति नहीं।' यह मनुष्य चाहे तो भगवान्‌का माँ-बाप बन जाय, भगवान्‌का दास बन जाय, भगवान्‌का भाई-बन्धु बन जाय, भगवान्‌की स्त्री बन जाय, भगवान्‌का बच्चा बन जाय, भगवान्‌का शिष्य बन जाय या गुरु बन जाय। अपने कुटुम्बसे ही तो आप राजी होते हैं। भगवान्‌का सम्पूर्ण यह मनुष्य बन सकता है। यह भगवान्‌का सब कुछ बन सकता है। भगवान् उसे वही बना लेंगे और वैसी-की-वैसी मर्यादा उसके साथ निभायेंगे। वे उसके सुपुत्र बन जायँगे। भाई भी बनेंगे तो असली। सुपुत्र-सत्पति-सन्माता सब कुछ बन जायँगे भगवान्। शिष्य बने तो श्रेष्ठ चेला बनेंगे भगवान्। वसिष्ठजीके चेला श्रीराम थे ही। विश्वामित्रजीका चरण वे चाँपते ही थे। वे जहाँ जो भी बनते हैं, स्वाँग पूरा उतारते हैं। भगवान्‌का सब कुछ मनुष्य बन सकता है, इतना बड़ा अधिकार मनुष्यको भगवान्‌ने दिया है।

अब उसके लिये कहते हैं—'**यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।**' इसके पूर्व ८वें श्लोकमें कहा—'**नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।**' 'नियत कर्म कर और न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है।' '**अकर्मणः ते शरीरयात्रापि न प्रसिद्ध्येत्।**' 'कुछ नहीं करेगा तो तेरा निर्वाह भी नहीं होगा, जीवन भी नहीं चलेगा। कर्म करनेसे ही जीवन-निर्वाह होगा।' साथ ही शास्त्रोंमें यह भी कहा है कि कर्मोंसे जन्तु बँधता है।' '**कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।**' यह ध्यान देनेकी बात है कि यहाँ 'जन्तु' शब्दका प्रयोग हुआ है। 'जन्तु' शब्दका स्वारस्य यह है कि जन्तु (जानवर) ही बन्धनमें आते हैं, मनुष्य नहीं। मनुष्य बँधता है सकाम कर्म करके, स्वार्थबुद्धिसे। ऐसे मनुष्यको जन्तु ही समझें। गीता भी कहती है—'**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।**' जो स्वार्थबुद्धिसे प्रेरित होकर मोहमें फँसे हुए हैं, वे मनुष्य थोड़े ही हैं, वे तो जन्तु हैं—भले ही उनकी आकृति मनुष्यकी-सी ही हो। '**यद् यद्धि कुरुते जन्तुस्तत् तत् कामस्य चेष्टितम्।**' जानवरकी सारी चेष्टाएँ कामयुक्त—स्वार्थप्रेरित होती हैं। कामनासे ही कर्म बन्धनकारक होता है।

इसलिये भगवान् कहते हैं—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

जो कर्म परमात्माकी प्रसन्नताके लिये, लोकसंग्रहके लिये, सब लोगोंके उद्धारके लिये, आसक्ति, स्वार्थ और कामनाको त्यागकर किया जाता है, वह बाँधता नहीं है। यही है 'यज्ञ'।

इसके अगले श्लोकमें भगवान् कहते हैं—'**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।**' सृष्टिके आदिमें प्रजापति ब्रह्माने यज्ञोंके साथ प्रजाओंको उत्पन्न किया। यहाँ '**प्रजाः**' शब्दके अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सभी आ जाते हैं। '**प्रजाः**' शब्दके साथ '**सहयज्ञाः**' विशेषणको देखकर यह शङ्का होती है कि यज्ञमें सबका अधिकार तो है नहीं, फिर भगवान्‌ने सारे प्रजाजनोंके साथ यह विशेषण क्यों लगाया? इसका उत्तर यही है कि यहाँ उस यज्ञकी बात नहीं है, जिसमें सबका अधिकार नहीं। यहाँ 'यज्ञ'का व्यापक अर्थ—'कर्तव्यकर्म' लेना चाहिये। 'यज्ञ'का इसी अर्थमें प्रयोग समझना चाहिये। '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' द्वारा भगवान्‌ने आगे चलकर यही बताया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सभी अपने-अपने कर्मद्वारा उनका पूजन करें। इसी कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि करके प्रजापतिने कहा—इसके द्वारा तुम सबकी वृद्धि करो और यही तुम्हारी इष्ट कामनाकी पूर्ति करनेवाला हो—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

परंतु साथ ही भगवान् कहते हैं—'इष्टकामनाके साथ अपना सम्बन्ध मत जोड़ो। तुम यज्ञके द्वारा देवताओंका पूजन करो।' जैसे गीता अध्याय २ श्लोक ४५ में भगवान् अर्जुनको **'निर्योगक्षेम आत्मवान्'** बननेको कहते हैं और ९वें अध्यायके २२वेंमें कहते हैं—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** 'तुम्हारे योगक्षेमका वहन मैं करूँगा, तू उसकी चिन्ता छोड़ दे।' इसी प्रकार यहाँ भी वे कहते हैं—'देवताओंका तुम पूजन करो, पर देवताओंसे कुछ चाहो मत। देवता तुम्हारा काम करें, पर यह तुम उनसे चाहो मत।' चाहनेसे सम्बन्ध जुड़ जाता है। चाहयुक्त कर्म हो जाता है 'तुच्छ'। उदाहरणके लिये—गीताका विवेचन किया हमने, भिक्षा दे दी आपने, दोनोंका काम हो गया। पर गीताका विवेचन किया हमने और उसके साथ यह स्वार्थका सम्बन्ध जोड़ लिया कि गीताकी बात सुनानेसे हमें रोटी मिल जायगी तो हमारा यह काम तुच्छ हो जायगा। किसी भी क्रियाके साथ स्वार्थका सम्बन्ध जोड़ लेनेसे वह क्रिया तुच्छ हो जाती है, निकृष्ट हो जाती है, बन्धनकारक हो जाती है। कोई पूछे—'परम श्रेय कैसे होगा ?' उत्तर है—'अपने कर्तव्यका पालन करो; परंतु लोकहितके लिये। उससे अपने स्वार्थका सम्बन्ध मत जोड़ो।'

क्या बतायें सज्जनो ! आप सब काम करते हैं। घरोंमें बहनें, माताएँ, भाई, बच्चे, छोटे-बड़े सब काम करते हैं; परंतु बड़ी भारी भूल होती है यह कि आसक्ति, कामना और स्वार्थके साथ हमलोग सम्बन्ध जोड़ लेते हैं; किंतु उससे लाभ कुछ नहीं होता। लौकिक लाभ भी नहीं होता; फिर अलौकिककी तो बात ही क्या। इच्छावालेको लोग अच्छा भी नहीं कहते। कहते हैं— 'अमुक बड़ा स्वार्थी है, पेटू है, चट्टू है।' उसके चाहनेपर हम कौन-सा अधिक दे देंगे ? उलटा कम देंगे। स्वार्थका सम्बन्ध रखनेवालेको अधिक देना कोई नहीं चाहता। किसी साधु-ब्राह्मणको कुछ देंगे तो त्यागी देखकर ही देंगे या भोगी-रागी समझकर देंगे ? घरमें भी रागीसे, भोगीसे वस्तु छिपायी जाती है। जो रागी नहीं होगा, उसके सामने वस्तु बेरोक-टोक आयेगी। रागीको वस्तु मिलनेमें भी बाधा लगेगी और कल्याणमें तो महती बाधा लगेगी ही। इसके विपरीत अपना कर्तव्य समझकर सेवा करोगे तो सेवा तो मूल्यवती होगी और वस्तु अनायासमें मिलेगी। आराम मुफ्तमें मिलेगा। मान-सत्कार-बड़ाई मुफ्तमें मिलेगी। पर चाहोगे तो फँस जाओगे। यह बात गीता ग्रन्थि खोलकर बताती है। तुम जो काम करो, इस रीतिसे करो। तीसरे अध्यायके १०-११-१२ श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

इस यज्ञसे वृद्धिको प्राप्त हो। यज्ञके द्वारा पूजित देवता तुम्हारी उन्नति करेंगे। अपने-अपने कर्तव्यद्वारा सृष्टिमात्रको सुख दो। इससे विश्वब्रह्माण्डका, प्राणिमात्रका हित होगा। स्वार्थ, ममता, आसक्ति छोड़कर कामना एवं कर्तृत्व-अभिमानका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करनेसे सृष्टिमात्रको शान्ति मिलती है, सृष्टिमात्रका उद्धार होता है, कल्याण होता है, हित होता है। कितना बड़ा उपकार होता है केवल कामना छोड़नेसे। जो-जो कर्तव्य-कर्म करते हो, उसे किये जाओ; अकर्तव्य तो करो नहीं और कर्तव्य-कर्ममें कामना-आसक्ति न करो तो सारे संसारका हित होगा, सबका कल्याण होगा—**'श्रेयः परमवाप्स्यथ।'** जो दूसरोंको उनका हिस्सा न देकर अकेला खाता है, वह चोर है—**'स्तेन एव सः।'**

श्रीभगवान् कहते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

'यज्ञशेष खानेवाले सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो अपने लिये पकाते-कमाते हैं वे पापी पापका ही भक्षण करते हैं—निरा पाप खाते हैं।' मनुष्यमें स्वार्थबुद्धि जितनी अधिक होगी, उतना ही बड़ा पापी वह होगा। एक बात और है। यज्ञ जो किया जाता है, उसमें होम मुख्य है—आहुति देना मुख्य है।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यनारायणकी किरणोंको पुष्टि पहुँचाती है और वे किरणें पुष्ट होकर जल खींचती हैं तथा वह जल मेघ बनकर बरसता है। उस वर्षासे जगत्की तृप्ति होती है। इससे भी यही बात प्रकट होती है। शुभ कर्म करनेसे देवताओंकी संतुष्टि होती है। आप यदि अपने माता-पिताकी आज्ञाको मानकर शुभ कर्म करेंगे तो इससे माता-पिता प्रसन्न होंगे ही। उनकी प्रसन्नता क्या सामान्य अर्थ रखती है ? वह बड़ी मूल्यवान् निधि है। इसी प्रकार यदि आप अपने शास्त्रोंकी मर्यादाका पालन करेंगे तो इससे क्या ऋषि-मुनि-देवता आपसे प्रसन्न नहीं होंगे ? यही है यज्ञके द्वारा उनका

पूजन। उनका पूजन किस प्रकार होगा—यह भी भगवान् बतलाते हैं—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

प्राणी जितने भी पैदा होते हैं, वे अन्नसे होते हैं। अन्न होता है पर्जन्यसे—वर्षासे और वर्षा यज्ञसे होती है। यज्ञ किससे होता है? '**यज्ञः कर्मसमुद्भवः।**' यज्ञ कर्मसे निष्पन्न होता है। कर्म होता है वेदसे। वेद प्रकट होते हैं अक्षर परमात्मासे। इसलिये भगवान् कहते हैं—

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥
(१७।२३)

सबका मूल है परमात्मा, परमात्मासे प्रकट हुए वेद। वेदोंने बतायी क्रियाकी विधि। क्रियासे कर्म किया ब्राह्मणोंने अर्थात् प्रजाने। उन कर्मोंसे हुआ यज्ञ, उस यज्ञसे हुई वर्षा। वर्षासे हुआ अन्न; अन्नसे हुए प्राणी और उन्हीं प्राणियोंमेंसे मनुष्योंने यज्ञ किया। यज्ञ पशु-पक्षी तो करनेसे रहे। ये वृक्ष, घास और पहाड़—यज्ञ थोड़े ही कर सकते हैं? मनुष्य ही कर सकते हैं। इस प्रकार यह सृष्टिचक्र चल पड़ा। वह परमात्मा सर्वगत ब्रह्म नित्य यज्ञमें प्रतिष्ठित है। परमात्माकी सर्वगतताके विषयमें भगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
(गीता ९।४)

'अव्यक्तरूपसे मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ।'

इसपर शङ्का होती है कि भगवान् जब सर्वगत हैं, तब उन्हें केवल यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित क्यों कहा? क्या वे अन्यत्र नित्य प्रतिष्ठित नहीं हैं? वे तो सभी जगह नित्य हैं। फिर यज्ञमें क्या विशेषता है? इसका उत्तर यह है कि यज्ञमें परमात्मा प्राप्त होते हैं। जमीनमें सर्वत्र जल है, पर वह मिलता है कुएँमें, सब जगह नहीं मिलता। पाइपमें सब जगह जल भरा रहता है, पर वह मिलता है वहीं; जहाँ कल लगी होती है। सब जगह जल है नहीं, ऐसी बात हम थोड़े ही कह सकते हैं। पर सर्वत्र वह मिलता नहीं। इसीलिये सर्वगत ब्रह्मको यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित कहा गया है। यज्ञ कौन-सा? कर्तव्य-कर्ममात्र, जो निष्कामभावसे किया जाय, वही 'यज्ञ' है।

अब देखिये, यज्ञकी परिभाषा ध्यानमें आ गयी और उस यज्ञमें परमात्मा मिलते हैं—यह बात भी समझमें आ गयी। उस यज्ञके विषयमें भगवान् कहते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
(गीता ३।१३)

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
(गीता ४।३१)

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
(गीता ४।१६)

इसलिये कोई परमात्माकी प्राप्ति करना चाहे तो वह यज्ञ करे। जो यज्ञ नहीं करता, उसके विषयमें भगवान् कहते हैं—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥
(गीता ३।१६)

उपर्युक्त चक्रका जो अनुवर्तन नहीं करता, इसके अनुसार नहीं चलता, उसके लिये भगवान्ने तीन विशेषण दिये हैं—'**अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।**' 'अघायु' कहनेका तात्पर्य यह है कि उसकी आयु, उसका जीवन निरा पापमय है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

'जीवत जड़ नर परम अभागी'—वे परम अभागे हैं।

'जीवत सव सम चौदह प्रानी'—वे जीते ही मुर्देके समान हैं जो भगवान्की दिशामें नहीं चलते। उनकी आयु अघरूप है। कहा है—

पर निंदा पर द्रोह रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद॥

ऐसे लोग नररूपमें राक्षस हैं। मनुष्यको खा जाय वह राक्षस। उनके लिये दूसरा विशेषण दिया है—'इन्द्रियाराम'। केवल इन्द्रियोंको सुख पहुँचाना—भोग भोगना, सुस्वादु भोजन खाना, सुन्दर दृश्य देखना, कोमल वस्तुओंका स्पर्श करना, आलस्यसे सोना—यही है—इन्द्रियारामता। तीसरी बात कहते हैं—'**मोघं पार्थ स जीवति**' वह संसारमें व्यर्थ ही जीता है। यह हुई सभ्यताकी भाषा। तात्पर्य है कि वह मर जाय तो अच्छा। उसका न जीना ही अच्छा है। श्रीगोस्वामीजीने कह दिया—***'कुंभकरन सम सोवत नीके?'*** यह तो सोया रहे तभी अच्छा। अभिप्राय यह कि ऐसे लोग पृथ्वीपर भाररूप ही हैं। पृथ्वीने कहा—'मुझे भार वनस्पतिका नहीं है, पहाड़ोंका नहीं है, मुझपर भार तो उसका है, जो भगवद्भक्तिसे हीन है—'**भगवद्भक्तिहीनो यस्तस्य भारः सदा मम।**' उसका मुझपर सदा भार है।' 'उपर्युक्त सृष्टिचक्रका जो अनुवर्तन नहीं करता', भगवान् कहते हैं—'उसका जीवन भाररूप है।' सृष्टिचक्रका अनुवर्तन क्या है—यह ऊपर बता ही दिया गया। निष्काम भावसे या भगवान्की पूजाके भावसे अपने

कर्तव्यका तत्परतासे पालन करना ही सृष्टिचक्रका अनुवर्तन है। जिसका, जहाँ जो कर्तव्य-कर्म है, वह उस कर्मको करे। साथमें कर्तृत्वाभिमान न हो, ममता न हो, आसक्ति न हो, कामना न हो, पक्षपात न हो, विषमता न हो—ये सब विषरूप हैं। सिंगीमोरा, संखिया, कुचिला, भिलावा आदि जो जहर हैं, उन्हें भी वैद्यलोग शुद्ध करके औषधरूपमें प्रयोग करते हैं, तब उनसे रोग दूर होते हैं। उनका जहर यदि बना रहे तो उससे मनुष्य मर जाता है। आसक्ति, कामना, पक्षपात, विषमता, अभिमान, स्वार्थ आदि सब कर्मोंमें जहररूप हैं। इस जहरके भागको निकाल देनेसे हमारे कर्म महान् अमृतमय होकर जन्म-मरणको मिटा देनेवाले बन जायँगे। कैसी बढ़िया बात है! गीता हमें यही सिखाती है!

═══ ★ ═══

संसारमें रहनेकी विद्या

अगर हमें संसारमें रहना आ जाय तो हमारी मुक्ति हो जाय ! संसारमें रहना एक विद्या है। उस विद्याको हम ठीक समझ लें और काममें लायें तो बेड़ा पार है ! किसी भी काममें लगो, उस कामको करनेकी विद्या आनी चाहिये। जैसे, कोई रसोई बनाता है, पर उसे रसोई बनानी नहीं आती तो रसोई नहीं बनती। अगर उसे रसोई बनानी आती है, पर वह रसोई बनाता ही नहीं तो रसोई नहीं बनती। इसलिये किसी भी कार्यमें ज्ञान और कर्म—दोनोंकी आवश्यकता है।

संसारमें रहनेकी विद्या क्या है—इसको समझना है। जैसे, एक मनुष्य है और उसके माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-भौजाई आदि हैं तो वह उनके साथ केवल उनके हितके लिये ही व्यवहार करे। केवल उनकी सेवा करे, उनको सुख पहुँचाये और अपने सुखकी किञ्चिन्मात्र भी इच्छा न करे। अगर वह अपने सुखकी इच्छा करता है तो उसको संसारमें रहना आया नहीं। आप अपने कुटुम्बमें रहते हैं तो कुटम्बकी सेवा करते हैं, पर जब बाहर चले जाते हैं तब वहाँ सेवा नहीं करते, प्रत्युत सेवा लेते हैं। कोई हमें मार्ग बता दे, हमारी सहायता कर दे, हमारेको रहनेकी जगह दे दे, हमें जल पिला दे, हमारेको ऐसा कुछ दे दे, जिससे हम अपनी यात्रा ठीक तरहसे कर सकें—इस प्रकार सेवा चाहते रहनेसे हमारा कल्याण नहीं होता। हम किसीसे कुछ भी चाहते हैं तो हम पराधीन हो जाते हैं—यह पक्का सिद्धान्त है। परन्तु जहाँ हम किसीसे कुछ भी नहीं चाहते, वहाँ हम बिलकुल पराधीन नहीं होते, प्रत्युत स्वाधीन होते हैं। संसारसे कुछ भी चाहना अपने-आपको पराधीन बनाना है। अतः अपनी चाहना तो रखें नहीं और दूसरोंकी न्याययुक्त चाहना अपनी शक्तिके अनुसार पूरी कर दें तो हम स्वाधीन हो जायँगे।

अब प्रश्न होता है कि जब हम दूसरोंसे कुछ भी नहीं चाहते तो फिर उनकी चाहना पूरी क्यों करें ? इसका उत्तर यह है कि उनकी चाहना पूरी करनेसे अपनी चाहनाके त्यागकी सामर्थ्य आ जायगी। अगर हम अपनी चाहना पूरी करनेमें ही लगे रहेंगे, तो अपनी चाहनाके त्यागकी सामर्थ्य नष्ट हो जायगी और हम सर्वथा पराधीन हो जायँगे, पतित हो जायँगे। अगर हम उनकी सेवा करते रहेंगे तो हम स्वतन्त्र हो जायँगे, संसारमें रहकर संसारसे ऊँचे उठ जायँगे। इसीको मुक्ति कहते हैं। भगवान् कहते हैं—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

(गीता ५।१९)

अर्थात् जिनका मन साम्यावस्थामें स्थित हो गया है, उन पुरुषोंने जीवित अवस्थामें ही संसारको जीत लिया है। साम्यावस्था क्या है ? जो भी अनुकूल परिस्थिति मिले, उसमें सुख-दुःख, हर्ष-शोक न हो। संसारकी मात्र परिस्थिति हमें कभी डिगा न सके, तो हमने विजय प्राप्त कर ली। यदि संसारकी अनुकूलता और प्रतिकूलता हमारेपर असर कर दिया तो हम हार गये। अनुकूलता-प्रतिकूलता हमारेपर असर कब नहीं करेगी ? जब हम संसारमें अपने लिये नहीं रहेंगे, प्रत्युत संसारके लिये ही संसारमें रहेंगे। इस प्रकार रहनेसे हम संसारसे ऊँचे उठ जायँगे।

हमारे माता-पिता हैं तो हम माता-पिताकी सेवा करें और उनसे कोई चाहना न रखें। उनसे चाहना क्यों नहीं रखें ? उनका दिया हुआ ही शरीर है, सामर्थ्य है। हमें जो कुछ मिला है, उन लोगोंसे ही मिला है। अतः उनसे मिले हुए शरीर, सामर्थ्य, समझ, सामग्री आदिके द्वारा उनकी ही सेवा करनी है। उनसे मिली हुई वस्तु उनको ही दे देनी है। देनेके लिये ही हमें रहना है, लेनेके लिये नहीं। उनके लिये ही रहना है, अपने लिये नहीं। अगर हम अपने लिये नहीं रहेंगे तो वे हमारे साथ अच्छा व्यवहार करें अथवा बुरा व्यवहार करें, उसका हमारेपर असर नहीं पड़ेगा। उनकी सेवा कैसे हो जाय, उनको सुख कैसे पहुँचे, उनको आराम कैसे पहुँचे, उनका भला कैसे हो, उनका उद्धार कैसे हो, उनका कल्याण कैसे हो—केवल यही भाव रखना है।

श्रोता—ऐसा करनेसे हम तो दुःखी हो जायँगे ?

स्वामीजी—हम दुःखी तभी होंगे, जब उनसे कुछ चाहेंगे और वे नहीं करेंगे। हम उनसे कुछ चाहते ही नहीं तो हम

दुःखी कैसे होंगे ? हम तो केवल उनके सुखके लिये, उनके आरामके लिये ही रहते हैं। अतः उनको सुख पहुँचाना ही हमारा काम है।

श्रोता—अगर वे हमें दुःख पहुँचायें तो ?

स्वामीजी—वे हमें दुःख पहुँचायें तो हमारा बहुत जल्दी कल्याण होगा। हम उनकी सेवा करते हैं और वे हमें दुःख देते हैं तो इससे हमें दुगुना लाभ होगा। एक तो निष्कामभावसे उनकी सेवा करनेसे त्याग होगा और दूसरा, वे हमें दुःख देंगे तो हमारे पाप नष्ट होंगे, जिससे हमारा अन्तःकरण शुद्ध होगा। तात्पर्य है कि वे हमें दुःख देंगे तो अन्तःकरणकी पुरानी अशुद्धि मिट जायगी और हम निष्कामभावसे उनकी सेवा करेंगे तो अन्तःकरणमें नयी अशुद्धि नहीं आयेगी। इसलिये उनको सुख कैसे पहुँचे—इसके लिये संसारमें रहना है। अपने लिये कुछ चाहना हमारा कर्तव्य नहीं है। हमारा कर्तव्य तो उनकी चाहना पूरी करना है। उनकी चाहना पूरी करनेमें दो बातोंका खयाल रखना है—उनकी चाहना न्याययुक्त हो और हमारी सामर्थ्यके अनुरूप हो। अगर उनकी चाहना न्याययुक्त हो, पर उसको पूरी करना हमारे सामर्थ्यके बाहरकी बात हो तो हाथ जोड़कर उनसे माफी माँग लें कि 'हम तो समर्थ नहीं हैं, हमारे पास इतनी शक्ति नहीं है, इसलिये आप माफ करो।' अगर सामर्थ्य हो तो उनकी चाहना पूरी कर दें। इस प्रकार संसारमें रहें।

कमलका पत्ता जलमें रहता है, पर वह जलसे भीगता नहीं। जैसे कपड़ा भीग जाता है, वैसे वह भीगता नहीं। जल उसके ऊपर मोतीकी तरह लुढ़कता रहता है। ऐसे ही अगर हम संसारमें अपने लिये न रहकर केवल दूसरोंके लिये ही रहेंगे तो हम भी कमलके पत्तेकी तरह निर्लिप्त रहेंगे, संसारमें फँसेंगे नहीं। इसलिये संसारमें केवल दूसरोंकी सेवाके लिये ही रहें। उनसे मिली हुई चीज उनको ही देते रहें और बदलेमें कुछ भी लेनेकी इच्छा न रखें। उनकी सेवा करनेसे पुराना ऋण उतर जायगा और उनसे कुछ भी लेनेकी इच्छा न करनेसे नया ऋण पैदा नहीं होगा। अगर हम उनकी सेवा नहीं करेंगे तो उनका हमारेपर ऋण रहेगा और उनसे चाहते रहेंगे तो नया ऋण हमारेपर चढ़ता रहेगा।

कोई आदमी मर जाता है तो दुःख होता है। उस दुःखमें दो कारण होते हैं—एक तो उससे सुख लिया है, पर सुख दिया नहीं है और दूसरा, उससे फिर सुख लेनेकी आशा रही है। अगर हमने उससे सुख न लिया होता तो उसके मरनेसे दुःख न होता। जो हमारा अपरिचित है, जिसका हमारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, उसके मरनेसे हमें दुःख नहीं होता। जैसे, नब्बे या सौ वर्षोंका बहुत बूढ़ा आदमी मर जाय तो उससे दुःख नहीं होता। लोग तो यहाँतक कहते हैं कि उसका मरना विवाह-जैसी बात है, बड़े आनन्दकी बात है। कारण क्या है ? कि अब उससे सुखकी कोई आशा नहीं रही। वह किसी तरहकी सेवा करेगा, हित करेगा—यह आशा नहीं रही। इसलिये उसके मरनेका दुःख नहीं होता। परन्तु बीस-पचीस वर्षका जवान आदमी मर जाता है तो दुःख होता है; क्योंकि उससे और सुख मिलनेकी आशा है। आशा ही दुःखोंका खास कारण है—

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।

(श्रीमद्भा० ११।८।४४)

उससे आशा न रखकर उसकी आशा पूर्ण करनेकी चेष्टा करें। उससे आशा न रखनेसे उसके मरनेका दुःख नहीं होगा। जैसे, वह पन्द्रह वर्षकी अवस्थासे बीमार हुआ और पचीस वर्षका हो गया। वैद्योंने, डाक्टरोंने—सबने जवाब दे दिया कि यह अब जी नहीं सकता, यह तो अब मरेगा। हमने दस वर्ष उसकी सेवा कर दी, उससे लिया कुछ नहीं और कुछ लेनेकी आशा भी नहीं तो उसके मरनेपर दुःख नहीं होगा। कारण कि दुःख उसके मरनेका नहीं है। हम उससे जो सुख चाहते हैं, उसीका फल दुःख है।

संसारमें हम रहें, पर संसारसे सुख न चाहें, प्रत्युत सुख देते रहें। सेवा करते रहें, पर सेवा लेनेकी चाहना भीतरसे बिलकुल उठा दें तो हमें संसारमें रहना आ गया, हम मुक्त हो गये ! लेनेकी इच्छाका नाम ही बन्धन है। कोई हमारी सेवा करेगा तो हम सुखी हो जायँगे—यह उलटी बुद्धि है। सेवा लेनेसे तो हम ऋणी हो जायँगे, सुखी कैसे हो जायँगे ? पापी आदमीकी तो मुक्ति हो सकती है, पर ऋणी आदमीकी मुक्ति नहीं हो सकती। पापी आदमी अपने पापका प्रायश्चित्त कर लेगा अथवा उसका फल भोग लेगा तो वह पापसे मुक्त हो जायगा। परन्तु दूसरेसे ऋण लेनेवाले अथवा दूसरेका अपराध करनेवालेकी मुक्ति तभी होगी जब दूसरा उसे माफ कर दे। इसलिये जबतक हम संसारके ऋणी रहेंगे तबतक हमारी मुक्ति नहीं होगी। जिनसे हमने सेवा ली है और जो हमारेसे सेवा चाहते हैं, उनकी निष्कामभावसे सेवा कर दें तो हम उऋण हो जायँगे।

श्रोता—हम जिनकी सेवा करेंगे, वे ऋणी हो जायँगे।

स्वामीजी—वे ऋणी नहीं होंगे। हम उनकी सेवा निष्कामभावसे करते हैं, बदलेमें उनसे कुछ लेनेकी इच्छा ही नहीं करते तो वे ऋणी कैसे होंगे ? दूसरी बात, प्राप्त वस्तुको हम अपनी नहीं मानते, प्रत्युत उन्हींकी मानकर उनकी सेवामें

लगाते हैं तो वे ऋणी कैसे बनेंगे ? अतः सेवा करनेसे वे तो ऋणी बनेंगे नहीं और हम उऋण हो जायँगे, मुक्त हो जायँगे।

कोई दूकानदार अपनी दूकान उठाना चाहता है तो वह क्या करे ? दूसरोंसे जितना लिया है, वह सब दे दे और उसने जिसको दिया है वह अगर वापस दे दे तो ठीक है, नहीं तो छोड़ दे। ऐसा करनेसे दूकान उठ जायगी। अगर वह दिया हुआ पूरा-का-पूरा वापस लेना चाहेगा तो दूकान उठेगी नहीं; क्योंकि उसको लेनेके लिये कुछ नया माल देना पड़ेगा। इस तरह हमारा उससे लेना बाकी रहता ही रहेगा। अतः जबतक हम लेना नहीं छोड़ेंगे तबतक दूकान नहीं उठ सकती। ऐसे ही जबतक हम संसारसे लेना नहीं छोड़ेंगे तबतक हम उऋण नहीं हो सकते, मुक्त नहीं हो सकते। इसलिये लेनेका खाता ही उठा दें और सबको देना-ही-देना शुरू कर दें। माता-पिताको भी देना है, स्त्री-पुत्रको भी देना है, भाई-भौजाईको भी देना है, पतिको भी देना है, सास-ससुरको भी देना है, देवर-जेठको भी देना है, देवरानी-जेठानीको भी देना है। सबको देना है, सबकी सेवा करनी है और लेना कुछ नहीं है। जहाँ लेनेकी इच्छा हुई कि फँसे ! एक ग्रामीण कहावत है— ***'गरज गधाने बाप करे'*** अर्थात् गरज गधेको बाप बनाती है। गरज करनेसे, लेनेकी इच्छा करनेसे आदमीको इतना नीचा उतरना पड़ता है; गधेकी भी गुलामी करनी पड़ती है ! अगर लेनेकी इच्छा ही नहीं हो तो हम भगवान्‌के भी गुलाम नहीं होते।

एक विचित्र बात है, ध्यान दें ! हम भगवान्‌के भक्त तो होते हैं, पर गुलाम नहीं होते। परन्तु कब ? जब हम भगवान्‌से कुछ भी लेना नहीं चाहते। जो भगवान्‌से कुछ भी लेना नहीं चाहते उन भक्तोंके लिये भगवान् कहते हैं— ***'मैं तो हूँ भगतनको दास, भगत मेरे मुकुटमणी'*** गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी (प्रेमी) —इन चारों प्रकारके भक्तोंमें ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त श्रेष्ठ है। उस ज्ञानी भक्तको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह भी मेरेको अत्यन्त प्रिय है। चारों प्रकारके भक्त बड़े उदार हैं; परंतु ज्ञानी भक्त तो मेरा स्वरूप ही है (७। १७-१८)। कारण यह है कि ज्ञानी भक्त भगवान्‌से कुछ नहीं चाहता। अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु तो भगवान्‌से कुछ-न-कुछ चाहते हैं। वे चाहते हैं तो भगवान्‌के यहाँ कोई घाटा थोड़े ही है ! वे धन भी दे सकते हैं, दुःख भी दूर कर सकते हैं, तत्त्वज्ञान भी दे सकते हैं। उनमें देनेकी सामर्थ्य तो पूरी है; परन्तु उन चाहनेवाले भक्तोंका दर्जा कम हो गया !

भगवान् कहते हैं कि मैं तो देता रहूँगा, अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी रक्षा मैं करूँगा—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (गीता ९। २२); परंतु तू चाहना मत कर—**'निर्योगक्षेम आत्मवान् भव'** (गीता २। ४५)। कितनी बढ़िया बात कही ! न चाहनेसे प्रेम होता है; परन्तु चाहनेसे प्रेम नहीं होता, प्रत्युत बन्धन होता है। वह इससे चाहता है और यह उससे चाहता है तो आपसमें प्रेम नहीं होता। दोनों एक-दूसरेसे चाहते हैं तो दोनों ही ठग हैं। दो ठगोंमें ठगाई नहीं होती। संसारसे चाहना मानो ठगाईमें जाना है। इसलिये चाहनाका त्याग करके सेवा करनी है। यही संसारमें रहनेका तरीका है।

आप सब भाई-बहन अपने घरोंमें ऐसे रहो, जैसे कोई मुसाफिर रहता है। जैसे कोई सज्जन मुसाफिर आ जाता है और रात्रिभर रहता है तो वह कहता है कि भाई ! तुम सब भोजन कर लो, जो बचे, वह मैं पा लूँगा। तुम सब अपनी-अपनी जगहमें रह जाओ, फालतू जगहमें मैं रह जाऊँगा। जो कपड़ा-लत्ता आपके कामका हो वह आप ले लो और जो फालतू हो, वह मुझे दे दो, उससे मैं निर्वाह कर लूँगा। परन्तु रात्रिमें यदि आग लग जाय, चोर-डाकू आ जायँ, कोई आफत आ जाय, बीमारी आ जाय तो वह सबसे आगे होकर सहायता करता है। उसका भाव यह रहता है कि मैंने इनका अन्न-जल लिया है, इनके यहाँ विश्राम किया है, इसलिये इनकी सेवा करना, इनकी सहायता करना मेरा काम है। अगर वह मुसाफिर काम तो पूरा करे, पर ले कुछ नहीं, तो वह बँधेगा नहीं। सुबह होते ही चल देगा। अगर वह लेनेकी इच्छा रखे तो वह बँध जायगा। इसलिये सज्जनो ! सेवा करें। जो थोड़ा अन्न-जल लेना है, वह भी सेवा करनेके लिये लेना है; क्योंकि अन्न-जल नहीं लेंगे तो सेवा कैसे करेंगे ?

हमारे एक वृद्ध संत कहते थे कि संसारमें रबड़की गेंदकी तरह रहना चाहिये, मिट्टीकी लौंदेकी तरह नहीं। गेंद फुदकती रहती है, कहीं भी चिपकती नहीं। परन्तु मिट्टीका लौंदा जहाँ जाय, वहीं चिपक जाता है। अगर मनुष्य संसारमें सेवा करनेके लिये ही रहे, अपने लिये नहीं रहे तो वह संसारमें चिपकेगा नहीं, मुक्त हो जायगा। यही संसारमें रहनेकी विद्या है।

═══ ★ ═══

सेवाकी महत्ता

एक परमात्मतत्त्व ही ऐसा है, जिसको जो चाहे, उसको वह मिल जाय। धन, सम्पत्ति, वैभव, मान, आदर, नीरोगता आदिको जो चाहे, उसको ये मिल जायँ—यह नियम नहीं है। ये धन, सम्पत्ति आदि सबको नहीं मिल सकते, मिलेंगे तो थोड़े-बहुत मिलेंगे, एक समान नहीं मिलेंगे। परन्तु परमात्मतत्त्व सबको मिलेगा, एक समान मिलेगा और जो चाहे, उसको मिलेगा; क्योंकि उसका सबके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीव परमात्माका साक्षात् अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७) इसलिये उसका परमात्मापर पूरा हक लगता है। जैसे, माँपर सब बालकोंका हक लगता है, सब बालक अपनी माँकी गोदीमें जा सकते हैं। ऐसे ही परमात्मा सबके माता-पिता हैं—**'त्वमेव माता च पिता त्वमेव।'** वे सदासे ही सबके माता-पिता हैं और सदा ही रहेंगे, इसलिये उनकी प्राप्तिमें कोई भी मनुष्य अयोग्य नहीं है, अनधिकारी नहीं है, निर्बल नहीं है। अतः किसीको भी परमात्मतत्त्वसे हताश होनेकी किंचिन्मात्र भी गुंजाइश नहीं है। कितनी विलक्षण बात है !

मैंने जो पुस्तकोंमें पढ़ा है, सुना है, विचार किया है, उससे मेरे भीतर यह बात दृढ़तासे बैठी हुई है कि किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति, घटना, क्रिया आदिकी महिमा नहीं है, प्रत्युत उनके सदुपयोगकी महिमा है। हमारी कैसी ही बुद्धि हो, कैसी ही परिस्थिति हो, कैसी ही अवस्था हो, कैसा ही संयोग हो, उसीका ठीक तरहसे सदुपयोग किया जाय तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाय। कारण कि मनुष्यजन्म मिला ही इसके लिये है।

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(मानस ७।४४।३)

बिना हेतु कृपा करनेवाले प्रभुने कृपा करके मनुष्य-शरीर दिया है तो क्या भगवान्‌की कृपा निष्फल होगी ? भगवान्‌की कृपा कभी निष्फल नहीं होती। हाँ, इतनी बात है कि भगवान्‌ने मनुष्यको स्वतन्त्रता दी है। इस स्वतन्त्रताका वह चाहे जो उपयोग कर सकता है, चाहे इसका सदुपयोग करके परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर ले, अपना कल्याण कर ले और चाहे इसका दुरुपयोग करके चौरासी लाख योनियोंमें अथवा नरकोंमें चला जाय। वास्तवमें यह स्वतन्त्रता भगवान्‌ने मनुष्यको अपना कल्याण करनेके लिये दी है। अतः मनुष्य क्या करे ? उसके भीतर इस बातकी लगन लग जाय कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कैसे हो ? रामायणमें आया है—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥
(मानस ३।१०।४)

भगवान्‌का एक स्वभाव है, एक बान है कि जिसका एक भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई सहारा नहीं है, वह भगवान्‌को बहुत प्यारा लगता है। इसलिये भगवान्‌ने अर्जुनको पूरी गीता सुनाकर कहा—**'मामेकं शरणं व्रज'** (१८।६६), तेरेसे और कुछ न हो तो एक मेरी शरणमें आ जा। **'माम् एकम्'** का अर्थ यह नहीं है कि भगवान् पाँच-सात हैं और उनमेंसे एककी शरण आ जा, प्रत्युत यहाँ इसका अर्थ है—अनन्य शरण। अर्जुनने कहा था कि मैं धर्मका निर्णय नहीं कर सकता—**'धर्मसम्मूढचेताः'** (२।७), तो भगवान् कहते हैं कि तेरेको धर्मका निर्णय करनेकी जरूरत नहीं है, तू सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जा—**'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** (१८।६६)। अतः 'हे नाथ ! मैं आपका हूँ और आप मेरे हो।' संसारकी कोई वस्तु, कोई प्राणी मेरा नहीं है और मैं किसीका नहीं हूँ—इस प्रकार भगवान्‌के शरण हो जायँ।

यहाँ एक बात समझनेकी है कि संसारके लोग (माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि) आपसे न्याययुक्त आशा रखते हैं और आप उसको पूरी कर सकते हो तो उनकी वह आशा आप पूरी कर दो अर्थात् उनकी सेवा कर दो। केवल सेवा करनेके लिये ही मात्र संसारके साथ सम्बन्ध रखो। संसारसे लेनेके लिये सम्बन्ध मत रखो; क्योंकि संसारकी कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है और आप स्थायी हैं। अतः संसारकी कोई भी वस्तु आपके साथ रहनेवाली नहीं है। इसलिये जितने आपके सम्बन्धी या कुटुम्बी कहलाते हैं, वे चाहे शरीरके नाते हों, चाहे देशके नाते हों, चाहे और किसी नाते हों, उनकी सेवा कर दो। कारण कि आपके पास जो वस्तुएँ हैं, वे उनकी हैं, उनके हककी हैं। उनका हक उनको दे दो। उनसे लेनेकी इच्छा रखोगे तो आपपर उनका ऋण हो जायगा। ऋण होनेसे मुक्ति नहीं होगी, कल्याण नहीं होगा। उनकी सेवा करनेसे कल्याण होगा। अतः संसारके साथ सम्बन्ध केवल उसकी सेवाके लिये ही रखना है, अपने लिये नहीं। सेवाके लिये सम्बन्ध रखोगे तो सब राजी हो जायँगे। कुटुम्बी नाराज तभी होते हैं, जब उनसे हम कुछ लेना चाहते हैं। अगर उनपर अपना हक न मानकर केवल उनकी सेवा ही करना चाहेंगे तो कोई नाराज नहीं होगा। अतः संसारमें रहनेका बढ़िया तरीका भी यही है और मुक्त होनेका तरीका भी यही है। दोनों हाथोंमें लड्डू हैं—***'दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें'*** अर्थात् संसार भी राजी हो जाय और परमात्मा भी प्रसन्न हो जायँ, जिससे आपका कल्याण हो जाय !

आपका उद्देश्य केवल परमात्माकी प्राप्ति करना है तो बस, परमात्माके शरण हो जाओ। संसारका आश्रय छोड़ दो। अपनी शक्तिके अनुसार संसारकी सेवा कर दो। सेवा करनेसे संसार राजी हो जायगा और प्रभुके चरणोंकी शरण होनेसे प्रभु प्रसन्न हो जायँगे तथा हमारा कल्याण स्वतः ही हो जायगा। अपने कल्याणके लिये नया उद्योग नहीं करना पड़ेगा। कितनी सरल और सीधी बात है।

लेनेकी इच्छासे मनुष्यका संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ता है और देनेकी इच्छासे सम्बन्ध टूटता है—यह बड़ी मार्मिक बात है। लेनेकी इच्छासे जोड़ा गया सम्बन्ध बाँधनेवाला होता है और देनेकी इच्छासे जोड़ा गया सम्बन्ध मुक्त करनेवाला होता है। इसलिये सेवा करनेके लिये ही सम्बन्ध जोड़ो, सेवा लेनेके लिये नहीं। जैसे सेवा-समितिवाले मेला-महोत्सवमें सबका प्रबन्ध करते हैं, सबकी सेवा करते हैं। कोई बीमार हो जाय तो उसे कैम्पमें ले जाते हैं और उसका इलाज करते हैं, मर जाय तो दाह-संस्कार कर देते हैं, पर रोता कोई नहीं। जहाँ 'सेवा करनेमात्रका सम्बन्ध है, वहाँ रोना नहीं होता। जहाँ कुछ-न-कुछ लेनेकी आशासे सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, वहीं रोना होता है।' लेनेकी इच्छा ही गुणोंका संग है, जिससे जन्म-मरण होता है—

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

(गीता १३। २१)

सेवा करनेका भाव असंगता लानेवाला है। अपने धर्मका, कर्तव्यका पालन करोगे, दूसरोंकी सेवा करोगे तो वैराग्य पैदा होगा—***'धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना'*** (मानस ३। १६। १)। जैसे स्वायम्भुव मनुने अपना कोई स्वार्थ न रखकर धर्मसहित प्रजाका पालन किया, उसका हित किया तो उनको वैराग्य हो गया—

होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।
हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु ॥

(मानस १। १४२)

वैराग्य होनेपर वे स्त्रीसहित वनको चले गये। उन्होंने प्रजाके हितके लिये राज्य किया, इसीलिये उन्हें वैराग्य हुआ। अगर वे अपने लिये राज्य करते तो उन्हें वैराग्य नहीं होता। जहाँ लेनेकी इच्छा होती है, वहाँ राग पैदा होता है। राग अज्ञानका चिह्न है, अज्ञानकी खास पहचान है—**'रागो लिङ्गमबोधस्य'**। जो रागी होता है, वह अज्ञानी होता है।

सेवा करनेसे सम्बन्ध उसका जुड़ता है, जो कुछ लेना चाहता है और लेना वही चाहता है, जो शरीर और पदार्थोंके साथ 'मैं' और 'मेरा'का सम्बन्ध रखता है। जिसको सेवक कहलानेकी भी इच्छा नहीं है, प्रत्युत केवल दूसरोंको सुख पहुँचे, आराम पहुँचे, उनका भला हो, उनका कल्याण हो—इसके लिये ही तनसे, मनसे, वचनसे, धनसे, विद्यासे, बुद्धिसे, योग्यतासे, पदसे, अधिकारसे सबको सुख-ही-सुख पहुँचाता है, मनमें सबका हित-ही-हित करनेका भाव रखता है, वह मुक्त हो जाता है। जैसे, पानीमें रहकर पानीको अपनी ओर लोगे तो डूब जाओगे; और हाथोंसे, लातोंसे मारते रहोगे तो तर जाओगे। इसी तरह इस संसार-समुद्रमें जो लेना चाहता है, वह डूब जाता है जो देना-ही-देना चाहता है, वह कभी नहीं डूबता।

भगवान् और उनके भक्त (सन्त-महात्मा) बिना कारण सबकी सेवा करनेवाले हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥

(मानस ७। ४७। ३)

इसलिये वे बँधते नहीं। वे बँधे क्यों; उनके तो दर्शनसे ही मुक्ति हो जाती है! कारण कि उनमें स्वार्थ है ही नहीं, किसीसे कुछ लेना है ही नहीं, प्रत्युपकारकी इच्छा है ही नहीं। इसलिये सेवा करनेसे बन्धन नहीं होता।

श्रोता—भरत मुनिने दया करके हरिणके बच्चेका पालन किया, पर अगले जन्ममें वे हरिण बन गये, ऐसा क्यों?

स्वामीजी—पहले भरत मुनिका उद्देश्य तो सेवा करनेका ही था, पर बादमें उनका हरिणके बच्चेपर मोह हो गया। हरिणके बच्चेपर उनका इतना अधिक मोह हो गया कि कभी वह दिखायी नहीं देता तो वे उसके वियोगमें ऐसे व्याकुल हो जाते, जैसे कोई पुत्रके वियोगसे व्याकुल होता है। वह ऐसे खेलता था, ऐसे गोदीमें आता था, ऐसे बोलता था, ऐसे शरीर खुजलाता था, ऐसे फुदकता था—इस तरह वे उसका चिन्तन करने लगते थे। इसी मोहके कारण उनको अगले जन्ममें हरिण बनना पड़ा, दयाके कारण नहीं। उनको मोह दयासे नहीं हुआ, प्रत्युत भूलसे हुआ। वास्तवमें मोह तो पहलेसे ही था, वही मोह दयाका रूप धारण करके आ गया। मोहके कारण ही बन्धन होता है। दया-परवश होकर सेवा करनेसे बन्धन नहीं होता।

अस्सी-नब्बे, सौ वर्षका कोई आदमी मर जाय तो उसके लिये दुःख नहीं होता; परंतु पचीस वर्षका कोई जवान आदमी मर जाय तो दुःख होता है। जरा सोचो कारण क्या है। बड़े-बूढ़े तो विशेष बुद्धिमान् और अनुभवी होते हैं, उनका अध्ययन बहुत होता है, इसलिये उनसे ज्यादा लाभ लिया जा सकता है; फिर भी उनके मरनेका दुःख इसलिये नहीं होता कि अब उनसे कुछ लेनेकी इच्छा नहीं रही। भीतर यह भाव रहता है कि अब उनसे मिलेगा कुछ नहीं, इसलिये वह मर जाय तो

कोई हर्ज नहीं। मैंने खुद लोगोंके मुखसे यह सुना है कि बूढ़ेका मरना तो ब्याहकी तरह है। ऐसे ही कोई बीस वर्षका आदमी है और पाँच वर्षतक वह बीमार-ही-बीमार रहा; सब वैद्योंने, डाक्टरोंने जवाब दे दिया कि अब यह जीनेवाला नहीं है और पचीस वर्षकी उम्रमें वह मर गया तो उसके मरनेका भी दुःख नहीं होता। कारण कि दुःख तभी होता है, जब उससे कुछ-न-कुछ मतलब रहता है, सेवाकी आशा रहती है। यह आशा ही बाँधनेवाली है। जो आशा नहीं रखता, वह बँधता नहीं, उसको कोई बाँध सकता ही नहीं।

कोई सम्बन्धी मर जाय तो उसके पीछे श्राद्ध करते हैं, दान, पुण्य करते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो उससे लिये था, वह कर्जा उतर जाय। उससे जितना सुख लिया है, उतनी ही उसकी याद आती है, उतना ही हमें उसके वियोगका दुःख होता है। छोटे बच्चेको गोदीमें खिला करके जो सुख लिया है, उसका भी नतीजा दुःख ही होगा। सांसारिक सुखका नतीजा दुःख ही है। सांसारिक सुख दुःखोंकी जड़ है। उस सुखको लोगे तो बन्धन होगा ही। अगर वह सुख नहीं लोगे, प्रत्युत सुख दोगे तो किसीकी ताकत नहीं कि आपको बाँध दे। जहाँ कुछ-न-कुछ स्वार्थ है, मनमें सुख, आराम, मान, बड़ाई आदि लेनेकी इच्छा है, वहींपर बन्धन है। मेरेको व्याख्यान देते हुए वर्ष बीत गये, पर बन्धनकी जड़ कहाँ है—इसका पता जल्दी नहीं लगा। पीछे इसका पता लगा कि मनमें कुछ-न-कुछ लेनेकी इच्छा ही बन्धनकी जड़ है। ऐसी दुर्लभ बात है यह ! अगर संसारकी किसी चीजको देखकर राजी होते हैं तो यह भी सुखका भोग है, जो बाँधनेवाला है। अनुकूलताकी इच्छा करेंगे तो दुःख आयेगा ही। इसलिये हरदम सावधान रहो कि किसीसे सुख नहीं लेना है, आराम नहीं लेना है, मान नहीं लेना है, बड़ाई नहीं लेनी है। हमें किसीसे कुछ लेना है ही नहीं। जहाँ लेना हुआ कि फँसे ! केवल देना-ही-देना है। सेवा-ही-सेवा करनी है। सेवा करनेसे पुराना ऋण उतर जायगा और लेनेकी इच्छा न रखनेसे नया ऋण नहीं चढ़ेगा तो हम मुक्त हो जायँगे।

—★—

स्वार्थरहित सेवाका महत्त्व

जैसे हाथ, पैर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, मस्तिष्क आदि एक ही शरीरके अनेक अवयव हैं और ये सब मिलकर शरीर-निर्वाहके लिये काम करते हैं। इन सबके काम तो अलग-अलग हैं, पर अलग-अलग काम करते हुए भी ये सभी परस्पर एक-दूसरेके हितमें लगे रहते हैं। ऐसे ही संसारमात्रके जो अनेक प्राणी हैं, उन सबको भी मिलकर समष्टि संसारके हितके लिये काम करना चाहिये। गलती वहाँ होती है, जब वे केवल अपने लिये ही काम करते हैं। जैसे, हाथ केवल अपने लिये ही काम करें, पैर, आँख, कान आदि किसीके लिये नहीं, तो शरीरका निर्वाह नहीं होगा। पैर कहें कि हम तो अपने लिये ही काम करेंगे, शरीरको हम क्यों उठायें? हाथोंको हम क्यों उठायें? तो शरीरका काम नहीं चलेगा। इसी तरह स्वार्थमें आकर हर प्राणी अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहे तो संसारका काम नहीं चलेगा। अपने स्वार्थके लिये काम करनेसे ही काम बिगड़ता है।

सम्पूर्ण प्राणी एक ही संसारके अनेक अवयव हैं। किसी भी रीतिसे शरीर संसारसे अलग सिद्ध नहीं हो सकता। बनावटकी दृष्टिसे, धातुकी दृष्टिसे, संरक्षककी दृष्टिसे देख लो, शरीरको संसारसे अलग सिद्ध नहीं कर सकते। जैसे शरीरके अवयव अलग-अलग होते हुए भी एक ही शरीरके अंग हैं, ऐसे ही संसारमें छोटे-बड़े जितने भी प्राणी हैं, वे सब एक विराट्-(समष्टि-संसार-) के ही अंग हैं। एक विराट्के अंग होकर भी वे अपना व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध करते हैं—यह गलती है।

अपना स्वार्थ सिद्ध करें या नहीं करें—इसका ज्ञान पशु-पक्षियोंमें नहीं है; परन्तु मनुष्यमें इसका ज्ञान (विवेक) है। मनुष्य विवेकपूर्वक यह विचार कर सकता है कि यह सम्पूर्ण संसार अपना कुटुम्ब है, फिर एक अपने स्वार्थके लिये काम कैसे करें? नीतिमें भी आया है—

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

(पञ्चतन्त्र, अपरीक्षित ३७)

'यह तो हमारा है और यह दूसरोंका (पराया) है—ऐसा विचार तो तुच्छ हृदयवाले लोगोंका हुआ करता है। जिनका हृदय उदार है, उनके लिये तो सारा संसार ही कुटुम्ब है।'

संसारका कोई भी प्राणी हो, चाहे वह स्थावर हो या जंगम, अपने ही कुटुम्बका है। शास्त्रोंमें आया है कि जैसे अपने घरमें रहनेवाले लोग अपने कुटुम्बी हैं, ऐसे ही अपने घरमें रहनेवाली चींटियाँ, मक्खियाँ, चूहे आदि भी अपने कुटुम्बी ही हैं। वे भी उस घरको अपना घर मानते हैं। चिड़ियाँ उस घरमें जहाँ अपना घोंसला बनाती हैं, वहाँ दूसरी चिड़ियोंको नहीं रहने देतीं। विचार करें, एक घरमें भी कितने घर हैं! सबका अपना-अपना घर है। अतः घरको केवल अपना ही मानना और केवल अपने घरके लिये ही सब काम

करना पशुता है। मनुष्यता नहीं। भागवतमें आया है कि इस पशुबुद्धिका त्याग कर दो—'**पशुबुद्धिमिमां जहि**' (श्रीमद्भागवत १२।५।२)। सबके हितमें अपना हित मानना ही मनुष्यबुद्धि है।

आज जो आध्यात्मिक उन्नतिमें देरी हो रही है, उसका खास कारण यही है कि आप अपना व्यक्तिगत हित ही चाहते हैं अर्थात् अपने व्यक्तित्वको, परिच्छिन्नताको कायम रखते हैं। मेरी मुक्ति हो, मेरेको सुख मिले, मेरा हित हो, मेरा मतलब सिद्ध हो—इस व्यक्तित्वको, एकदेशीयताको आप छोड़ते नहीं। पशुका जो स्वभाव है, उसी स्वभावको लेकर आप काम करते हैं।

गीतामें आया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(३।१०-११)

'प्रजापति ब्रह्माजीने सृष्टिके आदिकालमें कर्तव्य-कर्मोंके विधानसहित प्रजाकी रचना करके उनसे (प्रधानतया मनुष्योंसे) कहा कि तुमलोग अपने कर्तव्यके द्वारा अपनी वृद्धि करो और वह कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ तुमलोगोंको कर्तव्य-पालनकी आवश्यक सामग्री प्रदान करनेवाला हो! अपने कर्तव्य-कर्मके द्वारा तुमलोग देवताओंको उन्नत करो और वे देवतालोग अपने कर्तव्यके द्वारा तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

तात्पर्य है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीके देवता तथा चन्द्र, सूर्य आदि देवतामात्र जीवोंकी वृद्धि करें, उनका पालन करें, उनकी सेवा करें। मनुष्य यज्ञके द्वारा देवताओंका पूजन करें, उनकी वृद्धि करें, उनकी सेवा करें। यहाँ 'देव' शब्द उपलक्षणरूपसे है; अतः 'देव' शब्दके अन्तर्गत मात्र प्राणियोंको लेना चाहिये। मनुष्यका कर्तव्य मात्र प्राणियोंका हित चाहना है, उनकी सेवा करना है। इसलिये मनुष्यको अपने-अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये। जैसे, ब्राह्मण अपने ब्राह्मणोचित कर्मसे सबकी सेवा करे, क्षत्रिय अपने क्षत्रियोचित कर्मसे सबकी सेवा करे, वैश्य अपने वैश्योचित कर्मसे सबकी सेवा करे और शूद्र अपने शूद्रोचित कर्मसे सबकी सेवा करे। इस प्रकार एक-दूसरेकी सेवा करनेसे परमश्रेयकी प्राप्ति हो जायगी।

परमश्रेयकी प्राप्तिमें केवल अपनी स्वार्थ-भावना ही बाधक है। आपके पास जितनी वस्तुएँ हैं, वे समष्टिकी हैं और सबकी सेवाके लिये हैं। उन वस्तुओंसे अपना निर्वाह भी दूसरोंकी सेवाके लिये करो, अपने सुखभोगके लिये नहीं—'***एहि तन कर फल बिषय न भाई***' (मानस ७।४४।१)। मनुष्य-शरीरका उद्देश्य विषय-भोग करना, संसारका सुख लेना नहीं है, प्रत्युत सबकी सेवा करना है। इसीलिये सबको सुख कैसे पहुँचे, सबको आराम कैसे पहुँचे, सबका भला कैसे हो—यही चिन्तन करो, यही विचार करो। ब्रह्माजी कहते हैं—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

(गीता ३।१२)

'यज्ञसे भावित (पुष्ट) हुए देवता भी तुमलोगोंको कर्तव्यपालनकी आवश्यक सामग्री देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंसे प्राप्त हुई सामग्रीको दूसरोंकी सेवामें लगाये बिना जो मनुष्य स्वयं ही उसका उपभोग करता है, वह चोर ही है।'

मनुष्यको जो सामग्री मिली है, वह सबकी सेवा करनेके लिये मिली है केवल अपने उपभोगके लिये नहीं, जो अकेला उसका उपभोग करता है, उसको चोर कहा गया है—'**स्तेन एव सः**'। अगर मिली हुई सामग्री अपने उपभोगके लिये ही होती, तो उसको चोर नहीं कहते! इसलिये मनुष्यको जो भी सामग्री मिली है, उसको अकेले भोगनेका वह अधिकारी नहीं है। जैसे परिवारमें जो आदमी पैसे कमाता है, उसके द्वारा कमाये हुए पैसोंपर अकेले उसका ही हक नहीं लगता, प्रत्युत उसके पूरे परिवारका हक लगता है। अगर वह अपनी स्त्रीसे कह दे कि 'मैं अकेला ही खाऊँगा; तू तो घरपर बैठी रहती है, तेरेको क्यों दिया जाय? माँ-बापसे कहे कि आप तो ऐसे ही घरपर बैठे रहते हैं, आपको क्यों दिया जाय? मैंने मेहनत की है, मैंने कमाया है; अतः मैं अकेला ही भोग करूँगा' तो ऐसी परिस्थितिमें क्या परिवारमें सुख-शान्ति रहेगी? परिवारका काम ठीक तरहसे चलेगा? कभी नहीं। इसी तरहसे अगर लोग केवल अपने स्वार्थकी पूर्तिमें ही लगे रहेंगे तो सृष्टिका काम ठीक तरहसे नहीं चलेगा।

हमारे पास जो कुछ है, वह सब हमें संसारसे ही मिला है। शरीर और उसके लिये अन्न, जल, वस्त्र, हवा, रहनेका स्थान आदि हमें समष्टि संसारसे मिले हैं। धनी-से-धनी व्यक्ति, राजा-महाराजा भी ऐसा नहीं कह सकता कि मैं दूसरेसे सेवा लिये बिना अपना निर्वाह कर लूँगा। कैसे कर लेगा? वह सड़कपर चलेगा तो क्या सड़क अपनी बनायी हुई है? किसी वृक्षके नीचे ठहरेगा तो क्या वह वृक्ष अपना लगाया

हुआ है ? कहीं जल पीयेगा तो क्या कुआँ अपना खुदवाया हुआ है ? उसे संसारसे लेना ही पड़ेगा, परवश होकर लेना पड़ेगा। लेना तो पशुओंको भी पड़ेगा, फिर मनुष्यकी बुद्धिकी क्या विशेषता हुई ? लिया है तो देना भी चाहिये; परवशतासे जो लिया है, उससे भी ज्यादा देना है—यह मनुष्यबुद्धिकी विशेषता है। भगवान्‌ने कहा है—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः'** (गीता १२।४) 'जो मनुष्य प्राणिमात्रके हितमें रत होते हैं, वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं।' प्राणिमात्रके हितमें रति होनी चाहिये। उनका हित कर दें—यह हाथकी बात नहीं है। सारा संसार मिलकर एक आदमीकी इच्छा भी पूरी नहीं कर सकता, तो फिर एक आदमी सारे संसारकी इच्छा पूरी कैसे कर देगा ? मनुष्यका कर्तव्य यह है कि उसके पास जो सामग्री है, उसको वह उदारतापूर्वक दूसरोंके हितके लिये समर्पित कर दे। ऐसा करनेसे उसको कल्याणकी प्राप्ति हो जायगी।

मनुष्य जितना-जितना व्यक्तिगत स्वार्थभाव रखेगा, उतना ही वह संसारमें नीचा माना जायगा। कमानेवाला केवल अपना ही पेट भरेगा, अकेला ही सामग्रीका उपभोग करेगा तो वह न घरमें आदर पायेगा, न बाहर। वह जितना-जितना व्यक्तिगत स्वार्थका त्याग करके कुटुम्बकी सेवा करेगा, उतना ही वह अच्छा माना जायगा। अगर वह केवल कुटुम्बका ही नहीं, पड़ोसियोंका भी हित चाहेगा तो वह और श्रेष्ठ होगा। केवल पड़ोसियोंका ही नहीं, सम्पूर्ण गाँवका हित चाहेगा तो वह और श्रेष्ठ होगा। केवल गाँवका ही नहीं, प्रान्तका हित चाहेगा तो वह और श्रेष्ठ होगा। केवल प्रान्तका ही नहीं, सारे देशका हित चाहेगा तो वह और श्रेष्ठ होगा। अगर वह देश-विदेशका, सम्पूर्ण पृथ्वीका हित चाहेगा तो वह और श्रेष्ठ होगा ! अगर वह देवता, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि मात्र जीवोंका हित चाहेगा तो वह और श्रेष्ठ होगा। अगर वह भगवान्‌की सेवा करेगा, भगवान्‌का भजन-कीर्तन-ध्यान करेगा तो वह सर्वश्रेष्ठ हो जायगा। जैसे वृक्षके मूलमें जल डालनेसे सम्पूर्ण वृक्ष स्वतः हरा हो जाता है, ऐसे ही संसाररूपी वृक्षके मूल भगवान्‌का चिन्तन करनेसे, भजन करनेसे संसारमात्रकी सेवा स्वतः हो जाती है।

सिद्धान्त यह हुआ कि मनुष्यके द्वारा जितनी व्यापक सेवा होगी, उतना ही वह श्रेष्ठ हो जायगा। हमें जो कुछ मिला है, वह सृष्टिसे मिला है। इसलिये उसको बड़ी ईमानदारीसे सृष्टिकी सेवामें लगा देना चाहिये। यह गीताका कर्मयोग है।

★

कर्मयोगका तत्त्व

वास्तवमें कर्मयोग क्या है—इस बातको जाननेवाले बहुत कम हैं। तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषका मिलना कठिन है, पर कर्मयोगके तत्त्वको जाननेवाला मिलना उससे भी ज्यादा कठिन है! लगभग पाँच हजार वर्ष पहले भगवान्‌ने कहा था कि बहुत समय बीत जानेके कारण वह कर्मयोग लुप्तप्राय हो गया—'**स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप**' (गीता ४। २)। अब तो यह बहुत ही लुप्त हो गया है। ग्रन्थोंमें कर्मयोगका विवेचन नहीं आता। पढ़ाईमें भी कर्मयोगका विवेचन नहीं आता। सत्संगमें भी कर्मयोगका विवेचन नहीं मिलता। इसका अध्ययन लुप्तप्राय है। इसलिये कर्मयोगकी बात बड़ी कठिन मालूम देती है। कर्मयोगका विवेचन करनेमें कई घण्टे लग सकते हैं। मैं उसकी थोड़ी सार-सार बात बताता हूँ।

सबसे पहली बात यह है कि चाहे 'कर्मयोग' कह दो, चाहे 'निष्काम कर्म' कह दो, एक ही बात है। 'निष्काम कर्मयोग' शब्द बनता ही नहीं। इसका अर्थ ठीक नहीं बैठता। परन्तु अच्छे-अच्छे समझदार भी 'निष्काम कर्मयोग' कह देते हैं! इसलिये यह बात कहनेमें जरा कठिन पड़ती है कि 'निष्काम कर्मयोग' कहना बिलकुल गलत है। निष्काम कर्म कह दो या कर्मयोग कह दो, दोनों ठीक हैं। पर 'निष्काम कर्मयोग' कैसे बनेगा? परन्तु अब क्या करें? किसको कहें?

हमें एक बड़ा दुःख है कि भाइयोंमेंसे और बहनोंमेंसे कोई भी इस तत्त्वको जाननेके लिये जिज्ञासु नहीं है, जाननेके लिये तैयार नहीं है। माननेके लिये मैं आग्रह करता ही नहीं। कम-से-कम यह है क्या—इसको जानो तो सही। मानो या मत मानो, आपकी मरजी। परन्तु तत्त्व क्या है—ऐसी भीतर लगन तो लगे। मेरी धारणामें इस तत्त्वको समझनेमें आप अयोग्य नहीं हैं, अनधिकारी नहीं हैं। आप सब-के-सब समझ सकते हैं। परन्तु जो समझना चाहे ही नहीं, उसका क्या करें?

योगकी परिभाषा गीताने दो जगह की है—समताका नाम योग है—'**समत्वं योग उच्यते**' (२। ४८) और दुःखोंके संयोगका सर्वथा वियोग हो जाय, इसका नाम योग है—'**तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।**' (६। २३) सम क्या है? सम हैं ब्रह्म—'**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**' (५। १९)। दुःखोंका अत्यन्त अभाव कब होता है? परमानन्दकी प्राप्ति होनेपर होता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग आदि कई योग हैं। उन सब योगोंका तात्पर्य है कि परमात्माके साथ जो

नित्ययोग अर्थात् नित्य-सम्बन्ध है, उसकी जागृति हो जाय। परमात्माका जीवके साथ सदासे नित्ययोग है। कर्मयोग उसको कहते हैं, जिसमें कर्म संसारके लिये हो जाय और योग परमात्माके साथ हो जाय। अब उसको चाहे निष्कामभावसे कर्म करना कह दो, चाहे कर्मयोग कह दो।

श्रोता—कर्मयोगसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कैसे होगी?

स्वामीजी—अब ध्यान दें। आपकी शंका है कि हम कर्म तो संसारके हितके लिये करते हैं, फिर उससे परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो जायगी? जैसे, बद्रीनारायण जा रहे हैं तो द्वारिका कैसे पहुँच जायँगे? कर किधर रहे हैं और प्राप्ति किधर हो रही है—ऐसा कहीं होता है? जा रहे हैं उत्तरमें और पहुँच जायँ दक्षिणमें अथवा जा रहे हैं दक्षिणमें और पहुँच जायँ उत्तरमें— यह कैसे होगा? सम्भव ही नहीं। इसलिये शंका होती है। बहुत ठीक शंका है।

सबसे पहले एक बात बताता हूँ, उस तरफ आप खयाल करें। परमात्मतत्त्व सब जगह है कि नहीं? इसके उत्तरमें जो भगवान्‌को मानते हैं, वे सब कहेंगे कि परमात्मा सब जगह हैं। यह मूल चीज है। इस विषयमें मैं चार बातें कहता हूँ—१. परमात्मा सब जगह हैं, २. परमात्मा सब समयमें हैं, ३. परमात्मा सब वस्तुओंमें हैं और ४. परमात्मा सबके हैं। यह नहीं है कि मेरे तो वे कोई नजदीक पड़ते हों और आपसे कोई दूर पड़ते हों। परमात्मा पापी-से-पापी, दुराचारी-से-दुराचारीके भी उतने ही नजदीक हैं, जितने सन्त-महात्मा, जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी आदिके नजदीक हैं। परमात्मा अपनी तरफसे दूर नहीं हैं, जीव ही उनसे विमुख हो जाता है।

परमात्मा सब जगह हैं तो यहाँ हैं कि नहीं? अगर परमात्मा यहाँ नहीं हैं तो वे सब जगह हैं—यह नहीं कह सकते। यहाँके सिवा सब जगह हैं—ऐसा कह सकते हैं, पर फिर भी 'सब जगह' शब्द प्रयोगमें नहीं ले सकते। ऐसे ही परमात्मा सब समयमें हैं तो इस समय हैं कि नहीं? अगर इस समय नहीं हैं तो वे सब समयमें हैं—यह कहनेकी किसीमें हिम्मत नहीं है। ऐसे ही परमात्मा सम्पूर्ण वस्तुओंमें हैं तो हमारेमें हैं कि नहीं? शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम् (मैं हूँ)—इन सबमें परमात्मा हैं कि नहीं? अगर इनमें नहीं हैं तो परमात्मा सम्पूर्ण वस्तुओंमें हैं—यह कहना कभी नहीं बन सकता। मैं जहाँ हूँ, वहाँ परमात्मा नहीं हैं—ऐसा कह सकते हो क्या? किसी भी आस्तिककी यह कहनेकी हिम्मत नहीं होगी कि मेरेमें परमात्मा नहीं हैं। परमात्मा सबके हैं तो मेरे भी हैं। अगर वे मेरे नहीं हैं तो वे सबके हैं—यह कहना बनता ही नहीं। सब जीव उनके अंश हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७), ***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी,*** (मानस, उत्तर, ११७।१)। भगवान् कहते हैं कि मैं प्राणिमात्रका सुहृद् हूँ—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५।२९) वे किसी एकके भी सुहृद् न हों, यह नहीं हो सकता। जो सब जगह हैं, सब समयमें हैं, सब वस्तुओंमें हैं और सबके हैं—ऐसे परमात्माको प्राप्त करनेके लिये क्या करें? किसी भी एक योगका अनुष्ठान करें। यहाँ प्रसंग कर्मयोगका है, इसलिये अब कर्मयोगकी बात कहता हूँ।

कर्मोंसे परमात्माका योग (नित्य-सम्बन्ध) कब होगा? जब हम अपने लिये कोई कर्म नहीं करें। खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना, चिन्तन करना, भजन-ध्यान करना और समाधि लगाना भी अपने लिये बिलकुल न करें, तब कर्मयोग होगा, नहीं तो कर्मभोग होगा। अपने लिये कर्म करनेसे भोग होता है, योग नहीं होता। यह मूल बात है।

अपने लिये कोई कर्म नहीं करना है—यह सुनकर आदमी अटक जाता है कि अपने लिये नहीं करें तो किसके लिये करें? एक बात मैं कहता हूँ, अगर आपके विरुद्ध पड़े तो क्षमा करें। जप भी अपने लिये नहीं, तप भी अपने लिये नहीं, समाधि भी अपने लिये नहीं, प्रार्थना भी अपने लिये नहीं—इनको अपने लिये नहीं करना है। कारण कि मूलमें हम परमात्माके अंश हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस, उत्तर० ११७।२)

जो चेतन, मलरहित और सुखराशि है, उसके लिये क्या करना पड़ेगा? उसके लिये कुछ नहीं करना है। हम अपने लिये करते हैं—यही बन्धन है। यह बात थोड़ी कठिन पड़ती है, हरेककी समझमें नहीं आती। परन्तु अपने लिये करेंगे तो बन्धन होगा। कैसे बन्धन होगा? कुछ भी कर्म करें, उस कर्मका आरम्भ होगा कि नहीं? और उसकी समाप्ति होगी कि नहीं? कोई भी कर्म किया जायगा तो उसका आरम्भ होगा और उसकी समाप्ति होगी। उसका जो फल मिलेगा, उसका भी संयोग होगा और वियोग होगा। वह आपके लिये उपयोगी कैसे होगा, जबकि आप नित्य रहनेवाले हो?

खूब गहरी रीतिसे ध्यान दो। अपने लिये कुछ भी नहीं करना है—यह वेदान्तका भी सिद्धान्त है, अद्वैतमार्गका भी सिद्धान्त है, भक्तिमार्गका भी सिद्धान्त है। जितने दार्शनिक हैं, उनका भी यह मत है। जीवात्मा परमात्माका साक्षात् अंश है। वह कर्मोंसे न बढ़ता है, न घटता है—**'कर्मणा न वर्द्धते नो कनीयान्।'** वह ज्यों-का-त्यों रहता है। आप चाहते हो कि वह कर्मोंसे हमारेको मिल जाय, यहीं गलती होती है। हम जो

कर्म करें, दूसरोंके लिये करें। संसारके पदार्थ और क्रियामात्र दूसरोंके लिये हैं; क्योंकि पदार्थ और क्रिया—ये दोनों प्रकृतिके हैं, परमात्माके नहीं। परमात्मा पदार्थ और क्रियासे रहित हैं।

परमात्मा सब वस्तुओंमें हैं और सब क्रियाओंमें हैं। सबमें रहते हुए भी परमात्मा सबसे परे हैं, निर्लिप्त हैं। परमात्मामें लिप्तता है ही नहीं। हम कर्म करते हैं और फल चाहते हैं—यही गुणोंका संग है, जिससे ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है (गीता १३। २१)। कर्मका फल विनाशी ही होता है, अविनाशी नहीं। फल वही होता है, जो पहले नहीं होता, प्रत्युत पैदा होनेवाला और नष्ट होनेवाला होता है। अतः परमात्मतत्त्व कर्मका फल नहीं हो सकता।

ज्ञानसे जो बोध होता है, वह फल नहीं है। भक्तिमें जो प्रेम होता है, वह फल नहीं है। कर्मयोगसे जो योग होता है, वह फल नहीं है। फल कभी भी होगा, नाशवान् ही होगा। फल अविनाशी हो ही नहीं सकता, कभी सम्भव ही नहीं। फिर कर्म किसलिये किया जाय? संसारमें जो राग है, उस रागकी निवृत्तिके लिये कर्म किया जाय। कर्म रागकी पूर्तिके लिये भी किया जाता है और रागकी निवृत्तिके लिये भी। कर्मका आरम्भ केवल रागकी निवृत्तिके लिये किया जाय। हमने जडके साथ जो सम्बन्ध जोड़ा है, उस सम्बन्धके विच्छेदके लिये कर्म किया जाय। सम्बन्ध-विच्छेद तभी होता है, जब कर्म दूसरोंके लिये किया जाय। अपने लिये कर्म किया जायगा तो सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होगा।

स्थूलशरीरसे आप दूसरोंकी सेवा करो, स्थूल पदार्थोंका दान करो, पर उसका फल मत चाहो। कारण कि हमारी न क्रिया है और न पदार्थ है, फिर क्रिया करना और दान-पुण्य करना हमारे लिये कैसे होगा? ऐसे ही सूक्ष्मशरीरसे यह चिन्तन किया जाय कि प्राणिमात्रका हित कैसे हो? सबका कल्याण कैसे हो? सबका उपकार कैसे हो? सबकी सेवा कैसे बने? अब रही कारणशरीरकी बात! कारणशरीर अविद्या कहलाता है और उसमें स्वभाव मुख्य रहता है। इससे आगे हम कुछ नहीं जानते—इसका नाम कारणशरीर है। स्थूलशरीरमें जाग्रत्-अवस्था, सूक्ष्मशरीरमें स्वप्न-अवस्था, और कारणशरीरमें सुषुप्ति-अवस्था (गाढ़ निद्रा) होती है। ये तीनों अवस्थाएँ प्रकृतिके संगसे होती हैं। समाधि कारणशरीरकी होती है। समाधिमें किञ्चिन्मात्र भी स्फुरणा नहीं होती, एकदम स्थिरता रहती है। यह समाधि भी हमारे लिये नहीं है, तभी कर्मयोग होगा। कारण कि समाधि भी कर्म है। जैसे **'गच्छति'** क्रिया है, **'चिन्तयति'** क्रिया है, **'ध्यायते'** क्रिया है, ऐसे ही **'समाधीयते'** भी क्रिया है। करना भी क्रिया है और न करना भी क्रिया है। भगवान् कहते हैं—**'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।'** (गीता ३। १८) अर्थात् कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुषका इस संसारमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्म न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है। अतः करना भी हमारे लिये नहीं और न करना भी हमारे लिये नहीं।

शरीर और वस्तुओंके द्वारा दूसरोंका हित किया जाय तो शरीर और वस्तुओंकी शुद्धि होती है। ऐसे ही दूसरोंके हितका चिन्तन किया जाय तो मन-बुद्धिकी शुद्धि होती है। भगवान् कहते हैं कि जो प्राणिमात्रके हितमें रत होते हैं, वे मेरेको प्राप्त होते हैं—

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः'

(गीता १२। ४)

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता ५। २५)

—सगुण और निर्गुण—दोनोंकी प्राप्तिके लिये **'सर्वभूतहिते रताः'** पद आया है। दूसरोंके हितके लिये हम कितना कर सकते हैं—इसका कोई ठेका नहीं है। आपकी रति, रुचि, प्रीति दूसरोंके हितमें हो।

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(मानस, अरण्य० ३१। ९)

जिनके हृदयमें दूसरेके हितका भाव रहता है, उनके लिये कुछ भी करना बाकी नहीं रहता।

गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्हीं जो जाचत जोगी॥

(मानस, अरण्य० ३३। २)

योगी जिस गतिके लिये याचना करते हैं, वह गति भगवान्‌ने गीधको दे दी! वह (गीधराज जटायु) चतुर्भुजरूप धारण करके हरिरूपसे वैकुण्ठको गया। उसके लिये भगवान्‌ने कहा—***'तात कर्म निज ते गति पाई'*** (मानस, अरण्य० ३१। ८) अर्थात् इसमें मेरा कोई एहसान नहीं है, अपने कर्मसे तुमने यह गति पायी है। कर्म क्या? सीताजीकी रक्षाके लिये रावणसे युद्ध किया। सीताजी जब अपनी रक्षाके लिये पुकारने लगीं, तब उसने देखा—ओ हो! ये तो रघुकुलतिलक श्रीरामकी स्त्री है और दुष्ट लिये जा रहा है। वह जोरसे बोला—बेटी! तू चिन्ता मत कर, मैं अभी आया! जगज्जननी सीताजीको वह बेटी कहकर पुकारता है! इसका कारण यह था कि वह दशरथजीका मित्र था। दशरथजीकी पुत्रवधू मेरी पुत्रवधू ही हुई, मेरी बेटी ही हुई—इस भावसे

वह बेटी कहकर बोला। रावणसे उसने ऐसी लड़ाई की कि रावणको मूर्च्छा आ गयी! लड़ते-लड़ते जब रावणने तलवारसे उसके पंख काट दिये तो वह नीचे गिर पड़ा; क्योंकि पक्षीके पास पंखोंका ही बल रहता है। इस प्रकार उसने दूसरेके हितके लिये अपने-आपकी आहुति दे दी, इसलिये उसको परमगति प्राप्त हुई। भगवान् इसमें (परमगति देनेमें) अपना कोई एहसान नहीं मानते।

कर्म करनेकी सब सामग्री संसारकी है। यह पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर स्थूल-सृष्टिका एक अंश है, सूक्ष्मशरीर समष्टि सूक्ष्म-सृष्टिका एक अंश है और कारणशरीर कारण-सृष्टिका एक अंश है। संसारकी सामग्रीसे कर्म करके अपने लिये चाहते हैं—यही महान् अनर्थका हेतु है। यही असत्‌का, नाशवान्‌का संग है, जिससे जन्म-मरण होता है।

एक बहुत ही विलक्षण बात बताऊँ! आपके पास कितनी योग्यता है, कितनी सामर्थ्य है, कितने पदार्थ हैं, कितनी विद्या है—इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। बड़े-से-बड़ा विद्वान् और मूर्ख-से-मूर्ख भी अपने लिये कोई कर्म न करे तो मुक्त हो जायगा! इसमें योग्यता आदि कोई काम नहीं देगी; क्योंकि वह तो उत्पत्ति-विनाशवाली है, आने और जानेवाली है; अतः उसके द्वारा नित्य रहनेवाला तत्त्व थोड़े ही मिलेगा! आपके पास बढ़िया या घटिया कैसी सामग्री है, कितनी योग्यता है, आप कैसे अधिकारी हैं—इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसकी आवश्यकता वहाँ होती है, जहाँ योग्यता काम करती है, विद्या काम करती है, सामग्री काम करती है। ये चीजें संसारमें काम आती हैं। संसारमें आपकी जैसी योग्यता, सामर्थ्य होगी, वैसा मिलेगा। संसारमें अधिकार योग्यताके अनुसार मिलता है। आप कर्म करोगे, योग्यता लाओगे, उसके अनुसार आपको संसारका फल मिलेगा। परन्तु भगवत्प्राप्तिमें इन चीजोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। वहाँ केवल त्यागकी आवश्यकता है।

आपके सामने कैसी ही परिस्थिति हो, चाहे सौम्य हो या घोर उसीमें भगवत्प्राप्ति हो सकती है। अर्जुनने भी कह दिया कि मेरेको युद्ध-जैसे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं—**'घोरे कर्मणि किं नियोजयसि'** (गीता ३।१)? युद्धमें दिनभर मनुष्योंका गला काटनेका लक्ष्य रहता है। ऐसे हिंसात्मक कर्मको करते हुए भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है! भगवान् कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २।३८)

(जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको प्राप्त नहीं होगा।) पापका निवास विषमतामें है, समतामें नहीं। समताका नाम योग है। इसलिये समतामें स्थित होकर युद्ध करनेसे पाप नहीं लगता। वास्तवमें जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करना नहीं है, प्रत्युत वे तो स्वाभाविक ही समान हैं। जैसे, सुख आते हुए अच्छा लगता है, जाते हुए बुरा लगता है और दुःख आते हुए बुरा लगता है, जाते हुए अच्छा लगता है। एक तरफ सुख अच्छा और एक तरफ दुःख अच्छा। एक तरफ सुख बुरा और एक तरफ दुःख बुरा। सुख और दुःखमें क्या भेद हुआ? इन दोनोंमें जो राग-द्वेष कर लेते हैं, बस कर्मयोगमें यही खास बाधा है। राग-द्वेषके कारण ही मनुष्य कर्मोंसे लिप्त हो जाता है, बँध जाता है।

कर्मयोगकी महिमा गाते हुए भगवान् पाँचवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहते हैं—'जो न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी इच्छा करता है, वह नित्य-संन्यासी समझनेयोग्य है; क्योंकि द्वन्द्वोंसे रहित मनुष्य सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।' जो राग-द्वेष नहीं करता, वह कर्मयोगी नित्य-संन्यासी है। लाभ-हानि, सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, जीना-मरना आदि द्वन्द्वोंसे रहित होनेसे वह सुखपूर्वक बन्धनसे मुक्त हो जाता है। सभी द्वन्द्व प्रकृतिमें हैं। द्वन्द्व-रहित होनेसे स्वरूपमें स्थिति स्वतः होती है। मनुष्य द्वन्द्व-रहित कब होता है? जब वह अपने लिये किञ्चिन्मात्र भी नहीं करता।

जब मनुष्य अपने लिये कर्म करता है, तब उसका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध हो जाता है। प्रकृतिका सम्बन्ध जन्म-मरण देता है। जो अपने लिये कुछ नहीं करता, उसको कोई जन्म-मरण कैसे दे सकता है? दुनियामें जितने कर्म होते हैं, उनका पाप-पुण्य हमें नहीं लगता। हम अपने लिये जो कर्म करते हैं, उन्हींका पाप-पुण्य हमें लगता है। अगर हम अपने लिये कुछ न करें तो हमें कोई पाप-पुण्य नहीं लगेगा। अपने लिये कुछ भी करेंगे और कुछ भी चाहेंगे तो योग नहीं होगा, प्रत्युत भोग होगा तथा कर्मोंसे बन्धन होगा—

'कर्मणा बध्यते जन्तुः।'

मैं तो सीधी-सादी बात कहता हूँ कि अगर आप घरमें रहते हैं तो घरमें रहनेकी विद्याको सीख लें। बड़ी सीधी-सरल विद्या है। अगर आप सास हैं तो बहू-बेटोंके लिये मैं सास और माँ हूँ, वे मेरे लिये नहीं हैं। आप बहू हैं तो सास-ससुरके लिये मैं हूँ, वे मेरे लिये नहीं हैं। आप पति हैं तो स्त्रीके लिये मैं हूँ, वह मेरे लिये नहीं है। यह एक धारणा आप कर लो

कि उनके लिये मैं हूँ, वे मेरे लिये नहीं हैं। वे मेरे लिये हैं—यह भाव भीतरसे मिटा दो तो आपकी खटपट मिट जायगी। यह घरमें रहनेकी, संसारमें रहनेकी असली विद्या है।

चेला बने हो तो केवल गुरुके लिये बने हो। अपने लिये गुरुकी जरूरत नहीं है। मेरे लिये गुरु नहीं, मैं गुरुके लिये हूँ। मेरे लिये पिता नहीं, मैं पिताके लिये हूँ। मेरे लिये पुत्र नहीं, मैं पुत्रके लिये हूँ। आपके जितने भी सांसारिक सम्बन्ध हैं, वे सब-के-सब सम्बन्ध केवल उनकी सेवा करनेके लिये हैं। लेनेके लिये कोई सम्बन्ध है ही नहीं। लेनेका खाता ही उठा दें। तो क्या होगा ? जो सब जगह हैं, सब समयमें हैं, सबके हैं, सबमें हैं, उनकी प्राप्ति हो जायगी।

साधु हैं तो हमारे लिये गृहस्थ नहीं हैं, हम गृहस्थके लिये हैं। वे हमारे लिये नहीं हैं, हम उनके लिये हैं—इतनी-सी बात है ! यह बात छोटी-सी है, पर महान् लाभ देनेवाली है। अगर आपकी नीयत प्राणिमात्रका हित करनेकी है तो आपका बन्धन नहीं होगा। इसमें धनकी, विद्याकी, योग्यता आदिकी कोई जरूरत नहीं है। कर्मयोगी वही होता है, जो जैसी भी परिस्थिति आये, उसका उपयोग केवल दूसरोंके हितके लिये करता है।

हमने पहले अपने सुखके लिये किया है, इसीलिये दूसरोंके सुखके लिये करना है, नहीं तो इसको करनेकी भी जरूरत नहीं थी। सेवा करनेसे पुराना कर्जा उतर जायगा और नया कर्जा लोगे नहीं तो क्या होगा ? जैसे किसी दुकानदारको अपनी दुकान उठानी हो तो उसपर जो कर्जा है, उसको तो चुका दे और दूसरोंसे जो लेना है, वे दें तो ले ले, नहीं तो छोड़ दे। ऐसा करनेसे दुकान उठ जायगी। अगर सब-का-सब रुपया लेना चाहेगा तो दुकान उठेगी नहीं। अपनेपर जो कर्जा है, वह पूरा-का-पूरा दे दे। ऐसे ही दूसरोंका हित करना कर्जा चुकाना है, इसमें कोई महत्ताकी बात नहीं है। नया कर्जा लेना नहीं है अर्थात् किसीसे किञ्चिन्मात्र भी सुख चाहना नहीं है। नया कर्जा लिया नहीं और पुराना कर्जा चुका दिया तो मुक्ति नहीं होगी तो क्या होगी ?

दूसरेका हित कितना करे ? अपनी शक्तिके अनुसार। मालपर जगात लगती है। इनकम (आय) पर टैक्स लगता है। माल ही नहीं तो जगात किस बातकी ? दूसरेके हितके लिये जितना कर सकते हो, कर दो; बस, आपका काम एकदम पूरा हो गया ! जो नहीं कर सकते, उसकी कोई आशा भी नहीं रख सकता। आप मेरेसे सुननेकी आशा रखते हो, पर मेरेको जाननेवाले क्या मेरेसे ऐसी आशा रखते हैं कि स्वामीजी हमें दस हजार रुपये दे दें ? जो चीज मेरे पास नहीं है, उस चीजकी आशा आप नहीं रखते। ऐसे ही जो चीज आपके पास नहीं है, उसकी आशा भगवान् रखेंगे क्या ? क्या भगवान् आप-जितने भी समझदार नहीं हैं ? आप जितना कर सकते हैं, उतना करनेमें कमी न रखें।

आपके पास चार चीजें हैं—समय, समझ, सामग्री और सामर्थ्य (शक्ति)। आपके पास ये चारों चीजें जितनी हैं, उतनी-की-उतनी दूसरोंके हितमें लगा दो तो कल्याण हो जायगा। आपके पास जितना है, उतना लगा दो—इतनी ही आशा भगवान् रखते हैं और इतनी ही आशा संसार रखता है। अगर दूसरे आपसे अधिक आशा रखते हैं तो यह उनकी गलती है। समय पूरा दे दिया, अब और समय कहाँसे लायें ? चौबीस घण्टे दे दिये, अब पचीसवाँ घण्टा कहाँसे लायें ? जितनी समझ है, सामग्री है, सामर्थ्य है, वह सब लोगोंके हितमें लगा दी, अब अधिक कहाँसे लायें ? आपके पास जो कुछ है, उसको दूसरोंके हितमें लगानेका भाव हो जाय कि वह हमारा और हमारे लिये नहीं है, प्रत्युत दूसरोंको और दूसरोंके लिये है, तो असंगता स्वतः प्राप्त हो जायगी।

असंगता हमारा स्वरूप है—**'असंगो हि अयं पुरुषः'** (बृहदारण्यक ४।३।१५)। जो असंगता ज्ञानयोगीको विचार करनेसे प्राप्त होती है, वही असंगता कर्मयोगीको दूसरोंके लिये कर्म करनेसे प्राप्त हो जाती है। इन दो श्लोकोंको खूब ध्यान देकर पढ़ो, याद कर लो—

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

(गीता ५।४-५)

'बेसमझ लोग ही सांख्य (ज्ञानयोग) और योग (कर्मयोग) को अलग-अलग बताते हैं, न कि पण्डितजन। कारण कि इन दोनोंमेंसे एक साधनमें भी अच्छी तरहसे स्थित मनुष्य दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है। ज्ञानयोगी जिस तत्त्वको प्राप्त करते हैं, कर्मयोगी भी उसी तत्त्वको प्राप्त करते हैं। अतः जो मनुष्य ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही ठीक देखता है।'

कोई भी पढ़ा-लिखा आदमी इन श्लोकोंपर विचार करके विवाद नहीं कर सकता, इतनी पक्की बात है ! ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं हो सकती; कर्मयोगसे अन्तःकरणका मल-दोष दूर होता है—ऐसा मान लो तो कोई हर्ज नहीं; क्योंकि इस सिद्धान्तको भी मैं मानता हूँ, मेरा विरोध नहीं है। परन्तु एक बात अधिक मानता हूँ कि कर्मयोग, ज्ञानयोग और

भक्तियोग—तीनों ही साधन स्वतन्त्रतासे मुक्ति करते हैं। गीता स्पष्ट कह रही है—

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ५।६)

'महाबाहो! कर्मयोगके बिना ज्ञानयोग सिद्ध होना कठिन है। मननशील कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

इसलिये अपने स्वार्थका, अभिमानका, आसक्तिका, कामनाका त्याग करना है; क्योंकि ये सब हमारा सम्बन्ध संसारके साथ जोड़ते हैं। याद रखो, संसारके साथ सम्बन्ध केवल हमारा जोड़ा हुआ है। परन्तु परमात्माके साथ सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है, जोड़ा हुआ नहीं है। इसमें भी विलक्षण बात यह है कि पदार्थोंने, शरीरने, दूसरोंने, किसीने भी आपको नहीं बाँधा है, आपके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा है। आपने ही उनके साथ सम्बन्ध जोड़ा है। इसलिये आप इस सम्बन्धको छोड़ना चाहो तो छोड़ सकते हो।

रुपयोंने कभी नहीं कहा कि हम तुम्हारे हैं, तुम हमारे हो। मकानने कभी नहीं कहा कि हम तुम्हारे हैं, तुम हमारे हो। अकेले आपने ही मेरे रुपये, मेरा मकान, मेरा शरीर, मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरा अहंकार—ऐसे मेरापन किया है। इसलिये अकेले आपको ही छोड़ना पड़ेगा। प्रकृति और प्रकृतिके कार्य (शरीर-संसार) ने कभी आपको अपना नहीं कहा, कभी आपको अपना नहीं माना। वह तो तेजीसे जा रहा है, खत्म हो रहा है। आप उसको अपना मानते हैं—यही बन्धन है। उसको अपना न मानकर सेवामें लगा दें तो उसका प्रवाहमात्र संसारकी तरफ हो जायगा और आप स्वयं ज्यों-के-त्यों निर्लेप रह जायँगे।

श्रोता—भीतरमें जो अज्ञान है, उसको मिटानेके लिये क्या करें?

स्वामीजी—स्थूलशरीरसे की जानेवाली क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे किया जानेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे की जानेवाली समाधि भी केवल संसारके हितके लिये हो तो फिर सब अज्ञान मिट जायगा। जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और चिन्मय तत्त्वकी स्वतः जागृति हो जायगी।

आपके पास जो धन है, पद है, वह अपने लिये बिलकुल नहीं है। उसको अपना मान लिया—यह बेईमानी है। इस बेईमानीको मिटाना है और कुछ नहीं करना है। साधक हो, पर बेईमानी भी नहीं छोड़ सकते और कल्याण चाहते हो! स्थूलशरीरको अपना मानना बेईमानी है, सूक्ष्म-शरीरको अपना मानना बेईमानी है और कारणशरीरको अपना मानना बेईमानी है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंका सम्बन्ध संसारके साथ है, आपके साथ नहीं। ये तीनों आपके नहीं हैं और आप इनके नहीं हैं।

यदि पापका फल (दुःख) हमारेको बिना माँगे मिलता है तो पुण्यका फल (सुख) बिना माँगे क्यों नहीं मिलेगा? उसको झख मारकर मिलना पड़ेगा। क्या बीमारीकी कभी चाहना करते हो? उद्योग करते हो? कभी ज्योतिषीसे पूछते हो कि क्या करें, बीमारी नहीं आयी? महाराज, देखो तो, कब आयेगी? पाँच-सात वर्ष हो गये, हमारे घरमें कोई मरा नहीं, कौन कब मरेगा—ऐसी इच्छा होती है क्या? दस वर्ष हो गये, व्यापारमें घाटा नहीं लगा, कब लगेगा—यह चाहना होती है क्या? क्या घाटेके लिये उद्योग करते हो? फिर भी लगता है कि नहीं? तात्पर्य है कि जैसे बिना चाहे दुःख मिलता है, ऐसे ही बिना चाहे सुख भी मिलता है, फिर सुखकी चाहना क्यों करें?

जो हमें पापोंका फल तो जबर्दस्ती भुगताये और पुण्योंके फलके लिये हमारेसे नाक रगड़वाये, वह भी कोई भगवान् हो सकता है? अगर वह हमें जिलाना चाहता है तो रोटी दे दे, नहीं तो हमें जीनेकी गरज नहीं है। किसी चीजके लिये हम उसको क्यों कहें? हमारी अपेक्षा उसको गरज ज्यादा है। इसलिये निःशंक हो जाओ, निश्चिन्त हो जाओ, निर्भय हो जाओ और निःशोक हो जाओ। न शंका है, न चिन्ता है, न भय है, न शोक है! तत्परतासे अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करो—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥

(गीता ३।१९-२०)

'तू निरन्तर आसक्तिरहित होकर कर्तव्य-कर्मका भलीभाँति आचरण कर; क्योंकि आसक्तिरहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है। राजा जनक-जैसे अनेक महापुरुष भी कर्मके द्वारा ही परमसिद्धिको प्राप्त हुए हैं। इसलिये लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू (निष्कामभावसे) कर्म करनेके योग्य है।'

कर्मयोगका प्रचार नहीं है, पुस्तकें नहीं हैं, जानकार नहीं हैं, इसलिये इसमें कठिनता दीखती है। वास्तवमें कठिनता नहीं है। कर्मयोग बहुत सुगम है, सरल है। करना चाहो तो सरल हो जायगा। कामनाके कारण पहले कठिनता मालूम देगी, पर कामना छूटनेपर सुगम हो जायगा। कर्मयोग बहुत

ही विलक्षण चीज है।

गीताने बहुत ही अलौकिक बात बतायी है कि आप जहाँ हैं, जिस वर्णमें हैं, जिस आश्रममें हैं, जैसी परिस्थितिमें हैं, केवल उसीका सदुपयोग करना है। उसीसे मुक्ति हो जायगी ! न कहीं जाना है, न वर्ण बदलना है, न आश्रम बदलना है, न सम्प्रदाय बदलना है, न देश बदलना है, न वेश बदलना है। बदलना है मनका भाव। केवल प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करना है।

सेवा कैसे करें ?

श्रोता—सेवा करनेके लिये हमारे पास न तो धन है, न बल है, न बुद्धि है, न योग्यता है, न सामर्थ्य है; कोई भी सामग्री हमारे पास नहीं है, पर हम सेवा करना चाहते हैं तो कैसे करें ?

स्वामीजी—बहुत बढ़िया प्रश्न है। इसका उत्तर भी घटिया नहीं होगा, ध्यान देकर सुनना। सेवा करनेका अर्थ है—दूसरेका हित हो और प्रसन्नता हो। वर्तमानमें उसकी प्रसन्नता हो और परिणाममें उसका हित (कल्याण) हो, इसके सिवाय सेवा और क्या होती है ?

जब हमारे पास शक्ति ही नहीं, तो फिर हम दूसरेकी प्रसन्नता कैसे लें—इसके लिये आपको अपनी दृष्टिमें बहुत बढ़िया बात बताता हूँ। एक धनी आदमी है। उसको घाटा लग जाय, कोई भयंकर बीमारी हो जाय, बेटा मर जाय, ऐसी हालतमें आप उसके दुःखमें सहमत हो जाओ कि आपका बेटा मर गया, यह बहुत बुरी बात हुई। आपको घाटा लग गया, यह बड़ा बेठीक काम हुआ। इस तरह हृदयसे उसके दुःखमें सम्मिलित हो जाओ तो वह प्रसन्न हो जायगा, उसकी सेवा हो जायगी। ऐसे ही किसीके पास बहुत धन-सम्पत्ति हो जाय, लड़का बड़ा होशियार हो जाय तो उसे देखकर हृदयसे खुश हो जाओ और कहो कि वाह-वाह बहुत अच्छा हुआ। इससे वह प्रसन्न हो जायगा।

संतोंके लक्षणोंमें आया है—***'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर'*** (मानस ७। ३८। १)। दूसरोंके दुःखसे दुःखी हो जायँ और दूसरोंके सुखसे सुखी हो जायँ—यह सेवा आप बिना रुपये-पैसेके, बिना बलके, बिना सामग्रीके कर सकते हैं। दूसरोंको दुःखी देखकर आप दुःखी हो जाओ कि 'हे नाथ ! क्या करें ? हमारे पास कोई सामग्री नहीं, धन नहीं, बल नहीं, जिससे हम दूसरोंको सुखी कर सकें, हम क्या करें ?'—इस तरह आप हृदयसे दुःखी हो जाओ और दूसरोंको सुखी देखकर हृदयसे प्रसन्न हो जाओ तो यह आपकी बड़ी भारी सेवा होगी। जिसके हृदयमें ऐसा भाव होता है, उस पुरुषके दर्शनमात्रसे लोगोंको शान्ति मिलती है।

धन आदिसे हम दूसरोंकी सेवा करेंगे, उपकार करेंगे, यह बहुत ही स्थूल बुद्धि है। मैं तो कहता हूँ कि नीच बुद्धि है। आपने सेवाको महत्त्व नहीं दिया है, धनको महत्त्व दिया है। जो धनको महत्त्व देता है, वह नीच है। जो आपके हाथका मैल है, उसको आप अपनेसे भी बढ़कर महत्त्व देते हो और लोगोंकी सेवाके लिये भी उसकी आवश्यकता समझते हो—यह बहुत ही खोटी (खराब) बुद्धि है। धन आदिसे सेवा करनेपर अभिमान होता है, तिरस्कार होता है। जिसकी सेवा करोगे, उसपर भी रोब जमाओगे कि 'हमने इतना तुम्हारेको दिया है, इतनी सहायता की है।' वह अगर आपके विरुद्ध हो जायगा तो निन्दा करोगे कि 'देखो, हमने इसकी इतनी सहायता की और यह हमारा विरोध करता है।' इस प्रकार संघर्ष पैदा होगा ! आप अपनी विद्वत्तासे सेवा करोगे और कहीं दूसरा भी ऐसे करेगा तो ईर्ष्या पैदा होगी। हम बढ़िया व्याख्यान देते हैं और दूसरेका व्याख्यान हमारेसे भी बढ़िया हो गया तो ईर्ष्या होगी। कहते हो कि जनताकी सेवा करते हैं, पर वास्तवमें सेवा नहीं करते हो, लड़ाई करते हो।

ऐसे आदमी बहुत कम मिलेंगे, जो वास्तवमें सेवा करते हैं। हम राम-नामका माहात्म्य बताते हैं, लोगोंको नाम-जपमें लगाते हैं, पर दूसरा कोई लोगोंको नाम-जपमें लगाता है तो वह इतना नहीं सुहाता। हमारे कहनेसे कोई नाम-जपमें लग जाय तो हम राजी होते हैं, पर दूसरेके कहनेसे कोई नाम-जपमें लग जाय तो हम उतने राजी नहीं होते, जब कि हमें उससे भी ज्यादा राजी होना चाहिये कि हमारा परिश्रम तो हुआ ही नहीं और काम हमारा हो गया !

कोई व्यक्ति हमारे मतको नहीं मानता, हमारे सिद्धान्तको नहीं मानता, प्रत्युत हमारे सिद्धान्तका खण्डन करता है, हमारी मान्यताका, हमारी साधन-पद्धतिका खण्डन करता है, पर राम-नामका प्रचार करता है, लोगोंसे नाम-जप करनेके लिये कहता है तो उससे हमारे भीतर क्या बुद्धि पैदा होती है ? हमें नामका प्रचार तो अच्छा लग जायगा, पर उसके कहनेसे लोग नाम-जप करते हैं—यह अच्छा नहीं लगेगा, क्योंकि वह हमारे सिद्धान्तका, हमारे मतका, हमारी साधन-प्रणालीका खण्डन करता है। इस प्रकार हम खण्डनको जितना महत्त्व देते हैं, उतना नामके प्रचारको नहीं देते हैं। हम नामके प्रेमी नहीं हैं, हम अपने मतके, अपने गुरुके प्रेमी हैं। हमारे गुरुजीको

मानो, तब तो ठीक है, पर हमारे गुरुजीको नहीं मानो और राम-राम करो तो कुछ नहीं होगा—यह मतवालेकी बात है। अगर वास्तवमें हमें नामकी महिमा अभीष्ट है तो कोई नास्तिक-से-नास्तिक, नीच-से-नीच व्यक्ति भी नामकी महिमा कहे तो मन-ही-मन आनन्द आना चाहिये, हृदयमें उल्लास होना चाहिये कि वाह-वाह, इसने बात बहुत बढ़िया कही। इसका नाम है—सेवा।

दूसरेका सदाव्रत बहुत अच्छा चलता है, वह बढ़िया भोजन देता है और सबका आदर करता है। लोगोंमें उसकी महिमा होती है। हम भी सदाव्रत खोलते हैं, पर हमारी महिमा नहीं होती तो हमारे भीतर ईर्ष्या होती है कि नहीं ? अगर ईर्ष्या होती है तो हमारे द्वारा बढ़िया सेवा नहीं हुई। वास्तवमें तो हमें खुशी आनी चाहिये कि वहाँ बढ़िया भोजन मिलता है, हमारे यहाँ तो साधारण भोजन मिलता है। हम उपकारका जो काम करते हैं, वही काम दूसरा शुरू कर दे तो उससे हमारेमें ईर्ष्या पैदा होती है, द्वेष पैदा होता है तो यह हम सेवा नहीं कर रहे हैं, सेवाका वहम है।

किसी भी तरहसे, किसीके द्वारा ही सेवा हो जाय तो हम प्रसन्न हो जायँ। जो सेवा करता है, उसको देखकर और जिनकी सेवा होती है, उनको देखकर हम प्रसन्न हो जायँ कि वाह-वाह, कितनी बढ़िया बात है ! हमारे पास एक कौड़ी भी लगानेको नहीं हो, पर हम प्रसन्न हो जायँ, उस सेवामें सहमत हो जायँ तो हमारे द्वारा सेवा हो जायगी। बोलो, इसमें क्या कठिनता है ? इसमें कोई सामग्री नहीं चाहिये, अपना हृदय चाहिये। सेवा वस्तुओंसे नहीं होती है, हृदयसे होती है।

लोगोंमें यह वहम रहता है कि इतना धन हो जाय तो हम ऐसी-ऐसी सेवा करेंगे। विचार करना चाहिये कि जिनके पास उतना धन है, वे सेवा करते हैं क्या ? वे तो सेवा नहीं करते और हम करेंगे ! जब धन हो जाय, तब देखना ! नहीं होगी सेवा। जिस समय पैसा हो जायगा, उस समय यह भाव नहीं रहेगा। भाव बदल जायगा। हमने देखे हैं ऐसे आदमी। केवल पुस्तकोंकी बात नहीं कहता हूँ। कलकत्तेके एक सज्जन दलाली करते थे और स्वर्गाश्रम, ऋषिकेशमें सत्संगके लिये आया करते थे। बड़ा उत्तम स्वभाव था उनका। वे कहते थे कि हम तो दलाली करते हैं, वह भी छोड़कर हम सत्संगमें आ जाते हैं और इनके पास इतना-इतना धन है, पर ये सत्संगमें नहीं आते। इनको क्या बाधा लगती है ? परन्तु आगे चलकर जब उनके पास धन हो गया, तब उनका सत्संगमें आना कम हो गया। उनको सत्संगमें आनेका समय ही नहीं मिलता। कारण कि धन बढ़ेगा तो कारोबार भी बढ़ेगा और कारोबार बढ़ेगा तो समय कम मिलेगा। अतः जबतक धन नहीं है, तबतक और विचार रहता है, पर धन होनेपर वह विचार नहीं रहता। किसी-किसीका वह विचार रह भी जाता है, पर वे शूरवीर ही हैं, जिन्होंने धनको पचा लिया। प्रायः धन पचता नहीं, अजीर्ण हो जाता है। बलका अजीर्ण हो जाता है। पहले विचार रहता है कि बल हो तो हम ऐसा-ऐसा करें, पर बल होनेपर निर्बलको दबाते हैं। जब वोट माँगते हैं, उस समय कहते हैं कि हम आपकी सेवाके लिये ये-ये काम करेंगे, पर मिनिस्टर बननेपर आपको पूछेंगे भी नहीं। क्या यह सेवा है ? यह सेवा नहीं है, स्वार्थ है। एक गाँवमें एक आदमी गया तो उसने कहा कि तुम्हारे गाँवमें इतना कूड़ा-कचरा पड़ा है, क्या सफाई करनेके लिये मेहतर नहीं आता ? वे बोले—पाँच वर्षके बाद आता है मेहतर ! पहले कोई नहीं आता ? जब वोट माँगने आते हैं, तब मेहतर आता है।

दूसरा कोई सेवा करता है तो हमारेको बुरा क्यों लगता है ? कि हमारी महिमा नहीं हुई, उसकी महिमा हो गयी। उसने अन्नक्षेत्र खोल दिया, विद्यालय खोल दिया, व्याख्यान देना शुरू कर दिया तो उसकी महिमा हो गयी, हमारी महिमा नहीं हुई। यह सेवा करना है या अपनी महिमा चाहना है ? कसौटी कसकर देखो तो पता लगे। सेवाका तो बहाना है। अच्छाईके चोलेमें बुराई रहती है—*'कालनेमि जिमि रावन राहू'* ऊपर अच्छाईका चोला है, भीतर बुराई भरी है। यह बुराई भयंकर होती है। जो बुराई चौड़े (प्रत्यक्ष) होती है, वह इतनी भयंकर नहीं होती, जितनी यह भयंकर होती है।

असली सेवा करनेका जिसका भाव होगा, वह दूसरेके दुःखसे दुःखी और दूसरेके सुखसे सुखी हो जायगा। दूसरोंके दुःखसे दुःखी और सुखसे सुखी न होकर कोई सेवा कर सकता है क्या ? जबतक दूसरोंके दुःखसे दुःखी और सुखसे सुखी नहीं होगा, तबतक सेवा नहीं होगी। जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी होगा, वह अपना सुख दूसरोंको देगा, स्वयं सुख नहीं लेगा; और दूसरोंके सुखसे सुखी होगा, उसको अपने सुखके लिये संग्रह नहीं करना पड़ेगा। यह बात कण्ठस्थ कर लो कि दूसरोंके दुःखसे दुःखी होनेवालेको अपने दुःखसे दुःखी नहीं होना पड़ता और दूसरोंके सुखसे सुखी होनेवालेको अपने सुखके लिये भोग और संग्रह नहीं करना पड़ता।

संसारसे मिली हुई सामग्रीको अपनी मानकर सेवामें लगाओगे तो अभिमान आयेगा। अतः सेवाके लिये सामग्रीकी जरूरत नहीं है, हृदयकी जरूरत है।

★

कर्म किसके लिये ?

आप कृपा करके इस बातको समझनेकी चेष्टा करें, इसका दुरुपयोग न करें। थोड़ी गहरी बात है। वह यह है कि अपने लिये कुछ करना नहीं है। 'अपने' का अर्थ है—स्वयं अर्थात् परमात्माका अंश चेतन स्वयंके लिये करना कुछ नहीं है। करना जितना होता है, वह सब प्रकृतिके सम्बन्धसे होता है। प्रकृतिके सम्बन्धके बिना करना है ही नहीं। अतः जो कुछ करना है, वह सब शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके लिये करना है, संसारके लिये करना है, भगवान्‌के लिये करना है; परन्तु अपने लिये कुछ करना नहीं है— यह सार बात है।

हम जो भी कर्म करते हैं, उस कर्मका आरम्भ और अन्त होता है। जिसका आरम्भ और अन्त होता है, उसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि स्वयंका आरम्भ और अन्त नहीं होता । अनन्त जन्मोंसे यह जीव चला आ रहा है, पर इसका कभी आरम्भ और अन्त नहीं हुआ है। यह अनादि और अनन्त है। अतः इसके लिये करना नहीं होता। करना मात्र संसारके लिये होता है।

मेरेको कुछ मिले—यह इच्छा होते ही बन्धन हो जाता है। मिली हुई चीज कभी अपने साथ रहनेवाली है ही नहीं। कृपा करके इस बातपर थोड़ा ध्यान दो। हमें कुछ भी मिल जाय, धन मिल जाय, मान मिल जाय; विद्या,पद, अधिकार मिल जाय, पर ये मिली हुई चीजें हमारे साथ रह नहीं सकतीं। परन्तु परमात्मा सबको मिले हुए हैं और सदा सबके साथ रहते हैं, कभी बिछुड़ते नहीं। उनको न जाननेसे ही उनका अभाव दीखता है। किसी देशमें, किसी कालमें, किसी वस्तुमें, किसी व्यक्तिमें, किसी क्रियामें, किसी घटनामें, किसी परिस्थितिमें परमात्मा न हों—यह है ही नहीं, हो सकता ही नहीं। वे तो निरन्तर रहनेवाले हैं और उनको ही प्राप्त करना है। मिलने और बिछुड़नेवाली चीजोंका आश्रय लेना बड़े भारी अनर्थका कारण है। मिले हुए शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि अपने कामके हैं ही नहीं। इनको अपने लिये मानते हैं—यह बहुत बड़ी गलती है। इस विषयको ठीक तरहसे समझना चाहिये।

भगवान् कहते हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७) 'यह जीव मेरा ही अंश है।' यह जीव चेतन, अमल और सहज सुखराशि है—'***ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥***' (मानस, उत्तर० ११७।१)। इसमें जडता है ही नहीं तो फिर इसके लिये क्या करना बाकी रहा ? इसमें मल है ही नहीं तो फिर दूर क्या करोगे ? यह सहज सुखराशि है तो फिर इसमें सुख कहाँसे लाओगे ? मिली हुई सब चीजें बिछुड़नेवाली हैं। मिली हुई चीजोंका जो आश्रय लेना है, आधार लेना है, उनसे सुखकी आशा रखना है, उनको महत्त्व देना है—यह महान् पतनका कारण है। आप कृपा करके इस विषयको समझ लो तो बहुत ही आनन्दकी बात है।

मिली हुई चीज हमारे साथ रहनेवाली नहीं है; क्योंकि मिली हुई उसको कहते हैं, जो पहले नहीं थी और पीछे भी नहीं रहेगी। परन्तु परमात्मा और उनका अंश जीवात्मा (स्वयं) पहले भी थे और पीछे भी रहेंगे। शरीर, धन-सम्पत्ति, घर-परिवार आदि मिली हुई वस्तुओंका आश्रय लेना, इनको महत्त्व देना खास पतनकी बात है। नित्य-निरन्तर रहनेवालेके लिये ये मिलकर बिछुड़नेवाली वस्तुएँ क्या काम आयेंगी ? हाँ, इनका सदुपयोग किया जा सकता है। परन्तु इनका आश्रय लेना और इनसे सुखकी आशा रखना भूल है। खास भूल यही होती है कि हम मिली हुई चीजसे सुख लेते हैं। इस सुखकी आसक्ति ही बाँधनेवाली है। यह आसक्ति साधनको ऊँचा बढ़ने नहीं देती।

कोई भी काम करो, उसका न करनेसे ही आरम्भ होता है और न करनेमें ही उसकी समाप्ति होती है। अतः कर्मका आदि और अन्त होगा ही। ऐसे ही कर्म करनेसे जो कुछ मिलेगा, वह भी आदि-अन्तवाला होगा। क्रियाका भी आरम्भ और अन्त होता है तथा पदार्थोंका भी संयोग और वियोग होता है। क्रिया और पदार्थ— यह प्रकृति है। प्रकृतिसे सर्वथा अतीत जो परमात्मतत्त्व है, उसीका साक्षात् अंश यह जीवात्मा है। अतः जो क्रियाओंमें और वस्तुओंमें आसक्त है और इनसे अपनी उन्नति मानता है, वह गलतीमें है।

यह बड़े भारी आश्चर्यकी बात है कि धन मिलनेसे हम अपनेको बड़ा मान लेते हैं ! अगर हम धनसे बड़े हो गये तो धन बड़ा हुआ कि हम बड़े हुए ? धनके बिना तो हम छोटे ही रहे ! धन तो आपका कमाया हुआ है। धन आपके पास आता है और चला जाता है। वह आपके पास रहेगा तो आप चले जाओगे। वह साथ रहनेवाला नहीं है। ऐसे ही विद्या, योग्यता, पद, अधिकार आदिसे जो अपनेको बड़ा मानता है, वह बहुत बड़ी गलती करता है। वास्तवमें आप खुद इतने बड़े हैं कि आपसे ही ये वस्तुएँ सार्थक होती हैं। आपसे ही रुपये सार्थक होते हैं, आपसे ही भोजन सार्थक होता है। आपसे ही कपड़े सार्थक होते है। संसारकी जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब आपसे ही सार्थक होती हैं। आप इन वस्तुओंसे अपनेको बड़ा मानते हो—यह गलती है। मिली हुई चीजसे अपना महत्त्व समझना, अपनेको बड़ा मानना बहुत बड़ी गलती है। अगर

यह गलती मिट जाय तो समता अपने-आप आ जायगी; क्योंकि समतामें हमारी स्थिति स्वतः—स्वाभाविक है। यह उद्योगसाध्य, कृतिसाध्य नहीं है। करनेकी आसक्तिको मिटानेके लिये ही कर्म करना है, कुछ पानेके लिये नहीं।

हमारा मान हुआ तो उसमें हम राजी हो गये और अपमान हुआ तो हम नाराज हो गये। थोड़ा गहरा विचार करो कि मान होनेसे हमें मिल क्या गया और अपमान होनेसे हमारी हानि क्या हो गयी ? आने-जानेवाली वस्तुसे आपको कोई हानि-लाभ नहीं होता। अनादिकालसे कई सर्ग-प्रलय, महासर्ग-महाप्रलय हुए, पर आप स्वयं वे-के-वे ही रहे—**'भूतग्रामः स एवायम्'** (गीता ८।१९)। ऐसे निरन्तर रहनेवाले आपको मान मिल गया तो क्या हुआ ? और अपमान मिल गया तो क्या हुआ ? धन मिल गया तो क्या हुआ ? और धन चला गया तो क्या हुआ ? शरीर मिल गया तो क्या हुआ ? और शरीर चला गया तो क्या हो गया ? बीमारी आ गयी तो क्या हो गया ? और बीमारी चली गयी तो क्या हो गया ? ये सब तो आने-जानेवाले हैं—**'आगमापायिनोऽनित्याः'** (गीता २।१४)। आने-जानेवाले पदार्थोंसे राजी और नाराज होना बहुत बड़ी भूल है। इस भूलका अभी त्याग न हो सके तो न सही, पर इस बातको समझ तो लें। ठीक समझ लो तो स्वतः—स्वाभाविक त्याग हो जायगा। बालक टट्टी-पेशाब करके उसमें हाथ डालता है; क्योंकि वह समझता नहीं। परन्तु समझनेके बाद फिर छूयेगा क्या ? छूनेपर हाथ धोयेगा। आप समझ लें कि ये मान, बड़ाई, सुख, आराम, पद, अधिकार आदि सब मलसे भी निकृष्ट हैं।

मिली हुई वस्तुओंसे केवल दूसरोंका हित करना है, अपने लिये कुछ नहीं करना है। गीता स्पष्ट कहती है—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः'** (१२।४) 'सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें जिनकी रति है, ऐसे मनुष्य मेरेको ही प्राप्त होते हैं।' जैसे लोभीकी धनमें, भोगीकी भोगोंमें रति (प्रीति) होती है, आकर्षण होता है, ऐसे ही हमारी रति, हमारी लगन, हमारा आकर्षण दूसरोंके हितमें होना चाहिये। सब काम दूसरोंके हितके लिये ही करना है, अपने लिये नहीं करना है। कारण कि अपने लिये करना बनता ही नहीं। प्रकृतिके सम्बन्धके बिना स्वयंमें कर्तापन है ही नहीं।

गाढ़ नींदमें अहङ्कार भी लुप्त हो जाता है, पर आप रहते हो। हमें यह बात बढ़िया मालूम दी है कि नींदसे पहले भी मैं था तथा नींदके बादमें भी मैं हूँ और नींदमें मेरेको कुछ पता नहीं था—इसका अनुभव तो होता है, पर नींदमें मैं नहीं था—इसका अनुभव नहीं होता। नींदमें मैं नहीं था और जागनेपर मैं उत्पन्न हो गया—ऐसा आप नहीं मानते। हमने शास्त्रोंकी कई बातें सुनी हैं, पर यह दृष्टान्त किसी पुस्तकमें आया हो—ऐसा हमें याद नहीं है। गाढ़ नींदमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार आदिका भान नहीं था—यह तो आप कह सकते हैं, पर गाढ़ नींदमें 'मैं' नहीं था—यह आप नहीं कह सकते। अपनी सत्ताका अनुभव करनेके लिये यह युक्ति बहुत बढ़िया है। गाढ़ नींदमें मेरेको कुछ भी पता नहीं था तो 'कुछ भी पता नहीं था'—इसका तो पता था न ? तात्पर्य है कि उस समयमें भी आप थे। ऐसे नित्य-निरन्तर रहनेवाले आपको आने-जानेवाली वस्तु क्या निहाल करेगी ?

जो आया है, वह जायगा ही। जिसका संयोग हुआ है, उसका वियोग होगा ही। उसमें राजी-नाराज होओगे तो अपने कल्याणसे वञ्चित रह जाओगे—इसके सिवाय और कुछ नहीं होनेका है ! हमने एक कहानी सुनी है। एक मकानमें गुरु और चेला रहते थे। एक दिन मकानके भीतर एक कुत्ता आ गया। चेला बोला कि महाराज ! मकानमें कुत्ता आ गया, क्या करूँ ? गुरुने कहा कि किवाड़ बन्द कर दो; क्योंकि उसको यहाँ तो कुछ मिलेगा नहीं और दूसरी जगह जा सकेगा नहीं। अपने पास कुछ है नहीं तो खायेगा क्या ? और मकानके भीतर बन्द होनेसे दूसरोंको तंग करेगा नहीं; अतः किवाड़ बन्द कर दो। इसी तरह संसारमें जाते ही किवाड़ बन्द हो जाता है ! तात्पर्य है कि जैसे कुत्ता कुछ खानेके लिये घरमें गया तो वहाँ भी कुछ नहीं मिला और घरके भीतर बन्द हो जानेसे बाहर भी नहीं जा सका तो वह दोनों तरफसे रीता रह गया ! ऐसे ही आप संसारमें कुछ लेने जाओगे तो संसारमें कुछ मिलेगा नहीं और परमात्माकी तरफसे विमुख हो जाओगे; अतः दोनों तरफसे रीते रह जाओगे। हमें संसारसे कुछ लेना ही नहीं है—इस बातसे आप निहाल हो जाओगे। इस बातको काममें लानेका तरीका है—**'सर्वभूतहिते रताः'** अर्थात् प्राणिमात्रके हितमें रति हो जाय। तो क्या होगा इससे ? हमारेमें जो लेनेकी इच्छा है, वह मिट जायगी। दूसरोंका हित करनेकी, उनको सुख पहुँचानेकी लगन लग जायगी। तो अपनी सुख लेनेकी इच्छा मिट जायगी। सुख लेनेकी इच्छा सर्वथा मिटते ही परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी; क्योंकि आप जहाँ हैं, परमात्मा वहीं पूर्ण-रूपसे विद्यमान हैं, अंशरूपसे (अधूरे) नहीं। आपको (जीवात्माको) भी अंश तब कहते हैं, जब आप प्रकृतिके अंश शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़ते हो। प्रकृतिके अंशके साथ सम्बन्ध न जोड़ो तो आप स्वयं अंशी हो।

संसारसे कुछ भी नहीं पाना है और केवल संसारके

हितके लिये ही करना है। स्वयंके लिये कुछ करना है ही नहीं। मनमें जो करनेकी एक रुचि होती है, उस करनेकी रुचिको मिटानेके लिये ही करना है। अगर आप मान-सत्कार आदि लेते रहोगे तो यह करनेकी रुचि कभी मिटेगी नहीं। अपने परिवारके सुखके लिये करो, पर उनसे यह मत चाहो कि वे मुझे सुख देंगे। मैं तो परमात्माका अंश हूँ; अतः उनका दिया हुआ सुख शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धितक ही पहुँच सकता है, मेरेतक नहीं पहुँच सकता। मैंने एक गृहस्थाश्रमकी स्त्रीकी बात सुनी है। किसीने उससे कहा कि ये लोग तेरेको दुःख देते हैं, तो उसने कहा कि मेरेतक दुःख पहुँचता ही नहीं। कितना ही कष्ट दे दो, निन्दा कर दो, अपमान कर दो, वह मेरेतक पहुँचता ही नहीं। कष्ट, अपमान शरीरका होगा, निन्दा नामकी होगी, वे चेतन-तत्त्वतक कैसे पहुँच सकते हैं ? अतः कुछ भी पानेकी इच्छा न रखकर केवल संसारके लिये करना है। केवल संसारके लिये करनेसे आत्मज्ञान हो जायगा, बोध हो जायगा। परमात्माकी प्राप्ति चाहो तो वह हो जायगी। मुक्ति चाहो तो मुक्ति हो जायगी, कल्याण हो जायगा, सदा रहनेवाला लाभ हो जायगा।

आपको शरीर, विद्या, बुद्धि, योग्यता आदि जो कुछ भी मिला है, वह सब-का-सब संसारसे मिला है। संसारसे मिले हुएको बिना शर्त संसारके भेंट कर दो। आप परमात्माके अंश हो; अतः आप परमात्माके शरण हो जाओ। उत्पन्न और नष्ट होनेवालेके शरण मत होओ, उसका आश्रय मत लो । गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥

(दोहावली २७७)

संसार आपका है नहीं, आपको मिला ही नहीं, आपतक पहुँचा ही नहीं। ऐसे संसारकी आशा, विश्वास, भरोसा रखना ही जीवकी जडता है, मूर्खता है—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो,हरौ जीव-जड़ताई॥

(विनयपत्रिका १०३)

भगवान्‌से प्रार्थना करो तो जडता मिट जाय अथवा केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करो तो जडता मिट जाय। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, योग्यता आदि सब संसारके लिये हैं, अपने लिये हैं ही नहीं। उत्पन्न और नष्ट होनेवाली चीज अनुत्पन्न तत्त्वके लिये क्या काम आयेगी ? थोड़ा विचार करो आप। यह जीव परमात्माका अंश है, चेतन है, अमल है, सहज सुखराशि है, अविनाशी है तो इसके लिये जड़, विनाशी चीज कैसे काम आयेगी ? विनाशी चीज तो विनाशी संसारके हितके लिये, सुखके लिये, आरामके लिये, खर्च करनेके लिये मिली है। उसको आप अपने लिये मानो तो आप जरूर फँस जाओगे, इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। मान-बड़ाई मिलनेसे आप राजी हो गये—यह कितना बड़ा अँधेरा है ! कारण कि जो मिला है, वह बिछुड़ जायगा, रहेगा नहीं। शरीरको अपना मान लिया तो अब सब बीमारियाँ आयेंगी; क्योंकि मूलमें भूल हो गयी। जोड़ लगाते समय पहली पंक्तिके जोड़में ही भूल हो जाय और आगेकी पंक्तियोंमें बड़ी सावधानीसे जोड़ लगाया जाय तो क्या वह जोड़ सही हो जायगा ? आरम्भमें ही भूल हो जाय तो फिर आगे भूल-ही-भूल होगी। एक कहानी याद आ गयी। एक आदमीको ऊँटपर चढ़ाया और कहा कि कहीं जानेसे पहले हमारा ऊँट तीन बार कूदेगा; अतः सावधान रहना। उसने कहा कि मैं तो पहलेमें ही कूद जाऊँगा, दो बार कूदना बच जायगा ! अगर पहलेमें ही भूल हो गयी तो फिर भूल-ही-भूल होगी। इसलिये पहलेमें ही भूल मत करो, शरीरको अपना मत मानो और उसके द्वारा सबकी सेवा करो, हित करो।

कल्याणका सुगम साधन—कर्मयोग

मनुष्यमें कर्म करनेकी एक स्वाभाविक रुचि रहती है। कारण कि वह कुछ-न-कुछ पाना चाहता है। अतः कुछ-न-कुछ पानेके उद्देश्यसे वह जन्मसे मृत्युपर्यन्त आसक्तिपूर्वक कर्मोंमें लगा रहता है। कुछ पानेकी आशाके कारण कर्मोंमें उसकी आसक्ति इतनी अधिक रहती है कि जब वृद्धावस्थामें उसकी इन्द्रियाँ कर्म करनेमें असमर्थ हो जाती हैं, तब भी वह कर्मोंसे असङ्ग नहीं हो पाता। इस प्रकार आसक्तिपूर्वक कर्म करते-करते ही वह कालके मुखमें चला जाता है। ऐसी परिस्थितिमें हठपूर्वक कर्मोंका त्याग करनेकी अपेक्षा कोई ऐसा उपाय ही सफल हो सकता है, जिसके अन्तर्गत शास्त्रविहित कर्म करते हुए ही कर्मासक्ति मिट जाय और मनुष्यको कल्याणकी प्राप्ति हो जाय। इस दृष्टिसे मनुष्यके लिये कर्मयोगका अनुष्ठान ही एक सफल एवं सुगम उपाय है। कर्मयोग ऐसे है, जैसे भोजनमें ही औषध मिला दी जाय!! श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌के वचन हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥

(११।२०।६—८)

अर्थात् अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने तीन योग (मार्ग) बतलाये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इन तीनोंके अतिरिक्त अन्य कोई कल्याणका मार्ग नहीं है। जो अत्यन्त वैराग्यवान् हैं, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं, जो संसारमें आसक्त हैं, वे कर्मयोगके अधिकारी हैं और जो न तो अत्यन्त विरक्त हैं और न अत्यन्त आसक्त हैं, वे भक्तियोगके अधिकारी हैं।

उपर्युक्त भगवद्वचनोंके अनुसार संसारमें कर्मयोगके अधिकारियोंकी संख्या ही अधिकतम सिद्ध होती है। यहाँ शङ्का होती है कि संसारमें आसक्त मनुष्य कर्मयोगके मार्गपर (परमात्माकी तरफ) कैसे चल पायेंगे? इसका समाधान भगवान्‌ने **'नृणां श्रेयो विधित्सया'** पदोंमें कर दिया है। तात्पर्य है कि सांसारिक भोग और उनके संग्रहमें रुचि रहते हुए भी जो मनुष्य उन(भोगों)से अपनी रुचिको हटाकर अपना कल्याण करना चाहता है, वह कर्मयोगका पालन करके सुगमतापूर्वक अपना कल्याण कर सकता है। अपना कल्याण करनेका विचार जितना दृढ़ होगा, उतना ही शीघ्र उसका कल्याण होगा।

कर्मयोगका तात्पर्य है—कर्म करते हुए परमात्माको प्राप्त करना। कर्मयोगमें दो शब्द हैं—कर्म और योग। शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंको 'कर्म' कहते हैं। कर्म संसार(फलप्राप्ति)के लिये भी किये जाते हैं और संसारसे ऊँचा उठकर परमात्माको प्राप्त करनेके लिये भी किये जाते हैं। 'योग' की व्याख्या भगवान्‌ने दो प्रकारसे की है—(१) समताको योग कहते हैं—**'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २।४८) और (२) दुःख-संयोगके वियोगको योग कहते हैं—**'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्'** (गीता ६।२३)। परमात्मा 'सम' है—**'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (गीता ५।१९), अतः समतासे परमात्मामें स्थिति होती है, जिसे 'योग' कहते हैं। संसारसे सम्बन्ध ही दुःख-संयोग है। अतः संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर 'योग'-(समता या परमात्मा-)की प्राप्ति हो जाती है*। कर्मयोगमें योगका ही महत्त्व है, 'कर्म'का नहीं। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि कर्मोंमें योग ही कुशलता है **'योगः कर्मसु कौशलम्'** (गीता २।५०)।

'कर्म'का सम्बन्ध संसार(जडता)से एवं 'योग'का सम्बन्ध स्वयं (चेतन) से है। अतः 'कर्म' संसारके लिये और 'योग' अपने लिये होता है। कर्मयोगमें कर्म, कर्मसामग्री और कर्मफलमें ममता, कामना एवं आसक्तिका सर्वथा त्याग होना आवश्यक है। कामना और आसक्तिको त्यागकर केवल संसारके हितके लिये कर्म करनेपर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। अतएव भगवान् कहते हैं कि यज्ञार्थ कर्म(केवल दूसरोंके हितके लिये किये गये कर्म)के अतिरिक्त अन्य (अपने लिये किये गये) सभी कर्म बाँधनेवाले होते हैं—

'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'

(गीता ३।९)

कर्मका सम्बन्ध 'पर' से होता है, 'स्व' से नहीं। अपने लिये कर्म करनेसे मनुष्य बँध जाता है अर्थात् उसका सम्बन्ध संसारसे हो जाता है; क्योंकि स्वरूपसे मनुष्यमें कोई क्रिया नहीं होती। सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिमें होती हैं†। प्रकृतिके सम्बन्धसे मनुष्य प्रकृतिमें होनेवाली क्रियाको अपनेमें आरोपित कर लेता है‡।

वास्तवमें कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें (जाग्रत्,

---

* पातञ्जलयोगदर्शन समाधिको 'योग' मानता है; पर गीता परमात्माके नित्यसिद्ध सम्बन्धको ही 'योग' मानती है। पातञ्जलयोगदर्शनका 'योग' शब्द 'युज् समाधौ' धातुसे और गीतोक्त 'योग' शब्द 'युजिर् योगे' धातुसे निष्पन्न है।

मनुष्यका परमात्मासे नित्यसम्बन्ध है, परंतु संसारके साथ माने हुए सम्बन्धके कारण वह उस नित्यसम्बन्धको भूल गया—उससे विमुख हो गया है। अतः संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद 'ज्ञान' से करनेपर ज्ञानयोग, 'कर्म'से करनेपर कर्मयोग और 'भक्ति'से करनेपर भक्तियोग होता है। इस प्रकार संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक परमात्माके नित्यसम्बन्ध अर्थात् 'नित्ययोग' को (जो अनादिकालसे नित्यसिद्ध है) प्राप्त करनेका नाम 'योग' है।

† प्रकृति किसी भी अवस्थामें कभी अक्रिय नहीं रहती। महाप्रलयकी अवस्थामें भी प्रकृति निरन्तर क्रियाशील रहती है। इसीलिये महाप्रलयकी समाप्ति और सृष्टिका आरम्भ होता है। इसी प्रकार निद्रा, समाधि आदिकी अवस्थाओंमें भी प्रकृतिकी क्रियाएँ सूक्ष्मरूपसे निरन्तर होती रहती हैं। उदाहरणार्थ—किसी सोये हुए मनुष्यको समयसे पूर्व ही जगा देनेपर उसे—'मुझे कच्ची नींदमें जगा दिया', यह वाक्य कहते सुना जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि निद्रावस्थामें भी सूक्ष्मरूपसे नींदके पकनेकी क्रिया हो रही थी। जब पूरी नींदके बाद मनुष्य जगता है, तब वह ऐसा नहीं कहता; क्योंकि नींदका पकना पूरा हो गया।

‡ प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (गीता ३।२७)

स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा एवं समाधितकमें भी) क्षणमात्रके लिये भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कारण कि प्रकृतिजनित गुणोंके वशमें होकर सभी मनुष्योंको कर्म करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है*। इसीलिये मनुष्योंमें स्वभावसे ही कर्म करनेका एक वेग विद्यमान रहता है। हठपूर्वक कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करने अथवा अपने लिये कर्म करनेपर वह वेग शान्त नहीं होता। निष्कामभावपूर्वक दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेपर ही वह वेग शान्त हो सकता है। इसलिये कहा है—**'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते'** (गीता ६।३) अर्थात् जो योग(समता)में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये कर्तव्यकर्म करना कारण है। इस दृष्टिसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्मयोगका अनुष्ठान करना सभीके लिये आवश्यक एवं सुगम है।

मनुष्यशरीर कर्मयोनि है। कर्म मनुष्यशरीरमें किये जाते हैं और उनका फल अन्य योनियोंमें भोगा जाता है। इसलिये मनुष्यशरीरमें बुद्धिकी प्रधानता है। अपना कल्याण करना एवं दूसरोंको सुख पहुँचाना, उनकी सेवा करना ही बुद्धिका सदुपयोग है। सुखभोग और संग्रह करना एवं अनुकूलताकी प्राप्तिमें सुखी और प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें दुःखी होना बुद्धिका दुरुपयोग है। एकमात्र मनुष्यशरीर ही कर्तव्यका पालन करनेके लिये है। सुखभोग एवं अनुकूलता-प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें सुखी-दुःखी होना तो पशु-पक्षी आदि निम्न योनियोंमें भी है, जिनके सामने कर्तव्य-पालनका प्रश्न ही नहीं है। जिनसे केवल संसारका हित होता हो, ऐसे कर्म करना ही कर्मयोग है।

कर्मयोगकी ऐसी विलक्षणता है कि साधक किसी (ज्ञानयोग अथवा भक्तियोगके) मार्गपर क्यों न चले, कर्मयोगकी प्रणाली (अपने लिये कुछ नहीं करना) उसको अपनानी ही पड़ेगी; क्योंकि सभीमें क्रियाशक्ति निरन्तर रहती है। इसीलिये भगवान्‌ने ज्ञानयोगीके लिये **'सर्वभूतहिते रताः'** (गीता ५।२५; १२।४) तथा भक्तियोगीके लिये **'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'** (गीता १२।१३) कहकर दोनोंके लिये दूसरोंके हितार्थ कर्म करना अनिवार्य बतलाया है।†

कर्मयोगमें कर्ता निष्काम होता है, कर्म नहीं; क्योंकि जड़ होनेके कारण कर्म स्वयं निष्काम या सकाम नहीं हो सकते। निष्काम कर्ताके द्वारा ही निष्काम कर्म होते हैं, जिसे कर्मयोग कहते हैं। अतः चाहे कर्मयोग कहो या निष्कामकर्म—दोनोंका अर्थ एक ही होता है। सकाम कर्मयोग होता ही नहीं। इसलिये कर्ताका भाव नित्य-निरंतर निष्काम रहना चाहिये‡।

कर्मयोगीको किसीका भी अहित सहन नहीं होता; क्योंकि जैसे शरीरके प्रत्येक अङ्गका सम्पूर्ण शरीरके साथ अविभाज्य सम्बन्ध है, वैसे ही संसारके प्रत्येक शरीरका सम्पूर्ण शरीरोंसे अविभाज्य सम्बन्ध है। जैसे मनुष्य अपने शरीरके प्रत्येक अङ्गके सुख-दुःखमें सुखी और दुःखी होता है, वैसे ही कर्मयोगी प्राणिमात्रके सुख और दुःखमें अपना सुख और दुःख देखता है। दाँतोंसे जीभ कट जानेपर अपने दाँतोंको तोड़ देनेका भाव किसीमें भी नहीं आता, इसी प्रकार अपना कहलानेवाले शरीरका अनिष्ट करनेवालेका भी अहित करनेका भाव कर्मयोगीमें कभी नहीं आता।

मनुष्यके पास (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सामर्थ्य, समय, योग्यता, विद्या, धन, जमीन आदि) जितनी भी सामग्री है, वह सब-की-सब उसे समष्टि-संसारसे ही मिली है, उसकी अपनी व्यक्तिगत नहीं है। प्रत्यक्ष है कि इन मिले हुए पदार्थोंपर हमारा कोई अधिकार नहीं चलता। इन पदार्थोंको हम अपने इच्छानुसार न तो रख सकते हैं, न उनमें कोई मनमाना परिवर्तन ही कर सकते हैं। इन्हें न तो हम अपने साथ लाये हैं, न साथ ले जा सकते हैं। वास्तवमें ये पदार्थ हमें सदुपयोग करने (दूसरोंकी सेवामें लगाने) के लिये ही मिले हैं, अपना अधिकार जमानेके लिये कभी नहीं। मिली हुई वस्तुको दूसरोंकी सेवामें लगाये बिना जो उस वस्तुका केवल अपने लिये भोग करता है, उसे भगवान् चोर कहते हैं—**'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः'** (गीता ३।१२)। इतना ही नहीं, भगवान् ऐसे पुरुषको पापायु कहते हुए उसके जीनेको ही व्यर्थ बताते हैं—**'अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति'** (गीता ३।१६)।

संसारसे प्राप्त शरीरसे हमने अभीतक अपने लिये ही

* न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ (गीता ३।५)

† ज्ञानयोगीका समस्त प्राणियोंके हितके प्रति प्रीति होनेके कारण एवं भक्तियोगीका सभीके प्रति मैत्री एवं करुणाका भाव होनेके कारण उनसे स्वतः ही केवल परहितार्थ ही कर्म होंगे जो कि कर्मयोगकी मुख्य बात है।

‡ निष्कामभावसे कर्म करना ही कर्मयोग कहलाता है। कर्मयोग तभी होता है, जब निष्कामभावसे कर्म किये जायँ। अतः 'निष्कामकर्मयोग' कहनेसे पुनरुक्ति-दोष आता है। इसके सिवाय 'निष्काम कर्मयोग' कहनेसे 'सकाम कर्मयोग' की सत्ता भी सिद्ध होती है, जो कदापि सम्भव नहीं; क्योंकि कर्मयोग सदा निष्काम ही होता है, सकाम नहीं।

कर्म किये हैं, अपने सुख-भोग और संग्रहके लिये ही उस शरीरका उपयोग किया है। इसलिये संसारका हमपर ऋण है। इस ऋणको उतारनेके लिये हमें केवल संसारके हितके लिये कर्म करने हैं। फलकी कामना रखकर कर्म करनेसे पुराना ऋण तो उतरता नहीं, नया ऋण और उत्पन्न हो जाता है। ऋणसे मुक्त होनेके लिये नया जन्म लेना पड़ता है।* दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे पुराना ऋण समाप्त हो जाता है और निष्कामभावसे कर्म करनेसे नया ऋण उत्पन्न नहीं होता। इस दृष्टिसे (जन्म-मरणसे छूटनेके लिये) कर्मयोगका पालन करना सभीके लिये आवश्यक है।

कर्मयोगके विषयमें भगवान् कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २।४७)

तात्पर्य यह है कि मनुष्यको केवल कर्म करनेका अधिकार है। पुराने कर्मोंके फलस्वरूप मिली हुई सामग्रीपर तथा नये (अभी किये जानेवाले) कर्मोंके फलस्वरूप आगे मिलनेवाली सामग्रीपर भी उसका कोई अधिकार नहीं है। इसलिये मनुष्यको कर्मोंके फलका हेतु भी नहीं बनना चाहिये; और कर्म न करनेमें उसकी आसक्ति भी नहीं होनी चाहिये। सभी कर्म अनित्य अर्थात् आरम्भ होने और समाप्त होनेवाले होते हैं। फिर उन कर्मोंसे मिलनेवाला फल नित्य कैसे हो सकता है? इस दृष्टिसे कर्मयोगी कर्म और कर्मफल दोनोंसे ही अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ता।

हमारे पास कोई भी सामग्री न अपनी है, न अपने लिये है। यह सामग्री संसारकी और संसारके लिये ही है। मनुष्य भूलसे ही उस सामग्रीको अपनी और अपने लिये मानकर बँधता है और फलकी कामना करके भविष्यमें भी बँधनेकी तैयारी कर लेता है।† कर्मयोगीकी प्रवृत्ति आरम्भसे ही दूसरोंकी सेवा करनेकी रहती है। अतः भोग और संग्रहमें उसकी आसक्ति स्वतः मिट जाती है। कर्मयोगमें व्यक्तिगत सुखका सर्वथा त्याग होता है। इसलिये भगवान्‌ने कर्मयोगको त्यागके नामसे कहा है (गीता १८।५-६)।

मनुष्यको जो सामग्री, योग्यता, सामर्थ्य, परिस्थिति आदि प्राप्त है, उसीके सदुपयोगसे उसे कर्मयोगका अनुष्ठान करना है। कर्मयोगमें अप्राप्त सामग्रीकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि जो सामग्री हमारे पास नहीं है, उसकी आशा संसार रखता ही नहीं। कर्मयोगकी यह विलक्षणता है कि जो सामग्री, परिस्थिति आदि हमें मिली हुई है, केवल उसीके सदुपयोगके द्वारा हम कर्मयोगका पूरा-पूरा पालन कर सकते हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं कि अपने-अपने (प्राप्त) कर्तव्यका ठीक रीतिसे आचरण करनेमात्रसे मनुष्यको परमसिद्धि प्राप्त हो जाती है—'**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः**' (१८।४५)। अतएव मनुष्य किसी भी देश, काल, परिस्थिति आदिमें क्यों न हो, वह स्वार्थ, अभिमान, कामना, ममता आदिको त्यागकर सबके हितके लिये ही सब कर्म करे।

कर्मयोगके मार्गपर स्थूलशरीरसे होनेवाली सेवा, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाले चिन्तन, ध्यान आदि और कारण-शरीरसे होनेवाली समाधितकके सम्पूर्ण कर्म केवल संसारके कल्याणके लिये ही किये जाते हैं, अपने लिये नहीं। कारण कि दूसरेके कल्याणके लिये कर्म करनेसे अपने स्वार्थका त्याग होता है।

यद्यपि अपना कल्याण चाहना भी श्रेष्ठ है तथापि संसारका कल्याण चाहना उससे कहीं अधिक श्रेष्ठ है। संसारके कल्याणसे अपना कल्याण अलग मानना ही भूल है। वास्तवमें संसारका कल्याण चाहनेमें ही अपना कल्याण स्वाभाविक रूपसे निहित है। स्थूल-शरीरका स्थूल-संसारके साथ, सूक्ष्म शरीरका सूक्ष्म-संसारके साथ तथा कारण-शरीरका कारण-संसारके साथ अविभाज्य सम्बन्ध है। मनुष्य अपने कल्याणके लिये जो कुछ भी करता है, वह सब संसारद्वारा प्रदत्त शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिकी सहायतासे ही करता है। अतः कर्म संसारकी सामग्रीसे करना और कल्याण अकेले चाहना न्याययुक्त नहीं है।

कर्म और क्रियामें बहुत अन्तर है। कर्ममें कर्तृत्वाभिमान रहता है, अतः उसका फल होता है। क्रियामें कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता, अतः उसका फल भी नहीं होता। जैसे, बालकसे जवान होना, खाये हुए अन्नका पचना आदि 'क्रिया' है, जिसका फल (बन्धन) नहीं होता। कर्मयोगी कर्म करते हुए भी (कामना, ममता, आसक्ति आदि न होनेके कारण) कर्मोंसे स्वाभाविक रूपसे निर्लिप्त रहता है। इसलिये उससे क्रिया होती है, कर्म नहीं होता। अतएव उसके अन्तःकरणमें अनुकूलता-प्रतिकूलतासे होनेवाले हर्ष-शोकादि विकार नहीं होते। यदि

---

* गतागतं कामकामा लभन्ते (गीता ९।२१)

† कर्म-फलका सम्बन्ध भविष्यसे होता है। अतः फलकी कामना करनेपर वह भावी जन्मका कारण बन जाता है। ऐसी दशामें मुक्ति कैसे सम्भव है?

अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिका उसपर प्रभाव पड़ता है तो वह कर्मयोगी नहीं, अपितु कर्मी है। संसारसे किसी भी प्रकारकी आशा रखनेवाला मनुष्य कर्मयोगका भलीभाँति अनुष्ठान कर ही नहीं सकता।

यद्यपि कर्मयोगीको संसारकी कोई आवश्यकता नहीं रहती, तथापि संसारको कर्मयोगीकी बहुत आवश्यकता रहती है; क्योंकि कर्मयोगका पालन करके मनुष्य संसारमात्रके लिये बहुत उपयोगी हो जाता है। इसके विपरीत अपने स्वार्थके लिये कर्म करनेवाला मनुष्य वास्तवमें न तो संसारके लिये और न अपने लिये ही उपयोगी हो सकता है।

आजकल लोगोंमें प्रायः यह बात प्रचलित है कि मनुष्यके लिये ही यह सब संसार—सुख-भोग बने हैं, अतः इन्हें भोगना चाहिये। यह बिलकुल गलत बात है। वास्तवमें मनुष्य संसारके लिये है, न कि संसार मनुष्यके लिये। चौरासी लाख योनियोंमें जितने जीव हैं, वे सब कर्मफल भोगनेके लिये मानो जेलखानेमें पड़े कैदी हैं। कैदियोंके प्रबन्ध और हितके लिये जैसे अफसर रहता है, वैसे ही मनुष्य संसारके प्रबन्ध और हितके लिये है। प्याऊपर बैठा व्यक्ति यदि यह सोचे कि जल मेरे लिये ही है अथवा अन्नका वितरण करनेवाला यह सोचे कि अन्न मेरे लिये ही है, तो यह कितनी मूर्खताकी बात होगी। ऐसे ही संसार— सुख-भोगोंको अपना और अपने लिये मानना बहुत बड़ी भूल है, जिसका मनुष्यजीवनमें कोई स्थान नहीं है।

लोग ऐसी शङ्का भी किया करते हैं कि भजन-ध्यान करने, दूसरोंकी सेवा करने, परमात्माको प्राप्त करने आदिकी कामना भी तो 'कामना' ही है, फिर सर्वथा निष्काम कैसे हुआ जा सकता है ? इसका समाधान यह है कि स्वरूपको जाननेकी कामना, सेवा करनेकी कामना, भगवान्‌को प्राप्त करनेकी कामना 'कामना' नहीं है। वस्तुतः नाशवान्-(असत्-) की कामना ही 'कामना' है; क्योंकि वह अपना नहीं है। अविनाशी-(सत्-) की कामना 'कामना' नहीं है; क्योंकि वह अपना है। संसारसे प्राप्त वस्तुको संसारकी ही सेवामें लगा देनेकी कामना 'कामना' नहीं है, अपितु 'त्याग' है; क्योंकि विनाशी (असत्) होनेके कारण संसार भी अपना नहीं है और उससे प्राप्त वस्तु भी अपनी नहीं है।

लोग प्रायः कहा करते हैं कि यदि हम किसी प्रकारकी कामना न करें तो धनादि कोई भी वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। अतः कामना किये बिना हमारा जीवननिर्वाह कैसे होगा ? यह बात भी बिलकुल निराधार है। वास्तवमें किसी अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति 'कामना'के कारण नहीं, अपितु प्राप्त वस्तुके सदुपयोग अर्थात् कर्तव्य-कर्मके कारण होती है। पहलेके सदुपयोगके कारण वर्तमानमें एवं वर्तमानके सदुपयोगके कारण भविष्यमें अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति अवलम्बित है। सदुपयोगका तात्पर्य है—वर्तमानमें प्राप्त सामग्रीके द्वारा कर्तव्य-कर्मोंका आचरण। यदि वह सदुपयोग निष्कामभावसे किया जाय तो परमात्माकी प्राप्ति एवं सकामभावसे किया जाय तो सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति हो सकती है।

धनादि समस्त सांसारिक वस्तुएँ कर्म करनेसे प्राप्त होती हैं। जो वस्तु कर्मके अधीन है, वह कामना करनेसे कैसे प्राप्त हो सकती है ? अतः उसके लिये कामना करना व्यर्थ ही है। इसके अतिरिक्त कामना पूरी हो जानेपर हम उसी अवस्थामें आ जाते हैं, जिसमें कामना उत्पन्न होनेसे पूर्व थे। कामना सदा पूरी नहीं होती और कामनाके अनुरूप प्राप्त वस्तु भी सदा रहनेवाली नहीं होती। अतएव कामना करनेसे पराधीनताके सिवा कुछ नहीं मिलता।

वास्तवमें सांसारिक पदार्थोंकी कामनाके बाद जब वे पदार्थ हमें मिलते हैं तो उनकी प्राप्तिमें हमें सुख प्रतीत होता है। वह सुख उन पदार्थोंकी प्राप्तिसे नहीं हुआ है। यदि पदार्थोंकी प्राप्तिसे सुख होता तो उनके रहते हुए कभी कोई दुःख नहीं होना चाहिये था। कम-से-कम जो पदार्थ कामनाके बाद मिला है, उस पदार्थको लेकर तो दुःख होना ही नहीं चाहिये, किंतु फिर भी दुःख होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि पदार्थ-प्राप्तिके बाद होनेवाला सुख पदार्थ प्राप्तिका सुख नहीं है, अपितु कामना-निवृत्तिका सुख है।

जैसे, हम धनकी कामना करते हैं तो धनका हमारे मनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है अर्थात् धन हमारे मनके द्वारा पकड़ा जाता है। जब बाहरसे धन मिलता है, तब मनसे पकड़ा हुआ धन निकल जाता है और सुखकी प्रतीति होती है। वास्तवमें वह सुख बाहरसे उस धनके मिलनेसे नहीं हुआ है, प्रत्युत मनसे पकड़े हुए धनके निकलनेसे अर्थात् धनकी कामनाका त्याग होनेसे हुआ है। परन्तु मनुष्य भूलसे इस सुखको पदार्थोंकी प्राप्तिसे मिलनेवाला मानकर पुनः नयी-नयी कामनाएँ करने लगता है। इसी कारण वह कामना निवृत्ति अर्थात् निष्कामताको सुरक्षित नहीं रख पाता। अतएव कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(श्रीमद्भा० ९। १९। १४; मनु० २। ९४)

'विषयोंके उपभोगसे कामना कभी शान्त नहीं होती, अपितु घीसे अग्निके समान बार-बार अधिक ही बढ़ती जाती है।'

यदि मनुष्य यह विचार करे कि वास्तवमें सुख तो कामना-निवृत्तिका ही होता है तो फिर उसके जीवनमें कामनाओंका कोई स्थान रह ही नहीं सकता। कामना-निवृत्ति-(निष्कामता-)में तो मनुष्यमात्र स्वतन्त्र है, क्योंकि इसमें किसी अन्यकी सहायताकी अपेक्षा नहीं है।

सम्पूर्ण सांसारिक कामनाओंकी पूर्ति करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं है, पर कामनाओंका सर्वथा त्याग करनेकी सामर्थ्य सभीमें है। अतः मनुष्य कामनाओंका सर्वथा त्याग कर सकता है।* कामनाओंका सर्वथा त्याग होते ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और परमात्माकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है, जो कि नित्य प्राप्त है।

कामनायुक्त प्रत्येक प्रवृत्ति या कर्म बाँधनेवाला होता है। कामनाका नाश हुए बिना शान्तिकी प्राप्ति सर्वथा असम्भव है।† कामना करनेसे लाभ तो कुछ नहीं होता, पर हानि किसी प्रकारकी शेष नहीं रहती। मिली हुई वस्तु-(शरीरादि-)को अपना माननेसे (ममतासे) कामना उत्पन्न होती है। वास्तवमें कामनाका मनुष्यजीवनमें कोई स्थान नहीं है। कामना-रहित होकर दूसरोंके लिये कर्म करनेमें ही मनुष्य-जीवनकी सफलता है। अतएव गीतामें भगवान् मनुष्यमात्रको निष्कामभाव-पूर्वक परहितार्थ कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(२।४८)

'हे धनञ्जय! तू आसक्तिका त्याग करके सिद्धि और असिद्धिमें समान-बुद्धि होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्य कर्मोंको कर। समत्व ही योग कहलाता है।'

★

* प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। (गीता २।५५)
† स शान्तिमाप्नोति न कामकामी। (गीता २।७०),
'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्' (गीता ५।१२)

१-'इष्टकामधुक्' का अर्थ है 'कर्तव्यकर्म करनेकी सामग्री प्रदान करनेवाला।' यहाँ यदि इष् धातुसे 'इष्ट' पदकी निष्पत्ति करेंगे तो इसी श्लोकके पहिले उपक्रम (३।९) से विरोध होगा; क्योंकि उसमें स्पष्ट कहा है कि कर्तव्यके लिये कर्म करनेके अतिरिक्त कर्म करनेसे बन्धन होगा। नहीं होता एवं इसी प्रसङ्गसे उपसंहारमें 'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्' (३।१३) से भी विरोध होगा। अतएव 'इष्ट' पद देवपूजासंगतिकरणार्थक 'यज्' धातुसे निष्पन्न है, जिसका अर्थ है— कर्तव्यकर्मसे भावित। यज्+क्त, 'वचिस्वपि॰' से संप्रसारण, 'व्रश्चभ्रस्ज॰' से 'ज्' को 'ष्' ततः ष्टुत्व—इस प्रकार 'इष्ट' शब्द बना है। इसी प्रकार ३।१२में भी इष्ट शब्द 'यज्' धातुसे ही निष्पन्न समझना चाहिये। 'काम्यन्त इति कामाः' इस व्युत्पत्तिसे काम शब्दका अर्थ पदार्थ एवं सामग्री है।

१-तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (गीता ४।३४)
२-यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव। येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ (गीता ४।३५—३७)
३-सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः। योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ (गीता ५।६)
४-तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ (गीता ४।३८)
५-ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति। निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ (गीता ५।३)
६-योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ (गीता ५।६)

७-'कालेन' इस शब्दमें 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा॰ सू॰ २।३।५) से प्राप्त द्वितीया विभक्तिका प्रतिषेध कर 'अपवर्गे तृतीया' (पा॰ सू॰ २।३।६) इस सूत्रसे फल-प्राप्तिके अर्थमें तृतीया विभक्ति हुई है। यद्यपि उक्त सूत्रके द्वारा कालवाची शब्दोंमें तृतीयाका विधान है; तथापि कालातीतके व्यपदेशके लिये तो 'काल' एवं 'नचिर' आदि शब्दोंका ही प्रयोग होता है। अतः 'नचिरेण' (५।६) एवं 'कालेन' (४।३८) से यह ध्वनित होता है कि कर्मयोगसे शीघ्र तथा अवश्य फलकी प्राप्ति होती है—इसमें संदेह नहीं।

भगवान् विवस्वान्को उपदिष्ट कर्मयोग

कर्मयोगमें दो शब्द हैं—कर्म और योग। कर्मका अर्थ है करना और योगका अर्थ है समता— **'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २।४८) अर्थात् समतापूर्वक निष्कामभावसे शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण ही कर्मयोग कहलाता है। कर्मयोगमें निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग तथा फल और आसक्तिका त्याग करके विहित कर्मोंका आचरण करना चाहिये। भगवान्ने कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २।४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत बन तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, पदार्थ, धन-सम्पत्ति आदि जो कुछ भी हमारे पास है, वह सब-का-सब संसारसे मिला है। अतः वह 'अपना' और 'अपने लिये' न होकर संसारका एवं संसारके लिये ही है—ऐसा मानते हुए निःस्वार्थभावसे दूसरोंका हित करने, उनको सुख पहुँचाने-(संसारकी सामग्रीको संसारकी ही सेवामें लगा देने-) को कर्मयोग कहते हैं।

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(मानस ७।४१।१)

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(मानस ३।३१।५)

कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है। अतः प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखनेवाला कोई भी प्राणी क्रियारहित कैसे रह सकता है (गीता ३।५)। यद्यपि पशु, पक्षी तथा वृक्ष आदि योनियोंमें भी स्वाभाविक क्रियाएँ होती रहती हैं; परंतु फल और आसक्तिका त्याग करके कर्तव्यबुद्धिसे कर्म करनेकी क्षमता उनमें नहीं है, केवल मनुष्ययोनिमें ही ऐसा ज्ञान सुलभ है। वस्तुतः मनुष्य-शरीरका निर्माण ही कर्मयोगके आचरणके लिये हुआ है और इसमें सम्पूर्ण सामग्री केवल कर्म करनेके लिये ही है। जैसा कि सृष्टिके प्रारम्भमें अपनी प्रजाओंको उपदेश देते हुए ब्रह्माजीके शब्दोंमें भगवान् कहते हैं—

'अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्[1]।

(गीता ३।१०)

---

* प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। (गीता २।५५)

† स शान्तिमाप्नोति न कामकामी। (गीता २।७०),
'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्' (गीता ५।१२)

१-'इष्टकामधुक्' का अर्थ है 'कर्तव्यकर्म करनेकी सामग्री प्रदान करनेवाला।' यहाँ यदि इष् धातुसे 'इष्ट' पदकी निष्पत्ति करेंगे तो इसी श्लोकके पहिले उपक्रम (३।९) से विरोध होगा; क्योंकि उसमें स्पष्ट कहा है कि कर्तव्यके लिये कर्म करनेके अतिरिक्त कर्म करनेसे बन्धन होगा। फिर अपनी बातको ब्रह्माजीके वचनोंसे पुष्ट करने-हेतु यहाँ कर्तव्यकर्म करनेसे 'इच्छित भोग-पदार्थकी प्राप्ति करानेवाला' यह अर्थ-संगत प्रतीत

'तुम यज्ञ-(कर्तव्यकर्म-) के द्वारा उन्नतिको प्राप्त करो, यह (कर्तव्यकर्म) तुम्हें कर्तव्यकर्म करनेकी सामग्री प्रदान करनेवाला हो।' मनुष्यको प्रत्येक कर्म कर्तव्यबुद्धिसे ही करना चाहिये (गीता १८।९)। शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है—केवल इस भावसे ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग कर कर्म करनेसे वे कर्म बन्धनकारक नहीं होते, प्रत्युत मुक्ति देनेवाले होते हैं।

कर्मयोगका ठीक-ठीक पालन करनेसे ज्ञान और भक्तिकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है। कर्मयोगका पालन करनेसे अपना ही नहीं, अपितु संसारका भी परम हित होता है। दूसरे लोग देखें या न देखें, समझें या न समझें, अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेसे दूसरे लोगोंको कर्तव्य-पालनकी प्रेरणा स्वतः मिलती है।

दूसरोंकी सेवामें प्रीतिकी मुख्यता होनेके कारण कर्मयोगमें निःसंदेह भोक्तापनका नाश हो जाता है। इसके साथ ही व्यक्ति तथा पदार्थ आदिसे अपने लिये सुखकी चाह एवं आशा न होनेके कारण एवं व्यक्ति आदिके संगठनसे होनेवाली इन क्रियाओंका भी अपने साथ कोई सम्बन्ध न माननेसे कर्तापनका भी नाश स्वतः हो जाता है। कर्मयोगी क्रिया करते समय ही अपनेको कर्ता मानता है। भोक्तापन और कर्तापन एक-दूसरेपर ही अवलम्बित हैं। जब भोक्तापन मिट जायगा तो कर्तापनका अस्तित्व ही नहीं रहेगा और कर्तापन यदि नहीं है तो भोक्तापनका भी कोई आधार नहीं। इन दोनोंमें भी भोक्तापनका त्याग सुगम है।

भोगोंमें रचे-पचे होनेके कारण उनके संयोगजन्य सुखोंमें आसक्तिसे भले ही यह कठिन प्रतीत होता हो; किंतु जो परिवार तथा धन आदिके बीचमें फँसा हुआ भी अपने उद्धारकी इच्छा रखता है, उसके लिये कर्मयोगकी प्रणाली अधिक सुगम है। अतः भगवान्ने श्रीमद्भागवतमें **'कर्मयोगस्तु कामिनाम्'** (११।२०।७) कहा है।

वस्तुतः मानव-शरीर कर्मयोगके लिये ही मिला है। चाहे किसी मार्गका साधक क्यों न हो, उसे कर्मयोगकी प्रणालीको स्वीकार करना ही पड़ेगा।

कल्याण-प्राप्तिके लिये भगवान्ने गीतामें दो निष्ठाएँ बतायी हैं—(१) ज्ञानयोग एवं (२) कर्मयोग। इन दोनोंमें ज्ञानकी प्राप्तिके अनेक उपायोंमें शास्त्रीय पद्धतिसे ज्ञानार्जनकी प्रक्रिया भी गीतामें वर्णित है[1]। यद्यपि इस शास्त्रीय पद्धतिसे प्राप्त ज्ञानकी महिमा भगवान्ने कही है[2], तथापि अन्तमें यह बताया है कि वही तत्त्वज्ञान कर्मयोगकी प्रणालीसे साधक निश्चय ही स्वयं अपने-आपमें प्राप्त कर लेता है—

'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' (४।३८)। तात्पर्य है कि ज्ञानयोग गुरुपरम्परा-(गीता ४।३४-) के अधीन है और कठिन भी है[3] जब कि कर्मयोगकी प्रणालीमें गुरुकी अनिवार्यता नहीं है,[4] करनेमें सुगम है,[5] फल भी शीघ्र प्राप्त होता है[6] तथा कर्मयोगका अनुष्ठान करनेपर वह अवश्य ही 'फलप्राप्तिवाला' हो जाता है—**'कालेनात्मनि[7] विन्दति'** (४।३८)।

भगवान्ने सर्वसाक्षी सूर्यको सृष्टिके प्रारम्भमें अनादि

नहीं होता एवं इसी प्रसङ्गसे उपसंहारमें 'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्' (३।१३) से भी विरोध होगा। अतएव 'इष्ट' पद देवपूजासंगतिकरणार्थक 'यज्' धातुसे निष्पन्न है, जिसका अर्थ है— कर्तव्यकर्मसे भावित। यज्+क्त, 'वचिस्वपि॰' से संप्रसारण, 'व्रश्चभ्रस्ज॰' से 'ज्' को 'ष्' ततः ष्टुत्व—इस प्रकार 'इष्ट' शब्द बना है। इसी प्रकार ३।१२में भी इष्ट शब्द 'यज्' धातुसे ही निष्पन्न समझना चाहिये। 'काम्यन्त इति कामाः' इस व्युत्पत्तिसे काम शब्दका अर्थ पदार्थ एवं सामग्री है।

१-तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (गीता ४।३४)

२-यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव। येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ (गीता ४।३५—३७)

३-सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः। योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ (गीता ५।६)

४-तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ (गीता ४।३८)

५-ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति। निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ (गीता ५।३)

६-योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ (गीता ५।६)

७-'कालेन' इस शब्दमें 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा॰ सू॰ २।३।५) से प्राप्त द्वितीया विभक्तिका प्रतिषेध कर 'अपवर्गे तृतीया' (पा॰ सू॰ २।३।६) इस सूत्रसे फल-प्राप्तिके अर्थमें तृतीया विभक्ति हुई है। यद्यपि उक्त सूत्रके द्वारा कालवाची शब्दोंमें तृतीयाका विधान है; तथापि कालातीतके व्यपदेशके लिये तो 'काल' एवं 'नचिर' आदि शब्दोंका ही प्रयोग होता है। अतः 'नचिरेण' (५।६) एवं 'कालेन' (४।३८) से यह ध्वनित होता है कि कर्मयोगसे शीघ्र तथा अवश्य फलकी प्राप्ति होती है—इसमें संदेह नहीं।

कर्मयोगका उपदेश इसलिये दिया था कि जैसे सूर्यके प्रकाशमें अनेक कर्म होते हैं; किन्तु वे उन कर्मोंसे बँधते नहीं, वैसे ही चेतनकी साक्षीमें सम्पूर्ण कर्म होनेसे वे (कर्म) बन्धनकारक नहीं होते। हाँ, उनसे यदि सुखका थोड़ा-सा भी सम्बन्ध होगा तो वे अवश्य ही बन्धनकारक हो जायँगे। जैसे सूर्यमें कर्मोंका भोक्तापन नहीं है, वैसे ही कर्तापन भी नहीं है। साथ-ही-साथ नियत कर्मका किसी भी अवस्थामें त्याग न करना तथा नियत समयपर कार्यके लिये तत्पर रहना भी सूर्यकी अपनी विलक्षणता है। कर्मयोगीको भी इसी प्रकार अपने नियत कर्मोंको नियत समयपर करनेके लिये तत्पर रहना चाहिये। इसलिये कर्मयोगका वास्तविक अधिकारी सूर्यको जानकर ही भगवान्ने उनको सर्वप्रथम कर्मयोगका उपदेश दिया था और उसकी परम्पराका उल्लेख करते हुए इसके विषयको उत्तम रहस्य कहा है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे[1] प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

(गीता ४।१—३)

'मैंने इस अविनाशी योगको विवस्वान् (सूर्य) से कहा था। सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा। हे परंतप अर्जुन! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना, किंतु उसके बाद वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया। तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझे कहा है, क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है।'

सृष्टिमें जो सर्वप्रथम उत्पन्न होता है, उसे ही कर्तव्यका उपदेश दिया जाता है। उपदेश देनेका तात्पर्य है—कर्तव्यका ज्ञान कराना। सृष्टिकालमें सर्वप्रथम सूर्यकी उत्पत्ति हुई, फिर सूर्यसे समस्त लोक उत्पन्न हुए। हमारे शास्त्रोंमें सूर्यको 'सविता' कहा गया है, जिसका अर्थ है—उत्पन्न करनेवाला।

पाश्चात्त्य विज्ञान भी सूर्यको सम्पूर्ण सृष्टिका कारण मानता है। सबको उत्पन्न करनेवाले सूर्यको सर्वप्रथम कर्मयोगका उपदेश देनेका अभिप्राय उनसे उत्पन्न सम्पूर्ण सृष्टिको परम्परासे कर्मयोग सुलभ करा देना था।

भगवान्के द्वारा दिये गये कर्मयोगके उपदेशका सूर्यने पालन किया। फलस्वरूप यह कर्मयोग परम्पराको प्राप्त होकर कई पीढ़ियोंतक चलता रहा। जनक आदि राजाओंने तथा अच्छे-अच्छे सन्त-महात्मा एवं ऋषि-महर्षियोंने इस कर्मयोगका आचरण करके परम सिद्धि प्राप्त की। बहुत काल बीतनेपर जब वह योग लुप्तप्राय हो गया, तब पुनः भगवान्ने अर्जुनको उसका उपदेश दिया।

सूर्य सम्पूर्ण जगत्के नेत्र हैं, उनसे ही सबको ज्ञान प्राप्त होता है एवं उनके उदय होनेपर समस्त प्राणी जाग्रत् हो जाते हैं और अपने-अपने कर्मोंमें लग जाते हैं। सूर्यसे ही मनुष्योंमें कर्तव्यपरायणता आती है। इसी अभिप्रायसे भगवान् सूर्यको सम्पूर्ण जगत्का आत्मा कहा गया है—**'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'**। अतएव सूर्यको जो उपदेश प्राप्त होगा, वह सम्पूर्ण प्राणियोंको भी स्वतः प्राप्त हो जायगा। इसीलिये भगवान्ने सर्वप्रथम सूर्यको ही उपदेश दिया।

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं और अन्नकी उत्पत्ति वर्षासे होती है। वर्षाके अधिष्ठातृदेवता सूर्य हैं। वे ही अपनी किरणोंसे जलका आकर्षण कर उसे वर्षाके रूपमें पृथ्वीपर बरसाते हैं। इसीलिये सम्पूर्ण प्राणियोंका जीवन भगवान् सूर्यपर ही आधारित है। सूर्यके आधारपर ही सम्पूर्ण सृष्टि-चक्र चल रहा है।* सूर्यको उपदेश मिलनेके पश्चात्

१-विशेषेण वस्ते आच्छादयति इति विवस्वान्। विपूर्वक 'वस्' धातुसे क्विप्, मतुप् आदि प्रक्रियासे यह शब्द सिद्ध होता है।

* महाभारतमें सूर्यके प्रति कहा गया है—

त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा सर्वदेहिनाम्। त्वं योनिः सर्वभूतानां त्वमाचारः क्रियावताम्॥
त्वं गतिः सर्वसांख्यानां योगिनां त्वं परायणम्। अनावृतार्गलद्वारं त्वं गतिस्त्वं मुमुक्षताम्॥
त्वया संधार्यते लोकस्त्वया लोकः प्रकाश्यते। त्वया पवित्रीक्रियते निर्व्याजं पाल्यते त्वया॥ (वनपर्व ३। ३६—३८)

'सूर्यदेव! आप सम्पूर्ण जगत्के नेत्र तथा समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं। आप ही सब जीवोंके उत्पत्ति-स्थान और कर्मानुष्ठानमें लगे हुए पुरुषोंके सदाचार हैं।

सम्पूर्ण सांख्ययोगियोंके प्राप्तव्य स्थान आप ही हैं। आप ही सब कर्मयोगियोंके आश्रय हैं। आप ही मोक्षके उन्मुक्तद्वार हैं और आप ही मुमुक्षुओंकी गति हैं।

आप ही सम्पूर्ण जगत्को धारण करते हैं। आपसे ही यह प्रकाशित होता है। आप ही इसे पवित्र करते हैं और आपके ही द्वारा निःस्वार्थभावसे उसका पालन किया जाता है।'

उनकी कृपासे संसारको शिक्षा मिली है। जैसे पृथ्वीसे लिये गये जलको प्राणियोंके हितार्थ सूर्य पुनः पृथ्वीपर ही बरसा देते हैं, वैसे ही राजाओंने भी प्रजासे (कर आदिके रूपमें) लिये गये धनको प्रजाके ही हितमें लगा देनेकी उनसे शिक्षा ग्रहण की* ।

श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है, अन्य लोग भी वैसा ही आचरण करने लगते हैं। अतएव राजा जैसा आचरण करता है, प्रजा भी वैसा ही आचरण करने लगती है—**'यथा राजा तथा प्रजा'**। राजाको भगवान्‌की विभूति कहा गया है—**'नराणां च नराधिपम्'** (गीता १०।३७)। राजाओंमें सर्वप्रथम सूर्यका स्थान हुआ। सूर्य तथा भविष्यमें होनेवाले अन्य राजाओंने उस कर्मयोगका आचरण किया। वे राजालोग राज्यके भोगोंमें आसक्त हुए बिना सुचारुरूपसे राज्यका संचालन करते थे। प्रजाके हितमें उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती थी। कर्मयोगका पालन करनेके कारण राजाओंमें इतना विलक्षण ज्ञान होता था कि बड़े-बड़े ऋषि भी ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उनके पास जाया करते थे। श्रीवेदव्यासजीके पुत्र शुकदेवजी भी ज्ञानप्राप्तिके लिये राजर्षि जनकके पास गये थे। छान्दोग्योपनिषद्‌के पाँचवें अध्यायमें भी आता है कि ब्रह्मविद्या सीखनेके लिये छः ऋषि एक साथ महाराज अश्वपतिके पास गये थे।

शङ्का—जिसे ज्ञान नहीं होता, उसीको उपदेश दिया जाता है। सूर्य तो स्वयं ज्ञानस्वरूप भगवान् ही हैं; फिर उन्हें उपदेश देनेकी क्या आवश्यकता थी?

समाधान—जिस प्रकार अर्जुन महान् ज्ञानी नरऋषिके अवतार थे; परंतु लोकसंग्रहके लिये उन्हें भी उपदेश देनेकी आवश्यकता हुई। ठीक उसी प्रकार भगवान्‌ने सूर्यको उपदेश दिया—जिसके फलस्वरूप संसारका महान् उपकार हुआ और हो रहा है।

वास्तवमें नारायणके रूपमें उपदेश देना और सूर्यके रूपमें उपदेश ग्रहण करना जगन्नाट्यसूत्रधार भगवान्‌की एक लीला ही समझनी चाहिये, जो कि संसारके हितके लिये बहुत आवश्यक थी।

---

* महाराज दिलीपके सन्दर्भमें महाकवि कालिदासने लिखा है—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्। सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥ (रघुवंश १।१८)

'जैसे सूर्य सहस्रगुना बरसानेके लिये ही पृथ्वीके जलका आकर्षण करते हैं, वैसे ही (सूर्यवंशी) राजा भी अपनी प्रजाके हितके लिये ही प्रजासे कर लिया करते थे।'

१-एक विलक्षण बात है कि करनेकी कमी दूर होनेपर जानने और पानेकी कमी भी दूर हो जाती है, जाननेकी कमी दूर होनेपर करने और पानेकी कमी भी दूर हो जाती है तथा पानेकी कमी दूर होनेपर करने और जाननेकी कमी भी दूर हो जाती है।

२-तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ (३।२८)
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ (१४।१९)
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ (१३।२९)

१-अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ (९।२२)
२-सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (१८।६६)
३-तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ (१२।७)
४-तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (१०।११)
५-भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ (११।५४)

* सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ (२।३८)
'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको प्राप्त नहीं होगा।'

गीताकी अलौकिक शिक्षा

प्राणिमात्रके परम सुहृद् भगवान्के मुखसे निःसृत 'श्रीमद्भगवद्गीता' मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये व्यवहारमें परमार्थकी अलौकिक शिक्षा देती है। कोई भी व्यक्ति (स्त्री-पुरुष) हो और वह किसी भी वर्णमें हो, किसी भी आश्रममें हो, किसी भी सम्प्रदायमें हो, किसी भी देशमें हो, किसी भी वेशमें हो, किसी भी परिस्थितिमें हो, वहीं रहते हुए ही वह परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर सकता है। यदि वह निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग कर दे और निष्कामभावसे विहित कर्मोंको करता रहे तो इसीसे उसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(२।३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पाप-(बन्धन-) को प्राप्त नहीं होगा।'

युद्धसे बढ़कर घोर परिस्थिति और क्या होगी? जब युद्ध-जैसी घोर परिस्थितिमें भी मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है, तो फिर ऐसी कौन-सी परिस्थिति होगी, जिसमें रहते हुए मनुष्य अपना कल्याण न कर सके?

सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि सब आते हैं और चले जाते हैं, पर हम ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं। अतः समतामें हमारी स्थिति स्वतः-स्वाभाविक है। उसी समताकी ओर गीता लक्ष्य करा रही है कि ये जो तरह-तरहकी परिस्थितियाँ आ रही हैं, उनके साथ मिलो मत, उनमें प्रसन्न-अप्रसन्न मत होओ, प्रत्युत उनका सदुपयोग करो। अनुकूल परिस्थिति आ जाय तो दूसरोंको सुख पहुँचाओ, दूसरोंकी सेवा करो और प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय तो सुखकी इच्छाका त्याग करो। गीता कितनी अलौकिक शिक्षा देती है—

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(३।११)

'एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

सभी एक-दूसरेके अभावकी पूर्ति करें, एक-दूसरेको सुख पहुँचायें, एक-दूसरेका हित करें तो अनायास ही सबका

कल्याण हो जाय—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः**' (१२।४)। इसलिये दूसरेका हित करना है, दूसरेको सुख देना है, दूसरेको आदर देना है, दूसरेकी बात रखनी है, दूसरेको आराम देना है, दूसरेकी सेवा करनी है। दूसरा हमारी सेवा करे या न करे, इसकी परवाह नहीं करनी है अर्थात् हमें दूसरेका कर्तव्य नहीं देखना है, प्रत्युत निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करना है; क्योंकि दूसरेका कर्तव्य देखना हमारा कर्तव्य नहीं है। यहाँ एक खास बात समझनेकी है कि हमें मिलनेवाली वस्तु, परिस्थिति आदि दूसरे व्यक्तिके अधीन नहीं है, प्रत्युत प्रारब्धके अधीन है। प्रारब्धके अनुसार जो वस्तु, परिस्थिति आदि हमें मिलनेवाली है, वह न चाहनेपर भी मिलेगी। जैसे न चाहनेपर भी प्रतिकूल परिस्थिति अपने-आप आती है, ऐसे ही अनुकूल परिस्थिति भी अपने-आप आयेगी। दूसरे व्यक्तिको भी वही मिलेगा, जो उसके प्रारब्धमें है, पर हमें उसकी ओर न देखकर अपने कर्तव्यकी ओर देखना है अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन (सेवा) करना है। दूसरी बात, हमारी सेवाके बदलेमें दूसरा भी हमारी सेवा करेगा तो हमारी सेवाका मूल्य कम हो जायगा; जैसे— हमने दूसरेको दस रुपये दिये और उसने हमें पाँच रुपये लौटा दिये तो हमारा देना आधा ही रह गया! अतः यदि दूसरा बदलेमें हमारी सेवा न करे तो हमारा बहुत जल्दी कल्याण होगा। यदि दूसरा हमारी सेवा करे अथवा हमें दूसरेसे सेवा लेनी पड़ी तो उसका बड़ा उपकार माने, पर उसमें प्रसन्न न हो। प्रसन्न होना भोग है और भोग दुःखका कारण है—'**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते**' (५।२२)।

मैं सुख ले लूँ, मेरा आदर हो जाय, मेरी बात रह जाय, मुझे आराम मिले, दूसरा मेरी सेवा करे— यह भाव महान् पतन करनेवाला है। अर्जुनने भगवान्से पूछा कि मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप क्यों करता है? तो भगवान्ने कहा कि 'मुझे मिले' यह कामना ही पाप कराती है (३।३६-३७)। जहाँ व्यक्तिगत सुखकी कामना हुई कि सब पाप, संताप, दुःख, अनर्थ आदि आ जाते हैं। इसलिये अपनी सामर्थ्यके अनुसार सबको सुख पहुँचाना है, सबकी सेवा करनी है, पर बदलेमें कुछ नहीं चाहना है। हमारे पास अपने कहलानेवाले जो बल, बुद्धि, विद्या, योग्यता आदि हैं, उसे निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवामें लगाना है।

हमारे पास वस्तुके रहते हुए दूसरेको उस वस्तुके अभावका दुःख क्यों भोगना पड़े? हमारे पास अन्न, जल और वस्त्रके रहते हुए दूसरा भूखा, प्यासा और नंगा क्यों रहे?—ऐसा भाव रहेगा तो सभी सुखी हो जायँगे। एक-दूसरेके अभावकी पूर्ति करनेकी रीति भारतवर्षमें स्वाभाविक ही रही है। खेती करनेवाला अनाज पैदा करता था तो वह अनाज देकर जीवन-निर्वाहकी सब वस्तुएँ ले आता था। उसे सब्जी, तेल, घी, बर्तन, कपड़ा आदि जो कुछ भी चाहिये, वह सब उसे अनाजके बदलेमें मिल जाता था। सब्जी पैदा करनेवाला सब्जी देकर सब वस्तुएँ ले आता था। इस प्रकार मनुष्य कोई एक वस्तु पैदा करता था और उसके द्वारा वह सभी आवश्यक वस्तुओंकी पूर्ति कर लेता था। पैसोंकी आवश्यकता ही नहीं थी। परंतु अब पैसोंको लेकर अपनी आदत बिगाड़ ली। पैसोंके लोभसे अपना महान् पतन कर लिया। पैसोंका संग्रह करनेकी ऐसी धुन लगी कि जीवन-निर्वाहकी आवश्यक वस्तुएँ मिलनी कठिन हो गयीं! कारण कि वस्तुओंको बेच-बेचकर रुपये पैदा कर लिये और उनका संग्रह कर लिया। इस बातका ध्यान ही नहीं रहा कि रुपये पड़े-पड़े स्वयं क्या काम आयेंगे! रुपये स्वयं किसी काममें नहीं आयेंगे, प्रत्युत उनका खर्च ही अपने या दूसरोंके काममें आयेगा। परंतु अन्तःकरणमें पैसोंका महत्त्व बैठा होनेसे ये बातें सुगमतासे समझमें नहीं आतीं। पैसोंकी यह भूख भारतवर्षकी स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत कुसंगतिसे आयी है।

एक मार्मिक बात है कि जो दूसरेका अधिकार होता है वही हमारा कर्तव्य होता है। जैसे दूसरेका हित करना हमारा कर्तव्य है और दूसरोंका अधिकार है। माता-पिताकी सेवा करना, उन्हें सुख पहुँचाना पुत्रका कर्तव्य है और माता-पिताका अधिकार है। ऐसे ही पुत्रका पालन-पोषण करना और उसे श्रेष्ठ, सुयोग्य बनाना माता-पिताका कर्तव्य है और पुत्रका अधिकार है। गुरुकी सेवा करना, उनकी आज्ञाका पालन करना शिष्यका कर्तव्य है और गुरुका अधिकार है। ऐसे ही शिष्यका अज्ञानान्धकार मिटाना, उसे परमात्मतत्त्वका अनुभव कराना गुरुका कर्तव्य है और शिष्यका अधिकार है। अतः मनुष्यको अपने कर्तव्य-पालनके द्वारा दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करनी है। दूसरोंका कर्तव्य और अपना अधिकार देखनेवाला मनुष्य अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है। इसलिये मनुष्यको अपने अधिकारका त्याग करना है और दूसरेके न्याययुक्त अधिकारकी रक्षाके लिये यथाशक्ति अपने कर्तव्यका पालन करना है। दूसरोंका कर्तव्य देखना और अपना अधिकार जमाना इहलोक और परलोकमें पतन करनेवाला है। वर्तमानमें जो अशान्ति, कलह, संघर्ष देखनेमें आ रहा है, उसका मुख्य कारण यही है कि लोग अपने अधिकारकी माँग तो करते हैं, पर अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते। इसलिये गीता कहती है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ॥
(२ । ४७)

'अपने कर्तव्यका पालन करनेमें ही तुम्हारा अधिकार है, उसके फलोंमें नहीं।'

संसारमें अपने-अपने क्षेत्रमें जो मनुष्य दूसरोंके द्वारा मुख्य, श्रेष्ठ माने जाते हैं, उन आचार्य, गुरु, अध्यापक, व्याख्यानदाता, महन्त, शासक, मुखिया आदिपर दूसरोंको शिक्षा देनेकी, दूसरोंका हित करनेकी विशेष जिम्मेवारी रहती है। अतः उनके लिये गीता कहती है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(३ । २१)

'श्रेष्ठ मनुष्य जो-जो आचरण करता है, दूसरे मनुष्य वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं और वह जो कुछ कहता है, दूसरे मनुष्य उसीके अनुसार करते हैं।'

उपर्युक्त श्लोकमें श्रेष्ठ मनुष्यके आचरणके विषयमें तो **'यत्-यत्'**, **'तत्-तत्'** और **'एव'**—ये पाँच पद आये हैं, पर प्रमाण-(वचन-)के विषयमें **'यत्'** और **'तत्'**—ये दो ही पद आये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यके आचरणोंका असर दूसरोंपर पाँच गुना (अधिक) पड़ता है और वचनोंका असर दो गुना (अपेक्षाकृत कम) पड़ता है। जो मनुष्य स्वयं कर्तव्यका पालन न करके केवल अपने वचनोंसे दूसरोंको कर्तव्य-पालनकी शिक्षा देता है, उसकी शिक्षाका लोगोंपर विशेष असर नहीं पड़ता। शिक्षाका लोगोंपर विशेष असर तभी पड़ता है, जब शिक्षा देनेवाला स्वयं भी निष्कामभावसे शास्त्र और लोककी मर्यादाके अनुसार चले। इसलिये भगवान् अपना उदाहरण देते हुए कहते हैं कि यद्यपि मेरे लिये त्रिलोकीमें कुछ भी कर्तव्य और प्राप्तव्य नहीं है, तो भी मैं जहाँ जिस रूपसे अवतार लेता हूँ, वहाँ उस अवतारके अनुसार ही अपने कर्तव्यका पालन करता हूँ। यदि मैं निरालस्य होकर, सावधानीपूर्वक कर्तव्यका पालन न करूँ तो मुझमें श्रद्धा-विश्वास रखनेवाले दूसरे लोग भी वैसा ही करने लग जायँगे, अर्थात् वे भी प्रमादसे, असावधानीसे अपने कर्तव्यकी उपेक्षा करने लग जायँगे, जिससे परिणाममें उनका पतन हो जायेगा (३ । २२-२३)।

मनुष्यमात्रमें तीन कमियाँ होती हैं—करनेकी कमी, जाननेकी कमी और मानेकी कमी। इन तीनों कमियोंको दूर करके अपना उद्धार करनेके लिये मनुष्यको तीन शक्तियाँ भी प्राप्त हैं— करनेकी शक्ति, जाननेकी शक्ति और माननेकी शक्ति। इन तीनों शक्तियोंके रहते हुए भी मनुष्य केवल बेसमझी और सुखासक्तिके कारण अपनेमें कमीका दुःख भोगता है। यदि वह इन तीनों शक्तियोंका सदुपयोग करे तो अपनी कमियोंकी पूर्ति करके पूर्णताको प्राप्त कर सकता है, अपना मनुष्य-जन्म सर्वथा सार्थक कर सकता है[१]। निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये कर्म (सेवा) करना 'करनेकी शक्ति' का सदुपयोग है, जो 'कर्मयोग' है। शरीरसे असङ्ग होकर अपने स्वरूपमें स्थित होना 'जाननेकी शक्ति' का सदुपयोग है, जो 'ज्ञानयोग' है। भगवान्‌को अपना और अपनेको भगवान्‌का मानना 'माननेकी शक्ति' का सदुपयोग है, जो 'भक्तियोग' है। गीता इन तीनों ही योगमार्गोंकी शिक्षा देती है; जैसे—

जो केवल यज्ञके लिये अर्थात् निष्कामभावपूर्वक दूसरोंके हितके लिये ही कर्म करता है, वह कर्मयोगी कर्म-बन्धनसे छूट जाता है—**'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते'** (४ । २३)। कारण कि शरीरादि पदार्थोंको अपना और अपने लिये न मानकर दूसरोंकी सेवामें लगानेसे इन पदार्थोंसे स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

जो सम्पूर्ण क्रियाओंको प्रकृतिके द्वारा होनेवाली देखता है और अपने-आपको किसी भी क्रियाका कर्ता नहीं देखता, उस ज्ञानयोगीको अपने स्वरूपका बोध हो जाता है।[२]

जो संसारसे विमुख होकर केवल भगवान्‌की ही शरण हो जाता है और भगवान्‌के सिवाय कुछ भी नहीं चाहता, उसके उद्धारकी सम्पूर्ण जिम्मेवारी भगवान्‌पर ही आ जाती है। इसलिये भगवान् स्वयं उस शरणागत भक्तके योगक्षेमका

वहन करते हैं[१], उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश कर देते हैं[२], उसका मृत्युरूप संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार कर देते हैं[३] और उसे तत्त्वज्ञान भी करा देते हैं।[४] भक्तियोगमें यह विशेषता है कि भक्त भगवत्कृपासे भगवान्‌को तत्त्वसे जान भी जाता है, भगवान्‌के दर्शन भी कर लेता है और भगवान्‌को प्राप्त भी कर लेता है[५]।

इस प्रकार गीतामें ऐसी अनेक अलौकिक शिक्षाएँ दी गयी हैं, जिनके अनुसार आचरण करके मनुष्य सुगमतासे अपने परम लक्ष्य परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर सकता है।

★

योगः कर्मसु कौशलम्

गीता समतामें ही साधनकी पूर्णता मानती है। यदि समता आ जाय तो सिद्ध पुरुषोंके सब लक्षण अपने-आप आ जाते हैं। यदि किसी साधकमें अन्य लक्षण तो हैं, पर समता नहीं है तो उसका साधन पूर्ण नहीं है। इसलिये गीतामें जहाँ-जहाँ सिद्धोंके लक्षण आये हैं, वहाँ-वहाँ समताकी मुख्यता आयी है। तात्पर्य है कि समता ही गीताका ध्येय है।

गीताका उपदेश दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे आरम्भ होता है। उपदेशके आरम्भमें भगवान्‌ने ग्यारहवें श्लोकसे तीसवें श्लोकतक शरीरी-शरीर, सत्-असत्, नित्य-अनित्य विवेकका वर्णन किया। फिर इकतीसवेंसे अड़तीसवें श्लोकतक क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करनेकी आवश्यकताका वर्णन करके उन्तालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा—

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।

(२।३९)

'यह (अड़तीसवें श्लोकमें वर्णित*) समता पहले सांख्ययोगमें कही गयी, अब तू इसको योगके विषयमें सुन।'

यहाँ पहली बार 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग हुआ है। इससे पहले कहीं 'बुद्धि' शब्द नहीं आया। उन्तालीसवें श्लोकसे जो प्रकरण आरम्भ हुआ है, उसमें 'समता' को ही कहीं 'बुद्धि' शब्दसे (२।३९, ४९—५१), कहीं 'योग' शब्दसे (२।४८, ५०, ५३) और कहीं 'बुद्धियोग' शब्दसे (२।४९) कहा गया है। अड़तालीसवें श्लोकमें भगवान् 'योग' की परिभाषा बताते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(२।४८)

'हे धनञ्जय! तू आसक्तिका त्याग करके सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर; क्योंकि समताको ही योग कहा जाता है।'

इसके बाद पचासवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

(२।५०)

'बुद्धि (समता) से युक्त मनुष्य वर्तमानमें ही पुण्य और पाप दोनोंसे रहित (निर्लिप्त) हो जाता है। अतः तू योग (समता) में लग जा; क्योंकि योग ही कर्मोंमें कुशलता है।'

इस श्लोकमें आये **'योगः कर्मसु कौशलम्'** पदोंपर विचार करें तो इनके दो अर्थ लिये जा सकते हैं—

(१) **'कर्मसु कौशलं योगः'** अर्थात् कर्मोंमें कुशलता ही योग है।

(२) **'कर्मसु योगः कौशलम्'** अर्थात् कर्मोंमें योग ही कुशलता है।

अगर पहला अर्थ लिया जाय कि 'कर्मोंमें कुशलता ही योग है' तो जो बड़ी कुशलतासे, सावधानीसे चोरी, ठगी आदि कर्म करता है, उसका कर्म 'योग' हो जायगा! परंतु ऐसा मानना उचित नहीं है और यहाँ निषिद्ध कर्मोंका प्रसंग भी

नहीं है। अगर यहाँ शुभ कर्मोंको ही कुशलतापूर्वक करनेका नाम योग मानें तो मनुष्य कुशलतापूर्वक, सांगोपांग किये हुए शुभ कर्मोंके फलसे बँध जायगा—**'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५। १२); अतः उसकी स्थिति समतामें नहीं रहेगी और उसके दुःखोंका नाश नहीं होगा।

शास्त्रमें आया है—**'कर्मणा बध्यते जन्तुः'** 'कर्मोंसे मनुष्य बँध जाता है।' अतः जो कर्म स्वभावसे ही मनुष्यको बाँधनेवाले हैं, वे ही मुक्ति देनेवाले हो जायँ—यहीं वस्तुतः कर्मोंमें कुशलता है। मुक्ति योग (समता) से होती है, कर्मोंमें कुशलतासे नहीं। कर्म कितने ही बढ़िया हों, उनका आरम्भ तथा अन्त होता है और उनके फलका भी संयोग तथा वियोग होता है। जिसका आरम्भ और अन्त, संयोग और वियोग होता है, उसके द्वारा मुक्तिकी प्राप्ति कैसे होगी? नाशवान्‌के द्वारा अविनाशीकी प्राप्ति कैसे होगी? अतः महत्त्व योगका है, कर्मोंका नहीं।

अगर उपर्युक्त अर्थ ही ठीक माना जाय तो भी 'कुशलता' के अन्तर्गत समता, निष्कामभावको ही लेना पड़ेगा अर्थात् कर्मोंमें कुशलता ही योग है तो 'कुशलता' क्या है? इसके उत्तरमें यह कहना ही पड़ेगा कि योग (समता) ही कुशलता है। ऐसी स्थितिमें 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है' ऐसा सीधा अर्थ क्यों न ले लिया जाय? जब उपर्युक्त पदोंमें 'योग' शब्द आया ही है, तो फिर 'कुशलता'का अर्थ योग लेनेकी जरूरत ही नहीं है!

अगर प्रकरणपर विचार करें तो योग (समता) का ही प्रकरण चल रहा है, कर्मोंकी कुशलताका नहीं। भगवान् **'समत्वं योग उच्यते'** (२। ४८) कहकर योगकी परिभाषा भी बता चुके हैं। अतः इस प्रकरणमें योग ही विधेय है, कर्मोंमें कुशलता विधेय नहीं है। योग ही कर्मोंमें कुशलता है अर्थात् कर्मोंको करते हुए हृदयमें समता रहे, राग-द्वेष न रहें—यही कर्मोंमें कुशलता है। इसलिये **'योगः कर्मसु कौशलम्'**—यह योगकी परिभाषा नहीं है; किन्तु योगकी महिमा है।

इसी (पचासवें) श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्‌ने कहा है कि समतासे युक्त मनुष्य पुण्य और पाप दोनोंसे रहित हो जाता है। यदि मनुष्य पुण्य और पाप दोनोंसे रहित हो जाय तो फिर कौन-सा कर्म कुशलतासे किया जायगा?

गीतामें 'कुशल' शब्दका प्रयोग अठारहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भी हुआ है—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥

'जो अकुशल कर्मसे द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता, वह त्यागी, बुद्धिमान्, सन्देहरहित और अपने स्वरूपमें स्थित है।'

यहाँ 'अकुशल कर्म'के अन्तर्गत सकामभावसे किये जानेवाले और शास्त्रनिषिद्ध कर्म आते हैं तथा 'कुशलकर्म' के अन्तर्गत निष्काम भावसे किये जानेवाले शास्त्रविहित कर्म आते हैं। अकुशल और कुशल कर्मोंका तो आदि-अन्त होता है, पर योग (समता) का आदि-अन्त नहीं होता। बाँधनेवाले राग-द्वेष ही हैं, कुशल-अकुशल कर्म नहीं। अतः रागपूर्वक किये गये कर्म कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हों, वे बाँधनेवाले ही हैं; क्योंकि उन कर्मोंसे ब्रह्मलोकतककी प्राप्ति भी हो जाय तो भी वहाँसे लौटकर पीछे आना पड़ता है—**'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन'** (गीता ८। १६)। इसलिये जो मनुष्य अकुशल कर्मका त्याग द्वेषपूर्वक नहीं करता और कुशल कर्मका आचरण रागपूर्वक नहीं करता, वही वास्तवमें त्यागी, बुद्धिमान्, सन्देहरहित और अपने स्वरूपमें स्थित है*।

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हुआ कि **'योगः कर्मसु कौशलम्'** पदोंका अर्थ 'कर्मोंमें कुशलता ही योग है'—ऐसा न मानकर 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है'— ऐसा ही मानना चाहिये। अब 'योग' क्या है— इसपर विचार किया जाता है।

गीतामें 'योग' शब्दके तीन अर्थ हैं—(१) समता, जैसे—**'समत्वं योग उच्यते'** (२। ४८); (२) सामर्थ्य, ऐश्वर्य, प्रभाव; जैसे—**'पश्य मे योगमैश्वरम्'** (९। ५); और (३) समाधि; जैसे—**'यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया'** (६। २०)। यद्यपि गीतामें 'योग' का अर्थ मुख्यतासे 'समता' ही है, तथापि 'योग' शब्दके अन्तर्गत तीनों ही अर्थ लेने चाहिये।

पातञ्जलयोगदर्शनमें चित्तवृत्तियोंके निरोधको 'योग' कहा गया है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** (१। २)। इस योगके परिणामस्वरूप द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति हो जाती है—**'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** (१। ३)। इस प्रकार पातञ्जल-

---

* दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते। गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥ (श्रीमद्भा० ११। ७। ११)

'जो मनुष्य अनुकूलता-प्रतिकूलतारूप द्वन्द्वोंसे ऊँचा उठ जाता है, वह शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका त्याग करता है, पर द्वेषबुद्धिसे नहीं और शास्त्रविहित कर्मोंको करता है, पर गुणबुद्धिसे अर्थात् रागपूर्वक नहीं। जैसे घुटनोंके बलपर चलनेवाले बच्चेकी निवृत्ति और प्रवृत्ति राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती, ऐसे ही उभयातीत मनुष्यकी निवृत्ति और प्रवृत्ति भी राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती। (बच्चेमें तो अज्ञता रहती है, पर राग-द्वेषसे रहित मनुष्यमें विज्ञता रहती है।)

'योग' कहती है* । तात्पर्य है कि गीता चित्तवृत्तियोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक स्वतःसिद्ध सम-स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिको 'योग' कहती है। इस समतामें स्थित होनेपर फिर कभी इससे वियोग अर्थात् व्युत्थान नहीं होता, इसलिये इसको 'नित्ययोग' कहते हैं। चित्तवृत्तियोंका निरोध होनेपर तो 'निर्विकल्प अवस्था' होती है, पर समतामें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव होनेपर 'निर्विकल्प बोध' होता है। निर्विकल्प बोध अवस्था नहीं है, प्रत्युत सम्पूर्ण अवस्थाओंसे अतीत तथा उनका प्रकाशक एवं सम्पूर्ण योग-साधनोंका फल है। इस प्रकार गीताका योग पातञ्जलयोगदर्शनके योगसे बहुत विलक्षण है।

परमात्मा सम हैं—**'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (गीता ५।१९)। जीव परमात्माका अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७); अतः समरूप परमात्माके साथ जीवका सम्बन्ध अर्थात् योग नित्य है। इस स्वतःसिद्ध नित्ययोगका ही नाम 'योग' है। यह नित्ययोग सब देशमें है, सब कालमें है, सब क्रियाओंमें है, सब वस्तुओंमें है, सब व्यक्तियोंमें है, सब अवस्थाओंमें है, सब परिस्थितियोंमें है, सब घटनाओंमें है। तात्पर्य है कि इस नित्ययोगका कभी वियोग हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं। परन्तु असत् (शरीर) के साथ अपना सम्बन्ध मान लेनेसे इस नित्ययोगका अनुभव नहीं होता। दुःखरूप असत्‌के साथ माने हुए संयोगका वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) होते ही इस नित्ययोगका अनुभव हो जाता है—**'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्'** (गीता ६।२३)। यही गीताका मुख्य योग है और इसी योगका अनुभव करनेके लिये गीताने कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग आदि साधनोंका वर्णन किया है। परंतु इन साधनोंको योग तभी कहा जायगा, जब असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद और परमात्माके साथ नित्य सम्बन्धका अनुभव होगा।

पातञ्जलयोगदर्शनके योगका अधिकारी वह है, जो मूढ़ और क्षिप्त वृत्तिवाला नहीं है, प्रत्युत विक्षिप्त वृत्तिवाला है। परन्तु भगवान्‌की प्राप्ति चाहनेवाले सब-के-सब मनुष्य गीताके योगके अधिकारी हैं। इतना ही नहीं, जो मनुष्य भोग और संग्रहको महत्त्व न देकर इस योगको ही महत्त्व देता है और इसको प्राप्त करना चाहता है—ऐसा योगका जिज्ञासु भी वेदोंमें **योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते'** (गीता ६।४४)।

इस योग-(समता-) की महिमा भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके उन्तालीसवें-चालीसवें श्लोकोंमें चार प्रकारसे कही है—

(१) **'कर्मबन्धं प्रहास्यसि'**—समताके द्वारा मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

(२) **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'**—इसके आरम्भका भी नाश नहीं होता।

(३) **'प्रत्यवायो न विद्यते'**—इसके अनुष्ठानका उलटा फल भी नहीं होता।

(४) **'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'**—इसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।

यद्यपि पहली बातके अन्तर्गत ही शेष तीनों बातें आ जाती हैं, तथापि सबमें थोड़ा अन्तर है; जैसे—

(१) भगवान् पहले सामान्य रीतिसे कहते हैं कि समतासे युक्त मनुष्य कर्मबन्धनसे छूट जाता है। बन्धनका कारण गुणोंका संग अर्थात् प्रकृतिसे माना हुआ सम्बन्ध है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३।२१)। समता आनेसे प्रकृतिका सम्बन्ध नहीं रहता; अतः मनुष्य कर्मबन्धनसे छूट जाता है। जैसे संसारमें अनेक शुभाशुभ कर्म होते रहते हैं, पर वे कर्म हमें बाँधते नहीं; क्योंकि उन कर्मोंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं होता, ऐसे ही समतायुक्त मनुष्यका अपने कर्मोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

(२) समताका केवल आरम्भ हो जाय अर्थात् समताको प्राप्त करनेका उद्देश्य, जिज्ञासा हो जाय तो इस आरम्भका भी कभी नाश नहीं होता। कारण कि अविनाशीका उद्देश्य भी अविनाशी ही होता है, जब कि नाशवान्‌का उद्देश्य भी नाशवान् ही होता है। नाशवान्‌का उद्देश्य तो नाश (पतन) करता है, पर समताका उद्देश्य कल्याण ही करता है—**'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते'** (गीता ६।४४)।

(३) समताके अनुष्ठानका उलटा फल नहीं होता। सकामभावसे किये जानेवाले कर्ममें अगर मन्त्रोच्चारण, अनुष्ठान-विधि आदिकी कोई त्रुटि हो जाय तो उसका उलटा फल हो जाता है†। परन्तु जितनी समता अनुष्ठानमें

---

* 'समत्वं योग उच्यते' (२।४८)। 'समताको ही योग कहा जाता है' और 'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्' (६।२३)। 'जिसमें दुःखोंके संयोगका वियोग है, उसको योग नामसे जानना चाहिये'—ये दोनों ही भगवान्‌की दृष्टिमें 'योग' की परिभाषाएँ हैं।

† ऐसी कथा आती है कि त्वष्टाने इन्द्रका वध करनेवाले पुत्रकी इच्छासे एक यज्ञ किया। उस यज्ञमें ऋषियोंने 'इन्द्रशत्रुं विवर्धस्व' इस मन्त्रके साथ हवन किया। 'इन्द्रशत्रु' शब्दमें यदि षष्ठीतत्पुरुष-समास हो तो इसका अर्थ होगा 'इन्द्रस्य शत्रुः' (इन्द्रका शत्रु); और यदि बहुव्रीहि-समास हो तो इसका अर्थ होगा—'इन्द्रः शत्रुर्यस्य' (जिसका शत्रु इन्द्र है)। समासमें भेद होनेसे स्वरमें भी भेद हो जाता है। अतः षष्ठीतत्पुरुषसमासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका उच्चारण अन्त्योदात्त होगा अर्थात् अन्तिम अक्षर 'त्रु' का उच्चारण उदात्त स्वरसे होगा; और बहुव्रीहि-समासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका उच्चारण आद्योदात्त होगा अर्थात् प्रथम अक्षर 'इ' का उच्चारण उदात्त स्वरसे होगा। ऋषियोंका उद्देश्य तो षष्ठीतत्पुरुष-समासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका अन्त्योदात्त उच्चारण करना था; परन्तु उन्होंने उसका आद्योदात्त उच्चारण कर दिया। इस प्रकार (दोनों समासोंका अर्थ एक होनेपर भी) स्वरभेद हो जानेसे मन्त्रोच्चारणका उलटाफल हो गया, जिससे इन्द्र ही त्वष्टाके पुत्र (वृत्रासुर) का वध करनेवाला हो गया। इसलिये कहा गया है—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ (पाणिनीयशिक्षा)

(जीवनमें) आ गयी है, उसमें अगर व्यवहार आदिकी कोई भूल हो जाय, सावधानीमें कोई कमी रह जाय तो उसका उलटा फल (बन्धन) नहीं होता। जैसे, कोई हमारे यहाँ नौकरी करता है और अँधेरेमें लालटेन जलाते समय कभी उसके हाथसे लालटेन गिरकर टूट जाय तो हम उसपर नाराज होते हैं। परन्तु उस समय जो हमारा मित्र है, हमारेसे कुछ चाहता नहीं, उसके हाथसे लालटेन गिरकर टूट जाय तो हम उसपर नाराज नहीं होते, प्रत्युत कहते हैं कि हमारे हाथसे भी वस्तु टूट जाती है, तुम्हारे हाथसे वस्तु टूट गयी तो चिन्ताकी क्या बात है? अतः जो सकामभावसे कर्म करता है, उसके कर्मका तो उलटा फल हो सकता है, पर जो किसी प्रकारका फल चाहता ही नहीं, उसके अनुष्ठानका उलटा फल कैसे हो सकता है?

(४) समताका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान हो जाय, थोड़ा-सा भी समताका भाव बन जाय तो वह जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है अर्थात् कल्याण कर देता है। जैसे सकाम कर्म फल देकर नष्ट हो जाता है, ऐसे यह थोड़ी-सी भी समता फल देकर नष्ट नहीं होती, प्रत्युत इसका उपयोग केवल कल्याणमें ही होता है। यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्म यदि सकामभावसे किये जायँ तो उनका नाशवान् फल (धन-सम्पत्ति एवं स्वर्गादिकी प्राप्ति) होता है और यदि निष्कामभावसे किये जायँ तो उनका अविनाशी फल (मोक्ष) होता है। इस प्रकार यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्मोंके तो दो-दो फल हो सकते हैं, पर समताका एक ही फल—कल्याण होता है। जैसे कोई मुसाफिर चलते-चलते रास्तेमें रुक जाय अथवा सो जाय तो वह जहाँसे चला था, वहाँ पुनः लौटकर चला नहीं जाता, प्रत्युत जहाँतक वह पहुँच गया, वहाँतकका रास्ता तो कट ही गया। ऐसे ही जितनी समता जीवनमें आ गयी, उसका नाश योगभ्रष्ट होनेपर भी नहीं होता अर्थात् स्वर्गादि लोकोंमें बहुत वर्षोंतक सुख भोगनेपर अथवा मृत्युलोकमें श्रीमानोंके घरमें सुख भोगनेपर भी उस समताका नाश नहीं होता (गीता ६।४१—४४)।

उपसंहार—

समताकी प्राप्तिके लिये बुद्धिकी स्थिरता बहुत आवश्यक है। पातञ्जलयोगदर्शनमें तो मनकी स्थिरता (वृत्तिनिरोध) को महत्त्व दिया गया है, पर गीता बुद्धिकी स्थिरता (उद्देश्यकी दृढ़ता) को ही महत्त्व देती है (२।५५—६८)। कारण कि कल्याणप्राप्तिमें मनकी स्थिरताका उतना महत्त्व नहीं है, जितना बुद्धिकी स्थिरताका महत्त्व है। मनकी स्थिरतासे लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, पर बुद्धिकी स्थिरतासे लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त न होकर पारमार्थिक सिद्धि (कल्याणप्राप्ति) होती है। कर्मयोगमें बुद्धिकी स्थिरता ही मुख्य है।* अगर मनकी स्थिरता होगी तो कर्मयोगी कर्तव्य-कर्म कैसे करेगा? कारण कि मन स्थिर होनेपर बाहरी क्रियाएँ रुक जाती हैं। भगवान् भी योग (समता) में स्थित होकर कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं—**'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (२।४८)। तात्पर्य है कि कर्मोंका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत योग (समता) का ही महत्त्व है। अतः कर्मोंमें योग ही कुशलता है।

★

* व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ (गीता २।४१)

'हे कुरुनन्दन! **इस समबुद्धिकी** प्राप्तिके विषयमें व्यवसायात्मिका बुद्धि एक ही होती है। अव्यवसायी मनुष्योंकी बुद्धियाँ अनन्त और बहुशाखाओंवाली ही होती हैं।'

कर्मयोगसे कल्याण

परमात्माके साथ जीवका नित्ययोग अर्थात् नित्य-सम्बन्ध है। इस नित्ययोगको ही गीताने 'योग' नामसे कहा है। इस योगका कभी वियोग नहीं होता। परंतु जब जीव जड प्रकृतिके कार्य शरीरके साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध मान लेता है, तब वह इस नित्ययोगसे विमुख हो जाता है, इसको भूल जाता है। जडके साथ माने हुए इस सम्बन्धको ही 'अहम्' (ग्रन्थिरूप अहङ्कार) कहते हैं। यद्यपि जीवका प्रकृति और उसके कार्यसे नित्यवियोग है, तथापि उसके साथ अपना संयोग मान लेनेके कारण उसको नित्ययोगमें वियोग और नित्य-वियोगमें संयोग दीखने लगता है अर्थात् उसको

नित्यप्राप्त परमात्मा अप्राप्त दीखने लगते हैं और नित्य-निवृत्त शरीर-संसार प्राप्त दीखने लगते हैं। इस भूलको मिटानेके लिये भगवान्‌ने तीन मुख्य योग-साधनोंका वर्णन किया है—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग*।

जबतक अहम् रहता है, तबतक साधकोंमें तथा उनके साधनोंमें भेद रहता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये तीन भेद भी अहम्‌के कारण ही हैं। अहम् मिटनेपर अर्थात् साधन सिद्ध होनेपर कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगका भेद भी सर्वथा मिट जाता है।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीन साधनोंमें ज्ञानयोग और भक्तियोगका प्रचार तो अधिक है, पर कर्मयोगका प्रचार बहुत कम है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है कि 'बहुत समय बीत जानेके कारण यह कर्मयोग इस मनुष्य-लोकमें लुप्तप्राय हो गया है'—'**स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप**' (४।२)। इसलिये कर्मयोगके सम्बन्धमें यह धारणा बनी हुई है कि यह परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन नहीं है। अतः कर्मयोगका पालन करनेवाला साधक या तो ज्ञानयोगमें चला जाता है अथवा भक्तियोगमें चला जाता है; जैसे—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।९)

'तभीतक कर्म करना चाहिये, जबतक भोगोंसे वैराग्य न हो जाय (ज्ञानयोगका अधिकारी न बन जाय) अथवा मेरी लीला-कथाके श्रवणादिमें श्रद्धा न हो जाय (भक्तियोगका अधिकारी न बन जाय)।'

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः
कृत्वा समासादितशुद्धमानसः।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः
समाश्रयेत् सद्गुरुमात्मलब्धये॥

(अध्यात्म० उत्तर० ५।७)

'सबसे पहले अपने वर्ण और आश्रमके लिये शास्त्रोंमें वर्णित क्रियाओंका यथावत् पालन करके चित्त शुद्ध हो जानेपर उन क्रियाओंका त्याग कर दे। फिर शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न होकर आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्गुरुकी शरणमें जाय।'

परन्तु इसके साथ ही यह बात भी आती है कि कर्मयोग परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन भी है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ †

(५।४-५)

'बेसमझ लोग सांख्ययोग और कर्मयोगको अलग-अलग फलवाले कहते हैं, न कि पण्डितजन। कारण कि इन दोनोंमेंसे एक साधनमें भी अच्छी तरहसे स्थित मनुष्य दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है। सांख्ययोगियोंके द्वारा जो तत्त्व प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंके द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। अतः जो मनुष्य सांख्ययोग और कर्मयोगको (फलरूपमें) एक देखता है, वही ठीक देखता है।'

गीतामें अनेक स्थानोंपर कर्मयोगके द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक तत्त्वज्ञान, परमशान्ति, मुक्ति अथवा परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिकी बात आयी है; जैसे—

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४।३८)

'वह कर्मयोगी उस तत्त्वज्ञानको अवश्य ही स्वयं अपने-आपमें पा लेता है।'

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ (५।६)

'मननशील कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ (४।२३)

'केवल यज्ञके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं।'

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ (४।१९)

'जिस (कर्मयोगी महापुरुष) के सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरूपी अग्निसे जल गये हैं, उसको ज्ञानिजन भी पण्डित (बुद्धिमान्) कहते हैं।'

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।

(५।१२)

'कर्मयोगी कर्मफलका त्याग करके नैष्ठिकी शान्तिको प्राप्त होता है।'

श्रीमद्भागवतमें भी कर्मयोगको परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बताया गया है—

---

* योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ (श्रीमद्भा० ११।२०।६)
'अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने तीन योगमार्ग बताये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इन तीनोंके सिवाय दूसरा कोई कल्याणका मार्ग नहीं है।'

† यहाँ चौथे श्लोकके पूर्वार्धका सम्बन्ध पाँचवें श्लोकके उत्तरार्धसे है और चौथे श्लोकके उत्तरार्धका सम्बन्ध पाँचवें श्लोकके पूर्वार्धसे है।

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत्॥

(११।२०।१०)

'जो स्वधर्ममें स्थित रहकर तथा भोगोंकी कामनाका त्याग करके अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन करता है तथा सकामभावपूर्वक कोई कर्म नहीं करता, उसको स्वर्ग या नरकमें नहीं जाना पड़ता अर्थात् वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥

(११।२०।११)

'स्वधर्ममें स्थित वह कर्मयोगी इस लोकमें सब कर्तव्यकर्मोंका आचरण करते हुए भी पाप-पुण्यसे मुक्त होकर बिना परिश्रमके तत्त्वज्ञानको अथवा परमप्रेम (पराभक्ति) को प्राप्त कर लेता है।'

तात्पर्य यह हुआ कि कर्मयोग साधकको ज्ञानयोग अथवा भक्तियोगका अधिकारी भी बना देता है और स्वतन्त्रतासे कल्याण भी कर देता है। दूसरे शब्दोंमें, कर्मयोगसे साधन-ज्ञान अथवा साधन-भक्तिकी प्राप्ति भी हो सकती है और साध्य-ज्ञान (तत्त्वज्ञान) अथवा साध्य-भक्ति (परमप्रेम या पराभक्ति) की प्राप्ति भी हो सकती है।

कर्मयोगी मिली हुई वस्तुओंको अपनी और अपने लिये न मानकर, प्रत्युत संसारकी और संसारके लिये ही मानकर संसारकी ही सेवामें लगा देता है। इस प्रकार मिली हुई वस्तुओं (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्) का प्रवाह संसारकी तरफ हो जानेसे उसका जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर चेतन-तत्त्व शेष रह जाता है अर्थात् कर्मयोगी अपने-आपसे अपने-आपमें (चेतन स्वरूपमें) स्थितिका अनुभव कर लेता है—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

(गीता २।५५)

'हे पार्थ! जिस कालमें साधक मनोगत सम्पूर्ण कामनाओंका अच्छी तरह त्याग कर देता है और अपने-आपसे अपने-आपमें ही सन्तुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।'

कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषको अपने-आपमें स्थितिका अनुभव कैसे होता है, इसको बताते हैं—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(गीता ३।१७-१८)

'जो मनुष्य अपने-आपमें ही रमण करनेवाला और अपने-आपमें ही तृप्त तथा अपने-आपमें ही सन्तुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। उस (कर्मयोगसे सिद्ध हुए) महापुरुषका इस संसारमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्म न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें (किसी भी प्राणीके साथ) इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।'

अपने-आपमें स्थितिका अनुभव होनेपर उसका प्रकृति (गुण-विभाग और कर्मविभाग) से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। जबतक मनुष्य प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध (तादात्म्य) मानता है, तबतक वह प्रकृतिजन्य गुणोंके द्वारा की जानेवाली क्रियाओंको अपने द्वारा की जानेवाली मानता है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

(गीता ३।२७)

'सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं; परन्तु अहङ्कारसे मोहित अन्तःकरणवाला अज्ञानी मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा मानता है।'

परन्तु जो गुणविभाग और कर्मविभागको तत्त्वसे जाननेवाला है अर्थात् जिसने प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है, वह कर्मयोगी महापुरुष न तो गुणोंमें आसक्त होता है और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

(गीता ३।२८)

'हे महाबाहो! गुण-विभाग और कर्म-विभागको तत्त्वसे जाननेवाला महापुरुष 'सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता।'

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

(गीता ६।४)

'जिस समय न इन्द्रियोंके भोगोंमें तथा न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस समय वह सम्पूर्ण संकल्पोंका त्यागी मनुष्य योगारूढ़ कहा जाता है।'

गीताका तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता लौकिक होते हुए भी एक अलौकिक ग्रन्थ है। इसमें बहुत ही विलक्षण भाव भरे हुए हैं। आजतक गीतापर जितनी टीकाएँ हुई हैं, उतनी किसी भी ग्रन्थपर नहीं हुई हैं। बाइबिलके अनुवाद (भाषान्तर) तो बहुत हुए हैं, पर टीका एक भी नहीं हुई है। बाइबिलका प्रचार तो राज्य और धनके प्रभावसे हुआ है, पर गीताका प्रचार गीताके अपने प्रभावसे हुआ है। तात्पर्य है कि गीताका आशय खोजनेके लिये जितना प्रयत्न किया गया है, उतना दूसरे किसी भी ग्रन्थके लिये नहीं किया गया है, फिर भी इस ग्रन्थकी गहराईका अन्त नहीं आया है!

थोड़े शब्दोंमें कहें तो गीताका तात्पर्य है—मनुष्यमात्रका कल्याण करना। शास्त्रोंमें कल्याणके कई मार्ग बताये गये हैं। गीताकी टीकाओंको भी देखें तो उनमें अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, अचिन्त्यभेदाभेदवाद आदि अनेक मतोंको लेकर टीकाएँ की गयी हैं। इस प्रकार अनेक वाद, सिद्धान्त, मत-मतान्तर होते हुए भी गीताका किसीके साथ विरोध नहीं है। गीताने किसी भी मतका खण्डन नहीं किया है; परन्तु अपनी एक ऐसी विलक्षण बात कही है, जिसके सामने सब नतमस्तक हो जाते हैं। कारण कि गीता किसी एक वाद, मत आदिको लेकर नहीं कही गयी है, प्रत्युत जीवमात्रके कल्याणको लेकर कही गयी है।

आचार्यगण अपने-अपने मतको 'सिद्धान्त' नामसे कहते हैं। मत सर्वोपरि नहीं होता। हरेक व्यक्ति अपना-अपना मत प्रकट कर सकता है। परन्तु सिद्धान्त सर्वोपरि होता है, जो सबको मानना पड़ता है। इसलिये गुरु-शिष्यमें भी मतभेद तो हो सकता है, पर सिद्धान्तभेद नहीं हो सकता। परन्तु गीतामें भगवान्‌ने अपने सिद्धान्तको 'सिद्धान्त' नामसे न कहकर 'मत' नामसे कहा है; जैसे—

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

(३। ३०-३१)

'तू विवेकवती बुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको मेरे अर्पण करके कामना, ममता और सन्तापरहित होकर युद्धरूप कर्तव्य-कर्मको कर। जो मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित होकर श्रद्धापूर्वक मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं।'

भगवान्‌का मत ही वास्तविक और सर्वोपरि सिद्धान्त है, जिसके अन्तर्गत सभी मत-मतान्तर आ जाते हैं। परन्तु भगवान् अभिमान न करके बड़ी सरलतासे, नम्रतासे अपने सिद्धान्तको 'मत' नामसे कहते हैं। तात्पर्य है कि भगवान्‌ने अपने अथवा दूसरे किसीके भी मतका आग्रह नहीं रखा है, प्रत्युत निष्पक्ष होकर अपनी बात सामने रखी है।

ईश्वरको माननेवाले जितने भी दार्शनिक सिद्धान्त हैं, उनमें प्रायः तीन चीजोंका वर्णन आता है—परमात्मा, जीवात्मा और जगत्। इन तीनोंके विषयमें कई मतभेद हैं। जैसे—जीवके विषयमें कई कहते हैं कि यह अणु-परिमाण है, कई कहते हैं कि यह मध्यम-परिमाण है और कई कहते हैं कि यह महत्-परिमाण है। जीवको 'अणु-परिमाण' माननेवाले कहते हैं कि एक केशको चीरकर उसके दस हजार भाग किये जायँ तो एक भागके बराबर जीवका परिमाण है*। जीवको 'मध्यम-परिमाण' माननेवाले कहते हैं कि चींटीमें चींटी-जितना ही जीव है, मनुष्यमें मनुष्य-जितना ही जीव है, हाथीमें हाथी-जितना ही जीव है। जीवको 'महत्-परिमाण' माननेवाले कहते हैं कि जीव एक शरीरमें सीमित नहीं है, प्रत्युत यह बहुत महान् है। इसी तरह ईश्वरके विषयमें कई कहते हैं कि यह सगुण है, कई कहते हैं कि यह निर्गुण है, कई कहते हैं कि यह साकार है, कई कहते हैं कि यह निराकार है। कई कहते हैं कि यह द्विभुज है, कई कहते हैं कि यह चतुर्भुज है, कई कहते हैं कि यह सहस्रभुज है, कई कहते हैं कि यह विराट्‌रूप है। कई कहते हैं कि यह व्यक्त है, कई कहते हैं कि यह अव्यक्त है, कई कहते हैं कि यह अवतार लेता है, कई कहते हैं कि यह अवतार नहीं लेता; आदि-आदि। इसी तरह जगत्‌के विषयमें कई कहते हैं कि यह अनादि और अनन्त है, कई कहते हैं कि यह अनादि और सान्त है, कई कहते हैं यह अनादि और परिवर्तनशील अर्थात् प्रवाहरूपसे रहनेवाला है आदि-आदि। गीताने इन सब वाद-विवादोंमें न पड़कर सीधी बात बतायी है कि तुम्हारे सामने दीखता है, यह 'जगत्' है।

---

* वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ (श्वेताश्वतर० ५। ९)

'बालकी नोकके सौवें भागके पुनः सौ भागोंमें कल्पना किये जानेपर जो एक भाग होता है, उसीके बराबर जीवका स्वरूप समझना चाहिये और वह असीम भाववाला होनेमें समर्थ है।'

हरेक मनुष्यको 'मैं हूँ'—ऐसा अनुभव होता है, यह 'जीव' है। जो जड-चेतन, अपरा-परा सबका स्वामी है, वह 'ईश्वर' है*। गीताकी इस बातमें सभी दार्शनिक एकमत हैं। इसमें भी एक विलक्षण बात है कि यदि कोई ईश्वरको न माने तो भी गीताके अनुसार चलनेसे उसका कल्याण हो जायगा† !

गीताने व्यवहारमें परमार्थकी विलक्षण कला बतायी है, जिससे प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें रहते हुए, निषिद्धरहित सब तरहका व्यवहार करते हुए भी अपना कल्याण कर सके‡। दूसरे ग्रन्थ तो प्रायः यह कहते हैं कि अगर अपना कल्याण चाहते हो तो सब कुछ त्यागकर साधु हो जाओ; क्योंकि व्यवहार और परमार्थ—दोनों एक साथ नहीं होंगे। परन्तु गीता कहती है कि आप जहाँ हैं, जिस मतको मानते हैं, जिस सिद्धान्तको मानते हैं, जिस धर्म, सम्प्रदाय आदिको मानते हैं, उसीको मानते हुए गीताके अनुसार चलो तो कल्याण हो जायगा। तात्पर्य है कि कोई भी मनुष्य चाहे हिन्दू हो, चाहे मुसलमान हो, चाहे ईसाई हो, चाहे यहूदी हो, चाहे पारसी हो, वह किसी भी मतका अनुसरण करनेवाला हो, किसी भी सिद्धान्तको माननेवाला हो, यदि उसका उद्देश्य अपना कल्याण करनेका है तो उसको भी गीतामें अपने कल्याणकी पूरी सामग्री मिल जायगी। व्यवहार करते हुए तत्त्वज्ञान हो जाय, भगवद्भक्ति हो जाय, योगका अनुष्ठान हो जाय, लययोग, राजयोग, मन्त्रयोग आदि योगोंकी प्राप्ति हो जाय—ऐसी विलक्षण विद्या गीताने बतायी है ! वह विलक्षण विद्या क्या है—इसको बतानेकी चेष्टा की जाती है। हम जो-जो व्यवहार करते हैं, उसमें अपने स्वार्थ और अभिमानका आग्रह छोड़कर सबके हितकी दृष्टिसे कार्य करें हितकी दृष्टिसे कार्य करनेका तात्पर्य है कि वर्तमानमें भी हित हो और भविष्यमें भी हित हो, हमारा भी हित हो और दूसरे सबका भी हित हो—ऐसी दृष्टि रखकर कार्य करे। ऐसा करनेसे बड़ी सुगमतासे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी। एकान्तमें रहकर वर्षोंतक साधना करनेपर ऋषि-मुनियोंको जिस तत्त्वकी प्राप्ति होती थी, उसी तत्त्वकी प्राप्ति गीताके अनुसार व्यवहार करते हुए हो जायगी। सिद्धि-असिद्धिमें सम रहकर कर्म करना ही गीताके अनुसार व्यवहार करना है। गीता कहती है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(२।३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको प्राप्त नहीं होगा।'

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(२।४८)

'हे धनञ्जय! तू आसक्तिका त्याग करके सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर; क्योंकि समत्व ही योग कहा जाता है।'

संसारका स्वरूप है—क्रिया और पदार्थ। परमात्म-तत्त्वकी प्राप्तिके लिये क्रिया और पदार्थसे सम्बन्ध-विच्छेद

---

* न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः। न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ (गीता २।१२) आदि।

'किसी कालमें मैं नहीं था और तू नहीं था तथा ये राजालोग नहीं थे—यह बात भी नहीं है और इसके बाद ये सभी (मैं, तू और राजालोग) नहीं रहेंगे—यह बात भी नहीं है।'

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ (गीता १५।१६—१८)

'इस संसारमें क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी)—ये दो प्रकारके पुरुष हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर नाशवान् और कूटस्थ (जीवात्मा) अविनाशी कहा जाता है। उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो परमात्मा नामसे कहा गया है। वही अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबका भरण-पोषण करता है। मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

† देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ (गीता ३।११)

'अपने कर्तव्य-कर्मके द्वारा तुमलोग देवताओंको उन्नत करो और वे देवतालोग अपने कर्तव्यके द्वारा तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। (गीता १८।४५)

'अपने-अपने कर्तव्यमें तत्परतापूर्वक लगा हुआ मनुष्य सम्यक् सिद्धि (परमात्मा)को प्राप्त कर लेता है।'

‡ सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः। मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ (गीता १८।५६)

'मेरा आश्रय लेनेवाला भक्त सदा सब विहित कर्म करते हुए भी मेरी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है।'

करना आवश्यक है। इसके लिये गीताने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगोंकी दृष्टिसे क्रिया और पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी युक्ति बतायी है; जैसे—कर्मयोगी क्रिया और पदार्थमें आसक्तिका त्याग करके उनको दूसरोंके हितमें लगाता है*; ज्ञानयोगी क्रिया और पदार्थसे असंग होता है†; और भक्तियोगी क्रिया तथा पदार्थको भगवान्‌के अर्पण करता है‡। सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको भगवान्‌के अर्पण करनेसे मनुष्य सुगमतापूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌के अर्पण करनेसे क्रियाएँ और वस्तुएँ नहीं रहेंगी—यह बात नहीं है, प्रत्युत वे महान् पवित्र हो जायँगी। जैसे भक्तलोग भगवान्‌को भोग लगाते हैं तो भोग लगायी हुई वस्तु वैसी-की-वैसी ही मिलती है, कम नहीं होती, पर वह वस्तु महान् पवित्र हो जाती है। इसी तरह संसारमें भी हम जिस वस्तुको अपनी न मानकर दूसरोंकी सेवाके लिये मानते हैं, वह वस्तु महान् पवित्र हो जाती है और जिस वस्तुको हम केवल अपने लिये ही मानते हैं, वह वस्तु महान् अपवित्र हो जाती है।

मान लें कि कोई सज्जन अपने लिये रसोई बनाता है। अचानक एक भिक्षु आता है और आवाज देता है तो वह सज्जन बड़े प्रेमसे उसको भिक्षा देता है। वह अन्न बड़ा शुद्ध होता है। परन्तु जब वह सज्जन रसोई अपनी थालीमें परोस लेता है, तब वह अन्न उतना शुद्ध नहीं रहता, क्योंकि 'मैं भोजन करूँगा'—यह भाव आ गया। अब यदि भिक्षुक आता है तो उसको वह अन्न देनेमें संकोच होता है और भिक्षुकको लेनेमें संकोच होता है। फिर भी भिक्षुक उसमेंसे थोड़ा अन्न ले सकता है। परन्तु वह सज्जन भोजन करने बैठ गया और उसने ग्रास बना लिया तो अब वह अन्न पहले-जैसा शुद्ध नहीं रहा। अगर वह उस ग्रासको मुँहमें ले लेता है तो वह अशुद्ध, जूठन हो जाता है। जब वह उस ग्रासको निगल लेता है, तब (अपने लिये भोजन करनेसे) वह महान् अशुद्ध हो जाता है। यदि किसी कारणसे उलटी हो जाय तो वह उलटी किया हुआ अन्न बड़ा अशुद्ध होता है। उलटी न हो तो वह महान् अशुद्ध होकर मैला बन जाता है। परन्तु दूसरे दिन वह जंगलमें उस मैलेका त्याग कर देता है तो हवा, धूप, वर्षा आदिके कारण वह मैला समय लगनेपर स्वतः मिट्टीमें मिलकर मिट्टी ही बन जाता है और इतना शुद्ध हो जाता है कि पता ही नहीं लगता कि मैलापन कहाँ था! वह मिट्टी दूसरी वस्तुओं (बर्तन आदि) को भी शुद्ध कर देती है। यह त्यागका ही माहात्म्य है! इस प्रकार अपने लिये बनाने-खानेसे शुद्ध वस्तु भी महान् अशुद्ध हो जाती है और त्याग करनेसे महान् अशुद्ध वस्तु (मल-मूत्र) भी शुद्ध हो जाती है। अतः जिस-जिस वस्तुको हम स्वार्थवश अपनी और अपने लिये मानते हैं, उस-उस वस्तुको हम अशुद्ध कर देते हैं। कारण कि संसारकी वस्तुएँ सबके लिये हैं, उनमें सबका हिस्सा है। गीता कहती है—

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(३। १३)

'जो केवल अपने लिये ही पकाते हैं, वे पापीलोग तो केवल पापका ही भक्षण करते हैं।'

हमारे पास जो चीज है, वह सबके लिये है, केवल हमारे लिये नहीं है—इस उदारभावसे बड़ी शान्ति मिलती है। रसोई बननेपर कोई भूखा आ जाय, अतिथि आ जाय, भिक्षुक आ जाय, कुत्ता आदि आ जाय तो शक्तिके अनुसार उनको भी दे दें। वे सब-का-सब माँगें तो उनसे कह सकते हैं कि 'भाई, सब कैसे दे दें, हमें भी तो लेना है, आप अपना हिस्सा ले लो!' हम दूसरेको भोजन तो करा सकते हैं, पर उसकी

---

* यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते। सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ (गीता ६। ४)

'जिस समय न इन्द्रियोंके भोगोंमें तथा न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस समय वह सम्पूर्ण सङ्कल्पोंका त्यागी मनुष्य योगारूढ़ कहा जाता है।

† तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ (गीता ३। २८)

'हे महाबाहो! गुण-विभाग और कर्म-विभागको तत्त्वसे जाननेवाला महापुरुष 'सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता।'

‡ पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (गीता ९। २६-२७)

'जो भक्त पत्र, पुष्प, फल, जल आदि (यथासाध्य प्राप्त वस्तु) को भक्तिपूर्वक मेरे अर्पण करता है, उस मेरेमें तल्लीन हुए अन्तःकरणवाले भक्तके द्वारा भक्तिपूर्वक दिये हुए उपहार (भेंट) को मैं खा लेता हूँ।

'हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।'

इच्छापूर्ति कभी नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, संसारके सब लोग मिलकर भी एक आदमीकी इच्छापूर्ति नहीं कर सकते—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥

(श्रीमद्भा० ९। १९। १३)

'पृथिवीपर जितने भी धान्य, स्वर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब-के-सब मिलकर भी उस पुरुषके मनको सन्तुष्ट नहीं कर सकते, जो कामनाओंके प्रहारसे जर्जर हो रहा है।'

हमारी भारतीय संस्कृति बड़ी विलक्षण है, जो प्राणीमात्रका उद्धार चाहती है। राजस्थानमें मैंने देखा कि जब किसानलोग खेती करते हैं, तब पहले वे भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं कि 'पशुओंके भाग्यका, पक्षियोंके भाग्यका, चिड़ी-कमेड़ीके भाग्यका, अटाऊ-बटाऊके भाग्यका हमें देना महाराज!' तात्पर्य है खेती केवल हमारे लिये नहीं है, प्रत्युत सबके लिये है, जब खेती पकती है, तब जो फल सबसे पहले आता है, उसको पहले अपने काममें नहीं लेते। पहले उसको मन्दिरमें या ब्राह्मणों अथवा साधुओंके पास भेजते हैं, फिर उसको काममें लेते हैं। ऐसे ही रसोई बनती है तो पहले अतिथि आदिको देकर फिर भोजन करते हैं। रसोई बननेके बाद 'बलिवैश्वदेव' करनेका विधान आता है। उसमें विश्वमात्रके लिये अन्न अर्पण किया जाता है। कोई मर जाता है तो उसके लिये श्राद्ध और तर्पण करते हैं। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण जीवोंको, देवताओंको और ईश्वरको भी पिण्ड और पानी देते हैं। भगवान्‌में किसी कमीकी सम्भावना ही नहीं है। परन्तु जैसे बालक पिताकी ही चीज पिताको अर्पण करता है तो पिता प्रसन्न हो जाता है, ऐसे ही भगवान्‌की चीज भगवान्‌को ही अर्पण करनेसे भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं। समुद्रको भी जल देते हैं और सूर्यको भी दीपक दिखाते हैं, आरती करते हैं। क्या समुद्रमें जलकी कमी है? सूर्यमें प्रकाशकी कमी है? उनमें कमी नहीं है, पर हमारा उदारभाव, सबकी सेवा करनेका भाव, सबको सुख पहुँचानेका भाव कल्याण करनेवाला है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

—इसी बातको गीताने '**सर्वभूतहिते रताः**' (५। २५, १२। ४) पदोंसे कहा है। सबको देनेके बाद जो शेष बचता है, वह 'यज्ञशेष' कहलाता है। गीता कहती है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।

(३। १३)

'यज्ञशेष ग्रहण करनेवाले श्रेष्ठ मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं।'

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्॥ (४। ३१)

'यज्ञशेष अमृतको ग्रहण करनेवाले सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

कर्मयोगी सब वस्तुओंको संसारके अर्पण करता है, ज्ञानयोगी प्रकृतिके अर्पण करता है और भक्तियोगी भगवान्‌के अर्पण करता है। किसीके भी अर्पण करो, पर अपने लिये मत मानो—यह खास बात है। वास्तवमें वस्तु कल्याण करनेवाली नहीं है, प्रत्युत हमारा उदारभाव कल्याण करनेवाला है। यदि वस्तु कल्याण करनेवाली हो तो लखपति, करोड़पति या अरबपति तो अपना कल्याण कर लेंगे, पर साधारण आदमी अपना कल्याण नहीं कर सकेगा। परन्तु वास्तवमें कल्याण त्यागीका होता है, संग्रहीका नहीं। अतः इतना धन खर्च करनेसे कल्याण होगा, इतनी वस्तुओंको देनेसे कल्याण होगा—यह बात है ही नहीं। कल्याण हमारे इस भावसे होगा कि सबका हित हो जाय, सब सुखी हो जायँ। भगवान् क्रियाग्राही या वस्तुग्राही नहीं हैं, प्रत्युत भावग्राही हैं—'**भावग्राही जनार्दनः।**' इसलिये हरेक काममें परहितका भाव रखें। इसमें खर्चा तो बहुत थोड़ा है, पर लाभ बड़ा भारी है। थोड़ा खर्चा यह है कि कोई अभावग्रस्त सामने आ जाय तो उसको थोड़ा-सा अन्न दे दो, थोड़ा-सा जल दे दो, थोड़ा-सा वस्त्र दे दो, थोड़ा-सा आश्रय दे दो, उसकी थोड़ी-सी सहायता कर दो। कभी खुद भूखे रहकर दूसरेको भोजन देनेका मौका भी आ जाय तो कोई बात नहीं। हम एकादशीव्रत करते हैं तो उस दिन भूखे रहते ही हैं। जब देशका विभाजन हुआ था, उस समय पाकिस्तानसे आये कई व्यक्तियोंको दस-दस रुपये देनेपर भी एक गिलास पानी नहीं मिला था। अतः सब समय अन्न-जलका मिलना कोई हाथकी बात नहीं है। कभी भूखा-प्यासा रहना ही पड़ता है। यदि दूसरेके हितके लिये भूखे-प्यासे रह जायँ तो कल्याण हो जाय!

इस प्रकार जो कुछ किया जाय, सबके हितके लिये किया जाय। कोई किसी भी धर्म, सम्प्रदाय, मत-मतान्तर, वर्ण, आश्रम आदिका हो, जो पक्षपात न रखकर सबके हितका भाव रखता है, उसका कल्याण हो जाता है।

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

(पञ्च० अपरीक्षित० ३७)

'यह अपना है और यह पराया है—इस प्रकारका भाव सङ्कुचित हृदयवाले मनुष्य करते हैं। उदार हृदयवाले मनुष्योंके

लिये तो सम्पूर्ण विश्व ही अपना कुटुम्ब है।'

तात्पर्य है कि उदार भाववाले मनुष्य सम्पूर्ण कार्य विश्वमात्रके हितके लिये ही करते हैं। रामायणमें आया है—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥
(मानस, सुन्दर० ४१।४)

जो अपना बुरा करता है, उसका भी सन्तलोग भला ही करते हैं। भगवान् राम अंगदको रावणके पास भेजते समय कहते हैं कि शत्रुसे इस तरह बात करना, जिससे हमारा काम (सीताजीकी प्राप्ति) भी हो जाय और उसका हित भी हो—

काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥
(मानस, लंका० १७।४)

मनुष्यमें ऐसा उदारभाव त्यागसे आता है। इसलिये गीतामें त्यागकी बड़ी महिमा है। त्यागसे तत्काल शान्ति मिलती है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२।१२)। मनुष्य मल-मूत्र जैसी वस्तुका भी त्याग करता है तो उसको एक शान्ति मिलती है, चित्तमें प्रसन्नता होती है, शरीर हलका हो जाता है, नीरोगता आ जाती है। जब मैली-से-मैली वस्तुके त्यागका भी इतना माहात्म्य है, फिर अन्न-वस्त्र आदिका दूसरोंके हितके लिये त्याग किया तो उसका कितना माहात्म्य होगा! त्यागके विषयमें एक मार्मिक बात है कि जो वस्तु अपनी नहीं होती, उसीका त्याग होता है! तात्पर्य यह है कि वस्तु अपनी नहीं है, पर भूलसे अपनी मान ली है, इस भूलका ही त्याग होता है। जैसे, जब हम मनुष्यशरीरमें आये थे, तब अपने साथ कुछ नहीं लाये थे, शरीर भी माँसे मिला था और जब हम जायँगे, तब अपने साथ कुछ नहीं ले जायँगे। परन्तु यहाँकी वस्तुओंको अपनी मानकर हम उसके मालिक बन जाते हैं। अतः उन वस्तुओंका मनसे त्याग करना है कि ये हमारी नहीं हैं, प्रत्युत सबकी हैं, जो कि वास्तविकता है। केवल इतनी-सी बातसे हमारा कल्याण हो जायगा। गीता कहती है—

निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(२।७१)

अर्थात् शरीरमें 'मैं'-पन और वस्तुओंमें 'मेरा'-पनका त्याग करनेसे शान्ति मिल जाती है, कल्याण हो जाता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि कुछ भी मेरा नहीं है। इनको संसारका मान लें तो कर्मयोग हो जायगा, प्रकृतिमात्रका समझ लें तो ज्ञानयोग हो जायगा और भगवान्‌का मान लें तो भक्तियोग हो जायगा। यदि इनको अपना मानेंगे तो जन्म-मरणयोग हो जायगा अर्थात् जन्म-मरण होगा, मिलेगा कुछ नहीं। जो अपना नहीं है, वह मिलेगा कैसे? अपने पास रहेगा कैसे? इसलिये गीता कहती है कि इन शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिसे जो भी काम करो, सबके हितके लिये करो—

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ (४।२३)

'यज्ञके लिये अर्थात् निःस्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं।

रामायणमें आया है—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
(मानस, अरण्य० ३१।५)

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
(मानस, उत्तर० ४१।१)

दूसरोंका हित करनेसे कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों सिद्ध हो जाते हैं। सगुण और निर्गुण—दोनोंकी प्राप्ति दूसरोंका हित करनेसे हो जाती है। गीताने सगुणकी प्राप्तिके लिये कहा है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ (१२।४)

'वे प्राणिमात्रके हितमें रत और सब जगह समबुद्धिवाले मनुष्य मुझे (सगुणको) ही प्राप्त होते हैं।'

और निर्गुणकी प्राप्तिके लिये कहा है—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥
(५।२५)

'जिनका शरीर मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित वशमें है, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं, जिनके सम्पूर्ण संशय मिट गये हैं, जिनके सम्पूर्ण कल्मष (दोष) नष्ट हो गये हैं, वे विवेकी साधक निर्वाण ब्रह्मको (निर्गुणको) प्राप्त होते हैं।'

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी आदि कोई भी क्यों न हो, यदि वह अपने सिद्धान्तोंका, नियमोंका पालन करते हुए त्याग करे अर्थात् मिली हुई वस्तुको अपनी न माने तो उसका कल्याण हो जायगा। त्यागमें सब एक हो जाते हैं, कोई मतभेद नहीं रहता। जैसे कोई देवताओंका पूजन करता है, कोई ऋषियोंका पूजन करता है, कोई माँ-बापका पूजन करता है आदि-आदि। परन्तु नियम-पालनमें भिन्नता होनेपर भी दूसरोंके हितके लिये स्वार्थ और अभिमानका त्याग करनेमें सब एक हो जाते हैं। जिनमें अपने स्वार्थ और अभिमानके त्यागकी मुख्यता है, वे मत, सिद्धान्त, सम्प्रदाय, ग्रन्थ, व्यक्ति आदि महान् श्रेष्ठ होते हैं। परन्तु जिनमें अपने स्वार्थ और अभिमानकी मुख्यता है, वे मत, सिद्धान्त, ग्रन्थ, व्यक्ति आदि महान् निकृष्ट होते हैं।

सबका हित करनेसे अपना हित मुफ्तमें, स्वाभाविक ही

हो जाता है। इसलिये हमें कोई नया काम नहीं करना है, प्रत्युत अपना भाव बदलना है कि हमारी सम्पत्ति सबके लिये है। हम तो सम्पत्तिकी रक्षा करनेवाले हैं। जैसे आवश्यकता पड़नेपर हम अन्न, जल, वस्त्र आदि अपने काममें लेते हैं, ऐसे ही आवश्यकता पड़नेपर दूसरोंको भी अन्न, जल, वस्त्र, औषध दे दें। जैसे खुद आवश्यकताके अनुसार वस्तु लेते हैं, ऐसे ही दूसरोंको भी आवश्यकताके अनुसार वस्तु दें।

सबके हितका भाव हरेक भाई-बहन रख सकते हैं। यह भाव गृहस्थ भी रख सकते हैं, साधु-संन्यासी भी रख सकते हैं; दरिद्र-से-दरिद्र मनुष्य भी रख सकते हैं, धनी-से-धनी मनुष्य भी रख सकते हैं। हमारे पास जो वस्तुएँ हैं, वे किसकी हैं—इसका पता नहीं है, पर कोई अभावग्रस्त आदमी सामने आ जाय तो वस्तुको उसीकी समझकर उसको दे दें—**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।**' जैसे हमारे पास कोई सज्जन आता है और कहता है कि 'भाई, आज मेरेको मेलेमें जाना है। मेरे पास एक हजार रुपये हैं, कोई जेब न कतर ले, इसलिये इन रुपयोंको आपके पास रखता हूँ।' वह रुपये रखकर चला जाता है। शामको वह वापस आकर रुपये माँगता है और हम उसके रुपये उसको दे देते हैं तो क्या हमने दान कर दिया? दान नहीं किया, प्रत्युत उसीकी वस्तु उसको दे दी।

शास्त्रमें आया है कि रसोई बननेके बाद यदि ब्रह्मचारी और संन्यासी आ जायँ तो उनको अन्न न देनेसे पाप लगता है, जिसकी शुद्धि चान्द्रायणव्रत करनेसे होती है। यदि उनको थोड़ा-सा अन्न भी दे दें तो इतनेमें हमारे धर्मका पालन हो जायगा और पाप नहीं लगेगा। इसमें कोई शंका कर सकता है कि हमने पैसे कमाये, उससे सब सामग्री लाये और रसोई बनायी, पर कोई संन्यासी आदि आ जाय तो उसको न देनेसे पाप लग जायगा—यह कैसा न्याय है? इसका समाधान यह है कि जिसने संन्यास ले लिया, त्याग कर दिया और जो अपने पासमें कुछ नहीं रखता, उसके हकका धन कहाँ गया? यदि वह चाहता तो दूकान, खेत आदिमें काम करके, पढ़ाने-लिखानेका काम करके अपने जीवन- निर्वाहके योग्य धन कमा सकता था, रुपयोंका संग्रह कर सकता था, पर वह उसने नहीं किया तो वे रुपये हमारे पास ही तो रहे! इसलिये समयपर भोजनके लिये आ जाय तो उसको रोटी दे दें—यह हमारा कर्तव्य है। नहीं देंगे तो उसका हमपर ऋण रहेगा, हमें पाप लगेगा।

साधुओंकी भिक्षावृत्तिको शास्त्रोंमें बहुत पवित्र बताया गया है; क्योंकि कई घरोंसे थोड़ा-थोड़ा लेनेसे देनेवालेपर कोई भार भी नहीं पड़ता और लेनेवालेकी उदरपूर्ति भी हो जाती है। इसलिये इसको 'माधुकरी वृत्ति' भी कहते हैं। 'मधुकर' नाम भौंरे अथवा मधुमक्खीका है। मधुमक्खी हरेक पुष्पसे थोड़-थोड़ा रस लेती है और किसी पुष्पका नुकसान भी नहीं करती। एक साधु थे। उनसे किसीने पूछा कि 'आप भोजन कहाँ पाते हो? पासमें एक पैसा तो है नहीं!' साधुने कहा कि 'भिक्षा पा लेते हैं।' उसने फिर पूछा कि 'कभी भिक्षा न मिले तो?' साधु बोला—'तो भूखको ही पा लेते हैं!' भूखको पानेका तात्पर्य है कि आज हम भोजन नहीं करेंगे, कल करेंगे।

संसारमें एक-दूसरेको दिये बिना, एक-दूसरेकी सेवा किये बिना किसीका भी निर्वाह नहीं हो सकता। राजा-महाराजा कोई क्यों न हो, अपने निर्वाहके लिये कुछ-न-कुछ सहायता लेनी ही पड़ती है। इसलिये गीतामें आया है—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(३।११)

'अपने कर्तव्य-कर्मके द्वारा तुमलोग देवताओंको उन्नत करो और वे देवतालोग अपने कर्तव्यके द्वारा तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

कितनी विलक्षण बात है कि एक-दूसरेका पूजन (सेवा) करते-करते परम कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है!

कई वर्ष पहलेकी बात है। बाँकुड़ा जिलेमें अकाल पड़ गया तो गीताप्रेसके संस्थापक, संचालक तथा संरक्षक सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने वहाँ कई जगह कीर्तन आरम्भ करवा दिया और लोगोंसे कहा कि वहाँ बैठकर दो घण्टे कीर्तन करो और आधा सेर चावल ले जाओ। पैसा देनेसे वे मांस, मछली आदि खरीदेंगे, पर चावल देनेसे वे चावल खायेंगे ही, इसलिये चावल देना शुरू किया। इस तरह उन्होंने कीर्तनके सौ-सवा सौ कैम्प खोल दिये। एक दिन सेठजी वहाँ देखनेके लिये गये। रात्रिमें वे जहाँ ठहरे थे, वहाँ बहुत-से बंगाली लोग इकट्ठे हुए। उन्होंने सेठजीकी बड़ी प्रशंसा की और कहा कि आपने हमारे जिलेको जिला दिया! सेठजी बोले कि देखो, तुमलोग झूठी प्रशंसा करते हो, हमने क्या खर्च किया है? हम मारवाड़से यहाँ आये थे। यहाँ आकर हमने बंगालसे जितना कमाया, वह सब-का-सब दे दें तो आपकी ही वस्तु आपको दी, हमने अपना क्या दिया? वह भी अभी सब नहीं दिया है। वह सब दे दें और फिर हम मारवाड़से लाकर दें, तब यह माना जायगा कि हमने दिया।

इसी तरह हमें हरेकको उसीकी वस्तु समझकर उसको देनी है। देकर हम उऋण हो जायँगे, नहीं तो ऋण रह जायगा। अपनेमें सेवकपनेका अभिमान भी नहीं होना चाहिये। घरमें रसोई बनती है तो बच्चे भी खाते हैं, स्त्रियाँ भी खाती हैं, पुरुष भी खाते हैं; क्योंकि उसमें सबका हिस्सा है। इसी तरह कोई भूखा आ जाय, कुत्ता आ जाय, कौआ आ जाय तो उनका भी उसमें हिस्सा है। उनके हिस्सेकी चीज उनको दे दें। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे आचरण करनेपर हमारा कल्याण हो जायगा। गीतामें आया है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ (१८।४६)

'अपने कर्तव्य कर्मके द्वारा उस परमात्माका पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

तात्पर्य है कि ब्राह्मण ब्राह्मणोचित कर्मोंके द्वारा पूजन करे, क्षत्रियोचित कर्मोंके द्वारा पूजन करे, वैश्य वैश्योचित कर्मोंके द्वारा पूजन करे और शूद्र शूद्रोचित कर्मोंके द्वारा पूजन करे। इस प्रकार सबका पूजन, सबका हित करनेसे अपना कल्याण हो जाता है—यह बात गीतामें बहुत विलक्षण रीतिसे बतायी गयी है।

यदि हम सुख चाहते हैं तो दूसरोंको भी सुख पहुँचाना हमारा कर्तव्य है। यदि हम अपने पास कुछ भी नहीं रखते हैं तो दूसरोंको देनेका विधान हमारेपर लागू भी नहीं होता। इन्कमपर टैक्स लगता है। हमने कमाया है तो उसपर टैक्स लगेगा। यदि हमने कमाया ही नहीं तो उसपर टैक्स कैसे लगेगा ? अतः यदि हम अपने पास वस्तुएँ रखते हैं तो उनसे दूसरोंकी सेवा करनी है, दूसरोंका हित करना है। गीताका तात्पर्य सबके कल्याणमें है और सबके कल्याणमें ही हमारा कल्याण निहित है। जो लोगोंको अन्न बाँटता है, क्या वह भूखा रहेगा ? क्या उसको अन्न नहीं मिलेगा ? ऐसे ही जो सबके हितमें लगा हुआ है, क्या उसका हित नहीं होगा ? उसका हित अपने-आप हो जायगा।

चाहे धनी हो, चाहे गरीब हो; चाहे बहुत परिवारवाला हो, चाहे अकेला हो; चाहे बलवान् हो, चाहे निर्बल हो; चाहे विद्वान् हो, चाहे मूर्ख हो, कल्याणमें सबका समान हिस्सा है। जैसे, एक माँके दस बेटे होते हैं तो क्या माँके दस हिस्से होते हैं ? माँ तो सभी बेटोंके लिये पूरी-की-पूरी होती है। दसों बेटे पूरी माँको अपनी मानते हैं। ऐसे ही भगवान् पूरे-के-पूरे हमारे हैं। भगवान्‌के हिस्से नहीं होते। हम सब उनकी गोदमें बैठनेके समान अधिकारी हैं। इसलिये हम सब आपसमें प्रेमसे रहें और एक-दूसरेका हित करें—यह गीताका सिद्धान्त है—**परस्परं भावयन्तः', 'सर्वभूतहिते रताः।'**

प्रश्न—दान देनेमें, सेवा करनेमें पात्र-अपात्रका विचार करना चाहिये कि नहीं ?

उत्तर—अन्न, जल, वस्त्र और औषध—इनको देनेमें पात्र-अपात्र आदिका विचार नहीं करना चाहिये। जिसको अन्न, जल आदिकी आवश्यकता है, वही पात्र है। परन्तु कन्यादान, भूमिदान, गोदान आदि विशेष दान करना हो तो उसमें देश, काल, पात्र आदिका विशेष विचार करना चाहिये।

अन्न, जल, वस्त्र और औषध—इनको देनेमें यदि हम पात्र-कुपात्रका अधिक विचार करेंगे तो खुद कुपात्र बन जायँगे और दान करना कठिन हो जायगा ! अतः हमारी दृष्टिमें अगर कोई भूखा, प्यासा आदि दीखता हो तो उसको अन्न, जल आदि दे देना चाहिये। यदि वह अपात्र भी हुआ तो हमें पाप नहीं लगेगा।

प्रश्न—दूसरोंको देनेसे लेनेवालेकी आदत बिगड़ जायगी, लेनेका लोभ पैदा हो जायगा; अतः देनेसे क्या लाभ ?

उत्तर—दूसरेको निर्वाहके लिये दें, संचयके लिये नहीं अर्थात् उतना ही दें, जिससे उसका निर्वाह हो जाय। यदि लेने-वालेकी आदत बिगड़ती है तो यह दोष वास्तवमें देनेवालेका है अर्थात् देनेवाला कामना, ममता, स्वार्थ आदिको लेकर देता है। यदि देनेवाला निःस्वार्थ-भावसे, बदलेकी आशा न रखकर दे तो जिसको देगा, उसका स्वभाव भी देनेका बन जायगा, वह भी सेवक बन जायगा ! रामायणमें आया है—

सर्बस दान दीन्ह सब काहू। जेहिं पावा राखा नहिं ताहू॥

(मानस, बाल० १९४।४)

★

गीताका अनासक्तियोग

'योग' शब्दके कई अर्थ होते हैं। व्याकरणकी दृष्टिसे 'योग' शब्द तीन धातुओंसे बनता है—

(१) **'युजिर् योगे'**—सम्बन्ध अर्थात् भगवान्‌के साथ नित्य-सम्बन्ध।

(२) **'युज् समाधौ'**—समाधिमें स्थिति।

(३) **'यज संयमने'**—संयमन अर्थात् सामर्थ्य, प्रभाव।

इस प्रकार 'योग' शब्दके भीतर सम्बन्ध समाधि (एकाग्रता) और सामर्थ्य—तीनों बातें हैं। यद्यपि गीतामें 'योग' शब्द उपर्युक्त तीनों अर्थोंमें आया है, तथापि मुख्यरूपसे यह भगवान्‌के साथ नित्य-सम्बन्ध (नित्ययोग) के अर्थमें आया है—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्। (६।२३)

'जिसमें दुःखोंके संयोगका वियोग है, उसको योग नामसे जानना चाहिये।'

संसारके जितने भी सम्बन्ध हैं, वे सब-के-सब बिछुड़नेवाले हैं, संसारके सब संयोगोंका वियोग होनेवाला है। अभी जो संयोग दीखता है, वह पहले नहीं था और आगे नहीं रहेगा, बीचमें ही संयोग दीखता है। इसमें संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है। संसारके साथ वियोग नित्य है और परमात्माके साथ योग नित्य है। अतः संसारके साथ वियोग ही परमात्माके साथ योग है और परमात्माके साथ योग ही संसारके साथ वियोग है। हम मानें चाहे न मानें, स्वीकार करें चाहे न करें, दृष्टि डालें चाहे न डालें; परन्तु भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध नित्य है। उस नित्य-सम्बन्धका हमें अनुभव क्यों नहीं हो रहा है? कारण कि जिनका वियोग नित्य है, उनमें हमने आसक्ति कर ली। हम जानते हैं कि शरीर, धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-परिवार, आदर-सत्कार, मान-अपमान आदि रहनेवाले नहीं हैं, प्रत्युत जानेवाले हैं, इनका वियोग निश्चित है, फिर भी हमने भूलसे इन चीजोंमें प्रियता पैदा कर ली अर्थात् इनमें आसक्ति कर ली कि इनके साथ हमारा सम्बन्ध नित्य बना रहे। यदि इन चीजोंमें हमारी अनासक्ति हो जाय तो योगका अर्थात् परमात्माके साथ हमारे नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जायगा। उस परमात्माके साथ कभी किसी जीवका वियोग हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, होना सम्भव ही नहीं। अतः 'अनासक्तियोग' का अर्थ हुआ—जिसके साथ कभी हमारा संयोग हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, होना सम्भव ही नहीं, उस संसारसे अनासक्ति होकर योग (परमात्माके नित्य-सम्बन्ध)का अनुभव हो जाना।

आसक्ति मिटनेपर संसारके अभाव (नित्यवियोग) का और परमात्माके भाव (नित्ययोग)का अनुभव हो जाता है। गीतामें आया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (२।१६)

'असत्‌का तो भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है।'

तात्पर्य है कि असत्-वस्तुका अभाव नित्य है और सत्-वस्तुका भाव नित्य है। अभी भले ही संसारका संयोग दीखे, पर अन्तमें वह वियोगमें परिणत होगा। परन्तु परमात्माके साथ वियोग दीखते हुए भी उनके साथ नित्ययोग है। नाशवान्‌के साथ जो माना हुआ संयोग है, वह बना रहे—यह इच्छा ही नित्ययोगके अनुभवमें बाधक है।

विचार करें, एक समय हम अपनेको बालक कहते थे, पर उस बालकपनके साथ हमारा स्वतः वियोग हो गया, हमने वियोग किया नहीं। यह कोई नहीं कह सकता कि अमुक तारीखको मैंने बालकपन छोड़ दिया। जैसे बालकपनका स्वतः वियोग हो गया, ऐसे ही जवानी और वृद्धावस्थाका भी स्वतः वियोग हो जायगा। इस प्रकार प्रत्येक देश, काल, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिका प्रतिक्षण स्वतः वियोग हो रहा है। परन्तु आसक्तिके कारण इनके साथ संयोग दीख रहा है।

जिनका वियोग अवश्यम्भावी है, उनको हम अपना मान लेते हैं, उनसे सुख लेना चाहते हैं, उनमें हमारा मन चिपक जाता है, उनको हम नित्य रखना चाहते हैं, उनमें प्रियता पैदा हो जाती है, उनमें मन खिंचता है—यह 'आसक्ति' कहलाती है। यही आसक्ति जब भगवान्‌में हो जाती है, तब इसको 'प्रेम' कहते हैं। आसक्ति होनेसे संसार नित्य दीखता है और प्रेम होनेसे परमात्मा नित्य दीखते हैं। आजकल लोगोंने संसारकी आसक्तिका नाम 'प्रेम' रख दिया है, यह बहुत बड़ी गलती है। प्रेम सदा अविनाशीमें ही होता है, नाशवान्‌में नहीं।

जिन शरीर, कुटुम्बी, अवस्था, घटना, परिस्थिति आदिके साथ हम अपना सम्बन्ध मानते हैं, वह सम्बन्ध पहले भी नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें भी उसका निरन्तर वियोग हो रहा है। इस निरन्तर होनेवाले वियोगमें कभी नागा नहीं होता, कभी छुट्टी नहीं होती, कभी अनध्याय नहीं होता, कभी विश्राम नहीं होता। ऐसा होनेपर भी इनके साथ संयोग दीखता है—यही आसक्ति है। यह आसक्ति ही बाँधनेवाली है—

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(गीता १३।२१)

'गुणोंका संग ही इस मनुष्यके ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण बनता है।'

तात्पर्य है कि गुणोंका संग, आसक्ति, प्रियता ही हमें बाँधनेवाली है, परमात्मासे वियोगका अनुभव करानेवाली है।

आसक्तिके ही कारण हमें सुख और दुःख, अनुकूलता और प्रतिकूलता—दोनों अलग-अलग दीखते हैं। आसक्ति मिटनेपर दोनों समान हो जाते हैं; क्योंकि सुख भी ठहरनेवाला नहीं है और दुःख भी ठहरनेवाला नहीं है। सुख आते हुए अच्छा लगता है, जाते हुए बुरा लगता है और दुःख आते हुए बुरा लगता है, जाते हुए अच्छा लगता है। अतः दोनोंमें कोई भेद नहीं है। एक श्लोक आता है—

शत्रुर्दहति संयोगे वियोगे मित्रमप्यहो।
उभयोर्दुःखदायित्वे को भेदः शत्रुमित्रयोः॥

'शत्रु संयोगमें दुःख देता है और मित्र वियोगमें दुःख देता है; दोनों ही दुःख देनेवाले हैं; अतः दोनोंमें क्या भेद हुआ?'

आसक्ति ही इन दोनोंमें भेद पैदा करती है और यही संसारमें बाँधती है। अनासक्त होते ही भगवान्‌के साथ नित्य-सम्बन्धका अनुभव स्वतः हो जाता है और भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेसे आसक्ति मिट जाती है। कर्मयोग और ज्ञानयोग आसक्तिका नाश करते हैं और आसक्तिका नाश होनेपर भगवान्‌के साथ सम्बन्ध हो जाता है। भक्तियोग भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ता है और सम्बन्ध जुड़नेपर संसारकी आसक्तिका नाश हो जाता है। इसलिये गीताने 'योग' की दो परिभाषाएँ दी हैं—'**दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (६। २३) और '**समत्वं योग उच्यते**' (२। ४८)*। तात्पर्य है कि संसारके वियोगका नाम भी योग है और परमात्माके नित्ययोगका नाम भी योग है। संसारका वियोग नित्य-निरन्तर रहता है और परमात्माका योग नित्य-निरन्तर रहता है। जो नित्य-निरन्तर रहता है, उसीको 'समता' कहते हैं। वह समता परमात्माका स्वरूप है—'**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**' (गीता ५। १९)। संसारका वियोग होनेपर परमात्माके योगका अनुभव हो जाता है और परमात्माके योगका अनुभव होनेपर संसारके साथ वियोग हो जाता है।

हमारे सामने दो चीजें हैं—नित्य और अनित्य। विचार करें, हम जो बालकपनमें थे, वही हम आज भी हैं; परन्तु वह शरीर नहीं रहा, वह स्थान नहीं रहा, वह समय नहीं रहा, वे साथी नहीं रहे, वह अवस्था नहीं रही, वह परिस्थिति नहीं रही, वे भाव नहीं रहे, सबके साथ वियोग हो गया। जैसे गङ्गाजीका प्रवाह नित्य-निरन्तर बहता रहता है, ऐसे ही संसार-निरन्तर बह रहा है, एक क्षण भी स्थिर नहीं होता। नित्य-निरन्तर बहते हुए अभाव (नाश)में जा रहा है। हम जितने वर्षोंके हो गये, उतने वर्ष बीत गये हैं। शरीरको लेकर कहते हैं कि हम जी रहे हैं'—यह बिलकुल झूठी बात है! सच्ची बात तो यह है कि हम मर रहे हैं। हम कहते हैं कि पचास वर्षके हो गये तो वास्तवमें हमारी उम्रमेंसे पचास वर्ष खत्म हो गये। अब बाकी कितनी उम्र है—इसका तो पता नहीं, पर पचास वर्ष तो मर ही गये—इसमें सन्देह नहीं है। जब जन्मदिन आता है, तब हम बड़ा आनन्द मनाते हैं कि आज हम इतने वर्षके हो गये! वास्तवमें इतने वर्षके हो नहीं गये, प्रत्युत इतने वर्ष मर गये। तात्पर्य है कि शरीर और संसारके साथ हमारा नित्य-निरन्तर वियोग हो रहा है। इस वियोगका हम अनुभव कर लें तो परमात्माके नित्ययोगका अनुभव हो जायगा।

एक दृष्टान्त दिया जाता है आपके घर लड़का भी जन्मता है और लड़की भी। आपके मनमें यह भाव रहता है कि लड़का तो रहनेवाला है और लड़की जानेवाली है। इसलिये लड़केमें आपकी जितनी आसक्ति होती है, उतनी लड़कीमें नहीं होती। लड़की घरपर रहनेवाली नहीं है—ऐसा निश्चय होनेपर उसका उतना मोह नहीं रहता। इसी तरह शरीर, पदार्थ, धन-सम्पत्ति, आदर-सत्कार, मान-बड़ाई आदि सब-की-सब कन्या है, जो आपके साथ रहनेवाली नहीं है। संसारमात्र आपसे निरन्तर अलग हो रहा है। यह अलग होना कभी बन्द नहीं होता। अन्तमें संसारका वियोग हो जायगा—यह बिलकुल अकाट्य बात है। ब्रह्माकी आयुसे भी अधिक आयु मिल जाय तो भी संसारका संयोग किसीका भी कभी रह नहीं सकता। ऐसा होनेपर भी आसक्तिके कारण संसारका सम्बन्ध स्थिर प्रतीत होता है। इस आसक्तिको मिटाना ही मनुष्यका खास उद्देश्य है और इसीमें मनुष्यजन्मकी सफलता है; क्योंकि अन्य जन्मोंमें ऐसा विवेक सम्भव नहीं है।

मनसे वस्तुओंको अपना मानना ही ममता (आसक्ति) है। बाहरसे अर्थात् व्यवहारमात्रमें वस्तुओंको अपना मानना ममता नहीं है। व्यवहारमें अपनेपनका सम्बन्ध केवल सेवाके लिये ही रखना है। केवल एक-दूसरेकी सेवाके लिये माना हुआ सम्बन्ध बन्धनकारक नहीं होता। अपने स्वार्थके लिये माना हुआ सम्बन्ध ही बाँधनेवाला होता है।

संसारके साथ हमारा सम्बन्ध टिक नहीं सकता और परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध मिट नहीं सकता। परन्तु नाशवान्‌में आसक्तिके कारण हमें परमात्माके साथ अपने सम्बन्धका भान नहीं होता। नाशवान्‌में आसक्ति होनेपर फिर निरन्तर नाशवान्-ही-नाशवान्‌का सम्बन्ध दीखता है।

प्रश्न—नाशवान्‌की आसक्तिका नाश कैसे हो?

उत्तर—इसका बड़ा सीधा-सरल उपाय यह है कि जिन-जिनके साथ हमारी आसक्ति है, उन-उनकी सेवा करें और बदलेमें उनसे मान, आदर, सेवा, सत्कार, एहसान आदि कुछ भी न चाहें। जिन व्यक्तियोंमें अपनापन है, उन व्यक्तियोंकी सेवा करें। जिन पदार्थोंमें अपनापन है, उन पदार्थोंको सेवामें लगा दें। शरीरमें अपनापन है तो शरीरसे परिश्रम करके सेवा करें। जितना-जितना दूसरोंको सुख पहुँचानेका भाव पैदा हो जायगा, उतना-उतना हमारा वस्तुओंके साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा।

* 'योगः कर्मसु कौशलम्' (गीता २। ५०)—यह योगकी महिमा है, परिभाषा नहीं।

जब अधिकमास आता है, तब बहनें-माताएँ दान करनेके लिये थाली, गिलास, कटोरी, लोटा, छाता, आसन, कपड़ा आदि वस्तुएँ इकट्ठा करती हैं। उनमेंसे एक कटोरी भी कोई बालक ले आता है तो वे कहती हैं कि अरे! यह देनेकी चीज है, अपनी चीज नहीं है। अपने ही पैसोंसे खरीदी हुई और अपने ही घरमें रखी हुई होनेपर भी हम उसको अपनी नहीं मानते और अपने काममें नहीं लेते। इसी तरह ये सब-की-सब वस्तुएँ सेवाके लिये हैं, अपने सुखभोगके लिये नहीं हैं—ऐसा निश्चय कर लें तो इस विषयमें आसक्ति मिट जायगी।

इस मनुष्यशरीरका फल सुख भोगना है ही नहीं—***'एहि तन कर फल बिषय न भाई।'*** (मानस ७।४४।१)। यह तो केवल दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये, दूसरोंकी सेवा करनेके लिये ही है। अगर हम सेवामें लग जायँ, मात्र प्राणियोंके हितमें हमारी प्रीति हो जाय तो आसक्ति मिट जायगी—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः'** (गीता १२।४)।

एक सिद्धान्त है कि जो आदि और अन्तमें है, वह वर्तमानमें भी है* तथा जो आदि और अन्तमें नहीं है, वह वर्तमानमें भी नहीं है†। अगर वर्तमानमें हम अस्सी-नब्बे वर्षके हैं तो नब्बे वर्षसे पहले यह शरीर, घर, कुटुम्ब, धन हमारा नहीं था और नब्बे-सौ वर्षोंके बाद हमारा नहीं रहेगा; अतः वर्तमानमें भी यह हमारा नहीं है। इसका निरन्तर वियोग हो रहा है। परन्तु परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध पहले भी था, आगे भी रहेगा और वर्तमानमें भी है। तात्पर्य है कि परमात्माका अंश होनेसे उनके साथ हमारा निरन्तर योग है। सुख लेनेके लिये हम नाशवान्‌से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं—इसका नाम आसक्ति है। हमें सुख लेना नहीं है, प्रत्युत सुख देना है। अगर हम केवल दूसरोंको सुख पहुँचानेमें, दूसरोंका हित करनेमें, दूसरोंकी सेवा करनेमें लग जायँ तो हमारी आसक्ति मिट जायगी। परन्तु गलती यह होती है कि हम सुख लेनेके लिये दूसरोंको सुख पहुँचाते हैं। जैसे व्यापारी मुनाफेके लिये वस्तुएँ खरीदता है और मुनाफेके लिये बिक्री करता है, ऐसे ही हम अपने सुखके लिये दूसरोंसे सम्बन्ध जोड़ते हैं और अपने सुखके लिये सम्बन्ध तोड़ते हैं। इस प्रकार हमने अपने सुखको ही पकड़ रखा है—यह आसक्ति है।

हमें नाशवान् सुख नहीं लेना है, प्रत्युत अविनाशी सुख लेना है। वह अविनाशी सुख (आनन्द) नित्यप्राप्त है। जैसे पृथ्वीपर रात और दिन दोनों होते हैं, पर सूर्यमें न रात है और न रातके साथ रहनेवाला दिन है; वहाँ तो नित्य दिन (प्रकाश) है। ऐसे ही संसारमें सुख और दुःख दो होते हैं, पर परमात्मामें न सुख है, न दुःख है, प्रत्युत नित्य सुख (आनन्द) है—

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥
(मानस १।११६।३)

वस्तुका त्याग नहीं करना है, प्रत्युत उससे सुख लेनेकी आशा, कामना और भोगका त्याग करना है। शरीरका त्याग करेंगे तो मर जायँगे; अतः शरीरसे सुख लेनेकी इच्छाका, उसके जीते रहनेकी इच्छाका त्याग करना है। इसी तरह वस्तुओंसे, व्यक्तियोंसे सुख लेनेकी इच्छाका त्याग करना है। जैसे, सर्दीके दिनोंमें रजाई आदि लें तो सुख लेनेके लिये नहीं, प्रत्युत सर्दीसे बचनेके लिये। अमुक तरहकी रजाई होनी चाहिये, अमुक तरहका कम्बल होना चाहिये—यह आसक्ति है। परन्तु रजाई बढ़िया हो या घटिया हो, कम्बल हो या टाट हो, हमें तो केवल शीतका निवारण करना है—यह आसक्ति नहीं है, प्रत्युत आवश्यकता है। आसक्ति और आवश्यकता—दोनों अलग-अलग हैं। संसारकी आसक्ति अथवा कामना होती है और परमात्माकी प्रियता अथवा आवश्यकता होती है। आवश्यकता पूरी होनेवाली होती है और कामना मिटनेवाली होती है। जो मिटनेवाली है, उसका त्याग करनेमें क्या बाधा है?

बालक जन्मता है तो वह बड़ा होगा कि नहीं, पढ़ेगा कि नहीं, उसका विवाह होगा कि नहीं, उसके बाल-बच्चे होंगे कि नहीं, उसके पास धन होगा कि नहीं आदि सब बातोंमें सन्देह

---

* 'आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये॥' (श्रीमद्भा० ११।२८।१८)
'इस संसारके आदिमें जो था तथा अन्तमें जो रहेगा, जो इसका मूल कारण और प्रकाशक है, वही परमात्मा बीचमें भी है।'
'यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्।' (श्रीमद्भा० ११।२४।१७)
'जिसके आदि और अन्तमें जो है, वही बीचमें भी है और वही सत्य है।'

† 'न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चान्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।' (श्रीमद्भा० ११।२८।२१)
'जो उत्पत्तिसे पहले नहीं था और प्रलयके बाद भी नहीं रहेगा, ऐसा समझना चाहिये कि बीचमें भी वह है नहीं—केवल कल्पनामात्र, नाममात्र ही है।'

है, पर वह मरेगा कि नहीं—इसमें कोई सन्देह नहीं है। वह जरूर मरेगा। अगर हम निःसन्देह बातको धारण नहीं करेंगे तो फिर क्या धारण करेंगे ? निःसन्देह बातको धारण करनेसे हमें दुःखी नहीं होना पड़ेगा। अतः जिसका वियोग अवश्यम्भावी है, उसके वियोगको वर्तमानमें ही स्वीकार कर लें। जिसका वियोग हो जायगा, उससे सुखकी इच्छा क्यों रखें ? उससे सुखकी इच्छा रखेंगे तो उसका हमारेसे वियोग होनेपर भी रोना पड़ेगा और हमारा उससे वियोग होनेपर भी रोना पड़ेगा। अगर पहलेसे ही सुखकी इच्छाका त्याग कर दें तो फिर रोना नहीं पड़ेगा।

जब कन्या विवाहके बाद ससुराल जाती है तो वह रोती है। माता-पितासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर उसको दुःख होता है। पर वह ससुरालमें जाकर रहने लग जाती है तो रहते-रहते इतनी घुल-मिल जाती है कि अपने पीहरको भूल जाती है। जब वह दादी परदादी बन जाती है और पोते-परपोतेकी स्त्री उद्दण्डता करती है, तब वह कहती है कि इस परायी जाई (पराये घरमें जन्मी) छोकरीने मेरा घर बिगाड़ दिया ! उसको यह याद ही नहीं रहता कि मैं भी परायी जाई हूँ ! इसको आसक्ति कहते हैं। उसने घरको अपना मान लिया कि मैं तो यहाँकी हूँ, मैं माँ हूँ और यह मेरा बेटा है, मैं दादी हूँ और यह मेरा पोता है, मैं परदादी हूँ और यह मेरा परपोता है आदि-आदि ये मेरे हैं—इसमें एक रस (सुख) मिलता है। यह रस ही भयंकर दुःख देनेवाला है। यह रस तो सदा रहेगा नहीं, पर दुःख दे जायगा। पक्षी उड़ जायगा, पर अण्डा दे जायगा ! आसक्तिपूर्वक अपने सुखके लिये जोड़ा गया सम्बन्ध सदा नहीं रहेगा, मिट जायगा। अगर सुख देनेके लिये सम्बन्ध जोड़ें तो सदाके लिये सुखी हो जायँगे। सेवा-समितिवाले किसी मेले-महोत्सवमें सेवा करनेके लिये जाते हैं तो लोगोंके बिछुड़नेपर उनको रोना नहीं पड़ता; क्योंकि वे दूसरोंको सुख देनेके लिये वहाँ गये हैं, सुख लेनेके लिये नहीं। परन्तु जिस कुटुम्बमें हम रहते हैं, उसमें दूसरोंसे सुख लेनेकी आशा रहती है तो उनके बिछुड़नेपर रोना पड़ता है।

किसीका बेटा मर जाय तो बड़ा दुःख होता है, पर वास्तवमें बेटेके मरनेसे दुःख नहीं होता, प्रत्युत उसको अपना माननेसे दुःख होता है। प्रतिदिन संसारमें जो भी मरता है, बेटा ही मरता है; क्योंकि मरनेवाला किसी-न-किसीका बेटा है ही। पर 'मेरा बेटा' मान लिया तो अब उसके मरनेका दुःख होगा। अतः संसारमें अपनेपनका सम्बन्ध ही दुःख देनेवाला है। अगर केवल सेवाके लिये सम्बन्ध जोड़ा जाय तो दुःख नहीं होगा। इसलिये कुटुम्बमें सबकी सेवा करने, सबको सुख पहुँचाने, सबको आराम देनेका ही सम्बन्ध रखना चाहिये। ऐसा करनेसे आसक्ति मिट जायगी।

अगर पचीस वर्षका लड़का मर जाय तो बड़ा दुःख होता है। पर वही लड़का अगर उन्नीस-बीस वर्षकी अवस्थामें बीमार हो जाय तथा वैद्यलोग कह दें कि इसके जीनेकी सम्भावना नहीं है और बीमारी भोगते हुए वह पचीस वर्षकी अवस्थामें मर जाय तो उतना दुःख नहीं होगा। तात्पर्य यह हुआ कि सुखकी आशा, कामना और भोगमें ही दुःख है। अगर सुखकी आशा, कामना और भोग न करें तो दुःख हो ही नहीं सकता। सब-के-सब दुःख सुखकी आशा, कामना और भोगपर ही अवलम्बित हैं।

जो लेनेके उद्देश्यसे देता है, वह वास्तवमें लेता ही है, देता नहीं। जो 'एक गुना दान, सहस्रगुना पुण्य' के भावसे एक रुपयेका दान करता है, उसका सम्बन्ध हजार रुपयोंके साथ जुड़ जाता है ! अतः जो सुख लेनेके उद्देश्यसे स्त्रीको सुख देता है, बच्चोंका पालन-पोषण करता है, बच्चोंका विवाह करता है, उसको परिणाममें दुःख पाना पड़ता है। जो सुख लेनेके लिये किसीके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ता, वह संसारमें बड़े मौजसे रहता है। वह जीता है तो आनन्दसे जीता है और मरता है तो आनन्दसे मरता है। परन्तु लेनेकी इच्छासे सम्बन्ध जोड़नेवाला जीते हुए भी दुःख पाता है और मरते हुए भी दुःख पाता है। दूसरा चाहे छोटा हो, चाहे बड़ा हो, चाहे समान अवस्थावाला हो, सबको सुख पहुँचाना है। ऐसा करनेसे हमारा व्यवहार शुद्ध हो जायगा, शान्ति मिलेगी, बिना चाहे आदर-सत्कार बढ़ जायगा। अतः आसक्तिके त्यागका उपाय है—सेवा करना, सबको सुख पहुँचाना। किसीके साथ सम्बन्ध जोड़ना है तो उसको सुख पहुँचानेके लिये, उसका हित करनेके लिये, उसका कल्याण करनेके लिये, उसका आदर-सत्कार करनेके लिये, उसको आराम देनेके लिये ही सम्बन्ध जोड़ना है। लेनेके लिये सम्बन्ध जोड़ना है ही नहीं। इससे आसक्ति मिट जायगी।

एक राजा था। वह एक दिन शामके वक्त अपने महलकी छतपर घूम रहा था। साथमें पाँच-सात आदमी भी थे। महलके पीछे कुछ मकानोंके खण्डहर थे। उन खण्डहरोंमें कभी-कभी एक सन्त आकर ठहरा करते थे। राजाने उन खण्डहरोंकी तरफ संकेत करते हुए अपने आदमियोंसे पूछा कि 'यहाँ एक सन्त आकर ठहरा करते थे न ?' उन्होंने कहा कि 'हाँ महाराज ! आया करते थे, पर कुछ वर्षोंसे उनको यहाँ आते देखा नहीं।' राजाने कहा कि 'वे बड़े विरक्त, त्यागी सन्त थे। उनके दर्शनसे बड़ी शान्ति मिलती थी। वे मिलें तो उनसे कोई बात पूछें। उनका पता लगाओ।' राजाके आदमियोंने उनका पता लगाया

तो पता लगा कि वे शरीर छोड़ गये। मनुष्यकी यह बड़ी भूल होती है कि जब कोई मौजूद होता है, तब उससे लाभ लेते नहीं और जब वह मर जाता है, तब रोते हैं। राजाने कहा कि 'अहो ! हमसे बड़ी गलती हो गयी कि हम उनसे लाभ नहीं ले सके ! अब उनका कोई शिष्य हो तो उसको ले आओ, हम उससे मिलेंगे।' राजपुरुषोंने खोज की तो एक साधु मिले। उनसे पूछा कि 'महाराज ! क्या आप उन सन्तको जानते हैं ?' वे बोले कि 'हाँ, जानता हूँ। वे बड़े ऊँचे महात्मा थे।' राजपुरुषोंने फिर पूछा कि 'क्या आप उन सन्तके शिष्य हैं ?' साधुने कहा कि 'नहीं वे किसीको शिष्य नहीं बनाते थे। हाँ, मैं उनके साथमें जरूर रहा हूँ।' राजाके पास यह समाचार पहुँचा तो राजाने उनको ही लानेकी आज्ञा दी। राजाके आदमी उस साधुके पास गये और बोले कि 'महाराज ! राजाने आपको बुलाया है, हमारे साथ चलिये।' वे बोले कि 'भाई ! मैंने क्या अपराध किया है ?' कारण कि राजा प्रायः उसीको लानेकी आज्ञा देते हैं, जिसने कोई गलती की हो। राजपुरुषोंने कहा कि 'नहीं महाराज ! आपको तो वे सत्संगके लिये, पारमार्थिक बातें पूछनेके लिये बुलाते हैं। आप हमारे साथ पधारें।' वे साधु 'अच्छा' कहकर उनके साथ चल दिये। रास्तेमें वे एक गलीमें जाकर बैठ गये। राजपुरुषोंने समझा कि वे लघुशंका करते होंगे। गलीमें एक कुतियाने बच्चे दे रखे थे। साधुने उनमेंसे एक पिल्लेको उठा लिया और अपनी चद्दरके भीतर छिपाकर राजपुरुषोंके साथ चल पड़े।

राजाओंके यहाँ आसन (कुरसी) का बड़ा महत्त्व होता है। किसको कौन-सा आसन दिया जाय, किसको कितना आदर दिया जाय, किसको ऊँचा और किसको नीचा आसन दिया जाय—इसका विशेष ध्यान रखा जाता है। राजाने साधुके बैठनेके लिये गलीचा बिछा दिया और खुद भी उसपर बैठ गये, जिससे ऊँचे-नीचे आसनका कोई विचार न रहे। बाबाजीने बैठते ही अपने दोनों पैर राजाके सामने फैला दिये। राजाने सोचा कि यह मूर्ख है, सभ्यताको जानता नहीं ! कभी राजसभामें गया नहीं, इसलिये राजाओंके सामने कैसे बैठना चाहिये—यह इसको आता नहीं। राजाने पूछ लिया—पैर फैलाये कबसे ? बाबाजी बोले—हाथ सिकोड़े तबसे। तात्पर्य है कि कुछ लेनेकी इच्छा होती तो हम हाथ फैलाते और पैर सिकोड़ते, पर हमें लेना कुछ है ही नहीं, इसलिये हाथ सिकोड़ लिये और पैर फैला लिये। ऐसा कहकर बाबाजीने हाथ-पैर ठीक कर लिये। राजाने उत्तर सुनकर विचार किया कि ये मूर्ख नहीं हैं, प्रत्युत बड़े समझदार, त्यागी और चेतानेवाले हैं। राजाने उन सन्तकी चर्चा की तो साधुने कहा कि वे बड़े अच्छे सन्त थे, वैसे सन्त बहुत कम हुआ करते हैं।

राजाने पूछा—आप उनके साथ रहे हैं न ?

साधुने कहा—हाँ, मैं उनके साथ रहा तो हूँ।

राजाने पूछा—आपने उनसे कुछ लिया होगा ?

साधुने कहा—हमने लिया नहीं राजन् !

राजा बोला—तो क्या आप रीते ही रह गये ?

साधुने कहा—नहीं, ऐसे सन्तके साथ रहनेवाला कभी रीता रह सकता ही नहीं। हमने लिया तो नहीं, पर रह गया।

राजाने पूछा—क्या रह गया ?

साधुने कहा—जैसे डिबियामेंसे कस्तूरी निकालनेपर भी उसमें सुगन्ध रह जाती है, घीके बर्तनमेंसे घी निकालनेपर भी उसमें चिकनाहट रह जाती है, ऐसे ही सन्तके साथ रहनेसे उनकी सुगन्ध, चिकनाहट रह गयी।

राजा बोले—महाराज ! वह सुगन्ध, चिकनाहट क्या है—यह मेरेको बताइये।

साधुने कहा—राजन् ! यह हम साधुओंकी, फकीरोंकी बात है, राजाओंकी बात नहीं। आप जानकर क्या करोगे ?

राजाने कहा—नहीं महाराज ! आप जरूर बताइये।

साधुने चद्दरके पीछे छिपाया पिल्ला बाहर निकाला और राजाके सामने कर दिया।

राजाने कहा—हम समझे नहीं महाराज !

साधुने कहा—आप बुरा तो नहीं मानोगे ?

राजाने कहा—अरे, मैं तो पूछता ही हूँ, बुरा कैसे मानूँगा ? आप सच्ची बात कह दें।

साधुने कहा—'राजन् ! मेरेको आपमें और इस पिल्लेमें फर्क नहीं दीखता; यह समता ही उन सन्तके संगकी सुगन्ध, चिकनाहट है ! यह पिल्ला बहुत साधारण चीज है और आप बहुत विशेष हैं—यह बात तो सच्ची है, पर मेरेको ऐसा नहीं दीखता। आपमें भी प्राण हैं और इसमें भी प्राण हैं। आपके भी श्वास चलते हैं और इसके भी श्वास चलते हैं। आपका शरीर भी पाँच भूतोंसे बना है और इसका शरीर भी पाँच भूतोंसे बना है। आप भी देखते हैं, यह भी देखता है। आप भी खाते-पीते हैं, यह भी खाता-पीता है। आपमें और इसमें फर्क क्या है ? संसारके सभी प्राणियोंमें कोई-न-कोई विशेषता है ही। किसीमें कोई विशेषता है तो किसीमें कोई विशेषता है, टोटलमें सब बराबर हुए ! आप ऊँचे पदपर हैं और यह नीचा है—यह फर्क तो तब होता है, जब मेरा स्वार्थका सम्बन्ध हो। मेरा किसीसे स्वार्थका सम्बन्ध है ही नहीं, न आपसे कुछ लेना है, न कुत्तेसे कुछ लेना है, फिर मेरे लिये आपमें और इसमें

फर्क क्या है ? आप बुरा न मानें। आपने बतानेका आग्रह किया, इसलिये साफ बात कह दी। मैं आपका तिरस्कार नहीं करता हूँ, प्रत्युत सत्कार करता हूँ, क्योंकि आप प्रजाके मालिक हैं।

तात्पर्य है कि जब हमें संसारसे कुछ लेना होता है, तब हमें कोई धनी और कोई दरिद्र दीखता है। धनी मिले या दरिद्र मिले, हमें उनसे कुछ लेना है ही नहीं, तो फिर दोनोंमें क्या फर्क हुआ ? एक साधु थे। घरोंसे भिक्षा लेना और पाकर चले आना—यह उनका प्रतिदिनका नियम था। शहरसे भिक्षा लाते समय बीचमें बहुत भीड़ रहती है; अतः स्पर्श-दोषसे बचनेके लिये वे वहीं बैठकर पा लेते थे। एक दिन भिक्षा पानेके बाद वे अपना पात्र माँजने लगे तो एक सेठने कहा कि आपका पात्र मैं माँज देता हूँ। साधुने कहा कि आपसे नहीं मँजवाना है तो वह सेठ बोला कि मेरा नौकर माँज देगा। साधुने कहा कि 'मेरे लिये आपमें और नौकरमें फर्क क्या है ? आप माँजें या नौकर माँजे, फर्क क्या पड़ा ? फर्क तो तब पड़े, जब मैं आपको बड़ा आदमी समझूँ और नौकरको मामूली आदमी समझूँ। मेरे लिये जैसे आप आदरणीय हैं, ऐसे ही नौकर आदरणीय है और जैसे नौकर आदरणीय है, ऐसे ही आप आदरणीय हैं। नौकर है तो आपका है, मेरा नौकर है क्या ? उसको मैं तनख्वाह देता हूँ क्या ? मेरा सम्बन्ध तो आपके साथ और नौकरके साथ समान ही है। अन्तर तो तब हो, जब मेरेको कुछ लेना हो, कोई राग-द्वेष-पूर्वक सम्बन्ध जोड़ना हो !'

तात्पर्य है कि संसारसे लेनेकी इच्छाका त्याग करनेसे आसक्ति मिट जाती है। अतः केवल देनेके लिये, सुख पहुँचानेके लिये ही संसारके साथ सम्बन्ध रखे—यह आसक्ति मिटानेका बड़ा सीधा सरल उपाय है। स्त्री, पुत्र, माता, पिता, भाई, भौजाई आदि सबको सुख पहुँचाना है, सबका हित करना है और उनसे लेना कुछ नहीं है। उनमें हमारा अपनापन पहले भी नहीं था और पीछे भी नहीं रहेगा, बीचमें ही हमने अपना माना है। पर वह भी निरन्तर मिट रहा है। इसको छोड़नेकी जिम्मेवारी हमपर है; क्योंकि आसक्ति हमने ही पकड़ी है, यह भगवान्‌की अथवा किसी दूसरेकी दी हुई नहीं है। यह कर्मोंका फल भी नहीं है, प्रत्युत अपनी ही मूर्खताका फल है। अपनी मूर्खताका त्याग करना अपना कर्तव्य है।

सांसारिक भोग और संग्रहकी आसक्तिके कारण परमात्मप्राप्तिके अनन्त आनन्दका अनुभव नहीं हो रहा है। इसलिये आसक्तिका त्याग करना है और परमात्माका प्रेम प्राप्त करना है। कारण कि हम स्वरूपसे परमात्माके अंश हैं; अतः हमारा खिंचाव परमात्माकी तरफ ही होना चाहिये, शरीर या संसारकी तरफ नहीं। हम एक शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानेंगे तो संसारमात्रके साथ हमारा सम्बन्ध जुड़ जायगा। जैसे पुरुष एक स्त्रीके साथ पति-पत्नीका सम्बन्ध जोड़ता है तो सास-ससुर, साला-साली आदि कइयोंके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है और पत्नी मर जाय तो न कोई सास है, न कोई ससुर है, न कोई साला है, न कोई साली है ! ऐसे ही एक शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे संसारमात्रके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है और एक शरीरके साथ सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे संसारमात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। तात्पर्य है कि लेनेकी इच्छासे संसारमात्रके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है और लेनेकी इच्छा छोड़नेसे संसारमात्रके साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही परमात्माके साथ नित्य-सम्बन्ध (नित्ययोग)का अनुभव हो जाता है। यह अनासक्ति-योग है।

प्रश्न—हम जिसकी सेवा करेंगे, उसमें क्या आसक्ति नहीं हो जायगी ?

उत्तर—नहीं होगी। एक आदमी प्याऊपर बैठकर पानी पिलाता है तो उसका अनेक व्यक्तियोंके साथ सम्बन्ध होता है। कई लोग आते हैं और पानी पीकर चले जाते हैं। परन्तु प्याऊपर बैठे आदमीकी उनमें आसक्ति नहीं होती; क्योंकि पानी पिलानेके सिवाय उसका और कोई सम्बन्ध है ही नहीं। आसक्ति तो लेनेका सम्बन्ध होनेपर ही होती है।

एक आदमी जाड़ेके समय पचास कम्बल वितरित कर देता है तो उसकी महिमा होती है, पर एक व्यापारी एक हजार कम्बल बिक्री कर देता है तो उसकी महिमा नहीं होती। व्यापारीके द्वारा बिक्री किये गये कम्बलोंसे लोगोंका जाड़ा भी दूर होता है, फिर भी उसको पुण्य नहीं होता; क्योंकि उसने पैसे कमानेके लिये ही कम्बल दिये हैं। लेनेके लिये देना वास्तवमें देना नहीं है, प्रत्युत लेना ही है। अतः आसक्ति वहीं होती है, जहाँ लेनेके लिये देना होता है अथवा लेनेके लिये लेना होता है अर्थात् लेना मुख्य होता है। अतः देनेके लिये ही लेना होना चाहिये और देनेके लिये ही देना होना चाहिये। जैसे, कोई ब्राह्मण श्राद्ध आदिमें केवल यजमानके हितके लिये ही लेता है तो वह देनेके लिये ही लेता है।

पहले उद्देश्य बनता है, फिर क्रिया होती है। हमारा उद्देश्य आसक्ति-त्यागका होना चाहिये। हमें आसक्ति-त्यागके लिये ही लेना है और आसक्ति त्यागके लिये ही देना है। किसीसे भी कोई आशा नहीं रखनी है। स्त्री रोटी बनाकर दें तो खा लें, पर वह रोजाना रोटी बनाकर दे—यह आशा भी न

रखें। आशा ही महान् दुःख देनेवाली है—**आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्**' (श्रीमद्भा० ११।८।४४)।

दूसरोंकी सेवा अपनी शक्तिके अनुसार करनी है। हमारे पास जितना समय है, जितनी समझ है, जितनी सामर्थ्य है, जितनी सामग्री है, उतनेसे ही दूसरोंकी सेवा करनी है। इससे अधिकको हमारेपर जिम्मेवारी ही नहीं है, और दूसरे हमारेसे आशा भी नहीं रखते। मालपर जगात और इन्कमपर टैक्स लगता है। माल नहीं हो तो जगात किस बातकी? इन्कम नहीं तो टैक्स किस बातका?

प्रश्न—क्या सत्संग आदिमें आसक्ति होना भी दोष है?

उत्तर—नहीं; क्योंकि यह आसक्ति नहीं है, प्रत्युत प्रेम है। कामना नहीं है, प्रत्युत आवश्यकता है। परन्तु गाना-बजाना बढ़िया हो, राग-रागिनी बढ़िया हो, खूब लच्छेदार व्याख्यान हो, जो श्रोताओंको रुला दे अथवा हँसा दे—यह श्रोताकी आसक्ति है। लोग हमें वक्ता समझें, हमारा मान-आदर करें—यह वक्ताकी आसक्ति है। मुक्तिके लिये, तत्त्वबोधके लिये, भगवत्प्रेमके लिये सत्संग आदिमें रुचि तो वास्तवमें हमारी आवश्यकता (भूख) है, जो दोषी नहीं है।

सत्सङ्ग करना आसक्ति मिटानेके लिये है। जैसे काँटेसे काँटा निकलता है, ऐसे ही सत्संगकी आसक्ति (रुचि) से संसारकी आसक्ति मिटती है।

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥

(मार्कण्डेय० ३७।२३)

'संग (आसक्ति) का सर्वथा त्याग करना चाहिये। परन्तु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंका संग ही उस संग (आसक्ति) को मिटानेकी औषध है।'

प्रश्न—आवश्यकता और कामनामें क्या फर्क है?

उत्तर—आवश्यकता अविनाशीकी होती है और कामना नाशवान्‌की होती है। जैसे सड़कमें कोई गड्ढा पड़ जाय तो उसपर मोटर लचकती है; अतः उस गड्ढेको मिट्टी, पत्थर आदि किसी चीजसे भरकर सम कर दें तो मोटर नहीं लचकेगी, ऐसे ही शरीरको भूख लगनेपर उसकी पूर्ति कर देना आवश्यकता है। भूख मिटानेके लिये चाहे साग-पत्ती खा लें, चाहे हलवा-पूरी खा लें, जिससे पेट भर जाय। परन्तु अमुक चीज चाहिये, मिठाई चाहिये, खटाई चाहिये, चटनी चाहिये—यह कामना है। आवश्यकताकी पूर्ति होती है और कामनाकी निवृत्ति होती है*। कामनाकी पूर्ति किसीकी भी कभी हुई नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं।

प्रश्न—कभी-कभी दूसरेको सिखानेके लिये सेवा लेनी पड़ती है, क्या यह ठीक है?

उत्तर—बालक आदिको सिखानेके लिये सेवा लेना वास्तवमें सेवा करना ही है। लेनेकी क्रिया तो दीखती है, पर वास्तवमें लिया नहीं है, प्रत्युत शिक्षा दी है।

प्रश्न—सभीके शरीर अनित्य हैं, फिर उनकी सेवा क्यों की जाय?

उत्तर—अनित्यकी सेवा करनेसे नित्यकी प्राप्ति होती है। कारण कि अनित्यकी सेवा करनेसे अनित्यकी आसक्तिका त्याग हो जाता है और आसक्तिका त्याग होनेपर नित्यकी प्राप्ति हो जाती है। वास्तवमें सेवा केवल अनित्य शरीरकी नहीं होती, प्रत्युत शरीरी (शरीरवाले) की होती है। व्यवहारमें जड चीज जडता (शरीर) तक ही पहुँचती है, चेतनतक नहीं; परन्तु सेवा लेनेवाला अपनेको शरीर मानता है, इसलिये वह सेवा चेतनकी होती है—***'जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि'*** (मानस, अयोध्या० १४२।१)। तात्पर्य है कि हम शरीरको अपना मानते हैं, इसलिये शरीरतक पहुँचनेवाली चीज अपनेतक पहुँचती है।

भक्त तो सबको भगवान्‌का ही स्वरूप मानकर उनकी सेवा करता है—'**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' (गीता १८।४६), ***'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'*** (मानस, किष्किन्धा० ४)। भगवान्‌में आत्मीयता होनेसे उसकी संसारमें समता हो जाती है—

तुलसी ममता राम सों समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख दास भए भव पार॥

(दोहावली ९४)

संसारमें समता होनेसे आसक्ति मिट जाती है। यही अनासक्तियोग है।

—★—

* अंग्रेजीमें आवश्यकताको WANT और कामनाको DESIRE कहते हैं।

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

भक्तियोग (आस्तिक साधना)

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

भक्तियोग (आस्तिक साधना)

गीतामें भक्ति और उसके अधिकारी

श्रीमद्भगवद्गीताकी महिमा अपार है। यह श्रीभगवान्की दिव्य वाणी है, इसके रचयिता स्वयं भगवान् वेदव्यास हैं। सर्वविघ्न-विनाशक श्रीगणेशजी इसके लेखक हैं। सभी सम्प्रदायोंके प्रमुख आचार्योंने इसपर भाष्य लिखे हैं। इस ग्रन्थरत्नपर टीका लिखनेवाले अच्छे-अच्छे त्यागी तथा बहुत-से महात्मा पुरुष हो चुके हैं। अच्छे-अच्छे दिग्विजयी पण्डितोंने भी उसपर अपने भाव व्यक्त किये हैं। इतना ही नहीं, हिंदूधर्मको न माननेवाले विदेशी सज्जनोंने भी इसपर बहुत कुछ लिखा है। संसारमें श्रीमद्भगवद्गीतापर जितने भाष्य, टीकाएँ, लेख, समालोचनाएँ, प्रश्नोत्तर और विचार किये गये हैं, उतनी टीकाएँ और उतने विवेचन पृथ्वीमण्डलके अन्य किसी भी ग्रन्थपर नहीं हुए हैं। हाँ, बाइबलपर बहुत-से अनुवाद मिलते हैं और अब भी होते जा रहे हैं; परंतु उसके इतने विस्तारका प्रधान कारण राजसत्ता तथा धनकी अधिकता ही है। श्रीमद्भगवद्गीताके विषयमें यह बात नहीं है। यह जड राज्य और ऐश्वर्यकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखती। इसमें तो ऐसी अलौकिक तथा विलक्षण शक्ति संनिहित है, जिससे यह जिस विचारशील विद्वान्के हाथों पड़ी, वही इसपर लिखनेके लिये बाध्य हो गया अर्थात् उसने बड़े प्रेम और आदरसे इसपर कुछ लिखकर अपनेको धन्य समझा और अपनी लेखनीको पवित्र किया।

ऐसे अलौकिक ग्रन्थपर मेरे-जैसे एक साधारण व्यक्तिका कुछ कहना अथवा लिखना दुस्साहसमात्र है; परंतु इसी बहाने पतितपावन भगवान्के पवित्रतम वाक्योंके यत्किञ्चित् मनन तथा अनुशीलनका अवसर मिल जाय, इस उद्देश्यसे यह बालचपलता की जाती है। विज्ञजन मेरी इस धृष्टताको क्षमा करें।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्म, भक्ति और ज्ञानकी त्रिवेणी लहरा रही है, इसके पद-पदमें अलौकिक अर्थ भरे हैं, जो पुरुष इस भगवन्मय ग्रन्थरत्नको जिस दृष्टिसे देखता है, उसको यह वैसा ही दृष्टिगोचर होता है। यथा—

जिन्ह की रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

भगवद्विग्रहकी भाँति भगवद्वाणीकी भी यही बात है। कर्मप्रधान साधनवाले मनुष्योंको यह ग्रन्थ कर्मप्रधान ही प्रतीत होता है। इसमें आदिसे अन्ततक केवल कर्तव्य-कर्म करनेपर ही जोर दिया मालूम देता है। यदि कहीं भक्ति और ज्ञानका वर्णन है, तो यह गौण और कर्मोंका पोषक ही है। और यह बात युक्तिसंगत भी दीखती है। यहाँ युद्धस्थलमें कर्मशील अर्जुन तथा श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजके द्वारा कर्मका विवेचन होना ही प्रासङ्गिक जान पड़ता है।

भक्तिके पूज्यतम आचार्योंका कहना है कि भगवद्गीतामें केवल भक्तिका ही वर्णन है। कर्म और ज्ञान—दोनों इस भक्तिके ही सहायक हैं। ग्रन्थके आदि और अन्तपर विचार करनेसे इसी बातकी पुष्टि होती है। दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें अर्जुन जब शिष्यभावसे भगवान्के प्रपन्न (शरणागत) होकर उनसे श्रेयके लिये प्रार्थना करते हैं, तब भगवान् उनकी शङ्काओंका समाधान करके अन्तमें सर्वगुह्यतम उपदेश देते हुए कहते हैं कि 'तू एकमात्र मेरी शरणमें आ जा। मैं सब पापोंसे तुझे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर' (१८। ६६)। इससे यह ग्रन्थ भगवद्भक्तिप्रधान ही सिद्ध होता है।

इसी प्रकार अद्वैत-सिद्धान्तके आदरणीय आचार्य-चरणोंका कथन है कि इसमें सिद्धान्तरूपसे केवल ज्ञानका ही विवेचन किया गया है। कर्म और भक्तिका वर्णन तो मल और विक्षेपरूप अन्तःकरणके दोषोंको दूरकर ज्ञानका अधिकारी बनानेके लिये ही हुआ है। यह भी युक्तिसंगत और शास्त्रसम्मत है। भगवान्ने उपदेशका आरम्भ भी ज्ञानसे ही किया है (गीता २। ११)। ज्ञानकी महिमा भी विशेषतासे कही है—**'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** (गीता ४। ३८)।

ऐसी सर्वतोभद्र अलौकिक श्रीमद्भगवद्गीताका वास्तविक आशय एकमात्र भगवान् ही जानते हैं। एक मनुष्य जो माप और तौलमें आ जाता है, उसके भी भावोंका अन्त पाना कठिन हो जाता है; फिर भगवान् तो अनन्त, अपार और असीम हैं। अतः उनके भावोंका थाह कोई कैसे पा सकता है। तथापि—*'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई ॥'* इस उक्तिके अनुसार कुछ निवेदन किया जाता है। गीताका निष्पक्षभावसे विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें कर्म, भक्ति और ज्ञानका पूर्णरूपेण विशद वर्णन किया गया है; कोई भी विषय अधूरा नहीं रहा है।

श्रीगीताका अध्ययन करनेवाले जिज्ञासु या तत्त्वालोचक विद्वान्के लिये इस बातपर ध्यान देनेकी विशेष आवश्यकता प्रतीत होती है कि वह अपनेको किसी मतमें ढालकर उसी दृष्टिसे गीताको न देखे—गीताका अर्थ अपने मतके अनुसार लगानेकी चेष्टा न करे, अपितु अपनेको गीताका अनुवर्ती बनानेके लिये उसके मूल श्लोकों तथा भावोंका मनन करे। गीतामें जैसा लिखा है, उसके अनुसार साधनात्मक विचार करते हुए परमात्माकी ओर अग्रसर होनेकी चेष्टा करनी चाहिये। उसके भावोंको समझनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजके अनन्यशरण होकर ऐसा विश्वास निरन्तर बढ़ाता रहे कि अपने दिव्य वाणीका यथार्थ भाव भगवान् मुझे अवश्य समझायेंगे तो वह अपने लिये परमोपयोगी भावोंको समझ सकेगा।

युद्धारम्भके समय अपने स्वजन-बान्धवोंके नाशकी आशङ्कासे व्याकुल हुए अर्जुन भगवान्की शरणमें जाते हैं और उनसे प्रेय—लौकिक उन्नति नहीं, अपितु अपने निश्चित श्रेय—कल्याणकी ही बात पूछते हैं—**'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'** (२।७); **'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्'** (३।२); **'यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्'** (५।१) तब भगवान् सम्पूर्ण वेद और उपनिषद् आदिमें बताये हुए समस्त कल्याणमय साधनोंका सार श्रीगीताके रूपमें कहते हैं। सच्ची बात तो यह है कि जो भगवान् कहते हैं, वही सबका सार है। वेद-शास्त्रोंको आदर देनेके लिये ही भगवान्ने वेद, शास्त्रों तथा उपनिषदोंका प्रमाण दिया है (१३।४)। श्रीभगवान्ने उन शास्त्रोक्त साधनोंमें जो कुछ कमी दीखती थी, उसे पूरा किया, उनमें जो परस्पर विरोध प्रतीत होता था, उसका निराकरण किया और उन सिद्धान्तोंका परिमार्जन करके थोड़े शब्दोंमें उन्हें विस्तारपूर्वक बार-बार समझाया। एक ही बातको अनेक युक्तियोंसे समझानेपर भी विशेषता यह है कि पुनरुक्तिका दोष नहीं आया और थोड़े शब्दोंमें कहनेपर भी कमी नहीं रही। कहीं-कहीं श्लोकार्धोंकी पुनरुक्ति अवश्य आती है, किंतु वह सहेतुक है। विचार करनेपर वहाँ बड़ी विलक्षणता जान पड़ती है।

कल्याणकारी शास्त्रों तथा सम्प्रदायाचार्योंके सिद्धान्तोंमें अनेक मतभेद हैं—अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि। इन सबका अन्तर्भाव अद्वैत और द्वैतमें ही किया जा सकता है। इन दोका ही वर्णन भगवान्ने सांख्य और योगनिष्ठाके नामसे किया है। इन दोनोंको अभेद और भेदमार्ग भी कह सकते हैं। सांख्यनिष्ठामें आत्मा और परमात्माका अभेद मानकर साधन किया जाता है। वह इस लेखका विषय न होनेसे उसे छोड़कर योगनिष्ठाका ही वर्णन किया जाता है; क्योंकि भक्ति योगनिष्ठाके ही अन्तर्गत है। भगवदाज्ञानुसार फल और आसक्तिको त्यागकर अपने कर्तव्यकर्मोंका पालन करना योगनिष्ठा है। योगनिष्ठा तीन प्रकारकी होती है—

(१) कर्मप्रधान, (२) भक्तिमिश्रित तथा (३) भक्ति-प्रधान।

इन तीनोंमें भगवान्ने भक्तिप्रधान कर्मनिष्ठाकी ही अधिक प्रशंसा की है और स्पष्ट शब्दोंमें यह घोषित किया कि सब प्रकारके योगियोंमें मद्गतचित्त होकर श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करनेवाला सर्वश्रेष्ठ—युक्ततम है (६।४७)।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने व्यवहारमें परमार्थ-सिद्धिरूप विलक्षण कला दिखलायी है, जिससे हर एक वर्ण और हर एक आश्रमका मनुष्य भगवान्के शरण होकर शीघ्रातिशीघ्र सुगमतापूर्वक उन्हें प्राप्त कर सकता है। उस शरणागतिका ही भगवान्ने भगवद्भक्ति, भगवदाश्रय आदि शब्दोंसे वर्णन किया है। कहीं शरणागति कहकर आगे 'भक्ति' शब्द दे दिया है (९।३२—३४); कहीं भक्ति कहकर उसे शरणागति कह दिया है (११।५४-५५)। इससे मालूम होता है कि शरणागति और भक्तिमें अन्तर नहीं है।

सम्पूर्ण गीताको छः-छः अध्यायोंके तीन षट्कोंमें विभक्त किया जा सकता है, जिनमें पहलेसे छठे अध्यायतक कर्मका, सातवेंसे बारहवें अध्यायतक उपासनाका और तेरहवेंसे अठारहवें अध्यायतक ज्ञानका वर्णन किया गया है। पहले षट्कमें जितने विस्तारके साथ कर्मकाण्डका वर्णन है, उतना दूसरे और तीसरे षट्कोंमें नहीं है। दूसरे षट्कमें जितना उपासनाका वर्णन किया गया है, उतना प्रथम और तृतीय षट्कमें नहीं और तीसरे षट्कमें ज्ञानका जितना विस्तृत वर्णन देखा जाता है, उतना प्रथम और द्वितीय षट्कमें नहीं। इसलिये पहले षट्कको कर्म-काण्डपरक, दूसरेको उपासना-काण्डपरक तथा तीसरेको ज्ञान-काण्डपरक कहा जा सकता है;

परंतु दूसरे षट्कमें अर्थात् सातवेंसे बारहवें अध्यायतक भगवान्‌ने ऐसी विलक्षणताके साथ भक्तिका वर्णन किया है, जिससे ज्ञान और कर्मका उतना सम्मिश्रण नहीं होने पाया है, जितना कि पहले षट्कमें कर्मका निरूपण करते हुए भी ज्ञान और भक्तिका हो गया है। तीसरे षट्कमें तो ज्ञानका वर्णन करते हुए पहले षट्ककी अपेक्षा भी कर्म और भक्तिका अधिक मिश्रण हुआ है। जैसे तेरहवें और चौदहवेंमें ज्ञानका तथा पंद्रहवें अध्यायमें भक्तिका वर्णन करके सोलहवेंमें दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्तिका अर्थात् भक्तिके अधिकारी और अनधिकारियोंका वर्णन करते हुए १७वें अध्यायमें तीन प्रकारकी श्रद्धाका विवेचन किया गया है, जो श्रद्धा कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनोंमें ही आवश्यक होती है। अठारहवें अध्यायमें कर्म, भक्ति और ज्ञान—तीनोंका विशुद्ध विवेचन है और अन्तमें भक्तिसे ही ग्रन्थका उपसंहार किया गया है। उपदेशका आरम्भ भी अर्जुनके शरणागत होनेपर ही हुआ है। इसलिये आदि और अन्तमें भी भक्तिकी ही पावन मन्दाकिनी प्रवाहित होती दिखायी देती है।

ऐसे ही भगवद्गीताके मध्यमें भी सारभूत होनेसे भक्तिका वर्णन है, मध्यम भाग नवाँ और दसवाँ अध्याय होता है, इसलिये भगवान्‌ने उसमें अत्यन्त गोपनीय रहस्यका वर्णन करनेके कारण ही नवें अध्यायका 'राजविद्याराजगुह्ययोग' और दसवेंका 'विभूतियोग' नाम दिया है। भगवद्गीतामें जहाँ कहीं भी गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम, राजगुह्य, सर्वगुह्यतम और रहस्य आदि शब्द आये हैं, वहाँ भगवान्‌ने सगुणतत्त्वकी ओर ही निर्देश किया है; क्योंकि स्वयं भगवान् होते हुए अपनेको छिपाकर मनुष्यके रूपमें लीला कर रहे हैं, यह गुप्त रहस्यकी बात है।

दसवें अध्यायमें भगवान्‌ने अपनी दिव्य विभूतियोंका वर्णन किया है। इसलिये उसका नाम 'विभूतियोग' है। वे विभूतियाँ सगुणतत्त्वकी ही हो सकती हैं। उक्त दोनों अध्यायोंमें जो नवेंका अन्तिम और दसवेंका आदि भाग है, यही गीताके मध्यमें पड़ता है। इसलिये इसको गीताका 'हृदय' कह सकते हैं। नवें अध्यायके आदिमें भगवान् विज्ञानसहित ज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा करके चौथे, पाँचवें, छठे श्लोकोंमें उदाहरणसहित राजविद्याका वर्णन करते हैं। उसके बाद अपनेसे संसारकी उत्पत्ति-प्रलयका प्रकरण बतलाकर अपनेको साधारण मनुष्य मानकर अवज्ञा करनेवालोंकी निन्दा करते हैं (९।११) और कहते हैं कि जो महात्मा हमें सम्पूर्ण भूतोंका अविनाशी कारण मानकर अनन्यभावसे भजन करते हैं (९।१३) ऐसे भक्तोंका योगक्षेम मैं स्वयं ही वहन करता हूँ (९।२२)। यद्यपि अन्य देवता भी भगवान्‌के अतिरिक्त कुछ भी न होनेके कारण अन्य देवताओंकी भक्ति भी प्रकारान्तरसे भगवान्‌की ही भक्ति मानी जा सकती है, परंतु उनको भगवत्स्वरूप न समझनेके कारण वह विधिपूर्वक यथार्थ भक्ति नहीं है। शास्त्रोंमें जिन-जिन देवताओंकी पूजाके लिये पूजा-पद्धति, मन्त्र, सामग्री आदिका जो-जो विधान है, उसके अनुसार यथार्थ रीतिसे पूजा करनेपर बड़े-से-बड़ा फल उन देवताओंके लोकोंकी प्राप्ति ही है, भगवान्‌की प्राप्ति नहीं। किंतु यथार्थ भक्तिसे तो भगवान् भी सुलभ हो जाते हैं (८।१४)। भगवान्‌के पूजनमें उतनी विधि, मन्त्र और सामग्रीकी आवश्यकता नहीं है; वहाँ तो एकमात्र भावकी ही प्रधानता है। कितनी सुगमता है! भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(९।२६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

इस श्लोकमें भगवान्‌ने पत्र-पुष्पादिका नाम लेकर 'भक्ति' शब्दका दो बार प्रयोग किया है। इसके द्वारा भगवान् यह व्यक्त करते हैं कि मुझे विविध सामग्रियोंकी आवश्यकता नहीं है। अनायास ही जो कुछ भी भक्तको मिल जाय, वही भक्तिपूर्वक सच्चे हृदयसे अर्पण कर देनेसे मैं संतुष्ट हो जाता हूँ। जैसे द्रौपदीके दिये हुए शाक-पत्रसे भगवान् प्रसन्न हो गये। गजेन्द्रके अर्पण किये हुए पुष्पको लेनेके लिये वैकुण्ठसे दौड़े हुए आये। शबरीके प्रेमपूर्वक परोसे हुए फलोंके समान मधुरताका अनुभव भगवान्‌ने और कहीं किया ही नहीं तथा महाराज रन्तिदेवके जलमात्रसे तृप्त होकर उनका कल्याण कर दिया। इन पत्र, पुष्प, फल तथा जलको स्वीकार करनेमें भक्तोंके सच्चे हृदयकी विकलता और अनन्य प्रेम ही प्रधान कारण थे। भगवान् इसी प्रेमके वशीभूत होकर पत्र-पुष्पको भी (जो खानेकी चीज नहीं है) खाते हैं। वे स्वयं कहते हैं—'**अश्नामि**' अर्थात् मैं खाता हूँ। प्रिय भक्तवर अर्जुनके लिये तो पत्र-पुष्पादि सामग्रीकी भी आवश्यकता न रखते हुए वे कहते हैं—'भैया कुन्ती-नन्दन! तुम स्वाभाविक ही जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो होम करते हो, जो दान देते हो और जो तप करते हो, वह सब मुझे समर्पण कर दो' (९।२७)। इस प्रकार समर्पण कर देनेसे शुभाशुभ दोनों प्रकारके फलोंसे मुक्त होकर मुझे प्राप्त कर लोगे (९।२८)।

यहाँ यह शङ्का होती है कि भगवान्‌में विषमता है क्या ? जो वे सर्वस्व समर्पण करनेवालेका ही उद्धार करते हैं, अन्यका नहीं ? इसका समाधान स्वयं भगवान् ही करते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९।२९)

अर्थात् 'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है। परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

इस श्लोकमें भगवान्‌ने प्राणिमात्रमें अपनी समताका निर्देश किया है। 'मैं प्राणिमात्रमें सम हूँ।' अर्थात् समान रूपसे व्यापक, सबका परम सुहृद् और पक्षपातरहित हूँ। कोई भी प्राणी मेरा प्रिय अथवा अप्रिय नहीं है। इस भूतसमुदायमेंसे जो कोई भी जीव प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ। अर्थात् वे मेरे प्रियतम हैं, मैं उनका प्रियतम हूँ। वे मुझे सर्वस्व समर्पण कर देते हैं और मैं भी अपना सर्वस्व तथा अपने-आपको भी उनपर निछावर कर देता हूँ। मेरी-उनकी इतनी घनिष्ठता है कि मैं और वे दोनों ही एक हो जाते हैं।

'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।' 'यतस्तदीयाः।'

(नारदभक्तिसूत्र ४१।७३)

'वे मुझे स्वामी समझते हैं, उन्हें मैं सेवक समझता हूँ। वे मुझे पिता समझते हैं तो मैं उन्हें पुत्र समझता हूँ। पुत्र माननेवालोंको पिता, मित्र समझनेवालोंको मित्र और प्रियतम समझनेवालेको प्रियतम समझता हूँ। जो मेरे लिये व्याकुल होते हैं, उनके लिये मैं भी अधीर हो उठता हूँ। जो मेरे बिना नहीं रह सकते, उनके बिना मैं भी नहीं रह सकता। जो जिस भावसे मुझे भजते हैं, मैं भी उसी भावसे उनको भजता हूँ।'

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(४।११)

भाव ही नहीं, क्रियामें भी जो मेरी ओर तेजीसे दौड़ते हैं, मैं भी उनकी ओर तीव्र गतिसे दौड़ता हूँ। यहाँ यह बात ध्यान देनेयोग्य है कि अल्पशक्तिमान् जीवकी क्रिया अपनी शक्तिके अनुसार होगी और अनन्त शक्तिसम्पन्न परमात्माकी उनकी शक्तिके अनुसार। अर्थात् अल्पशक्ति रखनेवाला जीव यदि अपनी पूरी शक्ति लगाकर कुछ भी आगे बढ़ा तो भगवान् भी अपनी पूरी शक्ति लगा शीघ्र ही उससे आ मिलेंगे। भगवान्‌को पूरी शक्तिसे अपनी ओर आकर्षित करनेका सरल उपाय है—उनकी ओर अपनी पूरी शक्तिसे अग्रसर होना। भक्तोंका ऐसा विलक्षण भाव है कि वे चेष्टारहित परमात्मासे भी चेष्टा करवा देते हैं। सर्वदेशी व्यापक और निराकार परमेश्वरको एक देशमें प्रकट करके देख लेते हैं। निर्गुणको सगुणरूपमें प्रकट होनेके लिये बाध्य कर देते हैं। जो सबसे सर्वथा उदासीन हैं, उन परमात्माको भी वे अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। वे प्रभुके प्यारे भक्त जिस समय जैसे रूपमें उन्हें देखना चाहते हैं, उस समय भगवान्‌को उसी रूपमें दर्शन देना पड़ता है, कैमरेका काँच जैसे सामने दीखनेवाले रूपको खींच लेता है। उससे अत्यन्त अधिक विलक्षणताके साथ भगवान्‌को खींचनेका आकर्षण भगवद्भक्तके प्रेममें होता है। कैमरा तो सामनेकी जड वस्तुकी उस आकृतिमात्रको ही खींचता है, परंतु भगवद्भक्तका प्रेम चिन्मय परमात्माको अपने मनचाहे रूपमें खींच लेता है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(९।४।६८)

'साधुओंका मैं हृदय हूँ और संतलोग मेरे हृदय हैं। वे मेरे सिवा और किसीको नहीं जानते और मैं उनके सिवा किसीको कुछ भी नहीं जानता।'

भगवान्‌को अपने भक्त जितने प्यारे हैं, उतनी अर्धाङ्गिनी लक्ष्मी, गरुड आदि पार्षद और अपना शरीर भी प्रिय नहीं है। भागवतमें भगवान् उद्धवसे कहते हैं—भक्तोंके सिवा मेरा कोई प्यारा नहीं है। एक स्थलपर भगवान् कहते हैं—यदि भक्तोंके प्रतिकूल मेरी भुजा भी उठे तो उसे काटकर फेंक दूँ—

छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्।

भक्त नीच घरका हो तो भी भगवान् उसके यहाँ पधारते हैं।

यहाँ एक शङ्का होती है कि जब भजनेवालेको ही भगवान् भजते हैं—जो जिस भावसे भजता है, उसे उसी भावसे वे भी भजते हैं—तब जो भगवान्‌की आज्ञाके सर्वथा विरुद्ध चलनेवाला, भगवान्‌का विरोध करनेवाला, भगवान्‌के द्वारा निषेध किये हुए कर्मोंको आसक्तिपूर्वक करनेवाला अर्थात् भगवान्‌का सर्वथा विरोधी हो, वह यदि भजन करे तो क्या भगवान् उसे भी अपनाते हैं ? इसका उत्तर है— 'अवश्य'।

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(९।३०)

अर्थात् 'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मुझे निरन्तर भजता है तो वह साधु ही

माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भली प्रकार निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

यहाँ भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि चाहे दुराचारी-से-दुराचारी भी हो, परंतु जो अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर भजन करता है, उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने उत्तम निश्चय कर लिया है। दुराचारी चाहे इस जन्मका हो चाहे पूर्वजन्मका, भक्तके उस पाप और दुराचारको भगवान् नष्ट कर देते हैं। भगवान् रामायणमें कहते हैं—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥

करोड़ों ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाला भी यदि शरणमें आ जाय तो भगवान् उसके पापको नष्ट कर देते हैं। एक जन्मके नहीं, अनेकों जन्मोंके पापका भी नाश कर देते हैं।

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

जीव जभी मेरे सम्मुख होता है, तभी उसके अनन्त जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं, शरणमें आ जानेपर उसे साधु ही मानना चाहिये। यहाँ यह प्रश्न होता है कि गीता ७। १५ में भगवान् कहते हैं, नराधम (दुष्कृत पुरुष) मेरे शरण नहीं होते और रामायणमें भी कहा है—

पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥

तब अत्यन्त पापी भगवान्की ओर लगेगा ही कैसे? तभी तो भगवान्ने 'चेत्' शब्द कहा है। भगवान्के कानूनमें एक विलक्षणता है, वह समझनेकी है। भगवान् कहते हैं—'यदि वह भक्तिमें लग जाय तो मेरी ओरसे बाधा नहीं है, नीच-से-नीचके लिये उत्थानका दरवाजा खुला है। परंतु भक्तका पतन नहीं हो सकता'—'**न मे भक्तः प्रणश्यति**' (९। ३१)। भगवान्के पथमें चलनेके लिये किसी भी प्राणीको रोक-टोक नहीं है। उनके यहाँ उन्नतिके लिये कोई बाधा नहीं है। फिर प्रश्न होता है कि पापी मनुष्य भगवान्का अनन्य भावसे किस कारण भजन करेगा? उसमें कई कारण हो सकते हैं। यथा—

(१) पूर्व जन्मकी भक्तिके संस्कारसे।

(२) भगवद्भक्तिमय वायुमण्डलके प्रभावसे।

(३) भगवद्भक्तोंके अलौकिक अनुग्रहसे।

(४) भगवान्की अचिन्त्य अहैतुकी कृपासे। या

(५) किसी आपत्तिमें पड़ जानेपर उस आपत्तिको दूर करनेमें अपनेको सर्वथा असमर्थ समझनेके कारण भगवान्के प्रति भक्तिका उदय हो जानेसे।

इस तरह और भी किसी कारणविशेषसे वह अनन्यभाक् होकर भजन कर सकता है। 'अनन्यभाक्' का अर्थ यहाँ तैलधारावत् निरन्तर चिन्तन नहीं समझना चाहिये, क्योंकि अधिकारीकी तरह भी तो देखना होगा। तैलधारावत् चिन्तनमें तो बहुत समयसे साधन करनेवाले साधकोंको भी कठिनाई प्रतीत होती है, फिर सुदुराचारियोंके द्वारा वह ऐसा क्योंकर सम्भव है। अतः अनन्यभाक्का अर्थ यहाँ एक भगवान्का ही हो जाना है '**न अन्यं भजतीति अनन्यभाक्।**' उसके इष्ट, प्रापणीय एकमात्र भगवान् ही हो जायँ, वह भगवान्के ही शरणागत हो जाय—यही अनन्यभाक्का तात्पर्य है। वह भगवान्के सिवा और किसीका आश्रय नहीं लेता। एकके आश्रित हो जाना, एकको ही सर्वोपरि समझना सुदुराचारीके द्वारा ही सम्भव हो सकता है। जो ऐसा हो जाता है, उसको भगवान् परमप्रिय मानते हैं—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

यहाँ '*गति न आन की*' इन पदोंके द्वारा अनन्यभाक्की ही व्याख्या हुई। दूसरेका आश्रय छोड़कर भगवान्का भजन करनेवालेको ही लक्ष्य किया गया है। ऐसे पुरुषको साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

उसने अब एकमात्र यही निश्चय कर लिया है कि 'मैं जो कुछ और जैसा भी हूँ, आपका हूँ।' वह समझता है कि मेरा उद्धार मेरे साधन और भजनके बलसे नहीं हो सकता; अपितु अशरण-शरण दीनबन्धु भगवान्की अहैतुकी कृपासे ही सम्भव है। मुझ-जैसा पामर एक साधारण जीव भगवान्के अनुकूल साधन क्या कर सकता है। यत्किञ्चित् भगवान्के अनुकूल जो साधन बन जाता है वह भी भगवान्की कृपाका ही फल है। जो कुछ बनेगा वह प्रभुकी ही दयासे। ऐसा उसका अटल निश्चय है। इसीसे तो एक भक्त कहता है—

भगत बछल ब्रत समुझिके रज्जब दीन्हों रोय।
पतितौं पावन जब सुने, रह्यो न चीतो सोय॥

इसी कारण भगवान् कहते हैं—वह बहुत शीघ्र धर्मात्मा बन जाता है। तात्पर्य यह कि जब वह भगवान्की ओर ही चलनेका दृढ़ निश्चय कर लेता है, तब उसके आचरण और भाव बहुत जल्दी सुधर जाते हैं। जब उसके ध्येय एकमात्र परमात्मा हो गये, तब वह दुर्गुणका आश्रय कैसे ले सकता है, भगवत्प्रतिकूल आचरण कैसे कर सकता है। ज्यों-ज्यों भगवान्के अनन्य आश्रित होता जाता है, त्यों-त्यों उसमें सद्गुण-सदाचारकी स्वाभाविक वृद्धि होती जाती है। जब सब प्रकारसे वह प्रभुके आश्रित हो जाता है, तब उसी क्षण धर्मात्मा बन जाता है। केवल धर्मात्मा ही नहीं होता, उसे अविचल शान्ति भी प्राप्त हो जाती है। अर्थात् जिस

सुख-शान्तिमें क्षय आदि विकार और दोष नहीं आते, उसी शान्तिको वह प्राप्त हो जाता है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९।३१)

'इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

निरन्तर रहनेवाली शान्ति क्या है? जिसे गीतामें परमपद, ब्रह्मनिर्वाण, निर्वाण, परम शान्ति, आत्यन्तिक सुख आदि नामोंसे कहा गया है, उसीको 'शश्वच्छान्ति' कहते हैं। यही सब साधनोंका अन्तिम फल है। इसे ही शास्त्रकारोंने मुक्ति कहा है। यह सर्वोपरि स्थिति है। इसीके लिये भगवान् कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६।२२)

'जिसे पा जानेपर उससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं जान पड़ता तथा जिस स्थितिमें स्थित हो जानेपर मनुष्यको कोई भारी दुःख कभी विचलित नहीं कर सकता।' तात्पर्य यह कि जिसमें दुःख, अल्पज्ञता, अशान्ति, असहिष्णुता आदि कोई भी दोष नहीं है, ऐसी परम शान्तिमयी अवस्थाको वह प्राप्त हो जाता है।

अहा! भगवान्‌की कितनी अलौकिक कृपा है—

'बिनु सेवा जो द्रवहिं दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।'

'दुराचारी भी यदि भगवान्‌का भजन करने लगे तो वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है।' भगवान्‌ने दुराचारीकी बात तो कही; अब जो पूर्वजन्मके अनुचित आचरणके कारण नीच योनिमें जन्म लेते हैं, वे भी भक्तिके अधिकारी हैं, यह बात भी भगवान् कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९।३२)

'पापयोनिवाले जीव भी मेरा आश्रय लेकर परमपदको प्राप्त होते हैं; स्त्री, वैश्य और शूद्र भी परमपदको जाते हैं।' जो जाति-बहिष्कृत है, जिसको स्पर्श करनेमें भी लोगोंको हिचक होती है, ऐसे पुरुषको भी यदि वह भक्त है तो भगवान् परमप्रिय मानते हैं। रामावतारमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजी गुहको हृदयसे लगाकर भेंटते हैं और पूज्य वसिष्ठजी भी रामभक्त समझकर उसे हृदयसे लगाते हैं। भरतजी भी लक्ष्मणकी तरह उसे भेंटते हैं। भक्त तो त्रिभुवनको पवित्र करनेवाला होता है।

शास्त्रपरम्परासे अहिंसादि सामान्य धर्मोंकी भाँति भक्तिमें भी चाण्डालादि सभी योनिके मनुष्योंका अधिकार है।

'आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत्।'

(शाण्डिल्यभक्ति-सूत्र ७८)

भगवद्भक्तिके अधिकारी नीच-से-नीच व्यक्ति भी हैं। यहाँ 'पापयोनि' शब्द इतना व्यापक है कि आभीर, यवन, कङ्क, खशादि जातिके मनुष्य भी इसीके अन्तर्गत लिये जा सकते हैं। चारों वर्णोंके सिवा जितनी योनियाँ हैं, सब पापयोनि ही हैं।

'बड़ सेयाँ बड़ होत है' उक्तिके अनुसार बड़ोंका आश्रय पाकर प्रायः सभी बड़े हो जाते हैं। छोटा-सा जन्तु भी यदि सज्जन पुरुषोंका सङ्ग करे तो वह कष्टसाध्य कार्य भी सुगमतासे ही सिद्ध कर लेता है। जब सज्जनोंके सङ्गियोंका सङ्ग करनेसे ऐसा फल मिलता है, तब साक्षात् भगवान्‌का साथ होनेपर मनुष्य श्रेष्ठ बन जाय—इसमें कौन-सी आश्चर्यकी बात है। **'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य॰'** (९।३१)—इस श्लोकमें जो **'पापयोनयः'** पद है, वह स्वतन्त्र है; स्त्री, वैश्य और शूद्रका विशेषण नहीं। क्योंकि वैश्यका वेदोंमें अधिकार है। 'स्त्री' शब्दसे ब्राह्मण-क्षत्रियोंकी स्त्रियोंका भी ग्रहण हो जाता है। वे अपने-अपने पतिके साथ यज्ञमें बैठ सकती हैं। ब्राह्मणी समस्त जातिकी पूजनीया है, इसलिये यह पापयोनि नहीं कही जा सकती। **'येऽपि स्युः पापयोनयः'** में **'स्युः'** क्रियाका साक्षात् सम्बन्ध **'पापयोनयः'**से ही है। **'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः'**—इसमें **'तथा'** शब्द स्त्री, वैश्य और शूद्रको **'पापयोनयः'** से अलग कर रहा है। इन सबका अन्वय एक साथ **'यान्ति'** क्रियामें होता है—**'तेऽपि यान्ति परां गतिम्'** वे भी परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि स्त्रियाँ भी सम्पूर्ण मन्त्रों और वेदोंकी अधिकारिणी नहीं हैं, तथापि भगवान्‌की प्राप्तिमें उनका भी अधिकार है ही—

'नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः।'

(नारदभक्ति-सूत्र ७२)

'भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादिसे होनेवाला भेद नहीं है।'

शबरीमें स्त्रीत्व होनेपर भी शूद्रत्व और पापयोनित्व भी है। वह कहती है—

अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥

अधम अर्थात् ब्राह्मणकी अपेक्षा नीचा क्षत्रिय, उससे अधम वैश्य, उससे अधम शूद्र और उससे अति अधम शबर

जाति तथा शबर जातिकी स्त्रियोंमें फिर मन्दमति मैं। शबरीकी ऐसी अभिमानशून्य वाणी सुनकर श्रीरघुनाथजी कहते हैं—

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥
कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥

भगवान् तो केवल भक्तिका नाता मानते हैं।

'भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः।'

भगवान् तो केवल भक्तिसे संतुष्ट होते हैं, गुणोंसे नहीं। वे तो भावग्राही हैं। भगवान्के आगे पण्डिताईका जोर नहीं चलता—

मन्दो वदति विष्णाय धीरो वदति विष्णवे।
उभयोश्च फलं तुल्यं भावग्राही जनार्दनः॥

किस भावसे कौन क्या कर रहा है, इसे भगवान् जानते हैं। जो कोई प्रेमसे भगवान्की ओर दौड़ता है, उसकी ओर भगवान् भी दौड़ पड़ते हैं।

यहाँतक भगवान्ने आचरणों और जातिसे नीचके उद्धारकी बात बतायी तथा मध्य श्रेणीके स्त्री, वैश्य और शूद्रोंकी सद्गतिका भी वर्णन किया। अब भगवान् यह बता रहे हैं कि जब पापयोनिवाले एवं स्त्री, वैश्य और शूद्र भी भक्तिसे परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं, तब जो आचरण और जाति दोनोंसे ही पवित्र हैं, उनका भक्तिसे उद्धार होना कौन बड़ी बात है?

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(गीता ९।३३)

इसमें 'कैमुतिक' न्याय है। अर्थात् जब स्त्री, वैश्य और शूद्र तथा दुराचारी और पतित जातिवालेंका भी उद्धार हो जाता है, तब पवित्र आचरणवाले ब्राह्मण और क्षत्रिय यदि भगवान्के भक्त हों तो उनके उद्धारके विषयमें तो कहना ही क्या है। यदि कोई जातिसे ब्राह्मण और क्षत्रिय हों, पवित्र आचरणवाले भी हों, परंतु भक्त न हों, तो उनके उद्धारकी गारंटी भगवान् नहीं लेते। इस श्लोकमें भगवान्ने आचरण और जाति दोनोंसे ही उत्तम पुरुषोंको भक्तिका अधिकारी बतलाया है; क्योंकि पहले कहा है कि जो आचरण अथवा जाति दोनोंसे ही नीच हों, वे भी मेरे भक्त बन सकते हैं तथा जो दोनोंसे ऊँचे हों, उनकी तो बात ही क्या है। इस प्रकरणमें भक्तिके सात अधिकारी बताये गये हैं। इनमें कोई कम नहीं है।

(१) आचरणोंसे नीच, (२) जातिसे नीच, (३) स्त्री, (४) वैश्य, (५) शूद्र, (६) पवित्र ब्राह्मण और (७) राजर्षि—इन सात अधिकारियोंके ही अन्तर्गत सभी मनुष्य आ जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि भगवान्की भक्तिके सब अधिकारी हैं।

भगवान्ने भक्तिके अधिकारी बतलाकर ३३वेंके उत्तरार्द्धमें कहा है—

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥'

अर्थात् 'नाशवान् एवं सुखरहित मानव-शरीरको प्राप्त करके मेरा भजन कर।' इसको अनित्य तथा क्षणभङ्गुर इसलिये कहा कि इसका कोई भरोसा नहीं है! पता नहीं कब नष्ट हो जाय। इसलिये भगवान् चेतावनी देते हैं कि इस शरीरके रहते-रहते मुझे प्राप्त कर लेना चाहिये। भागवतमें भी कहा है—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

(११।९।२९)

अर्थात् 'बहुत-से जन्मोंके अन्तमें बहुत-से प्रयोजन सिद्ध करनेवाले इस अत्यन्त दुर्लभ किंतु अनित्य मानव-शरीरको पाकर जबतक मृत्यु न आये, उससे पहले जल्दी-से-जल्दी आत्म-कल्याणके लिये यत्न करना चाहिये; क्योंकि विषय तो निश्चय ही सर्वत्र मिल सकते हैं, परंतु भगवान् नहीं।' गीताके आठवें अध्यायमें तो इसे भगवान् **'दुःखालयमशाश्वतम्'** कहते हैं, फिर दुःखालयमें सुख कहाँ? जिस प्रकार पुस्तकालयमें ओषधि और औषधालयमें कपड़े नहीं मिल सकते, ठीक उसी प्रकार इस दुःखमय संसारमें सुख नहीं मिल सकता। सुख है ही नहीं। मनुष्यको जबतक किसी बातकी उत्कट इच्छा नहीं होती, तबतक किसी पदार्थमें ऐसी शक्ति नहीं जो उसे सुख दे सके। इसलिये पदार्थोंके सुखके लिये पदार्थविषयक उत्कट इच्छा और इच्छाके लिये अभावका अनुभव परम आवश्यक है और अभावकी अनुभूतिमें सुखका नाम-निशान नहीं, दुःख-ही-दुःख है। एक ही अवस्थामें दो पुरुष एक ही साथ जा रहे हैं। दोनोंकी वेष-भूषा एक ही है। दोनोंके पास जूता नहीं, छाता नहीं। दोनोंके पास फटे कपड़े हैं। दोनों एक-से हैं, पर उनमेंसे एक विरक्त है, एक अभावग्रस्त है। विरक्त पुरुषके भीतर दुःखका नाम नहीं है और अभावग्रस्त पुरुषके पास सुखका नाम-निशान नहीं है, वह वस्तुओंके अभावकी अनुभूतिसे निरन्तर व्यथित रहता है। उसीको ही क्षणभङ्गुर पदार्थ क्षणिक सुख दे सकते हैं, विरक्तको नहीं; क्योंकि विरक्तको पदार्थोंका सर्वथा अभाव

होनेपर भी अभावकी अनुभूति नहीं है। अर्थात् विरक्त किसी वस्तुकी आवश्यकता ही नहीं समझता, ऐसी स्थितिमें किसी पदार्थमें ऐसी शक्ति नहीं है जो उसे सुख दे सके। तात्पर्य यह कि अभावकी अनुभूति न होनेपर विषय सुख नहीं दे सकेगा। जिसे रुपयेकी चाहना नहीं, उसे रुपया सुख नहीं दे सकता। जिसे स्त्रीकी इच्छा नहीं, उसे स्त्री सुख नहीं दे सकती। सुख लेनेवालेको अपने लिये अभावकी अनुभूति आवश्यक है। इससे सिद्ध हुआ कि पदार्थकी अनुपस्थितिमें भी पदार्थ दुःख देते हैं। मिलनेपर उनके नाशकी शङ्का हरदम बनी रहती है। न्यूनता खटकती रहती है, वही पदार्थ दूसरोंके पास अधिक मात्रामें अपनी अपेक्षा अधिक सुन्दर देखकर जलन होती है। पदार्थ नष्ट हो जानेपर भी दुःख ही देते हैं। लड़केके न रहनेपर दुःख होता है। पैदा होनेपर उसके रोगादिसे दुःख होता है। लड़केकी मृत्यु हो जानेपर उसकी स्मृति किस प्रकार कलेजेमें कसक पैदा करती है, यह अनुभवी पुरुषोंसे छिपा नहीं है। मनुष्य उसके वियोगमें जो रोता-कलपता है, उस दुःखकी क्या बात कही जाय। सांसारिक सुख भी दुःखके ही कारण हैं।

एक मनुष्य ऐसा है, जिसका सुख छिन गया है; दूसरा ऐसा है, जिसको आरम्भसे वह सुख नहीं मिला। वर्तमान समयमें दोनोंकी एक-सी अवस्था है; किंतु पहलेको जैसा दुःख होता है, वैसा दूसरेको नहीं। इसका कारण यह है कि वह वस्तु उसके पास पहलेसे नहीं है; जिसके लिये वह दुःख करता है। इसलिये पदार्थ रहें, तब भी दुःख होता है, न रहें, तब भी दुःख होता है और रहकर चले जायँ, तब भी दुःख उठाना पड़ता है। इसीसे भगवान् इस संसारको असुख, नश्वर और दुःखालय कहते हैं। अतः इस मानव-शरीरका फल भगवद्भजन ही है, विषय-सेवन नहीं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥
देह धरे कर यह फलु भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥

—गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

इसीलिये भगवान् कहते हैं—इस शरीरको प्राप्त होकर मेरा भजन कर। यहाँतक भगवान्‌ने भक्तिके अधिकारियोंका वर्णन कर चेतावनी देते हुए अर्जुनको भगवद्भक्ति करनेकी आज्ञा दी। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌ने भक्तिकी सब युक्तियोंसे पुष्टि की तथा उसे परमावश्यक बतलाते हुए भक्ति करनेका आदेश दिया—**'मां भजस्व'** (९। ३३)।

अब यह जाननेकी आवश्यकता है कि भक्तिका क्या स्वरूप है। इसके लिये भगवान् स्वयं कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(गीता ९। ३४)

अर्थात् 'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

इस श्लोकमें भगवान्‌ने भक्तिकी चार बातें बतायी हैं—

(१) **'मन्मना भव'**—मुझमें मन लगानेवाला हो।
(२) **'मद्भक्तो भव'**—मेरा भक्त बन जा।
(३) **'मद्याजी भव'**—मेरा पूजन करनेवाला हो।
(४) **'मां नमस्कुरु'**—मुझे नमस्कार कर।

इसमें **'मन्मना भव'** का अनुष्ठान करनेके लिये भगवान्‌के स्वरूपका नामसहित चिन्तन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यह सब शास्त्रोंका सार है। संत-महात्मा भी इसीपर जोर देते हैं। कहा भी है—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेव सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

'सब शास्त्रोंका आलोडन तथा बार-बार विचार करनेसे यही बात सिद्ध हुई है कि सदा भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये।'

भगवान्‌के चिन्तनमात्रसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है। आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भगवान्‌ने निरन्तर अनन्य-चिन्तन करनेवालेके लिये ही अपने-आपको सुलभ बताया है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

समूची गीतामें 'सुलभ' शब्दका प्रयोग केवल इसी श्लोकमें हुआ है। भगवान्‌के निरन्तर चिन्तनमें दो बातें सहायक हैं—

(१) भगवान्‌के नामका जप।
(२) सत्सङ्ग।

भगवन्नाम-जपसे भगवान्‌की बारम्बार स्मृति होती है। जैसे बिगुल बजनेसे सैनिक सजग हो जाता है, वैसे ही जपसे मनरूपी सैनिक सावधान होता है। इसी प्रकार सत्सङ्ग करनेसे, साधुओंके दर्शनसे भगवान् याद आ जाते हैं, जिस प्रकार सिपाहीके देखनेसे राजा याद आ जाता है और जब भजन-चर्चा चलती है, तब ***'खूब गुजरेगी, मिल बैठेंगे दीवाने दो'*** वाली कहावत चरितार्थ होती है। अर्थात् भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन होने लगता है। भगवच्चर्चा चलती है तो मन उसमें रम जाता है। कण्ठ गद्गद हो जाता है, नेत्रोंमें

आँसू आने लगते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

हिय फाटउ फूटहुँ नयन जरउ सो तन केहि काम।
द्रवै स्रवै पुलकै नहीं तुलसी सुमिरत राम॥

भागवतमें भी कहा है—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥

(२।३।२४)

कबीरदासजी भी कहते हैं—

सुमिरन सों सुधि लाइए, ज्यों सुरभी सुत माहिं।
कह कबीर चारो चरत छिनहूँ बिसरत नाहिं॥

ऐसा नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेके लिये भगवान् कहते हैं। यह बात हुई।

दूसरी बात है—'**मद्भक्तो भव**'—इसका तात्पर्य यह है कि मेरी आज्ञाका प्रेमपूर्वक पालन कर।

अग्या सम न सुसाहिब सेवा।

भगवान्‌का आज्ञापालन ही सेवा है। आदरपूर्वक भगवान्‌की एक आज्ञापालन करनेसे ही भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

सो सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥

भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त होनेपर फिर क्या बाकी रह सकता है। एक पिताके कई लड़के हैं। उनमें पिताको अत्यन्त प्यारा वह होगा, जो पिताकी आज्ञाका पालन करेगा। गुरुसे वही शिष्य विशेष लाभ उठायेगा, जो गुरु-आज्ञामें तत्पर होगा। आज्ञा-पालनसे पूज्यकी सारी शक्ति आज्ञा-पालकमें उतर आती है। इस विषयमें यह बात विशेष समझनेकी है कि श्रद्धेय पुरुष जिस क्षण किसी बातके लिये आज्ञा दें, उसी क्षण उसका पालन करना चाहिये। इससे विशेष लाभ होता है। असली आज्ञा वही है, जो मालिकके अनुकूल हो, हमारे लिये भले ही प्रतिकूल हो। इसी तरह भगवदाज्ञापालन करनेवाला ही भगवद्भक्त है।

यहाँ प्रश्न होता है कि भगवान् तो प्रत्यक्ष नहीं; फिर उनकी आज्ञाका पता कैसे लगे ? तो इसका उत्तर यह है कि भगवदाज्ञाका पता लगानेके लिये चार उपाय हैं। एक तो सत्-शास्त्र—वेद, पुराण, ऋषिप्रणीत ग्रन्थ। इनमें जिनके लिये जो कर्तव्य बताया गया है, वही करना चाहिये। ऋषि-मुनियोंने सत्-शास्त्र भगवान्‌का आशय समझकर ही लिखे हैं। इसलिये भगवान् भी कहते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६।२४)

'इससे तेरे लिये कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, यों जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्मको ही करनेयोग्य है।'

और भगवद्गीता-जैसे ग्रन्थ तो, जो साक्षात् भगवान्‌के ही श्रीमुखसे निकले हुए हैं, भगवदाज्ञा हैं ही। इसलिये ऐसे ग्रन्थोंके अनुसार अपना जीवन बना लेना ही भगवदाज्ञाका पालन करना है।

दूसरा उपाय, भगवत्प्राप्त महापुरुष जो कहते हैं, उसे भगवदाज्ञा मानकर करना; क्योंकि जिस अन्तःकरणमें राग-द्वेष, स्वार्थ, ममता, अहङ्कार और पक्षपात नहीं, उस अन्तःकरणसे जो कुछ निकलेगा, वह भगवदाज्ञा ही होगी। भगवान् सब जगह परिपूर्ण हैं, पर जहाँ अन्तःकरण विशेष शुद्ध है, वहीं वे प्रकट होते हैं। इसलिये महात्माओंके वचन सम्पूर्ण जगत्‌के हितके लिये होते हैं।

महात्मा जैसा आचरण करते हैं वह भी साधकके लिये भगवदाज्ञा माननेयोग्य है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(३।२१)

अर्थात् 'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरे मनुष्य भी वैसा ही करते हैं, वह पुरुष जो कुछ आदर्श स्थापित करता है, लोग भी उसके अनुसार बर्तते हैं।'

तीसरा उपाय है—पक्षपातरहित अपने अन्तःकरणमें जो वास्तविक सिद्धान्तके अनुकूल रागद्वेषरहित बात स्फुरित होती है, उसे भी भगवदाज्ञा मानकर काममें लाना, क्योंकि अन्तर्यामी परमात्मा सबके हृदयमें विराजमान हैं।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो-
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

(१५।१५)

अर्थात् 'मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ।'

चौथा उपाय है—जिन कामोंके करनेसे हमारा और लोगोंका अभी और परिणाममें भी परम हित होता दीखता हो, उन्हें भगवदाज्ञा मानकर करना—उसमें भी हमारी अपेक्षा दूसरोंका हित तथा वर्तमानकी अपेक्षा भावीका हित मुख्य है। भगवान् कैसी आज्ञा देंगे, यह उनके स्वभावसे ही समझना

चाहिये। जो भगवान् प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं, हेतुरहित दयालु हैं, सबके परम पिता हैं, उन परमात्माका स्वभाव प्राणिमात्रका हित करना ही है। अतः वे आज्ञा भी अपने स्वभावके अनुकूल ही देंगे।

इन चारों प्रकारोंमेंसे किसी तरहसे भी प्राप्त हुई भगवदाज्ञाको साक्षात् भगवान्‌की दी हुई आज्ञा समझकर परम श्रद्धा और प्रेमके साथ अपना सौभाग्य समझते हुए पालन करना चाहिये। प्रभुकी कृपा और प्रेमका आभारी होना चाहिये। इसीके लिये प्रभु कहते हैं—**'मद्भक्तो भव'** (९।३४)।

(३) **'मद्याजी (भव)'**—मेरा ही पूजन कर। यहाँ भगवान्‌के श्रीविग्रहका तथा सब जीवोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनकी जो सेवा करनी है, वही भगवान्‌की पूजा है। भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त करता है।'

ऐसी पूजा तथा अपना सब कुछ भगवान्‌के समर्पण कर देना ही 'मद्याजी' का तात्पर्य है। भगवान्‌ने कहा—'तू सर्वस्व मेरे ही समर्पण कर दे। अर्थात् अपने मनसे कल्पना की हुई ममता उठा ले।' संसारकी सभी वस्तुएँ परमात्माकी ही हैं। किसी भी वस्तुको न तो हम साथमें लाये हैं, न ले जायँगे तथा इन वस्तुओंको रखनेमें भी हम स्वतन्त्र नहीं हैं। मनकी इच्छाके अनुसार रख नहीं सकते। फिर हमारा क्या है, केवल भूलसे ही वस्तुओंपर अपनापन। उसको उठा लेना ही भगवदर्पण करना है। यह तीसरी बात हुई।

(४) चौथी है—**'मां नमस्कुरु।'** इसका तात्पर्य है आत्मसमर्पण अर्थात् भगवान्‌के विधानमें संतोष। जब अपराधी जिसका अपराध किया है, उसके चरणोंमें गिरकर कहता है—'सरकार! जो इच्छा हो करें, तब उस अपराधीका कोई अधिकार नहीं रह जाता। इसी प्रकार नमस्कार करनेवाला भगवान्‌के सामने अपना कोई अधिकार नहीं समझता। उनकी मर्जी हो, वैसे रखें। वैसे हमने एक यन्त्र किसीको दे दिया। अब वह उसे चाहे जैसे बरत सकता है। उसका उसपर पूर्ण अधिकार है। हमें आपत्ति क्यों हो। इस प्रकार भगवान्‌का भक्त भगवान्‌को अर्पित हो जाता है। उसपर भगवान् सुख या दुःख—जो भेज दें, वह सबमें प्रसन्न ही रहता है। वह सुखकी अपेक्षा दुःख पानेपर और प्रसन्न होता है; क्योंकि वह समझता है कि भगवान् मुझपर बड़े प्रसन्न हैं, तभी तो सब क्रियाएँ निस्संकोच करते हैं। हमारी इन्द्रिय-मन-बुद्धिपर ध्यान न देकर अपने मनकी करते हैं। भगवान् हमारे लिये वही करते हैं, जिसमें हमारा परम हित है। हमें वह भले ही विपरीत दिखायी दे, पर भगवान्‌के कामोंमें कहीं भी भूलकी गुंजाइश नहीं है। भगवान् हमपर दुःख भेजते हैं, इसमें हमारे कई लाभ हैं। एक तो हम पापोंसे सावधान होते हैं; क्योंकि भगवान् पापोंके फलरूपमें पापोंके नाशके लिये दुःख देते हैं। दुःखको पापोंका फल समझकर हम फिर पाप करनेसे डरेंगे। भगवान्‌की कितनी दया है! दूसरा लाभ यह है कि प्रभु हमें अपनानेके लिये परम पवित्र बना रहे हैं। जैसे सुनार जिस सोनेको अपनाना चाहता है, उसे तपाकर और अधिक शुद्ध करता है अथवा जैसे माता अपने बच्चेके मैलको धोती है, साफ करती है; क्योंकि उसको अपने हृदयसे लगाना है, गोदमें लेना है। इस प्रकार कृपालु भगवान् भी अपने भक्तको कष्ट देकर उसे पवित्र करते हैं।'

यही भगवान्‌के शरण होना है। भगवान् कहते हैं कि तू इस प्रकार मेरे शरण होकर मुझे ही प्राप्त कर लेगा। यही शरणागति है और 'मत्परायण' कहकर इसीका वर्णन किया गया है।

★

भगवद्भक्तिका रहस्य

भक्ति भक्त भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक।
इनके पद बंदन किएँ नासत बिघ्न अनेक॥

(१) भक्तिका मार्ग बतानेवाले संत 'गुरु', (२) भजनीय 'भगवान्', (३) भजन करनेवाला 'भक्त' तथा (४) संतोंके उपदेशके अनुसार भक्तकी भगवदाकार वृत्ति 'भक्ति' है। नामसे चार हैं, किंतु तत्त्वतः एक ही हैं।

जो साधक दृढ़ता और तत्परताके साथ भगवान्के नामका जप और स्वरूपका ध्यानरूप भक्ति करते हुए तेजीसे चलता है, वही भगवान्को शीघ्र प्राप्त कर लेता है।

जो जिव चाहे मुक्तिको तो सुमरीजे राम।
हरिया गैलै चालताँ जैसे आवे गाम॥

(१) इस भगवद्भक्तिकी प्राप्तिके अनेक साधन बताये गये हैं। उन साधनोंमें मुख्य है—संत-महात्माओंकी कृपा और उनका सङ्ग। रामचरितमानसमें कहा है—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥

× × ×

भक्ति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥

उन संतोंका मिलन भगवत्कृपासे ही होता है। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥

.... । बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥

.... । सतसंगति संसृति कर अंता॥

असली भगवत्प्रेमका नाम ही भक्ति है। कहा भी है—

पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन।
अस बिचारि पुनि पुनि मुनि करत राम गुन गान॥

इस प्रकारके प्रेमकी प्राप्ति संतोंके सङ्गसे अनायास ही हो जाती है; क्योंकि संत-महात्माओंके यहाँ परम प्रभु परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी कथाएँ होती रहती हैं। उनके यहाँ यही प्रसङ्ग चलता रहता है। भगवान्‌की कथा जीवोंके अनेक जन्मोंमें किये हुए अनन्त पापोंकी राशिका नाश करनेवाली एवं हृदय और कानोंको अतीव आनन्द देनेवाली है। जीवको यज्ञ, दान, तप, व्रत, तीर्थ आदि बहुत परिश्रम-साध्य पुण्य-साधनोंके द्वारा भी वह लाभ नहीं प्राप्त होता, जो सत्सङ्गसे अनायास ही हो जाता है; क्योंकि प्रेमी संत-महात्माओंके द्वारा कथित भगवत्कथाके श्रवणसे जीवोंके पापोंका नाश हो जाता है। इससे अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल होकर भगवान्‌के चरणकमलोंमें सहज ही श्रद्धा और प्रीति उत्पन्न हो जाती है। भक्तिका मार्ग बतानेवाले संत-महात्मा ही भक्तिमार्गके गुरु हैं। इनके लक्षणोंका वर्णन करते हुए श्रीमद्भागवतमें कहा है—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥

(११।११।२९—३१)

'भगवान्‌का भक्त कृपालु, सम्पूर्ण प्राणियोंमें वैरभावसे रहित, कष्टोंको प्रसन्नतापूर्वक सहन करनेवाला, सत्यजीवन, पापशून्य, समभाववाला, समस्त जीवोंका सुहृद्, कामनाओंसे कभी आक्रान्त न होनेवाली शुद्ध बुद्धिसे सम्पन्न, संयमी, कोमलस्वभाव, पवित्र, पदार्थोंमें आसक्ति और ममतासे रहित, व्यर्थ और निषिद्ध चेष्टाओंसे शून्य, हित-मित-मेध्य-भोजी, शान्त, स्थिर, भगवत्परायण, मननशील, प्रमादरहित, गम्भीर स्वभाव, धैर्यवान्, काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सररूप छः विकारोंको जीता हुआ, मानरहित, सबको मान देनेवाला, भगवान्‌के ज्ञान-विज्ञानमें निपुण, सबके साथ मैत्रीभाव रखनेवाला, करुणाशील और तत्त्वज्ञ होता है।'

ऐसे भगवद्भक्त ही वास्तवमें भक्तिमार्गके प्रदर्शक हो सकते हैं।

(२) इस जीवको संसारके किसी भी उच्च-से-उच्च पद या पदार्थकी प्राप्ति क्यों न हो जाय, इसकी भूख तबतक नहीं मिटती, जबतक यह अपने परम आत्मीय भगवान्‌को प्राप्त नहीं कर लेता; क्योंकि भगवान् ही एक ऐसे हैं, जिनसे सब तरहकी पूर्ति हो सकती है। उनके सिवा सभी अपूर्ण हैं। पूर्ण केवल एक वे ही हैं और वे पूर्ण होते हुए भी सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति बिना कारण ही प्रेम और कृपा करनेवाले परम सुहृद् हैं, साथ ही वे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् भी हैं। कोई सर्वसुहृद् तो हो पर सब कुछ न जानता हो, वह हमारे दुःखको न जाननेके कारण उसे दूर नहीं कर सकता और यदि सब कुछ जानता हो पर सर्वसमर्थ न हो तो भी असमर्थताके कारण दुःख दूर नहीं कर सकता। एवं सब कुछ जानता भी हो और समर्थ भी हो, तब भी यदि सुहृद् न हो तो दुःख देखकर भी उसे दया नहीं आती, जिससे वह हमारा दुःख दूर नहीं कर सकता। इसी प्रकार सुहृद् भी हो अर्थात् दयालु भी हो और समर्थ भी हो, पर हमारे दुःखको न जानता हो, तो भी काम नहीं होता तथा सुहृद् और सर्वज्ञ हो, पर समर्थ न हो तो वह हमारे दुःखको जानकर भी दुःख दूर नहीं कर सकेगा; क्योंकि उसकी दुःखनिवारणकी सामर्थ्य ही नहीं। किंतु भगवान्‌में उपर्युक्त तीनों बातें एक साथ हैं।

(३) उन सर्वसुहृद्, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान्‌पर ही निर्भर होकर जो उनकी भक्ति करता है, वही भक्त है। भगवान्‌की भक्तिके अधिकारी सभी तरहके मनुष्य हो सकते हैं। भगवान्‌ने गीताके नवें अध्यायके ३०वें, ३२वें और ३३वें श्लोकमें बतलाया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पापयोनि और दुराचारी—ये सातों ही मेरी भक्तिके अधिकारी हैं।

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है—अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर

लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

'फिर इसमें तो कहना ही क्या है कि पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरे शरण होकर परम गतिको प्राप्त होते हैं।'

यहाँ भगवान्‌ने जातिमें सबसे छोटे और आचरणोंमें भी सबसे गिरे हुए—दोनों तरहके मनुष्योंको ही भगवद्भक्तिका अधिकारी बतलाया। यद्यपि विधि-निषेधके अधिकारी मनुष्य ही होते हैं, तो भी 'पापयोनि' शब्द तो इतना व्यापक है कि इससे गौणीवृत्तिसे पशु-पक्षी आदि सभी प्राणी लिये जा सकते हैं। अब रहे भावसे होनेवाले अधिकारी। श्रीमद्भागवतमें बतलाया है कि कोई भी कामना न हो या सभी तरहकी कामना हो अथवा केवल मुक्तिकी ही कामना हो, तो भी श्रेष्ठ बुद्धिवाला मनुष्य तीव्र भक्तियोगसे परम पुरुष भगवान्‌की ही पूजा करे—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(२।३।१०)

यहाँ 'अकाम' से ज्ञानी भक्त, 'मोक्षकाम' से जिज्ञासु तथा'सर्वकाम' से अर्थार्थी और आर्त भक्त समझना चाहिये। ज्ञानी भक्त वह है जो भगवान्‌को तत्त्वतः जानकर स्वाभाविक ही उनका निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर भजन करता रहता है। जिज्ञासु भक्त उसका नाम है, जो भगवत्तत्त्वको जाननेकी इच्छासे उनका भजन करता है। अर्थार्थी भक्त वह होता है, जो भगवान्‌पर भरोसा करके उनसे ही संसारी भोग-पदार्थोंको चाहता है और आर्त भक्त वह है, जो संसारके कष्टोंसे उन्हींके द्वारा त्राण चाहता है।

गीतामें इन्हीं भक्तोंके सकाम और निष्काम भावोंके तारतम्यसे चार प्रकार बतलाये हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

(७।१६)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं।'

इनमें सबसे निम्नश्रेणीका भक्त अर्थार्थी है, उससे ऊँचा आर्त, आर्तसे ऊँचा जिज्ञासु और जिज्ञासुसे ऊँचा ज्ञानी है। भोग और ऐश्वर्य आदि पदार्थोंकी इच्छाको लेकर जो भगवान्‌की भक्तिमें प्रवृत्त होता है, उसका लक्ष्य भगवद्भजनकी ओर गौण तथा पदार्थोंकी ओर मुख्य रहता है; क्योंकि वह पदार्थोंके लिये भगवान्‌का भजन करता है, न कि भगवान्‌के लिये। वह भगवान्‌को तो धनोपार्जनका एक साधन समझता है, फिर भी भगवान्‌पर भरोसा रखकर धनके लिये भजन करता है, इसलिये वह भक्त कहलाता है।

जिसको भगवान् स्वाभाविक ही अच्छे लगते हैं और जो भगवान्‌के भजनमें स्वाभाविक ही प्रवृत्त होता है, किंतु सम्पत्ति-वैभव आदि जो उसके पास हैं, उनका जब नाश होने लगता है अथवा शारीरिक कष्ट आ पड़ता है; तब उन कष्टोंको दूर करनेके लिये भगवान्‌को पुकारता है, वह आर्त भक्त अर्थार्थीकी तरह वैभव और भोगोंका संग्रह तो नहीं करना चाहता, परंतु प्राप्त वस्तुओंके नाश और शारीरिक कष्टको नहीं सह सकता, अतः इसमें उसकी अपेक्षा कामना कम है और जिज्ञासु भक्त तो न वैभव चाहता है न योगक्षेमकी ही परवा करता है; वह तो केवल एक भगवत्तत्त्वको ही जाननेके लिये भगवान्‌पर ही निर्भर होकर उनका भजन करता है।

भगवान्‌ने यहाँ ज्ञानी, जिज्ञासु, आर्त, अर्थार्थी—ऐसा अथवा अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु, ज्ञानी—ऐसा क्रम न बतलाकर आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ऐसा कहा है। यहाँ आर्त और अर्थार्थीके बीचमें जिज्ञासुको रखनेमें भगवान्‌का यह एक विलक्षण तात्पर्य मालूम देता है कि जिज्ञासुमें जन्म-मरणके दुःखसे दुःखी होना और अर्थके परम अर्थ परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिकी इच्छा—ये दोनों हैं। इस प्रकार आर्त और अर्थार्थी दोनोंके आंशिक धर्म उसमें आ जाते हैं। इसी तरह आर्त और अर्थार्थी भक्तोंमें आर्तिनाश और पदार्थकामनाके अतिरिक्त मुक्तिकी इच्छा भी रहती है, इसलिये भगवान्‌से जो कष्ट-निवृत्ति तथा सांसारिक भोगोंकी प्राप्तिकी कामना की गयी, उस कामनारूप दोषको समझनेपर उनके हृदयमें ग्लानि और पश्चात्ताप भी होता है। अतः आर्त और अर्थार्थी—इन दोनोंमेंसे कोई तो जिज्ञासु होकर भगवान्‌को तत्त्वसे जान लेते हैं और कोई भगवान्‌के प्रेमके पिपासु होकर भगवत्प्रेमको प्राप्त कर लेते हैं एवं अन्ततोगत्वा वे दोनों सर्वथा आप्तकाम होकर ज्ञानी भक्तकी श्रेणीमें चले जाते हैं। ज्ञानी सर्वथा निष्काम होता है, इस सर्वथा निष्कामभावका द्योतन करनेके लिये ही भगवान्‌ने **'च'** शब्दका प्रयोग करके उसे सबसे विलक्षण बतलाया है। ऐसे ज्ञानी भक्तोंकी भगवद्भक्ति सर्वथा निष्काम—अहैतुकी होती है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
(१।७।१०)

'ज्ञानके द्वारा जिनकी चिज्जड-ग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं, क्योंकि भगवान् श्रीहरि ऐसे ही अद्भुत दिव्य गुणवाले हैं।'

भगवान् तो उपर्युक्त सभी भक्तोंको 'उदार' मानते हैं—'**उदाराः सर्व एवैते**' (गीता ७।१८)। अर्थार्थी और आर्त भक्त उदार कैसे? इसका उत्तर यह है कि अपनेसे माँगनेवालों और दुःखनिवारण चाहनेवालोंको भी उदार कहना तो वस्तुतः भगवान्‌की ही उदारता है, परंतु भगवान् इस दृष्टिसे भी उन्हें उदार कह सकते हैं कि वे मेरा पूरा विश्वास करके मुझे अपना अमूल्य समय देते हैं। दूसरी बात यह है कि वे फलप्राप्तिको मेरे भरोसे छोड़कर मेरा आश्रय पहले लेते हैं, तब पीछे मैं उन्हें भजता हूँ (गीता ४।११)। तीसरी बात यह है कि वे देवता आदिका पूजन करके अपना अभीष्ट फल शीघ्र प्राप्त कर सकते थे (गीता ४।१२) और मेरी भक्ति करनेपर तो मैं उनकी कामना पूर्ण करूँ या न भी करूँ, तब भी वे उन देवताओंकी अपेक्षा मुझपर विशेष विश्वास करके मेरा भजन करते हैं। इसलिये वे उदार हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि चाहे जैसे भी हीन जन्म, आचरण और भाववाला मनुष्य क्यों न हो, वह भी भगवद्भक्तिका अधिकारी हो सकता है।

भगवान्‌के साथ अपनेपनको लेकर उनपर दृढ़ विश्वासका होना—यह भक्तहृदयका प्रधान चिह्न है। भक्तोंका हृदय सम्पूर्ण जगत्‌में अव्यक्तरूपसे परिपूर्ण रहनेवाले परमात्माको आकर्षित करके साक्षात् मूर्तरूपमें प्रकट कर लेता है, जैसे भक्त ध्रुव और प्रह्लादके लिये भगवान् साक्षात् प्रकट हो गये थे।

उन सर्वेश्वर प्रभुमें भक्तका हृदय धारावाहिकरूपसे तन्मय हो जाता है। इस प्रकार हृदयकी तल्लीनता तो मारीच, कंस, शिशुपाल आदिकी भाँति भय और द्वेष आदिके कारण भी हो सकती है। किंतु वह तल्लीनता भक्तिमें परिणत नहीं हो सकती; क्योंकि उसे भक्तिरसके आनन्दका अनुभव नहीं होता। जैसे कोई व्यक्ति सर्वलोकपावनी गङ्गाजीमें वैशाखमासमें स्नान करता है तो गङ्गास्नानसे उसके पापोंका नाश होकर अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और उसे स्नान करनेमें भी प्रत्यक्ष ही अपूर्व रसानुभूति—आनन्दानुभव होता है, किंतु जो माघमासमें गङ्गास्नान करता है, उसके पापोंका तो अवश्य नाश हो जाता है, पर शीतके कारण उसे स्नान करनेमें आनन्द नहीं आता, प्रत्युत उसका आनन्दांश तिरस्कृत होकर उसे कष्टका अनुभव होता है। इसी तरह भय-द्वेष आदिके कारण भगवदाकार अन्तःकरणवालोंका आनन्दांश तिरोहित होकर उनका हृदय दुःखित और चिन्तित रहता है। इसलिये उनके अन्तःकरणकी तदाकारता भक्तिमें शामिल नहीं है। अतः भगवान्‌के प्रति आत्मीयताको लेकर दृढ़ विश्वास और प्रेमपूर्वक जो अन्तःकरणका भगवदाकार हो जाना है, वही भक्ति है। किंतु नास्तिकोंकी अपेक्षा तो भय-द्वेष आदिको लेकर भगवान्‌का चिन्तन करनेवाले भी अच्छे हैं। फिर उनका तो कहना ही क्या है जो भगवान्‌का श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निरन्तर निष्काम अनन्य भजन करते हैं। जिस प्रकार गङ्गाकी चाल स्वाभाविक ही निरन्तर समुद्रकी ओर है, इसमें न तो उसका अपना कोई प्रयोजन है और न वह कहीं ठहरती ही है, इसी प्रकार अनन्य भक्त न तो कुछ चाहते ही हैं और न कहीं भगवत्स्मरणसे विराम ही लेते हैं; वे तो नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे भजन ही करते रहते हैं। श्रीनारदजीने भी कहा है—

'**भक्ता एकान्तिनो मुख्याः।**' (सूत्र ६७)

(४) एकमात्र भगवान्‌को इष्ट मानकर उन्हींकी अनन्य भक्ति करना ही सर्वश्रेष्ठ भक्ति है। इसलिये सम्पूर्ण जगत्‌को भगवान्‌का स्वरूप समझकर भी ऐसी भक्तिका साधन किया जा सकता है; क्योंकि स्वयं भगवान् ही जगत्‌के रूपमें प्रकट हुए हैं, इसीलिये यह सारा ब्रह्माण्ड भगवान्‌का ही स्वरूप है एवं देवता आदिमें भगवान्‌की बुद्धि करके भी भक्ति की जा सकती है और इसका फल भी भगवत्प्राप्ति ही है। इस प्रकारकी भगवान्‌की भक्ति करनेवालेमें दो बातें प्रधान होनी चाहिये—साधकमें हो निष्कामभाव और उपास्यमें हो भगवद्बुद्धि। इससे भगवान्‌की प्राप्ति निश्चय ही हो जाती है। किंतु समस्त जगत्‌में भगवद्बुद्धि न होकर भी साधकमें पूर्ण निष्कामभाव हो तो भी उसकी सेवाका फल भगवत्प्राप्ति ही है। भगवान्‌की भक्ति तो सकामभावसे करनेपर भी ध्रुवकी भाँति भगवत्कृपासे अभीष्ट फलकी सिद्धिपूर्वक भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। यदि कोई देवताओंको देवता मानकर भी निष्कामभावसे केवल भगवदाज्ञापालनपूर्वक भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये ही उसकी भक्ति करता है तो उसका फल भी भगवत्प्राप्ति ही होता है। फिर जो स्वयं भगवान्‌की ही निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर अनन्य भक्ति करते हैं, उन अनन्य भक्तोंको भगवान् मिलें—इसमें तो बात ही क्या है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८।१४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

भक्तिमें प्रधान बात है—भगवान्‌का होकर नित्य-निरन्तर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे उन्हींका स्मरण-चिन्तन करते रहना। स्मरणका बड़ा भारी अद्भुत प्रभाव है। भक्तोंकी कथाओंमें प्रायः यही बात विशेष मिलती है कि जहाँ भी जिस भक्तने भगवान्‌को अपना समझकर दृढ़ विश्वासपूर्वक प्रेमभावसे विह्वल होकर भगवान्‌का स्मरण किया, वहीं भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट हो गये।

पद्मपुराणके रामाश्वमेधमें श्रीहनुमान्‌जीकी एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटनाका उल्लेख मिलता है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अश्वमेध-यज्ञके लिये छोड़ा हुआ घोड़ा अनेक देश-देशान्तरोंमें भ्रमण करता हुआ जब रामभक्त राजा सुरथके कुण्डलनगरमें पहुँचा, तब राजाने भगवान्‌के दर्शनकी लालसासे उस घोड़ेको पकड़वा लिया। जब अश्वरक्षक शत्रुघ्न आदिको घोड़ेके पकड़े जानेका पता लगा, तब उन्होंने उनसे युद्ध करके अश्वको छुड़ा लानेका विचार किया। इतनेमें ही धर्मात्मा राजा सुरथ और उनके राजकुमार चम्पक भी रणभूमिमें पहुँच गये तथा दोनों ओरके सैनिक आपसमें लड़ने लगे। राजकुमार चम्पकने भरतकुमार पुष्कलको रामास्त्रका प्रयोग करके बाँध लिया। यह देखकर श्रीहनुमान्‌जीने चम्पकके सामने जाकर युद्ध किया तथा चम्पकको युद्धभूमिमें गिराकर मूर्च्छित कर दिया और पुष्कलको बन्धनसे छुड़ा लिया।

इसपर राजा सुरथने श्रीहनुमान्‌जीकी रामभक्तिकी बड़ी प्रशंसा की और वे उनसे युद्ध करने लगे। जब राजाके छोड़े हुए ब्रह्मास्त्रको श्रीहनुमान्‌जी निगल गये, तब राजाने श्रीरघुनाथजीका स्मरण करके रामास्त्रका प्रयोग किया। उस समय श्रीहनुमान्‌जी बोले—'राजन्! क्या करूँ, तुमने मेरे स्वामीके अस्त्रसे ही मुझे बाँधा है; अतः मैं इसका आदर करता हूँ। अब तुम मुझे इच्छानुसार अपने नगरमें ले जाओ। मेरे प्रभु दयासागर हैं, वे स्वयं ही आकर मुझे छुड़ायेंगे।'

श्रीहनुमान्‌जीके बाँधे जानेपर पुष्कलने राजासे युद्ध किया, किंतु वे अन्तमें मूर्च्छित होकर गिर पड़े। तब शत्रुघ्नने राजासे बहुत देरतक युद्ध किया, पर वे भी राजाके बाणके आघातसे मूर्च्छित होकर रथपर गिर पड़े। यह देखकर सुग्रीव उनसे लड़ने गये, पर राजाने उनको भी रामास्त्रका प्रयोग करके बाँध लिया।

तदनन्तर राजा सुरथ उन सबको रथमें डालकर अपने नगरमें ले गये। वहाँ जाकर वे राजसभामें बैठे और बँधे हुए हनुमान्‌जीसे बोले—'पवनकुमार! अब तुम भक्तोंके रक्षक परम दयालु श्रीरघुनाथजीका स्मरण करो, जिससे संतुष्ट होकर वे तुम्हें तत्काल बन्धनमुक्त कर दें।' श्रीहनुमान्‌जीने अपने सहित सब वीरोंको बँधा देखकर कमलनयन परम कृपालु श्रीरामचन्द्रजीका अनन्यभावसे स्मरण किया। वे मन-ही-मन कहने लगे—

हा नाथ हा नरवरोत्तम हा दयालो
सीतापते रुचिरकुण्डलशोभिवक्त्र।
भक्तार्तिदाहक मनोहररूपधारिन्
मां बन्धनात् सपदि मोचय मा विलम्बम्॥
(पद्म०, पाताल० ५३।१४)

'हा नाथ! हा पुरुषोत्तम! हा सुन्दर कुण्डलसे सुशोभित वदनवाले, भक्तोंके दुःख दूर करनेवाले तथा मनोहर विग्रह धारण करनेवाले दयालु सीतापते! मुझे इस बन्धनसे शीघ्र मुक्त कीजिये, देर न लगाइये।'

श्रीहनुमान्‌जीके इस प्रकार प्रार्थना करते ही तुरंत भगवान् श्रीरामचन्द्रजी पुष्पक विमानपर आरूढ़ होकर वहाँ आ पहुँचे। भगवान्‌को पधारे देख राजा सुरथ प्रेममग्न हो गये और उन्होंने भगवान्‌को सैकड़ों बार प्रणाम किया। श्रीरामने भी चतुर्भुजरूप धारण करके अपने भक्त सुरथको छातीसे लगा लिया और आनन्दाश्रुओंसे उसका मस्तक अभिषिक्त करते हुए कहा—'राजन्! तुम धन्य हो, आज तुमने बड़ा पराक्रम दिखाया है।' फिर भगवान्‌ने श्रीहनुमान्, सुग्रीव, शत्रुघ्न, पुष्कल आदि सभी योद्धाओंपर दयादृष्टि डालकर उन्हें बन्धन और मूर्च्छासे मुक्त किया। उन्होंने उठकर भगवान्‌को प्रणाम किया। राजा सुरथने प्रसन्नतापूर्वक अपना राज्य भगवान् रामको समर्पित कर दिया। भगवान् तीन दिन कुण्डलनगरमें रहे, फिर राजा सुरथको ही राज्य सौंपकर उनकी सम्मति ले वहाँसे चले गये। तब राजा सुरथ अपने राजकुमार चम्पकको राज्यभार देकर शत्रुघ्नके साथ अश्वकी रक्षाके लिये चल पड़े।

यहाँ हमें भक्त हनुमान् और राजा सुरथके भक्तिभाव-पूर्वक किये हुए स्मरणके प्रभावपर ध्यान देना चाहिये। उनकी अनन्य भक्तिसे आकृष्ट होकर भगवान् तुरंत वहाँ पहुँच गये। भगवान्‌के प्रेमपूर्वक अनन्य स्मरणका बड़ा भारी माहात्म्य है। भक्त सुधन्वाकी कथा देखिये, भगवान्‌के स्मरणके प्रभावसे अत्यन्त प्रतप्त तेल भी उनके लिये अतिशय शीतल हो गया

तथा अर्जुनके साथ युद्ध करते समय भी उनमें जगह-जगह भगवत्स्मरणका प्रभाव दिखायी पड़ता है।

जब अर्जुनने भगवान्‌का स्मरण करके तीन बाण निकालकर प्रतिज्ञा की कि इन तीन ही बाणोंसे मैं सुधन्वाका मस्तक काट डालूँगा; यदि ऐसा न कर सकूँ तो मेरे पूर्वज पुण्यहीन होकर नरकमें गिर पड़ें तब ठीक इसके विरुद्ध सुधन्वाने भगवान्‌का स्मरण करके प्रतिज्ञा की कि इन तीनों ही बाणोंको मैं अपने बाणोंसे काट डालूँगा, यदि ऐसा न कर सकूँ तो मुझे घोर गति प्राप्त हो। भगवान्‌ने इन दोनों ही भक्तोंकी भगवत्स्मरणपूर्वक की गयी प्रतिज्ञाको सच्चा किया। भक्त अर्जुनकी रक्षाके लिये भगवान्‌ने पहले बाणको अपने गोवर्धनका पुण्य अर्पित करके बाण छोड़नेका अर्जुनको आदेश दिया। अर्जुनने तदनुसार बाण छोड़ा, किंतु सुधन्वाने भगवान्‌को याद करके अपने बाणसे उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये, तब भगवान्‌ने अर्जुनको दूसरा बाण सन्धान करनेकी आज्ञा दी और साथ ही उसे अपने अन्य अनेक पुण्य अर्पण किये। अर्जुनके दूसरा बाण छोड़ते ही सुधन्वाने उसे भी भगवान्‌का स्मरण करके काट डाला। अब तीसरा बाण रहा, भगवान्‌ने उसे अपने रामावतारका पुण्य अर्पण कर दिया तथा उसके पिछले भागमें ब्रह्माजी और बीचमें कालको जोड़कर अग्रभागमें स्वयं जा विराजे एवं अर्जुनको बाण चलानेकी आज्ञा दी। जब अर्जुनने तीसरा बाण छोड़ा, तब सुधन्वाने भगवान्‌से कहा—'भगवन्! आप स्वयं इस बाणमें विराजमान हैं, यह मैं जान गया हूँ। अब आप मुझे अपने चरणोंमें आश्रय देकर कृतार्थ करें।' यों कहकर भगवान्‌का स्मरण करते हुए उन्होंने अपने बाणसे उसके भी दो टुकड़े कर दिये। उन दो टुकड़ोंमेंसे पिछला भाग पृथ्वीपर गिर पड़ा तथा अग्रभागवाला टुकड़ा जिसपर भगवान् श्रीकृष्ण विराजे थे, उछला और उसने सुधन्वाका मस्तक काट डाला। सुधन्वाका सिर कटकर भगवान्‌के चरणोंमें आ गिरा। अपने सम्मुख भगवान्‌का दर्शन करते हुए उसके मुखसे एक ज्योति निकलकर भगवान्‌में प्रवेश कर गयी।

अतएव भगवत्स्मृतिके प्रभावको लक्ष्यमें रखकर हमें भी प्रत्येक क्रिया भगवान्‌का स्मरण रखते हुए ही करनी चाहिये। सांसारिक कार्य करते हुए भी नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण होते रहना चाहिये। परंतु जब एकान्तमें भगवान्‌का भजन, स्मरण, सेवा-पूजा आदि नित्यकर्मके लिये बैठें, उस समय तो संसारका स्मरण किञ्चित् भी न हो—ऐसा विशेष खयाल रखनेकी आवश्यकता है। भगवत्स्मरण नित्य-निरन्तर होनेके लिये भगवान्‌में अनन्य प्रेम, सत्पुरुषोंका सङ्ग, सच्छास्त्रोंका मननपूर्वक स्वाध्याय, भगवान्‌के नामका जप, भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना, भगवत्कृपासे निरन्तर स्मृति बनी रहनेका दृढ़ विश्वास और हर समय सावधानीपूर्वक उस स्मृतिको बनाये रखनेकी चेष्टा—ये सात विशेष सहायक हैं। इन सातोंका अनुष्ठान करते हुए जो एकमात्र भगवान्‌का ही अनन्य स्मरण करता है, उसकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंका नाश हो जाता है और उसे शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌के स्मरणका प्रभाव और माहात्म्य क्या बतलाया जाय—

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे॥

'जिसके स्मरणमात्रसे मनुष्य आवागमनरूप बन्धनसे छूट जाता है, सबको उत्पन्न करनेवाले उस परम प्रभु श्रीविष्णुको बार-बार नमस्कार है।'

भगवद्भजनका स्वरूप

श्रीभगवान् कहते हैं—

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।'

—इस भगवद्वचनके अनुसार हमें तुरन्त भगवद्भजनमें लग जाना चाहिये। श्रीभगवान्ने इस श्लोकार्धमें बतलाया कि **'अनित्यम् असुखम् इमम् लोकम् प्राप्य माम् भजस्व।'** अनित्य कहनेका तात्पर्य यह है कि देर न करो, क्या पता है—

दम आया न आया खबर क्या है ?

यदि अभी श्वास बंद हो जाय तो फिर कुछ भी न हो सकेगा। विचारी हुई बातें सब वैसी-की-वैसी ही रह जायँगी। सब गुड़ गोबर हो जायगा, क्योंकि शरीर क्षणभङ्गुर है, यह एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, प्रतिक्षण बड़ी तेजीसे जा रहा है और जा रहा है उस मृत्युकी ओर, जिसको कोई नहीं चाहता। वही मृत्यु प्रतिक्षण समीप आ रही है। प्रतिघंटा ९०० श्वास जा रहे हैं, २४ घंटोंमें २१६०० श्वास चले जाते हैं। जरा इस ओर ध्यान देना चाहिये। खर्च तो यह हो रहा है और कमाई क्या कर रहे हैं ? किस बातकी प्रसन्नता है ?

छः सौ सहस इकीस दम जावत हैं दिन रात।
एतो टोटो ताहि घर काहेकी कुसलात॥

दूसरा पद कहा है— **'असुखम्'** यानी यहाँ इस लोकमें सुख नहीं है। यह लोक सुखरहित है। इतनी ही बात नहीं है, भगवान् तो कहते हैं—**'दुःखालयमशाश्वतम्।'** दुःखालय है; किंतु हम तो इसमें ठीक इसके विपरीत सुख ढूँढ़ते हैं, यह

कितने आश्चर्यकी बात है। जैसे कोई आदमी विद्यालयमें धोती आदि कपड़े खोजे, औषधालयमें मिठाईका भाव पूछे वैसे ही हम इस दुःखालयमें सुख ढूँढ़ रहे हैं। इस संसारमें सुखकर वस्तुएँ मानी जाती हैं—धन, स्त्री, पुत्र, घर और भोग। इन सबमें विचार करके देखें तो वास्तवमें सुख है ही नहीं, आदि-अन्तमें सर्वत्र दुःख-ही-दुःख है।

यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है कि हमें वही वस्तु सुख दे सकती है, जिसका हमारे पास अभाव है और हम जिसे चाह रहे हैं। उसके लिये चाहना जितनी ही बलवती होगी, उतना ही उस वस्तुके मिलनेपर सुख अधिक होगा। अभाव रहते हुए भी यदि उसके अभावका अनुभव नहीं है यानी उसके लिये छटपटाहट नहीं है तो वह वस्तु प्राप्त होकर भी हमें सुखी नहीं बना सकती। अतः धन आदि पदार्थोंसे सुख प्राप्त करनेके लिये पहले धनके अभावका दुःख अत्यावश्यक है। यह तो हुआ वस्तुके होनेसे पहले होनेवाला दुःख। फिर वे धनादि पदार्थ मनोरथके अनुसार प्रायः मिलते नहीं। यह हुआ दूसरा दुःख। मिल भी जायँ तो हमसे दूसरेको अधिक मिल जाते हैं तो वह एक नया दुःख खड़ा हो जाता है, यह हुआ तीसरा दुःख। और मिलनेपर उसके नाशकी आशङ्का बनी ही रहती है, जो महान् चिन्ताका कारण है। यह हुआ चौथा दुःख। एवं होकर नष्ट हो जानेपर तो बहुत ही कष्ट भोगना पड़ता है। उस समय जो दुःख होता है, वह उसके अभावके समय भी नहीं था। यह हुआ पाँचवाँ दुःख। श्रीपतञ्जलिने कहा है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

'परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख—ऐसे तीन प्रकारके दुःख सबमें विद्यमान रहनेके कारण और तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकीके लिये सब-के-सब (कर्मफल) दुःखरूप ही हैं।'

मायाकी मोहनी शक्तिसे ही यह अनुभव होता है कि धनादि पदार्थोंके इतने रूपमें प्राप्त हो जानेपर हम बहुत सुखी हो जायँगे। ऐसी आशा और कथन तो हम सुनते आ रहे हैं; पर अभीतक ऐसा संसारी मनुष्य कोई नहीं मिला, जो यह कह दे कि हम पूर्ण सुखी हो गये हैं। प्रत्युत यह कहते तो प्रायः सभी देखे जाते हैं कि 'हम तो पहलेसे भी अधिक दुःखी हैं।' कहा भी है—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं
गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे
छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति॥

'जबतक समुद्रको पार करनेकी तरह एक दुःखका अन्त नहीं होता कि उसी बीचमें दूसरा दुःख आ धमकता है; ठीक ही तो है अभावोंमें तो अनर्थोंकी बहुलता होती ही है।'

एक वस्तुके अभावका अनुभव होनेपर उसकी पूर्तिके लिये चेष्टा करते हैं, किंतु प्रायः उसकी सिद्धि होती नहीं; कहीं दैवसंयोगसे हो भी जाती है तो फिर उसमें कई अन्य नये-नये अभावोंकी सृष्टि होने लगती है, जिनकी कि पहले कभी सम्भावना ही नहीं थी। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

'विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे होनेवाले जितने भी सांसारिक सुख हैं, सब-के-सब ही दुःखयोनि यानी दुःखोंकी प्रसवभूमि—दुःखोंको पैदा करनेवाली खानें हैं, एवं उत्पत्ति और विनाशसे संयुक्त हैं। अतः हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी मनुष्य उनमें नहीं रमता।'

विचार करके देखा जाय तो किसी भी सांसारिक प्राणीको अपनी परिस्थितिमें पूर्ण सुख और संतोष नहीं है; क्योंकि वह उससे भी और अधिक सुखके लिये सदा लालायित तथा प्रयत्नशील रहता है। शास्त्रमें बतलाया है—

न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः।
यत् सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तशीलिनः॥

किसी राजस्थानी कविने बड़ा ही सुन्दर कहा है—

ना सुख काजी पण्डिताँ ना सुख भूप भयाँ।
सुख सहजाँ ही आवसी तृष्णा-रोग गयाँ॥

तीसरी बात कहते हैं कि '**इमं लोकं प्राप्य**'। यहाँ '**इमं लोकम्**' इन पदोंसे संकेत है मनुष्य-शरीरकी ओर; भगवान् कहते हैं कि इस मानव-शरीरको प्राप्त करके तो मेरा भजन ही करना चाहिये, क्योंकि—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

अतएव इस मानव-देहको प्राप्त करके तो केवल भगवद्भजन ही करना चाहिये; क्योंकि दूसरे-दूसरे काम तो अन्यान्य शरीरोंमें भी हो सकते हैं, पर भजनका अवसर तो केवल इसी शरीरमें है। देवादि शरीरोंमें तो भोगोंकी भरमार है तथा वहाँ अधिकार न होनेसे भी भजन कर नहीं सकते और नरकोंमें केवल पापोंके फलोंका भोग होता है, वहाँ नया कर्म करनेका न अधिकार है और न उनको कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान ही है। इसी प्रकार अन्य चौरासी लाख योनियोंमें भी कर्तव्या-कर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता तथा साधन-सामग्री नहीं

और अधिकार भी नहीं। अधिकार, ज्ञान और सामग्री—ये तीनों केवल इस मानव-शरीरमें ही हैं। कहीं-कहीं पशु-पक्षी आदिकोंमें भी भगवद्भक्ति आदि देखनेमें आती है तो वे अपवादस्वरूप ही हैं।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

इस कथनपर हमें ध्यान देकर विचार करना चाहिये। जो मनुष्य-शरीर पाकर साधन नहीं करते, वे कहते हैं—'यह कलियुग है। समय बड़ा बुरा है। इस समय चारों ओर पाप-ही-पापका प्रचार हो रहा है; सत्य, अहिंसा आदि धर्मोंका पालन तथा भगवद्भजन हो ही नहीं सकता। यह कलिकाल बड़ा विकराल युग है, सबकी बुद्धि अधर्ममें लग रही है, क्या करें, समयकी बलिहारी है। जब सब-का-सब वायुमण्डल ही बिगड़ा हुआ है, तब एक मनुष्य क्या कर सकता है। यदि हम समयके अनुसार न चलें तो निर्वाह होना कठिन है और उसके अनुसार चलें तो पारमार्थिक साधन नहीं बन पाता।' किंतु इसपर हमें विचार करना चाहिये, क्या हम सचमुच समयके अनुसार चलते हैं ? कभी नहीं। जब शीतकाल आता है, तब गर्म कपड़े बनवाते हैं, आग आदिका यथोचित प्रबन्ध करते हैं, घरमें कमरा बंद करके रहते हैं—क्या यह समयके प्रतिकूल चलना नहीं है ? ऐसे ही गर्मीके दिनोंमें ठंडे जल आदिका प्रयोग करते हैं, गर्मीसे बचनेके लिये सतत सावधान रहते हैं और वर्षामें भी यथायोग्य उपायोंसे भी त्राण पानेकी चेष्टा करते ही रहते हैं। अर्थात् सभी समय शरीरकी प्रतिकूलताके निवारण, उससे रक्षा एवं शरीरके अनुकूल सामग्री जुटानेके लिये चेष्टा करते रहते हैं। इसी प्रकार हमें कलिकालसे आध्यात्मिकताको बचानेकी चेष्टा करनी चाहिये। जैसे शरीरकी रक्षा न करनेपर शरीरका नाश हो जाता है, ऐसे ही आध्यात्मिक जीवनकी रक्षा न करनेसे उस लाभसे सर्वथा वञ्चित रहनेके लिये बाध्य होना पड़ेगा।

अतः समयको दोष देना मिथ्या है; क्योंकि आध्यात्मिक उन्नतिके लिये कलियुग बहुत उत्तम माना जाता है। कारण, इसमें भगवद्भजनका मूल्य बहुत मिलता है, बड़े सस्तेमें मुक्ति मिल जाती है, जैसी कि दूसरे युगोंमें सम्भव नहीं थी। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

इसलिये बिना प्रयास ही जिसमें संसारसमुद्रसे पार पहुँचा जा सके, ऐसे कलियुगको दोष देना सरासर भूल है।

इसी प्रकार जिन कर्मोंके फलस्वरूप मुक्तिका साधनरूप मानव-शरीर प्राप्त हुआ है, उन कर्मोंको दोष देना भी मिथ्या है। क्योंकि—

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
बड़े भाग पाइब सतसंगा। बिनहिं प्रयास होहिं भव भंगा॥

ईश्वरने भी बड़ी भारी कृपा कर दी कि जिससे कर्मोंका सब सम्बन्ध जुटाकर यानी इस समय मानव-शरीरके योग्य कर्म न रहनेपर भी मानव-शरीर देकर आत्मोद्धारके लिये सुअवसर दे दिया। एक राजस्थानी कविने कहा है—

करुणाकर कीन्हीं कृपा, दीन्हीं नटवर देह।
ना चीन्हीं कृतहीन नर खल कर दीन्हीं खेह॥

'करुणानिधि भगवान्ने कृपा करके श्रेष्ठ मनुष्य-शरीर दे दिया, परंतु मूर्ख और कृतघ्न मनुष्यने उस शरीरको पहचाना नहीं; प्रत्युत उसे यों ही मिट्टीमें मिला दिया।'

ऐसे अकारण कृपालुको यह कहकर कि 'क्या करें, भगवान्ने हमें ऐसा ही बना दिया, उन्होंने हमको संसारी बनाकर घरके काम-धंधोंमें फँसा दिया, कैसे भजन करें, भगवान्की मर्जी ही ऐसी है, वे कराते हैं तभी हम ऐसा करते हैं'—इत्यादि दोष देना मिथ्या है। तात्पर्य यह कि मनुष्य स्वयं तो उद्योग करता नहीं और दोषारोपण करता है दूसरोंपर तथा आप रहना चाहता है निर्दोष। ऐसे काम कबतक चलेगा—

'कैसे निबहै रामजी रुई-लपेटी आग ?'

अतः विवेकपूर्वक विचार करके अपनी वास्तविक उन्नतिके लिये कटिबद्ध होकर तत्परतासे खूब उत्साहके साथ लग जाना चाहिये।

भगवान्ने चौथी बात कही है—**'मां भजस्व।'** मुझको भजो। अब विचारना यह है कि भगवान्का स्वरूप क्या है और उसका भजन क्या है। आजतक जैसा देखा, जैसा सुना और पढ़ा तथा उसके अनुसार भगवान्का साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण आदि जैसा स्वरूप समझा, वही है भगवान्का स्वरूप और इस प्रकार भगवान्के स्वरूपको सर्वोपरि तथा परम प्रापणीय समझकर एकमात्र उनके शरण हो जाना ही भजन है। अर्थात् जिह्वासे भगवान्के नामका जप, मनसे उनके स्वरूपका चिन्तन और बुद्धिसे उनका निश्चय करना तथा शरीरसे उनकी आज्ञाओंका पालन करना; एवं सब कुछ उन्हींके समर्पण कर देना और उनके प्रत्येक विधानमें परम संतुष्ट रहना—यह है भगवद्भजन।

अब भगवद्भजनरूप शरणागतिके उक्त चारों प्रकारोंका कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है।

भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करते हुए उनके परम पावन नामका नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे परम श्रद्धापूर्वक जप करना और उन्हीं भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला आदिका मनन, चिन्तन, श्रवण और कथन करते रहना एवं चलते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते हर समय भगवान्‌की स्मृति रखना—यह शरणका पहला प्रकार है।

दूसरा प्रकार है—भगवान्‌की आज्ञाओंका पालन करना। इसमें केवल इस बातकी ओर ध्यान देना है कि कहीं मन इन्द्रियोंके और शरीरके कहनेमें आकर केवल उनकी अनुकूलतामें ही न लग जाय; बल्कि यह विचार बना रहे कि भगवान्‌की आज्ञा क्या है—और यही विचारकर काम करता रहे। भगवदाज्ञा क्या है ? और वह कैसे प्राप्त हो ? इसका उत्तर यह है कि एक तो श्रीमद्भगवद्गीता-जैसे भगवान्‌के श्रीमुखके वचन हैं ही। दूसरे भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके वचन भी भगवदाज्ञा ही हैं; क्योंकि जिस अन्तःकरणमें स्वार्थ और अहंकार नहीं रहा, वहाँ केवल भगवान्‌की आज्ञासे ही स्फुरणा और चेष्टाएँ होती रहती हैं। तीसरे उन महापुरुषोंके आचरण भी हमारे लिये आदर्श हैं; क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार बर्तने लग जाता है।'

चौथे, साधकके अपने राग-द्वेषरहित अन्तःकरणकी स्फुरणा भी भगवदाज्ञा समझी जा सकती है। पाँचवें, कोई भी मनुष्य अपने स्वभावके अनुकूल ही आज्ञा देता है, अतः उन परम दयालु प्रभुके स्वभावको समझना चाहिये। श्रीभगवान् आज्ञा देंगे तो अपने स्वभावके अनुसार ही तो देंगे, और वे हैं सर्वसुहृद्। इससे जिस कार्यमें अपने स्वार्थका त्याग और जीवमात्रका परम कल्याण हो, जिसमें किसीका भी अहित न हो, वह श्रीभगवान्‌की आज्ञा है। इस प्रकार उनकी आज्ञाका रहस्य समझकर उसके अनुकूल चलनेमें कभी कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये; बल्कि उसीको अपना परम धर्म समझकर उसीके अनुसार चलनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये—'**स्वधर्मे निधनं श्रेयः**।'

तीसरा प्रकार है—सर्वस्व प्रभुके समर्पण कर देना। वास्तवमें तो सब कुछ है ही भगवान्‌का, क्योंकि न तो हम जन्मके समय कुछ साथ लाये और न जाते समय कुछ ले ही जायँगे; तथा न यहाँ रहते हुए भी किसी भी वस्तु तथा शरीरादिकोंको हम अपने मनके अनुसार चला ही सकते हैं। इससे यह बात स्पष्ट समझमें आती है कि हमारा कुछ भी नहीं है, सब कुछ केवल भगवान्‌का ही है और उन्हींके अधीन है। फिर भी हमने उन सबमें भ्रमसे जो अपनापन बना रखा है, उसे उठा लेना है।

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

चौथा प्रकार है—भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें परम प्रसन्न रहना। उसमें भी अनुकूलतामें तो प्रसन्नता रहती ही है, प्रतिकूलतामें वैसी नहीं रहती। वास्तवमें तो अनुकूलतामें जो प्रसन्नता रहती है, वह भगवद्विधान मानकर होनेवाली प्रसन्नता नहीं है; वह तो मोहके कारण है। भाव यह कि अपने शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणकी अनुकूलताको लेकर जो प्रसन्नता होती है, वह मोहजनित है। उसे विवेकके द्वारा हटाकर 'भगवान्‌ने ही यह विधान किया है और यह मेरे लिये परम मङ्गलमय है'—इस प्रकार समझनेपर जो प्रसन्नता होगी, वही भगवान्‌के नाते होगी। फिर प्रतिकूलतामें भी दुःखकी बात नहीं रह जायगी। इस प्रकार भगवान्‌का विधान मान लेनेपर अनुकूल-प्रतिकूल सभी अवस्थाओंमें भगवान्‌की स्मृति बढ़ती रहेगी; क्योंकि वह परिस्थिति भगवान्‌की ही बनायी हुई है, यह प्रत्यक्ष अनुभव होनेपर फिर मनुष्य भगवान्‌को कैसे भूल सकेगा। ऐसा हो जाय, तभी यह समझा जा सकता है कि हमने सभी अवस्थाओंको भगवान्‌का विधान समझा है।

विचारकर देखनेसे मन, इन्द्रियाँ और शरीरकी प्रतिकूल घटनामें एक लाभ और है। अनुकूल घटनासे पुण्य क्षीण होते हैं और प्रतिकूल घटनासे पाप नष्ट होते हैं। तथा पापोंका विनाश ही हमारे लिये हित है एवं पुण्योंका विनाश ही हमारे लिये अहितकर है। दूसरी बात यह है कि प्रतिकूलतामें ही मनुष्यका विकास होता है, अनुकूलतामें तो उन्नतिकी रुकावट होती है। अतः प्रभु जितनी ही प्रतिकूलता भेजते हैं, उतना ही वे हमारा परम हित कर रहे हैं। बच्चेके जब मैला लग जाता है और माँ उसे धोती है, तब बालकको उसका स्नान कराना बुरा लगता है। वह रोता है, चिल्लाता है, किंतु माँ उसकी इच्छाकी कोई परवा न करके उसे साफ कर ही देती है। ऐसे ही पापोंका विनाश करनेमें प्रभु हमारी सलाह न लेकर, हमारे रोने और चिल्लानेकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर हमें शुद्ध कर ही देते हैं। और जैसे सुनार जिस सोनेको अपनाना चाहता है, उसको अधिक साफ करता है, वैसे ही प्रभु किसी भक्तको पूर्वपापोंके अनुसार अधिक कष्ट देते हैं, उसे यह समझना चाहिये कि अब प्रभु मुझे अपना रहे हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष ही मेरे पापोंका विनाश कर रहे हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
करोमि बन्धुविच्छेदं स तु दुःखेन जीवति॥

'जिसपर मैं कृपा करता हूँ, धीरे-धीरे उसका समस्त धन हर लेता हूँ तथा उसके बन्धु-बान्धवोंसे वियोग कर देता हूँ, जिससे वह दुःखपूर्वक जीवन धारण करता है।'

एक बात और विचारनेकी है, भगवान् जब हमारे मनकी सुन लेते हैं अर्थात् हमारे अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं, तब हमें संकोच होना चाहिये कि कहीं भगवान्ने हमारा मन रखकर हमारे लिहाजसे तो ऐसा नहीं कर दिया है। यदि हमारा मन रखनेके लिये किया है तो यह ठीक नहीं होगा; क्योंकि मनचाहा करते-करते तो बहुत-से जन्म व्यतीत कर दिये, अब तो ऐसा नहीं होना चाहिये। अब तो वही हो, जो भगवान् चाहते हैं। बस, भक्तकी यही चाह रहती है। अतः वह भगवान्के विधानमात्रमें परम प्रसन्न रहता है, फिर चाहे वह विधान मन, इन्द्रिय और शरीरके प्रतिकूल हो या अनुकूल। क्योंकि केवल प्रभुका विधान मानकर चलनेपर तो अनुकूलता-प्रतिकूलता दोनोंमें परम मङ्गल-ही-मङ्गल भरा है। अतः वह अपना मनोरथ भगवान्से अलग नहीं रखता, भगवान्की चाहमें ही अपनी चाहको मिला देता है।

इस प्रकार भगवान्का चिन्तन, भगवदाज्ञापालन, सब कुछ भगवान्के अर्पण कर देना और भगवद्विधानमें परम प्रसन्न रहना ही भगवद्भजन है।

अतएव हम सबको चाहिये कि बहुत शीघ्र भगवद्भजनके ही परायण हो जायँ। ऐसे परायण हो जायँ कि भगवान्का भजन करते-करते वाणी गद्गद हो जाय, चित्त द्रवित हो जाय, मन भगवान्में ही लग जाय। फिर भजन करना न पड़े, स्वाभाविक ही होने लग जाय, तभी भजन भजन है, नहीं तो भजनकी नकल है, क्योंकि जो भजन किया जाय, वह नकली होता है और जो स्वतः बनने लग जाय, वह असली होता है। न होनेसे तो भजनकी नकल भी बड़ी अच्छी है, नकलसे भी आगे जाकर असली बन सकता है। इसलिये भगवान्ने कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

'सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन करना चाहिये।'

भक्तिकी सुलभता

विचार करनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आजके मनुष्यका जीवन स्वकीय शिक्षा, सभ्यता और संस्कृतिके परित्यागके कारण विलासयुक्त होनेसे अत्यधिक खर्चीला हो गया है। जीवन-निर्वाहकी आवश्यक वस्तुओंका मूल्य अधिक बढ़ गया है। व्यापार तथा नौकरी आदिके द्वारा उपार्जन बहुत कम होता है। इन कारणोंसे मनुष्योंको परमार्थ-साधनके लिये समयका मिलना बहुत ही कठिन हो रहा है और साथ-ही-साथ केवल भौतिक उद्देश्य हो जानेके कारण जीवन भी अनेक चिन्ताओंसे घिरकर दुःखमय हो गया है। ऐसी अवस्थामें कृपालु ऋषि-मुनि एवं संत-महात्माओंद्वारा त्रिताप-संतप्त प्राणियोंको शीतलता तथा शान्तिकी प्राप्ति करानेके लिये ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, हठयोग, अष्टाङ्गयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग आदि अनेक साधन कहे गये हैं और वे सभी साधन वास्तवमें यथाधिकार मनुष्योंको परमात्माकी प्राप्ति कराकर परम शान्ति प्रदान करनेवाले हैं। परंतु इस समय कलि-मलग्रसित विषय-वारि-मनोमीन प्राणियोंके लिये—जो अल्प आयु, अल्प शक्ति तथा अल्प बुद्धिवाले हैं—परम शान्ति तथा परमानन्दप्राप्तिका अत्यन्त सुलभ तथा महत्त्वपूर्ण साधन एकमात्र भक्ति ही है। उस भक्तिका स्वरूप प्रीतिपूर्वक भगवान्‌का स्मरण ही है, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें भक्तिके लक्षण बतलाते हुए भगवान् श्रीकपिलदेवजी अपनी मातासे कहते हैं—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥

(३। २९। ११—१४)

अर्थात् जिस प्रकार गङ्गाका प्रवाह अखण्डरूपसे समुद्रकी ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे मनकी गतिका तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तममें निष्काम और अनन्य प्रेम होना—यह निर्गुण भक्तियोगका लक्षण कहा गया है। ऐसे निष्काम भक्त, दिये जानेपर भी, मेरे भजनको छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्षतक नहीं लेते। भगवत्सेवाके लिये मुक्तिका भी तिरस्कार करनेवाला यह भक्तियोग ही परम पुरुषार्थ अथवा साध्य कहा गया है। इसके द्वारा पुरुष तीनों गुणोंको लाँघकर मेरे भावको—मेरे प्रेमरूप अप्राकृत स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

इसी प्रकार श्रीमधुसूदनाचार्यने भी भक्तिरसायनमें लिखा है—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥

अर्थात् भागवत-धर्मोंका सेवन करनेसे द्रवित हुए चित्तकी भगवान् सर्वेश्वरके प्रति जो तैलधारावत् अविच्छिन्न वृत्ति है, उसीको भक्ति कहते हैं।

उपर्युक्त लक्षणोंसे सिद्ध होता है कि अनन्य भावयुक्त भगवत्स्मृति ही भगवद्भक्ति है।

भगवद्वचनामृतस्वरूप परम गोपनीय एवं रहस्यपूर्ण ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीताके आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनद्वारा किये हुए सात प्रश्नोंमेंसे अन्तिम प्रश्न यह है कि 'हे भगवन्! आप अन्त समयमें जाननेमें कैसे आते हैं? अर्थात् मृत्युकालमें आप प्राणियोंद्वारा कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं?' इसका उत्तर देते हुए उसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें कहा गया है कि 'अन्तकालमें भी जो केवल मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, वह निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होता है। अतः हे अर्जुन! तू सभी समयोंमें मेरा ही स्मरण कर तथा युद्ध (कर्तव्य-कर्म) भी कर। इस प्रकार मुझमें मन-बुद्धिको लगाये हुए तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा (गीता ८।७)।' ऐसे ही सगुण-निराकार परमात्म-स्वरूपकी प्राप्तिके विषयमें भगवान् कहते हैं—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥

(गीता ८।८)

अर्थात् हे पृथानन्दन! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त, अन्य ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ प्राणी परमप्रकाशस्वरूप दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है। फिर आगेके श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥

(गीता ८।९)

अर्थात् जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियामक, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्य-स्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन, प्रकाशस्वरूप एवं अविद्यासे अति परे शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माको स्मरण करता है, वह परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है।

इसी अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें निर्गुण-निराकार परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके विषयमें उस परब्रह्मकी प्रशंसा तथा बतलानेकी प्रतिज्ञा करके बारहवें श्लोकमें उस परमात्माकी प्राप्तिकी विधि बतलाते हुए आगेके श्लोकमें कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

(गीता ८।१३)

अर्थात् 'जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और (उसके अर्थस्वरूप) मेरा चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है।'

इसी प्रकार भगवान्ने सगुण-स्वरूप तथा निर्गुण-स्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके उपाय बतलाये, परंतु दोनों साधनोंमें योगके अभ्यासकी अपेक्षा होनेके कारण साधनमें कठिनता है, अतः अब आगे अपनी प्राप्तिकी सुलभता बताते हुए भगवान् अपने प्रिय सखा कुन्तीनन्दन अर्जुनके प्रति कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८।१४)

'हे पृथापुत्र अर्जुन! जो मनुष्य नित्य-निरन्तर अनन्य चित्तसे मुझ परमेश्वरका स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ—वह सुगमतापूर्वक मुझे पा सकता है।'

अब आप देखेंगे कि गीताभरमें 'सुलभ' पद केवल इसी स्थानपर इसी श्लोकमें आया है। इस सौलभ्यका एकमात्र कारण अनन्य भावसे नित्य-निरन्तर भगवान्का स्मरण ही है। आप कह सकते हैं कि जो प्रभु अपने स्मरणमात्रसे इतने सुलभ हैं, उनका स्मरण बिना उनके स्वरूप-ज्ञानके क्योंकर किया जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि आजतक आपने भगवत्स्वरूपके सम्बन्धमें जैसा कुछ शास्त्रोंमें पढ़ा, सुना और समझा है, तदनुरूप ही उस भगवत्स्वरूपमें अटल श्रद्धा रखते हुए भगवान्के शरण होकर उनके महामहिमशाली परमपावन नामके जपमें तथा उनके मङ्गलमय दिव्य स्वरूपके चिन्तनमें आपको तत्परतापूर्वक लग जाना चाहिये और यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि उनके स्वरूपविषयक हमारी जानकारीमें जो कुछ भी त्रुटि है, उसे वे करुणामय परमहितैषी प्रभु अवश्य ही अपना सम्यग्ज्ञान देकर पूर्ण कर देंगे, जैसा कि भगवान्ने स्वयं गीताजीमें कहा है—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(१०।११)

'हे पृथापुत्र ! उनके ऊपर अनुकम्पा करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

इस प्रकार प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करनेसे वे परमप्रभु हमारे योग-क्षेम अर्थात् अप्राप्तकी प्राप्ति तथा प्राप्तकी रक्षा स्वयं करते हैं।

भजन उसीको कहते हैं, जिसमें भगवान्‌का सेवन हो तथा सेवन भी वही श्रेष्ठ है, जो प्रेमपूर्वक मनसे किया जाय। मनसे प्रभुका सेवन तभी समुचितरूपसे प्रेमपूर्वक होना सम्भव है, जब हमारा उनके साथ घनिष्ठ अपनापन हो और प्रभुसे हमारा अपनापन तभी हो सकता है, जब संसारके अन्य पदार्थोंसे हमारा सम्बन्ध और अपनापन न हो।

वास्तवमें विचार करके देखें तो यहाँ प्रभुके सिवा अन्य कोई अपना है भी नहीं; क्योंकि प्रभुके अतिरिक्त अन्य जितनी भी प्राकृत वस्तुएँ हमारे देखने, सुनने एवं समझनेमें आती हैं, वे सभी निरन्तर हमारा परित्याग करती जा रही हैं अर्थात् नष्ट होती जा रही हैं।

इसीलिये संत कबीरजी महाराज कहते हैं—

दिन दिन छाँड्या जात है, तासों किसा सनेह।
कह कबीर डहक्या बहुत गुणमय गंदी देह॥

अतः अन्य किसीको भी अपना न समझकर केवल प्रभुका प्रेमपूर्वक अनन्य भावसे स्मरण करना ही उनकी प्राप्तिका महत्त्वपूर्ण तथा सुलभ साधन है।

इस अनन्य भावको प्राप्त करनेके लिये यह समझनेकी परम आवश्यकता है कि यह जीवात्मा परमात्मा और प्रकृतिके मध्यमें है और जबतक इसकी उन्मुखता प्रकृतिके कार्यस्वरूप बुद्धि, मन, इन्द्रिय, प्राण, शरीर तथा तत्सम्बन्धी धन, जन आदिकी ओर रहती है, तबतक यह प्राणी अन्यका आश्रय छोड़कर केवल परमात्माका आश्रय नहीं ले सकता। अतः मेरा कोई नहीं है तथा मैं सेवा करनेके लिये समस्त संसारका होते हुए भी वास्तवमें एक परमात्माके सिवा अन्य किसीका नहीं हूँ—इस प्रकारका दृढ़ निश्चय ही प्राणीको अनन्यचित्तवाला बनानेमें परम समर्थ है। इस प्रकार **'चेतसा नान्यगामिना'** (८।८); **'अनन्येनैव योगेन'** (१२।६), **'मां च योऽव्यभिचारेण'** (१४।२६); **'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्'** (९।२२), **मच्चित्ताः'** (१०।९), **'मन्मना भव'** (९।३४); (१८।६५); **'मच्चित्तः सततं भव'** (१८।५७); **'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि'** (१८।५८), **'मय्येव मन आधत्स्व'** (१२।८) तथा **'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'** (८।७)—आदि-आदि महत्त्वपूर्ण वाक्योंद्वारा परमात्माकी प्राप्तिरूप फल बतलाकर अनन्यभावसे भगवान्‌के चिन्तन-भजनकी अत्यधिक महिमा गायी गयी है, अस्तु जिसकी धारणामें श्रीभगवान्‌के सिवा अन्य किसीके प्रति महत्त्वबुद्धि नहीं है, वही अनन्यचित्तवाला अर्थात् अनन्य भावसे स्मरण करनेवाला है। अब रहा **'सततम्'** पद, सो निरन्तर चिन्तन तो प्रभुके साथ अखण्ड नित्य सम्बन्धका ज्ञान होनेसे ही हो सकता है।

इसपर श्रीकबीरदासजीकी निम्नाङ्कित उक्तिपर ध्यान दें। वे कहते हैं—

जहँ जहँ चालूँ करूँ परिक्रमा, जो कुछ करूँ सो पूजा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत, जानूँ देव न दूजा॥

इस प्रकार उस नित्ययुक्त योगीके लिये भगवान् स्वतः ही सुलभ हैं। दुर्लभता तो हमने भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य सदा न रहनेवाली अस्थायी वस्तुओंसे सम्बन्ध जोड़कर पैदा कर ली है। इसके दूर होते ही भगवान्‌के साथ तो हमारा नित्य-निरन्तर अखण्ड सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है ही; अतः हमें अपना सम्बन्ध अन्य किसीसे न जोड़कर नित्य-निरन्तर एकमात्र अपने उन परमहितैषी प्रभुके साथ ही जोड़ना चाहिये, जो प्राणिमात्रके परम सुहृद् एवं अकारण कारुणिक हैं तथा उन्हींसे ममता करनी चाहिये। फिर तो वे दयामय श्रीहरि हमें आप ही अपना लेंगे, जैसा कि उन्होंने अपने परम प्रिय सखा अर्जुनको अपनाते हुए कहा था—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८।६६)

'(हे अर्जुन!) सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको मुझमें त्यागकर तू एक मुझ सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा; मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

यह नियम है कि स्वरचित वस्तु चाहे कैसी ही क्यों न हो, हमको प्रिय लगती ही है। ऐसे ही यह सम्पूर्ण विश्व प्रभुका रचा हुआ तथा अपना होनेके नाते स्वाभाविक ही उन्हें प्रिय है ही। यथा—

अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया।

फिर उसके लिये तो कहना ही क्या है, जो सब ओरसे मुख मोड़कर एकमात्र उन प्रभुका हो जाता है। वह तो उन्हें परम प्रिय है ही। यथा—

तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच अरु काया॥
पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

इसी प्रकार मानसमें सुतीक्ष्णजी भी कहते हैं—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की ॥

अतः जिसको स्वयं भगवान् अपनी ओरसे प्रिय मानें, उसे भगवान् सुलभ हो जायँ— इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता; जैसा कि श्रीभगवान्ने स्वयं अपने श्रीमुखसे अर्जुनके प्रति कहा है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

(गीता १२ । ६-७)

'जो मेरे ही परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे पार्थ ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

सबका कल्याण कैसे हो ?

प्रश्न—सबका कल्याण कैसे हो ?

उत्तर—ऐसा मनमें आता है कि मैं जो बात कहता हूँ, इसको आप और हम सब करें तो सबका कल्याण हो जाय। सबसे पहले तो हमारा यह उद्देश्य हो कि हमें अपना उद्धार करना है। हमारी यह एक ही इच्छा है, एक ही माँग है, जरूरत है, आवश्यकता है। कहावत भी है—

एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।

—एकके सिद्ध करनेसे सब काम सिद्ध हो जाते हैं और सब कामोंको सिद्ध करना चाहें तो कोई-सा भी सिद्ध नहीं होता। अतः सबसे पहली आवश्यकता तो इस बातकी है कि सब ओरसे वृत्तियोंको हटाकर एक अपने कल्याणकी ओर ही कर लिया जाय। अब इस उद्देश्यके अनुसार निरन्तर साधन होना चाहिये। उस निरन्तरताके लिये विचार करना है।

हमारे सामने ये चीजें आती हैं—काम-धंधा, समय, व्यक्ति, वस्तु आदि-आदि। भाव यह कि हमारे सामने अनेक तरहके काम-धंधे कर्तव्यरूपसे आते हैं और एक हमारे पास है समय (वक्त) यानी हमें जो रात-दिन, महीना-वर्ष आदिके रूपमें आयु मिली हुई है। तीसरी हमारे सामने माता-पिता, स्त्री-पुत्र, कुटुम्बी आदि व्यक्ति आते हैं। चौथी आती हैं धन, मकान आदि वस्तुएँ। इनके लिये हमें अलग-अलग क्रिया करनी पड़ती है। कभी ऐसा होता है कि अभी सत्सङ्गका समय है सत्सङ्ग करो, अभी समय भोजनका हो गया तो भोजन कर लो, अब आरामका समय है, आराम कर लो, अब पुस्तक पढ़ना है तो यह कर लो। इसी प्रकार जीविकाका काम है, रसोईका काम करना है, बाल-बच्चोंके पालन-पोषणका काम होता है, सोनेका काम होता है, शारीरिक शुद्धिका काम है, गङ्गास्नान आदिका काम होता है। ऐसे अलग-अलग धंधे सामने आते हैं, वे समय-समयपर आते हैं। अतः कामका विभाग होगा और समयका विभाग होगा। ऐसे ही व्यक्तियोंका और वस्तुओंका भी विभाग होगा कि ये हमारी हैं और ये हमारी नहीं हैं। किंतु ये जो अलग-अलग हैं, इन सबको एक कर देना तो हमारे वशकी बात नहीं है और उचित भी नहीं है। तब फिर उद्देश्य एक कैसे हो ? तो हम विचारसे इस अलग-अलगपनेको मिटा दें। यह कैसे हो ? वस्तुएँ भी अलग-अलग रहेंगी, व्यक्ति भी अलग-अलग रहेंगे, उनका उपयोग भी अलग-अलग होगा, समय भी अलग-अलग रहेगा और काम-धंधा भी अलग-अलग रहेगा ही। यह रहना ही चाहिये। यह रहना कोई अन्याय नहीं है। तब हम एक साधन क्या और कैसे करें ? क्योंकि हमारा उद्देश्य एक होता है तो वस्तुएँ इतनी सामने आ जाती हैं। हमें कुटुम्ब-पालनके लिये धन भी कमाना है, अपने परिवारके लिये वस्तुएँ भी लानी हैं, वक्तपर आराम भी करना है, सोना भी है, खाना-पीना भी है। यह सब अलग-अलग होगा। तब फिर एक उद्देश्य कैसे हो ? यह प्रश्न आता है।

इसमें एक खास बात समझनेकी है। हम अलग-अलग काम किसलिये करते हैं ? वह 'लिये'—उद्देश्य हमारे अनेक हो जाते हैं, तब हम फँसते हैं। कभी हमारा उद्देश्य विद्या हो जाती है, कभी यश हो जाता है, कभी धन हो जाता है, कभी मान-बड़ाई और स्वास्थ्य उद्देश्य हो जाता है। कभी भगवत्प्राप्ति उद्देश्य हो जाता है, कभी भजन-ध्यान करना उद्देश्य होता है। ऐसा होनेसे हम साधन नहीं कर सकते। ***'सब साधे सब जाय'***—कोई-सा भी काम सिद्ध नहीं हो पाता। इसलिये हमारा भाव एक ही होना चाहिये कि हम सभी काम करेंगे और करेंगे प्रभुकी प्रीतिके लिये—भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये। सोकर उठनेपर यह सोचें कि अब काम क्या करना है, भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना है, भगवान्‌के लिये करना है और मैं भगवान्‌का ही काम कर रहा हूँ। मान लें वह काम आप हाथ-मुँह धोनेका कर रहे हैं। तो उसमें अनुभव यह होना चाहिये कि यह भगवान्‌का काम है। यदि आप कहें कि इसे हम भगवान्‌का काम कैसे मानें, हम तो

अपना मुँह धोते हैं, अपने हाथ धोते हैं। तो समझना चाहिये आप अपने हाथ-मुँह धोते हैं— इससे सिद्ध हुआ कि आप अपनेको स्वयं अपना मानते हैं, भगवान्‌का नहीं मानते। अतः इस प्रकार अपनेको भगवान्‌का नहीं माननेसे उद्देश्यकी सिद्धि नहीं होगी। तो क्या होगा ? बन्धन होगा, और क्या होगा ? जो होता आया है, वही होगा। प्रश्न होता है कि इस शरीरको भगवान्‌का कैसे मान लें ? इसका उत्तर यह है—जब हम भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं और हम भगवान्‌के हैं तो हमारा शरीर भी भगवान्‌का है। हम हाथ धोनेके समय यह समझें कि भगवान्‌की अनन्त सृष्टिमें यह भी उनका एक छोटा-सा क्षुद्र अंश है। जैसे छोटे-से-छोटा रज (बालू) का एक कण भी पृथ्वीसे अलग नहीं है, ऐसे ही एक शरीर यह है। बहुत छोटा है अनन्त ब्रह्माण्डमें। परंतु यह भी है भगवान्‌का। अतः यह अनुभव होना चाहिये कि मैं मुँह धो रहा हूँ, यह भगवान्‌का काम कर रहा हूँ; हाथ धो रहा हूँ। यह भगवान्‌का काम कर रहा हूँ। यह मैं बहुत महत्त्वकी बात समझनेके लिये कहता हूँ, हँसी-दिल्लगीकी बात नहीं है। आप टट्टी जा रहे हैं, पेशाब कर रहे हैं— उसमें भी यह अनुभव होना चाहिये कि मैं भगवान्‌का काम कर रहा हूँ। स्वतः भीतरसे ही यह वृत्ति रहनी चाहिये। यह शरीर जब भगवान्‌का है, तब इसको साफ करना क्या भगवान्‌का काम नहीं है ? हम किसीके घरकी टट्टी साफ करते हैं तो क्या उस घरके मालिकका काम नहीं कर रहे हैं ? उसमें झाड़ू लगाते हैं तो उस घरका जो मालिक है, उसीका तो काम कर रहे हैं। इसी प्रकार जब यह शरीर भगवान्‌का है तो इससे टट्टी-पेशाब करके इसको साफ करना भी भगवान्‌का ही काम करना है। ऐसे ही स्नान कर रहे हैं—यह भी भगवान्‌का काम कर रहे हैं। कपड़ा धो रहे हैं, यह भगवान्‌का काम कर रहे हैं। अब रसोई बनाते हैं तो भगवान्‌का काम करते हैं। भोजन करते हैं तो यह भी भगवान्‌का काम करते हैं। ऐसी कोई क्रिया न हो, जो क्रिया भगवान्‌की न होती हो। यदि हमें यह अनुभव न हो कि प्रत्येक काम हम भगवान्‌का ही कर रहे हैं तो हम इसे मानना शुरू कर दें कि हम प्रत्येक काम भगवान्‌का ही कर रहे हैं।

जैसे सभी काम भगवान्‌के हैं, वैसे ही सब समय भी तो भगवान्‌का ही है। यह समय तो भगवद्भजनका है और यह समय अभी काम-धंधेका है—यह विभाग हम न करें। जब भगवान्‌के भजन करनेका काम भी भगवान्‌का है और यह रसोई बनानेका काम भी भगवान्‌का है, तब यह सब-का-सब समय भी भगवान्‌का ही हुआ। अतः कार्य-विभाग भी नहीं रहा और समय-विभाग भी नहीं रहा। साधक कभी यह समय-विभाग न करे कि यह समय तो भजनका है और यह भजनका नहीं है। हाँ, भजनके रूप अलग-अलग हैं। उस समय नाम-जप, ध्यान आदि भजन था; अब रसोई बनाना भजन है। विचार करें, भजन नाम किसका है ? भगवान्‌की सेवाका। जब भगवान्‌के लिये काम कर रहे हैं तो वह सेवा ही तो भजन है; अतः भगवान्‌का काम भजन है ही। अब भोजन करना भी भगवान्‌का भजन है। यह समय भी भगवान्‌का है। इसलिये यह नहीं सोचना चाहिये कि भोजन करनेका समय भगवान्‌का समय नहीं है। ऐसे ही काम-धंधा करते समय यह अनुभव हो कि सब काम भगवान्‌का है, तो सब-का-सब समय भगवान्‌का हो गया।

अब आप कहें कि हम सोते हैं तो क्या सोनेका काम भी भगवान्‌का है और क्या सोनेका समय भी भगवान्‌का है ? अवश्य। यह कैसे ? जब आप सोयें, तब यह बात काममें लानेकी है। यह बहुत बढ़िया बात जान पड़ती है। सोयें तब हम नींद लेनेके लिये, आरामके लिये न सोयें। तो किसलिये सोयें ? इतनी देर बैठे हुए, चलते-फिरते हुए काम करते थे भगवान्‌का। अब छः या पाँच घंटा लेटकर भगवान्‌का भजन करना है; क्योंकि यह शरीर भगवान्‌का है। इसे चलाना-फिराना भी इसका काम है, काम-धंधा करना भी इसका काम है और इसे लंबा डालकर थोड़ा आराम देना भी काम इसीका है। किंतु इसका होते हुए भी हमें करना भगवान्‌का काम है। सोकर—नींद लेकर हमें भगवान्‌का भजन करना है, आराम नहीं करना है, सुख नहीं लेना है। ऐसा विचार करते सो जायँ। सोते समय हमें नींद न आ जाय, तबतक भगवान्‌के चरणोंमें पड़े रहें, भगवान्‌का चिन्तन होता रहे, यह अनुभव करते रहें कि हमपर भगवान्‌का कृपामय हाथ है, कृपादृष्टि है। जैसे, माँ अपने बच्चेको गोदमें लिये बैठी है, बालक उसके चरणोंमें पड़ा है तो माँकी उसपर कृपा है, वैसे ही मैं भगवान्‌के चरणोंमें पड़ा हूँ, भगवान्‌की मुझपर कृपा है, भगवान् मुझे कृपादृष्टिसे देख रहे हैं, मेरे सिरपर भगवान्‌का हाथ है। इस प्रकार चिन्तन करते हुए उनका नाम लेते रहें। अब यह लेटनेका समय भजन हो गया। ऐसा करते हुए नींद आ गयी तो आ गयी। नींद लेनेकी चिन्ता नहीं कि नींद नहीं आयी। अपने तो नींद लेनेसे मतलब नहीं है; भगवान्‌के चरणोंमें पड़े रहनेसे मतलब है। हम प्रभुके हैं। नींद आ गयी तो प्रभुका ही नींदरूपी काम कर रहे हैं। नींद नहीं आती तो भी भगवान्‌का ही चिन्तनरूपी काम कर रहे हैं।

इस प्रकार सब-का-सब काम-धंधा भगवान्‌का है और

सब-का-सब समय भगवान्‌का। अब रह गये व्यक्ति। ये जो हमारे भाई-बन्धु, माता-पिता, स्त्री-पुत्र, कुटुम्बी, प्रेमी-सम्बन्धी हैं—ये सब व्यक्ति हैं। ये भी भगवान्‌के हैं। ये भगवान्‌के हैं तो भगवान्‌के जनोंकी सेवा कैसे करनी है ? जैसे श्रेष्ठ बहू अपनी सासकी सेवा करती है, इसी प्रकार सासको अपनी बहूके प्रति कर्तव्य-पालन करना है यानी उसे सुख देना है, अपना सुख लेना नहीं है, अपना सुख लेना तो हमारा उद्देश्य नहीं है, अपना सुख न लेकर उसको सुख कैसे पहुँचाना है ? माता सीताको और कौसल्या अम्बाको याद कर लो। माँ कौसल्या तो यह कहती हैं कि मैंने दीपककी बत्ती भी ठीक करनेके लिये सीताको कभी नहीं कहा और भूमिपर, जो कठोर है, पैर नहीं रखने दिया। ऐसा तो माता कौसल्याने किया और सीता कहती हैं—मैं बड़ी अभागिनी हूँ कि मैंने आपकी सेवा नहीं की। दोनोंको पश्चात्ताप इसीका है। बहूको यह विचार नहीं हुआ कि सासने मुझे सुख नहीं दिया और सासको यह विचार नहीं कि बहूने मेरा धंधा नहीं किया। विचार यही है कि प्रभुका काम करना है। अतः इसकी सेवा कर देना है। जैसे वह प्रसन्न रहे, उसका हित हो, वैसे कर दे और अनुकूल बननेकी भावना रखे।

इसी तरह जितने भी कुटुम्बी हैं, सभी भगवान्‌के हैं। अब विचार करें, उनमें हमें दो विभाग जान पड़ते हैं कि ये तो हमारे कुटुम्बी हैं, हमारे सम्प्रदायके हैं और ये हमारे नहीं हैं। ये हमारे कुटुम्बी हैं—इसका अर्थ यह हुआ कि इस कुटुम्बकी सेवा करना मेरा पहला कर्तव्य—धर्म है; क्योंकि इस कुटुम्बका मैं ऋणी हूँ, इसलिये इसका ऋण पहले चुकाना है और जो हमारे नहीं जान पड़ते, समय-समयपर उनकी भी सेवा करनी है। यानी उनकी सेवा करनेकी अधिक आवश्यकता होनेपर समय निकालकर पहले उनकी सेवा करे। सेवा क्यों करनी है ? भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये; क्योंकि ये भगवान्‌के हैं। 'ये हमारे हैं'—इसका तात्पर्य होता है कि इनकी सेवा विशेषतासे कर देनी है; क्योंकि वे हमसे विशेषतासे सेवा चाहते हैं। अतः उनकी सेवा पहले कर दो और विशेषतासे कर दो। परंतु मानो यह कि ये भगवान्‌के हैं, मेरे नहीं हैं। इनमें जो 'मेरापन' प्रतीत होता है, इसका अर्थ यह है कि हमें इनको सुख पहुँचाना है, इसलिये ये हमारे कुटुम्बी हैं, यह भावना सदा जाग्रत् रखे।

अब अन्तमें रहीं वस्तुएँ। वस्तुओंका उपयोग अलग-अलग होगा। भोजनकी थाली-गिलासका उपयोग अलग होगा, लिखनेकी कलमका उपयोग अलग होगा। वस्तुएँ अलग-अलग काममें आती हैं। यह अलग-अलग उपयोग किसलिये है ? भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये। इनको भगवान्‌की सेवामें लेना है। ये अपनी और ये दूसरेकी—भगवान्‌के नाते तो यह विभाग है नहीं। किंतु जो हमारी कहलाती है, उस अपनी वस्तुसे तो पहले काम लेना है। इस तरह इन वस्तुओंसे प्रभुकी और प्रभुके जनोंकी सेवा करनी है।

तात्पर्य क्या निकला ? यही कि कोई-सा भी काम भगवान्‌का न हो— ऐसा नहीं। कोई-सा भी क्षण भगवान्‌का न हो, ऐसा नहीं। कोई-सा भी व्यक्ति भगवान्‌का न हो, ऐसा नहीं और कोई-सी भी वस्तु भगवान्‌की न हो, ऐसा नहीं। अब बताइये, निरन्तर भजनके सिवा और हुआ क्या। स्वतः निरन्तर भजन—निरन्तर साधन हो जायगा।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

(गीता ८।७)

सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च—यहाँ **'युध्य च'** कहनेका अर्थ है—समय-समयपर जो आवश्यक काम आ पड़े वह करना, परंतु करना भगवान्‌की आज्ञासे और उनकी प्रसन्नताके लिये। अर्जुनने और क्या किया ? जब वे कर्णको मारने लगे तब कर्णने कहा—'अर्जुन ! तुम अन्याय करते हो।' भगवान्‌ने कहा—'अर्जुन ! कर्णको बाण मार दो।' अर्जुन बोले—'हमें न्याय-अन्याय कुछ नहीं देखना है, हमें तो प्रभुकी आज्ञाका पालन करना है। प्रभुकी आज्ञा है—इसे मार दो।'

किंतु हमलोगोंके सामने प्रत्यक्षरूपसे प्रभु हैं नहीं तो भगवान्‌की वाणी देख लो और हृदयमें टटोलकर देख लो कि हम ऐसा आचरण क्या दूसरोंसे चाहते हैं। दूसरोंसे नहीं चाहते तो वैसा मत करो। साक्षात् भगवान् आज्ञा दें तो न्याय-अन्यायको भी देखनेकी जिम्मेवारी हमपर नहीं रही। भगवान् सामने प्रत्यक्ष नहीं हैं तो भगवान्‌की आज्ञा— गीतादि ग्रन्थ हैं। उनमें देख लो, उनके अनुसार न्याय करो, अन्याय मत करो और उनसे समझमें न आये तो घबराओ मत, किंतु भाव शुद्ध रखो, फिर समझमें आ जायगी।

एक बाबाजी थे। कहीं जा रहे थे नौकामें बैठकर। नौकामें और भी बहुत लोग थे। संयोगसे नौका बीचमें बह गयी। ज्यों ही वह नौका जोरसे बही, मल्लाहने कहा—'अपने-अपने इष्टको याद करो, अब नौका हमारे हाथमें नहीं रही। प्रवाह जोरसे आ रहा है और आगे भँवर पड़ता है, शायद डूब जाय। अतः प्रभुको याद करो।' यह सुनकर कई तो रोने लगे, कई भगवान्‌को याद करने लगे। बाबाजी भी बैठे थे। पासमें था कमण्डलु। उन्होंने ***'जय सियाराम जय जय सियाराम, जय सियाराम जय जय सियाराम'*** बोलना शुरू कर

दिया और कमण्डलुसे पानी भर-भरकर नौकामें गिराने लगे। लोगोंने कहा—'यह क्या करते हैं?' पर कौन सुने! वे तो नदीसे पानी नौकामें भरते रहे और *'जय सियाराम जय जय सियाराम'* कहते रहे। कुछ ही देरमें नौका घूमकर ठीक प्रवाहमें आ गयी, जहाँ नाविकका वश चलता था। तब नाविकने कहा—'अब घबरानेकी बात नहीं रही, किनारा निकट ही है।' यह सुनकर बाबाजी नौकासे जलको बाहर फेंकने लगे और वैसे ही *'जय सियाराम जय जय सियाराम·····'* कहने लगे। लोग बोले—'तुम पागल हो क्या? ऐसे-ऐसे काम करते हो?' बाबाजी—'क्या बात है भाई?' लोग—'तुमको दया नहीं आती? साधु बने हो। वेष तो तुम्हारा साधुका और काम ऐसा मूर्खके-जैसा करते हो? लोग डूब जाते तब?' बाबाजी—'दया तो तब आती जब मैं अलग होता। मैं तो साधु ही रहा, मूर्खका काम कैसे किया जाय?' लोग—'जब नौका बह गयी तब तो तुम पानी नौकाके भीतर भरने लगे और जब नौका भँवरसे निकलने लगी तब पानी वापस बाहर निकालने लगे। उलटा काम करते हो?' बाबाजी—'हम तो उलटा नहीं सीधा ही करते हैं। उलटा कैसे हुआ?' लोग—'सीधा कैसे हुआ?' बाबाजी—'सीधा ऐसे कि हम तो पूरा जानते नहीं। मैंने समझा कि भगवान्‌को नौका डुबोनी है। उनकी ऐसी मर्जी है तो अपने भी इसमें मदद करो और जब नौका प्रवाहसे निकल गयी तो समझा कि नौका तो उन्हें डुबोनी नहीं है, तब हमें तो उनकी इच्छाके अनुसार करना है—यह सोचकर पानी नौकासे बाहर फेंकने लगे। साधु ही हो गये तब हमें हमारे जीने-मरनेसे तो मतलब नहीं है, भगवान्‌की मर्जीमें मर्जी मिलाना है। पूरी जानते हैं नहीं। पहले यह जान लेते कि भगवान् खेल ही करते हैं, उन्हें नौका डुबोनी नहीं है तो हम उसमें पानी नहीं भरते। पर उस समय मनमें यह बात समझमें नहीं आयी। हमने यही समझा था कि नौका डुबोनी है, यही इशारा है।'

यह शरणागत भक्तका लक्षण है। यह तो उन संतोंने कर दिया; पर आपलोगोंसे यह कहना है कि कहीं नौका डूबने लगे तो उसमें पानी तो नहीं भरना, परंतु रोना बिलकुल नहीं। यही समझना कि बहुत ठीक है, बड़ी मौजकी, बड़े आनन्दकी बात है; इसमें भी कोई छिपा हुआ मङ्गल है। हमने ऐसी भी एक बात सुनी है। एक संतोंका आश्रम है, उसी आश्रमकी बात कई वर्षों पहलेकी सुनी है। वहाँके महन्त थे, बड़े अच्छे थे, बहुत विद्वान् और भगवान्‌के बड़े भक्त थे। एक बार गङ्गाजी बहुत बढ़ गयीं। पहाड़से पानीका प्रवाह आया बहुत जोरसे। आश्रमके पीछे ऐसे बड़े जोरसे पानीका नाला आया कि मानो मकानको काटकर बहा ही देगा। उस समय जो वहाँके बड़े महन्त थे, उनका नाम याद नहीं रहा, बहुत खुश हो गये, प्रसन्न हो गये और गद्‌गद हो गये कि अब मैयाकी गोदमें जायँगे—मतलब, गङ्गाजीमें जायँगे। दूसरे जितने थे, घबरा रहे थे कि मकान बह जायगा और वे खुश हो रहे थे। हुआ क्या? पानीका नाला आया और साथमें पत्थर-ही-पत्थर आकर पत्थरोंका ढेर लग गया। तब पानी एक ओरसे निकलने लगा और मकान बच गया। बच गया तो बच गया। उन संतोंके हृदयमें तो यही भाव हुआ कि मैयाकी गोदमें जायँगे। विचार कीजिये, माँकी गोदमें बच्चेको आनन्द आता है कि दुःख होता है? उनको यही खुशी थी। प्रत्यक्ष बात तो डूबनेकी थी कि इतना पानीका प्रवाह बढ़ा आ रहा है; किंतु इन्हें खुशी हो रही है। इससे सिद्ध क्या हुआ? करनेमें तो भगवान्‌की आज्ञा, इशारेके अनुसार करना है और होनेमें हरदम प्रसन्न रहना है। चाहे सुख आये चाहे दुःख, जो घटना घटे, उसमें खुश रहना है; क्योंकि जो होना है वह तो सब-का-सब भगवान्‌के हाथमें है और करना हमारे हाथमें है। अतः करना सब भगवान्‌की आज्ञासे। होनेके नामपर जो होये उसमें खुश हो कि वाह! वाह!! प्रभुकी बड़ी कृपा है। जो हो रहा है, उसमें यह नहीं देखना कि यह ठीक है, यह बेठीक है। बल्कि यह देखे कि यह कर कौन रहा है, यह किसके हुक्मसे, किसके इशारेसे हो रहा है। ***'करी गोपालकी सब होइ।'***

जो दुःख आता है, दर्द होता है, उसमें भगवान्‌की विशेष कृपा है। दर्द, दुःख, प्रतिकूलता—यह पापोंका फल है कि पुण्यका? पापोंका फल मानते हैं तो फल भोगनेसे पाप रहेंगे कि नष्ट होंगे? एवं पाप नष्ट होना भगवान्‌की कृपा है या अकृपा है? शुद्धि हो रही है, भगवान् कृपा कर रहे हैं—ऐसा विचारकर मस्त होता रहे। ज्यों टीस चले, ज्यों पीड़ा हो, त्यों अनुभव हो कि भगवान्‌की बड़ी कृपा है। प्रभु बड़ी कृपा कर रहे हैं—पवित्र बना रहे हैं। सुनार सोनेको अपनाता है तो उसको खूब तपाता और पीटता है, खराबी-खराबी निकाल देता है। इसका अर्थ यह होता है कि अब वह अपनायेगा। इसी तरह प्रभुने हमको अपना लिया तो अब अपनी वस्तुको साफ कर रहे हैं, अतः अपनेको मस्त होना चाहिये।

अभिप्राय यह कि जो होता है, उसमें तो कोई अनिष्टकी सम्भावना है नहीं, उसमें तो प्रसन्नता लानी है; क्योंकि वह भगवान्‌के हाथमें है और जो हमें करना है, वह उसकी आज्ञासे करना है, उसकी आज्ञाके विरुद्ध नहीं करना है—यह हमारा उद्देश्य है। इन दोके सिवा और कोई बात है

नहीं—एक होना और दूसरा करना। तो फिर हमारा जीवन सब-का-सब साधनमय हो गया। अब हम सब समय मस्त रहें। किंतु हम मस्त नहीं रहते, तभी तो कहना पड़ता है—इधर लक्ष्य नहीं है, लक्ष्य हो तो ऐसे हो सकता है।

इसलिये चौबीस घंटोंमें एक मिनट भी ऐसा नहीं, जिस समयमें साधन न होता हो। अब बताओ, कौन-सा समय ऐसा शेष रहा, जिसमें साधन न हो। सब समय साधन ही हो रहा है। और अब कौन-सी प्रवृत्ति, कौन-सी क्रिया है, जो भगवान्‌का भजन न हो। इससे '**सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर**' हो जायगा। जब यह कहा है—

'यत्क्षणं यन्मुहूर्तं वा वासुदेवं न चिन्तयेत्।'

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥

—तब अपनी विपत्ति तो दूर हो गयी। अब विपत्ति कहाँ रही? सब-का-सब समय भगवान्‌का, सब-का-सब काम भगवान्‌का, सब-की-सब वस्तुएँ भगवान्‌की, सब व्यक्ति भगवान्‌के, सब-के-सब सम्बन्ध भगवान्‌के और हमारी कोई वस्तु है ही नहीं। मन भगवान्‌का, बुद्धि भगवान्‌की, शरीर भगवान्‌का, प्राण भगवान्‌के, सब भगवान्‌के हैं—

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

—'आपकी वस्तु ही, प्रभो! आपके चरणोंमें समर्पित है।' ऐसे होकर मस्त होते रहें।

हमारी क्या है? हमारे तो भगवान् हैं और भगवान् हैं इसलिये आनन्द है। फिर मौज और मस्ती रहेगी ही।

चिन्ता दीनदयालको मो मन सदा अनन्द।

भगवान् और हम दो हैं। हमारा उनका बँटवारा हो गया। मौज-मौज हमारे हिस्से आ गयी और चिन्ता-चिन्ता भगवान्‌के। तुम चिन्ता नहीं करते, मैं क्यों करूँ! भगवान् करें। भगवान् बड़े हैं, बड़े चिन्ता किया करें। भक्त नरसीजीके पत्र आया, बहुत बड़ा चिट्ठा कि इतना-इतना सामान लाओ तो आना। पत्रमें ऊपर भगवान्‌का नाम लिखनेकी रिवाज अनादि कालसे चली आ रही है। पत्र पढ़ा तो ऊपर भगवान्‌का नाम लिखा ही था, नरसीजी नाचने लगे—

'पाती तो बाँच नरसी मगन भया।'

—लाखों-करोड़ोंकी वस्तु चाहिये। पत्रमें इतनी वस्तुएँ लिखी थीं कि उनकी बात पढ़-सुनकर नरसीजी नाचने लगे और खुश हो गये एवं गाने लगे—

ऊपर नाम लिख्यो सो तो मायरो भरसी।
नरसीलो तो बैठ्यो बैठ्यो भजन करसी॥

आपलोगोंके किसी कुटुम्बी, सम्बन्धीका कोई भी काम पत्रमें लिखा आता है तो पत्रमें ऊपर जिसका नाम होता है, उसीपर भार होता है, कहीं बालकोंपर भी कोई भार होता है? बालक तो यही सोचते हैं, विवाह है, अच्छी बात है, हम तो मौज करेंगे, मीठा-मीठा भोजन करेंगे। अरे! तुम तो मौज करोगे, पर पितापर कितना खर्चा होगा, पता है? पर उनको क्या चिन्ता?

कितनी मौज हो रही है! कोई नरसीजीसे पूछे—तुम किसके भरोसे जा रहे हो? भरोसा क्या? हमारे तो भगवान् भात भरेंगे। तुम भी चलो भैया! मीठा-मीठा भोजन करोगे। यहाँ अपने कोई चिन्ता-फिक्र है? अपने तो मौज हो रही है।

चिन्ता दीनदयालको मो मन सदा अनन्द।
जायो सो प्रतिपालसी रामदास गोविन्द॥

हम तो सबकी चिन्ता-फिक्रसे छूट गये। हमने तो प्रभुकी शरण ले ली। सब काम भगवान्‌का हो गया। मौज है। भगवान्‌के दरबारसे नीचे उतरे ही नहीं। ये जो छोटे-छोटे बालक—छोकरे होते हैं, उनमें कोई-कोई तो ऐसे होशियार हो जाते हैं कि माँ गोदसे नीचे रखे तो रोने लगते हैं। उन्हें बड़ी अच्छी युक्ति आ गयी। इसी तरह अपने तो भगवान्‌की गोदमें चढ़ा ही रहे, नीचे उतरे ही नहीं।

इसीलिये नारदजीने भक्तिसूत्रमें बताया है—

तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।

सम्पूर्ण आचरणोंको भगवान्‌के समर्पित कर दिया और भगवान्‌की विस्मृतिमें परम व्याकुलता—बड़ी घबराहट होती है; क्योंकि भगवान्‌ने गोदसे नीचे रख दिया। अतः यही निश्चय रखे कि 'हम तो गोदमें ही रहेंगे, नीचे उतरेंगे ही नहीं। अब तुम दुःख पाओ चाहे सुख पाओ। हम क्या करें?' बच्चा तो गोदमें ही रहेगा; भार लगे तो माँको लगे, बच्चा क्या करे। हम नीचे उतरेंगे ही नहीं, हम तो प्रभो! आपके चरणोंमें ही रहेंगे, आपकी गोदमें ही रहेंगे और मस्त रहेंगे। खूब मौज हो रही है। यहाँसे, सत्सङ्गसे जाय तो खुशी-आनन्दमें ही जाय। क्या हो गया? क्या, क्या हो गया, मौज हो गयी। 'क्या' तो पीछे रह गया अर्थात् 'क्या'का अर्थ प्रश्न होता है, सो प्रश्न तो हमारे रहा ही नहीं। भगवान्‌के यहाँ ही हम रहते हैं। भगवान्‌का ही काम करते हैं, भगवान्‌के ही दरबारमें रहते हैं। मौज-ही-मौज है। प्रभुके यहाँ आनन्द-ही-आनन्द है। खुशी किस बातकी है? तो दुःख ही किस बातका? चिन्ता किस बातकी? कोई है तो '*चिन्ता दीनदयालको*'। हम तो मौज करते हैं। बस, अभीसे ही मस्तीमें रहे। चले-फिरे, उठे-बैठे—सब समय मौज-ही-मौज है। उसके तो भगवच्चिन्तन ही होता है। फिर भगवान्‌का चिन्तन करना नहीं पड़ता। ऐसी मस्तीमें चिन्तन

स्वतः होता है। इसीलिये ध्रुवजीने कहा है—

विस्मर्यते कृतविदा कथमार्तबन्धो।

आपको भूलें कैसे ? आप भूले जायँ कैसे ? कैसे भूलें, बताइये। इस जन्ममें माँ थोड़ा ही प्यार करती है। जब वह माँ भी याद रहती है, तब अनन्त जन्मोंसे प्यार करनेवाली माँ कैसे भूली जाय ! सदा स्नेह रखनेवाले भगवान् भूले जायँ ? हमारा काम तो उनके चरणोंमें पड़े रहना है, उनकी ओर मुँह करना है। हमको याद करते हैं स्वयं वे प्रभु। एक बात याद आ गयी। ध्यान देकर सुनें। हम भगवान्‌को याद नहीं करते तब भी भगवान् हमको याद करते हैं। इसका क्या पता ? आप जिस स्थितिमें स्थित रहते हैं, उस स्थितिसे ऊबते हैं कि नहीं, तंग आते हैं कि नहीं ? कुटुम्बसे, रुपये-पैसेसे, शरीरसे, काम-धन्धेसे तंग आते हैं न ? क्यों आते हैं ? भगवान् आपको याद करते हैं तब तंग आते हैं—भगवान् अपनी तरफ खींचते हैं तब उस स्थितिसे तंग आ जाते हैं। फिर भी हम उसे पकड़ लेते हैं। किंतु भगवान् ऐसी स्थिति रखना नहीं चाहते किसी जीवकी कि वह भोगोंमें, रुपयोंमें, कुटुम्बमें फँसे। अर्थात् ऐसी कोई स्थिति नहीं जहाँ ठोकर न लगे। ऐसी कोई स्थिति हो तो आप बतायें। ठोकर तभी लगती है, जब भगवान् हमें विशेषतासे याद करते हैं कि अरे ! कहाँ भूल गया तू ? मुझे याद कर। मुझको छोड़कर कहाँ भटकता है। पर हम फिर फँसते हैं। भगवान् यदि हमें याद नहीं करते तो हमें सुखकी इच्छा कभी नहीं रहती। परम सुखस्वरूप, परम आनन्दस्वरूप तो भगवान् ही हैं। हमें भगवान्‌की इच्छा होती है, यह भगवान् हमें याद करते हैं, अपनी ओर खींचते हैं, पर वे जबरदस्ती नहीं करते।

सार बात यह है कि सभी काम भगवान्‌के हैं, सभी समय भगवान्‌का है, सभी व्यक्ति भगवान्‌के हैं और सभी वस्तुएँ भगवान्‌की हैं। कोई भी क्रिया करते समय यह अनुभव निरन्तर होता रहे तो साधन निरन्तर हो सकता है, जिससे सबका कल्याण है ही।

★

अखण्ड साधन

बात बड़ी सुन्दर पूछी है। ये जो दो प्रश्न आये हैं—एक तो अखण्ड साधन कैसे हो; दूसरा यह कि साधन, साध्य और साधकका क्या स्वरूप है, इनकी एकता कैसे हो ? ये दोनों मिलकर एक ही प्रश्न है। एक प्रश्न आया कि मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं— यह बात एक नयी-सी मालूम देती है, यह कैसे समझमें आये ? ये दोनों ही प्रश्न एक ही ढंगके हैं और इनका एक ही उत्तर है।

वास्तवमें साधकको जो यह बात समझमें नहीं आ रही है कि 'मैं भगवान्‌का हूँ', भगवान् मेरे हैं'—इसका खास कारण है शरीरके साथ अपनी एकताका भाव दृढ़ है। यह एकताका भाव दृढ़ हो जानेसे ही यह समझमें नहीं आता कि 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं।' वास्तवमें शरीरके साथ इसका सम्बन्ध है नहीं, यह केवल माना हुआ है—'**अहङ्कार-विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**।' मान्यता इतनी दृढ़ हो गयी कि सच्ची प्रतीत होने लगी। ठीक सच्ची प्रतीत होती है शरीरके साथ एकताका दृढ़ निश्चय हो जानेसे। किंतु जब ऐसी दृढ़ भावना हो जाय कि 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं' तब वह बात नहीं ठहरती। वास्तवमें शरीरके साथ इसकी एकता है नहीं। और थोड़ा-सा विचार करें तो यह प्रत्यक्ष बात हरेकके अनुभवमें आ सकती है कि पहले हमारा इस शरीर और शरीरके सम्बन्धियोंके साथ सम्बन्ध नहीं था। आजसे ९० वर्ष पहले, १०० वर्ष पहले, इतने जो अपने बैठे हैं, इनमेंसे किसीका भी वर्तमान शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं था, फिर इस शरीरके सम्बन्धियोंके साथ कब रहा ? तथा आजसे १०० वर्ष बाद इन शरीरोंके साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा, तब फिर शरीरके सम्बन्धियोंके साथ कैसे रहेगा ? इस विचारसे हरेक भाई-बहनकी समझमें यह बात आ सकती है। दृढ़तासे समझ लें—'**आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा**।' सिद्धान्त है—जो आदि-अन्तमें नहीं रहता है, वह वर्तमानमें भी नहीं है और वर्तमानमें भी वही है जो आदि-अन्तमें था। इस शरीर और शरीरके सम्बन्धियोंके साथ सम्बन्ध पहले नहीं था और अन्तमें नहीं रहेगा, अतः अब भी नहीं है। जब शरीरके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है तो किसके साथ सम्बन्ध है ? हमारा सम्बन्ध प्रभुके साथ है। वास्तवमें है ही भगवान्‌के साथ सच्चा सम्बन्ध। शरीर और कुटुम्बियोंके साथ तो सम्बन्ध माना हुआ है, किंतु प्रभुके साथ सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है।

जो मान्यता होती है। उसमें मूल कारण होता है अनजानपना, और अनजानपना आता नहीं है, अनादि सिद्ध है यानी इसका आना नहीं होता, जाना तो हो सकता है। अभी कोई किसी भाईसे पूछे कि 'तुम्हें फ्रेंच भाषा आती है ?' वह कहेगा—'नहीं आती।' फिर पूछे—कबसे ? तो यह प्रश्न ही नहीं हो सकता। अनजानपना कबसे है यह प्रश्न नहीं बनता। इसलिये वेदान्तमें अज्ञानको अनादि माना है। अतः अज्ञान—अनजानपना अनादि है। फिर भी आप यह प्रश्न करें कि हम तो इसे जानना ही चाहते हैं—यह अनजानपना आया कहाँसे ? इसका असली उत्तर तो हो गया, पर फिर भी पूछें तो

यह उत्तर है कि 'यह अनजानपना तभीसे आया, जबसे आपने, जो अपना नहीं है, उसको अपना माना।' इसपर प्रश्न होता है कि जो अपना नहीं है उसको अपना क्यों माना? इसका एक तो कारण अज्ञान है, अतः यह मान्यता अज्ञानका कार्य है। दूसरी बात यह है कि 'हमने माना तो था इसके तत्त्वको जाननेके लिये, पर उसे तो हम भूल गये और उसको अपना मानकर बैठ गये।'

जैसे भारतीय संस्कृतिके अनुसार द्विजातियोंके लिये यह विधान है कि पहले ब्रह्मचर्याश्रमका पालन करो, फिर गृहस्थ बनो। ब्रह्मचारी दो तरहके होते हैं—१-नैष्ठिक-ब्रह्मचारी, २-उपकुर्वाण। जो ब्रह्मचर्याश्रमसे ब्रह्मचर्याश्रममें ही रहें अथवा सीधे संन्यासाश्रममें चले जायँ— सदाके लिये अखण्ड ब्रह्मचारी बनें, वे नैष्ठिक-ब्रह्मचारी कहलाते हैं और जो ब्रह्मचर्याश्रमका यथावत् पालन करके उसकी समाप्ति-स्नान करके गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट हों; फिर क्रमसे वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रममें जायँ, वे कहलाते हैं— उपकुर्वाण ब्रह्मचारी। ये दो भेद क्यों हुए? ये दो भेद इसलिये हुए कि मानव-शरीर मिला है परमात्माकी प्राप्तिके लिये और जो परमात्माकी प्राप्ति चाहता है, उसको संसारका त्याग करना पड़ता है। संसार-त्यागकी बात सुनकर हम डर जाते हैं। पर संसारके त्यागका अर्थ यह नहीं है कि हम यहाँसे भागकर चले जायँ। जंगलमें ही चले गये, तो क्या जंगल संसार नहीं है? और जिस शरीरको लेकर जाते हैं वह शरीर क्या संसार नहीं है? संसारके त्यागका मतलब है शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, मन, बुद्धि, प्राण आदि पदार्थोंमें अहंता-ममताका त्याग। यही संसारका त्याग है। परमात्माकी प्राप्ति चाहते हो तो संसारका त्याग करना पड़ेगा अर्थात् सांसारिक वस्तुओंके साथ अहंता-ममता नहीं रख सकोगे। अहंता-ममता रखोगे तो परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी—यह निश्चित बात है। जब हम त्याग करते हैं तब हमारे मार्गमें बाधा देनेवाली है भोगोंकी रागवृत्ति, संग्रह और सुखकी आसक्ति। सांसारिक सुख लेने, भोगोंका सुख लेने, संग्रहका सुख लेनेकी आसक्ति ही त्यागमें बाधक होती है। ब्रह्मचर्याश्रममें ऐसा विचार किया जाय कि इसका त्याग करके परमात्माकी ओर चलना है तो विचारद्वारा, विवेकद्वारा, शास्त्रद्वारा, उपदेशद्वारा हम इनको छोड़ना चाहते हैं, पर कैसी जबरदस्ती हो रही है कि छूटती नहीं है, किसी तरह छोड़ सकते ही नहीं। तब कहा कि 'तुम अब गृहस्थाश्रममें जाओ, इसे देखो— पदार्थ क्या हैं और कैसे हैं? किन्तु जब हम विचारके द्वारा इनको छोड़नेमें समर्थ हो जाते हैं तब कहते हैं—'तुम नैष्ठिक-ब्रह्मचारी बन जाओ।' तो ये दो पथ वहाँसे इसलिये हुए कि अधिकारी दो तरहके हैं। गृहस्थाश्रमका धारण करना किसलिये हुआ? विचारद्वारा जिस भोगासक्तिका हम नाश न कर सके, उसका ज्ञान करके, उसे जानकर, समझकर, भोगकर उसका तत्त्व समझमें आ जाय तब उसका त्याग कर दें इसलिये। निष्कर्ष यह कि गृहस्थाश्रमको धारण करना त्यागके लिये होता था, न कि रागके लिये—सदा फँसनेके लिये। यह राग करना हमारी संस्कृति ही नहीं है।

जैसे यह सिद्ध हो गया कि गृहस्थाश्रममें हम क्यों प्रविष्ट हुए? त्यागके लिये, वैसे ही अज्ञानसे हमने यह सम्बन्ध क्यों जोड़ा? त्यागके लिये। इसीलिये इसे अपना माना। त्याग पहले क्यों नहीं हुआ? त्याग कर नहीं सके। अतः गृहस्थाश्रमको अपनाया। गृहस्थाश्रमको अपनाकर क्या करें? गृहस्थाश्रमको अपनाकर शास्त्रीय रीतिके अनुसार उसका पालन करें। शास्त्रीय रीति साथमें लाते ही भोगोंमें सीमितपना आ जायगा। देश-काल-वस्तु सब सीमित हो जायगी और सीमित होकर उसके नियम भी हो जायँगे कि ऐसे-ऐसे भोगो। अतः सीमित पदार्थोंके साथ सम्बन्ध और नियमपूर्वक भोगनेका सम्बन्ध—ये दो बातें रहेंगी। इसीको धर्म कहते हैं यानी धर्मके अनुसार गृहस्थाश्रमका पालन करो। फिर क्या होगा? उच्छृङ्खल भोग नहीं भोग सकते। इससे एक तो हमारा जीवन नियमित हो जायगा और दूसरी उसमें एक विलक्षण बात और हो जायगी कि हमारा उद्देश्य त्यागका रहेगा। ये दो चीजें साथ होनेसे वैराग्य अवश्य होगा ही—

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

धर्म ते बिरति—'एक स्त्रीके साथ विवाह करो' तो सीमित हुआ न? एक गृहस्थमें रहो, एक परिवारमें रहो, एक घरमें रहो, यह तुम्हारा और यह तुम्हारा नहीं। तो यह तुम्हारा भी अपना कैसे है? जब सारा संसार एक है तो एक घर आपका कैसे? एक परिवार आपका कैसे? उतने ही रुपये आपके कैसे? यह समष्टि पदार्थोंमेंसे नमूना आपको दे दिया गया कि इस नमूनेके साथ न्याययुक्त बर्ताव करते हुए, सबका पालन-पोषण करते हुए आप इनके सुखोंको लें और भोगें। भोगकर देखें इसका नमूना। किसलिये? त्यागके लिये। तो स्वतः आपके त्याग होगा। धर्मका अनुष्ठान करनेसे वैराग्य होता ही है, होता ही है। भागवतमें लिखा है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

धर्मका अच्छी तरह अनुष्ठान किया जाय और भगवान्‌के चरणोंमें यदि प्रीति उत्पन्न नहीं हुई तो धर्मका अनुष्ठान नहीं हुआ, केवल परिश्रम हुआ, परिश्रम—'**श्रम एव हि केवलम्।**'

यह नियम है कि धर्मपूर्वक विषयोंका सेवन करनेसे वैराग्य होता है। सोचिये, धर्मपूर्वक सेवन करता है किस उद्देश्यसे ? रागको मिटानेके उद्देश्यसे। जब रागकी प्रबलता होती है तब मनुष्य धर्म-कर्म नहीं देखता; फिर तो रागपूर्वक विषय-सेवन करता है। उस विषय-सेवनसे तो विषयका राग बढ़ेगा ही, वैराग्य नहीं होगा। आज बूढ़े हो जानेपर भी वैराग्य नहीं होता। कारण क्या है? भोग भोगनेके लिये भोग भोगते हैं। रागपूर्वक भोग भोगते हैं। सुख लेनेके लिये भोग भोगते हैं। इससे वैराग्य ब्रह्माजीकी आयु समाप्त हो जायगी तब भी नहीं होगा। और उद्देश्य यदि इनके तत्त्वको जानकर त्यागका है तो नियमपूर्वक विषयोंको भोगनेसे अरुचि हो जाती है। अतः हम देख लें। संतोंने कहा है—

गुल सोर बबूला आग हवा सब कीचड़ पानी मिट्टी है।
हम देख चुके इस दुनियाको सब धोखेकी-सी टट्टी है॥

तथा—

चाख चाख सब छाँड़िया माया रस खारा हो।
नाम सुधा रस पीजिए छिन बारंबारा हो॥
लगे हमें राम पियारा हो॥

अतः ***'चाख चाख सब छाँडिया माया रस खारा हो'***—जब यह कड़वा लगेगा तब स्वतः छूटेगा।

हमने जो शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़ा था, वह जैसे गृहस्थाश्रमी पुरुष अपनी एक पत्नीके साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं, वैसे ही जोड़ा था त्यागके लिये। किंतु उसको भूल गये। इसका नाम है अज्ञान—मूर्खता।

अतएव अब इसे याद कर लें कि 'हमने इसके साथ सम्बन्ध जोड़ा है केवल त्याग करनेके लिये।' त्याग करनेके लिये ही परीक्षा करना है और देखकर छोड़ देना है जिससे आगे चलकर हमारा मन कभी न चले। शरीरके साथ अपनापन माना हुआ है। यदि इसको हमने नहीं छोड़ा, यह हमसे नहीं छूटा तो इसके तत्त्वको जान लें। जब आप इसके तत्त्वको जान लेंगे तब इसके साथ सम्बन्ध रहेगा नहीं।

इसीलिये भगवान्‌ने कृपा करके संसारकी ऐसी सुन्दर रचना की है कि कोई वस्तु कभी भी एकरूप नहीं रहती। यह भगवान् क्रियात्मक उपदेश दे रहे हैं जीवोंको कि जिसके साथ तुम सम्बन्ध जोड़ोगे वह उस रूपमें नहीं रहेगा। यह एक बात विनोदसे कह देते हैं कि भगवान्‌के और जीवके बीचमें एक हठ हो गया है। जीव तो कहता है—मैं सम्बन्ध जोड़ूँगा। भगवान् कहते हैं— बच्चू ! मैं सम्बन्ध तोड़ूँगा। जीव कहता है—मैं बच्चा हूँ। भगवान् कहते हैं—बचपनको नहीं रहने दूँगा। वह कहता है—मैं जवान हूँ। भगवान् कहते हैं—इसे भी नहीं रहने दूँगा। जीव कहता है— यह इतना मेरा परिवार है। भगवान् कहते हैं—इसे भी नहीं रहने दूँगा। जीव कहता है—इतना धन मेरे पास है। भगवान् कहते हैं—यह भी नहीं रहने दूँगा। वह कहता है—मैं बड़ा स्वस्थ हूँ। वे कहते हैं—नहीं रहने दूँगा। वह कहता है—मैं बीमार हूँ। वे कहते हैं—इसे भी नहीं रहने दूँगा। भगवान् कहते हैं—'जिनके साथ तू सम्बन्ध जोड़ेगा, मैं उन सबका सम्बन्ध-विच्छेद करता रहूँगा। तू जोड़ता जायगा तो मैं तोड़ता जाऊँगा।'

यहाँ सम्बन्ध तोड़नेका अर्थ क्या है—आगे नया सम्बन्ध न जोड़ना, तब पुराना सम्बन्ध अपने-आप टूट जायगा, क्योंकि वह तो छूटनेहीवाला है—

अंतहि तोहि तजेंगे पामर ! तू न तजै अब ही तें।
मन पछितैहै अवसर बीते॥

अतः इसका तत्त्व जाननेके लिये ही सम्बन्ध जोड़ा है, न कि सम्बन्ध रखनेके लिये।

और तो क्या कहें; आप जिनको संत, महात्मा, विरक्त, त्यागी, अच्छे पुरुष मानते हैं, उनके साथ भी सम्बन्ध जोड़ना वास्तवमें सम्बन्ध तोड़नेके लिये है। यह बात कड़वी लगती है, पर बात यही है। गृहस्थाश्रम छोड़कर साधु बन गये और गुरुजीके साथ सम्बन्ध जोड़ा। गुरुजीके साथ सम्बन्ध रखनेके लिये थोड़े ही जोड़ा है। गुरुजी बता देंगे कि 'भाई ! तुम्हारा सम्बन्ध सदा रहनेवाले असली स्वरूपके साथ है। इन सबके साथ सम्बन्ध रहनेवाला नहीं है। अतः सबसे सम्बन्ध तोड़नेके लिये ही इनसे सम्बन्ध जोड़ना है, न कि इनके साथ ही मर मिटना है। इस जोड़े हुए सम्बन्धको नित्य मान लेते हैं, यही गलती है। हमने जो शरीरके साथ सम्बन्ध मान लिया, इसीसे यह गलती हुई है। तो अब हम क्या करें ?

'शरीर मैं हूँ'—यह भाव होनेसे ही'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं' यह बात समझमें नहीं आती। समझमें न आनेमें कारण शरीरके साथ तादात्म्य सम्बन्ध रहता है। जीव वास्तवमें परमात्माका है और परमात्मा जीवके हैं—यह इसका असली सम्बन्ध है। इसलिये जो अच्छे संत-महात्मा होते हैं, वे यही उद्देश्य रखते हैं, यही उपदेश देते हैं कि 'तुम परमात्माके हो और परमात्मा तुम्हारे हैं। तुम यह शरीर नहीं हो।'

जबतक शरीरके साथ 'मैं' पन बना हुआ है, तबतक साधन अखण्ड नहीं होगा। यह प्रश्न था कि 'अखण्ड साधन कैसे हो ?' जबतक आपका इस शरीरमें मैंपन और मेरापन है, तबतक साधन अखण्ड नहीं होगा। जरा ध्यान दें, अखण्ड क्या होता है और खण्ड क्या होता है ? जो मैंपन है, वह

अखण्ड होता है। आपको कभी भी पूछा जाय, यही उत्तर होगा— मैं हूँ। इसको आप चाहे याद रखें, या बिलकुल गाढ़ नींद आ जाय, चाहे व्यवहारमें बिलकुल भूल जायँ, परन्तु मैं अमुक वर्णका, अमुक आश्रमका हूँ, यह आपको बिना याद किये भी याद है, बिना स्मृतिके भी यह स्मरण है। आपको याद ही नहीं, होश ही नहीं कि किस काममें लगे हैं, पर जहाँ जरा सावधान हुए, वहाँ 'मैं हूँ' यह भाव है। फिर वही नाम, वही गाँव, वही वर्ण, वही आश्रम और अपनी वैसी-की-वैसी स्थिति दिखलायी पड़ेगी, स्वप्नमें भी। इसलिये 'मैं'-के साथ जोड़ा हुआ सम्बन्ध अखण्ड होता है। 'मैं'-का सम्बन्ध भगवान्‌के साथ न जोड़कर संसारके साथ जोड़े रखते हैं और भजन करना चाहते हैं अखण्ड। असम्भव बात है। चाहे इस कान सुनें, चाहे उस कान। आप मानें या न मानें। प्रमाण मिले चाहे न मिले। हमें तो भाई ! संदेह है नहीं। आपको संदेह हो तो आप भले ही न मानें। आपसे हमारा कोई आग्रह नहीं।

वर्षोंतक सत्सङ्ग-भजन करते हुए भी निरन्तर भजन नहीं होता—इसके अनेक कारणोंमें बहुत मुख्य और बड़ा कारण है कि आपने अहंताके साथ साधनका सम्बन्ध नहीं जोड़ा है। साधन तो करते हैं और संसारका चिन्तन होता है। जो होता है वह असली है और जो करते हैं वह होता है नकली। असली होगा वही अखण्ड होगा। नकली अखण्ड कैसे होगा ? नकल करेंगे, छूट जायगी; फिर होगी, फिर छूट जायगी। तो हम क्या करें ! यदि अखण्ड साधन करना चाहते हैं तो 'मैं भगवान्‌का हूँ' इस बातको समझें, चाहे मान लें। प्रभुके साथ सम्बन्ध जुड़नेसे आपपर जिम्मेवारी आ जाती है कि अब और करना ही क्या है, साधन ही करना है। मैंने उस दिन कहा था न कि 'साधन ही करना है, साधन भी करना है, यह नहीं।' हमारे भाई-बहन साधन भी करते हैं। यह भी कर लो, घंटा-दो-घंटा समय लगा दो, बारह महीनेमें दो-चार महीने लगा दो, यह भी कर लो और घरका काम तो करना ही है। वह तो 'ही' है और यह 'भी' है। यह मिटेगी नहीं, इस तरह जबतक आप संसारके साथ सम्बन्ध मानते हैं; तबतक वह सम्बन्ध संसारसे ही रहेगा।

विचार करके देखें तो संसारका सम्बन्ध था नहीं और रहेगा नहीं। मैंने जो संसारका सम्बन्ध बतलाया, यह तो मैं स्थूल रीतिसे कहता हूँ। सूक्ष्म रीतिसे देखें तो बिलकुल सम्बन्ध है ही नहीं, एक क्षण भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे गङ्गाजीका यह जल बहता हुआ एक क्षण भी स्थिर नहीं है परंतु स्थूल दृष्टिसे देखें तो कहते हैं, कलसे इसी सीढ़ीपर जल चल रहा है, जैसा कल था वैसा ही आज है, उतनेहीपर चल रहा है, वही है और सूक्ष्म रीतिसे एक क्षण भी वह जल वहाँ नहीं है, जहाँ कल था या एक क्षण पूर्व था। यदि एक क्षणके बाद उसी जगह वह स्थिर रहे तो सदाके लिये ही स्थिर रहना चाहिये; किंतु एक क्षण भी स्थिर कहाँ ? इसी प्रकार ये शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण एक क्षण भी स्थिर नहीं हैं। क्योंकि—

क्षणपरिणामिनो भावा ऋते चितिशक्तेः

उस चेतनशक्तिके सिवा सब क्षणपरिणामी हैं। क्षणपरिणामीके साथ आपने अपना अपनापन कर लिया, इसीसे अपना अपनापन आपको दिखलायी नहीं देता है। तब यह कैसे समझमें आये कि 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं।' वस्तुतः हैं ही भगवान् अपने और अपना कोई है ही नहीं। गहराईमें उतरकर देखें, कोई अपना नहीं है। अरे ! शरीर ही अपना नहीं, तो दूसरा अपना कैसे रहेगा ? और शरीरसे सम्बन्ध जोड़नेसे ही वह अपना कैसे ?

इसपर यदि कहते हैं—अब क्या करें ? अपनापन दृढ़तासे दिखलायी दे रहा है इसे कैसे हटायें, तो इसके लिये एक बड़ी ही सरल और बहुत बढ़िया युक्ति है। इसे बहन-भाई, छोटा-बड़ा, पढ़-अनपढ़ हरेक कर सकता है। वह क्या है ? साधकका एक जीवन है। इस जीवनके दो विभाग (बँटवारा) कर लेने चाहिये। एक तो असली, दूसरा नकली। यह मान लेना चाहिये कि एक असली है, एक नकली है। जैसे स्वाँग खेलनेवाला जिस स्वाँगको पहनता है उसको नकली मानता है, असली नहीं मानता। और स्वयं जो मैंपन होता है उसको असली मानता है, नकली नहीं। इसी तरह हमलोगोंने जो शरीर धारण किये हैं— यह हमारा स्वरूप असली नहीं है। यह स्वाँग है और हम स्वाँग धारण करनेवाले हैं—इनके साथ मैं-मेरापन करनेवाले हैं। अतः हम तो हुए भगवान्‌के और स्वाँग लिया संसारका। आज बात उलटी हो रही है—हम हैं संसारके और स्वाँग करते हैं भगवद्भजनका। अतः स्वाँग करके जो भजन करते हैं वह भजन दृढ़—अखण्ड कभी होगा ही नहीं, होगा ही नहीं, होगा ही नहीं। स्वाँग अखण्ड कैसे होगा ? स्वाँग तो खेलके समय रहेगा, बादमें नहीं रहेगा। तो इसका हमें परिवर्तन करना होगा, इसे बदलना होगा कि 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं।' इस शरीरसे पहले भी मैं शरीर नहीं था और शरीर मेरा नहीं था एवं इसके बाद भी यह मैं-मेरा नहीं रहेगा, किंतु यह स्वयं रहेगा। इसलिये इसको भगवान्‌का मानो तो भगवान्‌का है। भगवान्‌का न मानो तो अपना-आप है।

आप जो बालक बने थे वही आज बूढ़े बने हैं। आपका

शरीर वह नहीं, संग वह नहीं, गिरोह वह नहीं, वेष वह नहीं, समय वह नहीं, अवस्था और वर्ष भी वह नहीं, फिर भी आप कहें कि मैं वही हूँ—बड़े भारी आश्चर्यकी बात है ! सबका अनुभव है, परंतु कोई ध्यान नहीं देता। वस्तुतः यह मैं नहीं हूँ, मैं तो मैं हूँ, वह अखण्ड हूँ, क्योंकि मैं जो बालकपनमें था वही आज हूँ। कोई पूछे— सामग्री आपकी कौन-सी वही है ? बुद्धि, विचार, लक्ष्य, उद्देश्य, कोई-सा भी वह नहीं है, किंतु आप वही हैं। शरीर वह नहीं, परिस्थिति वह नहीं, देशकाल वह नहीं, गिरोह वह नहीं, वस्तुएँ वे नहीं, अवस्था वह नहीं, आपका ध्येय वह नहीं, विद्या-विचार वह नहीं। जब ये सब बदल गये तो आपका सम्बन्ध इनसे कैसे ?

यह तो सब स्वाँग है। आप इन सबको जाननेवाले अलग हैं। वह जो जाननेवाले आप हैं, वही भगवान्‌के हैं। यह सब तो संसारकी चीजें हैं। स्वाँग खेलनेवालेको स्वाँग कम्पनीसे मिलता है, पोशाक कम्पनीसे मिलती है और वहाँ जो स्टेज—रंगमंच होता है, वह भी कम्पनीका ही होता है। उसीके स्वाँगसे उसीके रंगमंचपर उसीकी प्रसन्नताके लिये और दर्शकोंकी प्रसन्नताके लिये स्वाँग खेलते हैं। दर्शकोंकी प्रसन्नता भी मालिककी प्रसन्नताके लिये ही होती है। दर्शक प्रसन्न न हों तो मालिकसे इनाम न मिले। इसी तरह आपने जो स्वाँग धारण किये हैं, उन स्वाँगोंके अनुसार बढ़िया-से-बढ़िया काम करना है, पर स्वाँग मानकर करना है। इसीका नाम है धर्मका अनुष्ठान।

स्वाँगके अनुसार खेलनेके लिये एक पुस्तक होती है, पुस्तकोंसे यह सिखाया जाता है कि इतने शब्द आप बोलें, इतने वे बोलें। वैसे ही हमारी पुस्तकोंमें लिखा है कि गृहस्थको यह करना चाहिये, पुरुषको ऐसा करना चाहिये, स्त्रीको ऐसा करना चाहिये, पुत्रको ऐसा करना चाहिये। और यह सब स्वाँग करना है केवल जनताकी प्रसन्नताके लिये। सब लोग कहें— 'गृहस्थाश्रम बड़ा उपयोगी है। वाह, वाह, वाह,'—इस प्रकार ठीक तरहसे उसे करना है, पर वाह-वाह लेनेकी भावनासे नहीं करना है। केवल अपनी आसक्ति मिटानेके लिये, स्वाँगके अनुसार प्रभुकी आज्ञाका पालन करनेके लिये; किंतु इसे सच्चा न माने। इसका नाम कर्मयोग है।

इस तरहसे किया जाय तो स्वतः आसक्ति मिटती है और स्वाभाविक ही राग मिटता है। इसीलिये कहा गया है— ***'धर्म ते बिरति'*** धर्मका अनुष्ठान करनेसे वैराग्य होता ही है। धर्मको छोड़कर आसक्तिसे विषयोंका सेवन करेंगे तो विषय-सेवनसे कभी वैराग्य हो सकता ही नहीं, सम्भव ही नहीं। अतः उद्देश्य वैराग्यका हो और नियम भी वही रहे। स्वाँगके अनुसार कार्य बढ़िया-से-बढ़िया करना है, पर मानना है उसे स्वाँग। स्वाँगमें कमी आ जाय तो गड़बड़ी और स्वाँगको सच्चा माने तो गड़बड़ी। इसलिये पालन करनेमें कमी आवे नहीं और सच्चा माने नहीं। इससे क्या होगा ? जैसे स्वाँग पहनकर पैसे कमाये जायँगे, वे भी जायँगे आपके घरमें और स्वाँगरहित हो आप काम करेंगे वे पैसे भी जायँगे आपके घरमें। ये दोनों पैसे ही आपके घरमें जायँगे। वैसे ही आप एकान्तमें बैठकर भजन-ध्यान कर रहे हैं तो अब स्वाँग नहीं, अब तो अपने भगवान्‌की उपासना कर रहे हैं और गृहस्थ बनकर काम कर रहे हैं तो यह संसारमें स्वाँग खेल रहे हैं। पर दोनोंका मतलब भजनसे होगा। इससे भगवान्‌के यहाँ ही दोनोंकी भर्ती होगी और भजन अखण्ड होगा। यदि भजन-ध्यान, कीर्तन-सत्सङ्ग तो हुआ भगवान्‌का भजन, उधर और व्यवहार—व्यापार हुआ हमारा काम इधर तो यह अखण्ड भजन नहीं होगा। सब काम भगवान्‌का हो।

तदर्थं कर्म कौन्तेय .... ॥ (गीता ३।९)

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

(गीता १२।१०)

भगवान्‌के लिये कर्म करते हैं, प्रभुका ही काम करते हैं तो भजन होगा सभी ओर तथा जहाँ काम छूटेगा, भगवान्‌में मन लगेगा। जैसे रुपयोंके लिये व्यापार करता है तो जहाँ दूकान बंद किया कि चट रुपयोंका चिन्तन होता है, रुपयोंका विचार होता है, रुपयोंकी गिनती होती है। दूकान बंद हो जाती है, बाजार बंद हो जाता है, फिर भी दीपक जलाकर बैठे हैं। क्या करते हैं ? रोकड़ जोड़ते हैं। अब रोकड़ क्यों जोड़ते हो ? तो कहता है—व्यापार किसलिये किया था ? जिसके लिये किया था उसीमें वृत्ति लगती है। इसी प्रकार गृहस्थका काम किसलिये किया ? प्रभु-प्राप्तिके लिये। तो जहाँ काम छूटा कि मन प्रभुमें लग जायगा, चट लग जायगा। व्यापार-कार्य आरम्भ करो तो रुपये कैसे पैदा हों—यह ध्यान रहेगा, चाहे रुपयोंकी याद रहे या न रहे, पर रुपयोंके लिये काम है। अतः रुपयोंकी अखण्ड स्मृति, रुपयोंका ध्येय अखण्ड रहेगा। वैसे ही यदि प्रभुके लिये ही भजन-ध्यान है और प्रभुके लिये ही गृहस्थाश्रमका काम है तो सब कार्योंमें अखण्डपना है। जो यह अखण्डपना पकड़नेवाला है वह 'साधक' होता है, अखण्डपना रखना 'साधन' होता है और उससे जो अखण्डकी प्राप्ति है वह 'साध्य' होती है। फिर आपसे-आप ये सब हो जायँगे।

इस प्रकार 'हम भगवान्‌के हैं' यह कैसे समझें और 'अखण्ड भजन कैसे हो'—इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर हो गया !

═══ ★ ═══

माँ !

एक सूरदास भगवान्‌के मन्दिरमें गये तो लोगोंने उनसे कहा—'आप कैसे आये ?' वे बोले—'भगवान्‌का दर्शन करनेके लिये।' लोगोंने पूछा—'तुम्हारे आँखें तो हैं नहीं, दर्शन किससे करोगे ?' वे बोले—'दर्शनके लिये मेरे नेत्र नहीं हैं तो क्या ठाकुरजीके भी नेत्र नहीं हैं ? वे तो मेरेको देख लेंगे न ! वे मेरेको देखकर प्रसन्न हो जायँगे तो बस, हमारा काम हो गया।'

अब भाइयो ! बहिनो ! ध्यान दो। जैसे हमारे नेत्र न हों तो भी भगवान्‌के तो नेत्र हैं ही, उनसे वे हमारेको देखते हैं, ऐसे ही सज्जनो ! हमारेको भगवान्‌का ज्ञान न हो, तो क्या भगवान्‌को भी हमारा ज्ञान नहीं है ? हमारी जानकारीमें भगवान् नहीं आये तो हम सूरदास हुए, तो क्या भगवान्‌की जानकारीमें हम नहीं हैं ? जब हम उनकी जानकारीमें हैं तो हमें कभी किसी बातकी चिन्ता करनी ही नहीं चाहिये। जैसे, बालक जबतक अपनी माँकी दृष्टिमें है, तबतक उसका अनिष्ट कोई कर नहीं सकता और उसके लिये जो कुछ भी चाहिये, उसका सब प्रबन्ध माँ करती है, ऐसे ही जब हम भगवान्‌की दृष्टिमें हैं, उनकी दृष्टिसे कभी ओझल होते ही नहीं तो हमारे लिये रक्षा, पालन, पोषण आदि जो कुछ आवश्यक है, वह सब कुछ वे करेंगे।

भगवान्‌ने गीतामें कहा—अप्राप्तिकी प्राप्ति करा देना और प्राप्तकी रक्षा करना—ये दोनों काम मैं करता हूँ—'**योगक्षेमं वहाम्यहम्**' (९।२२) मेरेमें चित्त लगनेसे तू सम्पूर्ण विघ्नोंको मेरी कृपासे तर जायगा'—'**मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि**' (१८।५८) और 'अविनाशी शाश्वत-पदकी प्राप्ति भी मेरी कृपासे हो जायगी'—**मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्**' (१८।५६)। तात्पर्य है कि उनके ज्ञानमें हम हैं, हमारेपर उनकी कृपा है, तो वे विघ्नोंसे भी रक्षा करेंगे और अपनी प्राप्ति भी करा देंगे। परंतु हमारा चित्त भगवान्‌में रहना चाहिये। हमारा विश्वास, भरोसा सब भगवान्‌पर रहना चाहिये। हमारा विश्वास, भरोसा उनपर न रहनेपर भी वे तो हमपर कृपा करते ही हैं। हमारा सब प्रबन्ध वे कर ही रहे हैं। हमारा जैसे कल्याण हो, हमारे प्रति उनकी वैसी ही चेष्टा रहती है।

हम सुख और दुःखको दो रूपोंमें देखते हैं कि सुख अलग है और दुःख अलग है। परन्तु भगवान्‌के यहाँ सुख-दुःख दोनों अलग-अलग नहीं हैं। जैसे—'**लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके। तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः॥**' लालन-प्यारमें और मारमें माँके दो भाव नहीं होते। एक ही भावसे माँ बच्चेका लालन-प्यार करती है और ताड़ना भी कर देती है अर्थात् प्यारभरे हृदयसे प्यार भी करती है और हितभरे हाथसे थप्पड़ भी लगा देती है। तो क्या माँ बालकका अनिष्ट करती है ? कभी नहीं। ऐसे ही भगवान् कभी हमारी मनचाही बात कर दे और कभी हमारी मनचाही न करके थप्पड़ लगा दे, तो भगवान्‌के ऐसा करनेमें देखना चाहिये कि वह हमारी माँ है ! माँ ! वह हमारे मनके अनुकूल-प्रतिकूल जो कुछ करे, उसमें हमारा हित ही भरा है, चाहे हम उसे न समझें। माँकी चेष्टाको बालक समझ सकता है क्या ? माँकी चेष्टाको समझनेकी बालकमें ताकत है क्या ? बालकमें वह ताकत है ही नहीं, जो माँकी चेष्टाको समझ सके। बालकको तो माँकी चेष्टाको समझनेकी जरूरत ही नहीं है। वह तो बस, माँकी गोदमें पड़ा रहे। ऐसे ही 'भगवान् क्या करते हैं, कैसे करते हैं' इसे समझनेकी हमें कोई जरूरत नहीं है। वे कैसे हैं, कहाँ रहते हैं, इसको जाननेकी भी हमें कोई जरूरत नहीं है। क्या बच्चा माँको जानता है कि माँ कहाँ पैदा हुई है ? किसकी बेटी है ? किसकी बहिन है ? किसकी स्त्री है ? किसकी देवरानी है ? किसकी जेठानी है ? किसकी ननद है ? किसकी बूआ है ? माँ कहाँ रहती है ? किससे इसका पालन होता है ? माँ क्या करती है ? किस समय किस धन्धेमें लगी रहती है ? आदि बातोंको बालक जानता ही नहीं और उसको जाननेकी जरूरत भी नहीं है। ऐसे ही हमारी माँ (भगवान्) कैसी है ? कौन है ? वह सुन्दर है कि असुन्दर है ? वह क्रूर है कि दयालु है ? वह ठीक है कि बेठीक है ? वह हमारे अनुकूल है कि प्रतिकूल है ? आदि-आदि बातोंसे हमें क्या मतलब ! बस, वह हमारी माँ है। वह हमारे लिये जो ठीक होगा, वह आप ही करेगी। हम क्या समझें कि यह ठीक है या बेठीक ? अपना ठीक-बेठीक समझना भी क्या हमें आता है ? है हमें यह ज्ञान ? क्या हमें यह दीखता है ? अरे ! सूरदासको क्या दीखे ! हम क्या समझें कि यह ठीक है कि बेठीक; अच्छा है कि मन्दा है। इन बातोंको हम क्या समझें और क्यों समझें ? हमें इन बातोंके समझनेकी कुछ भी जरूरत नहीं है। बस, हम उनके हैं और वे हमारे हैं। वे ही हमारे माता, पिता, भाई, बन्धु, कुटुम्बी आदि सब कुछ हैं और वे ही हमारे धन, सम्पत्ति, वैभव, जमीन, जायदाद आदि सब कुछ हैं—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

कोई आपसे पूछे कि तुम्हारी माँ कौन है ? ईश्वर ! तुम्हारा बाप कौन है ? ईश्वर ! भाई कौन है ? ईश्वर ! तुम्हारा साथी कौन है ? ईश्वर ! तुम्हारा काम करनेवाला कौन है ? ईश्वर ! हमारे तो सब कुछ वही हैं। सब कुछ माँ ही है। जैसे बच्चेके लिये धोबी भी माँ है, नाई भी माँ है, दाई भी माँ है, धाई भी माँ है, ईश्वर भी माँ है, गुरु भी माँ है, नौकर भी माँ है, मेहतर भी माँ है, आदि-आदि छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा सब कुछ काम करनेवाली माँ है। ऐसे ही हमारे सब कुछ भगवान् ही हैं, तो हमें किस बातकी चिन्ता ! *'चिन्ता दीनदयाल को मो मन सदा अनन्द'* हमारे मनमें तो सदा आनन्द-ही-आनन्द है, मौज-ही-मौज है ! हमारी चिन्ता वे करें, न करें, हमें इस बातकी क्या परवाह है ! जैसे माँ बालककी चिन्ता करे, न करे इससे बालकको क्या मतलब ! वह आप ही चिन्ता करती है बालककी; क्योंकि बालक उसका अपना है। यह उसपर कोई अहसान है कि वह बालकका पालन करे। अरे, यह तो उसका काम है। वह करे, न करे, इससे बालकको क्या मतलब ? बालकको तो इन बातोंसे कुछ मतलब नहीं। ऐसे ही भगवान् हमारी माँ है बस, वह हमारी माँ है और हमें न कुछ करना है, न जानना है, न पढ़ना है, किन्तु हरदम मस्त रहना है, मस्तीसे खेलते रहना है। माँकी गोदीमें खेलता रहे, हँसता रहे, खुश होता रहे। क्यों खुश होता रहे कि इससे माँ खुश होती है, राजी होती है अर्थात् हम प्रसन्न रहें तो इससे माँ राजी होती है। माँकी राजीके लिये हम रहते हैं, खेलते हैं, कूदते हैं और काम-धन्धा भी हम माँकी राजीके लिये ही करते हैं। और बातोंसे हमें कोई मतलब ही नहीं है। हमें तो एक माँसे ही मतलब है।

जैसे माँके पास जो कुछ होता है, वह सब बालकके पालनके लिये ही होता है। माँका बल है, बुद्धि है, योग्यता है, विद्या है, शरीर है, कपड़े हैं, घर आदि सब कुछ बच्चेके लिय ही होता है। ऐसे ही भगवान्‌के पास जो कुछ सामर्थ्य है, शक्ति है, विलक्षणता है वह सब केवल हमारे लिये ही है। अगर हमारे लिये नहीं है तो किसके लिये है ? इस वास्ते हमें कभी किसी भी बातकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। कभी चिन्ता आ भी जाय तो भगवान्‌से कह दो—'हे नाथ ! देखो ! यह चिन्ता आ गयी।' जैसे बालकको प्यास लगती है, वह 'बू-बू' करता है तो माँ पानी पिला देती है। अब किसी भी कोशमें 'बू' नाम पानीका नहीं आया है, पर 'बू' कहते ही माँ पानी पिला देती है। ऐसे ही हम किसी भी भाषामें कुछ भी कह दें तो उसको माँ (भगवान्) समझ जाती है—

गूँगा तेरी बातको और न समझे कोय।
कै समझै तेरी मावड़ी कै समझै तेरी जोय॥

जैसे गूँगेकी भाषा उसकी माँ समझे या लुगाई (स्त्री) समझे। और कौन समझे उसकी भाषाको ? परन्तु हमारी भाषाको भगवान् समझें कि नहीं समझें, इससे भी हमें मतलब नहीं रखना है। अपने तो माँ ! माँ ! करते जाओ, बस। जैसे बालक माँको किसी विधिसे थोड़े ही याद करता है। वह तो बस, माँ ! माँ ! करता रहता है। ऐसे ही माँ ! माँ ! करते रहो, बस; और हमें कुछ करना ही नहीं है। माँ प्रिय लगती है, माँका नाम अच्छा लगता है। इस वास्ते प्यारसे कहो—माँ ! माँ !! माँ !!!

हमें एक सज्जन मिले थे। वे कहते थे कि हम कभी माला फेरते हैं तो क्या करते हैं कि जैसे जीमने (भोजन करने) में आनन्द आता है तो सबड़का लेते हैं। ऐसे ही माला फेरते हैं तो सबड़का लेते हैं। अब भजनकी क्या विधि है ! अपनेको सबड़का लेना है, बस ! मौजसे नाम उच्चारण करें, कीर्तन करें। कुछ भी करे तो मस्त होकर करे। 'क्या होगा ? कैसे होगा ?'

[तरल पदार्थ—खीर, कढ़ी, दाल आदिको चम्मचकी भी सहायता लिये बिना केवल अँगुलियोंको एक साथ सटाकर उनसे पीनेकी क्रियाको राजस्थानी भाषामें 'सबोड़ना' कहते हैं।]

इन बातोंसे अपना कोई मतलब ही नहीं है। इन बातोंसे मतलब माँको है और इन बातोंकी माँको ही बड़ी चिन्ता होती है। जैसे माता यशोदा और माता कौसल्याको चिन्ता होती है कि मेरे लालाका ब्याह कब होगा ? पर लाला तो समझता ही नहीं कि ब्याह क्या होता है, क्या नहीं होता है। वह तो अपनी मस्तीमें खेलता ही रहता है। ऐसे ही हमारी माँको चिन्ता होती है कि 'बच्चेका कैसे होगा, क्या होगा ? पर हमें तो इससे कोई मतलब नहीं है और इसको जाननेकी जरूरत भी नहीं है। माँ जाने, माँका काम जाने ! अपने तो आनन्द-ही-आनन्दमें रहना है और माँकी गोदमें रहना है। हमारेमें और बालकमें फर्क इतना ही है कि हम रोते नहीं। बालक तो भोलेपनसे मूर्खतासे रोता है। पर हमारी तो माँ है, हम रोवें क्यों ? हम तो केवल हँसते रहें। मस्तीसे माँकी गोदीमें पड़े रहें। कैसी मौजकी बात है। कितने आनन्दकी बात है ! 'तू जाने तेरा काम जाने'—ऐसा कहकर निश्चिन्त हो जाओ, निर्भय हो जाओ, निःशोक हो जाओ और निःशंक हो जाओ। हमें तो आनन्द-ही-आनन्दमें रहना है, हरदम मस्तीमें रहना है। अपना तो कुछ काम है ही

नहीं, सिवाय मस्तीके, सिवाय आनन्दके ! हमारी जिम्मेदारी तो एक ही है कि हरदम मस्त रहना, आनन्दमें रहना। माँ ! माँ ! नाम लेना अच्छा लगता है। माँ ! माँ ! ऐसा कहना हमें प्यारा लगता है, इस वास्ते लेते हैं। राम ! राम ! नाम मीठा लगता है, इस वास्ते लेते हैं, इसमें कोई विधि थोड़ी है कि इतना नाम लें। इतना-उतना क्या ! हम अपनी मर्जीसे माँ-माँ करते रहें। किस तरह करना है ? कितना करना है ? कैसा भजन किया ? कितना भजन किया ? इससे हमें क्या मतलब ? हमें माँका नाम प्यारा लगता है, इस वास्ते खुशीसे, प्रसन्नतादे लेते हैं। बस, अपने तो मौज हो रही है। आनन्द हो रहा है ! खुशी आ रही है ! प्रसन्नता हो रही है !

मुख राम कृष्ण राम कृष्ण कीजिये रे !
सीताराम ने भजन लावो लीजिये रे !!

राम राम राम राम राम

भगवान्‌से अपनापन

वास्तवमें हम सब परमात्माके हैं और यह संसार भी परमात्माका है; परन्तु जब हम इसपर कब्जा करना चाहते हैं, इसको अपना मान लेते हैं, तब हम इससे बँध जाते हैं। हमारी यह एक धारणा रहती है कि हमारे अधिकारमें जितनी वस्तुएँ और व्यक्ति आ जायँगे, उतने हम बड़े बन जायँगे, उन वस्तुओं और व्यक्तियोंके मालिक बन जायँगे; परन्तु यह धारणा बिलकुल गलत है।

जिन रुपये, परिवार आदिको हम अपना मान लेते हैं, उनके हम पराधीन हो जाते हैं, परवश हो जाते हैं। वहम तो यह होता है कि हम उनके मालिक बन गये, पर बन जाते हैं उनके गुलाम। यह बात खूब समझनेकी है, केवल सुनने-सुनानेकी नहीं है। आप स्वयं विचार करें। जिन मकानोंको आप अपने मकान मानते हैं, उन मकानोंकी ही आपको चिन्ता होती है। जिन मकानोंको आप अपना नहीं मानते, उनकी चिन्ता आपको नहीं होती। जिस परिवारको आप अपना मानते हैं, उसके बनने-बिगड़नेका आपपर असर होता है; और जिसको आप अपना नहीं मानते, उसके बनने-बिगड़नेका आपपर असर नहीं होता। ऐसे ही रुपये-पैसे, जमीन-जायदाद आदि वस्तुओंको आप अपनी मान लेते हैं, उनकी जिम्मेवारी, उनकी चिन्ता, उनके संचालन आदिका भार आपपर आ जाता है। जिनको आप अपना नहीं मानते, उनसे आपका बन्धन नहीं होता। इस युक्तिपर आप विचार करें।

संसारमें जो थोड़े-से मकान हैं, थोड़े-से व्यक्ति हैं, थोड़े-से रुपये (हजार, लाख, करोड़) हैं, उन मकानों, व्यक्तियों और रुपयोंमें ही आप बँधे हुए हैं। जिनको आप अपना नहीं मानते, उन मकानों, व्यक्तियों और रुपयोंसे आप बिलकुल मुक्त हैं। अतः संसारसे आपकी ज्यादा मुक्ति तो है ही, थोड़ी-सी मुक्ति बाकी है ! मुक्ति नाम है छूटनेका। जिन रुपयों आदिको आप अपना नहीं मानते, उनसे आप बिलकुल छूटे हुए हैं। जिनमें आपकी ममता नहीं है, उनके हानि-लाभ आदिका आपपर असर नहीं पड़ता अर्थात् उनमें आप सम रहते हैं। वह चाहे सोना हो, चाहे मिट्टी या पत्थर हो, उसके आने-जानेका आपपर कोई असर नहीं पड़ता—**'समलोष्टाश्मकाञ्चनः'** (गीता ६।८)। इसी प्रकार मान-अपमान और मित्र-शत्रुके पक्षमें भी आपकी समता रहती है, उनका असर आपपर नहीं पड़ता—**'मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।'** (गीता १४।२५)।

वास्तवमें समता ही तत्त्व है। गीतामें कहा है—**'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।'** (गीता ५।१९) अर्थात् जिनका मन समतामें स्थित है, उन्होंने इस जीवित-अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसारको जीत लिया है। तात्पर्य है कि जिनके हृदयमें समता है, उनके हृदयमें वस्तुओंके बनने-बिगड़नेपर, आने-जानेपर कोई विषमता नहीं होती, पक्षपात नहीं होता, राग-द्वेष नहीं होते, हर्ष-शोक नहीं होते। वस्तुओं और व्यक्तियोंके आने-जानेसे हमारेपर किञ्चिन्मात्र भी असर नहीं पड़े, तब तो हम संसारपर विजयी हो गये; परन्तु उनके आने-जानेका असर पड़ता है तो हम संसारसे पराजित हो गये, हार गये। संसार विजयी हो गया हमपर। किसीको भी अच्छी नहीं लगती, जीत सबको अच्छी लगती है। जिनका मन समतामें स्थित है, वे आज और अभी जीत सकते हैं, विजयी हो सकते हैं। यह एकदम सिद्धान्तकी और बिलकुल सच्ची बात है। गीता कहती है—**'निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥'** (५।१९) अर्थात् सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम हो गया, वे परमात्मामें ही स्थित हैं। कितनी विलक्षण बात है !

परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना मनुष्यका खास ध्येय है। प्रत्येक भाई और बहन सब अवस्थाओंमें उस तत्त्वको प्राप्त कर सकते हैं; क्योंकि उस तत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही यह मनुष्यशरीर मिला है। परन्तु हम नाशवान् चीजोंको अपनी मानकर फँस जाते हैं, बँध जाते हैं और अपने लक्ष्यसे वञ्चित हो जाते हैं। ये चीजें पहले भी अपनी नहीं थीं और पीछे भी अपनी नहीं रहेंगी—यह पक्की बात है। बीचमें उनको अपनी

मानकर हम फँस जाते हैं। अगर हम उन चीजोंको अपनी न मानें, प्रत्युत उनको भगवान्‌की ही मानकर अच्छे-से-अच्छे, उत्तम-से-उत्तम व्यवहारमें लायें तो हम बन्धनमें नहीं पड़ेंगे। उन वस्तुओंमें हमारा अपनापन जितना-जितना छूटता चला जायगा, उतनी-उतनी हमारी मुक्ति होती चली जायगी।

प्रभुके साथ हमारा अपनापन सदासे है और सदा रहेगा। केवल हम ही भगवान्‌से विमुख हुए हैं, भगवान् हमसे विमुख नहीं हुए। हम भगवान्‌के हैं और भगवान् हमारे हैं—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।

(मानस, अरण्य० ११। २१)

मीराबाई इतनी ऊँची हुई, इसका कारण उसका यह भाव था कि ***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।'*** केवल एक भगवान् ही मेरे हैं, दूसरा कोई मेरा नहीं है।

सज्जनो! हम भगवान्‌के हो जाते हैं तो भगवान्‌की सृष्टिके साथ उत्तम-से-उत्तम बर्ताव करना हमारे लिये आवश्यक हो जाता है। यह सब सृष्टि प्रभुकी है, ये सभी हमारे मालिकके हैं—ऐसा भाव रखोगे तो उनके साथ हमारा बर्ताव बड़ा अच्छा होगा। त्यागका, उनके हितका, सेवाका बर्ताव होगा। इससे व्यवहार तो शुद्ध होगा ही, हमारा परमार्थ भी सिद्ध हो जायगा, हम संसारसे मुक्त हो जायँगे। अतः हम भगवान्‌के होकर भगवान्‌का काम करें। ये सब प्राणी भगवान्‌के हैं, इन सबकी सेवा करें। अपना यह भाव बना लें—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

सब-के-सब सुखी हो जायँ, सब-के-सब नीरोग हो जायँ, सबके जीवनमें मङ्गल-ही-मङ्गल हो, कभी किसीको दुःख न हो— ऐसा भाव हमारेमें हो जायगा तो दुनियामात्र सुखी होगी कि नहीं, इसका पता नहीं; परन्तु हम सुखी हो जायँगे, इसमें सन्देह नहीं।

आप थोड़ी कृपा करें, इस बातको ध्यानपूर्वक समझें। भक्तिमार्गमें तो केवल भाव बदलना है कि मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं; संसार मेरा नहीं है और मैं संसारका नहीं हूँ। गीतामें आया है—**'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्'** (९। २२), **'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः'** (८। १४)। अनन्य होकर भगवान्‌का चिन्तन करनेका तात्पर्य यह है कि मैं केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् मेरे हैं। ऐसा करनेवालेके लिये भगवान् कहते हैं—**'तस्याहं सुलभः'** अर्थात् जो अनन्यचेता होकर मेरा स्मरण करता है, उसको मैं सुलभतासे मिल जाता हूँ।

सज्जनो! जो व्यापार करना चाहता है, उसको यदि कोई बढ़िया बता दे तो वह उसे छोड़ेगा नहीं; क्योंकि उसमें लाभ बहुत होता है। ऐसे ही जो अपनी आध्यात्मिक उन्नति चाहता है, उसके लिये बड़ी श्रेष्ठ और सीधी-सादी बात यह है कि वह मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं, यह मान ले। यह मान्यता अगर दृढ़ हो जाय तो आज ही पूर्णता हो सकती है। अगर इस मान्यताको मिटाओगे नहीं तो समय पाकर स्वतः ही पूर्णता हो जायगी। अतः इतनी कृपा करें, मेहरबानी करें कि 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—यह बात पक्की मान लें। सच्ची बात है, आपको धोखा नहीं देता हूँ। पहले आप भगवान्‌के थे, अन्तमें भगवान्‌के ही रहेंगे और अब भी भगवान्‌के ही हैं। आप मानें या न मानें, पर आप भगवान्‌के ही हैं इसमें संदेह नहीं—

'सब मम प्रिय सब मम उपजाए' (मानस उत्तर८६। ४)
'ईस्वर अंस जीव अबिनासी' (मानस उत्तर ११७। २)
'ममैवांशो जीवलोके' (गीता १५। ७)

—इस प्रकार भगवान् और सन्त सब कहते हैं कि यह जीव परमात्माका अंश है यद्यपि हम परमात्माके हैं ही, तथापि 'हम परमात्माके हैं' ऐसा जबतक नहीं मानेंगे, तबतक परमात्माके होते हुए भी लाभ नहीं ले सकेंगे। जबतक हम परमात्मासे विमुख रहेंगे, तबतक हमें शान्ति, प्रसन्नता नहीं मिलेगी, आनन्द नहीं मिलेगा।

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस, सुन्दर० ४४। २)

भगवान्‌के सम्मुख होते ही करोड़ों जन्मोंके पाप नष्ट हो जायँगे। अतः सज्जनो! आप कृपा करके यह बात मान लो कि हम भगवान्‌के हैं, हम और किसीके नहीं हैं। यहाँ शंका हो सकती है कि हम और किसीके नहीं होंगे तो दुनियाका पालन-पोषण कैसे होगा? माताएँ अपने बालकोंका पालन-पोषण कैसे करेंगी? इसका समाधान है कि अपना मानकर पालन करनेकी महिमा नहीं है। अपने बालकका पालन तो हरेक माता करती है, पर इसमें कोई बहादुरी नहीं है। दूसरा कोई ऐसा बालक है, जिससे हमारा न्याति-जातिका कोई सम्बन्ध नहीं है, जिस बेचारेके माँ-बाप नहीं रहे, उसका पालन करनेवाली माईके लिये लोग कहते हैं कि धन्य है यह! अपना नहीं होनेपर भी अपने बालककी तरह उसका पालन किया जाय तो महिमा होगी और शान्ति मिलेगी तथा बालकपर भी बड़ा असर पड़ेगा।

'कल्याण' के एक मासिक अङ्कमें बहुत पहले एक घटना छपी थी। एक गाँवकी बात है। वहाँ एक मुसलमानके घर बालक हुआ, पर बालककी माँ मर गयी। वह बेचारा बड़ा दुःखी हुआ। एक तो स्त्रीके मरनेका दुःख और दूसरा नन्हें-से बालकका पालन कैसे करूँ—इसका दुःख ! पासमें ही एक अहीर रहता था। उसका भी दो-चार दिनका ही बालक था। उसकी स्त्रीको पता लगा तो उसने अपने पतिसे कहा कि उस बालकको ले आओ, मैं पालन करूँगी। अहीर उस मुसलमानके बालकको ले आया। अहीरकी स्त्रीने दोनों बालकोंका पालन किया। उनको अपना दूध पिलाती, स्नेहसे रखती, प्यार करती। उसके मनमें द्वैधीभाव नहीं था कि यह मेरा बालक है और यह दूसरेका बालक है। जब वह बालक बड़ा हो गया, कुछ पढ़नेलायक हो गया, तो उसने उस मुसलमानको बुलाकर कहा कि अब तुम अपने बच्चेको ले जाओ और पढ़ाओ-लिखाओ, जैसी मर्जी आये, वैसा करो। वह उस बालकको ले गया और उसको पढ़ाया-लिखाया। पढ़-लिखकर वह एक अस्पतालमें कम्पाउण्डर बन गया। उधर संयोगवश अहीरकी स्त्रीकी छाती कुछ कमजोर हो गयी और उसके भीतर घाव हो गया। इलाज करवानेके लिये वे अस्पतालमें डॉक्टरके पास पहुँचे। डॉक्टरने बीमारी देखकर कहा इसको खून चढ़ाया जाय तो यह ठीक हो जायगी। खून कौन दे ? परीक्षा की गयी। मुसलमानका वह लड़का, जो कम्पाउण्डर बना हुआ था, उसी अस्पतालमें था। दैवयोगसे उसका खून मिल गया। उस माईने तो उसको पहचाना नहीं, पर उस लड़केने उसको पहचान लिया कि यही मेरा पालन करनेवाली माँ है। बचपनमें उसका दूध पीकर पला था, इस कारण खूनमें एकता आ गयी थी। डॉक्टरने कहा, इसका खून चढ़ाया जा सकता है। उससे पूछा गया कि क्या तुम खून दे सकते हो? उसने कहा कि खून तो मैं दे दूँगा, पर दो सौ रुपये लूँगा। अहीरने उसको दो सौ रुपये दे दिये। उसने आवश्यकतानुसार अपना खून दे दिया। वह खून उस माईको चढ़ा दिया गया, जिससे उसका शरीर ठीक हो गया और वह अपने घर चली गयी।

कुछ दिनोंके बाद वह लड़का अहीरके घर गया और हजार-दो हजार रुपये माँके चरणोंमें भेंट करके बोला कि आप मेरी माँ हैं। मैं आपका ही बच्चा हूँ। आपने ही मेरा पालन किया है। ये रुपये आप ले लें। उसने लेनेसे मना किया तो कहा कि ये आपको लेने ही पड़ेंगे। उसने अस्पतालकी बात याद दिलायी कि खूनके दो सौ रुपये मैंने इसलिये लिये थे कि मुफ्तमें आप खून नहीं लेतीं और खून न लेनेसे आपका बचाव नहीं होता। यह खून तो वास्तवमें आपका ही है। आपके दूधसे ही मैं पला हूँ, इसलिये मेरा यह शरीर और सब कुछ आपका ही है। मेरे रुपये शुद्ध कमाईके हैं। आपकी कृपासे मैं लहसुन और प्याज भी नहीं खाता हूँ। अपवित्र, गन्दी चीजोंमें मेरी अरुचि हो गयी है। अतः ये रुपये आपको लेने ही पड़ेंगे। ऐसा कहकर उसने रुपये दे दिये। अहीरकी स्त्री बड़े शुद्ध भाववाली थी, जिससे उसके दूधका असर ऐसा हुआ कि वह लड़का मुसलमान होते हुए भी अपवित्र चीज नहीं खाता था।

आप विचार करें। जितनी माताएँ हैं, सब अपने-अपने बच्चोंका पालन करती ही हैं। हम सबका पालन बहनों-माताओंने ही किया है। परन्तु उनकी कोई कथा नहीं सुनाता, कोई बात नहीं करता। अहीरकी स्त्रीकी बात आप और हम करते हैं। उसका हमपर असर पड़ता है कि कितनी विशेष दया थी उसके हृदयमें ! उसके मनमें यह भेद-भाव नहीं था कि दूसरेके बच्चेका मैं कैसे पालन करूँ ? इसलिये आज हमलोग उसका गुण गाते हैं कि कितनी श्रेष्ठ माँ थी, जिसने दूसरे बालकका भी पालन किया और पालन करके उसके पिताको सौंप दिया ! अपने बच्चोंका पालन तो कुतिया भी करती है, इसमें क्या बड़ी बात है ?

चाहे तो अपने बालकोंको अपना न मानकर (ठाकुरजीका मानकर) पालन करो और चाहे जो अपने बालक नहीं हैं, उनका पालन करो तो बड़ा पुण्य होगा। परन्तु ममता करनेसे यह पुण्य खतम हो जाता है। मैं अपने बच्चोंका पालन करूँ, अपने जनोंकी रक्षा करूँ—यह अपनापन ही आपके पुण्यका भक्षण कर जाता है। इसलिये सज्जनो ! आप कृपा करके अपने कुटुम्बको भगवान्का मानें। छोटे-बड़े जितने हैं, सब प्रभुके हैं। उनकी सेवा करें और प्रभुसे कहें कि हे नाथ ! हम आपके ही जनोंकी सेवा करते हैं यदि आप ऐसा करने लग जायँ तो भगवान्पर इसका अहसान हो जाय। भगवान् भी कहेंगे कि हाँ भाई, मेरे बालकोंका पालन किया। आप ममता करेंगे तो भगवान्पर कोई अहसान नहीं। अपने बच्चोंका पालन तो सब करते हैं। केवल यह भाव रखें कि ये हमारे नहीं हैं ये ठाकुरजीके हैं। जीवन सफल हो जायगा सज्जनो !

गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनोंमें ही ममता और अहंताके त्यागकी बात आयी है—

(१) निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

(२।७१)

(२) अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

(१८।५३)

(३) निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
(१२ । १३)

ये मेरे नहीं हैं, संसारके हैं—इस प्रकार संसारके माननेसे 'कर्मयोग' हो जायगा। ये मेरे नहीं हैं, प्रकृति-मात्रके हैं—इस प्रकार प्रकृतिके माननेसे 'ज्ञानयोग' हो जायगा। ये मेरे नहीं हैं, ठाकुरजीके हैं—इस प्रकार भगवान्‌के माननेसे 'भक्तियोग' हो जायगा। ये मेरे हैं—इस प्रकार अपना माननेसे 'जन्म-मरणयोग' हो जायगा अर्थात् जन्मो, फिर मरो, मरकर फिर जन्म लो—इस तरह जन्म-मरणके साथ सम्बन्ध हो जायगा। आपकी ममता जहाँ रह जायगी, वहीं जन्म होगा। ममता नहीं रहेगी तो जन्म-मरणके चक्रसे मुक्ति हो जायगी। कितनी सरल और बढ़िया बात है !

श्रोता—बढ़िया बात तो है, पर होती नहीं !

स्वामीजी—होती नहीं, ऐसी बात नहीं है। आप इसको आज, अभी मान लें तो अभी हो जायगी। आप यह तो मानते ही हैं कि मैं धोखा नहीं देता हूँ और सन्तोंकी, शास्त्रोंकी, गीताजीकी बात कहता हूँ। बड़ी-बूढ़ी माताओंसे पूछो। जब वे छोटी बच्ची थीं, तब वे अपने पिताके घरको अपना घर मानती थीं। उस घरमें उनकी ममता थी कि यह मेरा घर है। परन्तु विवाह होनेके बाद वे पतिके घरको अपना घर मानने लग गयीं। ससुरालवाले अपने हो गये। अतः मेरापन बदलना तो आपको आता ही है। ससुरालमें रहते-रहते वह इतनी रच-पच जाती है कि उसको यह खयाल ही नहीं आता कि मैं कभी इस घरकी नहीं थी। परिवार फैल जाता है, बेटे-पोते हो जाते हैं। पोतेका विवाह होता है। और उसकी बहू आकर घरमें खटपट मचाती है तो वह बूढ़ी दादी माँ कहती है कि इस परायी जायी छोकरीने आकर मेरा घर बिगाड़ दिया—***'घर खोयो परायी जायी !'*** अब उस बूढ़ी माँसे कोई पूछे कि यह तो परायी जायी है, पर आप यहीं जन्मी थीं क्या ? उसको याद ही नहीं कि मैं तो परायी जायी हूँ ! वह यही मानती है कि मैं तो यहाँकी ही हूँ। बोलो, अपनापन बदल गया कि नहीं ? वह परायी जायी छोकरी भी एक दिन कहेगी कि यह मेरा घर है। आज आप उसको भले ही परायी जायी कह दो, पर यह घर भी उसका हो जायगा। माताओ ! जो घर अपना नहीं था, वह घर भी अपना हो गया, फिर भगवान्‌का घर तो पहलेसे ही अपना है ! भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

हम सब-के-सब उस परमात्माके अंश हैं, उस प्रभुके लाड़ले पुत्र हैं। हम चाहे कपूत हों या सपूत, पर हैं प्रभुके ही।

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ॥'

पुत्र तो कुपुत्र हो सकता है, पर माता कभी कुमाता नहीं होती। ऐसे ही हमारे प्रभु कभी कुमाता-कुपिता नहीं होते। वे देखते हैं कि यह अभी बच्चा है, गलती कर दी; परन्तु फिर प्यार करनेके लिये तैयार !

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
(गीता ९ । ३०)

दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी यदि भगवान्‌के भजनमें अनन्यभावसे लग जाय कि 'मैं तो भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं' तो उसको साधु ही मानना चाहिये। वह बहुत जल्दी धर्मात्मा बन जाता है और निरन्तर रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है—**'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।'** (गीता ९ । ३१)। यह सच्ची बात है।

संसारके हम नहीं हैं, संसार हमारा नहीं है। संसारके साथ अपनापन हमने किया है। वास्तवमें तो हम सदासे भगवान्‌के हैं और भगवान् हमारे हैं। हम भले ही भूल जायँ, पर भगवान् हमें भूले नहीं हैं। हम चाहे भगवान्‌से विमुख हो जायँ, पर भगवान् हमारेसे विमुख नहीं हुए हैं। भगवान् कहते हैं—***'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'*** (मानस, उत्तर० ८६ । २) सब-के-सब मेरेको प्यारे लगते हैं। इसलिये सज्जनो ! हम सब भगवान्‌के लाड़ले हैं, उनके प्यारे हैं !

अर्जुनने पूरी गीता सुननेके बाद क्या कहा ? **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (१८ । ७३) मोह नष्ट हो गया और स्मृति मिल गयी, याद आ गयी। जो भूल हो गयी थी, वह याद आ गयी कि मैं तो आपका हूँ। अब क्या करोगे ? तो कहा—**'करिष्ये वचनं तव'** आप जो कहोगे, वही करूँगा। मैं तो आपका हूँ ही, पहले भूल गया था, अब वह भूल मिट गयी।

हम सदासे परमात्माके ही हैं। शरीर संसारसे मिला है। जिन माता-पितासे यह शरीर मिला है, उनकी सब तरहसे सेवा करना, सुख पहुँचाना, आदर करना हमारा कर्तव्य है। पर हम स्वयं परमात्माके ही हैं। इस बातको ज्ञानी भक्त प्रह्लादजी जानते थे। पिताजी कहते हैं कि तुम भगवान्‌का नाम मत लो, उनका भजन मत करो; यदि करोगे तो मार दिये जाओगे। परन्तु प्रह्लादजी इस बातसे भयभीत नहीं होते। उनके पिता हिरण्यकशिपुने अपनी स्त्री कयाधूसे कहा कि तू अपने लड़केको जहर पिला दे। कयाधू पतिव्रता थी। उसकी गोदमें प्रह्लाद है और हाथमें जहरका प्याला। माँके द्वारा बच्चेको जहर पिलाया जाना बड़ा कठिन काम है। प्रह्लादजी अपनी माँसे

कहते हैं कि माँ ! तू मेरेको जहर पिला दे तो तेरे भी धर्मका पालन हो जायगा और मेरे भी धर्मका पालन हो जायगा। प्रह्लादजी जहर पी गये, पर मरे नहीं; क्योंकि उनको भगवान्पर पूरा भरोसा था। उन्होंने पिताजीकी आज्ञाको भंग नहीं किया। उनको समुद्रमें डुबाने लगे तो उन्होंने यह नहीं कहा कि मेरेको समुद्रमें क्यों डुबाते हो ? वे वहाँसे बच गये तो उनके ऊपर वृक्ष और पत्थर डाल दिये गये। उनको पहाड़से गिराया गया, हाथीसे कुचलवाया गया, अस्त्र-शस्त्रोंसे काटनेकी चेष्टा की गयी, पर वे मरे नहीं। प्रह्लादजीने कभी यह नहीं कहा कि आप मेरेको मारते क्यों हो ? परन्तु भगवान्का भजन नहीं छोड़ा।

पिताजीने उनको शुक्राचार्यजीके पुत्र शण्डामर्कके पास भेजा। वहाँपर वे पढ़ाई नहीं करते। गुरुजी जब बाहर जाते, तब वे पाठशाला बना देते। वे राजकुमार थे; अतः सब लड़के उनके कहनेसे भजन करते। गुरुजीने देखा कि प्रह्लादजीने तो पाठशालाको भजनशाला बना दिया; अतः वे हिरण्यकशिपुके पास जाकर बोले कि महाराज ! आपका लड़का खुद तो बिगड़ा ही है, दूसरे लड़कोंको भी बिगाड़ रहा है। हिरण्यकशिपुने प्रह्लादजीको बुलाकर पूछा कि तेरी यह खोटी बुद्धि कहाँसे आयी है ? स्वतः पैदा हुई है यहाँ किसीने तेरेको सिखायी है ? प्रह्लादजीने कहा कि पिताजी ! ऐसी बुद्धि न तो स्वतः पैदा होती है और न इसको कोई सिखा सकता है। यह तो सन्त-महात्माओंकी कृपासे मिलती है।

बचपनमें प्रह्लादजीपर नारदजी महाराजकी कृपा हुई थी। प्रह्लादजी जब माँके गर्भमें थे, तब इन्द्रने आकर लूटपाट की और कयाधूको ले गया। हिरण्यकशिपु उस समय तपस्याके लिये वनमें गया हुआ था। जब इन्द्र कयाधूको लेकर जा रहा था, तब रास्तेमें नारदजी मिले। नारदजीने कहा कि इस अबलाको क्यों दुःख दे रहा है ? इस बेचारीने क्या अपराध किया है ? इन्द्र बोला कि महाराज ! इसके पेटमें मेरे शत्रु हिरण्यकशिपुका अंश है। उसने अकेले ही हमें इतना तंग कर दिया है, जब दो हो जायँगे, तब बड़ी मुश्किल हो जायगी ! इसलिये मैं कयाधूको ले जाता हूँ। जब इसका बच्चा जन्मेगा, तब मैं उसको मार दूँगा, कयाधूको कुछ नहीं कहूँगा। नारदजीने कहा कि इसका जो बच्चा होगा, वह तेरा वैरी नहीं होगा। नारदजीका बात राक्षस, असुर, देवता, मनुष्य सब मानते हैं; क्योंकि वे सन्त जो ठहरे। सन्तोंपर सबका विश्वास होता है। इन्द्रने उनकी बात मान ली और कयाधूको छोड़ दिया। नारदजीने कयाधूको एक कुटियामें रखा और कहा कि बेटी ! तुम चिन्ता मत करो और यहींपर आनन्दसे रहो। जैसे पिताके घर लड़की प्यार-से रहती है, ऐसे ही वह भी वहाँ रहने लग गयी। नारदजी उसके गर्भको लक्ष्यमें रखकर भगवान्की कथाएँ सुनाते थे। इसके गर्भमें जो बालक है, वह भगवान्का भक्त बन जाय—इस भावसे वे सत्संगकी बड़ी अच्छी-अच्छी बातें सुनाते थे।

माता घट रह्यो न लेश नारदके उपदेशको।
सो धार्‌यो अशेष गर्भ मांहि ज्ञानी भयो॥

नारदजीका उपदेश माँको तो याद नहीं रहा, पर प्रह्लादजीने गर्भमें ही उस उपदेशको धारण कर लिया। वे वहींसे भक्त बन गये। भक्त बननेसे उनके हृदयमें यह बात आ गयी कि मैं स्वयं तो वास्तवमें परमात्माका ही हूँ और यह शरीर माता-पिताका है। माता-पिता यदि इस शरीरके टुकड़े-टुकड़े भी करें तो भी मेरेको बोलनेका कोई अधिकार नहीं है; क्योंकि शरीर इनका दिया हुआ है। परंतु मैं स्वयं साक्षात् परमात्माका अंश हूँ; अतः परमात्मासे हटानेका इनको अधिकार नहीं है। मैं परमात्माकी तरफ लगूँ और यह शरीर माता-पिताकी सेवामें लगे।

सज्जनो ! यह शरीर माता-पिताका है। इसलिये माता-पिताकी खूब सेवा करो, सब तरहसे उनको सुख पहुँचाओ, उनका आदर-सत्कार करो। वास्तवमें सेवा करके भी आप उऋण नहीं हो सकते। माँके ऋणसे कोई भी उऋण नहीं हो सकता। संसारमें जितने भी सम्बन्ध हैं, उनमें सबसे बढ़कर माँका सम्बन्ध है। इस शरीरका ठीक तरहसे पालन-पोषण जैसा माँ करती है, वैसा कोई नहीं कर सकता—'**मात्रा समं नास्ति शरीरपोषणम्।**' इसलिये कहा गया है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्कन्दपुराण, माहे० कौमार० ५५। १४०)

अर्थात् जिसका अन्तःकरण परब्रह्म परमात्मामें लीन हो गया है, उसका कुल पवित्र हो जाता है, उसकी माता कृतार्थ हो जाती है, और यह सम्पूर्ण पृथ्वी महान् पवित्र हो जाती है।

जननी जणे तो भक्त जण, कै दाता कै सूर।
नहिं तो रहजे बाँझड़ी, मती गमाजे नूर॥

मैंने सन्तोंका बधावा बोलते समय सुना है—***'धिन जननी ज्यांरे ए सुत जाया ए, सोहन थाल बजाया ए।'*** जिस माताने ऐसे भक्तको जन्म दिया है, वह धन्य है ! कारण कि बालकपर माँका विशेष असर पड़ता है। प्रायः देखा जाता है कि माँ श्रेष्ठ होती है तो उसका पुत्र भी श्रेष्ठ होता है। इसलिये जिसका मन भगवान्में लग जाता है, उसकी माँ कृतार्थ हो जाती है।

आप दान-पुण्य करके, बड़ा उपकार करके इतना लाभ

नहीं ले सकते, जितना लाभ भगवान्‌के चरणोंकी शरण होनेसे ले सकते हैं। कारण कि परमात्माके साथ हमारा अकाट्य-अटूट सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध कभी भी टूट नहीं सकता। इस सम्बन्धको जीव ही भूला है, भगवान् नहीं भूले। इसलिये जीवके ऊपर ही भगवान्‌की तरफ चलनेकी जिम्मेवारी है। भगवान् तो अपनी ओरसे कृपा कर ही रहे हैं, चाहे वह कैसा ही क्यों न हो। भगवान् सबका पालन, भरण-पोषण करते हैं। पापीको भी दण्ड देकर सुधारते हैं, नरकोंमें डालकर पवित्र करते हैं। इस तरह भगवान् तो सम्पूर्ण जीवोंका पालन-पोषण करनेमें, उनको पवित्र करनेमें लगे हुए हैं। भगवान् कहते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस, सुन्दर० ४४। २)

जीव ही भगवान्‌से विमुख हुआ है, इसलिये इसपर ही भगवान्‌के सम्मुख होनेकी जिम्मेवारी है। जहाँ सम्मुख हुआ कि बेड़ा पार! इसलिये हम प्रभुके चरणोंकी शरण हो जायँ और अपनी अहंता बदल दें कि हम परमात्माके हैं। जैसे बहनें-माताएँ अपनी अहंता बदल देती हैं कि मैं अब इस घरकी नहीं हूँ; जहाँ विवाह हुआ है, उस घरकी हूँ। उनका गोत्र बदल जाता है, पिताका गोत्र नहीं रहता। कई जगह ऐसी बात आती है कि घरमें कोई बालक पैदा हुआ और सूतक लगनेके कारण हम ठाकुरजीकी सेवा नहीं कर सकते, तो कहते हैं कि तुम्हारी जो विवाहित लड़की घरपर है, वह सेवा कर देगी; क्योंकि उसको सूतक नहीं लगता, उसका गोत्र दूसरा है। वही लड़की आपके घरमें है और उसके ससुरालमें बालक पैदा हुआ तो आप उसको कहते हैं कि देख बेटी, जलको हाथ मत लगाना। वह खास अपनी बेटी है, पर उसके ससुरालमें बालक पैदा होनेसे उसको सूतक लगता है। ऐसे ही आप अपनी अहंता बदल दें कि हम तो भगवान्‌के हैं तो आप वास्तविकतातक पहुँच जायँगे।

हम अपनी तरफसे भगवान्‌को अपना मानते नहीं पर भगवान् अपनी तरफसे हमें अपना मानते हैं। मानते ही नहीं, जानते भी हैं। बच्चा माँको अपनी माँ मानता है, पर कभी-कभी अड़ जाता है कि तू मेरा कहना नहीं मानती तो मैं तेरा बेटा नहीं बनूँगा। माँ हँसती है; क्योंकि वह जानती है कि बेटा तो मेरा ही है। बच्चा समझता है कि माँको मेरी गरज है, बेटा बनना माँको निहाल करना है, इसलिये कहता है कि तेरा बेटा नहीं बनूँगा, तेरी गोदमें नहीं आऊँगा। परन्तु बेटा नहीं बननेसे हानि किसकी होगी? माँका क्या बिगड़ जायगा? माँ तो बच्चेके बिना वर्षोंसे जीती रही है, पर बच्चेका निर्वाह माँके बिना कठिन हो जायगा। बच्चा उलटे माँपर अहसान करता है। ऐसे ही हम भी भगवान्‌पर अहसान कर सकते हैं!

भगवान्‌के एक बड़े प्यारे भक्त थे, नाम याद नहीं है। वे रात-दिन भगवद्‌भजनमें तल्लीन रहते थे। किसीने उनके लिये एक लंबी टोपी बनायी। उस टोपीको पहनकर वे मस्त होकर कीर्तन कर रहे थे। कीर्तन करते-करते वे प्रेममें इतने मग्न हो गये कि भगवान् स्वयं आकर उनके पास बैठ गये और बोले कि भगतजी! आज तो आपने बड़ी ऊँची टोपी लगायी! वे बोले कि किसीके बापकी थोड़े ही है, मेरी है। भगवान्‌ने कहा कि मिजाज करते हो? तो बोले कि माँगकर थोड़े ही लाये हैं मिजाज? भगवान्‌ने पूछा कि मेरेको जानते हो? वे बोले कि अच्छी तरहसे जानता हूँ। भगवान् बोले कि यह टोपी बिक्री करते हो क्या? वे बोले कि तुम्हारे पास देनेको है ही क्या जो आये हो खरीदनेके लिये? त्रिलोकी ही तो है तुम्हारे पास, और देनेको क्या है? भगवान् बोले कि इतना मिजाज! तो वे बोले कि किसीका उधार लाये हैं क्या? भगवान्‌ने कहा कि देखो, मैं दुनियासे कह दूँगा कि ये भगत-वगत कुछ नहीं हैं तो दुनिया तुम्हारेको मानेगी नहीं। वे बोले कि अच्छा, आप भी कह दो, हम भी कह देंगे कि भगवान् कुछ नहीं हैं। आपकी प्रसिद्धि तो हमलोगोंने की है, नहीं तो आपको कौन जानता है? भगवान्‌ने हार मान ली!

माँके हृदयमें जितना प्रेम होता है उतना प्रेम बच्चोंके हृदयमें नहीं होता। ऐसे ही भगवान्‌के हृदयमें अपार स्नेह है। अपने स्नेहको, प्रेमको वे रोक नहीं सकते और हार जाते हैं! ***'और सबसों गये जीत, भगतसे हार्‌यो'*** कितनी विलक्षण बात है! ऐसे भगवान्‌के हो जाओ। दूसरोंके साथ हमारा सम्बन्ध केवल उनकी सेवा करनेके लिये है। उनको अपना नहीं मानना है। अपना केवल भगवान्‌को मानना है। भगवान्‌की भी सेवा करनी है, पर उनसे लेना कुछ नहीं है।

आपकी कन्या आपकी अहंता बदल देती है, अपनेको दूसरे घरकी बहू मान लेती है। क्या आप अपनी अहंता नहीं बदल सकते? क्या आपमें उस कन्या-जितनी सामर्थ्य भी नहीं है? जिस कन्याका आपने पालन-पोषण किया, बड़ी धूमधामसे विवाह किया, उस कन्याके बदलनेपर (दूसरे घरको अपना माननेपर) भी आप नाराज नहीं होते। ऐसे ही आप अपनेको भगवान्‌का और भगवान्‌को अपना मान लें तो कोई नाराज नहीं होगा; क्योंकि यह सच्ची बात है। मीराबाईने कहा— ***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।'*** गिरधर गोपालके सिवाय मेरा कोई नहीं है और मैं किसीकी नहीं हूँ।

आप नौकरी करो तो आपकी योग्यताके अनुसार आपको तनख्वाह मिलेगी। परन्तु आप घरमें माँके पास जाओ तो क्या माँ आपकी योग्यताके अनुसार रोटी देगी। आप काम करो तो भी वह रोटी देगी और काम न करो तो भी रोटी देगी। इस तरह भजन करनेसे ही भगवान्से सम्बन्ध होगा, भजन न करनेसे सम्बन्ध नहीं होगा—यह बात नहीं है। यदि आप भगवान्से अपनापन कर लेंगे कि हे नाथ! मैं तो आपका ही हूँ, तो भगवान् सोचेंगे कि यह चाहे जैसा भी है, अपना ही बालक है! अतः भगवान्को आपका पालन करना ही पड़ेगा। इसलिये 'मैं तो आपका ही हूँ और आप ही मेरे हैं'—यह बड़ा सीधा रास्ता है।

भगवान् कहते हैं कि यह जीव है तो मेरा ही अंश, पर प्रकृतिमें स्थित शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिको खींचता है, उनको अपना मानता है (गीता १५।७)! अरे! किस धंधेमें तू लग गया! है कहाँका और कहाँ लग गया! संसारकी सेवा करो। अपने तन, मन, धन, बुद्धि, योग्यता, अधिकार आदिसे दूसरोंको सुख पहुँचाओ, पर उनको अपना मत मानो। यह अपनापन टिकेगा नहीं। केवल सेवा करनेके लिये ही वे अपने हैं। संसारकी जिन चीजोंमें अपनापन कर लेते हैं, वे ही हमें पराधीन बनाती हैं। वहम होता है कि इतना परिवार मेरा, इतना धन मेरा, पर वास्तवमें ये तेरे नहीं हैं, तू इनका हो गया, इनके पराधीन हो गया! न तो ये हमारे साथ रहेंगे और न हम इनके साथ रहेंगे। इसलिये बड़े उत्साह और तत्परतासे इनकी सेवा करो तो दुनिया भी राजी हो जाय और भगवान् भी राजी हो जायँ! आप भी सदा आनन्दमें, मौजमें रहें! जब सेवा करनेवाला नहीं मिलता, तब सेवा चाहनेवाला दुःखी रहता है। परन्तु सेवा करनेवाला सदा सुखी रहता है, आनन्दमें रहता है।

★

सुगम साधन

प्रह्लादजी असुर-बालकोंको उपदेश देते हुए कहते हैं कि भगवान्‌की प्राप्तिमें क्या प्रयास है—'**कोऽतिप्रयासोऽसुरबालकाः**' (श्रीमद्भागवत ७।७।३८)? विषयोंकी एक बात ध्यान देनेकी है कि संसारकी वस्तुएँ सब देशमें सब समयमें नहीं हैं। उनकी प्राप्तिके लिये विशेष परिश्रम करना पड़ता है। परन्तु परमात्मा सब देशमें हैं, सब कालमें हैं, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें हैं, सम्पूर्ण घटनाओंमें हैं। ऐसा कोई देश, काल, व्यक्ति, वस्तु नहीं है, जहाँ परमात्मा न हों। उनकी प्राप्तिमें तो केवल तीव्र इच्छाकी ही आवश्यकता है। जैसे हमारे पास कोई चीज हो तो उस तरफ दृष्टि घुमाई और देखी! परन्तु परमात्माको देखनेके लिये दृष्टि घुमानेकी भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि परमात्मा बाहर-भीतर सब जगह हैं। इसलिये उनकी प्राप्तिकी इच्छा करो और उनको प्राप्त कर लो!

परमात्माकी प्राप्तिमें प्रयासकी आवश्यकता नहीं है। इसमें तो केवल अभिलाषाकी आवश्यकता है। वह अभिलाषा भी कठिन नहीं है। वास्तवमें वह अभिलाषा मनुष्यमात्रमें स्वतः-स्वाभाविक है; क्योंकि मनुष्यमात्र अपनेमें कमीका अनुभव करता है। परन्तु उससे भूल यह होती है कि वह इसकी पूर्ति संसारसे करना चाहता है। संसारकी सब वस्तुएँ सभीको प्राप्त होती नहीं, हुई नहीं और होंगी भी नहीं तथा मिल भी गयीं तो रहेंगी नहीं। वस्तुएँ रह भी गयीं तो आप नहीं रहेंगे। उनसे वियोग तो अवश्य होगा। पहले भी वियोग था और बादमें भी वियोग होगा। बीचमें संयोग केवल दीखता है, वास्तवमें है नहीं। फिर भी हम उन वस्तुओंसे अपना सम्बन्ध मान लेते हैं और उनकी इच्छा करते हैं, यह बहुत बड़ी भूल है।

आपने शरीरके साथ एकता मान ली कि यह शरीर मैं हूँ और शरीर मेरा है, यह है खास गलती! आप शरीर नहीं हैं; क्योंकि यदि आप शरीर होते तो मरते ही नहीं और यदि मरते तो शरीरको साथ ले जाते। मरनेके बाद शरीर (मुर्दा) पड़ा रहता है तो उसमें भी हम होते। परन्तु न तो शरीर हमारे साथ जाता है और न शरीरके साथ हम रहते हैं। अतः अपनेको शरीर मानना भी गलत है और शरीरको अपना मानना भी गलत है। शरीरको हम जैसा रखना चाहें, वैसा रख नहीं सकते, इसपर हमारा वश नहीं चलता, फिर यह अपना कैसे? यदि शरीर अपना नहीं है तो फिर धन, सम्पत्ति, वैभव, कुटुम्ब आदि अपने कैसे? अतः संसार अपना नहीं है, अपने तो केवल भगवान् ही हैं—यह माननेमें क्या कठिनता है? संसारको अपना माननेसे ही जो वास्तवमें अपने हैं, उन परमात्माको अपना माननेमें कठिनता हो रही है।

परमात्मा अपने हैं—यह शास्त्र कहता है, और संसार अपना नहीं है—यह आपका अनुभव कहता है। यह बात भले ही आप अभी न मान सको, भले ही आपसे मानी नहीं जा रही हो; परन्तु हिम्मत मत हारो। यह मत सोचो कि हम तो इस बातको मान नहीं सकते। भले ही हमारे माननेमें न आ रही हो, पर वास्तवमें 'मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है' यह बात है नहीं—इस बातको स्थिर रखो। आपके माननेमें आये चाहे न आये, अनुभव हो चाहे न हो—इसकी चिन्ता मत करो; परन्तु

इस बातको रद्दी मत करो।

शरीर 'मैं' नहीं है और 'मेरा' नहीं है—यह बात सच्ची है एवं मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरा है—यह बात भी सच्ची है। सच्ची होनेपर भी माननेमें नहीं आती तो यह हमारी एक कमजोरी है। हमारे न माननेसे सच्ची बात रद्दी (गलत) कैसे हो सकती है ?

श्रोता—हम इस बातको रद्दी कैसे करते हैं ?

स्वामीजी—इन्द्रियोंके द्वारा, बुद्धिके द्वारा हम जिन वस्तुओंको देखते हैं, उनको सच्ची और अपनी मान लेते हैं; इससे वह बात रद्दी हो जाती है। उन वस्तुओंमें अपनेपनका त्याग नहीं होता तो कोई बात नहीं; परन्तु 'शरीर-संसार मेरे नहीं हैं' यही बात सच्ची है—इतना आदर तो आपको करना ही चाहिये ! भगवान् न दीखें तो न सही, पर 'भगवान् हमारे हैं, हम भगवान्‌के हैं'—यह बात सच्ची है। ब्रह्माजी भी इस विषयमें कह दें कि 'देखो, तुम संसारके हो और संसार तुम्हारा है, तुम भगवान्‌के नहीं हो और भगवान् तुम्हारे नहीं हैं', तो भी साफ कह दो कि 'महाराज ! आपकी यह बात हम नहीं मानेंगे।' भले ही यह बात हमारे अनुभवमें न आयी हो, हमें पूरी न जँची हो; परन्तु बात यह सच्ची है ! भगवान् स्वयं कहते हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७) 'यह जीव मेरा ही अंश है।' सन्त-महात्मा भी यही कहते हैं—***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'*** (मानस, उत्तर० ११७। २)। इसलिये मैं हाथ जोड़कर आपसे प्रार्थना करता हूँ, मेरेपर आप इतनी कृपा करो कि आप मेरी बात आज मान लो। माननेसे भले ही आपमें कोई परिवर्तन न आये, पहलेकी तरह ही भूख-प्यास लगे, वैसे ही राग-द्वेष हों, पर कृपा करके इस बातको रद्दी मत करो। हम तो भगवान्‌के ही हैं—ऐसा मान लो, फिर अनुभव हो अथवा न हो, बोध हो अथवा न हो, इसकी परवाह मत करो। अन्तमें यह बात स्थिर हो जायगी; क्योंकि यह बात सच्ची है।

बिलकुल सच्ची बात है कि ***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'।*** इसे माननेमें क्या जोर आता है ? मानना तो आपको आता ही है; जैसे—आप किसीको अपना मित्र, गुरु आदि मान लेते हैं। इसी प्रकार न मानना भी आपको आता है; जैसे—पहले आप अपनेको कुँआरा मानते थे, पर विवाह हो जानेपर अपनेको कुँआरा न मानकर विवाहित मानने लग जाते हैं। यदि आप गृहस्थ छोड़कर साधु बन जाते हैं तो घर, परिवारको अपना मानना छोड़ देते हैं और गुरु महाराजको अपना मान लेते हैं। इसलिये मानना और न मानना—दोनों आपको आते हैं। मानने और न माननेकी विद्या सभीको आती है। अब इस विद्याको केवल भगवान्‌में लगाना है, संसारमें नहीं।

हमारेसे गलती यह होती है कि सुनते समय तो मान लेते हैं, पर फिर उसे उड़ा देते हैं और जो बात सच्ची नहीं है, उसे सच्ची मानने लग जाते हैं। एक और गलतीकी बात यह है कि भाई-बहन कहते हैं कि इस बातको हम भूल जाते हैं। वास्तवमें यदि आपने इस बातको दृढ़तासे मान लिया है, तो फिर भले ही यह याद न रहे। बिना याद किये भी यह स्वतः याद रहेगी। कैसे याद रहेगी ? जैसे अभी आप मानते हैं कि हम वृन्दावनमें हैं, तो किसी भाई-बहनने 'मैं वृन्दावनमें हूँ'—इसकी एक भी माला फेरी है क्या ? एक बार आपने इसे मान लिया, फिर इसे बार-बार याद रखते हो क्या ? इसमें सन्देह होता है क्या ? जब कभी कोई पूछे तो तुरन्त कह देते हो कि हम तो वृन्दावनमें हैं। इस तरह बिना याद किये भी आपके भीतर बात रहती है। इसकी भूल तो तब मानी जायगी, जब आप यह मानने लग जायँ कि मैं तो हरिद्वारमें हूँ ! अतः याद न रहनेको मैं भूल नहीं मानता हूँ। 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह याद न रहे तो यह भूल नहीं है; परन्तु 'मैं भगवान्‌का नहीं हूँ, मैं तो संसारका हूँ'—यह मान लेना भूल है।

एक बार सच्चे हृदयसे अपनेको भगवान्‌का मान लेनेके बाद फिर चाहे बिलकुल याद मत रखो। अब तो याद रखना है भगवान्‌का नाम। भगवान्‌के नामका जप करो, स्मरण करो, कीर्तन करो, उनकी लीलाओंका ध्यान करो, उनके स्वरूपका चिन्तन करो—ये बातें करनेकी हैं। भगवान्‌को तो एक बार अपना मानकर छोड़ दो। हम भगवान्‌के हैं—इसमें सन्देह मत करो, चाहे हमारे माननेमें आये या नहीं आये, उसका अनुभव हो चाहे नहीं हो, कोई परवाह नहीं।

बहुत-से लोग कह देते हैं कि तुम्हारे जीवनमें क्या फर्क पड़ा ? फर्क चाहे कुछ न पड़े। न नापमें, न तौलमें, न रंगमें, न ढंगमें, कुछ फर्क न पड़े तो कोई बात नहीं ! परन्तु 'हम तो मान नहीं सकते, हमें तो याद नहीं रहता, हम तो योग्य नहीं हैं, हम तो अधिकारी नहीं हैं, हम तो पात्र नहीं हैं, हमें तो गुरु नहीं मिले, हमें तो सन्त नहीं मिले; समय ठीक नहीं है, कलियुगका समय है, वायुमण्डल ठीक नहीं है, संग अच्छा नहीं है'—इन बातोंको लेकर इस बातको रद्दी मत करो। तरह-तरहकी युक्ति लगाकर आप इस बातको रद्दी करते रहोगे तो सिद्धि नहीं होगी। परन्तु इस बातको रद्दी नहीं करोगे तो सिद्धि हो ही जायगी। यह सिद्धि कुछ दिनोंमें भी हो सकती है, महीनोंमें भी हो सकती है, वर्ष भी लग सकते हैं। संसारका

सुख लेते रहोगे तो बहुत समय लगेगा, पर अन्तमें सिद्धि होकर रहेगी।

खेती करनेवाला खेतमें बीज बोकर निश्चिन्त हो जाता है। वह बीज अपने-आप ही अंकुर देता है। यदि वह बार-बार बीजको बाहर निकालकर देखेगा तो अंकुर कभी नहीं आयेगा। एक कहानी आती है। एक आमका बगीचा था। उसमें बन्दर आम खाने लगे तो बागमें रखवाली करनेवालोंने उनको पत्थर मारकर भगा दिया। जाते-जाते बन्दरोंने एक-एक आम मुँहमें और एक-एक आम हाथमें ले लिया और भाग गये। उन सबने मीटिंग की कि ये दुष्ट हमें आम खाने नहीं देते ! उनमेंसे कुछ समझदार बन्दर बोले कि वे अपने बगीचेमें आम कैसे खाने देंगे ? यदि हम भी एक बगीचा लगा लें तो फिर हमें आम खानेसे कोई मना नहीं करेगा। उन्होंने सोचा कि गुठली तो है ही, इनका बगीचा लगा लें। गुठली गाड़ दें और पानी दे दें तो बगीचा तैयार हो जायगा, फिर खूब आम खायेंगे ! सर्वसम्मतिसे प्रस्ताव पास हो गया। एक नदी बह रही थी, उसके किनारे गुठलियाँ गाड़ दीं। अब वे बार-बार गुठलियोंको निकालकर देखते हैं कि अभी आम हुआ कि नहीं और उनको पुनः गाड़ देते हैं! शामतक वे इसी प्रकार गुठलियोंको निकालते तथा गाड़ते रहे ! क्या इस प्रकार आमकी खेती हो जायगी ? खेती करनी हो तो बीज बोकर पानी दे दो और निश्चिन्त हो जाओ। जो अभी नहीं है, वह भी निश्चिन्त होनेसे पैदा हो जायगा, फिर जो सच्ची बात है, वह सिद्ध क्यों नहीं होगी ? हम भगवान्‌के हैं और भगवान् हमारे हैं—यह बात सच्ची और स्वतःसिद्ध है। इसको माननेमें क्या परिश्रम आता है ? क्या जोर पड़ता है ? क्या किसी विद्याकी आवश्यकता है ? कोई योग्यता चाहिये ? सीधी बात है कि हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं; हम संसारके नहीं हैं, संसार हमारा नहीं है। अब आप इसे आमकी गुठलीकी तरह उखाड़ें नहीं अर्थात् कभी परीक्षा न करें कि हमारेमें कुछ फर्क पड़ा कि नहीं ? अंकुर फूटा कि नहीं ? फिर वृक्ष उग जायगा, आम भी लग जायँगे, सब बढ़िया हो जायगा ! परन्तु कृपा करो कि इस बातको हटाओ मत। यह भगवत्प्राप्तिका बहुत सुगम उपाय है और कुछ नहीं करना है। बस, 'मैं भगवान्‌का और भगवान् मेरे' इस निश्चयको अपनी तरफसे हटाना नहीं है।

ये भाई बैठे हैं; पहले ये अपनेको कुँआरा मानते थे। परन्तु विवाह हो गया तो कहने लगे कि हम तो कुँआरे नहीं हैं। अब कोई पूछे कि तुम्हारा विवाह हो गया क्या ? तो क्या यह कहोगे कि ठहरो, सोचने दो; इस साल तो नहीं हुआ, गये साल भी नहीं हुआ, बीस साल पहले हुआ था, हाँ-हाँ, याद आ गया, हो गया विवाह ! ऐसा क्यों नहीं कहते ? क्योंकि विवाह हो गया तो हो गया। यह मान्यता है। यदि स्वप्नमें भी कोई पूछे तो यही कहोगे कि विवाह हो गया। ऐसे ही 'मैं परमात्माका हूँ और परमात्मा मेरे हैं' यह बिना याद किये याद रहेगा। इसमें भूल नहीं होगी। भूल तब होगी, जब आप सोचेंगे कि मैं परमात्माका नहीं हूँ और परमात्मा मेरे नहीं हैं; क्योंकि मेरे आचरण अच्छे नहीं हैं, मेरे लक्षण अच्छे नहीं हैं, भगवान्‌पर विश्वास नहीं है, श्रद्धा नहीं है। यह बाधाएँ मत लगाओ। विश्वास नहीं हो, श्रद्धा नहीं हो, स्मरण नहीं हो, हमारेमें परिवर्तन नहीं हुआ हो, जीवन न सुधरा हो, कुछ भी न हुआ हो, फिर भी इस मान्यताको रद्दी मत करो कि मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं।

जो मेरी दृष्टिमें महापुरुष हैं, उनसे भी मैंने पूछा है। उन्होंने कहा है कि जो मनुष्य परमात्माको अपना मान लेता है, उसे जनानेकी जिम्मेवारी परमात्मापर आ जाती है; क्योंकि परमात्मा ही जना सकते हैं, हम नहीं जान सकते। जहाँ हम असमर्थ होते हैं, वहाँ भगवान्‌की सामर्थ्य काम करती है। कितनी बढ़िया बात है कि 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं, मैं संसारका नहीं और संसार मेरा नहीं,—यह माननेकी योग्यता आपमें है ! आपमें जितनी योग्यता है, उतनी आप लगा दें। जो नहीं है, उसकी पूर्ति भगवान् करेंगे—***'सुने री मैंने निरबलके बल राम।'*** जितने अंशमें आप निर्बल हैं, उतने अंशमें भगवान्‌का बल काम करता है। परन्तु जितने अंशमें आप सबल हैं, उतना बल आप नहीं लगाते तो इसमें दोष आपका है, इसकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर नहीं है। किसीको तो आप अपना मान लेते हैं और किसीको अपना नहीं मानते—इस योग्यताको आप भगवान्‌में क्यों नहीं लगाते ? आप जितना कर सकते, उतनेकी ही आशा भगवान् आपसे करते हैं। जो आप नहीं कर सकते हैं, उसकी आशा भगवान् आपसे नहीं करते। एक छोटे बच्चेसे क्या आप आशा करते हैं कि वह एक गेहूँका बोरा उठा लाये ? आप उतनी ही आशा करते हैं, जितना बच्चा कर सकता है। फिर भगवान् इतने भी ईमानदार नहीं हैं क्या ? जो आप नहीं मान सकते, उसे आप मान लो—ऐसा भगवान् कहेंगे क्या ? जो आप मान सकते हो, उतना मान लो, बस। यह जो साधन आज आपको बताया है, यह इतना सुगम और सरल है कि हरेक कर सकता है। पढ़ा-लिखा हो या अपढ़ हो, भाई हो या बहन हो, सदाचारी हो या दुराचारी हो, सद्‌गुणी हो या दुर्गुणी हो, सज्जन हो या दुष्ट हो, कैसा ही क्यों न हो, इसको मान सकता है।

पतिव्रताके लिये कहा गया है—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
(मानस, अरण्य० ५।१०)

ये मेरे पति हैं—यह मान्यता दृढ़ होनेसे पति चाहे जैसा हो, वह पतिव्रता हो जायगी। रावण एक विशेष महात्मा था क्या? परन्तु मन्दोदरीने अपने पातिव्रतधर्मका ठीक पालन किया, जिसके प्रभावसे वह रामजीकी महिमा जानती थी, जबकि रावण कहनेपर भी नहीं मानता था! उसमें इतना ज्ञान कहाँसे आया? यह ज्ञान आया पातिव्रत-धर्मसे। क्या भगवान् कह सकते हैं कि तुम्हारा पति सदाचारी नहीं है; अतः तुम्हारा कल्याण नहीं होगा? नहीं कह सकते। वह सदाचारी नहीं है तो हम क्या करें? हमने अपने पातिव्रतधर्मका ठीक पालन किया है तो उसका पूरा माहात्म्य भगवान् देंगे—*'बिनु श्रम नारि परम गति लहई'* (मानस, अरण्य०, ५।१८)। परमगति पानेकी जिम्मेवारी उसपर नहीं है। इसकी जिम्मेवारी है—शास्त्रोंपर, सन्तोंपर, भगवान्‌पर। वह पातिव्रतधर्मका पालन करती है तो वह ऋषि-मुनियोंकी, सन्त-महात्माओंकी, भगवान्‌की आज्ञाका पालन कर रही है; अतः उनको उसका कल्याण करना पड़ेगा। पतिमें योग्यता नहीं है तो उसका क्या दोष? माता-पिताने विवाह कर दिया तो वह उसका पति हो गया। उसका दोष तो तब होगा, जब वह अपने पातिव्रत-धर्मका पालन न करे। ऐसे ही 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं' इस बातको आप न मानें तो यह आपका दोष है। परन्तु यदि आप भीतरसे मानना चाहते हों और माना जाये नहीं, तो कोई परवाह नहीं। अपनी शक्ति पूरी लगा दें। कम-से-कम उलटी मान्यता मत करें, इस बातको रद्दी मत करें। यह आपको मार्मिक बात बतायी है।

'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं'—इतना मान लो, फिर आगे जो होना चाहिये, वह स्वतः होगा। इसको माननेके बाद निर्विकल्प हो जाओ। अब जितना उद्योग है, वह करो; नाम-जप करो, कीर्तन करो, सत्संग करो, स्वाध्याय करो, मन्दिरोंमें जाओ, श्रीविग्रहके दर्शन करो। जो कार्य भगवान्‌के, शास्त्रोंके विरुद्ध है, वह काम मत करो। जहाँतक अपना वश चले, जितना कर सकते हो, उतना करो। इस बातको हिलने-डुलने मत दो, चाहे विपत्ति आये, चाहे सम्पत्ति आये; कोई अनुमोदन करे या विरोध करे। यह बात सच्ची है; अतः हमने तो मान ली, मान ली। शेष सब सच्ची हैं।

अब प्रश्न हो सकता है कि हम ऐसा करें, पर भगवान्‌की प्राप्ति न हो तो? इसका उत्तर है कि इतने दिनोंमें आपने कौन-सा बढ़िया काम कर लिया, जिसमें घाटा पड़ जायगा? होगा तो लाभ ही होगा। आपमेंसे कोई बताये कि हानि क्या होगी? हानि कुछ होगी नहीं और धोखा मैं देता नहीं! इससे लाभ ही होगा; क्योंकि यह सच्ची बात है और सच्ची बात सिद्ध होकर ही रहेगी। झूठी बात कबतक रहेगी? शरीर-संसारको अपना माननेसे क्या ये अपने बन जायँगे? ये कभी अपने बने नहीं और बनेंगे नहीं; परन्तु इनको अपना मानोगे तो दुःख पाना पड़ेगा और रोना पड़ेगा! इनसे धोखा खाकर फिर सच्ची बात मानो तो इससे अच्छा यही है कि अभी मेरे कहनेसे मान लो। बताओ, इसमें क्या धोखा हो जायगा? और यदि धोखा हो भी जाय, तो इतनी बार धोखा खाया, एक बार मेरे कहनेसे भी खा लो! परन्तु यदि आपमेंसे किसीको भी धोखा दीखता हो तो कह दो भाई! इसमें धोखा बिलकुल है ही नहीं। इसमें लाभके सिवा किञ्चिन्मात्र भी नुकसान नहीं है। यह केवल मैं ही नहीं कहता, स्वयं भगवान् भी कहते हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७) और सन्त-महात्मा भी कहते हैं—***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'*** (मानस, उत्तर० ११७।२)। अतः इस बातको खूब दृढ़तासे पकड़ लो। यह सन्तोंका निर्णय किया हुआ सिद्धान्त है। सन्तोंने, महात्माओंने इसे करके देखा है और हम लोगोंपर कृपा करके इसे लिख दिया है, बता दिया है। जैसे कोई पिता धन कमाकर लड़केको दे दे तो लड़केको क्या जोर आया? ऐसे ही सन्त-महात्माओंने यह कमाई हुई पूँजी हमें दे दी है। अब हमारा कर्तव्य है कि इसे सुरक्षित रखें, रद्दी न करें। रद्दी होता है देखनेसे और करनेसे। इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे देखने और करनेको तो मानते हो सच्चा और भगवान्‌के, सन्त-महात्माओंके वचनोंको मानते हो कच्चा, यह गलती है। जो दीखता है, वह है नहीं। क्रिया भी नित्य नहीं है और उसका फल भी नित्य नहीं है। अतः इनके भरोसे सत्यका निरादर करके सत्यका गला मत घोटो, सत्यकी हिंसा मत करो। सत्यकी हिंसा करनेसे सत्यकी हिंसा नहीं होती, प्रत्युत अपनी ही हिंसा होती है, अपना ही पतन होता है। सत्य तो सत्य ही रहेगा। वह तो कभी मिटेगा नहीं—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २।१६)। आप उसको नहीं मानेंगे तो आपको लाभ नहीं होगा। इसलिये 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस बातको मान लो। यह बहुत सरल और ऊँचे दर्जेकी बात है। इससे सब कुछ हो जायगा!

★

नाम-महिमा

राम राम राम ……………………

एक भी श्वास खाली खोय ना खलक बीच,

कीचड़ कलंक अंक धोय ले तो धोय ले;

उर अँधियारो पाप-पुंज सों भरी है देह,

ज्ञानकी चराखाँ चित्त जोय ले तो जोय ले।

मानखा जनम फिर ऐसो ना मिलेगा मूढ़,

परम प्रभुजीसे प्यारो होय ले तो होय ले;

छिन भंग देह ता में जनम सुधारिबो है,

बीजके झबाके मोती पोय ले तो पोय ले॥

भाई-बहिनोंने पैसोंको बहुत कीमती समझा है। पैसा इतना कीमती नहीं है, जितना कीमती हमारा समय है। मनुष्य-जन्मका जो समय है, वह बहुत ही कीमती है। मनुष्य-जन्मके समयको देकर हम मूर्खसे विद्वान् बन सकते हैं। समयको देकर हम धनी बन सकते हैं। समय लगनेपर एक आदमीके परिवारके सैकड़ों लोग हो जाते हैं। समयको लगाकर हम संसारमें मान, आदर, प्रतिष्ठा आदि प्राप्त कर सकते हैं; बहुत बड़ी जमीन-जायदाद आदिको अपने अधिकारमें कर सकते हैं। समय लगनेसे स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति हो सकती है। इतना ही नहीं, मनुष्य-शरीरका समय लगानेसे हो जाय परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति, जिसके बाद प्राप्त करना कुछ बाकी न रहे। इस प्रकार समय लगाकर सांसारिक सब चीजें प्राप्त हो सकती हैं; परन्तु सब-की-सब चीजें, रुपये-पैसे आदि देनेपर भी जीनेका समय नहीं मिलता।

जैसे, आपने सत्तर-पचहत्तर वर्षोंकी उम्रमेंसे साठ वर्ष रुपये कमानेमें लगाये, साठ वर्षोंमें बहुत जमीन-जायदाद इकट्ठी कर ली, मकान बना लिये, बहुत सम्पत्ति इकट्ठी कर ली। अब उस सम्पत्तिको पीछे दे करके अगर हम साठ घंटे भी और जीना चाहें तो जी सकते हैं क्या? इसमें थोड़ा-सा विचार करें। जिस सम्पत्तिके संग्रहमें साठ वर्ष खर्च हुए, उस सम्पूर्ण सम्पत्तिको देकर हम साठ घंटे भी खरीद सकते हैं क्या? एक वर्षकी कीमतमें हम एक घंटा भी लेना चाहें तो नहीं मिल सकता। जिस पूँजीके बटोरनेमें एक वर्ष लगा, उस पूँजीके बदलेमें एक मिनट और साठ वर्षकी पूँजीसे साठ मिनट लेना चाहें तो नहीं मिल सकते तो हमारा समय बरबाद हो गया न?

वैश्य भाई ऐसा व्यापार नहीं करते कि जिसमें पूँजी तो लग जाय और पीछे कौड़ी एक बचे नहीं। व्यापारमें तो कुछ-न-कुछ पैदा होना ही चाहिये, परन्तु इधर साठ वर्षोंकी उम्रमें जितनी पूँजी इकट्ठी की, उसके बदलेमें साठ महीने मिल जायँ, साठ दिन मिल जायँ तो भी बारहवाँ अंश तो मिला; परन्तु साठ दिन तो दूर रहे साठ घंटा, साठ मिनट भी नहीं मिलते और समय हमारा लग गया साठ वर्षका, तो हम बहुत घाटेमें चले गये। बहुत क्या, केवल कोरा घाटा-ही-घाटा।

आज दिनतकके समयमें हमने जो संग्रह किया है, उस संग्रहके बदलेमें हमारा गया हुआ समय मिलेगा क्या? नहीं मिलेगा। ऐसे समय बरबाद न हो, इसके लिये आजसे ही विशेषतासे सावधान हो जायँ। हम विशेष सावधान तभी हो सकते हैं, जब निर्णय करके आयें कि हम क्या चाहते हैं। यदि हम रुपये-पैसे चाहते हैं, मान-बड़ाई चाहते हैं, नीरोगता चाहते हैं, सदा जीते रहना चाहते हैं तो ये सब बातें कभी नहीं हो सकतीं, असम्भव हैं।

मनुष्योंको इसका भी होश नहीं है कि हम क्या चाहते हैं? हमारी असली चाह क्या है—इसका भी पता नहीं है; क्योंकि हम खोज ही नहीं करते, इधर ध्यान ही नहीं देते कि वास्तवमें हमारी चाह क्या है। इस वास्ते सज्जनो! इसमें तो स्वयं आपको सोचना होगा। इसमें कोई सहारा देनेवाला नहीं है। जब मृत्यु आयेगी, उस समयमें प्यारे-से-प्यारे, ज्यादा स्नेह रखनेवाले रो देंगे। इसके सिवाय और क्या कर सकते हैं वे? कुछ भी सहायता नहीं कर सकते। अगर आप भजन करते, भगवान्‌में लगते तो क्या यह दुर्दशा होती?

'धनवंता सोई जानिये जाके राम-नाम धन होय।'

राम-नामरूपी धन पासमें होता तो मरनेपर वह पूँजी साथमें चलती। भजन आपने किया है, भगवान्‌का नाम लिया है, भगवान्‌का चिन्तन किया है, सद्भावोंका संग्रह किया है, अपनी प्रकृति सुधार ली है अर्थात् अपने स्वभावका सुधार कर लिया है तो वह आपके साथ चलेगा। परन्तु यहाँकी चीजें बटोरी हैं, ये साथमें नहीं चलेंगी। स्वभावमें जो बात आ गयी, वह साथमें चलेगी। आपने अपना स्वभाव जितना शुद्ध बना लिया, उतना आपने काम कर लिया। जितना भजन आपने कर लिया, आपने उतना संग्रह कर लिया; उतनी साथ जानेवाली पूँजी हो गयी। यह पूँजी ऐसी विलक्षण है कि सांसारिक धनको चुरानेवाले जो चोर-डाकू हैं न? वे भी उस पूँजीको चुरा नहीं सकते। आपकी सांसारिक पूँजीपर डाका पड़ता है; परन्तु भजनरूपी पूँजीपर डाका नहीं पड़ता। शरीर यहाँ रहेगा तो वह पूँजी आपके साथ रहेगी और शरीर जायगा तो वह पूँजी आपके साथ जायगी। इसका भार नहीं होगा, बोझा नहीं होगा।

यहाँ संसारमें रहते हुए भाई अलग-अलग होते हैं, तो उनमें पूँजीका, घरका बँटवारा होता है; परन्तु आपके इस धनका कभी बँटवारा नहीं होगा कि इतना उसके हिस्सेमें आता है। इतना अमुक-अमुकके हिस्सेमें आता है। पर यह धन कभी घटता नहीं और कभी मिटता भी नहीं। परमात्माकी प्राप्ति करा देता है। दुःखोंका सदाके लिये अन्त करा देता है। महान् आनन्दकी प्राप्ति करा देता है। ऐसा भजन करनेके लिये हमारी जीभ सदा खुली है। खास बात हो तो बोलो, उसके सिवाय नाम जपते रहो—

हाथ काम मुख राम है, हिरदे साँची प्रीत।
दरिया ग्रेही साध की याही उत्तम रीत॥

जो हाथसे तो काम-धन्धा करते रहे और मुखसे राम राम राम······ चलता रहे और हृदयमें भगवान्से अपनापन हो, वह गृहस्थी सन्त है। इस साधनको सभी भाई-बहन स्वतन्त्रतासे कर सकते हैं। हृदयमें भगवान्के प्रति सच्चा प्रेम हो कि भगवान् हमारे हैं और हम भगवान्के हैं। संसार हमारा नहीं है और हम संसारके नहीं हैं। संसारकी सेवा कर देनी है; क्योंकि संसारकी सेवाके लिये ही यहाँ आना हुआ है। संसारसे लेनेके लिये नहीं आये हैं हम। यहाँ लेना कुछ नहीं है। यहाँकी ये चीजें साथ चलेंगी नहीं। मेरी-मेरी कर लोगे तो अन्तःकरणमें मेरेपनका जो संस्कार पड़ेगा, वह जन्म देगा, दुःख देगा—

'मायामें रह जाय बासना अजगर देह धरासी।'

रुपये-पैसोंमें वासना रह गयी तो साँप बनना पड़ेगा। धन साथमें नहीं चलेगा और यदि भगवद्भजन कर लोगे तो वह साथमें चलेगा। वह असली पूँजी है—

'राम नाम धन पायो प्यारा,
जनम जनमके मिटत बिकारा।'
'पायो री मैंने राम रतन धन पायो।'

सन्तोंकी वाणीमें जहाँ गुरु महाराजकी महिमा गायी है, उसमें कहा है—'गुरुजी महाराज बड़े दाता मिले। उन्होंने हमारेको भगवान्का नाम देकर धनवान् बना दिया—***'धिन-धिन धनवंत कर दिया गुरु मिलिया दातार।'*** सज्जनो ! इसकी कीमत समझनेपर फिर महिमा समझमें आती है कि नाम कितना विलक्षण है। सन्त-महात्माओंसे जिनको नाम प्राप्त हुआ है, वे लोग गुण गाते हैं। जो अच्छे-अच्छे महापुरुष हो गये हैं, वे भी गुरुकी महिमा गाते हैं। किस बातको लेकर ? कि महाराजने हमारेको भगवान्का नाम दे दिया।

उस नामसे क्या-क्या आनन्द होता है, उसका कोई पारावार नहीं। नाम महाराजकी अपार महिमा है, असीम महिमा है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज सीतारामजीको इष्ट मानते हैं और वे उनके अनन्य भक्त हैं; परन्तु नामकी महिमा गाते हुए वे कहते हैं—***'कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई'॥*** नामकी महिमा मैं कहाँतक कहूँ, भगवान् राम भी नामकी महिमा कह सकते नहीं। अपने इष्टको भी असमर्थ बता देते हैं अर्थात् इस नामकी महिमाके विषयमें हमारे श्रीरघुनाथजी भी असमर्थ हैं। भाई, नामकी महिमा यहाँतक है, यहाँतक है, ऐसा कहनेमें भगवान् भी असमर्थ हैं। अपने इष्टको भी असमर्थ बता देना क्या तिरस्कार नहीं है ? नहीं, नहीं, आदर है। कैसे ? इस नामकी इयत्ता (सीमा) है ही नहीं कि भाई, इसकी इतनी-इतनी महिमा है। नामकी तो अपार असीम महिमा है। वह नाम हर समय लिया जा सकता है। काम-धन्धा करते हुए, उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते आदि हर समयमें भगवान्का नाम लिया जा सकता है। चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—भगवान्ने नाममें अपनी पूरी-की-पूरी शक्ति (महिमा) रख दी है और इसमें विलक्षणता यह है कि इसके लेनेमें कोई समय नहीं बाँधा गया है कि अमुक समयमें नाम ले सकते हो, उसके सिवाय नहीं, प्रत्युत भगवान्ने तो नाम लेनेमें सब समय छूट दे रखी है। नामको तो सुबह, शाम, दोपहर, रात्रि—हर समय ले सकते हैं—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पितानियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥

कई लोग कहते हैं कि क्या करें, हमारे नाम लेना लिखा नहीं है। सज्जनो ! अभी नाम-जप करके नाम लिखा लो, इसमें देरीका काम नहीं है। इसका दफ्तर हर समय खुला है, कभी करो। दिनमें, रातमें, सुबहमें, शाममें, सम्पत्तिमें, विपत्तिमें, सुखमें, दुःखमें आप भगवान्का नाम लें तो अभी लिखा जायगा और नामकी पूँजी हो जायगी। अब नामको भूल न जायँ, इसका खयाल रखना है। उसके लिये एक उपाय बतायें। आपलोग ध्यान देकर सुनें। आपलोग मन-ही-मन भगवान्को प्रणाम करके उनसे यह प्रार्थना करें—'हे नाथ ! मैं आपको भूलूँ नहीं, हे प्रभो ! आपको मैं भूलूँ नहीं'—ऐसा मिनट-मिनट, आधे-आधे मिनटमें आप कहते रहो। नींद खुले तबसे लेकर गाढ़ी नींद न आ जाय तबतक 'हे प्रभो ! आपको मैं भूलूँ नहीं।' ऐसा कहते रहो। राम-राम-राम कहते हुए साथमें कह दें—'हे नाथ ! मैं भूलूँ नहीं।'

जब आप राम-राम-राम कह रहे हैं, राम-राम-राम कहते

हुए भी मनसे दूसरी बात याद आ जाती है, उस समय हम भगवान्‌को भूल जाते हैं तो भगवान्‌से कहो—'हे नाथ ! मैं भूलूँ नहीं, हे प्रभो ! भूलूँ नहीं। हे नाथ ! मैं आपका नाम लेता रहूँ और आपको भूलूँ नहीं।' भगवान्‌से ऐसी प्रार्थना करते रहो तो भगवान्‌की कृपासे यह भूल मिट जायगी। भजन होने लगेगा। फिर अखण्ड भजन होगा, अखण्ड ! ***'ताली लागी नामसे और पड्यो समँदसे सीर'*** भगवान्‌के नामकी धुन लग जायगी। फिर आपको भीतर स्मरण करनेका उद्योग नहीं करना पड़ेगा। स्वतः ही भगवान्‌की कृपासे भजन चलेगा। परन्तु पहले आप नाम लेनेकी चेष्टा करो और भगवान्‌से प्रार्थना करो।

कोई १९६०—६५ विक्रम संवत्‌की बात होगी, हमें मिति ठीक याद नहीं है। मैंने एक सन्तका पत्र पढ़ा था, जो कि उन्होंने अपने प्रेमीके प्रति दिया हुआ था। छोटा कार्ड था। पहले छोटा कार्ड हुआ करता था। एक-दो पैसेके कार्डमें मैंने समाचार पढ़ा था। अपने सेवकके प्रति लिखा था—'एक नाम छूट जाय, इतना काल—समय अगर खाली चला जाय, तो ब्याहा हुआ बड़ा बेटा मरे, उससे भी ज्यादा शोक होना चाहिये।' राम ! राम ! राम ! गजब हो गया ! यह लिखा था उसमें। ब्याहा हुआ लड़का मर जाय तो हृदयमें एक चोट पहुँचती है कि ऐसा कमानेवाला सुपुत्र बेटा मर गया तो उससे भी ज्यादा दुःख होना चाहिये एक नाम-उच्चारण करें इतना खाली समय जानेपर। क्योंकि जो लड़के छोटे हैं वे बड़े हो जायँगे। गृहस्थोंके और फिर पैदा भी हो जायँगे। परन्तु समय थोड़े ही पैदा हो जायगा। जो समय खाली गया, वह जो घाटा पड़ा , वह तो पड़ ही गया। इस वास्ते हमें सावधानी रखनी चाहिये कि हमारा समय बरबाद न हो जाय— ***'जो दिन जाय भजनके लेखे, सो दिन आसी गिणतीमें'*** वह दिन गिनतीमें आवेगा। बिना भजनके जो समय गया, उसकी कोई कीमत नहीं, वह तो बरबाद हो गया। बड़ा भारी नुकसान हो गया, घाटा लग गया बड़ा भारी !

अबतक जो समय संसारमें लग गया, वह तो लग ही गया। अब सावधान हो जायँ। सज्जनो ! भाइयो-बहिनो ! दिनमें थोड़ी-थोड़ी देरीमें देखो कि नाम याद है कि नहीं। घरमें जगह-जगह भगवान्‌का नाम लिख दो और याद करो। भगवान्‌की तस्वीर इस भावसे सामने रख दो कि वे हमें याद आते रहें। हमें भगवान्‌को याद करना है। घरमें भगवान्‌का चित्र रखो पर इस भावनासे रखो कि तस्वीरपर हमारी दृष्टि पड़ते ही हमें भगवान् याद आयें। ऐसे भावसे रखकर सुन्दर-सुन्दर नाम लिख दो। जहाँ ज्यादा दृष्टि पड़ती हो, वहाँ नाम लिख दो।

ऐसे गृहस्थके घरको मैंने देखा है। सीढ़ीसे उतरते हैं तो वहाँ नाम लिखा हुआ। सीढ़ीसे ऊपर चढ़ते हैं तो सामने नाम लिखा हुआ। जहाँ घूमते-फिरते हैं, वहाँ नाम लिखा हुआ। वे नाम इस वास्ते लिखे कि मैं भूल न जाऊँ, प्रभुके नामकी भूल न हो जाय। ऐसी सावधानी रखो सज्जनो ! यह असली काम है असली ! बड़ा भारी लाभ है इसमें— ***'भक्ति कठिन करूरी जाण। इसमें नफा घणा नहीं हाण॥'*** इसमें नुकसान है ही नहीं। केवल नफा-ही-नफा है। बस, फायदा-ही-फायदा है। इस प्रकार अपना सब समय सार्थक बन जाय— ***'एक भी श्वास खाली खोय ना खलक बीच।'***

संसारके भीतर जो समय खाली चला गया तो बड़ा भारी नुकसान हो गया। श्रीदादूजी महाराज फरमाते हैं— ***'दादू जैसा नाम था तैसा लीन्हा नाय।'*** इस नामकी जितनी महिमा है, वैसा नाम नहीं लिया, जब कि उन्होंने उम्रभरमें क्या किया ? नाम ही तो जपा। परन्तु उनको लगता है कि नाम जैसा जपना चाहिये था वैसा नहीं जपा अर्थात् मुखसे जितना नाम लेना था, उतना नहीं लिया। अब ***'देह हलावा हो रहा'*** देहमेंसे बस, प्राण गये··· गये··· ऐसी उनकी दशा हो रही है, पर वे कहते हैं— ***'हुंस रही मन माय'*** भगवान्‌का नाम और लेते, और लेते। जैसे, धन कमानेवालेका लोभ जाग्रत् होता है तो उसके पास लाखों, करोड़ों रुपये हो जानेपर भी फिर नये-नये कारखाने खोलकर और धन ले लूँ—ऐसा लोभ बढ़ता ही रहता है। यह धन तो यहीं रह जायगा और हमारा समय बरबाद हो जायगा। यदि भगवान्‌में लग जाओगे तो नामका वैसे लोभ लगेगा जैसे सन्तोंने प्रार्थना की है कि हे भगवान् ! हमारी एक जिह्वासे नाम लेते-लेते तृप्ति नहीं हो रही है, इस वास्ते हमारी हजारों जिह्वा हो जायँ, जिनसे मैं नाम लेता ही चला जाऊँ। उनकी ऐसी नामकी लालसा बढ़ती ही चली जाती है।

मेरेको एक सज्जन मिले थे। वे कहते थे कि मैं राम-राम करता हूँ तो राम-नामका चारों तरफ चक्कर दीखता है। ऊपर आकाशमें और सब जगह ही राम-राम दीखता है। पासमें, चारों तरफ, दसों दिशाओंमें नाम दीखता है। पृथ्वी देखता हूँ तो कण-कणमें नाम दीखता है, राम-राम लिखा हुआ दीखता है। कोई जमीन खोदता है तो उसके कण-कणमें नाम लिखा हुआ दीखता है। ऐसी मेरी वृत्ति हो रही है कि सब समय, सब जगह, सब देश, सब काल, सब वस्तु और सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें राम-नाम परिपूर्ण ही रहा है। यह कितनी विलक्षण बात है ! कितनी अलौकिक बात है !

भगवान् रामजीने लंकापर विजय कर ली। अयोध्यामें आ करके गद्दीपर विराजमान हुए तो उस समय राजाओंने रामजीको कई तरहकी भेंट दी। विभीषणने रावणके इकट्ठे किये हुए बहुत कीमती-कीमती रत्नोंकी माला बनायी थी। माला बनानेमें यही उद्देश्य था कि जब महाराजका राज्यतिलक होगा, तब मैं भेंट करूँगा। इस तरहसे विभीषण वह माला लाया और समय पाकर उसने महाराजके गलेमें माला पहना दी। महाराजने देखा कि भाई, गहनोंकी शौक स्त्रियोंके ज्यादा होती है, ऐसे विचारसे रामजीने वह माला सीताजीको दे दी। सीताजीको जब माला मिली तो उनके मनमें विचार आया कि मैं यह माला किसको दूँ! महाराजने तो मेरेको दे दी। अब मेरा प्यारा कौन है? हनुमान्जी पासमें बैठे हुए थे। हनुमान्जी महाराजपर सीतामाताका बहुत स्नेह था, बड़ा वात्सल्य था और हनुमान्जी महाराज भी माँके चरणोंमें बड़ी भारी भक्ति रखते थे। माँने हनुमान्जीको इशारा किया तो चट पासमें चले गये। माँने हनुमान्जीको माला पहना दी। हनुमान्जी बड़े खुश हुए, प्रसन्न हुए। वे रत्नोंकी ओर देखने लगे। जब माँने चीज दी है तो इसमें कोई विशेष बात है—ऐसा विचार करके एक मणिको दाँतोंसे तोड़ दिया, पर उसमें भगवान्का नाम नहीं था तो उसे फेंक दिया। फिर दूसरी मणि तोड़ने लगे तो वहाँपर बड़े-बड़े जौहरी बैठे थे। उन्होंने कहा—'बन्दरको तो अमरूद देना चाहिये! यह इन रत्नोंका क्या करेगा? रत्नोंको तो यह दाँतोंसे फोड़कर फेंक रहा है।' किसीने उनसे पूछा—'क्यों फोड़ते हो? क्या बात है? क्या देखते हो?' हनुमान्जीने कहा—'मैं तो यह देखता हूँ कि इनमें भगवान्का नाम है कि नहीं। इनमें नाम नहीं है तो ये मेरे क्या कामके? इस वास्ते इनको फोड़कर देख लेता हूँ और नाम नहीं निकलता तो फेंक देता हूँ।'

उनसे फिर पूछा गया—'बिना नामके क्या तुम कुछ रखते ही नहीं?' हनुमान्जीने कहा—'न, बिना नामके कैसे रखूँगा?' फिर पूछा गया—'तो तुम शरीरको कैसे रखते हो?' तब हनुमान्जीने नखोंसे शरीरकी त्वचाको चीर करके दिखाया। सम्पूर्ण त्वचामें जगह-जगह, रोम-रोममें राम, राम, राम, राम लिखा हुआ था—***'चीरके दिखाई त्वचा अंकित तमाम, देखी चाम राम नामकी।'*** तो जो नाम जपनेवाले सज्जन हैं, वे नाममय बन जाते हैं।

दक्षिणमें पण्ढरपुर है। वहाँ नामदेवजी महाराज, ज्ञानदेवजी महाराज, सोपानदेवजी आदि कई नामी सन्त हुए हैं। बड़ी विचित्र उनकी वाणी है। वहाँ दक्षिणमें चोखामेला नामका एक चमार था। विट्ठल-विट्ठल-विट्ठल—ऐसे भगवान्का नाम जपता था। पण्ढरपुरके पास ही एक मंगलवेढ़ा गाँव है। उसी गाँवमें वह रहता था। वहाँ एक मकान बन रहा था। उस मकानमें चोखामेला काम कर रहा था। मजदूरी करके वह अपनी जीविका चलाता था। अचानक वह मकान गिर पड़ा। मकान बहुत बड़ा था, गिर गया और उसमें चोखामेला दब गया। उसके साथ कई आदमी दबकर मर गये। उनको उसमेंसे निकालने लगे तो निकालते-निकालते कई महीने लग गये। उन सबको निकाला तो उनकी केवल हड्डियाँ पड़ी मिलीं। अब किसकी कौन-सी हड्डियाँ हैं, इसकी पहचान नहीं हो सकती। थोड़े दिनमें तो शरीरकी पहचान भी हो जाय। अब चोखामेलाकी हड्डियोंकी पहचान कैसे हो? तो शायद नामदेवजीने कहा हो कि भाई, उनकी हड्डियोंको कानमें लगाकर देखो। जिसमें विट्ठल-विट्ठल नामकी ध्वनि होती हो, वह हड्डी चोखामेलाकी, यह पहचान है। कितने आश्चर्यकी बात है कि मरनेके बाद भी हड्डीसे नाम निकलता है! भगवान्का नाम लेते-लेते भक्त नाममय ही हो जाते हैं—***'चंगा राख तन, मन, प्राण, रहीये नाममें गलतान।'*** बस, सब लोग इसमें गलतान हो जाओ, इस नाममें तल्लीन हो जाओ। तत्परतासे नाम लेनेवाले ऐसे सन्त हुए हैं।

अर्जुनके भी शरीरमेंसे भगवान्का नाम निकलता था। एक दिन अर्जुन सो रहे थे और नींदमें ही नाम-जप हो रहा था। शरीरके रोम-रोममेंसे कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण नामका जप हो रहा था। नामको सुन करके भगवान् श्रीकृष्ण आ गये, उनकी स्त्रियाँ भी आ गयीं। नारदजी आ गये, शंकरजी आ गये, ब्रह्माजी आ गये, देवता आ गये। भगवान् शंकर नाम सुन-सुन करके नाचने लगे, नृत्य करने लगे। अर्जुनके तो बेहोशीमें—गाढ़ नींदमें भी रोम-रोमसे कृष्ण-कृष्ण निकलता है। इसमें कारण यह है कि जिसका जो इष्ट होता है, वह उसीका नाम जपता है, तो वह नाम भीतर बैठ करके रग-रगमें होने लगता है। हरिरामदासजी महाराजकी वाणीमें आता है—***'रग-रग आरम्भा, भये अचम्भा छुछुम भेद भणन्दा है।'*** सन्तोंकी वाणी आपलोग पढ़ते ही हो। उसमें आपलोग देखो। ऐसा उनका भजन होने लगता है, क्यों? उनकी वह लगन है। वे उसीमें ही तल्लीन हो गये। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ नाममें लग गयीं, प्राण उसमें लग गये। शरीरमात्रमें नाम-जप होने लगा। कितने महान्, पवित्र, दिव्य उनके शरीर थे कि उनको याद करनेमात्रसे जीवका कल्याण हो जाय। वे तो नाम-रूप ही बन गये, भगवत्स्वरूप बन गये। नारदजी महाराज अपने भक्ति-सूत्रमें लिखते हैं कि भगवान् और भगवान्के जनोंमें भेद नहीं

होता—'**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्**', क्योंकि वे उनके हैं, उस परमात्माके अर्पित हो गये हैं—'**यतस्तदीयाः।**'

जैसे आगमें काठ रखो तो अंगार बनकर चमकने लगेगा। काला-से-काला कोयला आगमें रख दो तो वह भी चमकने लगेगा। पत्थरका टुकड़ा आगमें रख दो, वह भी चमकने लगेगा। कुछ भी कंकर, ठीकरी रख दो, वे सब-के-सब चमकने लगेंगे। यह क्या है ? यह आगका प्रभाव है। जब एक भौतिक वस्तुमें भी इतनी सामर्थ्य है कि वह काठ, पत्थर आदिको चमका दे तो फिर यह तो भगवान्‌का नाम है। यह भौतिक नहीं है, यह तो दिव्य है। यह नाम महाराज चेतनाको चेत करा देते हैं कि तू इधर खयाल कर—'***नाम चेतन कूं, चेत भाई नाम ते चित्त चौथे मिलाई।***'

आपलोगोंमें भी कोई नाम लेनेवाला हो तो मैं मानता हूँ कि आपके ऐसा होता होगा। आप सोते रहते हैं, गाढ़ नींदमें तो राम··· ऐसी आवाज आती है, आपको जगा देती है कि अरे ! नाम लो, कैसे सोता है ? इस प्रकार नाम महाराज खुद जगाते हैं। नाम महाराज खुद चेत कराते हैं। स्वयं भगवान् चेत कराते हैं।

एक बड़े विरक्त सन्त थे। वे नाम जपते थे। कौड़ी-पैसा लेते नहीं थे, रखते नहीं थे, छूते ही नहीं थे। वे कहते थे कि बहुत बार ऐसा होता है, जब मैं सोता हूँ तो मुझे ऐसे प्यारसे उठाते हैं, जैसे कोई माँ उठाती हो। गरदनके नीचे हाथ देकर चट उठा देते हैं। मेरेको पता ही नहीं लगता कि न जाने किसने मेरेको बैठा दिया। तो नाम महाराज भगवान्‌की याद दिलाते हैं। मैं खुद अनुमान करता हूँ, आपमें भी कोई नाम-प्रेमी है, उसके भी ऐसा होता होगा। इसमें कोई गृहस्थका कारण नहीं है, कोई साधुका कारण नहीं है, कोई भाईका कारण नहीं, कोई बहनका कारण नहीं। कोई भी भाई-बहन इसका जप करेंगे, उसके भी यह बात हो जायगी। कभी भगवान्‌की आवाज आ जाती है। आप कभी पाठ, जप करते हैं। भगवान्‌के भजनमें लगे हैं, मनमें जपनेकी लगन है और आपको कहीं नींद आने लगेगी तो किवाड़ जोरसे पड़ाकसे पटकेगा, जैसे कोई हवा आ गयी हो अथवा कोई हल्ला करेगा तो आपकी नींद खुल जायगी। कोई अचानक ऐसा शब्द होगा तो चट नींद खुल जायगी। यह तो नाम महाराज चेताते हैं, भगवान् चेत कराते हैं कि सोते कैसे हो ? नाम जपते हो कि नींद ले रहे हो ? भगवान् बड़ी भारी मेहनत करके, आपके ऊपर कृपा करके आपकी निगरानी रखते हैं, आप शरण हो तो जाओ।

तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—'***बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु***' अनेक जन्मोंकी बिगड़ी हुई बात, आज सुधर जाय और आज भी अभी-अभी इसी क्षण, देरीका काम नहीं, क्योंकि '***होहि राम को नाम जपु***' तुम रामजीके हो करके अर्थात् मैं रामजीका हूँ और रामजी मेरे हैं—ऐसा सम्बन्ध जोड़ करके नाम जपो। पर इसमें एक शर्त है—'***एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥***' संसारमें जितने कुटुम्बी हैं, उनमें मेरा कोई नहीं है। न धन-सम्पत्ति मेरी है और न कुटुम्ब-परिवार ही मेरा है अर्थात् इनका सहारा न हो। '**अनन्यचेताः सततम्**', '**अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्**' केवल भगवान् ही मेरे हैं। मैं औरोंका नहीं हूँ तथा मेरा और कोई नहीं है—ऐसा अपनापन करके साथमें फिर नाम जपो तो उस नामका भगवान्‌पर असर होता है। परन्तु कइयोंसे सम्बन्ध रखते हैं, धन-परिवारसे सम्बन्ध रखते हैं और नाम लेते हैं तो नाम न लेनेकी अपेक्षा लेना तो श्रेष्ठ है ही और जितना नाम लेता है, उतना तो लाभ होगा ही; परन्तु वह लाभ नहीं होगा, जो लाभ सच्चे हृदयसे अपना सम्बन्ध परमात्माके साथ जोड़कर फिर नाम लेनेवालेको होता है।

'***तुलसी तजि कुसमाजु***' कुसंगका त्याग करो। कुसंग क्या है ? यह धन हमारा है, सम्पत्ति हमारी है—यह कुसंग है। जो धनके लोभी हैं, भोगोंके कामी हैं, उनका संग कुसंग है। जो परमात्मासे विमुख हैं, उनका संग महान् कुसंग है। वह कुसमाज है, उनसे बचो। नहीं तो महाराज ! थोड़ा-सा कुसंग भी आपकी वृत्तियोंको बदल देगा, एकदम भगवान्‌से विमुख कर देगा। लोग कहते हैं कि भगवद्भजनमें इतनी ताकत नहीं, जो कुसंग इतना असर कर जाय। वह ताकत कुसंगमें नहीं है भाई, प्रत्युत अपने भीतरमें अनेक तरहके जो विरुद्ध संस्कार पड़े हुए हैं, भगवद्भजनके विरुद्ध संस्कार पड़े हैं। वे संस्कार कुसंगसे उभर जाते हैं, जग जाते हैं। इस वास्ते कुसंगका बड़ा असर पड़ता है। आप भजन करोगे तो वे सब संस्कार नष्ट हो जायँगे, फिर—'***बिधि बस सुजन कुसंगत परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥***' कभी किसी कारणसे कोई सज्जन कुसंगमें पड़ भी जायँ तो जैसे साँपकी मणि होती है, उसको जहर नहीं लगता। वह तो जहरके ऊपर रखनेसे जहरका शोषण कर लेती है, पर वह खुद जहरीली नहीं होगी। इसी तरहसे आप भजनमें तल्लीन हो जाओगे, तदाकार हो जाओगे तो फिर आपका मन नहीं बदलेगा, आपके ऊपर कुसंगका असर नहीं पड़ेगा। कारण कि आपके अन्तःकरणमें भगवत्-सम्बन्धी संस्कार दृढ़ हो गये, प्रत्युत कुसंगपर आपका असर पड़ेगा, भजनका असर पड़ेगा। परन्तु इतनी शक्ति होनेसे पहले सावधान रहो। कुसंगका त्याग

करके और भगवान्‌के होकर मस्तीसे भगवान्‌के नामका जप करो। चलते-फिरते, उठते-बैठते हर समय करो। इसमें जब मन लग जाता है, फिर छूटता नहीं।

मैंने एक सज्जन देखे हैं। उनके सफेद ही कपड़े थे, पर वे 'राम-राम-राम' करते रहते थे। जैसे चलते-चलते कोई पीछे रह जाता है और फिर दौड़कर आ जाता है, इसी तरहसे वे पहले धीरे-धीरे 'राम-राम-राम' करते थे, फिर बड़ी तेजीसे जल्दी-जल्दी करते थे। रातमें भी उनके पास रहनेका मेरा काम पड़ा है तो वे रातमें भी और दिनमें भी नाम जपते। थोड़ी देर नींद आती, नींद खुलनेपर फिर 'राम-राम-राम'। हर समय ही 'राम-राम-राम'। भोजन करते हैं तो 'राम-राम-राम'। ग्रास लेते हैं तो 'राम-राम-राम'। किसी समय जाकर देखें तो वे भगवान्‌का नाम लेते हुए ही मिलते थे। ऐसी लौ लग जायगी तो फिर नहीं छूटेगी। फिर हाथकी बात नहीं है कि आप छोड़ दें। वह एक ऐसा विलक्षण रस है कि एक बार जो लग जाता है तो फिर वह लग ही जायगा। परमात्मतत्त्व-सम्बन्धी बातें हों, परमात्म-सम्बन्धी नाम हो, भगवान्‌की लीला हो, गुण हो, प्रभाव हो, रहस्य हो—भगवान्‌का जो कुछ भी समझ आ जायगा, उसको आप छोड़ सकोगे नहीं।

कारण क्या है? आपका सम्बन्ध पहलेसे भगवान्‌के साथ है और संसारके साथ आपका सम्बन्ध है नहीं। अभी भी बचपन, जवानी और वृद्धावस्था—इनका आपके साथ निरन्तर सम्बन्ध कहाँ है? ये निरन्तर बदलते हैं और निरन्तर रहते हैं तो इनका आपसे साथ नहीं है। बहुत-से लोग मर गये। बहुत-से मर रहे हैं। सभी जा रहे हैं। कोई भी अपने साथमें रहनेवाला नहीं है। पर प्रभु हरदम साथमें रहते हैं। प्रभु कभी हमसे वियुक्त हुए नहीं और हो नहीं सकते। यह जीव ही भगवान्‌से विमुख हुआ है। सभी जीव भगवान्‌को प्यारे हैं, सब भगवान्‌के पैदा किये हुए हैं। इस वास्ते भगवान् जीवको कभी भूलते नहीं हैं—*'सब मम प्रिय सब मम उपजाए।'*

संसारकी कोई भी वस्तु स्थिर नहीं रहती। जो आप रखते हो, नहीं रहता। अनुकूल परिस्थिति रखना चाहते हो; नहीं रहती। धन रखते हो, नहीं रहता। कुटुम्ब रखते हो, नहीं रहता। आप उनका भरोसा करते हो तो विश्वासघात होता है; क्योंकि वे साथ रह सकते ही नहीं। यह क्या है? यह भगवान्‌का निमन्त्रण है, भगवान्‌का आह्वान है, भगवान्‌की बुलाहट है। भगवान् आपको बुला रहे हैं कि तुम कहाँ फँस गये हो? वे तुम्हारे नहीं हैं। तुम देख लो कि ये बेटा-पोता, पड़पोता, माँ, बाप, भाई, सम्बन्धी, मित्र, कुटुम्बी तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार करते हैं? ये तुम्हारा साथ देनेवाले नहीं हैं—

संसार साथी सब स्वार्थके हैं,
पक्के विरोधी परमार्थ के हैं।
देगा न कोई दुःख में सहारा,
सुन तू किसी की मत बड़ा प्यारा॥

और बात तू मत सुन, एक नाम ही ले। उपनिषदोंमें आता है—**'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः'** बहुत-से आदमियोंको तो भगवत्सम्बन्धी बातें सुननेके लिये भी नहीं मिलतीं। उम्र बीत जाती है, पर सुननेके लिये नहीं मिलतीं। सज्जनो! आपलोगोंको तो मौका मिल गया है। आपलोगोंपर भगवान्‌की कितनी कृपा है कि आप वाणी पढ़ते हैं, सन्तोंके प्रति श्रद्धा है, भावना है—यह कोई मामूली गुण नहीं है। आज आपको इसमें कुछ विशेषता नहीं दीखती, पर है यह बहुत विशेष बात, क्योंकि—

वैष्णवे भगवद्भक्तौ प्रसादे हरिनाम्नि च।
अल्पपुण्यवतां श्रद्धा यथावन्नैव जायते॥

भगवान्‌के प्यारे भक्त, भगवद्भक्ति आदिमें थोड़े पुण्यवालोंकी श्रद्धा नहीं होती। जब बहुत अन्तःकरण निर्मल होता है, तब सन्तोंमें, भगवान्‌की भक्तिमें, प्रसादमें और भगवान्‌के नाममें श्रद्धा होती है। जिनमें कुछ भी श्रद्धा-भक्ति होती है, यह उनके बड़े भारी पुण्यकी बात है। वे पवित्रात्मा हैं। नहीं तो, उनमें श्रद्धा नहीं बैठती। वह तर्क करेगा, कुतर्क करेगा। वह उनके पास ठहर नहीं सकता।

तुलसी पूरब पाप तें हरि चर्चा न सुहाय।
कै ऊँघे कै उठ चले कै दे बात चलाय॥

सत्संगमें जायगा तो नींद आ जायगी, दूसरी बात कहना शुरू कर देगा अथवा बैठकर चल देगा; परन्तु यदि वह कुछ दिन सत्संगमें ठहर जाय तो उसके भी सत्संग लग जायगा। वह भी भजन करने लग जायगा। फिर वह सत्संग छोड़ेगा नहीं।

एक बात मैंने सुनी है। एक आदमी यों ही हँसी-दिल्लगी उड़ानेवाला था। वह दिल्लगीमें ही कहता है कि ये देखो ये साधु! 'राम, राम, राम, राम, राम' करते हैं तो दूसरे लोग कहते हैं—हाँ भाई! कैसे करते है? तो वह फिर कहता है—'राम-राम-राम' ऐसे करते हैं। वह उठकर कहीं भी जाता तो लोग कहते हैं—हाँ बताओ, कैसे करते हैं? तो वह फिर कहता 'राम-राम-राम' ऐसे करते हैं। ऐसे कहते-कहते महाराज, उसकी लौ लग गयी। वह नाम जपने लगा। इस वास्ते—***'भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥'*** किसी तरहसे आप नाम ले तो लो। फिर देखो, इसकी विलक्षणता, अलौकिकता। परन्तु सज्जनो! बिना लिये इसका पता नहीं लगता। जैसे मिठाई

जबतक मुखसे बाहर रहे, तबतक उसके मिठासको नहीं जान सकते। मिठाई खानेवाला ही मिठाईके रसको जानता है।

शास्त्रोंसे, सन्तोंसे नाम-महिमा सुन करके हम नाममें यत्किञ्चित् रुचि कर सकते हैं। परन्तु उसका असली रस तब आयेगा, जब आप स्वयं लग जाओगे, और लग जाओगे भीतरसे, हृदयसे; दिखावटीपनसे नहीं अर्थात् लोगोंको दिखानेके लिये नहीं। लोगोंको दिखानेके लिये भजन करता है, वह तो लोगोंका भक्त है, भगवान्‌का नहीं। लोग मेरेको भजनानन्दी समझें, इस वास्ते दिखाता है तो वह भगवान्‌का भक्त कहाँ ? भगवान्‌का भक्त होगा तो वह भीतरसे कैसे नाम छोड़ सकेगा। एकान्तमें अथवा जन-समुदायमें, वह नामको कैसे छोड़ सकता है ? असली लोभको वह कैसे छोड़ सकता है ? आपके सामने पैसे आ जायँ, रुपये आ जायँ अथवा आपके सामने पड़े हों तो छोड़ सकते हो क्या ? कैसे छोड़ सकते हैं ? ले लोगे ! कूड़े-करकटमें पड़े हुएको भी चट उठा लोगे तो जो नामका प्रेमी है, वह नाम छोड़ देगा, यह कैसे हो सकता है ? वह एक क्षणभर भी नामका वियोग कैसे सह सकता है ?

नारदजी महाराजने भक्ति-सूत्रमें लिखा है—'**तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।**' अपना सब कुछ भगवान्‌के अर्पण तो कर देता है, पर भगवान्‌की, उनके नामकी थोड़ी-सी भूल हो जाय तो वह व्याकुल हो जाता है। जैसे, मछलीको जलसे दूर करनेपर वह छटपटाने लगती है और कुछ देर रखो, तो वह मर जाय, वह आरामसे नहीं रह सकती। ऐसे ही '**तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति**' नामकी—भगवान्‌की विस्मृति होनेपर परम व्याकुलता हो जायगी। उसको छोड़ नहीं सकते। भगवान्‌की स्मृतिका त्याग नहीं कर सकते।

भागवतके एकादश स्कन्धमें नव योगेश्वरोंके प्रसंगमें आता है कि कोई भक्तसे कहे कि आधे क्षणके लिये भी तू भगवान्‌की स्मृति छोड़ दे तो तेरेको त्रिलोकीका राज्य दे देंगे तो वह कहता है—तेरे किसी वैभवके लिये भी आधे क्षणके लिये मैं भगवान्‌को छोड़ नहीं सकता। उसके सामने वैभव कुछ नहीं है। यह है क्या चीज ? यह तो क्षणभंगुर है और भगवान् हैं निरन्तर रहनेवाले। इस वास्ते किसी लोभमें आकर भी वह भगवान्‌के नामको कैसे छोड़ सकता है। अगर नाम छूट जाता है तो नामकी कीमत नहीं समझी है। नामका महत्त्व उसके ध्यानमें नहीं आया। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌की भूल होती नहीं। भूल कैसे हो ? '***भूले नाय बने दयानिधि भूले नाय बने।***' भूले बनता नहीं। कैसे भूल जाय, भूल सकता नहीं।

जिसको यह रस लग गया तो लग ही गया। जैसे, मक्खी हर एक जगह बैठ जाती है और उड़ जाती है। मक्खी पहले तो अंगारपर बैठती ही नहीं और कभी बैठ जाय तो फिर उठती नहीं कभी। फिर धुआँ ही उठेगा, वह नहीं उठेगी। ऐसे ही यह मन जबतक भगवान्‌में, भगवान्‌के नाममें नहीं लगा है, तबतक यह जगह-जगह भटकता रहता है, परन्तु जब यह भगवान्‌में लग जायगा तो फिर जय रामजीकी····! फिर तो बस, खतम ! फिर उठ नहीं सकता। जबतक मन उठता है, तबतक मन नहीं लगा है, भजन नहीं हुआ है। लोग कहते हैं—'**हमने बहुत भजन किया, नाम-जप किया।**' बहुत किया क्या ? अभी नाम शुरू ही नहीं हुआ। असली भजन शुरू नहीं हुआ है। शुरू होनेपर छूट जाय, यह आपके हाथकी बात नहीं। आप विचार करो, मरनेके बाद हड्डियोंमें भगवान्‌का नाम आता है तो नाम कैसे छूट सकता है।

मारवाड़में एक फूली बाई जाटणी हुई है। वह भगवान्‌का नाम लेती थी। उसका काम था थेपड़ी थापनेका। वह गोबरकी थेपड़ी थापती थी। किसीने उसकी थेपड़ी ले ली तो वह उसके यहाँ गयी और कही—तूने मेरी थेपड़ी ले ली। उसने कहा—मैंने नहीं ली। अगर मैंने ली है तो उसकी क्या पहचान है तेरे पास ? फूली बाईने कहा—थेपड़ी लगाओ कानसे। उसने कानसे लगाया तो उसमें 'राम-राम-राम' की ध्वनि निकल रही थी। थेपड़ीमें नाम-जप हो रहा था। उसने आश्चर्यसे कहा—इसमें तो 'राम-राम-राम' हो रहा है। फूली बाईने कहा—यही तो है हमारी पहचान ! ऐसी थी फूली बाई ! तो जो सच्चे हृदयसे नाम ले, उसकी कितनी महिमा है।

'यह डोकरी (बुढ़िया) भगवान्‌की भक्ता है'—ऐसा सुन करके एक बार जोधपुर दरबार वहाँ चले गये, जहाँ फूली बाई रहती थी। वहाँ जाकर देखा तो अपने प्रत्येक फौजीके सामने फूली बाई खड़ी है और फौजीको वही बाजरेका सोगरा, गँवार फलियोंका साग भोजन करा रही है। यह देखकर राजा बड़े खुश हुए और उसको बुलाकर रनिवासमें इस वास्ते भेजा कि रानियोंको सत्संग नहीं मिलता। अतः यह बाई वहाँ चली जाये तो कुछ सत्संग हो जाय। बेचारी फूली बाईका ऊँचा-ऊँचा तो वह घाघरिया, अपना वह ग्रामीण वेश था। वह वैसे ही रनिवासमें चली गयी। उसको देखकर सब रानियाँ हँस पड़ीं कि क्या तमाशा आयी है। तो फूली बाई अपनी सीधी-सादी भाषामें बोली—

'ए गहणो गांठो तन की शोभा, काया काचो भांडो।
फूली कहे थे बैंठी कँई राम भजो ए रांडो॥

ये सुन्दर गहने पहन करके थे (तुम) बैठी हो, 'राम-राम' क्यों नहीं करो। क्या करोगी ? *'काया काचो भांडो'*, न जाने कब फूट जाय। ऐसेमें बैठकर थे भजन नहीं करो तो थे क्या करो राँडो, बैठी 'राम-राम' करो न ? फूली बाईको यह संकोच नहीं है कि मैं कैसे बोलती हूँ ? क्या कहती हूँ ? उसकी तो यह सीधी-सादी वाणी है। वह भगवान्के भजनमें रात-दिन लगी हुई है तो उसको याद करनेसे शान्ति मिलती है। महाराज ! हृदयका पाप दूर हो जाय याद करनेसे।

कारण क्या है ? भगवान्का नाम लिया है। भगवान्के चरणोंकी शरण हो गयी है।

'बड़े सेयां बड़ होत है, ज्यूं बामन भुज दण्ड।
तुलसी वड़े प्रताप ते दण्ड गयउ ब्रह्माण्ड ॥

वामनभगवान् छोटे-से बनकर बलिसे पृथ्वी माँगने गये और कहे—'मैं तो मेरे पैरोंसे तीन कदम पृथ्वी लूँगा।' बलि कहता है—'अरे ब्राह्मण ! मेरे पास आ करके थोड़ा क्या लेता है ? और ले ले।' वामनभगवान्ने कहा—'ना, मैं तीन कदम ही लूँगा।' अब वे तीन कदम नापने लगे महाराज ! तो सबसे बड़ा लम्बा अवतार हुआ यह ! ब्रह्मचारीके हाथमें दण्ड होता है पलाशका। वामन भगवान् जितने ऊँचे थे, तो उनका दण्ड भी उतना ही ऊँचा था। बड़ी-से-बड़ी लाठी कानतक होती है। अब वह इतनी छोटी लाठी हाथमें हो और स्वयं इतने बड़े हो गये कि वह दण्ड तो वामनभगवान्के दाँत कुचरनेमें भी काम आता। इतने छोटे घोचेका क्या करेंगे ? तो कहते हैं *'सन्तदास लकड़ी बढ़ी बिन कूंपल बिन पात।'* न कोंपल निकली, न पत्ता निकला और लकड़ी बढ़ गयी। क्यों बढ़ गयी। *'बड़ सेयां बड़ होत है'* वह थी सूखी लकड़ी ही, पर हाथमें किसके थी ? ऐसे ही सज्जनो ! आप और हम हैं साधारण; परन्तु भगवान्के चरणोंमें लग जायँ, नाममें लग जायँ, भगवान्के चिन्तनमें लग जायँ तो गुजराती भाषामें एक पद आता है— ***'छोटा साउथी, सबथी मोटा थाय, थाय छे हरि भजन किए।'*** भगवान्का भजन करनेवाला 'छोटा साउथी' सबसे छोटा 'सबथी मोटा थाय छे', सबसे बड़ा हो जाता है; क्यों हो जाता है ? उसने भगवान्का सहारा ले लिया है। भगवान्का नाम ले लिया है। भगवान्में लग गया है। इस वास्ते वह छोटा नहीं है, साधारण नहीं है।

हमने एक सन्तकी बात सुनी है। इससे पहले जमानेमें सेकेंड क्लासका रिजर्व होता था। एक सन्तको कहीं जाना था तो गृहस्थ भाइयोंने उनको सेकेंड क्लासमें बैठा दिया। एक सीटपर वे बैठ गये। उनके सामने एक मुसलमान बैठा हुआ था। उसका जब नमाजका समय हुआ तो वह अपना अँगोछा बिछाकर नमाज पढ़ने लगा तो सामने सीटपर बैठे हुए सन्त उठकर खड़े हो गये। जबतक वह नमाज पढ़ता रहा, तबतक बाबाजी खड़े रहे और जब वह मुसलमान बैठ गया, तब बाबाजी भी बैठ गये। मुसलमानने पूछा—'महाराज ! आप खड़े क्यों हुए ?' तो बाबाजीने मुसलमानसे पूछा—'तुम खड़े क्यों हुए ?' मुसलमानने कहा—'मैं परवरदिगारकी बन्दगीमें था' तो सन्तने कहा—'मैं तुम्हारी बन्दगीमें था।' जिस वक्त कोई प्रभुको याद करता है, उस समय उस मनुष्यको मामूली नहीं समझना चाहिये; क्योंकि वह उस समय भगवान्के साथ है ! तुम उस प्रभुको याद कर रहे थे तो मैं तुम्हारी हाजिरीमें खड़ा था।

कोई जब भगवान्से प्रार्थना करता है, भगवान्का भजन करता है तो मनुष्य चाहे किसी भाषामें प्रार्थना करे; क्योंकि अपनी-अपनी भाषामें अपने-अपने इष्टका नाम अलग-अलग है। परमात्मा तो एक ही है। उसके साथ जिसका सम्बन्ध जुड़ा है तो क्या वह साधारण मनुष्य है ? जैसे, दूसरे मनुष्य होते हैं, वैसे ही वह रहा ? नहीं।

जैसे, लोगोंमें यह देखा जाता है कि राजकीय कोई बड़ा अधिकारी होता है तो लोगोंपर उसका असर पड़ता है कि ये बड़े अफसर आ गये, ये बड़े मिनिस्टर आ गये। ऐसे ही जो भगवान्में लगे हैं, वे बड़े राजाके हैं, जिससे बड़ा कोई है ही नहीं—'न **त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव** ॥' (गीता ११।४३) वह उस भगवान्का प्यारा है, जिसके लिये स्वयं भगवान् कहते हैं— ***'भगत मेरे मुकुट मणि।'*** भगवान् स्वयं जिनके लिये इतना आदर देते हैं, उस सन्तके अगर हमको दर्शन हो जायँ तो कितना अहोभाग्य है हमारा ! परन्तु मनुष्य उसको पहचानता नहीं। सन्तोंका पता नहीं लगता। सच्ची बात है। सन्तोंका क्या पता लगे ?

महाराज, क्या बतावें ? विचित्र, विलक्षण-विलक्षण सन्त होते हैं और साधारण व्यक्ति-जैसे पड़े रहते हैं। पता ही नहीं लगता उनका कि ये क्या हैं; क्योंकि बाहरसे तो वे मामूली दीखते हैं—

'सन्तोंकी गत रामदास जगसे लखी न जाय।
बाहर तो संसार-सा भीतर उलटा थाय ॥'

'ऐसे निराले सेठको वैसा ही बिरला जानता' वह इतना मालदार है, उसको तो वैसा ही कोई बिरला जानता है, हर एक नहीं जानता। हर एकको उनकी पहचान नहीं होती। इस प्रकार सज्जनो ! जो नाम हम सबके लिये सुलभ हैं, ***'सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू ॥'***

सुमिरन करनेमें सबको सुलभ है, चाहे वह किसी वर्णका हो, किसी जातिका हो, किसी आश्रमका हो, किसी देशका हो, किसी वेशमें हो, कोई भी क्यों न हो। वह भी अगर भगवान्के नाममें लग जाय तो नाम सभीको सुख देनेवाला है—*'सुखद सब काहू' 'लोक लाहु परलोक निबाहू'* लोक-परलोकमें लाभ देनेवाला है, सब तरहसे निर्वाह करानेवाला है।

गोस्वामीजी कहते हैं—*'भरोसो जाहि दूसरो सो करो'* किसीको दूसरे किसीका भरोसा हो तो वह किया करे। मेरे तो—*'मोको तो रामको नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो'* रामजीका नामरूपी कल्पतरु कलियुगमें कल्याणरूपसे फलीभूत हो गया। इस कल्पतरुसे जो चाहे, सो ले लो। *'मेरे तो माय-बाप दोउ आखरहौं, सिसु-अरनि अरो'* मैं बच्चा हूँ, अड़ जाऊँगा तो वह चीज लेकर ही छोड़ूँगा। जैसे माँ-बापके सामने बच्चा अड़ जाय, रोने लग जाय तो जो खिलौना चाहे, वह ले ही लेगा। ऐसे ही मैं शिशु हूँ, अड़ जाता हूँ तो राम-नामसे सब ले लेता हूँ। ऐसा कहते-कहते गोस्वामीजी महाराज हद कर देते हैं *'संकर साखि जो राखि कहौं'* मनमें बात तो दूजी हो और बनाकर दूजी कहता हूँ तो भगवान् शंकर साक्षी हैं। शंकर भगवान् हमारे गवाह हैं। *'तौ जरि जीह गरो'* जीभ जल जाओ, गल जाओ भले ही परन्तु *'अपनो भलो राम-नामहि ते तुलसिहि समुझि परो।'*

शंकर भगवान्की गवाही क्यों दी? एक तो शंकर राम-नाम लेनेवाले हैं। दूसरी बात, जिसको गवाही दिया जाय, उसको पूछते हैं—देखो भाई! सच्ची-सच्ची गवाही देना, तो वह कहता है—हाँ सच्ची कहता हूँ। पूछनेवाला पूछता है—बिलकुल सच्ची? हाँ, बिलकुल सच्ची? अगर सच्ची! तो उठाओ गङ्गाजली। ऐसे गोस्वामीजी शंकर भगवान्से कहते हैं—'महाराज! सच्ची गवाही देना, आपके सिरपर गङ्गाजी हैं।'

सगरामदासजी कवि कहते हैं—

(१)

नरतन दीन्हो रामजी सतगुरु दीन्हो ज्ञान।
ये घोड़ा हाको अबे ओ आयो मैदान॥
ओ आयो मैदान बाग करडी कर सावो।
हिरदे राखो ध्यान राम रसनासों गावो॥
कुण देखाँ सगराम कहे आगे काढ़े कान।
नरतन दीन्हो रामजी सतगुरु दीन्हो ज्ञान॥

(२)

कहे दास सगराम बड़गड़े घालो घोड़ा।
भजन करो भरपूर रह्या दिन बाकी थोड़ा॥
थोड़ा दिन बाकी रह्या कद पोंछोला ठेट।
अध बीचमें बासो बसो तो पड़सो किणरे पेट॥
पड़सो किणरे पेट पड़ेगा थारी फोड़ा।
कहे दास सगराम बड़गड़े घालो घोड़ा॥

तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य-शरीर पा करके खूब भजन कर लो; नहीं तो कुत्तीके, गधीके पेटमें जाना पड़ेगा। इन माताओंका दूध पीकर क्या कुत्तीका दूध पीओगे? क्या गधीका दूध पीओगे? इस वास्ते भाइयो! बहनो! हमलोगोंपर सन्तोंने कितनी कृपा करके हमको भगवान्का नाम बता दिया है। अब तो चेत करके रात और दिन 'राम-राम-राम-राम-राम' करो। रात-दिन भजनमें लग जाओ।

भाइयो! जबानकी सावधानी रखो। जबानसे सत्य बोलो, झूठ मत बोलो। सावधानीके साथ इसका हरदम खयाल रखो और हरदम भगवान्का नाम लो। झूठ बोलनेसे जिह्वामें शक्ति नहीं होती। जबानमें शक्ति न होनेपर नाम लेनेपर भी जल्दी सिद्धि नहीं होती।

'जिह्वा दग्धा परान्नेन' पराया हक खानेसे जीभ जल गयी। **'हस्तौ दग्धौ प्रतिग्रहात्'** दूसरोंकी चीज लेनेसे हाथ जल गये। **'परस्त्रीभिर्मनो दग्धम्'** पर-स्त्रियोंमें मन जानेसे मन जल गया। **'कथं सिद्धिर्वरानने।'** तो सिद्धि कैसे हो? ताकत न जीभमें रही, न हाथमें रही और न मनमें रही। इस वास्ते भाइयो! बहनो! बड़ी सावधानीसे बर्ताव करो और भगवान्का नाम लो।

लोग बड़े-बड़े दुःख पाते हैं और कहते हैं—'क्या करें चिन्ता नहीं मिटती, हमारा काम नहीं बनता।' अरे भाई, राम-नाम लो न? मैंने सन्तोंसे सुना है कि राम-नाम है तोपका गोला—*'जैसे गोला तोप का करत जात मैदान'* जैसे तोपका गोला जहाँ जाता है, वहाँ मैदान हो जाता है, ऐसे ही यह राम-नाम है। यह तो प्रत्यक्ष बात है कि जब मनमें चिन्ता आये तो आधा घंटा, एक घंटा नाम जपो, चिन्ता मिट जायगी।

नाम-जपकी विधि

नाम-जपकी खास विधि क्या है ? खास विधि है कि भगवान्‌के होकर भगवान्‌के नामका जप करें, ***'होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु'।*** अब थोड़ी दूसरी बात बताते हैं। भगवान्‌के नामका जप करो; पर जपके साथमें प्रभुके स्वरूपका चिन्तन भी होना चाहिये। जैसे— 'गङ्गाजी'का नाम लेते हैं तो गङ्गाजीकी धारा दिखती है कि ऐसे बह रही है। 'गौमाता'का नाम लेते हैं तो गायका रूप दिखता है। ऐसे 'ब्राह्मण'का नाम लेते हैं तो ब्राह्मणरूपी व्यक्ति दिखता है। मनमें एक स्वरूप आता है। ऐसे 'राम' कहते ही धनुषधारी राम दीखने चाहिये मनसे। इस प्रकार नाम लेते हुए मनसे भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करो। यह खास विधि है। पातञ्जलयोगदर्शनमें लिखा है—**'तज्जपस्तदर्थभावनम्', 'तस्य वाचकः प्रणवः'** भगवान्‌के नामका जप करना और उसके अर्थका चिन्तन करना अर्थात् नाम लेते जाओ और उसको याद करते जाओ।

श्रीकृष्णके भक्त हों तो उनके चरणोंकी शरण होकर, **'श्रीकृष्णः शरणं मम'** इस मन्त्रको जपते हुए साथ-साथ स्वरूपको याद करते जाओ। नाम-जपकी यह खास विधि है। एक विधि तो उसके होकर नाम जपना और दूसरी विधि— नाम जपते हुए उसके स्वरूपका ध्यान करते रहना। कहीं भूल होते ही 'हे नाथ ! हे नाथ !!' पुकारो। 'हे प्रभो ! बचाओ, मैं तो भूल गया। मेरा मन और जगह चला गया, हे नाथ ! बचाओ।' भगवान्‌से ऐसी प्रार्थना करो तो भगवान् मदद करेंगे। उनकी मददसे जो काम होगा, वह काम आप अपनी शक्तिसे कर नहीं सकोगे। इस वास्ते भगवान्‌के नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान—ये दोनों साथमें रहें।

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।'

(गीता ८। १३)

'ॐ' इस एक अक्षरका उच्चारण करे और मेरा स्मरण करे। यह जगह-जगह बात आती है। इस वास्ते भगवान्‌के नाम-जपके साथ भगवान्‌के स्वरूपकी भी याद रहे।

नाम-जप दिखावटीपनमें न चला जाय अर्थात् मैं नाम जपता हूँ तो लोग मेरेको भक्त मानें, अच्छा मानें, लोग मेरेको देखें—यह भाव बिलकुल नहीं होना चाहिये। यह भाव होगा तो नामकी बिक्री हो जायगी। नामका पूरा फल नहीं मिलेगा; क्योंकि आपने नामको मान-बड़ाईमें खर्च कर दिया। इस वास्ते दिखावटीपन नहीं होना चाहिये नाम-जपमें। नाम-जप भीतरसे होना चाहिये—लगनपूर्वक। लौकिक धनको भी लोग दिखाते नहीं। उसको भी तिजोरीमें बंद रखते हैं, तो लौकिक धन-जैसा भी यह धन नहीं है क्या ? जो लोगोंको दिखाया जाय। लोगोंको पता लगे तो क्या भजन किया ? गुप्तरीतिसे करे, दिखावटीपन बिलकुल न आवे। नाम-जप भीतर-ही-भीतर करते रहें। एकान्तमें करते रहें, मन-ही-मन करते रहें और मन-ही-मनसे पुकारें, लोगोंको दिखानेके लिये नहीं। लोग देख लें तो उसमें शर्म आनी चाहिये कि मेरी गलती हो गयी। लोगोंको पता लग गया। हमें एक महात्मा मिले थे। उन्होंने एक बात कही।

प्रह्लादजीको इतना कष्ट क्यों पाना पड़ा ? प्रह्लादजीने अपना भजन प्रकट कर दिया। अगर वे प्रकट न करते तो उनको इतना कष्ट क्यों पाना पड़ता ? इस वास्ते अपना भजन प्रकट न करें। किसीको पता ही न होने दें कि यह भगवान्‌का भजन करता है। बहनों-माताओंको चाहिये कि वे ऐसी गुप्तरीतिसे भगवान्‌के भजनमें लग जायँ। देखो, गुप्तरीतिसे किया हुआ भजन बड़े महत्त्वका होता है। पाप भी गुप्त किये हुए बड़े भयंकर होते हैं। भजन भी बड़ा लाभदायक होता है। गुप्त दिया हुआ दान भी बड़ा लाभदायक है। गुप्त दान कौन-सा है ? घरवालोंसे छिपाकर देना चोरी है, गुप्त दान नहीं है। गुप्त दान कौन-सा है ? जिसके घरमें चला जाय, उसे पता नहीं चले कि कहाँसे आया है ? किसने दिया है ? देनेवालेका पता न लगे, यह गुप्त दान होता है। घरवालोंसे छिपाकर देना चोरी है। चोरीका पाप होता है।

एक बार सुबहके प्रवचनमें मैंने कह दिया कि गरीबोंकी सेवा करो। तो एक भाई बोले—गरीबोंकी सेवा करते हैं तो गरीब तंग कर देते हैं महाराज ! तो मैंने कहा—सेवा इस ढंगसे करो कि उन्हें मालूम न हो कि किसने सेवा की। वह तो आपकी सेवा है, नहीं तो लोगोंमें झंडा फहराते हैं कि हम देते हैं, देते हैं। भीड़ बहुत हो जायगी, लोग लूट लेते हैं, तंग करते हैं । यह सेवाका भाव नहीं है। केवल वाह-वाह लेनी है और कुछ नहीं है।

भीतरका भाव हो जाय कि इनके घर कैसे चीज पहुँचे ? किस तरहसे इनकी सहायता हो जाय। कैसे गुप्त दिया जाय, तो उस दानका माहात्म्य है। ऐसे ही गुप्तरीतिसे भजन हो। भगवान्‌के नामका जप भीतर-ही-भीतर हो। नामजप भीतरसे नहीं होता है तो बोलकर करो, कोई परवाह नहीं; पर भाव दिखावटीपनका नहीं होना चाहिये। कोई देख भी ले, तो वह इतना दोष नहीं है, प्रत्युत दिखावेका भाव महान् दोष है। आप नित्य-निरन्तर भजनमें लग जाओ। कहीं कोई देख भी ले तो सावधान हो जाओ। उसके लिये यह नहीं कि हमारा भजन ही बंद हो जाय।

(१) भगवान्‌के होकर भजन करें, (२) भगवान्‌का

ध्यान करते हुए भजन करें, (३) गुप्तरीतिसे करें, (४) निरन्तर करें, क्योंकि बीचमें छूटनेसे भजन इतना बढ़िया नहीं होता। निरन्तर करनेसे एक शक्ति पैदा होती है। जैसे, बहनें-माताएँ रसोई बनाती हैं ? तो रसोई बनावें तो दस-पंद्रह मिनट बनाकर छोड़ दें, फिर घंटाभर बादमें शुरू करें। फिर थोड़ी देर बनावें, फिर घंटाभर ठहरकर करने लगें। इस प्रकार करनेसे क्या रसोई बन जायगी ? दिन बीत जायगा, पर रसोई नहीं बनेगी। लगातार किया जाय तो चट बन जायगी। ऐसे ही भगवान्‌का भजन लगातार हो, निरन्तर हो, छूटे नहीं, रात-दिन, सुबह-शाम कभी भी छूटे नहीं। नारदजी महाराज भक्ति-सूत्रमें लिखते हैं—'**तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति**' सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर दे, भगवान्‌को भूलते ही परम व्याकुल हो जाय। जैसे मछलीको जलसे बाहर कर दिया जाय तो वह तड़फड़ाने लगती है। इस तरहसे भगवान्‌की विस्मृतिमें हृदयमें व्याकुलता हो जाय। भगवान्‌को भूल गये, गजब हो गया ! उसकी विस्मृति न हो। लगातार उसकी स्मृति रहे और प्रार्थना करे—'हे भगवान् ! मैं भूलूँ नहीं, हे ! नाथ ! मैं भूलूँ नहीं।' ऐसा कहता रहे और निरन्तर नाम-जप करता रहे।

(५) इसमें एक बात और खास है—कामना न करे अर्थात् मैं माला फेरता हूँ, मेरी छोरीका ब्याह हो जाय। मैं नाम जपता हूँ तो धन हो जाय, मेरे व्यापारमें नफा हो जाय। ऐसी कोई-सी भी कामना न करे। यह जो संसारकी चीजोंकी कामना करना है यह तो भगवान्‌के नामकी बिक्री करना है। इससे भगवान्‌का नाम पुष्ट नहीं होता, उसमें शक्ति नहीं आती। आप खर्च करते रहते हो, मानो हीरोंको पत्थरोंसे तौलते हो ! भगवान्‌का नाम कहेंगे तो धन-संग्रह हो जायगा। नहीं होगा तो क्या हो जायगा ? मेरे पोता हो जाय। अब पोता हो जाय। अब पोता हो गया तो क्या ? नहीं हो गया तो क्या ? एक विष्ठा पैदा करनेकी मशीन पैदा हो गयी, तो क्या हो गया ? नहीं हो जाय तो कौन-सी कमी रह गयी ? वह भी मरेगा, तुम भी मरोगे ! और क्या होगा ? पर इनके लिये भगवान्‌के नामकी बिक्री कर देना बहुत बड़ी भूल है। इस वास्ते ऐसी तुच्छ चीजोंके लिये, जिसकी असीम, अपार कीमत है, उस भगवन्नामकी बिक्री न करें, सौदा न करें और कामना न करें। नाम महाराजसे तो भगवान्‌की भक्ति मिले, भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम हो जाय, भगवान्‌की तरफ खिंच जायँ यह माँगो। यह कामना नहीं है; क्योंकि कामना तो लेनेकी होती है और इसमें तो अपने-आपको भगवान्‌को देना है। आपका प्रेम मिले, आपकी भक्ति मिले, मैं भूलूँ ही नहीं—ऐसी कामना खूब करो।

सन्तोंने भगवान्‌से भक्ति माँगी है। अच्छे-अच्छे महात्मा पुरुषोंने भगवान्‌के चरणोंका प्रेम माँगा है—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

भगवान् शंकर माँगते हैं—

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

तो उनके कौन-सी कमी रह गयी ? पर यह माँगना सकाम नहीं है। तीर्थ, दान आदिके जितने पुण्य हैं, उन सबका एक फल माँगे कि भगवान्‌के चरणोंमें प्रीति हो जाय। हे नाथ ! आपके चरणोंमें प्रेम हो जाय, आकर्षण हो जाय। भगवान् हमें प्यारे लगें, मीठे लगें। यह कामना करो। यह कामना सांसारिक नहीं है।

भगवान्‌का नाम लेते हुए आनन्द मनाओ, प्रसन्न हो जाओ कि मुखमें भगवान्‌का नाम आ गया, हम तो निहाल हो गये ! आज तो भगवान्‌ने विशेष कृपा कर दी, जो नाम मुखमें आ गया। नहीं तो मेरे-जैसेके लिये भगवान्‌का नाम कहाँ ? जिनके याद करनेमात्रसे मङ्गल हो जाय ऐसे जिस नामको भगवान् शंकर जपते हैं—

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनग आराती॥

वह नाम मिल जाय हमारेको। कलियुगी तो हम जीव और राम-नाम मिल जाय तो बस मौज हो गयी, भगवान्‌ने विशेष ही कृपा कर दी। ऐसी सम्मति मिल गयी, हमारेको भगवान्‌की याद आ गयी। भगवान्‌की बात सुननेको मिली है; भगवान्‌की चर्चा मिली है, भगवान्‌का नाम मिला है, भगवान्‌की तरफ वृत्ति हो गयी है—ऐसे समझकर खूब आनन्द मनावें, खूब खुशी मनावें, प्रसन्नता मनावें।

एक बात और विलक्षण है ! उसपर आप ध्यान दें। बहुत ही लाभकी बात है, (६) जब कभी भगवान् अचानक याद आ जायँ, भगवान्‌का नाम अचानक याद आ जाय, भगवान्‌की लीला अचानक याद आ जाय, उस समय यह समझे कि भगवान् मेरेको याद करते हैं। भगवान्‌ने अभी मेरेको याद किया है। नहीं तो मैंने उद्योग ही नहीं किया, फिर अचानक ही भगवान् कैसे याद आये ? ऐसा समझकर प्रसन्न हो जाओ कि मैं तो निहाल हो गया। मेरेको भगवान्‌ने याद कर लिया। अब और काम पीछे करेंगे। अब तो भगवान्‌में ही लग जाना है; क्योंकि भगवान् याद करते हैं, ऐसा मौका कहाँ पड़ा है ? ऐसे लग जाओ तो बहुत ज्यादा भक्ति है। जब अंगद रवाना हुए और उनको पहुँचाने हनुमान्‌जी गये तो अंगदने कहा—'***बार बार रघुनायकहि सुरति कराएहु मोरि***' याद

कराते रहना रामजीको। तात्पर्य जिस समय अचानक भगवान् याद आते हैं, उस समयको खूब मूल्यवान् समझकर तत्परतासे लग जाओ। इस प्रकार छः बातें हो गयीं।

गुप्त अकाम निरन्तर, ध्यान-सहित सानन्द।
आदर जुत जप से तुरत, पावत परमानन्द॥

कई भाई कह देते हैं, हम तो खाली राम-राम करते हैं। ऐसा मत समझो। यह राम-नाम खाली नहीं होता है ? जिस नामको शंकर जपते हैं, सनकादिक जपते हैं, नारदजी जपते हैं, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, संत-महात्मा जपते हैं, वह नाम मेरेको मिल गया, यह तो मेरा भाग्य ही खुल गया है। ऐसे उसका आदर करो। जहाँ कथा मिल जाय, उसका आदर करो। भगवान्के भक्त मिल जायँ, उनका आदर करो। भगवान्की लीला सुननेको मिल जाय, तो प्रसन्न हो जाओ कि यह तो भगवान्ने बड़ी कृपा कर दी। भगवान् मानो हाथ पकड़कर मेरेको अपनी तरफ खींच रहे हैं। भगवान् मेरे सिरपर हाथ रखकर कहते हैं—'बेटा ! आ जा।' ऐसे मेरेको बुला रहे हैं। भगवान् बुला रहे हैं—इसकी यही पहचान है कि मेरेको सुननेके लिये भगवान्की कथा मिल गयी। भगवान्की चर्चा मिल गयी। भगवान्का पद मिल गया। भगवत्सम्बन्धी पुस्तक मिल गयी। भगवान्का नाम देखनेमें आ गया।

मालाके बिना अगर नाम-जप होता हो तो मालाकी जरूरत नहीं। परन्तु मालाके बिना भूल बहुत ज्यादा होती हो तो माला जरूर रखनी चाहिये। मालासे भगवान्की यादमें मदद मिलती है।

माला मनसे लड़ पड़ी, तूँ नहिं बिसरे मोय।
बिना शस्त्रके सूरमा लड़ता देख्या न कोय॥

बिना शस्त्रके लड़ाई किससे करें ! यह माला शस्त्र है भगवान्को याद करनेका ! भगवान्की बार-बार याद आवे, इस वास्ते भगवान्की यादके लिये मालाकी बड़ी जरूरत है। निरन्तर जप होता है तो मालाकी कोई जरूरत नहीं, फिर भी माला फेरनी चाहिये, माला फेरनेकी आवश्यकता है।

दूसरी आवश्यकता है—जितना नियम है उतना पूरा हो जाय, उसमें कमी न रह जाय उसके लिये माला है। माला लेनेसे एक दोष भी आता है। वह यह है कि आज इतना जप पूरा हो गया, बस अब रख दो माला। ऐसा नहीं करना चाहिये। भगवद्भजनमें कभी संतोष न करे। कभी पूरा न माने। धन कमानेमें पूरा नहीं मानते। पाँच रुपये रोजाना पैदा होते हैं जिस दुकानमें, उस दुकानमें सुबहके समयमें पचास रुपये पैदा हो गये तो भी दिनभर दुकान खुली रखेंगे। अब दस गुणी पैदा हो गयी तो भी दुकान बंद नहीं करेंगे। परन्तु भगवान्का भजन, नियम पूरा हो जाय तो पुस्तक भी समेटकर रख देंगे, माला भी समेटकर रख देंगे; क्योंकि आज तो नित्य-नियम हो गया। यह बड़ी गलती होती है। मालासे यह गलती न हो जाय कहीं कि इतनी माला हो गयी, अब बंद करो। इसमें तो लोभ लगना चाहिये कि माला छोड़ूँ ही नहीं, ज्यादा-से-ज्यादा करता रहूँ।

'कल्याण'में एक लेख आया था—एक गाँवमें रहनेवाले स्त्री-पुरुष थे। गँवार थे बिलकुल। पढ़े-लिखे नहीं थे। वे मालासे जप करते तो एक पावभर उड़दके दाने अपने पास रख लेते। एक माला पूरी होनेपर एक दाना अलग रख देते। ऐसे दाने पूरे होनेपर कहते कि मैंने पावभर भजन किया है। स्त्री कहती कि मैंने आधा सेर भजन किया, आधा सेर माला भजन किया। उनके यही संख्या थी। तो किसी तरह भगवान्का नाम जपे। अधिक-से-अधिक सेर, दो सेर भजन करो। यह भी भजन करनेका तरीका है। जब आप लग जाओगे तो तरीका समझमें आ जायगा।

जैसे सरकार इतना कानून बनाती है फिर भी सोच करके कुछ-न-कुछ रास्ता निकाल ही लेते हो। भजनकी लगन होगी तो क्या रास्ता नहीं निकलेगा। लगन होगी तो निकाल लोगे। सरकार तो कानूनोंमें जकड़नेकी कमी नहीं रखती; फिर भी आप उससे निकलनेकी कमी नहीं रखते। कैसे-न-कैसे निकल ही जाते हैं। तो संसारसे निकलो भाई। यह तो फँसनेकी रीति है।

भगवान्के ध्यानमें घबराहट नहीं होती, ध्यानमें तो आनन्द आता है, प्रसन्नता होती है; पर जबरदस्ती मन लगानेसे थोड़ी घबराहट होती है तो कोई हर्ज नहीं। भगवान्से कहो—'हे नाथ ! मन नहीं लगता।' कहते ही रहो, कहते ही रहो। एक सज्जनने कहा था—कहते ही रहो 'व्यापारीको ग्राहकके अगाड़ी और भक्तको भगवान्के अगाड़ी रोते ही रहना चाहिये कि क्या करें बिक्री नहीं होती, क्या करें पैदा नहीं होती।' ऐसे भक्तको भगवान्के अगाड़ी 'क्या करें, महाराज ! भजन नहीं होता है, हे नाथ ! मन नहीं लगता है।' ऐसे रोते ही रहना चाहिये। ग्राहकके अगाड़ी रोनेसे बिक्री होगी या नहीं होगी, इसका पता नहीं, पर भगवान्के अगाड़ी रोनेसे काम जरूर होगा। यह रोना एकदम सार्थक है।

सच्ची लगन आपको बतायेगी कि हमारे भगवान् हैं और हम भगवान्के हैं। यह सच्चा सम्बन्ध जोड़ लें। उसीकी प्राप्ति करना हमारा खास ध्येय है, खास लक्ष्य है। यह एक बन जायगा तो दूजी बातें आ जायँगी। बिना सीखे ही याद आ जायँगी, भगवान्की कृपासे याद आ जायँगी।

दस नामापराध

सन्निन्दासति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधी-
रश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रमः।
नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागौ च धर्मान्तरैः
साम्यं नामजपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश॥

भगवन्नाम-जपमें दस अपराध होते हैं। उन दस अपराधोंसे रहित होकर हम नाम जपें। कई ऐसा कहते हैं—

राम नाम सब कोई कहे, दशरथ कहे न कोय।
एक बार दशरथ कहे, तो कोटि यज्ञ फल होय॥

और कई तो ***'दशरथ कहे न कोय'*** की जगह ***'दशऋत कहे न कोय'*** कहते हैं अर्थात् 'दशऋत'—दस अपराधोंसे रहित नहीं करते। साथ-साथ अपराध करते रहते हैं। उस नामसे भी फायदा होता है। पर नाम महाराजकी शक्ति उन अपराधोंके नाश होनेमें खर्च हो जाती है। अपराध करता है तो नाम महाराज प्रसन्न नहीं होते। वे रुष्ट होते हैं। ये अपराध हमारेसे न हों। इसके लिये खयाल रखें। दस अपराध बताये जाते हैं। वे इस प्रकार हैं—

'सन्निन्दा'—(१) पहला अपराध तो यह माना है कि श्रेष्ठ पुरुषोंकी निन्दा की जाय। अच्छे-पुरुषोंकी, भगवान्के प्यारे भक्तोंकी जो निन्दा करेंगे, भक्तोंका अपमान करेंगे तो उससे नाम महाराज रुष्ट हो जायँगे। इस वास्ते किसीकी भी निन्दा न करें; क्योंकि किसीके भले-बुरेका पता नहीं लगता है।

ऐसे-ऐसे छिपे हुए सन्त-महात्मा होते हैं कि गृहस्थ-आश्रममें रहनेवाले, मामूली वर्णमें, मामूली आश्रममें, मामूली साधारण स्त्री-पुरुष दीखते हैं, पर भगवान्के बड़े प्रेमी और भगवान्का नाम लेनेवाले होते हैं। उनका तिरस्कार कर दें, अपमान कर दें, निन्दा कर दें तो कहीं भगवान्के भक्तकी निन्दा हो गयी तो नाम महाराज प्रसन्न नहीं होंगे।

'नाम चेतन कू चेत भाई। नाम चौथे कूँ मिलाई।' नाम चेतन है। भगवान्का नाम दूसरे नामोंकी तरह होता है, ऐसा नहीं है। वह जड़ नहीं है, वह चेतन है। भगवान्का श्रीविग्रह चिन्मय होता है— ***'चिदानंदमय देह तुम्हारी।'*** हमारे शरीर जड़ होते हैं, शरीरमें रहनेवाला चेतन होता है। पर भगवान्का शरीर भी चिन्मय होता है। उनके गहने-कपड़े आदि भी चिन्मय होते हैं। उनका नाम भी चिन्मय है। यदि ऐसे चिन्मय नाम महाराजकी कृपा चाहते हो, उसकी मेहरबानी चाहते हो तो जो अच्छे पुरुष हैं और जो नाम लेनेवाले हैं, उनकी निन्दा मत करो।

'असति नामवैभवकथा'—(२) जो भगवन्नाम नहीं लेता, भगवान्की महिमा नहीं जानता, भगवान्की निन्दा करता है, जिसकी नाममें रुचि नहीं है, उसको जबरदस्ती भगवान्के नामकी महिमा मत सुनाओ। वह सुननेसे तिरस्कार करेगा तो नाम महाराजका अपमान होगा। वह एक अपराध बन जायगा। इस वास्ते उसके सामने भगवान्के नामकी महिमा मत कहो। साधारण कहावत आती है—

हरि हीराँ री गाठड़ी, गाहक बिना मत खोल।
आसी हीराँ पारखी, बिकसी मँहगे मोल॥

भगवान्के ग्राहकके बिना नाम-हीरा सामने क्यों रखे भाई? वह तो आया है दो पैसोंकी मूँगफली लेनेके लिये और आप सामने रखो तीन लाख रत्न-दाना? क्या करेगा वह रतनका? उसके सामने भगवान्का नाम क्यों रखो भाई? ऐसे कई सज्जन होते हैं जो नामकी महिमा सुन नहीं सकते। उनके भीतर अरुचि पैदा हो जाती है।

अन्नसे पले हैं, इतने बड़े हुए; परन्तु भीतर पित्तका जोर होता है तो मिश्री खराब लगती है, अन्नकी गन्ध आती है। वह भाता नहीं, सुहाता नहीं। अगर अन्न अच्छा नहीं है तो इतनी बड़ी अवस्था कैसे हो गयी? अन्न खाकर तो पले हो, फिर भी अन्न अच्छा नहीं लगता? कारण क्या है? पेट खराब है। पित्तका जोर है।

तुलसी पूरब पाप ते, हरिचर्चा न सुहात।
जैसे जुरके जोरसे, भोजनकी रुचि जात॥

ज्वरमें अन्न अच्छा नहीं लगता। ऐसे ही पापीको बुखार है, इस वास्ते उसे नाम अच्छा नहीं लगता। तो उसको नाम मत सुनाओ। मिश्री कड़वी लगती है सज्जनो! और मिश्री कड़वी है तो क्या कुटक, चिरायता मीठा होगा? परन्तु पित्तके जोरसे जीभ खराब है। पित्तकी परवाह नहीं मिश्री खाना शुरू कर दो। खाते-खाते पित्त शान्त हो जायगा और मिश्री मीठी लगने लग जायगी।

ऐसे किसीका विचार हो, रुचि न हो तो नाम-जप करना शुरू कर दे इस भावसे कि यह भगवान्का नाम है। हमें अच्छा नहीं लगता है, हमारी अरुचि है तो हमारी जीभ खराब है। यह नाम तो अच्छा ही है—ऐसा भाव रखकर नाम लेना शुरू कर दें और भगवान्से प्रार्थना करें कि हे नाथ! आपके चरणोंमें रुचि हो जाय, आपका नाम अच्छा लगे। ऐसे भगवान्से कहता रहे, प्रार्थना करता रहे तो ठीक हो जायगा।

'श्रीशेशयोर्भेदधीः'—(३) भगवान् विष्णुके भक्त हैं तो शंकरकी निन्दा न करें। दोनोंमें भेद-बुद्धि न करें। भगवान् शंकर और विष्णु दो नहीं हैं—

उभयोः प्रकृतिस्त्वेका प्रत्ययभेदेन भिन्नवद्भाति।
कलयति कश्चिन्मूढो हरिहरभेदं विना शास्त्रम्॥

भगवान् विष्णु और शंकर इन दोनोंका स्वभाव एक है। परन्तु भक्तोंके भावोंके भेदसे भिन्नकी तरह दीखते हैं। इस वास्ते कोई मूढ़ दोनोंका भेद करता है तो वह शास्त्र नहीं जानता। दूसरा अर्थ होता है '**हृञ् हरणे**' धातु तो एक है पर प्रत्यय-भेद है। हरि और हर ऐसे प्रत्यय-भेदसे भिन्नकी तरह दीखते हैं। 'हरि-हर'के भेदको लेकर कलह करता है वह '**विना शास्त्रम्**' पढ़ा लिखा नहीं है और '**विनाशाय अस्त्रम्**'—अपना नाश करनेका अस्त्र है।

भगवान् शंकर और विष्णु इन दोनोंका आपसमें बड़ा प्रेम है। गुणोंके कारणसे देखा जाय तो भगवान् विष्णुका सफेद रूप होना चाहिये और भगवान् शंकरका काला रूप होना चाहिये; परन्तु भगवान् विष्णुका श्याम वर्ण है और भगवान् शंकरका गौर वर्ण है, बात क्या है। भगवान् शंकर ध्यान करते हैं भगवान् विष्णुका और भगवान् विष्णु ध्यान करते हैं भगवान् शंकरका। ध्यान करते हुए दोनोंका रंग बदल गया। विष्णु तो श्यामरूप हो गये और शंकर गौर वर्णवाले हो गये—'**कर्पूरगौरं करुणावतारम्।**'

अपने ललाटपर भगवान् रामके धनुषका तिलक करते हैं शंकर और शंकरके त्रिशूलका तिलक करते हैं रामजी। ये दोनों आपसमें एक-एकके इष्ट हैं। इस वास्ते इनमें भेद-बुद्धि करना, तिरस्कार करना, अपमान करना बड़ी गलती है। इससे भगवन्नाम महाराज रुष्ट हो जायँगे। इस वास्ते भाई, भगवान्के नामसे लाभ लेना चाहते हो तो भगवान् विष्णुमें और शंकरमें भेद मत करो।

कई लोग बड़ी-बड़ी भेद-बुद्धि करते हैं। जो भगवान् कृष्णके भक्त हैं, भगवान् विष्णुके भक्त हैं, वे कहते हैं कि हम शंकरका दर्शन ही नहीं करेंगे। यह गलतीकी बात है। अपने तो दोनोंका आदर करना है। दोनों एक ही हैं। ये दो रूपसे प्रकट होते हैं—***'सेवक स्वामि सखा सिय पी के।'***

'अश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिराम्'—वेद, शास्त्र और सन्तमहापुरुषोंके वचनोंमें अश्रद्धा करना अपराध है।

(४) जब हम नाम-जप करते हैं तो हमारे लिये वेदोंके पठन-पाठनकी क्या आवश्यकता है? वैदिक कर्मोंकी क्या आवश्यकता है। इस प्रकार वेदोंपर अश्रद्धा करना नामापराध है।

(५) शास्त्रोंने बहुत कुछ कहा है। कोई शास्त्र कुछ कहता है तो कोई कुछ कहता है। उनकी आपसमें सम्मति नहीं मिलती। ऐसे शास्त्रोंको पढ़नेसे क्या फायदा है? उनको पढ़ना तो नाहक वाद-विवादमें पड़ना है। इस वास्ते नाम-प्रेमीको शास्त्रोंका पठन-पाठन नहीं करना चाहिये, इस प्रकार शास्त्रोंमें अश्रद्धा करना नामापराध है।

(६) जब हम नाम-जप करते हैं तो गुरु-सेवा करनेकी क्या आवश्यकता है? गुरुकी आज्ञापालन करनेकी क्या जरूरत है? नाम-जप इतना कमजोर है क्या? नाम-जपको गुरु-सेवा आदिसे बल मिलता है क्या? नाम-जप उनके सहारे है क्या? नाम-जपमें इतनी सामर्थ्य नहीं है जो कि गुरुकी सेवा करनी पड़े? सहारा लेना पड़े? इस प्रकार गुरुमें अश्रद्धा करना नामापराध है।

वेदोंमें अश्रद्धा करनेवालेपर भी नाम महाराज प्रसन्न नहीं होते। वे तो श्रुति हैं, सबकी माँ-बाप हैं। सबको रास्ता बतानेवाली हैं। इस वास्ते वेदोंमें अश्रद्धा न करे। ऐसे शास्त्रोंमें—पुराण, शास्त्र, इतिहासमें भी अश्रद्धा न करे, तिरस्कार-अपमान न करे। सबका आदर करे। शास्त्रोंमें, पुराणोंमें, वेदोंमें, सन्तोंकी वाणीमें, भगवान्के नामकी महिमा भरी पड़ी है। शास्त्रों, सन्तों आदिने जो भगवन्नामकी महिमा गायी है, यदि वह इकट्ठी की जाय तो महाभारतसे बड़ा पोथा बन जाय। इतनी महिमा गायी है, फिर भी इसका अन्त नहीं है। फिर भी उनकी निन्दा करे और नामसे लाभ लेना चाहे तो कैसे होगा?

जिन गुरु महाराजसे हमें नाम मिला है, यदि उनका निरादर करेंगे, तिरस्कार करेंगे तो नाम महाराज रुष्ट हो जायँगे। कोई कहते हैं कि हमने गुरु किये पर वे ठीक नहीं निकले। ऐसी बात भी हो जाय तो मैं एक बात कहता हूँ कि आप उनको छोड़ दो भले ही, परन्तु निन्दा मत करो।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥

ऐसा विधान आता है। इस वास्ते गुरुको छोड़ दो और नाम-जप करो। भगवान्के नामका जप तो करो, पर गुरुकी निन्दा मत करो। जिससे कुछ भी पाया है, पारमार्थिक बातें ली हैं, जिससे लाभ हुआ है, भगवान्की तरफ रुचि हुई है, चेत हुआ है, होश हुआ है, उसकी निन्दा मत करो।

'**नाम्न्यर्थवादभ्रमः**'—(७) नाममें अर्थवादका भ्रम है। यह महिमा बढ़ा-चढ़ाकर कही है; इतनी महिमा थोड़ी है नामकी! नाममात्रसे कल्याण कैसे हो जायगा? ऐसा भ्रम न करें; क्योंकि भगवान्का नाम लेनेसे कल्याण हो जायगा। नाममें खुद भगवान् विराजमान हैं। मनुष्य नींद लेता है तो नाम लेते ही सुबोध होता है अर्थात् किसीको नींद आयी हुई है तो उसका नाम लेकर पुकारो तो वह नींदमें सुन लेगा।

नींदमें सम्पूर्ण इन्द्रियाँ मनमें, मन बुद्धिमें और बुद्धि अविद्यामें लीन हुई रहती है—ऐसी जगह भी नाममें विलक्षण शक्ति है। **'शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात्'** शब्दमें अपार, असीम, अचिन्त्य शक्ति मानी है। नींदमें सोता हुआ जग जाय। अनादि कालसे सोया हुआ जीव सन्त-महात्माओंके वचनोंसे जग जाता है, उसको होश आ जाता है। जिस बेहोशीमें अनन्त जन्म बीत गये। लाखों-करोड़ों वर्ष बीत गये। ऐसे नींदमें सोता हुआ भी, शब्दमें इतनी अलौकिक विलक्षण शक्ति है, जिससे वह जाग्रत् हो जाय, अविद्या मिट जाय, अज्ञान मिट जाय। ऐसे उपदेशसे विचित्र हो जाय आदमी।

यह तो देखनेमें आता है। सत्संग सुननेसे आदमीमें परिवर्तन आता है। उसके भावोंमें महान् परिवर्तन हो जाता है। पहले उसमें क्या-क्या इच्छाएँ थीं, उसकी क्या दशा थी, किधर वृत्ति थी, क्या काम करता था ? और अब क्या करता है ? इसका पता लग जायगा। इस वास्ते शब्दमें अचिन्त्य शक्ति है।

नाममें अर्थवादकी कल्पना करना कि नामकी महिमा झूठी गा दी है, लोगोंकी रुचि करनेके लिये यह धोखा दिया है। थोड़ा ठंडे दिमागसे सोचो कि सन्त-महात्मा भी धोखा देंगे तो तुम्हारे कल्याणकी, हितकी बात कौन कहेगा ? बड़े अच्छे-अच्छे महापुरुष हुए हैं और उन्होंने कहा है—'भैया ! भगवान्का नाम लो। असम्भव सम्भव हो जाय। लोगोंने ऐसा करके देखा है। असम्भव बात भी सम्भव हो जाती है। जो नहीं होनेवाली है वह भी हो जाती है। जिनके ऐसी बीती है उम्रमें, उन लोगोंने कहा है। ऐसी असम्भव बात सम्भव हो जाय, न होनेवाली हो जाय। इसमें क्या आश्चर्य है ? क्योंकि **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ ईश्वरः'** ईश्वर करनेमें, न करनेमें, अन्यथा करनेमें समर्थ होता है। वह ईश्वर वशमें हो जाय अर्थात् भगवान् भगवन्नाम लेनेवालेके वशमें हो जाते हैं।

नाम महाराजसे क्या नहीं हो सकता ? ऐसा कुछ है ही नहीं, जो न हो सके अर्थात् सब कुछ हो सकता है। भगवान्का नाम लेनेसे ऐसे लाभ होता है बड़ा भारी। नामसे बड़े-बड़े असाध्य रोग मिट गये हैं, बड़े-बड़े उपद्रव मिट गये हैं, भूत-प्रेत-पिशाच आदिके उपद्रव मिट गये हैं। भगवान्का नाम लेनेवाले सन्तोंके दर्शनमात्रसे अनेक प्रेतोंका उद्धार हो गया। भगवान्का नाम लेनेवाले पुरुषोंके संगसे, उनकी कृपासे अनेक जीवोंका उद्धार हो गया है।

सज्जनो ! आप विचार करें तो यह बात प्रत्यक्ष दीखेगी कि जिन देशोंमें सन्त-महात्मा घूमते हैं, जिन गाँवोंमें, जिन प्रान्तोंमें सन्त रहते हैं और जिन गाँवोंमें सन्तोंने भगवान्के नामका प्रचार किया है, वे गाँव आज विलक्षण हैं दूसरे गाँवोंसे। जिन गाँवोंमें सौ-दो-सौ वर्षोंसे कोई सन्त नहीं गया है, वे गाँव ऐसे ही पड़े हैं अर्थात् वहाँके लोगोंकी भूत-प्रेत-जैसी दशा है। भगवान्का नाम लेनेवाले पुरुष जहाँ घूमे हैं, पवित्रता आ गयी, विलक्षणता आ गयी, अलौकिकता आ गयी। वे गाँव सुधर गये, घर सुधर गये, वहाँके व्यक्ति सुधर गये, उनको होश आ गया। वे स्वयं भी कहते हैं, हम मामूली थे पर भगवान्का नाम मिला, सन्त मिल गये तो हम मालामाल हो गये।

१९९३ वि० सं०में हमलोग तीर्थयात्रामें गये थे तो काठियावाड़में एक भाई मिला। उसने हमको पाँच-सात वर्षोंकी उम्र बतायी। अरे भाई ! तुम इतने बड़े दीखते हो, तो क्या बात है ? उस भाईने कहा—मैं सात वर्षोंसे ही 'कल्याण' मासिक पत्रका ग्राहक हूँ। जबसे इधर रुचि हुई, तबसे ही मैं अपनेको मनुष्य मानता हूँ। पहलेकी उम्रको मैं मनुष्य मानता ही नहीं, मनुष्यके लायक काम नहीं किया। उद्दण्ड, उच्छृङ्खल होते रहे। तो बोलो, कितना विलक्षण लाभ होता है ? 'तीर्थयात्रा-ट्रेन गीताप्रेसकी है'—ऐसा सुनते तो लोग परिक्रमा करते। जहाँ गाड़ी खड़ी रहती, वहाँके लोग कीर्तन करते और स्टेशनों-स्टेशनोंपर कीर्तन होता कि आज तीर्थयात्राकी गाड़ी आनेवाली है।

यह महिमा किस बातकी है ? यह सब भगवान्को, भगवान्के नामको लेकर है। आज भी हम गोस्वामीजीकी महिमा गाते हैं, रामायणजीकी महिमा गाते हैं, तो क्या है ? भगवान्का चरित्र है, भगवान्का नाम है। गोस्वामीजी महाराज भी कहते हैं—***'एहि महँ रघुपति नाम उदारा।'*** इसमें भगवान्का नाम है जो कि वेद, पुराणका सार है। इस कारण रामायणकी इतनी महिमा है। भगवान्की महिमा, भगवान्के चरित्र, भगवान्के गुण होनेसे रामायणकी महिमा है। जिसका भगवान्से सम्बन्ध जुड़ जाता है, वह विलक्षण हो जाता है। गङ्गाजी सबसे श्रेष्ठ क्यों हैं ? भगवान्के चरणोंका जल है। भगवान्के साथ सम्बन्ध है। इस वास्ते भगवान्के नामकी महिमामें अर्थवादकी कल्पना करना गलत है।

'नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागौ'—(८) निषिद्ध आचरण करना और (९) विहित कर्मोंका त्याग कर देना। जैसे, हम नाम-जप करते हैं तो झूठ-कपट कर लिया, दूसरोंको धोखा दे दिया, चोरी कर ली, दूसरोंका हक मार लिया तो इसमें क्या पाप लगेगा। अगर लग भी जाय तो नामके सामने सब खतम हो जायगा; क्योंकि नाममें पापोंके नाश करनेकी अपार शक्ति है—इस भावसे नामके सहारे निषिद्ध आचरण करना नामापराध है।

भगवान्‌का नाम लेते हैं। अब सन्ध्याकी क्या जरूरत है? गायत्रीकी क्या जरूरत है? श्राद्धकी क्या जरूरत है? तर्पणकी क्या जरूरत है? क्या इस बातकी जरूरत है? इस प्रकार नामके भरोसे शास्त्र-विधिका त्याग करना भी नाम महाराजका अपराध है। यह नहीं छोड़ना चाहिये। अरे भाई! यह तो कर देना चाहिये। शास्त्रने आज्ञा दी है। गृहस्थोंके लिये जो बताया है, वह करना चाहिये।

नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।
तावत् कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः॥

भगवान्‌के नाममें इतने पापोंके नाश करनेकी शक्ति है कि उतने पाप पापी कर नहीं सकता। लोग कहते हैं कि अभी पाप कर लो, ठगी-धोखेबाजी कर लो, पीछे राम-राम कर लेंगे तो नाम उसके पापोंका नाश नहीं करेगा। क्योंकि उसने तो भगवन्नामको पापोंकी वृद्धिमें हेतु बनाया है। भगवान्‌के नामके भरोसे पाप किये हैं, उसको नाम कैसे दूर करेगा?

इस विषयमें हमने एक कहानी सुनी है। एक कोई सज्जन थे। उनको अंग्रेजोंसे एक अधिकार मिल गया था कि जिस किसीको फाँसी होती हो, अगर वहाँ जाकर खड़ा रह जाय तो उसके सामने फाँसी नहीं दी जायगी—ऐसी उसको छूट दी हुई थी। उसकी लड़की जिसको ब्याही थी, वह दामाद उद्दण्ड हो गया। चोरी भी करे, डाका भी डाले, अन्याय भी करे। उसकी स्त्रीने मना किया तो वह कहता है क्या बात है? तेरा बाप, अपनी बेटीको विधवा होने देगा क्या? उसका जवाँई हूँ। उस लड़कीने अपने पिताजीसे कह दिया—'पिताजी! आपके जवाँई तो आजकल उद्दण्ड हो गये हैं? कहना मानते हैं नहीं। ससुरने बुलाकर कहा कि ऐसा मत करो, तो कहने लगा—'जब आप हमारे ससुर हैं, तो मेरेको किस बातका भय है।' ऐसा होते-होते एक बार उसका जवाँई किसी अपराधमें पकड़ा गया और उसे फाँसीकी सजा हो गयी। जब लड़कीको पता लगा तो उसने आकर कहा—पिताजी! मैं विधवा हो जाऊँगी। पिताजी कहते हैं—बेटी! तू आज नहीं तो कल, एक दिन विधवा हो जायगी। उसकी रक्षा मैं कहाँतक करूँ। मेरेको अधिकार मिला है, वह दुरुपयोग करनेके लिये नहीं है। बेटीके मोहमें आकर पापका अनुमोदन करूँ, पापकी वृद्धि करूँ। यह बात नहीं होगी। वे नहीं गये।

ऐसे ही नाम महाराजके भरोसे कोई पाप करेगा तो नाम-महाराज वहाँ नहीं जायँगे। उसका वज्रलेप पाप होगा, बड़ा भयंकर पाप होगा।

'धर्मान्तरैः साम्यम्' (१०) भगवान्‌के नामकी अन्य धर्मोंके साथ तुलना करना अर्थात् गङ्गास्नान करो, चाहे नाम-जप करो। नाम-जप करो, चाहे गोदान कर दो । सब बराबर है। ऐसे किसीके बराबर नामकी बात कह दो तो नामका अपराध हो जायगा। नाम महाराज तो अकेला ही है। इसके समान दूसरा कोई साधन, धर्म है ही नहीं। भगवान् शंकरका नाम लो चाहे भगवान् विष्णुका नाम लो। ये नाम दूसरोंके समान नाम नहीं हैं। नामकी महिमा सबमें अधिक है, सबसे श्रेष्ठ है।

इस प्रकार इन दस अपराधोंसे रहित होकर नाम लिया जाय तो वह बड़ी जल्दी उन्नति करनेवाला होता है। अगर नाम जपनेवालेसे इन अपराधोंमेंसे कभी कोई अपराध बन भी जाय तो उसके लिये दूसरा प्रायश्चित्त करनेकी जरूरत नहीं है, उसको तो ज्यादा नाम-जप ही करना चाहिये; क्योंकि नामापराधको दूर करनेवाला दूसरा प्रायश्चित्त है ही नहीं।

नाम महाराजकी तो बहुत विलक्षण, अलौकिक महिमा है, जिस महिमाको स्वयं भगवान् भी कह नहीं सकते। इस वास्ते जो केवल नामनिष्ठ है; जो रात-दिन नाम-जपके ही परायण है, जिनका सम्पूर्ण जीवन नाम-जपमें ही लगा है; नाम महाराजके प्रभावसे उनके लिये इन अपराधोंमेंसे कोई भी अपराध लागू नहीं होता। ऐसे बहुत-से सन्त हुए हैं, जो शास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों आदिको नहीं जानते थे, परन्तु नाम महाराजके प्रभावसे उन्होंने वेदों, पुराणों आदिके सिद्धान्त अपनी साधारण ग्रामीण भाषामें लिख लिये हैं। इस वास्ते सच्चे हृदयसे नाममें लग जाओ भाई; क्योंकि यह कलियुगका मौका है। बड़ा सुन्दर अवसर मिल गया है।

होहि राम को नाम जपु

भगवन्नामके प्रसंगमें एक बात विशेषतासे कही गयी थी कि नाम-जपमें विधियोंकी इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी आवश्यकता भीतरके प्रेमकी है। भगवान् प्रिय लगें, मीठे लगें। भगवान्का नाम, उनके गुण, उनका प्रभाव, उनका तत्त्व, उनसे सम्बन्धित बातें प्रिय, मीठी लगें। जैसे लोभीको धनकी बातें अच्छी लगती हैं, मोही आदमीको परिवारकी बातें अच्छी लगती हैं, वैसे ही भगवान्की बातें अच्छी लगें, मीठी लगें। इस प्रियता, मिठासमें जो लाभ है, वह पहले कही विधियोंमें नहीं है। हाँ, पहले कही विधियोंका पालन करते-करते भी यह मिठास पैदा हो सकती है।

भगवान् प्रिय, मीठे लगें—इसमें खास बात है कि भगवान् अपने हैं। संसार अपना नहीं है। यह शरीर भी अपना

नहीं है। यह मिला हुआ है और बिछुड़ जायगा। भगवान् मिले हुए नहीं हैं और बिछुड़नेवाले नहीं हैं। वे सदैव साथ रहनेवाले हैं। भगवान् हमारेसे दूर नहीं हुए हैं, अलग नहीं हुए हैं, हम ही भगवान्से विमुख हुए हैं। वे सदैव हैं और अपने हैं। इस वास्ते भगवान्को अपना मानें। संसारको अपना न मानें। मनुष्योंकी उलटी धारणा हो रही है कि शरीरको, रुपये-पैसोंको, घरको अपना मानते हैं। ये किसीके अपने नहीं हैं। रुपये इतने विरक्त हैं कि किसीके नहीं हैं। जिन रुपयोंके लिये झूठ-कपट करते हो, बेईमानी करते हो, ठगी करते हो, धोखा देते हो, घरवालोंसे लड़ाई करते हो और जिनके लिये ससुर-जवाँईमें लड़ाई हो जाय, भाई-भाईमें लड़ाई हो जाय, मित्र-मित्रमें लड़ाई हो जाय—ऐसे लड़ाई कर लेते हो, धर्म-कर्म छोड़ देते हो, वे रुपये जाते हुए पूछते ही नहीं तुमसे। सलाह भी नहीं लेते और चले जाते हैं। फिर आप एक तरफसे क्यों अपनापन करते हो।

भगवान्को याद न करो तो भी भगवान् आपके हैं। वे आपका पालन-पोषण करते हैं; आपकी रक्षा करते हैं; सब तरहसे आपका कल्याण करते हैं। ऐसे प्रभुको अपना न मानना बड़ी भारी गलतीकी बात है। प्रभु अपने हैं और अपने होनेसे अपनेको मीठे लगते हैं।

'पन्नगारि सुन प्रेम सम भजन न दूसर आन' प्रेमके समान दूसरा कोई भजन नहीं है।

प्रेम पैदा होता है अपनापन हो जानेसे। अपनापन होते ही प्रियता पैदा होती है। अपना कपड़ा, अपनी वस्तु अपनेको अच्छी लगती है; क्योंकि उसको अपना मान लिया। बालकको अपनी माँ अच्छी लगती है। दूसरी स्त्री सुन्दर भी है। उसके गहने भी बढ़िया हैं। कपड़े भी बढ़िया हैं। परन्तु अपनी माँ जैसी प्यारी लगती है, मीठी लगती है, वैसी प्यारी, मीठी दूसरी स्त्री नहीं लगती। माँको भी अपना लड़का अच्छा लगता है। वह काला-कलूटा कैसा ही है, सुन्दर नहीं है, तब भी माँको वही अच्छा लगता है। अच्छा लगनेमें कारण क्या है ? अपनापन है। यह अपनापन मार्मिक बात है और सार बात है।

आपलोगोंको मामूली-सी सामान्य बात दीखती होगी, पर मेरेको बहुत देरीसे मिली है। सुनने-पढ़नेमें भी नहीं मिली और मिली भी तो पकड़ी नहीं गयी। प्रेम कैसे हो ? उपाय कई पढ़े-सुने, परन्तु असली उपाय है अपनापन। अपनापन होनेसे प्रेम होता है। इस वास्ते भगवान्को अपना मानो, संसारको अपना मत मानो; क्योंकि यह संसार अपना नहीं है।

जो चीज अपनी नहीं है, अपने पास नहीं है उसका उपार्जन करनेमें अभिमान करता है और अपनेमें समझता है कि मैंने बड़ा भारी काम कर लिया। निर्धन था और धनवान् बन गया। अकेला था, बहुत परिवारवाला हो गया। मूर्ख था, पढ़कर पण्डित हो गया। प्रसिद्धि नहीं थी, अब वाह-वाह हो गयी। अब इसमें ध्यान देना। जो नहीं है, उसकी प्राप्तिमें मनुष्य बहादुरी मानता है। वास्तवमें जो नहीं है, उसकी प्राप्तिमें बहादुरी नहीं है; क्योंकि वह चीज पहले नहीं थी, फिर नहीं रहेगी और अन्तमें नहीं हो जायगी। बहादुरी तो उसीमें है, जो पहले भी हमारे थे और अभी भी हमारे हैं, उन भगवान्की प्राप्ति कर ली जाय। वे प्राप्त हो जायँ तो फिर मिटेंगे नहीं कभी। बिछुड़ेंगे भी नहीं। वे सदैव हमारे हैं, हमारे साथ हैं, हमारे थे और रहेंगे। हम सम्मुख हो जायँगे तो निहाल हो जायँगे। विमुख रहेंगे तो दुःख पाते रहेंगे। विमुख होनेपर भी भगवान् हमारे ही रहेंगे। पर हमारेको लाभ नहीं होगा। इस वास्ते प्रभुको अपना बना लें। उनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लें। यह बहुत दामी और श्रेष्ठ बात है।

सत्संग सुननेका भी नतीजा यह होना चाहिये कि हम भगवान्के सम्मुख हो जायँ, उनको अपना मान लें। संसारमें मोह बहुत दिन किया। जन्म-जन्मान्तरोंमें किया। परन्तु हाथ कुछ नहीं लगा; रहे रोते-के-रोते ! भगवान्से अगर प्रेम करते तो निहाल हो जाते। बिलकुल सच्ची बात है।

भगवान् सदैव साथमें रहते हैं। प्राण जानेपर भी उस समय भगवान् साथमें रहते हैं। प्राण रहनेपर भी साथमें रहते हैं। सम्पत्तिमें भी साथमें रहते हैं। विपत्तिमें भी साथमें रहते हैं। हर हालतमें वे साथ रहते हैं और साथ हैं। मनुष्य केवल उस तरफ ध्यान नहीं देता। इधर दृष्टि नहीं डालता कि प्रभु मेरे हैं। इससे यह वञ्चित हो रहा है, दुःखी हो रहा है। ऐसे प्रभुसे अपनापन करो। अपनापन करके उनके नामका जप करो। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—***'बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु'***—

अनेक जन्मोंकी बिगड़ी हुई बात आज सुधर जाय। आज सुधर जाय। आज भी अभी-अभी इसी क्षण सुधर जाय ***'होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु।'*** जैसे भगवान्को अपना माना, ऐसे अपनेको भगवान्का मान लें। ***'पतिव्रता रहै पतिके पासा, ज्यूँ साहिब के ढिग रहे दासा।'*** जैसे पतिव्रता होती है। ***'पतिव्रत एक धणी'*** उसीकी हो जाती है वह। माँ-बापकी, भाई-भतीजोंकी नहीं रही। वह एककी हो जाती है। वह जैसे पतिव्रता होती है, ऐसे तुम भगवान्के होकर रहो। तुम तो भगवान्के पहले थे, अब हो और अगाड़ी रहोगे। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं ***'होहि राम को नाम जपु'***

भगवान्‌के हो करके भगवान्‌का नाम जपो। *'तुलसी तजि कुसमाजु'* कुसमाज क्या है? भगवान्‌के सिवाय सब कुसमाज है, कुसंग है। उसमें मोह करोगे तो फँस जाओगे, फायदा नहीं होगा। इस वास्ते एक भगवान् मेरे हैं।

'मीराबाई इतनी बड़ी हो गयी इसमें कारण क्या है?' *'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।'* इसमें विलक्षण बात है कि दूसरा मेरा नहीं है। मेरे तो भगवान् हैं। इसका भगवान्‌पर असर पड़ता है। अनन्य-भावसे उसने आश्रय ले लिया। भगवान्‌के हम हैं। और इसमें एक बात समझनेकी है कि प्रभुने किसीका त्याग नहीं किया है। यह जीव उनसे विमुख हुआ है। भगवान् विमुख नहीं हुए हैं। वे सदैव ही जीवके ऊपर कृपा करते रहते हैं। हम प्रभुको अपना मान लें। प्रभु मानते नहीं, प्रभु तो जानते हैं कि मेरा ही है और मानते भी हैं। आप हैं प्रभुके ही, पर गलती यह कर ली कि संसारको अपना मान लिया और अपनेको संसारका मान लिया। यह बड़ी भूल की है। इस गलतीका सुधार कर लें। भगवान् हमारे हैं और हम भगवान्‌के हैं।

देखो! जो कपूत होता है, वह पूत नहीं होता है—ऐसा नहीं है। सपूत भी पूत है और कपूत-से-कपूत भी पूत है। एक कल्पना करो कि यहाँसे किसीका लड़का चला गया बम्बई, वहाँ जाकर बड़ी उद्दण्डता की, बहुत गलतियाँ कीं, लोगोंको दुःख दिया तो फँस गया कैदमें। कैदसे छूटकर घरपर आ गया तो बड़ी अपकीर्ति हुई। वहाँका कोई आदमी यहाँ आकर कहने लगे कि अमुक-अमुक नामका लड़का ऐसा-ऐसा कपूत निकला और संयोगवश उसका पिता वहाँ बैठा है तो लोग कहते हैं—'तुम जिसके लिये कहते हो, वह इनका बेटा है।' उनसे पूछा कि आपका लड़का है क्या? तो वह सिरपर हाथ रखकर कहता है—'फूट गया, मेरा ही लड़का है!' वह चाहे कितना पश्चात्ताप करे, पर 'लड़का मेरा नहीं' ऐसा नहीं, नहीं कह सकता। ऐसे ही भगवान् नहीं कह सकते कि मेरा नहीं है। चाहे नारकीय जीव है, बड़े दुर्गुण-दुराचार किये हैं, बड़ी यातना, दुःख, कष्ट भोग रहा है, परन्तु भगवान् यह नहीं कह सकते कि मेरा नहीं है।

कपूताईका दण्ड देकर भगवान् उसे शुद्ध करेंगे। उसे पवित्र करेंगे; क्योंकि वह भगवान्‌का अपना है। ऐसे ही भाइयो-बहनो! हम सब कैसे ही हैं, किसी तरहके ही हैं, पर हैं तो भगवान्‌के ही। यह पक्की बात है। आप मानते नहीं हैं तबतक दुःख पाते हैं। आप मान लें तो यह कपूताई मिट जायगी। बड़े-बड़े अवगुण मिट जायँगे। प्रभुकी कृपासे शुद्धि हो जायगी। निर्मलता हो जायगी। भगवान्‌के सम्बन्धमात्रसे जीव पवित्र हो जाता है। **'कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥'** (गीता १७।२७) भगवान्‌के लिये किया जाय वह सब सत् हो जाता है। जप, ध्यान, कीर्तन, सत्संग, स्वाध्याय भगवान्‌के लिये किये जायँ, वे सब 'सत्' हो जाते हैं। सब श्रेष्ठ कर्म हो जाते हैं। कौन कर्म? **'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः'** (गीता १८।१५) शरीर, वाणी, मनसे जो कर्म आरम्भ किया जायगा उसका आदि होता है और अन्त होता है। वह नित्य नहीं होता है। परन्तु भगवान्‌के लिये जो काम आरम्भ किया जाय, वह काम भी भगवान्‌का हो जायगा, सत् हो जायगा। सत् क्यों हो जायगा? भगवान् सत् हैं, भगवान् नित्य हैं। प्रभुके अर्पण कर देनेसे हमारे श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ, उत्तम-से-उत्तम काम भी नित्य हो जायँगे। नहीं तो ये कर्म फल देकर नष्ट हो जायँगे। अच्छे शुभ कर्म भी अच्छे शुभ फल देकर, अच्छी परिस्थिति देकर नष्ट हो जायँगे। वे ही भगवान्‌के अर्पण कर दें, भगवान्‌के लिये करें तो वे सत् हो जायँगे।

हम भगवान्‌का होकर भगवान्‌का ही नाम लें। भगवान्‌का ही चिन्तन करें। भगवान्‌का ही ध्यान करें। भगवान्‌के ही गुण सुनें। भगवान्‌की ही लीला सुनें। भगवान्‌का ही कीर्तन सुनें और पद गावें। भगवान्‌के होकर भगवान्‌का गुण गावें तो हम भगवान्‌के सम्मुख हो जाते हैं।

भगवान्‌से विमुख करनेवाला नाशवान्‌का संग ही कुसंग है। यह प्रभुसे विमुख कर देता है। इस वास्ते नाशवान् पदार्थोंका संग करना, नाशवान्‌का सहारा लेना कि इनसे हमारा कुछ भला हो जायगा—यह गलती है। सज्जनो! इससे लाभ होनेवाला है नहीं; क्योंकि यह नाशवान् है, नाशवान्! नाशवान्‌का अर्थ क्या होता है? नाशवाला। जैसे धनवान् होता है। धनवान्‌का अर्थ क्या? धनवाला! धन होनेसे वह धनवाला है। धन न होनेसे धनवाला नहीं कहलायेगा। धनवाला धनके कारणसे है, ऐसे नाशवाला नाशके कारणसे है। धनवान्‌के पास धनके सिवाय और कोई महत्ता नहीं है। ऐसे नाशवान् संसारमें नाशके सिवाय और कुछ महत्ता नहीं है। यह नाशवान् है, इसका नाश-ही-नाश होगा।

अविनाशी परमात्माके अंश होकर भी नाशवान्‌के भरोसे कितना दिन काम चलायेंगे—यह एक-एक भाई, एक-एक बहनके सोचनेकी बात है। आप अविनाशी हैं। *'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'* यह अविनाशी होकर नाशवान्‌का भरोसा करता है। पता नहीं क्या हो गया? अक्ल कहाँ चली गयी! उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुओंका सहारा मानता है। इन चीजोंसे अपनेमें घमण्ड करता है कि मेरे पास इतना धन है,

इतनी सम्पत्ति है, मेरे इतने आदमी, इतने घर, इतनी जमीन है। तेरी कबसे है यह ? क्या सदासे तेरी वस्तुएँ थीं और क्या सदा रहेंगी। मनुष्य जानता है, मानता है कि पहले मेरी नहीं थीं, फिर मेरी नहीं रहेंगी, फिर भी अपनी मान करके अभिमान करता है। सज्जनो ! धोखा हो जायगा धोखा ! उनको अपनी माननेसे प्रभुको अपना मानना बंद हो जायगा, भगवान्‌को अपना कह सकोगे नहीं। ये चीजें रहेंगी नहीं और भगवान्‌का सम्बन्ध जोड़ा नहीं। जिसे अपनी-अपनी कहते हैं, वे रहेंगी नहीं। जो अपना रहेगा, उसमें अपनापन किया नहीं। रोता रहना पड़ेगा भाई, रोना पड़ेगा।

मौका है अभी, बड़ा सुन्दर ! मनुष्य-शरीर मिला है। इस मनुष्य-शरीरकी बड़ी महिमा है। महिमा इस वास्ते है कि यह मनुष्य प्रभुके साथ सम्बन्ध जोड़ सकता है और दूसरे संसारी जितने भी जीव हैं मनुष्यके सिवाय, उनमें यह अक्ल नहीं है कि परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़ लें। वहाँ यह समझ नहीं है और यह योग्यता भी नहीं है। यह विवेक नहीं है। भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेका एक मनुष्य-शरीरमें ही अवसर है। इस अवसरमें अगर वह नहीं किया तो क्या किया। सांसारिक काम खाना-पीना आदि तो पशु-पक्षी भी करते हैं। नीच-से-नीच प्राणी भी करते हैं। अगर हमने वही काम किया तो सूअर, कुत्ते, ऊँट और गधेकी तरह ही हो गये—

सूकर कूकर ऊँट खर बड़ पशुअन में चार।
तुलसी हरि की भगति बिन वैसे ही नर नार॥

यह वास्तवमें मनुष्य-जन्मका अपमान है। मनुष्य-जन्मका बड़ा तिरस्कार है। कृपा करके ऐसा अपमान न करें, तिरस्कार न करें।

करुणाकर कीन्हीं कृपा, दीन्हीं नरवर देह।
नद चीन्ही कृतहीन नर, खलकर दीन्हीं खेह॥

इसका नाश कर दिया। इससे लाभ लेना चाहिये। ***'कबहुँक करि करुना नर देही'*** करुणा करके प्रभु नर-देह देते हैं। ***'बड़ें भाग मानुष तनु पावा'*** ऐसी पूँजी मिल गयी, उसका नाश कर देना बहुत बड़ी भारी गलती है। ***'सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ'*** वह परलोकमें दुःख पावेगा, सिर धुन-धुनकर पछतायेगा और रोवेगा। परन्तु उसके रोनेका फल रोना ही निकलेगा भाई, और कुछ होनेका नहीं है। अभी सावचेत हो जाय तो बहुत बड़ा भारी यह काम कर सकता है। अभी नहीं करेगा तो पीछे रोवेगा। ***'कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ'*** काल-कर्म-ईश्वरको झूठा दोष लगायेगा। इस वास्ते सच्चे हृदयसे भगवान्‌की तरफ चलो।

एक सीधी सरल बात—भगवान् मेरे हैं। ऐसे भगवान्‌को मेरा कह दिया तो बड़ा असर पड़ता है प्रभुपर। अनेक जन्मोंसे बिछुड़ा हुआ और चौरासी लाख योनियाँ भुगतता हुआ, दुःख पाता हुआ जीव अगर कह दे—'हे नाथ ! मैं आपका हूँ। हे प्रभु ! आप मेरे हो' तो प्रभुको बड़ा संतोष होगा। बड़े ही राजी होंगे भगवान्। मानो भगवान्‌की खोयी हुई चीज भगवान्‌को मिल गयी। बड़ा उपकार होगा भगवान्‌पर। भगवान्‌के घाटेकी पूर्ति कर दोगे आप। जीव विमुख हो गया, यह भगवान्‌के घाटा पड़ गया।

'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥' करोड़ों जन्मोंके पाप नष्ट हो जायँ। क्योंकि पाप तो भगवान्‌से विमुख होनेसे ही हुए हैं। सब पापोंकी जड़ तो वहाँसे चली है। भगवान्‌के सम्मुख होते ही, वे बेचारे पाप टिक नहीं सकेंगे। इस वास्ते 'हे नाथ ! मैं आपका हूँ। आप मेरे हैं', ऐसे भगवान्‌के साथ अपनापन है—यह बहुत सार चीज है, असली चीज है। क्रियाओंके द्वारा आप भगवान्‌को नहीं पकड़ सकते, जितना प्रेमके द्वारा, अपनेपनके द्वारा पकड़ सकते हो। बड़े अच्छे-अच्छे काम करो, यज्ञ करो, दान करो, तीर्थ आदि करो, वेदाध्ययन करो। सब-की-सब लाभकी बात है। परन्तु अपनापन किया जाय—यह बहुत लाभकी और विचित्र बात है।

एक करोड़पतिके यहाँ एक नौकर रहता है, जो बीस हजार रुपये पाता है और करोड़पतिका लड़का है, उसे सौ रुपये महीना भी कोई देता नहीं; क्योंकि वह अयोग्य है। परन्तु पिता मर जाता है, तो बीस हजार (रुपये) पानेवाला नौकर मालिक नहीं बन सकता, पर अयोग्य लड़का मालिक बन जाता है। वह योग्य तो नहीं है, पर उसका हक लगता है। इस प्रकार योग्यतासे वह अधिकार नहीं मिलता, जो अपनेपनसे मिलता है।

'प्रभुके हम हैं'—यह बनाया हुआ अपनापन नहीं है। सेठका अपनी तरफसे कोई बेटा बन जाय और कोई उसे पूछे कि तुम कहते हो या सेठ कहता है ? सेठ क्या कहे ? मैं कहता हूँ। तो उसे कोई मानेगा नहीं। सेठ यदि कह दे कि यह हमारा बेटा है। कोई काम पड़ जाय तो सेठके नामपर लाखों रुपये मिल जायँगे। सेठका कहना जितना दामी है, उतना हमारा कहना दामी नहीं है। भगवान् तो मात्र जीवको अपना कहते हैं—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** अब केवल आपकी सम्मति होनेकी जरूरत है। सम्मुख होनेकी आवश्यकता है कि 'मैं भगवान्‌का हूँ।'

यह सब संसार आपको धोखा देगा, आपसे विमुख हो

जायगा, चला जायगा, रहेगा नहीं। शरीर भी नहीं रहेगा। इनको आप अपना कहते हैं—यह बहुत बड़ी भारी गलती है। इनसे विमुख होकर भगवान्‌से कहें—'हे नाथ! मैं आपका हूँ और आप मेरे हैं।' निहाल हो जाओगे, निहाल!

'होहि राम को नाम जपु'—नाम जपना हो तो रामका होकर नाम जपो। चलते-फिरते जपो, क्योंकि हमारे प्रभुका नाम है।

जाट भजो गूजर भजो भावे भजो अहीर।
तुलसी रघुबर नाममें सब काहूका सीर॥

भाई, बहन, पढ़ा-लिखा, अपढ़, रोगी, नीरोगी कोई क्यों न हो? परमात्माके नाममें सबका अधिकार है। पिताकी सम्पत्तिमें पुत्रका पूरा अधिकार है। इस वास्ते हमारे प्रभुका नाम है। कौन मना कर सकता है? बताइये! हमारे माँ-बाप हैं। ऐसे भगवान्‌पर अधिकार जमा देवें।

कलिसंतरणोपनिषद्‌में नामकी महिमा आयी है। नारदजीने ब्रह्माजीके पास जाकर कहा—'महाराज! कलियुगमें रहते हुए संसारसे कैसे उद्धार कर लें।' तो ब्रह्माजी कहते हैं 'भगवान्‌का नाम लेते हुए।' कौन-सा नाम? तो कहा—*'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'* यह नाम बताया। इसकी विधि क्या है? ब्रह्माजीने कहा—विधि है ही नहीं। किये जाओ, लिये जाओ। शुद्ध-अशुद्ध हर अवस्थामें। वह तो भाई उपनिषदोंका मन्त्र है। पर 'राम-राम' तो बड़ा सीधा और बड़ा सरल है। इसको साबर-मन्त्र कहते हैं। *'साबर मन्त्र जाल जिन्ह सिरिजा।'* इसमें क्या है? *'अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू॥'* साबर-मन्त्र कोई छन्दकी विधिसे नहीं बैठते, कोई मात्राओंसे नहीं बैठते। साबर-मन्त्र है, भगवान्‌ने जो कह दिया, वह मन्त्र हो गया। ऐसे भगवान्‌का नाम है यह राम-नाम, इतना विलक्षण है।

'सप्तकोट्यो महामन्त्राश्चित्तविभ्रमकारकाः'

सात करोड़ बड़े-बड़े मन्त्र हैं चित्तको भ्रमित करनेवाले। **'एक एव परो मन्त्रो राम इत्यक्षरद्वयम्।'** यह दो अक्षरवाला राम-नाम बड़ा विलक्षण है। पर महान् मन्त्र है। *'महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासीं मुकुति हेतु उपदेसू॥'* महामन्त्रके जपते ही ईश महेश हो गये। केवल महेश हो गये नहीं, काशीजीमें नाम महाराजका क्षेत्र खोल दिया। कोई धान, चून देता है, कोई आटा-सीधा देता है। भगवान् शंकरने मुक्तिका क्षेत्र खोल दिया। बस काशीमें जो मर जाय, मुक्त हो जाय। इस प्रकार पृथ्वीमण्डलपर मुक्तिका क्षेत्र खोला हुआ है भगवान् शंकरने। किसके बलपर? राम-नामके बलपर।

'कासीं मुकुति हेतु उपदेसू' नाम महान् मन्त्र है। भगवान् शंकर इसे जपते हैं। इस नामके प्रभावसे आपने मुक्तिका क्षेत्र खोल दिया कि सबकी मुक्ति हो जाय।

अध्यात्मरामायणमें भगवान् शंकर खुद रामजीसे कहते हैं—'भगवन्! मैं भवानीके सहित काशीमें रहता हूँ। **'मुमूर्षुमाणस्य दिशामि मन्त्रं तव रामनाम'** आपका जो राम-नाम मन्त्र है उसका मैं दान देता हूँ मरनेवालेको कि, ले लो भाई जिससे तुम्हारा कल्याण हो जाय। एक सज्जन कहते थे, मैंने कई आदमियोंको देखा है। काशीमें मरनेवालेका कान ऊँचा हो जाता है। मानो शंकर इस कानमें मन्त्र देते हैं। वह नाम अपने भी ले सकते हैं, कितनी मौजकी बात है! कितना ऊँचा नाम है! जो भगवान् शंकरका इष्ट है, वह हम ले सकते हैं कलियुगी जीव! कैसी कृपा हो गयी, अलौकिक कृपा हो रही है। थोड़ी-सी बात है। नाम लेने लग जाय, 'राम राम राम'। सन्तोंने कहा है, *'मुक्ति मुण्डे में थारे'* तेरे मुँहमें मुक्ति पड़ी है। राम-राम लेकर निहाल हो जा तू। ऐसा सस्ता भगवान्‌का नाम। जपने लग जाओ, सीधी बात है। खुला भगवान्‌का नाम है। तिजोरियोंमें बंद धनको तो आप हिम्मत करके खुला लेते हैं। पर चौड़े पड़े इस धनको लेते ही नहीं *'राम दड़ी चौड़े पड़ी, सब कोई खेलो आय। दावा नहीं सन्तदास जीते सो ले जाय॥'* जो चाहे सो ले जाय, कैसी बढ़िया बात! कितनी उत्तम बात! सबके लिये खुला है। किसीके लिये मनाही नहीं, ऐसा भगवान्‌का नाम तत्परतासे लिया जाय, उत्साहपूर्वक, प्रेमसे, अपने प्रभुका समझ करके।

सन्तोंने कहा—परलोकमें नाम लेनेवाले और नाम न लेनेवाले दोनों हैं। क्यों? नाम लेनेवाले रोते हैं कि इस बातका पता नहीं था कि नामकी इतनी महिमा निकलेगी। यह पता होता तो रात-दिन नाम लेते। नाम न लेनेवाले रोते हैं कि हमारा समय खाली चला गया। बिना नामके खाली चला गया। भाई, अब अपनेको पता लग गया। मरनेके बाद पश्चात्ताप करोगे तब क्या होगा? अभी समय है। जबतक यह श्वासकी धोंकनी चलती है, आँखें टिमटिमाती हैं, जीते हैं—यह मौका है; भगवान्‌का नाम ले लें। लोग हँसे तो परवाह नहीं।

'हस्ती की चाल चलो मन मेरा,
जगत कूकरी को भुसबा दे। तूं तो राम सिमर जग हंसवा दे॥

लोग हँसते हैं तो अच्छी बात—हँसो भाई, हँसकर खुश होते हैं। खुशीमें हँसी आती है, बड़े आनन्दकी बात है। हम भगवान्‌का नाम लेवें तो उनको हँसी आवे, बड़ी अच्छी, बड़े आनन्दकी, बड़ी खुशीकी बात है। अपने तो भगवान्‌के नाममें

लग जाओ, बस। हँसी करो, तिरस्कार करो, दिल्लगी उड़ाओ, कोई बात नहीं है। सम्मान-मानमें तो नुकसान है। अपमान, निन्दा सहनेमें नुकसान नहीं है। इससे पापोंका ही नाश होता है। इधर आप नाम लो और वे हँसी-दिल्लगी उड़ावें तो डबल लाभ होगा।

तेरे भावैं जो करौ, भलौ बुरौ संसार।
नारायण तू बैठिकै अपनौ भुवन बुहार॥

दूसरे करते हैं कि नहीं करते हैं—इस तरफ खयाल करनेकी जरूरत नहीं है। जैसे भूख लगती है तो यह पूछते नहीं कि तुमलोगोंने भोजन कर लिया है कि नहीं; क्योंकि मैं अब भोजन करना चाहता हूँ। जब प्यास लगती है तो यह नहीं पूछते कि तुमलोगोंने जल पिया है कि नहीं; क्योंकि मैं जल पीना चाहता हूँ। प्यास लग गयी तो पी लो भाई जल। ऐसे भगवान्‌के नामकी प्यास लगनी चाहिये भीतर। दूसरा लेता है कि नहीं लेता है। क्या करता है, क्या नहीं करता है। पर खुदको लाभ ले ही लेना चाहिये।

मानसमें नाम-वन्दना

प्रवचन—१

श्रीसीताराम-वन्दना

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा १८)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज कथा प्रारम्भ करनेसे पहले सभीकी वन्दना करते हैं। इस दोहेमें श्रीसीतारामजीको नमस्कार करते हैं। इसके बाद नाम-वन्दना और नाम-महिमाको लगातार नौ दोहे और बहत्तर चौपाइयोंमें कहते हैं। श्रीगोस्वामीजी महाराजको यह नौ संख्या बहुत प्रिय लगती है। नौ संख्याको कितना ही गुणा किया जाय, तो उन अंकोंको जोड़नेपर नौ ही बचेंगे। जैसे, नौ संख्याको नौसे गुणा करनेपर इक्यासी होते हैं। इक्यासीके आठ और एक, इन दोनोंको जोड़नेपर फिर नौ हो जाते हैं। इस प्रकार कितनी ही लम्बी संख्या क्यों न हो जाय, पर अन्तमें नौ ही रहेंगे; क्योंकि यह संख्या पूर्ण है।

गोस्वामीजी महाराजको जहाँ-कहीं ज्यादा महिमा करनी होती है तो नौ तरहकी उपमा और नौ तरहके उदाहरण देते हैं। नौ संख्या आखिरी हद है, इससे बढ़कर कोई संख्या नहीं है। यह नौ संख्या अटल है।

संबत सोरह सै एकतीसा। करउँ कथा हरि पद धरि सीसा॥
नौमी भौम बार मधुमासा। अवधपुरीं यह चरित प्रकासा॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा ३४। ४, ५)

रामजन्म तिथि बार सब जस त्रेता महँ भास।
तस इकतीसा महँ जुरो जोग लगन ग्रह रास॥

भगवान् श्रीरामने त्रेतायुगमें चैत्र मास, शुक्ल पक्ष, नवमी तिथि, मंगलवारके दिन शुभ मुहूर्तके समय अयोध्यामें अवतार लिया। भगवान्के अवतारके दिन जैसा शुभ मुहूर्त था, ठीक वैसा ही शुभ मुहूर्तका संयोग संवत् १६३१में भगवान्के अवतारके दिन बना। श्रीगोस्वामीजी महाराजने अयोध्यामें उसी दिन श्रीरामचरितमानस ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया। जबतक ऐसा संयोग नहीं बना, तबतक वैसे शुभ मुहूर्तकी प्रतीक्षा करते रहे।

यहाँ अठारहवें दोहेमें श्रीसीतारामजीके चरणोंकी वन्दना करते हैं। सीतारामजीकी बहुत विलक्षणता है। **'जिन्हहि परम प्रिय खिन्न'** दुःखी आदमी किसीको प्यारा नहीं लगता। दीन-दुःखीको सब दुत्कारते हैं, पर सीतारामजीको जो दुःखी होता है, वह ज्यादा प्यारा लगता है, वह उनका परमप्रिय है, उसपर विशेष कृपा करते हैं। उन श्रीसीतारामजीके चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ।

श्रीसीतारामजी अलग-अलग नहीं हैं। इस बातको समझानेके लिये दो दृष्टान्त देते हैं। जैसे, गिरा-अरथ और जल-बीचि कहनेका तात्पर्य है कि वाणी और उसका अर्थ कहनेमें दो हैं, पर वास्तवमें दो नहीं, एक हैं। वाणीसे कुछ भी कहोगे तो उसका कुछ-न-कुछ अर्थ होगा ही और किसीको कुछ अर्थ समझाना हो तो वाणीसे ही कहा जायगा—ऐसे परस्पर अभिन्न हैं। इसी तरह जल होगा तो उसकी तरंग भी होगी। तरंग और जल कहनेमें दो हैं, पर जलसे तरंग या तरंगसे जल अलग नहीं है, एक ही है।

गिरा और बीचि—ये दोनों स्त्रीलिङ्ग पद हैं, अरथ और जल—ये दोनों पुल्लिङ्ग पद हैं। ये दोनों दृष्टान्त सीता और रामकी परस्पर अभिन्नता बतानेके लिये दिये गये हैं। इनका उलट-पुलट करके प्रयोग किया है। पहले 'गिरा' स्त्रीलिङ्ग पद कहकर 'अरथ' पुँल्लिङ्ग पद कहा, यह तो ठीक है; क्योंकि

पहले सीता और उसके बाद राम हैं, पर दूसरे उदाहरणमें उलट दिया अर्थात् 'जल'* पुँल्लिङ्ग पद पहले रखा और उसके साथ 'बीचि' स्त्रीलिंग पद बादमें रखा। इसका तात्पर्य 'रामसीता' हुआ। इस प्रकार कहनेसे दोनोंकी अभिन्नता सिद्ध होती है। 'सीताराम' सब लोग कहते हैं, पर 'रामसीता' ऐसा नहीं कहते हैं। जब भगवान्‌के प्रति विशेष प्रेम बढ़ता है, उस समय सीता और राम भिन्न-भिन्न नहीं दीखते। इस कारण किसको पहले कहें, किसको पीछे कहें—यह विचार नहीं रहता, तब ऐसा होता है। श्रीभरतजी महाराज जब चित्रकूट जा रहे हैं तो प्रयागमें प्रवेश करते समय कहते हैं—

भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।
कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग॥

(मानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा २०३)

प्रेममें उमँग-उमँगकर रामसिय-रामसिय कहने लगते हैं। उस समय प्रेमकी अधिकताके कारण दोनोंकी एकताका अनुभव होता है। इसलिये चाहे श्रीसीताराम कहो—चाहे रामसीता कहो, ये दोनों अभिन्न हैं। ऐसे श्रीसीतारामजीकी वन्दना करते हैं। अब इससे आगे नाम महाराजकी वन्दना करके नौ दोहोंमें नाममहिमाका वर्णन करते हैं।

एक नाम-जप होता है और एक मन्त्र-जप होता है। 'राम' नाम मन्त्र भी है और नाम भी है। नाममें सम्बोधन होता है तथा मन्त्रमें नमन और स्वाहा होता है। जैसे **'रामाय नमः'** यह मन्त्र है। इसका विधिसहित अनुष्ठान होता है और राम ! राम !! राम !!! ऐसे नाम लेकर केवल पुकार करते हैं। 'राम' नामकी पुकार विधिरहित होती है। इस प्रकार भगवान्‌को सम्बोधन करनेका तात्पर्य यह है कि हम भगवान्‌को पुकारें, जिससे भगवान्‌की दृष्टि हमारी तरफ खिंच जाय।

कैसा ही क्यों न जन नींद सोता।
वो नाम लेते ही सुबोध होता॥

जैसे, सोये हुए किसी व्यक्तिको पुकारें तो वह अपना नाम सुनते ही नींदसे जग जाता है, ऐसे ही राम ! राम !! राम !!! करनेसे रामजी हमारी तरफ खिंच जाते हैं। जैसे, एक बच्चा माँ-माँ पुकारता है तो माताओंका चित्त उस बच्चेकी तरफ आकृष्ट हो जाता है। जिनके छोटे बालक हैं, उन सबका एक बार तो उस बालककी तरफ चित्त खिंचेगा, पर उठकर वही माँ दौड़ेगी, जिसको वह बच्चा अपनी माँ मानता है। माँ नाम तो उन सबका ही है, जिनके बालक हैं। फिर वे सब क्यों नहीं दौड़तीं ? सब कैसे दौड़ें ! वह बालक तो अपनी माँको ही पुकारता है। दूसरी माताओंके कितने ही सुन्दर गहने हों, सुन्दर कपड़े हों, कितना ही अच्छा स्वभाव हो, पर उनको वह अपनी माँ नहीं मानता। वह तो अपनी माँको ही चाहता है, इसलिये उस बालककी माँ ही उसकी तरफ खिंचती है। ऐसे ही 'राम-राम' हम आर्त होकर पुकारें और भगवान्‌को ही अपना मानें तो भगवान् हमारी तरफ खिंच जायेंगे।

जब लग गज अपनो बल बरत्यो नेक सर्‌यो नहीं काम।
निरबल ह्वै बलराम पुकार्‌यो आयो आधे नाम॥

जैसे, गजराजने पूरा नाम भी उच्चारण नहीं किया, उसने केवल 'हे ना·····(थ)' आधा नाम लेकर पुकारा। उतनेमें भगवान्‌ने आकर रक्षा कर दी। शास्त्रीय विधियोंकी उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी इस तरह आर्त होकर पुकारनेकी है। इसलिये आर्त होकर, दुःखी होकर, भगवान्‌को अपना मानकर पुकारें और केवल उनका ही भरोसा, उनकी ही आशा, उनका ही विश्वास रखें और सब तरफसे मन हटाकर उनका ही नाम लें और उनको ही पुकारें—हे राम ! राम !! राम !!! आर्तका भाव तेज होता है, इससे भगवान् उसकी तरफ खिंच जाते हैं और उसके सामने प्रकट हो जाते हैं। तभी तो भगवान् प्रह्लादके लिये खम्भेमेंसे प्रकट हो गये। भीतरका जो आर्तभाव होता है, वही मुख्य होता है। 'राम' नाम उच्चारण करनेकी बड़ी भारी महिमा है। उस 'राम' नामका प्रकरण रामचरितमानसमें बड़े विलक्षण ढंगसे आया है।

नाम-वन्दना

बंदउँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा १९। १)

नामकी वन्दना करते हुए श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं कि मैं रघुवंशमें श्रेष्ठ श्रीरघुनाथजीके उस 'राम' नामकी वन्दना करता हूँ, जो कृसानु (अग्नि), भानु (सूर्य) और हिमकर (चन्द्रमा) का हेतु अर्थात् बीज है। बीजमें क्या होता है ? बीजमें सब गुण होते हैं। वृक्षके फलमें जो रस होता है, वह सब रस बीजमें ही होता है। बीजसे ही सारे वृक्षको तथा फलोंको रस मिलता है। अग्निवंशमें परशुरामजी, सूर्यवंशमें रामजी और चन्द्रवंशमें बलरामजी—इस प्रकार तीनों वंशोंमें ही भगवान्‌ने अवतार लिये। ये तीनों अवतार 'राम' नामवाले हैं, पर श्रीरघुनाथजी महाराजका जो 'राम' नाम है, वह इन सबका कारण है। मैं रघुनाथजी महाराजके उसी 'राम' नामकी वन्दना करता हूँ, जो अग्निका बीज 'र', सूर्यका बीज 'आ'

* 'जल' शब्द संस्कृत भाषाके अनुसार नपुंसकलिङ्ग है, पर हिन्दीमें 'जल' शब्द पुँल्लिङ्ग माना गया है। हिन्दीमें नपुंसकलिङ्ग होता ही नहीं।

और चन्द्रमाका बीज 'म' है। 'राम' नाममें 'र', 'आ' और 'म'—ये तीन अवयव हैं। इन अवयवोंका वर्णन करनेके लिये कृसानु, भानु और हिमकर—ये तीन शब्द दिये हैं।

यहाँ ये तीनों शब्द बड़े विचित्र एवं विलक्षण रीतिसे दिये गये हैं। कृसानुमें 'ऋ', भानुमें 'आ' और हिमकर में 'म' है। 'कृसानु' शब्दमेंसे 'ऋ' को निकाल दें तो 'कसानु' शब्द बचेगा, जिसका कोई अर्थ नहीं होगा। 'भानु' शब्दमेंसे 'आ' निकाल दें तो 'भ्नु' का भी कोई अर्थ नहीं होगा। ऐसे ही 'हिमकर' शब्दमेंसे 'म' को निकाल दें तो 'हिकर'का भी कोई अर्थ नहीं निकलेगा; अर्थात् कृसानु, भानु और हिमकर—ये तीनों मुर्देकी तरह हो जायँगे; क्योंकि इनमेंसे 'राम' ही निकल गया। इनके साथ 'राम' नाम रहनेसे कृसानुमें 'कृ' का अर्थ करना, 'सानु' का अर्थ शिखर है, ऐसे ही 'भानु' में 'भा' नाम प्रकाशका है, 'नु' नाम निश्चयका है और 'हिमकर' में 'हिम' नाम बर्फका है और 'कर' नाम हाथका है।

इन तीनोंका हेतु 'राम' नाम ही है। इस प्रकार सब अक्षरोंमें 'राम' नाम प्राण है। कृसानु, भानु और हिमकर—इन तीनोंमेंसे 'राम' नाम निकाल देनेपर वे कुछ कामके नहीं रहते हैं, उनमें कुछ भी तथ्य नहीं रहता। यहाँ नामके तीनों अवयवोंको बतानेका तात्पर्य यह है कि 'राम' नाम जपनेसे साधकके पापोंका नाश होता है, अज्ञानका नाश होता है और अन्धकार दूर होकर प्रकाश हो जाता है। अशान्ति, सन्ताप, जलन आदि मिटकर शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है। ऐसा जो रघुनाथजी महाराजका 'राम' नाम है, उसकी मैं वन्दना करता हूँ। अब आगे गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा १९।२)

यह 'राम' नाम ब्रह्मा, विष्णु और महेशमय है। विधि, हरि, हर—सृष्टिमात्रकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाली, ये तीन शक्तियाँ हैं। इनमें ब्रह्माजी सृष्टिकी रचना करते हैं, विष्णुभगवान् पालन करते हैं और शंकरभगवान् संहार करते हैं।

संसारमें 'राम' नामसे बढ़कर कुछ नहीं है। सब कुछ शक्ति इसमें भरी हुई है। इसलिये सन्तोंने कहा है—

'रामदास सुमिरण करो रिध सिध याके माँय।'

ऋद्धि-सिद्धि सब इसके भीतर भरी हुई है। विश्वास न हो तो रात-दिन जप करके देखो। सब काम हो जायगा, कोई काम बाकी नहीं रहेगा।

यह 'राम' नाम वेदोंके प्राणके समान है, शास्त्रोंका और वर्णमालाका भी प्राण है। प्रणवको वेदोंका प्राण माना गया है। प्रणव तीन मात्रावाला 'ॐ' कार पहले-ही-पहले प्रकट हुआ, उससे त्रिपदा गायत्री बनी और उससे वेदत्रय बना। ऋक्, साम, यजुः—ये तीनों मुख्य वेद हैं। इन तीनोंका प्राकट्य गायत्रीसे, गायत्रीका प्राकट्य तीन मात्रावाले 'ॐ' कारसे और यह 'ॐ' कार—प्रणव सबसे पहले हुआ। इस प्रकार यह 'ॐ' कार (प्रणव) वेदोंका प्राण है।

यहाँपर 'राम' नामको वेदोंका प्राण कहनेमें तात्पर्य है कि 'राम' नामसे 'प्रणव' होता है। प्रणवमेंसे 'र' निकाल दो तो 'पणव' हो जायगा और 'पणव'का अर्थ ढोल हो जायगा। ऐसे ही 'ॐ' मेंसे 'म' निकालकर उच्चारण करो तो वह शोकका वाचक हो जायगा। प्रणवमें 'र' और 'ॐ'में 'म' कहना आवश्यक है। इसलिये यह 'राम' नाम वेदोंका प्राण भी है।

'अगुन अनूपम गुन निधान सो'—यह 'राम' नाम निर्गुण अर्थात् गुण रहित है। सत्त्व, रज और तमसे अतीत है, उपमारहित है और गुणोंका भण्डार है, दया, क्षमा, सन्तोष आदि सद्‌गुणोंका खजाना है, नाम लेनेसे ये सभी आप-से-आप आ जाते हैं। यह 'राम' नाम सगुण और निर्गुण दोनोंका वाचक है। आगेके प्रकरणमें आयेगा—

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २१।८)

यह 'राम' नाम सगुण और निर्गुण—दोनोंको जनानेवाला है। इसलिये सगुण उपासक भी 'राम' नाम जपते हैं और निर्गुण उपासक भी 'राम' नाम जपते हैं। सगुण-साकारके उपासक हों, चाहे निर्गुण-निराकारके उपासक हों। 'राम' नामका जप सबको करना चाहिये। यह दोनोंकी प्राप्ति करा देता है।

'राम' नाम अमृतके समान है; जैसे, बढ़िया भोजनमें घी और दूध मिला दो तो वह भोजन बहुत बढ़िया बन जाता है। ऐसे ही 'राम' नामको दूसरे साधनोंके साथ करो, चाहे केवल 'राम' नामका जप करो, यह हमें निहाल कर देगा।

'राम' नामके समान तो केवल 'राम' नाम ही है। यह सब साधनोंसे श्रेष्ठ है। नामके दस अपराधोंमें बताया गया है—**'धर्मान्तरैः साम्यम्'*** नामके साथ किसीकी

* सन्निन्दाऽसति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधीरश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रमः।
नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागौ हि धर्मान्तरैः साम्यं नामजपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश॥

उपमा दी जायगी तो वह नामापराध हो जायगा। मानो नाम अनुपम है। इसमें उपमा नहीं लग सकती। इसलिये 'नाम'को किसीके बराबर नहीं कह सकते।

भगवान् श्रीराम शबरीके आश्रमपर पधारे और शबरीको कहने लगे—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥

(मानस, अरण्यकाण्ड, दोहा ३५।७)

—'मैं तुझे अब अपनी नवधा भक्ति कहता हूँ। तू सावधान होकर सुन और मनमें धारण कर।' नवधा भक्ति कहकर अन्तमें कहते हैं—*'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥'* (मानस, अरण्यकाण्ड, दोहा ३६।७) 'तेरेमें सब प्रकारकी भक्ति दृढ़ है।' शबरीको भक्तिके प्रकारोंका पता ही नहीं; परतु नवधा भक्ति उसके भीतर आ गयी। किस प्रभावसे? 'राम' नामके प्रभावसे! ऐसी उसकी लगन लगी कि 'राम' नाम जपते हुए रामजीके आनेकी प्रतीक्षा निरन्तर करती ही रही। इस कारण ऋषि-मुनियोंको छोड़कर शबरीके आश्रमपर भगवान् खुद पधारते हैं।

'गुन निधान सो' यह 'नाम' गुणोंका खजाना है, मानो 'राम' नाम लेनेसे कोई गुण बाकी नहीं रहता। बिना जाने ही उसमें सद्गुण, सदाचार अपने-आप आ जाते हैं।

'राम' नाम जपनेवाले जितने सन्त महात्मा हुए हैं। आप विचार करके देखो! उनमें कितनी ऋद्धि-सिद्धि, कितनी अलौकिक विलक्षणता आ गयी थी! 'राम' नाम जपमें अलौकिकता है, तब न उनमें आयी? नहीं तो कहाँसे आती? इसलिये यह 'राम' नाम गुणोंका खजाना है। यह सत्त्व, रज और तमसे रहित है और गुणोंके सहित भी है एवं व्यापक भी है। यहाँ इस प्रकार 'राम' नाम में 'र', 'आ' और 'म' इन तीन अक्षरोंकी महिमाका वर्णन हुआ और तीनोंकी महिमा कहकर उनकी विलक्षणता बतलायी। यहाँतक 'राम' नामके अवयवोंका एक प्रकरण हुआ। अब गोस्वामीजी 'राम' नामकी महिमा कहना प्रारम्भ करते हैं—

महामन्त्रकी महिमा

महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासीं मुकुति हेतु उपदेसू॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा १९।३)

यह 'राम' नाम महामन्त्र है, जिसे 'महेश्वर'—भगवान् शंकर जपते हैं और उनके द्वारा यह 'राम' नाम-उपदेश काशीमें मुक्तिका कारण है। 'र','आ' और 'म'—इन तीन अक्षरोंके मिलनेसे यह 'राम' नाम तो हुआ 'महामन्त्र' और बाकी दूसरे सभी नाम हुए साधारण मन्त्र।

सप्तकोट्यो महामन्त्राश्चित्तविभ्रमकारकाः।
एक एव परो मन्त्रो 'राम' इत्यक्षरद्वयम्॥

सात करोड़ मन्त्र हैं, वे चित्तको भ्रमित करनेवाले हैं। यह दो अक्षरोंवाला 'राम' नाम परम मन्त्र है। यह सब मन्त्रोंमें श्रेष्ठ मन्त्र है। सब मन्त्र इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। कोई भी मन्त्र बाहर नहीं रहता। सब शक्तियाँ इसके अन्तर्गत हैं।

यह 'राम' नाम काशीमें मरनेवालोंकी मुक्तिका हेतु है। भगवान् शंकर मरनेवालोंके कानमें यह 'राम' नाम सुनाते हैं और इसको सुननेसे काशीमें उन जीवोंकी मुक्ति हो जाती है। एक सज्जन कह रहे थे कि काशीमें मरनेवालोंका दायाँ कान ऊँचा हो जाता है—ऐसा मैंने देखा है। मानो मरते समय दायें कानमें भगवान् शंकर 'राम' नाम मन्त्र देते हैं। इस विषयमें सालगरामजीने भी कहा है—

जग में जितेक जड़ जीव जाकी अन्त समय,
जम के जबर जोधा खबर लिये करे।
काशीपति विश्वनाथ वाराणसी वासिन की,
फाँसी यम नाशन को शासन दिये करे॥
मेरी प्रजा ह्वेके किम पे हैं काल दण्डत्रास,
सालग विचार महेश यही हिये करे।
तारककी भनक पिनाकी यातें प्रानिन के,
प्रानके पयान समय कानमें किये करे॥

जब प्राणोंका प्रयाण होता है तो उस समय भगवान् शंकर उस प्राणीके कानमें 'राम' नाम सुनाते हैं। क्यों सुनाते हैं? वे यह विचार करते हैं कि भगवान्‌से विमुख जीवोंकी खबर यमराज लेते हैं, वे सबको दण्ड देते हैं; परन्तु मैं संसारभरका मालिक हूँ। लोग मुझे विश्वनाथ कहते हैं और मेरे रहते हुए मेरी इस काशीपुरीमें आकर यमराज दण्ड दे तो यह ठीक नहीं है। अरे भाई! किसीको दण्ड या पुरस्कार देना तो मालिकका काम है। राजाकी राजधानीमें बाहरसे दूसरा आकर ऐसा काम करे तो राजाकी पोल निकलती है न! सारे संसारमें नहीं तो कम-से-कम वाराणसीमें जहाँ मैं बैठा हूँ, यहाँ आकर यमराज दखल दे—यह कैसे हो सकता है।

काशीमें 'वरुणा' और 'असी' दोनों नदियाँ गङ्गाजीमें आकर मिलती हैं। उनके बीचका क्षेत्र 'वाराणसी' है। इस क्षेत्रमें **'मण्डूकमत्स्याः कृमयोऽपि काश्यां त्यक्त्वा शरीरं शिवमाप्नुवन्ति।'** मछली हो या मेढक हो या अन्य कोई जीव-जन्तु हों, आकाशमें रहनेवाले हों या जलमें रहनेवाले हों या थलमें रहनेवाले जीव हों, उनको भगवान् शंकर मुक्ति देते हैं। यह है काशीवासकी महिमा! काशीकी महिमा बहुत

विशेष मानी गयी है। यहाँ रहनेवाले यमराजकी फाँसीसे दूर हो जायँ, इसके लिये शंकरभगवान् हरदम सजग रहते हैं। मेरी प्रजाको कालका दण्ड न मिले—ऐसा विचार हृदयमें रखते हैं।

अध्यात्मरामायणमें भगवान् श्रीरामकी स्तुति करते हुए भगवान् शंकर कहते हैं—जीवोंकी मुक्तिके लिये आपका 'राम' नामरूपी जो स्तवन है, अन्त समयमें मैं इसे उन्हें सुना देता हूँ, जिससे उन जीवोंकी मुक्ति हो जाती है—**'अहं हि काश्यां····दिशामि मन्त्रं तव रामनाम ॥'**

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं ॥

अन्त समयमें 'राम' कहनेसे वह फिर जन्मता-मरता नहीं। ऐसा 'राम' नाम है। भगवान्‌ने ऐसा मुक्तिका क्षेत्र खोल दिया। कोई भी अन्नका क्षेत्र खोले तो पासमें पूँजी चाहिये। बिना पूँजीके अन्न कैसे देगा? भगवान् शंकर कहते हैं—'हमारे पास 'राम' नामकी पूँजी है। इससे जो चाहे मुक्ति ले लो।'

मुक्ति जन्म महि जानि ग्यान खानि अघ हानि कर।
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइअ कस न ॥

यह काशी भगवान् शंकरका मुक्ति-क्षेत्र है। यह 'राम' नामकी पूँजी ऐसी है कि कम होती ही नहीं। अनन्त जीवोंकी मुक्ति कर देनेपर भी इसमें कमी नहीं आती। आवे भी तो कहाँसे ! वह अपार है, असीम है। नामकी महिमा कहते-कहते गोस्वामीजी महाराज हद ही कर देते हैं। वे कहते हैं—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २६।८)

भगवान् श्रीराम भी नामका गुण नहीं गा सकते। इतने गुण 'राम' नाममें हैं। ***'महामन्त्र जोइ जपत महेसू'***—इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि यह महामन्त्र इतना विलक्षण है कि महामन्त्र 'राम' नाम जपनेसे 'ईश' भी महेश हो गये। महामन्त्रका जप करनेसे आप भी महेशके समान हो सकते हैं। इसलिये बहिनों, माताओं एवं भाइयोंसे कहना है कि रात-दिन, उठते-बैठते, चलते-फिरते हरदम अपने तो 'राम' नाम लेते ही रहो। भगवान्‌का नाम है तो सीधा-सादा; परन्तु इससे स्थिति बड़ी विलक्षण हो जाती है।

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

प्रवचन—२

भगवान् शंकरने 'राम' नामके प्रभावसे काशीमें मुक्तिका क्षेत्र खोल दिया और इसी महामन्त्रके जपसे ईशसे 'महेश' हो गये। अब आगे गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा १९।४)

सम्पूर्ण त्रिलोकीकी प्रदक्षिणा करके जो सबसे पहले आ जाय, वही सबसे पहले पूजनीय हो—देवताओंमें ऐसी शर्त होनेसे गणेशजी निराश हो गये, पर नारदजीके कहनेसे गणेशजीने 'राम' नाम पृथ्वीपर लिखकर उसकी परिक्रमा कर ली। इस कारण उनकी सबसे पहले परिक्रमा मानी गयी। नामकी ऐसी महिमा जाननेसे गणेशजी सर्वप्रथम पूजनीय हो गये। आगे गोस्वामीजी कहते हैं—

जान आदिकबि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा १९।५)

सबसे पहले श्रीवाल्मीकिजीने 'रामायण' लिखी है, इसलिये वे 'आदिकवि' माने जाते हैं। उलटा नाम (मरा-मरा) जप करके वाल्मीकिजी एकदम शुद्ध हो गये। उनके विषयमें ऐसी बात सुनी है कि वे लुटेरे थे। रास्तेमें जो कोई मिलता, उसको लूट लेते और मार भी देते। एक बार संयोगवश देवर्षि उधर आ गये। उनको भी लूटना चाहा तो देवर्षिने कहा—'तुम क्यों लूट-मार करते हो? यह तो बड़ा पाप है।' वह बोला—'मैं अकेला थोड़े ही हूँ, घरवाले सभी मेरी कमाई खाते हैं। सभी पापके भागीदार बनेंगे।' देवर्षिने कहा—'भाई, पाप करनेवालेको ही पाप लगता है। सुखके, पुण्यके, धनके भागी बननेको तो सभी तैयार हो जाते हैं; परंतु बदलेमें कोई भी पापका भागी बननेके लिये तैयार नहीं होगा। तू अपने माँ-बाप, स्त्री-बच्चोंसे पूछ तो आ।' वह अपने घर गया। उसके पूछनेपर माँ बोली—'तेरेको पाल-पोसकर बड़ा किया, अब भी तू हमें पाप ही देगा क्या?' उसने कहा—'माँ! मैं आप लोगोंके लिये ही तो पाप करता हूँ।' सब घरवाले बोले—'हम तो पापके भागीदार नहीं बनेंगे।'

तब वह जाकर देवर्षिके चरणोंमें गिर गया और बोला—'महाराज ! मेरे पापका कोई भी भागीदार बननेको तैयार नहीं हैं।' देवर्षिने कहा—'भाई ! तुम भजन करो, भगवान्‌का नाम लो', परंतु भयंकर पापी होनेके कारण मुँहसे प्रयास करनेपर भी 'राम' नाम उच्चारण नहीं कर सका। उसने कहा—'यह मरा, मरा, मरा। ऐसा मेरा अभ्यास है, इसलिये 'मरा'तो मैं कह सकता हूँ।' देवर्षिने कहा कि 'अच्छा, ऐसा ही तुम कहो।' तो 'मरा-मरा' करने लगा। इस प्रकार उलटा नाम जपनेसे भी वे

सिद्ध हो गये, महात्मा बन गये, आदिकवि बन गये। 'राम' नाम महामन्त्र है, उसे ठीक सुलटा जपनेसे तो पुण्य होता ही है, पर उल्टे जपसे भी पुण्य होता है।

उल्टा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥

(मानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा १९४। ८)

सहस नाम सम सुनि सिव बानी। जपि जेईं पिय संग भवानी॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा १९। ६)

'राम' नाम सहस्रनामके समान हैं, भगवान् शंकरके इस वचनको सुनकर पार्वतीजी सदा उनके साथ 'राम' नाम जपती रहती हैं। पद्मपुराणमें एक कथा आती है। पार्वतीजी सदा ही विष्णुसहस्रनामका पाठ करके ही भोजन किया करतीं। एक दिन भगवान् शंकर बोले—'पार्वती ! आओ भोजन करें।' तब पार्वतीजी बोलीं— 'महाराज ! मेरा अभी सहस्रनामका पाठ बाकी है।' भगवान् शंकर बोले—

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्रनाम तत्तुल्यं राम नाम वरानने॥

पद्मपुराणके उस विष्णुसहस्रनाममें यह श्लोक आया है। राम, राम, राम—ऐसे तीन बार कहनेसे पूर्णता हो जाती है। ऐसा जो 'राम' नाम है, हे वरानने! हे रमे! रामे मनोरमे, मैं सहस्रनामके तुल्य इस 'राम' नाममें ही रमण कर रहा हूँ। तुम भी उस 'राम' नामका उच्चारण करके भोजन कर लो। हर समय भगवान् शंकर राम, राम, राम जप करते रहते हैं। पार्वतीजीने भी फिर 'राम' नाम ले लिया और भोजन कर लिया।

नारद-राम-संवाद

अरण्यकाण्डमें ऐसा वर्णन आया है—श्रीरामजी लक्ष्मणजीके सहित, सीताजीके वियोगमें घूम रहे थे। वे घूमते-घूमते पम्पा सरोवर पहुँच गये। तो नारदजीके मनमें बात आयी कि मेरे शापको स्वीकार करके भगवान् स्त्री-वियोगमें घूम रहे हैं। उन्होंने देखा कि अभी बड़ा सुन्दर मौका है, एकान्त है। इस समय जाकर पूछें, बात करें। नारदजीने भगवान्‌को ऐसा शाप दिया कि आपने मेरा विवाह नहीं होने दिया तो आप भी स्त्रीके लिये रोते फिरोगे। भगवान्‌ने शाप स्वीकार कर लिया, परंतु नारदजीका अहित नहीं होने दिया।

यहाँ नारदजीने पूछा—'महाराज ! उस समय आपने मेरा विवाह क्यों नहीं होने दिया ?' तो भगवान्‌ने कहा— 'भैया ! एक मेरे ज्ञानी भक्त होते हैं और दूसरे छोटे 'दास' भक्त होते हैं; परंतु उन दासोंकी, प्यारे भक्तोंकी मैं रखवाली करता हूँ।'

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥
मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥

(मानस, अरण्यकाण्ड, दोहा ४३। ५, ८)

ज्ञानी भक्त बड़े बेटे हैं। अमानी भक्त छोटे बालकके समान है। जैसे, छोटे बालकका माँ विशेष ध्यान रखती है कि यह कहीं साँप, बिच्छू, काँटा न पकड़ ले, कहीं गिर न जाय। वह उसकी विशेष निगाह रखती है, ऐसे ही मैं अपने दासोंकी निगाह रखता हूँ। माँ प्यारसे बच्चेको खिलाती-पिलाती है, प्यार करती है, गोदमें लेती है। परंतु बच्चेको नुकसानवाली कोई बात नहीं करने देती। अपने मनकी बात न करने देनेसे बच्चा कभी-कभी क्या करता है कि गुस्सेमें आकर माँके स्तनको मुँहमें लेते समय काट लेता है, फिर भी माँ उसके मनकी बात नहीं होने देती। माँ इतनी हितैषिणी होती है कि उसका स्तन काटनेपर भी बालकपर स्नेह रखती है, गुस्सा नहीं करती। वह तो फिर भी दूध पिलाती है। वह उसकी परवाह नहीं करती और अहित नहीं होने देती।

इसी तरह भगवान्‌ने नारदजीके मनकी बात नहीं होने दी तो उन्होंने भगवान्‌को ही शाप दे दिया। छोटे बालक ही तो ठहरे ! काट गये। फिर भी माँ प्यार करती है और थप्पड़ भी देती है तो प्यारभरे हाथसे देती है। माँ गुस्सा नहीं करती है कि काटता क्यों है ! ऐसे ही पहले नारदजीने शाप तो दे दिया; परंतु फिर पश्चात्ताप करके बोले—'प्रभु ! मेरा शाप व्यर्थ हो जाय। मेरी गलती हुई, मुझे माफ कर दो।' भगवान्‌ने कहा—***'मम इच्छा कह दीनदयाला'***—मेरी ऐसी ही इच्छा थी। भगवान् इस प्रकार कृपा करते हैं।

पम्पासरोवरपर भगवान्‌की वाणी सुनकर नारदजीको लगा कि भगवान् प्रसन्न हैं। अभी मौका है। तब बोले कि 'मुझे एक वर दीजिये।' भगवान् बोले—'कहो भाई ! क्या वरदान चाहते हो ?' नारदजीने कहा—

राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका॥

(मानस, अरण्यकाण्ड, ४२। ८)

आपका जो नाम है, वह सब नामोंसे अधिक हो जाय और बधिकके समान पापरूपी पक्षियोंका नाश करनेवाला हो जाय। भगवान्‌के हजारों नाम हैं, उन नामोंकी गणना नहीं की जा सकती। ***'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता'*** (मानस, बालकाण्ड, १४०। ५) भगवान् अनन्त हैं, भगवान्‌की कथा अनन्त है तो भगवान्‌के नाम सान्त (सीमित) कैसे हो जायँगे ?

राम अनंत अनंत गुनानी। जन्म कर्म अनंत नामानी॥

(मानस, उत्तरकाण्ड, दोहा ५२। ३)

विष्णुसहस्रनाममें आया है—

'यानि नामानि गौणानि विख्यातानि महात्मनः।'

भगवान्‌के गुण आदिको लेकर कई नाम आये हैं। उनका जप किया जाय तो भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, लीला आदि याद आयेंगे। भगवान्‌के नामोंसे भगवान्‌के चरित्र याद आते हैं। भगवान्‌के चरित्र अनन्त हैं। उन चरित्रोंको लेकर नाम भी अनन्त होंगे। गुणोंको लेकर जो नाम हैं, वे भी अनन्त होंगे। अनन्त नामोंमें सबसे मुख्य 'राम' नाम है। वह खास भगवान्‌का 'राम' नाम हमें मिल गया तो समझना चाहिये कि बहुत बड़ा काम हो गया।

शिव-पार्वतीका नाम-प्रेम

हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषन तिय भूषन ती को॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा १९। ७)

'राम' नामके प्रति पार्वतीजीके हृदयकी ऐसी प्रीति देखकर भगवान् शंकर हर्षित हो गये और उन्होंने स्त्रियोंमें भूषणरूप (पतिव्रताओंमें शिरोमणि) पार्वतीजीको अपना भूषण बना लिया अर्थात् उन्हें अपने अङ्गमें धारण करके अर्धाङ्गिनी बना लिया। किसी स्त्रीकी बड़ाई की जाय तो उसे 'सती' की उपमा देकर कहा जाता है कि यह बड़ी सती-साध्वी है। परंतु 'राम' नाममें हृदयकी प्रीति होनेसे वे पतिव्रताओंमें शिरोमणि हो गयीं। जितनी कन्याएँ हैं, वे सब-की-सब सती (पार्वती) जीका पूजन करती हैं कि जिससे हमें अच्छा वर मिले, अच्छा घर मिले, हम सुखी हो जायँ।

जगज्जननी जानकीजी भी पार्वतीजीका पूजन करती हैं। उनकी माँ सुनयनाजी कहती हैं—'जाओ बेटी ! सतीका पूजन करो।' सीताजी सतीका पूजन करती हैं और अपने मनचाहा वर माँगती हैं। सतीका पूजन करनेसे श्रेष्ठ वर मिलता है। सती सब स्त्रियोंका गहना है। सतीका नाम ले तो पतिव्रता बन जाय, इतना उसका प्रभाव है। उस सतीको भगवान् शंकरने खुश होकर अपनी अर्धाङ्गिनी बना लिया। आपने 'अर्द्धनारीश्वर' भगवान् शंकरका चित्र देखा होगा। एक तरफ आधी मूँछ है और दूसरी तरफ 'नथ' है। वाम भाग पार्वतीका शरीर और दाहिना भाग भगवान् शंकरका शरीर है।

एक कविने इस विचित्ररूपके विषयमें बड़ा सुन्दर लिखा है—

निपीय स्तनमेकं च मुहुरन्यं पयोधरम्।
मार्गन्तं बालमालोक्याश्वासयन्तौ हि दम्पती॥

बालक माँका स्तन चूँगता (पीता) है तो मुँहमें एक स्तनको लेता है और दूसरेको टटोलकर हाथमें पकड़ लेता है कि कहीं कोई दूसरा लेकर पी न जाय, इसका दूध भी मैं ही पीऊँगा। इसी प्रकार गणेशजी भी ऐसे एक बार माँका एक स्तन पीने लगे और दूसरा स्तन टटोलने लगे, पर वह मिले कहाँ ? उधर तो बाबाजी बैठे हैं, माँ तो है ही नहीं। अब वे दूसरा स्तन खोजते हैं दूध पीनेके लिये, तो माँने कहा—'बेटा ! एक ही पी ले। दूसरा कहाँसे लाऊँ।' ऐसे शंकरभगवान् अर्द्धनारीश्वर बने हुए हैं।

भगवान् शंकरने 'राम' नाम जप करनेवाली सती पार्वतीको अपने-अङ्गका भूषण ही बना लिया। 'राम' नामपर उनका बहुत ज्यादा स्नेह है—ऐसा देखकर पार्वतीजीने पूछा—

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा १०८। ७)

'आप तो महाराज ! रात-दिन आदरपूर्वक 'राम-राम-राम' जप कर रहे हैं। एक-एक नाम लेते-लेते उसमें आपकी श्रद्धा, प्रेम, आदर उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। ***'दिन राती'***—न रातका खयाल है, न दिनका। वह नाम किसका है ? वह 'राम' नाम क्या है महाराज ?' ऐसा पार्वतीके पूछनेपर शिवजीने श्रीरामजीकी कथा सुनायी।

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा ३५। ११)

पहले भगवान् श्रीशंकरने राम-कथाको रचकर अपने मनमें ही रखा। वे दूसरोंको सुनाना नहीं चाहते थे, पर फिर अवसर पाकर उन्होंने यह राम-कथा पार्वतीजीको सुनायी।

भगवान् शंकरका 'राम' नामपर इतना स्नेह है कि **'चिताभस्मालेपः'**—वे मुर्देकी भस्म अपने शरीरपर लगाते हैं। इस विषयमें एक बात सुनी है—कोई एक आदमी मर गया, लोग उसे श्मशान ले जा रहे थे और 'राम-नाम सत् है'—ऐसा उच्चारण कर रहे थे। शंकरने देखा कि यह कोई भक्त है, जो इसके प्रभावसे ले जानेवाले 'राम' नाम बोल रहे हैं। बड़ी अच्छी बात है, वे उनके साथमें हो गये। 'राम' नामकी ध्वनि सुने तो 'राम' नामके प्रेमी साथ हो ही जायँ। जैसे—पैसोंकी बात सुनकर पैसोंके लोभी उधर खिंच जाते हैं, सोनेकी बात सुनते ही सोनेके लोभीके मनमें आती है कि हमें भी सोना मिले और गहना बनवायें, इसी प्रकार भगवान् शंकरका मन भी 'राम' नाम सुनकर उन लोगोंकी तरफ खिंच गया।

अब लोगोंने मुर्देको श्मशानमें ले जाकर जला दिया और पीछे जब अपने-अपने घर लौटने लगे तो भगवान् शंकरने सोचा—'क्या बात है ? ये आदमी तो वे-के-वे ही हैं; परंतु नाम कोई लेता ही नहीं !' उनके मनमें आया कि उस मुर्देमें ही करामात थी, उसके कारण ही ये सब लोग 'राम' नाम ले रहे थे। वह मुर्दा कितना पवित्र होगा ! भगवान् शंकरने श्मशानमें जाकर देखा, वह तो जलकर राख हो गया। इसलिये उन्होंने उस मुर्देकी भस्म अपने शरीरमें लगा ली और वहाँ ही रहने लगे। अतः राखमें 'रा' और मुर्देमें 'म' इस तरह 'राम' हो गया। 'राम' नाम उन्हें बहुत प्यारा लगता है। 'राम' नाम सुनकर वे खुश हो जाते हैं, प्रसन्न हो जाते हैं। इसलिये मुर्देकी राख अपने अंगोंमें लगाते हैं। किसी कविने कहा है—

रुचिर रकार बिन तज दी सती सी नार,
किनी नाहीं रति रुद्र पायके कलेश को।
गिरिजा भई है पुनि तप ते अपर्णा तबे,
कीनी अर्धंगा प्यारी लगी गिरिजेश को॥
विष्णु पदी गंगा तउ धूर्जटी धरि न सीस,
भागीरथी भई तब धारी है अशेष को।
बार बार करत रकार और मकार ध्वनि,
पूरण है प्यार राम-नाम पे महेश को॥

—सबसे श्रेष्ठ सती है, पर उनके नाममें 'स' और 'त' है, पर 'र' और 'म' तो है ही नहीं। इस कारण भगवान् शंकरने सतीको छोड़ दिया। वे सतीका त्याग कर देनेसे अकेले दुःख पा रहे हैं। उनका मन भी अकेले नहीं लगा। इस कारण काक-भुशुण्डिजीके यहाँ हंस बनकर गये और उनसे 'रामचरित' की कथा सुनी। ऐसी बात आती है कि एक बार सतीने सीताजीका रूप धारण कर लिया था, इस कारण उन्होंने फिर सतीसे प्रेम नहीं किया और साथमें रहते हुए भी उन्हें अपने सामने आसन दिया, सदाकी तरह बायें भागमें आसन नहीं दिया। फिर सतीने जब देह-त्याग कर दिया तो वे उसके वियोगमें व्याकुल हो गये।

सतीने पर्वतराज हिमाचलके यहाँ ही जन्म लिया, और कोई देवता नहीं थे क्या ? परंतु उनकी पुत्री होनेसे सतीको गिरिजा, पार्वती नाम मिला और तभी इन नामोंमें 'र' कार आया। इतनेपर भी भगवान् शंकर मुझे स्वीकार करेंगे या नहीं, क्या पता ? इसलिये तपस्या करने लगी।

पुनि परिहरे सुखानेउ परना। उमहि नामु तब भयउ अपरना॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा ७४।७)

जब पार्वतीने सूखे पत्ते खाने भी छोड़ दिये तब उसका नाम 'अपर्णा' हो गया। किसी तरहसे मेरे नाममें 'र' आ जाय। पार्वतीकी ऐसी प्रीति देखकर भगवान् शंकर इतने प्रसन्न हुए कि इन्हें दूर रखना ही नहीं चाहते हैं—ऐसा विचार करके उन्हें अपने अंगमें ही मिला लिया—'***विष्णु पदी गंगा तोहु धूर्जटी धरि ना सीस पर***'—पृथ्वीपर लानेके लिये भगीरथने गङ्गाजीकी तपस्या की, उसके कारण गङ्गाजीका 'भागीरथी' नाम पड़ गया। भगवान् शंकरने गङ्गाजी (भागीरथी) को अपनी जटामें रमा लिया—'**जटाकटाहसंभ्रमभ्रमन्निलिम्पनिर्झरीविलोलवीचिवल्लरीविराजमानमूर्धनि**'— जैसे कड़ाहमें पानी डालें तो वह उसमें ही घूमता रहता है, ऐसे ही भगवान् शंकरकी जटामें गङ्गा घूमने लगीं। उनके मनमें था कि मेरे वेगको कौन रोक सकता है! मैं उसे ले जाऊँ पातालमें। भगवान् शंकरने उन्हें अपनी जटामें ही रख लिया। जटामें वे घूमती रहीं। भगीरथकी पीढ़ियाँ गुजर गयीं। उसने भगवान् शंकरसे प्रार्थना की, तब उन्होंने थोड़ी-सी जटा खोली, उसमेंसे तीन धाराएँ निकलीं। एक स्वर्गमें गयी, एक पातालमें गयी और एक पृथ्वी लोकमें आयी, इस कारण इसका नाम 'त्रिपथगामिनी' पड़ा।

'राम' नाममें भगवान् शंकरका विशेष प्रेम है। नामके प्रभावसे ही पार्वतीको उन्होंने अपना भूषण बना लिया।

नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा १९।८)

वे नामके प्रभावको ठीकसे जानते हैं। समुद्रका मंथन किया गया, उसमेंसे सबसे पहले जहर निकला तो सब देवता-असुर घबरा गये। उन्होंने भगवान् शंकरको याद किया और कहा—'भोले बाबा ! दुनिया मर रही है, बचाओ !' उन्होंने 'राम' नामके सम्पुटमें उस हलाहल जहरको कण्ठमें रख लिया। 'रा' लिखकर बीचमें जहर रख लिया और ऊपर 'म' लिख दिया तो अमृतका काम कर दिया उस जहरने। जो स्पर्श करनेसे भी मार दे ऐसा हलाहल जहर। उससे भगवान् शंकर नीलकण्ठ हो गये। जहर तो अपना काम करे ही। बस, कण्ठमें ही उसको रोक लिया। जहर बाहर आ जाय तो मुँह कड़वा कर दे और भीतर चला जाय तो मार दे। ऐसे 'राम' नामने शिवजीको अमर बना दिया। अब आगे गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २०।२)

सुमिरन करनेमें 'राम' नाम कठिन नहीं है। 'रा' और 'म'—ये दोनों अक्षर उच्चारण करनेमें सुगम हैं; क्योंकि ये अक्षर अल्पप्राण हैं। जिनमें प्राण कम खर्च होते हैं, वे अक्षर अल्पप्राण कहे जाते हैं। 'र' का उच्चारण जितना सुगमतासे कर सकते हैं, उतना 'ह' का नहीं कर सकते; क्योंकि 'ह' महाप्राण है। जैसे ख, फ, छ, ठ, थ —प्रत्येक वर्गका दूसरा और चौथा अक्षर महाप्राण है। पहला, तीसरा और पाँचवाँ अक्षर अल्पप्राण है। 'क' बहुत समयतक कह सकते हैं, पर 'ख' इतने समयतक नहीं कह सकते। बहुत जल्दी खतम हो जायेंगे प्राण; क्योंकि महाप्राण है वह। पाँचवाँ अक्षर ('ञ, म, ङ, ण, न')—अल्पप्राण है और '**यणश्चाल्पप्राणाः**' य, र, ल, व भी अल्पप्राण हैं। अल्पप्राणवाला अक्षर उच्चारण करनेमें सुगम होता है और उसका उच्चारण भी ज्यादा देर हो सकता है। महाप्राणवाले अक्षरमें बहुत जल्दी प्राण खतम हो जाते हैं। अतः अल्पप्राणवाले अक्षरोंके समान दूसरे नाम उतनी देरतक नहीं ले सकते। इस कारण 'राम' नाम अल्पप्राण होनेसे उच्चारण करनेमें सुगम है।

नाममें अरुचिका कारण

वाल्मीकिजीको अल्पप्राणवाला नाम भी क्यों नहीं आया? कारण क्या था? ध्यान दें! 'राम' नाम उच्चारण करनेमें सुगम है; परंतु जिसके पाप अधिक हैं, उस पुरुषद्वारा नाम-उच्चारण कठिन हो जाता है। एक कहावत है—

मजाल क्या है जीव की, जो राम-नाम लेवे।
पाप देवे थाप की, जो मुण्डो फोर देवे॥

जिनका अल्प पुण्य होता है, वे 'राम' नाम ले नहीं सकते। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी आया है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥
(७।२८)

जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, वे ही दृढ़व्रत होकर भगवान्‌के भजनमें लग सकते हैं। 'राम' नामके विषयमें भी ऐसी ही बातें शास्त्रोंमें पढ़ते हैं, संतोंसे सुनते हैं। ऐसी ही हमने एक घटना सुनी है—

बाँकुड़ाकी बात है। एक सज्जन थे श्रीबद्रीदासजी गोयन्दका। वे अपनी बीती घटना सुनाने लगे। एक बूढ़ा बंगाली सरोवरके किनारे मछलियाँ पकड़ रहा था। श्रीजयदयालजी गोयन्दका एवं श्रीबद्रीदासजीने उसे देखा और कहा—'यह बूढ़ा हो गया, बेचारा भजनमें लग जाय तो अच्छा है।' उससे जाकर कहा कि तुम भगवन्नाम-उच्चारण करो तो उसे 'राम' नाम आया नहीं। वह मेहनत करनेपर भी सही उच्चारण नहीं कर सका। कई नाम बतानेके बाद अन्तमें 'होरे-होरे' कहने लगा। इस नामका उससे उच्चारण हुआ और कोई नाम आया ही नहीं। उससे पूछा गया कि 'तुम्हें एक दिनमें कितने पैसे मिलते हैं?' उसने बताया कि इतनी मछलियाँ मारनेसे इतने पैसे मिलते हैं। तो उन्होंने कहा कि 'उतने पैसोंके चावल हम तुम्हें दे देंगे। तुम हमारी दूकानमें बैठकर दिनभर होरे-होरे (हरि-हरि) किया करो।' उसको किसी तरह ले गये दूकानपर। वह एक दिन तो बैठा। दूसरे दिन देरसे आया और तीसरे दिन आया ही नहीं। फिर दो-तीन दिन बाद जाकर देखा, वह उसी जगह धूपमें मछली पकड़ता हुआ मिला। उन्होंने उसे कहा कि 'तू वहाँ दूकानमें छायामें बैठा था। क्या तकलीफ थी? तुमको यहाँ जितना मिलता है, उतना अनाज दे देंगे केवल दिनभर बैठा हरि-हरि कीर्तन किया कर।' उसने कहा—'मेरेसे यह नहीं होगा।' वह दूकानपर बैठ नहीं सका। ऐसी बीती हुई घटना बतायी। हमारे विश्वास हुआ कि बात तो ठीक है भाई! पापीका शुभ काममें लगना कठिन होता है। श्रीतुलसीदासजी महाराजने कहा है—

तुलसी पूरब पाप ते हरि चर्चा न सुहात।
जैसे ज्वर के जोरसे भूख बिदा हो जात॥

जब ज्वर (बुखार) का जोर होता है तो अन्न अच्छा नहीं लगता। उसको अन्नमें भी गन्ध आती है। जैसे भीतरमें बुखारका जोर होता है तो अन्न अच्छा नहीं लगता, वैसे ही जिसके पापोंका जोर ज्यादा होता है, वह भजन कर नहीं सकता, सत्संगमें जा नहीं सकता।

इसलिये सज्जनो! एक बातपर आप ध्यान दें। जो भाई सत्संगमें रुचि रखते हैं, सत्संगमें जाते हैं, नाम लेते हैं, जप करते हैं, उन पुरुषोंको मामूली नहीं समझना चाहिये। वे साधारण आदमी नहीं हैं। वे भगवान्‌का भजन करते हैं, शुद्ध हैं और भगवान्‌के कृपा-पात्र हैं। परंतु जो भगवान्‌की तरफ चलते हैं, उनको अपनी बहादुरी नहीं माननी चाहिये कि हम बड़े अच्छे हैं। हमें तो भगवान्‌की कृपा माननी चाहिये, जिससे हमें सत्संग, भजन-ध्यानका मौका मिलता है। हमें ऐसा समझना चाहिये कि ऐसे कलियुगके समयमें हमें भगवान्‌की बात सुननेको मिलती है, हम भगवान्‌का नाम लेते हैं, हमपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है।

जैसे नदीका प्रवाह समुद्रकी तरफ जा रहा है, ऐसे ही इस समय संसारका प्रवाह नरकोंकी तरफ बड़े जोरोंसे जा रहा है। पढ़ाईमें, रस्म-रिवाजमें, कानून-कायदोंमें, व्यापार आदि कार्योंमें जहाँ कहीं भी देखो, पापका बड़े जोरोंसे प्रवाह चल रहा है। गोस्वामीजीने वर्णन किया है—

कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥

(मानस, बालकाण्ड, २७।४)

कलियुगमें ऐसा जोरोंसे पाप छा जायगा कि मनुष्योंका मन जलमें मछलीकी तरह पापोंमें रम जायगा अर्थात् जैसे मछलीको जलसे दूर कर देनेपर वह घबरा जाती है, उसको पहले अगर यह समझमें आ जाय कि तुम्हें जलसे दूर कर देंगे तो वह घबरा जायगी; क्योंकि वह जलके बिना जी नहीं सकती, ऐसे ही ***'पाप पयोनिधि'***— पापरूपी तो हुआ समुद्र और उसमें ***'जन मन मीना'***— मनुष्योंका मन मछली हो गया।

आज अगर कहा जाय कि ब्लेक मत करो, झूठ-कपट मत करो, बेईमानी मत करो, न्यायसे काम करो तो कहते हैं, 'महाराज ! झूठ-कपटके बिना आजके जमानेमें काम नहीं चलता। ईमानदारीसे अगर काम करें तो बड़ी मुश्किल हो जायगी। हमारेसे यह नहीं होगा।' पापसे दूर करनेकी बात सुनते ही काँपते हैं। वे डरते हैं कि पाप अगर छोड़ देंगे तो गजब हो जायगा, फिर तो, हमारा निर्वाह होगा ही नहीं। हमारा तो झूठ-कपट-बेईमानीसे ही काम चलता है।

इन बातोंसे ऐसा नहीं मानना चाहिये कि दुराचारी-पापी, अन्यायी मनुष्य भजनमें नहीं लग सकता। गीता तो कहती है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(९।३०)

साङ्गोपाङ्ग दुराचारी भी यदि पक्का विचार करके भजनमें लग जाय तो उसे मामूली आदमी नहीं समझना चाहिये। भगवान् कहते हैं—'उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने निश्चय पक्का कर लिया।'

भगवान्ने गीतामें चार प्रकारके भक्त बताये हैं—**'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ'**—'आर्त' और 'अर्थार्थी,' भक्त भगवान्का नाम लेते हैं। जिज्ञासु भी उनका नाम लेता है। परंतु ज्ञानी तो ***'प्रभुहि बिसेषि पिआरा, 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'***—वह तो भगवान्की आत्मा ही है।

अर्थार्थी भक्त ध्रुव

संसारका आकर्षण रखनेवाले 'आर्त' और 'अर्थार्थी' भी भगवान्के ही भक्त होते हैं। परंतु धनके लिये भगवान्का नाम लेनेसे या कोई दुःख दूर करनेके लिये भगवान्का नाम लेनेसे उसे 'अर्थार्थी' या 'आर्त' भक्त नहीं कहा जाता। 'अर्थार्थी' और 'आर्त' भक्त तो वे कहलाते हैं, जो धनके लिये केवल भगवान्के ऊपर ही भरोसा रखते हैं। धन प्राप्त करेंगे तो केवल भगवान्से ही, दूसरे किसीसे नहीं—ऐसा उनका दृढ़ निश्चय होता है।

जैसे, ध्रुवजी महाराजको नारदजीने कहा कि 'तुम वापस घरपर चलो। हम राजासे कहकर तुम्हारा और तुम्हारी माँका प्रबन्ध करवा देंगे। तुम्हें राज्य भी दिलवा देंगे।' ध्रुवने जब इस बातको स्वीकार नहीं किया तो उसे डराया कि देख ! जंगलमें बाघ, चीते, सर्प आदि बड़े-बड़े भयंकर जन्तु हैं, वे तुझे खा जायेंगे, पर न तो वह डरा और न धनके लोभमें ही आया। ध्रुवजी तो नाम-जपमें लग ही गये, यद्यपि ध्रुवजीकी आरम्भमें शुद्ध भावना नहीं थी। उस समय उनके मनमें राज्यका लोभ था। इस विषयमें श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २६।५)

ध्रुवजीने ग्लानिसे (विमाताके वचनोंसे दुःखी होकर सकामभावसे) 'हरि' नामका जप किया। विमाताने पिताकी गोदसे उतारकर धक्का देकर निकाल दिया कि 'जा तू इस गोदमें बैठने लायक नहीं है। तू उस अभागिनकी कोखसे जन्मा है, इसलिये राजाकी गोदमें बैठनेका अधिकारी नहीं है।' ध्रुव इस बातसे बड़ा दुःखी हुआ। ध्रुवने माँसे पूछा तो उसने भी कहा—'तेरी छोटी माँने जो बात कही है, वह सच्ची है। तूने और मैंने—दोनोंने ही भजन नहीं किया। तभी तो यह दशा हुई है। नहीं तो हमारी ऐसी दशा क्यों होती !' ऐसा सुनकर वे भगवान्से ही राज्य लेनेकी इच्छाको लेकर भजनमें लग गये। नारदजीके प्रभोलन और भय दिखानेपर भी वे पीछे नहीं हटे, भजन करनेके लिये जंगलमें चल दिये; क्योंकि वे ध्रुव अर्थात् पक्के थे। ऐसे भक्तोंको 'अर्थार्थी' कहा जाता है।

आजकल भी लोग भगवान्से धन चाहते हैं, पर वे केवल भगवान्के भक्त नहीं हैं। साथ-साथ वे भक्त बनते हैं—झूठ, कपट और बेईमानीके। वे कहते हैं—'हे बेईमानी देवता ! हे झूठ देवता ! हे कपट देवता ! हे ब्लैक देवता ! तुम हमें निहाल करो। आपकी कृपासे ही हम जीयेंगे, और जीनेका कोई साधन है नहीं।' वे भी एक तरहसे अर्थार्थी भक्त हैं, पर हैं वे पापोंके भक्त, भगवान्के नहीं हैं। जो भगवान्का भक्त होगा, वह पाप क्यों करेगा ! क्या पाप जितनी भी ताकत भगवान्में नहीं है !

पापसे छूटनेका उपाय

'पाप पयोनिधि जन मन मीना'—पहले हमारे समझमें यह बात नहीं आयी थी। पापमें मनुष्यका इतना मन कैसे लग

जाता है ? क्या बात है ? परंतु आजकल देखते हैं तो कई जगह यह बात सुननेमें आती है कि बिना पाप-अन्याय किये, झूठ-कपट किये हम जी नहीं सकते। जीवनका आधार पापको मान लिया। ऐसे जो पापोंमें रचे-पचे हैं, उनसे कहा जाय कि 'तुम नाम-जप करो' तो बड़ा कठिन हो जायगा। पापीके मुखसे भगवान्‌का नाम नहीं आता। पाप अधिक होनेके कारण ऐसी दशा हो जाती है।

इस विषयमें मेरे मनमें एक बात आती है। आप भाई-बहन ध्यान दें! हम तो हिम्मत करके 'राम-राम' करेंगे ही—ऐसा पक्का निश्चय करके नाम-जपमें लग जाओ तो पाप ठहरेगा नहीं। ये दोनों साथमें नहीं रह सकते। पाप भाग जायगा। भगवान्‌के नामका आश्रय लेकर यह निश्चय करो कि उसका पाप नष्ट हो जाता है, जो दृढ़ होकर भजन करता है। तो हम भी दृढ़व्रत होकर भजन करेंगे। दृढ़तासे हम भजनमें ही लग जायेंगे। तो फिर पाप ठहरेगा नहीं, अशुद्धि टिकेगी नहीं। जैसे सूर्योदय होनेपर अमावस्याकी बड़ी काली रात भी ठहर नहीं सकती, ऐसे ही आपलोग कृपा करके रात-दिन 'राम' नाममें लग जाओ तो सब पाप नष्ट हो जायँगे।

एक सन्त थे, उनसे किसीने पूछा—'महाराज ! आप कहते हैं कि पाप मत करो। पाप तो हमसे छूटता नहीं; परंतु हमारेसे पाप छूट जाय—ऐसा कोई उपाय बतलाओ। पाप छोड़नेकी हमारे हिम्मत नहीं होती।' सन्तने कहा—'तुम रात-दिन 'राम-राम' जपमें ही लग जाओ।' ***'पाप पयोनिधि जन मन मीना'***—ऐसे पापी लोगोंको भी यह उपाय सन्तने बताया। हमने तो परम्परासे सुना। उनसे इतना ही कहा गया कि तुम राम-राम करो। मैंने सोचा कि देखो, सन्तोंकी कितनी गहरी सूझ है, जो सीधा उपाय बता दिया कि राम-राममें लग जाओ। राम-राममें लगनेसे क्या होगा कि 'राम' नाम भीतरमें बैठ जायगा। अभी तो बाहरसे होता है।

प्रथम राम रसना सिवर, द्वितीय कण्ठ लगाय ॥
तृतीय हृदय ध्यान धर, चौथे नाभ मिलाय ॥
अध मध उत्तम प्रिय घर ठानु, चौथे अति उत्तम अस्थानु ॥
ये चहुँ बिन देखे आसरमा, राम भगति को पावे मरमा ॥

(नामपरचा)

ऐसे जब 'राम' नाम भीतर उतरेगा तो भीतर जानेपर वह सब काम कर लेगा। शुद्धि, पवित्रता, निर्मलता, भगवान्‌की भक्ति—जो आनी चाहिये सब आ जायेगी। इसलिये गोस्वामीजी महाराजने बड़ी विचित्र बात लिखी—***'नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी।'*** और कुछ नहीं तो जीभसे ही जपो। **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'**—भगवान्‌के नामका जप करे और भीतर-ही-भीतर ध्यान होता रहे—उसका तो फिर कहना ही क्या है ! जीभमात्रसे नाम जपनेसे योगी जाग जाता है। जो नामका जप करते हैं, जीभमात्रसे ही, वे भी ब्रह्माजीके प्रपञ्चसे वियुक्त होकर विरक्त सन्त हो जाते हैं। जीभमात्रसे जप करना है भी सुगम।

बहुत-से लोग कह देते हैं—'तुम नाम जपते हो तो मन लगता है कि नहीं लगता है ? अगर मन नहीं लगता है तो कुछ नहीं, तुम्हारे कुछ फायदा नहीं—ऐसा कहनेवाले वे भाई भोले हैं, वे भूलमें हैं, इस बातको जानते ही नहीं; क्योंकि उन्होंने कभी नाम-जप करके देखा ही नहीं। पहले मन लगेगा, पीछे जप करेंगे—ऐसा कभी हुआ है ? और होगा कभी ? ऐसी सम्भावना है क्या ? पहले मन लग जाय और पीछे 'राम-राम' करेंगे—ऐसा नहीं होता। नाम जपते-जपते ही नाम-महाराजकी कृपासे मन लग जाता है ***'हरिसे लागा रहो भाई। तेरे बिगड़ी बात बन जाई, रामजीसे लागा रहो भाई॥'*** इसलिये नाम-महाराजकी शरण लेनी चाहिये। जीभसे ही 'राम-राम-राम' शुरू कर दो, मनकी परवाह मत करो। 'परवाह मत करो'—इसका अर्थ यह नहीं है कि मन मत लगाओ। इसका अर्थ यह है कि हमारा मन नहीं लगा, इससे घबराओ मत कि हमारा जप नहीं हुआ। यह बात नहीं है। जप तो हो ही गया, अपने तो जपते जाओ। हमने सुना है—

माला तो करमें फिरे, जीभ फिरे मुख माहिं।
मनवाँ तो चहुँ दिसि फिरे, यह तो सुमिरन नाहिं॥

'भजन होगा नहीं'—यह कहाँ लिखा है ? यहाँ तो ***'सुमिरन नाहिं'***—ऐसा लिखा है। सुमिरन नहीं होगा, यह बात ठीक है; क्योंकि ***'मनवा तो चहुँ दिसि फिरे'*** मन संसारमें घूमता है तो सुमिरन कैसे होगा ? सुमिरन मनसे होता है; परंतु ***'यह तो जप नाहिं'***—कहाँ लिखा है ? जप तो हो ही गया। जीभमात्रसे भी अगर हो गया तो नाम-जप तो हो ही गया।

हमें एक सन्त मिले थे। वे कहते थे कि परमात्माके साथ आप किसी तरहसे ही अपना सम्बन्ध जोड़ लो। ज्ञानपूर्वक जोड़ लो, और मन-बुद्धिपूर्वक जोड़ लो तब तो कहना ही क्या है ? और नहीं तो जीभसे ही जोड़ लो। केवल 'राम' नामका उच्चारण करके भी सम्बन्ध जोड़ लो। फिर सब काम ठीक हो जायगा। **'अनिच्छया हि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः'**—आग बिना मनके छू जायेंगे तो भी वह जलायेगी ही, ऐसे ही भगवान्‌का नाम किसी तरहसे ही लिया जाय—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २८।१)

इसका अर्थ उलटा नहीं लेना चाहिये कि हम कुभावसे ही नाम लें और मन लगावें ही नहीं। बेगारखाते ऐसे ही नाम लें—ऐसा नहीं। मन लगानेका उद्योग करो, सावधानी रखो, मनको भगवान्‌में लगाओ, भगवान्‌का चिन्तन करो, पर न हो सके तो घबराना बिलकुल नहीं चाहिये। मेरे कहनेका मतलब यह है कि मन नहीं लग सका तो ऐसा मत मानो कि हमारा नाम-जप निरर्थक चला गया। अभी मन न लगे तो परवाह मत करो; क्योंकि आपकी नीयत जब मन लगानेकी है तो मन लग जायगा। एक तो हम मनको लगाते ही नहीं और एक मन लगता नहीं—इन दोनों अवस्थाओंमें बड़ा अन्तर है। ऐसे दीखनेमें तो दोनोंकी एक-सी अवस्था ही दीखती है। कारण कि दोनों अवस्थाओंमें ही मन तो नहीं लगा। दोनोंकी यह अवस्था बराबर रही; परन्तु बराबर होनेपर भी बड़ा भारी अन्तर है। जो लगाता ही नहीं, उसका तो उद्योग भी नहीं है, उसके मन लगानेका विचार ही नहीं है। दूसरा व्यक्ति मनको भगवान्‌में लगाना चाहता है, पर लगता नहीं। भगवान् सबके हृदयकी बात देखते हैं—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २९। ५)

भगवान् हृदयकी बात देखते हैं, कि यह मन लगाना चाहता है, पर मन नहीं लगा। तो महाराज ! उसका बड़ा भारी पुण्य होगा। भगवान्‌पर उसका बड़ा असर पड़ेगा। वे सबकी नीयत देखते हैं। अपने तो मन लगानेका प्रयत्न करो, पर न लगे तो उसमें घबराओ मत और नाम लिये जाओ।

राम ! राम !! राम !!!

प्रवचन—३

नाम-जपका अनुभव

'राम' नामकी वन्दनाका प्रकरण चल रहा है। इसमें 'राम' नामकी महिमाका वर्णन भी आया है। इसकी महिमा सुननेसे 'राम' नाममें रुचि हो सकती है, पर इसका माहात्म्य तो 'राम' नाम जपनेसे ही मिलता है। नाम-महिमा कहने और सुननेसे उसमें रुचि होती है और नाम-जप करनेसे अनुभव होता है, इसलिये बड़ी उपयोगी बात है। इसकी वास्तविकता जपनेसे ही समझमें आयेगी, पूरा पता उससे ही लगेगा। जैसे, भूखे आदमीको भोजनकी बात बतायी जाय तो उसकी रुचि विशेष हो जाती है। पर बिना भूखके भोजनमें उतना रस नहीं आता। जोरसे भूख लगती है, तब पता लगता है कि भोजन कितना बढ़िया है ! वह रुचता है, जँचता भी है और पच भी जाता है। उस भोजनका रस बनता है, उससे शक्ति आती है। ऐसे ही रुचिपूर्वक नामका जप करनेसे ही नामका माहात्म्य समझमें आता है, इसलिये ज्यों-ज्यों अधिक नाम जपते हैं, त्यों-ही-त्यों उसका विशेष लाभ होता है।

जैसे, धन कमानेवालोंके पास धन ज्यादा बढ़ जाता है तो उनके धनका लोभ भी बढ़ता जाता है। परंतु अन्तमें वह पतन करता है, क्योंकि धन नाशवान् वस्तु है। मानो साधारण आदमीके धनका अभाव थोड़ा होता है। धनी आदमीके अभाव ज्यादा होता है। साधारण आदमीके सैकड़ोंका, धनीके हजारोंका, अधिक धनीके लाखोंका और उससे भी बड़े धनीके करोड़ोंका घाटा होता है। वैसे ही भजन करनेवालोंके भी भजनकी जरूरत होती है। जो इसकी महिमा जानते हैं, उन्हें बहुत बड़े अभावका अनुभव होता है कि हमारे भजन बहुत कम हुआ। परंतु जो लोग भजन नहीं करते हैं, उन्हें पता ही नहीं, वे इसके माहात्म्यको जानते ही नहीं। परंतु वे ज्यों ही अपनेमें कमी समझते हैं, त्यों ही भजनका माहात्म्य समझमें आता है। ऐसे माहात्म्यको समझनेवालोंके लिये लिखा है कि नामके उच्चारणमात्रसे कल्याण हो जाय।

'भगवन्नाम कौमुदी' नामक एक ग्रंथ है। उसमें बड़े शास्त्रार्थ-दृष्टिसे विवेचना की गयी है। नामका उच्चारण करनेवाले नामके पात्र माने गये हैं। जैसे गजेन्द्रने आर्त होकर भगवान्‌का नाम लिया तो भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट हो गये। आर्त होकर जो नाम लिया जाता है, उसका बहुत जल्दी महत्त्व दीखता है। ऐसे ही भावपूर्वक नाम लिया जाता है, उसका विलक्षण ही असर होता है। एक पदमें आता है—

कृष्ण नाम जब श्रवण सुने री मैं आली।
भूली री भवन हौं तो बावरी भयी री॥

जिन गोपिकाओंके हृदयमें भगवान्‌का प्रेम है, वे उनका नाम सुननेसे ही पागल हो जाती हैं। पता ही नहीं कि स्वयं मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ ! ऐसे ही भगवन्नामसे भी ऐसी दशा हो जाती है। 'कल्याण'के भूतपूर्व सम्पादक भाई श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी नाम-निष्ठा अच्छी थी। कल्याण शुरू नहीं हुआ था, उस समयकी बात है। किसीने कह दिया—'राम नाम लेनेसे क्या होता है ?' तो उन्होंने कहा—'कल्याण हो जाता है।' उसने कहा—'अर्थ समझे बिना क्या है ? 'राम' नाम अंग्रेजीमें मेढा और भेड़ाका भी है'। तब उन्होंने जोशमें आकर कह दिया, 'राम-नामसे कल्याण होता है'। ऐसे जोशमें आकर कहनेसे उन्हें आठ पहरतक होश नहीं आया। खाना-पीना, टट्टी-पेशाब सब बन्द। इस बातसे उनकी माँजी बड़ी दुःखी हो गयीं कि हनुमानके क्या हो गया ? ऐसे जो भगवान्‌का नाम

लेता है, उसमें बहुत विलक्षणता आ जाती है।

जिसकी नाममें रुचि होती है, उसे पता लगता है कि नामकी महिमा क्या होती है? दूसरेको क्या पता नाम क्या चीज है? हरेक आदमी क्या समझे? नाममें रुचि ज्यादा होती है जप करनेसे, भजन करनेसे और उसमें तल्लीन होनेसे। सन्त-महात्माओंकी वाणीमें जो बातें हैं, वे विलक्षण बातें स्वयं अनुभवमें आने लगती हैं; सन्तोंने अलग-अलग स्थानोंपर अपना अलग-अलग अनुभव लिखा है।

एक बहन थी। उसने अपने नाम-जपकी ऐसी बातें बतायीं, जो सन्तोंकी वाणीमें भी मिलती नहीं। उसने कहा कि नाम जपते-जपते सब शरीरमें ठण्डक पहुँचती है। सारे शरीरमें ठण्डा-ठण्डा झरना बहता है तथा एक प्रकारके मिठास और आनन्दकी प्राप्ति होती है। मैंने सन्तोंकी वाणी पढ़ी है, पर ऐसा वर्णन नहीं आता, जैसा उस बहनने अपना अनुभव बताया। ऐसे-ऐसे अलौकिक चमत्कार सन्त-महात्माओंने थोड़े-थोड़े ही लिखे हैं। वे कहाँतक लिखें? जो अनुभव होता है, वो वर्णन करनेमें आता नहीं। वे खुद ही जानते हैं।

सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना॥

वह कहनेमें नहीं आता। आप इसमें लग जायँ। भाइयोंसे, बहनोंसे, सबसे मेरी प्रार्थना है कि आप नाम-जपमें लग जायँ। आप निहाल हो जायँगे और दुनिया निहाल हो जायगी। सबपर असर पड़ेगा और आपका तो क्या कहें, जीवन धन्य हो जायगा। 'भगवन्नाम' की अपार महिमा है। गोस्वामीजी महाराज आगे वर्णन करते हैं—

बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा १९)

पहले 'राम' नामके अवयवोंका वर्णन हुआ फिर 'महामन्त्र' का वर्णन हुआ। अब दो अक्षरोंका वर्णन होता है। 'र' और 'म'—ये दो अक्षर हैं। जो भगवान्‌के प्यारे भक्त हैं, वे सालि (बढ़िया चावल) की खेती हैं और वर्षा-ऋतु श्रीरघुनाथजी महाराजकी भक्ति है। वर्षा-ऋतुमें ही वर्षा खूब हुआ करती है। चावलोंकी खेती, बाजरा आदि अनाजोंकी खेतीसे भिन्न होती है। राजस्थानमें खेतमें यदि पानी पड़ा रहे तो घास सूख जाय, पर चावलके खेतमें हरदम पानी भरा ही रहता है। जिससे खेतोंमें मछलियाँ पैदा हो जाती हैं। सालिके चावल बढ़िया होते हैं। चावल जितने बढ़िया होते हैं, उतना ही पानी ज्यादा माँगते हैं। उनको पानी हरदम चाहिये।

'रा' और 'म'—ये दो श्रेष्ठ वर्ण हैं। ऐसे ही श्रावण और भाद्रपद इन दो मासोंकी वर्षा-ऋतु कही जाती है। श्रेष्ठ भक्तके यहाँ 'राम' नामरूपी वर्षाकी झड़ी लगी रहती है। आगे गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन बिलोचन जन जिय जोऊ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २०। १)

ये दोनों अक्षर मधुर और मनोहर हैं। 'मधुर' कहनेका मतलब है कि रसनामें रस मिलता है। 'मनोहर' कहनेका तात्पर्य है कि मनको अपनी ओर खींच लेता है। जिन्होंने 'राम' नामका जप किया है, उनको इसका पता लगता है, और आदमी नहीं जान सकते। विलक्षण बात है कि 'राम-राम' करते-करते मुखमें मिठास पैदा होता है। जैसे, बढ़िया दूध हो और उसमें मिश्री पीसकर मिला दी जाय तो वह कैसा मीठा होता है, उससे भी ज्यादा मिठास इसमें आने लगता है। 'राम' नाममें लग जाते हैं तो फिर इसमें अद्भुत रस आने लगता है। ऐसे ये दोनों अक्षर मधुर और मनोहर हैं। '***बरन बिलोचन जन जिय जोऊ***'—ये दोनों अक्षर वर्णमालाकी दो आँखें हैं। शरीरमें दो आँखें सबसे श्रेष्ठ मानी गयी हैं। आँखके बिना जैसे आदमी अन्धा होता है, ऐसे 'राम' नामके बिना वर्णमाला भी अन्धी है।

नाम जपते हुए बहुत विलक्षण अनुभव होने लगता है। छः कमलोंमें एक नाभिकमल है, उसकी पंखुड़ियोंमें भगवान्‌के नाम हैं, वे भी दीखने लग जाते हैं। आँखोंसे जैसे सब बाहरी ज्ञान होता है, ऐसे नाम-जपसे बड़े-बड़े शास्त्रोंका ज्ञान हो जाता है। जिन सन्तोंने पढ़ायी नहीं की, शास्त्र नहीं पढ़े, वेद नहीं पढ़े, उनकी वाणीमें भी वेदोंकी ऋचाएँ आती हैं। वेदोंमें जैसा लिखा है, वैसी बातें उनकी साखियोंमें, वाणियोंमें आती हैं। वेदोंका ज्ञान उनको कैसे हो गया? 'राम' नाम महाराजसे। 'राम' नाम महाराज सब अक्षरोंकी आँख है। आँखोंसे दीखने लग जाता है, और विचित्र बातें दीखने लग जाती हैं।

श्रीरामदासजी और श्रीलालदासजी महाराज दोनोंकी मित्रता थी। उन दोनोंकी मित्रताकी कई बातें मैंने सुनी थी। एक बार एक माई भोजन लेकर जा रही थी तो उन दोनोंने आपसमें बात कही कि वह जो माई भोजन ला रही है, उसमें राबड़ी है, अमुक साग है, और ऐसी-ऐसी चीजें हैं। और उलटा कटोरा भी साथमें है। फिर जब देखा तो वैसी ही बात मिली। इस प्रकार लौकिक दृष्टिसे भी विशेषता आ जाती है। एकान्तमें भजन करते हुए उन्हें ऐसा अनुभव होता है कि अमुक जगह अमुक बात हो रही है। इन बातोंको सन्त लोग

प्रकट नहीं करते थे। ऋद्धि-सिद्धि आ जाती और कभी कुछ बात प्रकट हो जाती तो वे कहते कि चुप रहो, हल्ला मत करो, लोगोंको बताओ मत। अन्धेरेमें रातमें दीखने लग जाय—ऐसे चमत्कार होते हैं, यह तो मामूली चमत्कार है। विशेष बात यह है कि नामजपसे तत्त्वज्ञान हो जाता है। जो परमात्माका स्वरूप है, स्वयंका स्वरूप है, इन सबका अनुभव हो जाता है। यह मामूली बात है क्या? लौकिक चमत्कार दीख जाना कोई बड़ी बात नहीं है।

'राम' नाममें अपार-अनन्त शक्ति भरी हुई है। इसलिये गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—*'बरन बिलोचन जन जिय जोऊ'*—भक्तोंके हृदयको जाननेके लिये ये नेत्र हैं।

तुलसीका प्रिय 'राम' नाम

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू॥
कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लखन सम प्रिय तुलसी के॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २०। २,३)

ये कहने, सुनने और स्मरण करनेमें बहुत ही अच्छे सुन्दर, और मधुर हैं। तुलसीदासजीको श्रीराम और लक्ष्मणके समान दोनों प्यारे हैं। 'राम, राम, राम.......' कहनेमें आनन्द आता है और 'राम, राम, राम.......' सुननेमें आनन्द आता है। मनसे याद करें तो आनन्द आता है। ऐसे 'राम' नामके ये दोनों अक्षर बड़े सुन्दर और श्रेष्ठ हैं। गोस्वामीजी महाराज इस प्रकार विलक्षण बात कह रहे हैं। मानो उनको कुछ भी होश नहीं है। 'राम' नाम कैसा है? तो कहते हैं—*'राम लखन सम प्रिय तुलसी के॥'* सुननेवालोंके सामने दृष्टान्त ऐसा दिया जाता है, जिसे सुननेवाले आसानीसे समझ सकें।

श्रीरामचरितमानसमें चार संवाद आये हैं—१. पार्वतीजी एवं शंकरभगवान्‌का, २. याज्ञवल्क्यजी और भरद्वाजजीका, ३. कागभुशुण्डिजी और गरुड़जीका तथा ४. सन्तों और गोस्वामीजी महाराजका संवाद। यहाँ गोस्वामीजी महाराज संतोंको नाम-महिमा सुनाते हुए कह रहे हैं कि ये दोनों अक्षर ऐसे सुन्दर और प्यारे हैं, जैसे तुलसीको राम और लखन प्यारे लगते हैं। रामचरितमानस समाप्त हुई, तब रघुवंशी रामजी और उनके नाम—इन दोनोंके विषयमें एक बात कही है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

(मानस, उत्तरकाण्ड, दोहा १३० ख)

दोनों उदाहरण ऐसे दिये, जिनको हरेक आदमी समझ सके और जिसमें हरेक आदमीका मन खिंचे। सिद्धान्त समझाना हो तो दृष्टान्त वही दिया जाता है, जो हरेक आदमीके अनुभवमें आता हो। परंतु यहाँ गोस्वामीजी कहते हैं—*'राम लखन सम प्रिय तुलसी के'*—राम-लक्ष्मणके समान मुझे प्यारे लगते हैं। हरेक आदमीको क्या पता कि तुलसीको राम और लक्ष्मण किस तरह प्यारे लगते हैं? राम-लक्ष्मण उसको भी प्यारे लगें, तब वह समझे कि 'राम' नाम कितना प्यारा है! इतने ऊँचे कवि होकर कैसा दृष्टान्त देते हैं! अब हम क्या समझें, तुलसीको कैसे प्यारे लगते हैं? तो कहते हैं—

'कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम'—

जैसे कामीको स्त्री प्यारी लगती है और लोभीको दाम प्यारा लगता है, ऐसे मेरेको राम प्यारे लगें। *'तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम'*—गोस्वामीजी महाराजने दो नाम लिये। *'कामिहि नारि पिआरि जिमि'*—में लिया 'रघुनाथ' और *'लोभिहि प्रिय जिमि दाम'*में लिया 'राम' नाम। कामीको सुन्दररूप अच्छा लगता है और लोभीको दाम प्यारे लगते हैं। वह सुन्दरताकी ओर नहीं देखता। वह गिनती देखता है। उसको गिनती अच्छी लगती है। रघुवंशियोंके मालिक महाराजाधिराज श्रीराम विराजमान हैं, ऐसा उनका रूप और 'राम' नाम—ये दोनों प्यारे लगें अर्थात् भगवान्‌का स्वरूप और भगवान्‌का नाम—ये दोनों प्यारे लगें। एक कवि ने कहा है—

सुवरण को ढूँढ़त फिरत कवि व्यभिचारी चोर।
चरण धरत धड़कत हियो नेक न भावत शोर॥

कवि, व्यभिचारी और चोर—ये तीनों ही 'सुवर्ण' ढूँढ़ते हैं, कवि तो सुवर्ण—अच्छे-अच्छे अक्षरोंको ढूँढ़ते हैं। व्यभिचारी सुन्दर स्वरूपको ढूँढ़ता है और चोर सोना ढूँढ़ता है। *'चरण धरत धड़कत हियो'*—कवि भी किसी श्लोकका चरण रखता है तो उसका हृदय धड़कता है। मानो उसके यह भाव आता है कि श्लोक बढ़िया लिखा गया या नहीं। श्लोकके चार चरण होते हैं। व्यभिचारी और चोरका भी चरण रखते हृदय धड़कता है कि कोई देख न ले। *'नेक न भावत शोर'*—न कविको हल्ला-गुल्ला सुहाता है, न व्यभिचारीको और न चोरको। इस तरह तीनों 'सुवर्ण' को ढूँढ़ते फिरते हैं।

'कामिहि नारि पिआरि जिमि'— इस उदाहरणसे श्रीरघुनाथजी महाराजका रूप लिया गया और *'लोभिहि प्रिय जिमि दाम'*—लोभीकी तरह मेरेको भगवान्‌का नाम प्यारा लगे। लोभीको सुन्दर रूप नहीं, प्रत्युत संख्या प्यारी लगती है। उसको एक रुपयेका नोट बढ़िया गड्डीमेंसे निकाल कर दे दो और पाँच या दसका फटा हुआ नोट दिखाओ और उससे पूछो कि दोनोंमेंसे कौन-सा लोगे? लोभी एक रुपयेका सुन्दर नोट नहीं लेगा, पुराना, मैला, फटा दस रुपयेका ही लेगा।

एक रुपया सुन्दर है तो वह क्या करे ? वह तो गिनती देखता है कि यह पाँचका है, यह दसका है। ऐसे ही गोस्वामीजी कहते हैं, सुन्दर रूप रामजीका प्यारा लगे और नामकी गिनती बढ़ाते ही चले जायें। '***जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई***'— नाम लोभीकी तरह लिया जाय।

यहाँ ये दो दृष्टान्त बतानेका तात्पर्य है कि इन दोपर ही लोग आकृष्ट होते हैं— '***माधोजीसे मिलना कैसे होय। सबल बैरी बसे घट भीतर कनक कामिनी दोय ॥***' एक तो स्त्री और एक रुपयोंकी गिनती—इन दोकी जगह क्या करें ? इनमें संसारकी सुन्दरताकी जगह तो श्रीरघुनाथजी महाराजका रूप बैठा दें और रुपयोंकी गिनतीकी जगह भगवान्‌के नामको बैठा दें। इस तरह दोनोंकी खाना-पूर्ति हो गयी न ! सुन्दरता भगवान्‌के रूपकी और गिनती उनके नामकी। इतना कहनेपर भी सन्तोष नहीं हुआ। फिर कहा—'***तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम***'—निरन्तर नहीं होगा तो गलती रह जायगी। सांसारिक रुपये हैं तो प्यारे और अच्छे भी लगते हैं परंतु जब इंक्वायरी आ जाती है, दो नम्बरके रुपये भीतर रखे हैं, इधर सिपाही आ जाते हैं, तो मनसे यह इच्छा होती है कि अभी रुपये नहीं होते तो अच्छे थे। रुपयोंका लोभ होनेपर भी वह रुपयोंको नहीं चाहता। उसी तरह भोगोंको भी निरन्तर नहीं चाहता है। गोस्वामीजीने दृष्टान्त देनेमें ध्यान रखा कि साथमें 'नहीं' न आ जाय कहीं। कामी और लोभीको रूप और दाम प्यारे तो लगते हैं, पर प्रियतामें कभी-कभी अन्तर भी पड़ जाता है। हमारे श्रीरघुनाथजीके रूप और नामकी प्रियतामें कहीं अन्तर नहीं पड़ जाय।

नाम-जपका चमत्कार

'**तज्जपस्तदर्थभावनम्**'—भगवान्‌के नामका जप होता रहे और मनमें भगवान्‌के श्रीविग्रहका ध्यान होता रहे, मन खिंच जाय उधर 'राम' नाममें ही बस, उसके बाद आप-से-आप 'राम-राम' होता है। 'रोम-रोम उचरंदा है' फिर करना नहीं पड़ता। 'राम' नाम लेना नहीं पड़ता। इतना खिंच जाता है कि छुड़ाये नहीं छूटता।

बंगालमें चैतन्य महाप्रभु भगवान्‌के नामके बड़े प्रेमी हुए हैं। उनके यहाँ कोई एक भक्त था। वह '***हरे कृष्ण हरे कृष्ण······ ॥***' निरन्तर जप करता रहता था। किसीने चैतन्य महाप्रभुसे जाकर कह दिया—'महाराज ! यह तो टट्टी फिरता हुआ भी नाम जपता रहता है।' जब उससे पूछा गया तो उसने कहा 'ऐसा होता तो है।' चैतन्य महाप्रभुने बुलाकर उससे कहा—'उस समय खयाल रखा कर, बोला मत कर।' अब वह क्या करता ? टट्टी फिरता तो जीभको पकड़ लेता। फिर उसकी लोगोंने शिकायत की—'महाराज ! यह टट्टी जाते समय जीभको पकड़े रखता है।' महाप्रभुने कहा—'तू यह क्या करता है ?' तो उसने कहा—'महाराज ! मैं क्या करूँ, जीभ मानती ही नहीं, पर आपने कह दिया इसलिये आपकी आज्ञापालन करनेके लिये जीभको पकड़ लेता हूँ।' तब उन्होंने कहा कि 'तेरे लिये किसी अवस्थामें नाम जपनेमें कोई दोष नहीं है, पर जीभ मत पकड़ा कर।' इस प्रकार जिसको भगवन्नाममें रस आता है, वही जानता है कि नाममें कितनी विलक्षणता है, क्या अलौकिकता है ! लोगोंकी शिकायत होती है कि मन लगता नहीं, जप होता नहीं। पर जो हरदम ही नाम जपते हैं रातमें, दिनमें, उनके हरदम ही नाम-जप होता रहता है।

ऐसे ही अर्जुनकी बात आती है। अर्जुनके सोते समय 'कृष्ण-कृष्ण' नाम उच्चारण होता रहता था। इसी कारण एक बार अर्जुन जब सो रहे थे तो वहाँ नारदजी, शंकरजी, ब्रह्माजी सब आ गये। बड़े-बड़े सन्त इकट्ठे हो गये। भगवान् भी आ गये। अर्जुनके रोम-रोमसे नामोच्चारण हो रहा था। '***सहजों नाम सिवरंदा है***'—मुखसे ही नहीं, रोम-रोमसे भगवन्नाम उच्चारण होता है।

गोरखपुरके पास ही बरहज गाँवमें एक परमहंसजी महाराज रहा करते थे। उनके शिष्यका नाम श्रीराघवदासजी था। वे उत्तरप्रदेशके गांधी कहे जाते थे। उन परमहंसजी महाराजके शरीरको छुआ जाता तो 'ॐ' का उच्चारण होता। एक बार पहलवान राममूर्तिजी उनसे मिलनेके लिये गये। परमहंस बाबाके पैरकी अँगुली व अँगूठेसे जप हो रहा था। उन्होंने पहलवानसे कहा—अँगूठेको हिलनेसे रोको। परन्तु वे अँगूठेको रोक नहीं सके। तो कहा कि 'तुम्हारेमें जितना बल है। उससे ज्यादा बल तो बाबाके एक अँगूठेमें है।' नाम-महाराजका कितना विलक्षण प्रभाव है ! वह प्रभाव आदरप्रेमपूर्वक जपनेवालोंके सामने प्रकट होता है, बाकी दूसरे क्या जानें !

'***लोक लाहु परलोक निबाहू***'—'राम' नाम इस लोक और परलोकमें सब जगह काम देता है। इसलिये गोस्वामीजी कहते हैं—'***मेरे तो माँ अरु बाप दोउ आखर***'। 'र' और 'म'—ये मेरे माँ-बाप हैं। संसारमें माता-पिताके समान रक्षा करनेवाला, पालन करनेवाला, हित करनेवाला दूसरा कोई है ही नहीं। गोस्वामीजी कहते हैं कि हमारे तो दोनों अक्षर माता-पिता हैं, हमारा पालन करनेवाले हैं—

'र' रो पिता, माता 'म' मो है दोनों का जीव।
रामदास कर बन्दगी तुरत मिलावे पीव ॥

जो माँ-बापका भक्त होता है, उसपर भगवान् राजी हो ही जाते हैं। 'राम' नामसे भगवान् मिल जायँ, दर्शन दे दें। लोकमें, परलोकमें सब जगह ही वह निर्वाह करनेवाला है। लोकमें जो चाहिये, वह देनेवाला चिन्तामणि है और परलोकमें भगवद्दर्शन करानेवाला है। कई ऐसे आदमी देखे हैं, जो दिनभर माँगते रहते हैं, घूमते-फिरते हैं; परन्तु उनका पेट नहीं भरता। ऐसी दशामें वे भी अगर एकान्तमें 'राम'-'राम' करने लग जायँ तो प्रत्यक्षमें उनके भी ठाट लग जायगा। अन्न, जल, कपड़े आदि किसी चीजकी कमी रहेगी नहीं। अब नाम-जप करते ही नहीं तो उसका क्या किया जाय ? नाम-जप करके देखा जाय तो भाग्य खुल जाता है, विलक्षण बात हो जाती है। जीते-जी भाग्यमें विशेष परिवर्तन भगवन्नामसे होता है, इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं है। साधारण आदमी भी नाम-जपमें लग जाता है तो लोगोंपर विशेष असर पड़ता है।

भजन करे पातालमें परगट होत अकास।
दाबी दूबी नहि दबे कस्तूरी की बास॥

कस्तूरीको सौगन्ध दिला दें कि तुम सुगन्धि मत फैलाओ तो क्या वह रुक जायगी ? सुगन्धि तो फैल ही जायगी। इस तरहसे कोई चुपचाप भी भजन करे और किसीको पता ही न लगने दे तो भी महाराज यह तो प्रकट हो ही जाता है। उसकी विलक्षणता, अलौकिकता दीखने लगती है। लोगोंपर असर पड़ने लगता है; क्योंकि भगवान्‌का नाम है ही ऐसा विलक्षण। इसलिये लोक और परलोक दोनोंमें लाभ होता है। साधारण घरका बालक साधु होकर भजनमें तत्परतासे लग जाता है तो वह सन्त-महात्मा कहलाने लगता है। बड़े चमत्कार उसके द्वारा हो जाते हैं, जिसको पहले कोई पूछता ही नहीं था। बात क्या है ? यह सब भगवन्नामकी महिमा है।

बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती॥
(मानस, बालकाण्ड २०।४)

इन 'र', 'आ' और 'म' का वर्णन किया जाय तो ये अलग-अलग दीखते हैं। मानो ये तीनों वर्ण कृशानु, भानु और हिमकरके बीज-अक्षर हैं। वृक्षमें बीजसे ही शक्ति आती है। इसी प्रकार अग्नि, सूर्य और चन्द्रमामें जो शक्ति है, वह 'राम' नामसे ही आयी है।

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥
(गीता १५।१२)

गीतामें भगवान् कहते हैं कि इनमें जो विशेषता है, वह मेरी ही है। नाम और नामीमें अभेद है। इनके उच्चारण, अर्थ और फलमें भिन्नता दीखती है। वर्णन करनेमें ये अलग-अलग दीखते हैं। प्रीति भी अलग-अलग दीखती है; परन्तु 'र' और 'म' दोनों ब्रह्म और जीवके समान सहज संघाती हैं अर्थात् स्वतः सदा एक साथ रहनेवाले साथी हैं, सदा एकरूप और एकरस रहनेवाले हैं। ब्रह्म और जीवका अर्थ क्या है ? **'ममैवांशः'** (गीता १५।७) यह जीव परमात्माका साक्षात् अंश है और यह परमात्मा (ब्रह्म) को प्राप्त हो जाता है। **'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।'** (गीता १४।२) मेरी साधर्म्यताको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् जैसे भगवान् हैं, ऐसे ही भक्त हो जाते हैं। इन दोनोंकी सहधर्मता हो जाती है। तुलसीदासजीने भी कहा है—

सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥
(मानस, किष्किन्धाकाण्ड, दोहा १२।२)

स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥
(मानस, उत्तरकाण्ड, दोहा ४७।६)

प्रायः सब लोग स्वार्थसे ही प्रेम करनेवाले हैं; परंतु ***'हेतु रहित जग जुग उपकारी'***—दो बिना स्वार्थके हित करनेवाले हैं। ***'तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी'***—एक आप और दूसरे आपके प्यारे भक्त। ये बिना स्वार्थ, बिना मतलबके दुनिया-मात्रका हित करनेवाले हैं। गीतामें भी भगवान् कहते हैं—मेरेको सब प्राणियोंका सुहृद् जाननेसे शान्ति मिलती है (५।२९)। **'सुहृदः सर्वदेहिनाम्'**—भगवान्‌के जो भक्त होते हैं, वे प्राणी-मात्रके सुहृद् होते हैं। दुनियाका हित कैसे हो—ऐसा भगवान्‌का भाव निरन्तर रहता है। इस तरह भगवान्‌के प्यारे भक्तोंके हृदयमें भी दुनियामात्रके हितका भाव निवास करता है।

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥
(मानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा ४१।७)

अपने साथ बुरा बर्ताव करनेवालोंका भी सन्त भला ही करते हैं। इसलिये नीतिमें भी आया है—**'निष्पीडितोऽपि मधुरं वमति इक्षुदण्डः'**—ऊखको कोल्हूमें पेरा जाय तो भी वह मीठा-ही-मीठा रस सबको देता है। ऐसा नहीं कि इतना तंग करता है तो कड़वा बन जाऊँ! वह मीठा ही निकलता है; क्योंकि उसमें भरा हुआ रस मीठा ही है। ऐसे ही सन्त-महात्माओंको दुःख दें तो भी वे भलाई ही करते हैं; क्योंकि उनमें भलाई-ही-भलाई भरी हुई है, यह विलक्षण बात है कि भगवान् स्वाभाविक ही सबका हित करनेवाले

है। भगवान्‌का भजन करनेसे, मन लगानेसे, ध्यान करनेसे, भगवान्‌का नाम लेनेसे भजन करनेवालोंमें भी भगवान्‌के गुण आ जाते हैं अर्थात् वे विशेष प्रभावशाली हो जाते हैं। नाम-जपसे उनमें भी विलक्षणता आ जाती है।

नर नारायन सरिस सुभ्राता। जग पालक बिसेषि जन त्राता॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २०। ५)

ये दोनों अक्षर नर-नारायणके समान सुन्दर भाई हैं, ये जगत्‌का पालन और विशेषरूपसे भक्तोंकी रक्षा करनेवाले हैं। जैसे नर और नारायण दोनों तपस्या करते हैं और साथमें ही रहते हैं। लोगोंके सुखके लिये, आनन्दके लिये और वे सुख-शान्तिसे रहें, इसी बातको लेकर बदरिकाश्रम (उत्तराखण्ड) में तपस्या करते हैं। इसी तरहसे नाम महाराज भी सबकी रक्षा करते हैं। ये दोनों अक्षर भाई-भाई हैं। ***'जग पालक बिसेषि जन त्राता'***—मात्र जगत्‌का पालन करते हैं और जो भगवान्‌के भक्त होते हैं, उनकी विशेषतासे रक्षा करते हैं। ऐसा ही संतोंका स्वभाव होता है और दुष्टोंका स्वभाव कैसा होता है—

बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥

(मानस, उत्तरकाण्ड ३९। ६)

हित करनेवालेके साथ भी वे विरोध करते हैं, पर भगवान्‌के भक्त सबका हित करते हैं और अपना अहित करनेवालोंपर वे विशेष कृपा करते हैं।

धनवत्ताका अभिमान

एक तो धनी आदमीका और दूसरे ज्यादा पढ़े-लिखे विद्वान्‌का उद्धार होना कठिन होता है। धनी आदमीके धनका और विद्वान्‌के विद्याका अभिमान आ जाता है। अभिमान सब तरहसे नुकसान करनेवाला होता है—**'अभिमानद्वेषित्वाद्‌ दैन्यप्रियत्वाच्च।'** श्रीगोस्वामीजी महाराजने भी कहा है—

संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥

(मानस, उत्तरकाण्ड ७४। ६)

जन्म-मरणका मूल कारण अभिमान ही है। ***'नाना सूलप्रद'***—एक तरहकी सूल नहीं, तरह-तरहकी आफत अभिमानसे होती है। धनका एवं विद्याका अभिमान होनेपर मनुष्य किसीको गिनता नहीं। धन आनेपर वह सोचता है कि बड़े-बड़े पण्डित एवं महात्मा हमारे यहाँ आते हैं और भिक्षा लेते हैं—यह गर्मी उनके चढ़ जाती है, जो भगवान्‌की भक्ति नहीं जाग्रत् होने देती। हृदय कठोर हो जाता है। वैसे यह कोई नियम नहीं है, पर प्रायः ऐसी बात देखनेमें आती है। एक कविने विचित्र बात कही है—

अन्ध रमा सम्बन्ध ते होत न अचरज कोय।
कमल नयन नारायणहु रहे सर्प में सोय॥

लक्ष्मीजीके सम्बन्धसे मनुष्य अन्धा हो जाय, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। भगवान् पुण्डरीकाक्षकी कमलके समान बड़ी-बड़ी आँखें हैं। ऐसी आँखोंवाले भी जाकर सर्पपर सो गये। आँखें जिसके हों, वह साँपपर पैर भी नहीं रखता और वे भगवान् जाकर सो गये सर्पपर। क्या कारण? लक्ष्मीका सम्बन्ध है। लक्ष्मीके सम्बन्धसे बड़ी-बड़ी आँखोंवाले भी अन्धे हो जाते हैं। ***'अन्ध मूक बहरो अवश कमला नर ही करे'***—लक्ष्मी जब आती है तो मनुष्यको अन्धा, बहरा और गूँगा बना देती है। यह इतने आश्चर्यकी बात नहीं है। आश्चर्य तो इस बातका है—***'विष अनुजा मारत न, बड़ आवत अचरज एह'***—जहर खानेसे मनुष्य मर जाय, पर यह विषकी छोटी बहन होनेपर भी मारती नहीं है। यह उसकी कृपा है, नहीं तो लक्ष्मीके आनेसे मनुष्य मर जाय; क्योंकि जहरकी वह बहन ही तो है। धनके अभिमानके विषयमें कविने विचित्र बात कही है—

हाकम जिन धन होय विधि षट् मेख बनावे।
दोय श्रवणमें दिये शबद नहीं ताहि सुनावे॥
एक मेख मुख मांय विपति किणरी नहीं बूझे।
दोय मेख चख मांय सबल निरबल नहीं बूझे॥
पद हीन होय हाकम परो छठी मेख तल द्वार में।
पांचों ही मेख छिटके परी सरल भये संसारमें॥

जब आदमी बड़ा हो जाता है, तो वह किसीकी कुछ सुनता नहीं, उसको दीखता नहीं और वह गूँगा हो जाता है। उसके छः प्रकारकी मेख लग जाती है। दो मेख कानमें लगती हैं, जिससे शब्द सुनायी नहीं देता। कोई पुकार करे कि 'अन्नदाता! हमारे अमुक आफत आ गयी, आप कृपा करो, हमारे ऐसा बड़ा दुःख है।' कानसे बात सुननेमें आनी चाहिये न? परंतु वह सुनवायी करता ही नहीं, कानमें मेख लग गयी, अब सुने कहाँसे? ऐसे ही दो और मेख आँखोंमें लगनेसे ***'सबल निरबल नहीं बूझे।'*** 'दे दो दण्ड इसको, जुर्माना लगा दो इतना'! 'अरे भाई! कितना गरीब है, कैसे दे सकेगा?' 'कैद कर दो'—शब्दमात्र कहते क्या जोर आया? और एक मेख ***'मुख मांय विपति किणरी नहीं बूझे'***—दुःखी हो कि सुखी, क्या हो, तुम्हारी दशा कैसी है? तुम्हारे कोई तकलीफ तो नहीं है—ऐसी बात पूछता ही नहीं। ये मेखें खुल जाती हैं फिर ***'सरल भये संसारमें'***—तब वह सीधा सरल हो जाता है।

संतद्वारा सेठको शिक्षा

एक सेठकी बात सुनी। वह सेठ बहुत धनी था। वह सुबह जल्दी उठकर नदीमें स्नान करके घर आकर नित्य-नियम करता था। ऐसे वह रोजाना नहाने नदीपर आता था। एक बार एक अच्छे संत विचरते हुए वहाँ घाटपर आ गये। उन्होंने कहा—'सेठ ! राम-राम !' वह बोला नहीं तो बोले—'सेठ ! राम-राम !' ऐसे दो-तीन बार बोलनेपर भी सेठ 'राम-राम' नहीं बोला। सेठने समझा कि कोई मँगता है। इसलिये कहने लगा—'हट ! हट ! चल, हट यहाँसे।' संतने देखा कि अभिमान बहुत बढ़ गया है, भगवान्‌का नाम भी नहीं लेता। मैं तो भगवान्‌का नाम लेता हूँ और यह हट कहता है।

इन धनी आदमियोंके वहम रहता है कि हमारेसे कोई कुछ माँग लेगा, कुछ ले लेगा। इसलिये धनी लोग सबसे डरते रहते हैं। वे गरीबसे, साधुसे, ब्राह्मणसे, राज्यसे, चोरोंसे, डाकुओंसे डरते हैं। अपने बेटा-पोता ज्यादा हो जायेंगे तो धनका बँटवारा हो जायगा—ऐसे भी डर लगता है उन्हें।

संतने सोचा कि इसे ठीक करना है। तो वे वैसे ही सेठ बन गये और सेठ बनकर घरपर चले गये। दरवानने कहा कि 'आज आप जल्दी कैसे आ गये ?' तो उन्होंने कहा कि 'एक बहुरूपिया मेरा रूप धरके वहाँ आ गया था, मैंने समझा कि वह घरपर जाकर कोई गड़बड़ी नहीं कर दे। इसलिये मैं जल्दी आ गया। तुम सावधानी रखना, वह आ जाय तो उसे भीतर मत आने देना।'

सेठ घरपर जैसा नित्य-नियम करता था, वैसे ही वे सेठ बने हुए संत भजन-पाठ करने लग गये। अब वह सेठ सदाकी तरह धोती और लोटा लिये आया तो दरवानने रोक दिया। 'कहाँ जाते हो ? हटो यहाँसे !' सेठ बोला—'तूने भाँग पी ली है क्या ? नशा आ गया है क्या ? क्या बात है ? तू नौकर है मेरा, और मालिक बनता है।' दरवानने कहा—'हट यहाँसे, नहीं जाने दूँगा भीतर।' सेठने छोरोंको आवाज दी—'आज इसको क्या हो गया ?' तो उन्होंने कहा—'बाहर जाओ, भीतर मत आना।' बेटे भी ऐसे ही कहने लगे। जिसको पूछे, वे ही धक्का दें। सेठने देखा कि क्या तमाशा हुआ भाई ? मुझे दरवाजेके भीतर भी नहीं जाने देते हैं। बेचारा इधर-उधर घूमने लगा।

अब क्या करें ? उसकी कहीं चली नहीं तो उसने राज्यमें जाकर रिपोर्ट दी कि इस तरह आफत आ गयी। वे सेठ राज्यके बड़े मान्य आदमी थे। राजाने उनको जब इस हालतमें देखा तो कहा—'आज क्या बात है ? लोटा, धोती लिये कैसे आये हो ?' तो वह बोला—'कैसे-कैसे क्या, महाराज ! मेरे घरमें कोई बहुरूपिया बनकर घुस गया और मुझे निकाल दिया बाहर।' राजाने कहा—'चार घोड़ोंकी बग्घीमें आया करते थे, आज आपकी यह दशा !' राजाने अपने आदमियोंसे पूछा—'कौन है वह ? जाकर मालूम करो।' घरपर खबर गयी तो घरवालोंने कहा कि 'अच्छा ! वह राज्यमें पहुँच गया ! बिल्कुल नकली आदमी है वह। हमारे सेठ तो भीतर विराजमान हैं। राजाको जाकर कहा कि वह तो घरमें अच्छी तरहसे विराजमान है। राजाने कहा—'सेठको कहो कि राजा बुलाते हैं।' अब सेठ चार घोड़ोंकी बग्घी लगाकर ठाट-बाटसे जैसे जाते थे, वैसे ही पहुँचे और बोले—'अन्नदाता ! क्यों याद फरमाया, क्या बात है ?'

राजाजी बड़े चकराये कि दोनों एक-से दीख रहे हैं। पता कैसे लगे ? मन्त्रियोंसे पूछा तो वे बोले—'साहब, असली सेठका कुछ पता नहीं लगता।' तब राजाने पूछा—'आप दोनोंमें असली और नकली कौन हैं ?' तो कहा—'परीक्षा कर लो।' जो सन्त सेठ बने हुए थे उन्होंने कहा—'बही लाओ। बहीमें जो लिखा हुआ है, वह हम बता देंगे।' बही मँगायी गयी। जो सेठ बने हुए संत थे, उन्होंने बिना देखे ही कह दिया कि अमुक-अमुक वर्षमें अमुक मकानमें इतना खर्चा लगा, इतना घी लगा, अमुकके ब्याहमें इतना खर्चा हुआ। वह हिसाब अमुक बहीमें, अमुक जगह लिखा हुआ है।' वह सब-का-सब मिल गया। सेठ बेचारा देखता ही रह गया। उसको इतना याद नहीं था। इससे यह सिद्ध हो गया कि वह सेठ नकली है। तो कहा कि—'इसे दण्ड दो।' पर संतके कहनेसे छोड़ दिया।

दूसरे दिन फिर वह धोती और लोटा लेकर गया। वहाँ वही संत बैठे थे। उस सेठको देखकर संतने कहा—'राम-राम !' तब उसकी आँख खुली कि यह सब इन संतका चमत्कार है। संतने कहा—'तुम भगवान्‌का नाम लिया करो, हरेकका तिरस्कार, अपमान मत किया करो। जाओ, अब तुम अपने घर जाओ।' वह सेठ सदाकी तरह चुपचाप अपने घर आ गये।

अभिमानमें आकर लोग तिरस्कार कर देते हैं। धनका अभिमान बहुत खराब होता है। धनी आदमीके प्रायः भक्ति लगती नहीं। धनी आदमी भक्त होते ही नहीं, ऐसी बात भी नहीं है। राजा अम्बरीष भक्त हुए हैं। और भी बहुत-से धनी आदमी भगवान्‌के भक्त हुए हैं; परंतु धनका अभिमान उनके नहीं था। उन्हें धनकी परवाह नहीं थी। भगवान् अभिमानको अच्छा नहीं समझते—'**अभिमानद्वेषित्वाद्दैन्यप्रियत्वाच्च**'।

नारदजी-जैसे भक्तको भी अभिमान आ गया। *'जिता काम अहमिति मन माहीं।'* (मानस, बालकाण्ड, दोहा १२७।५) अभिमानकी अधिकता आ गयी कि मैंने कामपर विजय कर ली तो क्या दशा हुई उनकी? भगवान् अपने भक्तका अभिमान रहने ही नहीं देते।

ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥

(मानस, उत्तरकाण्ड, दोहा ७४।७)

अभिमानसे बहुत पतन होता है। उस अभिमानको भगवान् दूर करते हैं। आसुरी सम्पत्ति और जितने दुर्गुण-दुराचार हैं, सब-के-सब अभिमानकी छायामें रहते हैं।

महाभारतमें आया है—बहेड़ेकी छायामें कलियुगका निवास है, ऐसे ही सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्तिका निवास अभिमानकी छायामें है। धनका, विद्याका भी अभिमान आ जाता है। हम साधु हो जाते हैं तो वेश-भूषाका भी अभिमान आ जाता है कि हम साधु हैं। हमें क्या समझते हो—यह भी एक फूँक भर जाती है। अरे भाई, फूँक भर जाय दरिद्रताकी। धनवत्ताकी भरे उसमें तो बात ही क्या है! धनीके यहाँ रहनेवाले मामूली नौकर आपसमें बात करते हैं—'कोई भाग्यके कारण पैसे मिल गये; परंतु सेठमें अक्ल नहीं है।' उनको पूछा जाय, 'तुम ऐसे अक्लमन्द होकर बेअकलके यहाँ क्यों रहते हो'? ऐसे ही पण्डितोंको अभिमानी लोग कहते हैं—'पढ़ गये तो क्या हुआ अक्ल है ही नहीं।' मानो अक्ल तो सब-की-सब उनके पास ही है। दूसरे सब बेअक्ल हैं।

'अकलका अधूरा और गाँठका पूरा' मिलना बड़ा मुश्किल है। धन मेरे पास बहुत हो गया, अब धनकी मुझे जरूरत नहीं है और मेरेमें समझकी कमी है, थोड़ा और समझ लूँ—ऐसे सोचनेवाले आदमी कम मिलते हैं। दोनोंका अजीर्ण हुआ रहता है। दरिद्रताका भी अभिमान हो जाता है। साधारण लोग कहते हैं—'सेठ हैं, तो अपने घरकी सेठानीके हैं। हम क्या धरावें सेठ है तो?' यह बहुत ही खराब है। भगवान् ही बचायें तो आदमी बचता है, नहीं तो हरेक हालतमें अभिमान आ जाता है। इसलिये अभिमानसे सदा सावधान रहना चाहिये।

संतोंका स्वभाव

संतोंके अभिमान नहीं होता। वे भगवान्के प्यारे होते हैं और सबको बड़ा मानते हैं।

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा ८।२)

जितने पुरुष हैं, वे हमारे रामजी हैं और जितनी स्त्रियाँ हैं, वे सब सीताजी—माँ हैं। इस प्रकार उनका भाव होता है। ***'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'***—वे सबको भगवान् मानते हैं, इस कारण उनके भीतर अभिमान नहीं आता। वे ही भगवान्को प्यारे लगते हैं; क्योंकि ***'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'***—वे किसके साथ विरोध करें।

श्रीचैतन्य-महाप्रभुके समयमें जगाई-मधाई नामके पापी थे। उनको नित्यानन्दजीने नाम सुनाया तो उन्हें खूब मारा। मार-पीट सहते हुए वे कहते कि तू हरि बोल, हरि बोल। उनपर भी कृपा की। चैतन्य-महाप्रभुने उनको भक्त बना दिया। उन्होंने ऐसा निश्चय किया कि जो अधिक पापी, धनी एवं पण्डित होते हैं, उनपर विशेष कृपा करनी चाहिये; क्योंकि उनको चेत कराना बड़ा मुश्किल होता है। और उपायोंसे तो ये चेतेंगे नहीं, भक्तिकी बात सुनेंगे ही नहीं; क्योंकि उनके भीतर अभिमान भरा हुआ है। चैतन्य-महाप्रभुने ऐसे लोगोंके द्वारा भी भगवन्नाम उच्चारण करवाकर कृपा की। भगवान्के नाम-कीर्तनमें वे सबको लगाते। पशु-पक्षीतक खिंच जाते उनके भगवन्नाम-कीर्तनमें।

'जग पालक बिसेषि जन त्राता'—ऐसे नाम महाराज दुष्टोंका भी पालन करनेवाले, अभिमानियोंका अभिमान दूर कराकर भजन करानेवाले एवं साधारण मनुष्योंको भी भगवान्की तरफ लगानेवाले हैं। ये सबको लगाते हैं कि सब भगवान्के प्यारे बन जायँ। **'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः'**—केवल नीरोग ही नहीं, भगवान्के प्यारे भक्त बन जायँ—यह उन नाम-महाराजकी इच्छा रहती है। इसी प्रकार संतोंके दर्शनसे भी बड़ा पुण्य होता है, बड़ा भारी लाभ होता है। क्यों होता है? उनके हृदयमें भगवद्बुद्धि बनी रहती है और वे सबकी सेवा करना चाहते हैं। इस कारण उनके दर्शनमात्रका असर पड़ता है। स्मरणमात्रका एवं उनकी बातमात्रका असर पड़ता है। क्योंकि उनके हृदयमें भगवद्भाव और सेवा-भाव लबालब भरे रहते हैं। इसलिये उनके दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन आदिका लोगोंपर असर पड़ता है, लोगोंका बड़ा भारी कल्याण होता है।

जैसे बीड़ी-सिगरेट पीनेवाले लोग अपनी टोली बना लेते हैं, वैसे संत लोग भी कुछ-न-कुछ अपनी टोली बना लेते हैं। आप-से-आप उनकी टोली बन जाती है। भजन करनेवाले इकट्ठे हो जाते हैं और भजनमें लग जाते हैं। बहुत युगोंसे यह परम्परा चली आ रही है। बड़े-बड़े अच्छे महात्माओंको हुए सैकड़ों वर्ष हो गये; परंतु फिर भी उनके नामसे उनके क्षेत्र

चल रहे हैं। वहाँ भगवन्नाम-जप, स्मरण-कीर्तन, उपकार, दान, पुण्य, दुनियाका हित आदि होता रहता है। नाम-महाराजके प्रभावसे ऐसा होता है। भगवान्‌का नाम अपने भक्त-जनोंका विशेष त्राता है, अर्थात् विशेषतासे रक्षा करनेवाला है।

भगति सुतिय कल करन बिभूषन। जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २०। ६)

'र' और 'म'—ये दोनों अक्षर भक्तिरूपिणी जो श्रेष्ठ स्त्री है, उसके कानोंमें सुन्दर कर्ण-फूल हैं। हाथोंमें भूषण होते हैं और पैरोंके भी भूषण होते हैं, फिर यहाँ केवल कर्ण-भूषण कहनेका क्या तात्पर्य? कानोंसे 'राम' नाम सुननेसे भक्ति उसके हृदयमें आ जाती है। इसलिये 'राम' नाम भक्तिके कर्ण-भूषण हैं। भक्तिको हृदयमें बुलाना हो तो 'राम' नामका जप करो। इससे भक्ति दौड़ी चली आयेगी। भीतर विराजमान हो जायेगी और निहाल कर देगी।

'जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन'—चन्द्रमा और सूर्य—ये दो भगवान्‌की आँखें हैं। दोनों रात-दिन प्रकाश करते हैं। इन दोनोंसे जगत्‌का हित होता है

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

(गीता १५। १२)

सूर्यके प्रकाशसे एवं गर्मीसे वर्षा होती है और उससे खेती होती है।

'तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च'—सूर्यभगवान् वर्षा करते हैं। वर्षाके होनेसे धान बढ़ता है, घास बढ़ती है, खेती बढ़ती है। खेतीमें जहरीलापन सुखाकर पकानेमें सूर्यभगवान् हेतु होते हैं और खेतीको पुष्ट करनेमें चन्द्रमा हेतु होते हैं। खेती करनेवाले कहा करते हैं कि अब चान्दना (शुक्ल) पक्ष आ गया, अब खेती बढ़ेगी; क्योंकि चन्द्रमा अमृतकी वर्षा करते हैं, जिससे फल-फूल लगते हैं और बढ़ते हैं।

वायुमण्डलमें जो जहरीलापन होता है, उसको सूर्यका ताप नष्ट कर देता है। कभी वर्षा नहीं होती, अकरी आ जाती है तो लोग कहते हैं—झांझली आ गयी। वह झांझली भी आवश्यक होती है, नहीं तो यदि हरदम वर्षा होती रहे तो वायुमण्डलमें, पौधोंमें जहरीलापन पैदा हो जाता है। इस जहरीलेपनको सूर्य नष्ट कर देता है। इसलिये सूर्य पोषण करता है और चन्द्रमा अमृत-वर्षा करता है। गोस्वामीजी दोनों प्रकारकी ऋतुओंका वर्णन आगे करेंगे।

दोनों पक्षोंमें चन्द्रमाका प्रकाश समान ही रहता है, पर एक पक्षमें घटता है और दूसरेमें बढ़ता है—ऐसा लोग मानते हैं। रोजाना रात और दिनमें चन्द्रमाकी घड़ियाँ मिलाकर देखी जायँ तो बराबर होती हैं। इसी प्रकार आजकी आधी रातसे दूसरे दिन आधी राततक आठ पहरकी घड़ियोंका १५ दिनोंका मिलान करनेसे शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षके पंद्रह दिनोंमें प्रकाशकी और अन्धेरेकी घड़ियाँ बराबर आयेंगी। फिर यह शुक्ल और कृष्णपक्ष क्या है? चन्द्रमा शुक्लपक्षमें पोषण करता है, अमृत बरसाता है, जिससे वृक्षोंके फल बढ़ते हैं, बहनों-माताओंके गर्भ बढ़ते हैं और उन सबको पोषण मिलता है। चन्द्रमासे सम्पूर्ण बूटियोंमें विलक्षण अमृत आता है और सूर्यसे वे पकती हैं। जैसे सूर्य और चन्द्रमा सम्पूर्ण जगत्‌का हित करते हैं, वैसे ही भगवान्‌के नामके जो 'र' और 'म' दो अक्षर हैं, वे सब तरहसे पोषण करनेवाले हैं।

'जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन'—यह 'राम' नाम विमल है। चन्द्रमा और सूर्यपर राहु और केतुके आनेसे ग्रहण होता है, परंतु 'राम' नामपर ग्रहण नहीं आता। चन्द्रमा घटता-बढ़ता रहता है, पर राम तो बढ़ता ही रहता है। ***'राम कभी फूटत नाहीं'*** यह फूटता नहीं, रात-दिन बढ़ता ही रहता है। यह सदा ही शुद्ध है, इसलिये जगत्‌के हितके लिये निर्मल चन्द्रमा और सूर्यके समान हैं।

भगवान्‌के नामके दो अक्षर 'रा' और 'म' हैं, जिनकी महिमा गोस्वामीजी महाराज कह रहे हैं। यह महिमा ठीक समझमें तब आती है, जब मनुष्य नाम-जप करता है। भगवान्‌ने कृपा कर दी, यह मनुष्य-शरीर दे दिया, सत्सङ्ग सुननेको मिल गया। अब नाम-जपमें लग जाओ। इस जमानेमें जो थोड़ा भी जप करते हैं, उनकी बड़ी भारी महिमा है। कलियुगमें सब चीजोंके दाम बढ़ गये तो क्या भगवन्नामके दाम नहीं बढ़े हैं? अभी भजनकी महिमा अन्य युगोंकी अपेक्षा बहुत ज्यादा बढ़ी है।

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २२। ८)

राम ! राम !! राम !!!

प्रवचन—४

अमृतमय 'राम' नाम

स्वाद तोष सम सुगति सुधा के। कमठ सेष सम धर बसुधा के॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २०। ७)

जीवका कल्याण हो जाय, इससे ऊँची कोई गति नहीं है। ऐसी जो श्रेष्ठ गति (मुक्ति) है, उसको 'सुगति' कहते हैं,

परम सिद्धि भी वही है, जो इस 'राम' नामसे प्राप्त हो जाती है। *'स्वाद तोष सम'*—अमृतके स्वाद और तृप्तिके समान 'राम' नाम है। जैसे, भोजन किया जाता है तो उसमें बढ़िया रस आता है। भोजन करनेके बादमें तृप्ति और सन्तोष होता है, ऐसे ही यह 'राम' नाम सुगति और सुधाके स्वाद और तोष (तृप्ति) के समान है। मानो 'र' मधुरिमा और 'म' सन्तोष है। 'रा' कहते ही मुख खुलता है और 'म' कहते ही बन्द होता है। भोजन करते समय मुख खुलता है और तृप्ति होनेपर मुख बन्द हो जाता है। इस प्रकार 'रा' और 'म' अमृतके स्वाद और तोषके समान हैं।

भोजनकी परीक्षाके लिये जीभपर रस लेकर तालुसे लगानेपर पता लग जाता है कि उसमें रस कैसा है। जहाँसे रस लिया जाता है, वहाँसे ही 'र' का उच्चारण होता है। 'र' कहनेमें सुधाका स्वाद आता है और 'म' कहनेमें तोष हो जाता है। राम, राम, राम···· ऐसे कहते हुए एक बहुत विलक्षण रस आता है। उससे सदाके लिये तृप्ति हो जाती है। नाममें रस आनेपर फिर दूसरे रसोंकी जरूरत नहीं रहती। जिनको भगवन्नाममें रस आ जाता है, उनकी संसारके विषयोंसे रुचि हट जाती है। जबतक संसारके विषयोंकी रुचि रहती है, तबतक भगवन्नाममें रस नहीं आता है। भगवान्के नाममें जब रस आना शुरू हो जाता है, फिर सब रस फीके हो जाते हैं।

श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं—'यदि 'राम' नाम मेरेको मीठा लगता तो सब-के-सब रस फीके हो जाते'। भोजनके छः रस और काव्यके नौ रस होते हैं। ये सब फीके हो जाते हैं; क्योंकि ये सब बाह्य हैं। उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थोंसे मिलनेवाला रस 'नीरसता'में बदल जाता है। **'विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्'**—संसारमें जितने रस हैं, वे विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे होनेवाले हैं। वे आरम्भमें अमृतके समान लगते हैं, परंतु **'परिणामे विषमिव'**—परिणाममें जहरकी तरह होते हैं। इस तरफ विचार न करनेसे मनुष्य विषयोंमें फँसता है। जो विचारवान् सात्त्विक पुरुष होते हैं, वे पहले परिणामकी तरफ देखते हैं, इस कारण वे फँसते नहीं।

सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम्।

सज्जनो ! ये बातें ऐसे ही केवल कहने-सुननेकी नहीं हैं, समझनेकी हैं और समझकर काममें लानेकी हैं। आदमीको सोच-समझकर काम करना चाहिये। विचारपूर्वक काम करनेवालेको परिणाममें कष्ट नहीं उठाना पड़ता।

बिना बिचारे जो करे सो पाछे पछताय,
काज बिगारे आपना जगमें होत हँसाय।
जगमें होत हँसाय चित्तमें चैन न पावे,
राग रंग सन्मान ताहिके मन नहिं भावे।
कह गिरधर कविराय करम गति टरे न टारे,
खटकत है हिय माँहि करे जो बिना बिचारे॥

बिना विचार किये काम करनेसे आगे दुःख पाना पड़ता है और वह बात हृदयमें भी खटकती रहती है। मनुष्य अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग कर दे और दूसरोंके हितके लिये काम करे तो उसका जीवन सफल हो जाय। सात्त्विक वृत्तियोंकी मुख्यता रखकर अर्थात् विचारपूर्वक प्रत्येक कार्य करना चाहिये। लोग भोजन करते हैं तो दुःख, शोक और रोग देनेवाले राजसी भोजनमें प्रवृत्त होते हैं। जान-बूझकर कुपथ्य कर लेते हैं। छोटे-से जीभके टुकड़ेके वशमें होकर साढ़े तीन हाथके शरीरका नुकसान कर लेते हैं। अगर विवेक होता तो शरीरका नाश क्यों कर लेते ? इतना ही नहीं, अभक्ष्य-भक्षण करके नरकोंकी तैयारी कर लेते हैं।

'राम' नामकी महिमा कहते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—'सुगति' रूपी जो सुधा है, यह सदाके लिये तृप्त करनेवाली है। सदाके लिये लाभ हो जाय, जिस लाभके बादमें कोई लाभ बाकी नहीं रहता, जहाँ कोई दुःख पहुँच ही नहीं सकता है। ऐसे महान् आनन्दको प्राप्त करानेवाली जो श्रेष्ठ गति है, उसका रस 'राम' नामका जप करनेसे आता है। जो 'राम' नामसे तृप्त हो जाते हैं, वे फिर सांसारिक भोगोंमें फँसेंगे नहीं। उनसे कहना नहीं पड़ेगा कि पाप-अन्याय मत करो। उनकी पाप-अन्यायमें रुचि रहेगी ही नहीं। जिनको भगवन्नामका रस नहीं मिला है, वे धन इकट्ठा करने और भोग-भोगनेमें लगे हैं।

सज्जनो ! माताओ-बहनो ! भगवान्के नाममें रस लो, इसमें तल्लीन हो जाओ। रात-दिन इसमें लग जाओ। आप-से-आप पाप-अन्याय छूट जायेगा। निषिद्ध आचरणोंसे स्वतः ही ग्लानि हो जायेगी। अभी मलिनता अच्छी लगती है, बुरी नहीं लगती, कारण क्या है ? अन्तःकरण मैला है। जो खुद मैला है, उसे मैली चीज ही अच्छी लगेगी। मक्खियाँ मिठाईपर तभीतक बैठी रहती हैं कि जबतक मैलेकी टोकरी पाससे होकर न निकले। मुँहपर मक्खियाँ बैठने लगें तो बढ़िया सुगन्धवाला इत्र थोड़ा-सा लगा लो फिर मक्खियाँ नहीं आयेंगी; क्योंकि उनको सुगन्धि सुहाती ही नहीं। **'मक्षिका व्रणमिच्छन्ति'**—वे तो घावपर जहाँ पीप-खून मिले, वहाँ बैठेंगी। ऐसे ही जिसका मन अशुद्ध होता है, वह ही मलिन वस्तुओंकी तरफ आकृष्ट

होता है। भगवान्‌के नाम-रूपी सुगन्धके मिलनेपर फिर मैली वस्तुओंकी तरफ मन नहीं जायेगा।

सज्जनो ! यह बड़ा सुगम उपाय है। भगवान्‌के नामका जप करो और प्रभुके चरणोंका सहारा रखो। जैसे साधारण मनुष्य धन कमाने और भोग-भोगनेमें रस लेते हैं, वैसे ही भगवत्प्रेमीको भगवन्नाम, सत्संग और सत्-शास्त्रोंके अध्ययनमें रस लेना चाहिये। इस रसके लिये ही मानव जीवन मिला है जिसे 'राम' नाम लेनेमें रस आने लगेगा, वह रात-दिन नाम जपमें लग जायगा, फिर वह संसारके विषयोंमें फँसेगा ही कैसे ?

संत-संगकी महिमा

श्रीचैतन्य-महाप्रभुके कई शिष्य हुए हैं। उनमें एक यवन हरिदासजी महाराज भी थे। वे थे तो मुसलमान, पर चैतन्य-महाप्रभुके संगसे भगवन्नाममें लग गये। सनातन धर्मको स्वीकार कर लिया। उस समय बड़े-बड़े नवाब राज्य करते थे, उनको बड़ा बुरा लगा। लोगोंने भी शिकायत की कि यह काफिर हो गया। इसने हिन्दूधर्मको स्वीकार कर लिया। उन लोगोंने सोचा—'इसका कोई-न-कोई कसूर हो तो फिर अच्छी तरहसे इसको दण्ड देंगे।'

एक वेश्याको तैयार किया और उससे कहा—'यह भजन करता है, इसको यदि तू विचलित कर देगी तो बहुत इनाम दिया जायगा।' वेश्याने कहा—'पुरुष जातिको विचलित कर देना तो मेरे बायें हाथका खेल है।' ऐसे कहकर वह वहाँ चली गयी जहाँ हरिदासजी एकान्तमें बैठे नाम-जप कर रहे थे। वह पासमें जाकर बैठ गयी और बोली—'महाराज, मुझे आपसे बात करनी है।' हरिदासजी बोले—'मुझे अभी फुरसत नहीं है।' ऐसा कहकर भजनमें लग गये। ऐसे उन्होंने उसे मौका दिया ही नहीं। तीन दिन हो गये, वे खा-पी लेते और फिर ***'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥'*** मन्त्र-जपमें लग जाते। ऐसे वेश्याको बैठे तीन दिन हो गये, पर महाराजका उधर खयाल ही नहीं है, नाममें ही रस ले रहे हैं। अब उस वेश्याका भी मन बदला कि तू कितनी निकृष्ट और पतित है। यह बेचारा सच्चे हृदयसे भगवान्‌में लगा हुआ है इसको विचलित कर नरकोंकी ओर तू ले जाना चाहती है, तेरी दशा क्या होगी ? इतना भगवन्नाम सुना, ऐसे विशुद्ध संतका संग हुआ, दर्शन हुए। अब तो वह रो पड़ी एकदम ही 'महाराज ! मेरी क्या दशा होगी, आप बताओ ?'

जब महाराजने ऐसा सुना तो बोले—'हाँ, हाँ ! बोल अब फुरसत है मुझे। क्या पूछती हो ?' वह कहने लगी—'मेरा कल्याण कैसे होगा ? मेरी ऐसी खोटी बुद्धि है, जो आप भजनमें लगे हुएको भी नरकमें ले जानेका विचार कर रही थी। मैं आपको पथभ्रष्ट करनेके लिये आयी। नवाबने मुझे कहा कि तू उनको विचलित कर दे, तेरेको इनाम देंगे। मेरी दशा क्या होगी ?' तो उन्होंने कहा 'तुम नाम-जप करो, भगवान्‌का नाम लो।'

फिर बोली—'अब तो मेरा मन भजन करनेका ही करता है, भविष्यमें कोई पाप नहीं करूँगी, कभी नहीं करूँगी।' हरिदासजीने उसे माला और मन्त्र दे दिया। 'अच्छा यह ले माला ! बैठ जा यहाँ और कर हरि भजन।' उसे वहाँ बैठा दिया और वह—***'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥'*** इस मन्त्रका जप करने लगी। हरिदासजीने सोचा—'यहाँ मेरे रहनेसे नवाबको दुःख होता है तो छोड़ो इस स्थानको और दूसरी जगह चलो।'

एकान्तमें दो-तीन दिनतक वेश्या बैठी रही, फिर भी हरिदासजीका मन नहीं चला—इसमें कारण क्या था ? 'राम' नामका जो रस है, वह भीतरमें आ गया। अब बाकी क्या रहा ! सज्जनो ! संसारके रससे सर्वथा विमुख होकर जब भगवन्नाम-जपमें प्रेमपूर्वक लग जाओगे, तब यह भजनका रस स्वतः आने लगेगा। इसलिये 'राम' नाम रात-दिन लो, कितनी सीधी बात है !

नाम लेने का मजा जिसकी जुबाँ पर आ गया।
वो जीवन्मुक्त हो गया चारों पदार्थ पा गया॥

किसी व्यापारमें मुनाफा कब होता है ? जब वह बहुत सस्तेमें खरीदा जाय, फिर उसका भाव बहुत मँहगा हो जाय, तब उसमें नफा होता है। मान लो, दो-तीन रुपये मनमें अनाज आपके पास लिया हुआ है और भाव चालीस, पैंतालीस रुपये मनका हो गया। लोग कहते हैं, अनाजका बाजार बड़ा बिगड़ गया, पर आपसे पूछा जाय तो आप क्या कहेंगे ? आप कहेंगे कि मौज हो गयी। आपके लिये बाजार खराब नहीं हुआ। ऐसे ही 'राम' नाम लेनेमें सत्ययुगमें जितना समय लगता था, उतना ही समय अब कलियुगमें लगता है। पूँजी उतनी ही खर्च होगी और भाव होगा कलियुगके बाजारके अनुसार। कितना सस्ता मिलता है और कितना मुनाफा होता है इसमें ! कलियुगमें नामकी महिमा विशेष है।

भगवन्नाममें शक्ति

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥

नाम्नामकारि बहुधा निज सर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः॥

श्रीचैतन्य-महाप्रभुने कहा है कि नाममें भगवान्‌ने अपनी

सब-की-सब शक्ति रख दी। अनेक साधनोंमें जो शक्ति है, सामर्थ्य है, जिन साधनोंके करनेसे जीवका कल्याण होता है, कलियुगको देखकर भगवान्‌ने भगवन्नाममें उन सब साधनोंकी शक्ति रख दी। जो अनेक साधनोंमें ताकत है, वह सब ताकत नाम महाराजमें है। इसे स्मरण करनेके लिये समयका प्रतिबन्ध भी नहीं है। सुबह, दोपहर या रातमें, किसी समय जप करें। 'ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य ही करें, दूसरे न करें, भाई लोग जप करें, माता-बहनें न करें'—ऐसा कोई नियम नहीं है।

कलिसंतरणोपनिषद्‌में नाम-महिमा आयी है। एक बार नारदजी ब्रह्माजीके पास गये। ब्रह्माजीने पूछा—'कैसे आये हो?' नारदजीने कहा—'पृथ्वीमण्डलपर अभी कलियुग आया हुआ है। इस कलियुगमें जीवोंका उद्धार सुगमतापूर्वक कैसे हो?' ब्रह्माजीने कहा—'कलियुगके पापोंको दूर करनेके लिये यह महामन्त्र है—***'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'*** इति **षोडशकं कल्मषनाशनम्**' भगवन्नाम ही इस कलियुगमें सुगम साधन है।

फिर नारदजीने पूछा—'**कोऽस्ति विधिरिति सहोवाच प्रजापतिः**' भगवन्नाम लेनेकी विधि क्या है? तो ब्रह्माजीने उत्तर दिया—'**नास्ति विधिः**।' कोई कैसा ही हो पापी हो या पुण्यात्मा वह नाम जपता हुआ सायुज्य, सालोक्य आदि मुक्तियोंको प्राप्त कर लेता है। इसलिये नाम लिये जाओ बस। कलियुगी जीवोंके लिये कितनी सुगम बात बता दी! अगर विधियाँ बता देते तो मुश्किल हो जाती। नाम-जपमें निषेध कुछ है ही नहीं। ***'सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू'*** सबके लिये सुलभ है। '**सुलभं भगवन्नाम वागस्ति वशवर्तिनी**।' भगवान्‌का नाम सुलभ है, इसपर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया है। वर्तमान सरकारने भी कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया है, आगे खतरा हो सकता है, परंतु अभी कोई प्रतिबन्ध नहीं है। खुला नाम लो भले ही, कोई मना नहीं है।

राम दड़ी चौड़े पड़ी, सब कोई खेलो आय।
दावा नाहीं सन्तदास, जीते सो ले जाय॥

किसीका दावा नहीं है। सब कोई भगवान्‌का नाम ले सकते हैं। जैसे बापकी जगहपर बेटेका हक लगता है, वैसे भगवन्नामपर हमारा पूरा-का-पूरा हक लगता है; क्योंकि यह हमारे बापका नाम है। ऐसा अपनेको अधिकार मिला हुआ है। कितनी मौजकी बात है, कितने आनन्दकी बात है यह! मनुष्य-शरीर मिल गया और फिर इसमें भगवान्‌का नाम मिल गया।

हाथ काम मुख राम है, हिरदे साँची प्रीत।
दरिया गृहस्थी साध की, याही उत्तम रीत॥

हाथोंसे अपना काम करते हुए मुँहसे 'राम' नाम जप करते रहें। बहनें-माताएँ घरका काम करें। भाई लोग खेतोंमें या दूकानोंमें काम करें। वे जहाँ हों, वहाँ ही रहकर काम करते रहें। हृदयमें भगवान्‌से स्नेह बना रहे। हमें भगवान्‌की तरफ ही चलना है। मनुष्य-शरीर मिला है इसलिये उद्धार करना है। हृदयमें सच्चा प्रेम भगवान्‌से हो, सांसारिक पदार्थोंसे, भोगोंसे न हो। संतोंने कहा है—

नर तन दीनो रामजी, सतगुरु दीनो ज्ञान,
ए घोड़ा हाँको अब, ओ आयो मैदान।
ओ आयो मैदान बाग करड़ी कर सावो,
हृदय राखो ध्यान नाम रसनासे गावो।
कुण देख सगराम कहे आगे काढ़े कान,
नर तन दीनो रामजी, सतगुरु दीनो ज्ञान॥
कह दास सगराम बरगड़े घालो घोड़ा,
भजन करो भरपूर रह्या दिन बाकी थोड़ा।
थोड़ा दिन बाकी रह्या कद पहुँचोला ठेट,
अध बिचमें बासो बसो तो पड़सो किणरे पेट।
पड़सो किणरे पेट पड़ेला भारी फोड़ा,
कह दास सगराम बरगड़े घालो घोड़ा॥

ऐसा बढ़िया मौका आ गया है। कितना सीधा, सरल रास्ता संतोंने बता दिया! ***'संतदास सीधो दड़ो सतगुरु दियो बताय'***, '**धावन्निमिल्य वा नेत्रे न स्खलेन्नपतेदिह**।' इस मार्गमें मनुष्य न स्खलित होता है, न गिरता है, न पड़ता है—ऐसा सीधा और सरल रास्ता है। संतोंने कृपा करके बता दिया। हर कोई ऐसी गुप्त बात बताते नहीं हैं—

राम नामकी संतदास दो अन्तर धक धूण।
या तो गुपती बात है कहो बतावे कूण॥

तुलसीदासजी कहते हैं ***'कमठ सेष सम धर बसुधा के'***—'राम' नामके दो अक्षर 'र' और 'म' शेषनाग और कमठके समान हैं। जैसे पृथ्वीको धारण करनेवाले शेष और कमठ हैं, ऐसे यह जो 'राम' नाम है इसमें 'र' शेषनाग है ('र' का आकार भी ऐसा ही होता है) और 'म' कमठ (कछुआ) है। संसारमात्रको धारण करनेमें रामजी महाराज कमठ और शेषके समान हैं। अपने भक्तको धारण करनेमें उनके कौन बड़ी बात है!

सरवर पर गिरवर तरे, ज्यूँ तरवरके पात।
जन रामा नर देहको तरिबो किती एक बात॥

भगवान्‌के नामसे समुद्रके ऊपर पत्थर तैर गये तो मनुष्यका उद्धार हो जाय—इसमें क्या बड़ी बात है! भगवान्‌ने उद्धार करनेके लिये ही इसको मनुष्य-शरीर दिया।

भगवान्‌ने भरोसा किया कि यह अपना उद्धार करेगा। सज्जनो! मुफ्तमें बात मिली हुई है। भगवान्‌ने जब विचार किया कि यह उद्धार करे तो भगवान्‌की कृपा एवं उनका सङ्कल्प हमारे साथ है। पतनमें हमारा अपना हाथ है, उसमें भगवान्‌का हाथ नहीं है। उनका संकल्प हमारे उद्धारका है, कितनी भारी मदद है! सब संत, ग्रन्थ, धर्म, सद्गुरु, सत्-शास्त्र हमारे साथ हैं। ऐसा भगवान्‌का नाम है। केवल हम थोड़ी-सी हाँ-में-हाँ मिला दें। आगे गोस्वामीजी कहते हैं—

जन मन मंजु कंज मधुकर से। जीह जसोमति हरि हलधर से॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २०।८)

ये नाम महाराज भक्तोंके मन-रूपी सुन्दर कमलमें विहार करनेवाले भौंरेके समान हैं और जीभरूपी यशोदाजीके लिये श्रीकृष्ण और बलरामजीके समान आनन्द देनेवाले हैं। भक्तोंका मन बहुत सुन्दर कमलके समान है, उसके ऊपर राम, राम, राम······नामरूपी भँवरे मँडरा रहे हैं। ये मनके ऊपर बैठे हैं। मन हरदम भगवान्‌के नाममें लगा हुआ है। इस कारण भक्तोंको दूसरी चीज सुहाती नहीं। भगवन्नाममें यदि कोई बाधा लगती है तो वह उन्हें सुहाती नहीं है।

भजनानंदी संत

जोधपुरमें श्रीबुधारामजी महाराज हुए हैं। 'बागर'में उनका रामद्वारा है। वे माताजीसहित वहाँ रहते थे। इनको खेड़ापा महाराजका उपदेश हो गया तो रात-दिन 'राम' नाम जपमें लग गये। जब रसोई बनकर तैयार हो जाती तो माँ कह देती—'बेटा! रोटी बन गयी है।' तब वे आकर भोजन कर लेते, फिर वैसे ही राम, राम······ करने लग जाते। एक बार वे अपनी माँसे बोले—'माँ, रोटी मत बनाया कर। रोटी चबानेमें जितना समय लगता है, उतना समय नाम-जपके बिना चला जाता है, इसलिये तू खिचड़ी या खीचड़ा बना दिया कर।' अब खिचड़ी परोसे तो वह बहुत देरतक गरम रहती थी। तो कहा—'माँ, जब ठण्डी हो जाय, तब मेरेको कहा कर। अब इस अन्नकी उपासना कौन करे, देर लगती है।' फिर एक दिन कहा—'माँ, राबड़ी बना दिया कर।' माँ आटा घोलकर राबड़ी बना देती। वह ठण्डी होनेपर गट-गट पी लेते। फिर राम, राममें लगे रहते।

भजन करनेमें लगे हुएको भोजन करनेमें समय लगाना ठीक नहीं लगता है। अब स्वाद तो ले ही कौन? क्या बढ़िया देखे और क्या घटिया? प्राणोंको रखना है, इसलिये अन्नकी खुराक दे दो—

कबीर छुधा है कूकरी तन सों दई लगाय।
याको टुकड़ा डालकर पीछे हरि गुण गाय॥

गोस्वामीजी कहते हैं—***'जीह जसोमति हरि हलधर से'***—माता यशोदाकी गोदमें कन्हैया और बलदाऊ—दोनों खेलते हैं। भगवान्‌के भक्तोंकी जो जीभ है, वह यशोदाजीके समान है। उनकी गोदमें 'रा' और 'म' रूपी कन्हैया और दाऊ भैया खेल रहे हैं। बालकको माँकी गोदमें खेलनेमें आनन्द आता है। मनमें 'भँवरे' रूपसे 'राम' नाम है, जीभपर राम-नाम ***'हरि हलधर से'*** हैं। इसलिये भक्तलोग मनसे भी 'राम' नाम और जीभसे भी'राम' नाम जपते रहते हैं। मनसे, वाणीसे, इन दोनों अक्षरोंमें तल्लीन होकर रात-दिन भजन करते हैं। किसी तरहकी कोई इच्छा, तृष्णा और वासना उनमें रहती ही नहीं। इस प्रकार इन 'र' और 'म' अक्षरोंकी महिमा कहाँतक कही जाय! इनको लेनेसे ही इनका रस अनुभवमें आता है। इसलिये हर समय भगवन्नाम-जप करते ही रहना चाहिये।

राम! राम!! राम!!!

प्रवचन—५

वास्तवमें छत्रपति कौन ?

एकु छत्रु एकु मुकुटमनि सब बरननि पर जोउ।
तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत दोउ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २०)

तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—श्रीरामजी महाराजके नामके—ये दोनों अक्षर बड़ी शोभा देते हैं। इनमेंसे एक 'र' छत्ररूपसे और दूसरा 'म' (अनुस्वार) मुकुटमणिरूपसे सब अक्षरोंके ऊपर है। राजाके दो खास चिह्न होते हैं—एक छत्र और एक मणि। 'मणि' मुकुटके ऊपर रहती है और 'छत्र' सिंहासनपर रहता है। राजाका खास शृङ्गार 'मणि' होता है। वर्षा और धूपसे बचनेके लिये छाता सब लोग लगाते हैं, पर राजाका छत्र वर्षा और धूपसे बचनेके लिये नहीं होता। उससे उनकी शोभा है और 'छत्र'के कारण वे छत्रपति कहलाते हैं।

महाराजा रघुने 'विश्वजित् याग' किया। उन्होंने अपने पास तीन चीजें ही रखीं—एक छत्र और दो चँवर। और सब कुछ दे दिया, अपने पास कुछ भी नहीं रखा। संसारमात्रपर विजय करना 'विश्वजित् याग' कहलाता है। संसारपर जीत कब होती है? सर्वस्व त्याग करनेसे। संसारमें ऐसा देखा जाता है कि दूसरोंपर दबाव डालकर अपना राज्य बढ़ा लेनेवाला विजयी कहलाता है, पर वास्तवमें वह विजयी नहीं है। गीताने कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

(५ । १९)

यहाँ जीवित अवस्थामें ही इस संसारपर वे लोग विजयी हो गये, जिनका मन साम्यावस्थामें स्थित हो गया। मानो हानि-लाभ हो, सुख-दुःख हो, अनुकूलता हो या प्रतिकूलता हो, पर जिनके चित्तपर कोई असर नहीं पड़ता, वे ज्यों-के-त्यों सम, शान्त, निर्विकार रहते हैं—ऐसे लोग ही वास्तवमें संसारपर विजयी होते हैं।

भाइयो ! बहनो ! आप खयाल करना। इस बातकी तरफ खयाल बहुत कम मनुष्योंका जाता है। लोग ऐसा समझते हैं कि हम बहुत ज्यादा पढ़े-लिखे हैं। हमारे व्याख्यानमें बहुत आदमी आनेसे हम बड़े हो गये। इसमें थोड़ी सोचनेकी बात है, वे बड़े हुए कि हम बड़े हुए ! अगर आदमी कम आवें तो हम छोटे हो गये। आदमी ज्यादा आवें या कम आवें, हममें योग्यता हो या अयोग्यता, धन आ जाय या चला जाय, हमारी निन्दा हो जाय या स्तुति हो जाय—इनका हमारेपर कुछ भी असर न पड़े, तब हम बड़े हुए। नहीं तो हम बड़े कैसे हुए !

वास्तवमें छत्रपति कौन होता है ? 'राम' नाम लेनेवाला छत्रपति होता है। भगवान्‌के नामके जो रसिक होते हैं, उनके पास धन आवे-न-आवे, मान हो जाय, अपमान हो जाय; उनको नरक हो जाय, स्वर्ग हो जाय, उनके कोई फर्क नहीं पड़ता। नाम महाराजका जिसके सहारा है; वही वास्तवमें छत्रपति है। उसकी हार कभी होती ही नहीं। वह सब जगह ही विजयी है; क्योंकि नाम लेनेवालेका स्वयं भगवान् आदर करते हैं और उसे महत्त्व देते हैं ***'मैं तो हूँ भगतनको दास, भगत मेरे मुकुट मणि'*** दुनियामें आप किसीके अधीन बनो तो वह आपको अपना गुलाम बना लेगा और आप बड़ा बन जायगा। पर आप भगवान्‌के दास बन जाओ तो भगवान् आपको अपनेसे बड़ा मानेंगे—ऐसी क्षमता भगवान्‌में ही है और किसीमें नहीं है। भगवान्‌का नाम भगवान्‌से भी बड़ा बना देता है। भगवन्नाम भगवान्‌से भी बड़ा है। पाण्डवगीतामें आया है—भगवान् शरण होनेपर मुक्ति देते हैं, पर भगवान्‌का नाम ऐसा है, जो उच्चारणमात्रसे मुक्ति दे देता है। इसलिये भगवान्‌का नाम बड़ा हुआ। इसका आश्रय लेनेवाला भी बड़ा हो जाता है, जैसे छत्रका आश्रय लेनेवाला छत्रपति हो जाता है।

आजकल लोग धनसे धनपति, लखपति, करोड़पति कहलाते हैं—यह वहम ही है। यदि लाख रुपये चले जायँ तो मुश्किल हो जाय। अचानक घाटा लग जाय तो हार्टफेल हो जाय। वह धनपति कैसे हुआ ? वह तो धनदास ही हुआ, धन उसका मालिक हुआ। धन महाराज चले गये, अब बेचारा दास कैसे बचे ? वास्तवमें वह धनपति नहीं है। वह यदि मर जाय तो कौड़ी एक भी साथ नहीं चले। साथमें चलनेवाला धन जिसके पास होता है, वह कभी भी छोटा नहीं होता। ऐसा 'राम' नामरूपी धन जिसके पास है, वही असली धनपति है।

संसारमें किसी वर्ण, आश्रम, विद्या, योग्यता, धन, बुद्धि, राज्य, पद, मान, आदर, सत्कार आदिमें कोई छोटा भी हो सकता है; परंतु वह यदि भगवान्‌का भजन करता है तो छोटा नहीं है; क्योंकि उसके मनमें संसारकी गुलामी नहीं रहती है। ऐसी जो सबसे बड़ी चीज है, वह सबको मुफ्तमें सुगमतासे मिल सकती है—

जाट भजो गूजर भजो, भावे भजो अहीर ।
तुलसी रघुबर नाममें, सब काहू का सीर ॥

भगवान्‌के नामपर सबका हक लगता है। हजारों आदमी भगवान्‌के नामका जप करें तो एकको हजारवाँ हिस्सा भगवान्‌का मिलेगा—यह बात नहीं है। सब-के-सब पूरे हकदार हैं। चाहे लाखों, करोड़ों, अरबों आदमी भजन करनेवाले हों, एक-एक आदमीको पूरा माहात्म्य मिलेगा। ऐसे नहीं कि एक-एकको हिस्सेवार माहात्म्य मिलेगा। सब-के-सब पूर्ण हो सकते हैं; क्योंकि भगवान्‌का नाम, उनकी महिमा, तत्त्व, प्रभाव, रहस्य, लीला आदि सब पूर्ण-ही-पूर्ण हैं।

सज्जनो ! ऐसे भगवान्‌के नामको छोड़कर धनके पीछे आपलोग पड़े हैं। भोगोंके, मान-बड़ाईके और आरामके पीछे पड़े हैं। न ये चीजें रहनेवाली हैं, न आराम और भोग रहनेवाले हैं, न मान-बड़ाई रहनेवाली है, न वैभव रहनेवाला है। ये सब जानेवाले हैं और आप रहनेवाले हो। फिर भी जानेवालेके गुलाम बन गये। बड़े दुःखकी बात है, पर करें क्या ? भीतरमें यह बात जँची हुई है कि इनसे ही हमारी इज्जत है। इनसे आपकी खुदकी बेइज्जती है, पर इधर दृष्टि ही नहीं जाती। मनुष्य यह खयाल ही नहीं करता कि इसमें इज्जत किसकी है ! सब लोग 'वाह-वाह' करें—इसमें आप अपनी इज्जत मानते हैं और कोई आदर नहीं करे, उसमें आप अपनी बेइज्जती मानते हैं, यह अपनी खुदकी इज्जत नहीं है। आप पराधीन होनेको इज्जत मानते हो।

नाम और नामीकी महिमा

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २१ । १)

समझनेमें नाम और नामी—दोनों एक-से हैं; परंतु दोनोंमें

परस्पर स्वामी और सेवकके समान प्रीति है अर्थात् नाम और नामीमें पूर्ण एकता होनेपर भी जैसे स्वामीके पीछे सेवक चलता है, उसी प्रकार नामके पीछे नामी चलता है। भगवान् अपने नामका अनुगमन करते हैं अर्थात् नाम लेते ही वहाँ जाते हैं।

नाम और नामी—दो चीज हैं। दीखनेमें दोनों बराबर दीखते हैं। जैसे मनुष्योंमें उनके नाम और खुद नामीमें परस्पर प्रीति रहती है, ऐसे 'राम'—यह हुआ नाम और भगवान् रघुनाथजी महाराज हो गये नामी। नाम लेनेसे श्रीरघुनाथजी महाराजका बोध होता है। दोनोंमें भेद न होनेपर भी एक फर्क है। वह क्या है? ***'प्रभु अनुगामी'***—नाम महाराजके पीछे-पीछे राम महाराज चलते हैं। दोनों एक होनेपर भी भगवान्का नाम भगवान्से आगे चलता है। रघुनाथजी महाराज अपने नामके पीछे चलते हैं। यह कैसे? भगवान्का नाम लेनेसे वहाँ भगवान् आ जाते हैं, और भगवान्को आना ही पड़ता है, पर जहाँ भगवान् जायँ, वहाँ उनका नाम आ जाय—यह कोई नियम नहीं है। नामके बिना भगवान्को जान नहीं सकते। इसलिये नाम आँख मीचकर लेते जाओ। वहाँ रघुनाथजी महाराज आ जायँगे। प्रेमसे पुकारकी जाय तो भगवान् उसके आचरणोंकी ओर देखते ही नहीं और बिना बुलाये ही आ जाते हैं।

सुतीक्ष्ण मुनिको भगवान् स्वयं जाकर जगाते हैं। नामके प्रेमीके पीछे रघुनाथजी महाराज चलते हैं। '**अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूययेत्यङ्घ्रिरेणुभिः**' जिनके हृदयमें भोगोंकी, पदार्थोंकी लौकिक कोई भी इच्छा नहीं, मेरी मुक्ति हो जाय, मैं बंधनसे छूट जाऊँ, ऐसी भी मनमें इच्छा नहीं रहे—ऐसे निष्किञ्चन भक्त भगवान्के भजनमें रात-दिन लगे रहते हैं। उनके पीछे-पीछे भगवान् घूमते हैं—भगवान् कहते हैं, उनके पीछे-पीछे मैं डोलता हूँ, जिससे मैं पवित्र हो जाऊँ। भगवान् भी अपवित्र होते हैं क्या? '**पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्**'—भगवान् पवित्रोंके पवित्र हैं। वे भी नामसे पवित्र हो जायँ। नामसे दुनिया पवित्र होती है। करोड़ों ब्रह्माण्ड भगवान्के एक-एक रोममें रहते हैं, जहाँ भगवान्के भक्तकी चरणरज पड़ जाय तो ब्रह्माण्ड पवित्र हो जाय। जो कोई पवित्र होता है, उसके रूपमें भगवान् ही पवित्र होते हैं।

'**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥**'

(गीता ७। १९)

भगवान्में और भगवान्के प्यारे भक्तमें भेद नहीं होता। वे प्रभुके हो गये, इसलिये भक्त प्रभुमय हो जाते हैं।

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः ॥

(अध्यात्म, उत्तरकाण्ड ५। ६१)

अध्यात्म-रामायणके उत्तरकाण्डमें पाँचवाँ सर्ग है, जिसमें रामगीता आती है। रामजीने लक्ष्मणजीको वहाँ उपदेश दिया है। वहाँ वे कहते हैं—शुद्ध सच्चिदानन्द निर्गुण परमात्माका कोई ध्यान करे चाहे सगुणका, वह मेरा ही स्वरूप है। वह जहाँ जाता है, वहाँ उसके चरणोंके स्पर्शकी रजसे त्रिलोकी पवित्र हो जाती है। जहाँ वह जाता है, वहाँ प्रकाश कर देता है। जैसे, सूर्यभगवान् जिस देशमें जाते हैं, वहाँ प्रकाश कर देते हैं। वे प्रकाश करते हैं बाहरका, जब कि संत-महात्मा उनके हृदयमें प्रकाश कर देते हैं; क्योंकि संत-महात्माओंके हृदयमें ठाकुरजी विराजमान रहते हैं, और जो हरदम भगवान्का ही भजन, ध्यान, चिन्तन करते रहते हैं, वे वन्दनीय होते हैं। उनके यही व्यापार है, यही काम-धन्धा है और न कोई उनके काम है, न धन्धा है, न देना है, न लेना है। रात-दिन भगवान्में मस्त रहते हैं। ऐसे वे प्रभुके प्यारे भक्त होते हैं, जो दूसरोंको भी पवित्र कर देते हैं।

ऐसे उन भगवान्का नाम 'राम' है और वे स्वयं नामी कहलाते हैं। दशरथके घर अवतार लेनेवाले भगवान्का नाम भी 'राम' है और '**रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनीति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते**'—जो निर्गुण-निराकार रूपसे सब जगह रम रहा है, उस परमात्माका नाम भी 'राम' है। 'राम' नाम सगुण और निर्गुण दोनोंका है। यह वर्णन आगे आयेगा। यहाँ तो सामान्य रीतिसे नाम और नामीकी बात गोस्वामीजी महाराज कहते हैं। भगवान्के नाममें रात-दिन लग जाय तो रघुनाथजी महाराजको आना पड़ता है। जैसे, बच्चा अपनी माँको पुकारे तो उसकी माँ बैठी नहीं रह सकती। उसको भागकर बच्चेको गोदमें लेना पड़ता है।

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २८। १)

सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव बारिधि गोपद इव तरहीं॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा ११९। ४)

किसी तरहसे नाम लिया जाय, वह फायदा करेगा ही। पर जो आदरके सहित नाम लेता है; गहरी रीतिसे, भीतरके भावसे, प्रेमसे नाम लेता है उसका भगवान्पर विशेष असर

पड़ता है। जैसे, गीली मिट्टीमें गौका पैर रखा हुआ हो और उसमें जल भरा हो तो उसको पार करनेमें क्या जोर आता है? इधर-से-उधर पैर रखा और पार हुए। भगवन्नामका आदरसहित जप करनेवाला गो-पदकी तरह संसार-समुद्रको तर जाता है।

नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २१।२)

'नाम और रूप—दोनों ईश्वरकी उपाधि हैं; भगवान्‌के नाम और रूप—दोनों अनिर्वचनीय हैं, अनादि हैं। सुन्दर (शुद्ध भक्तियुक्त) बुद्धिसे ही इनका दिव्य अविनाशी स्वरूप जाननेमें आता है।' भगवान्‌का स्वरूप और भगवान्‌का नाम—ये दोनों उनकी उपाधियाँ हैं। नामका चिन्तन करो चाहे स्वरूप-चिन्तन करो, दोनों ही भगवान्‌को खींचनेवाले हैं। योगदर्शनमें भी आया है—**'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'**—ऐसे ईश्वरके लक्षण बताये। **'तस्य वाचकः प्रणवः'** और **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'**—उसके नामका जप करना और उसके स्वरूपका स्मरण-चिन्तन करना। भगवान्‌के नामका जप करनेवालेको स्वाभाविक ही भगवान् प्यारे लगते हैं। क्यों प्यारे लगते हैं? प्रभु हमारे हैं इसलिये प्यारे लगते हैं। उनके नामका जप और उनके स्वरूपका स्मरण करना चाहिये।

'अकथ अनादि सुसामुझि साधी'—भगवान् और भगवान्‌के नामकी महिमा कोई कह नहीं सकता। ये दोनों अनिर्वचनीय हैं, इस कारण कोई इनका कथन नहीं कर सकता। ***'रामु न सकहिं नाम गुन गाईं'***—रामजी खुद भी अपने नामकी महिमा नहीं गा सकते, फिर दूसरा क्या कह सकता है? नामकी महिमा कबसे चली, कबसे आरम्भ हुई? तो कहते हैं भगवान्‌का नाम और नामकी महिमा सदासे है। जैसे भगवान् अनादि हैं, ऐसे उनके नामकी महिमा भी अनादि है। श्रेष्ठ बुद्धिसे अच्छी तरह समझकर उनकी सिद्धि की जाती है। भगवान्‌को और उनके नामको गहरा उतरकर समझना चाहिये। गहरा उतरना क्या है? जैसे, भोजन कैसा है? उसका भोजन करनेसे पता लगता है। ऐसे ही नाम-जपमें गहरा उतरकर ठीक तरहसे लग जायँ, तब इसका पता लगता है कि इसमें कितना रस भरा हुआ है! श्रेष्ठ-बुद्धिके बिना इसमें प्रवेश सम्भव नहीं है।

मलिन बुद्धिवालेका भगवान्‌में प्रेम नहीं होता। उसे भगवान्‌के नाममें रस नहीं आता। जब नाममें रुचि न हो, अच्छा न लगे तो समझना चाहिये कि भीतरमें कोई गड़बड़ी है। जैसे, जिस व्यक्तिको पित्तका बुखार हो, उसे मिश्री कड़वी लगती है तो क्या उपाय करें? उसको मिश्री-ही-मिश्री खिलाओ। खाते-खाते जब पित्त शान्त हो जायगा फिर मिश्री मीठी लगने लग जायगी। ऐसे ही भगवान्‌का नाम मीठा न लगे तो भी लिये जाओ। नाम-रूपी मिश्रीमें ऐसी शक्ति है कि मिठास पैदा हो जायगा। जहाँ पित्त शान्त हुआ कि मिठास आया। भगवान्‌का नाम किसी तरह लिये ही जाओ। फिर देखो, कितना विलक्षण आनन्द आता है।

देखो भाई! यह समय पूरा हो जायगा ऐसे ही। अगर भजन करना हो तो जल्दी कर लो। उमरका समय पूरा होनेके बाद फिर कोई वश नहीं चलेगा। जबतक यह श्वासरूपी धौंकनी चलती है, तभीतक ही भजन करके लाभ ले लो। ये श्वास पूरे हो जायेंगे फिर हाथमें कुछ भी नहीं रहेगा।

नाम और रूपकी तुलना

पिछली दो चौपाइयोंमें नाम और नामीकी महिमा बतायी गयी और दोनोंको ही श्रेष्ठ, अकथनीय और अनादि बताया। दोनोंमें गहरे उतरनेसे ही पता लगता है। अच्छी समझ होनेसे दोनोंमें हमारी प्रीति हो सकती है। अब आगे गोस्वामीजी महाराज कह रहे हैं—

को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेदु समुझिहहिं साधू॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २१।३)

इन नाम और रूपमें कौन बड़ा है, कौन छोटा है, यह कहना अपराध है। इनके गुणोंका तारतम्य सुनकर साधु पुरुष खुद ही समझ जायेंगे कि वास्तवमें बड़ा कौन है। इसलिये हम इन दोनोंके गुण-भेद बता देंगे, पर छोटा-बड़ा नहीं कहेंगे! गोस्वामीजी महाराज यहाँ ऐसी बात कहते हैं; परंतु आगे उनसे कहे बिना रहा नहीं गया।

निर्गुण-स्वरूपका वर्णन करते समय उपक्रममें ***'मोरें मत बड़ नामु दुहू तें'*** मेरी सम्मतिमें नाम इन दोनोंसे बड़ा है—ऐसा कहते हैं और निर्गुणकी बातका उपसंहार करते हुए निर्गुणस्वरूपके लिये अलगसे कहते हैं कि ***'निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार'*** अर्थात् अभी ऊपर प्रकरणमें जिसका वर्णन किया, उस निर्गुणसे नामका प्रभाव बड़ा है। फिर सगुणका वर्णन करते हुए उपक्रममें ***'कहउँ नामु बड़ राम तें'*** अब अपने विचारके अनुसार कहता हूँ कि सगुण भगवान् रामसे भी नाम बड़ा है। इसे सिद्ध करनेके लिये पूरी रामायणमें रामजीने क्या-क्या किया और नाम महाराजने क्या-क्या किया, ऐसे वर्णन करके उपसंहारमें फिर निर्गुण और सगुण दोनोंसे नामको बड़ा बताते हैं। ***'ब्रह्म राम तें नामु***

बड़ बर दायक बर दानि' इस प्रकार नाम निर्गुण ब्रह्म और सगुण राम, दोनोंसे बड़ा है। ऐसे पहले उपक्रममें दोनोंसे नामको बड़ा बताया और फिर उपसंहारमें भी दोनोंसे नामको बड़ा बताया। बीचमें भी निर्गुणका उपसंहार करते हुए निर्गुणसे बड़ा कहा और सगुणका उपक्रम करते हुए सगुणसे बड़ा कहा। ऐसे बीचमें अलग-अलग एक-एकसे नामको बड़ा बताया। इस प्रकार पूरे प्रकरणमें यही बात चार बार कह दी कि नाम इन दोनोंसे बड़ा है।

यहाँ जो कहा कि ***'को बड़ छोट कहत अपराधू'*** इसका अर्थ यह हुआ कि ***'छोट कहत अपराधू'*** किसीको किसीसे छोटा बतानेमें अपराध लगता है, पर बड़ा कहनेमें अपराध नहीं लगता है। इसलिये गोस्वामीजी महाराजने नामको चार बार बड़ा कहा, पर किसीको छोटा कभी नहीं कहा है। अब आगे गोस्वामीजी कहते हैं—

देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २१।४)

भगवान् अपने नामके अधीन हैं, नामके बिना भगवान्के स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता। भगवान् जब वनमें गये तो लोगोंने पूछा कि ये कौन हैं? कहाँसे आये हैं? ऐसे पूछनेपर परिचय देते हैं कि ये रामजी हैं और साथमें ये लक्ष्मणजी हैं। ऐसे उनका नाम बतानेसे ही उनकी पहचान होती है। इसलिये भगवान्से भी भगवान्का नाम बड़ा है।

राम! राम!! राम!!!

प्रवचन—६

रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परहिं पहिचानें॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २१।५-६)

गोस्वामीजी महाराज आगे कहते हैं कि कोई भी वस्तु हथेलीपर रखी होनेपर भी पहचाननेमें नहीं आती, जबतक उसका नाम न जान लिया जाय और रूपके बिना देखे ही नामका स्मरण किया जाय तो उस रूपके प्रति हृदयमें विशेष प्रेम आ जाता है।

बिना नामके जाने अनजान वस्तुको हाथमें ले भी लें तो उसका पता नहीं लगता। नामके जाने बिना वस्तुकी पहचान नहीं होती। ऐसे इन दोनोंमें (रूप और नाममें) अन्वय-व्यतिरेकसे पता लगेगा कि बड़ा-छोटा कौन है। ***'सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें'*** रूप देखे बिना ही केवल नामका स्मरण किया जाय तो भी हृदयमें भगवान् आ जायेंगे। इस प्रकार नाम लेनेसे रूप महाराज तो पधार ही जायेंगे, पर नाम महाराज बिना रूप महाराजके सामने रहते हुए भी उनकी पहचान नहीं होगी। ***'आवत हृदयँ सनेह बिसेषें'*** विशेष स्नेहके साथ नामका स्मरण करनेसे हृदयमें भगवान् आ जाते हैं।

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा १८५।५)

जैसे पत्थर रगड़नेसे अग्नि प्रकट हो जाती है, ऐसे ही हृदयके भावसे, स्नेहसे नाम लिया जाय तो भगवान् हृदयमें ही नहीं, बाहर-भीतर सब जगह प्रकट हो जाते हैं। तुलसीदासजी महाराज आगे बताते हैं—

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २१)

'राम' नाम मणिदीप है। एक दीपक होता है और एक मणिदीप होता है। तेलका दीया दीपक कहलाता है। मणि स्वतः प्रकाश करनेवाली होती है। जो मणिदीप होता है, वह कभी बुझता नहीं। 'राम' नाम क्या है? तो कहते हैं, यह मणिदीप है। इसे कहाँ रखें? जीभके ऊपर। वहाँ क्यों? तो कहते हैं, जैसे दीपकको मकानके दरवाजेके बाहर रख दें, तो भीतर अँधेरा रह जाय और भीतर रख दें तो बाहर अंधेरा रह जाय। तो क्या किया जाय? दरवाजेकी देहलीपर रख दो। वहाँपर रखनेसे दोनों जगह प्रकाश हो जाता है। परमात्म-बोध हो जाता है और बाहर भगवान्के दर्शन हो जाते हैं। हवासे यह मणिदीप नहीं बुझता। हवा कितनी ही जोरसे चले! शरीरकी देहली क्या है? जीभ है। एक कविने कहा है—

'भारति जुक्त भली विधि भासत देहके गेहके द्वार थली तूँ' इस जीभको कहा 'तेरेमें सरस्वती निवास करती है।' ***'देहके गेहके द्वार थली तूँ।'***

'पै जगदीस जपे बिनु सालग नाहक नागनसी निकली तूँ' जैसे बिलमें कोई नागिन हो—सर्पिणीकी ज्यों मुखमें बैठी है, पर ***'ना उथली हरि नामको लेन न क्यों रसना बिजली ते जली तूँ'*** भगवान्का नाम लेनेके लिये उथली नहीं तो तू बिजलीसे क्यों नहीं जल गयी?

'रामगुणावली गाये बिना गुणहीन गँवारन क्यों न गली तूँ' हे गँवारन जीभ! यदि तूने राम गुण नहीं गाया, तो तूँ गली क्यों नहीं? अब नामको साक्षी बनाते हुए कहते हैं—

नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २१।७-८)

नाम और रूपकी गतिकी कहानी अकथनीय है। वह समझनेमें सुखदायक है; परंतु उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। निर्गुण और सगुणके बीचमें 'राम' नाम सुन्दर साक्षी है और यह दोनोंका यथार्थ ज्ञान करानेवाला चतुर दुभाषिया है। यह नाम महाराज सगुण और निर्गुण दोनोंसे श्रेष्ठ चतुर दुभाषिया है।

नाममें पाप-नाशकी शक्ति

जब ही नाम हृदय धर्‌यो भयो पाप को नास।
मानो चिनगी आग की पड़ी पुराने घास॥

नये घासमें इतनी जल्दी आग नहीं लगती, पुराना घास बहुत जल्दी आगको पकड़ता है। अनेक जन्मोंके, युग-युगान्तरके जितने पुराने पाप पड़े हुए हैं, वे सब तो हैं पुराना घास। उसपर 'राम' नाम रूपी देदीप्यमान अग्नि रख दी जाय तो बेचारे सब पाप नष्ट हो जाते हैं। नामको अगर हृदयमें धारण कर लिया जाय तो अज्ञान सदाके लिये नष्ट हो जाता है। मानो सब जगह प्रकाश हो जाता है।

सन्तोंकी वाणीमें पढ़ा है कि पापका नाश करनेके लिये नाम महाराजका प्रयोग नहीं करना चाहिये। नाम महाराजसे पापोंके नाशकी कामना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि सूर्य भगवान् आ जायँ तो उनसे प्रार्थना नहीं करते कि महाराज! आप हमारे यहाँ अन्धकारका नाश कर दो, अन्धकारको हटा दो, प्रकाश कर दो, उनसे ऐसे क्या कहना! सूर्योदयकी तैयारी होते ही अन्धकार बेचारा आप-से-आप भाग जाता है। उदय होनेसे पहले ही वह भाग जाता है। ऐसे नाम महाराजके आनेकी तैयारी हो जाय हृदयमें, तो पाप भाग जाते हैं।

'सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्'
जहाँ भगवान्‌की कथा सुननेका मन किया, नाम जप करें, भजन करें, ऐसी इच्छा हुई कि भगवान् उसके हृदयमें आकर विराजमान हो जाते हैं। 'राम' नाम महाराजकी तरफका विचार हो गया तो उसके आभासमात्रसे पाप नष्ट हो जाते हैं। पापोंमें ताकत नहीं है ठहरनेकी।

पाप वास्तवमें क्या है? शास्त्रनिषिद्ध आचरण। जिनका शास्त्रोंने निषेध किया कि 'ऐसा मत करो' उसका करना ही पाप है। पाप कोई बलवान् वस्तु नहीं है, यह तो निकृष्ट है। जो निकृष्ट होता है, वह बलवान् भी हो तो उसमें ताकत नहीं होती। जैसे, बड़े-बड़े बलवान् चोर मकानपर चढ़ जाते हैं, भीतर आना चाहते हैं, पर घरमें उसी समय एक बालक रोने लगे, तो वे भाग जाते हैं; क्योंकि उनका हृदय कच्चा होता है। पापी-अन्यायी होनेसे उनमें ताकत नहीं होती। वे भाग जाते हैं बच्चेके रोनेकी आवाजमात्रसे। बेचारे पापमें शक्ति नहीं है। मनुष्यने ही इसको आदर देकर पकड़ रखा है। पाप तो बेचारे भागते हैं। जहाँ सत्संग हो जाय, वहाँ पाप कैसे टिक सकता है! पर मनुष्य उसको पकड़-पकड़कर रखता है।

पापोंको मनुष्य क्यों रखता है? इनका आदर क्यों करता है? क्या पाप सुखदायी हैं? एक तो इसके भावना यह है कि पाप नष्ट नहीं होंगे। हमारे पाप ऐसे जल्दी नष्ट नहीं होंगे। आप जब संकल्प रखोगे कि ये नष्ट नहीं होंगे तो वे कैसे नष्ट होंगे? अर्जुनने पूछा कि मनुष्य न चाहता हुआ पाप क्यों करता है? तो भगवान्‌ने उत्तर दिया **'काम एष क्रोध एष'** काम ही क्रोध है और पाप होनेमें कारण कामना है। इनको पकड़कर रखेंगे तो पाप रहेंगे ही; क्योंकि पापके बापको पकड़ लिया आपने। अब बेटा पैदा होगा ही। पाप किससे होते हैं? पाप सब होते हैं कामनासे, भोग-भोगनेकी और पदार्थोंके संग्रहकी इच्छासे। यह इच्छा है पापका बाप।

पापका बाप

एक प्रसिद्ध कहानी है—एक पण्डितजी काशीसे पढ़कर आये। ब्याह हुआ, स्त्री आयी। कई दिन हो गये। एक दिन स्त्रीने प्रश्न पूछा कि 'पण्डितजी महाराज! यह तो बताओ कि पापका बाप कौन है?' पण्डितजी पोथी देखते रहे, पर पता नहीं लगा, उत्तर नहीं दे सके। अब बड़ी शर्म आयी कि स्त्री पूछती है पापका बाप कौन है? हमने इतनी पढ़ाई की, पर पता नहीं लगा। वे वापस काशी जाने लगे। मार्गमें ही एक वेश्या रहती थी। उसने सुन रखा था कि पण्डितजी काशी पढ़कर आये हैं। उसने पूछा —'कहाँ जा रहे हैं महाराज?' तो बोले—'मैं काशी जा रहा हूँ।' काशी क्यों जा रहे हैं? आप तो पढ़कर आये हैं? तो बोले—'क्या करूँ? मेरे घरमें स्त्रीने यह प्रश्न पूछ लिया कि पापका बाप कौन है? मेरेको उत्तर देना आया नहीं। अब पढ़ाई करके देखूँगा कि पापका बाप कौन है?' वह वेश्या बोली—'आप वहाँ क्यों जाते हो? यह तो मैं यहीं बता सकती हूँ आपको।'

बहुत अच्छी बात। इतनी दूर जाना ही नहीं पड़ेगा। 'आप घरपर पधारो। आपको पापका बाप मैं बताऊँगी।' अमावस्याके एक दिन पहले पण्डितजी महाराजको अपने घर बुलाया। सौ रुपया सामने भेंट दे दिये और कहा कि 'महाराज! आप मेरे यहाँ कल भोजन करो।' पण्डितजीने कह दिया—'क्या हर्ज है, कर लेंगे!' पण्डितजीके लिये रसोई बनानेका सब सामान तैयार कर दिया। अब पण्डितजी महाराज पधार गये और रसोई बनाने लगे तो वह बोली— 'देखो, पक्की रसोई तो आप पाते ही हो, कच्ची रसोई हरेकके हाथकी नहीं पाते। पक्की रसोई मैं बना दूँ, आप पा लेना'!

ऐसा कहकर सौ रुपये पासमें और रख दिये। उन्होंने देखा कि पक्की रसोई हम दूसरोंके हाथकी लेते ही हैं, कोई हर्ज नहीं, ऐसा करके स्वीकार कर लिया।

अब रसोई बनाकर पण्डितजीको परोस दिया। सौ रुपये और पण्डितजी महाराजके आगे रख दिये और नमस्कार करके बोली—'महाराज! जब मेरे हाथसे बनी रसोई आप पा रहें हैं तो मैं अपने हाथसे ग्रास दे दूँ। हाथ तो वे ही हैं, जिनसे रसोई बनायी है, ऐसी कृपा करो।' पण्डितजी तैयार हो गये उसकी बातपर। उसने ग्रासको मुँहके सामने किया और उन्होंने ज्यों ही ग्रास लेनेके लिये मुँह खोला कि उठाकर मारी थप्पड़ जोरसे, और वह बोली—'अभीतक आपको ज्ञान नहीं हुआ? खबरदार! जो मेरे घरका अन्न खाया तो! आप जैसे पण्डितका मैं धर्म-भ्रष्ट करना नहीं चाहती। यह तो मैंने पापका बाप कौन है, इसका ज्ञान कराया है।' रुपये ज्यों-ज्यों आगे रखते गये पण्डितजी ढीले होते गये।

इससे सिद्ध क्या हुआ? पापका बाप कौन हुआ? रुपयोंका लोभ! **'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः'** (गीता १६। २१)। काम, क्रोध और लोभ—ये नरकके खास दरवाजे हैं।

पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥

(मानस, लंकाकाण्ड, दोहा ७८। २)

दूसरोंको उपदेश देनेमें तो लोग कुशल होते हैं, परंतु उपदेशके अनुसार ही खुद आचरण करनेवाले बहुत ही कम लोग होते हैं।

मनुष्य खयाल नहीं करता कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। औरोंको समझाते हुए पण्डित बन जाते हैं। अपना काम जब सामने आता है, तब पण्डिताई भूल जाते हैं, वह याद नहीं रहती।

परोपदेशवेलायां शिष्टाः सर्वे भवन्ति हि।
विस्मरन्तीह शिष्टत्वं स्वकार्ये समुपस्थिते॥

दूसरोंको उपदेश देते समय जो पण्डिताई होती है, वही अगर अपने काम पड़े, उस समय आ जाय तो आदमी निहाल हो जाय। जाननेकी कमी नहीं है, काममें लानेकी कमी है। हमें एक सज्जनने बड़ी शिक्षाकी बात कही कि आप व्याख्यान देते हुए साथ-साथ खुद भी सुना करो। इसका अर्थ यह हुआ कि मैं जो बातें कह रहा हूँ तो मेरे आचरणमें कहाँ कमी आती है? कहाँ-कहाँ गलती होती है? जो आदमी अपना कल्याण चाहे तो वह दूसरोंको सुननेके लिये व्याख्यान न दे। अपने सुननेके लिये व्याख्यान दे। लोग सुननेके लिये सामने आते हैं, उस समय कई बातें पैदा होती हैं। अकेले बैठे इतनी पैदा नहीं होतीं। इसलिये उन बातोंको स्वयं भी सुनें। केवल औरोंकी तरफ ज्ञानका प्रवाह होता है, यह गलती होती है।

पण्डिताई पाले पड़ी ओ पूरबलो पाप।
ओराँ ने परमोदताँ खाली रह गया आप॥
पण्डित केरी पोथियाँ ज्यूँ तीतरको ज्ञान।
ओराँ सगुन बतावहि आपा फंद न जान॥
करनी बिन कथनी कथे अज्ञानी दिन रात।
कूकर ज्यूँ भुसता फिरे सुनी सुनाई बात॥

हमें एकने बताया—***'कूकर ज्यूँ भुसता फिरे'***—इसका अर्थ यह हुआ कि एक कुत्ता यहाँ किसीको देखकर भुसेगा तो दूसरे मोहल्लेके कुत्ते भी देखा-देखी भुसने लग जायेंगे। एक-एकको सुनकर सब कुत्ते भुसने लग जायेंगे। अब उनको पूछा जाय कि किसको भुसते हो? यह तो पता नहीं। दूसरा भुसता है न, इसलिये बिना देखे ही भुसना शुरू कर दिया। ऐसे ही दूसरा कहता है तो अपने भी कहना शुरू कर दिया। अरे, वह क्यों कहता है? क्या शिक्षा देता है? उसका क्या विचार है? सुनी-सुनायी बात कहना शुरू कर देनेसे बोध नहीं होता। इसलिये मनुष्यको अपनी जानकारी अपने आचरणमें लानी चाहिये।

भजनमें दिखावा

भगवान्‌का नाम प्रेमपूर्वक लेता रहे, नेत्रोंसे जल झरता रहे, हृदयमें स्नेह उमड़ता रहे, रोमाञ्च होता रहे तो देखो, उनमें कितनी विलक्षणता आ जाती है, पर वही दूसरोंको दिखानेके लिये, दूसरोंको सुनानेके लिये करेंगे तो उसका मूल्य घट जायगा। यह चीज औरोंको दिखानेकी नहीं है। धन तिजोरीमें रखनेका होता है। किसीने एक सेठसे पूछा—'तुम घरमें रहते हो या दूकानमें? कहाँ सोते हो?' तो सेठने कहा—'हम हाटमें सोवें, बाटमें सोवें, घरमें सोवें, सोवें और न भी सोवें।'

अगर हम कहें कि दूकानमें सोते हैं तो घरमें चोरी कर लेगा! घरमें सोनेकी कहें तो दूकानमें चोरी कर लेगा। अर्थ यह हुआ कि तुम चोरी करने मत आना। लौकिक धनके लिये इतनी सावधानी है कि साफ नहीं कह सकते हो कि कहाँ सोते हैं? और नामके लिये इतनी उदारता कि लोगोंको दिखावें! राम, राम, राम! कितनी बेसमझी है! यह क्या बात है? नामको धन नहीं समझा है। इसको धन समझते तो गुप्त रखते।

एक राजा भगवान्‌के बड़े भक्त थे, वे गुप्त रीतिसे भगवान्‌का भजन करते थे। उनकी रानी भी बड़ी भक्त थी। बचपनसे ही वह भजनमें लगी हुई थी। इस राजाके यहाँ ब्याहकर आयी तो यहाँ भी ठाकुरजीका खूब उत्सव मनाती,

ब्राह्मणोंकी सेवा, दीन-दुःखियोंकी सेवा करती; भजन-ध्यानमें, उत्सवमें लगी रहती। राजा साहब उसे मना नहीं करते। वह रानी कभी-कभी कहती कि 'महाराज ! आप भी कभी-कभी राम-राम—ऐसे भगवान्‌का नाम तो लिया करो।' वे हँस दिया करते। रानीके मनमें इस बातका बड़ा दुःख रहता कि क्या करें, और सब बड़ा अच्छा है। मेरेको सत्संग, भजन, ध्यान करते हुए मना नहीं करते; परन्तु राजा साहब स्वयं भजन नहीं करते।

ऐसे होते-होते एक बार रानीने देखा कि राजासाहब गहरी नींदमें सोये हैं। करवट बदली तो नींदमें ही 'राम' नाम कह दिया। अब सुबह होते ही रानीने उत्सव मनाया। बहुत ब्राह्मणोंको निमन्त्रण दिया; बच्चोंको, कन्याओंको भोजन कराया, उत्सव मनाया। राजासाहबने पूछा—'आज उत्सव किसका मना रही हो ? आज तो ठाकुरजीका भी कोई दिन विशेष नहीं है।' रानीने कहा—'आज हमारे बहुत ही खुशीकी बात है।' क्या खुशीकी बात है ? 'महाराज ! बरसोंसे मेरे मनमें था कि आप भगवान्‌का नाम उच्चारण करें। रातमें आपके मुखसे नींदमें भगवान्‌का नाम निकला।' निकल गया ? 'हाँ' इतना कहते ही राजाके प्राण निकल गये। 'अरे मैंने उमरभर जिसे छिपाकर रखा था, आज निकल गया तो अब क्या जीना ?'

गुप्त अकाम निरन्तर ध्यान सहित सानन्द।
आदर जुत जपसे तुरत पावत परमानन्द॥

ये छः बातें जिस जपमें होती हैं, उस जपका तुरन्त और विशेष माहात्म्य होता है। भगवान्‌का नाम गुप्त रीतिसे लिया जाय, वह बढ़िया है। लोग देखें ही नहीं, पता ही न लगे—यह बढ़िया बात है, परंतु कम-से-कम दिखावटीपन तो होना ही नहीं चाहिये। इससे असली नाम-जप नहीं होता। नामका निरादर होता है। नामके बदले मान-बड़ाई खरीदते हैं, आदर खरीदते हैं, लोगोंको अपनी तरफ खींचते हैं—यह नाम महाराजकी बिक्री करना है। यह बिक्रीकी चीज थोड़े ही है ! नाम जैसा धन, बतानेके लिये है क्या ? लौकिक धन भी लोग नहीं बताते, खूब छिपाकर रखते हैं। यह तो भीतर रखनेका है, असली धन है।

माई मेरे निरधनको धन राम।
रामनाम मेरे हृदयमें राखूं ज्यूं लोभी राखे दाम॥
दिन दिन सूरज सवायो उगे, घटत न एक छदाम।
सूरदास के इतनी पूँजी, रतन मणि से नहीं काम॥

यह अपने हृदयकी बात है। मेरे निर्धनका धन यही है। कैसा बढ़िया धन है यह ! अन्तमें कहते हैं यह जो रत्न-मणि, सोना आदि है, इनसे मेरे मतलब नहीं है। ये पत्थरके टुकड़े हैं। इनसे क्या काम ! निर्धनका असली धन तो 'राम' नाम है।

'धनवन्ता सोइ जानिये जाके 'राम' नाम धन होय।'

यह धन जिसके पास है, वही धनी है। उसके बिना कंगले हैं सभी।

'सम्मीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति।'

करोड़ों रुपये आज पासमें हैं, पर ये दोनों आँखें सदाके लिये जिस दिन बन्द हो गयीं, उस दिन कुछ नहीं है। सब यहाँका यहीं रह जायगा।

'सुपना सो हो जावसी सुत कुटुम्ब धन धाम।'

यह स्वप्नकी तरह हो जायगा। आँख खुलते ही स्वप्न कुछ नहीं और आँख मिचते ही यहाँका धन कुछ नहीं।

स्थूल बुद्धिवाले बिना समझे कह देते हैं कि 'राम' नामसे क्या होता है ? वे बेचारे इस बातको जानते नहीं, उन्हें पता ही नहीं है। इस विद्याको जाननेवाले ही जानते हैं भाई ! सच्ची लगन जिसके लगी है, वह जानता है। दूसरोंको क्या पता ? ***'जिसके लागी है सोई जाने दूजा क्या जाने रे भाई'*** भगवान्‌का नाम लेनेवालोंका बड़े-बड़े लोकोंमें जहाँ जाते हैं, वहाँ आदर होता है कि भगवान्‌के भक्त पधारे हैं। हमारा लोक पवित्र हो जाय। भगवन्नामसे रोम-रोम, कण-कण पवित्र हो जाता है, महान् पवित्रता छा जाती है। ऐसा भगवान्‌का नाम है। जिसके हृदयमें नामके प्रति प्रेम जाग्रत् हो गया, वह असली धनी है। इससे भगवान् प्रकट हो जाते हैं। वह खुद ऐसा विलक्षण हो जाता है कि उसके दर्शन, स्पर्श, भाषणसे दूसरोंपर असर पड़ता है। नाम लेनेवाले सन्त-महात्माओंके दर्शनसे शान्ति मिलती है। अशान्ति दूर हो जाती है, शोक-चिन्ता दूर हो जाते हैं और पापोंका नाश हो जाता है। जहाँ वे रहते हैं, वे धाम पवित्र हो जाते हैं और जहाँ वे चलते हैं, वहाँका वायुमण्डल पवित्र हो जाता है।

प्रह्लादपर संत-कृपा

प्रह्लादजी महाराजपर नारदजीकी कृपा हो गयी। इन्द्रको हिरण्यकशिपुसे भय लगता था। हिरण्यकशिपु तपस्या करने गया हुआ था। पीछेसे इन्द्र उसकी स्त्री कयाधूको पकड़कर ले गया। बीचमें नारदजी मिल गये। उन्होंने कहा—'बेचारी अबलाका कोई कसूर नहीं है, इसको क्यों दुःख देता है भाई !' इन्द्रने कहा—'इसको दुःख नहीं देना है ! इसके गर्भमें बालक है। अकेले हिरण्यकशिपुने हमारेको इतना तंग कर दिया है, अगर यह बालक पैदा हो जायगा तो बाप और बेटा दो होनेपर हमारी क्या दशा करेंगे। इसलिये बालक जन्मेगा, तब उसे मार दूँगा, फिर काम ठीक हो जायगा।'

नारदजीने कहा—'इसका बेटा तेरा वैरी नहीं होगा।' नारदजीकी बात सब मानते थे। इन्द्रने मान ली। ठीक है महाराज! कयाधूको छोड़ दिया। नारदजीने बड़े स्नेहसे उसको अपनी कुटियापर रखा और कहा कि 'बेटी! तू चिन्ता मत कर। तेरे पति आयेंगे, तब पहुँचा दूँगा।' वह जैसे अपने बापके घर रहे, वैसे नारदजीके पास रहने लगी। नारदजीके मनमें एक लोभ था कि मौका पड़ जाय तो इसके गर्भमें जो बालक है, इसको भक्ति सिखा दें। यह संतोंकी कृपा होती है। कयाधूको बढ़िया-बढ़िया भगवान्‌की बातें सुनाते, पर लक्ष्य रखते उस बालकका। वह प्रसन्नतासे सुनती और गर्भमें बैठा बालक भी उन बातोंको सुनता था। नारदजीकी कृपासे गर्भमें ही उसे ज्ञान हो गया।

माता रह्यो न लेश नारदके उपदेशको।
जो धार्‌यो हि अशेष गर्भ मांही ज्ञानी भयो॥

प्रह्लादजीको कितना कष्ट दिया! कितना भय दिखाया! परंतु उन्होंने नामको छोड़ा नहीं। प्रह्लादजीको रस आ गया, ऐसे नामको कैसे छोड़ा जाय? शुक्राचार्यजीके पुत्र प्रह्लादजीको पढ़ाते थे। राजाने उनको धमकाया कि तुम हमारे बेटेको बिगाड़ते हो। यह प्रह्लाद हमारे वैरीका नाम लेता है। यह कैसे सीख गया? प्रह्लादको पूछा—'तुम्हारे यह कुमति कहाँसे आयी? दूसरोंका कहा हुआ करते हो कि स्वयं अपने मनसे ही! किसने सिखा दिया?' प्रह्लादजी कहते हैं—'जिसको आप कुमति कहते हो, यह दूसरा कोई सिखा नहीं सकता, न स्वयं आती है। संत-महापुरुष, भगवान्‌के प्यारे भक्तोंकी जबतक कृपा नहीं हो जाती, तबतक इसे कोई सिखा नहीं सकता।'

प्रेम बदौं प्रहलादहिको जिन पाहनतें परमेश्वरु काढ़े॥

प्रेम तो प्रह्लादजीका है, जिन्होंने पत्थरमेंसे रामजीको निकाल लिया। जिस पत्थरमेंसे कोई-सा रस नहीं निकलता, ऐसे पत्थरमेंसे रसराज श्रीठाकुरजीको निकाल लिया। ***'पाहनते परमेश्वरु काढ़े'*** थम्भेमेंसे भगवान् प्रकट हो गये। थम्भे अपने यहाँ भी बहुत-से खड़े हैं। थम्भा तो है ही, पर प्रह्लाद नहीं है। राक्षसके घरके थम्भोंसे ये अशुद्ध थोड़े ही हैं? अपवित्र थोड़े ही हैं, पर जरूरत प्रह्लादकी है—'**प्रकर्षेण आह्लादः यस्य स प्रह्लादः**'। इधर तो मार पड़ रही है, पर भीतर खुशी हो रही है, प्रसन्नता हो रही है। भगवान्‌की कृपा देख-देखकर हर समय आनन्द हो रहा है। ऐसे हम भी प्रह्लाद हो जायँ।

आपत्ति आवे, चाहे सम्पत्ति आवे, हर समय भगवान्‌की कृपा समझें। भगवान्‌की कृपा है ही, हम मानें तो है, न मानें तो है, जानें तो है, न जानें तो है। पर नहीं जानेंगे, नहीं मानेंगे, तो दुःख पायेंगे। भीतरसे प्रभु कृपा करते ही रहते हैं। बच्चा चाहे रोवे, चाहे हँसे, माँकी कृपा तो बनी ही रहती है, वह पालन करती ही है। बिना कारण जब छोटा बच्चा ज्यादा हँसता है तो माँके चिन्ता हो जाती है कि बिना कारण हँसता है तो कुछ-न-कुछ आफत आयेगी। ऐसे आप संसारकी खुशी ज्यादा लेते हो तो रामजीके विचार आता है कि यह ज्यादा हँसता है तो कोई आफत आयेगी। यह अपशकुन है।

राम! राम!! राम!!!

प्रवचन—७

नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २१।७)

नाम और रूप (नामी) की जो गति है, इसका जो वर्णन है, ज्ञान है, इसकी जो विशेष कहानी है, वह समझनेमें महान् सुख देनेवाली है; परंतु इसका विवेचन करना बड़ा कठिन है। जैसे नामकी विलक्षणता है, ऐसे ही रूपकी भी विलक्षणता है। अब दोनोंमें कौन बड़ा है, कौन छोटा है—यह कहना कैसे हो सकता है! भगवान्‌का नाम याद करो, चाहे भगवान्‌के स्वरूपको याद करो, दोनों विलक्षण हैं। भगवान्‌के नाम अनन्त हैं, भगवान्‌के रूप अनन्त हैं, भगवान्‌की महिमा अनन्त है और भगवान्‌के गुण अनन्त हैं। इनकी विलक्षणताका वाणी क्या वर्णन कर सकती है! '**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।**', ***'मन समेत जेहि जान न बानी'*** मन भी वहाँ कल्पना नहीं कर सकता। बुद्धि भी वहाँ कुण्ठित हो जाती है तो वर्णन क्या होगा?

नामीके दो स्वरूप

अब आगे नामीके दो स्वरूपोंका वर्णन करते हैं। पहले अन्वय-व्यतिरेकसे नामकी महिमा और नामको श्रेष्ठ बताया। अब कहते हैं—

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २१।८)

परमात्मतत्त्वके दो स्वरूप हैं—एक अगुण स्वरूप है और एक सगुण स्वरूप है। नाम क्या चीज है? तो कहते हैं—***'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी'*** नाम महाराज निर्गुण और सगुण परमात्माके बीचमें सुन्दर साक्षी हैं और दोनोंका बोध करानेवाले चतुर दुभाषिया हैं। जैसे, कोई आदमी हिन्दी जानता हो, पर अंग्रेजी नहीं जानता और दूसरा अंग्रेजी जानता हो, पर हिन्दी नहीं जानता तो दोनोंके बीचमें एक आदमी ऐसा

रख दिया जाय, जो दोनों भाषाओंको जानता हो, परस्परकी बात एक-दूसरेको समझा दे, वह दुभाषिया होता है। ऐसे नाम महाराज दोनोंके बीचमें दुभाषिया हैं। ***'चतुर दुभाषी'*** इसका तात्पर्य हुआ कि केवल सगुणको निर्गुण और निर्गुणको सगुण बता दे—यह बात नहीं है; किन्तु नाम महाराजका आश्रय लेनेवाला जो भक्त है, उसको ये नाम महाराज सगुण और निर्गुणका ज्ञान करा देते हैं, यह विशेषता है।

संसारका दुभाषिया एकके भावोंको दूसरेके प्रति समझा देता है और दूसरेके भावोंको उसके प्रति कह देता है—इस तरहसे नाम महाराज नाम जपनेवालेको दोनोंका ज्ञान करा देते हैं कि निर्गुण तत्त्व क्या है और सगुण तत्त्व क्या है! ऐसा चतुर दुभाषिया है, जो निर्गुण-सगुण दोनोंका ज्ञान करा दे। मानो भगवन्नाम जपनेसे सगुण और निर्गुण दोनोंकी प्राप्ति हो जाती है। गोस्वामीजी महाराजने और एक जगह लिखा है कि ***'हियँ निरगुन नयनन सगुन'*** हृदयमें निर्गुणका ज्ञान हो जाता है और बाहर नेत्रोंसे सगुणका दर्शन हो जाता है।

अब कहते हैं कि हम निर्गुण तत्त्वको ही जानना चाहते हैं तो निर्गुण तत्त्वको जनानेमें 'राम' नाम बहुत ही चतुर है। आपको निर्गुण तत्त्व ठीक समझा देगा। जिसकी ऐसी भावना है कि हम सगुणके दर्शन चाहते हैं, प्रेम चाहते हैं, भगवान्‌की कृपा, गुण, प्रभाव आदिको जानना चाहते हैं तो नाम महाराज सगुण भगवान्‌के दर्शन करा देंगे। जो दोनोंके ठीक तत्त्वको जानना चाहें कि सगुण तत्त्व क्या है और निर्गुण तत्त्व क्या है तो उनको दोनोंके तत्त्वको जना देंगे—ऐसे विलक्षण नाम महाराज हैं।

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २१)

तुलसीदासजी महाराज कहते हैं कि भीतर और बाहर दोनों जगह उजाला चाहते हो तो 'राम' नामरूपी मणिदीपको जीभरूपी देहलीपर रख दो। तो क्या होगा कि नाम महाराज बाहर तो साक्षात् धनुषधारी सगुण भगवान्‌के स्वरूपका दर्शन करा देंगे और भीतरमें परमात्मतत्त्वका तथा अपने स्वरूपका बोध करा देंगे। इस प्रकार बाहर और भीतर दोनों जगह ज्ञानका उजाला करा देते हैं।

हमारे बहुत-से विचित्र-विचित्र दर्शनशास्त्र हैं। न्याय, सांख्य, योग, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा—ये छः आस्तिक दर्शन कहे जाते हैं। इनके सिवाय और भी बौद्ध, जैन, ईसाई, यवन आदिके अनेक दर्शन हैं, इनके अनेक सिद्धान्त हैं। इन दर्शनोंमें आपसमें कई मतभेद हैं। परमात्मतत्त्व क्या है? प्रकृति क्या है? कई दर्शन परमात्मा, जीवात्मा और जगत् इन तीनोंको लेकर चलते हैं। इनमें कई-कई परमात्माको छोड़कर जीवात्मा और जगत् दोको ही लेकर चलते हैं। चार्वाक शरीरको लेकर चलता है। ऐसे अनेक दार्शनिक भेद हैं, परंतु जो परमात्मतत्त्वको जानना चाहते हैं और आत्मतत्त्वको भी जानना चाहते हैं तो उनको नाम महाराज जना देते हैं। शबरीके प्रसंगमें भगवान्‌ने यह कहा है—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

(मानस, अरण्यकाण्ड, दोहा ३६।९)

मेरे दर्शनका परम अनुपम फल यह है कि जीव अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌के दर्शन होना और चीज है, निज-स्वरूपका ज्ञान और चीज है। ऐसे देखा जाय तो एक ही तत्त्व मिलता है, परंतु इसमें भी दार्शनिकोंने और भेद माना है। कोई द्वैत मानते हैं, कोई अद्वैत मानते हैं। द्वैतमें भी विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और अचिन्त्यभेदाभेद—ऐसे वैष्णवोंके मत हैं। सब मतोंका अगर कोई ज्ञान करना चाहे तो नामकी ठीक निष्ठापूर्वक शरण लेनेसे नाम महाराज सबका ज्ञान करा देते हैं। ऐसे देखा जाय तो सगुण और निर्गुणके अन्तर्गत सब सम्प्रदाय आ जाते हैं।

ज्ञानी भक्त

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी॥
ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २२।१-२)

ब्रह्माजीके बनाये हुए इस प्रपञ्च (दृश्य जगत्) से भलीभाँति छूटे हुए वैराग्यवान् मुक्त योगी पुरुष इस नामको ही जीभसे जपते हुए (तत्त्वज्ञानरूपी दिनमें) जागते हैं और नाम तथा रूपसे रहित अनुपम, अनिर्वचनीय, अनामय ब्रह्मसुखका अनुभव करते हैं।

संसारमें जितने जीव हैं, वे सब नींदमें पड़े हुए हैं। जैसे नींद आ जाती है तो बाहरका कुछ ज्ञान नहीं रहता, इसी तरह परमात्माकी तरफसे जीव प्रायः सोये हुए रहते हैं। परमात्मा क्या हैं, क्या नहीं हैं—इस बातका उनको ज्ञान नहीं है। इसका जो कोई ज्ञान करना चाहते हैं और अपने स्वरूपका बोध भी करना चाहते हैं, वे योगी होते हैं। मानो उनका संसारसे वियोग होता है और परमात्माके साथ योग होता है। वे जीभसे नाम-जप करके जाग जाते हैं। उनको सब दीख जाता है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(गीता २।६९)

मानो साधारण मनुष्य परमात्मतत्त्वकी तरफसे बिलकुल सोये हैं। जैसे अँधेरी रातमें दीखता नहीं, ऐसे उनको भी कुछ नहीं दीखता, पर संयमी पुरुष उसमें जागते हैं। जिसमें सभी प्राणी जाग रहे हैं, मेरा-तेरा कहकर बड़े सावधान होकर संसारका काम करते हैं, संसारके तत्त्वको जाननेवाले मुनिकी दृष्टिमें वह रात है। ये लोग अपनी दृष्टिसे इसे जागना भले ही मानें; परंतु बिल्कुल सोये हुए हैं, उनको कुछ होश नहीं है। वे समझते हैं कि हम तो बड़े चालाक, चतुर और समझदार हैं। यह तो पशुओंमें भी है, पक्षियोंमें भी है, वृक्षोंमें भी है, लताओंमें भी है और जन्तुओंमें भी है। खाना-पीना, लड़ाई-झगड़ा, मेरा-तेरा आदि संसारभरमें है। इसमें जागना मनुष्यपना नहीं है। मनुष्यपन तो तभी है, जब परमात्म-स्वरूपको जान लें अर्थात् उसमें जाग जायँ। उसे कैसे जानें? उसका उपाय क्या है? परमात्माके नामको जीभसे जपना शुरू कर दें और परमात्माको चाहनेकी लगन हो जाय तो वे जाग जाते हैं।

नाम-जपसे सब कुछ मिलता है। हृदयसे जो चाहना होगी, वह चीज उसको मिल जायगी। जैसे कल्पवृक्षके नीचे बैठकर मनुष्य जो कामना करता है, वह कामना पूरी होती है, ऐसे ही यदि हृदयमें नाम-जपकी सच्ची लगन होगी तो नाम महाराज उसी तत्त्वको जना देंगे। इसलिये वह जाग जायगा। जागनेसे क्या होगा? जो अनुपम ब्रह्मसुख है, उसका वह अनुभव कर लेगा। ब्रह्मसुख कैसा होता है? उसकी कोई उपमा नहीं है। भोजन करनेसे जैसे तृप्ति होती है, ऐसा वह सुख नहीं है। सम्पत्ति, वैभव मिलनेसे एक खुशी आती है, इसकी उस सुखसे तुलना नहीं कर सकते। ब्रह्मसुखमें कभी भी किञ्चिन्मात्र कमी नहीं आ सकती। दुःख नजदीक नहीं आ सकता। नाम जपनेवाले उस सुखका अनुभव कर लेते हैं।

'अकथ अनामय नाम न रूपा'—अभी पहले कहा था कि नाम और रूप अकथनीय हैं। अब कहते हैं वह जो निर्गुण ब्रह्मसुख है, वह भी अकथनीय है। निर्गुण और सगुण दोनों अकथनीय हैं और इनके नामकी महिमा भी कथनमें नहीं आ सकती। तात्पर्य क्या निकला? लौकिक इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि तो सांसारिक पदार्थोंका वर्णन और दर्शन कराते हैं, परंतु परमात्माकी तरफ चलनेमें ये सब कुण्ठित हो जाते हैं; क्योंकि परमात्मा इनका विषय नहीं है। परमात्मतत्त्व प्रकृतिसे भी अतीत है। प्रकृतिका वर्णन दार्शनिक लोगोंने किया है; परंतु प्रकृतिका वर्णन भी पूरा नहीं हो सकता। जो साधन हमें प्राप्त हैं, उनमें सबसे बढ़िया बुद्धि है, वह बुद्धि भी प्रकृतितक नहीं पहुँच पाती। प्रकृतिके कार्यों (शरीर, मन, इन्द्रियाँ) में बुद्धि काम करती है, पर कारणमें अर्थात् प्रकृतिमें काम नहीं करती। जैसे, मिट्टीसे बना हुआ घड़ा है, वह कितना ही बड़ा बना हो, सम्पूर्ण पृथ्वीको अपने भीतर समा लेगा क्या? क्या घड़ेमें पूरी पृथ्वी भरी जायगी? नहीं भरी जा सकती। ऐसे प्रकृतिके कार्य—मन, बुद्धि आदि प्रकृतिको ही अपने कब्जेमें नहीं ला सकते, फिर प्रकृतिसे अतीत परमात्मातक कैसे पहुँच सकते हैं?

परमात्मा अनामय है अर्थात् विकार रहित है। उसमें विकार सम्भव नहीं है। उसका न नाम है, न रूप है। उसका स्वरूप देखा जाय तो काला, पीला या सफेद—ऐसा नहीं है। उसको जाननेके लिये उसका नाम रखकर सम्बोधित करते हैं; क्योंकि हमलोग नाम-रूपमें बैठे हैं, इसलिये उसको ब्रह्म कहते हैं। संतोंने उसके विषयमें कहा है—

न को रस भोगी। न को रहत न्यारा।
न को आप हरता। न को कर्तु व्यवहारा॥ १॥
ज्यु देख्या त्यु मैं कह्या। काण न राखी काय।
हरिया परचा नामका। तन मन भीतर थाय॥

वहाँ तुरीय पद भी नहीं है, वहाँ मोक्ष, मुक्ति भी नहीं है, बन्धन भी नहीं है। ऐसा अलौकिक तत्त्व है! तुलसीदासजी महाराज कहते हैं कि जीभसे नाम-जप करके उस ब्रह्मसुखका स्वयं अपने-आपमें जहाँ नाम पहुँचता ही नहीं, वहाँ अनुभव कर लेते हैं।

दार्शनिकोंका जहाँ विचार हुआ है, वहाँ शब्दमें अचिन्त्य शक्ति मानी है। जीभ वागिन्द्रिय है, उससे 'राम-राम' ऐसे जपकी क्रिया होती है, पर इस नाम-जपमें इतनी अलौकिक शक्ति है कि ज्ञानेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियोंसे आगे अन्तःकरण और अन्तःकरणसे आगे प्रकृति और प्रकृतिसे अतीत परमात्मतत्त्व है, उस परमात्म-तत्त्वको यह नाम महाराज जना दे, ऐसी इसमें शक्ति है। 'शब्द'में अचिन्त्य शक्ति होनेसे मोहका नाश हो जाता है। साधारण रीतिसे अपने अनुभवमें भी देखते हैं कि कोई गहरी नींदमें सोया हुआ है तो सोते समय सभी इन्द्रियाँ मनमें, मन बुद्धिमें, बुद्धि प्रकृतिमें अर्थात् अविद्यामें लीन हो जाती हैं, तब गाढ़ नींद आती है। गाढ़ नींदमें सभी इन्द्रियाँ लीन हो जाती हैं, किसी इन्द्रियका कोई ज्ञान नहीं; परंतु उस आदमीका नाम उच्चारण करके पुकारा जाय तो वह आदमी उस अविद्यामेंसे जग जाता है।

विचार करो—नामका सम्बन्ध तो कर्णेन्द्रियके साथ है। कर्णेन्द्रियपर गाढ़ नींदमें इतने पर्दे आ जाते हैं; परंतु नाममें—शब्दमें वह अचिन्त्य, अलौकिक शक्ति है, जो अविद्यामें लीन हुई बुद्धि, बुद्धिमें लीन हुई कर्णेन्द्रिय; उस कर्णेन्द्रियके द्वारा

सुनाकर सोते हुएको जगा दे। शब्दमें इतनी शक्ति है कि जो सम्पूर्ण जीवोंका मालिक परमात्मतत्त्व है, उस परमात्म-तत्त्वका केवल जीभसे नाम जपनेसे अनुभव करा दे।

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ॥
साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २२। ३-४)

अब दूसरे भक्तोंकी बात बताते हैं कि जो *'गूढ़ गति'*—मानो सबसे गूढ़ बातको जानना चाहते हैं, जिनके यह जाननेकी मनमें है कि हम भी उस परमात्मतत्त्वको जानें, जो कि सबसे गूढ़ तत्त्व है, उसके लिये कहा कि जीभसे नामजप करेंगे तो उस तत्त्वको वे जान लेंगे। अब साधकके विषयमें कहते हैं कि साधक अगर लौ लगाकर नाम-जप करता है तो वह सिद्ध हो जाता है। अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राकाम्य, वशिता आदि जो आठ सिद्धियाँ हैं, उन सब सिद्धियोंको वह पा लेता है।

जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २२। ५)

जो दुःखी, संतप्त होता है और संकटसे छूटना चाहता है, वह आर्त होकर व्याकुलतापूर्वक नामका जप करता है तो उसके सब संकट मिट जाते हैं। वह सुखी हो जाता है। ऐसे भगवान्‌के नामकी महिमा कही।

चार प्रकारके भक्त

राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २२। ६)

अब कहते हैं, चार प्रकारके भगवान्‌के भक्त हैं। चारों ही बड़े सुकृती हैं, अनघ (पापरहित) हैं और सब-के-सब उदार हैं।

(१) *'नाम जीहँ जपि····ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा'*—ये परमात्माको जाननेवाले ज्ञानी भक्त हैं, (२) *'जाना चहहिं गूढ़ गति'*—ये जिज्ञासु हैं, (३) *'साधक नाम जपहिं'*—ये अर्थार्थी हैं और (४) *'जपहिं नामु जन आरत भारी'*—ये आर्त भक्त हैं। इनमें ज्ञानी भक्त परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लेता है। उसके लिये कोई काम बाकी नहीं रहता, वह ब्रह्मसुखका अनुभव कर लेता है। जो परमात्मतत्त्वको जानना चाहते हैं, वे जिज्ञासु भक्त हैं। वे नाम-जपसे परमात्मतत्त्वको जान लेते हैं। जो धन-सम्पत्ति, वैभव चाहते हैं, उसके लिये साधना करते हैं, ऐसे अर्थार्थी भक्तको भी नाम-जपसे सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। दुःखको दूर करना चाहता है, तो दुःखी होकर नाम-जप करनेसे आर्त भक्तका भी दुःख दूर हो जाता है। गीतामें भी आया है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

(७। १६)

भगवान् कहते हैं कि सब-के-सब अर्थात् चारों प्रकारके भक्त सुकृती हैं। यहाँ तुलसीदासजीने भी इनको सुकृती बताया है और ये अनघ और उदार भी हैं। यही बात गीतामें भी आयी है—**'उदाराः सर्व एवैते'** (७। १८)। ऐसे ये चारों प्रकारके भक्त उदार हैं, चारों ही अनघ—पापरहित हैं और चारों-के-चारों सुकृती हैं।

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।

(गीता ७। २३)

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

(गीता ९। २५)

देवताओंका यजन (पूजन) करनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, भूत-प्रेतोंका यजन करनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं और मेरा यजन करनेवाले मेरेको ही प्राप्त होते हैं। आर्त हो चाहे अर्थार्थी हो, चाहे कोई क्यों न हो, भगवान्‌के साथ सम्बन्ध हो जानेके बाद किसीका भी पतन नहीं होता।

'तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्।'

भगवान्‌के भजनमें लगनेवालेका किसी रीतिसे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध हो जायगा तो वह कल्याण करनेवाला ही होगा।

चहू चतुर कहुँ नाम अधारा। ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पिआरा॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २२। ७)

चारों प्रकारके भक्तोंके नामका ही आधार होता है। चतुर वही कहलाता है, जो बहुत-सी चीजोंमेंसे सार-सार चीज ले लेता है। उनके खोज रहती है कि सबमें सार चीज क्या है ? हम किसका आश्रय लें, जिससे हमारा दुःख भी दूर हो जाय, धन भी हमें मिल जाय और हमारी जिज्ञासा भी पूरी हो जाय। ज्ञानीके किसी तरहकी कामना नहीं रहती, वह निष्काम होता है। इसलिये भगवान्‌को वह (ज्ञानी) विशेष प्यारा होता है। नाम ऐसा विलक्षण है कि चाहे आर्त हो, चाहे अर्थार्थी हो, चाहे जिज्ञासु हो, उसकी कामनापूर्ति कर देता है और केवल कामनापूर्ति ही नहीं, वह भगवान्‌की प्राप्ति भी करा देता है। ज्ञानी भक्तोंके लिये ऐसा आया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

आत्माराम मुनि अपने स्वरूपमें नित्य-निरन्तर मस्त रहते हैं। उनमें किसी तरहकी किञ्चिन्मात्र भी इच्छा नहीं रहती। अपने स्वरूपमें स्थित रहना और परमात्माको प्राप्त करना—इसमें थोड़ा-सा फर्क है। अपने स्वरूपमें स्थिर होनेपर भी कल्याण हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं है, परंतु परमात्म-स्वरूपको जाननेसे एक विलक्षण प्रेम प्रकट होता है। वह प्रेम सगुण और निर्गुण दोनोंमें आता है। परमात्म-तत्त्वकी भूखके बिना प्रेम प्रकट नहीं होता। ऐसे तो जिज्ञासुमें, अर्थार्थीमें और आर्तमें भी प्रेम रहता है, परंतु विशेष शुद्ध प्रेम तो परमात्माके सन्मुख होनेसे ही होता है।

आत्माराम पुरुष किसी कामनाको लेकर भगवान्‌की भक्ति नहीं करते हैं, पर दूसरे भक्त कामनासे ही भक्ति करते हैं। जैसे आर्त भक्त दुःख दूर करनेके लिये भजन करते हैं और अर्थार्थी भक्त धनके लिये और अणिमा आदि सिद्धियोंके लिये भजन करते हैं और जिज्ञासु परमात्म-तत्त्वको जाननेके लिये भजन करते हैं। **'इत्थम्भूतगुणो हरिः'** भगवान् ही ऐसे विलक्षण गुणवाले हैं। जिन पुरुषोंकी किञ्चिन्मात्र कामना स्वप्नमें भी नहीं है, उनका चित्त भगवान्‌में आकृष्ट हो जाता है। उनकी भक्ति अहैतुकी होती है।

आर्त भक्तोंमें गजेन्द्रका नाम लिया जाता है। ग्राहने जब गजेन्द्रको पकड़ लिया तो पहले उसने अपने साथवाले हाथी-हथिनियोंपर भरोसा रखा और बहुत वर्षोंतक लड़ता रहा, पर जब किसीका सहारा नहीं रहा और बेचारा डूबने लगा तो उसने अनन्यतासे प्रभुको याद किया और आर्त होकर पुकारने लगा। **'प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम्'** पहले जन्ममें शिक्षा पाया हुआ स्तोत्र था। उसको इतना ही याद आया कि कोई एक परमात्मा है जो सबका मालिक है। आपत्तिमें भी पुकारा जाता है तो वह रक्षा करता है, ऐसा ज्ञान हुआ।

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भया-
न्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि॥

भागवतमें गजेन्द्र मोक्ष आता है। उसमें वर्णन आता है कि गजेन्द्रने भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान नहीं किया। सगुण है कि निर्गुण है, साकार है कि निराकार है, धनुषधारी है कि वंशीधारी है, वह चक्रधारी है कि चतुर्भुजधारी है, कैसा है, ऐसे किसी रूप विशेषका ध्यान नहीं किया। वह कहता है—**'यःकश्चनेशः'**—'कोई एक ईश्वर, जो सबका मालिक है।' **'बलिनोऽन्तकोरगात्'** महान् बलवान् अन्तक है मानो साँप खानेको दौड़ रहा है। मौत जिसके पीछे पड़ी हुई है। ऐसे **'प्रचण्डवेगात्'** मौतका बड़ा भारी प्रचण्ड वेग है। **'प्रपन्नं यद्भयात् परिपाति'** मृत्यु सम्पूर्ण संसारका नाश करती है, वह मृत्यु भी जिससे भयभीत होकर दौड़ती है; उस मृत्युके भयसे शरणागतवत्सल उसकी रक्षा करता है, जो भयभीत होकर उसके शरण होता है। ऐसे वह सब तरहके भयसे रक्षा करनेवाला है। **'अरणं तमीमहि'** उस शरणागतवत्सल परमात्माके हम शरण हैं। भगवान् प्रकट हो करके उनका दुःख दूर कर देते हैं।

आदमीके जब आफत आती है, तब उसकी वृत्ति संसारसे हटती है और संसारसे हटते ही भीतर प्रकाश होता है। संसारमें मन लगानेसे अँधेरा होता है। आफत आनेसे जग जाता है, जैसे, आदमी नींदमें सोया हुआ हो और उसके सुई चुभोई जाय तो वह जग जाता है। ऐसे आपत्तिमें आदमी जग जाता है। जो भजन नहीं करते हैं, उनपर जब आफत आती है, तब उनको होश हो जाता है और वे भगवान्‌की तरफ लग जाते हैं; परंतु जो आफत आनेपर नहीं चेतते और भजन नहीं करते, उनके लिये क्या कहा जाय?

ध्रुवजीकी विमाताने राजाकी गोदसे उनको नीचे उतार दिया और कहने लगी—'चल यहाँसे, तू लायक नहीं है। राजाकी गोदमें बैठना था तो मेरी कोखसे पैदा होता।' वे रोने लगे और अपनी माँके पास गये। माँने भी कहा—'बात तो ठीक है बेटा! तेरी छोटी माँने जो कहा, वह ठीक ही है। तूने और मैंने भजन किया नहीं, इस कारण आज यह दशा हुई है।' तब ध्रुव बोला—'मैं अब भजन करूँगा।' वे राजगद्दीकी वासना लेकर भजन करने गये, इसलिये अर्थार्थी भक्त कहलाये।

जिज्ञासु भक्तोंमें उद्धव, अर्जुन आदिके नाम लिये जाते हैं। एकादश स्कन्धमें भगवान्‌ने उद्धवजीको उपदेश दिया। उस उपदेशको 'उद्धवगीता' कहते हैं। अर्जुनको भगवान्‌ने जो उपदेश दिया, उसे भगवद्गीताके नामसे कहते हैं। ये दोनों (उद्धव और अर्जुन) जिज्ञासु भक्त कहलाते हैं।

जो नित्य-निरन्तर परमात्म-तत्त्वमें ही रहते हैं, जिनके कोई कामना नहीं, ऐसे ज्ञानी भक्त शुकदेवजी हुए हैं। शुकदेवजी बारह वर्षतक गर्भवासमें ही रहे। उनके मनमें विचार आया कि बाहर आते ही भगवान्‌की माया घेर लेगी और मैं फँस जाऊँगा। इस कारण वे भीतर ही भगवान्‌के भजनमें लगे रहे। जब नारदजीने भगवान्‌से आश्वासन दिलवाया, तब वे बाहर आये और जन्मते ही घरसे निकल

गये। व्यासजी महाराज 'पुत्र ! पुत्र !!' आवाज देते चले जा रहे थे। पहाड़ोंसे वापस 'पुत्र ! पुत्र !!' आवाज आयी। मानो सबके एक हुए शुकदेवजी मुनि हैं, वे उस समय वृक्षोंमेंसे बोल उठे—**'पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुः'** ऐसे सबके हृदयमें विराजमान ज्ञानी भक्त शुकदेवजीको सूतजी नमस्कार करते हैं।

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥

व्यासजीके बुलानेपर भी शुकदेवजी वापस नहीं आये। जंगलमें ही भजन-स्मरणमें लग गये। व्यासजी महाराजने भागवत ग्रन्थ बनाया और अपने ब्रह्मचारियोंको सिखाने लगे। एक बार कुछ ब्रह्मचारियोंसे कहा कि पुष्प, समिधा आदि यज्ञके लिये ले आओ। वे उस जंगलमें वहाँ चले गये, जहाँ व्यासजीके पुत्र शुकदेवजी बैठे भजन-ध्यान कर रहे थे। वहाँपर ब्रह्मचारी ऐसे श्लोक पढ़ने लगे—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥

अहो ! बड़े आश्चर्यकी बात है। बकासुरकी बहन पूतनाने अपने स्तनोंमें कालकूट जहर लगा लिया। जिस जहरका स्पर्श हो जाय तो बच्चा मर जाय, ऐसा भयंकर जहर लगाकर मारनेकी इच्छासे वह पूतना आयी और बालरूप भगवान् कृष्णके मुखमें जहर भरा हुआ स्तन दे दिया। महान् नीचा आचरण करनेवाली उस असाध्वीको वह गति मिली, जो धाय माँको मिलती है। धाय माँ प्यारपूर्वक पालन करती है। बालकको स्नेहपूर्वक दूध पिलाती है।

'जसुमति की गति पाई
लालजी रो मुख देखनने आई'

यशोदाजीको जो गति मिलनेवाली थी, वह उस पूतनाको भी दे दी। इसलिये ऐसा कौन दयालु होगा, जिसके हम शरण जावें !

ऐसे श्लोक जब शुकदेवजीने सुने तो उन ब्रह्मचारियोंसे पूछा कि ये कहाँके श्लोक हैं ? तो बताया कि भागवतके श्लोक हैं। 'भागवत-जैसा ग्रन्थ कहाँ है, जिसमें ऐसे दयालुका वर्णन है ?' उन्होंने कहा कि हम व्यासजी महाराजके पास भागवतजी पढ़ते हैं। अब तो शुकदेवजी बोले—'हम भी पढ़ेंगे।' **'कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिम्'** अब उनको क्या करना, जानना और पाना बाकी था। उनके काम बाकी रहा ही नहीं। पर ऐसे शुद्ध ज्ञानी भक्त भी भगवान्‌के गुणोंको सुनकर आकृष्ट हो जाते हैं। इसलिये भगवान्‌को सर्वथा निष्काम होनेके कारण ज्ञानी भक्त विशेष प्रिय हैं।

जिसके कुछ भी चाहना नहीं है, वह क्या करे ? तो कहते हैं, उसको भजन करना चाहिये। दूसरेको पूछा कि तुम्हें क्या चाहिये ? 'हमें सब तरहके लोक-परलोकके सुख चाहिये।' तो 'राम-राम' करो। 'सब तरहका सुख और कोई नहीं दे सकता।' किसीसे पूछा—'आप क्या चाहते हो?' 'हम तो अपना कल्याण चाहते हैं। मुक्ति हो जाय और कोई इच्छा नहीं है तो क्या करना चाहिये ?' 'राम-राम करनेमें लग जाओ।' भागवतमें आया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

गुणोंको देखकर हम किसीसे स्नेह करते हैं तो वह स्नेह उसके गुणोंसे हुआ, उस व्यक्तिसे नहीं हुआ। जैसे, दुकानदार अपनी दुकानकी वस्तुओंको सजाकर रखते हैं और उनको अपनी वस्तुएँ अच्छी भी लगती हैं। बार-बार साफ करते रहते हैं, जिससे लोगोंका चित्त खिंच जाय। ऐसे खूब सजाकर रखते हैं। पैसे आते ही उसे निकालकर दे देते हैं। ऐसा क्यों ? वह वस्तुओंकी सजावट थोड़े ही करता है। सजावट पैसोंके लिये ही थी। ऐसे ही वस्तुओंसे प्रेम दीखता है, पर उसका प्रेम पैसोंसे रहता है।

ऐसे कोई मिनिस्टरका आदर, बड़ाई करे, दासता भी करे तो मतलब क्या है ? परमिट लेना है या व्यापार आदि अपने कामके लिये आज्ञा लेनी है। उसको मिनिस्टरसे मतलब नहीं है, मतलब है अपने कामसे। दीखनेमें और जगह प्रेम दीखे भले ही, पर जो मतलब सिद्ध करना होता है, उसीको लेकर प्रेम होता है। ऐसे आर्त और अर्थार्थी भगवान्‌का भजन तो करते हैं, पर किसीको दुःख दूर करवाना है, किसीको अर्थ (धन) चाहिये। जिज्ञासु कुछ जानना चाहता है। इन तीनोंके साथ कुछ-न-कुछ कामना लगी हुई है, पर ज्ञानी केवल भगवान्‌में लगा हुआ है। इसलिये वह भगवान्‌को विशेष प्यारा लगता है। ऐसे चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन हुआ।

राम ! राम !! राम !!!

प्रवचन—८

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २२।८)

चारों युगोंमें और चारों ही वेदोंमें भगवान्‌के नामका प्रभाव है; परंतु कलियुगमें नामका प्रभाव विशेष है। भक्तोंके

लिये भगवान्‌के नामका ही आधार है। इसके अलावा और कोई उपाय नहीं है। कलियुगके आनेपर भगवान्‌ने विशेष कृपा कर दी कि सभी साधनोंकी शक्तिको नाम महाराजमें लाकर रख दी।

'नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्तिः'

भगवान्‌ने अपनी पूरी-की-पूरी शक्ति नाम महाराजमें रख दी। इसमें विलक्षणता यह रखी कि **'स्मरणे न कालः'** नाम जपनेके लिये कोई समय नहीं बाँधा। कोई पात्र विशेषकी बात नहीं कही, कोई विधि विशेषकी बात नहीं, कोई जपे और कैसे ही जपे, किसी तरहसे भगवन्नाममें लग जाय।

उद्धारका सुगम उपाय

सत्ययुग, त्रेता, द्वापरमें आदमी शुद्ध होते थे, पवित्र होते थे, वे विधियाँ जानते थे, उन्हें ज्ञान होता था, समझ होती थी, उनकी आयु बड़ी होती थी। कलियुगके आनेपर इन सब बातोंकी कमी आ गयी, इसलिये जीवोंके उद्धारके लिये बहुत सुगम उपाय बता दिया।

कलियुग केवल नाम अधारा। सुमिरि सुमिरि भव उतरहिं पारा॥

संसारसे पार होना चाहते हो तो नामका जप करो।

जुगति बताओ जालजी राम मिलनकी बात।
मिल जासी ओ मालजी थे राम रटो दिन रात॥

रात-दिन भगवान्‌के नामका जप करते चले जाओ। हरिरामदासजी महाराज भी कहते हैं—

जो जिव चाहे मुकुतिको तो सुमरिजे राम।
हरिया गेले चालतां जैसे आवे गाम॥

जैसे रास्ते चलते-चलते गाँव पहुँच ही जाते हैं, ऐसे ही 'राम-राम' करते-करते भगवान् आ ही जाते हैं, भगवान्‌की प्राप्ति अवश्य हो जाती है। इसलिये यह 'राम' नाम बहुत ही सीधा और सरल साधन है।

रसनासे रटबो करे आठुं पहर अभंग।
रामदास उस सन्त का राम न छाड़े संग॥

संत-महापुरुषोंने नामको बहुत विशेषतासे सबके लिये प्रकट कर दिया, जिससे हर कोई ले सके; परंतु लोगोंमें प्रायः एक बात हुआ करती है कि जो वस्तु ज्यादा प्रकट होती है, उसका आदर नहीं करते हैं। **'अतिपरिचयादवज्ञा'**— अत्यधिक प्रसिद्धि हो जानेसे उसका आदर नहीं होता। नामकी अवज्ञा करने लग जाते हैं कि कोरा 'राम-राम' करनेसे क्या होता है? 'राम-राम' तो हरेक करता है। टट्टी फिरते बच्चे भी करते रहते हैं। इसमें क्या है! ऐसे अवज्ञा कर देते हैं।

हमारे भाई-बहनोंमें यह विचार उठता है कि हमारेको कोई विशेष साधन बताया जाय, और जब उनको कहते हैं कि ऐसे प्राणायाम करो, ऐसे बैठो, ऐसे आहार-विहार करो तो कह देंगे—'महाराज! ऐसे तो हमारेसे होता नहीं, हम तो साधारण आदमी हैं, हम गृहस्थी हैं, निभता नहीं है, क्या करें? यह तो कठिन है।' फिर 'राम-राम' करो तो वे कहेंगे कि 'राम-राम' हरेक बालक भी करते हैं। 'राम-राम'में क्या है? अब कौन-सा बढ़िया साधन बतावें? अगर विधियाँ बतावें तो होती नहीं हमारेसे, और 'राम-राम'तो हरेक बालक ही करता है। 'राम-राम'में क्या है! यह जवाब मिलता है। अब आप ही बताओ उनको क्या कहा जाय!

परमात्मतत्त्वसे विमुख होनेका यह एक तरहसे बढ़िया तरीका है। भगवन्नामके प्रकट हो जानेसे नाममें शक्ति कम नहीं हुई है। नाममें अपार शक्ति है और ज्यों-की-त्यों मौजूद है। इसको संतोंने हमलोगोंपर कृपा करके प्रकट कर दिया; परंतु लोगोंको यह साधारण दीखता है। नाम-जप साधारण तभीतक दीखता है, जबतक इसका सहारा नहीं लेते हैं, इसके शरण नहीं होते हैं। शरण कैसे होवें? विधि क्या है?

शरण लेनेकी विधि नहीं होती है। शरण लेनेकी तो आवश्यकता होती है। जैसे, चोर-डाकू आ जायँ, मारने-पीटने लगें, ऐसी आफतमें आ जायँ तो पुकारते हैं कि नहीं, 'मेरी रक्षा करो, मुझे बचाओ' ऐसे चिल्लाते हैं। कोई लाठी लेकर कुत्तेके पीछे पड़ जाय और वहाँ भागनेकी कहीं जगह नहीं हो तो बेचारा कुत्ता लाठी लगनेसे पहले ही चिल्लाने लगता है। यह चिल्लाना क्या है? वह पुकार करता है कि मेरी रक्षा होनी चाहिये। उसके पुकारकी कोई विधि होती है क्या? मुहूर्त होता है क्या? ***'हरिया बंदीवान ज्यूँ करिये कूक पुकार।'***

शरणागति सुगम होती है, जब अपनेपर आफत आती है और अपनेको कोई भी उपाय नहीं सूझता, तब हम भगवान्‌के शरण होते हैं। उस समय हम जितना भगवान्‌के आधीन होते हैं, उतना ही काम बहुत जल्दी बनता है। इसमें विधिकी आवश्यकता नहीं है। बालक माँको पुकारता है तो क्या कोई विधि पूछता है, या मुहूर्त पूछता है कि इस समयमें रोना शुरू करूँ, यह सिद्ध होगा कि नहीं होगा अथवा ऐसा समय बाँधता है कि आधा घण्टा रोऊँ या दस मिनट रोऊँ; वह तो माँ नहीं मिले, तबतक रोता रहता है। इस माँके मिलनेमें सन्देह है। यह माँ मर गयी हो या कहीं दूर चली गयी हो तो कैसे आवेगी? पर ठाकुरजी तो **'सर्वतः श्रुतिमल्लोके'** सब जगह सुनते हैं। इसलिये 'हे नाथ! हे नाथ! मैं आपकी शरण हूँ'—ऐसे भगवान्‌के शरण हो जायँ, उनके आश्रित हो जायँ। इसमें अगर कोई बाधक है तो वह है अपनी बुद्धिका,

अपने वर्णका, अपने आश्रमका, अपनी योग्यता-विद्या आदिका अभिमान। भीतरमें उनका सहारा रहता है कि मैं ऐसा काम कर सकता हूँ। जबतक यह बल, बुद्धि, योग्यता आदिको अपनी मानता रहता है, तबतक सच्ची शरण हो नहीं सकता। इसलिये इनके अभिमानसे रहित होकर चाहे कोई शरण हो जाय और जब कभी हो जाय, उसी वक्त उसका बेड़ा पार है।

नाम-वन्दनाके प्रकरणमें नामकी महिमाका प्रकरण चल रहा है। उसमें चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन हुआ। अब गोस्वामीजी महाराज प्रेमी भक्तका वर्णन करते हैं—

नाम-प्रेमी भक्त

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २२)

वे भगवान्‌की भक्तिरूपी रसमें रात-दिन तल्लीन रहते हैं, उनके किसी तरहकी किञ्चिन्मात्र भी कोई कामना नहीं है। उनके कामना क्यों नहीं है? नामरूपी एक बड़ा भारी अमृतका सरोवर है। उन्होंने अपने मनको उस सरोवरकी मछली बना लिया है और हर समय भगवान्‌के प्रेममें ही मतवाले रहते हैं। भगवान्‌के प्रेमी भक्त चाहे परमात्माके तत्त्वको न जानें, पर फिर भी वे परमात्माकी तरफ स्वाभाविक ही आकृष्ट हो जाते हैं। उनके मनमें और कोई इच्छा नहीं रहती है। न तत्त्वको जाननेकी इच्छा है, न अपने दुःख दूर करनेकी इच्छा है और न कोई धनादि पदार्थोंकी इच्छा है। किसी तरहकी कोई लिप्सा नहीं। केवल भगवान्‌के प्रेममें रात-दिन मस्त रहते हैं। इसके अलावा उनके कोई विचार ही नहीं उठता। उन्हें कुछ करना बाकी नहीं, कुछ जानना बाकी नहीं और कुछ पाना बाकी नहीं। स्वाभाविक ही उनका भगवान्‌में प्रेम रहता है।

प्रेमकी बात बड़ी अलौकिक है। संतोंने इसे पञ्चम पुरुषार्थ माना है। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ माने जाते हैं। मनुष्योंमें कई तो अर्थ—धन चाहते हैं, कई सुख चाहते हैं कि संसारका सुख मिल जाय, भोग—कामना पूर्ति चाहते हैं, कई धर्मका अनुष्ठान करना चाहते हैं, इसके लिये दान-पुण्यादि करते हैं और कई मुक्ति चाहते हैं, अपना कल्याण चाहते हैं। ये चार तरहकी चाहनाएँ होती हैं। इनमें किसीके कोई चाहना मुख्य और कोई गौण रहती है, पर इन चाहनावालोंसे प्रेमी भक्त विलक्षण ही होते हैं। वे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—इनमेंसे कुछ भी नहीं चाहते। वे भगवान्‌में तल्लीन रहते हैं।

अद्वैतवीथी पथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

'भक्तिरसायन' ग्रन्थमें, वेदान्तमें अद्वैत-सिद्धान्तके बड़े भारी आचार्य श्रीमधुसूदनाचार्यजी कहते हैं कि जो अद्वैत-मार्गमें चलनेवाले हैं, उनके हम उपास्य हैं, कोई मामूली थोड़े ही हैं। स्वानन्द, ब्रह्मानन्दमें भी पूर्ण हैं, फिर भी हम तो भगवान्‌की तरफ खिंच गये। इस प्रेमको उन्होंने पाँचवाँ पुरुषार्थ माना है। भगवान्‌के प्रेमीकी बात बहुत विलक्षण है।

दार्शनिकोंने विचार बहुत किया है; परंतु प्रेमकी तरफ कम किया है। कई-कई वैष्णवशास्त्रोंमें प्रेमका वर्णन आता है। परंतु 'दर्शन' नाम है अनुभवका। दार्शनिक चीज प्रायः अनुभवकी होती है। प्रेमी लोग अपना अनुभव भी नहीं चाहते हैं। वे भगवान्‌से प्यार करते हैं, केवल भगवान् मीठे लगते हैं। इसलिये रात-दिन उसीमें मस्त रहते हैं। वे मुक्तिकी भी परवाह नहीं करते हैं। मुक्तिकी परवाह वे करें, जिनके बन्धन है। उनके बन्धन दूसरा है ही नहीं। बन्धन एक भगवान्‌का ही है। विनोदमें संत कहते हैं—

अब तो भोग मोक्षकी इच्छा व्याकुल कभी न करती है।
मुखड़ा ही नित नव बन्धन है मुक्ति चरणसे झरती है॥

उनको न तो संसारकी इच्छा ही व्याकुल करती है और न मुक्तिकी इच्छा व्याकुल करती है। भगवान्‌का स्वरूप ही उनके लिये बन्धन है। वह नित्य नया बन्धन प्रिय लगता है। **'दिने दिने नवं नवं नमामि नन्दसम्भवम्।'** मुक्तिमें आनन्द शान्त एकरस रहता है। प्रेममें **'प्रतिक्षणं वर्धमानम्'** प्रतिक्षण आनन्द बढ़ता ही रहता है। भगवान्‌के दर्शन करनेवाले कहते हैं—

'आज अनूप बनी युगल छबि, आज अनूप बनी'

युगल सरकारकी छवि आज बड़ी सुन्दर बनी है। ऐसे प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमका आनन्द है। प्रेमकी विशेष लहरें उठती रहती हैं, जिसे प्रेमी लोग ही जानते हैं। अपने स्वरूपको जाननेवाले ज्ञानी-मुक्त लोग उस प्रेमकी विशेषताको नहीं जानते हैं। उन्हें अपने स्वरूपमें ही सम, शान्त, अखण्ड आनन्दका निरन्तर अनुभव होता रहता है।

नाम और नामीकी बात पहले आयी थी जिसमें नामको बड़ा बताया। अब नामीका विवेचन करते हैं कि नामी कितने प्रकारके होते हैं। तो कहते हैं—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २३।१)

परमात्मा एक हैं, परंतु उनके स्वरूप दो हैं—एक अगुण अर्थात् निर्गुण और दूसरा सगुण। दो स्वरूपोंका अर्थ क्या हुआ? गुणोंसे रहित जिसको देखते हैं, वह अगुण

कहलाता है और जिसे गुणोंके सहित देखते हैं, वह सगुण कहलाता है। ये दोनों उस परमात्माके विशेषण हैं। अब कहते हैं—*'अकथ अगाध अनादि अनूपा'* इनका कथन नहीं होता है। पहले भी नाम और नामीको 'अकथ' कहा था। अब यहाँ अगुण और सगुण—दोनों स्वरूपोंको भी अकथ कहते हैं। वाणीके द्वारा ये वर्णनमें नहीं आते। वाणी भी कुण्ठित हो जाती है। *'अगाध'*—'गाध' नाम सरोवरके तलका है। ये ऐसे गहरे हैं कि तलका पता नहीं चलता। ये दोनों कबसे हैं? कहाँसे हैं? तो कहते हैं *'अनादि'*—सदासे हैं और सदा ही रहनेवाले हैं। कालसे जिनका माप-तौल नहीं हो सकता। इतने वर्षोंसे या इतने कल्पोंसे हैं—ऐसी बात नहीं है और *'अनूपा'*—इनके लिये कोई उपमा नहीं है। इनको किसकी उपमा दी जाय! उपमा लगाकर किसीके बराबर नहीं बताये जा सकते।

निर्गुण ब्रह्मसे नामकी श्रेष्ठता

मोरें मत बड़ नामु दुहू तें। किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २३। २)

पहले ऐसा कहकर आये हैं कि कौन बड़ा और कौन छोटा है, यह कहनेमें अपराध है। बड़ा और छोटा कहनेका अवसर आया तो अब अपनी सम्मति साफ कह देते हैं कि मेरे मतमें दोनोंसे बड़ा नाम है। आगे चलकर उपसंहारमें भी यही बात कहते हैं—*'ब्रह्म राम तें नाम बड़'* क्यों महाराज! दोनोंसे नाम बड़ा कैसे हुआ? यदि दोनों स्वरूप भी नामकी तरह अकथ, अगाध, अनादि, अनूपम हैं तो फिर यह नाम इनसे बड़ा कैसे हो गया? इसके उत्तरमें कहते हैं कि नाम महाराजने अपनी शक्ति-प्रभावसे अगुण और सगुण दोनोंको अपने वशमें कर लिया है। मानो नाम जपनेसे निर्गुणका बोध हो जाय और सगुण भी प्रकट हो जाय। इसलिये यह दोनोंसे बड़ा है। अब इसके बाद प्रकरण बाँधकर नामको एक-एक करके दोनोंसे बड़ा बताते हैं। पहले अगुणसे नामको बड़ा बतानेका प्रकरण आरम्भ करते हुए गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २३। ३)

मेरा जो कहना है, उसे कोई प्रौढ़िवाद न माने। किसी बातको बढ़ा-चढ़ाकर कहते हैं, उसे प्रौढ़िवाद कहते हैं। अपने लोगोंमें कहावत है—*'जिसका ब्याह उसीका गीत'* मानो जिसका मौका आ जाय, उसीकी बड़ाई कर देना, इसको प्रौढ़िवाद कहते हैं। इसलिये गोस्वामीजी महाराज पहले ही कह देते हैं कि सज्जन इस दासकी इस बातको केवल प्रौढ़िवाद न समझें। साहित्यमें जब वर्णन करते हैं तो विशेषतासे उपमा अलंकार आदि लगाकर बहुत विलक्षण वर्णन करते हैं। इस तरहसे यहाँ मैं नहीं कहता हूँ। कोई यह न जाने कि यह बढ़ा-चढ़ाकर कह रहा है। तो 'क्या कहते हो बाबा'!

'कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मनकी' तीन बातें हैं। *'प्रतीति'*—एक तो मेरेको ऐसा ही दीखता है? और जैसा मेरेको दीखता है, वैसा ही कहता हूँ और एक *'प्रीति'*—दीखता तो है परंतु प्रेम वैसा न हो—ऐसी बात नहीं है। नाममें प्रेम भी वैसा ही है और स्वतः मनकी रुचि भी है। गोस्वामीजी महाराज नामके बहुत ज्यादा प्रेमी हैं। नाममें पहलेसे ही इतने रचे-पचे थे कि जन्मते ही 'राम' ऐसा मुँहसे उच्चारण हुआ। इस कारण उनको 'राम बोला' कहते थे। ऐसे वे अपने मनकी बात कहते हैं।

एकु दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २३। ४)

भगवान्‌के दो स्वरूप हैं। वे कौन-कौन-से हैं? एक तो है दारुगत। जैसे काठमें आग होती है, दियासलाईमें आग होती है, पत्थरमें आग होती है, पर वह आग दीखती नहीं। ऐसे यह भगवान्‌का अगुणरूप सर्वत्र रहनेवाला है, पर यह दीखता नहीं। दूसरा रूप वह है, जो देखनेमें आता है। जैसे आग जलती हुई दीखती है, वह अग्निका प्रकटरूप है, ऐसे ही सगुण भगवान् अवतार लेकर लीला करते हैं, वह सगुणरूप प्रकट अग्निकी तरह है। भगवान् मनुष्योंकी तरह ही आचरण करते हैं। मनुष्यरूपमें प्रकट होनेके कारण वे प्रत्यक्ष दीखते हैं। एक दीखनेमें न आनेवाला और एक दीखनेमें आनेवाला—दो रूप अग्निके हुए; परंतु अग्नि एक ही तत्त्व है। दीखने और न दीखनेसे आग दो नहीं हुई। ऐसे ही अगुण अर्थात् अप्रकट और सगुण अर्थात् प्रकट—ये दो रूप परमात्माके हुए, परंतु परमात्मा एक ही हैं।

काठमें अथवा दियासलाईमें आग रहती है, वह आग दूसरी है और सुलगती है, वह आग दूसरी है—ऐसा कोई नहीं कह सकता। दोनों एक ही हैं। एक तो दीखती है और एक नहीं दीखती। केवल इतना अन्तर है। ऐसे नहीं दीखनेवाले परमात्माके रूपको अगुण कह देते हैं, दीखनेवाले रूपको सगुण कह देते हैं, पर परमात्मा दो नहीं हैं, तत्त्व एक ही है। इस तत्त्वको समझना ही *'ब्रह्म बिबेकू'* है।

'उभय अगम जुग सुगम नाम तें'—दोनों ही परमात्माके रूप अगम्य हैं। इनकी प्राप्ति करना चाहें तो

निर्गुणकी प्राप्ति भी कठिन है और सगुणकी प्राप्ति भी कठिन है। इनको जानना चाहें तो अगुण और सगुण दोनोंको जानना कठिन है। इन दोनोंमें भी गोस्वामीजी महाराज आगे चलकर कहेंगे कि सगुणका जानना और भी कठिन है। अवतार लेकर मनुष्य जैसे चरित्र करते हैं—इस कारण उनको जाननेमें कठिनता है।

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

(मानस, उत्तरकाण्ड, दोहा ७३ ख)

अगुणरूपको तो हर कोई जान सकता है, पर सगुण-रूपको हर कोई नहीं जानता। मनुष्यकी तरह आचरण करते देखकर बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंके मनमें भी भ्रम हो जाता है। वे भगवान्‌को मनुष्य ही मान लेते हैं। वे कहते हैं, यह तो मनुष्य ही है। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—'देवता और महर्षि भी मेरे परम अविनाशी भावको नहीं जानते, इसलिये अवतार लेकर घूमते हुए मुझको मूढ़ लोग साधारण मनुष्य मानकर मेरी अवज्ञा करते हैं अर्थात् मेरा तिरस्कार, अपमान, निन्दा करते हैं*।' उन मूर्खोंके सामने हीरा भी पत्थर होता है। न जाननेके कारण वे निन्दा करते हैं। उनकी निन्दाका कोई मूल्य नहीं है। कारण कि वे बेचारे जानते नहीं, अनजान हैं।

नामसे निर्गुण-सगुणकी सुलभता

निर्गुणरूपको सुलभ बताया है। दोनों रूपोंको देखा जाय तो निर्गुणका स्वरूप सुगम है। कारण कि निर्गुणस्वरूपमें दोषबुद्धि होनेकी गुँजाइश नहीं है। युक्तियोंसे भी उसकी सिद्धि की जा सकती है। पर सगुणमें दोष बुद्धि होनेकी गुंजाइश है और युक्तियोंसे सिद्ध भी नहीं हो सकता।

परंतु जहाँ साधनाकी चर्चा हुई है, वहाँ गोस्वामीजीने भक्तिके साधनको सुगम बताया है *'सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी'* और ज्ञानके पंथको कृपाणकी धारा बताया है। तलवारकी धारपर चलना बड़ा मुश्किल होता है। इस तरहसे निर्गुणका मार्ग बड़ा कठिन है और सगुण परमात्माका मार्ग अर्थात् उनकी भक्ति सुगम है।

यहाँ कहते हैं कि *'निर्गुन रूप सुलभ अति'* निर्गुणरूपको सुलभ ही नहीं, अत्यन्त सुलभ बताया और सगुणको कोई जानता नहीं, ऐसा कहा। इस कारण कहा जा सकता है कि दोनों बातोंमें विरोध आता है। एक जगह निर्गुणको अति सुलभ बता रहे हैं तो दूसरी जगह *'ग्यान पंथ कृपान कै धारा'*। इसी तरह *'सगुन जान नहिं कोइ'* कह रहे हैं और फिर सुगमता बताकर भक्तिकी महिमा गा रहे हैं।

दोनों बातोंमें विरोध दीखता है; परंतु वास्तवमें विरोध नहीं है। निर्गुणरूप समझनेमें बड़ा सुगम है, उसमें दोषबुद्धि सम्भव नहीं है। उसे तर्क-वितर्कसे समझा जा सकता है; परंतु सगुणरूपमें दोषबुद्धि हो सकती है तथा तर्क-वितर्क भी वहाँ चलता नहीं। इसलिये सगुणरूपके समझनेमें कठिनता है। परंतु प्राप्तिके मार्गमें चला जाय तो सगुणका मार्ग बड़ा सरल है, सीधा है। सगुण भगवान्‌की लीला गाकर, पढ़कर, सुनकर मनुष्य बड़ी सरलतासे भगवत्प्राप्ति कर सकता है। निर्गुण पंथ बड़ा कठिन है, कारण कि देहाभिमानी मनुष्यकी निर्गुण-तत्त्वमें स्थिति होनी बड़ी कठिन है (गीता १२।५)।

इससे निष्कर्ष निकला कि मार्ग तो सगुणवाला श्रेष्ठ है। साधक उसके द्वारा जल्दी पहुँचता है और विचारसे एवं तर्कसे निर्गुण स्वरूपको सुगमतासे समझ सकते हैं, पर सगुणमें तर्क नहीं चलता। इसलिये अपनी-अपनी जगह दोनों ही श्रेष्ठ हैं, दोनों ही उत्तम हैं।

खास बात यह है कि पात्रके अनुसार सुगमता और कठिनता होती है। जिसकी रुचि, योग्यता, विश्वास निर्गुणमें है, उसके लिये निर्गुणरूप सुलभ है। जिसकी रुचि, विश्वास, योग्यता सगुणमें है, उसके लिये सगुण सुलभ है। इसलिये पात्रके अनुसार दोनों ही कठिन हैं और दोनों ही सुगम हैं। जो जिसको चाहता है, वह उसके लिये सुगम हो जाता है।

एक रूपकी प्राप्ति होनेपर दोनोंकी ही प्राप्ति हो जाती है, फिर कोई-सा भी रूप जानना बाकी नहीं रहता; क्योंकि दोनोंका तत्त्व एक ही है। सगुण और निर्गुण किसी रूपको लेकर साधक साधना करे, अन्तमें दोनोंको जान लेगा। कारण कि तत्त्वतः दोनों एक ही हैं।

उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तें॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २३।५)

दोनों ही रूप नाम लेनेसे सुगम हो जाते हैं। दोनों अगम हैं मानो बुद्धि वहाँ काम नहीं करती। इस कारण जाननेमें अगम हैं; परंतु *'जुग सुगम नाम तें'* नामसे दोनों सुगम हो जाते हैं अर्थात् अगम होते हुए भी नाम-जप किया जाय तो दोनों ही सुगम हो जायँ। आपने सुना होगा कि कई सगुणरूपके और कई निर्गुणरूपके भक्त हुए हैं, उन्होंने भी

* न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः। अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ (१०।२)
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥(९।११)

'राम-राम' किया है। जैसे, श्रीगोस्वामीजी आदि वैरागी बाबा लोग सगुण भगवान्‌के उपासक हुए, वे भी 'राम-राम सीताराम राम-राम'—ऐसा करते थे। निर्गुण-साधनामें भी संत मतको माननेवाले भक्त हुए हैं। जैसे, श्रीहरिरामदासजी महाराज, श्रीरामदासजी महाराज—ये रामस्नेही सम्प्रदायमें संत हुए हैं। ये भी 'राम-राम' करते थे। बिल्कुल प्रत्यक्ष बात है कि नामसे दोनोंरूप सुगम हो जाते हैं। इसलिये तुलसीदासजी महाराज कहते हैं *'कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तें।'* राम और ब्रह्मसे नाम बड़ा है। अगुण ब्रह्म हुआ और सगुण रामजी हुए। इन दोनोंको प्रत्यक्ष करा देनेके कारण नाम दोनोंसे बड़ा हुआ। नामको अगुण-सगुण दोनोंसे बड़ा कहकर गोस्वामीजी निर्गुण प्रकरण प्रारम्भ करते हैं।

ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २३।६)

जो दारुगत अग्निकी तरह काष्ठमें व्यापक है और दीखता नहीं है—ऐसे सब संसारमें व्यापक अगुण परमात्मा हैं। वह अगुण स्वरूप है। वह अविनाशी है और व्यापकरूपसे सर्वत्र परिपूर्ण है *'सत चेतन घन आनँद रासी।'* वह सत् है, चेतन है और घन-आनन्द राशि है, मानो सब जगह केवल आनन्द-ही-आनन्द है, आनन्दकी राशि है। उस आनन्दरूप परमात्मासे कोई जगह खाली नहीं है, कोई समय खाली नहीं, कोई वस्तु खाली नहीं, कोई व्यक्ति खाली नहीं, कोई परिस्थिति उससे खाली नहीं। सबमें परिपूर्ण ऐसा अविनाशी वह निर्गुण है। वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं, व्यक्ति नष्ट हो जाते हैं, समयका परिवर्तन हो जाता है, देश बदल जाता है; परंतु यह तत्त्व ज्यों-का-त्यों ही रहता है। सब समयमें, सब कालमें, सब देशमें, सब वस्तुओंमें, सम्पूर्ण घटनाओंमें, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें ज्यों-का-त्यों रहता है। इसका विनाश नहीं होता, इसलिये यह सत् है। सत् सबका आश्रय है, आधार है, चित् सबका प्रकाशक है। केवल शुद्धज्ञान-स्वरूप है, इसलिये चित् है और आनन्दकी तो राशि है, घन है मानो बड़ा ठोस है। किसी चीजका उसमें प्रवेश सम्भव नहीं है। लोहेमें तो आग प्रविष्ट हो सकती है; परंतु आनन्दराशिमें कभी दुःख किञ्चिन्मात्र भी प्रविष्ट नहीं हो सकता। परमात्मामें परमात्माके सिवाय और किसी पदार्थका प्रवेश सम्भव ही नहीं है, इतना घन है परमात्मा। इस प्रकार ब्रह्मका स्वरूप बताया। फिर कहते हैं—

अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २३।७)

संसारमें जितने जीव हैं, उनके हृदयमें आनन्दराशि परमात्मा विराजमान हैं। *'अस प्रभु'* कहनेका तात्पर्य है कि ऐसे आनन्दराशि प्रभुके हृदयमें रहते हुए संसारमें जितने जीव हैं, वे सब-के-सब दीन हो रहे हैं और दुःखी हो रहे हैं। महान् आनन्दराशि भगवान्‌के भीतर रहते हुए दीन हो रहे हैं। आनन्दराशि निर्गुण परमात्मा सबके हृदयमें रहकर भी जीवोंका दुःख दूर नहीं कर सके, दरिद्रता नहीं मिटा सके। परंतु भगवन्नामका यदि यत्नसे निरूपण किया जाय तो वह आनन्द प्रत्यक्ष प्रकट हो जाता है। दुःख और दरिद्रता सर्वथा मिट जाते हैं।

नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २३।८)

निर्गुणतत्त्वमें निरूपणकी मुख्यता है। निरूपण यानी उसका स्वरूप क्या है, उसकी महिमा क्या है, वह तत्त्व क्या है? ठीक गहरा उतरकर तत्त्वको समझा जाय और उसीमें तल्लीन होकर नाम जपा जाय मानो सब जगह परमात्मा परिपूर्ण हैं, ऐसे जपनेसे *'सोउ प्रगटत'*—वह आनन्द प्रकट हो जाता है। इस प्रकार खयाल रखकर उसका विशेष यत्नपूर्वक निरूपण किया जाय तो निर्गुणतत्त्व आनन्दरूपसे हृदयमें प्रकट हो जाता है। *'कंचन खान खुली घट माहीं रामदासके टोटो नाहीं।'* घटमें, हृदयमें आनन्दकी खान खुल गयी। अब घाटा किस बातका रहा बताओ! भीतरसे ही जब आनन्द उमड़ता है तो सांसारिक सुखकी कामना किञ्चिन्मात्र नहीं रहती। आप कह सकते हैं, ऐसे आनन्दका हमें अनुभव नहीं। ठीक है, आनन्द तो प्रकट नहीं हुआ; परंतु शीत ज्वर कभी आया ही होगा! शीत ज्वर जब आता है, तब भीतरसे सर्दी लगती है, ऊपरसे कई कम्बल, रजाई आदि ओढ़नेपर भी भीतरसे कँपकँपी आती रहती है। बाहर कपड़ा ओढ़नेसे क्या हो! भीतरसे शीत हो, तब बाहरकी गर्मी बेचारी क्या करे! गर्म-गर्म जल भीतर जानेसे कुछ शान्ति हो सकती है, ऐसे जिसके भीतर आनन्द प्रकट हो जाय, तो उसे बाहरी वस्तुओं, व्यक्तियोंके संयोगसे मिलनेवाले सुखकी आवश्यकता नहीं रहती। ऐसे बाहरकी प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितिमें भी उसे दुःख नहीं हो सकता। '**यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥**' (गीता ६।२२) बड़े भारी दुःख आनेपर भी किञ्चिन्मात्र दुःख नहीं हो सकता; क्योंकि उसके भीतर आनन्दके फव्वारे छूटते हैं। उसके दर्शन, भाषण, स्पर्श, सङ्गसे आनन्द आता है। उसका नाम लेनेसे आनन्द आता है।

'सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें'—रत्नका मूल्य प्रकट हो जाता है। कैसे ? लाखों रुपयोंका बहुत बड़ा कीमती रत्न हो; परंतु पासमें रहनेपर भी उससे कोई लाभ नहीं मिलता, जबतक उसका मूल्य न ले लिया जाय। पासमें रहनेपर भी उससे रोटी नहीं मिलती, कपड़ा नहीं मिलता, मकान नहीं मिलता, सवारी नहीं मिलती, दवाई नहीं मिलती; पर उस रत्नको बेचकर दाम खड़े कर लिये जायँ तो रुपये खर्च करनेपर किसी बातकी कमी नहीं रहती। अकेला रत्न पड़ा रहे तो कुछ काम नहीं निकलता। ऐसे दरिद्रता दूर नहीं होती। ऐसे ही जबतक वह आनन्द प्रकट नहीं किया जाता, अर्थात् नाम नहीं लिया जाता, तबतक वह आनन्द प्रकट नहीं होता। नामसे वह प्रकट हो जाता है; फिर किसी बातकी कमी नहीं रहती। जाननेसे उसका मूल्य प्रकट होता है।

हमने एक कहानी सुनी है। एक संत बाबा थे। वे कहीं भिक्षाके लिये गये। जाकर आवाज लगायी राम! राम! जिसके घर बाबाजी गये थे, वह रोने लग गया। बाबाजीने पूछा—'भैया! रोते क्यों हो?' वह बोला—'महाराज! भगवान्‌ने मेरेको ऐसे ही पैदा कर दिया है। तीन दिन हो गये चूल्हा नहीं जला है। घरमें कुछ खानेको नहीं है। भूखे मरता हूँ। आज संत पधारे, भिक्षा देनेको मन भी करता है, पर देऊँ कहाँसे ?' संतने कहा —'तू घबराता क्यों है ? तू तो बड़ा भारी धनी है। तू चाहे तो त्रिलोकीको धनी बना सकता है।' वह गृहस्थी कहता है—'महाराज! आप आशीर्वाद दे दें तो ऐसा हो जाऊँ। अभी तो मेरी परिस्थिति ऐसी है कि मुझे खानेको अन्न नहीं मिलता। आप कहते हैं कि लोगोंको धनी बना सकता है, तो यह कैसे सम्भव है महाराज!'

बाबाने संकेत करते हुए कहा—'वह सामने क्या वस्तु पड़ी है ?' 'वह तो सिलबट्टा है महाराज! पत्थर है, जब रोटी मिल जाती है तो इसपर चटनी पीस लेते हैं।' बाबा कहते हैं—'वह पत्थर नहीं है, वह पारस है। पारसका नाम सुना है ?' 'हाँ सुना है।' तो पूछा—'पारस क्या होता है महाराज!' 'लोहेको छुआनेसे सोना हो जाय, वह पारस होता है,' 'पर महाराज! यदि यह पारस होता तो मैं भूखा क्यों मरता ?' संत कहते हैं कि 'तू भूखा इसलिये मरता है कि उसको जानता नहीं। घरमें कुछ लोहा है क्या ?' 'हाँ महाराज! लोहेका चिमटा है। रसोई बनाते हैं तो चिमटा काममें आता है।' वह ले आया तथा उसको पारससे छुआया, पर लोहा सोना बना नहीं। बाबाने कहा—'इसपर जमी हुई चटनी, मिर्च, मिट्टी साफ कर दे।' उसे साफ करके छुआया तो चिमटा सोना बन गया। संत बोले—'बता, अब तू धनी है कि नहीं!' लोहेको सोना बनानेवाला पारस मिल गया, अब धनी होते कितनी देर लगे। पारस तो पासमें ही था, परंतु जानकारी न होनेसे उसे मामूली पत्थर समझता था। अब वह केवल आप ही धनी नहीं बना, बल्कि चाहे जिसको धनी बना दे।

इसी तरह भगवान्‌का नाम मौजूद है, भगवान् विद्यमान हैं। 'राम' नाम लेते भी हैं; परंतु ऊपर-ऊपरसे लेते हैं, भीतरी भावसे नहीं लेते। निष्कपट होकर सरलतापूर्वक भीतरसे लिया जाय तो नाम महाराज दुनियामात्रका दुःख दूर कर दें। संत-महात्मा, भगवान्‌के प्रेमी भक्त जहाँ जाते हैं, वहाँ दुनियाका दुःख दूर हो जाता है। उनके दर्शन, भाषण, चिन्तनसे दुःख दूर होता है, धन देनेसे दूर नहीं होता। जिनके पास लाखों-करोड़ोंकी सम्पत्ति है, बहुत वैभव है, वे भीतरसे जलते रहते हैं; परंतु नाम-प्रेमी संत-महात्माओंके दर्शनसे वे भी निहाल हो जाते हैं। संतोंके मिलनेसे शान्ति मिलती है; क्योंकि नाम जपनेसे उनमें आनन्दराशि प्रभु प्रकट हो गये। प्रभुके प्रकट होनेसे उन संतोंमें यह विलक्षणता आ जाती है।

निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नामु बड़ राम तें निज बिचार अनुसार॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २३)

सगुणसे नामकी श्रेष्ठता

ऊपर गोस्वामीजीने नामको निर्गुण-स्वरूपसे बड़ा बताया और अब अपने विचारके अनुसार सगुण रामसे नामको बड़ा बताते हैं। निर्गुण-स्वरूपका उपक्रम करते हुए ***'मोरें मत बड़ नामु दुहू तें।'*** दोनोंसे बड़ा बताया और यहाँ बीचमें निर्गुण स्वरूपका उपसंहार करते हुए कहते हैं ***'निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार।'*** इस प्रकार निर्गुणसे नाम बड़ा बताया और यहाँसे आगे सगुण-स्वरूपका उपक्रम करते हुए ***'कहउँ नामु बड़ राम तें'*** सगुणसे नामको बड़ा बताते हैं। अब ध्यान देना! सगुणसे बड़ा नामको बताते हुए तुलसीदासजी महाराज पूरी रामायणका वर्णन करते हैं। रामजीने क्या किया और नाम महाराजने क्या किया—ऐसे दोनोंकी तुलना करते हैं।

राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २४। १-२)

गोस्वामीजी कहते हैं कि रामजीने भक्तोंके हितके लिये मनुष्यरूप धारण किया। नाना प्रकारके कष्ट स्वयं सहे और संतोंको सुखी किया। रामजीने भक्तोंके लिये शरीर धारण करके काम किया। जरा गहरा विचार करें! संत कभी दुःखी होते हैं ? वे सदा सुखी ही रहते हैं। सगुण भगवान्‌के दर्शन करके वे विशेष प्रसन्न हो जाते हैं, यह बात तो कह सकते हैं।

दूसरे, भगवान्‌ने स्वयं जा-जाकर उनके यहाँ दर्शन दिये और आप स्वयं वन-वन घूमे, नाना प्रकारके कष्ट सहे; परंतु नाम महाराजको कहीं आना-जाना नहीं पड़ता। किसी तरहका कष्ट सहन नहीं करना पड़ता। जहाँ हो, वहीं बैठे-बैठे नाम जपनेसे सब प्रकारके मङ्गल हो जाते हैं, आनन्द छा जाता है। भगवान् एक शरीर धारण करके कितने जीवोंको सुखी कर सकते हैं; परंतु नाम लेकर प्रत्येक जीव आनन्द प्राप्त कर सकता है। नाम-जपसे अभक्त भक्त हो जाय। असाधु साधु हो जाय, दुष्ट सज्जन हो जाय, नाम महाराजको जोर पड़ता ही नहीं। बस इतनी-सी शर्त है कि प्रेमसहित, आदरसहित नाम-जप करें। इस प्रकार नाम-जप करनेसे मोदमें, मङ्गलमें निवास हो जाय। उसके सदाके लिये मौज हो जाती है। नाम जपनेवालेके किसी बातकी कमी रहती ही नहीं। प्रश्न उठ सकता है कि फिर लोग क्यों दुःखी हो रहे हैं? इस बातपर विश्वास नहीं करते, इसलिये दुःखी हो रहे हैं। सब-का-सब संसार नाममें विश्वास न करनेके कारणसे मौतके चक्करमें पड़ा है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

(गीता ९।३)

मौतसे बढ़कर संसारमें कोई दुःख नहीं, जिसके आनेपर उस दुःखको सह नहीं सकते, इतना भयंकर दुःख कि प्राण छूट जाते हैं, उस दुःखके रास्तेमें केवल दुःखोंका ही सामना करना पड़ता है। विश्वास न करनेके कारण भगवान्‌के नामका जप करते नहीं। इसलिये मौतके रास्तेमें सब-का-सब संसार जा रहा है। अगर प्रेमसे विश्वास करके नाम-जप किया जाय तो सब-के-सब आनन्दमें मग्न हो जायँ।

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २४।३)

आगे गोस्वामीजी कहते हैं—***'राम एक तापस तिय तारी'*** जब वे जनकपुरी जा रहे थे तो बीचमें गौतमकी पत्नी अहिल्या पत्थररूपसे पड़ी हुई थी। भगवान् रामजीके चरणकी रज लगनेसे उसका उद्धार हो गया। अब ध्यान देना !

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥

इस प्रकार एक-एक शब्दमें रामजीसे नामकी श्रेष्ठता बताते हैं। सगुण रामजीने केवल एक तापस स्त्रीका उद्धार किया। गिनतीमें एक और वह भी तपस्वीकी स्त्री। तपस्वीका आधा अङ्ग अशुद्ध थोड़ा ही होता है ! उसको तार दिया, उसका उद्धार कर दिया, इसमें क्या बड़ी बात की ! परंतु नाम महाराजने एककी नहीं, करोड़ोंकी; तापसकी नहीं, खलोंकी तथा स्त्री (सुमति) को नहीं, कुमतिको सुधारा। कुमति सुधर जाय तो वह स्वयं दूसरोंका उद्धार करनेवाला बन जाता है। जो केवल अपना ही उद्धार नहीं कर सकता, वह दुनियाका उद्धार करनेवाला संत बन जाता है। अब अहिल्याका उद्धार हो गया तो हमारेको क्या मिला ? नाम जपनेवाला हमारेको भी निहाल कर दे। इतनी महिमा है नाम-जपकी ! तात्पर्य है सगुण रामजीकी अपेक्षा नाम बहुत बड़ा है।

रिषि हित राम सुकेतुसुता की। सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २४।४-५)

ऋषियोंका हित करनेके लिये अर्थात् विश्वामित्रजीका यज्ञ पूर्ण करनेके लिये उनके आश्रममें भगवान् राम पधारे। वहाँ उन्होंने विश्वामित्र ऋषिके हितके लिये सुकेतुराजकी लड़की ताड़काको मारा और उसके बेटेसहित उसकी सेनाको नष्ट कर दिया। यह तो रामजीने किया। अब नाम महाराज क्या करते हैं, इसको बताते हैं कि भगवान्‌के दासके सामने दुराशारूपी ताड़का आ जाय तो 'राम-राम' करते ही ताड़का मर जायगी। भगवन्नाम प्रेमपूर्वक लेनेसे सभी बुरी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं। इस ताड़काके दो बेटे बताये हैं—दोष और दुःख। दुराशासे ही दोष और दुःख पैदा होते हैं। दुराशा भीतरसे मिट जाती है तो न दोष बनता है, न दुःख होता है अर्थात् न पाप बनता है तथा न ही पापोंका फल—दुःख होता है। दुराशा मर जाय और इनके बेटे भी मर जायँ। फिर इनकी जो सेना है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, पाखण्ड, झूठ, दम्भ आदि ये कई तरहके राक्षस हैं। 'राम-राम' करनेसे ये सेना भी सब-की-सब खतम हो जाती हैं। यह नाम महाराज सबका नाश कर देते हैं। जैसे सूर्योदय होनेसे रात्रिका नाम-निशान नहीं रहता। रात्रि आती है, तब सब जगह अँधेरा छा जाता है। बाहर और भीतर सब जगह अँधेरा ठसाठस भर जाता है, मानो इतना भर जाता है कि सूई भी भीतर नहीं जावे। सूर्योदय होते ही अँधेरेकी जय रामजीकी हो जाती है अर्थात् अँधेरा विदा हो जाता है।

एक कहानी आती है। एक बार अँधेरेने जाकर ब्रह्माजीसे शिकायत की कि 'महाराज ! सूर्यभगवान् मेरेको टिकने नहीं देते। जिस देशमें मैं जाता हूँ, वहींसे भगा देते हैं। मैं कहाँ जाऊँ ? ऐसा वैर वे मुझसे रखते हैं।' ब्रह्माजीने सूर्यसे पूछा—'सूर्य महाराज ! आप बेचारे अन्धकारको क्यों दुःख देते हैं ?' सूर्यने कहा—'महाराज ! उम्रभरमें मैंने उसको देखा ही नहीं। दुःख देना तो दूर रहा। हमारा और उसका कैसा वैर ?' अब देखें कैसे ! वह सूर्यके सामने आता ही नहीं। ऐसे भगवन्नाम

महाराजने दोष, दुःख और दुराशारूपी अँधेरेको देखा ही नहीं। नाम जहाँ आ जाता है, वहाँसे ये बेचारे सब भाग जाते हैं। रामजीकी अपेक्षा नाम महाराजने कितना बड़ा काम किया !

भंजेउ राम आपु भव चापू। भव भय भंजन नाम प्रतापू॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २४। ६)

विश्वामित्र ऋषिका यज्ञ पूरा करके रामजी जनकपुरी पहुँचे। राजा जनकके बड़ी आफत थी। हमारी कन्याका लगन हो जाय, यह बड़ी चिन्ता थी। पुत्रीके विवाहकी चिन्ता माता-पिताके रहती ही है। महाराज जनकने धनुष-यज्ञ रचा। इस धनुषको जो तोड़ देगा, उसके साथ अपनी बेटीको ब्याह दूँगा—ऐसी प्रतिज्ञा की। बड़े-बड़े बलवान् राजा लोग आये। रावण, बाणासुर आदि रात्रिमें आकर धनुषको उठानेका उद्योग करके हार चुके थे, इसलिये राजाओंके सामने उसको छूनेकी उनकी हिम्मत ही नहीं पड़ी। 'यों ही क्यों अपनी बेइज्जती कराओ मुफ्तमें, यह टूटनेवाला तो है नहीं।' सबका घमण्ड दूर हो गया।

महाराज जनकके बड़ी चिन्ता हो गयी। वे कहते हैं कि यदि प्रण छोड़ देता हूँ तो बड़ा दोष लगता है। प्रतिज्ञा भङ्ग करना बड़ा पाप है; और यदि प्रण नहीं छोड़ता हूँ तो कन्या कुँआरी रह जाती है। अब क्या करूँ ? ऐसी आफत जनकजीके आ गयी। रामजीने कृपा की। शंकरजीके धनुषको तोड़ दिया। भगवान् रामने जाकर शंकरके चापको तोड़ा, पर नाम महाराजको कहीं जाना नहीं पड़ता, इनका प्रताप ही ऐसा है कि वह संसारके जन्म-मरणके भयको सर्वथा मिटा देता है। यहाँ रामजीने एक शंकरके चापको तोड़ा, पर नाम महाराजका प्रताप ही हजारों, लाखों, करोड़ों मनुष्योंके भव-बन्धनको तोड़ देता है। नाम महाराजके प्रभावसे मनुष्य संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं।

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे॥

(विष्णुसहस्रनाम)

दंडक बनु प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किए पावन॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २४। ७)

विवाह कराकर रामजी अयोध्या वापस आ गये। फिर उनको वनवास हुआ। रामजीके लिये कहा गया—***'दंडक बनु प्रभु कीन्ह सुहावन'*** दण्डकवनको शाप था। इस कारण बालू बरस गयी थी और जंगल सब सूख गया था। ऐसा सूखा जंगल था, वह दण्डकवन ! भगवान् रामजीके पधारनेसे वह हरा-भरा हो गया, सुहावना हो गया। सब-का-सब जंगल बड़ा सुन्दर हो गया। रामजीने एक जंगलको हरा-भरा कर दिया, पवित्र कर दिया; परंतु ***'जन मन अमित नाम किए पावन'*** भगवन्नामने अपने अनगिनत जनोंके मनको पवित्र कर दिया। मनरूपी जंगल कितने सूखे पड़े हुए थे जिनकी गिनती नहीं, इतने अमित मन पावन किये ! ऐसे रामजीकी अपेक्षा नामजी कितने बड़े हुए !

निसिचर निकर दले रघुनंदन। नामु सकल कलि कलुष निकंदन॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २४। ८)

रामजीने राक्षसोंके समूह-के-समूहका नाश कर दिया। राक्षस बहुत मरे, पर सब नहीं मरे, राजगद्दी होनेपर भी राक्षस रह गये। उनको मारनेके लिये शत्रुघ्नजीको भेजना पड़ा। कई आफत आयी; परंतु नाम महाराजके लिये कहा गया है कि ***'नामु सकल कलि कलुष निकंदन'*** इन्होंने कलियुगके सारे-के-सारे पापोंका नाश कर दिया। कोई पाप बाकी नहीं रहा, सबको नष्टकर दिया।

अब बोलो ! स्वयं राम महाराज बड़े हैं कि नाम महाराज बड़े हैं ! ऐसे रामजीके चरणोंका शरण ले लो अपने तो ! जिसे दूसरे किसीकी आशा ही न हो, वह भगवान्‌का प्यारा हो जाता है।

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस, अरण्यकाण्ड, दोहा १०। ८)

यदि कोई दूसरा सहारा रखता है तो उसको भगवान्‌की तरफसे पूरा बल नहीं मिलता। भगवान्‌पर पूरा विश्वास, भरोसा न करके अपनेको भगवान्‌से जितना अलग रख लेता है, भगवान्‌की उतनी चीज उसे नहीं मिलती। इसलिये दूसरेका सहारा छोड़ दें और उनके शरण हो जायँ।

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास॥

राम ! राम !! राम !!!

प्रवचन—९

सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २४)

श्रीगोस्वामीजी महाराज सगुणसे भी बढ़कर 'राम' नामकी महिमा बतलाते आ रहे हैं। यहाँ वही प्रकरण चल रहा है। श्रीरघुनाथजी महाराजने तो शबरी, गीध (जटायु) आदि

जो सुसेवक थे और जो उनका चिन्तन करते थे, उनको ही मुक्ति दी; परंतु उनके नामने अगनित दुष्टोंका उद्धार कर दिया। नामके गुणोंकी कथा वेदोंमें प्रसिद्ध है।

शबरीके बहुत दिनोंसे प्रतीक्षा हो रही थी कि 'भगवान् आवें, भगवान् आवें' और वह गीध भी भगवान्के चरणोंकी रेखाका चिन्तन करता था। रेखाओंमें वज्र आदिके चिह्न होते हैं, वे रक्षा करनेवाले होते हैं। ऐसे भगवान्का चिन्तन करनेवाले दो सेवक 'रामचरितमानस'में मिलते हैं। उनको ही मुक्ति (गति) दी, पर ***'नाम उधारे अमित खल'*** नामने जिनका उद्धार किया, वे अमित हैं, कोई मित नहीं, उनकी कोई गणना नहीं है। ***'बेद बिदित गुन गाथ'***—उनके गुणोंकी गाथाएँ वेदोंमें, शास्त्रोंमें, स्मृतियोंमें, पुराणोंमें, इतिहासोंमें प्रसिद्ध हैं। ऐसे अनेकोंका उद्धार कर दिया।

तीन प्रकारके सखा

राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सबु कोऊ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २५। १)

अब कहते हैं—सुग्रीव और विभीषण दोनों भगवान्के मित्र रहे। श्रीरामजीने इन दोनोंको अपनी शरणमें रखा, यह सब कोई जानते हैं। भगवान्ने इनको 'सखा' कहा है।

खल मंडली बसहु दिनु राती। सखा धरम निबहइ केहि भाँती॥

(मानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा ४६। ५)

विभीषणसे भगवान् गले मिलकर पूछते हैं कि 'दिन-रात दुष्टोंकी मण्डलीमें बसते हो, ऐसी दशामें, हे सखे! तुम्हारा धर्म किस प्रकार निभता है?' ऐसे सुग्रीवको भी अपना सखा मानते हैं। जब विभीषण मिलने आया तो ***'कह प्रभु सखा बूझिऐ काहा'*** भगवान्ने सुग्रीवसे कहा—बोलो, सखा! तुम्हारी क्या सम्मति है? ऐसे दोनों ही सखा थे। इनको भगवान्ने अपने शरणमें रखा।

ये दोनों ही भयभीत थे बेचारे! सुग्रीव बालीसे डरता था और विभीषणको भी रावणने जोरसे धमकाया, लात भी मारी और कह दिया कि 'मेरे नगरमें रहता है और प्रीति तपस्वी (राम) से करता है। निकल जा यहाँसे।' ऐसे रावणने उसे निकाल दिया तो वह भगवान्के शरण आ गया। इन दोनोंको भगवान्ने अपने मित्र बना लिये। एक बात याद आ गयी—रामायणमें भगवान्के तीन सखा हैं। (१) निषादराज गुह, (२) सुग्रीव और (३) विभीषण। इन तीनोंको सखा बनानेका तात्पर्य क्या है? भगवान् कहते हैं—'मैं सबको सखा बनानेके लिये तैयार हूँ।' तीन तरहके भक्त होते हैं। (१) साधक भक्त होता है, (२) सिद्ध भक्त होता है और (३) विषयी भक्त होता है।

सांसारिक विषयी मनुष्यको भी भगवान् सखा बना लेते हैं, साधक भक्तको भी सखा बना लेते हैं और सिद्ध भक्तको भी सखा बना लेते हैं। इनमें निषादराज गुह सिद्ध भक्त था, जैसे ज्ञानी भक्त होते हैं, परमात्माके प्यारे होते हैं, पूर्णताको प्राप्त—ऐसे सिद्ध भक्त हैं, निषादराज गुह। विभीषण साधक भक्त है, भगवत्प्राप्तिकी साधना करनेवाला है और सुग्रीव विषयी भक्त है। भगवान्की भक्ति करता है, पर करता है विपत्ति आनेपर, दुःख होनेपर और जब दुःख मिट जाता है तो फिर जै रामजीकी! फिर कोई भक्ति नहीं। सुग्रीवके विषयमें भगवान् रामने लक्ष्मणजीसे कहा—

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी॥

(मानस, किष्किन्धाकाण्ड, दोहा १८। ४)

सुग्रीव भी मेरी सुध भूल गया; क्योंकि उसको राज्य मिल गया, मकान मिल गया, नगर मिल गया, खजाना मिल गया, स्त्री मिल गयी। अब भजन कौन करे? जब विपत्ति थी, डर था, तब भजन करता था। अब भय मिट गया, मौजसे राज्य करता है, इसलिये मेरेको भी भूल गया।

हनुमान्जीने सुग्रीवको रामजीसे मिलनेके लिये कहा—'तुम कर क्या रहे हो!' रामजीने यहाँ प्रवर्षण गिरिपर चातुर्मास (निवास) किया है और तुमने भगवान्की बात भुला दी। इतने दिन हो गये, कभी मिलनेतक नहीं गये और सीताजीकी खोज भी तुमने नहीं की। ऐसी बात हनुमान्जीने कही। तब उसे कुछ चेत हुआ; परंतु फिर महाराज! लक्ष्मणजीके सामने रामजीने जोरसे कहा—'सुग्रीव भी मुझे भूल गया है, जिस बाणसे बालिको मारा है, कल उसी बाणसे उसको भी मारना है।' यह सुनकर लक्ष्मणजी बोले—'महाराज! वह तकलीफ आपको नहीं देखनी पड़ेगी। मैं अभी जाता हूँ और सब काम कर दूँगा।' तब भगवान्ने समझा कि कहीं लक्ष्मण उसे मार न दे। इसलिये कह दिया—'ना, ना, भाई।'

भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव।

(मानस, किष्किन्धाकाण्ड, दोहा १८)

'देखो, सुग्रीव हमारा सखा है, मित्र है। भय दिखलाकर ले आना।' भय दिखानेका तात्पर्य क्या है? ये विषयी भक्त होते हैं, इनमें जब कोई आफत आती है, भय होता है, तब भगवान्का भजन करते हैं। भय मिट जाता है तो फिर वैसे ही। इसलिये कहा—'भय दिखाकर ले आना, मारना नहीं।'

भय दिखानेके लिये भगवान्‌को यह कहना पड़ा। लक्ष्मणजी जब वहाँ गये तो सुग्रीव भयभीत हो गया। उसने पहले ताराको भेजा कि लक्ष्मणजी आ रहे हैं, इनको राजी करो किसी तरह ही। स्त्रियाँ हैं, बालक हैं, इनको देखकर बड़ोंको दया आ जाती है, एक कृपा आ जाती है। इसलिये ताराको, हनुमान्‌जीको और अंगदको भेजा; क्योंकि वह डर गया। जब लक्ष्मणजी पधारे तो उनको अपनी खाटपर बैठाया। सुग्रीव विषयी था न! तो वहीं रहता था। बैठकमें नहीं, माचे (चारपाई) पर बैठा रहता। इसलिये लक्ष्मणजीको भी वहीं खाटपर बैठाया। इस तरह उनका आदर किया। ये सब विषयीके लक्षण हैं। रामजीसे जाकर मिला तो क्या कहा? रामजीसे कहा—'महाराज!

नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥
लोभ पाँस जेहिं गर न बँधावा। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥
यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई॥

(मानस, किष्किन्धाकाण्ड, दोहा २१।४—६)

गीतामें जैसे काम, क्रोध और लोभ—ये तीन नरकके दरवाजे बताये हैं। उसी तरह सुग्रीवने कहा—'***नारि नयन सर जाहि न लागा।***' स्त्रीका नयन बाण जिसको नहीं लगा अर्थात् जो कामके वशमें नहीं हुआ और '***घोर क्रोध तम निसि जो जागा।***'—जो घोर क्रोध-रूपी रात्रिमें जग गया, मानो जिसको क्रोध नहीं हुआ और '***लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया।***' लोभकी फाँसी जिसके गलेमें नहीं लगी है। '***सो नर तुम्ह समान रघुराया॥***' वह तो आपके समान ही है, जो इन दोषोंसे दूर है। ऐसे भगवान्‌के प्यारे भक्त होते हैं। ये गुण किसी साधनसे नहीं होते, आपकी कृपासे ही होते हैं। मैं जो काम, क्रोध और लोभमें फँसा हूँ, इसमें कारण है कि आपने कृपा नहीं की। मेरा दोष नहीं है इसमें। '***तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई॥***' आपकी कृपासे कोई-कोई पाता है। इसलिये यह हमारेमें अवगुण नहीं, यह अवगुण आपका ही है। विषयी आदमी भोगोंमें फँसे रहते हैं और कह देते हैं— भगवान्‌की माया है। भगवान्‌की मायाने ऐसा कर दिया। इस कारण हम फँस गये, क्या करें? हम तो दूधके धोये शुद्ध हैं। ये जो विषयी-पामर जीव संसारमें रात-दिन भोगोंमें लगे रहते हैं, वे रामजीके ऊपर ही दोषारोपण करते हैं कि हम क्या करें? बताओ जीव बेचारे क्या करें? यह तो भगवान् कृपा करे, तब छूटे।

ऐसे वचन विभीषण या निषादराज गुहके प्रसंगमे कहीं नहीं आयेंगे, क्योंकि ऐसी बात साधक और सिद्ध भक्त नहीं कहते। विषयोंमें डूबे हुए पामर जीव ही ऐसा कहते हैं। निषादराज गुहको तो भगवान्‌से मिलनेमें बड़ा दुःख होता है वह कहता है—

कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह॥

(मानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा ९१)

कैकयराजकी पुत्री मंदमति कैकेयीने बड़ी ही कुटिलता की है, जो रघुनन्दन श्रीरामजीको और जानकीजीको सुखके अवसरपर दुःख दिया है, वनवास दे दिया, इस बातसे बड़ा दुःख हुआ। लक्ष्मणजीने वहाँ समझाया कि यह दुःख-सुख कुछ नहीं है ऐसे 'लक्ष्मण-गीता'का वहाँ उपदेश हुआ है। रामजीसे जब निषादराज मिला तो उसने कहा—'महाराज! आप हमारे घरपर पधारो। यह आपका ही घर है, बाल-बच्चे सब आपके ही हैं। आप कृपा करो, घरपर पधारो।' तब भगवान्‌ने कहा—'भाई! इस समय हम गाँवमें किसीके घरपर नहीं जा सकते; क्योंकि हमारी माता कैकेयीने वनवास दे दिया है—'***तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनबासी॥***' चौदह वर्षका वनवास है, इस कारण हम गाँवमें नहीं जाते हैं। जब विभीषण भगवान्‌के शरण आया तो कहने लगा—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

(मानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा ४५)

हनुमान्‌जीके द्वारा मैंने आपका सुयश सुना कि आप जन्म-मरणके भयका नाश करनेवाले हैं। दुःखियोंका दुःख दूर करनेवाले आप मेरी रक्षा कीजिये। मैं आपके शरणमें आया हूँ। विभीषणने भगवान्‌पर कोई दोषारोपण नहीं किया। उसके मनमें संकोच था, भय लगता था, इसलिये हनुमान्‌जी महाराजसे भी उसने कहा कि 'महाराज! क्या मेरे जैसेको भी भगवान् स्वीकार कर लेंगे?' हनुमान्‌जी कहते हैं—'देखो मेरे जैसेको भी स्वीकार कर लिया है।' भगवान् सबको स्वीकार करते हैं, तुमको भी स्वीकार कर लेंगे, इस प्रकार जब आश्वासन दिया, तब हिम्मत हुई। विभीषण संकोच रखता था और साधन करता था। भगवान्‌ने उसको भी अपना सखा बनाया। सुग्रीव जैसेको भी निषादराज गुहकी तरह अपना सखा बना लिया।

विभीषणने क्या किया कि जब सर्वथा विजय हो गयी और रावण मारा गया, तब विभीषणने भगवान्‌से कहा—

'महाराज ! आप घरपर पधारिये।'

अब जन गृह पुनीत प्रभु कीजे। मज्जनु करिअ समर श्रम छीजे ॥

(मानस, लंकाकाण्ड, दोहा ११६।५)

'जिससे युद्धका परिश्रम दूर होवे। मेरा घर पवित्र करो, पधारो।' तो भगवान्ने कहा—'भाई ! तुम्हारा घर हमारा ही है, यह सच है, पर हमारेको भरतकी याद आ रही है। भरत भी मेरेको याद करता है, इसलिये मेरेको अयोध्या जल्दी पहुँचना है। गाँवमें, घरोंमें मैं नहीं जाता हूँ, इस कारण लक्ष्मणजीको भेजता हूँ, यह राजगद्दी कर देगा। विभीषणने युद्ध समाप्त होनेके बाद घर पधारनेके लिये कहा। जबकि निषादराज गुहने आरम्भमें मिलते ही यह कहा कि आप घरपर पधारो; परंतु बन्दा सुग्रीवने कहा ही नहीं कि आप मेरे घर पधारो। ऐसा विषयी था। फिर भी रामजी तो तीनोंको ही सखा कहते हैं।

भगवान् कहते हैं कि तुम अपने गुण-अवगुणोंकी तरफ मत देखो। केवल मेरे सम्मुख हो जाओ, मेरे पास आ जाओ, बस।

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥

(मानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा ४४।२)

इसलिये भगवान्की शरण ले लो, आश्रय ले लो, उनके सम्मुख हो जाओ। वे सबको सखा बनानेको, सबको अपना बनानेको तैयार हैं। भगवान् एक हाथमें धनुष और एक हाथमें बाण रखते हैं। बाण तो होता है सीधा और धनुष होता है टेढ़ा। वे दोनोंको ही हाथमें रखते हैं, सीधेको (बाणको) छोड़ देते हैं, पर टेढ़े (धनुष) को नहीं छोड़ते हैं; क्योंकि उसपर कृपा विशेष रखते हैं, यह कहीं जायगा तो फँस जायगा।

इसलिये जैसे भी हो, अपनी ओरसे सरल, सीधे होकर भगवान्के चरणोंकी शरण चले जाओ, बस। आश्रय भगवान्का पकड़े रखो। फिर आप डरो मत कि हम कैसे हैं, कैसे नहीं हैं, इसकी जरूरत नहीं है।

नाम गरीब अनेक नेवाजे। लोक बेद बर बिरिद बिराजे ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २५।२)

नाम महाराजने तो कई गरीबोंके ऊपर कृपा कर दी है। लोकमें और वेद-शास्त्रोंमें सब जगह नामकी विरदावली (यशकी प्रतिष्ठा) प्रसिद्ध है।

राम भालु कपि कटकु बटोरा। सेतु हेतु श्रमु कीन्ह न थोरा ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २५।३)

सुग्रीवसे मित्रता हो गयी, फिर युद्धकी तैयारी होने लगी। श्रीरामजीने भालू (रीछ) और बन्दरोंकी बड़ी भारी सेना इकट्ठी की और समुद्रसे पार उतरनेके लिये पुल बनानेमें कितना परिश्रम किया ! यह सब कोई जानते ही हैं।

नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माहीं ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २५।४)

भगवान्का नाम लेते ही संसार-समुद्र सूख जाता है और फिर तो पैदल ही चले जाओ पार। तैरना ही नहीं पड़े। कोई पुल बनानेकी भी जरूरत नहीं। ऐसे नाम महाराजको परिश्रम करना नहीं पड़ता। ***'करहु बिचारु सुजन मन माहीं'*** पहले यह बात कह आये हैं ***'को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेदु समुझिहहिं साधू ॥'*** यहाँ कहते हैं कि सज्जन लोग मनमें ही विचार कर लो, हम छोटा-बड़ा क्या बतावें, आप ही विचार कीजिये कि इन दोनोंमें बड़ा कौन है ?

राम सकुल रन रावनु मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २५।५)

श्रीरामजीने कुटुम्बसहित रावणको मार दिया और उसके बाद सीताजीके सहित आप श्रीरघुनाथजी महाराज अयोध्यामें पधार गये।

राजा रामु अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि बर बानी ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २५।६)

राज-सिंहासनपर आप विराजमान हो गये और अयोध्या राजधानी हुई। देवता, ऋषि, मुनि, सन्त-महात्मा आदि उनकी बड़ी सुन्दर स्तुति करते हैं। श्रेष्ठ वाणीसे उनका वर्णन करते हैं। इस प्रकार यह तो रामजी महाराजने स्वयं ऐसा किया कि दुष्टोंको मारकर श्रेष्ठ राजधानी बना ली। अब देखो ! नाम महाराज क्या करते हैं ?

सेवक सुमिरत नामु सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २५।७)

जो भगवान्का सेवक (भक्त) प्रीतिसहित नाम-जप करता है, वह मोहरूपी रावणकी काम, क्रोध, लोभ, मद, पाखण्ड आदि बड़ी भारी कलियुगकी सेनाको ***'बिनु श्रम'*** बिना परिश्रमके जीत जाता है। जब मोहको ही जीत गया तो सेना कहाँ रहे बेचारी ! मोहके साथ सारी सेना भी खतम हो जाती है, फिर क्या करता है ? ***'फिरत सनेहँ मगन सुख अपनें।'*** सुखमें मस्त हुआ घूमता रहता है। प्रेम-सहित नामका स्मरण करनेसे यह सब हो जाता है। रामजीके तो एक राजधानी है अयोध्या। नामकी राजधानी सब जगह है। जो भगवान्के नाम-प्रेमी होते हैं, उनका हृदय नाम महाराजकी

राजधानी होती है।

'नफा पाया है राम फकीरीमें।'······ कैसी बात है ! *'हाथमें तुम्बी बगलमें सोटा। ये चारों ही धाम जागीरीमें।'* वहाँ तो एक अयोध्या ही राजधानी है, नामके तो चारों ही धाम जागीरी हैं।

फिरत सनेहँ मगन सुख अपनें। नाम प्रसाद सोच नहिं सपनें॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २५। ८)

रामजी राजगद्दीपर बैठ गये फिर भी लवणासुर आदिने क्या-क्या आफत मचायी। राजगद्दीपर बैठनेपर भी रामजी सुखसे थोड़े ही रहे। नाम महाराजकी कृपासे जाग्रत्में तो क्या शोक आवे, स्वप्नमें भी शोक-चिन्ता नहीं सताती। ऐसे मस्त हो जाते हैं। इसलिये *'ब्रह्म राम तें नामु बड़'* पहले ब्रह्मसे नामको बड़ा बताया, अब रामसे बड़ा बता दिया।

ब्रह्म राम तें नामु बड़ बरदायक बर दानि।
रामचरित सत कोटि महँ लिय महेस जियँ जानि॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २५)

इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म और सगुण भगवान् राम इन दोनोंसे यह नाम बड़ा है और वरदान देनेवालेको वरदान देनेवाला है। मानो भगवन्नामका जो सहारा लेता है तो दुनियाको वरदान दे दे, इतनी ताकत उसमें आ जाती है, सामर्थ्य आ जाती है, ऋद्धि-सिद्धि सब कुछ उसमें आ जाती है। भुक्ति और मुक्ति कुछ भी बाकी नहीं रहती। इसलिये दोनोंसे ही यह बड़ा है। जैसे—

'रामचरित सत कोटि महँ लिय महेस जियँ जानि।'

भगवान् शंकर वरदान देनेवाले हैं, वे भी वरदान देते हैं तो किसके प्रभावसे—नामके प्रभावसे !

अहं भवन्नाम गृणन्कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या।
मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मन्त्रं तव रामनाम॥

(अध्यात्म, युद्धकाण्ड, १५। ६२)

यह जो आपका 'राम' नाम मन्त्र है, मरनेवालेको उसकी मुक्तिके लिये मैं इसका उपदेश देता हूँ। भगवान् शंकरको भी दानी बना दिया नाम महाराजने । नाममें भगवान् शंकरका बहुत प्रेम है। वाल्मीकिजी महाराजने रामायण बनायी तो सौ करोड़ श्लोकोंकी रामायण बनायी और लाकर भगवान् शंकरके आगे रखी, जो सदा ही भगवान् रामका नाम लेनेवाले हैं, रामचरितमें ही मस्त रहनेवाले हैं।

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा ३५। ११)

रामचरितको रचकर अपने मनमें ही रखा और अवसर पाकर पार्वतीको उपदेश दिया। वाल्मीकिबाबाने देखा कि रामायणको रखनेवाले भगवान् शंकर हैं, इसलिये सब-की-सब सौ करोड़ श्लोकोंवाली रामायण उनके सामने रख दी। सौ करोड़ श्लोकोंकी रामायण देखी तो महाराज भगवान् शंकर बहुत खुश हुए। बड़े लोगोंका स्वभाव होता है कि जब वे प्रसन्न होते हैं और किसी चीजसे लाभ देखते हैं तो वे चाहते हैं कि भैया ! यह चीज तो सबको ही मिलनी चाहिये। श्रेष्ठ पुरुष उदार होते हैं। शंकरभगवान्ने देखा कि रामायण इतनी बढ़िया है कि इसे सबको ही देना चाहिये। इसलिये तीन विभाग करके त्रिलोकीको बाँटने लगे। तीनों लोकोंको तैंतीस-तैंतीस करोड़ दिया तो एक करोड़ बच गया। उस एक करोड़के तीन भाग किये तो एक लाख बच गया। एक लाखके फिर तीन भाग किये तो एक हजार बच गया। एक हजारके तीन भाग किये तो सौ बच गया। उसके भी तीन भाग किये तो एक श्लोक बचा। इस प्रकार रामायणमें जो सौ करोड़ श्लोक हैं, उनको तीन भाग करके बाँटते-बाँटते अन्तमें एक अनुष्टुप् श्लोक बच गया। एक अनुष्टुप् छन्दके श्लोकमें बत्तीस अक्षर होते हैं। उनमेंसे दस-दस करके तीनोंको दे दिया। तो अन्तमें दो अक्षर बचे। भगवान् शंकरने विचार किया कि तीन अक्षर होते तो उनको भी बाँट देते। अब इन दो अक्षरोंको किसको देवें और किसको नहीं देवें। इसलिये ये दो अक्षर 'रा' और 'म' हम रख लेंगे। बँटवारेमें कुछ मिलना चाहिये न ! भगवान् शंकरने कहा—'बस हमारे तो सार यही है। राम राम !' इन दो अक्षरोंके अन्तर्गत ही है सब रामायण। जितने शास्त्र हैं, जो कुछ भी है, भगवान्के नामके अन्तर्गत ही हैं। भगवान् भी वशमें हो जायँ, औरोंकी बात ही क्या है ? इसलिये यह 'राम' नाम निर्गुण और सगुण दोनोंसे ही बढ़कर है।

चारों वेद ढंढोर के अन्त कहोगे राम।
सो रज्जब पहले कहो एते ही में काम॥

नामका प्रभाव

अब आगे भगवान्के नाम लेनेवाले भक्तोंको गिनाते हैं। उन लोगोंने कैसे नाम लिया, वह भी बताते हैं।

नाम प्रसाद संभु अबिनासी। साजु अमंगल मंगल रासी॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २६। १)

नामके प्रसादसे ही शिवजी अविनाशी हैं और अमङ्गल वेषवाले होनेपर भी मङ्गलकी राशि हैं। शंकर अविनाशी

किससे हुए ? तो कहते हैं 'नाम-प्रसाद'—नामके प्रभावसे।

एक बार नारदजीने पार्वतीके शंका पैदा कर दी कि 'भोले बाबासे पूछो तो सही कि ये रुण्डमाला जो पहने हुए हैं, यह माला क्या है ?' पार्वतीने पूछा— 'महाराज ! आपने यह माला पहन रखी है यह क्या है ?' शंकर टालने लगे। 'क्या करोगी पूछकर ?' पर उसने कहा—'नहीं महाराज ! आप बताओ।' तो शंकर कहने लगे—'बात यह है कि तुम्हारे इतने जन्म हुए हैं। तुम्हारा एक-एक मस्तक लेकर इतनी माला बना ली हमने।' पार्वतीको आश्चर्य हुआ। वह बोली—'महाराज ! मेरे तो इतने जन्म हो गये और आप वही रहे, इसमें क्या कारण है ?' उन्होंने बताया कि हम अमरकथा जानते हैं। 'फिर तो अमरकथा हमें भी जरूर सुनाओ।' हठ कर लिया ज्यादा, तो एकान्तमें जाकर कहा—'अच्छा तुमको सुनायेंगे, पर हरेकको नहीं सुनायेंगे।' भगवान् शंकर सुनाने लगे, भगवान्‌का नाम और भगवान्‌का चरित्र। अमरकथा यही है। भगवान् शंकरने सब पक्षियोंको उड़ानेके लिये तीन बार ताली बजायी। उस समय और दूसरे सभी पक्षी उड़ गये, पर एक सड़ा गला तोतेका अण्डा पड़ा था, उसने इस कथाको सुन लिया। पार्वतीने हठ तो कर लिया; परंतु उसे नींद आ गयी।

एक तो प्रेमसे सुननेकी स्वयंकी उत्कण्ठा होती है और एक दूसरेकी प्रेरणासे इच्छा की जाती है। पार्वतीने नारदजीकी प्रेरणासे इच्छा की थी, इस कारण नींद आ गयी। जिसके स्वयंकी लगन होती है, उसको नींद नहीं आती। पार्वतीको नींद आ गयी, तोता सुनते-सुनते हाँ-हाँ कहने लगा। भगवान् शंकर मस्त होकर भगवान्‌का चरित्र कहे जा रहे हैं और उसीमें मस्त हो रहे हैं। आँख खोलकर जब देखा तो तोता बैठा है और सुन रहा है। 'अरे ! इसने चोरीसे नाम सुन लिया !' वह वहाँसे उड़ा, शंकरभगवान् पीछे भागे। त्रिशूल हाथमें लिये हुए पीछे-पीछे गये। उस समय वेदव्यासजीकी स्त्री सिर गुँथा रही थी। उसको भी नींद आ रही थी थोड़ी। उसका मुख खुला था। वह मुखके भीतर प्रवेश कर गया। वे ही शुकदेव हुए, शुकदेवमुनि जो राजा परीक्षित्‌को मुक्ति दिलानेवाले, भागवतसप्ताह सुनानेवाले हुए। वे शुकदेवजी माँके पेटमें ही नाम-जपमें लग गये। शुकदेव मुनि इस तरहसे श्रेष्ठ हुए। पार्वतीको अमरकथा सुनायी, जिससे पार्वती भी अमर हो गयी।

अमर कैसे हों ? *'नाम-प्रसाद'*—नामकी कृपासे भगवान् शंकर अविनाशी हो गये। उनका साज देखा जाय तो महाराज ! सर्प है, मुर्देकी राख है, मुण्डमाला है। ऐसा अमङ्गल साज है, विचित्र ढंगका साज है। भगवान् शंकरके साज विचित्र हैं ! भगवान् शंकरके साज अमङ्गल हैं, केवल इतनी ही बात नहीं है, बड़ी आफत है महाराज ! इधर तो खुदका गहना साँप है और उधर गणेशजीका वाहन चूहा है। इधर आपका वाहन बैल है तो भवानीका वाहन सिंह है। इस प्रकार घरमें एक-दूसरेकी कितनी कलह है, इसको तो वे ही जानें। भगवान् शंकर ही निभाते हैं। विरोधी-ही-विरोधी इकट्ठे हुए हैं सभी । सर्प गलेमें बैठा है तो कार्तिकेयके मयूर है। मयूर साँपको खाने दौड़े तो साँप चूहेको खाने दौड़े। ऐसे एक-एकके वैरी हैं। यह दशा है घरमें। ऐसे साज हैं अमङ्गलराशि ! फिर भी मङ्गलराशि हैं। 'शिव-शिव' कहनेसे कल्याण हो जाय, उद्धार हो जाय, मङ्गल हो जाय। सदा ही सबके मङ्गल कर दे। इसमें कारण क्या है ? यह नाम महाराजकी कृपा है।

सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २६। २)

शुकदेव मुनि, वही तोता जिसने अमरकथा सुनी और सनकादि सिद्ध, मुनि और योगी लोग हरदम भगवान्‌का नाम लेते हुए भगवान्‌के चरणोंमें ही रहते हैं। सनकादि हमेशा पाँच वर्षकी बालक-अवस्थामें ही रहते हैं। ये ब्रह्माजीसे सबसे पहले प्रकट हुए, सृष्टि पीछे हुई, ऐसे इतने पुराने; परंतु देखनेमें छोटे-छोटे बच्चे, चार-पाँच वर्षके । वे सदा नग्न रहनेवाले महात्माकी तरह घूमते फिरते हैं। सदैव **'हरिः शरणम्'** ऐसे रटते रहते हैं। वे नामके प्रसादसे ब्रह्मसुख लेते हैं।

नारद जानेउ नाम प्रतापू। जग प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २६। ३)

संसारको तो विष्णुभगवान् प्यारे लगते हैं, वे संसारका पालन-पोषण करनेवाले हैं। जैसे बालकको माँ बड़ी प्यारी लगती है **'मात्रा समं नास्ति शरीरपोषणम्'**—शरीरका पालन करनेमें माँके समान कोई नहीं है। कोई आफत हो तो बालकको माँ याद आती है। हम भाई-बहन जितने हैं, हम सबका पालन-पोषण माँने ही किया है। माँकी तरह संसारमात्रका पालन करनेवाली शक्ति (माँ) है भगवान् हरि (विष्णु)। नारदजी भगवान्‌के नामका कीर्तन करते हैं। इस नामके कारण भगवान् विष्णुको और भगवान् शंकरको भी प्यारे लगने लगे। इस प्रकार सबको प्रिय लगनेवाले नारदजी महाराज हो गये।

नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २६।४)

नाम महाराजकी कृपासे प्रह्लादजी महाराज भक्तशिरोमणि हो गये। जहाँ भागवतोंको नमस्कार किया, वहाँ प्रह्लादजीका नाम पहले और गुरुजी—नारदबाबाका नाम पीछे है।

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्
पुण्यानिमान्परमभागवतान्स्मरामि॥

बाल्यावस्थामें ही रात-दिन लग गये। इतना विश्वास, इतना भरोसा, इतनी दृढ़ता कि हिरण्यकशिपुसे इतनी दुनिया काँपती, देवता भी काँपते, ऐसे पितासे भी कोई भय नहीं, कहीं किसी तरहका भय देखातक नहीं। वे तो बस, नाम जपते हैं मस्तीसे। यह क्या है ? नाम-प्रसाद है। जप करनेसे ऐसी कृपा हुई।

ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २६।५)

ध्रुवजी महाराजने भी नाम-जप किया, पर ग्लानिसे किया। विमाताके कठोर वचनोंसे दुःखी होकर राज्यके लिये सकाम भावसे भजनमें लगे। छोटे बालक होकर भी कितनी हिम्मत की ! इसलिये कहते हैं—

हिम्मत मत छाड़ो नरां मुख सूँ कहता राम।
हरिया हिम्मत सूँ किया ध्रुवका अटल धाम॥

नारदजीने कहा—'अरे जंगलमें अकेला कहाँ रहेगा ? भय लगेगा। वहाँ जंगलमें माँ थोड़ी बैठी है। कहाँ जा रहा है तू !' तो कहते हैं—'मैं तो भगवान्‌का भजन करूँगा।' फिर कई प्रलोभन दिये, बहुत-सी बातें बतायीं नारद बाबाने, पर डिगा ही नहीं। ***'पायउ अचल अनूपम ठाऊँ॥'*** उसने राज्यके लिये ही भजन किया था। इसलिये भगवान्‌ने कहा कि 'इसके रहनेके लिये अटल धाम बनाता हूँ, जहाँसे कोई विचलित न कर सके।' ऐसा ध्रुवलोक हो गया।

हनुमान्‌जीका सेवाभाव

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २६।६)

हनुमान्‌जीने महान् पवित्र नामका स्मरण करके श्रीरामजीको अपने वशमें कर रखा है। हरदम नाममें तल्लीन रहते हैं। ***'रहिये नाममें गलतान'*** रात-दिन नाम जपते ही रहते हैं। हनुमान्‌जी महाराजको खुश करना हो तो राम-नाम सुनाओ, रामजीके चरित्र सुनाओ; क्योंकि ***'प्रभुचरित्र सुनिबेको रसिया'*** भगवान्‌के चरित्र सुननेके बड़े रसिया हैं।

रामजीने भी कह दिया, ***'धनिक तूँ पत्र लिखाउ'*** हनुमान्‌जीको धनी कहा और अपनेको कर्जदार कहा। रामजीने देखा कि मैं तो बन गया कर्जदार, पर सीताजी कर्जदार न बनें तो घरमें ही दो मत हो जायेंगे। इसलिये रामजीका संदेश लेकर सीताजीके चरणोंमें हनुमान्‌जी महाराज गये। जिससे सीताजी भी ऋणी बन गयीं। 'बेटा, तूने आकर महाराजकी बात सुनायी। ऐसा सन्देश और कौन सुनायेगा !' रामजीने देखा कि हम दोनों तो ऋणी बन गये, पर लक्ष्मण बाकी रह गया। जब लक्ष्मणके शक्तिबाण लगा, उस समय सञ्जीवनी लाकर लक्ष्मणजीके प्राण बचाये। **'लक्ष्मणप्राणदाता च'** इस प्रकार जंगलमें आये हुए तीनों तो ऋणी बन गये, पर घरवाले बाकी रह गये। भरतजीको जाकर सन्देश सुनाया कि रामजी महाराज आ रहे हैं। हनुमान्‌जीने बड़ी चतुराईसे संक्षेपमें सारी बात कह दी।

रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता सहित अनुज प्रभु आवत॥

(मानस, उत्तरकाण्ड, दोहा २।५)

पहले जब हनुमान्‌जी आये थे तो भरतजीका बाण लगा था, उस समय उन्होंने वहाँकी बात कही कि 'युद्ध हो रहा है, लक्ष्मणजीको मूर्च्छा हो गयी है और सीताजीको रावण ले गया है।' अब किसकी विजय हुई, क्या हुआ ? इसका पता नहीं है ? यह सब इतिहास जानना चाहते हैं भरतजी महाराज। तो थोड़ेमें सब इतिहास सुना दिया। ऐसे ***'अपने बस करि राखे रामू॥'*** इनकी सेवासे रामजी अपने परिवारसहित वशमें हो गये। ऐसी कई कथाएँ आती हैं। हनुमान्‌जी महाराज सेवा बहुत करते थे। सेवा करनेवालेके वशमें सेवा लेनेवाला हो ही जाता है।

सेवा करनेवाला ऐसे तो छोटा कहलाता है और दास होकर ही सेवा करता है; परंतु सेवा करनेसे सेवक मालिक हो जाता है और सेवा लेनेवाला स्वामी उसका दास हो जाता है। स्वामीको सेवककी सब बात माननी पड़ती है। संसारमें रहनेकी यह बहुत विलक्षण विद्या है—सेवा करना **'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः'** सेवक धर्म बड़ा कठोर है। भरतजी महाराज भी यही कहते हैं। ऐसे सेवा-धर्मको हनुमान्‌जी महाराजने निभाया।

वे रघुनाथजी महाराजकी खूब सेवा करते थे। जंगलमें तो सेवा करते ही थे, राजगद्दी होनेपर भी वहाँ हनुमान्‌जी महाराज सेवा करनेके लिये साथमें रह गये। एक बारकी बात है। लक्ष्मणजी और सीताजीके मनमें आया कि हनुमान्‌जीको कोई सेवा नहीं देनी है। देवर-भौजाईने आपसमें बात कर ली

कि महाराजकी सब सेवा हम करेंगे। सीताजीने हनुमान्‌जीके सामने बात रखी कि 'देखो बेटा! तुम सेवा करते हो ना! अब वह सेवा हम करेंगे। इस कारण तुम्हारे लिये कोई सेवा नहीं है।' हनुमान्‌जी बोले—'माताजी! आठ पहर जो-जो सेवा आपलोग करोगे, उसमेंसे जो बचेगी, वह सेवा मैं करूँगा। इसलिये एक लिस्ट बना दो।' बहुत अच्छी बात। अब कोई सेवा हनुमान्‌के लिये बची नहीं। हनुमान्‌जी महाराजको बहाना मिल गया। भगवान्‌को जब उबासी आवे तो चुटकी बजा देवें।

शास्त्रोंमें, स्मृतियोंमें ऐसा वचन आता है कि उबासी आनेपर शिष्यके लिये गुरुको भी चुटकी बजा देनी चाहिये। इसलिये रघुनाथजी महाराजको उबासी आते ही चुटकी बजा देते थे, यह सेवा हो गयी। अब वह उस कागजमें लिखी तो थी ही नहीं। चुटकी बजानेकी कौन-सी सेवा है! रात्रिके समय हनुमान्‌जीको बाहर भेज दिया। अब तो वे छज्जेपर बैठे-बैठे मुँहसे 'सीताराम, सीताराम, सीताराम' कीर्तन करते रहते और चुटकी भी बजाते रहते। न जाने कब भगवान्‌को उबासी आ जाय। अब चुटकी बजाने लगे तो रामजीको भी जँभाई आनी शुरू हो गयी। सीताजीने देखा कि बात क्या हो गयी? घबराकर कौशल्याजीसे कहा और सबको बुलाने लगी। वसिष्ठजीको बुलाया कि रामलल्लाको आज क्या हो गया। वसिष्ठजीने पूछा—'हनुमान् कहाँ है?' 'उसको तो बाहर भेज दिया।' 'हनुमान्‌को तो बुलाओ।' हनुमान्‌जीने आते ही ज्यों ही चुटकी बजाना बन्द कर दिया, त्यों ही भगवान्‌की जँभाई भी बन्द हो गयी। तब सीताजीने भी सेवा करनेकी खुली कर दी। इस प्रकार हृदयमें रामजीको वशमें कर लिया।

भरतजीने भी हनुमान्‌जीसे कह दिया ***'नाहिन तात उरिन मैं तोही।'*** तुमने जो बात सुनायी, उससे उऋण नहीं हो सकता। ***'अब प्रभु चरित सुनावहु मोही।'*** अब भगवान्‌के चरित्र सुनाओ। खबर सुनानेमात्रसे तो आप पहले ही ऋणी हो गये। चरित्र सुनानेसे और अधिक ऋणी हो जाओगे। भरतजीने विचार किया कि जब कर्जा ले लिया तो कम क्यों लें? कर्जा तो ज्यादा हो जायगा, पर रामजीकी कथा तो सुन लें। हनुमान्‌जी महाराजको प्रसन्न करनेका उपाय भी यही है और उऋण होनेका उपाय भी यही है कि उनको रामजीकी कथा सुनाओ, चाहे उनसे सुन लो। रामजीकी चर्चासे वे खुश हो जाते हैं। इस प्रकार हनुमान्‌जीके सब वशमें हो गये।

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २६।७)

अब जो आचरणोंसे, योनिसे, सब तरहसे बहुत नीच हैं, वे भी नामके प्रभावसे मुक्त हो गये। ऐसे भक्तोंके उदाहरण देते हैं। अजामिल ब्राह्मण घरमें जन्मा था, पर वेश्याके घरमें चला गया, ऐसे आचरणोंसे गिर गया था। गणिका तोतेको पढ़ाया करती। बोलो राधेकृष्ण! राधेकृष्ण! गोपीकृष्ण! वह कोई नाम-जप नहीं कर रही थी, पर साँपने काटा और मरी तो मुक्त हो गयी। हाथी—गजराज भी मुक्त हो गया। ये सब-के-सब भगवन्नामके प्रभावसे मुक्त हो गये। इस प्रकार ऊँचे-से-ऊँचे भगवान् शंकरसे लेकर पापी-से-पापी वेश्यातककी बात कह दी। इसका अर्थ हुआ कि भगवन्नाम लेनेके सब अधिकारी हैं। कोई भी अनधिकारी नहीं है। भक्ति करनेके सब अधिकारी हैं। शाण्डिल्य सूत्रमें आता है—**'आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत्'** निन्दनीय-से-निन्दनीय योनिवाला और निन्दनीय-से-निन्दनीय कर्म करनेवाला कोई हो, वह भी भगवान्‌के चरणोंकी शरण चला जाय तो उसके लिये भी मना नहीं है। कितनी विचित्र बात है! नामकी महिमा ऐसे कहते-कहते गोस्वामीजी महाराज मस्त हो जाते हैं।

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २६।८)

नामके गुण गानेमें भगवान् राम स्वयं भी असमर्थ हैं, फिर दूसरेकी तो बात ही क्या है, क्योंकि नामकी महिमा अपार है। भगवान् सर्वसमर्थ हैं, साथ-साथ सर्वज्ञ भी हैं। नामकी अपार महिमा जानते हैं, पर कह नहीं सकते तो क्या इसमें रामजीकी निन्दा हो गयी! इसमें निन्दा नहीं है। यह नाम बड़ा है किनके लिये? हम सांसारिक लोगोंके लिये। रामजीसे और ब्रह्मसे भी बड़ा है। नामसे भगवान् प्रकट हो जायँ, तत्त्वज्ञान हो जाय, इस कारण हमारे लिये नाम बड़ा है। किसी धनी आदमीके बारेमें कहें कि उसके पास इतना धन है कि उसको खुदको भी पूरा पता नहीं है कि कितना है। इसमें उसकी निन्दा कैसे हुई? यह तो उसकी प्रशंसा ही हुई।

कलियुगमें नाम-महिमा

नामु रामको कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २६)

कल्पतरुमें सब चीजें रहती हैं। उससे जो चाहो, मिल जाय। कलियुगमें मनचाहा पदार्थ देनेवाला 'राम' नामरूपी कल्पवृक्ष है और कल्याणका निवास-स्थान 'राम' नाम है। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं कि इसके लिये मैं दूसरेकी क्या गवाही दूँ। भाँग पीनेसे नशा आ जाय, बुद्धि बावली हो जाय और माथा खराब हो जाय, ऐसा भाँगका प्रभाव होता है। मैं

भाँगके समान था, पर नामका स्मरण करनेसे भाँगके समान मैं तुलसीदास तुलसी बन गया। तुलसी-दल बिना बढ़िया-से-बढ़िया चीजें भी ठाकुरजीके भोग नहीं लगतीं। इसलिये अब नामकी महिमा कहाँतक कहूँ, मैं खुद ही उदाहरण हूँ।

चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २७। १)

केवल कलियुगकी बात नहीं है। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—इन चारों ही युगोंमें और भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें तथा स्वर्ग, मृत्यु और पाताल तीनों ही लोकोंमें सब-के-सब जीव भगवान्‌का नाम लेकर सदाके लिये चिन्तारहित हो गये।

बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २७। २)

विशेष ध्यान देनेकी बात है। वेद, पुराण और सन्त सबका इसमें एक मत है। क्या? ***'सकल सुकृत फल राम सनेहू॥'*** रामजी और रामजीके नाममें स्नेह हो जाय तो सम्पूर्ण पुण्योंका फल मिल गया। मानो वे भाग्यशाली हैं, जो भगवान्‌का नाम लेते हैं। नाम-जपमें स्वतः रुचि हो गयी तो समझना चाहिये कि सम्पूर्ण पुण्योंने आकर एक साथ फल दे दिया। इसका रहस्य नाम लेनेवाले ही समझते हैं। साधारण आदमी समझ नहीं सकते। कलियुगमें विशेष क्या बात है? वह आगे कहते हैं—

ध्यानु प्रथम जुग मखबिधि दूजें। द्वापर परितोषत प्रभु पूजें॥
कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २७। ३-४)

सत्ययुगमें भगवान्‌का ध्यान लगाकर तल्लीन होनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती थी। त्रेतायुगमें यज्ञ करनेसे और द्वापरयुगमें भगवान्‌का पूजन करनेसे प्राप्ति होती थी; परंतु ***'कलि केवल मल मूल मलीना'*** अब ध्यान दो भाई! कलियुगमें क्या है? क्या बतावें? कलियुगमें पाप ही मूल हो गया है। मनुष्योंका मन पापरूपी समुद्रकी मछली बन गया है। मछलीको जैसे जलसे दूर करनेसे मुश्किल हो जाती है, वह तड़पने लगती है, ऐसे आज अगर कह दिया जाय कि झूठ, कपट, ब्लैक मत करो तो उनका मन व्याकुल हो जायगा। मनुष्योंका मन पापसे कभी अलग होना चाहता ही नहीं। उनसे ध्यान, यज्ञ और पूजन कुछ नहीं बन सकते।

नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २७। ५)

कराल काल (कलियुग)में नाम कल्पवृक्ष है। कल्पवृक्ष इसलिये बताया कि इस नामसे ध्यान, यज्ञ, पूजन आदि सब हो जायँगे। ***'नाम लिया उसने सब किया जोग जग्य आचार।'*** एक जगह व्याख्यान हो रहा था तो एक बड़े अच्छे सन्त थे, उन्होंने कहा—'नाम जपके सिवाय कलियुगमें दूसरा कुछ साधन नहीं हो सकता। इसमें ध्यानयोग, कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग कोई भी योग नहीं हो सकता। कलियुगमें केवल भगवान्‌का नाम ही लिया जा सकता है। इसलिये नाम-जप करना चाहिये।' ऐसे उन्होंने नामकी महिमा कही। उसके बाद पासमें बैठे महात्माने अपने व्याख्यानमें कहा—'बात बिलकुल ठीक है। नाम-जपके बिना कुछ नहीं हो सकता, पर नाम महाराजकी कृपासे ध्यान भी हो जायगा, यज्ञ भी हो जायगा, दान भी हो जायगा, पूजन भी हो जायगा, सब कुछ हो जायगा। नाम-जपसे अगर ये नहीं हुए तो नामकी महिमा ही क्या हुई?'

बड़े-बड़े साधन भी नाम महाराजकी कृपासे सुगम हो जायँगे। यज्ञ, दान, पूजन, ध्यान, भजन चाहे जो करो, नाम महाराजका सहारा लेकर करोगे तो सब तरहकी योग्यता आ जायगी। जगत्‌के जालको शान्त करनेवाला नाम महाराज है।

राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २७। ६)

इस कलियुगमें 'राम' नाम मनचाहा फल देनेवाला है। परलोकमें हित करनेवाला है अर्थात् भगवान्‌का परम धाम दिलानेवाला है और लोकमें माता-पिताके समान हित करता है। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—बालकका पालन-पोषण माँ-बापके समान कौन कर सकता है! पिताजी बाहरकी और माँ भीतरकी सब तरहसे रक्षा करती है।

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो रामको नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो॥ १॥
करम, उपासन, ग्यान, बेदमत, सो सब भाँति खरो।
मोहि तो 'सावनके अंधहि' ज्यों सूझत रंग हरो॥ २॥
चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो।
सो हौं सुमिरत नाम-सुधारस पेखत परुसि धरो॥ ३॥
स्वारथ औ परमारथ हू को नहिं कुंजरो-नरो।
सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि-कटक तरो॥ ४॥
प्रीति-प्रतीति जहाँ जाकी, तहँ ताको काज सरो।
मेरे तो माय-बाप दोउ आखर, हौं सिसु-अरनि अरो॥ ५॥

संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम-नामहि ते तुलसिहि समुझि परो ॥ ६ ॥

(विनय-पत्रिका, पद २२६)

जिसे दूसरेका भरोसा हो, वह भले ही करे, पर मेरे तो यह 'राम' नाम ही कल्पवृक्ष है। अन्तमें कहते हैं—*'मेरे तो माय-बाप दोउ आखर'*—मेरे तो माँ-बाप ये दोनों अक्षर 'र' और 'म' हैं। मैं तो इनके आगे बच्चेकी तरह अड़ रहा हूँ। यदि मैं कुछ भी छिपाकर कहता होऊँ तो भगवान् शंकर साक्षी हैं; मेरी जीभ जलकर या गलकर गिर जाय। गवाही देनेवालेसे कहा जाता है कि 'सच्चा-सच्चा कहते हो न? तो गङ्गाजल उठाओ सिरपर!' ऐसे भगवान् शंकर जो गङ्गाको हर समय सिरपर अपनी जटामें धारण किये हुए रहते हैं, उनकी साक्षीमें कहता हूँ। वे कहते हैं तुलसीदासको तो यही समझमें आया कि अपना कल्याण एक 'राम' नामसे ही हो सकता है। इस प्रकार 'राम' नाम लेनेसे लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं। कितनी बढ़िया बात है!

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू ॥
कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २७। ७-८)

वेदोंमें तीन काण्ड हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। इसलिये कहते हैं कि कलियुगमें कर्मका भी साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान नहीं कर सकते, भक्तिका भी साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान नहीं कर सकते और *'ग्यान पंथ कृपान कै धारा'* वह तो कड़ा है ही, कर ही नहीं सकते। तो कहते हैं एक 'राम' नाम ही अवलम्बन है उसके लिये।

यह कलियुग महाराज कालनेमि राक्षस है, कपटका खजाना है और नाम महाराज हनुमान्‌जी हैं। हनुमान्‌जी सञ्जीवनी लेनेके लिये जा रहे थे। रास्तेमें प्यास लग गयी। मार्गमें कालनेमि तपस्वी बना हुआ बड़ी सुन्दर जगह आश्रम बनाकर बैठ गया। रावणने यह सुन लिया था कि हनुमान्‌जी सञ्जीवनी लाने जा रहे हैं और सञ्जीवनी सूर्योदयसे पहले दे देंगे तब तो लक्ष्मण जी जायगा और नहीं तो मर जायगा। इसलिये किसी तरहसे हनुमान्‌को रोकना चाहिये। कालनेमिने कहा कि 'मैं रोक लूँगा।' वह तपस्वी बनकर बैठ गया। हनुमान्‌जीने साधु देखकर उसे नमस्कार किया। 'तुम कैसे आये हो?' 'महाराज! प्यास लग गयी।' तो बाबाजी कमण्डलुका जल देने लगा। 'इतने जलसे मेरी तृप्ति नहीं होगी।' 'अच्छा, जाओ, सरोवरमें पी आओ।' वहाँ गये तो मकड़ीने पैर पकड़ लिया, उसका उद्धार किया। उसने सारी बात बतायी कि 'महाराज! यह कालनेमि राक्षस है और आपको कपट करके ठगनेके लिये बैठा है।' हनुमान्‌जी लौटकर आये तो वह बोला—'लो भाई, आओ! दीक्षा दें तुम्हारेको।' हनुमान्‌जीने कहा—'महाराज, पहले गुरुदक्षिणा तो ले लीजिये।' पूँछमें लपेटकर ऐसा पछाड़ा कि प्राणमुक्त कर दिये। कलियुग कपटका खजाना है। जो नाम महाराजका आश्रय ले लेता है, वह कपटमें नहीं आता।

राम नाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २७)

'राम' नाम नृसिंहभगवान् है। कलियुग महाराज हिरण्यकशिपु है और 'जापक जन'—भजन करनेवाले प्रह्लादके समान हैं। जैसे भगवान् नृसिंहने प्रह्लादकी हिरण्यकशिपुको मारकर रक्षा की थी, ऐसे भक्तोंकी रक्षा कलियुगसे नाम महाराज करते हैं। *'जिमि पालिहि दलि सुरसाल।'* यह 'राम' नाम देवताओंके शत्रु राक्षसोंको (कलियुगको) मारकर भजन करनेवालोंकी रक्षा करनेवाला है।

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥
सुमिरि सो नाम राम गुन गाथा। करउँ नाइ रघुनाथहि माथा ॥

(मानस, बालकाण्ड, दोहा २८। १-२)

भावसे, कुभावसे, क्रोधसे या आलस्यसे, किसी तरहसे नाम जपनेसे दसों दिशाओंमें मङ्गल-ही-मङ्गल होता है। तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—ऐसे जो नाम महाराज हैं, उनका स्मरण करके और रघुनाथजी महाराजको नमस्कार करके मैं रामजीके गुणोंका वर्णन करता हूँ। प्रकरण आरम्भ किया तो *'बंदउँ नाम राम रघुबर को'* नाम-वन्दनासे आरम्भ किया और प्रकरणकी समाप्तिमें भी रामजीकी वन्दना करते हैं। नाम-वन्दना और नाम-महिमा करनेके बाद रामजीके गुण और रामचरितकी महिमा कहते हैं। अपनेको ऐसा नाम मिल गया, बड़ी मौजकी बात है। इसमें सबका अधिकार है।

जाट भजो गूजर भजो भावे भजो अहीर।
तुलसी रघुबर नाममें सब काहू का सीर ॥
राम दड़ी चौड़े पड़ी सब कोई खेलो आय।
दावा नहीं सन्तदास जीते सो ले जाय ॥

इसलिये नाम लेकर मालामाल हो जाओ, चलते-फिरते, उठते-बैठते हर समय राम राम राम राम·····।

कबिरा सब जग निर्धना धनवंता नहिं कोय।
धनवंता सोइ जानिये जाके राम नाम धन होय ॥

नारायण! नारायण!! नारायण!!!

नाम-जपकी महिमा

नाम और नामीमें अर्थात् भगवन्नाम और भगवान्‌में अभेद है; अतः दोनोंके स्मरणका एक ही माहात्म्य है। भगवन्नाम तीन तरहसे लिया जाता है—

(१) **मनसे**—मनसे नामका स्मरण होता है, जिसका वर्णन भगवान्‌ने '**यो मां स्मरति नित्यशः**' (गीता८। १४) पदोंसे किया है।

(२) **वाणीसे**—वाणीसे नामका जप होता है, जिसे भगवान्‌ने '**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**' (गीता १०। २५) पदोंसे अपना स्वरूप बताया है।

(३) **कण्ठसे**—कण्ठसे जोरसे उच्चारण करके कीर्तन किया जाता है, जिसका वर्णन भगवान्‌ने '**कीर्तयन्तः**' (गीता ९। १४) पदसे किया है।

गीतामें भगवान्‌ने ॐ, तत् और सत्—ये तीन परमात्माके नाम बताये हैं—'**ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मण-स्त्रिविधः स्मृतः**' (१७। २३)। प्रणव-(ओंकार-) को भगवान्‌ने अपना स्वरूप बताया है—'**प्रणवः सर्ववेदेषु**' (७।८), '**गिरामस्म्येकमक्षरम्**' (१०।२५)। भगवान् कहते हैं कि जो मनुष्य 'ॐ'—इस एक अक्षर प्रणवका उच्चारण करके और मेरा स्मरण करके शरीर छोड़कर जाता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है (८। १३)।

अर्जुनने भी भगवान्‌के विराट्‌रूपकी स्तुति करते हुए नामकी महिमा कही है; जैसे—'हे प्रभो ! कई देवता भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नाम आदिका कीर्तन कर रहे हैं' (११। २१); 'हे अन्तर्यामी भगवन् ! आपके नाम आदिका कीर्तन करनेसे यह सम्पूर्ण जगत् हर्षित हो रहा है और अनुराग-(प्रेम-) को प्राप्त हो रहा है। आपके नाम आदिके कीर्तनसे भयभीत होकर राक्षसलोग दसों दिशाओंमें भागते हुए जा रहे हैं और सम्पूर्ण सिद्धगण आपको नमस्कार कर रहे हैं। यह सब होना उचित ही है' (११। ३६)।

ज्ञातव्य

सुषुप्ति-(गाढ़ निद्रा-)के समय सम्पूर्ण इन्द्रियाँ मनमें, मन बुद्धिमें, बुद्धि अहंमें और अहम् अविद्यामें लीन हो जाता है अर्थात् सुषुप्तिमें अहंभावका भान नहीं होता। गाढ़ निद्रासे जगनेपर ही सबसे पहले अहंभावका भान होता है, फिर देश, काल, अवस्था आदिका भान होता है। परन्तु गाढ़ निद्रामें सोये हुए व्यक्तिके नामसे कोई आवाज देता है तो वह जग जाता है अर्थात् अविद्यामें लीन हुए, गाढ़ निद्रामें सोये हुए व्यक्तितक शब्द पहुँच जाता है। तात्पर्य है कि शब्दमें अचिन्त्य शक्ति है, जिससे वह अविद्याको भेदकर अहंतक पहुँच जाता है। जैसे, अनादिकालसे अविद्यामें पड़े हुए, मूर्च्छित व्यक्तिकी तरह संसारमें मोहित हुए मनुष्यको गुरुमुखसे श्रवण करनेपर अपने स्वरूपका बोध हो जाता है अर्थात् अविद्यामें पड़े हुए मनुष्यको भी शब्दका तत्त्वज्ञान करा देता है*। ऐसे ही जो तत्परतासे भगवन्नामका जप करता है, उसको वह नाम स्वरूपका बोध, भगवान्‌के दर्शन करा देता है।

तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषके मुखसे निकले जो शब्द (उपदेश) होते हैं, उनको कोई आदरपूर्वक सुनता है तो उसके आचरण, भाव सुधर जाते हैं और अज्ञान मिटकर बोध हो जाता है। परन्तु जिसकी वाणीमें असत्य, कटुता, वृथा बकवाद, निन्दा, परचर्चा आदि दोष होते हैं, उसके शब्दोंका दूसरोंपर असर नहीं होता; क्योंकि उसके आचरणोंके कारण शब्दकी शक्ति कुण्ठित हो जाती है। ऐसे ही स्वयं वक्तामें भी भ्रम, प्रमाद, लिप्सा और करणापाटव—ये चार दोष होते हैं। वक्ता जिस विषयका विवेचन करता है, उसको वह ठीक तरहसे नहीं जानता अर्थात् कुछ जानता है और कुछ नहीं जानता—यह '**भ्रम**' है। वह उपदेश देते हुए सावधानी नहीं रखता, बेपरवाह होकर कहता है और श्रोता किस दर्जेका है, कहाँतक समझ सकता है आदि बातोंको उपेक्षाके कारण नहीं जानता—यह '**प्रमाद**' है। किसी तरहसे मेरी पूजा हो, आदर हो, श्रोताओंसे रुपये-पैसे मिल जायँ, मेरा स्वार्थ सिद्ध हो जाय, सुननेवाले किसी तरहसे मेरे चक्करमें आ जायँ, मेरे अनुकूल बन जायँ आदिकी इच्छा रखता है—यह '**लिप्सा**' है। कहनेकी शैलीमें कुशलता नहीं है, वक्ता श्रोताकी भाषाको नहीं जानता, श्रोता किस तरह बातको समझ सकता है—वह युक्ति उसको नहीं आती—यह '**करणापाटव**' है। ये चार दोष वक्तामें रहनेसे वक्ताके शब्दोंसे श्रोताको ज्ञान नहीं होता। इन दोषोंसे रहित शब्द श्रोताको ज्ञान करा देते हैं। श्रोता भी श्रद्धा, विश्वास, जिज्ञासा, तत्परता संयतेन्द्रियता आदिसे युक्त हो और उसका परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य हो तो उसको वक्ताके शब्दोंसे ज्ञान हो जाता है। तात्पर्य है कि वक्ताके अयोग्यता होनेपर भी श्रोतापर उसकी वाणीका असर नहीं पड़ता और श्रोताकी अयोग्यता होनेपर भी उसपर वक्ताकी वाणीका असर नहीं पड़ता। दोनोंकी योग्यता होनेपर ही वक्ताके शब्दका श्रोतापर असर पड़ता है। परन्तु भगवान्‌के

---

* शब्दमें ऐसी विलक्षण शक्ति है कि वह जो इन्द्रियोंके सामने नहीं है, उस परोक्षका भी ज्ञान करा देता है।

नाममें इतनी विलक्षण शक्ति है कि कोई भी मनुष्य किसी भी भावसे नाम ले, उसका मङ्गल ही होता है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

(मानस १। २८। १)

भगवान्‌का नाम अवहेलना, संकेत, परिहास आदि किसी भी प्रकारसे लिया जाय, वह पापोंका नाश करता ही है—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥

(श्रीमद्भा० ६। २। १४)

भगवान्‌ने अपने नामके विषयमें स्वयं कहा है कि जो जीव श्रद्धासे अथवा अवहेलनासे भी मेरा नाम लेते हैं, उनका नाम सदा मेरे हृदयमें रहता है—

श्रद्धया हेलया नाम रटन्ति मम जन्तवः।
तेषां नाम सदा पार्थ वर्तते हृदये मम॥

शङ्का—गुड़का नाम लेनेसे मुख मीठा नहीं होता, फिर भगवान्‌का नाम लेनेसे क्या होगा?

समाधान—जिस वस्तुका नाम गुड़ है, उसके नाममें गुड़ नामवाली वस्तुका अभाव है अर्थात् गुड़के नाममें गुड़ नहीं है; और जबतक गुड़का रसनेन्द्रिय-(जीभ-)के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तबतक मुख मीठा नहीं होता; क्योंकि जीभमें गुड़ मौजूद नहीं है। ऐसे ही धनीका नाम लेनेसे धन नहीं मिलता; क्योंकि धनीके नाममें धन मौजूद नहीं है। परन्तु भगवान्‌के नाममें भगवान् मौजूद हैं। नामी-(भगवान्-)से नाम अलग नहीं है और नामसे नामी अलग नहीं है। नामीमें नाम मौजूद है और नाममें नामी मौजूद है। अतः नामीका, भगवान्‌का नाम लेनेसे भगवान् मिल जाते हैं, नामी प्रकट हो जाता है।

शङ्का—नाम तो केवल शब्दमात्र है, उससे क्या कार्य सिद्ध होगा?

समाधान—ऐसे तो शब्दमात्रमें अचिन्त्य शक्ति है, पर नाममें भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेकी ही एक विशेष सामर्थ्य है। अतः नाम किसी भी तरहसे लिया जाय, वह मङ्गल ही करता है। नाम जपनेवालेका भाव विशेष हो तो बहुत जल्दी लाभ होता है—

सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव बारिधि गोपद इव तरहीं।

(मानस १। ११९। २)

नाम-जपमें भाव कम भी रहे तो भी नाम जपनेसे लाभ तो होगा ही, पर कब होगा—इसका पता नहीं। नाम-जपकी संख्या ज्यादा बढ़नेसे भी भाव बन जाता है, क्योंकि नाम-जप करनेवालेके भीतर सूक्ष्म भाव रहता ही है, वह भाव नामकी संख्या बढ़नेसे प्रकट हो जाता है।

नाम-जप क्रिया (कर्म) नहीं है, प्रत्युत उपासना है; क्योंकि नाम-जपमें जापकका लक्ष्य, सम्बन्ध भगवान्‌से रहता है। जैसे कर्मोंसे कल्याण नहीं होता। कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं, परन्तु कर्मोंके साथ निष्कामभावकी मुख्यता रहनेसे वे कर्म कल्याण करनेवाले हो जाते हैं। ऐसे ही नामजपके साथ भगवान्‌के लक्ष्यकी मुख्यता रहनेसे नामजप भगवत्साक्षात्कार करानेवाला हो जाता है। भगवान्‌का लक्ष्य मुख्य रहनेसे नाम चिन्मय हो जाता है, फिर उसमें क्रिया नहीं रहती। इतना ही नहीं, वह चिन्मयता जापकमें भी उतर आती है अर्थात् नाम जपनेवालेका शरीर भी चिन्मय हो जाता है। उसके शरीरकी जडता मिट जाती है। जैसे, तुकारामजी महाराज सशरीर वैकुण्ठ चले गये। मीराबाईका शरीर भगवान्‌के विग्रहमें समा गया। कबीरजीका शरीर अदृश्य हो गया और उसके स्थानपर लोगोंको पुष्प मिले। चोखामेलाकी हड्डियोंसे 'विट्ठल' नामकी ध्वनि सुनायी पड़ती थी।

प्रश्न—शास्त्रों, सन्तोंने भगवन्नामकी जो महिमा गायी है, वह कहाँतक सच्ची है?

उत्तर—शास्त्रों और सन्तोंने नामकी जो महिमा गायी है, वह पूरी सच्ची है। इतना ही नहीं, आजतक जितनी नाम-महिमा गायी गयी है, उससे नाम-महिमा पूरी नहीं हुई है, प्रत्युत अभी बहुत नाम-महिमा बाकी है। कारण कि भगवान् अनन्त हैं; अतः उनके नामकी महिमा भी अनन्त है— ***'हरि अनंत हरि कथा अनंता'*** (मानस १। १४०। ३)। नामकी पूरी महिमा स्वयं भगवान् भी नहीं कह सकते— ***'रामु न सकहिं नाम गुन गाईं'***(१। २६। ४)।

प्रश्न—नामकी जो महिमा गायी गयी है, वह नाम-जप करनेवाले व्यक्तियोंमें देखनेमें नहीं आती, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—नामके माहात्म्यको स्वीकार न करनेसे नामका तिरस्कार, अपमान होता है; अतः वह नाम उतना असर नहीं करता। नाम-जपमें मन न लगानेसे, इष्टके ध्यानसहित नाम-जप न करनेसे, हृदयसे नामको महत्त्व न देनेसे, आदि-आदि दोषोंके कारण नामका माहात्म्य शीघ्र देखनेमें नहीं आता। हाँ किसी प्रकारसे नाम-जप मुखसे चलता रहे तो उससे भी लाभ होता ही है, पर इसमें समय लगता है। मन लगे चाहे न लगे, पर नामजप निरन्तर चलता रहे कभी छूटे नहीं तो नाम-महाराजकी कृपासे सब काम हो जायगा अर्थात् मन लगने लग जायगा, नामपर श्रद्धा-विश्वास भी हो जायँगे, आदि-आदि।

अगर भगवन्नाममें अनन्यभाव हो और नाम-जप निरन्तर

चलता रहे तो उससे वास्तविक लाभ हो ही जाता है; क्योंकि भगवान्‌का नाम सांसारिक नामोंकी तरह नहीं है। भगवान् चिन्मय हैं; अतः उनका नाम भी चिन्मय (चेतन) है। राजस्थानमें बुधारामजी नामक एक सन्त हुए हैं। वे जब नाम-जपमें लगे, तब उनको नाम-जपके बिना थोड़ा भी समय खाली जाना सुहाता नहीं था। जब भोजन तैयार हो जाता, तब माँ उनको भोजनके लिये बुलाती और वे भोजन करके पुनः नाम-जपमें लग जाते। एक दिन उन्होंने माँसे कहा कि माँ! रोटी खानेमें बहुत समय लगता है; अतः केवल दलिया बनाकर थालीमें परोस दिया कर और जब वह थोड़ा ठण्डा हो जाया करे, तब मेरेको बुलाया कर। माँने वैसा ही किया। एक दिन फिर उन्होंने कहा कि माँ! दलिया खानेमें भी समय लगता है; अतः केवल राबड़ी बना दिया कर और जब वह ठण्डी हो जाया करे, तब बुलाया कर। इस तरह लगनसे नाम-जप किया जाय तो उससे वास्तविक लाभ होता ही है।

शङ्का—अगर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक किये हुए नाम-जपसे ही लाभ होता है तो फिर नामकी महिमा क्या हुई? महिमा तो श्रद्धा-विश्वासकी ही हुई?

समाधान—जैसे, राजाको राजा न माननेसे राजासे होनेवाला लाभ नहीं होता; पण्डितको पण्डित न माननेसे पण्डितसे होनेवाला लाभ नहीं होता; सन्त-महात्माओंको सन्त-महात्मा न माननेसे उनसे होनेवाला लाभ नहीं होता; भगवान् अवतार लेते हैं तो उनको भगवान् न माननेसे उनसे होनेवाला लाभ नहीं होता, परंतु राजा आदिसे लाभ न होनेसे राजा आदिमें कमी थोड़े ही आ गयी? कमी तो न माननेवालेकी ही हुई। ऐसे ही जो नाममें श्रद्धा-विश्वास नहीं करता, उसको नामसे होनेवाला लाभ नहीं होता, पर इससे नामकी महिमामें कोई कमी नहीं आती। कमी तो नाममें श्रद्धा-विश्वास न करनेवालेकी ही है।

नाममें अनन्त शक्ति है। वह शक्ति नाममें श्रद्धा-विश्वास करनेसे तो बढ़ेगी और श्रद्धा-विश्वास न करनेसे घटेगी—यह बात है ही नहीं। हाँ, जो नाममें श्रद्धा-विश्वास करेगा, वह तो नामसे लाभ ले लेगा, पर जो श्रद्धा-विश्वास नहीं करेगा, वह नामसे लाभ नहीं ले सकेगा। दूसरी बात, जो नाममें श्रद्धा-विश्वास नहीं करता, उसके द्वारा नामका अपराध होता है। उस अपराधके कारण वह नामसे होनेवाले लाभको नहीं ले सकता।

प्रश्न—श्रद्धा-विश्वासके बिना भी अग्निको छूनेसे हाथ जल जाता है, फिर श्रद्धा-विश्वासके बिना नाम लेनेसे उसकी महिमा तत्काल प्रकट क्यों नहीं होती?

उत्तर—अग्नि भौतिक वस्तु है और वह भौतिक वस्तुओंको ही जलाती है; परन्तु भगवान्‌का नाम अलौकिक, दिव्य है। नाम-जप करनेवालेका नाममें ज्यों-ज्यों भाव बढ़ता है, त्यों-त्यों उसके सामने नामकी महिमा प्रकट होने लगती है, उसको नाम-महिमाकी अनुभूति होने लगती है, नाममें विचित्रता, अलौकिकता दीखने लगती है। नाममें एक विचित्रता है कि मनुष्य बिना भाव, श्रद्धाके भी हरदम नाम लेता रहे तो उसके सामने नामकी शक्ति प्रकट हो जायगी, पर उसमें समय लग सकता है।

प्रश्न—क्या एक बार नाम लेनेसे ही सब पाप नष्ट हो जाते हैं?

उत्तर—हाँ, आर्तभावसे लिये हुए एक नामसे ही सब पाप नष्ट हो जाते हैं। मनुष्यको अन्तसमयमें मृत्युसे छुड़ानेवाला कोई भी नहीं दीखता, वह सब तरफसे निराश हो जाता है, उस समय आर्तभावसे उसके मुखसे एक नाम भी निकलता है तो वह एक ही नाम उसके सम्पूर्ण पापोंको नष्ट कर देता है। जैसे गजेन्द्रको ग्राह खींचकर जलमें ले जा रहा था। गजेन्द्रने देखा कि अब मुझे कोई छुड़ानेवाला नहीं है, अब तो मौत आ गयी है तो उसने आर्तभावसे एक ही बार नाम लिया। नाम लेते ही भगवान् आ गये और उन्होंने ग्राहको मारकर गजेन्द्रको छुड़ा लिया।

जिसका भगवान्‌के नाममें अटूट श्रद्धा-विश्वास है, अनन्यभाव है, उसका एक ही नामसे कल्याण हो जाता है।

प्रश्न—जब एक ही नामसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं तो फिर बार-बार नाम लेनेकी क्या आवश्यकता है?

उत्तर—बार-बार नाम लेनेसे ही वह एक आर्तभाववाला नाम निकलता है। जैसे मोटरके इंजनको चालू करनेके लिये बार-बार हैण्डल घुमाते हैं तो हैण्डलको पहली बार घुमानेसे इंजन चालू होगा या पाँचवीं, दसवीं अथवा पंद्रहवीं बार घुमानेसे इंजन चालू होगा—इसका कोई पता नहीं रहता। परन्तु हैण्डलको बार-बार घुमाते रहनेसे किसी-न-किसी घुमावमें इंजन चालू हो जाता है। ऐसे ही बार-बार भगवन्नाम लेते रहनेसे कभी-न-कभी वह आर्तभाववाला एक नाम आ ही जाता है। अतः बार-बार नाम लेना बहुत जरूरी है।

प्रश्न—जो मनुष्य नामजप तो करता है, पर उसके द्वारा निषिद्ध कर्म भी होते हैं, उसका उद्धार होगा या नहीं?

उत्तर—समय पाकर उसका उद्धार तो होगा ही; क्योंकि किसी भी तरहसे लिया हुआ भगवन्नाम निष्फल नहीं जाता। परन्तु नामजपका जो प्रत्यक्ष प्रभाव है, वह उसके देखनेमें नहीं आयेगा। वास्तवमें देखा जाय तो जिसका एक परमात्माको ही

प्राप्त करनेका ध्येय नहीं है, उसीके द्वारा निषिद्ध कर्म होते हैं। जिसका ध्येय एक परमात्मप्राप्तिका ही है, उसके द्वारा निषिद्ध कर्म हो ही नहीं सकते। जैसे, जिसका ध्येय पैसोंका हो जाता है, वह फिर ऐसा कोई काम नहीं करता, जिससे पैसे नष्ट होते हों। वह पैसोंका नुकसान नहीं सह सकता; और कभी किसी कारणवश पैसे नष्ट हो जायँ तो वह बेचैन हो जाता है। ऐसे ही जिसका ध्येय परमात्मप्राप्तिका बन जाता है, वह फिर साधनसे विपरीत काम नहीं कर सकता। अगर उसके द्वारा साधनसे विपरीत कर्म होते हैं तो इससे सिद्ध होता है कि अभी उसका ध्येय परमात्मप्राप्ति नहीं बना है।

साधकको चाहिये कि वह परमात्मप्राप्तिका ध्येय दृढ़ बनाये और नाम-जप करता रहे तो फिर उससे निषिद्ध क्रिया नहीं होगी। कभी निषिद्ध क्रिया हो भी जायगी तो उसका बहुत पश्चात्ताप होगा, जिससे वह फिर आगे कभी नहीं होगी।

प्रश्न—जिसके पाप बहुत हैं, वह भगवान्‌का नाम नहीं ले सकता; अतः वह क्या करे?

उत्तर—बात सच्ची है। जिसके अधिक पाप होते हैं, वह भगवान्‌का नाम नहीं ले सकता।

वैष्णवे भगवद्भक्तौ प्रसादे हरिनाम्नि च।
अल्पपुण्यवतां श्रद्धा यथावन्नैव जायते॥

अर्थात् जिसका पुण्य थोड़ा होता है, उसकी भक्तोंमें, भक्तिमें, भगवत्प्रसादमें और भगवन्नाममें श्रद्धा नहीं होती।

जैसे पित्तका जोर होनेपर रोगीको मिश्री भी कड़वी लगती है। परन्तु यदि वह मिश्रीका सेवन करता रहे तो पित्त शान्त हो जाता है और मिश्री मीठी लगने लग जाती है। ऐसे ही पाप अधिक होनेसे नाम अच्छा नहीं लगता; परन्तु नाम-जप करना शुरू कर दे तो पाप नष्ट हो जायँगे और नाम अच्छा, मीठा लगने लग जायगा तथा नाम-जपका प्रत्यक्ष लाभ भी दीखने लग जायगा।

प्रश्न—जिसके भाग्यमें नाम लेना लिखा है, वह तो नाम ले सकता है, उसके मुखसे नाम निकल सकता है; परंतु जिसके भाग्यमें नाम लेना लिखा ही नहीं, वह कैसे नाम ले सकता है?

उत्तर—एक 'होना' होता है और एक 'करना' होता है। भाग्य अर्थात् पुराने कर्मोंका फल होता है और नये कर्म किये जाते हैं, होते नहीं। जैसे व्यापार करते हैं और नफा-नुकसान होता है; खेती करते हैं और लाभ-हानि होती है; मन्त्रका सकामभावसे जप (अनुष्ठान) करते हैं और उसका नीरोगता आदि फल होता है। बद्रीनारायण जाते हैं—यह 'करना' हुआ और चलते-चलते बद्रीनारायण पहुँच जाते हैं—यह 'होना' हुआ। दवा लेते हैं—यह 'करना' हुआ और शरीर स्वस्थ या अस्वस्थ होता है—यह 'होना' हुआ। हानि-लाभ, जीना-मरना, यश-अपयश—ये सब होनेवाले हैं; क्योंकि ये पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंके फल हैं*। परन्तु नाम-जप करना नया काम है। यह करनेका है, होनेका नहीं। इसको करनेमें सब स्वतन्त्र हैं। हाँ, इसमें इतनी बात होती है कि अगर किसीने पहले नाम-जप किया हुआ है तो नाम-जपकी महिमा सुनते ही उसकी नाम-जपमें रुचि हो जायगी और वह सुगमतासे होने लग जायगा। परन्तु पहले जिसका नाम-जप किया हुआ नहीं है, वह अगर नामकी महिमा सुने तो उसकी नाम-जपमें जल्दी रुचि नहीं होगी। अगर नाम-जपकी महिमा कहनेवाला अनुभवी हो तो सुननेवालेकी भी नाममें रुचि हो जायगी और उस अनुभवीके सङ्गमें रहनेसे उसके लिये नाम-जप करना भी सुगम हो जायगा।

जो भाग्यमें लिखा है, वह फल होता है, नया कर्म नहीं। नाम-जप करना शुरू कर दें तो वह होने लग जायगा; क्योंकि नाम-जप करना नया कर्म, नयी उपासना है। अतः 'हमारे भाग्यमें नाम-जप करना, सत्सङ्ग करना, शुभ कर्म करना लिखा हुआ नहीं है'—ऐसा कहना बिलकुल बहानेबाजी है। 'नाम-जप, सत्सङ्ग आदि हमारे भाग्यमें नहीं हैं'—ऐसा भाव रखना कुसङ्ग है, जो नाम-जप आदि करनेके भावका नाश करनेवाला है।

प्रश्न—नाम-जपसे भाग्य (प्रारब्ध) पलट सकता है?

उत्तर—हाँ, भगवन्नामके जपसे, कीर्तनसे प्रारब्ध बदल जाता है, नया प्रारब्ध बन जाता है; जो वस्तु न मिलनेवाली हो वह मिल जाती है; जो असम्भव है, वह सम्भव हो जाता है—ऐसा सन्तोंका, महापुरुषोंका अनुभव है। जिसने कर्मोंके फलका विधान किया है, उसको कोई पुकारे, उसका नाम ले तो नाम लेनेवालेका प्रारब्ध बदलनेमें आश्चर्य ही क्या है? ये जो लोग भीख माँगते फिरते हैं, जिनको पेटभर खानेको भी नहीं मिलता, वे अगर सच्चे हृदयसे नामजपमें लग जायँ तो उनके पास रोटियोंका, कपड़ोंका ढेर लग जायगा; उनको किसी चीजकी कमी नहीं रहेगी। परन्तु नाम-जपको प्रारब्ध बदलनेमें, पापोंको काटनेमें नहीं लगाना चाहिये। जैसे अमूल्य रत्नके बदलेमें कोयला खरीदना बुद्धिमानी नहीं है, ऐसे ही अमूल्य भगवन्नामको तुच्छ कामोंमें लगाना बुद्धिमानी नहीं है।

* सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ। हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥ (मानस २। १७१)

प्रश्न—जब केवल नाम-जपसे ही सब पाप नष्ट हो जाते हैं तो फिर शास्त्रोंमें पापोंको दूर करनेके लिये तरह-तरहके प्रायश्चित्त क्यों बताये गये हैं ?

उत्तर—नाम-जपसे ज्ञात, अज्ञात आदि सभी पापोंका प्रायश्चित्त हो जाता है, सभी पाप नष्ट हो जाते हैं; परन्तु नामपर श्रद्धा-विश्वास न होनेसे शास्त्रोंमें तरह-तरहके प्रायश्चित्त बताये गये हैं। अगर नामपर श्रद्धा-विश्वास हो जाय तो दूसरे प्रायश्चित्त करनेकी जरूरत नहीं है। नाम-जप करनेवाले भक्तसे अगर कोई पाप भी हो जाय, कोई गलती हो जाय तो उसको दूर करनेके लिये दूसरा प्रायश्चित्त करनेकी जरूरत नहीं है। वह नाम-जपको ही तत्परतासे करता रहे तो सब ठीक हो जायगा।

प्रश्न—अगर कोई सकामभावसे नाम-जप करे तो क्या वह नाम-जप फल देकर नष्ट हो जायगा ?

उत्तर—यद्यपि सांसारिक तुच्छ कामनाओंकी पूर्तिके लिये नामको खर्च करना बुद्धिमानी नहीं है, तथापि अगर सकामभावसे भी नाम-जप किया जाय तो भी नामका माहात्म्य नष्ट नहीं होता। नाम-जप करनेवालेको पारमार्थिक लाभ होगा ही; क्योंकि नामका भगवान्‌के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। हाँ, नामको सांसारिक कामनापूर्तिमें लगाकर उसने नामका जो तिरस्कार किया है, उससे उसको पारमार्थिक लाभ कम होगा। अगर वह तत्परतासे नाममें लगा रहेगा, नामके परायण रहेगा तो नामकी कृपासे उसका सकामभाव मिट जायगा। जैसे, ध्रुवजीने सकामभावसे, राज्यकी इच्छासे ही नाम-जप किया था। परन्तु जब उनको भगवान्‌के दर्शन हुए तब राज्य एवं पद मिलनेपर भी वे प्रसन्न नहीं हुए, प्रत्युत उनको अपने सकामभावका दुःख हुआ अर्थात् उनका सकामभाव मिट गया।

जो सकामभावसे नाम-जप किया करते हैं, उनको भी नाम-महाराजकी कृपासे अन्तसमयमें नाम याद आ सकता है और उनका कल्याण हो सकता है!

प्रश्न—शास्त्रोंमें तथा सन्तोंने कहा है कि अमुक संख्यामें नाम-जप करनेसे भगवान्‌के दर्शन हो जाते हैं, क्या ऐसा होता है ?

उत्तर—हाँ, ***'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'***—मन्त्रका साढ़े तीन करोड़ जप करनेसे भगवान्‌के दर्शन हो जाते हैं—ऐसा 'कलिसंतरणोपनिषद्' में आया है। 'राम'-नामका तेरह करोड़ जप करनेसे भगवान्‌के दर्शन हो जाते हैं—ऐसा समर्थ रामदास बाबाने 'दासबोध'में लिखा है। परन्तु नाममें, भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वास और प्रेम अधिक हो तो उपर्युक्त संख्यासे पहले भी भगवान्‌के दर्शन हो सकते हैं।

प्रश्न—***'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥'*** (मानस १।२७।४)—ऐसा कहनेका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—कलियुगमें यज्ञादि शुभ कर्मोंका साङ्गोपाङ्ग होना बहुत कठिन है और उनके विधि-विधानको ठीक तरहसे जाननेवाले पुरुष भी बहुत कम रह गये हैं तथा शुद्ध गोघृत आदि सामग्री मिलनी भी कठिन हो रही है। अतः कलियुगमें शुभ कर्मोंका अनुष्ठान साङ्गोपाङ्ग न होनेसे, उसमें विधि-विधानकी कमी रहनेसे कर्ताको दोष लगता है।

वैधीभक्ति विधि-विधानसे की जाती है। उसमें किस इष्टदेवका किस विधिसे पूजा-पाठ होना चाहिये—इसको जाननेवाले बहुत कम हैं। अतः वह भक्ति करना भी इस कलियुगमें कठिन है।

ज्ञानमार्ग कठिन है और ज्ञानमार्गकी साधना बतानेवाले अनुभवी पुरुषोंका मिलना भी बहुत कठिन है। अतः विवेक-मार्गमें चलना कलियुगमें बहुत कठिन है। तात्पर्य है कि इस कलियुगमें कर्म, भक्ति और ज्ञान—इन तीनोंका होना बहुत कठिन है, पर भगवान्‌का नाम लेना कठिन नहीं है। भगवान्‌का नाम सभी ले सकते हैं; क्योंकि उसमें कोई विधि-विधान नहीं है। उसको बालक, स्त्री, पुरुष, वृद्ध, रोगी आदि सभी ले सकते हैं और हर समय, हर परिस्थितिमें, हर अवस्थामें ले सकते हैं।

नाम एक सम्बोधन है, पुकार है। उसमें आर्तभावकी ही मुख्यता है, विधिकी मुख्यता नहीं। अतः भगवान्‌का नाम लेकर हरेक मनुष्य आर्तभावसे भगवान्‌को पुकार सकता है।

शङ्का—नाम-जपमें मन नहीं लगता और मन लगे बिना नाम-जप करनेमें कुछ फायदा नहीं! कहा भी है—

माला तो कर में फिरे, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवाँ तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं॥

समाधान—मन नहीं लगेगा तो 'सुमिरन' (स्मरण) नहीं होगा—यह बात सच्ची है, पर नाम-जप नहीं होगा—यह बात दोहेमें नहीं कही गयी है। मन नहीं लगनेसे सुमिरन नहीं होगा तो नहीं सही, पर नाम-जप तो हो ही जायगा! नाम-जप कभी व्यर्थ हो ही नहीं सकता; अतः मन लगे चाहे न लगे, नाम-जप करते रहना चाहिये।

जब मन लगेगा, तब नाम-जप करेंगे—ऐसा होना सम्भव नहीं है। हाँ, अगर हम नाम-जप करने लग जायँ तो मन भी लगने लग जायगा; क्योंकि मनका लगना नाम-जपका परिणाम है।

प्रश्न—शास्त्रमें आता है कि जो नाम नहीं लेना

चाहता, जिसकी नामपर श्रद्धा नहीं है, उसको नाम नहीं सुनाना चाहिये; क्योंकि यह नामापराध है; फिर भी गौराङ्ग महाप्रभु आदिने नामपर श्रद्धा न रखनेवालोंको भी नाम क्यों सुनाया ?

उत्तर—जो नाम नहीं सुनना चाहता, मुखसे भी नहीं लेना चाहता, नामका तिरस्कार करता है, उसको नाम नहीं सुनाना चाहिये—यह विधि है, शास्त्रकी आज्ञा है; फिर भी सन्त-महापुरुष दया करके उसको नाम सुना देते हैं। उनकी दयामें विधि-निषेध लागू नहीं होता। विधि-निषेध, 'कर्म' में लागू होता है और 'दया' कर्मसे अतीत है। दया अहैतुकी होती है, हेतुके बिना की जाती है। जैसे, कोई भगवत्प्राप्त सन्त-महापुरुष अपनी सामर्थ्यसे दूसरेको कोई चीज देता है तो यह चीज लेनेवालेके पूर्वकर्मका फल नहीं है यह तो उस सन्त-महापुरुषकी दया है। ऐसे ही गौराङ्ग महाप्रभु आदि सन्तोंने दयापरवश होकर दुष्ट, पापी व्यक्तियोंको भी भगवन्नाम सुनाया।

प्रश्न—अगर मरणासन्न पशु, पक्षी आदिको भगवन्नाम सुनाया जाय तो क्या उनका उद्धार हो सकता है ?

उत्तर—पशु, पक्षी आदि भगवन्नामके प्रभावको नहीं समझते और अपने-आप प्रभाव आ जाय तो वे उसका विरोध भी नहीं करते। वे नामकी निन्दा, तिरस्कार नहीं करते, नामसे घृणा नहीं करते। अतः उनको मरणासन्न अवस्थामें नाम सुनाया जाय तो उनपर नामका प्रभाव काम करता है अर्थात् नामके प्रभावसे उनका उद्धार हो जाता है।

प्रश्न—अन्तसमयमें कोई अपने पुत्र आदिके रूपमें भी 'नारायण', 'वासुदेव' आदि नाम लेता है तो उसको भगवान् अपना ही नाम मान लेते हैं; ऐसा क्यों ?

उत्तर—भगवान् बहुत दयालु हैं। उन्होंने यह विशेष छूट दी है कि अगर मनुष्य अन्तसमयमें किसी भी बहाने भगवान्का नाम ले ले, उनको याद कर ले तो उसका कल्याण हो जायगा। कारण कि भगवान्ने जीवका कल्याण करनेके लिये ही उसको मनुष्य-शरीर दिया है और जीवने उस मनुष्य-शरीरको स्वीकार किया है। अतः जीवका कल्याण हो जाय, तभी भगवान्का इस जीवको मनुष्य-शरीर देना और जीवका मनुष्य-शरीर लेना सार्थक होगा। परन्तु वह अपना कल्याण किये बिना ही मनुष्य-शरीरको छोड़कर जा रहा है, इसलिये भगवान् उसको मौका देते हैं कि अब जाते-जाते तू किसी भी बहाने मेरा नाम ले ले, मेरेको याद कर ले तो तेरा कल्याण हो जायगा! जैसे अन्तसमयमें भयानक यमदूत दीखनेपर अजामिलने अपने पुत्र नारायणको पुकारा तो भगवान्ने उसको अपना ही नाम मान लिया और अपने चार पार्षदोंको अजामिलके पास भेज दिया।

तात्पर्य है कि मनुष्यको रात-दिन, खाते-पीते, सोते-जागते, चलते-फिरते, सब समय भगवान्का नाम लेते ही रहना चाहिये।

★

मूर्ति-पूजा

हमारे सनातन वैदिक सिद्धान्तमें भक्तलोग मूर्तिका पूजन नहीं करते, प्रत्युत परमात्माका ही पूजन करते हैं। तात्पर्य है कि जो परमात्मा सब जगह परिपूर्ण है, उसका विशेष खयाल करनेके लिये मूर्ति बनाकर उस मूर्तिमें उस परमात्माका पूजन करते हैं, जिससे सुगमतापूर्वक परमात्माका ध्यान-चिन्तन होता रहे।

अगर मूर्तिकी ही पूजा होती है तो पूजकके भीतर पत्थरकी मूर्तिका ही भाव होना चाहिये कि 'तुम अमुक पर्वतसे निकले हो, अमुक व्यक्तिने तुमको बनाया है, अमुक व्यक्तिने तुमको यहाँ लाकर रखा है; अतः हे पत्थरदेव ! तुम मेरा कल्याण करो।' परंतु ऐसा कोई कहता ही नहीं तो फिर मूर्तिपूजा कहाँ हुई ? अतः भक्तलोग मूर्तिकी पूजा नहीं करते; किंतु मूर्तिमें भगवान्‌की पूजा करते हैं अर्थात् मूर्तिभाव मिटाकर भगवद्भाव करते हैं। इस प्रकार मूर्तिमें भगवान्‌का पूजन करनेसे सब जगह भगवद्भाव हो जाता है। भगवत्-पूजनसे भगवान्‌की भक्तिका आरम्भ होता है। भक्तके सिद्ध हो जानेपर भी भगवत्पूजन होता ही रहता है।

मूर्तिमें अपनी पूजाके विषयमें भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि 'भक्तलोग भक्तिपूर्वक मेरेको नमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते हैं' (९।१४); जो भक्त श्रद्धा-प्रेमपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मेरे अर्पण करता है, उसके दिये हुए उपहारको मैं खा लेता हूँ' (९।२६); देवताओं (विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य—ये ईश्वरकोटिके पञ्चदेवता), ब्राह्मणों, आचार्य, माता-पिता आदि बड़े-बूढ़ों और ज्ञानी जीवन्मुक्त महात्माओंका पूजन करना शारीरिक तप है (१७।१४)। अगर सामने मूर्ति न हो तो किसको नमस्कार किया जायगा ? किसको पत्र, पुष्प, फल, जल आदि चढ़ाये जायँगे और किसका पूजन किया जायगा ? इससे यही सिद्ध होता है कि गीतामें मूर्तिपूजाकी बात भी आयी है।

इसी तरह गाय, तुलसी, पीपल, ब्राह्मण, तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त, गिरिराज गोवर्धन, गङ्गा, यमुना आदिका पूजन भी भगवत्पूजन है। इनका पूजन करनेसे 'सब जगह परमात्मा हैं'

यह बात सुगमतासे अनुभवमें आ जाती है; अतः सब जगह परमात्माका अनुभव करनेमें गाय आदिका पूजन बहुत सहायक है। कारण कि पूजा करनेवालेने 'सब जगह परमात्मा हैं'—ऐसा मानना तो शुरू कर दिया है। परंतु जो किसीका भी पूजन नहीं करता, केवल बातें ही बनाता है, उसको 'सब जगह परमात्मा हैं'—इसका अनुभव नहीं होगा। तात्पर्य है कि मूर्तिमें भगवान्‌का पूजन करना कल्याणका, श्रेयका साधन है।

भगवत्पूजनके सिवाय हाड़-मांसकी पूजा करना अर्थात् अपने शरीरको सुन्दर-सुन्दर गहनों-कपड़ोंसे सजाना, मकानको बढ़िया बनवाना तथा उसे सुन्दर-सुन्दर सामग्रीसे सजाना, शृङ्गार करना आदि मूर्ति-पूजा ही है, जो कि पतनमें ले जानेवाली है।

ज्ञातव्य

भगवान् सब जगह परिपूर्ण हैं—ऐसा प्रायः सभी आस्तिक मानते हैं; परंतु वास्तवमें ऐसा मानना उन्हींका है, जिन्होंने मूर्ति, वेद, सूर्य, पीपल, तुलसी, गाय आदिमें भगवान्‌को मानकर उनका पूजन शुरू कर दिया है। कारण कि जो मूर्ति, वेद, सूर्य आदिमें भगवान्‌को मानते हैं, वे स्वतः सब जगह, सब प्राणियोंमें भगवान्‌को मानने लग जायँगे। जो केवल मूर्ति आदिमें ही भगवान्‌को मानते हैं, उनको 'प्राकृत (आरम्भिक) भक्त' कहा गया है।* क्योंकि उन्होंने एक जगह भगवान्‌का पूजन शुरू कर दिया; अतः वे भगवान्‌के सम्मुख हो गये। परन्तु जो केवल 'भगवान् सब जगह हैं'—ऐसा कहते हैं, पर उनका कहीं भी आदरभाव, पूज्यभाव, श्रेष्ठभाव नहीं है, उनको भक्त नहीं कहा गया है; क्योंकि वे 'भगवान् सब जगह हैं'—ऐसा केवल कहते हैं, मानते नहीं; अतः वे भगवान्‌के सम्मुख नहीं हुए।

मूर्तिमें भगवान्‌का पूजन श्रद्धाका विषय है, तर्कका विषय नहीं। जिनमें श्रद्धा है, उनके सामने भगवान्‌का महत्त्व प्रकट हो जाता है। उनके द्वारा की गयी पूजाको भगवान् ग्रहण करते हैं। उनके हाथसे भगवान् प्रसाद ग्रहण करते हैं। जैसे, करमाबाईसे भगवान्‌ने खिचड़ी खायी, धन्ना भक्तसे भगवान्‌ने टिक्कड़ खाये, मीराबाईसे भगवान्‌ने दूध पिया आदि-आदि। तात्पर्य है कि श्रद्धा-भक्तिसे भगवान् मूर्तिमें प्रकट हो जाते हैं।

प्रश्न—भक्तलोग भगवान्‌को भोग लगाते हैं तो भगवान् उसको ग्रहण करते हैं—इसका क्या पता?

उत्तर—भगवान्‌के दरबारमें वस्तुकी प्रधानता नहीं है, प्रत्युत भावकी प्रधानता है। भावके कारण ही भगवान् भक्तके द्वारा अर्पित वस्तुओं और क्रियाओंको ग्रहण कर लेते हैं। भक्तका भाव भगवान्‌को भोजन करानेका होता है तो भगवान्‌को भूख लग जाती है और वे प्रकट होकर भोजन कर लेते हैं। भक्तके भावके कारण भगवान् जिस वस्तुको ग्रहण करते हैं वह वस्तु नाशवान् नहीं रहती, प्रत्युत दिव्य, चिन्मय हो जाती है। अगर वैसा भाव न हो, भावमें कमी हो तो भी भगवान् भक्तके द्वारा भोजन अर्पण करनेमात्रसे सन्तुष्ट हो जाते हैं। भगवान्‌के सन्तुष्ट होनेमें वस्तु और क्रियाकी प्रधानता नहीं है, प्रत्युत भावकी ही प्रधानता है। सन्तोंने कहा है—

भाव भगत की राबड़ी, मीठी लागे 'वीर'।
बिना भाव 'कालू' कहे, कड़वी लागे खीर॥

हमें एक सज्जन मिले थे। उनकी एक सन्तपर बड़ी श्रद्धा थी और वे उनकी सेवा किया करते थे। वे कहते थे कि जब महाराजको प्यास लगती तो मेरे मनमें आती कि महाराजको प्यास लगी है; अतः मैं जल ले जाता और वे पी लेते। ऐसे ही जो शुद्ध पतिव्रता होती है, उसको पतिकी भूख-प्यासका पता लग जाता है तथा पतिकी रुचि भोजनके किस पदार्थमें है—इसका भी पता लग जाता है। भोजन सामने आनेपर पति भी कह देता है कि आज मेरे मनमें इसी भोजनकी रुचि थी। इसी तरह जिसके मनमें भगवान्‌को भोग लगानेका भाव होता है, उसको भगवान्‌की रुचिका, भूख-प्यासका पता लग जाता है।

एक मन्दिरके पुजारी थे। उनके इष्ट भगवान् बालगोपाल थे। वे रोज छोटे-छोटे लड्डू बनाया करते और रातके समय जब बालगोपालको शयन कराते, तब उनके सिरहाने वे लड्डू रख दिया करते; क्योंकि बालकको रातमें भूख लग जाया करती है। एक दिन वे लड्डू रखना भूल गये तो रातमें बालगोपालने पुजारीको स्वप्नमें कहा कि मेरेको भूख लग रही है! ऐसे ही एक और घटना है। एक साधु थे। वे प्रतिवर्ष दीपावलीके बाद (ठण्डीके दिनोंमें) भगवान्‌को काजू, बादाम, पिस्ता, अखरोट आदिका भोग लगाया करते थे। एक वर्ष सूखा मेवा बहुत मँहगा हो गया तो उन्होंने मूँगफलीका भोग लगाना शुरू कर दिया। एक दिन रातमें भगवान्‌ने स्वप्नमें कहा कि क्या तू मूँगफली ही खिलायेगा? उस दिनके बाद उन्होंने पुनः भगवान्‌को काजू आदिका भोग लगाना शुरू कर दिया। पहले उनके मनमें कुछ वहम था कि पता नहीं, भगवान् भोगको ग्रहण करते हैं या नहीं? जब भगवान्‌ने स्वप्नमें ऐसा कहा, तब उनका वहम मिट गया। तात्पर्य है कि

* अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते। न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥ (श्रीमद्भा० ११। २। ४७)

कोई भगवान्‌को भावसे भोग लगाता है तो उनको भूख लग जाती है और वे उसको ग्रहण कर लेते हैं।

एक साधु थे। उनकी खुराक बहुत थी। एक बार उनके शरीरमें रोग हो गया। किसीने उनसे कहा कि महाराज ! आप गायका दूध पिया करें, पर दूध वही पीयें, जो बछड़ेके पीनेपर बच जाय। उन्होंने ऐसा ही करना शुरू कर दिया। जब बछड़ा पेट भरकर अपनी माँका दूध पी लेता, तब वे गायका दूध निकालते। गायका पाव-डेढ़-पाव दूध निकलता, पर उतना ही दूध पीनेसे उनकी तृप्ति हो जाती। कुछ ही दिनोंमें उनका रोग मिट गया और वे स्वस्थ हो गये। जब न्याययुक्त वस्तुमें भी इतनी शक्ति है कि थोड़ी मात्रामें लेनेपर भी तृप्ति हो जाय और रोग मिट जाय तो फिर जो वस्तु भावपूर्वक दी जाय, उसका तो कहना ही क्या है !

यह तो सबका ही अनुभव है कि कोई भावसे, प्रेमसे भोजन कराता है तो उस भोजनमें विचित्र स्वाद होता है और उस भोजनसे वृत्तियाँ भी बहुत अच्छी रहती हैं। केवल मनुष्यपर ही नहीं, पशुओंपर भी भावका असर पड़ता है। जिस बछड़ेकी माँ मर जाती है, उसको लोग दूसरी गायका दूध पिलाते हैं। इससे वह बछड़ा जी तो जाता है, पर पुष्ट नहीं होता। वही बछड़ा अगर अपनी माँका दूध पीता तो माँ उसको प्यारसे चाटती, दूध पिलाती, जिससे वह थोड़े ही दूधसे पुष्ट हो जाता। जब मनुष्य और पशुओंपर भी भावका असर पड़ता है तो फिर अन्तर्यामी भगवान्‌पर भावका असर पड़ जाय, इसका तो कहना ही क्या है ! विदुरानीके भावके कारण ही भगवान्‌ने उसके हाथसे केलेके छिलके खाये। गोपियोंके भावके कारण ही भगवान्‌ने उनके हाथसे छीनकर दही, मक्खन खाया। भगवान् ब्रह्माजीसे कहते हैं—

नैवेद्यं पुरतो न्यस्तं चक्षुषा गृह्यते मया।
रसं च दासजिह्वायामश्नामि कमलोद्भव ॥

'हे कमलोद्भव ! मेरे सामने रखे हुए भोगोंको मैं नेत्रोंसे ग्रहण करता हूँ; परंतु उस भोगका रस मैं भक्तकी जिह्वाके द्वारा ही लेता हूँ।'

ऐसी बात भी सन्तोंसे सुनी है कि भावसे लगे हुए भोगको भगवान् कभी देख लेते हैं, कभी स्पर्श कर लेते हैं और कभी कुछ ग्रहण भी कर लेते हैं।

जैसे घुटनोंके बलपर चलनेवाला छोटा बालक कोई वस्तु उठाकर अपने पिताजीको देता है तो उसके पिताजी बहुत प्रसन्न हो जाते हैं और हाथ ऊँचा करके कहते हैं कि बेटा ! तू इतना बड़ा हो जा अर्थात् मेरेसे भी बड़ा हो जा। क्या वह वस्तु अलभ्य थी ? क्या बालकके देनेसे पिताजीको कोई विशेष चीज मिल गयी ? नहीं। केवल बालकके देनेके भावसे ही पिताजी राजी हो गये। ऐसे ही भगवान्‌को किसी वस्तुकी कमी नहीं है और उनमें किसी वस्तुकी इच्छा भी नहीं है, फिर भी भक्तके देनेके भावसे वे प्रसन्न हो जाते हैं। परन्तु जो केवल लोगोंको दिखानेके लिये, लोगोंको ठगनेके लिये मन्दिरोंको सजाते हैं, ठाकुरजी-(भगवान्‌के विग्रह-) का शृङ्गार करते हैं, उनको बढ़िया-बढ़िया पदार्थोंका भोग लगाते हैं तो उसको भगवान् ग्रहण नहीं करते; क्योंकि वह भगवान्‌का पूजन नहीं है, प्रत्युत रुपयोंका, व्यक्तिगत स्वार्थका ही पूजन है।

जो लोग किसी भी तरहसे ठाकुरजीको भोग लगानेवालेको, उनकी पूजा करनेवालेको पाखण्डी कहते हैं और खुद अभिमान करते हैं कि हम तो उनसे अच्छे हैं; क्योंकि हम पाखण्ड नहीं करते, ऐसे लोगोंका कल्याण नहीं होता। जो किसी भी तरहसे उत्तम कर्म करनेमें लगे हैं, उनका उतना अंश तो अच्छा है ही, उनके आचरणमें, रहन-सहनमें तो अच्छापन है ही। परन्तु जो अभिमानपूर्वक अच्छे आचरणोंका त्याग करते हैं, उसका परिणाम तो बुरा ही होगा।

प्रश्न—दुष्टलोग मूर्तियोंको तोड़ते हैं तो भगवान् उनको अपना प्रभाव, चमत्कार क्यों नहीं दिखाते ?

उत्तर—जिनकी मूर्तिमें सद्भावना नहीं है, जिनका मूर्तिमें भगवत्पूजन करनेवालोंके साथ द्वेष है और द्वेषभावसे ही जो मूर्तिको तोड़ते हैं, उनके सामने भगवान्‌का प्रभाव, महत्त्व प्रकट होगा ही क्यों ? कारण कि भगवान्‌का महत्त्व तो श्रद्धाभावसे ही प्रकट होता है।

मूर्तिपूजा करनेवालोंमें 'मूर्तिमें भगवान् हैं'—इस भावकी कमी होनेके कारण ही दुष्टलोगोंके द्वारा मूर्ति तोड़े जानेपर भगवान् अपना प्रभाव प्रकट नहीं करते। परन्तु जिन भक्तोंका 'मूर्तिमें भगवान् हैं'—ऐसा दृढ़ श्रद्धा-विश्वास है, वहाँ भगवान् अपना प्रभाव प्रकट कर देते हैं। जैसे, गुजरातमें सूरतके पास एक शिवजीका मन्दिर है। उसमें स्थित शिवलिङ्गमें छेद-ही-छेद हैं। इसका कारण यह था कि जब मुसलमान उस शिवलिङ्गको तोड़नेके लिये आये, तब उस शिवलिङ्गमेंसे असंख्य बड़े-बड़े भौंरे प्रकट हो गये और उन्होंने मुसलमानोंको भगा दिया।

जो परीक्षामें पास होना चाहते हैं, वे ही परीक्षकको आदर देते हैं, परीक्षकके अधीन होते हैं; क्योंकि परीक्षक जिसको पास कर देता है, वह पास हो जाता है और जिसको फेल कर देता है वह फेल हो जाता है। परन्तु भगवान्‌को किसीकी परीक्षामें पास होनेकी जरूरत ही नहीं है; क्योंकि परीक्षामें पास होनेसे भगवान्‌का महत्त्व बढ़ नहीं जाता और

परीक्षामें फेल होनेसे भगवान्‌का महत्त्व घट नहीं जाता। जैसे, रावण भगवान् रामकी परीक्षा लेनेके लिये मारीचको मायामय स्वर्णमृग बनाकर भेजता है तो भगवान् स्वर्णमृगके पीछे दौड़ते हैं अर्थात् रावणकी परीक्षामें फेल हो जाते हैं; क्योंकि भगवान्‌को पास होकर दुष्ट रावणसे कौन-सा सर्टिफिकेट लेना था! ऐसे ही दुष्टलोग भगवान्‌की परीक्षा लेनेके लिये मन्दिरोंको तोड़ते हैं तो भगवान् उनकी परीक्षामें फेल हो जाते हैं, उनके सामने अपना प्रभाव प्रकट नहीं करते, क्योंकि वे दुष्टभावसे ही भगवान्‌के सामने आते हैं।

एक वस्तुगुण होता है और एक भावगुण होता है। ये दोनों गुण अलग-अलग हैं। जैसे, पत्नी, माता और बहन—इन तीनोंका शरीर एक ही है अर्थात् जैसा पत्नीका शरीर है, वैसा ही माता और बहनका शरीर है, अतः तीनोंमें 'वस्तुगुण' एक ही हुआ। परन्तु पत्नीसे मिलनेपर और भाव रहता है, मातासे मिलनेपर और भाव रहता है तथा बहनसे मिलनेपर और ही भाव रहता है; अतः वस्तु एक होनेपर भी 'भावगुण' अलग-अलग हुआ। संसारमें भिन्न-भिन्न स्वभावके व्यक्ति, वस्तु आदि हैं; अतः उनमें वस्तुगुण तो अलग-अलग है, पर सबमें भगवान् परिपूर्ण हैं—यह भावगुण एक ही है। ऐसे ही जिसकी मूर्तिपर श्रद्धा है, उसमें 'मूर्तिमें भगवान् हैं'—ऐसा भावगुण रहता है। परन्तु जिसकी मूर्तिपर श्रद्धा नहीं है, उसमें 'मूर्ति पत्थर, पीतल, चाँदी आदिकी है'—ऐसा वस्तुगुण रहता है। तात्पर्य है कि अगर मूर्तिमें पूजकका भाव भगवान्‌का है तो उसके लिये वह साक्षात् भगवान् ही है। अगर पूजकका भाव पत्थर, पीतल, चाँदी आदिकी मूर्तिका है तो उसके लिये वह साक्षात् पत्थर आदिकी मूर्ति ही है; क्योंकि भावमें ही भगवान् हैं—

न काष्ठे विद्यते देवो न शिलायां न मृत्सु च।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद् भावं समाचरेत्॥

(गरुड० उत्तर० २८।११)

'देवता न तो काठमें रहते हैं, न पत्थरमें और न मिट्टीमें ही रहते हैं। भावमें ही देवताका निवास है, इसलिये भावको ही मुख्य मानना चाहिये।'

एक वैरागी बाबा थे। उनके पास सोनेकी दो मूर्तियाँ थीं—एक गणेशजीकी और एक चूहेकी। दोनों मूर्तियाँ तौलमें बराबर थीं। बाबाको रामेश्वर जाना था। अतः उन्होंने सुनारके पास जाकर कहा कि भैया! इन मूर्तियोंके बदले कितने रुपये दोगे? सुनारने दोनों मूर्तियोंको तौलकर दोनोंके पाँच-पाँच सौ रुपये बताये अर्थात् दोनोंकी बराबर कीमत बतायी। बाबा बोले—अरे! तू देखता नहीं, एक मालिक है और एक उनकी सवारी है। जितना मूल्य मालिक-(गणेशजी-)का, उतना ही मूल्य सवारी-(चूहे-)का—यह कैसे हो सकता है? सुनार बोला—बाबा! मैं गणेशजी और चूहेका मूल्य नहीं लगाता, मैं तो सोनेका मूल्य लगाता हूँ। तात्पर्य है कि बाबाकी दृष्टि गणेशजी और चूहेपर है और सुनारकी दृष्टि सोनेपर है अर्थात् बाबाको भावगुण दीखता है और सुनारको वस्तुगुण दीखता है। ऐसे ही जो मूर्तियोंको तोड़ते हैं, उनको वस्तुगुण ही दीखता है अर्थात् उनको पत्थर, पीतल आदि ही दीखता है। अतः भगवान् उनकी भावनाके अनुसार पत्थर आदिके रूपसे ही बने रहते हैं।

वास्तवमें देखा जाय तो स्थावर-जङ्गम आदि सब कुछ भगवत्स्वरूप ही है। जिनमें भावगुण अर्थात् भगवान्‌की भावना है, उनको सब कुछ भगवत्स्वरूप ही दीखता है; परंतु जिनमें वस्तुगुण अर्थात् संसारकी भावना है, उनको स्थावर-जङ्गम आदि सब कुछ अलग-अलग ही दीखता है। यही बात मूर्तिके विषयमें भी समझ लेनी चाहिये।

लोग श्रद्धाभावसे मूर्तिकी पूजा करते हैं, स्तुति एवं प्रार्थना करते हैं; क्योंकि उनको तो मूर्तिमें विशेषता दीखती है। जो मूर्तिको तोड़ते हैं, उनको भी मूर्तिमें विशेषता दीखती है। अगर विशेषता नहीं दीखती तो वे मूर्तिको ही क्यों तोड़ते हैं? दूसरे पत्थरोंको क्यों नहीं तोड़ते? अतः वे भी मूर्तिमें विशेषता मानते हैं। केवल मूर्तिमें श्रद्धा-विश्वास रखनेवालोंके साथ द्वेष-भाव होनेसे, उनको दुःख देनेके लिये ही वे मूर्तिको तोड़ते हैं।

जो लोग शास्त्र-मर्यादाके अनुसार बने हुए मन्दिरको, उसमें प्राणप्रतिष्ठा करके रखी गयी मूर्तियोंको तोड़ते हैं, वे तो अपना स्वार्थ सिद्ध करने, हिंदुओंकी मर्यादाओंको भङ्ग करने, अपने अहंकार एवं नामको स्थायी करने, भग्नावशेष मूर्तियोंको देखकर पीढ़ियोंतक हिन्दुओंके हृदयमें जलन पैदा करनेके लिये द्वेषभावसे मूर्तियोंको तोड़ते हैं। ऐसे लोगोंकी बड़ी भयानक दुर्गति होती है, वे घोर नरकोंमें जाते हैं; क्योंकि उनकी नीयत ही दूसरोंको दुःख देने, दूसरोंका नाश करनेकी है। खराब नीयतका नतीजा भी खराब ही होता है। परन्तु जो लोग मन्दिरोंकी, मूर्तियोंकी रक्षा करनेके लिये अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं, अपने प्राणोंको लगा देते हैं, उनकी नीयत अच्छी होनेसे उनकी सद्गति ही होती है।

हम किसी विद्वान्‌का आदर करते हैं तो वास्तवमें हमारे द्वारा विद्याका ही आदर हुआ, हाड़-मांसके शरीरका नहीं। ऐसे ही जो मूर्तिमें भगवान्‌को मानता है, उसके द्वारा भगवान्‌का ही आदर हुआ, मूर्तिका नहीं। अतः जो मूर्तिमें भगवान्‌को नहीं मानता, उसके सामने भगवानका प्रभाव प्रकट नहीं होता।

परन्तु जो मूर्तिमें भगवान्‌को मानता है, उसके सामने भगवान्‌का प्रभाव प्रकट हो जाता है।

प्रश्न—हम मूर्तिपूजा क्यों करें ? मूर्तिपूजा करनेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—अपना भगवद्भाव बढ़ानेके लिये, भगवद्भावको जाग्रत् करनेके लिये, भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये मूर्तिपूजा करनी चाहिये। हमारे अन्तःकरणमें सांसारिक पदार्थोंका जो महत्त्व अङ्कित है, उनमें हमारी जो ममता- आसक्ति है, उसको मिटानेके लिये ठाकुरजीका पूजन करना, पुष्पमाला चढ़ाना, अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनाना, आरती उतारना, भोग लगाना आदि बहुत आवश्यक है। तात्पर्य है कि मूर्तिपूजा करनेसे हमें दो तरहसे लाभ होता है—भगवद्भाव जाग्रत् होता है तथा बढ़ता है और सांसारिक वस्तुओंमें ममता-आसक्तिका त्याग होता है।

मनुष्यके जीवनमें कम-से-कम एक जगह ऐसी होनी ही चाहिये, जिसके लिये मनुष्य अपना सब कुछ त्याग कर सके। वह जगह चाहे भगवान् हों, चाहे सन्त-महात्मा हों, चाहे माता-पिता हों, चाहे आचार्य हों। कारण कि इससे मनुष्यकी भौतिक भावना कम होती है और धार्मिक तथा आध्यात्मिक भावना बढ़ती है।

एक बार कुछ तीर्थयात्री काशीकी परिक्रमा कर रहे थे। वहाँका एक पण्डा उन यात्रियोंको मन्दिरोंका परिचय देता, शिवलिङ्गको प्रणाम करवाता और उसका पूजन करवाता। उन यात्रियोंमें कुछ आधुनिक विचारधाराके लड़के थे। उनको जगह-जगह प्रणाम आदि करना अच्छा नहीं लगा; अतः वे पण्डासे बोले—पण्डाजी! जगह-जगह पत्थरोंमें माथा रगड़नेसे क्या लाभ? वहाँ एक सन्त खड़े थे। वे उन लड़कोंसे बोले—भैया! जैसे इस हाड़-मांसके शरीरमें तुम हो, ऐसे ही मूर्तिमें भगवान् हैं। तुम्हारी आयु तो बहुत थोड़े वर्षोंकी है, पर ये शिवलिङ्ग बहुत वर्षोंके हैं; अतः आयुकी दृष्टिसे शिवलिङ्ग तुम्हारेसे बड़े हैं। शुद्धताकी दृष्टिसे देखा जाय तो हाड़-मांस अशुद्ध होते हैं और पत्थर शुद्ध होता है। मजबूतीकी दृष्टिसे देखा जाय तो हड्डीसे पत्थर मजबूत होता है। अगर परीक्षा करनी हो तो अपना सिर मूर्तिसे भिड़ाकर देख लो कि सिर फूटता है या मूर्ति! तुम्हारेमें कई दुर्गुण-दुराचार हैं, पर मूर्तिमें कोई दुर्गुण-दुराचार नहीं है। तात्पर्य है कि मूर्ति सब दृष्टियोंसे श्रेष्ठ है। अतः मूर्ति पूजनीय है। तुमलोग अपने नामकी निन्दासे अपनी निन्दा और नामकी प्रशंसासे अपनी प्रशंसा मानते हो, शरीरके अनादरसे अपना अनादर और शरीरके आदरसे अपना आदर मानते हो तो क्या मूर्तिमें भगवान्‌का पूजन, स्तुति-प्रार्थना आदि करनेसे उसको भगवान् अपना पूजन, स्तुति-प्रार्थना नहीं मानेंगे ? अरे भाई ! लोग तुम्हारे जिस नाम-रूपका आदर करते हैं, वह तुम्हारा स्वरूप नहीं है, फिर भी तुम राजी होते हो। भगवान्‌का स्वरूप तो सर्वत्र व्यापक है; अतः इन मूर्तियोंमें भी भगवान्‌का स्वरूप है। हम इन मूर्तियोंमें भगवान्‌का पूजन करेंगे तो क्या भगवान् प्रसन्न नहीं होंगे ? हम जितने अधिक भावसे भगवान्‌का पूजन करेंगे, भगवान् उतने ही अधिक प्रसन्न होंगे।

जो कोई भी आस्तिक पुरुष होता है, वह भले ही मूर्तिपूजासे परहेज रखे, पर उसके द्वारा मूर्तिपूजा होती ही है। कैसे ? वह वेद आदि ग्रन्थोंको मानता है, उनके अनुसार चलता है तो यह मूर्तिपूजा ही है; क्योंकि वेद भी तो (लिखी हुई पुस्तक होनेसे) मूर्ति ही है। वेद आदिका आदर करना मूर्तिपूजा ही है। ऐसे ही मनुष्य गुरुका, माता-पिताका, अतिथिका आदर-सत्कार करता है, अन्न-जल-वस्त्र आदिसे उनकी सेवा करता है तो यह सब मूर्तिपूजा ही है। कारण कि गुरु, माता-पिता आदिके शरीर तो जड हैं, पर शरीरका आदर करनेसे उनका भी आदर होता है, जिससे वे प्रसन्न होते हैं। तात्पर्य है कि मनुष्य कहीं भी, जिस-किसीका, जिस-किसी रूपसे आदर-सत्कार करता है, वह सब मूर्तिपूजा ही है। अगर मनुष्य भावसे मूर्तिमें भगवान्‌का पूजन करता है तो वह भगवान्‌का ही पूजन होता है।

एक वैरागी बाबा थे। वे एक छातेके नीचे रहते थे और वहीं शालग्रामका पूजन किया करते थे। जो लोग मूर्तिपूजाको नहीं मानते थे, उनको बाबाजीकी यह क्रिया (मूर्तिपूजा) बुरी लगती थी। उन दिनों वहाँ हुक साहब नामक एक अंग्रेज अफसर आया हुआ था। उस अफसरके सामने उन लोगोंने बाबाजीकी शिकायत कर दी कि यह मूर्तिकी पूजा करके सर्वव्यापक परमात्माका तिरस्कार करता है आदि-आदि। हुक साहबने कुपित होकर बाबाजीको बुलाया और उनको वहाँसे चले जानेका हुक्म दे दिया। दूसरे दिन बाबाजीने हुक साहबका एक पुतला बनाया और उसको लेकर वे शहरमें घूमने लगे। वे लोगोंको दिखा-दिखाकर उस पुतलेको जूता मारते और कहते कि यह हुक साहब बिलकुल बेअक्ल है, इसमें कुछ भी समझ नहीं है आदि-आदि। लोगोंने पुनः हुक साहबसे शिकायत कर दी कि यह बाबा आपका तिरस्कार करता है, आपका पुतला बनाकर उसको जूता मारता है। हुक साहबने बाबाजीको बुलाकर पूछा कि तुम मेरा अपमान क्यों करते हो ? बाबाजीने कहा कि मैं आपका बिल्कुल अपमान नहीं करता मैं तो आपके इस पुतलेका अपमान करता हूँ;

क्योंकि यह बड़ा ही मूर्ख है। ऐसा कहकर बाबाजीने पुतलेको जूता मारा। हुक साहब बोले कि मेरे पुतलेका अपमान करना मेरा ही अपमान करना है। बाबाजीने कहा कि आप इस पुतलेमें अर्थात् मूर्तिमें हैं ही नहीं, फिर भी केवल नाममात्रसे आपपर इतना असर पड़ता है। हमारे भगवान् तो सब देश, काल, वस्तु आदिमें हैं; अतः जो श्रद्धापूर्वक मूर्तिमें भगवान्‌का पूजन करता है, उससे क्या भगवान् प्रसन्न नहीं होंगे? मैं मूर्तिमें भगवान्‌का पूजन करता हूँ तो यह भगवान्‌का आदर हुआ या निरादर? हुक साहब बोले कि जाओ, अब तुम स्वतन्त्रतापूर्वक मूर्तिपूजा कर सकते हो। बाबाजी अपने स्थानपर चले गये।

प्रश्न—कुछ लोग मन्दिरमें अथवा मन्दिरके पास बैठकर मांस, मदिरा आदि निषिद्ध पदार्थोंका सेवन करते हैं, फिर भी भगवान् उनको क्यों नहीं रोकते?

उत्तर—माँ-बापके सामने बच्चे उद्दण्डता करते हैं तो माँ-बाप उनको दण्ड नहीं देते; क्योंकि वे यही समझते हैं कि अपने ही बच्चे हैं, अनजान हैं, समझते नहीं हैं। इसी तरह भगवान् भी यही समझते हैं कि ये अपने ही अनजान बच्चे हैं; अतः भगवान्‌की दृष्टि उनके आचरणोंकी तरफ जाती ही नहीं। परन्तु जो लोग मन्दिरमें निषिद्ध पदार्थोंका सेवन करते हैं, निषिद्ध आचरण करते हैं, उनको इस अपराधका दण्ड अवश्य ही भोगना पड़ेगा।

प्रश्न—पहले कबीरजी आदि कुछ सन्तोंने मूर्तिपूजाका खण्डन क्यों किया?

उत्तर—जिस समय जैसी आवश्यकता होती है, उस समय सन्त-महापुरुष प्रकट होकर वैसा ही कार्य करते हैं। जैसे, पहले जब शैवों और वैष्णवोंमें बहुत झगड़ा होने लगा, तब तुलसीदासजी महाराजने रामचरितमानसकी रचना की, जिससे दोनोंका झगड़ा मिट गया। गीतापर बहुत-सी टीकाएँ लिखी गयी हैं; क्योंकि समय-समयपर जैसी आवश्यकता पड़ी, महापुरुषोंके हृदयमें वैसी ही प्रेरणा हुई और उन्होंने गीतापर वैसी ही टीका लिखी। जिस समय बौद्धमत बहुत बढ़ गया था, उस समय शंकराचार्यजीने प्रकट होकर सनातन-धर्मका प्रचार किया। ऐसे ही जब मुसलमानोंका राज्य था, तब वे मन्दिरोंको तोड़ते थे और मूर्तियोंको खण्डित करते थे। अतः उस समय कबीरजी आदि सन्तोंने कहा कि हमें मन्दिरोंकी, मूर्तिपूजाकी जरूरत नहीं है; क्योंकि हमारे परमात्मा केवल मन्दिरमें या मूर्तिमें ही नहीं हैं, प्रत्युत सब जगह व्यापक हैं। वास्तवमें उन सन्तोंका मूर्तिपूजाका खण्डन करनेमें तात्पर्य नहीं था, प्रत्युत लोगोंको किसी तरह परमात्मामें लगानेमें ही तात्पर्य था।

प्रश्न—अभी तो वैसा समय नहीं है, मुसलमान मन्दिरोंको, मूर्तियोंको नहीं तोड़ रहे हैं, फिर भी उन सन्तोंके सम्प्रदायमें चलनेवाले मूर्तिपूजाका, साकार भगवान्‌का खण्डन क्यों करते हैं?

उत्तर—किसीका खण्डन करना अपने मतका आग्रह है; क्योंकि दूसरोंके मतका खण्डन करनेवाले अपने मतका प्रचार करना चाहते हैं, अपनी प्रतिष्ठा चाहते हैं। अभी जो मन्दिरोंका, मूर्तिपूजाका, दूसरोंके मतका खण्डन करते हैं, वे मतवादी वस्तुतः परमात्मतत्त्वको नहीं चाहते, अपना उद्धार नहीं चाहते, प्रत्युत अपनी व्यक्तिगत पूजा चाहते हैं, अपनी टोली बनाना चाहते हैं, अपने सम्प्रदायका प्रचार चाहते हैं। ऐसे मतवादियोंको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। जो अपने मतका आग्रह रखते हैं, वे मतवाले होते हैं और मतवालोंकी बात मान्य (माननेयोग्य) नहीं होती—

बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥

(मानस १। ११५। ७)

ऐसे मतवाले लोग तत्त्वको नहीं जान सकते—

हरीया रत्ता तत्तका, मतका रत्ता नांहि।
मत का रत्ता से फिरै, तांह तत्त पाया नांहि॥
हरीया तत्त विचारियै, क्या मत सेती काम।
तत्त बसाया अमरपुर, मत का जमपुर धाम॥

निराकारको माननेवाले साकार मूर्तिका खण्डन करते हैं तो वे वास्तवमें अपने इष्ट निराकारको ही छोटा बनाते हैं; क्योंकि उनकी धारणासे ही यह सिद्ध होता है कि साकारकी जगह उनका निराकार नहीं है अर्थात् उनका निराकार एकदेशीय है! अगर वे साकार मूर्तिमें भी अपने निराकारको मानते तो फिर वे साकारका खण्डन ही क्यों करते? दूसरी बात, निराकारकी उपासना करनेवाले 'परमात्मा साकार नहीं हैं, उनका अवतार भी नहीं होता, उनकी मूर्ति भी नहीं होती'—ऐसा मानते हैं; अतः उनका सर्वसमर्थ परमात्मा अवतार लेनेमें, साकार बननेमें असमर्थ (कमजोर) हुआ अर्थात् उनका परमात्मा सर्वसमर्थ नहीं रहा। वास्तवमें परमात्मा ऐसे नहीं हैं। वे साकार-निराकार आदि सब कुछ हैं— **'सदसच्चाहम्'** (गीता ९। १९)। अतः विचार करना चाहिये कि हमें अपना कल्याण करना है या साकार-निराकारको लेकर झगड़ा करना है? अगर हम अपनी रुचिके अनुसार साकारकी अथवा निराकारकी उपासना करें तो हमारा कल्याण हो जाय—

तेरे भावैं जो करौ, भलौ बुरौ संसार।
'नारायन' तू बैठिके, आपनौ भुवन बुहार॥

अगर झगड़ा ही करना हो तो संसारमें झगड़ा करनेके बहुत-से स्थान हैं। धन, जमीन, मकान आदिको लेकर लोग झगड़ा करते ही हैं। परन्तु पारमार्थिक मार्गमें आकर झगड़ा क्यों छेड़ें ? अगर हम साकार या निराकारकी उपासना करते हैं तो हमें दूसरोंके मतका खण्डन करनेके लिये समय कैसे मिला ? दूसरोंका खण्डन करनेमें हमने जितना समय लगा दिया, उतना समय अगर अपने इष्टकी उपासना करनेमें लगाते तो हमें बहुत लाभ होता।

दूसरोंका खण्डन करनेसे हमारी हानि यह हुई कि हमने अपने इष्टका खण्डन करनेके लिये दूसरोंको निमन्त्रण दे दिया ! जैसे, हमने निराकारका खण्डन किया तो हमने अपने इष्ट-(साकार-)का खण्डन करनेके लिये दूसरोंको निमन्त्रण दिया, अवकाश दिया कि अब तुम हमारे इष्टका खण्डन करो। अतः इस खण्डनसे न तो हमारेको कुछ लाभ हुआ और न दूसरोंको ही कुछ लाभ हुआ। दूसरी बात, दूसरोंका खण्डन करनेसे कल्याण होता है—यह उपाय किसीने भी नहीं लिखा। जिन लोगोंने दूसरोंका खण्डन किया है, उन्होंने भी यह नहीं कहा कि दूसरोंका खण्डन करनेसे तुम्हारा भला होगा, कल्याण होगा। अगर हम किसीके मतका, इष्टका खण्डन करेंगे तो इससे हमारा अन्तःकरण मैला होगा, खण्डनके अनुसार ही द्वेषकी वृत्तियाँ बनेंगी, जिससे हमारी उपासनामें बाधा लगेगी और हम अपने इष्टसे विमुख हो जायँगे। अतः मनुष्यको किसीके मतका, किसीके इष्टका खण्डन नहीं करना चाहिये, किसीको नीचा नहीं समझना चाहिये, किसीका अपमान-तिरस्कार नहीं करना चाहिये; क्योंकि सभी अपनी-अपनी रुचिके अनुसार, भाव और श्रद्धा-विश्वाससे अपने इष्टकी उपासना करते हैं। परमात्मा साधकके भावसे, प्रेमसे, श्रद्धा-विश्वाससे ही मिलते हैं। अतः अपने मतपर, इष्टपर श्रद्धा-विश्वास करके उस मतके अनुसार तत्परतासे साधनमें लग जाना चाहिये। यही परमात्माको प्राप्त करनेका मार्ग है। दूसरोंका खण्डन करना, तिरस्कार करना परमात्म-प्राप्तिका साधन नहीं है, प्रत्युत पतनका साधन है।

जिन सन्तोंने मूर्तिपूजाका खण्डन किया है, उन्होंने (मूर्तिपूजाके स्थानपर) नाम-जप, सत्सङ्ग, गुरुवाणी, भगवच्चिन्तन, ध्यान आदिपर विशेष जोर दिया है। अतः जिन लोगोंने मूर्तिपूजाका तो त्याग कर दिया, पर जो अपने मतके अनुसार नाम-जप आदिमें तत्परतासे नहीं लगे, वे तो दोनों तरफसे रीते ही रह गये ! उनसे तो मूर्तिपूजा करनेवाले ही श्रेष्ठ हुए, जो अपने मतके अनुसार साधन तो करते हैं।

इसपर कोई यह कहे कि हमारा दूसरोंका खण्डन करनेमें तात्पर्य नहीं है, हम तो अपनी उपासनाको दृढ़ करते हैं, अपना अनन्यभाव बनाते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि दूसरोंका खण्डन करनेसे अनन्यभाव नहीं बनता। अनन्यभाव तो यह है कि हमारे इष्टके सिवाय दूसरा कोई तत्त्व है ही नहीं। हमारे प्रभु सगुण भी हैं और निर्गुण भी। सब हमारे प्रभुके ही रूप हैं। दूसरे लोग हमारे प्रभुका चाहे दूसरा नाम रख दें, पर हैं हमारे प्रभु ही। हमारे प्रभुकी अनेक रूपोंमें तरह-तरहसे उपासना होती है। अतः जो निर्गुणको मानते हैं, वे हमारे सगुण प्रभुकी महिमा बढ़ा रहे हैं; क्योंकि हमारा सगुण ही तो वहाँ निर्गुण है। इसलिये निर्गुणकी उपासना करनेवाले हमारे आदरणीय हैं। ऐसा करनेसे ही अनन्यभाव होगा। किसीका खण्डन करना अनन्यभाव बननेका साधन नहीं है। जो मनुष्य श्रद्धा-विश्वासपूर्वक, सीधे-सरल भावसे अपने इष्टकी उपासनामें लगे हुए हैं, उनके इष्टका, उनकी उपासनाका खण्डन करनेसे उनके हृदयमें ठेस पहुँचेगी, उनको दुःख होगा तो खण्डन करनेवालेको बड़ा भारी पाप लगेगा, जिससे उसकी उपासना सिद्ध नहीं होगी।

अनन्यताके नामपर दूसरोंका खण्डन करना अच्छाईके चोलेमें बुराई है। बुराईके रूपमें बुराई आ जाय तो उससे भला आदमी बच सकता है, पर जब अच्छाईके रूपमें बुराई आ जाय तो उससे बचना बड़ा कठिन होता है। जैसे, सीताजीके सामने रावण और हनुमान्‌जीके सामने कालनेमि साधुवेशमें आ गये तो सीताजी और हनुमान्‌जी भी धोखेमें आ गये। अर्जुनने भी हिंसाके बहाने अपने कर्तव्यसे च्युत होनेकी बात पकड़ ली कि दुर्योधनादि धर्मको नहीं जानते, उनपर लोभ सवार हुआ है, पर मैं धर्मको जानता हूँ, मेरेमें लोभ नहीं है, मैं अहिंसक हूँ आदि। इस प्रकार अर्जुनमें भी अच्छाईके चोलेमें बुराई आ गयी। उस बुराईको दूर करनेमें भगवान्‌को बड़ा जोर पड़ा, लम्बा उपदेश देना पड़ा। अगर अर्जुनमें बुराईके रूपमें ही बुराई आती तो उसको दूर करनेमें देरी नहीं लगती। ऐसे ही अनन्यभावके रूपमें खण्डनरूपी बुराई आयी और हमने अपना अमूल्य समय, सामर्थ्य, समझ आदिको दूसरोंका खण्डन करनेमें लगा दिया तो इससे हमारा ही पतन हुआ ! अतः साधकको चाहिये कि वह बड़ी सावधानीके साथ अपने समय, योग्यता, सामर्थ्य आदिको अपने इष्टकी उपासनामें ही लगाये।

प्रश्न—भगवान्‌की स्वयंभू मूर्ति कैसे बनती है ?

उत्तर—स्वयंभू मूर्ति बनती हो, तभी यह प्रश्न उठ सकता है कि स्वयंभू मूर्ति कैसे बनती है ! स्वयंभू मूर्ति बनती ही नहीं। वह स्वयं प्रकट होती है, तभी उसका नाम स्वयंभू है,

नहीं तो वह स्वयंभू कैसे ?

प्रश्न—अमुक मूर्ति स्वयंभू है अथवा किसीके द्वारा बनायी हुई है—इसकी क्या पहचान ?

उत्तर—इसकी पहचान हरेक आदमी नहीं कर सकता। जैसे किसी आदमीने किसी व्यक्तिको पहले देखा है और वह व्यक्ति फिर मिल जाय तो वह उसको पहचान लेता है, ऐसे ही जिसने भगवान्‌के साक्षात् दर्शन किये हुए हैं, वही स्वयंभू मूर्तिकी पहचान कर सकता है।

प्रश्न—स्वयंभू मूर्ति और बनायी हुई मूर्तिके दर्शन, पूजन आदिकी क्या महिमा है ?

उत्तर—श्रद्धा-विश्वास हो तो ऋषियोंका दर्भमें और गणेशजीका सुपारीमें पूजन करनेसे भी लाभ होता है! ऐसे ही श्रद्धा-विश्वास हो, भगवद्भाव हो तो बनायी हुई मूर्तिके पूजन, दर्शन आदिसे भी लाभ होता है। परन्तु स्वयंभू मूर्तिमें श्रद्धा-विश्वास होनेसे विशेष और शीघ्र लाभ होता है, जैसे—किसी सन्तकी लिखी पुस्तकको पढ़नेकी अपेक्षा उस सन्तके मुखसे साक्षात् सुननेसे अधिक लाभ होता है। संजयने भी गीताग्रन्थके विषयमें कहा है कि मैंने इसको साक्षात् भगवान्‌के कहते-कहते सुना है (१८। ७५)।

प्रश्न—संसारके साथ जैसा सुगमतासे, सरलतासे अनायास सम्बन्ध हो जाता है, वैसा भगवान्‌के साथ सम्बन्ध नहीं होता, इसमें क्या कारण है ?

उत्तर—इसका कारण यह है कि मनुष्य अपनेको शरीर मानता है। अपनेको शरीर माननेसे उसका संसारके साथ सुगमतापूर्वक सम्बन्ध हो जाता है; क्योंकि शरीरकी संसारसे एकता है। जिससे एकता (सजातीयता) होती है, उसके साथ अनायास सम्बन्ध जुड़ जाता है। जैसे, जो अपनेको ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि मानता है, उसका ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिके साथ और जो अपनेको विद्वान्, व्यापारी आदि मानता है, उसका विद्वान्, व्यापारी आदिके साथ सुगमतापूर्वक सम्बन्ध जुड़ जाता है—'**समानशीलव्यसनेषु सख्यम्।**' भगवान् तो प्रत्यक्ष दीखते नहीं और स्वयं अपनेको मूर्ति (शरीर) मानता है, तो उसके लिये मूर्तिमें भगवान्‌का भाव करना ही सुगम है। अतः जबतक शरीरमें मैं-मेरापन है, तबतक मनुष्यको मूर्ति-पूजा जरूर करनी चाहिये। भगवत्प्राप्ति होनेके बाद भी मूर्तिपूजाको नहीं छोड़ना चाहिये; क्योंकि जिस साधनसे लाभ हुआ है, उसके प्रति कृतज्ञ बने रहना चाहिये, उसका त्याग नहीं करना चाहिये।

═══ ★ ═══

शरणागति

शरणागत भक्त 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं' इस भावको दृढ़तासे पकड़ लेता है, स्वीकार कर लेता है तो उसकी चिन्ता, भय, शोक, शंका आदि दोषोंकी जड़ कट जाती है अर्थात् दोषोंका आधार कट जाता है। कारण कि भक्तिकी दृष्टिसे सभी दोष भगवान्‌की विमुखतापर ही टिके रहते हैं।

भगवान्‌के सम्मुख होनेपर भी संसार और शरीरके आश्रयके संस्कार रहते हैं, जो भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढ़ता होनेपर मिट जाते हैं*। उनके मिटनेपर सब दोष भी मिट जाते हैं।

सम्बन्धका दृढ़ होना क्या है? चिन्ता, भय, शोक, शङ्का, परीक्षा और विपरीत भावनाका न होना ही सम्बन्धका दृढ़ होना है। अब इनपर विचार करें।

(१) **निश्चिन्त होना**—जब भक्त अपनी मानी हुई वस्तुओंसहित अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देता है, तब उसको लौकिक-पारलौकिक किञ्चिन्मात्र भी चिन्ता नहीं होती अर्थात् अभी जीवन-निर्वाह कैसे होगा? कहाँ रहना होगा? मेरी क्या दशा होगी? क्या गति होगी? आदि चिन्ताएँ बिलकुल नहीं रहतीं।†

भगवान्‌के शरण होनेपर शरणागत भक्तमें यह एक बात आती है कि 'अगर मेरा जीवन प्रभुके लायक सुन्दर और शुद्ध नहीं बना तो भक्तोंकी बात मेरे आचरणमें कहाँ आयी? अर्थात् नहीं आयी; क्योंकि मेरी वृत्तियाँ ठीक नहीं रहतीं।' वास्तवमें 'मेरी वृत्तियाँ हैं' ऐसा मानना ही दोष है, वृत्तियाँ उतनी दोषी नहीं हैं। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिमें जो मेरापन है—यही गलती है; क्योंकि जब मैं भगवान्‌के शरण हो गया और जब सब कुछ उनके समर्पित कर दिया तो मन, बुद्धि आदि मेरे कहाँ रहे? इस वास्ते शरणागतको मन, बुद्धि आदिकी अशुद्धिकी चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिये अर्थात् मेरी वृत्तियाँ ठीक नहीं हैं—ऐसा भाव कभी नहीं लाना चाहिये। किसी

---

* भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढ़ता होनेपर जब संसार-शरीरका आश्रय सर्वथा नहीं रहता, तब जीनेकी आशा, मरनेका भय, करनेका राग और पानेकी लालच—ये चारों ही नहीं रहते।

† चिन्ता दीनदयालको, मो मन सदा अनन्द। जायो सो प्रतिपालसी, रामदास गोबिन्द॥

कारणवश अचानक ऐसी वृत्तियाँ आ भी जायँ तो आर्तभावसे 'हे मेरे नाथ! हे मेरे प्रभो! बचाओ! बचाओ!! बचाओ!!!' ऐसे प्रभुको पुकारना चाहिये; क्योंकि वे मेरे अपने स्वामी हैं, मेरे सर्वसमर्थ प्रभु हैं तो अब मैं चिन्ता क्यों करूँ? और भगवान्‌ने भी कह दिया है कि 'तू' चिन्ता मत कर' (**मा शुचः**)। इस वास्ते मैं निश्चिन्त हूँ—ऐसा कहकर मनसे भगवान्‌के चरणोंमें गिर जाओ और निश्चिन्त होकर भगवान्‌से कह दो—'हे नाथ! यह सब आपके हाथकी बात है, आप जानो।'

सर्वसमर्थ प्रभुके शरण भी हो गये और चिन्ता भी करें—ये दोनों बातें बड़ी विरोधी हैं; क्योंकि शरण हो गये तो चिन्ता कैसी? और चिन्ता होती है तो शरणागति कैसी? इस वास्ते शरणागतको ऐसा सोचना चाहिये कि जब भगवान् यह कहते हैं कि मैं सम्पूर्ण पापोंसे छुड़ा दूँगा तो क्या ऐसी वृत्तियोंसे छूटनेके लिये मेरेको कुछ करना पड़ेगा? 'मैं तो बस, आपका हूँ। हे भगवन्! मेरेमें वृत्तियोंको अपना माननेका भाव कभी आये ही नहीं। हे नाथ! शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि—ये कभी मेरे दीखें ही नहीं। परंतु हे नाथ! सब कुछ आपको देनेपर भी ये शरीर आदि कभी-कभी मेरे दीख जाते हैं; अब इस अपराधसे मेरेको आप ही छुड़ाइये'—ऐसा कहकर निश्चिन्त हो जाओ।

(२) निर्भय होना—आचरणोंकी कमी होनेसे भीतरसे भय पैदा होता है और साँप, बिच्छू, बाघ आदिसे बाहरसे भय पैदा होता है। शरणागत भक्तके ये दोनों ही प्रकारके भय मिट जाते हैं। इतना ही नहीं, पतञ्जलि महाराजने जिस मृत्युके भयको पाँचवाँ क्लेश माना है * और जो बड़े-बड़े विद्वानोंको भी होता है †, वह भय भी सर्वथा मिट जाता है ‡।

अब मेरी वृत्तियाँ खराब हो जायँगी—ऐसा भयका भाव भी साधकको भीतरसे ही निकाल देना चाहिये; क्योंकि 'मैं भगवान्‌की कृपामें तरान्तर हो गया हूँ, अब मेरेको किसी बातका भय नहीं है। इन वृत्तियोंको मेरी माननेसे ही मैं इनको शुद्ध नहीं कर सका; क्योंकि इनको मेरी मानना ही मलिनता है—*'ममता मल जरि जाइ'* (मानस ७। ११७ क)। इस वास्ते अब मैं कभी भी इनको मेरी नहीं मानूँगा। जब वृत्तियाँ मेरी हैं ही नहीं तो मेरेको भय किस बातका? अब तो केवल भगवान्‌की कृपा-ही-कृपा है! भगवान्‌की कृपा ही सर्वत्र परिपूर्ण हो रही है! यह बड़ी खुशीकी, बड़ी प्रसन्नताकी बात है।'

लोग ऐसी शङ्का करते हैं कि भगवान्‌के शरण होकर उनका भजन करनेसे तो द्वैत हो जायगा अर्थात् भगवान् और भक्त—ये दो हो जायँगे और दूसरेसे भय होता है—**'द्वितीयाद्वै भयं भवति'**! पर यह शङ्का निराधार है। भय द्वितीयसे तो होता है, पर आत्मीयसे भय नहीं होता अर्थात् भय दूसरेसे होता है, अपनेसे नहीं। प्रकृति और प्रकृतिका कार्य शरीर-संसार द्वितीय है, इस वास्ते इनसे सम्बन्ध रखनेपर ही भय होता है; क्योंकि इनके साथ सदा सम्बन्ध रह ही नहीं सकता। कारण यह है कि प्रकृति और पुरुषका स्वभाव सर्वथा भिन्न-भिन्न है; जैसे एक जड है और एक चेतन; एक विकारी है और एक निर्विकार; एक परिवर्तनशील है और एक अपरिवर्तनशील; एक प्रकाश्य है और एक प्रकाशक इत्यादि।

भगवान् द्वितीय नहीं हैं। वे तो आत्मीय हैं; क्योंकि जीव उनका सनातन अंश है, उनका स्वरूप है। इस वास्ते भगवान्‌के शरण होनेपर उनसे भय कैसे हो सकता है? प्रत्युत उनके शरण होनेपर मनुष्य सदाके लिये अभय हो जाता है। स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो बच्चेको माँसे दूर रहनेपर तो भय होता है, पर माँकी गोदीमें चले जानेपर उसका भय मिट जाता है; क्योंकि माँ उसकी अपनी है। भगवान्‌का भक्त इससे भी विलक्षण होता है। कारण कि बच्चे और माँमें तो भेदभाव दीखता है, पर भक्त और भगवान्‌में भेदभाव सम्भव ही नहीं है।

(३) निःशोक होना—जो बात बीत चुकी है, उसको लेकर शोक होता है। बीती हुई बातको लेकर शोक करना बड़ी भारी भूल है; क्योंकि जो हुआ है, वह अवश्यम्भावी था और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी हो ही नहीं सकता तथा

---

* अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। (योगदर्शन २। ३)

† स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। (योगदर्शन २। ९)

‡ तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः। त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥ (श्रीमद्भा० १०। २। ३३)

'भगवन्! जो आपके भक्त हैं, जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी ज्ञानाभिमानियोंकी तरह अपने साधनसे गिरते नहीं। प्रभो! वे बड़े-बड़े विघ्न डालनेवाली सेनाके सरदारोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय होकर विचरते हैं, कोई भी विघ्न उनके मार्गमें रुकावट नहीं डाल सकते।'

अभी जो हो रहा है, वह ठीक-ठीक (वास्तविक) होनेवाला ही हो रहा है, फिर उसमें शोक करनेकी कोई बात ही नहीं है* । प्रभुके इस मङ्गलमय विधानको जानकर शरणागत भक्त सदा निःशोक रहता है; शोक उसके पास कभी आता ही नहीं।

(४) निःशङ्क होना—भगवान्‌के सम्बन्धमें कभी यह सन्देह न करें कि मैं भगवान्‌का हुआ या नहीं ? भगवान्‌ने मुझे स्वीकार किया या नहीं ? प्रत्युत इस बातको देखें कि 'मैं तो अनादिकालसे भगवान्‌का ही था, भगवान्‌का ही हूँ और आगे भी सदा भगवान्‌का ही रहूँगा। मैंने ही अपनी मूर्खतासे अपनेको भगवान्‌से अलग—विमुख मान लिया था। परंतु मैं अपनेको भगवान्‌से कितना ही अलग मान लूँ तो भी उनसे अलग हो सकता ही नहीं और होना सम्भव भी नहीं। अगर मैं भगवान्‌से अलग होना भी चाहूँ तो भी अलग कैसे हो सकता हूँ ? क्योंकि भगवान्‌ने कहा है कि यह जीव मेरा ही अंश है—**'मम एव अंशः'** (गीता १५।७) ।' इस प्रकार 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस वास्तविकताकी स्मृति आते ही शङ्काएँ-सन्देह मिट जाते हैं; शङ्काओं-सन्देहोंके लिये किञ्चिन्मात्र भी गुंजाइश नहीं रहती।

(५) परीक्षा न करना—भगवान्‌के शरण होकर ऐसी परीक्षा न करें कि 'जब मैं भगवान्‌के शरण हो गया हूँ तो मेरेमें ऐसे-ऐसे लक्षण घटने चाहिये। यदि ऐसे-ऐसे लक्षण मेरेमें नहीं हैं तो मैं भगवान्‌के शरण कहाँ हुआ ? प्रत्युत **'अद्वेष्टा'** आदि (गीता १२।१३—१९) गुणोंकी अपनेमें कमी दीखे तो आश्चर्य करे कि मेरेमें यह कमी कैसे रह गयी ! † ऐसा भाव आते ही यह कमी नहीं रहेगी, कमी मिट जायगी। कारण कि यह उसका प्रत्यक्ष अनुभव है कि पहले अद्वेष्टा आदि गुण जितने कम थे, उतने कम अब नहीं हैं। शरणागत होनेपर भक्तोंके जितने भी लक्षण हैं, वे बिना प्रयत्न किये ही आते हैं।

(६) विपरीत धारणा न करना—भगवान्‌के शरणागत भक्तमें यह विपरीत धारणा भी कैसे हो सकती है कि 'मैं भगवान्‌का नहीं हूँ'; क्योंकि यह मेरे मानने अथवा न माननेपर निर्भर नहीं है। भगवान्‌का और मेरा परस्पर जो सम्बन्ध है, वह अटूट है, अखण्ड है, नित्य है, मैंने इस सम्बन्धकी तरफ खयाल नहीं किया, यह मेरी गलती थी। अब वह गलती मिट गयी तो फिर विपरीत धारणा हो ही कैसे सकती है ?

जो मनुष्य सच्चे हृदयसे प्रभुकी शरणागतिको स्वीकार कर लेता है, उसमें चिन्ता, भय, शोक आदि दोष नहीं रहते। उसका शरण-भाव स्वतः ही दृढ़ होता चला जाता है, वैसे ही, जैसे विवाह होनेके बाद कन्याका अपने पिताके घरसे सम्बन्ध-विच्छेद और पतिके घरसे सम्बन्ध स्वतः ही दृढ़ होता चला

---

* राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥ (मानस १।१२८।१)
होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥ (मानस १।५२।४)

† इसे समझनेके लिये एक ग्रामीण कहानी है। एक माँके तीन लड़के थे। दो लड़के बड़े थे और काम-धंधा करते थे। तीसरा लड़का सीधा-सादा और भोला था। उनकी माँ मर गयी। तो दोनों बड़े भाइयोंने छोटे भाईसे कहा कि माँके फूल गङ्गाजीमें डाल दे, इतना काम तू कर दे। उसने कहा—बहुत ठीक है। वह माँके फूल लेकर अपने घरसे चला। घरसे गङ्गाजी ३०० कोस दूर थीं। पैदल रास्ता चलते-चलते वह थक गया तो किसीसे पूछा—भैया ! गङ्गाजी कितनी दूर हैं ? वह बोला—तुम तो १५० कोस आये हो, अभी १५० कोस गङ्गाजी और अगाड़ी हैं। उसने सोचा कि गङ्गाजी कब पहुँचूँगा और फिर लौटकर कब आऊँगा ! ऐसे दुःखी हो करके उसने वे हड्डियाँ जंगलमें ही फेंक दीं और गाँवके पाससे वर्षाका मीठा जल बर्तनमें भर लिया; क्योंकि गङ्गाजी जाते हैं तो लौटते वक्त गङ्गाजल लाते हैं। फिर वह वहाँसे पीछे चला आया और अपने गाँव पहुँच गया। बड़े भाई सोचने लगे कि अगर यह गङ्गाजी जाकर आता तो इतने दिनोंमें नहीं आ सकता था, यह गङ्गाजी गया ही नहीं। बड़े भाइयोंने उससे पूछा—तू गङ्गाजी जाकर आया है क्या ? उसने कहा—हाँ, गङ्गाजी जाकर आया हूँ; ठेठ गङ्गाजीके ब्रह्मकुण्डमें फूल डालकर वहाँसे गङ्गाजीका यह जल लाया हूँ। ऐसे वह झूठ बोल गया। भाइयोंने समझ लिया कि यह ठीक नहीं बोल रहा है, इस वास्ते वे चुप हो गये।

दूसरे दिन नींदसे उठकर एक भाई छोटे भाईसे बोला—अरे भाई ! तू सच्ची बात बता दे, क्या तू ठेठ गङ्गाजी हो आया और फूल ठेठ गङ्गाजीमें डाल दिये। उसने कहा—हाँ, बिलकुल गङ्गाजी जाकर आया हूँ। बड़े भाईने कहा—देख, रातको स्वप्नमें मेरेको माँ मिली थी और माँने मेरेसे कहा कि इसने तो मेरेको ठेठ गङ्गाजी पहुँचाया ही नहीं, बीचमें ही डालकर आ गया। तो अब तू ही बता कि माँकी बात सच्ची या तेरी बात सच्ची ? छोटा भाई बोला—माँ इधर ही क्यों आयी, उधर क्यों नहीं गयी ? अर्थात् १५० कोस तो मैंने पहुँचा ही दिया था, यहाँ न आकर उधर ही चली जाती तो ठेठ गङ्गाजी पहुँच जाती !

इस कहानीका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌के शरण होनेके बाद यह कसौटी कसते हैं, परीक्षा करते हैं कि 'भक्तोंके, सन्तोंके लक्षण मेरेमें नहीं आये तो मैं भगवान्‌के शरण नहीं हुआ'—यह माँ उलटी क्यों आयी, सुलटी ही क्यों नहीं गयी कि 'जब मैं भगवान्‌के शरण हो गया तो अब इन लक्षणोंकी कमी क्यों रह गयी ? मेरेमें ये लक्षण क्यों नहीं आये ?' ऐसी मान्यतासे तो आप शरणागत हो जाओगे और पूर्णता भी हो जायगी। परंतु यह मान्यता करोगे कि 'मेरेमें ऐसे लक्षण नहीं आये तो मैं शरण नहीं हुआ' तो धोखा हो जायगा !

जाता है। वह सम्बन्ध यहाँतक दृढ़ हो जाता है कि जब वह कन्या दादी-परदादी बन जाती है, तब उसके स्वप्नमें भी यह भाव नहीं आता कि मैं यहाँकी नहीं हूँ। उसके मनमें यह भाव दृढ़ हो जाता है कि मैं तो यहाँकी ही हूँ और ये सब हमारे ही हैं। जब उसके पौत्रकी स्त्री आती है और घरमें उद्दण्डता करती है, खटपट मचाती है तो वह (दादी) कहती है कि इस परायी जायी छोकरीने मेरा घर बिगाड़ दिया, पर उस बूढ़ी दादीको यह बात याद ही नहीं आती कि मैं भी तो परायी जायी (पराये घरमें जन्मी) हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि जब बनावटी सम्बन्धमें भी इतनी दृढ़ता हो सकती है, तब भगवान्‌के ही अंश इस प्राणीका भगवान्‌के साथ जो नित्य सम्बन्ध है, वह दृढ़ हो जाय तो क्या आश्चर्य है! वास्तवमें भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढ़ताके लिये केवल संसारके माने हुए सम्बन्धोंका त्याग करनेकी ही आवश्यकता है।

सच्चे हृदयसे प्रभुके चरणोंकी शरण होनेपर उस शरणागत भक्तमें यदि किसी भाव, आचरण आदिकी किञ्चित् कमी रह जाय, वक्तपर विपरीत वृत्ति पैदा हो जाय अथवा किसी परिस्थितिमें पड़कर परवशतासे कभी किञ्चित् कोई दुष्कर्म हो जाय तो उसके हृदयमें जलन पैदा हो जायगी। इस वास्ते उसके लिये अन्य कोई प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् कृपा करके उसके उस पापको सर्वथा नष्ट कर देते हैं*।

भगवान् भक्तके अपनेपनको ही देखते हैं, गुणों और अवगुणोंको नहीं†। अर्थात् भगवान्‌को भक्तके दोष दीखते ही नहीं, उनको तो केवल भक्तके साथ जो अपनापन है, वही दीखता है। कारण कि स्वरूपसे भक्त सदासे ही भगवान्‌का है। दोष आगन्तुक होनेसे आते-जाते रहते हैं और वह नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों ही रहता है। इस वास्ते भगवान्‌की दृष्टि इस वास्तविकतापर ही सदा जमी रहती है। जैसे, कीचड़ आदिसे सना हुआ बच्चा जब माँके सामने आता है तो माँकी दृष्टि केवल अपने बच्चेकी तरफ ही जाती है, बच्चेके मैलेकी तरफ नहीं जाती। बच्चेकी दृष्टि भी मैलेकी तरफ नहीं जाती। माँ साफ करे या न करे, पर बच्चेकी दृष्टिमें तो मैला है ही नहीं, उसकी दृष्टिमें तो केवल माँ ही है। द्रौपदीके मनमें कितना द्वेष और क्रोध भरा हुआ था कि जब दुःशासनके खूनसे अपने केश धोऊँगी, तभी केशोंको बाँधूँगी! परंतु द्रौपदी जब भी भगवान्‌को पुकारती है, भगवान् चट आ जाते हैं; क्योंकि भगवान्‌के साथ द्रौपदीका गाढ़ अपनापन था।

भगवान्‌के साथ अपनापन होनेमें दो भाव रहते हैं—(१) भगवान् मेरे हैं और (२) मैं भगवान्‌का हूँ। इन दोनोंमें ही भगवान्‌का सम्बन्ध समान रीतिसे रहते हुए भी 'भगवान् मेरे हैं'—इस भावमें भगवान्‌से अपनी अनुकूलताकी इच्छा हो सकती है कि भगवान् मेरे हैं तो मेरी इच्छाकी पूर्ति क्यों नहीं करते? और 'मैं भगवान्‌का हूँ' इस भावमें भगवान्‌से अपनी अनुकूलताकी इच्छा नहीं हो सकती; क्योंकि मैं भगवान्‌का हूँ तो भगवान् मेरे लिये जैसा ठीक समझें, वैसा ही निःसंकोच होकर करें। इस वास्ते साधकको चाहिये कि वह भगवान्‌की ही मर्जीमें सर्वथा अपनी मर्जी मिला दे; भगवान्‌पर अपना किञ्चित् भी आधिपत्य न माने, प्रत्युत अपनेपर उनका पूरा आधिपत्य माने। कहीं भी भगवान् हमारे मनकी करें तो उसमें संकोच हो कि मेरे लिये भगवान्‌को ऐसा करना पड़ा! यदि अपने मनकी बात पूरी होनेसे संकोच नहीं होता, प्रत्युत संतोष होता है तो यह शरणागति नहीं है। शरणागत भक्त शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके प्रतिकूल परिस्थितिमें भी भगवान्‌की मर्जी समझकर प्रसन्न रहता है।

शरणागत भक्तको अपने लिये कभी किञ्चिन्मात्र भी कुछ करना शेष नहीं रहता; क्योंकि उसने सम्पूर्ण ममतावाली वस्तुओंसहित अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर दिया, जो वास्तवमें प्रभुका ही था। अब करने, कराने आदिका सब काम भगवान्‌का ही रह गया। ऐसी अवस्थामें वह कठिन-से-कठिन और भयंकर-से-भयंकर घटना, परिस्थितिमें भी अपनेपर प्रभुकी महान् कृपा मानकर सदा प्रसन्न रहता है, मस्त रहता है। जैसे, गरुड़जीके पूछनेपर काकभुशुण्डिजीने अपने पूर्वजन्मके ब्राह्मण-शरीरकी कथा सुनायी, जिसमें लोमश ऋषिने शाप देकर उन्हें (ब्राह्मणको) पक्षियोंमें नीच चाण्डाल पक्षी (कौआ) बना दिया; परंतु काकभुशुण्डिजीके मनमें न कुछ भय हुआ और न कुछ दीनता ही आयी! उन्होंने उसमें भगवान्‌का शुद्ध विधान ही समझा। केवल समझा ही नहीं,

---

* स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः। विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः॥
(श्रीमद्भा० ११।५।४२)

'जो प्रेमी भक्त भगवान्‌के चरणोंका अनन्यभावसे भजन करता है, उसके द्वारा यदि अकस्मात् कोई पाप-कर्म बन भी जाय तो उसके हृदयमें विराजमान परमपुरुष भगवान् श्रीहरि उसे सर्वथा नष्ट कर देते हैं।'

† रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥ (मानस १।२९।३)

प्रत्युत मन-ही-मन बोल उठे—*'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन'* (मानस ७।११३।१)। ऐसा भयंकर शाप मिलनेपर भी जब काकभुशुण्डिजीकी प्रसन्नतामें कोई कमी नहीं आयी, तब लोमश ऋषिने उनको भगवान्‌का प्यारा भक्त समझकर अपने पास बुलाया और बालक रामजीका ध्यान बताया। फिर भगवान्‌की कथा सुनायी और अत्यन्त प्रसन्न होकर काकभुशुण्डिजीके सिरपर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया—'मेरी कृपासे तुम्हारे हृदयमें अबाध, अखण्ड रामभक्ति रहेगी। तुम रामजीको प्यारे हो जाओगे। तुम सम्पूर्ण गुणोंकी खान बन जाओगे। जिस रूपकी इच्छा करोगे, वह रूप धारण कर लोगे। जिस स्थानपर तुम रहोगे, उसमें एक योजन-पर्यन्त मायाका कण्टक किञ्चिन्मात्र भी नहीं आयेगा' आदि-आदि। इस प्रकार बहुत-से आशीर्वाद देते ही आकाशवाणी होती है कि 'हे ऋषे! तुमने जो कुछ कहा, वह सब सच्चा होगा; यह मन, वाणी, कर्मसे मेरा भक्त है।' इन्हीं बातोंको लेकर भगवान्‌के विधानमें सदा प्रसन्न रहनेवाले काकभुशुण्डिजीने कहा है—

भगति पच्छ हठ करि रहेउँ दीन्हि महारिषि साप।
मुनि दुर्लभ बर पायउँ देखहु भजन प्रताप॥

(मानस ७।११४ ख)

यहाँ *'भजन प्रताप'* शब्दोंका अर्थ है—भगवान्‌के विधानमें हर समय प्रसन्न रहना। विपरीत-से-विपरीत अवस्थामें भी प्रेमी भक्तकी प्रसन्नता अधिक-से-अधिक बढ़ती रहती है; क्योंकि प्रेमका स्वरूप ही प्रतिक्षण वर्द्धमान है।

यह नियम है कि जो चीज अपनी होती है, वह सदैव अपनेको प्यारी लगती है। भगवान् सम्पूर्ण जीवोंको अपना प्रिय मानते हैं—*'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'* (मानस ७।८६।२) और इस जीवको भी प्रभु स्वतः ही प्रिय लगते हैं। हाँ, यह बात दूसरी है कि यह जीव परिवर्तनशील संसार और शरीरको भूलसे अपना मानकर अपने प्यारे प्रभुसे विमुख हो जाता है। इसके विमुख होनेपर भी भगवान्‌ने अपनी तरफसे किसी भी जीवका त्याग नहीं किया है और न कभी त्याग कर ही सकते हैं। कारण कि जीव सदासे साक्षात् भगवान्‌का ही अंश है। इस वास्ते सम्पूर्ण जीवोंके साथ भगवान्‌की आत्मीयता अक्षुण्ण, अखण्डितरूपसे स्वाभाविक ही बनी हुई है। इसीसे वे मात्र जीवोंपर कृपा करनेके लिये अर्थात् भक्तोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापना—इन तीन बातोंके लिये वक्त-वक्तपर अवतार लेते हैं*। इन तीनों बातोंमें केवल भगवान्‌की आत्मीयता ही टपक रही है, नहीं तो भक्तोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापनासे भगवान्‌का क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। भगवान् तो ये तीनों ही काम केवल प्राणिमात्रके कल्याणके लिये ही करते हैं। इससे भी प्राणिमात्रके साथ भगवान्‌की स्वाभाविक आत्मीयता, कृपालुता, प्रियता, हितैषिता, सुहृत्ता और निरपेक्ष उदारता ही सिद्ध होती है और यहाँ भी इसी दृष्टिसे अर्जुनसे कहते हैं—**'मद्भक्तो भव, मन्मना भव, मद्याजी भव, मां नमस्कुरु'**। इन चारों बातोंमें भगवान्‌का तात्पर्य केवल जीवको अपने सम्मुख करानेमें ही है, जिससे सम्पूर्ण जीव असत् पदार्थोंसे विमुख हो जायँ; क्योंकि दुःख, संताप, बार-बार जन्मना-मरना, मात्र विपत्ति आदिमें मुख्य हेतु भगवान्‌से विमुख होना ही है।

भगवान् जो कुछ भी विधान करते हैं, वह संसारमात्रके सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके लिये ही करते हैं—बस, भगवान्‌की इस कृपाकी तरफ प्राणीकी दृष्टि हो जाय तो फिर उसके लिये क्या करना बाकी रहा? प्राणियोंके हितके लिये भगवान्‌के हृदयमें एक तड़फन है, इसी वास्ते भगवान् **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** वाली अत्यन्त गोपनीय बात कह देते हैं। कारण कि भगवान् जीवमात्रको अपना मित्र मानते हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (५।२९) और उन्हें यह स्वतन्त्रता देते हैं कि वे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि जितने भी साधन हैं, उनमेंसे किसी भी साधनके द्वारा सुगमतापूर्वक मेरी प्राप्ति कर सकते हैं और दुःख, संताप आदिको सदाके लिये समूल नष्ट कर सकते हैं।

वास्तवमें जीवका उद्धार केवल भगवत्कृपासे ही होता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, अष्टाङ्गयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग आदि जितने भी साधन हैं, वे सब-के-सब भगवान्‌के द्वारा और भगवत्तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंके द्वारा ही प्रकट किये गये हैं†। इस वास्ते इन सब साधनोंमें भगवत्कृपा ही ओतप्रोत है। साधन करनेमें तो साधक निमित्तमात्र होता है, पर साधनकी सिद्धिमें भगवत्कृपा ही मुख्य है।

शरणागत भक्तको तो ऐसी चिन्ता भी कभी नहीं करनी चाहिये कि अभी भगवान्‌के दर्शन नहीं हुए, भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम नहीं हुआ, अभी वृत्तियाँ शुद्ध नहीं हुईं, आदि।

---

* परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ (गीता ४।८)

† हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥ (मानस ७।४७।३)

इस प्रकारकी चिन्ताएँ करना मानो बंदरीका बच्चा बनना है। बंदरीका बच्चा स्वयं ही बंदरीको पकड़े रहता है। बंदरी कूदे-फाँदे, किधर भी जाय, बच्चा स्वयं बंदरीसे कहीं भी चिपक जाता है।

भक्तको तो अपनी सब चिन्ताएँ भगवान्पर ही छोड़ देनी चाहिये अर्थात् भगवान् दर्शन दें या न दें, प्रेम दें या न दें, वृत्तियोंको ठीक करें या न करें, हमें शुद्ध बनायें या न बनायें— यह सब भगवान्की मर्जीपर छोड़ देना चाहिये। उसे तो बिल्लीका बच्चा बनना चाहिये। बिल्लीका बच्चा अपनी माँपर निर्भर रहता है। बिल्ली चाहे जहाँ रखे, चाहे जहाँ ले जाय। बिल्ली अपनी मर्जीसे बच्चेको उठाकर ले जाती है तो वह पैर समेट लेता है। ऐसे ही शरणागत भक्त संसारकी तरफसे अपने हाथ-पैर समेटकर* केवल भगवान्का चिन्तन, नाम-जप आदि करते हुए भगवान्की तरफ ही देखता रहता है। भगवान्का जो विधान है, उसमें परम प्रसन्न रहता है, अपने मनकी कुछ भी नहीं लगाता।

जैसे, कुम्हार पहले मिट्टीको सिरपर उठाकर लाता है तो कुम्हारकी मर्जी, फिर उस मिट्टीको गीला करके उसे रौंदता है तो कुम्हारकी मर्जी, फिर चक्केपर चढ़ाकर घुमाता है तो कुम्हारकी मर्जी। मिट्टी कभी कुछ नहीं कहती कि तुम घड़ा बनाओ, सकोरा बनाओ, मटकी बनाओ। कुम्हार चाहे जो बनाये, उसकी मर्जी है। ऐसे ही शरणागत भक्त अपनी कुछ भी मर्जी, मनकी बात नहीं रखता। वह जितना अधिक निश्चिन्त और निर्भय होता है, भगवत्कृपा उसको अपने-आप उतना ही अधिक अपने अनुकूल बना लेती है और जितनी वह चिन्ता करता है, अपना बल मानता है, उतना ही वह आती हुई भगवत्कृपामें बाधा लगाता है अर्थात् शरणागत होनेपर भगवान्की ओरसे जो विलक्षण, विचित्र, अखण्ड, अटूट कृपा आती है, अपनी चिन्ता करनेसे उस कृपामें बाधा लग जाती है।

जैसे, धीवर (मछुआ) मछलियोंको पकड़नेके लिये नदीमें जाल डालता है तो जालके भीतर आनेवाली सब मछलियाँ पकड़ी जाती हैं; परंतु जो मछली जाल डालनेवाले मछुएके चरणोंके पास आ जाती है, वह नहीं पकड़ी जाती। ऐसे ही भगवान्की माया (संसार) में ममता करके जीव फँस जाते हैं और जन्मते-मरते रहते हैं; परंतु जो जीव मायापति भगवान्के चरणोंकी शरण हो जाते हैं, वे मायाको तर जाते हैं—**'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'** (गीता ७। १४)। इस दृष्टान्तका एक ही अंश ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि धीवरका तो मछलियोंको पकड़नेका भाव होता है; परंतु भगवान्का जीवोंको मायामें फँसानेका किञ्चिन्मात्र भी भाव नहीं होता। भगवान्का भाव तो जीवोंको मायाजालसे मुक्त करके अपने शरण लेनेका होता है, तभी तो वे कहते हैं—**'मामेकं शरणं व्रज'**। जीव संयोगजन्य सुखकी लोलुपतासे खुद ही मायामें फँस जाते हैं।

जैसे, चलती हुई चक्कीके भीतर आनेवाले सभी दाने पिस जाते हैं†; परंतु जिसके आधारपर चक्की चलती है, उस कीलके आस-पास रहनेवाले दाने ज्यों-के-त्यों साबूत रह जाते हैं। ऐसे ही जन्म-मरणरूप संसारकी चलती हुई चक्कीमें पड़े हुए सब-के-सब जीव पिस जाते हैं अर्थात् दुःख पाते हैं; परंतु जिसके आधारपर संसार-चक्र चलता है, उन भगवान्के चरणोंका सहारा लेनेवाला जीव पिसनेसे बच जाता है—***'कोई हरिजन ऊबरे, कील माकड़ी पास।'*** यह दृष्टान्त भी पूरा नहीं घटता; क्योंकि दाने तो स्वाभाविक ही कीलके पास रह जाते हैं। वे बचनेका कोई उपाय नहीं करते। परंतु भगवान्के भक्त संसारसे विमुख होकर प्रभुके चरणोंका आश्रय लेते हैं। तात्पर्य यह कि जो भगवान्का अंश होकर भी संसारको अपना मानता है अथवा संसारसे कुछ चाहता है, वही जन्म-मरणरूप चक्रमें पड़कर दुःख भोगता है।

संसार और भगवान्—इन दोनोंका सम्बन्ध दो तरहका होता है। संसारका सम्बन्ध केवल माना हुआ है और भगवान्का सम्बन्ध वास्तविक है। संसारका सम्बन्ध तो मनुष्यको पराधीन बनाता है, गुलाम बनाता है, पर भगवान्का सम्बन्ध मनुष्यको स्वाधीन बनाता है, चिन्मय बनाता है और बनाता है भगवान्का भी मालिक!

किसी बातको लेकर अपनेमें कुछ भी अपनी विशेषता दीखती है, वही वास्तवमें पराधीनता है। यदि मनुष्य विद्या, बुद्धि, धन-सम्पत्ति, त्याग, वैराग्य आदि किसी बातको लेकर अपनी विशेषता मानता है तो यह उन विद्या आदिकी पराधीनता, दासता ही है। जैसे, कोई धनको लेकर अपनेमें विशेषता मानता है तो यह विशेषता वास्तवमें धनकी ही हुई, खुदकी नहीं। वह अपनेको धनका मालिक मानता है, पर

* भक्त जो कुछ काम करता है, उसको भगवान्का ही समझकर, भगवान्की ही शक्ति मानकर, भगवान्के ही लिये करता है, अपने लिये किञ्चिन्मात्र भी नहीं करता—यही उसका हाथ-पैर समेटना है।

† चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय। दो पाटनमें आयके, साबुत बचा न कोय॥

वास्तवमें वह धनका गुलाम है।

संसारका यह कायदा है कि सांसारिक पदार्थोंको लेकर जो अपनेमें कुछ विशेषता मानता है, उसको ये सांसारिक पदार्थ तुच्छ बना देते हैं, पद-दलित कर देते हैं। परंतु जो भगवान्‌के आश्रित होकर सदा भगवान्‌पर ही निर्भर रहते हैं, उनको अपनी कुछ विशेषता दीखती ही नहीं, प्रत्युत भगवान्‌की ही अलौकिकता, विलक्षणता, विचित्रता दीखती है। भगवान् चाहे उसको अपना मुकुटमणि बना लें और चाहे अपना मालिक बना लें तो भी उसको अपनेमें कुछ भी विशेषता नहीं दीखती। प्रभुका यह कायदा है कि जिस भक्तको अपनेमें कुछ भी विशेषता नहीं दीखती, अपनेमें किसी बातका अभिमान नहीं होता, उस भक्तमें भगवान्‌की विलक्षणता उतर आती है। किसी-किसीमें यहाँतक विलक्षणता आती है कि उसके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थ भी चिन्मय बन जाते हैं। उनमें जडताका अत्यन्त अभाव हो जाता है। ऐसे भगवान्‌के प्रेमी भक्त भगवान्‌में ही समा गये हैं, अन्तमें उनके शरीर नहीं मिले। जैसे, मीराबाई शरीरसहित भगवान्‌के श्रीविग्रहमें लीन हो गयीं। केवल पहचानके लिये उनकी साड़ीका छोटा-सा छोर श्रीविग्रहके मुखमें रह गया और कुछ नहीं बचा। ऐसे ही सन्त श्रीतुकारामजी शरीरसहित वैकुण्ठ चले गये।

ज्ञानमार्गमें शरीर चिन्मय नहीं होता; क्योंकि ज्ञानी असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद करके, असत्‌से अलग होकर स्वयं चिन्मय तत्त्वमें स्थित हो जाता है। परंतु जब भक्त भगवान्‌के सम्मुख होता है तो उसके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, प्राण आदि सभी भगवान्‌के सम्मुख हो जाते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जिनकी दृष्टि केवल चिन्मय तत्त्वपर ही है अर्थात् जिनकी दृष्टिमें चिन्मय तत्त्वसे भिन्न जडताकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं होती तो वह चिन्मयता उनके शरीर आदिमें भी उतर आती है और वे शरीर आदि चिन्मय हो जाते हैं। हाँ, लोगोंकी दृष्टिमें तो उनके शरीरमें जडता दीखती है, पर वास्तवमें उनके शरीर चिन्मय होते हैं।

भगवान्‌के सर्वथा शरण हो जानेपर शरणागतिके लिये भगवान्‌की कृपा विशेषतासे प्रकट होती ही है, पर मात्र संसारका स्नेहपूर्वक पालन करनेवाली और भगवान्‌से अभिन्न रहनेवाली वात्सल्यमयी माता लक्ष्मीका प्रभु-शरणागतपर कितना अधिक स्नेह होता है, वे कितना अधिक प्यार करती हैं, इसका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता। लौकिक व्यवहारमें भी देखनेमें आता है कि पतिव्रता स्त्रीको पितृभक्त पुत्र बहुत प्यारा लगता है।

दूसरी बात, प्रेमभावसे परिपूरित प्रभु जब अपने भक्तको देखनेके लिये गरुड़पर बैठकर पधारते हैं तो माता लक्ष्मी भी प्रभुके साथ गरुड़पर बैठकर आती हैं, जिस गरुड़की पाँखोंसे सामवेदके मन्त्रोंका गान होता रहता है ! परंतु कोई भगवान्‌को न चाहकर केवल माता लक्ष्मीको ही चाहता है तो उसके स्नेहके कारण माता लक्ष्मी आ भी जाती हैं, पर उनका वाहन दिवान्ध उल्लू होता है। ऐसे वाहनवाली लक्ष्मीको प्राप्त करके मनुष्य भी मदान्ध हो जाता है। अगर उस माँको कोई भोग्या समझ लेता है तो उसका बड़ा भारी पतन हो जाता है; क्योंकि वह तो अपनी माँको ही कुदृष्टिसे देखता है, इस वास्ते वह महान् अधम है।

तीसरी बात, जहाँ केवल भगवान्‌का प्रेम होता है, वहाँ तो भगवान्‌से अभिन्न रहनेवाली लक्ष्मी भगवान्‌के साथ आ ही जाती है, पर जहाँ केवल लक्ष्मीकी चाहना है, वहाँ लक्ष्मीके साथ भगवान् भी आ जायँ—यह नियम नहीं है।

शरणागतिके विषयमें एक कथा आती है। सीताजी, रामजी और हनुमान्‌जी जंगलमें एक वृक्षके नीचे बैठे थे। उस वृक्षकी शाखाओं और टहनियोंपर एक लता छायी हुई थी। लताके कोमल-कोमल तन्तु फैल रहे थे। उन तन्तुओंमें कहींपर नयी-नयी कोंपलें निकल रही थीं और कहींपर ताम्रवर्णके पत्ते निकल रहे थे। पुष्प और पत्तोंसे लता छायी हुई थी। उससे वृक्षकी सुन्दर शोभा हो रही थी। वृक्ष बहुत ही सुहावना लग रहा था। उस वृक्षकी शोभाको देखकर भगवान् श्रीराम हनुमान्‌जीसे बोले—'देखो हनुमान् ! यह लता कितनी सुन्दर है ! वृक्षके चारों ओर कैसी छायी हुई है ! यह लता अपने सुन्दर-सुन्दर फल, सुगन्धित फूल और हरी-हरी पत्तियोंसे इस वृक्षकी कैसी शोभा बढ़ा रही है। इससे जंगलके अन्य सब वृक्षोंसे यह वृक्ष कितना सुन्दर दीख रहा है ! इतना ही नहीं, इस वृक्षके कारण ही सारे जंगलकी शोभा हो रही है। इस लताके कारण ही पशु-पक्षी इस वृक्षका आश्रय लेते हैं। धन्य है यह लता !'

भगवान् श्रीरामके मुखसे लताकी प्रशंसा सुनकर सीताजी हनुमान्‌जीसे बोलीं—'देखो बेटा हनुमान् ! तुमने खयाल किया कि नहीं ? देखो, इस लताका ऊपर चढ़ जाना, फूल-पत्तोंसे छा जाना, तन्तुओंका फैल जाना—ये सब वृक्षके आश्रित हैं, वृक्षके कारण ही हैं। इस लताकी शोभा भी वृक्षके ही कारण है। इस वास्ते मूलमें महिमा तो वृक्षकी ही है। आधार तो वृक्ष ही है। वृक्षके सहारे बिना लता स्वयं क्या कर सकती है ? कैसे छा सकती है ? अब बोलो हनुमान् ! तुम्हीं बताओ, महिमा वृक्षकी ही हुई न ?'

सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें ॥

(मानस ४ । ३ । २)

ऐसे ही भगवान् और उनकी दिव्य आह्लादिनी शक्ति—दोनों ही एक-दूसरेकी शोभा बढ़ाते हैं। परंतु कोई तो उन दोनोंको श्रेष्ठ बताता है, कोई केवल भगवान्‌को श्रेष्ठ बताता है और कोई केवल उनकी आह्लादिनी शक्तिको श्रेष्ठ बताता है। शरणागत भक्तके लिये तो प्रभु और उनकी आह्लादिनी शक्ति—दोनोंका आश्रय ही श्रेष्ठ है।

एक बार एक प्रज्ञाचक्षु (नेत्रहीन) संत हाथमें लाठी पकड़े आगराके लिये यमुनाके किनारे-किनारे चले जा रहे थे। नदीमें बाढ़ आयी हुई थी। उससे एक जगह यमुनाका किनारा पानीमें गिर पड़ा तो बाबाजी भी पानीमें गिर पड़े। हाथसे लाठी छूट गयी थी। दीखता तो था ही नहीं, अब तैरें तो किधर तैरें? भगवान्‌की शरणागतिकी बात याद आते ही प्रयासरहित होकर शरीरको ढीला छोड़ दिया तो उनको ऐसा लगा कि किसीने हाथ पकड़कर किनारेपर डाल दिया। वहाँ दूसरी कोई लाठी हाथमें आ गयी और उसके सहारे वे चल पड़े। तात्पर्य यह कि जो भगवान्‌के शरण होकर भगवान्‌पर निर्भर रहता है, उसको अपने लिये करना कुछ नहीं रहता। भगवान्‌के विधानसे जो हो जाय, उसीमें वह प्रसन्न रहता है।

बहुत-सी भेड़-बकरियाँ जंगलमें चरने गयीं। उनमेंसे एक बकरी चरते-चरते एक लतामें उलझ गयी। उसको उस लतामेंसे निकलनेमें बहुत देर लगी, तबतक अन्य सब भेड़-बकरियाँ अपने घर पहुँच गयीं। अँधेरा भी हो रहा था। वह बकरी घूमते-घूमते एक सरोवरके किनारे पहुँची। वहाँ किनारेकी गीली जमीनपर सिंहका एक चरण-चिह्न मँढा हुआ स्वयं आया और बकरीसे बोला—'तू जंगलमें अकेली कैसे बैठी है?' बकरीने कहा—'यह चरण-चिह्न देख लेना, फिर बात करना। जिसका यह चरण-चिह्न है, उसीके मैं शरण हुए बैठी हूँ।' सिंहने देखा, ओह! यह तो मेरा ही चरण-चिह्न है, यह बकरी तो मेरे ही शरण हुई!' सिंहने बकरीको आश्वासन दिया कि अब तुम डरो मत, निर्भय होकर रहो।

रातमें जब जल पीनेके लिये हाथी आया तो सिंहने हाथीसे कहा—'तू इस बकरीको अपनी पीठपर चढ़ा ले। इसको जंगलमें चराकर लाया कर और हरदम अपनी पीठपर ही रखा कर, नहीं तो तू जानता नहीं, मैं कौन हूँ? मार डालूँगा!' सिंहकी बात सुनकर हाथी थर-थर काँपने लगा। उसने अपनी सूँड़से झट बकरीको पीठपर चढ़ा लिया। अब वह बकरी निर्भय होकर हाथीकी पीठपर बैठे-बैठे ही वृक्षोंकी ऊपरकी कोंपलें खाया करती और मस्त रहती।

खोज पकड़ सैंठे रहो, धणी मिलेंगे आय।
अजया गज मस्तक चढ़े, निर्भय कोंपल खाय ॥

ऐसे ही जब मनुष्य भगवान्‌के शरण हो जाता है, उनके चरणोंका सहारा ले लेता है तो वह सम्पूर्ण प्राणियोंसे, विघ्न-बाधाओंसे निर्भय हो जाता है। उसको कोई भी भयभीत नहीं कर सकता, कोई भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

जो जाको शरणो गहै, वाकहँ ताकी लाज।
उलटे जल मछली चले, बह्यो जात गजराज ॥

भगवान्‌के साथ काम, भय, द्वेष, क्रोध, स्नेह आदिसे भी सम्बन्ध क्यों न जोड़ा जाय, वह भी जीवका कल्याण करनेवाला ही होता है*। तात्पर्य यह हुआ कि काम, भय, द्वेष आदि किसी तरहसे भी जिनका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध

---

* कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः। आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ॥
गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः। सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो ॥ (श्रीमद्भा० ७ । १ । २९-३०)

'एक नहीं, अनेक मनुष्य कामसे, द्वेषसे, भयसे और स्नेहसे अपने मनको भगवान्‌में लगाकर तथा अपने सारे पाप धोकर वैसे ही भगवान्‌को प्राप्त हुए हैं, जैसे भक्त भक्तिसे। जैसे, गोपियोंने कामसे, कंसने भयसे, शिशुपाल-दन्तवक्त्र आदि राजाओंने द्वेषसे, यदुवंशियोंने परिवारके सम्बन्धसे, तुमलोगों (युधिष्ठिर आदि) ने स्नेहसे और हमलोगों (नारद आदि) ने भक्तिसे अपने मनको भगवान्‌में लगाया है।'

सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः। गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः। रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ ॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः। वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः। व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः। अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १२ । ३—७)

भगवान् कहते हैं—'निष्पाप उद्धवजी! यह एक युगकी नहीं सभी युगोंकी एक-सी बात है। सत्सङ्ग अर्थात् मेरे सम्बन्धद्वारा ही दैत्य-राक्षस, पशु-पक्षी, गन्धर्व-अप्सरा, नाग-सिद्ध, चारण, गुह्यक और विद्याधरोंको मेरी प्राप्ति हुई है। मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि रजोगुणी-तमोगुणी प्रकृतिके बहुत-से जीवोंने मेरा परमपद प्राप्त किया है। वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ, यज्ञपत्नियाँ और दूसरे लोग भी सत्सङ्गके प्रभावसे ही मुझे प्राप्त कर सके हैं।'

उन लोगोंने न तो वेदोंका स्वाध्याय किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना ही की थी। इसी प्रकार उन्होंने कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी। बस, केवल सत्सङ्ग—मेरे सम्बन्धके प्रभावसे ही वे मुझे प्राप्त हो गये।'

जुड़ गया, उनका तो उद्धार हो ही गया, पर जिन्होंने किसी तरहसे भी भगवान्‌के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा, उदासीन ही रहे, वे भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रह गये!

भगवान्‌के अनन्य भक्तोंके लिये नारदजीने कहा है—

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः।

(नारदभक्तिसूत्र ७२)

'उन भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिका भेद नहीं है।'

तात्पर्य यह कि जो सर्वथा भगवान्‌के अर्पित हो गये हैं अर्थात् जिन्होंने भगवान्‌के साथ आत्मीयता, परायणता, अनन्यता आदि वास्तविकताको स्वीकार कर लिया है तो स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरको लेकर सांसारिक जितने भी जाति, विद्या आदि भेद हो सकते हैं, वे सब उनपर लागू नहीं होते*। कारण कि वे अच्युतभगवान्‌के ही हैं—'यतस्तदीयाः' (नारदभक्तिसूत्र ७३), संसारके नहीं। अच्युत-भगवान्‌के होनेसे वे 'अच्युत गोत्र' के ही कहलाते हैं†।

—★—

* पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातिनामाश्रमादयः। न कारणं मद्भजने भक्तिरेव हि कारणम्॥ (अध्यात्म० अरण्य० १०। २०)

'मेरे भजनमें पुरुष-स्त्रीका भेद अथवा जाति, नाम और आश्रम कारण नहीं है, प्रत्युत मेरी भक्ति ही एकमात्र कारण है।'

किं जन्मना सकलवर्णजनोत्तमेन किं विद्यया सकलशास्त्रविचारवत्या।
यस्यास्ति चेतसि सदा परमेशभक्तिः कोऽन्यस्ततस्त्रिभुवने पुरुषोऽस्ति धन्यः॥ (ब्र० सं० भ० १७)

'सम्पूर्ण वर्णोंमें उत्तम वर्ण (ब्राह्मण-कुल) में जन्म होनेसे क्या हुआ? सम्पूर्ण शास्त्रोंके गहरे अध्ययनसे क्या हुआ? अर्थात् कुछ नहीं हुआ। जिसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति विराजमान है, इस त्रिलोकीमें उसके समान दूसरा कौन मनुष्य धन्य हो सकता है?'

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

'व्याधका कौन-सा श्रेष्ठ आचरण था? ध्रुवकी कौन-सी बड़ी उम्र थी। गजेन्द्रके पास कौन-सी विद्या थी? विदुरकी कौन-सी ऊँची जाति थी। यदुपति उग्रसेनका कौन-सा पराक्रम था? कुब्जाका कौन-सा सुन्दर रूप था? सुदामाके पास कौन-सा धन था? फिर भी उन लोगोंको भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी। कारण कि भगवान्‌को केवल भक्ति ही प्यारी है, वे केवल भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं, आचरण, विद्या आदि गुणोंसे नहीं।'

† पितृगोत्री यथा कन्या स्वामिगोत्रेण गोत्रिका। श्रीरामभक्तिमात्रेणाच्युतगोत्रेण गोत्रकः॥ (नारदपाञ्चरात्र)

शरणागतिका रहस्य

शरणागतिका रहस्य क्या है?—इसको वास्तवमें भगवान् ही जानते हैं। फिर भी अपनी समझमें आयी बात कहनेकी चेष्टा की जाती है; क्योंकि हरेक आदमी जो बात कहता है, उससे वह अपनी बुद्धिका ही परिचय देता है। पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे यहाँ आयी बातोंका उलटा अर्थ न निकालें; क्योंकि प्रायः लोग किसी तात्त्विक, रहस्यवाली बातको गहराईसे समझे बिना उसका उलटा अर्थ जल्दी ले लेते हैं। इस वास्ते ऐसी बातको कहने-सुननेके पात्र बहुत कम होते हैं।

भगवान्‌ने गीतामें शरणागतिके विषयमें दो बातें बतायी हैं—(१) **'मामेकं शरणं व्रज'** (१८। ६६) 'अनन्यभावसे

केवल मेरी शरणमें आ जा' (२) **'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत'** (१५।१९) 'वह सर्वज्ञ पुरुष सर्वभावसे मेरेको भजता है,' **'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत'** (१८।६२) 'तू सर्वभावसे उस परमात्माकी शरणमें जा'। तो हम भगवान्‌के शरण कैसे हो जायँ? केवल एक भगवान्‌के शरण हो जायँ अर्थात् भगवान्‌के गुण, ऐश्वर्य आदिकी तरफ दृष्टि न रखें और सर्वभावसे भगवान्‌के शरण हो जायँ अर्थात् साथमें अपनी कोई सांसारिक कामना न रखें।

केवल एक भगवान्‌के शरण होनेका रहस्य यह है कि भगवान्‌के अनन्त गुण हैं, प्रभाव हैं, तत्त्व हैं, रहस्य हैं, महिमा है, लीलाएँ हैं, नाम है, धाम हैं; भगवान्‌का अनन्त ऐश्वर्य है, माधुर्य है, सौन्दर्य है—इन विभूतियोंकी तरफ शरणागत भक्त देखता ही नहीं। उसका यही एक भाव रहता है कि 'मैं केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं। अगर वह गुण, प्रभाव आदिकी तरफ देखकर भगवान्‌की शरण लेता है तो वास्तवमें वह गुण, प्रभाव आदिके ही शरण हुआ, भगवान्‌के शरण नहीं हुआ। परंतु इन बातोंका उलटा अर्थ न लगा लें।'

उलटा अर्थ लगाना क्या है? भगवान्‌के गुण, प्रभाव, नाम, धाम, ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य आदिको मानना ही नहीं है, इनकी तरफ जाना ही नहीं है। अब कुछ करना है ही नहीं, न भजन करना है, न भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला आदि सुननी है, न भगवान्‌के धाममें जाना है—यह उलटा अर्थ लगाना है। इनका ऐसा अर्थ लगाना महान् अनर्थ करना है।

केवल एक भगवान्‌के शरण होनेका तात्पर्य है—केवल भगवान् मेरे हैं, अब वे ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं तो बड़ी अच्छी बात और कुछ भी ऐश्वर्य नहीं है तो बड़ी अच्छी बात। वे बड़े दयालु हैं तो बड़ी अच्छी बात और बड़े निठुर, कठोर हैं कि उनके समान दुनियामें कोई कठोर है ही नहीं तो बड़ी अच्छी बात। उनका बड़ा भारी प्रभाव है तो बड़ी अच्छी बात और उनमें कोई प्रभाव नहीं है तो बड़ी अच्छी बात। शरणागतमें इन बातोंकी कोई परवाह नहीं होती। उसका तो एक ही भाव रहता है कि भगवान् जैसे भी हैं, हमारे हैं*। भगवान्‌की इन बातोंकी परवाह न होनेसे भगवान्‌का ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, गुण, प्रभाव आदि चले जायँगे, ऐसी बात नहीं है। पर हम उनकी परवाह नहीं करेंगे तो हमारी असली शरणागति होगी।

जहाँ गुण, प्रभाव आदिको लेकर भगवान्‌की शरण होते हैं, वहाँ केवल भगवान्‌की शरण नहीं होते, प्रत्युत गुण, प्रभाव आदिकी ही शरण होते हैं; जैसे—कोई रुपयोंवाले आदमीका आदर करे तो वास्तवमें वह आदर उस आदमीका नहीं, रुपयोंका है। किसी मिनिस्टरका कितना ही आदर किया जाय तो वह आदर उसका नहीं, मिनिस्टरी (पद)-का है। किसी बलवान् व्यक्तिका आदर किया जाय तो वह उसके बलका आदर है, उसका खुदका आदर नहीं है। परंतु अगर कोई केवल व्यक्ति (धनी आदि)-का आदर करे तो इससे धनीका धन या मिनिस्टरकी मिनिस्टरी चली जायगी—यह बात नहीं है। वह तो रहेगी ही। ऐसे ही केवल भगवान्‌की शरण होनेसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदि चले जायँगे—ऐसी बात नहीं है। परंतु हमारी दृष्टि तो केवल भगवान्‌पर ही रहनी चाहिये; उनके गुण आदिपर नहीं।

सप्तर्षियोंने जब पार्वतीजीके सामने शिवजीके अनेक अवगुणोंका और विष्णुके अनेक सद्गुणोंका वर्णन करते हुए उन्हें शिवजीका त्याग करनेके लिये कहा तो पार्वतीजीने उन्हें यही उत्तर दिया—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

(मानस १।८०)

ऐसी ही बात गोपियोंने भी उद्धवजीसे कही थी—

ऊधौ! मन माने की बात।
दाख छोहारा छाड़ि अमृतफल बिषकीरा बिष खात॥
जो चकोर को दै कपूर कोउ, तजि अंगार अघात।
मधुप करत घर कोरे काठ में, बँधत कमल के पात॥
ज्यों पतंग हित जान आपनो, दीपक सों लपटात।
'सूरदास' जाको मन जासों, ताको सोइ सुहात॥

भगवान्‌के प्रभाव आदिकी तरफ देखनेवालेको, उससे प्रेम करनेवालेको मुक्ति, ऐश्वर्य आदि तो मिल जायगा, पर भगवान् नहीं मिल सकते। भगवान्‌के प्रभावकी तरफ न

---

* असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा। द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥

'मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण असुन्दर हों या सुन्दर-शिरोमणि हों, गुणहीन हों या गुणियोंमें श्रेष्ठ हों, मेरे प्रति द्वेष रखते हों या करुणासिन्धुरूपसे कृपा करते हों; वे चाहे जैसे हों, मेरी तो वे ही एकमात्र गति हैं।'

अश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतं करोतु वा। यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

'वे चाहे मुझे हृदयसे लगा लें या चरणोंमें लिपटे हुए मुझे पैरोंतले रौंद डालें अथवा दर्शन न देकर मर्माहत ही करें। वे परम स्वतन्त्र श्रीकृष्ण जैसे चाहें वैसे करें, मेरे तो वे ही प्राणनाथ हैं, दूसरा कोई नहीं।'

देखनेवाला भगवत्प्रेमी भक्त ही भगवान्‌को पा सकता है। इतना ही नहीं, वह प्रेमी भक्त भगवान्‌को बाँध सकता है, उनकी भी बिक्री कर सकता है ! भगवान् देखते हैं कि वह मेरेसे प्रेम करता है, मेरे प्रभावकी तरफ देखतातक नहीं तो भगवान्‌के मनमें उसका बड़ा आदर होता है।

प्रभावकी तरफ देखना यह सिद्ध करता है कि हमारेमें कुछ पानेकी कामना है। हमारे मनमें उस कामनावाले पदार्थका आदर है। जबतक हमारेमें कामना है, तबतक हम प्रभावको देखते हैं। अगर हमारे मनमें कोई कामना न रहे तो भगवान्‌के प्रभाव, ऐश्वर्यकी तरफ हमारी दृष्टि नहीं जायगी। केवल भगवान्‌की तरफ दृष्टि होगी तो हम भगवान्‌के शरण हो जायँगे, भगवान्‌के अपने हो जायँगे।

विचार करें, पूतना राक्षसी जहर लगाकर स्तन मुखमें देती है। उसको भगवान्‌ने माताकी गति दे दी* — *'जसुमति की गति पाई'* अर्थात् जो मुक्ति यशोदा मैयाको मिले, वह मुक्ति पूतनाको मिल गयी। जो मुखमें जहर देती है, उसे तो भगवान्‌ने मुक्ति दे दी। अब जो रोजाना दूध पिलाती है, उस मैयाको भगवान् क्या दें ? तो अनन्त जीवोंको मुक्ति देनेवाले भगवान् मैयाके अधीन हो गये, उन्हें अपने-आपको ही दे दिया। मैयाके इतने वशीभूत हो गये कि मैया छड़ी दिखाती है तो वे डरकर रोने लग जाते हैं। कारण कि मैयाकी भगवान्‌के प्रभाव, ऐश्वर्यकी तरफ दृष्टि ही नहीं है। इस प्रकार जो भगवान्‌से मुक्ति चाहते हैं, उन्हें भगवान् मुक्ति दे देते हैं, पर जो कुछ भी नहीं चाहता, उसे भगवान् अपने-आपको ही दे देते हैं।

सर्वभावसे भगवान्‌की शरण होनेका रहस्य यह है कि हमारा शरीर अच्छा है, इन्द्रियाँ वशमें हैं, मन शुद्ध निर्मल है, बुद्धिसे हम ठीक जानते हैं, हम पढ़े-लिखे हैं, हम यशस्वी हैं, हमारा संसारमें मान है—इस प्रकार 'हम भी कुछ हैं' ऐसा मानकर भगवान्‌की शरण होना शरणागति नहीं है। भगवान्‌की शरण होनेके बाद शरणागतको ऐसा विचार भी नहीं करना चाहिये कि हमारा शरीर ऐसा होना चाहिये; हमारी बुद्धि ऐसी होनी चाहिये; हमारा मन ऐसा होना चाहिये; हमारा ऐसा ध्यान लगना चाहिये; हमारी ऐसी भावना होनी चाहिये; हमारे जीवनमें ऐसे-ऐसे लक्षण आने चाहिये; हमारे ऐसे आचरण होने चाहिये; हमारेमें ऐसा प्रेम होना चाहिये कि कथा-कीर्तन सुननेपर आँसू बहने लगें, कण्ठ गद्गद हो जाय; पर ऐसा हमारे जीवनमें हुआ ही नहीं तो हम भगवान्‌की शरण कैसे हुए ? आदि-आदि। ये बातें अनन्य शरणागतिकी कसौटी नहीं हैं। जो अनन्य शरण हो जाता है, वह यह देखता ही नहीं कि शरीर बीमार है कि स्वस्थ है ? मन चंचल है कि स्थिर है ? बुद्धिमें जानकारी है कि अनजानपना है ? अपनेमें मूर्खता है कि विद्वत्ता है ? योग्यता है कि अयोग्यता है ? आदि। इन सबकी तरफ वह स्वप्नमें भी नहीं देखता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें ये सब चीजें कूड़ा-करकट हैं, जिन्हें अपने साथ नहीं लेता है। यदि इन चीजोंकी तरफ देखेगा तो अभिमान ही बढ़ेगा कि मैं भगवान्‌का शरणागत भक्त हूँ अथवा निराश होना पड़ेगा कि मैं भगवान्‌के शरण तो हो गया, पर भक्तोंके गुण (**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी**॥ इत्यादि, गीता १२। १३—१९) तो मेरेमें आये ही नहीं ! तात्पर्य यह हुआ कि अगर अपनेमें भक्तोंके गुण दिखायी देंगे तो उनका अभिमान हो जायगा और अगर नहीं दिखायी देंगे तो निराशा हो जायगी। इस वास्ते यही अच्छा है कि भगवान्‌की शरण होनेके बाद इन गुणोंकी तरफ भूलकर भी नहीं देखें। इसका यह उलटा अर्थ न लगा लें कि हम चाहे वैर-विरोध करें, चाहे द्वेष करें, चाहे ममता करें, चाहे जो कुछ करें ! यह अर्थ बिलकुल नहीं है। तात्पर्य है कि इन गुणोंकी तरफ खयाल ही नहीं होना चाहिये। भगवान्‌के शरण होनेवाले भक्तमें ये सब-के-सब गुण अपने-आप ही आयेंगे, पर इनके आने या न आनेसे उसको कोई मतलब नहीं रखना चाहिये। अपनेमें ऐसी कसौटी नहीं लगानी चाहिये कि अपनेमें ये गुण या लक्षण हैं या नहीं।

सच्चा शरणागत भक्त तो भगवान्‌के गुणोंकी तरफ भी नहीं देखता और अपने गुणोंकी तरफ भी नहीं देखता। वह भगवान्‌के ऊँचे-ऊँचे प्रेमियोंकी तरफ भी नहीं देखता कि ऊँचे प्रेमी ऐसे-ऐसे होते हैं; तत्त्वको जाननेवाले जीवन्मुक्त ऐसे-ऐसे होते हैं।

प्रायः लोग ऐसी कसौटी लगाते हैं कि यह भगवान्‌का भजन करता है तो बीमार कैसे हो गया ? भगवान्‌का भक्त हो गया तो उसको बुखार क्यों आ गया ? उसपर दुःख क्यों आ

---

* अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी। लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥

(श्रीमद्भा० ३। २। २३)

'अहो ! इस पापिनी पूतनाने जिसे मार डालनेकी इच्छासे अपने स्तनोंपर लगाया हुआ कालकूट विष पिलाकर भी वह गति प्राप्त की, जो धात्रीको मिलनी चाहिये, उसके अलावा और कौन दयालु है, जिसकी शरणमें जायँ !'

गया ? उसका बेटा क्यों मर गया ? उसका धन क्यों चला गया ? उसका संसारमें अपयश क्यों हो गया ? उसका निरादर क्यों हो गया ? आदि-आदि। ऐसी कसौटी कसना बिलकुल फालतू बात है, बड़े नीचे दर्जेकी बात है। ऐसे लोगोंको क्या समझायें ! वे सत्सङ्गके नजदीक ही नहीं आये, इसी वास्ते उनको इस बातका पता ही नहीं है कि भक्ति क्या होती है ? शरणागति क्या होती है ? वे इन बातोंको समझ ही नहीं सकते, परंतु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि भगवान्‌का भक्त दरिद्र होता ही है, उसका संसारमें अपमान होता ही है, उसकी निन्दा होती ही है। शरणागत भक्तको तो निन्दा-प्रशंसा, रोग-नीरोगता आदिसे कोई मतलब ही नहीं होता। इनकी तरफ वह देखता ही नहीं। वह यही देखता है कि मैं हूँ और भगवान् हैं, बस। अब संसारमें क्या है, क्या नहीं है ? त्रिलोकीमें क्या है, क्या नहीं है ? प्रभु ऐसे हैं, वे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले हैं—इन बातोंकी तरफ उसकी दृष्टि जाती ही नहीं।

किसीने एक सन्तसे पूछा—'आप किस भगवान्‌के भक्त हो ? जो उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करते हैं, उनके भक्त हो क्या ?' तो उस सन्तने उत्तर दिया—'हमारे भगवान्‌का तो उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयके साथ कोई सम्बन्ध है ही नहीं। यह तो हमारे प्रभुका एक ऐश्वर्य है। यह कोई विशेष बात नहीं है।' शरणागत भक्तको ऐसा होना चाहिये। ऐश्वर्य आदिकी तरफ उसकी दृष्टि ही नहीं होनी चाहिये।

ऋषिकेशमें गङ्गाजीके किनारे टीबड़ीपर शामको सत्सङ्ग हो रहा था। गरमी पड़ रही थी। उधरसे गङ्गाजीकी ठण्डी हवाकी लहर आयी तो एक सज्जनने कहा—'कैसी ठण्डी हवाकी लहर आ रही है !' पास बैठे दूसरे सज्जनने उनसे कहा—'हवाको देखनेके लिये तुम्हें वक्त कैसे मिल गया ? यह ठण्डी हवा आयी, यह गरम हवा आयी—इस तरफ तुम्हारा खयाल कैसे चला गया ?' भगवान्‌के भजनमें लगे हो तो हवा ठण्डी आयी या गरम आयी, सुख आया या दुःख आया—इस तरफ जबतक खयाल है, तबतक भगवान्‌की तरफ खयाल कहाँ ? इसी विषयमें हमने एक कहानी सुनी है। कहानी तो नीचे दर्जेकी है, पर उसका निष्कर्ष बड़ा अच्छा है।

एक कुलटा स्त्री थी। उसको किसी पुरुषसे संकेत मिला कि इस समय अमुक स्थानपर तुम आ जाना। तो वह समयपर अपने प्रेमीके पास जा रही थी। रास्तेमें एक मस्जिद पड़ती थी। मस्जिदकी दीवारें छोटी-छोटी थीं। दीवारके पास ही वहाँका मौलवी झुककर नमाज पढ़ रहा था। वह कुलटा अनजानेमें उसके ऊपर पैर रखकर निकल गयी। मौलवीको बड़ा गुस्सा आया कि कैसी औरत है यह ! इसने मेरेपर जूतीसहित पैर रखकर हमको नापाक (अशुद्ध) बना दिया ! वह वहीं बैठकर उसको देखता रहा कि कब आयेगी। जब वह कुलटा पीछे लौटकर आयी तो मौलवीने उसको धमकाया कि 'कैसी बेअक्ल हो तुम ! हम परवरदिगारकी बंदगीमें बैठे थे, नमाज पढ़ रहे थे और तुम हमारेपर पैर रखकर चली गयी !' तब वह बोली—

मैं नर-राची ना लखी, तुम कस लख्यो सुजान।
पढ़ि कुरान बौरा भया, राच्यो नहिं रहमान॥

एक पुरुषके ध्यानमें रहनेके कारण मेरेको इसका पता ही नहीं लगा कि सामने दीवार है या कोई मनुष्य है, पर तू तो भगवान्‌के ध्यानमें था, फिर तूने मेरेको कैसे पहचान लिया कि वह यही थी ? तू केवल कुरान पढ़-पढ़कर बावला हो गया है। अगर तू भगवान्‌के ध्यानमें रचा हुआ होता तो मुझे पहचान लेता ? कौन आया, कैसे आया, मनुष्य था कि पशु-पक्षी था, क्या था, क्या नहीं था, कौन ऊपर आया, कौन नीचे आया, किसने पैर रखा—इधर तेरा खयाल ही क्यों जाता ? तात्पर्य है कि एक भगवान्‌को छोड़कर किसीकी तरफ ध्यान ही कैसे जाय ? दूसरी बातोंका पता ही कैसे लगे ? जबतक दूसरी बातोंका पता लगता है तबतक वह शरण कहाँ हुआ ?

कौरव-पाण्डव जब लड़के थे तो वे अस्त्र-शस्त्र सीख रहे थे। सीखकर जब तैयार हो गये तो उनकी परीक्षा ली गयी। एक वृक्षपर एक बनावटी चिड़िया बैठा दी गयी और सबसे कहा गया कि उस चिड़ियाके कण्ठपर तीर मारकर दिखाओ। एक-एक करके सभी आने लगे। गुरुजी पहले सबसे अलग-अलग पूछते कि बताओ तुम्हें वहाँ क्या दीख रहा है ? तो कोई कहता कि हमें तो वृक्ष दीखता है; कोई कहता कि हमें तो टहनी दीखती है; कोई कहता कि हमें तो चिड़िया दीखती है, चोंच भी दीखती है, पंख भी दीखते हैं। ऐसा कहनेवालोंको वहाँसे हटा दिया गया। जब अर्जुनकी बारी आयी तो उनसे पूछा गया कि तुमको क्या दीखता है तो अर्जुनने कहा कि मेरेको तो केवल कण्ठ ही दीखता है और कुछ भी नहीं दीखता। तब अर्जुनसे बाण मारनेके लिये कहा गया। अर्जुनने अपने बाणसे उस चिड़ियाका कण्ठ बेध दिया क्योंकि उसकी लक्ष्यपर दृष्टि ठीक थी। अगर चिड़िया दीखती है, वृक्ष, टहनी आदि दीखते हैं तो लक्ष्य कहाँ सँधा है ? अभी तो दृष्टि फैली हुई है। लक्ष्य होनेपर तो वही दीखेगा, जो लक्ष्य होगा। लक्ष्यके सिवाय दूसरा कुछ दीखेगा ही नहीं। इसी प्रकार जबतक मनुष्यका लक्ष्य एक नहीं हुआ है, तबतक वह अनन्य कैसे हुआ ? अव्यभिचारी 'अनन्ययोग' होना

चाहिये—'**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी**' (गीता १३।१०)। 'अन्ययोग' नहीं होना चाहिये अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि, अहं आदिकी सहायता नहीं होनी चाहिये। वहाँ तो केवल एक भगवान् ही होने चाहिये।

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजसे किसीने कहा—'तुम जिन रामललाकी भक्ति करते हो, वे तो बारह कलाके अवतार हैं, पर सूरदासजी जिन भगवान् कृष्णकी भक्ति करते हैं, वे सोलह कलाके अवतार हैं! यह सुनते ही गोस्वामीजी महाराज उसके चरणोंमें गिर पड़े और बोले—'अहो! आपने बड़ी भारी कृपा कर दी! मैं तो रामको दशरथजीके लाडले कुँवर समझकर ही भक्ति करता था। अब पता लगा कि वे बारह कलाके अवतार हैं! इतने बड़े हैं वे? आपने आज नयी बात बताकर बड़ा उपकार किया।' अब कृष्ण सोलह कलाके अवतार हैं—यह बात उन्होंने सुनी ही नहीं, इस तरफ उनका ध्यान ही नहीं गया।

भगवान्‌के प्रति भक्तोंके अलग-अलग भाव होते हैं। कोई कहता है कि दशरथजीकी गोदमें खेलनेवाले जो रामलला हैं, वे ही हमारे इष्ट हैं—***'इष्टदेव मम बालक रामा'*** (मानस ७।७५।३); राजाधिराज रामचन्द्रजी नहीं, छोटा-सा रामलला। कोई भक्त कहता है कि हमारे इष्ट तो लड्डूगोपाल हैं, नन्दके लाला हैं। वे भक्त अपने रामललाको, नन्दलालाको सन्तोंसे आशीर्वाद दिलाते हैं तो भगवान्‌को यह बहुत प्यारा लगता है। तात्पर्य है कि भक्तोंकी दृष्टि भगवान्‌के ऐश्वर्यकी तरफ जाती ही नहीं।

या ब्रजरज की परस से, मुकति मिलत है चार।
वा रजको नित गोपिका, डारत डगर बुहार॥

आँगनकी जिस रजमें कन्हैया खेलते हैं, वह रज कोई ले ले तो उसको चारों प्रकारकी मुक्ति मिल जाय। पर यशोदा मैया उसी रजको बुहारकर बाहर फेंक देती है। मैयाके लिये तो वह कूड़ा-करकट है। अब मुक्ति किसको चाहिये? मैयाका केवल कन्हैयाकी तरफ ही खयाल है। न तो कन्हैयाके ऐश्वर्यकी तरफ खयाल है और न योग्यताकी तरफ ही खयाल है।

सन्तोंने कहा है कि अगर भगवान्‌से मिलना हो तो साथमें साथी नहीं होना चाहिये और सामान भी नहीं होना चाहिये अर्थात् साथी और सामानके बिना उनसे मिलो। जब साथी, सहारा साथमें है तो तुम क्या मिले भगवान्‌से? और मन, बुद्धि, विद्या, धन आदि सामान साथमें बँधा रहेगा तो उसका परदा (व्यवधान) रहेगा। परदेमें मिलन थोड़े ही होता है? वहाँ तो कपड़ेका भी व्यवधान होता है। कपड़ा ही नहीं, माला भी आड़में आ जाय तो मिलन क्या हुआ? इस वास्ते साथमें कोई साथी और सामान न हो तो भगवान्‌से जो मिलन होगा, वह बड़ा विलक्षण और दिव्य होगा।

एक महात्माजीको खेतमें काम करनेवाला एक व्रजवासी ग्वाला मिल गया। वह भगवान्‌का भक्त था। महात्माजीने उससे पूछा—'तुम क्या करते हो?' उसने कहा—'हम तो अपने लाला कन्हैयाका काम करते हैं।' महात्माजीने कहा—'हम भगवान्‌के अनन्य भक्त हैं, तुम क्या हो?' उसने कहा—'हम फनन्य भक्त हैं।' महात्माजीने पूछा—'फनन्य भक्त क्या होता है?' तो उसने भी पूछा—'अनन्य भक्त क्या होता है?' महात्माजीने कहा—'अनन्य भक्त वह होता है जो सूर्य, शक्ति, गणेश, ब्रह्मा आदि किसीको भी न माने, केवल हमारे कन्हैयाको ही माने।' उसने कहा—'बाबाजी, हम तो इन ससुरोंका नाम भी नहीं जानते कि ये क्या होते हैं, क्या नहीं होते; हमें इनका पता ही नहीं है; तो हम फनन्य हो गये कि नहीं?' इस प्रकार ब्रह्म क्या होता है? आत्मा क्या होती है? सगुण और निर्गुण क्या होता है? साकार और निराकार क्या होता है? इत्यादि बातोंकी तरफ शरणागत भक्तका खयाल ही नहीं होना चाहिये।

व्रजकी एक बात है। एक सन्त कुएँपर किसीसे बात कर रहे थे कि ब्रह्म है, परमात्मा है, जीवात्मा है आदि। वहाँ एक गोपी जल भरने आयी। उसने कान लगाया कि बाबाजी क्या बात कर रहे हैं। जब वह गोपी दूसरी गोपीसे मिली तो उससे पूछा—'अरी सखी! यह ब्रह्म क्या होता है?' उसने कहा—'हमारे लालाका ही कोई अड़ोसी-पड़ोसी, सगा-सम्बन्धी होगा! हमलोग तो जानती नहीं सखी! ये लोग उसीकी धुनमें लगे हैं न? इस वास्ते सब जानते हैं। हमारे तो एक नन्दके लाला ही हैं। कोई काम हो तो नन्दबाबासे कह देंगे, गिरिराजसे कह देंगे कि महाराज! आप कृपा करो। कन्हैया तो भोला-भाला है, वह क्या समझेगा और क्या करेगा? कन्हैयासे क्या मिलेगा? अरी सखी! वह कन्हैया हमारा है, और क्या मिलेगा?' हम भी अकेले हैं और वह कन्हैया भी अकेला है। हमारे पास भी कुछ सामान नहीं और उसके पास भी कुछ सामान नहीं, बिल्कुल नंग-धड़ंग बाबा—***'नगन मूरति बाल-गोपालकी, कतरनी बरनी जग जालकी।'*** अब ऐसे कन्हैयासे क्या मिलेगा।

यशोदा मैया दाऊजीसे कहती हैं—'देख दाऊ! यह कन्हैया बहुत भोला-भाला है, तू इसका खयाल रखा कर कि कहीं यह जंगलमें दूर न चला जाय।' दाऊजी कहते हैं—'मैया! यह कन्हैया बड़ा चंचल है। जंगलमें मेरे साथ चलता है तो चलते-चलते कोई साँपका बिल देखता है तो उसमें हाथ

डाल देता है, अब इसे कोई साँप काट ले तो ?' मैया कहती है—'बेटा ! अभी यह छोटा-सा अबोध बालक है, तू बड़ा है, इस वास्ते तू इसकी निगाह रखा कर।' अब दाऊ भैया और सब ग्वाल-बाल कन्हैयाकी निगाह रखते हैं। ग्वाल-बाल और यशोदा मैयासे कोई कहे कि कन्हैया तो सब दुनियाका पालन करता है तो वे यही कहेंगे कि तुम्हारा ऐसा भगवान् होगा जो सब दुनियाका पालन करता होगा। हमारा तो ऐसा नहीं है। हमारा छोटा-सा कन्हैया दुनियाका क्या पालन करेगा ?

एक बाबाजीकी गोपियोंसे बातचीत चली। वे बाबाजी बात करते-करते कहने लगे कि कृष्ण इतने ऐश्वर्यशाली हैं, उनका इतना माधुर्य है, उनके पास ऐश्वर्यका इतना खजाना है आदि, तो गोपियाँ कहने लगीं—'महाराज ! उस खजानेकी चाबी तो हमारे पास है ! कन्हैयाके पास क्या है ? उसके पास तो कुछ भी नहीं है। कोई उससे माँगेगा तो वह कहाँसे देगा ?' इस वास्ते किसीको कुछ चाहिये तो कन्हैयाके पास न जाये। कन्हैयाके पास, उसकी शरणमें तो वही जाये, जिसको कभी कुछ नहीं चाहिये। किसी भी अवस्थामें कुछ भी नहीं चाहिये। अर्थात् विपत्ति, मौत आदिकी अवस्थामें भी 'मेरी थोड़ी सहायता कर दो, रक्षा कर दो' ऐसा भाव नहीं हो।

भगवान् श्रीरामसे वाल्मीकिजी कहते हैं—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

(मानस २। १३१)

कुछ भी चाहनेका भाव न होनेसे भगवान् स्वाभाविक ही प्यारे लगते हैं, मीठे लगते हैं—*'तुम्ह सन सहज सनेहु'* जिसमें चाह नहीं है, वह भगवान्‌का खास घर है—*'सो राउर निज गेहु।'* यदि चाहना भी साथमें रखें और भगवान्‌को भी साथमें रखें तो वह भगवान्‌का खास घर नहीं है। भगवान्‌के साथ 'सहज' स्नेह हो, स्नेहमें कोई मिलावट न हो अर्थात् कुछ भी चाहना न हो। जहाँ कुछ भी चाहना हो जाय, वहाँ प्रेम कैसा ? वहाँ तो आसक्ति, वासना, मोह, ममता ही होते हैं। इस वास्ते गोपियाँ सावधान करती हुई कहती हैं—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या
दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे
धूतः समाकर्षति चित्तवित्तम्॥

'अरे पथिको ! उस गलीसे मत जाना, वह बड़ी भयावनी है ! वहाँ अपने नितम्बबिम्बपर दोनों हाथ रखे जो तमालके समान नीले रंगका एक नंग-धड़ंग बालक खड़ा है, वह केवल देखनेमात्रका अवधूत है। वास्तवमें तो वह अपने पाससेसे होकर निकलनेवाले किसी भी पथिकके चित्तरूपी धनको लूटे बिना नहीं रहता।'

वह जो काला-काला नंग-धड़ंग बालक खड़ा है न ? उससे तुम लुट जाओगे, रीते रह जाओगे ! वह ऐसा चोर है कि सब खत्म कर देगा। उधर जाना ही मत, पहले ही खयाल रखना। अगर चले गये तो फिर सदाके लिये ही चले गये ! इस वास्ते कोई अच्छी तरहसे जीना चाहे तो उधर मत जाय। उसका नाम कृष्ण है न ? कृष्ण कहते हैं खींचनेवालेको। एक बार खींच ले तो फिर छोड़े ही नहीं। उससे पहचान न हो, तबतक तो ठीक है। अगर उससे पहचान हो गयी तो फिर मामला खत्म। फिर किसी कामके नहीं रहोगे, त्रिलोकीभरमें निकम्मे हो जाओगे !

'नारायन' बौरी भई डोलै, रही न काहू काम की॥
जाहि लगन लगी घनस्याम की।

हाँ, जो किसी कामका नहीं होता, वह सबके लिये सब कामका होता है। परंतु उसको किसी कामसे कोई मतलब नहीं होता।

शरणागत भक्तको भजन भी करना नहीं पड़ता। उसके द्वारा स्वतः स्वाभाविक भजन होता है। भगवान्‌का नाम उसे स्वाभाविक ही बड़ा मीठा, प्यारा लगता है। अगर कोई पूछे कि तुम श्वास क्यों लेते हो ? यह हवाको भीतर-बाहर करनेका क्या धंधा शुरू कर रखा है ? तो यही कहेंगे कि भाई ! यह धंधा नहीं है, इसके बिना हम जी ही नहीं सकते। ऐसे ही शरणागत भक्त भजनके बिना रह ही नहीं सकता। जिसको सब कुछ अर्पित कर दिया, उसके विस्मरणमें परम व्याकुलता, महान् छटपटाहट होने लगती है—**'तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति'** (नारदभक्तिसूत्र १९)। ऐसे भक्तसे अगर कोई कहे कि आधे क्षणके लिये भगवान्‌को भूल जाओ तो त्रिलोकीका राज्य मिलेगा तो वह इसे भी ठुकरा देगा। भागवतमें आया है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृति-
रजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥

(११। २। ५३)

'तीनों लोकोंके समस्त ऐश्वर्यके लिये भी उन देवदुर्लभ भगवच्चरणकमलोंको जो आधे निमेषके लिये भी नहीं त्याग

सकते, वे ही श्रेष्ठ भगवद्भक्त हैं।'

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१४)

'भगवान् कहते हैं कि स्वयंको मेरे अर्पित करनेवाला भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य, पातालादि लोकोंका राज्य, योगकी समस्त सिद्धियाँ और मोक्षको भी नहीं चाहता।'

भरतजी कहते हैं—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥

(मानस २।२०४)

भगवत्प्रेम

चित्तसे सब कर्म भगवान्‌के अर्पित करनेसे संसारसे नित्यवियोग हो जाता है* और भगवान्‌के परायण होनेसे भगवान्‌से नित्ययोग हो जाता है। इस नित्ययोग (प्रेम) में योग, नित्ययोगमें वियोग, वियोगमें नित्ययोग और वियोगमें वियोग—ये चार अवस्थाएँ चित्तकी वृत्तियोंको लेकर होती हैं। इन चारों अवस्थाओंको इस प्रकार समझना चाहिये—

जैसे, श्रीराधा और श्रीकृष्णका परस्पर मिलन होता है तो यह 'नित्ययोगमें योग' है। मिलन होनेपर भी श्रीजीमें ऐसा भाव आ जाता है कि प्रियतम कहीं चले गये हैं और वे एकदम कह उठती हैं कि 'प्यारे ! तुम कहाँ चले गये !' तो यह 'नित्ययोगमें वियोग' है। श्यामसुन्दर सामने नहीं हैं, पर मनसे उन्हींका गाढ़ चिन्तन हो रहा है और वे मनसे प्रत्यक्ष मिलते हुए दीख रहे हैं, तो यह 'वियोगमें नित्ययोग' है। श्यामसुन्दर थोड़े समयके लिये सामने नहीं आये, पर मनमें ऐसा भाव है कि बहुत समय बीत गया, श्यामसुन्दर मिले नहीं, क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? श्यामसुन्दर कैसे मिलें ? तो यह 'वियोगमें वियोग' है।

वास्तवमें इन चारों अवस्थाओंमें भगवान्‌के साथ नित्ययोग ज्यों-का-त्यों बना रहता है, वियोग कभी होता ही नहीं, हो सकता ही नहीं और होनेकी सम्भावना भी नहीं। इसी नित्ययोगको 'प्रेम' कहते हैं; क्योंकि प्रेममें प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों अभिन्न रहते हैं। वहाँ भिन्नता कभी हो ही नहीं सकती। प्रेमका आदान-प्रदान करनेके लिये ही भक्त और भगवान्‌में संयोग-वियोगकी लीला हुआ करती है।

यह प्रेम प्रतिक्षण वर्द्धमान किस प्रकार है ? जब प्रेमी और प्रेमास्पद परस्पर मिलते हैं, तब 'प्रियतम पहले चले गये थे, उनसे वियोग हो गया था; अब कहीं ये फिर न चले जायँ !'† इस भावके कारण प्रेमास्पदके मिलनेमें तृप्ति नहीं होती, संतोष नहीं होता। वे चले जायँगे—इस बातको लेकर मन ज्यादा खिंचता है। इस वास्ते इस प्रेमको प्रतिक्षण वर्द्धमान बताया है।

'प्रेम' (भक्ति)में चार प्रकारका रस अथवा रति होती है—दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इन रसोंमें दास्यसे सख्य, सख्यसे वात्सल्य और वात्सल्यसे माधुर्य-रस श्रेष्ठ है; क्योंकि इनमें क्रमशः भगवान्‌के ऐश्वर्यकी विस्मृति ज्यादा होती चली जाती है। परंतु जब इन चारोंमेंसे कोई एक भी रस पूर्णतामें पहुँच जाता है, तब उसमें दूसरे रसोंकी कमी नहीं रहती अर्थात् उसमें सभी रस आ जाते हैं। जैसे दास्यरस, पूर्णतामें पहुँच जाता है तो उसमें सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—तीनों रस आ जाते हैं। यही बात अन्य रसोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। कारण यह है कि भगवान् पूर्ण हैं, उनका प्रेम भी पूर्ण है और परमात्माका अंश होनेसे जीव स्वयं भी पूर्ण है। अपूर्णता तो केवल संसारसे सम्बन्ध होनेसे ही आती है। इस वास्ते भगवान्‌के साथ किसी भी रीतिसे रति हो जायगी तो वह पूर्ण हो जायगी, उसमें कोई कमी नहीं रहेगी।

'दास्य' रतिमें भक्तका भगवान्‌के प्रति यह भाव रहता है

---

* वास्तवमें संसारके साथ कभी संयोग हो नहीं सकता। उसका तो नित्य ही वियोग रहता है। जैसे, मनमें किसी वस्तुका चिन्तन होता है तो वह उस वस्तुका माना हुआ संयोग है, जिससे उस वस्तुके न मिलनेका दुःख होता है। जब वस्तु (बाहरसे) मिल जाती है, तब उस वस्तुका भीतरसे वियोग हो जाता है, जिससे सुख होता है। ऐसे ही किसी कारणसे बाहरसे वस्तु चली जाय, नष्ट हो जाय तो मनसे उस वस्तुका संयोग होनेपर दुःख होता है और विवेक-विचारके द्वारा 'यह वस्तु हमारी थी ही नहीं, हमारी हो सकती ही नहीं' इस प्रकार वस्तुको मनसे निकाल देनेपर सुख होता है। तात्पर्य यह है कि भीतरसे संयोग माना तो बाहरसे वियोग है और बाहरसे संयोग माना तो भीतरसे वियोग है। अतः वास्तवमें संसारके साथ नित्य वियोग ही रहता है। मनुष्य केवल भूलसे संसारके साथ संयोग मान लेता है।

† योग और वियोगमें प्रेम-रसकी वृद्धि होती है। यदि सदा योग ही रहे, वियोग न हो तो प्रेम-रस बढ़ेगा नहीं, प्रत्युत अखण्ड और एकरस रहेगा। इस वास्ते प्रेम-रसको बढ़ानेके लिये भगवान् अन्तर्धान भी हो जाते हैं।

कि भगवान् मेरे स्वामी हैं और मैं उनका सेवक हूँ। मेरेपर उनका पूरा अधिकार है। वे चाहे जो करें, चाहे जैसी परिस्थितिमें रखें और मेरेसे चाहे जैसा काम लें। मेरेपर अत्यधिक अपनापन होनेसे ही वे बिना मेरी सम्मति लिये ही मेरे लिये सब विधान करते हैं।

'सख्य' रतिमें भक्तका भगवान्‌के प्रति यह भाव रहता है कि भगवान् मेरे सखा हैं और मैं उनका सखा हूँ। वे मेरे प्यारे हैं और मैं उनका प्यारा हूँ। उनका मेरेपर पूरा अधिकार है और मेरा उनपर पूरा अधिकार है। इस वास्ते मैं उनकी बात मानता हूँ तो मेरी भी बात उनको माननी पड़ेगी।

'वात्सल्य' रतिमें भक्तका अपनेमें स्वामिभाव रहता है कि मैं भगवान्‌की माता हूँ या मैं उनका पिता हूँ अथवा मैं उनका गुरु हूँ और वह तो हमारा बच्चा है अथवा शिष्य है; इस वास्ते उनका पालन-पोषण करना है। उनकी निगरानी भी रखनी है कि कहीं वह अपना नुकसान न कर ले! जैसे—नन्दबाबा और यशोदा मैया कन्हैयाका खयाल रखते हैं और कन्हैया वनमें जाता है तो उसकी निगरानी रखनेके लिये दाऊजीको साथमें भेजते हैं!

'माधुर्य'* रतिमें भक्तको भगवान्‌के ऐश्वर्यकी विशेष स्मृति रहती है, इस वास्ते इस रतिमें भक्त भगवान्‌के साथ अपनी अभिन्नता (घनिष्ठ अपनापन) मानता है। अभिन्नता माननेसे 'उनके लिये सुखदायी सामग्री जुटानी है, उन्हें सुख-आराम पहुँचाना है, उनको किसी तरहकी कोई तकलीफ न हो'—ऐसा भाव बना रहता है।

प्रेम-रस अलौकिक है, चिन्मय है। इसका आस्वादन करनेवाले केवल भगवान् ही होते हैं। प्रेममें प्रेमी और प्रेमास्पद—दोनों ही चिन्मय-तत्त्व होते हैं। कभी प्रेमी प्रेमास्पद बन जाता है और कभी प्रेमास्पद प्रेमी हो जाता है। इस वास्ते एक चिन्मय-तत्त्व ही प्रेमका आस्वादन करनेके लिये दो रूपोंमें हो जाता है।

प्रेमके तत्त्वको न समझनेके कारण कुछ लोग सांसारिक कामको ही प्रेम कह देते हैं। उनका यह कहना बिलकुल गलत है; क्योंकि काम तो चौरासी लाख योनियोंके सम्पूर्ण जीवोंमें रहता है और उन जीवोंमें भी जो भूत, प्रेत, पिशाच होते हैं, उनमें काम (सुखभोगकी इच्छा) अत्यधिक होता है। परन्तु प्रेमके अधिकारी जीवन्मुक्त महापुरुष ही होते हैं।

काममें लेने-ही-लेनेकी भावना होती है और प्रेममें देने-ही-देनेकी भावना होती है। काममें अपनी इन्द्रियोंको तृप्त करने—उनसे सुख भोगनेका भाव रहता है और प्रेममें अपने प्रेमास्पदको सुख पहुँचाने तथा सेवा-परायण रहनेका भाव रहता है। काम केवल शरीरको लेकर ही होता है और प्रेम स्थूलदृष्टिसे शरीरमें दीखते हुए भी वास्तवमें चिन्मय-तत्त्वसे ही होता है। काममें मोह (मूढ़भाव) रहता है और प्रेममें मोहकी गन्ध भी नहीं रहती। काममें संसार तथा संसारका दुःख भरा रहता है और प्रेममें मुक्ति तथा मुक्तिसे भी विलक्षण आनन्द रहता है। काममें जड़ता (शरीर, इन्द्रियाँ आदि) की मुख्यता रहती है और प्रेममें चिन्मयता (चेतन स्वरूप) की मुख्यता रहती है। काममें राग होता है और प्रेममें त्याग होता है। काममें परतन्त्रता होती है और प्रेममें परतन्त्रताका लेश भी नहीं होता अर्थात् स्वतन्त्रता होती है। काममें 'वह मेरे काममें आ जाय' ऐसा भाव रहता है और प्रेममें 'मैं उसके काममें आ जाऊँ' ऐसा भाव रहता है। काममें कामी भोग्य वस्तुका गुलाम बन जाता है और प्रेममें स्वयं भगवान् प्रेमीके गुलाम बन जाते हैं। कामका रस नीरसतामें बदलता है और प्रेमका रस आनन्दरूपसे प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। काम खिन्नतासे पैदा होता है और प्रेम प्रेमास्पदकी प्रसन्नतासे प्रकट होता है। काममें अपनी प्रसन्नताका ही उद्देश्य रहता है और प्रेममें प्रेमास्पदकी प्रसन्नताका ही उद्देश्य रहता है। काम-मार्ग

* लोग प्रायः माधुर्यभावमें स्त्री-पुरुषका भाव ही समझते हैं; परंतु यह भाव स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमें ही होता है—यह नियम नहीं है। माधुर्य नाम मधुरता अर्थात् मिठासका है और वह मिठास आती है भगवान्‌के साथ अभिन्नता होनेसे। वह अभिन्नता जितनी अधिक होगी, मधुरता भी उतनी ही अधिक होगी। इस वास्ते दास्य, सख्य और वात्सल्यभावमेंसे किसी भी भावमें पूर्णता होनेपर उसमें मधुरता कम नहीं रहेगी। अतः भक्तिके सभी भावोंमें माधुर्यभाव रहता है।

अभेद और अभिन्नतामें भेद है। जिसमें केवल एक तत्त्व ही रह जाय, द्वैतभाव सर्वथा समाप्त हो जाय, उसका नाम 'अभेद' है और दो होते हुए भी एक रहनेका नाम 'अभिन्नता' है; जैसे—दो मित्रोंमें भीतरसे घनिष्ठता होनेसे अभिन्नता रहती है। अभिन्नता जितनी गाढ़ होती है, उतना ही माधुर्यरस प्रकट होता है। इसीको प्रेम-रस कहते हैं। भगवान् भी इस प्रेम-रसके लोभी हैं। इस प्रेम-रसका आस्वादन करनेके लिये ही भगवान् एकसे अनेक रूपोंमें हो जाते हैं—'एकाकी न रमते' (बृहदारण्यक० १।४।३), 'सदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' (छान्दोग्य० ६।२।३)।

नरकोंकी तरफ ले जाता है और प्रेम-मार्ग भगवान्‌की तरफ ले जाता है। काममें दो होकर दो ही रहते हैं अर्थात् द्वैधीभाव (भिन्नता या भेद) कभी मिटता नहीं और प्रेममें एक होकर दो होते हैं अर्थात् अभिन्नता कभी मिटती नहीं* ।

═══ ★ ═══

* द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया। भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥
पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे। तादृशी यदि भक्तिः स्यात्सा तु मुक्तिशताधिका॥

'बोधसे पहलेका द्वैत मोहके लिये होता है। परंतु बोध हो जानेपर भक्तिके लिये बुद्धिसे कल्पित द्वैत-अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर है।'
'वास्तविक तत्त्व तो अद्वैत ही है, पर भजनके लिये द्वैत है। ऐसी यदि भक्ति है तो वह भक्ति मुक्तिसे भी सौगुनी श्रेष्ठ है।'

शीघ्र भगवत्प्राप्ति कैसे हो ?

साधकोंके सम्मुख दो बातें विशेषरूपसे आती हैं—एक संसारकी और दूसरी परमात्माकी। संसार नाशवान् है और परमात्मा अविनाशी हैं। संसारके सम्बन्धसे दुःख-ही-दुःख होता है और परमात्माके सम्बन्धसे आनन्द-ही-आनन्द होता है, दुःखका लेश भी नहीं होता। संसारका आश्रय कभी टिकता ही नहीं है और परमात्माका आश्रय कभी मिटता नहीं है। इन बातोंको हम संत-महापुरुषोंसे सुनते हैं, वेद पुराणादि शास्त्रोंमें पढ़ते हैं और स्वयं मानते भी हैं, परन्तु ऐसा मानते हुए भी हमारा दुःख दूर क्यों नहीं हो रहा है ? हमें परम आनन्दकी प्राप्ति क्यों नहीं हो रही है ? हमें भगवान् क्यों नहीं मिल रहे हैं ?

अभी जैसे ***'हरिः शरणम्, हरिः शरणम्'*** कीर्तन हुआ तो भगवान्‌के चरणोंकी शरण लेना बहुत ही बढ़िया बात है, क्योंकि संसारका आश्रय टिकेगा नहीं, भगवान्‌का आश्रय ही टिकेगा। ये बातें सुनते हैं, समझते हैं, मानते हैं, फिर भी वह गुत्थी कहाँ उलझी हुई है जो सुलझती नहीं है। इस समस्यापर हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करना है।

इस विषयमें अनेक बातें कही जा सकती हैं; परन्तु एक बातपर हमें विशेष ध्यान देना है। वह यह है कि बातें सुनने, पढ़नेसे केवल बौद्धिक या बातूनी ज्ञान होता है। परमात्म-तत्त्वकी प्राप्तिमें अपनी उत्कट अभिलाषा ही काम आती है, बौद्धिक या बातूनी ज्ञान कुछ भी काम नहीं आता। जिस दिन हमें संसारका सम्बन्ध सुहायेगा नहीं और हम परमात्माके बिना रह सकेंगे नहीं, उसी दिन हमें परमात्माकी प्राप्ति हो जायेगी।

संसार असत्य है—ऐसा मानते हुए भी यदि हम सांसारिक सुख-भोगोंको भोगते रहेंगे तो उससे हमें कोई लाभ नहीं होगा। परमात्मा सत्य हैं, उनका नाम सत्य है— ऐसा कहनेमात्रसे कोई विशेष लाभ नहीं होगा। उलझन ज्यों-की-त्यों ही बनी रहेगी। इस उलझनको तभी मिटाया जा सकता है, जब हमारी वर्तमान समस्या यही बन जाय कि संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद कैसे हो ? परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो ?

यह ठीक है कि हम परमात्माकी प्राप्ति चाहते हैं; तत्त्वज्ञान चाहते हैं; मुक्ति चाहते हैं; भगवान्‌के दर्शन चाहते हैं, भगवत्प्रेम चाहते हैं; परन्तु हमारी इस चाहकी सिद्धिमें एक बहुत बड़ी बाधा हमारी यह मान्यता है कि 'भविष्यमें काफी समयके बाद—भगवत्प्रेम होगा; समय लगेगा; तब कहीं भगवान् दर्शन देंगे; समय पाकर ही तत्त्वज्ञान होगा, परमात्माकी प्राप्तिमें तो समय लगेगा' इत्यादि। यह जो भविष्यकी आशा है कि फिर होगा, वही परमात्मप्राप्तिमें सबसे बड़ी बाधा है! सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये तो भविष्यकी आशा करना उचित है; क्योंकि सांसारिक पदार्थ सदा सब जगह विद्यमान नहीं हैं, परन्तु सच्चिदानन्दघन परमात्मा तो सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु और व्यक्तिमें विद्यमान हैं, उनकी प्राप्तिमें भविष्यका क्या काम ? इस तथ्यकी ओर प्रायः साधकोंका ध्यान ही नहीं जाता। वे यही मान बैठते हैं कि 'इतना साधन करेंगे; इतना नाम जप करेंगे; ऐसी-ऐसी वृत्तियाँ बनेंगी; इतना अन्तःकरण शुद्ध होगा, इतना वैराग्य होगा; भगवान्‌में इतना प्रेम होगा; ऐसी अवस्था होगी, ऐसी योग्यता होगी—तब कहीं परमात्माकी प्राप्ति होगी! इस प्रकारकी अनेक आड़ें (रुकावटें) साधकोंने स्वयं ही लगा रखी हैं यही महान् बाधा है।

जिस दिन साधकके भीतर यह उत्कट अभिलाषा जाग्रत् हो जाती है कि परमात्मा अभी ही प्राप्त होने चाहिये अभी, अभी······ अभी ! उसी दिन उसे परमात्मप्राप्ति हो सकती है ! साधककी योग्यता, अभ्यास आदिके बलपर परमात्माकी प्राप्ति हो जाय—यह सर्वथा असम्भव है। परमात्माकी प्राप्ति केवल उत्कट अभिलाषासे ही हो सकती है।

आप सगुण या निर्गुण, साकार या निराकार—किसी भी तत्त्वको मानते हों, उसके बिना आपसे रहा नहीं जाय, उसके बिना चैन न पड़े। भक्तिमती मीराबाईने कहा है—

हेली म्हाँस्यूँ हरि बिन रह्यो न जाय॥

'हे सखी ! मुझसे हरिके बिना रहा नहीं जाता।'

निर्गुण-उपासकोंने भी यही कहा है—

दिन नहिं भूख रैन नहिं निद्रा,
छिन-छिन व्याकुल होत हिया, चितवन मोरी तुमसे लागी पिया ॥

तत्त्वकी प्राप्तिके बिना दिनमें भूख नहीं लगती और रातमें नींद नहीं आती ! आप कैसे मिलें ! क्या करूँ ? हृदयमें क्षण-क्षण व्याकुलता बढ़ रही है। उसे छोड़कर और कुछ सुहाता नहीं।

सन्तोंने भी कहा है—

'नारायण' हरि लगन में ये पाँचों न सुहात।
विषय भोग, निद्रा हँसी, जगत प्रीति, बहु बात ॥

ये विषयभोगादि पाँचों चीजें जिस दिन सुहायेंगी नहीं, अपितु कड़वी अर्थात् बुरी लगेंगी, भगवान्का वियोग सहा नहीं जायेगा। उसी दिन प्रभु मिल जायेंगे। इतने प्यारे भगवान् ! इतने प्रियतम परमात्मा ! जिनके समान कोई प्यारा हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं, ऐसे अपने प्यारे प्रभुके वियोगमें हम दिन बिता रहे हैं ! उनके मिले बिना ही हम सुखसे रह रहे हैं !

भगवान् कहते हैं इतनेसे ही काम चलाओ औरकी जरूरत नहीं है, इसलिये चाह पूरी नहीं करते। परन्तु जो भगवान्के लिये दुःखी हो जायेगा उसका दुःख भगवान्से नहीं सहा जायेगा। उनके मिले बिना ही हम नींद लेते हैं, आराम करते हैं ! बड़ा काला दिन है। इस प्रकार यदि उस प्रभुके बिना क्षण-क्षणमें महान् दुःख होने लगे, प्राण छटपटाने लगें तो भगवान् उसी समय मिल जायेंगे। उनके मिलनेमें देरी नहीं है। भक्तका भगवत्प्राप्ति-विषयक दुःख वे सह नहीं सकते। वे कृपाके समुद्र हैं !

फिर भी संसार दुःखी है न ! संसार तो दुःखके लिये ही दुःखी हो रहा है। इसे दुःख चाहिये, इसे आफत और चाहिये, धन और चाहिये, बेटा-पोता और चाहिये ! भगवान्के लिये अगर दुःखी हो जाय तो वे तुरन्त आ जायेंगे। इसके लिये भीतर एकमात्र यही लगन पैदा हो जाय कि भगवान्के दर्शन कैसे हों ? भगवान् कैसे मिलें ? क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? ऐसी छटपटाहट तो लगे !

भगवान् प्राणिमात्रका आकर्षण कर रहे हैं—उन्हें खींच रहे हैं, इसीलिये उन्हें कृष्ण कहते हैं। प्राणी जिस अवस्था या परिस्थितिमें रहता है, उसमें भगवान् उसे टिकने नहीं देते—यही उनका खींचना है ! यह भगवान्का बुलावा है कि मेरे पास आओ ! गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

(८।१६)

'हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ति अर्थात् जिनको प्राप्त होकर पीछे संसारमें आना पड़े, ऐसे हैं, परन्तु हे कौन्तेय ! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता।'

तात्पर्य यह है कि भगवत्प्राप्तिके बिना मनुष्य कहीं भी टिकता नहीं है और बारंबार संसारमें ही घूमता रहता है। भगवान्को प्राप्त होनेपर ही मनुष्य टिकता है।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

(गीता १५।६)

'जहाँ जानेपर मनुष्य लौटकर नहीं आता, वह मेरा परमधाम है।'

आप चाहे कितनी भी शक्ति लगा लें, न तो शरीर सदा रहेगा और न कुटुम्बी ही सदा रहेंगे। संसारकी कोई भी वस्तु आपके पास सदा नहीं रहेगी। कारण यही है कि भगवान् निरन्तर आपको खींच रहे हैं। यह उनकी हमपर महान् कृपा है ! अतएव यदि आप संसारसे विमुख हो जाओगे तो भगवान्की प्राप्ति हो जायेगी और आप सदाके लिये सुखी हो जाओगे। यदि संसारमें ही रचे-पचे रहे तो दुःखका अन्त कभी आयेगा ही नहीं और नित्य नया-से-नया, तरह-तरहका दुःख मिलता ही रहेगा।

यह बड़े दुःखकी बात है कि लोग भगवान् और सन्त-महात्माओंसे भी सांसारिक सुख माँगते हैं ! दान-पुण्यादि करके भी बदलेमें सांसारिक भोग चाहते हैं। परमात्मतत्त्वको बेचकर बदलेमें महान् दुःखोंके जालरूप संसारको खरीद लेते हैं। यह महान् कलंककी बात है ! गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई ॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ॥

(मानस ७।४३।१)

मूर्ख लोग अमृतको देकर बदलेमें जहर ले लेते हैं। परमात्मप्राप्तिके लिये मिले हुए इस मनुष्य-शरीरमें नाशवान् सांसारिक पदार्थोंकी माँगका रहना बड़ी लज्जाकी बात है। यदि आप कहें कि इस माँगके बिना हमसे रहा नहीं जाता तो आप आर्त होकर भगवान्से प्रार्थना करें कि हे प्रभो ! यह भोग-पदार्थोंकी माँग हमसे मिटती नहीं है, अतएव आप ही इसे मिटा दें। यदि आपकी यह प्रार्थना सच्ची होगी तो भगवान् अवश्य मिटा देंगे। परन्तु आप तो भोग-पदार्थोंमें और उसकी माँगमें रस लेते हैं, उनमें प्रसन्न होते हैं आपकी मिटानेकी इच्छा ही नहीं है फिर माँग मिटे कैसे ?

भगवान्के समान कोई भी नहीं है। अर्जुन भगवान्से कहते हैं।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो-
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥
(गीता ११।४३)

'हे अनुपम प्रभाववाले प्रभो! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है।'

ऐसे सर्वोपरि भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये हमारे भीतर उत्कट अभिलाषा होनी चाहिये। वे कितने मधुर हैं। जब वे हाथोंमें वंशी लेकर त्रिभंगीरूपमें खड़े होते हैं तो कितने प्यारे लगते हैं। उनमें कितना आकर्षण है! कितनी प्रियता है! साधक यदि थोड़ा भी उनका ध्यान करे तो विह्वल हो जाय। उसकी वृत्ति संसारकी तरफ जा ही न सके।

'नारायन' बिना मोल बिकी हों याकी नैक हसन में।
मोहन बसि गयो मेरे मन में।

वे प्रभु यदि थोड़ा-सा भी मुस्करा दें तो आपका सब कुछ समाप्त हो जायेगा; शेष कुछ भी नहीं बचेगा। आपको कुछ नहीं करना पड़ेगा। प्रेम, ज्ञान, मुक्ति आदिका उसके सम्मुख कोई मूल्य नहीं। संतोंने कहा है—

चाहै तू योग करि भृकुटी-मध्य ध्यान धरि,
चाहै नाम रूप मिथ्या जानिकै निहारि लै।
निर्गुन, निर्भय, निराकार ज्योति व्याप रही,
ऐसो तत्त्वज्ञान निज मन में तू धारि लै॥
'नारायन' अपने कौ आप ही बखान करि,
मोतें, वह भिन्न नहीं, या विधि पुकारि लै।
जौलौं तोहि नंद कौ कुमार नाहिं दृष्टि पर्‌यो,
तौलौं तू भलै ही बैठि ब्रह्म को विचारि लै॥

उस नन्दकुमारमें इतना आकर्षण है कि एक बार उसके दृष्टिगोचर होनेपर फिर ब्रह्म-विचार करनेकी शक्ति ही नहीं रहती। ऐसे प्रभुके रहते हुए हम नाशवान् एवं दुःख देनेवाले सांसारिक पदार्थोंमें फँसे हुए हैं और फँस ही नहीं रहे हैं उनकी माँग कर रहे हैं। मान-बड़ाई, आराम, निरोगता, सुख-सुविधा, धन-सम्पत्ति आदि अनेक प्रकारके भोग्य पदार्थोंको चाहते हैं— यह बड़ी भारी बाधा है।

यदि भगवत्प्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा जाग्रत् न भी हो तो भी आप घबरायें नहीं। भगवान् कहते हैं—**'व्यवसायात्मिका-बुद्धिरेकेह'** (गीता २।४१) 'निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है'। अतएव आप यही दृढ़ निश्चय कर लें कि हम तो एक भगवान्‌की तरफ ही चलेंगे। यदि केवल भगवान्‌की तरफ चलनेकी इस अभिलाषाको ही विचारपूर्वक जाग्रत् रखा जाय तो यह अभिलाषा अपने-आप उत्कट हो जायगी। इसका कारण यह है कि प्रभुकी अभिलाषा सही है और संसारकी अभिलाषा गलत है। हम भी (स्वरूपतः) अविनाशी हैं। परमात्मा भी अविनाशी है और परमात्मप्राप्तिकी अभिलाषा भी अविनाशी है। परन्तु संसार और संसारकी अभिलाषा—दोनों ही नाशवान् हैं। परमात्मविषयक अभिलाषा यदि थोड़ी-सी भी जाग्रत् हो जाय तो वह बड़ा भारी काम करती है।

अपने-अपने इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान करते हुए आप इसी समय हे नाथ! हे नाथ! ऐसे पुकारते हुए शान्त…… चुपचाप…… उनके चरणोंमें गिर जायँ। ऐसा मान लें कि हम उनके चरणोंमें ही पड़े हैं और सदा उनके चरणोंमें ही पड़े रहना है। इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं करना है, क्योंकि करनेके आधारपर भगवान्‌को खरीदा नहीं जा सकता। उनकी प्राप्तिमें अपनेको कभी अयोग्य न माने। जो सर्वथा अयोग्य या अनधिकारी होता है वही भगवच्चरणोंकी शरण होनेका अधिकारी होता है। जिसको संसारमें कोई पद या अधिकार नहीं मिलता, वह परमात्मप्राप्तिका अधिकारी होता है। भगवान्‌के चरणोंमें गिर जाना बहुत बड़ा भजन है। इसलिये ऐसा मानते हुए उनके चरणोंमें गिर जायँ कि यह हाड़-मांसका अपवित्र शरीर तथा मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ हमारे नहीं हैं और हम उनके नहीं हैं। हमारे केवल प्रभु हैं और हम केवल प्रभुके हैं।

पूरी गीता कहनेके बाद भगवान्‌ने सम्पूर्ण गोपनीयोंसे भी अतिगोपनीय बात यह कही—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८।६६)

'सम्पूर्ण धर्मों (कर्तव्यकर्मोंके आश्रय) को त्यागकर केवल एक मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।'

इसलिये दूसरे सब आश्रय त्यागकर एक प्रभुका ही आश्रय ले लें, क्योंकि यही टिकेगा, दूसरे आश्रय तो कभी टिक ही नहीं सकते।

अंतहि तोहि तजैंगे पामर! तू न तजै अब ही ते।
मन पछितैहैं अवसर बीते॥

भगवान् प्रेमके भूखे हैं

उपनिषदोंमें आता है कि '**एकाकी न रमते।**' इसका सीधी-सादी भाषामें अर्थ होता है कि भगवान्‌का अकेलेमें मन नहीं लगा। इसलिये उन्होंने सृष्टिकी रचना की। 'मैं एक ही बहुत रूपोंसे हो जाऊँ'—ऐसे संकल्पसे भगवान्‌ने मनुष्योंका निर्माण किया। इसका तात्पर्य यह दीखता है कि मनुष्योंका निर्माण भगवान्‌ने केवल अपने लिये किया है। संसारकी रचना चाहे मनुष्यके लिये की हो, पर मनुष्यकी रचना तो केवल अपने लिये की है। इसका क्या पता? भगवान्‌ने मनुष्यको ऐसी योग्यता दी है, जिससे वह तत्त्वज्ञानको प्राप्त करके मुक्त हो सकता है; भक्त हो सकता है; संसारकी सेवा भी कर सकता है और भगवान्‌की सेवा भी कर सकता है। यह संसारकी आवश्यकताकी पूर्ति भी कर सके और भगवान्‌की भूख भी मिटा सके, भगवान्‌को भी निहाल कर सके—ऐसी सामर्थ्य भगवान्‌ने मनुष्यको दी है! और किसीको भी ऐसी योग्यता नहीं दी, देवताओंको भी नहीं दी। भगवान्‌को भूख किस बातकी है? भगवान्‌को प्रेमकी भूख है। प्रेम भगवान्‌को प्रिय लगता है। प्रेम एक ऐसी विलक्षण चीज है, जिसकी आवश्यकता सबको रहती है।

एक आसक्ति होती है और एक प्रेम होता है। किसीसे हम अपने लिये स्नेह करते हैं, वह 'आसक्ति' होती है, राग होता है। रागसे ही कामना, इच्छा, वासना होती है, जो पतन करनेवाली, नरकोंमें ले जानेवाली है। जिसमें दूसरोंको सुख देनेका भाव होता है, वह 'प्रेम' होता है। आसक्तिमें लेना होता है और प्रेममें दूसरोंको देना होता है। दूसरोंको सुख देनेकी ताकत मनुष्यमें है। भगवान्‌ने मनुष्यको इतनी ताकत दी है कि वह दुनियामात्रका हित कर सकता है और अपना कल्याण कर सकता है। इतना ही नहीं, मनुष्य भगवान्‌की आवश्यकताकी पूर्ति भी कर सकता है, भगवान्‌के माँ-बाप भी बन सकता है, भगवान्‌का गुरु भी बन सकता है, भगवान्‌का मित्र भी बन सकता है और भगवान्‌का इष्ट भी बन सकता है! अर्जुनको भगवान् कहते हैं—'**इष्टोऽसि मे दृढमिति**' (गीता १८। ६४)।

जैसे लड़का अलग हो जाय तो माँ-बाप चाहते हैं कि वह हमारे पास आ जाय, ऐसे ही यह जीव भगवान्‌से अलग हो गया है, इसलिये भगवान्‌को भूख है कि यह मेरी तरफ आ जाय! इस भूखकी पूर्ति मनुष्य ही कर सकता है, दूसरा कोई नहीं। मनुष्य ही भगवान्‌से प्रेम कर सकता है। देवता तो भोगोंमें लगे हैं, नारकीय जीव बेचारे दुःख पा रहे हैं, चौरासी लाख योनियोंवाले जीवोंको पता ही नहीं कि क्या करें और क्या नहीं करें? इतना ऊँचा अधिकार प्राप्त करके भी मनुष्य दुःख पाता है तो बड़े भारी आश्चर्यकी बात है! होश ही नहीं है कि मेरेमें कितनी योग्यता है और भगवान्‌ने मेरेको कितना अधिकार दिया है! मैं कितना ऊँचा बन सकता हूँ, यहाँतक कि भगवान्‌का भी मुकुटमणि बन सकता हूँ! आप कृपा करके ध्यान दो कि कितनी विलक्षण बात है! जितने भक्त हुए हैं मनुष्योंमें ही हुए हैं और इतने ऊँचे दर्जेके हुए हैं कि भगवान् भी उनका आदर करते हैं! लोग संसारके आदरको ही बड़ा समझते हैं, पर भक्तोंका आदर भगवान् करते हैं, कितनी विलक्षण बात है! सारथि बन जायँ भगवान्! नौकर बन जायँ भगवान्! जूठन उठायें भगवान्! घरका काम-धंधा करें भगवान्! जिस तरहसे माता अपने बच्चेका पालन करके प्रसन्न होती है, इसी तरहसे भगवान् भी अपने भक्तका काम करके प्रसन्न होते हैं।

भगवान्‌का भक्तोंके प्रति एक वात्सल्य भाव रहता है। जैसे, चारेमें गोमूत्र या गोबरकी गंध भी आ जाय तो गाय वह चारा नहीं चरती। परंतु अपने नवजात बछड़ेको जीभसे चाटकर साफ कर देती है। वास्तवमें वह बछड़ेको साफ करनेके लिये ही नहीं चाटती, इसमें उसे खुदको एक आनन्द आता है। उसके आनन्दकी पहचान यह है कि अगर आप बछड़ेको धोकर साफ कर दोगे तो गायका दूध कम होगा और अगर गाय बछड़ेको चाटकर साफ करे तो उसका दूध ज्यादा होगा। गायकी जीभ इतनी कड़ी होती है कि चाटते-चाटते बछड़ेकी चमड़ीसे खून आ जाता है, फिर भी गाय छोड़ती नहीं; क्योंकि उसको एक आनन्द आता है। वात्सल्य प्रेममें गाय सब कुछ भूल जाती है। 'वत्स' नाम बछड़ेका है और बछड़ेसे होनेवाला प्रेम 'वात्सल्य प्रेम' कहलाता है।

भगवान्‌को भक्तका काम करनेमें आनन्द आता है, प्रसन्नता होती है। मनुष्य भगवान्‌की इच्छाकी पूर्ति कर सकता है, इतनी इसमें योग्यता है! परंतु यह दर-दर भटकता फिरता है—तुच्छ टुकड़ोंके लिये, पैसोंके लिये, भोगोंके लिये! राम-राम-राम! किधर चला गया तू! भगवान्‌को आनन्द देनेवाला होकर अपने सुखके लिये भटकता है और लालायित होता है! भगवान् भक्तका काम करनेके लिये अपयश सह लेते हैं, तिरस्कार सह लेते हैं, अपमान सह लेते हैं! भगवान्‌ने भक्तको बहुत ऊँचा दर्जा दिया है। भगवान् कहते हैं—'**अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।**' (भागवत ९। ४। ६३) ***'मैं तो हूँ भगतन को दास, भगत मेरे मुकुटमणि।'*** जिनकी स्फुरणामात्रसे अनन्त ब्रह्माण्डोंकी रचना हो जाती है, ऐसे

परमात्मा भक्तके वशमें हो जाते हैं और उसके इशारेपर नाचनेके लिये तैयार हो जाते हैं—***'ताहि अहीरकी छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पे नाच नचावें।'*** नौ लाख गायें नंदजीके यहाँ दुही जाती थीं, पर गोपियोंपर भगवान्‌का इतना प्रेम था कि वे कहतीं—'लाला, तुम नाचो तो तुम्हें छाछ देंगी' तो वे छाछके लिये नाचने लग जाते! हृदयका प्रेम भगवान्‌को बहुत मीठा लगता है। भगवान्‌से कोई कामना नहीं, कोई इच्छा नहीं, केवल भगवान् प्यारे लगें, मीठे लगें—यह भक्तोंका भाव होता है। यह जो प्रेम है, वह दोनोंको भाता है अर्थात् भक्त भगवान्‌से आनन्दित होते हैं और भगवान् भक्तसे। भगवान् और भक्त आपसमें एक-दूसरेको देखकर आनन्दित होते रहते हैं। इतनी योग्यता रहते हुए भी मनुष्य दरिद्री हो रहा है, अभावग्रस्त हो रहा है, यह बड़े भारी आश्चर्यकी बात है! होशमें नहीं आता कि मैं किस दर्जेका हूँ और क्या कर रहा हूँ? तुच्छ चीजोंके पीछे पड़कर यह अपना कितना नुकसान कर रहा है! झूठ, कपट, बेईमानी आदि करके महान् नरकोंमें जानेकी तैयारी कर रहा है। जिसमें यह भगवान्‌की प्राप्ति कर सकता है, उस अमूल्य समयको बर्बाद कर रहा है। हद हो गयी! अब तो चेत करो? जो समय गया, सो तो गया, अब भी लग जाओ भगवान्‌में! संसारके कामको अपना काम न समझकर भगवान्‌का समझ लो, इतनेसे ही भगवान् प्रसन्न हो जायँगे।

★

सच्चा आश्रय

किसी-न-किसीका आश्रय लेना मनुष्यमात्रका स्वभाव है। ऐसे तो जीवमात्र किसी-न-किसीका आश्रय लेना चाहता है, किसी-न-किसीको आधार बनाना चाहता है। ऐसा स्वभाव क्यों है? क्योंकि यह परमात्माका अंश है। अगर यह परमात्माका ही आश्रय ले तो फिर इसको दूसरा आश्रय लेनेकी जरूरत नहीं पड़ेगी। परन्तु जबतक यह परमात्माका आश्रय नहीं लेता, तबतक यह अनेक आश्रय लेता रहता है। लेना तो चाहिये भगवान्‌का आश्रय, पर उस जगह दूसरी चीजका आश्रय ले लेता है। धनका आश्रय ले लेता है, परिवारका आश्रय ले लेता है, विद्याका आश्रय ले लेता है, योग्यताका आश्रय ले लेता है, बलका आश्रय ले लेता है, पर यह आश्रय टिकता नहीं।

आश्रय परमात्माका ही लेना चाहिये—यह बात समझनेमें ठीक दीखती है और मानते भी हैं, पर दूसरा आश्रय छोड़ते नहीं। यद्यपि दूसरा आश्रय छोड़नेमें आप पराधीन नहीं हैं, स्वाधीन हैं, परन्तु दूसरेका विशेष आश्रय लेनेसे, उसका सुख पाते रहनेसे अपनेमें एक ऐसा वहम हो गया है कि इनका आश्रय छोड़नेपर हम कैसे रहेंगे, कैसे जीयेंगे? हमारा निर्वाह कैसे होगा? ऐसा भाव होनेसे अपनेमें यह कायरता आ गयी कि इनका आश्रय हम छोड़ नहीं सकते।

जब गाढ़ी नींद आती है, उस समय किसका आश्रय रहता है? किसीका आश्रय नहीं रहता, परमात्माका भी आश्रय नहीं रहता। उस अवस्थामें एक बेहोशी रहती है। बेहोशीमें संसारका आश्रय तो छूटता है, पर मूढ़ता (अज्ञान) का आश्रय रहता है। यह जो वहम है कि संसारके आश्रयके बिना हम जी नहीं सकेंगे, तो फिर सुषुप्तिमें आप कैसे जीते हैं? सुषुप्तिमें संसारका आश्रय न रहनेपर भी आप रहते हैं। कृपा करके एक और बातकी तरफ आप ध्यान दें। संसारका आश्रय लेनेसे इतना सुख नहीं मिलता, जितना सुख संसारका आश्रय छोड़नेसे, नींदमें मिलता है। संसारका आश्रय छोड़नेसे जो सुख मिलता है, जो ताजगी मिलती है, जो काम करनेकी शक्तिका संचय होता है, वह संसारका आश्रय लेते हुए नहीं होता। शक्तिका संचय दूर रहा, उलटे शक्ति खर्च होती है। धन, परिवार, बुद्धि, योग्यता आदि किसीका भी आश्रय लेते रहनेसे आप बेचैन हो जाते हैं, थक जाते हैं, आपकी शक्ति क्षीण हो जाती है, फिर आप सबको छोड़कर सो जाते हैं। सोते-सोते आपमें पुनः शक्ति आ जाती है। इस प्रकार संसारका आश्रय छूटनेसे आपके पास बहुत विलक्षण ताकत आयेगी; और परमात्माका आश्रय लेनेसे ताकतका कोई पारावार नहीं रहेगा, इतनी असीम, अपार ताकत आयेगी कि फिर भय, चिन्ता आदि रहेंगे ही नहीं। उसीके लिये कहा है—'**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः**' (गीता ६। २२)। उससे बढ़कर कोई लाभ हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं—परन्तु वह नाशवान्‌का आश्रय छोड़नेसे ही मिलेगा।

आपसे गलती यह होती है कि जिसको आप नाशवान् मानते हैं, जानते हैं, उसका आश्रय नहीं छोड़ते। जप-ध्यान करते हैं, कीर्तन करते हैं, चिन्तन करते हैं, पर साथ-साथ नाशवान्‌का आश्रय भी रखते हैं। नाशवान् संसारका आश्रय सर्वथा छोड़े बिना परमात्माका आश्रय पूरा नहीं लिया जाता। पूरा आश्रय लिये बिना पूरी शक्ति नहीं मिलती। परमात्माकी तरफसे कोई कमी नहीं है। आप परमात्माका जितना आश्रय लोगे, उतना आपको आश्वासन मिलेगा, शक्ति मिलेगी, लाभ होगा। परन्तु संसारका आश्रय सर्वथा छोड़कर परमात्माके

आश्रित हो जाओगे तो अपार बल मिलेगा।

वे परमात्मा कहाँ हैं—इसमें एक बात बतायें कि वे सबके हृदयमें हैं—**'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'** (गीता १५।१५); **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** (गीता १८।६१)। वे सम्पूर्ण जीवोंके भीतर हैं; परन्तु यह बाहरकी तरफ ही देखता है, भीतरकी तरफ देखता ही नहीं। आप अपनेको मानते हो कि मैं हूँ, उस मैं-पनका आश्रय आत्मा है, और आत्माका भी आश्रय परमात्मा है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७)। आपका आत्मा उस परमात्माका अंश है। आप एक क्षेत्रमें हैं और आपका अंशी परमात्मा सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें है—**'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत'** (गीता १३।२)। गोपिकाओंने कहा है—

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।

—'आप केवल यशोदानन्द ही नहीं हैं, प्रत्युत जितने भी शरीरधारी हैं, चाहे वे स्थावर हों, जंगम हों, देवता हों, राक्षस हों, भूत-प्रेत-पिशाच हों, नरकोंमें रहनेवाले हों, भजन-ध्यान करनेवाले हों, तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त हों, भगवत्प्रेमी हों, उन सबकी अन्तरात्माके द्रष्टा आप हैं। पर ऐसा होते हुए आप यहाँ कैसे आ गये?'

विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥

(श्रीमद्भा० १०।३१।४)

—'ब्रह्माजीने प्रार्थना की तो आप प्रकट हुए। किस लिये प्रार्थना की? **'विश्वगुप्तये'** अर्थात् संसारकी रक्षा करनेके लिये, क्योंकि संसारकी रक्षा आप ही कर सकते हैं और किसीमें ताकत नहीं है करनेकी। आप इन यादवोंके कुलमें प्रकट हुए हैं—**'उदेयिवान्'**, पैदा नहीं हुए हैं।' जैसे सूर्यका उदय होता है तो ऐसा कोई नहीं कहता कि सूर्य पैदा हो गया; क्योंकि उदय होनेसे पहले भी सूर्य है। जब वह हमारे सामने आ जाता है, तब उसका उदय होना कहते हैं। ऐसे ही वे परमात्मा प्रकट होते हैं, हमारे शरीरोंकी तरह जन्म नहीं लेते।

मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, व्यक्ति, वस्तुएँ, पदार्थ, रुपये-पैसे आदि कोई भी आपका नहीं है, आपके साथ रहता नहीं है, प्रतिक्षण आपसे अलग हो रहा है, फिर भी आप इनका आश्रय लेते हैं। ये मन, बुद्धि आदि आपके आश्रित रहते हैं, पर अपने आश्रित रहनेवाले वस्तुओंका आप आश्रय लेते हैं, अपने उद्योगसे पैदा होनेवाले धनका आश्रय लेते हैं—यह गलती करते हैं। इनका आश्रय न लेकर एक भगवान्का आश्रय लें—**'मामेकं शरणं व्रज'** (गीता १८।६६)। **'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥'** (गीता १८।६२)—जो सबके हृदयमें विराजमान है, उस ईश्वरकी ही सर्वभावसे शरण ले लो। उसकी कृपासे परमशान्ति (संसारसे सर्वथा उपरति) और अविनाशी परमपदकी प्राप्ति हो जायगी। भगवान्का आश्रय लेनेमें हम सब-के-सब स्वतन्त्र हैं, कोई भी पराधीन नहीं है! उनका आश्रय लेनेमें कोई अयोग्य भी नहीं है।

आप इसी क्षण परमात्माका आश्रय ले सकते हैं; क्योंकि वह आपके पास है और आप उसके पास हैं। वह आपसे अलग नहीं हो सकता और आप उससे अलग नहीं हो सकते। अगर वह आपसे अलग हो जाय तो ईश्वर दो हो जायँगे, एक वह और एक आप। उसकी जो अखण्डता है, सर्वोपरि भाव है, व्यापकता है, वह खण्डित हो जायगी। आपसे अलग होनेपर उसकी महत्ता रहेगी ही नहीं। अतः वह आपसे अलग हो ही नहीं सकता। आप भी उससे अलग नहीं हो सकते। हाँ, आप अपनेको उससे अलग मान सकते हो, पर अलग हो नहीं सकते। ऐसे ही आप अपनेको संसारके आश्रित मान सकते हो, पर आश्रित हो नहीं सकते। आपने शरीरका आश्रय लिया, धनका आश्रय लिया, कुटुम्बका आश्रय लिया, बल-बुद्धिका आश्रय लिया, पर क्या आप इनके आश्रित रह सकते हैं? इनके आश्रित कोई रह सकता ही नहीं। फिर भी आप इनका आश्रय मान लेते हैं, यह गलती करते हैं, क्योंकि यह निभनेवाला नहीं है। इनका साथ रहनेवाला नहीं है, सब छूटनेवाला है। अतः इनसे विमुख होकर एक भगवान्का ही आश्रय लें, औरका आश्रय मत लें। धनका सदुपयोग करें, सब काम करें, पर आश्रय एक भगवान्का ही रखें।

सन्तोंने कहा है—

पतिव्रता रहे पतिके पासा, यों साहिबके ढिग रहे दासा॥

जैसे पतिव्रता पतिके आश्रित रहती है, ऐसे ही भक्त भगवान्के आश्रित रहते हैं। जगज्जननी जानकीजी सास-ससुरको माता-पितासे भी अधिक आदर देती थीं; परन्तु जब भगवान् वनवासके लिये पधारे, तब जानकीजीने उनको भी छोड़ दिया। दशरथजीने यहाँतक कह दिया कि अगर जनकराजदुलारी यहाँ रह जाय तो मेरे प्राण रह सकते हैं, फिर भी वे नहीं रहीं। वे कहती हैं कि मैं रह सकती ही नहीं। चाँदनी चन्द्रमाको छोड़कर कैसे रह जाय? सूर्यकी प्रभा सूर्यको छोड़कर कैसे रह जाय? शरीरकी छाया शरीरको छोड़कर कैसे रह जाय? ऐसे ही कोई भी जीव परमात्मासे अलग रह सकता ही नहीं, परन्तु यह परमात्माका आश्रय न लेकर अलग होनेवाले (संसार) का आश्रय लेता है, इसीसे यह दुःख पा रहा है। अगर यह अलग होनेवालेका आश्रय न ले और सदा साथ रहनेवालेका आश्रय ले ले तो निहाल हो जाय। आप अभी यह निश्चय कर लें कि हम संसारका आश्रय नहीं लेंगे। धन कमायेंगे, रखेंगे, पर

उसका आश्रय नहीं लेंगे। संसारका काम करेंगे, पर संसारका आश्रय नहीं लेंगे। इतने दिन संसारसे लिया है, अब उसका कर्जा चुकानेके लिये काम करना है, पर आश्रय नहीं लेना है। संसार आश्रय लेनेके योग्य है ही नहीं, क्योंकि यह एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता है। यह इतनी तेजीसे बदलता है कि इसको दुबारा नहीं देख सकते। केवल बदलनेके पुञ्जका नाम संसार है। जैसे भगवान् कृपाकी मूर्ति हैं* ऐसे ही यह संसार बदलनेकी मूर्ति है। बदलनेके सिवाय इसमें और कुछ भी नहीं है। ऐसे संसारका आश्रय आपने मान रखा है। अब इससे विमुख होकर केवल भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ले लें और अभी ले लें, अभी।

'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई', 'एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥' —दूसरेका आश्रय न लें। सर्वभावसे भगवान्‌के शरण हो जायँ—**'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन'** (गीता १८। ६२), **'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन'** (गीता १५। १९); ***'सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ'*** (मानस ७। ८७ क)। वास्तवमें भगवान्‌के साथ आपका स्वतःसिद्ध घनिष्ठ सम्बन्ध है। बदलनेवालेके साथ सम्बन्ध न जोड़ें—इतनी ही बात है।

==★==

शरणागतिकी विलक्षणता

पारमार्थिक बातें एक-एकसे विलक्षण हैं। उनमें शरणागतिकी बात बहुत विलक्षण है ! शरणागतिमें दो बातें सिद्ध होती हैं—एक तो ईश्वरवाद सिद्ध होता है और एक आश्रय लेनेका स्वभाव सिद्ध होता है। ईश्वरवाद कैसे सिद्ध होता है ? कि हरेक प्राणी किसी-न-किसीको अपनेसे बड़ा मानता है और उसका आश्रय लेता है। पशु-पक्षियोंमें भी यह बात देखी जाती है। हम जब बूंदीमें रहते थे, तब एक रात हम सब साधु सो रहे थे। रातमें वहाँ एक बघेरा (चीता) आया। वहाँ दो कुत्ते थे। बघेराको देखते ही वे कुत्ते डरते हुए चट हमारे पास आकर चिपक गये; क्योंकि बघेरा कुत्ते और गधेको खा जाता है। अतः भय लगनेपर पशु-पक्षी भी अपनेसे बड़ेका आश्रय लेते हैं। ऐसे ही मात्र जन्तु किसी-न-किसीका आश्रय लेते हैं। कोई बिल बनाकर रहता है, कोई घर बनाकर रहता है, कोई किसी तरहसे रहता है। जंगम प्राणी तो दूर रहे, स्थावर प्राणी भी अपनेसे बड़ेका आश्रय लेते हैं। जैसे कोई लता है, वह भी दीवार, वृक्ष आदिका सहारा लेकर ऊपर चढ़ती है। जीवमात्रमें आश्रय लेनेकी स्वाभाविक शक्ति है। कोई गुरुका आश्रय लेता है, कोई ग्रन्थका आश्रय लेता है, कोई इष्टका आश्रय लेता है। किसी-न-किसीका आश्रय लेकर उससे रक्षा चाहता है, उसके अधीन होना चाहता है। इस प्रकार किसी-न-किसीका आश्रय लिये बिना कोई नहीं रहता; और जिसका आश्रय लेता है, उसको बड़ा मानता है, तो ईश्वरवाद सिद्ध हो गया। जो ईश्वरको नहीं मानता, ऐसा नास्तिक पुरुष भी माँ-बापको बड़ा मानता है, किसीको विद्यामें बड़ा मानता है, किसीको आयुमें बड़ा मानता है; इस तरह किसी-न-किसीको बड़ा मानता ही है। विद्यामें, बुद्धिमें, योग्यतामें, जन्ममें (कि यह हमारेसे पहले जन्मा है) आदि किसी विषयमें किसीको भी अपनेसे बड़ा मान लिया तो ईश्वरवाद सिद्ध हो गया।

ईश्वर सर्वोपरि है, सबसे बड़ा है। पातञ्जलयोगदर्शनमें लिखा है—**'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** (१।२६) अर्थात् पहले जितने हो चुके हैं, उन सबका गुरु है ईश्वर, क्योंकि उसका कालसे व्यवधान नहीं है। सबसे पहले होनेसे वह ईश्वर सबसे बड़ा है और सब उससे शिक्षा लेते हैं, उसके आश्रित होते हैं। इसलिये उस ईश्वरका ही आश्रय लेना चाहिये। परन्तु एक ईश्वरका आश्रय न लेनेसे कइयोंका आश्रय लेना पड़ता है। कोई पदका आश्रय लेता है, कोई अपनी योग्यताका आश्रय लेता है, कोई अपनी बुद्धिका आश्रय लेता है, कोई अपने बलका आश्रय लेता है, कोई धनका आश्रय लेता है, कोई बेटे-पोतोंका आश्रय लेता है, इस प्रकार मनुष्य जिस-किसीका आश्रय लेता है, वह तो बड़ा हो जाता है और मनुष्य खुद छोटा हो जाता है, गुलाम हो जाता है। वह समझता है कि मेरे पास इतने रुपये हैं, मैं इतने रुपयोंका मालिक हूँ, पर मालिकपना तो वहम है, सिद्ध होता है गुलामपना ! अपने पास रुपये हों तो वह अपनेको बड़ा मानता है और रुपये न हों तो वह अपनेको छोटा मानता है। जब वह रुपयोंसे अपनेको बड़ा मानता है, तो खुद छोटा सिद्ध हो गया न ? बड़े तो रुपये ही हुए। खुदकी तो बेइज्जती ही हुई।

परमात्माका आश्रय लिये बिना सब आश्रय अधूरे हैं, क्योंकि परमात्माके सिवाय और कोई सर्वोपरि तथा पूर्ण नहीं है। रुपये, बेटे-पोते, पद, योग्यता, समाजका बल, अस्त्र-बल, शस्त्र-बल आदि सब-के-सब तुच्छ ही हैं और पूर्ण भी

* 'प्रभु-मूरति कृपामई है' (विनयपत्रिका १७०।७)

नहीं हैं। अगर एक परमात्माका आश्रय ले ले, तो फिर और किसीका आश्रय नहीं लेना पड़ेगा। जो भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ले लेता है, उसको फिर दूसरे आश्रयकी जरूरत ही नहीं रहती। सुग्रीवने भगवान् श्रीरामका आश्रय लिया तो भगवान्‌ने कह दिया— *'सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें ॥'* (मानस ४। ७। ५)। लोक-परलोकका सब तरहका काम सिवा ईश्वरके कोई कर ही नहीं सकता। ऐसे सर्वोपरि ईश्वरको छोड़कर जो दूसरी तुच्छ चीजोंका सहारा लेता है, दूसरी तुच्छ चीजोंको लेकर अपनेमें बड़प्पनका अनुभव करता है, वह एक तरहसे नास्तिक है—ईश्वरको न माननेवाला है। अगर वह ईश्वरको मानता तो उसको ईश्वरका ही सहारा होता।

भगवान्‌का सहारा लेनेवाला परतन्त्र नहीं रहता। एक विचित्र बात है कि पराधीन रहनेवाला पराधीन नहीं रहता! तात्पर्य है कि भगवान्‌के अधीन रहनेवाला पराधीन नहीं रहता; क्योंकि भगवान् 'पर' नहीं हैं। मनुष्य पराधीन तब होता है, जब वह 'पर' के अधीन हो अर्थात् धन, बल, विद्या, बुद्धि आदिके अधीन हो। भगवान् तो अपने हैं— *'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'*, इसलिये उनका आश्रय लेनेवाला पराधीन नहीं होता है, सर्वथा स्वाधीन होता है; निश्चिन्त होता है, निर्भय होता है, निःशोक होता है, निशंक होता है। दूसरेके अधीन रहनेवालेको स्वप्नमें भी सुख नहीं होता— *'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं'* (मानस १। १०२। ३); परन्तु भगवान्‌के अधीन रहनेवालेको स्वप्नमें भी दुःख नहीं होता। मीराबाईने कहा—

ऐसे बरको क्या बरूँ, जो जन्मे अरु मर जाय।
बर बरिये गोपालजी, म्हारो चुड़लो अमर हो जाय ॥

इस तरह केवल भगवान्‌का आश्रय ले ले तो सदाके लिये मौज हो जाय! स्वप्नमें भी किसीकी किञ्चिन्मात्र भी गरज न रहे! जब किसी-न-किसीका आश्रय लेना ही पड़ता है तो सर्वोपरिका ही आश्रय लें, छोटेका आश्रय क्या लें? अतः सबसे पहले ही यह मान लें कि भगवान् हमारे और हम भगवान्‌के हैं—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

'माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः
स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।'

माँ कौन है? भगवान्। बाप कौन है? भगवान्। सखा कौन है? भगवान्। धन कौन है? भगवान्। विद्या क्या है? भगवान्। हमारे सब कुछ भगवान् ही हैं।

वाल्मीकि बाबाके यहाँ लव-कुशका जन्म हुआ था। सीताजीने लव-कुशको सब कुछ सिखाया। सीताजीने ही उनको युद्धविद्या सिखायी कि ऐसे बाण चलाओ। वे सीताजीको ही माँ मानते और सीताजीको ही बाप मानते। सब कुछ सीताजीको ही मानते थे। जब लव-कुशने रामाश्वमेध-यज्ञका घोड़ा पकड़ा तो पहले माँ सीताजीको याद करके प्रणाम किया, फिर युद्ध किया। युद्धमें उन्होंने विजय कर ली! वहाँ हनुमान्‌जी थे, अंगद भी थे, शत्रुघ्नजी भी थे, भरतका बेटा पुष्कर भी था, बड़े-बड़े महारथी थे। उन सबको लव-कुशने हरा दिया, उनके छक्के छुड़ा दिये और हनुमान्‌जी तथा अंगदको पकड़ लिया! उनको पकड़ करके माँके पास ले आये और बोले कि हम दो बन्दर लाये हैं खेलनेके लिये! दोनोंकी पूँछ आपसमें बाँध दीं। माँने कहा कि यह क्या किया तुमने? जैसे तू मेरा बेटा है, वैसे ही हनुमान् भी मेरा बेटा है। वे बोले कि हमने ठीक किया है, बेठीक नहीं किया है; आप कहो तो छोड़ देंगे। माँके कहनेसे उन्होंने दोनोंको छोड़ दिया। इस तरह माँ सीताजीको ही सर्वोपरि समझनेसे, उनका ही आश्रय लेनेसे छोटे-छोटे बालकोंने रामजीकी सेनापर विजय कर ली!

वाल्मीकिजी लव और कुशको रामजीकी राजसभामें ले गये। वहाँ उन्होंने वाल्मीकिजीकी सिखायी हुई रामायणको बहुत सुन्दर ढंगसे गाया। रामजी उनको इनाम देने लगे तो वे चिढ़ गये कि देखो, राजा कितना अभिमानी है! हमारेको देता है। हम कोई ब्राह्मण हैं? हमारे गुरुजीने कहा है कि तुम क्षत्रिय हो, ब्राह्मण नहीं हो। हम लेनेवाले, माँगनेवाले नहीं हैं। फिर उनको समझाया गया कि ये तुम्हारे पूजनीय, आदरणीय पिताजी हैं, नहीं तो वे रामजीको कुछ नहीं समझते थे। उनकी दृष्टिमें तो माँ-बाप आदि जो कुछ है, वह सब सीताजी ही हैं। उनके लिये सीताजीके समान संसारमें कोई नहीं है। इसलिये मनुष्यको किसीका सहारा लेना हो तो सर्वोपरि भगवान्‌के चरणोंका ही सहारा लेना चाहिये, *'एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।'* हमारे प्रभु हैं, प्रभुके हम हैं—यह हमारा अभिमान भूलकर भी कभी न जाय— *'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे ॥'* (मानस ३। ११। ११)।

सज्जनो! कोई रुपयोंका सहारा लेता है, कोई बलका सहारा लेता है, कोई किसीका सहारा लेता है, तो कोई किसीका, इस तरह क्यों दर-दर भटकते हो? जो अपने हैं, उन प्रभुका ही सहारा लो। अन्तमें उनसे ही काम चलेगा और किसीसे नहीं चलेगा। भगवान्‌के सिवा और सब कालका चारा है। सबको काल खा जाता है।

भगवान्‌के चरणोंकी शरण ले लो तो निहाल हो जाओगे।

आज ही विचार कर लो कि मैं तो भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं, बस। सच्ची बात है, सिद्धान्तकी बात है—पक्की बात है। भगवान् सबका पालन-पोषण करते हैं, चाहे कोई भगवान्‌को माने या न माने, आस्तिक-नास्तिक कैसा ही क्यों न हो! क्योंकि भगवान् सब प्राणियोंमें समान हैं—**'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता ९। २९)। परन्तु जो भगवान्‌का आश्रय ले लेता है, उसका तो कहना ही क्या है! उनके चरणोंका आश्रय लेनेसे तो मौज हो ही जाती है! आनन्द-ही-आनन्द हो जाता है।

धिन सरणो महराजको, निसिदिन करियै मौज।
रामचरण संसार सुख, दई दिखावै नौज॥

भगवान् संसारका सुख कभी न दिखायें। यह संसारका सुख ही फँसानेवाला है। इसीके लोभमें आकर आदमी भगवान्‌से विमुख हो जाता है, भगवान्‌का आश्रय छोड़कर सुखका आश्रय ले लेता है। अतः हमें संसारका सुख लेना ही नहीं है। हमें तो प्रभुके चरणोंकी शरण होना है। वास्तवमें तो सदासे ही हम भगवान्‌के और भगवान् हमारे हैं। उनकी शरण लेनी नहीं पड़ती। जैसे बालकको माँका आश्रय लेना नहीं पड़ता। माँकी गोदीमें बैठकर बालक निर्भय हो जाता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें माँसे बढ़कर कोई नहीं है। ऐसे ही भगवान्‌से बढ़कर कोई नहीं है। अतः उनके चरणोंकी शरण लेकर निर्भय हो जाय।

भगवान्‌में अपनापन

वास्तवमें कोई भी मनुष्य अनाथ नहीं है। सब-के-सब मनुष्य सनाथ हैं। संसारमें प्रत्येक वस्तुका कोई-न-कोई मालिक होता है, फिर मनुष्यका कोई मालिक न हो—यह कैसे हो सकता है? जो सबके मालिक हैं, वे भगवान् हमारे भी मालिक हैं। हम उनको अपना मालिक मानें या न मानें, जानें या न जानें, पर वे हमें अपना जानते ही हैं। अतः अपनेको अनाथ समझना हमारी भूल है।

मनुष्यको अपनेमें अनाथपनेका अनुभव क्यों होता है? जब वह किसी वस्तु-व्यक्तिको अपना मान लेता है, तब उसका अभाव होनेसे उसको अपनेमें अनाथपनेका अनुभव होने लगता है। यह नियम है कि जब मनुष्य अपनेको किसी वस्तु-व्यक्तिका मालिक मान लेता है, तब वह अपने मालिकको भूल जाता है। जैसे, बालक माँके बिना नहीं रह सकता; परन्तु जब वह बड़ा हो जाता है और स्त्री, पुत्र आदिको अपना मानने लगता है, तब वह उसी माँकी उपेक्षा करने लगता है। इसलिये गीतामें भगवान्‌ने शरीरको अपना माननेवाले अर्थात् अपनेको शरीरका मालिक माननेवाले जीवात्माको 'ईश्वर' नामसे कहा है—'**शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः**' (१५।८)। अगर मनुष्य भगवान्‌के सिवाय किसीको भी अपना न माने तो उसका भूलसे माना हुआ अनाथपना मिट जायगा और सनाथपनेका अनुभव हो जायगा।

वास्तवमें भगवान् ही सदासे अपने हैं। संसार पहले अपना नहीं था, पीछे अपना नहीं रहेगा और अब भी वह निरन्तर हमारेसे बिछुड़ रहा है। परन्तु भगवान् पहले भी अपने थे, पीछे भी अपने रहेंगे और अब भी वे अपने हैं। वे हमें कभी नहीं मिलते तो भी अपने हैं, सर्वथा मिलते हैं तो भी अपने हैं और कभी मिलते हैं, कभी नहीं मिलते तो भी अपने हैं। परन्तु संसार सर्वथा मिला हुआ दीखनेपर भी अपना नहीं है। कारण कि जो सदा हमारे साथ नहीं रह सकता और हम सदा जिसके साथ नहीं रह सकते, वह अपना नहीं हो सकता। अपना वही हो सकता है, जो सदा हमारे साथ रहे और हम सदा उसके साथ रहें अर्थात् जो हमारेसे कभी न बिछुड़े और हम उससे कभी न बिछुड़ें।

एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि संसारमें जिसको हम अपना मानते हैं, वह तो नहीं रहता, पर उससे माना हुआ अपनापन रह जाता है अर्थात् सम्बन्धी तो नहीं रहता, पर सम्बन्ध रह जाता है! जैसे, किसी स्त्रीको विधवा हुए बहुत वर्ष बीत गये, पर पतिका नाम सुनते ही उसके कान खड़े हो जाते हैं अर्थात् पतिके न रहनेपर भी उसका पतिके साथ सम्बन्ध बना रहता है कि मैं अमुककी पत्नी हूँ। यहाँ शंका होती है कि पिताके न रहनेपर यदि पुत्र पितासे सम्बन्ध न माने तो वह श्राद्ध-तर्पण कैसे करेगा, जो कि शास्त्रका विधान है? इसका समाधान है कि अपने स्वार्थके लिये, अपने सुखभोगके लिये माना हुआ सम्बन्ध ही बाँधनेवाला है। पितृऋण उतारनेके लिये, सेवा करनेके लिये माना हुआ सम्बन्ध बाँधनेवाला नहीं होता, प्रत्युत सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाला होता है*।

---

* ऋणी और अपराधीकी जल्दी मुक्ति नहीं होती। फल-भोगसे अथवा दान-पुण्यादि शुभकर्मोंसे पाप तो नष्ट हो जाते हैं, पर ऋण और अपराध नष्ट नहीं होते। जिस व्यक्तिसे ऋण लिया है अथवा जिस व्यक्तिका अपराध किया है, वे माफ कर दें तभी ऋण और अपराधसे मुक्ति होती है। मूलमें संसारको अपना माननेसे ही मनुष्य ऋणी, गुलाम, अनाथ, तुच्छ तथा पतित होता है। जो संसारमें कुछ भी अपना नहीं मानता, वह किसीका ऋणी और अपराधी बनता ही नहीं; क्योंकि जब आधार ही नहीं रहेगा तो फिर ऋण, अपराध आदि कहाँ टिकेंगे—'मूलाभावे कुतः शाखा'?

तात्पर्य है कि अगर वस्तुएँ अपनी दीखती हैं तो वे केवल दूसरोंकी सेवामें लगानेके लिये, सदुपयोग करनेके लिये अपनी हैं। अगर व्यक्ति अपने दीखते हैं तो वे केवल निःस्वार्थभावसे सेवा करनेके लिये अपने हैं। अपने लिये कुछ भी अपना नहीं है। अपने सुख-आरामके लिये वस्तु-व्यक्तिको अपना मानना जन्म-मरणका कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३।२१)। इसलिये जो संसारमें कुछ भी अपना मानता है, उसको कुछ भी नहीं मिलता और जो कुछ भी अपना नहीं मानता, उसको सब कुछ मिलता है अर्थात् भगवान् मिलते हैं।

अपनी बुद्धि, विचार, सामर्थ्यसे वस्तुओंका दुरुपयोग न करके उनका सदुपयोग करनेसे वस्तुओंसे माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है और निःस्वार्थभावसे सेवा करनेसे व्यक्तियोंसे माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है। सम्बन्ध मिटनेसे मुक्ति हो जाती है। यहाँ शंका होती है कि संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर भी जीवन्मुक्त महापुरुष दूसरोंकी सेवा (हित) में क्यों लगे रहते हैं? इसका समाधान है कि साधनावस्थामें ही उनका स्वभाव प्राणिमात्रका हित करनेका रहा है—'**सर्वभूतहिते रताः**' (गीता ५।२५, १२।४), इसलिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष न रहनेपर भी उनमें सबका हित करनेका स्वभाव रहता है—'**स्वभावस्तु प्रवर्तते**' (गीता ५।१४)। तात्पर्य है कि दूसरोंका हित करते-करते जब उनका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब उनको हित करना नहीं पड़ता, प्रत्युत पहलेके स्वभावसे उनके द्वारा स्वतः दूसरोंका हित होता है।

भगवान्‌के सिवाय हम जिसको भी अपना मानते हैं, वह अशुद्ध हो जाता है; क्योंकि ममता ही मल (अशुद्धि) है—'***ममता मल जरि जाइ***' (मानस ७।११७ क)। इतना ही नहीं, उसको अपना मानकर हम उसके मालिक बनना चाहते हैं, पर वास्तवमें उसके गुलाम बन जाते हैं; उसको ठीक करना चाहते हैं, पर वास्तवमें वह बेठीक हो जाता है। हम जिन शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहम् तथा स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन, जमीन, मकान आदिको अपना मानते हैं, वे सब अशुद्ध हो जाते हैं और उनके सुधारमें बाधा लग जाती है। परन्तु उनको अपना न माननेसे वे भगवान्‌की शक्तिसे शुद्ध हो जाते हैं, प्रसाद बन जाते हैं, उनमें विलक्षणता आ जाती है; क्योंकि वास्तवमें वे भगवान्‌के ही हैं।

तात्पर्य है कि वस्तुको अपना माननेसे वह अशुद्ध हो जाती है और हम अनाथ तथा पराधीन हो जाते हैं। अगर हम वस्तुको अपना न मानें तो वस्तु शुद्ध हो जायगी और हमें अपने सनाथपनेका तथा स्वाधीनताका अनुभव हो जायगा।

★

भगवान् और उनकी दिव्य शक्ति

(१)

जो सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे अलग है, वह भगवान्‌की शुद्ध प्रकृति है। यह शुद्ध प्रकृति भगवान्‌का स्वकीय सच्चिदानन्दघन-स्वरूप है। इसीको संधिनी-शक्ति, संवित्-शक्ति और आह्लादिनी-शक्ति कहते हैं*। इसीको चिन्मयशक्ति, कृपाशक्ति आदि नामोंसे कहते हैं। श्रीराधाजी†, श्रीसीताजी आदि भी यही हैं। भगवान्‌को प्राप्त करानेवाली भक्ति और ब्रह्मविद्या भी यही है।

प्रकृति भगवान्‌की शक्ति है। जैसे, अग्निमें दो शक्तियाँ रहती हैं— प्रकाशिका और दाहिका। प्रकाशिका-शक्ति अन्धकारको दूर करके प्रकाश कर देती है तथा भय भी मिटाती है। दाहिका-शक्ति जला देती है तथा वस्तुको पकाती एवं ठण्डकको भी दूर करती है। ये दोनों शक्तियाँ अग्निसे भिन्न भी नहीं हैं और अभिन्न भी नहीं हैं। भिन्न इसलिये नहीं हैं कि वे अग्निरूप ही हैं अर्थात् उन्हें अग्निसे अलग नहीं किया जा सकता और अभिन्न इसलिये नहीं हैं कि अग्निके रहते हुए भी मन्त्र, औषध आदिसे अग्निकी दाहिका-शक्ति कुण्ठित की जा सकती है। ऐसे ही भगवान्‌में जो शक्ति रहती है, उसे भगवान्‌से भिन्न और अभिन्न—दोनों ही नहीं कह सकते।

जैसे दियासलाईमें अग्निकी सत्ता तो सदा रहती है, पर

* संधिनी-शक्ति 'सत्' स्वरूपा, संवित्-शक्ति 'चित्' स्वरूपा और आह्लादिनी-शक्ति 'आनन्द' स्वरूपा है।

† अवतारके समय भगवान् अपनी शुद्ध प्रकृतिरूप शक्तियोंसहित अवतरित होते हैं और अवतार-कालमें इन शक्तियोंसे काम लेते हैं। श्रीराधाजी भगवान्‌की शक्ति हैं और उनकी अनुगामिनी अनेक सखियाँ हैं, जो सब भक्तिरूपा हैं और भक्ति प्रदान करनेवाली हैं। भक्तिरहित मनुष्य इन्हें नहीं जान सकते। इन्हें भगवान् और राधाजीकी कृपासे ही जान सकते हैं।

उसकी प्रकाशिका और दाहिका-शक्ति छिपी हुई रहती है, ऐसे ही भगवान् सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें सदा रहते हैं, पर उनकी शक्ति छिपी हुई रहती है। उस शक्तिको अधिष्ठित करके अर्थात् अपने वशमें करके उसके द्वारा भगवान् प्रकट होते हैं—**'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया'** (गीता ४। ६)। जैसे, जबतक अग्नि अपनी प्रकाशिका और दाहिका-शक्तिको लेकर प्रकट नहीं होती, तबतक सदा रहते हुए भी अग्नि नहीं दीखती, ऐसे ही जबतक भगवान् अपनी शक्तिको लेकर प्रकट नहीं होते, तबतक भगवान् सदा सर्वत्र वर्तमान रहते हुए भी नहीं दीखते।

राधाजी, सीताजी, रुक्मिणीजी आदि सब भगवान्‌की निजी दिव्य शक्तियाँ हैं और भगवत्स्वरूपा हैं। भगवान् सामान्यरूपसे सब जगह रहते हुए भी कोई काम नहीं करते। जब करते हैं, तब अपनी दिव्य शक्तिको लेकर ही करते हैं। उस दिव्य शक्तिके द्वारा भगवान् विचित्र-विचित्र लीलाएँ करते हैं। उनकी लीलाएँ इतनी विचित्र और अलौकिक होती हैं कि उन्हें सुनकर, गाकर और याद करके भी जीव पवित्र होकर अपना उद्धार कर लेते हैं।

निर्गुण-उपासनामें वही शक्ति 'ब्रह्मविद्या' हो जाती है और सगुण-उपासनामें वही शक्ति 'भक्ति' हो जाती है। जीव भगवान्‌का ही अंश है। जब वह दूसरोंमें मानी हुई ममता हटाकर एकमात्र भगवान्‌की स्वतःसिद्ध वास्तविक आत्मीयताको जाग्रत् कर लेता है, तब भगवान्‌की शक्ति उसमें भक्ति-रूपसे प्रकट हो जाती है। वह भक्ति इतनी विलक्षण है कि निराकार भगवान्‌को भी साकाररूपसे प्रकट कर देती है, भगवान्‌को भी खींच लेती है। वह भक्ति भी भगवान् ही देते हैं।

भगवान्‌की भक्तिरूप शक्तिके दो रूप हैं— विरह और मिलन। भगवान् विरह भी भेजते हैं* और मिलन भी। जब भगवान् विरह भेजते हैं, तब भक्त भगवान्‌के बिना व्याकुल हो जाता है। व्याकुलताकी अग्निमें संसारकी आसक्ति जल जाती है और भगवान् प्रकट हो जाते हैं। ज्ञानमार्गमें भगवान्‌की शक्ति पहले उत्कट जिज्ञासाके रूपमें आती है (जिससे तत्त्वको जाने बिना साधकसे रहा नहीं जाता) और फिर ब्रह्मविद्यारूपसे जीवके अज्ञानका नाश करके उसके वास्तविक स्वरूपको प्रकाशित कर देती है। परंतु भगवान्‌की वह दिव्य शक्ति, जिसे भगवान् विरहरूपसे भेजते हैं, उससे भी बहुत विलक्षण है। 'भगवान् कहाँ हैं ? क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ?'—इस प्रकार जब भक्त व्याकुल हो जाता है, तब यह व्याकुलता सब पापोंका नाश करके भगवान्‌को साकार-रूपसे प्रकट कर देती है। व्याकुलतासे जितना शीघ्र काम बनता है, उतना विवेक-विचारपूर्वक किये गये साधनसे नहीं।

(२)

भगवान् अपनी प्रकृतिके द्वारा अवतार लेते हैं और तरह-तरहकी अलौकिक लीलाएँ करते हैं। जैसे अग्नि स्वयं कुछ नहीं करती, उसकी प्रकाशिका-शक्ति प्रकाश कर देती है, दाहिका-शक्ति जला देती है, ऐसे ही भगवान् स्वयं कुछ नहीं करते, उनकी दिव्य शक्ति ही सब काम कर देती है। शास्त्रोंमें आता है कि सीताजी कहती हैं—'रावणको मारना आदि सब काम मैंने किया है, रामजीने कुछ नहीं किया।'

जैसे मनुष्य और उसकी शक्ति (बल) है, ऐसे ही भगवान् और उनकी शक्ति है। उस शक्तिको भगवान्‌से अलग भी नहीं कह सकते और एक भी नहीं कह सकते। मनुष्यमें जो शक्ति है, उसे वह अपनेसे अलग करके नहीं दिखा सकता, इसलिये वह उससे अलग नहीं है। मनुष्य रहता है, पर उसकी शक्ति घटती-बढ़ती रहती है, इसलिये वह मनुष्यसे एक भी नहीं है। यदि उसकी मनुष्यसे एकता होती तो वह उसके स्वरूपके साथ बराबर रहती, घटती-बढ़ती नहीं। अतः भगवान् और उनकी शक्तिको भिन्न अथवा अभिन्न कुछ भी नहीं कह सकते। दार्शनिकोंने भिन्न भी नहीं कहा और अभिन्न भी नहीं कहा। वह शक्ति अनिर्वचनीय है। भगवान् श्रीकृष्णके उपासक उस शक्तिको श्रीजी-(राधाजी-)के नामसे कहते हैं।

जैसे पुरुष और स्त्री दो होते हैं, ऐसे श्रीकृष्ण और श्रीजी दो नहीं हैं। ज्ञानमें तो द्वैतका अद्वैत होता है अर्थात् दो होकर भी एक हो जाता है और भक्तिमें अद्वैतका द्वैत होता है अर्थात् एक होकर भी दो हो जाता है। जीव और ब्रह्म एक हो जायँ तो 'ज्ञान' होता है और एक ही ब्रह्म दो रूप हो जाय तो 'भक्ति' होती है। एक ही अद्वैत-तत्त्व प्रेमकी लीला करनेके लिये, प्रेमका आस्वादन अर्थात् आनन्दित करनेके लिये, सम्पूर्ण जीवोंको प्रेमका आनन्द देनेके लिये श्रीकृष्ण और श्रीजी—इन दो रूपोंसे प्रकट होता है†। दो रूप होनेपर भी दोनोंमें कौन बड़ा है और कौन छोटा, कौन प्रेमी है और कौन

* संतोंकी वाणीमें आया है—'दरिया हरि किरपा करी, विरहा दिया पठाय।' अर्थात् भगवान्‌ने कृपा करके मेरे लिये विरह भेज दिया।

† येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्। (श्रीराधातापनीयोपनिषद्)
'जो ये राधा और जो कृष्ण रसके सागर हैं, वे एक ही हैं, पर लीलाके लिये दो रूप बने हुए हैं।'

प्रेमास्पद ?—इसका पता ही नहीं चलता। दोनों ही एक-दूसरेसे बढ़कर विलक्षण दीखते हैं, दोनों एक-दूसरेके प्रति आकृष्ट होते हैं। श्रीजीको देखकर भगवान् प्रसन्न होते हैं और भगवान्‌को देखकर श्रीजी। दोनोंकी परस्पर प्रेम-लीलासे रसकी वृद्धि होती है। इसीको रास कहते हैं।

भगवान्‌की शक्तियाँ अनन्त हैं, अपार हैं। उनकी दिव्य शक्तियोंमें ऐश्वर्य-शक्ति भी है और माधुर्य-शक्ति भी। ऐश्वर्य-शक्तिसे भगवान् ऐसे विचित्र और महान् कार्य करते हैं, जिन्हें दूसरा कोई कर ही नहीं सकता। ऐश्वर्य-शक्तिके कारण उनमें जो महत्ता, विलक्षणता और अलौकिकता दीखती है, वह उनके सिवा और किसीमें देखने-सुननेमें नहीं आती। माधुर्य-शक्तिमें भगवान् अपने ऐश्वर्यको भूल जाते हैं। भगवान्‌को भी मोहित करनेवाली माधुर्य-शक्तिमें एक मधुरता, मिठास होती है, जिसके कारण भगवान् बड़े मधुर और प्रिय लगते हैं। जब भगवान् ग्वालबालोंके साथ खेलते हैं, तब माधुर्य-शक्ति प्रकट रहती है। यदि उस समय ऐश्वर्य-शक्ति प्रकट हो जाय तो सारा खेल बिगड़ जाय; ग्वालबाल डर जायँ और भगवान्‌के साथ खेल भी न सकें। ऐसे ही भगवान् कहीं मित्ररूपसे, कहीं पुत्ररूपसे और कहीं पतिरूपसे प्रकट हो जाते हैं तो उस समय उनकी ऐश्वर्य-शक्ति छिपी रहती है और माधुर्य-शक्ति प्रकट रहती है। तात्पर्य यह कि भगवान् भक्तोंके भावोंके अनुसार उन्हें आनन्द देनेके लिये ही अपनी ऐश्वर्य-शक्तिको छिपाकर माधुर्य-शक्ति प्रकट कर देते हैं।

जिस समय माधुर्य-शक्ति प्रकट रहती है, उस समय ऐश्वर्य-शक्ति प्रकट नहीं होती और जिस समय ऐश्वर्य-शक्ति प्रकट रहती है, उस समय माधुर्य-शक्ति प्रकट नहीं होती। ऐश्वर्य-शक्ति केवल तभी प्रकट होती है, जब माधुर्यभावमें कोई शङ्का पैदा हो जाय। जैसे, माधुर्य-शक्तिके प्रकट रहनेपर भगवान् श्रीकृष्ण बछड़ोंको ढूँढ़ते हैं, परंतु 'बछड़े कहाँ गये ?' यह शङ्का पैदा होते ही ऐश्वर्य-शक्ति प्रकट हो जाती है और भगवान् तत्काल जान जाते हैं कि बछड़ोंको ब्रह्माजी ले गये हैं।

भगवान्‌में एक सौन्दर्य-शक्ति भी होती है, जिससे प्रत्येक प्राणी उनमें आकृष्ट हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्णके सौन्दर्यको देखकर मथुरापुरवासिनी स्त्रियाँ आपसमें कहती हैं—

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥

(श्रीमद्भा० १०।४४।१४)

'इन भगवान् श्रीकृष्णका रूप सम्पूर्ण सौन्दर्यका सार है, सृष्टिमात्रमें किसीका भी रूप इनके रूपके समान नहीं है। इनका रूप किसीके सँवारने-सजाने अथवा गहने-कपड़ोंसे नहीं, प्रत्युत स्वयंसिद्ध है। इस रूपको देखते-देखते तृप्ति भी नहीं होती; क्योंकि यह नित्य नवीन ही रहता है। समग्र यश, सौन्दर्य और ऐश्वर्य इस रूपके आश्रित हैं। इस रूपके दर्शन बहुत ही दुर्लभ हैं। गोपियोंने पता नहीं कौन-सा तप किया था, जो अपने नेत्रोंके दोनोंसे सदा इनकी रूप-माधुरीका पान किया करती हैं!'

शुकदेवजी कहते हैं—

निरीक्ष्य तावुत्तमपूरुषौ जना
मञ्चस्थिता नागरराष्ट्रका नृप ।
प्रहर्षवेगोत्कलितेक्षणानना:
पपुर्न तृप्ता नयनैस्तदाननम् ॥
पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ।
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां श्लिष्यन्त इव बाहुभिः ॥

(श्रीमद्भा० १०।४३।२०-२१)

'परीक्षित्! मंचोंपर जितने लोग बैठे थे, वे मथुराके नागरिक और राष्ट्रके जन-समुदाय पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीको देखकर इतने प्रसन्न हुए कि उनके नेत्र और मुखकमल खिल उठे, उत्कण्ठासे भर गये। वे नेत्रोंद्वारा उनकी मुख-माधुरीका पान करते-करते तृप्त ही नहीं होते थे; मानो वे उन्हें नेत्रोंसे पी रहे हों, जिह्वासे चाट रहे हों, नासिकासे सूँघ रहे हों और भुजाओंसे पकड़कर हृदयसे लगा रहे हों!'

भगवान् श्रीरामके सौन्दर्यको देखकर विदेह राजा जनक भी विदेह अर्थात् देहकी सुध-बुधसे रहित हो जाते हैं—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी ॥

(मानस १।२१५।४)

और कहते हैं—

सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥

(मानस १।२१६।२)

वनमें रहनेवाले कोल-भील भी भगवान्‌के विग्रहको देखकर मुग्ध हो जाते हैं—

करहिं जोहारु भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकहिं अति अनुरागे ॥
चित्र लिखे जनु जहँ तहँ ठाढ़े। पुलक सरीर नयन जल बाढ़े ॥

(मानस २।१३५।३)

प्रेमियोंकी तो बात ही क्या, वैरभाव रखनेवाले राक्षस खर-दूषण भी भगवान्‌के विग्रहकी सुन्दरताको देखकर चकित हो जाते हैं और कहते हैं—

नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥
(मानस ३।१९।२)

तात्पर्य यह कि भगवान्‌के दिव्य सौन्दर्यकी ओर प्रेमी, विरक्त, ज्ञानी, मूर्ख, वैरी, असुर और राक्षसतक सबका मन आकृष्ट हो जाता है।

═══ ★ ═══

भक्तशिरोमणि श्रीहनुमान्‌जीकी दास्य-रति

भगवान्‌की मंगलमयी अपार कृपासे भारतभूमिपर अनन्तकालसे असंख्य ऋषि, सन्त-महात्मा, भक्त होते रहे हैं। उनमें भक्तशिरोमणि श्रीहनुमान्‌जी महाराजका विशेष स्थान है। वानर-जैसी साधारण योनिमें जन्म लेकर भी अपने भावों, गुणों और आचरणोंके द्वारा हनुमान्‌जीने प्राणिमात्रका जो परम हित किया है एवं कर रहे हैं, उससे लोग प्रायः परिचित ही हैं। उनके उपकारसे कोई भी प्राणी कभी उऋण नहीं हो सकता। भगवान् श्रीरामके प्रति उनकी जो दास्य-भक्ति है, उसका पूरा वर्णन करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं है। फिर भी समय सार्थक करनेके लिये उसका किंचित् संकेत करनेकी चेष्टा की जा रही है।

अपने-आपको सर्वथा भगवान्‌के समर्पित कर देना, उनके मनोभाव, प्रेरणा अथवा आज्ञाके अनुसार उनकी सेवा करना, उनको निरन्तर सुख पहुँचानेका भाव रखना तथा बदलेमें उनसे कभी कुछ न चाहना—यही भक्तिका स्वरूप है। ये सब बातें हनुमान्‌जीमें पूर्णरूपसे पायी जाती हैं। वे अपने शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, बल, योग्यता, समय आदिको एकमात्र भगवान्‌का ही समझकर उनकी सेवामें लगाये रखते हैं। उनका पूरा जीवन ही भगवान्‌को सुख पहुँचानेके भावसे ओतप्रोत है।

भगवान्‌को श्रद्धा-प्रेमपूर्वक सुख पहुँचानेके भावको 'रति' कहते हैं। यह रति मुख्यरूपसे चार प्रकारकी मानी गयी है— दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इनमें दास्यसे सख्य, सख्यसे वात्सल्य और वात्सल्यसे माधुर्य रति श्रेष्ठ है। कारण कि इनमें भक्तको क्रमशः भगवान्‌के ऐश्वर्यकी अधिक विस्मृति होती जाती है और भक्तका संकोच (कि मैं तुच्छ हूँ, भगवान् महान् हैं) मिटता जाता है तथा भगवत्सम्बन्ध (प्रेम) की घनिष्ठता होती जाती है। परन्तु जब इन चारोंमेंसे कोई एक रति भी पूर्णतामें पहुँच जाती है, तब उसमें दूसरी रतियाँ भी आ जाती हैं। जैसे, दास्यरति पूर्णतामें पहुँच जाती है तो उसमें सख्य, वात्सल्य और माधुर्य— तीनों रतियाँ आ जाती हैं। यही बात अन्य रतियोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। कारण यह है कि भगवान् पूर्ण हैं, उनका प्रेम भी पूर्ण है और परमात्माका अंश होनेसे जीव स्वयं भी पूर्ण है। अपूर्णता तो केवल संसारके सम्बन्धसे ही आती है; क्योंकि संसार सर्वथा अपूर्ण है। हनुमान्‌जीमें दास्यरतिकी पूर्णता है; अतः उनमें अन्य रतियोंकी कमी नहीं है। उनमें दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—चारों रतियाँ पूर्ण रूपसे विद्यमान हैं।

१-दास्य-रति

दास्य-रतिमें भक्तका यह भाव रहता है कि भगवान् मेरे स्वामी हैं और मैं उनका दास (सेवक) हूँ। वे चाहे जो करें, चाहे जैसी परिस्थितिमें मेरेको रखें और मेरेसे चाहे जैसा काम लें, मेरेपर उनका पूरा अधिकार है। इस रतिमें भक्तका शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिमें किंचिन्मात्र भी अपनापन नहीं रहता। उसमें 'मैं सेवक हूँ' ऐसा अभिमान भी नहीं रहता। वह तो यही समझता है कि मैं भगवान्‌की प्रेरणा और शक्तिसे उन्हींकी दी हुई सामग्री उनके ही अर्पण कर रहा हूँ। ऐसे अनन्य सेवाभाववाले भक्तोंको यदि भगवान् सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—ये पाँच प्रकारकी मुक्तियाँ* भी दे दें तो वे इनको ग्रहण नहीं करते—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

सेव्यने सेवा स्वीकार कर ली—इसी बातसे भक्त अपनेको कृतकृत्य मानता है। इतना ही नहीं, अपने इष्टदेवके भक्तोंकी भी सेवाका अवसर मिल जाय तो वह इसको अपना सौभाग्य समझता है। हनुमान्‌जी सनकादिकोंसे कहते हैं—

ऐहिकेषु च कार्येषु महापत्सु च सर्वदा॥
नैव योज्यो राममन्त्रः केवलं मोक्षसाधकः।
ऐहिके समनुप्राप्ते मां स्मरेद् रामसेवकम्॥
यो रामं संस्मरेन्नित्यं भक्त्या मनुपरायणः।
तस्याहमिष्टसंसिद्ध्यै दीक्षितोऽस्मि मुनीश्वराः॥
वाञ्छितार्थं प्रदास्यामि भक्तानां राघवस्य तु।
सर्वथा जागरूकोऽस्मि रामकार्यधुरंधरः॥

(रामरहस्योपनिषद् ४। १०—१३)

* भगवान्‌के नित्यधाममें निवास करना 'सालोक्य', भगवान्‌के समान ऐश्वर्य प्राप्त करना 'सार्ष्टि', भगवान्‌की नित्य समीपता प्राप्त करना 'सामीप्य', भगवान्‌का-सा रूप प्राप्त करना 'सारूप्य' तथा भगवान्‌के विग्रहमें समा जाना अर्थात् उनमें ही मिल जाना 'सायुज्य' मुक्ति कहलाती है।

'लौकिक कार्योंके लिये तथा बड़ी-से-बड़ी आपत्तियोंमें भी कभी राममन्त्रका उपयोग नहीं करना चाहिये। वह तो केवल मोक्षका साधक है। यदि कोई लौकिक कार्य या संकट आ पड़े तो मुझ राम-सेवकका स्मरण करे। मुनीश्वरो! जो नित्य भक्तिभावसे मन्त्र-जपमें संलग्न होकर भगवान् रामका सम्यक् स्मरण करता है, उसके अभीष्टकी पूर्ण सिद्धिके लिये मैं दीक्षा लिये बैठा हूँ। श्रीरघुनाथजीके भक्तोंको मैं अवश्य मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करूँगा। श्रीरामका कार्यभार मैंने अपने सिरपर उठा रखा है और उसके लिये मैं सर्वथा जागरूक हूँ।'

हनुमान्‌जी भगवान् रामकी सेवा करनेमें इतने दक्ष हैं कि भगवान्‌के मनमें संकल्प उठनेसे पहले ही वे उसकी पूर्ति कर देते हैं! सीताजीकी खोजके लिये जाते समय हनुमान्‌जीको केवल उनका कुशल-समाचार लानेके लिये ही कहा गया था। परन्तु सीताजीकी खोजके साथ-साथ उन्होंने इन बातोंका भी पता लगा लिया कि लंकाके दुर्ग किस विधिसे बने हैं, किस प्रकार लंकापुरीकी रक्षाकी व्यवस्था की गयी है, किस तरह वह सेनाओंसे सुरक्षित है, वहाँ सैनिकों और वाहनोंकी संख्या कितनी है आदि-आदि। जब अशोकवाटिकामें उन्होंने त्रिजटाका स्वप्न सुना—

'सपनें बानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी॥'

(मानस ५। ११। २)

तब इसको हनुमान्‌जीने भगवान्‌की ही प्रेरणा (आज्ञा) समझी। जब उनकी पूँछमें आग लगानेकी बात चली, तब इस बातकी पूरी तरह पुष्टि हो गयी—

बचन सुनत कपि मन मुसुकाना। भइ सहाय सारद मैं जाना॥

(मानस ५। २५। २)

अतः हनुमान्‌जीने भगवान्‌की लंका-दहनरूप सेवाका कार्य भलीभाँति पूरा कर दिया! इतना ही नहीं, रामजीको लंकापर विजय करनेमें सुगमता पड़े, इसके लिये उन्होंने लंकाको जलानेके साथ-साथ लंकाकी आवश्यक युद्ध-सामग्रीको भी नष्ट कर दिया, खाइयोंको पाट दिया, परकोटोंको गिरा दिया और विशाल राक्षस-सेनाका एक चौथाई भाग नष्ट कर दिया (वाल्मीकि० युद्ध०३)। आगे राक्षसोंकी संख्या न बढ़े, इसके लिये उन्होंने भयंकर गर्जना करके राक्षसियोंके गर्भ भी गिरा दिये—

चलत महाधुनि गर्जेसि भारी। गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचर नारी॥

(मानस ५। २८। १)

कारण कि भगवान्‌का अवतार राक्षसोंका विनाश करनेके लिये हुआ है—'**विनाशाय च दुष्कृताम्**' (गीता ४। ८) और हनुमान्‌जीको भगवान्‌का कार्य ही करना है—'***राम काज लगि तव अवतारा***' (मानस ४। ३०। ३)।

२-सख्य-रति

सख्य-रतिमें भक्तका यह भाव रहता है कि भगवान् मेरे सखा हैं और मैं उनका सखा हूँ। वे मेरे प्यारे हैं और मैं उनका प्यारा हूँ। उनका मेरेपर पूरा अधिकार है और मेरा उनपर पूरा अधिकार है। इसलिये मैं उनकी बात मानता हूँ तो उनको भी मेरी बात माननी चाहिये। दास्य-रतिमें तो सेवकको यह संकोच रहता है कि कहीं स्वामी मेरेसे नाराज न हो जायँ अथवा उनके सामने मेरेसे कोई भूल न हो जाय! परन्तु सख्य-रतिमें यह संकोच नहीं रहता; क्योंकि इसमें भगवान्‌से बराबरीका भाव रहता है।

सख्यभावके कारण भगवान् श्रीराम हनुमान्‌जीसे सलाह लिया करते हैं। जब विभीषण भगवान् श्रीरामकी शरणमें आते हैं, तब भगवान् इस विषयमें हनुमान् आदिसे कहते हैं—

सुहृदामर्थकृच्छ्रेषु युक्तं बुद्धिमता सदा।
समर्थेनोपसंदेष्टुं शाश्वतीं भूतिमिच्छता॥

(वाल्मीकि० युद्ध० १७। ३३)

'मित्रोंकी स्थायी उन्नति चाहनेवाले बुद्धिमान् एवं समर्थ पुरुषको कर्तव्याकर्तव्यके विषयमें संशय उपस्थित होनेपर सदा ही अपनी सम्मति देनी चाहिये।'

अंगद, जाम्बवान् आदिके द्वारा अपना मत प्रकट करनेके बाद हनुमान्‌जी कहते हैं—

न वादान्नापि संघर्षान्नाधिक्यान्न च कामतः।
वक्ष्यामि वचनं राजन् यथार्थं राम गौरवात्॥

(वाल्मीकि० युद्ध० १७। ५२)

'महाराज राम! मैं जो कुछ कहूँगा, वह वाद-विवाद या तर्क, स्पर्धा, अधिक बुद्धिमत्ताके अभिमान अथवा किसी प्रकारकी कामनासे नहीं कहूँगा। मैं तो कार्यकी गुरुतापर दृष्टि रखकर जो यथार्थ समझूँगा, वही बात कहूँगा।'

इसके बाद हनुमान्‌जी अपनी सम्मति देते हैं कि विभीषणको स्वीकार कर लेना ही मुझे उचित जान पड़ता है। हनुमान्‌जीके मुखसे अपने मनकी ही बात सुनकर भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं और उनकी सलाह मान लेते हैं।

३-वात्सल्य-रति

वात्सल्य-रतिमें भक्तका यह भाव रहता है कि मैं भगवान्‌की माता हूँ या उनका पिता हूँ अथवा उनका गुरु हूँ और वे मेरे पुत्र हैं अथवा शिष्य हैं। अतः मेरेको उनका पालन-पोषण करना है, उनकी रक्षा करनी है।

हनुमान्‌जीको भगवान् श्रीरामका पैदल चलना सहन नहीं

होता। जैसे माता-पिता अपने बालकको गोदमें लेकर चलते हैं, ऐसे ही रामजीकी कहीं जानेकी इच्छा होते ही हनुमान्‌जी उनको अपनी पीठपर बैठाकर चल पड़ते हैं—

'लिए दुऔ जन पीठि चढ़ाई' ॥

(मानस ४।४।३)

पृष्ठमारोप्य तौ वीरौ जगाम कपिकुञ्जरः ॥

(वाल्मीकि० कि० ४।३४)

४-माधुर्य-रति

माधुर्य-रतिमें भक्तको भगवान्‌के ऐश्वर्यकी विशेष विस्मृति रहती है; अतः इसमें भक्त भगवान्‌के साथ अपनी अभिन्नता (घनिष्ठ अपनापन) मानता है।

माधुर्य-भाव स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमें ही होता है—यह नियम नहीं है। माधुर्य नाम मधुरता अर्थात् मिठासका है और वह मिठास भगवान्‌के साथ अभिन्नता होनेसे आती है। यह अभिन्नता जितनी अधिक होगी, उतनी ही मधुरता अधिक होगी। अतः दास्य, सख्य तथा वात्सल्य-भावमेंसे किसी भी भावकी पूर्णता होनेपर उसमें मधुरता कम नहीं होगी। भक्तिके सभी भावोंमें माधुर्य-भाव रहता है।

माधुर्य-रतिके दो भेद हैं—स्वकीया और परकीया। 'स्वकीया माधुर्य-रति' में पति-पत्नीके सम्बन्धका भाव रहता है। पतिव्रता स्त्री अपने माता, पिता, भाई, कुल आदि सबका त्याग करके अपने-आपको पतिकी सेवामें अर्पित कर देती है। इतना ही नहीं, वह अपने गोत्रका भी त्याग करके पतिके गोत्रकी बन जाती है* । अपना तन, मन, धन, बल, बुद्धि आदि सब कुछ पतिके ही अर्पण करके सर्वथा पतिके परायण हो जाती है। उसमें दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—सभी भाव विद्यमान रहते हैं। वह दासीकी तरह पतिकी सेवा करती है, मित्रकी तरह पतिको उचित सलाह देती है और माताकी तरह भोजन, वस्त्र आदिसे पतिका पालन करती है तथा उसके सुख-आरामका खयाल रखती है†।

'परकीया माधुर्य-रति' में अपनी पत्नीसे भिन्न स्त्री (परनारी) के सम्बन्धका और अपने पतिसे भिन्न पुरुष (परपुरुष या उपपति) के सम्बन्धका भाव रहता है। यद्यपि लौकिक दृष्टिसे यह सम्बन्ध व्यभिचार होनेसे महान् पतन करनेवाला है, तथापि पारमार्थिक दृष्टिसे इस सम्बन्धका भाव बहुत उन्नति करनेवाला है। यद्यपि पत्नी अपने पतिकी सेवा करती है, तथापि वह अधिकारपूर्वक पतिसे यह आशा भी रखती है कि वह रोटी, कपड़ा, मकान आदि जीवन-निर्वाहकी वस्तुओंका प्रबन्ध करे और बाल-बच्चोंके पालन-पोषण, विद्याध्ययन, विवाह आदिकी व्यवस्था करे। परन्तु परकीया-भावमें अपने इष्टको सुख पहुँचानेके सिवाय कोई भी कामना या स्वार्थ नहीं रहता। स्वकीया-भावकी अपेक्षा परकीया-भावमें अपने प्रेमास्पदका चिन्तन भी अधिक होता है और उससे मिलनेकी इच्छा भी तीव्र होती है। स्वकीया-भावमें तो हरदम साथमें रहनेसे प्रेमास्पदके आचरणोंको लेकर उसमें दोषदृष्टि भी हो सकती है; परन्तु परकीया-भावमें प्रेमास्पदमें दोषदृष्टि होती ही नहीं। यद्यपि लौकिक परकीया-भावमें अपने सुखकी इच्छा भी रहती है, तथापि पारमार्थिक परकीयाभावमें भक्तके भीतर अपने सुखकी किंचिन्मात्र भी इच्छा नहीं रहती। उसमें केवल एक ही लगन रहती है कि प्रेमास्पद (भगवान्)को अधिक-से-अधिक सुख कैसे पहुँचे ! उसका अहंभाव भगवान्‌में ही लीन हो जाता है।

हनुमान्‌जीका भाव स्वकीया अथवा परकीया माधुर्य-रतिसे भी श्रेष्ठ है ! उन्होंने वानरका शरीर इसीलिये धारण किया है कि उनको अपने प्रेमास्पदसे अथवा दूसरे किसीसे किञ्चिन्मात्र भी कोई वस्तु लेनेकी जरूरत न पड़े। उनको न रोटीकी जरूरत है, न कपड़ेकी जरूरत है, न मकानकी जरूरत है, न बाल-बच्चोंके देखभालकी जरूरत है, न मान-बड़ाई आदिकी जरूरत है ! वानर तो जंगलमें फल-फूल-पत्ते खाकर और पेड़ोंपर रहकर ही जीवन-निर्वाह कर लेता है। लौकिक परकीया-भावमें प्रेमीका अपने माता-पिता, भाई-बहन आदिके साथ भी सम्बन्ध रहता है; परन्तु हनुमान्‌जीका एक भगवान् श्रीरामके सिवाय और किसीसे सम्बन्ध है ही नहीं।

सभी रतियोंकी दो अवस्थाएँ मानी गयी हैं—संयोग (सम्भोग) और वियोग (विप्रलम्भ)। संयोग-रतिमें पत्नी भोजनादिके द्वारा पतिकी सेवा करती है और वियोग-रतिमें (पतिके दूर होनेसे) वह पतिका स्मरण-चिन्तन करती है। वियोग-रतिमें प्रेमास्पदकी निरन्तर मानसिक सेवा होती है। अतः संयोग-रतिकी अपेक्षा वियोग-रतिको श्रेष्ठ माना गया है। चैतन्य महाप्रभुने भी इस वियोग-रतिका विशेष आदर किया है। इसमें भी 'परकीया माधुर्य-रति' की वियोगावस्था सबसे ऊँची है, जिसमें प्रेमी और प्रेमास्पदमें नित्ययोग रहता है। प्रेम-रसकी वृद्धिके लिये इस नित्ययोगमें चार अवस्थाएँ होती हैं—

---

* भक्तके लिये कहा गया है—'साह ही को गोतु गोतु होत है गुलाम को।' (कवितावली, उत्तर० १०७)।

† कार्ये दासी रतौ रम्भा भोजने जननीसमा। विपत्सु मन्त्रिणी भर्तुः सा च भार्या पतिव्रता॥ (पद्मपुराण, सृष्टि० ४७।५६)

१-नित्ययोगमें योग
२-नित्ययोगमें वियोग
३-वियोगमें नित्ययोग
४-वियोगमें वियोग

प्रेमी और प्रेमास्पदका परस्पर मिलन होना 'नित्ययोगमें योग' है। प्रेमास्पदसे मिलन होनेपर भी प्रेमीमें यह भाव आ जाता है कि प्रेमास्पद कहीं चले गये हैं—यह 'नित्ययोगमें वियोग' है। प्रेमास्पद सामने नहीं हैं, पर मनसे उन्हींका गाढ़ चिन्तन हो रहा है और वे मनसे प्रत्यक्ष मिलते हुए दीख रहे हैं— यह 'वियोगमें नित्ययोग' है। प्रेमास्पद थोड़े समयके लिये सामने नहीं आये, पर मनमें ऐसा भाव है कि उनसे मिले बिना युग बीत गया—यह 'वियोगमें वियोग' है। वास्तवमें इन चारों अवस्थाओंमें प्रेमास्पदके साथ नित्ययोग ज्यों-का-त्यों बना रहता है, वियोग कभी होता ही नहीं, हो सकता ही नहीं और होनेकी सम्भावना भी नहीं। प्रेमका आदान-प्रदान करनेके लिये ही प्रेमी और प्रेमास्पदमें संयोग-वियोगकी लीला हुआ करती है।

हनुमान्‌जीमें संयोग-रति और वियोग-रति—दोनों ही विलक्षणरूपसे विद्यमान हैं। संयोगकालमें वे भगवान्‌की सेवामें ही रत रहते हैं और वियोगकालमें भगवान्‌के स्मरण-चिन्तनमें डूबे रहते हैं। संयोग-रतिमें प्रेमी खुद भी सुख लेता है; जैसे पतिको सुख देनेके साथ-साथ पत्नी खुद भी सुखका अनुभव करती है। परन्तु हनुमान्‌जीकी संयोग-रतिमें किंचिन्मात्र भी अपना सुख नहीं है। केवल भगवान्‌के सुखमें ही उनका सुख है— **'तत्सुखे सुखित्वम्'**। वे तो भगवान्‌को सुख पहुँचाने, उनकी सेवा करनेके लिये सदा आतुर रहते हैं, छटपटाते रहते हैं—

राम काज करिबे को आतुर। (हनुमानचालीसा)
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥
(मानस ५।१)

एक बार सुबह हनुमान्‌जीको भूख लग गयी तो वे माता सीताजीके पास गये और बोले कि माँ! मेरेको भूख लगी है, खानेके लिये कुछ दो। सीताजीने कहा कि बेटा! मैंने अभीतक स्नान नहीं किया है। तुम ठहरो, मैं अभी स्नान करके भोजन देती हूँ। सीताजीने स्नान करके शृङ्गार किया। उनकी माँगमें सिन्दूर देखकर सहज सरल हनुमान्‌जीने पूछा कि माँ! आपने यह सिन्दूर क्यों लगाया है? सीताजीने कहा कि बेटा! इसको लगानेसे तुम्हारे स्वामीकी आयु बढ़ती है। ऐसा सुनकर हनुमान्‌जीको विचार आया कि अगर सिन्दूरकी एक रेखा खींचनेसे रामजीकी आयु बढ़ती है, तो फिर पूरे शरीरमें सिन्दूर लगानेसे उनकी आयु कितनी बढ़ जायगी! सीताजी रसोईमें गयीं तो हनुमान्‌जी शृङ्गार कक्षमें चले गये और उन्होंने सिन्दूरकी डिबियाको नीचे पटक दिया। सब सिन्दूर नीचे बिखर गया और हनुमान्‌जीने वह सिन्दूर अपने पूरे शरीरपर लगा लिया! अब मेरे प्रभुकी आयु खूब बढ़ जायगी— ऐसा सोचकर हनुमान्‌जी बड़े हर्षित हो गये और भूख-प्यासको भूलकर सीधे रामजीके दरबारमें पहुँच गये! उनको इस वेशमें देखकर सभी हँसने लगे। रामजीने पूछा कि हनुमान्! आज तुमने अपने शरीरपर सिन्दूरका लेप कैसे कर लिया? हनुमान्‌जी बोले कि प्रभो! माँके थोड़ा-सा सिन्दूर लगानेसे आपकी आयु बढ़ती है— ऐसा जानकर मैंने पूरे शरीरपर ही सिन्दूर लगाना शुरू कर दिया है, जिससे आपकी आयु खूब बढ़ जाय! रामजीने कहा कि बहुत अच्छा! अब आगेसे जो भक्त तुम्हारेको तेल और सिन्दूर चढ़ायेगा, उसपर मैं बहुत प्रसन्न होऊँगा!

हनुमान्‌जीकी वियोग-रति भी विचित्र ही है। लौकिक अथवा पारमार्थिक जगत्‌में कोई भी व्यक्ति अपने इष्टका वियोग नहीं चाहता। परन्तु भगवान्‌का कार्य करनेके लिये तथा उनका निरन्तर स्मरण करनेके लिये, उनका गुणानुवाद (लीला-कथा) सुननेके लिये हनुमान्‌जी भगवान्‌से वियोग-रतिका वरदान माँगते हैं—

यावद् रामकथा वीर चरिष्यति महीतले।
तावच्छरीरे वत्स्यन्तु प्राणा मम न संशयः॥
(वाल्मीकि० उत्तर० ४०।१७)

'वीर श्रीराम! इस पृथ्वीपर जबतक रामकथा प्रचलित रहे, तबतक निःसन्देह मेरे प्राण इस शरीरमें ही बसे रहें।'

कोई प्रेमास्पद भी अपने प्रेमीसे वियोग नहीं चाहता। परन्तु भगवान् श्रीराम जब परमधाम पधारने लगे, तब वे भक्तोंकी सहायता, रक्षाके लिये हनुमान्‌जीको इस पृथ्वीपर ही रहनेकी आज्ञा देते हैं। यह भी एक विशेष बात है! भगवान् कहते हैं—

जीविते कृतबुद्धिस्त्वं मा प्रतिज्ञां वृथा कृथाः।
मत्कथाः प्रचरिष्यन्ति यावल्लोके हरीश्वर॥
तावद् रमस्व सुप्रीतो मद्वाक्यमनुपालयन्।
एवमुक्तस्तु हनुमान् राघवेण महात्मना॥
वाक्यं विज्ञापयामास परं हर्षमवाप च।
(वाल्मीकि० उत्तर० १०८।३३—३५)

'हरीश्वर! तुमने दीर्घकालतक जीवित रहनेका निश्चय किया है। अपनी इस प्रतिज्ञाको व्यर्थ न करो। जबतक संसारमें मेरी कथाओंका प्रचार रहे, तबतक तुम भी मेरी

आज्ञाका पालन करते हुए प्रसन्नतापूर्वक विचरते रहो। महात्मा श्रीरघुनाथजीके ऐसा कहनेपर हनुमान्‌जीको बड़ा हर्ष हुआ और वे इस प्रकार बोले—'

यावत् तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी ॥
तावत् स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञामनुपालयन्।

(वाल्मीकि० उत्तर० १०८। ३५-३६)

इसीलिये हनुमान्‌जीके लिये आया है—*'राम चरित सुनिबे को रसिया।'*

एक बार भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न—तीनों भाइयोंने माता सीताजीसे मिलकर विचार किया कि हनुमान्‌जी हमें रामजीकी सेवा करनेका मौका ही नहीं देते, पूरी सेवा अकेले ही किया करते हैं। अतः अब रामजीकी सेवाका पूरा काम हम ही करेंगे, हनुमान्‌जीके लिये कोई भी काम नहीं छोड़ेंगे। ऐसा विचार करके उन्होंने सेवाका पूरा काम आपसमें बाँट लिया। जब हनुमान्‌जी सेवाके लिये सामने आये, तब उनको रोक दिया और कहा कि आजसे प्रभुकी सेवा बाँट दी गयी है, आपके लिये कोई सेवा नहीं है। हनुमान्‌जीने देखा कि भगवान्‌को जम्हाई (जँभाई) आनेपर चुटकी बजानेकी सेवा किसीने भी नहीं ली है। अतः उन्होंने यही सेवा अपने हाथमें ले ली। यह सेवा किसीके खयालमें ही नहीं आयी थी! हनुमान्‌जीमें प्रभुकी सेवा करनेकी लगन थी। जिसमें लगन होती है, उसको कोई-न-कोई सेवा मिल ही जाती है। अब हनुमान्‌जी दिनभर रामजीके सामने ही बैठे रहे और उनके मुखकी तरफ देखते रहे; क्योंकि रामजीको किस समय जम्हाई आ जाय, इसका क्या पता? जब रात हुई, तब भी हनुमान्‌जी उसी तरह बैठे रहे। भरतादि सभी भाइयोंने हनुमान्‌जीसे कहा कि रातमें आप यहाँ नहीं बैठ सकते, अब आप चले जायँ। हनुमान्‌जी बोले कि कैसे चला जाऊँ? रातको न जाने कब रामजीको जम्हाई आ जाय! जब बहुत आग्रह किया, तब हनुमान्‌जी वहाँसे चले गये और छतपर जाकर बैठ गये। वहाँ बैठकर उन्होंने लगातार चुटकी बजाना शुरू कर दिया; क्योंकि रामजीको न जाने कब जम्हाई आ जाय! यहाँ रामजीको ऐसी जम्हाई आयी कि उनका मुख खुला ही रह गया, बन्द हुआ ही नहीं! यह देखकर सीताजी बड़ी व्याकुल हो गयीं कि न जाने रामजीको क्या हो गया है! भरतादि सभी भाई आ गये। वैद्योंको बुलाया गया तो वे भी कुछ कर नहीं सके। वसिष्ठजी आये तो उनको आश्चर्य हुआ कि ऐसी चिन्ताजनक स्थितिमें हनुमान्‌जी दिखायी नहीं दे रहे हैं! और सब तो यहाँ हैं, पर हनुमान्‌जी कहाँ हैं? खोज करनेपर हनुमान्‌जी छतपर बैठे चुटकी बजाते हुए मिले। उनको बुलाया गया और वे रामजीके पास आये तो चुटकी बजाना बन्द करते ही रामजीका मुख स्वाभाविक स्थितिमें आ गया! अब सबकी समझमें आया कि यह सब लीला हनुमान्‌जीके चुटकी बजानेके कारण ही थी! भगवान्‌ने यह लीला इसलिये की थी कि जैसे भूखेको अन्न देना ही चाहिये, ऐसे ही सेवाके लिये आतुर हनुमान्‌जीको सेवाका अवसर देना ही चाहिये, बन्द नहीं करना चाहिये। फिर भरतादि भाइयोंने ऐसा आग्रह नहीं रखा। तात्पर्य है कि संयोग-रति और वियोग-रति—दोनोंमें ही हनुमान्‌जी भगवान्‌की सेवा करनेमें तत्पर रहते हैं।

इस प्रकार हनुमान्‌जीका दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य-भाव बहुत विलक्षण है! इस कारण हनुमान्‌जीकी ऐसी विलक्षण महिमा है कि संसारमें भगवान्‌से भी अधिक उनका पूजन होता है। जहाँ भगवान् श्रीरामके मन्दिर हैं, वहाँ तो उनके साथ हनुमान्‌जी विराजमान हैं ही, जहाँ भगवान् श्रीरामके मन्दिर नहीं हैं, वहाँ भी हनुमान्‌जीके स्वतन्त्र मन्दिर हैं! उनके मन्दिर प्रत्येक गाँव और शहरमें, जगह-जगह मिलते हैं। केवल भारतमें ही नहीं, प्रत्युत विदेशोंमें भी हनुमान्‌जीके अनेक मन्दिर हैं। इस प्रकार वे रामजीके साथ भी पूजित होते हैं और स्वतन्त्र रूपसे भी पूजित होते हैं। इसीलिये कहा गया है—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा ॥

(मानस ७। १२०। ८)

भगवान् शंकर कहते हैं—

हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी ॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई ॥

(मानस ७। ५०। ४-५)

स्वयं भगवान् श्रीराम हनुमान्‌जीसे कहते हैं—

मदङ्गे जीर्णतां यातु यत् त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम् ॥

(वाल्मीकि० उत्तर० ४०। २४)

'कपिश्रेष्ठ! मैं तो यही चाहता हूँ कि तुमने जो-जो उपकार किये हैं, वे सब मेरे शरीरमें ही पच जायँ! उनका बदला चुकानेका मुझे कभी अवसर न मिले; क्योंकि उपकारका बदला पानेका अवसर मनुष्यको आपत्तिकालमें ही मिलता है (मैं नहीं चाहता कि तुम भी संकटमें पड़ो और मैं तुम्हारे उपकारका बदला चुकाऊँ)।'

संकीर्तनकी महिमा

नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥
(श्रीमद्भा० १२।१३।२३)

'जिनके नामका संकीर्तन सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला है और जिनको किया गया प्रणाम सम्पूर्ण दुःखोंको शान्त कर देता है, उन परमतत्त्व-स्वरूप श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ।'

इस कलियुगमें भगवन्नामकी सबसे अधिक महिमा है। यद्यपि नामकी महिमा सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—इन चारों ही युगोंमें है, तथापि कलियुगमें तो मनुष्योंके लिये भगवन्नाम ही मुख्य आधार है, आश्रय है तथा भगवन्नाम ही कल्याणका सुगम और सर्वोपरि साधन है।

भगवन्नामका एक मानसिक जप होता है, एक उपांशु जप होता है, एक साधारण जप होता है और एक संकीर्तन होता है। मानसिक जप वह होता है, जिसमें मनसे ही नामका जप-चिन्तन हो तथा जिसमें कण्ठ, जिह्वा और होठ न हिले। उपांशु जप वह होता है, जिसमें मुख बंद रखते हुए कण्ठ और जिह्वासे जप किया जाय तथा जो अपने कानोंको भी सुनायी न दे। साधारण जप वह होता है, जिसमें अपने कानोंको भी नाम सुनायी दे और दूसरोंको भी सुनायी दे। संकीर्तन वह होता है, जिसमें राग-रागिनियोंके साथ उच्च स्वरसे नामका गान किया जाय। भगवान्‌के नामके सिवाय उनकी लीला, गुण, प्रभाव आदिका भी कीर्तन होता है, परंतु इन सबमें नाम-संकीर्तन बहुत सुगम और श्रेष्ठ है।

जैसे मानसिक जपमें मन जितना ही तल्लीन होता है, उतना ही वह अधिक श्रेष्ठ होता है, ऐसे ही नाम-संकीर्तनमें ताल-स्वरसहित राग-रागिनियोंके साथ जितना ही तल्लीन होकर ऊँचे स्वरमें नामका गान किया जाय, उतना ही वह अधिक श्रेष्ठ होता है।

नाम-संकीर्तन मस्त होकर, भगवान्‌में मन लगाकर किया जाना चाहिये। मन लगानेका अभिप्राय है कि दूसरे लोग मुझे देख रहे हैं या नहीं, दूसरे लोग कीर्तन कर रहे हैं या नहीं, मेरे कीर्तनका लोगोंपर क्या असर पड़ रहा है—ऐसा मनमें भाव बिलकुल न रहे। ऐसा भाव वास्तवमें कल्याण करनेमें बड़ा बाधक है। संकीर्तनमें दिखावटीपन आनेसे वह मान-बड़ाई आदिकी लौकिक वासनामें परिणत हो जाता है और उसका प्रभाव जीवनपर कम पड़ता है।

लोकवासना, देहवासना और शास्त्रवासना—ये तीन वासनाएँ हैं। ऐसे ही वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा—ये तीन एषणाएँ (इच्छाएँ) हैं। ये सब बहुत पतन करनेवाली हैं। संकीर्तन करते हुए, शुभ कार्य करते हुए, सत्सङ्ग करते हुए, प्रवचन देते हुए, कथा कहते हुए भी यह कूड़ा-कचरा (वासनाएँ—इच्छाएँ) साथमें मिल जाता है तो संकीर्तन आदिका जो माहात्म्य है, वह नहीं रहता। यद्यपि नामजप, कथा, कीर्तन, सत्सङ्ग आदि कभी निष्फल नहीं जाते, उनसे लाभ अवश्य होता है, तथापि इन वासनाओं—इच्छाओंके कारण उनसे विशेष लाभ नहीं होता, बहुत थोड़ा लाभ होता है।

भगवान्‌में मन लगाकर, तल्लीन होकर नाम-संकीर्तन किया जाय तो उससे एक विलक्षण वायुमण्डल बनता है। वह वायुमण्डल सब जगह फैल जाता है, जिससे संसारमात्रका हित होता है। शब्द व्यापक है—इस बातका तो रेडियो, वायरलेस आदिके द्वारा आविष्कार हो चुका है, पर भाव व्यापक है—इस बातका आविष्कार अभीतक नहीं हुआ है। वास्तवमें भाव शब्दसे भी अधिक व्यापक है; क्योंकि भाव शब्दसे भी अधिक सूक्ष्म है। जो वस्तु जितनी सूक्ष्म होती है, वह उतनी ही अधिक व्यापक होती है। अतः संसारमात्रकी सेवा करनेमें सेवाका भाव जितना समर्थ है, उतने पदार्थ समर्थ नहीं हैं। भावोंमें भी भगवद्भाव बहुत विलक्षण है; क्योंकि भगवद्भाव चिन्मय तत्त्व है। भगवान्‌के समान दूसरा कोई सर्वव्यापक तत्त्व नहीं है। अतः भगवद्भावसे भगवान्‌के नामका संकीर्तन किया जाय तो उसका संसार-मात्रपर बहुत विलक्षण असर पड़ता है; वह संसारमात्रको शान्ति देनेवाला होता है।

शब्दमें अलौकिक शक्ति है। जब मनुष्य सोता है, तब उसकी इन्द्रियाँ मनमें, मन बुद्धिमें और बुद्धि अविद्यामें लीन हो जाती है, परंतु जब सोये हुए मनुष्यका नाम लेकर पुकारा जाय, तब वह जग जाता है। यद्यपि दूसरे शब्दोंका भी उसपर असर पड़ता है, उसकी नींद खुल जाती है, तथापि उसके नामका उसपर अधिक असर पड़ता है। इस प्रकार शब्दमें इतनी शक्ति है कि वह अविद्यामें लीन हुई कर्णेन्द्रियको जाग्रत् करके मनुष्यको उठा देता है*। ऐसे ही भगवन्नाम-संकीर्तनसे जन्म-जन्मान्तरसे अज्ञान-निद्रामें सोया हुआ मनुष्य भी जग जाता है। इतना ही नहीं, नाम-संकीर्तनके प्रभावसे सब जगह

* शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधीः। प्रसुप्तः पुरुषो यद्वच्छब्देनैवावबुध्यते॥ (सदाचारानुसंधानम् १९)

विराजमान भगवान् भी प्रकट हो जाते हैं। भगवान्ने कहा है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

(आदिपुराण १९। ३५)

'नारद! न तो मैं वैकुण्ठमें निवास करता हूँ, और न योगियोंके हृदयमें ही, अपितु जहाँ मेरे भक्त मेरे नाम आदिका कीर्तन करते हैं, मैं वहीं रहता हूँ।'

भगवन्नामकी अपार महिमा होनेसे उसके मानसिक जपका भी सम्पूर्ण प्राणियोंपर प्रभाव पड़ता है और उससे सबका स्वाभाविक हित होता है। परंतु नाम-संकीर्तनका प्रभाव वृक्ष, लता आदि स्थावर और मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जङ्गम प्राणियोंपर तो पड़ता ही है, निर्जीव पत्थर, काष्ठ, मिट्टी, मकान आदिपर भी उसका प्रभाव पड़ता है।

जहाँ नामजप, ध्यान, कथा, सत्सङ्ग आदि भगवत्-सम्बन्धी बातें हो रही हों अथवा पहले हुई हों; वहाँ जानेसे शान्ति मिलती है, पापोंका नाश होता है, पवित्रता आती है, जीवनपर स्वाभाविक एक विलक्षण प्रभाव पड़ता है; परन्तु इसकी अपेक्षा भी कीर्तनप्रेमीपर नाम-संकीर्तनका विशेष प्रभाव पड़ता है। नाम-संकीर्तनमें संकीर्तन सुननेवाले और देखनेवाले—दोनोंपर ही संकीर्तनका प्रभाव पड़ता है। भगवान्के दर्शनका जैसा प्रभाव पड़ता है, वैसा ही प्रत्यक्ष प्रभाव कीर्तनप्रेमी भक्तपर संकीर्तनका पड़ता है। संकीर्तनमें भगवान् आनन्दरूपसे, प्रेमरूपसे प्रकट होते हैं। उसमें प्रत्यक्ष एक रस आता है, जिसका अनुभव कीर्तन करनेवाले करते हैं।

कलियुगमें तो संकीर्तनकी विशेष महिमा है—**'कलौ तद्धरिकीर्तनात्'** (श्रीमद्भा० १२। ३। ५२)। बंगाल और महाराष्ट्रमें संकीर्तनका विशेष प्रचार है। बंगालमें चैतन्य महाप्रभुने और महाराष्ट्रमें संत तुकाराम आदिने संकीर्तनका विशेष प्रचार किया। वाद्यके साथ एक स्वरमें सबके द्वारा मिलकर संकीर्तन किया जाय तो उससे एक विशेष शक्ति पैदा होती है—**'सङ्घे शक्तिः कलौ युगे।'** संकीर्तनके समय अपनी आँखें मीच ले और ऐसा भाव रखे कि मैं अकेला हूँ और मेरे सामने केवल भगवान् खड़े हैं; दूसरोंकी जो आवाज आ रही है, वह भी भगवान्की ही आवाज है। इस प्रकार भगवद्भावसे संकीर्तन करनेसे बहुत लाभ होता है और कोई पाप, दुर्गुण-दुराचार नहीं रहता। परंतु भगवान्का साक्षात् अनुभव तभी होता है, जब केवल शुद्ध कीर्तन हो।

महाराष्ट्रमें समर्थ गुरु रामदास बाबा एक बहुत विचित्र संत हुए हैं। इनके सम्बन्धमें एक बात (कथा) प्रसिद्ध है। ये हनुमान्जीके भक्त थे और इनको हनुमान्जीके दर्शन हुआ करते थे। एक बार बाबाजीने हनुमान्जीसे कहा कि 'महाराज! आप एक दिन सब लोगोंको दर्शन दें।' हनुमान्जीने कहा कि 'तुम लोगोंको इकट्ठा करो तो मैं दर्शन दे दूँगा।' बाबाजी बोले कि 'लोगोंको तो मैं हरिकथासे इकट्ठा कर लूँगा।' हनुमान्जीने कहा कि 'शुद्ध हरिकथा करना।' हरिकथासे लोग आते हैं, 'शुद्ध हरिकथासे मैं आ जाऊँगा।' बाबाजी बोले कि 'शुद्ध हरिकथा ही करूँगा।'

संत तथा राजगुरु होनेके कारण बाबाजीका ऐसा प्रभाव था कि वे जहाँ जाते, वहीं हजारोंकी संख्यामें लोग इकट्ठे हो जाते। उन्होंने एक शहरमें जाकर कहा कि आज रात शहरके बाहर अमुक मैदानमें हरिकथा होगी। समाचार सुनते ही हरिकथाकी तैयारी प्रारम्भ हो गयी। प्रकाशकी व्यवस्था की गयी, दरियाँ बिछायी गयीं। समयपर बहुत-से लोग इकट्ठे हो गये। सब गाने-बजानेवाले आकर बैठ गये और कीर्तन प्रारम्भ हो गया। बीच-बीचमें बाबाजी भगवान्की कथा कह देते और फिर कीर्तन करने लगते। ऐसा करते-करते वे केवल कीर्तनमें ही मस्त हो गये। लोगोंको यह आशा थी कि अब बाबाजी कथा सुनायेंगे, पर वे तो कीर्तन ही करते चले गये। लोगोंके भीतर असली भाव तो था नहीं; अतः 'यह कीर्तन तो हम घरपर ही कर लिया करते हैं; यहाँ कबतक बैठे रहेंगे!' ऐसा कहकर वे धीरे-धीरे उठकर जाने लगे। वास्तवमें वे घरपर कीर्तन करते नहीं थे। घरमें कीर्तन करनेकी बात तो वहाँसे उठनेका एक बहाना था। बाबाजीके पासमें बैठे लोग कानपर जनेऊ टाँगकर उठ गये! थोड़ी देरमें सभी लोग उठकर चले गये। धीरे-धीरे गाने-बजानेवाले भी खिसक गये। बाबाजी तो आँखें बंद करके अपनी मस्तीमें कीर्तन करते ही रहे। क्योंकि वे हनुमान्जीकी आज्ञाके अनुसार शुद्ध हरिकथा कर रहे थे। प्रकाशकी व्यवस्था करनेवाले भी चले गये। अब दरीवालोंको मुश्किल हो गयी कि बाबाजी तो मस्तीसे नाच रहे हैं, दरी कैसे उठायें! उन्होंने भी अटकल लगायी। जब बाबाजी नाचते-नाचते उधर गये तो इधरकी दरी इकट्ठी कर ली और जब वे इधर आये तो उधरकी दरी इकट्ठी कर ली और चल दिये। जब सब चले गये, तब हनुमान्जी प्रकट हो गये। बाबाजीने हनुमान्जीसे कहा कि 'महाराज! सबको दर्शन दें!' हनुमान्जी बोले—'सब हैं कहाँ?' वहाँ और तो कोई था ही नहीं, केवल बाबाजी ही थे।

इस प्रकार भावपूर्वक केवल भगवन्नामका संकीर्तन करना 'शुद्ध हरिकथा' है। इस शुद्ध हरिकथासे भगवान्

साक्षात् प्रकट हो जाते हैं। वर्तमानमें संकीर्तनकी बड़ी आवश्यकता है। अतः जगह-जगह लोगोंको एक साथ मिलकर अथवा अकेले संकीर्तन करना चाहिये। इससे संसारमात्रमें शान्तिका विस्तार होगा।

भक्ति, भक्त तथा भगवान्

श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्तिकी विशेष महिमा आती है। जब भगवान्ने अर्जुनकी प्रार्थना सुनकर अपना विश्वरूप दिखाया, तब उस विश्वरूपके लिये भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि तेरे सिवाय ऐसा रूप पहले किसीने भी नहीं देखा है और देखा जा भी नहीं सकता (गीता ११।४७-४८)। फिर पुनः अर्जुनके द्वारा प्रार्थना करनेपर भगवान्ने अपना चतुर्भुज (विष्णु) रूप दिखाया और उसके लिये अर्जुनसे कहा—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

(गीता ११।५३)

'जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है, इस प्रकारका (चतुर्भुज-रूपवाला) मैं न तो वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ।'

जब किसी भी साधनसे नहीं देखे जा सकते तो फिर किसके द्वारा देखे जा सकते हैं? इसपर भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

(गीता ११।५४)

'परन्तु हे शत्रुतापन अर्जुन! इस प्रकार (चतुर्भुज-रूपवाला) मैं अनन्यभक्तिसे ही तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ, देखा जा सकता हूँ और प्रवेश (प्राप्त) किया जा सकता हूँ।'

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि भक्तिसे जानना, देखना और प्रवेश करना—तीनों हो सकते हैं। परन्तु जहाँ भगवान्ने ज्ञानकी परानिष्ठा बतायी है, वहाँ ज्ञानसे केवल जानना और प्रवेश करना ये दो ही बताये गये हैं—**'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'** (गीता १८।५५)। भक्तिसे भगवान्के दर्शन भी हो सकते हैं—यह भक्तिकी विशेषता है, जबकि ज्ञानकी परानिष्ठा होनेपर भी भगवान्के दर्शन नहीं होते!

रामायणमें भी भक्तिकी विशेष महिमा बतायी गयी है। उसमें ज्ञानको तो दीपककी तरह बताया है, पर भक्तिको मणिकी तरह बताया है (मानस, उत्तर० ११७—१२०)। दीपकको जलानेमें तो घी, बत्ती आदिकी जरूरत होती है और हवा लगनेसे वह बुझ भी जाता है, पर मणिके लिये न तो घी, बत्ती आदिकी जरूरत है और न वह हवासे बुझती ही है—

परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥
प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥

(मानस, उत्तर० १२०।२-३)

इतना ही नहीं, जो मुक्ति ज्ञानके द्वारा बड़ी कठिनतासे प्राप्त होती है, वही मुक्ति भगवान्का भजन करनेसे विना इच्छा अपने-आप प्राप्त हो जाती है—

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥

(मानस, उत्तर० ११९।२)

इसलिये ज्ञानमार्गको तो बड़ा कठिन बताया गया है—***'ग्यान पंथ कृपान कै धारा'*** (मानस, उत्तर० ११९।१), पर भक्तिमार्गको बड़ा सुगम बताया गया है—***'भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥'*** (मानस, अरण्य० १६।३) भगवान्ने भी भक्तोंके लिये अपनी प्राप्ति बड़ी सुगम बतायी है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८।१४)

'हे पार्थ! अनन्य चित्तवाला जो भक्त नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

ज्ञानमार्गपर चलनेवाला तो अपने साधनका बल मानता है, पर भक्तकी यह विलक्षणता होती है कि वह अपने साधनका बल मानता ही नहीं। कारण कि मैं इतना जप करता हूँ, इतना तप करता हूँ, इतना ध्यान करता हूँ, इतना सत्संग करता हूँ—इस तरह भीतरमें अभिमान रहनेसे भक्ति प्राप्त नहीं होती। जिनका सीधा-सरल स्वभाव है, जो भगवान्की कृपापर निर्भर रहते हैं और हरेक परिस्थितिमें मस्त, आनन्दित रहते हैं, उन्हींको भक्ति प्राप्त होती है—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥

(मानस, उत्तर० ४६।१)

जबतक अपने साधनका अभिमान रहता है, तबतक असली भक्ति प्राप्त नहीं होती। भक्ति प्राप्त होनेपर भक्तके मनमें यह बात आती ही नहीं कि मैं भजन करता हूँ। जैसे, हनुमान्जी महाराज कहते हैं—***'जानउँ नहिं कछु भजन उपाई'*** (मानस, किष्किन्धा० ३।२)। हनुमान्जी भक्तिके खास आचार्य होते हुए भी कहते हैं कि मैं भजनका उपाय नहीं जानता कि भजन क्या होता है? कैसे होता है? शबरीको पता ही नहीं था कि भक्ति नौ प्रकारकी होती है और वह मेरेमें पूर्णरूपसे विद्यमान है! वह कहती है—

अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥

(मानस, अरण्य० ३५।२)

परन्तु भगवान् उसको कहते हैं—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
....
नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥

(मानस, अरण्य० ३५।४, ३६।३-४)

हनुमान्जी और शबरी झूठ नहीं बोलते, चतुराई नहीं करते, प्रत्युत सहज-सरल भावसे कहते हैं, क्योंकि उनमें किञ्चिन्मात्र भी अभिमान नहीं है। भक्त अपनेमें कोई विशेषता न देखकर केवल भगवान्की कृपा ही मानता है। जब अपनी कोई

चीज है ही नहीं तो फिर अभिमान किस बातका ? जब अपनेमें गुण दीखता है और उस गुणको हम अपना मानते हैं, तब अभिमान पैदा होता है। भक्तको अपनेमें कोई गुण दीखता ही नहीं और वह किसी गुणको अपना मानता ही नहीं, अतः उसमें अभिमान पैदा होनेकी गुंजाइश ही नहीं। उसका उपाय और उपेय, साधन और साध्य—दोनों भगवान् ही होते हैं। वह साधन भी भगवान्की कृपासे मानता है और साध्यकी प्राप्ति भी भगवान्की कृपासे मानता है।

भगवान्की कृपा सबपर बराबर है—***'सब पर मोहि बराबरि दाया'*** (मानस, उत्तर० ८७।४)। जैसे, धूप सबपर समानरूपसे पड़ती है, पर आतशी शीशेमें वह केन्द्रित होकर अग्नि प्रकट कर देती है। अग्नि पैदा करना सूर्यका काम है और उसकी किरणोंको पकड़कर एकाग्र करना आतशी शीशेका काम है। ऐसे ही कृपा करना भगवान्का काम है और उनकी कृपाको स्वीकार करना भक्तका काम है। भगवान्की कृपामें कोई पक्षपात नहीं है। अपनेमें अभिमान न होनेसे भगवान्की कृपाका प्रवाह सीधे आता है। परन्तु अपनेमें कुछ विशेषता दीखती है कि मैं इतना जानता हूँ, मैं इतना समझदार हूँ, मेरेमें इतनी योग्यता है तो अभिमानके कारण उस कृपाके आनेमें बाधा लग जाती है।

अपनेमें थोड़ा भी गुण, विशेषता, पुरुषार्थ, योग्यता दीखती है तो भक्ति प्राप्त नहीं होती। अपना अभिमान भक्तिमें बाधक है। इसलिये कोई अच्छा काम हो जाय तो भक्त उसको अपना न मानकर भगवान्का ही किया हुआ मानता है उसकी स्वतःस्वाभाविक भगवान्की तरफ ही दृष्टि जाती है।

आछी करै सो रामजी, कै सद्गुरु कै सन्त।
भूँडी बणै सो आपकी, ऐसी उर धारन्त॥
ऐसी उर धारन्त, तभी कछु बिगड़ै नाहीं।
उस सेवक की लाज, प्रतिज्ञा राखे सांई॥
संतदास मैं क्या कहूँ, कह गये सन्त अनन्त।
आछी करै सो रामजी, कै सद्गुरु कै सन्त॥

कोई भी अच्छा काम बनता है तो वह भगवान्से, सद्गुरुसे अथवा सन्तोंसे बनता है। महर्षि वाल्मीकिजी भगवान्से कहते हैं—

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥
(मानस, अयोध्या० १३१।२)

भक्त गुणोंको तो भगवान्का मानता है और दोषोंको अपना मानता है। कारण कि गुण भगवान्के तथा स्वतःसिद्ध हैं और अवगुण व्यक्तिगत तथा अपने अभिमानसे उत्पन्न होनेवाले हैं। इसलिये उसको ऐसा दीखता है कि जो अच्छा होता है, वह भगवान्की कृपासे होता है और जो बुरा होता है, वह मेरी भूलसे होता है। वास्तवमें बात भी यही सच्ची है। भक्त कोई चालाकी नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, प्रत्युत उसको ऐसा ही दीखता है कि मैं तो जैसा हूँ, वैसा ही हूँ ! यह तो ठाकुरजीकी कृपासे ऐसा काम बन गया, जिसको लोग मेरा मानकर मेरी बड़ाई कर रहे हैं। जब हनुमान्जी लंकासे लौटकर भगवान् रामके पास आये, तब भगवान्ने उनसे कहा—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
(मानस, सुन्दर० ३२।३)

यह सुनकर हनुमान्जी 'त्राहि ! त्राहि !!' कहते हुए भगवान्के चरणोंमें गिर गये—

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥
(मानस, सुन्दर० ३२)

हनुमान्जीपर ऐसी कौन-सी आफत आ रही थी, जिससे बचनेके लिये उन्होंने 'त्राहि ! त्राहि !!' (बचाओ ! बचाओ !!) कहा ? वह आफत थी—अभिमान। भगवान्के द्वारा अपनी बड़ाई सुनकर कहीं अभिमान न आ जाय, इसलिये वे त्राहि-त्राहि पुकारने लगे और बोले कि सब कुछ आपके प्रतापसे ही हुआ है, मेरे बलसे नहीं—

सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥
(मानस, सुन्दर० ३३।५)

जहाँ अपना अभिमान नहीं होता, वहाँ साधकको कोई बाधा नहीं लगती। बाधा वहीं लगती है, जहाँ अपनेमें कुछ योग्यता, बल, समझदारी, विद्या, वैराग्य, त्याग, जप आदिका अभिमान होता है। भक्त अपनेमें कोई योग्यता नहीं देखता, प्रत्युत अपनेको सर्वथा अयोग्य समझता है। इसलिये उसमें भगवान्की योग्यता काम करती है। एक भगवान्के शरण हो जाय तो सब काम भगवान् करते हैं—'लाद दे, लदवा दे, लदवानेवाला साथ दे', **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (गीता ९।२२)। यह अनन्यभक्ति है। भगवान्की एक बान (स्वभाव, आदत या प्रकृति) है कि उनको वही भक्त प्यारा लगता है, जिसका दूसरा कोई सहारा नहीं है—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥
(मानस, अरण्य० १०।४)

इसलिये—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥
(दोहावली २७७)

—इस प्रकार अनन्यभावसे केवल भगवान्के आश्रित

रहे और भजन करे। भजनका भी अभिमान नहीं होना चाहिये कि मैं इतना जप करता हूँ, इतना ध्यान करता हूँ आदि। भक्त जप आदि तो इसलिये करता है कि इनके बिना और करें भी क्या! क्योंकि बढ़िया-से-बढ़िया काम यही है। परन्तु भजनके द्वारा मैं भगवान्‌को प्राप्त कर लूँगा—यह भाव उसमें नहीं होता। उसका यह भाव होता है कि वास्तवमें भजन भगवान्‌की कृपासे ही हो रहा है और भगवान्‌की प्राप्ति भी उनकी कृपासे ही होगी। भगवान्‌की कृपाके बिना अन्य कोई सहारा न हो—यह अनन्यभक्ति है। अनन्यभक्तिसे भगवान् सुलभ हो जाते हैं।

भगवान्‌के भजनसे बढ़कर मीठी चीज कोई है ही नहीं। इसलिये भक्त नित्य-निरन्तर भगवान्‌के भजनमें मस्त रहता है। भगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(गीता १०।९)

'मेरेमें चित्तवाले, मेरेमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन आपसमें मेरे गुण-प्रभाव आदिको जनाते हुए और उनका कथन करते हुए ही नित्य-निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं और मेरेमें प्रेम करते हैं।'

कारण कि उनके लिये भगवान्‌के भजनके बिना कोई काम बाकी रहा ही नहीं। भागवतमें आया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(श्रीमद्भा० २।३।१०)

'जो बुद्धिमान् मनुष्य है, वह चाहे सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो, चाहे सम्पूर्ण कामनाओंसे युक्त हो, चाहे मोक्षकी कामनावाला हो, उसे तो केवल तीव्र भक्तियोगके द्वारा परमपुरुष भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये।'

कोई कहे कि मेरेको कुछ नहीं चाहिये, मेरेमें किसी तरहकी कुछ भी कामना नहीं है तो क्या करूँ? तो यही उत्तर मिलेगा कि केवल भगवान्‌का भजन करो। कोई कहे कि मेरेको तो सब कुछ चाहिये, भोग भी चाहिये, मोक्ष भी चाहिये, इज्जत भी चाहिये, नीरोगता भी चाहिये, बेटा-बेटी भी चाहिये तो क्या करूँ? तो यही उत्तर मिलेगा कि केवल भगवान्‌का भजन करो। कारण कि सब चीजें भगवान् ही दे सकते हैं। पुरुषार्थसे सब चीजें नहीं मिल सकतीं। कोई कहे कि मेरेको केवल मुक्ति चाहिये और कुछ नहीं चाहिये तो क्या करूँ? तो यही उत्तर मिलेगा कि केवल भगवान्‌का भजन करो। सबके लिये एक ही उपाय है—रात-दिन भगवान्‌का भजन करना, भगवान्‌में ही लगे रहना। जैसे, बच्चा केवल माँपर निर्भर रहता है। कोई काम पड़े तो वह केवल माँ-माँ पुकारता है। इसके सिवाय वह क्या कर सकता है? उसमें और क्या करनेकी ताकत है? वह माँ-माँ इसलिये करता है कि उसको 'माँ' नाम बड़ा मीठा, प्यारा लगता है। आदि-शंकराचार्यजी महाराज कितने ऊँचे दार्शनिक सन्त होते हुए भी भगवान् श्रीकृष्णको 'माँ' कहते हैं—

मायाहस्तेऽर्पयित्वाभरणकृतिकृते मोहमूलोद्भवं मां
मातः कृष्णाभिधाने चिरसमयमुदासीनभावं गतासि।
कारुण्यैकाधिवासे सकृदपि वदनं नेक्षसे त्वं मदीयं
तत्सर्वज्ञे न कर्तुं प्रभवति भवती किं नु मूलस्य शान्तिम्॥

(प्रबोधसुधाकर २४४)

'हे कृष्ण नामवाली माँ! मोहरूपी मूल नक्षत्रमें उत्पन्न हुए मुझ पुत्रको भरण-पोषणके लिये मायाके हाथोंमें सौंपकर तू बहुत दिनोंसे मेरी ओरसे उदासीन हो गयी है। अरी एकमात्र करुणामयी मैया! तू एक बार भी मेरे मुखकी ओर नहीं देखती? हे सर्वज्ञे! क्या तू उस मोहरूपी मूलकी शान्ति करनेमें समर्थ नहीं है?'

ज्ञानी तो आरम्भसे ही अपनेको बड़ा (ब्रह्म) मानने लगता है, परन्तु भक्त अपनेको सदा छोटा (बालक) ही मानता है, कभी बड़ा मानता ही नहीं। इसलिये भगवान् कहते हैं—

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥

(मानस, अरण्य० ४३।४)

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज वृद्ध होनेपर भी अपनेको बालक ही मानते हैं और माँ सीताजीसे कहते हैं—

कबहुँक अंब, अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ॥ १॥
दीन, सब अँगहीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ॥ २॥
बूझिहैं 'सो है कौन', कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ॥ ३॥
जानकी जगजननि जन की किये बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ-गुन-गन गाइ॥ ४॥

बालकके मनमें अगर कोई बात आ जाय तो वह माँसे ही कहता है। गोस्वामीजीके मनमें बात आयी तो उन्होंने माँ (सीताजी)से कह दी कि रघुनाथजीके सामने यों ही मेरा नाम मत लेना। पहले भक्तोंकी कोई करुण-कथा चलाना और जब रघुनाथजी प्रेममें मस्त हो जायँ, गद्गद हो जायँ, द्रवित हो जायँ, तब मेरा नाम लेना, नहीं तो उनकी दृष्टि मेरे लक्षणोंकी तरफ चली जायगी! मेरा नाम भी सीधे मत लेना। पहले कहना कि

एक ऐसा भक्त है जो आपका नाम लेकर पेट भरता है और आपकी दासी तुलसीका दास कहलाता है। गोस्वामीजी माँको भी लोभ देते हैं कि मैया! मेरा काम बन जायगा तो मैं आपके पति रघुनाथजीके गुण गाऊँगा। यह भक्तोंके भोलेपनकी भाषा है, चालाकीकी भाषा नहीं। भक्तके लिये कहा गया है—'*सरल सुभाव न मन कुटिलाई*' (मानस, उत्तर० ४६। १)।

कपट गाँठ मन में नहीं, सबसों सरल सुभाव।
'नारायण' ता भक्त की, लगी किनारे नाव॥

भक्ति और उसकी महिमा

कल्याण-प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उन सब साधनोंमें भक्ति सर्वश्रेष्ठ है—**'त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी।'** (नारदभक्तिसूत्र ८१) भगवान्‌के भजनका नाम भक्ति है। भजनका अर्थ है—सेवन करना। जैसे शरीरके लिये अन्न, जल और वायुका सेवन करते हैं, ऐसे ही स्वयंके लिये भगवान्‌का सेवन करना अर्थात् उनसे प्रेम करना भजन है।

पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन।
अस बिचारि मुनि पुनि पुनि करत राम गुन गान॥

(मानस, अरण्य० १० में पाठभेद)

प्रेमके समान कोई भजन नहीं है, इसलिये मुनिजन बार-बार भगवान्‌का गुणगान करते हैं—इसका तात्पर्य है कि भगवान्‌का गुणगान करनेसे उनमें प्रेम हो जाता है। भगवान् अच्छे लगें, मीठे लगें, प्यारे लगें—यह प्रेम है। जड, नाशवान् पदार्थोंमें अर्थात् रुपयोंमें, भोगोंमें कुटुम्बियोंमें, शरीरमें हमारा जो आकर्षण है, वह छूटकर केवल भगवान्‌में आकर्षण हो जाय—इसका नाम प्रेम है। वास्तवमें हमारा आकर्षण भगवान्‌की तरफ ही है, पर नाशवान् पदार्थोंको महत्त्व देनेसे वह आकर्षण संसारमें हो गया। जैसे गङ्गाजल इतना पवित्र है कि उसका दर्शन करनेसे सैकड़ों जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं। परन्तु वर्षाऋतुमें बढ़नेके बाद जब वह घटती है, तब उसका कुछ जल गड्ढोंमें रह जाता है। गड्ढोंका वह जल 'गङ्गोज्झ' कहलाता है, जो मदिराके समान अशुद्ध होता है। कारण कि वह गङ्गाजीके प्रवाहसे अलग हो गया, गङ्गाजीसे विमुख हो गया, गङ्गाजीने उसका त्याग कर दिया। हम अपना कलश गङ्गाजीसे भरकर लायें तो वह अशुद्ध नहीं होता, क्योंकि उसको हमने गङ्गाजीसे लिया है, गङ्गाजीने उसका त्याग नहीं किया है। ऐसे ही भगवान् महान् पवित्र हैं—**'पवित्रं परमं भवान्'** (गीता १०।१२) और उनका अंश होनेसे हम स्वयं भी पवित्र हैं—***'चेतन अमल सहज सुख रासी'*** (मानस, उत्तर० ११७।१)। परन्तु हमारा आकर्षण भगवान्‌में न होकर नाशवान् भोगोंमें हो गया तो हमारा जीवन गङ्गोज्झ हो गया, महान् अपवित्र हो गया। जैसे गङ्गाजीका प्रवाह बढ़नेसे गङ्गोज्झ पुनः गङ्गाजीमें मिलकर महान् पवित्र बन जाता है, ऐसे ही हमारा आकर्षण भगवान्‌में हो जाय तो हमारा सम्पूर्ण जीवन महान् पवित्र हो जायगा।

जैसे गङ्गाजीका प्रवाह निरन्तर समुद्रकी तरफ जाता है, ऐसे ही आठों पहर हमारी वृत्तियोंका प्रवाह भगवान्‌की तरफ जाना चाहिये। भगवान् हमें दर्शन दें या न दें, हमें स्वीकार करें या न करें, पर हमारा मन केवल भगवान्‌की तरफ ही चलना चाहिये। जैसे, भरतजी महाराजने कहा है—

जानहुँ राम कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥
सीता राम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥

(मानस, अयोध्या० २०५। १)

पार्वतीजीने भी कहा है—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥

(मानस, बाल० ८१। ३)

इस तरह प्रेममें भक्तका मन केवल भगवान्‌की तरफ ही चलता है। प्रेमको मोक्षसे भी बढ़कर माना गया है। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ कहे गये हैं। प्रेम इन चारोंसे भी आगे पञ्चम पुरुषार्थ है। मोक्षमें मनुष्य अपना सुख चाहता है, पर प्रेममें वह भगवान्‌का सुख चाहता है। प्रेमी भक्तोंका ऐसा भाव रहता है कि हमें नरकोंमें भी जाना पड़े तो कोई हर्ज नहीं, पर भगवान्‌को सुख मिलना चाहिये, आराम मिलना चाहिये। गोपिकाएँ वृन्दावनमें रहती थीं और भगवान् श्रीकृष्ण मथुरामें रहते थे। परन्तु गोपिकाएँ मथुरा नहीं गयीं, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण नहीं चाहते थे कि वे मथुरा आयें। ऐसा होनेपर भी गोपिकाओंका मन निरन्तर भगवान्‌में ही लगा रहा। बृहस्पतिके खास शिष्य उद्धवजी-जैसे ज्ञानी पुरुष भी उनके मनको विचलित नहीं कर सके, प्रत्युत उनके प्रेमभावको देखकर स्वयं ज्ञानसे विचलित हो गये! गोपिकाओंकी तरह हमारा मन भी भगवान्‌का ही चिन्तन करे, हमारी वाणी भगवान्‌का ही गुणगान करे, हमारे कान भगवान्‌की ही चर्चा सुनें। हमारी सभी वृत्तियाँ स्वाभाविक ही भगवान्‌में लगी रहें—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१०।३८)

'प्रभो ! मेरी वाणी आपके गुणोंके वर्णनमें लगी रहे। मेरे कान आपकी कथा सुननेमें लगे रहें। मेरे हाथ आपकी सेवामें और मन आपके चरणोंमें लगा रहे। मेरा मस्तक आपके निवासभूत जगत्को प्रणाम करनेके लिये झुका रहे और मेरी आँखें आपके स्वरूपभूत सन्तजनोंका दर्शन करती रहें।'

हमने संसारको सत्ता दी और सत्ता देकर महत्ता दे दी, इसी कारण हमारी वृत्तियाँ संसारमें लग गयीं। हमारी वृत्तियोंका प्रवाह संसारसे हटकर भगवान्में हो जाय—इसका नाम भक्ति है। जैसे बालकको माँ बड़ी प्यारी लगती है, उसका नाम बड़ा मीठा लगता है, उसकी सन्निधि बड़ी प्यारी लगती है, ऐसे ही भगवान्, उनका नाम और उनका सान्निध्य प्यारा, मीठा लगने लगे—यह भक्तिका आरम्भ है। जैसे बिना इच्छाके भी कोई अग्निको छू ले तो हाथ जल जाता है, ऐसे ही किसी भी रीतिसे मन भगवान्में लग जाय तो वह कल्याण कर देता है। यद्यपि भगवान्के साथ वैर, भय, द्वेष आदि भावसे भी सम्बन्ध जोड़ा जाय तो वह कल्याण ही करता है, तथापि वह भक्ति नहीं है। भक्ति वही है, जिसमें भगवान्के साथ प्रेमपूर्वक सम्बन्ध जोड़ा जाय। जैसे गङ्गाजीमें माघका स्नान भी किया जाता है और वैशाखका भी। दोनोंका माहात्म्य समान है। माघके स्नानमें ठण्डके कारण बड़ा कष्ट होता है। हवा भी ठण्डी और गङ्गाजीका जल भी ठण्डा ! जब स्नान करते हैं, तब शरीर काँपने लगता है, शरीरमें जगह-जगह खून जम जाता है, हाथोंसे कपड़े नहीं उठाये जाते। परन्तु वैशाखके स्नानमें बड़ी प्रसन्नता होती है। गरमीके समय गङ्गाजीके ठण्डे जलमें स्नान किया जाय तो बड़ा आनन्द आता है। ऐसे ही वैर, भय, द्वेष आदिसे भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़ना माघका स्नान है और प्रेमपूर्वक सम्बन्ध जोड़ना वैशाखका स्नान है। प्रेममें भगवान् बड़े अच्छे, बड़े प्यारे, बड़े मीठे लगते हैं। उनके गुण, महिमा, नाम आदि सुनकर चित्त मस्त हो जाता है।

जैसे ज्ञानीकी अपने स्वरूपमें प्रीति (आत्मरति) होती है, ऐसे ही भक्तकी भगवान्में प्रीति होती है—**'तुष्यन्ति च रमन्ति च'** (गीता १०।९)। भगवत्प्रीति होनेसे वह रात-दिन भगवान्के ही गुण गाता है, भगवान्की ही चर्चा करता है, भगवान्का ही यश सुनता है। उसको भगवान्का ध्यान करना नहीं पड़ता, प्रत्युत उसके द्वारा स्वतः भगवान्का ध्यान होता है। जैसे भूखेको अन्न स्वतः याद आता है, याद करना नहीं पड़ता, ऐसे ही उसको स्वतः भगवान्की याद आती है। इन्द्रके साथ युद्ध करते समय वृत्रासुर कहता है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

(श्रीमद्भा० ६।११।२६)

'जैसे पक्षियोंके पंखहीन बच्चे अपनी माँकी प्रतीक्षा करते हैं। जैसे केवल दूधपर निर्भर रहनेवाले भूखे बछड़े अपनी माँका दूध पीनेके लिये आतुर रहते हैं और जैसे विरहिणी पतिव्रता स्त्री अपने पतिसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित रहती है, वैसे ही हे कमलनयन ! मेरा मन भी आपके दर्शनके लिये छटपटा रहा है।'

माता पार्वतीके शापसे वृत्रासुर ऊपरसे तो असुर बन गया था, पर भीतरसे वह भगवान्का प्रेमी भक्त था। इसलिये वह कहता है—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥

(श्रीमद्भा० ६।११।२५)

'सर्वसौभाग्यनिधे ! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डलका साम्राज्य, रसातलका एकछत्र राज्य, योगकी सिद्धियाँ, यहाँतक कि मोक्ष भी नहीं चाहता।'

प्रेमी भक्त मुक्ति नहीं चाहते, क्योंकि बन्धन होनेसे ही मुक्तिकी इच्छा होती है। संसारमें राग होना ही बन्धन है। प्रेमी भक्तोंमें सांसारिक रागरूप बन्धन रहता ही नहीं। उसका तो बस, एक ही बन्धन रहता है—

अब तो बन्ध मोक्षकी इच्छा व्याकुल कभी न करती है।
मुखड़ा ही नित नव बन्धन है, मुक्ति चरणसे झरती है॥

भगवान्का मुख ही भक्तोंके लिये बन्धन है, जो नित्य नया-नया होता रहता है !

दिने दिने नवं नवं नमामि नन्दसम्भवम्।

(कृष्णाष्टक ५)

'आज अनूप बनी, युगल छवि आज अनूप बनी।'

इसलिये भक्तिका रस प्रतिक्षण स्वाभाविक बढ़ता रहता है। ज्ञानका आनन्द तो अखण्ड, शान्त, एकरस रहता है, पर भक्तिका आनन्द अनन्त होता है। चन्द्रमाकी कलाएँ बढ़ती हैं

तो उसकी पूर्णिमा आ जाती है, पर भगवत्प्रेमरूपी चन्द्रमें कभी पूर्णिमा आती हीं नहीं—

प्रेम सदा बढ़िबौ करै, ज्यों ससिकला सुबेष।
पै पूनौ यामें नहीं, तातें कबहुँ न सेष॥

(पद-रत्नाकर ६४६)

भगवान्‌की अनन्त शक्तियोंमें दो विशेष शक्तियाँ हैं—ऐश्वर्य और माधुर्य। ऐश्वर्यमें प्रभाव है और माधुर्यमें प्रेम है। उस माधुर्यमें भगवान् अपना ऐश्वर्य, अपना प्रभाव, अपनी भगवत्ता भूल जाते हैं। भक्तोंका प्रेम भगवान्‌को भोला बना देता है। माता यशोदा भगवान् श्रीकृष्णको पकड़ लेती हैं तो वे डरके मारे रोने लग जाते हैं कि मैया मारेगी! भय भी जिससे भयभीत होता है, वे भगवान् माँसे भयभीत हो जाते हैं—यह भगवान्‌का माधुर्य है!

जहाँ प्रेम होता है, वहाँ भगवान् वशमें हो जाते हैं। भक्त भगवान्‌से प्रेम करते हैं तो भगवान् सोचते हैं कि मैं इनको क्या दूँ? गोपिकाएँ भगवान्‌से प्रेम करती हैं तो भगवान् कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। २२)

'मेरे साथ सर्वथा निर्दोष सम्बन्ध जोड़नेवाली तुम गोपिकाओंका मेरेपर जो ऋण है, उसको मैं देवताओंके समान लम्बी आयु पाकर भी नहीं चुका सकता। कारण कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी घरकी जिस ममतारूपी बेड़ियोंको सुगमतासे नहीं तोड़ पाते, उनको तुमलोगोंने तोड़ डाला है।'

भगवान्‌के द्वारा अपनेको ऋणी कहनेका तात्पर्य है कि तुमलोगोंका मेरे प्रति जैसा प्रेम है, वैसा मेरा तुम्हारे प्रति नहीं है। कारण कि मेरेको छोड़कर तुम्हारा और किसीमें किंचिन्मात्र भी प्रेम नहीं है, पर मेरा अनेक भक्तोंमें प्रेम है! अतः मैं तुम्हारे साथ बराबरी नहीं कर सकता। जैसे तुम मेरे सिवाय किसीको नहीं मानतीं; ऐसे ही मैं भी तुम्हारे सिवाय किसीको न मानूँ, तभी बराबरी हो सकती है! परन्तु मेरे तो अनेक भक्त हैं, जिनको मैं मानता हूँ। इसलिये मैं तुम्हारा ऋणी हूँ!

यहि दरबार दीनको आदर, रीति सदा चलि आई।

(विनयपत्रिका १६५। ५)

जो दीन होते हैं, छोटे होते हैं, शरणागत होते हैं, केवल भगवान्‌के परायण होते हैं, उनका आदर भगवान्‌के यहाँ होता है। जो भगवान्‌से प्रेम करते-करते अघाते नहीं, भगवान् उनके वशीभूत हो जाते हैं और चाहे जो कर देते हैं। प्रेमके वशमें होकर वे सारथि बनकर घोड़े हाँकते हैं, जूठी पत्तलें उठाते हैं और उसमें राजी होते हैं। जैसे माँको बालकका मल-मूत्र उठानेमें भी आनन्द आता है, ऐसे ही भगवान्‌को भक्तोंका छोटे-से-छोटा काम करनेमें भी आनन्द आता है। माँमें तो स्वार्थ और ममता होती है, पर भगवान्‌में न स्वार्थ है, न ममता है, प्रत्युत केवल प्रेम है। जो छोटे आदमी होते हैं, वे तो बड़ा बनना चाहते हैं कि हम इतने बड़े हो जायँ। परन्तु भगवान् सबसे बड़े ठहरे, अतः उनको छोटा बननेमें आनन्द आता है—

मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि।

इसलिये भगवान् भक्तोंकी महिमा गाते हुए तृप्त नहीं होते। यह भक्तिकी महिमा है! वह भक्ति दो प्रकारकी होती है—साधनभक्ति और साध्यभक्ति। साधनभक्तिसे साध्यभक्ति प्राप्त होती है—'**भक्त्या संजातया भक्त्या**' (श्रीमद्भा० ११। ३। ३१)। साधनभक्तिके नौ प्रकार हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

'श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण—यह नवधा भक्ति है।' इसके तीन-तीन प्रकारके भेद हैं। श्रवण, कीर्तन और स्मरण—इन तीनोंमें भक्त अपनेको भगवान्‌से दूर समझता है। पादसेवन, अर्चन और वन्दन—इन तीनोंमें भक्त भगवान्‌को नजदीक समझता है। दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण—इन तीन भावोंमें भक्त भगवान्‌को बहुत नजदीक समझता है। इस प्रकार श्रवणसे लेकर आत्मसमर्पणतक भक्त क्रमशः अपनेको भगवान्‌के नजदीक मानता है। आत्मसमर्पणमें भक्त सर्वथा भगवान्‌में तल्लीन हो जाता है।

भक्तका पहले दास्यभाव होता है, जिसमें वह भगवान्‌को मालिक और अपनेको उनका दास मानता है। इस भावमें संकोच, लज्जा होती है कि मैं तो दास हूँ, कहीं मेरेसे कोई गलती न हो जाय! ऐसा होते-होते फिर सख्यभाव हो जाता है। सख्यभावमें भक्त भगवान्‌को अपना सखा मानता है, उसकी भगवान्‌से अभिन्नता हो जाती है। इस भावमें दास्यभावकी तरह कोई संकोच या भय नहीं रहता। भगवान् सखाओंके साथ खेलते हैं। खेलमें वे हार जाते हैं, पर कहते हैं कि मैं तो जीत गया! तब सखा उनको खेलसे बाहर कर देते हैं और कहते हैं कि हम तुम्हें अपने साथ खेलायेंगे ही नहीं! तुम्हारी गायें अधिक हो गयीं तो क्या तुम बड़े आदमी हो गये?

खेलत में को काकौ गुसैंयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबसहीं कत करत रिसैंयाँ॥
जाति-पाँति हम ते बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैंयाँ।
अति अधिकार जनावत यातैं, जातैं अधिक तुम्हारैं गैयाँ॥
रूठहि करै तासौं को खेलै, बैठि जहँ तहँ सब ग्वैयाँ।
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउँ दियौ करि नंद-दुहैयाँ॥

भगवान्के प्रभावका ज्ञान होते हुए भी गोपिकाएँ भगवान्को सखा मानती हैं और कहती हैं—

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥

(श्रीमद्भा० १०।३१।४)

'हे सखे! आप केवल यशोदाके पुत्र ही नहीं हैं, प्रत्युत सम्पूर्ण प्राणियोंकी अन्तरात्माके साक्षी हैं। ब्रह्माजीकी प्रार्थना सुनकर विश्वकी रक्षाके लिये ही आप यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं।'

आत्मसमर्पणमें भक्त अपने-आपको भगवान्के अर्पण कर देता है। उसके पास अपनी कहलानेवाली कोई चीज नहीं रहती, सब चीज भगवान्की हो जाती है। अपना शरीर, अपनी इन्द्रियाँ, अपना मन, अपनी बुद्धि, अपने प्राण, अपना अहम्—सब भगवान्का ही हो जाता है, अपना नहीं रहता। इस प्रकार आत्मसमर्पणके बाद साध्यभक्ति अर्थात् प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त हो जाती है। प्रेमलक्षणा भक्तिमें कौन भक्त है और कौन भगवान्, कौन प्रेमी है और कौन प्रेमास्पद—इसका पता नहीं चलता अर्थात् भक्त और भगवान्में अभिन्नता हो जाती है—**'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'** (नारदभक्तिसूत्र ४१), **'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्'** (गीता ९।२९)।

——★——

भगवान्‌का सगुण स्वरूप और भक्ति

१. गीतामें समग्र (सगुण)की मुख्यता

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् कहते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(६।४६)

'तपस्वियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है और कर्मियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है—ऐसा मेरा मत है। अतः हे अर्जुन! तू योगी हो जा।'

—इस प्रकार योगकी महिमा बताकर फिर भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६।४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् भक्त मुझमें तल्लीन हुए मनसे (प्रेमपूर्वक) मेरा भजन करता है, वह मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी है*।'

तात्पर्य है कि कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, हठयोगी, लययोगी, राजयोगी, मन्त्रयोगी आदि जितने भी योगी हो सकते हैं, उन सब योगियोंमें मेरा भक्त सर्वश्रेष्ठ है। जैसे भगवान्‌की बात चले तो भक्त उसीमें मस्त हो जाता है, उसको दूसरी बात सुहाती ही नहीं, ऐसे ही यहाँ भक्तकी बात चली तो भगवान् भी मस्त हो गये, दूसरी सब बातें भूल गये और उनके भीतर भक्तिकी बात कहनेका प्रवाह उमड़ पड़ा। अतः अर्जुनके द्वारा प्रश्न किये बिना ही भगवान्‌ने अपनी तरफसे सातवाँ अध्याय शुरू कर दिया।

सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि मैं वह विज्ञानसहित ज्ञान कहूँगा, जिससे तू मेरे 'समग्र' रूपको जान जायगा, जिसको जाननेके बाद फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहेगा। अन्तमें अपने समग्ररूपका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने कहा—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

(७।२९-३०)

'जरा और मरणसे मोक्ष पानेके लिये जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको भी जान जाते हैं। जो मनुष्य अधिभूत, अधिदैव और

---

* अपने भक्तके विषयमें ऐसी बात भगवान्‌ने आगे भी कही है; जैसे—
(१) मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः। (७।१)
(२) जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये। (७।२९)
(३) मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ (१२।२)
(४) ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते। श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ (१२।२०)

अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे युक्तचेता मनुष्य अन्तकालमें भी मुझे ही जानते अर्थात् प्राप्त होते हैं।'

गीतामें भगवान्ने जन्म-मरणकी बात तो कई जगह कही है, पर 'जरा-मरण' की बात इन्हीं श्लोकोंमें कही है। तात्पर्य है कि जो भगवान्की भक्ति करता है, वह जरा और मरण दोनोंसे मुक्त हो जाता है अर्थात् उसको शरीरके रहते हुए वृद्धावस्थाका भी दुःख नहीं होता और गतिके विषयमें भी दुःख नहीं होता कि मरनेके बाद मेरी क्या गति होगी ? वे भगवान्का आश्रय लेकर यत्न करते हैं, इसलिये वे भगवान्के समग्ररूपको जान जाते हैं अर्थात् विज्ञानसहित ज्ञानको जान जाते हैं। ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), अध्यात्म (अनन्त जीव) तथा कर्म (सृष्टि-रचनारूप कर्म)*—यह 'ज्ञान' (निर्गुण) का विभाग है और अधिभूत (अनन्त ब्रह्माण्ड), अधिदैव (हिरण्यगर्भ ब्रह्मा) तथा अधियज्ञ (अन्तर्यामी विष्णु)—यह 'विज्ञान' (सगुण) का विभाग है—इन दोनों विभागोंको वे शरणागत भक्त जान जाते हैं। कारण कि समग्रका ज्ञान विचारसे नहीं होता, प्रत्युत शरणागत होनेपर भगवत्कृपासे होता है।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मका नाम भगवान्के समग्ररूपके अन्तर्गत आया है। लोगोंमें प्रायः इस बातकी प्रसिद्धि है कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मके अन्तर्गत ही सगुण ईश्वर हैं। ब्रह्म मायारहित है और ईश्वर मायासहित है। अतः ब्रह्मके एक अंशमें ईश्वर है। परन्तु गीतामें भगवान् कह रहे हैं कि मेरे समग्ररूपके एक अंशमें ब्रह्म है ! इसलिये भगवान्ने अपनेको ब्रह्मका आधार बताया है—**'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** (गीता १४। २७) 'मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा (आश्रय) हूँ' तथा **'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'** (गीता ९। ४) 'यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है।' भगवान्के इस कथनका तात्पर्य है कि ब्रह्मका अंश मैं नहीं हूँ, प्रत्युत मेरा अंश ब्रह्म है। अतः निष्पक्ष विचार करनेसे ऐसा दीखता है कि गीतामें केवल ब्रह्मकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत समग्र भगवान्की मुख्यता है। पूर्ण तत्त्व समग्र ही है। समग्रमें सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सब आ जाते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो समग्ररूप सगुणका ही हो सकता है; क्योंकि सगुणके अन्तर्गत तो निर्गुण आ सकता है, पर निर्गुणके अन्तर्गत सगुण नहीं आ सकता। अतः समग्रता सगुणमें ही है, निर्गुणमें नहीं।

निर्गुण-निराकारको माननेवाले जीव और ब्रह्मको स्वरूपसे एक ही मानते हैं†। गीतामें भी जीव और ब्रह्मके समान लक्षणोंका वर्णन हुआ है। भगवान्ने देही (देहवाले जीव) के जो लक्षण कहे हैं, वही लक्षण देहरहित ब्रह्मके भी कहे हैं‡। तात्पर्य यह हुआ कि देहसहित होनेसे जो जीव है, वही देहरहित होनेसे ब्रह्म है अर्थात् जीव केवल शरीरकी उपाधिसे अलग है, अन्यथा वह ब्रह्म ही है। इसलिये निर्गुणोपासनामें जो देहसहित है, वह उपासक है और जो देहरहित है, वह 'उपास्य' है। देहके साथ माना हुआ सम्बन्ध ही जीव और ब्रह्मकी एकतामें खास बाधक है। इसलिये देहाभिमानीके लिये निर्गुणोपासनाकी सिद्धि कठिनतासे तथा देरीसे होती है—**'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते'** (गीता १२। ५)। परन्तु सगुणोपासनामें देहका सम्बन्ध बाधक नहीं है, प्रत्युत भगवान्की विमुखता बाधक है। अतः भक्त आरम्भसे ही मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—ऐसा मानकर भगवान्के सम्मुख हो जाता है। इसलिये सगुणोपासकका भगवान्की कृपासे शीघ्र ही तथा सुगमतासे उद्धार हो जाता है§। कारण कि भक्त साधनके आश्रित न होकर भगवान्के आश्रित होता है। यह सगुणोपासनाकी

---

* भगवान्का यह सृष्टि-रचनारूप कर्म वास्तवमें 'अकर्म' ही है। भगवान्ने कहा भी है—'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्' (गीता ४। १३) 'उस सृष्टिरचनाका कर्ता होनेपर भी मुझ अव्यय परमेश्वरको तू अकर्ता जान।' इसीलिये इस कर्मको भगवान्ने 'त्याग' कहा है—'विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः (८। ३)।

† ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः। अनेन वेद्यं सच्छास्त्रमिति वेदान्तडिण्डिमः॥ (ब्रह्मज्ञानावलीमाला २०)

‡ उदाहरणार्थ-गीतामें भगवान्ने दूसरे अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें 'अव्यय', बीसवें श्लोकमें 'पुराण', चौबीसवें श्लोकमें 'सर्वगत', 'अचल' और 'सनातन' तथा पचीसवें श्लोकमें 'अव्यक्त' और 'अचिन्त्य' आदि लक्षण जीवात्माके बताये हैं। यही लक्षण परमात्माके लिये भी बताये हैं, जैसे—'अव्यय' (१८। २०), 'पुराण' (८। ९), 'सर्वगत' (३। १५), 'अचल' (१२। ३), 'सनातन' (४। ३१), 'अव्यक्त' (१२। ५) और 'अचिन्त्य' (८। ९; १२। ३) आदि। भगवान्ने जैसे—'येन सर्वमिदं ततम्' (२। १७) कहकर जीवात्माको सर्वव्यापक बताया है, ऐसे ही 'येन सर्वमिदं ततम्' (८। २२; १८। ४६) कहकर परमात्माको भी सर्वव्यापक बताया है।

§ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ (गीता १२। ७)
'हे पार्थ मेरेमें आविष्ट चित्तवाले उन भक्तोंका मैं मृत्युरूप संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ (गीता ८। १४)
'हे पृथानन्दन ! अनन्य चित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

विलक्षणता है ! सगुणोपासनाकी दूसरी विलक्षणता यह है कि इसमें भक्त जगत्‌को मिथ्या मानकर उसका त्याग करनेपर जोर नहीं देता, क्योंकि उसकी मान्यतामें जड-चेतन, स्थावर-जंगम, सत्-असत् सब कुछ भगवान् ही हैं—**'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९ । १९) । इसलिये सगुणकी उपासना समग्रकी उपासना है । गीताने सगुणको समग्र माना है और ब्रह्म, जीव, कर्म, जगत्, हिरण्यगर्भ ब्रह्मा तथा अन्तर्यामी विष्णु—इन सबको समग्र भगवान्‌के ही अंग माना है (७ । २९-३०) । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि निर्गुणोपासना (ब्रह्मकी उपासना) समग्र भगवान्‌के एक अंगकी उपासना है और सगुणोपासना स्वयं समग्र भगवान्‌की उपासना है* !

निर्गुण-निराकार ब्रह्म और नाशवान् जगत्—दोनों ही समग्र भगवान्‌के ऐश्वर्य हैं† । भक्त ऐश्वर्यसे प्रेम नहीं करता, प्रत्युत ऐश्वर्यवालेसे प्रेम करता है। इसलिये भगवान्‌ने समग्रकी उपासना करनेवालेको सर्वश्रेष्ठ बताया है (गीता ६ । ४७; १२ । २) और 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अर्थात् समग्रका अनुभव करनेवाले महात्माको अत्यन्त दुर्लभ कहा है—**'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'** (गीता ७ । १९) ।

यदि गहराईसे विचार किया जाय तो सगुणकी मुख्यता ही ठीक जँचती है। केवल निर्गुणकी मुख्यता माननेसे सभी बातोंका ठीक समाधान नहीं होता, जबकि केवल सगुणकी मुख्यता माननेसे कोई सन्देह बाकी नहीं रहता। आजकल सगुणको मायायुक्त मानकर उसका तिरस्कार किया जाता है—यह उचित नहीं है। सगुण मायायुक्त नहीं है, प्रत्युत मायाका अधिपति (मालिक) है‡ । सनकादिक, शुकदेव, जनक आदि तत्त्वज्ञ महापुरुषोंका सगुणमें स्वाभाविक प्रेम था, जो समय-समयपर प्रकट होता रहता था। श्रीमद्भागवतमें आया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥
(१ । ७ । १०)

'ज्ञानके द्वारा जिनकी चिज्जडग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌की हेतुरहित (निष्काम) भक्ति किया करते हैं, क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि वे प्राणियोंको अपनी ओर खींच लेते हैं।'

२. परमात्मा सम्पूर्ण शक्तियोंके मूल हैं

जिससे सृष्टिमात्रका संचालन होता है, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होता है, ऐसी एक शक्ति परमात्मामें माननी ही पड़ेगी। यदि परमात्मामें कोई शक्ति स्वीकार न करें तो सृष्टि-रचना आदि कार्य सिद्ध नहीं होंगे ! गीताप्रेसके संस्थापक, संचालक तथा संरक्षक श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने, जो निर्गुणको मुख्य मानते थे, एक बार मेरेसे एकान्तमें कहा था कि परमात्मामें एक शक्ति माननी ही पड़ेगी, माने बिना काम नहीं चलता।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि सबका निषेध होनेपर एक शून्य ही शेष रहता है, अतः शून्यके सिवाय कुछ नहीं है। अगर शून्यके सिवाय कुछ नहीं है—यह बात सच्ची है तो फिर इस बातका ज्ञान किसको हुआ ? शून्यका ज्ञाता शून्य नहीं हो सकता। दूसरी बात, अगर शून्यके सिवाय कुछ नहीं है तो फिर यह सृष्टि कैसे पैदा हुई ? अभावसे भाव कैसे पैदा हो

---

* जो समग्र भगवान्‌के एक अंगकी उपासना करता है, उसको भी अन्तमें समग्रकी प्राप्ति हो जाती है (गीता १२ । ३-४; १८ । ५३—५५) । अतः जिसको निर्गुण अच्छा लगता हो, वह निर्गुणकी उपासना करे, पर उसको निर्गुणका आग्रह रखकर सगुणका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। सगुणका तिरस्कार, निन्दा, खण्डन करना निर्गुणोपासकके लिये बहुत घातक है।

† विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ (गीता १० । ४२)
'मैं अपने किसी एक अंशसे सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त करके स्थित हूँ।'
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥ (गीता ११ । ७)
'हे गुडाकेश ! मेरे इस शरीरके एक देशमें चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्‌को अभी देख ले। इसके सिवाय तू और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह भी देख ले'।

‡ प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ (गीता ४ । ६)
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्॥ (गीता ९ । १०)
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू॥ (मानस, बाल० ११७ । ४)
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुनखानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥ (मानस, उत्तर० ७८ । ३-४)

सकता है—'**कथमसतः सज्जायेतेति**' (छान्दोग्य० ६।२।२)? इसलिये ब्रह्मसूत्रके आरम्भमें ही आया है—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः। (१।१।१-२)

'अब यहाँसे ब्रह्मविषयक विचार आरम्भ किया जाता है। इस जगत्‌के जन्म आदि (उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय) जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है।'

सर्वोपेता च तद्दर्शनात्। (२।१।३०)

'वह ब्रह्म समस्त शक्तियोंसे सम्पन्न है, क्योंकि श्रुतियोंमें ऐसा ही देखा जाता है।'

तात्पर्य है कि परमात्मा सम्पूर्ण शक्तियोंका, विद्याओंका, कलाओंका विलक्षण भण्डार है। शक्तियाँ जड प्रकृतिमें नहीं रह सकतीं, प्रत्युत चिन्मय परमात्मतत्त्वमें ही रह सकती हैं। ज्ञानपूर्वक होनेवाली चीज जडमें कैसे रह सकती है? अगर ऐसा मानें कि सब शक्तियाँ प्रकृतिमें ही हैं, तो भी यह मानना पड़ेगा कि उन शक्तियोंका उपयोग (सृष्टि-रचना आदि) करनेकी योग्यता प्रकृतिमें नहीं है। जैसे, कम्प्यूटर जड होते हुए भी अनेक विचित्र कार्य करता है, पर उसका निर्माण और संचालन करनेवाला चेतन (मनुष्य) है। मनुष्यके द्वारा निर्मित, शिक्षित तथा संचालित हुए बिना वह कार्य नहीं कर सकता। कम्प्यूटर स्वतःसिद्ध नहीं है, प्रत्युत बनावटी (बनाया हुआ) है, जबकि परमात्मा स्वतःसिद्ध हैं। संसारमें तरह-तरहके आविष्कार होते हैं, पर आविष्कार करनेवाला चेतन ही होता है। अतः संसारमें जो भी विशेषता, विलक्षणता देखी जाती है, वह सब परमात्मासे ही आती है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(गीता १०।४१)

'जो-जो ऐश्वर्ययुक्त, शोभायुक्त और बलयुक्त वस्तु है, उस-उसको तुम मेरे ही तेज (योग) के अंशसे उत्पन्न हुई समझो।'

यदि परमात्मामें शक्ति न होती तो वह संसारमें कैसे आती? जो शक्ति बीजमें होती है, वही वृक्षमें आती है। जो शक्ति बीजमें नहीं है, वह वृक्षमें कैसे आयेगी? उसी परमात्माकी वक्तृत्व-शक्ति वक्तामें आती है, उसीकी लेखन-शक्ति लेखकमें आती है, उसीकी दातृत्व-शक्ति दातामें आती है, उसीकी कवित्व-शक्ति कविमें आती है। मुक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि सब उस परमात्माका ही दिया हुआ है। यह प्रकृतिका कार्य नहीं है। अगर 'मैं मुक्तस्वरूप हूँ'—यह बात सच्ची है तो फिर बन्धन कहाँसे आया? अगर 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ'—यह बात सच्ची है तो फिर अज्ञान कहाँसे आया? कैसे आया? क्यों आया? कब आया? सूर्यमें अमावसकी रात कैसे आ सकती है? वास्तवमें ज्ञान है तो परमात्माका, पर मान लिया अपना, तभी अज्ञान आया है*। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ; ज्ञान मेरा है'—यह 'मैं' और 'मेरा' (अहंता-ममता) ही अज्ञान है। जिससे मुक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि मिले हैं, उसकी तरफ दृष्टि न रहनेसे ही ऐसा दीखता है कि मुक्ति मेरी है, ज्ञान मेरा है, प्रेम मेरा है। यह तो देनेवाले (परमात्मा) की विलक्षणता है कि लेनेवालेको वह चीज अपनी ही मालूम देती है! मनुष्यसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह मिली हुई वस्तुको तो अपनी मान लेता है, पर जहाँसे वह मिली है, उस तरफ उसकी दृष्टि जाती ही नहीं! वह मिली हुई वस्तुको तो देखता है, पर देनेवालाको देखता ही नहीं! कार्यको तो देखता है, पर जिसकी शक्तिसे कार्य हुआ, उस कारणको देखता ही नहीं! वास्तमवें वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत देनेवाला अपना है। प्रह्लादजी कहते हैं—

शास्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो हृदि स्थितः।
तमृते परमात्मानं तात कः केन शास्यते॥

(विष्णुपुराण १।१७।२०)

'हृदयमें स्थित भगवान् विष्णु ही तो सम्पूर्ण जगत्‌के उपदेशक हैं। हे तात! उन परमात्माको छोड़कर और कौन किसको कुछ सिखा सकता है? नहीं सिखा सकता।'

ध्रुवजी कहते हैं—

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥

(श्रीमद्भा० ४।९।६)

'प्रभो! आप सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। आप ही मेरे अन्तःकरणमें प्रवेश करके अपने तेजसे मेरी इस सोयी हुई वाणीको सजीव करते हैं तथा हाथ, पैर, कान, त्वचा आदि

* ज्ञान अथवा जाननेकी शक्ति प्रकृतिमें नहीं है। प्रकृति एकरस रहनेवाली नहीं है, प्रत्युत प्रतिक्षण बदलनेवाली है। अगर प्रकृतिमें ज्ञान होगा तो वह ज्ञान भी एकरस न रहकर बदलनेवाला हो जायगा। जो ज्ञान पैदा होगा, वह सदाके लिये नहीं होगा, प्रत्युत अनित्य होगा। अगर कोई माने कि ज्ञान प्रकृतिमें ही है तो उसी प्रकृतिको हम परमात्मा कहते हैं, केवल शब्दोंमें फर्क है! तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञान प्रकृतिमें नहीं है, अगर है तो वही परमात्मा है।

अन्यान्य इन्द्रियों एवं प्राणोंको भी चेतनता देते हैं। मैं आप अन्तर्यामी भगवान्‌को प्रणाम करता हूँ।

केनोपनिषद्‌में आता है—

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति। (३।१)

'परब्रह्म परमेश्वरने ही देवताओंके लिये (उनको निमित्त बनाकर) असुरोंपर विजय प्राप्त की। परन्तु उस परब्रह्म परमेश्वरकी विजयमें इन्द्रादि देवताओंने अपनेमें महत्त्वका अभिमान कर लिया। वे ऐसा समझने लगे कि यह हमारी ही विजय है और यह हमारी ही महिमा है।'

देवताओंके इस अभिमानको नष्ट करनेके लिये परब्रह्म परमात्मा उनके सामने यक्षरूपसे प्रकट हो गये। उसको देखकर देवतालोग आश्चर्यचकित होकर विचार करने लगे कि यह यक्ष कौन है? उसका परिचय जाननेके लिये देवताओंने अग्निदेवको उसके पास भेजा। यक्षके पूछनेपर अग्निदेवने कहा कि मैं जातवेदाके नामसे प्रसिद्ध अग्निदेवता हूँ और मैं चाहूँ तो पृथ्वीमें जो कुछ है, उस सबको जलाकर भस्म कर सकता हूँ। तब यक्षने उसके सामने एक तिनका रख दिया और कहा कि तुम इस तिनकेको जला दो। अग्निदेव अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उस तिनकेको नहीं जला सका और लज्जित होकर देवताओंके पास लौट आया एवं बोला कि वह यक्ष कौन है—यह मैं नहीं जान सका। तब देवताओंने वायुदेवको यक्षके पास भेजा। यक्षके पूछनेपर वायुदेवने कहा कि मैं मातरिश्वाके नामसे प्रसिद्ध वायुदेवता हूँ और मैं चाहूँ तो पृथ्वीमें जो कुछ है, उस सबको उड़ा सकता हूँ। तब यक्षने उसके सामने भी एक तिनका रख दिया और कहा कि तुम इस तिनकेको उड़ा दो। वायुदेव अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उस तिनकेको नहीं उड़ा सका और लज्जित होकर लौट आया एवं देवताओंसे बोला कि वह यक्ष कौन है—यह मैं नहीं जान सका। तब देवताओंने इन्द्रको उस यक्षका परिचय जाननेके लिये भेजा। परन्तु इन्द्रके वहाँ पहुँचते ही यक्ष अन्तर्धान हो गया और उस जगह हिमाचलकुमारी उमादेवी प्रकट हो गयीं। इन्द्रके पूछनेपर उमादेवीने कहा कि परब्रह्म परमात्मा ही तुमलोगोंका अभिमान दूर करनेके लिये यक्षरूपसे प्रकट हुए थे। तात्पर्य है कि परमात्मा ही सम्पूर्ण शक्तियोंके मूल हैं। उपनिषदोंमें आया है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥ (श्वेताश्वतर० ६।८)

'इस परमेश्वरकी ज्ञान, बल और क्रियारूप स्वाभाविक दिव्य शक्ति नाना प्रकारकी ही सुनी जाती है।'

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥ (माण्डूक्य० ६)

यह सबका ईश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह सबका अन्तर्यामी है, यह सम्पूर्ण जगत्‌का कारण है, क्योंकि समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका स्थान यही है।'

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। (तैत्तिरीय० ३।१)

'ये सब प्रत्यक्ष दीखनेवाले प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके सहारे जीवित रहते हैं तथा अन्तमें इस लोकसे प्रयाण करते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं, उसको तत्त्वसे जाननेकी इच्छा कर, वही ब्रह्म है।'

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। (तैत्तिरीय० २।१)

'निश्चय ही उस परमात्मासे पहले-पहल आकाश-तत्त्व उत्पन्न हुआ। आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जल-तत्त्वसे पृथ्वी उत्पन्न हुई। पृथ्वीसे समस्त ओषधियाँ उत्पन्न हुईं, ओषधियोंसे अन्न उत्पन्न हुआ और अन्नसे यह मनुष्यशरीर उत्पन्न हुआ।'

स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः। (श्वेताश्वतर० ६।१६)

'वह ज्ञानस्वरूप परमात्मा सम्पूर्ण जगत्‌का रचयिता, सर्वज्ञ, स्वयं ही अपने प्राकट्यका हेतु, कालका भी महाकाल, सम्पूर्ण दिव्य गुणोंसे सम्पन्न और सबको जाननेवाला है।'

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥ (मुण्डक० १।१।९)

'जो सर्वज्ञ तथा सबको जाननेवाला है, जिसका ज्ञानमय तप है, उसी परमेश्वरसे यह विराट्‌रूप जगत् तथा नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं।'

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ (मुण्डक० २।१।३)

'इसी परमेश्वरसे प्राण, मन (अन्तःकरण), समस्त इन्द्रियाँ आकाश, वायु, तेज, जल और सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करनेवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है।'

उपनिषदोंमें आयी उपर्युक्त बातें सगुण परमात्माकी हैं,

निर्गुण आत्माकी नहीं। गीतामें भी सगुण परमात्मासे ही सृष्टिकी उत्पत्ति आदि बतायी गयी है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥

(९।७-८)

'हे कुन्तीनन्दन! कल्पोंका क्षय होनेपर सम्पूर्ण प्राणी मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं और कल्पोंके आदिमें मैं फिर उनकी रचना करता हूँ। प्रकृतिके वशमें होनेसे परतन्त्र हुए इस प्राणिसमुदायको मैं (कल्पोंके आदिमें) अपनी प्रकृतिको वशमें करके बार-बार रचता हूँ।'

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

(९।१०)

'प्रकृति मेरी अध्यक्षतामें सम्पूर्ण चराचर जगत्को रचती है।'

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

(७।६)

'मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव तथा प्रलय हूँ।'

३. सबके शासक परमात्मा हैं

हम जिस संसारमें बैठे हैं, उसका शासक, स्वामी सगुण ईश्वर ही है। जैसे राज्यमें राजाकी मुख्यता होती है, ऐसे ही संसारमें सगुण ईश्वरकी मुख्यता है। जैसे प्रत्येक समुदायका एक शासक होता है, ऐसे ही सृष्टिका भी कोई शासक होना चाहिये। शासक निर्गुण-निराकार नहीं हो सकता, क्योंकि निर्गुण-निराकारमें कोई स्फुरणा पैदा होती ही नहीं। अतः शासक सगुण-साकार ही हो सकता है। उपनिषदोंमें भी परमात्माको सबका शासक, स्वामी बताया गया है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।

(श्वेताश्वतर० १।१०)

'प्रकृति तो विनाशशील है और इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है। इन दोनों (क्षर और अक्षर) को एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है।'

क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

(श्वेताश्वतर० ५।१)

'विनाशशील जडवर्ग तो अविद्या नामसे कहा गया है और अविनाशी जीवात्मा विद्या नामसे कहा गया है। जो इन विद्या और अविद्या दोनोंपर शासन करता है, वह परमेश्वर इन दोनोंसे भिन्न-सर्वथा विलक्षण है।'

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत···। (बृहदारण्यक० ३।८।९)

'हे गार्गि! इस अक्षरके ही प्रशासनमें सूर्य और चन्द्रमा विशेषरूपसे धारण किये हुए स्थित रहते हैं। हे गार्गि! इस अक्षरके ही प्रशासनमें द्युलोक और पृथ्वी विशेषरूपसे धारण किये हुए स्थित रहते हैं······।'

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

(कठ० २।३।३)

'इसीके भयसे अग्नि तपता है, इसीके भयसे सूर्य तपता है तथा इसीके भयसे भयभीत होकर इन्द्र, वायु और पाँचवें मृत्यु देवता अपने-अपने काममें प्रवृत्त हो रहे हैं।'

गीतामें आया है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(१५।१६-१७)

इस संसारमें क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी)—ये दो प्रकारके पुरुष हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर नाशवान् और कूटस्थ (जीवात्मा) अविनाशी कहा जाता है। उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो परमात्मा नामसे कहा गया है। वही अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबका भरण-पोषण करता है।'

४. परमात्माके सगुण स्वरूपकी मुख्यता

गीतामें भगवान्ने प्रकृतिको अनादि कहा है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

(१३।१९)

यदि निर्गुणको सर्वोपरि मानें तो उनकी शक्ति प्रकृति अनादि कैसे होगी? अतः वास्तवमें सगुण ही सर्वोपरि है। इसलिये गीतामें सगुण-साकार भगवान् श्रीकृष्णको 'ब्रह्म' नामसे कहा गया है, जैसे—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।

(५।१०)

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।

(१०।१२)

गीतामें ब्रह्मके तीन नाम बताये गये हैं—**'ॐ'**, **'तत्'** और **'सत्'** (१७।२३)। नाम-नामीका सम्बन्ध होनेसे यह भी सगुण ही हुआ। वैष्णवलोग भी सगुण-साकार भगवान्के उत्सवको 'ब्रह्मोत्सव' नामसे कहते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी

ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), परमात्मा (सगुण-निराकार) और भगवान् (सगुण-साकार)—तीनोंको एक बताया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(१।२।११)

'तत्त्वज्ञ महापुरुष उस ज्ञानस्वरूप एवं अद्वितीय तत्त्वको ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन नामोंसे कहते हैं।'

निर्गुण-निराकारके अनन्य उपासक मधुसूदनाचार्यजीको भी कहना पड़ा—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

'अद्वैतमार्गके अनुयायियोंद्वारा पूज्य तथा स्वाराज्यरूपी सिंहासनपर प्रतिष्ठित होनेका अधिकार प्राप्त किये हुए हमें गोपियोंके पीछे-पीछे फिरनेवाले किसी धूर्तने हठपूर्वक अपने चरणोंका गुलाम बना लिया!'

इसलिये उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि भगवान् श्रीकृष्ण (सगुण-साकार)से परे कोई भी तत्त्व नहीं है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

उद्धवजी निर्गुण-निराकार ब्रह्मको सबसे ऊँचा मानते थे, पर गोपियोंकी सगुण-भक्ति (श्रीकृष्णके प्रति प्रेम)के सामने उनका अभिमान गल गया! पद्मपुराणमें आया है कि भगवान् श्रीकृष्णके ही नखकी एक किरण 'ब्रह्म' है—

यन्नखेन्दुरुचिर्ब्रह्म ध्येयं ब्रह्मादिभिः सुरैः।
गुणत्रयमतीतं तं वन्दे वृन्दावनेश्वरम्॥

(पाताल० ७७।६०)

'(भगवान् शंकर कहते हैं—) जिनके नखचन्द्रकी कान्तिरूप ब्रह्मका देवतागण ध्यान करते हैं, उन त्रिगुणातीत वृन्दावनेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।'

हनुमन्नाटकमें एक श्लोक आया है—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः॥
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

(१।३)

'शैव शिवरूपसे, वेदान्ती ब्रह्मरूपसे, बौद्ध बुद्धरूपसे प्रमाणकुशल नैयायिक कर्तारूपसे, जैन अर्हन्‌रूपसे और मीमांसक कर्मरूपसे जिनकी उपासना करते हैं, वे त्रैलोक्याधिपति श्रीहरि हमें वाञ्छित फल प्रदान करें।'

—इस श्लोकमें भी ब्रह्मको सगुण (श्रीहरि)का ही एक रूप बताया गया है। अतः भगवान्‌का सगुण रूप सर्वोपरि है।

'सगुण' का अर्थ सत्त्व-रज-तम गुणोंसे युक्त नहीं है, प्रत्युत जिसमें ऐश्वर्य माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि दिव्य गुण नित्य विद्यमान रहते हैं, उसका नाम 'सगुण' है। श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज अपने गीताभाष्यमें लिखते हैं—

'स्वाभाविकानवधिकातिशयज्ञानबलैश्वर्यवीर्य-शक्तितेजः प्रभृत्यसंख्येयकल्याणगुणगणमहोदधिः'

'जो स्वाभाविक असीम अतिशय ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज प्रभृति असंख्य कल्याणमय गुण-समूहोंके महान् समुद्र हैं।'

'अपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदार्यमहोदधिः'

'जो अपार कारुण्य, सौशील्य, वात्सल्य और औदार्यके महान् समुद्र हैं।' ये गुण चेतनके ही हो सकते हैं, माया (जड)के नहीं।

श्रीमद्भागवतमें सगुणकी उपासना (भक्ति)को निर्गुण अर्थात् सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंसे अतीत बताया गया है, जैसे—**'मन्निकेतं तु निर्गुणम्'** (११।२५।२५), **'मत्सेवायां तु निर्गुणा'** (११।२५।२७) आदि। गीतामें भी आया है, कि सगुणकी उपासना करनेवाला तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(१४।२६)

ब्रह्मसूत्रमें भी **'जन्माद्यस्य यतः'** (१।१।२)—इस सूत्रके द्वारा सगुण ब्रह्मको ही मुख्य माना गया है। कारण कि सृष्टिका रचयिता सगुण ही हो सकता है, निर्गुण नहीं। ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्याय, प्रथम पादमें भी ब्रह्मको विभिन्न युक्तियोंसे सृष्टिका कर्ता सिद्ध किया है और उसको समस्त शक्तियोंसे सम्पन्न बताया है—**'सर्वोपेता च तद्दर्शनात्'** (२।१।३०)। आदि शंकराचार्यजी महाराजने भी गीताभाष्यमें 'पुरुषोत्तम' को ब्रह्म माना है (१५।१८)। 'प्रबोधसुधाकर'में वे कहते हैं—

भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः।
प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम्॥ १९५॥

'जो ज्ञानस्वरूप, सच्चिदानन्द, प्रकृतिसे परे परमात्मा सब भूतोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं, ये यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण वही हैं।'

उपनिषदोंमें भी ऐसे कई मन्त्र मिलते हैं, जिनसे सगुणकी मुख्यता सिद्ध होती है, जैसे—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥

(श्वेताश्वतर० १।१२)

'अपने ही भीतर स्थित इस ब्रह्मको ही सर्वदा जानना चाहिये, क्योंकि इससे बढ़कर जाननेयोग्य तत्त्व दूसरा कुछ भी नहीं है। भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (जडवर्ग) और उनके प्रेरक परमेश्वरको जानकर मनुष्य सब कुछ जान लेता है। इस प्रकार यह तीन भेदोंमें बताया हुआ ही ब्रह्म है अर्थात् जीवात्मा, प्रकृति और परमात्मा—तीनों समग्र ब्रह्मके ही रूप हैं।'*

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

(श्वेताश्वतर० ४।१०)

'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और मायापति महेश्वरको समझना चाहिये।'

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

(मुण्डक० ३।१।३)

'जब यह द्रष्टा (जीवात्मा) सबके शासक, ब्रह्माके भी आदि कारण, सम्पूर्ण जगत्के रचयिता, दिव्य प्रकाशस्वरूप परमपुरुषको प्रत्यक्ष कर लेता है, तब पुण्य-पाप दोनोंको भलीभाँति हटाकर निर्मल हुआ वह ज्ञानी महापुरुष सर्वोत्तम समताको प्राप्त कर लेता है।'

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः। (छान्दोग्य० ३।१४।२)

'वह ब्रह्म मनोमय, प्राणशरीर, प्रकाशस्वरूप, सत्य-सङ्कल्प, आकाशस्वरूप, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इस समस्त जगत्को सब ओरसे व्याप्त करनेवाला, वाक्-रहित और सम्भ्रमशून्य है।'

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कलात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥

(श्वेताश्वतर० १।३)

'उन महर्षियोंने ध्यानयोगमें स्थित होकर अपने गुणोंसे ढकी हुई उन परमात्मदेवकी स्वरूपभूत शक्तिका साक्षात्कार किया, जो परमात्मदेव अकेला ही उन कालसे लेकर आत्मातक सम्पूर्ण कारणोंपर शासन करता है।'

सगुण या निर्गुण, सभी उपासनाएँ सगुण-निराकारसे ही आरम्भ होती हैं। परमात्मा हैं—यह मान्यता भी सगुण-निराकारको लेकर ही है, क्योंकि प्रकृतिका कार्य होनेसे बुद्धि प्रकृतिसे अतीत निर्गुण-तत्त्वको पकड़ नहीं सकती। इसलिये निर्गुणके उपासकका लक्ष्य तो निर्गुण-निराकारका होता है, पर बुद्धिसे वह सगुण-निराकारका ही चिन्तन करता है।

५. ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग

भक्ति और ज्ञानमें, द्वैत और अद्वैतमें परस्पर किञ्चिन्मात्र भी विरोध नहीं है। भक्तिमें ज्ञान बाधक नहीं है, प्रत्युत भक्तिका आग्रह बाधक है और ज्ञानमें भक्ति बाधक नहीं है, प्रत्युत ज्ञानका आग्रह बाधक है। पुस्तकीय ज्ञान अथवा वाचिक (बातूनी) ज्ञान होनेसे ही उसमें भक्ति (द्वैतभावना) बाधक दीखती है। पुस्तकीय या वाचिक ज्ञानके विषयमें गोस्वामीजी महाराज लिखते हैं—

ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभ बस करहिं बिप्र गुर घात॥

(मानस, उत्तर० ९९ क)

ज्ञानका अनुभव होनेपर उसमें भक्तिसे बाधा नहीं लगती। भगवान् शंकर, सनकादिक, नारदजी, वेदव्यासजी, शुकदेवजी

---

* गीतामें जीवात्मा, प्रकृति और परमात्मा—इन तीनोंका एक साथ वर्णन अलग-अलग नामोंसे इस प्रकार हुआ है—

अध्याय/श्लोक	जीवात्मा	प्रकृति	परमात्मा
७।४—६	परा प्रकृति	अपरा प्रकृति	अहम्
८।३-४	अध्यात्म; अधिदैव	कर्म; अधिभूत	ब्रह्म; अधियज्ञ
१३।१-२	क्षेत्रज्ञ	क्षेत्र	माम्
१४-३-४	गर्भ; बीज	महद्ब्रह्म; योनि	अहम्; पिता
१५।१६—१८	अक्षर	क्षर	पुरुषोत्तम

आदि पूर्ण ज्ञानी होते हुए भी भगवान्‌की लीला-कथाएँ गाते और सुनते हैं। वास्तवमें बाधक है—संसारकी आसक्ति। अतः ज्ञानमें द्वैतबुद्धि बाधक नहीं है, प्रत्युत संसारकी आसक्ति बाधक है। भक्तिमें तो प्रेम होता है, आसक्ति नहीं होती। प्रेम आसक्तिको मिटा देता है। अतः ज्ञानमें भक्ति बाधक नहीं है।

जब साधक पहले ही अपनी धारणा बना लेता है कि परमात्मा निर्गुण ही हैं या परमात्मा सगुण ही हैं, द्वैत ही ठीक है या अद्वैत ही ठीक है, तो फिर उसको वैसा ही दीखने लग जाता है। वास्तवमें इस तरह एक धारणा (आग्रह) बना लेनेसे तत्त्वबोधमें बाधा लगती है। विभिन्न सम्प्रदायोंमें हाँ-में-हाँ मिलानेवाले लोग तो अधिक होते हैं, पर अनुभव करनेवाले बहुत कम होते हैं। जो अपने सम्प्रदायकी बात मानते हुए भी 'वास्तविक तत्त्व क्या है? ऐसी सच्ची जिज्ञासा रखता है और अपने मतका आग्रह नहीं रखता, उसीको सुगमतापूर्वक तत्त्वबोध हो सकता है। वास्तवमें ज्ञान और भक्तिमें कोई फर्क नहीं है। ज्ञानके बिना प्रेम आसक्ति है और प्रेमके बिना ज्ञान शून्य है। परन्तु ज्ञानमार्गी भक्तिमार्गीका तिरस्कार (उपेक्षा, निन्दा या खण्डन) करता है तो ज्ञानकी सिद्धिमें बाधा लग जायगी और भक्तिमार्गी ज्ञानमार्गीका तिरस्कार करता है तो भक्तिकी सिद्धिमें बाधा लग जायगी। वास्तवमें अभेदवादी भेदवादियोंकी जैसी निन्दा करते हैं, वैसी निन्दा भेदवादी अभेदवादियोंकी नहीं करते। भेदवादी केवल यह कहते हैं कि अभेदवादी मायावादी हैं, क्योंकि वे संसारको माया मानते हैं। परन्तु वास्तवमें अभेदवादी मायावादी नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मवादी हैं।

वेदान्त पढ़नेवाले कोई-कोई अभेदवादी व्यक्ति भक्तिको पराधीन (छोटा) बताते हैं। वास्तवमें भक्ति परम स्वतन्त्र है—*'भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी'* (मानस, उत्तर० ४५।३)। यदि परमात्माको 'पर', मानेंगे तो अद्वैत सिद्धान्त भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि परमात्माको 'पर' माननेसे जीव और ब्रह्मकी एकता कैसे होगी? अतः परमात्मा 'पर' नहीं हैं, प्रत्युत 'स्व' हैं। 'स्व'के दो अर्थ होते हैं—स्वयं (स्वरूप) और स्वकीय। परमात्मा स्वकीय (अपने) हैं। स्वकीयकी अधीनता परम स्वाधीनता है, शिरोमणि स्वाधीनता है। इसलिये भक्तिमें महान् स्वाधीनता, प्रभुता, ऐश्वर्य, विलक्षणता आदि है।

अभेदवादी कहते हैं कि भक्तिमें भगवान् और भक्त—ये दो होते हैं और दूसरेसे भय होता है—**'द्वितीयाद्वै भयं भवति'** (बृहदारण्यक० १।४।२)। भय दूसरेसे तो होता है, पर आत्मीय (अपने)से भय नहीं होता। भगवान् दूसरे नहीं हैं, प्रत्युत आत्मीय हैं। बालकके लिये माँ द्वितीय नहीं होती, प्रत्युत आत्मीय होती है। इसलिये बालकको माँसे भय नहीं होता। जैसे माँकी गोदमें जानेसे बालक अभय हो जाता है, ऐसे ही भगवान्‌की शरणमें जानेसे मनुष्य सदाके लिये अभय हो जाता है।

असत् (संसार)की तरफ खिंचाव ही असाधन है, जो पतन करनेवाला है और सत् (परमात्मा) की तरफ खिंचाव ही साधन है, जो उन्नति करनेवाला है। 'ज्ञान'से बातें तो समझमें आ जाती हैं, पर संसारका खिंचाव नहीं मिटता। संसारका खिंचाव तो 'प्रेम' से ही मिटता है*। तत्त्व-ज्ञान होनेपर भी परमात्मामें खिंचाव (प्रेम) हुए बिना संसारका खिंचाव सर्वथा नहीं मिटता। अतः प्रेम ज्ञानसे भी श्रेष्ठ है। वह प्रेम प्रकट होता है—भगवान्‌को अपना माननेसे और संसारको अपना न माननेसे। इसलिये सगुणकी भक्ति मुख्य है।

कर्मयोगीमें त्यागका बल है और ज्ञानयोगीमें विवेकका बल है, पर भक्तियोगीमें भगवान्‌के विश्वासका बल है। भगवान्‌के विश्वासका बल होनेसे भक्त बहुत जल्दी विकारोंसे मुक्त हो जाता है। ज्ञानमार्गके साधकोंका भी यह अनुभव है कि विकारोंके कारण चित्तमें हलचल होनेके समय भगवान्‌के शरण होकर उनको पुकारनेसे जैसा लाभ होता है, वैसा केवल विचार करनेसे नहीं होता। इसलिये भगवान्‌ने ज्ञानमार्गके साधकके लिये भी अपने परायण होनेकी बात कही है—

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

(गीता ६।१४)

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।

(गीता २।६१)

यह भक्तिकी विशेषता है!

६. भक्तिकी मुख्यता

परमात्मप्राप्तिके सभी साधनोंमें भक्ति मुख्य है। ज्ञानमार्गी ऐसा कहते हैं कि किसी भी मार्गसे चलो, अन्तमें ज्ञानमें ही

* अपनी सत्ताका अभाव कोई नहीं चाहता—यह निर्गुणका प्रेम है। परन्तु इस (सत्तामात्रके) प्रेमसे संसारका खिंचाव नहीं मिटता। कारण कि इसमें विवेककी प्रधानता रहती है। विवेकमें सत् और असत्—दोनों रहते हैं। इसलिये विवेककी प्रधानतासे असत्‌की सत्ता नहीं मिटती, भले ही वह कल्पित क्यों न हो! परन्तु परमात्मामें विशेष खिंचाव (प्रेम) होनेसे असत्‌का खिंचाव मिट जाता है। इसलिये श्रीरामचरितमानसमें आया है—'प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥' (उत्तर ४९।३)।

आना पड़ेगा, परन्तु यह बात ठीक जँचती नहीं। वास्तवमें भक्ति ही अन्तमें है। ज्ञानमें तो अखण्ड, स्थिर रस है, पर भक्तिमें अनन्त, प्रतिक्षण वर्धमान रस है। भक्ति इतनी व्यापक है कि वह प्रत्येक साधनके आदिमें भी है और अन्तमें भी है। भक्ति प्रत्येक साधनके आरम्भमें पारमार्थिक आकर्षणके रूपमें रहती है, क्योंकि परमात्मामें आकर्षण हुए बिना कोई मनुष्य साधनमें लग ही नहीं सकता। साधनके अन्तमें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमके रूपमें भक्ति रहती है—**'मद्भक्तिं लभते पराम्'** (गीता १८।५४), क्योंकि इसकी प्राप्तिमें ही साधनकी पूर्णता है। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें अन्य सब धर्मोंकी अपेक्षा भगवद्भक्ति-विषयक धर्मको श्रेष्ठ बताया गया है—**'अतस्त्वितरज्यायो लिङ्गाच्च'** (३।४।३९)।

गीतामें भी अर्जुनने भगवान्‌से प्रश्न किया कि सगुण और निर्गुण—दोनों उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है तो भगवान्‌ने उत्तरमें सगुण उपासकोंको ही श्रेष्ठ बताया—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(१२।२)

'मेरेमें मनको लगाकर नित्य-निरन्तर मेरेमें लगे हुए जो भक्त परम श्रद्धासे युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।'

प्रत्येक साधकको अन्तमें भक्तिमार्गमें आना ही पड़ेगा, क्योंकि वास्तविक अद्वैत भक्तिमें ही है। गीतामें आया है—

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८।५३—५५)

'अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके एवं निर्मम तथा शान्त होकर साधक ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है।'

'वह ब्रह्मभूत-अवस्थाको प्राप्त प्रसन्न मनवाला साधक न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी इच्छा करता है। ऐसा सम्पूर्ण प्राणियोंमें समभाववाला साधक मेरी पराभक्तिको प्राप्त हो जाता है।'

'उस पराभक्तिसे मेरेको, मैं जितना हूँ और जो हूँ—इसको तत्त्वसे जान लेता है तथा मेरेको तत्त्वसे जानकर फिर तत्काल मेरेमें प्रविष्ट हो जाता है।'

'मैं जितना हूँ और जो हूँ' **(यावान् यश्चास्मि)**—यह बात सगुणकी ही है, क्योंकि **यावान्-तावान्** निर्गुणमें हो सकता ही नहीं, प्रत्युत सगुणमें ही हो सकता है*। इससे सगुणकी विशेषता तथा मुख्यता सिद्ध होती है। ज्ञानमार्गमें तो तत्त्वसे जानना **(ज्ञात्वा)** और प्रविष्ट होना **(विशते)**—ये दो ही होते हैं, पर भक्तिमार्गमें भगवान्‌ने तत्त्वसे जानना **(ज्ञातुम्)** और प्रविष्ट होना **(प्रवेष्टुम्)** के सिवाय अपने दर्शन **(द्रष्टुम्)** की बात भी कही है†। भगवान् इन्द्रियोंका विषय न होनेपर भी इन्द्रियोंका विषय बन जाते हैं—यह भगवान्‌की विलक्षण कृपा है! यह विलक्षणता भक्तिमें ही है, ज्ञानमें नहीं।

ज्ञानकी प्रधानता होनेपर साधक भगवान्‌के निर्गुण रूपको ही जानता है, पर भक्तिकी प्रधानता होनेपर साधक भगवान्‌के समग्र रूपको जानता है। जैसे बछड़ा गायके एक स्तनका पान करता है तो गायके चारों स्तनोंसे दूध टपकने लगता है, ऐसे ही भक्तका भगवान्‌की तरफ आकर्षण (प्रेम) होता है तो भगवान् कृपा करके अपने समग्ररूपको प्रकट कर देते हैं। भगवान् उसके अज्ञानान्धकारको दूर कर देते हैं‡, उसका उद्धार भी भगवान् कर देते हैं§। तात्पर्य है कि अनन्य भक्तको अपने उद्धारके लिये कुछ करना नहीं पड़ता। उसको ज्ञान करानेकी, उसका उद्धार करनेकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर होती है। भक्त सब क्रियाएँ करते हुए भी सदा भगवान्‌में ही बरतता है, भगवान्‌में ही स्थित रहता है$। इतना ही नहीं, भक्त

---

* चतुःश्लोकी भागवतमें भी भगवान्‌ने 'यावान्' पदका प्रयोग करते हुए ब्रह्माजीसे कहा है—

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः। तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥ (श्रीमद्भा० २।९।३१)

मैं जितना हूँ, जिस भावसे युक्त हूँ, जिन रूप, गुण और लीलाओंसे समन्वित हूँ, उन सबके तत्त्वका विज्ञान तुम्हें मेरी कृपासे ज्यों-का-त्यों प्राप्त हो जाय।'

† भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ (गीता ११।५४)

‡ तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता १०।११)

§ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ (गीता १२।७)

$ सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ (गीता ६।३१)

योगभ्रष्ट भी नहीं होता, क्योंकि वह अपने साधनका आश्रय न रखकर भगवान्‌का ही आश्रय रखता है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(गीता १८।५६)

'मेरा आश्रय लेनेवाला भक्त सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है।'

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(गीता १८।५८)

'मेरेमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा।'

तात्पर्य है कि भगवान् भक्तपर विशेष कृपा करके उसके साधनकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको भी दूर कर देते हैं और अपनी प्राप्ति भी करा देते हैं। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें आया है—**'विशेषानुग्रहश्च'** (३।४।३८) 'भगवान्‌की भक्तिका अनुष्ठान करनेसे भगवान्‌का विशेष अनुग्रह होता है।'

जहाँ भक्ति होती है, वहाँ ज्ञान और वैराग्य अपने-आप आ जाते हैं। अतः भक्तको ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्तिके लिये परिश्रम नहीं करना पड़ता। श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें ज्ञान और वैराग्यको भक्तिके बेटे बताया है—

अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ।
ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ॥

(१।४५)

जहाँ माँ जायगी, वहाँ बेटे भी जायँगे ही! इसलिये 'बोधसार' में आया है—

यद्यन्यत् साधनं नास्ति भक्तिरस्ति महेश्वरे।
तदा क्रमेण सिध्यन्ति विरक्तिज्ञानमुक्तयः॥

(बोधसार, भक्ति॰ ५)

'यदि अपनेमें परमेश्वरकी भक्ति विद्यमान है तो फिर अन्य साधन न होनेपर भी क्रमशः वैराग्य, ज्ञान तथा मोक्ष—तीनोंकी सिद्धि हो जाती है।'

जब शुद्ध भक्तिका वर्णन होता है, तब वह निर्गुण (गुणोंसे अतीत) होता है, जैसे—**'मत्सेवायां तु निर्गुणा'** (श्रीमद्भा॰ ११।२५।२७) आदि। परन्तु ज्ञानमार्गपर चलनेवाले, ज्ञानके संस्कारवाले जब भक्तिका वर्णन करते हैं, तब उसमें सत्त्वगुणकी प्रधानता रहती है। इसलिये ज्ञानीलोग भक्ति (प्रेम) का जो वर्णन करते हैं, वह असली (शुद्ध) भक्तिका वर्णन नहीं होता, प्रत्युत ज्ञानमिश्रित भक्तिका वर्णन होता है, जो कि विक्षेप-दोषको दूर करनेवाली होनेसे ज्ञानका साधन है, प्रेमाभक्ति नहीं। प्रेमाभक्ति तो तत्त्वज्ञानसे भी आगेकी चीज है। ज्ञानमार्गवाले प्रेमको अन्तःकरणकी एक वृत्ति (सात्त्विक भाव) मानते हैं, जबकि प्रेम अन्तःकरणकी वृत्ति है ही नहीं। प्रेम तो स्वयंसे होता है। प्रेममें गुण (जड़ता) है ही नहीं*। मीराबाईमें शुद्ध प्रेम था, इसलिये उनका शरीर भी चिन्मय होकर भगवान्‌के श्रीविग्रहमें लीन हो गया, क्योंकि भक्तिमें जड वस्तु रहती ही नहीं, प्रत्युत सब कुछ चिन्मय हो जाता है। गोपियोंको भी सब जगह कृष्ण-ही-कृष्ण दीखते थे। उनके शरीर भी चिन्मय होकर एक तालाबमें लीन हो गये थे, जो 'गोपीतलाई' (द्वारका) नामसे प्रसिद्ध है। उस तालाबकी मिट्टी ही 'गोपीचन्दन' कहलाती है।

ज्ञानमार्गमें तो संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, पर भक्तिमार्गमें स्वतन्त्र तत्त्व ही नहीं है, प्रत्युत सब कुछ भगवान् ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्।'** ज्ञानमार्गवाले मुक्तिको सबसे ऊँची चीज मानते हैं, फिर वे मुक्तिसे भी आगेकी चीज प्रेम (प्रेमाभक्ति या पराभक्ति) को कैसे समझें? मुक्तिमें तो अखण्ड रस है, पर प्रेममें अनन्त रस है। प्रेम मुक्ति, तत्त्वज्ञान, स्वरूप-बोध, आत्मसाक्षात्कार, कैवल्यसे भी आगेकी चीज है। 'बोधसार' में आया है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

(बोधसार, भक्ति॰ ४२)

'बोधसे पहलेका द्वैत मोहमें डालता है, परन्तु बोध हो जानेपर भक्तिके लिये कल्पित द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

प्रेमाभक्ति तत्त्वज्ञान होनेके बाद भी हो सकती है और सीधे भी हो सकती है। भक्तका भगवान्‌में गाढ़ अपनापन (आत्मीयता) होनेसे तत्त्वज्ञान हुए बिना भी सीधे प्रेमाभक्ति प्राप्त हो सकती है। प्रेमाभक्ति प्राप्त होनेके बाद भगवत्कृपासे अपने-आप तत्त्वज्ञान हो जाता है—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

(मानस, अरण्य॰ ३६।५)

---

* गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥ (नारदभक्तिसूत्र ५४)

यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है।'

भगवान् कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। १०-११)

'उन नित्य-निरन्तर मेरेमें लगे हुए और प्रेमर्पूक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे उनको मेरी प्राप्ति हो जाती है। उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके स्वरूपमें रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपकके द्वारा सर्वथा नष्ट कर देता हूँ।'

गुरुजनोंसे मिलनेवाले ज्ञानकी अपेक्षा जगद्गुरु भगवान्से मिलनेवाला ज्ञान अत्यन्त विलक्षण होता है!

ज्ञानीमें तो अखण्ड आनन्द रहता है, पर प्रेमी भक्तमें प्रतिक्षण वर्धमान आनन्द रहता है। इसलिये भक्त ज्ञानीकी तरह शान्त, एकरस नहीं रहता, प्रत्युत उसमें विभिन्न विलक्षण भावोंका उछाल आता रहता है—

वागद्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २४)

'जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीलाका वर्णन करते-करते गद्गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओंका चिन्तन करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बारंबार रोता रहता है, कभी हँसने लग जाता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है और कभी नाचने लग जाता है, ऐसा मेरा भक्त सारे संसारको पवित्र कर देता है।'

★

प्रेम, प्रेमी तथा प्रेमास्पद

१. हम भगवान्‌में तथा भगवान् हमारेमें हैं

एक मार्मिक बात है कि हम वास्तवमें जो चाहते हैं, वह सदा हमारेमें है और हम सदा उसमें हैं। हमारी वास्तविक इच्छाएँ तीन हैं—(१) 'सत्' की इच्छा कि मैं सदा जीता रहूँ, कभी मरूँ नहीं (२) 'चित्' की इच्छा मैं सब कुछ जान जाऊँ, कभी किसी विषयमें अनजान न रहूँ और (३) 'आनन्द'की इच्छा कि मैं सदा सुखी रहूँ, कभी दुःखी न रहूँ। ये तीनों ही इच्छाएँ सत्-चित्-आनन्दस्वरूप परमात्माकी हैं। वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा सदा हमारेमें हैं और हम सदा उनमें हैं। परन्तु हमारेसे भूल यह होती है कि हम इन इच्छाओंको उससे पूरी करना चाहते हैं, जो हमारेमें नहीं है और हम उसमें नहीं हैं। तात्पर्य है कि हम शरीरसे जीना चाहते हैं, बुद्धिसे जानकार बनना चाहते हैं और इन्द्रियोंसे सुखी होना चाहते हैं—इस प्रकार हम तीनों इच्छाओंको संसारसे पूरी करना चाहते हैं, जो कि असत्, जड़ और दुःखस्वरूप है। इसलिये ये इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं और हम अनादिकालसे दुःख पा रहे हैं। चाह तो करें सत्-चित्-आनन्दकी और पूरी करना चाहें असत्-जड-दुःखरूप संसारसे, कितनी मूर्खताकी बात है!

शरीर और संसारके निरन्तर बदलनेका अनुभव सबको होता है, पर अपने बदलनेका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। शरीर बालकसे जवान और जवान्‌से बूढ़ा हो जाता है, पर 'मैं वही हूँ'—इसमें अर्थात् स्वयंमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिये हम संसारमें नहीं हैं और संसार हमारेमें नहीं है। तात्पर्य है कि संसार हमारेसे अलग है और परमात्मा हमें नित्यप्राप्त हैं। जो अलग है, उसको प्राप्त मानना और जो नित्यप्राप्त है, उसको अलग (अप्राप्त) मानना—इसके समान कोई पाप नहीं है।

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

(महा० उद्योग० ४२। ३७)

'जो अन्य प्रकारका होते हुए भी आत्माको अन्य प्रकारका मानता है, उस आत्मघाती चोरने कौन-सा पाप नहीं किया? अर्थात् उसने सब पाप कर लिये।'

जो हमारेसे अलग है, उसकी सेवा करनी है और जो हमारेमें है, उसको अपना मानना है। ऐसा करनेसे संसारसे माना हुआ सम्बन्ध टूट जायगा और परमात्माका वास्तविक सम्बन्ध जाग्रत् हो जायगा। परमात्माका सम्बन्ध जाग्रत् होनेपर प्रेमकी प्राप्ति हो जायगी, जो मनुष्यजीवनका चरम लक्ष्य है।

२. भगवान् अपने हैं

जबतक संसारके साथ अपने सम्बन्धकी मान्यता रहती है, तबतक मनुष्यको जो भी वस्तु मिलती है, उसको वह अपनी ही मान लेता है। परन्तु जब सत्संगके द्वारा उसको इस बातका ज्ञान होता है कि संसार मेरा नहीं है, प्रत्युत भगवान् ही मेरे हैं, तब उसको अनुभव होता है कि जो भी वस्तु मिली है, वह भगवान्‌की ही है और भगवान्‌से ही मिली है। अतः वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत उसको देनेवाला अपना है।

मनुष्यसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह मिली हुई वस्तुको तो देखता है, पर उसको देनेवालेकी तरफ उसकी दृष्टि जाती ही नहीं! वह वस्तुको तो अपना मानता है, पर उसे देनेवालेको अपना मानता ही नहीं! वास्तवमें मिली हुई वस्तु जितनी प्यारी लगती है, उससे अधिक भगवान् (देनेवाले) प्यारे लगने चाहिये। मिली हुई वस्तुसे तो प्यार करना, पर उसको देनेवालेसे प्यार न करना कृतज्ञबुद्धि नहीं है, प्रत्युत भोगबुद्धि है।

प्रतिक्षण वर्धमान आनन्द (प्रेम)का आस्वादन एक (अकेला) होनेसे नहीं होता—**'एकाकी न रमते'** (बृहदारण्यक० १।४।३)। इसलिये प्रेमलीलाका आस्वादन करनेके लिये भगवान्‌ने 'मैं एक ही बहुत हो जाऊँ'—ऐसा संकल्प किया—**'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति'** (तैत्तिरीय० २।६) भगवान्‌के इस संकल्पसे असंख्य जीवोंकी सृष्टि हुई। भगवान्‌ने श्रीजी (राधाजी) को भी अपनेमेंसे प्रकट किया, जीवोंको भी अपनेमेंसे प्रकट किया और लीलाकी सामग्री (संसार) को भी अपनेमेंसे ही प्रकट किया। प्रेमलीला तभी होती है, जब प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों बराबर हों, कोई भी छोटा-बड़ा न हो। अतः भगवान्‌ने जीवोंको अपने समान अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्र बनाया। इस प्रेमलीलामें श्रीजीका तो केवल भगवान्‌में ही आकर्षण रहा, उनसे भूल नहीं हुई, पर अन्य जीवोंने मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके लीलाकी वस्तुओं (संसार) को अपना मान लिया और वे उनकी तरफ खिंच गये! वे भगवान्‌से प्रेम न करके उनकी दी हुई वस्तुओंमें ही रमण करने लगे। वे खुद उन वस्तुओंके मालिक बन गये और अपने मालिकको भूल गये। उन्होंने वस्तुओंको अपना मान लिया और जिसने उनको दिया था, उससे विमुख हो गये। इस प्रकार मिली हुई स्वाधीनताका दुरुपयोग करके जीव पराधीन हो गया तथा जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ गया।

भगवान् जीवपर कृपा करके उसको विवेक देते हैं। जब मनुष्य उस विवेकको महत्त्व देता है, तब भगवान् उसको बोध देते हैं। उस बोधको पाकर मनुष्य पूर्णताका अनुभव करता है और 'मैं धन्य हूँ! मैं धन्य हूँ!!' कहकर हर्षित हो उठता है। परन्तु यह भी उसकी भूल ही है। वास्तवमें पूर्णता अपनी नहीं है, प्रत्युत पूर्णताको देनेवाला अपना है। इसलिये हमें पूर्णता नहीं चाहिये, प्रत्युत पूर्णताको देनेवाला चाहिये। भगवान् बोध इसलिये देते हैं कि यह मुक्त होकर, स्वाधीन होकर मेरेसे प्रेमका आदान-प्रदान करे। परन्तु जब मनुष्य उस बोधमें ही सन्तुष्ट होकर भगवान्‌को भूल जाता है, तब भगवान् कृपा करके उसको प्रेमका आस्वादन करानेके लिये उस बोधमें भी नीरसता पैदा कर देते हैं! इसीलिये बोधवान् मनुष्यको अपनेमें कभी तो बड़ा आनन्द दीखता है और कभी नीरसता दीखती है, कभी तो पूर्णता दीखती है और कभी कमी दीखती है। तात्पर्य है कि साधक भले ही भगवान्‌को भूल जाय, पर भगवान् उसको कभी नहीं भूलते और उसको अपनी तरफ खींचनेके लिये चेत कराते रहते हैं।

भगवान्‌का यह एक विलक्षण स्वभाव है कि वे कुछ भी देते हैं तो इस ढंगसे अपनेको छिपाकर देते हैं कि लेनेवालेको वह वस्तु अपनी ही मालूम देती है! कारण कि संसारमें देनेवाला बड़ा और लेनेवाला छोटा माना जाता है। इसलिये भगवान् अपनेको छिपाकर देते हैं, जिससे अपनेमें बड़प्पन भी न आये और लेनेवालेमें छोटापन भी न आये! अतः मिली हुई वस्तुको लेकर अपनेमें अभिमान नहीं होना चाहिये, प्रत्युत भगवान्‌के प्रति कृतज्ञबुद्धि होनी चाहिये। जब लेनेवाला मिली हुई वस्तुको अपना न मानकर देनेवाले—भगवान्‌को अपना मानता है, तब भगवान् उसके ऋणी हो जाते हैं और कहने लगते हैं—***'मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि'*** !

भक्त अपने-आपको भगवान्‌के अर्पित कर देता है तो भगवान् भी अपने-आपको उसके अर्पित कर देते हैं। भक्त भगवान्‌को प्रेम-रस देता है और भगवान् भक्तको प्रेम-रस देते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४।११)। इस प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी लीलामें कौन भक्त है और कौन भगवान् है—इसका पता नहीं लगता। मुक्ति (तत्त्वज्ञान) में तो अखण्ड रस है, पर इस प्रेममें अनन्त रस है। इस अनन्त रसकी प्राप्तिमें ही मानवजीवनकी पूर्णता है।

३. भगवान् प्रेमके अधीन हैं

भगवत्प्रेममें कितना आनन्द है—इसका कोई वर्णन कर ही नहीं सकता। उस प्रेममें जो आनन्द है, वह आनन्द मुक्तिमें, जन्म-मरणसे रहित होनेमें भी नहीं है। कारण कि मुक्त होनेपर, जन्म-मरणसे रहित होनेपर दुःखोंका नाश हो जाता है और मनुष्य सन्तुष्ट हो जाता है, कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य हो जाता है परन्तु प्रेम प्राप्त होनेपर मनुष्य सन्तुष्ट नहीं होता, प्रत्युत उसका आनन्द उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। वह प्रेम अविनाशी और चिन्मय है। उसकी प्राप्ति किसी क्रियासे, अभ्याससे अथवा विचारसे नहीं होती। विचारसे जडताका त्याग हो सकता है, अपने स्वरूपका बोध हो सकता

है, पर प्रेम नहीं हो सकता। प्रेमकी प्राप्ति 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस विश्वासकी गाढ़तासे होती है। दूसरे शब्दोंमें, संसारमें हमारा जो खिंचाव है वह भगवान्में हो जाय तो वह प्रेम प्राप्त हो जाता है। उस प्रेमको देनेवाले भी भगवान् ही हैं।

भगवान्की दी हुई सामर्थ्यसे ही मनुष्य कर्मयोगी होता है, उनके दिये हुए ज्ञानसे ही मनुष्य ज्ञानी होता है और उनके दिये हुए प्रेमसे ही मनुष्य प्रेमी होता है। मनुष्यमें जो भी विशेषता, विलक्षणता देखनेमें आती है, वह सब-की-सब उन्हींकी दी हुई है। सब कुछ देकर भी वे अपनेको प्रकट नहीं करते—यह उनका स्वभाव है।

अगर भगवान्से कुछ माँगना है तो प्रेम ही माँगना है, कुछ पाना है तो प्रेम ही पाना है। एक प्रेमके सिवाय मनुष्यको कुछ नहीं चाहिये। मनुष्यको इस प्रेम-रसका आस्वादन करानेके लिये ही भगवान् मनुष्यरूपसे संसारमें अवतार लेते हैं, अपने-आपको प्रकट करते हैं, तरह-तरहकी लीलाएँ करते हैं और अपने हृदयकी अन्तिम तथा सर्वगुह्यतम (सबसे अत्यन्त गोपनीय) बात-शरणागतिका उपदेश देते हैं* ।

भगवान्ने मनुष्यकी रचना न तो अपने सुखभोगके लिये की है, न उसको भोगोंमें लगानेके लिये की है और न उसपर शासन करनेके लिये की है, प्रत्युत इसलिये की है कि वह मेरेसे प्रेम करे, मैं उससे प्रेम करूँ, वह मेरेको अपना कहे, मैं उसको अपना कहूँ, वह मेरेको देखे, मैं उसको देखूँ! तात्पर्य है कि भगवान् मनुष्यको अपना दास (पराधीन) नहीं बनाते, प्रत्युत अपने समान बनाते हैं, अपने समान आदर देते हैं। इसलिये भगवान् भक्ति देनेमें संकोच करते हैं, क्योंकि भक्तिमें मनुष्य भगवान्का दास बन जाता है। इसलिये श्रीमद्भागवतमें आया है—

मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्।

(श्रीमद्भा० ५। ६। १८)

'भगवान् मुक्ति तो कभी दे देते हैं, पर भक्तियोग सहजमें नहीं देते।'

भगवान् श्रीरामने जब काकभुशुण्डिजीसे कहा कि तू अणिमादि सिद्धियाँ, ज्ञान, वैराग्य, मुक्ति आदि जो चाहे, सो वर माँग ले। तब काकभुशुण्डिजीने विचार किया कि भगवान्ने सब कुछ देनेकी बात तो कही है, पर अपनी भक्ति देनेकी बात कही ही नहीं—

सुनि प्रभु बचन अधिक अनुरागेउँ। मन अनुमान करन तब लागेउँ॥
प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥
भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥

(मानस, उत्तर० ८४। २-३)

इसलिये काकभुशुण्डिजीने और कुछ न माँगकर भक्तिका ही वर माँगा। इससे भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और 'एवमस्तु' कहकर बोले—

सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न मागसि अस बरदाना॥
सब सुख खानि भगति तैं मागी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी॥
जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं॥
रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। मागेहु भगति मोहि अति भाई॥

(मानस, उत्तर० ८५। १—३)

तात्पर्य है कि भगवान् अपनी ओरसे भक्ति नहीं देते, पर कोई भक्ति ही चाहे तो वे भक्ति देकर बड़े प्रसन्न होते हैं। कारण कि भक्तिसे भगवान् और भक्त—दोनोंको ही आनन्द मिलता है, इसलिये भगवान् भक्ति चाहनेवालेको भक्ति देकर स्वयं उसके दास बन जाते हैं—

'मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि'

भगवान् दुर्वासाजीसे कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

'हे द्विज! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। मुझे भक्तजन बहुत प्रिय हैं। उनका मेरे हृदयपर पूर्ण अधिकार है।'

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६६)

'जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही मेरे साथ अपने हृदयको प्रेम-बन्धनसे बाँध रखनेवाले समदर्शी साधु भक्तिके द्वारा मुझे अपने वशमें कर लेते हैं।'

भगवान् किसी भी साधनसे वशमें नहीं होते, पर भक्तिसे वे वशमें हो जाते हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं—

---

* सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (गीता १८। ६६)
'सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता मत कर।'

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।२०)

'हे उद्धव! योग, सांख्य (ज्ञान), धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग भी मुझे वशमें करनेमें उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी मेरी अनन्य भक्ति।'

पराधीन होनेसे जीवको तो स्वतन्त्र होनेमें आनन्द आता है, पर परम स्वतन्त्र होनेसे भगवान्‌को पराधीन होनेमें ही आनन्द आता है! कारण कि जीवको स्वतन्त्रता दुर्लभ है और भगवान्‌को पराधीनता!

४. नित्यविरह और नित्यमिलन

मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं—इस प्रकार भगवान्‌में आत्मीयताके समान दूसरा कोई साधन नहीं है, भजन नहीं है। आत्मीयतासे आनन्दघन भगवान्‌को भी आनन्द मिलता है। भगवान् अपने आत्मीय जनको अपना सर्वस्व प्रदान कर देते हैं। भगवान् उसको अपना अनन्तरस (प्रेम) प्रदान करते हैं। परन्तु जो पराधीनतासे, जन्म-मरणके बन्धनसे दुःखी होकर मुक्तिकी कामना करते हैं, उनको भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं, किन्तु स्वयं उससे छिपकर रहते हैं। जब मुक्त पुरुषको मुक्ति (अखण्डरस) में भी सन्तोष नहीं होता, तब उसमें अनन्तरसकी भूख जाग्रत् होती है। कारण कि मुक्त होनेपर नाशवान् रसकी कामना तो मिट जाती है, पर अनन्तरसकी भूख नहीं मिटती। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें आया है—

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्। (१।३।२)

'उस प्रेमस्वरूप भगवान्‌को मुक्त पुरुषोंके लिये भी प्राप्तव्य बताया गया है।' अतः भगवान्‌का एक नाम 'आत्मारामगणाकर्षी' भी है।

अनन्तरस-बोधमें नहीं है, प्रत्युत प्रेममें है। इस अनन्तरसकी भूख ही जीवकी वास्तविक तथा अन्तिम भूख है और प्रेमकी प्राप्ति ही जीवका वास्तविक तथा अन्तिम लाभ है। मुक्तिकी तो सीमा है*, पर इस प्रेमकी कोई सीमा नहीं है। इस प्रेमकी प्राप्तिके लिये भगवान् कैसे हैं—यह जाननेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत भगवान् मेरे हैं—यह माननेकी जरूरत है। भगवान् मेरे हैं—यह आत्मीयता भक्त और भगवान्—दोनोंको आनन्द प्रदान करती है, अनन्तरस प्रदान करती है। कारण कि किसी वस्तुका ज्ञान होनेसे केवल अज्ञान मिटता है, मिलता कुछ नहीं। परन्तु 'वस्तु मेरी है'—इस तरह वस्तुमें ममता होनेसे एक रस मिलता है। तात्पर्य है कि वस्तुके आकर्षणमें जो रस है, वह रस वस्तुके ज्ञानमें नहीं है। सांसारिक वस्तुमें आकर्षण तो अपने सुखके लिये होता है, पर भगवान्‌में आकर्षण उनको सुख देनेके लिये होता है—**'तत्सुखे सुखित्वम्।'** इसलिये सांसारिक आकर्षणका तो अन्त आ जाता है, पर भगवान्‌के आकर्षणका अन्त नहीं आता, वह अनन्त होता है। भोगेच्छाका अन्त होता है और मुमुक्षा अथवा जिज्ञासाकी पूर्ति होती है, पर प्रेम-पिपासाका न तो अन्त होता है और न पूर्ति होती है, प्रत्युत वह प्रतिक्षण बढ़ती ही रहती है—**'प्रतिक्षणवर्धमानम्'** (नारदभक्तिसूत्र ५४)।

प्रेमीको सदा अपनेमें प्रेमका अभाव ही दीखता है। जैसे धनी आदमीको सदा धनका अभाव ही दीखता है। ज्यों-ज्यों धन बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसको धनकी कमी मालूम देती है†। ऐसे ही प्रेमीको अपनेमें प्रेमकी कमी-ही-कमी मालूम देती है। इसलिये प्रेमको प्रतिक्षण वर्धमान कहा गया है। यदि प्रेमीको प्रेममें कमी न मालूम दे तो प्रेम बढ़ेगा कैसे? अपनेमें पूर्णता न मानना, सदा प्रेमकी कमी मानना ही 'नित्यविरह' है। नित्यविरह और नित्यमिलन (नित्ययोग) दोनों ही नित्य हैं। अतः न तो प्रेमास्पदसे मिलनकी लालसा पूरी होती है और न प्रेमास्पदसे वियोग ही होता है। नित्यविरहसे प्रेम बढ़ता है और नित्यमिलनसे प्रेममें प्राण आ जाते हैं, चेतना आ जाती है, विशेष विलक्षणता आ जाती है। नित्यविरह और नित्यमिलन एक ही प्रेमके दो रूप हैं।

अरबरात मिलिबेको निसिदिन,
मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलै ना ॥
'भगवतरसिक' रसिक की बातें,
रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना ॥

---

* यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ (गीता ३।१७)
'जो मनुष्य अपने-आपमें ही रमण करनेवाला और अपने-आपमें ही तृप्त तथा अपने-आपमें ही सन्तुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

† वास्तवमें 'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'—यह वृत्ति जीवमें प्रतिक्षण वर्धमान भगवत्प्रेमके लिये ही थी, पर जीवने इसको संसारमें, भोग और संग्रहमें लगा दिया। जीवमें आकर्षण तो अविनाशी भगवान्‌का ही था, पर इस आकर्षणको उसने नाशवान् संसारमें लगा दिया। आकर्षण तो वही रहा, पर कुसंगसे, भोगोंका सुख लेनेसे उस आकर्षणका लक्ष्य बदल गया। संसारका आकर्षण (आसक्ति या काम) पतनकी तरफ ले जाता है और भगवान्‌का आकर्षण (प्रेम) उन्नतिकी तरफ ले जाता है। संसारका आकर्षण तो क्षीण होकर दुःखमें, नीरसतामें परिणत होता है, पर भगवान्‌का आकर्षण प्रतिक्षण वर्धमान आनन्दमें परिणत होता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज नित्यविरह और नित्यमिलनका उदाहरण देते हुए कौसल्या माताकी दशाका वर्णन करते हैं—

माई री ! मोहि कोउ न समुझावै।
राम-गवन साँचो किधौं सपनो, मन परतीति न आवै ॥ १ ॥
लगेइ रहत मेरे नैननि आगे, राम लखन अरु सीता।
तदपि न मिटत दाह या उरको, बिधि जो भयो बिपरीता ॥ २ ॥
दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत, तनु न रहै बिनु देखे।
करत न प्रान पयान, सुनहु सखि ! अरुझि परी यहि लेखे ॥ ३ ॥
कौसल्या के बिरह-बचन सुनि रोइ उठीं सब रानी।
तुलसिदास रघुबीर-बिरहकी पीर न जाति बखानी ॥ ४ ॥

(गीतावली, अयोध्या० ५३)

यह नित्यविरह और नित्यमिलन भी भगवान् अपनी ओरसे कृपा करके प्रदान करते हैं।

सर्वश्रेष्ठ साधन

भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाले तीन साधन हैं—

१. जगत्‌में भगवान्‌को देखना—'**यो मां पश्यति सर्वत्र**' (गीता ६।३०)।

२. भगवान्‌में जगत्‌को देखना—'**सर्वं च मयि पश्यति**' (गीता ६।३०)।

३. जगत्‌को भगवत्स्वरूप देखना—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७।१९)।

—इन तीनोंमें शीघ्र भगवत्प्राप्ति करानेवाला सर्वश्रेष्ठ साधन है—जगत्‌को भगवत्स्वरूप देखना अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा स्वीकार करना। यह सर्वश्रेष्ठ इसलिये है कि जो भाव **(वासुदेवः सर्वम्)** पहलेके दो साधनोंके अन्तमें होता है, वह भाव इस (तीसरे) साधनमें आरम्भसे ही रहता है। श्रीमद्भागवतमें आया है—

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥

(११।२९।१९)

'मेरी प्राप्तिके जितने साधन हैं, उनमें मैं सबसे श्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें, मन, वाणी तथा शरीरके समस्त बर्ताव (व्यवहार)में मेरी ही भावना की जाय।'

उपनिषदोंमें इस बातको समझनेके लिये तीन दृष्टान्त दिये गये हैं—सोनेका, लोहेका और मिट्टीका। जैसे, सोनेके अनेक गहने होते हैं। उन गहनोंकी अलग-अलग आकृति, नाम, रूप, तौल, उपयोग, मूल्य आदि होते हैं, पर उन सबमें सोना एक ही होता है। सोनेके सिवाय उनमें कुछ नहीं होता। लोहेके अनेक अस्त्र-शस्त्र होते हैं, पर उनमें लोहेके सिवाय कुछ नहीं होता। ऐसे ही मिट्टीके अनेक बर्तन होते हैं, पर उसमें मिट्टीके सिवाय कुछ नहीं होता। अतः जैसे सोनेसे बने हुए गहनोंको सोनारूपसे देखना है, लोहेसे बने हुए अस्त्र-शस्त्रोंको लोहारूपसे देखना है और मिट्टीसे बने हुए बर्तनोंको मिट्टीरूपसे देखना है, ऐसे ही परमात्मासे उत्पन्न हुई सृष्टिको परमात्मारूपसे देखना है। अतः यह सब जगत् परमात्माका स्वरूप है—इस बातको ठीक समझनेके लिये यहाँ विचार किया जाता है।

संसारकी जितनी भी वस्तुएँ हैं, उन सबके मूलमें एक अनुत्पन्न वस्तु है, जिसको मनुष्य बना नहीं सकता। जैसे, हम गेहूँकी कई तरहकी चीजें बना सकते हैं, पर गेहूँका दाना नहीं बना सकते, चनोंकी कई चीजें बना सकते हैं, पर चना नहीं बना सकते, आलूकी कई तरहकी चीजें बना सकते हैं, पर आलू नहीं बना सकते। एक मनुष्यशरीरसे कई मनुष्य पैदा हो सकते हैं, पर जिनसे शरीर पैदा होता है, वे रज-वीर्य हम नहीं बना सकते। तात्पर्य है कि जितनी भी वस्तुएँ हैं, उनकी मूलभूत धातु (बीज) को बड़ा-से-बड़ा वैज्ञानिक भी नहीं बना सकता। उन वस्तुओंमें हम परिवर्तन कर सकते हैं, दोको परस्पर मिला सकते हैं। पेड़-पौधोंकी कलम करके दूसरा फल लगा सकते हैं, उसमें विकृति पैदा कर सकते हैं, पर उसके मूल तत्त्वको नहीं बना सकते। कारण कि मूल तत्त्व स्वतःसिद्ध है। वह मनुष्यका बनाया हुआ नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌का बनाया हुआ है*। वे भगवान् सम्पूर्ण संसारके

---

* मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥(गीता १४।३)

'हे भारत! मेरी मूल प्रकृति तो उत्पत्ति-स्थान है और मैं उसमें जीवरूप गर्भ (बीज)का स्थापन करता हूँ। उससे सम्पूर्ण प्राणियोंकी (समष्टि ब्रह्माण्डकी) उत्पत्ति होती है।'

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ (गीता १४।४)

'हे कौन्तेय! सम्पूर्ण योनियोंमें प्राणियोंके जितने शरीर पैदा होते हैं, उन सब (व्यष्टि शरीरोंकी) मूल प्रकृति तो माता है और मैं बीज-स्थापन करनेवाला पिता हूँ।'

आदि बीज हैं। भगवान् कहते हैं—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(गीता १०। ३९)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंका जो बीज है, वह बीज मैं ही हूँ। कारण कि मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।'

सांसारिक बीज तो वृक्षसे पैदा होता है, पर भगवान् पैदा नहीं होते। इसलिये भगवान्ने अपनेको 'सनातन बीज' कहा है—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्॥

(गीता ७। १०)

सांसारिक बीज तो वृक्षको पैदा करके स्वयं नष्ट हो जाता है, पर भगवान् अनन्त सृष्टियोंको पैदा करके भी स्वयं ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं। इसलिये भगवान्ने अपनेको 'अव्यय बीज' कहा है—

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

(गीता ९। १८)

तात्पर्य है कि भगवान् सम्पूर्ण जगत्के आदिमें भी रहते हैं और अन्तमें भी रहते हैं। जो आदि और अन्तमें रहता है, वही मध्य (वर्तमान)में भी होता है—यह सिद्धान्त है। जैसे, अनेक तरहकी चीजें मिट्टीसे पैदा होती हैं, मिट्टीमें ही रहती हैं और अन्तमें मिट्टीमें ही लीन हो जाती हैं। ऐसे ही संसारमात्रके जितने भी बीज हैं, वे सब भगवान्से ही पैदा होते हैं, भगवान्में ही रहते हैं और अन्तमें भगवान्में ही लीन हो जाते हैं। तात्पर्य है कि सांसारिक बीज तो उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, पर भगवान्रूप अविनाशी बीज आदि, मध्य और अन्तमें ज्यों-का-त्यों रहता है। अतः वर्तमानमें संसाररूपसे भगवान् ही हैं। भगवान्के सिवाय कुछ नहीं है।

प्रश्न—वर्तमानमें तो पञ्चभूतोंसे बना हुआ जड संसार ही प्रत्यक्षरूपसे दीख रहा है, जो कि उत्पत्ति-विनाशशील है। अतः इसको अविनाशी भगवत्स्वरूप कैसे समझें?

उत्तर—बीजसे जितनी चीजें पैदा होती हैं, वे सब बीजरूप ही होती हैं। जैसे, गेहूँसे पैदा होनेवाली खेतीको भी गेहूँ ही कहते हैं। किसानलोग कहते हैं कि गेहूँकी खेती बहुत अच्छी हुई है, देखो, खेतमें गेहूँ खड़े हैं, गेहूँसे खेत भरा है! परन्तु कोई शहरमें रहनेवाला व्यापारी हो, वह उसको गेहूँ कैसे मान लेगा? वह कहेगा कि मैंने बोरे-के-बोरे गेहूँ खरीदा और बेचा है, क्या मैं नहीं जानता कि गेहूँ कैसा होता है? यह तो घास है, डंठल और पत्ती है, यह गेहूँ नहीं है। परन्तु खेती करनेवाला जानकार आदमी तो यही कहेगा कि यह वह घास नहीं है, जो पशु खाया करते हैं। यह तो गेहूँ है। खेतीको गाय खा जाती है तो कहते हैं कि गाय हमारा गेहूँ खा गयी, जबकि उसने गेहूका एक दाना भी नहीं खाया। खेतमें भले ही गेहूँका एक दाना भी न हो, पर यह गेहूँ है—इसमें सन्देह नहीं है। कारण कि यह पहले भी गेहूँ ही था, अन्तमें भी गेहूँ रहेगा, अतः बीचमें खेतीरूपसे भी गेहूँ ही है। अभी तो यह हरी-हरी घास दीखती है, पर बादमें पकनेपर इससे गेहूँ ही निकलेगा। इसी तरह संसारके पहले भी परमात्मा थे—**'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** (छान्दोग्य० ६। २। १), अन्तमें भी परमात्मा ही रहेंगे—**'शिष्यते शेषसंज्ञः'** (श्रीमद्भा० १०। ३। २५)। अतः बीचमें भी सब कुछ परमात्मा ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९), **'सदसच्चाहम्'** (गीता ९। १९)।

भगवान्ने सम्पूर्ण सृष्टिकी रचना अपनेमेंसे ही की है, अतः भगवान्के सिवाय और कुछ भी नहीं है। जो मनकी कल्पनामें आता है और जो कल्पनामें नहीं आता, वह सब भगवत्स्वरूप ही है। जाग्रत् और स्वप्नमें जो कुछ देखते हैं, वह सब केवल भगवान् ही हैं, सत् भी भगवान् हैं, असत् भी भगवान् हैं और सत्-असत्से परे भी भगवान् ही हैं—**'सदसत्तत्परं यत्'** (गीता ११। ३७)। जिनके चरण-चिह्नोंको भगवान्ने भी अपने हृदयमें धारण किया है, ऐसे पूज्य ब्राह्मण और अत्यन्त नीच श्वपाक (चाण्डाल)—दोनों ही भगवान्के स्वरूप हैं। जैसे सोनेसे बने गणेशजीकी लोग पूजा करते हैं और सोनेसे बने चूहे की पूजा नहीं करते, पर सुनारकी दृष्टिमें दोनोंका एक ही मूल्य (भाव) है, ऐसे ही ब्राह्मण और चाण्डाल, साधु और कसाई, गाय और कुत्ता, हाथी और चींटी, मिट्टीका ढेला और स्वर्ण—ये सब जाति, गुण, कर्म आदिसे विषम होते हुए भी भक्तकी दृष्टिमें सम अर्थात् भगवत्स्वरूप ही हैं— **'वासुदेवः सर्वम्'** तात्पर्य है कि जैसे शरीरके सब अंगोंसे यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी उनमें आत्मबुद्धि एक ही रहती है तथा उन अंगोंकी पीड़ा दूर करने तथा उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा भी समान ही रहती है, ऐसे ही ***'जैसा देव, वैसी पूजा'***के अनुसार ब्राह्मण और चाण्डाल आदि सबसे शास्त्रमर्यादाके अनुसार यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी भक्तकी भगवद्बुद्धिमें तथा उनका दुःख दूर करने और उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टामें कोई अन्तर नहीं आता।

संसारमें जो परिवर्तन दीखता है, वह भगवान्की ही एक झलक है, आभा है, स्फूर्ति है, लीला है। संसारी मनुष्य भगवान्की उस झलकको देखकर उसमें फँस जाता है।

भोगबुद्धिके कारण उसकी दृष्टि परिवर्तनशील संसारमें ही अटक जाती है, भगवान्‌तक नहीं जाती। जब सत्संगके प्रभावसे वह संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, तब भगवान् विशेष कृपा करके उसको अद्वैत भक्ति अर्थात् भगवद्भाव प्रदान करते हैं।

सब कुछ भगवान् ही हैं—इससे बढ़कर कोई साधन नहीं है, कोई भजन नहीं है। इस भगवद्भावसे भगवत्प्राप्ति अत्यन्त सुगम हो जाती है। इसी भगवद्भावका उपदेश देते हुए भगवान् ब्रह्माजीसे कहते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० २।९।३२)

'सृष्टिके पूर्व भी मैं ही था, मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं था और सृष्टिके उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह दृश्यवर्ग है, वह मैं ही हूँ, जो सत्, असत् और उससे परे है, वह सब मैं ही हूँ तथा सृष्टिके बाद भी मैं ही हूँ एवं इन सबका नाश हो जानेपर जो कुछ बाकी रहता है, वह भी मैं ही हूँ।'

गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

(१०।२०)

'सम्पूर्ण प्राणियोंके आदिमें भी मैं ही हूँ, मध्यमें भी मैं ही हूँ और अन्तमें भी मैं ही हूँ।'

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।

(१०।३२)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण सृष्टिके आदिमें भी मैं ही हूँ, मध्यमें भी मैं ही हूँ और अन्तमें भी मैं ही हूँ।'

इस प्रकार परमात्मासे पैदा हुई सृष्टिको परमात्माका स्वरूप जानना ज्ञान है। जबतक अपनी और संसारकी अलग सत्ता दीखती है, तबतक अज्ञान है। जैसे, गेहूँके खेतको गेहूँरूपसे देखना ज्ञान है और घासरूपसे देखना अज्ञान है।

प्रश्न—गेहूँसे गेहूँ ही पैदा होता है, बाजरेसे बाजरा ही पैदा होता है, फिर परमात्मासे तरह-तरहके स्थावर-जङ्गम प्राणी कैसे पैदा होते हैं?

उत्तर—गेहूँ, बाजरा आदि तो लौकिक बीज हैं, पर भगवान् अलौकिक और विलक्षण (सनातन और अव्यय) बीज हैं। अतः एक ही भगवान्‌से तरह-तरहकी सृष्टि पैदा होती है। तीन लोक, चौदह भुवन, जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम, थलचर-जलचर-नभचर, जरायुज-अण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज, सात्त्विक-राजस-तामस, मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, भूत-प्रेत-पिशाच, ब्रह्मराक्षस आदि सब-का-सब उस विलक्षण बीजकी ही खेती है! गीतामें भगवान् कहते हैं—

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' (७।७)

'मेरे सिवाय इस संसारका दूसरा कोई कारण है ही नहीं।'

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि .... ॥

(७।१२)

'जितने भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव हैं, वे सब मेरेसे ही होते हैं—ऐसा समझ।'

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥

(१०।५)

'प्राणियोंके (बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह आदि) अनेक प्रकारके और अलग-अलग भाव मेरेसे ही होते हैं।'

'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' (१५।१५)

'स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय आदि दोषोंका नाश) मेरेसे ही होता है।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(११।१३।२४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार कर लें।'

तात्पर्य है कि शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जो भी सात्त्विक राजस और तामस भाव, क्रिया, पदार्थ आदि ग्रहण किये जाते हैं, वे सब भगवान् ही हैं। मनकी स्फुरणामात्र, चाहे अच्छी हो या बुरी, भगवान् ही है। संसारमें अच्छा-बुरा, शुद्ध-अशुद्ध, शत्रु-मित्र, दुष्ट-सज्जन, पापात्मा-पुण्यात्मा, अपना-पराया आदि जो कुछ भी देखने, सुनने, कहने, सोचने, समझने आदिमें आता है, वह सब केवल भगवान् ही हैं। शरीर-शरीरी, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, परा-अपरा, क्षर-अक्षर—सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय कहीं कुछ भी नहीं है—**'मया ततमिदं सर्वम्'** (गीता ९।४)। जब सब कुछ भगवान् ही हैं, तो फिर उसमें 'मैं' (व्यक्तित्व) कहाँसे आया? 'मैं' है ही नहीं, केवल तू-ही-तू है—

तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूँ तित तूँ॥

जैसे ज्ञानकी दृष्टिसे गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—

'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (गीता ३ । २८), ऐसे ही भक्तिकी दृष्टिसे भगवान्‌की वस्तु ही भगवान्‌के अर्पित हो रही है। जैसे कोई गङ्गाजलसे गङ्गाका पूजन करे, दीपकसे सूर्यका पूजन करे, पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले पुष्पोंसे पृथ्वीका पूजन करे, ऐसे ही भगवान्‌की वस्तुसे भगवान्‌का ही पूजन हो रहा है। वास्तवमें देखा जाय तो पूज्य भी भगवान् हैं, पूजाकी सामग्री भी भगवान् हैं, पूजा भी भगवान् हैं तथा पूजक भी भगवान् हैं! भगवान् कहते हैं—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥

(गीता ९ । १६)

'क्रतु भी मैं हूँ, यज्ञ भी मैं हूँ, स्वधा भी मैं हूँ, औषध भी मैं हूँ, मन्त्र भी मैं हूँ, घृत भी मैं हूँ, अग्नि भी मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं हूँ।'

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

(गीता ४ । २४)

'जिस यज्ञमें अर्पण भी ब्रह्म है, हवि भी ब्रह्म है, ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है और ऐसे यज्ञको करनेवाले जिस मनुष्यकी ब्रह्ममें ही कर्म-समाधि हो गयी है, उसके द्वारा प्राप्त करनेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है।'

इस प्रकार सब जगह भगवान्‌को देखनेसे साधकके राग-द्वेष रहते ही नहीं! कारण कि जब सब कुछ भगवान् ही हैं, तो फिर राग-द्वेष कौन करे और किससे करे?

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(मानस, उत्तर० ११२ ख)

एक मार्मिक बात है कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा अनुभव करनेके लिये क्रिया और पदार्थकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत विवेक अथवा भावकी आवश्यकता है। विवेकमें खोज होती है और भावमें स्वीकृति अथवा मान्यता होती है। विवेक और भाव—दोनों ही अन्तमें तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाते हैं। ज्ञानमार्गमें विवेककी प्रधानता है और भक्तिमार्गमें भावकी प्रधानता है। ज्ञानमार्गमें जानकर मानते हैं और भक्तिमार्गमें मानकर जानते हैं। दोनोंका परिणाम एक ही होता है। तात्पर्य है कि तत्त्वसे जाननेका जो परिणाम होता है, वही परिणाम दृढ़तासे माननेका भी होता है*। भक्तिमार्गमें पहले भक्त 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा दृढ़तासे मान लेता है, फिर वह इसको तत्त्वसे जान लेता है अर्थात् उसको 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा अनुभव हो जाता है।

ज्ञानयोगकी दृष्टिसे सभी गुण (सत्त्व-रज-तम) प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं—**'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः'** (गीता १४ । ५) और भक्तियोगकी दृष्टिसे सभी गुण भगवान्‌से उत्पन्न होते हैं—**'ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि'**....' (गीता ७ । १२)। इसलिये ज्ञानयोगीकी दृष्टिमें जो कुछ दीखता है, वह सब प्रकृति है † और जो परिवर्तन हो रहा है, वह गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं। भक्तियोगीकी दृष्टिमें जो कुछ दीखता है, वह सब भगवान्‌का ही रूप है ‡ और जो परिवर्तन हो रहा है, वह भगवान्‌की ही लीला है।

जगत् न तो जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुषकी दृष्टिमें है और न भगवान्‌की दृष्टिमें है। जिसमें जगत्‌की वासना है अर्थात् जिसने जगत्‌को सत्ता और महत्ता दे रखी है, उस जीवकी दृष्टिमें ही जगत् है—**'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७ । ५)। यह जगत्‌की वासना ही जन्म-मरणरूप बन्धनका बीज है—

वासना यस्य यत्र स्यात् स तं स्वप्नेषु पश्यति।
स्वप्नवन्मरणे ज्ञेयं वासना तु वपुर्नृणाम्॥

'जिस मनुष्यकी जहाँ वासना होती है, उसी वासनाके

---

* मनुष्यमें तीन शक्तियाँ हैं—करनेकी शक्ति, जाननेकी शक्ति और माननेकी शक्ति। जैसे ज्ञानयोगमें जाननेकी शक्तिका उपयोग और भक्तियोगमें माननेकी शक्तिका उपयोग है, ऐसे ही कर्मयोगमें करनेकी शक्तिका उपयोग है। कर्मयोगी मन-वाणी-शरीरसे निष्कामभावपूर्वक प्राणिमात्रकी सेवा करता है अर्थात् संसारसे मिली हुई सामर्थ्य और सामग्रीको संसारकी ही मानकर उसकी सेवामें लगाता है। इस प्रकार सेवा करनेसे उसका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और उसको सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है। अतः जो तत्त्व ज्ञानयोग और भक्तियोगसे मिलता है, वही तत्त्व कर्मयोगसे भी मिल जाता है।

† न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ (गीता १८ । ४०)
'पृथ्वीमें या स्वर्गमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवाय और कहीं भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो।'

‡ न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ (गीता १० । ३९)
मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है।'

अनुरूप वह स्वप्न देखता है। स्वप्नके समान ही मरण होता है अर्थात् वासनाके अनुरूप ही अन्तसमयमें चिन्तन होता है और उस चिन्तनके अनुसार ही मनुष्यकी गति होती है।'

इस वासनाको ही गीताने गुणसंग कहा है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (१३। २१) 'गुणोंका संग ही जीवके ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण बनता है।' यदि वासना न हो तो जीवबुद्धि और जगत्-बुद्धिके अभावका तथा भगवान्‌के भावका अनुभव हो जाता है—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

ज्ञानमार्गमें साधक विवेकपूर्वक जगत्‌से असंग होता है और भक्तिमार्गमें साधक भाव (श्रद्धा) पूर्वक जगत्‌को भगवत्स्वरूप देखता है। सब कुछ भगवान् ही हैं—यह विवेक (विचार)-का विषय नहीं है, प्रत्युत भाव (श्रद्धा)-का विषय है। इसलिये 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यह बात भक्तोंकी वाणीमें अधिक आती है।

जबतक सत् और असत्, ब्रह्म और जगत्—दोनों रहते हैं, तबतक विवेक रहता है। असत्‌की, जगत्‌की मान्यता मिटनेपर विवेक नहीं रहता, प्रत्युत तत्त्वबोध रहता है। इसलिये विवेकपूर्वक जगत्‌को अलग करके भगवान्‌को देखनेसे जगत्‌की सत्ता रहती है, क्योंकि निषेध उसीका किया जाता है, जिसकी सत्ता मानी है। परन्तु भावपूर्वक जगत्‌को भगवत्स्वरूप देखनेसे जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। जबतक साधककी दृष्टिमें भगवान् और जगत् दोनों अलग-अलग रहते हैं, तबतक उसके जीवनमें अखण्ड आनन्द नहीं रहता, प्रत्युत कभी आनन्द आता है, कभी नीरसता आती है। कभी साधकको अपने साधनमें बड़ा लाभ दीखता है, कभी दीखता है कि कुछ लाभ नहीं हुआ! अतः सर्वश्रेष्ठ साधन यही है कि साधक जगत्‌को भगवत्स्वरूप देखे अर्थात् जगत्-रूपसे भगवान् ही हैं—ऐसा देखे।

सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा अनुभव करनेके लिये साधकको दृढ़तासे यह मान लेना चाहिये कि चाहे मेरी समझमें आये या न आये, अनुभवमें आये या न आये, पर बात यही सची है। उसको बड़ी-से-बड़ी अथवा छोटी-से-छोटी जो भी वस्तु दिखायी दे, वह ऐसा माने कि इसमें पूरे-के-पूरे भगवान् हैं। जैसे जलके एक कणमें और समुद्रमें एक ही जल-तत्त्व परिपूर्ण है, ऐसे ही मिट्टीका ढेला हो या पृथ्वी हो, उसमें भगवान् पूरे-के-पूरे हैं—'**अणोरणीयान्महतो महीयान्**' (कठ० १। २। २०, श्वेता० ३। २०)। ऐसा मानकर वह हर समय मन-ही-मन सबको नमस्कार करता रहे*। ऐसा करनेसे उसको सब जगह भगवान् दीखने लग जायँगे। एक दृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञानमार्गमें द्वैतभाव है और भक्तिमार्गमें अद्वैतभाव है। कारण कि ज्ञानमार्गमें प्रकृति और

---

* वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च। नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व। अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥
(गीता ११। ३९-४०)

'आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, दक्ष आदि प्रजापति और प्रपितामह (ब्रह्माजीके भी पिता हैं)। आपको हजारों बार नमस्कार हो! नमस्कार हो!! और फिर भी आपको बार-बार नमस्कार हो! नमस्कार हो!! हे सर्व! आपको आगेसे नमस्कार हो! पीछेसे नमस्कार हो! सब ओरसे ही नमस्कार हो! हे अनन्तवीर्य! अमित विक्रमवाले आपने सबको समावृत कर रखा है; अतः सब कुछ आप ही हैं।'

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, जीव-जन्तु, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के ही शरीर हैं—ऐसा मानकर भक्त सभीको अनन्यभावसे प्रणाम करता है।'

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्। प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥ (श्रीमद्भा० ११। २९। १६)

अपने ही लोग यदि हँसी करें तो करने दे, उनकी परवा न करे; 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है'—ऐसी देहदृष्टिको और लोकलज्जाको छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ एवं गधेको भी पृथ्वीपर लम्बा गिरकर साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम करें।'

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि। बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥ (मानस, बाल० ७ ग)
आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी॥
सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥ (मानस. बाल० ८। १)

'सीय राममय' कहनेका तात्पर्य है कि स्त्रीवाचक और पुरुषवाचक सब-के-सब प्राणी-पदार्थ सीतारामके ही स्वरूप हैं। चाहे सीताराम कहो, चाहो राधेश्याम कहो, चाहे गौरीशंकर कहो, चाहे लक्ष्मीनारायण कहो, एक ही बात है।

पुरुष, सत् और असत्, ब्रह्म और जगत्, नित्य और अनित्य, जड और चेतन, शरीर और शरीरी, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ आदिका भेद है, पर भक्तिमार्गमें एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है। ज्ञानमार्गमें तो ब्रह्म सत् और जगत् असत् है—'**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**', पर भक्तिमार्गमें सत्-असत् सब कुछ भगवान् ही हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। इसलिये 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा मानकर जो भगवान्‌के शरण हो जाता है अर्थात् अपना स्वतन्त्र अस्तित्व (मैंपन) मिटाकर भगवान्‌में लीन हो जाता है, उसको भगवान्‌ने 'ज्ञानी' कहा है—'**वासुदेवः सर्वमिति ज्ञानवान्मां प्रपद्यते**' (गीता ७। १९)। ऐसे ज्ञानी भक्तको भगवान्‌ने अपना अत्यन्त प्रिय बताया है—'**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः**' (गीता ७। १७) और उसको अपना ही स्वरूप बताया है—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (७। १८)। तात्पर्य यह हुआ कि विवेकसे भी भाव तेज है। अतः भावपूर्वक जगत्‌को भगवत्स्वरूप देखना सर्वश्रेष्ठ साधन है।

★

सब कुछ भगवान् ही हैं

गीतामें भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ॥
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

(७ । १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तमें 'सब कुछ वासुदेव ही है'— ऐसा जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

तात्पर्य है कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यही असली ज्ञान है। ऐसे ज्ञानवाला महात्मा* भक्त भगवान्‌के शरण हो जाता है अर्थात् अपना अस्तित्व (मैंपन) मिटाकर भगवान्‌में लीन हो जाता है। फिर मैंपन नहीं रहता अर्थात् ज्ञानवाला नहीं रहता, प्रत्युत केवल ज्ञानस्वरूप भगवान् रह जाते हैं, जिसमें मैं-तू-यह-वह चारों ही नहीं हैं।

संसारका मूल 'अहम्' (मैंपन) है; अतः किसी भी साधनसे इस अहम्‌को मिटाना है। अहम्‌के मिटनेपर सब साधन एक हो जाते हैं। सब कुछ भगवान् ही हैं—इस भावसे 'अहम्' (मैंपन) सुगमतापूर्वक मिट जाता है। संसार अहम्‌के कारण ही दीखता है अर्थात् अहंभाव (व्यक्तित्व) को स्वीकार करनेसे, अहम्‌के संस्कार रहनेसे ही संसारकी स्वतन्त्र सत्ता दीखती है। अहंभाव मिटते ही संसारकी स्वतन्त्र सत्ता मिट जाती है और 'सब कुछ भगवान् ही हैं—इसका अनुभव हो जाता है। अतः जबतक अपनी अथवा संसारकी स्वतन्त्र सत्ता दीखती है, तबतक मुक्ति नहीं हुई, वास्तविक ज्ञान नहीं हुआ।

सब कुछ भगवान् ही हैं—**सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छान्दोग्य० ३ । १४ । १), **'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्'** (मुण्डक० २ । २ । ११)। एक परमतत्त्व भगवान्‌के सिवाय और कुछ हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता ही नहीं†। सब कुछ भगवान् ही हैं—इसको जाननेवाला भी भगवान् ही है; क्योंकि भगवान्‌में मैं-तू, यह-वह नहीं है। जबतक भगवान्‌को जाननेवालेकी सत्ताका भान है, तबतक **'वासुदेवः सर्वम्'** सिद्ध नहीं हुआ। कारण कि इसके सिद्ध होनेपर स्वयंकी अलग सत्ता, अस्तित्व नहीं रहता, प्रत्युत भगवान्-ही-भगवान् रहते हैं। इसलिये कहा है—

ढूँढा सब जहाँ में, पाया पता तेरा नहीं।
जब पता तेरा लगा, अब पता मेरा नहीं॥

अर्जुन कहते हैं—

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

(गीता १० । १५)

'हे पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपने-आपसे अपने-आपको जानते हैं।'

तात्पर्य है कि जाननेवाले भी भगवान् ही हैं, जाननेमें आनेवाले भी भगवान् ही हैं और जानना भी भगवान् ही हैं

---

* 'महात्मा' शब्दका अर्थ है—महान् आत्मा अर्थात् अहंभाव, व्यक्तित्व, एकदेशीयतासे रहित आत्मा। जिसमें अहंभाव व्यक्तित्व, एकदेशीयता है, वह 'अल्पात्मा' है। गीतामें भगवान्‌ने 'महात्मा' शब्दका प्रयोग केवल भक्तके लिये ही किया है। जो भक्तिमार्गपर चलते हैं, उन साधकोंको भी महात्मा कहा है (९ । १३), जो भगवान्‌से अभिन्न हो गये हैं, उनको भी महात्मा कहा है (७ । १९) और जो परमसिद्धि (परमप्रेम) को प्राप्त हो चुके हैं, उनको भी महात्मा कहा है (८ । १५)।

† दृष्टं श्रुतं भूतभवद् भविष्यत् स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च। विनाच्युताद् वस्तुतरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ४६ । ४३)

'जो कुछ देखा या सुना जाता है, वह चाहे भूतकालमें हो, वर्तमानमें हो या भविष्यमें, स्थावर हो या जंगम, महान् हो या अल्प, कोई भी वस्तु भगवान्‌से अलग वस्तु कहलानेयोग्य नहीं है। सब कुछ भगवान् ही हैं, वे ही परमार्थसत्य हैं।'

अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय कुछ भी नहीं है। भगवान्‌ने भी कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७।७)

'हे धनञ्जय! मेरेसे बढ़कर इस जगत्‌का दूसरा कोई किञ्चिन्मात्र भी कारण तथा कार्य नहीं है। जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई होती हैं, ऐसे ही सम्पूर्ण जगत् मेरेमें ही ओतप्रोत है।'

तात्पर्य है कि सूत भी भगवान् ही हैं, मणियाँ भी भगवान् ही हैं; माला भी भगवान् ही हैं और माला फेरनेवाले भी भगवान् ही हैं अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं। प्रह्लादजी भगवान्‌से कहते हैं—

त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः
प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च।
सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्
नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम्॥

(श्रीमद्भा० ७।९।४८)

'अनन्त प्रभो! वायु, अग्नि पृथ्वी, आकाश, जल, पञ्चतन्मात्राएँ, प्राण, इन्द्रिय, मन, चित्त, अहङ्कार, सम्पूर्ण जगत् एवं सगुण और निर्गुण—सब कुछ केवल आप ही हैं। अधिक क्या कहूँ, मन और वाणीके द्वारा जो कुछ निरूपण किया गया है, वह सब आपसे अलग नहीं है।'

सब कुछ भगवान् ही हैं—यह भाव विवेकसे भी तेज है। ज्ञानमार्गमें विवेककी और भक्तिमार्गमें भावकी मुख्यता है। ज्ञानमार्गमें जड और चेतन, सत् और असत्‌का विवेक मुख्य होनेसे यह द्वैतमार्ग है; परन्तु भक्तिमार्गमें एक भगवान्‌का ही भाव मुख्य होनेसे यह अद्वैतमार्ग है। ज्ञानयोगके आरम्भमें विवेक है, पर भक्तियोगमें आरम्भसे ही भगवान्‌के साथ सम्बन्ध है। अतः भक्ति ज्ञानसे श्रेष्ठ है।

ज्ञानयोग उन साधकोंके लिये है, जो अत्यन्त वैराग्यवान् हैं—**'निर्विण्णानां ज्ञानयोगः'** (श्रीमद्भा० ११।२०।७)। जो न अत्यन्त वैराग्यवान् हैं और न अत्यन्त आसक्त हैं, उनके लिये भक्तियोग ही सिद्धि देनेवाला है—**'न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः'** (श्रीमद्भा० ११।२०।८)। ज्ञानयोग विवेक-मार्ग है। जबतक विवेक है, तबतक तत्त्वज्ञान नहीं है, प्रत्युत तत्त्वज्ञानका साधन है। अत्यन्त वैराग्य न होनेसे विवेकमार्गमें असत्‌की सत्ताका भाव रहता है। असत्‌की सत्ताका भाव रहनेसे विवेकप्रधान साधकमें निरन्तर आनन्द नहीं रहता। कारण कि संसार दुःखालय है, इसलिये संसारकी सत्ताका किञ्चिन्मात्र भी संस्कार रहेगा तो विवेक होते हुए भी दुःख आ जायगा। इस असत्‌की सत्ताके संस्कार भीतर रहनेके कारण ही साधककी यह शिकायत रहती है कि बात तो ठीक समझमें आती है, पर वैसी स्थिति नहीं होती! उसको कभी तो अपने साधनमें अच्छी स्थिति दीखती है और कभी राग-द्वेष अधिक होनेपर ग्लानि, व्याकुलता होती है कि साधन करते हुए इतने वर्ष बीत गये, पर अभीतक अनुभव नहीं हुआ! भावमें सत् और असत् दोनों रहनेसे ही ऐसी दुविधा होती है। यदि भावमें एक भगवान् ही रहें—**'वासुदेवः सर्वम्'** तो ऐसी दुविधा रह ही नहीं सकती।

ज्ञानमार्गमें साधक असत्‌का त्याग करता है तो अहम् (त्याग करनेवाला) रह सकता है। परन्तु भक्तिमार्गमें भगवान् (प्रापणीय वस्तु) की मुख्यता रहनेसे प्रेम बढ़ जाता है और प्रेम बढ़नेसे अहम् स्वतः छूट जाता है। तात्पर्य है कि ज्ञानमार्गमें अनुभविता (साधक)की मुख्यता रहती है और भक्तिमार्गमें अनुभाव्य (भगवान्)की मुख्यता रहती है। इसलिये ज्ञानमार्गमें मैंपन बहुत दूरतक साथ रहता है, जबकि भक्तिमार्गमें मैंपन जल्दी मिट जाता है। जैसे, 'मैं देखता हूँ'—इसमें 'मैं' (देखनेवाले) की मुख्यता रहती है और 'वह दीखता है'—इसमें 'वह' (दीखनेवाले) की मुख्यता रहती है। 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसमें अनुभव, अनुभाव्य और अनुभविता तीनों ही नहीं रहते।

विवेकमार्गमें साधक असत्‌का निषेध करता है। निषेध करनेसे असत्‌की सत्ता बनी रहती है। साधक असत्‌के निषेधपर जितना जोर लगाता है, उतनी ही असत्‌की सत्ता दृढ़ होती है। अतः असत्‌का निषेध करना उतना बढ़िया नहीं है, जितना उसकी उपेक्षा करना बढ़िया है। उपेक्षा करनेकी अपेक्षा 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह भाव और भी बढ़िया है। अतः भक्त न असत्‌को हटाता है, न असत्‌की उपेक्षा करता है, प्रत्युत सत्-असत् सब कुछ परमात्मा ही हैं—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९।१९)—ऐसा मान लेता है।

ज्ञानमार्गमें **'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'** 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—इसमें इन्द्रियाँ, विषय और क्रिया तीनों हैं, पर **'वासुदेवः सर्वम्'** 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इसमें इन्द्रियाँ, विषय (पदार्थ) और क्रिया तीनों ही नहीं हैं, प्रत्युत केवल भगवान्-ही-भगवान् हैं।

जैसे ज्ञानमार्गमें अत्यन्त वैराग्यकी जरूरत है, ऐसे ही भक्तिमार्गमें दृढ़ मान्यताकी अर्थात् अचल विश्वासकी जरूरत

है। जैसे अत्यन्त वैराग्य होनेपर विवेक बोधमें परिणत हो जाता है, ऐसे ही अचल विश्वास होनेपर **'वासुदेवः सर्वम्'** की मान्यता अनुभवमें परिणत हो जाती है।

वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो संसारकी मानी हुई सत्ताको हटानेके लिये ही **'वासुदेवः सर्वम्'** की दृढ़ मान्यता करनेकी आवश्यकता है, अन्यथा **'वासुदेवः सर्वम्'**—यह मान्यता नहीं है, प्रत्युत वास्तविकता है। मान्यता करनेमें मान्यता करनेवाला (अहम्) रहता है, जबकि **वासुदेवः सर्वम्'**में मान्यता करनेवाला अथवा अनुभव करनेवाला नहीं है, प्रत्युत वासुदेव ही है। कारण कि जबतक अहम् है अर्थात् मान्यता करनेवाला अथवा अनुभव करनेवाला है, तबतक संसारकी सत्ता है।

प्रश्न—**'वासुदेवः सर्वम्'**का भाव विध्यात्मक साधन है या निषेधात्मक ?

उत्तर—विधि और निषेधकी बात कर्मयोग और ज्ञानयोगमें है। भक्तियोग कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंसे अतीत है। कारण कि कर्मयोग और ज्ञानयोग तो लौकिक निष्ठाएँ हैं, पर भक्तियोग लौकिक निष्ठा नहीं है*। विधि-निषेध संसारमें हैं, भगवान् संसारसे अतीत हैं। सब कुछ भगवान् ही हैं—इसमें निषिद्ध वस्तु (असत्) की सत्ता ही नहीं है। अतः कर्मयोग और ज्ञानयोगमें निषिद्धका त्याग मुख्य है और भक्तियोगमें विश्वासपूर्वक भगवान्का आश्रय लेना मुख्य है। भगवान्का आश्रय लेना निषिद्धके त्यागसे भी तेज है। आश्रय लेनेका तात्पर्य है—'सब कुछ भगवान् ही हैं' ऐसा दृढ़तासे मानकर 'मैं' और 'मेरा' दोनोंको भगवान्में लीन कर देना।

प्रश्न—'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इस बातको सीख लेना और अनुभव करना—इन दोनोंमें क्या भेद है ?

उत्तर—सीखनेपर मनुष्य 'सब कुछ परमात्मा ही है' इस बातको याद कर लेगा, इसका ठीक तरहसे वर्णन कर देगा, इस विषयमें पुस्तक लिख देगा, व्याख्यान दे देगा, पर उसके भीतर जगत्की सत्ता रहेगी। अनुभव होनेपर उसकी एक परमात्मतत्त्वमें ही समान स्थिति रहेगी। तात्पर्य है कि सीखनेमें जगत्की सत्ता रहती है और अनुभव करनेमें जगत्की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत सब समय तथा सब जगह एक परमात्मा ही रहते हैं।

सब कुछ भगवान् ही हैं—इसको सीख लेनेपर कभी तो ऐसा दीखेगा कि मैं परमात्माको प्राप्त हूँ और बड़ी शान्ति, बड़ा आनन्द मालूम देगा। परन्तु कभी यह मान्यता ढीली पड़ेगी और जगत्की सत्ता सामने आ जायगी, तब ऐसा दीखेगा कि मेरी वैसी स्थिति हुई ही नहीं। कभी-कभी ऐसा मालूम देगा कि जब हम इस बातको नहीं जानते थे, उस समय जैसी शान्ति थी, वैसी भी अब नहीं है और बड़ी हलचल हो रही है! जगत्की सत्ता जितनी दृढ़ होगी, उतनी ही अशान्ति, हलचल, दुःख, सन्ताप पैदा होंगे और जब विचारपूर्वक जगत्की सत्ता हटेगी, तब सब कुछ परमात्मा ही हैं—ऐसा दीखेगा। परन्तु जब 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा अनुभव हो जायगा, तब इसमें कभी फर्क नहीं पड़ेगा। कारण कि भगवान्में जगत् नहीं है।

प्रश्न—'सब कुछ भगवान् ही हैं—यह करणसापेक्ष है या करणनिरपेक्ष ?

उत्तर—यह करणनिरपेक्ष है। जैसे हम सीढ़ियोंसे छतपर चढ़ते हैं तो ऊपर जाते ही सीढ़ियाँ अपने-आप छूट जाती हैं, ऐसे ही भक्तिमें करण अपने-आप छूट जाता है, उसको छोड़ना नहीं पड़ता। विवेकमार्गका साधक विवेक-विचारपूर्वक सीढ़ियोंको छोड़कर ऊपर चढ़ता है; अतः छोड़नेवाला और छूटनेवाली वस्तुकी सत्ता रहनेसे अहङ्कार दूरतक साथ रहता है। परन्तु भक्त आरम्भसे ही भगवन्निष्ठ अर्थात् भगवान्के परायण (आश्रित) रहता है। इसलिये भक्तिमें करणका भगवान्के साथ सम्बन्ध रहता है, जबकि 'मैं साधन करता हूँ'—इस प्रकार साधननिष्ठ होनेपर करणके साथ अपना सम्बन्ध रहता है। भक्तिमें साध्य भी भगवान् हैं और साधन भी भगवान्का भरोसा है। अतः भक्तमें 'मैं साधन करता हूँ'—यह भाव नहीं होता, प्रत्युत यह भाव होता है कि भगवान्की कृपासे साधन हो रहा है अर्थात् भगवान् ही करवा रहे हैं, मैं नहीं कर रहा हूँ— ***'करी गोपाल की सब होइ।'***

---

* गीतामें आया है—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (३।३)

कर्मयोग 'क्षर' (संसार)को लेकर चलता है और ज्ञानयोग 'अक्षर' (जीवात्मा)को लेकर चलता है। क्षर और अक्षर दोनों लोकमें हैं—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' (गीता १५।१६)। इसलिये कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों लौकिक निष्ठाएँ हैं। परन्तु भक्तियोग परमात्माको लेकर चलता है, जो क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण है—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' (गीता १५।१७)। इसलिये भक्तियोग लौकिक निष्ठा नहीं है।

इसलिये भक्तमें कर्तृत्व नहीं रहता। अगर कुछ कर्तृत्व रह भी जाय तो उसको भगवान् नष्ट कर देते हैं*।

प्रश्न—सब कुछ भगवान् ही हैं—इसका अनुभव करनेका साधन क्या है?

उत्तर—इसका अनुभव करनेके लिये तीन साधन हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कर्मयोगमें साधक कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखता है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।

(गीता ४।१८)

ज्ञानयोगमें साधक सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मा और आत्मामें सम्पूर्ण प्राणी देखता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

(गीता ६।२९)

भक्तियोगमें साधक संसारमें भगवान् और भगवान्‌में संसार देखता है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

(गीता ६।३०)

कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखनेसे कर्म नहीं रहता, प्रत्युत 'अकर्म' शेष रहता है। सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मा और आत्मामें सम्पूर्ण प्राणी देखनेसे प्राणी नहीं रहते, प्रत्युत 'आत्मा' शेष रहता है। संसारमें भगवान् और भगवान्‌में संसार देखनेसे संसार नहीं रहता, प्रत्युत 'भगवान्' शेष रहते हैं। अकर्म (निर्लिप्तता), आत्मा और भगवान्—तीनों एक ही हैं। तात्पर्य यह हुआ कि कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों योगोंसे परिणाममें 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव हो जाता है।

कर्मयोगी स्वार्थभावका त्याग करके केवल दूसरोंके सुखके लिये ही सब कर्म करता है, इसलिये उसकी सुखासक्ति मिट जाती है। सुखासक्ति मिटनेसे उसमें मैं-पन नहीं रहता। मैं-पन मिटनेसे संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव हो जाता है और एक भगवान् ही रह जाते हैं।

ज्ञानयोगी सत्-असत्‌के विवेकको महत्त्व देकर असत्‌का निषेध करता है और सत्‌में स्थित होता है। विवेकके द्वारा सत्‌में स्थिति होनेपर भी संसारकी सत्ता सूक्ष्मरूपसे रहती है; क्योंकि साधन करते समय तेजीका वैराग्य नहीं था। तीव्र वैराग्य न होनेसे अनुभव होनेपर भी रागका थोड़ा अंश अथवा मैं-पन सूक्ष्मरूपसे रहता है। उस सूक्ष्म मैं-पनके रहनेसे ही दर्शनोंमें भेद रहता है और अपना दर्शन, सिद्धान्त, साधन बढ़िया मालूम देता है। यदि तेजीका वैराग्य हो जाय और वास्तविक तत्त्वका साक्षात्कार हो जाय तो यह सूक्ष्म मैं-पन नहीं रहता और 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव हो जाता है।†

भक्तियोगी सबमें भगवान्‌को और भगवान्‌में सबको देखता है, इसलिये उसकी दृष्टिमें न मैं-मेरा रहता है, न तू-तेरा रहता है, न यह-इसका रहता है और न वह-उसका रहता है, प्रत्युत केवल भगवान् ही रहते हैं। साधारण रीतिसे मैं हूँ, जगत् है और भगवान् हैं—यह भाव रहता है, पर भक्तमें केवल भगवद्भाव ही रहता है। इसलिये उसमें मैं-पन सुगमतासे नष्ट हो जाता है‡ और 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव हो जाता है।

प्रश्न—जब सब कुछ भगवान् ही हैं तो फिर सात्त्विक-राजस-तामस भाव त्याज्य क्यों हैं?

उत्तर—जैसे जमीनमें जल सब जगह रहता है, पर उसका प्राप्तिस्थान कुआँ है, ऐसे ही भगवान् सब जगह हैं, पर उनका प्राप्तिस्थान हृदय है—**'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'** (गीता १३।१७), **'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'** (गीता १५।१५)। परन्तु सात्त्विक-राजस-तामस भाव भगवान्‌के प्राप्तिस्थान नहीं हैं। अतः ये साधकके लिये कामके नहीं हैं। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है कि वे भाव मेरेसे होनेपर भी मैं उनमें और वे मेरेमें नहीं हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

(गीता ७।१२)

जैसे, बाजरीकी खेतीमें बाजरी ही मुख्य होती है,

---

* तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता १०।१०-११)

† विवेकमार्गमें यदि साधक पहलेसे ही इस बातको समझ ले कि वास्तवमें असत्‌की सत्ता है ही नहीं—'नासतो विद्यते भावः' (गीता २।१६) तो बुद्धिमें बैठी हुई असत्‌की सत्ता बहुत सुगमतासे हट जायगी।

‡ भक्तिमार्गमें यदि मैं-पन रहता भी है तो 'मैं भगवान्‌का हूँ'—ऐसा भाव रहनेसे वह मैं-पन बाधक नहीं होता—'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥' (मानस ३।११।११)। तात्पर्य है कि भक्तका मैं-पन भगवान्‌के आश्रित रहता है, स्वतन्त्र नहीं रहता। स्वतन्त्र रहनेसे ही मैं-पन बाधक होता है।

पत्ती-डंठल नहीं। किसानका लक्ष्य केवल बाजरीको प्राप्त करनेका ही होता है। बाजरीको प्राप्त करनेके लिये वह खेतीको जल, खाद आदिसे पुष्ट करता है, जिससे बढ़िया बाजरी प्राप्त हो सके। ऐसे ही साधकका लक्ष्य भी केवल भगवान्‌का होना चाहिये, संसारका नहीं। भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये साधकको संसारकी सेवा करनी चाहिये। सेवाके सिवाय संसारसे अपना कोई मतलब नहीं रखना चाहिये। महत्त्व बाजरी (दाने)का है, पत्ती-डंठलका नहीं; क्योंकि आरम्भमें भी बाजरी रहती है और अन्तमें भी बाजरी ही रहती है। बाजरी प्राप्त करनेके बाद जो शेष बचता है, वह (पत्ती-डंठल) अपने लिये किसी कामकी चीज नहीं है, प्रत्युत पशुओंके खानेकी चीज है। ऐसे ही सात्त्विक-राजस-तामस भाव संसारके व्यवहारके लिये हैं, अपने लिये नहीं।

जैसे बाजरी (बीज)से पत्ती-डंठल पैदा होनेपर भी पत्ती-डंठलमें बाजरी नहीं है और बाजरीमें पत्ती-डंठल नहीं हैं, ऐसे ही भगवान्‌से पैदा होनेपर भी सात्त्वि-राजस-तामस भावोंमें भगवान् नहीं हैं और भगवान्‌में सात्त्विक-राजस-तामस भाव नहीं है—**'न त्वहं तेषु ते मयि।'**

जैसे पत्ती-डंठल उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं तथा उनमें बाजरी नहीं दीखती, फिर भी पत्ती-डंठल बाजरीसे अलग नहीं हैं। कारण कि उनके आरम्भमें भी बाजरी थी और अन्तमें भी बाजरी रहेगी। ऐसे ही संसार उत्पत्ति-विनाशशील है और उसमें भगवान् नहीं दीखते, फिर भी संसार भगवान्‌से अलग नहीं है। कारण कि संसारके आदिमें भी भगवान् थे और अन्तमें भी भगवान् रहेंगे। जैसे तत्त्वकी दृष्टिसे न देखनेवाला अनजान आदमी बाजरीकी खेतीको देखकर कहता है कि यह तो केवल घास-ही-घास है, बाजरी कैसे हुई? ऐसे ही अज्ञानी मनुष्य कहता है कि जो दीखता है, वह तो संसार है, भगवान् कैसे हुए?* परन्तु जो तत्त्वसे देखते हैं, उन ज्ञानी महापुरुषोंकी दृष्टिमें संसार है ही नहीं, प्रत्युत सब कुछ भगवान् ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**। जो बाजरीको देखते हैं, वही वास्तवमें मनुष्य हैं। जो केवल घासको ही देखते हैं, वे तो पशु हैं! कारण कि मनुष्य तो घासका त्याग करके बाजारीको ग्रहण करते हैं, पर पशु कोरी घास ही चबाते हैं! क्योंकि उनकी दृष्टिमें घासके सिवाय और कुछ है ही नहीं—**'कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः'** (गीता १६। ११)।

—★—

* त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्। मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ (गीता ७। १३)
'इन तीनों गुणरूप भावोंसे मोहित यह जगत् इन गुणोंसे पर अविनाशी मेरेको नहीं जानता।'

विलक्षण भगवत्कृपा

भगवान्‌पर तो विश्वास करना चाहिये, पर संसारपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। देखने, सुनने, समझने आदिमें जो संसार आता है, वह प्रतिक्षण ही बदल रहा है—यह सबका अनुभव है; अतः उसपर विश्वास कैसे किया जाय ? संसार विश्वासपात्र नहीं है, प्रत्युत सेवापात्र है। विश्वासके योग्य तो केवल भगवान् ही हैं, जो कभी बदले नहीं, कभी बदलेंगे नहीं और कभी बदल सकते नहीं; जो सदा ज्यों-के-त्यों रहते हैं ! दूसरे, इस बातपर विश्वास करना चाहिये कि जब भगवान्‌ने कृपा करके अपनी प्राप्तिके लिये मानवशरीर दिया है तो अपनी प्राप्तिकी साधन-सामग्री भी हमें दी है। साधन-सामग्री कम नहीं दी है, प्रत्युत बहुत अधिक दी है। इतनी अधिक दी है कि उससे हम कई बार भगवान्‌की प्राप्ति कर सकते हैं, जबकि वास्तवमें भगवान्‌की प्राप्ति एक ही बार होती है और सदाके लिये होती है।

साधकको प्रायः ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे पास साधन-सामग्री नहीं है। अतः वह इच्छा करता है कि कहींसे कोई साधन-सामग्री मिल जाय, कोई कुछ बता दे, कुछ समझा दे आदि-आदि। अर्जुन भी यही सोचता है कि मेरेमें साधन-सामग्री (दैवी सम्पत्ति) कम है। अतः भगवान् उसको आश्वासन देते हैं कि तुम्हारेमें दैवी सम्पत्ति कम नहीं है, प्रत्युत स्वतः स्वाभाविक विद्यमान है, इसलिये तुम चिन्ता मत करो, निराश मत होओ—'**मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव**' (गीता १६। ५)। भगवान् कल्याण करनेके लिये मनुष्यशरीर तो दे दें, पर कल्याणकी साधन-सामग्री न दें—ऐसी भूल भगवान्‌से हो ही नहीं सकती। भगवान्‌ने अपना कल्याण करनेके लिये विवेक भी दिया है, योग्यता भी दी है, अधिकार भी दिया है, समय भी दिया है, सामर्थ्य भी दी है। अतः यह विश्वास करना चाहिये कि भगवान्‌ने हमें पूरी साधन-सामग्री दी है। अगर हम यह विचार करते हैं कि हमें भगवान्‌ने ऐसी योग्यता नहीं दी, इतनी बुद्धि नहीं दी, इतनी सामग्री नहीं दी, ऐसी सहायता नहीं दी तो हम क्या करें, अपना उद्धार कैसे करें तो यह हमारी कृतघ्नता है, हमारी भूल है ! क्या सबपर बिना हेतु कृपा करनेवाले भगवान् देनेमें कमी रख सकते हैं ? कदापि नहीं रख सकते।

अगर हम आध्यात्मिक उन्नति चाहते हैं तो हमें यह विश्वास करना चाहिये कि भगवान्‌ने हमारी सहायता की है, कर रहे हैं और अवश्यमेव करेंगे। वे वर्तमानमें भी सहायता कर रहे हैं और भविष्यमें भी जहाँ आवश्यकता पड़ेगी, वहाँ हमारी सहायता करेंगे। कारण कि वे स्वाभाविक ही परम दयालु हैं। वे अपने भक्तोंका जैसा पालन-पोषण करते हैं, वैसा-का-वैसा ही पालन-पोषण वे दूसरे प्राणियोंका भी करते हैं। जो मनुष्य भगवान्‌से विमुख चलते हैं, उनको भी भगवान् अन्न, जल, वायु आदि देते हैं। जो दुष्टलोग भगवान्‌के सिद्धान्तसे, शास्त्रसे बिलकुल विरुद्ध चलते हैं, भगवान्‌की निन्दा करते हैं उनको भी भगवान् जीवन-निर्वाहकी सामग्री देते हैं। साँप, सिंह आदि जन्तुओंको भी भगवान् जीवन-निर्वाहकी सामग्री देते हैं। ऐसे परम दयालु भगवान् क्या हमारा पालन-पोषण नहीं करेंगे?

अयमुत्तमोऽयमधमो जात्या रूपेण सम्पदा वयसा।
श्लाघ्योऽश्लाघ्यो वेत्थं न वेत्ति भगवाननुग्रहावसरे॥
अन्तःस्वभावभोक्ता ततोऽन्तरात्मा महामेघः।
खदिरश्चम्पक इव वा प्रवर्षणं किं विचारयति॥

(प्रबोधसुधाकर २५२।२५३)

'किसीपर कृपा करते समय भगवान् ऐसा विचार नहीं करते कि यह जाति, रूप, धन और आयुसे उत्तम है या अधम? स्तुत्य है या निन्द्य? यह अन्तरात्मारूप महामेघ आन्तरिक भावोंका ही भोक्ता है। मेघ क्या वर्षाके समय इस बातका विचार करता है कि यह खैर है या चम्पा?'

इसलिये हमें भगवान्‌पर विश्वास करना चाहिये कि हमारी जो आवश्यकता होगी, उसको भगवान् देंगे। अभी गीता, रामायण आदि सच्छास्त्रोंके द्वारा, सत्संगके द्वारा हमें जो बातें मिल रही हैं, वे भी केवल भगवान्‌की कृपासे ही मिल रही हैं।

मूलमें कृपा एक भगवान्‌की ही है, पर वह अलग-अलग माध्यमसे मिलती हुई दीखती है, जैसे, हमें टोंटीसे जल प्राप्त होता हुआ दीखता है, पर विचारपूर्वक देखें तो उसमें जल पाइपसे आता है, पाइपमें जल टंकीसे आता है, टंकीमें जल नदी, कुएँ आदिसे आता है, नदी आदिमें जल वर्षासे आता है, वर्षामें जल समुद्रसे आता है, समुद्रका जल अग्निसे उत्पन्न होता है, अग्नि वायुसे उत्पन्न होती है, वायु आकाशसे उत्पन्न होती है और आकाश परमात्माकी शक्तिसे उत्पन्न होता है। तात्पर्य है कि सबके मूलमें परमात्मा हैं। जिनसे यह सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई है।

हमें जो कुछ भी प्राप्त हो रहा है, वह सब भगवान्‌से ही प्राप्त हो रहा है। वे हमारी योग्यताको देखकर नहीं दे रहे हैं, प्रत्युत स्वयं अपनी अहैतुकी कृपासे हमें दे रहे हैं। जैसे माँ बालकका पालन करती है तो बालककी योग्यता, बल, बुद्धि, विद्या, गुण आदिको देखकर नहीं करती, प्रत्युत माँ होनेके नाते उसका पालन करती है। ऐसे ही भगवान् सबके माता-पिता हैं। वे किसी कारणसे कृपा करते हों, ऐसी बात नहीं है। वे अपने स्वाभाविक स्नेहसे, कृपासे, सुहृद्भावसे हमारा पालन कर रहे हैं। ऐसे भगवान्‌की कृपाका भरोसा हरेक मनुष्यको रखना चाहिये। जितना अधिक भरोसा रखेंगे, उतनी ही उनकी कृपा अधिक फलीभूत होगी, अनुभवमें आयेगी, जिससे शान्ति मिलेगी, निश्चिन्तता, निर्भयता होगी।

हमारेपर भगवान्‌की कृपा निरन्तर हो रही है, पर हम उधर देखते ही नहीं! हम उस कृपाकी अवज्ञा करते हैं, निरादर करते हैं, अपमान करते हैं, फिर भी भगवान् अपना कृपालु स्वभाव नहीं छोड़ते, कृपा करते ही रहते हैं। बालक माँका कोई कम निरादर नहीं करता। वह कहीं टट्टी फिरता है, कहीं पेशाब कर देता है, कहीं थूक देता है, पर माँ सब कुछ सह लेती है। बालक कभी साँप, बिच्छू आदिको पकड़ना चाहता है, कभी लालटेनको पकड़ना चाहता है, पर माँ सदा उसकी रक्षा करती रहती है। इसी तरह हम भी उलटे चलनेमें बालककी तरह तेज हैं, पर कृपा करनेमें भगवान् भी माँसे कम तेज नहीं हैं, प्रत्युत ज्यादा तेज हैं! इसलिये हमें उनकी कृपाका भरोसा रखना चाहिये।

विपरीत-से-विपरीत परिस्थितिमें भी भगवान्‌की कृपा ज्यों-की-त्यों रहती है। बुखार आ जाय, घाटा लग जाय, घरमें कोई मर जाय, बीमारी आ जाय, अपयश हो जाय, अपमान हो जाय, उसमें भी भगवान्‌की कृपा रहती है। हमें उस कृपापर विश्वास रखना चाहिये।

लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः॥

'जिस प्रकार बालकका पालन करने और ताड़ना करने दोनोंमें माँकी कहीं अकृपा नहीं होती, उसी प्रकार जीवोंके गुण-दोषोंका नियन्त्रण करनेवाले परमेश्वरकी कहीं किसीपर अकृपा नहीं होती।'

इस प्रकार बिना हेतु कृपा करनेवाले प्रभु कभी विशेष कृपा करके मानवशरीर देते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस, उत्तर० ४४।३)

सञ्चित पापोंका अन्त तो आता ही नहीं; क्योंकि हरेक मनुष्यजन्ममें वे होते आये हैं। परन्तु उन पापोंके रहते हुए भी भगवान् मानवशरीर दे देते हैं, बीचमें ही जीवको अपने

कल्याणका मौका दे देते हैं—यह भगवान्‌की एक विशेष कृपा है। भगवान्‌का स्वभाव ही कृपा करनेका है *(बिनु हेतु सनेही)* और फिर वे कृपा करके मनुष्यशरीर देते हैं तो यह उनकी दुगुनी कृपा हुई! भगवान्‌की इस अपार कृपापर विश्वास करके साधन किया जाय तो बहुत विशेषतासे, विलक्षणतासे स्वतःस्वाभाविक पारमार्थिक उन्नति होगी। हम उस कृपाके सम्मुख नहीं होते हैं तो इससे वह कृपा कम फलीभूत होती है। अगर हम उस कृपाके सम्मुख हो जायँ तो कृपा बहुत फलीभूत होगी। इसलिये भगवान्‌की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।८)

'जो अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगते हुए प्रतिक्षण आपकी कृपाको ही देखता रहता है और हृदय, वाणी तथा शरीरसे आपको नमस्कार करता रहता है, वह आपके परमपदका ठीक वैसे ही अधिकारी हो जाता है, जैसे पिताकी सम्पत्तिका पुत्र!'

केवल भगवान्‌की कृपाकी तरफ देखते रहनेसे मनुष्य सदाके लिये संसारके दुःखोंसे छूट जाता है। कृपाकी तरफ न देखनेसे वह उस कृपाको ग्रहण नहीं कर सकता, इसीसे वह दुःख पाता है! परन्तु भगवान्‌की कृपा कभी कम नहीं होती। मनुष्य भगवान्‌के सम्मुख न हो, भगवान्‌को माने नहीं, भगवान्‌का खण्डन करे, तो भी भगवान् वैसी ही कृपा करते हैं। पूत कपूत हो जाता है, पर माता कुमाता नहीं होती—**'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।'** भगवान् तो सदासे अनन्त माताओंकी भी माता हैं, अनन्त पिताओंके भी पिता हैं। इसलिये हमारेपर भगवान्‌की स्वतः अपार, असीम कृपा है। जो कुछ हो रहा है, उनकी कृपासे ही हो रहा है। जो कुछ मिल रहा है, उनकी कृपासे ही मिल रहा है। जब कोई अच्छा संग मिल जाय, अच्छी बात मिल जाय, अच्छा भाव पैदा हो जाय, अचानक भगवान्‌की याद आ जाय, तब समझना चाहिये कि यह भगवान्‌की विशेष कृपा हुई है, भगवान्‌ने मेरेको विशेषतासे याद किया है। इस प्रकार भगवान्‌की कृपाकी तरफ देखे, उसका ही भरोसा रखे तो उनकी कृपा बहुत विशेषतासे प्रकट होगी।

एक बालक घरमें सो रहा था। उसकी माँ जल भरनेके लिये कुएँ चली गयी। माँके जानेके बाद बालककी नींद खुल गयी। उसने देखा कि माँ घड़ेमें पानी लेकर आ रही है तो वह माँकी तरफ चल पड़ा। बाहर तेज धूप पड़ रही थी। धूपसे तपी जमीनपर बालकके कोमल-कोमल पैर जल रहे थे, पर उसको इस बातका होश नहीं था कि मैं यहीं ठहर जाऊँ, माँ तो यहाँ आ ही रही है। वह माँके पास पहुँच गया। माँके सिरपर घड़ा था; अतः वह झुककर उसको कैसे उठाये? इसलिये माँने उससे कहा कि तू अपना हाथ थोड़ा-सा ऊँचा कर दे। परन्तु बालकने हाथ ऊँचा नहीं किया, उलटे नीचे लेट गया और कहने लगा कि तू मेरेको छोड़कर क्यों चली गयी? अब गरम जमीनसे उसका शरीर जलता है और वह रोता है। माँ कहती है कि तू थोड़ा ऊँचा हाथ कर दे, पर वह उसकी बात सुनता ही नहीं! माँ बेचारी घड़ा लेकर घर आती है और बालक भी उठकर उसके पीछे-पीछे दौड़ता है। अगर वह थोड़ा-सा ऊँचा हाथ कर ले तो उसमें क्या नुकसान होता है? क्या अपमान होता है? क्या बेइज्जती होती है? क्या परिश्रम होता है? किस योग्यताकी जरूरत होती है? इसी तरह भगवान् हमें गोदमें लेनेके लिये तैयार खड़े हैं, केवल हमें थोड़ा-सा ऊँचा हाथ करना है अर्थात् भगवान्‌के सम्मुख होना है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस, सुन्दर० ४४।१)

हमें भगवान्‌की कृपाकी तरफ देखना है और 'हे मेरे नाथ! हे मेरे नाथ!!' कहकर भगवान्‌को पुकारना है। पुकारनेमात्रसे भगवान् कल्याण कर देते हैं। वे पहले किये गये पापोंकी तरफ देखते ही नहीं कि इसने कितने पाप किये हैं, कितना अन्याय किया है, कितना मेरे विरुद्ध चला है—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(मानस, उत्तर० १।३)

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

(मानस, बाल० २९।३)

बालककी गलती माँको थोड़े ही याद रहती है! बालक माँके कितना ही विपरीत चले, पर उसके सामने आते ही माँको कुछ याद नहीं रहता और वह बड़े प्यारसे उसको गोदमें ले लेती है। इसी तरह भगवान्‌को भी हमारी गलतियोंकी याद नहीं रहती। कैमरेके सामने जो आता है, कैमरा उसके रूपको पकड़ लेता है, उसकी फोटो ले लेता है। परन्तु भगवान्‌का कैमरा और तरहका है! हम भजन करते हैं तो इस भावको भगवान् पकड़ते हैं, पर हम भूल करते हैं, उलटा चलते हैं तो इसको भगवान् पकड़ते ही नहीं! इसने मेरा नाम लिया है, यह मेरे शरण हुआ है, इसने मेरी और मेरे भक्तोंकी कथा सुनी है, सत्सङ्ग किया है—ये बातें तो भगवान्‌के कैमरेमें छप जाती हैं, पर विरुद्ध बातें छपती ही नहीं, उनकी याद भगवान्‌को

रहती ही नहीं !

बड़ोंका यह स्वभाव होता है कि वे जिसका सुधार करते हैं, उसपर पहले शासन करते हैं, फिर उसपर स्नेह करते हैं—

सासति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ॥

(मानस, बाल० ८९। २)

शासन करने और स्नेह करने—दोनोंमें उनकी कृपा समान होती है। गीतामें भी ऐसी बात आयी है। भगवान् पहले अर्जुनको धमकाते हैं कि अगर तू मेरी बात नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा—**'न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि'** (१८। ५८) फिर प्यारसे कहते हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

(गीता १८। ६४)

'सबसे अत्यन्त गोपनीय वचन तू फिर मेरेसे सुन। तू मेरा अत्यन्त प्रिय है, इसलिये मैं तेरे हितकी बात कहूँगा।'

भगवान्‌का, गुरुजनोंका, माता-पिताका ऐसा भाव होता है, तभी हमारा पालन होता है, नहीं तो हमारी क्या दशा हो ! संसारके लोग अगर हमारे अवगुणोंको जान जायँ तो हमारेसे कितनी घृणा करें ! पर भगवान् कण-कणकी बात जानते हैं, फिर भी सहज, स्वाभाविक कृपा करते हैं !

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर, राम सरिस कोउ नाहीं॥

(विनयपत्रिका १६२)

लोगोंमें हमारे अवगुण प्रकट नहीं होते, तभी हमारा काम चलता है। हमारे मनमें जो बुरी बातें आती हैं, उनको अगर लोग जान लें तो एक दिनमें कितनी मार पड़े ! परन्तु लोगोंको उनका पता नहीं लगता। भगवान् तो सब जानते हैं, पर जानते हुए भी हमारा त्याग नहीं करते, प्रत्युत आँख मीच लेते हैं कि बालक है, कोई बात नहीं ! इस कारण हमारा काम चलता है, नहीं तो बड़ी मुश्किल हो जाय ! अगर भगवान् हमारे लक्षणोंकी तरफ देखें तो हमारा उद्धार होना तो दूर रहा, निर्वाह होना भी मुश्किल हो जाय ! परन्तु भगवान् देखते ही नहीं। ऐसे कृपासिन्धु भगवान्‌की कृपापर विश्वास रखें, उसीका भरोसा रखें—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥

(दोहावली २७७)

★

वास्तविक सिद्धिका मार्ग

जहाँ अपनी विजय निश्चित हो, वहाँ मनुष्यको अपनेमें कायरता नहीं लानी चाहिये। सांसारिक कार्योंमें तो सिद्धि और असिद्धि दोनों होते हैं, इसलिये भगवान्‌ने उनमें सम, निर्विकार रहनेकी आज्ञा दी है—**'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा'** (गीता २।४८) **'समः सिद्धावसिद्धौ च'** (गीता ४।२२), **'सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः'** (गीता १८।२६)। परन्तु परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें तो सिद्धि ही होती है। सांसारिक सिद्धि-असिद्धिमें सम रहनेकी बात भी वास्तविक सिद्धि (परमात्मप्राप्ति)के लिये ही है; क्योंकि सांसारिक सिद्धि-असिद्धिका कोई मूल्य नहीं है। सांसारिक सिद्धि अनिश्चित है; क्योंकि उसमें परतन्त्रता है, पर पारमार्थिक सिद्धि निश्चित है; क्योंकि उसमें स्वतन्त्रता है और उसीके लिये मनुष्य-शरीर मिला है। अतः साधकको परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये अपनेमें कायरता नहीं लानी चाहिये, हताश नहीं होना चाहिये, प्रत्युत इसके लिये मनमें नित्य नया उत्साह रखना चाहिये।

बालक माँपर अपना अधिकार मानता है कि मेरी माँ है। यदि माँके पाँच-सात-दस बालक हों तो भी प्रत्येक बालक पूरी-की-पूरी माँको अपनी मानता है। ऐसा नहीं होता कि दस बालक हैं तो माँके भी दस हिस्से होंगे और प्रत्येक बालक माँके दसवें हिस्सेको अपना मानेगा। इसी तरह भगवान् प्रत्येक जीवके लिये पूरे-के-पूरे अपने हैं। माँ तो फिर भी पक्षपात कर सकती है, पर हम सब जिनकी वास्तविक सन्तान हैं, उन भगवान्‌में पक्षपात नहीं है। वे भगवान् ही हमारे असली माता-पिता हैं।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

(गर्गसंहिता, द्वारका० १२।१९)

'आप ही माता हैं, आप ही पिता हैं, आप ही सम्बन्धी हैं, आप ही मित्र हैं, आप ही विद्या हैं, आप ही धन हैं; हे देवदेव! आप ही मेरे सब कुछ हैं।'

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(मानस, किष्किन्धा० ३)

देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, लता-वृक्ष, पहाड़ आदि जो कुछ भी है, सब रूपोंमें हमारे प्रभु ही हैं। इस बातको जिन लोगोंने पहचान लिया, उनपर संसारका असर नहीं हुआ। प्रह्लाद, मीराबाई आदिने इसको पहचाना था, इसलिये बड़े-से-बड़ा दुःख आनेपर भी वे विचलित नहीं हुए,

क्योंकि वे सबमें, सब जगह अपने इष्टको ही देखते थे। वे परमात्मा ही हमारे वास्तविक माता-पिता हैं। शरीर तो लौकिक माता-पिताका अंश है, जो मर जाता है। परन्तु जीव स्वयं परमात्माका अंश है जो कभी मरा नहीं, मरेगा नहीं और मर सकता ही नहीं। इसलिये किसी भी भाई-बहिनको अपनेमें ऐसी कायरताका भाव नहीं लाना चाहिये कि मेरेपर भगवान्‌की कृपा कम है अथवा मेरा आचरण ठीक नहीं है, मेरा भाव ठीक नहीं है, मेरेमें भक्ति नहीं है, मेरेमें ज्ञान नहीं है, मेरेमें परमात्मप्राप्तिकी योग्यता नहीं है, मेरेमें बल नहीं है, इसलिये मेरेको परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। कारण कि हमारी योग्यता अयोग्यपर काम करती है, हमारा बल निर्बलपर काम करता है, हमारी विद्या मूर्खपर काम करती है। इसलिये हम अपनेमें बल, बुद्धि, विद्या, योग्यता, कुल, धर्म, जाति, वर्ण, आश्रम आदि जो कुछ भी मानते हैं, वे सब परमात्मप्राप्तिके लिये कुछ कामके नहीं हैं। 'भगवान् मेरे हैं'—यह भाव जितना बलवान् है, उतने ये बल, बुद्धि, विद्या आदि बलवान् नहीं हैं। ज्ञानियोंका ज्ञान भी इतना बलवान् नहीं है। ज्ञान (विवेक) उतनी रक्षा नहीं करता, जितनी भगवान् रक्षा करते हैं!

बच्चा माँकी गोदीमें बैठा हो तो वह सामने आये राजाको भी धमका देता है। यद्यपि माँ इतनी समर्थ नहीं है, तथापि वह समझता है कि मैं जिस माँकी गोदीमें हूँ, उसके समान और कोई नहीं है। परन्तु हमारी वास्तविक माँ—भगवान्‌के समान त्रिलोकीमें और कोई नहीं है। अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं—

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो-
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

(गीता ११।४३)

'हे अनन्त प्रभावशाली भगवन्! इस त्रिलोकीमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो हो ही कैसे सकता है!'

हम जो अपने शरीरको, अपने कुटुम्बको, अपने सम्प्रदायको, अपने वर्णको, अपने आश्रमको, अपनी योग्यताको, अपनी बुद्धि आदिको ऊँचा मानते हैं और उनके साथ अपना सम्बन्ध मानकर अपनेको बड़ा मानते हैं, यह वास्तवमें बड़ी भारी गलती है। भगवान्‌के सामने इन सबका क्या मूल्य है! भगवान्‌का बल तो निर्बलके लिये है—

जब लगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सर्‌यो नहिं काम।
निरबल ह्वै बलराम पुकार्‌यो, आये आधे नाम॥
सुने री मैंने निरबल के बल राम।

अपने बल, बुद्धि, योग्यता आदिका अभिमान भगवत्प्राप्तिमें महान् बाधक है। अपने साधनके बलका अभिमान भी भगवत्प्राप्तिमें बाधक है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम साधन न करें। साधन नहीं करेंगे तो करेंगे क्या? अतः साधन तो रात-दिन करना है, पर साधनके बलका अभिमान नहीं करना है। साधनके बलपर हम परमात्माको प्राप्त नहीं कर सकते। परमात्माको तो उनके शरण होकर ही प्राप्त कर सकते हैं।

बालक छोटा-सा होता है, पर वह रात्रिमें रोने लगे तो घरवालोंको नचा देता है। किस बलपर? रोनेके बलपर। वास्तवमें रोना कोई बल नहीं होता। रोना निर्बलताकी पहचान है। परन्तु कोई पहलवान चोर आता हो और बच्चा रो दे तो वह भाग जाता है—यह रोनेका बल है! ऐसे ही हमें भगवान्‌के आगे रोना चाहिये। हमारेसे भूल यह होती है कि हम धनके लिये, परिवारके लिये, स्त्री-पुत्रके लिये, मान-बड़ाईके लिये, जीनेके लिये, शरीरके लिये रोते हैं। हमारा रोना केवल भगवान्‌के लिये ही होना चाहिये। वे हमारे हैं, हम उनके हैं। जैसे बालक कहता है कि मेरी माँ है। दूसरी माताएँ भी बैठी हैं और वे सुन्दर भी हैं, उनके गहने-कपड़े भी बढ़िया हैं, पर बालक कहता है कि ये मेरी माँ नहीं हैं। एक स्त्री काली-कलूटी है, उसके गहने-कपड़े भी बढ़िया नहीं हैं, पर बालक जाकर उसकी छातीसे चिपक जाता है कि यह मेरी माँ है! वह गहने-कपड़े, योग्यता आदिको देखकर माँके पास नहीं जाता, प्रत्युत अपनेपनको देखकर माँके पास जाता है। ऐसे ही भगवान् हम सबकी वास्तविक माँ हैं। बलवान् कई हो सकते हैं, धनवान् कई हो सकते हैं, विद्वान् कई हो सकते हैं, सिद्ध कई हो सकते हैं, देवता आदि कई हो सकते हैं, पर हमारी माँ—भगवान्‌के समान कोई नहीं है! हमें उन्हींकी शरणमें जाना है।

अर्जुन भगवान्‌के शरण होते हैं और कहते हैं कि धर्मके निर्णयमें मेरी बुद्धि काम नहीं कर रही है, मैं क्या करूँ—**'पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः'** (गीता २।७)? तो भगवान् कहते हैं कि तेरेको धर्मका निर्णय करनेकी क्या जरूरत है? तू सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जा। मैं तेरेको सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

तात्पर्य है कि तू धर्मका अनुष्ठान तो कर, पर आश्रय मेरा ही रख धर्मका नहीं। तू अपने बल, बुद्धि, विद्या आदि

किसीका भी भरोसा मत रख, एक मेरा ही भरोसा रख।

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास ॥

(दोहावली २७७)

जो साधनके बलपर चलते हैं, वे मजदूर होते हैं। माँ अपने बालकके कामका माप-तौल नहीं करती कि इसने इतना काम किया है तो इसको इतना भोजन दूँगी, इतना लाड़-प्यार करूँगी। कामका माप-तौल नौकरका होता है कि उसने कितना काम किया है और उस कामके अनुसार उसको वेतन मिलता है। लोगोंको तो धन, सम्पत्ति, वैभव आदिकी जरूरत रहती है, पर भगवान्‌को किसी चीजकी जरूरत है ही नहीं! अतः जो अपने बलका आश्रय रखकर भजन करते हैं, साधन करते हैं, मनन-विचार करते हैं, वे सब मजदूरी करते हैं। इसलिये मजदूरीका बल न रखकर भगवान्‌में अपनेपनका बल रखना चाहिये। मजदूरीसे अपनेमें कायरता आती है कि मेरेमें बल नहीं है, मेरेमें योग्यता नहीं है, मैंने इतना साधन नहीं किया, मेरेमें इतनी कमी है!

जब भरतजी भगवान् रामसे मिलने जाते हैं, तब उनकी तीन गतियोंका वर्णन आता है। जब वे अपने बलको देखते हैं, तब वे स्थिर हो जाते हैं। जब वे अपनी माँकी क्रियाको देखते हैं, तब वे पीछे हट जाते हैं। परन्तु जब वे भगवान्‌को देखते हैं, तब दौड़ पड़ते हैं—

जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥

(मानस, अयोध्या० २३४। ३)

इसी तरह हमें अपने कर्मोंकी तरफ, अपने बलकी तरफ, अपने मन-बुद्धिकी तरफ न देखकर भगवान्‌की तरफ देखना चाहिये। क्या माँ यह देखती है कि बच्चेने आज कितना काम-धंधा किया है? आज उसको कितना दूध पिलाना चाहिये? काम करना तो दूर रहा, वह तो उलटे घरके काममें बाधा डालता है। परन्तु माँ बच्चेको पेटभर दूध देती है। वह जितना चाहे, उतना दूध पीये; जैसा चाहे, वैसा कपड़ा पहने; जहाँ चाहे, वहाँ सोये। शय्यापर न सोये तो गोदीमें ही सो जाय। यह बात तो लौकिक माँकी है। हमारी वास्तविक माँ तो बड़ी अलौकिक, विलक्षण है। ऐसी विलक्षण माँ—भगवान्‌के लिये अपनी योग्यताका विचार करना भी मूर्खता है और अपने साधनमें, भजन-स्मरणमें कमी करना भी मूर्खता है। अपना भजन-स्मरण तो कम नहीं करना चाहिये, पर भजन-स्मरणके बलपर हम भगवान्‌की प्राप्ति कर लेंगे—ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिये। हमें अपने बलसे भगवान्‌को नहीं खरीदना है, प्रत्युत अपने-आपको उनके अर्पित करना है। वास्तवमें हम अपने बलके अभिमानसे ही निर्बल हो रहे हैं। अपने धनके अभिमानसे ही निर्धन हो रहे हैं। अपनी योग्यताके अभिमानसे ही अयोग्य हो रहे हैं। अपनी चतुराईके अभिमानसे ही मूर्ख हो रहे हैं। अपनी विद्याके अभिमानसे ही अविद्वान् हो रहे हैं। अपनी क्रियाके अभिमानसे ही नीचे गिर रहे हैं। वास्तवमें हमारे पास 'अपना' माननेयोग्य कुछ है ही नहीं; क्योंकि प्रत्येक वस्तु मिली हुई है और बिछुड़नेवाली है। हमारे पास जो कुछ है, वह सब भगवान्‌का दिया हुआ है। मिली हुई वस्तुको अपनी मानना और देनेवालेको अपना न मानना बेईमानी है। इस बेईमानीको दूर करना है।

भगवान्‌का एक विलक्षण स्वभाव है कि वे सब कुछ देते हैं, पर अपनेको जनाते नहीं। उन्होंने शरीर दिया है, इन्द्रियाँ दी हैं, मन दिया है, बुद्धि दी है, प्राण दिये हैं, पर लेनेवाला देखता है कि यह सब मेरा ही है। अगर शरीर हमारा है तो उसको मरने क्यों देते हो? आँखें हमारी हैं तो उनको कमजोर क्यों होने देते हो? रुपये हम कमाते हैं तो उसमें घाटा क्यों लगने देते हो?

रावण भगवान् शंकरका बड़ा भक्त था, पर वह भगवान् शंकरका बल न मानकर अपना बल मानता था। इसलिये जब रावणको बाण लगते हैं, वह मरता है, तब भगवान् शंकर आकाशमें, खड़े-खड़े तमाशा देखते हैं!

सुर ब्रह्मादि सिद्ध मुनि नाना। देखत रन नभ चढ़े बिमाना।
हमहू उमा रहे तेहिं संगा। देखत राम चरित रन रंगा॥

(मानस, लंका० ८१। १)

यदि रावणमें अपने बलका अभिमान न होकर केवल भगवान् शंकरके बलपर भरोसा होता तो भगवान् शंकर भी उसकी सहायताके लिये युद्धमें कूद पड़ते! वास्तवमें सब बल तो भगवान्‌का है, अपना क्या बल है? बच्चेका कितना बल होता है? वह कौएसे, कुत्तेसे डर जाता है। उसके पास केवल माँका बल है। माँका बल तो सीमित होता है। बच्चा मर जाय तो माँ उसको बचा नहीं सकती। परन्तु भगवान्‌का बल असीम है। हिरण्यकशिपु अपनेको बड़ा भारी बलवान् मानता था, पर अन्तमें उसका बल क्या काम आया? जो कठोर-से-कठोर अस्त्र-शस्त्रसे भी नहीं मर सकता था, वह भगवान्‌के नखसे ही मर गया! क्या नखसे भी कोई मरता है? हिरण्यकशिपुके भयसे देवतालोग भी थर्राते थे, पर प्रह्लाद उसके सामने निडर होकर बोलता है। जब भगवान् हमारे हैं, तो फिर डर किस बातका? जैसे प्रह्लाद भगवान्‌का था, वैसे ही हम भी भगवान्‌के हैं। भगवान्‌का अंश होनेमें वह पीढ़ीमें भगवान्‌से नजदीक पड़ता था और हम दूर पड़ते

हैं—ऐसी बात नहीं है। भगवान्‌के साथ सबका समान सम्बन्ध है। भगवान् कहते हैं—*'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'* (मानस, उत्तर० ८६।२), **'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता ९।२९), **'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७)। फर्क केवल इतना है कि प्रह्लाद भगवान्‌को अपना मानता था, हम भगवान्‌को अपना नहीं मानते।

कोई कैसा ही हो, किसी तरहका हो, किसी वर्णका हो, किसी देशका हो, किसी वेशका हो, किसी आश्रमका हो, किसी सम्प्रदायका हो, हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो, यहूदी हो, पारसी हो, सबके लिये भगवान् समान हैं। भगवान् किसीके नजदीक हों, किसीसे दूर हों—ऐसी बात है ही नहीं। जिसका जैसा भाव होता है, उसके लिये भगवान् वैसे ही हो जाते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४।११) इसलिये अपने प्रभुसे दूरी मानकर हिम्मत नहीं हारनी चाहिये। जब हम भगवान्‌के बलसे बलवान् हैं, तो फिर हिम्मत क्यों हारें?

हिम्मत मत छाड़ो नराँ, मुख ते कहताँ राम।
हरिया हिम्मत सुं किया, ध्रुव का अट्टल धाम॥

भगवान्‌की प्राप्ति हमारे बलसे नहीं होगी, प्रत्युत भगवान्‌के बलसे, उनकी कृपासे होगी। उनकी कृपासे ही सब काम हुआ है, हो रहा है और होगा। हम अपने जीवनपर दृष्टि डालें कि हमें यह मानवशरीर कैसे मिला? क्या हमने जानकर यहाँ जन्म लिया था? बचपनसे लेकर आजतक हमारा पालन-पोषण कैसे हुआ? गीता, रामायण आदिसे परिचय कैसे हुआ? सत्संग कैसे मिला? अच्छी पुस्तकें कैसे मिलीं? अच्छा संग कैसे मिला? उसके लिये क्या हमने कोई पुरुषार्थ किया था? कोई उद्योग किया था? कुछ बल लगाया था? कुछ रुपये खर्च किये थे? कुछ परिश्रम किया था? सब भगवान्‌की कृपासे ही हुआ है। जब उनकी इतनी कृपा मिली है, तो फिर अब चिन्ता क्यों करें? कोई आदमी किसी ब्राह्मणको भोजनका निमन्त्रण देकर घरपर बुलाये। उसको आसनपर बैठा दे। पत्तल सामने रख दे। जल भी रख दे। अब वह भोजन देगा कि नहीं—इसकी चिन्ता करनेकी क्या जरूरत? अगर उसका भोजन देनेका मन नहीं होता तो वह निमन्त्रण क्यों देता? पत्तल सामने क्यों रखता? ऐसे ही भगवान्‌ने अपनी कृपासे हमें मनुष्यशरीर दिया है, गीता, रामायण-जैसे ग्रन्थोंसे परिचय कराया है, सत्संगकी बातोंसे परिचय कराया है। हमने उनसे कब कहा था कि आप ऐसा करो? अतः जिसने इतना दिया है, वह आगे भी देगा। नहीं देगा तो लाज किसकी जायगी? द्रौपदी भगवान्‌से कहती है—*'जायगी लाज तिहारी नाथ मेरो का बिगड़ैगो'!* इसलिये हम चिन्ता क्यों करें? विश्वास न हो तो भगवान्‌से कहो कि हे नाथ! आप मेरेको विश्वास दो, प्रेम दो; नहीं दोगे तो और कौन देगा? जैसे माँका दूध माँके लिये नहीं है, प्रत्युत बच्चेके लिये ही है, ऐसे ही भगवान्‌की शक्ति हमारे लिये ही है। हमारा काम तो बस यही है कि हम उनकी शरण हो जायँ।

संसारके काममें तो नफा भी हो जाता है और नुकसान भी हो जाता है, किसीका जन्मना भी हो जाता है और मरना भी हो जाता है, हम चाहते कुछ और हैं, पर होता कुछ और है। तात्पर्य है कि सांसारिक सिद्धि अवश्यम्भावी नहीं है; परन्तु पारमार्थिक सिद्धि (भगवत्प्राप्ति) अवश्यम्भावी है। इस मार्गपर हमारी विजय निश्चित है।

★

प्रार्थना और शरणागति

भगवान्‌से प्रार्थना करना और उनके शरण होना—ये दो बातें तत्काल सिद्धि देनेवाली हैं। कोई आफत आ जाय, दुःख आ जाय, सन्ताप हो जाय, उलझन हो जाय तो आर्तभावसे 'हे नाथ ! हे प्रभो !' कहकर भगवान्‌को पुकारे, उनसे प्रार्थना करे तो तत्काल लाभ होता है। जैसे गजेन्द्र, द्रौपदी, उत्तरा आदिने विपत्तिके समय भगवान्‌को याद किया, उनको पुकारा तो उनकी तत्काल रक्षा हो गयी। कारण यह है कि जब अपना बल कोई काम नहीं देता, अपनी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, उस समय भगवान्‌की शरण लेनेसे भगवान्‌की कृपा काम करती है। जब गजेन्द्र ग्राहसे अपनेको न छुड़ा सकनेके कारण अपने बलसे और अपने साथियोंसे निराश हो गया, तब वह भगवान्‌की शरणमें गया और भगवान्‌ने उसको ग्राहसे मुक्ति दिलायी। चीर-हरणके समय जब द्रौपदी सब तरफसे निराश हो गयी, किसीने भी उसकी प्रार्थना नहीं सुनी, तब उसने भगवान्‌को पुकारा और भगवान्‌ने उसकी रक्षा की। जब अश्वत्थामाके द्वारा छोड़ा गया अस्त्र उत्तराके गर्भको नष्ट करनेके लिये आने लगा, तब उत्तराने सर्वथा भगवान्‌के शरण होकर उनको पुकारा और भगवान्‌ने उसके गर्भकी रक्षा की। जब अर्जुन कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय न कर सकनेके कारण अपनी बुद्धिसे निराश हो गये, तब वे भगवान्‌की शरणमें गये और भगवान्‌ने संसारका उद्धार करनेवाले गीतोपदेशके द्वारा उनके मोहका नाश कर दिया।

भगवान्‌की कृपासे जो काम होता है, वह अपने बल-बुद्धिसे कभी नहीं होता। परन्तु जबतक अपना बल पूरा न

लगा दें, तबतक भीतरसे असली प्रार्थना नहीं होती। कारण कि अपना बल पूरा लगानेसे जब अपनेमें निर्बलताका अनुभव होने लगता है, तब अपने बलका भरोसा छूट जाता है और अपने बलका भरोसा छूटनेसे ही असली प्रार्थना होती है।

बुद्धिर्विकुण्ठिता नाथ समाप्ता मम युक्तयः।

अपनी बुद्धि कुण्ठित हो जाय, अपनी युक्तियाँ, अपना उद्योग सब फेल हो जाय, ऐसे समयमें असली प्रार्थना होती है, नहीं तो अपने बल आदिके अभिमानका अंश रहनेसे नकली प्रार्थना होती है। नकली प्रार्थनासे काम नहीं होता। जो लोग कहते हैं कि हमने प्रार्थना की, पर कुछ नहीं हुआ तो वास्तवमें उनसे असली प्रार्थना हुई ही नहीं! प्रार्थना की नहीं जाती, प्रत्युत भीतरसे निकलती है अर्थात् स्वतः होती है। अगर भीतरसे असली प्रार्थना हो तो तत्काल काम होता है।

जब अपने बलका, योग्यताका, पदका, विद्याका, बुद्धिका, वर्णका, आश्रमका, सम्प्रदायका कोई-न-कोई सहारा रहता है, तब न तो असली प्रार्थना होती है और न असली शरणागति ही होती है। कारण कि अपने बल, योग्यता आदिका सहारा रहनेसे अहम् बना रहता है। जबतक अहम् है, तबतक असली प्रार्थना और असली शरणागति नहीं होती। असली प्रार्थना और असली शरणागतिके बिना काम नहीं होता।

अपनेमें सर्वथा निर्बलताका अनुभव हो जाय, तब असली प्रार्थना और असली शरणागति होती है—*'सुने री मैंने निरबल के बल राम।'* निर्बलताका अर्थ यह नहीं है कि हमारा शरीर निर्बल हो जाय, शरीरमें शक्ति न रहे, हम बीमार हो जायँ। निर्बलताका अर्थ है—अपने बलसे निराश हो जाना, अपने बलका किंचिन्मात्र भी सहारा, भरोसा या अभिमान न होना। बुद्धिबल, मनोबल, धनबल, तनबल, बाहुबल, विद्याबल आदि सबसे निराशा हो जाय और भगवत्प्राप्तिकी तीव्र आशा हो जाय, तब प्रार्थना तत्काल काम करती है। अपने बलकी आशा रहे और भगवत्प्राप्तिसे निराश हो जायँ, तब प्रार्थना काम नहीं करती।

ऐसा कोई भी असम्भव काम नहीं है, जो भगवान्‌की प्रार्थनासे सम्भव न हो जाय, कारण कि भगवान्‌का बल अपार है, असीम है, अनन्त है। भगवान्‌के बलका वर्णन शब्दोंसे कोई भी नहीं कर सकता। हम उनको जितना अपार, असीम, अनन्त समझते हैं, उससे भी वे बहुत विलक्षण अपार हैं, विलक्षण असीम हैं, विलक्षण अनन्त हैं। अपार, असीम और अनन्त शब्द तो सापेक्ष हैं अर्थात् पारकी अपेक्षा अपार है, सीमाकी अपेक्षा असीम है, अन्तकी अपेक्षा अनन्त है, पर भगवान् निरपेक्ष हैं। उनकी प्रार्थना और शरणागति निर्बल होनेसे होती है—

जब लगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सर्‌यो नहिं काम।
निरबल ह्वै बलराम पुकार्‌यो, आये आधे नाम॥

एक भगवान्‌के सिवाय किसीका आश्रय न रहे—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥

जबतक बल, बुद्धि, योग्यता, वर्ण, आश्रम आदिका किञ्चिन्मात्र भी आश्रय है, तबतक अनन्य पुकार नहीं होती। अपने बल, बुद्धि आदिका किञ्चिन्मात्र भी आश्रय न हो और ऐसा अनुभव हो कि मैं अपने बल, बुद्धि, योग्यता आदिसे भगवान्‌को प्राप्त कर ही नहीं सकता, अपने दुःखको दूर कर ही नहीं सकता, तब भगवान्‌का बल काम करता है।

साधकको चाहिये कि वह अपनेमें निर्बलताका अनुभव करके भगवान्‌पर ही निर्भर हो जाय, उनके ही परायण हो जाय कि हे नाथ! आपके सिवाय मेरा कोई आश्रय नहीं है, कोई शक्ति नहीं है। ऐसा होकर निश्चिन्त हो जाय तो तत्काल काम होता है, जबकि अपनी साधनाके बलसे वर्षोंतक काम नहीं होता। इसमें एक मार्मिक बात है कि अपनी शक्ति तो पूरी लगानी चाहिये, पर आश्रय भगवान्‌का ही रखना चाहिये। इसलिये गीताने कहा है—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥

(७।२९)

'जरा और मरणसे मोक्ष पानेके लिये जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको भी जान जाते हैं।'

साधक यत्न तो करे, पर भरोसा यत्नपर न रखकर भगवान्‌पर रखे। जैसे भगवान्‌ने बायें हाथकी छोटी अँगुलीके नखपर गोवर्धन पर्वतको उठा लिया और ग्वालबालोंसे कहा कि सब अपनी-अपनी लाठी लगाओ। सबने अपनी लाठियाँ लगा दीं, पर उनके मनमें यह भाव आया कि हम सब ग्वालबालोंने अपनी लाठियोंसे सहारा लगाया है, तभी पर्वत ठहरा है। उनके मनमें ऐसा भाव आनेपर भगवान्‌ने उनके बलका अभिमान दूर करनेके लिये अपनी अँगुलीको थोड़ा-सा नीचे किया तो सब चिल्लाने लगे कि अरे दादा, मरे-मरे! भगवान्‌के द्वारा ऐसा करनेका तात्पर्य था कि तुम अपना बल तो लगाओ, पर आश्रय अपने बलका मत रखो। तत्परता तो पूरी हो, पर अपने बलका अभिमान न हो। इसलिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—

'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' (गीता ११ । ३३)

'हे सव्यसाची ! तुम निमित्तमात्र बन जाओ।'

निमित्तमात्र बननेका अर्थ है कि अपनी शक्ति तो पूरी लगाओ, पर अपनी शक्तिका किंचिन्मात्र भी भरोसा मत रखो। थोड़ा-सा काम कर देना निमित्तमात्र बनना नहीं है। अर्जुन दोनों हाथोंसे बाण चलाते थे। वे दायें हाथसे बाण चलाकर जैसा निशाना मारते थे, वैसा ही निशाना बायें हाथसे बाण चलाकर मारते थे। इसलिये अर्जुनका नाम 'सव्यसाची' था। भगवान् अर्जुनको 'सव्यसाची' सम्बोधन देकर यह कहते हैं कि तुम अपनी पूरी शक्ति लगाओ, पर मनमें यह बात मत रखो कि मेरे बलसे, मेरी विद्यासे काम हो जायगा, जो कुछ होगा, मेरी कृपाके बलसे होगा। इसलिये भगवान्‌की कृपाका आश्रय लेकर प्रार्थना की जाय तो भगवान्‌की अपार विलक्षण शक्ति तत्काल काम करती है। रामचरितमानसमें आया है—

मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।

(उत्तर० १२२ ख)

जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य।

(उत्तर० ११९ ख)

तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।

(लंका० ३५ । ४)

तात्पर्य है कि भगवान् असम्भवको सम्भव और सम्भवको असम्भव बनानेमें सर्वथा समर्थ हैं—**'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः।'** उनमें किसी तरहकी असामर्थ्य नहीं है। वे सब तरहसे पूर्ण हैं। बल, बुद्धि, विद्या, योग्यता आदि किसी भी विषयमें उनमें किंचिन्मात्र भी कमी नहीं है। ऐसे सर्वथा परिपूर्ण, सर्वसमर्थ भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध हो जायगा तो उनकी सब शक्ति हमारेमें आ जायगी। जैसे बिजलीके तारके साथ सम्बन्ध होनेपर पंखा भी चलता है, अँगीठी भी जलती है, बर्फ भी जमती है, प्रकाश भी होता है। एक ही शक्तिसे अनेक परस्परविरुद्ध कार्य हो जाते हैं। ऐसे ही संसारकी उत्पत्ति करनेमें, पालन करनेमें और संहार करनेमें एक ही शक्ति काम करती है। जब प्रार्थनाके द्वारा भक्त ऐसे सर्वसमर्थ भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, तब उसमें किसी तरहकी कमी कैसे रह सकती है ? कमी रहनेकी सम्भावना ही नहीं है। भगवान् कहते हैं—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५ । १९)

'हे भारत! इस प्रकार जो मोहरहित मनुष्य मुझे पुरुषोत्तम जान लेता है, वह सर्ववित् मनुष्य सब प्रकारसे मेरा ही भजन करता है।'

जो भगवान्‌को पुरुषोत्तम जानता है, वही सर्ववित् (सर्वज्ञ) होता है। संसारकी बहुत बातें जाननेसे मनुष्य सर्ववित् नहीं होता। भगवान्‌की शक्ति अपार, असीम, अनन्त, अगाध है—ऐसा जिसका दृढ़ विश्वास है, वह सब प्रकारसे भगवान्‌का ही भजन करता है। उसकी दृष्टि भगवान्‌के सिवाय दूसरी तरफ जाती ही नहीं। भगवान्‌के सिवाय और किसीका कोई सहारा नहीं रहता, और किसीका कोई मूल्य नहीं रहता, और किसीसे कोई आशा नहीं रहती। वह सब तरफसे निराश हो जाता है। मैं अपने बलसे कर लूँगा—यह बात उसके हृदयसे सदाके लिये उठ जाती है। ऐसी स्थितिमें असली शरणागति होती है, असली प्रार्थना होती है। भगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८ । ६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता मत कर।'

अपने बल, बुद्धि, विद्या आदिका किञ्चिन्मात्र भी आश्रय या अभिमान न रखकर भगवान्‌की अनन्य शरण होना हमारा काम है और सम्पूर्ण पापोंसे सदाके लिये मुक्त करना भगवान्‌का काम है। कारण कि हम ही भगवान्‌से विमुख हुए हैं, भगवान् हमारेसे कभी विमुख नहीं हुए। अगर हम अनन्यभावसे भगवान्‌के शरण हो जायँ तो फिर भगवान्‌की शक्तिसे बहुत जल्दी तथा सुगमतासे कल्याण हो जायगा। इसलिये भगवान् आश्वासन देते हैं कि मेरी शरणमें आनेसे मैं सम्पूर्ण पापोंसे, दुःखोंसे, बन्धनोंसे मुक्त कर दूँगा, फिर तुम चिन्ता क्यों करते हो ?

★

जित देखूँ तित तू

'**वासुदेवः सर्वम्**' 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यह गीताका मुख्य सिद्धान्त है। गीताने इसीको महत्त्व दिया है। जड-चेतन, स्थावर-जंगम, उद्भिज्ज-स्वेदज-जरायुज-अण्डज, चौरासी लाख योनियाँ, चौदह भुवन, अनन्त ब्रह्माण्ड सब कुछ भगवान् ही हैं। इस भावके कई श्लोक गीतामें आये हैं; जैसे—

'**येन सर्वमिदं ततम्**' (२।१७, ८।२२, १८।४६)
'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति**' (७।७)
'**वासुदेवः सर्वम्**' (७।१९)
'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**' (९।४)
'**सदसच्चाहमर्जुन**' (९।१९)
'**अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च**' (१०।२०)
'**सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन**' (१०।३२)
'**न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्**' (१०।३९)
'**बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च**' (१३।१५)

गीतामें जो विभूतियाँ बतायी गयी हैं, उनका तात्पर्य भी यही है कि एक भगवान्के सिवाय कुछ नहीं है*। जितनी भी विभूतियाँ हैं, वे सब भगवान्के ऐश्वर्य हैं। ब्रह्म भी भगवान्की एक 'विभूति' है, ऐश्वर्य है। इसलिये भगवान्ने कहा है—'**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**' (१४।२७) अर्थात् मैं ब्रह्मका आधार हूँ। असत्की सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। असत् परिवर्तनशील है और सत् अपरिवर्तनशील है। ये सत् और असत्—दोनों ही भगवान्की विभूतियाँ हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (९।१९)।

गीतामें भगवान्ने ब्रह्मको भी '**माम्**' (अपना स्वरूप) कहा है—'**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्**' (८।१३), देवताओंको भी '**माम्**' कहा है—'**येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव**……' (९।२३), इन्द्रको भी '**माम्**' कहा है—'**त्रैविद्या मां सोमपाः**' (९।२०), उत्तम गतिको भी '**माम्**' कहा है—'**मामेवानुत्तमां गतिम्**' (७।१८), क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) को भी '**माम्**' कहा है—'**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि**' (१३।२), सबके शरीरमें रहनेवाले अन्तर्यामीको भी '**माम्**' कहा है—'**मामात्मपरदेहेषु**' (१६।१८), सम्पूर्ण प्राणियोंके बीजको भी '**माम्**' कहा है—'**बीजं मां सर्वभूतानाम्**' (७।१०) आदि।

तात्पर्य है कि सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार तथा मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, भूत, प्रेत, पिशाच आदि जो कुछ भी है, वह सब मिलकर भगवान्का ही समग्ररूप है अर्थात् सब भगवान्की ही विभूतियाँ हैं, उनका ही ऐश्वर्य है। ये सब-की-सब विभूतियाँ अव्यय (अविनाशी) हैं। इसलिये गीताने समग्ररूप अर्थात् विराट्रूपको भी अव्यय कहा है—'**योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्**' (११।४), '**त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता**' (११।१८), निर्गुण-निराकारको भी अव्यय कहा है—'**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च**' (१४।२७), '**सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते**' (१८।२०), सगुण-साकारको भी अव्यय कहा है—'**तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्**' (४।१३), '**परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्**' (७।२४), '**मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्**' (७।२५), '**यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः**' (१५।१७), परमपदको भी अव्यय कहा है—'**पदमव्ययम्**' (१५।५, १८।५६), योगको भी अव्यय कहा है—'**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्**' (४।१), विज्ञानसहित ज्ञानको भी अव्यय कहा है—'**सुसुखं कर्तुमव्ययम्**' (९।२)।

सब कुछ भगवान् ही हैं—इसका अनुभव करनेवाले भक्तको भगवान्ने अत्यन्त दुर्लभ महात्मा कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(गीता ७।१९)

यहाँ '**वासुदेवः**' शब्द पुँल्लिङ्गमें आया है; अतः यहाँ 'वासुदेवः सर्वः' कहा जाना चाहिये था। परन्तु यहाँ '**सर्वः**' न कहकर '**सर्वम्**' कहा गया है, जो नपुंसकलिङ्गमें है। अगर तीनों लिङ्गों (**सर्वः, सर्वा, सर्वम्**), का एकशेष किया जाय तो नपुंसकलिङ्ग (**सर्वम्**) ही एकशेष रहता है। नपुंसक-लिङ्गके अन्तर्गत तीनों लिङ्ग आ जाते हैं। अतः '**सर्वम्**' शब्दमें स्त्री, पुरुष और नपुंसक—सबका समाहार हो जाता है। गीतामें जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंके लिये

---

* गीतामें भगवान्ने कारणरूपसे सत्रह विभूतियाँ (७।८—१२), कार्यकारणरूपसे सैंतीस विभूतियाँ (९।१६—१९), भावरूपसे बीस विभूतियाँ (१०।४।५), व्यक्तिरूपसे पचीस विभूतियाँ (१०।६), मुख्यरूपसे तथा अधिपतिरूपसे इक्यासी विभूतियाँ (१०।२०—३८), साररूपसे एक विभूति (१०।३९) और प्रभावरूपसे तेरह विभूतियाँ (१५।१२—१५) बतायी हैं।

पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—इन तीनों ही लिङ्गोंका प्रयोग हुआ है* । इससे तात्पर्य निकलता है कि जगत् जीव और परमात्मा—ये तीनों ही '**सर्वम्**' शब्दके अन्तर्गत हैं। अतः तीनों लिङ्गोंसे कही जानेवाली सब-की-सब वस्तुएँ, व्यक्ति, परिस्थिति आदि परमात्मा ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**।' इसमें '**सर्वम्**' तो असत् है और '**वासुदेवः**' सत् है। असत्का भाव विद्यमान नहीं है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २ । १६)

तात्पर्य है कि सत्-ही-सत् है, असत् है ही नहीं। वासुदेव-ही-वासुदेव है, '**सर्वम्**' है ही नहीं। सत्का होनापना स्वतःसिद्ध है और असत्का न होनापना स्वतःसिद्ध है। सत्, चित्, आनन्द तथा अद्वैतका भाव-ही-भाव है और असत्, जड, दुःख तथा द्वैतका अभाव-ही-अभाव है। जब असत्की सत्ता ही नहीं है तो फिर सत्-ही-सत् रहा—यही '**वासुदेवः सर्वम्**' है।

विवेक वहीं काम करता है, जहाँ सत् और असत्—दोनोंका विचार होता है। जब असत् है ही नहीं तो फिर विवेक क्या करे? असत्को मानें तो विवेक है और असत्को न मानें तो विश्वास है। विवेकमें सत्-असत्का विभाग है, विश्वासमें विभाग है ही नहीं। विश्वासमें केवल सत्-ही-सत् अर्थात् परमात्मा-ही-परमात्मा हैं।

असत्की सत्ता माननेसे ही संयोग और वियोग हैं। असत्को सत्ता न दें तो न संयोग है, न वियोग है, प्रत्युत 'योग' (नित्ययोग) है।

प्रश्न—असत्की सत्ता न मानते हुए भी असत्का आकर्षण क्यों रहता है? काम, क्रोध, लोभ, अभिमान आदि दोष क्यों रहते हैं?

उत्तर—इसलिये रहते हैं कि असत्की सत्ता न होते हुए भी उसकी सत्ता स्वीकार कर ली और उससे भी अधिक उसकी महत्ता, श्रेष्ठता स्वीकार कर ली। मनुष्य भूतकालके दोषको स्वीकार करके ही अपनेको दोषी मानता है, जबकि भूतकाल अभी है ही नहीं। दोष आगन्तुक है, पर निर्दोषता स्वतःसिद्ध है। दोष आनेसे पहले भी निर्दोषता थी और दोष जानेके बाद भी निर्दोषता रहेगी। अतः दोषके समय भी निर्दोषता निरन्तर ज्यों-की-त्यों है, पर उधर मनुष्यकी दृष्टि नहीं जाती। दोष तो आता-जाता है, फिर रहनेवाली तो निर्दोषता ही हुई। अतः निर्दोषता सच्ची है, दोष सच्चा नहीं है। जो आगन्तुक है, वह सच्चा कैसे हो सकता है?

जब त्याज्य वस्तु (असत्) है ही नहीं तो फिर किसका त्याग करें? किसका निषेध करें? एक कहावत है—'नंगा क्या धोवे और क्या निचोड़े?' जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसके त्यागका अभिमान कैसे? न त्याग है, न त्यागका अभिमान है और न त्यागी है, होना सम्भव ही नहीं! मनुष्य दिनमें एक-दो घण्टे व्याख्यान देता है, पर 'मैं वक्ता हूँ'—यह फूँक हरदम भरी रहती है। वास्तवमें सभी मनुष्य वक्ता और श्रोता हैं; क्योंकि सभी बोलते हैं और सभी सुनते हैं। परन्तु मनुष्यमें वक्तापनका अभिमान तब आता है, जब उसमें यह भाव आ जाता है कि 'मैं समझता हूँ, दूसरे नहीं समझते; मेरेमें समझ है, दूसरेमें समझ नहीं है; और मैंने समझ लिया है, दूसरेने नहीं समझा है। अतः मैं दूसरोंको समझाता हूँ अथवा समझा सकता हूँ।' वास्तवमें समझदार वही है, जो अपनेको बेसमझ मानता है। अर्थात् जिसमें समझदारीका अभिमान नहीं है†।

वास्तविक दृष्टिसे देखें तो सब कुछ वासुदेव ही है। समझदार भी वही है, बेसमझ भी वही है और समझ भी वही है। वक्ता भी वही है, श्रोता भी वही है और व्याख्यान भी वही है। वे ही अनेक रूपोंसे तरह-तरहकी लीलाएँ करते हैं। इस वास्तविकताको जाननेपर फिर कौन अभिमान करे और किसका अभिमान करे? तात्पर्य है कि जो नहीं है, उसको सत्ता और महत्ता देनेसे ही अभिमान आदि सब दोष आते हैं।

भगवान् कहते हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

(गीता ७ । १२)

'जितने भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव हैं, वे

* द्रष्टव्य—'गीता-दर्पण'में लेख-संख्या ९९—'गीतामें ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृतिकी अलिङ्गता।'

† भर्तृहरिजी कहते हैं—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतं तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥ (नीतिशतक)

'जब मैं थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त करके हाथीके समान मदान्ध हो रहा था, उस समय मेरा मन 'मैं सब जाननेवाला हूँ' ऐसा सोचकर घमण्डसे पूर्ण था। परन्तु जब विद्वानोंके संगसे कुछ-कुछ ज्ञान होने लगा, तब 'मैं तो मूर्ख हूँ' ऐसा समझनेके कारण मेरा वह मद ज्वरकी तरह उतर गया।'

सब मेरेसे ही होते हैं—ऐसा समझो। परन्तु मैं उनमें और वे मेरेमें नहीं हैं।'

अपना कुछ स्वार्थ रखें, लेनेकी इच्छा रखें, तभी सात्त्विक, राजस और तामस—तीन भेद होते हैं। यदि अपना कोई स्वार्थ न रखें तो ये भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। इनको अपने लिये मानना, इनसे सुख लेना ही पतनका कारण है।

सात्त्विक-राजस-तामस भावोंमें भगवान् नहीं हैं और भगवान्‌में सात्त्विक-राजस-तामस भाव नहीं है—इसका तात्पर्य है कि सात्त्विक-राजस-तामस भाव (पदार्थ और क्रियाएँ) हैं ही नहीं, प्रत्युत सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान्‌से उत्पन्न होनेके कारण सब भाव भगवान्‌के ही स्वरूप हुए (गीता १०।४-५)।

प्रश्न—जब सात्त्विक, राजस और तामस—सभी भाव परमात्मासे ही प्रकट होते हैं तो फिर 'मैं उनमें नहीं हूँ, वे मेरेमें नहीं हैं'—यह कैसे ?

उत्तर—जैसे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि और मूर्च्छा—ये पाँचों अवस्थाएँ हमारेमें होनेपर भी हम इन पाँचोंसे अतीत हैं। कारण कि अवस्थाएँ बदलती हैं, पर हम वही रहते हैं। इन अवस्थाओंके भाव, अभाव और परिवर्तनका अनुभव तो सबको होता है, पर अपने अभाव और परिवर्तनका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। अगर हम अवस्थाओंमें होते और अवस्थाएँ हमारेमें होतीं तो हम सदा एक अवस्थामें ही रहते और अवस्थाका परिवर्तन होता ही नहीं। अवस्थाओंके परिवर्तनका अनुभव उसीको हो सकता है, जो अवस्थाओंसे अतीत और अपरिवर्तनशील है। ऐसे ही सात्त्विक, राजस और तामस भावोंमें परिवर्तन होता रहता है, पर परमात्मा ज्यों-के-त्यों रहते हैं। अतः परमात्मासे सब कुछ होते हुए भी वे सबसे अतीत हैं।

परमात्मतत्त्व अक्रिय है। परन्तु अक्रिय होनेपर भी वह सम्पूर्ण क्रियाओं और शक्तियोंका केन्द्र है। सभी सक्रियता उस अक्रिय तत्त्वसे ही आती है। जैसे, सुषुप्ति अवस्थामें हम अक्रिय होते हैं तो उससे शरीरमें एक शक्ति, ताजगी, स्फूर्ति आती है। सम्पूर्ण सात्त्विक, राजस और तामस भाव (पदार्थ और क्रिया) उसीसे प्रकट होते हैं। उसमें सब कुछ है और कुछ नहीं है। एक सिद्धान्त है कि जिसमें कुछ नहीं होता, उसमें सब कुछ होता है और जिसमें सब कुछ होता है, उसमें कुछ नहीं होता। अतः सबसे अतीत होता हुआ भी सब कुछ वही है। मालिक भी वही है, दास भी वही है। प्रिया भी वही है, प्रियतम भी वही है। भगवान् भी वही है, भक्त भी वही है। साध्य भी वही है, साधक भी वही है। सब कुछ वही होते हुए भी वह सबसे अतीत भी है*। उसीको गीताने 'समग्र' नामसे कहा है। वह समग्र ही **'वासुदेवः सर्वम्'** है।

'मैं उनमें नहीं हूँ, वे मेरेमें नहीं हैं'—ऐसा कहकर भगवान्‌ने यह भाव प्रकट किया है कि यदि कोई मनुष्य मेरेको सत्ता और महत्ता न देकर सात्त्विक, राजस और तामस गुण, पदार्थ तथा क्रियाको सत्ता और महत्ता देगा, वह जन्म-मरणमें चला जायगा—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३।२१)। 'सब गुण मेरेसे ही उत्पन्न होते हैं'—ऐसा कहकर भगवान्‌ने यह भाव प्रकट किया है कि साधककी दृष्टि इन गुणोंकी तरफ न जाकर मेरी (गुणातीतकी) तरफ ही जानी चाहिये अर्थात् मेरी सत्ता मानकर मेरेको ही महत्ता देनी चाहिये, जिससे कि मेरी प्राप्ति हो जाय।

परमात्मा शरीरमें 'हूँ' रूपसे और संसारमें 'है' रूपसे विद्यमान हैं†। 'हूँ' और 'है' एक हैं तथा शरीर और संसार एक हैं। एक तरफ 'हूँ' और एक तरफ 'है' है तथा इन दोनोंके बीचमें शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि और उनका विषय अर्थात् संसार (मैं-पन)की मान्यता है। 'हूँ' और 'है' सत् हैं तथा शरीर और संसार असत् हैं। सत्-सत् एक रहा, बीचमें असत्

---

* (१) सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ (गीता १३।१४)

'वे परमात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करनेवाले हैं, आसक्तिरहित हैं और सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण करनेवाले हैं, तथा गुणोंसे रहित हैं और सम्पूर्ण गुणोंके भोक्ता हैं।'

(२) अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। (श्वेताश्वतर० ३।१९)

'वे परमात्मा हाथ-पैरोंसे रहित होनेपर भी ग्रहण करनेमें समर्थ तथा वेगपूर्वक चलनेवाले हैं। वे नेत्रोंके बिना ही देखते हैं और कानोंके बिना ही सुनते हैं।'

(३) बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥ (मानस, बाल० ११८।३-४)

† शरीरको 'मैं' माननेके कारण ही 'हूँ' कहा जाता है। अगर मैं-पन (अहम्) न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' ही रहेगा।

आ गया। असत्‌को सत्ता और महत्ता देनेसे ही 'हूँ' और 'है'के बीचमें आड़ (मैं-पन) आ गयी। यह आड़ न रहे तो 'हूँ' का आकर्षण स्वतः 'हैं' में हो जायगा—यही प्रेम है। कारण कि अंशीकी तरफ अंशका आकर्षण स्वतः होता है; जैसे—पृथ्वीका अंश होनेसे ऊपर फेंके गये पत्थरका आकर्षण स्वतः पृथ्वीकी तरफ होता है और सूर्यका अंश होनेसे अग्निकी लपटें स्वतः ऊपर उठती हैं।

रामायणमें आया है—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस, बाल० ११७।४)

—यहाँ 'असत् माया' न कहकर 'जड माया' कहनेसे दो अर्थ निकलते हैं—(१) जिसकी सत्यतासे असत् माया भी मूढ़तासे सत् दीखती है और (२) जिसकी चेतनतासे जड माया भी मूढ़तासे चेतन दीखती है, वह सत् और चेतन तत्त्व परमात्मा हैं—

ब्यापक एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥

(मानस, बाल० २३।३)

परमात्मामें जगत्‌को देखना नास्तिकता है; क्योंकि वास्तवमें जगत् है नहीं। जगत्‌में परमात्माको देखना आस्तिकता है; क्योंकि वास्तवमें परमात्मा ही हैं। नास्तिक संसारी होता है और आस्तिक साधक होता है। कल्याण आस्तिकका होता है, नास्तिकका नहीं; क्योंकि नास्तिककी दिशा विपरीत है।

परमात्मामें जगत्‌को देखनेसे जगत् ही दीखता है, परमात्मा नहीं दीखते और जगत्‌में परमात्माको देखनेसे परमात्मा ही दीखते हैं, जगत् नहीं दीखता। जगत्‌में परमात्माको देखनेका साधन है—जगत्‌की वस्तुओंको केवल सेवा-सामग्री मानना और व्यक्तियोंको परमात्माका स्वरूप मानकर उस सेवा-सामग्रीसे उनकी सेवा करना, उनको सुख पहुँचाना। सेवा-सामग्रीको अपनी न मानकर सेव्य (परमात्मा) की ही माने। जैसे, गङ्गाजलसे गङ्गाका पूजन किया जाय, दीपकसे सूर्यका पूजन किया जाय, ऐसे ही भगवान्‌की ही वस्तु भगवान्‌के अर्पित करनी है—**'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'**। अगर वस्तुओंको अपनी मानकर उनसे सुख लेंगे तो वस्तुएँ बड़ी हो जायँगी और हम छोटे (दास) हो जायँगे। इतना ही नहीं, देहाभिमान मुख्य होनेसे हम जडतामें चले जायँगे, हमारी चेतनता आच्छादित हो जायगी।

भगवान् कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(मानस, किष्किन्धा० ३)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

'जिस परमात्मासे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्मके द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

यदि व्यक्तियोंको परमात्माका स्वरूप मानकर वस्तुओंसे उनकी सेवा की जाय तो संसार लुप्त हो जायगा और परमात्मा प्रकट हो जायँगे अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इसका अनुभव हो जायगा। जैसे रस्सीमें साँपका भ्रम मिटनेपर साँप तो लुप्त हो जाता है, पर रस्सी तो रहती ही है, ऐसे ही परमात्मामें जगत्‌का भ्रम मिटनेपर जगत् तो लुप्त हो जाता है, पर परमात्मा तो रहते ही हैं। संसारकी तो मान्यता है, पर 'परमात्मा हैं' यह वास्तविकता है।

भगवान् कहते हैं—

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥

(श्रीमद्भा० ११।२९।१५)

जब साधक समस्त स्त्री-पुरुषोंमें निरन्तर मेरा ही भाव करता है अर्थात् मेरेको ही देखता है*, तब शीघ्र ही उसके चित्तसे स्पर्द्धा, ईर्ष्या, तिरस्कार आदि दोष अहङ्कारके सहित दूर हो जाते हैं।'

यही बात सन्तोंने भी कही है—

तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूँ तित तू॥

गीतामें संसारको परमात्माका स्वरूप भी कहा गया है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (७।१९) और दुःखालय (दुःखोंका घर) भी कहा गया है—**'दुःखालयमशाश्वतम्'** (८।१५)। इसका तात्पर्य है कि जो संसारकी वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सुख लेता है, उसके लिये तो संसार भयंकर दुःख देनेवाला है, पर जो वस्तु और क्रियासे व्यक्तियोंकी सेवा करता है, उसके लिये संसार परमात्माका स्वरूप है। सुखकी आशा, कामना और भोग महान् दुःखोंके कारण हैं। इसलिये वस्तु, व्यक्ति और

* स्त्री-पुरुषोंमें भगवान्‌को देखनेके लिये इसलिये कहा है कि हम अधिकतर स्त्री-पुरुषोंमें ही गुण-दोष देखते हैं, जिससे उनमें भगवद्भाव नहीं होता। अतः स्त्री-पुरुषोंमें गुण-दोष न देखकर केवल भगवान्‌को देखनेसे सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंमें सुगमतासे भगवद्भाव हो जायगा।

क्रियासे सुख लेना ही नहीं है। जिस क्षण सुखबुद्धिका त्याग है, उसी क्षण परमात्माकी प्राप्ति है— **'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२)।

वस्तुओंको व्यक्तियोंकी सेवामें लगाना साधन है और वस्तुओं तथा व्यक्तियोंसे सुख लेना घोर असाधन है। जिसके जीवनमें कभी साधन और कभी असाधन रहता है, उसके जीवनमें असाधनकी ही मुख्यता रहती है। सुखभोग और संग्रह ही जिसका उद्देश्य है, वह असाधक है। ऐसा मनुष्य साधन करना तो दूर रहा, साधन करनेका निश्चय भी नहीं कर सकता*। परन्तु जिसका उद्देश्य भोग और संग्रहका है ही नहीं, प्रत्युत केवल परमात्मप्राप्तिका है, वह साधक है। ऐसा मनुष्य यदि किसी कारणसे दुराचारी भी हो तो भी शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और परमशान्तिको प्राप्त हो जाता है।†

प्रश्न—जब सब कुछ भगवान् ही हैं तो फिर यह संसार कहाँसे आया? जीव संसार-बन्धनमें कैसे पड़ा?

उत्तर—संसार न तो भगवान्‌की दृष्टिमें है और न जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महात्माकी दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टि (मान्यता) में है। अतः संसारको सत्ता और महत्ता जीवने दी है—**'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। जीव वास्तवमें संसारमें नहीं फँसा है, प्रत्युत अपनी भावनामें फँसा है—

सब जग ईश्वर-रूप है, भलो बुरो नहिं कोय।
जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय॥

जीवने संसारकी सत्ता मान ली और सत्ता मानकर उसको महत्ता दे दी। महत्ता देनेसे कामना अर्थात् सुखभोगकी इच्छा पैदा हुई, जिससे जीव जन्म-मरणमें पड़ गया। तात्पर्य यह हुआ कि एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता माननेसे ही जीव संसार-बन्धनमें पड़ा है। अतः दूसरी सत्ता न माननेकी जिम्मेवारी जीवकी ही है। अगर वह संसारकी सत्ता न माने तो संसार है ही कहाँ?

ज्ञानमार्गमें तो अज्ञान बाधक है, पर भक्तिमार्गमें एक भगवान्‌के सिवाय अन्यकी सत्ता और महत्ता बाधक है। कारण कि वास्तवमें अज्ञानकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं, अधूरे तथा विपरीत ज्ञानको ही ज्ञान कह देते हैं। इसी तरह भगवान्‌के सिवाय अन्यकी सत्ता है ही नहीं, भगवान्‌के ऐश्वर्यको ही संसार कह देते हैं। अज्ञान मिटता है विवेकका आदर करनेसे और अन्यकी सत्ता मिटती है भोगबुद्धिका त्याग करनेसे‡।

प्रश्न—पहलेसे ही सुखभोगकी जो आदत पड़ी हुई है, वह कैसे मिटे?

उत्तर—सुखभोगकी आदत मिटानेके लिये उद्देश्य और अहंता—दोनोंको बदलना आवश्यक है। मनुष्यशरीर भोग भोगनेके लिये है ही नहीं—***'एहि तन कर फल बिषय न भाई'*** (मानस, उत्तर॰ ४४। १)। अतः मेरा उद्देश्य भोग और संग्रह करनेका नहीं है, प्रत्युत परमात्माको प्राप्त करनेका ही है—यह उद्देश्यको बदलना है। मैं भोगी नहीं हूँ, प्रत्युत मैं तो साधक ही हूँ—यह अहंताको बदलना है। मनुष्य उद्देश्यको दृढ़ करता नहीं और अहंताको बदलता नहीं, इसी कारण उसकी आदत नहीं सुधरती। आदतका सुधार किये बिना मनुष्य भले ही व्याख्यान दे दे, सब शास्त्र पढ़ ले, पुस्तकें लिख ले, लोगोंकी दृष्टिमें महात्मा बन जाय तो भी उसका कल्याण नहीं हो सकता।

एक बार मथुराके कुछ सज्जन रातको भोजन करके, भाँग पीकर विश्रामघाटपर आये और एक नौकापर बैठ गये। उन्होंने विचार किया कि यमुना स्वतः प्रयागराज जाती है और हमें भी प्रयागराज जाना है; अतः नौकामें बैठकर हम सुगमतासे

---

* भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (गीता २। ४४)

'उस पुष्पित (भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिका वर्णन करनेवाली) वाणीसे जिनका अन्तःकरण भोगोंकी तरफ खिंच गया है और भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती।'

† अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ (गीता ९। ३०-३१)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है। वह तत्काल धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे कुन्तीनन्दन! तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरे भक्तका विनाश (पतन) नहीं होता।'

‡ अज्ञानको मिटानेकी चिन्ता ज्ञानमार्गीको होती है, भक्तिमार्गीको नहीं। भक्तिमार्गीका अज्ञान तो भगवान् मिटा देते हैं (गीता १०। ११)। राग-द्वेष ज्ञानमार्गीके लिये भी बाधक हैं और भक्तिमार्गीके लिये भी। राग-द्वेष पैदा होते हैं—अन्यको सत्ता देनेसे। भक्तिमार्गी अन्यकी सत्ता मानता ही नहीं—'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं' (मानस, अरण्य॰ ५। ६)। परन्तु ज्ञानमार्गी अन्यकी सत्ताको मिटाता है, जिससे सत्ता और दृढ़ होती है; क्योंकि मूलमें उसने अन्यको सत्ता दे दी, तभी तो उसको मिटानेका उद्योग करता है!

प्रयागराज पहुँच जायँगे। ऐसा विचार करके उन्होंने 'जय यमुना मैयाकी' कहा और नौका खेने लगे। वे रातभर नौका खेते रहे। सुबह होते ही उन्होंने एक शहर देखा तो किसी व्यक्तिसे पूछा कि यह कौन-सा शहर है ? उसने बताया—यह मथुरा है। फिर पूछा कि यह घाट कौन-सा है ? उसने कहा—विश्रामघाट। वे बोले—अरे ! हम तो विश्रामघाटसे ही चले थे और वहीं पहुँच गये, क्या बात है ? देखा तो पता चला कि नौकाकी रस्सी तो खोली ही नहीं और रातभर यों ही नौका खेनेकी मेहनत करते रहे ! उद्देश्यको दृढ़ किया नहीं और अहंताको बदला नहीं—यही रस्सीको न खोलना है।

प्रश्न—'मैं साधक हूँ'—इस तरह अहंताको बदलनेपर तो अभिमान आ जायगा, जिससे साधकका पतन होगा ?

उत्तर—अहंता बदलनेसे साधकमें यह भाव आयेगा कि मैं साधक हूँ तो साधनसे विरुद्ध कोई कार्य कर ही नहीं सकता। मैं साधक हूँ तो असाधन कैसे कर सकता हूँ ? मैं सत्यवादी हूँ तो असत्य कैसे बोल सकता हूँ ? मैं ईमानदार हूँ तो बेईमानी कैसे कर सकता हूँ ? मैं साहूकार हूँ तो चोरी कैसे कर सकता हूँ ? जैसी अहंता होगी, वैसी ही क्रिया होगी। अभिमान तभी आता है, जब साधक दूसरोंको सामने रखता है, उसके साथ अपनी तुलना करता है। दूसरोंको देखनेसे उसको उनकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता दीखती है, जिससे अभिमान आ जाता है। दूसरोंके कर्तव्यको देखना अपना कर्तव्य नहीं है, प्रत्युत अकर्तव्य है। इसलिये साधकको केवल अपने कर्तव्यका पालन करना है। दूसरे अपने कर्तव्यका पालन करते हैं या नहीं, उधर दृष्टि ही नहीं डालनी है। फिर साधकमें अभिमान नहीं आयेगा। भक्त तो दूसरोंको भगवान्‌का स्वरूप मानता है—***'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'*** (मानस, किष्किन्धा० ३)। इसलिये उसमें अभिमान आता ही नहीं। तात्पर्य है कि दूसरोंको असाधक माननेसे ही साधकमें अभिमान आता है। दूसरोंको असाधक मानना असाधन है, जो पतन करनेवाला है। इसलिये साधकका यह भाव रहना चाहिये कि मैं साधक हूँ तो साधन करनेके लिये, न कि दूसरोंको असाधक माननेके लिये।

अहम्‌में बैठी हुई बात निरन्तर रहती है। अतः मैं साधक हूँ—ऐसी अहंता होनेपर साधकके द्वारा निरन्तर साधन होगा। साधन करते समय और सांसारिक कार्य करते समय—दोनों ही समय वह साधक रहेगा और उससे साधन-विरुद्ध क्रिया नहीं होगी। निरन्तर साधन होनेसे उसकी अहंता सुगमतासे मिट जायगी। साधककी साधनसे और साधनकी साध्यसे अभिन्नता होती है। इसलिये अहंता मिटनेपर साधकपना न रहकर साधनमात्र रह जाता है। साधनमात्र रहते ही साधन साध्यमें लीन हो जाता है। फिर एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं रहता।

प्रश्न—सब कुछ भगवान् ही हैं—यह बात वास्तविक होते हुए भी समझमें क्यों नहीं आती ?

उत्तर—अपनेमें सकामभाव होना और भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ताको मानकर उसको महत्त्व देना—इन दो कारणोंसे 'सब कुछ भगवान् ही हैं' यह बात समझमें नहीं आती। अगर हम अपनेमें कामना न रखें और सबमें भगवद्-बुद्धि रखें तो **'वासुदेवः सर्वम्'**का अनुभव हो जायगा। अगर इन दोनोंमेंसे एक भी बात सांगोपांग, ठीक तरहसे जीवनमें आ जाय तो कल्याण हो जायगा। परन्तु इसमें भी फर्क यह रहेगा कि कामनाओंके नाशसे मुक्ति तो हो जायगी, पर प्रेम (अनन्तरस) की प्राप्ति नहीं होगी, जबकि सबमें भगवद्बुद्धि होनेसे मुक्तिके साथ-साथ प्रेमकी भी प्राप्ति हो जायगी !

एक मार्मिक बात है कि भगवान्‌को न मानना कामनासे भी अधिक दोषी है। जो भगवान्‌को छोड़कर अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, उनमें यदि कामना रह जाय तो वे जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं—**'गतागतं कामकामा लभन्ते'** (गीता ९।२१)। परन्तु जो केवल भगवान्‌का ही भजन करते हैं, उनमें यदि कामना रह भी जाय तो भगवान्‌की कृपा और भजनके प्रभावसे वे भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं। कामनाके कारण ऐसे भक्तोंके तीन भेद होते हैं—अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु*। इन तीनोंको ही भगवान्‌ने 'उदार' कहा है—**'उदाराः सर्व एवैते'** (७।१८) परन्तु जो भगवान्‌के सिवाय अन्यका भजन करनेवाले हैं, उनको भगवान्‌ने उदार नहीं कहा है, प्रत्युत उनके भजनको अविधिपूर्वक किया गया बताया है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
(गीता ९।२३)

देवताओंको भगवान्‌से अलग समझनेके कारण अर्थात् देवताओंमें भगवद्बुद्धि न होनेके कारण तथा कामना भी होनेके कारण उनकी उपासना अविधिपूर्वक है। तात्पर्य है कि सबमें भगवद्बुद्धि न होना सकामभावसे भी अधिक घातक है। श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं—

* चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ (गीता ७।१६)

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(श्रीमद्भा० २।३।१०)

'जो बुद्धिमान् मनुष्य है, वह चाहे सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो, चाहे सम्पूर्ण कामनाओंसे युक्त हो, चाहे मोक्षकी कामनावाला हो, उसको तो तीव्र भक्तियोगके द्वारा परमपुरुष भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये।'

प्रश्न—भक्तिमें मुख्य बाधक क्या है?

उत्तर—मुख्य बाधक है—कपट, छल, कुटिलता, चालाकी, विश्वासघात, छिपाव, दम्भ, पाखण्ड। काम, क्रोध आदि दोष उतने बाधक नहीं हैं, जितने कपट आदि बाधक हैं। कारण कि काम, क्रोध आदिमें तो साधक उनके परवश हो जाता है, पर कपट आदि स्वतन्त्रतासे करता है। साधक सच्चे हृदयसे काम, क्रोधादि दोषोंको दूर करना चाहता है, पर न चाहते हुए भी वे आ जाते हैं; परन्तु छल, कपट आदिको तो वह जान-बूझकर करता है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥*

(मानस, सुन्दर० ४४।३)

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

(मानस, उत्तर० ८७ क)

भगवान्‌को कपट, छल आदि नहीं सुहाते, जबकि अन्य दोषोंकी तरफ वे देखते ही नहीं—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

(मानस, बाल० २९।३)

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(मानस, उत्तर० १।३)

इसलिये सन्तोंके स्वभावमें आया है—***'सरल सुभाव न मन कुटिलाई'*** (मानस, उत्तर० ४६।१)। सन्तवाणीमें भी कपट त्यागकी बात विशेषरूपसे आयी है; जैसे—

कपट गाँठ मन में नहीं, सबसों सरल सुभाव।
नारायण वा भक्त की, लगी किनारे नाव॥

× × ×

तुलसी सीतानाथ ते मत कर कपट सनेह।
क्या परदा भर्तार सों जिन्ह देखी सब देह॥

× × ×

जग चतुराई छोड़कर, होय मूढ़ भज राम॥

हम काम-क्रोधादि दोषोंको दूर करना चाहते हैं, फिर भी वे अपनेसे दूर नहीं होते तो यह निर्बलता (कमजोरी) है। परन्तु कपट आदि करना निर्बलता नहीं है, प्रत्युत अपनेको सबल मानकर किया गया अपराध है। जो निर्बल है, उसपर प्रायः हरेकको दया आती है, पर जो कपटी है, उसपर क्रोध आता है। इसलिये भगवान् निर्बलोंके हैं, कपटियोंके नहीं—

'सुने री मैंने निरबल के बल राम'

'अशक्तानां हरिर्बलम्' (ब्रह्मवैवर्त० गण० ३५।९६)

जिस तरह भक्तिमें कपट, छल आदि बाधक होते हैं, उसी तरह भागवत-अपराध भी बाधक होता है। भगवान् अपने प्रति किया गया अपराध तो सह सकते हैं, पर अपने भक्तके प्रति किया गया अपराध नहीं सह सकते। देवताओंने मन्थरामें मतिभ्रम पैदा करके भगवान् रामको सिंहासनपर नहीं बैठने दिया तो इसको भगवान्‌ने अपराध नहीं माना। परन्तु जब देवताओंने भरतजीको भगवान् रामसे न मिलने देनेका विचार किया, तब देवगुरु बृहस्पतिने उनको सावधान करते हुए कहा—

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥
जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥
लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं दुरबासा॥

(मानस, अयोध्या० २१८।२-३)

शंकरजी भगवान् रामके 'स्वामी' भी हैं, 'दास' भी हैं और 'सखा' भी हैं—***'सेवक स्वामि सखा सिय पी के'*** (मानस, बाल० १५।२)। इसलिये शंकरजीसे द्रोह करनेवालोंके लिये भगवान् राम कहते हैं—

सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा॥
संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥

(मानस, लंका० २।४।२)

अतः साधकको इस भागवत-अपराधसे बचना चाहिये।

प्रश्न—भागवत-अपराधसे बचनेका उपाय क्या है?

उत्तर—भागवत-अपराधसे बचनेका उपाय है—किसीका भी अपराध न करे अर्थात् किसीका भी तिरस्कार, विरोध, निन्दा, द्वेष, खण्डन न करे। कारण कि कौन भक्त है और कौन भक्त नहीं है—इसकी पहचान नहीं हो सकती।

हमारे द्वारा किसीका भी तिरस्कार, विरोध न हो—इसके

* मनुष्य 'कपट' अपने हृदयमें रखता है, 'छल' में वह दूसरोंको ठगता है, और 'छिद्र' में वह दूसरोंके दोष ढूँढ़ता है। इसलिये ये दोष ज्यादा बाधक हैं।

लिये सबमें भगवद्भाव करना ही एकमात्र निरापद साधन है। कारण कि किसीका भी तिरस्कार, विरोध करनेसे सबमें भगवद्भाव नहीं हो सकता—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(मानस, उत्तर० ११२ ख)

——★——

भक्तिकी श्रेष्ठता

ज्ञान और भक्ति—दोनों ही संसारका दुःख दूर करनेमें समान हैं; परन्तु दोनोंमें ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी महिमा अधिक है। ज्ञानमें तो अखण्ड रस है, पर भक्तिमें अनन्त रस है। अनन्त रसमें लहरोंवाला, उछालवाला एक बहुत विलक्षण आनन्द है। जैसे संसारमें किसी वस्तुका ज्ञान होता है कि ये रुपये हैं, यह घड़ी आदि है तो यह ज्ञान अज्ञान (अनजानपने) को मिटाता है, ऐसे ही तत्त्वका ज्ञान अज्ञानको मिटाता है। अज्ञान मिटनेसे दुःख, भय, जन्म-मरणरूप बन्धन—ये सब मिट जाते हैं। ये दुःख, भय आदि सब अज्ञानसे ही उत्पन्न होते हैं। जैसे रातके अँधेरेमें मनुष्य पहचानवाली जगहपर भी धीरे-धीरे चलता है कि कहीं ठोकर न लग जाय। परन्तु प्रकाश होनेपर उसको ठोकर लगनेका भय नहीं होता और वह दौड़कर भी चला जाता है। ऐसे ही अज्ञानान्धकारमें दुःख, भय, सन्ताप आदि होते हैं और ज्ञान होते ही वे मिट जाते हैं। परन्तु प्रेम ज्ञानसे भी विलक्षण है। जैसे 'यह घड़ी है'—ऐसा ज्ञान हो गया तो अनजानपना मिट गया। परन्तु घड़ी पानेकी लालसा हो जाय तो घड़ी मिलनेपर एक विशेष रस आता है। 'ये रुपये हैं'—ऐसा ज्ञान हो गया, पर उनको पानेका लोभ हो जाय कि 'और मिले, और मिले' तो उसमें एक विशेष रस आता है। ऐसे ही भक्तिमें एक विशेष रस आता है कि और अधिक कीर्तन हो, और अधिक पदगान हो, और अधिक भगवच्चर्चा हो। जैसे रुपयोंमें लोभ होता है—*'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'*, ऐसे ही भगवान्‌में प्रेम होता है—**'दिने दिने नवं नवं नमामि नन्दसम्भवम्'**। लोभ (संसारमें आकर्षण) और प्रेम (भगवान्‌में आकर्षण)—दोनोंमें बड़ा अन्तर है। लोभमें दुःख बढ़ता है और प्रेममें आनन्द बढ़ता है। लोभमें कामना, आसक्ति बढ़ती है और प्रेममें त्याग, उपरति बढ़ती है। संसारमें आकर्षण तो दोषोंके कारण होता है, पर भगवान्‌में आकर्षण निर्दोषताके कारण होता है।

ज्ञान कोई निरर्थक या मामूली चीज नहीं है—**'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** (गीता ४। ३८) 'इस मनुष्यलोकमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला दूसरा कोई साधन नहीं है।' ज्ञान अज्ञानको मिटा देता है, शान्ति देता है, मुक्ति देता है। परन्तु ज्ञानमें शान्त, अखण्ड रस रहता है, जबकि भक्तिमें प्रतिक्षण वर्धमान, अनन्त रस रहता है। वह रस कभी समाप्त नहीं होता, निरन्तर बढ़ता ही रहता है। कारण कि प्रेम होनेपर भी उसमें एक विलक्षण कमी रहती है, जिसको 'नित्यवियोग' कहते हैं। उस नित्यवियोगसे प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है। जैसे कीर्तनमें जब रस आने लगता है, तब और रस लें, और रस लें'—ऐसा भाव होता है। पहलेवाला रस कम होता है, तभी 'और रस लें' यह भाव होता है। अतः पहलेवाले रसका वियोग है और आगेवाले रसका योग है। प्रेममें यह वियोग और योग नित्य चलते रहते हैं, इसलिये इसको नित्यवियोग और नित्ययोग कहते हैं।

ज्ञान होनेपर फिर ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रहती, पर प्रेम होनेपर भी प्रेमकी आवश्यकता रहती है। कारण कि ज्ञानमें तो तृप्ति हो जाती है—**'आत्मतृप्तश्च मानवः'** (गीता ३। १७), पर प्रेममें तृप्ति नहीं होती। रामायणमें आया है—

राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥

(मानस, उत्तर० ५३। १)

जो भगवान्‌की लीला सुनकर तृप्त हो जाते हैं, उनको सुननेमें रस तो आता है, पर उन्होंने विशेष रस नहीं जाना है। विशेष रस जाननेसे क्या होता है?

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥

(मानस, अयोध्या० १२८। २-३)

अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं कि आपके अमृतमय वचन सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है—**'भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्'** (गीता १०। १८)। महाराज पृथु भगवान्‌से वर माँगते हैं कि आप मेरेको दस हजार कान दे दीजिये, जिनसे मैं आपकी लीलाओंको सुनता रहूँ—**'विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः'** (श्रीमद्भा० ४। २०। २४)। सुननेपर भी तृप्ति नहीं होती—यह 'नित्यवियोग' है और सुननेमें रस आता है—यह 'नित्ययोग' है।

प्रेमका एक ऐसा रस है, जिसमें विलक्षण, विचित्रता आती ही रहती है। कहाँतक आती है—इसका कोई अन्त ही नहीं है! ज्ञानमें तो अपने स्वरूपका बोध होता है, पर प्रेममें निरन्तर भगवान्‌की तरफ खिंचाव होता है, भगवान् प्यारे लगते हैं, मीठे लगते हैं। हर समय भगवान्‌की कथा सुनते ही रहें, उनकी चर्चा होती ही रहे, उनका चिन्तन होता ही रहे, उनके

पद गाते ही रहें—यह प्रेमका विशेष रस है। जैसे लोभीके भीतर धनकी लालसा रहती है, ऐसे ही प्रेमीके भीतर प्रेमकी लालसा रहती है।

ज्ञानमें प्रकृतिके सिवाय कुछ नहीं है* और भक्तिमें भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है†। ज्ञानमार्गमें तो प्रकृति त्याज्य होती है, पर भक्तिमार्गमें त्याज्य वस्तु कोई है ही नहीं! ज्ञान (विवेक) में सत् और असत्, जड और चेतन, नित्य और अनित्य, सार और असार आदि दो वस्तुएँ रहती हैं; परन्तु भक्तिमें एक भगवान् ही रहते हैं। इसलिये भगवान्‌ने 'सब कुछ वासुदेव ही हैं'—इसका अनुभव करनेवाले महात्माको अत्यन्त दुर्लभ बताया है—**'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'** (गीता ७।१९), जबकि ज्ञानीको भगवान्‌ने दुर्लभ नहीं बताया है।

ज्ञानकी दृष्टिसे भगवान् कहते हैं—**'न सत्तन्नासदुच्यते'** (गीता १३।१२) 'उस परमात्मतत्त्वको न सत् कहा जा सकता है और न असत् कहा जा सकता है।' भक्तिकी दृष्टिसे भगवान् कहते हैं—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९।१९) 'हे अर्जुन! सत् और असत् भी मैं ही हूँ।' इसलिये भक्त सब जगह भगवान्‌को ही देखता है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(मानस, किष्किन्धा० ३)

सब भगवान् ही हैं—ऐसा भाव होते-होते फिर मैं-पन भी मिट जाता है और एक परमात्मा-ही-परमात्मा रह जाते हैं।

तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूँ तित तू॥

मैं-तू-यह-वह कुछ नहीं रहता, केवल भगवान् ही रहते हैं। ज्ञानमें भी मैं-तू-यह-वह कुछ नहीं रहता, एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म रह जाता है। परन्तु ज्ञानका आनन्द शान्त, अखण्ड, एकरस रहता है। भक्तिका आनन्द बढ़ता रहता है। प्रेमका स्वभाव ही बढ़ना है। जैसे उबलते हुए दूधमें उछाल आता है, ऐसे ही भक्तिके आनन्दमें उछाल आता रहता है। भगवान् रामको देखकर तत्त्वज्ञानी राजा जनक कहते हैं—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(मानस, बाल० २१६।३)

'ब्रह्मसुख' में अखण्ड रस है और 'अति अनुराग' में अनन्त रस है। तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञान, मुक्ति होनेपर भी स्वयंकी भूखका अत्यन्त अभाव नहीं होता, प्रत्युत स्वयंमें अनन्त रसकी भूख रहती है।

मुक्ति तो कर्मयोगीकी भी हो जाती है। जो ईश्वरको नहीं मानते, उनकी भी मुक्ति हो जाती है। जैन-सम्प्रदायमें भी मोक्षशिलाकी मान्यता है, जहाँ मुक्त पुरुष जाते हैं। अतः ईश्वरको न माननेपर भी मुक्ति अथवा ज्ञान तो हो सकता है, पर प्रेम होना असम्भव ही है। प्रेम बहुत विलक्षण है। भगवान् भी प्रेमीके वशमें होते हैं—**'अहं भक्तपराधीनः'**, ज्ञानीके वशमें नहीं होते। भगवान्‌ने तो सबको विवेकज्ञान दिया हुआ है, जिससे वे मुक्त होकर, जडतासे ऊँचे उठकर मेरे प्रेमी बन जायँ। भगवान् ज्ञानस्वरूप और नित्य परिपूर्ण हैं; अतः उनमें ज्ञानकी भूख (जिज्ञासा) नहीं है, पर प्रेमकी भूख (प्रेम-पिपासा) अवश्य है! इसलिये भगवान् कहते हैं—

'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः'

(गीता १२।१४)

'मेरेमें अर्पित मन-बुद्धिवाला जो मेरा भक्त है, वह मेरेको प्रिय है।'

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'

(गीता ७।१७)

'ज्ञानी (प्रेमी) भक्तको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह भी मेरेको अत्यन्त प्रिय है।'

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु'

(गीता ९।३४; १८।६५)

'तू मेरा भक्त हो जा, मेरेमें मनवाला हो जा, मेरा पूजन करनेवाला हो जा और मेरेको नमस्कार कर।'

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'

(गीता १८।६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा।'

तत्त्वज्ञान देकर भगवान् भी तृप्त हो जाते हैं और ज्ञानी भी तृप्त हो जाता है। परन्तु प्रेम देकर न भगवान् तृप्त होते हैं, न भक्त! प्रेमी भक्तके लिये कुछ भी कर्तव्य, ज्ञातव्य और प्राप्तव्य बाकी न रहनेपर भी उसमें प्रेम निरन्तर बढ़ता रहता है, मिलनकी लालसा नित्य रहती है, ऐसे ही भगवान्‌में भी प्रेम निरन्तर बढ़ता रहता है, तभी वे बार-बार अवतार लेकर तरह-तरहकी लीलाएँ करते हैं। तात्पर्य है कि भक्त और भगवान्—दोनोंमें ही प्रेमकी भूख रहती है। नारदजी कहते

* न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ (गीता १८।४०)

† यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन। न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ (गीता १०।३९)

हैं—'**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्**' (भक्तिसूत्र ४१) 'भगवान्‌में और उनके भक्तमें भेद नहीं है।'

भगवान्‌की माया दुनियाको मोहित करती है, पर भक्तकी माया भगवान्‌को भी मोहित कर देती है! जैसे, बालकका मोह माँको वशमें कर लेता है; क्योंकि वह और किसीका न होकर माँका होता है। ऐसे ही भक्त भगवान्‌का होकर उनको अपने वशमें कर लेता है। भगवान् कहते हैं—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता॥
मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं॥

(मानस, अरण्य० ४३।२—५)

भगवान्‌के छोटे बालक भक्त हैं और बड़े बालक ज्ञानी। जैसे माँको छोटे-बड़े सभी बालक प्रिय लगते हैं, पर वह सँभाल छोटेकी ही करती है, बड़ेकी नहीं; क्योंकि छोटा बालक सर्वथा माँके ही आश्रित रहता है। ऐसे ही भगवान् अपने आश्रित भक्तकी पूरी सँभाल करते हैं। भगवान् स्वयं अपने भक्तके योग (अप्राप्तकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्तकी रक्षा) का वहन करते हैं*। परन्तु ज्ञानीके योग और क्षेमका वहन कौन करे? इसलिये ज्ञानी तो योगभ्रष्ट हो सकता है, पर भक्त योगभ्रष्ट नहीं हो सकता। ज्ञानीका तो ज्ञानमें कमी रहनेसे पतन हो सकता है, पर भक्तका पतन नहीं हो सकता—'**न मे भक्तः प्रणश्यति**' (गीता ९।३१)।

'**न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्**'

(महा० अनु० १४९।१३१)

'भगवान्‌के भक्तोंका कहीं कभी भी अशुभ नहीं होता।'

सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥

(मानस, बाल० १२६।४)

इसलिये भगवान् गीतामें कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(७।१४)

'मेरी यह गुणमयी दैवी माया बड़ी दुरत्यय है अर्थात् इससे पार पाना बड़ा कठिन है। परन्तु जो केवल मेरी ही शरण होते हैं; वे इस मायाको तर जाते हैं।'

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(१२।७)

'हे पार्थ! मेरेमें आविष्ट चित्तवाले उन भक्तोंका मैं मृत्यु-रूप संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ।'

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(१८।५८)

'मेरेमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा।'

ब्रह्मादि देवता भगवान्‌से कहते हैं—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥

(श्रीमद्भा० १०।२।३२)

'हे कमलनयन! जो लोग आपके चरणोंकी शरण नहीं लेते और आपकी भक्तिसे रहित होनेके कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपनेको मुक्त तो मानते हैं, पर वास्तवमें वे बद्ध ही हैं। वे यदि कष्टपूर्वक साधन करके ऊँचे-से-ऊँचे पदपर भी पहुँच जायँ तो भी वहाँसे नीचे गिर जाते हैं।'

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥

(श्रीमद्भा० १०।२।३३)

'परन्तु भगवन्! जो आपके भक्त हैं, जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी उन ज्ञानाभिमानियोंकी तरह अपने साधनसे गिरते नहीं। प्रभो! वे बड़े-बड़े विघ्न डालनेवाली सेनाके सरदारोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय होकर विचरते हैं, कोई भी विघ्न उनके मार्गमें रुकावट नहीं डाल सकता।'

भगवान्‌की स्तुति करते हुए वेद कहते हैं—

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे॥

(मानस, उत्तर० १३।३)

इसलिये भगवान् कहते हैं—

* अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ (गीता ९।२२)

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥

(श्रीमद्भा॰ ११ । १४ । १८)

'उद्धवजी ! मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसारके विषय बार-बार उसे बाधा पहुँचाते रहते हैं, अपनी ओर खींचते रहते हैं, वह भी प्रतिक्षण बढ़नेवाली मेरी भक्तिके प्रभावसे प्रायः विषयोंसे पराजित नहीं होता।'

भक्त जितेन्द्रिय न हो सके तो भी भगवान् उसका पतन नहीं होने देते। परन्तु ज्ञानी जितेन्द्रिय न हो तो उसका पतन हो जाता है; क्योंकि उसकी रक्षा करनेवाला कोई है नहीं—

यस्त्वसंयतषड् वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः ।
ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ॥
सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते मां च धर्महा ।
अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते ॥

(श्रीमद्भा॰ ११ । १८ । ४०-४१)

'जिसने पाँच इन्द्रियाँ और मन—इन छहोंपर विजय नहीं प्राप्त की है, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े और बुद्धिरूपी सारथि बिगड़े हुए हैं और जिसके हृदयमें न ज्ञान है, न वैराग्य है, वह यदि त्रिदण्डी संन्यासीका वेष धारण करके पेट पालता है तो वह संन्यास-धर्मका सत्तानाश ही कर रहा है और अपने पूज्य देवताओंको, अपने-आपको और अपने हृदयमें स्थित मुझको ठगनेकी चेष्टा करता है। अभी उस वेषमात्रके संन्यासीकी वासनाएँ क्षीण नहीं हुई हैं, इसलिये वह इस लोक और परलोक दोनोंसे हाथ धो बैठता है।'

तात्पर्य है कि भगवान्‌का अनादर और अपना अभिमान होनेके कारण ज्ञानमार्गीका पतन हो जाता है। यद्यपि अभिमानके कारण भक्तिमार्गीका भी पतन हो सकता है, तथापि भगवन्निष्ठ होनेके कारण भगवान् उसको सँभाल लेते हैं। कारण कि भक्तमें तो भगवान्‌का बल (आश्रय) रहता है, पर ज्ञानीमें अपना बल रहता है—***'जनहि मोर बल निज बल ताही'*** (मानस, अरण्य॰ ४३ । ५)। अतः भक्तकी रक्षा तो भगवान् कर देते हैं, पर ज्ञानीकी रक्षा कौन करे ? इसलिये ब्रह्माजी भगवान्‌से कहते हैं—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥

(श्रीमद्भा॰ १० । १४ । ४)

'भगवन् ! जैसे थोथी भूसी कूटनेवालेको श्रमके सिवाय और कुछ हाथ नहीं लगता, ऐसे ही जो मनुष्य कल्याणके मार्गरूप आपकी भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञान-प्राप्तिके लिये क्लेश उठाते हैं, उनको क्लेशके सिवाय और कुछ हाथ नहीं लगता !'

ज्ञानमार्गमें 'विवेक' मुख्य है और भक्तिमार्गमें 'विश्वास' मुख्य है। विवेकमें अपनी बुद्धिकी प्रधानता है, पर विश्वासमें भगवान्‌के आश्रयकी प्रधानता है। विवेकमें तो सत्, और असत्, आत्मा और अनात्मा दो हैं, पर विश्वासमें दो नहीं हैं। भक्तिमार्गमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरेका विश्वास ही नहीं है। एक व्रजवासी भक्तसे किसी साधुने कहा कि हम तो कन्हैयाके अनन्य भक्त हैं, तुम क्या हो ? वह भक्त बोला कि हम तो कन्हैयाके फनन्य भक्त हैं। साधुने पूछा कि फनन्य भक्त क्या होता है भाई ? वह बोला कि पहले आप बताओ कि अनन्य भक्त क्या होता है ? साधुने कहा कि जो सूर्य, शक्ति, गणेश, शिव, ब्रह्म आदि किसीको भी नहीं मानता, केवल कन्हैयाको ही मानता है वह अनन्य भक्त होता है। भक्तने कहा कि बाबाजी, हम तो इन सुसुरोंका नाम भी नहीं जानते कि ये कौन होते हैं, इसलिये हम फनन्य भक्त हो गये !

अपरा (जगत्) और परा (जीव)—दोनों प्रकृतियाँ परमात्माकी हैं*। प्रकृति तो परमात्माकी है, पर परमात्मा प्रकृतिके नहीं हैं। जैसे, दियासलाईमें अग्नि तो रहती है, पर उसकी प्रकाशिका और दाहिका शक्ति नहीं रहती; अतः शक्तिके बिना अग्नि रह सकती है, पर अग्निके बिना शक्ति नहीं रह सकती। ऐसे ही प्रकृति (परा-अपरा)के बिना परमात्मा रह सकते हैं, पर परमात्माके बिना प्रकृति नहीं रह सकती। शक्तिमान् शक्तिके अधीन नहीं है, जबकि शक्ति शक्तिमान्‌के अधीन है। अतः जीव और जगत्—दोनों परमात्माके अधीन हैं—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।

(श्वेताश्वतर॰ १ । १०)

क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥

(श्वेताश्वतर॰ ५ । १)

तात्पर्य है कि आत्मा मुख्य नहीं है, प्रत्युत परमात्मा मुख्य हैं। विवेकसे आत्माका बोध (आत्मज्ञान) होता है और विश्वाससे परमात्माका बोध (परमात्मज्ञान) होता है। इसलिये विवेकसे भी विश्वास तेज है।

मनुष्यमें तीन शक्तियाँ हैं—करनेकी शक्ति, जाननेकी

* भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ (गीता ७ । ४-५)

शक्ति और माननेकी शक्ति। प्राप्त करनेकी शक्ति मनुष्यमें नहीं है। प्राप्ति परमात्माकी ही होती है। करने और जाननेकी शक्तिसे प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और स्वरूपका बोध होता है। परन्तु माननेकी शक्तिसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये माननेकी शक्ति अर्थात् विश्वास क्रियाशक्ति और विवेकशक्तिसे भी तेज है।

विश्वास वास्तवमें वही है, जो अविनाशी, अपरिवर्तनशील वस्तुपर हो। नाशवान्, परिवर्तनशील वस्तुपर विश्वास करना विश्वासका महान् दुरुपयोग है। नाशवान् वस्तुपर विश्वास करके ही जीव जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ा है। अतः नाशवान् वस्तुपर विश्वास महान् घातक है। विश्वास-मार्ग (भक्ति) में नाशवान्‌की आसक्ति मिटानेके लिये विवेक बहुत सहायक है। नाशवान्‌का विश्वास विवेक-विरुद्ध है। विवेक-विरुद्ध विश्वास रद्दी हो जाता है। अतः विश्वास विवेक-विरुद्ध नहीं होना चाहिये।

ज्ञानमें स्वरूप मुख्य है और भक्तिमें भगवान् मुख्य हैं। इसलिये ज्ञानी स्वरूपमें स्थित होता है—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४। २४) और भक्त भगवान्‌में स्थित होता है—**'निवसिष्यसि मय्येव'** (गीता १२। ८)। स्वरूपमें स्थित होनेमें अखण्ड रस है और परमात्मामें स्थित होनेमें प्रतिक्षण वर्धमान अनन्त रस है।

ज्ञानीको भक्ति प्राप्त हो जाय, यह नियम नहीं है, पर भक्तको ज्ञानकी प्राप्ति भी हो जाती है, यह नियम है। यद्यपि भक्तको ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है और वह भगवान्‌के चिन्तनमें, प्रेममें मस्त रहता है—**'तुष्यन्ति च रमन्ति च'** (गीता १०। ९), तथापि उसमें किसी प्रकारकी कमी न रहे, इसलिये भगवान् अपनी तरफसे उसको ज्ञान प्रदान करते हैं*। रामायणमें आया है—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज स्वरूपा॥
(मानस, अरण्य० ३६। ५)

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥
(मानस, उत्तर० ११९। २)

जैसे भक्तिमार्गमें प्रेम बढ़ता है, ऐसे ही ज्ञानमार्गमें ज्ञानकी भूमिका बढ़ती रहती है। इसलिये चतुर्थ भूमिकामें ज्ञानप्राप्ति होनेपर भी आगे पाँचवीं, छठी और सातवीं भूमिका होती है। वास्तवमें देखा जाय तो ज्ञान नहीं बढ़ता, प्रत्युत अज्ञान मिटता है। अतः भूमिकाएँ ज्ञानकी नहीं होतीं, प्रत्युत अज्ञानकी होती हैं। ज्यों-ज्यों जडता मिटती है, त्यों-त्यों भूमिका बढ़ती जाती है। परन्तु प्रेमका बढ़ना और तरहका है। ज्ञानमें तो संसारसे उपरति मुख्य है, पर भक्तिमें भगवान्‌की ओर आकर्षण मुख्य है। ज्ञानमें तो असत्‌का त्याग करनेपर भी असत्‌की मानी हुई सूक्ष्म सत्ता (अहम्) साथ रहती है, पर भक्तिमें प्रेम बढ़नेपर असत् स्वतः छूट जाता है—संसारकी याद ही नहीं रहती अर्थात् ज्ञानकी छठी भूमिका 'पदार्थाभावना' स्वतःसिद्ध हो जाती है।

विवेकमें सत् और असत्—दोनों रहते हैं, इसलिये ज्ञानमार्गमें अहम् दूरतक साथ रहता है, जिससे चतुर्थ भूमिकामें तत्त्वज्ञान होनेपर भी पाँचवीं, छठी और सातवीं भूमिका होती है। सूक्ष्म अहम् रहनेके कारण ही दर्शन और दार्शनिकोंमें भेद रहता है; क्योंकि अहं भेदका जनक है। ज्ञानमार्गमें असत्‌का निषेध करते हैं, जिससे असत्‌की सत्ता आती है; क्योंकि असत्‌की सत्ता स्वीकार की है, तभी तो निषेध करते हैं! इसलिये विवेकमार्ग (ज्ञान) में तो द्वैत है, पर विश्वासमार्ग (भक्ति) में अद्वैत है। असत्‌से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद अर्थात् अहम्‌का सर्वथा अभाव प्रेम प्राप्त होनेपर ही होता है। गोस्वामीजी कहते हैं—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥
(मानस, उत्तर० ४९। ३)

अहम्‌का सर्वथा अभाव होनेपर दर्शन और दार्शनिकोंमें भेद नहीं रहता, प्रत्युत **'वासुदेवः सर्वम्'** रहता है।

अध्यास या भ्रम दो प्रकारका होता है—उपाधि-सहित और उपाधि-रहित। जैसे, दर्पणमें मुखका भ्रम उपाधि-सहित है; क्योंकि 'दर्पणमें मुख नहीं है'—इस तरह भ्रमकी निवृत्ति होनेपर भी दर्पणरूपी उपाधि होनेसे दर्पणमें मुख दीखता है। परन्तु रज्जुमें सर्पका भ्रम उपाधि-रहित है; क्योंकि 'यह सर्प नहीं है'—इस तरह भ्रमकी निवृत्ति होनेपर फिर सर्प नहीं दीखता, प्रत्युत रज्जु ही दीखती है। ज्ञानमें 'उपाधि-सहित भ्रम' मिटता है; अतः संसार तो दीखता है, पर उसमें आकर्षण नहीं होता। परन्तु भक्तिमें 'उपाधि-रहित भ्रम' मिटता है; अतः संसार नहीं दीखता, प्रत्युत केवल भगवान् ही दीखते हैं—**'वासुदेवः सर्वम्।'** इसलिये भगवान्‌ने ज्ञानियोंकी अपेक्षा भक्तोंको श्रेष्ठ बताया है।

---

* तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता १०। ११)

'उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके स्वरूप (होनेपन) में रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपकके द्वारा सर्वथा नष्ट कर देता हूँ।'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
(गीता १२ । २)

'मेरेमें मनको लगाकर नित्य-निरन्तर मेरेमें लगे हुए जो भक्त परम श्रद्धासे युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।'

★

अनिर्वचनीय प्रेम

जो मनुष्य संसारसे दुःखी होकर ऐसा सोचता है कि कोई तो अपना होता, जो मुझे अपनी शरणमें लेकर, अपने गले लगाकर मेरे दुःख, सन्ताप, पाप, अभाव, भय, नीरसता आदिको हर लेता, उसको भगवान् अपनी भक्ति प्रदान करते हैं। परन्तु जो मनुष्य केवल संसारके दुःखोंसे मुक्त होना चाहता है, पराधीनतासे छूटकर स्वाधीन होना चाहता है, उसको भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं। मुक्त होनेपर वह 'स्व' में स्थित हो जाता है—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४। २४)। 'स्व'में स्थित होनेपर 'स्व'-पना अर्थात् व्यक्तित्वका सूक्ष्म अहङ्कार रह जाता है, जिसके कारण उसको 'अखण्ड आनन्द' का अनुभव होता है। जीव परमात्माका अंश है। अंशका अंशीकी तरफ स्वतः आकर्षण होता है। अतः 'स्व'में स्थित अर्थात् मुक्त होनेके बाद जब उसको मुक्तिमें भी सन्तोष नहीं होता, तब 'स्व' का 'स्वकीया' (परमात्मा) की तरफ स्वतः आकर्षण होता है। कारण कि मुक्त होनेपर जीवके दुःखोंका अन्त और जिज्ञासाकी पूर्ति तो हो जाती है, पर प्रेम-पिपासा शान्त नहीं होती। तात्पर्य है कि प्रेमकी जागृतिके बिना स्वयंकी भूखका अत्यन्त अभाव नहीं होता। स्वकीयकी तरफ आकर्षण होनेसे अर्थात् प्रेम जाग्रत् होनेसे अखण्ड आनन्द 'अनन्त आनन्द'में बदल जाता है और व्यक्तित्वका सर्वथा नाश हो जाता है।

मुक्त होनेसे पहले जीव और भगवान्‌में जो भेद होता है, वह बन्धनमें डालनेवाला होता है, पर मुक्त होनेके बाद जीव (प्रेमी) और भगवान् (प्रेमास्पद) में जो प्रेमके लिये स्वीकृत भेद होता है, वह अनन्त आनन्द देनेवाला होता है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

(बोधसार, भक्ति॰ ४२)

'बोधसे पहलेका द्वैत मोहमें डाल सकता है, पर बोध हो जानेपर भक्तिके कल्पित अर्थात् स्वीकृत द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

कारण कि बोधसे पहलेका भेद अहम्‌के कारण होता है और बोधके बादका (प्रेमकी वृद्धिके लिये होनेवाला) भेद अहम्‌का नाश होनेपर होता है।

जैसे संसारमें किसी वस्तुका ज्ञान होनेपर ज्ञान बढ़ता नहीं, प्रत्युत अज्ञान मिट जाता है, ऐसे ही ज्ञानमार्गमें स्वरूपका ज्ञान होनेपर अज्ञानको मिटाकर ज्ञान खुद भी शान्त हो जाता है और स्व-स्वरूप स्वतः ज्यों-का-त्यों रह जाता है। इसलिये ज्ञानमार्गमें अखण्ड, शान्त, एकरस आनन्द मिलता है। परन्तु जैसे संसारमें किसी वस्तुमें आसक्ति होनेपर फिर आसक्ति बढ़ती ही रहती है—***'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'***, ऐसे ही भक्तिमार्गमें भगवान्‌में प्रेम होनेपर फिर वह प्रेम बढ़ता ही रहता है। इसलिये भक्तिमार्गमें अनन्त, प्रतिक्षण वर्धमान आनन्द मिलता है। तात्पर्य यह हुआ कि आकर्षणमें जो आनन्द है, वह ज्ञानमें नहीं है। सांसारिक वस्तुका ज्ञान तो बाँधता है, पर स्वरूपका ज्ञान मुक्त करता है। इसी तरह सांसारिक वस्तुका आकर्षण तो अपार दुःख देता है, पर भगवान्‌का आकर्षण अनन्त आनन्द देता है।

अनन्तरसको प्रवाहित करनेवाली प्रेमरूपी नदीके दो तट हैं— नित्यमिलन और नित्यविरह। नित्यमिलनसे प्रेममें चेतना आती है, विशेष विलक्षणता आती है, प्रेमका उछाल आता है और नित्यविरहसे प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है अर्थात् अपनेमें प्रेमकी कमी मालूम देनेपर 'प्रेम और बढ़े, और बढ़े' यह उत्कण्ठा होती है।

अरबरात मिलिबे को निसिदिन,
मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलै ना।

जैसे धनी आदमीमें तीन चीजें रहती हैं—१. धन २. धनका नशा अर्थात् अभिमान और ३. धन बढ़नेकी इच्छा। ऐसे ही प्रेमीमें तीन चीजें रहती हैं—१. प्रेम २. प्रेमकी मादकता, मस्ती और ३. प्रेम बढ़नेकी इच्छा। धनी आदमीमें जो 'धन और बढ़े, और बढ़े'—यह इच्छा रहती है, वह लोभरूपी दोषके बढ़नेसे होती है। परन्तु प्रेमीमें जो 'प्रेम और बढ़े और बढ़े'—यह इच्छा रहती है, वह अहंता-ममतारूपी दोषोंके मिटनेसे होती है।

अहंता-ममतारूपी दोषोंके मिटनेके बाद जहाँ अहंता (मैं-पन) थी, वहाँ 'नित्यमिलन' प्रकट होता है और जहाँ

ममता (मेरा-पन) थी, वहाँ 'नित्यविरह' प्रकट होता है। वास्तवमें नित्यमिलन (नित्ययोग) और नित्यविरह—दोनों जीवमें सदासे विद्यमान हैं, पर भगवान्‌से विमुख होकर संसारके समुख हो जानेसे 'नित्यमिलन'ने अहंताका रूप धारण कर लिया और 'नित्यविरह'ने ममताका रूप धारण कर लिया। अहंता और ममताके पैदा होनेसे प्रेम दब गया और संसारकी आसक्ति या मोह उत्पन्न हो गया। तात्पर्य यह हुआ कि दोषोंके रहनेसे संसारकी आसक्ति बढ़ती है और दोषोंके मिटनेसे शान्ति मिलती है एवं शान्तिमें सन्तोष न करनेसे प्रेम बढ़ता है। संसारमें प्रियता काम-क्रोधादि दोषोंसे होती है, पर भगवान्‌में प्रियता निर्दोषतासे होती है। जबतक अपनेमें थोड़ा भी संसारका आकर्षण है, तबतक प्रेम प्राप्त नहीं हुआ है; क्योंकि प्रेमकी जगह कामने ले ली। प्रेम प्राप्त होनेपर संसारमें किंचिन्मात्र भी आकर्षण नहीं रहता।

प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान तभी होता है, जब उसमें पहली अवस्थाका क्षय और दूसरी अवस्थाका उदय होता है। पहली अवस्थाका त्याग 'नित्यविरह' और दूसरी अवस्थाकी प्राप्ति 'नित्यमिलन' है। वास्तवमें देखा जाय तो प्रेममें क्षय या उदय, त्याग या प्राप्ति है ही नहीं, प्रत्युत प्रेमके नित्य-निरन्तर ज्योंके-त्यों रहते हुए ही प्रतिक्षण वर्धमान होनेसे उसमें क्षय या उदयकी प्रतीति होती है।

प्रेममें प्रेमीको अपनेमें एक कमीका भान होता है, जिससे उसमें 'प्रेम और बढ़े, और बढ़े' यह लालसा (भूख) होती है। अगर सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो 'और बढ़े, और बढ़े' इस लालसामें प्रेमकी प्राप्ति भी है और कमी भी! कमी नहीं है, फिर भी कमी दीखती है। इसलिये प्रेमको अनिर्वचनीय कहा गया है—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्।

(नारद० ५१। ५२)

आनन्द भी आये और कमी भी दीखे—यह प्रेमकी अनिर्वचनीयता है।

जो पूर्णताको प्राप्त हो गये हैं, जिनके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहा, ऐसे महापुरुषोंमें भी प्रेमकी भूख रहती है। उनका भगवान्‌की तरफ स्वतः-स्वाभाविक खिंचाव होता है। इसलिये भगवान् '**आत्मारामगणाकर्षी**' कहलाते हैं। सनकादि मुनि '***ब्रह्मानंद सदा लयलीना***' होते हुए भी भगवल्लीला-कथा सुनते रहते हैं—

आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥

(मानस, उत्तर० ३२। ३)

जब वे वैकुण्ठधाममें गये, तब वहाँ भगवान्‌के चरणकमलोंकी दिव्य गन्धसे उनका स्थिर चित्त भी चंचल हो उठा—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

(श्रीमद्भा० ३। १५। ४३)

'प्रणाम करनेपर उन कमलनेत्र भगवान्‌के चरण-कमलके परागसे मिली हुई तुलसी-मंजरीकी वायुने उनके नासिका-छिद्रोंमें प्रवेश करके उन अक्षर परमात्मामें नित्य स्थित रहनेवाले ज्ञानी महात्माओंके भी चित्त और शरीरको क्षुब्ध कर दिया।'

भगवान् श्रीरामको देखकर तत्त्वज्ञानी जनक भी कह उठे—

सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(मानस, बाल० २१६। २-३)

सर्वथा पूर्ण होते हुए भी भगवान् शंकरके मनमें भगवल्लीला सुननेकी लालसा होती है और जगज्जननी पार्वतीके मनमें सुननेकी लालसा होती है। भगवान् शंकर कैलासको छोड़कर यशोदाजीके पास आते हैं और प्रार्थना करते हैं कि मैया! एक बार अपने लालाका मुख तो दिखा दे! जब वे सतीजीके साथ कैलास जा रहे थे, तब भी मार्गमें भगवान् श्रीरामका दर्शन करके उनकी विचित्र दशा हो गयी—

सतीं सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेषी॥
संकरु जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा॥
भए मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥

इस प्रकार सनकादि, जनक, भगवान् शंकर आदि सभीका स्वाभाविक ही भगवान्‌की तरफ खिंचाव होता है। इस खिंचावका नाम ही प्रेम है। श्रीमद्भागवतमें आया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(१। ७। १०)

'ज्ञानके द्वारा जिनकी चिज्जडग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगुण भी भगवान्‌की निष्काम भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि वे प्राणियोंको अपनी ओर खींच लेते हैं।'

कोई कमी भी न हो और प्रेमकी भूख भी हो—यह प्रेमकी अनिर्वचनीयता है। सत्सङ्गमें लगे हुए साधकोंका यह अनुभव भी है कि प्रतिदिन सत्संग सुनते हुए, भगवान्‌की लीलाएँ सुनते हुए, भजन-कीर्तन करते और सुनते हुए भी न तो उनसे तृप्ति होती है और न उनको छोड़नेका मन ही करता है। उनमें प्रतिदिन नया-नया रस मिलता है, जिसमें भूतकालका रस फीका दीखता है और वर्तमानका रस विलक्षण दीखता है* । इस प्रकार प्रेममें पूर्णता भी है और अभाव भी है—यह प्रेमकी अनिर्वचनीयता है।

ज्ञानमें तो स्वरूपमें स्थिति होती है, जिससे ज्ञानीको सन्तोष हो जाता है—'**आत्मन्येव च सन्तुष्टः**' (गीता ३। १७); परन्तु प्रेममें न स्थिति होती है और न सन्तोष होता है, प्रत्युत नित्य-निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

वास्तवमें प्रेमका निर्वचन (वर्णन) किया ही नहीं जा सकता। अगर उसका निर्वचन कर दें तो फिर वह अनिर्वचनीय कैसे रहेगा ?

डूबै सो बोलै नहीं, बोलै सो अनजान।
गहरो प्रेम-समुद्र कोउ डूबै चतुर सुजान॥

भगवान्‌के ही समग्ररूपका एक अंश अथवा ऐश्वर्य ब्रह्म है—'**ते ब्रह्म तद्विदुः**' (गीता ७। २९), '**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**' (गीता १४। २७)। समग्ररूप (**समग्रम्**) विशेषण है और भगवान् (**माम्**) विशेष्य हैं—'**असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु**' (गीता ७। १)। इसी तरह भगवान्‌ने अधियज्ञ (अन्तर्यामी) को भी अपना स्वरूप बताया है—'**अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे**' (गीता ८। ४)। अतः ब्रह्म विशेषण है और अन्तर्यामी भगवान् विशेष्य हैं। इसलिये ज्ञानीका सम्बन्ध विशेषणके साथ होता है और भक्तका सम्बन्ध विशेष्यके साथ होता है। दूसरे शब्दोंमें, ज्ञानीका सम्बन्ध ऐश्वर्यके साथ होता है और भक्तका सम्बन्ध ऐश्वर्यवान्‌के साथ होता है।

ज्ञानीकी तो ब्रह्मसे 'तात्त्विक एकता' होती है, पर भक्तकी भगवान्‌के साथ 'आत्मीय एकता' होती है। इसलिये भगवान् कहते हैं—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (गीता ७। १८) 'ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है—ऐसा मेरा मत है।' यहाँ 'ज्ञानी' शब्द तत्त्वज्ञानीके लिये नहीं आया है, प्रत्युत 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव करनेवाले ज्ञानी अर्थात् शरणागत भक्तके लिये आया है—'**वासुदेवः सर्वमिति ज्ञानवान् मां प्रपद्यते**' (गीता ७। १९)। ज्ञानी (तत्त्वज्ञानी)-की 'तात्त्विक एकता'में तो जीव और ब्रह्ममें अभेद हो जाता है तथा एक तत्त्वके सिवाय कुछ नहीं रहता। परन्तु भक्तकी 'आत्मीय एकता'में जीव और भगवान्‌में अभिन्नता हो जाती है। अभिन्नतामें भक्त और भगवान् एक होते हुए भी प्रेमके लिये दो हो जाते हैं।

यद्यपि भगवान् सर्वथा पूर्ण हैं, उनमें किंचिन्मात्र भी अभाव नहीं है, फिर भी वे प्रेमके भूखे हैं—'**एकाकी न रमते**' (बृहदारण्यक० १। ४। ३)। इसलिये भगवान् प्रेम-लीलाके लिये श्रीजी और कृष्णरूपसे दो हो जाते हैं—

येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्।
(राधातापनीयोपनिषद्)

वास्तवमें श्रीजी कृष्णसे अलग नहीं होतीं, प्रत्युत कृष्ण ही प्रेमकी वृद्धिके लिये श्रीजीको अलग करते हैं। तात्पर्य है कि प्रेमकी प्राप्ति होनेपर भक्त भगवान्‌से अलग नहीं होता, प्रत्युत भगवान् ही प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमके लिये भक्तको अलग करते हैं। इसलिये प्रेम प्राप्त होनेपर भक्त और भगवान्—दोनोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। दोनों ही एक-दूसरेके भक्त और दोनों ही एक-दूसरेके इष्ट होते हैं। तत्त्वज्ञानसे पहलेका भेद (द्वैत) तो अज्ञानसे होता है, पर तत्त्वज्ञानके बादका (प्रेमका भेद भगवान्‌की इच्छासे होता है।)

अभिन्नता दो होते हुए भी हो सकती है; जैसे बालककी माँसे, सेवककी स्वामीसे, पत्नीकी पतिसे अथवा मित्रकी मित्रसे अभिन्नता होती है। इसलिये भक्तिमें आरम्भसे ही भक्तकी भगवान्‌से अभिन्नता हो जाती है—***'साह ही को गोतु गोतु होत है गुलाम को'*** (कवितावली, उत्तर० १०७)। कारण कि भक्त अपना अलग अस्तित्व नहीं मानता। उसमें यह भाव रहता है कि भगवान् ही हैं, मैं हूँ ही नहीं।

प्रेममें माधुर्य है। अतः 'प्रभु मेरे हैं' ऐसे अपनापन होनेसे भक्त भगवान्‌का ऐश्वर्य (प्रभाव) भूल जाता है। जैसे, महारानीका बालक उसको 'माँ मेरी है' ऐसे मानता है तो उसका प्रभाव भूल जाता है कि यह महारानी है। एक बाबाजीने गोपियोंसे कहा कि कृष्ण बड़े ऐश्वर्यशाली हैं, उनके पास ऐश्वर्यका बड़ा खजाना है, तो गोपियाँ बोलीं कि महाराज ! उस खजानेकी चाबी तो हमारे पास है। कन्हैयाके पास क्या है ? उसके पास तो कुछ भी नहीं है ! तात्पर्य है कि माधुर्यमें ऐश्वर्यकी विस्मृति हो जाती है। संसारमें तो ऐश्वर्यका

---

* राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥
जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥ (मानस, उत्तर० ५३। १-२)

ही ज्यादा आदर है, पर भगवान्‌में माधुर्यका ज्यादा आदर है। जिस समय भगवान्‌में माधुर्य-शक्ति प्रकट रहती है, उस समय ऐश्वर्यशक्ति दूर भाग जाती है, पासमें नहीं आती। वास्तवमें भक्त भगवान्‌के ऐश्वर्यको देखता ही नहीं। कारण कि भगवान्‌को भगवान् समझकर प्रेम करना भगवान्‌के साथ प्रेम नहीं है, प्रत्युत भगवत्ता (ऐश्वर्य) के साथ प्रेम है। जैसे, धनको देखकर धनवान्‌के साथ स्नेह करना वास्तवमें धनवत्ताके साथ स्नेह करना है।

प्रेमकी जागृतिमें भगवान्‌की कृपा ही खास कारण है। प्रेमकी वृद्धिके लिये विरह और मिलन भी भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होते हैं। आदरपूर्वक भगवल्लीलाका श्रवण, वर्णन, चिन्तन तथा भगवन्नामका कीर्तन आदि साधनोंके बलसे प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत समयका सदुपयोग होता है, जिसको वैष्णवाचार्योंने 'कालक्षेप' कहा है। भगवान्‌की कृपा प्राप्त होती है उनकी शरण होनेपर। शरण होनेमें संसारके आश्रयका त्याग मुख्य है।

संसारसे अलग होनेपर संसारका ज्ञान होता है और भगवान्‌से अभिन्न होनेपर भगवान्‌का ज्ञान होता है। कारण कि जीव संसारसे अलग है और भगवान्‌से अभिन्न है—यह वास्तविक, यथार्थ बात है। परन्तु शरीर-संसारसे एकता माननेसे संसारका ज्ञान नहीं होता और संसारका ज्ञान न होनेसे ही संसारकी तरफ खिंचाव होता है। इसी तरह भगवान्‌से भिन्नता माननेसे भगवान्‌का ज्ञान नहीं होता है और भगवान्‌का ज्ञान न होनेसे ही भगवान्‌की तरफ खिंचाव नहीं होता। संसार अपना नहीं है—इस तरह संसारका ज्ञान होनेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। भगवान् अपने हैं—इस तरह भगवान्‌का ज्ञान होनेसे भगवान्‌के साथ अभिन्नता होकर प्रेम हो जाता है।

★

करणनिरपेक्ष साधन—शरणागति

संसारमें किसी क्रियाकी सिद्धिके लिये जो खास कारण हैं, उनको 'कारक' कहते हैं। जैसे, कोई व्यक्ति बोलता है तो बोलनेके लिये जो साधन होते हैं, वे 'कारक' कहलाते हैं। इसलिये व्याकरणमें कारकका लक्षण बताया है—**'क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्'** अर्थात् जो क्रियाका जनक है, उसको कारक कहते हैं। उदाहरणके लिये **'रामेण बाणेन हतो बाली'** 'रामके बाणसे बाली मारा गया'—इस वाक्यमें 'बाण' करण है; क्योंकि बालीकी मृत्यु बाणसे हुई, धनुष, चाप, हाथ आदि भी करण हैं; क्योंकि इनके बिना बाण चल ही नहीं सकता। परन्तु बालीके मरनेकी क्रिया बाणसे हुई है, धनुषसे, डोरीसे अथवा हाथसे नहीं हुई है। इसलिये 'करण' संज्ञा बाणकी हुई, धनुष आदिकी नहीं। जिस व्यापारके बाद तत्काल क्रियाकी सिद्धि हो ही जाती है, उसका नाम 'करण' होता है*। संसारके सभी कार्य करणसे ही सिद्ध होते हैं। इसलिये संसारमें कोई भी काम किया जाय तो उसमें करणकी अपेक्षा रहती है, करणकी सहायता लेनी पड़ती है। करणके बिना कर्ता कोई काम कर ही नहीं सकता। इसलिये व्याकरणमें आया है—**'साधकतमं करणम्'** (पाणि० अ० १।४।४२) 'जो क्रियाकी सिद्धिमें खास, अचूक कारण हो, उसका नाम 'करण' है। तात्पर्य है कि करणके बिना किसी क्रियाकी सिद्धि होती ही नहीं।

परमात्मतत्त्व करणरहित है और उसकी प्राप्तिके साधन दो प्रकारके हैं—करणसापेक्ष और करणनिरपेक्ष। जप, ध्यान, कीर्तन, सत्संग, स्वाध्याय, समाधि आदि सब करणसापेक्ष साधन हैं। जितनी भी क्रियाएँ हैं, सब करणके द्वारा ही होती हैं। परन्तु परमात्मा किसी क्रियाके विषय नहीं हैं। क्रियाका विषय वह वस्तु होती है, जो पैदा होती है। जो वस्तुएँ पहले नहीं हैं और पीछे उत्पन्न होती हैं, लायी जाती हैं, बनायी जाती हैं अथवा उनमें परिवर्तन किया जाता है, उन वस्तुओंकी प्राप्ति करणसे होती है। परन्तु जो उत्पन्न नहीं होता, लाया नहीं जाता, बनाया नहीं जाता, बदला नहीं जाता प्रत्युत सदासे ज्यों-का-त्यों स्वतःसिद्ध है, उसकी प्राप्तिके लिये करणका तो कहना ही क्या, कर्ताकी भी जरूरत नहीं होती। कारक क्रियाकी सिद्धिमें काम आता है और क्रिया तथा पदार्थ प्रकृतिके द्वारा होते हैं। परमात्मतत्त्व प्रकृतिसे अतीत है। अतः उसमें कोई कारक नहीं है अर्थात् न कर्ता है, न कर्म है, न करण है न सम्प्रदान है, न अपादान है और न अधिकरण है।

अगर किसीसे पूछा जाय कि तू है क्या? तो हरेक कहेगा कि 'हाँ मैं 'हूँ'। 'मैं हूँ'—इसमें कोई विवाद नहीं है, यह निर्विवाद बात है। अब विचार करें कि 'मैं हूँ'—इस प्रकार अपनी सत्ता किस करणके द्वारा सिद्ध होती है? 'मैं हूँ'—इस अपने होनेपनमें न कर्ता है, न कर्म है, न करण है,

* क्रियायाः फलनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्। विवक्ष्यते यदा तत्र करणं तत्तदा स्मृतम्॥ (वाक्यपदीय ३।७।९०)

न सम्प्रदान है, न अपादान है और न अधिकरण है। अपने होनेपनको प्रमाणित करनेके लिये किसी पुस्तककी, शास्त्रकी भी जरूरत नहीं है। तात्पर्य है कि करणसे हम क्रिया कर सकते हैं, श्रवण कर सकते हैं, मनन कर सकते हैं, निदिध्यासन कर सकते हैं, ध्यान कर सकते हैं, समाधि लगा सकते हैं, पर जो इन सबसे अतीत तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमान—तीनों कालोंसे रहित है, उस परमात्मतत्त्वतक कोई क्रिया पहुँचती ही नहीं, फिर उसमें करण क्या करेगा? अतः 'मैं-हूँ'—इस प्रकार अपनी स्वतःसिद्ध सत्ताका अनुभव करना 'करणनिरपेक्ष साधन' है। इस साधनमें करण रहे या न रहे, पर इसमें करणकी मुख्यता नहीं है, अपेक्षा नहीं है, इसलिये इसको 'करणनिरपेक्ष' कहते हैं।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व ही संसार है। परमात्मतत्त्व कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे अतीत है। सम्पूर्ण व्यवहार संसारमें होता है। जिसमें व्यवहार होता है, वह नाशवान् होता है और जिसमें कोई व्यवहार नहीं होता, वह अविनाशी होता है। संसार निरन्तर परिवर्तनशील है। एक नदीके किनारे कई सज्जन खड़े थे। वे कहने लगे कि देखो, नदी कैसे वेगसे बह रही है! तो एक सन्तने कहा कि नदी भी बह रही है, उसका जल भी बह रहा है और उसपर जो पुल बना है, उसपर आदमी भी बह रहे हैं! इतना ही नहीं, यह पुल भी बह रहा है! इसपर प्रश्न उठता है कि पुल कैसे बह रहा है? वह तो अपनी जगहपर ही है। इसका उत्तर है कि जब पुल बना था, उस समय यह जैसा नया था, वैसा नया आज नहीं रहा, प्रत्युत पुराना हो गया। इसका नयापना बह गया और पुरानापना आ गया। यह पुरानापना भी निरन्तर बह रहा है और बहते-बहते एक दिन यह पुल मिट जायगा। ऐसे ही यह नदी भी निरन्तर बह रही है और बहते-बहते एक दिन मिट जायगी। तात्पर्य है कि संसारकी प्रत्येक वस्तु बह रही है और बहते हुए नाशकी तरफ अर्थात् अभावकी तरफ जा रही है। एक दिन संसारका बहनापना भी नहीं रहेगा, उसका सर्वथा अभाव हो जायगा। मनुष्य समझते हैं कि हम जी रहे हैं, पर यह बिलकुल झूठी बात है। सच्ची बात तो यह है कि हम निरन्तर मर रहे हैं, एक-एक श्वासमें मर रहे हैं, एक-एक क्षणमें मर रहे हैं। किसी भी क्षण मरना बन्द नहीं होता। तात्पर्य है कि यह मृत्युरूपी क्रिया नाशवान् शरीरमें हो रही है, स्वरूपमें नहीं। अविनाशी तत्त्वमें कोई क्रिया होती ही नहीं। अतः उसको क्रियाके द्वारा नहीं पकड़ सकते।

विवाह होनेपर कन्या पतिकी हो जाती है। वह मान लेती है कि ये मेरे पति हैं और पति मान लेता है कि यह मेरी पत्नी है—इसमें क्या क्रिया है? यह तो स्वीकृति है। स्वीकृतिमें क्रिया नहीं होती। परन्तु 'मैं पतिकी हूँ'—इस स्वीकृतिमें और 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस स्वीकृतिमें फर्क है। 'मैं पतिकी हूँ'—यह स्वीकृत तो शरीरको लेकर है, पर 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह स्वीकृति शरीरको लेकर नहीं है, प्रत्युत स्वरूप (तत्त्व)को लेकर है। स्त्री तो पतिकी बनती है, पहलेसे नहीं है, पर 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह पहलेसे ही स्वतःसिद्ध है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७), ***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'*** (मानस० उत्तर० ११७।१)। जब पतिकी स्वीकृतिमें भी क्रिया नहीं है, फिर भगवान्‌की स्वीकृतिमें क्रिया कैसे होगी जो कि स्वतःसिद्ध है? अतः 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—यह स्वीकृति 'करणनिरपेक्ष साधन' है।

मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं—यह स्वीकृति पहले करणके द्वारा अर्थात् मन, वाणी, बुद्धिसे होती है, पर इसमें जो 'हूँ' है—यह स्वीकृति करणके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत स्वयंसे होती है। जैसे, जिस आदमीका विवाह हो चुका हो, उसको नींदसे उठाकर पूछो कि क्या तुम्हारा विवाह हो गया? तो वह तुरन्त कहेगा कि हाँ, हो गया। वह यह विचार नहीं करेगा कि विवाह हुआ या नहीं हुआ। कारण कि 'मैं विवाहित हूँ'—यह स्वीकृति स्वयंकी है। उसने 'मैं विवाहित हूँ'—इसकी एक माला भी नहीं फेरी, एक बार भी अभ्यास नहीं किया, फिर भी वह इस बातको कभी भूलता नहीं। कारण कि यह स्वयंकी स्वीकृति है और मनुष्य स्वयंको कभी भूलता नहीं। इसी तरह 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—यह स्वीकृति एक बार होती है और सदाके लिये होती है। इसमें किसी अभ्यासकी आवश्यकता नहीं है। सभी अभ्यास 'करणसापेक्ष साधन'में होते हैं। श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान, समाधि आदि सब करणसापेक्ष साधन हैं। परन्तु स्वयंकी स्वीकृति 'करणनिरपेक्ष साधन' है। करणसापेक्ष साधनमें तो भूल हो जाती है, पर करणनिरपेक्ष साधनमें भूल होती ही नहीं। करणसापेक्ष साधनमें साधक योगभ्रष्ट भी हो सकता है, पर करणनिरपेक्ष साधनमें योगभ्रष्ट होता ही नहीं।

जैसे स्त्री पतिको स्वीकार करती है, ऐसे ही भक्त भगवान्‌को स्वीकार करता है कि 'मैं भगवान्‌का हूँ'। वास्तवमें 'मैं शरीर-संसारका हूँ'—इस गलत मान्यताको हटानेके लिये 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस स्वीकृतिकी जरूरत है, अन्यथा इस स्वीकृतिकी भी जरूरत नहीं है। तात्पर्य है कि 'मैं भगवान्‌का हूँ' यह स्वीकृति अस्वीकृतिको मिटानेमें काम करती है, नया सम्बन्ध जोड़नेमें नहीं। जैसे 'मैं पतिकी हूँ'—ऐसा माननेके

लिये तो स्त्रीको कुछ करना नहीं पड़ता, पर पतिके घरका काम जन्मभर करना पड़ता है, ऐसे ही 'मैं भगवान्‌का हूँ'—ऐसा माननेके लिये भक्तको कुछ करना नहीं है, पर भगवान्‌का काम जन्मभर करना है। उसको सांसारिक अथवा पारमार्थिक सब कार्य भगवान्‌के लिये ही करने हैं। जैसे पतिव्रता स्त्री सब काम पतिके सम्बन्धसे ही करती है। शरीरका काम भी पतिके सम्बन्धसे करती है। कपड़े भी पतिके सम्बन्धसे ही पहनती है। सुहागनके कपड़े और तरहके होते हैं, विधवाके कपड़े और तरहके। पतिके सम्बन्धसे ही वह सुहागन होती है और पतिके सम्बन्धसे ही वह विधवा होती है। वह शृंगार भी पतिके सम्बन्धसे करती है। पति पासमें हो तो और तरहका शृंगार होता है, पति दूर देशमें गया हो तो और तरहका शृंगार होता है। वह बिन्दी भी लगाती है तो पतिके सम्बन्धसे लगाती है। ऐसे ही भक्तका प्रत्येक काम भगवान्‌के लिये ही होता है—

पतिवरता रहै पतिके पासा, यों साहिबके ढिग रहै दासा।

कारण कि भक्त अपनी अहंताको बदल देता है कि मैं संसारी नहीं हूँ, मैं तो भगवान्‌का हूँ। यह अहंता-परिवर्तन एक ही बार होता है, दो बार नहीं। जब एक बार अपनेको दे दिया, तो फिर दुबारा देनेके लिये क्या रह गया? देना एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है। हमने अपनेको दे दिया तो अब कुछ भी करना बाकी नहीं रहा। अब तो नामजप करना है, कीर्तन करना है, भगवान् और उनके भक्तोंकी लीलाएँ सुननी हैं, भगवान्‌के जनोंकी सेवा करनी है; क्योंकि इससे बढ़कर और कोई काम है नहीं। यह सब करके मैं भगवान्‌का हो जाऊँगा—यह भाव उसमें रहता ही नहीं। क्या स्त्रीमें यह भाव रहता है कि मैं इतना काम करूँगी तो पतिकी होऊँगी, काम नहीं करूँगी तो नहीं होऊँगी? वह बीमार हो जाय, कुछ भी न करे तो भी पतिकी ही है और सब काम करे तो भी पतिकी ही है। पतिके साथ कुछ करने या न करनेका सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत स्वीकृतिका सम्बन्ध है। इसी तरह भगवान्‌के साथ सम्बन्ध हो जाय तो भजन अपने-आप होगा, करना नहीं पड़ेगा। स्त्री तो विधवा भी हो सकती है, पर भक्तका सुहाग स्वतःसिद्ध है, अमर है, सदासे ही है।

ज्यों तिरिया पीहर रहै, सुरति रहै पिय माहिं।
ऐसे जन जगमें रहै, हरि को भूलै नाहिं॥

लड़की पीहरमें कुछ दिन रह जाती है, तो माँसे कहती है कि 'माँ, भाईसे कह कि मेरेको घर पहुँचा दे, उनको (पतिको) रोटीकी तकलीफ हो रही होगी!' वह रहती तो यहाँ है, पर चिन्ता उस घरकी है; क्योंकि वह समझती है कि मैं यहाँकी नहीं हूँ। इसी तरह भक्त जगत्‌में रहते हुए भी भगवान्‌को नहीं भूलता, प्रत्युत ऐसा समझता है कि जगत् मेरा नहीं है, मेरे तो भगवान् हैं। यह 'करणनिरपेक्ष साधन' है।

करणनिरपेक्ष साधनमें अहंता बदल जाती है। जो पहले मानता था कि मैं संसारका हूँ, वह अहंता बदलनेपर मानता है कि मैं भगवान्‌का हूँ। जो पहले मानता था कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ आदि, वह अहंता बदलनेपर मानता है कि मैं न ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य आदि हूँ, मैं तो भगवान्‌का हूँ।

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नो वा वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥

'मैं न तो ब्रह्मण हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य हूँ, न शूद्र हूँ, न ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थ हूँ, न वानप्रस्थ हूँ और न संन्यासी ही हूँ; किन्तु सम्पूर्ण परमानन्दमय अमृतके उमड़ते हुए महासागररूप गोपीकान्त श्यामसुन्दरके चरणकमलोंके दासोंका दासानुदास हूँ।'

पहले गुरुके द्वारा शिष्यको जो दीक्षा दी जाती थी, उसका तात्पर्य भी अहंता बदलनेसे ही था। जैसे विवाहके समय ब्राह्मण कह देता है कि बेटी, ये तेरे पति हो गये' और वह स्वीकार कर लेती है, ऐसे ही गुरु शिष्यसे कह देता है कि 'बेटा, अब तुम भगवान्‌के हो गये' और वह स्वीकार कर लेता है अर्थात् 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस तरह अपनी अहंता बदल देता है। गुरुमें यह भाव नहीं होता था कि यह मेरा चेला बन जाय, मेरी सेवा करे, भेंट-पूजा करे, मेरी टोली बनाये, मेरा पक्ष ले आदि। शिष्यके साथ गुरुका सम्बन्ध सांसारिक न होकर पारमार्थिक (कल्याणके लिये) होता था।

अहंता बदलती है—संसारका सम्बन्ध मिटानेके लिये, भगवान्‌से नया सम्बन्ध जोड़नेके लिये नहीं। कारण कि संसारका सम्बन्ध माना हुआ है और भगवान्‌का सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है। 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस तरह अहंता बदल जानेके बाद अहम् मिट जाता है अर्थात् व्यक्तित्व नहीं रहता। फिर भक्तकी प्रत्येक क्रिया भगवान्‌के लिये ही होती है। अपने लिये कुछ करना बाकी रहता ही नहीं। जब अपने-आपको भगवान्‌के अर्पित कर दिया तो फिर अपने लिये क्या करना बाकी रहा? वह भगवान्‌की मरजीमें अपनी मरजी मिला देता है और प्रसन्न रहता है। बीमार हो जाय तो भगवान्‌की मरजी, स्वस्थ हो जाय तो भगवान्‌की मरजी, घाटा लग जाय तो भगवान्‌की मरजी, नफा हो जाय तो भगवान्‌की मरजी, निरादर हो जाय तो भगवान्‌की मरजी, आदर हो जाय तो भगवान्‌की

मरजी, सब निन्दा करें तो भगवान्‌की मरजी, सब प्रशंसा करें तो भगवान्‌की मरजी। उसका बीमार-स्वस्थता, घाटा-नफा, निरादर-आदर आदिसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, केवल भगवान्‌से ही सम्बन्ध रहता है। विवाहमें तो कन्या वरको स्वीकार करती है और वर कन्याको स्वीकार करता है, तब दोनोंका सम्बन्ध होता है। परन्तु भगवान्‌ने तो सब जीवोंको पहलेसे ही स्वीकार कर रखा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५।७)

'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा मेरा ही सनातन अंश है।'

'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'

(मानस, उत्तर० ८६।२)

मुख्य स्वीकृति बड़ेकी, मालिककी होती है। जैसे हम किसीकी गोद जायँ तो इसमें गोद लेनेवालेकी स्वीकृति मुख्य होती है। अगर वह हमें स्वीकार ही न करे तो हम उसकी गोद कैसे जायँगे? ऐसे ही भगवान्‌की स्वीकृति मुख्य है और उन्होंने पहलेसे ही हमें स्वीकार कर रखा है। हम भगवान्‌को स्वीकार कर लें, उनकी स्वीकृतिमें अपनी स्वीकृति मिला लें—इसका नाम शरणागति है। यह 'करणनिरपेक्ष साधन' है।

वास्तवमें हम अनादिकालसे भगवान्‌के ही हैं, पर संसारसे सम्बन्ध मानकर हम भगवान्‌के सम्बन्धको भूल गये थे, अब वह भूल मिट गयी, भगवान्‌के सम्बन्धकी याद आ गयी—यह शरणागति है। जैसे, अर्जुनने भगवान्‌से कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

(गीता १८।७३)

'हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और स्मृति प्राप्त हो गयी है।'

संसारके साथ माने हुए सम्बन्धका त्याग करनेपर भगवान्‌के साथ स्वतःसिद्ध सम्बन्धका अनुभव होता है, पैदा नहीं होता। इसलिये शरणागति निषेधमुख साधन है, जिसमें संसारकी स्वीकृति मिटती है।

भगवान्‌के शरणागत होकर भक्त स्वतः निर्भय, निःशोक, निश्चिन्त और निःशंक हो जाता है।

चिन्ता दीनदयाल को, मो मन सदा आनन्द।
जायो सो प्रतिपालसी, रामदास गोबिन्द॥

जब कन्या विवाहके बाद ससुराल जाने लगती है, तब वह माँसे यह नहीं कहती कि माँ! थोड़ा आटा तो साथमें दे दे, मैं रोटी कहाँ खाऊँगी?' कारण कि जो ले जा रहा है, वही रोटी देगा, वही कपड़ा देगा, वही मकान देगा, हमें क्या चिन्ता है? चिन्ता क्या, इस बातकी स्फुरणा ही नहीं होती। इससे भी विलक्षण भगवान्‌का हो जानेके बाद भक्त किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करता। उसके मनमें शंका ही नहीं होती कि क्या होगा, क्या नहीं होगा?

मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं—यह बहुत ऊँचा 'करणनिरपेक्ष साधन' है, जिसकी सिद्धि तत्काल होती है। जप, तप आदि करनेसे, बुद्धिसे तत्त्वका निश्चय करनेसे तत्काल सिद्धि नहीं होती; क्योंकि शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि 'करण' हैं। करणरहित स्वतःसिद्ध तत्त्वमें बुद्धिका निश्चय होता ही नहीं, प्रत्युत बुद्धिसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। बुद्धिके निश्चयसे तो अभिमान पैदा होता है कि मैं ज्ञानी हूँ, दूसरे अज्ञानी हैं; मैं समझदार हूँ, दूसरे बेसमझ हैं! बेसमझकी बेसमझी तो मिट जाती है, पर अपनेको समझदार माननेवालेकी बेसमझी नहीं मिटती। पागलका पागलपना तो मिट जाता है, पर जो कहता है कि 'तू पागल, तेरा बाप पागल, मैं क्यों पागल', उसका पागलपना नहीं मिट सकता। कारण कि वह अपनेको पागल मानता ही नहीं, फिर उसका पागलपना कैसे मिटेगा? इसलिये जो बद्धज्ञानी (सीखे हुए ज्ञानी) होते हैं, उनका उद्धार होना बहुत कठिन है। कारण कि उनसे कोई बात कहें तो वे कहते हैं कि 'मैं जानता हूँ', जबकि जानता कुछ है नहीं, पर जाननेका अभिमान भीतर दृढ़ हो गया! अभिमान दृढ़ होनेपर फिर उसका मिटना कठिन हो जाता है।

प्रश्न—'मैं पतिकी हूँ—यह तो प्रत्यक्ष दिखायी देता है, पर 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देता, फिर इसको कैसे मानें?

उत्तर—पहले जमानेमें विवाहसे पहले लड़का-लड़की एक-दूसरेको नहीं देखते थे। माता-पिता ही दोनोंको भलीभाँति देखकर उनकी सगाई कर देते थे। एक बार सगाई होनेपर फिर उस सम्बन्धमें कोई सन्देह नहीं रहता था। जब बिना देखे सगाई हो सकती है, तो फिर बिना देखे भगवान्‌को अपना क्यों नहीं मान सकते? अवश्य मान सकते हैं। जो कहते हैं कि बिना देखे भगवान्‌को अपना कैसे मानें, उनकी अभी सगाई ही नहीं हुई है, विवाह होना तो दूर रहा!

दूसरी बात, किसीको अपना माननेके लिये उसे देखनेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत अपना स्वीकार करनेकी जरूरत है। हम प्रतिदिन अनेक मनुष्योंको देखते हैं तो क्या उन सबसे अपनेपनका सम्बन्ध हो जाता है? उन सबसे मित्रता हो जाती है? प्रेम हो जाता है? जिसको अपना स्वीकार करते हैं, उसीसे प्रेम होता है।

तीसरी बात, हमारे पास देखनेके लिये जो नेत्र हैं, वे जड संसारका अंग होनेसे संसारको ही देखते हैं, संसारसे अतीत चिन्मय भगवान्‌को नहीं देख सकते। हाँ, अगर भगवान् चाहें तो वे हमारे नेत्रोंका विषय हो सकते हैं अर्थात् हमें दर्शन दे सकते हैं; क्योंकि वे सर्वसमर्थ हैं। इसलिये हमें प्रभुको देखे बिना ही भगवान्‌के, शास्त्रोंके, भक्तोंके वचनोंपर विश्वास करके 'मैं प्रभुका हूँ और प्रभु मेरे हैं'—ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिये। यही सर्वश्रेष्ठ 'करणनिरपेक्ष साधन' है।

★

गीताकी शरणागति

गीतामें भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके अनेक साधन बताये हैं। जिससे मनुष्यका कल्याण हो जाय, ऐसी कोई भी युक्ति, उपाय भगवान्‌ने बाकी नहीं रखा है। अनन्त मुखोंसे कही जानेवाली बातको भगवान्‌ने एक मुखसे गीतामें कह दिया है! इसलिये गीताके टीकाकार श्रीधरस्वामी लिखते हैं—

शेषाशेषमुखव्याख्याचातुर्यं त्वेकवक्त्रतः।
दधानमद्भुतं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

'शेषनागके द्वारा अपने अशेष मुखोंसे की जानेवाली व्याख्याके चातुर्यको जो एक मुखसे ही धारण करते हैं, उन अद्भुत परमानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।'

गीता ज्ञानका एक अथाह समुद्र है। इसका अध्ययन करनेपर नये-नये भाव मिलते हैं और मिलते ही चले जाते हैं। हाँ, अगर कोई विद्वत्ताके जोरपर गीताका अर्थ समझना चाहे तो नहीं समझ सकेगा। अगर गीता और गीतावक्ताकी शरण लेकर उसका अध्ययन किया जाय तो गीताका तात्त्विक अर्थ स्वतः समझमें आने लगता है।

गीता एक प्रासादिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ अपनी शरण लेनेवालेपर खुद कृपा करता है और कृपा करके उसके सामने प्रकट होता है। मैंने ऐसे मनुष्योंको देखा है, जिनको संस्कृतका बोध नहीं है, पर वे गीताका अर्थ करते हैं! भाषाका बोध न होनेपर भी गीताका सिद्धान्त, भाव उनके मनमें आ जाता है। आजसे साठ-पैंसठ वर्ष पहलेकी बात है। कलकत्तेमें एक मुनीम थे। उनको शुद्ध हिन्दी लिखनी नहीं आती थी। एक दिन उन्होंने कहा कि मैं गीता कण्ठस्थ करना चाहता हूँ; परन्तु इसके लिये किसी पण्डितको रखूँ तो मेरी इतनी सामर्थ्य नहीं है कि उसको तनखाह दे सकूँ। मैंने कहा कि तुम भगवान्‌को नमस्कार करके, उनकी शरण होकर गीता पढ़नी शुरू कर दो। उन्होंने घर जाकर भगवान्‌का चित्र सामने रख दिया, धूप-बत्ती कर दी, पुष्प चढ़ा दिये और **'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'** कहकर गीता पढ़ने लग गये। कुछ समयमें उनको गीता याद हो गयी। मैंने उनसे गीताके अठारह अध्याय ठीक संख्यासहित सुने। अशुद्धियाँ बहुत कम थीं।

विद्वत्ताके अभिमानसे गीता याद नहीं होती—ये उदाहरण भी मेरे सामने आये हैं। एक अच्छे पण्डित थे, जो रामायणके मर्मज्ञ थे। गीता-जयन्तीके अवसरपर मैंने गीताकी कुछ बातें कहीं तो उनका गीतामें आकर्षण हुआ। उन्होंने कहा कि मैं किसीसे कोई श्लोक सुन लेता हूँ तो वह मुझे कण्ठस्थ हो जाता है; अतः मैं गीताका अर्थ जानना चाहता हूँ। मैंने कहा कि आप गीताका एक बारहवाँ अध्याय याद करके मेरे पास आयें तो मैं उसका अर्थ आपको अच्छी तरहसे सुना दूँगा। कुछ दिनोंके बाद वे मेरेसे मिले और कहा कि मैं गीताको याद करनेके लिये बहुत परिश्रम करता हूँ, पर मेरेको गीता याद नहीं होती! इसका कारण मैंने यही समझा कि उनके मनमें अभिमान था कि मैं इतना जानकार हूँ, मेरेको बहुत जल्दी श्लोक याद हो जाते हैं! यह अभिमान पारमार्थिक मार्गमें बड़ा भारी बाधक है। जो निरभिमान होकर सरलतापूर्वक गीताकी शरणमें जाता है, उसको गीताके भाव समझमें आ जाते हैं। मैंने देखा है कि जिन्होंने भगवान्‌की शरण ले ली है, उनके अनुभवमें ऐसी-ऐसी विचित्र बातें आ जाती हैं, जो शास्त्रोंमें भी कहीं-कहीं मिलती हैं। इसलिये गीतामें शरणागतिकी बात मुख्यरूपसे आयी है। गीता शरणागतिसे ही शुरू होती है और शरणागतिमें ही समाप्त होती है। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन साथ-साथ रहा करते थे। श्रीमद्भागवतमें अर्जुन कहते हैं—

शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादि-
ष्वैक्याद् वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः।
सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं
सेहे महान् महितया कुमतेरघं मे॥

(१।१५।१९)

'भगवान् श्रीकृष्णके साथ सोने, बैठने, घूमने, बातचीत करने और भोजनादि करनेमें मेरा-उनका ऐसा सहज भाव हो गया था कि मैं कभी-कभी 'हे सखे! तुम तो बड़े सत्यवादी हो!' ऐसा कहकर आक्षेप भी करता था। परन्तु वे महात्मा प्रभु अपने बड़प्पनके अनुसार मुझ कुबुद्धिके उन समस्त तिरस्कारोंको वैसे ही सहा करते थे, जैसे सखा अपने सखाके या पिता अपने पुत्रके सब तिरस्कार सहा करता है।'

अर्जुनके साथ इतनी घनिष्ठ मित्रता होते हुए भी भगवान् श्रीकृष्णने उनको पहले कभी गीताका उपदेश नहीं दिया।

परन्तु युद्धके अवसरपर, जब दोनों तरफसे शस्त्र चलनेकी तैयारी हो रही थी—'**प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः**' (गीता १ । २०), तब भगवान्‌ने अर्जुनको गीता सुनायी ! क्या गीतोपदेश देनेके लिये यही एकान्तका बढ़िया समय था ? इसका उत्तर यह है कि पहले कभी अर्जुन इस प्रकार व्याकुल होकर भगवान्‌की शरण नहीं हुए थे। जब उन्होंने दोनों पक्षकी सेनाओंमें अपने सगे-सम्बन्धियोंको देखा, तब वे सन्देहमें पड़ गये कि मैं युद्ध करूँ अथवा न करूँ ? युद्धमें हमारी विजय होगी अथवा कौरवोंकी ? मेरा कल्याण युद्ध करनेमें है अथवा न करनेमें ? अतः उन्होंने भगवान्‌की शरण लेते हुए प्रर्थना की—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

(गीता २ । ७)

'कायरताके दोषसे उपहत स्वभाववाला और धर्मके विषयमें मोहित अन्तःकरणवाला मैं आपसे पूछता हूँ कि जो निश्चित श्रेय हो, वह मेरे लिये कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ। आपके शरण हुए मेरेको शिक्षा दीजिये।'

इस प्रकार गीताके आरम्भमें अर्जुन भगवान्‌की शरण लेकर अपने कल्याणका उपाय पूछते हैं और अन्तमें भगवान् अपनी शरणमें आनेकी आज्ञा देते हैं—'**मामेकं शरणं व्रज**' (गीता १८ । ६६)।

अर्जुनने भगवान्‌से पहले तो यह कहा कि 'मैं आपकी शरण हूँ, मेरेको शिक्षा दीजिये', पर इसके तुरन्त बाद वे 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—ऐसा कहकर चुप हो गये—'**न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह**' (गीता २ । ९)। यह बात भगवान्‌को ठीक नहीं लगी, पर वे कुछ बोले नहीं। अत्यधिक कृपालु होनेके कारण भगवान्‌ने उपदेश देना शुरू कर दिया। आगे चलकर अठारहवें अध्यायमें भगवान् बोले—

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥

(गीता १८ । ५९)

'अहङ्कारका आश्रय लेकर तू जो ऐसा मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तेरा यह निश्चय मिथ्या (झूठा) है; क्योंकि तेरी क्षात्र-प्रकृति तेरेको युद्धमें लगा देगी।'

भगवान्‌के कथनका तात्पर्य है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—यह वास्तवमें अहङ्कारकी शरण होना है, मेरी शरण होना नहीं। अगर मेरी शरणागति होती तो 'मैं ऐसा करूँगा, ऐसा नहीं करूँगा'—यह हो ही नहीं सकता। अहङ्कार शरणागतिमें महान् बाधक है वर्ण, आश्रम, जाति, विद्या, कुल, योग्यता, पद आदिको लेकर 'मैं भी कुछ हूँ'—ऐसा अभिमान शरण नहीं होने देता। अतः भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि जैसी तेरी मरजी आये, वैसा कर—'**यथेच्छसि तथा कुरु**' (गीता १८ । ६३)। यह सुनकर अर्जुन घबरा गये कि भगवान् तो मेरा त्याग कर रहे हैं ! यह देखकर भगवान् बोले कि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है, इसलिये मैं तेरे हितके लिये सर्वगुह्यतम (सबसे अत्यन्त गोपनीय) बात कहता हूँ*। गीतामें '**सर्वगुह्यतमम्**' शब्द एक ही बार यहाँ (१८ । ६४) में आया है। इसके बाद भगवान्‌ने दो श्लोक कहे—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(गीता० १८ । ६५-६६)

'तू मेरा भक्त हो जा, मेरेमें मनवाला हो जा, मेरा पूजन करनेवाला हो जा और मेरेको नमस्कार कर। ऐसा करनेसे तू मेरेको ही प्राप्त हो जायगा— यह मैं तेरे सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।'

'सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर।'

इन दो श्लोकोंके बाद भगवान्‌ने कहा कि यह सर्वगुह्यतम वचन उस व्यक्तिसे मत कहना, जो अतपस्वी है, अभक्त है, इस रहस्यको सुनना नहीं चाहता और मेरेमें दोषदृष्टि करता है†। इससे ऐसा मालूम देता है कि भगवान्‌ने दोनों तरफसे (चौसठवें एवं सड़सठवें श्लोकमें) निषेध करके मानो डिबियाके बीचमें दो सर्वगुह्यतम श्लोक-रत्न रखे हैं। इन दोनोंमें भी शरणागतिका मुख्य श्लोक अन्तिम (१८ ।६६) है। रामायणमें भी जब सुग्रीवने भगवान्‌से कहा—

सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥

(मानस, किष्किन्धा० ५ । ४)

तब भगवान्‌ने कहा—

* सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः। इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ (गीता १८ । ६४)

† इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन। न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ (गीता १८ । ६७)

सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

(मानस, किष्किन्धा० ७। ५)

अर्जुनने भगवान्‌से कहा कि धर्मका निर्णय करनेमें मेरी बुद्धि काम नहीं कर रही है—'**धर्मसम्मूढचेताः**'; अतः मैं आपकी शरण हूँ, तो भगवान्‌ने कहा कि तुझे धर्मका निर्णय करनेकी जरूरत ही नहीं है—'**सर्वधर्मान् परित्यज्य**।' जिनके भीतर कामना है, वे धर्मका आश्रय लेनेवाले तो बार-बार जन्मते और मरते रहते हैं—'**एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते**' (गीता ९। २१)। अतः धर्मका आश्रय न लेकर अनन्यभावसे एक मेरी शरण ले—'**मामेकं शरणं व्रज**।'

अर्जुन कहता है कि मैं युद्ध करूँगा तो पाप लगेगा* और भगवान् कहते हैं कि तू युद्ध नहीं करेगा तो पाप लगेगा†। परन्तु अन्तमें भगवान् अत्यन्त कृपा करके कहते हैं कि तू पापसे मत डर, तू मेरी शरणमें आ जा तो मैं तेरेको सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा। इसके साथ ही भगवान् आश्वासन भी देते हैं कि तू चिन्ता मत कर।

सम्पूर्ण पाप और दुःख भगवान्‌से विमुख होनेसे ही होते हैं। भगवान्‌से विमुख होना सबसे बड़ा पाप है और सम्मुख होना सबसे बड़ा पुण्य है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस, सुन्दर० ४४। १)

भगवान्‌के सम्मुख होनेसे पापों और दुःखोंका मूल नष्ट हो जाता है। सन्तोंने कहा है कि भगवान्‌के सम्मुख होना पूरा पुण्य है और सद्गुण-सदाचारोंमें लगना आधा पुण्य है। इसी तरह भगवान्‌से विमुख होना पूरा पाप है और दुर्गुण-दुराचारोंमें लगना आधा पाप है। जीव भगवान्‌का अंश है और अंशीसे विमुख होनेसे ही वह दुःख पाता है। जब वह भगवान्‌की शरण हो जाता है, तब सब पाप-ताप मिट जाते हैं।

साधकको चाहिये कि वह सरल हृदयसे ऐसा कह दे कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' अब मान ले कि मैं भगवान्‌की शरण हो गया और भगवान्‌ने मेरेको स्वीकार कर लिया। वास्तवमें भगवान् किसीका भी त्याग करते नहीं, किया नहीं और करेंगे नहीं। सर्वसमर्थ भगवान्‌में किसीका त्याग करनेकी सामर्थ्य ही नहीं है। उन्होंने सबको अपनी शरणमें ले रखा है। हम ही उनसे विमुख होकर संसारके सम्मुख हो गये, संसारकी शरण हो गये। अतः भगवान् कहते हैं कि सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर एक मेरी शरण हो जाओ तो मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत करो। तात्पर्य है कि धर्मका अनुष्ठान तो करो, पर धर्मका अनुष्ठान करके मैं अपना कल्याण कर लूँगा—यह आश्रय मत रखो। नाम, जप, कीर्तन, प्रार्थना, गीता-रामायणका पाठ, शास्त्रोंका अध्ययन आदि सब करो, पर इनसे मैं अपना कल्याण कर लूँगा—ऐसा अभिमान मत रखो। अपने उद्योगसे कोई अनन्त पापोंका नाश नहीं कर सकता; क्योंकि यह ताकत जीवमें नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌में ही है। इसलिये भगवान् कहते हैं—'**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः**' अर्थात् सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त मैं करूँगा, तुम चिन्ता क्यों करते हो!

जो जाको शरणो गहै, ताकहँ ताकी लाज।
उलटे जल मछली चलै, बह्यो जात गजराज॥

नदीके तेज प्रवाहमें यदि बलवान् हाथी भी आ जाय तो वह टिक नहीं सकता, लुढ़क जाता है। परन्तु छोटी-सी मछली उस तेज प्रवाहमें भी बड़े आरामसे घूमती है। इतना ही नहीं, मैंने देखा है कि अगर ऊपरसे जलकी धारा तीव्रगतिसे नीचे गिर रही हो तो उस धारामें भी छोटी-छोटी मछलियाँ ऊँचे चढ़ जाती हैं। इसका कारण यह है कि हाथीने तो जंगलकी शरण ले रखी है, पर मछलीने जलकी शरण ले रखी है। जलके सिवाय और जगह वह व्याकुल हो जाती है, जलके वियोगमें मर जाती है। अगर जल मछलीको बहा दे तो बेचारी मछली कहाँ जायगी? किसकी शरण लेगी? इसी तरह अगर हम भगवान्‌की शरण ले लें तो फिर कोई भी शक्ति हमें रोक नहीं सकती। इसलिये भगवान् कहते हैं कि तू चिन्ता मत कर—'**मा शुचः**।' हमने भगवान्‌की शरण ले ली, फिर अपने उद्धारकी चिन्ता हम करें—यह बड़े आश्चर्यकी और मूर्खताकी, बेसमझीकी बात है!

जबतक साधकमें अपने बल, बुद्धि, योग्यता आदिका आश्रय रहता है, 'मैं कर सकता हूँ'—यह अभिमान रहता है, तबतक शरणागति नहीं होती। जब अपने बलका आश्रय नहीं रहता, तब बड़ी सुगमतासे शरणागति होती है। इसलिये कहा है—

---

* 'पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः॥' (गीता १। ३६)
'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।' (गीता १। ४५)

† अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ (गीता २। ३३)

जब लगि गज बल अपने बरत्यो, नेक सरयो नहिं काम।
निरबल ह्वै बल राम पुकारयो, आये आधे नाम॥
सुने री मैंने निरबल के बल राम।

इसलिये साधकको अपना बल, बुद्धि, योग्यता आदि सब लगाने चाहिये। सब बल लगानेपर भी जब कार्य सिद्ध नहीं होता, तब अपने बलका अभिमान दूर हो जाता है। जबतक वह अपना पूरा बल लगाकर भजन नहीं करता, तबतक उसके भीतर अपने बलका अभिमान रहता है। जबतक अपने बलका अभिमान रहता है, तबतक शरणागति सिद्ध नहीं होती।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—**'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'** (गीता ११।३३) 'हे सव्यसाची! तुम निमित्तमात्र बन जाओ।' अर्जुनको 'सव्यसाची' इसलिये कहा कि वे दोनों हाथोंसे बाण चलाते थे। वे दायें हाथसे जैसा निशाना मारते थे, वैसा-का-वैसा निशाना बायें हाथसे भी मारते थे। वे आगे-पीछे, दायें-बाये चारों तरफ बराबर भाग सकते थे और भागते हुए बाण चला सकते थे। भगवान् 'सव्यसाची' सम्बोधन देकर मानो यह कहते हैं कि तुम अपने उद्योगमें कमी मत रखो, पूरा उद्योग करो, पर भरोसा उद्योगका मत रखो।

जब भगवान्ने इन्द्रकी पूजा बन्द करवाकर गिरिराज गोवर्धनकी पूजा करवा दी, तब इन्द्रने कोप करके व्रजपर भयंकर वर्षा कर दी। भगवान्ने गिरिराजको बायें हाथकी छोटी अंगुलीके नखपर उठा लिया और ग्वालबालोंसे कहा कि सब-के-सब पर्वतपर अपनी-अपनी लाठियाँ लगाओ। सबने पूरी शक्तिसे अपनी लाठियाँ लगा दीं। ग्वालबालोंके मनमें आया कि हम सबने लाठियाँ लगायी हैं, तभी पर्वत उठा है। लालाकी एक अंगुलीसे पर्वत थोड़े ही उठा है! उनके मनमें ऐसा आते ही भगवान्ने उनका अभिमान दूर करनेके लिये अपनी अंगुली थोड़ी-सी नीचे की तो ग्वालबाल चिल्लाने लगे—अरे दादा! मरे, मरे, मरे! भगवान्ने कहा कि उठाओ, लगाओ जोर! पर लाठीके जोरसे पर्वत थोड़े ही उठ सकता है! तात्पर्य है कि साधक अपना बल तो पूरा लगाये, पर उद्योगसे मेरा उद्धार हो जायगा—इस तरह उद्योगका आश्रय न लेकर भगवान्का ही आश्रय रखे कि उद्धार तो भगवान्की कृपासे ही होगा। भगवान्की कृपाका भरोसा रखना शरणागति है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि तू मेरी शरणमें आ जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, उसकी चिन्ता तू मत कर।

परीक्षित्की माता उत्तराने भी भगवान्की शरण ली थी। द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामाने विचार कर लिया था कि मैं पाण्डवोंका वंश नष्ट कर दूँगा। उसने सोते हुए द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको मार डाला। अब केवल उत्तराके गर्भमें एक बालक रह गया। उसको भी नष्ट करनेके लिये अश्वत्थामाने ब्रह्मास्त्र चलाया। जब उत्तराने उसको अपनी ओर आते देखा, तब उसने भगवान्को पुकारा—

पाहि पाहि महायोगिन्देवदेव जगत्पते।
नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम्॥
अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो।
कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम्॥

(श्रीमद्भा० १।८।९-१०)

'देवाधिदेव! जगदीश्वर! महायोगिन्! आप मेरी रक्षा कीजिये! रक्षा कीजिये! आपके सिवाय इस लोकमें मुझे अभय देनेवाला दूसरा कोई नहीं है; क्योंकि यहाँ सभी आपसमें एक-दूसरेकी मृत्युका कारण बन रहे हैं। प्रभो! सर्वशक्तिमान्! यह दहकता हुआ लोहेका बाण मेरी तरफ दौड़ा आ रहा है। स्वामिन्! यह मुझे भले ही जला डाले, पर मेरे गर्भको नष्ट न करे।'

उत्तराकी पुकार सुनते ही भगवान्ने चक्र धारण कर लिया और छोटा-सा रूप धारण करके गर्भस्थ शिशुके चारों और घूमने लगे। इससे ब्रह्मास्त्र गर्भस्थ शिशुका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सका और शान्त हो गया। परीक्षित् कहते हैं—

द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं
सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम्।
जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो
मातुश्च मे यः शरणं गतायाः॥

(श्रीमद्भा० १०।१।६)

'महाराज! मेरा यह शरीर, जो आपके सामने है तथा जो कौरव और पाण्डव दोनों ही वंशोंका एकमात्र सहारा था, अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे जल चुका था। उस समय मेरी माता जब भगवान्की शरणमें गयी, तब उन्होंने हाथमें चक्र लेकर मेरी माताके गर्भमें प्रवेश किया और मेरी रक्षा की।'

तात्पर्य है कि भगवान्की शरणमें जाना जीवका काम है और उसकी सब प्रकारसे रक्षा करना भगवान्का काम है। अगर मनुष्यमें थोड़ा भी शरणागतिका भाव आ जाय तो भगवान् पिघल जाते हैं, उनसे रहा नहीं जाता और वे उसको स्वीकार कर ही लेते हैं। अगर कोई सच्चे हृदयसे एक बार भी कह दे कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' तो भगवान् उसका उद्धार कर देते हैं। भगवान् शरणागतका त्याग नहीं कर सकते। भगवान् कहते हैं—

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

(श्रीमद्भा॰ ९।४।६५)

'जो भक्त स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आ गये हैं, उन्हें छोड़नेका संकल्प भी मैं कैसे कर सकता हूँ?'

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥

(मानस, सुन्दर॰ ४४।१)

जो सच्चे हृदयसे भगवान्‌की शरण लेता है, उसका जीवन बदल जाता है—ऐसा मैंने देखा है। कलकत्तेमें एक सज्जन मिले थे। वे कहते थे कि 'मैं सत्संग करनेवालोंको फालतू समझा करता था कि ये व्यर्थ ही अपना समय बर्बाद करते हैं। एक बार मैं नवद्वीप गया। मैं वहाँके प्रसिद्ध 'भजनाश्रम' में ठहरा हुआ था। एक दिन वहाँ कुछ माताएँ कीर्तन कर रही थीं। मैं वहाँ बैठ गया। उस कीर्तनमें एक स्त्रीने उठकर भगवान्‌की शरणागतिकी बात कही और वाल्मीकिरामायणका यह श्लोक कहा—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(६।१८।३३)

'जो एक बार भी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मेरेसे रक्षाकी याचना करता है, उसको मैं सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ'—यह मेरा व्रत है।'

मैंने यह सुना तो विचार आया कि यह तो बड़ा सुगम साधन है! मैं अपने कमरेमें आ गया और सब कपाट बन्द करके एकान्तमें सच्चे हृदयसे भगवान्‌से कहा कि कोई एक बार भी आपकी शरण हो जाय तो आप उसका उद्धार कर देते हो, सब पापोंसे मुक्त कर देते हो—यह बात अगर सच्ची है तो हे नाथ! मैं आपकी शरण हूँ! ऐसा कहकर मैंने लम्बा पड़कर प्रणाम किया। फिर मैं वहाँसे कलकत्ते आ गया और अपने काममें लग गया। नवद्वीपवाली बात मेरेको याद ही नहीं रही। एक दिन मैंने सुना कि अमुक जगह सत्संग हो रहा है तो यों ही कौतूहलवशात् वहाँ चला गया। जानेपर मन लग गया तो सत्संग करने लग गया। धीरे-धीरे मेरा जीवन बदल गया। फिर एक दिन आश्चर्य आया कि मैं तो बड़ा तर्क-वितर्क करनेवाला था, फिर अपने-आप यह परिवर्तन कैसे हो गया! तब याद आया कि ओहो! मैंने नवद्वीपमें कहा था कि 'हे नाथ! मैं आपकी शरण हूँ' उसीका यह परिणाम है!

तात्पर्य है कि जब मनुष्य सच्चे हृदयसे भगवान्‌की शरण हो जाता है, तब भगवान्‌पर उसके उद्धारकी जिम्मेवारी आ जाती है। सच्चे हृदयसे 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' ऐसा स्वीकार करनेमात्रसे कल्याण हो जाता है; क्योंकि वास्तवमें सभी भगवान्‌के ही हैं। महाभारतमें आया है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

(महाभारत, शान्ति॰ ४७।९२)

'भगवान् श्रीकृष्णको एक बार भी प्रणाम किया जाय तो वह दस अश्वमेध यज्ञोंके अन्तमें किये गये स्नानके समान फल देनेवाला होता है। इसके सिवाय प्रणाममें एक विशेषता है कि दस अश्वमेध करनेवालेका तो पुनः संसारमें जन्म होता है, पर श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवाला अर्थात् उनकी शरणमें जानेवाला फिर संसार-बन्धनमें नहीं आता।'

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए॥

(मानस, अयोध्या॰ २९९।१-२)

सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि, कोउ न देत बिनु पाये।
कोसलपालु कृपालु कलपतरु, द्रवत सकृत सिर नाये॥

(विनयपत्रिका १६३।२)

भगवान्‌की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं—

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्ति पदे स दायभाक्।

(श्रीमद्भा॰ १०।१४।८)

'जो हृदय, वाणी तथा शरीरसे आपको नमस्कार करता रहता है, वह आपके परमपदका ठीक वैसे ही अधिकारी हो जाता है, जैसे पिताकी सम्पत्तिका पुत्र!'

नमस्कार से रामदास, करम सभी कट जाय।
जाय मिले परब्रह्ममें, आवागमन मिटाय॥

भगवान्‌को प्रणाम करना उनकी शरणागति है। प्रणाम करनेका तात्पर्य है—'मैं आपका हूँ; अतः आप जो भी विधान करें, मुझे स्वीकार है।' गीतामें भी कई जगह नमस्कार करनेकी बात आयी है; जैसे—**'मां नमस्कुरु'** (९।३४, १८।६५), **'नमस्यन्तश्च मां भक्त्या'** (९।१४), **'सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः'** (११।३६) आदि। हमारी संस्कृति ही शरणागति-प्रधान है। शिष्य गुरुको प्रणाम करता है, पुत्र माता-पिताको प्रणाम करता है, स्त्री पतिको प्रणाम करती है, नौकर मालिकको प्रणाम करता है, प्रजा राजाको प्रणाम करती है आदि। मनुस्मृतिमें आया है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(२।१२१)

'जिसका प्रणाम करनेका स्वभाव है और जो नित्य वृद्धोंकी सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं।'

महाभारत-युद्धके आरम्भमें युधिष्ठिर अपने विपक्षमें खड़े पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य आदिके पास जाकर उनको प्रणाम करते हैं और उनसे युद्धके लिये आज्ञा माँगते हैं। इससे प्रसन्न होकर वे युधिष्ठिरको युद्धमें विजय होनेका वरदान देते हैं। प्रणामकी इतनी महिमा है कि ऊँचे-से-ऊँचे महात्मा जिस **'वासुदेवः सर्वम्'** (सब कुछ भगवान् ही हैं) का अनुभव करते हैं, वह भी सबको प्रणाम करनेसे सुगमतापूर्वक अनुभवमें आ जाता है (श्रीमद्भागवत० ११। २९। १६—१९)।

शरणागति एक ही बार होती है और सदाके लिये होती है। एक बार 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' ऐसा कहनेके बाद फिर और क्या कहना शेष रह गया? एक बार अपने-आपको दे दिया तो फिर दुबारा क्या देना शेष रह गया?

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥

(महाभारत० वन० २९४। २६; मनुस्मृति ९। ४७)

'कुटुम्बमें धन आदिका बँटवारा एक ही बार होता है, कन्या एक ही बार दी जाती है और किसी वस्तुको देनेकी प्रतिज्ञा भी एक ही बार की जाती है। सत्पुरुषोंके ये तीनों कार्य एक ही बार हुआ करते हैं।'

सिंह गमन सज्जन वचन, कदलि फलै इक बार।
तिरिया तेल हम्मीर हठ, चढ़ै न दूजी बार॥

जैसे विवाह होनेपर स्त्री मान लेती है कि अब मैं ससुरालकी हो गयी, पीहरकी नहीं रही, ऐसे ही 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' ऐसा कहकर मान ले कि अब मैं भगवान्‌का हो गया, संसारका नहीं रहा। मैं जहाँ रहता हूँ, वह भगवान्‌का घर है; जो काम करता हूँ, वह भगवान्‌का काम है; जो पाता हूँ, वह भगवान्‌का प्रसाद है और जिन माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदिका पालन करता हूँ, वे भगवान्‌के ही जन हैं। जैसे विवाह होनेपर स्त्रीका गोत्र बदल जाता है, पतिका गोत्र ही उसका गोत्र हो जाता है, ऐसे ही शरणागत भक्तका 'अच्युतगोत्र' हो जाता है। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—*'साह ही को गोतु गोतु होत है गुलाम को'* (कवितावली, उत्तर० १०७)।

जैसे पहलवान मनुष्यके किसी अंगमें कोई कमजोरी हो तो उसको पकड़ लेनेसे वह हार जाता है, ऐसे ही भगवान्‌की भी एक कमजोरी है, जिसको पकड़ लेनेसे वे इधर-उधर नहीं हो सकते, हार जाते हैं! वह कमजोरी है—एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीका सहारा न लेना अर्थात् अनन्यभावसे भगवान्‌की शरण लेना—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस, अरण्य० १०। ४)

मीराबाईने कहा है—*'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'*। *'मेरे तो गिरधर गोपाल'*—यह तो सब कह देते हैं, पर *'दूसरो न कोई'*—यह नहीं कहते, प्रत्युत माता-पिता, भाई-बन्धु, कुटुम्बी, धन-सम्पत्ति, विद्या, योग्यता आदि किसी-न-किसीका आश्रय भी साथमें रखते हैं। जैसे किसी राजाका बेटा दूसरोंसे भीख माँगने लगे तो वह राजाको नहीं सुहाता, ऐसे ही सत्-चित्-आनन्दरूप भगवान्‌का अंश जीव जब असत्-जड-दुःखरूप संसारका आश्रय लेता है तो वह भगवान्‌को नहीं सुहाता; क्योंकि इसमें जीवका महान् अहित है। भगवान्‌को वही प्यारा लगता है, जो अन्यका आश्रय नहीं लेता—*'सो प्रिय जाकें गति न आन की।'* भगवान् कहते हैं—**'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः'** (गीता १२। १४) 'मेरेमें अर्पित मन-बुद्धिवाला जो मेरा भक्त है, वह मेरेको प्रिय है।'

सर्वथा भगवान्‌की शरण हो जायँ तो फिर वे छोड़ नहीं सकते। परन्तु जो भगवान्‌के सिवाय अन्यका सहारा रखता है, धन, बल, बुद्धि, योग्यता, वर्ण-आश्रम, विद्या आदिका सहारा रखता है तो फिर भगवान् उसकी पूरी रक्षा नहीं करते। जब वह पूरी शरण हुआ ही नहीं तो फिर उसकी पूरी रक्षा कैसे करें? इसलिये भगवान् कहते हैं—**'मामेकं शरणं व्रज'** 'केवल मेरी शरणमें आ'। परन्तु शरणागतके भीतर ऐसी दृढ़ता रहनी चाहिये कि भगवान् भले ही मेरी रक्षा न करें, मेरी कितनी ही हानि हो जाय, चाहे शरीर नष्ट हो जाय तो भी आश्रय भगवान्‌का ही रखूँगा। चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

(शिक्षाष्टक ८)

'वे चाहे मुझे हृदयसे लगाकर हर्षित करें या चरणोंमें लिपटे हुए मुझे पैरोंतले रौंद डालें अथवा दर्शन न देकर मर्माहत ही करें। वे परम स्वतन्त्र श्रीकृष्ण जैसे चाहें वैसे करें, मेरे तो वे ही प्राणनाथ हैं, दूसरा कोई नहीं।'

शरणागति अत्यन्त सुगम साधन है। जैसे मनुष्य नींद लेता है तो उसको नींद लेनेके लिये न तो कोई पुरुषार्थ करना पड़ता है, न कोई परिश्रम करना पड़ता है, न कुछ याद करना

पड़ता है, न कोई कार्य करना पड़ता है, प्रत्युत सब कुछ छोड़ना पड़ता है। सब कुछ छोड़ दें तो नींद स्वतः आ जाती है। इसी तरह अपने बल, बुद्धि, विद्या, योग्यता आदिका कोई अभिमान न रखें, कोई आश्रय न रखें तो शरणागति स्वतः हो जाती है, उसके लिये कुछ करना नहीं पड़ता। कारण कि वास्तवमें जीवमात्र भगवान्‌के ही शरणागत है। भगवान् सबको अपना मानते हैं—*'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'* (मानस, उत्तर० ८६।२)। परन्तु जीव अभिमान करके भगवान्‌से दूर हो जाता है अर्थात् अपनेको भगवान्‌से दूर मान लेता है। अतः अपने बल, योग्यता, वर्ण, आश्रम आदिका अभिमान अथवा सहारा शरणागतिमें महान् बाधक है। यदि अभिमान न छूटे तो इसके लिये आर्तभावपूर्वक भगवान्‌से ही प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे नाथ! मैं अभिमान छोड़ना चाहता हूँ, पर मेरेसे छूटता नहीं, क्या करूँ!' तो वे छुड़ा देंगे। जो काम हमारे लिये कठिन-से-कठिन है, वह भगवान्‌के लिये सुगम-से-सुगम है। अतः अपनेमें कोई दोष दीखे तो भगवान्‌को ही पुकारना चाहिये, अपने दोषको महत्त्व न देकर शरणागतिको ही महत्त्व देना चाहिये। शरणागतिको महत्त्व देनेसे दोष स्वतः दूर हो जाते हैं।

शरणागत भक्तके लिये साधन भी भगवान् हैं, साध्य भी भगवान् हैं और सिद्धि भी भगवान् हैं। इसलिये गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोग और ज्ञानयोगकी निष्ठा तो बतायी है, पर भक्तियोगकी निष्ठा नहीं बतायी है*। कारण कि कर्मयोगी और ज्ञानयोगीकी तो खुदकी निष्ठा होती है, पर भक्तकी खुदकी निष्ठा नहीं होती, प्रत्युत भगवान्‌की ही निष्ठा होती है। भक्त साधननिष्ठ न होकर भगवन्निष्ठ होता है। जैसे, बँदरीका बच्चा खुद माँको पकड़ता है, पर बिल्लीका बच्चा माँको नहीं पकड़ता, प्रत्युत माँ ही उसको पकड़कर जहाँ चाहे, वहाँ ले जाती है। शरणागत भक्त भी बिल्लीके बच्चेकी तरह अपने बलका सहारा नहीं लेता, अपने बलका अभिमान नहीं करता। हनुमान्‌जी भक्तिके आचार्य होते हुए भी अभिमान न होनेके कारण कहते हैं—*'जानउँ नहिं कछु भजन उपाई'* (मानस, किष्किन्धा० ३।२)। 'अतुलित-बलधाम' होते हुए भी उनको अपना बल याद नहीं है। जाम्बवान्‌ने उनसे कहा—

पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥
कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं॥

(मानस, किष्किन्धा० ३०।२-३)

जाम्बवान्‌से इतनी प्रशंसा सुनकर भी हनुमान्‌जी चुप रहे। परन्तु जब जाम्बवान्‌ने कहा कि आपका अवतार ही रामजीका काम करनेके लिये हुआ है, तब हनुमान्‌जीको तत्काल अपना सब बल याद आ गया—

राम काज लगि तव अवतारा। सुनतहिं भयउ पर्बताकारा॥

(मानस, किष्किन्धा० ३०।३)

हनुमान्‌जी समुद्रको लाँघनेके लिये तैयार हो गये कि रामजीका काम तो रामजीकी कृपासे होगा, उसमें अपनी योग्यता-अयोग्यताको क्यों देखें? जहाँ अपने बलका अभिमान नहीं होता, वहाँ भगवान्‌का बल काम करता है। अभिमान होनेसे ही बाधा लगती है।

जब कभी अपनेमें अभिमान आ जाय, हमारी वृत्तियाँ खराब हो जायँ, मनमें कोई कामना उत्पन्न हो जाय तो उसको दूर करनेका सबसे सुगम और बढ़िया उपाय है—भगवान्‌से कह देना। मन-ही-मन भगवान्‌से कहे कि 'हे नाथ! देखिये, देखिये, मेरे मनमें कामना आ गयी! मेरे मनकी दशा देखिये भगवन्! मेरे मनमें ऐसी वृत्ति आ गयी, ऐसा संकल्प आ गया! हे नाथ, मैं आपका भजन-ध्यान करता हूँ, लोग मेरेको आपका भक्त मानते हैं, अच्छा मानते हैं, पर मेरी दशा यह है!' जैसे अग्निके साथ सम्बन्ध होनेपर काला कोयला भी चमक उठता है; क्योंकि वास्तवमें कोयलेका सम्बन्ध तो अग्निसे ही है, पर अग्निसे दूर होनेपर वह काला हो जाता है। ऐसे ही भगवान्‌के साथ सम्बन्ध होनेपर मनुष्यके सब दोष मिट जाते हैं और वह चमक उठता है, उसमें विलक्षणता आ जाती है; क्योंकि वास्तवमें मनुष्यका सम्बन्ध तो भगवान्‌के साथ ही है। भगवान्‌की कृपा असम्भवको भी सम्भव बना देती है। ऐसे **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु समर्थः'** भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लिया जाय तो फिर किस बातकी चिन्ता? भगवान् अपने शरणागत भक्तका सब काम कर देते हैं—*'सब बिधि घटब काज मैं तोरें'*, **'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि।'**

बल, बुद्धि, योग्यता आदि किसी भी चीजका किंचिन्मात्र भी आश्रय लेना मनुष्यकी कमजोरी है; क्योंकि अन्यका आश्रय लेना कमजोरका ही काम है। परन्तु भगवान्‌का आश्रय लेना कमजोरी नहीं है, प्रत्युत वास्तविकता है। कारण कि भगवान्‌का अंश होनेसे जीव स्वतः-स्वाभाविक भगवान्‌के आश्रित है। जब वह अपने अंशी भगवान्‌से विमुख होकर प्रकृतिके अंश (शरीर-संसार)का आश्रय ले लेता है, तब वह कमजोर, पराधीन, असहाय, अनाथ हो जाता है। इसलिये

* लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (गीता ३।३)

अपने बलका आश्रय लेनेवाला मनुष्य अभिमान तो करता है कि मैं यों कर दूँगा ! ऐसे कर दूँगा ! पर जब पेशाब रुक जाता है, तब डाक्टरके पास भागता है ! अपनी शक्तिका अभिमान तो करता है, पर दशा यह है कि पेशाब करनेकी भी शक्ति नहीं है ! वास्तवमें संसारका आश्रय लेनेवाला कुछ नहीं कर सकता। परन्तु जो भगवान्‌का आश्रय लेता है, वह सब कुछ कर सकता है। वह असम्भवको भी सम्भव कर सकता है; क्योंकि भगवान्‌की सब शक्ति शरणागतमें आ जाती है। भगवान्‌की शरण लेनेसे नारदजीने कामदेवको जीत लिया—

काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी। निज भयँ डरेउ मनोभव पापी ॥
सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू ॥

(मानस, बाल० १२६।४)

शक्ति तो भगवान्‌की थी, पर नारदजीमें अभिमान आ गया कि मैंने अपनी शक्तिसे कामको जीत लिया—***'जिता काम अहमिति मन माहीं'*** (मानस, बाल० १२७।३)। अभिमान आते ही वह बात नहीं रही और वे विश्वमोहिनी कन्यापर मोहित हो गये—***'करौं जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहि प्रकार मोहि बरै कुमारी ॥'*** (मानस, बाल० १३१।४)। अपने बलका अभिमान आते ही ***'हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला'***—यह दशा हो गयी।

मनुष्यमें जो भी विशेषता, विलक्षणता आती है, वह सब भगवान्‌से ही आती है। भगवान् कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥

(गीता १०।४१)

यदि भगवान्‌में विशेषता, विलक्षणता न होती तो वह मनुष्यमें कैसे आती ? जो चीज अंशीमें नहीं है, वह अंशमें कैसे आ सकती है ? मनुष्यसे यही भूल होती है कि वह उस विशेषताको अपनी विशेषता मानकर अभिमान कर लेता है और जहाँसे वह विशेषता आयी है, उस तरफ देखता ही नहीं ! मिली हुई चीजको अपनी मान लेता है, पर उसे देनेवालेको अपना मानता ही नहीं ! वास्तवमें वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत उसको देनेवाले भगवान् अपने हैं। उन भगवान्‌के ही चरणोंकी शरण लेनी है।

वास्तवमें हम सब-के-सब सदासे ही भगवान्‌के हैं, उनके ही शरणागत हैं। इसीलिये कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं कह सकता कि मैंने अपनी मरजीसे इन माता-पिताके यहाँ जन्म लिया है और मैं अपनी मनचाही वस्तु, परिस्थिति आदि प्राप्त कर सकता हूँ। कारण कि यह सब भगवान्‌के हाथमें है। इसमें हमारी मरजी काम नहीं करती, प्रत्युत भगवान्‌की ही मरजी काम करती है।

करी गोपाल की सब होइ।
जो अपनौं पुरुषारथ मानत, अति झूठो है सोइ ॥
साधन, मंत्र, जंत्र, उद्यम, बल, ये सब डारौ धोइ।
जो कुछ लिखि राखी नँदनंदन, मेटि सकै नहिं कोइ ॥
दुख-सुख, लाभ-अलाभ समुझि तुम, कतहिं मरत हौं रोइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, स्याम-चरन मन पोइ ॥

(सूरविनय० २७६)

सब कुछ भगवान् ही करते हैं; क्योंकि उन्होंने सदासे ही हमें अपनी शरणमें ले रखा है। अब हमें केवल उनकी शरणागति स्वीकार करनी है, उनकी हाँ-में-हाँ मिलानी है, उनकी मरजीमें अपनी मरजी मिलानी है।

भगवान्‌की तरफ़से तो हम सब उनके ही हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७) ***'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'*** (मानस, उत्तर० ८६।२)। परन्तु हम अपनी तरफसे संसारके बन जाते हैं। अतः वस्तवमें हमें भगवान्‌के शरणागत नहीं होना है, प्रत्युत संसारकी शरणागतिका त्याग करना है, अपनी भूलको मिटाना है। गीता सुननेसे अर्जुनकी भी भूल मिट गयी और उनको 'मैं तो सदासे भगवान्‌का ही हूँ'—ऐसी स्मृति प्राप्त हो गयी। अर्जुन कहते हैं—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

(गीता १८।७३)

'हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और स्मृति प्राप्त हो गयी है। मैं सन्देहरहित होकर स्थित हूँ। अब मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

भगवान्‌ने कहा—**'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** तो अर्जुनने कहा—**'करिष्ये वचनं तव'**। तात्पर्य है कि शरण लेनेके बाद मनुष्यका काम है—भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना।

कर्मयोगमें निष्कामभावकी स्मृति होती है, ज्ञानयोगमें स्वरूपकी स्मृति होती है और भक्तियोगमें भगवान्‌के साथ आत्मीयताकी स्मृति होती है, जो कि सदासे ही है।

भगवान्‌के साथ कर्मयोगीका 'नित्य'-सम्बन्ध होता है, ज्ञानयोगीका 'तात्त्विक'-सम्बन्ध होता है और शरणागत भक्तका 'आत्मीय'-सम्बन्ध होता है। नित्य-सम्बन्धमें संसारके अनित्य-सम्बन्धका त्याग है, तात्त्विक-सम्बन्धमें तत्त्वके साथ एकता (तत्त्वबोध) है और आत्मीय-सम्बन्धमें भगवान्‌के साथ अभिन्नता (प्रेम) है। नित्य-सम्बन्धमें शान्तरस है, तात्त्विक-सम्बन्धमें अखण्डरस है और आत्मीय-

सम्बन्धमें अनन्तरस है। अनन्तरसकी प्राप्ति हुए बिना जीवकी भूख सर्वथा नहीं मिटती। अनन्तरसकी प्राप्ति शरणागतिसे होती है। इसलिये शरणागति सर्वश्रेष्ठ साधन है।

गीतामें कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी आदि कई तरहके योगियोंका वर्णन आया है, पर भगवान्‌ने केवल भक्तियोगीको अर्थात् शरणागत भक्तको ही दुर्लभ महात्मा बताया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तमें 'सब कुछ वासुदेव ही हैं'—ऐसा जो ज्ञानवान् मेरी शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

भगवान् महात्माको तो दुर्लभ बताते हैं, पर अपनेको सुलभ बताते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे पार्थ! अनन्यचित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है,उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

हरि दुरलभ नहिं जगतमें, हरिजन दुरलभ होय।
हरि हेर्‌याँ सब जग मिलै, हरिजन कहिं एक होय॥
हरि से तू जनि हेत कर, कर हरिजन से हेत।
हरि रीझै जग देत हैं, हरिजन हरि ही देत॥

संसारमें भगवान् दुर्लभ नहीं हैं, प्रत्युत उनके शरणागत भक्त दुर्लभ हैं। कारण कि भगवान्‌को ढूँढ़ें तो वे सब जगह मिल जायँगे, पर भगवान्‌का प्यारा भक्त कहीं-कहीं ही मिलेगा। भगवान् प्रसन्न होकर मनुष्यशरीर देते हैं तो उस शरीरसे जीव नरकोंमें भी जा सकता है*; परन्तु भक्त तो भगवान्‌की ही प्राप्ति कराता है। भक्तका संग करनेवाला नरकोंमें नहीं जा सकता।

गीताके अठारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने भगवान्‌से ज्ञानयोग और कर्मयोगका तत्त्व ही पूछा था। परन्तु भगवान्‌ने उन दोनोंका तत्त्व पचपनवें श्लोकतक बताकर फिर कृपापूर्वक अपनी तरफसे भक्तिका वर्णन शुरू कर दिया और कहा—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(गीता १८। ५६)

'मेरा आश्रय लेनेवाला भक्त सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है।'

ज्ञानयोगीके लिये तो भगवान्‌ने बताया कि वह सब विषयोंका त्याग करके संयमपूर्वक निरन्तर ध्यानके परायण रहे, तब वह अहंता, ममता, काम, क्रोध आदिका त्याग करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होता है†। परन्तु भक्तके लिये उपर्युक्त श्लोकमें बताया कि वह अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार सब विहित कर्मोंको सदा करते हुए भी मेरी कृपासे परमपदको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि उसने मेरा आश्रय लिया है—**'मद्व्यपाश्रयः।'** तात्पर्य है कि भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेनेसे सुगमतासे कल्याण हो जाता है। भक्तको अपना कल्याण खुद नहीं करना पड़ता, प्रत्युत प्रभु-कृपा उसका कल्याण कर देती है—**'मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।'**

भगवान्‌की शरणमें जानेका काम तो भक्तका है, पर शरणागतिकी सिद्धि भगवान्‌की कृपासे होती है। अहंताको बदलनेकी उत्कण्ठा तो भक्तकी होती है, पर बदलनेका काम भगवान् करते हैं। जैसे बच्चेकी इच्छा माँ पूरी कर देती है, ऐसे ही भक्तकी इच्छा (उत्कण्ठा) को भगवान् पूरी कर देते हैं गीतामें आया है—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

(७। २१)

'जो-जो भक्त जिस-जिस देवताका श्रद्धापूर्वक पूजन करना चाहता है, उस-उस देवताके प्रति मैं उसकी श्रद्धाको दृढ़ कर देता हूँ।'

जब भगवान् दूसरे देवताओंमें मनुष्यकी श्रद्धाको दृढ़ कर देते हैं तो फिर अपनेपर श्रद्धा करनेवाले भक्तोंकी श्रद्धाको वे दृढ़ क्यों नहीं करेंगे? अवश्य करेंगे। इसलिये आया है—

---

* नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही।
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥ (मानस, उत्तर० १२१। ५)

† बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च। शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः। ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ (गीता १८। ५१—५३)

राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥

(मानस, अयोध्या० २१९।४)

जीवमात्र किसी-न-किसीका आश्रय चाहता है कि कोई मुझे अपनानेवाला मिल जाय, मेरी सहायता करनेवाला मिल जाय, मेरी रक्षा करनेवाला मिल जाय, मेरा पालन करनेवाला मिल जाय, मेरा दुःख दूर करनेवाला मिल जाय, मेरे भयको हरनेवाला मिल जाय, मेरे सन्तापको हरनेवाला मिल जाय, मेरेको तत्त्वज्ञान देनेवाला मिल जाय, मेरा उद्धार करनेवाला मिल जाय, आदि-आदि। कोई कुटुम्बका आश्रय लेता है, कोई धनका आश्रय लेता है, कोई अपने विद्या-बुद्धिका आश्रय लेता है, कोई अपनी योग्यता आदिका आश्रय लेता है और कोई अपने पुरुषार्थका आश्रय लेता है कि मैं सब कुछ कर लूँगा। ऐसे अनेक तरहके आश्रय हैं, पर ये सब-के सब नष्ट होनेवाले हैं। परन्तु भगवान्‌का आश्रय अविनाशी है और अविनाशी पदकी प्राप्ति करानेवाला है।

जो मनुष्योंमें भी नीचे हैं, जन्मसे भी नीचे हैं, कर्मसे भी नीचे हैं, योग्यतासे भी नीचे हैं और जो पशु-पक्षी आदि जंगम तथा वृक्ष-लता आदि स्थावर जीव हैं, वे भी यदि भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ले लें तो भगवत्कृपासे उनका भी उद्धार हो जाता है! भगवान् कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

(गीता ९।३२-३३)

'हे पार्थ! जो भी पापयोनिवाले हों तथा जो भी स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र हों, वे भी सर्वथा मेरी शरण होकर निःसन्देह परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं। फिर जो पवित्र आचरणवाले ब्राह्मण और ऋषिस्वरूप क्षत्रिय मेरे भक्त हों, वे परमगतिको प्राप्त हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है!'

इस प्रकार गीतामें शरणागतिका भाव बहुत विलक्षण रीतिसे आया है। भगवान्‌ने संसारकी सम्पूर्ण अच्छी-अच्छी बातोंका सार गीतामें संग्रह कर दिया है, मानो गागरमें सागर भर दिया है! उनमें भी शरणागति सम्पूर्ण गीताका सार है। उस शरणागतिको यदि कोई स्वीकार कर ले तो वह निहाल हो जायगा। उसमें बड़ी विलक्षणता आ जायगी। उसके भीतर बिना पढ़े वेदोंका तात्पर्य स्वतः स्फुरित हो जायगा। उसके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहेगा। अतः शरणागतिकी अनन्त अपार महिमा है!

सब जग ईश्वररूप है
(वासुदेवः सर्वम्)

गीताका सर्वोपरि सिद्धान्त है—**'वासुदेवः सर्वम्'** अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं। संसारके विषयमें दार्शनिकोंके अनेक मतभेद हैं। कोई अजातवाद मानता है, कोई दृष्टिसृष्टिवाद मानता है, कोई विवर्तवाद मानता है, कोई परिणामवाद मानता है, कोई आरम्भवाद मानता है, पर गीता कोई वाद न मानकर **'वासुदेवः सर्वम्'** को ही मुख्य मानती है। **'वासुदेवः सर्वम्'**में सभी वाद, मत समाप्त हो जाते हैं। कारण कि जबतक अहम्‌की सूक्ष्म गंध रहती है, तभीतक दार्शनिकोंमें और दर्शनोंमें मतभेद रहता है, जबकि **'वासुदेवः सर्वम्'**में अहम्‌की सूक्ष्म गंध भी नहीं रहती। इसलिये महात्मा तो सभी दार्शनिक हो सकते हैं, पर **'वासुदेवः सर्वम्'**का अनुभव करनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है। भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तमें अर्थात् मनुष्यजन्ममें 'सब कुछ वासुदेव ही हैं'—ऐसा जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, लययोगी, हठयोगी, राजयोगी, मन्त्रयोगी, अनासक्तयोगी आदि कई तरहके योगी हैं, जो अपने योगमें सिद्ध हो गये हैं, मुक्त हो गये हैं, पर उनको भगवान्‌ने दुर्लभ नहीं बताया है, प्रत्युत 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इसका अनुभव करनेवाले महात्माको ही दुर्लभ बताया है। परन्तु अपने लिये भगवान् कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे पार्थ! अनन्य चित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

तात्पर्य है कि भगवान् **'वासुदेवः सर्वम्'**का अनुभव करनेवाले महात्माको तो दुर्लभ बताते हैं, पर अपनेको सुलभ बताते हैं। इसलिये एक सन्तने कहा है—

हरि दुरलभ नहिं जगत में, हरिजन दुरलभ होय।
हरि हेर्‌याँ सब जग मिलै, हरिजन कहिं एक होय॥

संसारमें भगवान् दुर्लभ नहीं हैं, प्रत्युत महात्मा दुर्लभ हैं। ऐसा कोई देश, काल, वस्तु, क्रिया, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना नहीं है, जिसमें भगवान् परिपूर्ण न हों। भगवान् तो सब जगह हैं, पर भगवान्‌का प्यारा भक्त सब जगह नहीं होता। इसलिये कहा है—

हरि से तू जनि हेत कर, कर हरिजन से हेत।
हरि रीझै जग देत हैं, हरिजन हरि ही देत॥

भगवान् प्रसन्न होते हैं तो जीवको मानवशरीर देते हैं। उस मानवशरीरसे वह नरक, स्वर्ग और मोक्षको भी प्राप्त कर सकता है; ज्ञान, वैराग्य और भक्तिको भी प्राप्त कर सकता है*; और चौरासी लाख योनियोंको भी प्राप्त कर सकता है। परन्तु भगवान्‌के भक्त, नरक, स्वर्ग आदि नहीं देते, प्रत्युत भगवान्‌को ही देते हैं! ऐसे भक्तका स्वरूप गीता बताती है कि वह '**वासुदेवः सर्वम्**'इस ज्ञानवाला होता है।

जैसे, आमका बगीचा होता है। उसमें बिना ऋतुके आमका एक फल भी नहीं होता, तो भी वह बगीचा आमका ही कहलाता है। अमरूदके बगीचेमें एक भी अमरूद देखनेमें नहीं आता, तो भी वह बगीचा अमरूदका ही कहलाता है। गेहूँकी खेतीमें एक दाना भी गेहूँका नहीं मिलता, तो भी वह खेती गेहूँकी ही कहलाती है। कारण यह है कि पहले आमके बीज बोये गये, फिर उनसे वृक्ष हुए और अन्तमें उनमें आमके फल (बीज) आयेंगे, इसलिये बीचमें भी वह आम कहलाता है। आरम्भमें अमरूदके बीज बोये गये और अन्तमें भी वृक्षोंपर अमरूदके फल (बीज) आयेंगे, इसलिये बीचमें भी वह अमरूद कहलाता है। पहले गेहूँ बोया गया, अन्तमें भी गेहूँ ही आयेंगे, इसलिये बीचमें भी वह खेती गेहूँकी ही कहलाती है। भगवान्‌ने गीतामें अपनेको संसारका सनातन और अव्यय बीज बताया है—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्॥

(७। १०)

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

(९। १८)

भगवान् कहते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(गीता १४। ४)

'हे कौन्तेय! सम्पूर्ण योनियोंमें प्राणियोंके जितने शरीर पैदा होते हैं, उन सब (व्यष्टि शरीरोंकी) मूल प्रकृति तो माता है और मैं बीज-स्थापन करनेवाला पिता हूँ।'

सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्तिके चार खानि अर्थात् स्थान हैं—(१) **जरायुज**—जेरके साथ पैदा होनेवाले मनुष्य, गाय, भैंस, भेड़, बकरी, कुत्ता आदि, (२) **अण्डज**—अण्डेसे पैदा होनेवाले पक्षी, साँप, गिलहरी, छिपकली आदि, (३) **उद्भिज्ज**—पृथ्वीका भेदन करके ऊपरकी तरफ निकलनेवाले वृक्ष, लता, दूब, घास, अनाज आदि, और (४) **स्वेदज**—पसीनेसे पैदा होनेवाले जूँ, लीख आदि। इन चार स्थानोंसे चौरासी लाख योनियाँ पैदा होती हैं। इन योनियोंमें दो तरहके जीव होते हैं—स्थावर और जंगम। वृक्ष, लता, दूब, घास आदि एक ही जगह रहनेवाले जीव '**स्थावर**' हैं और मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चलने-फिरनेवाले जीव '**जंगम**' हैं। इन जीवोंमें भी कोई जलमें रहनेवाले हैं, कोई आकाशमें रहनेवाले हैं और कोई भूमिपर रहनेवाले हैं—

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥

(मानस, बाल॰ ३। २)

इन चौरासी लाख योनियोंके सिवाय देवता, पितर, गन्धर्व, भूत, प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, बालग्रह आदि भी कई योनियाँ हैं। इन सम्पूर्ण योनियोंके बीज भगवान् हैं—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(गीता १०। ३९)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंका जो बीज है, वह बीज मैं ही हूँ। कारण कि मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।'

एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः॥

(श्रीमद्भा॰ १। ३। ५)

'यही भगवान् नारायण अनेक अवतारोंके अव्यय बीज हैं। इनके छोटे-से-छोटे अंशसे देवता, पशु-पक्षी और मनुष्यादि योनियोंकी सृष्टि होती है।'

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त जीव हैं, पर सभीका एक ही बीज है। तात्पर्य यह हुआ कि देखने, सुनने, चिन्तन करने आदिमें जो आता है, वह सब भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'। संसारके आदिमें भी भगवान् थे और अन्तमें भी भगवान् रहेंगे, फिर बीचमें दूसरी चीज आ ही कैसे सकती

* नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥ (मानस, उत्तर॰ १२१। ५)

है ? भगवान् कहते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० २।९।३२)

'सृष्टिके पूर्व भी मैं ही था, मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं था और सृष्टिके उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह दृश्यवर्ग है, वह मैं ही हूँ। जो सत्, असत् और उससे परे है, वह सब मैं ही हूँ तथा सृष्टिके बाद भी मैं ही हूँ एवं इन सबका नाश हो जानेपर जो कुछ बाकी रहता है, वह भी मैं ही हूँ।'

अतः भगवान् ही संसाररूपसे दीखते हैं। जैसे गेहूँकी खेती बीचमें घासरूपसे दीखती है। यदि किसी अनजान आदमीको वह खेती दिखायी जाय और कहा जाय कि यह गेहूँ है तो वह कहेगा कि 'तुम ठगाई करते हो, मैंने गेहूँके सैकड़ों बोरे खरीदे और बेचे हैं। यह गेहूँ कैसे हो सकता है ? यह तो घास है।' परन्तु जानकार आदमीको वह घास न दीखकर गेहूँ ही दीखता है। ऐसे ही अनजान आदमी कहते हैं कि 'ये तो मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, पहाड़ आदि हैं, ये भगवान् कैसे हो सकते हैं ? यह तो संसार है, भगवान् है ही कहाँ ! किसीने देखा हो तो बताओ, कहाँ है ईश्वर ?' परन्तु जानकार आदमीको वह संसार न दीखकर भगवान् ही दीखते हैं। उसकी दृष्टिमें सब भगवान्-ही-भगवान् हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

आमके बगीचेमें आमकी गुठली ही वृक्ष बनती है और अन्तमें आमका फल शेष रहता है। फल तो खानेके काम आ जाता है; और अन्तमें आमकी गुठली ही शेष रहती है। बीचमें वृक्ष दीखता है तो यह गुठलीकी विकृति है। यदि विकृतिको देखें तो वृक्ष है और मूलको देखें तो गुठली है। ऐसे ही विकृतिको देखें तो संसार है* और मूलको देखें तो भगवान् हैं। विकृतिको देखना गलती है, क्योंकि अन्तमें विकृति तो रहेगी नहीं, मूल ही रहेगा। अतः विकृतिको न देखकर मूलको देखना परमात्मदृष्टि है। परमात्मदृष्टिसे परमात्मा-ही-परमात्मा दीखते हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

एक ही जल बर्फ, कोहरा, बादल, ओला, वर्षा, नदी, तालाब, समुद्र आदि अनेक रूपोंमें हो जाता है। कड़ाहीमें बर्फ डालकर उसको अग्निपर रखा जाय तो बर्फ पिघलकर पानी हो जायगी। फिर पानी भी भाप हो जायगा और भाप परमाणु होकर निराकार हो जायगा। जल ही कोहरारूपसे होता है, वही बादलरूपसे होता है, वही ओलारूपसे होता है, वही वर्षारूप होकर पृथ्वीपर बरसता है, वही नदीरूपसे होता है, वही समुद्ररूपसे होता है। अनेक रूपसे होनेपर भी तत्त्वसे जल एक ही रहता है। ऐसे ही भगवान् अनेक रूपसे बन जाते हैं। जैसे जल ठण्डकसे जमकर बर्फ हो जाता है और गरमीसे पिघलकर और भाप बनकर परमाणुरूप हो जाता है, ऐसे ही अज्ञानरूपी ठण्डक (जाड़े)से भगवान् स्थूल संसाररूपसे हो जाते हैं और ज्ञानरूपी अग्निसे सूक्ष्म होकर **'वासुदेवः सर्वम्'** रूपसे हो जाते हैं। जल चाहे बर्फरूपसे दीखे या भाप, बादल आदि रूपोंसे दीखे, है वह जल ही। जलके सिवाय कुछ नहीं है। ऐसे ही भगवान् चाहे संसाररूपसे दीखें या अन्य रूपोंसे दीखें, हैं वे भगवान् ही। हमारे और सूर्यके बीचमें कुछ नहीं दीखता, पर वहाँ भी परमाणुरूपसे जल भरा है। जल चाहे बर्फ-रूपमें होनेसे दीखे अथवा परमाणु-रूपमें होनेसे न दीखे, तो भी होता वह जल ही है। इसी तरह जो दीखता है, वे भी भगवान् हैं और जो नहीं दीखता, वे भी भगवान् हैं—**'त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्'** (गीता ११।३७)। सब जगह भगवान्-ही-भगवान् हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

जैसे, हमें हरिद्वार याद आता है तो मनमें हरिकी पैड़ी दीखती है, उसमें लोग स्नान करते हुए दीखते हैं, गङ्गाजी बहती हुई दीखती हैं, गङ्गाजीमें मछलियाँ दीखती हैं, आदि-आदि। यह सब-का-सब मन ही बना हुआ है। मनसे हरिद्वारका चिन्तन छूटते ही कुछ नहीं रहता, केवल मन रहता है। ऐसे ही भगवान्ने संकल्प किया—**'बहु स्यां प्रजायेय'** तो भगवान् ही संसाररूपसे प्रकट हो गये और संकल्प छोड़नेपर संसार नहीं रहेगा, केवल भगवान् ही रहेंगे। अतः एक ही भगवान् अनेक रूपोंमें बने हुए हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

खाँड़के कई तरहके खिलौने होते हैं, पर उन सबमें खाँड़के सिवाय और कुछ नहीं होता। खाँड़की कोई छतरी बनी हुई है, कोई चिड़िया बनी हुई है, कोई मकान बना हुआ है, पर गलनेपर वे सब एक हो जाते हैं। सोनेके अनेक गहने बनते हैं। उनमें कोई पैरमें पहननेका होता है, कोई कमरमें पहननेका होता है, कोई नाकमें पहननेका होता है, कोई कानमें पहननेका होता है, कोई गलेमें पहननेका होता है, कोई हाथोंमें पहननेका होता है आदि-आदि। उन गहनोंके अलग-अलग नाम, रंग, आकृति, उपयोग, तौल, मूल्य होते हैं। परन्तु उन सबमें एक सोनेके सिवाय अन्य कुछ नहीं होता। इसी तरह

* संसारको सत्ता और महत्ता देनेसे ही इसको विकृति कहा गया है। असत् संसाररूपसे सत्ता और महत्ता न दें तो यह चिन्मय भगवत्स्वरूप ही है—ऐसा अनुभव हो जाता है।

अनेक तरहकी सृष्टि दीखते हुए भी एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है। तात्पर्य है कि जैसे जलसे बनी हुई चीज जल ही है, खाँड़से बनी हुई चीज खाँड़ ही है, सोनेसे बने हुए गहने सोना ही हैं, ऐसे ही भगवान्‌से बना हुआ सब संसार भगवान् ही है—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

सब जग ईश्वर रूप है, भलो बुरो नहि कोय।
जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय॥

एक वैरागी बाबा थे। वे गणेशजीका पूजन किया करते थे। एक बार उनको रामेश्वरम् जाना था, पर पासमें पैसे नहीं थे। वे सुनारके पास गये और उससे बोले कि भैया! ये मेरे गणेशजी और उनका चूहा है, इनको लेकर तुम मुझे पैसे दे दो। सुनारने तौलकर बताया कि इतना मूल्य तो गणेशजीकी मूर्तिका है और इतना मूल्य चूहेकी मूर्तिका है। वैरागी बाबा बोले कि 'क्या बात करते हो मूर्ख कहींके! चूहा तो वाहन है और गणेशजी उसके मालिक हैं, दोनोंका एक मूल्य कैसे हुआ?' सुनार बोला कि 'बाबाजी! मैं गणेशजी और चूहेकी बात नहीं कहता हूँ, मैं तो सोनेकी बात कहता हूँ।'

एकनाथजी महाराजने भागवत, एकादश स्कन्धकी टीकामें लिखा है कि एक सोनेसे बनी हुई विष्णुभगवान्‌की मूर्ति है और एक सोनेसे बनी हुई कुत्तेकी मूर्ति है। विष्णुभगवान् श्रेष्ठ एवं पूज्य हैं, कुत्ता नीच (अस्पृश्य) एवं अपूज्य है। परन्तु तौलमें बराबर होनेके कारण दोनोंका बराबर मूल्य है* । बाहरी रूपको देखें तो दोनोंमें बड़ा भारी फर्क है, पर सोनेको देखें तो दोनोंमें कोई फर्क नहीं! इसी तरह संसारमें कोई महात्मा है, कोई दुरात्मा है; कोई सज्जन है, कोई दुष्ट है; कोई सदाचारी है, कोई दुराचारी है, कोई धर्मात्मा है, कोई पापी है; कोई विद्वान् है, कोई मूर्ख है—यह सब तो बाहरी दृष्टिसे है, पर तत्त्वसे देखें तो सब-के-सब एक भगवान् ही हैं। एक भगवान् ही अनेक रूप बने हुए हैं। जानकार आदमी उनको पहचान लेता है, दूसरा नहीं पहचान सकता। जैसे, आमके बगीचेमें वृक्ष खड़े हैं। उनमें एक भी आम नहीं है। परन्तु जानकार आदमीकी दृष्टिमें वे सब आम हैं। वे उसको आमका ही बगीचा कहते हैं। ऐसे ही महात्माकी दृष्टिमें सब कुछ भगवान् ही हैं। तत्त्वज्ञ महात्माकी दृष्टि सम होती है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५।१८)

'महात्मालोग विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणमें और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी एवं कुत्तेमें भी समरूप परमात्माको देखनेवाले होते हैं।'

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥

(श्रीमद्भा० ११।२९।१४)

'जो ब्राह्मण और चाण्डालमें, ब्राह्मणभक्त और चोरमें, सूर्य और चिनगारीमें तथा कृपालु और क्रूरमें समान दृष्टि रखता है, वह भक्त ज्ञानी माना गया है।'

ऐसे समरूप परमात्माको देखनेवाले महात्मा संसारको जीत लेते हैं—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

(गीता ५।१९)

'जिसका अन्तःकरण समतामें स्थित (राग-द्वेषसे रहित) है, उन्होंने इस जीवित-अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसारको जीत लिया है।' अर्थात् उनमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि नहीं रहते। उनकी समबुद्धि स्वतः अटल बनी रहती है। जब एक भगवान्‌के सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं, तो फिर कौन द्वेष करे और किससे करे?

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(मानस, उत्तर० ११२ ख)

प्रश्न—जब सब कुछ भगवान् ही हैं तो फिर जड-चेतन, विनाशी-अविनाशीका भेद कहाँसे आ गया?

उत्तर—यह भेद मनुष्यसे आया है अर्थात् मनुष्यने ही इस भेदको पैदा किया है और वही इसको मिटा सकता है तथा इसको मिटानेकी जिम्मेवारी भी उसीपर है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि इस जगत्‌को जीवने ही धारण किया है—'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**' (७।५)। राग-द्वेषके कारण ही संसार नाशवान्, जड दीखता है। भीतरमें राग-द्वेष न हों, समता हो तो संसार भगवत्स्वरूप ही दीखेगा।

वास्तवमें सब कुछ चिन्मय ही है, पर राग-द्वेषके कारण वह जड, लौकिक दीखता है। राग-द्वेष न हों तो एक चिन्मय तत्त्व (भगवान्)‌के सिवाय कुछ है ही नहीं। जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम, विनाशी-अविनाशी सब एक भगवान् ही हैं, भेद केवल राग-द्वेषके कारण है। राग-द्वेषका भी कारण मोह अथवा अज्ञान है—

'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।'

(मानस, उत्तर० १२१।१५)

मोह मिटनेसे 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यह स्मृति प्राप्त हो जाती है—'**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**' (गीता १२।७३)। अतः '**वासुदेवः सर्वम्**' तो सदासे ही है और सदा ही रहेगा, पर मोहके कारण उसका अनुभव नहीं होता। तात्पर्य है कि बुद्धिमें जडता (मोह) होनेसे ही जड़ दीखता है। बुद्धिमें जडता न हो तो सब कुछ चिन्मय ही है। जैसे आँखोंपर जिस रंगका चश्मा चढ़ायें, वैसा ही रंग सब जगह दीखता है, ऐसे ही राग-द्वेषादि जैसी वृत्तियाँ होती हैं, वैसा ही संसार दीखता है।

साधकसे गलती यह होती है कि वह अपनेको अलग रखकर संसारको भगवत्स्वरूप देखनेकी चेष्टा करता है अर्थात् '**वासुदेवः सर्वम्**' को अपनी बुद्धिका विषय बनाता है। वास्तवमें केवल दीखनेवाला संसार ही भगवत्स्वरूप नहीं है, प्रत्युत देखनेवाला भी भगवत्स्वरूप है। अतः साधकको ऐसा मानना चाहिये कि अपनी देहसहित सब कुछ भगवान् ही हैं अर्थात् शरीर भी भगवत्स्वरूप है, इन्द्रियाँ भी भगवत्स्वरूप हैं, मन भी भगवत्स्वरूप है, बुद्धि भी भगवत्स्वरूप है, प्राण भी भगवत्स्वरूप हैं और अहम् (मैंपन) भी भगवत्स्वरूप है।

सब कुछ भगवान् ही हैं—इसको माननेके लिये साधकको बुद्धिसे जोर नहीं लगाना चाहिये, प्रत्युत सहज-रूपसे जैसा है, वैसा स्वीकार कर लेना चाहिये। इसलिये श्रीमद्भागवतमें आया है—

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्याऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(११।२९।१८)

'जब सबमें भगवद्बुद्धि की जाती है, तब 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा दीखने लगता है। फिर इस परमात्म-दृष्टिसे भी उपराम होनेपर सम्पूर्ण संशय स्वतः निवृत्त हो जाते हैं।'

तात्पर्य है कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस भावसे भी उपराम हो जाय, इसका भी चिन्तन न करे अर्थात् न द्रष्टा (देखनेवाला) रहे, न दृश्य (दीखनेवाला) रहे और न दर्शन (देखनेकी वृत्ति) ही रहे, केवल भगवान् ही रहें। इसलिये भगवान्ने कहा है—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११।१३।२४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ (शब्दादि विषय) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार करके अनुभव कर लें।'

विविध रूपोंमें भगवान्

गीतामें भगवान् कहते हैं—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(१०।३९)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंका जो बीज है, वह मैं ही हूँ। मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।'

जैसे बीजसे खेती होती है, ऐसे ही भगवान्से यह सम्पूर्ण संसार हुआ है। जिस प्रकार बाजरीसे बाजरी ही पैदा होती है, गेहूँसे गेहूँ ही होता है, पशुसे पशु ही होते हैं, मनुष्यसे मनुष्य ही होते हैं, इसी प्रकार भगवान्से भगवान् ही होते हैं! जैसे सोनेसे बने गहने सोनारूप ही होते हैं, लोहेसे बने औजार लोहारूप ही होते हैं, मिट्टीसे बने बर्तन मिट्टीरूप ही होते हैं, ऐसे ही भगवान्से होनेवाला संसार भी भगवद्रूप ही है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७।१९)।

आरम्भमें भी बीज होता है और अन्तमें भी बीज होता है, बीचमें खेती होती है। बोयी हुई बाजरीकी खेतीमें एक दाना भी बाजरीका नहीं है फिर भी गाय उसको खा जाय तो कहते हैं कि तुम्हारी गाय हमारी बाजरी खा गयी! कारण कि जैसा बीज होता है, वैसी ही खेती होती है। लौकिक बीज तो खेतीसे पैदा होनेवाला होता है, पर भगवान्रूपी बीज पैदा होनेवाला नहीं है; अतः भगवान्ने अपनेको अनादि बीज बताया है—**'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्'** (गीता ७।१०)। लौकिक बीज तो अंकुर पैदा करके नष्ट हो जाता है, पर भगवान्रूपी बीज अनन्त सृष्टियाँ पैदा करके भी ज्यों-का-त्यों रहता है; अतः भगवान्ने अपनेको अव्यय बीज बताया है—**'प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्'** (गीता ९।१८)। लौकिक बीजसे तो एक ही प्रकारकी खेती होती है। जैसे, गेहूँके बीजसे गेहूँ ही पैदा होता है; ऐसा नहीं होता कि एक ही बीजसे गेहूँ भी पैदा हो जाय, बाजरी भी पैदा हो जाय, मोठ भी पैदा हो जाय, मूँग भी पैदा हो जाय। सबके बीज अलग-अलग होते हैं। परन्तु भगवान्रूपी बीज इतना विलक्षण बीज है कि उस एक ही बीजसे सब प्रकारकी सृष्टि पैदा हो जाती है—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(गीता १४। ४)

'हे कुन्तीनन्दन! सम्पूर्ण योनियोंमें प्राणियोंके जितने शरीर पैदा होते हैं, उन सबकी मूल प्रकृति तो माता है और मैं बीज-स्थापन करनेवाला पिता हूँ।'

'बहु स्यां प्रजायेयेति'

(छान्दोग्य० ६। २। ३; तैत्तिरीय० २। ६)

'मैं अनेक रूपोंमें प्रकट होकर बहुत हो जाऊँ।'

'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।'

(कठ० २। २। १२)

'जो सब प्राणियोंका अन्तर्यामी, अद्वितीय एवं सबको वशमें रखनेवाला परमात्मा अपने एक ही रूपको बहुत प्रकारसे बना लेता है।'

स्थावर-जंगम, जलचर-थलचर-नभचर, भूत-प्रेत-पिशाच, राक्षस, असुर, देवता, गन्धर्व, चौरासी लाख योनियाँ, चौदह भुवन—सबका बीज एक भगवान् ही हैं।

अर्जुनकी प्रार्थनापर भगवान्ने विभूतियोंका वर्णन किया और अन्तमें अपनी तरफसे बड़ी विलक्षण बात कही—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०। ४२)

'अथवा हे अर्जुन! तुम्हें इस प्रकार बहुत-सी बातें जाननेकी क्या आवश्यकता है? मैं अपने किसी एक अंशसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हूँ।' तात्पर्य है कि जगत्-रूपसे भगवान् ही स्थित हैं; क्योंकि व्याप्य और व्यापक—दोनों भगवान् ही हैं।

एक बार कन्हैयाने मिट्टी खा ली। यशोदा मैयाको चिन्ता हुई कि मिट्टी खानेसे कन्हैया बीमार हो जायगा। इसलिये मैयाने हाथमें छड़ी ले ली और कहा कि 'बोल, तूने मिट्टी क्यों खायी?' कन्हैयाने कहा कि 'मैया मैंने मिट्टी नहीं खायी, तू मेरा मुँह देख ले।' कन्हैयाने अपना मुख खोला तो उस छोटे-से मुखमें अनन्त सृष्टियाँ दीखने लग गयीं। यशोदाने कन्हैयाके मुखमें अनन्त लोक देखे, जिनमें एक त्रिलोकी देखी। त्रिलोकीमें एक पृथ्वीको देखा। पृथ्वीमें एक भारतवर्षको देखा। भारतवर्षमें भी एक व्रजको देखा। व्रजमें भी एक नन्दगाँवको देखा। नन्दगाँवमें भी नन्दजीके घरको देखा। नन्दजीके घरमें भी एक कमरेमें अपनेको बैठे देखा और अपनी गोदमें छोटे-से कन्हैयाको बैठे देखा। उस कन्हैयाके भी एक छोटे-से मुखमें अनन्त सृष्टियोंको देखा। कारण कि कन्हैयाके सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं—**'वासुदेवः सर्वम्।'**

एक बार काकभुशुण्डिजी भगवान् रामकी बाललीला देख रहे थे और उनके साथ खेल रहे थे। रामजीको प्राकृत शिशुकी तरह खेलते देखकर काकभुशुण्डिजीके मनमें मोह, भ्रम पैदा हो गया। उनको मोहित देखकर रामजी हँसे। रामजीके हँसते ही वे उनके मुखमें चले गये। भीतर जाकर उन्होंने रामजीके उदरमें अनन्त ब्रह्माण्डोंको देखा। उन ब्रह्माण्डोंमें वे कई कल्पोंतक घूमते रहे। कुछ समयतक वे अपने आश्रममें भी रहे। फिर उन्होंने अयोध्यामें जाकर रामजन्मको भी देखा। उसके बाद वे रामजीके हँसनेपर बाहर आ गये। इतना समय केवल दो घड़ीमें ही बीता था (मानस, उत्तर० ८०। १ से ८२)।

गीतामें भी आया है कि अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी देहके एक अंशमें विराट्रूपको देखा। अर्जुन कहते हैं—**'पश्यामि देवांस्तव देव देहे'** (गीता ११। १५), सञ्जय भी कहते हैं—**'अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा'** (गीता ११। १३) और स्वयं भगवान् भी कहते हैं—**'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥'** (गीता ११। ७)

भागवतमें तीन तरहके भक्त बताये गये हैं—प्राकृत, मध्यम और उत्तम। जो केवल मूर्तिमें ही श्रद्धापूर्वक भगवान्‌की पूजा करता है, भगवान्‌के भक्तों तथा अन्य ज्ञानी, विरक्त सन्त आदिमें श्रद्धा-प्रेम नहीं करता, वह प्राकृत अर्थात् आरम्भिक भक्त है*। जैसे क-ख-ग सीखनेवाला आरम्भिक विद्यार्थी है; क्योंकि उसकी विद्या शुरू हो गयी, ऐसे ही उस भक्तकी भक्ति शुरू हो गयी। जो भगवान्से प्रेम, उनके भक्तोंसे मित्रता, दुखियोंपर कृपा तथा भगवान्से द्वेष करनेवालोंकी उपेक्षा करता है, वह मध्यम भक्त है†। जो सम्पूर्ण संसारमें समान रूपसे परमात्माको ही देखता है, वह उत्तम भक्त है‡। उत्तम भक्तकी बातको यदि आरम्भमें ही मान लिया जाय तो

* अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते। न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥ (श्रीमद्भा० ११। २। ४७)

† ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च। प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥ (श्रीमद्भा० ११। २। ४६)

‡ सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः। भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥ (श्रीमद्भा० ११। २। ४५)

कितने लाभकी बात है ! पहले आचार्य होकर फिर क-ख-ग सीखना है ! सब कुछ भगवान् ही हैं—यह मान लें तो हम आचार्य हो गये ! अब नाम-जप करें, कीर्तन करें, सत्संग करें तो बड़ी सुगमतासे भगवत्प्राप्ति हो जायगी।

जो हमारे मनको सुहाता है, उसमें तो भगवान्‌को देखना सुगम है, पर जो हमारे मनको नहीं सुहाता, उसमें भगवान्‌को देखना कठिन है। जो मनको नहीं सुहाता, मनके विरुद्ध है, उसमें अगर भगवद्भाव करने लग जायँ तो हम बहुत जल्दी ऊँचे भक्त हो जायँगे। अतः अच्छे-मन्दे, भले-बुरे सबमें भगवान्‌को देखना शुरू कर दें—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥

(गीता ६।९)

'सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और सम्बन्धियोंमें तथा साधु-आचरण करनेवालोंमें और पाप-आचरण करनेवालोंमें भी समबुद्धिवाला (भगवान्‌को समान-रूपसे देखनेवाला) मनुष्य श्रेष्ठ है।'

जो हमारेसे वैर-विरोध करनेवाले हैं, हमारी निन्दा-निरादर करनेवाले हैं, उनमें भी भगवान्‌को देखें कि ऊपरसे इनका स्वभाव ऐसा बना हुआ है, पर भीतरसे तो भगवान् ही हैं। सिंह, साँप, बिच्छू आदि सब-के-सब भगवान्‌के स्वरूप हैं। वे ऊपरसे अनेक रंगोंके वस्त्र धारण किये हुए हैं, पर भीतरसे (तत्त्वसे) एक भगवान् ही हैं। जैसे, स्नान करते समय शरीरमें साबुन लगाकर दर्पणमें देखते हैं तो शरीर बहुत बुरा, भद्दा दीखता है। कहीं फफोले दीखते हैं, कहीं लकीरें दीखती हैं ! परन्तु भद्दा दीखनेपर भी मनमें दुःख नहीं होता कि कैसी बीमारी हो गयी ! कारण कि भीतरमें यह भाव रहता है कि यह तो ऊपरसे ऐसा दीखता है, स्नान करते ही साफ हो जायगा। ऐसे ही सभी परमात्माके स्वरूप हैं, पर ऊपरसे (शरीरोंमें) उनका अलग-अलग स्वभाव दीखता है। वास्तवमें ऊपरसे दीखने-वाले भी परमात्माके ही स्वरूप हैं, पर अपने राग-द्वेषके कारण वे अलग-अलग दीखते हैं।

एक ही भगवान् अनेक रूपोंसे हमारे सामने आते हैं—**'अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे'**। कहीं आग लगी है, कहीं जल बह रहा है, कहीं विवाह हो रहा है, कहीं मृत्युका शोक मनाया जा रहा है, कहीं विद्वान् लोग आपसमें तत्त्वका विचार कर रहे हैं, कहीं मदिरा पीकर आपसमें लड़ रहे हैं—ये सब रूप तो अनेक हैं, पर भीतरसे एक भगवान् ही हैं। ऊपरका स्वभाव तो बदलनेवाला है; क्योंकि वह कच्चा है, पर परमात्म-तत्त्व बदलनेवाला नहीं है; क्योंकि वह सच्चा है। इसलिये बड़े-बड़े दुष्ट भी महात्मा हो गये ! सन्तलोग बदलनेवालेको नहीं देखते, प्रत्युत न बदलनेवालेको देखते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

(गीता ५।१८)

'ज्ञानी महापुरुष विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणमें और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी एवं कुत्तेमें भी समरूप परमात्माको देखते हैं।'

सृष्टिसे पहले भी परमात्मा थे—**'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** (छान्दोग्य० ६।२।१) और अन्तमें भी परमात्मा ही रहेंगे—**'शिष्यते शेषसंज्ञः'** (श्रीमद्भा० १०।३।२५), फिर बीचमें दूसरा कहाँसे आया ? जैसे अन्नकूटके प्रसादमें रसगुल्ले, गुलाबजामुन आदि भी होते हैं और मेथी, करेला आदिका साग भी होता है। मीठा भी भगवान्‌का प्रसाद होता है और कड़वा भी भगवान्‌का प्रसाद होता है। ऐसे ही जो हमारे मनको सुहाये, वह भी भगवान्‌का स्वरूप है और जो नहीं सुहाये, वह भी भगवान्‌का स्वरूप है। सत् भी भगवान्‌का स्वरूप है और असत् भी भगवान्‌का स्वरूप है। अमृत भी भगवान्‌का स्वरूप है और मृत्यु भी भगवान्‌का स्वरूप है—

'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन' (गीता ९।१९)

'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्' (गीता १०।३४)

नामदेवजी महाराजके घरमें आग लगी तो लोगोंने उनको समाचार दिया। घरमें आग लगनेका समाचार सुनकर नामदेवजी प्रसन्नतासे नाचने लगे कि मेरे घरमें मेरे और मालिक (भगवान्) के सिवाय और कौन बिना पूछे आ सकता है ? भगवान् ही मेरे घरमें अग्निरूपसे आये हैं और वस्तुओंका भोग लगा रहे हैं। घरसे बाहर कई चीजें पड़ी हुई थीं, उनको भी नामदेवजी उठाकर घरके भीतर अग्निमें डालने लगे कि महाराज ! इनका भी भोग लगाओ ! फिर रातोंरात भगवान्‌ने नामदेवजीका छप्पर बना दिया; क्योंकि जो जिस वस्तुका भोग लगाता है, उसे वही वस्तु प्रसादरूपसे मिलती है। मीराबाईके पास सिंह भेजा गया तो मीराबाई प्रसन्न हो गयीं कि प्रह्लादजीके भगवान् नरसिंहजी आ गये ! उन्होंने उस सिंहकी आरती की, माला पहनायी। उसको जलका छींटा लगा तो वह वापस चला गया। तात्पर्य है कि भगवान् किसी भी रूपमें आयें, भक्त उनको पहचान लेता है।

भगवान् चाहे किसी भी रूपमें आयें, उनकी मरजी है। सुन्दर दृश्य हो, पुष्प खिले हों, सुगन्ध आ रही हो तो वह भी भगवान्‌का रूप है और मांस, हड्डियाँ, मैला पड़ा हो, दुर्गन्ध

आ रही हो तो वह भी भगवान्‌का रूप है। भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है। भगवान्‌ने राम, कृष्ण आदि रूप भी धारण किये और मत्स्य, कच्छप, वराह आदि रूप भी धारण किये। वे कोई भी रूप धारण करें, हैं तो भगवान् ही! रूप तो भगवान्‌का है और क्रिया उनकी लीला है। कोई पाप, अन्याय करता हुआ दीखे तो समझें कि भगवान् कलियुगकी लीला कर रहे हैं। वे जैसा रूप धारण करते हैं, वैसी ही लीला करते हैं। वराह (सूअर) का रूप धारण करके वे वराहकी तरह लीला करते हैं और मनुष्यका रूप धारण करके वे मनुष्यकी तरह लीला करते हैं। वे कोई भी रूप धारण करके कैसी ही लीला करें, भक्तकी दृष्टि भगवान्‌को छोड़कर कहीं जाती ही नहीं। जब सब कुछ वे ही हैं, फिर भक्त उनके सिवाय और किसको देखे? इसलिये भक्त कहता है—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

—इस श्लोकके दो अर्थ होते हैं—(१) आप ही माता हो, आप ही पिता हो, आप ही बन्धु हो, आप ही सखा हो, आप ही विद्या हो, आप ही धन हो, हे देवदेव! मेरे सब कुछ आप ही हो। (२) मेरी माता भी आपका स्वरूप है, मेरे पिता भी आपके स्वरूप हैं, मेरे बन्धु भी आपके स्वरूप हैं, मेरे सखा भी आपके स्वरूप हैं, मेरी विद्या भी आपका स्वरूप है, मेरा धन भी आपका स्वरूप है, हे देवदेव! मेरा सब कुछ आपका ही स्वरूप है।

अपना कोई एक अत्यन्त प्रिय व्यक्ति मिल जाय तो बड़ा आनन्द आता है। परन्तु जब सब रूपोंमें ही अपने अत्यन्त प्रिय इष्ट भगवान् मिलें तो आनन्दका क्या ठिकाना है! इसलिये सब रूपोंमें अपने प्यारेको देख-देखकर प्रसन्न होते रहें, मस्त होते रहें। कभी भगवान् सौम्य-रूपसे आते हैं, कभी क्रूर-रूपसे आते हैं, कभी ठण्ड-रूपसे आते हैं, कभी गरमी-रूपसे आते हैं, कभी वायु-रूपसे आते हैं, कभी वर्षा-रूपसे आते हैं, कभी बिजली-रूपसे चमकते हैं, कभी मेघ-रूपसे गर्जना करते हैं। तात्पर्य है कि अनेक रूपोंसे भगवान्-ही-भगवान् आते हैं। जहाँ मन जाय, वहीं भगवान् हैं। अब मनको एकाग्र करनेकी तकलीफ क्यों करें? मनको खुला छोड़ दें। यह दृढ़ विचार कर लें कि मेरा मन जहाँ भी जाय, भगवान्‌में ही जाता है और मेरे मनमें जो भी आये, भगवान् ही आते हैं; क्योंकि सब कुछ एक भगवान् ही हैं। भगवान् कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६।३०)

'जो सबमें मुझको देखता है और मुझमें सबको देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

जैसे सब जगह बर्फ-ही-बर्फ पड़ी हो तो बर्फ कैसे छिपेगी? बर्फके पीछे बर्फ रखनेपर भी बर्फ ही दीखेगी! ऐसे ही जब सब रूपोंमें भगवान् ही हैं, तो फिर वे कैसे छिपें, कहाँ छिपें और किसके पीछे छिपें?

★

सर्वत्र भगवद्दर्शन

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें देरी होनेका एकमात्र कारण है—उत्कट अभिलाषाकी कमी और इस कमीका कारण है—सांसारिक सुखकी चाहना। हमें परमात्माकी प्राप्ति हो जाय, हमारा कल्याण हो जाय। हमें तत्त्वज्ञान हो जाय, हमारा भगवान्‌में प्रेम हो जाय, हम जीवन्मुक्त हो जायँ, हम जन्म-मरणसे रहित हो जायँ, हम सब दुःखोंसे छूट जायँ* आदि किसी भी एक बातकी जोरदार इच्छा होनी चाहिये कि उसके बिना रह न सकें। जैसे, किसीके मनमें यह जोरदार इच्छा हो जाय कि गङ्गा कैसे मिले? गङ्गाके पासमें कैसे पहुँचें? गङ्गाको कैसे जानें? गङ्गाके दर्शन कैसे हों? और कोई जानकार आदमी सामने बहती हुई नदीकी तरफ संकेत करके बता दे कि यही गङ्गा है तो गङ्गाकी प्राप्तिमें कितनी देरी लगी? क्या परिश्रम हुआ? पहले अपनी दृष्टिमें वह नदी थी, अब दृष्टि चली गयी कि यह तो गङ्गा है—इतनी ही बात है!

एक बार किसी भाईने सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकासे कहा कि हमें भगवान्‌के दर्शन करा दो! सेठजीने कहा कि भाई, हमारी सामर्थ्य नहीं है। उसने फिर कहा तो सेठजी बोले कि मैं दर्शन करा दूँ तो आप मानोगे नहीं। अगर आप मान लोगे तो दर्शन करा देता हूँ। उसने कहा कि आप सत्यवादी हैं—ऐसा प्रसिद्ध है। अतः आप कहोगे तो मैं मान लूँगा।

* परमात्माकी प्राप्ति, कल्याण, तत्त्वज्ञान आदि सभी वास्तवमें एक ही हैं।

सेठजी उसको बाहर ले गये और सूर्यकी तरफ संकेत करके बोले कि देखो, ये भगवान् हैं! वह भाई बोला कि सूर्यको तो हम नित्य ही देखते हैं! सेठजीने कहा कि शास्त्रोंने सूर्यको भगवान् कहा है। ईश्वरकोटिके पाँच देवताओंमें भी सूर्यका स्थान है। अतः सूर्य भगवान् हैं—इसमें क्या सन्देह है? तात्पर्य है कि भगवान्‌की प्राप्तिमें देरी नहीं है। परन्तु उसकी प्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा नहीं है, इसीलिये देरी हो रही है।

अगर घरमें कोई आदमी भूखा हो तो आप उसको दाल, भात, हलवा, पूरी आदि कुछ भी बनाकर दे सकते हैं, पर भूख नहीं दे सकते। भूख तो उसकी खुदकी चाहिये। इसी तरह उत्कट अभिलाषा खुदकी चाहिये। उत्कट अभिलाषा होनेपर भगवत्प्राप्तिमें देरीका कारण ही नहीं है। आप देखनेको तैयार और भगवान् दीखनेको तैयार, फिर देरीका कारण क्या है?

भगवान्‌की प्राप्ति बड़ी भारी सुलभ है! ऐसा सुलभ दूसरा कोई काम हो ही नहीं सकता। सुलभता-दुर्लभता, सुगमता-कठिनता तो वहाँ होती है, जहाँ कुछ करना पड़ता है अथवा जहाँ प्रापणीय तत्त्वसे दूरी होती है। जहाँ कुछ करना ही नहीं पड़ता, केवल जानना अथवा मानना ही पड़ता है, उसमें क्या सुलभता और क्या दुर्लभता? क्या सुगमता और क्या कठिनता? भगवान् अत्यन्त सुलभ कैसे हैं? अब इसपर विचार किया जाता है।

साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तमें अर्थात् मनुष्यजन्ममें 'सब कुछ वासुदेव ही है'—ऐसा जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

तात्पर्य है कि मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, खम्भा, मकान, जमीन, कपड़ा आदि जो कुछ भी देखने, सुनने, चिन्तन करने आदिमें आ रहा है, वह सब भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय किंचिन्मात्र भी दूसरी चीज नहीं है—इस बातको अभी, वर्तमानमें ही मान लें। स्वयं भगवान्‌के वचन हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७। ७)

'हे धनञ्जय! मेरेसे बढ़कर (इस जगत्‌का) दूसरा कोई किञ्चिन्मात्र भी कारण नहीं है। जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई होती हैं, ऐसे ही सम्पूर्ण जगत् मेरेमें ही ओतप्रोत है।'

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।

(गीता ७। १०)

'हे पृथानन्दन! सम्पूर्ण प्राणियोंका अनादि बीज मुझे जान।'

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

(गीता ७। १२)

'जितने भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव हैं, वे सब मेरेसे ही होते हैं—ऐसा समझो। परन्तु मैं उनमें और वे मेरेमें नहीं हैं।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(गीता १०। ३९)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंका जो बीज है, वह बीज मैं ही हूँ; क्योंकि मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।'

जैसे बीज ही वृक्ष बना है, ऐसे भगवान् ही संसार बने हैं। भगवान् ही सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके बीज हैं। इतना ही नहीं, इससे भी आगे भगवान् कहते हैं—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९) 'सत् और असत् भी मैं ही हूँ।' संसारमें सत् और असत्‌के सिवाय और कुछ भी नहीं है। संसार असत् है, उसमें रहनेवाला परमात्मतत्त्व सत् है। शरीर असत् है, उसमें रहनेवाला जीवात्मा सत् है। शरीर-संसार परिवर्तनशील हैं, जीवात्मा और परमात्मा अपरिवर्तनशील हैं। शरीर-संसार नाशवान् हैं, जीवात्मा और परमात्मा अविनाशी हैं। भगवान् कहते हैं कि परिवर्तनशील भी मैं हूँ और अपरिवर्तनशील भी मैं हूँ; नाशवान् भी मैं हूँ और अविनाशी भी मैं हूँ। अर्जुन भी कहते हैं—**'त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्'** (गीता ११। ३७) 'आप सत् भी हैं, असत् भी हैं और सत्-असत्‌से परे जो कुछ भी है, वह सब भी आप ही हैं।'

अब भगवान्‌की प्राप्तिमें देरी किस बातकी है? परिश्रम किस बातका है? ये गङ्गाजी हैं—इसमें क्या देरी लगी? क्या परिश्रम पड़ा? भगवान् तो गङ्गाजीसे भी विलक्षण हैं। गङ्गाजी तो एक जगह हैं, पर भगवान् सब जगह हैं। भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—**'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय'** (गीता ७। ७)। यदि कोई कहे कि इस बातपर हमारा विश्वास नहीं है तो यह उसकी कमी है, तत्त्वकी कमी नहीं है। भगवान्‌पर विश्वास नहीं करेंगे तो क्या उस शरीर या संसारपर विश्वास करेंगे, जो क्षणभङ्गुर है, नाशवान् है? भगवान्‌की वाणीपर तो

विश्वास करते नहीं और चाहते हैं अपना कल्याण ! यह कैसे सम्भव है ? भगवान्‌के वचनोंपर विश्वास न करना भगवान्‌का तिरस्कार है, अपराध है। अगर उनके वचन हमारी समझमें नहीं आयें तो यह बात दृढ़तासे मान लें कि हमारी समझमें कमी है, तत्त्वमें कमी नहीं है। फिर अनुभव हो जायगा। कारण कि सच्ची बात सच्ची ही रहेगी, झूठी कैसे हो जायगी ? भले ही हमारी समझमें नहीं आये, हमारी दृष्टिमें नहीं आये, पर सब कुछ भगवान् ही हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

ज्ञानमार्गमें यह बात आती है कि देखने, सुनने, चिन्तन करने आदिमें जो कुछ आता है, वह सब असत् माया है—

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च॥

(श्रीमद्भा० ११।२८।४)

'संसारकी सब वस्तुएँ वाणीसे कही जा सकती हैं और मनसे सोची जा सकती हैं; अतः वे सब असत्य हैं। जब द्वैत नामकी कोई वस्तु है ही नहीं, तो फिर उसमें क्या अच्छा और क्या बुरा ?'

देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं॥

(मानस, अयोध्या० ९२।४)

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥

(गीता १८।४०)

'पृथ्वीमें या स्वर्गमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवाय और कहीं भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो।'

परन्तु भक्तिमार्गमें यह बात आती है कि देखने, सुनने, चिन्तन करने आदिमें जो कुछ आता है, वह सब भगवान् ही हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११।१३।२४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ (शब्दादि विषय) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार कर लें।'

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।

(मानस, बाल० ७)

न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(गीता १०।३९)

'मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है।'

तात्पर्य है कि ज्ञानमार्गमें सब कुछ प्रकृतिरूप है और भक्तिमार्गमें सब कुछ भगवद्रूप है।

ज्ञानमार्ग जडताके त्यागमें काम आता है और भक्तिमार्ग भगवान्‌के प्रेममें काम आता है। ज्ञानमार्गमें परमात्मा संसारमें व्याप्त हैं—**'येन सर्वमिदं ततम्'** (गीता २।१७), **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** (ईश० १) और भक्तिमार्गमें संसाररूपसे परमात्मा ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७।१९)। ज्ञानमार्गमें गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—**'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'** (गीता ३।२८) और भक्तिमार्गमें भगवान् ही भगवान्‌में बरत रहे हैं अर्थात् लीला कर रहे हैं—**'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'** (गीता ६।३०)। ज्ञानमार्गमें साधक अपने स्वरूपमें स्थित होता है और भक्तिमार्गमें साधक भगवान्‌के अर्पित होता है, भगवान्‌का प्रेमी होता है। भगवान् प्रेमके भूखे हैं, ज्ञानके नहीं। भक्त भगवान्‌से प्रेम करता है और भगवान् भक्तसे प्रेम करते हैं; अतः उनमें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम होता है।

सब कुछ भगवान् ही हैं—इस बातको कोई जानना चाहे तो वह एकान्तमें बैठ जाय और यह प्रार्थना शुरू कर दे कि हे नाथ ! मैं आपको कैसे जानूँ—**'कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्'** (गीता १०।१७) सब कुछ आप ही हैं—इसको मैं कैसे जानूँ ! कैसे जानूँ ! कैसे जानूँ ! इस तरह भीतरसे लगन लगा दे। एक कहानी है। एक बहुत दरिद्र आदमी था। वह एक महात्माके पास गया और बोला कि 'महाराज ! मेरेपर बहुत कर्जा है। खाने-पीनेकी, रहनेकी, कपड़ेकी बहुत तंगी है। ऐसी कृपा करो कि कर्जा उतर जाय।' महात्माने पूछा कि 'तेरे घरमें बड़ी चीज क्या है ?' वह बोला कि 'एक स्नान करनेकी बड़ी शिला है, जिसपर बैठकर मैं स्नान किया करता हूँ। उससे बड़ी और कोई चीज नहीं है।' महात्मा बोले कि 'तू अभी जाकर बैठ जा और कहना शुरू कर दे कि यह शिला सोनेकी हो जाय.......शिला सोनेकी हो जाय.......शिला सोनेकी हो जाय......शिला सोनेकी हो जाय ! इतना सोना तो काफी है न ?' वह बोला कि 'महाराज ! कर्जा तो उसके एक टुकड़ेसे ही उतर जायगा !' महात्मा बोले कि 'अब तू जा और चौबीस घण्टेतक इस बातकी धुन लगा दे।' वह आदमी घर गया और 'शिला सोनेकी हो जाय'—ऐसा कहना शुरू कर दिया। ऐसा कहते-कहते तेईस घण्टे बीत गये तो उसने देखा कि अभी शिलाका एक टुकड़ा भी सोनेका नहीं हुआ। फिर भी वह कहता गया। चौबीस घण्टे पूरा होनेमें पाँच-दस मिनट रह गये, तब भी शिला नहीं बदली। पर वह कहता गया। जब एक मिनट

बाकी रहा, तब वह कहते-कहते उकता गया और बोला कि सोनेकी नहीं तो लोहेकी ही हो जाय ! उसके ऐसा कहते ही चट वह शिला लोहेकी हो गयी ! उसने महात्माके पास जाकर कहा कि 'महाराज ! वह शिला तो लोहेकी हो गयी ! वह या तो पत्थरकी ही रहती या सोनेकी हो जाती, लोहेकी कैसे हो गयी ?' महात्माने कहा कि तूने कहा होगा, तभी वह लोहेकी हो गयी। 'तू उकता गया, इसलिये तेरे कहनेसे वह लोहेकी हो गयी। अगर तू उकताता नहीं और 'शिला सोनेकी हो जाय'—यह कहता रहता तो। वह सोनेकी ही हो जाती; क्योंकि वही समय कहनेका था।'

इस तरह साधकको चाहिये कि वह उकताए नहीं और आठों पहर भगवान्‌के पीछे पड़ जाय कि 'मैं आपको कैसे जानूँ !' 'हे नाथ ! मैं आपको जान जाऊँ !' ऐसी प्रार्थना सभी कर सकते हैं; क्योंकि भगवान्‌के अंश होनेसे सबका भगवान्‌पर अधिकार है। भूख तंग करे तो रोटी खा ले, प्यास तंग करे तो जल पी ले, नींद तंग करे तो सो जाय, पर अपनी लगन नहीं छोड़े। मन लगे चाहे न लगे, ध्यान लगे चाहे न लगे, पर प्रार्थना नहीं छोड़े। भगवान् बड़े दयालु हैं, प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५।२९)। दया करके वे अपने-आपको जना देंगे। शिला तो सोनेकी बनती है, है नहीं; पर संसार भगवत्स्वरूप बनता नहीं, वह तो भगवत्स्वरूप ही है। केवल अपनी धारणा बदलती है। इसलिये गोपियाँ भगवान्‌से प्रार्थना करती हैं—**'दयित दृश्यताम्'** (श्रीमद्भा० १०।३१।१) 'प्यारे ! आप दीख जाओ !' तो भगवान् दीख गये, उनके बीचमें ही प्रकट हो गये— **'तासामाविरभूच्छौरिः'** (श्रीमद्भा० १०।३२।२)। इससे सुगम साधन और क्या होगा ?

प्रश्न—कोई आदमी हमें गाली देता है तो वहाँ भगवान्‌को कैसे देखें ?

उत्तर—उपनिषद्‌में आया है कि शब्द (वाणी) ही ब्रह्म है—**'वाग् वै ब्रह्मेति'** (बृहदा० ४।१।२)। सन्तोंकी वाणीमें भी यही बात आयी है—

जो तू चेला देह को, देह खेह की खान।
जो तू चेला सबद को, सबद ब्रह्म कर मान॥

अतः शब्द भगवान्‌का ही स्वरूप है। कोई अच्छा कहे या मन्दा कहे, वह भगवान् ही है। वराहावतारमें भगवान् सूअर भी बनते हैं और वामनावतारमें ब्रह्मचारी ब्राह्मण भी बनते हैं। सूअर और ब्राह्मण—दोनों ही भगवान् हैं। जब सूअर भी भगवान् हैं तो क्या गाली भगवान् नहीं हैं ?

कोई कैसा ही बर्ताव करे, पर आप **'वासुदेवः सर्वम्'** को मत छोड़ो। एक सन्त नदीमें स्नान कर रहे थे। उन्होंने एक बिच्छूको जलके प्रवाहमें बहते हुए देखा। वे अपने हाथसे उसको जलसे बाहर फेंकने लगे तो बिच्छूने उनके हाथमें डंक मार दिया। डंक मारते ही बिच्छू छूट गया और पुनः बहने लगा। सन्तने फिर बिच्छूको स्पर्श किया तो उसने फिर डंक मार दिया। सन्त बिच्छूको बार-बार हाथसे बाहर फेंकनेकी चेष्टा करते थे और वह बार-बार डंक मारता था। एक आदमी यह सब देख रहा था। वह बोला कि कैसे मूर्ख हो ! बिच्छू बार-बार डंक मारता है, फिर भी आप उसका स्पर्श करते हो ! सन्त बोले कि बिच्छूका स्वभाव है कि जो छुए, उसको डंक मार देना और मेरा स्वभाव है कि कोई मरता हो तो उसको बचा देना। जब बिच्छू अपना बुरा स्वभाव भी नहीं छोड़ता, तो फिर मैं अपना अच्छा स्वभाव कैसे छोड़ दूँ ? तात्पर्य है कि अगर दुष्ट व्यक्ति अपनी बुरी बात नहीं छोड़ता तो आप अपनी अच्छी, सर्वश्रेष्ठ बात क्यों छोड़ो ?

प्रश्न—शास्त्रोंमें संसार असत्य है—ऐसा क्यों कहा गया है ? सब कुछ भगवान् ही हैं—यही बात सब जगह क्यों नहीं कही गयी ?

उत्तर—संसारको असत्य इसलिये कहा गया है कि आप उससे सुख लेना चाहते हो। जैसे, मन्द अन्धकारमें रस्सी साँपकी तरह दीखती है। जो उसको देखकर डर जाता है, उसको कहते हैं कि 'डरो मत, यह साँप नहीं है, यह तो रस्सी है।' परन्तु जो उसको देखकर नहीं डरता, उसको कहते हैं कि 'यह रस्सी है'। ऐसे ही जो संसारसे सुख चाहता है और जिसके भीतर 'संसार सत्य है, सुखरूप है'—ऐसा प्रभाव पड़ा हुआ है, उसके लिये भगवान् कहते हैं कि यह संसार दुःखालय और नाशवान् है—**'दुःखालयमशाश्वतम्'** (गीता ८।१५)। परन्तु जो संसारसे सुख नहीं चाहता, जिसपर संसारका प्रभाव नहीं है, उसके लिये कहते हैं कि सब कुछ भगवान् ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७।१९)।

संसार प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति भगवान्‌की शक्ति है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

(गीता ७।४)

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पञ्चमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी प्रकृति है।'

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।'

(श्वेताश्वतर० ४।१०)

'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और मायापति महेश्वरको समझना चाहिये।'

भगवान्की शक्ति होनेसे प्रकृति और उसका कार्य भगवत्स्वरूप ही हैं; क्योंकि शक्ति शक्तिमान्से अलग नहीं हो सकती। जैसे शरीरके गोरे या काले रंगको शरीरसे अलग नहीं कर सकते, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओंको शरीरसे अलग नहीं कर सकते, ऐसे ही प्रकृतिको भगवान्से अलग नहीं कर सकते। जैसे मनुष्य अपनी शक्ति (बल, ताकत, विद्वत्ता, योग्यता, चातुर्य, सामर्थ्य आदि) के बिना तो रह सकता है, पर शक्ति मनुष्यके बिना नहीं रह सकती, ऐसे ही भगवान् शक्तिके बिना रह सकते हैं, पर शक्ति भगवान्के बिना नहीं रह सकती। तात्पर्य है कि शक्ति भगवान्के अधीन (आश्रित) है, भगवान् शक्तिके अधीन नहीं हैं। शक्तिमान्के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव होता है। अतः भगवान्की शक्ति होनेसे प्रकृतिकी भी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव है।

वास्तवमें परमात्माका स्वरूप समग्र ही है। परमात्मामें कोई शक्ति न हो—ऐसा नहीं हो सकता। अगर परमात्माको सर्वथा शक्तिरहित मानें तो परमात्मा एकदेशीय ही सिद्ध होंगे। उनमें शक्तिका परिवर्तन अथवा अदर्शन तो हो सकता है, पर शक्तिका अभाव नहीं हो सकता। शक्ति कारणरूपसे उनमें रहती ही है, अन्यथा शक्ति (प्रकृति) के रहनेका स्थान कहाँ होगा? इसलिये गीतामें प्रकृति और पुरुष दोनोंको 'अनादि' कहा गया है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

(१३। १९)

विश्वरूपको भी गीतामें 'अव्यय' कहा गया है—

योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥

(११। ४)

'त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता' (११। १८)

संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको भी 'अव्यय' कहा गया है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।

(गीता १५। १)

इससे सिद्ध हुआ कि जड-चेतन, स्थावर-जङ्गमरूपसे जो कुछ दीख रहा है, वह सब अविनाशी भगवान् ही हैं। भगवान्के बिना कुछ भी नहीं है। परन्तु भोग और संग्रहकी आसक्तिके कारण मनुष्यको सब कुछ जड-ही-जड दीखता है! तात्पर्य है कि जड संसार केवल जीवकी दृष्टि है। वास्तवमें सब-की-सब वस्तुएँ तत्त्वसे चिन्मय भगवत्स्वरूप हैं। भगवान्के सिवाय मैं-तू-यह-वह कुछ भी नहीं है अर्थात् 'मैं' भी भगवान्का स्वरूप है, 'तू' भी भगवान्का स्वरूप है, 'यह' भी भगवान्का स्वरूप है और 'वह' भी भगवान्का स्वरूप है। भगवान् कण-कणमें पूरे-के-पूरे हैं। प्रह्लादजीके कहनेपर भगवान् नृसिंहरूपसे खम्भेमेंसे प्रकट हो गये; क्योंकि वे वहाँ पहलेसे ही थे! इसलिये साधकको वृक्ष, नदी, पहाड़, पत्थर, दीवार आदि कुछ भी दीखे, वह उसमें अपने इष्ट भगवान्को देखकर प्रार्थना कर सकता है कि हे नाथ! मुझे अपना प्रेम प्रदान करो; हे प्रभो! आपको मेरा नमस्कार हो, जैसा कि अर्जुनने कहा है—

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

'आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, दक्ष आदि प्रजापति और प्रपितामह (ब्रह्माजीके भी पिता) हैं। आपको हजारों बार नमस्कार हो! नमस्कार हो!! और फिर भी आपको बार-बार नमस्कार हो! नमस्कार हो!!'

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं-
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥

(गीता ११। ३९-४०)

'हे सर्व! आपको आगेसे नमस्कार हो! पीछेसे नमस्कार हो! सब ओरसे ही नमस्कार हो! हे अनन्तवीर्य! अमित विक्रमवाले आपने सबको समावृत कर रखा है; अतः सब कुछ आप ही हैं।'

——★——

भगवत्प्राप्तिका सुगम तथा शीघ्र सिद्धिदायक साधन

जो साधन करनेवाले हैं, परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना चाहते हैं, ऐसे भाई-बहिनोंके मनमें एक बात रहती है कि कोई ऐसा सीधा-सरल मार्ग बता दे, जिससे हम सुगमतासे और तत्काल परमात्माकी प्राप्ति कर लें। उनके लिये एक विशेष साधन बताया जाता है।

एक ऐसी स्थिति है, जहाँ पहुँचनेपर मनुष्य कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता, वहाँ पहुँचनेके लिये तीन मार्ग हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग कर्मयोगसे कृतकृत्यता हो जाती है, ज्ञानयोगसे ज्ञातज्ञातव्यता

हो जाती है और भक्तियोगसे प्राप्तप्राप्तव्यता हो जाती है। यह अन्तिम स्थिति है। अगर कोई साधक कमर कस ले कि मेरेको तो उस अन्तिम स्थितिकी तत्काल प्राप्ति करनी है, उसके लिये एक ऐसा साधन बताया जाता है, जिससे वह सब साधनोंसे ऊँचे उठकर उस अन्तिम स्थितिका आरम्भमें ही अनुभव कर सकता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् उद्धवजीसे कहते हैं—

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥
अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥

(११।२९।१८-१९)

'जब सबमें परमात्मबुद्धि की जाती है, तब सब कुछ परमात्मा ही हैं—ऐसा दीखने लगता है। फिर इस परमात्म-दृष्टिसे भी उपराम होनेपर सम्पूर्ण संशय स्वतः निवृत्त हो जाते हैं।'

'मेरी प्राप्तिके जितने साधन हैं, उनमें मैं तो सबसे श्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे मेरी ही भावना की जाय।'*

तात्पर्य है कि सब जगह एक परमात्मा-ही-परमात्मा परिपूर्ण हैं—'**सर्वं ब्रह्मात्मकम्**' उसमें न मैं है, न तू है, न यह है, न वह है; न भूत है, न भविष्य है, न वर्तमान है; न सर्ग है, न प्रलय है; न महासर्ग है, न महाप्रलय है; न देवता है, न मनुष्य है; न पशु है, न पक्षी है; न भूत है, न प्रेत है, न पिशाच है; न जड है, न चेतन है; न स्थावर है, न जङ्गम है; कुछ भी नहीं है! एक परमात्मा ही इन सब रूपोंमें बने हुए हैं! इस बातको दृढ़तासे मान लें, स्वीकार कर लें, यह सब साधनोंसे श्रेष्ठ साधन है। भागवत, एकादश स्कन्धके उनतीसवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोककी टीकामें एकनाथजी महाराज भगवान्‌की ओरसे लिखते हैं कि हे उद्धव! सबमें मेरेको देखनेसे बढ़कर और कोई साधन नहीं है—यह मैं माँ देवकीकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ।†

सब कुछ भगवान् ही हैं—यह बात हमारेको दीखे चाहे न दीखे, हम जानें चाहे न जानें, हमारेको अनुभव हो चाहे न हो, परन्तु यह दृढ़तासे स्वीकार कर लें कि बात वास्तवमें यही सर्वोपरि है। कमी है तो हमारे माननेमें कमी है, वास्तविकतामें कमी नहीं है। जैसे, पहले क-ख-ग आदि अक्षरोंको सीखते हैं, फिर पुस्तकोंमें वे वैसे ही दीखने लग जाते हैं, ऐसे ही पहले केवल इस बातको मान लें कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं', फिर वैसा ही अनुभव होने लग जायगा। इसका अनुभव करनेके लिये कुछ करना नहीं है, कहीं आना-जाना नहीं है। भजन-ध्यान, सत्संग-स्वाध्याय आदि जो कर रहे हैं, वे करते रहें। इसके लिये कोई नया साधन नहीं करना है, केवल दृढ़तासे स्वीकार कर लेना है कि सब कुछ परमात्मा ही हैं। कारण कि सृष्टि-रचनाके समय भगवान्‌ने कहींसे कोई मसाला, सामग्री नहीं मँगायी, प्रत्युत यह संकल्प किया कि मैं एक ही बहुत रूपोंसे हो जाऊँ—

'**सदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति**' (छान्दोग्य० ६।२।३)
'**सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति**' (तैत्तिरीय० २।६)
'**एकं रूपं बहुधा यः करोति**' (कठ० २।२।१२)
'**एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति।**'

(गोपालपूर्वतापनीय०)

वे एक ही परमात्मा अनेक रूपोंसे प्रकट हुए हैं। उनके रूप असंख्य हैं—'**अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे।**' चौरासी लाख योनियाँ हैं और एक-एक योनिमें करोड़ों-अरबों जीव हैं, पर सब-के-सब एक परमात्मा ही हैं। इस बातको मान लें और जहाँतक बने, कभी भूलकर भी शरीरसे किसीके अहितका बर्ताव न करें, मनसे किसीके अहितका चिन्तन न करें, वाणीसे कड़वी बात कहकर किसीको दुःख न दें। इस विषयमें सावधान रहें। कभी चूक हो जाय तो चरणोंमें गिरकर माफी माँग लें। भूल हो जाय तो फिर उसको सुधार लें। एक मारवाड़ी कहावत है—'***पड़ पड़ कर सवार होवे***' अर्थात् घोड़े, साइकिल आदिपर चढ़ते ही मनुष्य पूरा सवार नहीं हो जाता, प्रत्युत कई बार पड़कर (गिरकर) ही सवार बनता है। इसी तरह कोई भूल हो जाय तो आगे सावधान हो जायँ।

एक कहानी है। एक सिंहने शृगाली (सियारी)के बच्चेको अकेला देखा तो दयावश होकर उसको उठा ले आया और सिंहनीको दे दिया। सिंहनीके दो पुत्र थे। उसने शृगालीके बच्चेको अपना तीसरा पुत्र मान लिया और उसका पालन-

* तात्पर्य है कि मनसे भगवान्‌का ही चिन्तन करे और मनमें जो आये, उसको भगवान्‌का ही स्वरूप समझे। वाणीसे आदरपूर्वक, मीठी और हितकी बात बोले। शरीरसे सबकी सेवा करे, सबको सुख पहुँचाये आदि।

† यापरी कायावाचामनें। सर्वभूतीं भगवद्भजन। हेंचि मुख्यत्वें श्रेष्ठ साधन। भक्त सज्ञान जाणती॥ ३८०॥ ब्रह्मप्राप्तिचें परम कारण हेंचि एक सुगम साधन। मजही निश्चयें मानलें जाण। देवकीची आण उद्धवा॥ ३८१॥ (एकनाथी भागवत)

पोषण करने लगी। वे तीनों बच्चे एक साथ खेलते थे और सिंहनीका दूध पीते थे। जब वे थोड़े बड़े हुए, तब शिकारके लिये इधर-उधर घूमने लगे। एक दिन उस जंगलमें एक हाथी आया। उसको देखकर शृगालीका बच्चा डरकर घरकी तरफ भागा तो यह देखकर सिंहनीके दोनों बच्चे भी हतोत्साहित होकर घर चले आये और अपनी माँसे बड़े भाई (शृगालीके बच्चे)की बात सुनायी कि किस तरह वह हाथीको देखकर भाग आया। शृगालीका बच्चा उनकी उपहासपूर्ण बात सुनकर गुस्सेमें भर गया और बोला कि क्या मैं इन दोनोंसे किसी बातमें कम हूँ, जो ये मेरा उपहास कर रहे हैं ? उसका गुस्सा देखकर सिंहनी हँसी और बोली—

शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक।
यस्मिन्कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते॥

(पञ्चतन्त्र ६, लब्ध० ४४)

'हे पुत्र ! तू शूरवीर है, शिकार करनेकी विद्या भी जान गया है और सुन्दर भी बहुत है; परन्तु जिस कुलमें तू पैदा हुआ है, उसमें हाथीको मारनेकी रीति नहीं है।'

इसी तरह परमात्माको प्राप्त करनेकी रीति मनुष्य योनिमें ही है, अन्य योनियोंमें नहीं। गायका शरीर मनुष्यशरीरसे भी अधिक पवित्र है, यहाँतक कि उसके गोबर-गोमूत्र भी पवित्र हैं और उसके खुरोंसे उड़ी धूल (गोधूलि) भी पवित्र है*। पर गायोंमें परमात्मप्राप्तिकी रीति, योग्यता नहीं है, यह रीति, योग्यता मनुष्योंमें ही है। परमात्मप्राप्तिके लिये कोई भी मनुष्य अनधिकारी नहीं है। लखपति-करोड़पति सब नहीं बन सकते, राजा-महाराजा, मिनिस्टर सब नहीं बन सकते, पर परमात्माकी प्राप्ति सब कर सकते हैं। भाई हो चाहे बहन हो, ब्राह्मण हो चाहे शूद्र हो, साधु हो चाहे गृहस्थ हो, बड़ा हो चाहे छोटा हो, नीरोग हो चाहे रोगी हो, विद्वान् हो चाहे अपढ़ हो, कैसा ही क्यों न हो, उसके कुलमें परमात्माको प्राप्त करनेकी रीति है अर्थात् वे सब-के-सब परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। बेटा कोई बड़ा होता है, कोई छोटा होता है, कोई पढ़ा-लिखा होता है, कोई अपढ़ होता है, कोई समझदार होता है, कोई बेसमझ होता है, कोई धनी होता है, कोई निर्धन होता है, कोई योग्य होता है, कोई अयोग्य होता है, पर अपनी माँको अपना कहनेका अधिकार सबको समान होता है। इसी तरह भगवान्‌को अपना कहनेका अधिकार सबको समान है। सभी भगवान्‌से कह सकते हैं—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

इसलिये हम तो योग्य नहीं हैं, हम भक्त नहीं हैं, हम ज्ञानी नहीं हैं, हम योगी नहीं हैं, हम अधिकारी नहीं हैं—इन बातोंको लेकर हिम्मत नहीं हारनी चाहिये, प्रत्युत भगवान्‌से ऐसा कहना चाहिये कि भले ही हम कुछ न हों, अंश तो हम आपके ही हैं। हम आपके हैं और आप हमारे हैं—इसमें दो मत नहीं हैं। इस प्रकार निःसन्देह होकर दृढ़तासे भगवान्‌के भजनमें लग जाना चाहिये।

अभी फौजमें कोई भरती होना चाहे तो उसकी भलीभाँति जाँच की जाती है, उसकी योग्यता, पढ़ाई, अवस्था, कद, स्वास्थ्य आदि देखा जाता है। परन्तु भगवान्‌की फौजमें बन्दर, भालू आदि भी भरती हो गये, भगवान्‌की फौजमें कोई बन्धन नहीं है कि इतना बड़ा होना चाहिये, ऐसी योग्यता होनी चाहिये, इतना कद होना चाहिये आदि-आदि। भगवान्‌के दरबारमें ध्रुव, प्रह्लादजी आदि छोटे-छोटे बालक भी भरती हो गये, जटायु आदि पक्षी भी भरती हो गये, पत्थर बनी हुई अहल्या भी भरती हो गयी, नेत्रहीन सूरदास भी भरती हो गये ! सूरदासजीको एक अँगुली भी नहीं दीखती थी, पर वे सूर्यके समान हो गये—*'सूर सूर तुलसी शशी'* ! भगवान्‌का दरबार सबके लिये सदा खुला है !

भगवत्प्राप्तिकी ऊँची-से-ऊँची और सीधी-सरल बात है—**'सर्वं ब्रह्मात्मकम्'**, **'वासुदेवः सर्वम्'**। इस विषयमें यह बात पहले कही जा चुकी है कि हमारी समझमें आये या न आये, दिखायी दे या न दे, कोई परवाह नहीं, केवल निःसन्देह होकर दृढ़तासे यह स्वीकार कर लें कि सब कुछ भगवान् ही हैं। गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थ, सन्त-महात्मा सभी यही बात कहते हैं; क्योंकि यह वास्तविक बात है। सब कुछ परमात्मा-ही-परमात्मा हैं—ऐसा मानते हुए उपराम हो जायँ—**'परिपश्यन्नुपरमेत्'** (श्रीमद्भा० ११। २९। १८)। **'उपरमेत्'** पदका अर्थ है कि 'सब कुछ परमात्मा हैं'—इस वृत्तिसे भी उपराम हो जायँ, इस वृत्तिको भी छोड़ दें। वृत्ति छूटनेपर एक परमात्मा ही रह जाते हैं। फिर न कोई साधक रहता है और न कोई साधन रहता है, प्रत्युत एकमात्र साध्यतत्त्व (परमात्मा) शेष रह जाता है। तात्पर्य है

* धेनुधूरि बेला बिमल सकल सुमंगल मूल। (मानस, बा० ३१२)

कि साधक साधन करते-करते साधनरूप हो जाता है और साधनरूप होकर साध्यमें लीन हो जाता है।

जैसे घड़ा मिट्टीसे बनता है और अन्तमें मिट्टीमें ही मिल जाता है, ऐसे ही सब संसार परमात्मासे ही उत्पन्न होता है और परमात्मामें ही लीन हो जाता है—**'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा'** (गीता ७।६)। अतः सब कुछ परमात्मा ही हुए—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७।७)

'हे धनञ्जय! मेरेसे बढ़कर इस जगत्का दूसरा कोई किञ्चिन्मात्र भी कारण तथा कार्य नहीं है। जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई होती हैं, ऐसे ही सम्पूर्ण जगत् मेरेमें ही ओतप्रोत है।'

योगवासिष्ठमें मयूरीके अण्डेका उदाहरण आया है कि जैसे उस एक अण्डेमेंसे अनेक तरहके रंगोंवाला पक्षी निकल आता है, ऐसे ही एक ही परमात्मा अनेक रूपोंसे प्रकट हो जाते हैं। जैसे—मनुष्य, पशु-पक्षी, लता आदि सब मिट्टीसे बने हैं। भाई-बहनोंके तरह-तरहके रंग-बिरंगे वस्त्र भी मिट्टीसे बने हैं। इसलिये इन सबको आग लगा दें तो अन्तमें एक मिट्टी शेष रह जायगी। ऐसे ही एक परमात्मा अनेक रूपोंसे प्रकट हुए हैं। परन्तु इसको भगवान्की कृपासे ही जान सकते हैं—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

(मानस, अयोध्या० १२७।२)

वह भगवान्की कृपा हमारेपर है, तभी ऐसी बात हमें मिली है! अगर कृपा नहीं होती तो ऐसी बात मिल नहीं सकती थी। अपने बलसे, धनसे, विद्यासे, योग्यतासे, उद्योगसे ऐसी बात पढ़ने-सुननेको नहीं मिल सकती। भगवान्की अहैतुकी कृपासे ही यह बात पढ़ने-सुननेको मिलती है।

भगवान् कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११।१३।२४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आपलोग विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें, स्वीकार कर लें।' तात्पर्य है कि जो भी चिन्तन करते हो, मेरा ही चिन्तन करते हो। जो भी सुनते हो, मेरेको ही सुनते हो। जो भी देखते हो, मेरेको ही देखते हो। जो भी चखते हो, मेरेको ही चखते हो। जो भी स्पर्श करते हो, मेरा ही स्पर्श करते हो। जो भी सूँघते हो, मेरेको ही सूँघते हो। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिका विषय मैं ही हूँ। मेरे सिवाय कुछ भी नहीं है। इससे बढ़कर कोई सिद्धान्त नहीं है। अन्तमें यहीं पहुँचना है। इसलिये इसको अभी वर्तमानमें ही स्वीकार कर लें।

★

गीताकी विलक्षण बात

भगवान्‌की कही हुई गीता बहुत ही विचित्र है। गीतापर ज्यों-ज्यों विचार करें, त्यों-ही-त्यों इसकी विलक्षणता मिलती ही चली जाती है। अगर मनुष्यको सम्पूर्ण संसारका आधिपत्य मिल जाय, इन्द्रका राज्य मिल जाय, कुबेरका धन मिल जाय, ब्रह्माजीका पद मिल जाय, तो भी उसका दुःख नहीं मिट सकता। परन्तु वह गीतामें कही हुई बात मान ले तो उसका दुःख टिक नहीं सकेगा; सदाके लिये मिट जायगा। उसका सन्ताप, जलन, उद्वेग, हलचल, चिन्ता, शोक, भय आदि सभी आफतें मिट जायँगी और वह सदाके लिये कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य हो जायगा अर्थात् उसके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहेगा; क्योंकि यह वास्तविकता है। गीताकी ऐसी विलक्षण महिमा है कि जिसका कोई वर्णन नहीं कर सकता। कारण कि वर्णन करनेमें वाणी सीमित है, चिन्तन करनेमें मन सीमित है, निश्चय करनेमें बुद्धि सीमित है। परन्तु भगवान्‌की वाणी असीम है। प्रकृतिजन्य सम्पूर्ण पदार्थ सीमित हैं। प्रकृतिसे अतीत तत्त्वका वर्णन प्रकृतिका कार्य बुद्धि भी नहीं कर सकती, फिर मनुष्य क्या वर्णन करेगा! बुद्धि प्रकृतिको भी पूरा नहीं जान सकती, फिर प्रकृतिसे अतीत तत्त्वको कैसे जानेगी? जैसे, मिट्टीसे बना घड़ा मिट्टीको भी पूरा नहीं भर सकता, फिर आकाशको कैसे भरेगा?

गीता स्पष्टरूपसे कहती है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७।१९) 'सब कुछ वासुदेव ही है'। इस बातको केवल स्वीकार कर लें। ऐसा देखनेमें, समझनेमें, अनुभवमें नहीं आये, तो भी गीतामें आये भगवान्‌के वचनको श्रद्धा-विश्वासपूर्वक दृढ़तासे स्वीकार कर लें। फिर भगवत्कृपासे यह बात स्वतः समझमें आ जायगी; क्योंकि तत्त्वसे वास्तवमें यही है। जैसी बात वास्तवमें है, वैसी बात मान लेनेसे वह

धीरे-धीरे भीतर बैठ जाती है और फिर भगवत्कृपासे साफ दीखने लग जाती है। सब कुछ भगवान् ही हैं—यह ऊँची-से-ऊँची बात है और बड़ी सुगमतासे प्राप्त की जा सकती है। अब इसकी प्राप्तिका साधन बताया जाता है।

(१)

भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

'असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है।'

—इन सोलह अक्षरोंमें सम्पूर्ण वेद, पुराण, शास्त्रका तात्पर्य भरा हुआ है ! असत् और सत्—इन दोको ही प्रकृति और पुरुष, क्षर और अक्षर, शरीर और शरीरी, अनित्य और नित्य, नाशवान् और अविनाशी आदि नामोंसे कहा गया है। देखनेमें, सुननेमें, समझनेमें, चिन्तन करनेमें, निश्चय करनेमें जो कुछ भी आता है, वह सब 'असत्' है। जिसके द्वारा देखते, सुनते, चिन्तन करते हैं, वह भी 'असत्' है और दीखनेवाला भी असत् है। असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है—इसका तात्पर्य है कि एक सत्-तत्त्व (परमात्मा) के सिवाय कुछ भी नहीं है।

यह सबके प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि अपने रागके कारण दीखनेवाले शरीर और संसार एक क्षण भी स्थिर नहीं रहते, प्रत्युत हरदम मिट रहे हैं। जैसे, पहले हम बालक थे। हमने बालकपनको कभी छोड़ा नहीं, फिर भी वह छूट गया। ऐसे ही जवानी भी छूट रही है, वृद्धावस्था भी छूट रही है और शरीर भी छूट रहा है। सब-का-सब संसार, तीनों लोक, चौदह भुवन, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड निरन्तर अभावमें जा रहे हैं—'**नासतो विद्यते भावः**'। परन्तु परमात्मा और उसके अंश जीवात्माका कभी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**'। हमने अपने जीवनमें कई कथाएँ सुनी हैं, व्याख्यान सुने हैं, शास्त्र पढ़े हैं, पर ऐसा कहीं सुनने, पढ़नेमें नहीं आया कि परमात्मा बदल गये, पहलेवाले नहीं रहे ! परमात्मा तो 'है' और संसार 'नहीं' है—इन दोनोंके एक ही अन्त (तत्त्व)का तत्त्वदर्शी, अनुभवी महापुरुषोंने अनुभव किया है अर्थात् इन दोनोंका निष्कर्ष एक परमात्मतत्त्व ही है—'**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः**' (गीता २। १६)। तात्पर्य है कि सत् (अपरिवर्तनशील) और असत् (परिवर्तनशील)—दोनों अलग-अलग हैं। सत् असत् नहीं हो सकता और असत् सत् नहीं हो सकता; परन्तु तत्त्वसे दोनों एक ही हैं। गीतामें आया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(५। १८)

तात्पर्य है कि ब्राह्मण और चाण्डाल, गाय और कुत्ता, हाथी और चींटी—दोनों अलग-अलग होनेपर भी ज्ञानी उनमें एक समरूप परमात्माको देखता है। इसी तरह सत् और असत् अलग-अलग होनेपर भी भक्त उनमें एक भगवान्‌को ही देखता है—'**त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्**' (गीता ११। ३७)। जैसे दिन और रात—दोनों सापेक्ष हैं, दिनकी अपेक्षा रात है और रातकी अपेक्षा दिन है, पर सूर्यमें न दिन है, न रात है अर्थात् वह निरपेक्ष है। ऐसे ही सत् और असत् दोनों सापेक्ष हैं, पर परमात्मतत्त्व निरपेक्ष है। इसलिये तत्त्वदर्शी महापुरुष सत् और असत्—दोनोंके एक ही अन्त अर्थात् सत्-तत्त्व (परमात्मतत्त्व) का अनुभव करते हैं।

जो 'है', वह तो है ही और जो 'नही' है, वह है ही नहीं—

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

जो मिट रहा है, वह संसार है और जो टिक रहा है, वह परमात्मा है। जैसे गङ्गाजीका प्रवाह निरन्तर बहता हुआ समुद्रमें जा रहा है। रात्रिमें हम छिपकर परीक्षा करें तो भी उसका प्रवाह ज्यों-का-त्यों बह रहा है। गङ्गाजीको कोई देखे या न देखे, कोई जाने या न जाने, कोई माने या न माने, कोई परवाह नहीं। उसका प्रवाह तो निरन्तर अपने-आप स्वाभाविक बह रहा है। ऐसे ही यह सब-का-सब संसार निरन्तर बह रहा है, और बहते हुए अभाव (नाश)की तरफ जा रहा है। इस बहते हुए संसारमें वह परमात्मा ही 'है'-रूपसे दीख रहा है। 'संसार है'—इसमें 'संसार' तो मिट रहा है और 'है' टिक रहा है।

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस, बाल० ११७। ४)

यह जो संसार दीख रहा है, इसकी खुदकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, प्रत्युत यह परमात्माकी ही एक आभा है, झलक है, प्रकाश है। अतः आभा (संसार) पर दृष्टि न रखर परमात्माकी तरफ ही दृष्टि रखना है, 'नहीं' को न देखकर 'है' को ही देखना है। इसीको गीताने '**वासुदेवः सर्वम्**' कहा है। तात्पर्य है कि वह सत् ही असत्-रूपसे दीख रहा है— '**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। परमात्मतत्त्व ही संसाररूपसे दीख रहा है। जैसे चनेका आटा (बेसन) गेहूँ, बाजरी आदिके आटेसे भी फीका होता है, उसमें मिठास नहीं होती। उस आटेकी बूँदी बनाते हैं। फिर उस बूँदीको चीनीकी चाशनीमें डाल देते हैं।

इससे वह मीठी बूँदी बन जाती है। वह बूँदी खानेमें बड़ी मीठी लगती है। उस बूँदीके आठ-दस दाने मुखमें लेकर कुछ देर चूसते रहें तो वह बिलकुल फीकी हो जाती है। कारण कि वह तो फीकी ही थी। उसमें जो मिठास थी, वह उसकी न होकर चीनीकी थी। इसी तरह संसार भी फीका है, अर्थात् संसारका जो 'है'-पना है, वह संसारका न होकर परमात्माका ही है। केवल रागके कारण ही संसार 'है'-पना दीखता है। परन्तु यह दृष्टान्त एकदेशीय है। कारण कि बूँदीको चूसनेसे उसकी मिठास तो निकल जाती है, पर फीका बेसन शेष रह जाता है। परन्तु परमात्माका अनुभव होनेपर संसारका संसाररूपसे अत्यन्त अभाव हो जाता है, कुछ भी नहीं बचता प्रत्युत परमात्मा ही बचते हैं— **'शिष्यते शेषसंज्ञः'**।*

(२)

संसारमें दो चीजें हैं—पदार्थ और क्रिया। मात्र पदार्थ और क्रियाएँ भगवान्‌की हैं और भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं कि जितने भी पदार्थ हैं और जितनी भी क्रियाएँ हैं, उन सबको अपना न मानकर मेरे अर्पण कर दो—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

'जो भक्त पत्र, पुष्प, फल, जल आदि (यथासाध्य प्राप्त पदार्थ)को भक्तिपूर्वक मेरे अर्पण करता है, उस मेरेमें तल्लीन हुए अन्तःकरणवाले भक्तके द्वारा भक्तिपूर्वक दिये हुए उपहार (भेंट)को मैं खा लेता हूँ अर्थात् अपनेमें मिला लेता हूँ—एक कर देता हूँ।'

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

'हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।'

धन, जमीन, मकान, कपड़े, गहने, अपना शरीर, माँ-बाप, स्त्री, बच्चे, भाई-बहन आदि जो कुछ है, सब-के-सब भगवान्‌के अर्पण कर दें। अर्पण करनेका अर्थ है—उनमें मेरापन छोड़ दें। अर्पण करनेसे वस्तुएँ तो तोलाभर भी घटेंगी नहीं, पर अर्पक (अर्पण करनेवाला) निहाल हो जायगा। कारण कि अर्पित वस्तु भगवान्‌की और भगवत्स्वरूप ही थी। उसको अपना मानना अर्पककी गलती थी। अतः अर्पित करनेसे अर्पककी गलती, बेसमझी, आफत मिट जाती है। जैसे आहुति अग्निमें मिलकर अग्निरूप हो जाती है, ऐसे ही अर्पित वस्तु भगवान्‌में मिलकर भगवत्स्वरूप हो जाती है। अर्पण करनेसे भगवान्‌की पुष्टि हो जायगी, उनका खजाना बढ़ जायगा, यह बात भी नहीं है। भगवान्‌ने आत्मने पद **'कुरुष्व'** पदका प्रयोग किया है—**'तत्कुरुष्व मदर्पणम्'**। तात्पर्य है कि हम अर्पण करके भगवान्‌का घाटा नहीं मिटाते हैं, प्रत्युत अपना ही घाटा, अपनी ही आफत मिटाते हैं अर्थात् अर्पण करनेका हमें ही फल मिलेगा, हमारा ही कल्याण होगा। अगर ठीक अर्पण किया जाय तो अर्पक, अर्पण, अर्पित वस्तु और अर्प्य—चारों एक अर्थात् भगवत्स्वरूप हो जायँगे। कारण कि अर्पक (अर्पण करनेवाला), अर्पणरूपी क्रिया, अर्पित वस्तु और अर्प्य (भगवान्)—चारों तत्त्वसे एक परमात्मा ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

ठाकुरजीको भोग लगाकर फिर प्रसाद देते हैं तो करोड़पति-अरबपति सेठ भी प्रसाद लेनेके लिये हाथ फैलाते हैं और एक कणका भी मिल जाय तो खुश हो जाते हैं। क्या वे मिठाईके भूखे हैं? अगर हम कहें कि ये मिठाई माँगते हैं, इनको दस रुपयेकी मिठाई लाकर दे दो तो वे नाराज हो जायँगे। कारण कि वे मिठाईके नहीं, प्रसादके भूखे हैं। ठाकुरजीके अर्पण करनेसे वह वस्तु प्रसाद हो गयी, महान् पवित्र अर्थात् भगवत्स्वरूप हो गयी! इसी तरह हम सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर दें तो वह सब-का-सब प्रसाद हो जायगा। हम भोजन करें तो ठाकुरजीका प्रसाद, कपड़ा पहनें तो ठाकुरजीका प्रसाद, माताएँ-बहनें गहने पहनें तो ठाकुरजीका प्रसाद—सब कुछ ठाकुरजीका प्रसाद अर्थात् भगवत्स्वरूप हो जायगा।

तुम्हहि निबेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥

(मानस, अयोध्या० १२९। १)

भगवान्‌के अर्पण करनेका तात्पर्य है—मेरापन छोड़ना। मेरापन करनेसे वस्तुएँ अपवित्र हो जाती हैं और मेरापन सर्वथा छोड़नेसे महान् पवित्र अर्थात् भगवत्स्वरूप हो जाती हैं। आस्तिक गृहस्थोंके घरमें ठाकुरजीका मन्दिर होता है और

* गीतामें आया है—'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥' (४। ३७)। यहाँ भी ऐसा समझना चाहिये कि अग्निसे लकड़ियाँ जलनेपर राख शेष रह जाती है, पर ज्ञानरूपी अग्निसे कर्म जलनेपर कर्म और कर्मफल (पदार्थमात्र) कुछ भी शेष नहीं रहता, प्रत्युत परमात्मतत्त्व ही शेष रहता है।

माताएँ-बहनें घरवालोंसे पूछती हैं कि आज ठाकुरजीके लिये क्या बनेगा? यह हमारी हिन्दू-संस्कृतिकी सभ्यता है। रसोई भी अपने लिये नहीं बनती, प्रत्युत ठाकुरजीके लिये बनती है। गीता कहती है—

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(३। १३)

'जो केवल अपने लिये ही पकाते हैं, वे पापीलोग पापका ही भक्षण करते हैं।'

अगर यह कहें कि आज ठण्डी ज्यादा है, इसलिये ठाकुरजीको गरमागरम हलवेका भोग लगाओ, और अपने मुँहमें पानी आता हो तो यह ठाकुरजीके भोग नहीं लगेगा; क्योंकि यह जूठन हो गया। परन्तु ठाकुरजीके लिये बनी हुई रसोईमें नमककी परीक्षा करनेके लिये थोड़ी चीज लेकर (रसोईके बाहर जाकर) चख भी लें तो वह रसोई जूठी नहीं होगी। इस प्रकार मनमें खानेकी हो तो न चखनेपर भी वह जूठन हो जाता है और मनमें खानेकी न हो तो नमककी परीक्षाके लिये चखनेपर भी वह जूठन नहीं होता; क्योंकि भावकी प्रधानता है। इसलिये अपने मनमें खानेकी न हो और ठाकुरजीको भोग लगाया जाय। फिर उसको ठाकुरजीका प्रसाद समझकर आनन्दपूर्वक पाया जाय। अन्नकूटका प्रसाद होता है, उसमें रसगुल्ला भी होता है और करेलेका साग भी होता है। एक मीठा है, एक कड़वा है, पर दोनों ही प्रसाद हैं। प्रसादमें स्वाद-दृष्टि नहीं रखी जाती, प्रत्युत स्वादमें प्रसाद-दृष्टि रखी जाती है*; क्योंकि प्रसाद इन्द्रियोंका विषय नहीं है, प्रत्युत भगवद्भावका विषय है। इसी तरह सम्पूर्ण पदार्थों और क्रियाओंको भगवान्के अर्पण कर दें तो वह सब ठाकुरजीका प्रसाद अर्थात् भगवत्स्वरूप हो जायगा। कारण कि सब वस्तुएँ (क्रिया और पदार्थ) भगवान्की हैं तो वस्तुओंमें और भगवान्में कोई फर्क नहीं हुआ। जैसे धन धनवान्का है तो धनमें और धनवान्में कोई फर्क नहीं है; क्योंकि धनके बिना धनवान् नहीं है और धनवान्के बिना धन नहीं है (धन मिट्टीकी तरह है)। क्रिया और पदार्थ प्रकृतिका कार्य (संसार) है और प्रकृति भगवान्की शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान्में एकता होती है। शक्तिके बिना शक्तिमान् नहीं है और शक्तिमान्के बिना शक्ति नहीं है†। अतः भगवान्की होनेसे सब वस्तुएँ भगवत्स्वरूप ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

ऐसा मान लें कि हम भगवान्के ही हैं, भगवान्के घरमें रहते हैं, भगवान्के ही घरका काम करते हैं, भगवान्का ही दिया हुआ प्रसाद पाते हैं और भगवान्के दिये हुए प्रसादसे भगवान्के ही जनोंकी सेवा करते हैं। इस बातको सब-के-सब मान सकते हैं। भाई हो या बहन हो, छोटा हो या बड़ा हो, समझदार हो या बेसमझ हो, पढ़ा-लिखा हो या अपढ़ हो, बीमार हो या स्वस्थ हो, किसी वर्णका हो, किसी आश्रमका हो, किसी वेशका हो, किसी देशका हो, किसी सम्प्रदायका हो सब-के-सब इस बातको मान सकते हैं अर्थात् सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको तथा अपने-आपको भगवान्के समर्पित कर सकते हैं। इस प्रकार समर्पण करनेसे क्या होगा? इसको भगवान् बताते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(गीता ९। २८)

'इस प्रकार मेरे अर्पण करनेसे जिनसे कर्मबन्धन होता है, ऐसे शुभ (विहित) और अशुभ (निषिद्ध) सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंसे तू मुक्त हो जायगा। ऐसे अपनेसहित सब कुछ मेरे अर्पण करनेवाला और सबसे मुक्त हुआ तू मेरेको प्राप्त हो जायगा अर्थात् मेरा ही स्वरूप हो जायगा।'

जैसे अग्निमें ठीकरी, पत्थर तथा काले-से-काला कोयला भी डाल दें तो वह अग्निस्वरूप होकर चमकने लग जायगा, ऐसे ही भगवान्के अर्पण करनेसे अर्पित वस्तु (क्रिया और पदार्थ) तथा अर्पक—दोनों भगवत्स्वरूप होकर चमकने लग जायँगे।

एक अच्छे गृहस्थ सेठ थे। वे भगवान्के बड़े भक्त थे। उनका दर्शन करनेके लिये एक साधु उनके घर आये। साधु उनसे मिलकर बड़े प्रसन्न हुए। साधुने उनका परिचय पूछा तो सेठने बताया कि मैं भी ठाकुरजीका हूँ और यह घर भी ठाकुरजीका है। सेठ साधुको अपना सब घर दिखाने लगे। साधुने पूछा—यह मोटर किसकी है? सेठ बोला—ठाकुरजीकी! ये चीजें किसकी हैं? ठाकुरजीकी! ये किसके बच्चे खेल रहे हैं? ठाकुरजीके! यह स्त्री किसकी है? ठाकुरजीकी! ये लोग कौन हैं? ठाकुरजीके! पूरा मकान

* प्रसादमें स्वादबुद्धिकी मुख्यता नहीं रहनी चाहिये। स्वाद आ जाय तो वह दोषी नहीं है, पर स्वाद लेना दोषी है। स्वादका ज्ञान होना दोषी नहीं है, पर स्वादमें राग होना दोषी है।

† यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि शक्तिमान्के बिना शक्ति तो नहीं रहती, पर शक्तिके बिना शक्तिमान् रह सकता है; परन्तु उसकी 'शक्तिमान्' संज्ञा नहीं रहती; क्योंकि वह स्वतः स्वतन्त्र तत्त्व है। शक्ति स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है।

देखते-देखते ऊपर गये तो वहाँ मन्दिर था। यह मन्दिर किसका है? ठाकुरजीका! यह सामान किसका है? ठाकुरजीका! ये सोने-चाँदीके बर्तन किसके हैं? ठाकुरजीके! ये वस्त्र किसके हैं? ठाकुरजीके। ये गहने किसके हैं? ठाकुरजीके। साधुने ठाकुरजीकी तरफ संकेत करके पूछा—ये किसके हैं? सेठ बोला—ये तो मेरे हैं* ! तात्पर्य है कि सब चीजें ठाकुरजीकी और ठाकुरजीके स्वरूप हैं, और ठाकुरजी हमारे हैं तो ठाकुरजीकी चीजें हमारी ही हुईं, पर ठाकुरजीके द्वारा हमारी होनेसे वे महान् शुद्ध हो गयीं, ! और स्वतन्त्र हमारी होनेसे महान् अशुद्ध हो गयीं !

रतनगढ़के सन्त बखतनाथजी महाराजकी बात सुनी है। वे बड़े ऊँचे महात्मा थे। असमसे एक आदमी उनके लिये एक बढ़िया एरण्डी लाया और उनके पास रखकर बोला कि महाराज! सरदीके समय इसको आप काममें लें। कुछ देरके बाद एक पण्डितजी आये। उन्होंने वह एरण्डी अपने हाथमें लेकर देखी और उसकी प्रशंसा करते हुए कहा कि महाराज! यह कपड़ा तो बड़ा अच्छा है! देखकर उसको रख दिया। जब पण्डितजी जाने लगे, तब महात्माने कहा कि इस एरण्डीको आप ले जाओ। पण्डितजी बोले कि महाराज! यह तो आपके लिये आयी है। वह आदमी बड़े प्रेमसे आपके लिये लाया है; अतः आप रखें। महात्मा बोले कि नहीं पण्डितजी! इसको आप ले जायँ। पण्डितजी बोले कि मैं कैसे ले जाऊँ? यह तो आपकी ही है। महात्मा बोले कि यह हमारे कामकी नहीं है। आप बुरा मत मानना, आपको यह पसन्द आ गयी तो अब यह आपकी हो गयी! पण्डितजीको लेनेमें बड़ा संकोच हुआ, पर महात्माने वह एरण्डी उनको जबर्दस्ती दे ही दी। कारण यह था कि पण्डितजीका उस एरण्डीमें मन चलनेसे वह उच्छिष्ट, अशुद्ध हो गयी, महात्माके कामकी नहीं रही। इसी तरह जिस वस्तुमें हमारा मन चल जाता है, हमारा राग हो जाता है, वह वस्तु अशुद्ध हो जाती है।

अपनी मानते ही वस्तु अशुद्ध हो जाती है और भगवान्‌की मानते ही वह शुद्ध और भगवत्स्वरूप हो जाती है। इसी तरह अपने-आपको भगवान्‌से अलग मानते ही हम अशुद्ध हो जाते हैं और भगवान्‌का मानते ही शुद्ध और भगवत्स्वरूप हो जाते हैं। वास्तवमें सब वस्तुएँ भगवान्‌की और भगवत्स्वरूप ही हैं। उनको हमने भगवान्‌से अलग और अपना मान लिया, यह हमारी भूल है। इस भूलको मिटाना है। इस भूलको मिटा दें तो शुभ-अशुभ कर्मोंका बन्धन मिट जायगा और '**वासुदेवः सर्वम्**'का अनुभव हो जायगा।

प्रश्न—हमारे किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप जो वस्तु हमें मिलती है, वह हमारी ही तो हुई! फिर उसको हम अपना क्यों न मानें?

उत्तर—जिससे हमने कर्म किये, वह क्रियाशक्ति भी हमारी नहीं है और उसके फलस्वरूप मिलनेवाली वस्तु भी हमारी नहीं है। कारण कि क्रियाशक्ति और वस्तु—दोनों ही भगवान्‌से मिली हुई हैं और बिछुड़नेवाली हैं। शरीर कमजोर हो जाय, लकवा मार जाय तो हम क्या कर सकते हैं? कर्मफल भी अपना नहीं है; अतः उसका भोग बाँधनेवाला है—'**फले सक्तो निबध्यते**' (गीता ५।१२)। कर्म, कर्म-सामग्री, करनेकी योग्यता, बल आदि कुछ भी अपना नहीं है। इतना ही नहीं, कर्म करनेका विवेक भी अपना नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌से मिला हुआ है।

जो वस्तु सदा हमारे साथ नहीं रह सकती और जिसके साथ हम सदा नहीं रह सकते, जिसपर हमारा आधिपत्य नहीं चलता, जो मिली है तथा बिछुड़नेवाली है, वह वस्तु अपनी कैसे हो सकती है? कदापि नहीं हो सकती। जो वस्तु अपनी है ही नहीं, उसकी कामना कैसे होगी? उसके त्यागका अभिमान भी कैसे आयेगा? उसको अपना मान लिया—यह बेईमानी थी। उसका त्याग कर दिया तो केवल अपनी बेईमानीका ही त्याग किया। इसमें अभिमान किस बातका? बेईमानीके त्यागका नाम ही मुक्ति है।

जो वस्तु हमारी नहीं है, प्रत्युत दूसरेकी (भगवान्‌की) है और जो निरन्तर हमारा त्याग कर रही है, उसका भी त्याग अगर कठिन है तो फिर सुगम क्या है? उसको अपना मानकर अपने पास रखनेमें ही कठिनता पड़ती है, उसका त्याग करनेमें क्या कठिनता है? अगर ऐसा मानें कि त्याग करना कठिन है तो उसको अपने पास रखना असम्भव है। असम्भवकी अपेक्षा तो कठिन भी सुगम ही है। एक जवान लड़केने मुझे बताया कि 'हमारे मकानमें रहनेवाली एक युवा लड़की बार-बार कुचेष्टा करती थी, पर मैं कभी विचलित नहीं हुआ! मैंने कहा कि 'तुम बड़े जितेन्द्रिय हो' तो वह बोला कि 'मैं बड़ा जितेन्द्रिय हूँ—यह बात नहीं है, प्रत्युत केवल इस बातसे मैं विचलित नहीं हुआ कि उस लड़कीपर मेरा हक नहीं लगता!' अतः जिस वस्तुपर हमारा हक नहीं लगता, जो हमारी नहीं है, उसको हम अपना कैसे स्वीकार करें? उसको अपना और अपने लिये स्वीकार करना बेईमानी

* तन भी तेरा मन भी तेरा, तेरा पिण्ड परान। सब कुछ तेरा तू है मेरा, यह दादू का ग्यान॥

है। सब दुःख, सन्ताप, नरक, जन्म-मरण आदि इस बेईमानीके ही फल हैं। इस बेईमानीके कारण ही संसार दुःखदायी होता है, जो कि वास्तवमें भगवत्स्वरूप ही है। अगर इस बेईमानीका त्याग कर दें अर्थात् एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीको भी अपना न मानें तो '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव हो जायगा।

अपने प्रभुको कैसे पहचानें ?

सन्तोंने कहा है—

सब जग ईश्वर रूप है, भलो बुरो नहिं कोय।
जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय॥

यह सम्पूर्ण संसार साक्षात् परमात्माका स्वरूप है। इसमें भला-बुरा, अच्छा-मन्दा, गुण-दोष आदि दो चीजें हैं ही नहीं। रामायणमें आया है—

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

(मानस, उत्तर० ४१)

तात्पर्य है कि गुण और दोष मायाकृत हैं, भगवान्‌में नहीं हैं। जो लोग मायासे मोहित हैं, उहींकी दृष्टिमें ये दोनों भगवान्‌में दीखते हैं। असली गुण है—गुण और दोष दोनोंको ही न देखना—***'गुन यह उभय न देखिअहिं।'*** इन दोनोंको देखना अविवेक है।

'गुन यह उभय न देखिअहिं' के दो अर्थ होते हैं—(१) गुण और दोषको न देखकर गुण-ही-गुण देखना, और (२) गुण और दोषको न देखकर परमात्माको ही देखना, जो कि गुण-दोषसे रहित और गुणातीत है। गुण और दोषको देखना अविवेक है, अज्ञान है, मूर्खता है, जडता है—***'देखिअ सो अबिबेक'।*** कारण कि वास्तवमें संसार साक्षात् भगवान् ही है—***'सब जग ईश्वर रूप है'।*** यह ईश्वरका सर्वोपरि रूप है! ईश्वर भला और बुरा—दो नहीं हो सकता। ईश्वर एक ही होता है।

भगवान् गीतामें कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(४।११)

'जो जिस भावसे मेरा भजन करते हैं, मैं भी उसी भावसे उनका भजन करता हूँ।'

अतः हम भले और बुरे—दो रूपोंको देखते हैं तो भगवान् भी भले और बुरे—दो रूपोंसे प्रकट हो जाते हैं, और हम भले-बुरेको न देखकर भगवान्‌को देखते हैं तो भगवान् भी अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हो जाते हैं—

जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

(मानस, बाल० २४१।२)

एक सन्त थे। कोई उनसे कहता कि 'महाराज! आप तो बहुत बड़े महात्मा हैं' तो वे कहते—'रामजी!' कोई कहता कि आप बड़े ठग हैं' तो वे कहते—'रामजी!' कोई कहता कि 'आप तो बड़े अच्छे हैं' तो वे कहते—'रामजी!' कोई कहता कि 'आप तो बहुत बुरे हैं' तो वे कहते—'रामजी!' तात्पर्य है कि सब कुछ रामजी ही हैं, फिर उसमें क्या अच्छा और क्या बुरा? ***'जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय'।*** भावना ही करनी हो तो बढ़िया भावना करें, घटिया भावना क्यों करें? मनके लड्डू बनायें तो उसमें घी और चीनी कम क्यों डालें? इसमें कौन-सा खर्चा लगता है? इसलिये बढ़िया-से-बढ़िया भावना करनी चाहिये। वह बढ़िया-से-बढ़िया भावना है—**'वासुदेवः सर्वम्'** अर्थात् सब कुछ परमात्मा-ही-परमात्मा हैं। यह कोरी भावना ही नहीं है, प्रत्युत वास्तविकता है। इसको स्वीकार करनेमें न तो कोई परिश्रम करना पड़ता है और न अपनेमें कोई विशेष योग्यता लानी पड़ती है, फिर इसको माननेमें क्या बाधा है? यह सरल-से-सरल और ऊँचा-से-ऊँचा साधन है।

प्रश्न—संसारमें कोई दुराचारी दीखे तो उसको भगवत्स्वरूप कैसे मानें?

उत्तर—ऐसा मानना चाहिये कि वे भी भगवान् ही हैं, पर अभी कलियुगकी लीला कर रहे हैं। अभी कलियुग है, इसलिये वे युगके अनुसार लीला करते हैं। भगवान्‌ने वराहरूप धारण किया तो वराहकी तरह ही आचरण किया। वराह भगवान्‌को देखकर हिरण्याक्ष उनको 'वनगोचरमृग' (जंगली जानवर) कहकर पुकारता है और भगवान् उसको 'ग्रामसिंह' (कुत्ता) कहकर पुकारते हैं (श्रीमद्भा० ३।१८।२, १०)। वे जैसा रूप धारण करते हैं, वैसी ही लीला करते हैं।

प्रश्न—संसारको परमात्माका स्वरूप भी कहते हैं और दुःखोंका घर भी कहते हैं—**'दुःखालयमशाश्वतम्'** (गीता ८।१५)। अगर यह परमात्माका स्वरूप है तो दुःखोंका घर कैसे और दुःखोंका घर है तो परमात्माका स्वरूप कैसे?

उत्तर—ये दोनों बातें ठीक हैं। जो संसारसे कुछ नहीं चाहता, प्रत्युत दूसरोंकी सेवा करता है, उनको सुख देता है, उसके लिये संसार परमात्माका स्वरूप है और जो संसारसे सुख लेना चाहता है, उसके लिये संसार दुःखोंका घर है। सुख

चाहनेवालेको दुःख मिलेगा ही—यह अकाट्य नियम है।

भक्तियोगकी दृष्टिसे सब संसार भगवान्‌का स्वरूप है और ज्ञानयोगकी दृष्टिसे संसार असत्, जड तथा दुःखरूप है। ज्ञानयोगमें विवेक मुख्य रहता है और विवेकमें सत्-असत्, जड-चेतन, नित्य-अनित्य, नाशवान्-अविनाशी दोनों रहते हैं। विवेकी पुरुष संसारको दुःखरूप मानकर उसका त्याग करता है—**'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'** (योगदर्शन २। १५)। इसलिये ज्ञानकी दृष्टिसे संसारका त्याग करना है और भक्तिकी दृष्टिसे सबको भगवत्स्वरूप मानकर प्रणाम करना है। भागवतमें आया है—

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १६)

'अपने ही लोग यदि हँसी करें तो करने दे, उनकी परवाह न करे, प्रत्युत अपने शरीरको लेकर जो लज्जा आती है, उसको भी छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ एवं गधेको भी पृथ्वीपर लम्बा गिरकर साष्टाङ्ग प्रणाम करे।'

भक्त कुत्ते, चाण्डाल आदिको प्रणाम नहीं करता, प्रत्युत उन रूपोंमें आये भगवान्‌को प्रणाम करता है। जब भगवान् राम भरद्वाजजीसे मिलते हैं, तब भरद्वाजजी भगवान्‌को प्रणाम करते हैं और भगवान् भरद्वाजजीको प्रणाम करते हैं—

मुनि रघुबीर परसपर नवहीं। बचन अगोचर सुखु अनुभवहीं॥

(मानस, अयोध्या० १०८। २)

भगवान् राम तो क्षत्रिय होनेसे ब्राह्मणको प्रणाम करते हैं और भरद्वाजजी भक्त होनेसे भगवान्‌को प्रणाम करते हैं। इस प्रकार एक-दूसरेको प्रणाम करनेसे उनको अलौकिक, विलक्षण आनन्द मिलता है! इसी तरह संसारमें अनेक रूपोंसे प्रकट हुए भगवान्‌को प्रणाम करके आनन्दित होना चाहिये। संसारमें जो कुछ भी है, वह सब भगवान्‌का ही शरीर है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, जीव-जन्तु, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के ही शरीर हैं—ऐसा मानकर भक्त सभीको अनन्यभावसे प्रणाम करता है।'

चाहे अद्वैतवाद मानें, चाहे विशिष्टाद्वैतवाद मानें, चाहे द्वैतवाद मानें, चाहे द्वैताद्वैतवाद मानें, चाहे शुद्धाद्वैतवाद मानें, चाहे अचिन्त्य भेदाभेदवाद मानें, सबमें परमात्मा एक ही हैं। परमात्माको चाहे द्विभुजी मानें, चाहे चतुर्भुजी मानें, चाहे सहस्रभुजी (विराट्‌रूप) मानें, चाहे साकार मानें, चाहे निराकार मानें, चाहे नराकार (राम, कृष्ण आदि) मानें, चाहे नीराकार (गङ्गाजी) मानें, चाहे निर्गुण मानें, चाहे सगुण मानें, परमात्मा तो एक ही हैं। वे एक ही परमात्मा अनेक रूपोंसे प्रकट हुए हैं। सब-के-सब रूप एक ही समग्र परमात्माके अंग हैं। किसी भी एक अङ्गको पकड़ लें तो समग्र परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी। परमात्माके एक नामको ही पकड़ लें तो उसीसे समग्र परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी!

परमात्मा पूर्ण हैं। ऐसी कोई जगह नहीं है जहाँ परमात्मा न हों—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(गीता १३। १३)

'वे परमात्मा सब जगह हाथों और पैरोंवाले, सब जगह नेत्रों, सिरों और मुखोंवाले तथा सब जगह कानोंवाले हैं। वे संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं।'

कलम और स्याहीमें किस जगह कौन-सी लिपि नहीं है? जानकार आदमी उस एक ही कलम और स्याहीसे अनेक लिपियाँ लिख देता है। सोनेकी डलीमें किस जगह कौन-सा गहना नहीं है? सुनार उस एक डलीमेंसे कड़ा, कण्ठी, हार, नथ आदि अनेक गहने निकाल लेता है। इसी तरह लोहेमें किस जगह कौन-सा अस्त्र-शस्त्र नहीं है? मिट्टी और पत्थरमें किस जगह कौन-सी मूर्ति नहीं है? ऐसे ही भगवान्‌में किस जगह क्या नहीं है? भगवान्‌से ही यह सब सृष्टि पैदा हुई है और अन्तमें उसीमें लीन हो जाती है। पहले भी वही है, पीछे भी वही है, फिर बीचमें दूसरी चीज कैसे आये, कहाँसे आये? इस बातको दृढ़तासे स्वीकार कर लें तो फिर भगवान् दीखने लग जायँगे; क्योंकि वास्तवमें हैं ही वहीं!

जैसे, मिट्टीसे पैदा होनेवाली सब चीजें मिट्टी ही होती हैं। इसकी परीक्षा करनी हो तो लोहेकी एक परात लें। उसमें सूखी मिट्टी तौलकर डाल दें। फिर उसमें गेहूँ भी तौलकर बो दें और जल डालते रहें। कुछ दिनोंमें गेहूँके पौधे हो जायँगे। अब मिट्टीको (सर्वथा सूखनेके बाद) तौलकर देखें तो मिट्टी कम निकलेगी। परन्तु मिट्टीके साथ-साथ गेहूँके पौधोंको भी तौलें तो कुल वजन उतना ही निकलेगा, जितना पहले केवल मिट्टीका था। इससे यह सिद्ध हुआ कि जितनी मिट्टी कम हुई थी, उतनी पौधोंके रूपमें परिणत हो गयी। अतः गेहूँके पौधे मिट्टी ही हुए! गेहूँको खा लें अथवा पीस दें तो वे मिट्टी ही

हो जायँगे। ऐसे ही हमारे शरीर भी मिट्टीके ही बने हुए हैं और अन्तमें मिट्टीमें ही मिल जायँगे। इसी तरह यह सब संसार परमात्मासे ही बना हुआ है। अतः कोई-सा भी रूप दीखे, वह परमात्मा ही है—ऐसा दृढ़तापूर्वक मान लें तो असली ज्ञान हो जायगा। कितना सुगम और सरल साधन है।

एक बाबाजी कहीं जा रहे थे। रास्तेमें एक खेत आया। बाबाजी वहाँ लघुशंकाके लिये (पेशाब करने) बैठ गये। पीछेसे खेतके मालिकने उनको देखा तो समझा कि हमारे खेतमेंसे मतीरा चुराकर ले जानेवाला यही है; क्योंकि खेतमेंसे मतीरोंकी चोरी हुआ करती थी। उसने पीछेसे आकर बाबाजीके सिरपर लाठी मारी और बोला—'हमारे खेतसे मतीरा चुराता है?' बाबाजी बोले—भाई! मैं तो लघुशंका कर रहा था!' कृषकने बाबाजीको देखा तो बहुत दुःखी हुआ और बोला—'महाराज! मेरेसे बड़ा कसूर हो गया! मैं समझा था कि यह मतीरा चुरानेवाला है।' बाबाजी बोले—'तेरा कसूर है ही नहीं; क्योंकि तूने तो चोरको मारा है, मेरेको थोड़े ही मारा है! क्या तूने साधु समझकर मारा है? कृषक बोला—'नहीं महाराज! चोर समझकर मारा है। अब मैं क्या करूँ?' बाबाजी बोले—'जिसमें तेरी प्रसन्नता हो, वह कर।' बाबाजीके सिरमें लाठी लगनेसे रक्त निकल रहा था और पीड़ा हो रही थी। कृषक उनको गाड़ीपर बैठाकर अस्पताल ले गया और वहाँ भरती कर दिया। वहाँ उनकी मलहम-पट्टी करके उनको सुला दिया। थोड़ी देर बाद एक नौकर दूध लेकर आया और बाबाजीसे बोला—'महाराज! यह दूध लाया हूँ, पी लीजिये।' बाबाजी पहले हँसे, फिर बोले—'वाह! वाह! तू बड़ा विचित्र बहुरूपिया है, पहले लाठी मारता है, फिर दूध पिलाता है!' वह आदमी बोला—'महाराज! मैंने लाठी नहीं मारी है, लाठी मारनेवाला दूसरा था!' बाबाजी बोले—'नहीं, मैं तुझे पहचानता हूँ, लाठी मारनेवाला तू ही था। तेरे सिवाय दूसरा कौन आये, कहाँसे आये और कैसे आये? बता! यह केवल तेरी ही लीला है!' इस प्रकार बाबाजीकी दृष्टि तो '**वासुदेवः सर्वम्**' पर थी, पर वह आदमी डर रहा था कि बाबाजी कहीं मेरेको फँसा न दें! तात्पर्य है कि सब रूपोंमें भगवान् ही हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(मानस, बाल० ८।१)

भगवान्‌के एक-एक रोममें करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं—

रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥

(मानस, बाल० २०१)

वास्तवमें उन ब्रह्माण्डोंके रूपमें भगवान् ही प्रकट हुए हैं! इस वास्तविक बातको स्वीकार करनेके लिये न कोई पोथी पढ़नी है, न कोई ध्यान करना है, न कोई चिन्तन करना है, न श्रवण-मनन-निदिध्यासन करना है, न आँख मीचनी है, न नाक दबानी है, न योगाभ्यास करना है, न प्राणायाम करना है, न जंगलमें जाना है, न गुफामें जाना है, न हिमालयमें जाना है! केवल अनेक रूपोंमें आये अपने प्यारे प्रभुको पहचान लेना है और मस्त रहना है अथवा प्रभुकी दी हुई शक्तिसे जप, ध्यान, स्वाध्याय आदि सब कुछ उन्हींके लिये करना है।

प्रश्न—सब कुछ परमात्मा ही हैं—इसको ठीक तरहसे मान लिया तो क्या अब कुछ करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहा?

उत्तर—यदि 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इसका अनुभव हो गया है, तब तो ठीक है, नहीं तो केवल सीख लिया है। सीखकर मनुष्य अभिमान कर लेता है कि मैं तो सिद्ध हो गया! इससे उसका पतन हो जाता है। कारण कि अभिमान होनेसे मनुष्य अपनेको ज्ञानी और दूसरोंको अज्ञानी समझता है। इससे दूसरोंके प्रति द्वेष, घृणा, क्रोध पैदा होता है, जबकि '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव होनेपर किसीके भी प्रति द्वेष, वैर, घृणा, क्रोध आदि नहीं होते*। अगर वह जाननेके उद्देश्यसे ही 'सब कुछ परमात्मा है'—ऐसा मानता है तो वह भगवत्कृपासे जान लेता है।

जैसे हमें 'मैं हूँ'—इस प्रकार अपने होनेपनका स्पष्ट अनुभव होता है, इसमें कभी किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं होता, ऐसे ही 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इसका स्पष्ट अनुभव होना चाहिये। ऐसा अनुभव होनेपर संसारका राग, सुखासक्ति सर्वथा मिट जाती है और संसार संसाररूपसे रहता ही नहीं, प्रत्युत भगवत्स्वरूप ही हो जाता है। मैं-तू-यह-वह कुछ नहीं रहता, केवल भगवान्-ही-भगवान् रहते हैं; क्योंकि वास्तवमें भगवान् ही हैं। ऐसा अनुभव करनेके लिये भगवान्‌में अपनी स्थिति नहीं करनी है, प्रत्युत अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देना है। अगर उसमें अपनी स्थिति करेंगे तो अहम् (स्थिति करनेवाला) बना रहेगा। इसलिये '**वासुदेवः सर्वम्**'का अनुभव करनेमें शरणागति मुख्य है। शरणागतिमें साधक पहले भगवान्‌के आश्रित होता है, फिर उसीमें मिल जाता है। जैसे, पहले कन्याका विवाह होता है, फिर वह

* उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥ (मानस, उत्तर० ११२ ख)

अपने गोत्रको छोड़कर पतिके गोत्रवाली हो जाती है। ऐसे ही पहले भक्त 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस प्रकार भगवान्‌के आश्रित होता है, फिर उसके शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम् सब भगवान्‌में लीन हो जाते हैं अर्थात् केवल भगवान्-ही-भगवान् रह जाते हैं। दूसरे शब्दोंमें, पहले साधक 'मैं' और 'मेरा'को छोड़कर 'तू' और 'तेरा'को स्वीकार करता है, फिर केवल तू-ही-तू रह जाता है। यही '**वासुदेवः सर्वम्**' है।

—★—

भगवान्‌का अलौकिक समग्ररूप

भगवान्‌का यह स्वभाव है कि जो जिस प्रकारसे उनका आश्रय लेता है, वे भी उसी प्रकारसे उसको आश्रय देते हैं और जो जिस भावसे उनका भजन करता है, वे भी उसी भावसे उसका भजन करते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

जब भगवान्‌की बात चलती है, तब भक्त उसीमें मस्त हो जाता है और दूसरी सब बातें भूल जाता है। इसी तरह गीताजीमें छठे अध्यायके अन्तमें भक्तकी बात चली—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(गीता ६। ४६)

'तपस्वियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है और कर्मियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है—ऐसा मेरा मत है। अतः हे अर्जुन! तू योगी हो जा।'

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् भक्त मेरेमें तल्लीन हुए मनसे (प्रेमपूर्वक) मेरा भजन करता है, वह मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी है।'

भक्तकी बात चलनेपर भगवान् उसीमें मस्त हो गये, दूसरी सब बातें भूल गये और अर्जुनके द्वारा प्रश्न किये बिना ही भक्तिकी बात कहनेके लिये अपनी तरफसे सातवाँ अध्याय शुरू कर दिया! भगवान्‌ने कहा कि मैं वह विज्ञानसहित ज्ञान कहूँगा, जिससे तू मेरे समग्ररूपको जान जायगा। मेरे समग्र-रूपको जाननेके बाद फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा; क्योंकि जब मेरे सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ है ही नहीं, फिर जानना क्या बाकी रहा?—'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।**' (गीता ७। ७), '**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।**' (गीता ४। ३५)। भगवान्‌के इस समग्ररूपको शरणागत भक्त ही जान सकते हैं। इसलिये जो भक्त भगवान्‌की शरण लेकर लगनपूर्वक साधन करते हैं, वे विज्ञानसहित ज्ञानको अर्थात् भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेते हैं। भगवान् कहते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

(गीता ७। २९-३०)

'जरा और मरणसे मोक्ष पानेके लिये जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको भी जान जाते हैं। जो मनुष्य अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे युक्तचेता मनुष्य अन्तकालमें भी मुझे ही जानते अर्थात् प्राप्त होते हैं।'

ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), अध्यात्म (अनन्त जीव) तथा अखिल कर्म (उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकी सम्पूर्ण क्रियाएँ)—यह '**ज्ञान**' का विभाग है और अधिभूत (अपने शरीरसहित सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक जगत्), अधिदैव (मन-इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवतासहित ब्रह्माजी आदि सभी देवता), तथा अधियज्ञ (अन्तर्यामी विष्णु और उनके सभी रूप)—यह '**विज्ञान**'का विभाग है। ज्ञानके विभागमें निर्गुणकी और विज्ञानके विभागमें सगुणकी मुख्यता है।

गीतामें भगवान्‌ने दो निष्ठाएँ बतायी हैं—कर्मयोग और ज्ञानयोग। ये दोनों ही निष्ठाएँ लौकिक हैं—'**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा**' (गीता ३। ३)। परन्तु भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। कारण कि कर्मयोगमें 'क्षर' (संसार)की प्रधानता है और ज्ञानयोगमें 'अक्षर' (जीवात्मा) की प्रधानता है। क्षर और अक्षर—दोनों ही लोकमें हैं—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।**' (गीता १५। १६)। इसलिये कर्मयोग और ज्ञानयोग— दोनों लौकिक निष्ठाएँ हैं। परन्तु भक्तियोगमें 'परमात्मा'की प्रधानता है, जो क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

(गीता १५। १७)

'उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो परमात्मा नामसे

कहा गया है।'

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।

(गीता १५। १८)

'मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ।'

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।

(श्वेताश्वतर० १। १०)

'प्रकृति तो क्षर (नाशवान्) है और इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अक्षर (अविनाशी) है। इन क्षर और अक्षर—दोनोंको एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है।'

इसलिये भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। भगवान्के समग्ररूपमें ब्रह्म, अध्यात्म तथा कर्म—इनमें लौकिक निष्ठा (कर्मयोग और ज्ञानयोग) की बात आयी है और अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ—इनमें अलौकिक निष्ठा (भक्तियोग) की बात आयी है।

ज्ञान लौकिक है* और विज्ञान अलौकिक है। आत्मज्ञान लौकिक है और परमात्मज्ञान अलौकिक है। मुक्ति लौकिक है और प्रेम अलौकिक है। करणसापेक्ष साधन लौकिक है और करणनिरपेक्ष साधन अलौकिक है। लौकिक तथा अलौकिक—दोनों ही समग्रभगवान्के रूप हैं।

प्रश्न—ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म—ये तीनों लौकिक कैसे हैं?

उत्तर—भगवान्ने ब्रह्मको 'अक्षर' कहा है—**'अक्षरं ब्रह्म परमम्'** (गीता ८। ३) और जीवको भी 'अक्षर' कहा है—**'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।'** (गीता १५। १६) अतः ब्रह्म और जीवकी एकता होनेसे ब्रह्म भी लौकिक है। इसलिये जीव और ब्रह्मको एक माना गया है—**'जीवो ब्रह्मैव नापरः।'** क्षेत्रके साथ सम्बन्ध होनेसे जो 'जीव' कहलाता है, वही क्षेत्रके साथ सम्बन्ध न होनेसे 'ब्रह्म' कहलाता है— **'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।'** (गीता १३। २)। तात्पर्य है कि जो व्यष्टिरूपसे जीव है, वही समष्टिरूपसे ब्रह्म है। अतः जैसे जीव लोकमें है, ऐसे ही ब्रह्म भी लोकमें है अर्थात् ब्रह्म लौकिक निष्ठासे प्रापणीय तत्त्व है।

'अध्यात्म' अर्थात् जीवने जगत्को धारण किया हुआ है—**'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।'** (गीता ७। ५) जीवकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसलिये जगत्के संगसे जीव भी जगत् अर्थात् लौकिक हो जाता है। अतः गीतामें जीवके लिये 'जगत्' शब्द भी आया है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

(गीता ७। १३)

'इन तीनों गुणरूप भावोंसे मोहित यह सब जगत् इन गुणोंसे पर अविनाशी मेरेको नहीं जानता।'

लोकमें होनेके कारण जीव लौकिक है—**'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।'** (गीता १५। १६), **'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** (गीता १५। ७)।

कर्म दो प्रकारके होते हैं—सकाम और निष्काम। ये दोनों ही कर्म लोकमें होनेसे लौकिक हैं—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः॥

(गीता ३। ९)

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥

(गीता ४। १२)

'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके' (गीता १५। २)

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(गीता ३। ३) †

प्रश्न—अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—ये तीनों अलौकिक कैसे हैं?

उत्तर—अधिभूत अर्थात् सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक जगत् भगवान्का शरीर होनेसे अलौकिक ही हुआ—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, जीव-जन्तु, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र—सब-के-सब भगवान्के ही शरीर हैं—ऐसा मानकर भक्त सभीको अनन्यभावसे प्रणाम करता है।'

---

* न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। (गीता ४। ३८)

'इस मनुष्यलोकमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला दूसरा कोई साधन नहीं है।'

† गीतामें 'लोक' शब्द अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। इसको जाननेके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीता-दर्पण' ग्रन्थमें 'गीताका अनेकार्थ-शब्दकोश' देखना चाहिये।

भगवान्ने अर्जुनको अपना जो विराट्रूप दिखाया था, वह दिव्य (अलौकिक) था—**'नानाविधानि दिव्यानि'** (गीता ११।५), **'अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्'** (गीता ११।१०), **दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्'** (गीता ११।११), **'ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्'** (गीता ११।१५)। वह दिव्य विराट्रूप भगवान्ने अपने शरीरमें ही दिखाया था—

भगवान्के वचन हैं—**'मम देहे गुडाकेश'** (११।७)

सञ्जयके वचन हैं—**'अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे'** (११।१३)

अर्जुनके वचन हैं—**'पश्यामि देवांस्तव देव देहे'** (११।१५)

अतः भगवान्का ही विराट्रूप होनेसे यह पाञ्चभौतिक जगत् भी अलौकिक ही है। भगवान्ने अपनी विभूतियोंको भी दिव्य कहा है—**'हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः'** (१०।१९), **'नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप'** (१०।४०)। अर्जुनने भी कहा है—**'वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः'** (१०।१६)। परन्तु जीवको अज्ञानवश अपनी बुद्धिसे राग-द्वेषके कारण यह जगत् लौकिक दीखता है। इसलिये जगत् न तो महात्माकी दृष्टिमें है और न भगवान्की दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टिमें है। महात्माकी दृष्टिमें सब कुछ भगवान् ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७।१९), भगवान्की दृष्टिमें सत्-असत् सब कुछ वे ही हैं— **'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९।१९), पर जीवने राग-द्वेषके कारण जगत्को अपनी बुद्धिमें धारण कर रखा है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७।५)।

अधिदैव अर्थात् ब्रह्माजी आदि सभी देवता, अलौकिक, दिव्य हैं। अधियज्ञ अर्थात् अन्तर्यामी भगवान् सबके हृदयमें रहते हुए भी निर्लिप्त होनेके कारण अलौकिक हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(मुण्डक० ३।१।१; श्वेताश्वतर० ४।६)

'एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी— जीवात्मा और परमात्मा एक ही वृक्ष—शरीरका आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनोंमेंसे एक (जीवात्मा) तो उस वृक्षके सुख-दुःखरूप कर्मफलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है, पर दूसरा (परमात्मा) न खाता हुआ केवल देखता रहता है।'

समग्ररूप बतानेका तात्पर्य है कि जड-चेतन, सत्-असत् जो कुछ भी है, वह सब भगवान्का ही स्वरूप है—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९।१९)। इसलिये भगवान्ने समग्ररूप वर्णनके आदि और अन्तमें **'माम्'** पद दिया है—**'मामाश्रित्य'** (गीता ७।२९) और **'मां ते विदुः'** (गीता ७।३०)। सब कुछ भगवान् ही हैं—इस प्रकार जो मनुष्य भगवान्के समग्ररूपको जान लेते हैं, वे 'युक्तचेता' हैं। ऐसे युक्तचेता भक्त अन्तकालमें मनके विचलित होनेपर भी योगभ्रष्ट नहीं होते, प्रत्युत भगवान्को ही प्राप्त होते हैं—**'प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः'**। कारण कि उनकी दृष्टिमें जब भगवान्के सिवाय किंचिन्मात्र भी दूसरी सत्ता है ही नहीं, तो फिर मनके विचलित होनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। दूसरी सत्ताकी मान्यता न होनेके कारण उनका मन जहाँ जायगा, परमात्मामें ही जायगा, फिर उनका मन कैसे विचलित होगा और मनके विचलित हुए बिना वे योगभ्रष्ट कैसे होंगे? कारण कि योगसे मनके विचलित होनेपर ही मनुष्य योगभ्रष्ट होता है— **'योगाच्चलितमानसः'** (गीता ६।३७)। इसलिये भगवान्ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८।१४)

'हे पार्थ! अनन्यचित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

एक मार्मिक बात है कि जबतक साधक एक भगवान्की सत्ताके सिवाय दूसरी सत्ता मानेगा, तबतक उसका मन सर्वथा निरुद्ध नहीं हो सकता। कारण कि जबतक अपनेमें दूसरी सत्ताकी मान्यता है, तबतक रागका सर्वथा नाश नहीं हो सकता और रागका सर्वथा नाश हुए बिना मन सर्वथा निर्विषय नहीं हो सकता। रागके रहते हुए मनका सीमित निरोध होता है, जिससे लौकिक सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है, वास्तविक तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। दूसरी सत्ताकी मान्यता रहते हुए जो मन निरुद्ध होता है, उसमें व्युत्थान होता है अर्थात् उसमें समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। कारण कि दूसरी सत्ता माने बिना दो अवस्थाएँ सम्भव ही नहीं हैं। दूसरी सत्ताकी मान्यता न रहनेके कारण भक्तका प्रेम भी अनन्य होता है। अतः जैसे व्यवहारमें एकता करना महान् गलती है, ऐसे ही तत्त्व (चिन्मय सत्ता) में भेद करना भी महान् गलती है।

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।

(मानस, बाल० ६)

तात्पर्य है कि जड और चेतन—दोनों ब्रह्माजीकी सृष्टिमें होनेसे लौकिक हैं। गीतामें भी भगवान्ने कहा है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

(गीता १५।१६)

'इस लोकमें क्षर और अक्षर—ये दो प्रकारके पुरुष हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर क्षर (नाशवान्) हैं और कूटस्थ जीवात्मा अक्षर (अविनाशी) कहा गया है।'

इस दृष्टिसे क्षर और अक्षर, शरीर और शरीरी, देह और देही, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—ये सभी लौकिक हैं।

दैवी सम्पत्ति मुक्त करनेवाली और आसुरी सम्पत्ति बाँधनेवाली है—**'दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता'** (गीता १६।५)। दैवी और आसुरी—दोनों ही सम्पत्तिवाले प्राणी लौकिक हैं—**'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च'** (गीता १६।६)। इसलिये मोक्ष और बन्धन भी लौकिक हैं।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

(आत्मोपनिषद् ३१, माण्डूक्यकारिका २।३२, तत्त्वोपदेश ८१, विवेकचूडामणि ५७५)

'न प्रलय है और न उत्पत्ति है, न बद्ध है और न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है—यही परमार्थता अर्थात् वास्तविक तत्त्व है।'

तात्पर्य है कि बन्धन और मोक्ष—दोनों ही सापेक्ष होनेसे लौकिक हैं। निरपेक्ष तत्त्वमें न बन्धन है और न मोक्ष है। अतः वास्तविक तत्त्व अलौकिक है। इसलिये प्रेमी भक्त कहता है—

अब तो बंध मोक्षकी इच्छा व्याकुल कभी न करती है।
मुखड़ा ही नित नव बन्धन है, मुक्ति चरणसे झरती है॥

चेतन और जड, जीव और जगत् विचारके विषय हैं; अतः 'ज्ञान' लौकिक है। परन्तु भगवान् विचारके विषय नहीं हैं, प्रत्युत श्रद्धाविश्वासके विषय हैं*; अतः 'भक्ति' अलौकिक है। ज्ञानमार्गमें जबतक विवेक रहता है, तबतक लौकिकता रहती है। जब विवेक तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है, तब ज्ञानीमें भी अलौकिकता आ जाती है। कारण कि ज्ञान (तत्त्वज्ञान) अज्ञानका नाशक है। अज्ञानका नाश करके ज्ञान भी शान्त हो जाता है और ज्ञानीमें अलौकिकता आ जाती है। इसलिये जैसे भक्तिमार्गमें मीराबाईका शरीर चिन्मय होकर लीन हो गया था, ऐसे ही ज्ञानमार्गमें भी कबीर साहेबका शरीर चिन्मय होकर लीन हो गया था।

अवतारके समय लौकिक दृष्टिसे दीखनेपर भी भगवान् सदा अलौकिक ही रहते हैं। लोकमें अवतार लेनेपर भी उनकी अलौकिकता ज्यों-की-त्यों रहती है। भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४।६)

भगवान् ही जगत्-रूपसे प्रकट हुए हैं, इसलिये यह जगत् भगवान्‌का आदि अवतार कहा जाता है—**'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य'** (श्रीमद्भा० २।६।४१)। जैसे भगवान्‌ने राम, कृष्ण आदि रूपोंसे अवतार लिया है, ऐसे ही जगत्-रूपसे भी अवतार लिया है। इसको अवतार इसलिये कहते हैं कि इसमें भगवान् दृश्यरूपसे दीखनेमें आ जाते हैं।

अवतारके समय भगवान् अलौकिक होते हुए भी राग-द्वेषके कारण अज्ञानियोंको लौकिक दीखते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।

(गीता ७।२४)

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(गीता ७।२५)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

(गीता ९।११)

वास्तवमें लौकिक-अलौकिकका विभाग राग-द्वेषके कारण ही है। राग-द्वेष न हो तो सब कुछ अलौकिक (चिन्मय) ही है—**'वासुदेवः सर्वम्'**। कारण कि लौकिककी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। राग-द्वेषके कारण ही लौकिककी सत्ता और महत्ता दीखती है। राग-द्वेषके कारण ही जीवने भगवत्स्वरूप संसारको भी लौकिक बना दिया और खुद भी लौकिक बन गया! इसलिये भगवान्‌ने राग-द्वेषको साधकका महान् शत्रु बताया है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३।३४)

'इन्द्रिय इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें मनुष्यके राग और द्वेष व्यवस्थासे (अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर) स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें

---

* भगवान् श्रद्धा-विश्वासके विषय हैं, इसलिये आस्तिक और नास्तिक—दोनों तरहके दर्शन हैं। न्यायदर्शन और वैशेषिकदर्शन लौकिक हैं। योगदर्शन और सांख्यदर्शन लौकिक तथा अलौकिक दोनों हैं। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा केवल अलौकिक हैं।

नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके (पारमार्थिक मार्गमें विघ्न डालनेवाले) शत्रु हैं।'

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। यह बहुत खानेवाला और महापापी है। इस विषयमें तू इसको ही वैरी जान।'

'क्षर' (नाशवान्) की मुख्यता माननेसे जीव असुर बन जाता है, 'अक्षर' (अविनाशी) की मुख्यता माननेसे जीव ज्ञानी बन जाता है और 'पुरुषोत्तम' (समग्रभगवान्) की मुख्यता माननेसे जीव प्रेमी बन जाता है। प्रेमी बननेसे भक्त और भगवान्‌के बीच प्रेमका आदान-प्रदान होता है। जैसे बच्चेकी चेष्टा माँको और माँकी चेष्टा बच्चेको प्रसन्न करनेवाली होती है, ऐसे ही भक्तकी चेष्टा भगवान्‌को और भगवान्‌की चेष्टा भक्तको प्रसन्न करनेवाली, आनन्द देनेवाली, प्रेमरसकी वृद्धि करनेवाली होती है। प्रेमी और प्रेमास्पदकी इस अभिन्नताको गोस्वामीजी महाराजने बड़े सुन्दर ढंगसे कहा है—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।

(मानस, बाल० १८)

अर्थात् जो वाणी तथा उसके अर्थ और जल तथा उसकी लहरके समान कहनेमें ही अलग-अलग दीखते हैं, पर वास्तवमें एक ही हैं। यहाँ गोस्वामीजीने पहले स्त्रीवाचक 'गिरा' शब्द देकर फिर पुरुषवाचक 'अरथ' शब्द दिया है और उसके बाद पहले पुरुषवाचक 'जल' शब्द देकर फिर स्त्री-वाचक 'बीचि' शब्द दिया है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि स्त्रीवाचक 'सीता' और पुरुषवाचक 'राम'—दोनों अभिन्न हैं। अतः चाहे 'सीता' पहले कहो (सीताराम कहो), चाहे 'राम' पहले कहो (रामसीता कहो)—दोनोंमें कोई फर्क नहीं है*। प्रेममें कोई भेद नहीं रहता। प्रेममें भक्त और भगवान्—दोनों समान हैं—

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।

(नारदभक्ति० ४१)

'भगवान्‌में और उनके भक्तमें भेदका अभाव है।'

—★—

* भरतजी प्रेम-विभोर होकर 'रामसिय-रामसिय' नामका उच्चारण करते हैं—
भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेसु प्रयाग। कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग॥ (मानस, अयोध्या० २०३)

† गीतामें भगवान्‌ने ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग—इसी क्रमसे उपदेश दिया है।

अलौकिक साधन—भक्ति

संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके परमात्माको प्राप्त करनेके तीन मुख्य साधन हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। भागवतमें भगवान् कहते हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।६)

'अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने तीन योगमार्ग (भगवद्गीतामें) कहे हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इन तीनोंके सिवाय दूसरा कोई कल्याणका मार्ग नहीं है।'

कर्मयोग तथा ज्ञानयोगमें संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी मुख्यता है और भक्तियोगमें भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़नेकी मुख्यता है। इसलिये कर्मयोग तथा ज्ञानयोग 'लौकिक साधन' हैं और भक्तियोग 'अलौकिक साधन' है। लौकिक साधन 'विवेकमार्ग' है और अलौकिक साधन 'विश्वासमार्ग' है। विवेकमार्गमें विवेककी मुख्यता और श्रद्धा-विश्वासकी गौणता है तथा विश्वासमार्गमें श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता और विवेककी गौणता है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें विवेक काम आता है और भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़नेमें विश्वास काम आता है। साधकसे प्रायः यह भूल होती है कि वह विवेकमें विश्वास और विश्वासमें विवेक मिलाता है अर्थात् विवेकमार्गमें विश्वासकी मुख्यता और विश्वासमार्गमें विवेककी मुख्यता करता है। इस कारण उसका साधन जल्दी सिद्ध नहीं होता। संसारसे मेरा सम्बन्ध है कि नहीं है—इसमें विश्वास नहीं करना है, प्रत्युत विवेक करना है। भगवान् हैं कि नहीं हैं और मेरे हैं कि नहीं हैं—इसमें विवेक नहीं करना है, प्रत्युत विश्वास करना है। कारण कि जगत् तथा जीव विचारके विषय हैं और भगवान् केवल विश्वास (मान्यता) के विषय हैं। विवेक (विचार) वहीं लगता है, जहाँ सन्देह होता है और सन्देह अल्प ज्ञानमें अथवा अधूरे ज्ञानमें होता है। तात्पर्य है कि जिसके विषयमें हमारा आंशिक ज्ञान है अर्थात् कुछ जानते हैं, कुछ नहीं जानते, वहीं विवेक

चलता है। परन्तु जिसके विषयमें कुछ नहीं जानते, वहाँ विश्वास ही चलता है। विश्वासमें सन्देह नहीं होता। विश्वास करने अथवा न करनेमें सब स्वतन्त्र हैं* ।

ज्ञानी संसारके साथ माने हुए सम्बन्धका त्याग करता है और भक्त एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीसे अपना सम्बन्ध मानता ही नहीं। दूसरे शब्दोंमें ज्ञानी 'मैं' व 'मेरा'का त्याग करता है और भक्त 'तू' व 'तेरा'को स्वीकार करता है। इसलिये ज्ञानी पदार्थ व क्रियाका त्याग करता है और भक्त पदार्थ व क्रियाको भगवान्‌के अर्पण करता है (गीता ९। २६-२७) अर्थात् उनको अपना न मानकर भगवान्‌का और भगवत्स्वरूप मानता है। त्यागकी अपेक्षा अर्पण सुगम होता है। कारण कि जिस वस्तुमें मनुष्यकी सत्यत्व और महत्त्वबुद्धि होती है, उसको मिथ्या समझकर यों ही त्याग देनेकी अपेक्षा किसी व्यक्तिके अर्पण कर देना, उसकी सेवामें लगा देना सुगम पड़ता है। फिर जो परम श्रद्धास्पद, प्रेमास्पद भगवान् हैं, उनको अर्पण करनेकी सुगमताका तो कहना ही क्या! क्योंकि सम्पूर्ण वस्तुएँ (मात्र संसार) पहलेसे ही भगवान्‌की हैं। उनको भगवान्‌के अर्पण करना केवल अपनी भूल मिटाना है। संसारको भगवान्‌का मानते ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अतः संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये भक्तको विवेककी जरूरत नहीं है। तात्पर्य है कि भक्त संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं करता, प्रत्युत उसको भगवान्‌का और भगवत्स्वरूप मानता है।

विवेक पारमार्थिक विषयमें भी काम करता है और लौकिक विषयमें भी। लौकिक विषयमें विवेकका उपयोग करके मनुष्य बड़ा वैज्ञानिक, जज, वकील आदि बन सकता है, तरह-तरहके आविष्कार कर सकता है, पर तत्त्वप्राप्ति नहीं कर सकता। कारण कि राग साथमें रहनेसे लौकिक विषयोंका विवेक भोग और संग्रहका महत्त्व बढ़ाकर संसारमें फँसाता है, पापोंमें लगाकर पतन करता है। तात्पर्य है कि संसारकी सत्ता और महत्ता साथमें रहनेसे विवेक बहुत घातक, अनर्थका हेतु होता है। वास्तवमें लौकिक विषयोंका विवेक 'अविवेक' ही है। पारमार्थिक विषयका विवेक अर्थात् सत्-असत्‌का विवेक ही वास्तविक विवेक है†। सत्-असत्‌का विवेक होनेसे पारमार्थिक अथवा लौकिक दोनों कार्य ठीक होते हैं; क्योंकि विवेकी मनुष्यकी बुद्धि हरेक विषयमें प्रविष्ट होती है।

पारमार्थिक विवेकवाला मनुष्य लौकिक विषयोंका भी ठीक ढंगसे उपयोग कर सकता है। परन्तु केवल लौकिक विवेकवाला मनुष्य लौकिक विषयोंका भी ठीक ढंगसे उपयोग नहीं कर पाता—

उपभोक्तुं न शक्नोति श्रियं प्राप्यापि मानवः।
आकण्ठजलमग्नोऽपि श्वा लेढीति स्वजिह्वया॥

'प्रारब्धवश धन-सम्पत्ति प्राप्त करके भी अविवेकी मनुष्य उसका ठीक ढंगसे उपभोग नहीं कर सकता; जैसे—गलेतक जलमें डूबे होनेपर भी कुत्ता जीभसे ही जलको चाटता है (उसको सीधे जल पीना आता ही नहीं)।'

वास्तविक विवेक वैराग्यका जनक है। यदि वैराग्य न हो तो विवेक वास्तविक (असली) नहीं है। 'मेरा असत्‌के साथ सम्बन्ध है ही नहीं'—इस विवेकसे वैराग्य होता ही है। विवेकमें सत् और असत्—दो चीज होती है, इसलिये वैराग्य होनेपर भी अन्तःकरणमें असत्‌की अति सूक्ष्म सत्ता रहनेसे उसकी सूक्ष्म वासना रह जाती है। वह वासना प्रेम-भक्तिसे ही दूर होती है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥
(मानस, उत्तर० ४९। ३)

उस सूक्ष्म वासनाको सर्वथा नष्ट करनेकी ताकत प्रेममें ही है। प्रेममें बिना विचार किये स्वतः असत्‌का आकर्षण मिटता है; क्योंकि सत्-तत्त्वमें प्रेम होनेपर असत्‌की तरफ दृष्टि जाती ही नहीं, असत्‌से सर्वथा विमुखता हो जाती है—***'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं'*** (मानस, अरण्य० ५। ६)। तात्पर्य है कि प्रेममें दो चीज नहीं होती, प्रत्युत एक भगवान् ही होते हैं। अतः विवेक तो तटस्थ रहता है, पर प्रेम भगवान्‌में लगाता है। संसारमें जैसे रुपयोंमें आकर्षित करनेकी शक्ति लोभमें ही है, ऐसे ही भगवान्‌में आकर्षित करनेकी शक्ति प्रेममें ही है। यह शक्ति विवेकमें नहीं है। हाँ, यदि तीव्र जिज्ञासा हो तो विवेकमें भी सत्-तत्त्वकी मुख्यता हो जाती है।

---

* वेद, पुराण आदि ग्रन्थोंसे, भगवान्‌के भक्तोंसे अथवा कोई दुःख आनेसे भगवान्‌पर विश्वास हो जाता है। जब कोई आफत आती है और उससे बचनेका कोई उपाय नहीं दीखता, कोई सहारा नहीं दीखता तथा उससे बचनेके लिये किये गये सब प्रयत्न फेल हो जाते हैं, तब मनुष्यको भगवान्‌पर विश्वास करना ही पड़ता है! भगवान्‌को पुकारना ही पड़ता है!

† प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये। बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ (गीता १८। ३०)
'हे पृथानन्दन! जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

सत्-तत्त्वकी मुख्यता होनेपर वह विवेक केवल वैराग्यका जनक ही नहीं रहता, प्रत्युत तत्त्वबोधका प्रापक हो जाता है।

विवेकमार्गमें सत् और असत्—दोनोंकी मान्यता साथ-साथ रहनेसे असत्‌की अति सूक्ष्म सत्ता अर्थात् अति सूक्ष्म अहम् दूरतक साथ रहता है। यह सूक्ष्म अहम् मुक्त होनेपर भी रहता है। यह सूक्ष्म अहम् जन्म-मरण देनेवाला तो नहीं होता, पर यह परमात्मासे अभिन्न होनेमें बाधक होता है। इसलिये विवेकमार्गमें ज्ञानियोंकी अथवा दार्शनिकोंकी मुक्ति तो हो सकती है, पर परमात्माके साथ अभिन्नता अर्थात् प्रेम नहीं हो सकता। इस सूक्ष्म अहम्‌के कारण ही दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें परस्पर मतभेद रहता है। विश्वासमार्गमें आरम्भसे ही भक्त एक परमात्माके सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता। इसलिये वह परमात्माके साथ अभिन्न हो जाता है। परमात्माके साथ अभिन्न होनेपर सूक्ष्म अहम् नहीं रहता और उससे पैदा होनेवाले सम्पूर्ण मतभेद समाप्त हो जाते हैं। इसलिये ज्ञानकी एकतासे प्रेमकी एकता श्रेष्ठ है। कारण कि ज्ञानमें तो भेद रह सकता है, पर प्रेममें कोई भेद रहता ही नहीं।

विवेकमार्गमें विवेकपूर्वक किया जानेवाला साधन दो प्रकारका होता है—विध्यात्मक और निषेधात्मक। विध्यात्मक साधनमें सूक्ष्म अहम् बना रहता है। कारण कि इसमें अभ्यासकी मुख्यता रहनेसे असत्‌का आश्रय रहता है। इसमें साधकका यह विचार रहता है कि मुझे सत्‌में स्थिति करनी है। यह विचार रहनेसे असत्‌का संग छूटनेपर भी सत्‌में 'स्थितिवाला' रह जाता है—यही सूक्ष्म अहम् है। यह सूक्ष्म अहंभाव दार्शनिकोंमें एकता नहीं होने देता। दार्शनिकोंमें मतभेद रहनेसे उनके दर्शनोंमें भी मतभेद रहता है अर्थात् वे अपने-अपने मतके अनुसार परमात्माको मानते हैं, जो कि समग्रका अंश (आंशिक) होता है, समग्र, नहीं। वे परमात्माके उस समग्र रूपको नहीं जानते, जिसमें कोई मतभेद नहीं है।

दार्शनिकोंकी दृष्टिमें उनका अपना मत साध्य है, जो वास्तवमें साध्य न होकर साधन-तत्त्व है*। वास्तविक साध्य (समग्र परमात्मा)में कोई दार्शनिक मतभेद नहीं है। सूक्ष्म अहम् रहनेसे दार्शनिकोंको अपना मत (मार्ग) श्रेष्ठ दीखता है, दूसरेका मत उतना श्रेष्ठ, लाभदायक नहीं दीखता, और उनकी ऐसी मान्यता रहती है कि ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं हो सकती या निष्कामकर्मके बिना मुक्ति नहीं हो सकती अथवा भक्तिके बिना मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिये वे अपने मतका मण्डन और दूसरेके मतका खण्डन करते हैं। दूसरेके मतका खण्डन वे बुरी नीयतसे नहीं करते, प्रत्युत इस शुद्ध नीयतसे करते हैं कि लोग विपरीतगामी न होकर अपना कल्याण कर लें। लोगोंके कल्याणके उद्देश्यसे वे अपने मत (मार्ग) का प्रचार करते हैं; क्योंकि उस मतका उन्होंने खुद अनुभव किया है और उसमें वे निःसन्देह हुए हैं, उनको शान्ति मिली है। अतः उनका वैसा कहना उचित ही है। परन्तु उन दार्शनिकोंके अनुयायियोंमें प्रायः देहाभिमानके कारण अपने मतका आग्रह रहता है। आग्रह रहनेसे वे अपने मतका अनुसरण न करके दूसरे मतका खण्डन करते हैं और दूसरे मतको माननेवालोंसे द्वेष करते हैं। दूसरे मतको माननेसे भी कल्याण हो सकता है—यह बात उनको जँचती ही नहीं! उलटे वे दूसरे मतको भ्रम मानते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि दूसरोंको हमारे मतमें आना ही पड़ेगा, तभी उनका कल्याण होगा! उनका दूसरे मतको माननेवालोंसे जो द्वेष होता है, वह सामान्य सांसारिक राग-द्वेषसे भी मजबूत और भयंकर होता है। उस द्वेषके कारण वे दूसरे मतको सर्वथा मिटा देना चाहते हैं! इस प्रकार लड़ाई दार्शनिकोंमें नहीं होती, प्रत्युत उनके अनुयायियोंमें होती है।

अपने साधनके प्रति कृतज्ञता, महत्ताका भाव रहना दोष नहीं है, पर दूसरेके मतका खण्डन करना दोष है। इसलिये साधकको दूसरेके मतका खण्डन तथा अपने मतका आग्रह न करके अपने मतके अनुसार साधन करना चाहिये। वह दूसरेके मतका खण्डन न करके अधिक-से-अधिक यह कह सकता है कि उस प्रणालीको मैं जानता नहीं। अपनी अज्ञता कहनेमें दोष नहीं है, प्रत्युत अपना गुण कहनेमें दोष है। कारण कि अपनी अज्ञता (अपूर्णता) कहनेसे दूसरेमें पूर्णता दीखती है और अपना गुण कहनेसे दूसरेमें दोष दीखता है। इसलिये साधकको कभी भी अपनेको सिद्ध नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत सदा साधक ही मानना चाहिये। अपनेमें सिद्धि, पूर्णता माननेसे उसका आगे बढ़ना रुक जायगा और अपने साथ धोखा भी हो जायगा अर्थात् अपनेमें कोई कमी भी होगी तो वह बनी रहेगी।

प्रश्न—क्या मुक्त होनेपर भी सूक्ष्म अहम् रहता है?

उत्तर—मुक्त होनेपर भी ज्ञानी (दार्शनिक)में सूक्ष्म अहम् रहता है, जिससे दार्शनिकोंमें परस्पर अलगाव, भिन्नता, भेद रहता है। यह सूक्ष्म अहम् वास्तवमें अहङ्कारका संस्कार है, जो जन्म-मरणका कारण नहीं होता। गुणोंका संग ही

* साधन तो अलग-अलग होते हैं, पर साधन-तत्त्व एक होता है।

जन्म-मरणका कारण होता है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। मार्गका संग जन्म-मरणका कारण नहीं होता। मार्गका संग है—जिस मार्गसे सिद्धि (मुक्ति) मिली, उस मार्गका संस्कार, जो 'सूक्ष्म अहम्' कहलाता है। सूक्ष्म अहम्में स्वयं संसारके सम्मुख न होकर परमात्मतत्त्वके सम्मुख रहता है। यह सूक्ष्म अहम् ज्ञानकी एकतामें रहता है, प्रेमकी एकतामें नहीं। कारण कि भक्तकी खुदकी निष्ठा नहीं होती, प्रत्युत वह भगवन्निष्ठ होता है; परन्तु ज्ञानीकी खुदकी निष्ठा होती है। अतः भक्तिमें अहंता बदलकर भगवान्में लीन हो जाती है, जिससे अहम्का संस्कार नहीं रहता। परन्तु ज्ञानमें अहंताको मिटानेसे अत्यन्त सूक्ष्म अहम् रह जाता है। हाँ, अधिक भूमिका चढ़ जानेसे ज्ञानीका भी वह अत्यन्त सूक्ष्म अहम् मिट जाता है।

भेद ज्ञानमें रहता है, प्रेममें नहीं। प्रेममें समग्र परमात्माकी प्राप्ति होती है; क्योंकि समग्रता (**'वासुदेवः सर्वम्'**) की प्राप्तिमें प्रेम कारण है, ज्ञान कारण नहीं है। एक विचित्र बात है कि ज्ञानमार्गमें मुक्ति भी प्रेमसे ही होती है! कारण कि अपने स्वरूप (सत्ता)में प्रेम, आकर्षण हुए बिना स्वरूपमें स्थिति नहीं होती। ज्ञानीका अपने स्वरूपमें जो प्रेम होता है, वह प्रेम उसको मुक्त तो कर देगा, पर समग्रताकी प्राप्ति करा दे—यह नियम नहीं है। कारण कि सत्ताका यह प्रेम सांसारिक आसक्तिकी तरह जन्म-मरण देनेवाला तो बिलकुल नहीं होता, पर सब मतोंका समान आदर करनेमें बाधक होता है, जबकि वास्तवमें साधन करनेवाले, असत्से विमुख होकर सत्के सम्मुख होनेवाले सब आदरणीय होते हैं। स्थूल दृष्टिसे भी देखें तो ज्ञानी दूसरोंके साथ एक नहीं होता, जबकि भक्त सबके साथ एक हो जाता है। कारण कि ज्ञानीमें आरम्भमें अभिमान रहता है और भक्तमें आरम्भसे ही नम्रता, दीनता रहती है। हाँ, अगर भक्तमें अभिमान होगा तो वह भी दूसरोंके साथ एक नहीं हो सकेगा। अभिमानका नाश तभी होगा, जब ज्ञानी नहीं रहेगा, प्रत्युत केवल ज्ञान रहेगा, प्रेमी नहीं रहेगा, प्रत्युत केवल प्रेम रहेगा।

ज्ञानमें अखण्ड आनन्दकी प्राप्ति होती है और भक्तिमें अनन्त आनन्दकी प्राप्ति होती है। अखण्ड आनन्दमें ज्ञानी एकाकी (अकेला) रहता है, इसलिये अखण्ड आनन्दसे उसकी तृप्ति नहीं होती—**'एकाकी न रमते'**। अखण्ड आनन्दसे अरुचि होनेपर उसमें अनन्त आनन्द अर्थात् प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी पिपासा (प्रेम-प्राप्तिकी लालसा) जाग्रत् होती है।

जीवन्मुक्तिका आनन्द भी भोग है। उसके छूटनेपर ही प्रेमकी प्राप्ति होती है। जीवन्मुक्तिका आनन्द छूटनेका आनन्द है और प्रेमका आनन्द मिलनेका आनन्द है। प्रेमीको मुक्ति भी खारी लगती है। भगवान् भी प्रेमके भूखे हैं, ज्ञानके भूखे नहीं। ज्ञानके तो वे स्वरूप ही हैं—**'सच्चित्सुखैकवपुषः'**, ***'चिदानंदमय देह तुम्हारी'*** (मानस, अयोध्या० २। १२७। ३)।

वास्तविक अद्वैत प्रेममें ही है। प्रेममें एक भगवान्के सिवाय अन्यकी सत्ता ही नहीं है। प्रेममें प्रेमी और प्रेमास्पद एक होते हुए भी दो हैं और दो होते हुए भी एक हैं। प्रेमीमें अन्यके भावकी स्फुरणा ही नहीं है। अन्यकी तरफ प्रेमीकी दृष्टि कभी गयी ही नहीं, है ही नहीं, जायगी ही नहीं, जा सकती ही नहीं; क्योंकि प्रेममें अन्यका अत्यन्त अभाव है। प्रेमीको सब जगह अपना प्रेमास्पद ही दीखता है—***'जित देखौं तित स्याममयी है'***। इसलिये प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय कहा गया है—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्।

(नारदभक्तिसूत्र ५१। ५२)

जबतक अन्यकी सत्ता है, तबतक वह साधन-प्रेम है, साध्य-प्रेम (परमप्रेम या पराभक्ति) नहीं। इसलिये ज्ञानमें 'अनिर्वचनीय ख्याति' है और प्रेममें 'अनिर्वचनीय स्वरूप' है। तात्पर्य है कि ज्ञानमें अन्यका निषेध है और प्रेममें अन्यका अत्यन्त अभाव है। कारण कि प्रेममें समग्र परमात्माकी प्राप्ति है। इसलिये प्रेमीका किसीसे भी वैर-विरोध नहीं होता। प्रेमीकी दृष्टिमें सभी समग्रका अंग होनेसे अपने प्रभु ही हैं, फिर कौन वैर करेगा, किससे करेगा और क्यों करेगा—***'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'***?

उदाहरणके लिये, कोई रामका, कोई कृष्णका, कोई शिवका प्रेमी है तो वे सब परस्पर एक हो सकते हैं, पर सब ज्ञानी परस्पर एक नहीं हो सकते। अगर प्रेमी और ज्ञानी परस्पर मिलें तो प्रेमी ज्ञानीका जितना आदर करेगा, उतना ज्ञानी प्रेमीका नहीं कर सकेगा। इसलिये भक्तोंका लक्षण बताया है—***'सबहि मानप्रद आपु अमानी'*** (मानस, उत्तर० ३८। २)। रामायणके आरम्भमें गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज सज्जनोंके साथ-साथ दुष्टोंकी भी वन्दना करते हैं और सच्चे भावसे करते हैं—***'बहुरि बंदि खल गन सतिभाएँ'*** (मानस, बाल० ४। १)। ऐसा भक्त ही कर सकता है, ज्ञानी नहीं! यद्यपि ज्ञानीका किसीसे कभी किंचिन्मात्र भी वैर नहीं होता, तथापि उसमें उदासीनता, तटस्थता रहती है। विवेक-मार्ग (ज्ञान)में वैराग्यकी मुख्यता रहती है और वैराग्य रूखा होता है। इसलिये ज्ञानीमें भीतरसे कठोरता न होनेपर भी वैराग्य, उदासीनताके कारण बाहरसे कठोरता प्रतीत होती है।

गीतामें कर्मयोगीके लक्षण भी आये हैं (२।५५—७२, ६।७—९), ज्ञानीके लक्षण भी आये हैं (१४।२२—२५) और भक्तके लक्षण भी आये हैं (१२।१३—१९); परन्तु केवल भक्तके लक्षणोंमें ही भगवान्‌ने कहा है—

'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।' (१२।१३)

'भक्त सब प्राणियोंमें द्वेष-भावसे रहित, सबका मित्र (प्रेमी) और दयालु होता है।'

—यह लक्षण (**मैत्रः करुणः**) न कर्मयोगीके लक्षणोंमें आया है, न ज्ञानीके लक्षणोंमें, प्रत्युत केवल भक्तके लक्षणोंमें आया है।

भक्तमें ज्ञान और वैराग्य स्वतः आते हैं, लाने नहीं पड़ते*। कारण कि ज्ञान और वैराग्य भक्तिके बेटे हैं और जहाँ माँ जायगी, वहाँ बेटे जायँगे ही! इसमें एक मार्मिक बात है कि भक्तमें जो ज्ञान और वैराग्य आते हैं, वे ज्ञानीमें आनेवाले ज्ञान और वैराग्यसे भी विलक्षण होते हैं। जैसे, ज्ञान-मार्गमें तो निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान होता है, पर भक्तिमार्गमें समग्रका ज्ञान होता है; क्योंकि भगवान् स्वयं भक्तको ज्ञान देते हैं†। इसी तरह ज्ञानमार्गमें वैराग्य होता है तो वस्तुके रहते हुए उसमें राग मिट जाता है, पर भक्तिमार्गमें वैराग्य होता है तो वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ता ही मिट जाती है और वह भगवत्स्वरूप हो जाती है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७।१९), **'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९।१९)। कारण कि अधिभूत अर्थात् सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक जगत् भी समग्र परमात्माका ही एक अंग है—**'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः'** (गीता ७।३०)।

═══ ★ ═══

* भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः। प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥
इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः। भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥
(श्रीमद्भा॰ ११।२।४२-४३)

जैसे भोजन करनेवालेको प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि, पुष्टि और क्षुधा-निवृत्ति—ये तीनों एक साथ होते जाते हैं, वैसे ही जो मनुष्य भगवान्‌की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है, उसे भजनके प्रत्येक क्षणमें भगवान्‌के प्रति प्रेम, अपने प्रेमास्पद प्रभुके स्वरूपका अनुभव और प्रभुके सिवाय अन्य सब वस्तुओंसे वैराग्य—इन तीनोंकी एक साथ ही प्राप्ति होती जाती है। राजन्! इस प्रकार जो प्रतिक्षण एक-एक वृत्तिके द्वारा भगवान्‌के चरण-कमलोंका ही भजन करता है, उसे भक्ति, वैराग्य और भगवत्प्रबोध—ये तीनों अवश्य ही प्राप्त हो जाते हैं और वह भागवत हो जाता है तथा परमशान्तिका साक्षात् अनुभव करने लगता है।'

† तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता १०।१०-११)

'उन नित्य-निरन्तर मेरेमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे उनको मेरी प्राप्ति हो जाती है। उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके स्वरूपमें रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपकके द्वारा सर्वथा नष्ट कर देता हूँ।'

प्रार्थना

(१)

हे नाथ ! अब तो आपको हमारेपर कृपा करनी ही पड़ेगी। हम भले-बुरे कैसे ही हों, आपके ही बालक हैं। आपको छोड़कर हम कहाँ जायँ ? किससे बोलें ? हमारी कौन सुने ? संसार तो सफा जंगल है। उससे कहना अरण्यरोदन (जंगलमें रोना) है। आपके सिवाय कोई सुननेवाला नहीं है। महाराज ! हम किससे कहें ? हमारेपर किसको दया आती है ? अच्छे-अच्छे लक्षण हों तो दूसरा भी कोई सुन ले। हमारे-जैसे दोषी, अवगुणीकी बात कौन सुने ? कौन अपने पास रखे ? हे गोविन्द-गोपाल ! यह तो आप ही हैं, जो गायों और बैलोंको भी अपने पास रखते हैं, चारा देते हैं। हम तो बस, बैलकी तरह ही हैं ! बिल्कुल जंगली आदमी हैं ! आप ही हमें निभाओगे। और कौन है, किसकी हिम्मत है कि हमें अपना ले ? ऐसी शक्ति भी किसमें है ? हम किसीको क्या निहाल करेंगे ? हमें अपनाकर भी कोई क्या करेगा ? हमें रोटी दे, कपड़ा दे, मकान दे, खर्चा करे, और हमारेसे क्या मतलब सिद्ध होगा ? ऐसे निकम्मे आदमीको कौन सँभाले ? कोई गुण-लक्षण हों तो सँभाले। यह तो आप दया करते हैं, तभी काम चलता है, नहीं तो कौन परवाह करता है ?

हे प्रभो ! थोड़ी-सी योग्यता आते ही हमें अभिमान हो जाता है ! योग्यता तो थोड़ी होती है, पर मान लेते हैं कि हम तो बहुत बड़े हो गये, बड़े योग्य बन गये, बड़े भक्त बन गये, बड़े वक्ता बन गये, बड़े चतुर बन गये, बड़े होशियार बन गये, बड़े विद्वान् बन गये, बड़े त्यागी, विरक्त बन गये !

भीतरमें यह अभिमान भरा है नाथ ! आपकी ऐसी बात सुनी है कि आप अभिमानसे द्वेष करते हो और दैन्यसे प्रेम करते हो* । अगर आपको अभिमान सुहाता नहीं है तो फिर उसको मिटा दो, दूर कर दो। बालक कीचड़से सना हुआ हो और गोदीमें जाना चाहता हो तो माँ ही उसको धोयेगी और कौन धोयेगा ? क्या बालक खुद स्नान करके आयेगा, तब माँ उसको गोदीमें लेगी ? आपको हमारी अशुद्धि नहीं सुहाती तो फिर कौन साफ करेगा ? आपको ही साफ करना पड़ेगा महाराज !

हे नाथ ! हमारे सब कुछ आप ही हो। आपके सिवाय और कौन है, जो हमारे-जैसेको गले लगाये ? इसलिये हे प्रभो ! अपना जानकर हमारेपर कृपा करो। एक मारवाड़ी कहावत है—*'गैलो गूँगो बावलो, तो भी चाकर रावलो।'* हम कैसे ही हैं, आपके ही हैं। आप अपनी दयासे ही हमें सँभालो, हमारे लक्षणोंसे नहीं। जिन भरतजीकी रामजीसे भी ज्यादा महिमा कही गयी है, वे भी कहते हैं—

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(मानस, उत्तर० १।३)

आपके ऐसे मृदुल स्वभावको सुनकर ही आपके सामने आनेकी हिम्मत होती है। अगर अपनी तरफ देखें तो आपके सामने आनेकी हिम्मत ही नहीं होती। आपने वृत्रासुर, प्रह्लाद, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ आदिका भी उद्धार कर दिया, यह देखकर हमारी हिम्मत होती है कि आप हमारा भी उद्धार करेंगे†। जैसे अत्यन्त लोभी आदमी कूड़े-कचड़ेमें पड़े पैसेको भी उठा लेता है, ऐसे ही आप भी कूड़े-कचड़ेमें पड़े हम-जैसोंको उठा लेते हो। थोड़ी बातसे ही आप रीझ जाते हो—*'तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरें'* (मानस, बाल० ३४२।२)। कारण कि आपका स्वभाव है—

रहत न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

(मानस, बाल० २९।३)

अगर आपका ऐसा स्वभाव न हो तो हम आपके नजदीक भी न आ सकें; नजदीक आनेकी हिम्मत भी न हो सके ! आप हमारे अवगुणोंकी तरफ देखते ही नहीं। थोड़ा भी गुण हो तो आप उस तरफ देखते हो। वह थोड़ा भी आपकी दृष्टिसे है। हे नाथ ! हम विचार करें तो हमारेमें राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, अभिमान आदि कितने ही दोष भरे पड़े हैं ! हमारेसे आप ज्यादा जानते हो, पर जानते हुए भी आप उनको मानते नहीं—*'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ'*, इसीसे हमारा काम चलता है प्रभो ! कहीं आप देखने लग जाओ कि यह कैसा है, तो महाराज ! पोल-ही-पोल निकलेगी !

हे नाथ ! बिना आपके कौन सुननेवाला है ? कोई जाननेवाला भी नहीं है ! हनुमान्‌जी विभीषणसे कहते हैं कि मैं चंचल वानरकुलमें पैदा हुआ हूँ। प्रातःकाल जो हमलोगोंका नाम भी ले ले तो उस दिन उसको भोजन न मिले ! ऐसा अधम होनेपर भी भगवान्‌ने मेरेपर कृपा की‡, फिर तुम तो पवित्र ब्राह्मणकुलमें पैदा हुए हो ! कानोंसे ऐसी महिमा सुनकर ही विभीषण आपकी शरणमें आये और बोले—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

(मानस, सुन्दर० ४५)

जो आपकी शरणमें आ जाता है, उसकी आप रक्षा करते हो, उसको सुख देते हो, यह आपका स्वभाव है—

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर, राम सरिस कोउ नाहीं॥

(विनयपत्रिका १६२)

यहि दरबार दीन को आदर, रीति सदा चलि आई।

(विनयपत्रिका १६५।५)

हरेक दरबारमें दीनका आदर नहीं होता। जबतक हमारे पास कुछ धन-सम्पत्ति है, कुछ गुण है, कुछ योग्यता है तभीतक दुनिया हमारा आदर करती है। दुनियाँ तो हमारे गुणोंका आदर करती है, हमारा खुदका (स्वरूपका) नहीं। परन्तु आप हमारा खुदका आदर करते हो, हमें अपना अंश मानते हो—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७),

---

* ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च। (नारदभक्तिसूत्र २७)

† सठ सेवक की प्रीति रुचि रखिहहिं राम कृपालु। उपल किए जलजान जेहिं सचिव सुमति कपि भालु॥
प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किए आपु समान। तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान॥

(मानस, बाल० २८-२९)

‡ कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर। कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥ (मानस, सुन्दर० ७)

'सब मम प्रिय सब मम उपजाए' (मानस, उत्तर० ८६।२)। हमें अपना अंश मानते ही नहीं, स्पष्टतया जानते हो और अपना जानकर कृपा करते हो। हमारे अवगुणोंकी तरफ आप देखते ही नहीं। बच्चा कैसा ही हो, कुछ भी करे, पर 'अपना है'—यह जानकर माँ कृपा करती है, नहीं तो मुफ्तमें कौन आफत मोल ले महाराज?

हे नाथ! जो कुछ भी हमें मिलता है, आपकी कृपासे ही मिलता है। परन्तु उसको हम अपना मान लेते हैं कि यह तो हमारा ही है। यह आपकी खास उदारता और हमारी खास भूल है! महाराज! आपकी देनेकी रीति बड़ी विलक्षण है! सब कुछ देकर भी आपको याद नहीं रहता कि मैंने कितना दिया है? आपके अन्तःकरणमें हमारे अवगुणोंकी छाप ही नहीं पड़ती। आपका अन्तःकरणरूपी कैमरा कैसा है, इसको आप ही जानते हो! उसमें अवगुण तो छपते ही नहीं, गुण-ही-गुण छपते हैं। ऐसा आपका स्वभाव है! सिवाय आपमें अपनेपनके और हमारे पास क्या है महाराज! आप हमें अपना जानते हैं, मानते हैं, स्वीकार करते हैं तभी काम चलता है नाथ! नहीं तो बड़ी मुश्किल हो जाती! हम जी भी नहीं सकते थे! केवल आपकी कृपाका ही आसरा है, तभी जीते हैं—

आप कृपा को आसरो, आप कृपा को जोर।
आप बिना दीखे नहीं, तीन लोक में और॥

कृपा करके भी आपकी कृपा कभी तृप्त नहीं होती—*'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती'* (मानस, बाल० २८।२)! ऐसी कृपाके कारण ही आप कृपा कर रहे हो! आप हमारे भीतरकी सब बातें पूर्णतया जानते हो, पर जानते हुए भी उधर दृष्टि नहीं डालते और ऐसा बर्ताव करते हो कि मानो आपको पता ही नहीं, आप जानते ही नहीं! आपकी कृपा ही आपको मोहित कर देती है। आप अपने ही गुणोंसे मोहित हो जाते हो। आप अपना किया हुआ उपकार ही भूल जाते हो। अपनी दी हुई वस्तुको भी भूल जाते हो। देते तो आप हो, पर हम मान लेते हैं कि यह तो हमारी ही है! ऐसे कृतघ्न, गुणचोर हैं हम तो महाराज! पूत कपूत हो चाहे सपूत हो, पूत तो है ही। पूत कभी अपूत नहीं हो सकता। आपने गीतामें कहा है कि जीव सदासे मेरा ही अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'**। अतः अपना पूत जानकर कृपा करो।

हे प्रभो! हम आपके क्या काम आ सकते हैं? क्या आपका कोई काम अड़ा हुआ है, जो हमारेसे निकलता हो? क्या हमारी योग्यता आपके कोई काम आ सकती है? यह तो केवल हमारा अभिमान बढ़ानेमें काम आती है। आपकी दी हुई चीजको हम अपनी मान लेते हैं और अपनी मान करके अभिमान कर लेते हैं—ऐसे कृतघ्न हैं हम! फिर भी आप आँखें मीच लेते हो। आप उधर खयाल ही नहीं करते। आपके ऐसे स्वभावसे ही तो हम जी रहे हैं!

हे नाथ! हम आपसे क्या कहें? हमारे पास कहनेलायक कोई शब्द नहीं है, कोई योग्यता नहीं है। आप जंगलमें रहनेवाले किरातोंके वचन भी ऐसे सुनते हो, जैसे पिता अपने बालककी तोतली वाणी सुनता है—

बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन।
बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥

(मानस, अयोध्या० १३६)

इसी तरह हे नाथ! हमें कुछ कहना आता नहीं। हम तो बस, इतना ही जानते हैं कि जिसका कोई नहीं होता, उसके आप होते हो—

बोल न जाणूं कोय अल्प बुद्धि मन वेग तें।
नहिं जाके हरि होय या तो मैं जाणूं सदा॥

(करुणासागर ७४)

(२)

हे नाथ! हमें आपके चरित्र अच्छे लगें, आपकी लीला अच्छी लगे, आपका रूप अच्छा लगे, आपका धाम अच्छा लगे, आपके गुण अच्छे लगें, आपकी महिमा अच्छी लगे, तो यह आपकी कृपा ही है, हमारा कोई बल नहीं है। आज जो हम आपका नाम ले रहे हैं, आपकी चर्चा सुन रहे हैं, आपमें लगे हुए हैं, यह केवल आपकी ही कृपा है। यह न तो हमारा उद्योग है और न हमारे कर्मोंका फल ही है। किसीकी ऐसी योग्यता, सामर्थ्य नहीं है कि आपकी कृपाके बिना आपकी तरफ आ सके। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर-जैसे कितने-कितने अवगुण भरे हुए हैं और कैसा वायुमण्डल है! कैसा कलियुगका समय है! ऐसे समयमें आपकी तरफ वृत्ति होती है तो यह केवल आपकी कृपा है। आपकी कृपाके बिना जीव अपने बलसे आपकी तरफ आ सकता ही नहीं! सन्तोंका संग भी आप ही देते हो। प्रेरणा भी आपकी होती है। आप ही ऐसा वायुमण्डल बना देते हो, जिससे आपकी तरफ आनेके लिये हम बाध्य, विवश हो जाते हैं! मानमें, बड़ाईमें, आदरमें, प्रशंसामें, रुपयोंमें, भोगोंमें, संग्रहमें, सुखमें, आराममें हमारा मन स्वतः जाता है—यह तो है हमारी दशा! और इसपर भी जो सत्संग मिलता है, आपकी चर्चा मिलती है, आपकी कथा मिलती है तो यह आपकी ही कृपा है महाराज! संसारका चिन्तन तो अपने-आप होता है; क्योंकि ऐसा स्वभाव पड़ा हुआ है, पर आपकी चर्चा, आपका चिन्तन आपकी कृपासे ही होता है। आपने ही

सद्बुद्धि दी है। हमारी दशा तो बेदशा है, पर आप हमारी दशाकी तरफ देखते ही नहीं हो, हमारे अवगुणोंकी तरफ देखते ही नहीं हो। आपका ऐसा स्वभाव ही है* । आपकी अपनी कृपासे ही आप मोहित हो जाते हो ! अपनी ही कृपाके वशीभूत होकर आप हम-जैसोंको भी अपनी तरफ खींचते हो ! उस कृपासे ही हम आपकी ओर आते हैं, अपनी शक्तिसे, भक्तिसे नहीं !

हे नाथ ! भक्ति भी आप देते हो, तब होती है। अपनी जबर्दस्तीसे भक्ति लेनेकी ताकत किसीमें नहीं है। इतना ही नहीं, संसारके पदार्थ लेनेकी और भोगनेकी इच्छा होनेपर भी हम ले नहीं सकते, भोग नहीं सकते। जब नाशवान् संसारमें भी हमारा वश नहीं चलता, तो फिर आपकी अविनाशी भक्ति, अविनाशी गुण हमारे बलसे कैसे मिल सकते हैं ? हम जिस धन, मान, बड़ाई, आराम आदिके लिये उद्योग करते हैं और झूठ, कपट, बेईमानी आदिको दोष जानते हुए भी स्वीकार करते हैं, उस धन आदिको भी प्राप्त नहीं कर सकते ! फिर हम आपकी तरफ चलें—यह क्या हमारी शक्ति है ? हम विनाशीको भी नहीं पकड़ सकते, फिर अविनाशीको कैसे पकड़ सकते हैं ? उसको पकड़ सकते ही नहीं। हमारी क्या ताकत है प्रभो ! यह तो आपने ही कृपा की है, जिससे हम आपकी चर्चा सुनते हैं, आपके चरित्र सुनते हैं, आपके गुणोंका वर्णन सुनते हैं, आपका नाम सुनते हैं, आपके विग्रहका दर्शन करते हैं। आप ही कृपा करके ऐसा संयोग बैठाते हो। आप ही ऐसी परिस्थिति पैदा कर देते हो, जिससे हम और कहीं जा नहीं सकते ! यह सब आप ही करते हो और आपको करना ही पड़ेगा; क्योंकि हम आपके हैं। अच्छे हैं तो आपके हैं, बुरे हैं तो आपके हैं—*'जो हम भले बुरे तौ तेरे' !* हम आपके पाले पड़ गये ! आप भी क्या कर सकते हो ? आपमें खींचनेकी ताकत तो है, पर दूर करनेकी ताकत है ही नहीं ! आपका स्वभाव ही ऐसा है !

हे नाथ ! आप कितनी-कितनी विलक्षण कृपा करते हो कि हम पहचान ही नहीं सकते। आपका दिया हुआ ही आपको मोहित कर रहा है ! आपके दिये हुए गुणोंसे ही आप मोहित हो जाते हो ! हमारे अवगुणोंकी तरफ, हमारी स्थितिकी तरफ, हमारे विकारोंकी तरफ, हमारे विचारोंकी तरफ आपकी दृष्टि जाती ही नहीं। यह आपका स्वभाव है, हमारा गुण नहीं, इस स्वभावके परवश होकर ही आप हमारेको अपनी तरफ खींचते हो। हम आपकी इस कृपाको किञ्चित् भी कह नहीं सकते, जान नहीं सकते, पहचान नहीं सकते ! हमारी क्या ताकत है ? हमारा तो कहना ही क्या है, जो मुक्त हो गये हैं, उन तत्त्वज्ञ महापुरुषोंको भी आप अपनी तरफ खींचते रहते हो †, उनको भी निजानन्दमें टिकने नहीं देते हो ! उनको अपना परम प्रेम प्रदान करनेके लिये आप लालायित हो जाते हो और इसके लिये उनके जीवन्मुक्तिके आनन्दको भी फीका, किरकिरा कर देते हो। जब जीवन्मुक्त महापुरुषोंकी भी ऐसी बात है, फिर हम अपनी कहाँतक कहें ? हमारी बुद्धि, विचारशक्ति वहाँतक पहुँचती ही नहीं !

हे प्रभो ! हम सांसारिक मायामोहमें फँसे हुए हैं। उसमें ही बने रहना चाहते हैं। उसमें ही सुख मानते हैं, आराम मानते हैं। हम उसमें ही अपना हित मानते हैं, जो कि हमारे अहितका खास कारण है। बुराईको हम भलाईसे भी विशेष आदर देते हैं। हम जानकर उद्योगपूर्वक छिप-छिपकर पाप करते हैं। पाप, अन्यायजनित सुख मिलनेमें अपना सौभाग्य, लाभ, बुद्धिमत्ता, चतुराई मानते हैं। पापजन्य रुपये-पैसे, सुख-आराम मिलनेपर खुशी मनाते हैं कि हम निहाल हो गये ! मौज हो गयी ! इनके दोषोंकी तरफ हमारी दोषदृष्टि जाती ही नहीं, जिससे हम फँस जाते हैं, चौरासी लाख योनियोंमें जाते हैं, नरकोंमें जाते हैं, दुःख भोगते हैं, कराहते हैं, चिल्लाते हैं, पुकारते हैं। फिर भी उधर ही जानेका मन करता है ! क्या करें नाथ ! आप ही हमें अपनी तरफ खींच लें।

हे नाथ ! आपकी कृपाकी तरफ हमारी दृष्टि जाती है तो वह भी आपकी कृपासे ही जाती है। पर हम इसको भी नहीं पहचानते ! आसक्ति, कामना, मोह, मूढ़ता, घमण्ड, ईर्ष्या आदि बड़े-बड़े दोषोंके जालमें हम फँसे हुए हैं, जो कि पतन करनेवाली, दुःख देनेवाली आसुरी-सम्पत्ति है। हमारी तो यह दशा है ! परन्तु आप हमारे स्वभाव, कृति आदिको न देखकर हमें अपनी तरफ खींचते हो, यह आपकी कृपा है, आपका स्वभाव है। हम तो इसको भी नहीं पहचानते। हाँ, कभी-कभी मनमें लहर आ जाती है, आपकी कृपाकी तरफ हमारी दृष्टि चली जाती है तो यह भी आपकी कृपासे होता है। आप कृपादृष्टिसे थोड़ा-सा देखते हो, उसीसे यह बात पैदा होती है।

---

* उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥ (मानस, सुन्दर० ३४। २)

† आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥ (श्रीमद्भा० १। ७। १०)

'ज्ञानके द्वारा जिनकी चिज्जडग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌की निष्काम भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि वे जीवोंको अपनी तरफ खींच लेते हैं।'

नहीं तो हमारेमें वैसी कोई योग्यता नहीं, कोई सामर्थ्य नहीं, इस तरफ हमारी कोई रुचि नहीं। हमारी रुचि तो संसारके भोगोंकी है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि—सब प्रकृतिके हैं, पर इनके वशमें होकर हम विषयोंका सेवन करते हैं, इनकी हाँ-में-हाँ मिलाते हैं। हमारी दशा तो यह है ! आप ही कृपा करते हो तो हमारी दृष्टि आपकी कृपाकी तरफ जाती है। ऐसे युगमें, ऐसे वायुमण्डलमें, ऐसे समुदायमें, ऐसी प्रवृत्तिमें हम रहते हैं, फिर भी आपकी तरफ खिंचाव होता है तो यह केवल आपकी कृपासे ही होता है। आपकी तरफ हमारी जो रुचि होती है, वह भी आपकी दी हुई है प्रभो ! हमारे पास क्या है ? केवल आपकी कृपा है। उस कृपाके ही भरोसे हम आपकी तरफ चलते हैं। हमारेमें कोई योग्यता नहीं, कोई सामर्थ्य नहीं, कोई विवेक-विचार नहीं ! आपके ही दिये हुए विवेकको हम अपना मान लेते हैं और अभिमान कर लेते हैं कि हम ऐसे समझदार हैं ! हमारी बेसमझीकी, मूर्खताकी हद हो गयी महाराज ! परन्तु आपका इस तरफ खयाल ही नहीं है—*'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ'* !

दूसरे आदमी तो बेचारे भ्रममें रह जायँ; क्योंकि वे हमारेको जानते नहीं हैं। परन्तु आप तो हमारे रग-रगकी बात जानते हो। आप हमारे मनकी स्फुरणाको भी जानते हो, पहले किये हुए हमारे कर्मोंको भी जानते हो, हमारी वर्तमान दशाको भी जानते हो, हमारे बुरे स्वभावको, पुरानी आदतको भी जानते हो; परन्तु आप उस तरफ देखते ही नहीं ! उलटे आप हमें अपनी तरफ खींचते हो; क्योंकि यह आपका स्वभाव है। इस स्वभावसे ही आप जीवको अपनी विशेष कृपासे चौरासी लाख योनियाँ, नरक, दुःख, हानि, रोग, शोक, भय, उद्वेग, सन्ताप आदि देते हो, जिससे इसको चेत हो जाय। जैसे सोते हुए आदमीको उठाना हो तो सुई चुभानेसे उसको चेत हो जाता है, ऐसे ही हमें चेतानेके लिये, अपनी ओर खींचनेके लिये आप प्रतिकूल परिस्थिति भेजते हो। आप किसी भी अवस्था, परिस्थितिमें हमें टिकने नहीं देते—यह आपका निरन्तर आह्वान है, अपनी तरफ बुलाना है। आपने अपनी कृपासे संसारकी रचना ही ऐसी की है कि कोई भी अवस्था, परिस्थिति आदि निरन्तर हमारे साथ नहीं रहती। संसारका निरन्तर हमारेसे वियोग होता रहता है।

हे प्रभो ! आप हमें चेत करानेमें कमी नहीं करते, हमें बार-बार चेताते हो, फिर भी हम चेत नहीं करते, उलटे अपने बल और बुद्धिमानीसे पुनः उन्हीं दोषोंकी तरफ जाते हैं ! उन दोषोंके फलस्वरूप मिली प्रतिकूल परिस्थितिसे बचनेके लिये हम पुनः वही दोष करते हैं—यह तो हमारी दशा है ! फिर भी हमें चेत करानेमें आप उकताते नहीं—यह आपकी कृपा है ! हमारी तो कभी कोई इच्छा हो जाती है, कभी कोई चाहना हो जाती है, कभी कोई मार्ग पकड़ लेते हैं, कभी किसीका संग कर लेते हैं, कभी किसीकी बात ठीक मान लेते हैं—ऐसे हम भ्रममें पड़ जाते हैं, फिर भी आप हमें निकाल लेते हो। आपकी कृपा बड़ी विलक्षण है !

हे नाथ ! आपके भीतर जीवोंका कल्याण करनेकी चाह है, उसको हम समझ ही नहीं पाते। माँकी कृपाको बालक क्या समझे ? बालक तो बेसमझ होता है। माँ तो उसको नहलाकर साफ करती है, पर वह रोता है। यही दशा हमारी है महाराज ! इसलिये हे नाथ ! कृपा करो। कृपा कर ही रहे हो। क्या हमारे कहनेसे कृपा करोगे ? आपका तो स्वभाव ही कृपा करनेका है। फिर भी हम आपसे बार-बार कहते हैं कि कृपा करो, तो इस बातको भी आप सह लेते हो ! यह आपकी कितनी सहिष्णुता है, धैर्य है ! आप अपनी तरफसे स्वतः-स्वाभाविक कृपा करते हो और उसीसे जीवोंका उद्धार होता है। जीवोंको कुछ चेत होता है, होश आता है तो आपकी कृपासे ही आता है। वे निषिद्ध आचरण करते हैं तो आप ही उनको नरकोंमें भेजकर शुद्ध करते हो। आपने गीतामें कहा है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६। २०)

'हे कुन्तीनन्दन ! वे मूढ़ मनुष्य मेरेको प्राप्त न करके ही जन्म-जन्मान्तरमें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अधिक अधम गतिमें अर्थात् भयंकर नरकोंमें चले जाते हैं।'

आपने कितनी विलक्षण बात कही है कि मूढ़ मनुष्य मेरेको प्राप्त न करके आसुरी योनियोंमें चले जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आप सब मनुष्योंको अपनी प्राप्ति कराना चाहते हो ! इसीलिये आप उनको ऐसा विवेक, अवसर, संग देते हो, जिससे वे आपकी प्राप्ति कर सकें। परन्तु हम आपके दिये हुए विवेकका दुरुपयोग करके पतनकी तरफ जा रहे हैं और उसमें अपनी बुद्धिमानी मान रहे हैं ! हे नाथ ! पतितोंका उद्धार करना आपका सहज स्वभाव है। आपके इस स्वभावको देखकर हमारे मनमें विशेष उत्साह होता है कि हम पतित हैं और आप पतितपावन हैं, फिर हमारा उद्धार होनेमें क्या सन्देह है ?

मैं हरि पतित-पावन सुने।
मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ बानक बने॥

(विनयपत्रिका १६०)

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

सर्वोपयोगी

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

सर्वोपयोगी

समयका मूल्य और सदुपयोग

श्रीपरमात्माकी इस विचित्र सृष्टिमें मनुष्य-शरीर एक अमूल्य एवं विलक्षण वस्तु है। यह उन्नति करनेका एक सर्वोत्तम साधन है। इसको प्राप्त करके सर्वोत्तम सिद्धिके लिये सदा सतत चेष्टा करनी चाहिये। इसके लिये सर्वप्रथम आवश्यकता है—ध्येयके निश्चय करनेकी। जबतक मनुष्य जीवनका कोई ध्येय—उद्देश्य ही नहीं बनाता, तबतक वह वास्तवमें मनुष्य कहलाने योग्य ही नहीं; क्योंकि उद्देश्यविहीन जीवन पशु-जीवनसे भी निकृष्ट है, किंतु जैसे मनुष्य-शरीर सर्वोत्तम है, वैसे इसका उद्देश्य भी सर्वोत्तम ही होना चाहिये। सर्वोत्तम वस्तु है, परमात्मा। इसलिये मानव-जीवनका सर्वोत्तम ध्येय है—परमात्माकी प्राप्ति, जिसके लिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

इस परमात्माकी प्राप्तिके लिये सबसे पहला और प्रधान साधन है—'जीवनके समयका सदुपयोग।' समय बहुत ही अमूल्य वस्तु है। जगत्के लोगोंने पैसोंको तो बड़ी वस्तु समझा है, किन्तु समयको बहुत ही कम मनुष्योंने मूल्य दिया है; पर वस्तुतः विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि समय बहुत ही मूल्यवान् वस्तु है। विचार कीजिये—अपना समय देकर हम पैसे प्राप्त कर सकते हैं, पर पैसे देकर समय नहीं खरीद सकते। अन्तकालमें जब आयु शेष हो जाती है, तब लाखों रुपये देनेपर भी एक घंटे समयकी कौन कहे एक मिनट भी नहीं मिल सकता। समयसे विद्या प्राप्त की जा सकती है, पर विद्यासे समय नहीं मिलता। समय पाकर एक मनुष्यसे कई मनुष्य बन जाते हैं, अर्थात् बहुत बड़ा परिवार बढ़ सकता है; पर समस्त परिवार मिलकर भी मनुष्यकी आयु नहीं बढ़ा सकता। समय खर्च करनेसे संसारमें बड़ी भारी प्रसिद्धि हो जाती है, पर उस प्रसिद्धिसे जीवन नहीं बढ़ सकता। समय लगाकर हम जमीन-जायदाद, हाथी-घोड़े, धन-मकान आदि अनेक चल-अचल सामग्री एकत्र कर सकते हैं, पर उन सम्पूर्ण सामग्रियोंसे भी आयु-वृद्धि नहीं हो सकती। यहाँ एक बात और ध्यान देनेकी है कि रुपये, विद्या, परिवार, प्रसिद्धि, अनेक सामग्री आदिके रहते हुए भी जीवनका समय न रहनेसे मनुष्य मर जाता है, किंतु उम्र रहनेपर तो सर्वस्व नष्ट हो जानेपर भी मनुष्य जीवित रह सकता है। इसलिये जीवनके आधारभूत इस समयको बड़ी ही सावधानीके साथ सदुपयोगमें लाना चाहिये, नहीं तो यह बात-ही-बातमें बीत जायगा, क्योंकि यह तो प्रतिक्षण बड़ी तेजीके साथ नष्ट हुआ जा रहा है। रुपये आदि तो जब हम खर्च करते हैं तभी खर्च होते हैं, नहीं तो तिजोरीमें पड़े रहते हैं, पर समय तो अपने-आप ही खर्च होता चला जा रहा है, उसका खर्च होना कभी बंद होता ही नहीं। अन्य वस्तुएँ तो नष्ट होनेपर भी पुनः उत्पन्न की जा सकती हैं, पर गया हुआ समय किसी प्रकार भी लौटाया नहीं जा सकता। अतः हमें उचित है कि बचे हुए समयके एक क्षणको भी निरर्थक नष्ट न होने देकर अति-कृपणके धनकी तरह उसकी कीमत समझकर उसे ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगायें। प्रथम श्रेणीका सर्वोत्कृष्ट काम है—पारमार्थिक पूँजीका संग्रह। दूसरी श्रेणीका काम है—सांसारिक निर्वाहके लिये न्यायपूर्वक द्रव्योपार्जन। इनमेंसे दूसरी श्रेणीके काममें लगाया हुआ समय भी भावके सर्वथा निष्काम होनेपर पहली श्रेणीमें ही गिना जा सकता है।

इसके लिये हमें समयका विभाग कर लेना चाहिये, जैसे कि भगवान्‌ने कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(गीता ६।१७)

'दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।'

इस श्लोकमें अवश्य करनेकी चार बातें बतलायी गयी

हैं—१. युक्ताहारविहार, २. शरीर-निर्वाहार्थ उचित चेष्टा, ३. यथायोग्य सोना और ४. यथायोग्य जागना। पहले विभागमें शरीरको सशक्त और स्वस्थ रखनेके लिये शौच, स्नान, घूमना, व्यायाम, खान-पान, औषध-सेवन आदि चेष्टाएँ सम्मिलित हैं। दूसरा विभाग है—जीविका पैदा करनेके लिये; जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदिके लिये अपने-अपने वर्ण-धर्मके अनुसार न्याययुक्त कर्तव्यकर्मोंका पालन करना बतलाया गया है। तीसरा विभाग है—शयन करनेके लिये, इसमें कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। अब चौथा प्रमुख विभाग है—जागनेका। इस श्लोकमें 'अवबोध'का अर्थ तो रात्रिमें छः घंटे सोकर अन्य समयमें जगते रहना और उनमें प्रातः-सायं दिनभरमें छः घंटे साधन करना है। परंतु 'अवबोध' से यहाँ वस्तुतः मोहनिद्रासे जगकर परमात्माकी प्राप्ति करनेकी बातको ही प्रधान समझना चाहिये। श्रीशंकराचार्यजीने भी कहा है—**'जागर्ति को वा सदसद्विवेकी।'**

अब इसपर विचार कीजिये। हमारे पास समय है चौबीस घंटे और काम है चार। तब समान विभाग करनेसे एक-एक कार्यके लिये छः-छः घंटे मिलते हैं। उपर्युक्त चार कामोंमें आहार-विहार और शयन—ये दो तो खर्चके काम हैं और व्यापार तथा अवबोध (साधन करना)—ये दो उपार्जनके काम हैं। इस प्रकार खर्च और उपार्जन दोनोंके लिये क्रमशः बारह-बारह घंटे मिलते हैं। इनमें लगानेके लिये हमारे पास पूँजी हैं दो—एक समय और दूसरा द्रव्य; इनमेंसे द्रव्य तो लौकिक पूँजी है और समय अलौकिक पूँजी है। आहार-विहारमें तो द्रव्यका व्यय होता है और शयनमें समयका। इसी प्रकार जीविका और अवबोध (साधन करने) में केवल समयका व्यय होता है; किंतु अलौकिक पूँजीरूप समयका तो चारोंमें ही व्यय होता है। अब हमें सोचना चाहिये कि अलौकिक पूँजीको खर्च करके तो अलौकिक लाभ ही प्राप्त करनेयोग्य है। साधारणतया आहार, विहार और जीविकाके कार्यसे हम लौकिक लाभ ही उठाते हैं तथा शयनमें तो श्रम दूर करनेके सिवा कोई विशेष लाभकी बात दीखती ही नहीं, परंतु ये ही सब कर्म यदि निष्कामभावसे किये जायँ तो सर्वोत्तम अलौकिक लाभ प्रदान कर सकते हैं।

यहाँ एक बात और समझनेकी है कि यदि साधन भी सकाम-भावसे किया जाता है तो वह समय भी लौकिक लाभ ही देनेवाला होता है और निष्कामभावसे करनेपर वही साधन अलौकिक लाभ देनेवाला हो जाता है। अतः हमें सभी काम निष्कामभावसे ही करने चाहिये।

अभिप्राय यह कि हमें अवबोध—मोहनिद्रासे जगकर परमात्माकी ओर ही अपनी सब क्रियाओंका लक्ष्य बना लेना चाहिये। इससे हमको जो अबतक केवल सांसारिक—लौकिक लाभ ही हो रहा था, उसकी जगह अलौकिक लाभ होने लगेगा और इस प्रकार हम लौकिक पूँजीको भी अलौकिक पूँजी बना सकेंगे।

यह बात तो ऊपर कही जा चुकी है कि आहार-विहार और शयन—ये दोनों खर्चके काम हैं, इनमें भी आहार-विहारमें तो द्रव्यका खर्च है और शयनमें जीवनका। इसी प्रकार जीविका और अवबोध—ये दोनों उपार्जनके काम हैं, इनमें आजीविकामें द्रव्यका उपार्जन होता है और अवबोधमें नित्य-जीवन (मोक्ष) का उपार्जन। अतः मनुष्यको चाहिये कि नित्य-जीवनके उपार्जनका समय, जो कि अलौकिक है, द्रव्योपार्जनके साधन—आजीविकाके कार्यमें न लगाये, प्रत्युत उसमें भी निष्कामभाव और भगवत्स्मृतिको सम्मिलित करके उसे नित्य-जीवनके उपार्जनका साधन बना ले। शयनमें जीवनका खर्च और अवबोधमें नित्य-जीवनका उपार्जन होता है। इसलिये जितना सम्भव हो, द्रव्यके खर्चके कारणभूत आहार-विहारमेंसे और जीवनके खर्चके कारणभूत शयनमेंसे समय निकालकर निष्कामभावपूर्वक द्रव्योपार्जनमें तथा नित्य-जीवन—अवबोध (साधन करने) में समय लगाये।

भाव यह है कि शौच-स्नान आदिमें यदि पाँच घंटेसे ही काम चल जाय तो सात घंटे निष्कामभावपूर्वक द्रव्योपार्जनादि कर्मोंमें लगावे और यदि शौच-स्नानादिमें चार घंटेसे ही काम चल जाय तो आठ घंटे निष्कामभावसे द्रव्योपार्जनमें लगावे। इसी तरह सोनेमें यदि पाँच घंटेसे ही काम चल जाय तो सात घंटे भजन-ध्यान, जप, स्वाध्याय-सत्सङ्ग, पूजा-पाठ आदि पारमार्थिक साधनमें लगाने चाहिये और यदि शयनमें चार घंटेसे ही काम निकल जाय तो आठ घंटे भजन-ध्यानादिमें अवश्य लगाने चाहिये। तात्पर्य यह कि आय अधिक और व्यय कम होना चाहिये। अर्थात् हो सके, जितना समय निद्रासे निकालकर तो लगाया जाय भजनमें और खान-पानादिसे समय निकालकर लगाया जाय निष्कामभावपूर्वक आवश्यक काम-काजमें।

क्योंकि काम-काज करते समय भी यदि निष्कामभाव रखकर भगवदाज्ञासे न्यायपूर्वक कर्तव्यपालन किया जाय तो वह समय भी भजनमें ही लगा समझा जा सकता है तथा खान-पानादि भी केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे ही किया जाय तो वह भी एक तरहसे भजन ही है एवं निद्रा भी भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे ली जाय तो वह भी भजनमें ही सम्मिलित हो सकती

है। इनमें भी साथ-साथ भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान तो करते रहना ही चाहिये। इस प्रकार उद्देश्य एक बन जानेपर तो सभी कार्य भगवत्प्राप्ति करानेवाले हो जाते हैं।

जैसे किसी नदीके बहुत बड़े प्रवाहको भी जब नहरें निकालकर अनेक शाखाओंके रूपमें विभाजित कर दिया जाता है, तब वह बहुत बड़ा प्रवाह भी अपने एकमात्र अन्तिम लक्ष्य समुद्रतक नहीं पहुँच पाता और पृथ्वीपर ही इधर-उधर बिखरकर समाप्त हो जाता है; किंतु किसी नदीका एक साधारण प्रवाह भी यदि अपने लक्ष्य समुद्रकी ओर एक ही रूपसे चलता रहता है तो अन्यान्य छोटे-छोटे निर्झर आदिकी अनेक शाखाओंके प्रवाह भी उसीमें आकर सम्मिलित होते रहते हैं और वही बहुत बड़ा प्रवाह बनकर अपने गन्तव्य लक्ष्य समुद्रतक पहुँच जाता है।

इसी प्रकार उद्देश्य अनेक होनेपर अर्थात् कोई निर्धारित लक्ष्य न होनेपर या केवल लौकिक लक्ष्य होनेपर बड़े-बड़े कार्य और परिश्रम भी वास्तविक कार्यकी सिद्धि नहीं कर सकते, किंतु ध्येय एक और केवल पारमार्थिक होनेपर साधारण-से-साधारण क्रियाएँ भी बहुत कुछ कर सकती हैं, अर्थात् उनसे भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि जिसका लक्ष्य भक्त ध्रुवकी तरह ध्रुव यानी अटल है, वही निर्बाधरूपसे और शीघ्र सिद्धि प्राप्त कर सकता है। उसके मार्गमें कोई भी विघ्न-बाधाएँ नहीं आतीं, जो आती हैं, वे भी सहायक ही हो जाती हैं।

संसारके मनुष्योंको तीन भागोंमें बाँटा जा सकता है—द्वेषी, प्रेमी और उदासीन। ध्रुवजीको उनसे द्वेष रखनेवाली माता सुरुचिने भी यही उपदेश दिया कि इस पदको प्राप्त करनेके लिये तुम भगवान् विष्णुकी आराधना करो और उनसे प्रेम करनेवाली माता सुनीतिने भी इसीका समर्थन किया तथा उदासीन श्रीनारदजीने भी अन्तमें श्रीविष्णु-भक्तिका ही उपदेश दिया। कहनेका अभिप्राय यह है कि जिसकी साधना, तपस्याका लक्ष्य ध्रुव है, अटल है, उसके लिये कोई बाधक नहीं; द्वेषी-प्रेमी या उदासीन—सभी विभिन्न प्रकारसे उसके सहायक ही बन जाते हैं।

किन्तु हिरण्यकशिपुकी भाँति जिसका लक्ष्य पारमार्थिक नहीं, उसकी क्रियाएँ बलवती होनेपर भी वास्तविक सिद्धि नहीं दे सकतीं। ब्रह्माजीने स्वयं बतलाया कि हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष-जैसी तपस्या सृष्टिमें अभीतक किसीने नहीं की। हजारों वर्षोंतक ऐसी कठोर तपस्या करनेपर भी उनका लक्ष्य पारमार्थिक न होनेसे वास्तविक सिद्धि नहीं हुई—उनके विरोधी और उदासीन व्यक्तियोंकी तो बात ही क्या, सहायक भी छिन्न-भिन्न हो गये।

अतः मनुष्यको उचित है कि अपना लक्ष्य एक परमात्माको बनाकर सावधानीके साथ तत्परतापूर्वक यथोक्त रीतिसे कर्तव्यकर्म करता रहे। ऐसा करनेपर वह अनायास ही परम ध्येयकी सिद्धि कर सकता है। आवश्यकता है सजग रहनेकी—सावधानीकी। मनुष्यको हर समय जागरूक होकर इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि मन, इन्द्रियों और शरीर आदिकी चेष्टाएँ कहीं संसारको मूल्यवान् समझकर न होने लग जायँ, अर्थात् संसार लक्ष्य न बन जाय; इस प्रकार हर समय एक लक्ष्यसिद्धिकी जागृति बनी रहनी चाहिये।

लक्ष्य स्थिर करके चलनेवालेके लिये निम्नलिखित दो बातोंमेंसे किसी एकको भलीभाँति समझ लेने और निरन्तर स्मरण रखनेकी तो बहुत ही आवश्यकता होती है। दोनों रहें तब तो कहना ही क्या है। एक तो यह कि हमें पहुँचना कहाँ है और दूसरी यह कि उसका मार्ग कौन-सा है। जैसे हमें किसी पहाड़पर एक देवमन्दिरमें जाना है तो पहले उसका दिग्दर्शन हो जाय कि कहाँ जाना है तो फिर हम उस दिशाकी ओर दृष्टि करके चलते रहें। अथवा मन्दिर न दीखनेपर भी हमें केवल रास्ता मिल जाय कि इस रास्तेसे इस प्रकार पहाड़पर स्थित देवमन्दिरमें पहुँचा जा सकता है तो हम केवल रास्तेके आधारपर ही चल सकते हैं।

पहले लक्ष्यके स्वरूपको समझना चाहिये कि परमात्माकी प्राप्ति क्या है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(६।२२)

अर्थात् उसकी प्राप्ति होनेपर उससे बढ़कर अन्य कोई लाभ होता है, ऐसी मान्यता उसके मनमें रह ही नहीं सकती और उसमें स्थित हो जानेपर बड़ा भारी दुःख भी उसे कभी विचलित कर नहीं सकता, यानी कैसा भी कष्ट क्यों न प्राप्त हो, हमारे परम आनन्दमें कभी कमी आ ही नहीं सकती, तो फिर दुःख तो वहाँ रह ही कैसे सकता है? दुःखका तो वहाँ आरम्भ ही नहीं हो सकता; क्योंकि सुखमें कमी आनेसे ही दुःखके आनेकी गुंजाइश रहती है और सुखकी कभी, किंचित् भी कमी वहाँ रहती नहीं। उस स्थितिमें हर समय एकरस समता बनी रहती है; राग-द्वेष, हर्ष-शोक, चिन्ता-भय-उद्वेग आदि भाव अन्तःकरणमें कभी हो ही नहीं सकते। कर्म, क्लेश, विकार, अज्ञान, संशय, भ्रम आदि दुःख और दुःखोंके कारणोंका सदाके लिये विनाश हो जाता है। यह है

वैराग्य

तपसामपि सर्वेषां वैराग्यं परमं तपः।

यज्ञ, दान, योग, तीर्थ, व्रत, स्वाध्याय आदि पुण्य कर्मरूप सभी प्रकारकी तपस्याओंमें वैराग्य परम तप है; क्योंकि अन्यान्य धार्मिक कार्य (तप) सकामभावसे करनेपर उनके द्वारा स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है और निष्कामभावसे करनेपर ही वे परमात्माकी प्राप्तिके साधन बनते हैं, परंतु वैराग्य तो निष्कामभावसे ही होता है। सकामभाव और वैराग्य—दोनों एक जगह रह ही कैसे सकते हैं? अतः पारमार्थिक साधकके लिये एक वैराग्य ही बहुत आवश्यक और परम उपयोगी है। जबतक वैराग्य नहीं, तबतक चाहे जितनी डींगें मारें, उनसे कोई भी आध्यात्मिक कार्य सिद्ध नहीं होता। दूसरी ओर यदि हमें बातें करना नहीं आता; ज्ञानयोग तथा हठयोगकी युक्तियाँ भी हम नहीं जानते; तो भी केवल वैराग्य होनेपर ध्यान आदि साधन सरलतासे स्वयमेव होने लगते हैं, ध्यान आदिकी युक्तियाँ बिना सीखी हुई स्वतः स्फुरित होने लगती हैं। जबतक संसारके पदार्थोंमें राग है और प्रभुमें प्रेम नहीं तबतक वैराग्य नहीं। वैराग्य नाम है सांसारिक पदार्थोंमें आन्तरिक रागके अभावका। बाहरी स्वाँगका नाम वैराग्य नहीं है। वैराग्य भीतरी त्यागके भावका वाचक है।

वैराग्य कई हेतुओंसे होता है—दुःखसे, भयसे, विचारसे, साधनसे और परमात्मतत्त्वके बोधसे। इन सबमें पूर्व-पूर्व वैराग्यकी अपेक्षा उत्तरोत्तरका वैराग्य श्रेष्ठ है।

दुःखसे होनेवाला वैराग्य—घर, धन, स्त्री, पुत्र, परिवार आदिकी अनुकूलता न होनेपर तथा परिस्थितिकी प्रतिकूलता प्राप्त होनेपर जो मनमें संसारके त्यागकी उकताहटसे भरी भावना होती है, उसे दुःखसे होनेवाला वैराग्य कहते हैं। यह दुःखसे होनेवाला वैराग्य असली नहीं; क्योंकि हमें आराम नहीं मिला, दुत्कार मिली, तिरस्कार मिला या मनमानी चीज नहीं मिली तो मनमें भाव आया कि छोड़ो संसारको, इसमें क्या पड़ा है। संसारमें तो केवल दुःख-ही-दुःख भरा है। इस प्रकारका वैराग्य तो सभीको हो सकता है। कुत्ता भी तनी हुई लाठी देखकर भागता है, अपनी जान बचाता है। अतः वह यथार्थ वैराग्य नहीं। इसमें जो कुछ उकताहट है और अनुकूलताका अनुसन्धान है, वह वैराग्य नहीं। उसमें तो राग

ही कारण है; क्योंकि दुःखके कारण हटनेपर अर्थात् अनुकूलता प्राप्त हो जानेपर वह त्यागका भाव रहना कठिन है। यदि प्रतिकूलता न रहे, सब कुटुम्बीजन मनोनुकूल सेवा करने लगें, तो फिर वैराग्य भूल जाता है। उसमें केवल जो पदार्थोंको दुःखका कारण समझनेका भाव है, वही वैराग्यका अंश है। इस प्रकार दुःखके कारण होनेवाला वैराग्य यथार्थ वैराग्य नहीं है, किंतु उस समय यदि सङ्ग अच्छा मिल जाय तो वही वैराग्य अधिक बढ़कर आत्मोद्धारमें कारण बन सकता है। इसलिये उसे भी वैराग्य कह सकते हैं।

भयसे होनेवाला वैराग्य—दुःखसे होनेवाले वैराग्यकी अपेक्षा भयसे होनेवाला वैराग्य श्रेष्ठ है। स्वास्थ्यका भय, राज्यका भय, समाजका भय, मान-प्रतिष्ठाका भय, जन्म-मरणका भय और नरकोंका भय—इन अनेक प्रकारके भयोंसे होनेवाले रागके अभावको 'भयसे होनेवाला वैराग्य' कहते हैं।

भोगोंके भोगनेसे शरीर शिथिल होता है, रोग बढ़ते हैं, शक्तिका ह्रास होता है, कार्य करनेका साहस नहीं होता—आदि-आदि क्लेशोंके भयसे जो हरेक चीजके खाने-पीने और स्त्रीसङ्ग आदि भोगोंसे मनका हटना है, एवं इसी प्रकार रोगादिके हो जानेपर उसकी वृद्धि न हो जाय; अतः उनमें कुपथ्यरूप भोगोंसे जो मनका हटना है, यह 'स्वास्थ्यनाशके भयके कारण होनेवाला वैराग्य' है।

जुर्माना, कारागार, फाँसी आदिके भयसे चोरी, व्यभिचार, डकैती, हिंसा आदि अत्याचार-अनाचारसे प्राप्त होनेवाले भोगोंसे जो मनका हट जाना है, यह 'राज्यभयसे होनेवाला वैराग्य' है।

जाति-बहिष्कार, आर्थिक व्यय, लड़के-लड़कीके विवाहमें कठिनता; समाजमें बदनामी आदिके भयसे जो जातिके नियमोंको भङ्ग करके भोगोंके भोगनेकी इच्छाका त्याग करना है, यह 'समाज-भयसे होनेवाला वैराग्य' है।

वेश्यागमन, मदिरापान, हिंसा आदिसे कुलपरम्परागत मानका नाश होगा तथा लोग हमें नीची दृष्टिसे देखेंगे—ऐसे विचारसे लौकिक मर्यादाको छोड़कर भोगोपभोगके त्यागका जो भाव है, यह 'मान-प्रतिष्ठाके भयसे होनेवाला वैराग्य' है।

जन्म-मरणका प्रधान कारण है—पदार्थ, क्रिया, भाव और व्यक्ति आदिमें आसक्त रहना। अतः इन पदार्थोंका चिन्तन होगा तो मरनेके समय भी इन्हींका स्मरण होगा और अन्तकालीन स्मरणके अनुसार ही आगे जन्म होगा—इस भयसे पदार्थ-क्रिया आदिमें जो रागका न रहना है, यह 'जन्म-मरणके भयसे होनेवाला वैराग्य' है।

काम, क्रोध, लोभ आदि वृत्तियोंके वश होकर शास्त्रके विपरीत पदार्थोंका अन्यायपूर्वक सेवन करनेसे वैतरणी, असिपत्रवन, लालाभक्ष्य, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक आदि नरकोंकी प्राप्ति होगी, वहाँ अनेक भयानक कष्ट भोगने पड़ेंगे; यहाँका विषय-सुख तो क्षणिक होगा परंतु इसके परिणाममें प्राप्त होनेवाली नारकीय पीड़ा अत्यन्त भयानक और बहुत समयतक रहनेवाली होगी—इस भयके कारण मनके काम-क्रोधादिसे हटनेको 'नरकोंके भयसे होनेवाला वैराग्य' कहते हैं।

इस प्रकार भयसे होनेवाले वैराग्यके कई रूप हैं। इनमें नरकोंके भयसे होनेवाला वैराग्य अन्य भयोंसे होनेवाले वैराग्यकी अपेक्षा स्थायी और श्रेष्ठ है, पर यह भी असली वैराग्य नहीं है। इनमें भी पदार्थोंसे सूक्ष्म राग नहीं छूटा है। केवल भयके कारण पदार्थोंसे मन हटा है—यह भयसे होनेवाला वैराग्य है; भय न रहे तो इस वैराग्यका रहना भी कठिन है।

विचारसे होनेवाला वैराग्य—भयसे होनेवालेकी अपेक्षा विचार—विवेकसे होनेवाला वैराग्य ऊँचा है। विचारका अर्थ है—सत्-असत्, सार-असार, हेय-उपादेय और कर्तव्य-अकर्तव्य आदिका विवेक। इस विवेकसे जो असत्, असार, हेय और अकर्तव्यका मनसे परित्याग है अर्थात् इनके प्रति मनके रागका जो अभाव हो जाना है, उसको विचारसे होनेवाला वैराग्य कहते हैं। विषय-सेवन करनेसे परिणामतः विषयोंमें राग-आसक्ति बढ़ती है, जो कि सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है और विषयोंमें वस्तुतः सुख है भी नहीं। केवल आरम्भमें सुख प्रतीत होता है। गीतामें कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम्॥

(५।२२, १८।३८)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान्—विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले—भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।'

विषयोंमें सुख होता तो बड़े-बड़े धनी, भोगी और

पदाधिकारी भी सुखी होते। पर विचारपूर्वक देखनेपर पता चलता है कि वे भी दुःखी ही हैं। पदार्थोंमें शान्ति है नहीं, हुई नहीं, होगी नहीं और हो सकती नहीं। विचारशील व्यक्तिको तो पद-पदपर अनुभव भी होता है कि इनमें सुख नहीं है।

चाख चाख सब छाड़िया माया-रस खारा हो।
नाम-सुधारस पीजिये छिन बारंबारा हो॥

जो-जो भोग सुख-बुद्धिसे भोगे गये, उन-उन भोगोंसे धीरज नष्ट हुआ, ध्यान नष्ट हुआ, रोग उत्पन्न हुए, चिन्ता हुई, व्यग्रता हुई, पश्चात्ताप हुआ, बेइज्जती हुई, बल गया, धन गया, शान्ति गयी एवं प्रायः दुःख-शोक-उद्वेग आये—ऐसा यह परिणाम प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। इससे मालूम होता है कि विषयोंमें सुख नहीं है। जिस प्रकार स्वप्नमें जल पीते हैं, पर प्यास नहीं मिटती, उसी प्रकार पदार्थोंसे न तो शान्ति मिलती है और न जलन ही मिटती है। मनुष्य सोचता है कि इतना धन हो जाय, इतना ऐश्वर्य हो जाय तो शान्ति मिलेगी; किंतु उतना हो जानेपर भी शान्ति नहीं होती, उलटे पदार्थोंके बढ़नेसे उनकी लालसा और बढ़ जाती है—*'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।'* धन-परिवार होनेपर उनके और बढ़नेकी लालसा होती है। राज्य होनेपर राज्य और बढ़ जाय, यह लालसा होती है। इस प्रकार 'और हो जाय', 'और हो जाय'—यह क्रम चलता ही रहता है। किंतु संसारमें जितना धन-धान्य है, जितनी स्त्रियाँ हैं, जितनी सामग्रियाँ हैं, वे सब-की-सब एक साथ किसी एक व्यक्तिको मिल जायँ, तब भी उनसे उसे तृप्ति नहीं हो सकती। शास्त्रमें कहा है—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

इसका कारण यह है कि जीव परमात्माका अंश तथा चेतन है और पदार्थ प्राकृत तथा जड हैं। चेतनकी भूख जड पदार्थोंके द्वारा कैसे मिट सकती है। भूख है पेटमें और हलवा बाँधा जाय पीठपर तो भूख कैसे मिटे। प्यास लगनेपर गरमागरम बढ़िया-से-बढ़िया हलवा खानेसे भी प्यास नहीं मिट सकती। भूखे व्यक्तिकी भूख ठंडा जल पीनेसे कैसे निवृत्त हो सकती है। इसी प्रकार जीवको प्यास तो है चिन्मय परमात्माकी, किंतु वह उस प्यासको मिटाना चाहता है जड पदार्थोंके द्वारा ! इसमें मुख्य कारण है— अविवेक ! जीवका अविवेक मिटानेमें पदार्थ सर्वथा असमर्थ हैं; अतः वे शान्ति प्रदान नहीं कर सकते। उलटी राह चलनेसे गन्तव्य स्थानपर कैसे पहुँचेंगे। चाहे ब्रह्माजीकी आयुके कालतक जीव ऐश्वर्यके संग्रह और भोगोंके भोगनेमें लगा रहे तो भी उसकी भूख कभी नहीं मिट सकती, उसे शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति तो तभी मिलेगी, जब कामनाका अत्यन्त अभाव होगा।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

'जो भी संसारमें इष्ट पदार्थोंके मिलनेसे सुख होता है तथा जो स्वर्गीय महान् सुख है, वे सब सुख मिलकर भी तृष्णा-नाशके सुखके सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं हो सकते।'

न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः।
यत् सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तशीलिनः॥

'एकान्तशील वीतराग मुनिको जो सुख है, वह सुख न तो इन्द्रको है न चक्रवर्ती सम्राट्को ही।' संतोंने क्या ही सुन्दर कहा है—

ना सुख काजी पंडिताँ ना सुख भूप भयाँ।
सुख सहजाँ ही आवसी तृष्णा रोग गयाँ॥

'तृष्णारूपी रोगके चले जानेपर सुख सहज ही आ जायगा।' जबतक पदार्थोंकी लोलुपता है, दासता है, तबतक सुख कहाँ ? दासता, लोलुपता, दीनता मिटनेपर ही सुख होगा और यह मिटेगी चाहके न रहनेपर।

चाह गयी चिंता मिटी मनुवा बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये सो जग शाहंशाह॥

जबतक चाह है, तबतक चिन्ता नहीं मिटती और जबतक चिन्ता नहीं मिटती, तबतक सुख नहीं हो सकता।

पिङ्गला नामकी एक वेश्या थी। वह बड़ी प्रसिद्ध थी। बहुत-से भोगी, धनी उसके यहाँ आया करते थे और उसे धन दिया करते थे, किंतु एक दिन रात्रिको वह राह देखती ही रह गयी, पर कोई धन देनेवाला आया ही नहीं। इससे वह बड़ी उद्विग्न थी। इतनेमें ही उसने देखा कि उधरसे दत्तात्रेयजी अपनी मस्तीमें घूमते हुए चले आ रहे हैं। उनको देखकर वह विचारने लगी कि 'इस जनक राजाकी विदेहनगरीमें मैं ही एक ऐसी मूर्खा हूँ, जो दूसरे पुरुषोंसे सुख और तृप्ति चाहती हूँ। वे मुझे क्या सुख देंगे, मेरी क्या तृप्ति करेंगे। यदि उनके पास सुख होता और वे मुझे सुख दे सकते तो मेरे पास उसे लेने क्यों आते ? जो स्वयं अपनी प्यास नहीं बुझा सकता, वह दूसरेकी क्या बुझायेगा। जो स्वयं टुकड़ेके पीछे कुत्तेकी तरह सुखके लिये दर-दर भटकता है, वह औरोंको क्या सुख देगा ?' दत्तात्रेयजीकी मस्ती देखकर उसके मनमें ऐसे विचार आये और उसे वैराग्य हो गया। उसने सोचा—'अबतक मैंने बड़ी भूल की, अब मैं अपना अमूल्य समय नष्ट नहीं करूँगी।' उसके विषयमें श्रीशुकदेवजीने कहा है—

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिंगला॥

(श्रीमद्भा० ११।८।४४)

'आशा ही सबसे बड़ा दुःख और निराशा ही सबसे बड़ा सुख है। पिङ्गला वेश्याने जब पुरुषकी आशा त्याग दी, तभी वह सुखसे सो सकी।'

सचमुच आशा ही दुःखों और पापोंकी जड़ है। गीतामें अर्जुनने भगवान्से प्रश्न किया है कि 'मनुष्य पाप करना नहीं चाहता, फिर भी बलात् किसकी प्रेरणासे पाप करता है?' इसपर भगवान्ने उत्तरमें कामनाको ही पापका कारण बतलाया। जितने व्यक्ति जेलमें पड़े हैं, जितने नरकोंकी भीषण यातना सह रहे हैं और जिनके चित्तमें शोक-उद्वेग हो रहे हैं तथा जो न चाहते हुए पापाचारमें प्रवृत्त होते हैं, उन सबमें कारण भीतरकी कामना ही है। संसारमें जितने भी दुःखी हैं, उन सबका कारण एक कामना ही है। कामना प्रत्येक अवस्थामें दुःखका अनुभव कराती रहती है—जैसे पुत्रके न होनेपर पुत्र होनेकी लालसाका दुःख, जन्मनेपर उसके पालन-पोषण, विद्याध्ययन और विवाहादिकी चिन्ताका दुःख और मरनेपर अभावका दुःख होता है। कामनाके रहनेपर तो प्रत्येक हालतमें दुःखी ही होगा। अतएव जिस प्रकार आशा ही परम दुःख है, इसी प्रकार निराशा—वैराग्य ही परम सुख है। स्त्री, पुत्र, परिवार—सब आज्ञाकारी मिल जायँ, तब भी सुख नहीं होगा, सुख तो इनकी कामनाके परित्यागसे ही होगा। ऐसा विचारकर पिङ्गला अपनी सारी धन-सम्पत्तिको लुटाकर वैराग्यके नशेमें निकल जाती है और निश्चय करती है कि मैं परमात्माका ही भजन-ध्यान करूँगी और परम सुखी हो जाऊँगी।

मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः।
येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति॥
तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसंगताः।
त्यक्त्वा दुराशाः शरणं व्रजामि तमधीश्वरम्॥
संतुष्टा श्रद्दधत्येतद् यथालाभेन जीवती।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै॥

(श्रीमद्भा० ११।८।३८—४०)

'(अवश्य मुझपर आज भगवान् प्रसन्न हुए हैं) अन्यथा मुझ अभागिनीको ऐसे क्लेश ही नहीं उठाने पड़ते, जिससे 'वैराग्य' होता है। मनुष्य वैराग्यके द्वारा ही सब बन्धनोंको काटकर शान्ति-लाभ करता है। अब मैं भगवान्का यह उपकार आदरपूर्वक सिर झुकाकर स्वीकार करती हूँ और विषयभोगोंकी दुराशा छोड़कर उन परमेश्वरकी शरण ग्रहण करती हूँ। अब मुझे प्रारब्धानुसार जो कुछ मिल जायगा, उसीसे निर्वाह कर लूँगी और संतोष तथा श्रद्धाके साथ रहूँगी। मैं अब किसी दूसरेकी ओर न ताककर अपने हृदयेश्वर आत्मस्वरूप प्रभुके साथ ही विहार करूँगी।'

सुख यदि पदार्थोंमें होता तो राजा-महाराजा राज्यका और पदार्थोंका त्याग क्यों करते। राजा भर्तृहरिने कहा है—

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलने क्षमः॥

'अकेला, स्पृहारहित, शान्तचित्त, करपात्री और दिगम्बर होकर हे शम्भो! मैं कब अपने कर्मोंको निर्मूल करनेमें समर्थ होऊँगा।'

भर्तृहरि सब कर्मोंका निर्मूलन यानी अत्यन्ताभाव—ऐसी अवस्था केवल चाहते ही थे, ऐसी बात नहीं, वे उसे प्राप्त करके ही रहे। उनकी व्याकरणके नियमोंकी कारिकाएँ (श्लोक) देखनेमें आती हैं, उनका बड़ा सुन्दर साहित्य मिलता है। वे व्याकरण-साहित्य आदिके प्रकाण्ड विद्वान् थे और अध्ययन आदि जिस काममें लगे, उसे उन्होंने बड़ी तल्लीनतासे किया। जब राज्यकार्य हाथमें लिया, तब उसे बड़ी तत्परतासे और लगनसे सँभालते रहे। रात्रिमें स्वयं वेष बदलकर घूमते और निरीक्षण करते कि मेरी प्रजाको कोई कष्ट तो नहीं है। इस प्रकार प्रजाका पालन भी किया। सारे काम किये, पर किसी जगह भी टिके नहीं, अटके नहीं। पर जब वैराग्य ले लिया, तब फिर उसे छोड़कर कहीं गये नहीं। ठीक ही है—रहनेयोग्य, ठहरनेयोग्य एक निर्भय स्थान तो वैराग्य ही है; अन्य तो सभी भयप्रद हैं। स्वयं भर्तृहरिजी कहते हैं—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

'भोगोंमें रोगादिका, कुलमें गिरनेका, धनमें राजाका, मानमें दैन्यका, बलमें शत्रुका, रूपमें बुढ़ापेका, शास्त्रमें विवादका, गुणमें दुर्जनका और शरीरमें मृत्युका भय सदा बना रहता है। इस पृथ्वीमें मनुष्योंके लिये सभी वस्तुएँ भयसे युक्त हैं। एक वैराग्य ही ऐसा है, जो सर्वथा भयरहित है!'

राजा भर्तृहरिको अपनी पहली अवस्थामें किये हुए कार्योंपर तो पश्चात्ताप ही हुआ, अन्तमें संतोष तो वैराग्यसे ही हुआ। वे कहते हैं—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता-
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

'हमने भोगोंको नहीं भोगा, भोगोंने ही हमें भोग लिया, हमें समाप्त कर दिया।' अच्छे कुलमें जन्म होनेपर भी उससे गिरनेका भय रहता है। धनवान्‌को अपने पुत्रसे भी भय लगता है; फिर राजासे भय हो, इसमें तो कहना ही क्या है! मानमें दीनताका भय बना रहता है तो बलमें रिपुका भय उत्पन्न हो जाता है। बुढ़ापेका भय तो प्रसिद्ध ही है। उस अवस्थामें मनुष्य तीन पगोंसे चलता है।

लकरी पकरी सुखरी करमें पग पंथ परे न भरे डग री।
नगरी तनरी सुपुरानि परी, अब लूटत है भगरी बगरी॥
न घरी भर बैठ भज्यो सुहरी कथ कूर करी जगरी सगरी।
अब री बिरधापन बात बुरी सु अरी सम लागत है सुत री॥

एक संत कहते हैं—

जरा कुती जोबन ससो काल अहेरी लार।
पाव पलकमें मारसी गरब्यो कहा गँवार॥

जरा आनेपर वह बल, वह उत्साह, वह साहस कहाँ गया!

शास्त्रमें वाद-विवादका बड़ा भय रहता है। अन्य व्यक्तियोंकी अपेक्षा तो पढ़े-लिखेको ताप भी अधिक होता है। गँवारके केवल आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—ये तीन ताप होते हैं, पर पढ़े-लिखे विद्वान्‌के ताप सात होते हैं—(१) आधिभौतिक, (२) आधिदैविक, (३) आध्यात्मिक, (४) अभ्यास (शास्त्रका अभ्यास), (५) भङ्ग (अपमानका भय), (६) विस्मार (भूल न जाऊँ—इसकी चिन्ता) और (७) गर्व (विद्वत्ताका अभिमान)।

'गुणे खलभयम्'—जहाँ परीक्षक नहीं, गुणी नहीं, गुणग्राही नहीं, वहाँ मूर्खोंमें हमारा मूल्य ही क्या। एक गवैये थे। वे बड़ा सुन्दर सितार लेकर राजाके पास गये। पर राजा मूर्ख था, संगीतको क्या समझता! इसपर किसी कविने कहा—

रे गायक ये गायसुत तू जानत परबीन।
ये गाहक कड़बीन के तै लीन्हीं कर बीन॥

गुण कितने ही हों, पर गुणग्राहक नहीं तो उन्हें कौन लेगा। भर्तृहरि कहते हैं—'हमारे पास बहुत विद्या थी, पर किसीने नहीं ली'—

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम्॥

इसी प्रकार एक कविने कहा है—

कौन सुनै कासों कहूँ सुने तो समुझै नाहिं।
कहना सुनना समझना मन ही का मन माहिं॥

'काये कृतान्ताद्भयम्'—शरीरके पीछे तो यमराज सदा ताकमें ही रहते हैं कि कब कलेवा करें—

इस स्वासका मूढ़ विस्वास कहा पल आवत ही रह जावता है।
सब पीर पैगम्बर खाक मिले तेरो का अनुमान फुलावता है॥

बड़े-बड़े राजा महाराजा हो गये। अब उनके महलोंके टूटे-फूटे खँडहर पड़े हैं। उनको देखनेसे मनमें वैराग्य होता है, जो सर्वथा अभयप्रद है। जिसके हृदयमें वैराग्य है, उसे शरीरके जानेका भी भय नहीं; फिर नाशवान् पदार्थोंके चले जानेका तो भय ही क्या है। क्योंकि—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत् स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥

विषय-पदार्थ चाहे दीर्घ कालतक रहें, पर एक दिन वे अवश्य जानेवाले हैं—चाहे हम उनका त्याग कर दें अथवा वे हमें त्याग दें। उनका विछोह अवश्य होगा। पर संसारी मानव स्वयं उनका त्याग नहीं करते। जब विषय-पदार्थ स्वतन्त्रतासे उनका त्याग करते हैं, तब उनके मनको बड़ा संताप होता है; परन्तु यदि वे स्वयं उनका त्याग कर दें तो उन्हें अनन्त सुख-शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है।

मनसे छोड़ देनेपर ये ही पदार्थ सुख देनेवाले हो जायँगे। जैसे, दस रुपये चोरी चले गये तो दुःख होता है, पर अपनी इच्छासे दान दे दिया तो सुख देता है, किंतु उनसे सम्बन्धविच्छेदमें तो कोई भेद नहीं।

कहा परदेसीकी प्रीति जावतो बार न लावै।
आत न देख्यो जात न जाण्यो क्या कहियाँ बणि आवै।१।
जैसे बास फूलन तें बिछुरे मांहो माहि समावै।२।
जैसे संग सरायको दिन ऊगे उठि जावै।३।
जैमलदास अगम रस घटमें, जो खोजै सो पावै।४।

—जानेवाला हो, उसे एक धक्का अपनी तरफसे दे और कह दे कि जा, चला जा तो मौज हो जाय!

एक जाट-दम्पति थे। दोनोंमें खटपट चला करती। जाटनी बार-बार कहा करती कि 'मैं अब तुम्हारे घर नहीं रहूँगी, चली जाऊँगी।' जाटने सोचा—'नित्य लड़ाई करती है, अन्तमें यह जायगी ही; इज्जत भी लेती जायगी।' इससे तो इसे पहले ही त्याग देना अच्छा है, एक दिन जब रातमें स्त्रीने स्पष्ट कह दिया कि 'कल सबेरे मैं चली ही जाऊँगी,' तब जाटने रातमें अपने कोठेपर खड़े होकर गाँववालोंको जोरसे घोषणा कर दी कि 'अब मुझे कोई उलाहना न देना, मैंने आजसे ही अपनी पत्नीका परित्याग कर दिया है। स्त्री चली नहीं गयी, उसे मैंने निकाल दिया है।' ऐसे ही संसारके समस्त पदार्थ जाटनीकी तरह हैं,

अतः इन्हें पहलेसे ही त्याग दें। पदार्थोंको स्वयं त्याग देनेपर ये परम शान्ति देनेवाले हो जाते हैं—

अंतहु तोहि तजैंगे पामर ! तू न तजे अबही ते।

ऐसा विचार करके भर्तृहरि कहते हैं—

अजानन् दाहार्त्तिं पतति शलभस्तीव्रदहने
न मीनोऽपि ज्ञात्वा वडिशयुतमश्नाति पिशितम्।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्
न मुञ्चामः कामानहह ! गहनो मोहमहिमा॥

'पतिंगा इस बातको नहीं जानता कि जलनेपर कैसी पीड़ा होती है, इसीलिये वह प्रचण्ड अग्निमें कूद पड़ता है। मछलीको भी बंसीमें लगा हुआ मांसका टुकड़ा खाते समय पता नहीं रहता कि उसके भीतर लोहेका काँटा है। परंतु हम तो यह जानते हुए भी कि विषय-भोग विपत्तिके जालमें फँसानेवाले हैं, उन्हें छोड़ नहीं पाते। अहो ! हमारा कितना बड़ा और घना अज्ञान है।'

कई बार पदार्थोंको देखा, अनेक बार भोगोंको भोगकर देखा। फिर भी उनके पीछे पड़े हैं। फतिंगे आदि जानवर तो विषयसङ्गसे एक बार ही मरे, पर हमलोग तो भोगोंको भोगकर बार-बार मर रहे हैं; पर फिर भी चेत नहीं हो रहा है। बार-बार ठोकर लगनेपर भी सँभलनेका नाम नहीं लेते। आखिर कब अक्ल आयगी। बूढ़े हो गये, जीवनका अमूल्य समय चला गया; फिर भी विषयोंकी ओर लोलुपतासे देख रहे हैं ! पौत्रका, प्रपौत्रका मुँह देखना चाहते हैं। अरे, धनसे सुख मिलता दीखे तो धनीसे पूछो; स्त्रियोंमें सुखका भ्रम हो तो जिसके दो-तीन स्त्रियाँ हों, उससे पूछो; सामग्रीमें सुख दीखे तो अधिक सामग्रीवालोंसे मिलो। राज्यमें सुख दीखे तो राजाओंसे मिलकर बात कर लो। सुख तो कहीं नहीं मिलेगा; क्योंकि सुख केवल चाहके त्याग—वैराग्यसे ही है। कहा है—

चाह चूहड़ी रामदास सब नीचोंमें नीच।
तू तो केवल ब्रह्म था चाह न होती बीच॥

पर रागभरी दृष्टिवालोंको कोई वैराग्यवान् दीखता ही नहीं, जहाँ देखो वहाँ रागी-ही-रागी दीखते हैं। बात भी ठीक है, सच्चे वैराग्यवान् हैं ही कम; क्योंकि—

आदि अविद्या अटपटी घट घट बीच अड़ी।
कहो कैसे समझाइये कूएँ भाँग पड़ी॥

बातें बड़ी-बड़ी वैराग्यकी बनाते हैं; पर पदार्थोंको, भोगोंको देखकर जीभ लपलपाने लगती है। गीध बड़ा ऊँचा उड़ता है, पर उसकी दृष्टि नीचे सड़े मांसपर रहती है ! यह तो राग ही है !

जो सच्चा वैराग्यवान् होता है, उसकी दृष्टि ही निराली हो जाती है। वैराग्यवान् जिधरसे निकल जाता है, उधर ही बड़ी मस्ती लहराने लगती है। वैराग्यवान् पुरुषकी सुखमयी स्थितिका वर्णन करते हुए भर्तृहरिजी कहते हैं—

मही रम्या शय्या मसृणमुपधानं भुजलता
वितानश्चाकाशो व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः।
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासङ्गमुदितः
सुखी शान्तः शेते विगतभवभीतिर्नृप इव॥

'विरतिरूपी कान्ताके प्रसङ्गसे प्रमुदित होकर पृथ्वीकी रमणीय शय्या, अपनी भुजलताका सुन्दर तकिया, आकाशरूपी चँदोवा, पवनरूप अनुकूल पंखा, चन्द्रमारूप सुन्दर दीपक आदि विविध सामग्रियोंसे युक्त भवभयसे विमुक्त पुरुष शान्तचित्त होकर राजाकी भाँति सुखसे सोता है।'

वैराग्यवान् पुरुष शहरकी गंदी गलियोंमें विष्ठाके कीड़ोंकी तरह क्यों घूमेगा। एक साधु कहा करते थे कि 'मैं अपने मनको समझाता हूँ कि भोजन-वस्त्रादिकी कोई चाहना मत कर; नहीं तो तुझे शहरकी गंदी गलियाँ सूँघनी पड़ेंगी और बार-बार जन्मना-मरना पड़ेगा।' श्रीशंकराचार्यजी कहते हैं—

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं
पुनरपि जननीजठरे शयनम्॥

मनुष्य विषयोंकी गंदगीका तनिक-सा विचार कर ले तो उसे उलटी होने लग जाय।

गंदगीको कीड़ो मूढ़ मानत अनंदगी।
मायाको मजूर बंदो कहा जाने बंदगी॥

विषयलोलुप जीव विषयोंमें रचे-पचे रहकर सुख मानते हैं। ऐसे व्यक्तियोंमें और कीड़ोंमें क्या अन्तर है।

गुल शोर बबूला आग हवा सब कीचड़ पानी मिट्टी है।
हम देख चुके इस दुनियाको, सब धोखेकी-सी टट्टी है॥

× × ×

दूरहि ते पर्वत दिपै, वेस्या बदन बिभात।
रनका बरनन, रम्य त्रय दूरहि से दरसात॥

पर्वत और वेश्याका मुख दूरसे ही सुन्दर दीखता है तथा दूरसे ही रणका वर्णन रम्य प्रतीत होता है, पर वहाँ पहुँचनेपर अच्छे-से-अच्छोंके छक्के छूट जाते हैं। इसी तरह वैराग्यवान्‌की मस्तीका अनुभव विरक्त ही करता है। हम पदार्थोंमें सुख खोजते हैं, पर पदार्थोंमें सुख कहाँ। भगवान् तो इस जगत्‌को दुःखालय और अशाश्वत बतलाते हैं। जिसमें हमारे बाप-दादोंको भी सुख नहीं मिला, उसमें हमें सुख कैसे मिलेगा ? रज्जबजी दूल्हा बने जा रहे थे। रास्तेमें गुरुसे

मिलने गये तो गुरुने कहा—

रज्जब तैं गज्जब कियो, माथे बाँध्यो मौर।
आयो थो हरिभजनको, करी नरक महँ ठौर॥

रज्जबजीने कहा—*'रज्जब गजब जब हुतो, जातो दुनिया साथ !'* रज्जबजी ऐसे थे, जिन्हें—

दादूसे सतगुरु मिले, सिष रज्जबसे जान।
एकहि सब्द सुलझि गये, रही न खैंचातान॥

एक ही शब्द काम कर गया ! वैराग्यवान् पुरुषोंको तो देखनेसे ही वैराग्य हो जाता है। वेश्याको दत्तात्रेयजीने कहा कुछ नहीं, उसे उनको देखते ही वैराग्य हो गया ! क्योंकि वैराग्यवान्की मुद्रा ऐसी ही होती है।

खंडी हंडी हाथ में बंडी-सी कौपीन।
रंडी दिसि देखे नहीं, काया दंडी कीन॥

वैराग्यकी बातमें भी इतना आनन्द है तो फिर यदि हृदयसे सच्चा वैराग्य हो जाय, तब तो आनन्दका कहना ही क्या। सच्चे वैराग्यवान्के सामने बढ़िया वस्त्र पहनकर, इत्र आदि लगाकर एवं शृङ्गार करके बैठनेवालेको बैठनेमें भी संकोच होता है। उपर्युक्त प्रकारका वैराग्य विवेक-विचारसे होनेवाला वैराग्य है।

किंतु साधनसे होनेवाला वैराग्य विचारसे होनेवाले वैराग्यसे भी श्रेष्ठ है। वाणीसे रामनामका जप प्रारम्भ कर दिया—*'राम राम राम राम राम।'* शरीर रोमाञ्चित और पुलकित हो रहा है तथा हृदयमें लबालब प्रेम भरा है, भगवान्की बात सुनकर ही नाचने लग जाता है। उस हालतमें कभी भूलकर भी पदार्थोंकी ओर मन नहीं जाता, उसे स्वाभाविक ही भोगोंसे वैराग्य रहता है। मन तो भगवान्की ओर ही प्रतिक्षण बरबस खिंचता रहता है। उसके हृदयमें प्रेमानन्द समाता नहीं। वह तो यही कहता रहता है कि ***'गिरधारीलाल ! चाकर राखो जी'*** और वह मीराकी तरह प्रेममें मस्त होकर नाचने लगता है।

पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे।

मतवाली मीरा प्रेममें मस्त होकर लगी नाचने। कारण क्या ? भजनका रस मिल गया। सांसारिक दृष्टिसे ज्यादा-से-ज्यादा आकर्षक मान-बड़ाई, यश-कीर्ति है; इनकी तो परवा ही क्या हो, उलटी बदनामीसे डर न लगकर वह मीठी लगने लगती है। मीरा कहती है—

या बदनामी लागे मीठी। राणाजी ! म्हाँने या बदनामी लागे मीठी।
थारे शहरको राणा ! लोक निमाणो, बात करे अणदीठी॥
हरि मंदिरको नेम हमारे दुरजन लोकां म्हाने दीठी।राणाजी॰
साँकड़ी सेरयाँमें म्हारा सतगुरु मिलिया, किस बिधि फिरूँ अफूटी।
म्हारो साँवरियो राणा घट-घट व्यापक, थाँरे हियें री काँई फूटी॥
सासु ननद म्हारी देराणी जेठानी बल जल हो गयी अँगीठी।
मीराके प्रभु गिरधर नागर चढ़ गयो चोल मजीठी।राणाजी॰

इस प्रकार साधन-भजन करनेपर जो वैराग्य होता है, उससे पदार्थोंमें राग अपने-आप अनायास मिट जाता है। भजनानन्दीको पदार्थोंसे अरुचि करनी नहीं पड़ती। उसका मन तो भगवान्में सहज ही संलग्न हो जाता है। यदि कहें कि हमलोगोंका मन हर जगह जाता है, तो ठीक है; हर जगह जाता है, पर भगवान्पर नहीं जाता। और अगर भगवान्पर चला जाय तो फिर लौटकर संसारमें आयगा नहीं। मक्खी सब जगह जाकर बैठती है, पर आगपर नहीं। वह आगपर बैठती ही नहीं; पर यदि आगपर बैठ जाय तो फिर उठती ही नहीं, इसी प्रकार भगवान्में मन लग जानेपर फिर कहीं नहीं जाता, तद्रूप हो जाता है। अतः संसारसे वैराग्य और भगवान्में प्रेम होनेके लिये हमलोगोंको बड़ी तेजीसे भगवान्का भजन करना चाहिये—

कहै दास सगराम बड़गड़ै[1] घालो घोड़ा।
भजन करो भरपूर रया दिन बाकी थोड़ा॥
थोड़ा दिन बाकी रया कद पहुँ चोला ठेट।
अधबिचमें बासो बसो तो पड़सो किणरे पेट॥
पड़सो किणरे पेट पड़ैला भारी फोड़ा।
कहै दास सगराम बड़गड़ै घालो घोड़ा॥

एक भक्तदम्पति थे। पति-पत्नी दोनों ही बड़े भजनानन्दी थे। उनके भजन करनेका तरीका यह था कि वे अपने पासमें कुछ उड़द रख लेते और एक माला फेरनेपर एक उड़द उठाकर रख देते। इस प्रकार सेर, डेढ़सेर तथा दो-दो, तीन-तीन सेरतक उड़द समाप्त हो जाते। पति कहता कि मैं आध सेर भजन करूँगा तो पत्नी कहती, मैं एक सेर करूँगी। परस्पर होड़ लग जाती। हमें भी इसी प्रकार तेजीसे भजन करना चाहिये। भजन करते-करते क्या स्थिति होती है, इसपर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

'मेरा नाम-गुण-कीर्तन करते समय जिसका गला भर आता है, हृदय द्रवित हो जाता है, जो बार-बार मेरे प्रेममें आँसू ढालता है, कभी हँसने लगता है, कभी लाज-शर्म छोड़कर उच्च

१. बड़गड़ै—तेजीसे।

स्वरसे गाने और नाचने लगता है, ऐसा मेरा भक्त त्रिलोकीको पवित्र कर देता है।'

इसी प्रकार रामगीतामें भी कहा है—

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः॥

'जो मेरे निर्गुणस्वरूपकी मनसे उपासना करता है अथवा कभी-कभी मायिक गुणोंसे अतीत मेरे सगुणस्वरूपकी भी सेवा-अर्चा करता है, वह मेरा ही स्वरूप है। वह अपनी चरण-रजके स्पर्शसे सूर्यकी भाँति तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है।'

ऐसे भगवान्‌के प्यारे भक्त भगवान्‌की स्मृतिमें आनन्द-विभोर होकर घूमते हैं तो उनके दर्शनसे ही वैराग्य हो जाता है। जिस गलीमें होकर वे निकल जायँ, उधर ही वैराग्य और भगवत्प्रेमकी गङ्गा बह जाय। सुतीक्ष्ण-जैसे भक्तोंकी स्मृति हो जाय तो वैराग्य हो जाय। भगवान् भी तरु-ओटसे छिपकर देखते हैं। क्यों ? अपने ध्यानमें निमग्न भक्तको देखकर वे भी मस्त हो गये और छिपकर देखने लगे।

साधन करनेसे अन्तःकरण निर्मल होता है। फिर उससे वैराग्य होता है। इस प्रकारका वैराग्य विचारसे होनेवाले वैराग्यसे भी ऊँचा है।

परमात्माकी प्राप्ति हो जानेपर होनेवाला वैराग्य बहुत ही अलौकिक है, उसका तो वर्णन ही नहीं हो सकता; उसे न तो राग कह सकते हैं न वैराग्य ही। ऐसा विलक्षण वैराग्य परमात्मप्राप्त महापुरुषोंका ही होता है। ब्रह्मलोकतकके कभी कैसे ही कितने ही भोग क्यों न प्राप्त हों, उनके अन्तःकरणमें रागकी, गन्धकी भी कभी जागृति होनेकी सम्भावना नहीं रहती; क्योंकि जब एक परमात्मतत्त्वके सिवा अन्य सत्ता ही मिट जाती है, तब किसके प्रति राग हो। पदार्थोंमें सत्ता न रहनेके कारण उनको परमात्मतत्त्वके सिवा कहीं रस या सार कुछ भी प्रतीत नहीं होता। उनके अन्तःकरणमें अन्तःकरणसहित संसारका मृगतृष्णा-जलकी भाँति तथा नींदसे जागनेपर स्वप्नकी भाँति अत्यन्त अभाव और परमात्मतत्त्वका भाव नित्य-निरन्तर दृढ़ताके साथ स्वाभाविक ही बना रहता है। फिर परमात्मतत्त्वके सिवा कुछ रहता ही नहीं।

उक्त अनिर्वचनीय स्थितिको प्राप्त करनेके लिये वैराग्यवान् पुरुषों और भगवत्प्राप्त पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये। उनके शब्दोंसे, उनकी क्रियाओंसे शिक्षा लेकर हमें तेजीसे चलना चाहिये। संसारके पदार्थोंमें कभी किसीको सुख हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। ऐसा विचारकर भक्तिमार्गीको भगवान्‌में मन लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये तथा ज्ञानमार्गीको चित्तसे पदार्थोंकी सत्ताको मिटाकर एक सच्चिदानन्दघन पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही है—ऐसा दृढ़ निश्चय निरन्तर रखना चाहिये।

★

सब नाम-रूपोंमें एक ही भगवान्

भारतीय संस्कृतिमें सबसे मुख्य वेद माने जाते हैं। वे अपौरुषेय हैं, अनादि हैं और सदा रहनेवाले—नित्य हैं। उनमें (कर्म, उपासना और ज्ञान) तीन काण्ड माने जाते हैं। उन्हीं तीनोंका विशद एवं विस्तृत वर्णन पुराण और इतिहास-ग्रन्थोंमें मिलता है, जिनकी रचना सुन्दर-सुन्दर कथाओंके द्वारा सर्वसाधारण जनताको गम्भीर विषय सरलतासे समझानेके लिये श्रीव्यासदेवने कृपापूर्वक की है। ऐसे तो पुराण भी अनादि ही माने जाते हैं, पर इनका समय-समयपर जीर्णोद्धार होता रहा है। पुराणोंमें ही लेख मिलता है कि इनका कलेवर बहुत बड़ा था। उसको अल्पायु कलियुगी जीवोंके लिये संक्षिप्त रूप दिया गया है। इनमें सांसारिक तथा पारमार्थिक सर्वोपयोगी सभी विषयोंका बड़ा अच्छा वर्णन किया गया है। पढ़नेसे मालूम होता है कि दैवी सम्पत्ति, आसुरी सम्पत्ति, तीर्थ, व्रत, उपवास, यज्ञ, दान, तप, संयम, सेवा, आश्रमधर्म, वर्णधर्म, स्त्रीधर्म, सामान्यधर्म, राजधर्म, प्रजाधर्म, जाति, देश, काल, समय, सम्बन्ध, परिस्थिति आदिको लेकर अवश्यकर्तव्य-कर्म आदि-आदि विषयोंका गूढ़ आशयसहित विचित्र ढंगसे वर्णन हुआ है।

साधारण रीतिसे देखनेपर कहीं-कहीं परस्पर बड़ा विरोध-सा मालूम देता है, जिसका साधारण मनुष्योंके द्वारा समाधान करना कठिन हो जाता है—इतनी ही बात नहीं, अपितु अपने अविवेकके कारण पुराणोंकी बातें पक्षपातपूर्ण, अनर्गल एवं असत्य प्रतीत होती हैं, जिससे मनमें नास्तिकता आ जाती है; क्योंकि जब जहाँ जिस तीर्थ, व्रत आदिकी महिमा वर्णन करने लगते हैं, वहाँ उसीको सर्वोपरि बतला दिया जाता है। जैसे—श्रीगङ्गाजीकी महिमा आयी तो कहा—इसके समान न सरयू है, न तो पुष्कर है, न यमुना है, न तीर्थराज प्रयाग ही है; और तीर्थराजका वर्णन करने लगे तो कहा कि इसके समान और कोई तीर्थ है ही नहीं—न गङ्गा है, न यमुना है, न सरयू है, न पुष्कर है। एक यही सम्पूर्ण तीर्थोंका राजा है। काशी-माहात्म्यमें आया है कि इस मोक्षदायिनी पुरीके समान तीर्थ इस त्रिलोकीमें कोई नहीं है।

इसकी बराबरीमें न सरयू है, न यमुना है, न पुष्कर; क्योंकि यह भगवान् शङ्करके त्रिशूलपर बसी हुई है। ऐसे ही कार्तिक-माहात्म्य, वैशाख-माहात्म्य, मार्गशीर्ष-माहात्म्य तथा एकादशी आदि व्रतोंके विषयमें भी कथन है। इस प्रकार एकके द्वारा दूसरेका खण्डन हो जानेसे सबका खण्डन हो जाता है।

कहीं-कहीं तो इसके अतिरिक्त भिन्न प्रकारसे ऐसा कहा है कि तीर्थयात्राका फल साधारण है, व्रतका विशेष, व्रतसे इन्द्रियसंयमका और इन्द्रियसंयमसे भजन—भगवच्चिन्तनका और अधिक एवं भगवत्प्रेमका उससे भी अत्यधिक है।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

आदि-आदि।

इसका समाधान करनेके लिये दो विभाग कर लेने चाहिये कि पूर्वका वर्णन निष्ठाकी दृष्टिसे है और दूसरा वर्णन वस्तु-तत्त्व-दृष्टिसे। अतः इसमें कोई विरोध नहीं है। निष्ठाका तात्पर्य है—एक मनुष्यविशेषकी किसी इष्टपर हृदयकी दृढ़ धारणा। उस धारणाको अत्यधिक दृढ़ करनेके लिये ही पहला वर्णन है। इससे हृदय-प्रधान साधककी वृत्ति सब ओरसे हटकर एक इष्टमें लग जाती है और उसीमें सर्वोपरि अनन्य भावना हो जाती है, ऐसा होनेसे जब सर्वोपरि परमात्मा प्रकट हो जाते हैं, तब या तो उसे सारा यथार्थ तत्त्व भगवान् समझा देते हैं या वह स्वयं उसकी समझमें आ जाता है।

कहा भी है—

आदि अन्त जन अनँतके सारे कारज सोय।
जँहि जिव उर नहचो धरै तँहि ढिग परगट होय॥

फिर उसके लिये कुछ भी करना-जानना शेष नहीं रह जाता। वह कृतकृत्य और ज्ञातज्ञातव्य हो जाता है।

दूसरे प्रकारका वर्णन बुद्धिप्रधान तर्कशील मनुष्योंके लिये है। उसपर विश्वास करके चलनेवाली क्रमशः एकसे दूसरे और दूसरेसे तीसरे साधनद्वारा यथार्थ स्थितिमें पहुँच जायगा। यदि तारतम्यताके विवेकद्वारा निःसंदिग्ध होकर तेजीसे चलता रहेगा तो वह भी क्रमशः सब श्रेणियोंको पार करता हुआ उस पार पहुँचकर सदाके लिये कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य हो जायगा।

सिद्धान्ततः बात यह है कि श्रीपरमात्मा एक हैं, वे ही अनेक जगह अनेक नामोंसे कहे गये हैं। वे अनेक जगह, अनेक रूपोंमें रहते हुए भी हरेक जगह पूर्णरूपसे ही विराजमान हैं। जो उनको जिस भावसे, जिस रूपमें, जिस प्रकार चाहता है, वह वैसे ही उनको प्राप्त कर लेता है; क्योंकि वे भी उसे वैसे ही चाहते हैं। उनकी यह घोषणा है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

अतः कोई चाहे किसी भी रीतिसे उनको भजे, यदि आजतक किसीने भी जिस प्रकारसे उपासना न की हो, ऐसे किसी नये ढंगकी उपासना भी कोई करे, तो भी प्रेमकी पूर्णता होनेपर उसे परमात्माकी प्राप्ति अवश्य होगी, क्योंकि वह एकमात्र अपने प्रियतम परमात्माको ही चाहता है। उनके लिये जो कनक, कामिनी, आराम, मान, सत्कार, कीर्ति आदि लोक और परलोकको भोग-सामग्रियोंका त्याग करता है, किसी भी नाशवान् पदार्थको नहीं चाहता, सच्ची हार्दिक लगनसे सर्वोत्तम परमपुरुष पुरुषोत्तमभगवान्को चाहता है, ऐसे साधकसे बिना मिले वे कैसे रह सकते हैं।

कहनेका अभिप्राय यह है कि सच्ची लगन और ईमानदारीके साथ जिस तत्त्वको मनुष्य सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि, सर्वथा पूर्ण मानता है, उसका वह चाहे कैसा भी नाम-रूप क्यों न मानता हो, चाहे किसी भी प्रकार-विशेषसे उसकी सेवा, पूजा, उपासना क्यों न करता हो, भगवान् उसको अपनी ही उपासना, सेवा और पूजा मानते हैं; क्योंकि सर्वोपरि तत्त्व एक है और वही हैं भगवान्। साधककी समझमें भूल हो सकती है, परंतु भगवान्के यहाँ तो भूल नहीं होती। वे एकमात्र भावको ही देखते हैं। अतः श्रद्धालु साधकको चाहिये कि भगवान्के किसी भी रूप और नामपर पूर्ण विश्वास करके अनन्य प्रेमपूर्वक उनका स्मरण करता रहे, किसी भी अवस्थामें उनको भूले नहीं, तो प्राप्ति भगवान्की ही होगी।

भगवत्तत्त्व

पराकृतनमद्बन्धं परब्रह्म नराकृति।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः॥

परमात्माका वास्तविक तत्त्व समझनेके लिये न तो कोई दृष्टान्त ठीक तरहसे लागू होता है और न कोई युक्ति ही। परमात्माका निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार आदि रूपोंसे जो वर्णन किया जाता है, उससे उनका वास्तविक स्वरूप तो अलग ही रह जाता है, पूरा वर्णन हो ही नहीं पाता। क्योंकि वाणी, मन, बुद्धि और युक्तियाँ—सभी कुछ मायिक हैं, प्रकृतिके कार्य हैं और जड हैं; अतः वे उस चिन्मय परमात्माको समझनेमें असमर्थ हैं। जितने दृष्टान्त और युक्तियाँ बतलायी जाती हैं, वे सब परमात्माके यथार्थ स्वरूपको समझकर मन-बुद्धि उनकी ओर लग जायँ—इसीलिये कही जाती हैं। परमात्माके स्वरूपके वर्णनमें तो देवताओं और ऋषियोंके भी मन-बुद्धि कुण्ठित हो जाते हैं, फिर वहाँ

साधारण मनुष्योंके मन-बुद्धि कैसे पहुँच सकते हैं। गीतामें कहा है—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

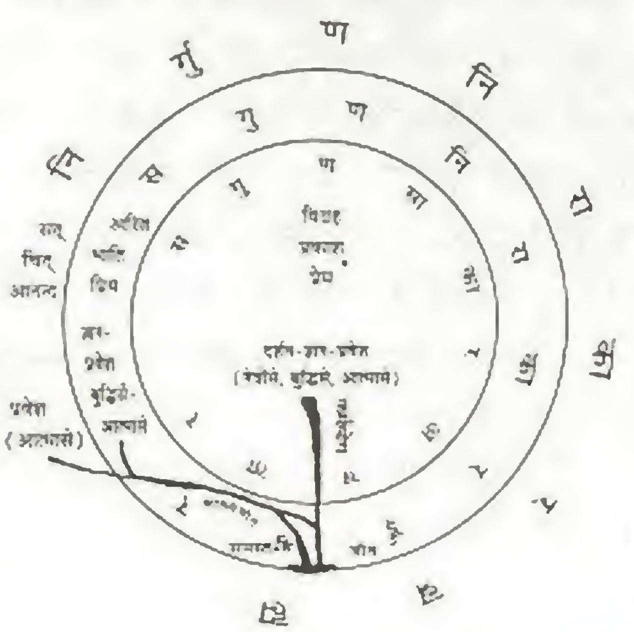
(१०।२)

'मेरी उत्पत्तिको अर्थात् लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ।'

जब देवता और महर्षिगण भी उस तत्त्वतक नहीं पहुँच पाते, तब फिर इस मानवी बुद्धिसे उसे समझना-समझाना तो एक बालचपलतामात्र ही है।

यह भगवत्तत्त्वका विषय बहुत ही गूढ़ और रहस्यमय है। इसे अवश्य जानना चाहिये। मनुष्य-जन्म इसीलिये मिला है। इस तत्त्वको जाननेसे ही यह जन्म सार्थक होता है तथा इसे जान लेनेपर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है; फिर उसे अपने लिये कुछ भी जानना अथवा करना बाकी नहीं रह जाता। '**यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥**' (गीता ७।२) यह विषय इतना दुर्विज्ञेय होनेपर भी भगवान् और महापुरुषोंकी कृपासे सहज ही जाना जा सकता है। उस कृपाकी प्राप्तिके लिये कुतर्क छोड़कर उनसे सरलतापूर्वक इस तत्त्वको समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये तथा उनकी आज्ञाके अनुसार अपने कर्तव्यपालनमें तत्पर हो जाना चाहिये। ऐसा करनेसे ही मनुष्य इस दुर्विज्ञेय तत्त्वको समझकर अपने देवदुर्लभ मानव-जन्मको अनायास ही सफल बना सकता है।

अब नीचे एक यन्त्र लिखा जाता है। इससे अपनी वृत्तियोंको भगवान्की ओर लगाकर इस गूढ़ तत्त्वको कुछ समझा जा सकता है।



वैसे तो परमात्माके स्वरूप अनन्त हैं, पर समझनेके लिये यहाँ तीन रूप बतलाये जाते हैं—(१) निर्गुण-निराकार, (२) सगुण-निराकार और (३) सगुण-साकार। परमात्मा निर्गुण भी हैं, सगुण भी हैं तथा सगुण-निर्गुण भी हैं और वे इन सबसे भिन्न भी हैं।

निर्गुण-निराकार-तत्त्व

परमात्माका निर्गुण-तत्त्व मन-वाणीका अविषय है। वह सत्-असत्से विलक्षण है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते॥

(१३।१२)

'जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह आदिरहित ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही।'

उस परमात्माको असीम, अपार, अनन्त बतलाया जाता है। पर उसे असीम और आदि-अन्तसे रहित कहना भी देश-कालको स्वीकार करके ही है। किंतु परमात्मा देश-कालसे परिच्छिन्न नहीं है। वास्तवमें वह देश, काल, वस्तुसे सर्वथा अतीत है। वहाँ वाणी नहीं पहुँच सकती। इसलिये इन नामोंसे कहना देश-कालको लेकर केवल संकेत करनामात्र ही है। उसे निर्गुण-निराकार कहा जाता है। वहाँ सत्त्व, रज, तम आदि कोई गुण नहीं है, उसकी कोई आकृति नहीं है, न कोई नाम ही है। वह तो इन गुणोंसे सर्वथा अतीत और नाम-रूपसे रहित ही है। उसका कोई वर्णन नहीं कर सकता। उसे सच्चिदानन्द कहते हैं—यह लक्षण है। ब्रह्म कहते हैं—यह नाम है। निर्गुण-निराकार कहते हैं—यह रूप है। पर यह कैसा रूप है ? अरूप ही रूप है। इसका इसी तरह वर्णन किया जाता है। वास्तवमें तो निर्गुण-निराकारका वर्णन हो ही नहीं सकता। जो कुछ भी वर्णन किया जाता है, वह गुणोंको लेकर ही किया जाता है। केवल लक्ष्य निर्गुणका रहता है, क्योंकि वर्णन करनेकी सामग्रियाँ—इन्द्रिय, वाणी, मन, बुद्धि आदि सब मायिक ही हैं। उस परमात्माके तत्त्वको समझानेके लिये शास्त्रकारोंने दो तरहके विशेषण दिये हैं—(१) विधेय और (२) निषेध। विधेय विशेषण उन्हें कहते हैं, जो परमात्माके स्वरूपके साक्षात् द्योतक होते हैं; पर वे भी परमात्मा अनिर्देश्य होनेके कारण तटस्थ ही रह जाते हैं। और निषेध विशेषण उन्हें कहते हैं, जो परमात्मामें आकार, गुण, विनाश, क्रिया, पदार्थ, देश, काल आदिका अभाव बतलाते हैं। परमात्माके सत्, चित्, आनन्द आदि 'विधेय' विशेषण कहे जाते हैं और निराकार, निर्गुण, अव्यय, अविनाशी, अक्रिय, अचल, अद्वैत, अप्रमेय, असीम, अपार,

अनादि, अनन्त आदि विशेषण 'निषेध' कहे जाते हैं। वास्तवमें परमात्माका निर्गुण स्वरूप लक्षण और विशेषणोंसे रहित ही है। यह कहना भी समझनेके लिये ही है तथापि उस निर्गुण परमात्माके यथार्थ तत्त्वको बुद्धिसे पकड़नेके लिये ये विशेषण ही काम दे सकते हैं; इनके सिवा बुद्धिको परमात्माके नजदीक पहुँचानेके लिये अन्य कोई सहारा नहीं है। इसीलिये उनका वर्णन किया जाता है।

सत्-तत्त्व

सत् क्या है—जो हरदम रहे, हर वस्तुमें रहे और हर जगह रहे। भगवान्ने भी कहा है—'**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः**' (गीता २। २०)—'यह आत्मा अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है।' पर शब्दोंके द्वारा कैसे समझाया जाय। आखिर कोई भी समझायेगा तो हमारी भाषाका आश्रय लेकर ही हमें समझा सकता है। इसी तरह श्रुति भगवती भी देश-कालको लेकर ही उसका लक्ष्य कराती है। श्रुति कहती है—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'—

(छा० उ० ६। २। १)

इत्यादि।

'एकम् एव अद्वितीयम्'—इन शब्दोंसे उस परमात्माको क्रमशः सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदोंसे रहित बतलाया है। मनुष्य सब एक होते हुए भी व्यक्तिरूपसे एक-एक अलग हैं—यह सजातीय भेद है। मनुष्य और वृक्ष—इनमें सजातीयता नहीं है, एक-दूसरेसे भिन्न हैं, अतः यह विजातीय भेद है। 'यह मेरा हाथ है; पैर है' इस प्रकार अवयवोंका भेद स्वगत भेद है। परमात्मा इन सब भेदोंसे रहित है। ये भेद प्रकृतिमें हैं, परमात्मा प्रकृतिसे अत्यन्त परे है।

जिसमें कोई विकार नहीं, भेद नहीं, जो घटता-बढ़ता नहीं, जिसका कभी क्षरण नहीं होता, जिसका कभी कहीं किञ्चिन्मात्र भी अभाव या परिवर्तन नहीं होता, जो सदा सर्वत्र सर्वथा एकरस, एकरूप और परिपूर्ण रहे और जिसमें कभी तनिक भी विकारकी सम्भावना ही न हो, वह 'सत्' है।

उस परमात्माके सिवा जो कुछ भी लौकिक या अलौकिक पदार्थ देखने-सुनने और समझनेमें आते हैं, उन सभीमें विचार करनेपर प्रत्यक्ष यह अनुभव होता है कि एक समयमें ये वस्तुएँ नहीं थीं और किसी समय ये सब नहीं रहेंगी तथा एक देशमें होते हुए भी दूसरे देशमें उन चीजोंका अभाव मालूम होता है एवं वस्तुका भेद तो प्रत्यक्ष है ही। परंतु सत्-स्वरूप परमात्मामें देश, काल, वस्तुका अत्यन्त अभाव होनेके कारण उसके देश-काल-वस्तु-निमित्तक अभावकी कभी सम्भावना भी नहीं हो सकती और स्वरूपसे तो वह परमात्मा सत् यानी नित्य विद्यमान है ही। इसीलिये उसे 'सत्' कहते हैं। इस 'सत्' तत्त्वका वर्णन गीताके दूसरे अध्यायके १२, १३, १७, २३, २४, २५; ८वें अध्यायके २०; १२वें अध्यायके ३ और १३वेंके २७वें श्लोकमें विशेषरूपसे किया गया है।

चित्-तत्त्व

'चित्' से चेतन, बोध, ज्ञान समझना चाहिये। चेतन वह है, जहाँ जडताकी कभी किसी तरह भी जरा भी सम्भावना नहीं है। वह चेतन तो केवल चिन्मय बोधस्वरूप ही है। जडताका अत्यन्त अभाव होनेके कारण उसमें ज्ञातापनका आरोप भी नहीं हो सकता। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, द्रष्टा-दर्शन-दृश्य और प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय आदि भाव भी जिससे स्वाभाविक ही प्रकाशित होते हैं, ऐसा वह चेतन केवल एक दीप्तिमात्र ही है। साधारण लोग प्राण और चेष्टायुक्त जीवोंको चेतन कहते हैं तथा जिसमें प्राण और क्रिया नहीं होती, उसे जड कहते हैं; पर परमात्मामें क्रिया और प्राणके सम्बन्धसे होनेवाली चेतनता नहीं है, उसमें तो केवल चिति—जाननामात्र ही है। तात्पर्य यह कि वहाँ जडता, अज्ञान, मोह, अन्धकार आदि कुछ भी नहीं है, केवल चेतनमात्र ही है तथा वह भी स्वाभाविक स्वतः ही है।

उस चित्-तत्त्वको समझनेके लिये एक बात कही जाती है। संसारमें दो पदार्थ हैं—(१) दीखनेवाला और (२) देखनेवाला। देखनेवाला चेतन है, दीखनेवाला जड है। देखनेवाला द्रष्टा है, दीखनेवाला दृश्य है। दृश्य दृश्य ही रहता है और द्रष्टा द्रष्टा ही। घट-पट आदि संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रकाश करनेवाले नेत्र हैं। घट-पटादिमें परिवर्तन होता है, उनका परस्पर भेद भी है, कभी उनका प्रकाश होता है तो कभी अप्रकाश। किंतु नेत्रोंमें कोई भेद न रहते हुए भी प्रकाशनशक्ति है। नेत्र भी मनके द्वारा प्रकाश्य हैं। अतः नेत्रोंमें भी अन्धता, मन्दता, पटुता आदि धर्म रहते हैं, उन धर्मोंको मन एकरूपसे देखता है। नेत्रोंका विकार मनमें नहीं आता; क्योंकि नेत्र प्रकाश्य हैं और मन उनका प्रकाशक है। मनसे भी आगे बुद्धितत्त्व है, वह एक रहता हुआ ही मनकी संकल्प-विकल्प आदि अनेक वृत्तियोंको निर्विकाररूपसे प्रकाशित करता है। इसलिये बुद्धि प्रकाशक और मन प्रकाश्य है। इसी तरह बुद्धिमें भी अज्ञता, विज्ञता आदि अनेक धर्म रहते हैं। अतः बुद्धि दृश्य और आत्मा द्रष्टा है, क्योंकि बुद्धि और बुद्धिगत विज्ञता-अज्ञता आदि धर्म निर्विकार आत्मासे ही प्रकाशित होते हैं और आत्मा किसीसे भी प्रकाशित नहीं होता। अर्थात् वह मन, बुद्धि, इन्द्रिय,

शरीर आदि किसीका भी विषय नहीं होता। इसलिये वास्तविक द्रष्टा यही है। इसमें भी यह समझनेकी बात है कि आत्माकी द्रष्टा-संज्ञा दृश्यको लेकर ही है। अगर दृश्य नहीं हो तो आत्माकी द्रष्टा-संज्ञा भी नहीं रहती, बल्कि एक चेतनमात्र ही रह जाता है। वह फिर एकदेशीय नहीं रहता; क्योंकि वहाँ दृश्यका—देश, काल, वस्तुका सर्वथा अभाव है। वही परिपूर्ण 'चित्' तत्त्व कहा जाता है। इस चित्-तत्त्वका वर्णन गीतामें ५वें अध्यायके २४; ८वें अध्यायके ८, ९; १३वें अध्यायके १७, ३३ और १५वें अध्यायके १५वें श्लोकोंमें मुख्यतासे किया गया है।

आनन्द-तत्त्व

परमात्माका आनन्दस्वरूप भी एक अवर्णनीय तत्त्व है। वह निरतिशय सुखस्वरूप है। वह आनन्द सातिशय नहीं है। जिस सुखकी सीमा (हद) हो जाती है, उसे सातिशय कहते हैं। वह आनन्द असीम है। वह अनुभवमें आनेवाला आनन्द नहीं है, वह तो अनुभवरूप है। आनन्द एक बहुत विशेष सुखको कहते हैं। वह परमात्मा स्वतः सुखरूप सुख है। वह सुख मन-वाणीका विषय नहीं है। वह तो एकमात्र आनन्द ही है—जिसके प्रतिद्वन्द्वी दुःख, अशान्ति, विक्षेप आदिकी कहीं किञ्चिन्मात्र भी सम्भावना ही नहीं है।

मनुष्यको अपने इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर जो मनमें एक प्रकारके आनन्दका अनुभव होता है, उससे अनन्तगुना आनन्द सच्चे वैराग्य, सत्सङ्ग और भजनके अभ्याससे प्राप्त होता है। उसकी अपेक्षा भी परमात्मध्यानजनित आनन्द बहुत ही विलक्षण है। परंतु परमात्माका स्वरूपभूत आनन्द तो फिर भी अलग ही रह जाता है। वह आनन्द किसी तरह भी समझा या समझाया नहीं जा सकता। वह आनन्द-ही-आनन्द है। वह आनन्द अपरिमित, असीम, अपार, अनन्त, एकरस, परिपूर्ण, सम, निर्विकार और घन है—जिस आनन्दमें अन्य किसीकी किसी भी समय किञ्चिन्मात्र भी गुंजाइश नहीं है। वह केवल आनन्द-ही-आनन्द है। यह कहना भी देश, काल, वस्तुको लेकर ही है। वास्तविक आनन्द तो देश, काल, वस्तुसे सर्वथा असम्बद्ध परमात्मस्वरूप ही है। इस 'आनन्द' तत्त्वका वर्णन गीतामें ५वें अध्यायके २१, २४; ६ठे अध्यायके २१, २७, २८ और १४वें अध्यायके २७वें श्लोकोंमें मुख्यतासे किया गया है।

सत्-चित्-आनन्दकी एकता

ये सत्, चित्, आनन्द विशेषण परमात्माके द्योतक हैं, वस्तुतः उसके वाचक नहीं और न ये कोई उससे अलग उसके भिन्न-भिन्न विशेषण ही हैं। उसी एक भगवत्तत्त्वको समझानेके लिये ही शास्त्रोंमें ऋषि-महात्माओंने इन विशेषणोंका वर्णन किया है। वह परमात्मतत्त्व हर समय, हर जगह, हर वस्तुमें एकरस अपरिवर्तितरूपसे विद्यमान रहनेके कारण 'सत्' कहा जाता है। वह नित्य विद्यमान सत्तत्त्व ही अपने-आपको जानता है, इसलिये उसे 'चेतन' कहते हैं। वह सत्तत्त्व ही स्वयंप्रकाश एवं स्वयं ज्ञानस्वरूप है, इसलिये चेतन उसका कोई अलग विशेषण नहीं है। वह स्वयं ही चित्स्वरूप है। उसमें दुःख, अशान्ति आदिकी कदापि सम्भावना नहीं है और उसमें निरतिशय सुखकी कदापि कमी अथवा अभाव नहीं होता—इसलिये वही 'आनन्द' है। इसी तरह 'चेतन' तत्त्व ही नित्य विद्यमान रहनेके कारण 'सत्' और परम सुखरूप होनेसे 'आनन्द' है। तथा 'आनन्द' भी एक परिपूर्ण आनन्द है, अतः 'सत्' तत्त्व उनसे कोई अलग वस्तु नहीं और वह आनन्द केवल ज्ञानस्वरूप होनेसे 'चेतन' तत्त्व भी उससे कोई अलग चीज नहीं; क्योंकि परमात्माका ज्ञान होनेसे परम शान्ति तत्काल हो जाती है (गीता ४।३९) तथा किसी भी विषयको हम जितना ही समझते हैं, उतना ही आनन्द उसे जाननेके साथ भी उत्पन्न हो जाता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जानना और आनन्द—दो चीजें नहीं एक ही हैं। इसी प्रकार सात्त्विक आनन्द बहुत बढ़ जानेसे उस तत्त्वका ज्ञान भी अपने-आप ही हो जाता है (गीता २।६५); क्योंकि वह आनन्द ही ज्ञानस्वरूप है। वहाँ उस ज्ञान-आनन्दकी सत्ता होनेसे वह स्वतःसिद्ध तो है ही। एवं परमात्माकी सत्ताका दृढ़ निश्चय हो जानेपर भय, अशान्ति आदि सब मिटकर साधकको परम आनन्द और परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है और वह शीघ्र ही परमात्माका यथार्थ तत्त्व जान जाता है। इसीलिये सच्चिदानन्दस्वरूपसे निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्माका ही वर्णन किया जाता है।

सगुण-निराकार-तत्त्व

सच्चिदानन्दघन निर्गुण पूर्णब्रह्म परमात्माके किसी एक अंशमें प्रकृति है, उस प्रकृतिसे युक्त होनेसे ही उस पूर्णब्रह्म परमात्माको सगुण चेतन सृष्टिकर्ता ईश्वर कहते हैं, वही आदिपुरुष पुरुषोत्तम, मायाविशिष्ट ईश्वर आदि नामोंसे कहा जाता है। प्रकृतिको लेकर ही उसमें समस्त जीवोंकी स्थिति है। प्रकृति उस परमात्माकी एक अलौकिक दिव्य शक्ति है। उस शक्तिको लेकर ही परमात्मा सम्पूर्ण सृष्टिका सृजन, पालन और संहार किया करते हैं। वे ही मायापति परमात्मा परिपूर्ण सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्दस्वरूप होते हुए भी वस्तुओंमें अस्ति, भाति और प्रियरूपसे प्रतीत होते हैं।

अग्निकी सत्ता सभी जगह सामान्यरूपसे विद्यमान है,

परंतु उसमें दाहिका और प्रकाशिका शक्ति विद्यमान रहते हुए भी समय-समयपर ही प्रकट होती है। काठ, दियासलाई आदि सबमें एक सत्ता ही प्रतीत होती है, चन्द्रमामें सत्ता और प्रकाश—दोनों प्रत्यक्ष दीखते हैं और सूर्यमें सत्ता, प्रकाश तथा दाह—तीनों प्रकटरूपसे दीखते हैं। इसी प्रकार भूत, भौतिक, जड, चेतन, स्थावर, जङ्गम— सभीमें परमात्माकी सत्ता तो सामान्यरूपसे प्रतीत हो रही है; पर चितिशक्तिका प्रकाश विशेषतासे प्राणियोंमें ही देखा जाता है, जड चीजोंमें नहीं एवं आनन्दकी प्रतीति तो ज्ञानी महात्माओंमें ही विशेषरूपसे प्रकट है, अन्य जगह वह लुप्त ही है। तमोगुणके कार्य जड पदार्थोंमें भी सत्ता तो प्रकट है, किन्तु तमोगुणकी अधिकता होनेके कारण वहाँ चिदंश और आनन्दांश तिरस्कृत हैं तथा सजीव प्राणियोंमें सत्ता और चेतनता प्रत्यक्ष दीखते हुए भी अज्ञतारूप तमोगुण और चञ्चलतारूप रजोगुणकी अधिकताके कारण वहाँ आनन्दांश तिरस्कृत है। जहाँ साधनके द्वारा रजोगुण-तमोगुण अंश दूर कर दिये गये हैं, वहाँ महात्मापुरुषोंमें सत्, चित्, आनन्दघन परब्रह्म परमात्माका स्वरूप प्रकटरूपसे विद्यमान है।

अस्ति-तत्त्व

संसारमें जो जड पदार्थोंकी सत्ता दीख रही है, उनका होना सिद्ध हो रहा है, वह उसी परमात्मासे है। उनको द्योतन करनेवाला सत्-तत्त्व ही पदार्थोंके सम्बन्धसे 'सत्'की अपेक्षा स्थूल होनेसे अस्तिस्वरूपसे कहा जाता है।

संसारमें जितनी भी जड वस्तुएँ हैं, ये सब उत्पन्न होती हैं, बीचमें सत्तारूपसे दीखती हैं, बढ़ती हैं, परिवर्तित होती हैं, क्षीण होती हैं और नष्ट हो जाती हैं। उन उत्पत्ति-विनाशशील सम्पूर्ण वस्तुओंमें जो एक सत्ता प्रतीत होती है, वही अस्तिरूपसे कही जाती है। यहाँ यह समझनेकी बात है कि किसी एक पदार्थको लेकर उसकी उत्पत्तिके बाद जो उसका अस्तित्व दीखता है, वह तो उस पदार्थके नष्ट होनेपर नष्ट हो जाता है; क्योंकि वह विकार है। पर उन पदार्थोंके अभाव हो जानेपर भी सब वस्तुओंमें सामान्य रीतिसे जो एक होनापना प्रतीत होता है, वह होनापना ही असली अस्तिस्वरूप है। वह अस्तिस्वरूप नित्य विद्यमान रहता है। जैसे 'यह मनुष्य है,' 'यह पक्षी है,' 'यह देश है'—इन सबमें 'है' अनुस्यूत है। वस्त्रमें धागा सर्वत्र एक है। मिट्टीके बरतनोंमें मिट्टी सबमें एक है। इसी तरह यह अस्ति-तत्त्व सबमें अनुस्यूत है। यह सर्वत्र व्यापक है, परिपूर्ण है। जब घड़ा फूट जाता है तो घड़ेका अभाव होनेपर भी उसके टुकड़े तो रहते ही हैं। ऐसे ही पदार्थोंका अभाव होनेपर भी उनका रूपान्तरमें अस्तिपना वैसे ही वर्तमान रहता है।

इसलिये जो भी उत्पत्ति-विनाशवाली वस्तुएँ हैं, उन सबमें जो सत्ता प्रतीत होती है, वह वस्तुतः उन चीजोंका आधार है, पर दीखनेमें ऐसा प्रतीत होता है कि वह चीज पहले है और बादमें उसकी सत्ता है। यही तो परमात्माकी दिव्य प्रकृतिकी अविद्या—मायाशक्तिका विलक्षण परदा है।

भाति-तत्त्व

जो सम्पूर्ण वस्तुओंकी प्रतीति होती है, वस्तुएँ दीखती हैं, उनका अनुभव होता है—यह भाति है। भूत, भविष्यत्, वर्तमान—सबमें सत्ता प्रतीत हो रही है। एक पदार्थका होना सत्ता है और उसका दीखना, अनुभव होना भाति है। विदेशकी वस्तुएँ यहाँ नहीं दीखतीं; पर 'वहाँ वह चीज है' इस प्रकार सामान्य भाव तो बुद्धिमें आता ही है तथा साथ ही उन वस्तुओंका न जाना भी प्रतीत हो ही रहा है। जिससे सम्पूर्ण वस्तुओंकी प्रतीति होती है, वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं, उसे भाति-तत्त्व कहते हैं। यह परमात्माका निर्गुण चित्-तत्त्व ही मायाके सम्बन्धसे प्रकाशरूपसे प्रतीत हो रहा है। यह प्रकाश महत्तत्त्वके मिश्रणसे सामान्य ज्ञानस्वरूप है, जिसमें कि घट-पटादि समस्त पदार्थोंका भान हो रहा है। पदार्थोंका ज्ञान-अज्ञान, लौकिक प्रकाश और अन्धकारका ज्ञान, वस्तुओंका भाव-अभाव, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन अवस्थाओंका ज्ञान-अज्ञान—ये सभी जिस एक बुद्धि-तत्त्वसे प्रकाशित हो रहे हैं, समझनेमें आ रहे हैं। वह निर्गुण परमात्माका चित्-तत्त्व ही महत्तत्त्वको लेकर भातिरूपसे कहा जाता है। वह भाति-तत्त्व महत्तत्त्वका सम्बन्ध होनेके कारण चित्-तत्त्वकी अपेक्षा स्थूल है।

इसमें भी अस्तिकी भाँति वस्तुओंका ज्ञान वस्तुओंके बाद प्रतीत होता है, पर वास्तवमें वस्तुओंके ज्ञान और अज्ञान दोनोंको ही यह भाति-तत्त्व सामान्यरूपसे निरन्तर प्रकाशित कर रहा है। यही सगुण परमात्माका 'भाति' रूप है।

प्रिय-तत्त्व

संसारके पदार्थ मनको अच्छे लगते हैं, यह अच्छा लगना ही 'प्रिय' है। वस्तुमात्रमें ही एक प्रियता प्रतीत हो रही है; क्योंकि उपयोगी होनेके कारण वह किसी-न-किसीके लिये प्रिय है ही। कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, चाहे वह निकृष्ट-से-निकृष्ट ही क्यों न हो, जो किसी एकको भी प्रिय न हो, पदार्थोंमें जो यह सुन्दरता, प्रियता और आकर्षण है, वह सब वास्तवमें परमात्मासे ही है, परंतु दीखता है पदार्थोंमें। यही माया शक्तिके आवरणकी विलक्षणता है। वस्तुतः पदार्थोंमें सुन्दरता, प्रियता और आकर्षण नहीं है। सारे पदार्थ उस

परमात्मामें ही अध्यारोपित हैं और उस परमात्माका आनन्द-स्वरूप ही मायाशक्तिके साथ मिला हुआ होनेसे पदार्थमात्रमें प्रियरूपसे अनुभूत होता है।

अस्ति, भाति, प्रियकी एकता

संसारमें यावन्मात्र जो भी वस्तुएँ प्रतीत हो रही हैं, उनमें परस्पर भेद होनेपर भी अस्ति, भाति, प्रियरूपका उनमें एकरूपसे अनुभव हो रहा है। वस्तुगत भेद होनेपर भी अस्ति, भाति, प्रिय-तत्त्वका भेद नहीं है। वस्तुगत अस्तितत्त्व ही प्रतीत हो रहा है और वास्तवमें वही प्रियरूप है और भाति यानि प्रतीतिमात्रमें जो एक आनन्दकी अनुभूति होती है यही प्रियता है, वहाँ भी अस्तित्व तो है ही। जहाँ प्रियता है, वहाँ भी प्रतीति और अस्तित्व मौजूद ही हैं। अतः अस्ति, भाति, प्रिय—ये तीनों कोई अलग-अलग विशेषण या शक्ति-विशेष नहीं हैं, किन्तु वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही प्रकृतिको लेकर अस्ति-भाति-प्रियरूपसे प्रतीत हो रहा है। इसके अन्तर्गत दीखनेवाले नाम-रूप-आकारवाले संसारकी उपेक्षा करके इसके आधारस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्माकी उपासना करनेसे साधक कृतकृत्य हो जाता है।

सगुण-साकार-तत्त्व

वे निर्गुण-सगुण सच्चिदानन्दघन सर्वव्यापी पूर्णब्रह्म परमात्मा वास्तवमें जन्म-मृत्युसे सर्वथा रहित होनेपर भी जब आवश्यकता समझते हैं, तब अपनी दिव्य प्रकृतिको लेकर सगुण-साकाररूपसे प्रकट होते हैं (गीता ४। ६)। वे परम दयालु भगवान् अपने प्रेमी भक्तोंका उद्धार करने, उनके इच्छानुसार उन्हें दर्शन देकर, उनके साथ लीला करके उन्हें परम आनन्दित करने, अपने दर्शन आदिके द्वारा लोगोंके समस्त पापोंका समूल विनाश करने, अपने दिव्य गुण, प्रभाव, नाम, रूप, लीला, तत्त्व और रहस्यका विस्तार करके उनके श्रवण, मनन, पठन, चिन्तन, कीर्तन आदिके द्वारा सम्पूर्ण लोगोंके लिये आत्मोद्धारका मार्ग खोल देने, दुष्ट-दुराचारी मनुष्योंकी बुरी आदत छुड़ाने और उन्हें दण्ड देकर अथवा मारकर पापोंसे मुक्त करनेके लिये लीला-विग्रह धारण करते हैं। वे वेद-शास्त्रानुकूल आचरणके द्वारा धर्मका महत्त्व दिखलाकर, अपनी अलौकिक अप्रतिम दिव्य प्रभावशालिनी वाणीके द्वारा धर्मके तत्त्वका उपदेश देकर, सम्पूर्ण मनुष्योंके अन्तःकरणमें वेद, शास्त्र, धर्म, परलोक, महात्मा और अपनेपर श्रद्धा उत्पन्न कराकर, सदाचार-सद्गुण और सद्भावोंसे विश्वास प्रेम उत्पन्न कराकर तथा लोगोंको उन्हें दृढ़तासे धारण कराकर संसार-सागरसे उनका उद्धार करनेके लिये राम, कृष्ण, नृसिंह आदि स्वरूपोंसे प्रकट होते हैं (गीता ४। ८)।

भगवान्‌का अवतार-विग्रह दिव्य, अलौकिक और अद्भुत होता है। वे परमात्मा मायाके वशमें होकर जन्म नहीं लेते; किंतु अपनी विद्यामयी प्रकृतिको अपने वशीभूत करके योगमायासे प्रकट होते हैं। यह भगवान्‌का प्रकट होना जीवोंके जन्मकी अपेक्षा बहुत ही विलक्षण और दिव्य है। जगत्‌के सभी चराचर जीव अपने गुण, कर्म, स्वभावके वशमें हुए प्रारब्धानुसार सुख-दुःखादि भोग भोगनेके लिये जन्म लेते हैं; परंतु परमात्मा किसीके भी वशमें न होकर अपनी इच्छासे केवल जीवोंपर अहैतुकी कृपा करके ही अवतरित होते हैं। इस प्रकार ईश्वरका प्रकट होना उनकी आनन्दमयी लीला है और जीवोंका जन्म लेना दुःखमय है। भगवान् प्रकट होनेमें सर्वथा स्वतन्त्र हैं और जीव जन्म लेनेमें सर्वथा परतन्त्र हैं। ईश्वरके अवतरित होनेमें केवल उनकी अहैतुकी कृपा ही कारण है और जीवोंके जन्ममें हेतु उनके शुभाशुभ कर्म हैं।

विग्रह-तत्त्व

वे सर्वत्र परिपूर्ण सत्स्वरूप परमात्मा ही दिव्य विग्रहरूपमें प्रकट होते हैं। भगवान्‌का वह दिव्य विग्रह अलौकिक, अद्भुत और विलक्षण है (गीता ४। ९) और वे परमात्मा अपनी पूर्ण शक्तिसे ही प्रकट होते हैं। उनका साकार विग्रह एक देशमें प्रकट दीखनेपर भी वे वास्तवमें न तो दूसरे देशसे हट जाते हैं और न एक देशमें सीमाबद्ध ही हो जाते हैं। वे जीवकी तरह शरीरधारी नहीं होते। उनके विग्रहमें देह-देहीभाव नहीं है, उनका वह विग्रह दिव्य चिन्मयस्वरूप ही है, जिसका यथार्थ अनुभव दिव्य नेत्रवाले भक्तोंको होता है, दूसरोंको नहीं।

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥

भगवान्‌ने भी कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(गीता ७। २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझे जन्मरहित अविनाशी परमात्मा नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है।'

जीवोंके शरीर तो अनित्य, पापमय, रोगग्रस्त, लौकिक, विकारी, पाञ्चभौतिक और रज-वीर्यसे उत्पन्न होनेवाले होते हैं और परमात्माका वह साकार विग्रह नित्य, पाप-पुण्यसे रहित, अनामय, अप्राकृत, विकाररहित, विशुद्ध, परम दिव्य और प्रेममय होता है; अन्य जीवोंकी अपेक्षा तो देवताओंका शरीर भी दिव्य होता है; परन्तु भगवान्‌का स्वरूप उससे भी अति

दिव्य विलक्षण होता है, जिसका देवतालोग भी दर्शन चाहते रहते हैं। (गीता ११। ५२)

भगवान् श्रीराम तथा श्रीकृष्ण जब इस धरातलपर अवतरित हुए, उस समय वे माता कौसल्या और देवकीके गर्भसे उत्पन्न नहीं हुए। पहले उनको अपने शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी स्वरूपका दर्शन देकर फिर वे ही माताकी प्रार्थनासे बालरूपमें लीला करने लगे।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी॥
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी॥
माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजै सिसुलीला अति प्रियसीला यह सुख परम अनूपा॥
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा।

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ३। ३०)

माता देवकीने कहा—'विश्वात्मन्! शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मकी शोभासे युक्त इस चार भुजाओंवाले अपने अलौकिक—दिव्यरूपको अब छिपा लीजिये।'

जब भगवान् श्रीराम परमधाम पधारने लगे, उस समय वे अन्तर्धान हुए थे। मनुष्य-देहकी भाँति उनका देह यहाँ नहीं रहा, वे इसी शरीरसे वैकुण्ठधाममें चले गये।

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥

(वा० रा० उत्तरकाण्ड ११०। १२)

'महामति भगवान्ने पितामह ब्रह्माजीके वचन सुनकर और तदनुसार निश्चय कर तीनों भाइयोंसहित अपने उसी शरीरसे वैष्णव-तेजमें प्रवेश किया।'

भगवान् श्रीकृष्णके लिये भी ऐसे ही वचन मिलते हैं।

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥

(श्रीमद्भा० ११। ३१। ६)

'धारणा और ध्यानके लिये अति मङ्गलरूप अपनी लोकाभिरामा मोहिनी मूर्तिको योग-धारणाजनित अग्निके द्वारा भस्म किये बिना ही भगवान्ने अपने धाममें प्रवेश किया।'

भगवान्‌के सृष्टिके सृजन, पालन, संहार आदि तथा अपने अवतारलीला आदि जितने भी कर्म होते हैं, वे सभी परम दिव्य, उज्ज्वल, प्रकाशमय, आनन्दमय, विशुद्ध एवं अलौकिक होते हैं। भगवान्‌के समान कर्म साधारण मनुष्य तो कर ही क्या सकता है; ऋषि, मुनि, देवता और महात्मा भी नहीं कर सकते। जीवन्मुक्त और कारक पुरुषोंकी भी क्रियाएँ भगवान्‌की-जैसी नहीं होतीं। भगवान्‌के कर्म इन सभीकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण और अद्भुत होते हैं, वैसे कर्म चाहे कोई कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो नहीं कर सकता। कारण यह है कि अन्य लोगोंमें शक्ति, विद्या, प्रभाव, ऐश्वर्य आदि परिमित होते हैं और वे भी भगवान्‌के दिये हुए तथा उस सर्वशक्तिस्रोतके अंशमात्रसे ही प्रकाशित होते हैं। अतः उन सर्वैश्वर्यसम्पन्न अमित प्रभावशाली भगवान्‌के कर्म उन सबकी अपेक्षा सब प्रकारसे विलक्षण, दिव्य और अद्भुत होते हैं।

भगवान्‌में अज्ञता, जडता, भूल, आलस्य, प्रमाद, असावधानी, भ्रम आदि किसी भी दोषकी तनिक भी सम्भावना न होने तथा ज्ञान, चेतनता, सावधानी और विज्ञता आदिके स्वाभाविक ही अविचलरूपसे नित्य विद्यमान रहनेके कारण उनके कर्म अत्यन्त ही उज्ज्वल होते हैं।

इसलिये उनके लीला-कर्मोंका तथा गीतादि परम रहस्यमय उपदेशोंका संसारमें जितना ही श्रवण, मनन, पठन, कथन, कीर्तन आदिके द्वारा विस्तार किया जाता है, उतना ही प्राणिमात्रके हृदयमें अज्ञान, अन्धकार, जडता आदिका विनाश होकर परम दिव्य प्रकाशमय ज्ञानका साम्राज्य छा जाता है। जब लोगोंके हृदयमें भी उनके लीलाकर्म और उपदेशके श्रवणादिसे इतना दिव्य प्रकाश छा जाता है, तब फिर उनके स्वयं परम दिव्य प्रकाशमय होनेमें तो सन्देह ही क्या है।

वे प्रेममय भगवान् जिनके साथ जो कुछ भी व्यवहार करते हैं, उसमें निष्काम प्रेम और अहैतुकी कृपा भरी रहनेके कारण जिनके साथ व्यवहार किया जाता है, वे प्राणी परम आह्लादित हो जाते हैं। भगवान् जिस तरफ देखते हैं, वह सारी दिशा प्रेम और आनन्दमय बन जाती है। उनकी देखी हुई वस्तुओंमें, उनकी क्रीड़ा की हुई भूमिमें इतना आनन्द और प्रेम भरा हुआ है कि हजारों-लाखों वर्षोंतक उनसे लोगोंको परम लाभ होता रहता है। भावुक प्रेमी भक्त उन लीलास्थलियोंमें निवास करते हैं और जन्म-मरणादि सांसारिक दुःखोंसे सर्वथा मुक्त होकर उस परमानन्दका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

जो भगवान्‌के अनुकूल होकर प्रेम रखते हुए श्रद्धा-बुद्धिसे उनके दर्शनादि करते हैं, उनके आनन्दलाभमें तो कहना ही क्या है; जो द्वेषभावसे भगवान्‌से विरोध रखकर विपरीत आचरणोंमें ही लगे रहते हैं, उनको भी भगवान् दयापरवश हो अपने हाथोंसे मारकर अपना परम दिव्य आनन्दमय धाम प्रदान करते हैं। उनकी मारने आदि

क्रियाओंमें भी परम कल्याण भरा रहता है, इसलिये उनकी सम्पूर्ण क्रियामात्र ही आनन्दमय है।

लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः॥

'जिस प्रकार माताकी बालकपर उसके पालन करने और ताड़ना देनेमें कहीं अकृपा नहीं होती, उसी प्रकार गुण-दोषोंपर नियन्त्रण करनेवाले परमेश्वरकी कहीं किसीपर अकृपा नहीं होती।'

पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान्‌के सभी कर्म निःस्वार्थभावसे होते हैं। उनमें कहीं भी जरा भी स्वार्थ नहीं होता। केवल प्राणियोंपर अकारण करुणा करनेके लिये ही वे निःस्वार्थभावसे कर्मोंका आचरण किया करते हैं। उनको अपने लिये कुछ भी कर्तव्य अथवा प्राप्तव्य नहीं होता तो भी वे लोकसंग्रहार्थ जगत्‌के हितके लिये ही कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। भगवान् गीतामें स्वयं कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

(३। २२)

'हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बर्तता हूँ।'

भगवान्‌के कर्मोंमें अपना निजी कोई स्वार्थ या कामना नहीं होती। उनके कर्म निर्मल पापरहित होते हैं। उनके उपदेश, भाव और आचरणोंका अनुकरण करनेसे पापी-से-पापी भी परम विशुद्ध तरन-तारन बन जाता है। इसलिये भगवान्‌के कर्म परम विशुद्ध और निर्विकार होते हैं।

भगवान्‌के कर्म अलौकिक होते हैं। जहाँ देवताओंकी भी कल्पना नहीं पहुँच पाती और जो बिलकुल असम्भव होते हैं, उन कर्मोंको भी वे सम्भव कर दिखाते हैं। उनकी तो माया ही अघटनघटनापटीयसी है, फिर उन मायाके एकमात्र अधीश्वर परमात्माके कर्म सर्वथा अलौकिक हों, इसमें तो कहना ही क्या है?

जैसे सर्वत्र परिपूर्ण सामान्य अग्नि साधनोंसे साकाररूपमें प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार वह सर्वत्र अस्तिरूपसे प्रतीत होनेवाला निर्गुण सत्तत्त्व ही अपनी अहैतुकी कृपा और भक्तोंके प्रेमके वश होकर दिव्य विग्रहरूपमें प्रकट होता है।

प्रकाश-तत्त्व

भगवान्‌के विग्रहका प्रकाश दिव्य होता है। वह निर्गुण सर्वव्यापी चिन्मयस्वरूप ही स्थूलरूपसे प्रकाशरूपमें आता है। वह प्रकाश प्राकृत नेत्रोंका विषय नहीं होता, दिव्य चक्षुसे ही देखा जा सकता है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

(गीता ११। ८)

'परन्तु मुझको तू इन अपने प्राकृत नेत्रोंद्वारा देखनेमें निःसंदेह समर्थ नहीं है; इसीसे मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ; उससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख।'

यद्यपि अवतारके समय भगवान्‌का विग्रह सबके सामने होनेसे सभीको उनके दर्शन होते हैं; परंतु उनको दर्शन होते हैं योगमायासमावृत साधारण मनुष्यरूपके ही, दिव्यरूपके नहीं।

भगवान्‌का वह दिव्य प्रकाश सूर्य, चन्द्रमा आदिके प्रकाशसे अत्यन्त महान् और विलक्षण होता है। सञ्जयने गीतामें कहा है—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥

(११। १२)

'आकाशमें हजार सूर्योंके एक साथ उदय होनेसे उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्वरूप परमात्माके प्रकाशके सदृश कदाचित् ही हो।'

जैसे सूर्यका प्रकाश होता है; भगवान्‌के विग्रहका भी उसी तरह प्रकाश होता है; किंतु उसमें तीक्ष्णता, उष्णता और दुर्निरीक्ष्यता नहीं होती। भगवान्‌के विग्रहका प्रकाश सूर्यसे भी बहुत अधिक होता है, किंतु सूर्यकी तरह तीक्ष्णता नहीं होती; वह तो चन्द्रमाकी तरह नहीं, चन्द्रमासे भी अत्यन्त विलक्षण, सौम्य, शान्त, शीतल और नेत्राकर्षक होता है। वास्तवमें वह सूर्य-चन्द्रमा-जैसा ही नहीं है और न उसे सूर्य-चन्द्रमा प्रकाशित ही कर सकते हैं, भगवान्‌का प्रकाश इनसे बहुत विलक्षण होता है। भगवान् कहते हैं—

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता १५। ६)

'जिस परमपदको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते—उस स्वयंप्रकाश परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही; वही मेरा परमधाम है (जो कि भगवत्स्वरूप ही है)।'

वास्तवमें सूर्य-चन्द्रमा आदि भी तो भगवान्‌के प्रकाशसे ही प्रकाशित होते हैं, तब वे उसे कैसे प्रकाशित कर सकते हैं? क्योंकि उनमें वह तेज भी भगवान्‌का ही तेज है।

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम्॥

(गीता १५। १२)

'सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है, उसको तू मेरा ही तेज जान।'

सूर्य, चन्द्रमाका प्रकाश तो पार्थिव पदार्थोंसे आवृत हो जाता है, अतः उससे छाया भी पड़ती है, परन्तु भगवद्विग्रहका प्रकाश, चाहे पहाड़ भी बीचमें क्यों न आ जाय, आवृत नहीं होता और न उससे छाया ही पड़ती है। वह प्रकाश दिव्य चिन्मय होता है और सूर्य-चन्द्रमाका प्रकाश भौतिक होता है।

चितिशक्ति स्वयं आत्मस्वरूप है। वह बुद्धितत्त्वसे जाननेपर ज्ञानरूपसे प्रतीत होती है और वही नेत्ररूपसे दीखनेपर प्रकाशरूपसे प्रकट दीखने लगती है, तत्त्वतः वह चिति, भाति और प्रकाश एक ही वस्तु है।

प्रेम-तत्त्व

वे निर्गुण आनन्दमय सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा ही प्रेमरूपसे साकार विग्रहके रूपमें प्रकट होते हैं। परमात्माका प्रेम बड़ा विलक्षण है। परमात्माका दिव्य विग्रह प्रेममय होता है, जिसके दर्शन करनेसे खर, दूषण, जरासन्ध-जैसे विरोधी जीवोंके भी चित्त उस ओर जबरन् खींचे जाते हैं। उनके उस प्रेममय विग्रहमें विलक्षण आकर्षण होता है। जहाँ भगवान्की कथा होती है, लीला-विग्रह आदिका वर्णन होता है, वहाँ भी प्रेम, आनन्द और शान्तिकी बाढ़-सी आ जाती है, सर्वत्र परम शान्तिमय वातावरण छा जाता है। उस वर्णनको सुनकर श्रद्धालु प्रेमियोंका हृदय प्रेमसे तर हो जाता है। उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती है, कण्ठ गद्गद हो जाते हैं, वाणी रुक जाती है और समस्त अङ्ग पुलकित हो उठते हैं। इस प्रकार भक्त प्रेममें मतवाले हो जाते हैं। महात्मा श्रीनन्ददासजी कहते हैं—

कृष्ण नाम जब ते मैं श्रवण सुन्यौ री आली!
भूली री भवन मैं तौ बावरी भई री॥

जब उसकी कथा-वार्ता सुननेसे ही इतना असर पड़ता है, तब वह स्वयं कितना प्रेममय है—इसका अनुभव तो परम प्रेमास्पद भगवान्के दर्शन किये हुए सच्चे प्रेमी भक्त ही कर सकते हैं; पर वे भी उस प्रेमका वर्णन करनेमें अपनेको असमर्थ ही पाते हैं। प्रेमका स्वरूप वर्णन करते हुए श्रीनारदजी कहते हैं—

'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।' 'मूकास्वादनवत्।' 'गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।'

(नारदभक्तिसूत्र ५१-५२, ५४)

प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है। गूँगेके स्वादकी भाँति उसका वर्णन नहीं हो सकता। यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है।

जो इस प्रेमके तत्त्वको जान जाता है, वह स्वयं प्रेममय बन जाता है। उसे प्रेम-ही-प्रेम दीखता है, प्रेममय भगवान्के सिवा उसे अन्य कोई वस्तु नजर ही नहीं आती।

यह भगवत्प्रेम वाणीका विषय नहीं है। संसारमें स्त्री, पुत्र, धन, शरीर, मान-बड़ाई आदिके प्रति जो प्रेम देखनेमें आता है, वह तो प्रेम ही नहीं है, राग है। राग और प्रेममें महान् अन्तर है। राग रजोगुणी है और प्रेम गुणातीत है, गुणोंके दायरेसे परेकी वस्तु है। रागमें अपने इन्द्रियोंकी तृप्ति और अपना स्वार्थ रहता है, प्रेममें केवल प्रेमास्पदका आनन्द, उसकी प्रसन्नता और अपने स्वार्थका सर्वथा त्याग रहता है। रागके विषय जड भोगरूप पदार्थ होते हैं, परंतु प्रेमके विषय साक्षात् चिन्मय परमात्मा होते हैं, जड पदार्थ नहीं। जीवोंसे जो प्रेम किया जाता है, उसका भी विषय चेतन ही होता है, क्योंकि प्रेम स्वयं चिन्मय है, पर जहाँ केवल जड शरीरकी ओर आकर्षण होकर प्रेम होता है, वह प्रेम नहीं, वह तो राग ही कहलाता है। हाँ, वह भी यदि स्वार्थत्यागपूर्वक केवल उसके हितके लिये ही किया जाता है तो प्रेम ही कहा जाता है। अवश्य ही महापुरुषोंसे जो प्रेम किया जाता है वहाँ यदि शरीरमें आकर्षण होकर प्रेम होता है तो भी, वह शरीर अन्य शरीरोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण होने तथा वहाँ अपना लौकिक स्वार्थ न होनेके कारण, वह प्रेम ही माना जाता है। उसका ध्येय पारमार्थिक सत्य वस्तु है, अतः वह प्रेम शरीरको लेकर होनेपर भी दोषी नहीं है तथा भगवान्में जो कामना-सिद्धिके लिये प्रेम किया जाता है, वह भी यद्यपि जड वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये ही है, तो भी भगवान्से सम्बन्ध होनेके कारण वह मुक्तिप्रद ही होता है। भगवान्ने कहा है—**'मद्भक्ता यान्ति मामपि'** (गीता ७। २३)—'मेरे भक्त मुझे चाहे जिस भावसे भजें, अन्तमें वे मुझे ही प्राप्त होते हैं।' और उनकी कामना भी पूर्ण हो जाती है अथवा मिट जाती है। मतलब यह है कि महात्माओंका शरीर प्राकृत होनेपर भी उनसे निःस्वार्थ प्रेम करनेवालेका ध्येय चेतन है तथा भगवान्से सकाम प्रेम करनेवालेका ध्येय जड पदार्थ होनेपर भी भगवान्का विग्रह चेतनस्वरूप है—यहाँ एक अंशमें कमी रहनेपर भी दोनों ही जगह चेतनका सम्बन्ध होनेसे वह प्रेम ही

कहा जाता है और उससे निःसंदेह कल्याण हो जाता है। पर असली प्रेम तो वह है जो जडतारहित, ज्ञानपूर्ण, निष्कलङ्क, निःस्वार्थ, परमशुद्ध और केवल प्रेमके लिये ही होता है। यह प्रेम रागकी समाप्ति होनेके बाद जाग्रत् होता है और वैराग्यकी ऊँची-से-ऊँची स्थिति होनेपर आरम्भ होता है।

वह प्रेम रसमय, आनन्दमय, प्रकाशमय, त्यागरूप, दिव्य और परम शान्तिरूप है। उसमें दुःख, विक्षेप, जलन, चिन्ता, उद्वेग, भय आदिका लेश भी नहीं है, प्रेम और भगवान् वस्तुतः दो नहीं, एकरूप ही हैं। ऐसा होनेपर भी भगवान्‌के दर्शन होनेपर प्रेम हो ही जाय, यह सर्वत्र अबाधित नियम नहीं है, पर प्रेम होनेपर तो भगवान् मिल ही जाते हैं। इसलिये प्रेमकी कीमत भगवान् भी नहीं हैं, बल्कि भगवान्‌की ही कीमत प्रेम है; अतः प्रेम भगवान्‌से भी बढ़कर है। इसलिये दिव्य प्रेमको प्राप्त किये हुए भगवद्भक्त भगवान्‌के दर्शनोंकी भी परवा नहीं करते, बल्कि भगवान् ही उन भक्तोंकी चाह किया करते हैं।

प्रेम बड़ी ही अलौकिक वस्तु है। वह द्वैत-अद्वैत, भेद-अभेद, सबसे निराला, विलक्षण अलौकिक तत्त्व है। प्रेम और आनन्द वस्तुतः एक ही वस्तु हैं। क्योंकि प्रेम होनेपर ही आनन्द होता है और जहाँ आनन्द होता है, वहीं प्रेम होता है।

सबकी एकता

सत्-रूप परमात्माका जो होनापना है, जो सामान्यरूपसे सर्वत्र सर्वदा परिपूर्ण है, वही कृपापरवश हो भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये श्रीविग्रहरूपसे प्रकट होता है और जो सामान्य चिन्मय ज्ञानस्वरूप परमात्मा है, वही श्रीविग्रहके प्रकाशरूपसे प्रकट होता है तथा जो निरतिशय आनन्दघन परमात्मा है, वही श्रीविग्रहमें प्रेमरूपसे प्रकट होता है। जैसे सत्, चित्, आनन्द—ये तीनों शब्दतः अलग-अलग होनेपर भी वस्तुतः एक ही हैं और परमात्माके स्वरूप ही हैं, उसके कोई विशेषण या उपाधि नहीं, उसी तरह साकार परमात्मा उसका प्रकाश तथा प्रेम भी कोई भिन्न-भिन्न चीजें नहीं हैं।

प्रेम हरीको रूप है, त्यों हरि प्रेम स्वरूप।
एक होय दोमें लसै, ज्यों सूरज अरु धूप॥

तत्त्व-विवेचन

इस प्रकार परमात्माके सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार, अस्ति-भाति-प्रियरूप सगुण-निराकार, दिव्य विग्रह, प्रकाश और प्रेममय सगुण-साकार स्वरूपका तथा उन सबकी एकताका कुछ संकेत कराया गया। अब इनकी एकताके प्रतिपादक गीताके निम्न श्लोककी कुछ व्याख्या की जाती है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(४।६)

भगवान् कहते हैं—'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

इस श्लोकमें भगवान्‌ने छः बातें कही हैं—तीन अपने स्वरूपके सम्बन्धमें, दो प्रकृतिके सम्बन्धमें और एक अवतार लेनेके सम्बन्धमें। ये क्रमशः इस प्रकार हैं—

मैं (१) अजन्मा होते हुए भी, (२) अविनाशीस्वरूप होते हुए भी, (३) समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी, (४) अपनी प्रकृतिको अधीन करके, (५) अपनी योगमायासे, (६) प्रकट होता हूँ।

इन छहोंमेंसे 'अजन्मा' और 'अविनाशी' होते हुए भी—ये दो तो निर्गुण-निराकार तथा 'समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी'—यह सगुण-निराकारका एवं 'अपनी प्रकृतिको अधीन करके'—यह भगवान्‌के श्रीविग्रहके तत्त्वका द्योतक हैं। 'प्रकट होता हूँ'—इससे अपने साकाररूपसे प्रकट होनेकी बात कही है। ऐसे साकाररूपसे प्रकट होनेपर भी अभक्त उन्हें नहीं जान पाते; क्योंकि भगवान् योगमायासमावृत रहते हैं—यह बात भगवान्‌ने 'अपनी योगमायासे'—इस पदके द्वारा व्यक्त की है।

भगवान् अज अर्थात् जन्मरहित रहते हुए ही जन्म लेते हैं अर्थात् प्रकट होते हैं। जन्म लेनेपर भी भगवान्‌के 'अज'पनेमें कभी किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं होती। भगवान् अव्ययात्मा यानी परिवर्तन, क्षय, विनाश आदि विकारोंसे सर्वथा रहित रहते हुए ही लोगोंके सामनेसे अन्तर्धान हो जाते हैं; किंतु अन्तर्धान हो जानेपर भी वे कहीं नष्ट नहीं हो जाते। इसी प्रकार प्राणिमात्रके एकमात्र महान् शासक—ईश्वर रहते हुए ही वे किसी देशविशेषमें माता-पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले नाम-रूपविशिष्ट बालक बन जाते हैं; परंतु बालक बन जानेपर भी उनके शासकत्वमें कोई भी कमी नहीं आती। वे ही भगवान् अपनी प्रकृतिको अधीन करके प्रकट होते हैं; किन्तु इस प्रकार प्रकट होनेपर भी वे प्रकृतिके परतन्त्र नहीं हो जाते, बल्कि प्रकृति तो उनके अनुकूल चलनेवाली उनकी दासी ही रहती है। वे नित्य ज्ञानस्वरूप भगवान् अपने ऊपर योगमायाका परदा रखकर प्रकट होते हैं, पर भगवान्‌का दिव्य ज्ञान उससे जरा भी आवृत नहीं होता। प्रेमी भक्तोंके लिये भी वह परदा नहीं रहता, वे तो उनके चिन्मय स्वरूपका दर्शन कर ही लेते हैं। इस आवरणसे तो भगवान्‌की भक्तिसे रहित

मूढलोग ही उन्हें नहीं जान पाते।

इस श्लोकमें भगवान्‌ने अपने निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार एवं सगुण-साकार-स्वरूपकी एकता की है। भगवान् श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि वह निर्गुण सच्चिदानन्दघन सर्वव्यापी परमात्मा मैं ही हूँ और मैं ही समय-समयपर साकाररूपमें प्रकट होता हूँ। गीतामें कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(१४।२७)

'उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य-धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ।'

यहाँ भगवान्‌ने अपने जिन-जिन रूपोंका वर्णन किया है, उनमेंसे अगर एक भी रूपके तत्त्वका ज्ञान हो जाय तो मनुष्य जीवन्मुक्त और कृतकृत्य हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें अपने किसी एक रूपको भी जाननेवालेको असम्मूढ—ज्ञानवान् और न जाननेवालेको मूढ बतलाया है, यह बात नीचे लिखे उद्धरणोंसे स्पष्ट की जाती है।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

(गीता १०।३)

यहाँ भगवान्‌ने अपने 'अज'—जन्मरहित रूपको जाननेवाले—का सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होना बतलाया है तथा उसे सब मनुष्योंमें असम्मूढ—ज्ञानवान् बतलाया है।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(गीता ७।२५)

यहाँ 'अज' नहीं जाननेवालेको मूढ कहा है।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

(गीता ९।१३)

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५।१७,१९)

यहाँ भगवान्‌ने 'अव्यय' स्वरूपके जाननेवालेको असम्मूढ—ज्ञानवान् और सर्ववित् बतलाया है।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(गीता ७। २४-२५)

इन श्लोकोंमें 'अव्यय' स्वरूपके न जाननेवालेको बुद्धिहीन और मूढ कहा गया है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(गीता ५।२९)

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

(गीता १०।३)

यहाँ 'सर्वलोकमहेश्वर' रूपके जाननेवालेको शान्तिकी प्राप्ति बतलायी है और उसे असम्मूढ कहा गया है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(गीता ९।११)

यहाँ 'भूतमहेश्वर' रूपको न जाननेवालेको मूढ बतलाया है। यहाँ इस चौथे अध्यायके छठे श्लोकमें वर्णित प्रकृति और योगमाया—ये दो अलग-अलग तत्त्व हैं। प्रकृति परमात्माकी एक नित्य दिव्य शक्ति है और उस प्रकृतिके ही एक अविद्यामय अंशको अज्ञान या माया कहते हैं जो कि प्रकृतिके कार्यरूप तीनों गुणोंवाली है। ज्ञानमार्गी इस प्रकृतिको विद्या कहते हैं और इस ब्रह्मविद्या—अध्यात्मविद्या (गीता १०।३२) का अवलम्बन लेकर अविद्याका नाश करके परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करते हैं तथा भक्तजन इसे भगवान्‌की भक्ति—दैवी सम्पत्ति कहते हैं, जिसका आश्रय लेकर वे भगवान्‌के दर्शन करते हैं। वही भगवान्‌की ओर ले जानेवाली भगवान्‌की दैवी प्रकृति है।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

(गीता ९।१३)

इसमें परमात्माकी दैवी प्रकृतिका आश्रय लेनेवालोंको महात्मा बतलाया है।

दैवी योगमाया तो बन्धनकारक, दुस्तर, मोहित करने-वाली और परमात्माकी ओरसे दूर ले जानेवाली है। इसे ही अविद्या कहते हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७।१३-१४)

इस मायाका आश्रय लेनेवाले लोग उस अव्यय परमात्माको नहीं जान पाते।

गीतामें खोज करनेपर यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि

यह माया गुणमयी है। गुण मायासे उत्पन्न नहीं है। इनको तो भगवान्‌ने प्रकृतिसे उत्पन्न बतलाया है। यथा—

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

(३ । ५)

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥

(१३ । १९)

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।

(१३ । २१)

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।

(१४ । ५)

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥

(१८ । ४०)

भगवान्‌ने मायाको गुणमयी बतलाया है, न कि प्रकृतिको। '**मयट्**' प्रत्यय विकारार्थमें भी होता है, इसलिये यहाँ मायाको गुणोंका विकार माना है। प्रकृति तो गुणोंसे क्या मायासे भी परेकी वस्तु है। इसीलिये भगवान् प्रकृतिको अधीन करके लीला-विग्रह धारण करते हुए भी मायिक या गुणमय नहीं हो जाते। वे तो सदा सर्वथा दिव्य अमायिक गुणातीत ही स्थित रहते हैं, पर मायाका पर्दा लेकर प्रकट होनेके कारण साधारण जीव उन्हें नहीं जान पाते और भगवान्‌को साधारण मनुष्य ही मानने लगते हैं। (गीता ७ । २४; ९ । ११)

इस प्रकार माया और प्रकृति—ये दो अलग-अलग तत्त्व हैं और इनमें बड़ा भारी अन्तर है।

यहाँ यह बात समझनेकी है कि सगुण-साकार परमात्मा अज, अव्यय और गुणातीत हैं। भगवान्‌का दिव्य विग्रह प्रकृतिजन्य तीनों गुणोंके अंदर नहीं है। भगवान्‌ने कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥

(७ । १३)

'गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सब संसार—प्राणिसमुदाय मोहित हो रहा है, इसीलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशी परमात्माको नहीं जानता।'

सगुण-साकार भगवान् इन तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे हैं। जब उनकी उपासना करनेसे ही मनुष्य गुणातीत हो जाता है, तब फिर वे स्वयं तीनों गुणोंसे परे हैं—इसमें तो संदेह ही क्या है। भगवान् कहते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।

(१४ । २६)

'जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है।'

यदि साकार भगवान् तीनों गुणोंके अंदर होते तो उनकी उपासना करनेसे मनुष्य गुणातीत कैसे हो सकता। अतः भगवान्‌का दिव्य विग्रह मायिक नहीं है। यदि मायिक होता तो आत्मनिष्ठ ज्ञानीजनोंका उसमें आकर्षण क्योंकर होता। तत्त्वज्ञानी जनकजीका भी मन भगवान् श्रीराम-लक्ष्मणके स्वरूपको देखकर आकर्षित हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने उनकी स्थितिका वर्णन करते हुए कहा है—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी ॥
प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर ।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर ॥
सहज बिराग रूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा ॥
पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू ॥

एक बार सनकादि ऋषि वैकुण्ठमें जा रहे थे, वहाँ भगवान्‌के द्वारपाल जय-विजयने उन्हें भीतर जानेसे रोका। तब सनकादिने उनको तीन जन्मोंतक राक्षस होनेका शाप दे दिया। भगवान् अपने अनुचरोंद्वारा श्रेष्ठ पुरुषोंका अपमान हुआ जानकर स्वयं लक्ष्मीसहित वहाँ पधारे। उस समय भगवान्‌के दर्शनसे उनकी जो दशा हुई, वह बड़ी विलक्षण थी। भागवतकार लिखते हैं—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥

(३ । १५ । ४३)

'प्रणाम करनेपर उन कमलनेत्र भगवान्‌के चरणकमलकी परागसे मिली हुई तुलसी-मञ्जरीकी हवाने उनके नासिका-छिद्रोंमें प्रवेशकर उन अक्षर परमात्मामें नित्य स्थित रहनेवाले ज्ञानी महात्माओंके भी चित्त और शरीरको क्षुब्ध कर दिया।'

जिनका मन 'सहज विरागरूप' था जो अक्षर परमात्मामें नित्य स्थिर रहनेवाले थे, जिन्हें '**दुःखदोषानुदर्शनम्**' का साधनापूर्वक वैराग्य करना नहीं पड़ता था, उन जनक और सनकादिकोंका चित्त भी भगवान्‌की ओर खिंच जाता है। वे विलक्षण प्रेमार्णव भगवान् मायिक कैसे हो सकते हैं?

इस निर्गुण-सगुण-साकार तत्त्वकी एकता बतलानेवाले श्लोकमें '**अपि**' और '**सन्**' पदोंके दो बार देनेका यह स्वारस्य **है कि निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार**

वस्तुतः एक ही तत्त्व हैं। इनमें अनेकता तो साधकोंके दृष्टिभेदके ही कारण दीखती है। परमात्माका जो ध्यान, चिन्तन, धारण, भावना और ज्ञान किया जाता है, वह सब मन-बुद्धिके द्वारा ही किया जाता है और परमात्मा वस्तुतः मन-बुद्धिसे अतीत हैं। अतः वृत्तिके द्वारा जो कुछ भी निश्चित किया जाता है, उससे परमात्मा वास्तवमें परे ही रह जाते हैं। इसलिये मन-बुद्धिसे पकड़ा हुआ परमात्माका कोई भी स्वरूप वास्तविक नहीं, कल्पित ही है। यद्यपि मन-बुद्धि परमात्माके यथार्थ स्वरूपतक नहीं पहुँच पाते, तथापि परमात्मा तो सर्वातीत होते हुए साधककी कल्पनामें भी मौजूद हैं ही; क्योंकि वे देश, काल, वस्तु, भाव और धारणा—सभीमें अविच्छिन्न रूपसे सदा ही विद्यमान हैं। तथा परमात्माकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले पुरुषका लक्ष्य परमात्मा होनेके कारण उनके परम भावको समझकर सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार—किसी भी रूपकी कैसी भी भावना क्यों न की जाय, उसका भी फल परमात्माकी प्राप्ति ही होता है। अतः परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे जो भी कुछ साधन किया जाता है उसका फल वस्तुतः सत्यस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति ही होनेके कारण सभी साधन वस्तुतः सत्य ही हैं, कल्पित नहीं।

परमात्मा सर्वत्र सर्वदा विद्यमान हैं; किंतु लक्ष्य परमात्मा न रहनेके कारण ही मनुष्य शान्तिलाभसे वञ्चित रहता है। यदि उसका लक्ष्य परमात्मा हो जाय तो किसी भी शास्त्रोक्त उपायसे परमशान्तिकी प्राप्ति हो सकती है। किसी भी मार्गसे चला जाय, वास्तविक परमात्माकी प्राप्तिके बाद तो उस पुरुषकी स्थितिमें किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं होता; परन्तु साधनकालमें उपायभेदके कारण अन्तर रहता है तथा साधनको अन्तिम सीमाकी प्राप्तिमें भी भेद रहता है। नीचे इस विषयमें कुछ लिखा जाता है—

दर्शन, ज्ञान, प्रवेशका प्रकरण

सगुण, साकार भगवान्‌की अनन्य भक्ति करनेवाले भक्तोंको परमात्माके दर्शन, उनका तत्त्वज्ञान और उनके स्वरूपकी प्राप्ति—तीनों होते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११।५४)

'परन्तप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ!'

सगुण-निराकारकी उपासनाकी दो प्रणालियाँ होती हैं—एक तो परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं और मैं उनका दास हूँ—इस प्रकारके भेद भावपूर्वक की जाती है। यथा—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

दूसरी प्रणालीमें अभेदभाव रहता है कि सब परमात्मा ही है, मैं कोई उससे अलग वस्तु नहीं—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

(गीता १३।३०)

इन दोनोंमें भेद-प्रणालीसे चलनेवाला साधन-कालमें भेद मानकर सिद्धिकालमें अपनेसे अभिन्न भी मान सकता है और भिन्न भी। भिन्न माननेवाला तो उपर्युक्त सगुण-साकारकी उपासनाके मार्गसे परमात्माके दर्शन करके तथा तत्त्वसे जानकर उन्हें प्राप्त कर लेता है और सिद्धिकालमें साध्यको अपनेसे अभिन्न माननेवाला परमात्माके स्वरूपको तत्त्वतः जानकर निर्गुण-निराकारको प्राप्त हो जाता है। उसे साकार-विग्रहकी भावना तथा दर्शनकी इच्छा न रहनेके कारण उनके दर्शन नहीं होते।

सगुण-साकारकी उपासनासे नेत्रोंसे दर्शन, बुद्धिसे ज्ञान और आत्मासे प्राप्ति—तीनों होते हैं और सगुण-निराकारकी उपासनासे केवल बुद्धिसे ज्ञान और आत्मासे प्राप्ति—दो ही होते हैं एवं मन, बुद्धिका विषय न होनेसे निर्गुण-निराकारकी तो उपासना ही नहीं बन सकती; वहाँ तो केवल आत्मासे प्राप्ति ही होती है।

अभेद-भेदमार्गका वर्णन

साधनका आरम्भ सगुण-निराकारसे ही होता है। साधनके मुख्य भेद दो ही हैं—निर्गुण और सगुणकी उपासना अथवा यों कहें कि अभेद और भेदमार्ग।

निर्गुण-निराकारका उद्देश्य रखकर अभेदभावसे उपासना करनेमें मुख्य साधन है—एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र सदा परिपूर्ण है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है; सम्पूर्ण पदार्थ, क्रिया, भाव, व्यक्ति—सभी मृगतृष्णाकी अथवा स्वप्नकी सृष्टिकी तरह केवल मायामय ही है—इस प्रकारकी वृत्तिको हर समय अटल बनाये रखना। यह भाव यदि बुद्धिमें अच्छी तरह न बैठे तो वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सर्वत्र सदा परिपूर्ण है—इस प्रकार परमात्माकी सत्ताको ही प्रधान लक्ष्य बनाकर साधन किया जा सकता है।

सगुण-उपासनामें भेदभाव ही मुख्य है और भेदभावमें ऊँची-से-ऊँची स्थिति परमात्माके साकार स्वरूपके साक्षात् दर्शन होना है। इसके लिये निरन्तर साकार इष्टदेवके नामका

जप और उनके स्वरूपका चिन्तन करना ही मुख्य साधन है। यदि साकार रूप ध्यानमें न आये, तो भी परम प्रेममय, परम दयालु भगवान् सदा सर्वत्र विराजमान हैं, वे मेरे साथ चलते हैं, मेरे साथ प्रत्येक कार्य करते हैं और मुझे अपने आज्ञानुसार चलते देखकर प्रसन्न होते रहते हैं तथा बड़ी ही कृपादृष्टिसे मुझे देख रहे हैं, मैं इस प्रकार उनकी कृपादृष्टिमें रहकर सदा प्रसन्न रहता हुआ उन्हींके आज्ञानुसार चलता हूँ। इस तरह भगवान्की सत्ताको लक्ष्य बनाकर भी साधन किया जा सकता है।

निर्गुण-सगुण—दोनों ही उपासनाएँ परमात्माकी सत्ताकी प्रधानता रखकर ही होती हैं, अतः ये सगुण-निराकारसे ही आरम्भ होती हैं। निर्गुण उपासनामें तो ज्यों-ज्यों दूसरी विजातीय—प्रकृतिकी सत्ता हटती जाती है और जीव-ब्रह्मका भेद मिटता जाता है तथा वृत्तियाँ सूक्ष्म होती चली जाती हैं, त्यों-ही-त्यों वह उपासना ऊँची—श्रेष्ठ मानी जाती है। सगुण-साकारकी उपासनामें ज्यों-ज्यों भगवान्का विग्रहरूप ध्यानमें आने लगता है अर्थात् वृत्तियाँ विशेषरूपसे भगवदाकार बनती जाती हैं, जितना ही भगवान्का स्वरूप वृत्ति और इन्द्रियोंका विषय होता चला जाता है, उतनी ही वह उपासना ऊँची—श्रेष्ठ मानी जाती है।

निर्गुण-निराकारको लक्ष्य करके उपासना करनेवाले पुरुषकी उपासनाकी पूर्णता होनेपर उसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन बोध-स्वरूप परमात्मा ही रह जाते हैं। परमात्माके सिवा अन्य किसी भी वस्तुका संकल्प भी नहीं रहता। उसके ज्ञानमें अपनी तथा संसारकी सत्ता परमात्मासे भिन्न नहीं रहती। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय—सभी कुछ एक परमात्मस्वरूप ही बन जाते हैं, तब वह कृतकृत्य हो जाता है।

सगुण-साकारकी उपासनाकी पूर्णता होनेपर भक्तको नेत्रोंसे भगवान्के दिव्य स्वरूपका साक्षात् दर्शन होता है, वह उनके विग्रहकी दिव्य गन्धका अनुभव करता है, उसमें भक्तोंके समस्त लक्षण घटने लग जाते हैं, जो कि भगवान्ने स्वयं गीता अध्याय १२में श्लोक १३ से १९ तक कहे हैं। तथा भगवान्के प्रत्यक्ष मिलनके समय जो भी घटनाएँ होती हैं, वे बादमें भी सत्य ही प्रमाणित होती हैं—जैसे ध्रुवजीको शङ्ख छुआनेपर समस्त शास्त्रोंका ज्ञान हो जाना आदि।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी अध्याय ३ श्लोक ३में परमात्माकी प्राप्तिके ये दो स्वतन्त्र मार्ग बतलाये हैं—(१) सांख्यनिष्ठा, (२) योगनिष्ठा। ये दोनों ही मार्ग एक-दूसरेसे पूर्व-पश्चिमकी भाँति अत्यन्त भिन्न हैं; किन्तु ऐसा होनेपर भी दोनोंके द्वारा प्रापणीय वस्तु एक ही है (गीता ५।४-५)। सांख्ययोगी परमात्मासे अपनी कोई अलग सत्ता नहीं मानता तथा प्रकृतिसे उत्पन्न गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—यों समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली समस्त क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे सर्वथा रहित होकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही अभिन्नभावसे नित्य स्थित रहता है। किन्तु कर्मयोगी साधनकालमें कर्म, कर्मफल, परमात्मा और अपनेको भिन्न-भिन्न मानकर फल और आसक्तिका त्याग करके भगवान्की आज्ञाके अनुसार भगवान्के लिये ही समस्त कर्मोंका आचरण करता है। इसलिये ये दोनों मार्ग एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं।

इस प्रकार एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न होनेके कारण एक पुरुष एक समयमें ही दोनोंका अनुष्ठान एक साथ नहीं कर सकता। हाँ, किसीकी रुचि हो तो पहले कर्मयोगका साधन करके फिर सांख्ययोगका साधन कर सकता है; परन्तु सांख्ययोग योगनिष्ठाका अङ्ग नहीं बन सकता, क्योंकि सांख्ययोगमें अभेददृष्टि रहती है। तब वह भेदोपासनारूप योगनिष्ठाका अङ्ग कैसे बन सकता है। यदि किसी सांख्ययोगके साधन करनेवालेकी रुचि और मत बदल जाय और वह उस साधनको छोड़कर योगनिष्ठाका साधन करने लगे तो बात दूसरी है।

उपसंहार

परमात्मा वास्तवमें भेद-अभेद दोनोंसे रहित हैं। परमात्मा निर्गुण भी हैं, सगुण भी हैं; निराकार भी हैं, साकार भी हैं; व्यक्त भी हैं, अव्यक्त भी हैं और इन सबसे रहित तथा विलक्षण भी। जहाँ मन-बुद्धि नहीं पहुँच सकते, परमात्मा वहाँ भी हैं और परमात्माको लक्ष्य बनाकर मन-बुद्धिसे हम जिस किसी भी स्वरूपकी धारणा करते हैं, परमात्मा वहाँ भी हैं ही। इसलिये कोई भी मनुष्य परमात्माके इस तत्त्वको समझकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये उनके किसी भी रूपको लक्ष्य बनाकर साधन करता है तो उसे परमात्माकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है तथा वह प्राप्ति होनेके बाद ही असली स्वरूपको समझता है। पर वहाँ यह कहना भी नहीं बन सकता; क्योंकि वह स्थिति देश, काल, वस्तुसे अतीत है और वहाँ ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयकी त्रिपुटी नहीं है। पर कोई यह समझे कि पहले परमात्माके इस तत्त्वको पूर्ण रीतिसे जान लिया जाय और पीछे उपासना की जाय तो यह नहीं हो सकता। क्योंकि पूर्णरूपसे परमात्माका तत्त्व जान लेना तो उनकी प्राप्तिके बाद ही होता है, पहले तो शास्त्रों, महात्माओंके वचनोंपर विश्वास कर मन-बुद्धिके द्वारा वैसा ही मान लेना पड़ता है। इसीको

शास्त्रोंमें श्रद्धा कहा है तथा श्रद्धा-विश्वासपूर्वक की गयी उपासना ही साधकको वास्तविक तत्त्व पूर्णतः समझानेमें समर्थ होती है।

इसलिये साधकको भेद, अभेद या यों कहें कि भक्ति, ज्ञान इनमेंसे किसी भी एक मार्गको पकड़कर श्रद्धा और तत्परताके साथ उसे तय करनेमें जल्दी-से-जल्दी लग जाना चाहिये। यह मानव-शरीर बहुत ही दुर्लभ है और इससे ऐसा बड़ा भारी काम सिद्ध हो सकता है, जो कि देवयोनिमें भी सुलभ नहीं है। परंतु यह शरीर है अनित्य; इसलिये जल्दी ही सावधान होकर साधनमें लग जाना चाहिये; क्योंकि पारमार्थिक साधनके बिना केवल स्त्री, पुत्र, धन-जन, जमीन-मकान, भोग-सामग्रीके संग्रह और उपभोगमें ही समय बरबाद हो जाता है—जिससे पूर्वके पुण्य तथा पुण्यसे प्राप्त आयु तो नष्ट होती है, साथ ही आसक्ति और स्वार्थ रहनेके कारण न्याय-अन्यायका कोई खयाल न रहनेसे मनुष्य चौरासी लाख योनियों तथा नरक प्राप्त करानेवाले बड़े भारी पापोंको भी बटोरता रहता है और फलतः सदाके लिये दुःखी बन जाता है। भोगोंके उपभोगसे आयु नष्ट होती है, समय बरबाद होता है, अन्तःकरणमें भोगोंके संस्कार जमते हैं, आदत बिगड़ जाती है, धन नष्ट होता है, पुण्य क्षीण होते हैं, शरीर निर्बल और रोगी हो जाता है; भोगोंमें ही रचे-पचे रहनेके कारण धर्मसञ्चय नहीं हो पाता और अन्यायसे भोग भोगनेपर तो पापोंका बोझ भी बढ़ता है। अतः इन असत् भोग-पदार्थोंकी तरफ लक्ष्य न रखकर दुःख, अशान्ति, बन्धन, अल्पता, भय, उद्वेग, चिन्ता, शोक, जलन, ह्रास आदिका जहाँ अत्यन्त अभाव है, ऐसे 'सत्' स्वरूप परमानन्दमय परमात्माकी प्राप्तिके लिये शीघ्रातिशीघ्र अपना सारा बल लगाकर प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि यह शरीर अनित्य है, न जाने कब प्राण चले जायँ और यदि साधन न किया गया तो ऐसा मौका पुनः मिलना बहुत ही कठिन है। यह सुदुर्लभ मानव-शरीर और यह कलियुगका समय प्राप्त करके भी जो मनुष्य सावधान नहीं होता, वह महान् हानि उठाता है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

(केन० २।५)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें ही उस परमात्म-तत्त्वको जान लिया तो सत्य है यानी उत्तम है; यदि इस जन्ममें उसको नहीं जाना तो महान् हानि है। धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माका चिन्तन कर, परमात्माको समझकर इस देहको छोड़ अमृत-स्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

इसलिये मनुष्यको उचित है कि उस परमात्मतत्त्वको जाननेके लिये महापुरुषोंकी शरणमें जाकर, सरल हृदयसे श्रद्धापूर्वक पूछकर उस तत्त्वको समझे और सब संदेहोंका समाधान करके किंकर्तव्य-विमूढ़ताको सर्वथा हटाकर उनके कहनेके अनुसार परमात्माकी प्राप्तिके लिये तत्पर हो जाय। श्रुतिभगवती घोषणा करती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

(कठ० १।३।१४)

'उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंको प्राप्तकर इस तत्त्वको जानो।'

★

हो ही कैसे सकता है, प्रत्युत दुःख ही बढ़ेगा।

गम्भीरतासे विचार कीजिये तो आपको मालूम हो जायगा कि पदार्थोंके मिलनेसे सुख नहीं होता, वरं पदार्थ मिलनेसे दुःखका कारणभूत इच्छा (चाह) और बढ़ती है। कहा भी है—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तृप्त्यर्थमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

'पृथ्वीमें जितने भी धान्य-चावल, जौ, गेहूँ, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब-के-सब मिलकर एक मनुष्यकी तृप्तिके लिये भी पर्याप्त नहीं हैं, ऐसा मानकर तृष्णाका शमन करे; क्योंकि भोग-पदार्थोंके उपभोगसे कामना कभी शान्त नहीं होती, बल्कि जैसे घीकी आहुति डालनेपर आग और भड़क उठती है, वैसे ही भोगवासना भी भोगोंके भोगनेसे प्रबल होती जाती है।

सभी मनुष्य चाहते तो सुख ही हैं, परंतु सुखकी सामग्री इन संसारकी वस्तुओंको ही समझते हैं, इसलिये इन्हींको प्राप्त करनेका प्रयत्न करते देखे जाते हैं। आज पृथ्वीपर ढाई अरब मनुष्य माने जाते हैं, उनमेंसे प्रत्येक व्यक्तिको संसारकी समस्त वस्तुएँ कैसे मिल सकती हैं? क्योंकि वस्तुओंपर सभीका हक है, एवं वस्तुएँ सब मिलकर भी सीमित हैं और उनके चाहनेवाले हैं बहुत अधिक। जब एकको एक भी पूरी नहीं मिल सकती, तब प्रत्येकको सभी वस्तुएँ पूरी कैसे मिलें? मान लीजिये, यदि सभीको मिल भी जायँ, तब भी इन वस्तुओंसे सुख होना सम्भव नहीं; क्योंकि चेतन जीवको केवल पूर्ण चिन्मयतासे ही शान्ति मिल सकती है, अपूर्ण और सीमित जड वस्तुओंसे नहीं। यदि इन नश्वर पदार्थोंके संयोगसे मूर्खतावश जो सुख प्रतीत होता है, उसे ही सुख मान लें, तो भी जड वस्तुएँ तो प्रतिक्षण परिवर्तनशील और नाशवान् हैं तथा जीव नित्य और अविनाशी है। अतः इन दोनोंका नित्य संयोग कैसे रह सकता है?

तो फिर सुख कैसे मिले, सुखका उपाय क्या है? सुखका उपाय है—चिन्मय परमात्माकी प्राप्तिका लक्ष्य और धर्म तथा न्यायका आचरण। अभिप्राय यह है कि जब हमारे आचरण धर्मयुक्त होंगे और जब हम न्यायसे प्राप्त अपने हकके अतिरिक्त और कुछ ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं करेंगे, तभी असली सुखकी उपलब्धि हो सकेगी। यह होगी त्याग और उदारता आनेसे। जिन वस्तुओंको हम सुख देनेवाली समझते हैं, उनको जब हम सभी त्याग और उदारताके भावसे एक-दूसरेको देना चाहेंगे और लेना नहीं चाहेंगे तब उन वस्तुओंकी स्वतः ही बहुतायत हो जायगी और लेनेवाले हो जायँगे कम। उस समय हमारी उदारताके फलस्वरूप दैवी शक्ति भी पूरा काम करेगी, जिससे वस्तुओंका उत्पादन और रक्षण भी अधिक होगा। इस प्रकार सर्वत्र सुखका ही साम्राज्य छा जायगा।

त्याग और उदारताकी भावनासे हमारा मन ज्यों-ज्यों जड पदार्थोंकी ओरसे हटता जायगा, त्यों-त्यों वह चेतन परमात्माकी ओर लगेगा। जडकी ओरसे दृष्टि हटनेपर वह चेतनकी ओर स्वतः ही प्रवृत्त होगी। तब उसकी जो यह मूल धारणा थी कि इन पदार्थोंमें सुख है, वह मिट जायगी। तथा वह चेतन परमात्मा बोधस्वरूप और आनन्द-स्वरूप है, यों समझकर उसकी ओर लक्ष्य दृढ़ हो जानेपर जीव स्वयं ही ज्ञानवान् और आनन्दस्वरूप हो जायगा। उस स्थितिमें ऐसे पुरुषके दर्शन, भाषण और स्पर्शसे दूसरे जीवोंको भी सुख पहुँचेगा; फिर वह स्वयं महान् सुखी है, इसमें तो कहना ही क्या है? जो अपने स्वार्थका त्याग करके जनताका हित चाहता है और बदलेमें किसी भी चीजको लेना नहीं चाहता, वही वास्तवमें सुखी है।

कुछ भाइयोंकी यह धारणा है कि धनी आदमियोंके पास जो धन है, उसे छीनकर अभावग्रस्तोंको बाँट दिया जाय तो सब सुखी हो जायँ, किंतु सोचना चाहिये कि धनी आदमियोंको जिस तरहका सुख प्राप्त है, वह तो दुःखवाला (दुःखपूर्ण) ही सुख है, जिससे वे स्वयं रात-दिन जलते रहते हैं, उन्हें कभी शान्ति नहीं मिलती। अतः उनसे जो सुख मिलेगा, वह तो उसी प्रकारका होगा, जो दुःखपूर्ण है; तथा जिससे धन छीना जायगा, उसे तो महान् कष्ट होगा ही। उसे कष्ट देकर लेनेसे लेनेवालेको भी सुख कैसे होगा, जलन ही होगी तथा वह धन जिसे दिया जायगा, जहाँ जायगा, वहाँ भी दुःख, अशान्ति और जलन ही प्राप्त होगी।

यह सिद्धान्त है कि देनेवाला दे ही दे और लेनेवाला सेवक, परिचारक लेना ही न चाहे, तो इससे देनेवालेमें तो उदारता पैदा होकर प्रसन्नता होगी और देनेवालेकी प्रसन्नतासे लेनेवालेको भी त्यागपूर्वक लेनेसे आनन्द आयेगा तथा वह अमृतमय पदार्थ जहाँ जायगा, वहाँ भी सुख-शान्ति और आनन्दका ही वातावरण पैदा करेगा। तभी सबको सुख मिलेगा और तभी सबके हृदयके भाव उदार होंगे; क्योंकि सुख वस्तुओंमें नहीं है, सुख है हमारे हृदयकी उदारतामें। शास्त्रका वचन है—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

बार-बार नहिं पाइये मनुष-जनमकी मौज

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥

सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माको तथा संत-महापुरुषोंको सादर अभिवादन करके कुछ बातें कहनेकी चेष्टा करता हूँ। इन बातोंमें जो आपको अच्छी लगें, सुन्दर दीखें, उन बातोंको तो संत-महात्माओंकी, शास्त्रोंकी और भगवान्‌की माननी चाहिये तथा जो त्रुटियाँ हों, उन्हें मेरी। त्रुटियोंकी ओर ध्यान न देकर अच्छी बातोंकी ओर ध्यान दें, कारण, जो महापुरुषोंके और भगवान्‌के वचन हैं, वे मेरे और आपके लिये परम हित करनेवाले हैं, उन वचनोंके अनुसार आचरण करनेसे निश्चित कल्याण होता है। आप आचरण करेंगे तो आपका हित और कल्याण है तथा मैं करूँगा तो मेरा कल्याण है।

सबसे पहली एक विशेष ध्यान देनेकी बात यह है कि यह मानव-जीवनका समय बहुत ही दुर्लभ है और बड़ा भारी कीमती है, श्रीमद्भागवतमें बताया है—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥

'दुर्लभो मानुषो देहः'—यह मनुष्यसम्बन्धी देह—यह मानव-शरीर अत्यन्त दुर्लभ है। इसकी प्राप्तिके लिये बड़े-बड़े देवता भी ललचाते रहते हैं; क्योंकि इससे बड़ी-से-बड़ी उन्नति हो सकती है। परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, जीवका कल्याण हो सकता है और सदाके लिये उसे परम शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसे दुर्लभ शरीरको प्राप्त करके जो इसे व्यर्थ ही खो देता है, उसे फिर बड़ा पश्चात्ताप करना पड़ता है; क्योंकि यह सर्वथा अलभ्य, अमूल्य है। अतः इस मनुष्य-

जीवनके एक-एक क्षणको ऊँचे-से-ऊँचे काममें बितानेकी चेष्टा करनी चाहिये। समयके समान कोई अमूल्य वस्तु नहीं है। संसारमें लोग पैसोंको बड़ा कीमती समझते हैं, आवश्यक समझते हैं, किंतु विचार कीजिये, जीवनका समय देनेसे तो 'पैसे' मिल जाते हैं, पर पैसे देनेसे यह 'समय' नहीं मिलता है। हमारे जीवनके लिये हमारे पास हजारों, लाखों, करोड़ों रुपये रहनेपर भी यदि हमारी आयु नहीं है तो हमें मरना पड़ता है, किंतु यदि हमारी आयु बाकी हो और हमारे पास एक भी कौड़ी न हो, तो भी हम जी सकते हैं। हमारे जीवनका आधार आयु है, न कि 'रुपया'। इतना होनेपर भी हमारे भाई लोगोंकी पैसोंमें तो बड़ी भारी आसक्ति, रुचि और सावधानी है। वे बिना मतलब एक कौड़ी भी खर्च करना नहीं चाहते, परंतु 'समय' की ओर ध्यान ही नहीं है। हमारा समय इतनी देर कहाँ लगा और कहाँ गया, इसमें हमने क्या उपार्जन किया, क्या कमाया—इस ओर हमारा खयाल ही नहीं है। बड़े आश्चर्यकी बात है। ठीक कहा है श्रीभर्तृहरिने—

'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।'

इस प्रमाद-मदिरासे उन्मत्तता छायी हुई है। नशेमें जैसे मनुष्यको अपने शरीरका, कपड़ोंका होश नहीं रहता, ऐसे ही इस विषयमें होश नहीं है, चेत नहीं है, इधर ध्यान नहीं है, लक्ष्य नहीं है। नहीं तो ऐसे अमूल्य समयका इस प्रकार सत्यानाश क्यों किया जाता, समय जो निरर्थक ही चला जाता है, यही उसका सत्यानाश करना है। ऐसे अमूल्य समयको कीमती-से-कीमती काममें लानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। क्या करें विचार करनेसे मालूम होता है कि बहुत-से भाई तो ताश-चौपड़, खेल-तमाशेमें ही समयको लगा देते हैं, बीड़ी-सिगरेट, हुक्का, चरस, भाँग आदि नशेके सेवनमें इस समयको बर्बाद कर देते हैं तथा ऐसे ही हँसी-मजाकमें समय खो देते हैं। वे सोचते नहीं कि हम इस आयुमें उपार्जन क्या कर रहे हैं और खर्च कितना हो रहा है।

समय तेजीसे जा रहा है और समयके बीत जाते ही मौत उसी क्षण आ जायगी। मृत्युमें जो देर हो रही है, केवल हमारे जीवनका समय शेष है उसीके आधारपर। हम जी रहे हैं—यह बुद्धिके आधारपर नहीं, बलके आधारपर नहीं, विद्याके आधारपर नहीं, बल्कि समयके आधारपर। जीवनके आधारपर, आयुके आधारपर। वह आयु इतनी तेजीसे निरन्तर जा रही है कि इसमें कभी आलस्य नहीं होता, कभी रुकावट नहीं होती। यह लगातार दौड़ती चली जा रही है और हम बिलकुल असावधान हैं। कितने आश्चर्य और दुःखकी बात है। आश्चर्य इस बातका है कि बुद्धिमान् होकर हम इतनी हानि कर रहे हैं और दुःख इस बातका है कि परिणाम क्या होगा, इसका हम विचार नहीं कर रहे हैं। की हुई भूलका दुःख और परिणाम कर्ताको ही भोगना पड़ता है, अन्य किसीको नहीं। अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह जल्दी-से-जल्दी आध्यात्मिक उन्नतिमें अपने समयको लगाये। भर्तृहरिने कहा है—

यावत् स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत् क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

'जबतक स्वास्थ्य ठीक है, वृद्धावस्था दूर है, इन्द्रियोंमें साधन—भजन-ध्यान करनेकी शक्ति है, आयु समाप्त नहीं हो गयी है, विवेकी बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि तभीतक आध्यात्मिक उन्नतिके लिये बड़ा भारी प्रयत्न कर ले;' क्योंकि घरमें आग लग जानेपर कोई कहे कि जल्दी करो, कुआँ खुदवाओ, आग लग गयी है, जल चाहिये, तो यह सुनकर चाहे कितनी ही जल्दी की जाय, उद्योग किया जाय; किंतु अब कुआँ खुदकर कब जल आयेगा। आयु तो जल्दी-जल्दी खतम हो रही है, इसलिये जल्दी-से-जल्दी अपने उद्धारके लिये चेष्टा करनी चाहिये। आध्यात्मिक उन्नतिके लिये देर नहीं करनी चाहिये। दूसरे जो सांसारिक काम हैं, वे आप करेंगे, तो भी हो जायँगे और आप न करेंगे तो आपके बेटे-पोते इनको कर लेंगे, परंतु आपका कल्याण कौन-से बेटे-पोते कर लेंगे? आपके पास हजारों-लाखोंकी सम्पत्ति है, बहुत धन है, बड़ा कारोबार है, किंतु आपका शरीर जा रहा है और पीछे कोई कुटुम्बी भी नहीं है तो जितना धन है, उसको राज्य सँभाल लेगा, आपकी मिलों, फैक्टरियोंको राज्य चला लेगा, पर आपके उद्धारमें कमी रहेगी तो उसको कौन पूरी करेगा। यह काम दूसरेसे होनेवाला नहीं, इस कामको तो आप स्वयं ही करेंगे तभी होगा, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि दूसरे जितने भी काम हैं, उनकी ओर ध्यान न देकर केवल एक आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर ही ध्यान दे। नीतिकारोंने भी कहा है—

'कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्।'

करोड़ों कामोंको छोड़कर एक भगवान्का स्मरण करना चाहिये। दूसरे मौके तो हरेकको मिल जाते हैं, पर यह मौका बार-बार नहीं मिलता।

खादति मोदते नित्यं शुनकः शूकरः खरः।
तेषामेषां को विशेषो वृत्तिर्येषां तु तादृशी॥

खाना, पीना, ऐश-आराम करना आदि तो मनुष्य क्या,

पशु-पक्षियोंमें भी हो जाता है; परंतु आध्यात्मिक उन्नतिका अवसर मनुष्ययोनिके सिवा और कहीं नहीं है। इसलिये बड़ी सावधानीसे काम लेना चाहिये। आजतकका समय चला गया है, विचार करनेसे दुःख होता है। संतोंने कहा है कि भजनके बिना जो दिन गये, वे हमारे हृदयमें खटकते हैं। किंतु भाइयो ! अब क्या हो !

अब पछिताए होत क्या (जब) चिड़िया चुग गई खेत।

समय चला गया, उसके लिये पछतानेसे क्या होगा। अब तो यही है कि *'गई सो गई अब राख रहीको।'* जो समय बचा है, उसी समयको सावधानीके साथ ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगानेकी विशेष चेष्टा करें तो आगे नहीं रोना पड़ेगा। हो गया सो हो गया; परंतु अब आगेके लिये पूरे सावधान हो जायँ, तभी हमारा जीवन सफल हो सकता है।

आप कहेंगे कि इतने दिन चले गये, अब क्या होगा ? इसका उत्तर यह है कि अब भी निराश होनेकी बात नहीं है। जैसे कुएँमें बहुत रस्सी चली जाती है, पर एक हाथभर भी रस्सी यदि हाथमें रहती है तो उससे लोटेको कुएँसे बाहर निकालकर जल पी लेते हैं; पर यदि वह हाथभर भी रस्सी हाथमें नहीं रहती, वह भी हाथसे छूट जाती है तो फिर ऐसा नहीं है कि वह हाथभर ही नीचे जायगी; वह तो कुएँमें नहीं, कुएँके जलके भी नीचे तहमें चली जायगी। फिर तो उसे निकालनेके लिये बड़ी रस्सी चाहिये, काँटा चाहिये और जब बहुत देर मेहनत करेंगे, तब कहीं वह लोटा-डोरी मिलेगी। नहीं तो, बड़ी कठिनता है। ऐसे ही आजतककी आयु कुएँमें गयी। ऐसी गयी कि काम नहीं आयी; किंतु अब भी जो थोड़ी-सी उम्र शेष है, उसीको अच्छे काममें लगा दें तो हमारा मनुष्य-जीवन सफल हो सकता है; पर यदि आयुका यह बचा हुआ थोड़ा-सा समय भी यों ही बीत गया तो फिर सिवा पश्चात्तापके और कुछ नहीं होगा। क्या पता है कि फिर यह मानव-जीवन कब मिलेगा।

बार-बार नहिं पाइये मनुष-जनमकी मौज।

मनुष्य-जन्म बार-बार नहीं मिलता। इसलिये बड़ी सावधानीके साथ बचे हुए समयको आध्यात्मिक उन्नतिमें विशेषरूपसे लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

★

संत और उनकी सेवा

'तस्मिस्तज्जने भेदाभावात्।' (नारदभक्तिसूत्र ४१)

संत भगवान्‌से अपना अलग अस्तित्व नहीं मानते, इसलिये उनमें स्वार्थकी गन्ध भी नहीं रहती। भगवान्‌से अलग उनकी कोई इच्छा नहीं, वे स्वाभाविक ही भगवान्‌की इच्छामें अपनी इच्छा, उनकी रुचिमें अपनी रुचि मिलाये रहते हैं। अतः उनके हरेक विधानमें परम संतुष्ट रहते हैं।

संत भगवान्‌पर ही निर्भर रहते हैं। ***'जाही बिधि राखै राम, ताही बिधि रहिये'***—को वे अपने जीवनमें अक्षरशः चरितार्थ कर लेते हैं और इस प्रकार भगवान्‌के विधानानुसार रहनेमे वे बड़े प्रसन्न होते हैं। हमलोग भी भगवान्‌के विधानानुसार ही रहते हैं। (क्योंकि भगवान्‌की इच्छाके विरुद्ध एक पत्ता भी नहीं हिलता।) पर उसमें हमारी प्रसन्नता नहीं होती, हमें बाध्य होकर रहना पड़ता है। यदि हममें मन-इन्द्रियोंके प्रतिकूल भगवद्‌विधानको बदलनेकी शक्ति-सामर्थ्य होती तो हम उसे अपने अनुकूल बना लेते। परंतु करें क्या, हमारा वश नहीं चलता, तो भी शक्ति-सामर्थ्य न रहनेपर भी उससे बचनेका असफल प्रयत्न तो निरन्तर करते ही रहते हैं। पर संतमें ऐसी बात नहीं है, संतके मनमें भगवान्‌के विधानानुसार बरतनेमें कुछ भी विचार नहीं होता; प्रत्युत भगवान्‌के विधानके अनुसार प्राप्त परिस्थिति उसके लिये अनुकूल-से-अनुकूल प्रतीत होती है तथा उसके हृदयमें सदा-सर्वदा भगवान्‌के विराजमान रहनेके कारण उसपर प्रतिकूलताका कोई असर नहीं होता।

भगवान् स्वयं कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'अर्जुन! मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा प्रिय है, न अप्रिय है; परंतु जो मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।' विचार कर देखें तो यह बात ठीक समझमें आ जाती है। जैसे एक अच्छा मकान है, उसमें किसीका कब्जा-दखल नहीं है, अतएव अच्छे पुरुषको उसमें स्वाभाविक ही प्रसन्नता होगी। इसी प्रकार संतके अहंता-ममतासे रहित निर्मल अन्तःकरणमें भगवान् प्रकटरूपसे रहकर बड़े प्रसन्न होते हैं; क्योंकि वहाँ उनके रहनेमें कोई किसी प्रकारका प्रतिबन्ध नहीं लगाता, विघ्न नहीं डालता। भगवान् ऐसे घरमें बड़े निःसंकोचभावसे रहते हैं। श्रीरामचरितमानसमें गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा भी है—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

इस प्रकार संतके हृदयमें भगवान्‌का वास होनेसे, वह जो कार्य करता है, वह भी भगवान् ही करते हैं, वह जो भी

सोचता है, वह भगवान् ही सोचते हैं; इत्यादि कथन सर्वथा सत्य है।

संत और भगवान्‌के विषयमें तीन प्रकारकी बातें मिलती हैं—(१) दोनोंमें कुछ अन्तर नहीं।

संत-भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि मति मलिन कह दास तुलसी ॥

(विनयपत्रिका)

संत ही भगवान् हैं और भगवान् ही संत हैं अर्थात् संतोंका भगवान्‌के अतिरिक्त कोई पृथक् अस्तित्व ही नहीं रहता। केवल भगवान् ही रह जाते हैं। किसीने कहा भी है—

ढूँढ़ा सब जहाँमें पाया पता तेरा नहीं।
जब पता तेरा लगा तो अब पता मेरा नहीं ॥

(२) वास्तवमें भगवान् भगवान् ही हैं। संत संत ही हैं। संत भगवान्‌के बराबर नहीं, भगवान् उससे बड़े हैं। संतके ज्ञान, सामर्थ्य, शक्ति आदि सीमित हैं और भगवान्‌का सब कुछ अनन्त और असीम है। माना, संत भगवान्‌को प्राप्त हो गया और दूसरेको भी उनकी प्राप्ति करा सकता है, पर वह भगवान् नहीं बन जाता। न्यायसे भी यह ठीक लगता है। जैसे जब हमें कोई संत मिलता है तो हम कहते हैं—'महाराजजी! भगवान्‌के दर्शन करा दो।' इससे प्रत्यक्ष है कि संतके मिलनेसे हमारी आत्यन्तिक तृप्ति नहीं हुई; उनसे बड़ी जो एक वस्तु—भगवान् है, उसको पानेकी इच्छा बनी रही। इससे स्वाभाविक ही भगवान्‌का बड़ा होना प्रकट होता है और संत सदा भगवान्‌को बड़ा मानते आये हैं।

(३) संत भगवान्‌से बढ़कर हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा ॥
मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा ॥

श्रीभगवान्‌ने भी दुर्वासासे कहा है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥

संतोंने तो भगवान्‌को बड़ा बतलाया और भगवान् संतोंको बड़ा बतलाते हैं। परन्तु संतोंको भगवान् और संत दोनों ही बड़ा बतलाते हैं। भगवान्‌ने कहीं भी अपनेको संतसे बड़ा बतलाया हो—ऐसा देखनेमें नहीं आया। इस दृष्टिसे बड़े हुए संत ही और हम यदि अपने लाभके लिये विचार करते हैं तो भी संत ही बड़े हैं; क्योंकि परमात्माके सच्चिदानन्दरूपमें जीवमात्रके हृदयमें रहते हुए भी संत-कृपा और सत्सङ्गके बिना भगवान्‌के उस परम आनन्दमय स्वरूपके अनुभवसे वञ्चित रहकर जीव दुःखी ही रहते हैं। भगवत्स्वरूपका अनुभव तो भगवद्भक्तिसे ही होता है और वह मिलती है संत-कृपा तथा सत्सङ्गसे—

भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो होहिं संत अनुकूला ॥
भगति स्वतंत्र सकल गुन खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ॥

अतएव हमारे लिये तो संत ही बड़े हुए। भगवत्कृपासे प्राप्त हुए मानवदेहका फल मनुष्यके कर्म एवं साधनके अनुसार स्वर्ग, नरक अथवा मोक्ष—सभी हो सकता है। किंतु संतोंकी कृपासे प्राप्त हुए सत्सङ्गका फल केवल परम पद ही होता है।

भगवान् तो दुष्टोंका उद्धार करते हैं उनका विनाश करके, पर संत दुष्टोंका उद्धार करते हैं उनकी वृत्तियोंका सुधार करके। भगवान् अपने बनाये हुए कानूनमें बँधे हुए हैं। परन्तु संतोंमें दया आ जाती है। इस प्रकार भी संत भगवान्‌से बड़े हैं। भगवान् सब जगह मिल सकते हैं, पर संत कहीं-कहीं ही हैं। अतएव वे भगवान्‌से दुर्लभ भी हैं—

हरि दुरलभ नहिं जगत में, हरिजन दुरलभ होय।
हरि हेर्‌याँ सब जग मिलै, हरिजन कहिं एक होय ॥

हमारा उद्धार करनेमें तो संत ही बड़े हुए, अतएव हमें उन्हींको बड़ा मानना चाहिये।

तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो संत और भगवान् दोनों एक ही हैं; क्योंकि संत भगवान्‌से पृथक् अपनी आसक्ति, ममता, रुचि आदि नहीं रखते। अतः वे भगवत्स्वरूप ही हैं—

भक्ति भक्त भगवंत गुरु चतुर नाम, बपु एक।
इन के पद बंदन किएँ नासत बिघ्न अनेक ॥

अब प्रश्न होता है कि संतोंका सेवन किस प्रकार किया जाय? इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि संतोंके सेवनका सर्वोत्तम ढंग है उनके मन, उनकी आज्ञाके अनुसार चलना, उनके सिद्धान्तोंका आदरपूर्वक पालन करना। यह संत-सेवनकी ऊँची-से-ऊँची विधि है। इसका कारण यह है कि संतोंको अपना सिद्धान्त जितना प्यारा होता है, उतने उनको अपने प्राण भी नहीं होते, जो हमलोगोंको सबसे अधिक प्यारे हैं। यही कारण है कि आवश्यकता पड़नेपर वे अपने प्राण छोड़ सकते हैं, पर सिद्धान्त नहीं। अतएव उनके सिद्धान्तका साङ्गोपाङ्ग पालन करना, उनके मनके अनुसार चलना और यदि मनका पता न लगे तो इशारे-आज्ञा आदिके अनुसार चलना चाहिये, यह उनकी सबसे बड़ी सेवा है—***'अग्या सम न सुसाहिब सेवा।'*** अतः शरीरसे सेवा करनेके साथ ही श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मनसे भी सेवा की जाय तो कहना ही क्या है। उनका सिद्धान्त जाननेके लिये उनका सङ्ग करके उनसे भगवत्सम्बन्धी बात पूछनी चाहिये; इससे हम अधिक लाभ उठा सकते हैं। संतोंसे पुत्र, स्त्री, धन, मान, बड़ाई आदिसे

सम्बन्ध रखनेवाले सांसारिक पदार्थ चाहना अमूल्य हीरेको पत्थरसे फोड़ना है; यह संतोंके सङ्गका सदुपयोग नहीं है। यों संतोंके कहने आदिसे पुत्र आदिकी प्राप्ति भी हो सकती है, किंतु यह तो उनकी कीमत न समझना है।

संतको प्रायः हम समझते नहीं। हमलोग तो उसकी बाहरी क्रियाओंकी अर्थात् अधिक खाने, नंगा रहने, मिट्टीको सोना बना देने आदि चामत्कारिक बातोंकी विशेषता देखना चाहते हैं; किंतु इन बातोंसे संतपनेका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। संतोंका यह लक्षण कहीं भी नहीं लिखा है। गीतामें स्थान-स्थानपर भक्त आदिके लक्षण लिखे हैं, पर उसमें एक स्थानपर भी नहीं लिखा है कि 'वे बेटा दे देते हैं, वचनसिद्ध होते हैं' आदि।

तो फिर संतोंकी पहचान कैसे हो ? संतोंकी पहचानका सीधा-सा उपाय यही है कि जिस व्यक्तिके सङ्गसे हमारा साधन बढ़े, हममें दैवी सम्पत्ति आये, हमारे आचरणमें न्याय आने लगे, भगवत्तत्त्वका ज्ञान होने, सत्-शास्त्र, भगवान्, महात्मा, परलोक और धर्ममें श्रद्धा बढ़े और भगवान्की स्मृति अधिक रहने लगे, हमारे लिये वही संत है। संतोंसे ऐसा ही लाभ लेना चाहिये और उनसे इस प्रकारका आध्यात्मिक लाभ लेना ही सच्चा लाभ है।

भगवान्से लाभ उठानेकी पाँच बातें हैं—नाम-जप, ध्यान,सेवा, आज्ञा-पालन और सङ्ग। पर संतोंसे लाभ लेनेमें सङ्ग, आज्ञा और सेवा—ये तीन ही साधन उपयुक्त हैं। संत-महात्मा पुरुष अपने नामका जप और अपने स्वरूपका ध्यान कभी नहीं बताते और जो अपने नाम और रूपका प्रचार करते हैं, वे कदापि संत नहीं। सच्चा संत तो भगवान्के ही नाम-जप और ध्यान करनेका उपदेश देता है। हाँ, वह सेवा, आज्ञा-पालन और सङ्ग—इन तीनके लिये प्रायः मना नहीं करता। सेवामें कुछ संकोच रखता है और जहाँतक सम्भव होता है, नहीं करवाता है। सेवाके दो भेद हैं—(१) पूजा, आरती करना आदि, (२) वस्त्र देना, भोजन देना, अनुकूल वस्तुओंको प्रस्तुत करना इत्यादि। भगवान्की तो ये दोनों ही सेवाएँ उचित हैं, परन्तु संत पुरुष पहले प्रकारकी सेवा नहीं चाहते और यदि कोई ऐसी सेवाके लिये आग्रह करता है तो वे अपने स्थानपर भगवान्की ही वैसी सेवा करवाते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि 'मेरा शरीर हाड़-मांसका है, इसकी सेवासे क्या लाभ ! दूसरे प्रकारकी सेवा वे आश्रम और वर्णके अनुसार स्वीकार कर सकते हैं। इस प्रकार सेवा भी वह संतपनेकी दृष्टिसे नहीं लेता, आश्रम और वर्णकी ही दृष्टिसे लेता है, अतएव इन अन्न, वस्त्र आदि वस्तुओंकी पूर्ति करना अनुचित नहीं। इस प्रकारकी सेवा केवल संत ही नहीं, जो भी हो ले सकता है। यदि कोई संत नहीं है, पर उसे भूख-प्यास लगी है तो वह कोई भी क्यों न हो, जिस व्यक्तिके पास ये भोजनादि वस्तुएँ हों, उससे शरीरनिर्वाहार्थ ले सकता है।

रही आज्ञा-पालनकी बात। सो वे प्रायः कोई बात आज्ञाके रूपमें नहीं कहते। वे अपनी नम्रताके कारण जब किसी व्यक्तिको कुछ कार्य करनेके लिये कहते हैं तब प्रायः ऐसा संकेत किया करते हैं कि अमुक परिस्थितिमें शास्त्रोंकी ऐसी आज्ञा है, भगवान्की ऐसी आज्ञा है, संतोंने ऐसा कहा है और किया है आदि-आदि। पर यह निश्चित है कि उनके कथनानुसार करनेसे लाभ अवश्य होता है; अतएव वे जो कुछ निर्देश करें उसे उन्हींकी आज्ञा समझकर पालन करें तो वे उसका विरोध नहीं करते। यह उनकी हमारे प्रति उदारता है, कृपा है, यह उन्होंने हमारे लिये छूट दे रखी है। आज्ञापालनका स्थान सेवामें सबसे ऊँचा माना गया है। शरीरकी पूजासे उनके वचन अधिक महत्त्वके हैं। अतएव वचनोंको ही प्रधानता देनी चाहिये। एक संत थे। उनके पास रहनेवाले श्रद्धालु व्यक्तियोंमेंसे एक व्यक्तिकी एक दिन संतने परीक्षा लेनी चाही। वे बोले—'मेरी कमरमें दर्द हो रहा है, जरा अपने पैरसे इसे दबा दो।' श्रद्धालुने कहा—'महाराज। आपके शरीरपर पैर कैसे रखूँ ?' संतने तुरंत उत्तर दिया, ठीक है, मेरे शरीरपर तो तुम पैर नहीं रखते, पर मेरी जबानपर तो पैर रख दिया न ?' यह एक दृष्टान्त है। इससे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि सेवामें शरीरकी अपेक्षा वचनोंके पालनको अधिक महत्त्व दें। हाँ, यह सम्भव है कि हम संतके वचनका पूरा पालन न कर सकें, किंतु यदि मनमें वचन-पालनकी नीयत है तथा उसके लिये यथा-सामर्थ्य प्रयत्न भी किया गया है तो फिर चाहे उसका अक्षरशः पालन न भी हो पाया हो तो भी उससे बहुत बड़ा लाभ होता है।

यदि संतोंके वचनोंका भाव कहीं पूर्णरूपसे समझमें नहीं आये तो नम्रतापूर्वक उन्हींसे पूछकर समाधान कर लेना चाहिये; पर समझमें आ जानेपर पालन करनेमें किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं लानी चाहिये। संतके वचन-पालनमें यदि कहीं उनकी सेवाका भी त्याग करना पड़े तो वह भी कर देना चाहिये। सेवा करनेसे जब लाभ है तो सेवा-त्यागसे अधिक लाभ होना चाहिये, क्योंकि जो कीमती चीज है, उसका त्याग उस चीजसे भी बड़ा है, फिर यह त्याग यदि संतकी आज्ञासे ही किया जाता है, तो वह और भी अधिक महत्त्वकी वस्तु है। सच्चा श्रद्धालु इसमें क्यों चूकेगा। हाँ, एक बात है जो सेवाके कष्टसे बचकर सेवाका त्याग करते हैं, वे तो सेवाके महत्त्वको

जानते ही नहीं। उनको तो सेवा करनेमें कष्टका अनुभव होता है। इसलिये वे उस लाभसे वञ्चित रहते हैं। संत कभी किसीको किञ्चिन्मात्र भी कष्ट देना नहीं चाहता, इसलिये वह ऐसे व्यक्तियोंसे सेवा क्यों करवायेगा; क्योंकि उनको सेवा करानेकी कोई भूख तो है ही नहीं। जो लोग दूसरोंसे अपनी सेवा करवाना चाहते हैं, उनके अन्तःकरणमें स्वार्थ और अहङ्कारके कारण यह नहीं सूझ पड़ता कि किसको क्या कष्ट और हानि हो रही है; किंतु संतोंके निःस्वार्थ हृदयमें तो प्रकाश है। वे तो जानते हैं कौन व्यक्ति सेवामें सुखका अनुभव करता है और कौन दुःखका।

सत्सङ्गके लिये तो संत स्वयं अपनी ओरसे चले जाते हैं; क्योंकि प्रेमी जिज्ञासुओंके पास जानेसे भगवत्-वाक्योंका मनन, विचार और अनुशीलन होता है, जो उन्हें अत्यन्त प्यारे हैं। इतना ही नहीं, वे अपना सङ्ग करनेवाले व्यक्तिका उपकार भी मानते हैं कि इसके कारण हमारा कुछ समय भगवच्चर्चामें व्यतीत हुआ। काकभुशुण्डिजीने गरुड़जीसे कहा—'महाराज ! मुझपर आपकी बड़ी कृपा हुई, जो मुझे सत्सङ्ग दिया।'

तुम्ह बिग्यानरूप नहिं मोहा। नाथ कीन्ह मो पर अति छोहा॥
पूँछिहुँ राम कथा अति पावनि। सुक सनकादि संभु मन भावनि॥

(रामचरितमानस)

संतोंकी बातें इतनी अलौकिक हैं कि हम उनका विवेचन भी नहीं कर सकते, फिर अनुभवकी तो बात ही अलग है !

अपनी बुद्धिसे संतोंकी पहचान करना बड़ा कठिन है। उनकी पहचान तो संत एवं भगवान्‌की कृपासे ही सम्भव है। कसौटीसे पहचान करनेपर तो हम ही फेल हो जाते हैं; क्योंकि हमारी कसौटी ही गलत है। संतोंकी पहचान पहले बताये हुए तरीकेसे ही की जा सकती है कि (१) जिस व्यक्तिके सङ्ग, वार्तालाप तथा दर्शनसे हममें दैवी सम्पत्ति आये, भगवान्‌में हमारी रुचि बढ़े, आध्यात्मिक पथपर हम अग्रसर हों, (२) जो हमसे कभी किञ्चिन्मात्र किसी तरहकी सेवाकी इच्छा न रखता हो, (३) जो हमारा सदा ही बिना स्वार्थके हित करता रहता हो एवं (४) हमारी दृष्टिमें जो आध्यात्मिक विषयमें सबसे बढ़कर जानकार हो, वही हमारे लिये संत है। एवं स्थूल रीतिसे संतकी पहचान करनेका यह उपाय भी है कि सच्चा संत स्त्री, सम्पत्ति नहीं चाहता, मान-बड़ाई नहीं चाहता, जितनी भौतिक वस्तुएँ हैं उनकी उसको इच्छा या लालसा नहीं रहती।

संतोंका सङ्ग किया जाय तो वह कभी निष्फल नहीं जाता। पर उनका महत्त्व समझकर उनके सिद्धान्तानुसार आचरण करते हुए उनका सङ्ग करना उनका वास्तविक सङ्ग करना है। इस प्रकार करनेसे ही उनके सङ्गका वास्तविक लाभ शीघ्र प्रकट होता है।

इसपर यह शङ्का होती है कि अग्नि अनजानमें भी स्पर्श किये जानेपर जला डालती है, इसी प्रकार अनजानमें भी किया हुआ संतोंका सङ्ग पापोंका नाशक अवश्य होना चाहिये। तो इसका उत्तर यह है कि यह बात उचित ही है। पापोंका नाश तो अनजानमें भी किये हुए सन्त-सङ्गसे अवश्य होता है, परन्तु जिस प्रकार अग्निमें दाहिकाशक्ति, प्रकाशिकाशक्ति, पाचनशक्ति एवं स्वर्ग तथा मोक्ष देनेकी भी शक्ति है, पर दाहिकाशक्तिको छोड़कर अन्य शक्तियोंका लाभ हम बिना जाने नहीं उठा सकते। अग्नि अनजानमें स्पर्श करनेपर जलाता तो है, पर उससे जलानामात्र ही होता है। किंतु जो उस अग्निको अग्नि (अग्निका वास्तविक महत्त्व) जानकर उसके अनुकूल क्रिया करते हैं, वे उससे प्रकाश भी ले सकते हैं और उससे रोटी बनाकर अपनी भूख भी मिटा सकते हैं। इतना ही नहीं, अग्निसे ये काम तो श्रद्धारहित व्यक्ति भी ले सकता है, पर वैदिक मन्त्र और परलोकमें श्रद्धा रखनेवाला मनुष्य तो वैदिक मन्त्रोंसे श्रद्धापूर्वक विधिसहित अग्निमें आहुति देकर स्वर्गप्राप्ति भी कर सकता है और जो भगवान्‌की आज्ञा मानकर निष्कामभावसे अग्निमें आहुति देकर यज्ञ करता है, वह तो अग्निसे भगवान्‌की प्राप्ति भी कर सकता है। इसी प्रकार संतोंको न जाननेपर भी उनके सङ्गसे पापोंका नाश तो होता ही है, पर जाने बिना परमात्म-विषयक ज्ञान और सांसारिक पदार्थोंसे वैराग्य नहीं होता। संतोंको जानकर उनका सङ्ग करनेसे सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य, हेय-उपादेय और सार-असारका ज्ञान एवं अपने लिये अभी और परिणाममें अनिष्टकारक वस्तु तथा क्रियाओंका त्याग हो सकता है एवं श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे उनकी आज्ञाके अनुसार अनुष्ठान करनेसे तो अज्ञान, क्लेश, कर्म, विकार, वासना आदिका अत्यन्त अभाव होकर परमानन्दरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। यह सब लाभ संत-महात्माओंको जानकर उनका श्रद्धापूर्वक सङ्ग और तदनुकूल आचरण करनेसे ही होता है।

इस विषयमें एक बात और भी है। अग्निसे जलना तभी होता है, जब अग्नि और अपने बीचमें कोई व्यवधान नहीं होता। पैरमें जूता पहनकर अग्निका स्पर्श किया जाय तो वह जला भी नहीं सकता। इसी प्रकार यदि संतोंके सङ्गमें कुतर्क, निन्दा, तिरस्कार आदिकी आड़ लगा दी जाय तो पापनाशरूपी लाभ भी नहीं हो सकता। अग्नि तो अनजानमें स्पर्श किये जानेपर केवल जलाता ही है, पर यदि कोई संतके प्रति तिरस्कार और निन्दाका भाव नहीं रखकर अनजानमें भी उनका

सङ्ग करता रहे तो संतोंका सङ्ग तो उनके पापनाशके सिवा उन्हें परमात्माकी प्राप्तिका अधिकारी भी बना देता है। जैसे पारस और लोहेको टकराते रहो तो पहले लोहेपर लगी हुई मिट्टी, जंग आदि व्यवधान दूर होंगे और बादमें स्पर्श होनेपर लौह स्वर्ण बन जायगा। बस, इसी प्रकार बार-बारके सङ्गसे पापरूपी मल (मिट्टी, जंग आदि) दूर हो जायगा और अन्तमें कल्याण हो जायगा। ऋषिकेश-(उत्तराखण्ड-) की ओर देखा होगा, गङ्गाजीमें गोल-गोल पत्थर मिलते हैं। पहाड़ोंकी चट्टानके टेढ़े-मेढ़े पत्थर पानीके प्रवाहमें लुढ़कते-लुढ़कते गोल हो गये; उन्होंने कोई उद्योग नहीं किया और न उनमें गोल होनेकी इच्छा ही थी। पर प्रवाहमें पड़े रहे तो गोल और चिकने हो गये। इसी प्रकार संत-महात्माओंकी शरणमें पड़ा रहे तो अन्तमें कल्याण हो ही जाता है।

श्रद्धाके दो भेद हैं—(१) स्थायी और (२) अस्थायी। स्थायी श्रद्धा वहाँ होती है, जिसमें कभी कमी नहीं हो सकती। पर अस्थायी श्रद्धा बाजारू भावकी तरह घटती-बढ़ती रहती है। स्थायीमें बढ़नेकी गुंजाइश तो है; पर वह घट कभी नहीं सकती। अस्थायी श्रद्धा भी बढ़ते-बढ़ते अन्तमें स्थायी श्रद्धामें परिणत हो सकती है; क्योंकि अस्थायी श्रद्धामें जो वास्तविक श्रद्धाका अंश रहता है, वह स्थायी श्रद्धामें शामिल होता रहता है। संतोंका बार-बार सङ्ग करनेसे उनके गुण-प्रभावका ज्ञान होनेपर तथा उनकी आज्ञापालन करनेसे उनके प्रति श्रद्धा-भावका विकास होता रहता है और अन्तमें स्थायी श्रद्धाका उदय हो जाता है।

संत सर्वदा रहते हैं। ऐसा कोई भी समय नहीं होता, जब पृथ्वी-मण्डलमें यति, सती, धर्मात्मा और संत पुरुष न हों। आज भी संत पुरुष मिल सकते हैं और ऐसे संत मिल सकते हैं, जो हमारा उद्धार कर सकते हैं। पर हमें मिलें कैसे ? हममें उनके मिलनेकी लालसा ही नहीं। अतएव यह लालसा बढ़ानी चाहिये कि हमें संत, सच्चे संत मिलें।

संतोंके जीवनकालमें यदि कोई उनसे लाभ लेनेवाला न हो, तो भी उनके सिद्धान्त वायुमण्डलमें स्थिर हो जाते हैं, जिससे भविष्यमें यदि कोई लाभ लेनेवाला उत्पन्न होता है तो उनसे लाभ उठा लेता है।

ऐसी बात नहीं कि सभी संत एक-से हों। उनकी वास्तविक स्थितिमें भेद न रहनेपर भी वर्ण, आश्रम, सङ्ग, स्वाध्याय, प्रकृति, साधनकी प्रणाली आदिका साधनकालमें अन्तर रहनेके कारण सिद्धावस्थामें भी उनकी मान्यता, आचरण और उपदेशप्रणालीमें अन्तर पाया जाता है।

संतलोग किसीको अपना चेला-चेली नहीं बनाते। पर यदि कोई अपनेको उनका अनुयायी मान ले तो इसमें उसको कौन रोक सकता है ? जो व्यक्ति ईश्वरपर भरोसा करके सच्चे हृदयसे अपने-आपको किसी संतका अनुयायी मान लेता है, उसका भार भगवान्‌पर आ जाता है। पर मान्यता होनी चाहिये असली। मतलब यह है कि साधकके मनमें इच्छा हो केवल भगवत्-प्राप्तिकी ही तथा श्रद्धा हो सिद्धान्तको लेकर ही, तो फिर व्यक्तिपर आग्रह न होने तथा इच्छा भौतिक न होनेके कारण वह कहीं भी ठगा नहीं सकता। इस प्रकार यदि मान्यता असली हुई और भगवान् देखेंगे कि इस व्यक्तिका कल्याण इस संतमें श्रद्धा रहनेसे हो सकता है, तब तो वे उसकी श्रद्धा उस संतमें दृढ़ कर देंगे, किंतु यदि वह संत न हो और उसमें श्रद्धा रहनेसे उस साधकको हानि होनेकी सम्भावना हो तो भगवान् उसकी श्रद्धा और कहीं लगा देंगे; क्योंकि साधकके न जाननेपर भी भगवान् तो साधक और संत दोनोंको ही जानते हैं और अनजानमें भी रक्षा करना भगवान्‌का सर्वभूतसुहृद्-स्वभाव है ही। अतः दोनों अवस्थाओंमें उसका उद्धार होना निश्चित है ही; क्योंकि 'मेरा कल्याण भगवान् अवश्य करेंगे' ऐसा उसका भगवान्‌पर दृढ़ भरोसा रहता है। एकलव्यके भावसे उसको सफलता मिल गयी। वास्तवमें श्रद्धा-भक्ति असली चीज है, नेग-चारसे भगवान् नहीं मिल सकते। संतके विषयमें भी यही बात है। नेग-चार करके चाहे हम किसीको गुरु न बनायें, पर श्रद्धा-भक्तिसे संतको गुरु मानकर उनकी सेवा, आज्ञा-पालन और सङ्ग करें, लाभ हो ही जायगा।

★

बालहितोपदेश-माला

१-सबको सूर्योदयसे पहले उठना चाहिये।

२-उठते ही भगवान्‌का स्मरण करना तथा '**त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥**' इस प्रकार स्तुति करनी चाहिये।

३-अपने बड़ोंको प्रणाम करना चाहिये।

४-शौच-स्नान करके दंड-बैठक, दौड़-कुश्ती आदि शारीरिक और आसन-प्राणायाम आदि यौगिक व्यायाम करने चाहिये।

५-प्रातःकाल '***हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥***'—इस मन्त्रकी कम-से-कम एक माला अवश्य जपनी चाहिये। और जिनका

यज्ञोपवीत हो चुका है, उनको सूर्योदयसे पूर्व संध्या और कम-से-कम एक माला गायत्री-जप अवश्य करना चाहिये।

६-श्रीमद्भगवद्गीताके कम-से-कम एक अध्यायका नित्य अर्थसहित पाठ करना चाहिये। इसके लिये ऐसा क्रम रखा जाय तो अच्छा है कि प्रतिपदा तिथिको पहले अध्यायका, द्वितीयाको दूसरेका, तृतीयाको तीसरेका—इस तरह एकादशी तिथिको ११वें अध्यायतक पाठ करके, द्वादशीको १२वें और १३वें अध्यायोंका, त्रयोदशीको १४वें और १५वेंका, चतुर्दशीको १६वें और १७वेंका तथा अमावस्या या पूर्णिमाको १८वें अध्यायका पाठ कर ले। इस प्रकार पंद्रह दिनोंमें अठारहों अध्यायका पाठ-क्रम रखकर एक महीनेमें सम्पूर्ण गीताके दो पाठ पूरे कर लेने चाहिये। तिथिक्षय हो तब ७वें और ८वें अध्यायोंका पाठ एक साथ कर लेना तथा तिथि-वृद्धि होनेपर १६वें और १७वें अध्यायका पाठ अलग-अलग दो दिनमें कर लेना चाहिये।

७-विद्यालयमें ठीक समयपर पहुँच जाना और भगवत्-स्मरण-पूर्वक मन लगाकर पढ़ना चाहिये। किसी प्रकारका ऊधम न करते हुए मौन रहकर भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपकी स्मृति रखते हुए प्रतिदिन जाना-आना चाहिये।

८-विद्यालयकी स्तुति-प्रार्थना आदिमें अवश्य शामिल होना और उनको मन लगाकर प्रेमभावपूर्वक करना चाहिये; क्योंकि मन न लगानेसे समय तो खर्च हो ही जाता है और लाभ होता नहीं।

९-पिछले पाठको याद रखना और आगे पढ़ाये जाने-वाले पाठको उसी दिन याद कर लेना उचित है, जिससे पढ़ाईके लिये सदा उत्साह बना रहे।

१०-पढ़ाईको कभी कठिन नहीं मानना चाहिये।

११-अपनी कक्षामें सबसे अच्छा बननेकी कोशिश करनी चाहिये।

१२-किसी विद्यार्थीको पढ़ाईमें अपनेसे अग्रसर होते देखकर खूब प्रसन्न होना चाहिये और यह भाव रखना चाहिये कि यह अवश्य उन्नति कर रहा है, इससे मुझे भी पढ़कर उन्नति करनेका प्रोत्साहन एवं अवसर प्राप्त होगा।

१३-अपने किसी सहपाठीसे डाह नहीं करनी चाहिये और न यही भाव रखना चाहिये कि वह पढ़ाईमें कमजोर रह जाय, जिससे उसकी अपेक्षा मुझे लोग अच्छा कहें।

१४-किसी भी विद्या अथवा कलाको देखकर उसमें दिलचस्पीके साथ प्रविष्ट होकर समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि जानने और सीखनेकी उत्कण्ठा विद्यार्थियोंका गुण है।

१५-अपनेको उच्च विद्वान् मानकर कभी अभिमान न करना चाहिये, क्योंकि इससे आगे बढ़नेमें बड़ी रुकावट होती है।

१६-नित्यप्रति बड़ोंकी तथा दीन-दुःखी प्राणियोंकी कुछ-न-कुछ सेवा अवश्य करनी चाहिये।

१७-किसी भी अङ्गहीन, दुःखी, बेसमझ, गलती करने-वालेको देखकर हँसना नहीं चाहिये।

१८-मिठाई, फल आदि खानेकी चीजें प्राप्त हों तो उन्हें दूसरोंको बाँटकर खाना चाहिये।

१९-न्यायसे प्राप्त हुई चीजको ही काममें लाना चाहिये।

२०-दूसरेकी चीज उसके देनेपर भी न लेनेकी चेष्टा रखनी चाहिये।

२१-हर एक आदमीके द्वारा स्पर्श की हुई मिठाई आदि अन्नकी बनी खाद्य वस्तुएँ नहीं खानी चाहिये।

२२-कोई भी अपवित्र चीज नहीं खानी चाहिये।

२३-कोई भी खाने-पीनेकी चीज ईश्वरको अर्पण करके ही उपयोगमें लेनी चाहिये।

२४-भूखसे कुछ कम खाना चाहिये।

२५-सदा प्रसन्नतापूर्वक भोजन करना चाहिये।

२६-भोजनके समय क्रोध, शोक, दीनता, द्वेष आदि भाव मनमें लाना उचित नहीं, क्योंकि इनके रहनेसे भोजन ठीक नहीं पचता।

२७-भोजन करनेके पहले दोनों हाथ, दोनों पैर और मुँह—इन पाँचोंको अवश्य धो लेना चाहिये।

२८-भोजनके पहले और पीछे आचमन जरूर करना चाहिये।

२९-भोजनके बाद कुल्ले करके मुँह साफ करना उचित है; क्योंकि दाँतोंमें अन्न रहनेसे पायरिया आदि रोग हो जाते हैं।

३०-चलते-फिरते और दौड़ते समय एवं अशुद्ध अवस्थामें तथा अशुद्ध जगहमें खाना-पीना नहीं चाहिये; क्योंकि खाते-पीते समय सम्पूर्ण रोम-कूपोंसे शरीर आहार ग्रहण करता है।

३१-स्नान और ईश्वरोपासना किये बिना भोजन नहीं करना चाहिये।

३२-लहसुन, प्याज, अंडा, मांस, शराब, ताड़ी आदिका सेवन कभी नहीं करना चाहिये।

३३-लैमनेड, सोडा और बर्फका सेवन नहीं करना चाहिये; क्योंकि इनसे संसर्ग-जन्य रोगादि आनेकी भी बहुत सम्भावना है।

३४-उत्तेजक पदार्थोंका सेवन कदापि न करें।

३५-मिठाई, नमकीन, बिस्कुट, दूध, दही, मलाई, चाट आदि बाजारकी चीजें नहीं खानी चाहिये; क्योंकि दूकानदार लोभवश स्वास्थ्य और शुद्धिकी ओर ध्यान नहीं देते, जिससे बीमारियाँ होनेकी सम्भावना रहती है।

३६-बीड़ी, सिगरेट, भाँग, चाय आदि नशीली चीजोंका सेवन कभी न करें।

३७-अन्न और जलके सिवा किसी और चीजकी आदत नहीं डालनी चाहिये।

३८-दाँतोंसे नख नहीं काटना चाहिये।

३९-दातुन, कुल्ले आदि करनेके समयको छोड़कर अन्य समय मुँहमें अँगुली नहीं देनी चाहिये।

४०-पुस्तकके पन्नोंको अँगुलीमें थूक लगाकर नहीं उलटना चाहिये।

४१-किसीकी भी जूठन खाना और किसीको खिलाना निषिद्ध है।

४२-रेल आदिके पाखानेके नलका अपवित्र जल मुँह धोने, कुल्ला करने या पीने आदिके काममें कदापि न लेना चाहिये।

४३-कभी झूठ न बोलें। सदा सत्य भाषण करें।

४४-कभी किसीकी कोई भी चीज न चुरावे। परीक्षामें नकल करना भी चोरी ही है तथा नकल करनेमें मदद देना चोरी कराना है। इससे सदा बचना चाहिये।

४५-माता, पिता, गुरु आदि बड़ोंकी आज्ञाका उत्साहपूर्वक तत्काल पालन करे। बड़ोंके आज्ञा-पालनसे उनका आशीर्वाद मिलता है, जिससे लौकिक और पारमार्थिक उन्नति होती है।

४६-किसीसे लड़ाई न करे।

४७-किसीको गाली न बके।

४८-अश्लील गंदे शब्द उच्चारण न करे।

४९-किसीसे भी मार-पीट न करे।

५०-कभी रूठे नहीं और जिद भी न करे।

५१-कभी क्रोध न करे।

५२-दूसरोंकी बुराई और चुगली न करे।

५३-अध्यापकों एवं अन्य गुरुजनोंकी कभी हँसी-दिल्लगी न उड़ाये, प्रत्युत उनका आदर-सत्कार करे तथा जब पढ़ानेके लिये अध्यापक आयें और जायें, तब खड़े होकर नमस्कार करके उनका सम्मान करे।

५४-समान अवस्थावाले और छोटोंसे प्रेमपूर्वक बर्ताव करे।

५५-नम्रतापूर्ण, हितकर, थोड़े और प्रिय वचन बोले।

५६-सबके हितकी चेष्टा करे।

५७-सभामें सभ्यतासे आज्ञा लेकर नम्रतापूर्वक चले। किसीको लाँघकर न जाय।

५८-सभा या सत्सङ्गमें जाते समय अपने पैरका किसी दूसरेसे स्पर्श न हो जाय, इसका ध्यान रखे, अगर भूलसे किसीके पैर लग जाय तो उससे हाथ जोड़कर क्षमा माँगे।

५९-सभामें बैठे हुए मनुष्योंके बीचमें जूते पहनकर न चले।

६०-सभामें भाषण या प्रश्नोत्तर करना हो तो सभ्यतापूर्वक करे तथा सभामें अथवा पढ़नेके समय बातचीत न करे।

६१-सबको अपने प्रेमभरे व्यवहारसे संतुष्ट करनेकी कला सीखे।

६२-आपसी कलहको पास न आने दे। दूसरोंके कलहको भी अपने प्रेमभरे बर्ताव और समझानेकी कुशलतासे निवृत्त करनेका प्रयत्न करे।

६३-कभी प्रमाद और उद्दण्डता न करे।

६४-पैर, सिर और शरीरको बार-बार हिलाते रहना आदि आदतें बुरी हैं, इनसे बचे।

६५-कभी किसीका अपमान और तिरस्कार न करे।

६६-कभी किसीका जी न दुखाये।

६७-कभी किसीसे दिल्लगी न करे।

६८-शौचाचार, सदाचार और सादगीपर विशेष ध्यान रखे।

६९-अपनी वेष-भूषा अपने देश और समाजके अनुकूल तथा सादी रखे। भड़कीले, फैशनदार और शौकीनीके कपड़े न पहने।

७०-इत्र, फुलेल, पाउडर और चर्बीसे बना साबुन, वैसलिन आदि न लगाये।

७१-जीवन खर्चीला न बनाये अर्थात् अपने रहन-सहन, खान-पान, पोशाक-पहनावे आदिमें कम-से-कम खर्च करे।

७२-शरीरको और कपड़ोंको साफ तथा शुद्ध रखे।

७३-शारीरिक और बौद्धिक बल बढ़ानेवाले सात्त्विक खेल खेले।

७४-जूआ, ताश, चौपड़, शतरंज आदि प्रमादपूर्ण खेल न खेले।

७५-टोपी और घड़ीका फीता, मनीबेग, हैंडबेग, बिस्तरबंद, कमरबंद और जूता आदि चीजें यदि चमड़ेकी बनी हों तो उन्हें काममें न लाये।

७६-सिनेमा, नाटक आदि न देखे; क्योंकि इनसे जीवन खर्चीला तो बनता ही है, शौकीनी, अभक्ष्य-भक्षण, व्यभिचार

आदि अनेक दोष भी आ जाते हैं, इससे जीवन पापमय बन जाता है।

७७-बुरी पुस्तकों और गंदे साहित्यको न पढ़े।

७८-अच्छी पुस्तकोंको पढ़े और धार्मिक सम्मेलनोंमें जाय।

७९-गीता, रामायण आदि धार्मिक ग्रन्थोंका अभ्यास अवश्य करे।

८०-पाठ्य-ग्रन्थ अथवा धार्मिक पुस्तकोंको आदर-पूर्वक ऊँचे आसनपर रखे। भूलसे भी पैर लगनेपर उन्हें नमस्कार करे।

८१-अपना ध्येय सदा उच्च रखे।

८२-अपने कर्तव्य-पालनमें सदा उत्साह तथा तत्परता रखे।

८३-किसी भी कामको कभी असम्भव न माने, क्योंकि उत्साही मनुष्यके लिये कठिन काम भी सुगम हो जाते हैं।

८४-किसी भी कामको करनेमें भगवान् श्रीरामको आदर्श माने।

८५-भगवान्‌को इष्ट मानकर और हर समय उनका आश्रय रखकर कभी चिन्ता न करे।

८६-अपना प्रत्येक कार्य स्वयं करे। यथासम्भव दूसरेसे अपनी सेवा न कराये।

८७-सदा अपनेसे बड़े और उत्तम आचरणवाले पुरुषोंके साथ रहनेकी चेष्टा करे तथा उनके सद्‌गुणोंका अनुकरण करे।

८८-प्रत्येक कार्य करते समय यह याद रखे कि भगवान् हमारे सम्पूर्ण कार्योंको देख रहे हैं और वे हमारे हितके लिये हमारे अच्छे और बुरे कार्योंका यथायोग्य फल देते हैं।

८९-सदा प्रसन्नचित्त रहे।

९०-धर्म-पालन करनेमें होनेवाले कष्टको प्रसन्नतापूर्वक सहन करे।

९१-न्याययुक्त कार्य करनेमें प्राप्त हुए कष्टको तप समझे।

९२-अपने-आप आकर प्राप्त हुए संकटको भगवान्‌का कृपापूर्वक दिया हुआ पुरस्कार समझे।

९३-मनके विपरीत होनेपर भी भगवान्‌के और बड़ोंके किये हुए विधानमें कभी घबराये नहीं, अपितु परम संतुष्ट और प्रसन्न रहे।

९४-अपनेमें बड़प्पनका अभिमान न करे।

९५-दूसरोंको छोटा मानकर उनका तिरस्कार न करे।

९६-किसीसे घृणा न करे।

९७-अपना बुरा करनेवालेके प्रति भी उसे दुःख पहुँचानेका भाव न रखे।

९८-कभी किसीके साथ कपट, छल, धोखाबाजी और विश्वासघात न करे।

९९-ब्रह्मचर्यका पूरी तरहसे पालन करे। ब्रह्मचारीके लिये शास्त्रोंमें बतलाये हुए नियमोंका यथाशक्ति पालन करे।

१००-इन्द्रियोंका संयम करे। मनमें भी किसी बुरे विचारको न आने दे।

१०१-अपनेसे छोटे बालकमें कोई दुर्व्यवहार या कुचेष्टा दीखे तो उसको समझाये अथवा उस बालकके हितके लिये अध्यापक अथवा अभिभावकोंको सूचित कर दे।

१०२-अपनेसे बड़ेमें कोई दुर्व्यवहार या कुचेष्टा दीखे तो उसके हितैषी बड़े पुरुषोंको नम्रतापूर्वक सूचित कर दे।

१०३-अपनी दिनचर्या बनाकर तत्परतासे उसका पालन करे।

१०४-सदा दृढ़प्रतिज्ञ बने।

१०५-प्रत्येक वस्तुको नियत स्थानपर रखे और उनकी सँभाल करे।

१०६-सायंकाल संध्याके समय भी प्रातःकालके अनुसार भगवान्‌के 'हरे राम' मन्त्रकी कम-से-कम एक माला अवश्य जपे और जिसका यज्ञोपवीत हो गया हो , उसको सूर्यास्तके पूर्व संध्या तथा कम-से-कम एक माला गायत्री-जप अवश्य करना चाहिये।

१०७-अपनेमेंसे दुर्गुण-दुराचार हट जायँ और सद्‌गुण-सदाचार आयें, इसके लिये भगवान्‌से सच्चे हृदयसे प्रार्थना करे और भगवान्‌के बलपर सदा निर्भय रहे।

१०८-अपने पाठको याद करके भगवान्‌का नाम लेते हुए सोये।

विषयासक्ति और भगवत्प्रीतिमें भेद

आसक्ति	प्रीति	आसक्ति	प्रीति
१. अनित्य	नित्य	५. सीमित	असीम
२. उत्पन्न	अनुत्पन्न	६. परिच्छिन्न	अपरिच्छिन्न
३. अविवेकसिद्ध	विवेकसिद्ध	७. बाँधती है	मुक्त करती है
४. घटती, बढ़ती, मिटती है	केवल बढ़ती ही है	८. मृत्यु देती है	अमर करती है

मनकी हलचलके नाशके सरल उपाय

संत-महात्मा या महापुरुष प्रायः अपने प्रवचनमें बार-बार कहा करते हैं कि जिस कामको हमलोग कर नहीं सकते अर्थात् जिसका होना हमसे सम्भव ही नहीं है, तथा जिसे करना भी नहीं चाहिये, उसको करनेकी इच्छासे अशान्ति होगी ही। अतः उसे करनेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि ऐसी इच्छा होनेसे कोई चीज पूरी मिलती नहीं, यदि मिल भी जाय तो ठहरती नहीं, ठहरती है तो अपूर्ण होनेके कारण उससे तृप्ति नहीं हो सकती। इसलिये इच्छा या कामना रखकर क्रिया करना उचित नहीं है। यदि यही चाह परमात्माकी प्राप्तिके लिये उत्कट हो जाय तो उनकी प्राप्ति हो जाय। श्रीभगवान् नित्य प्राप्त हैं, इसलिये केवल चाहमात्रसे ही मिल जाते हैं। उनकी प्राप्ति होनेके बाद कृतकृत्यता, ज्ञात-ज्ञातव्यता और प्राप्त-प्राप्तव्यता सभी प्राप्त हो जाती है, कुछ भी बाकी नहीं रहता।

विचार करना चाहिये—जो होनेवाला है वह होकर रहेगा। जो नहीं होनेवाला है वह होगा नहीं। फिर नयी चाह करें ही क्यों? केवल अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन करते रहें।

जब भी मनमें दुःख, शोक, चिन्ता, विषाद और हलचल हो तभी यदि नीचे लिखे सिद्ध मन्त्रोंकी कई बार आवृत्ति कर ली जाय तो ये सभी विकार शीघ्र ही दूर हो सकते हैं।

भविष्यकी चिन्ता मिटानेके लिये

(सिद्ध मन्त्र)

(क) यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते॥

अर्थ—जो नहीं होनेवाला है वह होगा नहीं, जो होनेवाला है वह होकर ही रहेगा। चिन्तारूपी विषका शमन करनेवाली इस ओषधिका पान क्यों न किया जाय!

(ख) होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा।

भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालकी चिन्ता मिटानेके लिये

(सिद्ध मन्त्र)

(क) अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

(गीता २।११)

अर्थ—तू शोक न करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है; परंतु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते।

(ख) होतब होत बड़ो बली ताको अटल बिचार।
किण मानी मानी नहीं होनहार से हार॥

हर समय भगवान्के भरोसे प्रसन्न रहनेके लिये

(सिद्ध मन्त्र)

(क) सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

अर्थ—सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको मुझमें त्यागकर (समर्पितकर) तू केवल एक मेरी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

(ख) चिन्ता दीनदयाल को मो मन सदा अनन्द।
जायो सो प्रतिपालिहै रामदास गोविन्द॥

अन्तःकरणमें अधिक उथल-पुथल होनेपर मनको समझानेके लिये

(सिद्ध मन्त्र)

(क) मना मनोरथ छोड़ दे तेरा किया न होय।
पानी में घी नीपजे तो रूखा खाय न कोय॥

भजन

(ख) जीव तू मत करना फिकरी, जीव तू मत करना फिकरी।
भाग लिखी सो हुई रहेगी, भली बुरी सगरी॥ टेर॥
तप करके हिरनाकुश आयो, वर पायो जबरी।
लोह लकड़ से मर्यो नहीं, बो मर्यो मौत नखरी॥ १॥
सहस्र पुत्र राजा सगरके, तप कीनो अकरी।
थारी गति ने तू ही जाने, आग मिली ना लकरी॥ २॥
तीन लोक की माता सीता, रावण जाय हरी।
जब्र लक्ष्मणने लंका घेरी, लंका गइ बिखरी॥ ३॥
आठ पहर साहेब को रटना, ना करना जिकरी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो रहना बे-फिकरी॥ ४॥

चिन्ता छोड़ते हुए अपने कर्तव्यसे कभी च्युत न हों। श्रीभगवान्‌की आज्ञा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २।४७)

अर्थ—तेरा कर्म करनेमात्रमें ही अधिकार है, फलमें कभी नहीं; और तू कर्मोंके फलकी वासनावाला भी मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी प्रीति न हो।

इसलिये करनेमें सावधान रहे और जो हो जाय, उसमें प्रसन्न रहे एवं सदा भगवन्नाम जपता रहे।

श्रीभगवन्नाम-माहात्म्य

सम्पूर्ण पापोंके नाशके लिये भगवन्नाम खास औषध है। चारों ही युग और चारों ही वेदोंमें नामकी महिमा है, परंतु कलियुगमें विशेष है; क्योंकि कलियुगमें इसके समान कोई उत्तम उपाय नहीं है—

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥

तुलसी हठि हठि कहत नित, चित सुनि हित करि मानि।
लाभ राम सुमिरन बड़ो, बड़ी बिसारे हानि॥
बिगरी जन्म अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥

जितनी ही प्रतिकूल परिस्थिति आती है, वह सब पूर्व-पापोंका नाश करनेके लिये तथा अपने कर्तव्यके विषयमें सचेत करनेके लिये आती है। उस समय यह विचार करे—'इससे मेरा अन्तःकरण पवित्र हो रहा है।' हृदयकी सारी हलचल मिटाने और अन्तःकरणको भगवन्मुखी बनानेके लिये जप और कीर्तन करना चाहिये एवं श्रीभगवान्‌को बारम्बार प्रणाम करना चाहिये। श्रीमद्भागवतके अन्तिम श्लोकमें कहा है—

नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥

अर्थ—जिनके नामोंका संकीर्तन सारे पापोंको सर्वथा नष्ट कर देता है और जिनको किया हुआ प्रणाम सारे दुःखोंको शान्त कर देता है, उन्हीं परमेश्वर श्रीहरिको मैं प्रणाम करता हूँ।

मनकी हलचलका कारण क्या है?

जब मनमें हलचल होने लगे तभी यह विचार करना चाहिये कि इसका कारण क्या है। गहराईसे विचार करनेपर पता लगेगा कि अपनी मनचाहीका न होना और अनचाहीका हो जाना—यही मनकी हलचलका कारण है।

भक्तियोगकी दृष्टिसे शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि तथा मैंपन अपना नहीं है; अपितु सब कुछ भगवान्‌का है। इनको अपना और अपनेको भगवान्‌से अलग मानना, इस विपरीत मान्यतासे ही मनमें दुःख और हलचल होती है। हलचल होनेका और कोई कारण नहीं है। जो कुछ होता है वह हमारे परमसुहृद् प्रभुका मङ्गलमय विधान है, यह सोचकर प्रसन्न होना चाहिये; उलटे मनको मैला करना सर्वथा नासमझी ही है।

ज्ञानयोगकी दृष्टिसे शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि तथा मैंपन सब कुछ प्रकृतिका है। मैंका आधार परमात्मतत्त्व है, वह अपना स्वरूप ही है। प्रकृति ही प्रकृतिके गुणोंमें बर्त रही है (गीता अध्याय १३ श्लोक २९), स्वरूप तो अपने आपमें नित्य स्थित है ही। उसमें क्रिया करना-कराना सम्भव ही नहीं है। तब फिर हलचल कैसी?

कर्मयोगकी दृष्टिसे शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि तथा मैंपन—यह सब कुछ अपना नहीं, संसारका है और इनको संसारकी सेवामें ही लगाना है। अपने लिये इनकी आवश्यकता नहीं है। इनको अपना तथा अपने लिये माननेसे ही दुःख आता और हलचल होती है। यह मान्यता—यह भूल मिट गयी, फिर दुःख और हलचल कैसे रह सकती है?

ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, पुरुषार्थवाद और प्रारब्धवाद इन सबका तात्पर्य मनकी चिन्ताको मिटानेमें ही है, कर्तव्यकर्मको छुड़ा देनेमें बिलकुल नहीं है।

उपर्युक्त दृष्टियोंसे यह बात सिद्ध होती है कि शरीर

आदिको चाहे तो भगवान्‌का, चाहे प्रकृतिका और चाहे संसारका मान लो। 'ये अपने नहीं हैं'—इस नित्य-सिद्ध बातको न मानकर अपना मानना भूल और बेसमझी है। यही दुःखोंका और हलचलका कारण है। भूल मिटनेके बाद हलचलके लिये किञ्चिन्मात्र भी स्थान नहीं है। फिर तो केवल आनन्द-ही-आनन्द है।

══ ★ ══

दैवी सम्पदा एवं आसुरी सम्पदा

श्रीगीतामें कहा है—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

दैवी सम्पत्ति मुक्तिके लिये और आसुरी सम्पत्ति बन्धनके लिये है। दैवी सम्पत्तिमें 'दैव' शब्द देवताका नहीं, परमात्माका वाचक है। उस परमात्माकी जो सम्पत्ति है, वही दैवी सम्पत्ति है। जैसे संसारके धनसे संसारकी वस्तुएँ मिलती हैं, इसी प्रकार यह दैवी सम्पत्ति परमात्माको प्राप्त करानेवाली है। गीता अध्याय १६ श्लोक १, २, ३ में २६ गुण दैवी सम्पत्तिके हैं। इनको अपनेमें लावें। संसारमें दो प्रकारके पुरुष होते हैं—एक तो सद्गुण-सदाचारको मुख्य मानते हैं। दूसरे भगवान्‌के भजनको, भगवान्‌को मुख्य मानते हैं। पहलेवाले कहते हैं—भगवान्‌के सम्बन्धकी, भगवान्‌के भजनकी क्या आवश्यकता है, भाव और आचरण अच्छे होने चाहिये; क्योंकि भाव और आचरण ही श्रेष्ठ हैं। इनका ही संसारमें आदर है। पर दूसरे जो भगवान्‌का आश्रय लेनेवाले हैं, उनमें भगवान्‌के गुण तो स्वाभाविक ही आयेंगे। जिनमें भगवान्‌का भजन करते हुए भी अच्छे आचरण और गुण कम आते हैं, उनका वास्तवमें ध्येय परमात्मा नहीं है। ध्येय सांसारिक पदार्थ एवं भोग हैं। भगवान्‌के बिना अच्छे आचरण, सद्गुण और सद्भाव आने कठिन हैं; क्योंकि मूल परमात्मा ही नहीं है तो वे किसके आश्रित रहेंगे। अतएव हर समय भगवान्‌को याद रखें। हर कार्यके आदि एवं अन्तमें तो भगवान्‌को अवश्य याद कर लें। काम करते हुए याद न भी रहे तो हानि नहीं; क्योंकि उस वक्त कार्यमें तल्लीनता होनेके कारण न परमात्मा याद है न संसार। वृत्ति केवल एक कार्यमें लगी है। कार्य समाप्त होते ही भगवान्‌को फिर याद कर लें। तो फिर सारा काम ही भगवान्‌का हो जायगा। भगवान्‌को याद रखनेसे, भगवान्‌का आश्रय लेनेसे दैवी सम्पदा अपने-आप आ जाती है। अपने जान भी नहीं पाते और आ जाती है। भगवान् श्रीरामने वनवासमें शबरीसे कहा—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥

'मैं तुझे नवधा भक्ति कहता हूँ। तू सावधान होकर सुन तथा उसे धारण कर।' फिर अन्तमें कहते हैं—

'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥'

अभी तो सावधानीसे सुनने, मनमें धारण करनेको कहा। फिर कहते हैं—'तुममें सब प्रकारकी भक्ति दृढ़ है।' तो धारण करनेको क्यों कहा? इसका उत्तर है निरन्तर सेवन करनेसे दृढ़ता आती है। अभिप्राय है कि शबरीमें नवधा भक्ति तो दृढ़तासे है, पर भक्तिके नौ प्रकार हैं यह उसे पता नहीं है। वह भजन करनेवाली है, व्याख्यान देनेवाली नहीं है। उसमें स्वाभाविक ही भक्ति आ गयी है। भगवान्‌को याद करनेसे, नाम लेनेसे सब गुण बिना बुलाये, बिना जाने स्वाभाविक ही आ जाते हैं। अतः दैवी सम्पत्तिमें सबसे पहली बात है भगवान्‌को याद करना, उनके शरण होना, मस्तीसे उनके दरबारमें रहना, कृपा मानकर उनके आश्रित रहना, खूब उत्साहपूर्वक रहना। जो अवसर प्राप्त हो जाय, उसमें भगवान्‌की अपार कृपा समझना। काम, क्रोध और लोभ—ये तीन इसमें बाधक हैं, इनका त्याग करे। 'यह मिले', 'वह मिले' इस इच्छाका नाम 'काम' है, यह और अधिक मिले इसका नाम 'लोभ' है तथा इन इच्छाओंकी प्राप्तिमें बाधा आनेपर 'क्रोध' होता है। इन तीनोंका त्याग करे। आसुरी सम्पत्तिका त्याग करे—दैवी सम्पत्ति लानेके लिये।

सार बात है—भगवान्‌को याद रखें। गीताके सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें तथा नवें अध्यायके ग्यारहवें और बारहवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने कहा कि 'आसुरी और राक्षसी प्रकृतिको धारण करनेवाले मूढ़ मेरा भजन नहीं करते; किंतु मेरा तिरस्कार करते हैं' तथा नवें अध्यायके तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंमें कहा कि 'दैवी प्रकृतिसे युक्त महात्माजन मुझे सब भूतोंका आदि और अविनाशी समझकर अनन्य प्रेमके साथ सब प्रकारसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं।' इस प्रकार दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति—इन दोनोंका विभाग करनेके लिये ही गीताके सोलहवें अध्यायका प्रकरण चला है। भगवान्‌का आश्रय लेनेसे सब गुण अपने-आप ही आ जाते हैं।

जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा॥

भगवान्‌के भजनसे बड़े-से-बड़े गुण अपने-आप आ जाते हैं। हर एक कामको भगवदाश्रित होकर आनन्दसे करे। भगवान्‌का विधान मानकर मस्त रहे। यही भजन है। प्रभुका आश्रय लेकर मस्त रहे। फिर सब दैवी गुण अपने-आप ही आ जायँगे।

दृढ़ भावसे लाभ

कहावत है कि 'जिस गाँवमें नहीं जाना है, उसका रास्ता ही क्यों पूछा जाय ?' ऐसा दृढ़ भाव हो जाय कि 'अपनी उम्रमें अमुक काम हमें नहीं ही करना है' तो वह कार्य हो ही कैसे सकता है ? जैसे सिनेमा नहीं देखना है, तो नहीं ही देखना है। बीड़ी-सिगरेट आदि व्यसन नहीं करना है, तो नहीं ही करना है। चाय आजसे नहीं पीना है, तो नहीं ही पीना है। समाप्त हुआ काम। अब झूठ नहीं बोलना है, तो झूठ बोलेंगे ही क्यों ? फिर झूठ निकल ही नहीं सकता। ऐसे ही प्रत्येक सद्गुण-सदाचारके ग्रहण और दुर्गुण-दुराचारके त्यागके लिये दृढ़ भाव बना लिया जाय तो यह भाव बहुत जल्दी बन सकता है और फिर वह अनायास ही आचरणमें भी आ सकता है।

इसके लिये एक बहुत उपयोगी बात यह है कि हम अपनेको दृढ़प्रतिज्ञ बनावें। अर्थात् हरेक व्यवहारमें जो विचार कर लें, बस वैसा ही करें—यों करनेपर विचारोंकी एक परिपक्वता हो जाती है, फिर संकल्प दृढ़ हो जाता है। इसी प्रकार जबानसे कह दें तो फिर वैसा ही करनेकी चेष्टा करें। बहुत ज्यादा दृढ़तासे कहें तो उसके पालनकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करें। मर भले ही जायँ, पर अब तो करेंगे ऐसे ही। छोटे-छोटे कामोंमें इस प्रकार दृढ़प्रतिज्ञताका स्वभाव बनानेकी चेष्टा करें तो हमारा स्वभाव सुधर जाता है। स्वभाव सुधरनेपर फिर बड़ी-से-बड़ी बातें भी जो विचार कर लें, वे धारण हो जाती हैं। यह भाव-निर्माण तथा भाव-धारण-साधन बहुत सुगम है और बहुत ही श्रेष्ठ है।

सेनामें लोग भरती होते हैं तब अपना नाम लिखा लेते हैं और समझते हैं कि 'हम तो सिपाही हो गये।' ऐसा भाव होनेपर मनमें स्वयं जिज्ञासा पैदा होती है कि सिपाहीको क्या करना चाहिये। ऐसी जिज्ञासा होनेपर उनको शिक्षा दी जाती है और वह शिक्षा उनके धारण हो जाती है। ऐसे ही साधन करनेके लिये वैरागी पुरुष साधु बनता है, उसके मनमें आता है कि 'मैं साधु बन गया' तो 'साधुको क्या करना चाहिये'—यह स्वयं उसके मनमें जिज्ञासा होती है। उसके बाद जब यह बताया गया कि साधुका यह आचरण है, साधुको ऐसे बोलना, ऐसे उठना चाहिये, ऐसा आचरण करना चाहिये, यह व्यवहार करना चाहिये तो यह साधुताकी बात वह पकड़ लेता है; क्योंकि वह समझता है कि 'मैं साधु हूँ, अतः मुझे अब साधुके अनुसार चलना ही है।' ऐसे ही अपने-आपको साधक मान ले कि मैं तो भजन-ध्यान-साधन करनेवाला साधक हूँ। जहाँ प्रवचनोंमें, ग्रन्थोंमें यह बात आयेगी कि 'साधकके लिये यों करना उचित है, साधकमें चञ्चलता नहीं चाहिये, उसे व्यर्थ समय नहीं गँवाना चाहिये, हर समय भगवत्-भजन, ध्यानादि करना चाहिये, कुसङ्गका त्याग करना चाहिये, सत्सङ्ग और स्वाध्याय करना चाहिये, आदि'—इस प्रकार साधकके लिये जो कर्तव्य बतलाये जायँगे, उन कर्तव्योंको वह अपनेमें लानेकी स्वतः ही विशेष चेष्टा करेगा; क्योंकि वह अपने-आपको साधक मानता है। अतः साधकके लिये जो बातें आवश्यक हैं वे उसमें आ जायँगी, धारण हो जायँगी; पर जो मनुष्य अपनेको साधक नहीं मानेगा, वह कोई बात चाहे सत्सङ्गमें सुने, व्याख्यानमें सुने या ग्रन्थोंमें पढ़े, उसके हृदयमें वह विशेषतासे धारण नहीं होगी और न उन बातोंके साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध ही होगा।

बहुत-से भाई-बहिन साधन करते हैं, जप-पाठ आदि नित्य-नियम करते हैं, परंतु नित्य-नियमके साथ समझते हैं कि यह तो घंटे-डेढ़-घंटे करनेका काम है। शेष समयमें समझते हैं कि हम तो गृहस्थ हैं, हमें अमुक-अमुक काम करने हैं, हम अमुक घरके, अमुक जातिके, अमुक वर्णाश्रमके हैं। घंटे-डेढ़-घंटे भगवान्का भजन कर लेना है, गीतापाठ कर लेना है, कीर्तन कर लेना है। सत्सङ्ग प्रतिदिन मिल गया तो प्रतिदिन कर लिया। बारह महीनेसे मिल गया तो बारह महीनेसे कर लिया। सत्सङ्ग कर लिया, एक पारी निकल गयी। ऐसा भाव रहता है। इसलिये विशेष सुधार नहीं होता, वह उस सत्सङ्गको ग्राह्य-दृष्टिसे नहीं देखता। ग्राह्य-दृष्टिसे देखने और साधारण कुतूहलनिवृत्ति-दृष्टिसे देखनेमें बड़ा अन्तर है। हम सत्सङ्गको कुतूहलनिवृत्ति या मन बहलानेकी तरह सुनते हैं। अतः धारण नहीं होता। इसलिये हमें सत्सङ्गको—साधनको ग्राह्य-दृष्टिसे देखना चाहिये और ऐसा भाव रखना चाहिये कि हमें तो निरन्तर भगवान्का भजन-ध्यान ही करना है। जो कुछ कार्य करना है वह भी केवल भगवान्का ही और भगवान्के लिये ही करना है। इस दृष्टिसे भगवान्के नाते ही सब काम किये जायँ तो उससे महान् लाभ हो सकता है।

★

भगवत्प्राप्तिसे ही मानव-जीवनकी सार्थकता

मानव-शरीर परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। परमात्माकी प्राप्तिको ही जीवन्मुक्ति, तत्त्वज्ञान, मोक्षप्राप्ति, प्रेमप्राप्ति, पूर्णताप्राप्ति और कृतकृत्यता आदि नामोंसे अभिहित किया जाता है। स्थूलरूपसे मानव और मानवेतर प्राणियोंमें कोई अन्तर नहीं है। सभीके शरीर पाञ्चभौतिक हैं। उनमें शरीरधारी जीवमात्र एक परमेश्वरके ही अंश हैं, चिन्मय हैं—**'ममैवांशो जीवलोके।'** (गीता १५।७) योनियाँ दो प्रकारकी होती हैं—१-भोगयोनि, २-कर्मयोनि। मानव-योनि कर्मयोनि (साधनयोनि) है। इसी योनिको श्रीगोस्वामीजी महाराजने ***'स्वर्ग नरक अपबर्ग निसेनी'*** बताया है। मानव-योनिकी यह महत्ता है कि इसी योनिमें किये गये कर्मोंके अनुसार मुक्ति अथवा देवयोनि, स्थावरयोनि, पशु-पक्षी-कीट-पतंगादि योनियाँ प्राप्त होती हैं। मनुष्ययोनिमें किये हुए कर्मोंके अनुसार ही भोगोंका विधान होता है। मानवयोनिमें कर्म करनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता है। अन्य योनियोंमें जीव अपने पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार प्राप्त हुए सुख-दुःखादि भोगोंको भोगता हुआ संसार-चक्रमें घूमता रहता है—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥

अन्य योनियोंमें जीवको कर्म करनेकी स्वतन्त्रता न होनेसे वहाँ उसकी मुक्तिके मार्ग अवरुद्ध रहते हैं। जीवमात्रपर अकारण स्नेह रखनेवाले भगवान् सर्वेश्वर कभी कृपा करके जीवको सदाके लिये दुःख-परम्परासे छुटकारा पानेके हेतु प्रयत्न करनेका अवसर देनेके लिये मनुष्ययोनि प्रदान करते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

कुछ लोगोंका कहना है कि मानवको अपने जीवनका एक ध्येय बनाना चाहिये। ध्येय बनानेसे तदनुसार चेष्टा होगी—क्रिया होगी। उनका यह कथन ठीक ही है, परन्तु विचार करनेसे ज्ञात होता है कि भगवान्‌ने पहलेसे ही मानव-जीवनका ध्येय निश्चित कर दिया है। भगवान् पहले जीवके लिये ध्येय निश्चित करते हैं, तदनन्तर उक्त ध्येयकी सिद्धिके निमित्त उस जीवको मानव-शरीरकी प्राप्ति कराते हैं। अतः मानवको कोई नूतन ध्येय बनानेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है पूर्वनिश्चित ध्येय या लक्ष्यको पहचाननेकी। भगवान्‌ने इसी उद्देश्यसे मानव-जन्म दिया है। उन्होंने यह विचार करके कि 'यह जीव अपना कल्याण-साधन करे' उसे मनुष्ययोनिमें भेजा है तथा उसके लिये मुक्ति या उद्धारके समस्त साधन इस योनिमें जुटा दिये हैं—ऐसे साधन जो अत्यन्त सुलभ, सरल और सर्वथा महत्त्वपूर्ण हैं। इसीलिये गोस्वामीजी महाराजने मानव-योनिको 'साधन-धाम', 'मोक्षका द्वार' तथा 'भवसागरका बेड़ा' कहा है—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। .... ॥
नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि 'जब मनुष्य एक निश्चित ध्येय लेकर उत्पन्न होता है, तब वह उक्त ध्येयको न पकड़कर अन्य दिशाओंमें क्यों भटकने लगता है? जब वह परमात्माकी प्राप्तिके पुनीत लक्ष्यको लेकर आता है, तब उस लक्ष्यकी प्राप्तिके साधनोंमें ही क्यों नहीं लगता? उस ध्येयके विरुद्ध क्रिया उसके द्वारा क्यों सम्पादित होने लगती है?' इन प्रश्नोंका एकमात्र उत्तर यह है कि वह अपने ध्येयको—अपने पूर्व-निर्धारित लक्ष्यको भूल बैठता है, उसे उसकी विस्मृति हो जाती है। इस विषयको अर्जुनका उदाहरण सामने रखकर समझा जा सकता है। जब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे पूछा—'अर्जुन! क्या तुमने गीताका उपदेश एकाग्र होकर सुना? क्या तुम्हारा अज्ञान-जनित मोह नष्ट हो गया?' तब अर्जुनने हर्ष-विस्फारित नेत्रोंसे भगवान्‌की ओर देखकर इस प्रकार उत्तर दिया—'भगवन्! मेरा मोह नष्ट हो गया। मुझे स्मृति प्राप्त हो गयी। यह सब आपके प्रसादसे हुआ है। अब मैं अपनी पूर्व-स्थितिमें आ गया हूँ।' यहाँ स्मृतिका अर्थ न तो 'अनुभव' है और न 'नूतन ज्ञान' ही। पहले कभी कोई अनुभूति हुई थी, कोई ज्ञान हुआ था; पर वह मोहके आवरणसे आच्छादित होकर विस्मृत हो गया था। भगवान्‌के ज्ञानोपदेशसे वह मोहका आवरण नष्ट हो गया और पूर्व-चेतना पुनः प्रकाशित हो उठी—भूली हुई बात याद आ गयी। वैशेषिकोंने भी 'स्मृति' का लक्षण ऐसा ही किया है—

'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।' (तर्कसंग्रह)

इसी प्रकार योगदर्शनके रचयिता महर्षि पतञ्जलिने भी **'अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः**[1]**'** लिखकर पूर्वानुभूत विषयके साथ ही स्मृतिका तादात्म्य बताया है। अर्जुनका **'स्मृतिर्लब्धा'** (गीता१८।७३)—यह वचन भी इसी अभिप्रायका पोषक है। इससे ज्ञात होता है कि अर्जुन निश्चितरूपसे लक्ष्यको भूल गया था। उस लक्ष्यकी विस्मृतिमें प्रधान कारण था 'मोह', जिसके लिये ही भगवान्‌ने **'कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय।'** (गीता १८।७२) कहकर प्रश्न किया था। 'मोह' शब्दका प्रयोग तो और भी

१-इस सूत्रका अर्थ इस प्रकार है—अनुभव किये हुए विषयका न छिपना अर्थात् प्रकट हो जाना 'स्मृति' है।

स्पष्टरूपसे उपर्युक्त भावकी पुष्टि करता है। व्याकरणके अनुसार 'मोह' शब्द '**मुह वैचित्त्ये**' धातुसे बना है। '**वैचित्त्ये**' पदपर ध्यान देनेसे यह पता चलता है कि 'विचेतनता—विगतचेतनता'का नाम ही 'वैचित्त्य' है, अतः यह सिद्ध होता है कि पहले अर्जुनको चेत रहा है और बादमें वह मोहसे ग्रस्त होता है। मोह छूटनेका अर्थ है—पूर्व-चेतनाकी प्राप्ति। जबतक उसकी बुद्धि मोहके कलिलसे व्यतितीर्ण नहीं हुई, तबतक वह भगवदाज्ञापालनके लिये प्रवृत्त नहीं होता। गीता अध्याय २, श्लोक ५२ में भगवान्ने '**यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति**' कहकर इसी ओर अर्जुनको संकेत किया है। पूर्णतः मोह निवृत्त होनेपर ही सम्यक्रूपेण चेतनाकी प्राप्ति होती है। तब वह खुलकर कहता है—

स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥

(गीता १८।७३)

उपर्युक्त विवेचनसे पता चलता है कि जीवनका लक्ष्य, उद्देश्य अथवा ध्येय तो पहलेसे बना-बनाया है, उसको बनाना नहीं है। केवल उसे पहचाननेकी आवश्यकता है। पहचाननेपर उसकी प्राप्तिका साधन सरल हो जाता है। कठिनाई तो पहचान करनेतक ही है। मोहकी ऐसी प्रबल महिमा है कि मानव-जीवन प्राप्त करनेके अनन्तर सचेत रहकर मुक्तिके लिये प्रयत्न करनेवाले मनुष्यको भी कभी असावधान पाकर वह धर दबाता है। उदाहरणतः महाभारतमें हम देखते हैं कि समरकी सारी तैयारी पूर्ण करनेमें अर्जुनका पूरा हाथ रहता है। कुरुक्षेत्रकी धर्मभूमिमें कौरव और पाण्डव-सेनाएँ व्यूहाकार खड़ी होकर शङ्खध्वनिके तुमुल नादसे युद्धकी सूचना देती हैं, तब अर्जुन भी अपने देवदत्त शङ्खका नाद करता है। शस्त्रसम्पातका प्रारम्भ होनेवाला ही है। अर्जुन पूर्ण सचेत है तथा कर्तव्यपरायण क्षत्रियकी तरह भगवान् श्रीकृष्णको आदेश देता है—'**सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।**' (गीता १।२१) 'भगवन्! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करिये। मैं देखूँ कि इस युद्धमें मुझे किन-किन लोगोंसे लोहा लेना है?' इन जोशभरे वीरोचित शब्दोंको सुनकर भगवान् भी रथको तत्क्षण दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करके अर्जुनको कुरुवंशियोंकी ओर देखनेकी आज्ञा देते हैं। अर्जुन ज्यों ही दोनों सेनाओंमें अपने कुटुम्बियों, स्नेहियों, गुरुजनों तथा स्वजनोंको ही युद्धके लिये सज्जित देखता है, त्यों ही उसके मनमें विषाद छा जाता है। युद्धका परिणाम युद्धसे भी भयंकर और दारुण प्रतीत होता है। इस कुलक्षयसे उसे सुखकी कल्पना न होकर सर्वनाशकी परम्परा खुलती दिखायी देती है। उसके लिये अपने जीवनका कोई मूल्य नहीं रह जाता और इस कुटुम्ब-ग्रासकी अपेक्षा अपने लिये मृत्युकी आकाङ्क्षा श्रेयस्कर प्रतीत होने लगती है। उसे कर्तव्यमें अकर्तव्य, श्रेयमें अश्रेय तथा अर्थमें अनर्थके दर्शन होते हैं। ममता और आत्मीयताके कारण ऐसे युद्धसे विरत होना ही वह श्रेष्ठतम कर्तव्य समझ बैठता है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके इस दुर्धर्ष मोहको 'क्लैव्य', 'कश्मल' आदि शब्दोंसे तथा '**अनार्यजुष्टम्**', '**अस्वर्ग्यम्**', '**अकीर्तिकरम्**' आदि पदोंसे उसके भयंकर परिणामोंको दिखाकर निन्दा की। किंतु अर्जुनपर मोहका ऐसा गहरा रंग चढ़ा था कि उसने अपने भावोंको ही श्रेष्ठ माना और पुनः कुछ बोलकर उन्हींका पिष्टपेषण किया। पुष्ट प्रमाणोंसे अपने वचनोंपर जोर देते हुए कहा—'पूजाके योग्य पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणको बाणोंसे कैसे मारा जा सकता है? मारनेपर गुरुजन-हिंसाके जघन्य अपराधके बाद हमें उनके रक्तसे सने हुए केवल अर्थ-काममय भोग ही तो प्राप्त होंगे। धर्म अथवा मुक्ति तो मिल नहीं जायगी? अतः मेरे विचारसे युद्धका कोई औचित्य नहीं है। इस प्रकार अर्जुनपर मोहने ऐसा अधिकार जमा लिया कि वह कर्त्तव्यविमुख हो गया। अनन्त भगवान्ने गीता-ज्ञानका महान् उपदेश देकर उसके मोहको निवृत्त किया। अतः गीता प्रत्येक मोहग्रस्त मानवके मोह-निवारणका अमोघ औषध है।

मानव जबतक अपने लिये सुनिश्चित ध्येयकी पूर्तिकी ओर अग्रसर नहीं होता, तबतक वह अन्य सामान्य जीव-योनियोंसे विशिष्ट कोटिमें नहीं पहुँचता। अतः मनुष्यको अपने उद्धार या कल्याणकी दृष्टिसे अपनी विस्मृत चेतनाकी पुनः प्राप्तिके लिये प्रयत्नरत होनेमें ही मानवताकी सार्थकता समझनी चाहिये। जिस कार्यके लिये यह दुर्लभ मनुष्यशरीर प्राप्त हुआ है, उसका साधन न करके मानव शरीर, इन्द्रिय और प्राणोंकी मुख्यता माननेके कारण कुटुम्ब एवं भोग-सामग्रियोंमें आसक्त होकर उसे भूल गया है। जनसाधारणकी ऐसी ही स्थिति प्रायः देखनेमें आती है। वस्तुतः ध्यानसे देखा जाय तो ज्ञात होगा कि मनुष्यकी जितनी क्रियाशीलता इस विरोधी दिशामें है, उतनी ही विवेकपूर्ण क्रियाशीलतासे मुक्ति अथवा उद्धारका मार्ग भी प्रशस्त हो सकता है। पर हो क्या रहा है? मानव अपने लिये कभी स्वर्गकी, कभी अर्थकी, कभी भोगकी और कभी यशकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारकी योजनाएँ बनानेमें मस्त है। वह समझता है कि जीवनका मूल्य इतना ही है। इस प्रकार पुनः अपने-आपको आवागमन-चक्रमें डालनेका कुचक्र वह स्वयं ही रच लेता है। भगवान्ने गीतामें बताया है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(६।५)

अर्थात् मनुष्य स्वयं ही अपना उद्धार करे, अपने-आपको अवनतिके गर्तमें न गिरने दे। वह स्वयं ही अपना बन्धु तथा स्वयं ही अपना शत्रु है।

आजका मानव आत्माके उद्धारके लिये यत्न न करके स्वयं ही अपने प्रति शत्रुता कर रहा है। कहाँतक उल्लेख किया जाय, आज जिसको भौतिक सम्मान प्राप्त है, वह और अधिक सम्मानकी खोजमें है। धनिक और अधिक धनकी तलाशमें है। ग्रन्थकार मृत्युके बाद अमर कीर्तिकी अभिलाषामें डूबा है। बड़े-बड़े भवनोंका निर्माता अपनी भौतिक कीर्तिको चिरस्थायी बनानेके स्वप्न देखता है और धर्मोपदेष्टा अपनी प्रसिद्धिका वातावरण बनानेमें संलग्न है—आदि-आदि। इस प्रकार मानवका सारा प्रयत्न ध्येयकी प्राप्तिके लिये न होकर उससे उलटी दिशाकी ओर जानेके लिये हो रहा है। परिणाम यह है कि इस दिशामें जितनी ही विशेषताकी उत्कट आकाङ्क्षा की जाती है, मानवताके वास्तविक लक्ष्यसे उतनी ही अधिक दूरी होती जा रही है; क्योंकि ये सारी बातें व्यक्तित्वको दृढ़ करनेमें सहायक हैं। होना यह चाहिये कि मनुष्य व्यक्तित्वको हटाकर वहाँ अपने स्वरूपकी प्रतिष्ठा करे। उसका सारा प्रयत्न चिन्मयताकी प्राप्तिके लिये होना उचित है।

जैसे कोई मनुष्य तीर्थ-स्नानको जाता है, वहाँ मेलेसे दूर किसी धर्मशालामें ठहरता है और धर्मशालाके स्थानको अपने लिये उपयोगी बनाने, रसोईका सुन्दर प्रबन्ध करने तथा अन्यान्य सुखोपभोगके सामान जुटाने आदिमें इतना तन्मय हो जाता है कि तीर्थ-स्नान, देव-दर्शन, तीर्थ-दर्शन, मेला-महोत्सव और साधु-समागम आदि कोई कार्य नहीं कर पाता। ऐसे मनुष्यको तो हम उपहासास्पद ही बतायेंगे। इसी प्रकार मनुष्य आया तो है भगवत्प्राप्तिके लिये, किन्तु लग गया संग्रह और भोग भोगने आदिमें—

आये थे हरि भजनको, ओटन लगे कपास।

भोगोंकी प्राप्ति हमारा लक्ष्य नहीं है, पर प्रयत्न उसीके लिये होता है। भगवान्‌की प्राप्ति ही मानव-जीवनका मुख्य लक्ष्य है, किन्तु उसके लिये कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है। शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, धन, वैभव,भोग आदि पदार्थ साधनमात्र हैं; किंतु उन्हें साध्य बना लिया गया है और जो वास्तविक साध्य है, उसकी सर्वथा उपेक्षा कर दी गयी है।

भगवान्‌ने जीवके कल्याणके लिये चार पुरुषार्थ निश्चित किये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों पुरुषार्थोंके विस्तारके क्षेत्र हैं—चारों वर्ण तथा चारों आश्रम। उन्हींके द्वारा इनका अनुष्ठान होता है। चार पुरुषार्थ ही चार इच्छाएँ हैं तथा इनकी प्राप्तिके दो साधन माने जा सकते हैं। काम और अर्थकी प्राप्तिमें प्रारब्धकी प्रधानता रहती है तथा धर्म और मोक्षकी प्राप्तिमें उद्योगकी। अर्थको काम-प्रवण बना दिया जाय—कामकी पूर्तिके प्रति उन्मुख कर दिया जाय तो अर्थका नाश हो जाता है। धर्मको कामसे संयुक्त कर दिया जाय तो धर्मका नाश हो जाता है। इसके विपरीत यदि अर्थको धर्ममें लगा दिया जाय तो वह धर्मके रूपमें परिणत हो जायगा। धर्मको अर्थमें लगा देनेसे वह अर्थका रूप धारण कर लेगा। इस प्रकार धर्म और अर्थ एक-दूसरेके पूरक और उत्पादक हैं। पर उन्हींको जब क्रोधसे जोड़नेका प्रयत्न किया जायगा, तब दोनोंका विनाश हो जायगा तथा कामनाका अभाव करके किया गया धर्म और अर्थ—दोनोंका अनुष्ठान युक्तिमें सहायक हो जायगा। निष्कामभावसे 'काम' का आचरण (विषय-सेवन) भी मुक्तिका मार्ग प्रशस्त करेगा। अतः मानवको चाहिये कि वह निष्कामभावसे आसक्तिका त्याग करके धर्मपूर्वक अर्थ-कामका आचरण करे। अर्थका सद्व्यय करे और अनासक्तभावसे धर्मानुकूल काम-सेवनमें प्रवृत्त हो। ऐसी प्रगति ही सच्ची मानवताकी दिशामें प्रगति है।

इसी प्रकार चारों वर्ण अपने लिये गीतामें उपदिष्ट वर्ण-धर्मका पालन करके सच्ची मुक्ति अथवा सिद्धिको प्राप्त कर सकते हैं। जिसको आत्माके कल्याणका साधन करना है, वह इस द्वन्द्वात्मक जगत्‌के झंझावातोंसे प्रभावित न होकर अपने लिये निश्चित कर्तव्य-मार्गपर चलता रहता है तथा सिद्धिको प्राप्त करके ही दम लेता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें बताया है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(१८।४५)

'अपने-अपने कर्ममें अनासक्तभावसे लगा रहनेवाला मानव सिद्धिको प्राप्त कर लेता है।' ठीक ऐसे ही चारों आश्रम भी मानवके ध्येयकी पूर्तिमें पूर्ण सहायक होते हैं। आश्रमोंमें दो आश्रम मुख्य हैं—गृहस्थाश्रम और संन्यासाश्रम। ब्रह्मचर्याश्रममें गृहस्थाश्रमकी तैयारी की जाती है और वानप्रस्थाश्रममें संन्यासाश्रमकी। ब्रह्मचर्याश्रम प्रथम आश्रम है। इसमें प्रविष्ट होकर विद्योपार्जन और धर्मानुष्ठान करके यदि यहीं अर्थ-कामकी इच्छाके प्रति निर्वेद उत्पन्न हो जाय तो सीधे नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका व्रत लेकर मानव एक इसी आश्रममें अपना कल्याण-साधन कर सकता है। यदि अर्थ-कामकी इच्छाको

विवेक-विचारद्वारा इस आश्रममें नहीं मिटाया जा सका तो उस उपकुर्वाण ब्रह्मचारीके लिये गृहस्थाश्रम रखा गया है। इस आश्रममें रहकर मानव भोगोंके तत्त्वका ज्ञान करनेके लिये धर्मानुकूल अर्थ-कामका आचरण करे। यह भी साध्यकी दिशामें ही प्रवर्तन है, जिससे—

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

—वाली बात सम्भव होती है, क्योंकि धर्मानुसार गृहस्थाश्रमका अनुष्ठान करनेसे वैराग्य होना अनिवार्य है। सीमित भोगका अर्थ ही गृहस्थाश्रम है। असीमित भोगोंके प्रतीकरूपमें सीमित भोग गृहस्थको इसलिये प्राप्त होते हैं कि लक्ष्यको याद रखते हुए, भोगोंका तत्त्व जाननेके लिये विधि-विधानसे सीमित भोग भोगकर गृहस्थ पुरुष उनका तत्त्व जाननेके पश्चात् उन भोगोंसे उपरत हो जाय और परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें तत्परतासे लग जाय। उन प्राप्त भोग-पदार्थोंके द्वारा निष्कामभावसे जनता-जनार्दनकी सेवामें प्रवृत्त होकर उस सेवारूप साधनसे भी गृहस्थ परमात्माको प्राप्त कर सकता है। जनता-जनार्दनकी सेवा करते समय सेवाकी सामग्री (धनादि उपकरण) तथा सेवाके साधन (अन्तःकरण, इन्द्रियाँ आदि) को भी उन्हींका (सेव्यका ही) समझना चाहिये। यह सेवा-सामग्री जिनकी है, उन्हींकी सेवामें इसे लगा रहा हूँ—यह भाव दृढ़ हो जानेपर उन उपकरणोंसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा। '**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये**' के अनुसार वे सेव्यके समर्पित हो जायँगे। ऐसी भावना बननेपर ज्ञात होगा कि अपने पास जो कुछ भी भोग-सामग्री और उनका संग्रह है, वह केवल सेवाके उद्देश्यकी पूर्तिके ही लिये है। फिर उनके प्रति अपनी ममताका सर्वथा अभाव हो जायगा। इससे जीवकी जडता जड संसारमें मिल जायगी और उससे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेसे चेतन-स्वरूपमें स्वतः स्थिति हो जायगी।

इस तत्त्वको और अधिक बोधगम्य बनानेकी दृष्टिसे यहाँ यह जान लेना चाहिये कि इन्द्रियोंका उपभोग तीन प्रकारका होता है—(१) भोगोंका तत्त्व जाननेके लिये, (२) उनके द्वारा दूसरोंकी सेवा करनेके लिये तथा (३) परमात्माकी प्राप्तिके निमित्त शरीर-निर्वाह-क्रियाके सम्पादनके लिये। अब उनका अलग-अलग विश्लेषण किया जाता है।

भोगोंका तत्त्वज्ञान—यहाँ तत्त्व जाननेका अर्थ यह है कि भोगोंमें सीमित सुख है। भोगोंमें सीमित सुखकी मात्रा क्या है—इसके अनुभवके लिये भी हमें उस भोगके अभावके दुःखका अनुभव करना पड़ेगा; क्योंकि भोगके अभावका दुःख जितना अधिक होगा, भोग उतना ही सुख प्रदान करेगा। अतः अभावकी भी आवश्यकता पड़ेगी। अभाव नहीं होगा तो सुख भी नहीं होगा। साथ ही भोग भोगते समय भोगशक्तिका नाश होता है और भोगेच्छा उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होती है। भोग्य पदार्थ अनित्य होनेसे नाशशील हैं, प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं। भोग्य पदार्थोंके नष्ट हो जानेपर उनके भोगनेके संस्कारोंकी स्मृति कष्टकारक होती है। भोगोंके तत्त्वका यह ज्ञान भोगोंके भोगनेसे उपलब्ध हो जाता है।

दूसरोंकी सेवाका तत्त्व—जबतक मानवको अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थोंका ज्ञान नहीं होगा, तबतक वह प्रतिकूल पदार्थों और क्रियाओंके त्यागपूर्वक अनुकूल पदार्थ और क्रियाओंद्वारा दूसरोंकी सेवा नहीं कर सकता। सेवा करते समय सेवाकी वस्तुएँ जिनकी हम सेवा करते हैं उनकी समझनी चाहिये। इससे वह उनके प्रति ममता और आसक्तिके बन्धनसे मुक्त हो जायगा। जबतक ममता और आसक्ति है, तबतक अनुकूलता-प्रतिकूलताका द्वन्द्व बना रहता है।

शरीर-निर्वाह-क्रियाका—अर्थ है राग-द्वेषरहित होकर विषयोंका सेवन करना। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(२। ६४)

'अपने वशमें की हुई राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंद्वारा विषय-सेवन करनेवाला जितात्मा पुरुष प्रसाद (अन्तःकरणकी प्रसन्नता) को प्राप्त होता है।'

विषयोंका राग-द्वेषपूर्वक चिन्तन करनेसे मनुष्यका पतन होता है; क्योंकि विषयोंका ध्यान उनके प्रति मानव-हृदयमें आसक्तिका अङ्कुर उत्पन्न कर देता है और आसक्ति सब अनर्थोंकी जड़ है। यहाँतक कि आसक्तिसे मानवकी बुद्धि नष्ट होकर उसका पतन हो जाता है—

बुद्धिनाशात् प्रणश्यति। (गीता २। ६३)

किन्तु राग-द्वेषरहित होकर विषयोंका सेवन भी प्रसादकी प्राप्ति कराता है। यह विषय-सेवन राग-द्वेषके त्याग और संयमपूर्वक केवल शरीर-निर्वाहमात्रके लिये ही होना उचित है, न कि भोगबुद्धिसे। तभी वह मुक्तिका कारण होता है। अस्तु,

गृहस्थाश्रमी गृहस्थ-धर्मका पालन करके भी परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है—यह ऊपर बताया गया। अथवा वह वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे और वहाँ तितिक्षा तथा संयमकी उत्कट साधनामें रत होकर परमात्माको प्राप्त करे। अथवा संन्यासकी योग्यता प्राप्त करके संन्यास-आश्रममें चला जाय। वहाँ बाहर-भीतरसे त्यागी होकर निरन्तर ब्रह्मचिन्तन

करते हुए परमात्माको प्राप्त करे।

जड-चेतनकी ग्रन्थिका नाम ही जीव है; इसलिये मानवमें जड अंशको लेकर सुख-भोग तथा संग्रहकी इच्छा होती है और चेतन अंशको लेकर मुमुक्षा अर्थात् भगवान्‌की प्राप्तिकी इच्छा होती है। मुक्ति और भुक्तिकी इच्छाओंमें भोगोंकी इच्छा चाहे कितनी ही प्रबल हो जाय, वह परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छाको मिटा नहीं सकती। जडता चेतनतापर कुछ कालके लिये भले ही छा जाय, पर उसका अस्तित्व मिटा नहीं सकती। बल्कि परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छा प्रबल और उत्कट हो जानेपर भोगेच्छाका अस्तित्व मिट जाता है; क्योंकि भोग और उनकी इच्छा दोनों ही अनित्य हैं। परमात्मा और उनका प्रेम दोनों नित्य हैं। परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छा ही भगवान्‌के प्रेमका स्वरूप बन जाती है। प्रेम और भगवान् दोनों एक हैं। जबतक भोगोंकी यत्किञ्चित् इच्छा है, तभीतक साधनावस्था है। जब परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छा, मोक्षकी इच्छा, प्रेम-पिपासा मुख्य इच्छा बन जाती है, तब भोगेच्छा मिट जाती है। उसके मिटते ही नित्यप्राप्त परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार मानव सहज ही अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है। वह कृतकृत्य, प्राप्त-प्राप्तव्य और ज्ञात-ज्ञातव्य हो जाता है। अर्थात् उसने करनेयोग्य सब कुछ कर लिया, प्राप्त करनेयोग्य सम्पूर्ण लक्ष्य प्राप्त कर लिया और जाननेयोग्य सब कुछ जान लिया। इसीमें मानव-जीवनकी सार्थकता है।

═══ ★ ═══

उपासना शब्दका अर्थ एवं उसका स्वरूप

'उपासना' शब्दका अर्थ है—पासमें बैठना, उप+आसना; उपासना दो शब्दोंसे बनता है। उपासनाका विषय कुछ भी हो सकता है—जैसे धन, मान, लोक-परलोककी कोई भी वस्तु। जो जिस वस्तुको चाहता है, उसका मन उस वस्तुके पास रहता है, उसीकी उपासना होती है; परंतु वास्तवमें उपासना होनी चाहिये सत्य-तत्त्वकी। प्रकृतिके कार्यकी उपासना न करके परमात्माकी उपासना करनी चाहिये।

गीतामें तीन प्रकारकी उपासना कही है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(१३।२४)

'कितने लोग ध्यानयोगके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार करते हैं, कई सांख्ययोगके द्वारा और कई कर्मयोगके द्वारा।' गीतामें उपासनाके तीन मार्ग हैं—भक्तियोग, ज्ञानयोग एवं कर्मयोग। सत्य-तत्त्वकी प्राप्तिके लिये जो किया जाय उसे 'उपासना' कहते हैं। यह सब परमात्मा-ही-परमात्मा है। वही आदि-मध्य-अन्तमें है—'**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव**' (गीता ७।७)। (सूत्रमें मणिगणकी तरह सम्पूर्ण चराचर विश्व मुझमें ही ओत-प्रोत है।) सत्-असत् सब कुछ परमात्मा ही है। सत्य-तत्त्वकी ऐसी उपासना भक्तियोगकी पद्धतिसे उपासना है। सांख्ययोगकी उपासना असत्‌का त्याग करके, '**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**' (गीता २।१६) 'असत्‌की सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं।' सत्‌की उपासना की जाती है। कर्मयोगमें भी सत्‌की उपासना है। भगवान्‌ने कहा है—'**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति**' (२।४०) 'इसमें कृत प्रयत्नका नाश नहीं होता।' गीताके १७वें अध्यायके दो श्लोकों(२६-२७) में 'सत्' शब्दकी पाँच व्याख्या की है—'**सद्भावे साधुभावे च**', '**प्रशस्ते कर्मणि तथा**', '**यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः**' और '**कर्म चैव तदर्थीयम्।**'

'सत्' कहते हैं— सत्ताका होना, जिसका कभी नाश नहीं हो, वह सर्वत्र विद्यमान है। यह संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। परंतु उसके आश्रयसे यह संसार प्रत्यक्ष नाशवान् होनेपर भी सत्य दीखता है। गोस्वामीजीने (मानस, बालकाण्डमें) कहा है कि—

'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

यह संसार सत्य दीखता तो है, पर सत्य है नहीं। प्रत्येक पदार्थकी उत्पत्तिके मूलमें एक नित्य तत्त्व होता है, जिसके आश्रयसे पदार्थ उत्पन्न होता है। उसे प्रकाश देनेकी जरूरत नहीं है, वह स्वयंप्रकाश है। उसकी सत्यतासे ही सब अनित्य संसार दीख रहा है। '**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**' (मु० उ० २।२।१०) 'उसीके प्रकाशसे यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है।' सांख्ययोगमें असत्‌को छोड़कर सत्‌का ही चिन्तन-ध्यान होता है। असली उपासना उसी तत्त्वके लिये साधनामात्र है।

बाल्यावस्थामें जो शरीर था, वह बदल गया। साथी, सामग्री, भाव, उद्देश्य, इन्द्रियाँ सब बदल गयीं, पर मैं तो वही हूँ, यह नहीं बदला। मैं वही हूँ, यह सत्य है। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति सब उस सत्‌के अन्तर्गत हैं। सत्-तत्त्व ज्यों-का-त्यों है। हमने असत्‌में मान्यता कर ली है— '**कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३।२७) (मूर्खतासे) 'मैं कर्ता हूँ ऐसा मान लेते हैं।' समष्टि शक्तिसे ही समस्त क्रियाएँ हो रही हैं—'**प्रकृतेः क्रियमाणानि**' (गीता ३।२७) ऐसी स्थितिमें 'सम्पूर्ण क्रियाएँ समष्टिकी शक्तिद्वारा हो रही हैं'

ऐसा समझकर '**नैव किञ्चित् करोमीति**' (गीता ५।८) 'मैं कुछ नहीं करता हूँ'—किसी क्रियामें कर्तापन और भोक्तापनका भाव न लावें।

अब शङ्का होती है कि मनकी स्फुरणा नहीं मिटती। यहाँ मूलमें गलती है। हम उस स्फुरणाको मिटानेके लिये उसके कारणको न मिटाकर, उसके कार्यको मिटाना चाहते हैं। कारण, जिस मनमें स्फुरणा होती है, उस मनको हमने अपना मान लिया है। उसको अपना न मानें, वह प्रकृतिका है, उसकी सत्तासे ही स्फुरणा होती है, यह परिवर्तन हो रहा है। इस उपासनाको 'सांख्ययोगकी उपासना' कहते हैं।

सत्-असत्से परे और उसमें व्याप्त भगवान् ही हैं। '**मयि सर्वमिदं प्रोतम्।**' (गीता ७।७) जैसे मिट्टीसे बननेवाले बर्तनके पहले भी मिट्टी थी, बर्तन बननेके बाद भी मिट्टी है और बिखरनेपर भी मिट्टी ही होती है। यही बात संसारके लिये भी कही जा सकती है। संसार है तब भी परमात्मा है, संसारके होनेसे पहले भी परमात्मा था एवं संसारके बिखरनेपर भी परमात्मा ही है। जैसे घड़ेका ढक्कन, उसकी आकृति, रंग सभी चीजें होनेसे उसका उपभोग भी होता है, ऐसे ही नाम-रूपमय यह संसार भी उपयोगी है। इसे परमात्माने ही तो बनाया है। यह परमात्मा ही तो है, दूसरी वस्तु आयी कहाँसे ? उससे उत्पन्न, उसीमें लीन यह संसार परमात्मा ही है ! यह उपासना 'भक्तियोगकी उपासना' है।

निष्काम भाव है। यह निष्कामता स्वतःसिद्ध है। कामना बनायी हुई है। अब यह विचार करें। धनकी कामना है, मान-सम्मानकी कामना है। पहले ये थीं नहीं। बाल्यावस्थामें कंकड़-पत्थरसे खेलते थे। उस समय बहुत कम ज्ञान था। कोई विशेष कामना भी नहीं थी, परंतु अब ये कामनाएँ बढ़ती ही जा रही हैं। कभी किसी वस्तुकी कामना करते हैं, कभी किसी वस्तुकी। कभी द्रव्यकी कामना होती है तो कभी मान-सम्मानकी। अतः मानना पड़ेगा कि कामनाएँ पैदा होती हैं और फिर मिट भी जाती हैं, निरन्तर रहती नहीं। लोग कहते हैं कि 'कामना मिटती नहीं' परंतु मैं तो कहूँगा कि 'यह भगवान्की परम कृपा है कि कामना चाहे शरीरकी हो या धनकी हो, वह टिकती नहीं।' बाल्यावस्थामें कामना खेलकी थी, वह मिट गयी। पीछे दूसरी अनेक हुई, वे भी मिट गयीं ! यही बात ममताकी है। यह भी जोड़ी जाती है और छोड़ी जा सकती है। किसीके साथ ममता जोड़नेपर जुड़ जाती है और तोड़नेपर टूट जाती है। बहिनोंका जन्म एक परिवारमें होता है; परस्परमें कितना ममत्व होता है, किंतु विवाह होनेपर पतिके परिवारवालोंसे सम्बन्ध जुड़ जाता है, तब पुराने परिवारवालोंसे उतनी ममता नहीं रहती। सहोदर भाईके गोद चले जानेपर उसके साथ वह ममता नहीं रहती जो उसके साथ पहले थी। अधिक क्या, अपने शरीरकी ओर देखें। बाल्यावस्थामें जब हम बच्चे थे तो हमारी माता गोदमें रखती, दूध पिलाती। उसकी कितनी अधिक ममता थी ? अब हम जवान हैं, तब वैसी ही ममता आज भी माँकी है क्या ? और जब हम वृद्ध हो जायँगे तब और भी कम नहीं हो जायगी क्या ? इससे सिद्ध है कि ममता जिन सांसारिक वस्तुओंसे करेंगे, वे रहेंगी नहीं। पर ममता करनेपर जो लोभ, पाप आदि होंगे, वे अवश्य रह जायँगे। व्यापारमें जिस तरह चीजें आती हैं और बिक जाती हैं, पर केवल हानि-लाभ हमारे पास रहता है, वैसे ही ममता करनेसे केवल पाप-ताप ही हाथ लगता है। मुनाफामें शोक-चिन्ता रहेगी। जवान लड़का मर जाता है, वह लड़का न पहले था, न अब है, फिर चिन्ता क्यों करते हैं ? चिन्ता, शोक आदि जो करते हैं बस यही ममताका मुनाफा है।

एक समय श्रद्धेय सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके सामने किसी भाईने प्रश्न किया कि 'जब सब परमात्मा ही हैं, तब हम जो पाप करते हैं, वे भी परमात्माके द्वारा ही होते हैं। '**ये चैव सात्त्विका भावाः**' (गीता ७।१२) यह भी परमात्माकी ही उपासना हुई और रावण, कुम्भकर्ण आदिके इतना अन्याय करनेपर भी उन्हें उसी परमात्माकी प्राप्ति हुई, तब हम कर्तव्य करके क्यों बन्धनमें पड़ें !' उत्तरमें श्रद्धेय श्रीसेठजीने कहा—'हम जैसी उपासना करेंगे, वैसे ही उपास्य मिलेंगे' वैसी उपासना करनेपर दुःखमय भगवान् मिलेंगे ! क्या दुःख भगवान् नहीं हैं ! जैसा स्वरूप चाहते हैं, वैसी उपासना कीजिये। यदि रावण आदिकी तरह करते हैं तो वैसी शक्ति चाहिये कि भगवान्के सिवा दूसरोंसे मरें नहीं, तब तो कल्याण हो जायगा। पर यदि कोई बीचमें ही मार देगा तो क्या दशा होगी ? उद्धार होनेसे वञ्चित रह जायँगे। '**जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।**' (गीता ६।४४) 'योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मको पार कर जाता है' इस सच्चे मार्गमें धोखा नहीं है। सब कुछ परमात्मा ही है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई साकार चाहता है कोई निराकार। साकारमें भी कोई विष्णु, राम, कृष्ण, शक्ति, शिव आदिको चाहता है। जिस रूपमें जिसकी पूज्य-भावना, आदर और रुचि होगी, उसकी उपासनासे उसको उसी स्वरूपकी प्राप्ति होगी। फिर भगवान्की कृपासे उसको वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति होगी जो मन-वाणीसे अतीत है।

कर्मयोगमें भी सत्की ही उपासना है। इसमें फल-आसक्तिका त्याग होना चाहिये। लोग कहते हैं कि 'ममता-

आसक्ति मिटती नहीं।' इस विषयमें यह विचारना चाहिये कि आसक्ति सदा एक-सी ही रहती है क्या ? पहले जो माँका स्नेह होता है, पीछे वह वैसा ही रहता है क्या ? युवावस्थामें स्त्रीमें जो आकर्षण रहता है वृद्धावस्थामें वैसा है क्या ? किसी भी वस्तुके साथ देख लें, मकान बनवाया या गहना-कपड़ा बनवाया, दो चार दिन जो आनन्द आया, फिर वह आनन्द वैसा ही रहता है क्या ? अब तनिक विचार करें, संसारका कोई भी पदार्थ रहनेवाला नहीं है। फिर यह स्नेह, ममता, आसक्ति इन पदार्थोंमें न करके भगवान्‌से कर लेते तो कृतकृत्य हो जाते।

संसारके सारे पदार्थ नाशवान् हैं। इनसे कुछ मिलनेवाला नहीं है। केवल अन्तःकरण मलिन होगा, अशान्ति मिलेगी। माँ-बेटेका बड़ा स्नेह है, लड़का इस समय माताके अनुकूल आचरण करता है, पर बड़ा हो जानेपर जब वह पत्नीके कहनेके अनुसार माताके प्रतिकूल चलने लगता है, तब माताकी ममता वैसी नहीं रह सकती, वह स्वतः टूट जाती है। ममता उस कच्चे धागेके समान है जो थोड़ा-सा विरुद्ध पड़नेपर टूट जाता है। इसलिये ममताका त्याग कठिन नहीं है; ममताको ग्रहण कर रखना कठिन है। यह सदा एक रस नहीं रहती, बदलती रहती है। इससे सिद्ध है कि प्रीति असली जगह नहीं हुई। पाँच वर्षका बालक अपनी माँको खोजता है। दूसरी माताएँ बैठी हैं, पूछनेपर वे अपनेको माँ कहती हैं, किंतु बालक उनमेंसे किसीको माँ नहीं कहता। उसकी माँ होती तो वह उसकी गोदमें चला जाता **'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७)। इसलिये गीतामें कहा है **'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।'** (गीता ६।२२) 'जिसको पाकर फिर दूसरी वस्तुको उससे अधिक नहीं मानता।' कर्मयोगमें फलकी कामनाका त्याग है। निष्कामभावका तात्पर्य है **'कर्म चैव तदर्थीयम्'** (गीता १७।२७), **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'**, **'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य'** (गीता २।४०) आदि। ममता नहीं छूटनेसे आगे परमात्माकी ओर चलनेमें कठिनता है। माता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाईमें अधिक स्नेह है, ममता है, किन्तु जरा-सी अनुकूलतामें बाधा पड़ी, स्वार्थको झटका लगा कि वह ममता नहीं रहती है। इसीलिये गोस्वामीजी कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

वास्तवमें लोग ममताका त्याग करना नहीं चाहते हैं; प्रत्युत नित्य नयी-नयी ममता-कामना पकड़े लिये जा रहे हैं। यदि ममताका त्याग कठिन मालूम देता है तो नया सम्बन्ध जोड़ना छोड़ दें। घर छोड़कर साधु हो गये और साधु हो जानेपर चेला-चेलीसे ममताका सम्बन्ध जोड़ने लगे। ममताका सम्बन्ध उस एकके साथ जोड़ो, जो सत्य है; जिसके सिवा अपना और कोई नहीं है। संत-महात्माओंकी महिमा इस बातमें है कि वे सबसे सम्बन्ध छुड़ाकर एकमात्र परम पिता परमेश्वरमें लगा दें। वे भटकते जीवको सत्यके साथ जोड़ दें—तेरा वह है जो यह कह रहा है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७)। उसीके नाते सबकी सेवा करो, आदर-सत्कार करो। स्त्री केवल पतिके नाते ही पतिके परिवार-वालोंकी सेवा करती है; इसी तरह उस भगवान्‌के नाते सबकी सेवा करना है। ***'नातो नेह राम सों मनियत।'*** भगवान्‌से अपनापन कर लेना है, यही 'उपासना' है, भगवान्‌के 'पास बैठना' है।

कर्मयोगके अनुसार ममता, आसक्ति, कामनाका त्याग कर अपने 'कर्त्तव्यके आचरणद्वारा' उपासना की जाती है। ज्ञानयोगके अनुसार 'परमात्माको जानकर' उपासना की जाती है। भक्तियोगके अनुसार 'भगवान्‌को मानकर' उपासना की जाती है। ज्ञानयोगके द्वारा जो प्राप्ति होती है, कर्मयोगके द्वारा भी उसीकी प्राप्ति होती है।

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
(गीता ५।५)

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।
(गीता ५।४)

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परम धाम प्राप्त किया जाता है, निष्काम कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है; क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी प्रकार स्थित हुआ पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है।' कर्मयोगमें भी प्रभुको मानकर उपासना होती है। संसारसे मन हटाकर चलना और भगवान्‌के पास बैठना उसकी उपासना है। थोड़ी देर जप कर लें, पाठ-पूजन कर लें—यह असली उपासना है क्या ? असली उपासनाका तात्पर्य है, हर समय उसीमें लगन हो। जैसे परिवारमें हर समय मन लगा रहता है, वैसे ही हर समय चलते-फिरते परमात्मामें लगन होनी चाहिये। यही सच्ची उपासना है। इसकी सिद्धि अवश्य होती है। यह मनुष्य-शरीर इसीलिये मिला है। संसारके लिये मिला होता तो संसारकी सिद्धि हो जाती, किंतु सिद्धि नहीं हुई। अतः परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीर है; उसीकी उपासना करनी चाहिये। उपासनाका प्रभाव छिपाये छिप नहीं सकता। किसीने कहा है—

भजन करे पातालमें प्रकट होय आकाश।
दाबी दूबी नहिं दबे कस्तूरीकी बास॥

जिसने परमात्माकी ओर चलना प्रारम्भ कर दिया अथवा जिसने परमात्माको प्राप्त कर लिया, उसका आचरण बदल जाता है। उसके शरीरमें, बल-बुद्धिमें अन्तर आ जाता है। उसके प्रभावसे वायुमण्डल वैसा ही बन जाता है, प्रकृति स्वयंको सफल मानती है। संसारकी चीजें उसके काममें आ जायँ तो अपनेको सफल मानती हैं।

★

भक्त और आदर्श सन्तान कैसे हो ?

बहुत-सी माता बहिनें अपने सरल स्वभावसे यह समझ लेती हैं कि भक्त संतानको जन्म देना हमारे वशकी बात नहीं किन्तु ऐसी धारणा कभी नहीं करनी चाहिये। बहुत-सी ग्रामीण माताएँ यह भी मान लेती हैं कि हम छोटे-छोटे गाँवोंमें रहनेवाली हैं, हम क्या समझने या करने लायक हैं? इन माताओंकी यह सरलता और निरभिमानता बहुत ही सराहनीय है; परंतु निराशा कोई कामकी वस्तु नहीं। आप विश्वास रखें कि आप बहुत बड़ा काम कर सकती हैं। जितने भी स्त्री-पुरुष इस जगत्में हैं, सब-के-सब माँकी गोदमें ही पलकर आये हैं; अतः माँ सबसे प्रथम गुरु मानी जाती है। बालकका ऊँचे-से-ऊँचा और नीचे-से-नीचा काम माँ ही करती है; जैसे दाई, नाई, दर्जी, धोबी, शिक्षक आदिके काम। इसी हेतुसे ऋषि-मुनि भी बालकोंको पढ़ाकर, स्नातक बनाकर उन्हें घर भेजते समय दीक्षान्त-उपदेश देते हुए कहते हैं—

"**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।**"

'देखो, बेटा! माँको, पिताको और आचार्यको साक्षात् परमेश्वरका रूप समझो।'

इस मन्त्रोपदेशमें सर्वप्रथम माताका ही स्थान है। अच्छे-अच्छे ऋषि-मुनि, महात्मा-धर्मात्मा, आदर्श और शूर-वीर पुरुष माताओंसे ही जन्मे हैं। जो माता-बहिनें ऐसे भगवान्के प्यारे भक्त एवं आदर्श पुरुषोंको पैदा करना चाहें, उनको चाहिये कि वे अपने मनमें दृढ़ सङ्कल्प लेकर उत्तमोत्तम आचरण करें। उनके मनमें यह सदिच्छा होनी चाहिये कि हमारे बालक भगवान्के प्यारे और आदर्श पुरुष हों। नीतिमें भी वचन आते हैं—

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी सुसम्भ्रमाद् यस्य।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी नाम॥

(हितोपदेश)

'गुणी जनोंकी गणना आरम्भ होनेपर जिसके लिये अङ्गुली वेगपूर्वक नहीं पड़ती, उस पुत्रसे यदि माता पुत्रवती कही जाय तो बताओ बाँझ कैसी होगी?'

जननी जणै तो संत जण, या दाता या सूर।
नहिं तो रहजे बाँझड़ी, मती गमाजे नूर॥

(संत-वाणी)

तिन्ह तें खर, सूकर, स्वान भले,
जड़ता बस ते न कहैं कछु वै।
'तुलसी' जेहि रामसों नेहु नहीं,
सो सही पसु पूँछ, बिषान न द्वै॥
जननी कत भार मुई दस मास,
भई किन बाँझ, गई किन च्वै।
जरि जाउ सो जीवनु, जानकीनाथ!
जियै जगमें तुम्हरो बिनु ह्वै॥

(कवितावली)

श्रेष्ठ माताओंका तो यहाँतक स्वाभिमान होता है कि 'मेरे गर्भमें आकर, मेरा दूध पीकर क्या वह कभी गदही, कुतियाका दूध पीवेगा? वह तो सदाके लिये प्रभुचरणकमलोंका रसास्वादन करता हुआ जगत्के जीवोंको भी प्रेमामृत प्रदान करता रहेगा।' जिस माँका पुत्र भगवान्का प्यारा भक्त हो जाता है, वह माँ धन्यवादकी पात्र होती ही है, कृतकृत्य भी हो जाती है। यह माताओंके वशकी बात है, अतः हिम्मत न हारें। भगवत्कृपासे कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है।

माता-बहिनोंसे यही कहना है कि जब आप मासिक रजोधर्मके बाद शुद्धिका स्नान करें तब प्रभुसे प्रार्थना करें कि 'हे प्रभो! मुझे ऐसी संतान दें, जो संसारका कल्याण करनेवाला, भगवान्का प्यारा भक्त हो।' सच्चे हृदयसे जो प्रार्थना की जाती है, भगवान् उसे पूरी करते हैं।

सच्चे हृदयसे प्रार्थना जो भक्त सच्चा गाय है।
भक्तवत्सल कानमें वह पहुँच झट ही जाय है॥

यह तो बाहरकी सामग्रीका आदर करके हमने अपने-आपको छोटा मान लिया है, कि हममें बुद्धि, योग्यता, विद्या, धन आदि पदार्थोंकी कमी है; पर यह खयाल नहीं करते कि हम परमात्माके हैं। जब हम परमात्माके हैं, तब बुद्धि आदिका मूल्य ही क्या रह जाता है? मनुष्य तुच्छ भावनासे ही अपनेको छोटा बना लेता है। सब-के-सब भाई-बहिन भगवान्के ही तो अंश हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५।७)

संत तुलसीदासजीने भी यह बात कही है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

हम प्रभुके हैं, अतः प्रभु हमारे हैं। तब प्रभुसे प्रार्थना इस प्रकार करें कि 'हे प्रभो ! कुलको उज्ज्वल करनेवाला एवं जगत्का उद्धार करनेवाला, भगवान्का प्यारा भक्त संतान दो। हे प्रभो ! आपकी कृपासे जो भी संतान होगी, वह आपकी प्यारी भक्त संतान ही होगी।' वृद्धा माताओंसे कहना है कि वे भी इस प्रकारका भाव रखें कि हमारी प्यारी पुत्रवधू एवं पुत्रीके जो भी संतान हो वह संत-भक्त ही जन्मे। इसीके साथ वृद्धा माताओंको उचित है कि अपनी सगर्भा बहू एवं पुत्रियोंका आदर करें, उनका प्यारसे पालन करें, भेदभावका बर्ताव न करें और तिरस्कार भी न करें। उनके रहन-सहन, भोजन एवं आचरणोंमें अशुद्धि भी न आने दें; पवित्र वातावरण रखें। संसारमें भक्त जन्में—इस दृष्टिसे संत-महात्माओंने भी सगर्भा बहिनोंका रक्षण-शिक्षण और पोषण भी किया है। जैसा कि भागवतमें आया है—

एक समय हिरण्यकशिपु तपस्या करनेके लिये वनमें चला गया। उसकी स्त्री कयाधू सगर्भा थी तो इन्द्रको भय लगा कि 'इस राक्षसकी संतान राक्षस ही होगी, तब हम देवादिकोंको पिता और पुत्र दोनों ही कष्ट देंगे; अतः मैं इस सगर्भा कयाधूको कहीं ले जाकर इसके राक्षस गर्भका नाश क्यों न कर दूँ।' इसी भावनासे इन्द्र हिरण्यकशिपुकी नगरीका विध्वंस करके कयाधूको ले जा रहा था। मार्गमें ही नारदजी मिल गये। नारदजीने कहा—'इन्द्र ! इस अबलाको क्यों दुःख दे रहे हो ?' इन्द्रने उत्तर दिया—'महाराज ! इसके राक्षस पुत्र जन्मेगा, तब ये पिता-पुत्र दोनों देवादिकोंको विशेष दुःख देंगे; इसलिये केवल इसके बालकको नष्ट करनेके लिये ही ले जा रहा हूँ।' तब नारदजीने कहा—'डरो मत। इसके गर्भसे तो राक्षस न होकर भगवान्का अनूठा प्यारा भक्त ही पैदा होगा।' श्रीनारदजीके कहनेसे इन्द्रने कयाधूको छोड़ दिया। श्रीनारदजीने अहैतुकी कृपासे कयाधूको भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी शिक्षा दी; परंतु लक्ष्य रहता था गर्भस्थ बालककी ओर कि गर्भस्थ बालक भगवान्का भक्त बने। कयाधूसे भगवान्के अनन्य भक्त शिरोमणि प्रह्लाद उत्पन्न हुए। प्रह्लादजीने भी गर्भमें सुने हुए नारदजीके उपदेशका प्रसङ्ग अपनी पाठशालाके विद्यार्थियोंको बहुत ही विशदरूपसे सुनाया है; उसे श्रीमद्भागवत सप्तम स्कन्ध, अध्याय ६ में देख सकते हैं।

अतः सभी माताएँ अपनी सगर्भा बहू-पुत्रियोंको ऐसी अवस्थामें भगवान्की अच्छी-अच्छी कथाएँ सुनावें, पढ़ावें और भगवान्के सुन्दर-से-सुन्दर चित्र दिखावें तथा घरकी जैसी शक्ति हो, उसके अनुसार गायका दूध-घी, चावल, गेहूँ, मूँग, चीनी आदि शुद्ध, सात्त्विक वस्तुएँ खिलावें। लाल मिर्च, राई आदि, बाजारकी बनी मिठाइयाँ तथा तीक्ष्ण, कड़वे, रूखे-सूखे पदार्थ न खिलावें; क्योंकि सगर्भा बहिनके किये हुए भोजनका प्रभाव गर्भस्थ बालकपर अवश्य ही पड़ता है। इन पदार्थोंसे गर्भस्थ बालकके जलन होती है और उसके स्वभावमें भी चिड़चिड़ापन आदि कई प्रकारके दोष आ जाते हैं। गर्भावस्थामें माताओंको नाना प्रकारकी वस्तुएँ खानेकी मनमें आती रहती है, जिससे वे दीवालका चूना, पाण्डु, मुल्तानी मिट्टी एवं कोयला आदितक खा लेती हैं। इसलिये वृद्धा माताओंको गर्भवती बहू-बेटियोंका पूरा-पूरा खयाल रखना चाहिये तथा उनकी रुचिके अनुसार यथाशक्ति बढ़िया एवं पवित्र वस्तुएँ खानेको देनी चाहिये। अच्छे-अच्छे शास्त्रोंको तथा अच्छी-अच्छी बातोंको सुनाना चाहिये। ऐसा करनेसे उनके चित्तमें प्रसन्नता होगी। चित्तकी प्रसन्नतासे बालकपर अच्छे संस्कार पड़ेंगे। विशेष बात यह है— बहिनोंको चाहिये कि भगवान्को हर समय याद करें। 'मेरे हृदयमें भगवान् विराजमान हैं, बालकपर भगवान्की कृपा है तथा भगवान् मस्तकपर हाथ रखे हुए रक्षा कर रहे हैं'— ऐसी भावनाएँ वे निरन्तर करती रहें। भगवान्की कृपादृष्टिको देखती रहें। इससे बालकके भाव तो पवित्र बनते ही हैं, साथ-ही-साथ गर्भस्थ बालककी भगवत्कृपासे रक्षा भी होती रहती है।

श्रीमद्भागवतमें राजा परीक्षित्ने कहा है—

द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं
सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम्।
जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो
मातुश्च मे यः शरणं गतायाः॥

(१०।१।६)

'मेरा यह शरीर अश्वत्थामाके अस्त्रसे नष्ट हो गया था; यही कौरव-पाण्डव-कुलमें संततिका बीज था; मेरी माता उत्तरा भगवान्की शरणमें गयीं और भगवान्ने माँके गर्भमें प्रवेश करके हाथमें चक्र लेकर मेरी रक्षा की।'

यह प्रसङ्ग इस प्रकार है। महाभारत-युद्धमें पाण्डवोंकी विजय कराके अन्तर्यामी श्रीकृष्ण द्वारकाके लिये प्रस्थानकी तैयारी कर रहे थे। इतनेमें ही सगर्भा उत्तरा मानो धधकती ज्वालाकी लपटोंसे झुलसती हुई-सी सहसा श्रीकृष्णके समक्ष रो पड़ी और बोली—

कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम्॥

(भागवत १।८।१०)

'नाथ ! यह अस्त्रजनित अग्नि मुझे चाहे जलाकर भस्म कर दे, किंतु मेरे गर्भको न गिरावे।'

तब भगवान्ने अपने अलौकिक प्रभावसे उत्तराके गर्भमें

प्रवेश करके गर्भस्थ बालककी रक्षा की। इस प्रसङ्गको माताएँ याद रखें और हर समय यह भावना करती रहें कि मेरे गर्भसे भगवान्‌का प्यारा भक्त पैदा होगा। यही नहीं, साक्षात् भगवान् ही मेरे गर्भमें पधारे हैं।

'मीराँ किस दिन बेटा जाया!'—मीराके पुत्र तो नहीं हुआ, पर उसने भगवान्‌को ही प्रियतम मानकर भगवान्‌की प्राप्ति कर ली।*

इसी प्रकार सभी माता-बहिनें भगवान्‌के साथ अपनापन रखें, उनके साथ प्यारे-से-प्यारे स्वतःसिद्ध सम्बन्धको स्वीकार करें। भगवान्‌को पति मानें, पुत्र मानें, पिता मानें, जो चाहे सो मानें; क्योंकि भगवान्‌के सिवा और है क्या? भगवान् ही तो सब नाम-रूपोंमें हैं। जैसे, वत्सहरणके समय ब्रह्माजीको भगवान्‌ने लीला दिखायी थी।

यावद् वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत् कराङ्घ्र्यादिकं
यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद् विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥

(भागवत १०। १३। १९)

'वे बालक और बछड़े संख्यामें जितने थे, जितने छोटे-छोटे उनके शरीर थे, उनके हाथ-पैर जैसे-जैसे थे, उनके पास जितनी और जैसी छड़ियाँ थीं, जितने सींग, बाँसुरी और पत्ते थे, जैसे और जितने वस्त्राभूषण थे, उनके शील, स्वभाव, गुण, नाम, रूप और अवस्थाएँ जैसी थीं, जिस प्रकार वे खाते-पीते और चलते थे, ठीक वैसे ही और उतने ही रूपोंमें सर्वस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। उस समय 'यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुरूप है' यह वेदवाणी मानो मूर्तिमती होकर प्रकट हो गयी।'

जनकपुरमें रहनेवाली ब्राह्मणी—भक्तराज परमहंस मामा प्रयागदासजीकी माँ—श्रीसीताजीको अपनी प्यारी पुत्री एवं भगवान् श्रीरामको दामाद मानती थीं। उसी तरह माता-बहिनें भी श्रीभगवान्‌को दामाद भी मान सकती हैं तथा प्यारे-से-प्यारे मनचाहे सम्बन्धको स्वीकार कर सकती हैं। एक साधरण सिपाही भी राज्यकर्मचारी होनेके नाते अपने-आपको बड़ा समझता है, तब सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वसुहृद् भगवान्‌का सहारा लेनेवाला कितना बड़ा हो सकता है! संसारका सहारा तथा सम्बन्ध तो अनित्य, झूठा तथा अभिमानको बढ़ानेवाला होता है; किंतु भगवान्‌का सहारा और सम्बन्ध वास्तविक तथा नित्य है। वह निरभिमानता आदि दिव्य गुणोंको प्रकट करनेवाला है। कोई माने चाहे न माने, भगवान् तो अपने हैं ही।

सभी माता-बहिनें भगवान्‌के नामका हर समय जप करें, स्वरूपका ध्यान करें, लीलाओंको याद करें। भारतीय माताएँ प्रातःकाल उठते ही भगवन्नाम-कीर्तन करती हैं, लीलाएँ गाया करती हैं। चक्की पीसते समय, दधि-मन्थन (बिलौना) करते समय बच्चे माताओंकी गोदमें जाकर लेट जाया करते हैं। बालक भगवान्‌की लीला-संकीर्तन सुनते हैं, इससे उनपर बहुत अच्छा असर पड़ता है। एक उच्च कोटिके संत कहते थे कि मेरी माँ प्रातःकाल सबेरा होनेसे पूर्व चक्की चलाते समय भगवान्‌की लीलाएँ, भगवद्भक्तोंके चरित्र गाती तथा संकीर्तन करती हुई ही बिलौना करतीं, तब मैं गोदमें जाकर बैठ जाता। वे भगवान्‌का यश-कीर्तन सुनातीं, इससे मुझपर बहुत अच्छा असर पड़ा।

अतः इन बातोंको माता-बहिनें धारण करें। सत्सङ्गकी बातोंपर सबका—मानवमात्रका समान अधिकार है; जो सुनना चाहे, उसका विशेष अधिकार है।

राम दड़ी चौड़े पड़ी, सब कोइ खेलो आय।
दावा नहिं है संतदास, जीते सो ले जाय॥

ये बातें कठिन नहीं हैं; क्योंकि हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं, अतः हम छोटे नहीं हैं, न दुःखी हैं। बाहरकी वस्तुओंका सहारा लेनेवाले बड़े-से-बड़े भी गरीब ही हैं—

को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः।

(शंकराचार्यकृत प्रश्नोत्तरी)

बाहरका तो राज्य भी कोई बड़ी वस्तु नहीं है; क्योंकि आँखें मुँद जानेके बाद कुछ नहीं रहता।

सम्मीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति।

(भर्तृहरिकृत वैराग्यशतक)

अतः भगवान्‌का सम्बन्ध ही महान् है और वह सदासे नित्य सिद्ध है—ऐसा उत्तम भाव धारण करें।

जब बालकका जन्म हो जाय तो अभिभावकोंको नाल-छेदनके पूर्व वैदिक-विधानपूर्वक जात-संस्कारके साथ चारों वेदोंका पठन, नान्दीमुखश्राद्ध वर्णाश्रम-विधानके अनुसार अवश्य ही कराना चाहिये तथा भगवन्नाम-ध्वनि, कीर्तन, कथाएँ सुनानी चाहिये।

इसी प्रकार नामकरण-संस्कार आदि भी करावें तथा

* संतान पैदा करें तो भक्त संतानको ही जन्म दें, नहीं तो अपने जीवनको मीराकी तरह भगवान्‌के श्रीचरणोंमें लगा दें अर्थात् स्वयं भक्त बन जायँ।

बालकोंके नाम ज्यौतिष मतानुसार अक्षरोंको आदिमें लेकर भगवत्सम्बन्धी रखें; जैसे गोविन्दलाल, रामचन्द्र, हरिकृष्ण; कन्या हो तो गङ्गा, यमुना, शारदा, सरस्वती, गायत्री आदि।

बड़े दुःखका विषय है कि होनहार भारतीय संतानोंकी माताएँ और अभिभावक गर्भस्थ बालकपर निरे बुरा असर डालनेवाले कुसंस्कारोंसे पूर्ण आचरण करते हैं। वास्तवमें माताओं और अभिभावकोंका ऐसा बुरा लक्ष्य तो नहीं रहता, परन्तु अनभिज्ञता और स्वभाववश सगर्भा बहिनें एवं अभिभावक मनोरञ्जनार्थ झूठे जासूसी उपन्यास पढ़ते हैं एवं ऐसे ही कुत्सित चित्रों तथा सिनेमाको देखते हैं। रात्रिक्लबोंमें तथा अशुद्ध स्थानोंमें जाकर अपवित्र खान-पान भी करते हैं। अनेक नर-नारी असभ्य वेष-भूषामें निर्लज्जतापूर्वक नाच-गान, खेल-कूद भी करते रहते हैं। बच्चोंके जन्मकालमें भी पाश्चात्य सभ्यताके अनुसार उत्सव मनाते हुए फालतू एवं पापप्रद खान-पान तथा मनोरञ्जन करते हैं। आजकल लोग बालकोंके नाम भी निकृष्ट ढंगके रखने लगे हैं तथा बालकोंसे भी हीन शब्दोंका उच्चारण कराते हैं; जैसे डेडी, पापा, मम्मी आदि। किंतु ऐसे निकृष्ट शब्दोंका उच्चारण न कराके पिताजी, बापूजी, माताजी, माँ आदि उत्कृष्ट सम्बोधनोंकी ही आदत डालनी चाहिये।

माताएँ, बहिनें और भाई बालकोंको भोला न समझें। 'यह छोटा है, कुछ दिनों एवं कुछ महीनोंका है, यह अबोध है'—ऐसा समझकर बालकके सामने किसी भी प्रकारका अनुचित आचरण एवं कुचेष्टा न करें। यों तो सारा ही जीवन सभी समय पवित्र आचरणोंसे युक्त ही होना चाहिये, परंतु बालकके सामने तो विशेषतासे पवित्र और सुन्दर आचरण होना आवश्यक है। अतः आदर्श आचरण करें, उनके सामने यह भाव ही न आने दे कि स्त्री-पुरुष क्या हैं? हमलोग बालक थे, तब आपसमें पूछा करते—'तुम कहाँसे आये?' उस समय हमलोग परस्पर यही कहते—'हम तो रामजीकी वर्षासे आये हैं।' कितने पवित्र संस्कार थे, कितना पवित्र भाव था! छोटा-सा बालक समझता नहीं, परंतु उसपर अदृश्य रूपसे संस्कार अवश्य पड़ते हैं।

स्त्री-पुरुषोंको चाहिये कि बालकोंसे प्यार करते, खेलाते-बहलाते समय भी झूठी बातें न कहें, सच्ची बातें ही प्यारपूर्वक कहें। एक कहानी सुनी हुई है। एक वैश्य जातिका बालक था। वह एक दिन अपने पिताके पास दूकानपर गया। उसके पिता वहाँ रोकड़ गिन रहे थे। वह मुट्ठीमें पाँच रुपयोंका एक नोट दबाकर ले आया। रोकड़ मिलायी गयी, पाँच रुपये कम हो गये। मालिकने सोचा—'बाहरका कोई व्यक्ति आया नहीं, क्या बात है!' बालकसे पूछा—'रुपये तुम्हारे पास हैं क्या?' उसने कहा—'बुच्ची ले गयी।' बालकको धमकाया गया। तब वह बोल उठा—'मुझे क्यों पीटते हैं? आप उस दिन दो आम लाये थे, तब आमको देखते ही मैंने एक आम ले लिया, दूसरा फिर माँगा तो माताजीने हाथ ऊपरकी ओर करके 'आम बुच्ची ले गयी' कहकर आमको अपने कपड़ोंमें छिपा लिया। उसी समय दूध उफनने लगा तो माँ दूधकी ओर दौड़ पड़ी' आम झटसे माँके कपड़ोंमेंसे गिर गया। यह बुच्चीकी झूठी बात सामने आ गयी। मुझपर यही असर पड़ा कि ऐसे ही रुपये बुच्ची ले जाती है।' अतः इस कहानीसे यह शिक्षा मिलती है कि बालकोंको अबोध समझकर उनसे झूठी बातें कभी भी न कहें। बालकके मनमें अपवित्र संस्कार न पड़ने पावें इसके लिये उसके समक्ष मुँहसे गाली कभी न निकालें। बच्चे आपकी असली धरोहर हैं, भावी संसार हैं, देशकी आधारशिला हैं। बच्चेके सामने आप जो कुछ भी कहेंगे या करेंगे, उसका संस्कार बच्चेपर अमिट रूपसे पड़ जायगा। जैसे कुम्हार कच्चे घड़ेपर जो भी चित्रण करके घड़ेको आवामें पका लेता है, फिर वह चित्र मिटता नहीं। यह उदाहरण तो गर्भस्थ बालकके लिये है। छोटे बच्चेके लिये उदाहरण है मिट्टीका नया घड़ा, जिसमें पहली बार जल भरकर ऊपर कोयलेसे कुछ लिख दिया जाय तो वह लेख कभी मिटेगा नहीं।

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।

अभिप्राय यह कि गर्भसे लेकर चार-पाँच वर्षके छोटे बच्चेपर संस्कार स्थायी रूपसे अवश्य पड़ेगा; अतः माता-पिता आदिकोंको उचित है कि वे मर्यादा एवं सभ्यतासे रहें, किसी भी प्रकारका असद् आचरण कभी न करें। आज जो छोटे-छोटे बालकोंमें चरित्रहीनता देखी जाती है इसका कारण क्या है? माँ-बाप, भाई-भौजाईकी असावधानीसे किये उनके असद् आचरणोंका बालकोंपर बहुत बुरा असर पड़ता है।

कुछ वर्षों पूर्व तो आठ-दस वर्षके बच्चे नंगे खेलते, घूमते रहते थे। आज दो-तीन वर्षके बच्चेको भी प्रायः नंगा नहीं रखते। माताएँ थोड़े-से सयाने बालकको खेलाती हुई कहती हैं—'तुम्हारे बहू लायेंगे, कानी पत्नी लायेंगे।' इस शब्दमात्रसे ही बालकका बड़ा भारी अहित होता है। बहुत-सी बातें हैं। आप सब गृहस्थ आश्रममें रहनेवाले जानते भी हैं।

अतएव अपने बालक-बालिकाएँ श्रेष्ठ बनें—इस ओर दृष्टि रखें। जब आप अपना चरित्र अच्छा रखेंगे तो बालकोंपर स्वाभाविक ही अच्छा असर पड़ेगा। इसमें मुख्य

बात तो है—भगवान्‌के चरणोंका आश्रय, उनके साथ अपनापन, उनपर विश्वास और भरोसा रखते हुए उनके नामका जप, परोपकार, सेवा-परायणता, निरभिमानता, धैर्य, उत्साह, क्षमा आदि दिव्य गुणोंका धारण और आचरण आपके द्वारा हो तथा यह विश्वास हो कि 'भगवान् मेरे हैं और मैं भगवान्‌का हूँ एवं उनकी कृपासे ही मुझमें ऐसे दिव्य गुण, सदाचार आदि आये हैं और अब भी आ रहे हैं।' मीराकी महिमा क्यों है ? उसे दृढ़ विश्वास था—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।'*** अतः भगवान्‌के श्रीचरणोंमें ही मेरापन हो। विश्वास रखें, भगवान्‌के सिवा कोई अपना नहीं। सत्संगरूपी गङ्गासे विश्वासरूपी गङ्गाजल ले जायँ। भगवान्‌पर विश्वास हो गया, क्षणभङ्गुर शरीर और संसारपरसे विश्वास चला गया तो जीवन सफल हो गया। हमलोग भगवान्‌के विश्वासपात्र हो जायँ तो वे हमलोगोंपर विश्वास कर लेंगे। भगवान्‌का स्वभाव है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

'जो जैसे मुझे भजते हैं, उन्हें वैसे ही मैं भजता हूँ।'

जहाँ विश्वास हुआ वहीं भगवान् प्रकट हो जायँगे। ऐसी जगह कोई है ही नहीं, जहाँ भगवान् नहीं हैं। जिन्होंने विश्वास कर लिया, उन भक्तोंके सामने भगवान् प्रकट हो गये।

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥

(भागवत ७। ८। १८)

'अपने सेवक प्रह्लाद तथा ब्रह्माकी वाणी सत्य करने और सम्पूर्ण पदार्थोंमें अपनी व्यापकता दिखलानेके लिये सभाके भीतर उस खंभेमें बड़ा ही विचित्र रूप धारण करके भगवान् प्रकट हुए। वह रूप न तो पूरा-पूरा सिंहका था और न मनुष्यका ही।

आदि अंत जन अनत के, सारै कारज सोय।
जहँ जिव उर नहचौ धरै, तेहिं ढिग परगट होय॥

अतः सभी माता-बहिनें स्वीकार कर लें कि भगवान् मेरे हैं और मैं भगवान्‌का ही काम करती हूँ। रसोई बनावें तो भगवान्‌के लिये ही बनावें, भगवान्‌के ही भोग लगावें, भगवान्‌का नाम लेते हुए ही भगवान्‌का ही प्रसाद पावें। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

तुम्हहि निबेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥

कोई भी नयी वस्तु काममें लें तो भगवान्‌की आज्ञा लेकर भगवान्‌के अर्पण करके प्रसादी रूपसे लें। अन्न वह पवित्र होता है, जो शुद्ध पैसेसे अर्जित हो, जिसमें सामग्री पवित्र हो, जो भगवान्‌को स्मरण करते हुए बड़ी पवित्रतासे भगवान्‌के लिये ही बनाया जाय एवं जो सिद्ध होनेपर बलिवैश्वदेवयज्ञ करके प्रभुके भोग लगाकर प्रत्येक ग्रासमें प्रभुको याद करते हुए प्रसादरूपसे पाया जाय। इस प्रकार भोजन करनेवाला मनुष्य अन्नके दोषोंसे दूषित नहीं होता। कहा भी है—

कवले कवले कुर्वन् रामनामानुकीर्तनम्।
यः कश्चित् पुरुषोऽश्नाति सोऽन्नदोषैर्न लिप्यते॥

अन्न पवित्र होनेसे मन पवित्र हो जाता है। जब रसना जीत ली जाती है तो सम्पूर्ण इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं।

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद् रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥

(भागवत ११। ८। २१)

'मनुष्य अन्य सब इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर लेनेपर भी तबतक जितेन्द्रिय नहीं हो सकता, जबतक रसनेन्द्रियको अपने वशमें नहीं कर लेता। और यदि रसनेन्द्रियको वशमें कर लिया, तब तो मानो सभी इन्द्रियाँ वशमें हो गयीं।'

प्रत्येक काम करते समय भगवान्‌का नाम लेते रहें, खाली समय न जाने दें। जो लोग कहते हैं—'भगवान्‌का भजन कब करें ?' वे अपने काम-धंधेके सिवा जो समय निकम्मा जाता है उसमें भी यदि सावधानीपूर्वक भजन करें तो बहुत भजन हो सकता है। और यदि काम धंधेको अपना न समझकर भगवान्‌का ही मान लें, तब तो स्वाभाविक ही सब समय भजन हो जाता है। अतः ज्यों-त्यों, जिस किसी भी प्रकार भगवान्‌को याद करें—**'तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्।'** भगवान् स्वयं कहते हैं—**'मामनुस्मर।'** (गीता ८। ७)

सन्तोंने भी कितना सुन्दर कहा है—

हाथ काम मुख राम है, हिरदय साँची प्रीत।
जन दरिया गृह साधु की, आ ही उत्तम रीत॥
हल हांके हरि को भजे, श्रद्धा माफिक देय।
इतने में हरि ना मिले, मुजरा हम से लेय॥
उद्यम कर उदर भरे, मुख सूं जापे नाम।
ऐसा मौका ना मिले, तो करोड़ो खरचे दाम॥

एक दिन एक सज्जनने एकान्तमें पूछा—'महाराजजी ! मेरे मनमें आती है कि मैं भगवान्‌को माँ कह सकता हूँ क्या ! माँ मुझे बहुत मीठी लगती है।' मैंने कहा—'खूब कह सकते

हो यही नहीं, उसकी गोदमें खेलो।' जगद्वन्द्य श्रीशंकराचार्यजी कहते हैं

मायाहस्तेऽर्पयित्वा भरणकृतिकृते मोहमूलोद्भवं मां
मातः कृष्णाभिधाने चिरसमयमुदासीनभावं गतासि।
कारुण्यैकाधिवासे सकृदपि वदनं नेक्षसे त्वं मदीयं
तत्सर्वज्ञे न कर्तुं प्रभवति भवती किं नु मूलस्य शान्तिम्॥

(प्रबोधसुधाकर)

'हे कृष्ण नामवाली मातेश्वरि ! मोहरूपी मूलनक्षत्रमें उत्पन्न हुए मुझ पुत्रको भरण-पोषणके लिये मायाके हाथोंमें सौंपकर तू बहुत दिनोंसे मेरी ओरसे उदासीन हो गयी है। अरी करुणामयी माँ ! तू एक बार भी मेरा मुख नहीं देखती ? हे सर्वज्ञे ! क्या तू उस मोहरूपी मूलकी शान्ति करनेमें समर्थ नहीं है ?'

बस, आजसे ही भगवान्‌को माँ मान लें। सच्ची और सदाकी माँ मिल गयी; बस भूल मिट गयी। भगवान्‌का भजन करें, भगवान्‌को माँ समझकर पुकारें। माँसे जो चाहें तो कह सकते हैं। भागवतमें आया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(२।३।१०)

'चाहे निष्काम हो या सम्पूर्ण कामनाओंसे युक्त हो अथवा मोक्षकी कामना हो, बुद्धिमान् पुरुषको तो तीव्र भक्तियोगके द्वारा पुरुषोत्तम भगवान्‌की ही आराधना करनी चाहिये।'

तात्पर्य यह कि कुछ भी नहीं चाहिये तो भगवान्‌का भजन करे, सब कुछ चाहिये तो भगवान्‌का भजन करे और मोक्ष चाहिये तो भगवान्‌का भजन करे। भजन तो संजीवनी बूटी है, ऐसी उत्तम वस्तु है ! इसपर ध्यान न देनेके कारण ही लोग अभाव और दुःख भोग रहे हैं। भगवान्‌को छोड़कर संसारसे आशा लगा रखी है कि ये निहाल कर देंगे, वे निहाल कर देंगे आदि। जिनके स्वयंके कमी-ही-कमी है, जो स्वयं नाशवान् और दुःखी हैं, वे क्या निहाल कर देंगे।

भक्त प्रह्लादने असुरबालकोंसे कहा है—

रायः कलत्रं पशवः सुतादयो
गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः।
सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः
कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत् प्रियं चलाः॥

(भागवत ७।७।३९)

'अरे भाई ! धन, स्त्री, पशु, पुत्र-पुत्री, महल, पृथ्वी, हाथी, खजाना और भाँति-भाँतिकी विभूतियाँ—और तो क्या, संसारका समस्त धन तथा भोग-सामग्रियाँ इस क्षणभङ्गुर मनुष्यको क्या सुख दे सकती हैं; वे स्वयं ही क्षणभङ्गुर हैं।'

श्रीतुलसीदासजी विनयपत्रिकामें कहते हैं—

देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज, सब माया-बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे॥

इसलिये इस भावको सुदृढ़ रखें कि मैं तो केवल भगवान्‌का दास हूँ, मुझे भगवान्‌की ही सेवा करनी है। पहलेकी भूलको भगवान् नहीं गिनते, अतः उसकी चिन्ता न करें। बच्चा माँका कितना ही कसूर कर दे, जब बच्चा रो देगा तो माँ हृदयसे लगा लेगी। यह माँमें स्नेह कहाँसे आया ? प्रभुसे ही तो आया है। बस, रो पड़ो, भगवान्‌से कह दो—'ये विचार मेरे हैं, आपको निभाना पड़ेगा।'

'आया हूँ शरणमें निभाना पड़ेगा।'

भगवान्‌की कृपादृष्टिसे आप निर्मल हो जायँगे।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(९।३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

कैसा सीधा, सरल और सुगम पथ है !

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम भी अपनी प्रजाको उपदेश देते हुए कहते हैं—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥

इसमें न तो योगाभ्यासकी आवश्यकता है और न अन्य कोई कठिनता है। इसमें मुख्य हेतु यही है कि भगवान्‌को केवल सरल स्वभाव ही बड़ा अच्छा लगता है।

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥

अतः प्रभु जो कुछ दे दें, जैसे परिवारमें रखें, जिस परिस्थितिमें रखें, उसीमें भगवान्‌की कृपा मानें, दूसरी ओर ताकें ही नहीं।

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥

यदि भगवान्‌का होकर दूसरोंकी ओर ताकता है तो भगवान्‌का विश्वास कैसा ! अतः प्रभुके चरणोंका आश्रय लेकर निश्चिन्त और निर्भय हो जायँ। प्रभुकी कृपासे प्रभुके प्यारे भक्त जन्मेंगे। हम भी प्रभुकी कृपासे उन्हींके प्यारे हैं। हमें तो उन्हींकी चर्चा सुनना-कहना है। भजन करनेपर हमारी क्या दशा होगी—इसकी चिन्ता हमें है ही नहीं। हम तो उन्हींके हैं, उन्हींके आश्रित !

काहू के बल भजन को, काहू के आचार।
व्यास भरोसे कुँवरि के, सोवत पाँव पसार॥

एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घनश्याम हैं, चातक तुलसीदास॥

सर्वोच्च पदकी प्राप्तिका साधन

प्राप्त सामर्थ्यका सदुपयोग

विचार करें! धन आदि पदार्थोंमें जो सुख दिखलायी देता है एवं हम उनसे सुखकी आशा करते हैं, तो क्या उनमें पूरा सुख है? क्या उनके सम्बन्धसे कभी दुःख होता ही नहीं? क्या वे सदा साथ रहेंगे? क्या उन पदार्थोंके रहते हुए दुःख होता ही नहीं? ऐसा तो हो ही नहीं सकता; प्रत्युत उन पदार्थोंके सम्बन्धसे—उनको अपने माननेसे लोभ-जैसा नरक-द्वाररूप भयंकर दोष उत्पन्न हो जाता है, जो जीते-जी आगकी तरह जलाता ही रहता है और मरनेपर सर्प आदि दुःखमयी योनियों तथा महान् यन्त्रणामय नरकोंमें ले जाता है।

विचार करें! आप अपने कुटुम्बके लोगोंसे एवं अन्य प्राणियोंसे सुख चाहते हैं, तो क्या वे सभी सुखी हैं? क्या कभी दुःखी नहीं होते? क्या वे सभी सबके अनुकूल होते भी हैं? क्या वे सभी आपके साथ रहते भी हैं? क्या रहना चाहते भी हैं? क्या वे सभी आपके साथ रह भी सकते हैं? क्या पहलेवाले साथी सभी आपके साथ हैं? क्या उनके मनोंमें और शरीरोंमें परिवर्तन नहीं होता? क्या उनमेंसे किसीके मनमें किसी प्रकारकी कमीका बोध नहीं होता? क्या वे सर्वदा सर्वथा पूर्ण हैं? क्या वे कभी किसीसे कुछ भी नहीं चाहते हैं? कम-से-कम आपसे तो कुछ नहीं चाहते होंगे? सोचिये! जो दूसरोंसे अपने लिये कुछ भी चाहता है, क्या वह दूसरोंकी चाह पूरी कर सकता है? क्या स्वयं सुख चाहनेवाला औरोंको सुख दे सकता है?

चेत करें! सबका हर समय वियोग हो रहा है। आयु पल-पलमें घट रही है। मृत्यु प्रतिक्षण समीप आ रही है। ये बातें क्या विचारसे नहीं दिखलायी देती हैं? यदि कहें कि 'हाँ, दिखलायी देती हैं।' तो ठीक तरहसे क्यों नहीं देखते? कब देखेंगे? किसकी प्रतीक्षा करते हैं? क्या इस मोहमें पड़े रहनेसे आपको अपना हित दिखलायी देता है? यदि नहीं तो आपका हित कौन करेगा? किसके भरोसे निश्चिन्त बैठे हैं? ऐसे कबतक काम चलेगा? कभी सोचा है; नहीं तो कब सोचेंगे? आपका सच्चा साथी कौन है? क्या यह शरीर, जिसे आप मेरा कहते-कहते 'मैं' भी कह देते हैं, आपकी इच्छाके अनुसार नीरोग रहेगा? क्या जैसा चाहें, वैसा काम देगा? क्या सदा साथ रहेगा, मरेगा नहीं? इस ओर आपने अपनी विवेक-दृष्टिसे देखा भी है? कब देखेंगे? क्या इस विषयमें अपरिचित ही रहना है? क्या यह बुद्धिमानी है? क्या इसका परिणाम और कोई भोगेगा?

चेत करें! पहले आप जिन पदार्थों और कुटुम्बियोंके साथ रहे हैं, वे सब आज हैं क्या? एवं आज जो आपके साथ हैं, वे रहेंगे क्या? वे सब-के-सब सदा साथ रह सकते हैं क्या? थोड़ा ध्यान देकर विचार करें!

यदि आप ठीक विचार करेंगे तो आपको ज्ञात हो जायगा कि सदा साथ रहनेवाले तो केवल एक वे परम कृपामय परमात्मा ही हैं। अतएव आपको उन्हींके चरणोंकी शरण लेनी चाहिये।

१. परमात्मामें नित्यसिद्ध अपनापन है, केवल जीव भूल गया है।	१. संसारमें अपनापन है ही नहीं केवल जीवने भूलसे मान लिया है।
२. परमात्माका कभी वियोग हो ही नहीं सकता।	२. संसारके साथ कभी संयोग रह ही नहीं सकता।
३. परमात्मा जीवको कभी छोड़ ही नहीं सकते।	३. संसार जीवके साथ कभी रह ही नहीं सकता।
४. परमात्मामें आनन्द-ही-आनन्द है, दुःख है ही नहीं।	४. संसारमें दुःख-ही-दुःख है, आनन्द है ही नहीं।

ध्यान दें! यह जीव परमात्माका अंश है—**'ममैवांशः'** (गीता १५।७) ***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी।'*** (मानस) परमात्मा सर्वोत्तम हैं; उनका अंश होनेसे इस जीवको अपनी निम्न स्थिति नहीं सुहाती। यह नीचे नहीं रहना चाहता। सर्वोत्तमताकी ओर इसकी उत्सुकता निरन्तर बनी ही रहती है। यह अपनेको सर्वोच्च पदपर नियुक्त करनेके लिये प्रयत्नशील रहता है। कारण यही है कि यह परमात्माका अंश है और परमात्मा सबसे ऊँचे हैं, इसलिये यह भी ऊपर उठना चाहता है। जिस किसी क्षेत्रमें रहता है, वहाँ ऊपर ही उठना चाहता है।

ऊपर उठनेके लिये दो बातोंकी ओर ध्यान दिया जाय तो बहुत शीघ्र ऊपर उठा जा सकता है। एक तो है—'करना' और दूसरा है— 'होना'; जैसे हम व्यापार करते हैं और उसमें नफा-नुकसान होता है। अतः करनेमें हर समय सावधान रहें, जिससे पतन हो ऐसा कार्य करें ही नहीं। और होनेमें हर समय प्रसन्न रहें। जो कुछ हो रहा है, हमारे पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप हो रहा है और वह है हमारे प्रभुका मङ्गलमय

विधान। इस धारणाकी सिद्धि तो तब होगी, जब हमारी दृष्टि हमारे लक्ष्यपर स्थिर बनी रहेगी। ऐसा करनेवालोंकी उन्नति होती ही है, वह ऊपर उठता ही है—यह नियम है। पतनका कारण है—हम करनेमें तो सावधानी नहीं रखते और जो होता है, उसमें—अनुकूलमें प्रसन्न और प्रतिकूलमें अप्रसन्न हो जाते हैं।

करनेमें हर समय सावधान रहें। सावधानका अर्थ यह है कि न करनेयोग्य कामको न करें एवं जो न हो सके, उसकी चिन्ता भी न करें। अर्थात् शास्त्रोंके विरुद्ध, लोक-मर्यादाके विरुद्ध काम तो करें ही नहीं, साथ ही धन, मान, बड़ाई, पद, अधिकार आदिको, जिनकी प्राप्ति हमारे चाहनेपर भी हमारे वशकी बात नहीं है, पानेकी भी चिन्ता न करें। न करनेयोग्य कामका विचार छोड़नेसे एवं जो नहीं हो सकता, उसकी चिन्ता छोड़ देनेसे आवश्यक कामके करनेका बल, योग्यता और उत्साह आ जाता है। गीतामें श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे यही बात इस प्रकार कही है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**' (२।४७)—'तुम्हारा कर्ममें अधिकार है, फलोंमें कदापि नहीं।' अतः मनुष्यको फलासक्तिको त्यागकर कर्म करना चाहिये।

कर्तव्य कर्म वही होता है, जिसमें अपने स्वार्थका त्याग एवं दूसरेका हित होता हो। स्वार्थ-बुद्धिसे किया जानेवाला कर्म कर्तव्य नहीं, कर्म है। यह तो कर्माधिकाररहित पशु-पक्षी आदि योनियोंमें भी पाया जाता है। तब फिर मानव-जीवनकी क्या सार्थकता हुई! अतः मनुष्यको चाहिये कि अपने स्वार्थको त्यागकर दूसरोंको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करे। सुखकी अपेक्षा भी हमारी दृष्टि उनके हितकी ओर अधिक रहनी चाहिये। नीतिकार कहते हैं—

संतोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्तव्यः स्वाध्याये जपदानयोः॥

अर्थात् स्त्री, भोजन और धनके विषयमें संतोष करना चाहिये, क्योंकि ये तो पूर्वजन्मोंके कर्मोंके फलस्वरूप प्राप्त हुए हैं। स्वाध्याय, जप और दानमें संतोष नहीं करना चाहिये, क्योंकि वे नये कर्म हैं। उनमें यदि कोई संतोष करेगा तो वह कर्तव्यसे च्युत हो जायगा। अतः कर्तव्य कर्ममें तत्परतासे सदा लगे रहना चाहिये।

धन-सम्पत्ति आदिके विषयमें नीति हमें संतोष करनेको कहती है। इसका आशय यह है कि हम धन आदिकी प्राप्तिमें संतुष्ट रहें—जो कुछ भी मिल जाय, उसके प्रति हमारे मनमें असंतोष न हो; परंतु कर्तव्य कर्मके अनुष्ठानमें हम कभी कमी न लायें।

यह प्राकृतिक नियम है कि मनुष्यकी जिस काममें लगन होती है, उसे वह तत्परतासे करता है और लगनवालेकी उन्नति भी होती ही है।

आज देशमें जो बेकारी सर्वत्र व्याप्त है, इसके अनेक कारणोंमें एक प्रमुख कारण यह भी है कि लोग अपना कर्तव्य कर्म नहीं करते। यदि उत्तम-से-उत्तम काममें मनुष्य निरन्तर लगा रहे, स्वाद, शौकीनी, सजावटको छोड़कर साधारण वस्तुओंसे ही अपना जीवन-निर्वाह कर ले, दूसरेके हित और सेवामें अपनी वस्तुओंका और अपनी शक्तिका विनियोग करे, दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करे, दूसरेका हक कभी अपने हकमें न आने दे और दक्षतापूर्वक अपना कर्तव्य कर्म करता रहे तो उसे बेकारी नहीं सताती। जो यह कहा जाता है कि 'हमारे प्रारब्धमें जो है वह अवश्य मिलेगा', इसका प्रयोजन चिन्ता न करनेमें है, न कि क्रियारहित होनेमें; अतः कर्तव्य कर्म करनेमें कभी कमी नहीं लानी चाहिये। इस प्रकार लगनके साथ काम करनेवालेकी व्यावहारिक एवं पारमार्थिक—दोनों प्रकारकी उन्नति होती ही है। पर दोनोंमें एक अन्तर रहता है। व्यावहारिक उन्नतिके लिये लगनके साथ कर्म करनेवालोंमें कार्यकुशलता—कार्य करनेकी योग्यता तो बढ़ती है, पर उन्हें धन-सम्पति, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार आदि भी मिलें ही—यह नियम नहीं है। क्योंकि ये सब पूर्वकृत कर्मोंके—प्रारब्धके अधीन हैं। इसके विपरीत, पारमार्थिक उन्नतिके लिये चेष्टा करनेवालेको सफलता मिलती ही है अर्थात् उसके अन्दर प्रेम, बोध, शान्ति, उत्साह तथा प्रमाद-आलस्यका त्याग और कार्य-कुशलता आदि गुण अवश्य आते हैं एवं उसके द्वारा तत्परतासे काम भी होता है; क्योंकि ये उसकी निजी वस्तुएँ हैं।

ऐसा अन्तर क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि मानव-शरीर हमें मिला है परमात्माकी ही प्राप्तिके लिये। इसलिये पारमार्थिक उन्नति चाहनेवालेको लगनसे कार्य करनेपर वह अवश्य मिलेगी। हाँ, यदि कोई चेष्टा ही न करे तो उसे वह किस तरह मिलेगी। इसके विपरीत, व्यावहारिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें प्रारब्ध ही प्रधान है। प्रारब्ध अनुकूल होगा तो वस्तु मिल जायगी, पर यत्न करनेसे वह मिल ही जाय—यह नियम नहीं है। इसका तात्पर्य यह है—परमार्थ (आध्यात्मिकता) की प्राप्तिमें अभिलाषा— लगनकी प्रधानता है और सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें प्रारब्धकी प्रधानता है। अतः मनुष्यको कभी आलस्य-प्रमादमें समय नहीं बिताना चाहिये तथा जप, स्वाध्याय, शास्त्रोंका मनन और सबके हितका चिन्तन सदा करते रहना चाहिये।

सबके हितकी बात सोचनेसे सबका हित होता है, पर स्थूल बुद्धिवाले इस बातको नहीं समझते। स्थूल वस्तु तो एकदेशीय होती है; परंतु सूक्ष्म वस्तु व्यापक होती है, वह सब जगह फैलती है। विचार सूक्ष्म होते हैं, अतः सबके हितका भाव मनमें आनेसे वैसा ही वायुमण्डल बनता है, जिससे सबको सुख पहुँचता है। इसीलिये भगवान् कहते हैं—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥**' (गीता १२।४)— 'जिनके अन्दर सबके हितकी भावना है, वे परमात्मतत्त्वको प्राप्त होते हैं।' जिसके अन्तःकरणमें राग-द्वेष न होकर सबके हितकी भावना होती है, उसकी समष्टिके साथ एकता हो जाती है।

गीतामें भगवान्ने कहा है—'**सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥**' (गीता ५।२९) 'मुझ (भगवान्) को प्राणिमात्रका सुहृद् जाननेवालेको शान्ति मिलती है।' ऐसी स्थितिमें जिसमें सबके हितकी भावना होती है, जो सबके भलेका ही भाव रखता है, अर्थात् जो '**सर्वे भवन्तु सुखिनः**'—सब-के-सब सुखी हो जायँ, '**सर्वे सन्तु निरामयाः**'—सब-के-सब नीरोग रहें, '**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु**'—सबका मङ्गल-ही-मङ्गल हो, '**मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्**'—किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख न हो—ऐसा भाव अपने मनमें रखता है, उसकी उस भावनाकी प्राणिमात्रके सुहृद् भगवान्की भावनाके साथ एकता हो जाती है। परमात्माकी भावनाके साथ एकता होनेसे उसकी सहज ही परमात्मासे अभिन्नता हो जाती है। परन्तु यदि वह अभिमान कर लेता है तो यह शक्ति नहीं मिलती।

शास्त्रोंका आदेश है—देवताओंका पूजन देवता बनकर करे—'**देवो भूत्वा यजेद् देवम्।**' इसी प्रकार मन्त्रको सिद्ध करना हो तो मन्त्रका अपनेमें न्यास करके स्वयं मन्त्ररूप बनना पड़ता है। इसी प्रकार सबके हितका भाव जिनके मनमें रहता है, वे परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर लेते हैं। अतः सबका हित करनेमें हर समय तत्पर रहना ही परमात्माको प्राप्त करनेका सबसे उत्तम सरल उपाय है।

श्रीरामचरितमानसमें श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥

(किष्किन्धा० ११।१)

स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं ॥
हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥

(उत्तर० ४६।३)

'बिना स्वार्थके हित करनेवाले दो ही हैं—एक आप और एक आपके भक्त।' अतः बिना स्वार्थके हित करनेकी भावनासे युक्त जीव भगवान्की जातिके हो जाते हैं। तत्त्वतः हैं तो सभी उन्हींकी जातिके, परन्तु स्वार्थवश जड पदार्थोंका आश्रय लेनेसे जीव निम्नकोटिका हो गया। सन्तोंने कहा है—

चाह चूहड़ी रामदास सब नीचनमें नीच।
तू तो केवल ब्रह्म था, चाह न होती बीच ॥

चाहसे ही जीव नीचा बन गया है। किसी कविकी उक्ति है—***'है श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ तू, पर चाह करके भ्रष्ट है।'*** अतः हम सबको चाहिये कि चाहका त्याग करें।

व्यापारियोंकी लाभकी ओर ही प्रवृति होती है, हानिकी ओर नहीं। यदि नाशवान् वस्तु अपने लिये लोगे तो उस वस्तुका नाश तो होगा ही, भोगनेसे तुम्हारा भी पतन होगा। उसीको यदि दूसरोंकी सेवामें लगा दोगे तो वह वस्तु सार्थक हो जायगी एवं तुम्हारा भी कल्याण हो जायगा। संसारके सभी पदार्थ तुमसे वियुक्त होनेवाले हैं। अन्तमें उनसे तुम्हारा वियोग होगा ही, यह निश्चित है। अतः उनको दूसरोंकी सेवामें लगा दिया जाय तो मरणधर्मा वस्तुओंसे अमरताकी प्राप्ति हो जायगी—'**मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥**' (भागवत ११।२९।२२) वस्तुओंका बाहरी त्याग ही आवश्यक नहीं है, उनसे अपनी ममता और आसक्ति हटानी चाहिये, दूसरोंके हितमें लगानेका भाव होना चाहिये। भावसे कल्याण होता है, वस्तु चाहे आपके पासमें ही क्यों न पड़ी रहे। इसके विपरीत, यदि हम अपनी सम्पत्ति पूरी-की-पूरी दूसरोंके काममें लगा दें, परंतु हमारे अंदर निष्कामभाव नहीं है तो कल्याण नहीं होगा। जैसे मरनेवाला प्राणी अपनी मानी हुई सभी वस्तुओंको छोड़कर जाता ही है, एक धागा भी अपने साथ नहीं ले जाता, फिर भी उसका कल्याण तो नहीं होता। अब प्रश्न होता है—भाव क्या है ? भावका तात्पर्य यह है कि जिसका अवश्य वियोग होनेवाला है, ऐसी वस्तुको अपनी न माने। हमें सोचना यही चाहिये—'संसार परमात्माका है, यहाँकी सभी वस्तुएँ उन्हींकी हैं। मेरी कही जानेवाली वस्तुएँ भी उन्हींकी हैं। अतः इन वस्तुओंके द्वारा मैं कैसे सबका हित कर दूँ—सबका भला कर दूँ। मेरी कही जानेवाली वस्तुएँ—धन-सम्पत्ति, पद-अधिकार आदि सब-की-सब कैसे दूसरोंकी सेवामें लग जायँ।' जैसे लोभी आदमीके मनमें लोभ बना रहता है कि कैसे और धन मिले, वैसे ही मनुष्यमें यह लोभ जाग्रत् हो जाना चाहिये कि उसकी कही जानेवाली वस्तुएँ कैसे सबकी सेवामें लग जायँ। ऐसा भाव होनेपर भी सब-की-सब वस्तुएँ हम दूसरोंकी सेवामें लगा नहीं पायेंगे; क्योंकि उनका अभाव नहीं होगा, उनमें कमी नहीं आयेगी।

अच्छे-अच्छे विचारकों एवं धनिकोंसे सुना है कि धन पैदा करनेमें उतनी कठिनाई नहीं है, जितनी उसकी ठीक जहाँ

आवश्यकता हो वहाँ खर्च करनेमें है—उसका सदुपयोग करनेमें है। जैसे समयरूपी अमूल्य धन तो सबको मिला ही हुआ है, पर उसके सदुपयोगमें कठिनाई है। सर्वसाधारण लोगोंमें अधिक धन कमानेकी ही लगन रहती है, उसके उपयुक्त उपयोगकी नहीं। औरोंकी तो बात ही क्या, सत्सङ्ग करनेवाले भाई-बहनोंकी भी अधिक सत्सङ्ग कैसे मिले, बढ़िया बातें सुननेको कैसे मिलें—यह लगन तो रहती है, पर सुनी हुई बातोंको हम काममें कैसे लायें, हमारा जीवन तदनुकूल कैसे बने—इस ओर दृष्टि कम रहती है। पर वास्तवमें सुनी हुई बातोंके अनुसार आचरण हो—इस बातकी लगन अधिक रहनी चाहिये। सत्सङ्ग और सत्-शास्त्रोंके अनुसार जीवन नहीं बन रहा है—इसका दुःख होना चाहिये।

कई लोगोंके मनमें यह भाव रहता है कि हमारे पास धन अधिक हो तो उसके द्वारा हम पुण्य करें; अतः वे धनके संग्रहमें लगे रहते हैं। परंतु नीति कहती है कि 'धर्मके लिये भी धन-संग्रहकी चेष्टा करना तो दूर, इच्छा करना भी उत्तम नहीं है।' ध्यान रहे—यज्ञ-दान आदि करनेके लिये भी धनकी इच्छा करना भूल है। इसके विपरीत, जो कुछ भी अपने पास है, उसका सदुपयोग कैसे किया जाय—यह विचार कल्याण करनेवाला है। नीतिमें कहा है—

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥

(पञ्चतन्त्र)

धर्मके लिये धन कमाना वैसा ही है, जैसे कोई यह सोचकर अपने कपड़ोंको नालीके कीचड़से सान ले कि घरमें पानीकी कल चलती ही है, उससे कीचड़ धो लेंगे। ऐसी मूर्खता करनेवाला यह नहीं सोचता कि उसके कपड़े तो पहलेसे ही धुले हुए हैं, उन्हें कीचड़में सानकर पुनः धोनेका परिश्रम क्यों किया जाय! इसी प्रकार शुभ कामके लिये भी धनकी चिन्ता क्यों करें? हाँ, धन-विद्या-बल-बुद्धि आदि जो प्राप्त हैं, उनका सदुपयोग अवश्य करना चाहिये। धन आने-जानेवाला है, आप सदा रहनेवाले आत्मा हैं; अतः धन आपको क्या सुख देगा? इसलिये उसकी इच्छा करना कीचड़से अपने कपड़ोंको सानना नहीं तो क्या है! यहाँ एक बात और विचारणीय है—कीचड़ और शरीर एक ही जातिके हैं—प्रकृतिके विकार हैं, जब कि आप चिन्मय हैं। धन जड एवं नाशवान् है, इसके द्वारा चिन्मयताकी प्राप्ति नहीं होती, अपितु जडताके त्यागसे चिन्मयताकी प्राप्ति होती है। धनके द्वारा हम भगवान्को खरीद लेंगे—यह सोचना बिलकुल भूल है। धन-सम्पत्तिकी बात तो दूर रही, भगवान् तो कहते हैं—'**नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।**' (गीता ११।५३)—यज्ञोंके द्वारा भगवान्को नहीं देखा जा सकता। वेदाध्ययनके द्वारा हम भगवान्को प्राप्त कर लेंगे, यह नहीं होनेका; इतना धन दान कर देंगे तो भगवान् मिल जायँगे—यह भी सम्भव नहीं है; इतनी तपस्या करनेसे भगवान्की प्राप्ति हो जायगी—यह भी दुराशामात्र है। भगवान् कहते हैं—'इनके द्वारा मेरी प्राप्ति नहीं होती।' हाँ, इन जड पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही चिन्मय तत्त्व स्वतः बच रहेगा।

इसपर कोई प्रश्न कर सकता है—'आप कहते हैं कि यज्ञ-दान-तप आदिसे भगवत्प्राप्ति नहीं होती।' किन्तु श्रीभगवान् कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९।२७)

'हे अर्जुन! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ स्वधर्माचरणरूप तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।'

—जो कुछ भी करो, मेरे अर्पण कर दो; उससे तुम '**शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे**' (गीता ९।२८)—'शुभ-अशुभ फलसे छूट जाओगे।' इसका क्या समाधान है? इसका उत्तर यह है कि यहाँ सब कुछ भगवान्को अर्पण करनेका अभिप्राय है—यज्ञ-दान-तप आदि जो कुछ भी तुम करते हो, उसे अपना मत मानो। इससे निष्कर्ष यही निकला कि इनके द्वारा भगवान्की प्राप्ति नहीं होती, ममत्वके त्यागसे ही होती है—

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्। (गीता १२।१२)
त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। (कैवल्य-उप० ३)

श्रुति और स्मृति—दोनों ही कह रही हैं कि त्यागसे भगवान् मिलते हैं। अपने स्वार्थ और अभिमानको छोड़कर दूसरोंके हितकी चेष्टा करना ही 'त्याग' है।

जैसे बीजोंको बोनेसे खेती होती है तथा उन्हें भक्षण करनेसे उनकी रेती हो जाती है, उसी प्रकार भोगोंको दूसरोंकी सेवामें लगानेसे परमार्थकी खेती होती है अर्थात् जीवकी उन्नति होती है और उन्हें स्वयं भोगनेसे रेती यानी पतन होता है।

यहाँ शङ्का हो सकती है—'क्या हम धन आदिका उपयोग भी न करें?' इसका उत्तर यह है—'आप पवित्र वस्तुओंका उपयोग कर सकते हैं।' यज्ञशिष्ट—यज्ञसे बची हुई सामग्री पवित्र होती है। केवल अपने लिये भोजन पकानेवालोंके सम्बन्धमें भगवान् कहते हैं—'वे पापी पापको ही खाते हैं'—

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।
(गीता ३। १३)

श्रुति कहती है—

केवलाघो भवति केवलादी।

अतः सबको देनेका भाव मनमें होनेपर सबको देनेकी चेष्टा भी होगी तथा स्वयं भी निर्वाहके लिये अन्न-वस्त्र आदिका उपयोग कर सकेंगे। केवल अन्न-वस्त्रकी ही बात नहीं, उत्तम बातें भी आपको यदि ज्ञात हैं तो उनका उपयोग भी सबके हितके लिये किया जाय। यही भाव मनमें रहना चाहिये—'सबका कल्याण कैसे हो?' सबके हितकी रति भगवान्‌को प्राप्त करा देती है। भगवान् और भगवान्‌के भक्त बिना कारण हित करनेवाले हैं—***'हेतु रहित जग जुग उपकारी।'*** इसी प्रकार यदि किसीके हृदयमें सबके हितका भाव हो गया तो उसका कल्याण निश्चित है; कारण, ऐसे लोगोंके लिये भगवान् कहते हैं—**'मम साधर्म्यमागताः।'** (गीता १४। २)—वे मेरे सहधर्मी बन जाते हैं।

तुच्छ वस्तुओंके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे हम तुच्छ हो गये हैं; सर्वसुहृद् परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे हम ऊँचे हो जायँगे। भगवान्‌के लगाया हुआ भोग शुद्ध, पवित्र हो जाता है। उनके यदि बतासा-जैसी साधारण वस्तुका भी भोग लगाया जाय तो उसे लेनेके लिये बड़े-बड़े धनी-मानी भी हाथ पसार देंगे। क्यों? क्या वे मीठेके भूखे हैं? क्या उन्हें बतासे मिलते नहीं? फिर बात क्या है? भगवान्‌के अर्पण करनेसे वस्तु परम पवित्र हो जाती है, उसका महत्त्व बढ़ जाता है। इसी प्रकार जो सब कुछ भगवान्‌को अर्पण कर देता है अर्थात् सबपरसे माना हुआ अपनापन उठा लेता है, उसका सब-का-सब पवित्र हो जाता है। कैसी सरल और सुगम बात है। केवल भाव बदल देना है। भावके परिवर्तन करते ही बड़ा अन्तर हो जाता है। व्यापारी लोग जानते हैं कि खरीदी हुई वस्तु जिससे खरीदी है उसके पास ही क्यों न पड़ी रहे, उसका भाव बढ़ जानेसे हम धनी हो जाते हैं और भाव गिर जानेसे हम दीवालिये हो जाते हैं। बाजारके भावको बदलना तो हमारे हाथकी बात नहीं है, पर अपने मनके भावको बदलना तो हमारे हाथमें है। अतः मनके भावको बदलकर—उसे ऊँचा करके हम मालामाल—कृतार्थ हो सकते हैं; इसके लिये ही हमें यह मानव-शरीर मिला है।

जैसे तिजोरीका ताला अपनी ओर घुमाते ही बंद हो जाता है और अपने विपरीत दिशामें घुमाते ही खुल जाता है, इसी प्रकार जो परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं, उनकी सम्पत्ति हमें मिले—इस भावसे हम उसपर ताला लगा लेते हैं। इसके विपरीत, हमारा भाव यह हो जाय कि उनकी सम्पत्ति सबको मिले तो ताला खुल जाता है। सच्चे हृदयसे परमात्माकी ओर चलनेवालोंके विषयमें सुना है कि बिना पढ़े-लिखे लोगोंके हृदयोंमें भी श्रुति-स्मृतियोंकी तात्त्विक बातें स्फुरित हो जाती हैं। ऐसा क्यों होता है? इसलिये कि वे हमारे लिये ही हैं। भगवान्‌के तो काम वे आतीं नहीं; कारण, ज्ञानसे अज्ञान दूर होता है और भगवान्‌के अज्ञान है ही नहीं, अतः शास्त्रोंकी बातें भगवान्‌के तो काम आतीं नहीं। वह सब-का-सब ज्ञान हमारे लिये ही है। पदार्थोंको चाहनेसे वह ज्ञान प्राप्त नहीं होता। भगवान्‌की ओरसे यह निषेध नहीं है कि पदार्थोंको चाहनेवालेको वे ज्ञान नहीं देंगे; पर पदार्थोंको चाहनेवाला ज्ञानको ले नहीं सकता। पदार्थोंको, भोगोंको पकड़े-पकड़े ही हम ज्ञान चाहेंगे तो वह मिलनेका नहीं।

दो चींटियोंका दृष्टान्त दिया है संतोंने। एक नमकके ढेलेपर रहनेवाली चींटीकी एक मिश्रीके ढेलेपर रहनेवाली चींटीसे मित्रता हो गयी। मित्रताके नाते वह उसे अपने नमकके ढेलेपर ले गयी और कहा—'खाओ!' वह बोली—'क्या खायें, यह भी कोई मीठा पदार्थ है क्या?' नमकके ढेलेपर रहनेवालीने उससे पूछा कि 'मीठा क्या होता है, इससे भी मीठा कोई पदार्थ है क्या?' तब मिश्रीपर रहनेवाली चींटीने कहा—'यह तो मीठा है ही नहीं। मीठा तो इससे भिन्न ही जातिका होता है।' परीक्षा करानेके लिये मिश्रीपर रहनेवाली चींटी दूसरी चींटीको अपने साथ ले गयी। नमकपर रहनेवाली चींटीने यह सोचकर कि 'मैं कहीं भूखी न रह जाऊँ' छोटी-सी नमककी डली अपने मुँहमें पकड़ ली। मिश्रीपर पहुँचकर मिश्री मुँहमें डालनेपर भी उसे मीठी नहीं लगी। मिश्रीपर रहनेवाली चींटीने पूछा—'मीठा लग रहा है न?' वह बोली—'हाँ-में-हाँ तो कैसे मिला दूँ? बुरा तो नहीं मानोगी? मुझे तो कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता है, वैसा ही स्वाद आ रहा है।' उस मिश्रीपर रहनेवाली चींटीने विचार किया—'बात क्या है? इसे वैसा ही—नमकका स्वाद कैसे आ रहा है!' उसने मिश्री स्वयं चखकर देखी, मीठी थी। वह सोचने लगी—'बात क्या है!' उसने पूछा— 'आते समय तुमने कुछ मुँहमें रख तो नहीं लिया था?' इसपर वह बोली—'भूखी न रह जाऊँ, इसलिये छोटा-सा नमकका टुकड़ा मुँहमें डाल लिया था।' उसने कहा—'निकालो उसे।' जब उसने नमककी डली मुँहमेंसे निकाल दी, तब दूसरीने कहा—'अब चखो इसे।' अबकी बार उसने चखा तो वह चिपट गयी। पूछा—'कैसा लगता है?' तो वह इशारेसे बोली—'बोलो मत, खाने दो।'

इसी प्रकार सत्सङ्गी भाई-बहन सत्सङ्गकी बातें तो सुनते हैं, पर धन, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार आदिको पकड़े-पकड़े सुनते हैं। साधन करनेवाला, उसमें रस लेनेवाला उनसे पूछता है—'क्यों! कैसा आनन्द है?' तब हाँ-में-हाँ तो मिला देते हैं, पर उन्हें रस कैसे आये? नमककी डली जो मुँहमें पड़ी है। मनमें उद्देश्य तो है धन आदि पदार्थोंके संग्रहका, भोगोंका और मान-पद आदिका। अतः इनका उद्देश्य न रखकर केवल परमात्माकी प्राप्तिका उद्देश्य बनाना चाहिये।

धन-सम्पत्ति आदि सब पदार्थ साथ तो चलेंगे नहीं, काममें ले लो इन्हें। जैसे कोई सड़कके ताला लगाना चाहे भी तो ताला लगानेसे क्या लाभ? सड़क तो आने-जानेके लिये है; उसका उपयोग करना चाहिये। इसी प्रकार ये सांसारिक पदार्थ भी आने-जानेवाले हैं। इन्हें अपने भी काममें लो तथा औरोंको भी इनका उपयोग करने दो। परंतु हमारा उद्देश्य संग्रह करना और भोग भोगनामात्र रह जानेसे हमारे अंदर आसुरी सम्पत्ति आ जाती है। आसुरी सम्पदावाले कहते हैं—'बस, भोग भोगना ही सब कुछ है।'—'**कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः**॥'(गीता १६।११); समझदार लोग कहते हैं—'भैया! विचार करो, इनके साथ हमारा सम्बन्ध कितने दिन रहेगा?' बढ़िया-से-बढ़िया कपड़ा पहना। जरा-सी सिकुड़न भी उसमें पड़ जाय तो सहन नहीं होती। भोगोंमें हम कितने रचे-पचे हैं कि कपड़ोंमें सल पड़ जाय—ऐसी तुच्छ बात भी बर्दाश्त नहीं है। बढ़िया कपड़ा पहननेका विरोध नहीं, समयानुसार कपड़े पहनना बुरा भी नहीं है, पर वैसे कपड़े पहनना ही सब कुछ नहीं है। आप कितनी ही सावधानी क्यों न रखें, कपड़े पुराने और मैले होंगे ही। भोगोंके भोगनेका ज्ञान तो पशु-पक्षियोंमें भी है; मनुष्यको तो भगवान्ने विवेक-शक्ति दी है, सार-असारको जाननेकी सामर्थ्य दी है। उस शक्तिको अपने सुख-भोगमें एवं दूसरोंके अहितमें न लगाये। ऋषि-मुनियोंने सबके कल्याणमें अपनी बुद्धि लगायी, अतएव वे महान् हो गये। युद्धादिमें मायिक विज्ञानका, धोखा-धड़ी आदिका प्रयोग राक्षसोंमें—असुरोंमें ही देखा जाता था। इन सबका उपयोग ऋषि-मुनियोंने नहीं किया। धन-सम्पत्तिका संग्रह भी यक्ष-राक्षस ही करते थे। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि कोई धन-संग्रह न करे, धन-सम्पत्ति न रखे। कहनेका तात्पर्य यह है कि इनका सदुपयोग करो। धन-सम्पत्ति, विद्या, बल, बुद्धि आदिका महत्त्व नहीं है, उनके उपयोगका महत्त्व है।

नीतिका एक श्लोक है—

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतज्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

'खलकी विद्या विवादके लिये, धन घमण्ड पैदा करनेके लिये तथा शक्ति दूसरोंके उत्पीड़नके लिये होती है; इसके विपरीत, साधुके पास रहकर विद्या उसे ज्ञानकी प्राप्ति कराती है, धन उसका दानमें व्यय होता है और शक्ति उसकी औरोंकी रक्षाके काममें आती है और उससे जीवका कल्याण हो जाता है।'

अतः अपने पास शक्ति, समय, सामग्री और समझ जो कुछ जितनी है, अधिक है या कम—इससे कोई प्रयोजन नहीं, उसको सम्पूर्ण प्राणिमात्रके हितमें लगा दें। सब भगवान्की ही प्रजा है, अतः सबके हितमें अपनी शक्ति आदि लगा देंगे तो भगवान्की जो शक्ति है, वह हमें मिल जायगी; क्योंकि भगवान्की प्रतिज्ञा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

(गीता ४।११)

यही नहीं, उसे भगवान् भी मिल जाते हैं। सत्सङ्ग सुनकर सुनी हुई बातोंका उपयोग कैसे हो, इसके लिये ही विशेषरूपसे चेष्टा करें। इसका यह मतलब नहीं है कि सत्सङ्गकी बातें सुने ही नहीं। सुनना तो है ही, सुननेसे ही सुनी हुई बातको काममें लानेकी प्रेरणा प्राप्त होती है। परन्तु जो कुछ सुना है, उसको काममें लानेकी चेष्टा विशेषरूपसे करनी चाहिये।

सार बात यह है कि परमात्माका अंश होनेसे जीवको अपनी स्थितिसे संतोष नहीं होता, यह ऊँचा उठना चाहता है। पर जबतक परमात्माको प्राप्त नहीं कर लेगा, तबतक इसे पूर्ण सुख-संतोष नहीं प्राप्त हो सकता। ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे कटिबद्ध होकर साधन करनेपर मनुष्य अपनी स्थितिसे ऊँचा उठ सकता है और परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है। यह इस मनुष्य-शरीरमें ही सम्भव है, क्योंकि परमात्माने यह मनुष्य-शरीर अपनी प्राप्तिके लिये ही दिया है और साथ ही उसके लिये उपयोगी साधन-सामग्री भी पूरी दी है। अतः हमलोगोंको परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही विशेष प्रयत्नशील होना चाहिये।

एक बहुत ही मार्मिक बात है, जिसकी तरफ साधकोंका ध्यान बहुत कम है। यदि उसपर विशेष ध्यान दिया जाय तो जल्दी-से-जल्दी बहुत बड़ा लाभ हो सकता है।

साधकोंके भीतर एक गलत धारणा दृढ़तासे जमी हुई है कि जैसे संसारका कोई काम करते-करते होता है, तत्काल नहीं होता; वैसे ही अर्थात् उसी रीतिसे भगवान्‌की प्राप्ति भी साधन करते-करते होती है, तत्काल नहीं होती। ऐसी धारणा ही भगवत्प्राप्तिमें देर कर रही है। जैसे, यदि बालक माँके पीछे पड़ जाय कि मुझे तो अभी ही लड्डू दे तो लड्डू बना हुआ नहीं होनेपर माँ उसे तत्काल कैसे बनाकर दे देगी? यद्यपि माँका अपने बालकपर बड़ा स्नेह, बड़ा प्यार है; क्योंकि उसके लिये अपने बालकसे बढ़कर प्यारा और कौन है? परन्तु फिर भी लड्डू बनानेमें समय तो लगेगा ही। ऐसे ही किसी स्थानपर जाना हो, किसी वस्तुका सुधार करना हो, किसी वस्तुको बदलना हो—इन सबमें समयकी अपेक्षा है। तात्पर्य यह है कि सांसारिक वस्तुको प्राप्त करनेमें तो समय लगता है; परन्तु भगवान्‌को प्राप्त करनेमें समय नहीं लगता—यह एक बहुत मार्मिक बात है।

हम सब-के-सब परमात्मरूप कल्पवृक्षकी छायामें रहते हैं। इस कल्पवृक्षकी छायामें रहते हुए यदि हम ऐसा भाव रखते हैं कि बहुत साधन करनेपर भविष्यमें कभी भगवत्प्राप्ति होगी तो अपनी धारणाके अनुसार भगवान् भविष्यमें ही कभी मिलेंगे। यदि हम ऐसा भाव बना लें कि भगवान् तो अभी मिलेंगे तो वे अभी ही मिल जायँगे। भगवान्‌ने स्वयं कहा भी है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

'जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

अतएव भगवान्‌की प्राप्तिमें भविष्य नहीं है। हमलोगोंकी भावनामें ही भविष्य है।

इस विषयमें एक बात विशेष महत्त्वकी है कि संसारके जितने भी काम हैं, सब-के-सब बनने और बिगड़नेवाले हैं। बननेवाले काममें देर लगती है, परन्तु बने-बनाये (विद्यमान) काममें देर कैसे लग सकती है? परमात्मा भी विद्यमान हैं और हम भी विद्यमान हैं। उनके और हमारे बीच देश-काल आदिका कोई भी व्यवधान नहीं है; फिर परमात्माकी प्राप्तिमें देर क्यों लगनी चाहिये?

भगवान् सब समयमें, सब देश (स्थान) में, सब वस्तुओंमें तथा सब प्राणियोंमें विद्यमान हैं। समय, देश, वस्तु, प्राणी आदि सब-के-सब बदलनेवाले हैं अर्थात् निरन्तर नहीं रहते। इसके विपरीत हम (स्वयं) भी निरन्तर रहनेवाले हैं और भगवान् भी। ऐसे भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये हमने ऐसी धारणा बना ली है कि जब संसारका कोई साधारण काम भी शीघ्र नहीं होता, तब जो सबसे महान् हैं, उन भगवान्‌की प्राप्तिका कार्य शीघ्र कैसे हो जायगा? परन्तु वास्तवमें सबसे ऊँची वस्तु सबसे सहज-सुलभ भी होती है! भगवान् सबके लिये हैं और सबको प्राप्त हो सकते हैं। स्वयं हमने ही भगवान्‌की प्राप्तिमें आड़ लगा रखी है कि वे वैरागी-त्यागी पुरुषोंको मिलते हैं, हम गृहस्थियोंको कैसे मिलेंगे? वे जंगलमें रहनेवालोंको मिलते हैं, हम शहरमें रहनेवालोंको कैसे मिलेंगे? कोई अच्छे गुरु नहीं मिलेंगे तो भगवान् कैसे मिलेंगे? कोई बढ़िया साधन नहीं करेंगे तो भगवान् कैसे मिलेंगे? आजकल भगवत्प्राप्तिका मार्ग बतलानेवाले कोई अच्छे महात्मा भी नहीं रहे तो हमें भगवान् कैसे मिलेंगे? हमारे भाग्यमें ही नहीं है तो भगवान् कैसे मिलेंगे? हम तो अधिकारी ही नहीं हैं तो भगवान् हमें कैसे मिलेंगे? हमारे कर्म ही ऐसे नहीं हैं तो भगवान् हमें कैसे मिलेंगे?—इस प्रकार न जाने कितनी आड़ें हमने स्वयं ही लगा रखी हैं। भगवान्‌को हमने इन आड़ोंके, पहाड़ोंके ही नीचे दबा दिया है! ऐसी स्थितिमें बेचारे भगवान् क्या करें? हमें कैसे मिलें?

पार्वतीने 'तप करनेसे ही शिवजी मिलेंगे', ऐसा भाव रखकर स्वयं ही शिवजीकी प्राप्तिमें आड़ लगा दी थी; इसी कारण उन्हें तप करना पड़ा*। तपस्याका भाव भीतर रहनेके कारण तप करनेसे ही शिवजी मिले। इसी

---

* पार्वतीके मनमें पहले ही यह भाव हो गया था कि शिवजीकी प्राप्ति कठिन है—

उपजेउ सिव पद कमल सनेहू। मिलन कठिन मन भा संदेहू॥ (मानस १। ६८। ३)

बादमें देवर्षि नारदने कह दिया कि तप करनेसे ही शिवजी मिल सकते हैं—

दुराराध्य पै अहहिं महेसू। आसुतोष पुनि किएँ कलेसू॥
जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥ (१। ७०। २-३)

माता-पितासे भी पार्वतीको तप करनेकी ही प्रेरणा मिली—

अब जौं तुम्हहि सुता पर नेहू। तौ अस जाइ सिखावनु देहू॥
करै सो तपु जेहिं मिलहिं महेसू। आन उपायँ न मिटिहि कलेसू॥ (१। ७२। १)

स्वप्नमें भी पार्वतीको तप करनेकी ही शिक्षा मिली—

करहि जाइ तपु सैलकुमारी। नारद कहा सो सत्य बिचारी॥
मातु पितहि पुनि यह मत भावा। तपु सुखप्रद दुख दोष नसावा॥ (१। ७३। १)

इन्हीं सब कारणोंसे पार्वतीके मनमें यह भाव दृढ़ हो गया कि तप करनेसे ही शिवजी मिलेंगे, अन्यथा नहीं।

प्रकार भावके कारण ही ध्रुवको छः मासके तपके बाद भगवान् मिले। भगवान्के मिलनेमें वस्तुतः कोई देर नहीं लगी। जिस समय ऐसा भाव हुआ कि अब मैं भगवान्के बिना रह नहीं सकता, उसी समय भगवान् मिल गये।

किसी योग्यताके बदलेमें भगवान् मिलेंगे, यह बिलकुल गलत धारणा है। यह सिद्धान्त है कि किसी मूल्यके बदलेमें जो वस्तु प्राप्त होती है, वह वस्तुतः उस मूल्यसे कम मूल्यकी ही होती है। यदि दूकानदार किसी वस्तुको १०० रुपयेमें बेचता है तो निश्चय ही दूकानदारने उस वस्तुको १०० रुपयेसे कम मूल्यमें खरीदा होगा। इसी प्रकार यदि हम ऐसा मानते हैं कि विशेष योग्यता अथवा साधन, यज्ञ-दानादि बड़े-बड़े कर्मोंसे भगवान् मिलते हैं तो भगवान् उनसे कम मूल्यमें ही हुए! परन्तु भगवान् किसीसे कम मूल्यके नहीं हैं*, इसलिये वे किसी साधन-सम्पत्तिसे खरीदे नहीं जा सकते†। यदि किसी मूल्यके बदलेमें भगवान् मिलते हैं तो ऐसे भगवान् मिलकर भी हमें क्या निहाल करेंगे? क्योंकि उनसे बढ़िया (अधिक मूल्यकी) वस्तुएँ, योग्यता, तप-दानादि तो हमारे पास पहलेसे ही हैं!

हम जैसा चाहते हैं, वैसे ही भगवान् हमें मिलते हैं। दो भक्त थे। एक भगवान् श्रीरामका भक्त था, दूसरा भगवान् श्रीकृष्णका। दोनों अपने-अपने भगवान् (इष्टदेव) को श्रेष्ठ बतलाते थे। एक बार वे जंगलमें गये। वहाँ दोनों भक्त अपने-अपने भगवान्को पुकारने लगे। उनका भाव यह था कि दोनोंमेंसे जो भगवान् शीघ्र आ जाय, वही श्रेष्ठ है। भगवान् श्रीकृष्ण शीघ्र प्रकट हो गये। इससे उनके भक्तने उन्हें श्रेष्ठ बतला दिया। थोड़ी देरमें भगवान् श्रीराम भी प्रकट हो गये। इसपर उनके भक्तने कहा कि आपने मुझे हरा दिया; भगवान् श्रीकृष्ण तो पहले आ गये, पर आप देरसे आये जिससे मेरा अपमान हो गया! भगवान् श्रीरामने अपने भक्तसे पूछा—'तूने मुझे किस रूपमें याद किया था?' भक्त बोला—'राजाधिराजके रूपमें।' तब भगवान् श्रीराम बोले—'बिना सवारीके राजाधिराज कैसे आ जायँगे। पहले सवारी तैयार होगी, तभी तो वे आयँगे!' कृष्ण-भक्तसे पूछा गया तो उसने कहा—'मैंने तो अपने भगवान्को गाय चरानेवालेके रूपमें याद किया था कि वे यहीं जंगलमें गाय चराते होंगे।' इसीलिये वे पुकारते ही तुरन्त प्रकट हो गये।

दुःशासनके द्वारा भरी सभामें चीर खींचे जानेके कारण द्रौपदीने '**द्वारकावासिन् कृष्ण**' कहकर भगवान्को पुकारा, तो भगवान्के आनेमें थोड़ी देर लगी। इसपर भगवान्ने द्रौपदीसे कहा कि तूने मुझे '**द्वारकावासिन्**' (अर्थात् द्वारकामें रहनेवाले) कहकर पुकारा, इसलिये मुझे द्वारका जाकर फिर वहाँसे आना पड़ा। यदि तू कहती कि यहींसे आ जाओ तो मैं यहींसे प्रकट हो जाता।

भगवान् सब जगह हैं। जहाँ हम हैं, वहीं भगवान् भी हैं। भक्त जहाँसे भगवान्को बुलाता है, वहींसे भगवान् आते हैं। भक्तकी भावनाके अनुसार ही भगवान् प्रकट होते हैं।

जाके हृदयँ भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती॥

* * *

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥

(मानस १। १८५। २-३)

जब भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंके बीचसे अन्तर्धान

---

* अर्जुन भगवान्से कहते हैं—

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥ (गीता ११। ४३)

'हे अनुपम प्रभाववाले! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है फिर अधिक तो कैसे हो सकता है?'

† नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

(गीता ११। ५३)

'हे अर्जुन! जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है, इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ।'

हो गये तो गोपियाँ पुकारने लगीं—

दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि
धृतासवस्त्वां विचिन्वते॥

(श्रीमद्भागवत १०। ३१। १)

'हे प्रिय! तुममें अपने प्राण समर्पित कर चुकनेवाली हम सब तुम्हारी प्रिय गोपियाँ तुम्हें सब ओर ढूँढ़ रही हैं, अतएव अब तुम तुरन्त दिख जाओ।'

गोपियोंकी पुकार सुनकर भगवान् उनके बीचमें ही प्रकट हो गये—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥

(श्रीमद्भागवत १०। ३२। २)

'ठीक उसी समय उनके बीचोंबीच भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। उनका मुखकमल मन्द-मन्द मुसकानसे खिला हुआ था, गलेमें वनमाला थी, पीताम्बर धारण किये हुए थे। उनका यह रूप क्या था, सबके मनको मथ डालनेवाले कामदेवके मनको भी मथनेवाला था।'

इस प्रकार गोपियोंने 'प्यारे! दिख जाओ' (**दयित दृश्यताम्**)—ऐसा कहा तो भगवान् वहीं दिख गये। यदि वे कहतीं कि कहींसे आ जाओ, तो भगवान् वहींसे आते।

भगवान्‌की प्राप्ति साधनके द्वारा होती है—यह बात भी यद्यपि सच्ची है, परन्तु इस बातको मानकर चलनेसे साधकको भगवत्प्राप्ति देरसे होती है। यदि साधकका ऐसा भाव हो जाय कि मुझे तो भगवान् अभी मिलेंगे, तो उसे भगवान् अभी ही मिल जायँगे। वे यह नहीं देखेंगे कि भक्त कैसा है, कैसा नहीं है? काँटोंवाले वृक्ष हों, घास हो, खेती हो, पहाड़ हो, रेगिस्तान हो या समुद्र हो; वर्षा सबपर समानरूपसे बरसती है। वर्षा यह नहीं देखती कि कहाँ पानीकी आवश्यकता है और कहाँ नहीं? इसी प्रकार जब भगवान् कृपा करते हैं तो यह नहीं देखते कि यह पापी है या पुण्यात्मा? अच्छा है या बुरा? वे सब जगह बरस जाते अर्थात् प्रकट हो जाते हैं*।

पापी-से-पापी पुरुषको भी भगवान् मिल सकते हैं (गीता ९। ३०)। सदन कसाई और डाकुओंको भी भगवान् मिल गये थे! भगवान् तो सर्वदा सर्वत्र विद्यमान हैं, केवल भावकी आवश्यकता है। अन्तःकरणके अशुद्ध होनेपर वैसा भाव नहीं बनता, यह बात ठीक होते हुए भी वस्तुतः साधकके लिये बाधक है। शास्त्रोंमें पतिव्रता स्त्रीकी बड़ी महिमा गायी गयी है कि भगवान् भी उसके वशमें हो जाते हैं। यदि कोई कहे कि हममें पातिव्रत-भाव नहीं बन सकता, तो यह उसकी भूल है। पापी-से-पापी पुरुषोंकी भी स्त्रियाँ पतिव्रता हुई हैं और श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ पुरुषोंकी भी। भगवान् श्रीरामकी पत्नी सीताजी भी पतिव्रता थीं और राक्षसराज रावणकी पत्नी मन्दोदरी भी। ऐसा नहीं कि श्रीरामकी पत्नी तो पतिव्रता हो सकती है, पर रावणकी पत्नी नहीं। पातिव्रत-धर्मका पालन करनेके कारण ही मन्दोदरी तो भगवान् श्रीरामको तत्त्वसे जानती थी, परन्तु रावण नहीं जानता था (द्रष्टव्य—मानस, लङ्का० १५-१६)।

वर्तमान युग (कलियुग) में तो भगवान् सुगमतासे मिलते हैं; क्योंकि अब उनके ग्राहक बहुत कम हैं। ग्राहक बहुत कम हों तो माल सस्ता मिलता है; क्योंकि तब बेचनेवालेको गरज होती है। इसलिये ऐसा भाव नहीं रखना चाहिये कि इस घोर कलियुगमें भगवान् इतनी सुगमतासे कैसे मिलेंगे?

अपना दृढ़ विचार कर लें कि चाहे दुःख आये या सुख, अनुकूलता आये या प्रतिकूलता, हमें तो भगवान्‌को प्राप्त करना ही है। यदि हम पहले अपने अन्तःकरणको शुद्ध करनेमें लग जायँगे तो भगवत्प्राप्तिमें बहुत देर लगेगी। हमारे उद्योग करनेकी अपेक्षा भगवान्‌की अनन्त अपार कृपाशक्ति हमें बहुत शीघ्र शुद्ध कर देगी। बच्चा कीचड़से लिपटा भी हो, यदि माँकी गोदमें चला जाय तो माँ स्वयं ही उसे साफ कर देती है।

एक राजा सायंकाल महलकी छतपर टहल रहे थे। सहसा उनकी दृष्टि नीचे बाजारमें घूमते हुए एक संतपर पड़ी! संत अपनी मस्तीमें ऐसे चल रहे थे कि मानो उनकी दृष्टिमें संसार है ही नहीं। राजा अच्छे संस्कारवाले पुरुष थे। उन्होंने अपने आदमियोंको उन संतको तत्काल ऊपर ले आनेकी आज्ञा दी। आज्ञा पाते ही राजपुरुषोंने

---

* आदि शङ्कराचार्यजीने कहा है—

अयमुत्तमोऽयमधमो जात्या रूपेण सम्पदा वयसा। श्लाघ्योऽश्लाघ्यो वेत्थं न वेत्ति भगवाननुग्रहावसरे॥
अन्तःस्वभावभोक्ता ततोऽन्तरात्मा महामेघः। खदिरश्चम्पक इव वा प्रवर्षणं किं विचारयति॥

(प्रबोधसुधाकर २५२-२५३)

'किसीपर कृपा करते समय भगवान् ऐसा विचार नहीं करते कि यह जाति, रूप, धन और आयुसे उत्तम है या अधम? स्तुत्य है या निन्द्य?' 'यह अन्तरात्मा-(श्रीकृष्ण) रूपी महामेघ आन्तरिक भावोंका ही भोक्ता है; मेघ क्या वर्षाके समय इस बातका विचार करता है कि यह खदिर (खैर) है अथवा चम्पक (चम्पा)?'

ऊपरसे ही रस्से लटकाकर उन संतको (रस्सोंमें फँसाकर) ऊपर खींच लिया। इस कार्यके लिये राजाने उन संतसे क्षमा माँगी और कहा कि एक प्रश्नका उत्तर पानेके लिये ही मैंने आपको कष्ट दिया। प्रश्न यह है कि भगवान् शीघ्र कैसे मिलें? संतने कहा—'राजन्! इस बातको तुम जानते ही हो।' राजाने पूछा—'कैसे?' संत बोले—'यदि मेरे मनमें तुमसे मिलनेका विचार आता तो कई अड़चनें आतीं और बहुत देर लगती। पता नहीं मिलना सम्भव भी होता या नहीं। पर जब तुम्हारे मनमें मुझसे मिलनेका विचार आया, तब कितनी देर लगी? राजन्! इसी प्रकार यदि भगवान्‌के मनमें हमसे मिलनेका विचार आ जाय तो फिर उनके मिलनेमें देर नहीं लगेगी।' राजाने पूछा—'भगवान्‌के मनमें हमसे मिलनेका विचार कैसे आ जाय?' संत बोले—'तुम्हारे मनमें मुझसे मिलनेका विचार कैसे आया?' राजाने कहा—'जब मैंने देखा कि आप एक ही धुनमें चले जा रहे हैं और सड़क, बाजार, दूकानें, मकान, मनुष्य आदि किसीकी भी तरफ आपका ध्यान नहीं है, तब मेरे मनमें आपसे मिलनेका विचार आया।' संत बोले—'राजन्! ऐसे ही तुम एक ही धुनमें भगवान्‌की तरफ लग जाओ, अन्य किसीकी भी तरफ मत देखो, उनके बिना रह न सको, तो भगवान्‌के मनमें तुमसे मिलनेका विचार आ जायगा और वे तुरन्त मिल जायँगे।'*

भगवान् ही हमारे हैं, दूसरा कोई हमारा है ही नहीं। भगवान् कहते हैं—

'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'

(गीता १५। १५)

'मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित हूँ।'

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

(गीता ९। ४)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह जगत् (जलसे बर्फके सदृश) परिपूर्ण है।'

भगवान् हृदयमें ही नहीं, अपितु दीखनेवाले समस्त संसारके कण-कणमें विद्यमान हैं। ऐसे सर्वत्र विद्यमान परमात्माको जब हम सच्चे हृदयसे देखना चाहेंगे, तभी वे दीखेंगे। यदि हम संसारको देखना चाहेंगे तो भगवान् बीचमें नहीं आयेंगे, संसार ही दीखेगा। हम संसारको देखना नहीं चाहते, उससे हमें कुछ भी नहीं लेना है, न उसमें राग करना है न द्वेष, हमें तो केवल भगवान्‌से प्रयोजन है—इस भावसे हम एक भगवान्‌से ही घनिष्ठता कर लें। भगवान् हमारी बात सुनें या न सुनें, मानें या न मानें, हमें अपना लें या ठुकरा दें—इसकी कोई परवाह न करते हुए हम भगवान्‌से अपना अटूट सम्बन्ध (जो कि नित्य है) जोड़ लें†। जैसे माता पार्वतीने कहा था—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥

(मानस १। ८१। ३)

पार्वतीके मनमें यह भाव था कि शिवजीमें ऐसी शक्ति ही नहीं है कि वे मुझे स्वीकार न करें। इसी प्रकार हम सबका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ है। हम भगवान्‌से विमुख भले ही हो जायँ, पर भगवान् हमसे विमुख कभी हुए नहीं, हो सकते नहीं। हमारा त्याग करनेकी उनमें शक्ति नहीं है।

बच्चा खेलना छोड़ दे और रोने लग जाय तो माँको अपना सब काम छोड़कर उसके पास आना पड़ता है और उसे गोदमें बैठाकर दुलारना पड़ता है; परन्तु यदि बच्चा खेलमें लगा रहे तो माँ निश्चिन्त रहती है। इसी प्रकार यदि हम भगवान्‌के लिये व्याकुल न होकर सांसारिक वस्तुओंमें ही प्रसन्न रहते हैं तो भगवान् निश्चिन्त रहते हैं और हमसे मिलने नहीं आते। यदि बच्चा लगातार रोने लग जाय और माँके बिना किसी भी वस्तु (खिलौने आदि) से प्रसन्न न हो तो घरके सभी लोग बच्चेके पक्षमें हो जाते हैं और उसकी माँको कहते हैं—'बच्चा रो रहा है और तुम काममें लगी हो! आग लगे तुम्हारे कामको! शीघ्र बच्चेको गोदमें ले लो।' उस समय माँ कितना ही आवश्यक कार्य क्यों न कर रही हो, बच्चेके रोनेके आगे उस कार्यका कोई मूल्य नहीं रहता। इसी प्रकार हम एकमात्र भगवान्‌के लिये रोने लग जायँ तो भगवद्धामके सब संतजन हमारे पक्षमें हो जायँ! वे सभी कहने लग जायँ—'महाराज! बच्चा रो रहा है; आप मिलनेमें देर क्यों कर रहे हैं?' फिर भगवान्‌के आनेमें कोई देर नहीं लगती। हाँ, जब बच्चा खिलौनोंसे खेल भी रहा हो और ऊपरसे ऊँ……ऊँ…… भी कर रहा हो, तब उसे माँ गोदमें नहीं लेती। इसी प्रकार हम सांसारिक खिलौनोंसे भी

---

* अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ (गीता ८। १४)

'हे पृथानन्दन! अनन्यचित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसको सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ।'

†वस्तुतः यद्यपि भगवान्‌के साथ हमारा सदासे ही अटूट सम्बन्ध है, तथापि भगवान्‌से विमुख हो जानेके कारण हमें उस सम्बन्धका अनुभव नहीं होता।

खेलते हों और रोनेका ढोंग भी करते हों, तब भगवान् नहीं आते। वे हमारे आन्तरिक भावको देखते हैं, क्रियाको नहीं। मान-आदर, सुख-आराम, धन-सम्पत्ति, सिद्धियाँ आदि सब सांसारिक खिलौने हैं। माँकी गोद, उसका प्यार, खिलौने आदि सब कुछ बच्चेके लिये ही होते हैं। ऐसे ही भगवान्‌की गोद, उनका प्यार तथा उनके पास जो भी सामग्री है, सब भक्तके लिये ही होती है। भगवान्‌के लिये भक्तसे बढ़कर कुछ भी नहीं है। यदि हम किसी भी वस्तुमें प्रसन्न न होकर भगवान्‌को पुकारने लगें तो वे तत्काल आ जायँ। इसमें भविष्यकी क्या बात है? माँ बच्चेकी योग्यताको देखकर उसके पास नहीं आती। वह यह नहीं देखती कि बच्चा बहुत सुन्दर है, विद्वान् है या धनवान् है। बच्चेमें माँको बुलानेकी यही एक योग्यता है कि वह केवल माँको चाहता है और माँके सिवा दूसरी किसी भी वस्तुसे प्रसन्न नहीं होता।

भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध स्वतन्त्रतासे, स्वाभाविक है। सांसारिक पदार्थोंके साथ हमारा सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि सब पदार्थ निरन्तर बहे जा रहे हैं। उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। भगवान् ही हमारे हैं। बच्चेमें कोई योग्यता, विद्वत्ता, शूरवीरता आदि नहीं होती, केवल उसमें 'माँ मेरी है'—ऐसा माँमें मेरापन होता है। इस मेरापनमें बड़ी भारी शक्ति है, जो भगवान्‌को भी खींच सकती है। इसीके कारण प्रह्लादने पत्थरसे भी भगवान्‌को निकाल लिया—

प्रेम बदौं प्रहलादहिको, जिन पाहनतें परमेस्वरु काढ़े॥

(कवितावली १२७)

संसारका हमसे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। शरीर, कुटुम्ब, धन-सम्पत्ति आदि सब पदार्थ पहले नहीं थे और बादमें भी नहीं रहेंगे। दृश्यमात्र निरन्तर अदर्शनको प्राप्त होता चला जा रहा है। कोई पदार्थ ६० वर्षतक रहनेवाला हो तो एक वर्ष बीत जानेपर वह ५९ वर्षका ही रहेगा; क्योंकि वह निरन्तर नाशकी ओर जा रहा है। हम नहीं रहनेवाले सांसारिक पदार्थोंको अपना मानते हैं और सदा रहनेवाले परमात्माको अपना नहीं मानते, यह बड़ी भारी भूल है। भगवान् वर्तमानमें हैं और हमारे हैं—इस बातपर हम दृढ़तापूर्वक डट जायँ, तो भगवान् वर्तमानमें ही मिल जायँगे। केवल उत्कट अभिलाषा* होनेकी देर है, भगवान्‌के मिलनेमें देर नहीं। अपने भावके अनुसार चाहे आज भगवान्‌को प्राप्त कर लो, चाहे भविष्यमें—वर्षों या जन्मोंके बाद!

★

*भगवत्प्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा जाग्रत् करनेका उपाय है—सम्पूर्ण सांसारिक इच्छाओंका त्याग और दूसरे हमसे जो न्याययुक्त इच्छा करें, उसे यथाशक्ति पूरी कर देना।

मनकी खटपट कैसे मिटे ?

प्रश्न आया है कि मनकी खटपट (हलचल, अशान्ति) कैसे मिटे ?

बहुत सीधी सरल बात है कि मनमें जो खटपट है, वह अपने जाननेमें आती है। तो जाननेमें जो चीज आती है, देखनेमें जो चीज आती है, वह अपना स्वरूप नहीं होती है। मेरेको मकान दिखा, तो क्या मैं मकान हो गया ? मेरेको एक पत्थर दीख गया, तो क्या मैं पत्थर हो गया ? दीखनेवाली चीज अलग होती है और देखनेवाला अलग होता है। इसमें सन्देह नहीं है। खटपट होती है—इसका जिसको ज्ञान है, वह आप हो। आप खटपटको देखनेवाले हुए। इसमें सन्देह है क्या ? खटपटको हम देखते हैं और खटपट दीखनेवाली हुई तो हमारे क्या बाधा लगी ? हमारेको पत्थर दीखा, वह तप गया तो हमें क्या, और वह ठण्डा हो गया तो हमें क्या ?

यह जो मनका एक संकल्प है कि यह खटपट न रहे यही खटपटका कारण है; क्योंकि इस संकल्पसे ही खटपटसे सम्बन्ध बना रहता है। मेरे मनमें खटपट न रहे, तो बस, अब खटपट मचेगी। इसलिये मनसे ही अपना सम्बन्ध तोड़ देना है। वास्तवमें मनसे सम्बन्ध है नहीं। केवल माना हुआ सम्बन्ध है। मनको आपने अपना माना है, खटपटको आपने अपनेमें माना है। खटपट पैदा होती है और मिटती है, सङ्कल्प उत्पन्न होते हैं और मिटते हैं, पर आप वही रहते हो। इसमें कोई सन्देह है क्या ? तो ये मिटें या न मिटें, इनको आप छोड़ दो। आप इनके साथ मिलो मत, इनसे राजी और नाराज मत होओ। खटपटसे राजी होना भी उससे मिलना है और नाराज होना भी उससे मिलना है। साधकके लिये यह बहुत बढ़िया चीज है। बस, आप राजी और नाराज मत होओ। जैसे धूप आयी और धूपसे स्वाभाविक मन हटता है, तो छायामें बैठ जाओ। पर न धूपके साथ विरोध करो, न छायाकी प्रशंसा करो। न किसीसे विरोध करना है, न प्रशंसा करनी है, यह साधकका खास काम है।

ज्ञानयोगी, कर्मयोगी, भक्तियोगी किसी भी साधनामें चलनेवाला योगी हो, जो परिस्थिति आये, उसमें राजी और नाराज न होना सबका काम है, योगिमात्रका काम है। जो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहता है, उसके लिये यह बहुत आवश्यक है। कितनी ही सुन्दर चीज मिले, कितनी ही असुन्दर चीज मिले, कितनी ही अनुकूलता आये, कितनी ही प्रतिकूलता आये, उन दोनोंमें जो सुखी और दुःखी नहीं होता है, वह परमात्माको प्राप्त करता है और जो सुखी और दुःखी होता है, वह संसारमें आता-जाता है, अर्थात् जन्मता-मरता है।

अनुकूलता-प्रतिकूलता तो सबके आयेगी। जिसके घोड़े हाँकते हैं, उस अर्जुनको भगवान् कहते हैं कि— भैया ! ये तो '**शीतोष्णसुखदुःखदाः**' हैं। इनको तुम सहन कर लो—'**तांस्तितिक्षस्व**' (गीता २।१४)। इसको मैं मिटा दूँगा, ऐसा नहीं कहा। सहन करनेके लिये कहा।

राग-द्वेषके वशीभूत न होवे। ठीक और बेठीक मानकर सुखी-दुःखी न होवे। इनकी चिन्ता न करे। फिर सब ठीक हो जायगा। कितनी ही खटपट आवे, आप सुखी-दुःखी मत होओ। यह तो आने-जानेवाली है। इसका मन्त्र है—'**आगमापायिनोऽनित्याः**' यह मन-ही-मन जपो। इस भावसे जपो कि यह तो आने-जानेवाली है, अनित्य है। अच्छी या मन्दी कैसी क्यों न हो, खटपट आते ही यह सूत्र (मन्त्र) लगा दो कि '**आगमापायिनोऽनित्याः**', ये आने-जानेवाली और अनित्य हैं। अनुकूल-से-अनुकूल आये, तो आने-जानेवाली है। प्रतिकूल से-प्रतिकूल आये, तो आने-जानेवाली है। बिलकुल सच्ची बात है। न अनुकूलता ठहरती है, न प्रतिकूलता ठहरती है। बस, इसको इतनी जान लो कि यह ठहरनेवाली नहीं है। इसमें कोई नया काम नहीं करना है। अब इनको लेकर क्या राजी हों और क्या नाराज हों ?

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।

(गीता ५।२०)

प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सुखी और दुःखी क्या हों ? बढ़िया-से-बढ़िया परिस्थिति आये, तो वह भी ठहरेगी नहीं, पर आप ठहरते हो ! क्योंकि आपके सामने अनुकूलता और प्रतिकूलता—दोनों आती हैं और जाती हैं और आप रहते हो। आप वही हो, बस अपनी तरफ ही दृष्टि रखो। ये जो आने-जानेवाली है, इनके साथ मिलो मत—यही मुक्ति है। इनके साथ मिल जाते हो—यही बन्धन है। आने-जानेवाली खटपटके साथ, परिस्थितिके साथ मिल जाना है—बन्धन, और न मिलना है—मुक्ति। कितनी सरल, सीधी-सादी बात है !

आप कहते हो कि न चाहते हुए भी हम मिल जाते हैं, अनुकूलता-प्रतिकूलताके साथ एकदम मिलना हो जाता है, तो इसका भी उपाय है। इनसे मिल जानेपर भी यह तो ज्ञान है ही कि इनके साथ हम मिल जाते हैं, पर हम अलग हैं और ये अलग हैं। यह बात सच्ची है कि नहीं ? खटपट पैदा होती है, मिटती है; आती है, जाती है और आप रहते हो। तो खटपट और आप अलग-अलग दो हुए कि एक ?

अब कहते हैं कि 'हम अभी तो जानते हैं, पर जिस समय अनुकूलता-प्रतिकूलता आती है, उस समय पता नहीं लगता। हम तो मिल जाते हैं। मिल जानेपर पीछे पता लगता है कि मिल गये।' तो पीछे पता लगते ही यह विचार करो कि हम उस समय भी मिले नहीं थे, केवल मिला हुआ मान लिया था। वह हमारे साथ नहीं है, हम उससे अलग हैं, ऐसा सोचकर चुप हो जाओ। बस, वह मिट जायगी। मिलनेका जो सुख-दुःख है, उसको आदर देनेसे ही आपके खटपट मिटती नहीं है। उसको आदर मत दो। कह दो कि हम तो मिले ही नहीं। फिर मिट जायगी। जब खयाल आये, तब अपने-आपसे कहे कि नहीं-नहीं, हम नहीं मिले।

जब खटपट होती है, अनुकूलता-प्रतिकूलता होती है, तब तो उसमें बह जाते हो और सुखी-दुःखी हो जाते हो। और फिर जब पता लगता है कि मैं मिल गया, तब चिन्ता करते हो कि हाय-हाय मैं उससे मिल गया ! तो जिस समय उससे मिलते हो, उस समय भी उससे मिलना कभी छोड़ते नहीं, और जिस समय उससे मिले नहीं, उस समय भी उसकी चिन्ता करते हो। यही बीमारी है, दोनों समय आप उसको पकड़ लेते हो। वास्तवमें आप उससे मुक्त तो आप-से-आप होते हैं। परिस्थिति, पदार्थ बेचारे तो आपको मुक्त कर रहे हैं, पर आप उनको पकड़ लेते हो कि हमारे खटपट रहती है, खटपट मिटती नहीं। इस तरह जिस समय खटपट नहीं होती, उस समय भी आप खटपटको पकड़े रहते हो। जब खटपट आती है, तब राग-द्वेष करके फँस जाते हो और जब नहीं आती, तब उसकी चिन्ता करके उसमें फँस जाते हो। तो ऐसा मत करो। ऐसा करके क्यों उसमें फँसो ?

भगवान् अर्जुनके रथ हाँकते हैं, उसका हुक्म मानते हैं। फिर भी भगवान्ने अर्जुनको फटकारा—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥

(गीता २।३)

'हे अर्जुन ! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित

नहीं जान पड़ती। हे परंतप! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा।'

अर्जुन चिन्ता करता है कि ये सब मर जायँगे, तो कुलमें पाप फैल जायगा। पाप फैलनेसे वर्णसंकर पैदा हो जायँगे, फिर पितरोंको पिण्ड नहीं मिलेगा। इनको मारनेसे बड़ा भारी पाप हो जायगा। भगवान् कहते हैं कि अरे, पहले ही हल्ला क्यों करता है? अभी हुआ कुछ नहीं, चिन्ता ऐसे ही करता है! जो हो गया, उसकी चिन्ता करता है अथवा जो नहीं हुआ, उसकी चिन्ता करता है, तो मुफ्तमें उड़ता हुआ तीर अपनेपर लेता है! जो अभी है ही नहीं, उसकी आफत पहले ही मुफ्तमें खड़ी कर दी। तो खटपट आये तो उसमें फँस गये और चली जाय तो उसमें फँसे रहे। खटपट तो मिट जाती है, रहती नहीं, पर उसे पकड़-पकड़कर रोते हैं। उसे क्यों पकड़ो? वह चली गयी तो मौज करो,आनन्द करो कि अब तो मिट गयी।

खटपटमें शक्ति नहीं है रहनेकी। किसीका जवान ब्याहा हुआ बेटा मर जाय, तो मोह-आसक्तिके कारण हृदयमें एक चोट लगती है। परन्तु वह मरता है, तब जैसी चोट लगती है, वैसी चोट दूसरे-तीसरे दिन नहीं रहती। पर रो-रोकर, याद कर-करके उसे रखते हैं। याद करते हैं फिर रोते हैं; इस तरह उसको पालते हैं। फिर भी वह हृदयकी चोट एक दिन मर ही जाती है। चिन्ता-शोक मर ही जाते हैं। आप उन्हें रख सकते ही नहीं। है किसीमें ताकत कि उन्हें रख ले? कुछ वर्षोंके बाद तो चिन्ता-शोक बिल्कुल मर जाते हैं। आपने तो रखनेकी खूब चेष्टा की, खूब रोये, खूब दूसरोंको सुनाया कि यों था, ऐसा था, वह चला गया। इतना शोकको पाला, फिर भी वह मर ही जाता है। मेहनत करनेपर भी नहीं रहता। इसलिये उसकी उपेक्षा कर दो। मर गया तो खत्म हो गया काम। अब क्या चिन्ता करें और क्या रोवें? तो उसी समय शान्ति हो जाय। पर उसे पालेंगे, तो भी वह तो रहेगा नहीं। मेरी बात झूठी हो तो बोलो। तो जो मिटनेवाली थी, मिट गयी। बस खत्म हुआ काम। मिटनेवालेके साथ मिलो मत। कितनी सीधी बात है। मेरी धारणामें आप जितने बैठे हो, इसमें कोई निर्बल नहीं है, जो कि इस बातको न मान सके। आप अपनेको निर्बल मान लो, तो मैं क्या करूँ? इतना तो आप जानते हो कि मैं धोखा नहीं देता, आपके साथ विश्वासघात नहीं करता। तो मेरी बातपर अविश्वास क्यों करो? कोई धोखा होता हो तो बता दो कि तुम्हारी बात माननेसे यह धोखा होता है। कोई हानि हो तो बता दो। पर माननेसे लाभ होता है, इसे आप भी मानते हो और मैं भी मानता हूँ।

या तो स्वयं इसे समझनेके लिये विचार कर लो अथवा दूसरेकी बात मान लो—इनमेंसे एक कर लो। बुद्धिकी तीक्ष्णताकी जरूरत नहीं है। तीक्ष्णता सहायता कर सकती है, पर बुद्धिकी शुद्धि (एक निश्चय) जितनी सहायता करती है, उतनी तीक्ष्णता नहीं करती। बुद्धिमें जड़ता हो या विक्षेप हो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। पर इस विषयको मैं समझूँ इसी तरफ लक्ष्य हो।

वास्तवमें खटपट अपनेमें है ही नहीं—यही सार बात है।

संसारका आश्रय कैसे छूटे ?

हम भगवान्‌के आश्रित हो जायँ अथवा संसारका आश्रय छोड़ दें—दोनोंका एक ही अर्थ होता है। संसारका आश्रय सर्वथा छूट जानेसे भगवान्‌का आश्रय स्वतः प्राप्त हो जाता है और भगवान्‌के सर्वथा आश्रित हो जानेसे संसारका आश्रय स्वतः छूट जाता है। इन दोनोंमेंसे किसी एककी मुख्यता रखकर चलें अथवा दोनोंको साथ रखते हुए चलें, एक ही अवस्था हो जाती है अर्थात् कल्याण हो जाता है।

भगवान्‌के आश्रित होनेमें संसारका आश्रय ही खास बाधक है। संसारका आश्रय न छूटनेमें खास कारण है—संयोगजन्य सुखकी आसक्ति। संयोगजन्य सुखमें मनका जो खिंचाव है, प्रियता है, यही संसारके आश्रयकी, संसारके सम्बन्धकी खास जड़ है। यह जड़ कट जाय तो संसारका आश्रय छूट जायगा। परन्तु भीतरमें संयोगजन्य सुखकी लोलुपता रहते हुए बाहरसे चाहे सम्बन्ध छोड़ दो, साधु भी बन जाओ, पैसा भी छोड़ दो, पदार्थ भी छोड़ दो, गाँव छोड़कर जंगलोंमें भी चले जाओ, तो भी संसारका आश्रय छूटेगा नहीं।

संयोगजन्य सुख आठ प्रकारका है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मान (शरीरका आदर-सत्कार), बड़ाई (नामकी प्रशंसा) और आराम। ये आठ प्रकारके संयोगजन्य सुख ही मूल बाधाएँ हैं। जबतक इन सुखोंमें आकर्षण है, प्रियता है, ये अच्छे लगते हैं, तबतक संसारका आश्रय छूटता नहीं और संसारका आश्रय छूटे बिना सर्वथा भगवान्‌का आश्रय होता नहीं। अगर केवल भगवान्‌का ही आश्रय ले लिया जाय तो संसारका आश्रय छूट जायगा। संयोगजन्य सुखका बड़ा भारी आकर्षण है। पर वह कब छूटेगा ? जब मनुष्य केवल

भगवान्‌का आश्रय लेकर भगवान्‌के भजन-स्मरणमें लीन होगा। भगवान्‌के भजन-स्मरणमें लीन होनेसे जब पारमार्थिक सुख मिलने लगेगा, तब संयोगजन्य सुख सुगमतासे, सरलतासे छूट जायगा। उस पारमार्थिक सुखमें इतनी विलक्षणता, अलौकिकता है कि उसके सामने संसारके सब सुख नगण्य हैं, तुच्छ हैं, कुछ नहीं हैं। जब वह पारमार्थिक सुख मिलने लगेगा, तब संसारके सब सुख फीके पड़ जायँगे, स्वतः स्वाभाविक तुच्छ लगने लगेंगे। अतः उस पारमार्थिक सुखको, आनन्दको ही लेना चाहिये। उसको लेनेके दो तरीके हैं चाहे भावना-(भक्ति-) से ले लो और चाहे विवेक-(ज्ञान-) से ले लो। भावनासे ऐसे लो कि भगवान् हैं, वे मेरे हैं और मैं उनका हूँ—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई रे।

भगवान्‌को अपना माननेके साथ-साथ ***'दूसरो न कोई'***—यह मानना जरूरी है। परंतु होता यह है कि संसारमें अपनापन रखते हुए भगवान्‌में अपनापन करते हैं। वास्तवमें संसारके साथ अपनापन रहता नहीं—यह निश्चित बात है। जन्मसे पहले जिस कुटुम्बके साथ अपनापन था, आज उस कुटुम्बकी याद ही नहीं है। इसी प्रकार आज जिस कुटुम्बके साथ, जिन रुपयोंके साथ, जिन भोगोंके साथ हमारा अपनापन है, वे भविष्यमें यादतक नहीं रहेंगे, सम्बन्ध तो क्या रहेगा? अतः जो रहेगा ही नहीं, उसको छोड़नेमें क्या जोर आता है? जो रहनेवाला हो, उसको यदि छोड़नेके लिये कहा जाय, तब तो कुछ कठिनता भी मालूम देगी कि रहनेवाली चीजको कैसे छोड़ दें! पर संसार तो छूटेगा ही और छूटता ही चला जा रहा है; अतः उसको छोड़नेमें कठिनता कैसी? केवल मूर्खताके कारण ही हमने उसको पकड़ रखा है।

थोड़ा-सा विचार करें तो बात स्पष्ट समझमें आती है कि बाल्यावस्थामें हमारा जिन मित्रोंके साथ, जिन खिलौनोंके साथ, जिन व्यक्तियोंके साथ सम्बन्ध था, वह सम्बन्ध आज केवल याद-मात्र है। आज वह सम्बन्ध नहीं है। न उस अवस्थाके साथ सम्बन्ध है, न उन घटनाओंके साथ सम्बन्ध है। न उन खिलौनोंके साथ सम्बन्ध है, न उस समयके साथ सम्बन्ध है। अब आप कहते हो कि हमारी बाल्यावस्था ऐसी थी और हम अड़ जायँ कि ऐसी नहीं थी, तो आपके पास कोई प्रबल प्रमाण नहीं है कि आप उसको हमें बता सकें। आप और हम जिद भले ही कर लें, पर 'हमारी बाल्यावस्था ऐसी थी'—इसको आप और हम नहीं बता सकते। बतायें भी तो क्या बतायें और कैसे बतायें? किसकी ताकत है, जो उसको बता दे? आपको अपनी बाल्यावस्था वर्तमान अवस्थाकी तरह सच्ची दीखती थी, पर आज उसको आप सिद्ध नहीं कर सकते, तो फिर आज आपकी जो अवस्था है, उसको आगे सिद्ध करना चाहेंगे तो कैसे करेंगे? जिस तरहसे उस बाल्यावस्थाका समय बीता उसी तरहसे यह आजका समय बीत रहा है। भविष्यमें क्या होगा, अभी घण्टेभर बादमें क्या होगा, कुछ पता नहीं! आजसे युगों पहले क्या हुआ, पता नहीं और आजसे युगों बाद क्या होगा, पता नहीं। वर्तमान भी बड़ी तेजीसे बीत रहा है। वर्तमान, 'है' का नाम नहीं है, प्रत्युत जो बरत रहा है अर्थात् तेजीसे जा रहा है, उसका नाम वर्तमान है। वर्तमान इतनी तेजीसे जा रहा है कि इसका एक क्षण भी स्थिर नहीं है। वर्तमान कोई काल है ही नहीं, केवल भूत और भविष्यकी सन्धिको वर्तमान कहा गया है। वर्तमान शब्दका अर्थ ही है—चलता हुआ। जो भविष्य है, वह सामने आ करके भूतमें जा रहा है। जो भविष्य भूतमें जा रहा है, उसको वर्तमान कहते हैं। इस प्रकार जो कभी स्थिर रहता ही नहीं, जिसका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है, उससे विमुख होनेमें क्या जोर आता है, बताओ? यह तो जबरदस्ती छूटेगा, रहेगा नहीं। इसको रखना चाहोगे तो बेइज्जती, दुःख, सन्ताप, जलन, आफतके सिवाय और कुछ मिलनेका है नहीं। परन्तु इसको छोड़ दोगे तो निहाल हो जाओगे! अतः चाहे संसारके सम्बन्धका त्याग कर दो चाहे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध मान लो कि 'हे भगवन्! आप ही हमारे हो'। भगवान्‌का ही नाम लो, उनका ही चिन्तन करो, उनके आगे रोओ और कहो कि 'महाराज! संसारका त्याग करनेमें मैं तो हार गया, मुझे अपनी मनोवृत्तियाँ बड़ी प्रबल प्रतीत होती हैं।' ऐसा करके भगवान्‌के शरण हो जाओ। तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

हौं हार्‌यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥

(विनयपत्रिका ८९)

हमारेसे तो ये शत्रु सीधे होते नहीं। वे प्रभु कृपा करेंगे, तभी ये सीधे होंगे। परंतु अपनी शक्तिका पूरा उपयोग किये बिना मनुष्य अपनी शक्तिसे हताश नहीं हो पाता—अपनेमें असमर्थताका अनुभव नहीं कर पाता। अपनी शक्तिसे हताश हुए बिना अभिमान नहीं मिटता कि मैं ऐसा कर सकता हूँ। पूरी शक्ति लगाकर भी काम न बने तो कह दे कि 'हे नाथ! अब मैं कुछ नहीं कर सकता!' तो फिर उसी क्षण काम बन जायगा। परन्तु पूरी शक्ति लगाये बिना ऐसी अनन्यता नहीं आती। इसलिये जो आप कर सकते हैं, उसे पूरा करके मनकी निकाल दें। जब भीतर यह विश्वास हो जायगा कि मेरी शक्तिसे काम नहीं होगा, तब स्वतः पुकार निकलेगी कि 'हे

नाथ !. मेरी शक्तिसे नहीं होता' और उसी क्षण भगवान्‌की शक्तिसे काम पूरा हो जायगा। अपनी शक्ति बाकी रखते हुए भगवान्‌के अनन्य शरण नहीं हो सकते। अगर अपनी शक्तिका कुछ आश्रय है कि हम कुछ कर सकते हैं, तो करके पूरा कर लो। जितना जोर लगाना हो, पूरा-का-पूरा लगा लो। पूरा जोर लगानेपर जब जोर बाकी नहीं रहेगा, तब कार्य सिद्ध हो जायगा। अगर जोर लगाये बिना ही संसारका आश्रय छूट जाय तो भी कार्य सिद्ध हो जायगा। कारण कि संसारका जो आश्रय है, वह परमात्माका आश्रय नहीं लेने देता, इतना ही उसका काम है और खुद वह रहता नहीं !

संसारका आश्रय व्याकरणके 'क्विप्' प्रत्ययकी तरह है 'क्विप्' प्रत्यय खुद तो रहता नहीं, पर धातुके गुण और वृद्धि नहीं होने देता। ऐसे ही संसारका आश्रय खुद तो रहता नहीं, पर मनुष्यमें न तो सद्गुण-सदाचार आने देता है और न उसको परमात्माकी तरफ बढ़ने देता है। अतः संसारका आश्रय रखनेसे कोरा, निखालिस धोखा ही होगा। इसमें कोई लाभ होता हो तो बताओ ?

श्रोता—अनन्त जन्मोंसे संसारका आश्रय लेनेके संस्कार पड़े हुए हैं !

स्वामीजी—यह सब कुछ नहीं, केवल बहानेबाजी है। आपका विचार ही नहीं है, इसलिये बहाना बनाते हो। बहानेबाजियाँ मैंने बहुत सुनी हैं। 'क्या करें, हमारे कर्म ठीक नहीं हैं। क्या करें, कोई अच्छा महात्मा नहीं मिलता। क्या करें, ईश्वरने ऐसी कृपा नहीं की। क्या करें, वायुमण्डल ऐसा ही है। क्या करें, समय ऐसा ही आ गया है। समय बहुत खराब आ गया है, समाजमें कुसंग बहुत है। क्या करें, हमारा प्रारब्ध ऐसा ही है। क्या करें, हमारे संस्कार ऐसे ही हैं। कहाँ जायँ ? क्या करें ? किस तरहसे करें ? किससे पूछें ? ईश्वरने हमारेको ऐसा ही बना दिया। भगवान्‌की माया ही ऐसी है, हम क्या करें !'—ये सब बिलकुल फालतू बातें हैं, इनमें कुछ तत्त्व नहीं है। मैंने इनका अध्ययन किया है। ये जितनी भी बहानेबाजियाँ हैं, ये सब केवल असली लाभसे वञ्चित होनेके तरीके हैं। कहीं असली लाभ न हो जाय—इसके लिये ढूँढ़-ढूँढ़कर तरीके निकाले हैं और कुछ नहीं ! ऐसी बढ़िया रीतिसे कमर कसी है कि किसी तरहसे आध्यात्मिक उन्नति न हो जाय। कुछ-न-कुछ आड़ लगा ही देंगे कि स्वामीजीको इन बातोंका क्या पता ? इनके गृहस्थ तो है नहीं। दुकान इनके है नहीं। इनको तो मुफ्तमें रोटी मिलती है और बातें बनानी आती हैं। इस प्रकार किसी तरहसे इनकी बातोंको टाल देना है—यह आपने सोच रखा है। इसके लिये तरीके आपको बहुत आते हैं। एक-दो, चार-पाँच तरीके थोड़े ही हैं। यदि कर्म बाधक हैं, तो कर्म तुम्हारे किये हुए हैं या और किसीके ? तुम्हारे बनाये हुए संस्कार यदि बाधक हैं, तो क्या उनको तुम मिटा नहीं सकते ? आपने किया है, देखा है, सुना है, समझा है, पढ़ा है— इस प्रकार आपने स्वयं अपने भीतर जो संस्कार डाले हैं, वे ही उपजते हैं। अतः आपके किये हुए संस्कार ही उपजते हैं, आपके किये बिना एक भी संस्कार नहीं उपज सकता।

एक संतसे किसीने पूछा कि 'महाराज ! भगवान्‌में मन कैसे लगे ?' संतने उत्तर दिया कि तुम स्वयं भगवान्‌में लग जाओ तो मन भी आप-से-आप भगवान्‌में लग जायगा। मन कहाँ जाता है ? तुमने जहाँ-जहाँ अपना सम्बन्ध जोड़ा है, वहाँ-वहाँ मन जाता है। उसने कहा कि 'महाराज ! मन तो हरेक जगह चला जाता है !' तो संतने कहा कि 'मनमें कभी वाइसरायकी चाय पीनेका संकल्प होता है क्या ?' 'नहीं होता।' 'क्यों नहीं होता ?' क्योंकि वहाँ हमने सम्बन्ध जोड़ा ही नहीं। अतः जहाँ आपने सम्बन्ध नहीं जोड़ा, वहाँ मन नहीं जाता। जहाँ आपने सम्बन्ध जोड़ा है, वहीं मन जाता है। आप सम्बन्ध छोड़ दो तो मन वहाँ जाना छोड़ देगा। सब काम खुदका ही किया हुआ है—

आप कमाया कामड़ा, किणने दीजै दोष।
खोजेजी री पालड़ी, काँदे लीनी खोस॥*

अगर खुदका पक्का विचार होगा तो उसको खुद ही मिटा दोगे। अगर उसको पूरा मिटाना चाहते हो, पर अपनी शक्तिसे वह मिटता नहीं तो ऐसी अवस्थामें आप रो दोगे। यह विद्या हम सबने बालकपनमें काममें ली है। बालकपनमें कौन-सा काम रोनेसे नहीं हुआ ! रोनेसे सब काम हुए। छोटा बच्चा रो करके अपने मनकी बात पूरी करा लेता है। यह रोना आपके, हमारे सबके काममें लिया हुआ उपाय है। अतः भगवान्‌के आगे रो पड़ो, तो भगवान्‌को झख मारकर आना पड़ेगा। हम

* अपने ही द्वारा किये गये काममें किसको दोष दें ! 'खोजेजी' नामक एक ठाकुरके गाँव पालड़ीको लोग 'खोजेजीकी पालड़ी' कहकर पुकारा करते थे। एक बार खोजेजीके गाँवमें एक बहुत बड़ा काँदा (प्याज) पैदा हुआ। उसको वे राजाके पास दिखानेके लिये ले गये। राजाके पास ले जानेसे उस गाँवकी 'काँदेकी पालड़ी' नामसे प्रसिद्धि हो गयी और लोग उस गाँवको 'खोजेजीकी पालड़ी' न कहकर 'काँदेकी पालड़ी' कहकर पुकारने लग गये।

भगवान्‌के प्यारे-से-प्यारे बच्चे हैं। अगर हम बेचैन होकर रो पड़ें तो भगवान्‌की ताकत नहीं है कि हमारी उपेक्षा कर दें; कर ही नहीं सकते!

हम संसारके भोगोंको चाहते हैं, उनके संग्रहको चाहते हैं, तो ये चीजें रोनेपर भी नहीं मिलेंगी। प्रारब्धके अनुसार ये चीजें मिलनी होंगी तो मिलेंगी, नहीं मिलनी होंगी तो नहीं मिलेंगी। परंतु भगवान्‌के लिये रोना होगा तो उसको भगवान् सह नहीं सकेंगे। भगवान् संसारके दुःखकी परवाह नहीं करते। जो मनुष्य संसारका सुख चाहता है, वह तो एक प्रकारसे दुःख ही चाहता है। भगवान् मानो कहते हैं कि पहले मिला हुआ दुःख काफी है, और दुःख लेकर तू क्या करेगा! इसलिये सांसारिक सुख माँगनेपर और उसके लिये रोनेपर भी भगवान् सांसारिक सुख दे ही दें—यह नियम नहीं है।

एक सज्जन थे। उनकी स्त्री बीमार हो गयी तो उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की। परंतु उनकी स्त्री मर गयी, तो उन्होंने भगवान्‌की आस्था छोड़ दी। उनकी परीक्षामें भगवान् फेल हो गये; क्योंकि प्रार्थना करनेपर भी भगवान्‌ने हमारा दुःख नहीं मिटाया, स्त्रीकी रक्षा नहीं की। परन्तु मनुष्य यह विचार नहीं करता कि पहले दुःख ज्यादा था, उसे कम किया तो हर्ज क्या हुआ? परन्तु यह बात अक्लमें नहीं आती। मनुष्य अपनी मनचाही वस्तु ही माँगता रहता है। अगर आपमें आध्यात्मिक लगन हो और उसके लिये आप रो पड़ो, तो भगवान् उसी समय उसकी पूर्ति कर देंगे। कारण कि वे जानते हैं कि यह सच्ची बातके लिये रोता है। जो झूठी बातके लिये रोता है, उसकी कौन परवाह करे? वह तो पागल है, बेअक्ल है, मूर्ख है!

संसारसे कुछ भी लेनेकी इच्छा न रखे, तो भी मनमें 'यह अपना है'—ऐसा भाव है तो यह भोग है। कारण कि संसारसे अपनापन छूटता है तो दुःख होता है। संसारसे अपनापन टिकनेवाला नहीं है। हम शरीरको अपना मानते हैं तो क्या उसके साथ हमारा सम्बन्ध सदा बना रहेगा? शरीर बना रहे—यह इच्छा ही मनुष्यको तंग कर रही है। शरीर सदा रहनेवाला तो है नहीं, पर 'वह मेरा है'—इस भावसे एक सुख मिलता है, यह सुख ही आफतमें डालनेवाला है। यह साधकके कामकी बहुत मार्मिक बात है।

यह संसार सब-का-सब छूटनेवाला ही है; परंतु ऐसा जानते हुए भी इसको छोड़नेमें असमर्थता मालूम देती है। पर इस असमर्थता, कठिनताके आगे हार स्वीकार मत करो। घबरा जाओ तो भगवान्‌से प्रार्थना करो। चलते-फिरते कहो कि 'हे नाथ! क्या करूँ! मेरेसे तो कुछ बनता नहीं!' जितना संयोगजन्य सुख लिया है, उससे सवा गुणा अधिक दुःख हो जाय तो संसारसे माना हुआ सम्बन्ध छूट जायगा। इसलिये संसारमें दुःखके समान उपकारी कोई है ही नहीं। पर वह दुःख भीतरसे होना चाहिये। परिस्थितिजन्य दुःख बाहरसे आता है। पुत्र नहीं है, धन नहीं है, मान नहीं है, यह नहीं है, वह नहीं है—ये सब बाहरके दुःख हैं। ये नकली दुःख हैं, असली दुःख नहीं हैं। असली दुःख भीतरसे होता है। अपनी वास्तविक स्थिति नहीं हो रही है, भगवान्‌से प्रेम नहीं हो रहा है, भगवान्‌के दर्शन नहीं हो रहे हैं, संसारका आश्रय नहीं छूट रहा है—इस प्रकार भीतरसे जो दुःख होता है, जलन होती है, उसको भगवान् सह नहीं सकते।

भगवान्‌का स्वभाव है—**'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि'** अर्थात् भगवान् भक्तके हितके लिये कठोरतामें तो वज्रसे भी कठोर हैं (वज्र पड़े तो पर्वतके भी टुकड़े-टुकड़े कर दे, ऐसे वज्रसे भी कठोर हैं), पर कोमलतामें वे पुष्पसे भी कोमल हैं! संतोंके लिये आया है—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

(मानस ७। १२५। ४)

मक्खन तो अपने ही तापसे पिघल जाता है, पर सन्त दूसरेका दुःख देखकर पिघल जाते हैं। जब सन्त दूसरेका दुःख सह नहीं सकते, तब सन्तोंके इष्ट भगवान् दूसरेका दुःख कैसे सह सकते हैं? भगवान्‌का ही तो स्वभाव सन्तोंमें आता है। भगवान् बड़े भारी शूरवीर हैं, परंतु दूसरेके असली दुःखको सहनेमें बड़े कायर हैं। इसमें उनकी शूरवीरता रद्दी हो जाती है। लोग क्या कहेंगे, क्या नहीं कहेंगे, प्रशंसा होगी या निन्दा होगी—इस बातको वे कुछ नहीं गिनते। गोपियाँ कहती हैं कि 'लाला, तुम नाचो तो हम तुम्हें छाछ देंगी' तो भगवान् नाचने लग जाते हैं। जिनकी स्फुरणामात्रसे अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न और लीन होते हैं, वे भगवान् छाछके लिये गोपियोंके आगे नाचने लग जाते हैं! ऐसा नहीं कि मेरी कितनी बेइज्जती होगी। वे भगवान् क्या आज बदल गये? यदि हम संसारका आश्रय न छूटनेसे दुःखी हो जायँ, तो क्या वे हमारा दुःख सह सकते हैं? नहीं सह सकते। उनकी कृपासे हमारा संसारका आश्रय छूट जायगा।

परमात्मा तत्काल कैसे मिलें ?

श्रोता—जल्दी-से-जल्दी उद्धार कैसे हो ?

स्वामीजी—हमारा उद्धार हो जाय—यह एक ही लालसा हो जाय तो तत्काल उद्धार हो जायगा। एक बात आप ध्यान दे करके सुनें। संसारका काम जैसे उद्योग करनेसे होता है, ऐसे ही हम समझते हैं कि परमात्माकी प्राप्ति भी उद्योग करनेसे होगी। वास्तवमें यह बात नहीं है, नहीं है, नहीं है! परमात्मा सब देशमें हैं, सब कालमें हैं, सम्पूर्ण वस्तुओंमें हैं, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें हैं, सम्पूर्ण घटनाओंमें हैं, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें हैं; अतः उनकी प्राप्तिके लिये केवल भीतरकी लालसा होनी चाहिये। कारण कि परमात्माका निर्माण करना नहीं है, उनको बदलना नहीं है, उनको कहींसे लाना नहीं है। वे तो सब जगह और सबमें ज्यों-के-त्यों परिपूर्ण हैं। जहाँ आप कहते हैं कि 'मैं हूँ' वहाँ भी परमात्मा पूरे-के-पूरे विद्यमान हैं। अतः केवल लालसा होनेसे उनकी प्राप्ति हो जाती है।

संसारकी कोई वस्तु केवल लालसासे नहीं मिलती। लालसा होगी, उद्योग करेंगे और भाग्यमें होगा, तभी वस्तु मिलेगी। जैसे, रुपये चाहिये तो रुपयोंकी लालसा हो, रुपयोंके लिये प्रयत्न किया जाय और प्रारब्धमें हो तो रुपये मिलेंगे, अगर प्रारब्धमें न हो तो इच्छा करनेपर और खूब चेष्टा करनेपर भी रुपये नहीं मिलेंगे। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति केवल इच्छासे ही हो जायगी। परमात्मप्राप्तिकी इच्छा होनेपर उद्योग अपने-आप होगा, परन्तु परमात्मप्राप्ति उद्योगके अधीन नहीं है। जो वस्तु उद्योगके अधीन होती है, क्रियाजन्य होती है, वह नाशवान् होती है। जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश होता ही है। जो साधनासे मिलेगा, वह उत्पत्तिवाला होगा; और जो उत्पत्तिवाला होगा, वह मिट जायगा, रहेगा नहीं। परन्तु परमात्मा अनुत्पन्न तत्त्व है और सदा ज्यों-का-त्यों रहता है; अतः उसकी प्राप्ति केवल लालसासे हो जाती है।

केवल परमात्मप्राप्तिकी ही लालसा हो, दूसरी कोई भी लालसा न हो—*'एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥'* (मानस ३।१०।४) दूसरी लालसा होनेसे, दूसरी तरफ वृत्ति होनेसे ही परमात्मप्राप्तिमें बाधा लगती है। अगर दूसरी लालसा न हो तो परमात्मप्राप्तिमें बाधा है ही नहीं, देरी है ही नहीं, दूरी है ही नहीं! दूसरी मान-बड़ाई, सुख-आराम आदिकी लालसा होनेसे ही संसारका सम्बन्ध है। दूसरी लालसा मिटते ही संसारका सम्बन्ध छूट जाता है और संसारका सम्बन्ध छूटते ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। परमात्मा तो पहलेसे ही मिला हुआ है। अन्यकी जो इच्छा है, चाहना है, वासना है, उसीसे संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। संसारसे सम्बन्ध जुड़नेके कारण परमात्माका अनुभव नहीं हो रहा है।

संसारकी इच्छा करके, उद्योग करके कुछ नहीं पा सकोगे। केवल धोखा मिलेगा। परमात्मप्राप्तिसे वञ्चित रह जाओगे—इसके सिवाय और कुछ लाभ नहीं होगा। समय खाली चला जायगा, मनुष्य-शरीर व्यर्थ चला जायगा और मिलेगा कुछ नहीं; क्योंकि संसारका अभाव है। मनुष्यने अपने भीतर एक सिद्धान्त बैठा लिया है कि जो स्थिति अभी नहीं है, वह स्थिति हो जायगी तो हमने बड़ी उन्नति कर ली। यह महान् दोषकी बात है। पहले धन नहीं था, अब धन हो गया तो वह समझता है कि बड़ा भारी काम कर लिया! लोग भी कहते हैं कि पहले साधारण आदमी था, अब लखपति-करोड़पति बन गया, तो बड़ा भारी काम कर लिया! यह मूर्ख था, अब पण्डित बन गया, तो बड़ा भारी काम कर लिया! इसको पहले कोई जानता नहीं था, अब संसारमें इसकी बड़ी प्रसिद्धि हो गयी, तो बड़ा भारी काम कर लिया! इसका आदर कोई नहीं करता था, सब ठुकराते थे, अब इसका आदर हो गया, तो बड़ा काम कर लिया! वास्तवमें कुछ नहीं किया है। धूलके दो दाने जितना भी काम नहीं किया है! जो स्थिति पहले नहीं थी, वह स्थिति अब हो भी जाय तो अन्तमें वह नहीं रहेगी। जो पहले भी नहीं थी और पीछे भी नहीं रहेगी; उसको प्राप्त करना कोई बहादुरी नहीं है। जो सब देश, काल आदिमें मौजूद है, उस परमात्माको प्राप्त करना ही बहादुरी है। वह परमात्मा सदा 'है' ही रहेगा। वह 'नहीं' कभी हो ही नहीं सकता।

आपकी स्थिति परमात्मामें है। संसारमें आपकी स्थिति है ही नहीं। आपकी स्थिति तो अटल है और संसार आपके सामने बदलता है। संसारमें आपकी स्थिति है ही कहाँ? बालकपन बदला, जवानी बदली, वृद्धावस्था बदली, रोग-अवस्था बदली, नीरोग-अवस्था बदली, धनवत्ता बदली, निर्धनता बदली—ये सब बदलते रहे, पर आप वे-के-वे ही रहे। संसार आपके साथ कभी रह ही नहीं सकता और आप संसारके साथ कभी रह ही नहीं सकते। ब्रह्माजीकी भी ताकत नहीं है कि संसार आपके साथ और आप संसारके साथ रह जायँ। आपकी स्थिति सदा परमात्मामें रहती है। परमात्मा सदा आपके साथ रहते हैं और आप सदा परमात्माके साथ रहते हैं। अतः परमात्माकी प्राप्ति कठिन है ही नहीं। कठिन तो तब हो, जब परमात्माकी प्राप्तिके लिये कुछ करना पड़े। जब करना

कुछ है ही नहीं, तब उसकी प्राप्ति कठिन कैसे! कठिनता और सुगमताका सवाल ही नहीं है।

श्रोता—बात तो यह ठीक जँचती है पर····।

स्वामीजी—ठीक जँचती है तो मना कौन करता है? आड़ तो आपने खुद ही लगा रखी है। वास्तवमें आपको परमात्मप्राप्तिकी परवाह ही नहीं है, चाहे प्राप्ति हो अथवा न हो!

संतदास संसार में, कई गुगु कई डोड।
डूबन को साँसो नहीं, नहीं तिरन को कोड॥

—गुगु-(उल्लू-) को तो दिनमें नहीं दीखता और डोड-(एक प्रकारका बड़ा कौआ-) को रातमें नहीं दीखता। परन्तु संसारमें कई ऐसे लोग हैं, जिनको न दिनमें दीखता है और न रातमें दीखता है अर्थात् अपने उद्धारकी तरफ उनकी दृष्टि कभी जाती ही नहीं। उनमें न तो अपने डूबने-(पतन होने-)की चिन्ता होती है और न तैरने-(अपने उद्धार करने-) का उत्साह होता है।

केवल यह लालसा हो जाय कि परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो? क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किससे पूछूँ? यह लालसा जोरदार लगी कि परमात्माकी प्राप्ति हुई! क्योंकि यह लालसा लगते ही दूसरी लालसाएँ छूट जाती हैं। जबतक दूसरी सांसारिक लालसाएँ रहती हैं तबतक एक अनन्य लालसा नहीं होती। परमात्मा अनन्य हैं; क्योंकि उनके समान दूसरा कोई है ही नहीं, इसलिये उनकी प्राप्तिकी लालसा भी अनन्य होनी चाहिये।

श्रोता—परमात्माकी लालसा बनानी पड़ती है कि स्वतःसिद्ध है?

स्वामीजी—परमात्माकी लालसा स्वतःसिद्ध है, दूसरी लालसाएँ आपने बनायी हैं। अतः उन लालसाओंको छोड़ना है। अभी आप जिन लालसाओंको जानते हो, आजसे पचास वर्ष पहले उनको जानते थे क्या? जानते ही नहीं थे। इसलिये वे लालसाएँ बनावटी हैं। एक क्षण भी कोई लालसा टिकती नहीं, प्रत्युत बदलती रहती है, मिटती रहती है और आप नयी-नयी लालसा पकड़ते रहते हो।

श्रोता—परमात्मप्राप्तिकी अनन्य लालसाके बिना भी परमात्मप्राप्ति हो सकती है क्या?

स्वामीजी—परमात्मप्राप्तिकी अनन्य लालसाके बिना, दूसरी लालसा रहते हुए भी उद्योग किया जा सकता है, भजन-स्मरण किया जा सकता है। परंतु यह लम्बा रास्ता है, इससे तत्काल परमात्मप्राप्ति नहीं होगी। एक-दो जन्म, दस जन्म, पता नहीं कितने जन्ममें हो जाय तो हो जाय! दूसरी लालसा रहनेसे ही तो हम अटके पड़े हैं, नहीं तो अटकते क्या? जो सत्संगमें लगे हुए हैं, उनमें कुछ-न-कुछ पारमार्थिक लालसा है ही; परन्तु अनन्य लालसा न होनेसे ही परमात्मप्राप्तिमें देरी हो रही है।

वास्तवमें देखा जाय तो पारमार्थिक लालसाके बिना कोई प्राणी है ही नहीं। परन्तु इस बातका पता पशु-पक्षियोंको नहीं है। जो मनुष्य पशु-पक्षियोंकी तरह ही जीवन बिता रहे हैं, उनको भी इस बातका पता नहीं है। सभी उस तत्त्वको चाहते हैं। जैसे, कोई भी प्राणी मरना चाहता है क्या? सभी प्राणी निरन्तर रहना चाहते हैं—यह 'सत्' की चाहना है! कोई अज्ञानी रहना चाहता है क्या? सभी जानना चाहते हैं—यह 'चित्'की चाहना है। कोई दुःखी रहना चाहता है क्या? सभी सुखी रहना चाहते हैं—यह 'आनन्द' की चाहना है। इस प्रकार सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप परमात्माकी चाहना सभीमें स्वाभाविक है। इसको कोई मिटा नहीं सकता, दूसरी चाहनाएँ जितनी ज्यादा पकड़ रखी हैं, उतनी ही परमात्मप्राप्तिमें देरी लगेगी। दूसरी चाहनाएँ जितनी मिटेंगी, उतनी ही जल्दी परमात्मप्राप्ति होगी। सर्वथा चाहना मिटा दो तो तत्काल परमात्मप्राप्ति हो जायगी।

राज्यकी चाहना होनेसे ही ध्रुवजीको परमात्मप्राप्तिमें देरी लगी। इस चाहनाके कारण अन्तमें उनको पश्चात्ताप हुआ कि मैंने गलती कर दी! आप जिन चाहनाओंको पूरी करना चाहते हैं, उन चाहनाओंका आपको पश्चात्ताप होगा और रोना पड़ेगा। अतः परमात्माकी प्राप्तिमें दूसरी लालसा बाधक है—इस बातपर विचार करनेसे दूसरी लालसा मिट जायगी। दूसरी लालसा परमात्म-प्राप्तिमें बाधा देनेमें ही सहायता करती है। इससे लोक-परलोकमें किसी तरहका किञ्चिन्मात्र भी फायदा नहीं है। केवल नुकसानके सिवाय और कुछ नहीं है। दूसरी लालसा केवल आध्यात्मिक मार्गमें बाधा डालती है। अगर इससे कुछ भी फायदा हो तो कोई बताओ कि अमुक लालसासे इतना फायदा हो जायगा। इसमें कोरा नुकसान है। केवल नुकसानकी बात भी आप नहीं छोड़ सकते, तो क्या छोड़ सकते हैं।

श्रोता—दूसरी लालसा किसपर टिकी हुई है?

स्वामीजी—दूसरी सभी लालसाएँ संयोगजन्य सुख-भोगकी लालसापर टिकी हुई हैं। संयोगजन्य सुखभोगकी जो लालसा है, मनमें जो रुचि है, यही बाधक है; सुख इतना बाधक नहीं है। असली बीमारी कहाँ है—इस बातका हमें तो कई वर्षोंतक पता नहीं लगा था। व्याख्यान देते-देते कई वर्ष बीत गये तब पता लगा कि मनमें संयोगजन्य सुखकी जो लोलुपता है। यहाँ है वह बीमारी! हमें सुख मिल

जाय—बस, इस इच्छामें ही सब बाधाएँ हैं। यही अनर्थका मूल है, यही जहर है।

श्रोता—संयोगजन्य सुखकी लालसा कैसे छूटे ?

स्वामीजी—इसके छूटनेका बड़ा सरल उपाय है। परन्तु इसको छोड़ना है—इतनी इच्छा आपके घरकी, स्वयंकी होनी चाहिये; क्योंकि इसके बिना कोई उपाय काम नहीं देगा। इसको हम छोड़ना चाहते हैं— इतने आप तैयार हो जाओ तो ऐसा उपाय मेरे पास है, जिससे बहुत जल्दी काम बन जाय ! मैंने जो पुस्तकोंमें पढ़ा है, सन्तोंसे सुना है, वह बात कहता हूँ। भाई-बहनोंके लिये, पढ़े-लिखे और अनपढ़ आदमियोंके लिये, छोटे-बड़ोंके लिये, सबके लिये सीधा सरल उपाय है कि दूसरोंको सुख कैसे पहुँचे ? दूसरोंको आराम कैसे मिले ? दूसरोंका भला कैसे हो ?—यह लालसा लग जाय तो अपने सुखकी लालसा छूट जायगी। करके देख लो, नहीं तो फिर मेरेसे पूछो कि यह तो हुआ नहीं ! युक्तिसंगत न दीखे तो कह दो कि यह युक्ति-संगत नहीं दीखता !

श्रोता—इसमें प्रारब्धकी बाधा है कि नहीं ?

स्वामीजी—इसमें प्रारब्धकी कोई बाधा नहीं है। इसमें प्रारब्ध मानना तो केवल बहानेबाजी है। प्रारब्ध ऐसा ही है, समय ऐसा ही आ गया, ईश्वरने कृपा नहीं की, अच्छे गुरु नहीं मिले, अच्छे महात्मा नहीं मिले, कोई बतानेवाला नहीं मिला, हमारा भाग्य ऐसा ही है—यह सब बहानेबाजी हैं, केवल परमात्मतत्त्वसे वञ्चित रहनेका उपाय है।

ऐसा भी कभी हो सकता है कि ईश्वर अपनी प्राप्तिमें बाधा दे दे ? अथवा हमारा किया हुआ कर्म हमें बाधा दे दे ? या हमारी बनायी हुई वासना हमें बाधा दे दे ? कर्म हमने स्वयं किये हैं, वासनाएँ हमने स्वयं बनायी हैं। जो चीज हमने पैदा की है, उसको हम मिटा सकते हैं। गुरु कोई नहीं मिला तो गुरुकी जरूरत ही नहीं है। कोई महात्मा नहीं मिला तो महात्माकी जरूरत ही नहीं है। भगवान्‌ने जब अपनी प्राप्तिके लिये मनुष्य-शरीर दिया है तो अपनी प्राप्तिकी सामग्री कम दी है क्या ? अगर गुरुकी जरूरत होगी तो भगवान्‌को स्वयं गुरु बनकर आना पड़ेगा ! वे जगद्‌गुरु हैं—'**कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।**' अच्छे महात्मा संसारमें क्यों रहते हैं ? तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त, परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुष संसारमें जीते हैं, तो क्यों जीते हैं ? संसारमें आकर उन्हें जो काम करना था, वह काम तो उन्होंने पूरा कर लिया; अतः उनको उसी वक्त मर जाना चाहिये था ! परन्तु वे अब जीते हैं तो केवल हमारे लिये जीते हैं। उनपर हमारा पूरा हक लगता है। जैसे बालक दुःख पा रहा है तो माँ जीती क्यों है ? माँ तो बालकके लिये ही है, नहीं तो मर जाना चाहिये माँको ! जरूरत नहीं है उसकी ! ऐसे ही वे महात्मा पुरुष संसारमें जीते हैं, तो केवल जीवोंके कल्याणके लिये जीते हैं। इसीलिये महात्मा हमें नहीं मिलेंगे तो वे कहाँ जायँगे ? उनको मिलना पड़ेगा, झख मारकर आना पड़ेगा; अगर हम सच्चे हृदयसे परमात्माको चाहते हैं, तो गुरुकी जरूरत होनेपर गुरु अपने-आप आ जायगा। भगवान् गुरुको भेज देंगे। ऐसी कई घटनाएँ हुई हैं। यह एकदम सच्ची बात है। इसलिये प्रारब्ध और कर्म कुछ भी बाधक नहीं हैं। परमात्मप्राप्तिकी एक प्रबल इच्छा हो जाय तो अनन्त जन्मोंके पाप भस्म हो जायँगे।

★

भगवत्प्राप्ति क्रियासाध्य नहीं

एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि जिसको मुक्ति, कल्याण अथवा भगवत्प्राप्ति कहते हैं, वह स्वतःसिद्ध है, क्रियाके द्वारा सिद्ध होनेवाली चीज नहीं है। यह बहुत विलक्षण बात है! आप कृपा करके इस बातकी तरफ ध्यान दें। संसारकी जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब प्रकृतिका कार्य होनेसे उनमें हरदम परिवर्तन होता रहता है। क्रियाशील होनेसे उन वस्तुओंकी प्राप्ति भी कर्मोंके द्वारा ही होती है। अतः संसारकी वस्तुएँ क्रियासाध्य हैं। परन्तु परमात्मतत्त्व सदा ज्यों-का-त्यों रहता है, उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। अतः परमात्मतत्त्व क्रियासाध्य नहीं है। सिद्धान्तकी एक बहुत बढ़िया और सूक्ष्म बात यह है कि परमात्मतत्त्व स्वतःसिद्ध है। वह क्रियाओंके द्वारा प्रापणीय नहीं है। यह बात विशेष ध्यान देनेकी है। आपका ध्यान आकृष्ट करनेके लिये कहता हूँ कि यह बात मेरेको बहुत वर्षोंके बाद सन्तोंसे मिली है। यह बात सर्वशास्त्रसम्मत भी है। अतः केवल इस बातकी तरफ ही आप ध्यान दें तो बहुत ही लाभकी बात है। अब इसका खुलासा कहता हूँ, आप ध्यान दें।

हम यह मानते हैं कि परमात्मा सब समयमें हैं, सब जगह हैं, सभीमें हैं और सबके हैं। अब इन चारों बातोंपर विचार करें। (१) परमात्मा सब समयमें हैं, तो इस समय हैं कि नहीं? अगर इस समय नहीं हैं, तो परमात्मा सब समयमें हैं—यह कहना नहीं बनेगा। (२) परमात्मा सब जगह हैं तो यहाँ हैं कि नहीं? अगर यहाँ नहीं हैं, तो परमात्मा सब जगह हैं—यह कहना नहीं बनेगा। (३) परमात्मा सभीमें हैं। वे

जड-चेतन, स्थावर-जंगम आदि सभीमें हैं। सजीवके दो भेद हैं—स्थावर और जंगम। वृक्ष आदि स्थावर हैं और मनुष्य, पशु-पक्षी आदि जंगम हैं। जड-चेतनमें, स्थावर-जंगममें परमात्मा हैं। नीचे-से-नीचे समझे जानेवाले प्राणीमें तथा दुष्ट-से-दुष्ट आचरणवाले मनुष्यमें भी परमात्मा हैं। सन्त-महात्माओंमें भी परमात्मा हैं। शुद्ध-से-शुद्ध वस्तुमें तथा अपवित्र-से-अपवित्र वस्तुमें भी परमात्मा हैं। नरकोंमें भी परमात्मा परिपूर्ण हैं। जब वे सबमें हैं तो हमारेमें हैं कि नहीं ? अगर वे हमारेमें नहीं हैं, तो परमात्मा सबमें हैं—यह कहना नहीं बनेगा। (४) परमात्मा सबके हैं। यह नहीं कि वे साधुओंके हैं, गृहस्थोंके नहीं; भाइयोंके हैं, बहनोंके नहीं; ब्राह्मणोंके हैं, अन्त्यजोंके नहीं। ऐसा आप नहीं कह सकते कि परमात्मा किसी व्यक्तिविशेषके हैं। परमात्मा दुष्ट-से-दुष्ट पुरुषके भी वैसे ही हैं, जैसे महात्मा-से-महात्मा पुरुषके हैं। परमात्मापर महात्मा-से-महात्माका जैसा हक लगता है, वैसा ही हक दुष्ट-से-दुष्टका भी लगता है। उनमें कभी किञ्चिन्मात्र भी पक्षपात नहीं है। उनमें पक्षपात हो ही नहीं सकता, असम्भव बात है। अतः परमात्मा सबके हैं, तो हमारे भी हैं। अगर वे हमारे नहीं हैं, तो परमात्मा सबके हैं—यह कहना नहीं बनेगा। अब सिद्ध क्या हुआ ? कि परमात्मा सब समयमें हैं तो अभी भी हैं, सब जगह हैं तो यहाँ भी हैं, सभीमें हैं तो मेरेमें भी हैं और सबके हैं तो मेरे भी हैं।

उपर्युक्त चार बातोंकी तरफ ध्यान देनेसे एक बात सिद्ध होती है कि परमात्मा हमें नित्यप्राप्त हैं। हम भगवान्‌का भजन करते हैं, नाम-जप करते हैं, कीर्तन करते हैं, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थ पढ़ते हैं, सन्तोंकी वाणी पढ़ते हैं, तो यह भाव रहता है कि परमात्मा फिर मिलेंगे। अभी हम परमात्माकी प्राप्तिके योग्य नहीं हुए हैं, इसलिये परमात्मा अभी नहीं मिलेंगे, भविष्यमें मिलेंगे। यह धारणा साधकोंके लिये महान् बाधक है। मनमें तो वे समझते हैं कि हम भगवान्‌की तरफ चल रहे हैं, पर वास्तवमें भगवान्‌से अलग होनेका उद्योग कर रहे हैं। यह चिन्तन कर रहे हैं अभी भगवान् नहीं मिलेंगे। जब मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा, तब भगवान् मिलेंगे। अभी कैसे मिल जायँगे ? मैं योग्य नहीं हूँ,मैं पात्र भी नहीं हूँ। साधकके लिये यह धारणा महान् पतन करनेवाली है। विचार करना चाहिये कि क्या हमारी अपात्रतासे भगवान् अटक सकते हैं ? क्या भगवान् इतने कमजोर हैं कि हम अयोग्य हैं, इसलिये वे हमें नहीं मिल सकते ? अगर ऐसी बात है तो फिर उनको दयालु कहना ही निरर्थक है। जब वे योग्यको मिलते हैं, अयोग्यको नहीं मिलते, तो फिर दयाका क्या लेना-देना ?

भगवान्‌ने अपनेको प्राणिमात्रका सुहृद् कहा है—'**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' (गीता ५।२९), तो क्या दुष्ट-से-दुष्ट मनुष्यके भी भगवान् सुहृद् नहीं हैं ? मैं कैसा ही क्यों न हूँ, क्या भगवान् मेरे सुहृद् नहीं हैं ? अगर उनमें पक्षपात है तो वे भगवान् कैसे ? मैं दुष्ट हूँ, ज्यादा अयोग्य हूँ तो भगवान्‌की कृपा मेरेपर अधिक होगी—

'पापी हुलस विशेषी अबकी बेर उबारियो।'

(करुणासागर)

पापीके मनमें अधिक आनन्द होता है; क्योंकि भगवान् पतित-पावन हैं। इसलिये उनपर पतितोंका ज्यादा हक लगता है। माँ भी अपने अयोग्य लड़केका ज्यादा खयाल रखती है, तो क्या भगवान् मेरा खयाल नहीं रखेंगे ? वे मेरेपर कृपा न करें—यह हो ही नहीं सकता। इसलिये भजन-ध्यान करते हुए, नाम-जप करते हुए इस बातपर विशेष ध्यान दें कि जिह्वामें, नाममें, श्वासमें, मनमें, बुद्धिमें, अन्तःकरणमें, शरीरमें सब जगह परमात्मा परिपूर्ण हैं, पूरे-के-पूरे विद्यमान हैं। वे सबमें लबालब भरे हुए हैं। अब यह शंका होती है कि जब वे परमात्मा सबमें हैं, सब जगह मौजूद हैं तो फिर नाम-जप क्यों करते हैं ? नाम-जपके बिना हमारेको संतोष नहीं होता; इसलिये करते हैं। सनकादि ऋषियोंकी बात आपने सुनी होगी। वे चारों भाई एक समान ही ब्रह्मज्ञानी हैं। उनमें एक तो भगवान्‌की कथा सुनाता है और बाकी तीन कथा सुनते हैं। इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी होते हुए भी वे भगवान्‌की कथा कहते रहते हैं; क्योंकि भगवान्‌की कथा ही ऐसी है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १।७।१०)

ज्ञानके द्वारा जिनकी चित्-जड-ग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌की निष्काम भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि वे प्राणियोंको अपनी ओर खींच लेते हैं।

भगवान् हैं ही ऐसे कि उनके भजनके बिना साधक रह नहीं सकता। उतना रस, उतना आनन्द कहीं है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। इसलिये हम उनका भजन करते हैं। भजनके द्वारा हम भगवान्‌को खरीद लेंगे—ऐसा भाव मत रखना। भगवान् तो अपनी कृपासे ही पधारते हैं। भजन-ध्यान, नाम-जप, कीर्तन आदिमें हमारा अनन्य प्रेम होना चाहिये। कारण कि हमने संसारमें आसक्ति, प्रियता करके बड़ी भारी गलती की है। अब इस गलतीके संशोधनके लिये हमें भजन-ध्यान, नाम-जप आदि करना है।

परमात्मा भजन-ध्यान आदिके अधीन हैं—ऐसी बात नहीं है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।'

(गीता ११। ५३)

अर्थात् मैं वेदाध्ययन, तप, दान, यज्ञ आदिके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। उपनिषदोंमें आता है—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।'

(कठ० १। २। २३)

अर्थात् प्रवचनसे, पण्डिताईसे, बहुत शास्त्रोंका बोध होनेसे परमात्मा नहीं मिलते। इसका आप उलटा अर्थ मत लेना कि सत्सङ्ग सुनना, पढ़ना, शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करना खराब है। इनको तो करते ही रहना है। कहनेका भाव यह है कि इनके द्वारा भगवान्‌के ऊपर कब्जा नहीं कर सकते, अधिकार नहीं जमा सकते। जैसे, किसी वस्तुकी जो कीमत होती है, वह कीमत पूरी देनेपर उस वस्तुपर हमारा अधिकार हो जाता है। परन्तु भगवत्प्राप्तिके विषयमें ऐसी बात नहीं है। साधन करके भगवान्‌पर अधिकार नहीं किया जा सकता। उनपर अधिकार करनेका भी एक तरीका है। वह तरीका यह है कि सर्वथा भगवान्‌का ही हो जाय। तन, मन, वचन, विद्या, बुद्धि, अधिकार आदि किसीका भी किंचिन्मात्र भी सहारा न लेकर केवल भगवान्‌का ही हो जाय, तो भगवान् उसके वशमें हो जायँगे। परंतु हमने साधना की है, हमने जप किया है, हमने कीर्तन किया है, हमने अभ्यास किया है, हम गीताको जानते हैं, हम अनेक शास्त्रोंको जानते हैं—ऐसी हेकड़ीसे भगवान् वशमें हो जायँ, यह असम्भव बात है। भगवान् वशमें होते हैं तो कृपा-परवश ही होते हैं। उनकी कृपा उसीपर होती है, जो सर्वथा उनका हो जाता है। वे सस्ते हैं तो इतने सस्ते हैं कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—इतना सुनते ही भगवान् कहते हैं कि 'हाँ बेटा! मैं तेरा हूँ।' आप कितनी ही विद्या, बुद्धि, योग्यता आदि लगा लो, उससे आपका ज्ञान बढ़ सकता है, आपमें पवित्रता आ सकती है, पर उससे भगवान् वशमें हो जायँ—यह बात नहीं होगी।

भगवान् हमारे हैं और हम भगवान्‌के हैं—यह सच्ची बात है। इसलिये भजन-ध्यान करते हुए इस बातको विशेषतासे याद रखें कि भगवान् अभी हैं, यहाँ हैं, मेरेमें हैं और मेरे हैं। अब निराशाकी जगह ही कहाँ है? जैसे बालक मानता है कि माँ मेरी है, तो वह माँपर अपना हक लगाता है, पूरा अधिकार जमाता है। माँ इधर-उधर देखती है तो उसकी ठोड़ी पकड़कर कहता है कि तू मेरी तरफ ही देख, बस। अतः माँको उसकी तरफ देखना पड़ता है। ऐसे ही हम भगवान्‌से कह दें कि हम तुम्हारे हैं, तुम हमारे हो, इसलिये मेरी तरफ ही देखो। सन्तोंने कहा है—***'न मैं देखूँ और को, न तोहि देखन देउँ।'*** मैं औरको देखूँगा नहीं और तेरेको भी दूसरी तरफ देखने दूँगा नहीं। ऐसा होनेपर भगवान् वशमें हो जायँगे। हम जो दूसरी तरफ देखते हैं, यही बाधा है।

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस ३। १०। ४)

इसलिये कोई कैसा ही हो, उसको भगवान्‌की तरफसे निराश नहीं होना चाहिये। आपका विश्वास न बैठे तो जप करो, कीर्तन करो, सब कुछ करो और विश्वास बैठे तो भी सब कुछ करो; क्योंकि यह तो करनेकी चीज है! परन्तु जप-ध्यान आदिके द्वारा भगवान्‌पर कोई कब्जा कर ले—यह बात नहीं है। हम अपने-आपको देकर ही उनपर कब्जा कर सकते हैं। हमने अपने-आपको संसारको दे रखा है, इसीलिये दुःख पा रहे हैं। अगर अपने-आपको भगवान्‌को दे दें, तो निहाल हो जायँ।

बिलकुल शास्त्र-सम्मत बात है कि क्रियाओंके द्वारा भगवान्‌पर कब्जा नहीं कर सकते। कितनी ही योग्यता प्राप्त कर लें, उनपर अधिकार नहीं जमा सकते। कारण कि इनके द्वारा अधिकार उसीपर होता है, जो इनसे कमजोर होता है। सौ रुपयोंके द्वारा हम उसी चीजपर कब्जा कर सकते हैं, जो सौ रुपयोंसे कम कीमतकी है। कोई चीज सौ रुपयोंकी है तो हम एक सौ पचीस रुपये देकर उस चीजपर कब्जा कर सकते हैं। ऐसे ही भगवान्‌को किसी योग्यतासे खरीदेंगे, तो उस योग्यतासे कमजोर भगवान् ही मिलेंगे। अतः ये विरक्त हैं, ये त्यागी हैं, ये विद्वान् हैं, ये बड़े हैं, इनको भगवान् मिलेंगे हमारेको नहीं—यह धारणा बिलकुल गलत है। अगर आप भगवान्‌के लिये व्याकुल हो जाओ, उनके बिना रह न सको, तो बड़े-बड़े पण्डित और बड़े-बड़े विरक्त तो रोते रहेंगे, पहले आपको भगवान् मिलेंगे। आप भगवान्‌के बिना रह नहीं सकोगे तो भगवान् भी आपके बिना रह नहीं सकेंगे। इसलिये परमात्माकी तरफसे किसीको कभी किञ्चिन्मात्र भी निराश नहीं होना चाहिये और संसारकी आशा नहीं रखनी चाहिये। कारण कि संसार आशामात्रसे नहीं मिलेगा। अगर मिल भी जायगा तो टिकेगा नहीं। अगर यह टिक भी जायगा तो आपका शरीर नहीं टिकेगा। संसार अभावस्वरूप है, इसलिये उसका सदा अभाव ही रहेगा। परमात्मा भाव-स्वरूप हैं, इसलिये उनका सदा भाव ही रहेगा, अभाव कभी होगा ही नहीं—यह सिद्धान्त है।

★

परमात्मप्राप्तिकी सुगमता

मैं जो बात कहता हूँ, उसको आप कृपा करके मान लें। मैं ऐसी बात कहता हूँ, जो आपकी जानी हुई है। कोई नयी बात नहीं बताता हूँ। कोई भाई-बहन क्या ऐसा जानता है कि मैं पहले नहीं था और पीछे नहीं रहूँगा? यह प्रश्न स्वयंके विषयमें है, शरीरके विषयमें नहीं। शरीर तो पैदा होनेसे पहले नहीं था और मरनेके बाद नहीं रहेगा। परन्तु मैं पहले नहीं था और पीछे नहीं रहूँगा तथा अब भी मैं नहीं हूँ—ऐसे अपने अभावका अनुभव भी किसीको होता है क्या? अपने अभावका अनुभव किसीको कभी नहीं होता। मैं क्या था, क्या रहूँगा, क्या हूँ—ऐसा विचार तो हो सकता है, पर 'मैं हूँ कि नहीं हूँ?'—ऐसा विचार, सन्देह कभी नहीं होता।

'मैं हूँ'—यह जो अपनी सत्ता, अपना होनापन है, उसका कभी किञ्चिन्मात्र भी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २।१६) जिसका कभी अभाव नहीं होता, उसमें कभी कमी नहीं आती। जिसमें कोई कमी नहीं आती, उसके लिये क्या चाहिये? कुछ नहीं चाहिये। कारण कि चाहना तो कमीमें ही होती है। जिसका कभी अभाव नहीं होता, जिसमें कभी कमी नहीं आती, जो नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है, उसके लिये करना क्या बाकी रहा? जानना क्या बाकी रहा? पाना क्या बाकी रहा? परन्तु उस 'है' में स्थित न होकर, जो प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, उस शरीरमें आप स्थित हो जाते हैं, तब करना भी बाकी रहता है, जानना भी बाकी रहता है और पाना भी बाकी रहता है।

इस बातको भी आप जानते हैं कि शरीर प्रतिक्षण बदलता है, कभी भी एक रूप नहीं रहता। अगर शरीर एक रूप रहता, तो बचपनका शरीर अभी भी रहना चाहिये था। परन्तु बचपनका शरीर अभी नहीं है—यह सबका अनुभव है। बचपनका शरीर किसी एक दिनमें, एक महीनेमें अथवा एक वर्षमें नहीं बदला है, प्रत्युत प्रत्येक वर्षमें, प्रत्येक महीनेमें, प्रत्येक दिनमें, प्रत्येक घण्टेमें, प्रत्येक मिनटमें और प्रत्येक सेकेण्डमें बदलता है। अतः केवल बदलनेके पुञ्जका नाम शरीर है। शरीरादि पदार्थ स्थूल बुद्धिसे दीखते हैं। सूक्ष्म बुद्धिसे देखें तो केवल परिवर्तन-ही-परिवर्तन दीखेगा, वस्तु नहीं दीखेगी। जैसे पंखा चलता है तो गोल चक्कर दीखता है, पर वास्तवमें गोल चक्कर नहीं है। पंखेकी ताड़ी अलग-अलग है, पर तेजीसे घूमनेके कारण गोल चक्कर दीखता है। ऐसे ही तेजीसे बदलनेके कारण पदार्थ, शरीर दीखता है। यह शरीर है—ऐसा कहनेमें तो देरी लगती है, पर इसके बदलनेमें देरी नहीं लगती। यह तो हरदम बदलता रहता है। परन्तु स्वयं (स्वरूप) नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। नित्य-निरन्तर रहनेवाले स्वयंको जब प्रतिक्षण बदलनेवाले शरीरके साथ मिला लेते हैं, तब कामना, इच्छा, वासना, तृष्णा आदि पैदा होती हैं। इसीसे सब अनर्थ होते हैं।

अगर हम नित्य-निरन्तर रहनेवाले नहीं होते, तो पहले किये हुए कर्मोंका फल अभी और अब किये हुए कर्मोंका फल आगे किसको भोगना पड़ेगा? हम पहले थे, तभी तो पहले किये हुए कर्मोंका फल अब भोग रहे हैं; और हम आगे रहेंगे, तभी तो अभी किये हुए कर्मोंका फल आगे भोगना पड़ेगा। पहले हमने जो कर्म किये थे, वे परिवर्तनशील शरीरके साथ मिलकर ही किये थे और अब उनका फल भी परिवर्तनशील शरीरके साथ मिलकर ही भोगते हैं। अभी शरीरके साथ मिलकर जो कर्म करते हैं, उनका फल भी शरीरके साथ मिलकर ही भोगेंगे। अगर हम शरीरके साथ न मिलें तो न पहलेका कर्म स्पर्श करेगा, न अभीका कर्म स्पर्श करेगा और न भविष्यका कर्म स्पर्श करेगा। कारण कि 'है' में कभी अभाव नहीं होता और अभाव हुए बिना उसमें दूसरी वस्तुका स्पर्श नहीं होता, प्रवेश नहीं होता। वह 'है' सदा ज्यों-का-त्यों रहता है, इसलिये उसका अनुभव करनेवाले महापुरुषोंने कहा है—

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

'है' तो सबका द्रष्टा है, वह दीखे कैसे? आँखसे सबको देखते हैं, पर आँख नहीं दीखती, परन्तु जिससे देखते हैं, वही आँख है। इसी प्रकार हम 'है' को अर्थात् अपने होनेपनको देख नहीं सकते; परन्तु जिससे यह सब दीख रहा है, वही 'है' है। इस बातको आप मान लें। आप कह सकते हैं कि हमें उसका अनुभव नहीं हो रहा है। अतः उसके अनुभवके लिये आप जिज्ञासा करें, व्याकुल हो जायँ।

आप कृपा करके ऐसा मत मानें कि वह 'है' दूर है, वह आयेगा अथवा हम उसके पास जायँगे, तब उससे मिलन होगा। नहीं तो भजन करते हुए आप तो समझते हैं कि हम भगवान्‌के पास जा रहे हैं, पर वास्तवमें भगवान्‌से अपनेको दूर कर रहे हैं, भगवान्‌से अपने सम्बन्धके अभावको दृढ़ कर रहे हैं। भगवान् तो फिर मिलेंगे, अभी तो नहीं मिलेंगे—ऐसी धारणा रखते हुए राम-राम जपते हैं, कृपा करके इस धारणाको छोड़ दो। हमें अनुभव नहीं हो रहा है—यह बात मानो तो कोई हर्ज नहीं, पर यह बात दृढ़तासे मान लो कि भगवान् सब जगह मौजूद हैं। 'मैं हूँ'—इसमें भी भगवान् हैं, मनमें भी हैं,

बुद्धिमें भी है, वाणीमें भी है। राम-राम-राम—इस आवाजमें भी भगवान् हैं। देखनेमें, सुननेमें, समझनेमें जो कुछ भी आ रहा है, वह सब भगवान् ही हैं। भगवान् कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११।१३।२४)

मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है—यह सिद्धान्त आपलोग तत्त्वविचारके द्वारा समझ लीजिये।

अतः 'भगवान् हैं'—इतना आप मान लो, भले ही उनका अनुभव अभी न हो। सन्त-महात्मा कहते हैं, वेद-पुराण कहते हैं, बड़े-बड़े जानकार कहते हैं कि 'वह है'। बस 'वह है'—ऐसा मानते हुए लगनपूर्वक राम-राम जप करो तो बहुत जल्दी अनुभव हो जायगा। उसका अनुभव कैसे हो? क्या करूँ? कैसे करूँ? किससे पूछूँ?—यह जिज्ञासा जोरदार हो जाय। राम-नामको छोड़ो मत; क्योंकि इसके सिवाय संसारमें और कोई सहारा नहीं है। मरनेपर भी कहते हैं—'राम-नाम सत्य है'। शरीर-संसार असत् है। अतः राम-राम करते रहो। 'र' में 'आ' में, 'म' में, जीभमें, मनमें, स्फुरणामें, चिन्तनमें, बुद्धिमें, मैंपनमें—सब जगह वह परमात्मा परिपूर्ण है। जो सबमें रमण करता है और जिसमें सभी रहते हैं, उसका नाम 'राम' है।

राम-नामका जप बहुत ही महान् और सुगम साधन है। कल लकवेकी बीमारीवाले एक भाई मिले थे, वे और कुछ नहीं बोल सकते थे, केवल राम-राम बोल सकते थे। उनसे भी पहले एक भाई कलकत्तामें मिले थे, वे भी कुछ नहीं बोल सकते थे, केवल 'राम'—इतना कह सकते थे। राम-नाम लोकमें, परलोकमें सब जगह शान्ति देनेवाला, सबको सुख देनेवाला है।

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू॥

(मानस १।२०।१)

आप यह बात चाहे श्रद्धासे मान लो, चाहे विश्वाससे मान लो, चाहे युक्तिसे मान लो, चाहे अनुभवसे मान लो, चाहे सोच-समझकर मान लो कि परमात्मा सब जगह हैं; जहाँ आप हो, वहीं परमात्मा हैं। आपकी एकता परमात्माके साथ है, बदलनेवाले शरीरके साथ नहीं। शास्त्र भी डंकेकी चोटसे कहता है कि परमात्मा सब जगह हैं, सबमें हैं, सबके अपने हैं, सबके सुहृद् हैं। आप इसको दृढ़तासे मान लो। साधकसे बड़ी भूल यही होती है कि वह 'भजन' करेंगे, फिर परमात्मा मिलेंगे—ऐसा मान लेता है। यह भविष्यकी आशा ही महान् बाधक है। शास्त्रोंसे, सन्तोंके कहनेसे, किसीके कहनेसे यह मान लो कि परमात्मा तो मिले हुए ही हैं, केवल हमें दीखते नहीं। वर्तमानमें परमात्माका अभाव स्वीकार मत करो। अपनेको उनका अनुभव नहीं हो रहा है; अतः अनुभव कैसे हो—इसके लिये रात-दिन राम-राम रटना शुरू कर दो। फिर देखो तमाशा! कितनी जल्दी अनुभव होता है।

जो जिव चाहे मुक्ति को, तो सुमिरीजै राम।
हरिया गैले चालतां, जैसे आवै गाम॥

——★——

मनुष्यका वास्तविक सम्बन्ध

संसारसे हमारा सम्बन्ध निरन्तर नहीं रहता—इस वास्तविकताको हम सब जानते हैं। परंतु इस जानकारीपर हम कायम नहीं रहते—इतनी गलती है। अगर इस जानकारीपर हम कायम रह जायँ अर्थात् संसारसे अपना सम्बन्ध न मानें तो आज, अभी बेड़ा पार है ! हम संसारसे जो अपना सम्बन्ध मानते हैं, उसको छोड़े बिना हम रह ही नहीं सकते। संसारके सम्बन्धके बिना तो हम रह सकते हैं, पर वियोगके बिना हम रह ही नहीं सकते, जी ही नहीं सकते। इस बातपर आप खूब ध्यान देकर विचार करें। संसारकी जिन वस्तुओं, व्यक्तियों, पदार्थोंके साथ हम अपना सम्बन्ध मानते हैं, उनके सम्बन्धसे हमें उतना सुख नहीं मिलता, जितना उनके वियोगसे सुख मिलता है। जैसे हमारेको गाढ़ नींद आती है तो उस समय हमारा किसी व्यक्ति या वस्तुसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता। गाढ़ नींदमें हम सम्पूर्ण वस्तु-व्यक्तियोंको भूल जाते हैं। उनको भूलनेसे जितना सुख मिलता है, उतना सुख उनको याद रखनेसे, उनके साथ रहनेसे नहीं मिलता—यह हम सबका अनुभव है।

अब ध्यान देकर इस बातको आप ठीक तरहसे समझें। नींद लेनेकी प्रवृत्ति हमारी जन्मसे ही है। आप याद करें तो बचपनसे लेकर आज-दिनतक हम नींद लेते ही रहे हैं अर्थात् संसारको भूलते ही रहे हैं। नींद लिये बिना अर्थात् संसारसे विमुख हुए बिना हम आठ पहर भी जी नहीं सकते। अगर कई दिनतक नींद न आये तो मनुष्य पागल हो जाय। जितनी खुराक नींदसे हमें मिलती है, उतनी खुराक पदार्थों, व्यक्तियोंके सम्बन्धसे नहीं मिलती। पदार्थों, व्यक्तियोंका सम्बन्ध रखनेसे तो थकावट होती है। नींदसे वह थकावट मिटती है और

शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरणमें नयी शक्ति, स्फूर्ति, ताजगी आती है। पदार्थों और व्यक्तियोंके सम्बन्धसे ताजगी नष्ट होती है।

बचपनमें खिलौने जितने अच्छे लगते थे, उतने पदार्थ और व्यक्ति अच्छे नहीं लगते थे। खेल जितना अच्छा लगता था, उतना घर अच्छा नहीं लगता था। अब युवावस्थामें रुपये अच्छे लगने लग गये। अब खिलौने अच्छे नहीं लगते, पर नींद अब भी वैसी-की-वैसी प्रिय लगती है। जब खिलौने प्रिय लगते थे, तब भी नींद अच्छी लगती थी और नींदसे सुख मिलता था। अब रुपये अच्छे लगने लगे तो भी नींद अच्छी लगती है। परन्तु रुपयोंको भुला करके जो नींद आती है, वह नींद रुपयोंसे भी ज्यादा अच्छी लगती है। जब विवाह हुआ तब स्त्री, पुत्र, परिवार बड़ा अच्छा लगने लगा, जिनके लिये रुपये भी खर्च कर देते हैं। परन्तु जब गहरी नींद आने लगती है, तब स्त्रीको, पुत्रको, मित्रोंको, कुटुम्बियोंको भी छोड़ देते हैं। जिनके मोहमें फँसकर झूठ, कपट, बेईमानी, चोरी, ठगी, धोखेबाजी आदि कर लेते हैं, उन सबका भी गाढ़ नींदमें त्याग कर देते हैं। जब वृद्धावस्था आती है, तब परिवारमें, पोता-पोती, दोहता-दोहतीमें मोह बढ़ जाता है; परन्तु गाढ़ नींद आनेपर इनको भी छोड़ देते हैं। अगर वैराग्य हो जाता है तो धन, मकान, स्त्री, पुत्र, परिवार आदिको छोड़कर साधु हो जाते हैं, विरक्त-त्यागी बन जाते हैं, तब भी नींद लेते हैं। नींदमें साधुपनेका भी वियोग होता है, विरक्तत्यागीपनेका भी वियोग होता है। इस प्रकार प्रत्येक परिस्थितिमें नींद अच्छी लगती है। नींद नहीं आये तो अच्छा है—ऐसा भाव कभी नहीं होता, प्रत्युत नींद आ जाय तो अच्छा है—यह भाव रहता है। नींद लेनेकी पूरी तैयारी करते हैं। अच्छा बिछौना बिछाते हैं। खूब बढ़िया तकिया लगाते हैं, गद्दा लगाते हैं, पंखा लगाते हैं, जिससे आरामसे नींद आ जाय। हल्ला-गुल्ला न हो, ऐसी व्यवस्था करते हैं। जब नींद आने लगती है, तब तरह-तरहके भोग, मनोहर दृश्य, सिनेमा आदि नहीं सुहाते। तब यही कहते हैं कि भाई, अब तो हमें नींद लेने दो; अब हम सोयेंगे। इससे सिद्ध हुआ कि नींद सब वस्तु-व्यक्तियोंसे बढ़कर प्यारी है। नींदके लिये सबका त्याग किया जा सकता है, पर नींदका त्याग नहीं किया जा सकता। परंतु कहीं भगवान्के भजनमें प्रेम हो जाय, भजनमें रस आने लग जाय, तो फिर नींद भी अच्छी नहीं लगती। संतोंका पद आता है—***'बैरिन हो गई निंदरिया'*** अर्थात् यह नींद तो हमारी वैरिन हो गयी; नींद नहीं आये तो अच्छा है। इससे सिद्ध होता है कि जिसके लिये प्यारी-सी-प्यारी नींदका भी त्याग हो जाता है, उस परमात्माके साथ ही हमारा वास्तविक सम्बन्ध है। संसारके साथ हमारा सम्बन्ध बनावटी है, भूलसे माना हुआ है। इसलिये संसारके संयोगके बिना तो हम रह सकते हैं, पर वियोगके बिना हम रह ही नहीं सकते। संसारके वियोगसे सुख होता है—यह हम सबका अनुभव है।

कितनी विलक्षण बात है कि संसारके वियोगका अनुभव जीवमात्रको है! मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब नींद लेते हैं। तात्पर्य है कि संसारसे वियोग हरेक प्राणी चाहता है। संसारके संयोगमें तो कमीसे भी काम चल सकता है; जैसे—किसीको भोजन अच्छा मिलता है, किसीको भोजन अच्छा नहीं मिलता; किसीको मकान मिलता है, किसीको मकान नहीं मिलता, इसमें सबकी विषमता है। दो मनुष्योंकी भी आराम-सामग्री एक समान नहीं होती। परन्तु नींद सबकी एक समान होती है। यहाँ एक बात सोचनेकी है कि नींदकी तरफ हमारी जो प्रवृत्ति होती है, उसमें हमें न कुछ उद्योग करना पड़ता है, न कुछ चिन्तन करना पड़ता है, न कुछ काम करना पड़ता है, न कुछ याद करना पड़ता है। तात्पर्य है कि कुछ न करनेसे नींद आ जाती है। नींदके लिये ऐसा नहीं है कि इतना उद्योग करो, तब नींद आयेगी!

नींदमें सबसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। परन्तु संसारके साथ माने हुए सम्बन्धको पकड़े हुए ही नींद लेते हैं, इसलिये जगनेपर फिर उसीमें (संसारमें) लग जाते हैं। फिर भी संसारके साथ माना हुआ सम्बन्ध स्थिर नहीं रहता। अवस्था बदल जाती है, परिस्थिति बदल जाती है, घटना बदल जाती है, व्यक्ति बदल जाते हैं, देश बदल जाता है, काल बदल जाता है—ये सब तो बदल जाते हैं, पर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद कभी नहीं बदलता। कारण कि संसारके साथ सम्बन्ध तो हमारा माना हुआ है, अवास्तविक है, पर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद माना हुआ नहीं है, प्रत्युत वास्तविक है। इसलिये संसारसे निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है। बाल्कपनसे सम्बन्ध-विच्छेद हुआ, जवानीसे हुआ, वृद्धावस्थासे हुआ, नीरोगतासे हुआ, रोगीपनसे हुआ, धनवत्तासे हुआ, निर्धनतासे हुआ और कई व्यक्तियोंसे संयोग होकर वियोग हुआ। इस प्रकार संसारका सम्बन्ध तो छिन्न-भिन्न होता ही रहता है; क्योंकि यह सम्बन्ध नकली है, माना हुआ है। हमने बड़ी भारी भूल यह की कि माने हुए सम्बन्धको तो सच्चा मान लिया, पर संसारसे जो सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है, उसकी तरफ खयाल ही नहीं किया कि यह भी तो हमारा अनुभव है। संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे जितना सुख मिलता है, उतना पदार्थोंसे नहीं मिलता। अगर पदार्थोंसे सुख मिलता, तो नींद छूट जाती।

जब भगवान्के भजनमें रस आने लगता है, तब नींद,

भूख और प्यास भी छूट जाती है, इनकी भी परवाह नहीं रहती। नींद, भूख और प्यास शरीर-निर्वाहकी खास चीजें हैं, पर भजनमें इनको भी भूल जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारा असली सम्बन्ध भगवान्‌के साथ है। असली सम्बन्ध जाग्रत् हो जाय तो फिर नकली सम्बन्धको कौन रखना चाहेगा ? शरीर-संसारके साथ माने हुए नकली सम्बन्धोंको हम छोड़ दें तो आज ही निहाल हो जायँ ! सम्बन्धको छोड़कर जाना कहीं नहीं है, न जंगलमें जाना है, न साधु बनना है। केवल यह मान लेना है कि यह संसार वास्तवमें हमारा नहीं है। हमारे तो केवल भगवान् ही हैं। व्यक्तियोंसे हमारा जो सम्बन्ध दीखता है, वह उनकी सेवा करनेके लिये है। वस्तुओंसे हमारा जो सम्बन्ध दीखता है, वह उनको दूसरोंकी सेवामें लगानेके लिये है। न तो हमारे लिये कोई व्यक्ति है और न हमारे लिये कोई वस्तु है। जो हमारे कहलाते हैं, उन माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, भौजाई आदिकी सेवा कर दो, बस। वस्तुएँ तो उनकी सेवाके लिये हैं और वे सेवनीय हैं। शरीर उनका ही है, इसलिये शरीरको उनकी सेवामें लगा दो। हमें उनसे कुछ लेना ही नहीं है। उनकी वस्तुओंको उन्हींकी सेवामें लगा देना है। इसीको कर्मयोग कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २। ४७)

'कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं। अतः तू कर्मफलका हेतु भी मत बन और तेरी अकर्मण्यतामें भी आसक्ति न हो।'

खूब तत्परतासे, अच्छी तरहसे कर्म करना है; क्योंकि मनुष्य-शरीर सेवा करनेके लिये ही मिला है, भोग भोगनेके लिये नहीं। हमें जो विवेक मिला है, वह शरीरके साथ माने हुए सम्बन्धका विच्छेद करनेके लिये मिला है, शरीरके साथ चिपकनेके लिये नहीं।

संसारके साथ हमारा सम्बन्ध केवल सेवा करनेके लिये ही है। सेवाके सिवाय संसारसे और कोई मतलब नहीं। माता-पिताकी सेवा करनी है, स्त्री-पुत्रका पालन-पोषण करना है। सेवा करनी है। उनके साथ सम्बन्ध माननेसे वास्तविक शान्ति नहीं मिलती। शान्ति तो उनकी सेवा करके सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे मिलती है। संसारके साथ माना हुआ ऐसा कोई भी सम्बन्ध नहीं है, जिसके लिये मनुष्य नींद, भूख और प्यास भी छोड़ दे। परंतु भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़नेपर नींद अच्छी नहीं लगती, खाना-पीना अच्छा नहीं लगता, यहाँतक कि शरीरका मोह भी नहीं रहता; क्योंकि भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध असली है।

नारदजीके पूर्वजन्मके वर्णनमें आता है कि जब उनकी माताकी मृत्यु हो गयी, तब वे जंगलकी ओर चल दिये। उनको यह खयाल ही नहीं आया कि जंगलमें क्या खायेंगे-पीयेंगे ? कहाँ रहेंगे ? वहाँ एक वृक्षके नीचे बैठे। उनका मन भगवान्‌में लग गया, समाधि लग गयी। उनको अपने हृदयमें भगवान्‌का रूप दीखने लगा। कुछ देर बाद सहसा समाधि खुल गयी तो वे बड़े व्याकुल हुए। तब आकाशवाणी हुई कि इस शरीरके छूटनेके बाद जब ब्रह्माजीके पुत्ररूपसे तुम्हारा जन्म होगा, तब मेरे दर्शन होंगे। ऐसी आकाशवाणी सुनकर नारदजी प्रतीक्षा करने लगे कि कब यह शरीर छूटेगा, कब मैं मरूँगा ! दुनिया चाहती है कि हम सदा जीते ही रहें और वे चाहते हैं कि मैं मर जाऊँ !

संसारमें अपने शरीरके जीनेकी जितनी इच्छा होती है, उतनी कुटुम्बके जीनेकी इच्छा नहीं होती। गाय अपने बछड़ेपर बहुत स्नेह रखती है। वह बछड़ेको छोड़कर जंगलमें चरनेको भी नहीं जाती। परन्तु जब उसको लाठी मारने लगते हैं, तब वह जंगलमें चली जाती है। जंगलमें घास चरते-चरते जब उसको बछड़ा याद आ जाता है, तब वह 'हुम्'—ऐसे हुंकार करती है और उसके मुँहसे घास गिर जाता है। शामके समय जब वह वापस लौटती है, तब वह सब गायोंसे आगे भागती है और हुंकार करती हुई बछड़ेके पास जाती है, उसको प्यार करती है, दूध पिलाती है। इस प्रकार उसका बछड़ेपर भी प्रेम है और घासपर भी प्रेम है, पर अपने शरीरपर सबसे ज्यादा प्रेम है। जब शरीरपर लाठी पड़ती है, तब वह बछड़ेको, घासको, सबको छोड़ देती है। जब शरीरपर आफत आती है, तब किसीकी परवाह नहीं करती। तात्पर्य है कि शरीरमें उसका एक नम्बरका प्रेम है, बछड़ेमें दो नम्बरका प्रेम है और घासमें तीन नम्बरका प्रेम है। अतः शरीरसे मोह तो पशुका भी होता है। परन्तु मनुष्य शरीरसे मोह छोड़कर भगवान्‌से प्रेम कर सकता है।

शरीर तो हरदम बदलता है; अतः यह तो हरदम रहता नहीं, पर भगवान् हरदम रहते हैं। हम तो भगवान्‌के ही हैं—यह जब पहचान हो जाती है, तब मनुष्य शरीरकी आसक्ति-कामना छोड़कर भगवान्‌में ही लग जाता है। अतः भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध असली है और शरीर-संसारके साथ हमारा सम्बन्ध नकली है—इस वास्तविकताको जानकर सब प्रकारसे भगवान्‌में ही लग जाना चाहिये।

★

सुख-लोलुपताको मिटानेका उपाय

अगर आप संयोगजन्य (सांसारिक) सुखकी आसक्ति मिटा दें तो अभी परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जायगा। संयोग-जन्य सुखमें जो आकर्षण है—यही खास बीमारी है। विचार करनेसे यह बात ठीक समझमें आती है कि यह संयोगजन्य सुखकी लालसा ही परमात्मप्राप्तिमें खास बाधा है। संयोगजन्य अर्थात् पदार्थों, व्यक्तियों, परिस्थितियोंके सम्बन्धसे पैदा होनेवाला सुख नित्य-निरन्तर कैसे रह सकता है? कारण कि जो चीज पैदा होती है, वह नष्ट भी होती है। अगर संयोगसे मिलनेवाला सुख असह्य हो जाय, इस कृत्रिम सुखका त्याग कर दिया जाय, तो 'सहज सुख' है, वह प्रकट हो जायगा; क्योंकि यह स्वयं सहज सुख-स्वरूप है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस ७। ११७। १)

जबतक संयोगजन्य सुखका त्याग नहीं करोगे। तबतक 'हमारा सम्बन्ध संसारसे नहीं है, हमारा सम्बन्ध परमात्मासे है'—यह बात सुननेपर भी काममें नहीं आयेगी। ऐसे ही 'संसार नाशवान् है, क्षणभङ्गुर है'—ऐसी बातें भले ही सुन लो, याद कर लो, पर अनुभव नहीं होगा। संसार असत्य है—ऐसा कहनेसे, सीख लेनेसे, याद करनेसे संसार छूटता नहीं। तात्पर्य है कि जबतक सांसारिक संयोगजन्य सुखकी आसक्ति रहेगी तबतक संसारकी असत्यताका अनुभव नहीं होगा। कारण कि आप संयोगजन्य सुखको सत्य मानकर ही उसको लेनेकी इच्छा करते हो, फिर संसारकी असत्यताका अनुभव कैसे कर सकते हो?

इस बातका प्रत्यक्ष पता है कि संयोगजन्य सुख लेनेसे दुःख भोगना ही पड़ता है। ऐसा कोई प्राणी हो ही नहीं सकता, जो संयोगजन्य सुख तो भोगता रहे, पर उसको दुःख न भोगना पड़े। वह दुःखसे बच जाय—यह असम्भव है। फिर भी मनुष्य संयोगजन्य सुख क्यों नहीं छोड़ता? वर्तमानमें संयोगसे जो सुख होता है, उसका जितना आकर्षण है, प्रियता है, विश्वास है, भरोसा है, उतना उसके परिणामपर विचार नहीं है। सुखभोगके परिणाममें क्या होगा—इसका वह विचार ही नहीं करता। उसके विचारमें आता भी है तो वह आँख मीच लेता है, उसको जानना नहीं चाहता। इसलिये भगवान्ने राजस सुखका वर्णन करते हुए बताया कि संयोगजन्य सुख आरम्भमें अमृतकी तरह और परिणाममें विषकी तरह होता है—'**विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव**....' (गीता १८। ३८)। इसके परिणामका विचार मनुष्य ही कर सकता है, पशु-पक्षी आदिमें इसका विचार करनेकी शक्ति ही नहीं है। देवतालोग तो सुख भोगनेके उद्देश्यसे ही स्वर्गमें रहते हैं, वे इसके परिणामको क्या जानेंगे? मनुष्य-शरीर केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है; अतः इसमें परिणामका विचार करनेकी योग्यता है। इसलिये मनुष्यको हरदम संयोगजन्य सुखके परिणामकी तरफ दृष्टि रखनी चाहिये। हरदम सोचना चाहिये कि इसका परिणाम क्या होगा? सांसारिक सुखका परिणाम दुःख होगा ही। भगवान्ने गीतामें कहा है—'**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।**' (गीता ५। २२) अर्थात् जितने भी सम्बन्धजन्य सुख हैं, वे सब-के-सब दुःखोंके कारण हैं। संसारमें जितने भी दुःख होते हैं—नरक होते हैं, कैद होती है, अपयश होता है, अपमान होता है, रोग होते हैं, शोक होता है, चिन्ता होती है, व्याकुलता होती है, घबराहट होती है, बेचैनी होती है—ये सब-के-सब संयोगजन्य सुखकी लोलुपताका ही नतीजा है।

सुख इतना बाधक नहीं है, जितनी सुखकी लोलुपता बाधक है। सुख मिल जाय, सुख ले लूँ—यह इच्छा जितनी बाधक है, उतना सुख बाधक नहीं है। कारण कि सुख बेचारा आता है और चला जाता है, पर उसकी लोलुपता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। सुख नहीं है तो भी लोलुपता रहती है। सुख भोगते समय भी लोलुपता रहती है और सुख चला जाय तो भी लोलुपता रहती है। सुखमें जो खिंचाव रहता है, प्रियता रहती है, यही वास्तवमें बीमारी है। इसको मिटानेका सरल और श्रेष्ठ उपाय यह है कि दूसरोंको सुख कैसे हो—इसकी लगन लग जाय। आप कृपा करके आज ही इस बातको धारण कर लें कि दूसरोंको सुख कैसे पहुँचे, दूसरोंका भला कैसे हो, दूसरोंका हित कैसे हो, दूसरोंको आराम कैसे मिले। हरेक काममें यह विचार करें कि दूसरोंको सुख कैसे हो। अगर भीतरसे यह लगन लग जायगी कि दूसरोंको सुख कैसे हो तो अपने सुखकी इच्छा छूट जायगी।

अपनी सुख-लोलुपताको मिटानेके लिये दूसरोंको सुख पहुँचाना है, गायोंको सुख पहुँचाना है, गरीबोंको सुख पहुँचाना है, सबको सुख पहुँचाना है। अपनी सुख-लोलुपताको मिटानेके उद्देश्यसे अगर सेवा की जाय तो मेरा विश्वास है कि जरूर लाभ होगा, करके देख लो। आजकल सेवा करनेवालोंमें भी सच्ची लगनसे सेवा करनेवाले मनुष्य बहुत कम देखनेमें आते हैं। वे सेवा तो करते हैं, पर उसमें दिखावटीपन रहता है। भीतरसे यह लगन नहीं होती कि दूसरेको सुख कैसे पहुँचे, दूसरेका हित कैसे हो।

गीता कहती है कि जो प्राणिमात्रके हितमें रत रहते हैं, वे भगवान्‌को प्राप्त होते हैं—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥**' (१२।४)।

अब दूसरेकी सेवा किस रीतिसे करें, यह बताता हूँ। दूसरेकी सेवा करते समय अपने मनकी प्रधानता बिलकुल न रखें, अपना आग्रह बिल्कुल न रखें। केवल दूसरेके मनकी तरफ देखें कि वे कैसे राजी हों। किस तरहसे उनको सुख पहुँचे। हमें तो कई वर्षोंके बाद यह बात पकड़में आयी कि 'मेरे मनकी बात पूरी हो'—यही कामना है। इसलिये अपनी मनमानी छोड़कर दूसरेकी मनमानी करें। जो न्याययुक्त हो, शास्त्र-सम्मत हो, अपनी सामर्थ्यके अनुरूप हो—ऐसी दूसरेके मनकी बात पूरी करें, तो आपमें अपनी कामनाको मिटानेकी सामर्थ्य आ जायगी।

जहाँ रहो, जिस क्षेत्रमें रहो केवल यह लगन रखो कि दूसरेको सुख कैसे मिले, दूसरेका हित कैसे हो। इस बातका खयाल रखो कि किसीको भी मेरे द्वारा कष्ट न पहुँचे, सुख पहुँचे। जैसे गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—***'कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।'*** (मानस ७।१३० ख); कामीको जैसे स्त्री प्यारी लगती है और लोभीको जैसे पैसा प्यारा लगता है, ऐसे ही आपको दूसरोंका हित प्यारा लगने लगे। फिर देखो तमाशा, चट काम होगा। वर्षोंतक विचार और चिन्तन करनेपर जो बात मिली है, वह बात बतायी है आपको!

इच्छाके त्याग और कर्तव्य-पालनसे लाभ

श्रोता—आपको आध्यात्मिक लाभ कैसे हुआ?

स्वामीजी—मुझे तो सत्संगसे लाभ हुआ है। मैं साधनको इतना महत्त्व नहीं देता, जितना सत्संगको देता हूँ। दूसरोंके लिये भी मैं समझता हूँ कि अगर वे मन लगाकर, गहरे उतरकर सत्संगकी बातें समझें तो उनको लाभ बहुत हो सकता है। एक विशेष बात कह देता हूँ कि अगर आप सत्संगको महत्त्व दें और उसको गहरे उतरकर समझें तो मेरेको जितने वर्ष लगे, उतने वर्ष आपको नहीं लगेंगे! बहुत जल्दी आपकी उन्नति होगी—ऐसा मेरेको स्पष्ट दीखता है, मेरेको सन्देह नहीं है इस बातपर। इस विषयमें मैं आपको अयोग्य, अनधिकारी नहीं मानता हूँ। आपमें जो कमी है, उस कमीको दूर करनेकी सामर्थ्य आपमें पूरी है। मेरी धारणासे आपमें केवल इस विषयकी उत्कण्ठाकी कमी है। वह उत्कण्ठा जाग्रत् हो जाय तो आप पापी-से-पापी हों, मूर्ख-से-मूर्ख हों और आपके पास थोड़ा-से-थोड़ा समय हो तो भी आपका उद्धार हो सकता है। उत्कण्ठा जाग्रत् होगी संसारकी लगनका त्याग करनेसे।

कबीर मनुआँ एक है, भावे जहाँ लगाय।
भावे हरि की भगति कर, भावे विषय कमाय॥

सांसारिक संग्रह और भोगोंमें जो लगन लगी है, उसको मिटा दो तो परमात्मप्राप्तिकी सच्ची लगन लग जायगी। इतना रुपया हो गया; इतना और हो जाय; इतना सुख भोग लें, ऐश-आराम कर लें; मान मिल जाय, बड़ाई मिल जाय, नीरोगता मिल जाय, समाजमें मेरा ऊँचा स्थान हो जाय, हम ऐसे बन जायँ—ये जितनी इच्छाएँ हैं, इनका त्याग कर दो तो आपको सच्ची लगन लग जायगी। जितनी लगन लगनी चाहिये, उतनी नहीं लग रही है तो इसका कारण यह है कि जितना त्याग होना चाहिये, उतना नहीं हो रहा है। त्याग क्या है? गीताने इच्छाके त्यागको ही 'त्याग' कहा है। इच्छा क्या है? ऐसा तो होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—यह इच्छा है।

श्रोता—इच्छा किये बिना शरीरका, कुटुम्बका पालन-पोषण कैसे होगा?

स्वामीजी—पालन-पोषण इच्छासे नहीं होता है। इस बातको समझनेकी कृपा करो। कृपानाथ! पैसोंका पैदा होना, पदार्थोंका प्राप्त होना इच्छापर बिलकुल निर्भर नहीं है। पदार्थोंकी प्राप्ति होती है पूर्वके कर्मोंसे और अभीके कर्मों-(उद्योगों-)से। कारण कि कर्मोंका और पदार्थोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इच्छाका और पदार्थोंका बिलकुल ही सम्बन्ध नहीं है। आपमेंसे कोई भी कह सकता है कि मैंने धनकी इच्छा नहीं की, इसलिये मैं निर्धन रहा। अगर इच्छा कर लेता तो धनवान् हो जाता। वास्तवमें यह बात है ही नहीं। इस बातको आप समझनेकी कृपा करो। इच्छाके साथ पदार्थोंका बिलकुल सम्बन्ध नहीं है। पदार्थोंका सम्बन्ध कर्मोंके साथ है; क्योंकि क्रिया और पदार्थ—ये दोनों ही प्राकृत चीजें हैं, दोनों एक ही तत्त्व हैं। अतः पदार्थोंका सम्बन्ध पूर्वके अथवा वर्तमानके कर्मोंके साथ है। पूर्वके कर्मोंको प्रारब्ध कहते हैं और वर्तमानके कर्मोंको पुरुषार्थ कहते हैं।

इच्छाके साथ पदार्थोंका सम्बन्ध बिलकुल नहीं है। अगर मैं इच्छा करूँ कि मेरा पालन-पोषण हो जाय, तो क्या इस प्रकार इच्छा करनेसे मेरा पालन-पोषण हो जायगा। आपलोगोंसे कहें कि घण्टाभर आप सब मिल करके यह

इच्छा करो कि इसके कुटुम्बका पालन-पोषण हो जाय और इसको एक कौड़ी भी मत दो, तो क्या इसके कुटुम्बका पालन-पोषण हो जायगा ? कदापि नहीं। इच्छाके साथ केवल परमात्माका सम्बन्ध है। अगर परमात्माकी प्राप्तिकी तीव्र इच्छा, उत्कट अभिलाषा हो जाय तो उसकी प्राप्ति हो जायगी ! इसका कारण क्या है ? पदार्थोंका हमारेसे अलगाव है। पदार्थ हमारेसे दूर हैं; देशसे दूर हैं, कालसे दूर हैं, व्यक्तिसे दूर हैं; इसलिये उनकी प्राप्ति कर्मोंसे होगी। परन्तु परमात्मा देशसे दूर नहीं हैं, कालसे दूर नहीं हैं, वस्तुसे दूर नहीं हैं, व्यक्तिसे दूर नहीं हैं। जहाँ हम 'मैं' कहते हैं, वहाँ भी परमात्मा परिपूर्ण हैं; इसलिये उनकी प्राप्ति इच्छामात्रसे हो जायगी। परमात्माकी तरह रुपये सब जगह मौजूद नहीं हैं। उनको तो पैदा करना पड़ता है। परंतु परमात्माको पैदा नहीं करना पड़ता, उनको कहींसे लाना नहीं पड़ता।

आप कह सकते हो कि बड़ा परिवार है, रोटी-कपड़ेकी भी तंगी है, काम चलता नहीं फिर इच्छा किये बिना कैसे रहें ? तो इच्छा करनेसे वस्तुएँ थोड़े ही मिलेंगी। वस्तुएँ तो काम करनेसे मिलेंगी। इसलिये वस्तुओंकी इच्छा न करके काम करनेकी इच्छा करो। निकम्मे, निरर्थक मत रहो। न्याययुक्त काम करो। झूठ, कपट, बेईमानी, ठगी, धोखेबाजी मत करो। अन्तःकरणमें रुपयोंको महत्त्व मत दो। यह जो लोभ है, संग्रह करनेकी इच्छा है, इसका त्याग कर दो, तो आपका नया प्रारब्ध बन जायगा अर्थात् जो आपके भाग्यमें लिखा नहीं है, वह आपके पास आ जायगा ! परन्तु आपके लोभका त्याग हो जाना चाहिये और इतना दृढ़ निश्चय होना चाहिये कि चाहे मर जायँ पर पाप नहीं करेंगे, अन्याय नहीं करेंगे, झूठ-कपट-जालसाजी नहीं करेंगे। अगर मर भी जायँ तो क्या फर्क पड़ेगा ? मरना तो एक बार है ही; फिर पापकी पोटली साथमें लेकर क्यों मरो ? पापकी पोटली साथमें लिये बिना मर जाओ तो हर्ज क्या है ? अगर पाप किये बिना पैसा न मिलता हो तो भूखे भले ही मर जाओगे, पर नरकोंमें नहीं जाओगे। अगर पाप करके जीओगे तो नरकोंमें जाओगे ही। नरकोंसे बच नहीं सकोगे, ब्रह्माजी भी बचा नहीं सकेंगे। अतः इच्छा कर्तव्यकी करो, निकम्मे मत रहो। इस विषयमें मैं चार बातें कहा करता हूँ—

(१) अपना सब समय अच्छे-से-अच्छे, ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगाओ। निकम्मे मत रहो, निरर्थक समय बरबाद मत करो। ताश-चौपड़, खेल-तमाशा, बीड़ी-सिगरेट पीना, सिनेमा-नाटक देखना—ये सब फालतू काम हैं, तमोगुणी काम हैं, जिनसे अधोगतिमें (नीच योनियोंमें और नरकोंमें) जाना पड़ेगा—'**अधो गच्छन्ति तामसाः**' (गीता १४। १८) ऐसे व्यर्थ कामोंमें समय मत लगाओ। जिससे शरीरका निर्वाह हो, स्वास्थ्य ठीक रहे, दुनियाका हित हो, परमात्माकी प्राप्ति हो, ऐसे काममें लगे रहो।

(२) जिस किसी कामको करो, उसको सुचारुरूपसे करो, जिससे आपके मनमें सन्तोष हो और दूसरे भी कहें कि बहुत अच्छा काम करता है। लिखना हो, पढ़ना हो, मुनीमी करना हो, बिक्री करना हो, खरीदारी करना हो आदि-आदि संसारका जो कुछ काम करना हो, उसको बड़े सुचारुरूपसे, साङ्गोपाङ्गरूपसे करो। माता-बहनें रसोई बनायें तो अच्छी तरहसे बनायें। सामग्री भले ही कैसी हो, पर चीज बढ़िया बनायें। भोजन ठीक तरहसे परोसें। सबको कैसे संतोष हो, सबको किस तरहसे सुख पहुँचे—ऐसा भाव रखकर सब काम करें।

(३) इस बातका ध्यान रखो कि आपके पास दूसरेका हक न आ जाय। आपका हक दूसरेके पास भले ही चला जाय, पर दूसरेका हक आपके पास बिलकुल न आये।

(४) अपने व्यक्तिगत जीवनके लिये कम-से-कम खर्चा करो। शरीर-निर्वाहके लिये, खाने-पीनेके लिये, ओढ़ने-पहननेके लिये कम खर्चा करो, साधारणरीतिसे काम चलाओ। ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी मत करो। अगर ऐसे काम करोगे तो आपको घाटा नहीं रहेगा, करके देख लो।

आजकल लोग कहते हैं कि क्या करें, निठल्ले बैठे हैं, काम नहीं है। यह बिलकुल फालतू बात है। निठल्ले क्यों बैठे हो ? नाम-जप करो, कीर्तन करो, गीता-रामायण आदिका पाठ करो। घरका काम करो—घरमें झाड़ू लगाओ, बरतन धोओ, जूते साफ करो, नालियाँ साफ करो, शौचालय साफ करो। इस तरह कुछ-न-कुछ करते रहो। करना चाहो तो बहुत काम निकल सकता है। काम करनेसे अन्तःकरण निर्मल होगा। ताश-चौपड़ खेलने आदि फालतू कामोंके लिये समय ही नहीं मिलना चाहिये। छुट्टीका दिन हो तो यों ही निकम्मे फिरेंगे, फालतू घूमने चले जायँगे, सिनेमा देखेंगे, खेल करेंगे, पानी उछालेंगे, धक्का देंगे—इस तरह फालतू समय बरबाद करेंगे। यह मानव-शरीरका समय ऐसे बरबाद करनेके लिये नहीं है। तेलीके घरमें तेल होता है तो वह लोटा भरके पैर धोनेके लिये थोड़े ही है !

भगवान्‌ने सबसे श्रेष्ठ मानव-शरीर दिया है। ऐसे मानव-शरीरका समय श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कामोंमें लगानेके लिये है। उस समयको बरबाद करना बड़ा भारी नुकसान है। रुपया फिर पैदा किया जा सकता है। जवान बेटा मर जाय तो जो छोटे

बालक हैं, वे जवान हो सकते हैं। गृहस्थोंके नये पैदा हो सकते हैं। परन्तु उम्र (समय) किसी भी रीतिसे पैदा नहीं होती, वह तो नष्ट-ही-नष्ट होती है। पैसोंका तो आप बहुत खयाल रखते हो, एक-एक पैसा सोच-सोचकर समझ-समझकर खर्च करते हो; और हवाई जहाजको देखनेमें चार-पाँच मिनट खर्च कर देते हो ! क्या फायदा निकला ? बताओ ? स्वास्थ्य सुधरा कि समाज सुधरा ? रुपये मिले कि भगवान् मिले ? क्या मिला ? आपको समयरूपी जो असली धन मिला हुआ है, उसको बरबाद क्यों करते हो ? अगर आप सावधान रहो, समयको बरबाद न करके उसे अच्छे-से-अच्छे, उत्तम-से-उत्तम काममें लगाओ तो लोकमें और परलोकमें—दोनों जगह आपकी उन्नति होगी, इसमें सन्देह नहीं है। आप किसी भी क्षेत्रमें जाओ, आपकी उन्नति होगी। नास्तिक-से-नास्तिक मनुष्य भी अगर सोच-समझकर समयका सदुपयोग करे, तो उसकी धारणाके अनुसार, क्रियाके अनुसार उसकी जरूर उन्नति होगी, उसको जरूर सफलता मिलेगी, फिर समयका सदुपयोग करनेसे आस्तिक मनुष्यको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है ?

दूसरेका हक मत आने दो। स्त्रीका जो हक है, वह स्त्रीको दे दो। उसका जितना अधिकार है, उसे छीनो मत। उसके प्रति अपना जो कर्तव्य है, उसका पूरा पालन करो। बेटेका जितना हक है, वह उसको दे दो। बेटेके प्रति बापका जो कर्तव्य है, उसका पूरा पालन करो। माता-पिताने आपको पैदा किया है, आपका पालन-पोषण किया है, आपको शिक्षित बनाया है; अतः उनके प्रति अपने कर्तव्यका पूरा पालन करो। आपपर उनका जो अधिकार है, उसकी रक्षा करो। उनका हक उनको दे दो। कपूत मत कहलाओ। ऐसे ही पड़ोसी है, व्यापारी है, जिनसे व्यवहार, व्यापार आदि करते हैं, उनका हक मत आने दो। उनके साथ स्नेहका, ईमानदारीका व्यवहार करो। इस तरह हर जगह सावधान रहो। इतना करनेपर भी पूरा ऋण अदा नहीं होगा; परन्तु नया ऋण नहीं चढ़ेगा।

सावधानी रखनेपर ही आपको पता लगेगा कि हम कहाँ-कहाँ दूसरेका हक मार रहे हैं। अभी तो दूसरेके हकका पता ही नहीं लगता। अभी आपसे पूछा जाय तो आप कहेंगे कि हम तो किसीका हक लेते ही नहीं। हम तो ठीक करते हैं। हम पाप करते ही नहीं। मेरेको ऐसे व्यक्ति भी मिले हैं, जो कहते हैं कि 'भजन करनेकी क्या जरूरत है, हम पाप तो करते ही नहीं। भगवान्‌का भजन वह करे, जो पाप करता है।' उनको होश ही नहीं है, पता ही नहीं है कि पाप क्या होता है, अन्याय क्या होता है। इसलिये हर समय सावधानी रखें कि अभी जो बातें सुनी हैं, इनका अब हम उम्रभर पालन करेंगे। अब कभी गफलत, भूल नहीं करेंगे।

अभी मैंने आपको बताया कि पैसोंका, पदार्थोंका सम्बन्ध इच्छा अथवा चिन्तनके साथ नहीं है, उनका सम्बन्ध कर्मोंके साथ है—इस बातको समझनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। आप कहें कि ऐसे काम कैसे चलेगा ? हम गृहस्थी हैं, कई काम-धन्धे हैं, इसलिये चिन्तन करना ही पड़ता है, तो 'काम कैसे करें, सेवा कैसे करें'—इस तरहका चिन्तन (विचार) करना दोष नहीं है। मुझे रुपये मिल जायँ, वस्तुएँ मिल जायँ—इस तरहका चिन्तन करना दोष है।

श्रोता—चिन्ता भी हो जाती है महाराजजी !

स्वामीजी—चिन्ता हो जाती है तो चिन्ता छोड़ो और काम करो। चिन्ता करनेसे बुद्धि नष्ट होगी—'**बुद्धिः शोकेन नश्यति**।' शान्तिपूर्वक विचार करो तो बुद्धि विकसित होगी। चिन्ता करना और चीज है, विचार करना और चीज है। 'काम किस रीतिसे करें, किस रीतिसे कुटुम्बका पालन करें, किस तरहसे व्यापार करें; किस तरहसे सबके साथ व्यवहार करें'—ऐसा शान्त-चित्तसे विचार करो। विचार करनेसे बुद्धि विकसित होगी। परन्तु चिन्ता करोगे कि 'हाय, क्या करें ! इतने कुटुम्बका पालन कैसे करें। पैदा है नहीं, क्या करें !' तो बुद्धि और नष्ट हो जायगी, काम करनेमें भी बाधा लगेगी, फायदा कोई नहीं होगा। इसलिये चिन्ता न करके विचार करो, उद्योग करो, पुरुषार्थ करो, निकम्मे मत रहो। सत्संग करो, पुस्तकें पढ़ो और स्वयं विचार करो अथवा आपसमें विचार-विनिमय करो।

★

परमात्मप्राप्तिमें भोग और संग्रहकी इच्छा ही महान् बाधक

भोग और संग्रह—इन दो चीजोंमें जबतक मनुष्यकी आसक्ति रहती है, तबतक 'मुझे परमात्माकी प्राप्ति करनी है'—ऐसा निश्चय भी नहीं होता, फिर परमात्माको प्राप्त करना तो दूर रहा—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

(गीता २।४४)

जबतक भोग और संग्रहमें आसक्ति है अर्थात् सांसारिक

पदार्थोंसे सुख लेते रहे और रुपयोंका संग्रह बना रहे—यह भावना भीतर बनी हुई है तबतक यत्न करते हुए भी परमात्मतत्त्वको नहीं जान सकते—'**यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥**' (गीता १५। ११)। कारण कि हृदयमें परमात्माकी जगह भोग और रुपये आकर बैठ गये।

संसारका सुख भोगना है और सुख-भोगके लिये संग्रहकी आवश्यकता है—यह भोग और संग्रहकी रुचि बहुत घातक है। धनका उपयोग तो खर्च करनेमें है, चाहे अपने लिये खर्च करें, चाहे दूसरोंके लिये। परन्तु धनका संग्रह किसी कामका नहीं है। पदार्थों और रुपयोंके संग्रहकी बात तो दूर रही, 'बहुत पढ़ाई कर लूँ, बहुत शास्त्र पढ़ लूँ'—यह (अनेक विद्याओंके संग्रहकी) भावना भी जबतक रहेगी, तबतक परमात्मतत्त्वको नहीं जान सकते, जाननेके लिये निश्चय भी नहीं कर सकते। जो अपना कल्याण चाहता है, उसकी बुद्धि एक ही होती है—'**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका**' (गीता २। ४१)। मुझे केवल परमात्मतत्त्वको ही प्राप्त करना है—यह निश्चय होना ही बुद्धिका एक होना है। परन्तु जो भोग और संग्रहमें आसक्त हैं, उनकी बुद्धियाँ अनन्त होती हैं और एक-एक बुद्धिकी शाखाएँ भी अनन्त होती हैं—'**बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥**' (गीता २। ४१)। जैसे, पुत्र मिले—यह एक बुद्धि हुई और पुत्र कैसे मिले, किसी दवाईका सेवन करें या किसी मन्त्रका अनुष्ठान करें अथवा किसी संतका आशीर्वाद लें आदि-आदि उस बुद्धिकी कई शाखाएँ हुई। इसी तरह धन मिल जाय—यह एक बुद्धि हुई और धन कैसे मिले, व्यापार करें या नौकरी करें, चोरी करें या डाका डालें, ठगाई करें या किसीको धोखा दें आदि-आदि उस बुद्धिकी कई शाखाएँ हुई। ऐसे ही आदरकी इच्छा होगी तो आदर कैसे हो सकता है, व्याख्यान देनेसे होगा या सांसारिक सेवा करनेसे होगा आदि तरह-तरहकी शाखाएँ पैदा होंगी। यह आपको थोड़ा-सा नमूना बताया है। इस तरह भोग और संग्रहमें आसक्त मनुष्य परमात्मप्राप्तिका निश्चय भी नहीं कर सकते। कभी सत्संग करनेसे उनके मनमें परमात्मप्राप्तिकी इच्छा हो भी जाय, तो भी वे उसपर टिक नहीं सकेंगे।

गीतामें भगवान्‌ने परमात्मप्राप्तिके एक निश्चयकी बड़ी विलक्षण महिमा गायी है। '**अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।**' (गीता ९। ३०)—जो साङ्गोपाङ्ग दुराचारी है, जिसके दुराचरणमें कोई कमी नहीं है, झूठ, कपट, बेईमानी, अभक्ष्य-भक्षण, वेश्या-गमन, जुआ, चोरी, व्यभिचार आदि जितने पाप-दुराचर कहे जाते हैं, उन सबको करनेवाला है, ऐसा मनुष्य भी यदि केवल भगवान्‌का ही भजन करनेका एक निश्चय कर ले, तो भगवान् कहते हैं कि उसको साधु ही मानना चाहिये—'**साधुरेव स मन्तव्यः।**' उसको साधु ही माननेकी भगवान् आज्ञा देते हैं! कारण क्या है कि उसने परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय कर लिया है—'**सम्यग्व्यवसितो हि सः।**' उसका एक लक्ष्य बन गया है कि अब चाहे कुछ भी हो जाय, एक भगवान्‌की तरफ ही चलना है।

यहाँ एक शंका पैदा होती है कि जो भोग और संग्रहमें आसक्त हैं, उनका तो परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय नहीं हो सकता; और पापी-से-पापी भी ऐसा निश्चय कर सकता है—इन दोनों बातोंमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है। वास्तवमें विरोध नहीं है; क्योंकि पापीके लिये भगवान्‌ने '**अपि चेत्**' पद दिये हैं। तात्पर्य है कि यद्यपि पापी मनुष्य भगवान्‌का भजन नहीं करते—'***पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥***' (मानस ५। ४४। २), '**न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः**' (गीता ७। १५), तथापि अगर वे भगवान्‌के भजनमें लगना चाहें तो लग सकते हैं। भगवान्‌की तरफसे किसीको कोई मना नहीं है। इसलिये अगर पापी मनुष्य भी भगवान्‌के भजनमें लगनेका पक्का निश्चय कर ले तो उसको साधु मान लेना चाहिये। कारण कि वास्तवमें भगवान्‌का अंश होनेसे जीव शुद्ध, निर्दोष ही है। संसारकी आसक्तिके कारण उसमें दोष आ जाते हैं। अगर वह संसारकी आसक्तिको मिटा दे तो उसका शुद्ध स्वरूप रह जायगा। आजकल पारमार्थिक बातें कहने-सुननेपर भी भगवान्‌की तरफ चलनेका निश्चय नहीं होता—इसका कारण यह है कि हृदयमें रुपयोंका महत्त्व बैठा हुआ है। वास्तवमें रुपये उतना नहीं अटकाते, जितना भोगोंका महत्त्व अटकाता है। भोग उतना नहीं अटकाते, जितना भोगोंका महत्त्व अटकाता है। जबतक हृदयमें पदार्थोंका, मान-बड़ाईका, आदर-सत्कारका, नीरोगताका, शरीरके आरामका महत्त्व बैठा हुआ है, तबतक मनुष्य परमात्मप्राप्तिका निश्चय नहीं कर सकता। चाहे वह कितनी ही बातें बना ले, कितना ही बड़ा पण्डित बन जाय, बाहरसे कैसा ही विरक्त और त्यागी बन जाय, पर मनमें जबतक मान-बड़ाईकी, सुख-आरामकी, कीर्तिकी इच्छा है, तबतक वह पारमार्थिक मार्गमें आगे नहीं बढ़ सकता। कारण कि जहाँ परमात्माकी रुचि होनी चाहिये वहाँ भोग और संग्रहकी रुचि हो गयी। भोग और संग्रहके द्वारा उनका चित्त अपहृत हो गया—'**अपहृतचेतसाम्**' (गीता २। ४४)। उनके चित्तका हरण हो गया! बड़ी भारी चोरी हो गयी उन बेचारोंकी! उनके पासमें जो शक्ति थी, वह भोग और संग्रहमें

लग गयी। परन्तु उनको मिलेगा कुछ नहीं। एक कौड़ी भी नहीं मिलेगी। केवल धोखा होगा, धोखा ! परमात्माकी प्राप्तिसे रीते रह जायँगे ! मान-बड़ाई कितने दिन होगी और होकर भी क्या निहाल करेगी ? भोग कितने दिन भोगेंगे ? संग्रह कितने दिन रहेगा ? यहाँ इकट्ठा किया हुआ धन यहीं रह जायगा और उम्र खत्म हो जायगी !

अगर परमात्माकी प्राप्ति चाहते हो तो भोग और संग्रहको महत्त्व मत दो। आजकल तो रुपयोंकी अपेक्षा उनकी संख्याको अधिक महत्त्व दे रहे हैं कि हम लखपति हो जायँ, करोड़पति हो जायँ, हमारे पास इतना संग्रह हो जाय। पासमें जो रुपये हैं, उनको खर्च नहीं कर सकते कि संख्या कम न हो जाय। अपने लड़कोंको यह शिक्षा देते हैं कि जितना कमाओ, उसीमेंसे खर्च करो, मूलधनको मत छेड़ो। मूलधनको ज्यों-का-त्यों रहने दो, उसको खर्च मत करो। कोई पूँजीमेंसे खर्च करे तो कहेंगे कि 'तुम्हारेमें अक्ल नहीं है, मूल पूँजी खर्च करते हो !' मूलधन आपके क्या काम आयेगा ? उसमें क्या तूली (आग) लगाओगे ? पर उसको खर्च नहीं करेंगे। जो नरकोंमें ले जानेवाली चीज है, वह खर्च कैसे की जाय ! उसको खर्च कर देंगे तो दुर्गति कौन करेगा ! अब ऐसे आदमी परमात्माकी प्राप्ति कैसे कर सकते हैं ?

साधु हो, चाहे गृहस्थ हो, पढ़ा-लिखा हो; चाहे मूर्ख हो; भाई हो, चाहे बहन हो, जबतक संग्रह करनेकी और 'संग्रह बना रहे' इसकी रुचि रहेगी, तबतक वह पारमार्थिक मार्गपर नहीं चल सकता। अगर आपके भीतर संग्रहकी रुचि नहीं है, तो आपके पास चाहे लाखों-करोड़ों रुपये हों, पर वे आपको अटका नहीं सकते। बैंकोंमें बहुत रुपये पड़े हैं, पर वे हमारेको अटकाते नहीं। मकान बहुत हैं, पर वे हमारेको अटकाते नहीं। क्यों नहीं अटकाते कि उनमें हमारी ममता नहीं है, उनकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं है। अगर हमारी इच्छा हो जायगी तो हम फँस जायँगे।

जिन थोड़े-से आदमियोंको हमने अपना मान रखा है, जिस मकानको हमने अपना मान रखा है, उसीसे हम बँधे हुए हैं। जिन मनुष्योंको हमने अपना नहीं माना है, वे मर भी जायँ तो हमारेपर असर नहीं पड़ेगा। जिन रुपयोंको हमने अपना नहीं माना है, वे चाहे कहीं चले जायँ, नष्ट भी हो जायँ तो हमारेपर असर नहीं पड़ेगा। जिन मकानोंको हमने अपना नहीं माना है, वे सब धराशायी भी हो जायँ तो हमारेपर असर नहीं पड़ेगा। अतः ज्यादा संसारसे तो हम मुक्त ही हैं, थोड़े-से आदमियों, थोड़े-से रुपयों, थोड़े-से मकानोंमें हम फँसे हुए हैं। अगर इन थोड़े-से आदमियों आदिकी ममताका त्याग कर दें तो निहाल हो जायँ ! हमारी ज्यादा मुक्ति तो हो चुकी है, थोड़ी-सी मुक्ति बाकी है। बन्धन ज्यादा नहीं है। ज्यादा बन्धन तो छूटा हुआ है। जिनमें आपकी ममता नहीं है, उनसे आप बन्धनरहित हो और जिनमें आप ममता कर लेते हो, उनमें आप बँध जाते हो। परन्तु आपकी चाल यही है कि ज्यादा व्यक्तियोंमें, पदार्थोंमें ममता हो जाय। वक्ता चाहता है कि और कुछ नहीं तो श्रोता ही ज्यादा आ जायँ। ऐसी इच्छा नहीं रखेंगे तो फँसेंगे कैसे ! इसलिये अधिक भोग मिल जाय, अधिक संग्रह हो जाय—इस तरह इच्छा करते रहते हैं। इच्छा करनेसे पदार्थ मिलेगा नहीं। अगर मिल भी जाय तो टिकेगा नहीं और टिक भी जाय तो आप नहीं टिकोगे। परन्तु बन्धन तो हो ही जायगा। मरनेके बाद भी छूट सकोगे नहीं। अब नफा-नुकसान आप सोच लो।

मैं-मैं बुरी बलाय है, सको तो निकसो भाग।
कबतक निबहे रामजी, रुई लपेटी आग॥

रुईमें लपेटी आग कितनी देर ठहरेगी ? जिन पदार्थोंमें आप मैं-मेरापन करते हो वे कितने दिन ठहरेंगे ? वे तो ठहरेंगे नहीं, पर आपका पतन कर देंगे—इसमें संदेह नहीं। इसलिये हरेक भाई-बहनके लिये बहुत आवश्यक है कि वह संसारके भोग और संग्रहकी इच्छाको भीतरसे त्याग दें।

भीतरसे पदार्थोंकी इच्छाका त्याग करनेपर पदार्थ प्रारब्धके अनुसार अपने-आप आते हैं। इच्छा रखनेपर रुपये-पैसे, भोग-आराम मेहनतसे, बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होते हैं। इच्छा करनेसे उनकी प्राप्तिमें बाधा लगती है और परमार्थमें बाधा तो लगती ही है। इच्छा रहनेपर तो रुपयोंके मिलनेसे हम अपनी सफलता मानते हैं, पर यदि इच्छा न रहे तो रुपये हमारे पास आकर सफल होंगे, हमारेमें रुपयोंकी गुलामी नहीं रहेगी।

आप परमात्मतत्त्वमें अपनी नित्य-निरन्तर स्थितिका अनुभव करना चाहते हो तो उत्पत्ति-विनाशवाले वस्तुओंका आकर्षण मिटाओ। नाशवान् वस्तुओंका आकर्षण मिटते ही अविनाशीकी तरफ स्वतः आकर्षण हो जायगा और उसकी प्राप्ति हो जायगी। अगर उत्पन्न और नष्ट होनेवालोंमें फँसे रहोगे तो सदा साथमें रहता हुआ भी अनुत्पन्न तत्त्व नहीं मिलेगा। उससे वञ्चित रह जाओगे और कुछ नहीं होगा। न धन मिलेगा, न धन रहेगा; न भोग मिलेंगे, न भोग रहेंगे और न आप रहोगे। केवल बन्धन-ही-बन्धन रहेगा।

मैं रुपयोंका विरोध नहीं करता, उनकी गुलामीका विरोध करता हूँ। न्याययुक्त कमाते हुए लाखों-करोड़ों रुपये आ जायँ तो प्रसन्नता रहे, और लाखों-करोड़ों रुपये चले जायँ तो भी वही प्रसन्नता रहे। तब तो आप 'धनपति' (धनके मालिक)

है। परन्तु रुपये आ जायँ तो प्रसन्न हो जाओ और रुपये चले जायँ तो रोने लग जाओ, तब आप 'धनदास' (धनके गुलाम) हो; धनपति नहीं हो, नहीं हो, नहीं हो। रुपयोंके जानेसे रोने लग जाते हो कि हमारा मालिक (रुपया) चला गया, अब उसके बिना कैसे रहा जाय ! अरे, रुपये चले गये तो क्या हुआ, जिसने रुपये कमाये थे वह तो मौजूद ही है। परन्तु यह बात अक्लमें नहीं आती; क्योंकि धनको आपने अपना इष्टदेव मान रखा है। जिसने धनको अपना इष्टदेव बनाया हुआ है, उसको धनकी प्राप्तिके लिये झूठ, कपट, बेईमानी, धोखेबाजी आदिको अपना इष्ट बनाना पड़ता है; क्योंकि उसका यह भाव रहता है कि इनके बिना पैसा पैदा नहीं होता। अतः हे झूठ देवता ! हे कपट देवता ! हे ब्लैक देवता ! आप निहाल करें—ऐसी उसकी भक्ति होती है। जैसे भगवान्‌का भक्त भगवान्‌को याद करता है, उनका आश्रय लेता है, ऐसे ही धनका भक्त झूठ, कपट, ठगी आदिका आश्रय लेता है, उसको कोई समझाये तो वह कहेगा कि आजके जमानेमें झूठ, कपटके बिना काम नहीं चलता। अब ऐसे आदमीको ब्रह्माजी भी समझा नहीं सकेंगे ! इसलिये अगर परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहते हो तो भोग और संग्रहकी इच्छाका त्याग करना ही पड़ेगा, नहीं तो परमात्मप्राप्ति दूर रही, परमात्मप्राप्तिका निश्चय भी नहीं कर सकोगे।

★

असत् पदार्थोंके आश्रयका त्याग करें

उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुओंके बिना मेरा काम नहीं चलेगा—ऐसा मानना स्वयंकी खास भूल है। स्वयं परमात्माका साक्षात् अंश होनेसे सत् और अपरिवर्तनशील है। संसारकी जितनी वस्तुएँ हैं, वे असत् और परिवर्तनशील हैं।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'

(गीता २। १६)

'असत्‌की तो सत्ता नहीं होती और सत्‌का अभाव नहीं होता।' बचपनसे लेकर आजतक देखें तो शरीर, शक्ति, योग्यता, खेल आदिका विषय, साथी, देश, काल, परिस्थिति आदि सबका परिवर्तन हो गया, पर मैं वही हूँ। सबका परिवर्तन हो गया—यह (बदलनेवाला) तो हुआ 'असत्' और मैं वही हूँ—यह (न बदलनेवाला) हुआ 'सत्'। स्वयं सत् होकर भी अपनेको असत्‌के अधीन मानना कि इसके बिना मेरा काम नहीं चलेगा, बड़ी भारी भूल है!

शरीरके बिना मेरा काम नहीं चलेगा, रुपयोंके बिना काम नहीं चलेगा, कुटुम्बके बिना काम नहीं चलेगा, मकानके बिना काम नहीं चलेगा, कपड़ेके बिना काम नहीं चलेगा, अन्न-जलके बिना काम नहीं चलेगा—यह सब असत्‌का आश्रय है। असत्‌का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अगर उसका स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो उसको असत् क्यों कहते? असत् नाम ही उसका है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, जो किसीके आश्रित रहता है; जो निरन्तर मिटता रहता है, जो निरन्तर अदृश्य होता रहता है, जो निरन्तर अभावमें जाता रहता है। स्वयं सत् होते हुए भी असत्‌का आश्रय ले लेना, असत्‌के पराधीन हो जाना और उस पराधीनतामें भी स्वाधीन-बुद्धि कर लेना—यह खास गलती है।

पराधीनतामें भी स्वाधीन-बुद्धि कैसे होती है—इसको आप इस तरह समझें। मान लें कि आपको एक चश्मेकी जरूरत हुई। अब विचार होता है कि 'एक चश्मा चाहिये, क्या करें? किससे कहें? कौन लाकर दे?' हमारे पास रुपये नहीं हैं, इसलिये हम पराधीन हो गये। अगर हमारे पास रुपये होते तो हम पराधीन नहीं होते और चट रुपये देकर ले लेते। इस प्रकार पासमें रुपये न होनेसे आप अपनेको पराधीन मानने लगते हैं। अब विचार करें कि आप स्वयं रुपये हो क्या? रुपये भी तो 'पर' ही हैं। आप रुपयोंके अधीन होनेपर भी अपनेको स्वाधीन मान लेते हो—यही पराधीनतामें स्वाधीनता-बुद्धि होना है।

पराधीनतामें स्वाधीनताकी बुद्धि होनेके समान दूसरा अनर्थ कोई है ही नहीं। सम्पूर्ण पाप इसके बेटे हैं। पाप, अन्याय, झूठ, कपट, नरक आदि सब इस बुद्धिके होनेसे ही होते हैं। आप विचार करें कि रुपये 'स्व' हैं या 'पर' हैं? रुपयोंके अधीन होना स्वाधीनता है या पराधीनता है? परन्तु आप पराधीनतामें ही स्वाधीनताकी बुद्धि कर लेते हैं कि हमारे पास रुपये होते तो हम चट रेलपर, हवाई जहाजपर चढ़कर चले जाते; यह ले लेते, वह ले लेते। यह रुपयोंकी पराधीनता है। रुपयेके बिना वस्तु नहीं मिलती, यह प्रत्यक्ष बात है, फिर हम स्वाधीन कब होंगे? हम स्वाधीन तब होंगे जब हमें किसी चीजकी जरूरत ही नहीं रहे; न चश्मेकी जरूरत रहे, न अन्न-जलकी जरूरत रहे, न कपड़ेकी जरूरत रहे। यह कब होगा? यह तब होगा, जब आप स्वयंको शरीरसे अलग अनुभव करोगे।

आप शरीरके साथ मिलकर एक हो जाते हो तो शरीरकी जरूरत आपकी जरूरत हो जाती है। जैसे, कोई पुरुष विवाह कर लेता है तो जब वह स्त्रीके लिये लहँगा, नथ आदि

खरीदने जाता है तो दुकानदारसे कहता है कि मेरेको लहँगा चाहिये, नथ चाहिये। दुकानदार उससे पूछे कि क्या तुम लहँगा, नथ पहनते हो तो वह कहेगा मेरेको नहीं, घरमें चाहिये। उसने स्त्रीके साथ सम्बन्ध कर लिया, तो अब स्त्रीकी आवश्यकता उसकी अपनी आवश्यकता हो गयी। ऐसे ही शरीरमें 'मैं' और 'मेरा' कर लेनेसे शरीरकी आवश्यकता अपनी आवश्यकता दीखने लग जाती है। वास्तवमें यह आपकी आवश्यकता नहीं है, यह शरीरकी आवश्यकता है। आपको किसी वस्तुकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है।

श्रोता—शरीरसे मैं अलग हूँ, यह अनुभव नहीं होता, क्या करें ?

स्वामीजी—शरीर ही मैं हूँ और शरीर ही मेरा है—यह असत्‌का संग है। आप सत् हो, शरीर असत् है। आप अविनाशी हो, शरीर विनाशी है। अतः आप और शरीर एक कैसे हुए ?

श्रोता—इस बातको जानते हैं, पर यह जानना टिकाऊ नहीं रहता।

स्वामीजी—टिकाऊ नहीं रहता तो इसका दुःख होता है क्या ? टिकाऊ रहनेसे कोई फायदा और टिकाऊ न रहनेसे कोई नुकसान दीखता है क्या ? अगर आप 'मैं शरीरसे अलग हूँ'—इस जानकारीको वास्तवमें टिकाऊ रखना चाहते हैं तो कोई बाधा है ही नहीं। परन्तु आप इसको टिकाऊ रखना चाहते ही नहीं। इसके टिकाऊ न रहनेका आपको दुःख ही नहीं है। इस समय तो आप ऐसा कहते हो कि यह टिकाऊ नहीं रहता, पर क्या दूसरे समय भी आपको इसकी याद आती है ?

आप शरीरकी आवश्यकताएँ पूरी कर ही लेते हो—ऐसा नियम नहीं है। वास्तवमें शरीरकी आवश्यकता स्वतः पूरी होती है।

प्रारब्ध पहले रचा, पीछे रचा शरीर।
तुलसी चिन्ता क्यों करे, भज ले श्रीरघुबीर॥

शरीर-निर्वाहका आपके ऊपर ठेका नहीं है। आप शरीर-निर्वाहकी चिन्ता करके जान-बूझकर आफत मोल लेते हो। वास्तवमें शरीरका निर्वाह जैसा होना होगा, वैसा ही होगा, चेष्टा करनेपर भी वैसा ही निर्वाह होगा और चेष्टा नहीं करनेपर भी वैसा ही निर्वाह होगा। प्रारब्धमें अगर बिना अन्नके मरना लिखा है तो बिना अन्नके मरना पड़ेगा, चाहे कितनी ही चेष्टा कर लो। अगर मरना नहीं है तो चाहे कुछ भी चेष्टा मत करो, शरीरका निर्वाह होगा।

इस बातपर आप ध्यान देना कि आपके शरीर-निर्वाहके लिये तो परमात्माकी तरफसे प्रबन्ध है, पर आपकी तृष्णाकी पूर्तिके लिये प्रबन्ध नहीं है, नहीं है, नहीं है। आप जो चाहते हो कि इतना मिल जाय, इतना मिल जाय—इसकी पूर्तिके लिये कोई प्रबन्ध नहीं है; परन्तु आपके शरीर-निर्वाहके लिये पूरा प्रबन्ध है। जिसने जन्म दिया है, उसने जीवन-निर्वाहका भी पूरा प्रबन्ध किया है। अपनी माँके स्तनोंमें दूध आपने-हमने पैदा किया था क्या ? माँका दूध पैदा करनेके लिये आपने-हमने कोई उद्योग किया था क्या ? माँके दूधका प्रबन्ध जिसने किया था, क्या वह बदल गया ? क्या वह मर गया ? क्या अब कोई नयी बात हो गयी ? इसलिये शरीर-निर्वाहके लिये चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिये। चेष्टा करनेके लिये मैं मना नहीं करता। निर्वाहमात्रके लिये चेष्टा करो। कारण कि पदार्थोंका कर्मोंके साथ सम्बन्ध है। अतः कर्म तो करो, पर चिन्ता मत करो।

मोटरकी चार अवस्थाएँ होती हैं—१. मोटर गैरजमें खड़ी है। उस समय न तो इंजन चलता है और न पहिये चलते हैं, दोनों बन्द हैं। २. जब मोटर चालू करते हैं, तब इंजन तो चलने लगता है, पर पहिये नहीं चलते। ३. जब मोटरको वहाँसे रवाना कर देते हैं, तब पहिये भी चलते हैं और इंजन भी चलता है। ४. चलते-चलते आगे साफ मैदान आ गया, बहुत दूरतक रास्ता साफ दीखता है, वृक्ष आदिकी कोई आड़ नहीं है और रास्ता ढलवाँ है अर्थात् थोड़ा नीचेकी तरफ जा रहा है, उस समय इंजन बन्द कर दें तो पहिये चलते रहेंगे—मोटर चलती रहेगी और तेल भी खर्च नहीं होगा। इस प्रकार मोटरकी चार अवस्थाएँ हुईं। इन चारों अवस्थाओंमें सबसे बढ़िया अवस्था वह हुई, जिसमें पहिये तो चलें पर इंजन न चले अर्थात् तेल भी खर्च न हो और रास्ता भी तय हो जाय। सबसे घटिया अवस्था वह हुई जिसमें इंजन तो चले, पर पहिया न चलें अर्थात् तेल तो जले, पर रास्ता तय न हो। ऐसे ही आप भीतरसे चिन्ता करते हैं— यह आपकी घटिया अवस्था है। परंतु आप चिन्ता न करके कर्तव्य करते हैं—यह आपकी बढ़िया अवस्था है। इसको गीताने 'कर्मयोग' कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २।४७)

'तेरा कर्तव्य-कर्म करनेमें ही अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं। अतः तू कर्मफलका हेतु भी मत बन और तेरी अकर्मण्यतामें भी आसक्ति न हो।'

अकर्मण्य कभी मत होओ। कर्तव्य-कर्म करते रहो, पर फलकी इच्छा मत करो। चिन्ता मत करो कि क्या मिलेगा,

कैसे होगा ! इच्छा करनेसे, चिन्ता करनेसे पदार्थ नहीं मिलते। पदार्थ कर्मोंसे मिलते हैं, चाहे वे कर्म पूर्वके (प्रारब्ध) हों अथवा वर्तमानके। इसलिये कर्म करो। भीतरके इंजनको क्यों चलाते हो अर्थात् चिन्ता क्यों करते हो ?

चिन्ताके विषयमें एक बात और समझनेकी है। अन्तःकरणकी दो वृत्तियाँ हैं—एक विचार है और एक चिन्ता है। विचारसे बुद्धि विकसित होती है और चिन्तासे बुद्धि नष्ट होती है—**'बुद्धिः शोकेन नश्यति।'** विचारपूर्वक कोई काम किया जायगा तो वह काम बढ़िया होगा। अगर चिन्ता हो जायगी तो वह काम घटिया होगा, उसमें भूलें होंगी। जिसके भीतर चिन्ता-शोक होते हैं, उस आदमीको होश नहीं रहता, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। इसलिये चिन्ता न करके सभी काम विचारपूर्वक करो। छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा जो भी काम करो, विचारपूर्वक ठीक तरहसे करो।

अपनी शारीरिक आवश्यकताएँ हम पूरी कर लेंगे—यह अपने हाथकी बात बिल्कुल नहीं है। आवश्यकता वास्तवमें है ही नहीं; क्योंकि शरीर भी वास्तविक नहीं है, फिर इसकी आवश्यकता कैसे वास्तविक होगी ? आप स्वयं वास्तविक हो, इसलिये आपकी आवश्यकता ही वास्तविक आवश्यकता है। आपकी आवश्यकता है—आत्मतत्त्वको प्राप्त करना। शरीर-निर्वाहकी आवश्यकता पूरी होनेवाली होगी तो पूरी हो जायगी और पूरी नहीं होनेवाली होगी तो पूरी नहीं होगी; परन्तु परमात्मतत्त्वकी आवश्यकता आप चाहोगे तो जरूर पूरी होगी; क्योंकि इसके लिये ही यह मनुष्य-शरीर मिला है। यह मनुष्य-शरीर खाने-पीनेके लिये नहीं मिला है। हमने शास्त्रमें कहीं ऐसी बात नहीं पढ़ी कि यह मनुष्य-शरीर रुपया कमानेके लिये मिला है अथवा भोग भोगनेके लिये मिला है। सदाके लिये कल्याण हो जाय, उद्धार हो जाय—इसके लिये ही मनुष्य-शरीर मिला है। इस विषयमें भी एक बड़े रहस्यकी, छिपी हुई बात है कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति शरीरसे नहीं होता ! परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति विवेकशक्तिसे होती है, शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे नहीं। सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सार-असार आदिको ठीक-ठीक जाननेके लिये मनुष्यको जो विवेकशक्ति मिली हुई है, उसीसे उद्धार होगा। उस विवेक-शक्तिका सदुपयोग करनेसे सांसारिक काम भी बढ़िया होगा और पारमार्थिक काम भी बढ़िया होगा। इसलिये उस विवेक-शक्तिका सदुपयोग करें, इसीके लिये मानव-शरीर मिला है।

वास्तविक बड़प्पन

एक परमात्मा ही सत्य हैं, शेष सब असत्य हैं। असत्यका अर्थ है—जिसका अभाव हो। जो वस्तु नहीं है, वह असत्य कहलाती है। जिस वस्तुका अभाव होता है, वह दिखायी नहीं देती, पर संसार दिखायी देता है। फिर संसार असत्य कैसे? वास्तवमें असत्य होते हुए भी यह संसार सत्य-तत्त्व परमात्माके कारण ही सत्य प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि इस संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जैसे दर्पणमें मुख दीखता है, वैसे ही संसार दीखता है। दर्पणमें मुख दीखता तो है, पर वहाँ है नहीं, ऐसे ही संसार दीखता तो है, पर वास्तवमें है नहीं। वास्तवमें एक परमात्मतत्त्वकी ही सत्ता है। परमात्मा अपरिवर्तनशील हैं और प्रकृति (संसार) निरन्तर परिवर्तनशील है। जिसमें निरन्तर परिवर्तनरूप क्रिया होती रहती है, उसका नाम प्रकृति है—'**प्रकर्षेण करणं प्रकृतिः**।' संसार तथा उसका अंश शरीर निरन्तर बदलनेवाले हैं, और परमात्मा तथा उसका अंश जीव कभी नहीं बदलनेवाले हैं। न बदलनेवाला जीव बदलनेवाले संसारका आश्रय लेता है, उससे सुख चाहता है—यही गलती है। निरन्तर बदलनेवाला क्या न बदलनेवालेको निहालकर देगा? उसका साथ भी कबतक रहेगा? अतः संसारको अपना मानना, उससे लाभ उठानेकी इच्छा रखना, उसपर भरोसा रखना, उसका आश्रय लेना—यह गलती है। इस गलतीका ही हमें सुधार करना है। इसीलिये गीतामें भगवान्‌ने कहा—'**मामेकं शरणं व्रज**' 'एक मेरी शरणमें आ।' हाँ, सांसारिक वस्तुओंका सदुपयोग तो करो, पर उन्हें महत्त्व मत दो, सांसारिक वस्तुओंके कारण अपनेको बड़ा मत मानो।

पासमें अधिक धन होनेपर मनुष्य अपनेको बड़ा मान लेता है। पर वास्तवमें वह बड़ा नहीं होता अपितु छोटा ही होता है। ध्यान दें, धनके कारण मनुष्य बड़ा हुआ, तो वास्तवमें वह स्वयं (धनके बिना) छोटा ही सिद्ध हुआ! धनका अभिमानी व्यक्ति अपना तिरस्कार व अपमान करके तथा अपनेको छोटा करके ही अपनेमें बड़प्पनका अभिमान करता है। वास्तवमें आप स्वयं निरन्तर रहनेवाले हैं और धन, मान, बड़ाई, प्रशंसा, नीरोगता, पद, अधिकार आदि सब आने-जानेवाले हैं। इनसे आप बड़े कैसे हुए? इनके कारण अपनेमें बड़प्पनका अभिमान करना अपना पतन ही करना है। इसी प्रकार निर्धनता, निन्दा, रोग आदिके कारण अपनेको छोटा मानना भी भूल है। आने-जानेवाली वस्तुओंसे कोई छोटा या बड़ा नहीं होता।

नाशवान् पदार्थोंको महत्त्व देनेके कारण ही जन्म-मरणरूप बन्धन, दुःख, सन्ताप, जलन आदि सब उत्पन्न होते हैं। अतः भली-भाँति विचार करना चाहिये कि मैं तो निरन्तर रहनेवाला हूँ और ये पदार्थ आने-जानेवाले हैं, अतः इन पदार्थोंके आने-जानेका असर मुझपर कैसे पड़ सकता है?

आप धनको पैदा करते हैं, न कि धन आपको। आप धनका उपयोग करते हैं, न कि धन आपका। धन आपके अधीन है, आप धनके अधीन नहीं। आप धनके मालिक हो, धन आपका मालिक नहीं। ये बातें सदा याद रखें। आप धनपति बनें, धनदास नहीं—इतनी ही बात है। धनको महत्त्व देनेसे और धनके कारण अपनेको बड़ा माननेसे मनुष्य धनदास (धनका गुलाम) बन जाता है। इसीसे वह दुःख पाता है। अन्यथा आपको दुःख देनेवाला है ही कौन? धनादि पदार्थ तो आने-जानेवाले हैं, वे आपको क्या सुखी और दुःखी करेंगे? वे तो नदीके प्रवाहकी भाँति निरन्तर बहे जा रहे हैं। यदि आपकी धनवत्ता चालीस वर्ष रहनेवाली है और उसमेंसे एक वर्ष बीत गया, तो बताओ आपकी धनवत्ता बढ़ी या घटी? धनवत्ता तो निरन्तर घटती चली जा रही है और चालीस वर्ष पूरे होते ही वह समाप्त हो जायगी। पर आप वैसे-के-वैसे ही रहते हैं। जब धन नहीं था, तब भी आप वही थे और जब धन मिल गया, तब भी आप वही रहे तथा धन चला जाय, तब भी आप वही रहेंगे। संसारकी वस्तुमात्र निरन्तर बही जा रही है। जिस मनुष्यपर इन बहनेवाली वस्तुओंका असर नहीं पड़ता, वह मुक्त हो जाता है (गीता २।१५)। इसलिये विवेकी पुरुष नाशवान् वस्तुओंमें रमण नहीं करता—'**न तेषु रमते बुधः**' (गीता ५।२२)। जो वस्तुओंको अस्थिर मानता है, वह वस्तुओंका गुलाम नहीं बनता। पदार्थोंको लेकर सुखी या दुःखी होनेवाला मनुष्य अपनी स्थितिसे नीचे गिर ही गया, छोटा हो ही गया। आने-जानेवाले पदार्थोंका असर न पड़ना ही वास्तविक बड़प्पन है।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

(गीता ५।२०)

'जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं होता और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न नहीं होता, वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।'

==★==

त्यागसे सुखकी प्राप्ति

जैसे एक गृहस्थ व्यक्तिका अपने पूरे परिवारके साथ सम्बन्ध रहता है, वैसे परमात्माका भी पूरे संसारके साथ सम्बन्ध है। संसारमें भले या बुरे, श्रेष्ठ या निकृष्ट कैसे ही प्राणी क्यों न हों, परमात्माका सम्बन्ध सबके साथ समान है। भगवान्‌ने कहा है—**'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता ९। २९)। प्राणियोंके साथ ही नहीं, परिस्थितियों, अवस्थाओं, घटनाओं आदिके साथ भी एक समान सम्बन्ध है। अब ध्यान दें कि किसी व्यक्तिमें यदि विशेष योग्यता है, तो क्या उसके साथ परमात्माका विशेष सम्बन्ध है? नहीं। उसमें जो विशेषता प्रतीत होती है, वह सांसारिक दृष्टिसे ही है। परमात्माका तो सबके साथ समान सम्बन्ध है; उस सम्बन्धमें कभी कमी या अधिकता नहीं होती। अतः किसी गुण, योग्यता या विशेषतासे हम परमात्माको प्राप्त कर लेंगे—यह बात संसारकी विशेषता या महत्ताको लेकर की जाती है। यदि संसारसे विमुख होकर देखें, तो सब-के-सब परमात्माको प्राप्त करनेके अधिकारी हैं। सांसारिक दृष्टिसे जितनी योग्यता, विलक्षणता, विशेषता है, वह पूरी-की-पूरी मिलकर भी परमात्माको खरीद ले—यह बात नहीं है। भगवान्‌ने कहा है—**'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।'** (गीता ११। ५३)

'मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ।' बड़ा भारी उग्र तप किया जाय, उससे भी भगवान् पकड़में नहीं आते **'न तपोभिरुग्रैः'** (गीता ११। ४८)। तो भगवान् पकड़में कैसे आते हैं? त्याग से—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२)। त्याग करना हो, तो बहुत धन हो तब भी त्याग करना है, कम धन हो तब भी त्याग करना है, ज्यादा योग्यता हो तब भी त्याग करना है, कम योग्यता हो तब भी त्याग करना है। सच्ची बात तो बड़ी विलक्षण है। वह यह कि जैसे पापोंका त्याग करना है, वैसे पुण्योंका भी त्याग करना है। बात थोड़ी अटपटी दीखती है, पर गुणोंका, योग्यताका, पुण्यका अभिमान तो त्यागना ही पड़ेगा। अभिमानका त्याग ही तो त्याग है, वस्तुका क्या त्याग? वस्तु तो आपसे अलग है ही। संसारकी जितनी योग्यता, परिस्थिति, गुण आदि हैं, उन सबके त्यागसे तत्त्वकी प्राप्ति होती है। तत्त्वप्राप्तिमें देरी इसलिये लग रही है कि आपने योग्यता, परिस्थिति, गुण, व्यक्तित्व, सामग्री आदिको पकड़ रखा है। यहाँतक कि त्यागको भी पकड़ रखा है कि 'मैं बड़ा त्यागी हूँ'—इस त्यागीपनेका भी त्याग करना होगा, अन्यथा परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी। ऐसे ही 'मैं बड़ा वैरागी हूँ' इस

विरक्तिका भी त्याग करना पड़ेगा, अन्यथा बन्धन बना रहेगा। परमात्माका जैसे विरक्तिके साथ सम्बन्ध है, वैसे आसक्तिके साथ भी सम्बन्ध है। तो जैसे आसक्तिके साथ सम्बन्ध नहीं रखना है, वैसे विरक्तिके साथ भी सम्बन्ध नहीं रखना है, सम्पूर्ण वस्तुओं, अवस्थाओं, घटनाओं, क्रियाओं आदिसे परमात्माका सम्बन्ध एक समान है, तो इन सभीसे विमुख होना पड़ेगा। इन सबसे विमुख होनेपर तत्त्वकी प्राप्ति होगी।

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस ५। ४४। १)

वास्तवमें इन सबसे हम प्रतिदिन विमुख होते हैं। कैसे? जब हम संसारका काम करते-करते थक जाते हैं, तब संसारसे विमुख होनेकी मनमें आती है और हम नींद लेते हैं। इससे विश्राम मिलता है, शान्ति मिलती है, सुख-आराम मिलता है, ताजगी मिलती है, नीरोगता मिलती है। यह सब त्यागसे ही मिलते हैं। इतना ही नहीं, सांसारिक भोगोंका सुख भी भोगोंके त्यागसे मिलता है। पर इस तरफ खयाल न करनेसे भोगसे सुख मिलता दीखता है। वास्तवमें सुख भोगके संयोगसे नहीं अपितु उसके वियोगसे होता है। भोगके संयोगका वियोग होनेसे सुख होता है। जैसे भोजन करनेसे सुख मालूम होता है, तो वास्तवमें सुखका अनुभव भोजनका त्याग करने अर्थात् भोजनकर चुकनेके बाद होता है, जब तृप्ति हो जाती है। भोग भोगनेसे जब उससे अरुचि होती है, तब सुख होता है। सुख होता है, तब अरुचि हो जाती है। पहले क्या होता है, इसे मनुष्य पहचान नहीं पाता। परन्तु त्यागसे सुख होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं; किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं। कितनी ही ऊँची-से-ऊँची सामग्रीसे संयोग हो, उसके द्वारा परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। परमात्माको सभी समान रूपसे प्राप्त कर सकते हैं, चाहे वे किसी देश, वेश, सम्प्रदाय, धर्म आदिके क्यों न हों। केवल परमात्माको पानेकी उत्कट चाहना होनी चाहिये। परमात्मप्राप्तिकी चाहनाकी पहचान है—दूसरी किसी वस्तुको न चाहना। पर परमात्माको भी चाहता है और दूसरी वस्तुओंको भी चाहता है, तो वह दुविधा यानी द्वन्द्व जबतक है, तबतक प्राप्ति नहीं होगी। जो निर्द्वन्द्व होता है, वही सुखपूर्वक मुक्त होता है—'**निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥**' (गीता ५। ३)। इच्छा-द्वेषसे उत्पन्न हुआ यह द्वन्द्व ही मोह है, इसीसे सब फँसे हुए हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥

(गीता ७। २७)

जो इस द्वन्द्वरूप मोहसे रहित हैं, वे दृढ़ निश्चय करके भगवान्‌का भजन करते हैं—'**ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः**' (गीता ७। २८)।

सांसारिक दृष्टिसे अयोग्यताकी अपेक्षा योग्यता बहुत श्रेष्ठ है, पापकी अपेक्षा पुण्य बहुत श्रेष्ठ है, पर इस श्रेष्ठतासे कोई परमात्माको खरीद ले, ऐसी बात नहीं है। इसलिये जो सच्चे हृदयसे परमात्माको चाहता है, वह अपनी स्थितिका त्याग कर देता है, उससे विमुख हो जाता है। विमुख होते ही उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। अपनी जो स्थिति है, अपना जो व्यक्तित्व है, अपनी जो योग्यता या अयोग्यता है, उसे पकड़नेसे ही परमात्मप्राप्तिमें बाधा हो रही है। इसलिये उस सत्य-तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये कोई अनधिकारी, अयोग्य, अपात्र नहीं है। केवल उत्पत्ति-विनाशवाली वस्तुकी पकड़ ही उसमें बाधा दे रही है। अपनी पकड़ छोड़ी कि प्राप्ति हुई।

जब भूख लगती है, तब भोजनमें सुख मिलता है—यह निर्विवाद बात है। ध्यान दें, पहला ग्रास लेनेमें जो सुख मिलता है, पाँच-दस ग्रास लेनेके बाद क्या वही सुख रहता है? ज्यों-ज्यों हम भोजन करते चले जाते हैं, त्यों-ही-त्यों भोजनका सुख कम होता चला जाता है। अन्तमें जब भूख समाप्त हो जाती है, तृप्ति हो जाती है, तब भोजन आपको सुख देता है क्या? जब भूख मिट जाय, तब ग्रास लेकर देखो कि क्या वह सुख देता है। सुखका आरम्भ रुचिसे हुआ था। इसलिये सांसारिक भोग तब सुख देंगे, जब आप उनके बिना दुःखी होंगे। जिसके बिना आप दुःखी नहीं होते, वह कभी आपको सुख नहीं दे सकता। तो यह संसार दुःखीको सुख देता है और सुख देकर वह मनुष्यको बाँधता है। केवल वहम रहता है कि अमुक पदार्थसे सुख मिला।

अब अरुचिसे सुख कैसे मिलता है—यह बात समझें। किसी भोगमें अरुचि हुए बिना क्या आप उस भोगका त्याग करते हैं? जब अरुचि होती है, तभी त्याग होता है। जबतक अरुचि न हो, तबतक सुख नहीं होता और जबतक रुचि रहती है, तबतक सुख होता है। यह बात मैंने पहले ही कह दी कि अरुचिसे सुख होता है या सुखसे अरुचि होती है—इसका विश्लेषण जरा कठिन है, पर बातें दोनों सही हैं। भोग भोगते-भोगते उससे अरुचि होती ही है। अब आप ध्यान दें। अरुचिका अर्थ है—सम्बन्ध-विच्छेद। भोगसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है तो सुख होता है। सम्बन्ध-विच्छेद क्या है—यह खास समझनेकी बात है। विच्छेदका तात्पर्य है उस भोगको भोगनेकी शक्तिका नाश कि अब आगे भोग नहीं सकते। तो शक्तिका नाश होनेसे ही अरुचि और सुख दोनों

हुए। यदि शक्तिका नाश न होता तो अरुचि कैसे होती? तात्पर्य यह है कि वह सुख भोगका नहीं है अपितु शक्तिके नाश अर्थात् थकावटका है। बहुत दौड़नेके बाद जब बैठते हैं, तो सुख मालूम होता है। तो सुख थकावटका है। अतः भोग भोगनेकी शक्तिके नाशका नाम ही सुख हुआ। नाश कहो या अरुचि कहो। भोगी पुरुष भोग्य वस्तुका तो नाश करता है और अपना पतन करता है। विरक्त पुरुष ऐसा नहीं करता। मनुष्य भोगमें सुख मानकर भोगका त्याग नहीं करता, इसलिये न तो भोगके अन्तमें होनेवाली अरुचिको स्थायी कर पाता है और न त्यागके सुखको ही स्थायी कर पाता है। यदि वह समझ ले कि भोगोंसे सम्बन्ध-विच्छेदमें ही सुख है, तो फिर वह भोगोंमें फँसेगा नहीं।

तत्त्वप्राप्तिमें सभी योग्य हैं

सत्य-तत्त्व सबको स्वतः प्राप्त है, परन्तु उधर अपनी दृष्टि नहीं है, इसलिये वह अप्राप्त दीख रहा है। जैसे, आप कुछ भी काम करें या न करें, पर क्या आप अपना अभाव देखते हैं? मैं नहीं हूँ—ऐसे अपनी सत्ताके अभावका अनुभव किसीको भी नहीं होता, न हो सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि अपना भाव अर्थात् होनापन निरन्तर रहता है। क्रियाओंमें अन्तर पड़ सकता है, पर अपने होनेपनमें अन्तर नहीं पड़ता। पर मनुष्यकी दृष्टि क्रियाओंकी तरफ रहती है, अपने होनेपनकी तरफ नहीं। वह छोटा-बड़ा, बढ़िया-घटिया, विहित-निषिद्ध आदि कर्म करता रहता है और अपनेको उन कर्मोंका कर्ता मानता रहता है। पर उसकी दृष्टि उस तत्त्वकी तरफ नहीं जाती, जहाँ पर कर्ता टिका हुआ है, जो कर्ताका प्रकाशक, आश्रय और अधिष्ठान है। उस ज्ञान तथा प्रकाशरूप निर्विकल्प तत्त्वका कभी अभाव नहीं होता। तो अपना भाव (होनापन) निरन्तर रहता है। यही अपना स्वरूप है, इसका ज्ञान ही स्वरूपका ज्ञान है। इसकी तरफ दृष्टि होना ही स्वरूप-बोध है।

पहले अन्तःकरण शुद्ध होगा, फिर उसका अनुभव होगा— यह प्रक्रिया शास्त्रोंकी है और बहुत ठीक है। परन्तु अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना हम तत्त्वप्राप्तिके अधिकारी नहीं हैं ऐसा मैं नहीं मानता। मनुष्यमात्र केवल तत्त्वप्राप्तिके लिये ही है। भगवान् अपनी अहैतुकी कृपासे जीवको मनुष्य-शरीर देते हैं—'***कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥***' (मानस ७। ४४। ३) तो मनुष्य-शरीरके साथ-साथ मुक्तिका पूरा अधिकार भी भगवान् देते हैं। मनुष्य-शरीर परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। जो परमात्माको प्राप्त न कर सके, उसे मनुष्य बना दें—ऐसी भगवान्‌में पोल नहीं है। एक सरकारी आदमी भी किसी पदपर उसी व्यक्तिकी नियुक्ति करता है, जो उस पदको पानेका अधिकारी हो, जो उसके योग्य हो। हेड मास्टरके पदपर किसी भेड़ चरानेवालेको लाकर नहीं बैठाया जाता। तो भगवान्‌से इतनी भूल हो जाय कि जो मनुष्यके योग्य काम न कर सके, उसे मनुष्य बना दिया—ऐसा हो ही नहीं सकता। जब मनुष्य-शरीर मिल गया, तब तत्त्वप्राप्तिका पूरा अधिकार भी मिल गया। अब मनुष्य अपने-आप अपनी हार मान ले तो यह उसकी गलती है। कहते हैं कि अशुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य तत्त्वको कैसे जानेगा? मैं कहता हूँ कि अशुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य अन्तःकरणके द्वारा तत्त्वको नहीं जान सकता, पर तत्त्व तो अन्तःकरणसे अतीत है। क्या स्वयं (अपना होनापन) अन्तःकरणके आश्रित हैं? नहीं। अन्तःकरण तो करण है, और स्वयं कर्ता है। करण कर्ताके अधीन होता है। कर्ता कभी करणके अधीन नहीं होता। जिससे हम काम लेते हैं, उन काम करनेके औजारोंका नाम है—करण। काम करनेवालेका नाम है—कर्ता। करणसे की जानेवाली क्रियाओंको करनेमें तो कर्ता करणके बिना असफल हो जाता है। परंतु करणसे अतीत तत्त्व अर्थात् अपने-आप-(स्वयं-)में स्थित होनेमें कर्ता असफल कैसे हो जायगा? जो अन्तःकरणके द्वारा स्वयंको जानना चाहता है, वह अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर ही जानेगा, पर हम अन्तःकरणका सम्बन्ध-विच्छेद ही कर दें तो उसे क्यों नहीं जान सकते, क्योंकि कर्ता (स्वयं) करण (अन्तःकरण)-के अधीन नहीं है। करण अलग-अलग होते हैं और उनसे होनेवाली क्रियाएँ भी अलग-अलग होती हैं, पर कर्ता एक होता है।

स्वयं (अपना स्वरूप) सदा निष्क्रिय रहता है। जब कार्य सामने आता है, तब कर्तृत्वाभिमानके कारण वह उस कार्यका कर्ता बन जाता है। स्वरूपसे तो वास्तवमें वह अकर्ता ही रहता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंमें वह ज्यों-का-त्यों रहता है, उसकी ओर लक्ष्य रहना ही स्वरूपबोध है।

एक बातपर आप विशेष ध्यान दें। हमारे अन्तःकरणकी शुद्धि होगी, तब तत्त्वको जानेंगे—यह है भविष्यकी आशा। तत्त्व भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनोंमें है और तीनोंसे अतीत है। ऐसा कोई देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि नहीं, जिसमें तत्त्व न हो। उस तत्त्वमें देश, काल, वस्तु आदि कुछ नहीं है। जब ऐसी बात है तो बताओ

कि किस देश, काल, वस्तु, परिस्थिति आदिमें हम उसे नहीं जान सकते अथवा नहीं प्राप्त कर सकते ? न हमारेमें करण है, न उसमें करण है फिर उसे जाननेमें देरी क्या ? करणके द्वारा उसे जानना चाहो तो करणकी शुद्धि करनी पड़ेगी, और करणके द्वारा उस तत्त्वको जान सका हो, ऐसा आजतक कोई हुआ नहीं।

तत्त्वको जाननेकी जो वेदान्तकी प्रक्रिया है, उसमें पहले विवेक, वैराग्य, समाधि, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षा—ये साधनचतुष्टय सम्पन्न होता है। फिर श्रवण, मनन और निदिध्यासन—ये तीन साधन करने पड़ते हैं। इसके बाद तत्त्वपदार्थका संशोधन होता है। तत्त्वपदार्थ संशोधनके बाद सबीज समाधि होती है। यहाँतक अन्तःकरण-(प्रकृति-)का साथ है। अन्तःकरणसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर निर्बीज समाधि होती है। जब निर्बीज समाधि होगी, तब तत्त्व-साक्षात्कार होगा। यह प्रक्रिया अन्तःकरणके द्वारा तत्त्वकी ओर जानेके लिये है। पर हम कहते हैं कि इतना सब करनेकी आवश्यकता नहीं, तत्त्वमें अभी-अभी ही स्थिति हो सकती है। केवल उसको प्राप्त करनेकी चाहना, उत्कण्ठामें कमी है, इसीलिये देर हो रही है। मैं तत्त्वप्राप्तिमें किसीको अयोग्य नहीं मानता हूँ, केवल उसे प्राप्त करनेकी इच्छामें कमी मानता हूँ। इच्छामें कमी न हो तो तत्त्वको जान लेगा—पक्की बात है।

तत्त्व तो सदा ज्यों-का-त्यों है। उसे तत्काल जान सकते हैं। केवल उधर दृष्टि नहीं है। इसे ऐसे समझें—हम आँखसे सब पदार्थोंको देखते हैं, पर पदार्थोंसे भी पहले हमें प्रकाश दिखायी देता है। पहले नम्बरमें प्रकाश और दूसरे नम्बरमें सब पदार्थ दीखते हैं। कारण कि प्रकाशके अन्तर्गत ही सब कुछ दीखता है। पर लक्ष्य न होनेसे हमारी दृष्टि पहले प्रकाशपर नहीं जाती—

जो ज्योतियोंका ज्योति है, सबसे प्रथम जो भासता।
अव्यय सनातन दिव्य दीपक, सर्व विश्व प्रकाशता॥

वह तत्त्व सबसे पहले दीखता है। उसीके अन्तर्गत सब कुछ है। वही सब करणोंको प्रकाशित करता है। उसीके द्वारा सब जाने जाते हैं। इसलिये आप लोगोंसे निवेदन है कि आप अपनेमें तत्त्वप्राप्तिकी अयोग्यता न समझें। आपमें एक ही कमी मैं मानता हूँ, वह यह है कि इस तत्त्वको जाननेकी उत्कट अभिलाषा नहीं है।

तत्त्वप्राप्तिमें भविष्यकी बात है ही नहीं। जो वस्तु उत्पन्न होनेवाली, क्रियाजन्य हो, जो दूर देशमें हो, जिसमें कुछ परिवर्तन करना हो, उसकी प्राप्तिमें तो भविष्यकी अपेक्षा है। परन्तु तत्त्व स्वतःसिद्ध एवं सब देश, कालादिमें परिपूर्ण है। उसे प्राप्त करनेमें भविष्य कैसा ? सब देश, काल, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदिमें आपकी स्वतःसिद्ध सत्ता है। वह अखण्ड सत्ता है। उसका अनुभव करनेके लिये सभी योग्य हैं, सभी अधिकारी हैं।

अभिमान सबको दुःख देता है

अभिमानको कैसे छोड़ा जाय ? इसपर विवेचन करनेपर विचार आया कि मनुष्य दूसरोंके साथ अपना मिलान न करे, तो अभिमानसे छूट सकता है। जहाँ कहीं दूसरेको साथमें मिलाकर देखा कि अभिमान पैदा हुआ। अभिमान सम्पूर्ण दुःखों और पापोंकी जड़ है। एक अभिमान और एक कामना—ये दो ऐसे दोष हैं कि इनके होनेपर फिर पीछे कोई दोष बाकी नहीं रहता। न कोई दोष बाकी रहता है, न कोई पाप बाकी रहता है और न संसारभरकी कोई पतनकारक चीज ही बाकी रहती है। मैंने खूब विचार करके देखा है कि समस्त दुःख, सन्ताप, जलन, आफत, रोना, कराहना, नरक, कैदखाना आदि जो कुछ है, सब अभिमान और कामना—इन दोसे ही होते हैं।

जबतक अभिमान रहता है, तबतक स्वभाव बिगड़ा हुआ रहता है, सुधरता नहीं है। तो क्या करें ? कि केवल अपनी तरफ देखें, दूसरोंकी तरफ देखें ही नहीं। दूसरा अच्छा करता है या मन्दा करता है, उसपर दृष्टि डाले ही नहीं। दृष्टि डालोगे तो अभिमान पैदा हो ही जायगा।

तेरे भावे कछु करो, भलो बुरो संसार।
'नारायन' तू बैठिके, अपनो भवन बुहार॥

जो अपनेको गुणवान् मानता है, वह दूसरोंको दुःख देता है। ध्यान दें। वह ऐसे कि जिसके पास वे गुण नहीं हैं, वे उसे चुभेंगे। और आप गुणवान् नहीं हैं, दोषी हैं तो दूसरेको दोष चुभेंगे, और अपनेको तो चुभेंगे ही। तो दूसरेको दुःखसे बचाना और स्वयं अभिमानसे बचना—यह एक ही बात है। किसी भी बातका अभिमान होगा तो उससे दूसरेको दुःख होगा ही। एक पारमार्थिक सुख ही ऐसा है कि उसमें मस्त रहनेसे अपनेको भी सुख होगा और दूसरोंको भी सुख होगा। नहीं तो संसारका कोई सुख ऐसा नहीं, जो किसीका दुःख न हो। इसलिये सुखका भोगी दूसरोंको दुःख देनेवाला, दूसरोंका हिंसक ही होता है। जो संसारका सुख भोगता है, वह चाहे अपने ही धन, विद्या, बल तथा न्यायपूर्वक शास्त्रविहित भोग आदिसे सुख भोगता हो तो भी दूसरेको दुःख देता है। आप

किसी वस्तुसे सुख लेते हो, तो वह वस्तु किसी-न-किसीकी गयी है, तभी आपको सुख मिला है। कारण यह है कि संसारकी सब अनुकूल वस्तुएँ सीमित हैं। एक सन्त-महात्मासे भी दूसरेको दुःख मिल सकता है, पर वह और तरहका है। उसका पारमार्थिक सुख किसीको दुःख नहीं देता, पर दूसरे अपने स्वभावसे उसे सुखी देखकर दुःखी हो जाते हैं। अतः वह दुःख दूसरेके स्वभावके कारण है। सन्त-महात्मा उस दुःखमें कारण नहीं बनते। जो अपनी बुद्धिमानी या चतुराईसे सांसारिक पदार्थोंको प्राप्त करके उनसे सुख भोगता है, वही दूसरोंको दुःख देता है। पारमार्थिक सुखसे सुखी व्यक्ति दूसरेको दुःख नहीं देता, पर दूसरे दुःख ले लेते हैं, जैसे शिवलिङ्ग पूजनके लिये होता है, पर उससे भी कोई अपना सिर फोड़े तो वह क्या करे? इसलिये सांसारिक सुखसे सुखी व्यक्ति ही दुःख देता है।

यह बड़ी गहरी बात है कि बिना दुःख दिये सुखका भोग होता ही नहीं। वह सुखभोग किसी-न-किसीको पराधीन करता ही है। सुख भोगनेसे सुखभोगकी सामग्रीका नाश और अपना पतन होता है। इससे कोई बच नहीं सकता। इसलिये जिस-किसी तरहसे सुख लेना नरकोंका रास्ता है।

मूल बात जो मैंने पहले बतायी, उसे ध्यानमें रखें कि संसारका सुख सीमित है एवं उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है। जो वस्तु सीमित है, उसे सभी पाना चाहते हैं तो उस वस्तुके हिस्से ही तो होंगे। जो पारमार्थिक सुख है वह असीम है, अतः उसके हिस्से नहीं होते। वह सबको ही असीम मिलता है। जैसे किसी माँके दस बालक हों तो माँका उन बालकोंमें हिस्सा नहीं होता कि माँका इतना हिस्सा तो मेरा है, बाकी हिस्सा दूसरोंका है, मेरा नहीं। माँ तो सबकी पूरी-की-पूरी ही है। ऐसे ही भगवान् पूरे-के-पूरे अपने हैं।

कामना सर्वथा मिट जाय तो अभिमान भी मिट जायगा और अभिमान सर्वथा मिट जाय तो कामना भी मिट जायगी। इनके मिटनेपर जडता (संसार)से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय और सारे दुःख, दोष मिट जायँ।

★

सांसारिक सुख दुःखोंके कारण हैं

संयोगजन्य सुख लेनेवाला व्यक्ति अपना और संसारका—दोनोंका नुकसान करता है। जितने भी संयोगजन्य सुख हैं, वे सब-के-सब दुःखोंके कारण हैं—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।'** (गीता ५। २२)। सुख भोगनेवाला अपने लिये और संसारके लिये भी दुःखोंका कारण बनता है अर्थात् सबको दुःख देता है, सबकी हिंसा करता है। इसलिये संसारका सुखभोग बिना हिंसाके नहीं होता। पर जो सब जगह परमात्माको देखता है, वह अपनी और दूसरेकी हिंसा नहीं करता—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥

(गीता १३। २८)

सब जगह परमात्माको देखनेवाला एक विशेष आनन्दमें स्थित रहता है। वह आनन्द हिंसासे रहित है; क्योंकि वह आनन्द या सुख अपना स्वरूप है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस ७। ११७। १)

सांसारिक सुख भोगनेवाले व्यक्तिको देखकर दूसरोंके मनमें दुःख होता है। अपने पास भी वैसा सुख न होनेके कारण दूसरेके हृदयमें जलन होती है, दुःख होता है। अतः दूसरेके दुःखका कारण बननेवाला सुखका भोगी व्यक्ति हिंसा करनेवाला हुआ। अब कोई कहे कि जीवन्मुक्त महात्मा हो और उसके पास सांसारिक सुखकी सामग्री भी हो, तो उसे देखकर भी दूसरेको दुःख, जलन होती है। पर वास्तवमें महात्मा दूसरोंके दुःखका कारण नहीं होता। कारण यह कि जीवन्मुक्त महात्मा सांसारिक सुखका भोग नहीं करता। उसकी दृष्टिमें समस्त सांसारिक सुख दुःखरूप ही होते हैं—**'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'** (योगदर्शन २। १५) अतः उनकी दृष्टिमें संसारका सुख है ही नहीं। वह तो अपने-आपमें निज-सुखसे सुखी रहता है। उसका सुख परमात्माका है। जो दुःखी हो रहे हैं, उनका भी तो स्वरूप सुखरूप ही है—***'चेतन अमल सहज सुखरासी।'*** पर वे अपने निज-सुखसे विमुख होकर ही दुःख पा रहे हैं। यदि वे भी सांसारिक सुखसे विमुख होकर अपने सुखमय स्वरूपमें स्थित हो जायँ, तो दोनों ही सुखी हैं। इस सुखका बँटवारा नहीं होता। किसी महापुरुषके पास संसारके सुख और दुःख आ भी जाते हैं, तो वे उसे सुख या दुःख नहीं दे सकते। वह तो समुद्रकी भाँति शान्त और पूर्ण रहता है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

(गीता २। ७०)

जैसे सब जल आकर समुद्रमें मिलते हैं, तो भी समुद्र अपनी मर्यादामें स्थित रहता है। ऐसे ही संसारके सब सुख आनेपर भी जीवन्मुक्त महापुरुष अपनी मर्यादामें स्थित रहता

है, शान्त रहता है। परंतु भोगोंकी कामनावाला पुरुष कभी सुखी नहीं हो सकता। भोग नहीं होते, तब उनके अभावसे दुःखी होता है और भोग होते हैं, तब अभिमान करके दुःख पाता है, जैसे दादकी बीमारीमें खुजली और जलन दोनों होती हैं; खुजली अच्छी लगती है और जलन बुरी। इसीलिये सांसारिक भोग मिलनेसे जो सुख होता है, वह भी एक प्रकारकी व्यथा ही है। जीवन्मुक्त महात्माको कितने ही पदार्थ मिल जायँ, वह शान्त रहता है और पदार्थ न मिलें, तब भी वह शान्त रहता है। उसकी शान्ति पदार्थोंके अधीन नहीं होती। वह तो साधन-अवस्थामें भी सिद्धि-असिद्धिमें सम रहता है, फिर सिद्ध-अवस्थामें तो सम होगा ही।

सांसारिक पदार्थोंके पासमें होनेसे जिसे अभिमान होता है, वह हिंसा करता है। ऐसे ही जिसे गुणोंका अभिमान है, वह भी हिंसा करता है। गुण तो आने-जानेवाले हैं, उनको लेकर अभिमान करता है, तो जिनके पास वे गुण नहीं हैं, उनके मनमें जलन पैदा होती है; क्योंकि वे किसीसे कम तो हैं नहीं। सब-के-सब परमात्माके अंश हैं; अतः स्वरूपसे समान हैं। आने-जानेवाले पदार्थोंसे अपनेको सुखी मानना भूल है। जो अपनेको बड़ा और दूसरोंको नीचा समझकर दूसरोंका तिरस्कार करता है, वह भी हिंसा करता है। अपनेमें दूसरोंकी अपेक्षा विशेषताका अनुभव करना भी भोग है, और उससे दूसरोंकी हिंसा होती है। मान-बड़ाईका सुख भोगनेवाला भी हिंसा करता है; क्योंकि वह अपनेको मान-बड़ाईके योग्य समझकर अभिमान करता है और दूसरोंको अयोग्य समझकर उनका तिरस्कार करता है। वह सोचता है कि कहीं दूसरेकी बड़ाई हो जायेगी तो मेरी बड़ाईमें धब्बा लगेगा। ऐसे ही काम-धन्धा न करनेवाला मनुष्य आलस्यका सुख लेता है तो दूसरे कहते हैं कि हम तो मेहनत करते हैं और यह आरामसे बैठा माल खाता है तो यह भी हिंसा है। तो सांसारिक सुखोंको भोगनेवाला व्यक्ति खुद तो दुःख पाता ही है, दूसरोंको भी दुःखी करता है।

सभी भोग दुःखोंके कारण हैं। सांसारिक सुख पहले भी नहीं थे और बादमें भी नहीं रहेंगे। स्वयं अविनाशी होते हुए भी ऐसे नाशवान् सुखोंके वशमें होना अपनी हत्या करना ही है। सुखका भोगी व्यक्ति कभी पापों और दुःखोंसे बच ही नहीं सकता। इसलिये जो अपना कल्याण चाहता है, उसके लिए आवश्यक है कि वह किसी वस्तु, परिस्थिति, व्यक्ति आदिके कारण प्रसन्नता या सुखका अनुभव न करे। इनसे प्रसन्न होनेवाला व्यक्ति मुक्त नहीं होता। कर्मयोगमें यही खास बात है। कर्मयोगी सभी कर्तव्य-कर्म करता है, पर संयोगजन्य सुखका भोग नहीं करता। किसी बातसे वह प्रसन्नता नहीं खरीदता।

त्यागसे सुख होता है। जो पुरुष विरक्त, त्यागी होता है, उसे देखकर दूसरोंको सुख होता है। अतः जो संयोगजन्य सुखोंका भोगी नहीं है, ऐसा त्यागी पुरुष दूसरोंको सुख पहुँचाता है और संसारका बड़ा भारी उपकार करता है। त्यागी महापुरुष संसारका जितना उपकार करता है, उतना उपकार कोई कर सकता ही नहीं। उसे देखनेसे, उसकी बातें सुननेसे भी दूसरोंको सुख मिलता है। ऐसा महापुरुष यदि एकान्तमें बैठा हो, तो भी संसारके दुःखका नाश करता है। उसका भाव संसारको सुख पहुँचानेवाला होता है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

अपने प्रति वैर रखनेवालोंको भी वह सुख पहुँचाता है। जिसके हृदयमें अभिमान और स्वार्थ नहीं है, जिसका भाव दूसरोंको सुख पहुँचानेका है, उसकी भगवान्‌की उस शक्तिके साथ एकता हो जाती है, जो संसारमात्रका पालन कर रही है। इसलिये भगवान्‌का किया हुआ उपकार उसीका है। और उसका किया हुआ उपकार भगवान्‌का है। इसलिये जो सुखकी इच्छा और सुखका भोग करता है, वह अपना और संसारका नुकसान करता है। और जो सांसारिक सुखोंका त्यागी तथा भगवान्‌का अनुरागी है, वह संसारमात्रका उपकार करता है।

हमारा सम्बन्ध संसारसे नहीं है

लोगोंने ऐसा समझ रखा है कि जैसे सांसारिक वस्तुको पानेके लिये उद्योग करना पड़ता है, वैसे भगवान्‌को पानेके लिये भी उद्योग करना पड़ेगा। लोग शंका भी करते हैं कि बिना कोई उद्योग किये मुक्ति कैसे हो जायगी ? तो वास्तवमें यह बात ठीक तरहसे समझी हुई नहीं है, तभी शंका पैदा होती है। आप खयाल करें कि परमात्मा सब देश, काल, वस्तु आदिमें परिपूर्ण है। जैसे सांसारिक वस्तु कर्मोंके द्वारा प्राप्त की जाती है, वैसे परमात्मा प्राप्त नहीं किये जाते। सांसारिक वस्तुकी तरह परमात्माको बनाया या कहींसे लाया नहीं जाता। परमात्मा भी मौजूद हैं और हम भी मौजूद हैं।

देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥

(मानस १।१८५।३)

हमारा शरीर तो बनता-बिगड़ता है, संसार भी सब-का-सब अदृश्य हो रहा है, एक क्षण भी टिकता नहीं। परन्तु

परमात्मा और उसके अंश हम स्वयं नित्य-निरन्तर ज्यों-के-त्यों रहते हैं। इसलिये न परमात्माको बनाना है, न अपनेको बनाना है। तो फिर हमारे लिये क्या करना रह गया ? ये जो नष्ट हो रहा है न, इस संसारकी ओर जो हमारा खिंचाव है, इसे पकड़ना चाहते हैं, रखना चाहते हैं, बस, यही गलती है। इसे ही मिटाना है। इसी गलतीसे हम दुःख पाते हैं। जो रहनेवाला नहीं है, निरन्तर जा रहा है, उसे अपने साथ रखनेकी इच्छाको ही दूर करना है, और कुछ नहीं करना है। परमात्मा भी मौजूद हैं, हम भी मौजूद हैं और परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध भी मौजूद है। संसारके साथ हमारा सम्बन्ध है नहीं, केवल माना हुआ है। हम रहनेवाले और संसार जानेवाला, इनमें सम्बन्ध है कहाँ ? तो संसारके साथ हमने सम्बन्ध मान लिया, और जिसके साथ हमारा नित्य सम्बन्ध है, उसको भुला दिया, उसे नहीं माना—यही गलती हुई है। चाहे तो ऐसा मान लें कि परमात्माके साथ हमारा नित्य सम्बन्ध है, और चाहे ऐसा मान लें कि संसारके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है।

ठीक तरहसे, गहरा उतरकर समझें कि संसारके साथ हमारा सम्बन्ध है ही कहाँ ? शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके साथ हमारा कहाँ सम्बन्ध रहता है ! ये तो बनते-बिगड़ते रहते हैं, इनमें परिवर्तन होता रहता है, पर हम जैसे-के-तैसे रहते हैं। ऐसा ठीक अनुभवमें न आये, तो भी इस बातको पक्की तरह मान लें कि संसारके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। आप कहते हैं कि संसारका सम्बन्ध छूटता नहीं, पर मैं कहता हूँ कि संसारको पकड़नेकी सामर्थ्य किसीमें है ही नहीं। बात बिलकुल सच्ची है। बालकपनको आपने कब छोड़ा ? पर वह छूट गया। सब कुछ छूट रहा है—यह सच्ची बात है। सच्ची बातका आप आदर करें। इतना काम कर दें कि संसारका सम्बन्ध छूटता नहीं, यह भावना आप छोड़ दें। संसारका सम्बन्ध बिना किसी अभ्यासके अपने-आप छूट रहा है।

संसारसे सम्बन्ध हमने कई जन्मोंसे मान रखा है, इसलिये इसे छोड़नेमें देरी लगेगी। ऐसी बात है ही नहीं। पहाड़की एक गुफामें लाखों वर्षोंसे अंधेरा है, पर आज यदि कोई वहाँ प्रकाश करे तो अँधेरेको मिटते कितने वर्ष लगेंगे ? प्रकाश होते ही अंधेरा चट दूर हो जाता है। ऐसे ही ज्ञान होनेपर झूठा सम्बन्ध मिटते देर नहीं लगती। आप कृपा करके इन बातोंकी तरफ ध्यान दें। एकान्तमें विचार करें कि समझमें न आवे, तो भी बात तो यही सही है। भगवान्, शास्त्र, सन्त-महात्मा, ऋषि-मुनि, अनुभवी महापुरुष सभी यही बात कहते हैं कि संसारके साथ मनुष्यका सम्बन्ध है नहीं। आप भी प्रत्यक्ष देखते हैं कि सम्बन्ध रहता नहीं, निरन्तर छूट रहा है। पर आप इसे आदर नहीं देते। यदि इसे आदर दें तो माना हुआ सम्बन्ध रहेगा नहीं।

संसारसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं—यह बात बिलकुल सच्ची होनेपर भी आपकी पकड़में इसलिये नहीं आती कि आप इस बातपर मन-बुद्धिके द्वारा विचार करते हैं, और मन-बुद्धिसे आगे जो स्वयं हैं, वहाँ नहीं पहुँचते। यह बड़ी गलती है। आप स्वयं क्या हैं ? बालकपनमें आप जो थे अब भी आप वही हो। तो बालकपन आदि अवस्थाएँ बदल गयीं, पर आप स्वयं नहीं बदले। आपका होनापन ज्यों-का-त्यों रहा। तो अपना जो होनापन है, उसके साथ संसारका सम्बन्ध नहीं है। जिन मनबुद्धिके द्वारा आप विचार करते हैं, वे भी नष्ट होनेवाले हैं, वियुक्त होनेवाले हैं। तो वियुक्त होनेवाली वस्तुसे वियुक्त होनेवाली वस्तु कैसे ठहरेगी ? दोनों एक ही धातुके, एक ही प्रकृतिके हैं। बदलनेवालेके साथ न बदलनेवालेको मत मिलाओ, इतनी ही बात है। जैसे बाल्यावस्था चली गयी, वैसे युवावस्था और वृद्धावस्था भी चली जायगी, पर आपका होनापन वही रहेगा। अतः बदलनेवालेके साथ मेरा सम्बन्ध है नहीं—ऐसा आप इसी क्षण मान लें। इसमें देरीका काम नहीं।

आप यह मत देखें कि संसारका सम्बन्ध छोड़नेसे इन्द्रियोंमें कोई विलक्षणता आयी कि नहीं। किसान लोग हल चलाने, बीज बोनेपर कह देते हैं कि खेती हो गयी, जबकि अभी फसल पैदा होनेमें देरी लगेगी। पर खेती हो ही गयी, इसमें अब संदेह नहीं है। तो आपने बात मान ली कि संसारसे मेरा सम्बन्ध नहीं, तो मानो खेती हो गयी ! अब मन-बुद्धि-इन्द्रियोंपर इसका क्या असर पड़ा—इसे मत देखो। असर नहीं दीखनेका कारण है कि आप उस असरको मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे ही देखना चाहते हो और मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें ही देखना चाहते हो। मैं कहता हूँ कि आप इसपर दृष्टि मत डालो। दृष्टि उसपर डालो जो निरन्तर रहनेवाला है। कितनी सुगम बात है ? कितनी ऊँची बात है ? इसमें कोई अभ्यास नहीं। सुगमता-कठिनता, अच्छा-मन्दा सब मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें है, जो परिवर्तनशील हैं, इससे अलग जो परिवर्तनशील नहीं है, वह तो ज्यों-का-त्यों है। इस वास्ते मन-बुद्धि आदिके लक्षण बिलकुल मत देखो। अपनेमें यानी स्वरूपमें बदलना कभी होता ही नहीं। बदलनेवालेकी ओर मत देखो, उसकी परवाह मत करो। निरन्तर रहनेवाले अपने स्वरूपको देखो। फिर मुक्ति स्वतःसिद्ध है।

★

भगवत्प्राप्ति सहज है

हम करेंगे, तब काम होगा—ऐसा एक क्रियाका विषय होता है। खेती करेंगे, तब होगा; व्यापार करेंगे, तब होगा; नौकरी करेंगे तब होगी—इस प्रकार एक धारणा रहती है कि हरेक काम करनेसे ही होगा। इसी तरह भगवत्प्राप्ति भी करनेसे होगी और भगवत्प्राप्तिके लिये जितना समय, बल, बुद्धि लगायेंगे, जितना अभ्यास करेंगे, उतना ही हम भगवान्‌के नजदीक पहुँचेंगे तथा ऐसा करते-करते उसे प्राप्त कर लेंगे—ऐसी धारणा रहती है। तो इसमें एक मार्मिक बात जाननेकी आवश्यकता है। वह यह कि परमात्मा पहलेसे ही मौजूद हैं। हम भी उस परमात्माके नजदीक हैं। परमात्मा दूर हैं; अतः धीरे अथवा तेजीसे चलकर वहाँ पहुँचेंगे, परिश्रम भी होगा, रास्ता भी कटेगा, समय भी लगेगा ही—ऐसी बात नहीं है। जहाँ हम परमात्माको प्राप्त करना चाहते हैं और जहाँ हम अपनी स्थितिको मानते हैं—वहीं परमात्मा पूरे-के-पूरे विराजमान हैं।

परमात्माको पानेका अधिकार दूसरोंका है वे किसी औरके कब्जेमें हैं, उन्हें छुड़ायेंगे तब काम बनेगा। उनकी गरज करेंगे तो वे कुछ निहाल करेंगे और उनकी प्राप्ति होगी—ऐसी बात बिलकुल नहीं है। परमात्मा किसीके अधिकारमें नहीं हैं, उनपर किसीका कब्जा नहीं है, वे किसी स्थानपर बन्द नहीं हैं, वे किसी ज्ञान आदिसे बँधे हुए नहीं हैं। वे बिलकुल खुले हैं। उनपर हमारा पूरा हक लगता है; क्योंकि हम उन्हींके अंश हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७), ***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'*** (मानस ७।११७।१)। जैसे बालक होता है, तो उसे अपनी माँकी गोदमें जानेके लिये क्या नया काम करना पड़ता है? क्या अभ्यास करना पड़ता है? क्या उसे शुद्ध होना पड़ता है? क्या उसे विद्वान्, बलवान् या धनवान् बनना पड़ता है? वह तो माँ है, जैसा-का-तैसा ही माँके पास जा सकता है। भगवान् तो उस माँसे भी विशेष अपने और समीप हैं। कारण कि माँ तो एक जन्मकी होती है और भगवान् सदाके हमारे हैं। भगवान् तो सदासे ही हमारे माता, पिता, भाई, बन्धु, सम्बन्धी, कुटुम्बी हैं। हमसे नजदीक-से-नजदीक वस्तु भगवान् ही हैं। वे शरीरसे भी अधिक नजदीक हैं, क्योंकि शरीर तो परिवर्तनशील होनेसे हमसे अलग है। शरीरकी संसारके साथ एकता है और हमारी भगवान्‌के साथ एकता है। इसलिये उन्हें पानेके लिये समय, बल, बुद्धि लगानी पड़े—ऐसी बात नहीं है। केवल उधर हमारी दृष्टि नहीं है। हमारी दृष्टि नाशवान् पदार्थोंकी तरफ है। नाशवान् पदार्थोंमें भी परमात्मा ज्यों-के-त्यों परिपूर्ण हैं, परन्तु उधर दृष्टि न रहनेसे वे नहीं दीखते, नाशवान् पदार्थ दीखते हैं। जैसे हम गाड़ीमें जा रहे हैं। किसी स्टेशनपर गाड़ी ठहरी। अधिक देर ठहरी, कारण कि सामने दूसरी गाड़ी आ रही है। सामनेसे गाड़ी आयी और दूसरी लाइनमें खड़ी हो गयी। हम उस गाड़ीकी तरफ देखते हैं। वह गाड़ी चल पड़ती है तो मालूम होता है कि हमारी गाड़ी चल पड़ी, जबकि हमारी गाड़ी ज्यों-कि-त्यों खड़ी है। इसका पता तब लगेगा, जब हम स्टेशनकी तरफ देखेंगे। इसी प्रकार चलनेवाले संसारको न देखकर स्थिर रहनेवाले परमात्मतत्त्वको देखें। तो वह परमात्मा न कहींसे आया और न कहीं गया, वह तो ज्यों-का-त्यों है। चलनेवाला तो संसार है।

सांसारिक वस्तुकी प्राप्ति समय पाकर होगी; क्योंकि वह हमारे पास नहीं है। अतः उसके पास जाना पड़ेगा या उसे अपने पास लाना पड़ेगा, उसमें परिवर्तन करना पड़ेगा अथवा उसका निर्माण करना पड़ेगा, तब वह वस्तु मिलेगी। संसारके लिये तो यह कायदा है, पर परमात्माके लिये यह कायदा नहीं है। जो नित्य-निरन्तर मौजूद हैं, उसे ही प्राप्त करना है। पर उधर दृष्टि न रहनेसे वह दूर दीखता है, उसमें और हमारेमें भेद दीखता है। इसका कारण यह है कि नाशवान्‌की तरफ हमारी दृष्टि चली गयी।

अब यह मान लें कि परमात्मा सब देश और कालमें हैं, सब वस्तुओंमें हैं और खास अपनेमें हैं। शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि अपने नहीं हैं। ये सब परमात्माके हैं। जो अपने नहीं हैं, उन्हें अपना मान लेनेसे जो अपने हैं, वे अपने नहीं दीखते।

गीतामें भगवान् कहते हैं—**'यो मां पश्यति सर्वत्र'** (गीता ६।३०) 'जो मुझे सब जगह देखता है', और **'मया ततमिदं सर्वम्'** (गीता ९।४) 'यह जो दीखता है, इसमें मैं हूँ' तथा **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** (गीता १८।६१) 'मैं सब प्राणियोंके हृदयमें विराजमान हूँ' और **'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'** (गीता १५।१५) 'मैं सबके हृदयमें पूरा-का-पूरा अच्छी तरह प्रविष्ट हूँ।' यह जाननेयोग्य तत्त्व हृदयमें विराजमान है—**'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'** (गीता १३।१७)।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष, पण्डित, मूर्ख, पशु, पक्षी—कोई भी क्यों न हो, सबमें परमात्मा हैं। वे परमात्मा सबके हैं और परम सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५।२९)। एक विलक्षण बात है कि वे परमात्मा सबको निरन्तर अपनी तरफ खींच रहे हैं, बुला रहे हैं। इसका

क्या पता ? इसका पता बड़ा प्रत्यक्ष है कि किसी भी परिस्थिति, अवस्थामें आपको वे टिकने नहीं देते। आप किसी भी समुदायमें रहो, किसी भी वस्तुसे सम्बन्ध जोड़ो—वह नहीं टिकेगा। किसीके साथ भी भगवान् टिकने नहीं देते; क्योंकि तुम इनके साथी नहीं हो और वे तुम्हारे साथी नहीं हैं। बालकपन छूट जाय तो हम जवानीको पकड़ लेते हैं, जवानी गयी तो बुढ़ापेको पकड़ लेते हैं। आप पकड़ते हो और भगवान् छुड़ाते हैं। यह भगवान्‌का क्रियात्मक उपदेश है। एक तो कहकर बताया जाता है और एक करके बताया जाता है। तो वे शास्त्रोंके, सन्तोंके द्वारा कहते ही हैं और करते यह हैं कि आपको किसीके साथ टिकने नहीं देते। मानो कहते हैं कि मेरी तरफ ही आओ, और कहीं मत टिको, और किसीको अपना मत मानो; क्योंकि वास्तवमें ये तुम्हारे हैं नहीं, मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरे हो।

प्रश्न—जो दिखायी देता है, इसमें परमात्मा हैं या जो दिखायी देता है, वह परमात्मा ही हैं ? दोनोंमें कौन-सा सही है ?

उत्तर—दोनों ही सही हैं। देखो, यदि प्रकृति और पुरुष (परमात्मा और उनकी शक्ति)—ये दो मानते हो, तब तो संसारमें परमात्मा हैं। और यदि एक परमात्माको ही मानते हो, तब परमात्मा ही हैं। साधनमें कौन-सा आसान है, इसमें साधककी धारणा है। यदि उसकी धारणा है कि सब कुछ परमात्मा ही हैं, तो ठीक है। पर हरेकके लिये यह बात कठिन है; क्योंकि जो दिखायी देता है, वह तो एकदम बदलता है और परमात्मा बदलते नहीं, तो फिर यह बदलनेवाला परमात्मा कैसे ?—ऐसी शंका अधिक हो सकती है। इसलिये उसमें परमात्मा हैं— ऐसा माननेमें शंका कम होती है। ये दो ही नहीं, चार बातें हैं—चाहे तो संसारमें परमात्माको मान लो, चाहे संसारको परमात्मा ही मान लो और चाहे यह संसार परमात्माका है, ऐसा मान लो। सबका नतीजा एक ही होगा। सबमें परमात्मा है—यह बात सुगम पड़ेगी। इससे भी सुगम यह बात पड़ेगी कि संसारमात्र परमात्माका है; इसके मालिक परमात्मा हैं—ऐसा मानकर सबकी सेवा करो। खास बात है कि लक्ष्य परमात्माका होना चाहिये, फिर सब ठीक हो जायगा।

संयोगमें वियोगका अनुभव

एक विशेष लाभकी और बहुत सीधी-सरल बात है। जीनेकी इच्छा, करनेकी इच्छा और पानेकी इच्छा—ये तीन इच्छाएँ हैं। ये तीन इच्छाएँ जितनी प्रबल होंगी, उतनी ही संसारमें अधिक फँसावट होगी और वास्तविक तत्त्वको समझनेमें बड़ी भारी बाधा लगेगी। यदि इच्छाएँ मिट जायँ, तो बहुत-ही सीधा काम है।

कल जो बात कही थी, उसे यह जीनेकी इच्छा ही समझने नहीं देती। इस इच्छासे मिलता कुछ नहीं, फायदा कुछ नहीं। सिवाय नुकसानके कोई फायदा नहीं। यह जो बात है कि जितनी उम्र बीत गयी, उतने हम मर गये, तो जीनेकी इच्छा प्रबल होनेसे ही यह बात समझमें नहीं आती। अब पावभर उम्र चली गयी तो पावभर मर गये, आधी उम्र चली गयी तो आधे मर गये और पूरी उम्र चली गयी तो पूरे मर गये। अब इसमें शंका क्या है ? जैसे सरोवरमें जल आ जाय, तो पानी समाप्त होनेपर कहते हैं 'पानी खूट गया' (समाप्त हो गया) ऐसे ही आदमी मर जाय तो कहते हैं 'खूट गया'। पानी जिस दिन भरा, उसी दिन नहीं खूटा। वह खूटते-खूटते खूट गया। पानी तो निरन्तर खूटता है और एक दिन पूरा खूट गया। ऐसे ही मनुष्य निरन्तर खूटता है। अब इसमें नयी बात कौन-सी ? तो यह सब-का-सब संसार खूट रहा है, खत्म हो रहा है।

महाभारतके वनपर्वमें यक्ष और महाराज युधिष्ठिरका संवाद आता है। वहाँ यक्षने प्रश्न किया कि आश्चर्यकी बात क्या है ? इसका उत्तर महाराज युधिष्ठिर देते हैं।

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

(महा० वन० ३१३। ११६)

'संसारमें प्रतिदिन ही जीव यमलोकको जा रहे हैं, फिर भी बचे हुए लोग यहाँ सदा जीते रहनेकी इच्छा करते हैं। इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा ?' **'अहन्यहनि'** अर्थात् प्रत्येक दिन ही प्राणी यमलोकमें जा रहे हैं। प्रत्येक दिन कैसे ? जिस दिन जन्मा है, उसी दिनसे यमलोक नजदीक आ रहा है। तो जितने दिन बीत गये, उतनी उम्र तो कम हो ही गयी, उतनी मौत नजदीक आ ही गयी। इसमें सन्देह नहीं है। दर्शन प्रतिक्षण अदर्शनमें जा रहा है। एक दिन नष्ट हो जायगा तो दीखेगा नहीं। संसार प्रतिक्षण 'नहीं' में जा रहा है। यदि वर्तमानमें ही सब-का-सब नहींमें मान लें तो वर्तमानमें ही तत्त्व-साक्षात्कार, ब्रह्मज्ञान, तत्त्वज्ञान, मुक्ति, आत्म-साक्षात्कार हो जाय।

मरनेवालोंका सम्बन्ध अपने साथ है नहीं। हम तो अमर हैं—***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी।'*** अनादिकालसे हम तो वही हैं और शरीर उत्पन्न हो-होकर नष्ट होते हैं। तो शरीरके

रहते हुए ही हम उससे वियोगको स्वीकार कर लें, तो परमात्मामें अपनी स्थितिका अनुभव स्वतः हो जाय। जिसका वियोग हो रहा है और जिसका वियोग अवश्यम्भावी है, संयोगके रहते ही उसके वियोगका अभी अनुभव कर लें कि इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं।

साधारण-से-साधारण घरोंके अनुभवकी बात है। भाई-बहन खेलते-खेलते लड़ पड़ते हैं तो माँ लड़केसे कहती है कि 'अरे भाई बाईने क्यूँ मारे, आ तो आपरे घरे जाई' (लड़कीको क्यों मारता है, यह तो अपने घर जायगी)। अब वह छोटी बच्ची है, सगाई भी नहीं हुई, पर उसकी भावना क्या है? कि यह अपने घर जायगी, यहाँ नहीं रहेगी। ऐसे ही यह शरीररूपी लड़की भी अपने घर जायगी, यहाँ नहीं रहेगी। तो यह सब-का-सब जानेवाला है। जा रहा है हरदम। विवाहका दिन नजदीक आ रहा है कि नहीं? उसके रवाना होनेका दिन नजदीक आ रहा है कि नहीं? तो आज ही मान लो कि यह अपनी नहीं है। हाँ, लड़कीका पालन-पोषण कर दो, उसे भोजन दे दो, कपड़ा दे दो। लड़कीकी तरह यह सारा संसार जानेवाला है। इसकी सेवा कर दो। यह सेवा करनेके लिये ही है, लेनेके लिये नहीं। क्या लड़कीके घरसे भी लिया जाता है। लड़कीको देते हैं कि उससे लेते हैं, बताओ? संसारसे लेनेकी इच्छा पाप है। लेनेकी इच्छा छोड़ दो तो उससे सम्बन्ध छूट जायगा और आपकी मुक्ति हो जायगी। जीनेकी इच्छाके मूलमें कारण है—शरीरसे एकता मानना। जिस संयोगका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है, उस संयोगमें सद्भाव कर लिया, उसे सच्चा मान लिया—यह गलती की। इस कारण जन्मना-मरना पड़ेगा।

जो मौतका भय है, इसमें बड़ा सुन्दर तत्त्व भरा हुआ है, जो स्वयं है, वह तो मरता नहीं और जो शरीर है वह रहता नहीं। जो रहता नहीं, उसे मरनेका भय नहीं हो सकता और जो मरता नहीं, उसे भी मरनेका भय नहीं हो सकता। ध्यान दें जो हरदम मर ही रहा है, वह तो मौतरूप ही है। मौतको मौतसे क्या भय? और जो मरनेवाला है ही नहीं, उसे मौतसे भय कैसे लगे? तो न तो स्वयंके मरनेका भय है, न शरीरके मरनेका भय है। जिस शरीरका अपनेसे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है, उसके साथ हमने संयोग मान लिया और उस संयोगकी जो सत्ता मान ली, वही मर रही है। यही मरनेका भय है। इसका उपाय क्या है? उपाय है—वियोग मान लेना। प्रतिक्षण वियोग हो रहा है, संयोग है ही नहीं। इसीका नाम है मुक्ति।

संयोगकी सत्ता मान रखी है—यही गुत्थी है, यहीं चिज्जड-ग्रन्थि है, यही बन्धन है। जिसका निरन्तर वियोग हो रहा है, उसके संयोगको सच्चा मान लिया—इसीके ऊपर सभी अनर्थ हैं। वियोगरूपी अग्निमें यह संयोग लकड़ीकी भाँति निरन्तर जल रहा है। तो संयोग सच्चा नहीं है, वियोग सच्चा है। इसलिये अभी-अभी दृढ़तासे इस वियोगको स्वीकार कर लें तो इसी क्षण मुक्ति हो जाय, कल्याण हो जाय। अब इसमें क्या जोर लगता है? संयोगको मानना ही बन्धन है और वियोगका अनुभव करना ही मुक्ति है। वियोगको स्वीकार कौन करे? जो मरना नहीं चाहे, वह। पर अनुभव करनेकी गरज नहीं है; इसलिये देरी हो रही है। गरज इसलिये नहीं है कि जीनेकी इच्छा है और उसमें है संयोगजन्य सुखभोग और संग्रहकी इच्छा, जो खास बाधा है।

इससे भी एक बारीक बात है। मेरा निवेदन है, आप ध्यान देकर सुनें। शरीर-संसारका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है—ऐसा निश्चय करके बैठ जायँ। कुछ भी चिन्तन न करें। फिर चिन्तन हो तो वह भी मिट रहा है। मिटनेके प्रवाहका नाम ही चिन्तन है। मिटनेवालेके साथ हमारा सम्बन्ध है ही नहीं। यह सब नित्य-निरन्तर मिट रहा है, और हम इसे जाननेवाले हैं, इससे अलग हैं। ऐसे अपने स्वरूपको देखें। दिनमें पाँच-छः बार पन्द्रह-पन्द्रह मिनट ऐसा कर लें। फिर इस बातको बिलकुल छोड़ दें। फिर याद करें ही नहीं। याद नहीं करनेसे बात भीतर जम जायेगी। इतनी विलक्षण बात है यह! इसे हरदम याद रखनेकी जरूरत नहीं है। याद करो तो पूरी कर लो और छोड़ दो तो पूरी छोड़ दो, फिर याद करो ही नहीं। जैसा रोजाना काम करते हैं, वैसा-का-वैसा ही करते जायँ फिर बात एकदम दृढ़ हो जायेगी। यह याद करनेकी चीज ही नहीं है। यह तो केवल समझ लेनेकी, मान लेनेकी चीज है। जैसे यह बीकानेर है—इसे क्या आप याद किया करते हैं? याद करनेसे तो और फँस जाओगे; क्योंकि याद करनेसे इसे सत्ता मिलती है। मिटानेसे सत्ता मिलती है। हम इसे मिटाना चाहते हैं, तो इसकी सत्ता मानी तभी तो मिटाना चाहते हैं! जब हम सत्ता मानते ही नहीं, तो क्या मिटावें? तो इसकी सत्ता ही स्वीकार न करें।

★

स्वभाव-सुधारकी आवश्यकता

ऐसी-ऐसी बातें याद आती हैं कि अगर एकपर भी ध्यान दिया जाय, तो एकदम लाभ हो जाय। ऐसी कई बातें हैं। उनमेंसे एक बात कहता हूँ। मनुष्योंने प्रायः भजन, स्मरण, जप, कीर्तन, सत्संग, स्वाध्याय, व्रत-नियम आदिको महत्त्व दे रखा है। इसमें भी भजन- स्मरणको महत्त्व देते हैं। भगवान्‌के सम्बन्धकी जितनी महिमा है, उतनी महिमा और किसीकी नहीं है, यह सच्ची बात है। परन्तु फिर भी जैसा लाभ होना चाहिये, वैसा नहीं हो रहा है। उसका कारण क्या है ? वह यह कि मनुष्य अपने स्वभावके सुधारकी तरफ ध्यान नहीं देता। पुराना जैसा स्वभाव है वैसा ही करते हैं। तो उससे क्या होगा ? किया हुआ भजन-स्मरण कहीं जायगा नहीं, उसका नाश नहीं होगा, परंतु वर्तमानमें उसका जीवन शुद्ध, निर्मल चमकेगा नहीं।

स्वभावमें दो भयंकर व्याधियाँ हैं—संग्रह करना और सुख भोगना। इससे स्वार्थ और अभिमान—ये विशेष दोष आते हैं। इनसे स्वभाव बहुत बिगड़ता है। अपना भी बिगाड़ होता है और दूसरोंका भी। तो अगर पारमार्थिक उन्नति चाहते हैं तो स्वभावका सुधार करें। और जो स्वभावका सुधार है, वह इतने ऊँचे दर्जेकी चीज है कि भगवान्‌को आस्तिक मानते हैं, नास्तिक नहीं मानते, परंतु सुधरे हुए स्वभाववालोंको आस्तिक और नास्तिक—दोनों ही मानेंगे। मनुष्य किसी सम्प्रदायका क्यों न हो, उसका सुधरा हुआ स्वभाव सभीको अच्छा लगेगा, सबके भीतर उसका असर पड़ेगा। जिसका स्वभाव बिगड़ा हुआ है, वह अपने सम्प्रदायवालोंको अच्छा नहीं लगेगा, फिर दूसरे सम्प्रदायवाले उसका क्या आदर करेंगे !

अपने स्वभावका सुधार करना बहुत आवश्यक है। भगवान्‌ने तो इतना कह दिया कि दैवी सम्पत्ति मुक्तिके लिये है और आसुरी सम्पत्ति बाँधनेके लिये है—

'दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।'

(गीता १६। ५)

स्वार्थबुद्धि, भोगबुद्धि—यही आसुरी स्वभाव है। असुर उसे नहीं कहते, जिसके सींग होते हैं। जो स्वार्थमें पड़कर पैसोंके लिये, भोगके लिये अनर्थ करते हैं, वे असुर हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि राक्षसी, आसुरी और मोहिनी स्वभाववाले लोग मेरा भजन नहीं करते, अपितु मेरी अवहेलना करते हैं, तिरस्कार करते हैं (गीता ९। ११-१२)। राक्षसी स्वभाववाले वे हैं जो क्रोधमें आकर दूसरोंका नाश करें, आसुरी स्वभाववाले वे हैं, जो अपने स्वार्थके लिये, अपने सुखके लिये दूसरोंका नाश करें और मोहिनी स्वभाव-वाले वे हैं जो मूढ़तासे बिना किसी मतलबसे दूसरोंका नाश करें, दूसरोंका नुकसान करें। आजकल आसुरी स्वभाव बहुतोंमें है। क्रोध तो आने-जानेवाला है, मूढ़ता सत्संगसे नष्ट हो जाती है, परंतु यह स्वार्थ-दोष हरदम रहता है। अपने शरीरके सुख-आराम और अनुकूलताकी इच्छा आसुरी प्रकृति है, जो हरदम रहती है।

क्रोध और मूढ़ता (मोह) उतने भयंकर और नुकसान करनेवाले नहीं, जितना स्वार्थ-दोष है। साधकके लिये स्वार्थबुद्धि बहुत नुकसानदायक है। वह भजन, ध्यान, स्वाध्याय आदि तो करने लग जाता है, पर स्वार्थ-दोषकी ओर उसकी वृत्ति नहीं जाती कि इधर भी अनर्थ हो रहा है। शरीरके आराम, भोग, सुख, संग्रहकी इच्छा और किसी तरह अपना मतलब सिद्ध करनेका भाव बड़ा भारी नुकसान करता है। इससे आदमी ऊँचा नहीं उठ सकता। इसलिये सज्जनो ! अपने स्वभावका सुधार करो। स्वार्थ-बुद्धिका त्याग करके दूसरोंका हित करो। इसके बिना बीमारी मिटेगी नहीं।

आजके जमानेमें तो स्वार्थ-बुद्धिके त्यागकी बड़ी भारी आवश्यकता है। इस स्वार्थके कारण झूठ, कपट, बेईमानी, ठगी, धोखेबाजी, विश्वासघात आदि न जाने कितने-कितने पाप हो रहे हैं, जिनका कोई अन्त नहीं। जैसे भूखेके लिये अन्नकी और प्यासेके लिये जलकी जरूरत होती है, ऐसे ही इस जमानेमें स्वार्थ-त्यागियोंकी बड़ी भूख लगी है, भूखा मर रहा है हमारा देश ! इसलिये कोई आदमी थोड़ा भी स्वार्थका त्याग और दूसरेका हित करता है, तो वह बहुत ही जल्दी विलक्षण हो सकता है।

दूसरेको सुख कैसे मिले ? दूसरेको लाभ कैसे हो ? दूसरेका हित कैसे हो ?—यह एक भाव रखनेसे स्वार्थका बड़ी सुगमतासे त्याग हो जाता है और स्वभावका सुधार हो जाता है। परंतु जो अपने स्वार्थके लिये दूसरेको सुख पहुँचाता है कि दूसरेपर मेरा अच्छा असर पड़ेगा, दूसरे मुझे अच्छा समझेंगे, तो इससे स्वभावमें असली सुधार नहीं होता। ऐसा करना सेवाकी बिक्री करना है। अतः दूसरेको इस तरह सुख पहुँचाये, इस तरह सेवा करे कि दूसरेको पता भी न लगे। जिसकी सेवा की जाय, उसे भी पता न लगे और दूसरोंको तो बिलकुल पता न लगे। तब कहीं स्वभाव सुधर सकता है।

मनुष्य जो अच्छा कार्य करता है, बदलेमें वह सुख-आराम, मान-बड़ाई आदि खरीद लेता है। अच्छा कार्य करते ही वह अभिमानको पकड़ लेता है। यह अभिमान सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्तिकी जड़ है। जैसे महाभारतके नलोपाख्यानमें आया है कि बहेड़ेकी छायामें कलियुग रहता है, ऐसे ही इस

अभिमानकी छायामें कलियुग रहता है। जितने दुर्गुण-दुराचार हैं, सब इसकी छायामें रहते हैं। यह अभिमान सब किये-करायेको नष्ट कर देता है। और आजकल इस अभिमानको ही हर एक बातसे खरीदते हैं! दान-पुण्य करें तो, भजन-स्मरण करें तो, जप-ध्यान करें तो, उपकार करें तो, सेवा करें तो—इस अभिमानको ही खरीदते हैं, जो आसुरी-सम्पत्तिका असली मूल है। इसका त्याग करनेसे स्वभाव सुधरेगा। कोई मुश्किल काम नहीं है। विचार पक्का हो जाय कि हमें तो अभिमान त्यागना ही है, तो त्याग हो जायगा। नहीं तो बड़ी हिम्मतका काम है। रोजाना तीन लाख नाम-जप कर लेंगे और सब काम कर लेंगे, पर अभिमान नहीं छोड़ेंगे! साधु हो जायेंगे, त्याग कर देंगे, पर 'मैं त्यागी हूँ' ऐसे त्यागका अभिमान वैसा-का-वैसा रखेंगे।

अहङ्कार राक्षस महान् दुःखदायी सब भाँति।
जो छूटे इस दुष्टसे सोई पावै शान्ति॥

यह अहंकार महान् राक्षस है। इसलिये सज्जनो! स्वभावको शुद्ध, निर्मल बनाओ। जो दुर्गुण-दुराचार दीखे, उसे निकालो। फिर भजन-स्मरणका बहुत विलक्षण प्रभाव होगा। ये राक्षस (स्वार्थ और अभिमान) साथमें बैठे हैं, इसलिये उसका प्रभाव नहीं होने देते; साधकको असंग नहीं होने देते। इसलिये स्वभावका सुधार करनेकी, उसे शुद्ध बनानेकी बड़ी भारी आवश्यकता है।

═══ ★ ═══

अवगुणोंको मिटानेका उपाय

अपना अवगुण अपनेको दीखने लग जाय, यह बहुत बढ़िया बात है। यह जितना स्पष्ट दीखेगा, उतना ही उस अवगुणके साथ सम्बन्ध-विच्छेद होगा—यह एक बड़े तत्त्वकी बात है।

जब साधकको अपनेमें दोष दिखायी देता है, तब वह उससे घबराता है और दुःखी होता है कि क्या करूँ, मैं साधक कहलाता हूँ और दशा क्या है मेरी! तो यह दुःखी होना अच्छा ही है। परंतु यह दोष मेरेमें है—ऐसा मानना अच्छा नहीं। ध्यान दें, साधकके लिये बहुत बढ़िया बात है। जैसे आँखमें लगा हुआ अंजन आँखको नहीं दीखता, पर दूसरी सब चीजें दीखती हैं, ऐसे ही जबतक अवगुण अपने भीतर रहता है, तबतक वह स्पष्ट नहीं दीखता और जब अवगुण दीखने लगे, तब समझना चाहिये कि अब अवगुण मुझसे कुछ दूर हुआ है। अगर दूर न होता, तो दीखता कैसे? जितना स्पष्ट, साफ दीखे, उतना ही वह अपनेसे दूर जा रहा है। अत्यन्त दूरकी वस्तु और अत्यन्त नजदीककी वस्तु—दोनों ही आँखोंसे नहीं दीखतीं। इसलिये अवगुण दीखनेपर एक प्रसन्नता आनी चाहिये कि अब दोष मेरेमें नहीं है; अब वह निकल रहा है, मिट रहा है। भूल तभी होती है, जब साधक उसे अपनेमें मान लेता है।

अपनेमें दोषको मान लेना बहुत बड़ी गलती है। अपनेमें माननेसे दोषको सत्ता मिलती है, जबकि दोषकी स्वतन्त्र सत्ता है नहीं। आपकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। दोषको अपनेमें माननेसे वह सत्ता दोषको मिलती रहती है। इससे वह दोष जीता ही रहता है, मरता नहीं; क्योंकि उसे आपका बल मिल गया।

दोष अपनेमें नहीं है—इसकी एक पहचान तो यह हो गयी कि वह दीखने लग गया। दूसरी पहचान यह है कि यदि अपनेमें दोष हो, तो उसे सब समयमें दीखते रहना चाहिये। जबतक 'मैं हूँ' यह ज्ञान रहता है, तबतक उसके साथ-साथ दोषके रहनेका भी ज्ञान होता है क्या? यह हरदम नहीं रहता। वह आता और जाता है। तो ऐसा आगन्तुक दोष अपनेमें कैसे हो सकता है! मैं बार-बार आप लोगोंसे कहता हूँ कि अपनेमें दोषको मानना बहुत बड़ी गलती है। इतनी बड़ी गलती है कि मानो दोषको निमन्त्रण देकर बुलाते हैं कि हमारे यहाँसे कहीं चला न जाय! इस प्रकार आप दोषको आग्रहपूर्वक निमन्त्रण देकर रखते हैं।

मूलमें दोष अपनेमें नहीं है; क्योंकि—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस ७। ११७। १)

स्वयं ईश्वरका अंश, सदा रहनेवाला, चेतन, ज्ञानस्वरूप है। यह अमल है अर्थात् इसमें मल नहीं है और सहज सुखराशि है। सहज-स्वाभाविक ही सुखराशि होनेपर भी जो यह दूसरेसे (संयोगजन्य) सुख चाहता है, यह गलती करता है। जब दूसरेकी तरफसे वृत्ति हटकर अपने स्वरूपमें स्थिति होगी, तब उस सहज सुखका अनुभव होगा।

ना सुख काजी पंडिताँ ना सुख भूप भयाँ।
सुख सहजाँ ही आवसी तृष्णा रोग गयाँ॥

दूसरेसे सुखकी इच्छा, लोलुपताके मिटनेसे ही सहज सुख प्रकट होगा, और सहज सुखसे मन स्थिर होगा। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा।

(मानस ७। ९०। ४)

जबतक निज सुख नहीं मिलता, तबतक मन स्थिर नहीं

होगा। जब निज सुख मिल जायगा—अपने पासमें ही सुख मिल जायगा, तब वह मन कहीं जायगा ही नहीं। इन्द्रियाँ भी अपने-आप वशमें हो जायँगी, स्थिर हो जायँगी।

ये दोष पुष्ट होते हैं, एक तो अपनेमें दोष माननेसे, एक दूसरेका दोष देखनेसे और दूसरेके दुःखकी परवाह न करनेसे। ध्यान दें, दूसरेके दुःखकी परवाह न करनेसे अपनेमें दोष स्थित होता है, कायम होता है। हर समय सावधान रहें कि कहीं मेरे द्वारा दूसरेको दुःख तो नहीं हो रहा है ? मेरे बोलनेसे, चलनेसे, बैठनेसे किसीको दुःख या विक्षेप तो नहीं हो रहा है ? मैं कोई क्रिया करता हूँ, तो उससे दूसरेको दुःख तो नहीं हो रहा है ? गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

(५।२५)

सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हुए पुरुष निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२।४)

सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हुए पुरुष मुझे ही प्राप्त होते हैं। तो साधक निर्गुण-तत्त्वकी प्राप्ति चाहे अथवा सगुण-तत्त्वकी— उसके लिये किसीको दुःख न देनेकी वृत्तिकी बड़ी भारी आवश्यकता है। दूसरेको कष्ट, दुःख देनेवालेकी तत्त्वमें स्थिति नहीं होती। संत-महात्माओंके सिद्धान्त हैं, गीताके सिद्धान्त हैं, भगवान्‌के सिद्धान्त हैं, उनके विरुद्ध तो करना ही नहीं है, मृत्यु भले ही हो जाय। अन्यथा सिद्धान्तके विरुद्ध चलनेसे महान् अपराध होता है।

परमार्थ-पत्रावली पुस्तकमें मैंने एक दिन एक पत्र देखा था। बहुत सुन्दर पत्र है वह। वह पत्र सेठजीने भाईजीको लिखा था। बहुत पुराना पत्र है। उसमें लिखा है कि जैसे सुनारके पास सोना गलानेकी कुटाली होती है, उसमें सोनेको गलाकर उसे तपाते हैं तो सोनेमें जो मैल होती है, वह तो बहुत जल्दी जल जाती है, परंतु उसमें जो विजातीय धातु होती है, वह जल्दी नहीं जलती। ऐसे ही अन्तःकरणमें जो कूड़ा-करकट या मैल है, वह तो जल जाता है, परंतु जो विजातीय धातु है—जैसे, दूसरेको दुःख देना, दूसरेके दोष देखना, शास्त्रों और सन्त-महात्माओंके विरुद्ध चलना आदि, इसका जलना कठिन हो जायगा। साधनरूपी आग और सत्संगरूपी फूँक हरदम लगती रहेगी, तब तो वह जलता-जलता साफ हो जायगा, स्वच्छ हो जायगा। स्वरूप तो आपका स्वच्छ, शुद्ध है ही।

दूसरोंका अहित करनेवालेका बड़ा भारी नुकसान होता है। दूसरोंका हित करनेवालेको गीताने 'परम योगी' माना है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३२)

तात्पर्य यह है कि जैसे कोई हमारी चीज ले जाय तो हमें बुरा लगता है, हमारेमें दोष देखता है तो बुरा लगता है, हमारी निन्दा करता है तो बुरा लगता है, हमारा तिरस्कार करता है तो बुरा लगता है, हमारे मनके विरुद्ध करे तो बुरा लगता है—इस प्रकार '**आत्मौपम्येन**' अपने शरीरकी उपमा देकर सोचे कि दूसरेका ऐसा बर्ताव मुझे बुरा लगता है, तो वैसा बर्ताव हम किसीसे नहीं करेंगे। भोगी आदमी तो इसका यह अर्थ लेता है कि जिससे अपनेको सुख हो, वह काम करना है और जिससे अपनेको दुःख हो वह काम नहीं करना है एवं बुरा बर्ताव करनेवालेको खत्म करना है, हटाना है। परंतु जो साधक होता है, उसमें यह सावधानी होती है कि ये जो बर्ताव मुझे बुरा लगता है, उसका अर्थ यह है कि ऐसा बर्ताव मैं किसीके साथ न करूँ और जो दुःख आता है, वह मेरी उन्नतिके लिये आता है। दूसरेका आचरण हमें चुभता है, तो ऐसा आचरण दूसरोंको भी चुभता है—पक्की बात है। जैसे शरीरमें कहीं भी होनेवाला दुःख हमें नहीं सुहाता, वैसे ही दूसरोंका दुःख भी हमें नहीं सुहावे। यदि हमारे शरीर, मन, वाणी, भाव आदिसे किसी भी जीवको दुःख होता है, तो जल्दी साधनकी सिद्धि नहीं होती। जैसे अपने शरीरमें होनेवाला सुख हमें सुहाता है, वैसे ही दूसरोंको होनेवाला सुख भी हमें सुहाना चाहिये।

मनुष्यमें यह बड़ी कमजोरी है कि वह भजन, ध्यान आदिको तो साधन मानता है, पर दूसरोंके दुःखकी परवाह नहीं करता। यदि यही बात रहेगी तो वर्षोंतक सत्संग, साधन करनेपर भी सुधार नहीं होगा। इसलिये कम-से-कम दूसरेको दुःख न दें। सेवा करो तो अच्छी बात, सेवा न करो तो इतनी हानि नहीं, परंतु दुःख देनेसे बड़ी भारी हानि होती है। साधक इससे जितना बचेगा, उतनी ही अपने सुखकी कामना दूर होगी। तो सुखभोगकी वृत्ति तब दूर होगी, जब दूसरेका दुःख अपनेको चुभने लगेगा, दूसरेके दुःखको दूर करना हमारा सुख हो जायगा और दूसरेका दुःख हमारा दुःख हो जायगा। जैसे अपना दुःख दूर करनेके लिये मनुष्यकी स्वतः चेष्टा होती है, वैसे ही दूसरेका दुःख दूर करनेकी स्वतः चेष्टा हो जाय, तो विषयेन्द्रिय-संयोगके सुखभोगकी रुचि मिट जायेगी। और जबतक दूसरेके दुःखकी परवाह नहीं करते और अपना सुख

लेते हैं, तबतक अपने सुखकी वृत्ति मिटती नहीं। कोई कहे कि हम दुःख नहीं देते, फिर दूसरेका दुःख देखनेकी क्या जरूरत है ? तो अपनेमें जो सुख-बुद्धि है, इसे मिटानेके लिये 'दूसरेका दुःख कैसे दूर हो' यह चिन्तन होगा, अपने सुखभोगकी रुचि मिट जायगी। इसलिये सन्तोंके लक्षणोंमें लिखा है—

पर दुख दुख सुख सुख देखे पर। (मानस ७। ३८। १)

सुखभोगमें भी दो चीजें हैं, जिसे सन्तोंने कहीं कनक और कामिनी नामसे और कहीं दमड़ी और चमड़ी नामसे कहा है। पैसोंकी आसक्ति दमड़ीकी और स्त्रीकी आसक्ति चमड़ीकी। तो ये दोनों बहुत खराब हैं। तभी कहा कि—

माधोजी से मिलना कैसे होय।
सबल बैरी बसै घट भीतर, कनक कामिनी दोय॥

इन दोनोंको गीताने भोग और ऐश्वर्य नामसे कहा है—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (२।४४)

भोग शब्दसे स्त्री और ऐश्वर्य शब्दसे पैसोंका संग्रह लेना चाहिये। जिसकी इन दोमें आसक्ति होती है, उसकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती कि परमात्माको प्राप्त करना है। इनकी आसक्ति तब दूर होती है, जब दूसरेके हितका भाव हो जाय। आजकल हमारे देशमें इसकी बहुत अधिक आवश्यकता है। जैसे बीकानेरमें कभी मतीरा न हो या कम पैदा हो, तो बहुत मनमें आती है कि मतीरा नहीं हुआ ! क्योंकि यहाँ वह होता है। जहाँ मतीरा पैदा होता ही नहीं, वहाँ मनमें नहीं आता। ऐसे ही हमारे देशमें साधुओं और गृहस्थोंमें उपकारी आदमी बहुत हुए हैं। आज उनकी बड़ी भारी कमी होनेसे देशको उपकारी आदमियोंकी भूख लगी है।

हमारे कारण किसीको दुःख न हो—ऐसा विशेष ध्यान रखनेसे अपने सुखभोगकी रुचि मिट जायगी, जिसके मिटनेसे हमारी दोषयुक्त वृत्तियाँ सब मिट जायँगी। हम वृत्तियोंकी तरफ ही खयाल करते हैं, उसके कारणकी तरफ नहीं। यदि कारणकी खोज करके उसे मिटा दें, तो सब दोष मिट जायँ।

★

वास्तविक उन्नति किसमें ?

मनुष्य चाहता है कि जो वस्तु मेरे पास अभी नहीं है, वह मिल जाय। उसीके मिलनेसे वह अपनी उन्नति मानता है। एक तो भोग नहीं है, वे मिल जायँ और एक रुपये-पैसे नहीं हैं, वे मिल जायँ। इस प्रकार जो चीज नहीं है, वह मिल जाय तो निहाल हो जाऊँ ! परंतु जो अभी नहीं है, वह मिल जाय, तो फिर बादमें भी नहीं रहेगा—यह बात भी सच्ची है। धन कितना ही मिल जाय, पर वह सदा साथ रहेगा नहीं। चाहे धन चला जाय, चाहे आप मर जायँ और चाहे दोनों नष्ट हो जायँ। जो पहले नहीं है, वह बादमें भी नहीं रहेगी। ऐसी वस्तुकी मनुष्य इच्छा करता है, और उसे इकट्ठी करके समझता है कि हमने बड़ी भारी उन्नति कर ली। हमारे माँ-बाप साधारण व्यक्ति थे, पर हम लखपति-करोड़पति बन गये—यह बड़ा काम कर लिया ! फिर इसमें वह अभिमान करने लगता है। वास्तवमें देखा जाय तो यह महान् मूर्खता है, मामूली मूर्खता नहीं।

जितने भी सम्बन्ध-जन्य सुख हैं, वे सब-के-सब दुःखोंके ही कारण हैं—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।'** (गीता ५। २२)। और कोई दुःखका कारण है ही नहीं। अर्जुनने पूछा कि महाराज, मनुष्यको पापमें कौन लगाता है ? तो भगवान्‌ने उत्तर दिया **'काम एषः'** (गीता ३। ३७) अर्थात् जो अपने पासमें नहीं है उसकी कामना। रुपया मिल जाय, मान-बड़ाई मिल जाय, वाह-वाह मिल जाय, नीरोगता मिल जाय, आराम मिल जाय आदि कामना ही सम्पूर्ण पापों और दुःखोंकी जड़ है। उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुकी चाहना होनेपर दुःख भोगना ही पड़ेगा, इसमें ब्रह्माजी भी नहीं बचा सकते। सम्बन्धजन्य सुखकी इच्छासे कोरे दुःख और पाप ही होते हैं। सम्बन्धके समय थोड़ा-सा सुख मिलता है, पर पहले और बादमें दुःख-ही-दुःख रहता है। शरीर खराब हो जाता है, फिर नरकोंमें जाता है, चौरासी लाख योनियोंमें जाता है, इस प्रकार आगे दुःख-ही-दुःख आता है।

यह बात तो मैंने कई बार कही है कि वस्तुकी इच्छा हुई तो उस इच्छाके मिटनेसे सुख होता है, पर वह समझता है कि वस्तुके मिलनेसे सुख हुआ। यदि वस्तुके मिलनेसे ही सुख होता हो, तो उस वस्तुके रहते हुए फिर दुःख नहीं होना चाहिये। तो वास्तवमें वस्तुके न मिलनेका दुःख नहीं है, दुःख तो उसकी इच्छाका है। वह इच्छा मिटते ही सुख होता है। यदि वह इच्छा सदाके लिये मिट जाय, तो मौज हो जाय !

जो नहीं है, उसकी प्राप्तिमें बहादुरी मानना कोरा वहम ही है। जो परमात्मा सदासे हैं और सदा रहेंगे— उसे प्राप्त कर लेना ही वास्तवमें उन्नति है। केवल उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थोंकी लोलुपताके कारण ही उस नित्यप्राप्त तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो रही है। यदि नाशवान्‌के सम्बन्धका त्याग कर दें, तो वह जैसा है वैसा मिल जायगा। वह तो मिला हुआ ही है। केवल दृष्टि उस तरफ नहीं है। दृष्टि केवल नाशवान् भोग

और संग्रहकी तरफ है, जो कि है नहीं, रहेगा नहीं। परमात्मा थे, हैं और रहेंगे तथा एक बार मिलनेपर फिर कभी नहीं बिछुड़ेंगे। उनके मिलनेपर फिर कभी किञ्चिन्मात्र भी मोह, दुःख नहीं होगा—**'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्'** (गीता ४।३५)। वे अपने हैं और उनपर अपना वैसा अधिकार है, जैसा माँपर बच्चेका अधिकार रहता है। बच्चा रोकर माँसे चाहे जो करा ले, ऐसे भगवान्से चाहे जो करा लो! भगवान् कहते हैं—***'मैं तो हूँ भगतनको दास भगत मेरे मुकुटमणि !'*** धनने कभी कहा कि तू मेरा मुकुटमणि है? उसने कभी कहा कि मैं तुम्हारा हूँ, तुम हमारे हो? पर भगवान् कहते हैं कि तुम हमारे हो—**'ममैवांशः'** (गीता १५।७)। वे अपने हैं और सदा अपने साथ रहते हैं। उनसे कभी वियोग हुआ नहीं, है नहीं और होगा नहीं। ऐसे परमात्मासे विमुख होकर उसे चाहते हैं जो अभी नहीं है और मिल जायगा तो अन्तमें नहीं रहेगा! क्या अक्लपर पत्थर पड़ गये, जो उलटा-ही-उलटा चल रहे हैं? नाशवान्‌की इच्छा तो कभी पूरी होगी नहीं। पूरी हो भी कैसे? वह अधूरा और आप पूरे, वह नहीं रहनेवाला और आप रहनेवाले परमात्माके अंश। धनके लिये आप धर्म छोड़ देते हैं, आराम छोड़ देते हैं, सुख छोड़ देते हैं; सब कुछ छोड़कर धनके पीछे पड़े रहते हैं। पर जब वह धन जाने लगता है, तब आपसे पूछता ही नहीं! उस निर्दयीको दया नहीं आती कि इसने मेरे लिये धर्म-कर्म छोड़ा है, सत्य बोलना छोड़ा है, झूठ, कपट, बेईमानी आदि बड़े-बड़े पापोंको स्वीकार किया है, तो कम-से-कम इसकी सम्मति तो लेता जाऊँ! पर भगवान्‌के लिये त्याग करें तो?

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६५)

भगवान् कहते हैं कि जो पुरुष, स्त्री, घर, पुत्र, कुटुम्बीजन, प्राण, धन और इस लोकका सुख त्यागकर एक मेरी शरणमें आ गये हैं, उनका त्याग करनेका उत्साह भी मेरे मनमें कैसे हो सकता है? इन छूटनेवालोंको ही छोड़ दें, तो इसीसे भगवान् राजी हो जाते हैं और हमारा बड़ा अहसान मानते हैं! इन वस्तुओंको क्या कोई अपने साथ रख सकता है? तो छूटनेवालोंको छोड़नेसे ही भगवान् राजी हो जायँ, इतना सस्ता है कोई सौदा?

कितना ही धन कमा लो, कितना ही भोग भोगो, कैसा ही शरीर प्राप्त कर लो, सब-का-सब छूटनेवाला है। इसमें कोई शंका है क्या? फिर इनके लिये उद्योग करते हैं और इनके मिलनेपर बड़े राजी होते हैं, कितनी मूर्खता है!

परमात्मासे हम अपनी तरफसे विमुख हुए हैं इसीलिये वे नहीं मिल रहे हैं।

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस ५।४४।१)

आप केवल भगवान्‌को अपना मान लें कि भगवान् ही हमारे हैं और ये वस्तुएँ हमारी नहीं हैं। इतनी ही तो बात है! कठिन नहीं है। जबतक आप पक्का विचार नहीं करते, तबतक बड़ा कठिन है। पक्का विचार करनेपर कोई कठिन नहीं। स्वीकार कर लें कि दुःख, सन्ताप, जलन, अपमान, निन्दा, रोग, मृत्यु कुछ भी आ जाय, हम तो भगवान्‌की तरफ ही चलेंगे। फिर हमें कोई नहीं हटा सकता।

भोग और संग्रहकी इच्छाके ऊपर ही सब नरक और चौरासी लाख योनियाँ अवलम्बित हैं। सम्पूर्ण दुःख, सन्ताप, पाप आदि इसीसे होते हैं। फिर इनकी प्राप्तिमें अपनी बहादुरी मानना, उन्नति मानना कितनी बड़ी भूल है! सोचते हैं कि इतना धन मिल गया, तो हमारा उद्योग सफल हो गया। अरे, सफल नहीं महान् विफल हो गया! एक पलमें ही सब छूट जायगा। जो लखपति और करोड़पति हैं, वे सुखी नहीं हैं, पर जो भगवान्‌में लगे हैं, वे सुखी हैं, मौज-आनन्दमें हैं।

जितना भोग और ऐश्वर्य छूटेगा, उतनी ही शान्ति होगी। एक श्लोकका भाव है कि आशारूपी रस्सीसे बँधा हुआ पुरुष तो भागता-फिरता है, और खुला हुआ पुरुष मौजसे बैठता है! **'आशया ये कृता दासास्ते दासाः सर्वदेहिनाम्।'** जो आशाके दास हैं कि धन मिले, मान मिले, अमुक वस्तु मिले, वे सम्पूर्ण शरीरधारियोंके दास हैं, और **'आशा येन कृता दासी तस्य दासायते जगत्॥'** जिसने आशाको दासी बना लिया, उसके सभी दास हो जाते हैं। मनुष्य एक आशाका दास हो जायगा, तो दुनियामात्र उसपर सवार हो जायगी। वह वृक्षके पास जायगा, तो उससे भी 'यह ले लें, वह ले लें' की भावना रहेगी। मनुष्य होकर भी अक्ल कहाँ गयी? कब अक्ल आयेगी? ये शरीर, इन्द्रियाँ, भोग, जवानी आदि कितने दिनोंतक रहेंगे? फिर भी रात-दिन जानेवाले पदार्थोंकी आशामें ही लगे रहते हैं और नित्यप्राप्त परमात्माकी तरफ ध्यान ही नहीं देते!

परमात्मा नित्यप्राप्त है और संसार अप्राप्त है। नित्यप्राप्तकी प्राप्ति यदि कठिन है, तो क्या अप्राप्तकी प्राप्ति सुगम है? परमात्मा कभी अप्राप्त नहीं होते। हम ही उनसे विमुख हुए हैं, वे विमुख नहीं हुए। परमात्मासे विमुख होनेसे वे दूर दीखते हैं और संसारके सम्मुख होनेसे वह नजदीक दीखता है।

वास्तवमें संसार कभी नजदीक आया ही नहीं और भगवान् कभी दूर हुए ही नहीं। भगवान्‌की ताकत नहीं दूर होनेकी, संसारकी ताकत नहीं पास आनेकी और ठहरनेकी। कितनी विलक्षण बात है! भगवान्‌की तरफ चलते ही भगवान् राजी हो जाते हैं, खुश हो जाते हैं; जैसे बालक माँ-माँ करता गोदमें आ जाय, तो माँ प्रसन्न हो जाती है। वह बालकको खिलाती-पिलाती है, कपड़े पहनाती है, सब कुछ वही करती है और बालकके गोदीमें आनेपर राजी हो जाती है। अब इसमें बालकका क्या लगा? ऐसे ही हम भगवान्‌के सम्मुख हो जायँ, तो वे राजी हो जायँ—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

★

कामनाओंके त्यागसे शान्ति

भगवत्प्राप्तिके मार्गमें संसारके भोग और संग्रहकी खास बाधा है। रुपयोंके संग्रहको इतना अधिक आदर दे दिया कि चाहे जीवन बिगड़ जाय, नरकोंमें जाना पड़े, चौरासी लाख योनियोंमें जाना पड़े, अपमान, निन्दा, बेइज्जती हो जाय, पर रुपये इकट्ठे करने ही हैं—यह बहुत बड़ी बीमारी है। दूसरा जो भोग भोगना, सुख भोगना है, यह खास आफत है। इसके कारण मनुष्य अपने अनुभवका आदर नहीं करता; क्योंकि आदरकी जगह रुपयों और सुख-भोगने ले ली। अब भले ही कितनी बातें सीख जाओ, अनुभव नहीं होगा। सीखकर आप पण्डित बन सकते हो। बड़ा भारी व्याख्यान दे सकते हैं, लेखक बन सकते हैं। बड़ी सुन्दर-सुन्दर पुस्तकें लिख सकते हो, परन्तु जो महान् शान्ति है, वह नहीं पा सकते, उसका अनुभव नहीं हो सकता। सीखना और अनुभव करना बिलकुल अलग-अलग चीज है। रात-दिनका फर्क है दोनोंमें। अनुभव तब होगा, जब भोग और संग्रहकी कामना नहीं रहेगी। इतना रुपया और हो जाय, इतना और हो जाय—ऐसी कामना करते हैं, पर साथ एक कौड़ी भी नहीं चलेगी। एकदम खाली जाना पड़ेगा। शरीर भी यहीं पड़ा रहेगा। यह पहले भी अपना नहीं था और बादमें भी अपना नहीं रहेगा—प्रत्यक्ष बात है। परंतु कहने-सुननेसे यह बात समझमें नहीं आती। जब व्याकुलता जाग्रत् होगी, भीतरसे भोग और संग्रहसे उपरति होकर जलन पैदा होगी, तब यह बात समझमें आयेगी। जबतक रुपयों और भोगोंसे सुख लेते हैं, तबतक यह बात अक्लमें नहीं आयेगी।

गीतामें स्थितप्रज्ञ पुरुषके लक्षणोंके आरम्भमें और अन्तमें— दोनों जगह सम्पूर्ण कामनाओंके त्यागकी बात आयी है। उपक्रममें भगवान्ने कहा—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।

(गीता २। ५५)

और उपसंहारमें भी वही बात कही—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।

(गीता २। ७१)

भोग और संग्रहकी कामना ही मुख्य है, और इसके आनेपर तो सैकड़ों-हजारों कामनाएँ आ जाती हैं। ये कामनाएँ मनका स्वरूप नहीं हैं बल्कि मनमें आया करती हैं—**'मनोगतान्।'** इन सब कामनाओंका त्याग कर दें। यदि आज मृत्यु आ जाय तो मैं जी जाऊँ तो अच्छा है, ऐसी कामना भी पैदा न हो। शरीर बहुत-ही प्यारा लगता है, पर यह जानेवाला है। जो जानेवाला है, उसकी मोह-ममता पहलेसे ही छोड़ दें। यदि पहलेसे नहीं छोड़ी, तो बादमें बड़ी दुर्दशा होगी। भोगोंमें, रुपयोंमें, पदार्थोंमें आसक्ति रह गयी, उनमें मन रह गया, तो बड़ी दुर्दशा होगी। साँप, अजगर बनना पड़ेगा; भूत, प्रेत, पिशाच आदि न जाने क्या-क्या बनना पड़ेगा!

एक सन्तकी बात हमने सुनी। विरक्त, त्यागी सन्त थे। पैसा नहीं छूते थे और एकान्तमें भजन करते थे। एक भाई उनकी बहुत सेवा किया करता। रोजाना भोजन आदि पहुँचाया करता। एक बार किसी जरूरी कामसे उसे दूसरे शहर जाना पड़ा। तो उसने संतसे कहा कि महाराज! मैं तो जा रहा हूँ। तो संत बोले कि भैया! हमारी सेवा तुम्हारे अधीन नहीं है, तुम जाओ। उसने कहा कि महाराज! पीछे न जाने कोई सेवा करे न करे? मैं बीस रुपये यहाँ सामने गाड़ देता हूँ, काम पड़े तो आप किसीसे कह देना। बाबाजी ना-ना करते रहे, पर वह तो बीस रुपये गाड़ ही गया। अब वह तो चला गया। पीछे बाबाजी बीमार पड़े और मर गये। मरकर भूत हो गये! अब वहाँ रात्रिमें कोई रहे तो उसे खड़ाऊँकी खट-खट-खट आवाज सुनायी दे। लोग सोचें कि बात क्या है? जब वह भाई आया तो उसे कहा गया कि वहाँ रातको खड़ाऊँकी आवाज आती है, कोई भूत-प्रेत है, पर किसीको दुःख नहीं देता। वह रात्रिमें वहाँ रहा। उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने प्रार्थना की तो बाबाजी दीखे और बोले कि मरते वक्त तेरे रुपयोंकी तरफ मन चला गया था। अब इन्हें तू कहीं लगा दे तो मैं छुटकारा पा जाऊँ! बाबाजीने रुपयोंको काममें भी नहीं लिया पर 'मेरे लिये रुपये पड़े हैं' इस भावसे ही यह दशा हो गयी। अब वे रुपये वहाँसे निकालकर धार्मिक काममें

लगाये गये, तब कहीं जाकर बाबाजीकी गति हुई।

वृन्दावनकी एक घटना हमने सुनी थी। एक गलीमें एक भिखारी पैसे माँगा करता था। उसके पास एक रुपयेसे कुछ कम पैसे इकट्ठे हो गये थे। वह मर गया। जहाँ उसके चिथड़े पड़े थे, वहाँ लोगोंने एक छोटा-सा साँप बैठा हुआ देखा। उसे कई बार दूर फेंका गया, पर वह फिर उन्हीं चिथड़ोंमें आकर बैठ जाता। जब नहीं हटा तो सोचा बात क्या है? साँपको दूर फेंककर चिथड़ोंमें देखा, तो उसमेंसे कुछ पैसे मिले। वे पैसे किसी काममें लगा दिये। तो फिर वह साँप देखनेमें नहीं आया।

यह जो भीतर वासना रहती है, यह बड़ी भयंकर होती है। वासना तब रहती है, जब वस्तुओंमें प्रियता होती है। जहाँ वस्तुओंकी प्रियता या आकर्षण रहता है, वहीं भगवान्‌की प्रियता जाग्रत् होनी चाहिये। आप बाहरसे भले ही कितने बढ़िया-बढ़िया काम करें, पर भीतर संसारकी जो प्रियता या आकर्षण है, वह खतरनाक है। इसलिये भगवान्‌ने सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करनेकी बात कही—'**विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।**' निःस्पृहका अर्थ है—निर्वाह कैसे होगा? मेरा जीवन कैसे चलेगा? इस प्रकार भी परवाह मनमें नहीं रखे। जीवन तो चलेगा ही। जिन कर्मोंसे शरीर मिला है, उन कर्मोंसे उसका निर्वाह भी होगा। प्रारब्धमें न हो तो धनी व्यक्ति भी ज्यादा भोग नहीं भोग सकेगा, और प्रारब्धमें हो तो साधारण व्यक्तिको भी भोग मिल जायेंगे। नहीं मिलनेवाला नहीं मिलेगा और मिलनेवाला मिलेगा ही। मनमें जो प्रियता है, वह बाधक है। वह नहीं होगी, तो भी रुपये, वस्तु, आदर, महिमा आदि मिलेगी। निर्वाहकी चीज तो अपने-आप मिलेगी, आप जो आशा करते हैं यही गलती होती है।

भीतर भोग और संग्रहकी जो प्रियता है, जिससे वे अच्छे लगते हैं और छोड़ना नहीं चाहते, उसीका त्याग होना चाहिये। त्याग नाम इसीका है। बाहरका त्याग भी अच्छा है, सहायक है। पर वास्तवमें त्याग प्रियताका है। वह प्रियता ही जन्म-मरण देनेवाली और महान् नरकोंमें डालनेवाली चीज है।

भगवान्‌ने चार चीजोंका त्याग बतलाया—जो प्राप्त नहीं है, उसकी कामना, जो प्राप्त है उसकी ममता, निर्वाहकी स्पृहा और मैं ऐसा हूँ—यह अहंता, जिसके कारण अपनेमें दूसरोंकी अपेक्षा विशेषता दीखती है।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २।७१)

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहङ्काररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।

कामना, स्पृहा, ममता और अहङ्कार—इन चारोंका सर्वथा त्याग हो जाय तो अभी शान्ति मिल जाय। ये चारों महान् अशान्ति पैदा करनेवाली चीजें हैं। इनको तो त्यागना नहीं चाहते और शान्ति पाना चाहते हैं, ऐसा कभी होगा नहीं।

कामनाके त्यागसे ही कर्मयोग सिद्ध होगा। कर्मयोगके द्वारा सिद्ध हुए पुरुषका नाम स्थितप्रज्ञ है। उसके लक्षण बतलाते समय आरम्भ और अन्तमें कामनाओंके त्यागकी बात कही। कामना, स्पृहा, ममता और अहङ्कार—इनका त्याग होनेपर फिर एक ब्रह्मकी प्राप्ति हो जायगी—'**ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति**' (गीता २।७२)।

अन्तमें न जाने कहाँ वासना रह जाय? और जगह न रहे, पर शरीरमें तो रह सकती है। इसलिये मनुष्य जितना सावधान रहे, उतना अच्छा है। शरीर तो मूल चीज है इसलिये इसमें अहंता-ममता नहीं रहनी चाहिये। इसमें अहंता-ममता होनेसे ही इसके निर्वाहकी इच्छा होती है। पर इच्छासे तो शरीर रहेगा नहीं। जीनेकी इच्छा करते-करते ही लोग मरते हैं। इच्छा करनेमें फायदा तो कोई-सा नहीं है और नुकसान कोई-सा भी बाकी नहीं है। मैंने खूब सोचा है, विचार किया है।

प्रश्न—कामना छोड़नेके लिये क्या करें?

उत्तर—अगर आपके मनमें करनेकी है, तो यों करो—नाम-जप करो और भीतरसे प्रार्थना करो कि हे नाथ! हे प्रभु! मेरेसे कामना, आसक्ति छूटती नहीं! इस प्रकार हरदम भीतरसे पुकारते ही रहो लगनसे। वे प्रभु परमदयालु हैं, वे कृपा करेंगे। यह उपाय आप काममें लाकर देखें, उपाय तो कई हैं, पर जोरदार लगन होनी चाहिये।

═══ ★ ═══

सदुपयोगसे कल्याण

मनुष्योंने वस्तुओंको, व्यक्तियोंको, परिस्थितियोंको बड़ा महत्त्व दे दिया है; परन्तु वास्तवमें इनका महत्त्व नहीं है। महत्त्व इनके उपयोगका है। इनका सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों हो सकते हैं। अगर सदुपयोग किया जाय तो हरेक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि मनुष्यका कल्याण करनेवाली हो जाती है। सदुपयोग या दुरुपयोग करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। परिस्थिति आदिको अपने अनुकूल बनानेमें कोई भी स्वतन्त्र नहीं है।

प्रायः मनुष्य वस्तुओंको ही ज्यादा महत्त्व देते हैं, उनके सदुपयोगकी तरफ ध्यान नहीं देते। इस कारण वे परतन्त्र हो

जाते हैं, फँस जाते हैं। उनके सामने 'क्या करें ? कैसे करें ?'—ऐसी विकट परिस्थिति आ जाती है। इससे बचनेके लिये इस बातको सीखनेकी आवश्यकता है कि उनका सदुपयोग कैसे किया जाय ? परिस्थितियाँ तो मनुष्यके सामने आती-जाती रहती हैं, बदलती रहती हैं। न तो कोई परिस्थिति एक समान रहती है, न वस्तुएँ एक समान रहती हैं, न व्यक्ति एक समान रहते हैं, न अवस्था एक समान रहती है। ये सब बदलते रहते हैं। अगर इन बदलनेवालोंका अच्छे-से-अच्छा उपयोग किया जाय तो ये सब कल्याण करनेवाले हो जायँगे।

सबसे पहले एक बात समझनेकी है। आप और आपकी परिस्थिति, आप और आपकी वस्तु, आप और आपकी अवस्था, आप और आपका समुदाय, आप और आपका देश, आप और आपका समय—ये दोनों अलग-अलग हैं। तात्पर्य है कि उत्पन्न और नष्ट होनेवाली जितनी भी चीजें हैं, वे सब प्रकृतिकी अंश हैं और आप परमात्माके अंश हैं। आप नित्य-निरन्तर रहनेवाले हैं। परन्तु प्रकृतिसे उत्पन्न चीजें नित्य-निरन्तर बदलनेवाली हैं, कभी एक क्षण भी एकरूप रहनेवाली नहीं हैं। इनका संयोग और वियोग हरदम होता रहता है। नदीके प्रवाहकी तरह इनका प्रवाह हरदम चलता रहता है।

आप रहनेवाले हैं—'**नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः**' (गीता २। २४)। आप अनादिकालसे अचल हैं और ये सब (शरीर-संसार) चल हैं। चल वस्तुओंको लेकर अचलपर असर क्यों पड़ जाता है ? क्योंकि चल वस्तुओंके साथ अचल अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। शरीर और शरीरमें रहनेवाले आप—ये दो हैं। आप शरीर नहीं हैं और शरीर आपका नहीं है। परन्तु गलती यह हुई कि आपने शरीरमें अहंता-ममता कर ली। अपनेको शरीरमें बैठा दिया तो 'अहंता' पैदा हो गयी और शरीर आदि वस्तुओंको अपनेमें बैठा लिया तो 'ममता' पैदा हो गयी। मैं शरीर हूँ—ऐसा मान लेनेसे अहंता पैदा हो जाती है और शरीर आदि वस्तुएँ मेरी हैं—ऐसा मान लेनेसे ममता पैदा हो जाती है। अहंताको लेकर भेदभाव होता है और ममताको लेकर संघर्ष होता है। ये दोनों ही बन्धनकारक हैं।

सन्त-महात्माओंने मैं-मेरीका त्याग करनेके लिये कहा है। वस्तुओंका त्याग तो स्वतः ही हो रहा है। संसारकी मात्र वस्तुएँ प्रतिक्षण आपसे विमुक्त हो रही हैं। यह बात बहुत खयाल करनेकी, जाननेकी, समझनेकी है। मेरे मनमें तो ऐसी बात आती है कि रोजाना ही इस बातको कह लें, सुन लें और रोजाना विचार करें। यह दृश्यमात्र अदृश्य होनेवाला है। यह दर्शन अदर्शनमें भर्ती हो रहा है। सब-का-सब संसार मौतकी तरफ जा रहा है, प्रलयकी तरफ जा रहा है। सम्पूर्ण सृष्टि महाप्रलयकी तरफ जा रही है। जितने दिन व्यतीत होते हैं, उतने ही हम मौतके नजदीक जाते हैं। एक दिन कुछ भी नहीं रहेगा और वह दिन भी नजदीक आ रहा है ! जितने भी शरीर हैं, सब-के-सब प्रतिक्षण मरनेकी तरफ जा रहे हैं। दूसरा कोई काम होगा कि नहीं होगा—इसमें सन्देह है, पर मरना होगा कि नहीं होगा—इसमें कोई सन्देह, विकल्प नहीं है। भविष्यकी बात कोई नहीं कह सकता कि क्या होगा, कैसे होगा, होगा कि नहीं होगा; परन्तु 'मरना होगा'—यह बात बिलकुल निःशंक, निधड़क होकर कही जा सकती है।

बन्धन क्या है ? न बदलनेवालेने बदलनेवालेके साथ एकता मान ली—यही बन्धन है। अगर कोई विवेकी पुरुष बदलनेवाले और न बदलनेवालेको अलग-अलग देख ले अर्थात् बदलनेवाला मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा स्वरूप तो न बदलनेवाला है—ऐसा अनुभव कर ले तो आज ही मुक्त हो जाय। इस बातका ठीक-ठीक ज्ञान होना चाहिये। केवल सीखना नहीं है। पुस्तकोंसे हम सीख सकते हैं, सीखकर पण्डित कहला सकते हैं, पर वास्तवमें सीखनेवाला पण्डित नहीं होता, ठीक-ठीक जाननेवाला ही पण्डित होता है। सीखनेसे काम नहीं बनेगा। सीखनेवाला तोतेकी तरह होता है। तोतेको सिखा दो तो वह 'राधेकृष्ण-गोपीकृष्ण' बोलना सीख जायगा और जब बुलवाओगे, तब बोल देगा। परन्तु जब कोई बिल्ली मारने आयेगी, तब वह 'टें-टें' करने लगेगा। अरे, अब तो 'राधेकृष्ण-गोपीकृष्ण' बोल, अन्तसमयमें भगवान्‌का नाम ले, जिससे उद्धार हो जाय ! पर वह समझता ही नहीं कि भगवान्‌का नाम क्या होता है ?

सीखा हुआ भी भगवान्‌का नाम आ जाय तो कल्याण हो जाता है। ऐसी कथाएँ पुराणोंमें आती हैं। '**गोविन्दनाम-ग्रहणमशेषाघहरं विदुः**'—किसी कारणसे अन्तसमयमें भगवान्‌का नाम आ जाय तो सब पाप नष्ट हो जाते हैं। एक वेश्या अपने तोतेको 'राधेकृष्ण-गोपीकृष्ण' बोलना सिखा रही थी कि अचानक साँपने आकर काट लिया। वह 'राधेकृष्ण-गोपीकृष्ण' कहती रही और उसका उद्धार हो गया। सन्तोंकी वाणीमें भी ऐसी कई कथाएँ आती हैं। एक बार एक बधिक पशु-पक्षियोंको मारनेके लिये धनुष-बाण लेकर जंगलमें घूम रहा था। एक पेड़पर पपीहा बैठा था। इधर तो बधिक उसके ऊपर बाणका निशाना लगाता है और उधर एक बाज उसी पपीहेको मारनेके लिये धावा बोलता है। ऐसे संकटमें पपीहेने भगवान्‌को याद किया। पूर्वजन्मके संस्कारसे पशु-पक्षियोंमें भी ऐसी बात आ जाती है, जो मनुष्योंमें भी नहीं आती।

कबके संस्कार न जाने कब जाग्रत् हो जायँ—इसका पता नहीं चलता। अचानक उस वृक्षमेंसे एक साँप निकला और उसने बधिकको काट लिया। साँपके काटते ही बधिकका हाथ हिला और बाण छूट गया। वह बाण जाकर बाजको लगा। बधिक और बाज—दोनों मर गये और पपीहेकी रक्षा हो गयी।

चातक तरु ठाणे शिर अरि जाणे पारधि वाणे दिसताणे।
जाकूँ अहि हाणे शर छूटाणे जाय लगाणे सीचाणे॥
पप्पीह तु प्राणे टल विधनाणे हरिहि पिछाणे निजहेतम्।
ब्रह्म हो अविनाशी आनंदराशी दोषविनाशी सुखदेतम्॥

(करुणानिधान १५)

एक बधिकने वनमें एक मृगको मारा और उसको उठाकर चला। रास्तेमें प्यास और थकावटसे व्याकुल होकर वह एक पेड़की छायामें आकर बैठ गया। उस वृक्षपर एक पालतू तोता बैठा हुआ था, जो पिंजड़ेसे निकलकर भाग आया था। इतनेमें एक साँप निकला और उसने बधिकको काट लिया। वहाँ उस तोतेने दो बार 'राम-राम' कहा—बधिकने भगवान्‌का नाम सुना तो उसके मुखसे भी दो बार 'राम-राम' निकला और वह मर गया। मरनेपर उसे ले जानेके लिये यमराजके दूत आये, पर उधरसे उसे वैकुण्ठमें ले जानेके लिये भगवान्‌के पार्षद भी आ गये। यमदूतोंने उनको रोका और कहा कि इसको कैसे ले जाते हो? इसने तो बहुत जीवोंको मारा है, बहुत पाप किये हैं। इसलिये यह नरकोंमें जायगा। भगवान्‌के पार्षदोंने कहा कि इसने अन्तसमयमें भगवान्‌का नाम लिया है, इसलिये इसका कल्याण होगा। दोनोंमें विवाद छिड़ गया। फैसला करनेके लिये सम्पूर्ण पापोंको और नामको तौला गया तो नाम बड़ा वजनदार निकला। अतः बधिकको निर्भय धाम मिल गया—

व्याध एक मारियो मिरग, व्याल डस्यो तरु छाँय।
तृषा मरत शुक सुनि गिरा, नाम प्रगट उर माँय॥
उभय वार श्रवणां सुणे, उभय वार मुख गाय।
अन्तकाल ऐसो भयो, ततछिन भए सहाय॥
जमकिंकर बंधे महा, बंध छुड़ाई ताय।
हरिपुरवासी आय के, लेखै न्याव चुकाय॥
एके चेलै अघ सबै, एके चेलै नाम।
ऐसी विधि भव तारणा, निर्भय दीधो धाम॥

(करुणासागर ६७—७०)

भगवान्‌का नाम अपार, अनन्त शक्ति रखता है। उसके सामने पाप कितने हैं—ऐसी गणना नहीं हो सकती। जैसे, सेरभर रूईको जलानेके लिये एक दियासलाई होनी चाहिये तो मनभर रूईको जलानेके लिये चालीस दियासलाई होनी चाहिये? नहीं। एक ही दियासलाई सबको जला देगी। वहाँ यह माप-तौल नहीं होता कि जितनी रूई है, उसको जलानेके लिये अग्नि भी उतनी ही हो। इसी तरह पाप कितने हैं और भगवान्‌का नाम कितना है—यह गिनती नहीं होती। मकानमें ठसाठस अँधेरा भरा हो तो एक दीपककी लौ करते ही सब भाग जाता है। संसार क्षणभंगुर है, नश्वर है, जा रहा है, नष्ट हो रहा है। परंतु भगवान्, भगवान्‌का नाम, भगवान्‌की महिमा, भगवान्‌का प्रभाव नित्य-निरन्तर रहनेवाला है। उस रहनेवालेके सामने यह बहनेवाला कुछ ताकत नहीं रखता।

शरीर, इन्द्रियाँ आदि नाशवान् हैं, परिवर्तनशील हैं और स्वयं (जीवात्मा) अविनाशी है, अपरिवर्तनशील है। इन दोनोंका ठीक तरहसे ज्ञान हो जाय अथवा नाशवान्‌का आश्रय छोड़कर परमात्माके चरणोंका आश्रय ले ले। नाशवान्‌का आश्रय लेना, उसको अपना आधार मानना बहुत बड़ी गलती है। रुपयोंसे मेरा काम हो जायगा, कुटुम्बियोंसे काम हो जायगा, शरीरसे ऐसे हो जायगा; मेरेमें बड़ी भारी योग्यता है, मेरेमें बड़ी विद्या है, मेरेको बड़ा पद मिला हुआ है, मैं बड़ा अधिकारी हूँ—ये सब बदलनेवाले और मिटनेवाले हैं। अगर इन सबका सहारा छोड़कर केवल भगवान्‌का सहारा ले लिया जाय तो निहाल हो जायँ!

सबसे पहले इस बातको जाननेकी आवश्यकता है कि विनाशी और अविनाशी—ये दो चीजें हैं। इसको जानना मनुष्यका खास काम है। भगवान्‌ने गीताके आरम्भमें ही यह विषय चलाया। दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे लेकर तीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने सत्-असत्, नित्य-अनित्य; देह-देही, शरीर-शरीरी—इन दोनोंके भेदको बताया। इन दोनोंका भेद ठीक समझमें आ जाय तो कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि सब-के-सब साधन सुगम हो जाते हैं। इनका भेद समझे बिना साधन कठिन हो जाता है। इनका भेद ठीक समझमें आ जाय तो हम परिवर्तनशीलसे ऊँचे उठ जायँगे, इसमें सन्देहकी बात नहीं है। कारण कि वास्तवमें हम परिवर्तनशीलसे ऊँचे हैं। हम जैसे हैं, वैसा अनुभव करनेमें क्या कठिनता है? नित्य और अनित्य, सत् और असत् अविनाशी और विनाशी—इनके भेदको ठीक तरहसे समझनेपर तत्त्वबोध हो जाता है और जन्म-मरणके चक्करसे छुटकारा हो जाता है। प्रकृतिके गुणोंका संग, आसक्ति, प्रियता, खिंचाव ही जन्म-मरणका खास कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥**' (गीता १३। २१)।

बहुत-से भाई कहते हैं कि क्या करें, मन नहीं लगता और मन लगे बिना कुछ नहीं होता। भजनमें मन नहीं लगा

तो भजन करनेसे क्या फायदा ? राम-राम करते हो, पर मन लगे बिना कुछ नहीं—ऐसा निर्णय दूसरे लोग भी दे देते हैं। झट दूसरोंको निर्णय दे देना, सम्मति दे देना बुद्धिकी अजीर्णता है। उनसे पूछो कि आपने ऐसा करके देखा है क्या ? इलाज करनेके लिये अच्छे-अच्छे वैद्य हैं, पर आजकल हरेक आदमी इलाज करना चाहता है। इसको अमुक चीज दे दो, ठीक हो जायगा; अमुक चीज मत दो, उससे ठीक नहीं होगा—ऐसी सम्मति चलते-चलते दे देते हैं। उनसे पूछो कि तुमने आयुर्वेद पढ़ा है ? ना। वैद्यकी करते हो ? ना। यह बुद्धिका अजीर्ण है।

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजका जन्म बीत गया राम-रामके ऊपर। पहले उनका नाम 'रामबोला' था; क्योंकि जन्म लेते समय वे 'राम' बोले। 'तुलसीदास' नाम तो पीछे हुआ। वे कहते हैं—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

(मानस, बाल० २८।१)

भगवान्का नाम लेते ही दसों दिशाओंमें मङ्गल-ही-मङ्गल होता है। दुर्भावसे भी नाम लिया जाय तो वह भी कल्याण करता है। परन्तु लोग कहते हैं कि मन नहीं लगा तो कुछ नहीं ! भाई-बहन ध्यान देकर मेरी बातपर विचार करें। पहले मन लग जाय, फिर नाम लेंगे—ऐसा कभी होनेवाला नहीं है। भगवान्का नाम लेते-लेते ही मन लगेगा। कम-से-कम आप नाम लेना शुरू तो कर दो। लोग खुद तो कुछ करते नहीं और 'मन नहीं लगा तो कोई फायदा नहीं'—ऐसा कहकर दूसरोंका भी साधन छुड़ा देते हैं ! आप भी नरकोंमें जाते हैं और दूसरोंको भी ले जाते हैं। सज्जनो ! खास खतरनाक चीज क्या है ? नाशवान् वस्तुओंमें हमारा जो मोह है, प्रियता है, खिंचाव है, यह है खतरेकी चीज। नाशवान्की प्रियता ही आपको रुलायेगी—**'प्रियस्त्वां रोदयति।'**

संसारका राग, खिंचाव अज्ञानका चिह्न है, मूर्खताकी खास पहचान है—**'रागो लिंगमबोधस्य चित्तव्यायाम-भूमिषु।'** जितने दर्जेका नाशवान्में खिंचाव है, उतने ही दर्जेका मूर्ख है। वृक्षके कोटरमें आग लगा दे और फिर ऊपरकी तरफ देखकर प्रतीक्षा करे कि वृक्ष कब हरा होगा, उसमें कब फल-फूल लगेंगे, तो यह मूर्खता ही है। इसी तरह संसारमें तो राग है और देखते हैं कि सुख-शान्ति मिलेगी, प्रसन्नता होगी ! यह होगा नहीं कभी।

मनुष्य क्या करते हैं ? राग तो बढ़ाते जाते हैं और चाहते हैं शान्ति। इतना धन हो जाय तो सुख हो जायगा, इतनी सम्पत्ति हो जाय तो सुख हो जायगा। अरे भाई ! धन-सम्पत्तिके होनेसे सुख नहीं होता। आपको वहम हो तो परीक्षा करके देख लें। जिसके पास ज्यादा-से-ज्यादा धन हो, उससे मिलकर पूछ लो कि आपको किसी तरहका दुःख तो नहीं है ? किसी तरहकी अशान्ति तो नहीं है ? वह पोल निकाल देगा तो आपका समाधान हो जायगा !

एक घरमें चूहे बहुत हो गये। उनको मारना तो ठीक नहीं, पकड़कर दूर जंगलमें छोड़ दें, जहाँ वे सुरक्षित रहें—ऐसा सोचकर चूहोंको पकड़नेके लिये तारोंसे बना पिंजड़ा ले आये। उसमें रोटीके टुकड़े रख दिये और उसको अँधेरेमें रख दिया। अब चूहे आते हैं और चारों तरफ चढ़ते हैं कि किसी तरहसे पिंजड़ेमें पड़ी रोटी मिल जाय तो हम निहाल हो जायँ ! ढूँढ़ते-ढूँढ़ते दरवाजा मिल जाता है। उधर जाते ही स्प्रिंग लगी हुई पत्ती (बोझ पड़नेपर) नीचे झुक जाती है और चूहा पिंजड़ेमें चला जाता है। भीतर जाते ही पत्ती वापस ऊपर हो जाती है। इधर बाहर खटका लगता है और उधर चूहेके भीतर खटका लगता है। अब वह रोटी खाना भूलकर इधर-उधर दौड़ता है और बाहर निकलनेका उद्योग करता है कि निकलूँ कैसे ? बाहरवाले चूहे समझते हैं कि यह भीतरवाला चूहा बड़ी मौजमें है। अन्दर कितनी रोटी पड़ी है और कितनी मौजमें घूमता है। हम ही बाहर रह गये। उनमेंसे कोई दरवाजा ढूँढ़ लेता है और उसके भीतर चला जाता है तो मुश्किल हो जाती है। दोनों पिंजड़ेके भीतर लड़ते हैं और इधर-उधर दौड़ते हैं। बाहरके चूहे देखते हैं कि ये तो मौज करते हैं, हम बाहर वञ्चित रह गये। इस तरह चूहे उसमें फँसते जाते हैं। यह पिंजड़ा तो दूसरोंका बनाया हुआ होता है। परन्तु जिस पिंजड़ेमें हम फँसते हैं, वह हमारा ही बनाया हुआ होता है।

जिनके पास धन कम होता है, वे देखते हैं कि झूठ, कपट, बेईमानी, चोरी आदि करके किसी तरहसे अधिक-से-अधिक धन इकट्ठा कर लें तो हम सुखी हो जायँगे। धन हो जानेसे खूब मौज हो जायगी, आनन्द हो जायगा। जिनका विवाह नहीं हुआ है, वे देखते हैं कि विवाह किये हुए बड़ी मौजमें हैं, हम रीते ही रह गये। किसी तरहसे हमारा विवाह हो जाय ! जब उनका विवाह हो जाता है और पूछते हैं—जै रामजीकी ! क्या ढंग है ? तब वे कहते हैं—फँस गये ! बड़े शहरोंमें नौकरी करते हैं। अकेले होते तो कहीं भी रह जाते, पर अब बड़ी मुश्किल हो गयी ! बाल-बच्चोंको कहाँ रखें ? कैसे रखें ? उनकी पढ़ाई आदिका प्रबन्ध करना है। वे बड़े हो जायँ तो उनका विवाह करना है। बड़ी आफत आ जाती है। ऐसे ही लोग कहते हैं कि वे बड़े धनी आदमी हैं, बड़े सुखी

हैं, बड़े आराममें हैं। उनके पास रहकर देखो। उनको रातमें चैनसे नींद नहीं आती। समयपर भोजन नहीं कर सकते। दोपहरके दो बज जायँ तो भी रोटी खानेकी फुरसत नहीं मिलती। रातमें ग्यारह-बारह बज जाते हैं। मेरे सामने ऐसे अनेक उदाहरण आये हैं। मैं केवल पुस्तककी बात नहीं कहता। देखी हुई बात भी कहता हूँ। पुस्तकोंकी बातें सच्ची हैं ही; क्योंकि ऋषि-मुनियोंने अनुभव करके लिखा है।

कलकत्ताकी बात है। एक सज्जन दलालीका काम करते थे और सत्संगमें आया करते थे। वे कहते कि ये धनी आदमी सत्संग क्यों नहीं करते? इनके पास बहुत धन है, बैठकर खायें तो भी अन्त नहीं आये, फिर भी सत्संग क्यों नहीं करते? ऐसा वे कहा करते। अब उनके पास भी धन ज्यादा हो गया तो उनका भी सत्संगमें आना बन्द हो गया। अब सत्संगके लिये समय नहीं मिलता। उनसे बातें हुईं। पहले आपको दीखता था कि धनी आदमी सत्संग क्यों नहीं करते, अब आप क्यों नहीं करते? करें कैसे, धंधा बहुत बढ़ गया है, वक्त नहीं मिलता।

सरोवरमें जैसे-जैसे पानी बढ़ता है, वैसे-वैसे कीचड़ भी बढ़ता है। पहले कम होता है, फिर ज्यादा होने लगता है। जैसे-जैसे धन बढ़ता है, वैसे-वैसे दरिद्रता भी बढ़ती है। परन्तु मनुष्यका उस तरफ ध्यान नहीं होता, विचार नहीं होता। साधारण आदमीको सौ या हजार रुपयोंकी भूख रहती है, पर हजार रुपयेवालेको हजारोंकी भूख रहती है। लखपतिको लाखोंकी और करोड़पतिको करोड़ोंकी भूख रहती है। ज्यों-ज्यों धन बढ़ता है, त्यों-त्यों भूख भी बढ़ती है। साधारण आदमीको लाखोंकी भूख नहीं रहती। परन्तु इस तरफ कोई देखता नहीं। यही देखते हैं कि अपने पास धन अधिक हो जाय तो मौज हो जायगी।

भाइयो! ध्यान दो। अधिक पैसोंकी आवश्यकता नहीं है। जितने पैसे आपके पास हैं, उन्हींका बढ़िया-से-बढ़िया उपयोग करें। उससे बड़ा भारी पुण्य होगा। अधिक पैसोंसे अधिक पुण्य होगा—यह कायदा नहीं है। जितनी आपकी शक्ति है, जितना आप खर्च कर सकते हैं, उतना खर्च करनेसे आपका उद्धार हो जायगा। धनी आदमी बहुत खर्च करेगा, तब कल्याण होगा। साधारण आदमीका साधारण खर्चेसे कल्याण हो जायगा।

युधिष्ठिरजी महाराजने बड़ा ही विलक्षण यज्ञ किया। उन्होंने दुर्योधनको खजानेपर रखा। बैर रखनेवालेके हाथमें खजाना दिया कि वह ज्यादा लुटायेगा तो यज्ञ बढ़िया हो जायगा। आजकल लोग खजानेपर कंजूस आदमीको रखते हैं, जो ज्यादा खर्च न करे। कंजूसीसे अपयश होता है। दुर्योधन दस गुना देते थे, जिससे सब तरफ बड़ी प्रशंसा हुई। ब्राह्मण-लोग प्रशंसा करने लगे कि वाह-वाह! युधिष्ठिरजी महाराजने बड़ा भारी यज्ञ किया! उसी समय वहाँ एक नेवला आया और मनुष्यकी भाषामें बोला कि इसी वनमें रहनेवाले एक ब्राह्मण-परिवारका जो यज्ञ मैंने देखा, उसके सामने यह यज्ञ कुछ नहीं है। उन्होंने पूछा कि क्या देखा? नेवला कहने लगा—ब्राह्मण, ब्राह्मणी, बेटा और उसकी बहू—ये चार प्राणी इस वनमें रहते थे। वे बड़े शुद्ध ब्राह्मण थे। ब्राह्मण तपोधन होते हैं। त्याग ही उनका धन होता है। वे शिलोञ्छवृत्तिसे अपना जीवन-निर्वाह करते थे। खेतोंमें अनाज काटनेके बाद जमीनपर जो अन्न (ऊमी, सिट्टा आदि) गिरा पड़ा हो, वह भूदेवों (ब्राह्मणों) के हकका होता है। उनको चुनकर अपना निर्वाह करना 'शिलोञ्छवृत्ति' है। एक बार ब्राह्मणोंको कई दिनोंसे अन्न नहीं मिला। एक दिन जौके खेतमें कुछ जौ मिले। ब्राह्मणने लाकर घरमें दे दिये। सास-बहूने उनका आटा बनाया और भूनकर सतुआ तैयार किया। राजस्थानमें घी-चीनी डालकर जो सत्तू बनाया जाता है, वह नहीं। केवल आटा भुना हुआ सतुआ तैयार किया। चारों प्राणी कई दिनके भूखे थे। उन्होंने उस सतुआके पाँच विभाग किये।

जब रसोई बनती है तब उसको पूरी-की-पूरी स्वयं खा लेना पाप है। जो केवल अपने लिये भोजन पकाकर खाते हैं, वे पापी पापका भक्षण करते हैं—'**भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्**॥' (गीता ३।१३) मनुजीने भी कहा है—'**केवलाघो भवति केवलादी**' जो अपने लिये भोजन बनाता है, वह पापका भक्षण करता है। रसोई बनी तो अतिथि-सत्कार करना गृहस्थका धर्म है। भगवान्‌ने ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, संन्यासी सबका पालन-पोषण करनेकी जिम्मेवारी गृहस्थपर रखी है। इसलिये कोई घरपर आ जाय तो कुछ दे दो। पेटभर खिलाना ही है—ऐसा कोई नियम नहीं है; परन्तु कुछ दो। लौकिक कहावत है—हाथका उत्तर दो, जबानका उत्तर मत दो।

ब्राह्मणने बलिवैश्वदेव कर दिया, भगवान्‌को भोग लगा दिया, फिर पाँच पत्तलोंमें परोस करके बाहर जाकर अतिथिको देखने लगे। रसोई बनकर तैयार हो जाय तो बलिवैश्वदेव करके जितनी देरमें एक गाय दुहे, उतनी देर अतिथिकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। अतिथि न आये तो उसका हिस्सा निकालकर भोजन कर सकते हैं। अगर भोजनसे पहले अतिथि आ जाय तो अतिथिको भोजन देकर फिर स्वयं भोजन करना चाहिये। इतनेमें ही एक ब्राह्मण आ गये। उनको भिक्षाके लिये कहा

तो वे आ गये। उनको भीतर ले गये और अतिथिके लिये रखा हुआ सतुआ दे दिया। उसको वे पा गये। घरके ब्राह्मण देवताने उनको अपने हिस्सेका सतुआ दे दिया। अतिथि ब्राह्मण वह भी पा गये। ब्राह्मणीने जाकर अपने पतिदेवसे कहा कि प्राणनाथ! अभीतक अतिथिकी तृप्ति नहीं हुई है, उसको मेरा भी हिस्सा दे दो। ब्राह्मणने उसको समझाया कि देखो, तुम स्त्री-जाति हो, भूख अधिक लगती है। तुम भूख सहन नहीं कर सकोगी। जब हमने अतिथिका सत्कार कर दिया तो गृहस्थके धर्मका पालन हो गया। तुम कोई चिन्ता मत करो। ब्राह्मणीने कहा कि आप भूखे रहें और मैं खाऊँ—ऐसा कभी हो नहीं सकता। ब्राह्मणीने ज्यादा हठ किया तो उसका हिस्सा भी अतिथिको दे दिया। वे उसे भी पा गये। अब बेटा पहुँचा पिताजीके पास। दान-पुण्य करना, श्राद्ध आदि करना परिवारके बड़े (मुख्य) व्यक्तिका काम होता है। इसलिये लड़केने अतिथिको अपना हिस्सा खुद न परोसकर पिताजीसे प्रार्थना की। पिताजी (ब्राह्मण) ने कहा कि देखो बेटा! तेरी अवस्था छोटी है। छोटी अवस्थामें अग्नि तेज होती है, भूख ज्यादा लगती है। इसलिये तुम खाओ। हम तो बूढ़े हैं, हमारी कोई बात नहीं। बेटा माना नहीं। उसने बहुत हठ किया तो उसका हिस्सा भी अतिथिको परोस दिया। अब बेटेकी बहू पहुँची अपनी सासके पास और बोली कि माताजी! मेरा भाग भी अतिथिको दे दीजिये, जिससे वे तृप्त हो जायँ। हम कई दिनोंसे भूखे हैं, एक दिन और भूखे रह जायँ तो क्या है! बहुत हठ करनेपर उसका हिस्सा भी अतिथिको दे दिया गया। अतिथिको देकर चारों प्राणी बहुत प्रसन्न हुए कि आज तो बड़े आनन्दकी बात हो गयी!

यदि कोई दान देकर पछताता है, दुःखी हो जाता है, तो वह दान उतना फलीभूत नहीं होता। देकर प्रसन्न हो जाय कि आज हम निहाल हो गये! अपना पेट भरा रहनेपर अन्न देना सुगम है। लाखों, करोड़ों रुपये रहनेपर थोड़े रुपये देना सुगम है। परन्तु भूखे पेट अन्न देना मामूली बात नहीं, बड़ा मुश्किल काम है। आपने सुन लिया, हमने कह दिया, जोर क्या आया? पता तब लगे जब ऐसा काम पड़े। वे चारों प्राणी देकर बहुत प्रसन्न हुए कि आज तो हम निहाल हो गये! वे अतिथि ब्राह्मण धर्मराजरूपसे प्रकट हो गये और बोले कि तुम कितने धर्मात्मा हो—इसकी मैंने परीक्षा ली थी। आज मैं हार गया, तुम जीत गये! तुमने धर्मपर विजय कर ली। अब तुम इसी शरीरसे स्वर्गमें चलो। वे सब धर्मराजके साथ चले गये। वह नेवला कहता है कि मैंने यह सब देखा! पत्तलके ऊपर आचमनका पानी बिखरा था। वहाँ जाकर जब मैंने लोट लगायी तो शरीरके जितने भागमें वह पानी लगा, उतना भाग सोनेका हो गया। बाकीका भाग भीगा नहीं, इसलिये पूरा शरीर सोनेका नहीं हुआ। मैंने इस यज्ञकी महिमा सुनी कि युधिष्ठिरजी महाराजने बड़ा भारी यज्ञ किया है। यहाँ आकर मैं कीचड़में लोटा तो कीचड़ और लग गया, रोयाँ एक भी सोनेका नहीं हुआ! आप इस यज्ञकी झूठी प्रशंसा क्यों करते हो?

अब आप विचार करें, इतना दान-पुण्य करनेपर भी युधिष्ठिरजीका यज्ञ उतना बड़ा नहीं हुआ, जितना उस ब्राह्मणके द्वारा हुआ। अधिक दान देनेसे अधिक पुण्य हो जायगा—यह बात है ही नहीं। बहनोंके मनमें बहुत रहती है कि हमारे पास धन होगा तो ऐसा दान करूँगी, ऐसा उद्यापन करूँगी, वैशाख नहाऊँगी, ऐसा करूँगी, वैसा करूँगी। न जाने कितने-कितने मनोराज्य होते हैं! बहनो! आपके पास जितना है, उसके अनुसार करो। मालपर ज़गात (टैक्स) लगती है। आपके पास माल नहीं तो जगात किस बातकी? आपके पास जितना है, उतना ही आपपर लागू होता है।

सत्त सारु दत्त बाँटिये, 'नापो' कहत नरां।
निपट नकारो न दीजिये, उणद देख घरां॥

'नापो कवि कहते हैं कि मनुष्यो! अपनी शक्तिके अनुसार दान दो। घरमें अभाव देखकर किसीको साफ 'ना' मत कहो, प्रत्युत कुछ-न-कुछ दे दो।'

शक्तिके अनुसार दो तो वह बड़ा भारी दान हो जायगा। महिमा वस्तुके सदुपयोगकी है। यह नहीं कि ज्यादा धन होगा तो हम दान-पुण्य करेंगे; तीर्थ, व्रत, यज्ञ आदि करेंगे, बड़े-बड़े सत्संग-समारोह करेंगे; परन्तु क्या करें, हमारे पास पैसा नहीं है! सज्जनो! पैसा नहीं है तो आपपर दान, तीर्थ, व्रत, यज्ञ आदि करना लागू ही नहीं होता। आप भी छोटे बालकसे उतनी ही आशा रखते हैं, जितना वह कर सकता है। क्या भगवान् आप-जितने भी जानकार और दयालु नहीं हैं? क्या भगवान् आपकी शक्तिको नहीं जानते? आपको उतना ही करना है, जितनी आपकी शक्ति है। आपके पास जो योग्यता, परिस्थिति आदि है, उसका सदुपयोग करो तो कल्याण कम नहीं होगा। युधिष्ठिरजीसे उस ब्राह्मणका यज्ञ कम नहीं था। पासमें खानेको भी नहीं था; परन्तु यज्ञ हो गया युधिष्ठिरजीके यज्ञसे बढ़कर!

ऐसी इच्छा न करें कि अधिक हो जाय तो अधिक करेंगे। जो पासमें है, उसीका अच्छे-से-अच्छा उपयोग करो। प्राप्त परिस्थितिका बढ़िया-से-बढ़िया सदुपयोग करें तो वह काम छोटा नहीं होगा, बड़े महत्त्वका हो जायगा। मैंने एक

कथा सुनी है। वह किसी दाक्षिणात्य रामायणमें आती है, ऐसा सुना है। रामजी और रावणका आपसमें घमासान युद्ध हो रहा था। इतनेमें एक गिलहरी दोनों हाथोंमें तिनका लेकर रामजीके पास पहुँची और बोली कि मैं अभी रावणको मार दूँ! भगवान् उसपर प्रसन्न हो गये। उसपर हाथ रखा, जिससे (अँगुलियोंके स्पर्शसे) वे लकीरें हो गयीं। गिलहरीमें रावणको मारनेकी क्या ताकत है? पर उसने अपना पूरा बल लगा दिया, जिससे भगवान् खुश हो गये।

आप दूसरेके उद्धारके लिये अपनी पूरी शक्ति लगा दें। भगवान् देखते हैं कि मामूली शक्ति होते हुए भी वह दूसरोंके उद्धारके लिये चेष्टा करता है तो मैं कम-से-कम इसका उद्धार तो कर ही दूँ! साधारण शक्तिवाला भी जब अपनी पूरी शक्ति लगाकर दूसरोंके हितकी चेष्टा करता है, तो अच्छे-अच्छे सन्त-महात्माओंपर और भगवान्‌पर भी उसका असर पड़ता है। एक बच्चा कुछ बोझा उठाता है तो कहते हैं कि वाह-वाह, कितना बोझा उठा लिया! जब कि उसी बोझेको आप एक हाथसे उठाकर रख सकते हैं। बच्चेने अपनी पूरी शक्ति लगाकर बोझा उठाया, इसीलिये आप उसकी वाह-वाह करते हैं। ऐसे ही सज्जनो! आपको जो वस्तु, परिस्थिति आदि मिली है, उसीका सदुपयोग करो। आप चाहते हैं कि धन मिल जाय, अच्छी परिस्थिति मिल जाय, हमारा शरीर नीरोग हो जाय तो हम अपना कल्याण कर लेंगे, पर क्या करें, हमारे पास विद्या, बुद्धि, योग्यता नहीं! वास्तवमें आपसे अधिक विद्या, बुद्धि, योग्यताकी कोई आशा रखता ही नहीं। भगवान् भी आशा नहीं रखते। आपके पास जितना है, उसीका अच्छी तरहसे उपयोग कीजिये; भगवान् कल्याण कर देंगे। सज्जनो! परिस्थिति कल्याण करनेवाली नहीं होती। कल्याण करनेवाली है— परिस्थितिका सदुपयोग करनेकी युक्ति। वह आप ठीक तरहसे विचारपूर्वक समझ लें और परिस्थितिका सदुपयोग करें तो उससे कल्याण हो जायगा।

बचपनमें पढ़ी हुई एक कहानी याद आ गयी। 'बीरबल-विनोद' पुस्तकमें बादशाह अकबर और बीरबलका संवाद है। एक बार बादशाहने पूछा कि शस्त्र कौन-सा बड़ा है, जिससे विजय हो जाय? बीरबलने सीधा राजस्थानी भाषामें उत्तर दिया—'ओसाण (अवसर) बादशाहने विचार किया कि इसकी परीक्षा करेंगे। एक दिन बीरबल बादशाहके साथ जङ्गलमें गया। वह बड़ा बुद्धिमान् ब्राह्मण था। बादशाहकी उसपर बड़ी कृपा थी। वह अपनी रसोई अलग बनाकर खाता था। वहाँ जङ्गलमें वह एकान्तमें अपनी रोटी बना रहा था। बादशाहने एक हाथीको मदिरा पिलाकर बीरबलकी तरफ छोड़ दिया कि देखें, अब यह कैसे अपनी रक्षा करता है? बीरबलने देख लिया कि हाथी आ रहा है। वहाँ एक कुतिया बैठी थी। बीरबलने कुतियाको रोटीका टुकड़ा दिया। ज्यों ही हाथी नजदीक आया, कुतियाके पैर पकड़कर हाथीपर फेंका। कुतिया जाकर हाथीके माथेपर लगी। हाथी भाग गया पीछे कि न जाने यह क्या आफत आ गयी! अब हाथी भगानेका यह भी शस्त्र कभी किसीने सुना है? यह तो मौका, अवसर है कि हाथीको भगा दिया। बादशाहने कहा कि ठीक है जो ओसाण (अवसर) आ जाय, वही शस्त्र है। इसी तरह जो अवसर आ जाय वही दान है, पुण्य है।

लोगोंमें कहावत है—***'छल-बलकी खेती भली, बेला-पुलको दान।'*** वर्षा बरसते ही चट खेती कर लो तो वह हो जायगी। दो दिनके बाद वह नहीं होगा, जो आरम्भमें हो जायगा। इसी प्रकार जब सुपात्र मिल जाय, तभी दान दे दो तो उसका बड़ा भारी पुण्य होता है। द्रौपदीकी एक बात हमने सुनी है। द्रौपदी पहले जन्ममें भी एक स्त्री थी। एक दिन वह नदीमें जल भरने गयी। सरदीका समय था। एक ब्राह्मण देवता लँगोटी लगाकर नदीमें स्नान कर रहा था। संयोगवश उसकी लँगोटी पानीमें बह गयी। बाहर माताएँ खड़ी थीं। वह बेचारा ठण्डसे काँपने लगा। परन्तु बाहर कैसे आये? कपड़ा था नहीं पासमें। उस स्त्रीने देखा कि इस बेचारेके पास कपड़ा नहीं है और सरदीमें ठिठुर रहा है। उसने अपनी साड़ीकी लीरी फाड़कर उसकी तरफ फेंकी, पर वह बह गयी। एक-दो लीरी और भी फेंकी, पर वे भी बह गयीं। फिर एक लीरी पत्थर बाँधकर फेंकी तो वह उसके हाथमें आ गयी और उसकी लँगोटी लगाकर वह बाहर निकल आया। उस स्त्रीके मनमें यह भाव नहीं आया कि अपनी साड़ी कैसे फाड़ दूँ? उस एक चीरकी लीरसे कितना बढ़ गया चीर! जब द्रौपदीका चीर खींचा गया, उस समय भगवान्‌ने कहा—

आरतवान अतीत को, दीवी चीर कि लीर।
मैं न बढ़ायौ द्रौपदी, तू हि बढ़ायौ चीर॥

बेचारा दुःखी ब्राह्मण जलमें काँप रहा था। लज्जा-निवारणके लिये तूने अपना चीर फाड़कर दे दिया। उसी कारण यह तुम्हारा चीर बढ़ गया। ***'दुसासन की भुजा थकित भई, बसन रूप भये स्याम।'*** इस प्रकार समयपर जो दान दिया जाता है, वस्तुका सदुपयोग किया जाता है, उसका बड़ा भारी माहात्म्य होता है।

आपके पास शक्ति कम है, परिस्थिति भी बड़ी विकट आयी हुई है, फिर भी आप घबरायें नहीं, प्रत्युत सोचें कि

इस समय क्या किया जाय। कुछ-न-कुछ उपाय निकल आयेगा। आपके द्वारा बड़ा उपकार हो जायगा, जो आपका कल्याण कर देगा। सज्जनो ! वस्तु परिस्थितिकी महिमा नहीं है, उसके उपयोगकी महिमा है। आप अनुकूल परिस्थितिका भी सदुपयोग कर सकते हैं और प्रतिकूल परिस्थितिका भी। स्वस्थताका भी सदुपयोग कर सकते हैं और अस्वस्थताका भी। पासमें बहुत कुछ हो अथवा कुछ न हो—दोनों परिस्थितियोंका आप सदुपयोग कर सकते हैं। इसलिये आप अपनी परिस्थिति देखकर घबरायें नहीं। उस परिस्थितिका सदुपयोग करें तो भगवान् प्रसन्न हो जायँगे।

नाम-जप और सेवासे भगवत्प्राप्ति

पारमार्थिक साधनोंमें 'क्रिया' की प्रधानता नहीं है, प्रत्युत 'भाव' और 'ज्ञान' की प्रधानता है। क्रियाकी प्रधानता तो सांसारिक कार्योंमें है। भगवन्नामका जप क्रिया होते हुए भी भावको, ज्ञानको जाग्रत् करनेका विलक्षण साधन है। नाम-जपमें 'भाव' की प्रधानता है। भावकी कमी रहनेसे नाम-जप करते हुए भी विशेष लाभ नहीं होता। भावके विषयमें बहुत-सी बातें हैं। पहली बात यह है कि भगवान्‌के साथ अपनापन हो। अपनापन रखकर नाम-जप किया जाय तो उसका भगवान्‌पर असर पड़ता है। एक बालक माँ-माँ पुकारता है। यहाँ बैठी जिन बहनोंके बालक हैं, उन सभीका नाम माँ है, पर उस बालककी पुकार सुनकर वे सब नहीं दौड़तीं। जिसको वह माँ कहता है, वही उठकर दौड़ती हैं और उसको प्यारसे दुलारकर हृदयसे लगाती है। तात्पर्य है कि माँका होकर माँको पुकारा जाय तो उसका माँपर असर पड़ता है। खेलते समय भी बालक माँ-माँ कहता है। माँ देख लेती है कि वह खेलमें लगा हुआ है; अतः माँ-माँ कहनेपर भी माँपर इतना असर नहीं पड़ता।

नाम-जपकी खास विधि है—भगवान्‌का होकर भगवान्‌का नाम लें। केवल भगवान् ही हमारे हैं और हम भगवान्‌के ही हैं; संसार हमारा नहीं है और हम संसारके नहीं हैं—यह अगर पक्का विचार हो जाय तो तत्काल लाभ होता है। गोस्वामीजी महाराजने कहा है—

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥

(दोहावली २२)

अनेक जन्मोंकी बिगड़ी हुई बात आज सुधर जाय और आज भी अभी-अभी, इसी क्षण सुधर जाय। कैसे सुधर जाय? तो कहते हैं कि तू रामजीका होकर रामजीको पुकार। परन्तु हमारेसे भूल यह होती है कि हम संसारके होकर भगवान्‌को पुकारते हैं। संसारके काम-धन्धोंके कारण वक्त नहीं मिलता, हम तो संसारी आदमी हैं, कलियुगी जीव हैं—इस प्रकार अपने-आपको संसारी और कलियुगी मानोगे तो आपपर संसारका और कलियुगका प्रभाव ज्यादा पड़ेगा; क्योंकि उनके साथ आपने सम्बन्ध जोड़ लिया। बिजलीके तारसे सम्बन्ध जुड़ जाता है तो करेण्ट आ जाता है, ऐसे ही संसार और कलियुगसे सम्बन्ध जोड़ेंगे तो उनका असर जरूर आयेगा। कहते हैं, महाराज! हम तो खाली राम-राम करते हैं, तो ठोस भरा हुआ क्यों नहीं करते भाई? मानो भगवान्‌के नाममें तो खालीपना है और सम्बन्ध हमारा संसार और कलियुगसे है! यह बहुत बड़ी गलती है।

वास्तवमें भगवान् ही हमारे हैं। जब हमने संसारमें जन्म नहीं लिया था, तब भी वे हमारे थे और जब मर जायँगे, तब भी वे हमारे रहेंगे। यह संसार पहले भी हमारा नहीं था, आगे भी हमारा नहीं रहेगा और अभी भी प्रतिक्षण हमारेसे अलग हो रहा है। उम्र भी बीतती चली जा रही है, शरीर भी बीतता चला जा रहा है और कलियुगका समय भी बीतता चला जा रहा है। संसारका सम्बन्ध आपके साथ है ही नहीं। इस बातको आप खयालमें रखें।

मैंने बहुत बार कहा है, अब भी कहता हूँ। जब आप बालक थे, तब अपनेको बालक कहते थे। परन्तु अब आप अपनेको बालक नहीं कहते। आपने कौन-सी तारीखको बालकपन छोड़ा? कोई भाई-बहन बता सकता है तो बताये! वास्तवमें आपने बालकपन छोड़ा नहीं, प्रत्युत वह अपने-आप छूट गया। जब बालकपन छूट गया तो क्या जवानी नहीं छूटेगी? वृद्धावस्था नहीं छूटेगी? छूटनेकी रीति है। जो निरन्तर छूटता चला जा रहा है, उसके साथ सम्बन्ध केवल आपका माना हुआ है, वास्तवमें सम्बन्ध है नहीं। परन्तु भगवान्‌के साथ आपका सम्बन्ध पहले भी था, अभी भी है और आगे भी रहेगा। यह सम्बन्ध टूटेगा नहीं कभी। दुष्कर्मोंके कारण चाहे चौरासी लाख योनियोंमें जाना पड़े, नरकोंमें जाना पड़े, तो भी आप भगवान्‌से अलग नहीं हो सकते और भगवान् आपसे अलग नहीं हो सकते। भगवान्‌के साथ अपने इस नित्य-सम्बन्धको तो आपने भुला दिया और संसारके साथ सम्बन्ध मानकर भगवन्नामका जप करते हैं, इसी कारण भगवन्नामका प्रभाव देखनेमें नहीं आ रहा है।

कुटुम्बका सम्बन्ध तो 'नदी-नाव-संयोग'की तरह है।

नदीके इस पार सब एक साथ नौकापर बैठ जाते हैं और उस पार पहुँचते ही उतर जाते हैं। जबतक नदीसे पार नहीं होते, तभीतक हमारा सम्बन्ध रहता है। ऐसे ही कुटुम्बका सम्बन्ध है, जो आगे रहेगा नहीं, छूट जायगा। यह सच्ची बात है। अगर आप इस बातको मान लें कि 'मैं शरीर-संसारका नहीं हूँ और शरीर-संसार मेरे नहीं हैं, मैं परमात्माका हूँ और परमात्मा मेरे हैं, मैं अपने परमात्माका नाम लेता हूँ' तो भगवान्‌की ताकत नहीं कि वे आपकी तरफ कृपादृष्टिसे न देखें !

भगवान्‌के होकर भगवान्‌के नामका जप करो—*'होहि राम को नाम जपु।'* बच्चा माँके साथ जितना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है, माँ उतनी ही जल्दी उसके पास आती है। बालक जोरसे रो पड़ता है तो माँ अपनी बड़ी लड़कीको भेजती है कि बेटी ! जा, भाईको समझा, राजी कर। वह आकर भाईके हाथमें झुनझुनियाँ देती है, पर वह उसे फेंक देता है। वह लड्डू देती है तो उसे भी फेंक देता है। बहन उसको गोदीमें लेती है तो वह लात मारता है और माँ-माँ करता है। तब माँको उसके पास आना ही पड़ता है। अगर वह झुनझुनियाँसे राजी हो जाय अथवा बहनकी गोदमें चला जाय तो फिर माँ उसके पास नहीं आती। बहनकी गोदमें माँका दूध थोड़े ही है, वह प्यार थोड़े ही है ! इस तरह नाम-जप करनेवालेका लोगोंमें आदर होता है कि वाह सा ! ये तो भगतजी हैं, भजन करनेवाले हैं ! बस, अब झुनझुना बजाओ बैठे ! लोग आदर-सम्मान करने लगते हैं, दण्डवत् प्रणाम करते हैं, पूजन करते हैं, प्रशंसा करते हैं कि ये बड़े भारी महात्मा हैं। यह मायारूपी बहन आती है और गोदमें ले लेती है। उसमें राजी हो जाते हो तो फिर भगवान् नहीं आते। नामकी बिक्री करके उसके बदले आदर लेते हो, भेंट-नमस्कार लेते हो, सुख लेते हो तो बताओ। नामका संग्रह कैसे हो ? सुख लेकर नामको खर्च कर रहे हो।

सन्तोंने कहा है—*'हरिया बन्दीवान ज्यूँ करिये कूक पुकार।'* कोई चारों तरफसे घिरा हुआ हो और वहाँसे निकलना चाहता हो तो वह जैसे पुकारता है—कोई छुड़ाओ ! छुड़ाओ ! ऐसे ही भीतरसे पुकार निकले—हे नाथ ! मैं काम, क्रोध, लोभ, ममता, आसक्तिमें फँस गया हूँ, हे नाथ ! मुझे इनसे छुड़ाओ ! इस तरह आर्त होकर भगवान्‌को पुकारो।

आजतक नामकी जितनी महिमा लिखी गयी है, उतनी तो है ही, उसके अलावा भी बहुत अधिक बाकी बची है। परन्तु नाम सही ढंगसे न लेकर कहते हैं कि नामकी जितनी महिमा शास्त्रोंमें लिखी है, सुननेमें आती है, उतनी देखनेमें तो नहीं आती ! देखनेमें आये कैसे ? आपने उस ढंगसे नाम लिया ही नहीं। नाम लेनेका ढंग है—अनन्यभावसे नाम लेना कि केवल भगवान् ही मेरे हैं, भगवान्‌के सिवाय और कोई मेरा नहीं है। मैं केवल भगवान्‌का हूँ, भगवान्‌के सिवाय और किसीका मैं नहीं हूँ। माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदिका मैं नहीं हूँ। वे मेरेको अपना मानते हैं तो मैं उनकी सेवा करनेके लिये हूँ। माता-पिताकी सेवा करो, स्त्री-पुत्रका पालन-पोषण करो, पर उनसे कुछ भी लेनेका भाव मत रखो। खूब तत्परतासे, न्यायसे उनकी प्रसन्नता लो, पर अपने-आपको फँसने मत दो। देनेसे आप फँसोगे नहीं, पर लेनेकी इच्छामात्रसे बँध जाओगे। सेवा करनेके लिये तो सब संसार हमारा है, पर लेनेके लिये संसार हमारा है ही नहीं। बढ़िया बात तो यह है कि भगवान्‌से भी कुछ लेनेके लिये हमें नाम नहीं लेना है। पापोंका नाश करनेके लिये भी नाम नहीं लेना है। नाम इसलिये लेना है कि भगवान् हमें स्वीकार कर लें, हम केवल भगवान्‌के रहें, भगवान्‌को कभी भूलें नहीं। किसी भक्तने कहा है—

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो
नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ
ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

'हे नरकासुरका अन्त करनेवाले प्रभो ! आप चाहे मेरा स्वर्गमें निवास कर दें, चाहे पृथ्वीपर निवास कर दें और चाहे नरकोंमें निवास कर दें। इसके लिये मैं मना नहीं करता। मेरी तो एक ही माँग है कि शरद्-ऋतुके कमलकी शोभाको हरनेवाले आपके जो चरण हैं, उनको मृत्यु-अवस्थामें भी भूलूँ नहीं। आपके चरण मेरेको सदा याद रहें।'

मज्जन्मनः फलमिदं मधुकैटभारे
मत्प्रार्थनीयमदनुग्रह एष एव।
त्वद्भृत्यभृत्यपरिचारकभृत्यभृत्य-
भृत्यस्य भृत्य इति मां स्मर लोकनाथ॥

(गर्गसंहिता, अश्वमेध, ५०। ३३)

'मेरे जन्मका फल यही है, मेरी प्रार्थनाका भी एक ही विषय है और आपकी कृपा भी मैं इसीमें मानता हूँ कि आप अपने दासोंके दास, उन दासोंके नौकरोंका नौकर और उन नौकरोंके गुलामोंका गुलाम तथा उनका भी गुलाम—इस तरह अपने दासोंकी परम्परामें सातवीं जगह भी मेरेको याद कर लें।'

एक बड़ी मार्मिक बात है, कृपया ध्यान दें। भगवान्‌से हमें कुछ नहीं लेना है। भगवान्‌ने तो कृपा करके मानव-शरीर दे दिया, अब और क्या चाहते हो उनसे ?

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस, उत्तर, ४४। ६)

प्रभुने कम कृपा नहीं की है। देवताओंके लिये भी दुर्लभ शरीर दे दिया। इसके साथ ही यत्किञ्चित् पारमार्थिक रुचि हो गयी, यह कोई मामूली चीज नहीं है। हजारों-लाखों आदमियोंके भीतर भी भगवान्‌की तरफ रुचि नहीं है, पर वह रुचि हमारेमें हो गयी—यह विलक्षण बात है। भगवान्‌के दरबारमें सबसे दुर्लभ और बढ़िया-से-बढ़िया चीज है—भगवान्‌के प्यारे भक्त! भगवान् कहते हैं—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भागवत ९। ४। ६८)

'सन्त मेरे हृदय हैं और मैं उन सन्तोंका हृदय हूँ। वे मेरे सिवाय और कुछ नहीं जानते तथा मैं भी उनके सिवाय और कुछ नहीं जानता।'

ऐसे भगवान्‌के प्यारे सन्तोंकी वाणी, उनका संग, उनका इतिहास हमारेको मिल जाय तो यह भगवान्‌की कम कृपा है क्या? हनुमान्‌जी लंकामें विभीषणजीसे मिलते हैं तो वहाँ विभीषणजी कहते हैं—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥

(मानस, सुन्दर० ७। ४)

हनुमान्‌जी! अब मुझे भरोसा हो गया कि भगवान् मेरेपर कृपा करेंगे। आप मिल गये, इससे यह मालूम देता है कि भगवान् भी मिलेंगे! भगवान्‌ने अपने दरबारकी बढ़िया-से-बढ़िया चीज दे दी है, फिर भी भगवान्‌से माँगते हैं कि वह दो, अमुक चीज दो! आप समझते ही नहीं कि भगवान्‌से क्या माँगा जाय। भगवान्‌की दी हुई वस्तुका मूल्य भी नहीं आँक सकते।

एक मार्मिक बात बताता हूँ। सज्जनो! आपसे भगवान् भी मिले, भगवान्‌के अभावकी पूर्ति भी आपसे हो—ऐसी विलक्षण योग्यता, अधिकार भगवान्‌ने आपको दिया है! आपने संसारमें जितनी ममता कर ली, उतनी भगवान्‌के साथ आत्मीयता छूट गयी अर्थात् उतना भगवान्‌में अभाव आ गया! किसी माँका बालक दूसरेकी माँकी गोदमें चला जाय और अपनी माँकी गोदमें न आये, माँको याद ही न करे, पसन्द ही न करे, तो क्या माँ खुशी होगी? ऐसे ही हम भगवान्‌को छोड़कर संसारमें लग गये हैं। अगर हम भगवान्‌में लग जायँ, भगवान्‌के सम्मुख हो जायँ तो भगवान् निहाल हो जायँगे। **हमारी भगवान्‌में श्रद्धा नहीं है, प्रेम नहीं है, अपनापन नहीं है तो** उतना भगवान्‌में अभाव आ गया। हम भगवान्‌में श्रद्धा, प्रेम, अपनापन करते हैं तो उस अभावकी पूर्ति हो जाती है। इस प्रकार भगवान्‌के भी अभावकी पूर्ति करनेकी योग्यतावाले मनुष्य-शरीरको पाकर भी हम नाशवान् पदार्थोंके पीछे-पीछे दौड़ते हैं, जो हमारी कदर करते ही नहीं!

आप रुपयोंके पीछे-पीछे दौड़ते हैं, पर रुपयोंने कभी कहा कि हम तुम्हारे हैं, तुम हमारे हो? घर, जमीन, जायदाद, रुपये, कपड़े, गहने आदिको आप मेरा-मेरा कहते हैं, पर क्या उन्होंने कभी कहा कि हम तुम्हारे हैं, तुम हमारे हो? उलटे वे आपको छिटका रहे हैं, आपको छोड़कर जा रहे हैं। कुटुम्बी भी जा रहे हैं। कपड़े, गहने भी जा रहे हैं, फट रहे हैं, नष्ट हो रहे हैं। फिर भी आप 'हाय रुपया, हाय रुपया' करते हैं, यह कोई मनुष्यपना है? रुपयोंके लिये झूठ, कपट, बेईमानी, पाप, अन्याय करते हुए भी डरते नहीं। रुपयोंका अच्छे काममें उपयोग भी नहीं कर सकते। चाहे भगवान्‌से विमुख हो जायँ, धर्म-कर्म सब डूब जाय, पर किसी तरहसे कहींसे रुपये ले लें। बुरे कर्मसे भी किसी तरहसे कमा लें और खा लें, बस। यह कोई दशा है? आप जरा सोचें। हृदयसे तो रुपयोंको चाहते हैं, पर ऊपरसे भगवान्‌का नाम लेते हैं!

ऊपर मीठी बात, कतरनी काँखमें।
आग बुझी मत जान, दबी है राखमें॥

भीतरमें आग बुझी नहीं है। कपट, जालसाजी, ठगी धोखेबाजी करके किसी तरहसे दूसरेको चूस लें—ऐसी लूट-खसोट मची है मनमें। कहते हैं कि नाम-जपसे लाभ दीखता नहीं! दीखे कैसे? मनमें तो महान् कूड़ा-कचरा भरा हुआ है।

मीराबाई इतनी ऊँची हो गयी, उसका कारण क्या था? ***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'*** मेरे तो केवल भगवान् हैं, बस। और कोई मेरा है ही नहीं। इस प्रकार भगवान्‌के साथ अनन्य सम्बन्ध हो। यह अनन्यभाव ही भगवान्‌को पकड़ता है, क्रिया नहीं पकड़ती। पदार्थोंसे और क्रियाओंसे आप भगवान्‌को खरीदना चाहोगे तो यह नहीं होगा। भगवान्‌में अपनापन करो तो भगवान् चूँ नहीं कर सकते, जा नहीं सकते।

मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं, फिर वे आये क्यों नहीं? अभीतक भगवान् मिले क्यों नहीं? अभीतक भगवान्‌ने दर्शन क्यों नहीं दिये? ऐसी व्याकुलता होनेपर जब संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब भगवत्प्राप्ति हो जाती है। संसारके साथ सम्बन्ध केवल संसारकी सेवा करनेके लिये है। कुटुम्बमें रहते हुए केवल कुटुम्बियोंकी सेवा करनी है, उनसे कोई वस्तु, सेवा लेनेकी आशा मनमें रखनी ही नहीं है।

संसारमें हमारा जन्म ऋणानुबन्धसे हुआ है। मैंने राजस्थानी भाषामें सुना है, कोई दुःख देता है तो कहते हैं *'काला चाबिया है इसका'* अर्थात् इसका तिल खाया है, इसका हमारेपर कोई बदला है, उसको यह लेगा। संसारके जितने सम्बन्धी हैं, सबका बदला आपपर है। वह बदला चुकाना है। अगर मुक्ति चाहते हो तो कम-से-कम पुराना ऋण तो चुकाओ, नया ऋण क्यों लेते हो बाबा? संसारकी सेवा करो, पर संसारसे कुछ चाहो मत। **'आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।'** (श्रीमद्भागवत ११।८।४४) संसारसे आशा रखनेमें महान् दुःख है और संसारसे निराश होनेमें महान् सुख है! माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-भौजाई, सब हमारे अनुकूल चलें, हमारा काम करें—इस प्रकार केवल लेने-ही-लेनेके लिये सम्बन्ध मानना आसुरी स्वभाव है।

भगवान् राजी कैसे हों? भगवान्से भी कुछ नहीं लेना है, प्रत्युत देना है। जैसे बच्चा माँसे दूर चला जाय तो माँको उसकी बहुत याद आती है। माताओंकी ऐसी बातें मैंने सुनी हैं। दीपावली, अक्षय तृतीया आदि त्यौहार आते हैं तो माताएँ कहती हैं कि क्या बनायें? लड़का तो घरपर है नहीं, अच्छी चीज बनाकर किसको खिलायें? लड़का घरपर होता है तो माताएँ बढ़िया-बढ़िया चीजें बनाती हैं और लड़केको खिलाकर खुश होती हैं। ऐसे ही भगवान्के लड़के हमलोग चले गये विदेशमें! अब भगवान् कहते हैं कि क्या करूँ? क्या दूँ? लड़का तो घरपर ही नहीं है! वह तो धन-सम्पत्तिकी तरफ लगा हुआ है, खेल-कूदमें लगा हुआ है!

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस, सुन्दर० ४४।२)

परन्तु आज सम्मुख हो रहे हैं रुपये-पैसोंके, वस्तुओंके, कुटुम्बके, आरामके, मान-आदरके, स्वाद-शौकीनीके!

जो संसारसे आशा रखता है और भगवान्का भजन भी करता है, वह भजन नहीं करनेवालेकी अपेक्षा तो अच्छा ही है। किसी तरहसे भगवान्में मन लग जाय तो बड़ा अच्छा है—**'तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्'** (श्रीमद्भागवत ७।१।३१)। परन्तु यदि आप नाम-जपका माहात्म्य तत्काल देखना चाहते हैं तो वह तभी देखनेमें आयेगा, जब आप सच्चे हृदयसे भगवान्में लग जायँगे। जिन लोगोंने भजन किया है, उन लोगोंमें विलक्षणता आयी है। हमने ऐसे कई देखे हैं कि नाम-जपसे पहले उनकी क्या अवस्था थी और नाम-जपमें लगनेके बाद उनकी क्या अवस्था हो गयी! परन्तु वे लगनसे जपते थे।

जब मैं पढ़ता था, उन दिनोंकी बात है। रात्रिके दस बजेतक पाठ वगैरह होता था। एक दिन रात्रिके दस बजेके बाद मैं बाहर गया। जंगलमें एक सरोवर था, उसके किनारेपर एक साधु बैठे थे, जो हमारे परिचित थे। वे राम-राम कह रहे थे और रो रहे थे। बात क्या है? भगवद्भजनके बिना मेरे बहुत-से दिन खाली चले गये, अब क्या करूँ? वह गया हुआ समय सार्थक कैसे बने? ऐसे विचारसे उनके आँसू टपक रहे थे। जो समय हाथसे चला गया, वह पीछे नहीं आयेगा। आज साक्षात् भगवान् मिल जायँ तो भी गये हुए समयकी पूर्ति नहीं होगी! अगर समय खाली न जाता तो भगवान् पहले ही मिल जाते, इतने दिन हम भगवान्के वियोगमें न रहते!

एक भी स्वास खाली खोय न खलक बीच,
कीचड़ कलंक अंक धोय ले तो धोय ले।
उर अँधियारो पाप पुंज सु भरोयो देख,
ज्ञान की चिरागां चित्त जोय ले तो जोय ले।
मिनखा जनम फिर ऐसो न मिलेगो मूढ़,
परम प्रभू से प्यारो होय ले तो होय ले।
यह छिनभंगु देह तामे जन्म सुधारबो है,
बिजली के झपाके मोती पोय ले तो पोय ले॥

जब बिजलीका प्रकाश होता है, उस समय मोती पिरो ले, नहीं तो फिर अँधेरा हो जायगा। ऐसे ही इस मनुष्य-शरीरके रहते-रहते भजन कर ले, भगवान्को प्राप्त कर ले। यह मौका फिर नहीं मिलेगा! *'का बरषा सब कृषी सुखानें। समय चुकें पुनि का पछितानें॥'* (मानस, बाल० २६१।३)। अभी समय है सभी तरफसे मन हटा लो। सब सम्बन्ध टूटनेवाले हैं। कोई भी सम्बन्ध रहनेवाला नहीं है। अगर आप छोड़ दोगे तो निहाल हो जाओगे। छूटनेवालेको ही छोड़ना है, इसमें नयी बात क्या करनी है? छूटनेवालेसे मनसे दूर हो जाओ। दूर होनेका मतलब है—उसकी सेवा करो, पर उससे चाहना मत करो। इससे घरवाले भी नाराज नहीं होंगे; क्योंकि वे सेवा ही चाहते हैं। उनसे सेवा लो मत, तो वे और ज्यादा राजी होंगे।

केवल सेवा-ही-सेवा करें तो दुनिया राजी हो जाय, आप निहाल हो जायँ और भगवान् मिल जायँ। दुनियासे चाहना रखोगे तो वह नाराज हो जायगी। वह आपको देगी भी, तो दुःख पाकर देगी कि क्या करें, आफत आ गयी! परन्तु चाह नहीं रखोगे तो दुनिया गरज करके देगी। जो वास्तवमें भीतरसे चाहरहित हैं, उन सन्तोंकी सेवा करती है दुनिया। सेवा करनेवाले कहते हैं कि महाराजने मेरी चीज स्वीकार कर ली, आज तो हम निहाल हो गये! लेनेवालेके हृदयमें गरज नहीं

होगी तो देनेवाला देकर निहाल हो जायगा। परन्तु यदि आपके हृदयमें गरज होगी तो दूसरेको देनेपर भी वह राजी नहीं होगा। वह उलटे सोचेगा कि यह ठग है, देता है तो पता नहीं भीतर क्या कूड़ा-करकट भरा पड़ा है ! इसलिये हृदयमें संसारके प्रति उदार भाव रखो।

संसारसे मिली हुई चीज बिलकुल संसारकी है। शरीर माँ-बापसे मिला है, विद्या गुरुजनोंसे मिली है। हमने संसारसे लिया-ही-लिया है। अब तो कृपा करके देना शुरू करो। देना सीखो तो सही! देनेसे घाटा नहीं पड़ेगा। केवल भाव उदारताका बन जाय। जैसे शिकारी देखता है कि मेरी बन्दूकके सामने शिकार आ जाय, ऐसे ही आप देखते हैं कि कोई मेरे सामने आ जाय, मेरे कब्जेमें आ जाय तो किसी तरहसे उससे ले लूँ! दशा तो ऐसी है और कहते हैं कि लाभ नहीं हुआ। लाभ क्या होगा, उलटे पतन होगा ! खर्चा जितना आज करते हो, उतना ही करो, ज्यादा खर्चा मत करो, पर भाव बिलकुल बदल दो कि हमें लेना ही नहीं है, देना-ही-देना है। हमें तो सेवा करनी है। सुगमतासे जितना खर्च कर सको, उतना खर्च करना है, पर 'हमें किसीसे कुछ नहीं लेना है, यह भाव बना लो। फिर देखो, जीवन सुधरता है कि नहीं, जीवन निर्मल बन जायगा। लोग राजी हो जायँगे। भगवान् राजी हो जायँगे। आप प्रसन्न हो जाओगे, मस्त हो जाओगे।

सेवा करनेवाला कभी दुःखी नहीं होता। लेनेवाला सदा दुःखी होता है। उसको मिले तो भी वह राजी नहीं होगा कि थोड़ा मिला है! ज्यादा मिले तो उसको अभिमान आ जायगा। दुःख और आसुरी-सम्पत्ति उसके पास रहेगी; क्योंकि जड पदार्थ लेनेकी इच्छा है। इसलिये कहा है—***'देनेको टुकड़ा भला, लेनेको हरि नाम।'*** एक साधुको मैंने देखा। एकान्तमें बैठकर नाम-जप कर रहे थे और आँखोंसे टप-टप आँसू बह रहे थे। मकानमें एक छोटी खिड़की थी, वह भी बन्द कर दी थी, जिससे न तो उनपर दूसरेकी दृष्टि पड़े और न उनकी दृष्टि दूसरेपर पड़े। रातमें उनको नींद नहीं आती थी। इस तरह लगनपूर्वक कोई नाम-जप करे तो उसको लाभ क्यों नहीं होगा ? आप करके देखो। भूख तो पेटमें है, पर हलवा पीठपर बाँध दिया और कहते हैं कि तृप्ति नहीं हुई ! उसको खाकर देखो कि तृप्ति होती है या नहीं।

तेरे भावैं जो करौ, भलौ बुरौ संसार।
'नारायण' तू बैठिके, अपनौ भुवन बुहार॥

—इस तरह अनन्यभावसे नाम-जपमें लग जाओ। गृहस्थमें रहते हुए सेवा करो। बहनों-माताओंको चाहिये कि वे आपसमें सेवा करें। चाहे देवरानी हो या जेठानी, सास हो या ननद, चाहे बहू ही हो, उसकी सेवा करो। जैसे कोई पुजारी सेवा करनेके लिये बाजारसे भगवान्‌की मूर्ति लाता है तो वह यह नहीं सोचता कि इस मूर्तिसे घरका काम-धन्धा करायेंगे। ऐसे ही बेटेका विवाह किया है तो एक मूर्ति आयी है, अब उसकी सेवा करनी है। साधुओंको तो मूर्ति कहते ही हैं; जैसे पूछते हैं—कितनी मूर्ति है ? मतलब यह है कि इन मूर्तियोंकी सेवा करनी है, सेवाके सिवाय ये कुछ कामकी नहीं ! कोई जन्म गया तो ठाकुरजीके यहाँसे आया है, उसकी सेवा करो। सेवा करनेके लिये ही आपका सम्बन्ध है।

मेला महोत्सवोंमें सेवा-समितिवाले जाते हैं। कोई बीमार हो जाय तो वे उसको कैम्पमें लाते हैं, दवाई देते हैं, उसकी सेवा करते हैं और यदि वह मर जाय तो जला देते हैं। अब रोये कौन ? ऐसे ही आप सबके साथ केवल सेवाका सम्बन्ध रखो तो आपका रोना बन्द हो जाय, चिन्ता बन्द हो जाय, शोक बन्द हो जाय। सबको सुख-आराम दो, सबका मान-आदर करो और परिश्रम खुद करो। आपका गृहस्थ सुखदायी हो जायगा। अगर सुख देने-ही-देनेकी इच्छा रहे तो सुख हो जायगा और लेने-ही-लेनेकी इच्छा रहे तो सुख कम हो जायगा। आज रुपये कम क्यों हो गये ? संख्या तो घटी नहीं, फिर कम कैसे हो गये ? जिसके पास रुपये आये, उसीने दबा लिये, इसलिये रुपये कम हो गये। कुछ वर्ष पहले रेजगारी (खुले पैसे) बहुत कम हो गयी थी। कारण कि एक-एक आदमीके पास बीस, पचास, सौ-सौ रुपयोंकी रजगारी इकट्ठी की हुई होनेसे बाजारमें कहाँसे मिले ? जिसके हाथ जितनी लगी, इकट्ठी कर ली। ऐसे ही अभी जो सुख मिलता नहीं है, उसका कारण यह है कि सभी सुख लेनेमें लगे हुए हैं, खाऊँ-खाऊँ कर रहे हैं। अगर सब एक-दूसरेको सुख देने लग जायँ तो सुख बहुत हो जायगा।

घरमें रहते हुए घरके सब प्राणियोंकी सेवा करो। छोटे, बड़े, समान अवस्थावाले—सबको सुख-आराम कैसे पहुँचे ? उनका आदर कैसे हो ? यह भाव हरदम बना रहे। कई माताएँ सेवा करके फिर कहती हैं कि मैं इतनी सेवा करती हूँ, मेरा सुख तो गया धूलमें ! सुख धूलमें गया तो बहुत अच्छी बात है, खेती हो जायगी ! धूलमें बीज मिल जाय तो खेती हो जाती है। आप सेवा करते हैं, पर कोई आपका गुण नहीं गाता, आशीष नहीं देता तो यह बहुत ही बढ़िया चीज है। आपकी सेवा जमा हो जायगी। दूसरे वाह-वाह करेंगे तो आपकी सेवा खत्म (खर्च) हो जायगी। कुछ पानेकी इच्छासे

सेवा करोगे तो सेवाकी बिक्री हो जायगी।

गृहस्थाश्रम उद्धार करनेके लिये है, फँसनेके लिये नहीं। सेवा करना उद्धारके लिये है और सेवा लेना फँसनेके लिये है। आप चाहते हो कि सब घरवाले मेरे अनुकूल बन जायँ तो यह पतनका, फँसनेका बढ़िया रास्ता है। जलमें जाकर दोनों हाथोंसे जल लोगे तो एकदम जलके भीतर चले जाओगे, डूब जाओगे। परन्तु दोनों हाथोंसे, लातोंसे जलको धक्का दोगे तो तैरकर पार हो जाओगे। ऐसे ही इस संसार-समुद्रमें लेनेकी इच्छा करोगे तो डूब जाओगे और देनेकी इच्छा करोगे तो पार हो जाओगे। हम सब यहाँ लेनेके लिये नहीं आये हैं, सेवा करनेके लिये आये हैं। इसलिये गृहस्थाश्रममें रहते हुए सबकी सेवा करो, सबका हित करो। प्राणिमात्रके हितमें जिनकी प्रीति हो जाती है, वे भगवान्‌को प्राप्त हो जाते हैं—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥'** (गीता १२।४)। नहीं तो बैठकर संसारके झुनझुनेसे खेलो! उससे क्या मिलेगा? माँका प्यार, माँका दूध तो तब मिलेगा, जब आप झुनझुनेको, सीटी, पी-पीको फेंक दोगे, माँके बिना रह नहीं सकोगे।

मनुष्यको भगवान्‌ने मध्यलोकमें बनाया है, जिससे यह ऊँचे लोकोंकी भी सेवा करे, नीचेके लोकोंकी भी सेवा करे और इस लोककी भी सेवा करे। इतना ही नहीं, यह भगवान्‌की भी सेवा करे! भगवान् भी मनुष्यसे आशा रखते हैं। कुटुम्बी भी आशा रखते हैं। इनकी सेवा करो और स्वयं नाम-जप करो। दूसरोंसे भी नाम-जप करनेके लिये कहो—**'स्मरन्तः स्मारयन्तः'**, ***'रामनामकी लूट है, लूट सके तो लूट!'*** भगवान्‌का नाम मीठा लगे, प्यारा लगे। प्यारा न लगे तो भगवान्‌से कहो कि 'हे नाथ! मुझे आपका नाम प्यारा लगे, हे प्रभु! मैं आपको भूलूँ नहीं।' मिनट-मिनटमें, आधे-आधे मिनटमें कहते रहो कि 'हे नाथ! आपको भूलूँ नहीं।'

'भूले नाहिं बने कृपानिधि भूले नाहिं बने'

'विस्मर्यते कृतविदा कथमार्तबन्धो'

(श्रीमद्भा० ४।९।८)

भगवान्‌की कृपाको जाननेवाला कोई भी पुरुष भगवान्‌को कैसे भूल सकता है? भगवान्‌ने कितनी विचित्र कृपा की है! सब अंग दिये हैं, मन दिया है, बुद्धि दी है, अच्छे घरमें जन्म दिया है। अच्छी जगह पले हो, अच्छे संस्कारमें आये हो, भगवान्‌को मानते हो, सत्संगमें जाते हो। कितना सुन्दर अवसर दिया है! अब थोड़ा-सा और करो तो निहाल हो जाओ!

जिन जीवोंको भगवान्‌ने मनुष्य-शरीर दिया है, उन जीवोंको भगवान्‌ने अपने पास आनेका निमन्त्रण दे दिया है! जैसे ब्राह्मणको, साधुको कोई निमन्त्रण देकर अपने घर ले जाय, आसन देकर बैठा दे, सामने पत्तल और जल रख दे, तो फिर यह सोचनेकी जरूरत नहीं है कि वह अन्न देगा कि नहीं देगा? अगर वह अन्न नहीं देगा तो उसने निमन्त्रण क्यों दिया है? जब सब सामग्री दी है तो अन्न भी देगा। ऐसे ही भगवान्‌ने मनुष्यशरीर दे दिया, अच्छी रुचि दे दी, अच्छा संग दे दिया, तो क्या अपनी प्राप्ति नहीं करायेंगे? वे तो तैयार हैं कि आओ, खूब मौजसे भोजन करो और सदाके लिये तृप्त हो जाओ! इसलिये भगवत्प्राप्तिकी चिन्ता न करके नाम-जप करो, संसारकी सेवा करो और आशा मत रखो। संसार आपसे सुखकी आशा रखता है। जो आपसे सुख चाहता है, उससे आप भी सुख चाहोगे तो दो ठगोंमें ठगाई कैसे होगी? आपके मनमें है कि भाई-बन्धु, माँ-बापसे मैं ले लूँ और वे चाहते हैं कि आपसे ले लें। दोनों ठग हुए। दोनों ठगे जायँगे और मिलेगा कुछ नहीं। जैसे भूखेको अन्न देनेका और प्यासेको जल पिलानेका बड़ा माहात्म्य है, ऐसे ही सेवा चाहनेवालोंकी सेवा करनेका बड़ा माहात्म्य है!

बहनोंको चाहिये कि ससुरालमें रहें तो सबकी सेवा करें। अपने पिताके घरमें रहें तो सबकी सेवा करें। मनमें यह भाव रखें कि मैं दूसरे घर चली जाऊँगी तो वहाँ इनकी—माता, पिता, चाचा, ताऊ, मामा, भाई, भौजाई आदिकी सेवा कहाँ मिलेगी? माता-पितासे शरीर मिला है, उन्होंने मेरा पालन-पोषण किया है। इतने कुटुम्बियोंसे मैंने लिया-ही-लिया है तो वापस कब दूँगी? इसलिये बहनोंको चाहिये कि लड़कपनसे ही सेवा शुरू कर दें। पीहरसे लेना-ही-लेना किया तो सेवा कब करोगी? वे तो फिर भी उम्रभर देंगे। ससुरालमें अधिकार मिल गया तो अब वहाँ भी सबकी सेवा करो, सबको सुख पहुँचाओ। फिर देखो, आपका गृहस्थ भी शान्तिदायक हो जायगा और भगवान्‌की प्राप्ति भी हो जायगी।

केवल भाव बदल दो कि मैं तो सेवा करनेके लिये हूँ। रोजाना सुबह और शाम बड़ोंके चरणोंमें प्रणाम करो। काम-धन्धा खुद करो और सुख-आराम दूसरोंको दो। निन्दा, तिरस्कार, उलाहना, अपमान अगर मिलते हों तो खुद ले लो और मान-बड़ाई, आदर-सत्कार दूसरोंको दो। फिर आप देखो, कितना आनन्द होता है! कौटुम्बिक स्नेह भी हो जायगा और भजन भी हो जायगा। भजनका लाभ भी दीखेगा। संसारकी आशा रखोगे तो लाभ नहीं दीखेगा। रुपये मिल

जायँ, आराम मिल जाय तो आपको यह लाभ दीखता है। इसके लिये आप रात-दिन दौड़ते रहते हैं। वह तो जितना मिलना है, उतना ही मिलेगा। नहीं मिलना है तो नहीं मिलेगा। परन्तु भगवान्‌का भजन असली धन है, जो करनेसे ही मिलेगा। नहीं करोगे तो नहीं मिलेगा। अतः इस असली धनका संग्रह करो।

—— ★ ——

हम ईश्वरको क्यों मानें ?

अन्य दर्शनोंकी अपेक्षा गीतामें ईश्वरवाद विशेषरूपसे आया है। न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा—ये छहों दर्शन केवल जीवके कल्याणके लिये ही हैं; परंतु इनमें ईश्वरका वर्णन मुख्यतासे नहीं हुआ है। इनमेंसे 'न्यायदर्शन'में 'जो कुछ होता है, वह सब ईश्वरकी इच्छासे ही होता है'—इस तरह ईश्वरका आदर तो किया गया है, पर मुक्तिमें वह ईश्वरकी आवश्यकता नहीं मानता। वह इक्कीस प्रकारके दुःखोंके ध्वंसको ही मुक्ति बताता है। 'वैशेषिकदर्शन'में भी जीवके कल्याणके लिये ईश्वरकी आवश्यकता न बताकर आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीनों तापोंका नाश बताया गया है। 'योगदर्शन'में मुख्यरूपसे चित्तवृत्तियोंके निरोधकी बात आयी है। चित्तवृत्तियोंके निरोधसे स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। हाँ, चित्तवृत्ति-निरोधमें ईश्वरप्रणिधान-(शरणागति-) को भी एक उपाय बताया गया है, पर इस उपायकी प्रधानता नहीं है। 'सांख्यदर्शन' और 'पूर्वमीमांसादर्शन' तो जीवके कल्याणके लिये ईश्वरकी कोई आवश्यकता ही नहीं समझते। 'उत्तर-मीमांसा'-(वेदान्तदर्शन-) में ईश्वरकी बात विशेषरूपसे नहीं आयी है, प्रत्युत जीव और ब्रह्मकी एकताकी बात ही विशेषरूपसे आयी है। वैष्णवाचार्योंने भी ईश्वरकी विशेषता तो बतायी है, पर जैसी गीताने बतायी है, वैसी नहीं बतायी।

गीतामें ईश्वर-भक्तिकी बात मुख्यरूपसे आयी है। अर्जुन जबतक भगवान्‌के शरण नहीं हुए, तबतक भगवान्‌ने उपदेश नहीं दिया। जब अर्जुनने भगवान्‌के शरण होकर अपने कल्याणकी बात पूछी, तब भगवान्‌ने गीताका उपदेश आरम्भ किया। उपदेशके अन्तमें भी भगवान्‌ने **'मामेकं शरणं व्रज'** (१८।६६) कहकर अपनी शरणागतिको अत्यन्त गोपनीय और श्रेष्ठ बताया और अर्जुनने भी **'करिष्ये वचनं तव'** (१८।७३) कहकर पूर्ण शरणागतिको स्वीकार किया।

गीतोक्त कर्मयोगमें भी ईश्वरकी आज्ञारूपसे ईश्वरकी मुख्यता आयी है; जैसे—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'** (२।४७); **'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (२।४८); **'नियतं कुरु कर्म त्वम्'** (३।८); **'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्'** (४।१५) आदि-आदि। ऐसे ही गीतोक्त ज्ञानयोगमें भी ईश्वरकी अव्यभिचारिणी भक्तिको ज्ञान-प्राप्तिका साधन बताया गया है (१३।१०; १४।२६)।

गीताके मूल पाठका अध्ययन करनेसे ही पता चलता है कि जीवके कल्याणके लिये ईश्वरकी अत्यधिक आवश्यकता है!

ज्ञातव्य

प्रश्न—ईश्वरको हम क्यों मानें ?

उत्तर—ईश्वर है, इसलिये मानें।

प्रश्न—ईश्वर है या नहीं—इसका क्या पता ?

उत्तर—संसारमें जो भी वस्तु दीखती है, उसका कोई-न-कोई निर्माणकर्ता होता है; क्योंकि निर्माणकर्ताके बिना कोई भी वस्तु निर्मित नहीं होती। ऐसे ही समुद्र, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, वायु, तारे आदि हमें दीखते हैं तो इनका भी कोई रचयिता जरूर होना चाहिये। इनका रचयिता हमलोगोंकी तरह कोई सामान्य मनुष्य नहीं हो सकता, जो इनको बना सके। इनका निर्माता, रचयिता सर्वसमर्थ ईश्वर ही हो सकता है। दूसरी बात, समुद्र अपनी मर्यादामें रहता है, चन्द्र-सूर्य नियमित समयपर उदित और अस्त होते हैं आदि-आदि, तो इनका नियमन, संचालन करनेवाला कोई होना चाहिये। इनका नियामक सर्वसमर्थ ईश्वर ही हो सकता है।

प्रश्न—समुद्र, पृथ्वी, चन्द्र आदिकी रचना और नियमन तो प्रकृति करती है। सब कुछ प्रकृतिसे ही होता है। अतः ईश्वरको ही रचयिता और नियामक क्यों मानें ?

उत्तर—हम आपसे पूछते हैं कि प्रकृति जड है या चेतन; अर्थात् उसमें ज्ञान है या नहीं? अगर आप प्रकृतिको ज्ञानवाली मानते हैं तो हम उसीको ईश्वर कहते हैं। हमारे शास्त्रोंमें ईश्वररूपसे शक्तिका भी वर्णन है। अतः आपकी और हमारी मान्यतामें शब्दमात्रका ही भेद हुआ, तत्त्वमें कोई भेद नहीं हुआ। अगर आप मानते हैं कि प्रकृति जड है तो जड प्रकृतिके द्वारा ज्ञानपूर्वक क्रिया नहीं हो सकती। प्राणियोंकी रचना करना, उनके शुभाशुभ कर्मोंका फल देना आदि क्रियाएँ जड प्रकृतिके द्वारा नहीं हो सकतीं; क्योंकि ज्ञानपूर्वक क्रियाके बिना संसारके जीवोंकी व्यवस्था नहीं हो सकती। जड प्रकृतिमें परिवर्तन जरूर होता है, पर उसमें ज्ञानपूर्वक क्रिया करनेकी शक्ति नहीं है। इसलिये 'ईश्वर है'—ऐसा हमें मानना ही पड़ेगा।

एक पक्ष कहता है कि ईश्वर नहीं है और दूसरा पक्ष कहता है कि ईश्वर है। अगर 'ईश्वर नहीं है'—यह बात ही सच्ची निकली तो ईश्वरको न माननेवाले और ईश्वरको माननेवाले—दोनों बराबर ही रहेंगे अर्थात् ईश्वरको माननेवालेकी कोई हानि नहीं होगी। परन्तु 'ईश्वर है'—यह बात ही सच्ची निकली तो ईश्वरको माननेवालेको तो ईश्वरकी प्राप्ति हो जायगी, पर ईश्वरको न माननेवाला सर्वथा रीता रह जायगा। अतः 'ईश्वर है'—यह मानना ही सबके लिये ठीक है। परन्तु केवल ईश्वरको माननेमें ही सन्तोष नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उसको तो प्राप्त ही कर लेना चाहिये; क्योंकि ईश्वरको प्राप्त करनेकी सामर्थ्य मनुष्यमात्रमें है।

किसी वस्तुकी प्राप्ति होनेपर ही उसका निषेध किया जाता है—**'प्राप्तौ सत्यां निषेधः'**। यह कोई नहीं कहता कि 'घोड़ीका अण्डा नहीं होता'; क्योंकि जो होता ही नहीं, उसका निषेध करना बनता ही नहीं। ऐसे ही अगर ईश्वर है ही नहीं तो फिर 'ईश्वर नहीं है'—ऐसा कहना बनता ही नहीं। ऐसा कहना तभी बनता है, जब ईश्वर हो। अतः 'ईश्वर नहीं है'—ऐसा कहनेसे भी ईश्वरका होना सिद्ध होता है।

जो मनुष्य अँग्रेजी भाषाको मानता है, वह उसको सीखनेका अभ्यास करेगा, पढ़ाई करेगा तो उसको अँग्रेजी भाषा आ जायगी। परन्तु जो मनुष्य अँग्रेजी भाषाको मानता ही नहीं, वह उसको सीखनेका अभ्यास भी क्यों करेगा ? जैसे, किसीका अँग्रेजी भाषामें तार आया तो अँग्रेजी भाषाके जानकार व्यक्तिने उस तारको पढ़ा कि अमुक व्यक्ति ज्यादा बीमार है। वहाँ जाकर देखा तो बात सच्ची निकली, आदमी ज्यादा बीमार था। अतः मानना पड़ेगा कि अँग्रेजी भाषा है, तभी तो तारमें लिखी बात सच्ची निकली। ऐसे ही जो ईश्वरकी प्राप्तिमें सच्चे हृदयसे लगे हुए हैं, उनमें सामान्य (जो ईश्वरकी प्राप्तिमें नहीं लगे, ऐसे) मनुष्योंसे विशेषता दीखती है। उनके सङ्गसे, भाषणसे शान्ति मिलती है। केवल मनुष्योंको ही नहीं, प्रत्युत पशु-पक्षी आदिको भी उनसे शान्ति मिलती है। जिनको ईश्वरकी प्राप्ति हो गयी है, उनमें बहुत विलक्षणता आ जाती है, जो कि सामान्य मनुष्योंमें नहीं होती। अगर ईश्वर नहीं है तो उनमें विलक्षणता कहाँसे आयी ? अतः मानना ही पड़ेगा कि ईश्वर है।

मनुष्यमात्र अपनेमें एक कमीका, अपूर्णताका अनुभव करता है। अगर इस अपूर्णताकी पूर्तिकी कोई चीज नहीं होती तो मनुष्यको अपूर्णताका अनुभव होता ही नहीं। जैसे, मनुष्यको भूख लगती है तो सिद्ध होता है कि कोई खाद्य वस्तु है। अगर खाद्य वस्तु नहीं होती तो मनुष्यको भूख लगती ही नहीं। प्यास लगती है तो सिद्ध होता है कि कोई पेय वस्तु है। अगर पेय वस्तु नहीं होती तो मनुष्यको प्यास लगती ही नहीं। ऐसे ही मनुष्यको अपूर्णताका अनुभव होता है तो इससे सिद्ध होता है कि कोई पूर्ण तत्त्व है। अगर पूर्ण तत्त्व नहीं होता तो मनुष्यको अपूर्णताका अनुभव होता ही नहीं। उस पूर्ण तत्त्वको ही ईश्वर कहते हैं।

जो वस्तु होती है, उसीको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। जो वस्तु नहीं होती, उसको प्राप्त करनेकी इच्छा होती ही नहीं। जैसे, किसीके मनमें यह इच्छा नहीं होती कि मैं आकाशके फल खाऊँ, आकाशके फूल सूँघूँ; क्योंकि आकाशमें फल-फूल लगते ही नहीं। मनुष्यमात्रमें यह इच्छा रहती है कि मैं सदा जीता रहूँ (कभी मरूँ नहीं); सब कुछ जान लूँ (कभी अज्ञानी न रहूँ) और सदा सुखी रहूँ (कभी दुःखी न होऊँ)। मैं सदा जीता रहूँ—यह 'सत्' की इच्छा है; मैं सब कुछ जान लूँ—यह 'चित्' की इच्छा है और मैं सदा सुखी रहूँ—यह 'आनन्द' की इच्छा है। इससे सिद्ध हुआ कि ऐसा कोई सच्चिदानन्द-स्वरूप तत्त्व है, जिसको प्राप्त करनेकी इच्छा मनुष्यमात्रमें है। उसी तत्त्वको ईश्वर कहते हैं।

कोई भी मनुष्य अपनेसे किसीको बड़ा मानता है तो उसने वास्तवमें ईश्वरवादको स्वीकार कर लिया; क्योंकि बड़प्पनकी परम्परा जहाँ समाप्त होती है, वही ईश्वर है—**'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।'** (पातञ्जलयोगदर्शन १।२६)। कोई व्यक्ति होता है तो उसका पिता होता है और उसके पिताका भी कोई पिता होता है। यह परम्परा जहाँ समाप्त होती है, उसका नाम ईश्वर है—**'पितासि लोकस्य चराचरस्य'** (११।४३)। कोई बलवान् होता है तो उससे भी अधिक कोई बलवान् होता है। यह बलवत्ताकी अवधि जहाँ समाप्त होती है, उसका नाम ईश्वर है; क्योंकि उसके समान बलवान् कोई नहीं। कोई विद्वान् होता है तो उससे भी अधिक कोई विद्वान् होता है। यह विद्वत्ताकी अवधि जहाँ समाप्त होती है, उसका नाम ईश्वर है; क्योंकि उसके समान विद्वान् कोई नहीं—**'गुरुर्गरीयान्'** (११।४३)। तात्पर्य है कि बल, बुद्धि, विद्या, योग्यता, ऐश्वर्य, शोभा आदि गुणोंकी अवधि जहाँ समाप्त होती है, वही ईश्वर है; क्योंकि उसके समान कोई नहीं है—**'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः'** (११।४३)।

वास्तवमें ईश्वर माननेका ही विषय है, विचारका विषय नहीं। विचारका विषय वही होता है, जिसमें जिज्ञासा होती है और जिज्ञासा उसीमें होती है, जिसके विषयमें हम कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते। परन्तु जिसके विषयमें हम कुछ भी

नहीं जानते, उसके विषयमें जिज्ञासा नहीं होती, उसपर विचार नहीं होता। उसको तो हम मानें या न मानें—इसमें हम स्वतन्त्र हैं। जैसे, जगत् हमारे देखनेमें आता है, पर जगत् तत्त्वसे क्या है—इसको हम नहीं जानते; अतः जगत् विचारका विषय है। ऐसे ही जीवात्मा स्थावर-जङ्गमरूपसे शरीरधारी दीखता है, पर जीवात्मा तत्त्वसे क्या है—इसको हम नहीं जानते; अतः जीवात्मा विचारका विषय है। परन्तु ईश्वरके विषयमें हम कुछ भी नहीं जानते; अतः ईश्वर विचारका (तर्कका) विषय नहीं है, प्रत्युत माननेका (श्रद्धाका) विषय है। शास्त्रोंसे और ईश्वरको प्राप्त हुए, ईश्वरका साक्षात्कार किये हुए सन्त-महापुरुषोंसे सुनकर ही ईश्वरको माना जाता है। शास्त्र और सन्त—ये भी माननेके विषय हैं। जैसे वेद, पुराण आदिको हिन्दू मानते हैं, पर मुसलमान नहीं मानते। ऐसे ही सन्त-महापुरुषोंको कुछ लोग मानते हैं, पर कुछ लोग नहीं मानते, प्रत्युत उनको साधारण मनुष्य ही समझते हैं।

प्रश्न—क्या ईश्वरको माने बिना भी मनुष्य अपना उद्धार कर सकता है, संसारके बन्धनसे मुक्त हो सकता है ?

उत्तर—हाँ, हो सकता है। ऐसे भी सम्प्रदाय हैं, जो ईश्वरको नहीं मानते। उन सम्प्रदायोंमें बताये गये साधनमें तत्परतासे लगे हुए मनुष्य संसारसे मुक्त हो सकते हैं, सांसारिक दुःखोंसे छूट सकते हैं, पर उनको प्रतिक्षण वर्धमान परमानन्द-(भगवत्प्रेम-) की प्राप्ति नहीं हो सकती। हाँ, अगर उनमें ईश्वरके साथ विरोध, द्वेष और अपने मतका आग्रह न हो तो उनको भगवत्प्रेमकी प्राप्ति भी हो सकती है, चाहे वे ईश्वरको मानें या न मानें। तात्पर्य है कि जिसका अपने सिद्धान्तमें प्रेम है, पर दूसरेके सिद्धान्तसे द्वेष न करके तटस्थ रहता है, उसको मुक्त होनेके बाद भगवान्‌की, उनके प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान्‌में इस बातकी सम्भावना ही नहीं है कि मनुष्य उनको माने, तभी वे मिलें, अन्यथा नहीं मिलें।

वास्तवमें उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंका आकर्षण ही मुक्तिमें मुख्य बाधक है। अगर मनुष्य उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंसे सर्वथा असङ्ग, रागरहित हो जाय, तो वह मुक्त हो जायगा अर्थात् उसकी परतन्त्रता मिट जायगी।

प्रश्न—गीतामें ईश्वरका कितने रूपोंमें वर्णन है ?

उत्तर—गीतामें ईश्वरका तीन रूपोंमें वर्णन हुआ है—सगुण-साकार, सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकार। तात्पर्य है कि अगर ईश्वरको 'सगुण-निर्गुण' मानें तो 'सगुण' के दो भेद होंगे—सगुण-साकार और सगुण-निराकार तथा 'निर्गुण' का एक भेद होगा—निर्गुण-निराकार। अगर ईश्वरको 'साकार-निराकार' मानें तो 'साकार' का एक भेद होगा—सगुण-साकार तथा 'निराकार' के दो भेद होंगे—सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकार। गीतामें सातवें अध्यायके उन्तीसवें-तीसवें श्लोकोंमें, आठवें अध्यायके आठवें श्लोकसे सोलहवें श्लोकतक और ग्यारहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें ईश्वरके सगुण-साकार, सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकार—इन तीनों रूपोंका वर्णन हुआ है।

प्रश्न—कुछ लोग ईश्वरको मायामय मानते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि मायासे रहित एक निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही है, ईश्वर तो मायासे युक्त है। ऐसा मानना कहाँतक उचित है ?

उत्तर—गीता ऐसा नहीं मानती। गीता ईश्वरको मायाका अधिपति मानती है। माया ईश्वरके वशमें रहती है। भगवान्‌ने कहा है कि मैं अपनी प्रकृतिको वशमें करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ (४। ६)। तात्पर्य है कि जो जीव मायामें पड़े हुए हैं, उनको शिक्षा देनेके लिये ईश्वर मायाको स्वीकार करके अपनी इच्छासे अवतार लेता है। जैसे कोई अँग्रेज हिन्दी नहीं जानता तो अँग्रेजी एवं हिन्दी—दोनों भाषाएँ जाननेवाला व्यक्ति उसको हिन्दीमें लिखी बात अँग्रेजीमें समझाता है; अतः वह समझानेवाला व्यक्ति अँग्रेजीके अधीन (आश्रित) नहीं हुआ; क्योंकि वह दूसरोंको समझानेके लिये अँग्रेजीको काममें लेता है। अपने लिये उसको अँग्रेजीकी कोई जरूरत नहीं है। ऐसे ही मायामें पड़े हुए जीवोंको शिक्षा देनेके लिये ईश्वर प्रकृतिको वशमें करके अवतार लेता है, जीवोंके सामने आता है।

ईश्वर मायाका अधिपति (मालिक) है—यह गीताने स्पष्टरूपसे और बार-बार कहा है, जैसे—ईश्वर जीवोंका मालिक होते हुए ही अवतार लेता है (४। ६); ईश्वर गुणों और कर्मोंके अनुसार चारों वर्णोंकी रचना करता है (४। १३); जो मनुष्य सकामभावसे देवताओंकी उपासना करते हैं, उनको फल देनेकी व्यवस्था ईश्वर ही करता है (७। २२); महाप्रलयमें सम्पूर्ण जीव प्रकृतिमें लीन होते हैं और फिर महासर्गके आदिमें ईश्वर उनकी रचना करता है (९। ७-८); सब योनियोंमें जितने शरीर पैदा होते हैं, उनमें प्रकृति माँकी तरह है और ईश्वर पिताकी तरह है (१४। ३-४); ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें रहता है और जीवोंको उनके स्वभावके अनुसार घुमाता है (१८। ६१)। जैसे सुनार औजारोंसे गहने बनाता है तो वह औजारोंके अधीन नहीं होता; क्योंकि वह गहनोंके लिये ही औजारोंको काममें लेता है। ऐसे ही ईश्वर संसारकी रचना करनेके लिये ही प्रकृतिको स्वीकार करता है।

जो खुद ही बन्धनमें पड़ा हुआ हो, वह दूसरोंको बन्धनसे

मुक्त कैसे कर सकता है? नहीं कर सकता। जीव खुद ही बन्धनमें पड़ा हुआ है; अतः वह दूसरोंको बन्धनसे मुक्त कैसे कर सकता है? परन्तु ईश्वर बन्धनसे रहित है; अतः वह बन्धनमें पड़े हुए जीवोंको (यदि वे चाहें तो) बन्धनसे, पापोंसे मुक्त कर सकता है (१८। ६६)। मायाके बन्धनमें पड़े हुए जीवकी उपासना करनेसे उपासकको बन्धनसे मुक्ति नहीं मिलती, पर ईश्वरकी उपासना करनेसे जीव बन्धनसे मुक्त हो जाता है। तात्पर्य है कि ईश्वर जीव नहीं हो सकता और जीव ईश्वर नहीं हो सकता। हाँ, जीव अनन्यभक्तिके द्वारा ईश्वरसे अभिन्न हो सकता है, ईश्वरमें मिल सकता है, पर ईश्वर नहीं हो सकता।

प्रश्न—ईश्वरका नमूना क्या है?

उत्तर—ईश्वरका नमूना जीवात्मा है; क्योंकि ईश्वर भी नित्य एवं निर्विकार है और जीवात्मा भी नित्य एवं निर्विकार है। परन्तु जीवात्मा प्रकृतिके वशमें हो जाता है और ईश्वर प्रकृतिके वशमें कभी हुआ नहीं, है नहीं और होगा भी नहीं।

सबको अपनी सत्ताका अनुभव होता है कि 'मैं हूँ'। इसमें न तो कभी सन्देह होता है कि 'मैं हूँ या नहीं हूँ', न कभी परीक्षा करते हैं और न कभी अपनी सत्ताके अभावका अनुभव होता है। शरीर पहले भी नहीं था और बादमें भी नहीं रहेगा, पर अपनी सत्ताकी तरफ ध्यान देनेसे ऐसा अनुभव नहीं होता कि मैं नहीं था। हाँ, इस विषयमें 'पता नहीं है'—ऐसा तो कह सकते हैं, पर 'मैं नहीं था'—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि अपनी सत्ताके (अपने-आपके) अभावका अनुभव किसीको भी नहीं होता। वर्तमानमें भी शरीर प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है, मिट रहा है, अपनेसे अलग हो रहा है, पर 'मैं अभावमें जा रहा हूँ'—ऐसा अनुभव किसीको भी नहीं होता, प्रत्युत यही अनुभव होता है कि शरीर अभावमें जा रहा है। शरीरके अभावका अनुभव वही कर सकता है जो भावरूप हो। 'नहीं' को जाननेवाला 'है'—रूप ही हो सकता है। अतः सिद्ध हुआ कि शरीरके अभावको जाननेवाला स्वयं (जीवात्मा) भावरूप है, सत्-रूप है।

देखने-सुनने-समझनेमें जो कुछ संसार आता है, वह पहले नहीं था, बादमें नहीं रहेगा और वर्तमानमें भी निरन्तर अभावमें जा रहा है। संसार जैसा कल था, वैसा आज नहीं है और आज भी एक घण्टे पहले जैसा था, वैसा अभी नहीं है। अतः संसार प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है, 'नहीं' में जा रहा है। परन्तु जिसके आधारपर यह परिवर्तनशील संसार टिका हुआ है, ऐसा कोई प्रकाशक, आधार, रचयिता, सर्वसमर्थ तत्त्व है, जिसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। संसारमें देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिका जो कुछ परिवर्तन होता है, वह सब उस परिवर्तनरहित तत्त्वमें ही होता है। जैसे स्वच्छ आकाशमें बादल बन जाते हैं, बादलोंकी घटा बन जाती है, घटाके वर्षोन्मुख होनेपर उसमें गर्जना होने लगती है, बिजली चमकने लगती है, जलकी बूँदें बरसने लगती हैं, कभी-कभी ओले भी पड़ने लगते हैं; परन्तु यह सब होनेपर भी आकाश ज्यों-का-त्यों रहता है। आकाशमें कोई परिवर्तन नहीं होता। ऐसे ही ईश्वर आकाशकी तरह है। उसमें संसारका उत्पन्न और लीन होना, देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें परिवर्तन होना आदि विविध क्रियाएँ होती हैं, पर वह (ईश्वर) ज्यों-का-त्यों निर्विकार, परिवर्तनरहित रहता है।

★

सत्संगकी आवश्यकता

एक सत्संगी भाईने एक व्यक्तिसे सत्संगमें चलनेको कहा तो वह व्यक्ति बोला—'मैं पाप नहीं करता, अतः मुझे सत्संगमें जानेकी आवश्यकता नहीं। सत्संगमें वे जाते हैं, जो पापी होते हैं। वे सत्संगमें जाकर अपने पाप दूर करते हैं। जिस प्रकार अस्पतालमें रोगी जाते हैं और अपना रोग दूर करते हैं। निरोग व्यक्तिको अस्पतालमें जानेकी क्या आवश्यकता ? जब हम पाप नहीं करते तो हम सत्संगमें क्यों जायें ? ऊपरसे देखनेपर यह बात ठीक भी दीखती है।

अब इस बातको ध्यान देकर समझें। श्रीमद्भागवतमें एक श्लोक आता है—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क **उत्तमश्लोकगुणानुवादात्**
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥
(१० । १ । ४)

'जिनकी तृष्णाकी प्यास सर्वदाके लिये बुझ चुकी है, वे जीवन्मुक्त महापुरुष जिसका पूर्ण प्रेमसे अतृप्त रहकर गान किया करते हैं, मुमुक्षुजनोंके लिये जो भवरोगका रामबाण औषध है तथा विषयी लोगोंके लिये भी उनके कान और मनको परम आह्लाद देनेवाला है, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके ऐसे सुन्दर, सुखद, रसीले, गुणानुवादसे पशुघाती अथवा आत्मघाती मनुष्यके अतिरिक्त और कौन ऐसा है जो विमुख हो जाय, उससे प्रीति न करे ?'

मनुष्य तीन प्रकारके होते हैं—एक जीवन्मुक्त, दूसरे

साधक तथा तीसरे साधारण संसारी (विषयी) व्यक्ति।

जिनके कोई तृष्णा नहीं रही, कामना नहीं रही, जो पूर्ण पुरुष हैं, जो 'आत्माराम' हैं, जिनके ग्रन्थि-भेदन हो गया है, जो शास्त्र-मर्यादासे ऊपर उठ गये हैं—ऐसे जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुष भी भगवान्‌की भक्ति करते हैं, भजन करते हैं और भगवान्‌के गुण सुनते हैं—

'जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।

(मानस, उत्तर० ४२)

'जो निरन्तर भगवान्‌का ध्यान करते हैं, वे भी ध्यान छोड़कर भगवान्‌के चरित्र सुनते हैं।'

ब्रह्माजीके चार मानस पुत्र सनकादि हैं। उनकी अवस्था सदा ही पाँच वर्षकी रहती है। वे जन्मजात सिद्ध हैं। ऐसे अनादि सिद्ध सनकादिक—जिनके दसों दिशाएँ ही वस्त्र हैं, उनके एक 'व्यसन' है—

'आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥

(मानस, उत्तर० ३२। ६)

जहाँ भी भगवान्‌की कथा हो, वहाँ वे सुनते हैं। दूसरा कोई कथा करनेवाला न हो तो— तीन बन जाते हैं श्रोता और एक बन जाते हैं वक्ता। इस प्रकार मुक्त-पुरुष भी भगवान्‌की कथा सुनते हैं। परमात्म-तत्त्वमें निरन्तर लीन रहनेवाले जीवन्मुक्त पुरुष भी सत्संग जहाँ होता है, वहाँ सुनते हैं।

जो संसारसे उद्धार चाहते हैं—ऐसे साधक भी सत्संग सुनते हैं, ताकि सांसारिक मोह दूर हो जाय, अन्तःकरण शुद्ध हो जाय। क्योंकि **'भवौषधात्'**—अर्थात् यह संसारकी दवा है।

जो साधारण संसारी मनुष्य हैं, साधन भी नहीं करते—उनके भी मनको, कानोंको, सत्संगकी बातें अच्छी लगती हैं—**'श्रोत्रमनोऽभिरामात्'**, सत्संगसे एक प्रकारकी शान्ति मिलती है, स्वाभाविक मिठास आती है।

इसलिये तीन प्रकारके मनुष्योंका वर्णन किया—

(१) **निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात्** (सिद्ध)

(२) **भवौषधात्** (साधक)

(३) **श्रोत्रमनोऽभिरामात्** (विषयी)

भगवान्‌के गुणानुवादसे उपराम कौन होते हैं? जो नहीं सुनना चाहते। वे 'पशुघ्न' होते हैं अर्थात् महान् घातक (कसाई) होते हैं। **'क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत'** कौन भगवान्‌के गुणानुवाद सुने बिना रह सकता है? **'विना पशुघ्नात्'** पशुघातीके सिवाय।

पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥

(मानस, सुन्दर० ४४। ३)

महान् पापी अथवा ज्ञानका दुश्मन—इनके सिवाय हरिकथासे विरक्त कौन होगा?

जहाँ भगवान्‌की कथा होती है, वहाँ भगवान्, भगवान्‌के भक्त, सन्त-महात्मा, नारद-सनकादि ऋषि-मुनि तथा जीवन्मुक्त—महापुरुष भी खिंचे चले आते हैं; क्योंकि यह अत्यन्त विलक्षण है।

भगवान्‌की सवारी हैं गरुड़। उन गरुड़जीके बारेमें कहा गया है—***'गरुड़ महाग्यानी गुनरासी।'*** गरुड़जी जब उड़ते हैं तो उनके पंखोंसे सामवेदकी ऋचाएँ निकलती हैं। ***'हरिसेवक अतिनिकट निवासी'।*** ऐसे गरुड़जी, जो सदा ही भगवान्‌के पास रहते हैं, उनको मोह हो गया, जब भगवान् श्रीरामको नागपाशमें बँधे देखा। भगलानका यह चरित्र देखा तो उनके मनमें सन्देह हो गया कि ये काहेके भगवान्, जिनको मैंने नागपाशसे छुड़ाया। मैं नहीं छुड़ाता तो इनकी क्या दशा होती?

इसी प्रकार भगवान् श्रीरामको, हा सीते! हा सीते! पुकारते हुए जंगलमें भटकते देखकर सतीको सन्देह हो गया था कि ये कैसे भगवान् जो अपनी स्त्रीको ढूँढ़ते फिर रहे हैं और उसके वियोगमें रुदन कर रहे हैं।

गरुड़जी और सतीके उदाहरण इसलिये दिये कि इन्हें स्वयं श्रीरामजीके चरित्र देखनेसे मोह पैदा हो गया और चरित्र-श्रवणसे मोह दूर हुआ। इससे सिद्ध हुआ कि भगवान्‌के चरित्र देखनेसे भी भगवान्‌के चरित्र सुनना बढ़िया है। साक्षात् दर्शनसे भी चरित्र सुनना उत्तम है; क्योंकि दर्शनोंसे तो मोह पैदा हुआ है और कथा सुननेसे दूर हुआ।

भगवान्‌की कथा गरुड़, सती आदिके मोहको दूर करती है, इसका तात्पर्य है कि जिनको मोह हो गया, वे भी सत्संगके अधिकारी हैं तो जिनको मोह नहीं है, वे तत्त्वज्ञ पुरुष भी अधिकारी हैं तथा घोर संसारी आदमी सुनना चाहें तो वे भी अधिकारी हैं। कोई ज्ञानका दुश्मन ही हो तो उसकी बात अलग है। हरि-कथामें रुचि नहीं होती तो भाई! अन्तःकरण बहुत मैला है। मामूली मैला नहीं है। मामूली मैला होगा तो स्वच्छ हो जायगा, परन्तु ज्यादा मैला होनेसे सत्संग अच्छा नहीं लग सकता।

सत्संगति सब मैलोंको दूर करती है; परन्तु सत्संग करते रहनेसे। यदि मनुष्य सत्संगति करे ही नहीं तो मैल दूर कैसे हो? पित्तका बुखार होनेसे मिश्री कड़वी लगती है, कैसे करें? तो कड़वी लगनेपर भी खाते रहो। मिश्रीमें खुदमें ताकत है कि वह पित्तको शान्त कर देगी और मीठी लगने लग जायगी। ऐसे ही सत्संग-भजनमें रुचि न हो तो भी सत्संग-

भजन करते रहनेसे ज्यों-ज्यों पाप नष्ट होने लगेंगे, त्यों-त्यों सत्संगमें मिठास आने लगेगा।

जिस मिठाईको हम चखे ही नहीं, उसका स्वाद हम कैसे जान सकते हैं। ऐसे ही जिन्होंने सत्संग किया ही नहीं, वे इसकी विशेषता नहीं जानते, फिर भी कह देते हैं कि हमने बहुत सत्संग सुना है। तो समझ लेना चाहिये कि उन्होंने विशेष सत्संग किया ही नहीं, अन्यथा सत्संगमें रुचि अवश्य बढ़ती—

राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥

(मानस, उत्तर० ५३। १)

जो मनुष्य भगवान्‌के चरित्र सुनते हैं और तृप्त हो जाते हैं, उन्होंने राम-कथाका विशेष रस जाना ही नहीं। अन्यथा—

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। .... ॥

(मानस, अयोध्या० १२८। ४-५)

आपकी कथाएँ नदियोंके समान और उन सत्संग-प्रेमियोंके कान ऐसे समुद्रके समान हैं; जो निरन्तर कथारूपी नदियोंके गिरने (मिलने) पर भी कभी पूरे भरते नहीं हैं। उनके तो कथा सुननेकी तृष्णा अधिक-अधिक बढ़ती है। राजा पृथुने भगवान्‌की कथा सुननेके लिये दस हजार कान माँगे।

पागल व्यक्ति जैसे सँभालकर नहीं बोल सकता—ऐसे ही संसारी पुरुष सत्संगके बारेमें उलटी-सीधी बातें कहते हैं—

बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥

(मानस, बाल० ११५। ७)

ऐसे लोगोंके पैरोंमें पड़ जाओ। उनसे कहो—'आप पवित्र हो, बड़ी अच्छी बात है। आप सत्संगमें पधारो। अन्य सत्संगमें आनेवाले लोगोंको भी पवित्र करो।' ऐसे कहकर उन्हें सत्संगमें बुलाओ। नहीं आवें तो उनकी मरजी। गाली दें तो सह लो। जो गाली सुनाता है वह तो हमारे पापोंको दूर करता है।

सत्संगकी महिमा कहाँतक कही जाय? स्वयं भगवान् शंकर श्रीरामजीसे सत्संग माँगते हैं।

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

(मानस, उत्तर० १४(क))

भगवान् शंकरको कौन-सा पाप दूर करना था? कौन-सी साधना सीखनी थी? जो वे सदा सत्संग ही चाहते हैं। भगवान् शंकरको कोई राम-कथा सुनानेवाले मिलते हैं तो सुनते हैं और पार्वतीजी-जैसे सुननेवाले मिलते हैं तो सुनाते हैं।

'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(गीता १०। ९)

'मेरेमें चित्तवाले, मेरेमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन आपसमें मेरे गुण, प्रभाव आदिको जनाते हुए और उनका कथन करते हुए ही नित्य-निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं और मेरेमें प्रेम करते हैं।'

एक भक्त हो गये हैं— जयदेव कवि। 'गीत-गोविन्द' उनका बनाया हुआ बहुत सुन्दर संस्कृत-ग्रन्थ है। भगवान् जगन्नाथ स्वयं उनके 'गीत-गोविन्द'को सुनते थे। भक्तोंकी बात भगवान् ध्यान देकर सुनते हैं। एक मालिन थी, उसको 'गीत-गोविन्द'का एक पद (धर) याद हो गया। वह बैंगन तोड़ती जाती और पद गाती जाती थी। तो ठाकुरजी उसके पीछे-पीछे चलते और पद सुनते। पुजारीजी मन्दिरमें देखते हैं कि ठाकुरजीका वस्त्र फटा हुआ है। उन्होंने पूछा—'प्रभो! आपके यहाँ मन्दिरमें रहते हुए, यह वस्त्र कैसे फट गया; ठाकुरजी बोले—'भाई! बैंगनके काँटोंमें उलझकर फट गया।' पुजारीने पूछा—'बैंगनके खेतमें आप क्यों गये थे?' ठाकुरजीने बता दिया; मालिन 'गीत-गोविन्दका' धर गा रही थी, अतः सुनने चला गया। वह चलती तो मैं भी पीछे-पीछे डोलता था, जिससे कपड़ा फट गया। ऐसे स्वयं भगवान् भी सुनते हैं। क्या भगवान्‌के कोई रोग है, व्याधि है, पाप है, जिसे दूर करनेके लिये वे सुनते हैं? फिर भी वे सुनते हैं। भगवान्‌की कथा सुननेके अधिकारी भक्त हैं, ऐसे ही भक्तकी कथा सुननेके अधिकारी— भगवान् होते हैं।

जहाँ भक्तोंकी चर्चा होती है, वहाँ भगवान् स्वयं पधारते हैं। नाभाजी महाराजने 'भक्तमाल' की रचना की। उसके ऊपर प्रियादासजी महाराजने कवितामें टीका की। ये स्वयं ठाकुरजीका सिंहासन लगाकर, उन्हें कथा सुनाते थे। उनकी कथामें अनेक धनिक लोग भी आते थे। धनिकोंके आनेसे खतरा होता है। कुछ चोरोंने देखा कि यहाँ इतने धनी आदमी आते हैं, हम भी चलें। और कुछ नहीं मिला तो चोरोंने ठाकुरजीकी प्रतिमा चोरी कर ली। प्रियादासजी महाराजने कहा—'हमारे मुख्य श्रोता चले गये, अब कथा किसे सुनावें? कथा बन्द। ठाकुरजी चले गये। अब भोग किसे लगावें? भोजन बनाना बन्द! भूखे रहे। कथा भी बन्द रही। उधर चोरोंके बड़ी खलबली मची। वे वापस लाकर ठाकुरजीको दे देते हैं। जब ठाकुरजी आ गये तो स्नान किया,

ठाकुरजीको स्नान, शृङ्गार कराया। रसोई बनायी, भोग लगाया। उसके बाद कथा चली। जब कथा चली तो प्रसंग कहाँतक चला— ऐसा किसीको याद नहीं रहा, तब ठाकुरजी स्वयं बोल पड़े कि अमुक प्रसंगतक कथा हुई थी। इस प्रकार स्वयं श्रीभगवान् भक्तोंकी कथा ध्यानपूर्वक सुनते हैं।

सूर्योदय होता है तो अन्धकार दूर हो जाता है, पर वह बाहरी अन्धकार होता है; किन्तु जब सत्संगरूपी सूर्य उदय होता है तो उससे भीतर (अन्तःकरण)में रहनेवाला अँधेरा दूर हो जाता है। पाप दूर हो जाते हैं। शंकाएँ दूर हो जाती हैं। अन्तःकरणमें रहनेवाली तरह-तरहकी उलझनें सुलझ जाती हैं—

राम मया सतगुरु दया, साधु संग जब होय।
तब प्राणी जाने कछु, रह्यो विषय रस भोय॥

भगवान् और सन्तोंकी जब पूर्ण कृपा होती है तब सत्संगति मिलती है—

संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥
(मानस, उत्तर० ६९।७)

विभीषणने हनुमान्‌जीसे कहा—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥
(मानस, सुन्दर० ७।४)

'हे हनुमान्‌जी! अब मुझे पक्का भरोसा हो गया कि भगवान् जरूर मिलेंगे। आप मिल गये, इससे मालूम होता है कि श्रीभगवान्‌ने मुझपर विशेष कृपा की है।' भगवान् विशेष कृपा करते हैं तभी अपने प्यारे भक्तोंका संग देते हैं।

सत्संगसे बहुत शान्ति मिलती है। मुझे कई भाई-बहिन मिले हैं। उनका बहुत समाधान हुआ है; शान्ति मिली है। सत्संगमें सबके लिये उपयोगी बातें मिलती हैं। तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त, साधक, संसारी, विषयी, समस्त आदमी इसके सुननेके पात्र हैं। जब भी, सत्संग सुननेको मिल जाय तो समझना चाहिये कि भगवान्‌ने विशेष कृपा की है। भगवान्‌ने मनुष्य-शरीर दिया, यह कृपा की, उसके बाद सत्संग दिया— यह विशेष कृपा है। ऐसी कृपाका लाभ हमें तो लेना ही चाहिये। दूसरोंको भी जो लेना चाहें तो देना चाहिये—

भरा सत्संग का दरिया, नहा लो जिसका जी चाहे।
हजारो रतन बेकीमत भरे आला से आला हैं॥
लगाकर ज्ञान का गोता, निकालो जिसका जी चाहे।

सत्संगरूपी दरियामें बहुत बढ़िया-बढ़िया रत्न हैं। इसमें ज्ञानकी डुबकी जितनी लगायेंगे, उतनी ही विलक्षण बातें मिलेंगी। सुननेसे तो मिलती ही हैं, सुनानेसे भी मिलती हैं। सुनानेमें भी ऐसी-ऐसी विलक्षण बातें पैदा होती हैं कि बड़ा भारी लाभ होता है। ऐसी कई बातें हमें सुननेवालोंकी कृपासे मिलती हैं।

संत समागम हरि कथा तुलसी दुर्लभ दोय।
सुत दारा अरु लक्ष्मी पापी के भी होय॥

भगवान्‌की कथा और सत्संग—ये दो दुर्लभ वस्तुएँ हैं। पुत्र-स्त्री और धन तो पापी मनुष्यके भी प्रारब्धानुसार होते ही हैं। रावणका भी बहुत बड़ा राज्य था—यह कोई बड़ी बात नहीं। बड़ी बात तो यही है कि भगवान्‌का चिन्तन हो, स्मरण हो, चर्चा हो तथा भगवान्‌की तरफ लग जायँ। सन्तोंने भी माँगा है—

राम जी साधु संगत मोहि दीजिये।
वाँरी संगत दो राम जी पलभर भूल न होय॥

'महाराज! सत्संगति दीजिये, जिससे आपको क्षणभर भी नहीं भूलूँ।'

सज्जनो! सत्संगसे जो लाभ होता है, वह साधनसे नहीं होता। साधन करके जो परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना है, वह कमाकर धनी होनेके समान है। किन्तु सत्संग सुनना तो गोदमें जाना है। गोद चले जानेसे कमाया हुआ धन स्वतः मिल जाता है। सन्तोंने कितने वर्ष लगाये होंगे? कितना साधन किया होगा? कितनोंका संग किया होगा? उस सबका सार आपको एक घण्टेमें मिल जाता है। गोद जानेमें क्या जोर आवे साहब? आज कँगला और कल लखपति! वह तो कमाये हुए धनका मालिक बन जाता है। सत्संगके द्वारा ऐसी-ऐसी चीजें मिलती हैं, जो बरसोंतक साधन करनेसे भी नहीं मिलतीं। इसलिये भाई! सत्संग मिल जावे तो जरूर करना चाहिये। इससे मुफ्तमें कल्याण होता है, मुफ्तमें। कहा गया है—

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥
(मानस, बाल० ३।४—६)

और—

संत समागम करिये भाई, लोह पलट कंचन हो जाई।
नानाविध बनराय कहीजे, भिन्न-भिन्न सब नाम धराई॥
नौका रूप जानि सतसंगहि, या में सब मिल बैठो आई।
और उपाय नहीं तिरने का, सुन्दर काढिहि राम दुहाई॥

सन्त-महिमा

शास्त्रोंमें संतोंकी बहुत महिमा मिलती है। स्वयं श्रीभगवान्‌ने भी अपने भक्तोंकी महिमा गायी है। संत या भक्त किसी वेशभूषाका नाम नहीं है, प्रत्युत भीतरके भावका नाम है। इस प्रकारका भाव रखनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, माता-बहिन कोई भी हो सकते हैं।

सन्त कहते ही हमारी दृष्टि साधु-आश्रमपर जाती है; क्योंकि साधु-आश्रममें बड़े-बड़े तत्त्वज्ञ, सन्त, महापुरुष एवं ज्ञानी हुए हैं, भगवत्प्रेमी हुए हैं। परन्तु गृहस्थोंमें भी कम नहीं हुए हैं। बहनोंमें भी मीराबाई आदि बड़ी-बड़ी सन्त हुई हैं, जिनके स्मरणमात्रसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। गृहस्थोंमें भी बड़े-बड़े और विचित्र भक्त हुए हैं। इतना ही नहीं, साधारण-से-साधारण, पापी-से-पापी, दुराचारी-से-दुराचारी तथा मूर्ख-से-मूर्ख व्यक्ति भी उस तत्त्वको जानकर सन्त-महात्मा बन सकता है।

संसारमें कोई भी दो व्यक्ति, धन, सम्पत्ति, वैभव आदिमें समान नहीं हो सकते; किन्तु परमात्मतत्त्व-प्राप्तिमें सब समान होते हैं। जो तत्त्व वसिष्ठ, नारद एवं सनकादिको प्राप्त हुआ है, वही आज भी प्राप्त होता है; क्योंकि वह सत्य तत्त्व एक है। वहाँ पहुँचनेपर सब एक हो जाते हैं। हाँ, साधनमें फर्क हो सकता है—

पहुँचे-पहुँचे एक मत, अण पहुँचे मत और।
सन्तदास घड़ी अरठकी, ढुरै एक ही ठौर॥

अरठमें बँधे घड़े या पीपे कुएँमेंसे जल लेकर चलते हैं तो उनकी ऊँची-नीची विभिन्न स्थितियाँ होती हैं; किन्तु सबका जल एक ही जगह गिरता है। इसी प्रकार जितने भी साधन-भेद होते हैं, वे सब अनपहुँचे व्यक्तियोंके होते हैं। पहुँचे हुए महात्माओंकी वास्तविक स्थितिमें फर्क नहीं होता, साधनाओंकी भिन्नताके कारण मार्गोंकी भिन्नता वहाँ भी रहती है; किन्तु लक्ष्यतक पहुँचनेपर सब एक ही तत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं।

गीतामें दो निष्ठाएँ बतायी हैं—ज्ञानयोग और कर्मयोग—

'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(३।३)

श्रीमद्भागवतमें मनुष्यके कल्याणके लिये—

'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।'

ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग—ये तीन योग बताये गये हैं। ऐसे ही द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, अद्वैताद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद आदि अनेक अवान्तर मार्ग शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। ये अनेक भेद साधनकी दृष्टिसे हैं। पर साध्य-तत्त्वकी प्राप्ति होनेपर ये भेद नहीं रहते। जो साध्यतत्त्वतक पहुँच जायँ और मार्गोंकी दृष्टिसे भी ठीक-ठीक विवेचन कर दें, ऐसे सन्त बहुत ही कम मिलते हैं। अब हैं या नहीं, यह पता नहीं; भगवान् ही जानें। खोज करने और ढूँढ़नेपर भी, ऐसे महात्मा बहुत कम देखनेमें आये हैं। जो वास्तवमें पहुँचे हुए हैं और किसी सम्प्रदाय अथवा मतका कोई आग्रह भी नहीं रखते। सब कुछ जाने हुए, समझे हुए, सुलझे हुए सन्त बहुत ही कम देखनेमें आये हैं।

हम इतिहास, भागवत आदि ग्रन्थोंको देखते हैं तो उनमें सन्तों, राजर्षियों, बड़े-बड़े त्यागियों, तपस्वियों तथा प्रेमियोंका वर्णन मिलता है। उनमें भी ठीक-ठीक तत्त्वतक पहुँचनेवाले बहुत ही कम मिलते हैं; फिर आजकलकी तो बात ही क्या है। लोग भजन-ध्यान आदिको फालतू समझने लगे हैं। जो वास्तवमें मनुष्य-जीवनकी सफलता है, उस तत्त्वप्राप्तिको समझते नहीं, इतना ही नहीं, समझना चाहते भी नहीं। इसकी उपेक्षा करते हैं। पशुओंकी भाँति ही अपना समय व्यर्थ गवाँ रहे हैं—

'कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।'

(गीता १६।११)

'नान्यदस्तीति वादिनः।' (गीता २।४२)

काम और भोगके सिवाय कुछ है ही नहीं। खाना, कमाना और भोगना—बस, इतना ही सब कुछ है। उनके मतमें और कुछ है ही नहीं। वे इसीमें उलझे रहते हैं। अब उनसे क्या कहा जाय? सज्जनो! वे तो पशुओंसे भी नीचे हैं। उनको पशुओंके समकक्ष रखा जाय तो पशु नाराज हो सकते हैं कि हमारी बेइज्जती क्यों करते हैं? हम तो अपने कर्मोंका फल भोगकर मनुष्य-जन्मकी ओर जा रहे हैं। परन्तु पाप करनेवाले मनुष्य तो नरकों एवं नीच योनियोंकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। यह कितना बड़ा अन्तर है! इसीलिये कहा गया है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥

(मानस, सुन्दर० ४६।७)

नरकोंका निवास अच्छा है, पर विधाता दुष्टोंका संग न दें, क्योंकि नरक भोगनेसे तो पाप नष्ट होते हैं, जब कि दुष्टोंके संगसे पाप पैदा होते हैं और आगे नरकोंकी तैयारी होती है।

सज्जनो! थोड़ा ध्यान दें। सन्तोंको पहचाननेमें वे ही समर्थ हैं, जो सच्चे हृदयसे इस मार्गपर चलते हैं। केवल अन्धानुकरण ही नहीं करते; प्रत्युत विवेकपूर्वक खूब गहरे

उतरकर इन पारमार्थिक विषयोंको अच्छी प्रकार समझते भी हैं। इससे भी आगे समझी हुई बातोंको आचरणमें लाते हैं। वे सन्तोंको कुछ-कुछ समझ पाते हैं। वे भी इतना ही समझ पाते हैं कि ये सन्त हमसे श्रेष्ठ हैं। परन्तु ये कहाँतक पहुँच चुके हैं— यह समझनेकी शक्ति किसीमें भी नहीं है। इस बातको या तो वे स्वयं समझते हैं या उनसे भी बढ़कर समझते हैं उनके भगवान्।

जैसे सूर्य प्रकाशित होता है तो दिन निकल आता है, ऐसे ही सन्तोंका संग करनेसे हृदयमें प्रकाश होता है। मनुष्यको दीखने लगता है कि मुझमें कहाँ-कहाँ कमी है और इसे कैसे दूर किया जाय ? उपाय सूझने लगते हैं। सन्तोंके संसर्गमात्रसे ही, बिना कहे-सुने, बिना पूछे भी स्वतः ही अन्तःकरणमें विलक्षण भाव पैदा होते हैं। एक प्रकारका विलक्षण प्रकाश मिलता है। इसलिये जिसको सन्तोंका संग मिल गया हो, उसको अपने ऊपर भगवान्‌की विशेष कृपा समझनी चाहिये—

जब द्रवै दीनदयाल राघव, साधु संगति पाइये।

सन्त भगवान्‌का हृदय हैं। जिस प्रकार बूढ़े माँ-बाप अपनी छिपी हुई पूँजी, अपनी विशेष कृपापात्र सन्तानको ही बताते हैं, देते हैं, उसी प्रकार भगवान् अपने प्यारे सन्त जो कि उनके हृदय-धन हैं— उनके सामने खोलकर रख देते हैं, जिनपर विशेष कृपा करते हैं। जैसे सन्तोंके धन भगवान् हैं, ऐसे ही भगवान्‌के धन सन्त हैं। वे जब कृपा करते हैं तो हमें सन्तोंसे मिला देते हैं तथा कहते हैं कि भाई ! अब तुम सत्संग करो और लाभ ले लो।

अब प्रश्न उठता है कि हम तो सन्तोंको पहचान सकते नहीं, क्या करें ? तो आप भगवान्‌से सच्चे हृदयसे प्रार्थना करें कि हे नाथ ! हमें आपके जो प्यारे भक्त हैं, सन्त-पुरुष हैं— उनके दर्शन कराइये। ऐसे आप भगवान्‌से कहें अथवा आपके हृदयमें उत्कण्ठा हो जाय तो आपको कोई-न-कोई सन्त अवश्य ही मिल जायँगे।

जैसे, फल चलकर तोतेके पास नहीं जाता, वरन् तोता स्वयं फलके पास आकर उसे चोंच लगाता है। इसी प्रकार सच्चे जिज्ञासुओंको सन्त-महात्मा ढूँढ़ते फिरते हैं। यद्यपि माँसे अधिक आवश्यकता बालकको होती है; किन्तु माँके मनमें बालककी जितनी गरज होती है, उतनी बालकके मनमें माँके लिये नहीं होती। जब दूधकी आवश्यकता होती है, तभी वह माँको याद करता है; किन्तु माँ सब समय उसकी याद करती है। बच्चेको भूख लगनेपर माँके स्तनोंसे दूध टपकने लगता है, उसी प्रकार सच्चे जिज्ञासुके प्रति सन्तोंका ज्ञान-अमृत टपकने लगता है। वे अपने-आपको रोक नहीं सकते; बस, कोई मिल जाय लेनेवाला।

किन्तु संसारके लोग इन बातोंको क्या जानें ? रात-दिन हाय रुपया !हाय रुपया !! भोग-संग्रह, सुख-आराम, क्लब, नाटक-सिनेमा, तड़क-भड़कमें लिप्त मनुष्य क्या समझें इस तत्त्वको। इसीलिये सन्त उनसे छिपे रहते हैं—

हरि हीरां री गाँठड़ी, गाहक बिन मत खोल।
आसी हीरां रो पारखी, जब बिकसी महँगे मोल॥

सच्चे जिज्ञासु, साधक ही इन ज्ञानरूपी हीरोंका मोल समझ सकते हैं। इसलिये सन्त-महापुरुष अपनी ज्ञान-गठरी उनके सामने ही खोलते हैं।

आज बड़ी उम्रके सभ्य लोग भी खेल-तमाशोंमें इकट्ठे होते हैं। सिनेमा, क्लब आदिमें जाते हैं। कभी यह बच्चोंकी बात थी। बड़ी अवस्थाके लोग घरका, समाजका काम करते थे, पारमार्थिक बातोंको सोचते थे, किन्तु आज बड़े-बूढ़े हो जानेपर भी खेल-तमाशोंमें ही लगे रहते हैं। बचपन आ गया बड़े-बूढ़ोंमें भी। अब किसको कहें और कौन सुने नीति-धर्मकी बात ?

आदि अविद्या अटपटी, घट-घट बीच अड़ी।
कहो किसे समझाइये, कूए भाँग पड़ी॥

जब कूएँके जलमें ही भाँग घुल गयी, तब सभीको नशा आ गया। अब कौन समझे ? हमें चेत करना चाहिये।

सन्त-महात्माओंने जिस तत्त्वको बड़ी मेहनत करके, त्याग-तपस्यासे प्राप्त किया है, उसको वे बड़े खुले हृदयसे देनेके लिये तैयार बैठे हैं। कोई लेता है, तो खुश होते हैं, प्रसन्न होते हैं। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार दूकानदारका जितना अधिक माल बिकता है, वह उतना ही अधिक खुश होता है। दूकानदारको तो स्वयंको लाभ होता है, पर सन्त-महात्मा संसारका कल्याण होनेसे प्रसन्न होते हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

(मानस, उत्तर० ४७। ५-६)

बिना कोई स्वार्थहित करनेवाले संसारमें दो ही हैं— आप (श्रीभगवान्) और आपके सेवक (सन्त-महात्मा)। भगवान् और भगवान्‌के प्यारे भक्त बिना ही कारण हित करते रहते हैं। जैसे, लोभीकी धनमें और भोगीकी भोगमें प्रीति होती है। उससे भी विलक्षण प्रीति उनको प्राणिमात्रके हितमें होती है।

मेरा भक्तोंकी संगतिमें रहनेका काम पड़ा है। मेरे मनमें बात आयी कि इतने ऊँचे महापुरुषोंका संग मुझे मिला है, किन्तु मैं ऐसे सन्तोंके संगका पात्र नहीं हूँ। मैंने एक पहुँचे

हुए सन्तसे प्रश्न किया—महाराज ! भगवान्‌के घरमें अँधेरा है, उनके यहाँ सावधानी नहीं है। तभी तो हम-जैसे लोगोंको ऐसे-ऐसे ऊँचे दर्जेके सन्त-महात्माओंके दर्शन हुए। हम तो इसके पात्र नहीं। क्योंकि उत्तम वस्तु तो योग्य पात्रको ही मिलनी चाहिये। परन्तु हमारे-जैसे पात्रको भी ऐसी ऊँचे दर्जेकी बातें मिलती हैं— तो यह क्या है?

अंधाधुंध सरकार है तुलसी भजो निसंक।
खीझे दीन्हो अमरपद, रीझे दीन्ही लंक॥

यह कोई हिसाब है ? गुस्सा आनेपर रावणको परम पद दे दिया और प्रसन्न होनेपर विभीषणको राजगद्दी दी। ऐसा पूछनेपर मुझे जवाब मिला कि 'बात ठीक है। कन्याके लिये योग्य वर ही ढूँढ़ना चाहिये। किन्तु कन्या बड़ी हो जाय और योग्य वर न मिले, तो जैसा वर मिले, उसके साथ ही ब्याहना पड़ता है।' तो ऐसे तो हमलोग और हमें मिलें ऐसी मार्मिक बातें !

लोग कहते हैं कि अच्छे पुरुष मिलते नहीं और मैं कहता हूँ कि हम अच्छे पुरुषोंके लायक नहीं हैं। आपलोगोंसे मैं एक बात पूछता हूँ—'क्या आपको अभीतक अपनेसे ऊँचे दर्जेका पुरुष मिला ही नहीं ? यदि मिला है तो क्या आपने उनसे पूरा लाभ ले लिया ? यदि नहीं लिया तो उनसे बड़े पुरुष, सन्त मिलनेपर आप उनसे लाभ कैसे ले लेंगे ? क्या निहाल हो जायँगे उनसे मिलकर ? अभी जो मिलते हैं, उनसे पूरा लाभ ले लो— इस कक्षामें तो उत्तीर्ण हो जाओ। उसके बाद भगवान् अपने-आप अगली कक्षामें भेज देंगे। बालक जिस श्रेणीमें पढ़ता है, उससे आगेकी श्रेणियाँ पहलेसे तैयार रहती हैं। भगवान् तो प्रधानाध्यापक हैं—

'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'

आपके पास होते ही, वे आगेकी कक्षामें भेज देंगे। उससे ऊँचे सन्तोंका संग करा देंगे।

अब प्रश्न होता है कि उन सन्तोंको हम पहचानेंगे कैसे ? आजसे कोई ३५-४० वर्ष पहलेकी बात है। ऋषिकेशमें एक सज्जनने मुझसे पूछा कि आप तो यहाँ वर्षोंसे आते रहते हैं, हमें कोई अच्छे सन्त बताइये। अच्छे महात्माके दर्शन कराइये। आप बताओ, कौन-से अच्छे महात्मा हैं ? मैंने कहा भाई ! आपका प्रश्न मेरी समझमें नहीं आया, क्या उत्तर दूँ ? तो वे मुझे समझाने लगे कि मैं किसी अच्छे सन्त-महात्माका पता पूछता हूँ, जिसका संग करके हम लाभ उठावें। मैंने फिर कहा कि भाई ! आपका प्रश्न मैं समझा नहीं। वे फिर मुझे समझाने लगे तो मैंने कहा कि आपके प्रश्नके अक्षर तो मेरे समझमें आ गये। आप जो बात कहते हैं, वह भी सीधी-सादी है, किसी विदेशी भाषामें नहीं है, परन्तु मेरी अकलमें आपकी बात नहीं बैठी। वे बोले—कैसे ? तो मुझे कहना पड़ा कि जब आपकी समझमें मेरा इतना सम्मान है कि मैं सच्चे सन्त-महात्माओंका पारखी हूँ तो उन महात्माओंकी परीक्षा करनेवाला मैं उनसे तो ऊँचा ही हो गया— फिर आप दूसरा क्यों खोजते हैं ? जब मैं उन सन्तोंकी परीक्षा करनेवाला हूँ, तो उनसे मेरेमें कम योग्यता होगी ? इस तरह आपका प्रश्न मेरी समझमें नहीं आया।

एक सज्जन मुझे मिले और बोले—'हमें बहुत-से महात्मा मिले।' तो मैंने कहा कि आपको एक भी नहीं मिले। अगर एक भी मिलते तो बहुत नहीं मिलते। वास्तवमें एक भी सन्त मिलते तो आप वहीं अटक जाते। आप भटकते हैं तो आपको एक भी नहीं मिले। अगर मिल जाते तो दूसरी जगह जाते कभी ? किस लिये जाते बताओ ? उन महात्मामें कमी देखी है तभी तो दूसरेके पास जाते हैं। वहाँ आपकी पूर्ति नहीं होती, इसलिये दूसरी जगह भटकते हैं, दूसरोंकी गरज करते हैं। किसीने कहा है—

हरि दुर्लभ नहीं जगत में, हरिजन दुर्लभ होय।
हरि हेर्‌याँ सब जग मिले, हरिजन कहीं एक होय॥

सन्त-महात्मा और उनको पहचाननेवाले बहुत ही दुर्लभ हैं। आज तो दम्भ, पाखण्ड और बनावटीपन इतना हो गया कि असली सन्त-महात्माको पहचानना अत्यन्त ही कठिन कार्य हो गया है। पर सच्चे जिज्ञासुको पता लगता है। भगवान् कृपा करते हैं, तभी उनको पहचाना जा सकता है। अब उनकी पहचान क्या हो ? भाई ! हम उनकी पहचान नहीं करते, हम तो अपनी पहचान कर सकते हैं।

हमने एक कहानी सुनी है। एक नवयुवक राजगद्दीपर बैठा। पाँच-सात वर्ष राज्य करनेके बाद उसने अपने राज्यके बड़े-बूढ़ोंको इकट्ठा करके पूछा—'आपलोग बतावें कि राज्य हमारा ठीक रहा या हमारे पिताजीका ठीक था ? अथवा हमारे दादाजीका ठीक था ? किसका राज्य ठीक रहा ? आपने हमारी तीनों पीढ़ियोंका राज्य देखा है। बेचारे सब चुप रहे। एक बहुत बूढ़ा आदमी खड़ा होकर कहने लगा कि 'महाराज ! हम आपकी प्रजा हैं। आप उमरमें छोटे हैं तो क्या हुआ, आप हमारे मालिक हैं। अब हम आपके बारेमें निर्णय कैसे करें कि आपमें कौन योग्य और कौन अयोग्य है ? कौन बढ़िया और कौन घटिया है ? यह हमारी क्षमता नहीं है। मेरी बात पूछें तो मैं अपनी बात तो कह सकता हूँ, पर आपकी परीक्षा नहीं कर सकता।' राजाने कहा—'अच्छा ! अपनी बात बताओ।'

वह कहने लगा—'जब आपके दादाजीका राज्य था, उस समय मैं जवान था। मैं पढ़ा-लिखा था। शरीरमें बल भी अच्छा था। मैं एक लाठी पासमें रखता था। उस समय यदि ५-१० आदमी एक साथ भी सामना करनेके लिये आ जाते तो मैं हार नहीं खाता, बल्कि उन सबको मार दूँ—ऐसा मेरा विश्वास था। एक दिन मैं किसी गाँव जा रहा था। रास्ते चलते मेरे कानमें किसी स्त्रीके रोनेकी आवाज आयी। तो मैंने सोचा चलकर देखें, क्या बात है ? मैं आवाजकी दिशामें गया, तो देखा कि एक सुन्दर युवती अकेली जंगलमें बैठी रो रही है। उसने बहुत कीमती गहने, कपड़े पहन रखे थे। मैं अचानक उसके पास पहुँचा तो वह डर गयी और एकदम चुप हो गयी। मैंने बड़े प्यारसे कहा कि बहिन ! घबराओ मत। बताओ कि तुम क्यों रो रही हो ? मेरे ऐसा कहनेपर वह आश्वस्त हुई और बोली—मैं पीहरसे ससुराल जा रही थी। साथमें २-४ बैलगाड़ियाँ और ऊँट थे। रास्तेमें डाकू मिल गये, तो उनसे मुठभेड़ हो गयी। मेरे सम्बन्धी और डाकू आपसमें लड़ने लगे। मुझे डर लगा तो भागकर जंगलमें चली आयी और यहाँ आकर बैठ गयी। अब उनका क्या हाल हुआ, यह तो भगवान् जानें ? किन्तु मैं किधर जाऊँ, यह भी मुझे रास्ता मालूम नहीं है। मेरा जन्म-गाँव तो दूर रह गया, लेकिन ससुराल-गाँव पास ही है, ऐसा अन्दाज है। लेकिन मैं जानती नहीं, क्या करूँ ? यह सोचकर रोना आ रहा है।' इस तरह कहकर उसने मुझे अपने ससुरालका पता बताया। मैं उस गाँवको जानता था, इसलिये मैंने उससे कहा—बहिन ! तुम चलो, डरनेकी कोई बात नहीं है, मैं तुम्हारे साथ हूँ। पूछनेपर उसने अपने श्वशुरका नाम कागजपर लिखकर बताया। मैं उसके श्वशुरको जानता था, इसलिये उसे उसके ससुराल ले गया। रात हो चुकी थी, सब लोग तरह-तरहकी चिन्ता कर रहे थे। वे लोग बहुत दुःखी थे; क्योंकि बहूके शरीरपर गहने आदि बहुत थे। बहूको सही-सलामत पहुँची देखकर सबके मनमें प्रसन्नता छा गयी। उस स्त्रीने अपने घरवालोंसे कहा—इन सज्जनको मैं पिता कहूँ या भाई कहूँ। इन्होंने मुझे बड़े प्यारसे धीरज दिलाया और यहाँतक पहुँचाया। उसके श्वशुर मुझे इनाम देनेके लिये पाँच-सात सौ रुपये लाये और लेनेका आग्रह करने लगे। मैंने अपना कर्त्तव्य समझकर यह काम किया था कि कोई दुःखी है तो उसका दुःख दूर हो जाय, इसलिये मैंने रुपये नहीं लिये। मैंने मनमें सोचा कि अपने कर्त्तव्य-पालनकी बिक्री नहीं करूँगा। मेरे मनमें रुपये न लेनेसे बड़ा सन्तोष रहा। मैं वापस चला आया।

यह बात तो आपके दादाजीके समयकी थी। इसके बाद आपके पिताजीका राज्य आया। उनके राज्य-कालके पाँच-सात वर्ष बीतनेपर एक बार मेरे व्यापारमें बड़ा घाटा लगा। धनकी तंगी हुई तो मेरे मनमें बात आने लगी कि उस समय इतना अच्छा अवसर मिला था, दस-पन्द्रह हजारका तो गहना ही था। अकेली स्त्री थी, एक थप्पड़ मारता तो सारा गहना, जेवर मिल जाता। आज यह दुःख नहीं भोगना पड़ता। उस समय बड़ी भूल हो गयी। अब पछतानेसे क्या हो। जब वे इनाम देने लगे, तब भी नहीं लिया। बड़ाईका भूखा आज तंगी भोगता है। इस प्रकारके भाव मनमें आये थे। महाराज ! आप तो अवस्थामें मेरे पोतेके समान हैं, आपके सामने कहनेमें लज्जा आती है। अब तो मनमें ऐसे भाव आ रहे हैं कि उस समय उस स्त्रीको समझा-बुझाकर या धमकाकर अपनी स्त्री बना लेता, तो आज वह मेरी सेवा करती और धन भी मिल जाता। परन्तु, अब तो बात हाथसे निकल गयी, पछतानेसे क्या लाभ ? इस तरह, महाराज ! हम तो अपने मनके विचार बता सकते हैं। आप ! राजाओंका निर्णय कौन करे। आपका निर्णय करनेकी ताकत हममें कहाँ !

राजा समझ गया कि बुड्ढा बड़ा बुद्धिमान् है। ***'यथा राजा तथा प्रजा।'*** यह बात भी कह दी और हमें रुष्ट भी नहीं किया। इस तरह सन्तोंकी पहचान हम नहीं कर सकते कि ये कहाँतक पहुँचे हुए हैं, किन्तु उनके पास जानेसे हमारे मनमें मच रही हलचल शान्त होती हो, बिना पूछे शंकाओंका समाधान होता हो, मनमें सन्तोष होता हो, अपनेमें दैवी सम्पदाके गुण आते हों अर्थात् दया, क्षमा, उदारता, त्याग, सन्तोष, नीति, धर्म आदिकी वृद्धि होती हो, दुर्गुण-दुराचार दीखने लगें और घटने लगें। जिन महापुरुषोंके संग अथवा दर्शनोंसे ऐसी विलक्षणताएँ आती हों— तो हम अन्दाज लगा सकते हैं। परन्तु सन्तोंकी पहचान हम क्या करें ? हमको क्या पता कि वे कैसे हैं ?

इसके अलावा हम गरीब हों अथवा धनी हों— जिनके मनमें हमारी कोई गरज नहीं दीखती। हम धनी हैं तो कुछ ज्यादा आदर करें और गरीब हैं तो निरादर करें, हमसे वे कुछ स्वार्थ सिद्ध करना चाहें— ऐसा हमें कभी लगता ही नहीं, कभी भी। हम उनसे ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदिकी बातें पूछते हैं तो वे उनसे भी आगेकी बातें बता देते हैं। हमारी दृष्टिमें सगुण-निर्गुण, साकार-निराकारके तत्त्वको जाननेवाला, उनसे बढ़कर कोई दीखता नहीं— ऐसे महापुरुषोंका संग मिल जाय तो अपना दिल खोलकर रखनेसे बड़ा लाभ होता है।

सरल सुभाव न मन कुटिलाई।

(मानस, उत्तर० ४६। २)

ऐसे सन्तोंके पास सरल हृदयसे जायँ। अपनी विद्वत्ता प्रख्यापित करनेके लिये, चतुर कहलानेके लिये, प्रश्न न करें। अपने हृदयकी गुत्थियाँ सुलझानेके लिये, अपनी उलझन मिटानेके लिये, सरलतासे प्रश्न करें— तो विशेष लाभ ले सकेंगे।

साधनके विषयमें जाननेके लिये प्रश्न करें कि क्या साधन करें ? यहाँतक तो पहुँच गये, इसके बाद क्या साधन करना चाहिये—इस प्रकार जानकर आगे बढ़ा जाय तो बहुत लाभकी बात है।

सन्त-महात्माओंको हमारी विशेष गरज रहती है। जैसे, माँको अपने बच्चेकी याद आती है। बच्चेको भूख लगते ही माँ स्वयं चलकर बच्चेके पास चली आती है— ऐसे ही सन्त-महात्मा सच्चे जिज्ञासुओंके पास खिंचे चले आते हैं। इस विषयमें एक कहानी सुनी है—

एक गृहस्थ बहुत ऊँचे दर्जेके तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त महापुरुष थे। वे अपने घोड़ेपर चढ़कर किसी गाँव जा रहे थे। चलते-चलते घोड़ा एक अन्य रास्तेपर चल पड़ा। उन्होंने उसको कितना ही मोड़ना चाहा, लेकिन वह तो उसी रास्तेपर चलनेके लिये अड़ गया। इसपर उन्होंने सोचा कि अच्छी बात है, इसके मनमें जिधर जानेकी है, उधरसे चलना चाहिये। अपने थोड़ा चक्कर पड़ेगा, कोई बात नहीं । वह घोड़ा जाते-जाते एक घरके सामने रुक गया। समय अधिक हो गया था, अतः वे सन्त घोड़ेसे नीचे उतर पड़े और उस घरके अन्दर गये। वहाँ एक सज्जन मिले। उन्होंने उन महापुरुषका बड़ा आदर-सत्कार किया, क्योंकि वे उन्हें नामसे जानते थे कि अमुक महापुरुष बड़े अच्छे सन्त हैं। वे सज्जन अच्छे साधक थे। वे कई बार सोचते थे कि सन्त-महात्माके पास जावें और उनसे साधन-सम्बन्धी रास्ता पूछें। आज तो भगवान्‌ने कृपा कर दी, तो घर बैठे गङ्गा आ गयीं। उन्होंने उन गृहस्थ-सन्तको भोजनादि कराया। सत्संग-सम्बन्धी बातें हुईं। जो बातें उन सज्जनने पूछीं, उनका अच्छी प्रकार समाधान उन सन्तने किया। वे सन्त जाते-जाते बोले कि 'भाई ! जब भी कोई शंका हो तो यह मेरा पता है, आ जाना या मुझे समाचार कर देना, मैं आ जाऊँगा।' इसपर उन सज्जनने पूछा—'महाराज ! अभी आपको किसने समाचार भेजा था कि आप पधारिये ?' तो वे सन्त बोले— 'मेरा घोड़ा अड़ गया था, इसलिये मुझे आना पड़ा।' तो उन सज्जनने कहा—'अबकी बार फिर आपका घोड़ा अड़ जाय तब फिर आ जाना।' तात्पर्य यह है कि जब साधककी सच्ची जिज्ञासा होती है तो सन्तोंका घोड़ा अड़ जाता है।

सन्तोंकी बात क्या ! स्वयं श्रीभगवान्‌के कानोंमें भी सच्ची पुकार तुरन्त पहुँच जाती है और वे किसी सन्तके साथ हमारी भेंट करा देते हैं—

सच्चे हृदयकी प्रार्थना जो भक्त सच्चा गाय है।
तो भक्त-वत्सल कानमें वह पहुँच झट ही जाय है।।

जैसे टेलीफोन एक्सचेंज हमारी लाइन हमारे इच्छित व्यक्तिसे मिला देता है, उसी प्रकार भगवान् हमारी लाइन सन्तोंसे मिला देते हैं। पर हमारी लगन सच्ची होनी चाहिये।

हमारी सच्ची लगन हो तो भगवान्‌में शक्ति नहीं है कि वे हमारी लगनको ठुकरा दें। हैं किस लिये भगवान् ? छोटा बालक है और माँ उसका पालन न करे, तो माँ है किस लिये ? बालकके लिये ही तो माँ है। इसी प्रकार यदि सन्त-महात्मा साधकोंको कुछ बात नहीं बतायेंगे तो वे जीते क्यों हैं ? उनका क्या उपयोग है ? सज्जनो ! जब वे अपना कार्य पूरा कर चुके, तो वे हमारे लिये ही हैं। उनसे पूछकर हम अपना कल्याण कर लें। इसीलिये हमें सच्ची जिज्ञासा बढ़ानी चाहिये। सन्त-महात्माओंकी परीक्षा करनेकी जरूरत नहीं है। हम सच्चे हृदयसे परमार्थ-मार्गमें चलेंगे, तो हमारा काम हो ही जायगा। इसमें सन्देह नहीं है।

★

सन्त-चरण-रजका तात्पर्य

श्रीभगवान् और उनके भक्तोंकी महिमा अपार है। इन दोनोंमें भी हमलोगोंके लिये भगवान्‌की अपेक्षा सन्त-महात्माओंकी महिमा ही विशेष है, क्योंकि वे हमारे प्रत्यक्षरूपसे काम आते हैं। जैसे समुद्र तो बहुत बड़ा है; परन्तु हमें जल बादलोंसे मिलता है, इसलिये हमारे लिये तो बादल ही बड़े हैं। इसी प्रकार हमें तो संत-महात्माओंके द्वारा ही लाभ हुआ है और होता है; इसलिये हमारे लिये संत ही बड़े हैं।

विभिन्न सम्प्रदायोंमें बड़े-बड़े महापुरुष हुए हैं; उनके द्वारा अनेक मनुष्योंको शिक्षा मिली है जिससे वे मनुष्य विशेषताको प्राप्त हुए हैं। जिन महापुरुषोंसे मानव-जातिको ज्ञान प्राप्त हुआ है, उन महापुरुषोंकी महिमा जितनी गायी जाय, उतनी ही थोड़ी है; ऐसे महापुरुषोंकी चरण-रजीका बड़ा महत्त्व है। उनकी चरण-रजका माहात्म्य कहनेका तात्पर्य उन महापुरुषोंकी महिमामें है कि वे जहाँ चलते-फिरते हैं, वहाँकी रेणु भी पवित्र हो जाती है। जब उनके चरण-

स्पर्शमात्रसे रेणु पवित्र हो जाती है, तब वे स्वयं कितने पवित्र होते हैं !

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः ॥

(अ॰ रा॰ उत्तरकाण्ड पञ्चमसर्ग ६१)

(अर्थ) भगवान् राम कहते हैं कि मेरा सगुण-तत्त्व या निर्गुण तत्त्वको जाननेवाला भक्त हो—वह मेरा ही स्वरूप है। **'सोऽहं'** मैं ही हूँ वह। वह संसारमें घूमता-फिरता है तो अपने चरणोंकी रज्जीसे त्रिलोकीको उसी प्रकार पवित्र करता है, जिस प्रकार सूर्य जिस प्रान्तमें जाते हैं उसीमें प्रकाश कर देते हैं।

इस श्लोकमें दृष्टान्त 'सूर्य' का दिया है। जैसे जहाँ सूर्य जाता है, वहाँ प्रकाश हो जाता है, दिन हो जाता है। संत-महापुरुष सूर्यसे भी विलक्षण हैं। सूर्य तो केवल बाहर प्रकाश करता है; किन्तु सन्त-महापुरुषोंद्वारा तो साधारण मनुष्यको भी विलक्षण ज्ञान-रूपी भीतरका प्रकाश प्राप्त हो जाता है। उसके भीतरकी आँखें खुल जाती हैं। मैं क्या हूँ ? कैसा हूँ ? तथा परमात्मा क्या है ? क्या करना चाहिये ? क्या नहीं करना चाहिये ? आदि बातोंका ज्ञान हो जाता है। होश आ जाता है। जैसे कोई आदमी बेहोश हो और उसे अचानक होश आ जाय अथवा कोई गाढ़ नींदसे जाग जाय— ऐसे ही गाढ़ अज्ञानमें डूबे प्राणीको महान् ज्ञान हो जाता है। इस तरह सन्त-महापुरुषोंकी विशेष कृपा होती है।

कुछ लोग सोचते हैं कि हम सन्तोंकी चरण-रज ले लेंगे तो हमारा कल्याण हो जायगा; अतः यदि सन्त नहीं लेने देंगे तो छिपकर अथवा चोरीसे ले लेंगे। भाई ! इससे कल्याण नहीं होगा, उद्धार नहीं होगा। अगर उन (सन्त) की चरण-रजसे उद्धार हो जाय तो उस चरण-रजको इकट्ठा कर पोटली बाँधकर कुएँमें डाल दिया जाय ताकि जो भी उस जलको पीयेंगे उन सबका उद्धार हो जायगा; परन्तु यह बिलकुल फालतू (निरर्थक) बात है। धूलमें धूल है, अर्थात् धूलमें क्या पड़ा है ! तात्पर्य यह है कि सन्तोंका इतना माहात्म्य है कि उनकी स्पर्श की हुई हवा, चरण-रज आदि परम पवित्र होते हैं। उनके दर्शन भी परम पवित्र करनेवाले होते हैं। पर मूल माहात्म्य तो भाई, उनके ज्ञानका है।

सर्वज्ञ मुनिने संक्षेप-शारीरिक-भाष्यमें लिखा है—

'यत्पादपङ्कजरजःश्रयणं विना मे
सन्नप्यसन्निव परः पुरुषः पुरासीत्।
यत्पादपङ्कजरजःश्रयणादिदानीं
नासीन्न चास्ति न भविष्यति भेदबुद्धिः ॥'

'मैंने जबतक उन महापुरुषोंकी चरण-रज्जीका आश्रय नहीं लिया, तबतक, होता हुआ भी, वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा, नहींकी तरह था अर्थात् भगवान् हैं कि नहीं, पता नहीं—ऐसी दशा थी; परन्तु जब मैंने उनकी चरण-रज्जीको स्वीकार किया तो मालूम पड़ा कि न भेद-बुद्धि थी, न है, और न होगी।'

यहाँ चरण-रज्जीको स्वीकार करनेका तात्पर्य उनकी अनुकूलताको स्वीकार करना है।

सन्तोंकी कृपा कब होती है ? उनके मनके अनुकूल बननेसे। जैसे बछड़ा आकर दूध पीने लगता है तो गायके शरीरमें रहनेवाला दूध थनोंमें आ जाता है, ऐसे ही जब कोई श्रद्धा-प्रेमपूर्वक सन्त-महापुरुषसे प्रश्न करता है तो उनका समस्त ज्ञान बुद्धि, मन और वाणीमें आने लगता है, टपकने लगता है। यह सब उनके अनुकूल बननेकी महिमा है, धूल अथवा मिट्टीकी महिमा नहीं है।

इसलिये भाई ! वे महापुरुष जिस ज्ञानसे बने हैं, उनसे वह ज्ञान लेना चाहिये। जैसे कपड़ेके बाजारमें कपड़ा और साग-पत्तीके बाजारमें साग-पत्ती मिलती है; ऐसे ही वास्तविक तत्त्व तो उस तत्त्वको जाननेवाले सन्त जहाँ हैं, उस बाजारमें ही मिलेगा। चरण-रज लेनेका तात्पर्य उस 'तत्त्व' को लेनेमें है, पर लोग रज्जी लेनेमें लगे हुए हैं। अरे ! उनकी चरण-रज्जीका इतना माहात्म्य है तो उन स्वयंका कितना माहात्म्य होगा ? उनके 'ज्ञानका' कितना माहात्म्य होगा ? वे कितने विशेष जानकार होंगे ? वह जानकारी हमें ग्रहण करनी चाहिये।

सज्जनो ! मेरे मनमें बहुत बातें आती हैं। आप विशेष ध्यान दें। आप सब-के-सब योग्य हैं, बुद्धिमान् हैं, पात्र हैं। मैं ऐसा नहीं मानता हूँ कि आप पापी हैं, अयोग्य हैं, अल्प-बुद्धि हैं, नीच हैं— किन्तु आप इधर ध्यान नहीं देते, लक्ष्य नहीं करते—यही कमी है। आपकी केवल इस तरफ उत्कण्ठा नहीं है। अन्यथा वह तत्त्व बहुत सुगमतासे प्राप्त हो जाय। जो महान् विभूति, महान् गुण, महान् अवस्था है; जिसकी शास्त्रोंमें, वेदोंमें, पुराणोंमें बड़ी भारी महिमा गायी गयी है, ऐसे तत्त्वको आप सब-के-सब प्राप्त कर सकते हैं, कब ? केवल इतना लक्ष्य हो जाय कि 'मैं उस तत्त्वको कैसे प्राप्त करूँ ?' अर्थात् आप उस तत्त्वके लिये उत्कण्ठित हो जाओ। अपनी जिद, अपनी बुद्धिमानीके अभिमानको छोड़ो, जिससे आपकी उत्कण्ठा देखकर सन्त-महात्मा द्रवित हो जायँ, खुश हो जायँ

तथा सोचें कि यह तत्त्वको चाहता है। सन्तोंकी खुशी और प्रसन्नतामें बहुत विलक्षणता भरी हुई रहती है। इस प्रकारके कोई सन्त-महात्मा मिल जायँ तो उनके सामने हमें मेहनत नहीं करनी पड़ती।

केवल शिष्य बननेसे इतना लाभ नहीं होता, जितना कि अधीन होनेसे, शरण होकर उत्कण्ठित होनेपर होता है। अर्जुनने भी भगवान्‌से—**'शिष्यस्तेऽहम्'** 'मैं आपका शिष्य हूँ'—कहकर **'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'**—मैं आपकी शरण हूँ, मेरेको शिक्षा दीजिये—ऐसा कहा है। अर्थात् शिष्य बननेसे भी अधिक विलक्षणता शरण होनेमें है। उत्कण्ठा होनेपर ही वह विलक्षण चीज मिलती है।

जैसे छोटा बच्चा केवल माँका ही दूध पीता है, जल-अन्न आदि कुछ नहीं लेता; अगर वह रोगी हो जाय तो माँको दवा लेनी पड़ती है; उससे बालक ठीक हो जाता है; क्योंकि वह केवल माँका ही दूध पीता है। इस प्रकार केवल परमात्म-तत्त्वको जाननेकी उत्कण्ठावाले साधक सन्त-महात्माओंकी कृपाके आश्रित रहते हैं, अपनी कुछ भी बुद्धिमानी नहीं लगाते, अपना कुछ भी अभिमान नहीं रखते। 'मेरा क्या और कैसे होगा'—ऐसी कुछ भी चिन्ता नहीं करते। वे सन्त-महात्मा जो कुछ कहें, समझावें—उसीके अनुसार जीवन बनाना है, ऐसा जिनका भाव हो जाता है; उन साधकोंके उद्धारके लिये उन सन्त-महात्माओंको उद्योग करना पड़ता है, अर्थात् उन साधकोंको मुफ्तमें वह तत्त्व प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार केवल माँका दूध पीनेवाले बच्चेको न भोजनकी और न दवाईकी आवश्यकता है; उसी प्रकार केवल सन्त-महात्माओंकी कृपाके आश्रित रहना ही उनकी चरण-रज्जी लेना है। उनके चरणोंकी रज्जीका, धूलका माहात्म्य नहीं है; प्रत्युत उनके अनुकूल बननेका माहात्म्य है।

'हम धूलसे भी नीचे हैं,—इस भावको लेकर उन (सन्त-महात्माओं) से हम बड़ी भारी (महान्) वस्तु ले सकते हैं। हम छोटे बनकर, जिज्ञासु बनकर, अपनी बुद्धिमानी, हठ छोड़कर केवल सन्त-महात्माओंके अधीन हो जावें तो वे हमें सन्त बना देते हैं, कहा गया है—

पारस में अरु सन्त में, बड़ो अन्तरो जान।
वो लोहा कंचन करे, वो करे आप समान॥

पारस और सन्तमें बड़ा अन्तर है। पारस लोहेको सोना तो बना सकता है। किन्तु वह सोना दूसरे लोहेको सोना नहीं बना सकता; परन्तु सन्त-महापुरुषोंकी कृपा प्राप्त किये हुए पुरुष तो ऐसे सन्त बन जाते हैं कि वे दूसरे लोगोंको भी सन्त बना देते हैं। वहाँ सोना ही नहीं, पारसकी खान खुल जाती है।

एक बात और है कि धनी आदमी दूसरेको धनी नहीं बनाना चाहता। वह तो व्यापारकी बात भी दूसरेको बताना नहीं चाहता; किन्तु जो सन्त-महापुरुष हैं, उनको जो कुछ भी लाभ हुआ है, उसको वे सबको बताना चाहते हैं। उनके मनमें वह सब बतानेकी बड़ी उत्कण्ठा होती है। उनकी बात कोई मान लेता है तथा उसके अनुसार साधन करता है, तो वे सन्त-महात्मा बड़े खुश होते हैं और उनकी इस खुशीमें ही जीवका कल्याण भरा होता है।

ऊपरकी सेवा करो, दण्डवत् करो, नमस्कार करो, रज्जी उठाओ, जूठन खाओ—ये सब फालतू बातें हैं, निकम्मी बातें हैं, अश्रद्धा पैदा करनेवाली बातें हैं, दुनियामें नास्तिकता पैदा करनेवाली बातें हैं। सन्त-महात्माओंके कहे अनुसार जीवन बनाएँ, उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तोंका पालन करें; ठीक उनके अनुसार ही अपना जीवन बनाएँ—तो आपलोग दुनियाका उद्धार कर सकते हैं।

उस तत्त्वकी प्राप्तिके लिये केवल उत्कण्ठा एवं भूख होनी चाहिये। जैसे बालकके दूधकी भूख होनेपर उसका प्रबन्ध होता ही है। माँके दूध न आये तो अन्यत्रसे प्रबन्ध होगा। माँके दूधकी कमी भी हो सकती है; किन्तु भगवान् एवं सन्त-महात्माओंकी शक्ति तो अपार, अनन्त है, जिसका कोई पारावार नहीं है। इसके अलावा एक और विलक्षणता है कि सन्तोंका ज्ञान जितना अधिक खर्च होगा, उतना ही अधिक बढ़ता है। कहा गया है—

हे सरस्वती! तेरा कोठार, भण्डार अथवा खजाना अपूर्व है, विलक्षण है। दूसरा खजाना ज्यों-ज्यों खर्च करते हैं, त्यों-त्यों नाश होता है, उसमें कमी आती है। पर तेरे खजानेमें खर्च करनेसे वृद्धि होती है। कोई व्यक्ति दूसरेको पढ़ाता है, तो उसके ज्ञानकी वृद्धि होती है। ब्रह्म विद्या तो इससे भी विलक्षण रीतिसे बढ़ती है, उमड़ पड़ती है। इसलिये चरण-रजका तात्पर्य उस तत्त्वको जाननेकी जिज्ञासा है।

जब सन्त-चरण-रज एवं सन्त-दर्शनका भी इतना माहात्म्य है तो वे जिस चीजसे इतने महान् हुए हैं, वह चीज कितनी महत्त्वपूर्ण होनी चाहिये। वह चीज हम सबको मिल सकती है। सन्त-महात्माओंकी लालसा रहती है, उस चीजको सबको बाँट देनेकी। उस चीजको देनेकी जितनी उत्कण्ठा सन्त-महापुरुषोंमें होती है, उतनी लालसा लेने-वालेमें नहीं होती। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार बालकके प्रति माँकी जितनी उत्कण्ठा होती है, उतनी माँके प्रति बालककी नहीं होती।

साधारण मनुष्यके भीतर अपने कल्याणकी उतनी चिन्ता

नहीं होती, जितनी उन महापुरुषोंके भीतर उन मनुष्योंके कल्याणकी होती है। महापुरुष चाहते हैं कि जल्दी-से-जल्दी और सुगमतासे इनका कल्याण हो जाय। सन्त-महापुरुषोंके भीतर तो कल्याणका खजाना भरा पड़ा है, पर सच्चे हृदयसे चाहनेवाला चाहिये। भगवान्‌की कृपाके रहते हुए भी बिना उत्कण्ठाके, बिना लालसाके भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती।

आज संसारमें नास्तिकता फैल रही है। लोग ईश्वरको, सन्तोंको और शास्त्रोंको नहीं मानते हैं, इसका कारण यही है कि लोग असली तत्त्वकी तरफ तो ध्यान देते नहीं और नकली बातोंका आचरण करते हैं—जैसे, जूठन खा ली, चरण-धूलि ले ली इत्यादि। इन ऊपरकी बातोंसे लाभ नहीं होता तो कहते हैं कि भाई! सन्तोंकी चरण-रज और जूठनकी महिमा झूठी है; क्योंकि हमने इनका सेवन किया, किन्तु हमें तो कोई लाभ नहीं हुआ।

आजका प्रश्न था—सन्त-चरण-रजका तात्पर्य क्या है? भाई, इसका तात्पर्य तो उस तत्त्वमें है, जो उन्होंने प्राप्त कर लिया है। उस तत्त्वको लेना चाहिये।

जीव लौटकर क्यों आता है ?

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि यह जीव साक्षात् मेरा ही अंश है—

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'

(१५।७)

'यह मेरा अंश यहाँ जीवलोक अर्थात् संसारमें आकर जीव बना है।' और—

'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।'

(१५।६)

'मेरा परमधाम ऐसा है, जहाँ जानेके बाद वापस लौटकर आना नहीं पड़ता।' तो फिर जीवको भगवान्‌के धाममें जाना चाहिये। जैसे, कोई सन्तान अपने पिताके घर जाती है। इसी प्रकार जीवको भगवान्‌के धाममें जाना चाहिये। यह जीव पुनः संसारमें लौटकर क्यों आता है ?

अब आप ध्यान देकर इस प्रश्नका उत्तर सुनें। जैसे आप हम-सभी यहाँ सत्संगके लिये आये हैं और समय पूरा होनेपर यहाँसे चल देंगे। यदि जाते समय हमारी चद्दर भूलसे यहाँ छूट गयी या कोई भी चीज यहाँ रह गयी तो हमें उसे लेनेके लिये वापस आना पड़ेगा। इसी तरह इस जीवने संसारकी जिन-जिन चीजोंमें ममता कर ली; चाहे वे घर, परिवार, जमीन, रुपये कुछ भी हों, उनके छूटनेपर ममताके कारण इसे लौटकर आना पड़ता है। संसारमें जिन वस्तुओंको अपना माना है, वहाँ लौटकर आना पड़ेगा। यह शरीर तो सदा रहेगा नहीं, अतः दूसरा शरीर धारण करके आना पड़ेगा। अब किसी भी योनिमें जन्म लें, उसे फिर उन वस्तुओंके पास आना पड़ेगा।

हमने एक कथा सुनी है। एक बार श्रीगुरु नानकजी महाराज कहीं जा रहे थे। उनके साथ उनके दो-चार शिष्य भी थे। किसी शहरकी धान-मण्डीमेंसे होकर निकले। धान-मण्डीमें गेहूँ, जौ, बाजरा, मोठ, चना आदि अनाजके बहुत-से ढेर पड़े थे। इतनेमें एक बकरा आया और एक मोठकी ढेरीमेंसे मोठ खाने लगा। वहाँपर उस ढेरीका मालिक बैठा था। उसने बकरेके केश पकड़ लिये और उसके मुखपर डंडे मारने लगा। काफी मार-पीटके बाद उसने उसके मुखसे दाने निकलवा लिये। इस दृश्यको देखकर श्रीगुरु नानकजी महाराज हँसे। साथमें चल रहे शिष्योंको आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—'महाराज ! बकरेके तो मार पड़ रही है और आप हँस रहे हैं। सन्तोंकी हर क्रिया किसी प्रयोजनको लेकर होती है। अतः महाराज ! हमें बतायें, आप हँसे क्यों ?' तब श्रीनानकजी महाराज बोले—देखो ! जो मार रहा है, वह बनिया इस बकरेका बेटा है और यह बकरा इस बनियेका बाप है। इससे पहलेके जन्ममें यह इस दूकानका मालिक था। इस दूकानमें इसका बैठनेका स्वभाव था। भीतर दूकान और बाहर जो यह बरामदा है, इसीमें यह बैठा रहता था। इसलिये आजकल भी रातमें यह बकरा यहाँ ही बैठता है। इसको याद नहीं है। लेकिन इसको यह जगह ही अच्छी लगती है। इसने बड़े-बड़े देवताओंकी मनौती करके इस पुत्रको पाया था। कमाया हुआ बहुत-सा धन इसी बकरेका है, लेकिन आज थोड़े-से दानोंमें भी इसका हिस्सा नहीं है। खानेके लिये आता है तो मार पड़ती है और मुँहसे दाने निकाल लिये जाते हैं। लोग फिर भी संग्रह करते हैं।'

यह जीव जिस किसी भी वस्तु या जगहमें आसक्ति, प्रियता या वासना रखेगा, उसे मृत्युके बाद चाहे कोई भी योनि मिले, उसी जगह आना पड़ेगा। पशु-पक्षी, चिड़िया, चूहे आदि उसी घरमें जाते हैं, जिसमें पूर्व-जन्ममें राग था।

'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।'

(गीता १३।२१)

ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होनेमें कारण है—गुणोंका संग, आसक्ति, प्रियता, वासना। जो जड चीजोंमें प्रियता

रखेगा, उसको लौटकर आना पड़ेगा। जिसकी जड़ वस्तुओंमें आसक्ति या प्रियता नहीं और भगवान्‌के साथ प्रेम है, वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है। इतनी विलक्षणता है कि अन्तकालमें भी भगवान्‌का स्मरण करनेवाला निःसन्देह भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है। अन्तकालमें भी याद कर ले तो बेड़ा पार है—

'अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥'

(गीता ८।५)

अन्तकालके स्मरणसे भी यह जीव भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि इसका भगवान्‌से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भगवान्‌का अंश होनेके कारण यह भगवान्‌के सम्मुख होते ही भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है। इसमें सन्देहकी कोई बात नहीं। फिर यह लौटकर क्यों आता है ? इसमें खास कारण यह है कि संसारकी चीजोंमें अपनापन कर लेनेसे इसको विवश होकर यहाँ आना पड़ता है। इस (जीव) का मन संसारमें खिंच जाता है तो भगवान् फिर वैसा ही मौका दे देते हैं अर्थात् जन्म दे देते हैं। इसलिये जीवको उचित है कि यहाँ रहता हुआ भी निर्लेप रहे। भीतरमें ममता, आसक्ति करके फँसे नहीं।

ऐसा माने कि ठाकुरजीका संसार है, ठाकुरजीका परिवार है, ठाकुरजीके रुपये हैं, ठाकुरजीका घर है। हम तो ठाकुरजीका काम करते हैं। मुनीमकी तरह रहें। मालिक न बनें। जो काम करें उसका अहसान ठाकुरजीपर रखें कि महाराज ! हम आपका काम करते हैं। हमारा यहाँ क्या है ? परिवार आपका, घर आपका, धन आपका, जमीन आपकी। यह ही सच्ची बात है, क्योंकि जब जन्मे थे, नंग-धड़ंग आये थे। एक धागा भी पासमें नहीं था और मरेंगे तो यह लाश भी यहीं पड़ी रहेगी। लाशको भी साथ नहीं ले जा सकते, तो धन-सम्पत्ति, वैभव-परिवार साथमें ले जा सकेंगे क्या ?

साथमें लाये नहीं, साथमें ले जा सकते नहीं और यहाँ रहते हुए भी इन सबको अपने मन-मुताबिक बना सकते नहीं। आपका प्रत्यक्ष अनुभव है कि आपके लड़के-लड़की आपका कहना नहीं मानते, स्त्रियाँ नहीं मानतीं, कुटुम्बी-जन नहीं मानते। तो सिद्ध हुआ कि आप इनको अपने मन-मुताबिक नहीं बना सकते और जितने दिन चाहें साथमें रख नहीं सकते, बदल नहीं सकते। स्वभाव बदल दें या रंग बदल दें— यह आपके हाथकी बात नहीं। फिर भी इनको कहते हैं—'मेरी चीजें'। ये 'मेरे' कैसे हुए, बताइये ? अतः मानना ही होगा कि ये सब मेरे नहीं हैं; भगवान्‌के दिये हुए हैं और भगवान्‌के हैं।

जैसे, आपको और हमें सत्संग करनेके लिये यह मकान दिया गया है। अब, यदि हम इसपर कब्जा कर लें—यह तख्त हमारा, बिछौना भी हमारा, माइक भी हमारा; क्योंकि हम इस तख्तेपर बैठे थे, इस माइकपर बोले थे। तो यह बेईमानी हुई या नहीं ? इसी तरह भगवान्‌ने हमें धन, सम्पत्ति, वैभव, कुटुम्ब आदि सेवा करनेके लिये दिये हैं। अच्छी तरह प्रबन्ध करो। सबको सुख पहुँचाओ। पर आप मालिक बनकर बैठ गये। क्या यह मालकियत सदा रहेगी ? ये अपने साथ सदा रहेंगे ? क्या हम इनके साथ रह सकेंगे ? क्या इनको अपने मन-मुताबिक बदल लेंगे ? क्या इनपर हमारा कुछ भी वश चलता है ? नहीं चलता। फिर भी हम इन्हें 'हमारे' कहते हैं।

वस्तुओंके साथ केवल 'अपनेपन' की मान्यता है। 'अपनापन' वास्तवमें है नहीं। केवल माना हुआ है। प्रभुके साथ 'अपनापन' वास्तवमें है, निश्चित है, केवल उनको भूले हुए हैं। प्रभु अपने होते हुए भी, हम उनको भूल गये, उनसे विमुख हो गये और संसार कभी अपना हुआ नहीं, हो सकता नहीं। उसको हमने अपना मान लिया। इसीलिये यहाँ लौटकर आना पड़ता है। अगर इनको आप अपना नहीं मानते तो आप यहाँ वापस नहीं आते। यहाँ लोग भिन्न-भिन्न जगहों, शहरोंसे आये हैं। सत्संगकी समाप्तिके बाद यहाँ कौन आयेगा ? जिसकी कोई चीज यहाँ रह जायगी, वही आयेगा। जिसकी कोई वस्तु यहाँ नहीं छूटेगी, वह क्यों आयेगा ? यदि संसारकी चीजोंको आप अपना मानेंगे, तो ये चीजें तो आपके साथ रहेंगी नहीं, लेकिन आपने इनके साथ जो 'अपनापन'कर लिया है, वह आप जबतक छोड़ोगे नहीं, तबतक छूटेगा नहीं। आप छोड़ दो तो यह अपनापन इस शरीरकी जीवित अवस्थामें ही छूट जायगा। जैसे, कोई साधु हो गया। साधु होनेके बाद गृहस्थाश्रमसे कोई 'अपनापन' नहीं रहता। अब यदि अपने कुटुम्बके स्त्री, पुत्र, भाई आदि सभी सदस्य एक साथ मर जायँ तो भी उस साधुको चिन्ता नहीं होती। अगर चिन्ता होती है, तो असली साधु हुआ नहीं, अभी सम्बन्ध जोड़ा हुआ है। असली साधु है, त्यागी है, तो घरवाले सब-के-सब चौपट हो जायँ तो भी कोई चिन्ता नहीं होती। कारण कि यह दृढ़ता है कि हम उनके नहीं, वे हमारे नहीं।

संसारकी सभी चीजोंको भगवान्‌की मानें। अब भगवान्‌का काम करो। चिन्ता, भय कुछ नहीं रहेगा—

'तुम्हहि निबेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥'

(मानस, अयोध्या० १२९।२)

भोजन नहीं, ठाकुरजीके भोग लगाया हुआ प्रसाद पावें। गहने, कपड़े कुछ भी धारण करें, तो प्रभुका प्रसाद मानकर

धारण करें। प्रभुके प्रसादका बड़ा माहात्म्य है। अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। ममता, आसक्ति सब मिट जाती है। ठाकुरजीके आप थोड़ा-सा पेड़ा या बतासा भोग लगा दें, वह परम पवित्र हो जाता है। लखपति और करोड़पति भी आपके हाथसे वह प्रसाद-कण लेना चाहेंगे और बड़े प्रसन्न होंगे। क्या वे मिठाईके भूखे हैं ? नहीं। वे ठाकुरजीका प्रसाद लेते हैं। क्योंकि अब वह ठाकुरजीका पवित्र प्रसाद हो गया। क्यों ? क्योंकि अब आपकी उसमें ममता नहीं रही। चाहे आप ही बाँटें; लेकिन वह आपका नहीं, ठाकुरजीका है।

आप, भाई-बहन कृपा करो ! अभी अपनी सभी चीजोंको भगवान्‌की मान लो। हृदयसे मान लो कि हे नाथ ! यह सब कुछ आपका है। गहना, कपड़ा, भोजन, मकान आदि सब कुछ प्रभुका प्रसाद है। अब भगवान्‌की मर्जी हो वहाँ रखो। हम लौटकर क्यों आयेंगे ? हमारी कहीं ममता नहीं। कोई हमारा है ही नहीं। ऐसे कृपा करके भगवान्‌को सब कुछ दे दो। वास्तवमें सब कुछ भगवान्‌का ही है। हमने उसको अपना माना है। केवल मान्यता छोड़नी है। महाराज रघुने विश्वजित्-याग किया। संसारपर विजय कर ले और बादमें सर्वस्व दान कर दे—यह विश्वजित्-याग होता है। सज्जनो ! आप और हम— सब विश्वजित्-याग कर सकते हैं। हृदयसे सब वस्तुओंको भगवान्‌के अर्पण कर दें। शरीरको भी अपना न मानें। कोई वस्तु हमारी है ही नहीं—हृदयसे यदि ऐसा भाव कर लें, तो विश्वजित्-यज्ञ हो जायगा और कहीं जाना भी नहीं पड़ेगा।

लोग कहते हैं कि भगवान्‌की मायासे हम मोहित हो गये। भगवान्‌की मायासे मोहित नहीं हुए; लेकिन भगवान्‌की मायाको अपना मान लिया, इसलिये मोहित हो गये हैं। भगवान्‌की माया किसीको मोहित करती ही नहीं। वह तो सबका काम सुचारुरूपसे चले, ऐसी सुविधा देती है, कृपा करती है। परन्तु आप मिली हुई वस्तुओंपर कब्जा कर लेते हो। उन्हें अपना मान लेते हो। सज्जनो ! ये आपकी हैं नहीं, थीं नहीं और रहेंगी भी नहीं। अभी भी निरन्तर इनका वियोग हो रहा है। ध्यान दें, जितने दिन आप-हम इन वस्तुओंको अपना मानकर जी गये, उतना इनसे वियोग हो गया। यदि कोई चीज हमारे पास पचास वर्ष रहनेवाली है और दस वर्ष बीत गये, तो अब वह चीज पचास वर्ष हमारे पास रहेगी ? अब तो चालीस वर्ष ही रहेगी। इसलिये वियोग तो निरन्तर हो ही रहा है। जिस वस्तुको आप अपनी मानते हैं, वह आपसे प्रतिक्षण अलग हो रही है। पहले अलग थी, बादमें अलग रहेगी और अभी वर्तमानमें भी अलग हो रही है। वस्तु कभी नहीं कहती कि 'तुम मेरे हो और मैं तुम्हारी हूँ।' आप कहते हैं कि यह मेरी है। अतः आपको लौटकर आना होता है। घरने आपको मेरा नहीं कहा, वस्तुओंने आपको मेरा नहीं कहा और सच्ची पूछो तो कुटुम्बीजन भी आप जबतक जीते हैं, तभीतक मेरा-मेरा कहते हैं। प्राण निकलनेपर जलाकर भस्म कर देंगे, फूँक देंगे—

स्वास थकां सब आस करै, स्वास गया अब काढ़ो रे काढ़ो।
धरती को धन्न बताय दियो, अब नाख सनेती में बाँधो रे गाढ़ो॥
अड़ोस-पड़ोस के आप खड़े सब, कोऊ न कहवत राखो रे ठाढ़ो।
ठेट मसाण पौंचाय दियो अब, रह गयी जान चल्यो गयो लाडो॥

फिर भी कहते हैं—यह मेरा !यह मेरा ! आपका क्या है ? शरीर भी यहीं पड़ा रह जायगा। भाइयो, बहनो ! कृपा करो और हृदयसे कह दो कि यह सब कुछ भगवान्‌का है।

कुछ लोग कहते हैं कि ममता छूटती नहीं। आपकी छोड़नेकी सच्ची नीयत हो जाय तो भगवान् छुड़ा देंगे। उनको पुकारें कि हे नाथ ! मैं इन वस्तुओंको अपना मानना चाहता नहीं। तो भगवान् कहेंगे कि बहुत ठीक है और ममता छूट जायगी। परन्तु हृदयसे छोड़नेकी नीयत हो तब। यदि छोड़ना चाहते ही नहीं, तो मरनेपर भी नहीं छूटेगी। भूत-प्रेत बनना पड़ेगा। वही पोशाक धारण किये उसी घरमें आता है, लोगोंको दीखता है। भूत-प्रेत बन जानेपर भी ममता छूटेगी नहीं। इसलिये आपने जो सांसारिक वस्तुओंमें 'अपनापन' कर लिया है, यह संसारमें लौटकर आनेका खास कारण है। यही बहुत बड़ी गलती है।

यह सब संसार परमात्माका है और मान लिया अपना—यह बेईमानी है, ईमानदारी नहीं है। भाइयो, बहनो, माताओ ! आप मानो तो सही। आप अपनी कही जानेवाली सब चीजोंको भगवान्‌की मानकर चलो तो वे सब भगवान्‌का प्रसाद हो जायँगी। फिर मस्त हो जाओ कि हम ठाकुरजीके प्रसाद पाते हैं। हमारे समान कौन बड़भागी है ? चीज चली जाय तो ठाकुरजीकी चीज चली गयी। अपनी मानेंगे ही नहीं। हाँ, रक्षा ठीक तरहसे करेंगे। अब बोलो मरनेमें भी मौज रहेगी कि नहीं। कबीरदासजी कहते हैं—

सब जग डरपे मरण से, मेरे मरण आनन्द।
कब मरिये कब भेंटिये, पूरण परमानन्द॥

'मेरे मरनेमें आनन्द है, क्योंकि अपने प्यारे प्रभुसे मिलेंगे।' अपने घर जायँगे। भगवान् हमारा घर है, देश है, परिवार है। हमारे वे हैं, हम उन्हींके अंश हैं। उन्हींकी जातिके हैं। उन्हींके सम्बन्धी हैं। आप और हम—सब भगवान्‌के हैं। यह देश, अपना देश नहीं है—

इण आँगणि—ये हे सखि, हम खेलण आये।
कई खेल्या कई खेल सी, कई खेल सिधाये॥

यह तो खेलनेका एक रंगमंच है, स्टेज है। इसपर खेलना है, बस। खेलकी चीजोंको 'अपना' मान लेते हैं, यह गलती है।

आज लोग कहते हैं कि अशान्ति है, दुःख है, सन्ताप है—क्या करें ? भैया ! आपने भगवान्‌की वस्तुको अपना मानकर जो बेईमानी की है, उसका दुःख तो भोगना पड़ेगा ही। इन चीजोंको अपना माना है, इस वास्ते अशान्ति है। जहाँ 'अपनापन' छोड़ा वहीं शान्ति—

'निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥'

(गीता २।७१)

बहनो, माताओ ! आप घरमें रहते हुए कहो कि आजसे काम मैं करूँगी। आराम सबको दो। आपकी सास, ननद, देवरानी, जेठानी जो भी घरके सदस्य हों—उनका काम आप करो। सासको चाहिये कि बहूसे कहे—'बेटा ! ठहरो, काम मैं करूँगी। बहू कहे—राम !राम !! ऐसा कैसे होगा ? हमारे रहते, आप बूढ़े-बड़ेरे काम करेंगे ? तो सास बोले—'बेटा ! मैं जीऊँ, तबतक तो मुझे करना ही चाहिये।' बहू कहे—माजी ! आप काम करें और मैं बैठी रहूँ ? यह कैसे हो सकता है। आप चली जायँगी तो हम किसको काम करके दिखायेंगे ? इसलिये काम तो हम करेंगी।' इस तरह काम करनेके लिये लड़ाई हो जाय घरोंमें। देवराणी कहे कि मैं करूँगी। जेठाणी कहे कि मैं करूँगी। सुख, आराम, प्रशंसा उनके लिये और घरका काम, परिश्रम अपने लिये। फिर संसारमें आना नहीं होगा। अपना कुछ माना नहीं और सबकी सेवा कर दी। अब क्यों आयेंगे यहाँ ?

घरमें काम करो। सेवा करो। सुख पहुँचाओ। अभिमान मत करो। ममता मत करो। ममता आपकी चलेगी नहीं। आजसे सौ वर्ष पहले इन कुटुम्बियों और इन घरोंपर अपनी ममता थी क्या ? सौ वर्षों बाद रहेगी ? नहीं रहेगी। अभी भी निरन्तर मिट रही है। जितने दिन बीत गये, उतनी सब चीजें अलग हो गयीं। उमर पूरी हो जायगी तो राम-नाम सत्य है—बोल जायगी। तो चीजें आपकी कैसे हुईं ? पहले आपकी नहीं, पीछे आपकी नहीं, तो बीचमें आपकी कैसे हुईं ? हर पल आपसे बिछुड़ रही है। इन वस्तुओंके द्वारा सबकी सेवा करो। आदर करो। सबको मान दो। घरमें रहते हुए निहाल हो जाओ।

जो संसारमें अपनापन (वासना) करेगा तो वह लौटकर नहीं आयेगा, तो कहाँ जायगा—

वासना यस्य यत्र स्यात् स तं स्वप्नेषु पश्यति।
स्वप्नवन्मरणे ज्ञेयं वासना तु वपुर्नृणाम्॥

जिसकी जहाँ वासना है, स्वप्नमें भी उसको वही याद आता है। स्वप्नकी तरह, मरनेपर भी वही याद आता है; क्योंकि वासना ही उसका शरीर है। किसीमें वासना ही नहीं रही तो यह (जीव) लौटकर संसारमें क्यों आयेगा ? अगर वासना रह गयी— थोड़ी धनमें, थोड़ी घरमें, थोड़ी पुत्रोंमें, तो यहाँ वापस आना पड़ेगा। यदि हमारा सम्बन्ध यहाँ किसीसे नहीं है, केवल भगवान्‌के साथ है। जीते रहें तो भगवान्‌के साथ और मरें तो भगवान्‌के साथ। तो हम भगवान्‌के पास ही जावेंगे। फिर यहाँ नहीं आना पड़ेगा।

एक राजकुँअर थे। स्कूलमें पढ़नेके लिये जाते थे। वहाँ प्रजाके बालक भी पढ़ने जाते थे। उनमेंसे पाँच-सात बालक राजकुँअरके मित्र हो गये। वे मित्र बोले—'आप राजकुँअर हो, राजगद्दीके मालिक हो। आज आप प्रेम और स्नेह करते हो, लेकिन राजगद्दी मिलनेपर ऐसा ही प्रेम निभायेंगे, तब हम समझेंगे कि मित्रता है, नहीं तो क्या है ?' राजकुँअर बोले कि अच्छी बात है। समय बीतता गया। सब बड़े हो गये। राजकुँअरको राजगद्दी मिल गयी। एक-दो वर्षमें राज्य अच्छी प्रकार जम गया। राजकुँअरने अपने मित्रोंमेंसे एकको बुलाया और कहा कि तुम्हें याद है कि तुमने कहा था—'राजा बननेके बाद मित्रता निबाहो, तब समझें।' 'अब तुम्हें तीन दिनके लिये राज्य दिया जाता है। आप राजगद्दीपर बैठो और राज्य करो।' वह बोला—'अन्नदाता ! वह तो बचपनकी बात थी। मैं राज्य नहीं चाहता।' बहुत आग्रह करनेपर उस मित्रने तीन दिनके लिये राज्य स्वीकार कर लिया।

वह मित्र राजगद्दीपर बैठा और उस दिन खान-पान ऐश-आराममें मगन हो गया। दूसरे दिन सैर-सपाटा आदिमें लगा रहा। रात हुई तो बोला—'हम तो राजमहलमें जायँगे।' सब बड़ी मुश्किलमें पड़ गये। रानी बड़ी पतिव्रता थी। वह मित्र तो अड़ गया कि सब कुछ मेरा है, मैं राजा हूँ तो रानी भी मेरी है। रानीने अपने कुलगुरु ब्राह्मण देवतासे पुछवाया कि अब मैं क्या करूँ ? गुरुजी महाराजने कहा— बेटी ! तुम चिन्ता मत करो, हम सब ठीक कर देंगे। गुरुजीने उस तीन दिनके लिये राजा बने मित्रसे पूछा कि आप महलोंमें जाना चाहते हैं तो राजाकी भाँति जाना होगा। इसलिये आपका ठीक तरहसे शृङ्गार होगा। उन्होंने भृत्योंको बुलाया और आज्ञा दी— महाराजके महलोंमें जानेकी तैयारी करो, शृङ्गार करो। नाईको बुलाया और कहा कि महाराजकी हजामत करो ठीक

ढंगसे। ३-४ घन्टे हो गये, तब वह राजा बोला— ऐसे क्या देरी लगाते हो? तो नाई बोला—महाराज! राजाओंका मामला है, साधारण आदमीकी तरह हजामत कैसे होगी? हजामतमें लम्बी कर दी अर्थात् बहुत देर लगा दी। इसके बाद पोशाक पहनानेवाला आदमी आया। उसने बहुत देर पोशाक पहनानेमें लगा दी। उसके बाद इत्र-तेल-फुलेल आदि लगानेवाला आया। उसने देर लगायी। इस प्रकार शृङ्गार-शृङ्गारमें ही रात बीत गयी। अब सुबह हो गयी। अन्तिम दिन था। समय पूरा हो गया और राजगद्दी वापस राजा साहबको मिल गयी। राजा साहबने अब अपने दूसरे मित्रको बुलाया और आग्रहपूर्वक तीन दिनके लिये राज्य दे दिया और बोले कि मैं, मेरी स्त्री, मेरा घर—ये सब तो मेरे हैं। मैं भी आपकी प्रजा हूँ। बाकी सारा राज्य आपका है। वह मित्र तीन दिनके लिये राजा बन गया।

राज्य मिलते ही उस मित्रने पूछा कि मेरा कितना अधिकार है? मन्त्रीने जवाब दिया—'महाराज! सारी फौज, पलटन, खजाना और इतनी पृथ्वीपर आपका राज्य है।' उसने दस-बीस योग्य अधिकारियोंको बुलाकर कहा कि हमारे राज्यमें कहाँ-कहाँ, क्या-क्या चीजकी कमी है, किसके क्या-क्या तकलीफें हैं— पता लगाकर मुझे बताओ। उन्होंने आकर खबर दी—फलाँ-फलाँ गाँवमें पानीकी तकलीफ है, कुआँ नहीं है, धर्मशाला नहीं है, पाठशाला नहीं है। उस राजाने हुक्म दिया कि सब गाँवोंमें जहाँ जो कमी है, तीन दिनमें पूरी हो जानी चाहिये। खजाञ्चीको कह दिया कि मकान, धर्मशाला, पाठशाला, कुएँ आदि बनानेमें जो भी खर्च हो, वह तुरन्त दिया जाय। राजाका हुक्म होते ही अनेक लोग राजाज्ञाके पालनमें लग गये। तीन दिन पूरे होते-होते विभिन्न स्थानोंसे समाचार आने लगे कि इतना-इतना काम हो गया है और इतना बाकी रहा है। जल्दी पूरा करनेका आदेश देकर, उस मित्रने राज्य वापस राजाको दे दिया। राजा बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि हम तुम्हें जाने नहीं देंगे। हमारा मन्त्री बनायेंगे। हमें राज्य मिला, लेकिन हमने प्रजाका इतना ध्यान नहीं रखा, जितना आपने तीन दिनमें रखा है। अब राजा तो नाम-मात्रके रहे और वह मित्र सदाके लिये, उनका विश्वासपात्र मन्त्री बन गया।

इसी प्रकार हमें बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था—ऐसे तीन दिनके लिये भगवान्‌की तरफसे राज्य मिला है। अब जो रुपया-संग्रह और भोग भोगनेमें लगे हैं, उनकी तो हजामत हो रही है और जो दूसरे मित्रकी तरह सेवा कर रहे हैं, उनको भगवान् कहते हैं—

'मैं तो हूँ भगतन को दास, भगत मेरे मुकुट मणि ॥'

तो भाई हमारे पास जो भी धन, सम्पत्ति, वैभव आदि है, उसके द्वारा सबका प्रबन्ध करो, सबकी सेवा करो। यह राज्य तीन दिनके लिये मिला है। अब निर्णय अपनेको करना है कि हजामतमें समय खोना है या भगवान्‌का विश्वासपात्र बनना है, लक्ष्मीजी हमारी माँ हैं। भगवान् हमारे पिता हैं। निर्वाहके लिये लक्ष्मी माँसे ले लो; लेकिन लक्ष्मीजीको भोगना चाहते हैं, स्त्री बनाना चाहते हैं—यह पाप है। वह हमारी पूजनीया माँ है। सेवाभाव होगा तो माँ भी खुश होंगी और पिताजी भी खुश होंगे। फिर हमें संसारमें लौटनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी। पिताजीके धाममें हमारा सदा निवास होगा। हम वहाँके रहनेवाले हैं, यहाँ क्यों आयेंगे? हमारा यह लोक है ही नहीं; यह तो जीवलोक है। हमारा लोक तो हमारे प्रभुका धाम है। हम तो उसी लोकके हैं। कबीर साहेब कहते हैं—

मैं तो पूरबियो पूरब देश रो, म्हारी बोली लखै न कोय।
म्हारी बोली जो लखै, धर पूरबलो होय॥

मैं तो पूरब देशका, मेरी भाषा यहाँ कोई नहीं समझता। यहाँ सब पश्चिम देशके लोग हैं। मेरी बोली वही समझ सकता है, जो ठेठ पूरब देशका रहनेवाला हो।

मैं भगवान्‌का हूँ। केवल भगवान् ही मेरे हैं। सब चीजें भगवान्‌की हैं। मेरा कुछ नहीं है। ये बातें जो ठीक-ठीक समझ लेता है, उसको मरनेके बाद यहाँ लौटकर नहीं आना पड़ता; लेकिन जो संसारमें ममता रखता है और मर जाता है, तो उसे लौटना ही पड़ता है।

★

श्रीमद्भगवद्गीता और भगवत्प्रेम

श्रीमद्भगवद्गीताकी महिमा बहुत विचित्र है, बड़ी ही विलक्षण है। उसके विषयमें मैं क्या कहूँ, मेरी वाणी इस विषयके वर्णनमें असमर्थ है। हमारे पास कोई ऐसे शब्द नहीं हैं, जिनसे हम गीताकी महिमा गा सकें। गीतामें इतने भाव भरे हुए हैं कि जिनका कोई पारावार नहीं है। एक मनुष्य जो कि माप और तौलमें आता है, उसके भी इतने गहरे भाव होते हैं कि उनका कोई जल्दी अन्त नहीं पा सकता। फिर भगवान्‌की तो बात ही क्या है—

हरि अनंत हरि कथा अनंता। .... ॥

(मानस, बाल० १४०।५)

भगवान् अनन्त, भगवान्के नाम अनन्त, भगवान्के तत्त्वरहस्य अनन्त, फिर भगवान्के भावोंका अन्त कैसे आ सकता है? सज्जनो! भाइयो, बहनो!! यदि आप अपना कल्याण चाहते हैं तो गीताजीका जरूर अभ्यास करें। मामूली-से-मामूली आदमी हो, चाहे बड़ा-से-बड़ा पण्डित हो—हरेकको गीतामें नयी-नयी चीजें मिलेंगी। साधारण पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी भगवान्के आश्रित होकर गीता पढ़ेगा, इसमें गहरा गोता लगायेगा तो उसको बहुत-सी नयी-नयी बातें मिलेंगी। ये बातें केवल पुस्तकोंकी नहीं हैं; मेरी देखी हुई और अनुभव की हुई हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कामके पाँच स्थान माने गये हैं—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। (४।४०)
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। (३।३४)
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते। (२।५९)

इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, इन्द्रियोंके विषय तथा 'स्वयं' प्रकृतिके अंगके साथ सम्बन्ध मानकर जो 'मैं', 'मैं' करता है, 'स्वयंके' उस जड़ अंशमें काम रहता है। परमात्माके चिद् अंशमें काम नहीं रहता। काम जबतक इन्द्रियोंमें, अन्तःकरणमें तथा विषयोंमें रहता है, तबतक इससे विमुख होना कठिन है, इसलिये अन्तःकरणकी शुद्धिकी जरूरत है। लेकिन करणकी शुद्धि क्रियाकी शुद्धिमें हेतु होती है, करण निरपेक्ष-तत्त्वमें नहीं। करण संसारमें चलता है, परमात्मामें नहीं। करण-शुद्धिसे संसारका राग मिट जाता है तो तत्त्वका अनुभव होनेमें बड़ी सुगमता होती है।

उस तत्त्वको हम मन या बुद्धिके द्वारा नहीं पकड़ सकते—

'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥'

इदंतासे जिस परमात्मतत्त्वकी उपासना होती है वह परमात्मतत्त्व पकड़में नहीं आता अर्थात् परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें मन, बुद्धि, इन्द्रियादि करण नहीं बनते, ये तो असत्के त्यागमें हेतु हो सकते हैं। इसलिये इनकी शुद्धि तो आवश्यक है, लेकिन इनके द्वारा परमात्मतत्त्वको पकड़ना असम्भव है। जब ये करण कर्तातक भी नहीं पहुँच पाते तो कर्तृत्वरहित तत्त्वतक कैसे पहुँच जायेंगे? जहाँ मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि नहीं पहुँच सकते— ऐसा वह विलक्षण तत्त्व है।

उस तत्त्वकी प्राप्तिके लिये गीता एक विलक्षण बात बताती है। संसारमें मनुष्योंका जो आकर्षण है, उसको 'प्रेम' कहा गया है। यह नियम है कि काम घटते-घटते नष्ट हो जाता है और प्रेम कभी घटता नहीं, वरन् प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। भाइयो, बहनो! इस तरफ ध्यान दें, संसारमें कितना ही राग हो, काम हो—वह तो घटेगा ही। जैसे, स्त्री-पुरुषका आकर्षण होता है, वह कुछ नजदीक आते ही मिटने लगता है। साथमें रहते-रहते उससे ज्यादा मिटता है। मिटते-मिटते वह आकर्षण आगे चलकर द्वेषमें परिणत हो जाता है। वृद्धावस्थामें स्त्रीको पति सुहातातक नहीं। राजस्थानी भाषामें एक सन्त कहते हैं—

बेटा-बहू भूँडा बोले, डाकी तूं तो काँई डोलै।
पड्यो रह पोल के ओलै, काँई थारो काम है॥

इस तरहसे वह कुटुम्बियोंको बुरा लगने लगता है। मेरेको एक सज्जन मिले। वे कहते थे कि पहले जो स्त्री मेरे पीछे खिंची चली आती थी, स्नेह करती थी, वही अब मुझे मारने लगी है। ऐसी नौबत तो बहुत जगह बजती है।

आजकलके लड़के-लड़की अपने मनसे आपसमें सम्बन्ध जोड़ लेते हैं और कहते हैं कि हम आपसमें प्रेम करते हैं, परन्तु इस प्रकारका प्रेम तो कुत्ते-कुत्ती भी करते हैं। इसका नाम प्रेम नहीं, काम है। अपनी जाति छोड़कर दूसरी जातिमें जिन्होंने ब्याह किया है, उनके आपसमें लड़ाई हुई है, यह मैंने देखा है। जिन्होंने अपनी मन-मर्जीसे विधवा-विवाह किया है, उनके बीचमें घोर कलह हुई है— ऐसे उदाहरण मेरे देखे हुए हैं। कहनेका तात्पर्य है कि हम कामके वशीभूत होकर कर्म करते हैं तो वहाँ द्वेष एवं कलह होगी ही।

भगवान् और भक्तके आपसमें कभी द्वेष या कलह नहीं होते। उनमें प्रेमकी कलह तो होती है, पर उसमें बड़ी विचित्रता, अलौकिकता होती है। रासपञ्चाध्यायीमें प्रसंग आता है कि भगवान् गोपियोंके इशारेपर सब काम करते हैं। भगवान् नाचते हैं तो गोपियोंमें कुछ घमण्ड आ जाता है। उस घमण्डको शान्त करनेके लिये और अपनापनको लेकर आये मनको बढ़ानेके लिये भगवान् वहाँ अन्तर्धान हो जाते हैं—

तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तर्धीयत॥

भगवान्के अन्तर्धान होनेसे उनका घमण्ड तो उतर जाता है और जो मान, प्रेम है, वह शुद्ध हो जाता है। तात्पर्य है कि प्रेमके साथ जो घमण्ड होता है, कामना होती है, अपनेमें कुछ भी अभिमान आता है, उसे दूर करनेके लिये ही भगवान् अन्तर्धान होनेकी लीला करते हैं, जिससे भक्तोंका प्रेम शुद्ध एवं निर्मल हो जाता है।

लोग कहते हैं कि भगवान्का प्रेम और संसारका राग—ये दोनों सहोदर हैं, साथके ही हैं। परन्तु ये दोनों साथके नहीं हैं इनमें बड़ा अन्तर है। स्त्रीमें जो राग, आसक्ति

होती है, वह पहले बढ़िया दीखती है। न मिलनेतक जो राग होता है, वह मिलनेपर उतना नहीं रहता और मिल जानेपर कुछ समय बाद हटनेकी मनमें आने लगती है। जो राग कम होते-होते मिट जाता है, दूर हो जाता है। वह मिटनेवाला है, वह रहनेवाला नहीं है। भगवान्‌का जो प्रेम है, वह कभी कम नहीं होता, सदा रहनेवाला है। अतः प्रेमी भक्त, भगवत्स्वरूप ही हो जाता है। वह कभी स्वप्नमें भी भगवान्‌से दूर हो नहीं सकता। वह प्रेम बढ़ता ही जाता है। प्रेममें पहले अभेद होता है, फिर अभिन्नता होती है। अभिन्नता होते हुए भी श्रीभगवान् और श्रीजी—ये दो हो जाते हैं। उनके बीचमें जो प्रेम होता है, उसको राग भी कहा है, अनुराग भी कहा है और महाराग भी कहा है। यह एक विलक्षण भाव है। इसके कहने और सुननेके सब लोग अधिकारी नहीं हैं। क्योंकि साधारण मनुष्य उसको सुनकर स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी आकर्षणके रूपमें देखेंगे और पापके भागी होंगे। जबतक विषयोंमें राग, आसक्ति तथा कामना है, तबतक मनुष्य भगवत्प्रेमका अधिकारी नहीं है। हाँ, ज्ञानके सब अधिकारी हो सकते हैं, परन्तु प्रेमके सब अधिकारी नहीं हैं।

प्रेमका विलक्षण तत्त्व है, जिसके वशमें भगवान् भी रहते हैं। प्रेमके भोक्ता भगवान् ही हैं, जीवमात्र भोग्य है—ऐसा वर्णन वैष्णव-शास्त्रोंमें आता है। प्रेमसे भगवान्‌को सुख मिलता है, उस सुखसे प्रेमी सुखी होता है। इसलिये उस भक्तिको ऊँचा माना गया है, जिसमें अद्वैत ज्ञानके बाद प्रेम होता है।

'भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्।'

भक्तोंने श्रीजी और भगवान्‌के प्रेमकी विलक्षणताका वर्णन किया है—

'मिले ही रहत, मानो कबहुँ मिले ना।'

सदा मिले रहते हैं, लेकिन ऐसा आकर्षण होता है, मानो पहले कभी मिले ही नहीं।

श्रीशंकराचार्यजी महाराज लिखते हैं—

'दिने दिने नवं नवं नमामि नन्दसम्भवम्।'

भगवान् दिन-प्रतिदिन नये ही दीखते हैं। मालूम होता है कि अभीतक, कभी उनके दर्शन हुए ही नहीं। अभी ही मिले हैं। अभी विलक्षण दर्शन हुए हैं। यह प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान है। हर क्षण बढ़ता ही रहता है।

संसारका आकर्षण घटता ही रहता है। संसारमें सुख होता ही नहीं; कभी हो सकता ही नहीं— यह अटल नियम है। मनुष्यका जहाँ कहीं भी आकर्षण हो—स्त्रीमें, पुरुषमें, भोजनमें, कपड़ोंमें, रुपयोंमें, मानमें, बड़ाईमें; उस आकर्षणका एक भभका दीखता है जोरदार। फिर घटते-घटते घट जाता है। फिर भभका दीखता है; फिर घटते-घटते घट जाता है और अन्तमें मिट जाता है। यह रह नहीं सकता। टिक नहीं सकता। भगवान्‌में प्रेम होनेपर कभी घटता नहीं, बल्कि बढ़ता ही जाता है। विलक्षण रीतिसे बढ़ता है। अलौकिक रीतिसे बढ़ता है।

भाई ! जबतक सांसारिक कामनाका त्याग नहीं करोगे, तबतक उस प्रेम-राज्यमें नहीं पहुँच सकोगे। सच्ची बात तो यह है कि संसारमें राग रहनेपर भी भगवान्‌का प्रेम नहीं छूटता अर्थात् संसारमें कितनी ही आसक्ति हो जाय, कितने ही भोग मिल जायँ, कितने ही रुपये मिल जायँ लेकिन परमात्माका आकर्षण नहीं मिटता। उधर भगवान्‌में प्रेम हो जाय तो संसारकी आसक्ति टिकती नहीं अर्थात् सर्वथा मिट जाती है। क्योंकि सांसारिक आसक्ति नाशवान् है और परमात्माका प्रेम अविनाशी है। भोगी-से-भोगी, लोभी-से-लोभी आदमीके मनमें भी यह भाव रहता है कि मैं जीता रहूँ, मेरेको सुख मिले, मैं और भी जान जाऊँ। 'मैं जीता रहूँ हमेशा'—यह सत्-स्वरूप परमात्माकी इच्छा है। 'मेरेको सुख मिले'—यह आनन्दकी इच्छा है। मैं विशेष जान जाऊँ'— यह चित्‌की इच्छा है। यह सच्चिदानन्द (सत्-चित्-आनन्द) की इच्छा चाहे कितने ही सांसारिक भोग मिल जायँ, इन्द्रासन-जैसा सुख मिल जाय तो भी मिटेगी नहीं।

यह प्राणी भगवान्‌की तरफ लग जाय तो इसमें इतनी विलक्षणता आ जाय कि अनन्त ब्रह्माण्डके रचयिता स्वयं श्रीभगवान् इसका आदर करने लगें—

'मैं तो हूँ सन्तन को दास, भगत मेरे मुकुटमणि।'

पहले मनुष्य भगवान्‌का भक्त बनता है, फिर भगवान् भक्तके भक्त बन जाते हैं, उनके दास हो जाते हैं।

जिन भोगोंके पीछे आप रात-दिन पड़े रहते हैं, उन भोगोंके त्यागके बिना आप जी नहीं सकते। इन भोगोंका त्याग करना ही पड़ेगा, क्योंकि भोग आपके सजातीय नहीं हैं। भोगोंसे जो थकावट होती है, वह नींदके बिना दूर नहीं हो सकती। कितना ही बड़ा भोगी हो, वह किसी भी भोगको आठ पहर लगातार नहीं भोग सकता। आप देख लो कोई करके। जिसके भोगकी ज्यादा इच्छा है, वह परीक्षा कर ले। जिसके रुपयोंकी इच्छा है—ऐसा अत्यधिक लोभी न रुपये खाता है, न खर्चता है, न दान-पुण्य करता है। करे कैसे ? बेचारा अत्यन्त लोभी जो है। उसको कह दिया जाय कि तुम्हारे सामने रुपयोंका ढेर लगा देते हैं। इस ढेरमेंसे तुम लगातार एक-एक रुपया उठाते चले जाओ। तुम जितना

रुपया गिन लोगे, वह तुम्हारा। वह एक-एक रुपया उठाता चला जाय, तो आठ पहर भी लगातार नहीं उठा सकेगा। थक जायगा, नींद आ जायगी अथवा कहेगा कि मैं भोजन करूँगा। अब बन्द करूँगा। इसपर भी उसे रोटी खानेके बाद तुरन्त कह दिया जाय कि अब बैठ जाओ और रुपये गिनना शुरू करो तो लगातार नहीं बैठ पायेगा। सोना चाहेगा। उकता जायगा। परन्तु भगवान्‌का नाम लेनेवाला उकतायेगा नहीं। यह खास बात है।

मारवाड़, राजस्थानमें एक गाँव है, पावणी नाड़ी। वहाँ एक तलाईके ऊपर एक खेजड़ी वृक्षकी डालियाँ (शाखाएँ) आयी हुई हैं। वहाँ एक सन्त रहते थे। बुढ़ापेमें साधु बने थे। उनके राम-नाम लेनेकी लगन लगी। नींद आती थी, तो वे उस खेजड़ीकी डालके ऊपर बैठ जाते और राम-नाम जपते। जब नींद आती तो पानीमें गिर पड़ते। इस तरह उन्होंने छः महीनेतक अपना हठ नहीं छोड़ा, तो नींदने मूर्तिमान् हो उनके सामने प्रकट होकर कहा—'दुष्ट ! मैं तेरे पास अब कभी नहीं आऊँगी।' उन्होंने कहा—बहुत अच्छी बात, पधारो।' तात्पर्य है कि भजनमें नींद नहीं सुहाती और भोगी नींदके बिना रह नहीं सकता। भोगीको तो भोगोंसे वियोग करना ही पड़ेगा। बिना भोगोंके वियोगके भोग भोगनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है। परन्तु भगवान्‌की भक्ति, प्रेम निरन्तर बढ़ते हैं।

भाइयो ! उस तरफ आप लगे नहीं हो। जब लग जाओगे, तब जानोगे—

पहलो तीर कबीरे लाग्यो दूजो सेना नाई।
नामदेव के ऐसी लागी, घायल करमा बाई।
जिसके लागी है सोइ जाने, दूजा क्या जाने रे भाई॥

घायलके घावमें कैसी पीड़ा होती है, उसको तो वह घायल ही जानता है। वह दूसरेको समझा नहीं सकता। एक आदमी एक साधुके पास गया और बोला—'आप इतने भजनानन्दी हो। आप हमें भगवान्‌का क्या रहस्य है ? भजनमें कैसा सुख है ? बताइये।' वे साधु बोले—'भैया ! तुम भजन करके देख लो, तो तुमको मालूम पड़ जायगा।' वह आदमी बोला— 'भजन करनेके लिये तो हमारे पास समय नहीं है, आप ही बतला दीजिये कि वह सुख कैसा है ?' वे साधु बोले—'अरे भाई ! ऐसा नहीं होता। सुख क्या दिखाऊँ ? क्या भैंसा है, जो दिखा दूँ कि वह खड़ा है देख लो। तुम भजन करो तो आनन्द मिलेगा।' उस आदमीने जिद किया कि आप बतला दें, तो हम भी लग जायँगे।.ऐसे ज्यादा जिद किया तो बाबाजीने एक पत्थर उठाकर उस आदमीके मार दिया। तो वह बोला—'बाबा, पत्थर क्यों मारते हैं ?' बाबाजी बोले—'अरे ! तुम्हें दिखाते हैं।' क्या दिखाते हैं ? वह बोला। 'दिखा नहीं सके तो मार-पीट करने लगे।' बाबाजी बोले—'क्या हुआ ?' वह बोला—'पीड़ा हो रही है, आपने पत्थर मारा।' साधुने पूछा—'पीड़ा कैसी होती है ? पीड़ा क्या होती है ? मुझे बताओ। मुझे दिखाओ। मैं कहता हूँ—पीड़ा नहीं होती। हमें बताओ पीड़ा क्या है ?' अब है किसीकी ताकत जो पीड़ा समझा दे, दिखा दे, बता दे ? हमारे जो दर्द होता है, वह दूसरेको नहीं समझा सकते, तो जो आत्मतत्त्व करण-निरपेक्ष है, जहाँ बुद्धि भी नहीं पहुँच सकती, उस तत्त्वको, उस आनन्दको कैसे बताया जा सकता है ? यह कोई खेल, तमाशा नहीं है।

भगवान्‌की तरफ हम चलेंगे, तब हमें भगवान्‌के रहस्यका पता चलेगा। मैंने पुस्तकें पढ़ी हैं। मेरेपर पुस्तकोंका असर पड़ा है। 'तत्त्व-चिन्तामणि' श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी लिखी हुई पुस्तक है। पहले 'कल्याण' पत्रिकामें हर महीने उनके लेख आते थे। मैं जानता नहीं था कि जयदयालजी कौन हैं ? क्या हैं ? कहाँ हैं ? उनके लेखोंके पढ़नेसे मेरेपर ऐसा असर पड़ा कि ये कोई विलक्षण जानकार पुरुष हैं। एक लेखमें ऐसा लिखा हुआ था कि जिनको अपना कल्याण करना हो, वह किसी तत्त्वज्ञ महापुरुषके पास चला जाय और उसके पास रहकर उसके कहे अनुसार साधन करे। साधन करते-करते कुछ अनुभव न हो तो भी पूछता रहे और साधनमें लगा रहे। वर्षोंतक लाभ न दीखे तो भी साधन छोड़े नहीं, साधन करता रहे, तो उसे लाभ होता है। यह मैंने पढ़ा। इस प्रकारके लेख हर माह आते। बादमें सूचना छपी कि इन लेखोंका संग्रह 'तत्त्व-चिन्तामणि' नामक पुस्तकके रूपमें छपेगा। तो मेरे मनमें उत्कण्ठा लगी कि कब ये लेख आवें और कब मैं पढ़ूँ ? परीक्षाके समय भी समय निकालकर, इस पुस्तकको बड़े शौकसे पढ़ता था। मैं जो आपसे बातें कहता हूँ, वे मैंने अच्छे-अच्छे सन्तोंसे सुनी हैं। अच्छी-अच्छी पुस्तकोंमें पढ़ी हैं। ये बातें बहुत बड़े-बड़े सन्तोंकी हैं। इनमें जो सार दीखे, वह आप ग्रहण करें। भूलें दीखें, वे मेरी समझकर छोड़ देवें। परन्तु आप करो, तब पता लगेगा; नहीं तो आप जान नहीं सकेंगे।

आजतकके इतिहासमें आप एक भी उदाहरण ऐसा नहीं बता सकते कि जिसकी भोगोंसे तृप्ति हो गयी हो। जब कि भगवान्‌को अनेक व्यक्ति प्राप्त होकर सदाके लिये तृप्त हो गये हैं—

'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।

(गीता ४।१०)

'ज्ञानरूप तपसे पवित्र बहुत-से भक्त मेरे भाव-(स्वरूप) को प्राप्त हो चुके हैं।'

बहुत-से भगवान्‌को प्राप्त हो गये हैं। यहाँ बहुवचनका प्रयोग हुआ है। भगवद्गीता सरलतासे उस 'तत्त्व' को समझाती है। संसारका काम करते हुए भगवान्‌की प्राप्ति हो सके—वह युक्ति गीतामें बतलायी गयी है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(९।२७)

'हे कुन्ती पुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।'

व्यवहार करते हुए, व्यापार करते हुए, घरका काम करते हुए—लगन परमात्माकी हो। यह सब भगवान्‌का काम है तथा भगवान्‌के लिये ही करता हूँ। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये करता हूँ। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये भोजन करता हूँ। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये जल पीता हूँ। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये सोता हूँ, अपने आरामके लिये नहीं सोयेंगे। हम अब अपने सुख भोगनेके लिये काम नहीं करेंगे। यह बात याद रहे तो आप जो कुछ भी करो, वह भजन हो जायगा। पाप, अन्याय, झूठ, कपट, बेईमानी, विश्वासघात आदि छोड़कर सरलभावसे भगवत्प्रीत्यर्थ कोई भी काम करें, उसी कामसे भगवत्प्राप्ति हो जाय। कितनी विलक्षण बात है। न साधुबाबाजी होना, न घर छोड़ना, न कहीं भागना, न कहीं जाना। यह व्यवहारमें परमार्थकी कला गीताने सिखायी है। कितनी विचित्र बात बतायी है।

मैं एक दिन गीताका पाठ कर रहा था तो मनमें आयी कि जो पराभक्ति ज्ञानके बाद मिलती है, वही पराभक्ति गीताके प्रचारसे मिल जाती है—

'भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥'

(गीता १८।६८)

जो दूसरोंको प्रेमपूर्वक गीता पढ़ायेगा, गीता सुनायेगा, उसको मेरी पराभक्ति प्राप्त हो जायगी अथवा मेरेमें पराभक्ति करके गीता सुनायेगा तो मेरेको प्राप्त हो जायगा। वह पराभक्ति कितनी विलक्षण है, जिसके विषयमें भगवान्‌ने अठारहवें अध्यायके ४९ से ५५ तक सात श्लोक कहे हैं। वह ज्ञानकी परानिष्ठा है। उसके लिये कितना एकान्तमें रहना पड़ता है, ध्यान-परायण होना पड़ता है—तब वह पराभक्ति मिलती है। वही पराभक्ति गीताके प्रचारसे मिल जाती है।

गीता, परिवर्तन नहीं, परिमार्जनके लिये कहती है। आप जो कुछ भी काम करते हैं, उसमें निषिद्धकर्मका त्याग कर दें तथा कर्मको केवल भगवान्‌की प्रीतिके लिये करें। भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार करें, तो संसारमें सुख मिलेगा और परमात्माकी प्राप्ति भी हो जायगी।

चोखा मेला एक भक्त हुए हैं, दक्षिणमें। वे जातिके चमार थे। कोई पशु मर जाता तो वे उसे खींचकर ले जाते थे। उनके शरीरमें बल कम था, इसलिये पशु खींचा नहीं जाता तो स्वयं भगवान् उनके साथ जोर लगाकर पशु खिंचवाते थे। तो ठाकुरजी मुरदे खींचनेके लिये भी साथ देते हैं। अब इससे छोटा काम आपके पास कौन-सा है? छोटे-से-छोटे काम, बड़े-से-बड़े काम, क्रूर-से-क्रूर काम—ऐसे कामको करते हुए भगवान् मिल सकते हैं; परन्तु आप उन कामोंको शुद्ध बनाओ। अन्याय नहीं, झूठ नहीं, कपट नहीं, बेईमानी नहीं, सच्चाईके साथ, सबकी हित-इच्छा रखते हुए, बड़े प्रेमसे, आदरसे काम करो, तो उसी कामसे भगवान् मिल जायँ।

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥'

(गीता १८।४६)

गीता अलौकिक ग्रन्थ है। इसका आप पठन-पाठन करो। मनन करो। गहरे भावोंको समझो। इसमें बहुत ही सुगम बातें सरलतासे समझायी गयी हैं। केवल आप सरल हृदयसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये लग जायँ, तो जो काम कर रहे हैं, उसीसे आपको परमात्माका प्रेम प्राप्त हो जाय। ऐसी विलक्षण बातें गीतामें लिखी हैं। अब क्या बतायें। गीताकी बातें कहते-कहते मेरेको तृप्ति नहीं होती। उनके अर्थ करें, तो तृप्ति नहीं होती और मुझे तो इतना आता नहीं। मेरा तो मामूली अभ्यास है, फिर भी नये-नये अर्थ मिलते हैं। नयी-नयी विचित्र बातें दीखती हैं। ऐसी भगवद्गीता है, उसका आप सब अध्ययन करें।

★

वास्तविक सुख

मनुष्य जबतक उत्पत्ति-विनाशशील सुखमें फँसा रहता है, तबतक उसको होश नहीं होता, ज्ञान नहीं होता। उसको यह विचार ही नहीं होता कि इससे कितने दिन काम चलायेंगे! जो उत्पन्न होता है, वह नष्ट होता ही है। जिसका संयोग होता है, उसका वियोग होता ही है। जो आता है, वह चला जाता है। जो पैदा होता है, वह मर जाता है। अब इनके साथ हम कितने दिन रहेंगे? अतः मनुष्यके लिये यह बहुत आवश्यक है कि वह ऐसे आनन्दको प्राप्त कर ले, जिसे प्राप्त करनेपर वह सदाके लिये सुखी हो जाय, उसको कभी किञ्चिन्मात्र भी कष्ट न हो।

हम देखते हैं कि बचपनसे लेकर अभीतक मैं वही हूँ। शरीर बदल गया, दृश्य बदल गया, परिस्थिति बदल गयी, देश, काल आदि सब कुछ बदल गया, पर मैं वही हूँ। बदलनेवालोंके साथ मैं कितने दिन रह सकता हूँ? इनसे मुझे कबतक सुख मिलेगा? इस बातपर विचार करनेकी योग्यता तथा अधिकार केवल मनुष्यको ही मिला है और मनुष्य ही इसको समझ सकता है। पशु-पक्षियोंमें इसको समझनेकी ताकत ही नहीं है। देवता आदि समझ तो सकते हैं, पर उनको भी वह अधिकार नहीं मिला है, जो कि मनुष्यको मिला हुआ है। मनुष्य खूब आगे बढ़ सकता है; क्योंकि मानव-शरीर मिला ही भगवत्प्राप्तिके लिये है। महान् आनन्द मिल जाय, सदा रहनेवाला सुख मिल जाय, उसमें कभी कमी आये ही नहीं—ऐसे सुखकी प्राप्तिके लिये यह मनुष्य-शरीर मिला है। सांसारिक तुच्छ सुख पानेके लिये मनुष्य-शरीर है ही नहीं। ऐसा सुख तो पशु-पक्षियोंको भी मिलता है। हवा चलती है, वर्षा बरसती है, धूप तपती है—ऐसी अनुकूलता-प्रतिकूलता तो पशु, पक्षी, वृक्ष आदिके सामने भी आती है। उनको भी सुख-दुःख होता है। खेती कुम्हला रही हो और एकदम वर्षा हो जाय तो दूसरे दिन देखो, पत्तियाँ बड़ी सुन्दर, हरी-भरी हो जायँगी; अतः उनको भी प्रसन्नता होती है। वर्षा न होनेसे खेती कुम्हला जाती है; अतः उनको भी दुःख होता है। इस प्रकार थोड़ा सुख और थोड़ा दुःख तो सभी प्राणियोंको होता रहता है। अगर हम भी उन्हींकी तरह सुखी-दुःखी होते रहेंगे तो महान् सुखको कौन प्राप्त करेगा।

महान् सुख है, इसमें सन्देह नहीं। जैसे, संसारमें एक-एकसे बड़ी वस्तु होती है, एक विद्वान् भी होता है तो उससे बड़ा विद्वान् भी होता है; एक लम्बी उम्रवाला होता है तो उससे लम्बी उम्रवाला भी होता है; एक बलवान् होता है तो उससे बड़ा बलवान् भी होता है। इस बड़प्पनकी कहीं-न-कहीं हद होगी। कोई सबसे बड़ा विद्वान् होगा, सबसे लम्बी उम्रवाला (अविनाशी) होगा, सबसे बड़ा बलवान् होगा; उसको ही ईश्वर कहते हैं। परमात्मा कहते हैं—

'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(पातञ्जलयोगदर्शन १।२६)

अर्थात् पहले जितने हो गये हैं, उन सबका वह ईश्वर गुरु है; क्योंकि कालसे भी उसका नाश नहीं होता। काल सबका भक्षण कर जाता है अर्थात् समय पाकर सब चीजें नष्ट हो जाती हैं। परंतु वह परमात्मा ऐसा है कि सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। उसीका अंश यह मनुष्य है। परन्तु यह अपने अंशी परमात्मासे विमुख होकर नाशवान्की ओर लग गया, इसलिये यह बार-बार दुःख पाता रहता है। इसको सुखका तो एक लोभ रहता है कि किसी तरह सुख मिल जाय, पर मिलता है प्रायः दुःख। पूरा सुख, पूरी अनुकूलता नहीं मिलती। कभी सुख, कभी दुःख; कभी अनुकूलता, कभी प्रतिकूलता; कभी मान, कभी अपमान; कभी निन्दा, कभी स्तुति—ये दोनों अवस्थाएँ आती-जाती रहती हैं और इन्हींमें मनुष्य फँसा रहता है। इन द्वन्द्वोंसे ऊँचा उठकर वास्तविक तत्त्वको प्राप्त करना है। इसीके लिये मानव-शरीर मिला है और इस मानव-शरीरसे ही उस तत्त्वको प्राप्त कर सकते हैं, इसमें संदेह नहीं। जैसे भूख लगती है तो खानेके लिये अन्न होता है, प्यास लगती है तो पीनेके लिये जल होता है, ऐसे ही अनन्त सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है तो ऐसा अनन्त सुख है। अगर अनन्त सुख न होता तो हमें जितना सुख मिला है, उसीसे हम तृप्त हो जाते; परंतु हम उससे तृप्त नहीं होते। जितना धन मिला है, जितना मान लिया है, जितना आदर मिला है, जितनी उम्र मिली है, उससे हम तृप्त नहीं होते, प्रत्युत 'और मिले, और मिले'—ऐसी इच्छा रहती है। अतः एक ऐसी स्थिति होती है, जिसके मिलनेके बाद फिर और मिलनेकी इच्छा नहीं रहती।

गीतामें कहा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(६।२२)

अर्थात् जिस लाभकी प्राप्ति होनेके बाद फिर कोई और लाभ मिल जाय, यह इच्छा रहती ही नहीं; सदाके लिये तृप्ति हो जाती है। कभी किसी बातकी किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं रहती। जिसमें न अन्नकी, न जलकी, न मानकी, न बड़ाईकी, न आरामकी, न भोगकी ही इच्छा रहती है, ऐसी तृप्ति ऐसा एक आनन्द हमारेको मिल सकता है। उसकी

प्राप्तिके लिये ही मानव-शरीर मिला है। जबतक उसकी प्राप्तिका उद्देश्य नहीं बनता, तबतक मनुष्यको ठीक तरहसे होश नहीं आता। वह उद्देश्य बनेगा, तभी ये पारमार्थिक बातें समझमें आयेंगी। अतः पूरा लाभ तभी होगा, जब उस लाभके लिये हम लग जायँ। इसके लिये सबसे पहले यह विश्वास होना चाहिये कि ऐसा कोई लाभ है, जो प्रत्येक मनुष्यको मिल सकता है। उसकी प्राप्ति इस मनुष्य-जीवनमें हो सकती है, यह एकदम सच्ची बात है। कारण कि जितने बड़े-बड़े ऋषि हुए हैं, महात्मा हुए हैं, तपस्वी हुए हैं, त्यागी हुए हैं, जीवन्मुक्त हुए हैं, भगवान्‌के प्रेमी भक्त हुए हैं, उन सबको उस लाभकी प्राप्ति हुई है। जब मनुष्यमात्र उस तत्त्वको प्राप्त कर सकता है तो फिर हम क्यों नहीं कर सकते? अगर आप उसकी प्राप्तिका लक्ष्य बना लें, तो फिर आपको दूसरी बातें बतायें। तब उन बातोंको आप जरूर समझ लोगे और आगे बढ़ जाओगे, इसमें संदेह नहीं है।

आप ऐसा विचार न करें कि हम तो गृहस्थ हैं, हम तो कुटुम्बमें फँसे हुए हैं, हम उस तत्त्वको कैसे प्राप्त करेंगे आदि। मेरी धारणामें आप ऐसे अयोग्य नहीं हैं, अपात्र नहीं हैं, अनधिकारी नहीं हैं कि उस तत्त्वको प्राप्त नहीं कर सकते। मनुष्यमात्र उस तत्त्वको प्राप्त कर सकता है। मेरेको ऐसी-ऐसी अलौकिक युक्तियाँ सन्तोंसे मिली हैं, जिनसे मनुष्यमात्र अपना उद्धार कर सकता है, इसमें किञ्चिन्मात्र भी संदेह नहीं है। केवल आपको उधर दृष्टि डालनी है कि ऐसा एक तत्त्व है।

आप थोड़े-से सुखमें, थोड़े-से लाभमें अटक जाते हो—यही गलती है। कारण कि उससे पूर्णता तो होती नहीं, दुःख पाते रहते हैं और उससे सर्वथा ऊपर उठनेका विचार ही नहीं रहता। थोड़े-से लोभमें फँसकर महान् लाभसे वंचित रह जाते हैं, यही गलती है। इस गलतीको सुधार ले। उस महान् लाभकी भूख लगे तो इतनी तेजीसे लगे कि उसकी पूर्तिके बिना चैन न पड़े, तब उसकी प्राप्ति हो सकती है। परंतु जबतक उसका उद्देश्य नहीं होगा, तबतक बतानेपर भी विशेषतासे पकड़ नहीं सकोगे। निःसंदिग्धरूपसे आपको जँचेगी भी नहीं; क्योंकि वास्तवमें उस तरफ दृष्टि ही नहीं, तो फिर जँचेगी कैसे?

यह बात तो आप सब-के-सब जानते ही हैं कि जो परिस्थिति मिली है उससे संतोष नहीं होता और उससे पूर्णता भी नहीं होती। जितना धन मिला है, उस धनसे पूर्णता नहीं होती, प्रत्युत और धन मिले—यह इच्छा रहती है। जितना मान, आदर, सत्कार, बड़ाई मिली है, जितनी नीरोगता मिली है, उससे पूरा संतोष नहीं; 'और मिले'—यह इच्छा रहती है। इस तरह कमीका अनुभव सब करते हैं। जब कमी है, तो ऐसी भी कोई चीज अवश्य है, जिससे उसकी पूर्ति होती है, बिलकुल कमी रहे ही नहीं—ऐसी सबकी स्थिति हो सकती है, होती है और अनेकोंकी हुई है, तो फिर हमारी क्यों नहीं होगी? हम भी उस तत्त्वको प्राप्त कर सकते हैं, बिलकुल सच्ची बात है। केवल हमारा विचार हो जाय कि हम उस तत्त्वको कैसे प्राप्त करें? केवल तीव्र अभिलाषा हो जाय कि हमें वह तत्त्व कैसे मिले?

प्रायः लोगोंने मान रखा है कि उस तत्त्वकी प्राप्तिके लिये बड़ा उद्योग करना पड़ता है; जंगलमें जाकर रहना पड़ता है, तपस्या करनी पड़ती है, बड़े कष्ट सहने पड़ते हैं, तब कहीं वह तत्त्व मिलता है। ऐसी एक धारणा बनी हुई है। मेरी भी ऐसी धारणा रही है। परंतु वास्तवमें बात ऐसी नहीं है। जितने भी संसारके काम हैं, उन सबसे यह काम सुगम है। जो सब कुछ छोड़कर साधु बन जाये, वह उस तत्त्वको प्राप्त कर ले—ऐसी बात भी नहीं है। गृहस्थ उस तत्त्वको प्राप्त नहीं कर सकता—यह बात भी नहीं है। पढ़ा-लिखा प्राप्त कर सकता है, अनपढ़ नहीं कर सकता—यह बात भी नहीं है। बहुत बलवान् होगा, तितिक्षु होगा, सहिष्णु होगा, वही प्राप्त कर सकता है, दूसरा नहीं कर सकता—ऐसी बात भी नहीं है। कहनेका भाव यह है कि हम सब-के-सब उस तत्त्वको प्राप्त करनेके पूरे अधिकारी हैं। केवल एक ही लक्ष्य हो जाय कि हमें तो उस तत्त्वकी प्राप्ति करनी है। उसकी प्राप्तिके लिये ही सब सामग्री मिली हुई है। आवश्यकता होगी तो और सामग्री मिल जायगी—परमात्माके यहाँ यह एक विलक्षण कायदा है। जैसे, आदमी बोलते-बोलते थक जाता है तो वह चुप हो जाता है और चुप होनेपर उसमें पुनः बोलनेकी शक्ति आ जाती है। चलते-चलते थक जाता है तो थोड़ी देर विश्राम करनेसे उसमें पुनः चलनेकी शक्ति आ जाती है। दिनभर काम करते-करते थककर रातमें सो जाता है तो सुबह पुनः ताजगी आ जाती है। तात्पर्य है कि मनुष्य जिस-किसी कामको करता है, उसमें थकावट होनेपर बिना परिश्रमके, मुफ्तमें सामर्थ्य मिलती है। यह हम सबका अनुभव है। आप बताओ कि दिनभर काम करनेसे थक जाते हो तो रातमें कौन-सा परिश्रम करते हो कि जिससे सुबह शक्ति मिलती है? चुपचाप पड़े रहनेसे ही शक्ति मिल जाती है। जितनी गाढ़ नींद आयेगी, उतनी शक्ति मिलेगी। वह शक्ति परमात्माकी है। परंतु थोड़ी शक्तिमें संतोष न करें, उसमें फँसे नहीं तो महान् शक्ति मिल सकती है। वह महान् शक्ति, वह परमात्म-तत्त्व आपको, हमको, सबको मिल सकता है। वह तत्त्व पहले जमानेमें जैसे

मिलता था, उससे तो अभी बहुत सस्ता है। सत्य, त्रेता, द्वापरयुगमें उम्र भी ज्यादा होती थी, बुद्धि भी तेज होती थी, सामर्थ्य भी अधिक होती थी, उनके लिये वह चीज कठिन थी। जैसे, बड़े आदमीको सब तरहकी अनुकूलता मिलनी कठिन होती है; परंतु बालकको सुगमतासे अनुकूलता मिल जाती है। माँ-बापको समयपर अन्न न मिले तो भी वे बालकके लिये प्रबन्ध कर ही देते हैं; क्योंकि वह असमर्थ है। इसी तरहसे हम जितने असमर्थ होते हैं, उतनी ही हमें परमात्माकी तरफसे सामर्थ्य मिलती है। इतना ही नहीं, हमारी सामर्थ्यसे भी बढ़कर हमें सुविधा मिलती है। जैसे, बालक जितना छोटा होता है, उतनी ही उसको ज्यादा सुविधा मिलती है।

हमारी चाहना, भीतरकी उत्कण्ठा, लालसा, अभिलाषा जोरदार जाग्रत् हो जाय। परंतु वह तब जाग्रत् होगी, जब हमें जो कुछ मिला है, उसमें हम संतोष न करें। कारण कि नाशवान् वस्तुसे हमारी कभी तृप्ति होगी नहीं। अगर नाशवान्‌से ऊँचे उठकर अविनाशी-तत्त्वको प्राप्त करनेकी तीव्र अभिलाषा जागृत हो जाय, तो वह प्राप्त हो जायगा।

★

मनुष्य-जीवनका उद्देश्य

एक बात खास ध्यान देनेकी है कि यह मानव-शरीर केवल अपना कल्याण करनेके लिये ही मिला है। धन कमाना और भोग भोगना—यह मनुष्य-शरीरका प्रयोजन है ही नहीं। भोग भोगना तो हरेक योनिमें होता है। देवताओंसे लेकर नरकोंमें पड़े हुए जन्तुओंतकके लिये भोग मिलते हैं। इन्द्रियोंसे होनेवाला सुख स्वर्गमें भी मिलता है और नरकोंमें भी। नरकोंमें, जहाँ बड़ी घोर यातनाएँ दी जाती हैं, उबलते हुए तेलमें डाल दिया जाता है, शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं, तो भी नरकोंमें रहनेवाला जीव मरता नहीं। जब उसे उबलते हुए तेलसे निकाला जाता है, उस समय उसे सुखका अनुभव होता है। शरीरके टुकड़े-टुकड़े करनेपर दुःख होता है; परंतु शरीर मिलनेपर एक सुख होता है। इस प्रकार इन्द्रियोंसे होनेवाला सुख तो नरकोंमें भी मिलता है, कुत्ते, गधे, सूअर आदिको भी सुख मिलता है। परंतु मनुष्य-शरीर सुख भोगनेके लिये, ऐश-आराम करनेके लिये है ही नहीं। दुःख भोगनेके लिये भी यह मनुष्य-शरीर नहीं है। सुखकी मुख्यता स्वर्गमें रहती है और दुःखकी मुख्यता नरकोंमें रहती है। मनुष्य-शरीरमें सुख और दुःख दोनों ही आते हैं। परंतु मनुष्य-शरीर सुख और दुःख—दोनोंसे ऊँचा उठकर अपना कल्याण करनेके लिये मिला है।

एक मार्मिक बात है। मनुष्यको जितनी सुख-सामग्री मिलती है, वह केवल दूसरोंका हित करनेके लिये मिलती है, और जितनी दुःख-सामग्री मिलती है, वह केवल सुख-बुद्धि हटानेके लिये मिलती है। ये दो बातें खूब सोचनेकी हैं। संसारका सुख क्या है? जिस वस्तुकी चाहना होती है, वह वस्तु मिल जाय तो उससे सुख होता है। जैसे, धनकी लालसा हो तो धन मिलनेसे सुख होगा। जोरदार भूख लगे तो भोजन मिलनेसे सुख होगा। जोरदार प्यास लगे तो जल मिलनेसे सुख होगा। इस प्रकार कामनाकी पूर्ति होनेसे एक सुख होता है। वह सुख कामनाके आधीन है। अगर जोरदार भूख न हो और भोजन बढ़िया मिल जाय तो सुख नहीं होगा। मनमें लोभ नहीं होगा तो धनके मिलनेसे सुख नहीं होगा। तात्पर्य है कि जिस चीजके न मिलनेका दुःख होगा, उस चीजके मिलनेसे ही सुख होगा, संसारके जितने संयोग हैं, उनमें पहले दुःख होगा, तभी उनसे सुख मिलेगा। अगर दुःख नहीं होगा, तो संसारके पदार्थ सुख नहीं देंगे। अतः उस सुखका कारण दुःख हुआ और उस सुखके बादमें भी दुःख जरूर होगा। जैसे, धन मिलनेसे सुख होता है और धन चला जाता है तो दुःख होता है। अनुकूल सामग्री मिले तो सुख होता है और वह नष्ट हो जाय तो दुःख होता है। सुख आता है तो अच्छा लगता है और जाता है तो बुरा लगता है। ऐसे ही दुःख आता है तो बुरा लगता है और जाता है तो अच्छा लगता है। अच्छा लगना और बुरा लगना दोनोंमें है। एक तरफ सुख और एक तरफ दुःख होता है, पर दोनोंको तौलकर देखा जाय तो कोई फर्क नहीं है!

साधारण मनुष्यकी बुद्धि आरम्भको तो देखती है, पर उसके अन्तको नहीं देखती। परंतु विचारवान् मनुष्य उसके अन्तको देखते हैं कि इसका नतीजा क्या होगा? नतीजा देखनेवाले तो विवेकी पुरुष होते हैं, पर जो नतीजा न देखकर आरम्भ देखते हैं, वे पशु होते हैं। जो रोगी आदमी जीभके थोड़े-से सुखके वशमें होकर कुपथ्य कर लेता है, तीन अंगुल जीभके वशमें होकर साढ़े तीन हाथ शरीरको बिगाड़ लेता है, वह विचारवान् पुरुष नहीं कहलाता। विचारवान् बुद्धिमान् वही कहलाता है, जो कुपथ्य न करे। विचारवान् मनुष्य ऐसा काम नहीं करेंगे, जिससे नरकोंमें जाना पड़े, चौरासी लाख योनियोंमें भटकना पड़े, बार-बार दुःख पाना पड़े। ऐसे कामके वे नजदीक ही नहीं जायेंगे। वे वही काम करेंगे, जिससे वे सदाके लिये सुखी हो जायँ।

मनुष्यमें विवेककी प्रधानता है। उस विवेकको महत्त्व देकर ही अपना उद्धार करना है। विवेककी प्रधानता नतीजेपर सोचनेमें है, तात्कालिक सोचनेमें नहीं। तात्कालिक दृष्टि तो पशुओंकी होती है कि जो सामने दीखता है, वही ठीक है, बस आगे क्या होगा, इसकी परवाह नहीं। अभी जो मिल जाय, ले लो, फिर नतीजा क्या होगा, कोई परवाह नहीं—ऐसे मनुष्योंमें और पशुओंमें क्या फर्क है ? मनुष्य तो वह है, जो यह देखे कि अन्तमें इसका परिणाम क्या होगा ? अभी भोग भोगनेमें और धनका संग्रह करनेमें लगे रहेंगे तो मरनेपर धन आदि पदार्थ यहीं रह जायेंगे और अपने किये हुए कर्मोंका फल आगे भोगना पड़ेगा। इसलिये यहाँ धन भी कमाना है, शरीरका निर्वाह भी करना है; परन्तु लोभमें और भोगमें नहीं फँसना है—यह सावधानी रखनी है। गृहस्थमें रहते हुए धन कमायें, सुविधाके अनुसार रहें, पर लोभ-बुद्धिसे और भोग-बुद्धिसे नहीं। तात्पर्य है कि लोभ-बुद्धिसे धन नहीं कमाना है और भोग-बुद्धिसे संसारमें सुख नहीं भोगना है। गीतामें आया है कि राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन किया जाय तो एक प्रसन्नता होती है। उस प्रसन्नतासे दुःखोंका नाश होता है। ऐसे प्रसन्नचित्तवाले साधककी बुद्धि बहुत जल्दी परमात्मतत्त्वमें स्थित हो जाती है (२। ६४-६५)। इसलिये धन कमाना है और उसके द्वारा दूसरोंका उपकार करना है; परंतु संग्रह नहीं करना है। लोभ-बुद्धि होनेसे ही संग्रहकी बुद्धि होती है। लोभी आदमी धनको अपने लिये और दूसरोंके लिये खर्च नहीं कर सकता। खर्च करनेसे ही पैसे काम आते हैं। खर्च और पैसा—ये दो चीजें हैं। इन दोनोंमें खर्च करना बड़ी बात है, संग्रह करना बड़ी बात नहीं है। कारण कि संग्रह करनेसे दूसरोंके सुखमें भी बाधा पहुँचेगी और खुद भी सुख नहीं भोग सकोगे। लोभी आदमी धनके संग्रहका अभिमान करके अपनेको सुखी बेशक मान ले, पर उसका धन न खुदके काम आता है और न दूसरोंके काम आता है। जो अपने तथा दूसरोंके काम नहीं आता, उसे धन मानना ही गलती है। जैसे, आपने रुपयोंका एक बक्सा भर लिया और हमने रद्दी अखबारोंका एक बक्सा भर लिया। अगर काममें न लें तो रुपये और रद्दीमें क्या फर्क हुआ ? ऐसे ही एक बक्सेमें सोना रखा जाय और एक बक्सेमें पत्थर रखे जायँ। काममें लेनेपर तो सोना अपनी जगह है और पत्थर अपनी जगह है। परन्तु अगर काममें न लें तो सोने और पत्थरमें क्या फर्क हुआ ? इससे सिद्ध हुआ कि ये चीजें खर्च करनेसे ही काम आती हैं, संग्रह करनेसे नहीं; नहीं तो छोड़कर मरना पड़ेगा ही। अब ज्यादा धन छोड़कर मर गये तो क्या और थोड़ा धन छोड़कर मर गये तो क्या ? अपने साथ उसका सम्बन्ध तो रहेगा नहीं। इसलिये आपके पास जो वस्तुएँ हैं उनको यथायोग्य खर्च करो। खर्च करनेसे वे अपने काम भी आयेंगी और दूसरोंके काम भी आयेंगी। रुपये आदि वस्तुओंको यों ही नष्ट करना भी मनुष्यता नहीं है और उनका केवल संग्रह करना भी मनुष्यता नहीं है। यथायोग्य जहाँ चाहिये, वहाँ खर्च करना है और न्यायपूर्वक धनका उपार्जन करना है। यह मनुष्यता है। लोभमें नहीं फँसना है। निर्वाहके लिये भोजन आदि करना है, जिससे शरीर ठीक रहे। भगवान्‌का भजन भी करें, संसारकी सेवा भी करें और घरका काम-धन्धा भी करें, इसलिये शरीरको ठीक रखना है। अगर भोगोंमें ही लग जायँगे तो भोग भोगते शरीर खराब हो जायगा, किसी कामके लायक नहीं रहेगा। पारमार्थिक उन्नति तो कर ही नहीं सकेंगे, लौकिक काम-धन्धा भी नहीं होगा। कारण कि रोगी शरीरसे कुछ भी सेवा नहीं हो सकेगी। पदार्थोंका संग्रह करना और भोग भोगना—ये असुरोंके लक्षण हैं, मनुष्योंके लक्षण नहीं हैं। यह आसुरी सम्पत्ति है, जो बाँधनेवाली है।

'निबन्धायासुरी मता।' (गीता १६। ५)

मनुष्यको यह होश रखना चाहिये कि केवल संग्रह करनेके लिये नहीं कमाना है। केवल भोग भोगनेके लिये, ऐश-आराम करनेके लिये नहीं कमाना है; किन्तु अपना निर्वाहमात्र करके पारमार्थिक और लौकिक व्यवहारमें उसका सदुपयोग करना है। पारमार्थिक उन्नति करनी है। दूरदृष्टि रखनी है कि मरनेके बाद हमारा कल्याण हो जाय, मुक्ति हो जाय। अगर पाप करते रहोगे तो आगे नरकोंमें जाना पड़ेगा, चौरासी लाख योनियोंमें जाना पड़ेगा, इसपर बहुत विचार करनेकी आवश्यकता है। मनुष्यका खास उद्देश्य परमात्म-तत्त्वको प्राप्त करना है, अपना कल्याण करना है। कल्याण क्या है ? लाभ तो पूरा मिल जाय और नुकसान किसी तरहका न हो। सुख भी ऊँचा-से-ऊँचा मिल जाय और दुःखकी वहाँ पहुँच न हो। केवल आनन्द-ही-आनन्द रहे। इसीको कल्याण कहते हैं, मुक्ति कहते हैं। इसको प्राप्त करनेके लिये ही मानव-शरीर मिला है, तुच्छ भोगोंमें फँसकर महान् दुःख पानेके लिये नहीं।

मनुष्य-जीवनकी सफलता

शरीर-निर्वाहके लिये वस्तुओंकी आवश्यकता होती है, रुपयोंकी नहीं। कारण कि वस्तुएँ स्वयं काम आती हैं, पर रुपये स्वयं काम नहीं आते। रुपये वस्तुओंके द्वारा काम आते हैं, अतः रुपयोंसे वस्तुएँ विशेष आवश्यक हैं। वस्तुओंसे भी आवश्यक शरीर है। शरीरके लिये ही वस्तुएँ होती हैं। शरीरका जो महत्त्व है, वह वस्तुओंका नहीं है। पशु आदिके शरीर भी बहुत कामके हैं; क्योंकि उनसे मनुष्यके निर्वाहकी कई वस्तुएँ पैदा होती हैं; जैसे— गायसे दूध, भेड़से ऊन आदि। परंतु उनसे भी बढ़कर है मनुष्यका शरीर, जिससे यह लोक और परलोक दोनों सुधर सकते हैं।

शास्त्रोंमें मनुष्य-शरीरकी बड़ी महिमा आती है। इस शरीरमें बढ़िया चीज क्या है? इसमें बढ़िया चीज है—विवेक। जिससे सार-असार, नित्य-अनित्य, कर्तव्य-अकर्तव्य—इन बातोंका ठीक तरहसे बोध होता है, उसे 'विवेक' कहते हैं। यह विवेक सर्वोपरि है। इस विवेककी ही महिमा है। यह विवेक जितना अधिक होगा, उतना ही मनुष्य श्रेष्ठ होगा। व्यवहारमें भी किसी मनुष्यका अधिक आदर होता है तो उसमें विवेक ही कारण है। मनुष्यमें विवेक-शक्ति जितनी अधिक जाग्रत् होगी, उतना ही अधिक वह आदरणीय हो जायगा। कारण कि विवेक-शक्तिसे वह हरेक बातका ठीक-ठीक निर्णय करेगा। इस विवेक-शक्तिकी महिमा मनुष्यसे भी बढ़कर है। कारण कि विवेक-शक्ति होनेसे ही मनुष्य-शरीरकी इतनी महिमा है। मनुष्यके इस ढाँचे (शरीर) की आकृतिकी महिमा नहीं है।

विवेकसे भी बढ़कर क्या है? विवेकसे भी बढ़कर है—परमात्मा। विवेकके द्वारा सार-असार, नित्य-अनित्यको समझकर नित्य, निर्विकार और सर्वोपरि परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर लेनेमें ही मनुष्य-शरीरकी सफलता है। उसे प्राप्त न करके सांसारिक भोगोंमें ही समय लगा दिया तो मनुष्य-शरीर सफल नहीं हुआ। भोगका सुख तो पशु-पक्षियोंको भी मिलता है, वे भी आरामसे रहते हैं। मैंने ऐसे कुत्तोंको देखा है, जिनकी देखभालके लिये आदमी रहते हैं। उनके रहनेके कमरोंमें गर्मीके दिनोंमें खसखसके टाटे लगे रहते हैं, बैठनेके लिये बहुत अच्छा बिछौना होता है, ऊपर पंखे लगे रहते हैं, टहलनेके लिये जाते हैं तो आदमी साथ रहते हैं, मोटर, हवाई जहाजमें वे यात्रा करते हैं, आदि। मनुष्योंमें भी बहुत कम आदमियोंको ऐसा आराम मिलता है। अतः सांसारिक सुखभोग और आराम मिलना होगा तो कुत्ते, गधे आदिकी योनिमें भी मिल जायगा। परंतु परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति इस मनुष्यमें ही हो सकती है। मनुष्यको छोड़कर दूसरे जितने भी पशु-पक्षी हैं, वे परमात्मतत्त्वको समझ भी नहीं सकते।

पशुओंमें सबसे उत्तम गाय मानी गयी है। गोबर और गोमूत्रसे पवित्रता आती है, रोगोंका नाश होता है। गाय पृथ्वीको पुष्ट करती है और पृथ्वी गायको पुष्ट करती है—इन दोनोंकी पुष्टिसे सब मनुष्योंका पालन होता है, उनके शरीरोंका निर्वाह होता है। इतनी श्रेष्ठ गायको भी आप परमात्मतत्त्वके विषयमें नहीं समझा सकते कि परमात्मा ऐसे हैं। गाय बहुत उपयोगी है, श्रेष्ठ भी है, हम उससे लाभ भी बहुत लेते हैं, इसलिये गायकी रक्षा करना हमारा मुख्य कर्तव्य होता है। परन्तु गाय परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर ले, ऐसी योग्यता उसमें नहीं है। यह योग्यता केवल मनुष्य-शरीरमें ही है। मनुष्यकी जितनी महिमा है, उतनी देवताओंकी भी नहीं है। देवताओंके शरीर दिव्य होते हैं, हमारे शरीरकी तरह हाड़-माँसके नहीं होते। हमारा शरीर पृथ्वीतत्त्वप्रधान होता है, देवताओंके शरीर तैजस्-तत्त्वप्रधान होते हैं। जैसे, यह प्रकाश है, इस प्रकाशमें सब दीखते हैं न? यह तैजस् तत्त्व है। इसकी प्रधानता होती है देवताओंमें। जैसे कोई मलसे भरा हुआ सूअर हो और वह हमारे पाससे निकले तो हमारेको दुर्गंध आती है, ऐसे ही देवताओंको हमारे शरीरसे दुर्गंध आती है। ऐसा मलिन हमारा शरीर है। परंतु सज्जनो! उन देवताओंको भी परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका अधिकार नहीं है। देवता सुख भोगनेके लिये ही हैं। उनका शरीर अच्छा है, उनका लोक अच्छा है, उनका भोजन अमृतका है; परंतु कल्याण करनेके लिये मानव-शरीरकी ही महिमा है, देवताओंके शरीरोंकी नहीं। इसीलिये मनुष्य-शरीरको सबसे दुर्लभ बताया गया है—*'नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥'* (मानस ७।१२१।५) परंतु मनुष्य-शरीरमें आकर भी जो अपना उद्धार नहीं करता, केवल खाने-कमानेमें ही लगा रहता है, उसकी निंदा की गयी है।

रुपये-पैसोंका संग्रह हो जाय और उनसे हम सुख भोगें—इन दोनोंमें जो अत्यन्त आसक्त हो जाते हैं, वे मनुष्य परमात्मतत्त्व क्या है? मुक्ति क्या है? जन्म-मरण मिटनेसे क्या लाभ है? महान् आनन्द क्या है?—इसको जान ही नहीं सकते। दुःख सदाके लिये मिट जाय और सदाके लिये महान् आनन्द हो जाय—तत्त्वको समझनेकी ताकत उनमें नहीं रहती।

हमें उस तत्त्वको प्राप्त करना है, जो इस मनुष्य-शरीरसे ही प्राप्त किया जा सकता है। उसकी प्राप्ति कैसे हो? इसके

लिये एक बात मुख्य है कि हमारा ध्येय, हमारा लक्ष्य केवल परमात्मतत्त्व हो। जैसे मनुष्यका लक्ष्य धन कमानेका होता है तो वह कहीं-का-कहीं चला जाता है, ऐसे ही हमारा लक्ष्य परमात्मप्राप्तिका हो जाय। चाहे हम दुःख पायें, चाहे सुख पायें; चाहे निर्धन हो जायँ, चाहे धनवान् हो जायँ; चाहे रोगी हो जायँ, चाहे नीरोग हो जायँ; चाहे जीते रहें, चाहे मर जायँ; चाहे लोग आदर करें, चाहे निरादर करें—हमें तो उस परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना है। ऐसा मुख्य लक्ष्य हो जाता है, तो परमात्मप्राप्ति बहुत सुगम हो जाती है। जबतक ऐसा लक्ष्य नहीं होता, तभीतक परमात्मप्राप्ति कठिन मालूम देती है। वास्तवमें परमात्मतत्त्व-प्राप्ति कठिन नहीं है। कारण कि वह सब जगह है, सब देशमें है, सब कालमें है, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें है, सम्पूर्ण घटनाओंमें है, सम्पूर्ण क्रियाओंमें है। संसारका कोई भी, किञ्चिन्मात्र भी ऐसा परमाणु नहीं है, जहाँ परमात्मा न हो। उसकी प्राप्तिमें कठिनाई यही है कि उसे प्राप्त करनेकी जोरदार इच्छा नहीं है, सांसारिक भोगोंमें और संग्रहमें फँसे हुए हैं, अतः इनसे उपराम होकर परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेका उद्देश्य बनाना चाहिये।

रुपयोंसे वस्तु, वस्तुसे शरीर, शरीरसे विवेक और विवेकसे भी सत्य-तत्त्व परमात्मा श्रेष्ठ है। इसलिये परमात्माको सबसे अधिक आदर देकर उसको प्राप्त कर लेना ही मनुष्यका खास कर्तव्य है और इसीमें मनुष्य-जीवनकी सफलता है।

★

धन-संग्रहसे हानि

यह प्रत्यक्ष बात है कि हमारे शरीर जब जन्मे थे, तब छोटे-छोटे थे, आज इतने बड़े हो गये ! किसी एक वर्षमें ये शरीर इतने बड़े हुए हों, ऐसी बात नहीं है। ये प्रत्येक वर्षमें बदले हैं। जो प्रत्येक वर्षमें बदलते हैं, वे प्रत्येक महीनेमें बदलते हैं। ऐसा नहीं कि ग्यारह महीनोंमें तो नहीं बदले और बारहवें महीनेमें बदल गये हों। जो प्रत्येक महीनेमें बदलते हैं, वे प्रत्येक दिनमें बदलते हैं। ऐसा नहीं कि उन्तीस दिनोंमें तो वैसे ही रहे और तीसवें दिन बदल गये। जो प्रत्येक दिनमें बदलते हैं, वे प्रत्येक घंटेमें बदलते हैं। ध्यान दें, पहले घंटेमें जो शरीर हैं, वे दूसरे घंटेमें वैसे नहीं हैं। नहीं तो एक दिनमें कैसे बदलते ? जो घंटेभरमें बदलते हैं, वे उन्सठ मिनटमें न बदलकर साठवें मिनटमें बदल जायँ—ऐसा नहीं होता। जो प्रत्येक मिनटमें बदलते हैं, वे प्रत्येक सेकण्डमें बदलते हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ ? कि केवल बदलना-ही-बदलना है। बदलकर किधर जा रहे हैं ? मृत्युकी ओर जा रहे हैं; बिल्कुल निःसन्देह बात है। जितने हम जी गये, उतने हम मर गये ! अब आगे कितनी आयु बाकी है, इसका तो पता नहीं है, पर जितने वर्ष बीत गये, उतने वर्ष हमारी आयुसे कम हो गये, मौत उतनी नजदीक आ गयी—इसमें कोई संदेह नहीं है। जीवन मृत्युकी तरफ जा रहा है। यह शरीर अभावकी तरफ जा रहा है। एक दिन इसका सर्वथा अभाव हो जायगा। आज जो 'हैं', एक दिन वह 'नहीं' हो जायगा। परंतु चाहना यह रखते हैं कि भोग-पदार्थोंका संग्रह कर लें, रुपया इकट्ठा कर लें, कितनी भूलकी बात है यह।

जरा ध्यान दें। रुपया कमाना और उसे अच्छे काममें लगाना दोष नहीं है; पर उसको जमा करनेकी जो एक धुन है, वही दोष है। इसका अर्थ यह नहीं है कि रुपये इकट्ठे नहीं होने देना है। आवश्यकता पड़नेपर भी खर्च न करें—यह तात्पर्य भी नहीं है। बहन-बेटी है, ब्राह्मण है, कोई रोगी है, भूखा है, नंगा है, और अभावग्रस्त है, उसके लिये खर्च नहीं करना गलती है। संग्रह करके आखिर करोगे क्या ? आवश्यकता पड़नेपर जब अपने लिये भी खर्च नहीं करते और दूसरोंके लिये भी खर्च नहीं करते तो वह संग्रह किस कामका ? यह शरीर तो रहेगा नहीं। जब शरीरका अभाव हो जायगा, तब वे रुपये क्या काम आयेंगे ? अगर रुपयोंको न्यायपूर्वक कमाते हैं और उनको आवश्यक काममें खर्च करते हैं, तब तो होश है, नहीं तो रुपयोंके लोभमें बेहोशी आ जाती है। रुपयोंका इतना मोह हो जाता है कि रोकड़में लाख रुपये हो जायँ तो अब मनुष्य उन लाख रुपयोंको छोड़ना नहीं चाहता। कभी भूलसे हजार-दो-हजार खर्च हो जायँ तो बड़ा दुःख लगता है कि मूलमेंसे खर्च कर दिया ! अगर लड़का खर्च कर देता है तो उसपर गुस्सा आता है कि 'तुम कोई मनुष्य हो ? मूल खाओगे तो कितने दिन काम चलेगा ?' रोटी-कपड़ेकी तंगी तो भोग लेंगे, पर मूलको खर्च नहीं करेंगे, जिससे वह तो ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रहे। आपसे पूछा जाय कि मूलका क्या करोगे ? शरीर जा रहा है, मौत प्रतिक्षण नजदीक आ रही है, ये रुपये पड़े-पड़े क्या काम करेंगे ?

मैं यह नहीं कहता कि आप रुपये छोड़ दो, फेंक दो या नष्ट कर दो। पर उन रुपयोंके रहते खुद तंगी भोगते हो, आवश्यक चीज भी नहीं लेते; जहाँ जरूरी है, वहाँ खर्च भी नहीं करते तो फिर रुपये क्या काम आये ? होश आना चाहिये कि भगवान्‌ने दिये हैं तो उन रुपयोंको अच्छे-से-अच्छे काममें खर्च करें। जीते-जी अपने और दूसरोंके काममें लगायें। केवल कंजूसी करके हम संख्या ही बढ़ाते चले

मिली हुई सामग्री अपनी नहीं

यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि जिन व्यक्तियों और वस्तुओंके साथ हम रहते हैं, वे हमारे साथ हरदम रहेंगी, ऐसी बात नहीं है और हम उनके साथ हरदम रहेंगे, यह बात भी नहीं है। इतना ही नहीं, शरीरके साथ हम सदा रहेंगे और शरीर हमारे साथ सदा रहेगा—ऐसा भी नहीं है। इस बातपर खूब विचार करना है। जब ये हमारे साथ सदा नहीं रह सकते और हम इनके साथ सदा नहीं रह सकते, तो फिर इनके भरोसे कितने दिन काम चलेगा ? यह तो उसकी बात हुई जो हमारे सामने दीखता है। परन्तु जो परमात्मा हैं, जिनके बारेमें हमने शास्त्रोंसे, संतोंसे सुना है, वे परमात्मा सदासे हमारे साथ थे, साथ हैं और सदा साथ रहेंगे। केवल सांसारिक वस्तुओंकी ओर दृष्टि रहनेसे उस परमात्माको पहचान नहीं सकते, उनको देख नहीं सकते। अगर हम इन नाशवान् वस्तुओंसे विमुख हो जायँ तो परमात्माके दर्शन हो जायँगे। विमुख होना क्या है ? इनसे सुख लेना छोड़ दें, इनको दूसरोंकी सेवामें लगायें। वस्तुओंको तो दूसरोंके हितके लिये खर्च करें और व्यक्तियोंको सुख दें, आराम दें, उनका हित करें। ऐसा भाव बना लें कि हमारे पास जितनी वस्तुएँ हैं उनके द्वारा दूसरोंकी सेवा करनी है। अभी जो यह भाव है कि संग्रह करना है, अपने पास रखना है, इस भावको बिल्कुल उलटना पड़ेगा कि इनको दूसरोंकी सेवामें लगाना है। विचार करें, रुपयोंको तो सदा साथमें रख सकोगे नहीं और इन रुपयोंके साथ आप सदा रह सकोगे नहीं। रुपये तो साथ जायँगे नहीं, पर रुपये रखनेका जो भाव है, वह मरनेपर भी साथ रहेगा। रुपये रखनेका भाव

महान् पतन करनेवाला और स्वभाव बिगाड़नेवाला है।

रुपये दूसरोंका हित करनेके लिये हैं, सेवा करनेके लिये हैं—ऐसा भाव रखनेपर सब रुपये चले नहीं जायँगे। जितना-जितना सेवामें खर्च करोगे, उतने ही जायँगे और पासमें रहनेपर भी बाधा नहीं देंगे। जैसे, अधिक मासमें दान देनेके लिये माताएँ चीजें इकट्ठी कर लेती हैं कि ये थाली, लोटा, गिलास, आसन, छाता, कपड़ा आदि दान करनेके लिये हैं, अपने काममें लेनेके लिये नहीं हैं। भूलसे कोई बालक वहाँसे कोई चीज उठाकर ले आये तो कहती हैं ना! ना! इसको वहीं रख दे, यह अपने काममें लेनेकी नहीं है, यह तो देनेकी है। इस प्रकार देनेका भाव हो जानेसे उन चीजोंके साथ ममता नहीं रहती। इसी तरहसे यहाँ हमें जितनी वस्तुएँ मिली हैं, वे सब सेवा करनेके लिये मिली हैं। वे हमारी नहीं है, सेवाके लिये हैं—ऐसे केवल भावना बदल दें। इसमें आपका एक कौड़ीका, एक पैसेका भी नुकसान नहीं है। जितनी सेवामें लगनी है, उतनी सेवामें लग जायगी, बाकी बची हुई फिर लगेगी। लगे या न लगे, अपने काममें नहीं लेना है। बस, निर्वाहमात्रके लिये प्रसादरूपसे लेना है—***तुम्हहि निबेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥*** (मानस २।१२९।१) सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर दिया, अब इसमेंसे जो भोजन पायेंगे, कपड़ा लेंगे, वह प्रसादरूपसे लेंगे। जिस मकानमें रहेंगे, वह हमारा नहीं है, ठाकुरजीका प्रसाद है। प्रसादमें स्वाद नहीं देखा जाता, शौकीनी नहीं देखी जाती, ऐश-आराम नहीं देखा जाता। केवल प्रसादका सेवन करना है। प्रसाद लेनेका भी माहात्म्य होगा और दूसरोंको देनेका भी फर्क कुछ पड़ेगा नहीं। जैसे, भगवान्‌को कोई भोग लगाये तो चीजें उतनी-की-उतनी रहेंगी, माशाभर भी कम नहीं होंगी। परंतु वे परम पवित्र हो जायँगी। बड़े-बड़े धनी आदमी भी हाथ पसारेंगे और प्रसादका कणमात्र देनेसे राजी हो जायँगे। कारण क्या है? वह ठाकुरजीका प्रसाद है!

सभी प्राप्त वस्तुओंको आप भगवान्‌की मान लें, जो सच्ची बात है। साथमें लाये नहीं, ले जा सकते नहीं, रख सकते नहीं, उनके साथमें रह सकते नहीं। ये तो ठाकुरजीकी हैं; अतः ईमानदारीके साथ ठाकुरजीके अर्पण कर दो कि महाराज! आपकी वस्तु आपके अर्पण। कितनी बढ़िया बात है। एकदम निर्लिप्तता है। निर्वाहमात्रका प्रसाद लेंगे; नहीं लेंगे तो भगवान्‌की सेवा कैसे होगी? सब कुछ ठाकुरजीका माननेपर कुछ फर्क नहीं पड़ेगा। आपके पास चीजें ज्यों-की-त्यों रहेंगी, कुटुम्ब वैसा-का-वैसा ही रहेगा, मकान वैसा-का-वैसा ही रहेगा। शरीर वैसा-का-वैसा ही रहेगा। पर आपका चट कल्याण हो जायगा। नहीं तो उन चीजोंको अपना माननेसे बंधन हो जायगा और रहेगा कुछ नहीं आपके पासमें।

'आप बुद्धिमानीसे जरा सोचो। अपना कुछ भी खर्च न हो और कल्याण हो जाय, कितनी बढ़िया बात है! खर्च होनेवाला तो खर्च हो ही जायगा। घाटा लगना है तो लग ही जायगा। दिवालिया होना है तो हो ही जायगा। चाहे कितनी ही कंजूसी करो, क्या बच सकते हो? शरीरके साथ कितना ही मोह रखो, क्या शरीरको रख सकते हो? रख सकते ही नहीं। इसलिये इन चीजोंको भगवान्‌की ही मान लो। अब घाटा लगे तो भगवान्‌का, नफा हो तो भगवान्‌का। हम क्यों रोयें? हम क्यों दुःख पायें? ये चीजें भगवान्‌की हैं। भीतरसे भगवान्‌की ही मान लो तो आपको क्या घाटा लगता है? आपका क्या नुकसान होता है? जैसे कहावत है—***'हींग लगे न फिटकरी, रंग झकाझक आय।'*** खर्चा कुछ लगे ही नहीं, और हम निहाल हो जायें। जो होना है, वह होगा ही; जिसको रहना है, वह रहेगा ही; जिसको जाना है वह जायगा ही, इसमें तो कोई फर्क पड़ेगा नहीं। केवल भावसे भगवान्‌के अर्पण कर दो कि यह तो भगवान्‌की चीज है।

आपके घर लड़की जनमती है तो शुरूसे आप ऐसा समझते हो कि यह लड़की तो दूसरे घर जायगी। घरमें भाई-बहन आपसमें झगड़ते हैं तो लड़केसे कहते हैं कि 'अरे, बहनसे क्यों झगड़ता है, यह तो अपने घर जानेवाली है।' ऐसे ही आप कृपा करके जितनी सम्पत्ति मिली है, उसको बेटीकी तरह मान लो, तो क्या हर्ज है? अब बहन तो अपने घर जायगी ही, अपने पास तो रहेगी नहीं। बेटी घरपर कबतक रहेगी, बताओ? शरीर, सम्पत्ति, मकान, परिवार आदि सब-का-सब भगवान्‌की बेटी है, यह तो अपने घर जायगी—ऐसा मान लें।

लड़की तो अपने घर जायगी—ऐसा भाव होनेसे लड़केमें जितनी ममता होती है, उतनी लड़कीमें नहीं होती। लड़का बीमार हो जाय तो बड़ा असर पड़ता है, लड़की बीमार हो जाय तो उतना असर नहीं पड़ता। कारण कि यह अपनी नहीं है। जिसको अपना मानते हो, वह बेटा आपकी सारी सम्पत्तिका मालिक होता है। जो आपका बेटा नहीं है और जिसको आप अपना नहीं मानते, वह मालिक नहीं होता। जो अपना होता है, वह मालिक बनता है और अन्तमें वही खोपड़ी बिखेरता है। बेटी न तो मालिक बनती है और न खोपड़ी बिखेरती है।

इसलिये सब सम्पत्ति, परिवार आदिको भगवान्‌का मान लें, नहीं तो वे मालिक भी बनेंगे और आपकी दुर्दशा भी करेंगे, फायदा इसमें कुछ नहीं होगा। भगवान्‌का मान लो तो नुकसान कुछ नहीं होगा और फायदा बड़ा भारी होगा।

═══ ★ ═══

मिला हुआ और देखा हुआ—संसार

संसारके दो विभाग हम देखते हैं—एक विभाग तो हमें मिला हुआ है, जिसको हम अपना मानते हैं; और एक विभाग हमें मिला नहीं है, पर दीखनेमें आता है। देखा हुआ तो मिला नहीं और मिला हुआ रहेगा नहीं। मिले हुएके साथ न तो हम रहेंगे और न वह हमारे साथ रहेगा—यह हमारा अनुभव है। फिर हम किसके भरोसे बैठे हैं। किसके आधारसे हम यहाँ रह रहे हैं? हमारा आधार एक परमात्मा हैं। उनके आधारसे ही हम टिके हुए हैं। जो दीखता है और जो मिला हुआ है, इसके आधारपर हम नहीं रह सकते। कारण कि दीखनेवाला मिलता नहीं और जो मिला है, वह टिकता नहीं।

'है'—रूपसे एक परमात्मा मौजूद हैं, उन्हींके अन्तर्गत यह संसार दिखायी दे रहा है—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस १। ११७। ४)

परमात्माकी सत्यतासे ही यह जड़ (असत्) माया सत्य दीखती है। इसका कारण क्या है? ***'मोह सहाया'***—मूढ़ताके कारण असत् माया सत्य दीखती है। कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते—इस अधूरे ज्ञानका नाम मूढ़ता है, अज्ञान है। कुछ भी न जानें, इसको मूढ़ता नहीं कहते। जैसे, पत्थरको हम मूढ़ नहीं कहते। ऐसा नहीं कहते कि यह पत्थर बड़ा मूढ़ है, अज्ञानी है। मूढ़ता अधूरी जानकारीको कहते हैं। संसार सच्चा नहीं है—यह हम जानते हैं, फिर भी हम उसको सच्चा मानते हैं, यह मूढ़ता है।

सुननेपर, पुस्तकोंके पढ़नेपर और विचार करनेपर तो यह दीखता है कि पहले यह संसार था नहीं और पीछे रहेगा नहीं, फिर भी इसको 'है' मानकर इसमें राग-द्वेष करते हैं—यह मूढ़ताका नतीजा है। जो पहले नहीं था और अन्तमें भी नहीं रहेगा, उसको बीचमें भी, 'नहीं' मान लेना ज्ञान है, बोध है। जैसे, स्वप्न आनेसे पहले स्वप्न नहीं था और नींद खुलनेके बाद भी स्वप्न नहीं रहेगा; अतः बीचमें भी स्वप्न नहीं है, केवल दीखता है। जो आदि और अन्तमें नहीं होता, वह वर्तमानमें भी नहीं होता—यह सिद्धान्त है।

यह बात बहुत विशेष ध्यान देनेकी है कि यह संसार निरन्तर 'नहीं' में जा रहा है, अभावमें जा रहा है। जैसे, हमारा बचपन चला गया, नहीं रहा। जितने प्राणी हैं, वे भी 'नहीं' में जा रहे हैं। इनमें नहीं रहना ही सत्य है। जैसे कलका दिन आज नहीं रहा, 'नहीं' में भरती हो गया, ऐसे ही अभी आप और हम यहाँ बैठे हैं, यह समय भी 'नहीं' में भरती हो रहा है। इसको वापस नहीं ला सकते। अतः इसमें 'नहीं' ही तत्त्व हुआ, पर मूढ़ताके कारण यह 'है' दीखता है? यह 'है' क्यों दीखता है? इसमें एक सत्य परमात्मा है—***'जासु सत्यता तें।'*** परमात्माके कारण ही इसका होनापन दीखता है। जैसे, रस्सी होनेसे ही उसमें भ्रमसे साँप दीखता है। अगर रस्सी न हो तो साँप भी नहीं दीखेगा।

हम इस बातको जानते हैं कि संसार पहले नहीं था और फिर नहीं रहेगा, फिर भी इसको मानते नहीं। जो जानते हैं, उसको ही मानने लग जायँ—यह जाने हुएका आदर है। परन्तु जो जानते हैं, उसको मानते नहीं—यह जाने हुएका निरादर है। जाने हुएके निरादरसे ही हम दुःख पा रहे हैं। अतः जाने हुएका आदर करें। यह संसार तो रहेगा नहीं, पर इससे लाभ ले लें। मिले हुए पदार्थोंको दूसरोंकी सेवामें लगा दें—यही लाभ लेना है। दर्पणमें हम मुख देखते हैं तो उलटा दीखता है। जैसे, हमारा मुख दक्षिणकी तरफ है तो दर्पणमें हमारा मुख उत्तरकी तरफ दीखता है। हमारा दायाँ भाग दर्पणमें बायाँ भाग हो जाता है और हमारा बायाँ भाग दर्पणमें दायाँ हो जाता है। जैसे दर्पणमें उलटा दीखता है, ऐसे ही यह संसार उलटा दीखता है। अतः जो लोभमें आकर अपने लिये संग्रह करते हैं, वे अपनी हानि करते हैं। परंतु दीखता उलटा ही है—जितना ले लेते हैं, उतना तो लाभ दीखता है और जितना दे देते हैं, उतनी हानि दीखती है। अब उलटा ही दीखता है, इस कारण कही हुई बात भी जँचती नहीं, उलटी दीखती है। इसलिये कहा है—***खायो सोई ऊबर्‌यो, दीन्हो सोई साथ। जसवँत घर पोढ़ाणिया माल बिराने हाथ॥*** दिया हुआ तो हमारे साथ चलेगा और लिया हुआ यहीं रह जायगा। फिर भी लेनेकी ही चेष्टा होती है, देनेकी नहीं! हमारा स्वार्थ सिद्ध हो जाय, यह चेष्टा तो होती है, पर यह चेष्टा नहीं होती कि दूसरोंको दे दें, दूसरोंका हित कर दें, दूसरोंका स्वार्थ सिद्ध कर दें। दूसरोंका काम करना बुरा दीखता है, जब कि बात यह उलटी है। उलटा दीखना बंद हो जाय और सुलटा दीखने लग जाय—इसीके लिये हमलोग यहाँ इकट्ठे हुए हैं।

न तो मिला हुआ ठहरेगा और न दीखनेवाला ठहरेगा।

वहम यह होता है कि यह तो मिला हुआ है और यह दीख रहा है। ये दोनों ही नहीं रहेंगे। इनमें जो परिपूर्ण हैं, वे एक परमात्मा ही रहेंगे। उन परमात्माका ही आश्रय लिया जाय, उनका ही भजन किया जाय, उनको ही माना जाय, उनका ही चिन्तन किया जाय, तो निहाल हो जायँगे। अगर मिले हुए और देखे हुएके लोभमें फँस जायँगे तो धोखा हो जायगा।

धनके लोभमें निंदा

भीतरकी जो भावना होती है, उसका बड़ा भारी माहात्य होता है। एक आदमी बाहरकी क्रिया करता है, शरीरसे सेवा करता है, इसकी अपेक्षा भी भीतरका जो भाव है, उसकी अधिक महिमा है। बड़े दुःखकी बात है कि मनुष्योंने अपने भीतर धनको बहुत ज्यादा महत्त्व दे रखा है। वास्तवमें यह इतना महत्त्व देनेके लायक वस्तु नहीं है। शरीर इसकी अपेक्षा बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस शरीरसे परिश्रम करके जो सेवा की जा सकती है, वह रुपयोंसे नहीं की जा सकती। रुपये लगा देनेका वह माहात्म्य नहीं है। परंतु आज रुपयोंका बहुत लोभ है। शरीरसे परिश्रम कर लेंगे, भूखे रह जायँगे, कहीं जाना हो तो पैदल चले जायँगे, पर पैसा खर्च नहीं करेंगे! पैसेकी कीमत बहुत ज्यादा कर दी! पैसोंको शरीरसे भी अधिक महत्त्व दे दिया! शरीरसे परिश्रम करके पैसे पैदा किये जा सकते हैं, पर पैसोंसे शरीर नहीं लिया जा सकता। लाख, दस लाख, पचास लाख रुपये दे दिये जायँ, तो भी उसके बदलेमें मनुष्य-शरीर नहीं मिल सकता। मृत्युके समय अरबों-खरबों रुपये भी दे दिये जायँ तो भी मृत्युसे बच नहीं सकते। दुनियामात्रका सारा धन दे दिया जाय, तो भी एक घड़ीभर जीना नहीं मिल सकता—ऐसा कीमती मानव-शरीरका समय है! वह समय यों ही बर्बाद कर देते हैं—इसके समान कोई नुकसान नहीं है। बीड़ी-सिगरेट पीनेमें, खेल-तमाशा देखनेमें, ताश-चौपड़ खेलनेमें, बात-चीत करनेमें, गपशप लड़ानेमें, दूसरोंकी चर्चा करनेमें, निंदा-स्तुति करनेमें, अधिक नींद लेनेमें समय खर्च कर देते हैं, यह बड़ा भारी नुकसान करते हैं। यह कोई मामूली नुकसान नहीं है। दस-बीस हजार रुपये खर्च किये जायँ, तो इसमें कोई नुकसान नहीं है। इनको छोड़कर ही मरना है। लाखों-करोड़ों हो जायँ तो भी छोड़कर मरना होगा। किसीको कुछ दे दिया, कहीं अच्छे काममें खर्च कर दिया, तो क्या बड़ी बात हुई? यह तो छूटनेवाली वस्तु ही है।

किसीके पास धन बहुत है तो यह कोई विशेष भगवत्कृपाकी बात नहीं है। ये धन आदि वस्तुएँ तो पापीको भी मिल जाती हैं—***'सुत दारा अरु लक्ष्मी पापी के भी होय।'*** इनके मिलनेमें कोई विलक्षण बात नहीं है। एक राजा थे। उस राजाकी साधु-वेशमें बड़ी निष्ठा थी। यह निष्ठा किसी-किसीमें ही होती है। वह राजा साधु-संतोंको देखकर बहुत राजी होता। साधु-वेशमें कोई आ जाय, कैसा भी आ जाय, उसका बड़ा आदर करता, बहुत सेवा करता। कहीं सुन लेता कि अमुक तरफसे संत आ रहे हैं तो पैदल जाता और उनको ले आता, महलोंमें रखता और खूब सेवा करता। साधु जो माँगे, वही दे देता। उसकी ऐसी प्रसिद्धि हो गयी। पड़ोस-देशमें एक दूसरा राजा था, उसने यह बात सुन रखी थी। उसके मनमें ऐसा विचार आया कि यह राजा बड़ा मूर्ख है, इसको साधु बनकर कोई भी ठग ले। उसने एक बहुरुपियेको बुलाकर कहा कि तुम उस राजाके यहाँ साधु बनकर जाओ। वह तुम्हारे साथ जो-जो बर्ताव करे, वह आकर मेरेसे कहना। बहुरुपिया भी बहुत चतुर था। वह साधु बनकर वहाँ गया। वहाँके राजाने जब यह सुना कि अमुक रास्तेसे एक साधु आ रहा है, तो वह उसके सामने गया और उसको बड़े आदर-सत्कारसे अपने महलमें ले आया, अपने हाथोंसे उसकी खूब सेवा की।

एक दिन राजाने उस साधुसे कहा कि 'महाराज, कुछ सुनाओ।' साधुने कहा कि 'राजन्!' आप तो बड़े भाग्यशाली हो कि आपको इतना बड़ा राज्य मिला है, धन मिला है। आपके पास इतनी बड़ी फौज है। आपकी स्त्री, पुत्र, नौकर आदि सभी आपके अनुकूल हैं। इसलिये भगवान्‌की आपपर बड़ी कृपा है!' इस प्रकार उस साधुने कई बातें कहीं। राजाने चुप करके सुन लीं। दो-तीन दिन रहनेके बाद वह साधु (बहुरुपिया) बोला कि 'राजन्! अब तो हम जायँगे।' राजा बोला—'अच्छा महाराज, जैसी आपकी मर्जी।' राजाने उसके आगे खजाना खोल दिया और कहा कि इसमेंसे आपको जो सोना-चाँदी, माणिक-मोती, रुपये-पैसे चाहिये, खूब ले लीजिये। उस साधुने वहाँसे अच्छा-अच्छा माल ले लिया और ऊँटपर लाद दिया। जब वह रवाना होने लगा, तब राजाने कहा कि 'महाराज, यह तो आपने अपनी तरफसे लिया है। एक चाँदीका बक्सा है, वह मैं अपनी तरफसे देता हूँ।' राजाने एक चाँदीके बक्सेको एक रेशमी जरीदार कपड़ेमें लपेटकर उसको दे दिया और कहा कि 'यह मेरी तरफसे आपको भेंट है।' उस साधुने वह बक्सा ले लिया और वहाँसे चल दिया।

वह साधु (बहुरुपिया) अपने राजाके पास पहुँचा। राजाने पूछा कि 'क्या-क्या लाये ?' उसने सब बता दिया कि 'लाखों-करोड़ोंका धन ले आया हूँ।' राजाने समझा कि यह पड़ोसका राजा महान् मूर्ख ही है; क्योंकि इसको साधुकी पहचान ही नहीं है कि कैसा साधु है ! यह तो बड़ा बेसमझ है ! वह बहुरुपिया बोला कि 'एक बक्सा मुझे उस राजाने अपनी तरफसे दिया है कि यह मेरी तरफसे भेंट है।' राजाने कहा कि 'ठीक है, बक्सा लाओ, उसको मैं देखूँगा।' उसने वह बक्सा राजाके पास रख दिया और उसकी चाबी दे दी। राजाने खोलकर देखा कि चाँदीका एक बक्सा है, उसके भीतर एक और चाँदीका बक्सा है, फिर उसके भीतर एक और चाँदीका छोटा बक्सा है। तीनों बक्सोंको खोलकर देखा तो भीतरके छोटे बक्सेमें एक फूटी कौड़ी पड़ी मिली। राजाने सोचा कि क्या मतलब है इसका ! तो वह समझ गया कि यह राजा मूर्ख नहीं है, बड़ा बुद्धिमान् है। साधु-वेशमें इसकी निष्ठा आदरणीय है। राजाने बहुरुपियेसे पूछा कि 'तुमसे क्या बात हुई, सारी बात बताओ।' उसने कहा कि 'एक दिन उस राजाने मेरेसे कहा कि महाराज, कुछ सुनाओ। मैंने कहा कि तुम तो बड़े भाग्यशाली हो। तुम्हारे पास राज्य है, धन-सम्पत्ति है, अनुकूल स्त्री-पुत्र आदि हैं, तुम्हारेपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है।' यह सुनकर राजा सारी बात समझ गया। तीन बक्से होनेका मतलब था—स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर। इनके भीतर क्या है ! भीतर तो फूटी कौड़ी है, कुछ नहीं है। बाहरसे वेश-भूषा बड़ी अच्छी है, बाहरसे बड़े अच्छे लगते हैं, पर भीतर कुछ नहीं है। आपपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है—यह जो बात कही, यह फूटी कौड़ी है। यह कोई कृपा हुआ करती है ? कृपा तो यह होती है कि भगवान्‌का भजन करे, भगवान्‌में लग जाय।

तात्पर्य यह है कि सांसारिक चीजोंका होना कोई बड़ी बात नहीं है। शास्त्रमें मनुष्य-शरीरकी जो महिमा आयी है, वैसी धनकी महिमा नहीं आयी है, राज्यकी महिमा नहीं आयी है। स्वर्गका जो राजा है, उस इन्द्रकी भी महिमा नहीं आयी है। ***'तीन टूक कोपीन के, अरु भाजी बिन नौन। तुलसी रघुबर उर बसे, इन्द्र बापुरो कौन ॥'*** भगवद्भजनके सामने इन्द्रकी भी कोई कीमत नहीं है। परंतु धनको महत्त्व देकर डरते हैं कि यह कहीं खर्च न हो जाय—यह कोई मनुष्यपना है ? पर कहें किसको ! कोई सुननेवाला नहीं है।

सुना था कि लोग ये बातें सुनकर नाराज हो जाते हैं और कहते हैं कि यह धनकी निंदा करता है। सज्जनो ! मैं धनकी निंदा नहीं करता हूँ; किन्तु लोभकी निंदा करता हूँ, तुम्हारी ऐसी बुद्धिकी निंदा करता हूँ कि तुम्हारी बुद्धि कहाँ मारी गयी ! लाखों-करोड़ों रुपये रखो, राज्य-वैभव सब रखो, पर बुद्धि तो नहीं मारी जानी चाहिये ! कुछ तो होश होना चाहिये आदमीको ! कुछ तो अक्ल आनी चाहिये कि हम क्या कर रहे हैं ! ऐसा मनुष्य-शरीर मिला है, जो देवताओंको भी दुर्लभ है—**'दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।'** (भागवत ११।२।२९)। ***'बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ॥'*** (मानस ७।४३।४) ऐसा मानव-शरीर मिला है, और कर क्या रहे हो ? इस मनुष्य-शरीरको पाकर तो भगवान्‌का भजन करना चाहिये—**'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥'** (गीता ९।३३) भगवान्‌में लगना चाहिये, जिससे सदाके लिये कल्याण हो जाय।

यह धन कितने दिन साथ देगा ? आप सोचो, अगर आज प्राण निकल जायँ तो धनका क्या होगा ? धनके लिये किया हुआ पाप तो साथ चलेगा, पर धन एक कौड़ी साथ नहीं चलेगा, पूरा-का-पूरा यहाँ रह जायगा। ऐसे धनके लिये अपना भाव बिगाड़ लिया, पाप कर लिया, अन्याय कर लिया, झूठ-कपट कर लिया, भाई-बन्धुओंसे लड़ाई कर ली। इस प्रकार धनके लिये कितने-कितने अन्याय और अनर्थ कर लिये, उस धनसे पतनके सिवाय और क्या होगा ?

दृढ़ निश्चयकी महिमा

मैंने संतोंसे सुना है कि 'परमात्मा हैं'—ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाय तो अपने-आपको जनानेकी जिम्मेदारी भगवान्‌पर आ जाती है। हम भगवान्‌को अपने उद्योगसे नहीं जान सकते, पर 'भगवान् सब जगह हैं'—यह दृढ़ भाव होनेपर भगवान् खुद अपने-आपको जना देते हैं।

भगवान् सब जगह हैं—यह बात हमें जँची हुई है ही, फिर इसमें कमी क्या है ? इसमें एक बातकी कमी है कि हम जानते हैं कि यह संसार पहले ऐसा नहीं था और फिर ऐसा नहीं रहेगा तथा अभी भी हरदम बदल रहा है, फिर भी संसारको 'है' मान लेते हैं अर्थात् अपने इस अनुभवका निरादर करते हैं। इस कारण 'परमात्मा हैं'—इस मान्यताकी दृढ़तामें कमी आ रही है। इसलिये अपने अनुभवका आदर करें।

जैसे, जबतक नींद नहीं आती, तबतक स्वप्न नहीं आता और नींद खुलनेके बाद भी स्वप्न नहीं रहता, बीचमें (नींदमें) स्वप्न आता है। बीचमें भी आप उसको सच्चा मान लेते हो, नहीं तो वह है ही नहीं। इसी तरह संसारको मान लें कि यह

संसार, शरीर पहले भी नहीं थे, पीछे भी नहीं रहेंगे, बीचमें भी केवल दीखते हैं, वास्तवमें हैं नहीं। अब कोई कहे कि संसार, शरीर आदि प्रत्यक्ष दीखते हैं, इनको 'नहीं' कैसे मानें? तो भाई! स्वप्न दीखनेमें कम सच्चा थोड़े ही दीखता था। जब दीखता था, तब ठीक सच्चा ही दीखता था। परंतु जगनेपर स्वप्न नहीं दीखता। इससे सिद्ध हुआ कि वह था ही नहीं। आजसे सौ वर्ष पहले ये शरीर थे क्या? और सौ वर्षके बाद ये शरीर रहेंगे क्या? हरेक आदमी मान लेगा कि बिलकुल नहीं रहेंगे। **'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा'** अर्थात् जो आदि और अन्तमें नहीं होता, वह वर्तमानमें भी नहीं होता। इस दृष्टिसे यह सब-का-सब निरन्तर 'नहीं' में भरती हो रहा है। जितनी उम्र बीत गयी, उतनी तो 'नहीं'में भरती हो ही गयी। अब जितनी उम्र बाकी रही, वह भी प्रतिक्षण 'नहीं'में भरती हो रही है। यह सब संसार प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। जितना जन्म है, वह प्रतिक्षण मृत्युमें जा रहा है। जितना सर्ग है, वह प्रतिक्षण प्रलयमें जा रहा है। जितना महासर्ग है, वह प्रतिक्षण महाप्रलयमें जा रहा है।

इस संसारको नाशवान् कहते हैं। जैसे धनके कारण मनुष्य धनवान् कहलाता है। अगर धन नहीं हो तो वह धनवान् नहीं कहलाता, ऐसे ही संसार नाशवान् कहलाता है तो इसमें नाशके सिवाय कुछ नहीं है, नाश-ही-नाश है। अगर 'परमात्मा हैं'— यह दृढ़ निश्चय हो जाय तो जो 'नहीं' को 'है' माना है, वह आड़ हट जायगी और परमात्मा प्रकट हो जायँगे! कारण कि परमात्मा तो हैं ही, उनका कभी अभाव नहीं होता। परमात्मा सब जगह होनेसे यहाँ भी हैं, सब समयमें होनेसे अभी भी हैं, सबमें होनेसे अपनेमें भी हैं और सबके होनेसे हमारे भी हैं। उनका अभाव कभी हो नहीं सकता, कभी हुआ नहीं, जब कि संसारमात्रका अभाव प्रतिक्षण हो रहा है। दो ही तो चीजें हैं—परमात्मा और संसार। परमात्माका तो अभाव नहीं हो सकता और संसारका भाव नहीं हो सकता—ऐसा यथार्थ दृष्टिसे दृढ़तापूर्वक जानते ही संसारकी जगह परमात्मा दीखने लग जायँगे। अभी भी परमात्मा ही दीखते हैं; क्योंकि संसारकी तो सत्ता ही नहीं है। परमात्माकी सत्तासे ही यह संसार सत्य क्यों दीख रहा है। इसमें सत्य तो एक परमात्मा ही हैं। तो फिर यह संसार सत्य क्यों दीखता है? ***'जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥'*** (मानस १। ११७। ४) मूर्खतासे ही यह संसार सत्य दीखता है। जो जानता है, पर मानता नहीं, उसे मूर्ख कहते हैं। जानता है कि यह संसार नाशवान् है फिर भी इसको स्थिर मानता है—यही मूर्खता है। हम जितना जानते हैं, उतना मान लें तो मूर्खता नहीं रहेगी और हम निहाल हो जायँगे।

परमात्माको तो मान लें और संसारको जान लें। परमात्माको कैसे मानें? कि परमात्मा तो हैं; और संसारको कैसे जानें? कि संसार नहीं है। संसारको ठीक जान लेनेपर परमात्मा प्रकट हो जाते हैं। 'यह बात ठीक दीखती है, तो फिर जँचती क्यों नहीं?' इसमें कारण यह है कि संसारसे सुख लेते हो। जबतक सांसारिक सुखका लोभ रहेगा, तबतक यह 'संसार नाशवान् है, असत्य है'—ऐसा कहनेपर भी दीखेगा नहीं।

काला भौंरा बाँसमें छेद करके रहता है। बाँस कितना कड़ा होता है, पर भौंरेके दाँत इतने कठोर होते हैं कि उसमें भी गोल-गोल छेद कर देता है! परंतु जब वह कमलके भीतर बैठता है, तब रातमें कमलके बन्द होनेपर भी वह उसे काटकर बाहर नहीं जाता। वह सोचता है कि रात चली जायगी, प्रभात हो जायगा, सूर्यका उदय हो जायगा, तब कमल खिल जायगा और उस समय मैं उड़ जाऊँगा। वह बाँसमें छेद कर देता है, पर कमलकी पंखुड़ी उससे नहीं कटती। क्या वह इतना कमजोर है? वह उस कमलसे सुख लेता है, इसलिये कमजोर हो जाता है! ऐसे ही यह मनुष्य संसारसे सुख लेता है, इसलिये यह कमजोर हो जाता है। बीकानेरकी बोलीमें एक बात आती है—***'रांडरा काचा'*** अर्थात् स्त्रीके आगे बिलकुल कच्चा, स्त्रीका गुलाम। इस संसाररूपी स्त्रीके आगे यह मनुष्य कच्चा, कमजोर हो जाता है। कच्चापन क्या है? संसारसे सुख लेता है, यही कच्चापन है। इस कच्चापनको दूर करना है।

'परमात्मा हैं'—यह तो मान्यता है और 'संसार नाशवान् है'—यह प्रत्यक्ष है। संसारको ठीक जान लो तो परमात्मा प्रकट हो जायँगे, इतनी-सी बात है। थोड़ी देर बैठकर इस बातको जमा लो कि बाहर-भीतर ऊपर-नीचे सब जगह परमात्मा ही हैं। जैसे समुद्रमें गोता लगानेपर चारों तरफ जल-ही-जल है, ऐसे ही सब जगह परमात्मा-ही-परमात्मा हैं। संसार तो बेचारा यों ही नष्ट हो रहा है!

श्रोता—संसारका सुख लेना कैसे मिटे?

स्वामीजी—इसको अपनी कच्चाई समझें तो यह मिट जायगा। इसको तो आप मिटायेंगे, तभी मिटेगा। दूसरा नहीं मिटा सकता। अतः आप अपना पूरा बल लगायें। फिर भी न मिटे तो 'हे नाथ! हे नाथ!' कहकर भगवान्‌को पुकारें। यह नियम है कि जब आदमी निर्बल हो जाता है, तब वह सबलका सहारा लेता ही है। एक तो सांसारिक सुखासक्तिको

मिटानेकी चाहना नहीं है और एक हम उसको मिटाते नहीं हैं, ये दो बाधाएँ हैं। ये दोनों बाधाएँ हट जायँ, फिर भी सुखासक्ति न मिटे तो उस समय आप स्वतः परमात्माको पुकार उठोगे। बालककी भी मनचाही नहीं होती तो वह रो पड़ता है और रोनेसे सब काम हो जाता है। ऐसे ही सज्जनो ! उस प्रभुके आगे रो पड़ो तो सब काम हो जायगा। वे प्रभु सर्वथा सबल हैं। उनके रहते हम दुःख क्यों पायें ? भगवान् हमारे हैं। बालक कहता है कि माँ मेरी है, तो माँको उसे गोदमें लेना पड़ेगा। वह तो केवल एक जन्मकी माँ है; परंतु वे प्रभु सदाकी और सबकी माँ है।

तत्त्वका अनुभव कैसे हो ?

किसीसे अनुभवकी बात पूछना और अनुभवकी बात कहना—ये दोनों ही बढ़िया चीज नहीं हैं। दूसरी बात, कोई भी व्याख्यानदाता अपनी दृष्टिसे बढ़िया-से-बढ़िया बात ही कहेगा; क्योंकि अपनी इज्जत सभी चाहते हैं। वह भी तो अपनी इज्जत चाहता है, इसलिये वह घटिया बात क्यों कहेगा ? वह अपना अनुभव छिपायेगा ही कैसे ?

संतोंकी वाणीमें आया है कि साधु-संतकी परीक्षा शब्दसे होती है—*'साधु पिछानिये शबद सुनाता।'* वह क्या बोलता है—इससे उसके भावोंका पता लग जाता है। किसी भी आदमीसे आप ठीक तरहसे बात करो, उसकी बातोंपर ध्यान दो तो उसके भीतरके भावोंका पता लग जायगा कि वह कैसा है ? कहाँतक पहुँचा हुआ है ?

गीताको देखनेसे पता लगता है कि भगवान्‌का क्या भाव है। गीता पढ़नेपर हमारी समझमें यह बात आयी कि भगवान्‌ने दो बातोंपर विशेष जोर दिया है—एक तो जीवन-पर्यन्त साधन करना और दूसरा अन्तकालमें सावधान रहना। इन दो विषयोंपर भगवान् जितना बोले हैं, उतना दूसरे किसी विषयपर नहीं बोले।

श्रोता—उस तत्त्वका अनुभव कैसे हो महाराजजी ?

स्वामीजी—पहले यह बात मान लो कि सब कुछ परमात्मा ही है; हमारेको दीखे, चाहे न दीखे; हमारी समझमें आये, चाहे न आये। गीताका खास सिद्धान्त है—**'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥'** (७।१९) अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही है—ऐसा अनुभव करनेवाला महात्मा बहुत दुर्लभ है। ऐसे ऊँचे दर्जेके महात्माओंकी बातें हमने सुनी हैं, पुस्तकोंमें पढ़ी हैं कि वे किसीको कोई बात समझाते हैं या प्रश्नका उत्तर देते हैं, तो भी उनके मनमें यह बात नहीं आती कि मैं तो समझदार हूँ और ये बेसमझ हैं, अनजान हैं। इनको मैं जना दूँ; यह सीखता है तो मैं सिखा दूँ—ऐसा भाव नहीं रहता। तो क्या भाव रहता है ? कि हमारे प्रभु ही व्यापक-रूपसे होकर पूछ रहे हैं। उनकी जो धारणा है, उसके अनुसार मैं कह रहा हूँ—इस तरह प्रभुकी मैं सेवा कर रहा हूँ। मेरे भीतर जो बोलनेकी एक आसक्ति है, कामना है, उसको पूरी करनेके लिये प्रभु अनजान बनकर पूछते हैं। केवल मेरेपर कृपा करनेके लिये ही पूछते हैं। मेरी बोलनेकी आसक्तिको मिटानेके लिये ही प्रभुने यह सब संयोग रचा है, यह उनकी ही लीला है। संसारका जो स्वरूप दीखता है, वह तो प्रभुका स्वरूप है और संसारकी जो चेष्टा है, वह सब प्रभुकी लीला है। प्रभु ही मेरेपर कृपा करनेके लिये विलक्षण रीतिसे लीला कर रहे हैं। उनका किसीसे कोई मतलब नहीं है, कोई प्रयोजन नहीं है; उनको न तो किसीसे कुछ लेना है, न कुछ सीखना है, वे तो केवल कृपा करके ऐसा कर रहे हैं। अतः उनकी कृपा-ही-कृपा है—यह बात हमलोगोंको मान लेनी चाहिये। जो महापुरुषोंका अनुभव है, उसको हम पहले ही मान लें तो फिर वह दीखने लग जायगा।

हम पढ़ाई करते हैं तो अध्यापक 'क, ख, ग, घ······' लिखकर बता दे और हम वैसे ही मानकर याद कर लें तो हम पढ़े-लिखे हो जायँगे। ऐसे ही अंग्रेजीकी 'A, B, C, D····' लिखकर बता दे और हम वैसे ही मानकर सीख लें तो हमें अंग्रेजी आने लगेगी। अब इसका तो पता लगता नहीं कि 'A'—यह 'ए' कैसे हुआ ? दो लाइनें इस तरह खींच दीं तथा एक लाइन बीचमें लगा दी और कहा कि यह 'A' है, तो हमने मान लिया कि ठीक है साहब, यह 'ए' है। अब माननेके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। अध्यापक जैसा कह दे, उसकी हाँ-में-हाँ मिला दे तो हम सीख जायँगे और एक दिन पंडित हो जायँगे। ऐसे ही जो संत-महात्मा हैं, जिनपर हमारी श्रद्धा है, वे जैसा कहें, उनकी हाँ-में-हाँ मिला दे तो फिर हमें वैसा ही अनुभव हो जायगा, इसमें किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं है। अक्षरोंके ज्ञानमें तो छोटा-बड़ा होता है अर्थात् कोई छोटा विद्वान् होता है, कोई बड़ा विद्वान् होता है; परंतु तत्त्वज्ञानमें छोटा-बड़ा होता ही नहीं। आजतक सनकादिक, नारदजी, व्यासजी आदि जितने बड़े-बड़े महापुरुष हुए हैं, उनको जो बोध प्राप्त हुआ है, वही बोध आज एक साधारण आदमीको प्राप्त हो सकता है; जिससे बढ़कर कोई विद्वत्ता नहीं है, जिससे बढ़कर कोई सुख-आनन्द नहीं है, जिससे बढ़कर कोई उन्नति नहीं है, जिससे बढ़कर कोई

चीज नहीं है, उसको मनुष्यमात्र प्राप्त कर सकता है। उस तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये ही मनुष्यका निर्माण हुआ है। खाना-पीना, सोना आदि तो कुत्तोंमें, गधोंमें भी होता है। उनमें भी बाल-बच्चे होते हैं, परिवार होता है। अब इतना ही काम मनुष्यने कर लिया तो मनुष्यजन्मकी महिमा क्या हुई? यह तो पशुपना ही है। आकृति तो मनुष्यकी दीखती है, पर मनुष्यपना नहीं है। मनुष्यपना तो वह है, जिसके लिये भगवान्‌ने कृपा करके मनुष्य-शरीर दिया है—*'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥'* (मानस ७।४४।३)। ऐसे मौकेको भोग भोगने और संग्रह करनेमें ही लगा दिया! यह तू किस काममें लग गया? यह क्या धंधा बीचमें ही छेड़ दिया? कहाँ पहुँचना था तुझे और कहाँ बीचमें अटक गया? ये भोग भी यहीं छूट जायँगे, शरीर भी यहीं छूट जायगा, रुपये भी यहीं छूट जायँगे। जो छूट जायँगे उनसे तुझे क्या मिला? असली मिलना तो वह है, जो कभी छूटे नहीं, सदा साथ रहे। इसलिये सज्जनो! चीज तो वह लो, जो सदा साथ रहे, कभी इधर-उधर हो ही नहीं। शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ, तो भी उस चीजको कोई हमारेसे छीन न सके।

एक बहुत दामी बात बताता हूँ, जो मैंने पुस्तकोंमें पढ़ी है और संतोंसे सुनी है। परमात्मा हैं और वे सब समयमें हैं। कोई ऐसा समय नहीं जिसमें वे नहीं हों। समय उनके अन्तर्गत है। उनका किसी भी समयमें अभाव नहीं होता, पर उनमें समयका अभाव हो जाता है। वे परमात्मा सब समयमें हैं, तो अभी भी हैं। अगर अभी नहीं हैं तो सब समयमें कैसे हुए? वे सब जगह हैं, तो यहाँ भी हैं। अगर यहाँ नहीं हैं तो उनको सब जगह कैसे कहा जाय? वे सबमें हैं, तो मेरेमें भी हैं। अगर मेरेमें नहीं हैं तो उनको सबमें कैसे कहा जाय? एक और विलक्षण बात है कि वे अपने हैं! शरीर अपना नहीं है, मन अपना नहीं है, बुद्धि अपनी नहीं है, इन्द्रियाँ अपनी नहीं हैं; क्योंकि ये सब-के-सब प्रकृतिके कार्य हैं, जड़ हैं, उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं।

जैसे, आप कहते हैं कि 'मैं हूँ', तो इसमें कोई संदेह होता है क्या कि 'मैं हूँ कि नहीं हूँ'? किसीसे पूछना पड़ता है क्या? किसीसे गवाही लेनी पड़ती है क्या? यह तो स्वतःसिद्ध है। इस 'मैं हूँ' में 'मैं'-पन तो प्रकृतिको लेकर है और 'हूँ'-पन 'है'— (परमात्मा-)को लेकर है। वह 'है' ही 'हूँ' हुआ है। प्रकृतिसे सम्बन्ध छूटते ही 'है' रह जाता है और 'हूँ' पन मिट जाता है—यह संतोंका अनुभव है। इस बातको आप दृढ़तासे मान लें, तो काम ठीक हो जायगा। इसमें एक बड़ी बाधा है। वह बाधा क्या है? यह बताता हूँ। आप विशेष ध्यान दें। साधन, भजन-ध्यान करनेपर भी इधर दृष्टि नहीं जाती। वर्षोंतक व्याख्यान देनेपर भी यह बात मेरे अक्लमें नहीं आयी। वही बात अभी आपको सीधी कह दूँ, जिसे आप अभी मान लो। यह जो संयोगजन्य सुख है, इसका हम जो रस लेते हैं, बस, यही खास बाधा है। खाना-पीना, सोना-जागना, बैठना-बोलना तथा मान-बड़ाई आदि जितने हैं, इनके सम्बन्धसे एक सुख होता है। इस सुखमें जो आसक्ति तथा खिंचाव है, यही खास बाधा है। इसको मिटानेका उपाय क्या है? यह भाव हो जाय कि दूसरोंको सुख कैसे हो। कोई बढ़िया चीज है तो वह दूसरोंको कैसे मिले? यह कपड़ा बढ़िया है तो दूसरोंको कैसे मिले? मान-बड़ाई बढ़िया है तो दूसरोंको कैसे मिले? इस प्रकार दूसरोंको देनेका भाव बन जाय। यह बड़ा सुगम उपाय है संयोगजन्य सुखसे छूटनेका! यह काम आप घरसे ही शुरू कर दो। माता-पिता, स्त्री-पुरुष आदि सबको सुख पहुँचाना है, पर उनसे सुख नहीं लेना है। आप उनको सुख पहुँचाते हैं, पर भाव यह रहता है कि पुत्र मेरा कहना माने, माँकी मैं सेवा करूँ तो वह अपने गहने आदि मेरेको ही दे—यहीं खतरा है। लेनेका भाव ही खास बाँधनेवाली चीज है। अतः लेनेका भाव छोड़कर केवल माँकी प्रसन्नताके लिये ही माँकी सेवा करो। माँसे कह दो कि आपके पास जो गहना, रुपया आदि है, वह चाहे मेरे भाईको दे दो, चाहे मेरी बहनको दे दो, चाहे ब्राह्मणको दे दो, जहाँ आपकी मर्जी हो, वहाँ दे दो। पर मेरेसे तो केवल सेवा ले लो, इसमें आप संकोच मत करो।

हमारा काम केवल सेवा करना है। माता-पिताकी सेवा करनी है। स्त्रीको विवाह करके लाये तो उसको दुःख न हो—यह हमारा कर्तव्य है, चाहे वह हमारी सेवा करे या न करे। वह हमें तंग करे, दुःख दे तो ऐसा मानो कि भगवान्‌ने हमारेपर बड़ी कृपा की है। अगर वह मनोऽनुकूल सेवा करती तो हम मोहमें फँस जाते। भगवान् ही माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदिके रूपमें मेरेसे सेवा ले रहे हैं—ऐसा भाव हो जाय तो सुखकी आसक्ति छूट जायगी। वह छूटी और परमात्माकी प्राप्ति हुई; क्योंकि परमात्मा तो हैं ही सब जगह। सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तुओंमें, सम्पूर्ण घटनाओंमें, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें वे ही तो हैं। दूसरा आये कहाँसे? अतः परमात्मप्राप्तिका बड़ा सुगम उपाय है कि सुख दे दें, और बाधा है—सुख ले लें।

★

कारागार—एक शिक्षालय

(नागपुरके कारागारमें किया गया एक प्रवचन)

जबतक परमात्माकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक सभी जीव कैदी हैं। आप ऐसा न समझें कि हम बड़े नीचे दर्जेके हैं। हम सभी परमात्माकी संतान हैं! जैसे आप इस कारागारमें पराधीन होकर आये हैं, स्वाधीन होकर नहीं आये, ऐसे ही हम सब-के-सब इस संसारमें पराधीन होकर ही आये हैं और यहाँ आकर अपने-अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगते हैं। जबतक कर्मोंके परतन्त्र होकर उनका फल भोगते हैं, तबतक हम कैदी ही हैं।

मनुष्ययोनि ही ऐसी है, जिसमें आकर मनुष्य परमात्म-तत्त्वको प्राप्त कर सकता है। सदाके लिये स्वाधीन हो जाय, पराधीनता सर्वथा मिट जाय, इसके लिये ही मनुष्य-शरीर मिला है। इसमें सुख और दुःख—दो तरहके भोग होते हैं। सुखके भोगमें मनुष्य समझता है कि मैं स्वाधीन हूँ और दुःखके भोगमें वह समझता है कि मैं पराधीन हूँ। परंतु यह बेसमझीकी बात है। अगर हम सुखके भोगमें स्वतन्त्र होते तो फिर सुख-ही-सुख भोगते, दुःख भोगते ही नहीं। परन्तु यह अपने हाथकी बात नहीं है। हमें सुख और दुःख दोनों ही भोगने पड़ते हैं।

दुःखके भोगमें एक विलक्षण बात है—सुखके भोगमें तो अपने पुण्योंका नाश होता है, पर दुःखके भोगमें पापोंका नाश होता है! आप यहाँ पापोंका नाश करनेके लिये आये हैं। कोई-न-कोई पाप होता है, तभी मनुष्य कैदमें आता है। कैदकी जितनी अवधि है, उतनी अवधितक कैदमें रहनेपर उसके पाप नष्ट होते हैं और पाप नष्ट होनेसे वह पवित्र बनता है। इसलिये अब आपको और हमको, सबको चाहिये कि दुःखोंसे छूटनेके लिये पाप-अन्याय, दुर्गुण-दुराचार, शास्त्रमर्यादासे विरुद्ध कोई काम न करें। इस बातकी शिक्षा यहाँ आपको क्रियारूपसे मिलती है।

यह कारागार एक शिक्षालय है। इसमें यह शिक्षा मिलती है कि अब आगे ऐसा पाप नहीं करें। संसारमात्रमें बीमारीसे, घाटा लगनेसे, अपमान होनेसे, निंदा होनेसे जो दुःख होता है, वह दुःख शिक्षा देनेके लिये होता है कि हमने कभी-न-कभी पाप किया है, उसीका फल यह दुःख है। इसलिये अब आगे कोई पाप नहीं करेंगे —यह शिक्षा लेनी चाहिये। पुराने पापोंका फल भोगनेसे वे पाप नष्ट हो जाते हैं। पाप नष्ट होनेपर हम शुद्ध, निर्मल हो जाते हैं।

यहाँ जो अनुकूलता आती है, नफा हो जाता है, धन मिल जाता है—यह सब पुण्यका फल है। जो प्रतिकूलता आती है, घाटा लग जाता है, कोई मर जाता है, बीमारी आ जाती है—यह सब पापका फल है। पुण्योंका फल भोगनेके लिये स्वर्गमें जाते हैं और वहाँका सुख भोगते हैं। सुख भोगनेसे पुण्योंका नाश हो जाता है और पुनः मृत्युलोकमें गिरना पड़ता है—'**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।**' (गीता ९।२१) पाप नष्ट होते हैं दुःखसे तथा पुण्य नष्ट होते हैं सुखसे। सुख भोगनेसे तो पुण्योंका नाश होता है और अपना स्वभाव बिगड़ता है, इससे पापोंके बीज बोये जाते हैं। परन्तु दुःखमें तो लाभ-ही-लाभ होता है, नुकसान होता ही नहीं। जितना दुःख, कष्ट आता है, वह पुराने पापोंका नाश करता है और आगेके लिये सावधान करता है।

राजा प्रजाका माता-पिता होता है। वह प्रजाका हित चाहता है। अतः आपके हितके लिये ही आपको यहाँ भरती किया है, जिससे आपके जीवनमें कोई दोष रहे ही नहीं, आप पवित्र बन जायँ। आप ऐसा न समझें कि कैदखानेमें आकर हम पराधीन हो गये। इसको शिक्षालय समझें। यहाँ क्रियात्मक शिक्षा दी जाती है। यह अपवित्र नहीं है। यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने जन्म लिया था। इसलिये सभ्य लोग कारागारको 'कृष्ण-जन्म-स्थान' कहते हैं। कारागारमें अवतार लेकर भी भगवान् श्रीकृष्ण कितने बड़े हो गये? उनकी शिक्षा 'श्रीमद्भगवद्गीता' का विदेशीलोग भी आदर करते हैं। कोई भी आदमी अगर विद्वान् होगा तो वह गीताका आदर जरूर करेगा।

यहाँ आपकी बहुत बड़ी उन्नति हो सकती है। यहाँ रहकर अच्छे काम करें, अच्छा बर्ताव करें। सबके साथ सेवाका बर्ताव करें, आदरका बर्ताव करें, उनको सुख पहुँचानेका बर्ताव करें। यहाँ आप तरह-तरहके काम-धन्धे भी सीखते होंगे। उससे भी बहुत बड़ा फायदा होता है। एक विद्या आ जायगी, उस विद्यासे आप आगे कमाकर खा सकते हैं। मैं यहाँके फायदेसे परिचित नहीं हूँ। मेरा और कई जगह जानेका काम पड़ा है। बीकानेरके कैदखानेमें देखा था कि वहाँ बड़ी अच्छी-अच्छी दरियाँ, गलीचे आदि बनते हैं। ऐसी-ऐसी सुन्दर चीजें बनती हैं, जो विदेशोंमें भी जाती हैं। जब गङ्गासिंहजी महाराज बीकानेरके राजा थे, तब वे एक बार इंगलैण्ड गये। वहाँ उन्होंने बहुत कीमत देकर एक गलीचा खरीदा। वहाँसे वापस आकर उन्होंने बीकानेर-जेलमें गलीचा-बुनाईपर जो अफसर था, उसको बुलाकर कहा कि 'देखो, ऐसा गलीचा अपने यहाँ भी बुनवाओ। यह मैं इंगलैण्डसे लाया हूँ।'

गलीचा देखकर उसने बताया कि 'अन्नदाता ! यह तो अपनी जेलका ही बना हुआ है, वहाँ जानेसे बड़ा कीमती हो गया। यह देखिये, अपनी जेलसे बने हुएका चिह्न।'

यहाँ काम करनेमें तो आपको ऐसा लगता है कि हम परवश होकर करते हैं; पर उसको भी अगर आप सीख लेंगे तो वह विद्या आपके हाथ लग जायगी। उस विद्यासे आप जहाँ रहें, वहाँ काम कर सकते हैं। बड़े-बड़े धनी व्यापारियोंके यहाँपर आप इकट्ठे होकर कहो कि हमें ऐसा-ऐसा काम आता है, तो उनकी सहायतासे आप देशकी बड़ी उन्नति कर सकते हैं।

यहाँ रहते हुए भी आपसमें अच्छा बर्ताव करना सीखें। दूसरोंकी आज्ञामें रहना—यह उन्नतिका तरीका है। आप ध्यान दें। दुष्टोंके परतन्त्र होनेसे तो आदमी दुःख पाता है; परन्तु जो सज्जनोंके परतन्त्र होता है, वह स्वतन्त्र बनता है और सुख पाता है। जितने बड़े-बड़े विद्वान् हुए हैं, वे बाल्यावस्थामें विद्वानोंके अधीन रहकर ही विद्वान् बने हैं। जितने संत-महात्मा हुए हैं, अपने गुरुजनोंकी सेवा करके, उनके अधीन रहकर ही संत-महात्मा बने हैं। बड़े ऊँचे दर्जेके महापुरुषोंने भी बचपनमें परतन्त्रताको स्वीकार किया है। सज्जनोंकी, हितैषियोंकी जो परतन्त्रता होती है, वह स्वतन्त्रताको देनेवाली होती है। परन्तु जो अपनी इन्द्रियोंके और मनके वशमें होते हैं, वे परतन्त्र ही रहते हैं। उनको बार-बार नरकोंमें जाना पड़ता है, बड़े-बड़े कष्ट पाने पड़ते हैं। इसलिये इन्द्रियोंको तथा मनको वशमें करके अच्छे कामोंमें लगे रहना चाहिये। इन्द्रियोंके, मनके भोगोंके वशमें होनेसे अभी तो स्वतन्त्रता दीखती है, पर आगे परतन्त्रता आ जाती है—यह स्वतन्त्रतामें भी परतन्त्रता है। सज्जनोंकी परतन्त्रतामें भी स्वतन्त्रता है।

अच्छे आचरण करो, अच्छे गुण सीखो, अच्छे भाव सीखो। अपने जीवनको सदा ही पवित्र बनाओ। पवित्र बननेके लिये यह बड़ा ही सुन्दर मौका है; क्योंकि यह जगह पापी बननेके लिये नहीं है, प्रत्युत शुद्ध बननेके लिये है।

भगवन्नामकी बड़ी भारी महिमा है। एकनाथजी, तुकारामजी आदि जितने बड़े-बड़े संत-महापुरुष हुए हैं, उन्होंने नाम-जपकी बहुत महिमा गायी है। वह नाम-जप आप करते रहो। भगवन्नाम लेनेके लिये आप परतन्त्र नहीं हो। काम-धंधा करते हुए भी भगवन्नाम लेते रहो। चाहे राम, कृष्ण, गोविन्द, वासुदेव आदि कहो, चाहे विट्ठल-विट्ठल कहो। आपको भगवान्‌का जो नाम प्यारा लगे, वह नाम आप लेते रहो।

भगवान्‌के नामोंमें तो भेद है, पर उनके फलमें भेद नहीं है। उनमें भी जिस नाममें आपकी अधिक रुचि हो, उसीका जप करें। इससे अधिक लाभ होता है। मन लगाकर भगवान्‌के नामका जप करें। मन न लगे तो भी एक ऐसी आदत बना लें कि काम-धंधा करते हुए भी नाम-जप होता रहे। संतोंने कहा है—***'हाथ काम मुख राम है, हिरदै साँची प्रीत। दरिया गिरस्ती साध की, याही उत्तम रीत ॥'*** इस प्रकार यहाँ रहते हुए आप भी भगवान्‌का नाम लेते रहें तो आप भी सन्त हो जायँगे। स्वराज्य-प्राप्तिके लिये अच्छे-अच्छे लोगोंने भी कैद भोगी थी; परंतु भोगी थी धर्मके लिये, पापोंके कारण नहीं। 'कल्याण'के सम्पादक श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार भी राजनैतिक कैदीके रूपमें जेलखानेमें रहे थे। वहाँ रहकर वे लोगोंको दवाइयाँ वितरण किया करते और भजन-स्मरण किया करते थे। जेलमें उन्होंने लगभग दो हजार पुस्तकें पढ़ी और नाम-जपका अभ्यास किया। वे अँगुलीपर नाम-जप किया करते और गिनतीके लिये लकड़ीसे दीवारपर लाईन खींच देते। इस तरह उन्होंने खूब नाम-जप किया। अतः नाम-जपका अभ्यास करनेका यहाँ बड़ा ही सुन्दर मौका है। आपको ज्यादा बोलनेका काम भी नहीं पड़ता। आपके जो अफसर हैं, उनको तो शासन करना पड़ता है, बोलना पड़ता है; परंतु आपके लिये तो कुछ बोलनेकी आवश्यकता नहीं। इसलिये आप विशेषतासे नाम-जप करें। थोड़ी-थोड़ी देरके बाद 'हे नाथ ! मैं आपको भूलूँ नहीं; हे नाथ ! आपके चरणोंमें मेरा प्रेम हो जाय'—इस प्रकार भगवान्‌से प्रार्थना करते रहें और नाम-जप करते रहें।

हृदयसे सबका भला चाहें। किसीका भी बुरा न चाहें। किसीने आपपर मुकदमा करके आपको कैद करा दी है तो उसका भी बुरा न चाहें; क्योंकि उसने आपको शुद्ध बनानेके लिये ही ऐसा किया है। आप शुद्ध बन जायँगे तो आपको बार-बार जन्म नहीं लेना पड़ेगा, बार-बार कैदमें नहीं आना पड़ेगा। माँके गर्भमें रहना भी एक बड़ा भारी कैदखाना है। वहाँ जीव बड़े कष्टसे रहता है, बहुत दुःख पाता है; परंतु पापोंके कारण वहाँ बार-बार आना पड़ता है। इसलिये कारणको ही मिटा दो तो कार्य अपने-आप मिट जायगा—**'मूलाभावे कुतः शाखा।'** जब मूल ही कट जायगा तो शाखा कैसे निकलेगी ? अतः पाप, अन्याय, दुराचार आदि करना ही नहीं है। न चोरी करनी है, न डाका डालना है, न किसीका अनिष्ट करना है। तनसे, मनसे, वचनसे जो दूसरोंको दुःख देता है, उसको दुःख पाना ही पड़ेगा—यह एकदम सच्ची बात है। जैसा बीज बोया जाता है, वैसा ही वृक्ष होता है और वृक्षसे फिर वैसा ही बीज आता है। ऐसे ही जो

दूसरोंको दुःख देता है, उसको दुःख पाना ही पड़ता है। दूसरोंको दुःख देकर चाहे अभी सुखी हो जाय, दूसरोंका धन छीनकर चाहे अभी धनी बन जाय, दूसरोंको मारकर चाहे अभी राजी हो जाय; परंतु अन्तमें दुःख पाना ही पड़ेगा, बच सकेगा नहीं। परमात्माके यहाँ बड़ा इंसाफ है, बड़ा न्याय है। यहाँ तो झूठ-कपट करके भी आदमी दण्डसे बच सकता है, पर परमात्माके यहाँ नहीं बच सकता। वहाँ झूठे गवाह नहीं मिलेंगे और वकील-मुखत्यार भी नहीं मिलेंगे। वहाँ तो अपने किये हुएके अनुसार दण्ड भोगना पड़ेगा।

आप थोड़ा-सा ध्यान दें। जैसे पंखा चलता है, बत्ती जलती है, लाउडस्पीकरसे आवाज होती है—ये सब काम बिजलीसे होते हैं। जब बिजलीघरका आदमी आता है, तब वह आपलोगोंसे यह नहीं पूछता कि आपने कितनी बिजली जलायी, कैसे जलायी, कब जलायी? बिजलीका यन्त्र (मीटर) लगा रहता है। उस यन्त्रको देखकर वह आपके पास बिल भेज देता है कि इतने नम्बर (यूनिट) आये हैं, इतने पैसे हुए। वे पैसे आपको चुकाने पड़ते हैं। इसी तरहसे आप, हम जितने मनुष्य हैं, उनके भीतर भी एक मीटर रखा हुआ है। इस शरीरके ऊपर गरदनसे खोपड़ीतक यह मीटर लगा है। हम जैसा देखते हैं, जैसा सुनते हैं, जैसा चखते हैं, जैसा स्पर्श करते हैं, जैसा सूँघते हैं, वह सब इस मीटरमें अंकित हो जाता है। हमारे मनमें किसीका नुकसान करनेकी भावना पैदा होती है, तो वह भी इस मीटरमें अंकित हो जाती है। जेलखानेमें पहरा देनेवालोंके गलेमें एक यन्त्र लटका देते हैं। वह जितनी नींद लेता है, उतना उस यन्त्रमें अंकित हो जाता है। इसी तरहसे हमारे भीतर भी ऐसे यन्त्र रखे हुए हैं, जिनके अनुसार आगे दण्डकी और पुरस्कारकी व्यवस्था होगी। वे यह नहीं पूछेंगे कि कितना किया और क्या किया? ऐसा पूछनेकी जरूरत ही नहीं है, वे खुद ही सब देख लेंगे। यहाँ तो सत्य बुलवानेके लिये पहले आदमीको बेहोश कर देते हैं। उस अवस्थामें जो संस्कार पड़े हुए होते हैं, उसके अनुसार जैसी बात होती है, वह खोल देता है। परन्तु हमारे भीतर ऐसा सुन्दर यन्त्र रखा हुआ है, जिसमें बोलनेकी जरूरत ही नहीं पड़ती! भीतरके भावोंका अपने-आप पता लग जाता है। उसके अनुसार ही सुखदायी और दुःखदायी परिस्थिति आती है।

दुःखदायी परिस्थिति जितनी लाभदायक होती है, सुखदायी परिस्थिति उतनी लाभदायक नहीं होती। सुखभोग दीखता तो अच्छा है, पर उसका नतीजा खराब होता है। सुख भोगनेसे पुराने पुण्य नष्ट होते हैं और आदत खराब होती है, जिससे आगे फिर सुख भोगनेकी इच्छा होती है। सुख भोगनेकी इच्छा ही पापोंकी जड़ है। अर्जुनने पूछा कि महाराज, यह मनुष्य पाप करना नहीं चाहता, फिर भी इसको जबर्दस्ती पापमें लगानेवाला कौन है? (गीता ३। ३६) भगवान्‌ने उत्तर दिया कि सुखभोग और संग्रहकी इच्छा ही पापोंका कारण है। ज्यों-ज्यों मनुष्य अधिक सुख भोगेगा, त्यों-ही-त्यों उसके भीतर भोगोंकी इच्छा बढ़ेगी। वह इच्छा ही आगे उससे पाप करायेगी। पुण्योंका फल—सुखभोगनेसे पुराने पुण्य नष्ट होते हैं और सुखभोगकी इच्छा पैदा होनेसे पापोंका बीज बोया जाता है, जिससे वह पापी बनता है। इसलिये सुखभोगमें लाभ नहीं है। परंतु दुःख-भोगमें बड़ा भारी लाभ है—एक तो पुराने पाप नष्ट होते हैं और एक भोगोंसे उपरति होती है कि भोगोंके लिये हमने अमुक-अमुक काम किये, इसलिये दुःख भोगना पड़ा। अतः अब ऐसा पाप नहीं करेंगे—यह भाव होनेसे वह शुद्ध हो जाता है।

यह बात देखी हुई है कि कोई आदमी बहुत ज्यादा बीमार हो जाता है तो बीमारीसे उठनेपर उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। इसकी पहचान यह है कि उसके सामने कोई भगवत्सम्बन्धी बात रखें, भक्तोंका चरित्र रखें तो उसे सुनकर गद्‌गद हो जाता है, आँसू आने लगते हैं। उसको भगवान्‌की बात बड़ी प्यारी लगती है। कारण क्या है? बीमारीका कष्ट भोगनेसे अन्तःकरण शुद्ध, निर्मल हो जाता है। शुद्ध अन्तःकरणमें भगवान्‌का प्रेम पैदा होता है! इसी तरहसे आपलोग भी कैद भोगनेसे शुद्ध हो जायँगे। यहाँ रहते हुए अपना भाव, अपनी नीयत अच्छी रखें। इसका नतीजा आपके लिये बहुत उत्तम होगा। जो लोग सुख भोगते हैं और स्वतन्त्रतासे घूमते हैं, उनकी अपेक्षा आप बड़े भाग्यशाली हैं।

हमारे छः दर्शन-शास्त्र हैं। उनमेंसे एक शास्त्र है—पातञ्जलयोगदर्शन। उसमें बताया है कि **'हेयं दुःखमनागतम्'** (२। १६)—जो दुःख आया नहीं है, पर आनेकी सम्भावना है, वह दुःख त्याज्य है। अर्थात् उस दुःखसे हम बच सकते हैं! जो दुःख भोग चुके, वह तो भोग ही चुके, उसका क्या किया जाय? अभी जो दुःख भोग रहे हैं, वह भोगनेसे नष्ट हो जायेगा। अब आगे आनेवाले दुःखसे बचना चाहिये। उससे बचनेके लिये ही यह मानव-शरीर मिला है। इस मानव-शरीरमें अगर हम सावधान रहें, ठीक तरहसे आचरण करें और मर्यादाके अनुसार चलें तो आगे दुःख नहीं होगा। आनेवाले दुःखसे बचनेके लिये आपका यह स्थान बहुत बढ़िया है। अब आपके लिये सावधानीकी विशेष आवश्यकता है। जो बाहर गृहस्थमें रहते हैं और अपनेको स्वतन्त्र मानते हैं, उनमें भी सावधानीकी पूरी आवश्यकता है।

सावधानीके बिना प्रमाद, आलस्य आदि तमोगुणी वृत्तियाँ मिटेंगी नहीं। हिंसा, प्रमाद, आलस्य, निरर्थक समय बर्बाद करना बहुत खराब चीज है। इसलिये आपलोगोंके लिये बहुत उचित बात यह है कि सब-का-सब समय अच्छे काममें लगाये रखें।

हरेक आदमीके लिये, वह साधु हो चाहे गृहस्थ हो, भाई हो चाहे बहन हो, पढ़ा-लिखा हो चाहे अपढ़ हो, मैं चार बातें कहा करता हूँ। उन बातोंको काममें लायें तो बहुत लाभ होगा, जीवन शुद्ध बन जायगा। वे चार बातें इस प्रकार हैं—

(१) सबसे पहली बात है समयकी। हमारे पास जितना समय है, उस समयको अच्छे-से-अच्छे काममें, उत्तम-से-उत्तम काममें लगाये। समयको बर्बाद न करे। ताश, खेल, चौपड़, सिनेमा, नाटक, खेलकूद (हाकी, क्रिकेट आदि खेलने)में जो समय जाता है, वह बर्बाद होता है। न तो उससे परमात्मा मिलते हैं और न संसारका कोई लाभ होता है। हाँ, कई खेल ऐसे हैं, जिनसे शारीरिक व्यायाम होता है, स्वास्थ भी ठीक होता है; परंतु प्रायः निरर्थक समय जाता है। सिनेमा देखनेसे आँखें भी खराब होती हैं, धन भी नष्ट होता है, समय भी बर्बाद होता है और चरित्र भी खराब होता है। खेल-तमाशोंमें उम्र बर्बाद हो जाती है।

हमें जो समय मिला है, वह सीमित है, असीम नहीं है। जैसे घड़ीमें जितनी चाबी भरी हुई होती है, उतनी देर ही वह चलती है। चाबी समाप्त होते ही घड़ी बंद हो जाती है। ऐसे ही हमारी श्वासरूपी घड़ी चलती है। श्वास खत्म होते ही मरना पड़ता है। फिर कोई जी नहीं सकता। किसी बल, अधिकार, योग्यतासे जी जायँ या विद्वान् होनेसे जी जायँ—यह हाथकी बात नहीं। वे श्वास अगर निरर्थक कामोंमें खर्च होते हैं, पाप करनेमें और दुर्व्यसनोंका सेवन करनेमें खर्च होते हैं तो यह महान् मूढ़ता है!

भगवान्का चिन्तन किये बिना जो समय जाता है, वह सब निरर्थक होता है। अतः हर समय सावधान रहना चाहिये कि हमारा समय निरर्थक न चला जाय। यहाँ जितना काम करना होता है जितनी ड्यूटी बजानी होती है उतना काम बड़े उत्साहसे करो और छुट्टी मिलते ही भगवान्के नामका जप करो, कीर्तन करो, गीता आदि पुस्तकें पढ़ो।

(२) दूसरी बात आपके लिये बहुत सुगम है; वह है—अपना जीवन सादगीसे बितायें, अपना व्यक्तिगत खर्चा कम-से-कम करें। साधारण भोजन करना, साधारण कपड़ा पहनना और साधारण मकानमें रहना—ऐसे शरीर-निर्वाह करनेकी आदत बन जाय। ऐसी आदत बन जायगी तो समयपर आप बढ़िया भोजन भी कर सकते हो, बढ़िया कपड़ा भी पहन सकते हो, बढ़िया मकानमें भी रह सकते हो और समयपर साधारण-से-साधारण भोजन, कपड़ा और मकानमें भी निर्वाह कर सकते हो। आपको स्वतः ऐसा अवसर मिला हुआ है, जिसमें आप अपना व्यक्तिगत खर्चा कम करके सादगीसे अपना जीवन बितानेका अभ्यास कर सकते हो।

यहाँसे बाहर जानेपर भी आप ऐश-आरामका जीवन न बितायें। जीवनमें सादगी रखें। ऐसा स्वभाव बननेसे आप चाहें जहाँ खूब आरामसे रह सकते हैं। जितने अच्छे-अच्छे संत-महात्मा हुए हैं, उन्होंने बिलकुल साधारण कपड़ोंमें, साधारण बिछौनोंमें, साधारण मकानोंमें रहते हुए और साधारण भोजन करते हुए अपना जीवन बिताया है। आपमेंसे जिनके पास पैसे हों, वे दानमें, पुण्यमें, कुटुम्बियोंके लिये, अरक्षितोंके लिये, अपाहिजोंके लिये, दीन-दुःखियोंके लिये खर्च करें। अपना व्यक्तिगत खर्चा कम करें।

(३) तीसरी बात यह है कि आप जो काम करें, उस काममें कारीगरी, चतुराई, होशियारी-बुद्धिमानी बढ़ाते रहें। यह विद्या आप यहाँ सीख लोगे तो यह सदा आपके पास रहेगी। ऐसा आया है कि अगर ब्रह्माजी अपने वाहन हंसपर क्रोध करके उसे अपने यहाँसे निकाल दें, तो बेशक निकाल दें, परन्तु 'दूध-दूध पी लेना और जल छोड़ देना'—यह विद्या उससे ब्रह्माजी भी नहीं छीन सकते। वह जहाँ भी जायगा, यह विद्या तो उसके पास ही रहेगी। अतः हरेक काम करनेमें कुशलताको, चतुराईको, समझदारीको, विद्याको बढ़ाते चले जायँ।

(४) चौथी बात है—पराया हक न लेना। चोरी-डकैती आदि करना तो बहुत दूर रहा, दूसरोंका हक हमारे पास न आये—इस विषयमें खूब सावधान रहना है। अपनी खरी कमाईका अन्न खाओगे तो अन्तःकरण निर्मल होगा और अगर चोरीका, ठगी-धोखेबाजीका, अन्यायका अन्न खाओगे तो अन्तःकरण महान् अशुद्ध हो जायगा।

आजकल टैक्स बहुत बढ़ जानेसे लोग व्यापार आदिमें चोरी-छिपाव करते हैं। जैसे-जैसे वकील सिखाता है, वैसा-वैसा करके वे धन बचानेकी चेष्टा करते हैं। वे विचार ही नहीं करते कि इस प्रकार धन बचानेसे अन्तःकरण कितना मैला हो जायगा! एक संत कहा करते थे कि शुद्ध कमाईके धनसे बहुत पवित्रता आती है। उनके पास एक राजा आया करते थे। एक बार राजाने उनसे पूछा कि 'महाराज, आपके यहाँ बहुत-से लोग आया करते हैं और आप भी कई लोगोंके घरोंमें भिक्षाके लिये जाया करते हैं। ऐसा कोई घर आपकी

दृष्टिमें है, जिसका अन्न शुद्ध कमाईका हो ? अगर ऐसा घर आपको दीखता है तो बतायें।' सन्तने कहा कि 'अमुक स्थानपर एक बूढ़ी माई रहती है। उसके घरका अन्न शुद्ध है। वह ऊनको कातकर उससे अपनी जीविका चलाती है। उसके पास धन नहीं है, साधारण घास-फूसकी कुटिया है; परंतु वह पराया हक नहीं लेती, इस कारण उसका अन्न शुद्ध है।' ऐसा सुनकर राजाके मनमें आया कि उसके घरकी रोटी मिल जाय तो बड़ा अच्छा है ! राजा स्वयं एक भिखारी बनकर उसके घर पहुँचा और बोला—'माताजी ! कुछ भिक्षा मिल जाय। वह बूढ़ी माई भीतरसे रोटी लायी और बोली—'बेटा ! यह रोटी ले लो।' तब राजाने पूछा—'माताजी, एक बात बताओ कि यह रोटी शुद्ध है न ? इसमें पराया हक तो नहीं है ?' तो वह बोली—'देख बेटा, बात यह है कि यह पूरी शुद्ध नहीं है, इसमें थोड़ा पराया हक आ गया है ! एक दिन रातमें बारात जा रही थी। बारातमें जो गैस-बत्तियाँ थीं, उनके प्रकाशमें मैंने ऊन ठीक की थी—इतना इसमें पराया हक आ गया है। इसके सिवाय मेरी कमाईमें कोई कसर नहीं है।' राजाने बड़ा आश्चर्य किया कि इतनी-सी कमीका भी इतना खयाल है ! दूसरेके उस प्रकाशमें हमारा क्या अधिकार है कि उसमें हम अपनी ऊन ठीक करें ?

इस तरह ये चार बातें हुई—पहली, समय बर्बाद न करना, उसको उत्तम-से-उत्तम काममें लगाना; दूसरी, जो काम करें, उसमें अपनी जानकारी-होशियारी बढ़ाते रहना; तीसरी, अपने शरीरके निर्वाहके लिये थोड़े खर्चेकी आदत बना लेना और चौथी, पराया हक न लेना। ये चार बातें जिसमें होती हैं, उसको लोग बहुत चाहते हैं। अगर वह नौकरी करना चाहेगा, तो उसको नौकरी जरूर मिल जायगी। ये जो बड़े-बड़े व्यापार करनेवाले सेठ होते हैं, वे प्रायः झूठ-कपट करते हैं, सरकारको धोखा देते हैं, बही भी दूसरी बना देते हैं और वक्तपर विश्वासघात भी कर लेते हैं; परन्तु वे भी यह नहीं चाहते कि हमारा मुनीम हमारे साथ झूठ-कपट करे, हमारेको धोखा दे, हमारे साथ विश्वासघात करे। वे चाहते हैं कि हमें ईमानदार अच्छा नौकर मिले। बेईमान आदमी भी ईमानदार नौकर चाहते हैं और ईमानदार आदमी भी ईमानदार नौकर चाहते हैं। काम करनेवाला सच्चा और ईमानदार आदमी मिले—इसकी भूख सबको रहती है।

एक विधवा बहन मिली। उसके ससुरालवालोंने सब रुपये-गहने ले लिये, उसको दिये नहीं। वह कहती थी कि 'मेरा खर्चा ही क्या है, दो हाथके बीचमें एक पेट है ! लोग अपने पूरे कुटुम्बका पालन करते हैं, मेरा तो एक पेट है; न लड़का, न लड़की। एक मैं हूँ और दो हाथ हैं मेरे पास। मुझे क्या कमी है ?' जो कम खर्चा करता है, थोड़े ही खर्चेमें अपना काम चलाता है, उसके मनमें बड़ा उत्साह रहता है। उस उत्साहसे वह कमाकर खाता है, तो उसका चित्त खूब प्रसन्न रहता है। परन्तु पराया हक लेनेसे चित्त शुद्ध नहीं होता। दूसरोंका हक लेनेवाला बाहरसे चाहे धनी बन जाय, चाहे खा-पीकर पुष्ट हो जाय, पर वह निर्भय नहीं हो सकता। जिसने किसीका कोई हक लिया ही नहीं, उसको भय किस बातका ? वह तो निर्भय, निःशंक रहता है। उसको कभी कष्ट नहीं पाना पड़ता। इस तरह आप भी अपना जीवन निर्मल बनायें। इन चारों बातोंको काममें लायें। इससे आपका अन्तःकरण निर्मल होगा। इसके सिवाय जिनमें आपकी श्रद्धा है, उन संतोंकी पुस्तकें पढ़ें और उनके अनुसार अपना जीवन बनायें।

★

सत्सङ्गका मूल्य समझें

सत्सङ्ग करनेवाले भाई-बहनोंकी प्रायः यह शिकायत रहती है कि जो हम सुनते हैं, वह याद नहीं रहता। पल्ला-झाड़ सत्सङ्ग होता है; उठ गये और पल्ला झाड़कर चल देते हैं। अतः इससे कोई फायदा नहीं होता। सत्सङ्गकी बातें काममें आती नहीं, याद रहती नहीं। इस विषयमें मैं जो कहता हूँ, उसे आपलोग ध्यान देकर सुनें।

शुरू-शुरूमें जब हमने पढ़ाई की, तब पाँच-छः सालके बाद अपने परिचितोंके पास गये। वे कहने लगे कि इतने साल पढ़े हो, कुछ सुनाओ। पर हम नहीं सुना सके। सुनायें भी तो क्या सुनायें? '**ट्टिड्ढाणञ्द्वयसजदघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्करपः**'—ऐसा पाठ सुनायें तो कौन समझे? तो हमें फेल कर दिया कि इतने वर्षोंसे पढ़ता है, पर कुछ नहीं सुनाया। कारण कि इस बातको तो पढ़ा हुआ आदमी ही जान सकता है, दूसरे आदमी नहीं जान सकते। इसी तरह पारमार्थिक बातोंको सुननेसे जो असर पड़ता है, उसको पारमार्थिक विषयके जानकार ही जान सकते हैं, दूसरे नहीं जान सकते। सत्सङ्ग सुननेसे लाभ हुए बिना रहता ही नहीं। कितना ही पल्ला झाड़ दें, तो भी आपकी सुनी हुई बातें जायँगी नहीं। आप प्रेमसे सुनते हो, आदरपूर्वक सुनते हो, बातें आपको अच्छी लगती हैं, हृदयमें जँचती हैं, वे अभी काममें भले ही न आयें, पर वे जायँगी नहीं। जैसे पाँच, सात, दस, वर्ष पढ़े, तो भी व्याख्यान नहीं दे सके। व्याकरणमें प्रथमा पास हो

गये, मध्यमा पास हो गये, पर व्याख्यान देनेको कहे तो आता ही नहीं। अब हमने व्याकरण पढ़ा है, न्याय पढ़ा है—इसकी बात उनके सामने क्या सुनायें ? एक पंडितजी थे। वे राजाको कथा सुनाया करते थे। पंडितजीने अपने लड़केको पढ़नेके लिये काशी भेजा। काशीमें आठ-दस वर्ष पढ़ाई करनेके बाद वह वापस आया तो राजाने पंडितजीसे कहा कि आपका लड़का इतना पढ़कर आया है तो कुछ सुनाये। वह लड़का व्याकरण और न्याय खूब पढ़ा था। उसको सुनानेके लिये कहा गया तो उसने एक कनस्तरमें बहुत-से कंकड़ डालकर उसको जोरसे हिलाया और बोला कि बस, इसके सुनानेमें और मेरे सुनानेमें कोई फरक नहीं है। चाहे यह सुन लो, चाहे मेरी बात सुन लो। अब पढ़ाईकी बातें सुनायें तो उनको कौन समझेगा। इसलिये लिखा है—

विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्।
न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वी प्रसववेदनाम्॥

अर्थात् विद्वान् ही विद्वान्‌के परिश्रमको जान सकता है, उसकी विद्याकी परीक्षा कर सकता है, मूर्ख नहीं। जो बन्ध्या है, वह स्त्री प्रसवकी पीड़ाको कैसे जान सकती है ? ऐसे ही जिन लोगोंने सत्सङ्ग नहीं किया है, जिनमें तीव्र जिज्ञासा जाग्रत् नहीं हुई है, वे कैसे जान सकते हैं कि सत्सङ्गसे क्या लाभ होता है ? क्योंकि इस विषयमें उनका प्रवेश ही नहीं है। बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिनकी तरफ खयाल नहीं जाता।

व्यापार करनेवाला जैसे व्यापारके मर्मको जानता है, वैसे व्यापारकी बातें सुनकर सीखनेवाला नहीं जान सकता। एक बार किसीने मेरेसे व्यापारकी बात पूछी और मैंने उसका उत्तर दे दिया। फिर वही बात उसने गोयन्दकाजीसे पूछी और गोयन्दकाजीने उसका उत्तर दिया। उन दोनोंको मैंने देखा। गोयन्दकाजीने जितनी सुगमतासे व्यापारकी बात बतायी, उतनी सुगमतासे मेरे द्वारा नहीं कही गयी। व्यापारके विषयमें मैंने भी सोचा है, समझा है और बहुत बातें मैं जानता हूँ। अब तो व्यापारकी बातोंका यहाँतक अनुभव हुआ है कि एक व्यापारीने मेरेसे कहा कि मैं तो व्यापार आपसे ही सीखा हूँ। व्यापारकी बातें वे मेरेसे पूछते, सीखते और फिर उसके अनुसार व्यापार करते। वे व्यापारमें अच्छे होशियार और तेज हो गये। वे आजकल हैं, उनकी बात कहता हूँ, पुरानी बात नहीं है। व्यापारकी बातें भी मैंने सुन-सुनकर सीखी है, और गृहस्थकी बातें भी मैंने सुन-सुनकर सीखी हैं।

जो संसारमें रचा-पचा न रहकर उससे ऊँचा उठता है, वह संसारको जितना जानता है, उतना संसारमें रचा-पचा रहनेवाला नहीं जानता। मनुष्य संसारसे अलग होकर ही संसारकी बातोंको विशेषतासे जान सकता है। ऐसे ही वह परमात्माके साथ एक होकर ही परमात्मतत्त्वकी बातोंको विशेषतासे जान सकता है। परमात्मासे अलग रहते हुए कितनी ही परमात्म-तत्त्वकी बातें सुन ले, कितने ही शास्त्र पढ़ ले, कितना ही अध्ययन कर ले, पर वह परमात्माको नहीं जान सकता। तात्पर्य यह है कि संसारके तत्त्वको वही जान सकता है, जो संसारसे अलग हो गया है और परमात्मतत्त्वको वही जान सकता है, जो परमात्माके साथ एक हो गया है। जब संसारसे अलग हुए बिना आप संसारके तत्त्वको भी नहीं जान सकते, फिर परमात्माके तत्त्वको जान ही कैसे सकते हैं ?

आप कहते हैं कि हमने सत्सङ्गकी बात तो सुन ली, पर वह हमारे काम नहीं आती ! परंतु वास्तवमें सच्ची बात कभी निरर्थक जाती ही नहीं; क्योंकि सत् वस्तुका कभी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। इसकी क्या पहचान है ? पहचान यह है कि सत्सङ्गका समय होनेपर आप घरपर रह नहीं सकते, सत्सङ्गकी तरफ खिंचते हैं ! यह कौन खींचता है ? आपके भीतर जो संस्कार जमा हैं, वही आपको सत्सङ्गकी तरफ खींचते हैं। सत्सङ्गमें जो आपकी रुचि है, वह रुचि कहती है कि आपके भीतर सत्सङ्गके संस्कार हैं ! आप उनको जान नहीं सकते, पर लाभ होता है, होता है, होता है।

अब आप दूसरी बात सुनें। सत्सङ्गके समान उग्र साधन, उग्र तपस्या, उग्र पुण्य कोई है ही नहीं। हजारों वर्षोंकी तपस्यासे जो लाभ नहीं होता, वह लाभ सत्सङ्ग सुननेसे तत्काल हो जाता है ! कई लोगोंने खुद मेरेसे कहा है कि सत्सङ्ग सुननेसे हमें बहुत लाभ है, हमारी वृत्तियोंमें बहुत फर्क पड़ा है। सत्सङ्ग करें और फर्क न पड़े—ऐसा हो ही नहीं सकता। कोरी कथा ही न सुनें, प्रत्युत सत्सङ्गकी बातोंको गहरा उतरकर समझें तो एकदम फर्क पड़ता है।

किसीने 'क'—यह अक्षर सीख लिया तो मानो उसने आचार्यकी पढ़ाईका एक अंश पढ़ लिया ! उसने क, ख, ग, घ, ङ—ये पाँच अक्षर पढ़ लिये। लिखाओ तो वह पाँचों अक्षर लिख देगा, पर 'घ'—ऐसा लिखकर पूछो कि यह क्या है, तो वह जल्दी नहीं बता सकेगा। वह 'क, ख, ग और घ' हाँ-हाँ, यह 'घ' है—इस प्रकार सोचकर बता देगा। जल्दी नहीं बता पानेसे ऐसा नहीं कह सकते कि उसकी पढ़ाई नहीं हुई। यह आचार्यकी पढ़ाईका ही एक चिह्न है। ऐसे ही सत्सङ्गकी बात समयपर काम नहीं आती—यह बात आपके भीतर पैदा होती है, तो यह आपके सत्सङ्गका ही चिह्न है। जो सत्सङ्ग नहीं करते, उनके भीतर यह बात पैदा होती है क्या ?

तीसरी बात, भूख लगनेपर भोजन किया जाय तो भोजनका ठीक पाचन होता है, जिससे शक्ति आती है। बिना भूखके भोजन किया जाय तो उसका ठीक पाचन न होनेसे शक्ति नहीं आती। ऐसे ही आपको सत्सङ्गकी भूख लगती और आप उसको ढूँढ़ते, इधर-उधर जाते और फिर सत्सङ्ग मिलता, तो सत्सङ्गकी बात आपपर असर करती। आप तो रुपये कमा रहे हो, उनका आवाहन कर रहे हो, पंखा चल रहा है, आराम कर रहे हो, कूलर चल रहा है कि ठंडी रहे, गर्मी न हो जाय—ऐसा करके सत्सङ्ग सुनते हो, तो भाई ! अभी भूख लगी नहीं है। सुननेकी इच्छा तो है नहीं, भाव यह रहता है कि चलो घूम आवें, यह भी एक तमाशा है ! अगर भूख लगती और जगह-जगह भटकते, तब पता लगता। भूख लगनेपर ही वह जँचता है, रुचता है और पचता है। भूख न हो तो वह जँचता नहीं, रुचता नहीं और पचता नहीं।

स्वयं ज्योतिजी महाराज बीकानेरमें नरसिंग सागरपर ठहरे हुए थे। एक भाईने कहा—महाराज, आप हमारी बगीचीमें आ जायँ तो अच्छा है। नरसिंग सागर हमारे लिये दूर पड़ता है, बगीची नजदीक पड़ती है। बाबाजी बोले—तो तेरे घरपर ही आ जाऊँ ? अब भाव यह है कि बाबाजी हमारे नजदीक आ जायँ तो हमें सुविधा रहे, यह नहीं कि हम बाबाजीके पास चले जायँ और लाभ ले लें। सत्सङ्गका समय कौन-सा रखा जाता है ? जब काम-धंधेका समय नहीं हो, वह समय सत्सङ्गका रखा जाता है ! फालतू समय सत्सङ्ग, भजन, ध्यानके लिये रखा जाता है और कहते हैं कि असर नहीं हुआ ! असली समय तो रुपया कमानेमें लगाते हैं और फालतू समय सत्सङ्गमें लगाते हैं तथा लाभ असली चाहते हैं !

मालिन बेर बेचती है तो बालक उसके पास धान ले जाता है और बदलेमें बेर ले लेता है। बालक कहता है कि और बेर दे दे, तो वह एक-दो बेर और दे देती है। जब वह और बेर माँगता है, तब वह कहती है कि ***'कीणो तो सँभाल'*** अर्थात् तू कितना धान लाया है, उसको तो देख। मेरेसे ही कहता है कि दे दे, पर तूने खर्च कितना किया है ? ऐसे ही आपसे पूछा जाय कि सत्सङ्गके लिये आपने कौन-सा समय खर्च किया है ? नींदका समय खर्च किया है कि व्यापारका समय खर्च किया है ? या असली कामका समय खर्च किया है ? पूछा जाय कि सत्सङ्गमें आप आये नहीं ? तो कहेंगे कि 'आते तो थे, पर एक आदमीसे बात करनेमें लग गये तो भूल गये; फिर देखा तो ओहो, समय तो हो गया।' पूछा जाय कि कल क्यों नहीं आये ? तो कहेंगे कि महाराज, मुकदमेकी बात आ गयी, उधर चले गये, इसलिये नहीं आ सके।' फिर पूछें कि परसों आप क्यों नहीं आये ? तो कहेंगे कि महाराज, क्या करें, बात ऐसी थी कि भोजन करके पलंगके सहारे हुए तो नींद आ गयी। नींद खुली तो देखा—ओहो, सत्सङ्गका समय तो हो गया, अब जाकर क्या करेंगे !'

घरका कोई काम न हो, बात करनेके लिये कोई आदमी न मिले; नींद भी नहीं आये—ऐसे फालतू समयमें सत्सङ्ग करना चाहते हो ! पहले आप अपना कीणा तो सँभालो, यह तो देखो कि आप कितना खर्च करते हो। फिर देखो कि लाभ होता है कि नहीं होता है। आप जितनी लगनसे यहाँ आते हो, उससे ज्यादा लाभ आपको होता है—यह एकदम पक्की बात है, सच्ची बात है। आप जितना खर्च करते हो, उसकी अपेक्षा ज्यादा लाभ होता है—इसमें मेरेको संदेह नहीं है। अगर ज्यादा खर्च करोगे तो ज्यादा लाभ होगा।

सत्सङ्गकी बातें कुछ काम नहीं आतीं—ऐसी बात क्यों पैदा हुई ? कि लोगोंने यह कहना शुरू कर दिया। सत्सङ्ग सुननेसे क्या लाभ होता है—ऐसा एकने कहा, दोने कहा, तीनने कहा, चारने कहा, हल्ला हो गया ! अच्छे आचरणों-वाले आठ-दस ब्राह्मण थे। उनके मनमें आ गयी कि ये लोग मदिरा पीते हैं। हम यदि पी लें तो हमें पंक्तिसे बाहर कर दें। पर हम एक बार देखें तो सही कि इसमें कितना रस है। वे सब एक जगह इकट्ठे हुए और सभी दरवाजे बन्द कर लिये, जिससे भीतर कोई नहीं आये। अब लगे पीने। थोड़ा नशा आया तो एकने कहा हल्ला मत करो; दूसरा बोला हल्ला मत करो; तीसरा बोला—देखो, हल्ला मत करो, हल्ला मत करो। 'हल्ला मत करो' में हल्ला हो गया ! ऐसे ही एकने कहा सत्सङ्गकी बात काम नहीं आती; दूसरेने कहा-हाँ सा, काम नहीं आती, तीसरेने कहा-हाँ सा, काम नहीं आती। इस प्रकार 'हाँ' में 'हाँ' मिला दी, हल्ला मचा दिया। ठंडे दिमागसे विचार नहीं करते कि सत्सङ्गकी बातें कितनी काममें आयीं, कैसे-कैसे काममें आयीं।

सत्सङ्गकी बातें काममें आती हैं, ऐसा हमने देखा है। जो आदमी सत्सङ्ग करनेवाले हैं, उनके बीच आपसमें खटपट मचती है और उसको मिटाने जाते हैं तो वह बहुत जल्दी मिट जाती है। परंतु जो सत्सङ्ग नहीं करते हैं, उनकी खटपटको मिटाने जाते हैं, तो वह मिटती नहीं, उलटे हमारेसे लड़ पड़ते हैं। यह बीती हुई बात है। हमने तो गाँवोंमें भटककर देखा है कि जिन गाँवोंमें सौ-दो-सौ वर्षोंसे कोई सन्त नहीं आये, सत्सङ्ग नहीं हुआ, वहाँके लोगोंके आचरण बिलकुल भूत-प्रेतोंकी तरह, पशुओंकी तरह हैं। परंतु जिन गाँवमें संत आये हैं, सत्सङ्ग हुआ है, उन गाँवोंमें दूसरे गाँवसे विलक्षणता है।

जिन प्रदेशोंमें अच्छे संत व्याख्यान देते हैं और सुननेवाले रुचिसे सुनते हैं, वहाँके आदमियोंमें दूसरोंकी अपेक्षा बहुत फर्क होता है। सत्सङ्ग सुननेसे आपमें क्या फर्क पड़ा है—इसका पता आपको तब लगेगा, जब आप दूसरोंके साथ मिलोगे और उनकी बातें सुनोगे। एक सत्सङ्गी भाईने मेरेको बताया कि जब मैं कटनी गया, तब वहाँके लोगोंसे मिलनेपर और बातचीत करनेपर पता लगा कि उनसे तो हम बहुत अच्छे हैं! जो सत्सङ्ग नहीं करते, ऐसे आदमियोंकी बातें आप सुनो, उनका व्यवहार देखो तो आपको होश होगा कि सत्सङ्गकी बात कितनी काममें आयी है, कितना फर्क पड़ा? कोयल भी काली होती है और कौआ भी काला होता है; परन्तु जब वसन्त ऋतु आती है, तब कोयल 'पिऊ-पिऊ' करती है और कौआ 'काँय-काँय' करता है। वाणीसे उनके भेदका पता लगता है। इसलिये गोस्वामीजीने कहा है—

मज्जन फल पेखिअ ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला॥

(मानस १।३।१)

यह साधु-समाज प्रयाग है। इसमें स्नान करनेसे तत्काल फल होता है, कौआ कोयल हो जाता और बगुला हंस हो जाता है। कौआ हंस नहीं होता, कोयल होता है अर्थात् उसका रंग नहीं बदलता, पर वाणी (व्यवहार) बदलती है। ऐसे ही बगुला हंस होता है तो उसका रंग तो वही रहता है, पर उसमें नीर-क्षीर-विवेक आ जाता है। तात्पर्य है कि सत्सङ्गरूपी प्रयागराजमें स्नान करनेसे कौए और बगुलेका रूप तथा रंग तो वही रहता है, पर व्यवहार तथा विवेकमें फर्क पड़ जाता है। परन्तु इसकी पहचान किसको होती है? **'विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्'** अर्थात् विद्वान्-ही-विद्वान्को पहचानता है। जो अच्छे संत हैं, वे देखते ही परख लेते हैं। एक बूढ़े सन्त थे, वे अपनी बात कहते थे। जब वे वैरागी साधु हुए, तब वे जोधपुर चले गये और वहाँ मोती चौकमें श्रीगुपतरामजी महाराजके पास रहकर नाम-जप करने लगे। उनको देखते ही महाराजजी बोले कि यह सुलगा हुआ है अर्थात् इसके भीतर वैराग्यकी आग लगी हुई है! अब इस बातको वैराग्यवान्के सिवाय दूसरा कौन पहचाने? ऐसे ही सत्सङ्ग करनेवालेको संतलोग पहचान लेते हैं। वे उसकी बात सुनकर जान लेते हैं कि इसको कोई-न-कोई सन्त मिला है। आप कहते हो कि कुछ फायदा नहीं हुआ, पल्ला-झाड़ सत्सङ्ग है, ऐसी बात है नहीं। असर हुए बिना रहेगा ही नहीं।

एक कहानी आती है। डाकुओंका एक दल था। उनमें जो बड़ा-बूढ़ा डाकू था, वह सबसे कहता था कि 'भाई, जहाँ कथा-सत्सङ्ग होता हो, वहाँ कभी मत जाना, नहीं तो तुम्हारा काम बंद हो जायगा। कहीं जा रहे हो, बीचमें कथा होती हो तो जोरसे कान दबा लेना, उसको सुनना बिलकुल नहीं।' ऐसी शिक्षा डाकुओंको मिली हुई थी। एक दिन एक डाकू कहीं जा रहा था। रास्तेमें एक जगह सत्सङ्ग-प्रवचन हो रहा था। रास्ता वही था, उधर ही जाना था। जब वह डाकू उधरसे गुजरने लगा तो उसने जोरसे अपने कान दबा लिये। चलते हुए अचानक उसके पैरमें एक काँटा लग गया। उसने एक हाथसे काँटा निकाला और फिर कान दबाकर चल पड़ा। काँटा निकालते समय उसको यह बात सुनायी दी कि देवताकी छाया नहीं होती।

एक दिन उन डाकुओंने राजाके खजानेमें डाका डाला। राजाके गुप्तचरोंने खोज की। एक गुप्तचरको उन डाकुओंपर शक हो गया। डाकूलोग देवीकी पूजा किया करते थे। वह गुप्तचर देवीका रूप बनाकर उनके मंदिरमें देवीकी प्रतिमाके पास खड़ा हो गया। जब डाकूलोग वहाँ आये तो उसने कुपित होकर डाकुओंसे कहा कि तुम लोगोंने इतना धन खा लिया, पर मेरी पूजा ही नहीं की! मैं तुम सबको खत्म कर दूँगी। ऐसा सुनकर वे सब डाकू डर गये और बोले कि क्षमा करो, हमसे भूल हो गयी। हम जरूर पूजा करेंगे। अब वे धूप-दीप जलाकर देवीकी आरती करने लगे। उनमेंसे जिस डाकूने कथाकी यह बात सुन रखी थी कि देवताकी छाया नहीं होती, वह बोला—यह देवी नहीं है। देवीकी छाया नहीं पड़ती, पर इसकी तो छाया पड़ रही है! ऐसा सुनते ही डाकुओंने देवीका रूप बनाये हुए उस गुप्तचरको पकड़ लिया और लगे मारने। वे बोले कि चोर तो तू है, हम कैसे हैं? हमने चोरीकी ही नहीं। वह गुप्तचर वहाँसे भाग गया। सत्सङ्गकी एक बात सुननेसे ही फर्क पड़ गया।

एकने सत्सङ्ग सुना ही नहीं और एकने सत्सङ्ग सुना, तो दोनोंमें फर्क हुआ कि नहीं? सत्सङ्ग करनेवालेको माप-तौल लो तो कुछ फर्क नहीं पड़ा, पर भीतरसे बहुत फर्क पड़ा है। ठाकुरजीको भोग लगाते हैं तो प्रसाद एक तोला भी कम नहीं होता, पर उसको लेनेके लिये लखपति-करोड़पति हाथ फैला देते हैं। उनको प्रसादका कणमात्र भी दे दो तो वे प्रसन्न हो जाते हैं। यह क्या है? भगवान्का प्रसाद है! भगवान्के अर्पण किये हुए पदार्थमें एक विलक्षणता आ जाती है, जिसको हरेक नहीं देख सकता, विवेकवाला ही देख सकता है।

वैष्णवे हरिभक्तौ च प्रसादे हरिनाम्नि च।
अल्पपुण्यवतां श्रद्धा यथावन्नैव जायते॥

अर्थात् भगवान्के भक्तोंमें, भक्तिमें, प्रसादमें और

भगवान्‌के नाममें थोड़े पुण्यवालोंकी रुचि नहीं होती, वे इनको पहचानते नहीं। जो पुण्यशाली होते हैं, उनको ही भगवान्‌के अर्पण किये हुए प्रसादमें विचित्रता दीखती है; दूसरोंको नहीं दीखती। अर्पण करनेवाला जितना ही भावपूर्वक अर्पण करता है, उतनी ही उस वस्तुकी विलक्षणता आती है। भगवान्‌के सामने रख दे तो भी अच्छा है; परंतु भावपूर्वक अर्पण करनेसे इतनी विलक्षणता आती है कि स्वादमें फर्क पड़ जाता है! भावमें बड़ी भारी शक्ति है। ऐसी बातें देखी हुई हैं और शास्त्रोंमें भी आती हैं। कोई गृहस्थ किसी साधुको अन्न देता है तो उसका भाव जितना तेज होता है, उतनी ही उस अन्नमें विलक्षणता आ जाती है। एक जगहकी बात है, ऐसा भावपूर्वक बनाया हुआ भोजन दो-तीन दिनतक रह गया, पर वह खराब नहीं हुआ! ऐसे अन्नको खानेपर असर पड़ता है। परन्तु जाननेवाला ही जाने, दूसरा क्या जाने? ***'जिसके लागी है सोई जाणे, दूजा क्या जाणे रे भाई।'*** घाव होनेपर कैसी पीड़ा होती है, यह घायल ही जानता है। एक बाबाजीसे कोई बोला—महाराज, आप भजन करते हो, तो क्या अनुभव हुआ बताओ? बाबाजी कुछ बोले नहीं। वह ज्यादा पीछे पड़ गया, तो बाबाजीने उसकी पीठपर पत्थर मारा। उसने पूछा कि पत्थर क्यों मारा? बाबाजी बोले—तो क्या हुआ? वह बोला है कि पीड़ा हो रही है। बाबाजीने कहा— पीड़ाको दिखाओ कि कैसी पीड़ा है। वह बोला—मैं कहता हूँ न बाबा, पीड़ा मुझे हो रही है, आपको क्या पता? जब पीड़ा भी नहीं दिखा सकते, तो फिर पारमार्थिक बातें कैसे दिखा देंगे?

सत्सङ्गसे फर्क न पड़े—ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। बहुत विचित्र फर्क पड़ता है। उस विचित्रताको जानकार आदमी ही जान सकते हैं, दूसरे नहीं जान सकते। साधारण आदमी तो कहेगा कि तुम्हारेमें क्या फर्क पड़ा? हमारे-जैसे ही तुम हो। हाथ, पाँव, नाक, कान, आँख आदिमें क्या फर्क पड़ा? ठीक है, इनमें कुछ फर्क नहीं पड़ा। कौआ भी काला होता है और कोयल भी काली होती है, पर फर्क वाणीमें पड़ता है, विवेकमें पड़ता है, चित्तकी वृत्तियोंमें पड़ता है। आप विचार करें कि सत्सङ्ग करनेसे पहले हरेकके साथ बर्ताव करनेपर जैसा असर पड़ता था, वैसा असर अब पड़ता है क्या? वैसा असर पड़ भी जाय तो क्या वह उतनी देर रहता है? मैं तो समझता हूँ कि फर्क न पड़े—ऐसा हो ही नहीं सकता। यह बात अलग है कि जिनका सत्सङ्ग करते हैं, वे अनुभवी महापुरुष होने चाहिये और सुननेवाले भी जिज्ञासु होने चाहिये—

पारस केरा गुण किसा, पलट्या नहीं लोहा।
कै तो निज पारस नहीं, कै बीच रहा बिछोहा॥

पारससे लोहेका स्पर्श किया जाय तो लोहा सोना बन जाता है। अगर पारससे स्पर्श करनेपर भी लोहा सोना न बने, तो समझना चाहिये कि पारस नहीं है; कोई पत्थरका टुकड़ा है। अगर वह पारस है, तो फिर लोहा असली नहीं होगा। अगर पारस और लोहा—दोनों असली हैं, तो उन दोनोंके बीचमें कोई दूसरी वस्तु आ गयी होगी, जिससे उनका आपसमें स्पर्श नहीं हुआ। ऐसे ही असली संत हो और असली जिज्ञासु हो, तो जिज्ञासुमें फर्क पड़े बिना रह नहीं सकता। परन्तु बीचमें कुछ-न-कुछ व्यवधान डाल देनेसे लाभ नहीं होता। बड़े विचित्र-विचित्र व्यवधान होते हैं, जिनका वर्णन क्या करें और कहाँतक करें! जैसे—हम भी पारमार्थिक मार्गपर चलनेवाले हैं और आप भी पारमार्थिक मार्गपर चलनेवाले हैं; परंतु हमारी दीक्षा वैष्णव-सम्प्रदायमें हुई है और आपकी दीक्षा शैव-सम्प्रदायमें हुई है। वैष्णवोंके संस्कार हैं कि शैव ठीक नहीं होते और शैवोंके संस्कार हैं कि वैष्णव ठीक नहीं होते। अब दूसरे सम्प्रदायवाले बढ़िया-से-बढ़िया बात सुनायेंगे तो भी उनकी बात नहीं सुनेंगे—यह आड़ लगा दी। ऐसे ही सगुण और निर्गुणको लेकर, साकार और निराकारको लेकर राम और कृष्णको लेकर आड़ लगा ली। जैसे, हम 'जय श्रीकृष्ण' कहेंगे, पर 'जय श्रीराम' नहीं कहेंगे। ऐसे विचारवाले दूसरेकी बात क्या सुनेंगे और क्या समझेंगे? 'राम-राम' कहनेवालोंमें भी रत्न (श्रेष्ठ पुरुष) होते हैं। ऐसा नहीं है कि 'कृष्ण-कृष्ण' कहनेवालोंमें तो रत्न होते हैं, पर 'शिव-शिव' कहनेवालोंमें नहीं होते। परन्तु सम्प्रदायको लेकर एक-दूसरेकी निंदा शुरू कर देते हैं, अब रत्नका असर कहाँ पड़े?

पारमार्थिक उन्नति धनके आश्रित नहीं

श्रोता—गुरुकी सेवा कैसे की जाय?

स्वामीजी—गुरु किसको कहते हैं? गुरु-गीतामें आया है—

गुकारश्चान्धकारो हि रुकारस्तेज उच्यते।
अज्ञानग्रासकं ब्रह्म गुरुरेव न संशयः॥

तात्पर्य है कि जो अन्तःकरणके अन्धकारको दूर कर दे, उसका नाम 'गुरु' है। बाहरका अन्धकार तो सूर्य दूर करता है, पर भीतरका अन्धकार गुरु दूर करता है। गुरुका संग करके, उनकी आज्ञाका पालन करके अपने भीतरका अन्धकार दूर कर लें—यही गुरुकी वास्तविक सेवा है और इसीसे गुरु

प्रसन्न होते हैं। हम शरीरसे उनको सुख दें तो वह भी अच्छा है; परन्तु वह गुरु-सेवा नहीं है, प्रत्युत एक शरीरकी सेवा है।

गुरु शरीर नहीं होता। शास्त्रोंमें आया है कि गुरुमें मनुष्य-बुद्धि करना और मनुष्यमें गुरु-बुद्धि करना पाप है, अन्याय है। कारण कि गुरु अमर होता है, जब कि मनुष्य मरनेवाला होता है। अगर गुरु भी मरनेवाला होता तो वह शिष्यको अमर कैसे बनाता? गुरुकी असली सेवा है—अमरताकी प्राप्ति कर लेना। जैसे, परीक्षा लेनेवाला आता है और विद्यार्थी उसके सवालोंका ठीक जवाब दे देता है, तो उससे विद्या पढ़ानेवाले गुरुजी प्रसन्न हो जाते हैं। ऐसे ही जब शिष्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है, तब उससे पारमार्थिक मार्ग दिखानेवाले गुरुजी प्रसन्न हो जाते हैं। गुरुका प्रसन्न होना ही उनकी सेवा है। आप रोटीसे, कपड़ेसे, मकानसे, सवारीसे जिस किसी तरह भी गुरुको सुख पहुँचाते हैं—यह भी ठीक है; परंतु ये चीजें शरीरतक ही पहुँचती हैं, गुरुतक नहीं।

सन्त-महात्मा हमारेसे तभी प्रसन्न होते हैं, जब हमारा जीवन महान् पवित्र, निर्मल हो जाये और हमारा कल्याण हो जाय। जैसे हृष्ट-पुष्ट बालकको देखकर माँ प्रसन्न हो जाती है, ऐसे ही आपमें ज्ञान बढ़ा हुआ देखकर सन्त-महात्मा प्रसन्न हो जाते हैं। आप भले ही उन्हें रोटीका टुकड़ा भी मत दो, उनकी कुछ भी सेवा मत करो; परन्तु उनकी बातोंको धारण करके वैसे ही बन जाओ तो वे बड़े प्रसन्न हो जायँगे; क्योंकि यही उनकी असली सेवा है।

जड़ चीजोंसे गुरु-तत्त्वकी सेवा नहीं होती। छोटे बच्चेको रेशमकी चमकीली टोपी पहना दी जाय तो वह बहुत राजी हो जाता है। जब वह पिताजीकी गोदमें बैठता है, तब वह उस टोपीको पिताजीके सिरपर रख देता है और समझता है कि मैंने पिताजीको बहुत बढ़िया चीज दे दी। परन्तु वह टोपी पिताजीके लिये ठीक है क्या? पिताजी वह टोपी पहने हुए चलेंगे क्या? ऐसे ही जो लोग संतोंको भेंट चढ़ाते हैं, कपड़ा देते हैं, बढ़िया-बढ़िया भोजन कराते हैं, वे मानो उनको रेशमी चमकदार टोपी पहनाते हैं! यह उनका बचपना ही है। यह सन्तोंकी असली सेवा नहीं है। सन्तोंकी असली सेवा है—अपना कल्याण करना। हम अपना कल्याण कर लें तो वे प्रसन्न हो जायँगे, उनका प्रयत्न सफल हो जायगा, उनका कहना-सुनना सफल हो जायगा।

आज मनुष्योंके मनमें धनका महत्त्व बैठा हुआ है। वह हरेक जगह समझता है कि धनसे ही कल्याण होता है। अरे भाई! धन एक जड़ चीज है, इससे जड़ चीजें ही खरीदी जा सकती हैं, परमात्मा नहीं खरीदे जा सकते। अगर परमात्मा धनसे खरीदे जाते, तो हमारे-जैसोंकी क्या दशा होती? बड़ी मुश्किल हो जाती! पर ऐसी बात नहीं है।

श्रोता—धर्मका अनुष्ठान तो धनसे ही होता है?

स्वामीजी—बिलकुल गलत है। रत्तीभर भी सही नहीं, परंतु धनके लोभीको यही दीखता है; क्योंकि धनमें बुद्धि बेच दिया, अपनी अक्लकी बिक्री कर दी। अब अक्लके बिना वे क्या समझें? अक्ल होती तो समझते। शास्त्रमें आया है—

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥

अर्थात् जो मनुष्य धर्मके लिये धनकी इच्छा करता हो, उसके लिये धनकी इच्छाका त्याग करना ही उत्तम है। कारण कि कीचड़ लगाकर धोनेकी अपेक्षा उसका स्पर्श न करना ही उत्तम है। राजा रन्तिदेवका पुण्य बहुत बड़ा माना जाता है। उनके सामने ब्रह्मा, विष्णु, महेश—सब प्रकट हो गये। बात क्या थी? गरीबोंको दुःखी देखकर उन्होंने अपना सर्वस्व दान कर दिया था। एक बार उनको और उनके परिवारको अड़तालीस दिनतक कुछ भी खाने-पीनेको नहीं मिला। उन्चासवें दिन उनको थोड़ा घी, खीर, हलवा और जल मिला। वे अन्न-जल ग्रहण करना ही चाहते थे कि एक ब्राह्मण अतिथि आ गया। रन्तिदेवने उस ब्राह्मण देवताको भोजन करा दिया। ब्राह्मणके चले जानेके बाद रन्तिदेव बचा हुआ अन्न परिवारमें बाँटकर खाना ही चाहते थे कि एक शूद्र अतिथि आ गया। रन्तिदेवने बचा हुआ खाना, कुछ अन्न उसे दे दिया। इतनेमें ही कुत्तोंको साथ लेकर एक और मनुष्य वहाँ आया और बोला कि मेरे ये कुत्ते बहुत भूखे हैं, कुछ खानेको दीजिये। रन्तिदेवने बचा हुआ सारा अन्न कुत्तोंसहित उस अतिथिको दे दिया। अब केवल एक मनुष्यके पीने लायक जल बाकी बचा था। उसको आपसमें बाँटकर पीना ही चाहते थे कि एक चाण्डाल आ पहुँचा और बड़ी दीनतासे बोला कि महाराज, मैं बड़ा प्यासा हूँ, मुझे जल पिला दीजिये। रन्तिदेवने वह बचा हुआ जल भी उस चाण्डालको पिला दिया। उनकी परीक्षासे बड़े प्रसन्न होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों उनके सामने प्रकट हो गये! अगर भगवान्की प्राप्ति धनसे होती तो जल पिलानेमात्रसे वे कैसे प्रकट हो जाते?

धर्मका अनुष्ठान, पारमार्थिक उन्नति धनपर बिलकुल भी अवलंबित नहीं है। जो इनको धनके आश्रित मानते हैं, वे धनके गुलाम हैं, कौड़ीके गुलाम हैं। पर वे इस बातको समझ ही नहीं सकते! छोटे बालकके सामने एक सोनेकी मुहर रखी जाय और एक बताशा रखा जाय तो बताशा ले लेगा, मुहर

नहीं लेगा। आप समझेंगे कि वह भोला है, पर अपनी दृष्टिसे वह भोला नहीं है, प्रत्युत समझदार है। बताशा तो मीठा होता है, और खानेके काम आता है, पर मुहरका वह क्या करे? ऐसे ही ये लोग धन-रूपी मीठा बताशा तो ले लेते हैं, पर भगवान्‌का भजन, धर्मका अनुष्ठान, परमात्माकी प्राप्ति—इन कीमती रत्नोंको फालतू समझ लेते हैं। वे समझते हैं कि इतना बड़ा पण्डाल बनाना, बिछौना बिछाना, लाउडस्पीकर लगाना आदि सब काम धनसे ही होते हैं। यह बिलकुल मूर्खताकी बात है; इसमें रत्तीभर भी सचाई नहीं है; किंतु धनका लोभी इस बातको समझ ही नहीं सकता। मेरेमें ताकत नहीं है कि मैं यह बात आपको समझा दूँ, और आप सब इकट्ठे होकर भी मेरेको यह नहीं समझा सकते कि पारमार्थिक उन्नति धनके अधीन है।

पारमार्थिक उन्नति धनके अधीन नहीं है—यह बात मेरे भीतर ठीक बैठी हुई है। इस विषयमें मैंने खूब अध्ययन किया है। जैसे रुपया कमानेके लिये कलकत्ता जाते हैं। वहाँ रुपये कमा लेते हैं तो हम अपनी यात्रा सफल मान लेते हैं। ऐसे ही कथा करते हैं और उसमें रुपये आ जाते हैं तो अपनी कथाको सफल मान लेते हैं। यह उनकी बात हुई, जो रुपयोंके गुलाम हैं। परंतु कहीं अच्छे संत-महात्मा हों और उनकी सेवामें भोजन दिया जाय, कपड़ा दिया जाय तो आदमी प्रसन्न होता है कि आज मेरा भोजन तथा कपड़ा सफल हो गया! इसलिये सज्जनो! धन देनेसे सफल होता है, लेनेसे नहीं होता। जो लेनेसे सफलता मानते हैं, वे बेचारे समझते ही नहीं! रुपया आनेसे कोई फायदा नहीं है। मर जाओगे तो क्या एक कौड़ी भी साथ चलेगी? परंतु धर्मका अनुष्ठान किया है, भगवान्‌का भजन किया है, गुरुकी प्रसन्नता ली है तो यह सब धन यहाँ नहीं रहेगा, साथ चलेगा। हृदयसे दूसरोंको सुख पहुँचाया जाय, धर्मका अनुष्ठान किया जाय इसमें आपका जितना पैसा लग गया, वह सब सफल हो गया।

सत्संग-भजनमें रुपया लग जाय, तो बड़े भाग्यकी बात है, नहीं तो अच्छे काममें पापीका पैसा लग नहीं सकता—***'पापी रो धन पर ले जाय, कीड़ी संचै तीतर खाय।'*** उस धनको डाकू ले जायँगे, इन्कम टैक्सवाले ले जायँगे, डाक्टर ले जायँगे, वकील ले जायँगे। इनमें बेशक हजारों रुपये खर्च हो जायँ, पर सत्संग-भजन आदिमें वे खर्च नहीं कर सकेंगे। उनका पैसा भी खराब है और भीतरका भाव भी खराब है; अतः वे कैसे खर्च कर सकते हैं? मैं तो यह बात आपको समझानेमें अपनेको असमर्थ मानता हूँ; परंतु बात वास्तवमें ऐसी ही है।

आपकी, आपके पैसोंकी, आपकी वस्तुओंकी सफलता होती है देनेसे। खर्च करनेसे ही पैसा आपके काम आयेगा, संग्रहसे नहीं। संग्रहसे तो अभिमान ही बढ़ेगा। अभिमानके भीतर सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्ति, सम्पूर्ण दुर्गुण-दुराचार रहते हैं—***'संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥'*** (मानस ७।७४।३) यह अभिमान महान् नरकोंमें ले जानेवाला होगा। परंतु संग्रह करना अच्छा लगता है और खर्च करना बुरा लगता है! अरे भाई, रुपये बढ़िया नहीं हैं, उनका सदुपयोग बढ़िया है।

श्रोता—सदुपयोग भी तो तब करें, जब पासमें रुपया हो। रुपया न हो तो सदुपयोग कैसे करें?

स्वामीजी—जिसके पास रुपये नहीं हैं, उसपर सदुपयोगकी जिम्मेवारी है ही नहीं। मालपर जकात लगती है। माल ही नहीं तो जकात किस बातकी? इन्कम ही नहीं तो टैक्स किस बातका? गरीब आदमी जितना पुण्य कर सकता है, उतना धनी आदमी कभी नहीं कर सकता। अच्छे-अच्छे सन्त भिक्षाके लिये जाते हैं, तो अगर वे गरीब आदमीके घर पहुँच जायँ और वह संतको रोटीका एक टुकड़ा भी दे दे तो पुण्य हो जायगा। परंतु धनी आदमीके घर लाठी लिये चौकीदार बैठा रहता है और कहता है—'ओ बाबा, कहाँ जाते हो; यहाँ नहीं, आगे जाओ।' बेचारे धनी आदमियोंके भाग्य फूट गये! आप कहते हो कि भाग्यवान् हैं, तो किस बातमें भाग्यवान् हैं? चोरोंमें जो सरदार होता है वह साहूकार होता है क्या? वे बड़े हैं तो किस बातमें बड़े हैं? क्या नरकोंमें जानेके लिये, डूबनेके लिये बड़े हैं? वास्तवमें बड़ा तो वह है, जो अपना और दूसरोंका भी कल्याण कर दे। बड़ा वही है, जिसने साथ चलनेवाले धनका संग्रह कर लिया है। परन्तु जिसका धन यहीं रह जाता है और खुद खाली हाथ चला जाता है, वह बड़ा कैसे हुआ?

दातारं कृपणं मन्ये मृतोऽप्यर्थं न मुञ्चति।
अदाता हि महात्यागी धनं हित्वा हि गच्छति॥

अर्थात् जो दान-पुण्य करता है, वह बड़ा कंजूस है; क्योंकि वह मरनेपर भी धनको छोड़ता नहीं, सब साथमें ले जाता है। परंतु जो दान-पुण्य नहीं करता, वह बड़ा त्यागी है; क्योंकि वह सब धन ज्यों-का-त्यों ही यहाँ छोड़कर चला जाता है, साथमें कुछ भी नहीं ले जाता। धनके लोभी ऐसे त्यागी हुआ करते हैं!

गुरुकी सेवा, धर्मका अनुष्ठान रुपयोंके अधीन है—ऐसी जिनकी धारणा है, वे मेरी बात समझ ही नहीं सकते। कारण कि वे रुपयोंमें ही एकदम रच-पच गये। मनमें, बुद्धिमें सब

जगह रुपया-ही-रुपया है। वह क्या समझे बेचारा? ***'मायाको मजूर बंदो कहा जाने बंदगी।'*** एक संतके पास कोई धनी आदमी आया और उसने एक दुशाला भेंट किया। सन्तने कहा—भाई, हमें जरूरत नहीं है, क्या करेंगे? तो उसने कहा कि महाराज, काम आ जायेगा। संतने उससे पूछा कि बात क्या है? किसलिये देते हो? तब उसने कहा—महाराज, आपको देनेसे हजार गुना पुण्य होगा, इसलिये देता हूँ। ऐसा सुनकर सन्तने कहा—मेरेपर एक हजारका कर्जा हुआ; अतः अभी एक तो तू ले ही जा, बाकी नौ सौ निन्यानवेका कर्जा मेरेपर रहा। ऐसा सुनकर वह आदमी चुपचाप दुशाला लेकर चला गया! एक ले लें और बदलेमें हजार देना पड़े—इतना कर्जा कौन उठाये? ये काँटा (तौल) काटनेवाले और ब्याज लेनेवाले भी इतना तो नहीं लेते! धनको ही ऊँचा दर्जा दे रखा है। धन देनेमें, दान-पुण्य करनेमें भी भाव लेनेका ही रहता है। अब ऐसे बेसमझको कौन समझाये? मनुष्यमात्रमें ताकत है कि अगर वह निष्पक्ष होकर सरल हृदयसे समझना चाहे तो बड़ी-बड़ी तात्त्विक बातोंको भी समझ सकता है। इतनी समझ मनुष्यको भगवान्‌ने दी है। परन्तु मनुष्यने अपनी सब समझ रुपयोंमें लगा दी, और रुपयोंमें ही नहीं, रुपयोंकी संख्या बढ़ानेमें लगा दी। इतना ही नहीं, अपनी समझ पापोंमें, चालाकियोंमें लगा दी कि किस तरह इन्कमटैक्सकी चोरी करें, किस तरह सेल्सटैक्सकी चोरी करें, आनेवालोंको कैसे ठगें, आदि-आदि। जितनी बुद्धिमानी थी, वह सब-की-सब पाप बटोरनेमें लगा दी। अन्तःकरण महान् अशुद्ध हो जाय, आगे नरकोंमें जायँ, चौरासी लाख योनियोंमें दुःख भोगें—इसमें अपनी समझदारी लगा दी। लोग कहते हैं—वाह-वाह यह लखपति बन गया, करोड़पति बन गया। बड़ा होशियार, चलता पुर्जा है। यह पुर्जा चलता (जन्मता-मरता) ही रहेगा, बस। अब इसको विश्राम नहीं मिलेगा, कल्याण नहीं होगा। पर इस बातको समझे कौन?

मैं पूरबियो पूरब देस को, म्हारी बोली लखे नहिं कोय।
म्हारी बोली सो लखे, जो घर पूरबलो होय॥

मैं तो पूरब देशमें रहनेवाला हूँ। मेरी बोलीको यहाँ कोई नहीं समझता। मेरी बोली (भाषा) वही समझ सकता है, जो पूरब देशका हो अनादि परमात्मतत्त्व 'पूरब' है। पूरब देशकी बोली यहाँ रहनेवाला कैसे समझे? जो रुपयोंके गुलाम हैं, वे पारमार्थिक बातें कैसे समझें? कहते हैं कि धर्मका अनुष्ठान पैसोंसे होगा, सत्संगका आयोजन पैसोंसे होगा, तो जिसको गर्ज हो, वह पैसा लगाये। गायका दूध चाहिये तो गायको चारा आदि दो। अगर दूध नहीं चाहिये तो गायको चारा आदि मत दो। ऐसे ही सत्सङ्ग सुनना हो तो उसके आयोजनमें पैसा लगाओ, नहीं सुनना हो तो कोई जरूरत नहीं। संतोंको क्या गर्ज है? पैसोंके बिना आपका काम नहीं चलता, पर संतोंका खूब अच्छी तरहसे चलता है।

सत्-शास्त्रोंके प्रचारमें, सद्भावोंके प्रचारमें रुपये लग जायँ तो संसारमें इसके समान पुण्यका कोई काम है ही नहीं। कारण कि इनके प्रचारसे लोगोंके भीतरका अँधेरा दूर हो जाता है, आध्यात्मिक लाभ हो जाता है। इसमें जिसका पैसा लग गया, वह बड़ा भाग्यशाली है। ऋषिकेश—स्वर्गाश्रमकी बात है। वैश्य जातिकी एक विधवा बहन थी। ससुरालवालोंने उसका धन दबा लिया था। वह वहाँ साधुओंको भिक्षा दिया करती। भिक्षा कैसे देती? अपने घरमें सिलाईका काम करके पैसे कमाती और उससे अन्न खरीदकर रोटी बनाती और भिक्षा देती। शरणानन्दजी महाराजने कहा कि जैसे सेठ एक ही (जयदयालजी गोयन्दका) हैं, ऐसे ही एक सेठानी भी यहाँ है। लखपति सेठानियाँ तो बहुत हैं, पर उनको सेठानीकी पदवी नहीं मिली। सेठानीकी पदवी मिली उस विधवा बहनको जो सिलाई कर-करके पैसा कमाती और भिक्षा देती। वह संतोंकी दृष्टिमें सेठानी हुई। क्या रुपयोंसे कोई सेठानी होती है? नहीं होती।

महाभारतमें एक कथा आती है। एक बड़े अच्छे ऋषि थे। एक बार उनके यहाँ राजरानियाँ आयीं। उन्होंने देखा कि ब्राह्मणीके शरीरपर साधारण कपड़े हैं और माँग (सुहागका चिह्न) के सिवाय कोई गहना नहीं है तो वे ब्राह्मणीसे बोलीं कि आपलोग तो हमारे राजाजीके गुरु हो, प्रजाके गुरु हो, पर आपके शरीरपर कोई गहना न देखकर हमें बहुत बुरा लगता है, हमें बड़ी शर्म आती है। ब्राह्मणीको उनकी बात जँच गयी; क्योंकि स्त्रियोंको गहनोंका बड़ा शौक होता है। उसने पतिदेवसे कहा कि मेरेको गहना चाहिये। ऋषिने कहा—ठीक है, ले आयेंगे गहना। जहाँतक बने, पतिको अपनी शक्तिके अनुसार स्त्रीकी न्याययुक्त इच्छाको पूरा करना चाहिये, यह उसका कर्तव्य है। ऋषि एक राजाके पास गये। राजाने पूछा कि महाराज, कैसे पधारे? ऋषिने कहा कि मुझे सोना चाहिये। राजाने खजानेके हिसाबकी बही लाकर सामने रख दी और कहा कि महाराज, आप हिसाब देख लो। ऋषिने देखा कि राजाकी आय और व्यय बराबर है, खजानेमें कुछ नहीं है। ऋषिने कहा कि ठीक है, मैं दूसरे राजाके पास जाता हूँ। राजाने कहा कि मैं भी आपके साथ चलूँगा। वे दोनों वहाँसे चल दिये और तीन-चार राजाओंके पास गये, पर सब जगह आय-व्यय बराबर मिला, खजानेमें कुछ नहीं मिला। फिर

पूछनेपर पता लगा कि अमुक राक्षसके पास धन मिलेगा। वे उस राक्षसके पास गये। राक्षसने उनसे कहा कि महाराज, बहुत धन पड़ा है, चाहे जितना ले जाओ। तात्पर्य क्या हुआ ? कि धन राजाओंके पास नहीं मिला, राक्षसके पास मिला ! आपने पूछा है कि धनके बिना गुरु-सेवा कैसे हो ? धार्मिक अनुष्ठान कैसे हो ? इसलिये यह बात बतायी। आपकी जो शंका है, वह दूर हो जाय तो बड़ी अच्छी बात है। परन्तु मेरेको बहम है कि वह शायद ही दूर हो; क्योंकि रुपया बड़ा प्रिय लगता है।

सत्संग आदिमें कोई पैसा खर्च कर दे तो उसकी बड़ी महिमा होती है। लोग कहते हैं कि अमुक आदमीने बड़ा भारी पुण्य किया। परंतु वास्तवमें वह बेचारा मारसे बच गया ! पुण्य करनेका अर्थ टैक्स देना। धनी आदमी जो अच्छे काममें धन खर्च करते हैं, वह उनका टैक्स है। टैक्स चुकानेकी महिमा नहीं होती। दस हजार रुपये टैक्स दे दिया तो यह नहीं कहते कि बड़ा दान कर दिया। टैक्स देकर तो वह मारसे बच गया, नहीं देता तो डंडा पड़ता। इसलिये दान-पुण्य करना कोई बड़ी बात नहीं है, यह तो जो धन रखते हैं, उसका टैक्स है। बड़ी बात तो यह है कि भगवान्‌के भजनमें लग जाओ, भगवान्‌की प्राप्ति कर लो। सगुण क्या है ? निर्गुण क्या है ? साकार क्या है ? निराकार क्या है ? बंधन क्या है ? मुक्ति क्या है—इन बातोंको ठीक तरहसे समझ लो।

आपके पास धन है तो धनपर टैक्स लगेगा। आपके पास विद्या है तो विद्यापर टैक्स लगेगा। इनको दूसरोंकी सेवामें लगाओ। सरकार तो अपना टैक्स कान पकड़कर जबर्दस्ती ले लेगी। परंतु जहाँ धर्मकी बात है, आप प्रसन्न होकर दोगे तो ले लेगा, नहीं तो आपपर कर्जा रहेगा।

ब्रह्मचारी यतिश्चैव पक्वान्नं स्वामिनावुभौ।
तयोरन्नमदत्त्वा च भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥

एक तो ब्रह्मचारी और एक संन्यासी, जो त्यागी हैं, बनी बनायी रसोईके भागीदार हैं। भोजन बना हुआ हो तो इनको दे दो, बस। जो इनको अन्न न देकर खुद भोजन कर लेता है, वह एक महीनेका चान्द्रायण व्रत करे, तब उसकी शुद्धि होती है। इनको अन्न न देनेका इतना पाप लगता है। जो खेतमें काम नहीं आया, दूकानमें काम नहीं आया, घरके धंधेमें काम नहीं आया, उसको भोजन कराओ और न कराओ तो पाप लग जाय—यह कोई न्याय है ? हमने कमाया, हमने बनाया, हमने सब काम किया और उसने किसी भी काममें रत्तीभर भी सहायता नहीं की, उसको भोजन न दें तो पाप लग जाय, कितना अन्याय है ? इसका कारण क्या है ? जैसे आप धन इकट्ठा करते हो, वैसे ही ब्रह्मचारी और साधु भी धन इकट्ठा कर सकता है। ब्रह्मचारी और साधु पढ़े-लिखे भी होते हैं। कहीं घण्टाभर पढ़ा दें तो क्या उनको रोटी नहीं मिलेगी ? आपमें जो योग्यता है, वह योग्यता क्या उनमें नहीं है ? अगर वे धन इकट्ठा करेंगे तो वह धन आपके यहाँसे ही आयेगा, और कहाँसे आयेगा बताओ ? उन्होंने धन इकट्ठा नहीं किया तो वह धन आपके पास ही रहा और कहाँ रहा ? अतः जिसने थोड़ा भी धन नहीं लिया, सब धन आपके पास ही रहने दिया, उसको समयपर टुकड़ा तो दे दो ! नहीं देते हो तो पाप लगेगा।

जो धनका संग्रह करता है, वह धन समुदायमेंसे ही आता है, उतनी कमी हो जाती है समुदायमें। पर जिसने धन लिया ही नहीं, वह धन किसके पास रहा, बताओ ? समुदायके पास ही तो रहा। जितने जीव जन्म लेते हैं, उनका प्रारब्ध पहले बनता है, पीछे शरीर मिलता है। उसके जीवन-निर्वाहके लिये अन्न, जल आदिका प्रबन्ध पहलेसे किया रहता है। अतः उसका कहीं-न-कहीं अन्न है, कहीं-न-कहीं जल है, कहीं-न-कहीं वस्त्र है। वह जी रहा है तो उसका उन अन्न, जल, वस्त्र आदिपर हक है। आपके पास जो आवश्यकतासे अधिक अन्न, जल आदि है, उसपर उसका हक लगता है। अतः वह सामने आये तो उसका हक उसे दे दो।

शरणानन्दजी महाराज सूरदास थे। वे एक जगह गये, जहाँ कोई परिचित आदमी नहीं था। वहाँसे उनको आगे स्टेशनतक जाना था, जिसका चार आना टिकट लगता था। वे एक आदमीसे बोले कि भाई !टिकट लाकर दो। वह बोला—बाबा, माफ करो। महाराजजी बोले—माफ कैसे करें तुमको ? माफ नहीं कर सकते। माफ तो तब करें जब मैं पात्र न होऊँ और तुम्हारे पास पैसा न हो। मैं पात्र हूँ और तुम्हारे पास पैसा है, फिर माफ कैसे कर दें ? उस आदमीको टिकट लाकर देना पड़ा। अपराधीको माफ नहीं किया जाता। अपराध क्या है ? जैसे तुम पैसे रखते हो वैसे मैं भी पैसे रख सकता था। पर मैंने पैसे रखे ही नहीं, तो वे पैसे कहाँ गये ? तुम्हारे पास ही रहे। तुम खजानची हो। जब हमें जरूरत हो, तब दे दिया करो। जिसको मिलता है, उसको अपने भाग्यका मिलता है। क्या आप अपने भाग्यका देते हो ? क्या आप रोटी नहीं खाते ? कपड़ा नहीं पहनते ? मकानमें नहीं रहते ? आप तो पूरा खाते हो, पहनते हो; परंतु जो जमा करते हो, उसपर हमारा हक है। साहूकारीसे दे दो तो अच्छी बात है, नहीं तो दण्ड होगा। माफी कैसे होगी ?

जो रात-दिन रुपयोंके लोभमें लगे हैं, वे इन बातोंको

समझ ही नहीं सकते। जिस बाजारमें वे गये ही नहीं, उस बाजारके भावोंको वे कैसे समझेंगे ? वे जिस बाजारमें रहते हैं, उसी बाजारके भावोंको वे समझ सकते हैं। वे रुपयोंके बाजारमें ही रहते हैं। त्यागका भी एक विलक्षण, अलौकिक बाजार है, पर उसकी बात वही समझ सकता है, जो उसी बाजारका हो।

एक अच्छे महात्मा थे। उनसे मैंने अलग-अलग समय-पर दो प्रश्न किये। एक समय तो उनसे यह प्रश्न किया कि आप इतने ऊँचे दर्जेकी बातें सुनाते हो, पर क्या आप यह जानते हो कि हमलोग उन बातोंको ठीक समझते हैं ? अगर हमलोग उन बातोंको न समझते हों, तो उन बातोंका मूल्य क्या हुआ ? उन्होंने उत्तर दिया कि मेरी बातें आकाशमें रहेंगी; जब कोई समझदार होगा, पात्र होगा, उसके सामने वे प्रकट हो जायँगी। दूसरी बार मैंने कहा कि भगवान्‌के घरमें पोल है, न्याय नहीं है। उन्होंने पूछा— कैसे ? तो मैंने कहा कि आप जैसे महात्माओंको हमारे सामने ले आये। हमलोग कोई पात्र थे क्या ? भूखेको अन्न देना चाहिये, प्यासेको जल देना चाहिये, ऐसे ही जो योग्य हों, उनको ऊँचे दर्जेकी बातें सुनानी चाहिये। आप जैसे तो सुनानेवाले मिले और हमारे-जैसे पात्र मिले, इससे मालूम होता है कि भगवान्‌के घर बड़ी पोल है—

अंधाधुंध सरकार है, तुलसी भजो निसंक।
खीजै दीनो परमपद, रीझै दीनी लंक॥

ऐसा मैंने कहा तो वे महात्मा बोले—बेटी कौन-सी कुँआरी रहती है ? अच्छा वर मिल जाय तो ठीक है, नहीं तो कैसा भी वर मिले, विवाह करना ही पड़ता है। इस तरह पात्र न होनेपर भी भगवान्‌की कृपासे ऊँचे दर्जेकी बातें मिल जाती हैं।

बीकानेरकी बात है। एक जगह सत्सङ्ग हो रहा था। गाड़ीसे उतरते ही लोग मुझे सीधे वहाँ ले गये और कहा कि कुछ सुनाओ। मैंने कहा—मेरे मनमें तो ऐसी आयी है कि मेरे-जैसोंको तो यहाँसे कान पकड़कर निकाल देना चाहिये कि यहाँ सत्सङ्ग हो रहा है, तुम कैसे आ गये बीचमें। भगवान्‌के यहाँ पोल चलती है, इसलिये सत्सङ्गकी बातें कहते और सुनते हैं, नहीं तो इतने ऊँचे दर्जेकी बातें हम सुननेके लायक नहीं हैं। फिर भी भगवान् लाज रखते हैं कि कोई बात नहीं, बच्चा है बेचारा। ऊँचे दर्जेकी बातें उनके सामने ही कहनी चाहिये, जो अधिकारी हैं। संतोंने कहा है—

हरि हीरा की गाँठड़ी, गाहक बिनु मत खोल।
आसी हीरा पारखी, बिकसी मँहगे मोल॥

परन्तु भगवान्‌की इतनी कृपा है कि हमारे-जैसे अयोग्यको भी इतनी विचित्र-विचित्र बातें मिलती हैं। भगवान् अधिकारी नहीं देखते, योग्यता नहीं देखते। वर्षा होती है तो जंगलपर भी पानी बरसता है और समुद्रपर भी। समुद्रमें पानीकी कमी है क्या ? पर फिर भी बरसता है। ऐसे ही जो संत-महात्मा होते हैं वे भी कृपा करके बरस पड़ते हैं, कोई ग्रहण करे, चाहे न करे। इसी तरह भगवान् भी कृपा करते हैं, तो पात्र-कुपात्र नहीं देखते। कुपात्रको भी भगवान् कृपा करके ऐसा बढ़िया (सत्सङ्गका) मौका देते हैं; अगर ऐसा बढ़िया मौका सुपात्रको मिल जाय तो फिर कहना ही क्या है ! मैंने तो एक सज्जनसे कहा था कि आपकी बुद्धि अच्छी है, अगर आप इधर लग जाओ तो बहुत लाभ उठा सकते हो। पर उन्होंने मेरी बात मानी नहीं। मेरे मनमें आयी कि ऐसी अच्छी बुद्धि है, अच्छे काममें लग जाय तो कितनी बढ़िया बात है ! परंतु उनको जँचती नहीं तो हम क्या करें ?

आपलोगोंने धन कमानेमें खूब बुद्धि लगायी है। बेईमानी करनेमें, झूठ-कपट, ठगी-जालसाजी करनेमें, टैक्सोंसे बचनेमें बुद्धि लगानी पड़ती है। बिना बुद्धि लगाये ये काम नहीं होते। ज्यों-ज्यों नया कानून बनता है, त्यों-त्यों आपकी बुद्धि और तेज होती है। खुदसे काम न होता हो तो वकीलसे पूछते हैं; क्योंकि वह आपका अन्नदाता है, गुरुजी महाराज है। वह आपको बताता है कि ऐसा करो, इस तरहसे करो। उस गुरुजीसे शिक्षा ले-लेकर आप रात-दिन अध्ययन करनेमें लगे हैं; फिर मेरे-जैसे भिक्षुककी बात कौन माने ? आपको वहम है कि इनकी बात मानेंगे तो हम भी इन्हींकी तरह हो जायँगे।

त्याग क्या है ? भजन-स्मरण क्या है ? भगवत्सम्बन्धी बात क्या है ? धर्म क्या है ? इसको दूसरा कोई क्या जाने, जाननेवाला ही जानता है। पैसेवाले समझते हैं कि यह पैसोंके अधीन है। परंतु यह पैसोंके अधीन नहीं है, बाहरी चीजोंके अधीन नहीं है। यह तो भावके अधीन है—**'भावग्राही जनार्दनः'** भगवान् भावग्राही हैं। जिसका भाव होगा, उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। कलकत्तेकी बात है। एक धनी आदमी श्रीजयदयालजी गोयन्दकासे मिलने आया। बात चलनेपर उसने कहा कि धनसे सब कुछ मिलता है। गोयन्दकाजीने कहा कि धनसे सब कुछ मिलता है, पर महात्मा नहीं मिलते। उसने कहा धनसे तो कई महात्मा आ जायँ। गोयन्दकाजी बोले कि जो धनसे मिलते हैं, वे महात्मा नहीं होते और जो महात्मा होते हैं, वे धनसे नहीं मिलते। धनसे धनका गुलाम मिलता है। जैसे, हमें सौ रुपयोंमें घड़ी मिलती

है, तो क्या दुकानदारके सौ रुपये लगे हैं ? अगर उसके सौ रुपये लगे हैं, तो फिर वह बेचे ही क्यों ? अतः जो चीज पैसोंसे मिलती है, वह पैसोंसे कम कीमती होती है। पैसोंके बदले जो कोई मिलेगा, वह पैसोंका गुलाम ही होगा। सत्सङ्ग पैसोंसे नहीं होता। यह तो भगवान्‌की कृपासे ही होता है—*'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता ॥'* (मानस ५।७।२) कृपा करते समय भगवान् यह नहीं देखते कि इसने कितना पुण्य किया है ? इसमें कितनी योग्यता है ? इसका कितना अधिकार है ?

सतगुरु पूठा इंद्रसम, कमी न राखी कोय।
वैसा ही फल नीपजै, जैसी भूमी होय ॥

वर्षा तो बरस जाती है, पर आगे भूमिमें जैसा बीज होगा वैसा ही फल होगा। मारवाड़के लोग समझते हैं, एक मतीरा होता है और एक बिस्लुंबा (तस्तुंबा) होता है। दोनोंकी बेल बराबर ही दीखती है और फल भी आरम्भमें समान दीखता है। परंतु मतीरा तो मीठा होता है और बिस्लुंबा बड़ा कड़ुआ होता है। वर्षा भी एक, जमीन भी एक, हवा भी एक, धूप भी एक, खाद भी एक, फिर यह फर्क क्यों है ? फर्क बीजमें है जैसा बीज होगा, उसीके अनुसार फल होगा। वह बीज बदला नहीं जा सकता। ऐसे ही चौरासी लाख योनियाँ बदली नहीं जा सकतीं, पर मनुष्य बदल सकता है। मनुष्य अपनेको बहुत बड़ा संत-महात्मा, तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त बना सकता है—इतनी योग्यता भगवान्‌ने दी है। परंतु मनुष्यने वह योग्यता पैसोंमें लगा दी है ! तेलीके घर जो तेल होता है, वह पैर धोनेके लिये थोड़े ही होता है ? लाखों रुपयोंकी एक मणि लाकर दी, तो बोरीमेंसे एक धागा निकाल लिया और मणिको उसमें पिरोकर पैरोंमें बाँध लिया। बाँधनेवालेकी बुद्धि तो देखो ! राजाके मुकुटपर लगनेवाली मणि क्या पैरोंमें बाँधनेके लिये है ? ऐसे ही मनुष्य-जीवन-जैसी बढ़िया चीजको तुच्छ भोगोंमें और रुपयोंके संग्रहमें लगा दिया ! मनुष्यजन्म खराब क्यों किया भाई ? तुम्हारी जगह कोई दूसरा जीव आता तो अपना कल्याण करता बेचारा। परंतु तुमने आकर यह सीट रोक ली। गीता कहती है कि ऐसा आदमी निरर्थक ही जीता है—**'मोघं पार्थ स जीवति ॥'** (३।१६) अर्थात् वह मर जाय तो अच्छा है ! कारण कि मनुष्य-शरीर पाकर कल्याण नहीं करता, रात-दिन पशुओंकी तरह भोग भोगनेमें लगा हुआ है। पशुओंके भी बाल-बच्चे होते हैं तो वे राजी होते हैं। एक सूअरीके पाँच-सात, दस-ग्यारह बच्चे होते देखे हैं। इतने बच्चे उसके साथ घूमते हैं, तो वह राजी होती है। ऐसे ही आप भी बाल-बच्चोंमें राजी होते हैं। यह मनुष्य-जीवन इसीलिये मिला है क्या ? बच्चोंका पालन-पोषण करो, उनको शिक्षा दो, पर उनमें मोह मत करो। अगर वे आपका कहना नहीं मानते तो उनका भाग्य फूट गया, पर आपका तो काम बन गया ! एक कुम्हार था। एक दिन वह अपने घर गया और उसने अपनी स्त्रीसे पूछा कि रसोई बनायी या नहीं ? स्त्रीने कहा कि रसोई तो नहीं बनी। घरमें अन्नका दाना भी नहीं है, किसकी रसोई बनायें ? वह कुम्हार एक हाँड़ी लेकर बाजार गया और एक दुकानदारसे कहा कि यह हाँड़ी ले लो और बदलेमें थोड़ा बाजरा दे दो। दूकानदारने हाँड़ी लेकर बदलेमें बाजरा दे दिया। कुम्हार बाजरा लेकर घरपर आया। फिर उन्होंने रसोई बनाकर भोजन कर लिया। दूसरे दिन वह दूकानदार कुम्हारसे मिला तो उसने कहा—अरे ! यह कैसी हाँड़ी दी तुमने ? हाँड़ी तो फूटी हुई थी, चूल्हेपर रखी तो आग बुझ गयी। तुम्हारी हाँड़ी चढ़ी ही नहीं ! तब वह कुम्हार बोला कि तुम्हारी हाँड़ी तो नहीं चढ़ी, पर हमारी हाँड़ी तो चढ़ गयी (हमारी रसोई तो बन गयी)। ऐसे ही जो अपना काम कर ले उसकी हाँड़ी तो चढ़ ही गयी। आप बालकोंका ठीक तरहसे पालन-पोषण करें, उनको अच्छी शिक्षा दें तो आपकी हाँड़ी चढ़ गयी।

सज्जनो ! अपना उद्धार कर लो, अभी मौका है। भगवान्‌ने बड़ी कृपा करके यह मानव-शरीर दिया है। यह मानव-शरीर भगवान्‌का भजन करनेके योग्य है, इसलिये इसको निरर्थक नष्ट मत होने दो। इस संसारमें अपना कोई भी नहीं है, अपने तो एक परमात्मा ही हैं। यह जो आपके पास धन है, शरीर है, योग्यता है, यह संसारकी सेवाके लिये है। शरीर भी आपका नहीं है, मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ भी आपकी नहीं हैं, कुटुम्ब भी आपका नहीं है, रुपये-पैसे भी आपके नहीं हैं। ये तो दूसरोंकी सेवा करनेके लिये हैं। अपने लिये तो केवल परमात्मा ही हैं। इससे भी बढ़िया बात है कि आप परमात्माके लिये हो जाओ। परमात्मासे अपने लिये कुछ भी मत चाहो। जो परमात्मासे कुछ भी नहीं चाहता, उसकी गरज परमात्मा करते हैं !

एक बाबाजी थे। एक दिन वे एक ऊँची टोपी पहनकर बड़ी मस्तीसे भजन कर रहे थे। भगवान् विनोदी ठहरे, वे बाबाजीके पास आये और बोले—वाह-वाह, आज तो बड़ी ऊँची टोपी लगाकर बैठे हो ! बाबाजी बोले—किसीसे माँगकर थोड़े ही लाया हूँ, अपनी है। भगवान्‌ने कहा—मिजाज करते हो ? बाबाजी बोले—उधार लाये हैं क्या मिजाज ? भगवान् बोले—तुम मेरेको जानते हो कि नहीं ? बाबाजी बोले—अच्छी तरहसे जानता हूँ। भगवान्‌ने कहा—मैं सबसे कह दूँगा कि यह अभिमानी है, भक्त नहीं है, तब

क्या दशा होगी ? दुनिया भक्त मानकर ही तो तुम्हारी सेवा करती है और तुम मिज़ाज करते हो ? बाबाजी बोले—तुम कह दोगे तो मैं भी कह दूँगा कि मैंने भजन करके देखा है, भगवान् कुछ भी नहीं हैं। तुम्हारी प्रसिद्धि तो हमने ही कर रखी है, नहीं तो कौन पूछता तुम्हें ? भगवान् बोले—ऐसा मत कहना। बाबाजीने कहा—तो आप भी मत कहना, हम भी नहीं कहेंगे। इस प्रकार भक्त भगवान्‌की भी गरज नहीं करते। ऐसे भक्तोंके लिये भगवान् कहते हैं—*'मैं तो हूँ भगतनको दास, भगत मेरे मुकुटमणि।'* भक्तोंमें ऐसा नहीं है कि साधु ही भक्त होते हैं, बहनें भी भक्त होती हैं।

मीराँ जाई मेड़ते परणाई चितोड़।
राम भगतिके कारणे सकल सृष्टि को मोड़॥
राम दड़ी चौड़े पड़ी, सब कोई खेलो आय।
दावा नहीं संतदास, जीते सो ले जाय॥
जाट भजो गूजर भजो, भावे भजो अहीर।
तुलसी रघुबर नाम में, सब काहू का सीर॥

कोई भी क्यों न हो, वह भगवान्‌का अंश है। भगवान्‌का अंश होनेसे प्रत्येक जीवका भगवान्‌पर हक लगता है; जैसे बालकका अपनी माँपर हक लगता है। भगवान् हमें कपूत या सपूत कह सकते हैं, पर 'पूत नहीं है' अर्थात् मेरा नहीं है—ऐसा नहीं कह सकते। हम चाहे कपूत हैं, चाहे सपूत, पर पूत तो हैं ही, हैं तो हम भगवान्‌के ही। अब कपूताई दूर कर दो तो काम बन गया, बस। इतनी-सी बात है, कोई लंबी-चौड़ी बात नहीं।

आप कहते हैं कि धनके बिना धार्मिक आयोजन कैसे होगा ? वास्तवमें उस धनको ही धार्मिक आयोजनोंकी गरज है, धार्मिक आयोजनोंको उस धनकी गरज नहीं है। जो धनकी गरज मानते हैं, वे धनके दास हैं, धर्मके दास नहीं। धर्मके लिये तो सही पैसोंकी भी जरूरत नहीं है, फिर पापसे कमाये हुए पैसोंकी क्या जरूरत है ? हमारे घरमें पानीका नल लगा है तो इसका मतलब यह नहीं कि हम धोये हुए कपड़ोंको कीचड़से मैला कर लें और फिर उनको नलसे धोयें। ऐसे ही झूठ, कपट, बेईमानी करके कमाये हुए पैसोंसे धर्म करते हो, तो फिर पहले पाप ही क्यों करते हो ? कपड़ेमें एक छटाँक कीचड़ लग जाय तो वह एक छटाँक जलसे साफ नहीं होता। सेरोंभर जल लगनेपर भी बाहरसे भले ही धुल जाय, पर भीतरसे गंदापन बाकी रह ही जाता है। इसलिये धर्मके लिये भी जो पाप करता है कि पाप करके पैसा कमायें और फिर उसे अच्छे काममें लगा दें, तो उसका पैसा अच्छे काममें लगेगा ही नहीं और लगेगा तो भी वह पापसे शुद्ध होगा नहीं। सब-का-सब पैसा लगा दें, तो भी वह पाप दूर नहीं होगा। अगर धर्म करनेकी आपकी इच्छा होती तो पहले पाप करते ही नहीं। अगर पाप करते हो, तो केवल लोगोंको दिखानेके लिये धर्म करते हो। धर्मकी भावना भीतर है ही नहीं। असली धर्मका तत्त्व जाननेवाला धर्मके लिये पाप कर ही नहीं सकता।

एक बड़े सदाचारी और विद्वान् ब्राह्मण थे। उनके घरमें प्रायः रोटी-कपड़ेकी तंगी रहती थी। साधारण निर्वाहमात्र होता था। वहाँके राजा बड़े धर्मात्मा थे। ब्राह्मणीने अपने पतिसे कई बार कहा कि आप एक बार तो राजासे मिल आओ, पर ब्राह्मण कहते कि वहाँ जानेके लिये मेरा मन नहीं करता। ब्राह्मणीने कहा कि मैं आपसे माँगनेके लिये नहीं कहती। वहाँ जाकर आप माँगो कुछ नहीं, केवल एक बार जाकर आ जाओ। ज्यादा कहा तो स्त्रीकी प्रसन्नताके लिये वे राजाके पास चले गये। राजाने उनको बड़े त्यागसे रहनेवाले गृहस्थ ब्राह्मण जानकर उनका बड़ा आदर-सत्कार किया और उनसे कहा कि आप एक दिन और पधारें। अभी तो आप अपनी मर्जीसे आये हैं, एक दिन आप मेरेपर कृपा करके मेरी मर्जीसे पधारें। ऐसा कहकर राजाने उनकी पूजा करके आनन्दपूर्वक उनको विदा कर दिया। घर आनेपर ब्राह्मणीने पूछा कि राजाने क्या दिया ? ब्राह्मण बोले—दिया क्या, उन्होंने कहा कि एक दिन आप फिर आओ। ब्राह्मणीने सोचा कि अब माल मिलेगा। राजाने निमन्त्रण दिया है, इसलिये अब जरूर कुछ देंगे।

एक दिन राजा रात्रिमें अपना वेश बदलकर, बहुत गरीब आदमीके कपड़े पहनकर घूमने लगे। ठण्डीके दिन थे। एक लुहारके यहाँ एक कड़ाह बन रहा था। उसमें घन मारनेवाले आदमीकी जरूरत थी। राजा इस कामके लिये तैयार हो गये। लुहारने कहा कि एक घंटा काम करनेके दो पैसे दिये जायँगे। राजाने बड़े उत्साहसे, बड़ी तत्परतासे दो घंटे काम किया। राजाके हाथोंमें छाले पड़ गये, पसीना आ गया, बड़ी मेहनत पड़ी। लुहारने चार पैसे दे दिये। राजा उन चार पैसोंको लेकर आ गया और आकर हाथोंपर पट्टी बाँधी। धीरे-धीरे हाथोंमें पड़े छाले ठीक हो गये।

एक दिन ब्राह्मणीके कहनेपर वे ब्राह्मण-देवता राजाके यहाँ फिर पधारे। राजाने उनका बड़ा आदर किया, आसन दिया, पूजन किया और उनको वे चार पैसे भेंट दे दिये। ब्राह्मण बड़े संतोषी थे। वे उन चार पैसोंको लेकर घर पहुँचे। ब्राह्मणी सोच रही थी कि आज खूब माल मिलेगा। जब उसने चार पैसोंको देखा तो कहा कि राजाने क्या तो दिया और क्या आपने लिया ! आप-जैसे पण्डित ब्राह्मण और देनेवाला राजा ! ब्राह्मणीने चार पैसे फेंक दिये। जब सुबह उठकर

देखा तो वहाँ चार जगह सोनेकी सीकें दिखायी दीं। सच्चा धन उग जाता है। सोनेकी उन सीकोंको वे रोजाना काटते पर दूसरे दिन वे पुनः उग आतीं। उनको खोदकर देखा तो मूलमें वे ही चार पैसे मिले !

राजाने ब्राह्मणको अन्न नहीं दिया; क्योंकि राजाका अन्न शुद्ध नहीं होता, खराब पैसोंका होता है। मदिरा आदिपर लगे टैक्सके पैसे होते हैं, चोरोंको दण्ड देनेसे प्राप्त हुए पैसे होते हैं—ऐसे पैसोंको देकर ब्राह्मणको भ्रष्ट नहीं करना है। इसलिये राजाने अपनी खरी कमाईके पैसे दिये। आप भी धार्मिक अनुष्ठान आदिमें अपनी खरी कमाईका धन खर्च करो।

★

अच्छे बनो

अगर मनुष्य अपनी चीज (परमात्मा) को अपनी मान ले, परायी चीज (शरीर-संसार) को अपनी न माने तो बस, एकदम मुक्त हो जाय—इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। गीतामें जहाँ गुणातीत महापुरुषके लक्षण लिखे हैं, वहाँ **'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (१४। २४) लिखा है, जो अपने-आपमें, अपनी जगह स्थित हो जाता है, वह सुख-दुःखमें सम हो जाता है, मुक्त हो जाता है, यह जो दूसरेसे आशा रखना है, यह महान् कायरता है, बड़ी भारी निर्बलता है। यह कायरता, निर्बलता अपनी बनायी हुई है, मूलमें है नहीं। आप अपनी जगह बैठें, अपनी चीजको अपनी मानें, परायी चीजको अपनी न मानें—इसमें निर्बलता, कठिनता क्या है?

दूसरे लोग मेरेको क्या कहेंगे, क्या समझेंगे—यह भय महान् अनर्थ करनेवाला है। इस भयको छोड़कर निधड़क हो जाना चाहिये। दूसरे खराब कहते हैं तो हम डरते हैं, तो क्या दूसरे खराब नहीं कहेंगे? वे तो जैसी मरजी होगी, वैसा कहेंगे। हम भयभीत हों तो भी वे वैसा ही कहेंगे और भयभीत न हों तो भी वे वैसा ही कहेंगे। उनके मनमें जैसी बात आयेगी, वैसा कहेंगे वे। क्या हमारे भयभीत होनेसे वे हमारेको अच्छा कहने लग जायँगे? यह सम्भव ही नहीं है। दूसरे क्या कहते हैं—इसको न देखकर अपनी बातपर डटे रहो, अपने कामपर ठीक रहो, यह बहुत बड़े लाभकी बात है।

अभी कल-परसोंकी बात होगी। एक प्रसंग चला तो मैंने कहा—आपके निःशंक, निर्भय होनेमें एक ही बात है कि अगर आपको कोई खराब कहे तो आप अपनी दृष्टिसे अपनेको देखो कि मैंने तो कोई गलती नहीं की, न्यायविरुद्ध कोई काम नहीं किया। इस तरह अपनेपर जितना विश्वास कर सकें, दृढ़तासे जितना रह सकें उतना रह जाओ तो आपके सब भय मिट जायँगे। हमने जब कोई गलती नहीं की तो डर किस बातका? अपने आचरणपर, अपने भावपर आप दृढ़ रहो। इससे बड़ा भारी बल मिलता है। उनके सामने तो मैंने यह भी कहा कि इसको मैंने करके देखा है। आप भी करके देख लो। हम जब ठीक हैं, सच्चे हैं, तो फिर भय किस बातका? अपनेपर अपना विश्वास न होनेसे ही अनर्थ होते हैं। हम जब अपनी जगह बहुत ठीक हैं, हमारी नीयत ठीक है, कार्य ठीक है, विचार ठीक है, भाव ठीक है, तो फिर दूसरेसे कभी किञ्चिन्मात्र भी आशा मत रखो, इच्छा मत करो कि दूसरा हमें अच्छा समझे। दूसरेके बुरा समझनेसे भय मत करो। दूसरा कितना ही बुरा समझे, हम तो जैसे हैं, वैसा ही रहेंगे। अगर हम अच्छे नहीं हैं और सब लोग हमें अच्छा समझते हैं, तो क्या हमारा अच्छापन सिद्ध हो जायगा?

श्रोता—यदि अपनी गलती अपनेको नजर नहीं आये तो?

स्वामीजी—अपनी गलती अपनेको नजर नहीं आनेका कारण है—स्वार्थ और अभिमान। स्वार्थ और अभिमानसे ऐसा ढक्कन लग जाता है कि अपनी गलती अपनेको नहीं दीखती। अतः स्वार्थ और अभिमान न करें। स्वार्थ और अभिमानका त्याग करनेसे बहुत प्रकाश मिलेगा और अपनी गलती दीखने लग जायगी।

एक उपाय यह है कि अपनेमें जो अवगुण दीखे, उसको दूर करते जाओ। ऐसा करनेसे आपको न दीखनेवाले अवगुण भी दीखने लग जायँगे। अतः जिन अवगुणोंका आप सुगमतासे त्याग कर सकते हैं, उनका आप त्याग कर दें तो जिन अवगुणोंके त्यागमें आपको कठिनता दीखती है, उनका त्याग सुगमतासे होने लगेगा और न दीखनेवाले अवगुण दीखने लग जायँगे। यह बड़ा भारी रामबाण उपाय है, आप करके देखो।

सत्संगके द्वारा जिन-जिन कमजोरियोंका ज्ञान हो, उनमें जिन कमियोंको सुगमतासे दूर कर सकते हैं, उनको दूर कर दो। जैसे कल्पना करो कि हमारी झूठ बोलनेकी आदत है, तो जिस झूठसे हमारा कोई संसारका, रुपये-पैसोंका मतलब नहीं है, ऐसा झूठ नहीं बोलें। हम बिना मतलब झूठ बोलते हैं कि 'अरे भाई! उठ जा, दोपहर हो गया, उठता ही नहीं।' अगर हम सच्ची बात बोलें कि 'सूर्योदय हो रहा है, उठ जा' तो इसमें क्या हर्ज है? बिना मतलब झूठ बोलोगे तो आदत बिगड़ जायगी।

जो अवगुण साफ दीखता है, जिसको दूर करनेमें कोई

परिश्रम नहीं, कोई हानि नहीं, उसको आप दूर कर दो तो अवगुण साफ-साफ दीखने लग जायँगे। अगर अपना अवगुण न दीखे तो उसकी चिन्ता मत करो और अवगुणको अपनेमें कायम भी मत करो, क्योंकि स्वरूपमें कोई अवगुण नहीं है। नीयत यह होनी चाहिये कि अपना अवगुण, अपनी कमी हमें रखनी नहीं है।

अगर आप अपनेको ही नहीं सुधार सकते, तो दूसरेको सुधार सकते हैं क्या ? सच्ची बात तो यह है कि अपना सुधार कर लेनेपर भी दूसरेका सुधार कोई नहीं कर सकता। बड़े-बड़े महात्मा हुए हैं, आचार्य हुए हैं, वे भी दूसरेका सुधार नहीं कर सके, दूसरेको अपने समान नहीं बना सके। मैं आक्षेपसे नाम नहीं लेता हूँ, बहुत विशेष आदरसे नाम लेता हूँ कि शंकराचार्य महाराजने दूसरा शंकराचार्य बना दिया क्या ? रामानुजाचार्य महाराजने दूसरा रामानुजाचार्य बना दिया क्या ? वल्लभाचार्य महाराजने दूसरा वल्लभाचार्य बना दिया क्या ? अगर शिष्य चाहे तो गुरुसे तेज हो सकता है, पर गुरु उसको वैसा नहीं बना सकता। इस बातपर आप विचार करें। अपनेको श्रेष्ठ बनाना तो हाथकी बात है, पर दूसरेको श्रेष्ठ बनाना हाथकी बात नहीं है।

जितने भी श्रेष्ठ गुरु हुए हैं, उनका उद्योग यही रहा है कि शिष्य हमारेसे भी अच्छा बने। वे शिष्यको अपनेसे नीचा नहीं रखना चाहते। जो शिष्यको अपना मातहत, अपने अधीन रखना चाहते हैं, वे वास्तवमें गुरु कहलाने लायक नहीं हैं। गुरु तो गुरु ही बनाता है, चेला नहीं बनाता। शास्त्रमें लिखा है—

सर्वतो जयमिच्छेत् पुत्रादिच्छेत् पराभवम्।

अर्थात् मनुष्य सब जगह अपनी विजय चाहे, पर पुत्रसे अपनी पराजय चाहे। ईमानदार पिताको यह इच्छा रखनी चाहिये कि मेरा पुत्र मेरेसे तेज हो जाय। ऐसे ही ईमानदार गुरुको यह इच्छा रखनी चाहिये कि मेरा शिष्य मेरेसे तेज हो जाय। परन्तु ऐसी इच्छा रखनेसे वह तेज नहीं हो जाता। हाँ, अगर वह (पुत्र या शिष्य) खुद चाहे तो वैसा हो सकता है, एकदम पक्की बात है। खेड़ापामें श्रीरामदासजी महाराज हुए। उनके शिष्य श्रीदयालजी महाराज हुए। खेड़ापाके बहुत-से ऐसे साधु हैं, जो श्रीदयालजी महाराजको जितना याद करते हैं, उतना श्रीरामदासजी महाराजको याद नहीं करते। खेड़ापाके ही नहीं और जगहके भी साधु श्रीदयालजी महाराजके 'करुणासागर' का पाठ करते हैं। आप जरा विचार करें, कितनी विलक्षण बात है ! अगर आप अपने अवगुण देखकर उनको दूर करते जाओ तो आप अपने गुरुसे भी तेज हो जाओगे, इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। गुरुजनोंके मनमें यही बात रहती है कि हमारा शिष्य हमारेसे भी श्रेष्ठ बन जाय। जो अच्छे-अच्छे उपदेष्टा हुए हैं, अच्छे-अच्छे व्याख्यानदाता हुए हैं, सच्चे हृदयसे गुरु हुए हैं, उनकी भावना यही रहती है कि हमारा शिष्य सबसे श्रेष्ठ हो जाय। हमने ऐसे गुरुजन देखे हैं। हमारे विद्यागुरुजी महाराज थे। उनका हम सबके प्रति यह भाव रहता था कि ये श्रेष्ठ हो जायँ। हम लड़के लोग रात्रिमें दीपकके पास बैठकर पढ़ते थे। कभी नींद आने लगती तो वे खिड़कीमेंसे देख लेते और बोलते—''अरे ! यों क्या करते हो ?' हमें हरदम भय रहता कि महाराज देखते होंगे। वे चुपके-से आकर देखते और फिर बादमें पूछा करते कि 'वहाँ कैसे खड़ा था ? ऐसे कैसे करता था वहाँ ?' उनमें विद्यार्थियोंको पढ़ानेकी, तैयार करनेकी बड़ी लगन थी। मेरेको उन्होंने कई बार कहा कि मैं यह चाहता हूँ कि 'कहीं कोई पंचायती पड़े, कोई शास्त्रीय उलझन पड़े तो उसमें हमारा शुकदेव निर्णायक बने। सभी इससे पूछें और यह निर्णय दे—ऐसा मैं देखना चाहता हूँ।' यह भी कहा कि 'मैं जैसा चाहता हूँ, वैसा बना नहीं सका।' अतः जो अच्छे गुरुजन होते हैं, वे ऐसे ही होते हैं। माँ-बाप भी ऐसे ही होते हैं। वे चाहते हैं कि हमारा शिष्य, हमारा पुत्र हमारेसे भी तेज हो, पर वे बना नहीं सकते। शिष्य या पुत्र अगर चाहे तो उनसे तेज बन सकता है, इसमें बिलकुल सन्देह नहीं है। इसलिये गीतामें कहा गया है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

(६।५)

अर्थात् अपने-आपसे अपना उद्धार करना चाहिये। अपने-आपसे अपना पतन नहीं करना चाहिये। आप ही अपना बन्धु है और आप ही अपना शत्रु है। अतः आप अपनी जगह ठीक हो जाओ तो आप श्रेष्ठ बन जाओगे—इसमें संदेह नहीं है। लोग मेरेको अच्छा कहें—यह आशा मत रखो। कोई मेरेको बुरा न कह दे—यह भय बहुत ही पतन करनेवाला है। यह भय करोगे तो कभी ऊँचा नहीं उठ सकोगे। जो दूसरोंके सर्टिफिकेटपर निर्णय करता है, वह ऊँचा कैसे उठेगा ? दूसरे सब-के-सब श्रेष्ठ कह दें—यह हाथकी बात नहीं है। जो अवगुण आपमें नहीं है, वह अवगुण लोग आपमें बतायेंगे—'**अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः**' (२।३६)। लोग तो न कहनेलायक बात भी कहेंगे। वे मनमें जानते हैं कि यह ऐसा नहीं है, फिर भी आपको चिढ़ानेके लिये, दुःखी करनेके लिये वैसी बात

कहेंगे। आजकल जो वोट लेनेके लिये खड़े होते हैं, वे मनमें जानते हैं कि हमारे विपक्षमें जो आदमी खड़ा है, वह हमारेसे अच्छा है, पर ऐसा जानते हुए भी वे उसकी निन्दा ही करेंगे कि यह खराब है, हम अच्छे हैं। इसलिये आप अच्छे बनो, पर लोगोंसे यह आशा मत रखो कि वे आपको अच्छा कहें। वे आपको अच्छा जानते हुए भी अच्छा नहीं कहेंगे, बुरा कहेंगे। आपको अच्छा कहनेकी उनमें ताकत नहीं है। आप प्रतीक्षा करो कि लोग हमें अच्छा कहें—यह कितनी बड़ी भूल है! अच्छा कहलानेकी इच्छा छोड़ दो। अच्छा कहलाओ मत; अच्छे बनो।

★

वास्तविक बड़प्पन

उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुको लेकर आप अपनेमें बड़प्पन अथवा नीचपनका अनुभव करते हैं—यह बहुत बड़ी भूल है। जैसे, कोई धनको लेकर अपनेको बड़ा मानता है, कोई मकानको लेकर अपनेको बड़ा मानता है, कोई बढ़िया कपड़े पहनकर अपनेको बड़ा मानता है, कोई ऊँचा पद प्राप्त करके अपनेको बड़ा मानता है और कोई इन चीजोंके न मिलनेसे अपनेको छोटा मानता है। यह बहुत बड़ी भूल है। आप स्वयं परमात्माके अंश, चेतन हैं और जड़ चीजोंको लेकर आप अपनेको बड़ा-छोटा मानते हैं—यह आपकी तुच्छता है। जड़ चीजोंको लेकर अपनेको बड़ा मानना भी तुच्छता है और छोटा मानना भी तुच्छता है। आप तो इन चीजोंका उपार्जन करनेवाले हैं, इनका उपयोग करनेवाले हैं, इनके आदि और अन्तको जाननेवाले हैं, फिर आप इनके गुलाम क्यों हो जाते हैं? धन मिलता है और बिछुड़ जाता है, श्रोता मिलते हैं और बिछुड़ जाते हैं—इस प्रकार जिसके आदि और अन्तको जानते हैं, उसके मिलनेसे अपनेको बड़ा या छोटा मानना कितनी गलती है! थोड़ा विचार करो तो यह बात अक्लमें आ जाती है कि अगर पद मिलनेसे हम बड़े हुए तो वास्तवमें हम छोटे ही रहे, पद बड़ा हुआ। रुपये मिलनेसे हम बड़े हुए तो बड़े रुपये ही हुए, हम बड़े नहीं हुए। अतः इस बातको आप आज ही और अभी मान लें कि अब हम आने-जानेवाली वस्तुओंको लेकर अपनेको बड़ा और छोटा नहीं मानेंगे।

स्वयं आप बहुत बड़े हैं, साधारण रीतिसे तो आप भगवान्‌के अंश हैं और भगवान्‌की भक्तिमें लग जायँ तो भगवान्‌के मुकुटमणि हैं। भगवान् कहते हैं—

मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि।

जिसको भगवान् अपना मुकुटमणि कहते हैं, वे ही आप हैं। भक्त कब बनता है? जड़ताकी दासता छूटी और भक्त बना! इसलिये आप अभी-अभी यह बात धारण कर लें कि अब हम उत्पत्ति-विनाशवाली तुच्छ चीजोंको लेकर अपनेको बड़ा और छोटा नहीं मानेंगे। आप इन चीजोंका उपार्जन करो, इनका उपयोग करो, इनको काममें लाओ, पर इनके द्वारा अपनेको बड़ा-छोटा मत मानो। इन चीजोंको लेकर अपनेमें फूँक भर जाती है न, यह गलती होती है। अब बताओ, इसे माननेमें कोई कठिनता है क्या? कठिनता नहीं है तो अभी-अभी, इसी क्षण मान लें। इसमें देरीका काम नहीं है। कोई तैयारी करनी पड़े, कोई विद्वत्ता लानी पड़े, कोई बल लाना पड़े, कोई योग्यता लानी पड़े—इसकी बिलकुल जरूरत नहीं है। अभी इसी क्षण स्वीकार कर लें कि जड़ चीजोंसे हम अपनेको बड़ा नहीं मानेंगे। जड़ चीजोंको लेकर अपनेको बड़ा मानना महान् पराधीनता है। पराधीन व्यक्तिको स्वप्नमें भी सुख नहीं मिलता—***'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं'*** (मानस, बाल० १०२।३)। हम तो भगवान्‌के हैं और भगवान् हमारे हैं—ऐसा मान लोगे तो आप वास्तवमें बड़े हो जाओगे।

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस, उत्तर० ११७।१)

सहजसुखराशि होते हुए भी स्वयं दुःखी कब होता है? जब यह नाशवान्‌की पराधीनता स्वीकार कर लेता है, तब यह दुःखी हो जाता है, नहीं तो यह दुःखी हो नहीं सकता। आप दुःखको तो चाहते नहीं, पर दुःखकी सामग्री बटोरते हैं! दुःखी होना चाहते नहीं, पर नाशवान् चीजोंकी पराधीनता स्वीकार करते हैं! पराधीनतामें सुख है ही नहीं, स्वप्नमें भी नहीं है।

श्रोता—जिसमें गुण होते हैं, उसके पास आदमी ज्यादा जाते हैं!

स्वामीजी—गुण होनेसे उसके पास ज्यादा आदमी जाते हैं, तो गुण कौन-सा उसका स्वरूप है? गुण भी उसने लिया है। गुण नहीं रहेगा तो लोग उसके पास नहीं जायँगे। आप विचार करें कि दूसरोंके जानेसे वह बड़ा कैसे हो गया? अगर लोगोंके जानेसे वह बड़ा हुआ, तो उसका बड़प्पन पराधीन ही तो हुआ। लोग जायें तो बड़ा हो गया और लोग न जायें तो छोटा हो गया—यह तो पराधीनता हुई, बड़प्पन कैसे हुआ?

हम किसी गुणके कारण अपनेको बड़ा मानते हैं, विद्याके कारण अपनेको बड़ा मानते हैं, पदके कारण अपनेको बड़ा मानते हैं, लोगोंके द्वारा आदर-सत्कार होनेपर अपनेको बड़ा मानते हैं तो यह सब-की-सब पराधीनता है। कोई आये चाहे

न आये, गुण हो चाहे न हो, लोग अच्छा मानें चाहे बुरा मानें, उनसे हमें क्या मतलब है ? हम तो जैसे हैं, वैसे ही रहेंगे। आप हमें बड़ा मान लें तो क्या हम बड़े हो जायँगे। आप छोटा मान लो तो क्या हम छोटे हो जायँगे ? जो दूसरोंके द्वारा अपनेको बड़ा या छोटा मानता है, वह कभी बड़ा हो सकता है क्या ? स्वप्नमें भी नहीं हो सकता। जो दूसरी वस्तुओंके अधीन अपना बड़प्पन मानता है, वह सुखी कैसे हो सकता है ? उसने तो महान् गुलामी पकड़ ली। रुपये इकट्ठे कर लिये, कागज इकट्ठे कर लिये, हीरे-पन्ने इकट्ठे कर लिये, पत्थरोंके टुकड़े इकट्ठे कर लिये और मान लिया कि हम बड़े हो गये। तुम बड़े कैसे हो गये ? आपके पास धन आ गया है तो उसका सदुपयोग करो, उसको अच्छे-से-अच्छे काममें लगाओ। उसके आनेसे आप बड़े हो गये तो आपकी तो बेइज्जती ही हुई।

भगवान् आने-जानेवाले नहीं हैं, वे रहनेवाले हैं। उनको आप अपना मानोगे तो आप असली बड़े हो जाओगे। असली बड़े हो जाओगे तो आपमें बड़प्पनका अभिमान नहीं आयेगा और छोटेपनका भय नहीं रहेगा कि कोई हमें छोटा न मान ले। आपको कोई छोटा मान ले तो क्या हानि हो जायगी ? और बड़ा मान ले तो क्या लाभ हो जायगा ? आप जिसके हैं और जो आपका है, उस परमात्माके साथ आप अपना सम्बन्ध ठीक स्वीकार कर लें तो आप वास्तवमें बड़े हो जायँगे। फिर आपमें बड़े-छोटे होनेका अभिमान और दीनता नहीं रहेगी। परन्तु दूसरी वस्तुओंके द्वारा अपनेको बड़ा-छोटा मानोगे तो अभिमान और दीनता कभी जायगी नहीं।

आने-जानेवाली चीजोंके द्वारा अपनेको बड़ा-छोटा मानना ही तो बन्धन है। बन्धन कोई जानवर थोड़े ही होता है ! यह बन्धन छूटा और मुक्त हुए। दूसरोंके द्वारा हम अपनेको बड़ा-छोटा स्वीकार न करें तो हम मुक्त हो गये कि नहीं ? स्वाधीन हो गये कि नहीं ? बताओ।

श्रोता—ठीक बात है महाराजजी !

स्वामीजी—ठीक बात है तो फिर हम पराधीन क्यों रहें ? आप कृपा करो, अभीसे यह मान लो कि हम पदके द्वारा अपनेको बड़ा नहीं मानेंगे, धनके द्वारा अपनेको बड़ा नहीं मानेंगे। लोग हमारा आदर करें तो अपनेको बड़ा नहीं मानेंगे। लोग हमारा निरादर कर दें तो अपनेको छोटा नहीं मानेंगे। हमें परवाह नहीं कि लोग हमें अच्छा मानें। यह बात आप मान सकते हो कि नहीं ?

श्रोता—हाँ, मान सकते हैं।

स्वामीजी—तो फिर देरी क्यों करते हो ? किसकी प्रतीक्षा करते हो आप ? किसी परिस्थितिकी प्रतीक्षा करते हो, किसी बलकी प्रतीक्षा करते हो, किसी समयकी प्रतीक्षा करते हो, किसी सहारेकी प्रतीक्षा करते हो, किसी उपदेशकी प्रतीक्षा करते हो; किसकी प्रतीक्षा करते हो, बताओ ? मेरी तो प्रार्थना है कि आप अभी-अभी मान लो कि अब हम इन आने-जानेवाली तुच्छ चीजोंके द्वारा अपनेको बड़ा-छोटा नहीं मानेंगे। भगवान्‌ने कहा है—

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

(गीता २। १४)

अर्थात् जो आने-जानेवाले हैं, अनित्य हैं, उनको सह लो सहनेका अर्थ है उनके आने-जानेका असर अपनेपर न पड़े। उनका असर अपनेपर न पड़े तो इतनी शान्ति, इतना आनन्द होगा, जिसका कोई पारावार नहीं है। आप करके देखो। सच्ची बात है, मैं धोखा नहीं देता हूँ। ऐसी मस्ती आयेगी, जैसे कोई कीचड़मेंसे बाहर निकल आये।

★

मानव-जीवनका उद्देश्य

श्रोता—अपना लक्ष्य परमात्माकी प्राप्ति करना ही है—यह कैसे पता लगे? क्योंकि धन भी प्रापणीय है, मान-बड़ाई भी प्रापणीय है, सुख-सुविधा भी प्रापणीय है, इस तरह कई चीजें प्राप्त करनेकी हैं। अतः परमात्माकी प्राप्ति ही हमारा उद्देश्य है—यह हमें कैसे मालूम हो?

स्वामीजी—आपमेंसे कोई भी क्या ऐसा सुख चाहता है, जो पूरा न हो, अधूरा हो और मिटनेवाला हो? क्या ऐसा जीवन कोई चाहता है, जो सदा न रहे, हम कभी रहें और कभी न रहें, मर जायँ? क्या ऐसी जानकारी कोई चाहता है, जो अधूरी हो? हम ऐसा सुख चाहते हैं, जो कभी मिटे नहीं। ऐसा जीवन चाहते हैं, जो सदा रहे। ऐसा ज्ञान चाहते हैं, जो सर्वोपरि हो, जिसमें किञ्चिन्मात्र भी कमी न रहे। यह चाहना (अभिलाषा) वास्तवमें परमात्मतत्त्वकी ही है। परमात्मतत्त्वके सिवाय और कोई नित्य रहनेवाला, परिपूर्ण, सर्वोपरि तत्त्व नहीं है। उस परमात्मतत्त्वकी अभिलाषाको हम सांसारिक तुच्छ इच्छाओंसे दबाते रहते हैं और कभी सुखी तथा कभी दुःखी होते रहते हैं।

थोड़े सुखसे तो कुत्ता भी राजी हो जाता है, गधा भी राजी हो जाता है, सुख तो वह लेना चाहिये, जिसमें किसी तरहकी अपूर्णता न हो, जो पूर्ण हो। जिसमें कोई कमी न रहे, ऐसा

सुख संसार नहीं दे सकता। अतः संसारका सुख हमारा ध्येय नहीं है, हमारा लक्ष्य नहीं है। आप विचार करें कि जो सदा रहे, अखण्ड रहे, जिसमें किञ्चित् भी कमी न आये, ऐसा सुख तो एक परमात्मामें ही है। संसारकी कितनी ही वस्तुएँ मिल जायँ, कितना ही धन, सम्पत्ति, राज्य, वैभव, मान, आदर, सत्कार आदि मिल जाय, पर उससे तृप्ति नहीं होती, प्रत्युत 'और मिले', 'और मिले' ऐसी इच्छा रहती है।

हम जीना चाहते हैं—इसका अर्थ यह हुआ कि हम मर रहे हैं, नहीं तो जीनेकी चाहना क्यों होती है ? फिर भी जीनेकी इच्छा रहती है। संसारमें बहुत कुछ जाननेपर भी जाननेकी इच्छा रहती है। बहुत कुछ पानेपर भी पानेकी इच्छा रहती है। बहुत कुछ करनेपर भी करनेकी इच्छा रहती है कि इतना तो कर लिया, इतना और करना है। यह जो जानने, पाने, करने आदिमें अधूरापन रहता है, कमी रहती है, यह कमी आदमीको खटकनी चाहिये। इस कमीकी पूर्ति संसार नहीं कर सकता। मात्र संसार मिल जाय तो भी यह कमी कभी पूरी नहीं हो सकती; क्योंकि संसार कभी टिकता नहीं, प्रतिक्षण बदलता रहता है। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति होनेपर क्या होगा, इसके लिये गीताने बताया—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
(६।२२)

अर्थात् जिस लाभकी प्राप्ति होनेके बाद 'उससे बढ़कर कोई लाभ होता है' यह उसके माननेमें ही नहीं आया, वह मान ही नहीं सकता, कोई उसको मना भी नहीं सकता, और जिसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता—'**यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।**' जैसे दो पर्वत आपसमें टकरावें तो उनके बीचमें शरीरको रख दिया जाय, शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ तो ऐसे दुःखमें भी वह अपने स्वरूपसे विचलित नहीं होता। यह दुःख वहाँ पहुँचता ही नहीं। इस दुःखका संस्पर्श ही नहीं होता। सुख तो इतना होता है कि उससे बढ़कर कोई सुख है ही नहीं और दुःख वहाँ पहुँचता ही नहीं। ऐसा कौन नहीं चाहता, बताओ ? परन्तु अल्पमें संतोष कर लेते हैं, यह बड़ी गलती होती है।

साधकोंसे यह बड़ी भूल होती है कि वे साधन करते-करते बीचमें संतोष कर लेते हैं। एक मारवाड़ी कहावत है—'***आँधे कुत्ते खोलन ही खीर है***' अर्थात् अन्धे कुत्तेको खोलन (अन्न आदि लगे हुए बरतनोंका धोया हुआ पानी) मिल जाय तो उसके लिये वही खीर है। ऐसे ही संसारमें थोड़ा धन मिल जाय, मान मिल जाय तो उसीमें राजी हो जाते हैं! वास्तवमें मिल क्या गया ? जो मिला है, वह सब धोखा है। हमारेको तो सर्वोपरि तत्त्व चाहिये। हमारेको धन भी चाहिये तो सर्वोपरि चाहिये, पद भी चाहिये तो सर्वोपरि चाहिये, मान भी चाहिये तो सर्वोपरि चाहिये, बड़ाई भी चाहिये तो सर्वोपरि चाहिये, जीवन भी चाहिये तो सर्वोपरि चाहिये, ज्ञान भी चाहिये तो सर्वोपरि चाहिये—इस इच्छाको कोई मिटा नहीं सकता और परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके बिना इस इच्छाको कोई पूरी नहीं कर सकता, क्योंकि सर्वोपरि तत्त्व एक परमात्मा ही हैं। अर्जुन कहते हैं—'**न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव**' (गीता ११।४३) आप 'अप्रतिमप्रभाव' हैं अर्थात् आपके प्रभावकी सीमा नहीं है। आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो हो ही कैसे सकता है! ऐसे सर्वोपरि तत्त्वको प्राप्त करना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिये।

पहले जितने बड़े-बड़े ऋषि हुए, संत-महात्मा हुए, सनकादि एवं नारद आदि हुए, ब्रह्मा, शंकर आदि हुए, उनको जो तत्त्व मिला, वही तत्त्व आज कलियुगी जीवको भी मिल सकता है। संसारकी वस्तुएँ सबको नहीं मिल सकतीं, पर परमात्मतत्त्व सबको मिल सकता है। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है, जिसको परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति न हो सकती हो। उस परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति ही मनुष्यजन्मका लक्ष्य है।

मेरा लक्ष्य परमात्मप्राप्ति है—इस बातको मनुष्य ही समझ सकता है, दूसरा कोई प्राणी नहीं। प्राणियोंमें गाय बड़ी पवित्र है, पर उसको समझा नहीं सकते। आप थोड़ा-सा विचार करें। आप इतनी जल्दी यहाँ सत्संगमें आ जाते हैं तो यहाँ धन मिलता है क्या ? भोग मिलता है क्या ? आदर मिलता है क्या ? यहाँ नीरोगता मिलती है क्या ? आपको कौन-सा लाभ मिलता है, बताओ ? क्यों आते हैं इतनी जल्दी उठ करके ?

श्रोता—आत्माको शान्ति मिलती है।

स्वामीजी—शान्ति पूरी चाहिये। यहाँ थोड़ी शान्ति मिली और जब यहाँसे चले गये तो फिर वैसी शान्ति नहीं रही—यह शान्ति किस कामकी ? हमें ऊँची-से-ऊँची शान्ति चाहिये, जो कभी मिटे नहीं। परन्तु भूल यह होती है कि हम तुच्छ शान्तिसे राजी हो जाते हैं।

एक आदमी ऊँटपर चढ़कर अपने गाँव जा रहा था। रात्रिके समय वह एक गाँवमें पहुँचा। वहाँ एक जगह ब्याह हो रहा था, ढोल-बाजे बज रहे थे। वह आदमी ब्राह्मण था। उसने वहाँ जाकर देखा तो पता लगा कि 'भूर' बँटनेवाली है। 'भूर' को संस्कृतमें भूयसी (विशेष) दक्षिणा कहते हैं, जो

ब्याहके समय ब्राह्मणोंको दी जाती है। वह ब्राह्मण ऊँटको बाहर खड़ा करके 'भूर' लेनेके लिये भीतर चला गया। चोरोंने ऊँटको बाहर देखा तो वे उसको भगाकर ले गये। इधर 'भूर' बँटी तो सब ब्राह्मणोंको चार-चार आने मिले। चार आने लेकर वह ब्राह्मण बाहर आया तो देखा कि ऊँट नहीं है! इधर चार आने मिले और उधर चार-पाँच सौ रुपयोंका ऊँट गया! इस तरह संसारमें तो तुच्छ सुख मिला, थोड़ा धन मिल गया, थोड़ा मान मिल गया, थोड़ा आदर मिल गया, थोड़ा भोजन बढ़िया मिल गया, पर उधर ऊँट चला गया—परमात्माकी प्राप्ति चली गयी। यह दशा है—तुच्छ सुखमें महान् सुख जा रहा है। थोड़े-से आदर-सत्कारमें राजी हो जाते हैं। एक सन्तको किसीने कहा कि हम आपका आदर करते हैं, तो वे बोले—धूल आदर करते हो तुम। हमारा आदर भगवान् करते हैं, तुम क्या कर सकते हो? सब मिलकर भी क्या आदर कर लोगे? क्या ताकत है तुम्हारेमें जो आदर करोगे? वास्तवमें सन्तोंका सम्मान भगवान् करते हैं। दूसरा बेचारा क्या जाने कि सम्मान क्या होता है?

आप जो सर्वोपरि लाभ चाहते हैं, यही वास्तवमें परमात्मतत्त्वकी इच्छा है। इस इच्छाको चाहे जो कह दो, ज्ञानकी इच्छा कह दो, प्रेमकी इच्छा कह दो, सुखकी इच्छा कह दो, भगवद्दर्शनकी इच्छा कह दो, भगवत्प्राप्तिकी इच्छा कह दो, एक ही बात है। यही हमारा लक्ष्य है। इस लक्ष्यपर डटे रहें। अधूरेमें राजी न हों। अधूरेमें नहीं अटकोगे तो पूरा मिल जायगा। अधूरेको ले लोगे तो फिर वहीं अटक जाओगे।

यह मनुष्यशरीर उत्तम-से-उत्तम है, अतः इसका लक्ष्य भी उत्तम-से-उत्तम होना चाहिये, जिससे बढ़कर और कोई लक्ष्य न हो। इससे सिद्ध होता है कि परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मानव-जीवन मिला है।

श्रोता—संसारका सुख छोड़नेसे सर्वोपरि तत्त्व मिल ही जायगा, इसका क्या पता? इधरका तो छोड़ दें और उधरका मिले ही नहीं, तो फिर रीते रह जायँगे न?

स्वामीजी—अर्जुनने भी यही प्रश्न किया था कि अगर साधकको योगकी प्राप्ति न हो और वह बीचमें ही मर जाय तो उस बेचारेकी क्या गति होती है? क्या वह उभयभ्रष्ट हो जाता है? (गीता ६। ३७-३८) संसारको तो छोड़ दिया और परमात्मा मिले नहीं, तो क्या बीचमें ही लटकता रहेगा? भगवान् बोले—नहीं पार्थ! उसका न तो इस लोकमें और न परलोकमें ही पतन होता है, क्योंकि हे प्यारे! जो थोड़ा भी कल्याणकारी काम करता है, उसकी दुर्गति नहीं होती (गीता ६। ४०)। आपको पारमार्थिक मार्गपर ठीक चलनेवाला कोई साधक मिल जाय तो आपको खुदको मालूम होगा। उसकी मस्ती, उसका आनन्द आपको विलक्षण दीखेगा। साधना करनेवाले भी आगे बढ़ जाते हैं तो उनको एक विलक्षण आनन्द मिलता है, जिससे वे अपनी साधनाको छोड़ नहीं सकते। वह जो सर्वोपरि आनन्द है, वह हम सबको मिल सकता है, इसमें सन्देह नहीं है। सन्देह क्यों नहीं है? कि हम साधन करते हैं तो हमारेको विलक्षणता दीखती है। आप भी साधन करो, आपको भी दीखेगी। सत्संग करनेसे बहुत लाभ होता है। हमने तो सत्संगके समान कोई उपाय नहीं देखा है। साधन बहुत हैं और लोग साधन करते भी हैं, पर सत्संगके द्वारा जो लाभ होता है, वह वर्षोंतक साधन करनेसे भी नहीं होता।

सावधान रहो !

आप अभी सावधान हो जायँ कि कोई भी समय निरर्थक न जाय। व्यर्थकी बातें करना, आलस्य-प्रमाद करना, हँसी-दिल्लगी करना, बीड़ी-सिगरेट पीना आदि निरर्थक कामोंमें झूठ-कपट, पापके कामोंमें अगर समय लगता है तो यह बड़े भारी दुःखकी बात है ! इसका परिणाम बड़ा भयंकर होगा। यह समय परमात्माकी प्राप्तिके लिये मिला है। इसमें अपने स्वार्थ और अभिमानको लेकर किसीको दुःख, कष्ट देना भविष्यमें अपने लिये बड़ा भारी दुःख तैयार करना है। इसलिये सावधान रहें। एक-एक क्षण उत्तम-से-उत्तम काममें लगायें।

रुपयोंको तो आप तिजोरीमें बंद करके रख सकते हैं, पर समयको बंद करके नहीं रख सकते। समयको सावधानीसे अच्छे-से-अच्छे काममें लगाओ तो ठीक है, नहीं तो यह खर्च हो जायगा। यह बहुत बड़ी पूँजी है। धन-जैसी पूँजी नहीं है, धनसे बहुत ऊँची है। पासमें लाखों-करोड़ों रुपये रहते हुए भी मर जाओगे, पर समय रहते एक मिनट भी पहले नहीं मरोगे। जीना समयके अधीन है। समय खर्च होनेपर जी सकोगे नहीं। रुपये आपको जिला नहीं सकते। आपको समय जिलाता है। समय ही आपके जीवनका आधार है। रुपये तो तभी खर्च होते हैं, जब आप खर्च करते हैं, परन्तु समय तो अपने-आप खर्च हो रहा है, बैठे हैं तो भी खर्च हो रहा है, काम करते हैं तो भी खर्च हो रहा है, भजन करते हैं तो भी खर्च हो रहा है। यह खर्चा तो निरन्तर ही हो रहा है। मौत निरन्तर नजदीक आ रही है, जिसमें एक क्षणका भी अन्तर नहीं पड़ता। चाहे काम-धंधा कर लो, चाहे भजन कर लो, चाहे समाधि लगा

लो, समय तो दनादन जा रहा है। समय समाप्त होते ही उसी क्षण मरना पड़ेगा। फिर ऐसा कोई बल नहीं है, जिससे हम जी सकें। ऐसा अपने जीवनका खास आधार जा रहा है। उसे उत्तम-से-उत्तम काममें लगाओ। इसके लिये सावधानीके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। अतः हरदम सावधान रहो। सन्तोंने कहा है—

दिलमें जाग्रत् रहियै बंदा।
हेत प्रीत हरिजन सुं करियै, परहरियै दुखद्वंद्वा॥

हम क्या कर रहे हैं? इसका नतीजा किसको भोगना पड़ेगा? इसपर गम्भीरतासे विचार करें। ऐसा विचार, ऐसी सावधानी मनुष्य ही रख सकता है। पशु-पक्षियोंमें, वृक्षोंमें इसका ज्ञान नहीं है। भोगयोनि देवताओंमें भी इसका ज्ञान नहीं है। अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंका हित करनेकी योग्यता मनुष्यमें ही है। अगर वह दूसरोंका हित, दूसरोंकी सेवा नहीं करता तो यह बड़ी भारी गलती है। भगवान्‌को याद करनेका और दूसरोंको सेवा करनेका अवसर दूसरी जगह नहीं मिलेगा। यह अवसर चूकें नहीं। अगर आप यह काम कर लेते हैं तो बहुत बड़ा काम कर लिया। समय सार्थक बनानेवालेको पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता। समय बरबाद करनेवालेको पश्चात्ताप करना पड़ता है—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

(मानस ७।४३)

जो अपना समय व्यर्थ खो देता है, वह बहुत बड़ा नुकसान करता है। जो समय भगवान्‌के चिन्तनके लिये है, वह भोगोंके चिन्तनमें लगता है, जो समय दूसरोंका हित, उपकार करनेके लिये है, वह दूसरोंके अहित, अपकारमें लगता है—वह बड़े भारी नुकसानकी बात है। इस नुकसानसे बचो और सावधान रहो। पशुको भी अगर सावधान किया जाय तो वह सावधान हो जाता है। ऊँटको 'सावधान! सावधान!' कह दो तो वह अखड़ता नहीं, स्खलित नहीं होता। गधेको 'बचो! बचो!' कह देनेसे वह ठीक चलने लग जाता है। मनुष्यको तो आप-से-आप सावधान होना चाहिये—

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते
हयाश्च नागाश्च वहन्ति चोदिताः।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः
परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः॥

'कही हुई बातका अर्थ तो पशु भी समझ लेते हैं, जैसे, प्रेरणा करनेपर घोड़े और हाथी सवारको लेकर चलते हैं। परन्तु बुद्धिमान् लोग बिना कही हुई बातको भी संकेतमात्रसे समझ लेते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि दूसरोंके भीतरी भावोंको जाननेवाली होती है।'

मनुष्यमें स्वयं सावधान रहनेकी योग्यता है। परन्तु इस योग्यताको वह काममें नहीं ले रहा है, पशु-पक्षियोंकी तरह ही समय बरबाद कर रहा है! इधर तो वह टी॰ वी॰ देख रहा है, तमाशा देख रहा है, पर उधर यमराज आ रहे हैं, मौत आ रही है! अभी जो समय मिला है, वह बरबाद करनेके लिये नहीं मिला है। अच्छे-से-अच्छे काममें लगानेके लिये मिला है। दूसरोंकी सेवा करना और भगवान्‌को याद करना—ये दो काम खास करनेके हैं। पशुओंसे, वृक्षोंसे आप सेवा ले सकते हो, पर वे स्वयं सेवा नहीं कर सकते। दूसरोंकी सेवा करनेकी बुद्धि और योग्यता मनुष्यके सिवाय और किसीमें नहीं है। ऐसे ही भगवान्‌को याद करना, भगवान्‌से प्रेम करना, मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं—ऐसा भाव रखना भी मनुष्यशरीरमें ही सम्भव है। इसलिये मनुष्यको हरदम सावधान, सावचेत रहना चाहिये। अपने घरोंमें बड़े-बड़े अक्षरोंमें 'सावधान' लिख देना चाहिये, जिससे उसपर दृष्टि पड़ती रहे और सावधानी रहे।

समय बड़ी तेजीसे खर्च हो रहा है और खर्च होनेपर उसी क्षण मरना पड़ेगा। मरते क्यों हैं? कि जीनेका समय बाकी नहीं रहा। आप कितने ही बुद्धिमान् हों, आपमें कितना ही बल हो, आपके पास कितने ही रुपये हों, आपका कितना ही बड़ा राज्य हो, आपके पास सब कुछ हो, पर मरनेके समय वह कुछ कामका नहीं है—

अरब खरब लौं द्रव्य है, उदय अस्त लौं राज।
तुलसी जो निज मरन है, तो आवहि किहि काज॥

इसलिये सावधान रहो। बहुत ही सीधा-सरल उपाय है कि 'राम-राम-राम' करना शुरू कर दो और भीतर बार-बार भगवान्‌से कहो कि 'हे नाथ! ऐसी कृपा करो कि मैं आपको भूलूँ नहीं।' भगवान्‌की स्मृति सम्पूर्ण विपत्तियोंका नाश करनेवाली है—**'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्'** (श्रीमद्भा॰ ८।१०।५५)। बड़ी सीधी-सरल और बहुत महत्ताकी बात है। केवल सावधानीकी आवश्यकता है कि समय खाली न चला जाय। एक नामका उच्चारण कर सकें, उतना समय भी अगर खाली चला गया तो बहुत बड़ी हानि है।

श्रोता—राम-नाम भीतरसे जपना चाहिये या जबानसे?

स्वामीजी—चाहे भीतरसे जपो, चाहे जबानसे जपो, जिस किसी तरहसे जपो, नाम-जप छूटना नहीं चाहिये। **'तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्'** (श्रीमद्भा॰ ७।१।३१)—किसी तरहसे आपका मन, आपकी वाणी

भगवान्‌में लग जाय। इसके लिये कोई समय, मुहूर्त नहीं देखना है। मनुष्य-शरीर मिल गया तो मुहूर्त मिल गया।

सोई तित्थ सुतित्थ है, सोई बार सुबार।
भद्रा भागी मानवा, सुमरचा सिरजणहार॥

श्रोता—भगवान्‌का नाम लेना और भगवान्‌का कार्य करना—दोनोंमें ज्यादा आवश्यक कौन-सा है?

स्वामीजी—यह प्रश्न ऐसा ही है कि जैसे कोई पूछे—रोटी खायें या पानी पीयें, क्या करें बताओ? दोनों ही आवश्यक हैं। नाम भी लो और काम-धंधा भी करो। नाम तो हरदम लिया जा सकता है, पर कार्य हरदम नहीं किया जा सकता। अतः नाम हरदम लो और मौका पड़नेपर कार्य भी करो—**'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'** (गीता ८।७)। जो शास्त्रविहित काम सामने आ जाय, उसे भगवान्‌का समझकर करो और नाम निरन्तर लेते रहो, नाम छूटे नहीं।

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥
(मानस १।२२।४)

—चारों ही युगोंमें और चारों ही वेदोंमें नामका प्रभाव है, पर कलियुगमें इसका विशेष प्रभाव है। इसके समान दूसरा कोई उपाय है नहीं। सभी सन्तोंने एक स्वरसे नामकी महिमा गायी है। नामके विषयमें भेद हो सकता है। कोई 'ॐ' कहेगा, कोई 'राम' कहेगा, कोई 'हरे राम०' बतायेगा, कोई 'ॐ नमो नारायणाय' बतायेगा—इस प्रकार नामोंमें भेद हो सकता है, पर नाम-जपमें सब-के-सब एक हैं।

श्रोता—राम-राम करनेसे प्रारब्ध कट जायगा क्या?

स्वामीजी—प्रारब्ध तो भोगनेसे कट ही जायगा। प्रारब्धकी क्या चिन्ता करें? यह तो भोगा और कटा, आप-से-आप ही कट जायगा। प्रारब्ध तो हरदम स्वतः-स्वाभाविक ही कटता रहता है।

श्रोता—ऊपरसे राम-राम करते हैं, मन तो लगता नहीं, फिर क्या फायदा?

स्वामीजी—ऊपरसे करनेपर भी फायदा होता है। कोई भी क्रिया निरर्थक नहीं जाती। कोई भी शब्द उच्चारण करो, वह निरर्थक नहीं जाता। फिर भगवान्‌का नाम तो भगवान्‌का ही है, वह निरर्थक नहीं जाता—इतनी ही बात नहीं है, प्रत्युत नामका उच्चारण करनेसे त्रिलोकीका बड़ा भारी उपकार होता है। कारण कि शब्द यहीं नहीं रहता, प्रत्युत व्यापक हो जाता है, सब जगह चला जाता है। व्यापक होनेके कारण ही शब्द रेडियोके द्वारा प्रकट हो जाता है। अगर कोई खराब शब्द बोलता है तो वह त्रिलोकीका बड़ा भारी अपराध करता है। अगर कोई मनसे किसीका अनिष्ट-चिन्तन करता है तो वह त्रिलोकीका अनिष्ट करता है। जैसे पानीमें एक छोटा-सा कंकड़ डालो तो उसकी भी तरंगें उठती हैं, पर सूक्ष्म होनेके कारण वे दीखती नहीं। ऐसे छोटा-सा शब्द उच्चारण किया जाय तो वह भी त्रिलोकीमें फैल जाता है। शब्दकी शक्ति अचिन्त्य है—**'शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात्।'** अतः बिना मन लगे भी कोई भगवान्‌का नाम लेगा तो उसको जरूर लाभ होगा। मन लगाकर नाम लिया जाय, तब तो कहना ही क्या है!

★

सभी परमात्मप्राप्ति कर सकते हैं

एक ऐसी बात है, जिसकी महिमा मैं कह नहीं सकता। अगर आप ध्यान दें तो सदाके लिये निहाल हो जायँ। वह यह है—ऐसा कोई पारमार्थिक साधन है ही नहीं, जिसके लिये हम कह सकें कि इसको तो हम नहीं कर सकते और ऐसा कोई सांसारिक कार्य नहीं है, जिसको सब कर सकते हों। कारण कि परमात्मप्राप्तिकी योग्यता, सामर्थ्य तो सभी मनुष्योंमें है, परन्तु सांसारिक वस्तुओंको प्राप्त करनेकी योग्यता, सामर्थ्य सभी मनुष्योंमें नहीं है। जैसे कामनाकी पूर्ति करना और कामनाका त्याग करना—ये दो बातें हैं। कामनाकी पूर्ति कभी कोई कर ही नहीं सकता। हम इन्द्र बन जायँ, महाराजा बन जायँ, बड़े धनी बन जायँ, कितनी ही सम्पत्ति इकट्ठी कर लें, तो भी कामनाकी पूर्ति कभी हो ही नहीं सकती। परन्तु कामनाका त्याग हो सकता है। सांसारिक पूर्ति कोई कभी कर ही नहीं सकता और परमात्माकी प्राप्ति सभी कर सकते हैं। इसमें कोई अयोग्य है ही नहीं; क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीर मिला है। जिस कामके लिये शरीर मिला है, वही काम यदि नहीं कर सकता तो फिर क्या कर सकेगा वह? सांसारिक पूर्तिके लिये शरीर मिला ही नहीं है तो फिर उसकी पूर्ति कैसे कर सकता है? कर ही नहीं सकता।

परमात्माकी प्राप्ति करनेमें, सांसारिक कामनाका त्याग करनेमें सब-के-सब स्वाधीन हैं और सांसारिक कामनाकी पूर्ति करनेमें सब-के-सब पराधीन हैं। यहाँ इतने लोग बैठे हैं, कोई सांसारिक कामना पूरी करनेमें समर्थ हो तो बताये! कभी कोई समर्थ है ही नहीं। परन्तु कामनाका त्याग करनेमें, परमात्माकी प्राप्ति करनेमें सब-के-सब समर्थ हैं, कोई असमर्थ नहीं है। सब-के-सब पात्र हैं; कोई अपात्र नहीं है, सब-के-सब योग्य हैं, कोई अयोग्य नहीं है। सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति दो मनुष्योंको भी कभी एक समान नहीं होती, पर परमात्माकी

प्राप्ति सबको एक समान होती है। पहले नारद, व्यास, शुकदेव आदि महात्माओंको जिस तत्त्वकी प्राप्ति हुई है, उसी तत्त्वकी प्राप्ति आज भी कोई करना चाहे तो कर सकता है। ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो अथवा शूद्र हो; ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थ हो अथवा संन्यासी हो; बीमार हो अथवा स्वस्थ हो; अनपढ़ हो अथवा पढ़ा-लिखा हो; निर्धन हो अथवा धनवान् हो—सब-के-सब परमात्माकी प्राप्तिके अधिकारी हैं। इसमें आप खूब शंका करें; शंका टिकेगी नहीं ! सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें कोई भी स्वतन्त्र नहीं है; क्योंकि उनकी प्राप्ति दूसरोंके अधीन है। दूसरेकी अधीनता स्वीकार किये बिना, दूसरेकी सहायता लिये बिना अकेला कोई सांसारिक भोगोंको भोग ही नहीं सकता। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति अकेला ही कर सकता है, क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिमें किसीकी सहायताकी किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है। परमात्माकी प्राप्तिमें सब-के-सब स्वतन्त्र हैं।

पारमार्थिक बात बतानेवाले भी हर समय तैयार हैं। दत्तात्रेयजी महाराजने चौबीस गुरु बनाये तो पारमार्थिक बात बतानेवालोंको ही गुरु बनाया, नहीं बतानेवालोंको वे गुरु कैसे बनाते ? गुरुका कभी अभाव होता ही नहीं।

बालकपनमें खिलौनोंकी कामना होती है, पर आज खिलौनोंकी कामना होती है क्या ? इससे सिद्ध हुआ कि कामना छूटती है। यह आपके अनुभवकी बात है। सांसारिक कामना टिक नहीं सकती। एक कामना छूटती है तो आप दूसरी कामना पकड़ लेते हैं। इस तरह आप नयी-नयी कामना पकड़ते रहते हैं। अगर पकड़ना छोड़ दें तो निहाल हो जायँ ! परमात्मप्राप्तिकी कामना तो कभी किसीकी नहीं मिटती, केवल दब जाती है। जो कामना टिकती नहीं, उसको तो पकड़ते रहते हैं और जो कामना मिटती नहीं, उसकी तरफ ध्यान ही नहीं देते—यह हमारी वस्तुस्थिति है। परमात्मप्राप्तिकी कामना पूरी करनेमें आप सब सबल हैं, निर्बल नहीं हैं, परन्तु सांसारिक कामना पूरी करनेमें आप सब निर्बल हैं, कोई सबल नहीं।

श्रोता—संसारकी इच्छा और परमात्माकी इच्छा—दोनों बिलकुल विपरीत होते हुए भी एक ही जगह रहती हैं क्या ?

स्वामीजी—दोनों इच्छाएँ एक ही जगह होती हैं। जहाँ भोगकी इच्छा है, वहीं मोक्षकी भी इच्छा है। भोगकी इच्छा निवृत्त होगी और परमात्माकी इच्छा जाग्रत् हो जायगी। संसारकी इच्छाको मिटा दो तो परमात्माकी इच्छा आप-से-आप पूरी हो जायगी। संसारकी इच्छा कभी पूरी नहीं होगी। लाखों, करोड़ों, अरबों जन्म हो जायँगे तो भी पूरी नहीं होगी, प्रत्युत नयी-नयी पैदा होती रहेगी—*'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।'*

श्रोता—दोनों विपरीत इच्छाएँ एक ही जगह कैसे रहती हैं ?

स्वामीजी—एक इच्छाको तो आपने पकड़ा और एक इच्छा आपमें स्वतः है। संसारकी इच्छाको तो आपने पकड़ा है और परमात्माकी इच्छा आपमें खुदमें है। मैं सदा जीता रहूँ, मेरेमें और कोई अज्ञान न रहे, मैं सदा सुखी रहूँ—यह आपकी खुदकी इच्छा है। भोगोंकी इच्छा आपकी खुदकी नहीं है।

इच्छाके प्रेरक आप खुद ही हैं। अगर आप खुद सांसारिक इच्छाको छोड़ दें तो वह टिक सकती ही नहीं। जिसकी पूर्ति होनी असम्भव है, उसको तो छोड़ ही देना चाहिये। सांसारिक इच्छा इसलिये पूरी नहीं होती कि संसार 'नहीं' है और परमात्मप्राप्तिकी इच्छा इसलिये पूरी होती है कि परमात्मा 'हैं'। सांसारिक वस्तुएँ कभी सदा नहीं रहतीं, मिट जाती हैं, पर परमात्मा सदा ही रहते हैं।

श्रोता—संसारमें रहकर संसारकी इच्छासे अलग कैसे रह सकते हैं ?

स्वामीजी—संसारमें रहकर भी सब तरहकी इच्छा होती है क्या ? नहीं हो सकती। बनावटी इच्छा सब तरहकी कैसे हो सकती है ? भोजनमें भी दो आदमियोंकी एक इच्छा नहीं होती। किसीको मीठा अच्छा लगता है, किसीको मिर्च अच्छी लगती है। किसीको थोड़ी मिर्च अच्छी लगती है, किसीको ज्यादा मिर्च अच्छी लगती है। इस तरह संसारकी सब इच्छाएँ सबको नहीं होतीं। अतः संसारकी इच्छा छूटनेवाली है। जैसे संसारकी दूसरी इच्छाओंसे आप अलग रहते हैं, ऐसे ही जिन इच्छाओंको आपने पकड़ रखा है, उन इच्छाओंसे भी आप अलग रह सकते हैं।

वास्तवमें आप स्वयं संसारमें रहते ही नहीं, प्रत्युत परमात्मामें ही रहते हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७)। संसारमें तो शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि रहते हैं—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि**' (गीता १५।७)। जो आपके नहीं हैं, उन शरीरादिको तो आप अपना मान लेते हैं और जो आपके अपने हैं, उन परमात्माको आप अपना नहीं मानते—यह खास भूल है।

श्रोता—परमात्माको देखे बिना अपना कैसे मानें ?

स्वामीजी—आप स्वयं दीखते हो क्या ? आप कहते हैं कि शरीर मेरा है, इन्द्रियाँ मेरी हैं, मन मेरा है, बुद्धि मेरी है, तो इससे सिद्ध होता है कि आप शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे अलग हैं। अतः आप कैसे हैं ? आपका रंग-रूप कैसा है ? बताओ। आप स्वयं नहीं दीखते, फिर भी अपनेको मानते हो

कि नहीं ? अभी तो बात चल रही है, उसकी तरफ आप ध्यान तो दो जिस इच्छाकी पूर्ति नहीं हो सकती, उसको तो छोड़ दो और जिस इच्छाकी पूर्ति हो सकती है, उसको पकड़ लो—इतनी ही तो बात है। सिद्धान्तकी एकदम पक्की बात है।

'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।'

(गीता ६। २२)

—जिसकी प्राप्तिसे बढ़कर दूसरा कोई लाभ है ही नहीं और दुःख जिसके नजदीक ही नहीं पहुँचता, उसकी प्राप्ति आप सबको हो सकती है; परन्तु यह तब होगी, जब आप दूसरी (सांसारिक) इच्छा नहीं रखोगे। अगर परमात्माकी इच्छा भी रहेगी और संसारकी इच्छा भी रहेगी, तो काम नहीं बनेगा—***'दुविधामें दोनों गये, माया मिली न राम।'***

श्रोता—भगवान् सांसारिक कामना पैदा कर देते हैं!

स्वामीजी—भगवान् कभी किसीकी कामना पैदा नहीं करते, नहीं करते, नहीं करते! कामना तो आपकी अपनी बनायी हुई है। आप सच्चे हृदयसे प्रार्थना करो तो भगवान् मिटा देंगे। जिससे आपपर आफत आये, ऐसा काम भगवान् नहीं करते; क्योंकि आप भगवान्के अंश हैं। अंशी अपने अंशका बिगाड़ कैसे कर सकता है?

—★—

दृढ़ विचारसे लाभ

श्रोता—जबतक हमारे सामने सांसारिक भोग नहीं आते, तबतक तो हमारा दृढ़ भाव रहता है कि हम भोगोंमें फँसेंगे नहीं, परन्तु भोग सामने आनेपर हम कमजोर हो जाते हैं ! हम क्या करें ?

स्वामीजी—बहुत सुन्दर प्रश्न है ! भोगोंमें न फँसनेका जो यह भाव है, यह बहुत ही दुर्लभ चीज है, बड़ी भारी कीमती चीज है। संसारका सम्बन्ध तोड़ना और भगवान्‌का सम्बन्ध जाग्रत् करना—यह खास मनुष्यता है। वास्तवमें देखा जाय तो संसारके साथ हमारा सम्बन्ध जुड़ता नहीं और भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध टूटता नहीं। हम संसारके साथ एक हो जायँ और भगवान्‌से अलग हो जायँ—यह बिलकुल असम्भव बात है। हमारेमें यह शक्ति नहीं है कि हम भगवान्‌से अलग हो जायँ और सर्वसमर्थ होते हुए भी भगवान्‌में यह शक्ति नहीं है कि वे हमारेसे अलग हो जायँ। वास्तविक बात यह है कि हमारा संसारके साथ सम्बन्ध नहीं है और भगवान्‌के साथ सम्बन्ध है। जो नहीं है, उसको तोड़ दें और जो है, उसे जाग्रत् कर दें—यह हमारा खास काम है।

जबतक सामने पदार्थ नहीं आते, तबतक यह दृढ़ भाव रहता है कि हम भोगोंमें फँसेंगे नहीं—इतनी बात भी अगर आपकी हो गयी है तो यह बड़े भारी आनन्दकी बात है ! भोगोंकी इच्छा न होना बहुत ऊँचे दर्जेकी बात है, मामूली बात नहीं है। संसारको छोड़नेकी और भगवान्‌को प्राप्त करनेकी थोड़ी भी इच्छा हुई है तो इसका फल नाशवान् नहीं होगा, प्रत्युत अविनाशी फल (कल्याण) ही होगा—'**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**' (गीता २।४०)। लाखों, करोड़ों, अरबों रुपये मिल जायँ तो वे भी इसके सामने कुछ नहीं हैं। त्रिलोकीका राज्य मिल जाय तो उसकी केश-जितनी भी इज्जत नहीं है, क्योंकि यह सब नाशवान् है।

सामने पदार्थ आनेपर हम विचलित हो जाते हैं—यह दशा हमारी क्यों है कि हम विचार कर-करके छोड़ देते हैं, ऐसी खराब आदत पड़ी हुई है। सत्सङ्गमें सुनकर, पुस्तकोंमें पढ़कर विचार करते हैं कि अब ऐसा करेंगे, पर फिर उसको छोड़ देते हैं। मामूली बातोंको भी पकड़कर फिर छोड़ देते हैं। यह आदत ही आपको कमजोर करती है। अगर आपकी ऐसी आदत होती कि किसी बातको छोड़ दिया तो छोड़ ही दिया, पकड़ लिया तो पकड़ ही लिया, तो आपकी यह दुर्दशा नहीं होती। क्षमा करना, बुरा न लगे आपको; परन्तु है यह दुर्दशा ही ! हरेक कामका विचार करते हैं तो उस विचारपर स्थायी नहीं रहते। पदार्थोंमें, संग्रहमें इतना अवगुण नहीं है, जितना अवगुण हमारी खराब आदतमें है। जबतक आपमें दृढ़ता नहीं है, तबतक आप किसी भी क्षेत्रमें जाओ, आप उन्नति नहीं कर सकते। आदत बिगड़नेसे बड़ा भारी नुकसान हो रहा है। अगर एक बातपर दृढ़ रहनेकी आदत बना लो तो निहाल हो जाओगे। भगवान् मेरे हैं तो चाहे कुछ भी हो जाय, भगवान् ही मेरे हैं। संसार मेरा नहीं है तो मेरा है ही नहीं।

सत्य बोलना है तो पक्का विचार कर लो कि आजसे सत्य ही बोलना है, झूठ बोलना ही नहीं है। इसमें भी 'हम झूठ नहीं बोलेंगे'—इस बातपर अटल रहो, 'हम सत्य बोलेंगे'—इस बातपर नहीं। त्यागकी बहुत बड़ी महिमा है। चाहे कुछ भी हो जाय, हम झूठ नहीं बोलेंगे। चाहे प्रतिष्ठा जाती हो, इज्जत जाती हो, पैसा जाता हो, हमारी कुछ भी हानि होती हो, पर हम झूठ नहीं बोलेंगे। अगर सत्य बोलनेका अवसर आनेपर आप कमजोर पड़ जाओ, सत्य बोलनेकी हिम्मत न रहे तो इतनी ढिलाई भले ही रख लो कि झूठ मत बोलो, चुप रह जाओ। सामनेवालेसे कह दो कि सभी बातें सबको बतानेकी नहीं होतीं, इसलिये हम नहीं बतायेंगे। हमारेमें सच्ची

बात बतानेकी सामर्थ्य नहीं है; सच्ची बात कहनेका अभी विचार नहीं है; पूरी बात बतानेका हमारा मन नहीं है। वहाँसे उठकर चल दो कि 'हमें काम है'। काम यही है कि बताना नहीं है। ऐसा करनेसे 'हम झूठ नहीं बोलेंगे'—यह आपकी प्रतिज्ञा सत्य हो जायगी। यह आपको ऐसा उपाय बताया है, जिसको आप कर सकते हो।

आपने एक बार जो पक्का विचार कर लिया है, उस विचारकी फिर कभी हत्या मत करो। अपने विचारोंकी हत्या बार-बार जन्म-मरण देनेवाली है। अतः अपना विचार पक्का रखो कि पदार्थ भले ही सामने आ जायँ, अब हम विचलित नहीं होंगे, अब हम थूककर नहीं चाटेंगे। अपने विचारपर दृढ़ रहनेसे आपमें एक शक्ति आयेगी, एक बल आयेगा। फिर आपकी यह दशा नहीं रहेगी। लोग भले ही आपको कायर कहें, आपकी निन्दा करें, उसकी परवाह मत करो। हमें तो अपने विचारोंको पक्का करना है।

आप जैसे हो, वैसा आपको सुगम साधन तो मैं बता दूँगा, पर धारण तो आपको ही करना पड़ेगा। आपको बहुत सुगम, बहुत सरल साधन मैं बता दूँगा और आपसे यह बात स्वीकार भी करा लूँगा, इस साधनको हम कर सकते हैं और इससे हमारा भला हो सकता है ! आप केवल तैयार हो जाओ, इतनेमें काम बन जायगा। कारण कि मूलमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीर मिला है। अब परमात्मा नहीं मिलेंगे तो और क्या मिलेगा ? संसार तो मिल ही नहीं सकता। वहम होता है कि रुपये मिल गये, कुटुम्ब मिल गया। सब खत्म हो जायगा मिला कहाँ ? संसार मिल नहीं सकता और भगवान्‌से अलग हो नहीं सकते, बिलकुल सच्ची बात है यह।

हम किसीका भी अहित नहीं करेंगे, किसीको भी दुःख नहीं देंगे—इसपर आप दृढ़ रहो। यह बात मामूली दीखती है, पर वास्तवमें इसका बहुत बड़ा माहात्म्य है। भजन, ध्यान, जप आदिसे इसका कम माहात्म्य नहीं है। यह बहुत कीमती बात है, पर लोग इसकी तरफ ध्यान नहीं देते, इसको ऐसे ही छोड़ देते हैं ! जैसे रोग मिटनेपर भूख लगने लगती है और भोजन करनेपर शरीरमें ताकत आनी शुरू हो जाती है। पाचन ठीक होता है तो रूखा अन्न खानेपर भी शक्ति आने लगती है। इसी तरह आप अपने विचारपर दृढ़ रहो तो आपमें एक शक्ति आ जायगी। अतः अपने विचारपर पक्के रहो कि हम असत्य बोलेंगे ही नहीं, चाहे कुछ भी हो जाय। हम चतुराई नहीं करेंगे। इस बातसे आप मत डरो कि हमारी बेइज्जती हो जायगी। झूठ बोलकर छिपाव करोगे तो इससे बहुत बड़ी बेइज्जती होगी, कम नहीं होगी। बिना छिपावके आपकी बहुत इज्जत होगी। चालाकी करोगे तो अच्छे पुरुषोंके हृदयसे गिर जाओगे कि यह कोई कामका आदमी नहीं है। ठाकुरजीके हृदयसे गिर जाओगे। अतः चतुराई मत करो, सीधी-साफ बात कह दो। साफ बात कहनेसे कोई फाँसी थोड़े ही देता है ? ऐसा करना कोई कठिन बात नहीं है। अपने कल्याणका विचार होनेसे यह बात बहुत सुगम हो जायगी। पहले थोड़ा-सा भय लगता है, फिर भय मिट जाता है।

अतः मेरेसे कोई बात पूछें तो मैं बता दूँगा, नहीं तो हजारों आदमियोंके सामने कह दूँगा कि मैं जानता नहीं। सीधी बात कहनेमें हमारेको क्या बाधा लगी ? लोग हमारेको अज्ञ, मूर्ख मानेंगे, बेसमझ मानेंगे, और क्या होगा ? समझदार मानकर कौन-सी भगवत्प्राप्ति करा देंगे और बेसमझ मानकर कौन-सी भगवत्प्राप्तिमें आड़ लगा देंगे ? जो हम जानते हैं, वह बतायेंगे; जो नहीं जानते हैं, वह नहीं बतायेंगे और कई बातें ऐसी हैं, जो हम जानते हैं, पर नहीं बतायेंगे। मेरा ऐसा कहनेका काम पड़ा है कि तुम यह पूछते हो, पर इस बातको बतानेसे तुम्हें फायदा नहीं है, इसलिये नहीं बताऊँगा।

इस बातसे डरो मत कि हमारी पोल निकल जायगी। पोल निकल जायगी तो ठोस रह जायगी ! पोल रखकर क्या करोगे ? आश्चर्य आता है कि वेदव्यासजी महाराजने अपने जन्मकी बात श्लोकबद्धरूपसे कई बार लिख दी ! क्या हृदय है उनका ! इसके कारण वे पूजनीय हैं, आदरणीय हैं। सच्ची बात प्रकट करनेसे नुकसान नहीं होता। केवल वहम है कि नुकसान हो जायगा।

भोगासक्ति कैसे छूटे ?

श्रोता—जब भोग-पदार्थ सामने आते हैं, तब न जाने क्यों हम विचलित हो जाते हैं; अतः उस समयमें हम क्या करें ?

स्वामीजी—जिसने लाठी चलाना पहले ही सीख लिया है, वही शत्रुके सामने आनेपर उससे मुकाबला कर सकता है। परन्तु शत्रु पहले ही सामने आ जाय और लाठी चलाना सीखा नहीं, वहाँ तो लाठी खानी ही पड़ेगी ! सत्संगकी बातोंको तो आप जानते हैं, पर जब भोग सामने आते हैं, तब उन बातोंको भूल जाते हैं, वे बातें काम नहीं आतीं।

तब लगि सब ही मित्र है, जब लगि पर्‌यो न काम।
हेम अगन शुद्ध होत है, पीतल होवे स्याम॥

जबतक काम नहीं पड़ता, तबतक सब ही मित्र हैं। काम

पड़नेसे ही पता लगता है कि कौन मित्र है और कौन मित्र नहीं है। सोना भी पीला दीखता है और पीतल भी पीला दीखता है, परन्तु आगमें रखनेपर सोना तो चमकता है और पीतल काला हो जाता है।

एक सीखी हुई बात होती है और एक जानी हुई बात होती है। जानी हुई बात वास्तविक होती है, जो कभी इधर-उधर नहीं होती। सीखी हुई बात बुद्धितक ही रहती है, स्वयंतक नहीं पहुँचती। परन्तु जानी हुई बात स्वयंतक पहुँचती है। जबतक कोई बात स्वयंतक नहीं पहुँचती, तबतक वह व्यवहारमें जैसी आनी चाहिये, वैसी नहीं आती। जिसका उद्देश्य परमात्माकी प्राप्ति है, उसको सीखी हुई बातोंमें सन्तोष नहीं होता। सन्तोष न होनेसे उसके द्वारा खोज होती है कि वास्तवमें क्या बात है ? खोज करते-करते उसको तत्त्वका अनुभव हो जाता है।

एक सत्संग होता है और एक कथा-वार्ता, पुस्तकोंका विवेचन आदि होता है। कथा, व्याख्या आदिकी बातें तो बहुत जगह मिलती हैं, पर अनुभवी, भगवत्प्राप्त महापुरुषोंका सत्सङ्ग कम जगह मिलता है। अनुभवी महापुरुष पहले (सत्य, त्रेता, द्वापरमें) भी कम थे, आज तो और भी कम हैं ! आज तो विद्यार्थी भी ठीक तरहसे शास्त्रका अध्ययन नहीं करते। कोरी परीक्षा देकर पास हो जाते हैं। पूछो तो बता नहीं सकते। जो पढ़ा है, वह भी नहीं बता सकते, फिर वास्तविक ज्ञान तो बहुत दूर रहा ! हमारी प्रार्थना है कि आप वास्तविक तत्त्वको समझें, कोरी पढ़ाई न करें।

जब भोग सामने आते हैं, तब सब सुनी-सुनायी बातें रद्दी हो जाती हैं। एक कहानी है। एक पण्डित थे। वे रोज रात्रिमें कथा किया करते थे। उन्होंने एक बिल्लीको पालकर सिखा रखा था। वे बिल्लीको बैठाकर उसके सिर थोड़ी मिट्टी रखकर दीपक रख देते और उस दीपकके प्रकाशमें कथा बाँचते। कोई कहता कि हमारा मन ठीक नहीं है तो वे कहते—'अरे ! यह बिल्ली ही ठीक है, एकदम चुपचाप बैठी रहती है, तुम्हारी क्या बात है ?' एक आदमीने विचार किया कि देखें, बिल्ली कैसे चुपचाप बैठती है। वह दूसरे दिन अपने साथ एक चूहा ले गया। जब पण्डितजीकी कथा चल रही थी, उस समय उसने चूहेको बिल्लीके सामने छोड़ दिया। चूहेपर दृष्टि पड़ते ही बिल्ली उसपर झपट पड़ी और दीपक गिर गया ! यही दशा आदमियोंकी होती है। बातें सुनते समय तो चुपचाप बैठे रहते हैं, पर जब भोग-पदार्थ सामने आ जायँ तो फिर वशकी बात नहीं रहती। कारण कि भीतरमें रुपयों आदिका आकर्षण है, इसलिये रुपये सामने आनेपर मुश्किल हो जाती है। भोगोंका यह आकर्षण पहले नहीं था—यह बात नहीं है। आकर्षण तो पहलेसे ही था, पर वह दबा हुआ था। ताँबेके कड़ेके ऊपर सोनेकी पालिश कर दी जाय तो वह कड़ा सोनेका ही दीखता है। इसी तरह सीखी हुई बातें पालिशकी तरह होती हैं। परन्तु जानी हुई, अनुभव की हुई बात ठोस होती है। जिसके भीतरमें स्वयंका अनुभव होता है, उसके सामने चाहे कुछ भी आ जाय, वह विचलित नहीं होता। वह हर परिस्थितिमें ज्यों-का-त्यों रहता है।

परमात्माकी प्राप्तिको लोग कठिन मानते हैं; परन्तु वास्तवमें परमात्माकी प्राप्ति कठिन नहीं है, प्रत्युत भोगासक्तिका त्याग कठिन है। भगवान्‌ने कहा है—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

(गीता २।४४)

जिनकी भोग और संग्रहमें आसक्ति है, वे परमात्माको प्राप्त करनेका निश्चय भी नहीं कर सकते, परमात्माको प्राप्त करना तो दूर रहा ! हमें परमात्मतत्त्वको ही प्राप्त करना है, अपना कल्याण ही करना है—यह बात उनमें दृढ़ नहीं रहती। अतः जबतक भीतरमें भोगोंका आकर्षण, महत्त्व बना हुआ है, तबतक बातें भले ही सीख जायँ, पर परमात्मप्राप्तिका निश्चय नहीं कर सकते। जब निश्चय ही पक्का नहीं रहेगा, तो फिर परमात्मप्राप्ति होगी ही कैसे ?

अगर आप जड़, असत्, क्षणभंगुर पदार्थोंसे ऊँचे उठ जाओ तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कठिन नहीं है। जो स्वतःसिद्ध है, उसको प्राप्त करनेमें क्या कठिनता है ? कठिनता यही है कि जो नहीं है, उसमें आकर्षण हो गया। 'है' की प्राप्ति कठिन नहीं है, 'नहीं' का त्याग करना कठिन है। जब 'नहीं' का भी त्याग नहीं कर सकते, तो फिर और क्या त्याग करोगे ? आश्चर्यकी बात है कि आप जाने हुए असत्‌का त्याग नहीं कर सकते ! जिनको जानते हो कि ये असत् हैं, नाशवान् हैं, सदा साथ रहनेवाले नहीं हैं, आने-जानेवाले हैं, उनका भी त्याग नहीं करते—यह बहुत बड़ी गलती है।

असत्‌का आकर्षण कैसे छूटे ? इसके लिये कर्मयोगका पालन करें। गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोगकी बात विशेषतासे कही है और उसकी महिमा गायी है—**'कर्मयोगो विशिष्यते'** (५।२)। कर्मयोगकी बात गीतामें जितनी स्पष्ट मिलती है, उतनी अन्य ग्रन्थोंमें नहीं मिलती। कर्मयोगका तात्पर्य है—दूसरोंको सुख देना और बदलेमें कुछ भी न चाहना। माँ-बापको सुख देना है। स्त्री, पुत्र, भाई-भतीजेको भी सुख देना है। पड़ोसियोंको भी सुख देना है ! सबको सुख देना है।

इसको काममें लाओ तो असत्‌का आकर्षण छूट जायगा।

किसी तरहसे दूसरोंको सुख मिल जाय, आराम मिल जाय— ऐसा जो भाव है, यह बहुत दामी चीज है, मामूली नहीं है। अगर आप चाहते हो कि विषय सामने आनेपर हम विचलित न हों, तो इस सिद्धान्तको पकड़ लो कि दूसरोंको सुख कैसे हो ? दूसरोंको आराम कैसे हो ? वस्तु मेरे पास हरदम नहीं रहेगी, अतः दूसरेके काम आ जाय तो अच्छा है—ऐसा भाव होनेसे सबके हितमें रति हो जायगी। जब दूसरोंके हितमें आपकी रति, प्रीति हो जायगी, तब भोगपदार्थ सामने आनेपर भी उनका त्याग करना सुगम हो जायगा। परन्तु 'मेरेको कैसे सुख हो ? मेरेको सम्मान कैसे मिले ? मेरी बड़ाई कैसे हो ? मेरी बात कैसे रहे ? मेरेको आराम कैसे मिले ?'—यह भाव रहेगा तो त्रिकालमें भी कल्याण नहीं होगा, क्योंकि ऐसा भाव रखना पशुता है, मनुष्यता नहीं है।

दूसरेके हितका भाव होनेसे आपकी सुख भोगनेकी इच्छाका नाश हो जायगा।

प्रतिकूल परिस्थितिसे लाभ

मनुष्यशरीरको सबसे श्रेष्ठ माना गया है—'**लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते**' (श्रीमद्भा० ११।९।२९)। अकारण कृपा करनेवाले प्रभु कृपा करके मनुष्यशरीर देते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस, उत्तर० ४४।३)

जैसे भगवान्‌ने कृपा करके मनुष्यशरीर दिया है, ठीक वैसे ही भगवान्‌ने हमारेको जो परिस्थिति दी है, वह भी कृपापूर्वक दी है। हमारे कर्म अच्छे हों, चाहे मन्दे हों, कैसे ही कर्म हमने किये हों; परन्तु उनके फलका विधान करनेवाला हमारा परम सुहृद् है—'**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' (गीता ५।२९)।

सांसारिक दृष्टिसे तो परिस्थिति दो प्रकारकी होती है—सुखदायी और दुःखदायी, पर पारमार्थिक दृष्टिसे परिस्थिति दो प्रकारकी नहीं होती। परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवालोंके लिये परिस्थितिके दो भेद नहीं होते; क्योंकि भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके लिये मनुष्यशरीर दिया है तो जो परिस्थिति दी है, वह भी अपनी प्राप्तिके लिये ही दी है। अतः चाहे अनुकूल-से-अनुकूल परिस्थिति हो, चाहे प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति हो, चाहे अनुकूल-प्रतिकूल-मिश्रित परिस्थिति हो, वह केवल हमारे कल्याणके लिये मिली है। जो कुछ परिस्थिति मिली है, वह केवल भगवत्प्राप्तिका साधन है—'***साधन धाम मोच्छ कर द्वारा***' (मानस, उत्तर० ४३।४)। जो भोगी होता है, उसीकी दृष्टिमें परिस्थिति सुखदायी और दुःखदायी—दो तरहकी होती है। योगीकी दृष्टिमें परिस्थिति दो तरहकी होती ही नहीं।

कल्याणके लिये अनुकूल परिस्थितिकी अपेक्षा प्रतिकूल परिस्थिति ज्यादा बढ़िया है। बढ़िया क्यों है? कि अनुकूलतामें तो रागके कारण संसारमें फँसनेकी बहुत सम्भावना रहती है, पर प्रतिकूलतामें संसारमें फँसनेकी सम्भावना नहीं रहती, प्रत्युत केवल परमात्माकी तरफ चलनेकी मुख्यता रहती है। साधकके लिये दो ही बातें मुख्य हैं—संसारसे हटना और परमात्मामें लगना। अनुकूल परिस्थितिमें तो हम संसारसे चिपक जाते हैं; अतः संसारसे हटनेमें मेहनत पड़ती है; परन्तु प्रतिकूल परिस्थितिमें संसारसे हटनेमें मेहनत नहीं पड़ती। इसलिये प्रतिकूल परिस्थितिमें साधकका आधा काम हो जाता है!

प्रतिकूल परिस्थिति परमात्माकी प्राप्तिमें मुख्य साधन है। अगर हमें प्रतिकूलता अच्छी नहीं लगती है तो हम असली साधक नहीं हुए। असली साधक तब होंगे, जब यह मानेंगे कि हमारे प्रभुकी भेजी हुई परिस्थिति हमारे लिये मङ्गलमय है। यह एकदम पक्की, सिद्धान्तकी बात है। शास्त्रमें आता है।

लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः॥

'जिस प्रकार बच्चेका पालन करने और ताड़ना देने—दोनोंमें माताकी कहीं अकृपा नहीं होती, उसी प्रकार जीवोंके गुण-दोषोंका नियन्त्रण करनेवाले परमेश्वरकी कहीं किसीपर अकृपा नहीं होती।'

बालकको प्यार करनेमें और कभी चपत जमानेमें भी माँका हृदय दो नहीं होता; माँकी अकृपा नहीं होती। अकृपा नहीं होती—इतना ही नहीं है, प्रत्युत ताड़ना देनेमें विशेष कृपा होती है। किसी माँको प्यार उमड़े तो वह खेलते हुए सब बच्चोंको लड्डू बाँट देगी; परन्तु उद्दण्डता करनेवाले सब बच्चोंको चपत नहीं जमायेगी। जो बच्चा अपना है, उसीको चपत जमायेगी। इस तरहसे भगवान् अनुकूल परिस्थिति तो सबको दे देते हैं, पर प्रतिकूल परिस्थिति उन्हें देते हैं, जिनपर विशेष कृपा है, अपनापन है। अतः प्रतिकूल परिस्थितिमें भगवान्की विशेष कृपा प्राप्त होती है, हमारे पापोंका नाश होता है और हमारे जीवनमें विकास होता है। जितने भी अच्छे-अच्छे पुरुष हुए हैं, उनके जीवनमें प्रायः प्रतिकूल परिस्थितिमें विकास हुआ है। बहुत कम ऐसे सन्त मिलेंगे, जो अनुकूल परिस्थितिमें उन्नति कर सके हैं।

देखो, प्रत्यक्ष बात बतायें। अभी कोई भी जीव-जन्तु या मनुष्य दुःख पाता है तो उसके साथ अच्छे आदमियोंका सहयोग रहता है कि इसका दुःख दूर कैसे हो ? परन्तु कोई भोगी व्यक्ति हो तो उसके साथ अच्छे लोगोंका सहयोग-सहानुभूति नहीं रहेगी, वह सबको अच्छा नहीं लगेगा। अच्छे सन्त तो उसको देखकर राजी हो जायँगे, पर हरेक आदमी उसको देखकर राजी नहीं होगा। मोटरपर चढ़े हुए भोगी व्यक्तिको देखकर पैदल चलनेवालोंका जी जलता है! वे उसके सहयोगी नहीं होते, प्रत्युत विरोधी होते हैं। जैसे जनता उसके सुखमें सहयोग नहीं देती, ऐसे भगवान्में भी उसके प्रति थोड़ी उपेक्षा रहती है। जैसे, बच्चा सुखी है, मौज कर रहा है, खेल रहा है तो माँमें उसके प्रति थोड़ी उपेक्षा रहती है। बालक दुःखी हो जाता है तो उसपर माँकी विशेष निगाह रहती है। इसी तरह दुःखदायी परिस्थितिमें भगवान्की विशेष कृपा रहती है। जैसे आपका सहयोग दुःखीके साथ विशेष रहता है, ऐसे ही भगवान्का सहयोग भी दुःखीके साथ विशेष रहता है।

दुःख आनेपर यदि साधक विशेष सावधानी रखे तो उसका विकास होगा; परन्तु दुःख पाकर रोने लगे तो विकास नहीं होगा। एक बालक पाँच-सात वर्षका था कि उसके माँ-बाप मर गये। अब वह तीस वर्षका हो गया। एक दूसरा बालक भी तीस वर्षका हुआ, जिसके माँ-बाप भी हैं, दादा-दादी भी हैं, बड़े भाई भी हैं। इन दोनोंमें कौन अधिक होशियार होगा ? जिसके माँ-बाप नहीं हैं, वह होगा। कारण कि दुःखमें हमारी जितनी जल्दी उन्नति होती है, उतनी अनुकूलतामें नहीं होती। दुःखमें नया विकास होता है। इससे सिद्ध क्या हुआ ? कि जो परिस्थिति भगवान्ने हमें दी है, वह हमारे कल्याणके लिये दी है, उद्धारके लिये दी है।

भोग भोगते हैं तो बुद्धि मारी जाती है, विकसित नहीं होती। सुखमें गफलत होती है। ज्यादा आराम मिलनेसे नींद आती है। दुःखमें नींद नहीं आती, गफलत नहीं होती। प्रतिकूल परिस्थितिमें हम साधन करें तो हमारा साधन बहुत तेजीसे चलेगा, क्योंकि इसमें हमारे पापोंका नाश होता है और प्रभुका, सन्त-महात्माओंका विशेषतासे सहयोग मिलता है। दुःखमें आदमी सावधान होता है। सुखमें वह सावधान नहीं होता। सुखमें आदमी हर्षित होता है तो उसमें घमण्ड आ जाता है और वह धर्मका अतिक्रमण कर जाता है—**'हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्मादतिक्रामति।'** परन्तु दुःखी आदमी धर्मका अतिक्रमण नहीं करता। जो बड़े-बड़े धनी आदमी हैं, उनके घरपर साधु जा नहीं सकता, कोई माँगनेवाला जा नहीं सकता; क्योंकि आदमी लाठी लिये बैठे हैं; आगे जाने नहीं देते! परन्तु गरीब आदमीके घर हरेक साधु चला जायगा और उसको रोटी मिल जायगी। गरीब आदमीके मनमें आयेगा कि क्या पता, किस जगह हमारा भला हो जाय! हमें कोई आशीर्वाद मिल जाय! कैसे ही भावसे वह देगा। परन्तु धनी आदमीमें यह बात नहीं होगी। वह कह देगा कि नहीं-नहीं, हम नहीं देते, जाओ यहाँसे। अतः सुखी आदमीके द्वारा ज्यादा अच्छा काम नहीं होता; क्योंकि वह सुख भोगनेमें लगा रहता है। दुःखी व्यक्ति भोगोंमें नहीं फँसता, उपराम रहता है, इसलिये वह दूसरोंके लिये, अपने लिये और भगवान्के लिये ठीक होता है तथा भगवान्, जनता सब उसके लिये ठीक होते हैं। अतः दुःखदायी परिस्थितिमें साधकको प्रसन्नता होनी चाहिये, आनन्द होना चाहिये कि भगवान्ने बड़ी कृपा करके ऐसा मौका दिया है। इस बातको कुन्ती समझती थी, इसलिये उसने भगवान्से विपत्ति माँगी और कहा कि 'हे नाथ! हमारेको सदा विपत्ति मिलती रहे'—**'विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो'** (श्रीमद्भा० १।८।२५)। रन्तिदेवने कहा कि 'जितने भी दुःखी आदमी हैं, उन सबका दुःख तो मैं भोगूँ और वे सभी दुःखसे रहित हो जायँ'—**'आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः'** (श्रीमद्भा० ९।२१।१२)। कितनी विचित्र बात कही है! सबका दुःख मैं भोगूँ—यह मामूली बात नहीं है। यह बड़ी ऊँची दृष्टि है।

सुख-सामग्री भोगनेके लिये नहीं है। सुख-सामग्री है दूसरोंका हित करनेके लिये, सहायता करनेके लिये। यह शरीर सुख-भोगके लिये दिया ही नहीं गया है—***'एहि तन कर फल बिषय न भाई'*** (मानस उत्तर० ४४। १)। यह तो आगे उन्नति करनेके लिये दिया गया है। मनुष्य सदाके लिये सुखी हो जाय, उसका दुःख सदाके लिये मिट जाय—इसके लिये ही यह मनुष्य-शरीर दिया गया है।

श्रोता—सुखमें सब साथी रहते हैं, दुःखमें कोई नहीं रहता।

स्वामीजी—दुःखमें वे साथी नहीं रहते, जो भोगी होते हैं, जो सज्जन पुरुष होते हैं, वे दुःखीपर विशेष कृपा करते हैं, दुःखीका सहयोग करते हैं। जो केवल सुखके साथी होते हैं, वे भोगी होते हैं। वे उससे सुख चाहते हैं, उसका भला नहीं चाहते। सुखीका साथ देनेवाले ठग होते हैं, धोखेबाज होते हैं। वे खुद सुख लूटना चाहते हैं कि यह सुख हमें मिल जाय। सज्जन पुरुष दूसरेका हित करना चाहते हैं—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

'चलते हुए कोई गिर जाय, उसको चोट लग जाय तो दुष्ट पुरुष हँसेंगे, पर सज्जन पुरुष कहेंगे कि 'भाई! कहाँ लगी है? तुम्हें कहाँ जाना है? हम तुम्हें पहुँचा दें।' अतः दुःखदायी परिस्थितिमें सज्जन पुरुषोंका विशेष सहयोग मिलता है और हमारा अधिक विकास होता है।'

★

स्वाधीनताका रहस्य

मनुष्य-शरीर परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। इसके सामने जो भी परिस्थिति आती है, वह सब-की-सब साधन-सामग्री है। उसीके सदुपयोगसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। मनुष्यके मनमें रहती है कि परिस्थिति बदल जाय, शरीर ठीक नहीं है तो ठीक हो जाय, धन नहीं है तो धनवान् हो जायँ; ऐसी परिस्थिति हो जाय तो फिर हम भजन करें। वास्तवमें परिस्थितिके बदलनेकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है। जैसी स्थितिमें स्थित हैं, उसी स्थितिमें परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है ! सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें तो अलग-अलग स्थिति, योग्यता, परिस्थिति आदिकी आवश्यकता होती है ! पर परमात्माकी प्राप्तिमें आपकी जो योग्यता है, जो स्थिति है, जो परिस्थिति है, उसीमें परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। कितनी विलक्षण बात है ! केवल आपकी इच्छा चाहिये कि हमें एकमात्र परमात्माकी प्राप्ति करनी है। यह इच्छा प्रबल होनी चाहिये अर्थात् इस इच्छाके सिवाय दूसरी सम्पूर्ण इच्छाएँ नष्ट हो जायँ। भगवान्‌के लिये यह कहा गया है—'**न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः**' (गीता ११।४३)। 'आपके समान भी कोई नहीं है, फिर आपसे श्रेष्ठ कैसे होगा ?' अतः वे परमात्मा सर्वोपरि हैं, इसलिये उनकी इच्छा भी सर्वोपरि होनी चाहिये।

परमात्मप्राप्तिकी एक ही उत्कट अभिलाषा हो। मैं जीता रहूँ, नीरोग हो जाऊँ, धनवान् हो जाऊँ, विद्वान् हो जाऊँ, योग्य बन जाऊँ; लोग मेरेको अच्छा मानें, मेरी महिमा गायें, मेरा आदर करें आदि कोई भी इच्छा न हो। कुछ भी योग्यता, विद्या आदि न होनेपर भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है—यह बात मेरेको बिलकुल स्पष्ट दीखती है। जितनी भिन्नता है, वह सांसारिक दृष्टिसे है। कोई योग्य है, कोई अयोग्य है; कोई विद्वान् है, कोई मूर्ख है; कोई धनवान् है, कोई निर्धन है; कोई होशियार है, कोई भोलाभाला है—इस तरह संसारकी दृष्टिसे तो भिन्नता रहती है, परन्तु जब संसारका त्याग और परमात्माको प्राप्त करना हो, तब यह भिन्नता नहीं रहती। संसारकी कैसी ही अवस्था, परिस्थिति क्यों न हो, उसका मनसे त्याग करना है, उससे ऊँचा उठना है, उससे अपना कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखना है। जिसका त्याग ही करना है, वह चाहे बढ़िया हो, चाहे घटिया हो, उससे हमारा क्या सम्बन्ध ?

कोई विद्वान् है, कोई मूर्ख है; कोई धनवान् है, कोई निर्धन है, कोई योग्य है, कोई अयोग्य है—ये अवस्थाएँ संसारकी हैं। संसारसे विमुख होना है तो विद्वत्ता, धनवत्ता आदि भी छोड़नी है और मूर्खता, निर्धनता आदि भी छोड़नी है। कारण कि परमात्माकी प्राप्ति संसारके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत संसारके त्यागसे होती है। सांसारिक योग्यता आदि तो सीमित होती है, पर त्याग सीमित नहीं होता। त्याग असीम होता है, जिससे असीम परमात्माकी प्राप्ति होती है। अतः सांसारिक चीजोंका जो सहारा है, अन्तःकरणमें उनका जो महत्त्व है, उसका त्याग करना है। स्वरूपसे संसारका त्याग कोई कर सकता नहीं और करनेसे मुक्ति होती नहीं। अगर मुक्ति होती तो सब मरनेवालोंकी मुक्ति होनी चाहिये; क्योंकि वे शरीर, धन, परिवार आदिको छोड़कर जाते हैं और पीछे कोई तार, चिट्ठी, समाचारतक नहीं भेजते—इतना त्याग करते हैं ! परन्तु ऐसे बाहरी त्यागसे मुक्ति नहीं होती। त्याग भीतरका होना चाहिये। भीतरमें जो राग, आसक्ति, प्रियता, महत्ता है,

वही बन्धनका कारण है—'**कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। जब भीतरसे सम्बन्ध-विच्छेद करना है, तो फिर वस्तु बढ़िया हो, घटिया हो; ज्यादा हो, कम हो—इससे क्या फर्क पड़ेगा?

श्रोता—भगवान्ने यह संसार बनाया, तो फिर यह माया-जाल क्यों फैलाया?

स्वामीजी—देखो, यह जो कहते हैं कि भगवान्की मायाने हमें फँसा दिया, वास्तवमें देखा जाय तो भगवान्की मायाने हमें नहीं फँसाया है। भगवान्की मायाको हमने अपनी मान लिया—इस बेईमानीने हमें फँसाया है! जिन प्राणी-पदार्थोंको हम अपना मान लेते हैं, उनमें ही हम फँसते हैं। जिनको अपना नहीं मानते, उनमें हम नहीं फँसते।

श्रोता—आपने फरमाया कि भगवान् सबका कल्याण चाहते हैं?

स्वामीजी—चाहते तो हैं, पर जबर्दस्ती नहीं करते। जो बड़े पुरुष होते हैं, वे जबर्दस्ती नहीं करते। भगवान् तो बड़ोंके सरदार हैं, वे जबर्दस्ती कैसे करेंगे?

जैसा मैं कहूँ, जैसा मैं चाहूँ, दूसरा वैसा ही करे—यह बात तो पशुओंमें भी है। अच्छे पुरुषोंमें यह बात नहीं होती। अच्छे पुरुषोंको तो आप आग्रह करो, आप गरज करो, तब वे बड़े बनते हैं, गुरु बनते हैं। उनमें यह बात नहीं होती कि मैं ही सबका गुरु बन जाऊँ। मैं अपनी इच्छाके अनुसार दूसरेसे कार्य करा लूँ—यह अच्छी बात नहीं है, बहुत नीची बात है। भगवान् श्रीरामने जहाँ प्रजाको उपदेश दिया है, वहाँ भी साफ कहा है कि अगर मैं अनुचित बात कह दूँ तो तुम लोग भय छोड़कर मेरेको मना कर देना—

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

(मानस, उत्तर० ४३। ३)

ऐसा कहनेका अर्थ यह हुआ कि मैं जैसा कहूँ, वैसा ही करो—यह बात नहीं है, आपको जो अच्छा लगे, वैसा करो। भगवान् किसीके साथ जबर्दस्ती नहीं करते।

आपको अस्पतालमें आपरेशन करवाना हो तो पहले यह लिखकर देना पड़ेगा कि अगर मैं मर जाऊँ तो कोई हर्ज नहीं है, तब वे आपरेशन करेंगे। किसीसे भी काम कराना हो तो उसको पूरा अधिकार देना चाहिये। अधिकार देना हाथकी बात है, पर अधिकार लेना हाथकी बात नहीं है। अतः भगवान् किसीका अधिकार लेते नहीं हैं। भगवान् अर्जुनके घोड़े हाँकते हैं, उनकी आज्ञाका पालन करते हैं—'**सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्**' (गीता १। २४)। परन्तु उनको शरणमें नहीं लेते, प्रत्युत उनको शरणमें आनेके लिये कहते हैं—'**मामेकं शरणं व्रज**' (गीता १८। ६६)। शरणमें लेना भगवान्का काम नहीं है।*

भगवान् सबको स्वतन्त्रता देते हैं। उदार वही होता है जो सबको स्वतन्त्रता देता है, किसीपर भी अपना हक नहीं जमाता। जो दूसरोंपर हक जमाता है, वह नीचे दरजेका आदमी होता है। परन्तु आजकल लोगोंकी उलटी बुद्धि हो गयी कि अगर हम किसीपर हक जमायें तो हम बड़े आदमी हो जायँगे, दूसरे हमारा कहना मानें तो हम बड़े हो जायँगे! वास्तवमें तुम्हारा कहना माननेसे तुम गुलाम हो जाओगे, बड़े नहीं हो जाओगे। कहना माननेवाला मालिक हो जाता है और कहना मनानेवाला गुलाम हो जाता है। जो गुलामी कराना ही नहीं चाहता, कोई मेरा मातहत हो जाय—ऐसी इच्छा ही नहीं रखता, उसका भी अगर कोई कहना माने, उसके मनके अनुकूल चले तो उसको भी गुलाम बनना पड़ेगा। भगवान्की आज्ञाके अनुसार चलनेवाला भक्त भगवान्का मुकुटमणि हो जाता है। भगवान् कहते हैं—***'भगत मेरे मुकुटमणि', 'अहं भक्तपराधीनः'*** (श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)। कोई नौकर मालिकके कहे अनुसार काम करता है तो वक्तपर मालिकको उसकी बात माननी पड़ती है। अतः जो दूसरेको मातहत बनाता है, उसको परतन्त्रता भोगनी ही पड़ेगी—यह नियम है।

दूसरा मेरा कहना माने, मेरे कहनेके अनुसार चले, मेरे मनकी करे; मैं जैसा चाहूँ, वैसा हो जाय—इसीका नाम 'कामना' है। अपने मनकी करानेका नाम ही कामना है। कामनावाले व्यक्तिको कभी शान्ति नहीं मिलती—'**तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी**' (गीता २। ७०)। कामनाका त्याग करते ही तत्काल शान्ति मिलती है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)। परन्तु आज उलटी बात हो रही है, शान्ति भी चाहते हैं और मनमें यह कामना भी रखते हैं कि स्त्री मेरा कहना करे, पुत्र मेरा कहना करे, माँ-बाप मेरा कहना करें, गुरुजी भी मेरा कहना करें। इतना ही नहीं, भगवान् भी मेरा कहना करें! हम भक्त हैं; अतः भगवान्को हमारा कहना करना चाहिये। नारदजीने भी यही कहा—***'करहु सो बेगि दास मैं तोरा'*** (मानस, बाल० १३२। ४)। मैं आपका दास

---

* अर्जुन भगवान्को आज्ञा देते हैं कि दोनों सेनाओंके बीच मेरे रथको खड़ा करो—सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत' (गीता १। २१), तो भगवान् दोनों सेनाओंके बीचमें रथको खड़ा कर देते हैं।

हूँ, जल्दी करो मेरा काम ! सभी चाहते हैं कि दूसरा मेरा कहना करे, तो फिर कहना करेगा कौन ? यह कहे कि वह मेरा कहना करे, वह कहे कि यह मेरा कहना करे, तो दोनों ही ठग हैं ! दो ठगोंमें ठगाई नहीं होती। श्रेष्ठ, शूरवीर पुरुष वही है, जो दूसरेका कहना करे। मैं सबका कहना करूँ, ये जैसा कहें, वैसे करूँ—ये श्रेष्ठ पुरुषके लक्षण हैं। भगवान् सबसे श्रेष्ठ हैं तो वे कैसे कहेंगे कि तू यह कर, ऐसे कर ?

कोई अच्छी बात है तो हम उसको दूसरेसे कराना क्यों चाहें ? दूसरा अच्छा करना नहीं चाहता है क्या ? उस बातको दूसरेके सामने रख दें कि अच्छी लगे तो करो, नहीं तो मत करो। भगवान्‌ने भी यही कहा है—***'सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई'*** (मानस, उत्तर० ४३।२)। वह करे अथवा न करे—इसमें हमें सम रहना है—**'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा'** (गीता २।४८)। अच्छी-से-अच्छी बात सामने रख देना हमारा काम है, दूसरोंसे करवाना हमारा काम नहीं है। दूसरेसे करवायेंगे तो उसके पराधीन होना ही पड़ेगा, चाहे उसको मालूम पड़े चाहे न पड़े। वह हमारा कहना करे तो आनन्दकी बात, न करे तो बहुत आनन्दकी बात क्यों ? कि वह कहना करेगा तो उसका मातहत बनना पड़ेगा, पर वह कहना करता ही नहीं तो हमारी छुट्टी हो गयी उससे ! हम उससे बँधेंगे नहीं। जो कहें भी नहीं, चाहें भी नहीं ऐसे भगवान्, सन्त, महात्मा, विरक्त-त्यागी, जीवन्मुक्त महापुरुषोंके मनके अनुकूल भी कोई चले तो उनको भी बँधना पड़ता है, परवश होना पड़ता है।

भगवान् और उसके प्यारे भक्त दूसरेको मातहत नहीं बनाते। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वे दूसरेकी दासतासे भयभीत होते हैं अर्थात् हमें मातहत बनना पड़ेगा—इस भयसे दूसरोंको आज्ञा नहीं देते। भक्त इस कारण दूसरोंको आज्ञा नहीं देते कि अगर दूसरा उनकी आज्ञा नहीं मानेगा तो उसका पतन हो जायगा; क्योंकि भक्त दूसरेसे कुछ भी चाहते नहीं, प्रत्युत केवल कृपापरवश होकर उसके हितकी ही बात कहते हैं। कई लोग ऐसा कहते हैं कि जो भक्ति करता है, उससे भगवान् डरते हैं; क्योंकि उनको भक्तके परवश होना पड़ेगा। यह बात नहीं है। भगवान्‌को तो भक्तके परवश होनेमें, भक्तका काम करनेमें आनन्द आता है।

वृन्दावनमें एक भक्तको बिहारीजीके दर्शन नहीं हुए। लोग कहते कि अरे ! बिहारीजी सामने ही तो खड़े हैं ! पर वह कहता कि भाई ! मेरेको तो नहीं दीख रहे ! इस तरह तीन दिन बीत गये, पर दर्शन नहीं हुए। उस भक्तने ऐसा विचार किया कि सबको दर्शन होते हैं और मेरेको नहीं होते, तो मैं बड़ा पापी हूँ कि ठाकुरजी दर्शन नहीं देते; अतः मेरेको यमुनाजीमें डूब जाना चाहिये। ऐसा विचार करके रात्रिके समय वह यमुनाजीकी तरफ चला। वहाँ यमुनाजीके पास एक कोढ़ी सोया हुआ था। उसको भगवान्‌ने स्वप्नमें कहा कि अभी यहाँपर जो आदमी आयेगा, उसके तुम पैर पकड़ लेना। उसकी कृपासे तुम्हारा कोढ़ दूर हो जायगा। वह कोढ़ी उठकर बैठ गया। जैसे ही वह भक्त वहाँ आया, कोढ़ीने उसके पैर पकड़ लिये और कहा कि मेरा कोढ़ दूर करो। भक्त बोला कि अरे ! मैं तो बड़ा पापी हूँ, ठाकुरजी मुझे दर्शन भी नहीं देते ! बहुत झंझट किया; परन्तु कोढ़ीने उसको छोड़ा नहीं। अन्तमें कोढ़ीने कहा कि अच्छा, तुम इतना कह दो कि तुम्हारा कोढ़ दूर हो जाय। वह बोला कि इतनी हमारेमें योग्यता ही नहीं। कोढ़ीने जब बहुत आग्रह किया तब उसने कह दिया कि तुम्हारा कोढ़ दूर हो जाय। ऐसा कहते ही क्षणमात्रमें उसका कोढ़ दूर हो गया। तब उसने स्वप्नकी बात भक्तको सुना दी कि भगवान्‌ने ही स्वप्नमें मुझे ऐसा करनेके लिये कहा था। यह सुनकर भक्तने सोचा कि आज नहीं मरूँगा और लौटकर पीछे आया तो ठाकुरजीके दर्शन हो गये। उसने ठाकुरजीसे पूछा कि महाराज ! पहले आपने दर्शन क्यों नहीं दिये ? ठाकुरजीने कहा कि तुमने उम्रभर मेरे सामने कोई माँग नहीं रखी, मेरेसे कुछ चाहा नहीं; अतः मैं तुम्हें मुँह दिखानेलायक नहीं रहा ! अब तुमने कह दिया कि इसका कोढ़ दूर कर दो, तो अब मैं मुँह दिखानेलायक हो गया ! इसका क्या अर्थ हुआ ? कि जो, कुछ भी नहीं चाहता, भगवान् उसके दास हो जाते हैं।

हनुमान्‌जीने भगवान्‌का कार्य किया तो भगवान् उनके दास, ऋणी हो गये—***'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं'*** (मानस, सुन्दर० ३२।४)। सेवा करनेवाला बड़ा हो जाता है और सेवा करानेवाला छोटा हो जाता है। परन्तु भगवान् और उनके प्यारे भक्तोंको छोटे होनेमें शर्म नहीं आती। वे जान करके छोटे होते हैं। छोटे बननेपर भी वास्तवमें वे छोटे होते ही नहीं और उनमें बड़प्पनका अभिमान होता ही नहीं।

★

कल्याण सहज है

अगर अपना कल्याण करना हो तो जितना हम जानते हैं, उससे अधिक जाननेकी जरूरत नहीं है और जितना हमें मिला है, उससे अधिक वस्तुकी जरूरत नहीं है। अगर आफत करनी हो, भोगोंमें फँसना हो, जन्म-मरणमें जाना हो, तब तो अधिक वस्तुओंकी जरूरत है। अगर अपना कल्याण चाहते हैं तो जितनी वस्तु मिली है, उतनी ही जरूरत है; और जितनी जरूरत है, उतनी ही वस्तु मिली है। अपने कल्याणके लिये जानकारी भी पूरी है, कम नहीं है। अतः न तो जानकारी बढ़ानेकी जरूरत है और न वस्तुओंका संग्रह बढ़ानेकी जरूरत है। जितना आपको मिला है, उसीमें आप अपना कल्याण कर सकते हैं—इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है।

यह शरीर, संसार पहले नहीं था और पीछे नहीं रहेगा तथा उसके साथ हमारा सम्बन्ध भी पहले नहीं था और पीछे नहीं रहेगा—यह सब जानते हैं। अतः शरीर-संसारका भरोसा नहीं रखना है, इनका आश्रय नहीं लेना है। ऐसे ही हमारे पास जितनी वस्तुएँ हैं, उन्हींका सदुपयोग करना है, उन्हींके द्वारा सबका हित करना है। अतः ज्यादा जाननेकी, ज्यादा वस्तुओंकी जरूरत ही नहीं है। कारण यह है कि भगवान्‌के विधानमें कमी नहीं है। भगवान् मात्र जीवोंके सुहृद् हैं। उन्होंने जीवोंके कल्याणके लिये मनुष्य-शरीर दिया तो उसमें अपने कल्याणके लिये ज्ञानकी कमी नहीं रखी, योग्यताकी कमी नहीं रखी। अगर इनकी कमी रखते तो 'मनुष्य-शरीर कल्याणके लिये दिया है'—यह कहना नहीं बनता।

कर्मोंके विधानसे देखा जाय तो जितनी आवश्यकता है, उतनी वस्तु मिली हुई है और उतनेसे ही अपना कल्याण हो सकता है। अधिककी आशा हमारेसे कौन रखेगा? जो हम नहीं कर सकते, नहीं दे सकते, उसकी आशा कौन रखेगा? जितना हम कर सकते हैं, दे सकते हैं, उतना हम कर दें तो हमारा कल्याण हो जायगा—इसमें सन्देह नहीं है।

ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो हमारा सम्बन्ध किसी वस्तुके साथ है ही नहीं—यह ज्ञान सबमें है। जब सम्बन्ध है ही नहीं तो वस्तु कम और ज्यादा होनेसे क्या? जितनी भी उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुएँ हैं, उनके साथ हमारा सम्बन्ध कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता ही नहीं—ऐसा ठीक अनुभव हो जाय तो कल्याण हो जायगा, तत्त्वज्ञान हो जायगा।

इस प्रकार भक्तियोगकी दृष्टिसे परम सुहृद् भगवान्‌का विधान होनेसे कमी नहीं है; कर्मयोगकी दृष्टिसे जो मिला हुआ है, पूरा-का-पूरा मिला हुआ है; और ज्ञानयोगकी दृष्टिसे क्रिया एवं पदार्थके साथ हमारा सम्बन्ध ही नहीं है। अतः नया जाननेकी, नया संग्रह करनेकी आवश्यकता नहीं है। अपने कल्याणके लिये हमारे पास पूरी सामग्री है, पूरा समय है। समयके लिये तो मैं कहता हूँ कि मनुष्य-जन्ममें समय इतना ज्यादा है कि उसके थोड़े-से हिस्सेसे कल्याण हो जाय। परमात्मप्राप्तिका काम तो कम है और समय बहुत ज्यादा है। यद्यपि एक बार कल्याण होनेपर फिर दुबारा कल्याण करना नहीं पड़ता, तथापि अगर करना पड़े तो पाँच, सात, दस बार कल्याण कर ले—इतना समय मनुष्यके पास है। सामग्री भी ज्यादा है। जितनी सामग्री है, उतनी काम आयेगी नहीं, उसको छोड़कर मरना पड़ेगा। कोई भी उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु अपनी थी नहीं, है नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं—यह बोध भी अपनेको है।

समय, समझ, सामग्री आदिकी किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं है। कमी केवल एक ही बात की है कि हम अपना कल्याण चाहते नहीं हैं। कल्याण तब होगा, जब हम स्वयं चाहेंगे, स्वयं विचार करेंगे। दूसरेके कहनेसे कल्याण नहीं होगा। दूसरेके कहनेसे भी कल्याण तब होगा, जब आप स्वयं उस बातको मानोगे अर्थात् वह बात आपकी हो करके ही आपके काम आयेगी।

आपपर जितनी जिम्मेवारी है, उतना कर दो तो कल्याण हो जायगा। आप ज्यों-ज्यों बुद्धिमान् बनते हो, त्यों-त्यों जिम्मेवारी बढ़ती है। बुद्धि जितनी कम है, जिम्मेवारी भी उतनी ही कम है। टैक्स इन्कमपर ही लगता है। जगात मालपर ही लगती है। माल ही नहीं तो जगात कैसी? आप जितनी जानकारी बढ़ाते हैं, जितना संग्रह करते हैं, उतनी ही आपकी जिम्मेदारी बढ़ती है।

अगर अपने कल्याणके लिये अधिक वस्तुकी आवश्यकता होती तो भगवान् अधिक दे देते। अधिक समझकी आवश्यकता होती तो अधिक दे देते। दे देते ही नहीं, दे दिया है! भगवान्‌ने अधिक वस्तु दी है, अधिक बुद्धि दी है, अधिक समय दिया है, अधिक योग्यता दी है, अधिक बल दिया है। भगवान्‌का दरबार अनन्त, अपार है। बालकका पालन-पोषण करनेके लिये माँकी जितनी शक्ति है, वह सब-की-सब बालकके लिये ही है। ऐसे ही हमारे प्रभुकी जो शक्ति है, वह सब-की-सब हमारे लिये ही है। सर्वसमर्थ, अनन्त सामर्थ्य-वाले, परम दयालु, परम उदार, परम कृपालु, परम सुहृद् प्रभुने जीवको उसके कल्याणके लिये मनुष्य-शरीर दिया है तो उसमें कमी किस बातकी? केवल इस बातको स्वीकार

करनेसे आपका रास्ता एकदम साफ हो जायगा। परन्तु चतुराई, चालाकी मत करो, सीधे-सरल हो जाओ—

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥

(मानस, उत्तर० ४६। १)

जितना सरल होते हो, उतना रास्ता ठीक होता है। जितनी चतुराई करते हो, उतना रास्ता कठिन हो जाता है। जितना कर सकते हैं, उतना ही करना है। जितना जान सकते हैं, उतना ही जानना है। जितना मान सकते हैं, उतना ही मानना है। अधिक करने, जानने और माननेकी जरूरत नहीं है। जितना है, उसीका सदुपयोग करना है।

तत्काल सिद्धिका मार्ग

साधन-प्रणाली दो तरहकी है—एक तो शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिको साथ लेते हुए साधन करना और एक सीधा परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़ देना।

गीतामें योगकी महिमा कही है। योग नाम है समताका। तो पहले ही समताको पकड़ ले, चाहे वह अभी धारण नहीं हो। ऐसे ही भक्तिमें स्वयं भगवान्‌के शरण हो जाय, चाहे अभी शरणागतिका अनुभव न हो। ऐसे ही ज्ञानमार्गमें मेरा स्वरूप नित्य सत्यस्वरूप है— इसका अनुभव करनेकी आवश्यकता है। कर्मयोग और भक्तियोगमें केवल आपके निश्चयकी आवश्यकता है और ज्ञानयोगमें अनुभवकी आवश्यकता है। यह इन दोनोंमें फर्क है। परन्तु अनुभव करें, चाहे एक निश्चय करें—इसका फल एक ही होगा, इसमें सन्देह नहीं। ज्ञानमार्गमें—'वास्तवमें मेरे स्वरूपमें कोई विकार नहीं है'—इसमें स्थित रहनेसे जितनी जल्दी सिद्धि होती है, उतनी क्रमसे श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेसे नहीं होती। इसमें बहुत दूरतक जड़ताका साथ रहता है। जो ध्यानयोगसे परमात्माकी प्राप्ति चाहते हैं, उनको प्राप्ति तो होगी, पर ध्यानयोगमें बहुत दूरतक जड़ता साथ रहेगी। परन्तु गीताके कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगके साथ जड़ताकी आवश्यकता नहीं है।

कर्मयोग और भक्तियोगमें अपनी बुद्धिके एक निश्चयकी महिमा है। इस वास्ते भगवान्‌ने कर्मयोगमें कहा—**'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका'** (२।४१) और भक्तियोगमें कहा—**'सम्यग्व्यवसितो हि सः'**, (९।३०) ज्ञानयोगमें कहा—**'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।'** (२।३९) अर्थात् यह समबुद्धि पहले सांख्ययोगमें कह दी, अब इसको योगके विषयमें सुन। वह समबुद्धि है—**'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ'** (२।३८)। सांख्यमें स्वरूपके अनुभवके बाद समबुद्धि होती है और योग (कर्मयोग) में समबुद्धि होनेके बाद स्वरूपमें स्थिति होती है—यह मार्मिक बात है।

वास्तवमें स्वरूपमें जड़ता नहीं है—ऐसा विचारके द्वारा ठीक अनुभव हो गया, तो अब इसमें स्थित रहनेसे जितनी जल्दी सिद्धि होगी, उतनी जल्दी सिद्धि दोषोंको दूर करने, श्रवण, निदिध्यासन, ध्यान करनेसे नहीं होगी। ऐसे ही भक्तिमें 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह मान्यता करनेसे ही सिद्धि हो जाय। मान्यता कैसी होनी चाहिये? जिसको कोई हटा न सके, ऐसी दृढ़ मान्यता। जैसे पार्वतीजीने कह दिया—***'जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥ तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥'*** (मानस १।८१।३) भगवान् शंकर स्वयं सौ दफा कह दें कि मैं तेरेको स्वीकार नहीं करता, तो भी मैं छोड़ूँगी नहीं। यह मतलब है माननेका। जब आपने दृढ़ निश्चय कर लिया, तो उसकी प्राप्तिके लिये आपके द्वारा स्वतः साधन होगा, आपकी स्वाभाविक वृत्ति होगी। कारण उसमें यह है कि आपकी अहंता बदल जायगी। इसमें अभ्यास नहीं है।

अभ्यासका वर्णन गीतामें थोड़ा आता है; जैसे—**'यतो यतो निश्चरति'**····' (६।२६), **'अभ्यासयोगयुक्तेन'**····' (८।८), **'अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि'** (१२।१०),' **'अभ्यासाद्रमते'** (१८।३६)। जहाँ अभ्यासके द्वारा काम होगा, वहाँ जड़ताकी सहायता लेनी ही पड़ेगी। बिना मन, बुद्धिके अभ्यास नहीं होगा। परन्तु जहाँ स्वयंसे काम होता है, वहाँ अभ्यासकी जरूरत नहीं है। आपका विवाह होता है तो उसका अभ्यास करना पड़ता है क्या? मैं विवाहित हूँ—इसके लिये कोई माला जपनी पड़ती है क्या? मान्यतामें अभ्यास नहीं करना पड़ता। उसकी सिद्धि तत्काल होती है।

मैं जो यह कहता हूँ कि तत्काल सिद्धि होती है, इसको समझनेके लिये आपलोग मेरे पीछे नहीं पड़ते कि यह कैसे होगा? मेरे कहनेसे पीछे पड़ जाओ, यह पीछे पड़ना नहीं है। हृदयमें लाग (धुन) लग जाय। कोई गृहस्थ छोड़कर सच्चे हृदयसे साधु हो गया, तो हो ही गया, बस! इसमें अभ्यास नहीं है। क्या वह साधु होनेका अभ्यास करता है? आपकी बेटी क्या अभ्यास करती है कि मैं बहू बन गयी? 'आप अभी गोरखपुरमें हैं' तो क्या 'हम गोरखपुरमें हैं' इसका अभ्यास करते हो? नींद खुले तो भी मालूम होता है कि मैं गोरखपुरमें हूँ। कोई पूछे तो चट यही बात याद आती है कि मैं गोरखपुरमें

हूँ। इसकी एक माला भी जपी है क्या? इसमें देरी नहीं लगती; क्योंकि इसमें अभ्यास नहीं करना पड़ता। अभ्यास करनेमें देरी लगती है।

आपको कर्मयोग और ध्यानयोग—दोनोंकी बात बताऊँ। गीताकी बात है, मेरी मन-गढ़न्त बात नहीं।

भगवान् कहते हैं—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

(२। ५५)

'हे अर्जुन! जिस कालमें साधक मनोगत सम्पूर्ण कामनाओंका अच्छी तरह त्याग कर देता है और अपने-आपसे अपने-आपमें ही सन्तुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।'

कामनाओंको मनोगत कहनेका तात्पर्य है कि मन कामनारूप नहीं है। कामना आगन्तुक है, मनमें आती है। अतः कामना मनमें हरदम नहीं रहती। आप कहते हो कि कामना मिटती नहीं, और मैं कहता हूँ कि कामना टिकती नहीं! दस-पन्द्रह-बीस मिनट भी आपमें निरन्तर कामना नहीं रहती। वह तो छूट जाती है और आप दूसरी कामना पकड़ लेते हो। इसका खूब अध्ययन करना, फिर प्रश्नोत्तर करना, ऐसी कामनाओंका त्याग करना है। किन-किन कामनाओंका त्याग करें? तो कहा **'सर्वान्'** अर्थात् सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करें। कोई भी कामना न रहे। यह बात आपको जरा भारी लगेगी कि 'भगवान् मिलें; भगवान्के दर्शन हों'—यह कामना भी न रहे! यद्यपि भगवान्के मिलनेकी उनके दर्शनकी कामना कामना नहीं मानी गयी है। कामना जड़की होती है। चेतनकी कामना नहीं होती, आवश्यकता होती है। परन्तु यह भी न हो।

अब ध्यानयोगकी बात बतायें आपको। भगवान् कहते हैं—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

(६। १८)

'वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें अपने स्वरूपमें ही स्थित हो जाता है और स्वयं सम्पूर्ण पदार्थोंसे निःस्पृह हो जाता है, उस कालमें वह योगी कहा जाता है।'

अब कर्मयोगके (२। ५५) और ध्यानयोगके (६। १८) श्लोकोंका मिलान करके देखें। कर्मयोगमें कामनाओंके त्यागके बाद परमात्मामें स्थिति है और ध्यानयोगमें परमात्मामें मन लगानेके बाद कामनाओंका त्याग है—यह दोनोंमें फर्क है। अब ध्यानयोगमें कामनाओंका त्याग होनेके बाद क्या होगा? **'यथा दीपो निवातस्थो'** ……'(६। १९)—जैसे स्पन्दनरहित वायुके स्थानमें स्थित दीपककी लौ चेष्टारहित हो जाती है, हिलती-डुलती नहीं, योगका अभ्यास करते हुए यतचित्तवाले योगीके चित्तकी वैसे ही उपमा कही गयी है। ऐसा होनेके बाद चित्त निरुद्ध हो जाता है। जब इस निरुद्ध अवस्थासे भी चित्त उपराम हो जाता है, तब (चित्तसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर) ध्यानयोगी अपने-आपमें सन्तुष्ट होता है—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥

(६। २०)

चित्त उपराम कैसे होगा? संसारका कोई आदर न होनेसे, निरुद्ध अवस्था (समाधि) होनेसे चित्त संसारमें तो जा नहीं सकता और परमात्मतत्त्वको पकड़ नहीं सकता, इसलिये वह उपराम हो जाता है। उपराम होनेसे अपने-आपमें स्थिति होती है। परन्तु कर्मयोगमें कामनाओंका सर्वथा त्याग होनेपर तत्काल स्वरूपमें स्थिति है।

ध्यानयोगका फल बताया है—**'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।'** (६। २३) अर्थात् जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है, उसीको 'योग' नामसे जानना चाहिये। इसीको पहले **'समत्वं योग उच्यते'** कहा है। यह योग ध्यानयोगका फल है। ध्यानयोगको, चित्तवृत्तियोंके निरोधको गीताने योग नहीं माना है। गीताने दुःखसंयोगवियोगको अर्थात् जड़तासे सर्वथा वियोगको ही योग माना है। पातञ्जलयोगदर्शन चित्तवृत्तिनिरोधको योग मानता है— **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः,'** और उसका फल स्वरूपमें स्थिति बताता है— **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'** परन्तु गीता आरम्भमें ही स्वरूपमें स्थितिको योग बताती है। पातञ्जलयोगदर्शनका योग साधनयोग है और गीताका योग सिद्धयोग है। ये कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग सिद्धयोग हैं। तात्पर्य यह है कि ध्यानयोगसे स्वरूपमें स्थिति जल्दी नहीं होती, देरी लगती है, और कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोगसे यह बहुत जल्दी होती है।

गीताके ज्ञानयोगसे सीधी स्वरूपमें स्थिति होती है। उसमें श्रवण-मनन-निदिध्यासन, सविकल्प-निर्विकल्प समाधि, सबीज-निर्बीज समाधि आदि नहीं हैं। समाधि होगी तो दो अवस्थाएँ होंगी—समाधि और व्युत्थान। परन्तु गीताके योगमें व्युत्थान है ही नहीं, क्योंकि यह सहजावस्था है— **'उत्तमा सहजावस्था'** इसमें व्युत्थान होता ही नहीं। यह तत्काल होता है। इसमें देरी कब लगती है? जबतक

अन्तःकरणमें जड पदार्थोंका महत्त्व है, तबतक तत्काल सिद्धि नहीं होती। आपमें जड़ पदार्थोंका महत्त्व नहीं हटा तो इसमें एक मार्मिक बात बताता हूँ। नहीं हटा तो भले ही न हटे, आप संयोगजन्य सुख न लें, इतना खयाल रखें। सुख लोगे तो नया संस्कार पड़ेगा। तो कहते हैं कि एक बार सुख लेनेसे क्या होता है? अरे भाई, नया सुख लेकर नया संस्कार भीतरमें डाल रहे हो। एक ही उद्देश्य बन जाय कि हमें तो परमात्माकी प्राप्ति करनी है, नया सुख नहीं लेना है। सुख आ जाय तो उससे हानि नहीं है। इसमें भी एक मार्मिक बात है। सुख आ गया, हो गया सुख, पर सुख लेना नहीं है। जैसे, भोजन किया तो जीभपर मीठा रखनेसे मिठास आयेगी, मिर्ची रखो तो चरकास आयेगी, नमक रखो तो नमकीनपना आयेगा। इस प्रकार विषयेन्द्रिय-सम्बन्धसे ज्ञान होगा। यह ज्ञान दोषी नहीं है। विकार होना, उससे सुखी-दुःखी होना दोषी है। यह विकार आ भी जाय तो विकारके साथ आप मत होओ। विकारको छोड़ दो। सुख-दुःख भोगो ही मत। उदासीन हो जाओ। फिर सब ठीक हो जायगा। अगर सुख-दुःख भोगते रहोगे, राजी-नाराज होते रहोगे, तो इसका संस्कार भीतर बैठ जायगा। फिर वह संस्कार दूर होनेमें देरी लगेगी। इसमें भी थोड़ी छूट बताऊँ कि किसी वक्त व्यवहारमें विकार हो भी जाय तो परवाह मत करो। परन्तु जब विचार करने बैठें, उस समय 'मेरेमें विकार बिलकुल है ही नहीं'—इसको दृढ़तासे मानो।

'क्षणपरिणामिनो भावा ऋते चितिशक्तेः।'

एक चितिशक्ति-(चेतन-) के सिवा सब-का-सब क्षण-परिणामी है। अतः वह मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा नहीं है, मेरे लिये नहीं है। इस प्रकार चितिशक्तिमें दृढ़तासे स्थित रहो कि मेरेमें विकार है ही नहीं। उस चितिशक्तिमें जितने दृढ़ रहोगे, उतनी ही आपमें विलक्षणता आयेगी। जिन मन, बुद्धि, इन्द्रियोंको आप वशमें नहीं कर सकते हो, अपनेमें एक कमजोरीका अनुभव होता है, वह कमजोरी नहीं रहेगी। आपको आश्चर्य आये, ऐसा बल आ जायगा। कामको जीतनेकी, क्रोधको जीतनेकी, लोभको जीतनेकी, मोहको जीतनेकी, मात्सर्य-दोषको दूर करनेकी ताकत स्वतः आ जायगी। परन्तु ताकत लेनेके लिये स्थित नहीं होना है। इसका विचार ही नहीं करना है कि हमें ताकत लेनी है। केवल चितिशक्तिमें, अपने स्वरूपमें स्थित होना है कि मेरेमें कोई विकार नहीं है। दिनमें दस बार, पन्द्रह बार, बीस बार, पचास बार, सौ बार, दो-दो, तीन-तीन सेकेण्डके लिये भी इसमें स्थित हो जाओ कि हमारेमें दोष नहीं है। अपने स्वरूपको सँभाल लो—*'संकर सहज सरूपु सम्हारा'* (मानस १।५८।४)। यह तत्काल सिद्धि देनेवाला योग है। इसमें देरीका काम नहीं है। उन ऋषियों आदिको इतना समय लगा, इतने वर्ष लगे—ऐसा देखकर इस बातको रद्दी कर दो तो आपकी मरजी। मेरी प्रार्थना तो यह है कि आप इस बातको मान लो, करके देख लो। अगर देरीमें सिद्धि हो तो देरीवाला साधन तैयार है, उसमें तो हानि होगी ही नहीं; उसे कर लेना। परन्तु मैंने जो बताया है, वह सीधा मार्ग है। उसमें मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदिकी कोई जरूरत नहीं है। अन्तमें तत्त्वकी प्राप्ति होगी तो वह वास्तवमें बुद्धिके द्वारा नहीं होगी, बुद्धिके त्यागसे होगी। अहंतापूर्वक नहीं होगी, अहंताके त्यागसे होगी। स्वरूपमें स्थित होनेपर अहंताका त्याग स्वतःस्वाभाविक हो जायगा, और इसका त्याग होनेपर वृत्तियोंको रोकना, मनको लगाना आदि कुछ करना नहीं पड़ेगा आपको। आपको विश्वास नहीं होता तो करके देखो। मैं कहता हूँ बहुत जल्दी होता है। जल्दी होता है ऐसी रीति है। यही रीति है **'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका'** (२।४१) और **'सम्यग्व्यवसितो हि सः।'** (९।३०)। भगवान्ने कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
(९।३०)

अगर कोई सुष्ठु दुराचारी हो, साङ्गोपाङ्ग दुराचारी हो, वह भी अनन्यभावसे भगवान्का भजन करता है तो उसको साधु मान लो। अनन्यभावसे भजन करनेका अर्थ है—कभी किञ्चिन्मात्र भी अन्यका आश्रय न हो। ***'जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु। बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥'*** (मानस २।१३१) जहाँ किसीकी भी कामना, किसीका भी आश्रय नहीं है, वह भगवान्का खास अपना घर है। जहाँ जड़ताका आश्रय है, वह भगवान्का अपना घर नहीं है। उसमें भगवान् नहीं बैठे हैं। आपने कामनाओंको घर दे रखा है तो कामनाएँ बैठेंगी वहाँ। किसी भी अवस्थामें, मृत्युकी अवस्थामें, महान् संकटकी अवस्थामें भी कोई चाहना न हो।

ध्यान देना, एक मार्मिक बात बताऊँ। **'अपि चेत्सुदुराचारो भजते'** में **'भजते'** क्रियाका कर्ता है **'सुदुराचारः'**। तात्पर्य है कि वह पहले सुदुराचारी था, यह बात नहीं। जिस समय वह भजन करता है, उस समय वह सुदुराचारी है। अभी दुराचार छूटा नहीं है। परन्तु भीतरमें दुराचारका आदर नहीं है, आश्रय नहीं है। भगवान् कहते हैं कि उसको साधु मान लो—**'साधुरेव स मन्तव्यः'** यह विधि

है, आज्ञा है, हुक्म है। हुक्म इसलिये दिया कि ऐसा दीखता नहीं। उसको हम साधु कैसे मानें ? आप खुद उसे सुदुराचारी कहते हैं। इसलिये कहते हैं कि उसको साधु ही मान लेना चाहिये—यह हुक्म है हमारा। किस कारण मानें ? कि उसने निश्चय पक्का कर लिया— **'सम्यग्व्यवसितो हि सः'**—अपने निश्चयसे कभी डिगता नहीं। कारण क्या है ? कि यह स्वयं साक्षात् परमात्माका अंश है। इसने संसारका, पदार्थोंका निश्चय कर लिया—यही तो गलती है। संसारसे विमुख होकर एक भगवान्का निश्चय कर ले, तो फिर देरी नहीं लगती— **'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।'** (९।३१) अर्थात् वह तत्काल धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वती शान्तिको प्राप्त हो जाता है। उस भक्तका कभी विनाश नहीं होता—**'न मे भक्तः प्रणश्यति'** (९।३१)। मनुष्य भक्ति करते-करते भी भक्त होता है और अहंताको बदलनेसे भी भक्त होता है। मैं भगवान्का हूँ—इस प्रकार अपनी अहंताको बदल दे तो उसी क्षण भक्त हो जाता है। जैसे, किसी गुरुका चेला हो गया, तो हो ही गया, बस। अब आगे गुरु महाराज जानें। गीताके अन्तमें यही अर्जुनने कहा है—**'करिष्ये वचनं तव॥'** (१८।७३) यही शरणागति है, जो तत्काल सिद्धि देनेवाली है।

★

साधनकी मुख्य बाधा

इन्द्रियों और विषयोंके सम्बन्धसे होनेवाला जो सुख है, उसकी जो आसक्ति है, यही खास बाधा है। संसारका जो सुख लेते हैं, अनुकूलतामें राजी होते हैं, यही वास्तवमें पारमार्थिक मार्गमें बाधा है। साधन करते हुए अगर साधनमें भी सुख लेते हैं, उसमें संतोष करते हैं, तो आगे ऊँचे चढ़नेमें बाधा लग जाती है। जैसे, रजोगुण-तमोगुण तो बाँधते ही हैं, पर सत्त्वगुण भी सुखकी आसक्तिसे बाँध देता है—'**सुखसङ्गेन बध्नाति**' (गीता १४। ६)। सुखकी आसक्ति छूटनेसे दुःख सर्वथा मिट जाते हैं, यह बिलकुल सच्ची बात है, ठोस बात है। सुखकी आसक्ति न रहे तो परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाय, सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति हो जाय। मान-सम्मानका सुख है, भोगोंका सुख है, अनुकूलताका सुख है—यह खास बाधक है। अगर कोई शूरवीरता करके सुखकी लोलुपतामें न फँसे तो बहुत जल्दी उन्नति हो जाय। सुख-लोलुपताका सर्वथा त्याग करते ही उन्नति स्वतः सिद्ध है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)। यह बहुत सार बात है।

बहुत वर्षोंतक मैं व्याख्यान देता रहा। सुनाता भी रहा, सुनता भी रहा, पढ़ता भी रहा; परन्तु यह मनमें थी कि बात क्या है ? यह कहाँ अटकाव है और क्यों अटकाव है ? कई वर्ष हो गये, तब हमें यह बात मिली। इसलिये आपको यह बात बतायी कि आप गफलतमें न रहें। सुखासक्तिका त्याग करना ही है हमें। इसके त्यागके बिना शान्ति नहीं मिलेगी। शान्तिमें भी रमण करोगे तो परमशान्ति नहीं मिलेगी। कल्याण चाहते हैं, मुक्ति चाहते हैं, तो सुख-लोलुपताका त्याग करना पड़ेगा, सुखकी आशाका त्याग करना पड़ेगा, सुखके भोगका त्याग करना पड़ेगा। बिना छोड़े शान्ति मिलेगी नहीं, बिलकुल पक्की, ठोस बात है।

भगवान्‌ने कह दिया कि '**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।**' (गीता ५। २२) जितने भी सम्बन्धजन्य सुख हैं, वे दुःखोंके ही कारण हैं। इनका नाम तो सुख है, पर है महान् दुःख, जो महान् आनन्दकी प्राप्तिमें बाधा देता है, परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित करता है। भोगोंका सुख है, मानका सुख है, बड़ाईका सुख है, शरीरके आरामका सुख है, संग्रह करनेका सुख है, मेरे पास रुपया है, विद्या है, मैं समझदार हूँ—ऐसा अभिमानजन्य सुख है, यह सब बाधक है। सुखका अनुभव होना, ज्ञान होना बाधक नहीं है। मेरेको सुख मिलता रहे, मैं सुखी रहूँ—यह जो भीतरमें सुखभोगकी इच्छा है, यह बाधक है। इससे बड़ा भारी अनर्थ पैदा होता है। कोई हमारे सुखमें बाधा देता है; मान, सत्कार, बड़ाई, आराम, भोगमें बाधा देता है, तो वह हमें बुरा लगता है। इसमें एक मार्मिक बात है, सज्जनो ! दूसरा हमें बुरा लगता है—यही खास बुराई है।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्मसूत्रे ग्रथितो हि लोकः॥

(अध्यात्मरामायण २। ६। ६)

'सुख या दुःखको देनेवाला कोई और नहीं है। कोई दूसरा सुख-दुःख देता है—यह समझना कुबुद्धि है। मैं करता हूँ—यह वृथा अभिमान है; क्योंकि लोग अपने-अपने कर्मोंकी डोरीसे बँधे हुए हैं।'

इसने हमारा सम्मान नहीं किया, इसने हमारे विरुद्ध बात कर दी, इसने हमारे घाटा लगा दिया, इसने हमारे व्यापारमें बाधा लगा दी, इसने हमारी उन्नतिमें बाधा लगा दी—यह जो दूसरेको निमित्त मानना है, यह बहुत बड़ी भूल है। इस भूलसे महान् अनर्थ होता है, अपनी तरफ दृष्टि नहीं जाती, जब कि

केवल अपनी तरफ दृष्टि जानी चाहिये। हमारेमें मानकी, बड़ाईकी, सुखकी इच्छा है, इस कारणसे दुःख होता है। दूसरा दुःख नहीं दे सकता। दूसरेसे दुःख तभी होता है, जब हम भीतरसे सुख चाहते हैं। अतः दुःखके कारण हम खुद ही हुए। ऐसा जिस दिन हमने समझ लिया, उस दिनसे हमारी उन्नति शुरू हो ही जायगी। बिलकुल पक्की बात है। जबतक यह दृष्टि रहेगी कि उसने ऐसा नहीं किया, उसने ऐसा नहीं किया, तबतक कभी उन्नति नहीं होगी; क्योंकि रास्ता शुरूसे ही गलत ले लिया। गलत रास्तेपर कितना ही चलो, ठेठ (सिद्धितक) कैसे पहुँचोगे ? जो यह कहते हैं कि मेरा क्या दोष है इसमें, मेरा दोष है ही नहीं—यही मेरा दोष है। अपने दोष नहीं दीखते—यही वास्तवमें दोषोंको स्थिर रखनेवाली चीज है—'**परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।**' मैं अनुकूल परिस्थिति बना लेता हूँ, यह वृथाभिमान है—'**अहं करोमीति वृथाभिमानः।**' यह अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति तो आती-जाती रहती है। जैसे रातके बाद दिन और दिनके बाद रात आते-जाते रहते हैं, ऐसे ही सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आते-जाते रहते हैं। अगर हम सुखी-दुःखी होते रहेंगे तो पारमार्थिक बातसे वञ्चित रहेंगे। जिसको परम आनन्दकी प्राप्ति, दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति कहते हैं, वह नहीं होगी। केवल सुखकी लोलुपताका, सुखकी आशाका, सुखके भोगका त्याग करें तो दुःख मिट जायँगे और महान् सुख मिल जायगा।

आप गहरा उतरकर सोचें कि दुःख किसका नाम है ? सुखकी इच्छाका नाम ही दुःख है, और कोई दुःख है ही नहीं। दुःख नामकी कोई वस्तु नहीं है। जो सुखकी इच्छा रखता है, उसको दुःख भोगना ही पड़ेगा—'**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।**' सुख तो आने-जानेवाला है, पैदा होता है और समाप्त हो जाता है—'**आद्यन्तवन्तः**' (गीता ५।२२)। सुख तो रहता नहीं, पर उसकी इच्छा, आशा बनी रहती है। सुखभोगके संस्कार भीतर रहते हैं। अगर सुखकी इच्छाका त्याग कर दें तो बहुत भारी लाभकी बात है। वह लाभ क्या है ?—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६।२२)

'जिस लाभकी प्राप्तिके बाद फिर दूसरा कोई लाभ माननेमें ही नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता।' अर्थात् उस लाभमें, उस सुखमें कभी कमी आती ही नहीं, दुःखका स्पर्श होता ही नहीं। इसलिये संयोगजन्य सुखमें लोलुपता नहीं रखनी है, उसकी आशा नहीं करनी है, उसका चिन्तन नहीं करना है, उसके लिये उद्योग नहीं करना है। हाँ, जीवन-निर्वाहके लिये उद्योग करो। पर सुखभोगका उद्देश्य रखोगे, उसके लिये उद्योग करोगे तो फँस जाओगे। इसमें कोई शंका हो तो पूछो, और बात ठीक समझमें आ गयी तो आजसे ही मान लो। सावधान हो जाओ कि संयोगजन्य सुख नहीं लेंगे। कभी इस सुखसे मोहित भी हो जायँ, राजी भी हो जायँ, तो चेत करना चाहिये कि राम ..... राम ..... गजब हो गया ! आज तो हम इसके वशमें हो गये ! ऐसा होते ही इसकी लोलुपता छूट जायगी; क्योंकि इसमें खुदमें ताकत नहीं है, इसके नीचे बुनियाद नहीं है, जड़ नहीं है। पारमार्थिक सुखकी बुनियाद, जड़ परमात्मा है। इसलिये यह पारमार्थिक सुख कभी मिटता नहीं।

जितने भी सुख हैं, वे सब-के-सब आदि-अन्तवाले हैं। अतः संसारका सुख और दुःख सदैव आपके साथ नहीं रह सकता। आपके साथ सदैव परमात्मा ही रहते हैं। वे परमात्मा दीखते नहीं। न दीखनेपर भी उनको अपना मानना है और संसारको अपना नहीं मानना है।

जो जंगलमें रह करके, कन्द, मूल, फल खा करके अपना जीवन बितानेवाले हैं, ऐसे-ऐसे ऋषि-मुनियोंको भी विषयासक्ति बाधा पहुँचाती है। इसलिये जो सांसारिक पदार्थोंसे सुख मानते हैं, सांसारिक पदार्थोंकी गरज करते हैं, वे बड़ी भारी गलती करते हैं।

★

संसार जा रहा है !

भगवान् स्वयं कहते हैं—'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।**' (गीता ९।४) भगवान् सब जगह हैं—इस बातको आप मान लें। भगवान् सब जगह हैं तो यहाँ भी हैं, सब समयमें हैं तो अभी भी हैं, सबमें हैं तो अपनेमें भी हैं और सबके हैं तो मेरे भी हैं। केवल इस बातको आप मान लें। एक बात और है सज्जनो ! जो सबको मिल सकता है, वही हमें मिल सकता है। किसीको मिले और किसीको न मिले, वह हमारेको नहीं मिल सकता। सांसारिक चीजें सबको समानरूपसे नहीं मिल सकतीं, पर परमात्मा सबको समानरूपसे मिल सकते हैं। पहले वेदव्यासजी, शुकदेवजी, सनकादिक आदि बड़े-बड़े महापुरुषोंको जो परमात्मतत्त्व मिला है, वही परमात्मतत्त्व आज भी मिलेगा।

अभी वर्तमानमें किसी महापुरुषको जो तत्त्व मिला है, वही तत्त्व हमारेको भी मिलेगा। कारण कि परमात्मा सब जगह हैं, सब समयमें हैं, सबमें हैं, सबके हैं। वे परम दयालु हैं और सर्वसमर्थ हैं। इस प्रकार उनको मानकर उनके नामका जप करें और साथ-साथ यह कहें कि हे नाथ ! प्रकट हो जाओ। जैसे बालक अपनी माँके लिये व्याकुल हो जाता है कि माँ कब मिलेगी, ऐसे ही हम उनके लिये व्याकुल हो जायँ कि हे नाथ ! आप कब प्रकट होंगे ! आप कब मिलोगे ! आप यहाँ हैं, मेरेमें हैं, मेरे हैं, और फिर मैं दुःख पा रहा हूँ !

हमने संतोंसे सुना है कि जो परमात्माकी सत्ताको दृढ़तासे स्वीकार कर लेता है कि परमात्मा हैं, तो उसको परमात्मा मिल जाते हैं। परन्तु साथ-साथ संसारकी सत्ताको मानते रहनेसे परमात्माकी प्राप्तिमें देरी लगती है। वास्तवमें संसार है नहीं, मिट रहा है—यह बात विशेष ध्यान देनेकी है। यह बात मैं बहुत बार कहता हूँ। बहुत बार कहनेका मतलब है कि आप इसको पक्की मान लें। यह संसार एक क्षण भी टिकता नहीं है, हरदम नष्ट हो रहा है। जितने भी प्राणी जी रहे हैं, वे सब-के-सब मौतकी तरफ जा रहे हैं, मर रहे हैं। हम कल जितने जीते थे, उतने आज जीते हुए नहीं हैं। आठ पहर हमारा मर गया अर्थात् मरना नजदीक आ गया। हमारे जीनेका समय चौबीस घण्टा बीत गया। मात्र संसारमें स्थावर-जंगम, जड़-चेतन जितनी चीजें दीखती हैं, वे सब-की-सब अभावमें जा रही हैं और एक दिन उनका पूरा अभाव हो जायगा। वास्तवमें तो उनका प्रतिक्षण ही अभाव हो रहा है। जैसे, आगमें लकड़ी जल रही हो तो वह सब-की-सब लकड़ी जल जायगी। जितना धुआँ निकलता है, वह ज्वाला हो जायगा, ज्वालामें जलते-जलते लकड़ी अंगार बन जायगी, अंगारके कोयले बन जायँगे, कोयलोंकी राख हो जायगी। ऐसे ही यह सब-का-सब संसार कालकी अग्निमें जल रहा है, अभावमें जा रहा है।

संसार नहीं है और परमात्मा है। जो नहीं है, उसको 'है' मान लिया, इसीलिये जो 'है', वह परमात्मा नहीं दीखता। परमात्मा न दीखनेपर भी 'यह संसार नाशकी तरफ जा रहा है'—क्या यह भी नहीं दीखता ? थोड़ा-सा विचार करो तो यह प्रत्यक्ष दीखता है कि हमारा बालकपन कहाँ गया ? कलवाला दिन कहाँ गया ? बताओ। वह तो चला गया। कलवाला दिन चला गया तो आजवाला दिन नहीं जायगा क्या ? महीना नहीं जायगा क्या ? वर्ष नहीं जायगा क्या ? उम्र नहीं जायगी क्या ? यह तो जा ही रही है, प्रत्यक्ष बात है। इस बातको दृढ़तासे मान लो। किसीके देखनेमें, सुननेमें, समझनेमें यह बात नहीं आती हो तो बोलो !

श्रोता—आपने कहा कि परमात्माकी सत्ताको मान लो तो परमात्मा मिल जायँगे, प्रकट हो जायँगे। ऐसा हम मान ही रहे हैं; फिर हमारे माननेमें कहाँ भूल है ?

स्वामीजी—याद रखनेमें भूल होती है, माननेमें भूल नहीं होती। दो बातें हैं—एक याद रखना, स्मरण करना और एक उस बातको स्वीकार करना, मान लेना। जैसे, यह गोविन्दभवन है, यह कलकत्ता है—ऐसा मान लिया तो इस माने हुएमें भूल नहीं होती। माने हुएकी भूल तब मानी जायगी कि यह गोविन्दभवन नहीं है, यह तो कोई सरकारी आफिस है—ऐसा मान लें। यह कलकत्ता नहीं है, यह तो बम्बई है—ऐसा मान लिया तो भूल गये। याद न रहनेसे भूल नहीं होती। जैसे, भगवान्‌के नामका जप करते हैं और वह छूट जाय तो यह करनेकी भूल है, माननेकी भूल नहीं है।

श्रोता—तो फिर दीखते क्यों नहीं ?

स्वामीजी—न दीखनेमें मुख्य आड़ यह है कि हम जानते हैं कि संसारका प्रतिक्षण नाश हो रहा है, फिर भी इसको स्थायी मान लेते हैं।

एक सन्त खड़े थे नदीके पास, तो किसीने कहा कि देखो महाराज ! नदी बह रही है। सन्त बोले कि जैसे नदी बह रही है, ऐसे ही इस पुलपर आदमी भी बह रहे हैं और यह पुल भी बह रहा है। कैसे ? जिस दिन पुल बना था, उतना नया आज है क्या ? उसका नयापन बह गया न ? नयापन बह गया और पुरानापन आ गया। जब सर्वथा पुराना हो जायगा तो गिर जायगा। वास्तवमें वह जबसे बना, तभीसे उसका गिरना, नष्ट होना शुरू हो गया। ऐसे ही मनुष्य भी बह रहे हैं। जितनी उम्र बीत गयी, उतने तो वे मर ही गये और अब भी प्रतिक्षण मर रहे हैं। इस प्रकार यह जो संसार प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, इसको 'है' मान लेते हैं। यही कारण है कि वे जो प्रभु हैं, वे दीखते नहीं। 'नहीं' को 'है' मान लिया, यह उस प्रभुके दीखनेमें आड़ लगा दी।

इस बातको बड़ी दृढ़तासे मान लो कि संसार निरन्तर बह रहा है। दृढ़तासे न मान सको तो बार-बार याद करो कि भाई, संसार तो बह रहा है। एक सिद्धान्त है कि जो आदि और अन्तमें नहीं होता, वह वर्तमानमें भी नहीं होता। जो आदि और अन्तमें होता है, वह वर्तमानमें भी होता है। जब यह संसार नहीं बना था, तब भी परमात्मा थे और जब यह संसार मिट जायगा, तब भी परमात्मा रहेंगे। अतः इस संसारके रहते हुए भी परमात्मा हैं। संसार पहले नहीं था और पीछे नहीं रहेगा, तो बीचमें दीखते हुए भी संसार नहीं है। कारण कि

बीचमें दीखते हुए भी वह प्रतिक्षण 'नहीं' में जा रहा है। हमारी बाल्यावस्था जैसे 'नहीं' में चली गयी, ऐसे ही जवानी भी 'नहीं' में चली जायगी, वृद्धावस्था भी 'नहीं' में चली जायगी, जीवन भी 'नहीं' में चला जायगा। इसमें असावधानी यह होती है कि संसारको 'नहीं' जानते हुए भी उसको 'है' मान लेते हैं। अज्ञानी किसका नाम है ? जो जानते हुए भी न माने, उसका नाम अज्ञानी है। भीत-(दीवार) को कोई अज्ञानी नहीं कहता; क्योंकि वह तो कुछ भी नहीं जानती। जो जानता है, उसको मानता है, उसका नाम ज्ञानी है।

श्रोता—महाराजजी ! रामका नाम लेनेसे प्रारब्ध कट जाता है ? जान-अनजानमें हुए पाप कट जाते हैं ?

स्वामीजी—कट जाते हैं। मैंने जो बात कही है न, उससे सब-के-सब पाप कट जायँगे। परमात्मा है और संसार नहीं है—इस बातको दृढ़तासे मानते हुए नाम-जप करो तो जल्दी काम होगा। संसारको 'है' मानते रहोगे तो वर्षोंतक नाम-जप करनेपर भी सिद्धि नहीं होगी। नाम-जप निरर्थक नहीं जायगा; परन्तु प्रत्यक्ष उसका फल नहीं दीखेगा।

परमात्मा है—यह तो हम शास्त्रोंसे, सन्तोंसे सुन करके मानते हैं। परन्तु संसार प्रतिक्षण नाशकी तरफ जा रहा है—यह तो प्रत्यक्ष दीखता है। अगर इस बातको मान लें कि जो दीखता है, वह संसार है नहीं, तो संसारका ज्ञान हो जायगा। अगर संसारको 'है' मानते हैं, तो संसारका ज्ञान नहीं हुआ है। संसारका ज्ञान होनेसे परमात्माका ज्ञान हो जायगा और परमात्माका ज्ञान होनेसे संसारका ज्ञान हो जायगा।

संसार अभावकी तरफ जा रहा है, नष्ट हो रहा है—यह जागृति हरदम रहनी चाहिये। यह बहुत बढ़िया साधन है। यह सब तो जा रहा है—ऐसी सावधानी रखते हुए नामजप करो। ये शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि, यह जबान, यह जप, सब जा रहा है, पर जिसके नामका जप कर रहे हैं, वह जाता ही नहीं कभी। वह तो रहेगा ही। उसीका जप कर रहे हैं, उसीको याद कर रहे हैं।

श्रोता—यह जा रहा है—ऐसा कहनेसे जागृति हो जायगी ?

स्वामीजी—ऐसा कहनेसे जागृति नहीं होगी, भीतर माननेसे जागृति होगी। अगर परमात्माको और संसारको जाननेकी सच्ची नीयत है तो ऐसा कहनेसे भी वह बात माननेमें आ जायगी। परमात्मा अविनाशी है और संसार नाशवान् है—इसको जाननेके उद्देश्यसे आप बार-बार कहोगे तो भी जागृति हो जायगी। परन्तु जो बात वर्तमानमें काम न आये, उससे क्या लाभ ? यह जो बात मैं कह रहा हूँ, इस बातको आप दृढ़तासे मान लो तो यह वर्तमानमें काम आयेगी। आज एक दिन मानकर देख लो। इसको सजग होना, जाग्रत् होना कहते हैं। एक दिन आप सजग रहकर देखो। सन्तोंकी वाणीमें आता है—*'दिलमें जाग्रत रहिये बन्दा'।* और *'जाग्रत नगरीमें चोर न लागे, झख मारेला जमदूता। जाग्या गोरखनाथ जग सूता ॥'* जाग्रत् रहनेवालेको यमदूत नहीं मार सकेगा। वह शरीरको मारेगा, तो शरीर पहलेसे ही मर रहा है ! अब यमदूत क्या करेगा ? बताओ।

'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।'

(गीता ५। १९)

समरूप परमात्मामें जिनका मन स्थिर हो गया है, उन्होंने मात्र संसारको जीत लिया। वे विजयी हो गये। उनके सामने सब संसार हार गया। जो मर रहा है, वह संसार हमारा क्या बिगाड़ सकता है ? आप कृपा करके इस बातको मान लें।

मेरे रुपये हैं, मेरा घर है, मेरा परिवार है, मैं ऐसा हूँ, मैं यों कर दूँगा। अरे, तू तो मर रहा है, कर क्या देगा ? शरीर तो मर रहा है, इसमें जो रहनेवाला है, वह परमात्माका स्वरूप है। इस जागृतिको आप रखो तो सच्ची, निहाल हो जाओगे। इसमें सन्देह नहीं है। बड़ी सीधी-सरल और सुगम बात है। बताओ, इसमें कठिनता क्या है ? आपका-हमारा जो शरीर है, यह शरीर पहले ऐसा नहीं था—यह सबका अनुभव है। जितना जी गये, उतना तो मर गये। भाई, बुरा न मानना। सच्ची बात है यह। मरना शब्द बुरा लगता है। बुरा लगे, चाहे भला लगे, सच्ची बात है कि जितना हम जी गये, उतने दिन तो हम मर ही गये। मर गये ही नहीं, मर रहे हैं। कल जितनी उम्र थी, आज उतनी उम्र नहीं है। इसकी जागृति रखो।

श्रोता—महाराजजी ! क्या अभी-अभी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है ?

स्वामीजी—अभी-अभी, इसी क्षण हो सकती है। देखो, परमात्माकी प्राप्तिमें देरी नहीं लगती। अपनी जो पकायी हुई धारणा है, उसको दूर करनेमें देरी लगती है अर्थात् यह मेरा शरीर है, मेरा धन है, मेरा घर है, मेरा कुटुम्ब है—इस तरह जो अपना नहीं है, उसको अपना मान लिया—इसको दूर करनेमें देरी लगती है।

संसार नहीं है—इसकी याद न आना दोष नहीं है, संसारको सच्चा मान लेना दोष है। जैसे याद न करनेपर भी 'हम कलकत्तामें हैं' यह बात भीतर पक्की बैठी हुई है, ऐसे ही, स्त्री, पुत्र आदि अपने हैं, यह बात भीतर बैठी हुई है। वही परमात्मप्राप्तिमें आड़ लगा रही है। परमात्मा तो मौजूद है, फिर उसके मिलनेमें देरी क्या है ? जो मौजूद नहीं है, उसको मौजूद

मानकर मनसे पकड़ रखा है—यही देरीका कारण है।

श्रोता—जो दीखता नहीं है, उसको अपना कैसे मानें ?

स्वामीजी—भाई, मैंने पहले ही बात कह दी कि आप परमात्माको भले ही मत मानो, पर संसार प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है—यह दीखता है कि नहीं ? दीखनेपर परमात्माको मान लेंगे—यह बड़ी भारी गलती है, मामूली गलती नहीं। जो दीखता है, उसको मानते हैं—यही गलती है। जो दीखता है, वह तो टिकता ही नहीं। वह तो प्रतिक्षण जा रहा है, मिट रहा है। आज इसी बातको दृढ़तासे मान लो। आज यही पाठ पढ़ लो।

जो दीखता नहीं, उसको कैसे मानें—यह समझदार आदमीका प्रश्न नहीं है। समझदार आदमीका प्रश्न तो यह होता है कि जो दीखता है, उसको हम कैसे मानें, क्योंकि वह तो एक क्षण भी ठहरता नहीं। संसार नेत्रोंसे रहता हुआ दीखता है और अक्लसे बहता हुआ दीखता है। अतः अक्लसे खुदा पहचानो। यह आज अक्ल ले लो कि जो दीखता है, वह सच्चा नहीं है।

★

सत्सङ्गसे लाभ कैसे लें ?

श्रोता—सत्सङ्गमें जैसी स्थिति रहती है, वैसी हर समय नहीं रहती, और सत्सङ्ग हर समय मिलता नहीं !

स्वामीजी—सत्सङ्ग न मिले तो पारमार्थिक पुस्तकें पढ़ो।

श्रोता—पुस्तकें पढ़नेको भी सदा समय नहीं मिलता।

स्वामीजी—देखो, सब समय तो कोई बात रहती नहीं। संसारका सम्बन्ध भी सदा नहीं रहता। सत्सङ्गमें जैसी स्थिति, जैसी वृत्तियाँ रहती हैं, वैसी हर समय नहीं रहतीं—ऐसी बात नहीं है। स्थूल दृष्टिसे तो वैसा दीखता है, पर सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो भीतर सत्सङ्गके जो संस्कार रहते हैं, वे स्थायी रहते हैं। उनके स्थायी रहनेसे ही आपकी सत्सङ्गमें रुचि रहती है। वे संस्कार जितने अधिक स्थायी होंगे, उतनी ही रुचि अधिक होगी और जितनी रुचि अधिक होगी, उतना ही साधन बढ़ेगा। अतः तात्कालिक चीज (सत्सङ्ग) मिले तो उससे अपनी रुचिको बढ़ाना चाहिये। भीतर सत्सङ्गका महत्त्व अंकित रहना चाहिये कि यह बहुत लाभदायक है, इसकी बड़ी भारी आवश्यकता है। ऐसा होनेसे कहीं भी सत्सङ्ग हो तो आपकी रुचि होगी कि हम सत्सङ्ग करें।

दूसरी बात, अभी जो सत्सङ्ग सुननेसे रुचि होती है, वह बुद्धिमें, मनमें, अन्तःकरणमें होती है। वह रुचि वास्तवमें आपके खुदकी होनी चाहिये। खुदकी रुचि होगी तो वह मिटेगी नहीं; क्योंकि खुद मिटता नहीं। अन्तःकरण तो प्रकृतिका कार्य होनेसे बदलता रहता है। तत्त्वज्ञान होनेके बाद भी सिद्ध पुरुषोंमें सात्त्विक, राजस, तामस वृत्तियाँ आती हैं (गीता १४।२२)। सिद्ध पुरुषोंमें और हमलोगोंमें फरक क्या रहता है? उन वृत्तियोंके आनेपर सिद्ध पुरुष तो स्वाभाविक तटस्थ रहते हैं, पर हम उन वृत्तियोंके साथ मिल जाते हैं। सत्सङ्गके समय जैसी वृत्तियाँ रहती हैं, और समयमें वैसी वृत्तियाँ नहीं रहतीं—इसका कारण है अन्तःकरणकी अनित्यता, अन्तःकरणका एक रूप न रहना। बदलनेवाली चीजको जाननेवाले आप नहीं बदलते हो। रुचि और अरुचि—दोनोंका जिसको अनुभव होता है, उसके साथ रुचि-अरुचि दोनोंका सम्बन्ध नहीं है।

सात्त्विक, राजस, तामस वृत्तियोंके साथ मिल जाना अस्वाभाविक है, और इनके साथ न मिलना स्वाभाविक है। स्वाभाविकताको जबतक नहीं पकड़ते, तबतक यह दशा रहती है। स्वयं (स्वरूप) अच्छे-मन्दे दोनोंको जाननेवाला है, दोनोंका प्रकाशक है, दोनोंका आश्रय है। उसके आश्रित ही अच्छी-मन्दी दोनों क्रियाएँ होती हैं। हमारी स्थिति उस स्वरूपमें होनी चाहिये—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**' (गीता १४।२४)। वह सम्पूर्ण वृत्तियोंका, संयोग-वियोगका आधार है, उनका निर्लिप्त प्रकाशक है। जैसे, दीपक जल रहा है। अब आपलोग आयें तो दीपक वैसा ही है, आपलोग थोड़े आयें तो दीपक वैसा ही है। और कोई भी नहीं आये तो दीपक वैसा ही है। ऐसे ही आपका स्वरूप वृत्तियों आदिको प्रकाशित करनेवाला है, उनके साथ चिपकनेवाला नहीं है। अगर स्वरूप चिपकनेवाला होता तो एकके साथ ही रहता, दूसरेके साथ नहीं जाता। अगर आप सत्त्वगुणमें चिपक जाते तो रजोगुण-तमोगुणमें कौन जाता? रजोगुणमें चिपक जाते तो सत्त्वगुण-तमोगुणमें कौन जाता? और तमोगुणमें चिपक जाते तो सत्त्वगुण-रजोगुणमें कौन जाता? आपका चिपकनेका स्वभाव नहीं है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ आपके सामने आती हैं, पर आप किसी भी अवस्थाके साथ हरदम नहीं रहते। अवस्थाएँ बदलती हैं, आप नहीं बदलते। आप आने-जानेवाली वृत्तियोंके साथ, अवस्थाओंके साथ मिल जाते हो, इसीसे गलती होती है। इससे आप तटस्थ रहो—***'देखो निरपख होय तमाशा।'*** कभी नफा हुआ, कभी नुकसान हुआ, किसीका जन्मना हुआ, किसीका मरना हुआ, किसीका संयोग हुआ, किसीका वियोग हुआ—यह तो होता ही रहता है, पर हम इसके साथ नहीं हैं और यह हमारे साथ नहीं है। ये बदलनेवाले हैं, हम बदलनेवाले नहीं हैं।

सत्सङ्गके समय 'हम बदलनेवाले नहीं हैं'—इसमें अपनी स्थिति करनी चाहिये। सत्सङ्गके समय सत्सङ्गका रस नहीं लेना है। सत्सङ्गका सुख नहीं लेना है। सत्सङ्गका तत्त्व समझना है, उसको धारण करना है, उसमें तल्लीन हो जाना है। उस तत्त्वके साथ आपका स्वयंका सम्बन्ध होना चाहिये। स्वयंका सम्बन्ध होनेसे जब अनुकूल साधन नहीं होगा, अनुकूल संग नहीं मिलेगा, अनुकूल पुस्तक नहीं मिलेगी, तो उस समय आपको अच्छा नहीं लगेगा, बुरा लगेगा। फिर आप भजन-चिन्तनमें आप-से-आप लग जाओगे। हमारा सम्बन्ध तो भगवान्‌के साथ है। तात्कालिक सुखकी अपेक्षा भगवान्‌के सम्बन्धको भीतरमें ज्यादा महत्त्व देना चाहिये। जैसे, मनुष्योंका रुपयोंमें एक आकर्षण है। रुपये कमानेमें चाहे सुख होवे, चाहे दुःख होवे, पर रुपयोंका आकर्षण वैसे ही रहता है। घाटा लगे तो भी आकर्षण रहता है और मुनाफा हो तो भी आकर्षण रहता है। इस प्रकार जिस जगह रुपयोंका महत्त्व बैठा हुआ है, उस जगह भगवान्‌का महत्त्व बैठाना चाहिये। भीतरमें रुपयोंका महत्त्व होनेसे जैसे रुपयोंकी बातें अच्छी लगती हैं, ऐसे ही भगवान्‌का महत्त्व होनेसे भगवत्सम्बन्धी बातें अच्छी लगेंगी।

सत्सङ्गी आदमीको पहले कम-से-कम यह सोच लेना चाहिये कि हमारा कौन है और हमारा कौन नहीं है। ध्यान देना, बड़ी मार्मिक बात है। जो हमारे साथ निरन्तर रहता है और हम जिसके साथ निरन्तर रहते हैं, वह हमारा है। हम जिसके साथ निरन्तर नहीं रह सकते और जो हमारे साथ निरन्तर नहीं रह सकता, वह हमारा नहीं है। अब जो हमारा है, उसको हम पहचानते क्यों नहीं ? जो हमारा नहीं है, सदा उसकी तरफ आकर्षण क्यों होता है ? कारण यह है कि जो हमारा है, सदा हमारे साथ रहता है, उसको अपना मानना छोड़ दिया और जो हमारा नहीं है, कभी हमें मिलता है कभी नहीं मिलता, उसको अपना मानना शुरू कर दिया। यहाँ गलती हुई है। धन, सम्पत्ति, वैभव, पुत्र, परिवार, मान, बड़ाई आदि कभी होते हैं और कभी नहीं होते, घटते-बढ़ते हैं, सदा साथमें नहीं रहते, पर उनको अपना मान लिया। जो अपना है, उससे विमुख हो गये, उसकी उपेक्षा कर दी ! मीराबाईने कहा कि ***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।'*** हमने ***'दूसरो न कोई'***—इस बातको नहीं पकड़ा, इसीलिये ***'मेरे तो गिरधर गोपाल'***—इसका अनुभव नहीं हुआ। वे भगवान् सबके हैं। वे प्राणिमात्रके हृदयमें रहते हैं—**'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'** (गीता १८। ६१) उनकी तरफ हमें देखना चाहिये। मैं बहुत बार कहा करता हूँ कि भगवान् सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तुओंमें, सब व्यक्तियोंमें, सम्पूर्ण वृत्तियोंमें, सम्पूर्ण घटनाओंमें, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें, सम्पूर्ण अवस्थाओंमें रहते हैं। ऐसा कहनेका तात्पर्य क्या है ? वे सब जगह हैं तो यहाँ भी हैं, सब समयमें हैं तो अभी भी हैं, सबमें हैं तो हमारेमें भी हैं, सबके हैं तो हमारे भी हैं। इसलिये किसीको भी उनकी प्राप्तिसे निराश होनेकी जरूरत नहीं है। जो किसी देशमें हो, किसी देशमें न हो; किसी कालमें हो, किसी कालमें न हो; उसके साथ हमें सम्बन्ध नहीं जोड़ना है। उसका काम कर देना है, उसकी सेवा कर देनी है। उसके साथ सम्बन्ध जोड़ोगे तो दुःख पाओगे; क्योंकि वह सदा तो रहेगा नहीं।

सत्सङ्गके द्वारा जो सुख मिलता है, उसको मत लो। जिससे वह सुख मिलता है, उस भगवान्‌को पकड़ो। वह सुख भगवान्‌के यहाँसे आता है। वे भगवान् हमारे हैं। ये शरीर-संसार हमारे नहीं हैं। अगर शूरवीरतासे आप इस बातको स्वीकार कर लो, तो बहुत ही लाभकी बात है।

परमात्मा कभी हमारेसे अलग नहीं होते। उनको हम जानें तो हमारे साथ हैं, हम न जानें तो हमारे साथ हैं; हम उनके सम्मुख हो जायँ तो हमारे साथ हैं, उनसे विमुख रहें तो हमारे साथ हैं। जहाँ मैं हूँ, वहाँ भी परमात्मा हैं। जो 'हूँ' है, वह 'है'—(परमात्मा) के साथ है। इस 'हूँ' को शरीरके साथ मान लेते हैं—यह गलती है। परमात्मा यहाँ हैं, अभी हैं, मेरेमें हैं, मेरे हैं—इस बातको पकड़ लो। ये बातें सीखनेके लिये और सुनने-सुनानेके लिये नहीं हैं। ये पकड़नेकी, स्वीकार करनेकी बातें हैं। संसारकी बातें रहनेवाली नहीं हैं। ये सब मिटनेवाली हैं। संसारकी बातोंमें उलझ करके उनमें भी दो बातें कर लेते हो अर्थात् सुख और दुःख, अनुकूल और प्रतिकूल—ये दो मान्यताएँ कर लेते हो, इससे बड़ा भारी बन्धन होता है। इन दो चीजोंसे अर्थात् द्वन्द्वोंसे रहित होनेसे मनुष्य सुखपूर्वक बन्धनसे मुक्त हो जाता है—**'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते'** (गीता ५। ३)। इसलिये द्वन्द्वोंमें नहीं फँसना चाहिये।

संसारकी किसी समाज-सम्बन्धी बातको लेकर कोई कहता है कि यह ठीक है और कोई कहता है कि यह बेठीक है, तो वास्तवमें वे दोनों ही बेठीक हैं; क्योंकि दोनोंसे मुक्ति तो होती नहीं ! केवल संसारमें फँसनेका तरीका है। संसारकी दो बातोंको लेकर उनमेंसे किसी एक बातको पकड़ लेते हैं तो बड़ी भारी हानि होती है। इससे कल्याण नहीं होता। व्यवहारमें जो बात ठीक है, उसको कर लें, पर उसको पकड़ें नहीं। वह बात ठहरेगी नहीं, रहेगी नहीं और परमात्मा रहेंगे।

परमात्माका सम्बन्ध कभी छूटेगा नहीं। संसारके साथ हमारा सम्बन्ध है ही नहीं। उस संसारमें अच्छा और मन्दा क्या, ठीक और बेठीक क्या, पूरा-का-पूरा ही बेठीक है। अब ये कहते हैं कि हम तो गृहस्थी हैं। अगर गृहस्थी हो तो अच्छा काम करो, फँसते क्यों हो? काम गृहस्थीको भी करना है और साधुको भी करना है, पर फँसना नहीं है। मान और अपमान—दोनोंको बराबर समझना है। ये दोनों ही तुल्य हैं—**'मानापमानयोस्तुल्यः'** (गीता १४।२५)। जिस जातिका मान है, उसी जातिका अपमान है। ये दोनों ही त्याज्य हैं। न मान ग्राह्य है और न अपमान ग्राह्य है। इसमें क्या राजी और क्या नाराज होवें? **'किं भद्रं किमभद्रं वा'** (श्रीमद्भा० ११।२८।४)—क्या ठीक और क्या बेठीक?

गीतामें आया है—**'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।'** (गीता २।३८) तो **'समे कृत्वा'** का अर्थ क्या हुआ? कि जय हो गयी तो क्या और पराजय हो गयी तो क्या? लाभ हो जाय तो क्या और हानि हो जाय तो क्या? सुख हो तो क्या और दुःख हो तो क्या? ये तो मिटनेवाले हैं। रहनेवाली न जय है, न पराजय है, न लाभ है, न हानि है, न सुख है, न दुःख है। वक्तपर जो काम आया, उसे निर्लेप होकर कर दिया, बस। अतः संसारके संयोग-वियोगको महत्त्व मत दो। फिर यह सत्सङ्गवाली स्थिति स्थायी हो जायगी। परन्तु संसारके संयोग-वियोगको महत्त्व दोगे तो सत्संगकी बात स्थायी होनेके लिये आपको वक्त ही नहीं मिलेगा!

भगवान्ने आरम्भमें ही कह दिया—**'आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व'** (गीता २।१४) अर्थात् ये सांसारिक चीजें आने-जानेवाली और अनित्य हैं, इनको तुम सह लो। सहनेका अर्थ है कि तुम विकृत मत होओ, राजी-नाराज मत होओ। ये सांसारिक पदार्थ जिसको व्यथा नहीं पहुँचाते, वह मुक्तिका पात्र होता है—**'यं हि न व्यथयन्त्येते' 'सोऽमृतत्वाय कल्पते'** (गीता २।१५) और जिसको ये व्यथा पहुँचाते हैं, उसकी मुक्ति नहीं होती। मान अच्छा है, अपमान खराब है—इसको पकड़ लिया तो मुक्तिसे वञ्चित रह गये। ये मान-अपमान आदि आपको धोखा देनेवाले हैं। ये तो रहेंगे नहीं, पर आपको मुक्तिसे वञ्चित कर देंगे। इसलिये ठीक-बेठीक सब त्याज्य है, छोड़नेकी चीज है। हम इनसे छूटें कैसे? कि हम सम रहें। आप अपनी तरफ खयाल करें। मानके समय आप दूसरे और अपमानके समय आप दूसरे होते हो क्या? इसलिये इनको न देखकर अपनेमें स्थित रहो, 'स्व' में स्थित रहो—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४।२४)। इस 'स्व' में स्थितिको ही सत्संगके द्वारा पकड़ना है। सत्संगकी बातोंका सुख नहीं लेना है।

═══ ★ ═══

कल्याणका सुगम उपाय—अपनी मनचाहीका त्याग

दूसरेके मनकी बात पूरी करनेकी कोशिश करें। दूसरा हमसे क्या चाहता है, जहाँतक हो सके उसके मनकी बात पूरी करनेकी चेष्टा करें। उसके मनकी बात दो तरहकी हो सकती है—एक शुद्ध और एक अशुद्ध। अशुद्ध बात पूरी करनेकी जरूरत नहीं है; क्योंकि उसमें उसका हित नहीं है। अगर उसकी चाहना शुद्ध है, उसकी रुचि बढ़िया है, तो उसको पूरा करना हमारा कर्तव्य होता है। दूसरी एक बात और है कि उसकी इच्छा तो शुद्ध है, पर उसको पूरा करना हमारी सामर्थ्यसे बाहरकी बात है, उसको हम पूरा नहीं कर सकते। अतः उसके लिये माफी माँग लें कि मैं आपका यह काम कर नहीं सकता; मेरी सामर्थ्य नहीं है। धनकी, बलकी, विद्याकी, योग्यताकी, अधिकारकी सामर्थ्य नहीं है मेरेमें। अगर सामर्थ्य हो तो जहाँतक बने, उसके मनकी बात पूरी कर दें।

गीतामें कामनाके त्यागकी बात आयी है। जैसे, हमें ऐसा धन मिले, हमारा ऐसा हुक्म चले, हमारी बात रहे—यह जो भीतरका भाव है, यही कामना है। आप विशेष ध्यान दें, इसलिये एक बात याद आ गयी। मैंने पढ़ाईकी, व्याख्यान सुने, पुस्तकें पढ़ीं, खूब विचार किया और व्याख्यान भी खूब देने लग गया। उस समय मैंने सोचा कि कामना क्या है, तो यह बात समझमें आयी कि रुपये-पैसेकी इच्छा, सुख भोगनेकी इच्छा, मान-बड़ाईकी इच्छा आदि—ये सब कामनाएँ हैं। फिर मैंने इन कामनाओंके त्यागकी बात सोची और इनके त्यागकी कुछ श्रेणियाँ बनायीं। परन्तु कई वर्षोंके बाद जो बात मेरी समझमें आयी, वह बात कहता हूँ आपको। यह इसलिये कहता हूँ कि आप ध्यान दो तो आज ही वह बात आपकी समझमें आ जाय। कई वर्षोंसे जो चीज मिली है, वह पहले ही बता दूँ तो उतना समय आपका बच जायगा ! वह बात यह है कि 'मेरे मनकी बात पूरी हो जाय'— यही कामना है। मेरे मनकी हो जाय—इसको आदमी जबतक नहीं छोड़ेगा, तबतक उसको शान्ति नहीं मिलेगी; वह जलता रहेगा, दुःखी रहेगा, पराधीन रहेगा।

बड़े भारी दुःखकी बात है कि आज उलटी बात हो रही है ? मेरे मनकी बात हो जाय तो मैं स्वतन्त्र हो गया—ऐसा वहम पड़ा हुआ है। कोई हमारे मनकी बात पूरी करेगा तो हमें

उसके अधीन होना ही पड़ेगा। हमारे मनकी बात कोई दूसरा पूरी कर दे—इसमें बड़ा आराम दीखता है, पर है महान् संकट ! स्वतन्त्रता दीखती है, पर है महान् पराधीनता ! यह विशेष खयाल करनेकी बात है। आपको इस वास्ते कही है कि व्याख्यान देते हुए वर्षोंतक यह मेरी समझमें नहीं आयी। आप घरमें यह चाहते हो कि स्त्री-पुत्र मेरे मनके अनुकूल चलें। भाई-बन्धु भी मेरे कहनेमें चलें। माता-पिता भी मेरी रुचिके अनुसार चलें। यह जो बात है न, यह आपके लिये महान् घातक है। यह परमात्माकी प्राप्ति तो नहीं होने देगी, और नरकोंमें जाओगे—इसमें सन्देह नहीं दीखता। इतनी हानिकारक बात है यह !

जब जेलमें व्याख्यान देनेका काम पड़ा तो कैदियोंको मैंने कहा कि आपने जो काम किये हैं, वे स्वतन्त्रतासे, अपनी रुचिसे किये हैं, पर जेल पराधीनतासे, बिना रुचिके भोगते हैं। तो दुनियामें सब आदमी कैदी हैं। वे अपनी मरजीसे काम करते हैं और उसका फल पराधीन होकर भोगते हैं। नरक और चौरासी लाख योनियाँ—यह कैदखाना है। यह कैदखाना क्यों मिलता है ? कि अपनी मनमानी चलाना चाहते हैं। मनमानी होगी कि नहीं होगी—इसमें तो सन्देह है, पर कैद होगी, दुःख भोगना पड़ेगा—इसमें सन्देह नहीं है। इसलिये अगर आप कर सकें तो कुटुम्बियोंके मनकी बात करें। उनकी बात न्याययुक्त हो; शास्त्र, व्यवहार आदिकी दृष्टिसे अनुचित न हो और हमारी सामर्थ्यके अनुसार हो, तो उसे पूरी कर दो। इससे बहुत विशेष लाभ होगा। कल्याण हो जायगा, उद्धार हो जायगा ! परन्तु उनके अन्यायकी बात पूरी नहीं करनी है; क्योंकि ऐसा करनेमें उनका नुकसान है, फायदा नहीं है। उसका हित भी साथमें चाहिये।

एक सुनी हुई बात है। सच्ची-झूठी रामजी जाने, सुनी हुई जरूर है। एक सन्त थे, चुपचाप रहते और उनसे कोई काम कराता तो वह कर देते। यहाँतक कि स्त्रियाँ गारा तैयार करके दे देतीं और कहतीं बाबाजी, आप लीप दो, तो वे लीप देते। उनका पानीका घड़ा उठवा देते, घर पहुँचा देते, झाड़ू लगा देते। जो कहतीं वह कर देते। दूसरा खिला दे तो खिला दे, नहीं तो उसकी मरजी। एक स्त्रीकी सन्तान नहीं थी। उसने बाबाजीकी बहुत सेवा की। उसने खिलाया तो अच्छी तरहसे खा लिया, कपड़ा पहनाया तो कपड़ा पहन लिया। वे आरामसे रहने लगे। कुछ दिनोंके बाद उसने अपनी शय्या बिछा दी और इच्छा प्रकट की कि मेरी सन्तान हो जाय। बाबाजीने कह दिया—'ना'। वह बोली कि आप तो जैसा कहें, वैसा करते हो। बाबाजी बोलते नहीं थे, पर बोल दिये—'बस, यहाँतक ही।' मतलब यह कि यहाँतक ही करता हूँ, इससे आगे नहीं, व्यभिचारतक नहीं। ऐसा कहकर बाबाजी वहाँसे चल दिये। अतः वहींतक करना है, जहाँतक उचित होता है। जहाँ अनुचित होता है, वहाँ कह दिया कि नहीं, यहाँतक ही करता हूँ। जिसमें अपना सुख-भोग हो और दूसरेका अहित हो, वह काम नहीं करना है।

गीता कहती है—'**सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥**' (गीता ६।४) अर्थात् अपने सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग करनेवाला योगी होता है। परन्तु अपने संकल्पोंका त्याग न करनेवाला ज्ञानयोगी, भक्तियोगी, कर्मयोगी, हठयोगी, तपयोगी, राजयोगी आदि कोई-सा भी योगी नहीं होता—'**न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन।**' (गीता ६।२) अगर दूसरोंके संकल्पको पूरा करना सीख जायँ तो अपने संकल्पोंका त्याग सुगमतासे हो जायगा। मेरे मनमें तो यही आयी कि सुननेवालोंके मनकी बात कहनी चाहिये, जिससे उनका भी कल्याण हो, मेरा भी कल्याण हो और कोई तीसरा आदमी सुने तो उसका भी कल्याण हो। अतः सबके साथ अपना दिनभरका, रात्रिभरका व्यवहार ऐसा ही हो। इससे आप सिद्ध हो जाओगे, योगारूढ़ हो जाओगे। यह बात कठिन भी नहीं है। पहले अपनी बात रखनेकी आदतके कारण यह कुछ समय कठिन मालूम देती है, फिर सुगम हो जाती है। अपने अभिमानके कारण कठिन दीखती है, वास्तवमें कठिन नहीं है। इसे सब कर सकते हैं; गृहस्थ, साधु, भाई, बहन, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि कोई क्यों न हो।

हमारा मनचाहा होता है तो अभिमान आता है और मनचाहा नहीं होता है तो क्रोध आता है। अभिमान और क्रोध—दोनों ही आसुरी सम्पत्ति हैं। अतः अपना संकल्प रखनेवाला आसुरी सम्पत्तिसे बच नहीं सकता। आसुरी सम्पत्ति बाँधनेवाली, जन्ममरणको देनेवाली है—'**निबन्धायासुरी मता**' (गीता १६।५)। अपना संकल्प नहीं रखे तो आसुरी सम्पत्ति आ ही नहीं सकती।

मुक्ति जितनी सीधी-सरल है, उतना सरल कोई काम है ही नहीं। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—सभी सरल हैं। कठिनता अपनी रुचिकी पूर्ति करनेमें है। इसके सिवाय और क्या कठिनता है ? बताओ। जितनी कठिनता आती है, वह इसीमें आती है कि हमारी मनचाही बात हो जाय।

अर्जुनने पूछा कि मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप क्यों करता है ? तो भगवान्‌ने उत्तर दिया '**काम एष**' (गीता ३।३७) अर्थात् कामना। कामना क्या ? मेरी मनचाही हो

जाय—यही मूलमें कामना है। मेरेको व्याख्यान देते हुए भी वर्षोंके बाद यह बात मिली तो बड़ी प्रसन्नता हुई कि जड़ तो आज मिली है ! मनकी बात पूरी होनेमें स्वतन्त्रता मानते हैं, पर है महान् परतन्त्रता; क्योंकि यह दूसरेके अधीन है। दूसरा हमारी बात पूरी करे—यह हमारे अधीन है क्या ? मुफ्तमें कोरी पराधीनताको लेना है, और ***'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं'*** (मानस १। १०२। ३)।

श्रोता—महाराजजी !अपनी बात सत्य प्रतीत हो, न्यायके अनुकूल प्रतीत हो, तो उसपर अडिग रहे या न रहे ?

स्वामीजी—अगर वह दूसरोंके अधीन है तो उसमें अडिग मत रहो। हमारी बात सत्य है, न्याययुक्त है, कल्याणकारी है, वर्तमानमें और परिणाममें हित करनेवाली है, तो उस बातका हम अनुष्ठान करें। परंतु दूसरा भी वैसा ही करे—यह बिलकुल गलत है। इसमें हमारा अधिकार नहीं है।

श्रोता—पर परिवारमें सब एक-दूसरेसे जुड़े रहते हैं। हमारी बात दूसरा नहीं मानेगा तो उसका बुरा असर सबपर पड़ेगा।

स्वामीजी—वे न करें तो उनको दुःख पाना पड़ेगा। परन्तु उसमें हमारेको दोष नहीं लगेगा। हम अपनी ठीक बात कह दें, वे मान लें तो खुशीकी बात, न मानें तो बहुत खुशीकी बात। ये दो बातें याद कर लो। न्याययुक्त, हितकी, कल्याणकी बात है और उसको स्त्री, पुत्र, पोता, भतीजा आदि मान लें तो अच्छी बात, न मानें तो बहुत अच्छी बात। बहुत अच्छी बात कैसे हुई ? कि हम फँसेंगे नहीं। अगर वे हमारी बात मानते रहेंगे तो हम फँस जायँगे। मैंने तो यहाँ कलकत्तेमें कई वर्षों पहले कह दिया था कि आप मेरा कहना मानते तो मैं फँस जाता। यहाँसे बाहर जा ही नहीं सकता। पर आप कहना नहीं मानते हैं तो यह आपकी कृपा है, मैं खुला रहता हूँ। जो हमारा कहना मानता है, उसके वशमें होना ही पड़ेगा, पराधीनता भोगनी ही पड़ेगी। लोग घर छोड़कर साधु-संन्यासी होते हैं, आप घरमें रहते हुए ही साधु-संन्यासी हो गये; क्योंकि घरवाले आपकी बात मानते ही नहीं। फिर भी जिसमें हमारा, दूसरोंका, सबका हित हो, यह बात कहनी है, चाहे दूसरा माने या न माने।

★

सङ्कल्प-त्यागसे कल्याण

संसार अपने लिये नहीं है। जो अपने लिये संसारकी जरूरत नहीं मानता, वह संसारके लिये उपयोगी हो जाता है; और जो अपने लिये संसारकी जरूरत मानता है, वह संसारके लिये अनुपयोगी हो जाता है, संसारके कामका नहीं रहता। अतः घरमें रहो तो घरवालोंके लिये रहो, आश्रममें रहो तो आश्रमवालोंके लिये रहो, किसी समुदायमें रहो तो समुदायवालोंके लिये रहो, अपने लिये नहीं। उनके लिये हम कब होंगे? जब अपना कोई सङ्कल्प नहीं रखेंगे। अपना सङ्कल्प रखेंगे तो हम पराधीन हो जायँगे और अपना सङ्कल्प नहीं रखेंगे तो हम स्वाधीन हो जायँगे। अपना सङ्कल्प क्या है? ऐसा तो होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—यह सङ्कल्प है। परमात्माकी प्राप्ति होनी चाहिये—यह सङ्कल्प नहीं है; यह तो आवश्यक तत्त्व है, मनुष्य-जन्मका असली प्रयोजन है। संसारकी घटना ऐसी होनी चाहिये, ऐसी नहीं होनी चाहिये; ऐसी परिस्थिति आनी चाहिये, ऐसी परिस्थिति नहीं आनी चाहिये—यह जो चीज है न, यह सङ्कल्प है। हमें मनुष्य-शरीर मिला है, वह परिस्थितिके लिये नहीं मिला है, प्रत्युत परिस्थितियोंसे अतीत तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये मिला है। परिस्थितियोंसे अतीत जो तत्त्व है, वह किसी परिस्थितिके अधीन नहीं है। वह तत्त्व किसी अवस्थाके अधीन नहीं है, किसी योग्यताके अधीन नहीं है, किसी विशेष व्यक्तिके अधीन नहीं है। वह स्वाधीन तत्त्व है। स्वाधीन तत्त्वकी प्राप्ति स्वाधीनतापूर्वक होती है। इसमें पराधीन नहीं रहना पड़ता। परन्तु सङ्कल्प स्वाधीनतापूर्वक होता ही नहीं। हम भोग चाहते हैं, मान चाहते हैं, आदर चाहते हैं, आराम चाहते हैं, जीना चाहते चाहते हैं, लाभ चाहते हैं—ये परतन्त्र हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं। इनकी पूर्तिमें परतन्त्रता रहेगी ही, स्वतन्त्रता हो ही नहीं सकती।

सङ्कल्पोंका कायदा यह है कि कई सङ्कल्प पूरे होते हैं और कई पूरे नहीं होते। यह सबका अनुभव है। सङ्कल्पोंका पूरा होना अथवा न होना हमारे अधीन नहीं है, भगवान्‌के विधानके अधीन है। हम अभिमान कर लेते हैं कि हमने इतना धन कमा लिया, हमारे इतने बेटा-पोता हैं, हमारे इतने श्रोता हैं आदि। परन्तु ये हमारे अधीन नहीं हैं। अगर सङ्कल्पोंकी पूर्ति हमारे अधीन हो, तो फिर कोई सङ्कल्प अधूरा रहना ही नहीं चाहिये, सभी सङ्कल्प पूरे होने चाहिये। भगवान्‌का एक विधान है, उस विधानसे ही ये पूरे होते हैं। मनुष्यका काम है उस विधानका आदर करना। वह भगवान्‌के विधानका आदर करेगा तो उसका कल्याण हो जायगा। उसने भगवान्‌के विधानको स्वीकार कर लिया तो अब उसके कल्याणमें बाधा देनेवाला कोई है ही नहीं। उसका कभी अहित होता ही नहीं, सदा हित-ही-हित होता

है। अतः अपना सङ्कल्प न रखे।

दूसरोंके लिये रहें, अपने लिये नहीं—इसमें परतन्त्रता दीखती है, पर वास्तवमें इसमें स्वतन्त्रता है। माँ-बापके लिये आदर्श बेटा बन जाओ, पत्नीके लिये आदर्श पति बन जाओ, पुत्रके लिये आदर्श पिता बन जाओ, भाईके लिये आदर्श भाई बन जाओ, बहनके लिये आदर्श भाई बन जाओ, समाजके लिये आदर्श सदस्य बन जाओ। परन्तु माँ-बाप हमारे लिये हैं, स्त्री हमारे लिये है, पुत्र हमारे लिये है, जनता हमारे लिये है—ऐसा होगा, तो यह सङ्कल्प हो जायगा और इसमें आप फँस जाओगे। सङ्कल्पसे ही कामना पैदा होती है—**'सङ्कल्पप्रभवान्कामान्'** (गीता ६। २४)। कामनासे क्रोध, क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृतिनाश, स्मृतिनाशसे बुद्धिका नाश, बुद्धिके नाशसे मनुष्यका पतन हो जाता है (गीता २। ६२-६३)।

श्रोता—महाराज ! इतनी कृपा करो कि यह बात काममें आ जाय।

स्वामीजी—मेरी दृष्टिसे तुम ध्यान नहीं देते हो। ध्यान दो तो आँख खुल जाय। यह सङ्कल्प-त्यागकी बात मेरेको इतनी विचित्र दीखती है कि जैसे नींदमें पड़े हुए आदमीकी नींद खुल जाय, बेहोश आदमीको होश आ जाय ! इस बातसे इतना फरक पड़ता है ! जैसे दूध पीते हुए बालकके मुखसे स्तन हटा दे तो वह छटपटाता है, सह नहीं सकता, पर बल नहीं होनेसे बेचारा करे क्या ! ऐसे ही इन बातोंकी आपमें रुचि लगेगी तो न हरेक कथामें ठहर सकोगे, न हरेक परिस्थितिमें ठहर सकोगे। जैसे रुपयोंके लिये आदमी चाहे जो कुछ कर लेता है; माँको छोड़ देता है, स्त्रीको छोड़ देता है, बच्चोंको छोड़ देता है और जगह चला जाता है कि रुपया मिलेगा। परन्तु यह चीज रुपयोंसे भी बढ़िया है। रुपये तो थोड़े दिनके हैं। या तो रुपये चले जायँगे, या आप रुपये छोड़कर मर जाओगे, परन्तु यह जन्म-जन्मान्तरोंतक साथ रहनेवाली चीज है। ऐसी बढ़िया चीज है कि आदमी निहाल हो जाय, जीवन सफल हो जाय, विलक्षण आनन्द हो जाय, स्वाधीन हो जाय, मुक्त हो जाय ! अपना कोई सङ्कल्प न रखे तो योगारूढ़ हो जाय। योगारूढ़ होनेपर एक शान्ति मिलेगी, एक स्वाधीनता मिलेगी, एक विलक्षणता मिलेगी, एक निर्विकल्पता मिलेगी। उसका भी रस नहीं भोगें तो मुक्ति हो जायगी। अगर रस भोगेंगे तो अटक जायँगे—**'सुखसङ्गेन बध्नाति'** (गीता १४। ६)।

मेरा विचार यह होता है कि आप जो पूछें, वही कहूँ। इसका मतलब है कि आपका सङ्कल्प पूरा हो। हमारी बात पूरी हो—ऐसा नहीं। आप कह देते हो कि जो तुम्हारे मनमें आये, वह कहो। तो फिर यह आपके मनकी ही हो गयी। इसमें बड़ा ही आनन्द है। हमें अपने लिये कुछ करना ही नहीं है, अपने लिये कुछ चाहिये ही नहीं, अपना कुछ है ही नहीं। कैसी मौजकी बात है ! ***'सदा दीवाली सन्तकी, आठों पहर आनन्द।'*** कोरा आनन्द-ही-आनन्द है !

ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—यह सङ्कल्प है; परन्तु ऐसा करना चाहिये और ऐसा नहीं करना चाहिये—यह सङ्कल्प नहीं है। करनेमें तो बिलकुल विचार-पूर्वक करना है, समझ-समझकर करना है—**'सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम्।'** करनेमें सावधान रहना है और होनेमें प्रसन्न रहना है। **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** (गीता २। ४७)—कर्म करनेमें ही हमारा अधिकार है, फलमें नहीं। करनेका विचार सङ्कल्प नहीं होता, फलका विचार सङ्कल्प होता है। करनेका विचार तो कर्तव्य होता है। हमारे अनुकूल काम हो; जो हम न चाहें, वह नहीं हो—यह सङ्कल्प है। जो आपके अनुकूल हो जायगा, उसकी पराधीनता आपको भोगनी ही पड़ेगी। मैं शब्द ज्यादा कहता हूँ, पर सच्ची बात है कि भगवान्‌को भी पराधीन होना पड़ता है, आप क्या चीज हो !' **अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।'** (श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)—मैं भक्तोंके पराधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। भक्त भगवान्‌के सङ्कल्पके अनुसार करता है, इसलिये भगवान्‌को उसका दास होना पड़ता है—***'मैं तो हूँ भगतनको दास, भगत मेरे मुकुटमणि।'*** आपके मनके अनुसार चलनेवालेका गुलाम आपको बनना पड़ेगा, पड़ेगा, पड़ेगा ! कोई बचा सकता नहीं ! आपका अपना सङ्कल्प ही नहीं होगा तो आप कभी पराधीन, गुलाम हो ही नहीं सकते।

जैसे बच्चेने कह दिया और आपने कर दिया, तो आपने कृपा करके उसका कहना मान लिया। ऐसे ही संत-महात्मा भी हमारेपर कृपा करके हमारा कहना मान लेते हैं। जिसमें हमारा अनिष्ट न हो, अहित न हो, ऐसी बात कर देते हैं। उनका अपना कोई सङ्कल्प नहीं होता। इसलिये दूसरेके सङ्कल्पके अनुसार काम करना है, अपना सङ्कल्प नहीं रखना है। इसमें हमें बाधा किस बातकी ? इसमें हम स्वतन्त्र हैं, पर दीखती है परतन्त्रता—**'सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।'** (गीता १८। ३२) हमारा सङ्कल्प पूरा होता है, तो उसमें एक सुख मिलता है। वह सुख ही बाँधनेवाला है। उस सुखमें ही मनुष्य पराधीन होता है। जिससे सुख मिलता है, उसका गुलाम हो जाता है। रुपयोंसे सुख मिले तो रुपयोंका गुलाम, परिवारसे सुख मिले तो परिवारका गुलाम,

नौकरसे सुख मिले तो नौकरका गुलाम, चेलेसे सुख मिले तो चेलेका गुलाम—जिससे सुख मिले, उसका गुलाम हो ही जायगा। आपने यह कहावत सुनी होगी कि ***'गरज गधेको बाप करे।'*** आप गरज रखोगे तो गधेको बाप बनाना पड़ेगा। गरज क्या है ? कि हमारी बात पूरी होनी चाहिये, हमारे मनकी होनी चाहिये—यही गरज है। अगर मनुष्य गरजका त्याग कर दे तो वह सबका शिरोमणि हो जाय ! परमात्माका स्वरूप हो जाय ! परमात्मा सबकी चाहना पूरी करते हैं, उनकी चाहना कोई पूरी क्या करे ? उनकी चाहना तो है ही नहीं। इतनी विलक्षण अवस्था हमारी सबकी हो सकती है। केवल अपने संकल्पका त्याग कर दें। त्याग नहीं करनेसे संकल्प तो पूरे होंगे नहीं। जो संकल्प पूरे होनेवाले हैं, वे त्याग करनेपर भी पूरे होंगे। वह तो भगवान्‌के विधानके अनुसार होगा ही—

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥

(मानस १। १२८। १) जो धन आनेवाला है, वह आयेगा; जो मान होनेवाला है, वह होगा। जो चीज आनेवाली है, वह आयेगी ही। हमें मिलनेवाली चीज दूसरेको कैसे मिलेगी?—**'यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्।'** तो फिर हम उसकी गुलामी क्यों करें। जो नहीं आनेवाली है, उसकी कितनी ही गुलामी करो, वह नहीं आयेगी। फिर हम चिन्ता क्यों करें ? चिन्ता भगवान् करें—***'चिन्ता दीनदयाल को, मो मन सदा आनन्द।'*** वे चिन्ता करें , न करें, उनकी मरजी, पर हम तो आनन्दमें रहें। अपना संकल्प रखनेसे ही सुखी-दुःखी होते हैं। अपना संकल्प न रखें तो क्यों सुखी-दुःखी हों ? हमें तो भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना है, जो हमारा कर्तव्य है।

श्रोता—सङ्कल्पसे छूटनेका अत्यन्त सुगम उपाय क्या है ?

स्वामीजी—अत्यन्त सुगम उपाय है कि दूसरा मेरा कहना माने—यह आग्रह छोड़ दे। 'मेरा कल्याण हो जाय'—यह एक ही उद्देश्य बन जाय। जैसे मनुष्य रुपये कमानेमें लग जाता है तो उसका अपमान करो, निन्दा करो, किसी तरहसे तंग करो, वह सब सह लेता है। इन्सपेक्टर आ करके कई तरहसे तंग करता है तो कुछ रुपये लेकर छुटकारा करता है। यह सब रुपयोंका लोभ कराता है। ऐसे ही कल्याणका लोभ हो जायगा तो यह बात सुगम हो जायगी। कल्याणका लोभ होनेपर फिर जिस जगह पारमार्थिक लाभ न हो, उस जगह टिक नहीं सकेंगे; जिस सत्संगमें पारमार्थिक लाभ न हो, उस सत्संगमें ठहर नहीं सकेंगे; जिस पुस्तकको पढ़नेसे पारमार्थिक लाभ न हो, वह पुस्तक पढ़ नहीं सकेंगे; जिस व्यक्तिके संगसे पारमार्थिक लाभ न हो, उस व्यक्तिका संग नहीं कर सकेंगे।

अपने साधनको सन्देहरहित बनायें

अपने साधनको निर्मल बनाना चाहिये अर्थात् अपनेमें साधन-विषयक कोई भी शंका नहीं रहनी चाहिये। शंका रहे तो पुस्तकोंसे, प्रश्नोत्तरसे उसको दूर कर लेना चाहिये। संसार सत्य है—ऐसा अगर अपनेको अनुभव होता है, तो इसी बातपर डटे रहो। इसमें कोई सन्देह हो तो उसको दूर करते रहो। उसपर विचार करते रहो। शंकाओंको मत रखो। अपनेमें शंका रखना गलती है। अगर आत्माकी, ब्रह्मकी सत्ता मानते हो तो उसीपर डटे रहो। ईश्वरकी सत्ता मानते हो तो उसीपर डटे रहो। उसमें शंका मत रखो। यह बात मेरेको बहुत बढ़िया लगती है, इसलिये आपको कहता हूँ। जो हम साधन करते हैं, वह इस तरहसे करें कि अपने हृदयको साफ कर दें।

आपको जो बात पसन्द हो, वही पूछो। मैं उसीमें बात बताऊँगा। मैं अपना मत आपपर लादता नहीं कि मेरा मत मान लो, मेरा मत ही ठीक है। आपकी जो मान्यता हो, उसीको मैं पुष्ट कर दूँगा, उसीमें बढ़िया बात बता दूँगा। उसके अनुसार ही आप चलो तो सिद्धि हो जायगी। जैसे कोई संसारको सत्य मानता है। संसार बहता है, पर मिटता नहीं। संसार जन्मता-मरता रहता है, पर है नित्य। ऐसी जिसकी मान्यता हो, उसको चाहिये कि विवेक-विरोधी कोई काम न करे। संसारको सच्चा तो माने, पर झूठ, कपट, बेईमानी करे—यह ठीक नहीं। कारण कि आपके साथ कोई झूठ, कपट, बेईमानी करे तो आपको अच्छा नहीं लगता। आपको कोई ठगे तो बुरा लगता है। आपकी कोई चीज चुरा ले तो बुरा लगता है। अतः ऐसा आप न करें। संसारको भले ही सच्चा मानते रहें, पर जिसको आप बुराई समझते हैं, जिसको दूसरा कोई अपने साथ करे—ऐसा नहीं चाहते, उस बुराईको आप बिलकुल छोड़ दें, तो सिद्धि हो जायगी।

श्रोता—अपनेमें जो बुराई है, वह क्या अभ्यास करनेसे छूट जायगी?

स्वामीजी—बुराई अभ्याससे नहीं छूटती, विचारसे छूटती है। अपनेमें जो बुराई आयी है, उसको सत्संगके द्वारा, शास्त्रोंके द्वारा, सन्तोंके द्वारा ठीक तरहसे समझ करके विचारपूर्वक त्याग दें। बुराई त्यागनेका अभ्यास नहीं होता। त्याग विचारसे होता है, अभ्याससे नहीं। अभ्याससे एक नयी स्थिति बनती है; जैसे—हम रस्सेपर नहीं चल सकते, पर इसका अभ्यास करें तो नटकी तरह हम भी रस्सेपर चल सकते हैं।

श्रोता—अगर कोई अपनेको अज्ञानी मानता है, तो वह क्या करे ?

स्वामीजी—अज्ञानी मानता है तो अज्ञानको दूर करना चाहिये। अज्ञान किसीको भी अच्छा नहीं लगता। किसीसे कहें कि तू अज्ञानी है तो उसे अच्छा लगेगा क्या ? जब अज्ञान आदमीको अच्छा नहीं लगता तो वह अपनेको अज्ञानी कैसे मानेगा ? अपनेमें ज्ञानका अभिमान हो सकता है, अपनेमें अज्ञता रह सकती है, पर अपनेको सर्वथा अज्ञानी नहीं मान सकता, क्योंकि यह परमात्माका अंश है।

श्रोता—भगवान् तो माता-पिता हैं, उनके सामने तो मनुष्य अबोध शिशु ही है।

स्वामीजी—भगवान्‌के सामने ऐसा मानना कि मैं तो अबोध शिशु हूँ, एक बालक हूँ, बेसमझ हूँ—यह बहुत अच्छी चीज है। बेसमझका अर्थ है कि अभी समझना और बाकी है; बिलकुल नहीं समझता—ऐसी बात नहीं है। बालकके सामने मुहर और बतासा रख दो तो वह बतासा ले लेगा, पर मुहर नहीं लेगा। आपको वह बेसमझ दीखता है, पर अपनी दृष्टिसे वह बेसमझ नहीं है। अबोध होते हुए भी वह बोधपूर्वक काम करता है। आपको मुहर बढ़िया दीखती है, पर बच्चेको मुहर बढ़िया नहीं दीखती। उसकी समझमें मुहरमें कोई स्वाद नहीं, पर बतासा मीठा लगता है; अतः मुहरका वह क्या करे ? अपनी समझमें वह बढ़िया चीज लेता है। बतासा लेता है तो बोधपूर्वक ही लेता है, बेसमझीसे नहीं। ऐसे ही आपलोग धनमें, भोगोंमें लगे हुए हो और इसको अच्छा समझते हो, पर ज्ञानीकी दृष्टिमें बिलकुल पापमें लगे हो और नरकोंमें, जन्म-मरणमें, दुःखमें जा रहे हो। परन्तु ऐसा कहनेपर आप मानते नहीं। बस, किसी तरहसे धन ले ही लो, भोग भोग ही लो। हम चाहे अज्ञानी कह दें, तो भी अपनेको अज्ञानी थोड़े ही मानोगे ? कहनेपर बुरा लगेगा, सहोगे नहीं।

मैं अपने-आपको भी पूरा जानकार नहीं मानता हूँ। मैं सब विषयमें ठीक जानता हूँ—ऐसा मेरेको जँचता नहीं। किसी विषयमें मैं जानता हूँ तो उसको कह देता हूँ, पर मैं बड़ा जानकार हूँ, यह मेरे मनमें आती ही नहीं। इससे क्या होगा ? कि और जानकारी बढ़ेगी। अगर अपनेको जानकार मान लिया तो जानकारी बढ़नी समाप्त हो जायगी; क्योंकि भरे घड़ेको और क्या भरें, उसमें गुंजाइश ही नहीं। जानकारी तब बढ़ेगी, जब अपनेमें कमी मालूम देगी। पुस्तकोंमें हमने ऐसा पढ़ा है कि किसी भी कक्षामें रहें, अज्ञान (अनजानपना) आगे रहेगा—**'अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित्।'** आपको कई बातें आती हैं, पर जूती बनानी आती है क्या ? कहना ही पड़ेगा कि मैं नहीं जानता। अतः कहीं-न-कहीं तो अनजानपना रहेगा ही।

बहुत वर्षोंकी बात है, देशनोकमें चातुर्मास था। वहाँ मैंने कहा कि यह छोटा बालक मेरेसे ज्यादा जानकार है। कहा कैसे ? मेरेसे कोई पूछे कि इस बालककी माँ कौन-सी है, तो मैं नहीं बता सकता। परन्तु इस बालकसे कोई पूछे तो यह बता देगा कि अमुक मेरी माँ है। अतः यह ज्यादा जानकार हुआ कि नहीं ? किसी विषयमें यह जानकार है, किसी विषयमें मैं जानकार हूँ, तो टोटलमें बराबर ही हुए। इसलिये मैं जानकार हूँ—यह अभिमान करना गलतीकी बात है।

सर्वथा जानकार तो केवल परमात्मा ही हैं। जो तत्त्वज्ञ है, जीवन्मुक्त है, वह तत्त्वके विषयमें तो जानकार है, पर बहुत-से विषयोंमें अनजान है। जो वास्तवमें तत्त्वको जाननेवाले हैं, उनमें जाननेका अभिमान नहीं होता। अगर अभिमान होता है तो तत्त्वको जाना ही नहीं। अभिमान तो किसी व्यक्तित्वको लेकर, किसी विशेषताको लेकर ही होता है। स्थूल शरीरकी स्थूल जगत्‌के साथ एकता है। सूक्ष्म शरीरकी सूक्ष्म जगत्‌के साथ एकता है। कारण शरीरकी कारण जगत्‌के साथ एकता है। आत्माकी आत्माके साथ एकता है। अतः एक देशमें वह विशेषता कैसे मानेगा ? अगर मानेगा तो वह अज्ञानी हुआ।

श्रोता—महाराजजी ! मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं—यह अभिमान क्या पतन करनेवाला नहीं है ?

स्वामीजी—नहीं, यह तो भगवान्‌का भजन है। भगवान्‌में ही अपनापन दीखना चाहिये। दूसरेमें अपनापन नहीं दीखना चाहिये। एक भगवान् ही मेरे हैं और कोई मेरा नहीं। ये शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि कोई मेरे नहीं।

आज मनमें यह आयी कि किसी बातको आप मानो, किसी साधनमें चलो, उसमें सन्देह-रहित होकर, सुलझ करके चलो तो जरूर लाभ होगा। परन्तु अपनेमें अज्ञान है और साथमें संशय रखता है तो उसका पतन हो जायगा—**'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति'** (गीता ४।४०)। उसका न यह लोक ठीक होगा, न परलोक ठीक होगा और न सुख ही मिलेगा—**'नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः'** (गीता ४।४०)।

★

मनुष्य-जीवनकी सफलता

मनुष्य-जीवन तभी सफल होता है, जब कुछ भी 'करना' बाकी न रहे, कुछ भी 'जानना' बाकी न रहे और कुछ भी 'पाना' बाकी न रहे। जो करना था, सब कर लिया; जो जानना था, सब जान लिया; और जो पाना था, सब पा लिया—इस प्रकार पूरा कर ले, पूरा जान ले और पूरा पा ले तो मनुष्य-जन्म सफल हो जाता है। इन तीनोंमेंसे अगर एक भी पूरा हो जाय तो बाकी दो आप-से-आप पूरे हो जायँगे। 'करना' पूरा हो जाय तो जानना और पाना भी पूरा हो जायगा। 'जानना' पूरा हो जाय तो करना और पाना भी पूरा हो जायगा। 'पाना' पूरा हो जाय तो करना और जानना भी पूरा हो जायगा। ये तीनों ही हम कर सकते हैं। हम ये ही कर सकते हैं और कुछ नहीं कर सकते; यह विलक्षण बात है।

करना कब पूरा होगा?—आपलोग ध्यान देकर सुनें, बहुत बढ़िया बात है। करना तब पूरा होगा, जब अपने लिये कुछ नहीं करेंगे। अपने लिये करनेसे करना कभी पूरा होगा ही नहीं, सम्भव ही नहीं। कारण कि करनेका आरम्भ और समाप्ति होती है और आप वही रहते हैं। अतः अपने लिये करनेसे करना बाकी रहेगा ही। करना बाकी कब नहीं रहेगा? जब अपने लिये न करके दूसरोंके लिये ही करेंगे। घरमें रहना है तो घरवालोंकी प्रसन्नताके लिये रहना है। अपने लिये घरमें नहीं रहना है। समाजमें रहना है तो समाजवालोंके लिये रहना है, अपने लिये नहीं। माँ है तो माँके लिये मैं हूँ, मेरे लिये माँ नहीं। माँकी सेवा करनेके लिये, माँकी प्रसन्नताके लिये मैं हूँ; इसलिये नहीं कि माँ मेरेको रुपया दे दे, गहना दे दे, पूँजी दे दे। यहाँसे आप शुरू करो। स्त्रीके लिये मैं हूँ, मेरे लिये स्त्री नहीं। मेरेको स्त्रीसे कोई मतलब नहीं। उसके पालन-पोषणके लिये, गहने-कपड़ोंके लिये, उसके हितके लिये, उसके सुखके लिये ही मेरेको रहना है। मेरे लिये स्त्रीकी जरूरत नहीं। बेटोंके लिये ही मैं हूँ, मेरे लिये बेटे नहीं। इस तरह अपने लिये कुछ करना नहीं होगा, तब कृतकृत्य हो जाओगे। परन्तु यदि अपने लिये धन भी चाहिये, अपने लिये माँ-बाप चाहिये, अपने लिये स्त्री चाहिये, अपने लिये भाई चाहिये तो अनन्त जन्मोंतक करना पूरा नहीं होगा। अपने लिये करनेवालेका करना कभी पूरा होता ही नहीं, होगा ही नहीं, हुआ ही नहीं, हो सकता ही नहीं। इसमें आप सबका अनुभव बताता हूँ।

किसी भी कामको करनेसे पहले मनमें आती है कि अमुक काम करना है। मनमें आनेसे पहले आप जिस स्थितिमें थे, काम पूरा करनेके बाद आप पुनः उसी स्थितिमें आ जाते हैं। मिला क्या? कुछ नहीं मिला। जैसे, पहले व्याख्यान देनेकी मनमें नहीं थी। फिर व्याख्यान देनेकी मनमें आयी और व्याख्यान दिया। व्याख्यान देनेके बाद मनमें व्याख्यान देनेकी नहीं रही तो वही पहलेवाली स्थितिमें आ गये। नयी बात क्या हुई? ऐसे ही पहले पढ़नेकी मनमें नहीं थी, फिर मनमें पढ़नेकी आयी और फिर विद्या पढ़ी। अब पढ़नेकी मनमें नहीं रही। अतः पहले पढ़नेकी मनमें नहीं थी, उसी स्थितिमें पीछे आये।

श्रोता—विद्या पढ़नेके बाद स्थितिमें फरक पड़ गया; विद्याकी जानकारी हुई?

स्वामीजी—अब मेरेको विद्या नहीं पढ़नी है—यह जो आपकी खुदकी स्थिति है, उस स्थितिमें क्या फरक पड़ा? विद्याका तो बुद्धिमें संग्रह हुआ। जैसे, धन कमानेकी पहले इच्छा नहीं थी। फिर इच्छा हुई कि धन कमा करके इकट्ठा कर लूँ। फिर धन कमाया और धन कमाकर इकट्ठा कर लिया। इसके बाद फिर धन कमानेकी मनमें नहीं रही, तो आपमें खुदमें क्या फरक पड़ा? यह थोड़ी गहरी बात है। गहरा उतरकर देखो तो विद्या पढ़नेपर बुद्धिमें विद्याका संग्रह होता है। बुद्धिके साथ घुले-मिले होनेसे ऐसा दीखता है कि हमारेको विद्या आ गयी। अगर लकवा मार जाय तो सब भूल जाओगे। अतः वास्तवमें विद्या आपके पास नहीं आयी है, बुद्धिके पास आयी है। उससे आपको क्या मिला? शरीरसे आपको क्या मिला? इन्द्रियोंसे आपको क्या मिला? मनसे आपको क्या मिला? बुद्धिसे आपको क्या मिला? अहंतासे भी आपको क्या मिला? आप तो अहंता (मैं-पन) के भी प्रकाशक हैं।

जैसे यह संसार दीखता है, ऐसे ही यह शरीर भी दीखता है, प्राण भी दीखते हैं, कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ भी दीखती हैं, मन-बुद्धि भी दीखते हैं। सूक्ष्मतासे देखनेपर मैं-पन भी दीखता है, उसका भी आपको ज्ञान होता है। मैं-पन आपमें है, पर आप मैं-पनमें नहीं हैं। आपकी स्थिति तो स्वरूपमें है। वह स्वरूपमें स्थिति पहलेसे ही है। कुछ-न-कुछ करनेकी मनमें आनेसे संसारमें स्थिति हुई और कार्य पूरा होनेपर पुनः अपने स्वरूपमें स्थिति हुई। जैसे घाणी-(कोल्हू-) का बैल जहाँसे चलना शुरू करता है, वहाँ ही वापस आ जाता है और इस प्रकार उम्रभर चलता है, पर कहीं नहीं जाता, वहाँ-का-वहाँ ही रहता है। ऐसे ही उम्रभर करते रहो, कुछ नहीं मिलेगा, वहाँ-के-वहाँ ही रहोगे। परन्तु अपने लिये कुछ करना है ही नहीं—ऐसा होनेपर कृतकृत्य हो जाओगे। क्या

बाधा लगी कृतकृत्य होनेमें ?

क्या कहें सज्जनो ! बात बहुत विलक्षण है। मेरे मनमें आती है कि आप सब-के-सब लोग इस बातको समझ सकते हो। सब-के-सब कृतकृत्य हो सकते हैं, सब-के-सब ज्ञात-ज्ञातव्य हो सकते हो और सब-के-सब प्राप्त-प्राप्तव्य हो सकते हो। इसके सिवा आप कुछ नहीं हो सकते हो। ऐसा होनेकी पूरी ताकत आपमें है। इसके सिवा कोई ताकत आपमें नहीं है। इसको हरेक आदमी कर सकता है। वह पापी है कि धर्मात्मा है, विद्वान् है कि अविद्वान् है, योग्य है कि अयोग्य है, धनी है कि निर्धन है, किसी डिग्रीको प्राप्त है कि नहीं है, किसीकी किञ्चिन्मात्र भी जरूरत नहीं है। किसी तरहकी योग्यताकी जरूरत नहीं, किसीके बलकी जरूरत नहीं, किसी विद्वत्ताकी जरूरत नहीं। जरूरत केवल यही है कि 'ऐसा मैं हो जाऊँ'—यह लगन लग जाय। इसपर आप विचार करो, अपनी उलझनको सुलझाओ। यह करना है, वह पाना है, वह लाना है, वहाँ जाना है, उससे मिलना है, उससे यह कराना है आदि आफत मोल ले रहे हो ! गहरा विचार करो तो बिलकुल सुलझ जाओगे, शान्ति मिल जायगी, आनन्द हो जायगा। आपके लिये करना कुछ बाकी नहीं रहेगा। आज मर जाओ तो कोई चिन्ता नहीं; क्योंकि काम हमारा पूरा हो गया। आप कृपा करके इस बातको समझो।

करना तो दूसरोंके लिये है और जानना खुदको है। खुदको जान जाओ तो जानना बाकी नहीं रहेगा। खुदको नहीं जानोगे तो कितनी ही विद्याएँ पढ़ लो, कितनी ही लिपियाँ पढ़ लो, कितनी ही भाषाओंका ज्ञान कर लो, कितने ही शास्त्रोंका ज्ञान कर लो, पर जानना बाकी ही रहेगा। स्वयंको साक्षात् कर लिया, स्वरूपका बोध हो गया, तो फिर जानना बाकी नहीं रहेगा। ऐसे ही परमात्माकी प्राप्ति हो गयी, तो फिर कुछ प्राप्त करना बाकी नहीं रहेगा। दूसरोंके लिये करना, स्वरूपको जानना और परमात्माको पाना—इन तीनोंके सिवा आप कुछ नहीं कर सकते, कुछ नहीं जान सकते और कुछ नहीं पा सकते। कारण कि इन तीनोंके सिवा आप कुछ भी करोगे, कुछ भी जानोगे और कुछ भी पाओगे, तो वह सदा आपके साथ नहीं रहेगा और न आप उसके साथ सदा रहोगे। जो सदा साथ न रहे, उसको करना, जानना और पाना केवल वहम ही है।

भागवतमें तीन योग* बताये गये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कर्मयोगमें 'करना' है, ज्ञानयोगमें 'जानना' है और भक्तियोगमें 'पाना' है। इन तीनोंमेंसे कोई एक कर लो तो बाकी दो साथमें हो ही जायँगे। भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी तो जानना और करना बाकी नहीं रहेगा। स्वरूपको ठीक जान जाओगे तो भगवान् भी मिल जायँगे और करना भी समाप्त हो जायगा। करना पूरा कर लिया तो जानना भी हो जायगा और पाना भी हो जायगा।

श्रोता—खुदको जानना क्या है ?

स्वामीजी—खुदको जानना यह है कि जैसे आपने कपड़े पहने हुए हैं, तो क्या कपड़े आप हो ? नहीं। चमड़ा आप हो ? नहीं। मांस आप हो ? नहीं। खून आप हो ? नहीं। नाड़ियाँ आप हो ? नहीं। पेटमें मल-मूत्र भरा है, वह आप हो ? नहीं। आँतें आप हो ? नहीं। ये मैं नहीं हूँ। अतः जो मैं नहीं हूँ, उसको 'मैं हूँ' मत मानो तो खुदको जान जाओगे। कितनी सुगम बात है ! एक बार मान लिया कि यह मैं नहीं हूँ, तो फिर उसे 'मैं हूँ' मत मानो, थूककर मत चाटो। अपने-आपको जानना, अपने लिये कुछ न करना और परमात्माको पाना—तीनों ही बहुत सुगम हैं। चाहे जिस तरफ चलो, आपकी मरजी।

देखो, एक बात कहता हूँ। बात तो अभिमानकी है, पर मैं अभिमानपूर्वक नहीं कहता हूँ। मैंने खोज की है और खोज कर रहा हूँ, किस बातकी ? कि सुगमतासे कल्याण हो जाय और चट हो जाय। शास्त्रकी प्रक्रियाके अनुसार तो श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान, सविकल्प और निर्विकल्प समाधि, फिर सबीज और निर्बीज समाधि हो जाय, तब कल्याण होता है। यह शास्त्रकी प्रक्रिया मेरी सीखी हुई है। इसमें मैंने थोड़ी माथापच्ची भी की है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान थोड़ा-बहुत मैंने किया है। पर बात इतनी ही है कि 'यह मैं नहीं हूँ।' अब इतनी बातके लिये पहाड़ क्या खोदना !

मैं तो सीधी-सादी बात बताता हूँ। पर भाई-बहनोंको विश्वास नहीं होता। अरे भाई ! मैं आपसे ठगाई नहीं करता हूँ, आपको धोखा नहीं देता हूँ, आपके साथ विश्वासघात नहीं करता हूँ। आपको जल्दी-से-जल्दी अनुभव हो जाय, वह बात बताता हूँ। उसमें आप आड़ लगाते हो कि जल्दी कैसे हो जायगा, उसको जल्दी नहीं हुआ तो हमें कैसे जल्दी हो जायगा ? मैं कहता हूँ कि आप करके देखो, अगर जल्दी न हो तो लम्बे रास्तेपर चले जाना। मैं उसके लिये मना तो करता नहीं हूँ। जैसा मैं कहूँ, वैसा करो। अगर जल्दी हो जाय तो नफा ही है, नहीं तो देरीवाला मार्ग आपके लिये सदासे खुला

* योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ (श्रीमद्भा० ११। २०। ६)

ही है। आपको बाधा क्या लगी ? मेरे कहे अनुसार करोगे तो लम्बे रास्तेमें आपको बहुत सहायता मिलेगी अथवा उसकी जरूरत नहीं रहेगी। मेरेसे पूछो तो लम्बे रास्तेपर चलनेकी जरूरत ही नहीं रहेगी। देखो, यह बात जल्दी हाथ नहीं लगती। इस बातका लोगोंको पता नहीं है। मुझे तो खुदको पता नहीं था। किसी योग्यता, विद्या, ध्यान, समाधि आदिके बिना सीधी वह स्थिति प्राप्त हो जाय, जिसमें कुछ करना, जानना, पाना बाकी न रहे—इसका मुझे पता नहीं था। जब पता नहीं था, तब संयम किया, एकान्तमें रहा, किसीसे मिलना छोड़ दिया। आपको आश्चर्य आयेगा कि रोटी भी तौलकर खाता। साग-रोटी तौल ली कि बस, इससे अधिक नहीं खाना। इतना ही सोना है, इससे अधिक नहीं सोना। अपने पास बहुत ही कम चीजें रखनी। किसीसे कोई चीज माँगनी नहीं। यह चीज मेरे पास नहीं है—ऐसा किसीसे कभी नहीं कहना। इस प्रकार मैं वर्षों रहा हूँ। कितनी-कितनी कठिनता भोगी है, बताऊँ तो आप आश्चर्य करें। मैं जानता हूँ कि साधु माँग नहीं करे तो उसकी इज्जत बढ़ जायगी, बड़ी शान्ति मिलेगी। अगर वह माँग करेगा तो महान् मँगता हो जायगा, नीचा हो जायगा। जिससे माँगता है, उसका गुलाम तो हो ही जायगा। ये बातें कहना बढ़िया नहीं है, पर आपको विश्वास करानेके लिये कहता हूँ कि मैंने वह सब करके देखा है। वह भी एक रास्ता है, पर लम्बा है। किया साधन निष्फल नहीं जायगा, पर बहुत देरी लगेगी। मेरी धुन तो यह है कि जल्दी-से-जल्दी सिद्धि कैसे हो। अब भी मैं इसी खोजमें हूँ।

हमारे लिये कुछ चाहिये यही मरण है। हमारे लिये दवाई चाहिये, हमारे लिये कपड़े चाहिये, हमारे लिये मकान चाहिये, हमारे लिये सवारी चाहिये, तो वह महान् नीचा हो गया। चीजोंका गुलाम हो गया तो नीचा ही हुआ, ऊँचा कैसे हुआ ? मेरेको माँगनेवाला बहुत बुरा लगता है, मेरेको कोई जूता मारे—ऐसा लगता है। मेरे साथ रह करके कोई साधु यह सवाल उठाये कि मेरेको यह चीज चाहिये, तो यह महान् बेइज्जती है; साधुपना तो है ही नहीं, मनुष्यपना भी नहीं है ! मनुष्यकी जरूरत दूसरोंको होती है। रोटी भी न मिले तो नहीं सही। आप कहेंगे कि रोटी न खानेसे मर जायँगे, तो क्या रोटी खाते-खाते नहीं मरेंगे ? चाहे भूखे मरो, चाहे खाते-खाते मरो, मरना तो है ही। फिर गुलामी लेकर क्यों मरें ? तुच्छता लेकर, तिरस्कृत होकर, पददलित होकर क्यों मरें ? मरें तो इज्जतसे मरें। कुछ न माँगनेसे बहुत शान्ति मिलती है, बहुत आनन्द मिलता है। थोड़ी तकलीफ उठानी पड़ती है, पर आनन्द बहुत मिलता है। जीवन सफल हो जाता है। फायदा इतना होता है, जिसका कोई ठिकाना नहीं। ऐसा फायदा होता है, जो कभी किसी जन्ममें नहीं हुआ।

एक साधुकी बात सुनी। कुछ साधु बद्रीनारायण गये थे। वहाँ एक साधुकी अँगुलीमें पीड़ा हो गयी, तो किसीने कहा कि आप पीड़ा भोगते हो, यहाँ अस्पताल है, सबका मुफ्तमें इलाज होता है। आप जा करके पट्टी बँधवा लो। उस साधुने उत्तर दिया कि यह पीड़ा तो मैं भोग लूँगा, पर मैं किसीको पट्टी बाँधनेके लिये कहूँ—यह पीड़ा मैं नहीं सह सकूँगा ! ऐसे त्यागका उदाहरण भी मेरेको यह एक ही मिला, और कोई उदाहरण नहीं मिला मेरेको। मेरेको यह बात इतनी बढ़िया लगी कि वास्तवमें यही साधुपना है, यही मनुष्यपना है। जैसे कुत्ता टुकड़ेके लिये फिरे, ऐसे जगह-जगह फिरनेवालेमें मनुष्यपना ही नहीं है, साधुपना तो दूर रहा। सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) गृहस्थी थे, पर वे भी कहते कि भजन करना हो तो मनसे पूछे कि कुछ चाहिये ? तो कहे कि कुछ नहीं चाहिये। ऐसा कहकर फिर भजन करे। जब गृहस्थाश्रममें रहनेवाले भी यह बात कह रहे हैं, तो फिर साधुको क्या चाहिये ?

श्रोता—महाराजजी ! हमारा काम कैसे चलेगा ?

स्वामीजी—हमें काम चलाना ही क्यों है, बन्द करना है।

श्रोता—शरीरमें रोग हो गया तो दवाईके बिना काम कैसे चलेगा ?

स्वामीजी—काम नहीं चलेगा तो क्या होगा ? मर जाओगे। तो दवाई खानेवाले नहीं मरते क्या ?

श्रोता—तकलीफ पाकर मरेंगे।

स्वामीजी—दवाई खानेवाले तकलीफ नहीं पाते हैं क्या ? दवाई खाते-खाते अन्तमें हार करके, थक करके मरेंगे तो तकलीफ उठाकर ही मरेंगे। बात तो वह-की-वह ही है। भीतरमें किसीसे चाहना नहीं होगी तो पराधीनताका दुःख नहीं पाना पड़ेगा। मौज रहेगी, आनन्द रहेगा।

एक आदमी त्याग करता है और एक दरिद्री है। त्यागीके पास भी पैसा नहीं है और दरिद्रीके पास भी पैसा नहीं है। पैरमें जूती नहीं, सिरपर छाता नहीं, अंटीमें दाम नहीं ! अवस्था दोनोंकी बराबर ही है, पर भीतरसे हृदय भी बराबर है क्या ? त्यागीके हृदयमें एक विलक्षण आनन्द रहता है, जो पराधीन होनेसे नहीं मिलता। जिसको अमुक चीज चाहिये, अमुक दवाई आदि चाहिये, वह महान् पराधीन है।

श्रोता—रोगसे पीड़ा होती है।

स्वामीजी—वैशाखके महीनेमें जो पञ्चाग्नि तपता है—दोपहरके समय ऊपरसे सूर्य तप रहा है और चारों तरफ अग्नि जलाकर बीचमें बैठा है, उस तपस्वीको क्या पीड़ा नहीं होती ? वह तप तो उसका मनगढ़ंत है, पर यह रोगरूपी तप भगवान्‌का दिया हुआ है। बताओ, कौन-सा तप बढ़िया है ? अतः रोग होनेपर ऐसा माने कि भगवान्‌की इच्छासे तप हो रहा है, तो पीड़ामें भी आनन्द आयेगा। एक व्रत रखता है, कुछ खाता नहीं और एकको अन्न नहीं मिलता। दोनों ही भूखे रहते हैं। परन्तु व्रत रखनेवालेके मनमें अन्न न मिलनेका दुःख नहीं होता, प्रसन्नता होती है।

बन्धन कैसे छूटे ?

लोगोंने यह मान रखा है कि बन्धन नित्य है, उससे छूटनेपर मुक्ति होगी। मूलमें यही भूल हुई है। वास्तवमें बन्धन है ही नहीं। अगर बन्धन होता तो मुक्ति किसीकी भी नहीं होती; क्योंकि सत् वस्तुका अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २।१६)। बन्धन सत् होता तो फिर उसका अभाव होता ही नहीं। अतः बन्धन है नहीं, केवल दीखता है। दीखता तो दर्पणमें मुख भी है, पर वहाँ मुख होता है क्या ? दर्पणमें मुख दीखता है तो उसको सामनेसे पकड़ लो, नहीं तो दर्पणके पीछेसे पकड़ लो ! है ही नहीं तो उसको पकड़ें क्या ! ऐसे ही इन सांसारिक पदार्थोंमें अपनापन दीखता है। यह शरीर, कुटुम्बी, धन-सम्पत्ति, वैभव आदि मेरा है—ऐसा दीखता है। परन्तु आजसे सौ वर्ष पहले ये आपके थे क्या ? और सौ वर्षके बाद ये आपके रहेंगे क्या ? यह मेरापन पहले भी नहीं था और पीछे भी नहीं रहेगा तथा बीचमें भी दिन-प्रतिदिन मिट रहा है, तो यह सच्चा कैसे हुआ ? दर्पणमें पहले भी मुख नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा और इस समय भी दीखता तो है, पर है नहीं। जो प्रतिक्षण 'नहीं' में जा रहा है, वह 'है' कैसे हुआ ? जो नहीं है, उसको 'है' मान लिया। 'नहीं' को 'है' मानना छोड़ो तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है। मेरापन पहले नहीं था तो मुक्ति थी, बादमें नहीं रहेगा तो मुक्ति रहेगी और बीचमें प्रतिक्षण छूट रहा है तो मुक्ति हो रही है। अतः बन्धन कृत्रिम है, केवल माना हुआ है और मुक्ति स्वतःसिद्ध है। अब इसमें देरी क्या लगे ? बताओ।

अगर आपने मान लिया कि बन्धन छूटेगा नहीं, तो अब वह छूटेगा ही नहीं ! क्योंकि आप परमात्माके अंश हैं। आप बन्धनको पक्का मान लोगे तो वह कैसे छूटेगा ? बन्धन तो अभी है और मुक्ति आगे होगी—इस तरह आपने बन्धनको नजदीक और मुक्तिको दूर मान लिया, तो अब बन्धन जल्दी कैसे छूट जायगा ? वास्तवमें तो बन्धन पहले भी नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा और अब भी नहीं है; तथा मुक्ति पहले भी थी, पीछे भी रहेगी और अब भी है।

देखो, हरेक व्यक्तिका माँमें बड़ा स्नेह होता है। वह स्नेह आज वैसा है क्या ? नहीं है। यह संसारके स्नेहका नमूना है। आप व्यापार करते हो तो पहले सब माल न देखकर उसका नमूना देखते हो। उस नमूनेसे सब मालका पता लग जाता है। स्त्री मेरी है, पुत्र मेरा है, धन मेरा है, घर मेरा है—ये सब अब प्रिय लगते हैं तो बालकपनमें माँ कम प्रिय लगती थी क्या ? माँके बिना रह नहीं सकते थे, रोने लगते थे, और माँकी गोदीमें जानेपर राजी हो जाते कि माँ मिल गयी ! पर माँके साथ आज वैसा स्नेह है क्या ? ऐसे कई भाग्यशाली हैं, जिनकी माँ अभी है; परन्तु माँके प्रति पहले जो खिंचाव था, वह खिंचाव अब नहीं है। इस नमूनेसे संसारभरकी परीक्षा हो जाती है कि अभी संसारमें जो खिंचाव है, यह भी रहनेवाला नहीं है।

श्रोता—महाराजजी ! हमारा स्नेह पहले माता-पितामें, फिर स्त्रीमें, फिर पुत्रमें, फिर पौत्रमें—इस प्रकार इधर-ही-इधर हो रहा है !

स्वामीजी—तो नया स्नेह मत करो बाबा ! पुराना स्नेह तो छूट रहा है, मुक्ति तो हो रही है।

श्रोता—हम तो नहीं करना चाहते।

स्वामीजी—आप नहीं करना चाहते तो मैं कराता हूँ क्या ! जबर्दस्ती कौन कराता है ? बताओ। पुराना स्नेह तो छूट जायगा, आप नया स्नेह मत करो। अब आप बालक हो क्या ? तो बालकपनसे मुक्ति हो गयी न ? मुक्ति तो आपसे-आप हो रही है; क्योंकि मुक्ति है। बन्धन बेचारा है ही नहीं। बन्धनको तो आपने पकड़ा हुआ है। आप रखोगे तो रहेगा, आप छोड़ोगे तो छूट जायगा। आप बन्धनको नहीं छोड़ोगे तो वह नहीं छूटेगा। बन्धनको छोड़नेका सुगम उपाय यह है कि जो अपने दीखते हैं, उनकी सेवा कर दो और उनसे सेवा मत चाहो। दो बातें मैंने बतायी थीं कि उनकी माँग न्याययुक्त, धर्मयुक्त है और आपकी उसको पूरा करनेकी शक्ति, सामर्थ्य है, आपके पास वस्तु है, तो उनकी माँग पूरी कर दो। अपनी न्याययुक्त इच्छा भी मत रखो; जैसे—बेटा हमारी सेवा करे—यह न्याययुक्त होनेपर भी इसकी इच्छाको मत रखो। इस तरह खुद तो सेवा चाहो नहीं और दूसरोंकी सेवा करते रहो, तो मुक्ति हो जायगी। सेवा चाहते रहोगे तो

मुक्ति नहीं होगी और दूसरा सेवा करेगा भी नहीं।

सेवा चाहनेसे दूसरा सेवा नहीं करेगा और सेवा नहीं चाहोगे तो वह सेवा करेगा—आपकी सेवामें भी घाटा नहीं पड़ेगा। आपके पास रुपये हैं, रोटी है, कपड़ा है, तो आप किस साधुको देना चाहते हैं ? जो लेना नहीं चाहता, उसको दोगे या जो लेना चाहता है, उसको दोगे ? जो चोरी करता है, डाका डालता है, छीनता है, उसको आप देना चाहते हो क्या ? आप उसीको देना चाहते हैं, जो लेना नहीं चाहता। संसारसे कुछ नहीं चाहोगे तो संसार ज्यादा सुख देगा। आपको सुख कम नहीं पड़ेगा, घाटा नहीं लगेगा। जो कुछ नहीं चाहता, उसको सब देना चाहते हैं, तो फिर उसके सुखमें घाटा कैसे पड़ेगा। घाटा तो सुख चाहनेसे पड़ता है। मान-बड़ाई भी उसको देते हैं जो इसको नहीं चाहता। फिर चाहना करके दरिद्री क्यों बनें ?

श्रोता—अनादिकालसे पड़े हुए ममताके संस्कार मिटें कैसे ?

स्वामीजी—अनादिकालका अँधेरा दियासलाई जलाते ही भाग जाता है। किसी गुफामें लाखों वर्षोंसे अँधेरा हो और वहाँ जाकर प्रकाश करें तो वह यह नहीं कहेगा कि मैं यहाँ इतने वर्षोंसे हूँ, इसलिये मैं जल्दी नहीं जाऊँगा। जब प्रकाश हुआ तो वह मिट गया। ऐसे ही जो भूल है, गलती है, वह मिटनेवाली होती है।

ममताको मिटानेका उपाय है—देनेकी इच्छा रखो। लेनेकी आशा रखो ही मत कि हमें कुछ मिले। वस्तु अपने पासमें है और दूसरा चाहता है, तो बिना किसी शर्तके उसको दे दो। देते रहोगे तो स्वभाव ही देनेका पड़ जायगा। लेनेका स्वभाव होनेसे ही नयी-नयी ममता पैदा होती है। इसलिये भीतरसे ही लेनेकी इच्छा छोड़ दो।

संसारकी सेवा-ही-सेवा करनी है, लेना कुछ नहीं है—यह 'कर्मयोग' हो गया। संसारके साथ हमारा सम्बन्ध है ही नहीं—यह 'ज्ञानयोग' हो गया। भगवान् ही मेरे हैं और कोई मेरा नहीं है—यह 'भक्तियोग' हो गया। मेरा सम्बन्ध संसारके साथ है, संसार मेरा है और मेरे लिये है—यह 'जन्म-मरणयोग' या 'बन्धनयोग' हो गया ! बार-बार जन्मो और मरो ! अब जिसमें आपको फायदा लगे, उसको कर लो। परमात्माके साथ तो आपका सम्बन्ध स्वतः है और संसारके साथ सम्बन्ध आपका माना हुआ है। संसारसे कितना ही सम्बन्ध जोड़ लो, वह टिकता ही नहीं। जो टिके नहीं, उसको पहले ही छोड़ दो।

भलि सोचहि सज्जन जना, दिवी जगतको पूठ।
पीछे देखी बिगड़ती, पहले बैठा रूठ॥

जो पीछे बिगड़ जायगा, उसको पहले ही छोड़ दिया। अगर कोई अपने कुटुम्बको सच्चे हृदयसे छोड़कर साधु बन जाय, तो सब-का-सब कुटुम्ब एक साथ मर जाय अथवा कुटुम्बमें बीसों-पचासों आदमी हो जायँ, उसपर कोई फरक नहीं पड़ेगा। परन्तु कुटुम्बमें एक लड़का मर जाय और वह रोने लगे, तो उस साधुने कोरा कपड़ा ही मिट्टी लगाकर खराब किया ! जैसे साधु अपने कुटुम्बकी तरफसे मर जाता है, ऐसे ही आप भी सबसे मर जाओ, तो मुक्ति हो जायगी। मरते ही अमर हो जाओगे। जहाँ संसारसे मरे कि अमर हुए ! जीते हुए ही मर जाओ। संतोंके पदमें आया है—***'अरे मन जीवतड़ो ही मर रे।'*** आजसे ही मर जाओ। सब काम ठीक हो जायगा। घरवालोंसे मर जाओ तो उनकी भी आफत मिट जायगी। न तीजा करना पड़े, न द्वादशाह करना पड़े, न नारायणबलि करनी पड़े, न कोई खर्चा करना पड़े, सब आफत मिट जाय ! घरवाले भी मौजमें और आप भी मौजमें !

भगवान्‌की, सन्तोंकी, शास्त्रोंकी कृपा तो आपपर सदासे ही है, अब आप कृपा करो तो निहाल हो जाओ। आप स्वयं कृपा नहीं करोगे तो उनकी कृपा पड़ी रहेगी, कुछ काम नहीं करेगी। जिनको पकड़ा है, उनको छोड़ दो तो मुक्ति हो जायगी। अब घरवालोंको छोड़ दिया तो गुरुजीको पकड़ लिया कि ये मेरे गुरुजी हैं, ये गुरुभाई हैं, ये चाचा गुरु हैं, यह भतीजा चेला है। एकको छोड़ दिया और दूसरेको पकड़ लिया तो मुक्ति नहीं होगी, ज्यों-के-त्यों फँसे रहोगे। एक साधु मिले थे। वे कहते थे कि गुरुजीने हमें विद्या सिखा दी कि तुम कुटुम्बको छोड़ दो, तो हमने गुरुजीको भी छोड़ दिया ! अब न गुरु है, न चेला है, न चाचा गुरु है, न भतीजा चेला है। पहले गृहस्थसे साधु हुए, अब साधुसे भी साधु हो गये।

कुटुम्बको हमारा मानो मत और उनसे कुछ चाहो मत— इतना ही कुटुम्बके साथ सम्बन्ध रखो। अपने पास जो पैसा है, सामर्थ्य है, समय है, वह उनकी सेवामें लगा दो। इससे सब कुटुम्बी राजी हो जायँगे और आपकी मुक्ति हो जायगी। पहलेका सम्बन्ध सेवा करके छोड़ दें और नया सम्बन्ध जोड़ें नहीं, तो मुक्ति ही रहेगी। मुक्तिके सिवा और क्या रहेगा ?

सच्ची मनुष्यता

अपने सुखसे सुखी होना और अपने दुःखसे दुःखी होना—यह पशुता है; तथा दूसरेके सुखसे सुखी होना और दूसरेके दुःखसे दुःखी होना—यह मनुष्यता है। अतः जबतक दूसरेके सुखसे सुखी होने और दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेका स्वभाव नहीं बन जाता, तबतक वह मनुष्य कहलानेके लायक नहीं है। वह आकृतिसे चाहे मनुष्य दीखे, पर वास्तवमें मनुष्य नहीं है। जबतक खुदके सुखसे सुखी होंगे और खुदके दुःखसे दुःखी होंगे, तबतक मनुष्यता नहीं आयेगी।

जो अपने सुखके लिये दूसरोंकी हानि करता है, वह मनुष्य कहलानेलायक नहीं है। मनुष्य वही होता है, जो अपने स्वार्थका त्याग करके दूसरेका हित करे, कम-से-कम दूसरेका नुकसान न करे। अतः यह शिक्षा ग्रहण करनी है कि हमारे द्वारा किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख न हो। दूसरोंका दुःख कैसे मिटे—इससे भी आगे दूसरोंके हितकी दृष्टि रखो कि दूसरोंका हित कैसे हो? प्राणिमात्रके हितमें रति हो—'**सर्वभूतहिते रताः**' (गीता ५। १५; १२। ४)। दूसरोंका हित कितना करना है, कितना नहीं करना है—इसकी आवश्यकता ही नहीं। हमारे पास जितनी सामर्थ्य है, जितनी योग्यता है, जितनी सामग्री है, उसीको दूसरोंके हितमें लगाना है, उतनी ही हमारी जिम्मेवारी है। सबको सुखी बना दे—यह किसी मनुष्यकी ताकत नहीं है। यह इतनी कठिन बात है कि दुनियाके सब-के-सब आदमी मिलकर अगर एक आदमीको भी सुख पहुँचानेकी चेष्टा करें, तो भी उसको सुखी नहीं कर सकते। कारण कि उसमें जो धनकी, भोगोंकी, मानकी, बड़ाईकी, आरामकी लालसा है, वह ज्यों-ज्यों धन, भोग आदि मिलेंगे, त्यों-ही-त्यों अधिक बढ़ती जायगी—***'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।'*** अधिक-से-अधिक धन आदि मिलनेपर भी वह तृप्त नहीं हो सकता। जब सम्पूर्ण दुनिया मिलकर भी एक आदमीको सुखी नहीं कर सकती, तो एक आदमी दुनियाके दुःखको दूर कैसे करेगा? परन्तु 'दूसरेको सुख कैसे हो'—यह भाव सब बना सकते हैं, चाहे वह भाई हो या बहन हो, बालक हो या जवान हो, धनी हो या निर्धन हो। सांसारिक चीजोंमें किसीको अधिकार मिला है, किसीको नहीं मिला है; परन्तु हृदयसे सबका हित चाहनेका अधिकार सबको मिला है। इस अधिकारसे कोई भी वञ्चित नहीं है।

जो अपनी शक्तिके अनुसार दूसरोंका भला करता है, उसका भला भगवान् अपनी शक्तिके अनुसार करते हैं। वह अपनी पूरी शक्ति लगा देता है, तो भगवान् भी अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं। जब भगवान् अपनी शक्ति लगा देंगे, तो वह दुःखी कैसे रहेगा? उसको कोई दुःखी कर ही नहीं सकता। वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः**॥' (गीता १२। ४)

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥'

सब सुखी हो जायँ, सबके आनन्द-मङ्गल हो, कभी किसीको किञ्चिन्मात्र भी कष्ट न हो—यह जिसका भाव बन जाय, वही मनुष्य कहलानेलायक है। जबतक वह दूसरेके दुःखसे दुःखी नहीं होता, तबतक वह मनुष्य कहलानेलायक नहीं है। दूसरी एक और बात है—जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी होता है, उसको अपने दुःखसे दुःखी नहीं होना पड़ता। आपलोग ध्यान दें, अपने दुःखसे दुःखी उसीको होना पड़ता है, जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी नहीं होता और दूसरोंके सुखसे सुखी नहीं होता। वही संग्रही बनता है और अपने सुखका भोगी बनता है। उसको सुखका अभाव रहता है, कमी रहती है। परन्तु जो दूसरोंके सुखसे सुखी होता है, उसको सुखकी कमी रहती ही नहीं। कमी कैसे नहीं रहती? कि उसको अपने सुखभोगकी इच्छा ही नहीं रहती।

संग्रह करना और भोग भोगना—ये दोनों परमात्म-तत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक हैं। रुपये-पैसे मेरे पास आ जायँ, सामग्री मेरेको मिल जाय, भोग मैं भोग लूँ—यह जो भीतरकी लालसा है, यह परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होने देती। कारण कि संग्रह करेगा तो शरीरसे ही करेगा और सुख भोगेगा तो शरीरसे ही भोगेगा। अतः इस हाड़-माँसके पुतलेमें लिप्त रहनेसे, इसकी गुलामी रहनेसे चिन्मय तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी। परन्तु दूसरोंके सुखमें सुखी होनेसे भोग भोगनेकी इच्छा और दूसरोंके दुःखमें दुःखी होनेसे अपने लिये संग्रह करनेकी इच्छा नहीं रहती।

दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेसे उसका दुःख दूर करनेका विचार होगा। जैसे अपना दुःख दूर करनेके लिये हम पैसे खर्च कर देते हैं, ऐसे ही दूसरेका दुःख दूर करनेके लिये हम पैसे खर्च कर देंगे। हम ज्यादा संग्रह नहीं कर सकेंगे! अगर संग्रह ज्यादा हो भी जायगा, तो उसमें अपनापन नहीं रहेगा कि यह तो सबकी चीज है। इसीलिये भागवतमें आया है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(श्रीमद्भा० ७। १४। ८)

जितनेसे पेट भर जाय, उतनी ही चीज मनुष्यकी है। मतलब यह है कि जितनेसे भूख मिट जाय, उतना अन्न;

जितनेसे प्यास मिट जाय, उतना जल; जितनेसे शरीरका निर्वाह हो जाय, उतना कपड़ा और मकान—यह अपना है। इसके सिवा अधिक अन्न है, जल है, वस्त्र है, मकान है, निर्वाहकी अधिक सामग्री है, उसको जो अपना मानता है—अपना अधिकार जमाता है, वह चोर है, उसको दण्ड मिलेगा। वह कहता है कि हम किसीसे लाये नहीं, यह तो हमारी है। पर वह हमारी कैसे ? क्योंकि जब जन्मे, तब एक धागा साथ लाये नहीं और जब मरेंगे, तब एक कौड़ी साथ जायगी नहीं। अतः हमारे पास जो अधिक सामग्री है, वह उसकी है, जिसके पास उस सामग्रीका अभाव है। जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी होता है, वह अपने सुखके लिये भोग और संग्रहकी इच्छा नहीं करता। उसमें करुणाका, दयाका भाव पैदा होता है। करुणामें जो रस है, आनन्द है, वह भोगोंमें नहीं है।

यह जो आप संग्रह करते हैं, इसका अर्थ है—निर्दयता, भीतरमें दया नहीं है। जहाँ दया होती है, वहाँ अपने सुखके लिये संग्रह नहीं होता। क्यों नहीं होता ? क्योंकि उसको ऐसे ही आनन्द आता है। संग्रहमें जो सुख होता है, उसमें राजसी और तामसीपना होता है। दूसरोंके सुखमें जो सुख होता है, वह सुख संग्रहमें और भोगोंमें परिणत नहीं होता। उस सुखमें बड़ा भारी आनन्द होता है।

जिसका दूसरोंको सुख पहुँचानेका भाव है, वह दूसरोंको दुःखी देखकर आप सुख भोग ले—यह हो ही नहीं सकता। पड़ोसमें रहनेवालोंको अन्न न मिले और हम बढ़िया-बढ़िया भोजन बनाकर खायें—यह अच्छे हृदयवालोंसे नहीं होता। उनको भोजन अच्छा ही नहीं लगेगा। परन्तु जिनका स्वभाव दूसरोंको दुःख देनेका है, वे दूसरोंके दुःखसे क्या दुःखी होंगे ? वे तो दूसरोंका दुःख देखकर सुखी होते हैं। जो अपने सुखके लिये दूसरोंको दुःखी बना देते हैं, अपने मानके लिये दूसरोंका अपमान करते हैं, अपनी प्रशंसाके लिये दूसरोंका अपमान करते हैं, अपनी प्रशंसाके लिये दूसरोंकी निन्दा करते हैं, अपने पदके लिये दूसरोंको पदच्युत करते हैं, वे मनुष्य कहलानेलायक भी नहीं हैं, मनुष्य तो हैं ही नहीं। वे तो पशु हैं। पशु भी ऐसे निकम्मे कि न सींग है, न पूँछ है ! जिसके सींग और पूँछ न हों, वह भद्दा पशु होता है। उसका ढाँचा तो मनुष्यका है, पर स्वभाव पशुका है। पशु-पक्षी तो अपने पापोंका फल भोगकर शुद्ध होते हैं, पर दूसरोंको दुःख देनेवाले नये-नये पाप करके नरकोंका रास्ता तैयार करते हैं ! रामायणमें आया है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥

(मानस ५।४६।४)

अपने सुखसे सुखी और अपने दुःखसे दुःखी होना दुष्टता है। नरकोंमें निवास बेशक हो जाय, पर ऐसे दुष्टोंका संग विधाता न दे। नरकोंमें जितना निवास होगा, जितना नरक भोगेंगे, उतने हमारे पाप कट जायँगे और हम शुद्ध हो जायँगे। परन्तु ऐसे दुष्टोंका संग करनेसे नये-नये नरक भोगने पड़ेंगे।

पशु दूसरोंको दुःख देनेपर भी पापके भागी नहीं बनते; क्योंकि पाप-पुण्यका विधान मनुष्यके लिये ही है। पशु-पक्षी दुःख देते हैं तो अपने खानेके लिये देते हैं। वे खा लेंगे तो फिर आपको तंग नहीं करेंगे। वे अपने सुखभोगके लिये, संग्रहके लिये आपको तंग नहीं करेंगे, कष्ट नहीं देंगे। परन्तु मनुष्य लाखों-करोड़ों रुपये कमा लेगा, तो भी दूसरोंको दुःख देगा और दुःख देकर अपना धन बढ़ाना चाहेगा, अपना सुख बढ़ाना चाहेगा। अतः वह मनुष्य कहलानेलायक नहीं है। वह तो पशुओंसे और नरकोंके कीड़ोंसे भी नीचा है ! मनुष्यजीवन मिला है शुद्ध होनेके लिये, निर्मल होनेके लिये। परन्तु जो दूसरोंको दुःख देते हैं, वे पाप कमाते हैं, जिसका नतीजा बहुत भयंकर होगा !

जिसके अन्तःकरणमें दूसरोंको सुखी देखकर प्रसन्नता पैदा नहीं होती और दूसरोंको दुःखी देखकर करुणा पैदा नहीं होती, उसका अन्तःकरण मैला होता है। मैला अन्तःकरण नरकोंमें ले जाता है। पशुका अन्तःकरण ऐसा मैला नहीं होता। पशु भोगयोनि है, कर्मयोनि नहीं है। वह अपने सुखके लिये दूसरोंको दुःख नहीं देता। वह किसी प्राणीको मारकर खा जाता है तो केवल आहार करता है, सुख नहीं भोगता। परन्तु मनुष्य शौकसे अच्छी-अच्छी चीजें बनाकर खाता है। उसमें स्वादका सुख लेता है तो वह पाप करता है। अतः दूसरोंके सुखसे सुखी होना और दूसरोंके दुःखसे दुःखी होना ही सच्ची मनुष्यता है। मनुष्यमात्रको अपने भीतर हरदम यह भाव रखना चाहिये कि सब सुखी कैसे हों ? उनका दुःख कैसे मिटे ?

★

विश्वास और जिज्ञासा

मनुष्य अपनी तरफ नहीं देखता कि मेरा जन्म क्यों हुआ है, मेरेको क्या करना चाहिये और मैं क्या कर रहा हूँ! जबतक वह ऐसा खयाल नहीं करता, तबतक उस मनुष्यका दर्जा, आप क्षमा करेंगे, पशुसे भी नीचा है! पशु, पक्षी, वृक्ष आदिसे भी उसका जीवन नीचा है! मनुष्य हो करके भी सावधानी नहीं है तो क्या मनुष्य हुआ? मनुष्यमें तो यह सावधानी, यह विचार होना ही चाहिये कि हमारा जन्म क्यों हुआ है और क्या करना चाहिये तथा क्या नहीं करना चाहिये।

खुदसे इसका समाधान न हो तो न सही, पर सन्तोंकी वाणीसे, शास्त्रोंसे इसका पूरा समाधान हो जायगा कि यह मनुष्यजन्म केवल अपना उद्धार करनेके लिये ही मिला है। भगवान्‌ने अपनी तरफसे यह अन्तिम जन्म दे दिया है, जिससे यह मेरेको प्राप्त कर ले।

ब्रह्माजीने यज्ञोंके सहित प्रजाकी उत्पत्ति की—**'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः'** (गीता ३।१०) अर्थात् कर्तव्य और कर्ता—ये दोनों एक साथ पैदा हुए। जो कर्तव्य है, वह सहज है। आज जो हमें कर्तव्य-कर्म करनेमें परिश्रम मालूम देता है, उसका कारण यह है कि हम संसारसे सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, नहीं तो यह स्वयं भी सहज है और इसका जो कर्तव्य है, वह भी सहज है, स्वाभाविक है। अस्वाभाविकता यह खुद बना लेता है। इसको यह विचार नहीं होता कि अस्वाभाविकता कहाँ बना ली? कैसे बना ली? अगर विचार करे तो यह निहाल हो जाय!

अब एक बात बताते हैं। दो मार्ग हैं—एक विश्वासका मार्ग और एक जिज्ञासाका मार्ग। विश्वास वहाँ होता है, जहाँ सन्देह नहीं होता, सन्देह पैदा ही नहीं होता। जो सन्देहयुक्त विश्वास होता है, वह विश्वासरूपसे प्रकट नहीं होता। परन्तु जिज्ञासा वहाँ होती है, जहाँ सन्देह होता है। भक्तिमार्गमें विश्वास, निःसंदिग्धता मुख्य है और ज्ञानमार्गमें जिज्ञासा, सन्देह मुख्य है। विश्वास और जिज्ञासा—इन दोनोंको मिलानेसे साधकका जीवन शुद्ध नहीं रहता, अशुद्ध हो जाता है।

विश्वास किसमें होता है? कि जिसमें हम इन्द्रियोंसे, अन्तःकरणसे कुछ नहीं जानते, उसमें विश्वास होता है अथवा विश्वास नहीं होता। जैसे, 'भगवान् हैं'—यह विश्वास होता है अथवा विश्वास नहीं होता—ये दो ही बातें होती हैं। भगवान् हैं कि नहीं यह बात वास्तवमें विश्वासीकी नहीं है, जिज्ञासुकी है। है कि नहीं—यह सन्देह जीवात्मापर होता है अथवा संसारपर होता है। कारण कि 'मैं हूँ' इसमें तो सन्देह नहीं है पर 'मैं क्या हूँ' इसमें सन्देह होता है। अतः सन्देहसहित जो सत्ता है, उसमें जिज्ञासा पैदा होती है। स्वयंका और संसारका ज्ञान जिज्ञासासे होता है। परमात्माको मानना अथवा न मानना—इसमें आप बिलकुल स्वतन्त्र हैं। कारण कि परमात्माके विषयमें हम कुछ नहीं जानते और जिस विषयमें कुछ नहीं जानते, उसमें केवल विश्वास चलता है। जिसमें विश्वास होता है, उसमें सन्देह नहीं रहता—इतनी विचित्र बात है यह! जैसे, स्त्री, पुत्र आदिको अपना मान लेनेसे फिर उसमें यह सन्देह नहीं रहता कि यह स्त्री मेरी है कि नहीं? बेटा मेरा है कि नहीं? यह लौकिक मान्यता टिकती नहीं; क्योंकि यह मान्यता जिसकी है, वह नाशवान् है। परन्तु परमात्मा अविनाशी है; अतः उनकी मान्यता टिक जाती है, दृढ़ हो जाती है तो उसकी प्राप्ति हो जाती है। हमने सन्तोंसे यह बात सुनी है कि जो भगवान्‌को मान लेता है, उसको अपना स्वरूप जना देनेकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर आ जाती है! कितनी विलक्षण बात है। भगवान् कैसे हैं, कैसे नहीं—इसका ज्ञान उसको खुदको नहीं करना पड़ता। वह तो केवल मान लेता है कि 'भगवान् हैं' वे कैसे हैं, कैसे नहीं—यह सन्देह उसको होता ही नहीं।

पहले केवल भगवान्‌की सत्ता स्वीकार हो जाय कि 'भगवान् हैं', फिर भगवान्‌में विश्वास हो जाता है। संसारका विश्वास टिकता नहीं; क्योंकि हमें इस बातका ज्ञान है कि वस्तु, व्यक्ति आदि पहले नहीं थे, पीछे नहीं रहेंगे और अब भी निरन्तर नाशकी तरफ जा रहे हैं। परन्तु भगवान्‌के विषयमें ऐसा नहीं होता; क्योंकि शास्त्रोंसे, सन्तोंसे, आस्तिकोंसे हम सुनते हैं कि भगवान् पहले भी थे, पीछे भी रहेंगे और अब भी हैं। भगवान्‌पर विश्वास बैठनेपर फिर उनमें अपनत्व हो जाता है कि 'भगवान् हमारे हैं।' जीवात्मा भगवान्‌का अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७); अतः भगवान् हमारे हुए। इसलिये आस्तिकभाववालोंको यह दृढ़तासे मान लेना चाहिये कि भगवान् हैं और हमारे हैं। ऐसी दृढ़ मान्यता होनेपर फिर भगवान्‌से मिले बिना रहा नहीं जा सकता। जैसे, बालक दुःख पाता है तो उसके मनमें माँसे मिलनेकी आती है कि माँ मेरेको गोदीमें क्यों नहीं लेती? उसके मनमें यह बात पैदा ही नहीं होती कि मैं योग्य हूँ कि अयोग्य हूँ, पात्र हूँ कि अपात्र हूँ।

जैसे भगवान्‌पर विश्वास होता है, ऐसे ही भगवान्‌के सम्बन्धपर भी विश्वास होता है कि भगवान् हमारे हैं। भगवान् कैसे हैं, मैं कैसा हूँ—यह बात वहाँ नहीं होती। भगवान् मेरे हैं; अतः मेरेको अवश्य मिलेंगे—ऐसा दृढ़ विश्वास कर ले। यह 'मेरा'-पन बड़े-बड़े साधनोंसे ऊँचा है। त्याग, तपस्या, व्रत, उपवास, तितिक्षा आदि जितने भी साधन हैं, उन सबसे ऊँचा साधन है—भगवान्‌में अपनापन। अपनेपनमें कोई विकल्प नहीं होता। करनेवाले तो करनेके अनुसार फलको प्राप्त करेंगे, पर भगवान्‌को अपना माननेवाले मुफ्तमें पूर्ण भगवान्‌को प्राप्त करेंगे। करनेवाले जितना-जितना करेंगे, उनको उतना-उतना ही फल मिलेगा, परन्तु भगवान्‌में अपनापन होनेसे भगवान्‌पर पूर्ण अधिकार मिलेगा। जैसे, बालक माँपर अपना पूरा अधिकार मानता है कि माँ मेरी है, मैं माँसे चाहे जो काम करा लूँगा, उससे चाहे जो चीज ले

लूँगा। बालकके पास बल क्या है ? रो देना—यही बल है। निर्बल-से-निर्बल आदमीके पास रोना ही बल है। रोनेमें क्या जोर लगाना पड़े ? बच्चा रोने लग जाय तो माँको उसका कहना मानना पड़ता है। इसी तरह रोने लग जाय कि भगवान् मेरे हैं तो फिर दर्शन क्यों नहीं देते ? मेरेसे मिलते क्यों नहीं ? भीतरमें ऐसी जलन पैदा हो जाय, ऐसी उत्कण्ठा हो जाय कि भगवान् मिलते क्यों नहीं ! इस जलनमें, उत्कण्ठामें इतनी शक्ति है कि अनन्त जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं; कोई भी दोष नहीं रहता, निर्दोषता हो जाती है। जो भगवान्के लिये व्याकुल हो जाता है, उसकी निर्दोषता स्वतः हो जाती है। व्याकुलताकी अग्निमें पाप-ताप जितने जल्दी नष्ट होते हैं, उतने जल्दी जिज्ञासामें नहीं होते। जिज्ञासा बढ़ते-बढ़ते जब वह जिज्ञासु-रूपसे हो जाती है अर्थात् जिज्ञासु नहीं रहता, केवल जिज्ञासा रह जाती है तब उसकी सर्वथा निर्दोषता हो जाती है और वह तत्त्वको प्राप्त हो जाता है।

जबतक 'मैं जिज्ञासु हूँ'—यह मैं-पन रहता है, तबतक जिज्ञास्य तत्त्व प्रकट नहीं होता। जब यह मैं-पन नहीं रहता, तब जिज्ञास्य तत्त्व प्रकट हो जाता है। चाहे जिज्ञासा हो, चाहे विश्वास हो, दोनोंमेंसे कोई एक भी दृढ़ हो जायगा तो तत्त्व प्रकट हो जायगा। कर्तव्यका पालन स्वतः हो जायगा; जिज्ञासुसे भी कर्तव्यका पालन होगा और विश्वासीसे भी कर्तव्यका पालन होगा। दोनों ही अपने कर्तव्य कर्मका तत्परतासे पालन करेंगे।

विश्वासी मनुष्य कर्तव्यकी दृष्टिसे कर्तव्यका पालन नहीं करता; परन्तु भगवान्के वियोगमें रोता है। रोनेमें ही उसका कर्तव्य पूरा हो जाता है। उसमें केवल भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा रहती है। केवल भगवान्-ही-भगवान् याद रहते हैं। भगवान्के सिवा और कोई चीज सुहाती नहीं—***'अब कुछ भी नहीं सुहावे, एक तू ही मन भावे।'*** दिनमें भूख नहीं लगती, रातमें नींद नहीं आती, बार-बार व्याकुलता होती है—***'दिन नहिं भूख रैन नहिं निद्रा, छिन-छिन व्याकुल होत हिया।'*** व्याकुलतामें बहुत विलक्षण शक्ति है। यह जो भजन-स्मरण करना है, त्याग-तपस्या करना है, तीर्थ-उपवास आदि करना है, ये सभी अच्छे हैं, परन्तु ये धीरे-धीरे पापोंका नाश करते हैं; और व्याकुलता होनेपर आग लग जाती है, जिसमें सब पाप भस्म हो जाते हैं।

श्रोता—ऐसी व्याकुलता कैसे पैदा हो ?

स्वामीजी—संसारके संयोगका सुख न ले। जैसे प्राण चलता रहता है तो चलनेमें परिश्रम होनेसे भूख-प्यास स्वतः पैदा होती है। परन्तु दिनभर तरह-तरहकी चीजें खाते रहोगे तो असली भूख नहीं लगेगी। दूसरा खाना बन्द करो, केवल भोजनके सिवा कुछ नहीं खाओ तो भूख लग जायगी, तेज हो जायगी। ऐसे ही केवल भगवान्को चाहें, उनके सिवा और कुछ न चाहें। सुख, मान, बड़ाई, आदर, आराम, आलस्य आदि किसी प्रकारकी इच्छा न हो। किसी भी चीजसे सुख न लें, भूख लगे तो रोटी खा लेनी है, नींद आये तो सो जाना है, पर उसमें सुख नहीं लेना है। ऐसा परहेज रखें तो व्याकुलता पैदा हो जायगी।

जीव कुछ-न-कुछ असत्का आधार बना लेता है, जिससे वह सत्से विमुख हो जाता है। अतः असत्का उपयोग कर लो; भोजन कर लो, जल पी लो, सो जाओ, सब काम कर लो, पर भीतरमें इनका आधार विश्वास, आश्रय मत रखो, फिर व्याकुलता पैदा हो जायगी।

हम सबको इस बातका प्रत्यक्ष ज्ञान है कि शरीर रहनेवाला नहीं है, सम्पत्ति रहनेवाली नहीं है, कुटुम्ब रहनेवाला नहीं है, यह जो कुछ दीखता है, यह सब रहनेवाला नहीं है। ऐसा जानते हुए भी इस ज्ञानका निरादर करते हैं—यह बड़ा भारी अवगुण है, बड़ी भारी गलती है। अगर इस ज्ञानका आदर करें तो संसारकी इच्छा मिट जायगी; क्योंकि जो वस्तु स्थिर है ही नहीं, उसकी क्या इच्छा करें ? ***'का मागूँ कछु थिर न रहाई, देखत नैन चल्यो जग जाई।'*** संसारकी इच्छा मिटते ही भगवान्का विरह आ जाता है। संसारकी इच्छा, आशा ही भगवान्के विरहको रोकनेवाली चीज है।

मनुष्य जिसको नाशवान् जानता है, फिर भी उसकी आशा रखता है तो यह बहुत बड़ा अपराध करता है। झूठ-कपट करके जालसाजी, बेईमानी करके अपनी असत् भावनाको दृढ़ करता है, तो इससे बढ़कर अनर्थ क्या होगा ? धन है, बेटा-पोता है, बल है, विद्या है, योग्यता है, पद है, अधिकार है, ये कितने दिनसे हैं ? कितने दिन रहेंगे ? इनसे कितने दिन काम चलाओगे ? इनके साथ जितने दिन संयोग है, उसका वियोग होनेवाला है, वह वियोग जल्दी हो, देरीसे हो, कब हो, कब नहीं हो—इसका पता नहीं; पर संयोगका वियोग होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। जिनका वियोग हो जायगा, उसपर विश्वास कैसे ? जो प्रतिक्षण बिछुड़ रहा है, उसको कबतक निभाओगे ? वह कबतक सहारा देगा ? वह कबतक आपके काम आयेगा ? फिर भी उसपर विश्वास करना अपनी जानकारीका स्वयं निरादर करना है। अपनी जानकारीका अनादर करना बहुत बड़ा अपराध है। अपराध पापोंसे भी तेज होता है। जो 'परमात्मा हैं'—इसको मानता नहीं और 'संसार है'—इसको मानता है, वह महान्

हत्यारा है, पापी है।

आप जानते हैं कि संसार नहीं रहेगा, शरीर नहीं रहेगा, फिर भी चाहते हैं कि इतना सुख ले लें, इतना लाभ ले लें, इस वस्तुको ले लें अर्थात् जानते हुए भी मानते नहीं! इसमें अनजानपनेका दोष नहीं है, न माननेका दोष है, जो आपको खुद दूर करना पड़ेगा। जानकारीकी कमी होगी तो जानकारलोग बता देंगे, शास्त्र बता देंगे, सन्त-महात्मा बता देंगे, भगवान् बता देंगे, पर जाने हुएको आप नहीं मानेंगे तो इसमें दूसरा कुछ नहीं कर सकेगा। मानना तो आपको ही पड़ेगा, इतना काम आपका खुदका है।

★

नाशवान्‌की मुख्यतासे हानि

हमलोगोंकी मुख्य भूल क्या होती है ? कि जो जड है, नाशवान् है, परिवर्तनशील है, उसको तो सच्चा मान लेते हैं; मुख्य मान लेते हैं और जो चेतन है, अविनाशी है, अपरिवर्तनशील है, उसको गौण मान लेते हैं। हम शरीरकी मुख्यताको ले करके सब काम करते हैं। हम तो यहीं (संसारमें) रहनेवाले हैं, यहाँके ही आदमी हैं—इस प्रकार हमने अपनेको शरीर-संसारके साथ मान लिया। शरीरका आदर हमारा आदर हो गया, शरीरकी निन्दा हमारी निन्दा हो गयी—इस प्रकार जड़ताकी मुख्यताको लेकर चलने लगे और चेतनकी मुख्यताको बिलकुल भुला दिया, मानो है ही नहीं ! मुख्यमें अमुख्यकी भावना और अमुख्यमें मुख्यकी भावना; जो वास्तविक है, उसका तिरस्कार और जो अवास्तविक है, उसका आदर—यह मूल भूल हो गयी। अब कई भूलें होंगी। एक भूलमें अनन्त भूलें होती हैं।

धुर बिगड़े सुधरे नहीं, कोटिक करो उपाय।
ब्रह्माण्ड लौं बड़ गये, वामन नाम न जाय॥

भगवान्‌के अवतारोंमें सबसे लम्बा 'त्रिविक्रम' अवतार हुआ, जिसके तीन कदम भी त्रिलोकीमें पूरे नहीं हुए ! परन्तु उसका नाम तो 'वामन-अवतार' ही हुआ। इतना बड़ा अवतार होनेपर भी नाम तो छोटा ही रहा। कारण कि आरम्भमें, मूलमें ही बात बिगड़ गयी, तो अब कितना ही प्रयत्न करो, बात सुधरेगी नहीं। ऐसे ही मूलमें जड़ताको मुख्यता दे दी, तो अब भूलोंका अन्त नहीं आयेगा, तरह-तरहकी भूलें होंगी। अगर हम इस भूलको सुधारना चाहें तो हमारे लिये एक बहुत आवश्यक बात है कि जड़ और क्षणभङ्गुर शरीरकी मुख्यता न रखें।

यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि मैं नहीं बदला हूँ, शरीर बदला है। फिर भी बदलनेवालेको ही मुख्यता देते हैं कि हम छोटे हो गये, हम बड़े हो गये, हम स्वस्थ हो गये, हम बीमार हो गये, हमारा आदर हो गया, हमारा निरादर हो गया ! कहाँ तुम्हारा आदर हो गया ? कहाँ तुम्हारा निरादर हो गया ? हमारी बात नहीं रही, तुम्हारी बात रह गयी तो बाधा क्या लगी ? इस न रहनेवाली चीजकी भी कोई सत्ता है क्या ? इसकी भी कोई महत्ता है क्या ? पर मूलमें जड़ताकी, नाशवान्‌की मुख्यता मान ली। जो वास्तविकता है, उसकी परवाह ही नहीं ! अब बातें सुनाओ, पढ़ाओ, सब कुछ करो, पर भूलको छोड़ेंगे नहीं ! बस, हमारे नामकी महिमा होनी चाहिये, हमारे रूपका आदर होना चाहिये— यह बात भीतर बैठी है। अब कितना ही सुनो-सुनाओ, सब रद्दी हो जायगा ! अब इस बातको जान लें कि वास्तवमें नाम हमारा नहीं है, हमारा रूप शरीर नहीं है। जब पेटमें थे, तब नाम नहीं था। जब जन्मे, तब भी नाम नहीं था। दस दिनके बाद नाम धर दिया। वह नाम भी अगर बादमें बदल दिया तो उसको पकड़ लिया। नाम और रूप—दोनों बदलनेवाले हैं, मिटनेवाले हैं। जो मिटनेवाला है, उसको तो पकड़ लिया और जो रहनेवाला है उसकी परवाह ही नहीं ! आप-से-आप भी विचार नहीं करते और कहनेपर भी खयाल नहीं करते, कितनी बड़ी गलतीकी बात है ! कम-से-कम उसका खयाल तो करना चाहिये कि यह बात ऐसी है; अब तो हम चेत गये, होशमें आ गये; अब ऐसी गलती नहीं करेंगे। अगर अभी खयाल नहीं किया तो जितना दुःख पाना पड़ेगा, इसीसे ही पाना पड़ेगा। जन्म-मरण भी इसीसे होगा। नरक भी इसीसे होगा। बिलकुल उलटी बात पकड़ ली, तो अब उसका नतीजा सुलटा कैसे होगा ? उलटा ही नतीजा होगा। अभीसे सावधान हो करके अपना काम ठीक तरहसे कर लेना चाहिये, नहीं तो बड़ी दुर्दशा होगी भाई !

एक कायदा है कि जिसको मान लेते हैं, उसमें जिज्ञासा नहीं होती, शंका नहीं होती। वहाँ यह बात उत्पन्न ही नहीं होती कि यह क्या चीज है। अतः मानना ही हो तो भगवान्‌को मान लो। माननेके बाद फिर शंका मत करो, सन्देह मत करो। जैसे, ब्याह हो गया, तो हो गया, बस। अब उसमें कभी भी शंका नहीं, सन्देह नहीं होता, जिज्ञासा नहीं होती। जैसे बोध हो जानेपर अज्ञान नहीं होता, ऐसे ही मान लेनेपर मानना उलटा नहीं होता। मानना और जानना—दोनों मार्ग स्वतन्त्र हैं। मानना परमात्माको है और जानना स्वरूपको तथा संसारको है।

ये तीन बातें बड़े ध्यान देनेकी हैं कि हमारे पास जितनी चीजें हैं, वे पहले हमारी नहीं थीं, पीछे हमारी नहीं रहेंगी और इस समय भी हमारेसे प्रतिक्षण अलग हो रही हैं। यहाँ आकर बैठे, उस समय जितनी उम्र थी, उतनी उम्र अब नहीं रही, मौत उतनी नजदीक आ गयी। शरीरका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। भगवान्‌ने कहा—'**अन्तवन्त इमे देहाः**' (गीता २। १८) अर्थात् ये शरीर अन्तवाले हैं। जैसे धनवान् होता है, ऐसे ही ये शरीर अन्तवान् हैं, नाशवान् हैं। परन्तु जो सब जगह परिपूर्ण अविनाशी है, उसको मुख्यता न देकर विनाशीको मुख्यता दे रहे हैं—यहाँ गलती होती है। इसका सुधार कर लिया जाय तो सब सुधर जायगा।

मुख्यता स्वयंकी रहनी चाहिये। मुक्ति भी स्वयंकी होती है, शरीरकी नहीं। शरीरको अपना माननेसे ही बन्धन हुआ है। उलटा मान लिया—यही बन्धन है। अतः चाहे सुलटा मान लो, चाहे ठीक तरहसे जान लो कि बन्धन क्या है, मुक्ति क्या है। फिर काम ठीक हो जायगा। उलटा मान लेते हो और जानते हो नहीं—यही गलती है।

एक मिश्रीके पहाड़पर रहनेवाली कीड़ी (चींटी) थी और एक नमकके पहाड़पर रहनेवाली। मिश्रीके पहाड़वाली कीड़ीने दूसरी कीड़ीसे कहा कि तू यहाँ क्या करती है? मेरे साथ चल। मिठास तो हमारे वहाँ है! नमकके पहाड़वाली कीड़ी बोली कि क्या वहाँ इससे भी बढ़िया मिठास है? दूसरी कीड़ी बोली कि कैसी बात करती है! बढ़िया-घटियाकी बात तो तब हो, जब यहाँ मिठास हो। यहाँ मिठास है ही नहीं; यहाँ तो बिलकुल इससे विरुद्ध बात है। फिर वह नमकके पहाड़वाली कीड़ीको अपने वहाँ ले गयी और बोली कि देख, यहाँ कितना मिठास है। नमकके पहाड़वाली कीड़ी बोली कि मेरेको तो कोई फरक नहीं दीखता! तुम कहती हो तो मैं हाँ-में-हाँ मिला दूँ, पर मेरेको तो वैसा ही स्वाद आ रहा है। मिश्रीके पहाड़वाली कीड़ीको आश्चर्य आया कि बात क्या है। उसने ध्यानसे देखा तो पता चला कि नमकके पहाड़वाली कीड़ीने अपने मुखमें नमककी डली पकड़ी हुई है, अब दूसरा स्वाद आये ही कैसे? उससे कहा कि नमककी डलीको मुखसे निकाल, फिर देख इसका स्वाद। उसने नमककी डली मुखसे निकालकर मिश्रीको चखा तो बस, उसीके साथ चिपक गयी! मिश्रीके पहाड़वाली कीड़ीने पूछा कि बता, कैसा स्वाद है? तो वह बोली—हल्ला मत कर, चुप हो जा! ऐसे ही आप सब बातें सुनते हैं, पर नमककी डलीको पकड़े रहते हैं कि शरीर सच्चा है, शरीरका मान-अपमान सच्चा है, शरीरका आराम सच्चा है, शरीरका सुख अच्छा है आदि। इस बातको ऐसे जोरसे पकड़े रहते हो कि कहीं यह ढीली न पड़ जाय, कहीं यह मान्यता शिथिल न पड़ जाय! ऐसी सावधानी रखते हुए सत्संग करते हैं। वास्तवमें यह कुसंग (असत्‌का संग) हो रहा है, सत्सङ्ग नहीं हो रहा है।

मान्यता होनेपर फिर शंका नहीं रहती, जिज्ञासा नहीं रहती। मेरा अमुक नाम है—ऐसा माननेपर फिर यह नहीं होता कि मेरा अमुक नाम कैसे है? कबसे है? क्यों पड़ा है? विवाह होनेपर आप मान लेते हो कि हमारी पत्नी है और वह मान लेती है कि हमारे पति हैं। पति क्यों है? कैसे है? कबसे है? कितने दिन रहनेवाला है?— ऐसा कोई विचार पैदा ही नहीं होता। इसी तरह 'मैं शरीर हूँ' यह मान्यता दृढ़ कर ली, तो अब मान, बड़ाई, आदर, निरादर आदि जो कुछ है, वह हमारा कैसे हो रहा है—यह शंका ही नहीं होती। जब बनावटी बातको माननेसे यह दशा होती है, तो फिर 'भगवान् हमारे हैं और हम भगवान्‌के हैं' इस वास्तविक बातको दृढ़तासे मान लो निहाल हो जाओ! अगर अब भी सावधानी हो जाय तो बड़ी अच्छी बात है, नहीं तो यह सावधानी कब होगी?

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु ही क्रियासाध्य होती है और उसीकी प्राप्तिमें समय लगता है। तत्त्वप्राप्तिमें समय नहीं लगता; क्योंकि तत्त्व क्रियासाध्य नहीं है। वह तो स्वतःसिद्ध है। सीधी बात है कि शरीर बार-बार जन्मता-मरता है और स्वयं वही-का-वही रहता है—'**भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते**' (गीता ८। १९)। '**स एवायम्**' स्वयं है और '**भूत्वा भूत्वा प्रलीयते**' शरीर है। जो रहता है, उसको तो मानते नहीं और जो जाता रहता है, उसको मानते हैं। अतः इसमें थोड़ा जोर लगायें कि ऐसा हम नहीं मानेंगे। अब निरादर हो गया तो क्या हो गया! अपमान हो गया तो क्या हो गया! जैसे, पत्थरका निरादर हो गया तो क्या! अपमान हो गया तो क्या! सही बातको सही मान ले, बस। सही बात समझमें नहीं आये तो शास्त्र और सन्त-महात्माकी बात मान लो कि भगवान् हैं और वे हमारे हैं। उनकी बात माननेसे भगवत्प्राप्तिकी जिम्मेवारी उन्हींपर आयेगी। परन्तु यदि उनकी बात नहीं मानेंगे, उलटी बात मानेंगे, तो इसकी जिम्मेवारी आपपर आयेगी अर्थात् इसका दण्ड आपको भोगना पड़ेगा।

आप सिद्ध नहीं कर सकते कि शरीर मैं हूँ। बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी यह बात सिद्ध नहीं कर सकते कि शरीर मैं ही हूँ। उलटी बात कैसे सिद्ध होगी? परन्तु आपने उलटी बातको पकड़ रखा है! नाम, रूप, जाति, वर्ण, आश्रम, देश आदिको पकड़कर बैठे हैं। उसे छोड़ेंगे नहीं, भले ही कोई

कुछ कहे। कारण कि उस बातको मान लिया है, और मान लेनेके बाद जिज्ञासा होती ही नहीं। परमात्माको न मानकर उसपर शंका करते हैं। वास्तवमें यह माननेकी चीज है, शंका करनेकी चीज नहीं है। शंका करनी हो संसारपर करो अथवा स्वयं अपनेपर करो। ये दो ही जिज्ञासाके विषय हैं। परमात्माको न मानो तो फिर बिलकुल मत मानो और मानो तो फिर बिलकुल मानो। परन्तु उलटी बातको मत मानो। जो प्रत्यक्षमें नाशवान् हैं, टिकनेवाली चीज नहीं है; जो पहले नहीं थी, पीछे नहीं रहेगी, वह बीचमें कैसे हो गयी—इस बातको ठीक समझ लो, फिर सब ठीक हो जायगा।

धर्मका सार

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

(पद्मपुराण, सृष्टि० १९। ३५७-३५८)

—धर्मसर्वस्व अर्थात् पूरा-का-पूरा धर्म थोड़ेमें कह दिया जाय, तो वह इतना ही है कि जो बात अपने प्रतिकूल हो, वह दूसरोंके प्रति मत करो। इसमें सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार आ जाता है। जैसे, आपका यह भाव रहता है कि हरेक आदमी मेरी सहायता करे, मेरी रक्षा करे, मेरेपर विश्वास करे, मेरे अनुकूल बने और दूसरा कोई भी मेरे प्रतिकूल न रहे, मेरेको कोई ठगे नहीं, मेरा कोई नुकसान न करे, मेरा कोई निरादर न करे, तो इसका अर्थ यह हुआ कि मैं दूसरेकी सहायता करूँ, दूसरेकी रक्षा करूँ, दूसरेपर विश्वास करूँ, दूसरेके अनुकूल बनूँ और किसीके भी प्रतिकूल न रहूँ, किसीको ठगूँ नहीं, किसीका कोई नुकसान न करूँ, आदि-आदि। इस प्रकार आप खुदके अनुभवका आदर करें तो आप पूरे धर्मात्मा बन जायँगे।

मेरा कोई नुकसान न करे—यह हाथकी बात नहीं है, पर मैं किसीका नुकसान न करूँ—यह हाथकी बात है। सब-के-सब मेरी सहायता करें—यह मेरे हाथकी बात नहीं है, पर इस बातसे यह सिद्ध होता है कि मैं सबकी सहायता करूँ। मेरे साथ जिन-जिनका काम पड़े उनकी सहायता करनेवाला मैं बन जाऊँ। मेरेको कोई बुरा न समझे—इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि मैं किसीको बुरा न समझूँ। यह अनुभवसिद्ध बात है। कोई भी मेरेको बुरा न समझे—यह हाथकी बात नहीं है, पर मैं किसीको बुरा न समझूँ—यह हाथकी बात है। जो हाथकी बात है, उसको करना ही धर्मका अनुष्ठान है। ऐसा करनेवाला पूरा धर्मात्मा बन जाता है। जो धर्मात्मा होता है, उसको सब चाहते हैं, उसकी सबको गरज रहती है। आदमी किसको नहीं चाहता? जो स्वार्थी होता है, मतलबी होता है, दूसरोंका नुकसान करता है, उसको कोई नहीं चाहता। परन्तु जो तनसे, मनसे, वचनसे, धनसे, विद्यासे, योग्यतासे, पदसे, अधिकारसे दूसरोंका भला करता है, जिसके हृदयमें सबकी सहायता करनेका, सबको सुख पहुँचानेका भाव है, उसको सब लोग चाहने लगते हैं। जिसको सब लोग चाहते हैं, वह ज्यादा सुखी रहता है। कारण कि अभी अपने सुखके लिये अकेले हम ही उद्योग कर रहे हैं तो उसमें सुख थोड़ा होगा, पर दूसरे सब-के-सब हमारे सुखके लिये उद्योग करेंगे तो हम सुखी भी ज्यादा होंगे और हमारेको लाभ भी ज्यादा होगा।

सब-के-सब हमारे अनुकूल कैसे बनें? कि हम किसीके भी प्रतिकूल न बनें, किसीके भी विरुद्ध काम न करें। अपने स्वार्थ और अभिमानमें आकर दूसरेका निरादर कर दें, तिरस्कार कर दें, अपमान कर दें और दूसरेको बुरा समझें कि यह आदमी बुरा है, तो फिर दूसरा हमारा आदर-सम्मान करे, हमें अच्छा समझे इसके लायक हम नहीं हैं। जबतक हम किसीको बुरा आदमी समझते हैं, तबतक हमें कोई बुरा आदमी न समझे—इस बातके हम हकदार नहीं होते। इसके हकदार हम तभी होते हैं, जब हम किसीको बुरा न समझें। अब कहते हैं कि बुरा कैसे न समझें? उसने हमारा बिगाड़ किया है, हमारे धनका नुकसान किया है, हमारा अपमान किया है, हमारी निन्दा की है! तो इसपर आप थोड़ी गम्भीरतासे विचार करें। उसने हमारा जो नुकसान किया है, वह हमारा नुकसान होनेवाला था। हमारा नुकसान न होनेवाला हो और दूसरा हमारा नुकसान कर दे—यह हो ही नहीं सकता। परमात्माके राज्यमें हमारा जो नुकसान होनेवाला नहीं था, उस परमात्माके रहते हुए दूसरा हमारा वह नुकसान कैसे कर देगा? हमारा तो वही नुकसान हुआ, जो अवश्यम्भावी था। दूसरा उसमें निमित्त बनकर पापका भागी बन गया; अतः उसपर दया आनी चाहिये। अगर वह निमित्त न बनता, तो भी हमारा नुकसान होता, हमारा अपमान होता। वह खुद हमारा नुकसान करके, हमारा अपमान करके पापका भागी बन गया, तो वह भूला हुआ है। भूले हुएको रास्ता दिखाना हमारा काम है या धक्का देना? कोई खड्ढेमें गिरता हो, तो उसको बचाना हमारा काम है या उसको धक्का देना? अतः उस बेचारेको बचाओ कि उसने जैसे मेरा नुकसान किया है, वैसे किसी औरका नुकसान न कर दे। ऐसा भाव जिसके

भीतर होता है, वह धर्मात्मा होता है, महात्मा होता है, श्रेष्ठ पुरुष होता है।

'गीत-गोविन्द' की रचना करनेवाले पण्डित जयदेव एक बड़े अच्छे सन्त हुए हैं। एक राजा उनपर बहुत भक्ति रखता था और उनका सब प्रबन्ध अपनी तरफसे ही किया करता था। वे ब्राह्मण देवता (जयदेव) त्यागी थे और गृहस्थ होते हुए भी 'मेरेको कुछ मिल जाय, कोई धन दे दे'—ऐसा चाहते नहीं थे। उनकी स्त्री भी बड़ी विलक्षण पतिव्रता थी; क्योंकि उनका विवाह भगवान्‌ने करवाया था, वे विवाह करना नहीं चाहते थे। एक दिनकी बात है, राजाने उनको बहुत-सा धन दिया, लाखों रुपयोंके रत्न दिये। उनको लेकर वे वहाँसे रवाना हुए और घरकी तरफ चले। रास्तेमें जंगल था। डाकुओंको इस बातका पता लग गया। उन्होंने जंगलमें जयदेवको घेर लिया और उनके पास जो धन था, वह सब छीन लिया। डाकुओंके मनमें आया कि यह राजाका गुरु है, कहीं जीता रह जायगा तो हमारेको पकड़वा देगा। अतः उन्होंने जयदेवके दोनों हाथ काट लिये और उनको एक सूखे हुए कुएँमें गिरा दिया। जयदेव कुएँके भीतर पड़े रहे। एक-दो दिनमें राजा जंगलमें आया। उसके आदमियोंने पानी लेनेके लिये कुएँमें लोटा डाला तो वे कुएँमेंसे बोले कि 'भाई, ध्यान रखना, मेरेको लग न जाय। इसमें जल नहीं है, क्या करते हो!' उन लोगोंने आवाज सुनी तो बोले कि यह आवाज तो पण्डितजीकी है! पण्डितजी यहाँ कैसे आये! उन्होंने राजाको कहा कि महाराज! पण्डितजी तो कुएँमेंसे बोल रहे हैं। राजा वहाँ गया। रस्सा डालकर उनको कुएँमेंसे निकाला, तो देखा कि उनके दोनों हाथ कटे हुए हैं। उनसे पूछा गया कि यह कैसे हुआ? तो वे बोले कि भाई देखो, जैसा हमारा प्रारब्ध था, वैसा हो गया। उनसे बहुत कहा गया कि बताओ तो सही, कौन है, कैसा है। परन्तु उन्होंने कुछ नहीं बताया, यही कहा कि हमारे कर्मोंका फल है। राजा उनको घरपर ले गये। उनकी मलहम-पट्टी की, इलाज किया और खिलाने-पिलाने आदि सब तरहसे उनकी सेवा की।

एक दिनकी बात है। जिन्होंने जयदेवके हाथ काटे थे, वे चारों डाकू साधुके वेशमें कहीं जा रहे थे। उनको राजाने भी देखा और जयदेवने भी। जयदेवने उनको पहचान लिया कि ये वही डाकू हैं। उन्होंने राजासे कहा कि देखो राजन्! तुम धन लेनेके लिये बहुत आग्रह किया करते हो। अगर धन देना हो तो वे जो चारों जा रहे हैं, वे मेरे मित्र हैं, उनको धन दे दो। मेरेको धन दो या मेरे मित्रोंको दो, एक ही बात है। राजाको आश्चर्य हुआ कि पण्डितजीने कभी उम्रभरमें किसीके प्रति 'आप दे दो' ऐसा नहीं कहा, पर आज इन्होंने कह दिया है! राजाने उन चारोंको बुलवाया। वे आये और उन्होंने देखा कि हाथ कटे हुए पण्डितजी वहाँ बैठे हैं, तो उनके प्राण सूखने लगे कि अब कोई आफत आयेगी! अब ये हमें मरवा देंगे। राजाने उनके साथ बड़े आदरका बर्ताव किया और उनको खजानेमें ले गया। उनको सोना, चाँदी, मुहरें आदि खूब दिये। लेनेमें तो उन्होंने खूब धन ले लिया, पर पासमें बोझ ज्यादा हो गया। अब क्या करें? कैसे ले जायँ? तो राजाने अपने आदमियोंसे कहा कि इनको पहुँचा दो। धनको सवारीमें रखवाया और सिपाहियोंको साथमें भेज दिया। वे जा रहे थे। रास्तेमें उन सिपाहियोंमें जो बड़ा अफसर था, उसके मनमें आया कि पण्डितजी किसीको कभी देनेके लिये कहते ही नहीं और आज देनेके लिये कह दिया, तो बात क्या है! उसने उनसे पूछा कि महाराज, आप बताओ कि आपने पण्डितजीका क्या उपकार किया है? पण्डितजीके साथ आपका क्या सम्बन्ध है? आज हमने पण्डितजीके स्वभावसे विरुद्ध बात देखी है। बहुत वर्षोंसे देखता हूँ कि पण्डितजी किसीको ऐसा नहीं कहते कि तुम इसको दे दो, पर आपके लिये ऐसा कहा, तो बात क्या है? वे चारों आपसमें एक-दूसरेको देखने लगे, फिर बोले कि 'ये एक दिन मौतके मुँहमें जा रहे थे तो हमने इनको मौतसे बचाया। इनके हाथ ही कटे, नहीं तो गला कट जाता! उस दिनका ये बदला चुका रहे हैं।' उनकी इतनी बात पृथ्वी सह नहीं सकी। पृथ्वी फट गयी और वे चारों पृथ्वीमें समा गये! सिपाहीलोगोंको बड़ी मुश्किल हो गयी कि अब धन कहाँ ले जायँ! वे तो पृथ्वीमें समा गये! अब वे वहाँसे लौट पड़े और आकर सब बात बतायी। उनकी बात सुनकर पण्डितजी जोर-जोरसे रोने लग गये! रोते-रोते आँसू पोंछने लगे तो उनके हाथ साबुत हो गये। यह देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह क्या तमाशा है! हाथ कैसे आ गये? राजाने सोचा कि वे इनके कोई घनिष्ठ-मित्र थे, इसलिये उनके मरनेसे पण्डितजी रोते हैं। उनसे पूछा कि महाराज, बताओ तो सही, बात क्या है? हमारेको तो आप उपदेश देते हैं कि शोक नहीं करना चाहिये, चिन्ता नहीं करनी चाहिये, फिर मित्रोंका नाश होनेसे आप क्यों रोते हैं? शोक क्यों करते हैं? तो वे बोले कि ये जो चार आदमी थे, इन्होंने ही मेरेसे धन छीन लिया और हाथ काट दिये। राजाने बड़ा आश्चर्य किया और कहा कि महाराज, हाथ काटनेवालोंको आपने मित्र कैसे कहा? जयदेव बोले कि देखो राजन्! एक जबानसे उपदेश देता है और एक क्रियासे उपदेश देता है। क्रियासे उपदेश देनेवाला ऊँचा होता है। मैंने जिन हाथोंसे आपसे धन लिया,

रत्न लिये, वे हाथ काट देने चाहिये। यह काम उन्होंने कर दिया और धन भी ले गये। अतः उन्होंने मेरा उपकार किया, मेरेपर कृपा की, जिससे मेरा पाप कट गया। इसलिये वे मेरे मित्र हुए। रोया मैं इस बातके लिये कि लोग मेरेको सन्त कहते हैं, अच्छा पुरुष कहते हैं, पण्डित कहते हैं, धर्मात्मा कहते हैं और मेरे कारणसे उन बेचारोंके प्राण चले गये ! अतः मैंने भगवान्‌से रो करके प्रार्थना की कि हे नाथ ! मेरेको लोग अच्छा आदमी कहते हैं तो बड़ी गलती करते हैं ! मेरे कारणसे आज चार आदमी मर गये, तो मैं अच्छा कैसे हुआ ? मैं बड़ा दुष्ट हूँ। हे नाथ ! मेरा कसूर माफ करो। अब मैं क्या करूँ ? मेरे हाथकी बात कुछ रही नहीं; अतः प्रार्थनाके सिवा और मैं क्या कर सकता हूँ। राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ और बोला कि महाराज, आप अपनेको अपराधी मानते हो कि चार आदमी मेरे कारण मर गये, तो फिर आपके हाथ कैसे आ गये ? वे बोले कि भगवान् अपने जनके अपराधोंको, पापोंको, अवगुणोंको देखते ही नहीं ! उन्होंने कृपा की तो हाथ आ गये ! राजाने कहा कि महाराज, उन्होंने आपको इतना दुःख दिया तो आपने उनको धन क्यों दिलवाया ? वे बोले कि देखो राजन् ! उनको धनका लोभ था और लोभ होनेसे वे और किसीके हाथ काटेंगे; अतः विचार किया कि आप धन देना ही चाहते हैं तो उनको इतना धन दे दिया जाय कि जिससे बेचारोंको कभी किसी निर्दोषकी हत्या न करनी पड़े। मैं तो सदोष था, इसलिये मुझे दुःख दे दिया। परन्तु वे किसी निर्दोषको दुःख न दे दें, इसलिये मैंने उनको भरपेट धन दिलवा दिया। राजाको बड़ा आश्चर्य आया ! उसने कहा कि आपने मेरेको पहले क्यों नहीं बताया ? वे बोले कि महाराज ! अगर पहले बताता तो आप उनको दण्ड देते। मैं उनको दण्ड नहीं दिलाना चाहता था। मैं तो उनकी सहायता करना चाहता था; क्योंकि उन्होंने मेरे पापोंका नाश किया, मेरेको क्रियात्मक उपदेश दिया। मैंने तो अपने पापोंका फल भोगा, इसलिये मेरे हाथ कट गये। नहीं तो भगवान्‌के दरबारमें, भगवान्‌के रहते हुए कोई किसीको अनुचित दण्ड दे सकता है ? कोई नहीं दे सकता। यह तो उनका उपकार है कि मेरे पापोंका फल भुगताकर मेरेको शुद्ध कर दिया।

इस कथासे सिद्ध होता है, सुख या दुःखको देनेवाला कोई दूसरा नहीं है; कोई दूसरा सुख-दुःख देता है—यह समझना कुबुद्धि है—'**सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा**' (अध्यात्म० २।६।६)। दुःख तो हमारे प्रारब्धसे मिलता है, पर उसमें कोई निमित्त बन जाता है तो उसपर दया आनी चाहिये कि बेचारा मुफ्तमें ही पापका भागी बन गया ! रामायणमें आता है कि वनवासके लिये जाते समय रात्रिको रामजी निषादराज गुहके यहाँ ठहरे। निषादराजने कहा—'***कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह। जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह॥***' (मानस २।९१) तब लक्ष्मणजीने कहा—'***काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥***' (मानस २।९२।२) अतः दूसरा मेरेको दुःख देता है, मेरा अपमान करता है, मेरी निन्दा करता है, मेरेको कष्ट पहुँचाता है, मेरा नुकसान करता है—ऐसा जो विचार आता है, यह कुबुद्धि है, नीची बुद्धि है। वास्तवमें दोष उसका नहीं है, दोष है हमारे पापोंका, हमारे कर्मोंका। इसलिये परमात्माके राज्यमें कोई हमारेको दुःख दे ही नहीं सकता। हमारेको जो दुःख मिलता है, वह हमारे पापोंका ही फल है। पापका फल भोगनेसे पाप कट जायगा और हम शुद्ध हो जायँगे। अतः कोई हमारा नुकसान करता है, अपमान करता है, निन्दा करता है, तिरस्कार करता है, वह हमारे पापोंका नाश कर रहा है—ऐसा समझकर उसका उपकार मानना चाहिये, प्रसन्न होना चाहिये।

किसीके द्वारा हमारेको दुःख हुआ तो वह हमारे प्रारब्धका फल है; परन्तु अगर हम उस आदमीको खराब समझेंगे, गैर समझेंगे, उसकी निन्दा करेंगे, तिरस्कार करेंगे, दुःख देंगे, दुःख देनेकी भावना करेंगे, तो अपना अन्तःकरण मैला हो जायगा, हमारा नुकसान हो जायगा ! इसलिये संतोंका यह स्वभाव होता है कि दूसरा उनकी बुराई करता है, तो भी वे उसकी भलाई करते हैं—'***उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥***' (मानस ५।४१।४) ऐसा संत-स्वभाव हमें बनाना चाहिये। अतः कोई दुःख देता है तो उसके प्रति सद्भावना रखो, उसको सुख कैसे मिले—यह भाव रखो। उसमें दुर्भावना करके मनको मैला कर लेना मनुष्यता नहीं है। इसलिये तनसे, मनसे, वचनसे सबका हित करो, किसीको दुःख न दो। जो तन-मन-वचनसे किसीको दुःख नहीं देता, वह इतना शुद्ध हो जाता है कि उसका दर्शन करनेसे पाप नष्ट होते हैं !

तन कर मन कर वचन कर, देत न काहू दुक्ख।
तुलसी पातक हरत है, देखत उसको मुक्ख॥

★

प्रतिकूलतामें विशेष भगवत्कृपा

मनुष्य अनुकूलताको तो चाहता है, पर प्रतिकूलताको नहीं चाहता—यह उसकी कायरता है। अनुकूलताको चाहना ही खास बन्धन है। इसके सिवाय और कोई बन्धन नहीं है। इस चाहनाको मिटानेके लिये ही भगवान् बहुत प्यार और स्नेहसे प्रतिकूलता भेजते हैं। यदि जीवनमें प्रतिकूलता आये तो समझना चाहिये कि मेरे ऊपर भगवान्की बहुत अधिक, दुनियासे निराली कृपा हो गयी है। प्रतिकूलतामें कितना आनन्द, शान्ति, प्रसन्नता है, क्या बताऊँ? प्रतिकूलताकी प्राप्ति मानो साक्षात् परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति है। भगवान्ने कहा है—'**नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु**' (गीता १३। ९)। प्रतिकूलता आनेपर प्रसन्न रहना—यह समताकी जननी है। गीतामें इस समताकी बहुत प्रशंसा की गयी है।

भगवान् विष्णु सर्वदेवोंमें श्रेष्ठ तभी हुए, जब भृगुजीके द्वारा छातीपर लात मारनेपर भी वे नाराज नहीं हुए। वे तो भृगुजीके चरण दबाने लगे और बोले कि 'भृगुजी! मेरी छाती तो बड़ी कठोर है और आपके चरण बहुत कोमल हैं; आपके चरणोंमें चोट आयी होगी!' उन्हीं भगवान्के हम अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। उनके अंश होकर भी हम इस प्रकार छातीपर लात मारनेवालेका हृदयसे आदर नहीं कर सकते तो हम क्या भगवान्के भक्त हैं? प्रतिकूलताकी प्राप्तिको स्वर्णिम अवसर मानना चाहिये और नृत्य करना चाहिये कि अहो! भगवान्की बड़ी भारी कृपा हो गयी। ऐसा कहनेमें संकोच होता है कि इस स्वर्णिम अवसरको प्रत्येक आदमी पहचानता नहीं। यदि किसीको कहें कि 'तुम पहचानते नहीं हो' तो उसका निरादर होता है। अगर ऐसा अवसर मिल जाय और उसकी पहचान हो जाय कि इसमें भगवान्की बहुत विशेष कृपा है तो यह बड़े भारी लाभकी बात है।

गीतामें आया है कि जिसका अन्त:करण अपने वशमें है, ऐसा पुरुष राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता हुआ अन्त:करणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है; और प्रसन्नता प्राप्त होनेपर उसकी बुद्धि बहुत जल्दी परमात्मामें स्थिर हो जाती है (२। ६४-६५)। जो प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितिमें प्रसन्न रहे, उसकी बुद्धि परमात्मामें बहुत जल्दी स्थिर होगी। कारण कि प्रतिकूलतामें होनेवाली प्रसन्नता समताकी माता (जननी) है। अगर यह प्रसन्नता मिल जाय तो समझना चाहिये कि समताकी तो माँ मिल गयी और परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिकी दादी मिल गयी। दादी कह दो या नानी कह दो।

प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें भगवान्की बड़ी विचित्र कृपा है, मुख्य कृपा है; परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि आप प्रतिकूलताकी चाहना करें। चाहना तो अनुकूलता और प्रतिकूलता—दोनोंकी ही नहीं करनी चाहिये, प्रत्युत भगवान् जो परिस्थिति भेजें, उसीमें प्रसन्न रहना चाहिये। यदि भगवान् प्रतिकूलता भेजें तो समझना चाहिये कि उनकी बहुत कृपा है। वाल्मीकिरामायणके अरण्यकाण्डमें आया है—

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

(३७। २)

संसारमें प्रिय वचन बोलनेवाले पुरुष तो बहुत मिलेंगे, पर जो अप्रिय होनेपर भी हितकारी हो, ऐसी बात कहने और सुननेवाले दुर्लभ हैं। एक मारवाड़ी कहावत है—'***सती देवे, संतोषी पावे। जाकी वासना तीन लोकमें जावे॥***' भिक्षा देनेवाली सती-साध्वी स्त्री हो और भिक्षा लेनेवाला संतोषी हो तो उसकी सुगन्ध तीनों लोकोंमें फैलती है। ऐसे ही देनेवाले भगवान् हों और लेनेवाला भक्त हो अर्थात् भगवान् विशेष कृपा करके प्रतिकूलता भेजें और भक्त उस प्रतिकूलताको स्वीकार करके मस्त हो जाय तो इसका असर संसारमात्रपर पड़ता है।

दु:खके समान उपकारी कोई नहीं है; किंतु मुश्किल यह है कि दु:खका प्रत्युपकार कोई कर नहीं सकता। उसके तो हम ऋणी ही बने रहेंगे; क्योंकि दु:ख बेचारेकी अमरता नहीं है। वह बेचारा सदा नहीं रहता, मर जाता है। उसका तर्पण नहीं कर सकते, श्राद्ध नहीं कर सकते। उसके तो ऋणी ही रहेंगे। इसलिये दु:ख आनेपर भगवान्की बड़ी कृपा माननी चाहिये। छोटा-बड़ा जो दु:ख आये, उस समय नृत्य करना चाहिये कि बहुत ठीक हुआ। इस तत्त्वको समझनेवाले मनुष्य इतिहासमें बहुत कम हुए हैं। माता कुन्ती इसे समझती थीं, इसलिये वे भगवान्से वरदान माँगती हैं—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

(श्रीमद्भा० १। ८। २५)

'हे जगद्गुरो! हमारे जीवनमें सर्वदा पद-पदपर विपत्तियाँ आती रहें, जिससे हमें पुनः संसारकी प्राप्ति न करानेवाले आपके दुर्लभ दर्शन मिलते रहें।'

माता कुन्ती विपत्तिको अपना प्यारा सम्बन्धी समझती हैं; क्योंकि इससे भगवान्‌के दर्शन मिलते हैं। अतः विपत्ति भगवद्दर्शनकी माता हुई कि नहीं? इसलिये दुःख आना मनुष्यके लिये बहुत आनन्दकी बात है। दुःखमें प्रसन्न होना बहुत ऊँचा साधन है। इसके समान कोई साधन नहीं है।

यदि साधक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहे तो वह सुख-दुःखसे ऊँचा उठ जाय—'**सुखदुःखे समे कृत्वा**' (गीता २। ३८)। सुखकी चाहना करते हैं, पर सुख मिलता नहीं और दुःखकी चाहना नहीं करते, पर दुःख मिल जाता है। अतः दुःखकी चाहना करनेसे दुःख नहीं मिलता, यह तो कृपासे ही मिलता है। सुखमें तो हमारी सम्मति रहती है, पर दुःखमें हमारी सम्मति नहीं रहती। जिसमें हमारी सम्मति, रुचि रहती है, वह चीज अशुद्ध हो जाती है। जिसमें हमारी सम्मति, रुचि नहीं है, वह चीज केवल भगवान्‌की शुद्ध कृपासे मिलती है। जो हमारे साथ द्वेष रखता है, हमें दुःख देता है, उसका उपकार हम कर नहीं सकते। हमारा उपकार वह स्वीकार नहीं करेगा। वह तो हमें दुःखी करके प्रसन्न हो जाता है। हमारे द्वारा बिना कोई चेष्टा किये दूसरा प्रसन्न हो जाय तो कितने आनन्दकी बात है। अतः सज्जनो! आगेसे मनमें पक्का विचार कर लेना चाहिये कि हमें हर हालतमें प्रसन्न रहना है। चाहे अनुकूलता आये, चाहे प्रतिकूलता आये, उसमें हमें प्रसन्न रहना है; क्योंकि वह भगवान्‌का भेजा हुआ कृपापूर्ण प्रसाद है।

★

पराधीनतासे छूटनेका उपाय

पराधीनता सबको बुरी लगती है। पराधीन मनुष्यको स्वप्नमें भी सुख नहीं मिलता— ***'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं'*** (मानस १।१०२।३)। ऐसा होनेपर भी मनुष्य दूसरेसे सुख चाहता है, दूसरेसे मान चाहता है, दूसरेसे प्रशंसा चाहता है, दूसरेसे लाभ चाहता है—यह कितने आश्चर्यकी बात है! वस्तुसे, व्यक्तिसे, परिस्थितिसे, घटनासे, अवस्थासे जो सुख चाहता है, आराम चाहता है, लाभ चाहता है, उसको पराधीन होना ही पड़ेगा, बच नहीं सकता, चाहे ब्रह्मा हो, इन्द्र हो, कोई भी हो। मैं तो यहाँतक कहता हूँ कि भगवान् भी बच नहीं सकते। जो दूसरेसे कुछ भी चाहता है,वह पराधीन होगा ही।

परमात्माको चाहनेवाला पराधीन नहीं होता; क्योंकि परमात्मा दूसरे नहीं हैं। जीव तो परमात्माका साक्षात् अंश है। परन्तु परमात्माके सिवाय दूसरी चीज हम चाहेंगे तो पराधीन हो जायँगे; क्योंकि परमात्माके सिवाय दूसरी चीज अपनी है नहीं। दूसरी चीजकी चाहना न होनेसे ही परमात्माकी चाहना पैदा होती है। अगर दूसरी चीजकी चाहना न रहे तो परमात्म-प्राप्ति हो जाय।

कुछ भी चाहना हो, वह चाहना दरिद्रताको सिद्ध करती है। अतः मुफ्तमें दरिद्रता क्यों खरीदते हो? अगर सुखी होना चाहते हो तो दूसरेसे सुख मत चाहो। दूसरेसे हमें लाभ होगा, यह खाता भीतरसे उठा दो। दूसरेसे कुछ नहीं हो सकता। दूसरेसे कुछ भी चाहनेवाला क्या पराधीनतासे बच सकता है? क्या वह स्वतन्त्र हो सकता है? इसलिये यह बात पक्की कर लें कि कोई भी चाहना हम नहीं रखेंगे। परमात्मासे भी किसी चीजकी चाहना नहीं रखेंगे।

जो अपनेको उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुके अधीन मानेगा, वह सुखी कैसे होगा? क्योंकि स्वयं उत्पन्न और नष्ट होनेवाला नहीं है। स्वयं अविनाशी है। एक और विलक्षण बात है कि जो दूसरेसे चाहता है, वह वास्तवमें अनधिकारी है, अधिकारी है ही नहीं। जैसे, जो दूसरेसे सम्मान चाहता है, वह सम्मानके लायक नहीं है। जो सम्मानके लायक होगा, उसको सम्मानकी चाहना नहीं होगी। आप खयाल करें कि अठारह अक्षौहिणी सेनामें, जिसमें सब क्षत्रिय-ही-क्षत्रिय हैं, स्वयं क्षत्रिय होते हुए भी भगवान् श्रीकृष्णका एक व्यक्तिका सारथि बन जाना, उसके रथके घोड़े हाँकना कितने तिरस्कारकी बात है! घोड़े हाँकना क्या बड़ा काम है? क्या यह सम्मानकी बात है? परन्तु उनको ऐसा काम करनेमें शर्म नहीं आती। वे सम्मानके लायक हैं, इसलिये उनमें सम्मानकी इच्छा नहीं है। वे

सम्मानके लायक हैं, इसका क्या पता? उधर सबसे पहले भीष्मजी शङ्ख बजाते हैं और इधर सबसे पहले भगवान् श्रीकृष्ण शङ्ख बजाते हैं! कारण कि कौरवसेनामें सबसे मुख्य भीष्मजी हैं और पाण्डवसेनामें सबसे मुख्य भगवान् श्रीकृष्ण हैं।

जिसको सम्मानकी इच्छा रहती है, वह सम्मानका गुलाम है, सम्मानके लायक है ही नहीं। जिसको चेलेकी इच्छा रहती है, वह चेलेका गुलाम (चेला) है, गुरु है ही नहीं। जिसको धनकी इच्छा रहती है, वह धनका गुलाम है, धनका मालिक है ही नहीं। अतः इच्छाको मनसे निकाल ही देना चाहिये।

जीवात्माके लिये आया है—***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥'*** (मानस ७। ११७। १) और ब्रह्मके लिये आया है—***'ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥'*** (मानस १। २३। ३)। अतः जो आनन्दराशि ब्रह्म है, उसीका साक्षात् अंश यह जीवात्मा है। दोनोंके समान लक्षण बताये गये हैं। ऐसा होते हुए भी जीव तुच्छ चीजोंकी चाहना करे, यह कितनी बेइज्जतीकी बात है! कितना बड़ा इसका पद है! कितना इसका अधिकार है! कितना इसका महत्त्व है! परन्तु तुच्छ चीजोंकी इच्छा करता है, उनके मिलनेसे राजी होता है, उन चीजोंसे अपनी इज्जत मानता है, बेइज्जतीमें इज्जत मानता है! कहाँ चली गयी अक्ल सारी? इसमें जितनी शंकाएँ हों, आप पूछो।

श्रोता—शंका तो कोई नहीं, पर सामने जो राजा-महाराजा दीखते हैं·········!

स्वामीजी—जो दीखता है, वह नाशवान् है। आप बताओ,कोई अविनाशी दीखता है क्या? सामने सब नाशवान्-ही-नाशवान् दीखता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, धन-सम्पत्ति, राज्य, पद, अधिकार आदि जो कुछ भी दीखता है, चाहे इन्द्रासन ही क्यों न दीखता हो, वह सब-का-सब नाशवान् है।

श्रोता—महाराजजी! संगका असर पड़ता है। ऐसा कोई सामने देखनेमें नहीं आता, जो सम्मान न चाहता हो!

स्वामीजी—मैं कहता हूँ आप मान लो। दूसरेको देखनेकी जरूरत ही क्या है! यह बात तो आप तब कह सकते हैं कि किसीको भोजन करते देखकर आपको भूख लग जाय! अगर दूसरेको देखनेसे असर पड़ता है, तो दूसरेको भोजन करते देखकर भूख लगनी चाहिये और दूसरेको भोजन करते न देखकर भूख नहीं लगनी चाहिये। दूसरेको जल पीते देखकर प्यास लगनी चाहिये और दूसरेको जल पीते न देखकर प्यास नहीं लगनी चाहिये।

भेड़चाल संसार है, एक एक के लार।
भिष्टा पर भागी फिरे, कैसे हो उद्धार॥

यह तो भेड़चाल है कि दूसरा चाहे तो मैं चाहूँ। दूसरा नरकोंमें जाय, तो फिर आप भी नरकोंमें पधारो! क्या यह मनुष्यपना है? जिसके मनमें सम्मान आदिकी इच्छा है, उसकी कितनी इज्जत है और जिसके मनमें सम्मान आदिकी इच्छा नहीं है, उसकी कितनी इज्जत है यह आपको दीखता है कि नहीं? जिसके मनमें सम्मानकी, धनकी इच्छा नहीं है, जो कुछ भी नहीं चाहता, उसकी बेइज्जती हो सकती है क्या? ***'जिनको कछू न चाहिये, सो साहनपति साह'।*** लोग उसके आगे नतमस्तक हो जायँगे!

भगवान् श्रीराम हनुमान्‌जीसे कहते हैं कि तू धनिक है और मैं तेरा कर्जदार हूँ, तू मेरेसे खत लिखा ले! जो ले तो ले, पर देनेके लिये पासमें हो नहीं, वही खत लिखाया करता है। भगवान् कहते हैं कि हे हनुमान्! मैं तेरा बदला चुकानेमें असमर्थ हूँ, मैं दे नहीं सकता, इसलिये तू खत लिखा ले। मैं तेरा कर्जदार हूँ। कर्जदार होनेमें कारण क्या है? भगवान् इसका स्पष्ट उत्तर देते हैं—

मदङ्गे जीर्णतां यातु यत् त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥

(वाल्मीकि॰ उत्तर॰ ४०। २४)

तुमने जो मेरा उपकार किया है, यह कर्जा मेरेपर ही रहने दे। मैं कर्जा उतारना नहीं चाहता। मैं तो सदा ही कर्जदार बना रहना चाहता हूँ। कारण कि जो उपकारका बदला चुकाना चाहता है, वह विपत्ति चाहता है कि इसपर विपत्ति आये तो मैं इसका उपकार करूँ, इसकी सहायता करूँ। तेरेको बाप घरसे निकाल दे, स्त्रीको राक्षस ले जाय, साथ देनेवाला कोई नहीं हो, तब मैं तेरी सहायता करूँ! अतः तेरेपर कभी विपत्ति आये ही नहीं और मैं सदा ही तेरा कर्जदार बना रहूँ! इस प्रकार अगर मनमें कोई भी चाहना न हो, तो भगवान् ऋणी हो जायँ! भगवान् शंकरने रामजीकी सेवा करनेके लिये हनुमान्‌जीका ही रूप धारण क्यों किया? उन्होंने सोचा कि सेवा करनेके लिये बन्दरके समान कोई नहीं हो सकता; क्योंकि उसको न रोटी चाहिये, न कपड़े चाहिये, न मकान चाहिये; कुछ भी नहीं चाहिये। पत्ते खा ले, वृक्षोंपर रहे और कपड़ोंकी जरूरत नहीं! छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा सब काम रामजीका करेंगे और लेंगे कुछ भी नहीं।

जब राक्षसोंने सबको मूर्च्छित कर दिया, तो सबसे पहले जाम्बवान् जगे। जाम्बवान्‌ने जगते ही पूछा कि हनुमान् जीवित हैं या नहीं! यह नहीं पूछा कि रामजी जीवित हैं या नहीं।

कितनी विलक्षण बात है ! हनुमान्जी जीवित हैं तो सब जी जायँगे, चिन्ताकी कोई बात नहीं। इस प्रकार सबके प्राण हनुमान्जीके अधीन हैं। परन्तु उनकी भी पोल बताऊँ आपको ! जब हनुमान्जी संजीवनी लानेके लिये चले, तब उन्होंने अपने बलका बखान किया कि अभी लेकर आता हूँ—*'चला प्रभंजन सुत बल भाषी।'* (मानस ६।५६।१)। इससे क्या हुआ ? रातके समय प्यास लग गयी और कालनेमि राक्षससे ठगे गये, फिर संजीवनीका पता नहीं लगा और संजीवनी ले आये तो भरतजीका बाण लगा ! परन्तु दिनके समय लंकामें आग लगा दी, तब प्यास नहीं लगी ! कारण क्या था ? जब लंकामें गये तो पहले रघुनाथजीको याद किया—*'बार बार रघुबीर सँभारी'* (मानस ५।१।३)।

जब हनुमान्जी सीता माताके पास गये तो सामने फल लगे देखकर उनको भूख लगी। माँको देखते ही बालकोंको भूख लग जाया करती है ! और माँको मनमें भी आ जाता है कि कुछ खिला दूँ। सीता माताने सोचा कि यह बालक है, इसको कोई राक्षस खा जायगा ! इसलिये कहा कि ' न बेटा, हाऊ खा जायगा !' हनुमान्जीने कहा कि माँ ! मेरेको राक्षसोंका भय नहीं है ! अगर तुम सुख मानो, मनमें प्रसन्न हो जाओ तो फल खा लूँ—*'तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं। जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं॥'* (मानस ५।१७।५)। फल भी खाना है, तो माँकी राजीके लिये ! माँने कहा कि बेटा ! रघुनाथजी महाराजको याद करके मीठे-मीठे फल खाओ—*'रघुपति चरन हदय धरि तात मधुर फल खाहु'* (मानस ५।१७)। हनुमान्जीने फल खाये और राक्षसोंको अच्छी तरहसे मसल दिया।

जब हनुमान्जी छिपकर लंकामें प्रवेश कर रहे थे तो लंकिनीने उनको देख लिया और रोक दिया। हनुमान्जीने उसको मुक्का मारा। लंकिनी बेचारी तो अपनी ड्यूटीपर पक्की थी, उसको मुक्का मार दिया, यह कोई न्याय है ? अनजान आदमीको रोकना तो पहरेदारका कर्तव्य है। बीकानेरके राजा श्रीगंगासिंहजी महाराजकी एक बात मैंने सुनी है। एक बार वे मामूली आदमी बनकर पहरेदारके पास गये और कहा कि मुझे भीतर जाने दो। पहरेदारने मना कर दिया कि नहीं जाने देंगे। गंगासिंहजीने दो रुपये निकाले और कहा कि ये दो रुपये ले लो, मुझे भीतर जाने दो। पहरेदारने उनको जोरसे एक थप्पड़ लगाया ! वे चुपचाप पीछे लौट गये। सुबह उस पहरेदारको बुलाया और कहा कि 'अरे ! इतनी जोरसे थप्पड़ मारा करते हैं क्या ! तात्पर्य है कि यह पहरेदारका अधिकार है। गंगासिंहजी भी कुछ कह नहीं सके कि तुमने थप्पड़ कैसे मारा ? उनके मनमें तो यह आया कि ऐसे ईमानदार आदमीको अच्छी जगहपर रखना चाहिये; मेरेसे गलती हुई कि ऐसे आदमीको मामूली पहरे पर रखा ! परन्तु हनुमान्जीने लंकाकी पहरेदार लंकिनीको मुक्का मारा ! कारण क्या था ? लंकिनीने कहा कि चोर मेरा आहार होता है—*'मोर अहार जहाँ लगि चोरा'* (मानस ५।४।२)। इसपर हनुमान्जीने उसको मुक्का मारा कि अगर चोर तेरा आहार होता है तो तूने सीताजीको चुरानेवाले रावणको क्यों नहीं अपना आहार बनाया ? इतनी जोरसे मुक्का मारा कि उसके मुखसे खून बहने लगा और वह कहती है कि आज सुख मिला !—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसङ्ग॥

(मानस ५।४)

कारण कि उसकी दृष्टि अपने शरीरकी तरफ नहीं है, प्रत्युत सत्सङ्गसे होनेवाले लाभकी तरफ है।

═══ ★ ═══

भगवान्‌में लगनेका उपाय

खाना, पीना, सोना, बातें करना, आलस्यमें पड़े रहना—इसमें जैसा मन लगता है, वैसा पाठ-पूजनमें नहीं लगता! कबीर साहबने कहा है—

कबीर मनुआँ एक है, भावे जहाँ लगाय।
भावे हरि की भगति कर, भावे बिषय कमाय॥

दो ही बातें हैं। बीचमें जीव है, एक तरफ संसार है और एक तरफ परमात्मा है। संसारसे संयोगजन्य सुख मिलता है और संसारमें आसक्ति होती है, प्रियता होती है। परन्तु भगवान्‌के भजन, पाठ, जप आदिमें प्रियता नहीं होती। मन तो एक ही तरफ लगेगा। अतः मनको संसारसे उठाओ। खाना, पीना, सोना आदिमें सुख मत लो। इनमें सुख लेते रहोगे तो मन भगवान्‌में नहीं लगेगा; क्योंकि मनको खुराक तो संसारसे ही मिल जायगी!

हमें संसारकी अनुकूल परिस्थिति अच्छी लगती है और प्रतिकूल परिस्थिति बुरी लगती है, तो हम संसारके ही ग्राहक हुए न? कसौटी लगा करके देखो कि हम परमात्माके ग्राहक हैं या संसारके? एक तरफ परमात्मा है और एक तरफ संसार है। अगर संसारकी अनुकूल परिस्थिति, अनुकूल पदार्थ,

अनुकूल अवस्था अच्छी लगती है और प्रतिकूल परिस्थिति आदि बुरी लगती है तो हम परमात्माके भक्त नहीं हैं।

जो लोग रुपया कमानेके लिये दुकानपर बैठते हैं, उनके सामने कई अनुकूल व्यक्ति आते हैं और कई प्रतिकूल व्यक्ति आते हैं। परन्तु वे न तो राजी होते हैं, न नाराज होते हैं। अपने व्यापारमें लगे रहते हैं कि राजी-नाराजगीसे क्या लेना, हमें तो पैसा कमाना है! इस तरह जैसे गृहस्थ पैसा कमानेमें लगे हैं, ऐसे साधकोंको तो कम-से-कम परमात्मामें लगना चाहिये। अनुकूलता-प्रतिकूलतामें फँस जाते हैं— यह बड़ी भारी बाधा है। गृहस्थोंका ज्यादा समय जाता है रजोगुणमें और साधुओंका ज्यादा समय जाता है तमोगुणमें !ऐसी बात मेरे मनमें वर्षोंसे आयी थी, पर कही आज है! आलस्यमें, प्रमादमें, खाने-पीनेमें, सोनेमें—इनमें साधुओंका ज्यादा समय जाता है। क्या करें बताओ! स्वयं आप अपनेको ठीक करो तो कर सकते हो और कोई उपाय नहीं है इसका। आप खुद ही बाबाजी बन गये, अब कौन कहे आपको? मैंने पुस्तकोंमें पढ़ा है कि खुदमें तो अक्ल नहीं और दूसरेकी मानता नहीं, उसको कौन समझाये?

अगर कुछ मिलता है तो परमात्मा ही मिलता है और कुछ मिलता है ही नहीं। परमात्माके सिवाय कभी किसीको कुछ नहीं मिला, कुछ नहीं मिलेगा और कुछ नहीं मिल सकता। वहम होता है कि इतना धन मिल गया, इतना मान मिल गया, शरीर मिल गया, नीरोगता मिल गयी, विजय मिल गयी, आराम मिल गया—बिलकुल कोरा धोखा है! आज मरो, तो कुछ नहीं मिला। आपलोग ध्यान दें। मिलना भगवान्‌का ही है, उसके सिवाय और मिलना है ही नहीं। धन, सम्पत्ति, मान, सुख आदिमें वृत्ति रहेगी तो बेईमानी होगी, चालाकी होगी, ठगाई होगी, धोखेबाजी होगी और आगे इसका फल होगा दुःख, नरक, चौरासी लाख योनियाँ! मिलना अगर देखा जाय तो परमात्मतत्त्वके सिवाय मिलना कुछ है ही नहीं।

श्रोता—प्रभुकी कथामें मन लगानेसे प्रभुकी कृपा हो जायगी क्या?

स्वामीजी—भगवान्‌की और भक्तोंकी कथामें अगर मन लगता हो तो बहुत ही उत्तम बात है। आप उसको तल्लीन होकर पढ़ो, सुनो तो भगवान्‌की कृपा अपने-आप हो जायगी। भगवान्‌के और भक्तके चरित्रमें अगर मन लग जायगा, तल्लीन हो जायगा तो कृपा किये बिना भगवान् रह ही नहीं सकेंगे; कृपा जबर्दस्ती होगी। भगवान् और भक्त—इन दोनोंके चरित्रोंमें मन लग जायगा तो फिर एकदम ठीक हो जायगा।

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥
(मानस ७।४७।३)

केवल भगवान् और उनके भक्त—ये दो ही भला करनेवाले हैं। तीसरे किसी व्यक्तिसे, किसी वस्तुसे, किसी परिस्थितिसे, किसी योग्यतासे आपका भला हो जायगा—यह बात है ही नहीं। किसीसे कुछ होनेका है नहीं। न धनसे कुछ होगा, न मानसे कुछ होगा, न बड़ाईसे कुछ होगा, न मकानसे कुछ होगा, न परिवारसे कुछ होगा। होगा कुछ नहीं, केवल समय बरबाद हो जायगा, पासमें रही हुई पूँजी खत्म हो जायगी और मरना पड़ेगा!

श्रोता—स्वामीजी! हम सन्तको ठीक-ठीक जानते नहीं, तो क्या उनकी कृपासे सब हो जायगा?

स्वामीजी—उनको जानने-न-जाननेकी चिन्ता मत करो। उनको जानो या मत जानो, उनके कहनेके अनुसार करो। हो जायगा क्यों? अभी होना चाहिये, अभी भगवान्‌में मन लगना चाहिये। हो जायगा— इसका क्या भरोसा? देखो भाई, मैं तो इसको धोखा मानता हूँ कि ये सन्त मिल गये, महात्मा मिल गये, गुरुजी मिल गये, इनकी कृपासे सब हो जायगा—ऐसा मान लेता है, पर करता कुछ नहीं। सन्त मिल गये तो तुम्हारेमें परिवर्तन आना चाहिये न? जैसे नींदमें प्यास लगी और जल पीते हैं, पर उससे तृप्ति नहीं होती, ऐसे ही सन्त मिलनेपर, अच्छा संग मिलनेपर भी हमारी तृप्ति नहीं हुई, हमारी दशा वैसी ही है, तो क्या मिल गया? हमारा जीवन बदल जाना चाहिये, जीवन भगवान्‌में लग जाना चाहिये।

भगवान्‌में, भगवान्‌के चरित्रमें, भगवान्‌के नाममें, भगवान्‌के गुणोंमें, भगवान्‌की लीलामें मन तल्लीन हो जाय तो यह लाभकी बात है। परन्तु आजकल पाठ, जप आदि करते हैं तो बारी निकालते हैं, ड्यूटी बजाते हैं, एक आफत मिटाते हैं। 'रोजाना इतना जप आदि करना ही पड़ेगा, नहीं करें तो सन्तोष नहीं होता; अतः पाठ भी कर लो, जप भी कर लो, इतना सुन लो, तो एक आफत मिट गयी, छुट्टी हो गयी। उन्होंने कह दिया और हमने स्वीकार कर लिया, इसलिये पाठ करना पड़ता है, इतना जप करना पड़ता है। किसी तरह पूरा कर दो। पाठ पूरा हो गया, तो अब पुस्तक बाँधकर रख दो' आदि-आदि। बालक पढ़ता है, पर छुट्टी होते ही दौड़ता है कि चलो आफत मिटी! इस तरह पाठ, जप आदिको आफत समझनेसे, भार समझनेसे लाभ थोड़े ही होगा? समय खाली पड़ा है, पर भगवान्‌की कथा आदिमें मन नहीं लगता—यह मनुष्यके लिये बड़ा काला दिन है। समय बरबाद करनेसे तो यही अच्छा है कि किसी

कामधंधेमें लग जाओ।

सिद्धान्त है कि परमात्माके सिवाय मिलता कुछ नहीं, केवल धोखा होता है। चाहे आपके पास लाखों-करोड़ों रुपये हो जायँ, चाहे आपके हजारों श्रोता आ जायँ और आपको नमस्कार करें, आपका आदर करें पर मरोगे तो कुछ नहीं मिलेगा ! क्योंकि यह मिलनेकी चीज है ही नहीं। बढ़िया भोजन मिल गया, बढ़िया कपड़ा मिल गया, बढ़िया सोनेको जगह मिल गयी, आराम मिल गया, तो केवल धोखा हो गया, मिला कुछ नहीं। इसलिये सावधान रहना चाहिये।

मैं तो यह कहता हूँ कि आप हरदम नाम-जप करो और दो-दो, चार-चार मिनटमें भगवान्को नमस्कार करके भीतरसे कहो कि 'हे नाथ ! आपको भूलूँ नहीं'; 'हे प्रभु ! आपके चरणोंमें मन लग जाय'; 'हे नाथ ? आप मुझे मीठे लगें, प्रिय लगें।' आपकी एक ही माँग हो कि भगवान्में चित्त खिंच जाय, भगवान् मीठे लगें, भगवान्का नाम मीठा लगे, भगवान्के गुण मीठे लगें, भगवान्की लीला मीठी लगे, भगवान्के चरित्र मीठे लगें, प्रिय लगें।

श्रोता—मनसे रामायणजीको गुरु मान लें क्या? व्यक्तिविशेषको गुरु माननेसे उसके गुण-दोषोंपर मन चला जाता है।

स्वामीजी—बिलकुल मान लो, निहाल हो जाओगे। रामायणजीको गुरु मानकर परिक्रमा करो, दण्डवत्-प्रणाम करो, आदरसे पाठ करो और उसमें जो बातें लिखी हैं, उसको गुरु-शिक्षा, गुरु-वचन मान लो। हो जायगा कल्याण ! गुरु 'वचन' ही होता है, 'शरीर' नहीं होता। मेरी सलाह भी यही है कि व्यक्तिको गुरु बनाना ही नहीं चाहिये। व्यक्तिको गुरु बनानेसे अड़चन होगी, उसमें फँस जाओगे, दूसरी जगह नहीं जा सकोगे, अच्छी बातोंसे वञ्चित रह जाओगे। अतः चाहे रामायणको ले लो, चाहे गीताजीको ले लो, चाहे पहले हुए किसी सन्त-महात्माको ले लो, चाहे अभी कोई अच्छा लगे, उसको ले लो और गुरु-शिष्यका सम्बन्ध न जोड़कर उनसे जो अच्छी बातें मिलें, उनका तत्परतासे पालन करो। अपनेमें जो त्रुटियाँ हों, उनको दूर करो। उनसे सलाह पूछ लो कि क्या करें ? कैसे करें ? मेरेसे कोई साधनकी बात पूछता है तो मेरेको बड़ा आनन्द आता है, प्रसन्नता होती है। मैं गुरु बनूँ और दूसरा चेला बने—यह तो मुझे अच्छा नहीं लगता, पर कोई साधनकी बात पूछे तो यह मुझे बहुत अच्छा लगता है और जैसी बात आयेगी, वैसी बता दूँगा। कपट रखूँगा नहीं, छिपाऊँगा नहीं। लोग कहते हैं कि चेला बनो तो बतायें और मैं कहता हूँ कि चेला न बनो तो बताऊँ।

श्रोता—ठाकुरजीकी प्राप्तिकी तीव्र आकाङ्क्षा होती है, ठाकुरजीके प्रति प्रेम उमड़ता है, इससे प्रभुका साक्षात्कार हो सकता है क्या ?

स्वामीजी—हो सकता है। प्रेम उमड़ेगा, तब साक्षात्कार होगा। वह ठण्डा नहीं पड़ना चाहिये, जैसे सोडावाटरकी बोतलमें भभका आया, फिर शान्त हो गया ! उसको तो बढ़ना चाहिये। कलसे आज ज्यादा हो, आजसे कल ज्यादा हो, कलसे परसों ज्यादा हो—ऐसे प्रतिदिन, प्रतिक्षण भगवान्में प्रेम बढ़ना चाहिये। भगवान्में प्रेम होना ही भजन है—***'पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजनु न दूसर आन'।*** प्रेमके समान दूसरा कोई भजन नहीं है। भगवान्में जो आकर्षण है, वही भजन है। इसके लिये भगवान्से बार-बार प्रार्थना करो, एकान्तमें बैठकर भक्तोंके चरित्र पढ़ो।

एकान्तमें बैठ जाओ और कमरा बन्द कर लो। न हम किसीको देखें और न हमें कोई देखे। फिर भक्तोंके चरित्र पढ़ो, स्तोत्र पढ़ो, विनयपत्रिका पढ़ो। पढ़ते-पढ़ते जब हृदय गद्‌गद हो जाय, नेत्रोंसे आँसू आने लगें, उस समय पुस्तक बन्द कर दो और नाम-जप करो, कीर्तन करो, प्रार्थना करो कि 'हे नाथ !आपको भूलूँ नहीं' ऐसा कहते जाओ। ऐसा करते-करते जब आँसू सूख जायँ, वैसा भाव नहीं रहे, तब जहाँ पढ़नेसे वैसा भाव बना, उससे एक पृष्ठ पीछेसे पुनः पढ़ो। पढ़ते-पढ़ते वहाँ आते ही वैसा भाव बन जाय, तो फिर पुस्तक छोड़ दो। पुस्तक पूरी करनेका लक्ष्य बिलकुल न रहे, भगवान्में मन लगानेका लक्ष्य रहे। जहाँ पढ़ते-पढ़ते मन लगा, वहाँ पुस्तक छोड़ दो और प्रार्थना करो, भगवान्से अपनी बात कहो, भगवान्के लिये रोते रहो। यह साधन आप घंटा-दो-घंटा रोजाना करके देखो। उस समय दूसरा कोई काम आ जाय तो उसको छोड़ दो कि अभी नहीं। करोड़ काम बिगड़ते हों तो बिगड़ने दो, पर भगवान्का स्मरण मत छोड़ो—**'कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्।'** भक्तोंके चरित्रमें मन लगे तो बहुत बढ़िया है ! भगवान्से भी भगवान्के भक्तका चरित्र बढ़िया है। गोस्वामीजी महाराज लिखते हैं—

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

(मानस ७। १२०। ८)

कोरा लिखते ही नहीं हैं, काममें भी लाते हैं। गोस्वामीजी महाराज अपने मनसे रामजीके साथ रहते हैं, इसलिये 'इहाँ' लिखते हैं—***'इहाँ प्रात जागे रघुराई'*** (६। १७। १) और रावणके साथ नहीं रहते, इसलिये 'उहाँ' लिखते हैं—***'उहाँ सकोपि दसानन······'*** (६। ३२ख) आदि। परन्तु जहाँ

भगवान् और भक्त—दोनोंकी बात आती है, वहाँ गोस्वामीजी भगवान्‌को छोड़कर भक्तके साथ रहते हैं; जैसे—भरतजीका वर्णन करते समय वे भरतजीके लिये 'इहाँ' लिखते हैं—*'इहाँ भरतु सब सहित सहाए'* (२।२३३।२)। और रामजीके लिये *'उहाँ'* लिखते हैं—*'उहाँ रामु रजनी अवसेषा।'* (२।२२६।२)

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥
(२।३२६)

गोस्वामीजीने रामायण लिखना शुरू किया तो सबसे पहले भरतजीका चरित्र (अयोध्याकाण्ड) ही लिखा है। इसके बाद बालकाण्ड लिखना शुरू किया। इसलिये अयोध्याकाण्ड और बालकाण्ड—दोनोंके आरम्भमें गुरु-वन्दना की गयी है और काण्डोंके आरम्भमें नहीं। कारण कि पहले गुरु-वन्दना अयोध्याकाण्डमें की और उसके बाद ग्रन्थका आरम्भ किया तो बालकाण्डके आरम्भमें गुरु-वन्दना की, फिर लिखते चले गये। इस प्रकार गोस्वामीजीने पहले भक्तका चरित्र लिखा, फिर भगवान्‌का चरित्र लिखा।

★

परमात्मप्राप्तिकी सुगमता

एक बड़े महत्त्वकी बात है। इस तरफ आप ध्यान दें। जितने क्रिया और पदार्थ हैं, वे सब-के-सब उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। दूसरे शब्दोंमें कहें तो वे परिवर्तनशील हैं। क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। वस्तु पैदा होती है और नष्ट होती है। कोई घटना होती है तो वह मिट जाती है। परिस्थिति आती है, वह एकरूप नहीं रहती। अवस्था एकरूप नहीं रहती। व्यक्ति एकरूप नहीं रहता। ये सब-के-सब हरदम बदलते रहते हैं। ये सब मिल करके ही संसार है। इसीको संसार कहते हैं। इससे जो सुख चाहता है, वह बहुत बड़ी भूल करता है, मामूली भूल नहीं करता। स्वयं परमात्माका अंश है, परिवर्तनरहित है, नित्य निर्विकार है, उसको इस परिवर्तनशील संसारसे क्या मिलेगा ? कुछ मिलनेका नहीं है। धोखा हो जायगा; रोना पड़ेगा; पश्चात्ताप करना पड़ेगा ! इस बातको ठीक तरहसे मनुष्य ही समझ सकता है। एक दृष्टिसे देखें तो देवताओंको भी यह अधिकार नहीं है। वे भी भोगोंमें फँसे रहते हैं। जैसे, इस संसारमें बहुत बड़े धनी आदमी हैं, वे सत्सङ्गमें प्रायः नहीं जा पाते, सद्गुण-सदाचारका पालन प्रायः नहीं कर पाते, तो फिर इनसे भी ज्यादा भोगी देवता क्या करेंगे ? मनुष्योंमें योग्यता जरूर है, पर भोगोंकी इतनी बहुलता हो गयी कि वे इनसे छूट नहीं सकते। भोगोंकी और संग्रहकी लालसाके कारण वे बड़े जोरोंसे पतनकी तरफ जा रहे हैं। वे नरकोंसे बच नहीं सकते ! भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस, असुर बनेंगे ! वे महान् आफतसे बच नहीं सकते।

आप स्वयं उस परमात्माके साक्षात् अंश हैं, जो निर्विकाररूपसे सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। उसमें कभी परिवर्तन हुआ नहीं, कभी परिवर्तन होगा नहीं और कभी परिवतर्नकी सम्भावना नहीं है। उसके अंश आप भी वैसे-के-वैसे ही हैं। अनेक युग बीत गये, पर आप स्वयं वही हैं—**'भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते'** (गीता ८। १९)। परन्तु परिवर्तनशील पदार्थोंकी तरफ ध्यान रखनेवाला उस अपरिवर्तनशील तत्त्वको कैसे समझ सकता है ? परिवर्तनशील वस्तुको महत्त्व देनेके कारण वह उसीमें उलझ जाता है; अतः अपरिवर्तनशील तत्त्वकी तरफ वह अपना ध्यान ले जा सकता ही नहीं।

आपके जितने मनोराज्य हैं कि 'यह काम हो जाय; वह काम हो जाय' वे सब-के-सब काम हो जायँ तो कितनी खुशी होगी ! ऐसे ही जितने परिवर्तनशील पदार्थ, व्यक्ति, वस्तु, घटना, परिस्थिति हैं, इन सबका अभाव हो जाय तो कितना आनन्द होगा—इसका कोई ठिकाना नहीं ! आपको लड़कीकी शादीकी चिन्ता रहती है कि लड़की बड़ी हो गयी, क्या करें ? उसको ठीक घर मिल जाता है, अच्छा वर मिल जाता है और आप योग्यताके अनुसार उसका ब्याह कर देते हो, उसको अपने घर पहुँचा देते हो, तो आपको एक प्रसन्नता होती है। आपकी चिन्ता मिट जाती है कि मेरी कन्या अच्छे घर चली गयी, वह सुख पायेगी। इस तरह ये सब जितने झंझट हैं, संसारकी जितनी वस्तु, परिस्थिति, घटना, अवस्था आदि है, वह सब-की-सब अपने घर चली जाय, प्रकृतिमें चली जाय और आप उससे अलग हो जाओ तो कितना आनन्द होगा ! आप इस परिवर्तनशील संसारसे ऊँचे उठ जाओगे, इसमें फँसे नहीं रहोगे तो आपको मुक्तिका आनन्द मिलेगा। अगर संसारसे विमुख होकर परमात्माके सम्मुख हो जाओगे तो आपको परम आनन्द मिलेगा। इस प्रकार दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति होना मनुष्यमात्रके लिये सुगम है। अगर आप सुगम नहीं मानते हो तो सम्भव तो अवश्य ही है। पशु, पक्षी, वृक्ष आदिके लिये इसकी सम्भावना नहीं है। क्या भूत, प्रेत, पिशाच आदिके

लिये इसकी सम्भावना है ? क्या गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदिके लिये इसकी सम्भावना है ? वास्तवमें मनुष्यके लिये इसकी सम्भावना है—इतनी ही बात नहीं है, प्रत्युत यह बहुत सुगम है। आपको विश्वास नहीं होता तो उसका हमारे पास कोई इलाज नहीं है। आप कुछ-न-कुछ कल्पना करके मेरे लिये ऐसा मान लेते हो कि यह तो ऐसे ही कहता है ! मैंने कोई भाँग नहीं पी है। कोई नशेमें आकर मैं नहीं कहता हूँ। फिर भी आपका विश्वास नहीं बैठता तो उसका कोई इलाज नहीं है।

भगवत्प्राप्ति बहुत सुगम है, बहुत सरल है। संसारमें इतना सुगम काम कोई है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। भगवान्‌ने कृपा करके अपनी प्राप्तिके लिये ही मानव-शरीर दिया है, अतः उनकी प्राप्तिमें सुगमता नहीं होगी तो फिर सुगमता किसमें होगी ? भगवत्प्राप्तिके सिवाय मनुष्यका क्या प्रयोजन है ? दुःख भोगना हो तो नरकोंमें जाओ, सुख भोगना हो तो स्वर्गमें जाओ और दोनोंसे ऊँचा उठकर असली तत्त्वको प्राप्त करना हो तो मनुष्य-शरीरमें आओ। ऐसी विलक्षण स्थिति मनुष्य-शरीरमें ही हो सकती है और बहुत जल्दी हो सकती है। इसमें आपको केवल इतना ही काम करना है कि आप इसकी उत्कट अभिलाषा जाग्रत् करो कि हमें तो इसीको लेना है। इतनी जोरदार अभिलाषा जाग्रत् हो कि आपको धन और भोग अपनी तरफ खींच न सकें। सुख-सुविधा, सम्मान, आदर—ये आपको न खींच सकें। जैसे बचपनमें खिलौने बड़े अच्छे लगते थे, पी-पी सीटी बजाना बड़ा अच्छा लगता था, पर अब आप उनसे ऊँचे उठ गये। अब वे अच्छे नहीं लगते। अब मिट्टीका घोड़ा, सीटी आदि अच्छे लगते हैं क्या ? क्या मनमें यह बात आती है कि हाथमें झुनझुना ले लें और बजायें ? जैसे इनसे ऊँचे उठ गये, इस तरहसे पदार्थोंसे, भोगोंसे, रुपयोंसे, सुखसे, आरामसे, मानसे, बड़ाईसे, प्रतिष्ठासे, वाह-वाहसे ऊँचे उठ जाओ, तो उस तत्त्वकी प्राप्ति स्वतः हो जायगी। न सम्मान रहेगा, न प्रतिष्ठा रहेगी, न पदार्थ रहेंगे, न रुपये रहेंगे, न कुटुम्ब रहेगा, न शरीर रहेगा, न यह परिस्थिति रहेगी। ये तो रहेंगे नहीं। इनके रहते हुए इनसे ऊँचे उठ जाओ तो तत्त्वकी प्राप्ति तत्काल हो जाय; क्योंकि वह तो नित्यप्राप्त है। केवल इधर उलझे रहनेके कारण उसकी अनुभूति नहीं हो रही है।

श्रोता—हमलोग कितना सुनते हैं, प्रयत्न भी करते हैं, फिर भी संसारसे सुखबुद्धि नहीं जाती महाराजजी !

स्वामीजी—इसमें आपका प्रयत्न काम नहीं देगा, आपका दुःख काम देगा। यह जो संसारकी आसक्ति मिटती नहीं है, इसका दुःख होना चाहिये, जलन होनी चाहिये कि कैसे करूँ ! यह कैसे मिटे ? यह दुःखकी मात्रा बढ़ेगी, तब यह आसक्ति मिटेगी। यह प्रयत्नसे नहीं मिटती। प्रयत्न जितना करोगे, संसारका सहारा लेकर करोगे, मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ-शरीरका सहारा लेकर करोगे। जडका आश्रय लेना पड़ेगा। फिर जडतासे ऊँचे कैसे उठोगे ? पर इसका दुःख होगा, जलन होगी, सन्ताप होगा तो इस आगमें यह शक्ति है कि संसारके भोगोंकी और संग्रहकी इच्छाको जला देगी। आपको ऐसी लगन लग जाय कि हमें तो उस तत्त्वको ही प्राप्त करना है। अधूरी चीज नहीं लेनी है। अधूरा सुख नहीं लेना है। निर्वाहमात्रकी रोटी खा लेनी है, निर्वाहमात्रका कपड़ा पहन लेना है। हमें सुख नहीं लेना है, आराम नहीं लेना है। ऐसे विचार होनेसे उसकी उत्कट अभिलाषा जाग्रत् होगी। उत्कट अभिलाषा होनेसे उस तत्त्वका अनुभव हो जायगा, क्योंकि वह तत्त्व सब जगह मौजूद है, संसार मौजूद नहीं है।

श्रोता—ऐसा विचार कैसे उत्पन्न हो ?

स्वामीजी—अभी जो बातें कही हैं, इन बातोंका आदर करो। आप अनुकूल भोजनमें राजी हो जाते हो, कोई आपको बढ़िया-बढ़िया भोजन परोसे तो राजी हो जाते हो, कोई आदर करे तो राजी हो जाते हो, तो अधिकारी नहीं हो इस तत्त्वके ! जो अनुकूलतामें राजी होता है उसमें मनुष्यपना है ही नहीं ! अगर परमात्मप्राप्ति चाहते हो तो इसमें उलझो मत। इसमें सुख मत मानो। कोई आपके अनुकूल हो जाय तो बड़ा अच्छा लगता है और कोई आपके हितकी कड़वी बात कह दे तो आपको बुरा लगता है। जिसको हितकी बात भी बुरी लगती है, वह कैसे उस तत्त्वको प्राप्त कर सकता है ? जो आपके मनके अनुकूल चिकनी-चुपड़ी बात करे, वह आदमी अच्छा लगता है तो आप इस तत्त्वके अधिकारी नहीं हो। आप असली सत्संगमें टिक नहीं सकते, ठहर नहीं सकते। बिना ठहरे उस तत्त्वकी प्राप्ति होती नहीं। यह अपने हृदयपर हाथ रख करके सोचो।

वह तत्त्व सबमें निरन्तर रहता है। सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तुओंमें, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें, सम्पूर्ण घटनाओंमें, सम्पूर्ण अवस्थाओंमें वह तत्त्व निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। अतः इन सब नष्ट होनेवाली वस्तुओंसे विमुख हो जाओ अर्थात् इनसे सुख मत लो, इनमें रीझो मत, उलझो मत। तत्त्व यहाँ ही मिल जायगा। अगर इससे सुख लोगे तो दुःखके सिवाय कुछ नहीं मिलेगा। आप थोड़ा विचार करो तो बिलकुल प्रत्यक्ष बात है। अतः आप इनसे रहित हो जाओ। वास्तवमें आप इनसे रहित हो,

अगर रहित न होते तो इन पदार्थों, व्यक्तियों, अवस्थाओं आदिके संयोग और वियोगको कौन देखता? इनके संयोग-वियोगको देखनेवाला, इनसे अलग होता है। अतः आप इतना खयाल रखो कि संयोग और वियोगको तटस्थ होकर देखते रहो, उनमें फँसो मत।

वह तत्त्व आपको स्वतः प्राप्त है। उसकी प्राप्तिमें कठिनता कैसी? कठिनता तो अनुकूल परिस्थितिकी प्राप्तिमें है, अनुकूल भोगोंकी प्राप्तिमें है, सम्मानकी प्राप्तिमें है, नीरोगताकी प्राप्तिमें है। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंकी प्राप्तिमें कठिनता है; क्योंकि वे टिकनेवाली नहीं हैं; अतः मिलनेवाली नहीं हैं। वे सीमित हैं; अतः सबको नहीं मिलतीं। परन्तु परमात्मतत्त्व असीम है; अतः वह सबका अपना है और सबमें है। उसकी प्राप्तिके लिये आप उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंसे रहित हो जायँ। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिसे रहित हो जायँ। जाग्रत्‌में जितने पदार्थ, क्रियाएँ, घटनाएँ घटती हैं, उनसे रहित हो जायँ। ये तो बनने-बिगड़नेवाले हैं, हम इनके साथ नहीं हैं—ऐसे चुप हो जाओ, इनसे अलग हो जाओ। दिनमें पन्द्रह, बीस, पचीस बार, सौ-दो-सौ बार एक-एक, दो-दो सेकेण्डके लिये भी आप इनसे अपनेको अलग अनुभव करके देखो। मिनटभरके लिये अलग हो जाओ, तब तो कहना ही क्या! अगर चुप होनेपर हृदयमें उथल-पुथल मचे तो उससे भी अलग हो जाओ। यह उथल-पुथल भी जानेवाली है, मिटनेवाली है। कई संकल्प-विकल्प हो जायँ, वे भी मिटनेवाले हैं। मिटनेवाले हैं—बस, इतना खयाल रखो। मिटनेवालेमें क्या राजी और क्या नाराज हों? न पदार्थोंके संयोग-वियोगसे राजी-नाराज होना है, न संकल्पोंके संयोग-वियोगसे राजी-नाराज होना है। अच्छे-से-अच्छे संकल्प आ जायँ तो उनसे भी राजी नहीं होना है और बुरे-से-बुरे संकल्प आ जायँ तो उनसे भी नाराज नहीं होना है। राजी-नाराज न होनेसे गुणातीत हो जाओगे, तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी—

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥

(गीता ५। ३)

अनुकूलता-प्रतिकूलता कुछ भी आये, इच्छा-द्वेष मत करो, सुखी-दुःखी मत होओ। चाहे मान हो, चाहे अपमान हो; कोई आदर करे, चाहे निरादर करे; अनुकूल पदार्थ मिले, चाहे प्रतिकूल पदार्थ मिले; अनुकूल व्यक्ति मिले, चाहे प्रतिकूल व्यक्ति मिले; केवल इतनी बात करनी है कि इसमें राजी और नाराज न हों। अगर राजी-नाराज हो जाते हैं तो ऐसा समझें कि यह तो बड़ी आफत है! मैंने कई बार कहा है कि सुखका भी दुःख होना चाहिये और दुःखका भी दुःख होना चाहिये। अनुकूल परिस्थितिमें सुखी हो गये तो दुःख होना चाहिये कि हम सुखमें राजी क्यों हो गये और प्रतिकूल परिस्थितिमें दुःखी हो गये तो दुःख होना चाहिये कि हम दुःखी क्यों हो गये! हम तो द्वन्द्वमें फँस गये! हम सुखी-दुःखी हो गये तो यह हमारी गलती हुई। केवल इसको गलती मानते रहो कि यह ठीक नहीं है। यह कर सकते हो कि नहीं? बताओ।

श्रोता—महाराजजी! सर्वत्र ऐसा नहीं होता।

स्वामीजी—सर्वत्र नहीं होता, आंशिक होता है तो कोई हर्ज नहीं। कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जिनमें सम रहना हमारे वशकी बात नहीं और कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जिनमें हम सम रह सकते हैं। अतः जिस परिस्थितिमें सम रहना आपको सुगम दीखता है, उसमें आप सम रह जाओ तो इसके दो परिणाम होंगे—पहला, जिसमें सम रहना आपको कठिन मालूम देता है, उसमें सम रहना सुगम हो जायगा; और दूसरा, जिन कमियोंका पता ही नहीं लगता, उनका पता लगने लगेगा। अतः जितना सुगमतापूर्वक होता है, उतना तो कर ही दो। आजसे ही आप इतनी बात मान लो कि जिसमें सम रहना सुगम है, उसमें हम सम रहेंगे।

★

परमात्मप्राप्तिमें मुख्य बाधा—सुखासक्ति

आपका पक्का विचार हो जाय तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कठिन नहीं है, संसारका हृदयसे त्याग करना कठिन है। यह जो सुखासक्ति है—संयोगजन्य सुख है, आरामका सुख है, मानका सुख है, संग्रहका सुख है, मेरी बात रह जाय—यह अभिमानका सुख है, यही खास बाधा है। इसीका त्याग कठिन मालूम देता है। इसका त्याग करनेके बाद परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति सीधी ही है; क्योंकि परमात्मतत्त्व सबको प्राप्त है और उसमें बड़ा भारी आनन्द है। इस संयोगजन्य सुखका त्याग सुगमतासे कैसे हो ? सुगमतासे इसका त्याग तब होता है, जब भीतरका भाव बदल जाय कि दूसरेको सुख कैसे हो ? दूसरेका सम्मान कैसे हो ? दूसरेकी प्रशंसा कैसे हो ? दूसरेका हित कैसे हो ?

श्रोता—भीतरका भाव कैसे बदले महाराजजी !

स्वामीजी—यह तो खुदके बदलनेसे बदलेगा भाई !

भाव बदलना अपने हाथकी बात है। भाव ऐसे बदलो कि हमें सुख नहीं लेना है। भोजन करो, पर भोजनका सुख मत लो; कपड़ा पहनो, पर कपड़ेका सुख मत लो। नींद लो, पर नींदका सुख मत लो। कपड़ा ओढ़ो, पर ओढ़नेका सुख मत लो। संसारको देखो, पर देखनेका सुख मत लो। बात अच्छी-अच्छी सुनो,पर सुननेका सुख मत लो। अच्छा विचार करो, पर अच्छे विचारका सुख मत लो।

श्रोता—इनमें सुख मालूम देता है!

स्वामीजी—मालूम देता है, तभी तो भोगना नहीं है। सुख मालूम देना दोषी नहीं है, उससे राजी होना दोषी है। कोई आदमी हमारे अनुकूल हो जाय तो हम राजी हो जाते हैं कि यह आदमी बड़ा अच्छा है। अतः राजी होना और उस आदमीको अच्छा मानना—ये दो दोष आते हैं। कोई आदमी हमारा तिरस्कार करता है तो हमें दुःख होता है और हम उस आदमीको खराब मान लेते हैं। अतः दुःखी होना और उस आदमीको खराब मानना—ये दो दोष आते हैं। सुख लेना और दुःखी होना—ये दोनों मुख्य बाधाएँ हैं। जो सुख देता है, उस आदमीको अच्छा मानते हैं तो अच्छा मानना दोष नहीं है, पर सुखके कारण अच्छा मानते हैं—यह दोष है। सुख लेना इतना दोषी नहीं है, जितना सुखसे राजी होना दोषी है।

सुख-दुःखका ज्ञान होना दोषी नहीं है, सुखी-दुःखी होना दोषी है। भगवान्‌ने क्या सुन्दर कहा है—**'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः'** (गीता २। ५६)। दुःखका ज्ञान हो, पर मनमें उद्वेग न हो और सुखका ज्ञान हो, पर भीतरमें स्पृहा न हो तो बुद्धि स्थिर हो जायगी। देखो, यह ऐसी गहरी बात है कि जल्दी पता नहीं लगता है। हमें तो बहुत वर्षोंतक पता नहीं लगा, आपलोगोंकी आप जानें। हमारी ऐसी खोज रहती थी कि बाधा क्या है और क्यों है? सुनते हैं, समझते हैं, पढ़ते हैं, विचार करते हैं, फिर भी जैसी स्थिति होनी चाहिये, वैसी नहीं हो रही है, तो बाधा क्या है? यह बाधा यहाँ लगती है कि अनुकूलतामें हम राजी होते हैं और प्रतिकूलतामें हम नाराज होते हैं। राजी-नाराज होना, सुखी-दुःखी होना भोग है। जितने भी सम्बन्धजन्य भोग हैं, वे सब-के-सब दुःखोंके कारण हैं—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'** (गीता ५। २२)। सुखके भोगीको भयंकर दुःख पाना पड़ेगा। कोई टाल नहीं सकता उसको। सुख अपनी मरजीसे भोगेंगे और दुःख परवश होकर, पराधीन होकर भोगेंगे।

श्रोता—सुखकी आसक्ति कैसे छूटे?

स्वामीजी—मैंने पहले ही यह बात बतायी कि हम अपना भाव बदल दें कि दूसरेको सुख कैसे हो? उसका हित कैसे हो? उसका कल्याण कैसे हो? उसकी सद्गति कैसे हो? उसका सुधार कैसे हो? उसकी उन्नति कैसे हो?

श्रोता—भाव कैसे बदलेगा महाराजजी! गुरु-कृपासे या सत्सङ्गसे?

स्वामीजी—यह स्वयंसे बदलेगा। दूसरी बात हमने सोच रखी है, वह है—सत्सङ्ग। सत्सङ्गमें आपसमें ऐसे विचार होते रहें तो इससे बड़ा भारी लाभ होता है। जैसे, एक कमा करके धनी बनता है और एक धनीकी गोद चला जाता है। गोद जानेवालेको क्या जोर आता है? आज कँगला, कल लखपति! कमाया हुआ धन मिलता है। ऐसे ही सत्सङ्गके द्वारा कमाया हुआ धन मिलता है। जिन लोगोंने साधन किया है, विचार किया है और अपने साधनमें ऊँचे बढ़े हैं, उनको इसमें कितने वर्ष लगे हैं! परन्तु वे अपनी बात हमें बता दें तो हमारेको कमाया हुआ धन मिल गया न?

श्रोता—महाराजजी! सत्संग हमेशा मिलता नहीं है।

स्वामीजी—तो जब मिलता हो, तब पकड़ो। सत्सङ्गके विषयमें हमने एक बहुत मार्मिक बात पढ़ी है कि सत्सङ्ग एक बार ही होता है, दो बार होता ही नहीं। दो बार सुनना होता है, चर्चा होती है, चिन्तन होता है, क्रिया होती है। सत्-क्रिया, सत्-चिन्तन, सत्-श्रवण, सत्-कथन! ये बार-बार होते हैं, पर सत्का संग एक बार ही होता है। एक बार हो जायगा तो वह सदाके लिये हो जायगा और उस एक बारके लिये ही बार-बार करना है।

अपने सत्-स्वरूपका एक बार बोध हो गया तो हो ही गया। आँख खुल गयी तो खुल ही गयी। क्या नींदसे जगनेके लिये अभ्यास करना पड़ता है? अभ्याससे भी कल्याण होता है, पर देरीसे होता है। परन्तु ज्ञान (बोध) होनेसे, मान लेनेसे अथवा त्याग करनेसे तत्काल कल्याण होता है। बोधका, मान्यताका और त्यागका कभी टुकड़ा नहीं होता। ये एक ही साथ होते हैं पड़ाकसे!

जैसे विवाह होनेपर स्त्रीको अपनी माननेके लिये आपको अभ्यास नहीं करना पड़ता, उद्योग नहीं करना पड़ता। केवल दृढ़तासे मान लेते हो कि मेरी स्त्री है। ऐसे ही गुरु बनाते हो तो उसमें भी मान्यता होती है। इसी तरह 'भगवान् हमारे हैं' ऐसी दृढ़ मान्यता हो जाय। जैसे स्त्रीको जँच जाता है कि मेरा पति है और पतिको जँच जाता है कि मेरी स्त्री है, इससे भी बढ़कर जँचना चाहिये कि भगवान् मेरे हैं। पति-पत्नीका भाव तो अपना बनाया हुआ है, पर हम परमात्माके हैं—यह अपना बनाया हुआ नहीं है, प्रत्युत स्वतःसिद्ध है। केवल इस तरफ ध्यान देना है कि ओहो! हम तो परमात्माके हैं! जैसे अर्जुनने

कहा—'**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**' (गीता १८। ७३), मोह नष्ट हो गया और याद आ गयी! याद आ गयी—यह नया ज्ञान नहीं है, नया सम्बन्ध नहीं है। भगवान्‌के सम्बन्धकी याद आ गयी तो यह पति-पत्नीके सम्बन्धकी अपेक्षा भी दृढ़ है; क्योंकि पति-पत्नीका सम्बन्ध तो मान्यता होकर आरम्भ हुआ है, पहले सम्बन्ध था नहीं। जिस समय विवाह होता है उस समय यह सम्बन्ध आरम्भ होता है। परन्तु भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध आरम्भ नहीं होता। यह तो सदासे ही है। केवल इस सम्बन्धको मान लेना है, बस। इसमें देरीका काम नहीं है। जिस दिन इसको मान लिया, उस दिन सत्संग हो गया, सत्‌का संग हो गया! इसमें बाधा यह है कि हम जिन पदार्थोंको नाशवान् मानते हैं, उनको अपना मान लेते हैं। यह गलती है। इस गलतीको मिटानेमें जोर पड़ता है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति तो सुगम है, पर संसारका त्याग करनेमें जोर पड़ता है। जिनको हम नाशवान् जानते हैं, उनका ही संग्रह करते हैं। उनसे ही सुख लेते हैं—यह जो हमारी चाल है न, यह चाल खतरनाक है। यह चाल बदलनी चाहिये। चालमें भी केवल भीतरका भाव बदलना है कि औरोंको सुख कैसे हो? यह भले ही घरसे शुरू कर दो कि माता, पिता, स्त्री, पुत्र, परिवारको सुख कैसे हो? पर साथ-साथ उनसे सुख लेनेकी आशा छोड़ दो। जिससे सुख मिलनेकी आशा नहीं है, उसको सुख नहीं पहुँचाते और जिसको सुख पहुँचाते हैं उससे सुख लेनेकी आशा रहती है—यह है खास बन्धन। इसलिये सुखकी आशा न रखकर दूसरोंको सुख देना है, दूसरोंको आराम देना है, दूसरोंकी बात रखनी है। अपनी बात रखोगे तो बड़ी भारी आफत हो जायगी। मेरी बात रहे— इसीमें बन्धन है।

हम जो नाशवान् पदार्थोंसे राजी होते हैं; जानते हैं कि ये रहेंगे नहीं, टिकेंगे नहीं, फिर भी उसमें रस लेते हैं, यहींसे बन्धन होता है।

श्रोता—महाराजजी! हमारी तो आदत ही ऐसी पड़ गयी सुख लेनेकी!

स्वामीजी—भैया! आदत छोड़नेके लिये ही तो हम यहाँ इकट्ठे हुए हैं। यहाँ कौन-से पैसे मिलते हैं! आदत सुधारनेके समान कोई उन्नति है ही नहीं। अपने स्वभावको शुद्ध बना लेनेके समान आपका कोई पुरुषार्थ नहीं है। इसके समान कोई लाभ नहीं है। आपका पुरुषार्थ, उद्योग, प्रयत्न इसीमें होना चाहिये कि स्वभाव सुधरे। स्वभाव ही सुधरता है और क्या सुधरता है बताओ? जो सन्त-महात्मा होते हैं, उनका भी स्वभाव ही सुधरता है। शरीरमें फरक नहीं पड़ता, स्वभावमें फरक पड़ता है। इसलिये अपनी आदत है, अपना स्वभाव है, अपनी प्रकृति है, इसको हमें शुद्ध करना है। इसमें जो-जो अशुद्धि आये, उसको निकालना है। यह एक ही खास काम करना है।

यह याद कर लो कि अपना स्वभाव सुधारनेमें हम स्वतन्त्र हैं, पराधीन नहीं हैं। इसको दूसरा कोई कर देगा—यह बात नहीं है। यह तो आप ही करोगे, तब होगा। जब कभी करोगे तो आपको ही करना पड़ेगा। आपने प्रश्न किया था कि यह गुरु-कृपासे होगा या संत-कृपासे होगा, तो इस विषयमें आपको एक मार्मिक बात बताता हूँ। अगर गुरु-कृपासे होगा तो गुरुको आप मानोगे, तब होगा। अगर संत-कृपासे होगा तो संतको आप मानोगे, तब होगा। अन्तमें बात आपके ऊपर ही आयेगी। आप मानोगे, तब होगा। ईश्वरकी कृपा तो सदासे है, पर आप मानोगे, तब वह काम करेगी। इसलिये गीतामें कहा गया है कि अपने-आपसे अपना उद्धार करे—'**उद्धरेदात्मनात्मानम्**' (६। ५)। आपके माने बिना गुरु क्या करेगा? हम गुरु मानेंगे, संत-महात्मा मानेंगे, तभी वे कृपा करेंगे।

भगवान्‌के रहते हुए हम दुःख क्यों पा रहे हैं? भगवान्‌में तीन बातें हैं— वे सर्वज्ञ हैं, दयालु हैं और सर्वसमर्थ हैं। ये तीनों बातें याद कर लें और इनका मनन करें। सर्वज्ञ होनेसे वे हमारे दुःखको जानते हैं। दयालु होनेसे वे हमारा दुःख नहीं देख सकते, दुःख देख करके पिघल जाते हैं। सर्वसमर्थ होनेसे वे हमारे दुःखको मिटा सकते हैं। इन तीनों बातोंमेंसे एक भी बात कम हो तो मुश्किल होती है, जैसे—दयालु हैं, पर हमारे दुःखको जानते नहीं और दयालु हैं तथा हमारे दुःखको भी जानते हैं, पर दुःख दूर करनेकी सामर्थ्य नहीं! परन्तु तीनों बातोंके मौजूद रहते हुए हम दुःखी होते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है!

एक कायस्थ सज्जन थे। उन्होंने मेरेसे कहा कि क्या करें, मेरी लड़की बड़ी हो गयी, पर सम्बन्ध हुआ नहीं। मैंने कहा कि अभी एक तुम चिन्ता करते हो, ज्यादा करोगे तो हम दोनों चिन्ता करने लग जायँगे, दोनों रोने लग जायँगे, इससे ज्यादा क्या करेंगे? ज्यादा दया आ जायगी तो हम भी रोने लग जायँगे और हम क्या कर सकते हैं? हमारे पास पैसा नहीं, हमारे पास सामर्थ्य नहीं! ऐसे ही भगवान्‌की दया आ जाय और सामर्थ्य न हो तो वे रोने लग जायँगे और क्या करेंगे? परन्तु वे सर्वसमर्थ हैं, सर्वज्ञ हैं और दयालु हैं, दयासे द्रवित हो जाते हैं। इन तीनों बातोंके रहते हुए हम दुःखी क्यों हैं? इसमें कारण यह है कि हम इनको मानते ही नहीं, फिर भगवान् क्या करें, बताओ?

श्रोता—अपनी ही कमी है महाराजजी !

स्वामीजी—अपनी कमी तो अपनेको ही दूर करनी पड़ेगी, चाहे आज कर लो, चाहे दिनोंके बाद कर लो, चाहे महीनोंके बाद कर लो, चाहे वर्षोंके बाद कर लो, चाहे जन्मोंके बाद कर लो, यह आपकी मरजी है ! जब आप दूर करना चाहो, कर लो। चाहे अभी दूर कर लो, चाहे अनन्त जन्मोंके बाद।

संसारको तो अपना मान लिया और भगवान्‌को अपना नहीं माना—यह बाधा हुई है मूलमें। अतः भगवान्‌को अपना मान लो—*'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'।* आप भगवान्‌को तो अपना मान लेते हो, पर *'दूसरो न कोई'* इसको नहीं मानते। इसको माने बिना अनन्यता नहीं होती। अनन्य चित्तवाले मनुष्यके लिये भगवान् सुलभ हैं—**'अनन्यचेताः सततं ······ तस्याहं सुलभः पार्थ'** (गीता ८। १४)। शर्त यही है कि अन्य किसीको अपना न माने। *'एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥'* (मानस ३। १०। ४)। भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई सहारा न हो, प्यारा न हो, गति न हो, तो वह भगवान्‌को प्यारा लगता है। अतः अनन्य भावसे भगवान्‌को अपना मान लो। यह हमारे हाथकी बात है, हमारेपर निर्भर है। बातें सुनना, शास्त्र पढ़ना आदि इसमें सहायक हैं, पर करना अपनेको ही पड़ता है।

★

सुखासक्तिसे छूटनेका उपाय

मूल बाधा—संयोगजन्य सुखकी आसक्ति। संयोगजन्य सुखकी जो भीतरमें एक लालसा है, इच्छा है, वासना है, लोभ है, यह खास बीमारी है। संयोगजन्य सुख तो ठहरता नहीं है, अगर उसकी लालसा त्याग दें तो बड़ा सीधा काम है।

विषयोंकी इच्छा है, भोगोंकी इच्छा है, संग्रहकी इच्छा है, मानकी इच्छा है, बड़ाईकी इच्छा है, आरामकी इच्छा है—यह हमारे सामने उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। यह इच्छा कभी पूरी हो जाती है, कभी अधूरी रह जाती है; कभी आंशिक पूरी होती है, कभी नष्ट हो जाती है। परन्तु हम ज्यों-के-त्यों रहते हैं, हमारे स्वरूपमें कोई फरक नहीं पड़ता। अगर अपने स्वरूपमें स्थित हो जायँ तो इच्छाएँ मिट जायँगी और अगर इच्छाओंको मिटा दें तो अपने स्वरूपमें स्थिति हो जायगी। दोनोंमेंसे जो चाहो, सो कर लो। सत्‌की जिज्ञासासे भी, असत्‌की निवृत्तिसे भी सत्‌की प्राप्ति होती है।

जिस सुखकी उत्पत्ति होती है और नाश होता है, ऐसे सुखकी लालसा मिटानी है—इतना काम करना है। संयोग-जन्य सुख खुद तो हरदम रहता नहीं और नित्य-निरन्तर रहनेवाले परमात्मतत्त्वके सुखसे वञ्चित कर देता है, कितने अनर्थकी बात है ! ऐसे संयोगजन्य सुखका भी त्याग नहीं कर सकते तो हम क्या त्याग कर सकते हैं !

सुखकी कामना उत्पन्न और नष्ट होती है, पर आप उत्पन्न और नष्ट नहीं होते हो। कामना आपमें होती है, आप कामनामें नहीं होते हो। आप व्यापक हो , कामना व्याप्य है अर्थात् आप सब देशमें हो, कामना एक देशमें है; आप सब कालमें हो, कामना एक कालमें है; और कामना हो या न हो, आपमें कोई फरक नहीं पड़ता, आप ज्यों-के-त्यों रहते हैं। कामनाको केवल आपने ही पकड़ रखा है, कामनामें आपको पकड़नेकी कोई ताकत नहीं है। सत्सङ्गके समय कामना नहीं रहती, इसलिये अनुभव होता है कि तत्त्व ज्यों-का-त्यों है। कामना होनेपर यह अनुभूति वैसी नहीं रहती। इसलिये यह प्रश्न होता है कि सत्संग सुनते समय जैसा भाव रहता है, वैसा और समयमें नहीं रहता। वास्तवमें तो वह तत्त्व नित्य-निरन्तर वैसे-का-वैसा ही रहता है। सत्संग सुनो चाहे मत सुनो, चाहे कुसंग करो, सत्-तत्त्व तो ज्यों-का-त्यों ही रहता है, उसका कभी नाश नहीं होता। परन्तु आपकी दृष्टि असत्‌की तरफ चली जाती है तो वह असत् आपपर हावी हो जाता है और ऐसा दीखने लगता है कि मानो सत् नहीं रहा; जो कभी हो और कभी न हो, वह सत् कैसे हो सकता है ? सत् तो हरदम ज्यों-का-त्यों रहता है। असत्‌की लालसामें सत्‌को ढकनेकी शक्ति नहीं है; क्योंकि सत् व्यापक है और असत् व्याप्य है। तुच्छ चीज महान्‌को ढक दे, आवृत कर दे—ऐसा नहीं है। '**आवृतं ज्ञानमेतेन**........' (गीता ३। ३९) 'इस कामनासे वह ज्ञान आवृत है'—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि ज्ञान आवृत नहीं होता, आपकी दृष्टि आवृत होती है। जैसे, बादल आनेपर सूर्य नहीं दीखता तो हम कहते हैं कि सूर्य ढक गया। परन्तु वास्तवमें सूर्य नहीं ढकता, हमारी आँख ढक जाती है। सूर्य तो भूमण्डलसे भी बड़ा है, वह थोड़ेसे बादलके टुकड़ेसे कैसे ढक सकता है ? ऐसे ही कामना आती है तो हम मान लेते हैं कि हम कामनाके वशीभूत हो गये, कामनाने हमें हरा दिया। वास्तवमें यह बात नहीं है। आपको कामना कैसे ढक सकती है ? कामना तुच्छ है और आप महान् हैं—'**नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः**' (गीता २। २४)। आप

कामनाकी उत्पत्ति और विनाशको जाननेवाले हो। जो उत्पत्ति और विनाशको जाननेवाला होता है, वह अविनाशी होता है, बड़ा होता है। जो उत्पन्न और नष्ट होता है, वह तो छोटा होता है, पर जो उसकी उत्पत्ति और विनाशको जाननेवाला होता है, वह बड़ा होता है।

श्रोता—सुखकी आसक्ति हमारेपर एकदम अधिकार जमा लेती है। उस समय हमें अपने बलका पता ही नहीं लगता। हम निर्बल हो जाते हैं, पराजित हो जाते हैं!

स्वामीजी—जिस समय कामना पैदा होती है, आसक्ति पैदा होती है, उस समय उसका बड़ा असर पड़ता है—यह बात ठीक है; परन्तु इस बातपर विश्वास रखो कि सत्-वस्तु तो निष्कामता ही है। अतः निष्कामभावको सकामभाव दबा ही नहीं सकता। सकामभाव उत्पन्न और नष्ट होता है, पर निष्कामभाव सकामभावके उत्पन्न होनेसे पहले भी रहता है, सकामभावके नष्ट होनेके बाद भी रहता है और सकामभावके समय भी ज्यों-का-त्यों रहता है। वास्तवमें निष्कामभाव ही नित्य है। इसलिये कामना पैदा होनेपर आप उससे हार स्वीकार मत करो। बड़ी-से-बड़ी कामना हो जाय, कामनामें आप बह जाओ, कामनाके वशीभूत हो जाओ तो भी आप कृपा करके इतना खयाल रखो कि यह कामना टिकनेवाली नहीं है और निष्कामता मिटनेवाली नहीं है। कामना तो उत्पन्न और नष्ट होती है, पर आप हरदम रहते हो। अतः कामना आपमें तो नहीं हुई, फिर वह आपको कैसे ढक सकती है, आपको कैसे पराजित कर सकती है? आप जिस समय अपनेको पराजित मानते हो, उस समय भी यह बात जाग्रत् रखो कि कामना आगन्तुक है, यह रहनेवाली नहीं है। भगवान्‌ने साफ कहा है कि आप इनके आने-जानेकी तरफ देखो, इनके आने-जानेका खयाल रखो। फिर सुगमतासे इनपर विजय प्राप्त कर लोगे। आप कामनामें कितने ही बह जाओ, पर **'आगमापायिनोऽनित्याः'** को याद रखो। मैंने तो कई बार कहा है कि अरे भाई! यह मन्त्र है! जैसे बिच्छू डंक मार दे तो उसका मन्त्रद्वारा झाड़ा करनेसे जहर उतर जाता है, ऐसे ही आप **'आगमापायिनोऽनित्याः'** का जप शुरू कर दें तो कामना आदि आगन्तुक दोषोंका जहर उतर जायगा, उनकी जड़ कट जायगी। इतनी शक्ति है भगवान्‌के कहे हुए इन शब्दोंमें! यह क्रियात्मक साधन है और बड़ा सुगम है, आप करके देखो।

भागवतके ये पद मेरेको बहुत प्रिय लगते हैं'— **'जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्'** (११। २०। २८)। अगर भोगोंका त्याग न कर सकें तो उनको दुःखरूप समझकर, उनकी निन्दा करते हुए भोगें। भोगोंको भोगते हुए भी उनको अच्छा न समझें, उनको नापसन्द करें, तो उनसे छुटकारा मिल जायगा। उनके परवश होनेपर भी आप उनसे दबो मत। केवल इतना याद रखो कि हम रहनेवाले हैं और ये जानेवाले हैं। आप करके देखो। यह साधन कठिन है क्या? अभी इसका विचार कर लो, मनन कर लो तो फिर इसको भूलोगे नहीं। असत्‌में रहनेकी ताकत नहीं है। असत्‌की सत्ता नहीं होती और सत्‌का अभाव नहीं होता—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। आपकी सत्ता है और आप असत्‌से दब जाते हैं, तो यह दबना इतना दोषी नहीं है, जितना दोषी असत्‌का महत्त्व मानना है कि यह तो बड़ा प्रबल है। यह मान्यता ही गजब करती है।

एक राजपूत था और एक बनिया था। दोनों आपसमें भिड़ गये तो राजपूतको गिराकर बनिया ऊपर चढ़ बैठा। राजपूतने उससे पूछा—अरे! तू कौन है? उसने कहा—मैं बनिया हूँ। सुनते ही राजपूतने जोशमें आकर कहा कि अरे! बनिया मेरेको दबा दे! यह कैसे हो सकता है! और चट बनियेको नीचे दबा दिया। यह तो एक दृष्टान्त है। तात्पर्य यह है कि आप तो निरन्तर रहनेवाले हो और कामना निरन्तर रहनेवाली है ही नहीं। जैसे राजपूतने सोचा कि मैं तो क्षत्रिय हूँ, मेरेको बनिया नहीं दबा सकता, ऐसे ही आप भी राजपूत हो, भगवान्‌के पूत हो; आप विचार करो कि असत्‌की कामना मेरेको कैसे दबा सकती है? कामना भी असत्‌की और कामना खुद भी असत्, वह सत्‌को दबा दे—यह हो ही नहीं सकता। बस, इतनी ही बात है। लम्बी-चौड़ी बात है ही नहीं। अब इसमें क्या कठिनता है, आप बताओ? एकदम सीधी बात है। आप थोड़ी हिम्मत रखो कि मैं तो हरदम रहनेवाला हूँ। बालकपनसे लेकर अभीतक मैं वही हूँ। मैं पहले भी था, अब भी हूँ और बादमें भी रहूँगा, नहीं तो किये हुए कर्मोंका फल आगे कौन भोगेगा? मैं तो रहनेवाला हूँ और ये शरीर आदि असत् वस्तुएँ रहनेवाली हैं ही नहीं। इनके परवश मैं कैसे हो सकता हूँ? नहीं हो सकता। आप हिम्मत मत हारो।

हिम्मत मत छाड़ो नरां, मुख सूं कहतां राम।
हरिया हिम्मत सूं कियां, ध्रुव का अटल धाम॥

ये बातें बहुत सुगम हैं। आप पूरा विचार नहीं करते—यह बाधा है। न तो स्वयं सोचते हो और न कहनेपर स्वीकार करते हो। अब क्या करें, बताओ? आप सत् हो और ये बेचारे असत् हैं, आगन्तुक हैं। आप मुफ्तमें ही इनसे दब गये। अपने महत्त्वकी तरफ आप ध्यान नहीं देते। आप कौन

हैं—इस तरफ आप ध्यान नहीं देते। आप परमात्माके अंश हो। आपमें असत् कैसे टिक सकता है ? यह आपके बलसे ही बलवान् हुआ है। इसमें खुदका बल नहीं है। यह तो है ही असत् ! आप सत् हो और आपने ही इसको महत्त्व दिया है।

जैसे किसीका पुत्र मर गया, तो बड़ा शोक होता है कि मेरा लड़का चला गया ! लड़का तो एक बार मरा और शोक रोजाना करते हो, तो बताओ कि शोक प्रबल है या लड़केका मरना प्रबल है ? लड़का तो एक बार ही मर गया, खत्म हुआ काम, पर शोकको आप जीवित रखते हो। शोकमें ताकत कहाँ है रहनेकी ? शोक तो लड़केके मरनेसे पैदा हुआ है बेचारा ! उस शोकको आप रख सकोगे नहीं। कुछ वर्षोंके बाद आप भूल जाओगे। शोक आपसे-आप नष्ट हो जायगा। आप बार-बार याद करके उसको जीवित रखते हो, फिर भी उसको जीवित रख सकोगे नहीं। दस-पन्द्रह वर्षके बाद वह यादतक नहीं आयेगा। इसलिये उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुको आप महत्त्व मत दो, उसकी परवाह मत करो। हमारी बात तो इतनी ही है कि आप असत्को महत्त्व क्यों देते हो ? अपने विवेकको महत्त्व क्यों नहीं देते ?

बहुत वर्षोंतक मेरेमें यह जाननेकी लालसा रही कि गड़बड़ी कहाँ है ? बाधा किस जगह लग रही है ? न चाहते हुए भी मनमें मान-बड़ाईकी, आदर-सत्कारकी, पदार्थोंकी इच्छा हो जाती है, तो यह कहाँ टिकी हुई है ? यह छूटती क्यों नहीं ? वर्षोंके बाद इसकी जड़ मिली, वह है—सुखकी लोलुपता। हमें यह बात वर्षोंके बाद मिली, आपको सीधी बता दी । आपको सुगमतासे मिल गयी, इसलिये आप इसका आदर नहीं करते। यदि कठिनतासे मिलती तो आप आदर करते। आप पहाड़ोंमें भटकते, बद्रीनारायण जाते, खूब तलाश करते और इस तरह भटकते-भटकते कोई सन्त मिल जाता तथा वह यह बात कहता तो आप इसका आदर करते। अब रुपये कमाते हो, कुटुम्बके साथ घरोंमें मौजसे बैठे हो और सत्संगकी बातें मिल जाती हैं तो आप उनका महत्त्व नहीं मानते। उलटे ऐसा मानते हो कि स्वामीजी तो यों ही कहते हैं, ये दुकानपर बैठें तो पता लगे ! इस तरफ आप अपनी ही बातको प्रबल करते हो। सिद्ध क्या हुआ ? कि हमारी बात सच्ची है, इनकी (स्वामीजीकी) बात कच्ची है। आपने विजय तो कर ली, पर फायदा क्या हुआ ? आप जीत गये, हम हार गये, पर जीतमें आपका नुकसान ही हुआ।

एक धनी आदमीने कहा कि स्वामीजी रुपयोंके तत्त्वको जानते नहीं तो मैंने कहा कि देखो, मैंने रुपये रखे भी हैं और उनका त्याग भी किया है, इसलिये मैं दोनोंको जानता हूँ। परन्तु आपने रुपये रखे हैं, उनका त्याग नहीं किया है, इसलिये आप एक ही बातको जानते हो , दोनोंको नहीं जानते। कोई तत्त्व नहीं है रुपयोंमें। आप लोभसे दबे हुए हो, आपने रुपयोंका महत्त्व स्वीकार कर लिया है, फिर कहते हो कि हम जानते हैं। धूल जानते हो आप ! जानते हो ही नहीं।

परमात्माको जाननेके लिये परमात्माके साथ अभिन्न होना पड़ता है और संसारको जाननेके लिये संसारसे अलग होना पड़ता है। परमात्मासे अलग रहकर परमात्माको नहीं जान सकते और संसारसे मिले रहकर संसारको नहीं जान सकते—यह सिद्धान्त है। ऐसा सिद्धान्त क्यों है ? कि वास्तवमें आप परमात्माके साथ अभिन्न हो और संसारसे अलग हो। परन्तु आपने अपनेको परमात्मासे अलग और संसारसे अभिन्न मान लिया, अब कैसे जानोगे ? जो बीड़ी, सिगरेट आदि पीता है, वह बीड़ी आदिको जान नहीं सकता। जो इनको छोड़ देता है, उसको इनका ठीक-ठाक ज्ञान हो जाता है। एक बार मैंने कहा कि चाय छोड़ दो। बहुतोंने चाय छोड़ दी। पासमें ही एक वकील बैठे थे, वे कुछ भी बोले नहीं। तीन-चार दिन बादमें वे मेरे पास आये और बोले कि चाय तो मैंने भी उसी दिन छोड़ दी थी, पर सभामें मेरी बोलनेकी हिम्मत नहीं हुई। चाय छोड़नेके बाद यह बात मेरी समझमें आयी कि जिस प्यालेसे गोमांसभक्षी चाय पीता है, छूतकी महान् बीमारीवाला चाय पीता है, उसी प्यालेसे हम चाय पीते हैं ! इससे सिद्ध हुआ कि संसारको छोड़े बिना उसके तत्त्वको नहीं जान सकते।

सत्की प्राप्तिकी लालसा करो तो असत् छूट जायगा और असत्का त्याग करो तो सत्की प्राप्ति हो जायगी। दोनोंमेंसे कोई एक करो तो दोनों हो जायँगे। असत्का संग करते हुए, आसक्ति रखते हुए असत्को नहीं जान सकते और सत्से दूर रहकर बड़ी-बड़ी पण्डिताईकी बातें बघार लो, षट्शास्त्री पण्डित बन जाओ, तो भी सत्को नहीं जान सकते।

संसारकी आसक्ति दूर करनेका सुगम उपाय है—दूसरोंको सुख देना। माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, भौजाई आदि सबको सुख दो, पर उनसे सुख लो मत तो सुगमतासे आसक्ति छूट जायगी।

★

खण्डन-मण्डनसे हानि

किसीकी बातका खण्डन करनेसे आपसमें संघर्ष बढ़ता है। हम दूसरेके मतका खण्डन करेंगे तो वह हमारे मतका खण्डन करेगा, जिससे कलह ही बढ़ेगा। अतः हो सके तो दूसरेको शान्तिपूर्वक अपनी बातका, अपने सिद्धान्तका तात्पर्य बताओ और यदि वह सुनना नहीं चाहे तो चुप हो जाओ। अपनी हार भले ही मान लो, पर संघर्ष मत करो।

सरदारशहरके 'टीचरट्रेनिंगकालेज' की एक बात है। वहाँ एक सज्जनने कहा कि देशका जितना नुकसान हुआ है, वह सब ईश्वरवादसे, आस्तिकवादसे ही हुआ है। मैं चुप रहा तो उन्होंने कहा कि 'बोलो!' तो मैंने कहा कि 'आपने अपना सिद्धान्त कह दिया। आपको मेरा सिद्धान्त मान्य नहीं है और मुझे भी आपका सिद्धान्त मान्य नहीं है। अब बोलनेकी जगह ही नहीं है और जरूरत भी नहीं है।' इस तरह हमारेपर कोई आक्रमण कर दे तो सह लो। सहनेसे, निर्विकार रहनेसे अपना मत, सिद्धान्त मजबूत होता है, संघर्षसे नहीं। निर्विकार रहनेमें जो शक्ति है, वह और किसी उपायमें नहीं है। आपसे अपने इष्टकी निन्दा न सही जाय तो वहाँसे उठकर चले जाओ; कान मूँद लो, सुनो मत। कारण कि ऐसे आदमियोंको भली बात भी बुरी लगती है। विभीषणने रावणको अच्छी सलाह दी, पर रावणने विभीषणको लात मारी! अतः शान्त रहना बहुत अच्छा है। अपनेसे जो सहा नहीं जाता, यह अपनी कमजोरी है। यह तो ठाकुरजी लीला करते हैं आपको पक्का बनानेके लिये! यदि सहा न जाता हो तो भगवान्‌से प्रार्थना करो कि 'हे नाथ! हम सह नहीं सकते। कृपा करो, सहनेकी शक्ति दो।'

दूसरा हमारे मतका, हमारे इष्टका खण्डन करे तो यह हमारेको बुरा लगता है और हम अपने इष्टका मण्डन करने लगते हैं। परन्तु वास्तवमें अपने इष्टका मण्डन करनेसे, प्रचार करनेसे उसका प्रचार नहीं होगा। आप चुप रह जाओ। जैसे, काकभुशुण्डिजीने पूर्वजन्ममें लोमश ऋषिके पास जाकर कहा कि मेरेको रामजीका ध्यान बताओ, तो लोमश ऋषिने अच्छा पात्र समझकर उन्हें ज्ञानका उपदेश दिया। लोमशजीने बार-बार ज्ञानकी बात कही, पर काकभुशुण्डिजीने उस बातको स्वीकार नहीं किया और अपनी बात कही। इससे लोमशजीको गुस्सा आ गया और उन्होंने शाप दे दिया कि तू कौएकी तरह मेरी बातसे डरता है; जा, तू कौआ हो जा! काकभुशुण्डिजी कौआ बन गये। कौआ बननेपर भी उनको न भय लगा, न दीनता आयी—***'नहिं कछु भय न दीनता आई'*** (मानस, उत्तर॰ ११२।८)। लोमशजीने जब ऐसी सहनशीलता देखी तो उन्होंने प्रेमपूर्वक उसे पासमें बुलाया, रामजीका मन्त्र और ध्यान बताया। इस विषयमें काकभुशुण्डिजीने कहा है—

भगति पच्छ हठ करि रहेउँ दीन्हि महारिषि साप।
मुनि दुर्लभ बर पायउँ देखहु भजन प्रताप॥

(मानस, उत्तर॰ ११४ ख)

भजन क्या था? सहनशीलता, शान्त रहना, इस भजनके प्रतापसे मुनिने वरदान दिया कि तुम्हारे रहनेके स्थानसे योजनभर तुम्हारे पास माया नहीं आयेगी। अतः शान्त रहनेमें बहुत बड़ी शक्ति है।

एक मार्मिक बात है कि आपके इष्टका खण्डन होता है तो वह आपके मण्डन करनेसे नहीं मिटेगा। आप मण्डन करेंगे तो दूसरा और तेजीसे खण्डन करेगा। मण्डन करनेमें एक मार्मिक बात है कि आप अपने इष्टको कमजोर मानते हैं। इष्ट ऐसा कमजोर नहीं है कि उसको हमारी सहायतासे कोई बल मिलेगा। हम अपने इष्टका जितना पक्ष लेते हैं, उतना ही हम अपने इष्टको कमजोर मानते हैं। हम जितना ही अपने इष्टको दूसरोंपर लादना चाहते हैं, दूसरोंको मनवाना चाहते हैं, इष्टपर हमारी भक्ति उतनी ही कम होती है। आपको दीखे या न दीखे, पर है ऐसी ही बात।

हमारेमें पहली कमी तो यह है कि हम अपनी बड़ाई चाहते हैं। हमसे इष्टकी निन्दा सही नहीं जाती, उसको हम सह नहीं सकते। परन्तु साधकको पता नहीं लगता कि मुझे किस बातका दुःख हो रहा है। हम अपने इष्टका मण्डन करते हैं। उस मण्डनमें हम अपने इष्टको कमजोर मानते हैं। कैसे? यदि हम अपने इष्टको कमजोर न मानें तो क्या हमारे इष्टको मण्डनकी आवश्यकता है? खण्डन करनेवालेके सामने अपने इष्टका मण्डन करके क्या हम अपने इष्टकी सहायता करते हैं? अगर सहायता करते हैं तो हमने अपने इष्टको कमजोर ही सिद्ध किया!

अपने इष्टकी निन्दा नहीं सुन सकते तो मत सुनो, पर हमारी सहायतासे उनको बल मिल जायगा, हम अपने इष्टको सिद्ध कर देंगे— यह बात नहीं है। यदि वह खण्डन करनेवाला व्यक्ति हमारी बात सुनना चाहे तो सुनाओ; क्योंकि वह सुनना चाहेगा, तभी काम ठीक होगा। जैसे, आप सुनना चाहते हैं तो मैं आपको व्याख्यान सुनाता हूँ; परन्तु मैं बाजारमें जाकर सुनाऊँ तो कोई भी नहीं सुनेगा। जो सुननेके लिये तैयार होगा, वही सुनेगा। जो सुननेके लिये तैयार नहीं है, उसको सुनानेसे अपने इष्टका अपमान ही होगा। उसके सामने हम जितना ही अपने इष्टका मण्डन करेंगे, उतनी ही उसकी खण्डनकी वृत्ति तेज होगी और उसकी हमारे इष्टपर अश्रद्धा होगी।

एक गहरी बात है कि सब परमात्माके अंश होनेसे जैसे हम अपना अपमान नहीं सह सकते, ऐसे ही खण्डन करनेवाला भी अपना अपमान नहीं सह सकता। उसकी बात कटेगी तो उसको बुरा लगेगा ही। बुरा लगेगा तो उसके भीतर हमारे इष्टके खण्डनकी अनेक युक्तियाँ पैदा होंगी, खण्डनकी युक्तियोंका प्रवाह पैदा होगा। फिर उसमें सत्य-असत्य, न्याय-अन्यायका विचार नहीं रहेगा।

एक जल्पकथा होती है, एक वितण्डाकथा होती है और एक वादकथा होती है। जल्पकथा वह होती है, जिसमें वक्ता अपनी बात कहता चला जाय। वितण्डाकथा वह होती है, जिसमें एक सोचता है कि उसकी बातका खण्डन कैसे हो और दूसरा भी यही सोचता है कि इसकी बातका खण्डन कैसे हो? यह वितण्डावाद सबसे नीचा कहा गया है। वादकथा वह होती है, जिसमें दोनों शान्तचित्तसे सत्य-असत्यका निर्णय करते हैं। सत्य क्या है? वास्तविकता क्या है?—इस बातको समझनेके लिये दोनों शान्तचित्तसे विचार करते हैं। इस वादकथाको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बताया है—'**वादः प्रवदतामहम्**' (गीता १०। ३२)।

आज जो एक-दूसरेको दबाकर अपनी उन्नति चाहते हैं कि इससे काम ठीक हो जायगा—इसका नतीजा बड़ा भयङ्कर होगा। दबानेसे शक्ति दबती नहीं है। खण्डन करनेवाला भी परमात्माका अंश है, वह अपना तिरस्कार कैसे सहेगा? सह नहीं सकेगा, उलटे वह हमारे इष्टका, हमारे मतका और जोरसे खण्डन करेगा। उस जोरदार खण्डनमें हम ही निमित्त होते हैं। मैंने कई बार व्याख्यानमें कहा है कि अपने मतके मण्डनमें यदि हम दूसरेके मतका खण्डन करते हैं तो वास्तवमें हम दूसरेको अपने मतके खण्डनका निमन्त्रण देते हैं कि तुम भी हमारे मतका खण्डन करो! अतः इससे कोई फायदा नहीं होगा, प्रत्युत दोनोंका नुकसान होगा।

हमारा अपने मतमें सद्भाव तो कम है, पर जिद ज्यादा है, इसीलिये हम दूसरेके मतका खण्डन करते हैं। अपने मतके अनुसार चलनेसे तो कल्याण होता है, पर अपने मतका पक्ष लेनेसे कल्याण नहीं होता। पक्ष लेनेमें 'हमारे इष्टका मण्डन कैसे हो'—इस तरफ ही वृत्ति रहती है, 'हमारा इष्ट क्या कहता है'—इस तरफ ध्यान ही नहीं जाता। अतः दूसरेके मतका खण्डन करनेमें लग जायँगे तो हमारेमें अपने मतका पक्षपात तो रहेगा, पर हम अपने मतके अनुयायी नहीं बन सकेंगे। हम केवल अपने मतके मण्डनमें ही तत्पर हो जायँगे तो हम उसके अनुयायी बनकर अपना कल्याण नहीं कर सकेंगे।

आज दशा क्या हो रही है? सबमें अपने मतका मण्डन और दूसरेके मतका खण्डन करनेकी ही धुन है, परन्तु यह काम साधकका नहीं है। साधकका काम तो अपना कल्याण करना है। हम जिस मतका प्रचार चाहते हैं, उस मतके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ मनुष्य जो-जो आचरण करता है, दूसरे मनुष्य वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण देता है, दूसरे मनुष्य उसीके अनुसार आचरण करते हैं।'

—इस श्लोकपर आप विचार करें। इसके पूर्वार्धमें यत्, यत्, तत्, तत् और एव—ये पाँच शब्द आये हैं और उत्तरार्धमें यत् और तत् ये दो ही शब्द आये हैं। इसका तात्पर्य है कि जहाँ जबानसे कहनेसे दो गुना असर पड़ता है, वहाँ आचरण करनेसे पाँच गुना असर पड़ता है। अतः आचरण दामी है, प्रचार दामी नहीं है। वास्तवमें देखा जाय तो प्रचार उसीके द्वारा होता है, जिसका आचरण वैसा ही होता है। उसकी वाणीमें वजन होता है। जैसे, एक बन्दूकमें गोली होती है और एक बन्दूकमें केवल बारूद होता है। आवाज तो बारूद भी कर देगा, पर चोट गोली ही करेगी। ऐसे ही अपना जो आचरण है, वह गोलीके समान है, जिसका दूसरोंपर असर पड़ता है।

दूसरा हमारे इष्टका खण्डन क्यों करता है—इसमें एक बात और समझनेकी है, आप ध्यान दें! वह हमारे सामने खण्डन करता है तो हमारे अनुष्ठानमें कमजोरी है। अगर हमारा अनुष्ठान कमजोर नहीं होता तो वह खण्डन नहीं कर सकता। हम शान्तिपूर्वक अपने इष्टपर पक्के रहते तो उसमें खण्डन करनेकी हिम्मत नहीं होती; और यदि कोई हमारे इष्टका खण्डन कर रहा होता तो हमारे वहाँ जाते ही वह चुप हो जाता! जैसे, हम रामजीके भक्त हैं। यदि रामजीमें हमारा पूरा विश्वास, पूरी भक्ति होगी तो खण्डन करनेवाला हमारे सामने चुप हो जायगा, खण्डन नहीं कर सकेगा; और हम चुपचाप रहेंगे तो उसपर हमारा असर पड़ जायगा।

जिसके भीतर सचाई है, उसके लिये कई आदमी कहते हैं कि 'हम उसके सामने झूठ नहीं बोलेंगे'। इसी तरह हमारी भक्ति तेज होगी तो उसका दूसरोंपर असर पड़ेगा, खण्डन करनेवालेपर भी असर पड़ेगा और वह चुप हो जायगा; क्योंकि हमारा इष्ट कमजोर नहीं है। सत्यमें बहुत बल है, असत्यमें बल नहीं है। खण्डन करनेवालेमें बल नहीं होता।

कबीर साहबने कहा है—

निंदक तू गल जावसी, ज्यूँ पानीमें लूण।
कबीर थारे राम रुखालो, निंदक थारे कूण॥

मैंने सन्तोंकी बातें सुनी हैं। जो असली प्रचारक सन्त होते हैं, वे कुछ नहीं कहते, केवल अपनी मस्तीमें रहते हैं। उनके द्वारा जैसा ठोस प्रचार होता है, वैसा जबानसे नहीं होता। असली असर उनका ही पड़ता है। उनके दर्शनमात्रका दूसरोंपर असर पड़ता है। दत्तात्रेयजी महाराजके दर्शनमात्रसे एक वेश्या सब कुछ छोड़कर भगवान्‌के भजनमें लग गयी थी। दत्तात्रेयजीने कुछ भी नहीं कहा। शान्त रहनेसे स्वाभाविक असर पड़ता है। शान्तिमें, अपने मतका दृढ़तासे पालन करनेमें बड़ी शक्ति है। एक सन्तने कहा है—'लोग समझते हैं कि यह साधु है, ईश्वरका प्रचार करता है, पर मैं ईश्वरका लेशमात्र भी प्रचारक नहीं हूँ। ईश्वरका प्रचार करनेमें मेरेको शर्म आती है कि क्या हमारा ईश्वर इतना कमजोर है कि उसका प्रचार हमको करना पड़े।'

जो सुनना चाहे, उसीको सुनाना चाहिये। जो सुनना ही नहीं चाहे, उसको क्या कहा जाय? अपनी बात जबरदस्ती किसीपर लादेंगे तो उसके भीतर उलटी बात पैदा होगी। एक साधु बीमार थे। सन्निपातमें वे उठें तो लोग उनको दबायें। वे फिर उठें तो लोग फिर दबायें। उनको मैंने कहा कि इनको दबाओ मत। बल तो भीतर है नहीं, अपने-आप शान्त हो जायँगे। आप ज्यों दबाओगे, त्यों ही इनका बल बढ़ेगा। ऐसे ही आप अपनी बात जबरदस्ती दूसरेपर लादोगे तो उसके भीतर विपरीत बात पैदा होगी, जिससे उसका नुकसान तो होगा ही आपका भी नुकसान होगा। सेठजीने कहा था—कोई सत्संगी भाई कहता है कि हमारा अमुक काम है, हम घर जायँगे। अगर हम उसको कहें कि अभी क्यों जाते हो? संसारका काम तो ऐसे ही होता रहेगा तो उसके भीतर घर जानेवाली बात ही जोरसे बढ़ेगी। वह कहेगा कि नहीं महाराज! हमें तो जाना ही पड़ेगा। आपको क्या पता कि हमारा कितना जरूरी काम है? परन्तु उसको यदि यह कहा जाय कि अच्छा, ठीक है, आपका काम हो तो जाना चाहिये तो वह कहेगा कि महाराज! यहाँ सत्संगमें रहते तो अच्छा था, पर क्या करें, जाना पड़ता है! इस प्रकार वह जायगा तो भी सद्भाव लेकर जायगा।

═══ ★ ═══

एक निश्चय

भगवद्गीतासे, शास्त्रोंसे और सन्तोंसे मुझे बहुत विलक्षण-विलक्षण बातें मिली हैं। उनमेंसे एक बात आज मैं कहता हूँ। आपलोग कृपा करके ध्यान दें। एक ऐसी सरल बात है, जिससे साधनमें बहुत तेजीसे उन्नति हो सकती है, बड़ा विलक्षण आनन्द प्राप्त हो सकता है, सदाके लिये दुःख-सन्ताप मिट सकता है। परन्तु वह सरल बात किसके लिये है ? जो अपना उद्धार चाहता है। मेरा कल्याण हो—यह भाव जितना ही अधिक होगा, उसके लिये यह बात उतनी ही सरल होगी।

हम साधन करते-करते ऊँची स्थितिपर पहुँचते हैं, फिर हमें उस तत्त्वका अनुभव होता है—ऐसा एक प्रकार है। एक प्रकार ऐसा भी है कि साधन करते-करते हम जहाँ पहुँचते हैं, वहाँ हम पहलेसे ही जा बैठें तो उतना लम्बा समय नहीं लगेगा, उतना परिश्रम नहीं पड़ेगा तथा लाभ बहुत जल्दी और विशेष होगा। इस विषयमें भगवान्ने कहा है कि 'निश्चयवाली बुद्धि एक होती है और अव्यवसायी मनुष्योंकी बुद्धियाँ बहुशाखाओंवाली तथा अनन्त होती हैं' (गीता २। ४१)। 'दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी यदि अनन्यभावसे मेरे भजनमें लग जाता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने निश्चय बहुत अच्छा किया है' (गीता ९। ३०)। इस श्लोकमें आये हुए **'सम्यग्व्यवसितो हि सः'** पदका तात्पर्य भी यही है कि 'अब हमें परमात्माकी प्राप्ति ही करनी है, हमें इस मार्गपर ही चलना है'—ऐसा अटल निश्चय हो जाय। लोग निन्दा करें या स्तुति करें, धन आ जाय या चला जाय, शरीर ठीक रहे या बीमार हो जाय, हम जीते रहें या मर जायँ, पर हम इस निश्चयपर अडिग रहेंगे। इस तरह 'मैं'-पनमें यह भाव कर लिया जाय कि 'मैं तो केवल पारमार्थिक साधक हूँ' तो फिर साधन अपने-आप होगा।

आरम्भमें भी हम अपना सम्बन्ध परमात्मासे मान लें कि 'हम भगवान्के हैं और भगवान् हमारे हैं'। यह बात बहुत बार आपने सुनी होगी और बहुत बार मैंने कही भी है,पर आपलोग ध्यान नहीं देते। मैं आज आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप इस बातपर विशेष ध्यान दें। मुझे तो अपना कल्याण करना है; क्योंकि मैं केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही यहाँ आया हूँ; जन्मा हूँ, दूसरा और कोई मेरा काम नहीं है—ऐसा आपका एक निर्णय हो जाय। इसीको व्यवसायात्मिका बुद्धि कहते हैं। ऐसी बुद्धिसे पापी-से-पापी मनुष्य भी बहुत जल्दी धर्मात्मा बन जाता है **'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'** (गीता ९। ३१)।

एक भूल-भुलैया होती है। उसके भीतर जानेपर फिर बाहर निकलना मुश्किल हो जाता है। इसी तरह संसारमें ये जो राग-द्वेष हैं, वे भी भूल-भुलैया हैं। यह ठीक है, यह बेठीक है—इसमें मनुष्य ऐसा भूलता है कि इससे निकलना बड़ा मुश्किल हो जाता है। अतः इससे निकलनेके लिये आप एक ही निर्णय कर लें कि 'हमें केवल परमात्माकी तरफ ही चलना है। हमें संसारमें न राग करना है, न द्वेष करना है; न हर्षित होना है, न शोक करना है।' ऐसा जिसका पक्का निश्चय होता है, वह द्वन्द्वोंमें नहीं फँसता और सुखपूर्वक मुक्त हो जाता है—**'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते'** (गीता ५।३)। समताका नाम 'योग' है—**'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २।४८)। अतः राग-द्वेष, हर्ष-शोक, ठीक-बेठीक—इन द्वन्द्वोंमें विचलित न होना 'योग' है और इस योगसे युक्त मनुष्य बहुत जल्दी ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है—**'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति'** (गीता ५।६)। इस प्रकार सुखपूर्वक और बहुत जल्दी—दोनों बातें आ गयीं। परन्तु यह बात पढ़ लेनेपर, पढ़ा देनेपर, विवेचन कर देनेपर, लोगोंको सुना देनेपर भी जल्दी पकड़में नहीं आती। इस बातको काममें कैसे लाया जाय—इसकी विधि बताता हूँ। नीतिमें एक श्लोक आया है—

अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः॥

'संसारमें ऐसा कोई अक्षर नहीं है जो मन्त्र न हो; ऐसी कोई जड़ी-बूटी नहीं है, जो ओषधि न हो; और ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जो योग्य न हो, परन्तु इस अक्षरका ऐसे उच्चारण किया जाय तो यह अमुक काम करेगा, इस जड़ी-बूटीको इस प्रकार दिया जाय तो अमुक रोग दूर हो जायगा, यह मनुष्य इस प्रकार करे तो बहुत जल्दी इसकी उन्नति हो जायगी—इस प्रकार बतानेवाले पुरुष संसारमें दुर्लभ हैं।'

किस बातको किस रीतिसे काममें लाया जाय, जिससे सुखपूर्वक मुक्ति हो जाय—इसमें आपको यह खास बात बतायी है कि अपना खुदका विचार, निश्चय एक हो जाय कि हमें तो परमात्माकी प्राप्ति ही करनी है। परमात्माकी प्राप्ति भी करनी है—इसमें 'भी' की जगह 'ही' हो जाय और 'ही' पर दृढ़ रहें कि हमें तो केवल इस तरफ ही चलना है। दुःख पायें, सुख पायें, कुछ भी हो जाय, हमें तो अपना उद्धार करना है— ऐसा पक्का विचार करके चलें तो बहुत सुगमतासे, बहुत जल्दी कल्याण हो जाय। इसमें खुदका विचार ही काम आयेगा—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(गीता ६।५)

'स्वयं अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे; क्योंकि यह आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।'

(गीता ६।६)

—जिसने अपनेसे अपनेपर विजय कर ली है, उसके लिये यह आप ही अपना मित्र है। अपनेसे अपनेपर विजय करना क्या है कि हम समताको धारण कर लें। मेरेको अपना कल्याण करना है—यह विचार पक्का हो जाय तो समता अपने-आप आ जायगी।

आप और हम विचार करें कि हमारे सामने अनुकूलता-प्रतिकूलता कई बार आयी है और गयी है। हमने सुख भी भोगा है और दुःख भी भोगा है। परन्तु हमें शान्ति तो नहीं मिली! बहम होता है कि ऐसा गुरु मिल जाय तो कल्याण हो जाय; ऐसा परिवार मिल जाय तो कल्याण हो जाय; ऐसी स्त्री मिल जाय तो बड़ा ठीक रहे; ऐसा पुत्र मिल जाय तो बड़ा ठीक रहे; ऐसा मित्र मिल जाय तो हम निहाल हो जायँ; इतना धन मिल जाय तो हम निहाल हो जायँ; ऊँचा पद मिल जाय तो हम निहाल हो जायँ, आदि-आदि। इसमें आप विचार करें कि अनुकूल स्त्री किसीको नहीं मिली है क्या? अनुकूल पुत्र किसीको नहीं मिला है क्या? अनुकूल परिस्थिति किसीको नहीं मिली है क्या? परन्तु क्या वे इच्छाओंसे रहित होकर परमात्माको प्राप्त हो गये? विचार करनेसे दीखता है कि जिसको ये सब अनुकूलताएँ मिली हैं, उसकी इच्छाएँ नहीं मिटी हैं। वह कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य नहीं हुआ है। अतः कोई भी इन परिस्थितियोंसे निहाल हो जाय—यह असम्भव बात है। कारण कि स्वयं बदलनेवाले नहीं हो। बदलनेवाली परिस्थितियोंसे आप ऊँचे कैसे हो जाओगे? नाशवान्‌के द्वारा अविनाशीकी उन्नति कैसे हो जायगी? हो ही नहीं सकती। असम्भव बात है। मैंने इस विषयमें खूब अध्ययन किया है। आप परमात्मप्राप्तिका ही एक निश्चय कर लो, फिर अनुकूलता आपके पीछे दौड़ेगी।

नाम नाम बिनु ना रहे, सुनो सयाने लोय।
मीरा सुत जायो नहीं, शिष्य न मुंड्यो कोय॥

मीराबाईका नाम आज भी कितने आदरसे लिया जाता है! उनका नाम लेनेसे, उनके पद गानेसे लोग अपनेमें पवित्रताका अनुभव करते हैं। उनमें क्या बात थी?

'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई। जाके सिर मोर-मुकुट, मेरो पति सोई ॥' एक ही निश्चय था कि मेरा पति वही है। क्या होगा, क्या नहीं होगा—इस बातकी कोई परवाह नहीं ! अहंता बदलनेपर, एक निश्चय होनेपर राग-द्वेष कुछ नहीं कर सकते। इनमें ताकत नहीं है अटकानेकी। केवल हमारा विचार पक्का होना चाहिये।

═══ ★ ═══

विकार आपमें नहीं हैं

परमात्माकी प्राप्ति होनेसे पहले विकारोंकी निवृत्ति हो जाय— यह कोई नियम नहीं है। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद विकार नष्ट हो ही जाते हैं।—**'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'** (गीता २।५९) 'रसरूपी विकार परमात्माका साक्षात्कार होनेके बाद मिट जाता है।' इसमें एक मार्मिक और बहुत ही लाभकी बात है। आप उसको गहरे उतरकर समझें, इतनी प्रार्थना है।

हमें अनुकूल व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति आदि मिलें और प्रतिकूल व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति आदि न मिलें— यही संसार है। अनुकूलता-प्रतिकूलताके सिवाय संसार कुछ नहीं है। उस अनुकूलता-प्रतिकूलताका हमारेपर जो असर पड़ता है, उसका नाम ही विकार है। इन विकारोंसे हमें छूटना है; क्योंकि जबतक विकार होते रहेंगे, तबतक शान्ति नहीं मिलेगी।

इस बातकी खोज करो कि विकार कहाँ होते हैं? विकार मन और बुद्धिमें होते हैं, अन्तःकरणमें होते हैं। अतः विकार करणमें होते हैं कर्तामें नहीं होते—यह खास समझनेकी बात है। आपको अनुकूलता मिली तो आप सुखी हो गये, प्रतिकूलता मिली तो आप दुःखी हो गये। सुखी और दुःखी होना—ये दो अवस्थाएँ हुईं। इन दोनों अवस्थाओंमें आप दो हुए या एक ही रहे? इस बातपर विचार करें। सुखकी अवस्थामें आप वे ही रहे और दुःखकी अवस्थामें भी आप वे ही रहे—यह बात सच्ची है न? वास्तवमें ये अवस्थाएँ मन-बुद्धिमें होती हैं, पर इनको आप अपनेमें मान लेते हो—यह गलती होती है। आप सुख-दुःखकी अवस्थाओंमें अपनेको सुखी-दुःखी मान लेते हो। सुख-दुःखका असर अन्तःकरणपर पड़ जाता है तो आप सुखी-दुःखी हो जाते हो। विकारोंको आप अपनेमें मान लेते हो। वास्तवमें विकार आपमें हुए ही नहीं, विकार तो अन्तःकरणमें हुए।

सुख और दुःख—इन दोनोंको आप जानते हो। दोनोंको वही जान सकता है, जो दोनोंसे अलग हो। जो दोनोंमें तदाकार हो जायगा, वह सदा सुखी ही रहेगा अथवा सदा दुःखी ही रहेगा। जो सुखमें भी रहता है और दुःखमें भी रहता है, वही सुख और दुःख—इन दोनोंको जान सकता है। सुख अलग है और दुःख अलग है। इनसे अलग रहनेवाला इन दोनोंको जानता है। अगर वह इनके साथ मिला हुआ हो तो सुख और दुःख—दोनोंको नहीं जानेगा, प्रत्युत एकको ही जानेगा, जिसके साथ वह रहा है।

दूसरी बात, सुखी होते समय भी आप वे ही हो और दुःखी होते समय भी आप वे ही हो, तभी तो आपको दोनोंका अलग-अलग अनुभव होता है। सुख और दुःख—दोनोंका अलग-अलग अनुभव करनेवाला सुख-दुःखसे अलग है। सुख-दुःखसे अलगका अनुभव कब होगा? जब आप प्रकृतिमें स्थित न होकर 'स्व'में स्थित हो जाओगे—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४।२४)। प्रकृति विकारी है। उसमें आप स्थित होंगे तो विकार होगा ही। परन्तु वह विकार आपमें (स्वयंमें) कभी नहीं होगा। अज्ञान-अवस्थामें भी आपमें विकार नहीं हुआ और ज्ञान-अवस्थामें भी आपमें विकार नहीं हुआ। आपके स्वरूपमें कभी विकार हुआ ही नहीं, हो सकता ही नहीं। यदि आपमें विकार होते तो वे कभी मिटते ही नहीं। विकार प्रकृतिमें होते हैं। प्रकृतिसे अपनेको अलग अनुभव करना ही तत्त्वज्ञानको, जीवन्मुक्तिको प्राप्त करना है।

वास्तवमें आप प्रकृतिसे अलग हैं। इस बातको जाननेके लिये आप कृपा करें, थोड़ा ध्यान दें। आप आने-जानेवाले नहीं हैं। भगवान्ने कहा है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

(गीता २।१४)

'हे कुन्तीनन्दन! इन्द्रियोंके वे विषय हैं जो अनुकूलता और प्रतिकूलताके द्वारा सुख और दुःख देनेवाले हैं। वे आने-जानेवाले और अनित्य हैं। हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! उनको तुम सहन करो।'

अनुकूलता अच्छी लगती है और प्रतिकूलता बुरी लगती है। ये दोनों ही आने-जानेवाली और अनित्य हैं। इनको आप सह लो। सुख आये, उसको भी सह लो और दुःख आये, उसको भी सह लो। सुखमें सुखी हो गये और दुःखमें दुःखी हो गये तो यह आपसे सहा नहीं गया। यह आपसे गलती हुई। आप आने-जानेवाले और अनित्य नहीं हो। आप नित्य हो और विकार अनित्य हैं। जब आप अनित्यके साथ मिलते

हो, तब आप अपनेमें विकार मानते हो। आने-जानेवालेके साथ रहनेवाला मिल जाता है—यहीं गलती होती है। यदि आप 'स्व' में स्थित हो जायँगे तो आपको अनुकूलता और प्रतिकूलताका ज्ञान तो होगा, पर उसका आपपर असर नहीं पड़ेगा। इसीका नाम मुक्ति है। विकारोंसे छूटना ही मुक्ति है। मुक्ति नित्य है, इसलिये मुक्तिके बाद फिर बन्धन नहीं होता—**'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव'** (गीता ४। ३५), फिर मोह नहीं होता। कारण कि वास्तवमें आपके भीतर मोह नहीं है। केवल अपने स्वरूपका अनुभव करना है। इस विषयमें आपसे बात करनेकी जितनी मेरी लगन है, उतनी आपकी लगन नहीं है।

सुख और दुःख तो आने-जानेवाले हैं और वे पहुँचते हैं मन-बुद्धितक, ज्यादा-से-ज्यादा 'अहम्' तक। 'अहम्' एकदेशीय है; क्योंकि वह प्रकाशित होता है। जैसे यह चीज दीखती है, ऐसे ही 'अहम्' दीखता है। 'अहम्' आँखोंसे नहीं दीखता, पर भीतरमें 'अहम्' अर्थात् 'मैं' का अनुभव होता है। सब विकार इस 'मैं' तक ही पहुँचते हैं। जिस प्रकाशमें यह 'मैं' दीखता है, उस प्रकाशमें कोई विकार नहीं है। जिसमें विकार होते हैं, उसको भी आप जानते हैं और विकारोंको भी आप जानते हैं। उस जाननेपनमें विकार हैं क्या? आप 'अहम्'के साथ मत मिलो। 'अहम्'के साथ मिलना प्रकृतिमें स्थित होना है। यह 'अपरा' प्रकृति है और आप जीवरूपा 'परा' प्रकृति हो। परा प्रकृतिने जगत्को धारण कर लिया—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। जगत्को धारण करनेसे यह विकारोंमें फँस गया। शरीर मैं हूँ, शरीर मेरा है; मन मैं हूँ, मन मेरा है; बुद्धि मैं हूँ, बुद्धि मेरी है; अहम् मैं हूँ, अहम् मेरा है— यह जो मानना है, यही जगत्को धारण करना है।

जीव अंश तो भगवान्का है, पर वह भगवान्में स्थित न होकर प्रकृतिमें स्थित हो जाता है (गीता १५। ७)। अपरा प्रकृति बड़ी सपूत है, वह बेचारी अपनेमें ही स्थित रहती है, आपमें स्थित होती ही नहीं। आप स्वतन्त्र हो, चेतन हो। चेतन होनेसे आप अपने स्वरूपमें ही रहते हो और प्रकृतिमें भी स्थित हो जाते हो। भगवान्ने कितना सुन्दर पद दिया है—**'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि'**! ये शरीर, इन्द्रियाँ आदि प्रकृतिमें ही स्थित रहते हैं, कभी प्रकृतिको छोड़कर आपमें आते ही नहीं। वास्तवमें आप प्रकृतिमें स्थित नहीं हो, प्रत्युत भगवान्के अंश होनेसे भगवान्में स्थित हो। 'अहम्' तो प्रकृति है। प्रकृतिको धारण करो अथवा न करो—इसमें आप स्वतन्त्र हो। इसमें आप पराधीन नहीं हो। जिस ज्ञानके अन्तर्गत 'अहम्' दीखता है, उस ज्ञानमें 'अहम्' नहीं है। आप उस ज्ञानमें स्थित रहो। उसमें आपकी स्थिति स्वतः है।

अपना जो स्वरूप है, उस प्रकाशमें 'अहम्' दीखता है। अगर वह नहीं दीखता, तो 'अहम्' है—इसमें क्या गवाह है? आप खुद अपरा प्रकृतिको पकड़ते हो। आप जिसको पकड़ते हो, अधिकार देते हो, वही आपपर अधिकार करता है। आप अधिकार नहीं दो तो उसमें आपपर अधिकार जमानेकी ताकत नहीं है। आने-जानेवाला आपपर अधिकार कैसे जमायेगा? उसको आप 'मैं' और 'मेरा' मान लेते हो, तब आफत आती है।

सुख-दुःख दीखते हैं। विकार दीखते हैं। जैसे सब वस्तुएँ एक प्रकाशमें दीखती हैं, ऐसे ही 'अहम्' एक प्रकाशमें दीखता है। प्रकाश न हो तो 'अहम्' दीखे ही नहीं। 'अहम्' को आप पकड़ते हो तो किसी गवाहसे नहीं, प्रत्युत स्वतन्त्रतासे पकड़ते हो। कोई आपको मदद करके पकड़ानेवाला है ही नहीं। 'अहम्' को आपने माना है तो आप 'अहम्' को न मानें। सन्तोंने कहा है—***'देखो निरपख होय तमाशा'*** निरपेक्ष होकर तमाशा देखो। जो प्रकाश अपना स्वरूप है, उसमें 'अहम्' को धारण मत करो।

गाढ़ नींदमें 'अहम्'का भान नहीं होता। जागनेपर कहते हो कि 'नींदमें मेरेको कुछ पता नहीं था'; अतः वहाँ 'अहम्' नहीं था, पर आप तो थे ही। गाढ़ नींदमें 'मैं अभी सोया हुआ हूँ'—ऐसा आपको अनुभव नहीं होता। जागनेपर ही आप कहते हो कि मैं ऐसा सोया, मेरेको कुछ पता नहीं था। 'कुछ पता नहीं था'—यह स्मृति है। स्मृति अनुभवजन्य होती है—**'अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः'** (योगदर्शन १। ११)। आपको स्मृति आती है कि मैं गहरी नींदमें सोया। गहरी नींदमें 'अहम्' (मैं) लीन था, पर आप लीन नहीं हुए थे। अगर आप लीन हो जाते तो 'मेरेको गाढ़ नींद आयी, मेरेको कुछ पता नहीं था'—यह नहीं कह सकते थे।

राग-द्वेषका त्याग

प्रकृति और पुरुष—ये दो हैं। इन दोनोंके अंशसे बना हुआ यह जीवात्मा है। अब इसका मुख जबतक प्रकृतिकी तरफ रहेगा, तबतक इसको शान्ति नहीं मिल सकती; और यह परमात्माके सम्मुख हो जायगा तो अशान्ति टिकेगी नहीं—यह पक्की बात है।

संयोग-वियोग प्रकृतिकी चीज है। हमें जो कुछ मिला

है, वह सब प्रकृतिका है, उत्पन्न होकर होनेवाला है। परन्तु परमात्मा आने-जानेवाले, मिलने-बिछुड़नेवाले नहीं हैं। परमात्मा सदा मिले हुए रहते हैं; किन्तु प्रकृति कभी मिली हुई नहीं रहती। आपको यह बात अलौकिक लगेगी कि संसार आजतक किसीको भी नहीं मिला है और परमात्मा कभी भी वियुक्त नहीं हुए हैं। संसार मेरे साथ है, शरीर मेरे साथ है, इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि मेरे साथ हैं और परमात्मा न जाने कहाँ हैं, पता नहीं—यह विस्मृति है, मूर्खता है।

जो कभी हों और कभी न हों, कहीं हों और कहीं न हों, किसीके हों और किसीके न हों, वे परमात्मा हो ही नहीं सकते। सर्वसमर्थ परमात्मामें यह सामर्थ्य नहीं है कि वे किसी समयमें हों और किसी समयमें न हों, किसी देशमें हों और किसी देशमें न हों, किसी वेशमें हों और किसी वेशमें न हों, किसी सम्प्रदायके हों और किसी सम्प्रदायके न हों, किसी व्यक्तिके हों और किसी व्यक्तिके न हों, किसी वर्ण-आश्रमके हों और किसी वर्ण-आश्रमके न हों। भगवान् तो प्राणिमात्रमें समान रहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

(गीता ९।४)

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

(गीता ९।२९)

आपके देखने-सुननेमें जितना जगत् आता है, उस सबमें वे परमात्मा परिपूर्ण हैं—

भूमा अचल शाश्वत अमल सम ठोस है तू सर्वदा।
यह देह है पोला घड़ा बनता बिगड़ता है सदा॥

परमात्मा व्यापक हैं, अचल हैं, ठोस हैं, सर्वत्र ठसाठस भरे हुए हैं; परन्तु यह शरीर बिलकुल पोला है, इसमें कोरी पोल-ही-पोल है! वहम होता है कि इतना मान मिल गया, इतना आदर मिल गया, इतना भोग मिल गया, इतना सुख मिल गया! वास्तवमें मिला कुछ नहीं है। केवल वहम है, धोखा-है-धोखा! कुछ नहीं रहेगा। क्या यह शरीर रहनेवाला है? अनुकूलता रहनेवाली है? सुख रहनेवाला है? मान रहनेवाला है? बड़ाई रहनेवाली है? इनमें कोई रहनेवाली चीज है क्या? संसार नाम ही बहनेवालेका है। जो निरन्तर बहता रहे, उसका नाम 'संसार' है। यह हरदम बदलता ही रहता है—'**गच्छतीति जगत्।**' कभी एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता। परन्तु परमात्मा एक क्षण भी कहीं जाते नहीं; जायँ कहाँ? कोई खाली जगह हो तो जायँ! जहाँ जायँ, वहाँ पहलेसे ही परमात्मा भरे हुए हैं।

भगवान् सबके हैं और सबमें हैं, पर मनुष्य उनसे विमुख हो गया है। संसार रात-दिन नष्ट होता जा रहा है, फिर भी वह उसको अपना मानता है और समझता है कि मेरेको संसार मिल गया। भगवान् कभी बिछुड़ते हैं ही नहीं, पर उनके लिये कहता है कि वे हैं ही नहीं, मिलते हैं ही नहीं; भगवान्से मिलना तो बहुत कठिन है, पर भगवान् तो सदा मिले हुए ही रहते हैं। भाई! आप अपनी दृष्टि उधर डालते ही नहीं, उधर देखते ही नहीं। जहाँ-जहाँ आप देखते हो, वहाँ-वहाँ भगवान् मौजूद हैं। अगर यह बात स्वीकार कर लो, मान लो कि सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तुओंमें, सम्पूर्ण घटनाओंमें, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें, सम्पूर्ण क्रियाओंमें भगवान् हैं, तो भगवान् दीखने लग जायँगे। दृढ़तासे मानोगे तो दीखेंगे, संदेह होगा तो नहीं दीखेंगे। जितना मानोगे, उतना लाभ जरूर होगा। दृढ़तासे मान लो तो छिप ही नहीं सकते भगवान्! क्योंकि—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६।३०)

'जो सबमें मेरेको देखता है और सबको मेरे अन्तर्गत देखता है, मैं उसके लिये अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

जहाँ देखें, जब देखें, जिस देशमें देखें, वहीं भगवान् हैं। परन्तु जहाँ राग-द्वेष होंगे, वहाँ भगवान् नहीं दीखेंगे। भगवान्के दीखनेमें राग-द्वेष ही बाधक हैं। जहाँ अनुकूलता मान लेंगे, वहाँ राग हो जायगा और जहाँ प्रतिकूलता मान लेंगे, वहाँ द्वेष हो जायगा। एक आदमीकी दो बेटियाँ थीं। दोनों बेटियाँ पास-पास गाँवमें ब्याही गयी थीं। एक बेटीवालोंका खेतीका काम था और एकका कुम्हारका काम था। वह आदमी उस बेटीके यहाँ गया, जो खेतीका काम करती थी और उससे पूछा कि क्या ढंग है बेटी? उसने कहा—पिताजी! अगर पाँच-सात दिनोंमें वर्षा नहीं हुई तो खेती सूख जायगी, कुछ नहीं होगा। अब वह दूसरी बेटीके यहाँ गया और उससे पूछा कि क्या ढंग है? तो वह बोली—पिताजी! अगर पाँच-सात दिनोंमें वर्षा आ गयी तो कुछ नहीं होगा; क्योंकि मिट्टीके घड़े धूपमें रखे हैं और कच्चे घड़ोंपर यदि वर्षा हो जायगी तो सब मिट्टी हो जायगी! अब आपलोग बतायें कि भगवान् वर्षा करें या न करें! दोनों एक आदमीकी बेटियाँ हैं। माता-पिता सदा बेटीका भला चाहते हैं। अब करें क्या? एकने वर्षा होना अनुकूल मान लिया और एकने वर्षा होना प्रतिकूल मान लिया। एकने वर्षा न होना अनुकूल मान लिया और एकने वर्षा न होना प्रतिकूल मान

लिया। उन्होंने वर्षा होनेको ठीक-बेठीक मान लिया। परन्तु वर्षा न ठीक है न बेठीक है। वर्षा होनेवाली होगी तो होगी ही। अगर कोई वर्षा होनेको ठीक मानता है तो उसका वर्षामें 'राग' हो गया और वर्षा होनेको ठीक नहीं मानता तो उसका वर्षामें 'द्वेष' हो गया। ऐसे ही यह संसार तो एक-सा है, पर इसमें ठीक और बेठीक—ये दो मान्यताएँ कर लीं तो फँस गये ! यह ठीक हुआ, यह बेठीक हुआ। नफा हुआ, नुकसान हुआ। राजी हुए, नाराज हुए। यह वैरी है, यह मित्र है। इसने मान कर दिया, इसने अपमान कर दिया। इसने निन्दा कर दी, इसने प्रशंसा कर दी। इसने आराम, सुख दिया, इसने दुःख दिया। अब इनको देखते रहोगे तो भगवान् नहीं मिलेंगे। अतः राग-द्वेषके वशीभूत न हों, राजी-नाराज न हों—**'तयोर्न वशमागच्छेत्'** (गीता ३। ३४)। राजी-नाराज न होनेवालेको भगवान्ने त्यागी बताया है—**'ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।'** (गीता ५। ३) जो राग-द्वेष नहीं करता, उसको भगवान्ने अपना प्यारा भक्त बताया है (गीता १२। १७)। संसारमें अच्छा और मन्दा तो होता ही रहता है। अतः साधकके लिये इसमें क्या ठीक और क्या बेठीक **'किं भद्रं किमभद्रं वा'** (श्रीमद्भा० ११। २८। ४)।

यह संसार तो एक तमाशा है, खेल है। सिनेमाके परदेपर कभी लड़ाई दीख जाती है, कभी शान्ति दीख जाती है। कभी दीखता है कि आग लग गयी, हाहाकार मच गया, गाँव-के-गाँव जल गये, पर परदेको देखो तो वह गरम ही नहीं हुआ ! कभी दीखता है कि वर्षा आ गयी, नदीमें जोरसे बाढ़ आ गयी, बड़े-बड़े पत्थर बह गये, पशु-पक्षी बह गये, पर परदेको देखो तो वह गीला ही नहीं हुआ! परन्तु दर्शककी दृष्टि तमाशेकी तरफ ही रहती है, परदेकी तरफ नहीं। इसी तरह यह संसार भी मायाका एक परदा है। जैसे सिनेमा अँधेरेमें ही दीखता है, ऐसे ही माया अज्ञानरूपी अँधेरेमें ही दीखती है। यदि पूरे सिनेमा हालमें बत्तियाँ जला दी जायँ तो तमाशा दीखना बन्द हो जायगा। इसी तरह **'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९) 'सब कुछ वासुदेव ही है'—ऐसा प्रकाश हो जाय तो यह तमाशा रहेगा ही नहीं। मशीन तो भगवान् हैं और उसमें मायारूपी फिल्म लगी है। परदेकी जगह यह संसार है। प्रकाश परमात्माका है। अब इस मायाको सच्चा समझकर राजी-नाराज हो गये तो फँस गये! अतः सन्तोंने कहा है—***'देखो निरपख होय तमाशा।'***

ठहरनेवाला कोई नहीं है। न अच्छा ठहरनेवाला है, न बुरा ठहरनेवाला है। अपनी उम्रमें कोई वस्तु टिकी है क्या? अवस्था टिकी है क्या? घटना टिकी है क्या? कोई चीज स्थायी रही है क्या? पर आप तो वे-के-वे ही हैं। आपके सामने कितना परिवर्तन हुआ! हमारे देखते-देखते भी कितना परिवर्तन हो गया! इस शहरके मकान, सड़क, रिवाज आदि सब बदल गये। परन्तु संसारमें परमात्मा और शरीरमें आत्मा—ये दोनों नहीं बदले। शरीर संसारका साथी है और आत्मा परमात्माका साथी है। इसमें कोई कहे कि शरीर मेरा है, तो फँस गया ! जब शरीर संसारका साथी है तो फिर आप एक शरीरको ही अपना क्यों मानते हो? मानो तो सब शरीरोंको अपना मानो, नहीं तो इस शरीरको भी अपना मत मानो। जैसे दूसरे शरीरोंकी बेपरवाह करते हो, ऐसे ही इस शरीरकी भी बेपरवाह करो अथवा जैसे इस शरीरकी परवाह करते हो, ऐसे ही जो सामने आये, उसकी भी परवाह करो। जैसे इस शरीरकी पीड़ा नहीं सही जाती, ऐसे ही दूसरे शरीरोंकी पीड़ा भी न सही जाय तो काम ठीक बैठ जायगा।

यह बात अच्छी है और यह बुरी है—यह राग और द्वेष है। जहाँ मन खिंचता है, वहाँ राग है और जहाँ मन फेंकता है, वहाँ द्वेष है। ये राग-द्वेष ही पारमार्थिक मार्गमें लुटेरे हैं—**'तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ'** (गीता ३। ३४)। ये आपकी साधन-सम्पत्ति लूट लेंगे, आपको आगे नहीं बढ़ने देंगे। अतः क्या अच्छा और क्या मन्दा ? क्या सुख और क्या दुःख ? मनस्वी पुरुष सुख-दुःखको नहीं देखते—**'मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्'** (नीतिशतक ८२)। वे तो उसको देखते हैं, जो सुख-दुःखसे अतीत है, जहाँ आनन्द-ही-आनन्द है, मौज-ही-मौज है, मस्ती-ही-मस्ती है ! जिसके समान कोई आनन्द हुआ नहीं, हो सकता नहीं, सम्भव ही नहीं, वह आनन्द मनुष्यके सामने है। देवता, पशु, पक्षी, वृक्ष, राक्षस, असुर, भूत-प्रेत, पिशाच एवं नरकके जीवोंके सामने वह आनन्द नहीं है। मनुष्य ही उस आनन्दका अधिकारी है। मनुष्य उस आनन्दको प्राप्त कर सकता है। परन्तु राग-द्वेष करोगे तो वह आनन्द मिलेगा नहीं। अतः आप राग-द्वेषके वशीभूत न हों—

नहीं किसीसे दोस्ती, नहीं किसीसे वैर।
नहीं किसीके सिरधणी, नहीं किसीकी वैर॥

भाइयो ! बहनो ! आप थोड़ा ध्यान दें। सुखमें भी आप वही रहते हैं और दुःखमें भी आप वही रहते हैं। यदि आप वही नहीं रहते तो सुख और दुःख—इन दोनोंको अलग-अलग कौन जानता ? बहुत सीधी बात है। हमने भी पहले पढ़ा-सुना, साधारण दृष्टिसे देखा तो सुख-दुःखमें समान रहनेमें कठिनता मालूम दी। परन्तु विचारसे देखा कि सुख-दुःख तो आने-जानेवाले हैं—**'आगमापायिनः'**

(गीता २।१४) और आप हो रहनेवाले। हम यहाँ दरवाजेपर खड़े हो जायँ और इधरसे मोटरें धनाधन आयें तो हम नाचने लगें कि मौज हो गयी, आज तो बहुत मोटरें आयीं! दूसरे दिन एक भी मोटर नहीं आयी तो लगे रोने। रोते क्यों हो? कि आज एक भी मोटर नहीं आयी! तो धूल कम उड़ी, हर्ज क्या हुआ? मोटर आये या न आये, तुम्हें इससे क्या मतलब? ऐसे ही आपके सामने कई अनुकूलताएँ-प्रतिकूलताएँ आयीं, आपका आदर-निरादर हुआ, निन्दा-प्रशंसा हुई, वाह-वाह हुई, पर आप वही रहे कि नहीं? सुख आया तो आप वही रहे, दुःख आया तो आप वही रहे। अतः आप एक ही हो—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४।२४)। आप अपनेमें ही रहो, सुख-दुःखसे मिलो मत, फिर मौज-ही-मौज है! ***'सदा दिवाली सन्तकी आठों पहर आनन्द।'*** अच्छा और बुरा लगता है, ठीक और बेठीक लगता है—यह राग-द्वेष है। इसके वशमें न होना क्या है? इसको तमाशेकी तरह देखे कि क्या अच्छा है और क्या मन्दा है! न सुख रहनेवाला है, न दुःख रहनेवाला है। न बीमारी रहनेवाली है, न स्वस्थता रहनेवाली है। कुछ भी रहनेवाला नहीं है। इन सबका वियोग होनेवाला है। बहुत दिनोंतक संयोग रहनेपर भी एक दिन वियोग जरूर होगा—**'अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषयाः।'** अतः सज्जनो! इस बातको पहलेसे ही समझ लो कि एक दिन इन सबका वियोग होगा। लड़का जन्मे, तभी यह समझ लेना चाहिये कि यह मरेगा जरूर! यह बड़ा होगा कि नहीं होगा, पढ़ेगा कि नहीं पढ़ेगा, इसका विवाह होगा कि नहीं होगा, इसके लड़का-लड़की होंगे कि नहीं होंगे—इसमें सन्देह है; परन्तु यह मरेगा कि नहीं मरेगा—इसमें कोई सन्देह है क्या? जन्म हुआ है तो खास काम मरना ही है, और कोई खास काम नहीं है। अब इसमें राजी और नाराज क्या हों। अपने तो मौजसे भगवान्‌की तरफ चलते रहें। जो वैराग्यवान् होते हैं, विवेकी होते हैं, भगवान्‌के प्रेमी भक्त होते हैं, वे इन आने-जानेवाले पदार्थोंकी तरफ दृष्टि रखते ही नहीं। वे करनेमें सावधान और होनेमें सदा प्रसन्न रहते हैं।

रज्जब रोवे कौन को, हँसे सो कौन विचार।
गये सो आवन के नहीं रहे सो जावनहार॥

सब जानेवाला है, मरनेवाला है तो क्या हँसें! जो मर चुके, उनको कितना ही रोयें, वे आनेके हैं नहीं तो क्या रोयें! यह विचार स्थायी कर लो। फिर राग-द्वेष मिट जायँगे।

राग-द्वेषको सह लो अर्थात् प्रियकी प्राप्ति होनेपर हर्षित न हों और अप्रियकी प्राप्ति होनेपर उद्विग्न न हों। फिर आप जन्म-मरणसे रहित हो जाओगे। सन्तोंने कहा है—***'अब हम अमर भये न मरेंगे।'*** अब क्यों मरेंगे? मरनेवाले तो ये राग-द्वेष ही हैं। इन दोनोंको नाशवान् और पतन करनेवाले समझो। चाहे तो ऐसा समझकर इनसे अलग हो जाओ, नहीं तो भगवान्‌को पुकारो कि 'हे नाथ! हे नाथ!! रक्षा करो!' जैसे, मोटर खराब हो जाय तो खुद ठीक कर लो। खुद ठीक न कर सको तो कारखानेमें भेज दो! ऐसे ही राग-द्वेषसे अलग न हो सको तो भगवान्‌की शरणमें चले जाओ। भगवान्‌ने गीताके अन्तमें कहा कि 'तू मेरी शरणमें आ जा' **'मामेकं शरणं व्रज'** (गीता १८।६६)।

एक ब्राह्मण देवताकी कन्या बड़ी हो गयी। उसने एक धर्मात्मा सेठके पास जाकर कहा—'सेठजी! कन्या बड़ी हो गयी, क्या करूँ?' सेठने कहा—'आप वर ढूँढ़ो, तैयारी करो, चिन्ता क्यों करते हो?' इसका अर्थ यह नहीं है कि सेठ ही आकर वर ढूँढ़ेंगे, विवाह करायेंगे, प्रत्युत इसका अर्थ है कि चिन्ता मत करो; धन हम दे देंगे, काम तुम करो। इसी तरह भगवान् कहते हैं कि 'तुम अपना काम करो, चिन्ता मत करो। तुम्हें जो अभाव होगा, उसे मैं पूरा करूँगा।' भगवान्‌ने आपको जो काम दिया है, उसको ठीक तरहसे करो। अर्जुनने भी यही कहा—**'करिष्ये वचनं तव'** (गीता १८।७३) 'अब मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।' भगवान्‌का काम है, भगवान्‌का ही घर है, भगवान्‌का ही सब द्रव्य है, भगवान्‌का ही सब परिवार है! अतः भगवान्‌का काम उत्साहसे करो, अच्छी तरहसे करो। होनेकी चिन्ता मत करो; क्योंकि होना आपके अधीन है ही नहीं। आलस्य-प्रमाद मत करो। निरर्थक समय बरबाद मत करो। उत्तम-से-उत्तम बर्ताव करो। क्या होगा, क्या नहीं होगा—इसको भगवान्‌पर छोड़ दो कि तू जाने, तेरा काम जाने।

जो भाई-बहन जहाँ हैं, वहीं सुचारुरूपसे, मर्यादासे, उत्साहसे अपने कर्तव्यका पालन करें और चिन्ता न करें।

चिन्ता दीनदयालको, मो मन सदा आनन्द।
जायो सो प्रतिपालसी, रामदास गोबिन्द॥

चिन्ता हम क्यों करें! जो मालिक है, वह चिन्ता करे। हम तो अपनी जिम्मेवारीका काम ठीक तरहसे करेंगे। अच्छा-मन्दा मानना हमारा काम नहीं है।

जो पदार्थ, सामग्री मिली है, उसके द्वारा उदारतापूर्वक सबकी सेवा करो, हित करो। संसारकी चीजोंको अपनी मत मानो। कोई भूखा आ जाय तो उसको भोजन दे दो। नंगा आ जाय तो उसको कपड़ा दे दो। वह कहे कि 'सब मेरेको दे दो' तो उससे कह दो कि 'सब तेरेको कैसे दे दें? मैं भी निर्वाह

करता हूँ, तू भी निर्वाह कर ले भाई ! न धन तू साथमें लाया है, न मैं लाया हूँ।' रामजीने भेजा है तो सबका उपकार करना है। नहीं भेजा है तो जै रामजीकी ! अपने क्या हर्ज है ! ये जो चमगादड़ होते हैं न, जो वृक्षोंपर लटके रहते हैं, उनके यहाँ कोई मेहमान आ जाय तो वे उसका क्या आदर करते हैं ? कि हम भी लटकते हैं, आप भी लटको ! ऋषिकेशमें सत्सङ्ग करते थे। वहाँ कोई सन्त आता तो कहते कि पधारो महाराज ! विराजो। हम भी भिक्षा माँगकर खाते हैं, आप भी भिक्षा माँगो और खाओ !

राग-द्वेष न करें। जो मिले, उसमें सन्तुष्ट रहें—***'जथा लाभ संतोष सदाई'*** (मानस ७।४६।१)। भगवान् जो सुख-दुःख भेजें, उसमें ही राजी रहें। जो मालिकके कहनेमें चलता है, मालिक उसके वशमें हो जाता है। ठाकुरजी जो परिस्थिति भेजें, उसीमें राजी रहें तो ठाकुरजी वशमें हो जायँगे ! थोड़ी-सी सावधानी रखें कि जो बदलता रहता है, उसमें क्या राजी और क्या नाराज हों ! **'पुनः प्रभातं पुनरेव शर्वरी पुनः शशाङ्कः पुनरुद्यतो रविः।'** कभी सबेरा होता है, कभी साँझ होती है; कभी रात होती है, कभी दिन होता है—यह तो होता ही रहता है, बदलता ही रहता है। संसारके पदार्थ आते-जाते रहते हैं। परन्तु आप और भगवान् वे-के-वे ही रहते हैं। आपका और भगवान्‌का साथ है। शरीरका और संसारका साथ है। आप अपने स्वरूपमें स्थित रहोगे तो जीत जाओगे और भगवान्‌पर दृष्टि रखोगे तो जीत जाओगे। परन्तु शरीर और संसारपर दृष्टि रखोगे तो हार जाओगे। जिनका मन समतामें स्थित हो गया, वे संसारको जीत गये—**'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः'** (गीता ५।१९)। आप अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ तो समता आ जायगी और भगवान्‌की शरण ले लो तो समता आ जायगी।

जो सामग्री मिली है, उसके द्वारा दूसरोंको सुख पहुँचाओ। सामग्री नहीं मिली तो मौज करो, आनन्द करो ! भगवान्‌ने जो दिया है, उसमें सन्तोष करो। 'भगवान् जो करते हैं, ठीक करते हैं।' उसमें गलती नहीं होती। इसलिये क्या दुःखी और क्या सुखी हों ! हमें तो भगवान्‌को याद रखना है, उनका नाम लेना है, बस। आज दिनतक आप देखते आये हैं कि संसार हरदम बदलता रहता है तो अब नयी बात क्या हो गयी, बताओ ? थोड़ा-सा अपने अनुभवका आदर करो तो निहाल हो जाओगे। गीताकी एक टीका है—**'परमार्थप्रपा।'** उसमें लिखा है कि मनुष्य अपने जीवनका खयाल करे तो संसारसे स्वतः वैराग्य हो जाय। आपने अपने जीवनमें कितनी ऊँची-नीची बातें देखी हैं, ठीक-बेठीक देखा है ! वही अब भी देख लो। यह तो ऐसे ही होता रहेगा। यह सब तो आने-जानेवाला है और हम रहनेवाले हैं। अब क्या राजी हों और क्या नाराज हों।

पहाड़ दूरसे ही अच्छा दीखता है, नजदीकसे देखो तो कोरा पत्थर-ही-पत्थर है ! ऐसे ही संसारको आप नजदीकसे देखोगे, तब इसकी असलियतका पता लगेगा कि यहाँ रहनेवाला कुछ भी नहीं है। आपके यहाँ लड़का भी जन्मता है और लड़की भी जन्मती है। लड़केके जन्मपर तो आप राजी होते हैं और लड़कीके जन्मपर नाराज होते हैं। ठाकुरजीने लड़का दिया है तो उसका भी पालन करो और लड़की दी है तो उसका भी पालन करो। भगवान्‌ने कन्या दी है तो अच्छी तरहसे कन्यादान करेंगे, विवाह करेंगे, जिससे किसीका वंश बढ़ेगा—ऐसे उत्साहसे उसका पालन करो। परन्तु आप लड़केके जन्मपर राजी और लड़कीके जन्मपर बेराजी होते हैं। सासूजीसे पूछो कि माँजी, क्या हुआ है ? वह कहेगी कि 'भाटो (पत्थर) आयो है भाटो' ! उन माँजीसे पूछो कि जब आप जन्मी थीं, तब हीरा आया था क्या ? लड़कीको पराया धन कहते हैं। लड़का-लड़की आपसमें लड़ें तो लड़केसे कहते हैं कि बहनसे क्यों लड़ता है ? यह तो अपने घर चली जायगी ! इसी प्रकार सज्जनो ! प्रकृतिका जितना कार्य (संसार) है, वह सब लड़की है और लड़की तो अपने घर जायगी ही, यहाँ रहेगी नहीं। अतः क्यों मोह करते हो ? यहाँ कुछ भी नहीं रहेगा। न सम्पत्ति रहेगी, न विपत्ति रहेगी। न अनुकूलता रहेगी, न प्रतिकूलता रहेगी। फिर इसमें क्यों राग और द्वेष करें ?

★

सत्सङ्गकी आवश्यकता

प्रत्येक मनुष्यको शास्त्रके विधानके अनुसार कार्य करना चाहिये। भगवान्, सन्त-महात्मा और शास्त्र—ये तीनों निष्पक्ष हैं, समतावाले हैं, प्राणिमात्रके सुहृद् हैं और सबका हित चाहते हैं; अतः इनकी बात कभी टालनी नहीं चाहिये। ये हमारेसे कुछ भी नहीं चाहते, प्रत्युत केवल हमारा हित करते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

(मानस ७।४७।३)

एक भगवान् और एक भगवान्के भक्त—ये दोनों निःस्वार्थभावसे सबका हित करनेवाले हैं। भगवान्में तो यह बात स्वाभाविक है और वही स्वभाव भक्तोंमें भी उतर आता

है। अतः हमें इनकी बात माननी चाहिये।

स्त्रियोंके लिये पति ही गुरु माना गया है; अतः उनको स्वतन्त्र गुरु बनानेकी जरूरत नहीं है। गुरुके विषयमें आया है कि यदि गुरु अभिमानी है, अहंकार रखता है, शरीरको बड़ा मानता है, कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक नहीं रखता, खराब रास्ते चल पड़ा है तो ऐसे गुरुका परित्याग कर देना चाहिये—'**परित्यागो विधीयते**।' अगर वह भजन-स्मरण, सत्सङ्ग करनेमें, भगवान्‌के सम्मुख होनेमें बाधा देता हो तो उसकी बात नहीं माननी चाहिये। कारण कि वह तो इस जन्मका गुरु है, पर आध्यात्मिक उन्नति सदाकी उन्नति है। गुरु, पति, माता-पिता आदि तो इस जन्मके हैं, पर भगवान् हैं, तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुष हैं, धर्म है—ये सब नित्य हैं। इसमें एक मार्मिक बात बताता हूँ, आप ध्यान दें।

पति आदि बड़ोंका कहना कहाँ नहीं मानना चाहिये कि जहाँ उनका अहित होता हो। जिससे पति, माँ-बाप आदिका अहित होता हो, उस आज्ञा-पालनसे क्या लाभ ? जैसे, पति सत्सङ्ग जानेमें रुकावट देता है, जाने नहीं देता तो उसकी बात नहीं माननी चाहिये। जिस भाई या बहनकी सत्सङ्गमें जानेकी जोरदार इच्छा है, जो केवल पारमार्थिक लाभके लिये ही सत्सङ्गमें जाना चाहता है, जिसके भाव और आचरण बहुत ठीक शुद्ध हैं, उसको यदि गुरुजन सत्सङ्गमें जानेके लिये मन करते हैं और वह सत्सङ्गमें नहीं जाता तो उसको कोई पाप नहीं लगेगा, पर मना करनेवालोंको पाप लग जायगा। इसलिये उनके भलेके लिये उनकी बात नहीं माननी चाहिये कि वे कहीं पापी न बन जायँ, उनको कहीं नरक न हो जाय ! तात्पर्य है कि जो भगवत्सम्बन्धी बातोंके लिये, आत्मोद्धारकी बातोंके लिये मना करते हैं, उनकी बातको नहीं मानना चाहिये। खूब निधड़क होकर सत्सङ्गमें जाना चाहिये और साफ कह देना चाहिये कि मैं तो सत्सङ्गमें जाऊँगा। परन्तु बहनो ! इतनी बात जरूर हो कि उद्दण्डता न हो, उच्छृंखलता न हो, मनमाना आचरण न हो। एक ही ध्येय, लक्ष्य हो कि हमें पारमार्थिक उन्नति ही करना है। मेरी तो यहाँतक धारणा है कि यदि हृदयमें सत्सङ्गकी जोरदार इच्छा होगी तो उसको सत्सङ्गमें गये बिना लाभ हो जायगा, दूर बैठे ही उसके मनमें उस सत्सङ्गके भाव पैदा हो जायँगे ! भगवान् तो भावको ग्रहण करते हैं—'**भावग्राही जनार्दनः**।'

भगवान् हमारे सदाके माँ, बाप, पति, गुरु, आचार्य हैं; अतः उनकी आज्ञामें चलो। कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र प्रमाण है—'**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ**' (गीता १६। २४)। शास्त्रकी आज्ञा है कि सत्सङ्ग, भजन, ध्यान करो। इसलिये कभी मत डरो, निधड़क रहो। पतिकी सेवा करो उत्साहपूर्वक। जैसे, कोई मुनीम या नौकर है, पर उसका मालिक उसको भजन-ध्यानके लिये मना करता है तो उसको मालिकसे कड़वा नहीं बोलना चाहिये, पर मनमें यह विचार पक्का रखना चाहिये कि मैंने इसको समय दिया है और समयके मैं पैसे लेता हूँ, पर मैंने अपना धर्म नहीं बेचा है। यदि वह कहे कि झूठी बही लिखनी पड़ेगी, झूठ-कपट करना पड़ेगा, सेल्स टैक्स और इन्कम टैक्सकी चोरी करनी पड़ेगी, नहीं तो मैं नौकर नहीं रखूँगा तो उसको यह बात मनमें रखनी चाहिये कि अच्छी बात है। वह हमें छोड़ दे तो ठीक है, पर अपने मत छोड़ो। यदि मालिक ऐसे नौकरका त्याग करेगा तो ऐसा ईमानदार नौकर उसको फिर नहीं मिलेगा। जो आदमी मालिकके कहनेपर सरकारकी चोरी नहीं करता, वह मालिककी भी चोरी नहीं करेगा। उसको मालिक छोड़ देगा तो पीछे वह रोयेगा ही। अपने तो निधड़क, निःशंक रहो कि हमने तो कोई पाप नहीं किया। हम पाप, अन्याय नहीं करते तो कुटुम्बी, सम्बन्धी भले ही नाराज हो जायँ, उस नाराजगीसे बिलकुल मत डरो। मीराँबाईने कहा है—'***या बदनामी लागे मीठी !***' वे भगवान्‌की पक्की भक्त थीं। उन्होंने कलियुगमें गोपी-प्रेम दिखा दिया। उनको कितना मना किया, जहर दिया, सिंह छोड़ दिया और कहा कि तू हमारेपर कलंक लगानेवाली है तो भी मीराँबाईने कोई परवाह नहीं की। अतः आपका हृदय यदि सच्चा है और भजन-ध्यान कर रहे हैं तो कोई धड़कन लानेकी जरूरत नहीं है।

यदि पति सत्सङ्गमें जानेके लिये मना करता है तो पतिके हितके लिये उससे बड़ी नम्रता, सरलतासे कह दो कि मैं सत्सङ्गकी बात नहीं छोड़ूँगी। आप जो कहो, वही काम करूँगी। आपकी सेवामें कभी त्रुटि नहीं पड़ने दूँगी, पर सत्सङ्ग-भजन नहीं छोड़ूँगी। आप सत्सङ्गमें जानेकी आज्ञा दे दो और खुद भी सत्सङ्गमें चलो तो बड़ी अच्छी बात है, आपकी-हमारी दोनोंकी इज्जत रहेगी, नहीं तो सत्सङ्गमें मैं जाऊँगी। घरमें कोई शोक हो जाय, कोई मर जाय तो ऐसे समयमें भी सत्सङ्गमें, मन्दिरोंमें और तीर्थोंमें जानेके लिये कोई मना नहीं है अर्थात् जरूर जाना चाहिये। शोकके समय सत्सङ्गमें जानेसे शोक मिटता है, जलन मिटती है, शान्ति मिलती है, इसलिये जरूर जाना चाहिये।

एक बात बहनोंसे कहता हूँ, ध्यान देकर सुनें। भाई भी सुनें। घरमें कोई शोक हो जाय और कोई बहन सत्सङ्गमें चली

जाय तो ये माताएँ बहुत चर्चा करती हैं कि 'देखो! कल इसका बाप मरा, पति मरा और आज यह सत्सङ्गमें जा रही है!' इस तरह किसीको सत्संगमें जानेसे रोकना पाप है, हत्या है। वह कहीं विवाहमें जाय, गीत-गाने गाये तो ठीक नहीं है, पर सत्संगमें जाय तो क्या हर्ज है! सत्संगमें जानेसे उसका शोक दूर होगा, चिन्ता दूर होगी, पाप दूर होगा। अतः उसको सत्संगमें ले जाना चाहिये और कहना चाहिये कि हम भी जाती हैं, तुम भी चलो। बाप मर गया, माँ मर गयी, गुरुजन मर गये, पति मर गया तो यह बड़े दुःखकी बात है, पर यह दुःख मिटेगा सत्संग करनेसे, भजन-ध्यान करनेसे, भगवान्‌के शरण होनेसे। आप ऐसा सोचें कि सत्संग, भजन-ध्यानसे हमें जो पुण्य मिले, वह हमारे माँ-बापको, पतिको, गुरुजनोंको मिले। माँ-बाप आदिके लिये सत्सङ्ग करो, भजन-ध्यान करो। अतः शोकके समय भी उत्साहपूर्वक सत्संगमें जाना चाहिये।

कई जगह यह बहुत बुरी रीति है कि पति मर जाय तो स्त्री दो-दो, तीन-तीन वर्षतक एक जगह बैठी रोती रहती है। बाहर जा नहीं सकती। इस रीतिको मिटाना है। मेरे काम पड़ा है। कलकत्तेकी बात है। दो स्त्रियाँ ऐसी थीं, जिनके पति मर गये। सेठजीके छोटे भाई मोहनलालजीकी मृत्यु हो गयी। उनकी स्त्री सावित्री वहाँ थी। मैं उनके घरपर गया और कहा कि तुम सत्संगमें आओ, रामायणके पाठमें आओ। वह सत्संगमें आने लगी। एक अन्य सज्जन मर गये तो उनकी पत्नीको भी मैंने सत्संगमें आनेके लिये कहा। उसने कहा कि लोग क्या कहेंगे? तो मैंने कहा कि हमें ऐसी रीति शुरू करनी है। शोकके समय सत्संगमें, तीर्थोंमें, मन्दिरोंमें अवश्य जाना चाहिये और दुःख मिटाना चाहिये। घरमें तो शोक ही होगा और स्त्रियाँ भी जा-जाकर शोककी ही बातें सुनायेंगी। दुःखकी बातें सुननेसे दुःख होता है और सत्संगकी बातें सुननेसे सुख होता है। अतः माताओ! कृपा करो, यह भिक्षा दो कि जो सत्सङ्गमें जाये, उसकी चर्चा मत करो। आपकी चर्चासे बड़ा नुकसान होता है। वह सत्संगमें जाती है, भजन-ध्यान करती है तो कौन-सा पाप, अन्याय करती है?

चुगल जुआरी मसखरा अन्यायी अरु चोर,
वरण-भेल विधवा-भखी गर्भगेर अघ घोर।
गर्भगेर अघ घोर ऊँच वेश्या-घर जाई,
मद मांसी रत वाम हत्यारा पलट सगाई।
'रामचरण' संसारमें इन सबहनको ठौर,
राम-भगत भावै नहीं, जगत हरामीखोर॥

इतने-इतने पापी तो जगत्‌में रह सकते हैं, पर भगवान्‌का भक्त जगत्‌में नहीं रह सकता! ऐसा मत करो। सत्संगमें जानेके लिये उत्साहित करो। पाँच-दस बहनें साथमें होकर कहें कि तुम सत्संगमें चलो। कोई कहे कि यह कैसे आ गयी? तो कहो कि हम इसे साथमें ले आयीं। मैंने कई जगह कहा है कि कोई तुमसे कहे कि तुम सत्संगमें क्यों जाती हो तो उससे कह देना कि स्वामीजीने हमारे घर आकर सत्संगमें आनेके लिये कह दिया, इस कारण जाती हूँ। उनका कहना मानना ही पड़ता है! इस तरह सब कलंक मेरेपर दे दो! ऐसे आप भी अपनेपर कलंक ले लो कि हम भी जायँगी और साथमें इसको भी ले जायँगी। इस तरह आप उत्साह रखो तो सत्संगका प्रचार होगा, सबका हृदय शुद्ध होगा, सबके लाभकी बात होगी।

हमने एक बात सुनी है और पद भी पढ़े हैं। मीराँबाईने तुलसीदासजी महाराजको पत्र लिखा कि मेरे तो आप ही माँ-बाप हैं, अतः मैं आपसे पूछती हूँ कि मैं भजन-ध्यान करना चाहती हूँ, पर मेरे पति मना करते हैं तो मेरेको क्या करना चाहिये?* उत्तरमें गोस्वामीजी महाराजने लिखा—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥ १॥
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी॥ २॥
नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥ ४॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो॥ ५॥

(विनयपत्रिका १७४)

जिसको सीतारामजी प्यारे नहीं लगते, उसको करोड़ों वैरियोंके समान समझना चाहिये। इस विषयमें गोस्वामीजीने अनेक उदाहरण दिये। प्रह्लादजीका उदाहरण दिया कि उन्होंने

* स्वस्ति श्रीतुलसी गुण-भूषण दूषण-हरण गोसाँई। बारहिं बार प्रणाम करहुँ अब हरहु शोक-समुदाई॥ १॥
घरके स्वजन हमारे जेते सबन उपाधि बढ़ाई। साधुसंग और भजन करत मोहिं देत कलेस महाई॥ २॥
सो तो अब छूटत नहिं क्यों हूँ लगी लगन बरियाई। बालपनेमें मीरा कीन्हीं गिरधरलाल मिताई॥ ३॥
मेरे मात तात सब तुम हो हरिभक्तन सुखदाई। मोकों कहा उचित करिबो अब सो लिखिये समुझाई॥ ४॥

पिताको छोड़ दिया। परन्तु इससे यह उलटी बात मत पकड़ लेना कि हम भी पिताको छोड़ देंगे, पिताका कहना नहीं मानेंगे ! प्रह्लादजीने तो केवल पिताजीकी भजन-निषेधकी बात नहीं मानी। भगवान्‌ने प्रह्लादजीसे कहा कि वरदान माँग तो उन्होंने कहा कि महाराज ! माँगनेकी इच्छा नहीं है, पर आप माँगनेके लिये कहते हो तो मालूम होता है कि मेरे मनमें कामना है। अगर मेरे मनमें कामना न होती तो आप अन्तर्यामी होते हुए ऐसा कैसे कहते ? अतः मैं यही वरदान माँगता हूँ कि मेरे मनमें जो कामना हो, वह नष्ट हो जाय। भगवान्‌ने कहा कि ठीक है। फिर प्रह्लादजीने कहा कि मेरे पिताका कल्याण हो जाय। इस तरह भजनमें बाधा देनेवालेके लिये प्रह्लादजी वरदान माँगते हैं, निष्काम होते हुए भी कामना करते हैं कि मेरे पिताका कल्याण हो जाय ! क्यों माँगते हैं वरदान ? इसलिये कि भगवान् और सब सह सकते हैं, पर भक्तका अपराध नहीं सह सकते—

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥
जो अपराधु भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥

(मानस २। २१८। २-३)

प्रह्लादजीने विचार किया कि मेरेको पिताजीने सत्सङ्ग, भजन-ध्यानके लिये मना किया है, अतः ठाकुरजी उनपर नाराज हैं। इसलिये प्रह्लादजीने ठाकुरजीसे क्षमा माँग ली कि महाराज ! पिताजीको क्षमा करो, जिससे उनका कल्याण हो जाय। भगवान्‌ने कहा कि तेरे वंशका कल्याण हो गया, पिताकी क्या बात है !

माँका ऋण सबसे बड़ा होता है। परन्तु पुत्र भगवान्‌का भक्त हो जाय तो माँका ऋण नहीं रहता और माँका कल्याण भी हो जाता है !

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्कन्दपुराण, माहे० कौमार० ५५। १४०)

ज्ञान एवं आनन्दके अपार समुद्र परब्रह्म परमात्मामें जिसका चित्त विलीन हो गया है, उसका कुल पवित्र हो जाता है, माता कृतार्थ हो जाती है और पृथ्वी पवित्र हो जाती है।

इसलिये बहनो ! माताओ ! अपने बालकोंको भगवान्‌में लगाओ, उनको भक्त बनाओ—

जननी जणै तो भक्त जण, कै दाता कै सूर।
नहिं तो रहिजै बाँझड़ी, मती गमाजे नूर॥

आपकी गोदीमें भक्त आये, भगवान्‌का भजन करनेवाला आये। ***'गोद लिये हुलसी फिरे, तुलसी सो सुत होय'***— ऐसा बेटा हो। गोस्वामीजी महाराजकी वाणीसे जगत्‌का कितना उपकार हुआ है ! उनकी वाणीसे कितनोंको शान्ति मिलती है ! ऐसे बालक होना बिलकुल आपके हाथकी बात है। बालकका पहला गुरु माँ है। माँका स्वभाव पुत्रपर ज्यादा आता है—***'माँ पर पूत, पिता पर घोड़ा, बहुत नहीं तो थोड़ा-थोड़ा।'*** कारण कि वह माँके पेटमें रहता है, माँका दूध पीता है, माँसे बोली सीखता है, माँसे चलना-बैठना, खाना-पीना आदि सीखता है। माँ दाईका, नाईका, दर्जीका, धोबीका, मेहतरका काम भी करती है और ऊँचा-से-ऊँचा शिक्षा देनेका काम भी करती है। माँकी शिक्षा पाये बालक बड़े सन्त होते हैं। जितने-जितने सन्त हुए हैं, मूलमें उनकी माताएँ बड़ी श्रेष्ठ, ऊँचे दर्जेकी हुई हैं। उनकी शिक्षा पाकर बालक श्रेष्ठ हुए। ऐसे आप भी अपने बालकोंको तैयार करो। आपका बेटा हो, पोता हो, दौहित्र हो, उसको बचपनमें ऐसी बातें सिखाओ कि वह भक्त बन जाय, भजनमें लग जाय। आपको कितना पुण्य होगा ! उस बालकका उद्धार होगा और उसके द्वारा कितनोंको लाभ होगा, कितनोंका कल्याण होगा ! भक्तके द्वारा दूसरोंको स्वतः-स्वाभाविक लाभ होता है। उसके वचनोंसे, दर्शनसे, चिन्तनसे, उसका स्पर्श करके बहनेवाली हवासे दूसरोंको लाभ होता है। अतः माताएँ, बहनें, भाई सब-के-सब भगवान्‌के भजनमें तल्लीन हो जाओ, भक्त बन जाओ। इससे बड़ा भारी उपकार होगा।

प्रायः बहनोंके मनमें आती है कि हमारे पास रुपये हों तो हम दान-पुण्य करें। परन्तु दान-पुण्यसे इतना ऊँचा काम नहीं होगा, जितना भजन-ध्यानसे होगा। भजन-ध्यानसे भगवान्‌में तल्लीन होकर पवित्र बनोगे। दान-पुण्यसे आप इतने पवित्र नहीं बन सकते। इसलिये भजन करो, भगवान्‌में तल्लीन हो जाओ। इसका बहुत ज्यादा माहात्म्य है। अच्छे-अच्छे गुण धारण करो। किसीको कोई तकलीफ न हो—इसका खयाल रखो। चुगली करना, इधर-उधर बात फैलाना, द्वेष पैदा करना, कलह करवाना—यह महान् हत्या है, बड़ा भारी पाप है।

एक कहानी आती है। एक नौकर मुसलमानके यहाँ जाकर रहा। रहनेसे पहले उसने कह दिया कि मेरी इधर-की-उधर करनेकी आदत है, पहले ही कह देता हूँ ! मियाँने सोचा कि कोई परवाह नहीं, ***'मियाँ बीबी राजी तो क्या करेगा काजी'*** और रख लिया उसे। अब वह एक दिन

जाकर रोने लगा तो बीबीने पूछा कि रोता क्यों है ? तो बोला कि आपके घर रहता हूँ, तनखा पाता हूँ, जिससे मेरा काम चलता है। आपके हितकी बात कहनेकी मनमें आती है, पर क्या करूँ, आपको जचे, न जचे ! दुःख होता है ! बीबीने कहा कि बता तो दे, क्या दुःख है ? उसने कहा कि मियाँ साहब तो दूसरी शादी करना चाहते हैं, आपके आफत आ जायगी ! तो बीबीने पूछा कि इसका कोई उपाय है ? उसने कहा—'हाँ, इसका उपाय है। आप मियाँकी दाढ़ीके कुछ केश ले आओ तो मैं उसकी एक ताबीज (यन्त्र) बना दूँगा, फिर सब ठीक हो जायगा।' उधर उस मियाँको जाकर कह दिया कि 'बीबी आपसे बड़ा द्वेष रखती है, कभी मारेगी आपको ! मेरे आगे बात करती है, इसलिये आप खयाल रखना।' अब मियाँ भी सजग रहने लगा कि कहीं मेरेको मार न दे। एक दिन मियाँ नींदका बहाना बनाकर लेटे हुए थे। वह दाढ़ीके केश काटनेके लिये छुरी लेकर आयी तो उसने सोचा कि यह तो मेरा गला काटेगी। अतः दोनोंमें बड़ी कलह हो गयी। इसलिये कहा है—

चुगलखोरसे बात न करना, खड़ा न रहना पास।
मियाँ बीबी दोनों मरे, भयो कुटुम्ब को नास॥

चुगलखोर बड़ा खराब होता है। बहनों-माताओंमें यह आदत होती है कि इसकी बात उसको कहकर दोनोंमें झगड़ा करा देती हैं। क्या हाथ आता है, बताओ ? सास-बहू, जेठानी-देवरानीमें लड़ाई करा देती हैं, भाई-भाईको न्यारा करा देती हैं।

बायाँ सुणो तो सरी, रामजी दयालजी ने क्यूँ बिसरी॥
पाँच सात तो भाई भेला, कैसा लागे प्यारा।
जे बायाँ रो हुकुम चले तो कर दे न्यारा न्यारा॥ बायाँ॰॥
परमारथ ने पतली पोवे, घर काँ ताँयी जाड़ी।
साहेब के दरबार में तेरी किस विध आसी आड़ी॥ बायाँ॰॥
चोखा चावल मोठ बाजरी, घर में आधा मेले।
अलियो धाण अरु घणा कांकरा, माँगणियाँने ठेले॥ बायाँ॰॥
खावण ने खाथी घणी अरु राम भजन ने माठी।
जवायाँ रा गीत गावणने, जाय जगत में नाठी॥ बायाँ॰॥
घर में बातां बाहर बातां, बातां आता जातां।
आ बातां में नफो नहीं है, जम मारेला लातां॥ बायाँ॰॥

आपकी क्या दशा होगी ? सारे दिन बातें करती रहती हो। राम-राम करो तो निहाल हो जाओ ! उतना ही तो खर्चा है और क्या है ? दुनियाकी कथा क्यों करो, राम-राम करो, जिससे अपना भी कल्याण और दूसरोंका भी कल्याण ! कोई ऐसी-वैसी बात करने आ जाय तो आप राम-राममें; भजनमें लग जाओ। जैसे मक्खियाँ मुँहपर बैठती हैं तो बढ़िया इत्र मुँहपर लगा लो, एक भी मक्खी मुँहपर नहीं बैठेगी, ऐसे ही कोई बात करने आ जाय तो भगवान्की बात, सत्सङ्गकी बात छेड़ दो, राम-राम करो। वह चली जायगी, टिकेगी नहीं। मक्खियाँ तो गन्दगीपर ही ठहरती हैं, उनको सुगन्ध नहीं सुहाती।

तुलसी पूरब पाप ते, हरिचर्चा न सुहात।
जैसे ज्वरके जोर से, भूख बिदा हो जात॥

किसीको ज्वर आ जाय तो उसको अन्नकी गन्ध आती है। अन्न अच्छा नहीं लगता; क्योंकि भीतरमें खराबी है। ऐसे ही जिसका अन्तःकरण खराब है, उसको सत्संग-भजन अच्छा नहीं लगता।

अपने अन्तःकरणमें कोई गड़बड़ी आ जाय तो भगवान्को पुकारो, हे नाथ ! हे नाथ !! पुकारो। यह एक दवाई है असली भगवान्को याद करो, खूब मस्त रहो। अपने कल्याणके लिये, पतिके कल्याणके लिये, माता-पिताके कल्याणके लिये भगवान्के भजनमें लग जाओ। पुरुष यदि श्रेष्ठ, उत्तम होता है तो वह अपने ही कुलका उद्धार करता है; परन्तु स्त्री श्रेष्ठ होती है तो वह दोनों कुलोंका उद्धार कर देती है—

एवा उत्तम गुण थी उभय सुकुल उजवालिये हे।
सखियाँ निज-निज नीति धर्म सदा सम्भालिये हे॥

महाराज जनक चित्रकूट गये। वहाँ सीताजी सादे वेशमें थीं। कितने प्रेमसे पली थीं सीताजी ! माता-पिताका उनपर बड़ा स्नेह था। जनकपुरीके कई राजकीय आदमी जनकजीके साथमें आये थे। उन्होंने सीताजीको साधारण वेशमें देखा तो रो पड़े कि हमारे महाराजकी पुत्री जंगलमें रहकर दुःख पा रही है ! रहनेको जगह नहीं, खानेको अन्न नहीं, पहननेको पूरा बढ़िया कपड़ा नहीं ! परन्तु महाराज जनक बड़े राजी हुए और बोले कि बेटी ! तूने दोनों कुलोंको पवित्र कर दिया—***'पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ'*** (मानस २। २८७। १)। स्त्रियाँ श्रेष्ठ होती हैं तो दोनों कुलोंका उद्धार करती हैं और खराब होती हैं तो दोनों कुलोंका नाश करती हैं। इसलिये बहनो ! धर्मकी, कुलकी मर्यादामें चलो। बालकोंपर, कुटुम्बियोंपर आपके

आचरणोंका असर पड़ता है। समुद्रके बीचमें यह पृथ्वी किस बलपर धारण की हुई है?—

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही॥

(स्कन्दपुराण, माहे० कुमार० २।७१)

'गायें, ब्राह्मण, वेद, सती स्त्री, सत्यवादी, लोभरहित और दानशील सन्त-महापुरुष—इन सातोंके द्वारा यह पृथ्वी धारण की जाती है अर्थात् इनपर पृथ्वी टिकी हुई है।' अतः सती स्त्रियोंसे पृथ्वीकी, दुनियाकी रक्षा होती है—***'एक सती और जगत् सारा, एक चन्द्रमा नौ लख तारा।'*** इतना बल आपमें है! इसलिये आप धर्मका अच्छी तरहसे पालन करें। आप धर्मकी रक्षा करो तो धर्म लोकमें, परलोकमें, सब जगह आपकी रक्षा करेगा—**'धर्मो रक्षति रक्षितः।'** कई बहनोंको पता नहीं है कि धर्म क्या कहता है? शास्त्र क्या कहता है? तो वाल्मीकिरामायण, तुलसीकृत रामायण आदि ग्रन्थ पढ़ो। परन्तु ग्रन्थोंको पढ़नेमें हमारी बुद्धिकी प्रधानता रहती है, जिससे पूरा अर्थ खुलता नहीं। पुस्तकोंमें अच्छी-अच्छी बातें पढ़नेपर भी अपनी बुद्धिकी मुख्यता रहनेसे हम उन बातोंको इतना नहीं समझ पाते, जितना हम सत्संगके द्वारा सुनकर समझ पाते हैं। इसलिये भाइयो! बहनो! सत्संग करो। आजकल अच्छी बातें मिलती नहीं हैं। बहुत कम जगह मिलती हैं। अगर मिल जायँ तो विशेषतासे लाभ लेना चाहिये। करोड़ों काम बिगड़ते हों तो भी यह मौका चूकने नहीं देना चाहिये—**'कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्।'** खेत सूख जाय तो फिर वर्षासे क्या होगा—

का बरषा सब कृषी सुखानें। समय चुकें पुनि का पछितानें॥

(मानस १।२६१।२)

इसलिये मौका चूकने मत दो और खूब उत्साहपूर्वक सत्सङ्ग, भजन, ध्यानमें लग जाओ। बड़ोंकी सेवा करो। उनकी आज्ञामें रहो। सत्संगके लिये उनके चरणोंमें गिर करके, रो करके आज्ञा माँग लो कि मेरेको यह छुट्टी दो! आप जो कहो, वही मैं करूँगी; परन्तु यह एक छुट्टी चाहती हूँ। इतना हृदयका कड़ा कौन होगा, जो सेवा करनेवालेकी एक इतनी-सी बात भी नहीं मानेगा!

लखनऊके एक कायस्थ घरकी बात है। लड़की वैष्णवोंके घरकी और शुद्ध आचरणोंवाली थी, पर पतिका खाना-पीना सब खराब था। महाराज! सुनकर आश्चर्य आये, ऐसी बात मैंने सुनी शरणानन्दजी महाराजसे! वह लड़की आज्ञा-पालन करती, मांस बनाकर देती। आप भोजन करती तो स्नान करके दूसरे वस्त्र पहनती और अपनी रोटी अलग बनाकर खाया करती। कितनी तकलीफ होती, बताओ! ऐसा गन्दा काम भी कर देना और अपनी पवित्रता भी पूरी रखना! एक बार पति बीमार हो गया। उसने खूब तत्परतासे रातों जगकर पतिकी सेवा की। पति ठीक हो गया तो उसने कहा कि तुम मेरेसे एक बात माँग लो। उसने कहा कि आप सिगरेट छोड़ दो। इस बातका पतिपर इतना असर पड़ा कि उसने मांस-मदिरा सब छोड़ दिया। क्योंकि इतनी सेवा करके भी अन्तमें उसने एक छोटी-सी बात सिगरेट छोड़नेकी माँगी! अतः माताओ! बहनो! अपनी माँग बहुत कम रखनी है और सेवा करनी है। परन्तु पतिके कहनेसे सत्सङ्ग-भजनका त्याग नहीं करना है; क्योंकि इस बातको माननेसे उसको नरक होगा। अपना ऐसा कोई भी आचरण नहीं होना चाहिये, जिससे पतिको नरक हो जाय। अतः पति, माता-पिता आदिको पापसे बचानेके लिये सत्संग करो। अपनी मर्यादा मत छोड़ो। अपना जीवन शुद्ध, निर्मल और मर्यादित हो, फिर कोई डर नहीं। मीराँबाई भजन करती हुई डरती नहीं हैं। इतनी आफत होनेपर भी भजन करती हैं—

राणाजी म्हें तो गोबिन्द का गुण गास्याँ।
हरिमंदिर में निरत करास्याँ, घूँघरिया घमकास्याँ॥

स्त्री-जाति, बड़े घरानेमें पैदा हुई, परदेमें रही, परदेमें ब्याही गयी—वह मीराँबाई निधड़क होकर अकेले ही मेड़तेसे द्वारिका चली गयी! डर है ही नहीं मनमें। ये जो पुरुष बैठे हैं, इनको घरसे निकाल दिया जाय तो इनको मुश्किल हो जाय, भीतरमें खलबली मच जाय कि कहाँ रहेंगे? क्या खायेंगे? परन्तु स्त्री-जाति होनेपर भी मीराँबाईको भगवान्‌का भरोसा है—

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर-मुकुट, मेरो पति सोई॥

जो सब संसारका पालन-पोषण करनेवाला है, वह क्या भक्तोंकी उपेक्षा कर सकता है? **'यो हि विश्वम्भरो देवः स भक्तान् किमुपेक्षते।'** अतः किसीसे डरनेकी, चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं है। सत्संग आदिके लिये कोई मना करे तो साफ कह देना चाहिये कि आपकी यह बात मैं नहीं मानूँगी; क्योंकि इसमें आपका अहित है और आपका अहित मेरेको अभीष्ट नहीं है। सत्संग, भजन, ध्यान निःशंक होकर, निधड़क होकर करो। हाँ, दिखावटी भजन नहीं करना है, दम्भ नहीं करना है।

भीतरमें और बात तथा बाहरमें और बात—यह नहीं

होना चाहिये—*'ऊपर मीठी बात, कतरनी काँखमें। आग बुझी मत जान, दबी है राखमें।'* ऊपरसे मीठी बात करना और भीतरमें कपट रखना—यह बहुत खराब है!

क्यूँ खोदे तू खाडो रे।
तू तो जाणे दूजो पड़सी, आसी थारे आडो रे॥

इसलिये बड़ी सावधानीसे जीवन पवित्र बनाओ, सुन्दर बनाओ। भगवान्‌के सम्मुख हो जाओ, फिर डरनेकी जरूरत नहीं। हम त्रिलोकीनाथ परमात्माके सम्मुख हैं, फिर डर किस बातका? परन्तु उद्दण्डता, उच्छृंखलता नहीं करनी है, कटु बर्ताव नहीं करना है। बड़े प्रेमका, आदरका बर्ताव करना है। कारण कि प्रेमका बर्ताव करनेसे आपका भाव शुद्ध, निर्मल होगा, जिसका भगवान्‌पर, सन्त-महात्माओंपर असर पड़ेगा। वे आपके पक्षमें होंगे।

सत्सङ्गका मौका बहुत कम मिलता है—

तात मिलै पुनि मात मिलै सुत भ्रात मिलै युवती सुखदाई।
राज मिलै गज-बाजि मिलै सब साज मिलै मनवांछित पाई॥
लोक मिलै सुरलोक मिलै बिधिलोक मिलै बैंकुंठहु जाई।
'सुन्दर' और मिलै सब ही सुख संत समागम दुर्लभ भाई॥

सत्सङ्ग दुर्लभतासे मिलता है। सत्सङ्गकी बड़ी विचित्र महिमा है! हनुमान्‌जी लङ्कामें जाने लगे तो उनको लंकिनीने पकड़ लिया और कहा कि मेरा निरादर करके कहाँ जाते हो? लङ्कामें जो चोर होता है, वह मेरा आहार होता है! हनुमान्‌जीने जोरसे एक मुक्का मारा। लंकिनीके मुँहसे खून बहने लगा। ऐसी दशा होनेपर वह बोली—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(मानस ५।४)

लवमात्र सत्सङ्गके समान दूसरा कोई सुख नहीं है। स्वर्ग और मुक्तिका सुख भी उसकी तुलना नहीं कर सकता। इतनी महिमा है भगवत्प्रेमीके संगकी। हनुमान्‌जीका मुक्का लगा—यह सत्सङ्ग हुआ। लंकिनीने जान लिया कि राक्षसोंका काल आ गया, अब सब राक्षस खत्म हो जायँगे—*'बिकल होसि तैं कपि कें मारे। तब जानेसु निसिचर संघारे॥'* (मानस ५।४।४)। मुक्का खाकर वह खुशी मनाती है और आशीर्वाद देती है कि भगवान्‌को याद रखकर लङ्कामें जाओ, तुम्हारा सब काम सिद्ध होगा। कारण कि भगवान्‌के प्यारे भक्तका संग हो गया, स्पर्श हो गया! इसलिये सत्सङ्गकी विचित्र महिमा है। कोई कह नहीं सकता।

सन्तोंकी बड़ी विचित्र-विचित्र महिमा आती है। हमने सुना है कि नाभाजीकी आँखें नहीं थीं। भगवान्‌के भक्त थे। वे सन्तोंके यहाँ चले गये। जूतियोंमें, रज्जीमें पड़े रहते और जो कुछ मिलता, पा लेते तथा मस्त रहते। सन्तोंकी, गुरुकी आज्ञाका पालन करनेमें बड़े तत्पर रहते। उस आज्ञा-पालन और भजनसे उनको बड़े-बड़े अनुभव हो गये। तब गुरुजीने आज्ञा दी कि तुम भक्तोंके चरित्र लिखो। नाभाजीने कहा कि महाराज! भगवान्‌के चरित्र तो मैं लिख सकता हूँ, पर भक्तोंके चरित्र मैं कैसे लिखूँगा? तो गुरुजीने कहा कि भक्त आकर तुम्हें दर्शन देंगे और अपना चरित्र बतायेंगे। तब उन्होंने 'भक्तमाल' लिखी। भीतरके नेत्र खुल गये। भक्तोंका अद्भुत वर्णन किया। अतः सत्सङ्गसे, सन्तोंकी कृपासे क्या नहीं हो सकता?

यह कलियुग और इसमें भगवान्‌का नाम मिल गया, सत्सङ्ग मिल गया तो मानो सोनेमें सुगन्ध है! ऐसे सुन्दर अवसरको जाने मत दो। कष्ट उठाकर भी किसी तरह लोगोंको सत्सङ्गमें लाओ। बड़ी-बूढ़ी माताओंको सत्सङ्गमें लाओ। उनको हाथ पकड़कर अपने साथ लाओ और सत्सङ्गमें बैठाओ। वे नहीं बैठ सकें तो एक तरफ बिछौना बिछाकर उसपर लिटा दो कि लेटकर सुनती रहो अथवा कुर्सी रखकर उसपर बैठा दो। इस प्रकार उनको सत्सङ्ग सुननेका मौका दो। भाइयोंसे भी यही कहना है कि जो बड़े-बूढ़े हों, उनको लाओ। एक जगह बैठा दो अथवा जहाँ छाया हो, वहाँ लिटा दो। सत्सङ्ग सुनाकर उनको घरपर पहुँचा दो। आपको बड़ा पुण्य होगा। भोजन देनेका भी पुण्य होता है तो क्या सत्सङ्गके लिये अवसर देनेका पुण्य नहीं होगा? जो सत्सङ्गको नहीं मानते, उनको भी पैरोंमें पड़कर सत्सङ्गमें लाओ।

बीकानेरकी ही बात है। एक लड़का माँकी आज्ञाका पालन करता था। वह रोज माँको सत्सङ्गमें पहुँचाता और सत्सङ्ग उठता तो आकर माँको ले जाता। एक दिन माँने उससे कहा कि तू भी दो-तीन दिन सत्सङ्ग सुन ले, बैठ जा। वह सत्सङ्ग सुनने लगा। अब वह कहता है कि सत्सङ्ग छूटता ही नहीं मेरेसे। चखे बिना क्या पता चले कि लड्डूमें कितना स्वाद है! अतः जिन्होंने सत्सङ्ग किया ही नहीं, वे बेचारे क्या जानें? *'मायाको मजूर बन्दो कहा जाने बन्दगी।'* दूसरे सत्सङ्ग करें—यह बात भी उनसे सही नहीं जाती! दूसरा साधुको भोजन करा दे—यह भी उनसे सहा नहीं जाता और कहते हैं—*'मुफ्तमें खावे मोडा।'* चोरी हम करते नहीं, डाका हम डालते नहीं। लोग खिलायें तब खाते हैं। लोगोंको मना करो तुम! परन्तु उनसे सहा नहीं जाता। सत्सङ्ग सुहाता नहीं,

भजन-ध्यानकी बात सुहाती नहीं।

मजाल क्या है जीव की जो राम नाम ले,
पाप देवे थापकी तो मूँडो फोर दे।

न तो खुद सत्सङ्ग करते हैं, न दूसरोंको करने देते हैं—*'खेतका अड़वा, न खावे न खाने दे।'* पर आप पक्के रहें। आप भगवान्‌में लग जायँ तो पाप, ताप सब नष्ट हो जायँगे। जैसे सूर्यसे दुनियाका अन्धकार मिट जाता है, ऐसे ही सत्सङ्गसे हृदयका अन्धकार मिट जाता है।

अहंताका त्याग

जैसे हम सब परमात्माके साक्षात् अंश हैं—'**ममैवांशः**,' '***ईस्वर अंस जीव अबिनासी***', ऐसे ही ये स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर सब प्रकृतिके अंश हैं। प्रकृतिमें अपनेको बैठा देना और प्रकृतिको अपनेमें बैठा लेना—यह खास मूल बात है। हम आज शरीरके आरामको सुख क्यों मानते हैं? हमने अपनेको शरीरमें बैठा दिया। अपनेको शरीरमें बैठानेसे 'अहंता' पैदा होती है और शरीरको, संसारको अपनेमें बैठानेसे 'ममता' पैदा होती है यह खास समझनेकी बात है।

अपनेको शरीरमें बैठानेसे 'शरीर मैं हूँ'—इस तरह शरीरके साथ अपनी अभिन्नता हो गयी, जो कि मानी हुई है; क्योंकि आप चेतन हैं और शरीर जड है। चेतनकी जड शरीरके साथ अभिन्नता हो ही कैसे सकती है? शरीर अलग है और आप अलग हैं। शरीर जाननेमें आता है और आप उसको जाननेवाले हैं। परन्तु अपनेको शरीरमें बैठानेसे शरीरकी मुख्यता हो गयी और अपनी बिलकुल गौणता हो गयी। अपनी गौणता होनेसे शरीरमें अहंभाव मुख्य हो गया, जडता मुख्य हो गयी। इसलिये पासमें जड चीजोंके होनेसे हम अपनी उन्नति मानते हैं। जिसके पास धन है, उसको बड़ा आदमी मानते हैं। शरीरकी जातिको ही बड़ा मानते हैं। मकान, जमीन, रुपया आदि भौतिक चीजोंकी जितनी अधिकता होती है, उतना ही अपनेको बड़ा मानते हैं। कारण कि मूलमें अपनी स्थिति शरीरमें कर ली। शरीरको अपनेसे बड़ा मान लिया, अपनेको शरीरके आश्रित मान लिया, शरीरके अधीन मान लिया तो इससे अहंता बढ़ेगी। शरीरका मान, आदर, सत्कार, पूजा होनेसे वह बड़ा राजी होता है; क्योंकि उसने शरीरमें ही अपनी स्थिति मान ली। शरीरके आदरको ही अपना आदर, शरीरके सुखको ही अपना सुख, शरीरकी महत्ताको ही अपनी महत्ता मान लेना बड़ी भारी गलती है। कारण कि शरीर तो क्षणभङ्गुर है, नाशवान् है, जड है, उससे हमारी महत्ता कैसे हुई?

वस्तुओंको अपनेमें रखनेसे ममता हो जाती है। शरीर, धन, जमीन, आदमी आदि मेरे हैं; क्योंकि इनको अपनेमें रख लिया। धन कहीं पड़ा हुआ है, पर उसको अपनेमें रख लिया कि मेरा धन है। बुद्धि, विद्या आदिको अपनेमें स्थित कर लिया कि मुझे इतना याद है, इतने शास्त्रोंका ज्ञान है। इतना मेरा कुटुम्ब है तो कुटुम्बमें ममता हो गयी।

इस प्रकार अपनेको जडतामें स्थापन करनेसे 'अहंता' और जडताको अपनेमें स्थापन करनेसे 'ममता' हो जाती है। दोनोंके घुलने-मिलनेको 'अन्योन्याध्यास' कहते हैं। शरीर सत्य दीखता है—यह अर्थाध्यास है और शरीर मैं हूँ—यह ज्ञानाध्यास है। जैसे रस्सीमें साँप दीखता है तो रस्सीमें अर्थाध्यास है और 'साँप है'—ऐसा जो बोध होता है, यह ज्ञानाध्यास है। और भी कई अध्यास हैं। हम तो सीधी बात बताते हैं कि अपनेको शरीरमें रख दिया और शरीरको अपनेमें रख लिया—यह अन्योन्याध्यास है। अपनेको शरीरमें रखनेसे अहंता (मैं-पन) और शरीरको अपनेमें रखनेसे ममता (मेरा-पन) पैदा हो गयी।

शरीरमें मैं-पन और मेरा-पनका व्यवहार होता है। इन्द्रियोंमें भी मैं-पन और मेरा-पनका व्यवहार होता है। जैसे, इन्द्रियाँ मेरी हैं, आँख मेरी है, कान मेरा है, नाक मेरी है। आँख ठीक नहीं हो तो मैं काना हो गया, आँख नहीं है तो मैं अन्धा हो गया। अपनेको आँखमें रखनेसे मैं काना, अन्धा हो गया। संसारमें मैं-पनका व्यवहार कम होता है और मेरा-पनका व्यवहार मुख्य होता है। शरीरमें मैं-पनका व्यवहार मुख्य होता है और मेरा-पनका व्यवहार कम होता है। मन-बुद्धिमें मेरा-पनका भी व्यवहार होता है और मैं-पनका भी। अहंकारमें भी ममता होती है, पर वह ममता गौण दीखती है और अहंता मुख्य दीखती है। अहंकारको अपनेमें स्थापन किया है, इसलिये अहंकार मेरा दीखता है। मेरा अहंकार क्या है? कि अहंकारपर टक्कर लगी तो मेरेपर टक्कर लगी! यह बात बहुत सूक्ष्म है।

कर्मयोग मुख्यरूपसे ममताको मिटाता है और ज्ञानयोग मुख्यरूपसे अहंताको मिटाता है। ममता मिटनेसे अहंता और अहंता मिटनेसे ममता मिट जाती है। दोनों साथ-साथ मिटते हैं।

शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, प्राण, मन, बुद्धि, विद्या, पद, योग्यता, अधिकार—ये सब घुल-मिलकर एक 'मैं' है। इस मिले हुए 'मैं' को ठीक-ठीक देखे तो ठीक ज्ञान हो जाता

है अर्थात् शरीरादि पदार्थ मेरेसे अलग हैं, मेरा स्वरूप नहीं हैं—ऐसा दीखने लग जाता है। घुले-मिले 'मैं' को कुछ नहीं दीखता । वह तो बिलकुल अन्धा है !

गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनोंमें अहंता-ममताके त्यागकी बात आयी है; जैसे, कर्मयोगमें—

'निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।'
(२। ७१)

ज्ञानयोगमें—

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
(१८। ५३)

भक्तियोगमें—

'निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।
(१२। १३)

सन्तोंने इसको मैं-मेरीका त्याग कहा है। मैं-पन और मेरा-पनका त्याग ही वास्तवमें त्याग है। वस्तुओंको, पदार्थोंको छोड़कर चले जाना त्याग नहीं है। यह त्याग तो मरनेपर होता ही है ! मरनेपर शरीर, घर आदि याद ही नहीं रहते। पहले जन्मकी कोई भी बात याद नहीं रहती। परन्तु यह त्याग नहीं है। यह तो केवल मैं-पन और मेरा-पनको बदल दिया, यहाँसे वहाँ रख दिया। जैसे,'मैं गृहस्थ हूँ'—इसको उठाकर 'मैं साधु हूँ'—इसमें रख दिया उसको। परन्तु बदलनेसे मुक्ति थोड़े ही हो जायगी ! मुक्ति तो सम्बन्ध-विच्छेदसे होगी।

'मैं-पन' घुले-मिलेका नाम है। इस घुले-मिलेको दूर करनेकी सार बात बताता हूँ। मेरी एक धुन है कि सुगमतासे तत्त्वका बोध हो जाय ! मैं-पन प्रकाशित होता है। मैं-पनका भान होता है। मैं-पनसे आप बिलकुल अलग हैं—यह बात सीधी बताता हूँ। वास्तवमें मैं-पन है नहीं। यदि अहङ्कार होता तो मनुष्य निरहङ्कार हो ही नहीं सकता। अतः अहङ्कार है ही नहीं। संसारमें मैं-पनके समान झूठा, असत्य कुछ है ही नहीं ! संसारमें यदि कोई फालतू चीज है, महान् अनर्थ करनेवाली चीज है, तो वह है 'मैं-पन' ! अहंता सबसे फालतू, निकम्मी, महान् अनर्थ करनेवाली है। जैसे, व्यवहारमें रुपया सबसे रद्दी है। मैलेसे, पेशाबसे भी रद्दी है। ऐसे ही यह अहंता सबसे रद्दी है; और बिलकुल है ही नहीं। सूर्यमेंसे प्रकाश और उष्णताको कोई निकाल सकता है क्या ? अग्निमेंसे गरमी और प्रकाशको कोई निकाल सकता है क्या ? नहीं निकाल सकता। निकलती वही चीज है, जो दूसरी होती है। मनुष्य निर्मम और निरहङ्कार हो सकता है, इससे सिद्ध होता है कि वास्तवमें उसमें अहंता-ममता है नहीं। अतः मैं-पन और मेरा-पन केवल कल्पना है।

स्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा है और मेरा क्या है ? ईश्वर। चेतनमें मैं-पन होगा तो मैं-पन उड़ जायगा और चेतन रह जायगा। ईश्वरमें मेरा-पन होगा तो मेरा-पन उड़ जायगा और ईश्वर रह जायगा। ज्ञानयोगकी दृष्टिसे मैं शुद्ध, बुद्ध, नित्य चेतन हूँ और भक्तियोगकी दृष्टिसे मेरे केवल भगवान् हैं—ऐसा मान ले तो यह अहंता-ममता उड़ानेकी बहुत बढ़िया प्रक्रिया है।

मेरे केवल भगवान् हैं और कोई मेरा नहीं है—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।'*** कुटुम्बी, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदि कोई भी मेरा नहीं है। 'भगवान् मेरे हैं'—इस बातको तो कई मान लेंगे, पर 'दूसरा कोई मेरा नहीं है'—इस बातको नहीं मानेंगे। दूसरा कोई मेरा नहीं है—इस बातको नहीं माननेसे अनन्य भक्ति नहीं होती। महिमा जितनी है, वह सब अनन्य भक्तिकी ही है। भगवान्ने कहा है कि अनन्य भक्तोंके लिये मैं सुलभ हूँ—**'तस्याहं सुलभः'** (गीता ८। १४) और उनका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (गीता ९। २२)।

मनुष्योंने भगवान्को घरका एक सदस्य मान रखा है। जैसे माँ-बाप हैं, भाई-बन्धु हैं, स्त्री-पुत्र हैं, ऐसे एक भगवान् भी हमारे हैं—इस तरह भगवान्को भी एक सदस्य मान रखा है। आज मनुष्य स्त्री-पुत्र-जितना भी भगवान्को अपना नहीं मानते। अगर परिवार भूल जाय, कोई मर जाय तो दुःख होता है, पर भगवान् भूल जायँ तो कोई परवाह ही नहीं होती ! भगवान्को तो साधारण चीज मान रखा है। कसौटी कसके देखो कि हम भगवान्का कितना आदर करते हैं, तब पता लगेगा। भगवन्नाम भूल गये तो कोई बात नहीं है, पर पाँच रुपये भी कहीं भूल गये तो खटकेगा। भगवान्को याद किये बिना समय बरबाद हो गया—यह खटकता ही नहीं ! समय तो जितना मिला है, उससे एक क्षण भी ज्यादा नहीं मिलेगा, पर रुपया तो और भी मिल जायगा। समय तो सब खर्च हो रहा है और खर्च होनेपर मरना पड़ेगा। परन्तु रुपये सब खर्च हो जायँ तो मरना थोड़े ही पड़ेगा ! समय आपके जीवनका आधार है, पर आपका इधर खयाल ही नहीं है ! बेहोशीमें पड़े हैं। कितनी नीची वृत्ति हो गयी, हद हो गयी।

★

ममताका त्याग

प्राप्त वस्तुओंमें ममता होती है और अप्राप्त वस्तुओंकी कामना होती है। अतः जो प्राप्त है, उनमें ममता न रखें और नयी कामना न करें तो इतनेमात्रसे जीवन्मुक्ति है। जिसको मुक्ति कहते हैं, जिसको दुर्लभ पद कहा है, जिसको ऋषि-मुनि, सन्त-महात्मा प्राप्त हुए हैं, जिसको अक्षर कहते हैं—**'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति'**, जिसकी प्राप्तिकी इच्छासे ब्रह्मचारीलोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं—**'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'**, जिसको वीतराग पुरुष प्राप्त होते हैं—**'विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः'**, उस परमपदकी प्राप्ति हो जाय केवल इतनी बातसे कि मिली हुई वस्तुमें ममता न करें और जो न मिला हो उसकी कामना न करें !

मिली हुई वस्तुओंको आप नष्ट कर दो, फेंक दो, जला दो—यह नहीं कहता मैं। वस्तुएँ हैं जैसे ही रहें, पर उनमें मेरा-पन न रखें। उनके रहते हुए मेरा-पन कैसे न रखें ? देखो, आपलोगोंके अनुभवकी बात है। आप उसको काममें लेते ही हैं। जैसे, आपके मनमें कन्यादान करनेकी इच्छा हुई और आपने कन्यादान कर दिया। विवाह कर देनेके बाद कन्यामें आपकी वैसी ममता नहीं रहती। आपकी पुत्री थी और आप भी कहते थे कि मेरी कन्या है; परन्तु विवाह होनेके बाद क्या वैसी ममता है ? तो आपको ममता छोड़ना आता है न ? ध्यान दो इस बातपर।

श्रोता—कन्याकी ममता तो बिना प्रयास ही छूट जाती है; परन्तु वस्तुओंकी ममता तो प्रयाससे भी नहीं छूटती !

स्वामीजी—कन्याकी ममता भी बहुत प्रयाससे छूटती है महाराज ! उसको छोड़नेमें खर्चा लगता है; भाई-बन्धुओं, सम्बन्धियों, कुटुम्बियों आदि कइयोंकी गरज करनी पड़ती है ! इतना तो वस्तुओंकी ममता छोड़नेमें नहीं करना पड़ता। मैं तो कहता हूँ कि वस्तुओंके पासमें रहते हुए उनकी ममता छोड़ दो। उनकी ममता छोड़नेमें न तो आदमियोंको बुलाना पड़ेगा, न भोजन कराना पड़ेगा, न घरको सजाना पड़ेगा, कुछ भी नहीं करना पड़ेगा ! कन्याके विवाहमें कितना जोर आता है ! लखपतियों-करोड़पतियोंको चिन्ता लग जाती है। परन्तु ऐसी कठिनता लेकर भी आप कन्याकी ममता सुगमतापूर्वक छोड़ देते हो, तो फिर इस ममताको छोड़नेमें क्या जोर आता है आपको ?

दूसरी बात बताऊँ ! जैसे, आप मेरेको कपड़ा देना चाहो और मैंने कपड़ा ले लिया तो आपकी ममता छूटी कि नहीं छूटी ? तो आपको ममता छोड़ना आता है न ? कन्या देना बड़ा दान हुआ, छोटा-सा कपड़ा देना छोटा दान हुआ। दान छोटा हो या बड़ा, इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। अपनापन छोड़ना ही खास है। छोटी-बड़ी वस्तु देनेका मूल्य नहीं है, मूल्य तो ममता छोड़नेका है; क्योंकि मुक्ति ममता छोड़नेसे होती है। महाभारतमें साफ आया है—

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्॥

(महा० शान्ति० १३।४)

'दो अक्षरोंका **'मम'** (यह मेरा है) मृत्यु है और तीन अक्षरोंका **'न मम'** (यह मेरा नहीं है) अमृत, सनातन ब्रह्म है।'

—यह वेदव्यासजी महाराजकी वाणी है, जो सबसे बड़े महापुरुष हुए हैं ! ग्रन्थ लिखनेवालोंमें व्यासजीके समान कोई नहीं है।

ममता छोड़नेके लिये है और आपको ममता छोड़ना आता है। किसको नहीं आता है ममता छोड़ना ? आपके घरपर भिक्षुक आता है और आप उसे रोटी दे देते हो तो आप उस रोटीको अपनी मानते हो क्या ? आप कहेंगे कि दे देते हैं, तब ऐसा होता है। परन्तु जब नहीं देते हैं, तब भी ऐसा होता है; जैसे—अधिक मासमें बीस-तीस चीजें दान करनी हों तो बहनें-माताएँ पहले ही चीजें मँगाकर घरमें रख लेती हैं, पर उनमें आपकी ममता होती है क्या ? छोरा उन चीजोंमेंसे एक गिलास भी उठा लाये तो आप कहते हो कि इसको वापिस रखकर आओ; यह चीज देनेकी है, अपनी नहीं है। इस तरह जो चीज घरमें पड़ी है, उसकी रक्षा भी करते हो और मोल भी लाते हो, सब कुछ करते हो, पर मेरा-पन नहीं करते। कन्यादान किया, कपड़ा दे दिया, रोटी दे दी और घरमें पड़ी चीजें भी देनी हैं—इस विचारसे आप अपनापन छोड़ देते हो। ऐसे ही आपको बताऊँ कि एक दिन आपको शरीरसहित सम्पूर्ण वस्तुओंको छोड़ना पड़ेगा। एक दिन सब छूटेगा ही, छोड़े बिना आप रह सकते नहीं। धनको, घरको, शरीरको भी क्या आप सदा साथमें रख सकते हो ? नहीं रख सकते। ऐसी असमर्थ अवस्थामें यदि आप पहलेसे ही उनका त्याग कर दो तो क्या जोर आये ?

अन्तहुँ तोहि तजैंगे पामर, तू न तजै अबही ते।

आप नहीं छोड़ोगे तो जबर्दस्ती छुड़ाया जायगा और आपको दुःख होगा, सन्ताप होगा। अगर आप छोड़ दो तो अनन्त सुख प्राप्त होगा—**'स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ।'** (भर्तृहरि वैराग्यशतक) इस बातपर आप थोड़ा विचार करो। देखो, कथा सुन ली, कहानी सुन ली तो अब

चलो भाई—यह बात यहाँ नहीं है। मेरी बातें कथा-कहानीकी तरह नहीं हैं। मर्मकी बातें सुनो और अभी-के-अभी निहाल हो जाओ—ऐसी बात है! परन्तु यह बात लोगोंको जँचती नहीं। वे यही कहते हैं कि ऐसा कैसे हो सकता है! अरे, नहीं हो सकता तो मैं क्यों कहता हूँ? नहीं हो सके तो आप होनेका विचार कर लो। कठिनता पड़े तो पूछो!

देखो! आवश्यकता और कामना दो चीज हैं। आवश्यकता पूरी होनेवाली होती है, पर कामना कभी पूरी नहीं होती। कन्यादान करना आवश्यक है, पर उसके लिये चिन्ता करना आवश्यक नहीं है। कन्याको जहाँ जाना है, वहाँका प्रबन्ध अपने-आप बैठेगा। आपको उद्योग करना है, चिन्ता नहीं करनी है। कर्म करनेमें आपका अधिकार है, फलमें अधिकार नहीं है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' (गीता २।४७)। कन्यादानके लिये उद्योग करना आपका काम है। कन्यादान हो ही जाय—यह आपके हाथकी बात नहीं है।

जैसे, भूख लगी तो यह पेटमें अन्नकी 'आवश्यकता' है और उसमें स्वाद चाहना कि अमुक भोजन मिले—यह 'कामना' है। आवश्यकता पूरी होती है, पर कामना आजतक किसीकी पूरी नहीं हुई। किसीके भी जीवनमें ऐसा नहीं हुआ कि सब कामनाएँ पूरी हो गयी हों। परन्तु आवश्यकताका विधान है कि वह पूरी होती है। इस तरह एक आवश्यकता होती है और एक कामना होती है। इनको आप ध्यानसे सुनो और धारण करो। वर्षोंतक मेरेको यह बात समझमें नहीं आयी। व्याख्यान देता था और दिया भी वर्षोंतक, पर आवश्यकता और कामना दो हैं—यह बात मेरेको बहुत देरीसे मिली। मेरेको ऐसी बातें बहुत कठिनतासे मिली हैं। इनके मर्मको समझनेमें मेरेको जोर पड़ा है और समय लगा है। यह आपको इसलिये कहा है कि आप इस बातका कुछ आदर करो। इसमें कोई आत्मश्लाघा नहीं, कोई महिमा नहीं, कोई विशेषता नहीं, नहीं तो पहले ही जान लेता। पर नहीं आयी अक्लमें! ऐसे कई झंझट थे, जो गीतासे खुले हैं। परन्तु आप जानना चाहो तो बहुत सुगमतासे जान सकते हो। बहुत सरल, सीधी-सादी बातें हैं।

आवश्यकता और कामना क्या है? मूलमें आवश्यकता तो है परमात्माकी और कामना है संसारकी। यह मूल बात है। हम सदा जीते रहें, हम जानकार बनें, हम सदा सुखी रहें—यह आवश्यकता है; क्योंकि आपकी यह चाहना वास्तवमें सत्-चित्-आनन्दघन परमात्माकी है। परन्तु संसारकी जितनी आवश्यकता मानते हो, जितनी चाहना करते हो, वह सब-की-सब कामना है। ये दो भेद मेरेको मिले तो बड़ी प्रसन्नता हुई मनमें कि आज तो एक काँटा निकल गया भीतरसे! आवश्यकता और चीज है, कामना और चीज है। अँग्रेजीमें हमने want और desire—ये दो शब्द सुने हैं। मैंने अच्छे पढ़े-लिखोंसे पूछा कि इन दो शब्दोंमें क्या भेद है, पर वे ठीक तरहसे बता नहीं सके। जैसे मैं कहता हूँ कि आवश्यकता केवल परमात्माकी है और इच्छा केवल संसारकी है। पर इतना साफ नहीं बताया अँग्रेजी पढ़े-लिखोंने। आवश्यकता पूरी होनेवाली होती है, वह मिटनेवाली हो ही नहीं सकती। परमात्मतत्त्वकी जो आवश्यकता है और हमारी जो कमी है, वह पूरी हुए बिना कभी मिट नहीं सकती और कामना कभी पूरी नहीं हो सकती—यह नियम है। नियमका भंग होता हो तो बताओ।

श्रोता—रोटी-कपड़ा लोगोंकी आवश्यकता है; परन्तु यह बहुत-से लोगोंको सुलभ नहीं है?

स्वामीजी—भूखा तो लखपति और करोड़पतिको भी रहना पड़ सकता है। वैद्य, डाक्टर मना कर दें तो करोड़ों रुपये पासमें होनेपर भी रोटी नहीं खा सकते। अतः रोटी-कपड़ा नहीं मिलता तो वहाँ आवश्यकता नहीं है। आवश्यकतावाली चीज तो मिलेगी ही। साफ कहा है—'**यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्**' अर्थात् जो चीज हमें मिलनेवाली है, वह दूसरोंको नहीं मिल सकती। जो हमारी चीज है, वह हमारेसे अलग कैसे रहेगी? उसको मिलना पड़ेगा। कोई भूखा मरनेवाला हो, उसको भूखा ही मरना पड़ेगा। यह आवश्यक नहीं है कि अन्न-जल ही मिले। यह तो मैंने संसारकी रीतिमें दो चीज समझनेके लिये बतायी है कि भूख-प्यासकी आवश्यकता है और स्वादकी इच्छा है। वास्तवमें आवश्यकता है परमात्माकी और इच्छा है संसारकी। संसारकी इच्छा किसी भी तरहकी हो, वह सब कामना ही है, जो कभी पूरी होगी ही नहीं। परमात्माकी आवश्यकता कभी मिटेगी नहीं, आप जानें चाहे न जानें, मानें चाहे न मानें। आप नास्तिक हो जायँ तो भी भीतरसे परमात्माकी इच्छा नहीं मिटेगी। कारण कि जो ईश्वरको, परमात्माको बिलकुल नहीं मानते, वे भी हरदम रहना चाहते हैं, ज्ञान चाहते हैं, सुख-शान्ति चाहते हैं। उनकी यह इच्छा सच्चिदानन्दघन परमात्माकी है। रहना (जीना) चाहते हैं—यह 'सत्'की इच्छा हुई। ज्ञान चाहते हैं—यह 'चित्'की इच्छा हुई। सुख चाहते हैं—यह 'आनन्द'की इच्छा हुई। जो ईश्वरका खण्डन करता है, दुनियासे ईश्वरका नाम उठा देना चाहता है, ऐसे नास्तिक-से-नास्तिक आदमीके भीतर भी ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छा

रहती है। क्या वह जीना नहीं चाहता ? क्या वह ज्ञान नहीं चाहता ? क्या वह सुख नहीं चाहता ? चाहता है तो सच्चिदानन्द परमात्माकी इच्छा है। इस चाहको कोई मिटा नहीं सकता; क्योंकि यह हमारी असली चाह है, असली जिज्ञासा है, असली भूख है। यह कभी मिटनेवाली नहीं है, प्रत्युत पूरी होनेवाली ही है। संसारकी इच्छा कभी किसीकी पूरी नहीं हुई, होगी नहीं, हो सकती नहीं। आपने भी देख लिया कि जीवनमें कभी इच्छा पूरी नहीं हुई। अब उसको छोड़नेमें क्या बाधा है ?

श्रोता—हम इतना मान लें कि हमने सब छोड़ दिया तो क्या इतना माननेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी ?

स्वामीजी—नहीं होगी। यह कोई तमाशा नहीं है। भीतरसे इच्छा छोड़ोगे, तब होगी। मैंने इच्छा छोड़ दी—ऐसा कहनेसे क्या हो जायगा ? केवल कहनेसे नहीं होगा। केवल ऊपरसे मान लेनेसे नहीं होगा। भीतरसे कोई इच्छा नहीं हो। जीनेकी भी इच्छा न हो। अभी मर जायँ तो कोई चिन्ता नहीं। इच्छा छोड़नेसे आप मरोगे नहीं और चाहनेपर भी बचोगे नहीं। मरना तो पड़ेगा ही, नहीं चाहनेपर भी और चाहना छोड़नेपर भी—यह पक्की बात कहता हूँ। आप विचार करो कि क्या अपनी चाहनासे हम जी रहे हैं। चाहनेमात्रसे कोई जी नहीं सकता। जीनेके उपायके लिये मैं मना नहीं करता। रोटी खाओ, दवाई लो, संयमसे रहो—यह बात मैं कहता हूँ। परन्तु हम जीते रहें—यह हमारे हाथकी बात नहीं है। इसमें आपको क्या बाधा लगती है ? पूछो।

आप सोचते हैं तो उलटा सोचते हैं कि यह चुप कैसे हो जाय ? ऐसा प्रश्न पूछें कि यह बोल नहीं सके। यह नहीं सोचते कि बातको काममें कैसे लायें ? जैसे सरकारी कानूनके विषयमें सोचते हैं कि इस कानूनसे कैसे बचें ? कैसे झूठ-कपट करें ? कैसे चकमा दें ? यही बर्ताव आप दूसरोंसे करते हैं। ऐसा करना ठीक नहीं है। आप ऐसा सोचो कि यह ममता कैसे मिटे ? यह कामना कैसे मिटे ? इसके लिये सोचना होता है, चेष्टा नहीं होती। वस्तुको ज्यों-की-त्यों रहने दो, एक कौड़ी भी खर्च मत करो; परन्तु 'यह मेरी नहीं है' इतना मान लो। आस्तिकके लिये बहुत सरल उपाय है कि 'यह सब भगवान्‌की है'। सच्ची बात है। आस्तिक आदमी सब वस्तुओंको भगवान्‌की मानते ही हैं। अब बोलो, ममता छूटेगी कि नहीं ? हमारी है ही नहीं, ठाकुरजीकी है। अब वस्तु चली जाय तो ठाकुरजीकी वस्तु चली गयी। रक्षा करना, ठीक तरहसे रखना हमारा काम है; क्योंकि हम ठाकुरजीके हैं तो हम ठाकुरजीकी चीजको निरर्थक नष्ट कैसे होने देंगे !

ठाकुरजीके विधानके अनुसार खर्च करेंगे; क्योंकि ठाकुरजीकी चीज है। कितना सुगम उपाय है ! इस बातको भीतरसे पक्का मान लो। अब बेटा मर जाय तो हम चिन्ता क्यों करें ? भगवान्‌का बेटा मरा। आप बिलकुल गिनाओ कि हमारे इतने बेटे हैं। गिनानेमें क्या हर्ज हुआ। आप केवल मेरापन छोड़ दो। उनका पालन-पोषण करो, रक्षा करो। अपनी जिम्मेवारीका पालन करो। भगवान्‌की दी हुई ड्यूटी है। गाड़ीमें बैठनेपर आप कहते हैं कि यह हमारा डिब्बा है, पर गाड़ीसे उतरनेके बाद आप कभी चिट्ठी देकर पूछते हो कि हमारा डिब्बा कैसे है ? अतः व्यवहार करनेमें कोई बाधा नहीं लगती। व्यवहार सुचारुरूपसे करो। जैसा अभी करते हो, उससे भी सुचारुरूपसे करो। हमारी चीजकी परवाह नहीं, पर अब तो प्रभुकी चीज है ! उसकी अच्छी तरहसे रक्षा करो।

मैं आपका दुःख मिटानेके लिये कहता हूँ। चीज मिटाने, नष्ट करनेके लिये नहीं कहता हूँ। चीज छोड़कर साधु हो जाइये—यह नहीं कहता हूँ। दुःख, सन्ताप, अभाव, व्याकुलता, हलचल मिटानेके लिये कहता हूँ। वही घर है, वही स्त्री है, वही परिवार है, वे ही रुपये हैं और वैसे ही आप हो, कुछ फर्क नहीं पड़ेगा, केवल आपकी चिन्ता मिट जायगी ! परन्तु ममता, कामना रखोगे तो यह चिन्ता, हलचल, दुःख, सन्ताप कभी मिटनेका है ही नहीं। ममता, कामनाके रहते चिन्ता, हलचल न हो—यह असम्भव बात है। मनमें इच्छा रखे कि ऐसा हो और ऐसा न हो तो हलचल होगी ही।

श्रोता—तत्त्वका बोध होनेसे पहले ममता, कामना कैसे मिटेगी ?

स्वामीजी—तत्त्वका बोध होनेसे ममता मिट जायगी और ममता मिटनेसे तत्त्वका बोध हो जायगा। खुशी आये, ज्यों कर लो। आपको जो सुगम पड़े, वह काम कर लो। कामना-ममताके रहते-रहते तत्त्वबोध हो जायगा ! आप ध्यान दो मेरी बातपर। गीताकी बात है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

(४। ३६)

सम्पूर्ण पापियोंसे भी जो अधिक पापी हो, वह भी ज्ञानरूपी नौकासे पापोंको तर जायगा। अतः पापी-से-पापी भी ज्ञानका अधिकारी हुआ कि नहीं ? कामना तो दूर रही, पापी बताया है। मनुष्य कामनाके कारण ही पाप करता है (गीता ३। ३६-३७)। कामनासे होनेवाले बड़े-बड़े पापोंसे आप तर जाओगे। तात्पर्य है कि ज्ञान पहले भी मिल

सकता है और कामना-ममताके त्यागसे भी मिल सकता है—'**विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥**' (गीता २।७१) ये दोनों प्रमाण गीतामें हैं। कामनाके विषयमें मेरेको ऐसी बहुत बातें याद हैं। इस विषयमें मैंने बहुत खोज की है और कर रहा हूँ।

सच्चा गुरु कौन ?

ग्रन्थस्य कृष्णस्य कृपा सतां च
सर्वत्र सर्वेषु च विद्यमाना।
यावन्न ताञ्छ्रद्दधते मनुष्य-
स्तावन्न साक्षात्कुरुते स्वबोधम्॥

अर्जुन हरदम भगवान्‌के साथ ही रहते थे; भगवान्‌के साथ ही खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते थे; परन्तु भगवान्‌ने उनको गीताका उपदेश तभी दिया, जब उनके भीतर अपने श्रेयकी, कल्याणकी, उद्धारकी इच्छा जाग्रत् हो गयी—'**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे**' (२।७)। ऐसी इच्छा जाग्रत् होनेके बाद वे अपनेको भगवान्‌का शिष्य मानते हैं और भगवान्‌के शरण होकर शिक्षा देनेके लिये प्रार्थना करते हैं—'**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' (२।७)। इस प्रकार कल्याणकी इच्छा जाग्रत् होनेके बाद अर्जुनने अपनेको भगवान्‌का शिष्य मानकर शिक्षा देनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की है, न कि गुरु-शिष्य-परम्पराकी रीतिसे भगवान्‌को गुरु माना है। भगवान्‌ने भी शास्त्रपद्धतिके अनुसार अर्जुनको शिष्य बनानेके बाद, गुरु-मन्त्र देनेके बाद, सिरपर हाथ रखनेके बाद उपदेश दिया हो—ऐसी बात नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि पारमार्थिक उन्नतिमें गुरु-शिष्यका सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक नहीं है, प्रत्युत अपनी तीव्र जिज्ञासा, अपने कल्याणकी तीव्र लालसाका होना ही अत्यन्त आवश्यक है। अपने उद्धारकी जोरदार लगन होनेसे साधकको भगवत्कृपासे, संत-महात्माओंके वचनोंसे, शास्त्रोंसे, ग्रन्थोंसे, किसी घटना-परिस्थितिसे, किसी वायुमण्डलसे अपने-आप पारमार्थिक उन्नतिकी बातें, साधन-सामग्री मिल जाती है और वह उसे ग्रहण कर लेता है।

गीता बाह्य विधियोंको, बाह्य परिवर्तनको उतना आदर नहीं देती, जितना आदर भीतरके भावोंको, विवेकको, बोधको, जिज्ञासाको, त्यागको देती है। यदि गीता बाह्य विधियोंको, परिवर्तनको, गुरु-शिष्यके सम्बन्धको ही आदर देती तो वह सब सम्प्रदायोंके लिये उपयोगी तथा आदरणीय नहीं होती अर्थात् गीता जिस सम्प्रदायकी विधियोंका वर्णन करती, वह उसी सम्प्रदायकी मानी जाती। फिर गीता प्रत्येक सम्प्रदायके लिये उपयोगी नहीं होती और उसके पठन-पाठन, मनन-चिन्तन आदिमें सब सम्प्रदायवालोंकी रुचि भी नहीं होती। परन्तु गीताका उपदेश सार्वभौम है। वह किसी विशेष सम्प्रदाय या व्यक्तिके लिये नहीं है, प्रत्युत मानवमात्रके लिये है।

गीताने ज्ञानके प्रकरणमें '**प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया**' (४।३४) और '**आचार्योपासनम्**' (१३।७) पदोंसे आचार्यकी सेवा, उपासनाकी बात कही है। उसका तात्पर्य यही है कि ज्ञानमार्गी साधकमें 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अभिमान रहनेकी ज्यादा सम्भावना रहती है। अतः साधकको चेतानेके लिये तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त आचार्य या गुरुकी अधिक आवश्यकता रहती है। परंतु वह आवश्यकता भी तभी रहती है, जब साधकमें तीव्र जिज्ञासाकी कमी हो अथवा उसकी ऐसी भावना हो कि गुरुजी उपदेश देंगे, तभी ज्ञान होगा। तीव्र जिज्ञासा होनेपर साधक तत्त्वका अनुभव किये बिना किसी भी अवस्थामें संतोष नहीं कर सकता, किसी भी सम्प्रदायमें अटक नहीं सकता और किसी भी विशेषताको लेकर अपनेमें अभिमान नहीं ला सकता। ऐसे साधककी जिज्ञासा-पूर्ति भगवत्कृपासे हो जाती है।

गुरु-शिष्यके सम्बन्धसे ही ज्ञान होता है—ऐसी बात देखनेमें नहीं आती। कारण कि जिन लोगोंने गुरु बना लिया है, गुरु-शिष्यका सम्बन्ध स्वीकार कर लिया है; उन सबको ज्ञान हो गया हो—ऐसा देखनेमें नहीं आता। परंतु तीव्र जिज्ञासा होनेपर ज्ञान हो जाता है—ऐसा देखनेमें, सुननेमें आता है। तीव्र जिज्ञासुके लिये गुरु-शिष्यका सम्बन्ध स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। तात्पर्य है कि जबतक स्वयंकी तीव्र जिज्ञासा नहीं होती, तबतक गुरु-शिष्यका सम्बन्ध स्वीकार करनेपर भी ज्ञान नहीं होता और तीव्र जिज्ञासा होनेपर साधक गुरु-शिष्यके सम्बन्धके बिना ही किसीसे भी ज्ञान ले लेता है। तीव्र जिज्ञासावाले साधकको भगवान् स्वप्नमें भी शुकदेव आदि (जो पहले हो गये हैं) सन्तोंसे मन्त्र दिला देते हैं।

शिष्य बननेपर गुरुके उपदेशसे ज्ञान हो ही जायगा—यह नियम नहीं है। कारण कि उपदेश मिलनेपर भी अगर स्वयंकी जिज्ञासा, लगन नहीं होगी तो शिष्य उस उपदेशको धारण नहीं कर सकेगा। परन्तु तीव्र जिज्ञासा, श्रद्धा-विश्वास होनेपर मनुष्य बिना किसी सम्बन्धके ही उपदेशको धारण कर लेता है—'**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्**' (४।३९)। तात्पर्य है कि ज्ञान स्वयंकी जिज्ञासा, लगनसे ही होता है, गुरु बनानेमात्रसे नहीं।

अगर किसीको असली गुरु मिल भी जाय, तो भी वह स्वयं उनको गुरु, महात्मा मानेगा, स्वयं उनपर श्रद्धा-विश्वास करेगा, तभी उससे लाभ होगा। अगर वह स्वयं श्रद्धा-विश्वास न करे तो साक्षात् भगवान्के मिलनेपर भी उसका कल्याण नहीं होगा। दुर्योधनको भगवान्ने उपदेश दिया और पाण्डवोंसे संधि करनेके लिये बहुत समझाया, फिर भी उसपर कोई असर नहीं पड़ा। उसके माने बिना भगवान् भी कुछ नहीं कर सके। तात्पर्य है कि खुदके मानने, स्वीकार करनेसे ही कल्याण होता है। अतः गीता अपने-आपसे ही अपने-आपका उद्धार करनेकी प्रेरणा करती है—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** (६।५)।

ज्ञानमार्गमें तो गीताने आचार्य आदिकी उपासना बतायी है, पर कर्मयोग और भक्तिमार्गमें गुरु आदिकी आवश्यकता नहीं बतायी। कारण कि जब किसी घटना; परिस्थिति आदिसे ऐसी भावना जाग्रत् हो जाती है कि 'स्वार्थभावसे कर्म करनेपर अभावकी पूर्ति नहीं होती; स्वार्थभाव रखना पशुता है, मानवता नहीं है', तब मनुष्य स्वार्थभावका, कामनाका त्याग करके सेवा-परायण हो जाता है। सेवा-परायण होनेसे उस कर्मयोगीको अपने-आप तत्त्वज्ञान हो जाता है—**'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'** (४।३८)।

कोई एक विलक्षण शक्ति है, जिससे सम्पूर्ण संसारका संचालन हो रहा है। उस शक्तिपर जब मनुष्यका विश्वास हो जाता है, तब वह भगवान्की तरफ चल पड़ता है। भगवान्में लगे हुए ऐसे भक्तके अज्ञान-अन्धकारका नाश भगवान् स्वयं कर देते हैं (१०।११); और भगवान् स्वयं उसका मृत्यु-संसार-सागरसे उद्धार करनेवाले बन जाते हैं (१२।७)।

भगवान्की यह एक विलक्षण उदारता, दयालुता है कि जो उनको नहीं मानता, उनका खण्डन करता है अर्थात् नास्तिक है, उसके भीतर भी यदि तत्त्वको, अपने स्वरूपको जाननेकी तीव्र जिज्ञासा हो जाय तो उसको भी भगवत्कृपासे ज्ञान मिल जाता है।

जिससे प्रकाश मिले, ज्ञान मिले, सही मार्ग दीख जाय, अपना कर्तव्य दीख जाय, अपना ध्येय दीख जाय, वह गुरु-तत्त्व है। वह गुरु-तत्त्व सबके भीतर विराजमान है। वह गुरु-तत्त्व जिस व्यक्ति, शास्त्र आदिसे प्रकट हो जाय, उसीको अपना गुरु मानना चाहिये।

वास्तवमें भगवान् ही सबके गुरु हैं; क्योंकि संसारमें जिस-किसीको ज्ञान, प्रकाश मिलता है, वह भगवान्से ही मिलता है। वह ज्ञान जहाँ-जहाँसे, जिस-जिससे प्रकट होता है अर्थात् जिस व्यक्ति, शास्त्र आदिसे प्रकट होता है, वह गुरु कहलाता है; परन्तु मूलमें भगवान् ही सबके गुरु हैं। भगवान्ने गीतामें कहा है कि 'मैं ही सब प्रकारसे देवताओं और महर्षियोंका आदि अर्थात् उनका उत्पादक, संरक्षक, शिक्षक हूँ'—**'अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः'** (१०।२)। अर्जुनने भी विराट्‌रूप भगवान्की स्तुति करते हुए कहा है कि 'भगवन्! आप ही सबके गुरु हैं'—**'गरीयसे'** (११।३७); **'गुरुर्गरीयान्'** (११।४३)। अतः साधकको गुरुकी खोज करनेकी आवश्यकता नहीं है। उसे तो **'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'** के अनुसार भगवान् श्रीकृष्णको ही गुरु और उनकी वाणी गीताको उनका मन्त्र, उपदेश मानकर उनके आज्ञानुसार साधनमें लग जाना चाहिये। यदि साधकको लौकिक दृष्टिसे गुरुकी आवश्यकता पड़ेगी तो वे जगद्गुरु अपने-आप गुरुसे मिला देंगे; क्योंकि वे भक्तोंका योगक्षेम वहन करनेवाले हैं—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (९।२२)।

ज्ञातव्य

असली गुरु वह होता है, जो दूसरेको अपना शिष्य नहीं बनाता, प्रत्युत गुरु ही बनाता है अर्थात् तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त बना देता है, दुनियाका उद्धार करनेवाला बना देता है। ऐसा गुरु गुरुओंकी टकसाल, खान होता है।

वास्तवमें जो महापुरुष (गुरु) होते हैं, वे शिष्य नहीं बनाते। उनके भीतर यह भाव कभी रहता ही नहीं कि कोई हमारा शिष्य बने तो हम बात बतायें। हाँ, उस महापुरुषसे जिनको ज्ञान मिला है वे उसको अपना गुरु मान लेते हैं। कोई माने, चाहे न माने, जिससे जितना ज्ञान मिला है, उस विषयमें वह गुरु हो ही गया। जिनसे हमें शिक्षा मिलती है, लाभ होता है, जीवनका सही रास्ता मिलता है, ऐसे माता-पिता, शिक्षक, आचार्य आदि भी 'गुरु' शब्दके अन्तर्गत आ जाते हैं।

मनुष्य किसीको गुरु बनाकर कहता है कि 'मैं सगुरा हो गया हूँ अर्थात् मैंने गुरु धारण कर लिया, मैं निगुरा नहीं रहा' और ऐसा मानकर वह सन्तोष कर लेता है तो उसकी उन्नतिमें बाधा लग जाती है। कारण कि वह और किसीको अपना गुरु मानेगा नहीं, दूसरोंका सत्संग करेगा नहीं, दूसरेका व्याख्यान, विवेचन सुनेगा नहीं तो उसके कल्याणमें बड़ी बाधा लग जायगी। वास्तवमें जो अपना कल्याण चाहते हैं, वे किसीको गुरु बनाकर किसी जगह अटकते नहीं, प्रत्युत अपने कल्याणके लिये जिज्ञासु बने ही रहते हैं। जबतक बोध न हो, तबतक वे कभी सन्तोष करते ही नहीं। इतना ही नहीं, बोध हो जानेपर भी वे सन्तोष करते नहीं, प्रत्युत सन्तोष हो जाता है। यह उनकी लाचारी है!

पुराने कर्मोंसे, प्रारब्धसे जो फल मिले, अनुकूल-

प्रतिकूल परिस्थिति आये, उसमें तो सन्तोष करना चाहिये, पर आगे नया उद्योग (पुरुषार्थ) करनेमें, परमात्माकी प्राप्ति करनेमें कभी सन्तोष नहीं करना चाहिये। अतः जबतक बोध न हो जाय, तबतक सच्चे जिज्ञासुको कहीं भी अटकना नहीं चाहिये, रुकना नहीं चाहिये। यदि किसी महापुरुषके संगमें अथवा किसी सम्प्रदायमें रहनेसे बोध न हो तो उस संगको, सम्प्रदायको बदलनेमें कोई दोष नहीं है। सन्तोंने ऐसा किया है। यदि जिज्ञासा जोरदार हो और उस संगको अथवा सम्प्रदायको बदलना न चाहते हों तो भगवान् जबर्दस्ती उसे बदल देते हैं। बदलनेपर सब ठीक हो जाता है।

प्रश्न—विद्यागुरु, शिक्षागुरु और सद्गुरुमें क्या अन्तर है?

उत्तर—जिससे शिक्षा लेते हैं, विद्या पढ़ते हैं, वह 'विद्यागुरु' है। जिससे यज्ञोपवीत धारण करते हैं, कण्ठी लेते हैं, दीक्षा लेते हैं, वह 'दीक्षागुरु' है। जिससे सत्य-तत्त्वका बोध (ज्ञान) होता है, वह 'सद्गुरु' है। सद्गुरु किसी भी वर्ण और आश्रमका हो सकता है। महाभारतमें कहा गया है—

प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात् क्षत्रियाद् वा
वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम्।
श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं
न श्रद्धिनं जन्ममृत्यू विशेताम्॥

(शान्ति० ३१८।८८)

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा नीच वर्णमें उत्पन्न हुए पुरुषसे भी यदि ज्ञान मिलता हो तो उसे प्राप्त करके श्रद्धालु मनुष्यको सदा उसपर श्रद्धा रखनी चाहिये। जिसके भीतर श्रद्धा है, उस मनुष्यमें जन्म-मृत्युका प्रवेश नहीं हो सकता।'

प्रश्न—गुरुकी पहचान क्या है?

उत्तर—गुरुकी पहचान शिष्य नहीं कर सकता। जो बड़ा होता है, वही छोटेकी पहचान कर सकता है। छोटा बड़ेकी पहचान क्या करे! फिर भी जिसके संगसे अपनेमें दैवी सम्पत्ति आये, आस्तिकभाव बढ़े, साधन बढ़े, अपने आचरण सुधरें, वह हमारे लिये गुरु है।

प्रश्न—गुरु शरीरका नहीं, तत्त्वका नाम है—इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—गुरुके द्वारा जब शिष्यको प्रकाश मिलता है, ज्ञान मिलता है, तभी वह 'गुरु' कहलाता है। अब उसको गुरु मानना, उसका आदर, पूजन करना तो शिष्यका काम है, पर वास्तवमें गुरु तत्त्वज्ञान ही हुआ; क्योंकि शिष्यको तत्त्वज्ञान होनेसे ही उसकी 'गुरु' संज्ञा सिद्ध होती है। इसलिये भागवतमें कहा गया है कि गुरुमें मनुष्यबुद्धि और मनुष्यमें गुरुबुद्धि करना अपराध है। सन्त कहते हैं—

जो तू चेला देह को, देह खेह की खान।
जो तू चेला सबद को, सबद ब्रह्मकर मान॥

अर्थात् शब्दसे ही ज्ञान होता है और गुरु शब्दके द्वारा ही तत्त्वज्ञान कराता है। अतः गुरु परमात्मतत्त्व ही हुआ।

प्रश्न—गुरुके बिना गति नहीं होती, ज्ञान नहीं होता—यह बात कहाँतक ठीक है?

उत्तर—यह बात एकदम ठीक है, सच्ची है; परन्तु केवल गुरु बनानेसे अथवा गुरु बननेसे कल्याण, मुक्ति हो जाय—यह बात ठीक जँचती नहीं। यदि गुरुके भीतर यह भाव रहता है कि 'मेरे बहुत-से शिष्य बन जायँ, मेरा एक सम्प्रदाय (टोली) बन जाय, मैं एक बड़ा आदमी बन जाऊँ' आदि और शिष्यका भी यह भाव रहता है कि 'एक चद्दर, एक नारियल और एक रुपया देनेसे मेरा गुरु बन जायगा, गुरु मेरे सब पाप हर लेगा' आदि, तो ऐसे गुरु-शिष्यके सम्बन्धमात्रसे कल्याण नहीं होता। कारण कि जैसे सांसारिक माता-पिता, भाई-भौजाई, स्त्री-पुत्रका सम्बन्ध है, ऐसे ही गुरुका एक और सम्बन्ध हो गया!

जिनके दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तनसे हमारे दुर्गुण-दुराचार दूर होते हैं, हमें शान्ति मिलती है, हमारेमें दैवी सम्पत्ति बिना बुलाये आती है और जिनके वचनोंसे हमारे भीतरकी शंकाएँ दूर हो जाती हैं, शंकाओंका समाधान हो जाता है, भीतरसे परमात्माकी तरफ गति हो जाती है, पारमार्थिक बातें प्रिय लगने लगती हैं, पारमार्थिक मार्ग ठीक-ठीक दीखने लगता है, ऐसे गुरुसे हमारा कल्याण होता है। यदि ऐसा गुरु (सन्त) न मिले तो जिनके संगसे हम साधनमें लगे रहें, हमारी पारमार्थिक रुचि बनी रहे, ऐसे साधकोंसे सम्बन्ध जोड़ना चाहिये। परन्तु उनसे हमारा सम्बन्ध केवल पारमार्थिक होना चाहिये, व्यक्तिगत नहीं फिर भगवान् ऐसी परिस्थिति, घटना भेजेंगे कि हमें वह सम्बन्ध छोड़कर दूसरी जगह जाना पड़ेगा और वहाँ हमें अच्छे सन्त मिल जायँगे! वे सन्त चाहे साधुवेशमें हों, चाहे गृहस्थवेशमें हों, उनका संग करनेसे हमें विशेष लाभ होगा। तात्पर्य है कि भगवान् प्रधानाध्यापककी तरह हैं, वे समयपर स्वतः कक्षा बदल देते हैं। अतः हमें भगवान्‌पर विश्वास करके रुचिपूर्वक साधनमें लग जाना चाहिये।

गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि 'जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे सब कुछ जान जाते हैं' (७।२९)। अतः भगवान्‌पर विश्वास और भरोसा रखते हुए साधन-सम्बन्धी,

भगवत्सम्बन्धी बातें सुननी चाहिये और सत्कर्म, सच्चर्चा, सच्चिन्तन करते हुए तथा सबके साथ सद्भाव रखते हुए साधन करना चाहिये। फिर किसी सन्तसे, किसी शास्त्रसे, किसी घटना आदिसे अचानक परमात्मतत्त्वका बोध जाग्रत् हो जायगा।

यदि गुरु मिल गया और ज्ञान नहीं हुआ तो वास्तवमें असली गुरु मिला ही नहीं। असली गुरु मिल जाय और साधक साधनमें तत्पर हो तो ज्ञान हो ही जायगा। यह हो ही नहीं सकता कि अच्छा साधक हो, असली सन्त मिल जाय और बोध न हो! एक कहावत है—

पारस केरा गुण किसा, पलट्या नहीं लोहा।
कै तो निज पारस नहीं, कै बिच रहा बिछोहा॥

तात्पर्य है कि यदि शिष्य गुरुसे दिल खोलकर सरलतासे मिले, कुछ छिपाकर न रखे तो शिष्यमें वह शक्ति प्रकट हो जाती है, जिस शक्तिसे उसका कल्याण हो जाता है।

गुरु-तत्त्व नित्य होता है और वह कहीं भी किसी घटनासे, किसी परिस्थितिसे, किसी पुस्तकसे, किसी व्यक्ति आदिसे मिल सकता है। अतः गुरुके बिना ज्ञान नहीं होता—यह बात सच्ची है।

प्रश्न—क्या अपने कल्याणके लिये गुरु बनाना आवश्यक है?

उत्तर—कल्याणके लिये गुरुकी आवश्यकता तो है, पर बनाये हुए गुरुसे कल्याण नहीं होता। जिससे कल्याण होता है, उसमें गुरुपना स्वतः आ जाता है। तात्पर्य है कि कल्याणके लिये गुरु बनानेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत जिससे जितने अंशमें ज्ञान हो गया, उतने अंशमें वह हमारा गुरु हो गया, चाहे हम मानें या न मानें, जानें या न जानें।

जिसमें अपने कल्याणकी जोरदार इच्छा, सच्ची लगन हो जाती है, उसको स्वतः बोध हो जाता है; जैसे—किसीका संवाद हो रहा हो तो उसको सुननेमात्रसे बोध हो जाता है अथवा कहीं जा रहे हैं और किसी घरमें कोई बात हो रही है तो उस बातसे बोध हो जाता है अथवा किसी पुस्तकको खोलकर देखते हैं तो उसमें किसी बातको पढ़नेसे बोध हो जाता है अथवा किसी सन्तका इतिहास पढ़ते-पढ़ते कोई बात मिल जाती है तो उससे बोध हो जाता है इत्यादि। तात्पर्य है कि बोध होनेमें कोई व्यक्ति कारण नहीं है, प्रत्युत अपनी सच्ची लगन, तीव्र जिज्ञासा ही कारण है।

गुरुको प्राप्त कर लेना मनुष्यके हाथकी बात है ही नहीं। उसके हाथकी बात यही है कि वह अपनी लगन, जिज्ञासा जोरदार कर ले। भगवान्‌पर भरोसा रखकर तथा निर्भय, निःशोक, निश्चिन्त और निःशंक होकर अपने मार्गपर चलता रहे।

प्रश्न—स्त्रीको गुरु बनाना चाहिये या नहीं?

उत्तर—स्त्रीके लिये पति ही गुरु है। अतः उसको पतिके सिवाय दूसरे किसी पुरुषको गुरु नहीं बनाना चाहिये—**'पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्'**। आजकलके जमानेमें जहाँतक बने, स्त्रियोंको किसी भी परपुरुषसे किसी तरहका सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये।

प्रश्न—गुरु कौन हो सकता है?

उत्तर—तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुष ही गुरु हो सकता है। अतः जबतक तत्त्वज्ञान न हो, भगवत्प्राप्ति न हो, तबतक अपनेमें गुरुभाव नहीं लाना चाहिये। हाँ, कोई कल्याणकी बात पूछे तो अपनेमें जितनी जानकारी है, उसको सरलतासे बता देना चाहिये।

जो जिस विषयमें ज्ञान देता है, अज्ञता दूर करता है, उस विषयमें वह गुरु हो गया, चाहे नेगचार करें या न करें। परन्तु असली गुरु वही है, जिसके उपदेशसे बोध हो जाय, तत्त्वज्ञान हो जाय, फिर कभी किंचिन्मात्र भी गुरुकी आवश्यकता न रहे। गुरु वही होता है, जो किसीको अपना चेला नहीं बनाता, अपना मातहत नहीं बनाता। जो सबको गुरु बनाता है, वही वास्तवमें सबका गुरु होता है।

शास्त्रोंमें जहाँ गुरुका वर्णन आता है, वहाँ कहा गया है कि गुरुको श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये। वेदोंको, शास्त्रोंको, पुराणोंको जाननेवाला 'श्रोत्रिय' और ब्रह्मको जाननेवाला 'ब्रह्मनिष्ठ' कहलाता है। जो केवल श्रोत्रिय है, ब्रह्मनिष्ठ नहीं है, वह शास्त्रोंको तो पढ़ा सकता है, पर परमात्मतत्त्वका बोध नहीं करा सकता। जो केवल ब्रह्मनिष्ठ है, श्रोत्रिय नहीं है, वह परमात्मतत्त्वका बोध तो करा सकता है, पर अनेक तरहकी शंकाओंका समाधान करनेमें प्रायः असमर्थ होता है। हाँ, शंकाओंका समाधान न कर सकनेपर भी उसमें कोई कमी नहीं रहती; कोई शंका, सन्देह नहीं रहता। अतः कोई शिष्य तर्क-वितर्क न करके तत्त्वको जानना चाहे तो वह ब्रह्मनिष्ठ उसको परमात्मतत्त्वका बोध करा सकता है।

प्रश्न—शिष्य कौन बन सकता है?

उत्तर—जिसके भीतर आराम आदिकी इच्छा बिलकुल नहीं है, जीनेकी इच्छा भी नहीं है, प्रत्युत जिसके भीतर केवल मुक्तिकी इच्छा है, वही शिष्य बन सकता है। अपनी कामना रखकर कोई भी शिष्य नहीं बन सकता। जो कामनाका गुलाम है, वह किसीका शिष्य बन ही कैसे सकता है?

वास्तवमें गुरु भी मौजूद है, भगवान् भी मौजूद हैं,

जिज्ञासा भी मौजूद है, योग्यता भी मौजूद है, पर नाशवान्‌की आसक्तिके कारण उनके प्रकट होनेमें बाधा लग रही है। नाशवान्‌की आसक्तिको मिटाना साधकका काम है; क्योंकि उसीने आसक्ति की है। इसीलिये कहा है कि अपने द्वारा अपना उद्धार करे—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** (गीता ६।५)।

प्रश्न—गुरु बनानेकी जो प्रथा है, वह क्या है?

उत्तर—गुरु बनानेकी प्रथा एक साम्प्रदायिक चीज है। जहाँ साम्प्रदायिकता होती है, वहाँ बोध होनेकी गुंजाइश नहीं होती, तत्त्वप्राप्तिकी सम्भावना नहीं होती। कारण कि सम्प्रदायका आग्रह होनेसे बोध नहीं होता और जहाँ बोध होता है, वहाँ किसी सम्प्रदायका आग्रह नहीं रहता।

यदि भीतरमें जोरदार लालसा हो तो भीतरका आग्रह जल जाता है और बोध हो जाता है। परन्तु वह बोध किस तरीकेसे होगा, इसको कोई बता नहीं सकता; क्योंकि भगवान्‌के सिखानेके अनेक तरीके हैं, जिसको भगवान् ही जानते हैं।

प्रश्न—जब साम्प्रदायिकतासे बोध नहीं होता, तो फिर सम्प्रदाय क्यों बने हैं?

उत्तर—जो आदमी लोगोंकी दृष्टिमें बड़े हो गये, जिनको लोगोंने बड़ा मान लिया और आगे उन लोगोंके अनुयायी भी वैसे ही हुए, उनके सिद्धान्तोंको लेकर सम्प्रदाय चल पड़े।

जो वेदोंको, शास्त्रोंको, भगवान्‌को, भगवान्‌के अवतारोंको मानते हैं, ऐसे कई सम्प्रदाय हैं; परन्तु उन सम्प्रदायोंमें कौन कहाँतक पहुँचा है, इसको कौन जाने? अतः जो मनुष्य अपना उद्धार चाहता है, उसे चाहिये कि वह केवल अपने उद्धारका ही आग्रह रखे, सम्प्रदायका आग्रह न रखे।

कोई सम्प्रदाय वैदिक है, शास्त्रसम्मत है तो यह अच्छी बात है, पर उस सम्प्रदायमें आनेसे कल्याण हो जाय, यह कोई नियम नहीं है, कायदा नहीं है। तात्पर्य है कि कल्याणकी बात व्यक्तिगत है, अपनी लगनके अधीन है, किसी सम्प्रदायके अधीन नहीं है। अतः मनुष्यको किसी सम्प्रदायका आग्रह नहीं रखना चाहिये; क्योंकि कल्याण जोरदार लगन होनेसे ही होता है।

प्रश्न—*'गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूँ पाय। बलिहारी गुरुदेवकी, गोविन्द दियो बताय॥'*—ऐसा कहनेका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—गुरुके द्वारा ईश्वरका साक्षात्कार हो जाय, तब तो गुरुकी बलिहारी है; क्योंकि उन्होंने भगवान्‌के दर्शन करा दिये। अगर उन्होंने दर्शन नहीं कराये तो ऐसा कहना एक तरहका धोखा है।

जैसे, पूछा जाय कि 'बाप पहले पैदा होता है या बेटा?' तो प्रायः यही उत्तर दिया जाता है कि पहले बाप पैदा होता है, फिर बेटा। परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो बेटा पैदा होनेसे ही उसकी बाप संज्ञा होती है। अगर बेटा न हो तो उसकी बाप संज्ञा सिद्ध नहीं होती। ऐसे ही शिष्यको बोध, ईश्वर-साक्षात्कार होनेसे ही उसकी गुरु संज्ञा सिद्ध होती है।

प्रश्न—गुरुका पूजन करना, ध्यान करना, उनकी जूठन लेना, चरणरज लेना, चरणामृत लेना कहाँतक उचित है?

उत्तर—ये सब भगवान्‌के प्रति ही करना चाहिये; जैसे—भगवान्‌के ही विग्रहका पूजन करे; भगवान्‌का ही ध्यान करे; भगवान्‌को ही भोग लगाया हुआ प्रसाद ग्रहण करे, जहाँ भगवान्‌ने लीला की है, वहींकी रजका आदर करे; शालग्राम आदिका ही चरणामृत ले, भगवान्‌के चरणोंसे निकली हुई गङ्गाजीका ही आदर करे। तात्पर्य है कि सबसे महान् एवं पवित्र भगवान् ही हैं। उनके समान कोई है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। अतः उनके शरण होकर उनका ही पूजन, ध्यान आदि करना चाहिये।

भगवान्‌का शरीर तो चिन्मय और अविनाशी होता है, पर महात्माका शरीर पाञ्चभौतिक होनेके कारण जड और विनाशी होता है। भगवान् सर्वव्यापी हैं; अतः वे चित्रमें भी हैं। परन्तु महात्माकी सर्वव्यापकता (शरीरसे अलग) भगवान्‌की सर्वव्यापकताके ही अन्तर्गत होती है। एक भगवान्‌के अन्तर्गत सम्पूर्ण महात्मा हैं; अतः भगवान्‌की पूजा करनेसे सम्पूर्ण महात्माओंकी पूजा हो जाती है। अगर महात्माओंके हाड़-मांसमय शरीरोंकी तथा उनके चित्रोंकी पूजा होने लगे तो इससे भगवान्‌की ही पूजामें बाधा लगेगी, जो महात्माओंके सिद्धान्तसे सर्वथा विरुद्ध है। कारण कि महात्मा संसारमें लोगोंको भगवान्‌की ओर लगानेके लिये आते हैं, अपनी ओर लगानेके लिये नहीं। जो लोगोंको अपनी ओर (अपनी पूजा, ध्यान आदिमें) लगाता है, वह तो पाखण्डी होता है।

वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो शरीर मल-मूत्र पैदा करनेकी एक मशीन ही है। इसको बढ़िया-से-बढ़िया भोजन खिला दो तो वह मल बनकर निकलेगा और बढ़िया-से-बढ़िया शर्बत पिला दो तो वह मूत्र बनकर निकलेगा! जबतक प्राण हैं, तबतक तो यह शरीर मल-मूत्र पैदा करनेकी मशीन है और प्राण निकल जानेके बाद यह मुर्दा है। वास्तवमें तो यह शरीर प्रतिक्षण ही मर रहा है, मुर्दा बन रहा है। इसमें तो वास्तविक तत्त्व (चेतन जीवात्मा) है, उसका चित्र लिया ही नहीं जा सकता। चित्र उस शरीरका लिया जाता है, जो प्रतिक्षण बदल रहा है, नष्ट हो रहा है। अतः शरीर भी चित्र

लेनेके बाद वैसा नहीं रहता, जैसा चित्र लेनेके समय था। इसलिये चित्रकी पूजा असत् (नाशवान्) की ही पूजा हुई। शरीरके चित्रमें प्राण नहीं रहते, इसलिये शरीरका चित्र मुर्देका भी मुर्दा हुआ !

हम जिस मनुष्यको महात्मा मानते हैं, वह अपने शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेसे ही महात्मा है, शरीरसे सम्बन्ध रहनेके कारण नहीं। महात्मा कभी शरीरमें सीमित होता ही नहीं। अतः उनके अविनाशी सिद्धान्तों और वचनोंपर ही श्रद्धा होनी चाहिये, नाशवान् शरीर या नामपर नहीं। नाशवान् शरीर और नाममें तो मोह होता है, श्रद्धा नहीं। अतः भगवान्‌के अविनाशी, दिव्य, अलौकिक विग्रहकी पूजा, ध्यान आदिको छोड़कर नाशवान्, भौतिक शरीरोंकी पूजा, ध्यान आदि करनेसे न केवल अपना जीवन निरर्थक होता है, प्रत्युत अपने साथ महान् धोखा भी होता है।

आजकलके जमानेमें तो गुरुका पूजन, ध्यान आदि करनेमें विशेष सावधान रहना चाहिये; क्योंकि इसमें धोखा होनेकी बहुत सम्भावना है। अपनी पूजा करानेवाले, अपने नामका जप एवं शरीरका ध्यान करानेवाले, अपनी जूठन, चरणरज, चरणामृत, देनेवालेसे जहाँतक बने, दूर रहना चाहिये, बचना चाहिये। कारण कि इसमें ठगे जानेकी सम्भावना है, जैसे—कपटमुनिसे प्रतापभानु, साधुवेशधारी रावणसे सीताजी और कालनेमिसे हनुमान्‌जी ठगे गये थे !

जो साधक हैं, पारमार्थिक मार्गपर चलनेवाले हैं, उनको अपनी पूजा आदि नहीं करवानी चाहिये; क्योंकि इससे तपोबल क्षीण होता है और पारमार्थिक उन्नतिमें बाधा लगती है। अतः साधकोंको इन बातोंसे बचना चाहिये, सावधान रहना चाहिये। साधुओंको तो इन बातोंसे विशेष सावधान रहना चाहिये; क्योंकि जो अपनी पूजा आदि करवाता है, उसका तप, साधन पुष्ट नहीं होता; जैसे अधिक दूध देनेवाली गाय पुष्ट नहीं होती—**'दुग्धा गौरिव सीदति ।'**

प्रश्न—कई साधु अपनेको भगवान् कहा करते हैं, क्या यह उचित है ?

उत्तर—अपनेको भगवान् कहनेवाले प्रायः पाखण्डी ही होते हैं। वे केवल अपनी पूजा, प्रतिष्ठा, लाभके लिये; अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये ही ऐसा स्वाँग बनाते हैं। भगवान्‌का यह स्वभाव नहीं है कि वे अपनेको भगवान् नामसे प्रसिद्ध करें; अतः जो अपनेको भगवान् कहते हैं, वे भगवान् नहीं हो सकते।

तीन रामायण हैं—वाल्मीकिरामायण, अध्यात्मरामायण और रामचरितमानस। इनमेंसे वाल्मीकिरामायणमें कर्मकी प्रधानता, अध्यात्मरामायणमें ज्ञानकी प्रधानता और रामचरितमानसमें भक्तिकी प्रधानता है। इन तीनों ही रामायणमें रामने अपनेको भगवान् नहीं कहा। हनुमान्‌जीने पूछा—

की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार ॥

(मानस ४।१)

तो रामजीने अपना परिचय दिया—

कोसलेस दसरथ के जाए। हम पितु बचन मानि बन आए ॥

(मानस ४।२।१)

भगवान् श्रीकृष्णने क्षत्रियोंके समुदायमें अपनेको सारथि-रूपसे स्वीकार किया, सूतपनको स्वीकार किया। अतः जो असली भगवान् होते हैं, वे यह अभिमान नहीं करते कि 'मैं भगवान् हूँ' और जो कहते हैं कि 'मैं भगवान् हूँ', वे भगवान् नहीं होते। अगर वे भगवान् होते तो अपनेको भगवान् क्यों कहते ? भागवतमें मिथ्यावासुदेवका वर्णन आता है। वह कहता था कि 'असली वासुदेव मैं ही हूँ, कृष्ण तो नकली वासुदेव हैं।' भगवान् कृष्णने युद्धमें उसको मार दिया, पर 'मैं ही असली वासुदेव हूँ'—ऐसा नहीं कहा। तात्पर्य है कि जो अपनेको भगवान् कहते हैं, वे मिथ्यावासुदेव हैं, पाखण्डी हैं।

प्रश्न—गुरु ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं (**गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः**)—ऐसा कहनेका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—तात्पर्य यह है कि शिष्यका गुरुमें मनुष्यभाव न होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरका भाव होना चाहिये। जैसे, पतिव्रता स्त्रीका पतिमें ईश्वरभाव होता है तो उसका पति सबके लिये ईश्वर थोड़े ही हो जाता है ! ऐसे ही शिष्यका अपने गुरुमें ब्रह्मा-विष्णु-महेशका भाव होता है तो वह गुरु सबके लिये ब्रह्मा-विष्णु-महेश थोड़े ही हो जायगा ! यह तो शिष्यका अपना भाव है। ऐसा भाव होनेपर शिष्यको उस गुरुसे विशेष लाभ होता है; परन्तु यह भाव भीतरसे होना चाहिये, बनावटी नहीं।

प्रश्न—गुरु और शिष्यका एक-दूसरेके प्रति क्या कर्तव्य है ?

उत्तर—गुरुका यही प्रयत्न रहे, यही चिन्ता रहे कि शिष्यका उद्धार कैसे हो ! शिष्यका यही भाव रहे कि मेरे द्वारा गुरुकी सेवा बन जाय; मेरी सामर्थ्य रहते हुए उनको किसी प्रकारका कष्ट न हो; मेरे पास जो कुछ है, वह सब उनकी सेवाके लिये ही है; उनके वचनों, भावोंके अनुसार मेरा जीवन बन जाय, फिर मेरे जीवनका वे चाहे जो उपयोग करें।

को वा गुरुर्यो हि हितोपदेष्टा
शिष्यस्तु को यो गुरुभक्त एव ।

(प्रश्नोत्तरी ७)

प्रश्न—पहले गुरु बनाकर दीक्षा ले ली, मन्त्र ले लिया, पर अब उस गुरुपर श्रद्धा नहीं रही तो ऐसी अवस्थामें क्या करना चाहिये ?

उत्तर—जैसे, मकानकी छत फट जाय और उसपर ऊपरसे थोड़ी मिट्टी लगा दें तो वह कितने दिन टिकेगी ? वर्षा आयेगी तो वह छत गिर जायगी। ऐसे ही जिस गुरुके प्रति हृदयमें सद्भाव नहीं रहा, उसमें दोष दीखने लग गये, उसपर बनावटी श्रद्धा करें तो वह कितने दिन टिकेगी? जबर्दस्ती किया गया गुरुभाव कहाँतक रहेगा ! कारण कि उस गुरुके विरुद्ध और कोई बात सुननेमें आ जायगी तो गुरुभाव टिकेगा नहीं। अतः अधिक-से-अधिक वह घरपर आ जाय तो उसका आदर करो, भोजन करा दो, चद्दर दे दो, पर उसकी निन्दा मत करो। उसको भीतरसे गुरु मत मानो। जहाँ आपकी श्रद्धा बैठती हो, उसका संग करो और उसके कहे अनुसार अपना जीवन बनाओ। उसके कहे अनुसार अपना जीवन बनानेसे ही कल्याण होगा। यदि वैसा जीवन नहीं बनाओगे तो उस गुरुपर भी दोषदृष्टि हो जायगी ! फिर आप कहीं भी टिकोगे नहीं।

प्रश्न—यदि गुरुके आचरण ठीक न हों तो क्या करना चाहिये ?

उत्तर—गुरुके आचरण कैसे ही क्यों न हों, यदि उस गुरुमें अपना दुर्भाव हो गया तो उसका त्याग ही अच्छा है; क्योंकि अब उस गुरुसे कल्याण हो जाय, यह बात नहीं है। जिसपर हमारा भाव नहीं रहा, उससे कल्याण कैसे होगा ? परन्तु उनके दिये हुए मन्त्रपर श्रद्धा हो तो उसका जप करते रहना चाहिये। अगर उसपर श्रद्धा न हो तो जिस मन्त्रपर श्रद्धा हो, उस मन्त्रका जप करना चाहिये और अपने हृदयको स्वच्छ, साफ रखना चाहिये।

प्रश्न—गुरुकी सेवा क्या है ?

उत्तर—जिससे गुरुके मनकी प्रसन्नता हो और वे अपने हृदयकी बात प्रकट कर सकें, ऐसा विश्वासपात्र बनना ही गुरुकी सेवा है। तत्त्वका सच्चा जिज्ञासु गुरुकी सेवा करता है तो उसको तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। कैसे होती है—इसको तो भगवान् ही जानें !

अपने-आपको खो देना अर्थात् अपने अहंभावको सर्वथा मिटा देना, अपना सब कुछ समर्पण कर देना, अपना कोई आग्रह न रखना, प्राणोंको भी अपना न समझना—यही गुरुसेवाका तात्पर्य है।

प्रश्न—गुरुकृपा क्या है और वह कैसे प्राप्त होती है ?

उत्तर—गुरुके चित्तकी प्रसन्नता ही गुरुकृपा है और वह गुरुके अनुकूल बननेसे प्राप्त होती है। गुरुकृपासे लाभ जरूर होता है। गुरुकृपा कभी निष्फल नहीं होती; क्योंकि वास्तवमें गुरुरूपसे परमात्मा ही हैं। केवल परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे ही गुरुकी सेवा, आज्ञापालन किया जाय तो वह वास्तवमें परमात्माकी ही सेवा है; अतः भगवान्‌की कृपासे उद्देश्यकी पूर्ति अवश्य होती है।

प्रश्न—गुरुकृपा और भगवत्कृपामें क्या अन्तर है ?

उत्तर—दोनोंमें तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। लौकिक दृष्टिसे वे दो दीखती हैं, पर वास्तवमें एक ही हैं।

प्रश्न—गुरुकी दीक्षा और शिक्षा क्या है ?

उत्तर—जैसा गुरु बताये, वैसा नियम लेना, व्रत लेना 'दीक्षा' है और उन नियमोंका पालन करना, उनके अनुसार अपना जीवन बनाना 'शिक्षा' है। पहले दीक्षा देनेके बाद ही शिक्षा दी जाती थी तो वह शिक्षा फलीभूत होती थी, बढ़िया होती थी। परन्तु आज दीक्षाके बिना ही शिक्षा दी जाती है, जिससे शिक्षा बढ़िया नहीं होती।

प्रश्न—गुरुदक्षिणा क्या है ?

उत्तर—अपने-आपको सर्वथा गुरुके समर्पित कर देना अर्थात् 'मैं' और 'मेरा' न रखना ही गुरुदक्षिणा है। गुरुदक्षिणा देनेके बाद शिष्यको अपनी चिन्ता नहीं होती, प्रत्युत उसकी चिन्ता गुरुको ही होती है।

★

गुरु कैसा हो ?

जिस गुरु, सन्त-महापुरुषमें ये बातें हों —

१-जो हमारी दृष्टिमें वास्तविक बोधवान्, तत्त्वज्ञ दीखते हों और जिनके सिवाय और किसीमें वैसी अलौकिकता, विलक्षणता न दीखती हो।

२-जो कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि साधनोंको तत्त्वसे ठीक-ठीक जाननेवाले हों।

३-जिनके संगसे, वचनोंसे हमारे हृदयमें रहनेवाली शंकाएँ बिना पूछे ही स्वतः दूर हो जाती हों।

४-जिनके पासमें रहनेसे प्रसन्नता, शान्तिका अनुभव होता हो।

५-जो हमारे साथ केवल हमारे हितके लिये ही सम्बन्ध रखते हुए दीखते हों।

६-जो हमारेसे किसी भी वस्तुकी किञ्चिन्मात्र भी आशा न रखते हों।

७-जिनकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ केवल साधकोंके हितके लिये

ही होती हों।

८-जिनके पासमें रहनेसे लक्ष्यकी तरफ हमारी लगन स्वतः बढ़ती हो।

९-जिनके संग, दर्शन, भाषण, स्मरण आदिसे हमारे दुर्गुण-दुराचार दूर होकर स्वतः सद्गुण-सदाचाररूप दैवी सम्पत्ति आती हो।

★

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

जो मोहरहित होता है, वही बालकका भला कर सकता है। मोहवाला भला नहीं कर सकता। वैद्य और डॉक्टर दुनियाका इलाज करते हैं, पर अपनी स्त्री या बालक बीमार हो जाय तो दूसरे वैद्यको बुलाते हैं। आप विचार करें कि ऐसा क्यों होता है? खुद अच्छे डॉक्टर होनेपर भी मोह होनेके कारण अपनी स्त्री या बालकका इलाज नहीं कर सकते। उनका इलाज वही कर सकेगा, जिसमें मोह नहीं है। अतः मोहरहित, पक्षपातरहित, संतोंके द्वारा जितनी अच्छी शिक्षा मिलती है, उतनी औरोंके द्वारा नहीं मिलती। परन्तु बड़े दुःखकी बात है कि आजकलके गुरु कहते हैं कि तुम मेरे चेले बन जाओ तो तुमको बढ़िया बात बतायेंगे! चेला बननेपर मोह हो जायगा, ममता हो जायगी। मोह होनेसे दोनोंका पतन होगा—

गुरु लोभी शिष्य लालची, दोनों खेले दाँव।
दोनों डूबा 'परसराम', बैठ पथरकी नाँव॥

चेला सोचता है कि गुरुजीको एक रुपया भेंट कर देंगे तो हमारा पुण्य हो जायगा, बाबाजी हमारे सब पाप ले लेंगे। उधर बाबाजी सोचते हैं कि एक रुपया मुफ्तमें मिलता है, चेलेको एक कण्ठी दे दो। एक रुपयामें पाँच-सात कण्ठी आती हैं, अपना तो फायदा ही है। अब वह कण्ठी बाँध लेनेसे क्या कल्याण हो जायगा? लोग कहते हैं कि गुरु बनानेसे कल्याण होता है। गुरु नहीं है तो गुरु बना लो, भाई नहीं है तो धर्मभाई बना लो, बहन नहीं है तो धर्मबहन बना लो। किसी तरह पतन हो जाय—यह उद्योग हो रहा है। गुरु बनानेसे क्या होता है? वे कहते हैं कि हमारे गुरुजी बड़े हैं और वे कहते हैं कि हमारे गुरुजी बड़े हैं, अब गोधा (साँड़) लड़ाओ। बीकानेरमें अपने-अपने मोहल्लेमें एक गोधा तैयार करते हैं, फिर दोनोंको लड़ाते हैं और तमाशा देखते हैं, कि दोनोंमें तेज कौन है? अब कल्याण कैसे हो जायगा? विचार ही नहीं करते। कहते हैं कि गुरुके बिना कल्याण नहीं होता, तो जिन्होंने गुरु बना लिया, उनका कल्याण हो गया क्या? वे निहाल हो गये क्या? उनका नहीं हुआ तो हमारा कैसे हो जायगा? कुछ तो अक्ल होनी चाहिये, कुछ तो विचार करना चाहिये। यह नहीं सोचते कि जो गुरु बने हुए हैं, उनकी दुर्दशा क्या है! गुरु बनानेके एजेंट होते हैं। वे दूसरोंको कहते हैं कि तुम हमारे गुरुजीको अपना गुरु बनाओ। कैसी उलटी रीति है। क्या पतिव्रता स्त्री दूसरी स्त्रियोंसे कहती है कि 'मैं पतिको ईश्वर मानती हूँ, तुम भी मेरे पतिको ईश्वर मानो, उनकी सेवा करो?' तुम भी मेरे गुरुजीके चेले बन जाओ, हमारी टोलीमें आ जाओ, तो क्या दूसरोंके कल्याणका ठेका ले रखा है?

एक कहानी याद आ गयी। एक संत थे, वे भिक्षाके लिये गये तो उन्होंने देखा कि एक जगह कई वेश्याएँ इकट्ठी हो रही हैं। बाबाजीने पूछा कि क्या बात है? तो बताया कि एक वेश्याने सभी वेश्याओंको भोज दिया है। हलवा, चना, चावल—ये चीजें बनायी हैं। जो चावल बनाये थे, उसका माँड़ एक जगहसे बह रहा था। बाबाजी उससे हाथ धोने लगे। वेश्या ऊपर बैठी थी। उसने देखा तो बोली कि 'बाबाजी! यह क्या कर रहे हो?' बाबाजी बोले कि 'करना क्या है, हाथ धोता हूँ।' वेश्या बोली—'महाराज! अन्नके पानीसे हाथ धोओगे तो हाथ चिपकेंगे, पानीसे हाथ धोओ।' बाबाजी बोले—'यह पानी नहीं है तो क्या है बता? तेरेको दीखता नहीं है?' वेश्याने कहा कि बाबाजी! यह पानी शुद्ध नहीं है। शुद्ध पानीसे हाथ धुलते हैं।' वेश्या पासमें आ गयी थी। बाबाजी बोले—'तो फिर तू वेश्याओंको भोजन करा रही है, वे क्या ज्यादा शुद्ध हैं? क्या वेश्या-भोज करनेसे कल्याण हो जायगा?' वेश्या बोली—'महाराज! मैंने सुना कि दान-पुण्य करनेसे, भोजन करानेसे बड़ा पुण्य होता है, तो मैं साधुओंके पास गयी और उनसे पूछा कि महाराज! कल्याण कैसे होगा?' तो उन्होंने कहा कि 'साधु-संतोंकी सेवा करो, तब कल्याण होगा।' फिर मैं ब्राह्मणोंके पास गयी और उनसे पूछा कि 'कल्याण कैसे होगा?' तो उन्होंने कहा कि 'जो जन्मसे ब्राह्मण हैं, उनकी सेवा करो, तब कल्याण होगा।' अब मैं वैष्णवोंके पास गयी तो उन्होंने कहा कि 'वैष्णवोंकी सेवा करो।' शैवोंके पास गयी तो वे बोले कि 'शैवोंकी सेवा करो।' इस प्रकार जहाँ-जहाँ गयी, वहाँ-वहाँ सबने अपनी ही महिमा गायी, तो यह देखकर हमें युक्ति मिल गयी, विद्या मिल गयी कि हम वेश्याओंको ही भोजन करायें तो इसीसे कल्याण हो जायगा। ऐसे ही बतानेवाले और ऐसे ही शिक्षा लेनेवाले। हल्ला मचा दिया कि गुरु बनाओ, तब कल्याण होगा। विचार करो कि जिन्होंने गुरु बनाया, उनमें क्या फर्क पड़ा? जैसे पहले थे, वैसे अब भी हैं। बनावटी

गुरुसे काम नहीं चलेगा। आप गुरु बनायेंगे तो बनाया हुआ गुरु क्या कल्याण करेगा ?

वास्तवमें गुरु बनाया नहीं जाता। गुरु तो हो जाता है। जिससे हमें किसी विषयका ज्ञान हुआ तो उस विषयमें वह हमारा गुरु हो गया, चाहे हम उसे गुरु मानें या न मानें, जानें या न जानें। एक संतसे किसीने पूछा कि 'आपका गुरु कौन है ?' तो उन्होंने कहा कि 'जो मेरेसे ज्यादा जानता है' और 'चेला कौन है ?' 'जो मेरेसे कम जानता है।' कितनी बढ़िया बात बतायी। जो मेरेसे ज्यादा जानता है, वह मेरा गुरु है, चाहे मैं मानूँ या न मानूँ। जो मेरेसे कम जानता है, वह मेरा चेला है, चाहे वह चेला बने या न बने। मैं आपसे एक प्रश्न करता हूँ—पहले बेटा पैदा होता है कि बाप ?

श्रोता—बाप !

स्वामीजी—नहीं, पहले बेटा पैदा होता है, पीछे बाप पैदा होता है। बेटा पैदा हुए बिना उसका 'बाप' नाम होता ही नहीं। जिससे बेटा पैदा हो जाय, वह बाप हो गया और जिससे आपको ज्ञान हो जाय, वह गुरु हो गया, भले ही आप उसको गुरु मत बनाओ। जिससे आपको गुर मिल गया, सिद्धान्त मिल गया और जिसकी शिक्षासे आपकी उन्नति हो गयी, वह आपका गुरु हो गया, चाहे उसको पता हो या न हो। वह बनावटी गुरु नहीं है, असली गुरु है। बनावटी गुरुसे कभी कल्याण नहीं होता। कालनेमिने हनुमान्‌जीसे कहा कि 'मैं गुरु हूँ, स्नान करके आओ, मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा।' हनुमान्‌जी स्नान करनेके लिये गये। वहाँ मकरीने कहा कि 'महाराज ! इसको सन्त मत मानना, यह तो राक्षस है।' हनुमान्‌जीने आकर कहा कि 'पहले गुरु-दक्षिणा (भेंट) ले लो, पीछे मेरेको मन्त्र देना' और उसको पूँछमें लपेटकर ऐसा पछाड़ा कि वह प्राणमुक्त हो गया ! कपटी, बनावटी गुरुकी ऐसी पूजा होती है। जैसा देव, वैसी पूजा।

थोड़ा विचार करें, जिसके मनमें चेला बनानेकी इच्छा है, वह गुरु कैसे हुआ ! वह तो चेलादास है। जिसको चेलेकी गरज है, वह चेलेका गुलाम हुआ। जिसको रुपयोंकी गरज है, वह रुपयोंका गुलाम हुआ। अगर रुपये देनेसे कोई गुरु बनता है, तो वह हुआ रुपयोंका दास और वे रुपये हमारे पास हैं, तो हम हुए उसके दादागुरु ! अब वह हमारा कल्याण कैसे करेगा ? परंतु लोग सोचते ही नहीं और कह देते हैं कि अरे ! रुपये इनके भेंट कर दो और इनके चेले बन जाओ, ये हमारा कल्याण कर देंगे। माताओंसे कहते हैं कि 'तुम ऐसे-ऐसे कर दो, नहीं तो चिड़िया बनाकर उड़ा देंगे तुम्हारेको !' जय महाराज ! चिड़िया बनाकर उड़ा दोगे, तभी हम आपको मानेंगे, नहीं तो आपको कुछ न देंगे। हमारा तो फायदा ही है, चलना-फिरना नहीं पड़ेगा, उड़कर चले जायँगे ! वे आशीर्वाद देते हैं—'तेरे दूध-पूतकी खैर—तेरा दूध (जाति) भी ठीक रहे, तेरा पूत भी जीता रहे, तो महाराज ! आशीर्वाद आप अपने पास ही रखो। वे कहते हैं कि इतनी भेंट लाओ, इतना रुपया लाओ तो तुम्हारा कल्याण कर देंगे, ऐसी विद्या बता देंगे, जिससे लोहेका सोना बन जाय। बाबाजी ! ऐसी विद्या यदि तुम्हारे पास है तो हमारेसे रुपया क्यों माँगते हो ? रुपयेकी चाहना क्यों रखते हो ? वे कहते हैं कि हमारे पास रुपये कम हैं, इसलिये माँगते हैं। महाराज ! अगर हमारे पास रुपये ज्यादा हैं तो हम तुम्हारेसे बड़े हुए फिर तुम्हारे गुलाम हम क्यों बनेंगे ? जो रुपयोंसे खरीदे जायँ, वे गुरु नहीं होते।

वास्तवमें गुरुको चेलेकी गरज नहीं होती, चेलेको ही गुरुकी गरज होती है। भाइयोंको वहम पड़ा हुआ है कि गुरु बनानेसे कल्याण हो जायगा। बनावटी गुरु कल्याण नहीं करता। मेरेसे कोई पूछता है तो मैं कहता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्णको गुरु मान लो—'**कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।**' भगवान् जगत्‌के गुरु हैं और जगत्‌में आप हो ही। उनका मन्त्र है—'भगवद्गीता।' भगवद्गीताका मनन करो, कल्याण हो जायगा। संदेह हो तो करके देख लो कि कल्याण होता है या नहीं होता। भगवान्‌के रहते हुए आप गुरुके लिये क्यों भटकते हो ?

माताएँ डरती हैं कि हम किन-किनका उपदेश मानें ! हम हनुमान्‌जीकी पूजा करें तो कृष्ण नाराज हो जायँगे, कृष्णकी पूजा करें तो रामजी नाराज हो जायँगे, रामजी आदिको मानें तो देवी नाराज हो जायँगी, देवीकी पूजा करें तो हनुमान्‌जी नाराज हो जायँगे ! अब हम क्या करें ? ऐसे प्रश्न मेरे पास आते हैं। कितनी भोली-भाली, सीधी-सादी माताएँ हैं ! कोई ठग मिल जाय तो इन बेचारियोंको डुबा दे ! मैंने कहा कि तुम यह डर बिल्कुल निकाल दो । अब पतिव्रता कहे कि मैं पतिकी सेवा करूँगी तो दूसरे पुरुष नाराज हो जायँगे, तो बड़ी मुश्किल हो जायगी। सबकी सेवा कहाँतक होगी ! तुम किसी एकके भक्त बन जाओ। तो सब राजी हो जायँगे। तुम कृष्णभगवान्‌के भक्त बन जाओ तो देवी, सूर्य, गणेश, शिव आदि सब राजी हो जायँगे। पतिव्रतासे कौन नाराज होता है ? तुम पतिकी सेवा करती हो, हमारी सेवा तो करती ही नहीं, हम नाराज हो जायँगे—ऐसा होता है क्या ? पतिव्रतासे कोई नाराज नहीं होता। अगर नाराज हो भी जाय तो हमारी तरफसे भले ही सब नाराज हो जायँ। एक बार मेरेको एक भाईने कहा कि महाराज ! आप मेरेसे नाराज हो गये क्या ? मैंने कहा कि अगर नाराज होनेसे भगवान् मिल जायँ, तो तेरेसे नाराज हो

जायँ ! भगवान् तो मिलते नहीं नाराज होनेसे, तो फिर हम नाराज क्यों होंगे ! नाराज होनेसे मेरेको क्या लाभ होगा ? बेचारे भाई डर जाते हैं कि एक देवताकी पूजा करनेसे दूसरे देवता नाराज हो जायँगे। बिल्कुल नाराज नहीं होंगे। आप अनन्यभावसे किसी एक देवताकी उपासनामें तत्परतासे लग जाओ तो दूसरे सब देवता राजी हो जायँगे।

श्रोता—आजकल दुनियामें ढूँढ़नेपर भी गुरु नहीं मिलता। मिलता है तो ठग मिलता है। हम गुरु ढूँढ़नेके लिये कई तीर्थोंमें गये, पर कोई मिला ही नहीं। आप कहते हैं कि जगद्गुरु कृष्णको अपना गुरु मान लो। अगर आप यह घोषणा कर दें कि भाई ! आपलोग कृष्णको ही गुरु मानो तो यह वहम ही मिट जाय········ !

स्वामीजी—वास्तवमें गुरुको ढूँढ़ना नहीं पड़ता। फल पककर तैयार होता है तो तोता खुद उसको ढूँढ़ लेता है। ऐसे ही अच्छे गुरु खुद चेलेको ढूँढ़ते हैं, चेलेको ढूँढ़ना नहीं पड़ता। जैसे ही आप कल्याणके लिये तैयार हुए, गुरु फट आ टपकेगा ! फल पककर तैयार होता है तो तोता अपने-आप उसके पास आता है, फल तोतेको नहीं बुलाता। ऐसे ही आप तैयार हो जाओ कि अब मुझे अपना कल्याण करना है तो गुरु अपने-आप आयेगा। बालकका पालन माँ ही कर सकती है, पर माँको बालककी ज्यादा गरज होती है, बालकको माँकी गरज नहीं होती। इतनी देर हो गयी, बालकने दूध नहीं पिया, क्या बात है ?—यह चिन्ता माँको रहती है। ऐसे ही जब मनुष्य असली शिष्य बन जाता है, उसमें अपने उद्धारकी लालसा लग जाती है, तब गुरु अपने-आप उसे ढूँढ़ लेता है।

जो असली गुरु होते हैं, वे दूसरेको चेला नहीं बनाते, प्रत्युत गुरु ही बनाते हैं[1]। जिसको वे चेला बनाते हैं, वह दुनियाका गुरु हो जाता है। वहाँ ऐसी टकसाल है, जहाँसे गुरु-ही-गुरु निकलते हैं। दूसरेको अपना चेला बनाना तो पशुका काम है। कुत्ता दूसरे कुत्तेको काटता है और जब वह कुत्ता नीचे गिर जाता है तो यह ऊपर हो जाता है और राजी हो जाता है। दूसरेको चेला बनाकर, अपना मातहत बनाकर राजी होना क्या गुरुका लक्षण है ? भगवान्के दरबारमें अंधेर नहीं है। अगर आप तैयार हो जाओ तो अच्छे-अच्छे गुरु आपकी गरज करेंगे। बच्चेके बिना माँ वर्षोंतक रह सकती है और रहती आयी है, पर बच्चा माँके बिना नहीं रह सकता। फिर भी बच्चेमें माँकी जितनी गरज होती है, उससे ज्यादा माँमें बच्चेकी गरज होती है। परंतु बच्चा माँके हृदयको समझ ही नहीं सकता। ऐसे ही गुरु चेलेके बिना रह सकता है, पर चेला गुरुके बिना नहीं रह सकता। चेलेके भीतर अपने उद्धारकी जितनी लगन होती है, उससे ज्यादा गुरुमें चेलेके उद्धारकी लगन होती है। परंतु चेला गुरुके हृदयको समझ ही नहीं सकता।

बछड़ेको देखकर गायका हृदय उमड़ता है। बछड़ेका तो एक मुँह होता है, पर गायका दूध चार थनोंसे टपकता है। ऐसे ही आपमें अपना कल्याण करनेकी लगन लगेगी तो गुरुका हृदय उमड़ पड़ेगा। संत-महात्माओंके मनमें जीवका उद्धार करनेकी जितनी लगन होती है, उतनी खुद जीवमें अपना उद्धार करनेकी नहीं होती।

आपको गुरुको ढूँढ़नेकी क्या जरूरत है ? आप असली चेला बन जाओ, आपके भीतर अपने उद्धारकी लालसा लग जाय, तो गुरु खोजते हुए आ जायँगे आपके पासमें। कभी-कभी स्वप्नमें भी गुरु मिल जाते हैं और मन्त्र दे देते हैं। चरणदासजी महाराजको शुकदेवजीने स्वप्नमें आकर दीक्षा दी। शुकदेवजी महाराज हजारों वर्ष पहले हुए और चरणदासजी महाराज अभी हुए, पर शुकदेवजी महाराज गुरु हो गये और चरणदासजी महाराज चेला हो गये। गुरुजनोंके हृदयमें तो मात्र दुनियाके उद्धारकी लालसा होती है। अतः आपको उन्हें ढूँढ़नेकी जरूरत नहीं है।

भाई कहते हैं कि तुम घोषणा कर दो, सबको कह दो, तो माताओ ! भाइयो ! आप सभीसे मेरा कहना है कि अगर गुरु बनाना हो तो कृष्णको गुरु मान लो। वे सम्पूर्ण जगत्के गुरु हैं—'**कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्**।' आप जगत्से बाहर नहीं हो। गुरुजीका मन्त्र है—'गीता'। गीताजीका पाठ करो, मनन करो। गीताजीको याद करो। उसके अनुसार अपना जीवन बनाओ। उद्धार हो जायगा ! जितनी अधिक लगन होगी, उतनी जल्दी उद्धार होगा। जितनी ढिलाई होगी, उतनी देरी लगेगी। उद्धार होगा ही। लाभ ही होगा, नुकसान नहीं होगा। अगर किसी 'ऐरे गैरे नत्थू खैरे'को गुरु बनाओगे तो वह क्या निहाल करेगा ! इसलिये आप निःसंकोच होकर भगवान्के चरणोंके आश्रित हो जाओ। डरो मत, निधड़क रहो। जो बनावटी गुरु होते हैं, उनके एजेंट ही कहा करते हैं कि 'तुम इनके चेले बन जाओ।' रावण भिक्षा लेने गया तो उसने सीताजीसे कहा कि जो कार (लकीर) है, उसके भीतर

१-पारसमें अरु संतमें बहुत अंतरौ जान। वह लोहा कंचन करै वह करै आपु समान॥

हम नहीं आते—*'नहीं आते कारके भीतर, निराकार जपते हरिहर हर।'* हम निराकारको जपते हैं, आकारके भीतर नहीं आते, लकीरसे बाहर आकर भिक्षा दो। सीताजी बाहर आयीं तो उनको उठाकर चल दिया! ये हैं गुरुजी महाराज! इनसे सावधान रहना। आजसे ही याद कर लो कि **'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्!'**

नित्ययोगकी प्राप्ति

संसारमें जितने भी पदार्थ हैं, वे सब-के-सब आगन्तुक हैं अर्थात् हरेक पदार्थका संयोग और वियोग होता है। ऐसे ही सम्पूर्ण क्रियाओंका संयोग और वियोग होता है। क्रियाओंका आरम्भ होना क्रियाओंका संयोग है और क्रियाओंका समाप्त हो जाना क्रियाओंका वियोग है। ऐसे ही संकल्पोंका भी संयोग और वियोग होता है। संकल्प पैदा हो गये तो संयोग हो गया और संकल्प मिट गये तो वियोग हो गया। अतः संयोग और वियोग पदार्थोंके साथ भी है, क्रियाओंके साथ भी है और मानसिक भावोंके साथ भी है।

संयोग और वियोग—दोनोंमें अगर विचार किया जाय तो जो संयोग है, वह अनित्य है और जो वियोग है, वह नित्य है। यह खास समझनेकी बात है। जैसे, आपका और हमारा मिलना हुआ तो यह संयोग हुआ एवं आपका और हमारा बिछुड़ना हो गया तो यह वियोग हुआ। मिलनेके बाद बिछुड़ना जरूर होगा; परन्तु बिछुड़नेके बाद फिर मिलना होगा—यह नियम नहीं है। अतः वियोग नित्य है। पहले आप नहीं मिले तो वियोग रहा और आप बिछुड़ गये तो वियोग रहा। वियोग स्थायी रहा। जितनी देर आप मिले हैं, उतनी देर यह संयोग भी निरन्तर वियोगमें ही बदल रहा है। जैसे, एक आदमी पचास वर्ष लखपति रहा। जब उसे लखपति हुए एक वर्ष हो गया, तब पचास वर्षोंमेंसे एक वर्ष कम हो गया अर्थात् एक वर्षका वियोग हो गया। अतः संयोगकालमें भी वियोग है।

संयोगसे होनेवाले जितने भी सुख हैं, वे सब दुःखोंके कारण अर्थात् दुःख पैदा करनेवाले हैं—'**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते**' (गीता ५।२२)। अतः संयोगमें ही दुःख होता है। वियोगमें दुःख नहीं होता। वियोग (संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद) में जो सुख है, वह अनन्त है, अपार है। उस सुखका वियोग नहीं होता; क्योंकि वह नित्य है। जब संयोगमें भी वियोग है और वियोगमें भी वियोग है तो वियोग ही नित्य हुआ। इस नित्य वियोगका नाम 'योग' है। गीता कहती है—'**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (गीता ६।२३) अर्थात् दुःखोंके संयोगका जहाँ सर्वथा वियोग है, उसको 'योग' कहते हैं। अतः संसारके साथ वियोग नित्य है और परमात्माके साथ योग नित्य है।

'योग' नाम किसका है? पातञ्जलयोगदर्शनने चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको योग कहा है—'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' (१।२)। परन्तु गीता समताको योग कहती है—'**समत्वं योग उच्यते**' (२।४८)। यह समता नित्य रहती है। संयोगसे पहले भी समता है, अन्तमें वियोग होनेपर भी समता है और संयोगके समय भी समता है। इस प्रकार समतामें नित्य स्थिति ही नित्ययोग है। इस नित्ययोगका जिसको अनुभव हो गया है; उसको गीताने 'योगारूढ़' कहा है। योगारूढ़की पहचान क्या है? इसके लिये गीताने तीन बातें बतायी हैं—पदार्थोंमें आसक्ति न होना, क्रियाओंमें आसक्ति न होना और सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग होना—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

(गीता ६।४)

तात्पर्य है कि इन्द्रियोंके भोगोंमें और क्रियाओंमें आसक्ति न हो तथा भीतरसे यह आग्रह भी न हो कि ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये। 'संकल्प' नाम किसका है? ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये, ऐसा मिलना चाहिये और ऐसा नहीं मिलना चाहिये, ऐसा संयोग होना चाहिये और ऐसा संयोग नहीं होना चाहिये—इसको 'संकल्प' कहते हैं। अतः न तो पदार्थोंमें आसक्ति हो और न पदार्थोंके अभावमें आसक्ति हो, न क्रियाओंमें आसक्ति हो और न क्रियाओंके अभावमें आसक्ति हो तथा कोई संकल्प न हो तो 'योगारूढ़' हो गया। तात्पर्य है कि पदार्थ मिले या न मिले, क्रिया हो या न हो, इनका कोई आग्रह नहीं हो—'**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन**' (गीता ३।१८)। पदार्थ मिलें तो अच्छी बात, न मिलें तो अच्छी बात! क्रिया हो तो अच्छी बात, न हो तो अच्छी बात! संकल्प पूरा हो तो अच्छी बात, न हो तो अच्छी बात! वृत्तियोंका निरोध हो तो अच्छी बात, न हो तो अच्छी बात! अपना सम्बन्ध नहीं है इनसे।

इन्द्रियोंके भोगोंमें और कर्मोंमें आसक्ति न होनेका अर्थ हुआ—अचाह और अप्रयत्न होना। इन्द्रियोंके भोगोंमें, पदार्थोंमें आसक्ति न हो तो 'अचाह' हो गये और क्रियाओंमें आसक्ति न हो तो 'अप्रयत्न' हो गये। तात्पर्य है कि चाहनाका भी अभाव हो और प्रयत्नका भी अभाव हो। अचाह और

अप्रयत्न हुए तो परमात्मासे अभिन्नता स्वतः हो गयी। वास्तवमें अभिन्नता हो नहीं गयी, अभिन्नता थी। अचाह और अप्रयत्न न होनेसे उसका अनुभव नहीं होता था। चाह और क्रियाका अभाव हुआ तो स्वरूपमें स्थितिका, नित्ययोगका अनुभव हो गया।

परमात्मामें आपकी स्थिति निरन्तर है, आपकी समझमें आये या न आये। आप संसारके साथ जितना सम्बन्ध मानते हैं, उतनी आपकी नित्ययोगसे विमुखता है! संसारमें सिवाय धोखेके कुछ मिलनेवाला नहीं है। संसारसे सब संयोगोंका, सम्बन्धोंका वियोग ही होगा।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥

(वाल्मीकि० २। १०५। १६)

'समस्त संग्रहोंका अन्त विनाश है, लौकिक उन्नतियोंका अन्त पतन है, संयोगोंका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है।'

परन्तु परमात्माके साथ जो नित्ययोग है, वह जीवमात्रको सदा प्राप्त है। संयोगजन्य सुखमें फँस जाते हैं, इसलिये परमात्माके साथ नित्य-सम्बन्धकी तरफ दृष्टि नहीं जाती। तात्पर्य है कि नित्ययोगका अभाव नहीं हुआ है, केवल उधर दृष्टि नहीं है। भोगी-से-भोगी, रागी-से-रागी, पापी-से-पापी, पुण्यात्मा-से-पुण्यात्मा, मुक्त-से-मुक्त, मूर्ख-से-मूर्ख, विद्वान्-से-विद्वान्, कोई क्यों न हो, नित्ययोगसे उसका वियोग कभी हुआ नहीं, कभी होगा नहीं, कभी हो सकता नहीं। उस नित्ययोगकी प्राप्ति करना ही गीताका खास सिद्धान्त है। नित्ययोगकी प्राप्ति क्या है? अप्राप्त (संसार)के माने हुए सम्बन्धको मिटा देना ही नित्ययोगकी प्राप्ति करना है। अप्राप्तके साथ हमने सम्बन्ध माना है, इसीसे नित्यप्राप्तकी तरफसे हम विमुख हो गये हैं। नित्ययोग तो ज्यों-का-त्यों है। परन्तु संसारका संयोग कभी रहा नहीं, कभी रहेगा नहीं, कभी रह सकता नहीं। संयोग तो वियोगमें ही बदलेगा। संयोगको आप कभी रख नहीं सकते और वियोग आपको कभी छोड़ नहीं सकता।

पदार्थोंका सम्बन्ध होगा तो उनका वियोग मुख्य रहेगा। क्रियाएँ होंगी तो उनका भी वियोग मुख्य रहेगा। सङ्कल्पोंका भी वियोग होगा। ऐसा हो जाय और ऐसा नहीं हो जाय—ये दोनों ही वियोगमें बदलेंगे। ऐसा होना चाहिये—इसका भी वियोग होगा और ऐसा नहीं होना चाहिये—इसका भी वियोग होगा। परमात्माका योग ही नित्य रहेगा। संकल्प पूरा हो जाय तो भी संयोग नहीं रहेगा और संकल्प पूरा नहीं हो तो भी संयोग नहीं रहेगा। आप **'सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी'** स्वतःसिद्ध हैं। संयोगमें आप रस लेने लगते हैं तो आपकी नित्ययोगसे विमुखता हो जाती है। नित्ययोगका वियोग नहीं होता, विमुखता होती है। जब नित्ययोगके सम्मुख हो जाओगे, तब अनन्त जन्मोंके पाप नष्ट हो जायँगे—'***सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥***' नित्ययोगके सम्मुख होनेपर पाप बेचारा कहाँ टिकेगा? वह तो विमुखतामें ही टिकता है।

नित्ययोगकी प्राप्तिके लिये जो योगमें आरूढ़ होना चाहता है, उसके लिये कर्म करना कारण है—'**आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते**' और योगारूढ़ होनेपर अर्थात् संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर एक शान्ति मिलती है, वह शान्ति परमात्माकी प्राप्तिमें कारण है—'**योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते**' (गीता ६। ३)। तात्पर्य है कि जो योगारूढ़-अवस्था है, उसमें राजी नहीं होना है। उसमें राजी होनेसे, उसका भोग करनेसे अटक जाओगे, जिससे परमात्म-प्राप्ति होनेमें कई दिन लग जायँगे। जैसे, पहले बालककी खेलमें रुचि रहती है। परन्तु जब उसकी रुचि रुपयोंमें होती है, तब खेलकी रुचि अपने-आप मिट जाती है। ऐसे ही जबतक परमात्मप्राप्तिका अनुभव नहीं हुआ है, तबतक उस शान्तिमें रुचि रहती है अर्थात् शान्ति बहुत बढ़िया मालूम देती है। परन्तु कुछ दिनके बाद शान्तिकी रुचि अपने-आप मिट जाती है। अगर उस शान्तिका उपभोग न करो, उससे उपराम हो जाओ तो बहुत जल्दी परमात्मप्राप्तिका अनुभव हो जायगा।

योगारूढ़ होनेमें कर्म करना कारण है अर्थात् कर्म करते-करते जब सबका वियोग हो जायगा, तब योगारूढ़ हो जाओगे। कर्म करनेसे योगकी प्राप्ति होगी—इसका नाम 'कर्मयोग' है; क्योंकि कर्मोंकी समाप्ति हो जायगी और योग नित्य रहेगा। क्रियाओंकी समाप्ति, पदार्थोंकी समाप्ति, परिस्थितियोंकी समाप्ति, संयोगोंकी समाप्ति (सम्बन्ध-विच्छेद) होनेपर नित्ययोग रह जायगा। ऐसे ही ज्ञानके द्वारा संसारसे वियोग किया जाय तो यह 'ज्ञानयोग' है। एक चीज रहनेवाली (अविनाशी) है और एक चीज नहीं रहनेवाली (नाशवान्) है। नहीं रहनेवाली चीजसे वियोग तो हो ही रहा है। केवल आप अनुभव कर लो कि जितने भी पदार्थोंका संयोग है, वह पहले नहीं था, फिर नहीं रहेगा और अब भी प्रतिक्षण वियोगमें बदल रहा है। परन्तु इनको जाननेवाला (साक्षी) ज्यों-का-त्यों रहता है। इस प्रकार विचारके द्वारा संसारके संयोगका वियोग करना ज्ञानयोग है। ऐसे ही संसारका सम्बन्ध जितना टूटेगा, उतना परमात्माके साथ सम्बन्ध जाग्रत् होगा।

यह 'भक्तियोग' है। अब भी परमात्माके साथ किसी भी प्राणीका वियोग नहीं है। कारण कि परमात्मा सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तुओंमें, सम्पूर्ण क्रियाओंमें, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें, सम्पूर्ण अवस्थाओंमें, सम्पूर्ण घटनाओंमें ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। संसारको आदर देनेसे हम परमात्मासे विमुख हो गये। परमात्मा हमारेसे कभी विमुख नहीं हुए।

कर्मके द्वारा योगमें पहुँचो तो कर्मयोग हो गया, ज्ञानके द्वारा योगमें पहुँचो तो ज्ञानयोग हो गया। भक्तिके द्वारा योगमें पहुँचो तो भक्तियोग हो गया। कर्म, ज्ञान और भक्ति—तीनों योगमें समाप्त हो जाते हैं अर्थात् योगमें सब एक हो जाते हैं। उस योगमें सबकी स्वतःसिद्ध नित्य स्थिति है। इस नित्य स्थितिको सँभालना है—'***संकर सहज सरूपु सम्हारा***' (मानस १।५८।४)। तात्पर्य है कि खयाल न होनेसे उसका पता नहीं था, पर खयाल होते ही पता लग गया कि ओहो! यह बात है!! कितनी सुगम, कितनी श्रेष्ठ बात है!

'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु········योगारूढस्तदोच्यते'—यहाँ '**यदा**' और '**तदा**' पद देनेका तात्पर्य है कि आप जिस समय पदार्थोंमें, क्रियाओंमें और संकल्पमें आसक्ति नहीं करेंगे, उसी समय आप योगारूढ़ हो जायँगे। अब ऐसा आप एक घण्टेमें कर लें, एक दिनमें कर लें, एक जन्ममें कर लें अथवा अनेक जन्मोंमें कर लें, यह आपकी मरजी है!

योगकी प्राप्ति (अनुभूति) होनेपर फिर उससे कभी निवृत्ति नहीं होती—'**यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः**' (गीता १५।४)। कारण कि निवृत्ति गुणोंके संगसे होती है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३।२१)। वहाँ गुणोंका अत्यन्त अभाव है, फिर निवृत्ति कैसे होगी? भगवान्का अंश भगवान्में मिल गया! जैसे, आप कितने ही बड़े धनी हैं और बड़े-बड़े होटलोंमें बैठे हैं, फिर भी आपका नाम मुसाफिर है। घर चाहे टूटा-फूटा छप्पर हो, पर वहाँ पहुँच गये तो अब आप मुसाफिर नहीं रहे, घर पहुँच गये। ऐसे ही नित्ययोगकी प्राप्ति हो गयी तो हम अपने घर पहुँच गये!

अभी वस्तुओंकी और क्रियाओंकी सत्ता मानते हैं, इसलिये कहते हैं—'**यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते**'। वास्तवमें इनकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। परमात्मतत्त्वमें न वस्तु है और न क्रिया है। वह वस्तुरहित और क्रियारहित तत्त्व है, इसलिये उसकी प्राप्ति अभ्याससाध्य नहीं है। मन-बुद्धि-इन्द्रियोंकी सहायता लेते हैं और प्रयत्न करते हैं, तब अभ्यास होता है। परमात्मतत्त्व तो ज्यों-का-त्यों है। उसकी प्राप्तिमें विधि नहीं चलती, प्रत्युत निषेध चलता है। वस्तु और क्रियाका निषेध करनेपर वह स्वतः है—'**शिष्यते शेषसञ्ज्ञः**'। इसलिये इसमें कुछ करनेकी बात ही नहीं है। यह करण-निरपेक्ष तत्त्व है।

जिसके द्वारा तत्काल क्रियाकी सिद्धि होती है, उसका नाम 'करण' होता है—'**साधकतमं करणम्**', '**क्रियाया निष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्**'। जैसे, 'रामके बाणसे बालि मारा गया'—इस वाक्यमें करणत्व बाणमें है, धनुष, प्रत्यंचा, हाथ आदिमें नहीं। अतः क्रियाकी सिद्धिमें करण काम आता है। परन्तु जहाँ क्रिया है ही नहीं, वहाँ करण कैसे काम आयेगा? क्रियारहित तत्त्वमें कुछ न करना ही 'करना' है! कहते हैं कि अन्तःकरणकी शुद्धिसे वह तत्त्व मिलता है। परन्तु अन्तःकरणकी शुद्धिसे वह तत्त्व मिलता है, जो करण-साध्य होता है। जो तत्त्व करण-साध्य है ही नहीं, उसकी प्राप्तिमें अन्तःकरणकी शुद्धि-अशुद्धिसे क्या मतलब? मतलब ही नहीं है। वास्तवमें करणके साथ सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे करणकी जैसी शुद्धि होती है, वैसी शुद्धि किसी उद्योगसे कभी हुई नहीं, कभी होगी नहीं और कभी हो सकती नहीं। कारण कि उद्योग, प्रयत्न करेंगे तो जडकी सहायता लेंगे। यदि जडकी सहायता लेंगे तो जडसे ऊँचे कैसे उठेंगे?

जिन क्रियाओंका आदि और अन्त होता है, उन क्रियाओंके जनकको 'कारक' कहते हैं। नित्ययोगकी प्राप्तिमें किसी कारककी जरूरत नहीं है अर्थात् कर्ताकी, कर्मकी, करणकी, अधिकरणकी, सम्प्रदानकी, अपादानकी, किसीकी भी जरूरत नहीं है, उसकी प्राप्तिमें इन सभी कारकोंका वियोग है। वह कारक-निरपेक्ष स्वतःसिद्ध तत्त्व है।

जैसे परमात्मामें क्रिया और वस्तुका, कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अभाव है, ऐसे ही आत्मामें भी कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अभाव है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३।३१) अर्थात् शरीरमें रहते हुए भी आत्मा न करता है और न लिप्त होता है। तात्पर्य है कि कर्तृत्वका अभाव और निर्लिप्तता पहलेसे ही विद्यमान है, इनको कहींसे लाना नहीं है। न कर्तृत्वका अभाव करना है और न निर्लिप्तता लानी है, ये तो स्वतःसिद्ध हैं। कर्तृत्व और लिप्तता अपनी बनायी हुई है; अतः इनका त्याग करना है। इनका त्याग होते ही नित्ययोग स्वतःसिद्ध है*। भगवान् कहते हैं—

* इस विषयको विस्तारसे समझनेके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीता-दर्पण' में आया 'गीतामें कर्तृत्व-भोक्तृत्वका निषेध' शीर्षक लेख देखना चाहिये।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥
(गीता १४ । १९)

'जब विवेकी मनुष्य तीनों गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और अपनेको गुणोंसे पर अनुभव करता है, तब वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ।'

प्राप्त जानकारीके सदुपयोगसे कल्याण

मनुष्यमें जाननेकी एक इच्छा रहती है कि मैं अधिक सत्संग करूँ, अधिक पढ़ूँ और अधिक जानूँ। बहुत अच्छी बात है ! परन्तु बढ़िया बात यह है कि जितना जानते हैं, उतना काममें लाओ। मैं अधिक पैसे पैदा कर लूँ—यह इच्छा रहती है, पर जो है, उसका उपयोग करो। आपके पास जो पैसा है, उसका उपयोग करनेकी जितनी जरूरत हैं, उतनी और पैदा करनेकी जरूरत नहीं है। आप पैसोंका सदुपयोग करोगे तो आपके पास पैसोंकी कमी नहीं रहेगी। आप वस्तुओंका ठीक तरहसे सदुपयोग करोगे तो वस्तुओंकी कमी नहीं रहेगी। परन्तु उनका दुरुपयोग करोगे तो लाखों-करोड़ों रुपये होनेपर भी आपकी तृष्णा नहीं मिटेगी, कृपणता नहीं मिटेगी और पतन होगा। एकदम पक्की बात है ! इसलिये आजतक जितना आप जानते हो, उसके अनुसार अगर जीवन बना लो तो उद्धार हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं है। अगर आप सुनते जाओ, पढ़ते जाओ, जानते जाओ, पर उसके अनुसार करो नहीं तो आपके चाहे कई जन्म बीत जायँ, उद्धार नहीं होगा।

ज्ञानके संचयकी इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी उसके सदुपयोगकी आवश्यकता है। पैसोंके, वस्तुओंके संचयकी महिमा नहीं है, प्रत्युत उनके सदुपयोगकी महिमा है। आपको जितना मिला है, उतनेसे पूरा उद्धार हो सकता है। भगवान्‌ने मनुष्यजन्म दिया है तो उद्धारकी सामग्री भी पूरी दी है। वास्तवमें देखा जाय तो सामग्री बहुत ज्यादा दी है ! उद्धारके लिये जितनी योग्यता चाहिये, उससे अधिक योग्यता दी है। उद्धारके लिये जितना समय चाहिये, उससे अधिक समय दिया है। उद्धारके लिये जितनी समझ चाहिये, उससे अधिक समझ दी है। कृपणता, कंजूसी नहीं की है भगवान्‌ने। इसलिये आपके पास जितनी सामग्री है, जितना समय है, जितनी समझ है, जितनी सामर्थ्य है, उसको पूरी लगा दो तो परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी—इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। जितनी सामग्री, जितना धन आपके पासमें है, उसका आप सदुपयोग करो तो कल्याण हो जायगा। उसका सदुपयोग न करके संचय करोगे तो इस जन्ममें तो कल्याण होगा नहीं, आगेके जन्ममें भी शायद ही हो ! जितना धन आपके पास है, उससे ज्यादाकी जरूरत नहीं है। इन्कमपर टैक्स होता है, मालपर जगात होती है। जितनी इन्कम है, उतना टैक्स होगा। जितना माल है, उतनी जगात होगी। अतः अधिक धनकी इच्छा करनी आफत करनी है, अधिक समयकी इच्छा करनी आफत करनी है, अधिक सामग्रीकी इच्छा करनी आफत करनी है।

समझ (ज्ञान) में एक विलक्षण बात है कि जितनी समझ है, उसका सदुपयोग करोगे तो वह समझ अपने-आप विलक्षण हो जायगी; बिना पढ़े-लिखे, बिना गुरुके स्वतः बढ़ जायगी ! परन्तु कोरा पोथा पढ़कर पण्डित बन जाओ तो वाह-वाह हो जायगी, पर हाथ कुछ नहीं आयेगा, प्रत्युत एक अभिमान नया पैदा हो जायगा। एक माईके घरमें बिल्ली मर गयी। उसने सुबह देखा कि आँगनमें बिल्ली मरी पड़ी है तो उसको बड़ी ग्लानि हुई। अब उसको बाहर कैसे निकाले ? वह किसी मेहतरको बुलाने बाहर चली गयी कि कोई आ जाय और इसको बाहर निकाल दे। इतनेमें एक ऊँट आया। वह बीमार था। घरका दरवाजा छोटा था। ऊँट दरवाजेके भीतर घुसने लगा तो घुसते ही गिर गया और गिरते ही मर गया। अब बिल्ली तो निकली नहीं, ऊँट और मर गया ! बिल्लीको तो कोई लकड़ीसे उठाकर फेंक दे, पर ऊँटको कैसे फेंके ? ऐसे ही पहले हमें ज्ञान नहीं था तो बिल्ली मरी हुई थी, अब पढ़-लिखकर अभिमान आ गया तो ऊँट मर गया ! अब ऊँटको कैसे निकालें ? मैं पढ़ा-लिखा हूँ, मैं साधु हूँ, मैं त्यागी हूँ, तुम मेरेको जानते हो कि नहीं ? मैं तो कई दिन तुम्हारेको पढ़ा दूँ—यह ऊँट मरा हुआ है। इसको निकालना बड़ा मुश्किल है ! कोरी फूँक भरी हुई है, भीतरमें है कुछ नहीं ! भीतरमें कोरा घाटा है। इस प्रकार अज्ञानके कारण जो अभिमान आता है, उस अभिमानको दूर करना बड़ा कठिन है ! इसलिये कृपानाथ ! पहलेसे ही कृपा करो कि आपके पास जितना ज्ञान है, उसके अनुसार जीवन बनाओ। कहते हैं कि गुरुके बिना ज्ञान नहीं होता तो जिन लोगोंने गुरु बनाया है, उनको ज्ञान हो गया क्या ? उनका उद्धार हो गया क्या ? नहीं हुआ तो फिर आपका कैसे हो जायगा ? होनेवाला कुछ नहीं है। केवल टोली बन जायगी। परन्तु जितना जानते हो, उसको काममें लाओ तो निहाल हो ही जाओगे, इसमें सन्देह नहीं है।

भगवान्‌ने मनुष्यशरीर कल्याणके लिये दिया है तो क्या

सामग्रीकी कंजूसी की है? समझकी कंजूसी की है? समयकी कंजूसी की है? एक जीवनमें कई बार कल्याण हो जाय, इतना समय दिया है, इतनी सामर्थ्य दी है, इतनी समझ दी है, इतनी योग्यता दी है। अधिक योग्यताकी जरूरत नहीं है। आप भी अपने बालकसे उतनी ही आशा रखते हैं, जितना वह कर सकता है। जो वह नहीं कर सकता, उसकी आशा आप नहीं रखते। छोटे बच्चेसे यह आशा नहीं रखते कि वह ढाई मणका बोरा उठा लाये। क्या भगवान् आप जितने भी ईमानदार नहीं हैं कि जो हम न कर सकें, उसकी आशा हमारेसे रखें? जितना हम कर सकें, उतनेकी ही जरूरत है; ज्यादाकी जरूरत है ही नहीं। जितना हम जान सकें, समझ सकें, उतनेकी ही जरूरत है; ज्यादाकी जरूरत ही नहीं है। कल्याणके लिये सामग्री बहुत है, समय बहुत है। आप उसका सदुपयोग शुरू कर दें तो बिना पढ़े-लिखे पारमार्थिक बातोंका ज्ञान हो जायगा। आपके भीतर स्वतः विवेक प्रकाशित हो जायगा। कितनी सुगम बात है! आप स्वतन्त्रतासे अपना कल्याण कर सकते हैं। अपने-आपके गुरु आप ही बन जाओ। आप ही अपने नेता बन जाओ। आप खुद ही अपने मालिक बन जाओ। पूर्णता हो जायगी, इसमें सन्देह नहीं है।

जो महान् उदार है, महान् सुहृद् है, महान् दयालु है और जिसमें अनन्त-अपार ज्ञान है, उस परमात्माके रहते हुए हम दुःख क्यों पायें? क्या कमी है उसके पास? माँके पास सब सामग्री हो और बच्चा भूखा मरे—यह हो ही नहीं सकता। बच्चेको जितनी आवश्यकता है, उससे ज्यादा आवश्यकता माँको है। ऐसे देखनेमें तो बालकके लिये माँकी आवश्यकता है, पर माँ अपने लिये बालककी जितनी आवश्यकता मानती है, उतना बालक अपने लिये माँकी आवश्यकता नहीं मानता। ऐसे ही हम अपने उद्धारका जितना विचार करते हैं, उससे भगवान् कम विचार नहीं करते। अतः आपको जितना मिला है, उसका सदुपयोग करो तो जो विलक्षणता पढ़े-लिखोंमें नहीं है, उद्धार करनेकी जो सामर्थ्य और समझ अच्छे-अच्छे पण्डितोंके पास नहीं है, वह आपके पास हो जायगी!

कोरी पुस्तक पढ़कर कोई पण्डित नहीं होता। जो जितना ज्यादा धनवान् है, जितना ज्यादा पढ़ा-लिखा है, उतनी ही उसको ज्यादा आफत है। अपनी योग्यतासे परमात्मा नहीं मिलते। योग्यतासे संसारमें नाम होता है, संसारकी वस्तु मिलती है। भगवान्‌के यहाँ योग्यताकी कमी नहीं है। आपकी योग्यता वहाँ काम करेगी, जहाँ योग्यताकी कमी है। जहाँ आपसे ज्यादा योग्यता है, वहाँ आपकी योग्यता कुछ काम नहीं करेगी। गाँवमें लखपतिकी बड़ी इज्जत होती है। परन्तु जहाँ सभी करोड़पति हों, वहाँ लखपतिकी क्या इज्जत है? ऐसे ही परमात्माके यहाँ समझकी कमी नहीं है; अतः वहाँ आपकी समझकी कोई जरूरत नहीं है। आपके पास अपने उद्धारके लिये काफी सामग्री है। केवल सरलतासे और विवेकपूर्वक उसका सदुपयोग करना है। उसका सदुपयोग कैसे करें—इसकी शिक्षा सत्सङ्गसे, सद्विचारसे, प्राप्त विवेकका आदर करनेसे मिलती है। सदुपयोग करनेसे उद्धार हो जाता है—इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। जो बिलकुल गाँवमें रहनेवाले हैं, पढ़े-लिखे नहीं हैं, उनको परमात्मतत्त्वका बोध हो गया और बड़े-बड़े पण्डित रीते रह गये!

समय निरर्थक जाता है, समझ निरर्थक जाती है, सामर्थ्य निरर्थक जाती है, इसीलिये परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो रही है। इनका सदुपयोग करो। समझते हैं कि सच बोलना ठीक है, फिर भी झूठ बोलते हैं; न्याय करना ठीक है, फिर भी अन्याय करते हैं; किसीको दुःख देना ठीक नहीं है, फिर भी दुःख देते हैं—यह अपने ज्ञानका निरादर है। अपने ज्ञानका निरादर न करें, दुरुपयोग न करें तो उतने ज्ञानसे आपकी मुक्ति हो जायगी, इसमें सन्देह नहीं है। जितना मिला है, उसका सदुपयोग ठीक करें तो पूर्णता हो जायगी।

═══ ★ ═══

जीवकृत सृष्टिसे बन्धन

भगवान् कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७।७)

'हे धनञ्जय! मेरेसे बढ़कर इस जगत्‌का दूसरा कोई किञ्चिन्मात्र भी कारण नहीं है। जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई होती हैं, ऐसे ही सम्पूर्ण जगत् मेरेमें ही ओतप्रोत है।'

तात्पर्य है कि जैसे सूतकी मणियाँ हैं, सूतका ही धागा है, सब सूत-ही-सूत है, ऐसे ही संसारमें मैं-ही-मैं हूँ अर्थात् मेरे सिवाय कुछ नहीं है। अतः भगवान्‌की दृष्टिसे भी संसार भगवत्स्वरूप है और महात्माओंकी दृष्टिसे भी संसार भगवत्स्वरूप है—'**वासुदेवः सर्वमिति**' (गीता ७।१९)। फिर यह संसार कहाँ है? भगवान् कहते हैं कि जो अपरा

प्रकृति है, उससे एक विलक्षण मेरी परा प्रकृति है, जिसको जीव कहते हैं। उस जीवने जगत्‌को धारण कर रखा है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। अतः जगत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद करनेका दायित्व जीवपर ही है। जीवका धारण किया हुआ जगत् ही इसके दुःखका हेतु है। अब इसको समझानेके लिये एक बात कहता हूँ, आप ध्यान दें।

शास्त्रोंमें आया है कि सृष्टि दो तरहकी है। एक भगवान्‌की रची हुई सृष्टि है और एक जीवकी रची हुई सृष्टि है। भगवान्‌की रची हुई सृष्टि कभी किसीको दुःख नहीं देती। उसने कभी दुःख दिया नहीं, कभी दुःख देगी नहीं और कभी दुःख दे सकती भी नहीं। भगवान्‌की रची हुई सृष्टि अगर जीवको दुःख देगी तो जीव दुःखसे कभी छूट सकेगा ही नहीं। तो फिर दुःख कौन देता है ? जीवकी बनायी हुई सृष्टि ही दुःख देती है। जीवकी बनायी हुई सृष्टि क्या है ? यह मेरी माँ है, मेरा बाप है, मेरी स्त्री है, मेरा बेटा है, मेरा भाई है, मेरी भौजाई है; ये हमारे पक्षके हैं, ये दूसरोंके पक्षके हैं; ये हमारी जातिके हैं, ये हमारी जातिके नहीं हैं—यह जो ममता-परताका भेद बनाया हुआ है, राग-द्वेष किया हुआ है, यह जीवकी रची हुई सृष्टि है। शरीर भगवान्‌का रचा हुआ है और उसके साथ सम्बन्ध जीवका रचा हुआ है। यह सम्बन्ध जीवकी सृष्टि है, जो दुःख देती है। जीव जिनके साथ अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ता, उनसे दुःख नहीं होता। राग और द्वेष ही जीवके शत्रु हैं—'**तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ**' (गीता ३। ३४)। जीव राग और द्वेष कर लेता है, मेरा और तेरा कर लेता है, यही वास्तवमें जीवको दुःख देता है। यह मेरा और तेरा, ठीक और बेठीक, अनुकूल और प्रतिकूल, ये हमारे हैं और ये तुम्हारे हैं—यह दशा जीवने धारण की है और इसीसे इसको दुःख पाना पड़ता है।

ईश्वरके रचित तो स्त्री-पुरुषोंके शरीर हैं। सबके शरीर ईश्वरकी प्रकृतिसे बने हुए हैं। इनके मालिक तो हैं परमात्मा और धातु चीज है प्रकृति। अतः यह सृष्टि न दुःख देनेवाली है और न सुख देनेवाली है। अगर देखा जाय तो यह सृष्टि इसके व्यवहारको सिद्ध करती है, इसकी मदद करती है। दुःख तो वहीं होता है, जहाँ राग-द्वेष (मेरा-तेरा पैदा) कर लेते हैं; और यह मनुष्यका बनाया हुआ है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। जीव जगत्‌को धारण करता है, इसीसे सुख होता है, दुःख होता है, बन्धन होता है, चौरासी लाख योनियोंकी प्राप्ति होती है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। सत्त्व, रज, तम—तीनों गुण तो बेचारे पड़े रहते हैं, कोई बाधा नहीं देते। परन्तु इनका संग करनेसे जीव ऊर्ध्वगति, मध्यगति अथवा अधोगतिमें जाता है अर्थात् सत्त्वगुणका संग करनेसे ऊर्ध्वगतिको, रजोगुणका संग करनेसे मध्यगतिको और तमोगुणका संग करनेसे अधोगतिको जाता है। गुणोंका संग यह स्वयं करता है। अपरा प्रकृति किसीके साथ कोई सम्बन्ध नहीं करती। सम्बन्ध न प्रकृति करती है, न गुण करते हैं, न इन्द्रियाँ करती हैं, न मन करता है, न बुद्धि करती है। यह स्वयं ही सम्बन्ध करता है, इसीलिये सुखी-दुःखी हो रहा है, जन्म-मरणमें जा रहा है। जीव स्वतन्त्र है; क्योंकि यह परा (श्रेष्ठ) प्रकृति है। वह तो बेचारी अपरा प्रकृति है। वह कुछ नहीं करती। उससे सम्बन्ध जोड़कर, उसका सदुपयोग-दुरुपयोग करके ऊँच-नीच योनियोंमें जाते हैं, भटकते हैं। यह '**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५) का अर्थ हुआ।

अपनेको सुख-दुःख किसका होता है ? हमारा कोई सम्बन्धी है, प्रेमी है, वह मर जाता है तो दुःख होता है और जी जाता है, अच्छा हो जाता है तो सुख होता है। यह मेरापन और तेरापन मनुष्यका बनाया हुआ है। यदि मनुष्य निर्मम और निरहङ्कार हो जाय, न प्रकृतिके साथ ममता रखे, न अहंता रखे तो दुःख मिट जायगा और शान्ति प्राप्त हो जायगी—'**निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति**' (गीता २। ७१)। यह कर्मयोगकी दृष्टिसे है। ज्ञानयोगकी दृष्टिसे निर्मम-निरहङ्कार होनेपर ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जायगा—'**अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥**' (गीता १८। ५३)। भक्तियोगकी दृष्टिसे निर्मम-निरहङ्कार होनेपर सुख-दुःखमें सम हो जायगा, क्षमावान् हो जायगा और भगवान्‌का प्यारा हो जायगा—'**निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी**' (गीता १२। १३)। इस तरह कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनोंसे मनुष्य निर्मम और निरहङ्कार हो जाता है।

यह ममता और अहंता हमारी बनायी हुई है। यह जीवकृत सृष्टि है। जीवकृत सृष्टि ही जीवको दुःख देती है, बाँधती है। जीव स्वयं ही सृष्टि बनाकर बँधता है। जैसे रेशमका कीड़ा रेशम बनाकर उसमें बँध जाता है, उसमें ही फँसकर मर जाता है, इसी तरहसे जीवने अपना जाल बुन लिया, राग और द्वेष कर लिया। इसीसे यह फँसा हुआ है, बँधा हुआ है। इसीने जगत्‌को धारण कर रखा है। जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कारणरूपसे देखें तो प्रकृति है और मालिकरूपसे देखें तो परमात्मा है। बाँधनेवाला जगत् तो

जीवने ही बना रखा है। यदि यह निर्मम और निरहङ्कार हो जाय तो निहाल हो जाय ! भगवान्‌ने बड़ी कृपा करके दो बात कह दी कि तुम '**निर्ममो निरहङ्कारः**' हो जाओ, केवल अपनी बनायी हुई अहंता और ममताको मिटा लो तो ज्ञान हो जायगा, पूर्णता हो जायगी। यह अहंता-ममता आपकी बनायी हुई है। पहले जन्ममें और जगह ममता थी, इस जन्ममें और जगह ममता है। इस शरीरमें रहते हुए भी आप मकान बदल देते हो, सम्बन्ध बदल देते हो, दुकान बदल देते हो, अपना बना लेते हो और फँस जाते हो। अतः आपने ही इसको जगत्‌रूपसे धारण कर रखा है। परमात्माकी दृष्टिमें यह जगत् नहीं है। महात्माकी दृष्टिमें भी यह जगत् नहीं है। अगर अहंता-ममता छोड़ दो तो जगत् नहीं रहेगा, दुःख मिट जायगा।

श्रोता—स्वयंमें कर्तापनका भाव आ जाता है !

स्वामीजी—हाँ, उसको आप ही स्वयंमें लाते हैं। यह मेरा है, यह तेरा है; यह मेरे अनुकूल है, यह मेरे प्रतिकूल है; यह हमारे पक्षका है, यह दूसरे पक्षका है; यह हमारे सम्प्रदायका है, यह दूसरे सम्प्रदायका है—यह अपना खुदका ही बनाया हुआ है। इसलिये इसका त्याग करनेका दायित्व जीवपर है। अगर यह परमात्माका बनाया हुआ होता तो इसके त्यागका दायित्व परमात्मापर होता।

परमात्माकी बनायी सृष्टिमें उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि जो कुछ होता है, वह आपमें बिलकुल दखल नहीं देता। वस्तुएँ आपके व्यवहारमें काम आती हैं, आपपर कोई बन्धन नहीं करतीं, आपको परवश नहीं करतीं, परतन्त्र नहीं करतीं। आप खुद ही उनमें अहंता-ममता करके फँस जाते हैं। अतः '**ययेदं धार्यते जगत्**' का तात्पर्य है कि बन्धन आपका ही बनाया हुआ है।

सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे जीव मोहित हो जाता है—'**त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्**' (गीता ७। १३)। सात्त्विकी, राजसी और तामसी वृत्तियोंसे मोहित होकर जीव उनमें फँस जाता है। परन्तु न सात्त्विकी वृत्ति हरदम रहती है, न राजसी वृत्ति हरदम रहती है और न तामसी वृत्ति हरदम रहती है। गुणोंका तो नाशवान् स्वभाव है, उनका नाश होता ही रहता है। आप कितना ही अच्छा मानो, मन्दा मानो; भला मानो, बुरा मानो, कैसा ही मानो, वे गुण तो नष्ट होते ही हैं। उनमें परिवर्तन तो होता ही रहता है। आप ही सम्बन्ध जोड़ करके उनको पकड़ लेते हो। परा, श्रेष्ठ प्रकृति होते हुए भी आपने अपरा प्रकृतिको धारण कर रखा है, जन्म-मरणको धारण कर रखा है, महान् दुःखको धारण कर रखा है। आप छोड़ दो तो छूट जायगा। प्रत्यक्ष उदाहरण है कि आपकी कन्या बड़ी हो जाती है तो चिन्ता होने लगती है और जब घर-वर अच्छा मिल जाता है तथा आप कन्यादान कर देते हो तो आपकी वह चिन्ता मिट जाती है। कन्या वही है, आप वही हो, सृष्टि वही है, पर आपको चिन्ता नहीं है। कारण कि जबतक 'मेरी है', तबतक चिन्ता है और अब 'मेरी नहीं है' तो अब चिन्ता नहीं है। तात्पर्य है कि अपनी अहंता और ममतासे ही दुःख होता है।

अहंताको लेकर 'मैं साधु हूँ, मैं ऐसा हूँ, मेरेको ऐसा कह दिया, मेरेको ऐसा कर दिया'—यह आफत किसने पैदा की है ? हम ऐसे-ऐसे हैं, हम पढ़े-लिखे हैं; हम कौन हैं, समझते हो आप ?—यह आफत आपने ही बनायी है। आपने ही अपमान पकड़ लिया, मान पकड़ लिया, महिमा पकड़ ली, निन्दा पकड़ ली, अनुकूलता पकड़ ली, प्रतिकूलता पकड़ ली। यह आपकी ही पकड़ी हुई है। आप न पकड़ो तो कोई दुःख देनेवाला है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। अपनी सृष्टि बनाकर आप ही फँस गये। आपने ही जगत्‌को धारण कर लिया, नहीं तो भगवान् कहते हैं कि सब कुछ मेरेसे ही व्याप्त है—'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**' (गीता ९। ४), '**येन सर्वमिदं ततम्**' (गीता ८। २२; १८। ४६)। ये बातें याद कर लेनेमात्रकी नहीं हैं। याद करोगे तो जैसे मैं व्याख्यान देता हूँ, वैसे आप भी दे दोगे, पर उससे कल्याण नहीं होगा। ये बातें मूलमें समझनी हैं कि हमें इसमें फँसना नहीं है, मैं-मेरा नहीं करना है। '***मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥***' (मानस ३। १५। १)। मैं और मेरा, तू और तेरा, यह और इसका, वह और उसका—यही बन्धन है, जो जीवका बनाया हुआ है। इसको वह छोड़ दे तो निहाल हो जाय।

जबतक मैं और मेरेपनको धारण किये रहोगे, तबतक दुःख नहीं मिटेगा। यह मैं-मेरापन ही खास बन्धन है।

मैं मेरे की जेवरी, गल बँध्यो संसार।
दास कबीरा क्यों बँधे, जाके राम अधार॥

सब बन्धनोंकी एक ही चाबी है—मैं-मेरेका त्याग। मैं-मेरेको त्याग दो तो बन्धन है ही नहीं।

श्रोता—पहले ममताका त्याग होगा या अहंताका ?

स्वामीजी—आपकी मरजी आये सो कर लो। ममताका सर्वथा त्याग कर दो तो अहंताका त्याग हो जायगा, और अहंताका सर्वथा त्याग कर दो तो ममताका त्याग हो जायगा। जो आपको सुगम पड़े, वह कर लो। एकका त्याग करो तो

दूसरेका त्याग अपने-आप हो जायगा। अहंताके साथ ममता और ममताके साथ अहंता रहती है। ममताका त्याग करो तो अहंता सर्वथा चली जायगी और अहम् ही छोड़ दो तो ममता कहाँ टिकेगी ? आप करके देख लो।

दुःखका कारण—सङ्कल्प

मनुष्यको दुःख देनेवाला खुदका सङ्कल्प है। ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—यह जो मनकी धारणा है, इसीसे दुःख होता है। अगर वह यह सङ्कल्प छोड़ दे तो एकदम योग (समता) की प्राप्ति हो जायगी—'**सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते**' (गीता ६।४)। अपना ही सङ्कल्प करके आप दुःख पा रहा है मुफ्तमें! सङ्कल्पोंका कायदा यह है कि जो सङ्कल्प पूरे होनेवाले हैं, वे तो पूरे होंगे ही और जो नहीं पूरे होनेवाले हैं, वे पूरे नहीं होंगे, चाहे आप सङ्कल्प करें अथवा न करें। सब सङ्कल्प किसीके भी पूरे नहीं हुए, और ऐसा कोई आदमी नहीं है, जिसका कोई सङ्कल्प पूरा नहीं हुआ। तात्पर्य है कि कुछ सङ्कल्प पूरे होते हैं और कुछ सङ्कल्प पूरे नहीं होते—यह सबके लिये एक सामान्य विधान है। जैसा हम चाहें, वैसा ही होगा—यह बात है नहीं। जो होना है, वही होगा।

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

(मानस १।५२।४)

इसलिये अपना सङ्कल्प रखना दुःखको, पराधीनताको निमन्त्रण देना है। अपना कुछ भी सङ्कल्प न रखें तो होनेवाला सङ्कल्प पूरा हो जायगा। जैसा तुम चाहो, वैसा ही हो जाय—यह हाथकी बात नहीं है। अतः सङ्कल्प करके क्यों अपनी इज्जत खोते हो? कुछ आना-जाना नहीं है! अगर मनुष्य सङ्कल्पोंका त्याग कर दे तो योगारूढ़ हो जाय, तत्त्वकी प्राप्ति हो जाय, मुक्त हो जाय, भक्त हो जाय, जीवन्मुक्त हो जाय; जो कुछ बड़ा-से-बड़ा काम है, वह हो जाय; यह मनुष्यजन्म सफल हो जाय, कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहे! अतः अपना सङ्कल्प कुछ नहीं रखो। वह सङ्कल्प चाहे भगवान्‌के सङ्कल्पपर छोड़ दो, चाहे संसारके सङ्कल्पपर छोड़ दो, चाहे प्रारब्ध (होनहार) पर छोड़ दो और चाहे प्रकृतिपर छोड़ दो।* जो अच्छा लगे, उसीपर छोड़ दो तो दुःख मिट जायगा। भगवान्‌पर छोड़ दो तो जैसा भगवान् करेंगे, वैसा हो जायगा। संसारपर छोड़ दो तो संसार (माता-पिता, भाई-बन्धु, कुटुम्ब-परिवार आदि) की जैसी मर्जी होगी, वैसे हो जायगा। अपने प्रारब्धपर छोड़ दो तो प्रारब्धके अनुसार जैसा होना है, वैसा हो जायगा। अपना कोई सङ्कल्प नहीं करना है। अपना सङ्कल्प रखकर बन्धनके सिवाय और कुछ कर नहीं सकते। होगा वही जो भगवान् करेंगे, जो प्रारब्धमें है अथवा जो संसारमें होनेवाला है।

भगवान्‌ने कहा है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' (गीता २।४७) 'कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं।' ऐसा करेंगे और ऐसा नहीं करेंगे, शास्त्रसे विरुद्ध काम नहीं करेंगे—इसमें तो स्वतन्त्रता है, पर दुःखदायी परिस्थिति नहीं आये—इसमें स्वतन्त्रता नहीं है। दुःखदायी और सुखदायी परिस्थिति तो आयेगी ही; आप चाहो तो आयेगी, न चाहो तो आयेगी। करनेमें सावधान रहना है। शास्त्रकी, सन्त-महात्माओंकी आज्ञाके अनुसार काम करना है। इसमें कोई भूल होगी तो वह मिट जायगी। कभी भूलसे कोई विपरीत कार्य हो भी जायगा तो वह ठहरेगा नहीं, टिकेगा नहीं, मिट जायगा। खास बात इतनी करनी है कि अपना सङ्कल्प नहीं रखना है। अपना कोई सङ्कल्प न रहे तो आदमी सुखी हो जाय! 'यूँ भी वाह-वा है और वूँ भी वाह-वा है' ऐसा हो जाय तो भी ठीक, वैसा हो जाय तो भी ठीक!

रज्जब रोष न कीजिये, कोई कहे क्यों ही।
हँसकर उत्तर दीजिये, हाँ बाबाजी यों ही॥

चाहे संसारके सङ्कल्पमें अपना सङ्कल्प मिला दो, चाहे प्रभुके सङ्कल्पमें अपना सङ्कल्प मिला दो, चाहे प्रारब्धमें अपना सङ्कल्प मिला दो। जैसा होना है, वैसा हो जायगा; कूदाकूदी क्यों करो! अपने सब सङ्कल्प छोड़ दो तो जीवन महान् पवित्र हो जायगा। जो अपने-आप होता है, उसमें अपवित्रता नहीं आती, वह ठीक ही होता है। संसारके सङ्कल्पसे होगा तो ठीक होगा, भगवान्‌के सङ्कल्पसे होगा तो ठीक होगा, प्रारब्धसे होगा तो ठीक होगा। बेठीक होगा ही नहीं। बेठीक तो हम कर लेते हैं। अपना सङ्कल्प कर लेते हैं तो बेठीक हो जाता है।

एक स्फुरणा होती है और एक सङ्कल्प होता है। कोई बात याद आती है—यह 'स्फुरणा' है और ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये—यह 'सङ्कल्प' है। संसारकी स्फुरणा

* अपना सङ्कल्प भगवान्‌पर छोड़ दो तो भक्ति मिलेगी, संसारपर छोड़ दो तो निष्कामता आयेगी, प्रारब्धपर छोड़ दो तो निश्चिन्तता आयेगी और प्रकृतिपर छोड़ दो तो स्वतन्त्रता आयेगी।

होती रहती है और मिटती रहती है। आप जिस स्फुरणाको पकड़ लेते हो, वह सङ्कल्प हो जाता है। सङ्कल्पमें मनुष्य बँध जाता है—'**फले सक्तो निबध्यते**' (गीता ५। १२)। सङ्कल्पसे कामना पैदा हो जाती है—'**सङ्कल्पप्रभवान्कामान्**' (गीता ६। २४), जो सम्पूर्ण पापों और दुःखोंकी जड़ है। जो सब सङ्कल्पोंका त्याग कर देता है, वह योगारूढ़ हो जाता है। कितनी सीधी-सरल बात है! इसमें बेठीक होगा ही नहीं।

आप कितना ही ठीक समझो या बेठीक समझो; जो होना है, वह होगा ही। जो अनुकूल या प्रतिकूल होनेवाला है, वह तो होगा ही। सर्दी आनी है तो आयेगी ही, गर्मी आनी है तो आयेगी ही। आप सुखी-दुःखी हो जाओ तो आपकी मरजी! वह आपके सुख-दुःखके अधीन नहीं है। इस तरह अपने-अपने प्रारब्धका फल आयेगा ही। आप सुखी हो जाओ तो आयेगा, दुःखी हो जाओ तो आयेगा। एकदम सची बात है! जो नहीं होना है, वह नहीं होगा। जो होना है, वह हो जायगा। जो होगा, वह हम अपने-आप देख लेंगे। वह कोई छिपा थोड़े ही रहेगा! अतः चतुर वही है, जो अपना कोई सङ्कल्प नहीं रखता। सीधी-सादी बात है, अपना सङ्कल्प न रखे तो निहाल हो जाय आदमी! क्यों सङ्कल्प रखे और क्यों दुःख पाये!

अपने अनुकूलमें राजी होना और प्रतिकूलमें नाराज होना—ये दोनों ही व्यथा हैं। भगवान् कहते हैं कि 'इन्द्रियोंके जो विषय हैं, वे अनुकूलता और प्रतिकूलताके द्वारा सुख-दुःख देनेवाले हैं। वे आने-जानेवाले और अनित्य हैं। उनको तुम सह लो। सुख-दुःखमें सम रहनेवाले जिस धीर मनुष्यको वे व्यथा नहीं पहुँचाते, हलचल पैदा नहीं करते, वह मुक्तिका पात्र हो जाता है, उसका कल्याण हो जाता है (गीता २। १४-१५)। गुणोंका जो संग है, वृत्तियोंके साथ जो आसक्ति है, बस, यही ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)।

सङ्कल्प मिट जाता है। कभी पूरा होकर मिट जाता है, कभी न पूरा होकर मिट जाता है। पूरा होना है तो पूरा होकर मिट जायगा, पूरा नहीं होना है तो ऐसे ही मिट जायगा। यह तो मिटनेवाली चीज है—'**आगमापायिनोऽनित्याः।**' इसको सह लो, बस—'**तांस्तितिक्षस्व**' (गीता २। १४)। ऐसा हो गया तो वाह-वाह, ऐसा नहीं हुआ तो वाह-वाह! जीवन्मुक्त हो जाओगे! '**सोऽमृतत्वाय कल्पते**' (गीता २। १५)— परमात्मप्राप्तिकी सामर्थ्य आ जायगी। महान् शान्ति, महान् आनन्द अपने-आप आयेगा। अपने उद्योगसे किया हुआ ठहरता नहीं और अपने-आप आया हुआ जाता नहीं। लोगोंकी दृष्टिमें हम महात्मा, जीवन्मुक्त बन जायँगे और अपनी दृष्टिमें महान् शान्तिको प्राप्त हो जायँगे। लोक और परलोक दोनों सुधर जायँगे। इतनी-सी बात है कि अपना कोई सङ्कल्प न रखें। यही वास्तवमें त्याग है। संसारकी वस्तुओंका त्याग असली त्याग नहीं है। अगर संसारकी वस्तुओंका त्याग ही त्याग हो तो मरनेवाले सब त्यागी ही होते हैं! शरीरको नहीं पूछते, धनको नहीं पूछते, कुटुम्बको नहीं पूछते! न तार है, न चिट्ठी है, न समाचार है! पीछे आकर पूछते ही नहीं कि कौन कैसा है? पूरा त्याग कर दिया तो मुक्ति हो जानी चाहिये? परन्तु वस्तुओंके छूटनेसे मुक्ति नहीं होती, मनका सङ्कल्प छोड़नेसे मुक्ति हो जाती है।

स्फुरणा तो आती-जाती रहती है। जैसे, वायु आयी और चली गयी, ठण्डी आयी और चली गयी, गरमी आयी और चली गयी, वर्षा आयी और चली गयी, आँधी आयी और चली गयी, ऐसे ही स्फुरणा आयी और चली गयी। उसको पकड़ो मत तो वह अपने-आप मिट जायगी। परन्तु उसको पकड़ लोगे तो वह सङ्कल्प हो जायगा और सङ्कल्पसे कामना पैदा हो जायगी। स्फुरणासे कामना पैदा नहीं होती। चलते-चलते रास्तेमें वृक्ष दीख गया, पत्थर दीख गया तो दीख गया, पर जहाँ मनमें आया कि यह पत्थर तो बहुत बढ़िया है, वहाँ मन चिपक जायगा। वह सङ्कल्पका रूप धारण कर लेगा। आप छोड़ना चाहो तो वह छूट जायगा, इसमें परवशता नहीं है।

सङ्कल्पके दो भाग हैं, एक तो आवश्यक सङ्कल्प है और एक अनावश्यक सङ्कल्प है। जैसे, अपने शरीर-निर्वाहके लिये अन्न, जल, वस्त्रकी आवश्यकता मनमें पैदा होती है तो यह आवश्यक सङ्कल्प है; और बैठे-बैठे यों ही मनमें विचार किया कि यह होना चाहिये, यह नहीं होना चाहिये तो यह अनावश्यक सङ्कल्प है। आवश्यकता तो पूरी होगी, पर अनावश्यकता कभी पूरी नहीं होगी। आप सङ्कल्प करो तो आवश्यकता पूरी हो जायगी और सङ्कल्प न करो तो आवश्यकता पूरी हो जायगी। सङ्कल्प करनेपर आवश्यकता पूरी होगी तो अभिमान आ जायगा। परन्तु बिना सङ्कल्प किये आवश्यकता पूरी होगी तो अभिमान नहीं आयेगा।

शुभ काम करनेका सङ्कल्प हो जाय तो उसको जल्दी शुरू कर देना चाहिये—'**शुभस्य शीघ्रम्**'। फिर करेंगे—यह नहीं होना चाहिये। समयका पता नहीं है। काल सबको खा जाता है। अच्छा विचार हो तो काल खा जायगा और बुरा विचार हो तो काल खा जायगा। यदि मनमें बुरा विचार आ

जाय तो 'थोड़ा ठहरो, थोड़ा ठहरो' ऐसा होनेसे फिर वह नहीं रहेगा और अच्छा विचार आ जाय तो 'फिर करेंगे, फिर करेंगे' ऐसा होनेसे फिर वह नहीं रहेगा, काल उसको खा जायगा। शुभ अथवा अशुभ काममें देरी करनेसे वैसा भभका नहीं रहता, कमजोर होकर मिट जाता है।

श्रोता—स्वाभाविक शान्ति कैसे बनी रहे ?

स्वामीजी—अपना सङ्कल्प छोड़ दो तो अशान्ति रहेगी ही नहीं। अपना कोई सङ्कल्प मत रखो तो शान्तिके सिवाय क्या रहेगा ? केवल शान्ति, शुद्ध शान्ति रहेगी। अपना सङ्कल्प ही अपनेको दुःख देता है, और कोई दुःख देनेवाला नहीं है। विपरीत-से-विपरीत परिस्थिति आ जाय, बीमारी आ जाय, धन चला जाय, बेटा मर जाय आदि जो होनेवाला है, वह होगा और होकर मिट जायगा। या तो वह मिट जायगा या शरीर मिट जायगा। यह रहेगा नहीं, पक्की बात है। उत्पन्न होनेवाली मात्र वस्तु नष्ट होनेवाली है। इसलिये किसी सङ्कल्पको पकड़े ही नहीं तो शान्तिकी प्राप्ति हो जायगी।

दुःख-नाशका उपाय

सन्तोंसे, शास्त्रोंसे मेरेको ऐसी बातें मिली हैं, जिनसे इस वर्तमान जीवनमें मनुष्यमात्र महान् आनन्दको प्राप्त कर सकते हैं। इसमें केश जितना भी सन्देह नहीं है। पुण्यात्मा हो, पापात्मा हो, बुद्धिमान् हो, बुद्धि कम हो, पढ़ा-लिखा हो, अपढ़ हो, भाई हो, बहन हो, सनातनी हो, बौद्ध हो, मुसलमान हो, अँग्रेज हो, कोई क्यों न हो, वह इसी जीवनमें महान् आनन्दको प्राप्त कर सकता है। उन बातोंमेंसे एक बात आज विशेषतासे कहता हूँ।

हम जो सुखी-दुःखी होते हैं, यह हमारी गलती है। इसमें गलती क्या है? लक्ष्मणजीने अध्यात्मरामायणमें निषादराज गुहसे कहा है—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्मसूत्रे ग्रथितो हि लोकः॥
(२।६।६)

'सुख-दुःखको देनेवाला दूसरा कोई नहीं है। दूसरा सुख-दुःख देता है—यह समझना कुबुद्धि है। मैं करता हूँ—यह वृथा अभिमान है। सब लोग अपने-अपने कर्मोंकी डोरीसे बँधे हुए हैं।'

यही बात तुलसीकृत रामायणमें भी आयी है—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥
(मानस २।९२।२)

सुख-दुःख देनेवाला दूसरा कोई है ही नहीं—यह खास सूत्र है! दूसरा दुःख देता है—यह कुबुद्धि है, कुत्सित बुद्धि है, खोटी बुद्धि है। अमुक आदमीने मेरेको दुःख दे दिया—यह सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी गलत है। इस विषयमें एक बात तो यह है कि परमात्मा परम दयालु हैं, परम हितैषी हैं, अन्तर्यामी हैं और सर्वसमर्थ हैं। ऐसे परमात्माके रहते हुए, उनकी जानकारीमें कोई भी किसीको दुःख दे सकता है क्या? दूसरी बात यह है कि अगर दूसरा दुःख देता है तो दुःख कभी मिटनेका है ही नहीं; क्योंकि दूसरा तो कोई-न-कोई रहेगा ही। कहीं जाओ, किसी भी योनिमें जाओ, देवता बन जाओ, राक्षस बन जाओ, असुर बन जाओ, भूत-प्रेत-पिशाच बन जाओ, मनुष्य बन जाओ, दूसरा तो रहेगा ही। फिर दुःख कैसे मिटेगा? ये दोनों बातें बड़ी प्रबल हैं।

हमारे सामने सुख और दुःख दोनों आते हैं। सुख-दुःख देनेवाला दूसरा कोई नहीं है, प्रत्युत सब अपने किये हुए कर्मोंके फलको भोगते हैं। पातञ्जलयोगदर्शनमें लिखा है—'**सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः**' (२।१३) अर्थात् पहले किये हुए कर्मोंके फलसे जन्म, आयु और भोग होता है। भोग नाम किसका है? '**अनुकूलवेदनीयं सुखम्**', '**प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्**' और '**सुखदुःख अन्यतरः साक्षात्कारो भोगः**' अर्थात् सुखदायी और दुःखदायी परिस्थिति सामने आ जाय और उस परिस्थितिका अनुभव हो जाय, उसमें अनुकूल-प्रतिकूलकी मान्यता हो जाय, इसका नाम 'भोग' है। अब एक बात बड़े रहस्यकी, बहुत मार्मिक और कामकी है। आप ध्यान दें। आपने अच्छा काम किया है तो सुखदायी परिस्थिति आपके सामने आयेगी और बुरा काम किया है तो दुःखदायी परिस्थिति आपके सामने आयेगी। यह तो है कर्मोंकी बात। अब परिस्थितिको लेकर सुखी-दुःखी होना केवल मूर्खता है। वह परमात्माका विधान है, जो हमारे कर्मोंका नाश करके हमें शुद्ध करनेके लिये हुआ है। वह परमात्मा कैसे किसीको दुःख देगा? मैं तो यहाँतक कहता हूँ कि सुख-दुःख देनेके लिये परिस्थितिके पास समय भी नहीं है! वह बेचारी तो अपनी धुनमें जा रही है, आपको छूती ही नहीं, फिर वह आपको सुख-दुःख कैसे दे सकती है? आप सुख-दुःख मान लेते हो, जो केवल मूर्खता है। इसीलिये सत्संगसे, सद्विचारोंसे, सद्भावोंसे आदमी सदा मस्त, मौजमें रह सकता है; क्योंकि परिस्थिति दुःख देती ही नहीं। दुःख तो

उसको पकड़ करके आप कर रहे हो। अनुकूल परिस्थिति मिले तो उसमें आप सुख मान लेते हो और प्रतिकूल परिस्थिति मिले तो उसमें आप दुःख मान लेते हो, यह गलती होती है आपकी। वास्तवमें परिस्थिति तो जा रही है बेचारी ! दिन-रातकी तरह यह सुखदायी-दुःखदायी परिस्थिति आती रहेगी। जैसे दिनके बाद रात और रातके बाद दिन आता रहता है, ऐसे ही सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता रहेगा।

मनुष्यके लिये कल्याणकी बात खुली है। मनुष्य-शरीर केवल अपना कल्याण करनेके लिये है, भोग भोगनेके लिये नहीं—*'एहि तन कर फल बिषय न भाई'* (मानस ७।४४।१)। सुख-दुःख दो तरहके होते हैं। हमारे पास धन, सम्पत्ति, वैभव, बेटा, पोता, मकान आदि अनुकूल सामग्री है तो इसको देखकर लोग कहते हैं कि यह बहुत सुखी है। हमारे पास सामग्री नहीं है; खानेको अन्न नहीं, पहननेको वस्त्र नहीं, रहनेको मकान नहीं—ऐसी दशा है तो इसको देखकर लोग कहते हैं कि यह बहुत दुःखी है। एक तो सुख-दुःखकी यह परिभाषा है। दूसरी, जो मनमें हरदम प्रसन्न रहता है, कभी दुःखी नहीं होता, उसको सुखी कहते हैं और जो मनमें दुःखी रहता है, उसको दुःखी कहते हैं। इस प्रकार एक तो सुख-सामग्रीका नाम सुख है और दुःख-सामग्रीका नाम दुःख है तथा एक हृदयमें प्रसन्नताका नाम सुख है और हृदयमें जलनका नाम दुःख है। इनमें सामग्रीवाला सुख-दुःख तो परिस्थितिका है और हृदयका सुख-दुःख मूर्खताका है। इस मूर्खताको मिटानेकी खास जिम्मेवारी मनुष्यके ऊपर है। जैसे किसी भाषाका ज्ञान न हो तो उस अज्ञानको दूर करनेके लिये हम वह भाषा सीख सकते हैं, ऐसे ही सुख-दुःख हमारेमें है ही नहीं— इस विद्याको मनुष्यमात्र सीख सकता है। इस ज्ञानके लिये ही मानवशरीर मिला है। अतः मानवशरीरमें आकर सुखी-दुःखी नहीं होना है, प्रत्युत सुख-दुःख दोनोंसे ऊँचा उठना है। ऊँचा उठना क्या होता है ? कि न सुख ही पहुँचता है और न दुःख ही पहुँचता है। पातञ्जलयोगदर्शनके व्यासभाष्यमें एक श्लोक आया है—

प्रज्ञाप्रासादमारुह्याऽशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥

(१।४७ का व्यासभाष्य)

अर्थात् जैसे पर्वतपर खड़ा हुआ मनुष्य नीचे पृथ्वीपर खड़े लोगोंको देखता है, ऐसे ही प्रज्ञारूपी प्रासादपर खड़ा हुआ अशोच्य पुरुष शोक करनेवाले लोगोंको देखता है।

समाधि-अवस्थामें योगीकी बुद्धि ऋतम्भरा अर्थात् सत्यको धारण करनेवाली हो जाती है—**'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'** (योगदर्शन १।४८)। विवेक-विचारसे भी ऐसी बुद्धि प्राप्त हो जाती है। जैसे पृथ्वीपर कभी बाढ़ आती है, कभी आग लगती है, कभी सुखदायी परिस्थिति आती है, कभी दुःखदायी परिस्थिति आती है, तरह-तरहकी परिस्थितियाँ आती हैं, पर पर्वतपर खड़े हुए मनुष्यके पास उनमेंसे कोई भी परिस्थिति नहीं पहुँचती। वह केवल देखता है, सुखी-दुःखी नहीं होता। इसको सुख-दुःखसे ऊँचा उठना कहते हैं और ऐसी स्थिति आपकी, हमारी सबकी हो सकती है।

कर्म तीन तरहके होते हैं—शुक्ल (पुण्यकर्म), कृष्ण (पापकर्म) और मिश्रित। साधारण मनुष्योंके तो ये तीन तरहके कर्म होते हैं, पर कर्मफलका त्याग करनेवाले योगीको किसी भी कर्मका भोग नहीं होता—'**कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्**' (योगदर्शन ४।७), '**न तु सन्न्यासिनां क्वचित्**' (गीता १८।१२)। उसके पास सांसारिक सुख-दुःख पहुँचते ही नहीं। जब ये पहुँचते ही नहीं, तो फिर वह सुखी-दुःखी कैसे होगा ? परिस्थिति कर्मनिर्मित है। जैसे कर्म किये, वैसी परिस्थिति सामने आ जाती है, पर वह सुखी-दुःखी नहीं करती। भागवतमें एक कथा आती है। बाल्यावस्थामें नारदजी महाराजकी माँ मर गयी। बालककी माँ मर जाय तो वह बड़ा दुःखी हो जाता है, पर नारदजी दुःखी नहीं हुए, प्रत्युत उन्होंने इसको भगवान्‌का मङ्गलमय विधान ही माना। नारदजीकी भजनमें रुचि थी। भजनमें माँ बाधक थी; अतः वह मर गयी तो भजनकी बाधा मिट गयी। इसलिये नारदजी राजी हो गये। तात्पर्य है कि परिस्थिति आदमीको दुःखी नहीं करती। वह मूर्खतासे ही दुःख पाता है। सुख-दुःखसे सब-के-सब ऊँचे उठ सकते हैं, इसमें सन्देहकी बात नहीं है।

दो बातें मूर्खतासे होती हैं कि दुःख तो दूसरेने दे दिया—**'परो ददातीति'** और सुख मैं अपने उद्योगसे कर लेता हूँ—**'अहं करोमीति'**। अगर अपने उद्योगसे सुख होता तो आज कोई दुःखी नहीं होता। दूसरेको दुःख देनेवाला कभी सुखी नहीं हो सकता—यह सिद्धान्त है।

श्रोता—कोई आदमी किसीके पीछे ही पड़ जाय दुःख देनेके लिये तो वह दुःखमें निमित्त हुआ कि नहीं ?

स्वामीजी—वह तो मूर्खतामें निमित्त हुआ, दुःख तो उसको मिलनेवाला ही मिलेगा। जो दुःख देनेके लिये पीछे पड़ा है, उसको भयङ्कर पाप लगेगा और भयङ्कर दुःख भोगना पड़ेगा। परन्तु जिसको दुःख मिलता है, उसका तो प्रारब्ध है।

सर्वसमर्थ और परम सुहृद् परमात्माके रहते हुए, परमात्माके जीते-जी कोई दुःख दे सकता है ? मैंने पहले भी एक बात सुनायी थी कि नगरके किनारे जंगलमें एक बाबाजी बैठे भजन कर रहे थे। वहाँसे कई आदमी धन लूट करके भाग रहे थे। पुलिस पीछे पड़ी थी। उन्होंने देखा कि मारे जायँगे तो बाबाजीके पास धन रखकर छिप गये। पुलिस वहाँ आयी और धन देखकर बाबाजीको मारने लगी। बाबाजी बोले—*'बधूं तू जाणे छे'* 'हे नाथ ! सब आप जानते हो'। इसका अर्थ यह हुआ कि मैंने अपनी जानकारीमें किसीको दुःख दिया नहीं और मार पड़ रही है तो मैं जानता नहीं कि किस कर्मका फल है। हे भगवन् ! आप ही जानो, हमारेको इसका पता नहीं है। बिना कसूर मार पड़ रही है, इतनेपर भी उन्होंने किसीको दोष नहीं दिया। अतः जिसको मार पड़ती है, उसमें ऐसा धैर्य चाहिये। दूसरा बेचारा दुःख दे नहीं सकता, हम अपनी मूर्खतासे दुःख पा रहे हैं। एक बात मैं और कहता हूँ। दुःख देनेवाला दुःख दे नहीं सकेगा, प्रत्युत सुख देगा ! मैंने ऐसा देखा है। दूसरा करना चाहता है अनिष्ट और हमारा होता है इष्ट। यह मेरे अनुभवकी बात है।

श्रोता—महाराजजी ! सुख-दुःख माना हुआ है, है तो नहीं !

स्वामीजी—बिल्कुल माना हुआ है, तभी तो मिटता है, नहीं तो मिटे कैसे ? सत्का कभी अभाव नहीं होता। यदि सुख-दुःखकी सत्ता होती तो वह कभी मिट सकता ही नहीं। अतः सुख-दुःख है नहीं, केवल माना हुआ है। इस मान्यताको छोड़ना है।

श्रोता—यह छूटता क्यों नहीं ?

स्वामीजी—आप छोड़ते क्यों नहीं ? आप कहते हो कि छूटता नहीं है, मैं कहता हूँ कि छोड़ते नहीं हैं ! आप पकड़ना छोड़ दो तो कैसे दे देगा दुःख ? दे नहीं सकता। परन्तु दुःख देनेका भाव रखनेवाला दोषी, पापी जरूर बनेगा, इसमें सन्देह नहीं है। अब एक बहुत बड़ी भूल बताता हूँ। हम जिससे दुःख मिटे, उस उपायको न करके परिस्थिति बदलनेका उद्योग करते हैं, जो सर्वथा निष्फल है। निर्धन है तो धनवान् हो जाय, रोगी है तो नीरोग हो जाय, अपमानित है तो सम्मानित हो जाय, निन्दनीय है तो प्रशंसनीय हो जाय—यह परिस्थिति बदलनेका उद्योग है, जो बिलकुल निरर्थक होगा; क्योंकि यह वृथाभिमान है—'**अहं करोमीति वृथाभिमानः**'। आप परिस्थिति बदल सकोगे नहीं। इसलिये एक मार्मिक बात बताता हूँ कि परिस्थिति न बदल करके जो परिस्थिति मिली है, उसका सदुपयोग करो। बुखार आ गया, घाटा लग गया, अपमान हो गया, निन्दा हो गयी तो अब इसका सदुपयोग कैसे करें ? कोई काँटा निकाले तो हमें पीड़ा तो होती है, पर काँटा निकलनेसे बड़ा भारी लाभ होता है। इसी तरह अपमान होता है, घाटा लगता है तो इससे हमारे पाप नष्ट होते हैं। प्रतिकूल परिस्थितिसे पाप नष्ट होते हैं—यह बात तो बहुत जगह मिलेगी, पर इसमें एक मार्मिक बात है कि प्रतिकूल परिस्थिति कल्याणकी साधन-सामग्री है। भोगनेसे पाप तो अपने-आप नष्ट हो जाते हैं। बिना चाहे, रोते-रोते भोगोगे तो भी पाप नष्ट हो जायँगे। परन्तु उसका सदुपयोग करो तो कल्याण हो जायगा। सुखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है—सेवा करना, दूसरेको सुख पहुँचाना। दुःखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है—सुखकी आशा न रखना। सुखदायी परिस्थितिमें सुखका भोग करना गलती है और दुःखदायी परिस्थितिमें सुखकी आशा करना गलती है। गलती मिटाना सत्संगका काम है। सत्संगसे यह गलती मिट जायगी।

मेरे मनमें इस बातको लेकर बड़ी प्रसन्नता होती है कि मनुष्यको ऐसा मौका मिला है, जिसमें वह अपना कल्याण करके सुख-दुःख दोनोंसे ऊँचा उठ सकता है। अतः तुच्छ भोगोंमें फँसकर अपना समय बर्बाद नहीं करना चाहिये। आज दिनतक किसीको मनचाहा भोग नहीं मिला, किसीकी मनचाही बात नहीं हुई। एक व्याख्यानदाताने कहा था कि मनचाही तो रामजीके बापकी भी नहीं हुई, आप कैसे कर लोगे ?

श्रोता—कोई दुःख देता है तो बदला लेनेकी मनमें आती है; अतः क्या करना चाहिये ?

स्वामीजी—बदला लेनेकी भावना हमारी गलती है, भूल है। वह तो हमारे कर्मोंका फल भुगताकर हमें पवित्र कर रहा है। अतः यदि आपको बदला चुकाना हो तो सबसे पहले उसकी सेवा करो। जो दुःख देनेकी चेष्टा करता है, वह (पापोंका फल भुगताकर) आपको शुद्ध कर रहा है, आपका उपकार कर रहा है। उसका बदला लेना हो तो अपने तनसे, मनसे, वचनसे, धनसे, विद्यासे, बुद्धिसे, योग्यतासे, पदसे, अधिकारसे उसकी सेवा करो, उसे सुखी बनाओ।

श्रोता—महाराजजी ! परिस्थितिका सदुपयोग करना तो ठीक है, लेकिन अगर प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय, घाटा लग जाय तो उसका प्रतीकार तो करना ही पड़ता है !

स्वामीजी—उसके लिये मैं मना करता ही नहीं ! उसका प्रतीकार करो, धन कमाओ, धनका सदुपयोग करो, कोई विपरीत परिस्थिति न आये—इसकी सावधानी रखो। परन्तु आप दुःखदायी परिस्थितिको दूर कर दोगे—यह हाथकी बात नहीं है। उद्योग करनेके लिये, कर्तव्य-कर्मका

पालन करनेके लिये मैं मना करता ही नहीं। परन्तु आप सुखदायी परिस्थिति बना लोगे—यह आपके हाथकी बात नहीं है। भगवान्ने कहा है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' (गीता २।४७) 'कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलमें कभी नहीं'। अतः फल आपके अधिकारकी बात नहीं है, पर कर्तव्य-कर्म खूब डट करके, अच्छी तरहसे करना चाहिये। उसमें कभी नहीं चूकना चाहिये। परन्तु किसीको दुःख देना, किसीको नीचा दिखाना—ऐसी जो धारणा है, यह महान् गलत है। इससे भयंकर दुःख पाना पड़ेगा, बच नहीं सकेगा कभी !

★

अनित्य सुखकी रुचि मिटानेकी आवश्यकता

श्रोता—अखण्ड साधन कैसे हो ?

स्वामीजी—अखण्ड साधन होगा सांसारिक सुखकी आसक्ति छोड़नेसे। सांसारिक वस्तुओंके संग्रहकी और उनसे सुख लेनेकी रुचिका अगर आप नाश कर दें तो निहाल हो ही जाओगे, इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। मैं रुपयोंका त्याग करनेकी बात नहीं कहता हूँ, साधु बननेकी बात भी नहीं कहता हूँ। मैं आपसे हाथ जोड़कर विशेषतासे प्रार्थना करता हूँ कि संग्रहकी और भोगकी जो रुचि है, उस रुचिका आप किसी तरहसे नाश कर दें। अगर उस रुचिका नाश हो जाय तो बहुत बड़ा लाभ होगा। रुचिसे आपका और दुनियाका पतन होगा, इसके सिवाय कुछ नहीं मिलेगा। संग्रह और भोगकी रुचि बड़ा भारी पतन करनेवाली चीज है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। नाशवान्‌की तरफ रुचि महान् अनर्थका हेतु है। विष खा लेनेसे इतनी हानि नहीं है, जितनी हानि इससे है—'**हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु**'। अष्टावक्रगीतामें लिखा है—

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान्विषवत्त्यज।
(१।२)

'यदि मुक्तिकी इच्छा रखते हो तो विषयोंका विषके समान त्याग कर दो।'

एक ही बात है कि संसारकी रुचि नष्ट होनी चाहिये। उस रुचिकी जगह भगवान्‌की रुचि हो जाय, तत्त्वज्ञानकी रुचि हो जाय, मुक्तिकी रुचि हो जाय, भगवत्प्रेमकी रुचि हो जाय, भगवद्दर्शनकी रुचि हो जाय तो निहाल हो जाओगे, इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। जीनेकी रुचिसे आप जी नहीं सकते। जीनेकी रुचि रखते हुए भी मरना पड़ेगा। अगर जीनेकी रुचिका त्याग कर दो तो कोई हानि नहीं होगी, प्रत्युत बड़ा भारी लाभ होगा। रुचिको कम कर दिया जाय तो भी बहुत लाभ होता है। रुचिके वशमें न हों तो भी बड़ा भारी लाभ होता है—'**तयोर्न वशमागच्छेत्**' (गीता ३।३४)। अगर इसको नष्ट कर दो, तब तो कहना ही क्या है!

श्रोता—रुचि नष्ट नहीं होती है महाराज!

स्वामीजी—रुचि नष्ट नहीं होती है—यह आपके वर्तमानकी दशा है। रुचि नष्ट न होती हो—ऐसी बात है ही नहीं। यह रहनेकी चीज नहीं है। बालकपनमें खिलौनोंमें जो रुचि थी, वह आज है क्या? कंकड़-पत्थरोंमें, काँचके लाल-पीले टुकड़ोंमें जो रुचि थी, वह रुचि आज है क्या? रुचि मिटती नहीं—यह बात नहीं है, रुचि तो टिकती ही नहीं, ठहरती ही नहीं। आप नयी-नयी रुचि पैदा कर लेते हो और कहते हो कि मिटती नहीं! रुचि टिक सकती नहीं। नाशवान्‌की रुचि नाशवान् ही होती है। परमात्माकी रुचि हो तो वह मिटेगी नहीं, प्रत्युत परिणाममें परमात्माकी प्राप्ति करा देगी। गीता कहती है—

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।
(६।४४)

'योगका जिज्ञासु भी वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है।'

ऐसी जिज्ञासा न हो तो कोई बात नहीं। संसारकी रुचि हट जाय तो योगकी जिज्ञासा भी हो जायगी। रुचि हटती नहीं—यह बिलकुल गलत बात है। रुचि मिटती नहीं—यह तो आपकी अभीकी दशा है, जिसको लेकर आप बोल रहे हो।

भोग और संग्रहकी रुचि महान् अनर्थकारक है। सन्तोंके संगको मुक्तिका दरवाजा और भोगोंकी रुचिवाले पुरुषोंके संगको नरकोंका दरवाजा बताया गया है—'**महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्**' (श्रीमद्भा० ५।५।२)। भोगोंका संग इतना नुकसानदायक नहीं है, जितना भोगोंकी रुचिवालोंका संग नुकसानदायक है। कोढ़ीके संगसे कोढ़ हो जाय, इस तरहकी बात है। अतः भोगोंकी रुचि रखनेमें आपका और दुनियाका बड़ा भारी नुकसान है और इसका त्याग करनेमें बड़ा भारी हित है। इसलिये कृपा करके दुनियाका हित करो। हित न कर सको तो कम-से-कम अहित तो मत करो।

भोगोंकी रुचिकी पूर्ति कभी नहीं होगी। इसकी तो निवृत्ति ही होगी। रुचिकी पूर्ति असम्भव है। ज्यों-ज्यों भोग भोगोगे, रुपयोंका संग्रह करोगे, त्यों-त्यों उनकी रुचि बढ़ती जायगी—*'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'*।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(श्रीमद्भा० ९। १९। १४)

विषयोंके उपभोगसे यह रुचि शान्त नहीं होती। आगमें सुहाता-सुहाता घी डालते रहें तो क्या आग बुझ जायगी? वह तो और बढ़ेगी। ऐसे ही भोगोंकी और संग्रहकी रुचि आगे-आगे बढ़ती रहेगी। अन्तमें सब छोड़कर मरना पड़ेगा। यह जो मनमें आदर-सत्कारकी, मान-बड़ाईकी रुचि है कि लोग मेरेको अच्छा कहें, बड़ा कहें, आराम दें, सुख दें, मेरे अनुकूल बन जायँ, यह बहुत ही घातक है। साधकके लिये तो महान् ही घातक है। इस रुचिसे केश जितना भी फायदा नहीं है और नुकसान महान् है।

यह बात बिलकुल नहीं है कि रुचि नष्ट नहीं होती। अगर रुचि नष्ट न होती तो किसीकी भी नष्ट नहीं होनी चाहिये। आजतक किसीकी भी रुचिकी पूर्ति नहीं हुई, पर यह हटी है सैकड़ोंकी—**'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः'** (गीता ४। १०)। रुचिका नाश करनेवाले इतिहासमें सैकड़ों-हजारों आदमी मिलेंगे, पर रुचिकी पूर्ति करनेवाला एक भी आदमी नहीं मिलेगा। जिसकी पूर्ति होती ही नहीं, उसको छोड़नेमें क्या हानि है आपको?

श्रोता—महाराजजी, बालकपनमें जो रुचि थी, वह तो खत्म हो गयी। बालकपनतक तो वह रुचि रहेगी।

स्वामीजी—बालकपनवाली रुचिमें फर्क नहीं पड़ेगा, चाहे आप बूढ़े हो जाओ। विषय बदल गया, स्थान बदल गया, पर रुचि वही (पहलेवाली) है, मिटी नहीं है। अब आप मिटाओगे तो टिकेगी नहीं, रखोगे तो मिटेगी नहीं। आप रखोगे तो उसको मिटानेकी ताकत ब्रह्माजीमें भी नहीं है। बड़े-बड़े सन्त-महात्मा, जीवन्मुक्त महापुरुष भी आपकी रुचिको मिटा नहीं सकते। आप मिटाओ तो मिट जायगी। आप नहीं छोड़ोगे तो वे कैसे छुड़वायेंगे? आप चाहो तो छूट सकती है; और नहीं छूटे तो प्रार्थना करो, रोओ, भगवान्से कहो कि यह छूटती नहीं तो भगवान्की कृपासे छूट जायगी। खास बात है कि आप इसको छोड़नेका विचार ही नहीं करते। एक बहुत ही मार्मिक बात है कि सांसारिक रुचिके त्यागकी जितनी महिमा है, उतनी दया, क्षमा, उदारता आदि अच्छे-अच्छे गुण धारण करनेकी भी नहीं है। यह जो निषेधात्मक साधन है, यह विध्यात्मक साधनसे ऊँचा है, पर लोग इस तरफ ध्यान कम देते हैं। निषेधात्मक साधन करनेसे विध्यात्मक साधन स्वतः होता है। जो साधन स्वतः होता है, उसका अभिमान नहीं होता।

गीताने सुखकी रुचिको ज्ञानियों (विवेकियों) का नित्य वैरी बताया है—**'ज्ञानिनो नित्यवैरिणा'** (३। ३९)। अज्ञानीको तो भोगोंमें सुख दीखता है, पर ज्ञानी सुखकी रुचि पैदा होते ही समझता है कि यह मेरा पतन करनेवाली चीज है। इसकी कभी पूर्ति नहीं होगी। यह आग है, आग—**'दुष्पूरेणानलेन च'**! इससे बड़ा भारी नुकसान है। इसलिये सज्जनो! कम-से-कम इतना तो करो कि रुचिके वशमें होकर कोई कार्य मत करो। उसके वशीभूत होकर कार्य करते रहोगे तो वह कभी मिटनेवाली नहीं है। हजारों, लाखों, करोड़ों, अरबों जन्मोंतक भी वह मिटेगी नहीं।

आप कितने ही पढ़ जाओ, कितने ही व्याख्यान देनेवाले बन जाओ, कितनी ही पुस्तकें लिख दो, कितने ही बड़े बन जाओ, पर जबतक संयोगजन्य सुखकी रुचि रहेगी, तबतक शान्ति नहीं मिलेगी। यह सुखकी रुचि आपका पतन करेगी ही। जितना नुकसान हो रहा है, सब इसीसे हो रहा है। संसारमें जितने कराह रहे हैं, दुःख पा रहे हैं, रो रहे हैं, कष्ट पा रहे हैं, चिल्ला रहे हैं, नरकोंमें पड़े हैं, चौरासी लाख योनियोंमें पड़े हैं, सब इस रुचिका ही फल है। इस रुचिके रहते हुए आपको किसी तरहसे शान्ति नहीं मिलेगी। इसलिये कृपा करके इस रुचिका नाश करो। आपसे न हो तो भगवान्से प्रार्थना करो कि हे नाथ! इस रुचिका नाश हो जाय!

आपके भीतर रुचिका नाश करनेकी रुचि पैदा हो जाय अर्थात् आपका पक्का विचार हो जाय कि इसको मिटाना है तो यह मिट जायगी।

★

काम-क्रोधसे छूटनेका उपाय

जितनी भी असत् अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुएँ हैं, उनके दो विभाग हैं—(१) शरीर, रुपये, मकान आदि पदार्थ और (२) काम, क्रोध, लोभ आदि वृत्तियाँ। जैसे पदार्थ उत्पन्न होते हैं और मिट जाते हैं, ऐसे ही वृत्तियाँ भी उत्पन्न होती हैं और मिट जाती हैं। पदार्थों और वृत्तियोंका तो अभाव हो जाता है, पर सत् वस्तुका कभी अभाव नहीं होता।

हमारा स्वरूप सत् है और उसका अभाव कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं तथा हो सकता ही नहीं। इसके विपरीत असत् वस्तुका अस्तित्व कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता ही नहीं। अतः हम जो यह लोभ करते हैं कि रुपये बने रहें, शरीर बना रहे, कुटुम्ब बना रहे, यह हम गलती करते हैं। ऐसे ही हम जो यह भय करते हैं

कि कामना आ गयी, क्रोध आ गया, लोभ आ गया, विषमता आ गयी, ये वृत्तियाँ नहीं रहनी चाहिये, यह भी हम गलती करते हैं। कारण कि जिनका अस्तित्व ही नहीं है, उनके बने रहनेकी इच्छा करना भी गलती है और उनके न आनेकी इच्छा करना भी गलती है। पदार्थ बने रहें— इसका अर्थ यह हुआ कि पदार्थ हैं, इसलिये इनको बने रहना चाहिये। काम, क्रोध आदि नहीं रहें—इसका अर्थ यह हुआ कि काम, क्रोध आदि हैं, इसलिये इनको नहीं रहना चाहिये। तात्पर्य यह हुआ कि पदार्थोंको रखनेकी इच्छा करना और वृत्तियोंको मिटानेकी इच्छा करना—दोनों इच्छाएँ असत् वस्तु (पदार्थ और वृत्ति) की सत्ता माननेसे ही पैदा होती हैं।

काम, क्रोध आदि वृत्तियोंके आनेसे साधकको घबराना नहीं चाहिये। स्थूलदृष्टिसे भी देखें तो काम, क्रोध आदि हरदम नहीं रहते। काम पैदा हुआ तो पैदा होते ही नष्ट होना शुरू हो गया। क्रोध पैदा हुआ तो पैदा होते ही नष्ट होना शुरू हो गया। लोभ पैदा हुआ तो पैदा होते ही नष्ट होना शुरू हो गया। मोह पैदा हुआ तो पैदा होते ही नष्ट होना शुरू हो गया। नष्ट होना क्या शुरू हो गया, उसकी तो सत्ता ही नहीं है!

असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६)। जो कभी है और कभी नहीं है, वह वास्तवमें कभी नहीं है। जिसका कभी भी अभाव है, उसका सदा ही अभाव है। जिसका किसी भी जगह अभाव है, उसका सब जगह ही अभाव है। जिसका किसी भी व्यक्तिमें अभाव है, उसका सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें अभाव है। जिसका किसी भी परिस्थितिमें अभाव है, उसका सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें अभाव है। अतः हम काम, क्रोध, लोभ आदिसे भयभीत होते हैं तो यह गलती है। तो फिर क्या करें? ये काम, क्रोध आदि हमारेमें हैं ही नहीं—ऐसा एक निश्चय कर लें। जो सच्ची बात है, उस बातको पकड़ लें। सच्ची बातको पकड़नेका नाम ही साधन है।

जो पहलेसे ही मिटा हुआ है, उसको क्या मिटायें? जिसका अभाव है, उसकी सत्ता मानकर आप उसको मिटानेका उद्योग करते हैं, पर वास्तवमें उद्योग उसको मिटानेका नहीं होता, प्रत्युत उसको दृढ़ करनेका हो जाता है; क्योंकि सत्ता मानकर ही मिटाना होता है। जिन पदार्थोंको आप रखना चाहते हैं, उनकी जैसे सत्ता नहीं है। ऐसे ही जिन वृत्तियोंको आप हटाना चाहते हैं, उनकी भी सत्ता नहीं है। मेरेमें काम है, क्रोध है—इस तरह आप उनको जो सत्ता दे देते हैं, यही वास्तवमें भूल है। अब जितना ही उनको मिटानेका उद्योग करोगे, उतना ही वे दृढ़ होंगे। अतः मूलमें उनकी सत्ता ही नहीं है—इस बातपर दृढ़ रहें अर्थात् उनके अभावका अनुभव करें कि वास्तवमें वे न स्वरूपमें हैं, न स्वभावमें हैं।

श्रोता—काम, क्रोध आदि दोष बाहरसे तो उत्पन्न और नष्ट होते हैं, पर भीतरमें तो बीजरूपसे पड़े ही रहते हैं?

स्वामीजी—उनकी बीजरूपसे धारणा आपने ही कर रखी है। बीजरूपसे भी क्या वे सत् हैं? वे तो असत् ही हैं।

श्रोता—पदार्थोंका स्वाभाविक नाश हो रहा है, यह बात तो समझमें आती है, पर काम, क्रोध आदि विकार भी स्वाभाविक मिट रहे हैं—यह बात समझमें नहीं आती! विकारोंको मिटाये बिना वे कैसे मिटेंगे?

स्वामीजी—किसीके लड़केकी मृत्यु हो जाय तो उस दिन जो शोक होता है, वह बारह-पन्द्रह दिनके बाद वैसा रहता है क्या? बारह महीनोंके बाद वैसा रहता है क्या? दस-बारह वर्षोंके बाद वैसा रहता है क्या? नहीं रहता। इससे सिद्ध होता है कि शोकको मिटाये बिना वह मिटता है। घरमें कोई मर जाता है तो दीवालीके दिन मीठा नहीं बनता; परन्तु दस-बीस वर्षोंके बाद क्या उस घरमें मीठा नहीं बनता? क्या उस घरमें विवाह नहीं होता? शोक तो बिना मिटाये मिट जाता है; क्योंकि असत् वस्तुकी सत्ता है ही नहीं। उसको मिटानेका उद्योग करके आप ही उसको सत्ता देते हो।

जैसे पदार्थ स्थायी नहीं होता, ऐसे ही वृत्ति भी स्थायी नहीं होती। शोकमें डूबा हुआ आदमी भी बातें करते-करते मौकेपर हँस देता है, प्रसन्न हो जाता है तो उस समय वह शोक कहाँ रहा? उत्पन्न होनेवाली वस्तु नष्ट होनेवाली होती ही है—यह नियम है। क्रोध आये तो उसको महत्त्व मत दो। ऐसा समझो कि यह तो मिट रहा है। अगर क्रोधको घण्टाभर रहना है और क्रोध आनेके बाद पाँच मिनट बीत गये तो क्या अब उसकी उम्र घण्टाभर रही? पाँच मिनट वह मर गया कि नहीं? बीजरूपसे भी वह रहता नहीं है; क्योंकि उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। मूलमें सत्ता तो परमात्माकी ही है। जब प्रकृति और प्रकृतिके कार्यमात्रकी ही स्थायी सत्ता नहीं है तो फिर क्रोध आदि विकारोंकी स्थायी सत्ता कैसी? प्रकृतिके बाहर विकार हैं ही कहाँ? मुफ्तमें ही विकारोंको मिटानेके उद्योगमें समय बरबाद कर लिया, जबकि मूलमें विकार हैं ही नहीं। यही बात समझनेकी और धारण करनेकी है। सत्संगके द्वारा यही तो प्रकाश मिलता है।

श्रोता—बिना साधनाके क्रोध कैसे मिटेगा?

स्वामीजी—क्रोध तो बिना साधनाके ही मिटता है! आप ध्यान दें, क्रोध साधनासे जल्दी नहीं मिटेगा। आप

क्रोधकी उपेक्षा कर दें तो वह अपने-आप मिट जायगा। वह तो मिट ही रहा है, आप ही उसको सत्ता दे रहे हैं। मैंने शोकका जो दृष्टान्त दिया है, उसपर आप विचार करें। घरमें कोई मर जाता है तो आप उसको याद कर-करके, रो-रोकर शोकको जीवित रखते हैं और दूसरे लोग भी आ-आकर उसको याद करते हैं, पर जीवित रखनेका उद्योग करनेपर भी वह शोक जीवित नहीं रहता, मिट ही जाता है। कारण कि उसमें ताकत नहीं है टिकनेकी।

श्रोता—कभी दूसरी कोई घटना होगी तो फिर शोक हो जायगा; अतः शोकका बीज तो रहेगा ही ?

स्वामीजी—अगर आप ऐसा मानेंगे तो फिर अज्ञान कभी मिटेगा ही नहीं। अज्ञानको मिटानेकी सब चेष्टा निरर्थक होगी। कारण कि शोकका बीज अज्ञान है और अज्ञान भी असत् ही है। कारण कि ज्ञानके अभावका नाम अज्ञान नहीं है, प्रत्युत अधूरे ज्ञानका नाम अज्ञान है। आप साधनकी दृष्टिसे देखें तो भी 'विकार है और उसको मिटाना है'—इसकी अपेक्षा 'विकार है ही नहीं'—यह मानना बढ़िया है। जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसको मिटायें क्या ? विकार पहले भी नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा और अभी भी मिट रहा है—ये तीन बातें बहुत ही मार्मिक हैं। यह सिद्धान्त है कि जो आदि और अन्तमें नहीं होता, उसकी सत्ता वर्तमानमें भी नहीं होती। साधन करनेवाले भाई-बहन इस बातको खूब सरलतासे समझ लेंगे कि साधन करते-करते काम, क्रोध आदिकी वृत्तियाँ बिना उद्योग किये स्वतः कम होती हैं। आप सत् वस्तुकी तरफ दृष्टि रखेंगे तो असत् वस्तु स्वतः ही निवृत्त होगी; क्योंकि वह स्वतः निवृत्त है—**'नासतो विद्यते भावः'**।

क्रियात्मक साधनकी अपेक्षा विवेकात्मक और भावात्मक साधन तेज हैं। कारण कि क्रियाका अन्त होता है, पर विवेक और भावका अन्त नहीं होता। क्रिया स्थूल होती है, पर विवेक और भाव सूक्ष्म होते हैं। अतः क्रियात्मक साधन करके विकारोंको मिटानेका उद्योग करनेसे इतना जल्दी काम नहीं बनता; किन्तु विवेक और भावसे विकारोंकी सत्ता ही नहीं माननेसे विकार स्वतः मिट जाते हैं। असत्‌की सत्ता विद्यमान है ही नहीं—यह विवेक और भाव जितना काम करेगा, उतना क्रिया काम नहीं करेगी।

एक करण-सापेक्ष साधन है और एक करण-निरपेक्ष साधन है। करण-सापेक्ष साधनमें शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिका आश्रय लेकर साधन किया जाता है, पर करण-निरपेक्ष साधनमें शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिका आश्रय नहीं लिया जाता, प्रत्युत उनसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद किया जाता है। करण-सापेक्ष साधनमें बहुत देर लगती है, पर करण-निरपेक्ष साधनमें तत्काल सिद्धि होती है। अगर आप करण-सापेक्ष साधनके द्वारा अहंताको मिटाओगे तो वह जन्म-जन्मान्तरों-तक मिटेगी नहीं, पर 'वह है ही नहीं'—ऐसा स्वयंसे अनुभव कर लोगे तो वह टिकेगी नहीं। परन्तु साधकका ध्यान इधर जाता नहीं। वह सोचता है कि मैं इसको मिटा रहा हूँ, पर कर रहा है उसको दृढ़।

यह जो अवगुणोंकी सत्ताको मानना है, इसमें एक बड़े भारी अनर्थकी बात यह है कि जिस समय क्रोध आता है, उस समय आप 'क्रोध किसको नहीं आता ? अन्न खाते हैं तो क्रोध आयेगा ही'—ऐसा मानकर अपनेमें क्रोधकी सत्ताको दृढ़ करते हैं और जिस समय क्रोध नहीं आता, उस समय आप 'मैं क्रोधी आदमी हूँ, मेरेमें क्रोध है, जो समयपर आ जायगा'—ऐसा मानकर अपनेमें क्रोधकी सत्ताको निरन्तर मानते हैं और दृढ़ करते हैं। इस प्रकार जिस समय क्रोध आया है, उस समय भी अपनेमें क्रोधको मानते हैं और जिस समय क्रोध नहीं आया है, उस समय भी अपनेमें क्रोधको मानते हैं, तो अब क्रोध मिटे कैसे ? क्रोधको आपने अखण्डरूपसे पकड़ रखा है, इसीलिये वह आपमें बैठा है, नहीं तो क्या चोर-डाकूमें इतनी ताकत है कि वह आपके घरमें बैठा रहे ? आपने खुद ही उसको अपनेमें बैठा रखा है। विचार करना चाहिये कि क्रोध तो आता-जाता है, पर मैं हरदम रहता हूँ, फिर मैं क्रोधी कैसे ? अगर मेरेमें क्रोध है, तो फिर उसको हरदम रहना चाहिये अर्थात् जबतक मैं रहूँ, तबतक क्रोधको भी रहना चाहिये और मेरा अभाव होनेपर ही क्रोधका अभाव होना चाहिये। मैं तो विद्यमान हूँ, पर क्रोध विद्यमान नहीं है, तो फिर मैं क्रोधी कैसे हुआ ? हरदम रहनेवाला तो एक सत्-तत्त्व ही है। इसके सिवाय और कोई भी वस्तु हरदम रहनेवाली नहीं है।

सब दोष स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरमें ही रहते हैं। जब शरीर ही असत् है, तो फिर उसमें रहनेवाले दोष सत् कैसे ? परन्तु आप उनको अपनेमें स्थायी मानकर उनको दूर करनेका उद्योग करते हैं और फिर कहते हैं कि ये दूर होते नहीं ! यह दशा करण-सापेक्ष साधनमें होती है। करण-निरपेक्ष साधनमें यह दशा नहीं होती। करण-निरपेक्ष साधनमें न वृत्ति लगानेकी जरूरत है, न बुद्धि लगानेकी जरूरत है, न मन लगानेकी जरूरत है। दोष अपनेमें हैं ही नहीं—इसको स्वयंसे स्वीकार करना है, मन-बुद्धिसे नहीं। यह करण-निरपेक्ष साधन बहुत श्रेष्ठ है, पर इसके विषयमें बहुत कम

पढ़ने-सुननेको मिलता है।

साधन करना खुद धनको कमाना है और सत्संग करना धनी व्यक्तिके गोद जाना है। गोद जानेवालेको क्या कमाना पड़ता है? उसको तो कमाया हुआ धन मिलता है। ऐसे ही सत्संगमें जानेसे बिना साधन किये साधन होता है। एक बार मैंने ऋषिकेशमें सत्संगी भाई-बहनोंसे कहा कि आप सब पत्थर हैं, पर हैं गङ्गाजीके! गङ्गाजीके पत्थर कैसे सुन्दर, गोल-गोल हो जाते हैं और अच्छे लगते हैं! उन पत्थरोंने न तो खुद कोई उद्योग किया है और न किसी दूसरे व्यक्तिने ही उद्योग किया है। वे गङ्गाजीके प्रवाहमें पड़े रहे और लुढ़क-लुढ़ककर अपने-आप गोल हो गये। ऐसे ही सत्सङ्गमें पड़े-पड़े आप गोल पत्थर हो गये! जो पढ़े-लिखे नहीं हैं, जिनको हस्ताक्षर करना भी नहीं आता, ऐसे साधारण पुरुषोंको भी सत्संगके प्रभावसे अच्छे-अच्छे पण्डितोंकी बातोंमें भी गलती दीख जाती है, कमी दीख जाती है। गङ्गाजीका पत्थर पवित्र होता है। सत्सङ्गमें पड़े रहनेमात्रसे मनुष्य पवित्र हो जाता है। उसमें अपने-आप गुण आ जाते हैं और दोष स्वाभाविक ही मिट जाते हैं।

विकारोंसे छूटनेका उपाय

यह जीवात्मा परमात्माका साक्षात् अंश है। अतः जैसे परमात्मा सत्यसंकल्प हैं, ऐसे ही यह जीवात्मा भी एक अंशमें सत्यसंकल्प है। जब जीवात्मा अपनेमें राग-द्वेषादि दोषोंकी मान्यता कर लेता है, तब इसमें वे दोष दीखने लग जाते हैं, नहीं तो वे दोष इसमें हैं नहीं। राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि जितने भी दोष हैं, उनमेंसे कोई-सा भी दोष जीवात्मामें नहीं है। अगर इसमें दोष होते तो इसको ***'चेतन अमल सहज सुखरासी'*** नहीं कहते।

जितने भी विकार हैं, वे सब प्रकृतिके गुणोंमें ही रहते हैं; परन्तु जीवात्मा गुणोंसे रहित है—**'निर्गुणत्वात्'** (गीता १३। ३१)। प्रकृतिके गुणोंमें ही सात्त्विक, राजस और तामस वृत्तियाँ रहती हैं, जिनका वर्णन गीताके चौदहवें अध्यायमें आया है। स्वयंमें वृत्तियाँ नहीं रहतीं। अगर यह बात ठीक अनुभवमें आ जाय तो मनुष्य तत्काल जीवन्मुक्त हो जाय! तत्काल जीवन्मुक्त क्यों हो जाय? कि वास्तवमें यह जीवन्मुक्त ही है। मुक्ति स्वतःसिद्ध है और बन्धन पकड़ा हुआ है, कृत्रिम है। बन्धन न होते हुए भी जीवने बन्धनको स्वीकार कर लिया है। जीवने ही असत्‌को धारण कर रखा है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। अगर जीव असत्‌को धारण (स्वीकार) न करे तो असत्‌में रहनेकी ताकत ही नहीं है।

असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत् वस्तुका अभाव नहीं है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। जिसकी सत्ता है ही नहीं, उसकी प्राप्ति कैसे होगी? असत्‌की प्राप्ति और सत्‌की अप्राप्ति असम्भव है। परन्तु सत्-स्वरूप स्वयंने असत्‌को सत् मान लिया, जिससे असत्‌की सत्ता दीखने लग गयी। अतः केवल माननेसे ही असत्‌को सत्ता मिली है और न माननेसे वह मिट जायगी।

काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार हमारेमें नहीं हैं। ये प्रकृतिमें हैं। अगर हम प्रकृतिको स्वीकार न करें तो ये प्रकृतिमें भी नहीं हैं। प्रकृतिको स्वीकार करते ही ये विकार प्रकृतिमें पैदा हो जाते हैं। जिस स्थानपर कोई मनुष्य नहीं जाता, वह स्थान (जंगल आदि) बड़ा शुद्ध होता है और जिस स्थानपर मनुष्य रहते हैं, वहाँ अशुद्धि फैल जाती है। कारण कि मनुष्य ही अपने सम्बन्धसे उसको अशुद्ध करता है। असत् वस्तुको अपनी मानते ही वह अशुद्ध हो जाती है और उसको अपना मानना छोड़ते ही सब अशुद्धि मिट जाती है—***'ममता मल जरि जाइ'*** (मानस ७। ११७ क)।

जब मनुष्य जड़तामें अपनापन कर लेता है, तब वह जड़ता ही उसको दबा लेती है। जैसे बादल सूर्यसे पैदा होते हैं और सूर्यको ही ढक देते हैं, ऐसे ही दोष आपसे पैदा होते हैं और आपको ही ढक देते हैं। अगर आप इनको पैदा न करें तो आप स्वतःस्वाभाविक मुक्त हैं। इसीलिये ज्ञान होनेपर फिर मोह नहीं होता—**'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव'** (गीता ४। ३५); क्योंकि वास्तवमें मोह है ही नहीं। अगर मोह होता तो वह पुनः हो जाता।

काम, क्रोध, लोभ आदिसे रहित होनेका उपाय है कि 'ये अपनेमें नहीं हैं'—ऐसा दृढ़तासे मान लें। ये अपनेमें दीखें, तो भी इनको अपनेमें नहीं मानें; क्योंकि वास्तवमें ये अपनेमें हैं नहीं, केवल भूलसे माने हुए हैं। आप रहते हैं और ये नहीं रहते—यह आपका अनुभव है। अभी आप हैं, पर अभी काम है क्या? अभी क्रोध है क्या? अभी लोभ है क्या? अगर ये आपमें होते तो जैसे कपड़ेमें रंग रहता है, कपड़ा रहता है तो रंग भी रहता है, ऐसे ही ये भी आपमें सदा रहते। ये दोष सदा नहीं रहते—यह आपका अनुभव है। इससे सिद्ध हुआ कि ये दोष आगन्तुक हैं अर्थात् आने-जानेवाले और अनित्य हैं—**'आगमापायिनोऽनित्याः'** (गीता २। १४)।

आप सत्-स्वरूप हैं, इसलिये जब आप अपनेमें काम,

क्रोध आदिकी सत्ता मान लेते हैं, तब वे असत् होते हुए भी सत् दीखने लग जाते हैं। जैसे आगमें कोई भी चीज रख दें तो वह चमक उठती है। चाहे ठीकरी हो, चाहे पत्थर हो, चाहे लकड़ी हो, चाहे कोयला हो, आगमें रखनेपर वह चमकने लग जाता है। ऐसे ही आप जिस चीजको अपनेमें स्वीकार करते हैं, वह आपमें (सत् स्वरूपमें) दीखने लग जाती है।

शरीर असत् है। यह प्रतिक्षण बदलता रहता है। इतनी तेजीसे बदलता है कि इसको उसी रूपमें दो बार कोई देख ही नहीं सकता; क्योंकि एक क्षण पहले शरीर जैसा था, दूसरे क्षणमें वह वैसा नहीं रहता। केवल आपकी भावनासे ही यह सत् ('है')-रूपसे दीखता है। यदि यह है तो फिर यह बदलता कैसे है ?

श्रोता—यदि यह नहीं है तो फिर यह दीखता कैसे है ?

स्वामीजी—आपने भावना कर ली, इसीलिये दीखता है। एक मार्मिक बात है कि यह शरीर वास्तवमें शरीरको ही दीखता है। स्वयंको शरीर दीखता ही नहीं। आप ही बतायें कि क्या सुषुप्तिमें शरीर दीखता है ? आप इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे देखते हैं, तभी यह दीखता है, नहीं तो इसमें खुदमें दीखनेकी ताकत नहीं है। जिस धातुका शरीर है, उसी धातुके नेत्र हैं, उसी धातुका मन है, उसी धातुकी बुद्धि है, उसी धातुका अहम् है। अहम्से रहित होकर देखें तो क्या शरीर दीखेगा ? सुषुप्तिमें अहम् लुप्त हो जाता है तो फिर शरीर नहीं दीखता।

श्रोता—सुषुप्तिमें तो अज्ञान छाया रहता है !

स्वामीजी—जब अज्ञानमें भी इतनी सामर्थ्य है कि शरीर दीखना बन्द हो जाता है, तो क्या ज्ञानमें अज्ञान जितनी भी सामर्थ्य नहीं है ? जब साधक निर्मम-निरहंकार हो जाता है, उसके अज्ञानका नाश हो जाता है, तब शरीरकी सत्ता नहीं दीखती; क्योंकि शरीरमें सामर्थ्य नहीं है दीखनेकी।

श्रोता—ज्ञान होनेपर शरीर-संसार कैसे दीखते हैं ?

स्वामीजी—शरीर-संसार ऊपरसे तो वैसे ही दीखते हैं, पर उनमें अस्तित्व-बुद्धि मिट जाती है; जैसे—दर्पणमें मुख दीखनेपर भी उसमें अस्तित्व-बुद्धि नहीं होती। ज्ञानी महापुरुषको शरीर-संसार जली हुई मूँजकी रस्सीकी तरह अथवा तपे हुए लोहेपर चिपके कागजकी तरह दीखते हैं। जली हुई रस्सी दीखती तो है, पर वह बाँध नहीं सकती। हाथ लगाते ही वह बिखर जाती है। ऐसे ही तपे हुए लोहेपर चिपके कागजके अक्षर पढ़े तो जा सकते हैं, पर उसको उठाया नहीं जा सकता। ज्ञानीकी दृष्टिमें अन्तःकरणसहित संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अत्यन्त अभाव हो जाता है और परमात्मतत्त्वकी सत्ताका भाव नित्य-निरन्तर जाग्रत् रहता है। जैसे गैसबत्तीके मेंटलमें आग लगाते ही वह जल जाता है, पर उस जले हुए मेंटलसे विशेष प्रकाश होता है, ऐसे ही ज्ञानीके जले हुए (सत्तारहित) अन्तःकरणमें ज्ञानका विशेष प्रकाश होता है। उसके आचरणोंमें, वचनोंमें विलक्षणता आ जाती है। उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक मर्यादित व्यवहार होता है, जो सबके लिये आदर्श होता है और सबका हित करनेवाला होता है।

आप विचार करें। अगर ज्ञान होनेसे मुक्ति हो जाती है, तो इससे सिद्ध होता है कि मुक्ति स्वतःसिद्ध है, केवल उसका अनुभव हुआ है। ज्ञान होनेसे मुक्ति पैदा नहीं होती। मुक्ति तो सदा ज्यों-की-त्यों है, पर उसकी तरफ दृष्टि न रहनेसे उसका अनुभव नहीं होता था। उसकी तरफ दृष्टि होनेसे अर्थात् ज्ञान होनेसे उसका अनुभव हो जाता है। अतः जिस तत्त्वकी प्राप्ति ज्ञानसे होती है, वह तत्त्व पहलेसे ही विद्यमान होता है। अज्ञानावस्थामें भी स्वरूप ज्यों-का-त्यों ही रहता है, उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। आप जानें या न जानें, मानें या न मानें, स्वीकार करें या न करें, वह तो रहता ही है। उसकी तरफ दृष्टि डालते ही उसका अनुभव हो जाता है—

संकर सहज सरूपु सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥

(मानस १।५८।४)

ज्ञान होनेपर तत्त्वमें कुछ भी फर्क नहीं पड़ता। फर्क उस बुद्धिमें पड़ता है, जिसमें अज्ञान है। अगर बुद्धिसे आपका सम्बन्ध ही न रहे तो फिर बुद्धिमें अज्ञान रहे चाहे न रहे, उससे आपको क्या मतलब ? बुद्धिसे आपका सम्बन्ध वास्तवमें है नहीं। आपने ही उसके साथ सम्बन्ध मान रखा है।

श्रोता—क्या मुक्ति स्वाभाविक है ?

स्वामीजी—हाँ, मुक्ति स्वाभाविक है। परन्तु यदि आप बन्धनको दृढ़ करेंगे तो फिर मुक्ति स्वाभाविक कैसे होगी ? बन्धन स्वाभाविक नष्ट नहीं होता; क्योंकि आप स्वयं सत्यसंकल्प हैं। अतः जब आप बन्धनको पकड़ते हैं, तब वह बन्धन भी सत्यकी तरह दृढ़ हो जाता है।

श्रोता—साधन करनेसे क्या यह बन्धन नष्ट हो जायगा ?

स्वामीजी—साधन करण-सापेक्ष भी होता है और करण-निरपेक्ष भी। मैंने अभी जो करण-निरपेक्ष साधन बताया है, उसके समान श्रेष्ठ कोई साधन है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं। दूसरे जितने भी करण-सापेक्ष साधन करोगे, वे सब प्रकृतिकी सहायतासे ही करोगे। उनमें असत्का अर्थात् मन, बुद्धि आदिका आश्रय लेना ही पड़ेगा।

जिनके द्वारा साधन करोगे, उन मन, बुद्धि आदिका त्याग कैसे कर सकोगे ? उनके साथ अपना सम्बन्ध न मानना करण-निरपेक्ष साधन है, जिससे बन्धन तत्काल नष्ट हो जाता है।

निर्विकार स्वरूप ज्यों-का-त्यों विद्यमान था और विद्यमान रहेगा। केवल उसकी तरफ दृष्टि न रहनेसे वह विद्यमान (प्राप्त) होता हुआ भी अप्राप्तकी तरह दीख रहा है। उसकी तरफ दृष्टि न जानेका कारण है—असत् (उत्पत्ति-विनाशशील) वस्तुको महत्त्व देना। जितने भी विकार हैं, वे सब असत् वस्तुको महत्त्व देनेसे ही पैदा होते हैं। वास्तवमें असत् वस्तुका कोई महत्त्व है ही नहीं। जो क्षणभरके लिये भी टिके नहीं, उसका महत्त्व कैसा ? केवल अविचारसे ही उसका महत्त्व प्रतीत होता है। अगर साधक विचारके द्वारा असत्में महत्त्व-बुद्धि मिटा दे तो निर्विकार स्वरूपमें स्वतः स्थितिका अनुभव हो जायगा।

राग-द्वेषसे रहित स्वरूप

एक बातपर आप विशेष ध्यान दें और उसको ठीक तरहसे समझ लें। गरमी पड़े तो आपपर गरमीका असर पड़ता है और सरदी पड़े तो सरदीका असर पड़ता है। असर पड़नेपर भी क्या आप यह मानते हो कि मेरेमें गरमी है या मेरेमें सरदी है? मेरेमें सरदी-गरमी नहीं है, प्रत्युत आगन्तुक सरदी-गरमीका असर पड़ता है। ऐसे ही आपपर राग-द्वेषका आगन्तुक असर पड़ता है; परन्तु आप कहते हो कि मेरेमें राग-द्वेष हैं! यह बहुत बड़ी गलती है। भगवान् साफ कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

(गीता २।१४)

'हे कुन्तीनन्दन! इन्द्रियोंके जो विषय हैं, वे तो शीत—अनुकूलता और उष्ण—प्रतिकूलताके द्वारा सुख और दुःख देनेवाले हैं। वे आने-जानेवाले और अनित्य हैं। हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! उनको तुम सहन करो।'

इस श्लोकमें भी भगवान्ने 'शीत' और 'उष्ण' शब्द दिये हैं। शीतका भी असर पड़ता है और उष्णका भी असर पड़ता है, पर आपमें शीत और उष्णता नहीं है। ये आने-जानेवाले और अनित्य हैं, पर आप ज्यों-के-त्यों रहनेवाले और नित्य हो—'**नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः**' (गीता २।२४)। इस बातको आप गहरा उतरकर समझो। यह कोई तमाशा नहीं है। बहुत ही मार्मिक और तत्काल कल्याण करनेवाली सच्ची बात है।

अगर आपमें राग है तो वह हरदम रहना चाहिये अर्थात् आप रहोगे तो राग रहेगा, आप नहीं रहोगे तो राग नहीं रहेगा। अगर आपमें द्वेष है तो आप रहोगे तो द्वेष रहेगा, आप नहीं रहोगे तो द्वेष नहीं रहेगा। आप तो रहते हो, पर राग-द्वेष रहते नहीं, आते-जाते हैं, तो फिर ये आपमें कहाँ हैं?

श्रोता—'**अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्**' भी तो गीता बोल रही है महाराजजी!

स्वामीजी—वह भी हो जायगा। अब विवाह हुआ तो छोरा-छोरी अभी कैसे हो जायँगे? पहले 'विवाह हो गया'—इस बातको मान तो लो, फिर छोरा-छोरी ही नहीं, पोता-पोती भी हो जायँगे! इसमें तो समय भी लगेगा, पर इस बातको माननेसे समय नहीं लगेगा। केवल तमाशेकी तरह मान लेनेकी बात मैं नहीं कहता हूँ। मैं जो बात कहता हूँ, उसका आप अनुभव करो। राग-द्वेष हमारेमें हरदम रहते हैं, यह आपने कैसे, किस आधारपर माना? बताओ। मैंने यह बताया कि शीत-उष्णका असर पड़ता है तो आपमें शीत-उष्ण रहते हैं क्या?

श्रोता—रहते तो नहीं हैं, लेकिन असर पड़ता है!

स्वामीजी—ठीक बात है कि असर पड़ता है, पर 'हमारेमें राग-द्वेष हैं' यह बात आप छोड़ दो तो निहाल हो जाओगे! बहुत लाभकी बात है। अगर चोर और डाकूको रहनेकी जगह मिल जाय तो क्या वे उसको छोड़ेंगे? ऐसे ही 'हमारेमें राग-द्वेष हैं'—ऐसा मानकर आप राग-द्वेषको रहनेकी जगह दे देते हो तो क्या वे आपको छोड़ेंगे? केवल पोथीकी बात नहीं है, आप सबके अनुभवकी बात है। क्या राग-द्वेष आपके साथ हरदम रहते हैं? बताओ।

श्रोता—नहीं रहते हैं।

स्वामीजी—तो फिर ये हमारेमें हैं—यह आपने किस आधारपर माना?

श्रोता—हमारेमें नहीं हैं, आते-जाते हैं।

स्वामीजी—कृपा करके इतनी बात आप मान लो तो मैं निहाल हो जाऊँ! इतनी बात आप स्वीकार कर लो कि ये आने-जानेवाले हैं। यही तो भगवान् कहते हैं—'**आगमापायिनोऽनित्याः**'। ये अनित्य हैं और आप नित्य हैं—'**नित्यः सर्वगतः**'। अगर ये आपमें हैं तो नित्य रहने चाहिये!

आप अनुकूलता-प्रतिकूलताको जितना अधिक महत्त्व दोगे, उतना ही उनका असर अधिक होगा। जितना कम महत्त्व दोगे, उतना ही असर कम होगा। महत्त्व नहीं दोगे तो

असर नहीं होगा। उनके महत्त्वको तो आप छोड़ते नहीं और जो बात मैं कहता हूँ, उसको मानते नहीं!

श्रोता—आप कहते हैं कि भगवत्प्राप्ति तत्काल हो सकती है, लेकिन गीताने कहा है—'**कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।**'

स्वामीजी—अगर असली भूख लगे तो भोजनमें देरी नहीं लगती। प्यास अगर जोरसे लगे तो पानी पीनेमें देरी नहीं लगती। ऐसे ही भगवत्प्राप्तिकी असली भूख लगे तो उसमें देरी नहीं लगती। देरी आपकी भूखमें है, भगवत्प्राप्तिमें थोड़े ही है!

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कठिन नहीं है। अनित्य चीजको छोड़नेमें कठिनता माननेसे ही परमात्माकी प्राप्तिको कठिन मान लिया है। वास्तवमें अनित्य चीजको छोड़ना कठिन नहीं है; क्योंकि वह तो अपने-आप ही छूट रही है। कठिनाई तो उसको रखनेमें ही है!

श्रोता—राग-द्वेषका आना-जाना बन्द हो जाय—इसका भी कोई उपाय है?

स्वामीजी—यह हो जायगा। पहले विवाह हो जाय, फिर बेटा हो जायगा, पोता हो जायगा, पड़पोता हो जायगा; सब हो जायगा। अगर आप स्वीकार कर लो कि राग-द्वेष हमारेमें नहीं हैं तो इतनी भी देरी नहीं लगेगी। कारण कि बेटा-पोता तो पैदा होंगे; उसमें समय लगेगा। परन्तु इसमें समय नहीं लगेगा; क्योंकि परमात्मा पैदा होनेवाले नहीं हैं, वे तो सदा मौजूद हैं। पैदा होनेवाले तो राग-द्वेष हैं। राग-द्वेषको आदर देनेसे ही परमात्माका अनुभव नहीं हो रहा है। इसलिये कम-से-कम यह बात तो मान लो कि ये हमारेमें नहीं हैं, आगन्तुक हैं। अपना जो स्वरूप है, वह सत्तारूप है। सत्ता-मात्रमें कभी राग-द्वेष होते ही नहीं।

श्रोता—बात तो ठीक है कि ये आगन्तुक हैं।

स्वामीजी—यों हाँ-में-हाँ नहीं मिलाना है। एकान्तमें बैठकर आप इसका अनुभव करो कि बात ठीक है, ये आते-जाते रहते हैं और मैं निरन्तर रहता हूँ।

श्रोता—ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है कि ये हमारेसे अलग हैं।

स्वामीजी—इस अनुभवका आदर करो, असरका आदर मत करो अन्नदाता! इतना कहना मेरा मान लो कि असरको महत्त्व मत दो, प्रत्युत इस बातको महत्त्व दो कि ये मेरेसे अलग हैं।

श्रोता—मार तो पड़ जाती है न महाराजजी?

स्वामीजी—मैं कहता हूँ कि पड़ने दो। बचपनमें पढ़ाई बहुत बुरी लगती थी, पर बैठे-बैठे पढ़ाई हो गयी कि नहीं? एक दिन वह था, जब पता नहीं लगता था कि दूसरा क्या कह रहा है, पर आज मैं आपको पढ़ानेको तैयार हूँ!

श्रोता—स्वामीजी! आपने बताया कि पदार्थ तो आने-जानेवाले हैं, लेकिन उनका सम्बन्ध स्वयंमें है!

स्वामीजी—सम्बन्ध माना है बाबा, है नहीं! मैंने कभी नहीं कहा कि सम्बन्ध स्वयंमें है। मैंने कहा है कि सम्बन्ध आपने माना है। जो माना है, उसको आप छोड़ो।

श्रोता—इन आने-जानेवाले पदार्थोंसे स्वयंका जोर अधिक होता है क्या?

स्वामीजी—आने-जानेवाले पदार्थोंका जोर नहीं है, आपकी मान्यताका जोर है। आपने मान लिया तो अब इसको ब्रह्माजी भी नहीं छुड़ा सकते। किसी सन्तकी, गुरुकी ताकत नहीं कि छुड़ा सके। आपने पकड़ लिया तो वे कैसे छुड़ा देंगे? आपकी मान्यताको ढीली करनेके लिये कहता हूँ कि ये आगन्तुक हैं, आप आगन्तुक नहीं हो, फिर ये आपके साथी कैसे हुए? इनको आप अपनेमें क्यों मानते हो? कृपा करके इनको अपनेमें मत मानो। क्या आपको दया नहीं आती? एक भिक्षुक आपसे बात कह रहा है, उसपर दया तो आनी चाहिये! आप गृहस्थोंसे कोई साधु टुकड़ा माँगता है तो उसको देते हो कि नहीं? ऐसे ही मेरेको भी टुकड़ा दे दो, इतनी बात मान लो कि राग-द्वेष हमारेमें नहीं हैं! इसमें शंका सम्भव ही नहीं है; क्योंकि दो और दो चार ही होते हैं। मैं यह चाहता हूँ कि आप इस बातके पीछे पड़ जाओ। तत्काल भगवत्प्राप्ति जिनको होती है, हो ही जाती है। आपकी ऐसी इच्छा ही कहाँ है? इस बातको समझनेके लिये इतना परिश्रम ही कहाँ है? मेरेको आप क्षमा कर देना, मेरेमें जितनी लगन है, उतनी लगन आपमें नहीं है, जबकि आपमें लगन ज्यादा होनी चाहिये। मैंने कल कहा, आज कहा और फिर कहनेको तैयार हूँ! मेरेसे रातमें पूछो, दिनमें पूछो, सुबहको पूछो, शामको पूछो; रात्रिमें मेरेको नींदसे उठाकर पूछो, मैं नाराज नहीं होऊँगा। मैं तो निहाल हो जाऊँगा। जैसे कोई बड़ा ग्राहक मिलनेसे दुकानदार राजी हो जाता है, उससे मैं कम राजी नहीं होता हूँ! अतः मेरेपर कृपा करो, स्वयंपर कृपा करो, और नहीं समझमें आये तो पूछो।

श्रोता—राग-द्वेषके आनेसे निषिद्ध क्रिया हो जाती है!

स्वामीजी—राग-द्वेषका असर पड़नेसे, उसके वशीभूत होनेसे निषिद्ध क्रिया हो जाती है तो भले ही हो जाय, पर राग-द्वेष हमारेमें नहीं हैं—इसपर तो कायम रहो। भले ही निषिद्ध क्रिया हो, पर ये अपनेमें कैसे हुए! अपनेमें हैं ही नहीं।

श्रोता—जबतक क्रिया होगी, तबतक तो दुःखी होते रहेंगे !

स्वामीजी—भले ही दुःखी हो जाओ या सुखी हो जाओ, पर दुःखमें भी आप वही रहते हो, सुखमें भी आप वही रहते हो। सुख-दुःख तो होते हैं, पर आप रहते हो। साफ और सीधी बात है ! यह अन्वेषण है, निर्माण नहीं है। संसारका काम देरीसे होता है, उसमें समय लगता है, पर इसमें समय नहीं लगता। आज मैंने जो बात कही है, उसको समझनेमें क्या वर्ष लगता है ? हाँ, आप मान लोगे कि समय लगेगा तो जरूर समय लगेगा; क्योंकि आप और हम भगवान्‌रूपी कल्पवृक्षके नीचे हैं। अगर आप मान लें कि ये राग-द्वेषादि मेरेमें हैं ही नहीं तो समय लगनेकी क्या बात है ? कही और चट मानी ! सीधी बात है। सत्सङ्गमें आनेवाले भाई-बहनोंकी कई बातें मैंने सुनी हैं। जो पहले रोते थे, कुछ दिन सत्सङ्गमें आनेके बाद उनका रोना बन्द हो गया ! तात्पर्य है कि सत्सङ्गकी बातोंमें एक ताकत है। यह कोई तमाशा नहीं है। परन्तु आप तो कमर कसकर तैयार हैं कि कुछ भी कहो, हम तो नहीं मानेंगे ! अब बताओ, मैं क्या करूँ ? आपको नहीं जँचती हो तो शंका करो। आप कहते हैं कि हमारेपर असर पड़ जाता है। इन्द्रियाँ और उनके विषयोंका सम्बन्ध होते ही असर पड़ता है। किसीके राग-द्वेष ज्यादा होते हैं, किसीके कम होते हैं। सबके अलग-अलग संस्कार हैं, अलग-अलग अभ्यास है। परन्तु असर पड़नेपर भी 'राग-द्वेष हमारेमें हैं'—यह आपने किस आधारपर माना ? इनको आप अपनेमें मानोगे तो कहनेवाला कितना ही जोर लगा ले, आपमें रत्तीमात्र भी फर्क नहीं पड़ेगा। चोर-डाकू तो जबर्दस्ती करते हैं, उनको आप निमन्त्रण दे दो तो फिर वे सवार हो ही जायँगे ! ऐसे ही आपने राग-द्वेषको अपनेमें मान लिया, उनको निमन्त्रण दे दिया तो अब वे जायँगे नहीं।

श्रोता—मृत्युके बाद राग-द्वेषके संस्कार तो रह ही जाते हैं !

स्वामीजी—मृत्यु ही क्या, चौरासी लाख योनियाँ और नरक भोग लो तो भी राग-द्वेष मिटेंगे नहीं; क्योंकि इनको आपने अपनेमें मान लिया, अब आप मिटो तो ये मिटें ! आप नित्य परमात्माके अंश हो; अतः आप जिसको पकड़ोगे, वह भी नित्य दीखने लग जायगा ! आगमें ठीकरी रख दो, कंकड़ रख दो, लकड़ी रख दो, कोयला रख दो, सब चमकने लगेंगे। ऐसे ही आप जिसको अपनेमें मान लोगे, वह चमकने लग जायगा। राग-द्वेष नित्य नहीं हैं, पर आप नित्य हो; अतः आप राग-द्वेषको अपनेमें मान लोगे तो वे भी नित्य दीखने लग जायँगे।

श्रोता—महाराजजी, लोग कहते हैं कि सत्सङ्गमें आते पचास-साठ वर्ष हो गये, पर राग-द्वेष मिटे नहीं !

स्वामीजी—मैं कहता हूँ कि सौ वर्ष हो गये, आपने राग-द्वेषको मिटाया ही नहीं ! राग-द्वेषको पकड़कर सौ वर्ष सत्सङ्ग कर लो, फिर कहो कि राग-द्वेष तो रहते ही हैं ! राग-द्वेषको मिटाओगे तो वे मिटेंगे। क्या बिना मिटाये ही मिट जायँगे ? मेरी तो ऐसी धारणा है कि एक दिन भी ठीक तरहसे बात सुने तो उसमें फर्क पड़ जायगा !

श्रोता—फर्क पड़नेसे क्या होगा ? सर्वथा मिटने चाहिये।

स्वामीजी—तो जबतक सर्वथा नहीं मिटें, तबतक पिण्ड मत छोड़ो, इनके पीछे पड़ जाओ। अनेक जन्मोंकी पड़ी हुई बातमें एक दिन सुननेसे भी फर्क पड़ता है तो अनेक जन्मोंकी बात सच्ची हुई या एक दिनकी बात सच्ची हुई ?

श्रोता—जो मान रखा है, उसको न माननेमें किसीकी कोई जरूरत नहीं है क्या ?

स्वामीजी—आपकी ही जरूरत है ! आप पकड़े रहोगे तो मैं कह दूँ या ब्रह्माजी कह दें, कुछ फर्क नहीं पड़ेगा। अपनी मानी हुई बातको दूसरा कैसे मिटा सकता है ? आपने अपनेको गृहस्थी मान रखा है तो दूसरेके कहनेसे अपनेको गृहस्थी मानना कैसे छोड़ दोगे ? मैं अपनेको साधु मानता हूँ, पर कोई उपदेश दे कि तुम साधु नहीं हो तो कैसे मान लूँगा मैं ?

श्रोता—अभी जो आपने कहा, उसको माननेमात्रसे काम चल जायगा ?

स्वामीजी—माननेके सिवाय और किससे काम चलेगा ? यह मेरी स्त्री है—ऐसा माननेके सिवाय और कोई प्रमाण हो तो बताओ ! सिर्फ माननेसे बेटा-पोता हो जायगा, सब कुछ हो जायगा।

एक सीखना होता है, एक अनुभव करना होता है। नया काम सीखनेमें देरी लगती है, पर जो पहलेसे ही है, उसका अनुभव करनेमें किस बातकी देरी ? जैसा मैं कहता हूँ, उसको आप शंकारहित होकर मान लो तो पट दीखने लग जायगा, अनुभव हो जायगा; क्योंकि बात है ही ऐसी। सेठजीने कहा था कि ज्ञानकी, तत्त्वकी बात कठिन है—यह मेरी समझमें नहीं आया; इसमें कठिनता किस बातकी ? कठिनताकी बात ही नहीं है। परन्तु जब लोगोंपर आजमाइश की और देखा कि उनको ज्ञान हुआ नहीं, तब जबर्दस्ती माना कि कठिन है ! आपने कठिन मान लिया तो अब आपकी मान्यताको कौन छुड़ा सकता है ? किसकी

ताकत है कि छुड़ा दे ?

पंढरपुरमें चातुर्मास हुआ था। उसमें मैंने एक दिन कह दिया कि तत्त्वकी प्राप्ति तो बड़ी सरल बात है। इसको सुनकर कुछ लोग कहने लगे कि तुकारामजी महाराजने ऐसा-ऐसा कहा है, तत्त्वप्राप्तिमें तो कठिनता है। तब मैंने एक बात कही कि मैं मराठी जानता नहीं, महाराष्ट्रके सन्तोंकी वाणी मैंने पढ़ी नहीं; परन्तु मेरी एक धारणा है कि ज्ञानेश्वरजी, तुकारामजी आदि सन्तोंको भगवत्प्राप्ति हुई थी, वे तत्त्वज्ञ पुरुष थे। तत्त्वज्ञ पुरुषके भीतर यह भाव रह सकता ही नहीं कि तत्त्वप्राप्ति कठिन है। अतः उनकी वाणीमें 'तत्त्वकी प्राप्ति सुगमतासे होती है'—यह बात नहीं आये, ऐसा हो ही नहीं सकता ! उनकी वाणीमें यह बात जरूर आयेगी कि तत्त्वप्राप्ति सुगम है। इतनेमें एक आदमी बोल गया वाणी कि ऐसे सुगम लिखा है उसमें ! लिखे बिना रह सकते नहीं। जो वास्तविक बात है, उसको वे कैसे छोड़ देंगे ? तत्त्वको बनाना थोड़े ही है, वह तो ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। फिर उसकी प्राप्तिमें कठिनता किस बातकी ? राग-द्वेष हमारेमें हैं—यह मान्यता दृढ़ कर ली है, इसीलिये तत्त्वकी प्राप्ति कठिन दीखती है।

उद्देश्यकी महत्ता

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें उद्देश्यका महत्त्व पन्द्रह आना, भावका महत्त्व तीन पैसा और क्रियाका महत्त्व एक पैसा है। परन्तु आजकल साधकोंकी दृष्टि प्रायः क्रियापर ही है, भावपर नहीं है और उद्देश्यपर तो है ही नहीं! अतः उद्देश्यकी महत्तापर विचार किया जाता है।

हमारे जीवनभरका लक्ष्य क्या है? हमें किसको प्राप्त करना है? किस तत्त्वको जानना है? किसको पहचानना है? किसका साक्षात्कार करना है? ऐसा विचार होनेपर मनुष्यका यह उद्देश्य होगा कि हमें केवल परमात्माको प्राप्त करना है, परमात्मतत्त्वको जानना है, परमात्माके साथ अपने नित्य-सम्बन्धको पहचानना है, परमात्माका साक्षात्कार करना है। कारण कि वही नित्य-निरन्तर रहनेवाला है, दूसरा कोई नित्य-निरन्तर रहनेवाला नहीं है। संसारका विषय मिले या न मिले, रोटी मिले या न मिले, कपड़ा मिले या न मिले, नींद आये या न आये, आराम मिले या न मिले, मान हो जाय या अपमान हो जाय, प्रशंसा हो जाय या निन्दा हो जाय, हमें इनसे कोई मतलब नहीं है; हमें तो केवल परमात्मतत्त्वको ही प्राप्त करना है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

(भर्तृहरिनीतिशतक)

'नीति-निपुण लोग निन्दा करें अथवा स्तुति, लक्ष्मी रहे अथवा जहाँ चाहे चली जाय और मृत्यु आज ही हो जाय अथवा युगान्तरमें, अपने उद्देश्यपर दृढ़ रहनेवाले धीर पुरुष न्यायपथसे एक पग भी पीछे नहीं हटते।'

इस प्रकार जिसका एकमात्र उद्देश्य, ध्येय, लक्ष्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेका बन गया है, वह हरेक जगह टिक नहीं सकेगा। जहाँ रुपये मिलते नहीं, प्रत्युत खर्च होते हैं, वहाँ क्या रुपयोंका लोभी टिक सकता है? जिसका परमात्मप्राप्तिका असली उद्देश्य है, उसको क्या सुन्दर बातें सुनाकर कोई भ्रमित कर सकता है? परमात्मतत्त्व क्या है? मेरा स्वरूप क्या है? जगत्का स्वरूप क्या है?—ऐसी जिसकी जोरदार जिज्ञासा है, वह हरेक कथामें, हरेक व्याख्यानमें टिक नहीं सकता। उसमें ताकत ही नहीं है कि वहाँ ठहर जाय। अगर ठहर जाता है तो उसका उद्देश्य अभी बना ही नहीं है, चाहे वह कितना ही ऊँचा पण्डित क्यों न हो!

हमें केवल परमात्माको प्राप्त करना है—यह उद्देश्य ऐसा है, जो अकेला पन्द्रह आना कीमत रखता है। भाव तो बदलता रहता है। कभी अच्छा भाव होता है, कभी खराब भाव होता है। कभी सात्त्विक भाव होता है, कभी राजस अथवा तामस भाव होता है। परन्तु उद्देश्य कभी नहीं बदलता। अगर बदलता है तो अभी उद्देश्य बना ही नहीं है अथवा अपने वास्तविक उद्देश्यको पहचाना ही नहीं है।

उद्देश्य मनुष्यकी प्रतिष्ठा है। जिसका कोई उद्देश्य नहीं है, वह वास्तवमें मनुष्य ही नहीं है। वर्तमानमें अनेक बड़े-बड़े स्कूल और कालेज हैं, जिनमें लाखों विद्यार्थी पढ़ते हैं; परन्तु विद्यार्थीको क्यों पढ़ाया जाता है? पढ़ाई क्यों करनी चाहिये?—इसका अभीतक कोई एक उद्देश्य नहीं बना है। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि पढ़ाई करते हैं, पर अपने उद्देश्यको जानते ही नहीं!

वास्तवमें उद्देश्य बनानेकी अपेक्षा उद्देश्यको पहचानना श्रेष्ठ है। यह मनुष्यशरीर हमने अपनी इच्छासे नहीं लिया है। भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही यह मनुष्यशरीर

दिया है* । इस उद्देश्यके कारण ही मनुष्यशरीरकी महिमा है, अन्यथा पञ्चमहाभूतोंसे बने हुए इस शरीरकी कोई महिमा नहीं है। शरीर तो मल-मूत्र बनानेकी एक फैक्ट्री है। भगवान्‌के भोग लगी हुई बढ़िया-से-बढ़िया मिठाई इस मशीनमें दे दो तो वह विष्ठा बन जायगी ! गङ्गाजीका, यमुनाजीका महान् पवित्र जल इस फैक्ट्रीमें दे दो तो वह मूत्र बन जायगा। जो ऐसी गंदी-से-गंदी चीज पैदा करनेकी मशीन है, उस शरीरकी कोई महिमा नहीं है†। महिमा वास्तवमें परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके उद्देश्यकी है। यह उद्देश्य ही वास्तवमें मनुष्यता है‡। अतः भगवान्‌ने जिस उद्देश्यसे जीवको मनुष्यशरीर दिया है, उस उद्देश्यको पहचानना है। तात्पर्य यह हुआ कि उद्देश्य पहले बना है, शरीर पीछे मिला है। जैसे, बद्रीनारायण जानेका उद्देश्य पहले बनता है, यात्रा पीछे होती है। अतः उद्देश्यको पहचानना है, बनाना नहीं है। उस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये भगवान्‌ने मनुष्यमात्रको योग्यता दी है, अधिकार दिया है, विवेक दिया है। अतः मनुष्यमात्र परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका अधिकारी है। धनके सब बराबर अधिकारी नहीं हैं, मान-बड़ाईके सब बराबर अधिकारी नहीं हैं, नीरोगताके सब बराबर अधिकारी नहीं हैं, सौ वर्षतक जीनेके सब बराबर अधिकारी नहीं हैं; परन्तु परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके सब-के-सब बराबर अधिकारी हैं ! जो बिलकुल अपढ़ है, जिसमें न विवेक-वैराग्य है, न षट्सम्पत्ति है, न मुमुक्षुता है, न श्रवण-मनन-निदिध्यासन है, पर परमात्मतत्त्वको जाननेकी तीव्र जिज्ञासा है अथवा जो संसारसे ऊब गया है, जिसको संसार दुःखरूप दीखता है, वह भी परमात्मतत्त्वको जान सकता है ! इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—**'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्'** (गीता २ । २९) 'इसको सुन करके भी कोई नहीं जानता।' तात्पर्य है कि पढ़ाई करके, उद्योग करके, परिश्रम करके कोई इस तत्त्वको जान जाय—यह असम्भव बात है। जैसे, करोड़पति आदमीके पास कस्तूरी नहीं मिलती; क्योंकि उसने खरीदी ही नहीं। परन्तु जंगली आदमीके पास भी कस्तूरी मिल जाती है; क्योंकि उसने कस्तूरीमृगसे कस्तूरी निकाल ली। ऐसे ही तत्त्वकी प्राप्ति साधारण-से-साधारण आदमीको भी (तीव्र जिज्ञासा होनेपर) बहुत सुगमतासे हो सकती है।

जैसे, एक पहाड़ीपर मन्दिर है। उस मन्दिरमें जानेका उद्देश्य होनेपर यात्री सड़कके मार्गसे चलते-चलते मन्दिरतक पहुँच जाता है; परन्तु जंगली आदमी सड़कके मार्गसे न जाकर सीधे ही उस पहाड़ीपर चढ़कर मन्दिरतक पहुँच जाता है। ऐसे ही श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि साधन करनेवालोंको तत्त्वकी प्राप्ति जल्दी नहीं होती, पर तत्त्वप्राप्तिका दृढ़ उद्देश्य होनेसे साधारण मनुष्यको भी तत्त्वकी प्राप्ति जल्दी हो सकती है। तात्पर्य है कि उद्देश्यमें जो शक्ति है, वह साधनोंमें नहीं है। अतः जिसका खुदका उद्देश्य बन गया है कि अब मेरेको परमात्मप्राप्ति ही करनी है, वही परमात्मप्राप्ति कर सकता है। अगर खुदका उद्देश्य नहीं बना है तो कितनी ही पढ़ाई कर लो, ध्यान कर लो, समाधि लगा लो, पर परमात्मप्राप्ति नहीं हो सकती। कारण कि पढ़ाई करना, साधन करना मुख्य नहीं है, प्रत्युत उद्देश्य मुख्य है। उद्देश्यका जो महत्त्व है, वह समाधिका भी नहीं है।

क्रियाका महत्त्व केवल एक पैसा है। जप, ध्यान, स्नान, तीर्थ, व्रत, उपवास आदि करनेमात्रसे तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। टेपरिकार्डर आठ पहरतक नामजप कर सकता है, पर उसको तत्त्वप्राप्ति नहीं हो जाती ! तत्त्वप्राप्ति उसीको होती है, जिसके भीतर तत्त्वप्राप्तिका भाव (उद्देश्य) होता है। मेहतर झाड़ू देता है, पर उसका उद्देश्य सबकी सेवा करनेका, सबका दुःख दूर करनेका है तो उसको तत्त्वप्राप्ति हो जायगी। जो बिलकुल मूर्ख है, कुछ नहीं जानता, वह भी अगर दृढ़तासे मान ले कि 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं' तो उसको वही तत्त्व मिलेगा, जो ऊँचे-से-ऊँचे सन्त-महात्माको मिलता है। अतः साधक एक उद्देश्य बना ले कि मेरेको वह तत्त्व ही प्राप्त करना है। उसके सिवाय मेरेको और कुछ करना, जानना और पाना नहीं है। ऐसा जिसका उद्देश्य बन जायगा, वह फिर किसी लोभसे अथवा किसी भयसे विचलित नहीं किया जा सकता। जैसे समुद्रमें कौआ उड़ते-उड़ते वहीं आकर बैठता है, जहाँ जहाज होता है। जहाँ पानी-ही-पानी भरा हो, वहाँ बैठनेकी उसमें ताकत ही नहीं है; क्योंकि वहाँ बैठेगा तो डूब जायगा ! ऐसे ही जिसका परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य बन गया है, वह जगह-जगह भटकेगा नहीं, प्रत्युत जहाँ उसको तत्त्व-

---

* कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ (मानस ७ । ४४ । ३)
'एहि तन कर फल बिषय न भाई' (मानस ७ । ४४ । १); 'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा' (मानस ७ । ४३ । ४)।

† छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा। (मानस ४ । ११ । २)

‡ नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥ (मानस ७ । १२१ । ५)

प्राप्तिकी बात मिलेगी, वहीं टिकेगा।

प्रश्न—मुमुक्षा और उद्देश्यमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—मुमुक्षामें बन्धनसे मुक्त होने (छूटने) की इच्छा होती है और उद्देश्यमें तत्त्वको जाननेकी इच्छा (जिज्ञासा) होती है। मुमुक्षामें बन्धनका दुःख प्रधान है और जिज्ञासामें विवेक प्रधान है। मुमुक्षा हरेक प्राणीमें होती है। एक कुत्तेको रस्सीसे बाँध दें तो उसमें भी मुमुक्षा होती है कि मैं इस बन्धनसे छूट जाऊँ; परन्तु उसमें जिज्ञासा नहीं होती।

प्रश्न—भाव और उद्देश्यमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—भाव दो प्रकारके हैं—बदलनेवाला भाव और न बदलनेवाला (स्थायी) भाव। बदलनेवाला भाव अन्तःकरणका होता है और स्थायी भाव स्वयंका होता है। अन्तःकरणके (बदलनेवाले) भावका महत्त्व तीन पैसा बताया गया है। परन्तु स्थायी भाव और उद्देश्य—दोनों समान महत्त्ववाले हैं। दोनोंमें अन्तर केवल इतना है कि स्थायी भाव (भगवान्‌में अपनापनका भाव) भक्तियोगका ही होता है; परन्तु उद्देश्य कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनोंका हो सकता है।

══ ★ ══

साधक कौन है ?

साधक वह है, जिसमें असाधन अर्थात् साधन-विरुद्ध बात न हो। सांसारिक भोग तथा संग्रहका उद्देश्य और रुचि होना ही साधन-विरुद्ध बात है। साधन-विरुद्ध उद्देश्य और रुचि साथमें रहनेके कारण साधन करते हुए भी उन्नति नहीं होती। जबतक धन, मान, बड़ाई, आराम आदिका उद्देश्य और प्रियता साथमें रहती है, तबतक मनुष्य वास्तवमें साधक नहीं होता।

कभी पारमार्थिक रुचि, कभी सांसारिक रुचि; कभी सद्गुण-सदाचार, कभी दुर्गुण-दुराचार—इस प्रकार साधनके साथ-साथ साधन-विरुद्ध बात तो प्रत्येक साधारण मनुष्यमें रहती है। किसी मनुष्यमें साधनकी मुख्यता रहती है और किसी मनुष्यमें साधन-विरुद्ध आचरणकी मुख्यता रहती है। परमात्माका अंश होनेके कारण सद्गुण-सदाचारसे सर्वथा रहित कोई मनुष्य हो ही नहीं सकता। मनुष्यमें केवल सद्गुण-सदाचार तो रह सकते हैं, पर केवल दुर्गुण-दुराचार रह ही नहीं सकते। अतः थोड़े-से सद्गुण-सदाचारसे, थोड़े-से साधनसे जो अपनेको साधक मान लेता है, वह गलती करता है। वास्तवमें जिस मनुष्यमें साधन-विरुद्ध आचरण नहीं है, भोग तथा संग्रहका उद्देश्य नहीं है, प्रत्युत एकमात्र परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका ही उद्देश्य है, वही साधक कहलानेयोग्य है।

जिसका यह भाव रहता है कि 'हम बाबाजी (साधु) थोड़े ही हैं ! हम तो गृहस्थ हैं, संसारमें रहते हैं, पैसा कमानेके लिये झूठ, कपट, बेईमानी आदि तो करने ही पड़ते हैं; क्योंकि इनके बिना पैसा पैदा होता नहीं, काम चलता नहीं' आदि, वह साधक नहीं होता, प्रत्युत 'संसारी' होता है। परन्तु जिसका यह भाव रहता है कि 'मैं तो साधक हूँ और मेरेको केवल तत्त्वकी प्राप्ति करनी है; अतः मैं साधन-विरुद्ध कार्य कैसे कर सकता हूँ', वह 'साधक' होता है। साधकका यह भाव होता है कि जीवन-निर्वाहके लिये झूठ, कपट, बेईमानी आदि करनेकी जरूरत ही नहीं है। काम चलानेकी जिम्मेवारी ईश्वरपर है, हमारेपर नहीं। यदि अन्न-जल न मिलनेसे मर जायँगे तो क्या अन्न-जल मिलनेसे नहीं मरेंगे ? समयसे पहले कोई मर ही नहीं सकता, फिर जीवन-निर्वाहके लिये चिन्ता करनेकी क्या जरूरत है ?*

जो मनुष्य संसारी होता है, उसमें सांसारिकपना अखण्ड रहता है अर्थात् वह जिस रीतिसे सांसारिक कार्य करता है, उसी रीतिसे पारमार्थिक कार्य(साधन) भी करता है। परन्तु जो मनुष्य साधक होता है, उसमें साधकपना अखण्ड रहता है अर्थात् वह जिस रीतिसे पारमार्थिक कार्य (साधन) करता है, उसी रीतिसे सांसारिक कार्य भी करता है। सांसारिक रुचिवाला मनुष्य सांसारिक कार्य तो लिप्त (तल्लीन) होकर करता है, पर पारमार्थिक कार्य निर्लिप्त होकर (केवल नियमपूर्तिके लिये) करता है! परन्तु पारमार्थिक रुचि-वाला साधक पारमार्थिक कार्य तो लिप्त (तल्लीन) होकर करता है, पर सांसारिक कार्य निर्लिप्त होकर (कर्तव्यमात्र समझकर) करता है।

सावधानी ही साधन है। अतः साधक हर समय सावधान रहता है कि कहीं कोई साधन-विरुद्ध क्रिया न हो जाय ! राग-द्वेष, काम-क्रोधादिकी वृत्तियाँ आनेपर भी वह उनके अनुसार क्रिया नहीं करता†। अगर अपनी आदतसे

---

* प्रारब्ध पहले रचा, पीछे रचा शरीर। तुलसी चिन्ता क्यों करे, भज ले श्रीरघुबीर॥

† इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ (गीता ३। ३४)

'इन्द्रिय-इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष व्यवस्थासे (अनुकूलता-प्रतिकूलताको लेकर) स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये अर्थात् तदनुसार क्रिया नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके पारमार्थिक मार्गमें विघ्न डालनेवाले शत्रु हैं।'

अथवा भूलसे कोई साधन-विरुद्ध क्रिया हो भी जाय, तो भी उसका उद्देश्य साधन-विरुद्ध क्रिया करनेका होता ही नहीं। जान-बूझकर वह कोई साधन-विरुद्ध क्रिया नहीं करता।

जैसे, कोई आदमी धन कमाता है और समय-समयपर उसको खर्च भी करता रहता है तो वह धनका असली लोभी नहीं है। जो असली लोभी होगा, वह कठिनता भोग लेगा, पर जानबूझकर पैसा खर्च नहीं करेगा। यहाँसे वहाँतक जानेमें चार पैसे भी लगते हों तो वह पैदल चला जायगा, पर चार पैसे खर्च नहीं करेगा। इसी तरह साधकमें भी साधनका लोभ होना चाहिये। उसको आँखमें तिनकेकी तरह साधनकी थोड़ी-सी भी हानि सहन नहीं होनी चाहिये। जो साधक साधनका लोभी होता है, उससे अगर कोई साधन-विरुद्ध क्रिया हो जाय तो उसको दुःख होता है, जलन होती है, पश्चात्ताप होता है। ऐसा होनेसे साधन-विरुद्ध क्रिया होनी बन्द हो जाती है।

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति न स्त्रीको होती है, न पुरुषको होती है; न साधुको होती है; न गृहस्थको होती है; न ब्राह्मणको होती है, न क्षत्रियको होती है अर्थात् भगवत्प्राप्ति किसी जाति, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके व्यक्तिको नहीं होती, प्रत्युत साधकको होती है। अतः जो साधक होता है, वह स्त्री, पुरुष, साधु, गृहस्थ आदि नहीं होता*। तात्पर्य है कि साधकमें न तो जाति, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका अभिमान होता है, न इनका आग्रह होता है और न दूसरोंके प्रति नीचा भाव होता है।

प्रश्न—साधकका लक्षण क्या है?

उत्तर—साधकका लक्षण है—संसारसे वैराग्य और परमात्मामें प्रेम।

प्रश्न—सज्जन और साधकमें क्या फर्क है?

उत्तर—जिसके आचरण और विचार अच्छे हैं, जो सद्गुणी और सदाचारी है, वह 'सज्जन' होता है और जिसमें भगवत्प्राप्तिकी, कल्याणकी उत्कण्ठा है, वह 'साधक' होता है। साधक तो सज्जन होता ही है, पर सज्जन साधक होता हो—यह नियम नहीं है।

जो दूसरोंके मत, सम्प्रदायकी निन्दा करता है, उनका खण्डन करता है, विरोध करता है, वह सज्जन तो हो सकता है, पर साधक नहीं हो सकता। साधक वही होता है, जो अपने मत, सम्प्रदायका अनुसरण तो करता है, पर दूसरोंके मत, सम्प्रदायकी निन्दा, खण्डन, घृणा नहीं करता।

प्रश्न—साधकका व्यवहार कैसा होता है?

उत्तर—वह अपने स्वार्थका त्याग करके दूसरोंका हित करता है; अपने सुख-आरामका त्याग करके दूसरोंको सुख-आराम देता है; अपनी मान-बड़ाईका त्याग करके दूसरोंको मान-बड़ाई देता है—***'सबहि मानप्रद आपु अमानी'*** (मानस ७।३८।२)। वह किसीके भी प्रति बुराभाव नहीं रखता। अगर उसको किसीमें दोष दीखते हैं तो वह ऐसा मानता है कि ये दोष उसके शरीरमें, अन्तःकरणमें, स्वभावमें हैं, स्वयंमें नहीं हैं। जैसे किसीके कपड़ेमें दाग लग जाय तो वह खुद दागवाला नहीं हो जाता, ऐसे ही अन्तःकरण आदिमें दोष होनेसे वह स्वयं दोषी नहीं हो जाता। इस तरह साधक किसीको भी बुरा नहीं मानता और दूसरोंको भी वह प्रायः बुरा नहीं लगता—**'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः'** (गीता १२।१५)।

प्रश्न—मनुष्यजीवनमें साधनका आरम्भ कब होता है?

उत्तर—साधनका आरम्भ होता है—संसारसे संतप्त (दुःखी) होनेपर और विचार करनेपर। जब मनुष्यको संसारसे सुख नहीं मिलता, शान्ति नहीं मिलती और जिनसे वह स्नेह करता है, जिनसे वह सुख लेता है अथवा सुखकी आशा रखता है, उनके द्वारा भी उसको धक्का लगता है, तब वह संसारसे निराश हो जाता है। उसके भीतर उथल-पुथल मचने लगती है। ऐसी अवस्थामें उसके भीतर उस सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा (आवश्यकता) जाग्रत् होती है, जो नित्य हो, अविनाशी हो, निर्विकार हो, दुःखसे रहित हो। उसका यह उद्देश्य हो जाता है कि अब मैं उस सुखको प्राप्त करूँगा, जिसमें दुःख न हो तथा जिसका कभी अन्त न हो; उस पदको प्राप्त करूँगा, जिससे कभी पतन न हो; उस वस्तुको प्राप्त करूँगा, जिसका कभी वियोग न हो। ऐसा उद्देश्य होते ही साधनका आरम्भ हो जाता है।

केवल संसारसे दुःखी होकर साधनमें लगनेवाला मनुष्य तो संसारका सुख मिलनेपर साधनसे हट भी सकता है, पर विचारपूर्वक साधनमें लगनेवाला मनुष्य साधनसे कभी हट नहीं सकता। कारण कि उसका उद्देश्य उस सुखको प्राप्त करनेका होता है, जिसमें कभी किञ्चिन्मात्र भी

* नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रः। न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः॥ (हस्तामलकस्तोत्र)

दुःख न हो। उस अविनाशी सुखको प्राप्त किये बिना उसको किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदिमें सन्तोष नहीं होता।

जो संसारसे दुःखी तो होता है, पर उस दुःखको सांसारिक सुखके द्वारा मिटाना चाहता है, वह संसारी (भोगी) होता है, साधक नहीं हो सकता। कारण कि सांसारिक सुखमें आसक्त मनुष्यकी साधनबुद्धि हो ही नहीं सकती*। सांसारिक सुखसे सांसारिक दुःख कभी मिट नहीं सकता—यह नियम है। सांसारिक सुखके पहले भी दुःख है और अन्तमें भी दुःख है; अतः मध्यमें भी दुःख ही है†, चाहे दीखे या न दीखे। कारण कि जो चीज आदि और अन्तमें होती है, वह मध्यमें भी होती है—यह सिद्धान्त है। जब मनुष्य इस बातको समझ लेता है कि सांसारिक सुख वास्तवमें दुःखरूप ही है और सुखका भोगी दुःखसे कभी बच नहीं सकता, तब साधन शुरू हो जाता है।

प्रश्न—साधनका स्वरूप क्या है ?

उत्तर—साधनका स्वरूप है—त्याग, विचार और शरणागति (पुकार)।

अपने सुखके लिये कुछ न करके केवल दूसरोंके सुखके लिये सम्पूर्ण क्रियाएँ करना—यह त्याग (कर्मयोग) है।

बचपनसे लेकर आजतक शरीर सर्वथा बदल गया, पर मैं वही हूँ अर्थात् स्वरूप ज्यों-का-त्यों है—यह विचार (ज्ञानयोग) है।

मैं कुछ नहीं कर सकता—इस भावसे अपने बलका आश्रय छोड़कर भगवान्‌का आश्रय ले लेना‡—यह शरणागति (भक्तियोग) है।

प्रश्न—साधनकी मुख्य बाधा क्या है ?

उत्तर—साधनकी मुख्य बाधा है—संयोगजन्य सुखकी आसक्ति। यह बाधा साधनमें बहुत दूरतक रहती है। साधक जहाँ सुख लेता है, वहीं अटक जाता है। यहाँतक हि वह समाधिका भी सुख लेता है तो वहाँ अटक जाता है§। सात्त्विक सुखकी आसक्ति भी बन्धनकारक हो जाती है—**'सुखसङ्गेन बध्नाति'** (गीता १४। ६)। इसलिये भगवान्‌ने संयोगजन्य सुखकी कामनाको विवेकी साधकोंका नित्य वैरी बताया है—**'ज्ञानिनो नित्यवैरिणा'** (गीता ३। ३९)।

आजकल साधकमें अपने साधनको आगे बढ़ानेकी, अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त करनेकी धुन तो रहती है, पर सुखासक्तिको मिटानेकी धुन नहीं रहती। सुखासक्तिके कारण ही साधन तत्काल अर्थात् वर्तमानमें सिद्ध नहीं होता और उसमें देरी लगती है। अतः सुखासक्तिको मिटानेकी बड़ी भारी आवश्यकता है।

वास्तवमें भगवान् भी विद्यमान हैं, गुरु भी विद्यमान हैं, तत्त्वज्ञान भी विद्यमान है और अपनेमें योग्यता, सामर्थ्य भी विद्यमान है। केवल नाशवान् सुखकी आसक्तिसे ही उनके प्रकट होनेमें बाधा लग रही है। नाशवान् सुखकी आसक्ति मिटानेकी जिम्मेवारी साधकपर है; क्योंकि उसीने आसक्ति की है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(गीता ६। ५)

'अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे; क्योंकि आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

प्रश्न—संयोगजन्य सुखकी आसक्ति कैसे छूटे ?

उत्तर—सुखासक्ति छोड़नेका बढ़िया उपाय है—दूसरेके सुखसे सुखी (प्रसन्न) और दुःखसे दुःखी (करुणित) होना—***'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर'*** (मानस ७। ३८। १)। सुखी व्यक्तिको देखकर प्रसन्न होनेसे साधक उसके सुखमें सहमत हो जाता है, जिससे वह व्यक्ति सुखका अनुभव करता है। ऐसे ही दुःखी व्यक्तिको देखकर करुणित होनेसे साधक उसके दुःखमें सहमत हो जाता है, जिससे दुःखका भार अकेले उस व्यक्तिपर नहीं रहता, उसका दुःख हलका हो जाता है और वह सुखका अनुभव करता है।

---

* भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (गीता २। ४४)

† (१) ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। (गीता ५। २२)

(२) परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (योगदर्शन २। १५) 'परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख—ऐसे तीन प्रकारके दुःख सबमें विद्यमान रहनेके कारण तथा तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकी पुरुषके लिये सब-के-सब भोग दुःखरूप ही हैं।'

‡ हौं हार्‌यौ करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै। तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥ (विनय० ८९। ४)

§ भोगोंका सुख संयोगजन्य और समाधिका सुख वियोगजन्य है। संयोगजन्य सुख लेनेसे पतन हो जाता है और वियोगजन्य सुख लेनेसे साधक अटक जाता है।

दूसरेके सुखसे सुखी होनेपर भोगोंकी इच्छा कम हो जाती है, क्योंकि भोगोंमें जो सुख मिलता है, वह सुख साधकको दूसरोंको सुखी देखनेपर विशेषतासे मिल जाता है, जिससे सुखभोगकी आवश्यकता नहीं रहती। ऐसे ही दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेपर साधकके पास जो सुख-सामग्री, योग्यता, सामर्थ्य आदि है, वह स्वतः उसका दुःख दूर करनेमें लग जाती है, जिससे संग्रह करनेकी इच्छा कम हो जाती है। इस तरह दूसरेके सुखसे सुखी और दुःखसे दुःखी होनेपर संयोगजन्य सुख (भोग और संग्रह) की आसक्ति कम होकर मिट जाती है।

दूसरेके सुखसे सुखी और दुःखसे दुःखी होनेवाला साधक अपना दुःख तो प्रसन्नतापूर्वक सह लेता है, पर दूसरेका दुःख उससे सहा नहीं जाता। उसको अपने दुःखकी परवाह न होकर दूसरेके दुःखकी परवाह होती है। अगर साधकमें त्याग-वैराग्यकी प्रधानता हो तो उसको अपने शरीरका दुःख बहुत कम मालूम देता है और दूसरेसे सुख लेनेकी इच्छा नहीं होती। दूसरेसे सुख लेना उसको सहन नहीं होता और दूसरा अपने-आप सुख दे तो उसको प्रसन्नता नहीं होती।

प्रश्न—सुखासक्ति छोड़नेके अन्य उपाय क्या हैं?

उत्तर—अगर भगवान्‌में दृढ़ आस्तिकभाव हो तो व्याकुलतापूर्वक भगवान्‌को पुकारनेसे भी सुखासक्ति छूट जाती है।

अगर यह दृढ़ निश्चय हो जाय कि अब मेरेको सुख लेना ही नहीं है तो सुखासक्ति मिटनेमें देरी नहीं लगती। वास्तवमें सुख लेनेके लिये है ही नहीं, यह तो देनेके लिये ही है—***'एहि तन कर फल बिषय न भाई'*** (मानस ७। ४४। १)।

जिन महापुरुषोंकी सांसारिक सुखमें आसक्ति नहीं है, प्रत्युत केवल भगवान्‌में आसक्ति (प्रियता) है, उनका संग करनेसे सुखकी आसक्ति मिट जाती है। संग करनेका तात्पर्य है—उन महापुरुषोंके भाव, मान्यता, आचरण आदिमें महत्त्वबुद्धि होना।

गहराईसे विचार करनेपर भी सुखासक्ति मिट जाती है; जैसे—संसारका सुख कभी पूरा नहीं मिलता, प्रत्युत अधूरा ही मिलता है। हमारेको धन मिला तो क्या हमारेसे अधिक धन किसीके पास नहीं है? स्त्रीका सुख मिला तो क्या उससे अधिक गुणवती, सुन्दर स्त्री किसीके पास नहीं है? हमारेको जो भी वस्तु मिली है, उससे बढ़िया वस्तु संसारमें है ही। अगर हमारेको बढ़िया-से-बढ़िया वस्तु मिल भी जाय, तो भी उसका वियोग अवश्यम्भावी है। फिर ऐसे सुखमें हम क्यों आसक्त हों?

संयोगजन्य सुखकी आसक्ति सम्पूर्ण पाप, सन्ताप, दुःख, अनर्थ, कलह, हलचल, बाधा आदिका मूल है—ऐसा समझकर अनुभव कर लेनेसे सुखासक्ति मिट जाती है।

प्रश्न—काम-क्रोधादि दोष आयें तो साधकको क्या करना चाहिये?

उत्तर—उसको ऐसा मानना चाहिये कि दोष मेरेमें निरन्तर नहीं रहते। दोष तो आते हैं और चले जाते हैं, पर मैं वही रहता हूँ। जैसे घरमें कोई कुत्ता आया और चला गया तो न घर कुत्तेका है और न कुत्ता घरका है। ऐसे ही दोष आये और चले गये तो न मैं उन दोषोंका साथी हूँ और न वे दोष मेरे साथी हैं। ऐसा मानकर साधकको उन दोषोंके वशमें नहीं होना चाहिये—**'तयोर्न वशमागच्छेत्'** (गीता ३। ३४) अर्थात् उनके अनुसार क्रिया नहीं करनी चाहिये। कामादि दोष उसीको तंग करते हैं, जो उनके वशीभूत हो जाता है। अतः जब भी ये दोष आयें तो साधकको चाहिये कि वह 'हे नाथ! हे नाथ!!' कहकर भगवान्‌को पुकारे। सच्चे हृदयसे की हुई पुकार कभी निष्फल नहीं जाती।

प्रश्न—साधन आगे बढ़ रहा है—इसकी पहचान क्या है?

उत्तर—साधकका संसारमें जितना कम आकर्षण हो और भगवान्‌में जितना ज्यादा आकर्षण हो, उतना ही वह साधनमें आगे बढ़ा है। साधनमें आगे बढ़नेपर राग-द्वेष उत्तरोत्तर कम होते जाते हैं। अगर पहलेकी अपेक्षा राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि कम नहीं हुए, चित्तमें शान्ति नहीं आयी तो क्या साधन किया?

प्रश्न—साधन पूर्ण (सिद्ध) होनेपर क्या होता है?

उत्तर—साधन सिद्ध होनेपर कृतकृत्यता, ज्ञातज्ञातव्यता तथा प्राप्तप्राप्तव्यता हो जाती है अर्थात् कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता। साधकको उस परम लाभकी प्राप्ति हो जाती है, जिसकी प्राप्ति होनेपर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ उसके माननेमें नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर वह महान्-से-महान् दुःखसे भी कभी विचलित नहीं किया जा सकता*।

सिद्ध होनेपर अपनेमें अभाव तो रहता नहीं और विशेषता दीखती नहीं। जबतक साधकको अपनेमें विशेषता

* यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ (गीता ६। २२)

दीखती है, वह अपनेको सिद्ध मानता है, तबतक उसमें व्यष्टि अहंकार (व्यक्तित्व) रहता है। जबतक व्यष्टि अहंकार रहता है, तबतक परिच्छिन्नता, विषमता, जडता, अभाव, अशान्ति, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि दोष विद्यमान रहते हैं।

प्रश्न—ऊँचे साधक और सिद्धमें क्या अन्तर होता है ?

उत्तर—साधनकी ऊँची स्थिति प्राप्त होनेपर जाग्रत्-अवस्थामें तो साधकमें जड-चेतनका विवेक अच्छी तरह रहता है, पर निद्रावस्थामें उसकी विस्मृति हो जाती है। अतः नींदसे जगनेपर वह साधक उस विवेकको पकड़ता है। परन्तु सिद्धका विवेक प्रत्येक अवस्थामें, नित्य-निरन्तर, स्वतः-स्वाभाविक रहता है। नींदसे जगनेपर उसे विवेकको पकड़ना नहीं पड़ता।

ऊँचे साधक और सिद्धकी पहचान दूसरा व्यक्ति नहीं कर सकता; क्योंकि यह स्वसंवेद्य स्थिति है।

प्रश्न—तत्त्वज्ञ और तत्त्वनिष्ठमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—तत्त्वज्ञमें कुछ कोमलता रहती है और तत्त्वनिष्ठमें दृढ़ता रहती है। तत्त्वज्ञका व्यवहार जलमें खींची गयी लकीरके समान और तत्त्वनिष्ठका व्यवहार आकाशमें खींची गयी लकीरके समान होता है। तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञमें तो पहलेका कुछ संस्कार (स्वभाव) रहता है, पर तत्त्वनिष्ठमें पहलेका संस्कार सर्वथा नहीं रहता, प्रत्युत उसमें अन्तःकरणसहित संसारमात्रका अत्यन्त अभाव तथा परमात्मतत्त्वका दृढ़ भाव निरन्तर ज्यों-का-त्यों स्वतः-स्वाभाविक जाग्रत् रहता है।

तत्त्वज्ञान होनेके बाद भी तत्त्वनिष्ठा होनेमें कुछ समय लग सकता है। परन्तु उसके लिये कोई अभ्यास या उद्योग नहीं करना पड़ता, प्रत्युत समय पाकर अपने-आप निष्ठा हो जाती है। जैसे, काँटा निकालनेके बाद भी पीड़ा रह जाती है, पर वह पीड़ा समय पाकर अपने-आप मिट जाती है। आगपर पानी डालनेसे आग बुझ जाती है, पर राखमें गरमी रह जाती है। वह गरमी समय पाकर अपने-आप मिट जाती है। वृक्षकी जड़ काटनेके बाद भी उसके तनेपर लगे पत्ते हरे रहते हैं, पर वे समय पाकर अपने-आप सूख जाते हैं। नींद खुलनेके बाद भी आँखोंमें कुछ भारीपन रहता है, पर कुछ देरके बाद वह अपने-आप मिट जाता है। तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञ समय पाकर अपने-आप तत्त्वनिष्ठ हो जाता है।

★

मनकी चञ्चलता कैसे मिटे ?

आजकल यह बड़ी शिकायत रहती है कि मन नहीं लगता, मन बहुत चंचल है ! अतः मनको रोकनेके लिये, मनकी चंचलता मिटानेके लिये एक बहुत बढ़िया उपाय बताया जाता है।

आप अध्ययन करें कि मनमें क्या आता है ? मनमें विशेषरूपसे बीती हुई बातोंकी याद आती है। बीती हुई बातें चाहे बालकपनकी हों, चाहे अभी एक क्षण पहलेकी हों, वह सब भूतकाल है। भूतकालमें जो बातें सुनीं, देखीं, पढ़ीं, विचारमें आयीं, उन बातोंकी याद आती है। ऐसे ही कुछ भविष्यकी बातें भी याद आती हैं कि हमें वह काम करना है, वहाँ जाना है, उससे मिलना है, इतना धंधा करना है आदि। इस तरह भूतकी और भविष्यकी बातें याद आती हैं। इस चिन्तनको मिटानेके लिये बहुत तरहकी युक्तियाँ और उपाय हैं। उनमें सबसे बढ़िया उपाय है कि मनमें जो भी याद आये, वह अब है ही नहीं—ऐसा समझकर उसकी उपेक्षा कर दें और उससे तटस्थ हो जायँ अर्थात् वर्तमानमें उससे हमारा सम्बन्ध है ही नहीं—यह दृढ़ विचार कर लें। यह सीखनेकी बात नहीं है, प्रत्युत अनुभव करनेकी बात है।

भूतकालका सर्वथा अभाव है। जैसे उस कालका अभाव है, ऐसे उस कालकी (बीती हुई) घटनाओंका भी अभाव है। बीती हुई घटनाओंमें दो तरहकी बातें हैं। एक हमने भोगोंको भोगा और एक हमने ऐसे ही देख लिया, सुन लिया, पढ़ लिया और छोड़ दिया। अतः मनोराज्यके दो भेद बताये गये हैं—मन्द और तीव्र। बिना भोगे हुए जो भोग याद आते हैं, वह मन्द मनोराज्य है और भोगे हुए भोग याद आते हैं, वह तीव्र मनोराज्य है। भोग जितना ही आसक्तिपूर्वक, लगनपूर्वक भोगा है, उतना ही उसका स्मरण ज्यादा होता है और जल्दी नहीं मिटता* । मधुसूदनाचार्यके 'भक्तिरसायन'

* सांसारिक भोगोंको बाहरसे भी भोगा जा सकता है और मनसे भी। बाहरसे भोग भोगना और मनसे उनके चिन्तनका रस (सुख) लेना—दोनोंमें कोई फर्क नहीं है। बाहरसे रागपूर्वक भोग भोगनेसे जैसा संस्कार पड़ता है, वैसा ही संस्कार मनसे भोग भोगनेसे अर्थात् मनसे भोगोंके चिन्तनमें रस लेनेसे पड़ता है। भोगकी याद आनेपर उसकी यादसे रस लेते हैं तो कई वर्ष बीतनेपर भी वह भोग ज्यों-का-त्यों (ताजा) बना रहता है। अतः भोगके चिन्तनसे भी एक नया भोग बनता है ! इतना ही नहीं, मनसे भोगोंके चिन्तनका सुख लेनेसे विशेष हानि होती है। लोक-लिहाजसे, व्यवहारमें गड़बड़ी आनेके भयसे मनुष्य बाहरसे तो भोगोंका त्याग कर सकता है, पर मनसे भोग भोगनेमें बाहरसे कोई बाधा नहीं आती। अतः मनसे भोग भोगनेका विशेष अवसर मिलता है।

ग्रन्थमें आया है—

कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयाऽऽदयः ।
तापकाश्चित्तजतुनस्तच्छान्तौ कठिनं तु तत् ॥
(१ । ५)

'काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि भाव चित्तरूपी लाखको तपाकर द्रवित करनेवाले हैं। भावरूपी उष्णताके शान्त होनेपर चित्तरूपी लाख ज्यों-की-त्यों कठोर हो जाती है।'

लाख कठोर होती है, पर तापक द्रव्य मिल जाय तो वह पिघल जाती है। मोम भी थोड़ा-सा ताप लगनेपर पिघल जाता है। यदि उसके ऊपर रंग लगाकर दबायें तो उसपर थोड़ा-सा रंग बैठ जाता है, पर नखसे उतारनेपर वह रंग उतर जाता है। अगर एक कटोरीमें मोम डालकर उसको आगपर रख दें और उसमें रंग डाल दें तो वह रंग मोममें एकदम मिल जाता है। मोम ठण्डा होनेपर भी वही रंग दीखता है। ऐसे ही जिन भोगोंको भोगनेमें, जिन घटनाओंमें हमारा चित्त ज्यादा पिघला है, हम उसमें ज्यादा तल्लीन हुए हैं, उनका रंग हमारे मनमें बैठा हुआ है। अतः उनकी याद ज्यादा आती है। भूतकालमें हमने जो भोग भोगा है, वह अब बिलकुल नहीं है; परन्तु वह पिघले हुए चित्तमें बैठ गया है, इसलिये वह बड़ी तेजीसे आता है। रागपूर्वक, आसक्तिपूर्वक भोगा गया भोग कई वर्ष बीतनेपर भी ज्यों-का-त्यों दीखता है। ज्यों-का-त्यों दीखनेपर भी वह भूतकालमें ही है, अभी तो वह है ही नहीं! यह उसको हटानेकी बहुत बढ़िया युक्ति है! इसलिये आप इसका अनुभव करें कि वह अभी नहीं है। यह बिलकुल शंकारहित, पक्की बात है कि वह घटना अभी नहीं है, वह वस्तु अभी नहीं है, वह क्रिया अभी नहीं है, वह संग अभी नहीं है। हम उस घटना आदिको मिटाना चाहते हैं, चित्तको ठीक करना चाहते हैं। परन्तु उस घटना आदिको मिटानेसे वह नहीं मिटेगी। चित्तको ठीक करनेसे वह ठीक नहीं होगा। उसको मिटानेकी, ठीक करनेकी चेष्टा करना तो उसको सत्ता देकर दृढ़ करना है। वास्तवमें वह अभी है ही नहीं। जब वह है ही नहीं, तो फिर चंचलता क्या रही? आश्चर्यकी बात है कि जो नहीं है, उसीसे हम दुःखी हो रहे हैं! जिसका अभाव है, उसीसे हम भयभीत हो रहे हैं!

काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक और दया—ये सात बातें हैं, जिनसे चित्त पिघलता है (इन सबमें मुख्य राग-द्वेष हैं)। कामनासे कोई भोग भोगते हैं तो कामना जितनी तेज होती है, उतना ही चित्त ज्यादा पिघलता है और उतना ही वह ज्यादा याद आता है। क्रोध तेजीका आता है तो चित्त ज्यादा पिघलता है। कभी किसी कारणसे जोरसे भय लगता है तो वह भी भीतर बैठ जाता है, जल्दी निकलता नहीं। ऐसे ही किसीसे ज्यादा स्नेह होता है तो चित्त पिघल जाता है। मित्रके मिलनेसे बड़ा हर्ष होता है तो इससे चित्त पिघलता है। कोई मर जाता है और उसका बहुत ज्यादा शोक होता है तो वह चित्तमें बैठ जाता है। थोड़ा शोक हो तो थोड़ा बैठता है। किसीको देखकर दया आ जाती है तो वह भी चित्तमें बैठ जाती है। परन्तु 'अभी वह नहीं है'—यह बिलकुल पक्की बात है।

कुत्तेके शरीरमें कहीं घाव हो जाय तो वह उसको जीभसे चाटता है। उसकी जीभकी लारमें एक शक्ति होती है, जिससे वह घाव मिट जाता है। परन्तु बन्दरके शरीरमें घाव हो जाय तो वह उसको बार-बार कुरेदता है, जिससे वह घाव मिटता नहीं। ऐसे ही दो तरहकी बात है—चाटना और कुरेदना। अभी नहीं है—यह चाटना है और बार-बार याद करना और उसको मिटानेके लिये बार-बार चेष्टा करना कुरेदना है। जैसे, किसीका लड़का मर जाय तो वह उसको बार-बार याद करता है कि वह बड़ा अच्छा था, मर गया! उसको याद नहीं आये तो लोग आकर याद करा देते हैं! स्त्रियाँ प्रायः याद करा देती हैं। वे आती हैं और कहती हैं कि छोरा मेरी गोदीमें ऐसे आता था, इस तरहसे मेरेसे चिपक जाता था! वह ऐसा था, ऐसा उसका रूप था, ऐसी उसकी चंचलता थी! इन बातोंसे घाव गीला हो जाता है, घाव बढ़ जाता है, शोक बढ़ जाता है और लड़केकी याद ज्यादा आती है। ऐसे ही काम, क्रोध, भय आदिकी बात याद करना घावको बढ़ानेकी रीति है। उसको चाटकर साफ कर दें कि कितना ही काम, क्रोध, लोभ हुआ, मोह, आसक्ति हुई, कैसा ही भोग भोगा, वह वास्तवमें उस समय भी नहीं था, अब तो है ही नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**'। जिन व्यक्तियोंमें हमारा स्नेह था, मोह था, मित्रता थी, वे मर गये अथवा अलग हो गये। वे कहीं रहते हैं, हम कहीं रहते हैं। अभी न वे व्यक्ति हैं, न वह देश है, न वह समय है, न वह अवस्था है, न वह परिस्थिति है। उसका जितनी दृढ़तासे अभाव मान सकें, मान लें और उसकी उपेक्षा कर दें। न उससे राग करें, न द्वेष करें, प्रत्युत तटस्थ हो जायँ।

प्रश्न—भूतकाल और भविष्यकाल तो अभी नहीं है, पर वर्तमानकाल तो अभी है ही?

उत्तर—वास्तवमें वर्तमानकाल है ही नहीं। भूत और भविष्यकालकी सन्धिको ही वर्तमानकाल कह देते हैं। पाणिनिव्याकरणका एक सूत्र है—'**वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा**' (३ । ३ । १३१) अर्थात् वर्तमानसामीप्य भी वर्तमानकी तरह होता है। जैसे, भूतकालको लेकर कहते हैं

कि 'मैं अभी आया हूँ' और भविष्यकालको लेकर कहते हैं कि 'मैं अभी जा रहा हूँ'—यह वर्तमानसामीप्य है। वास्तवमें वर्तमानसामीप्यको ही वर्तमानकाल कह देते हैं। अगर वर्तमानकाल वास्तवमें होता तो वह कभी भूतकालमें परिणत नहीं होता।

वास्तवमें देश, काल, आदि वर्तमान नहीं हैं, प्रत्युत तत्त्व (सत्ता) ही वर्तमान है। तात्पर्य है कि जो प्रतिक्षण बदलता है, वह वर्तमान नहीं है, प्रत्युत जो कभी बदलता नहीं, वही वर्तमान है। वह तत्त्व, भूत, भविष्य और वर्तमान—सबमें सदा वर्तमान है, पर उस तत्त्वमें न भूत है, न भविष्य है और न वर्तमान है। कालमें तो सत्ता है, पर सत्तामें काल नहीं है। सत्ता कालसे अतीत है।

वर्तमान (सत्ता, स्वरूप) सबका सदा ही निर्दोष और शान्त है। अतः भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंको छोड़कर उसी निर्दोष और शान्त सत्तामें स्थित होना है अर्थात् उसमें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव करना है। अनुभव होनेपर न मन रहेगा, न मनकी चञ्चलता रहेगी, प्रत्युत सत्तामात्र रहेगी।

★

मृत्युके भयसे कैसे बचें ?

संसारके सम्पूर्ण दुःखोंके मूलमें सुखकी इच्छा है। बिना सुखेच्छाके कोई दुःख होता ही नहीं। ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये— इस इच्छामें ही सम्पूर्ण दुःख हैं। मृत्युके समय जो भयंकर कष्ट होता है, वह भी उसी मनुष्यको होता है, जिसमें जीनेकी इच्छा है; क्योंकि वह जीना चाहता है और मरना पड़ता है ! अगर जीनेकी इच्छा न हो तो मृत्युके समय कोई कष्ट नहीं होता, प्रत्युत जैसे बालकसे जवान और जवानसे बूढ़ा होनेपर अर्थात् बाल्कपन और जवानी छूटनेपर कोई कष्ट नहीं होता, ऐसे ही शरीर छूटनेपर भी कोई कष्ट नहीं होता। गीतामें आया है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

(२।१३)

'देहधारीके इस मनुष्यशरीरमें जैसे बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, ऐसे ही देहान्तरकी प्राप्ति होती है। उस विषयमें धीर मनुष्य मोहित नहीं होता।'

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

(२।२२)

'मनुष्य जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर दूसरे नये कपड़े धारण कर लेता है, ऐसे ही देही पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंमें चला जाता है।'

शरीरमें अध्यास अर्थात् मैंपन और मेरापन होनेसे ही जीनेकी इच्छा और मृत्युका भय होता है। कारण कि शरीर तो नाशवान् है, पर आत्मा अमर (अविनाशी) है और इसका विनाश कोई कर ही नहीं सकता—'**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति**' (गीता २।१७), '**न हन्यते हन्यमाने शरीरे**' (गीता २।२०)।

राम मरे तो मैं मरूँ, नहिं तो मरे बलाय।
अविनाशी का बालका, मरे न मारा जाय ॥

शरीर प्रतिक्षण मरता है, एक क्षण भी टिकता नहीं और आत्मा नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है, एक क्षण भी बदलता नहीं। अतः जीनेकी इच्छा और मृत्युका भय न तो शरीरको होता है और न आत्माको ही होता है, प्रत्युत उसको होता है, जिसने स्वयं अविनाशी होते हुए भी नाशवान् शरीरको अपना स्वरूप (मैं और मेरा) मान लिया है। शरीरको अपना स्वरूप मानना अविवेक है, प्रमाद है और प्रमाद ही मृत्यु है—'**प्रमादो वै मृत्युः**' (महा० उद्योग० ४२।४)।

प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही सुख-दुःखका भोक्ता बनता है— '**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्**' (गीता १३।२१)। पुरुष प्रकृतिमें स्थित होता है—अविवेकसे। स्वरूपको शरीर और शरीरको अपना स्वरूप मानना अविवेक है। यह अविवेक ही दुःखका कारण है। तात्पर्य है कि मनुष्य नाशवान्‌को रखना चाहता है और अविनाशीको जानना नहीं चाहता, इस कारण दुःख होता है। अगर वह नाशवान्‌को अपना स्वरूप न समझे और स्वरूपको ठीक जान जाय तो फिर दुःख नहीं होगा।

शरीरमें जितना अधिक मैंपन और मेरापन होता है, मृत्युके समय उतना ही अधिक कष्ट होता है। संसारमें बहुत-से आदमी मरते रहते हैं, पर उनके मरनेका दुःख, कष्ट हमें नहीं होता; क्योंकि उनमें हमारा मैंपन भी नहीं है और मेरापन भी नहीं है।

मृत्युके समय एक पीड़ा होती है और एक दुःख होता है। पीड़ा शरीरमें और दुःख मनमें होता है। जिस मनुष्यमें वैराग्य होता है, उसको पीड़ाका अनुभव तो होता है, पर दुःख नहीं होता। हाँ, देहमें आसक्त मनुष्यको जैसी भयङ्कर पीड़ाका

अनुभव होता है, वैसा अनुभव वैराग्यवान् मनुष्यको नहीं होता। परन्तु जिसको बोध और प्रेमकी प्राप्ति हो गयी है, उस तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त तथा भगवत्प्रेमी महापुरुषको पीड़ाका भी अनुभव नहीं होता। जैसे, भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम होनेसे बालिको मृत्युके समय किसी पीड़ा या कष्टका अनुभव नहीं हुआ। जैसे हाथीके गलेमें पड़ी हुई माला टूटकर गिर जाय तो हाथीको उसका पता नहीं लगता, ऐसे ही बालिको शरीर छूटनेका पता नहीं लगा—

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

(मानस ४।१०)

बोध होनेपर मनुष्यको सच्चिदानन्दरूप तत्त्वमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है, जिस तत्त्वमें कभी परिवर्तन हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं। प्रेमकी प्राप्ति होनेपर मनुष्यको एक विलक्षण रसका अनुभव होता है; क्योंकि प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है।

बोध और प्रेमकी प्राप्ति होनेपर मृत्युमें भी आनन्दका अनुभव होता है। कारण कि मृत्युके समय तत्त्वज्ञ पुरुष एक शरीरमें आबद्ध न रहकर सर्वव्यापी हो जाता है और भगवत्प्रेमी पुरुष भगवान्‌के लोकमें, भगवान्‌की सेवामें पहुँच जाता है।

जिनका शरीरमें मैं-मेरापन नहीं मिटा है, उनको भी मृत्युमें, कष्टमें सुखका अनुभव हो सकता है; जैसे—शूरवीर सैनिकमें वीररसका स्थायीभाव 'उत्साह' रहनेके कारण शरीरमें पीड़ा होनेपर भी उसको दुःख नहीं होता, प्रत्युत अपने कर्तव्यका पालन करनेमें एक सुख होता है। उसमें इतना उत्साह रहता है कि सिर कट जानेपर भी वह शत्रुओंसे लड़ता रहता है। खुदीराम बोसको जब फाँसीका हुक्म हुआ था, तब अपने उद्देश्यकी सिद्धिसे हुई प्रसन्नताके कारण उसके शरीरका वजन बढ़ गया था। स्त्रीको प्रसवके समय बड़ा कष्ट होता है। परन्तु पुत्र-मोहके कारण उसको दुःख नहीं होता, प्रत्युत एक सुख होता है, जिसके आगे प्रसवकी पीड़ा भी नगण्य हो जाती है। लोभी आदमीको रुपये खर्च करते समय बड़े कष्टका अनुभव होता है! परन्तु जिस काममें अधिक लाभ होनेकी सम्भावना रहती है; उसमें वह अपने पासके रुपये भी लगा देता है और जरूरत पड़नेपर कड़े ब्याजपर लिये गये रुपये भी लगा देता है। लाभकी आशासे रुपये लगानेमें भी उसको दुःख नहीं होता। तपस्वीलोग गर्मियोंमें पञ्चाग्नि तपते हैं तो शरीरको कष्ट होनेपर भी उनको दुःख नहीं होता, प्रत्युत तपस्याका उद्देश्य होनेसे प्रसन्नता होती है। विरक्त पुरुषके पास स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि कुछ नहीं होनेपर भी उसको उनका अभावरूपसे अनुभव नहीं होता। अतः उसको दुःख नहीं होता, प्रत्युत सुखका अनुभव होता है। इतना ही नहीं, बड़े-बड़े धनी, राजा-महाराजा भी उसके पास जाकर सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं। इस प्रकार जब शरीरमें मैं-मेरापन मिटनेसे पूर्व भी मृत्युमें, कष्टमें सुखका अनुभव हो सकता है, तो फिर जिनका शरीरमें मैं-मेरापन सर्वथा मिट गया है, उनको मृत्युमें दुःख होगा ही कैसे ? निर्मम-निरहङ्कार होनेपर दुःखका भोक्ता ही कोई नहीं रहता, फिर दुःख भोगेगा ही कौन ?

अगर भीतरमें कोई इच्छा न हो तो सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिसे सुख नहीं होता और अप्राप्ति तथा विनाशसे दुःख नहीं होता। इच्छा होनेसे ही सुख और दुःख—दोनों होते हैं। सुख और दुःख द्वन्द्व हैं, जिनसे मनुष्य संसारमें बँध जाता है। वास्तवमें सुख और दुःख—दोनों एक ही हैं। सुख भी वास्तवमें दुःखका ही नाम है; क्योंकि सुख-दुःखका कारण है—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'** (गीता ५।२२)। अगर मनुष्यमें कोई इच्छा न हो तो वह सुख और दुःख—दोनोंसे ऊँचा उठ जाता है और आनन्दको प्राप्त कर लेता है। जैसे सूर्यमें न दिन है, न रात है, प्रत्युत नित्यप्रकाश है, ऐसे ही आनन्दमें न सुख है, न दुःख है, प्रत्युत नित्य आनन्द है। उस आनन्दका एक बार अनुभव होनेपर फिर उसका कभी अभाव नहीं होता; क्योंकि वह स्वतःसिद्ध, नित्य और निर्विकार है।

अगर सब इच्छाओंकी पूर्ति सम्भव होती तो हम जीनेकी इच्छा पूरी करनेका उद्योग करते और अगर मृत्युसे बचना सम्भव होता तो हम मृत्युसे बचनेका प्रयत्न करते। परन्तु यह सबका अनुभव है कि सब इच्छाएँ कभी किसीकी पूरी नहीं होतीं और उत्पन्न होनेवाला कोई भी प्राणी मृत्युसे बच नहीं सकता, फिर जीनेकी इच्छा और मृत्यसे भय करनेसे क्या लाभ ? जीनेकी इच्छा करनेसे बार-बार जन्म और मृत्यु होती रहेगी तथा जीनेकी इच्छा भी बनी रहेगी ! इसलिये जीते-जी अमर होनेके लिये इच्छाका त्याग करना आवश्यक है।

शरीर 'मैं' नहीं है; क्योंकि शरीर प्रतिक्षण बदलता है, पर हम (स्वयं) वही रहते हैं। अगर हम वही न रहते तो शरीरके बदलनेका ज्ञान किसको होता ? बदलनेवालेका ज्ञान न बदलनेवालेको ही होता है। शरीर 'मेरा' भी नहीं है; क्योंकि इसपर हमारा आधिपत्य नहीं चलता अर्थात् इसको हम अपनी इच्छाके अनुसार रख नहीं सकते, इसमें इच्छानुसार परिवर्तन नहीं कर सकते और इसको सदा अपने साथ नहीं रख सकते। इस प्रकार जब हम शरीरको 'मैं' और 'मेरा' नहीं मानेंगे,

तब उसके जीनेकी इच्छा भी नहीं रहेगी। जीनेकी इच्छा न रहनेसे शरीर छूटनेसे पहले ही नित्यसिद्ध अमरताका अनुभव हो जायगा।

असत्का भाव (सत्ता) नहीं है और सत्का अभाव नहीं है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। सत् सत् ही है और असत् असत् ही है। अतः न सत्का भय है, न असत्का भय है। अगर भय रखें तो भी शरीर मरेगा और भय न रखें तो भी शरीर मरेगा। मरेगा वही, जो मरनेवाला है; फिर नयी हानि क्या हुई ? अतः मृत्युसे भयभीत होना व्यर्थ ही है।

दुर्गतिसे बचो

गीतामें भगवान्, आचार्य, देवता, पितर, यक्ष-राक्षस, भूत-प्रेत आदिकी उपासनाका (विस्तारसे अथवा संक्षेपसे) फलसहित वर्णन हुआ है; जैसे—

(१) अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी (प्रेमी)—ये चार प्रकारके भक्त भगवान्का भजन करते हैं अर्थात् उनकी शरण होते हैं (७।१६)।

भगवान्का भजन-पूजन करनेवाले भक्त भगवान्को प्राप्त हो जाते हैं—**'मद्भक्ता यान्ति मामपि'** (७।२३); **'यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्'** (९।२५)।*

(२) जो वास्तवमें जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुष हैं, जिनका जीवन शास्त्रोंके अनुसार है, वे 'आचार्य' होते हैं। ऐसे आचार्यकी आज्ञाका पालन करना, उनके सिद्धान्तोंके अनुसार अपना जीवन बनाना ही उनकी उपासना है (४।३४; १३।७)। इस तरह आचार्यकी उपासना करने-वाले मनुष्य मृत्युको तर जाते हैं (४।३५; १३।२५)।

(३) जो लोग कामनाओंमें तन्मय होते हैं और भोग भोगना तथा संग्रह करना—इसके सिवाय और कुछ नहीं है, ऐसा निश्चय करनेवाले होते हैं, वे भोगोंकी प्राप्तिके लिये वेदोक्त शुभकर्म करते हैं (२।४२-४३)। कर्मोंकी सिद्धि (फल) चाहनेवाले मनुष्य देवताओंकी उपासना किया करते हैं; क्योंकि मनुष्यलोकमें कर्मजन्य सिद्धि बहुत जल्दी मिल जाती है (४।१२)। सुखभोगकी कामनाओंके द्वारा जिनका विवेक ढक जाता है, वे भगवान्को छोड़कर देवताओंकी शरण हो जाते हैं और अपने-अपने स्वभावके परवश होकर कामना-पूर्तिके लिये अनेक नियमों, उपायोंको धारण करते हैं (७।२०)। भगवान् कहते हैं कि जो-जो भक्त जिस-जिस देवताका पूजन करना चाहता है, उस-उस देवताके प्रति मैं उसकी श्रद्धाको दृढ़ कर देता हूँ। फिर वह उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताकी उपासना करता है। परन्तु उसको उस उपासनाका फल मेरे द्वारा विधान किया हुआ ही मिलता है (७।२१-२२)। तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकाम कर्मोंको करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले पापरहित मनुष्य यज्ञोंके द्वारा इन्द्रका पूजन करके स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं (९।२०)। कामनायुक्त मनुष्य श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंका पूजन करते हैं, वे भी वास्तवमें मेरा (भगवान्का) ही पूजन करते हैं; परंतु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक है (९।२३)।

देवताओंकी उपासना करनेवाले मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं और वहाँ अपने पुण्यका फल भोगकर फिर लौटकर मृत्युलोकमें आते हैं (९।२०-२१)। देवताओंका पूजन करनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं अर्थात् उनके लोकोंमें चले जाते हैं—**'देवान्देवयजः'** (७।२३); **'यान्ति देवव्रता देवान्'** (९।२५)।

(४) पितरोंके भक्त पितरोंका पूजन करते हैं और इसके फलस्वरूप वे पितरोंको प्राप्त होते हैं अर्थात् पितृलोकमें चले जाते हैं—**'पितृन्यान्ति पितृव्रताः'** (९।२५)। (परंतु यदि वे निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर पितरोंका पूजन करते हैं, तो वे मुक्त हो जाते हैं।)

(५) राजस मनुष्य यक्ष-राक्षसोंका पूजन करते हैं (१७।४) और फलस्वरूप यक्ष-राक्षसोंको प्राप्त होते हैं अर्थात् उनकी योनिमें चले जाते हैं†।

(६) तामस पुरुष-भूत-प्रेतोंका पूजन करते हैं (१७।४)। भूत-प्रेतोंका पूजन करनेवाले भूत-प्रेतोंको प्राप्त

---

* गीतामें भगवान्की उपासनाका ही मुख्यतासे वर्णन हुआ है। 'गीता-दर्पण'में भी कई शीर्षकोंके अन्तर्गत भगवान्की उपासनाका अनेक प्रकारसे विवेचन किया गया है। अतः यहाँ भगवान्की उपासनाका वर्णन अत्यन्त संक्षेपसे किया गया है।

† गीतामें भगवान्ने यक्ष-राक्षसोंके पूजनका तो वर्णन कर दिया—'यक्षरक्षांसि राजसाः' (१७।४), पर उनके पूजनके फलका वर्णन नहीं किया। अतः यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि जैसे देवताओंका पूजन करनेवाले देवताओंको ही प्राप्त होते हैं (९।२५), ऐसे ही यक्ष-राक्षसोंका पूजन करनेवाले यक्ष-राक्षसोंको ही प्राप्त होते हैं। कारण कि यक्ष-राक्षस भी देवयोनि होनेसे देवताओंके ही अन्तर्गत आते हैं।

होते हैं अर्थात् उनकी योनिमें चले जाते हैं—'**भूतानि यान्ति भूतेज्याः**' (९ । २५) ।*

गीतामें निष्कामभावसे मनुष्य, देवता, पितर, यक्ष-राक्षस आदिकी सेवा, पूजन करनेका निषेध नहीं किया गया है, प्रत्युत निष्कामभावसे सबकी सेवा एवं हित करनेकी बड़ी महिमा गायी गयी है (५ । २५; ६ । ३२; १२ । ४) । तात्पर्य है कि निष्कामभावपूर्वक और शास्त्रकी आज्ञासे केवल देवताओंकी पुष्टिके लिये, उनकी उन्नतिके लिये ही कर्तव्य-कर्म, पूजा आदि की जाय, तो उससे मनुष्य बँधता नहीं, प्रत्युत परमात्माको प्राप्त हो जाता है (३ । ११) । ऐसे ही निष्काम-भावपूर्वक और शास्त्रकी आज्ञासे कर्तव्य समझकर पितरोंकी तृप्तिके लिये श्राद्ध-तर्पण किया जाय, तो उससे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। यक्ष-राक्षस, भूत-प्रेत आदिके उद्धारके लिये, उन्हें सुख-शान्ति देनेके लिये निष्कामभावपूर्वक और शास्त्रकी आज्ञासे उनके नामसे गया-श्राद्ध करना, भागवत-सप्ताह करना, दान करना, भगवन्नामका जप-कीर्तन करना, गीता-रामायण आदिका पाठ करना आदि-आदि किये जायँ, तो उनका उद्धार हो जाता है, उनको सुख-शान्ति मिलती है और साधकको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। उन देवता, पितर, यक्ष-राक्षस, भूत-प्रेत आदिको अपना इष्ट मानकर सकामभावपूर्वक उनकी उपासना करना ही खास बन्धनका कारण है; जन्म-मरणका, अधोगतिका कारण है।

मनुष्य, देवता, पितर, यक्ष-राक्षस, भूत-प्रेत, पशु-पक्षी आदि सम्पूर्ण प्राणियोंमें हमारे प्रभु ही हैं, इन प्राणियोंके रूपमें हमारे प्रभु ही हैं—ऐसा समझकर (भगवद्बुद्धिसे) निष्कामभावपूर्वक सबकी सेवा की जाय तो परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

उपर्युक्त दोनों बातोंका तात्पर्य यह हुआ कि अपनेमें सकामभावका होना और जिसकी सेवा की जाय, उसमें भगवद्बुद्धि न होना ही जन्म-मरणका कारण है। अगर अपनेमें निष्कामभाव हो और जिसकी सेवा की जाय, उसमें भगवद्बुद्धि (भगवद्भाव) हो तो वह सेवा परमात्मप्राप्ति करानेवाली ही होगी।

एक विलक्षण बात है कि अगर भगवान्‌की उपासनामें सकामभाव रह भी जाय तो भी वह उपासना उद्धार करनेवाली ही होती है, पर भगवान्‌में अनन्यभाव होना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—इन चारों भक्तोंको उदार कहा है (७ । १८); और 'मेरा पूजन करनेवाले मेरेको ही प्राप्त होते हैं'—ऐसा कहा है (७ । २३; ९ । २५) । मनुष्य किसी भी भावसे भगवान्‌में लग जाय तो उसका उद्धार होगा ही।

देवता आदिकी उपासनाका फल तो अन्तवाला (नाशवान्) होता है (७ । २३); क्योंकि देवताओंके उपासक पुण्यके बलपर स्वर्गादि ऊँचे लोकोंमें जाते हैं और पुण्यके समाप्त होनेपर फिर लौटकर आते हैं। परंतु परमात्माकी प्राप्ति अन्तवाली नहीं होती (८ । १६); क्योंकि यह जीव परमात्माका अंश है (१५ । ७) । अतः जब यह जीव अपने अंशी परमात्माकी कृपासे उनको प्राप्त हो जाता है तो फिर वह वहाँसे लौटता नहीं (८ । २१; १५ । ६) । कारण कि परमात्माकी कृपा नित्य है और स्वर्गादि लोकोंमें जानेवालोंके पुण्य अनित्य हैं।

ज्ञातव्य

प्रश्न—भगवान्‌ने कहा है कि भूत-प्रेतोंकी उपासना करनेवाले भूत-प्रेत† ही बनते हैं (९ । २५); ऐसा क्यों?

उत्तर—भूत-प्रेतोंकी उपासना करनेवालोंके अन्तःकरणमें भूत-प्रेतोंका ही महत्त्व होता है और भूत-प्रेत ही उनके इष्ट होते हैं; अतः अन्तकालमें उनको प्रेतोंका ही चिन्तन होता है और चिन्तनके अनुसार वे भूत-प्रेत बन जाते हैं (८ । ६) ।

अगर कोई मनुष्य यह सोचे कि अभी तो मैं पाप कर लूँ, व्यभिचार, अत्याचार कर लूँ, फिर जब मरने लगूँगा तब भगवान्‌का नाम ले लूँगा, भगवान्‌को याद कर लूँगा, तो उसका यह सोचना सर्वथा गलत है। कारण कि मनुष्य जीवनभर जैसा कर्म करता है, मनमें जैसा चिन्तन करता है, अन्तकालमें प्रायः वही सामने आता है। अतः दुराचारी

* सत्रहवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्' पदसे जो देवता, ब्राह्मण गुरुजन और ज्ञानीके पूजनकी बात कही गयी है, उसे यहाँ उपासनाके अन्तर्गत नहीं लिया गया है। कारण कि वहाँ 'शारीरिक तप' (केवल शरीर-सम्बन्धी पूजन, आदर-सत्कार आदि) का प्रसङ्ग है, जो कि परम्परासे मुक्त होनेमें हेतु है। दूसरी बात, उन देवता, ब्राह्मण आदिका पूजन केवल शास्त्रकी आज्ञा मानकर कर्तव्यरूपसे करते हैं; उनको इष्ट मानकर नहीं करते।

† जो यहाँसे चला जाता है, मर जाता है, उसको 'प्रेत' कहते हैं और उसके पीछे जो मृतक-कर्म किये जाते हैं, उनको शास्त्रीय परिभाषामें 'प्रेतकर्म' कहते हैं। जो पाप-कर्मोंके फलस्वरूप भूत, पिशाचकी योनिमें चले जाते हैं, उनको भी 'प्रेत' कहा जाता है; अतः यहाँ पापोंके कारण नीच योनियोंमें गये हुएका वाचक ही 'प्रेत' शब्द आया है।

मनुष्यको अन्तकालमें अपने दुराचारोंका ही चिन्तन होगा और वह अपने पाप-कर्मोंके फलस्वरूप नीच योनियोंमें ही जायगा, भूत-प्रेत ही बनेगा।

अगर कोई मनुष्य काशी, मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या आदि धामोंमें रहकर यह सोचता है कि धाममें रहनेसे, मरनेपर मेरी सद्गति होगी ही, दुर्गति तो हो नहीं सकती; और ऐसा सोचकर वह पाप, दुराचार, व्यभिचार, झूठ-कपट, चोरी-डकैती आदि कर्मोंमें लग जाता है तो मरनेपर उसकी भयंकर दुर्गति होगी। वह अन्तिम समयमें प्रायः किसी कारणसे धामके बाहर चला जायगा और वहीं मरकर भूत-प्रेत बन जायगा। अगर वह धाममें भी मर जाय, तो भी अपने पापोंके कारण वह भूत-प्रेत बन जायगा।

प्रश्न—प्रेत-योनि न मिले, इसके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये?

उत्तर—मनुष्य-शरीर केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। अतः मनुष्यको सांसारिक भोग और संग्रहकी आसक्तिमें न फँसकर परमात्माके शरण हो जाना चाहिये; इसीसे वह अधोगतिसे, भूत-प्रेतकी योनिसे बच सकता है।

प्रश्न—भूत-प्रेत और पितरमें क्या अन्तर है?

उत्तर—ऐसे तो भूत, प्रेत, पिशाच, पितर आदि सभी देवयोनि कहलाते हैं*, पर उनमें भी कई भेद होते हैं। भूत-प्रेतोंका शरीर वायुप्रधान होता है; अतः वे हरेकको नहीं दीखते। हाँ, अगर वे स्वयं किसीको अपना रूप दिखाना चाहें तो दिखा सकते हैं। उनको मल-मूत्र आदि अशुद्ध चीजें खानी पड़ती हैं। वे शुद्ध अन्न-जल नहीं खा सकते; परंतु कोई उनके नामसे शुद्ध पदार्थ दे तो वे खा सकते हैं। भूत-प्रेतोंके शरीरोंसे दुर्गन्ध आती है।

पितर भूत-प्रेतोंसे ऊँचे माने जाते हैं। पितर प्रायः अपने कुटुम्बके साथ ही सम्बन्ध रखते हैं और उसकी रक्षा, सहायता करते हैं। वे कुटुम्बियोंको व्यापार आदिकी बात बता देते हैं, उनको अच्छी सम्मति देते हैं, अगर घरवाले बँटवारा करना चाहें तो उनका बँटवारा कर देते हैं, आदि। पितर गायके दूधसे बनी गरम-गरम खीर खाते हैं, गङ्गाजल-जैसा ठंडा जल पीते हैं, शुद्ध पदार्थ ग्रहण करते हैं। कई पितर घरवालोंको दुःख भी देते हैं, तंग भी करते हैं तो यह उनके स्वभावका भेद है।

जैसे मनुष्योंमें चारों वर्णोंका, ऊँच-नीचका, स्वभावका भेद रहता है, ऐसे ही पितर, भूत, प्रेत, पिशाच आदिमें भी वर्ण, जाति आदिका भेद रहता है।

प्रश्न—कौन-से मनुष्य मरनेके बाद भूत-प्रेत बनते हैं?

उत्तर—जिन मनुष्योंका खान-पान अशुद्ध होता है, जिनके आचरण खराब होते हैं, जो दुर्गुण-दुराचारोंमें लगे रहते हैं, जिनका दूसरोंको दुःख देनेका स्वभाव है, जो केवल अपनी ही जिद रखते हैं, ऐसे मनुष्य मरनेके बाद क्रूर स्वभाववाले भूत-प्रेत बनते हैं। ये जिनमें प्रविष्ट होते हैं, उनको बहुत दुःख देते हैं और मन्त्र आदिसे भी जल्दी नहीं निकलते।

जिन मनुष्योंका स्वभाव सौम्य है, दूसरोंको दुःख देनेका नहीं है; परन्तु सांसारिक वस्तु, स्त्री, पुत्र, धन, जमीन आदिमें जिनकी ममता-आसक्ति रहती है, ऐसे मनुष्य मरनेके बाद सौम्य स्वभाववाले भूत-प्रेत बनते हैं। ये किसीमें प्रविष्ट हो जाते हैं तो उसको दुःख नहीं देते और अपनी गतिका उपाय भी बता देते हैं।

जिनको विद्या आदिका बहुत अभिमान, मद होता है; उस अभिमानके कारण जो दूसरोंको नीचा दिखाते हैं, दूसरोंका अपमान-तिरस्कार करते हैं, दूसरोंको कुछ भी नहीं समझते, ऐसे मनुष्य मरकर 'ब्रह्मराक्षस' (जिन्न) बनते हैं। ये किसीमें प्रविष्ट हो जाते हैं, किसीको पकड़ लेते हैं तो बिना अपनी इच्छाके उसको छोड़ते नहीं। इनपर कोई तन्त्र-मन्त्र नहीं चलता। दूसरा कोई इनपर मन्त्रोंका प्रयोग करता है तो उन मन्त्रोंको ये स्वयं बोल देते हैं।

एक सच्ची घटना है। दक्षिणमें मोरोजी पन्त नामक एक बहुत बड़े विद्वान् थे। उनको विद्याका बहुत अभिमान था। वे अपने समान किसीको विद्वान् मानते ही नहीं थे और सबको नीचा दिखाते थे। एक दिनकी बात है, दोपहरके समय वे अपने घरसे स्नान करनेके लिये नदीपर जा रहे थे। मार्गमें एक पेड़पर दो ब्रह्मराक्षस बैठे हुए थे। वे आपसमें बातचीत कर रहे थे। एक ब्रह्मराक्षस बोला—हम दोनों तो इस पेड़की दो डालियोंपर बैठे हैं, पर यह तीसरी डाली खाली है; इसपर कौन आयेगा बैठनेके लिये? दूसरा ब्रह्मराक्षस बोला—यह जो नीचेसे जा रहा है न? यह आकर यहाँ बैठेगा; क्योंकि इसको अपनी विद्वत्ताका बहुत अभिमान है। उन दोनोंके संवादको मोरोजी पन्तने सुना तो वे वहीं रुक गये और विचार करने लगे कि अरे! विद्याके अभिमानके कारण मेरेको ब्रह्मराक्षस बनना पड़ेगा, प्रेतयोनियोंमें जाना पड़ेगा! अपनी दुर्गतिसे वे घबरा गये और मन-ही-मन सन्त ज्ञानेश्वरजीके शरणमें गये कि मैं आपके शरणमें हूँ, आपके सिवाय मेरेको इस दुर्गतिसे

---

* विद्याधराऽप्सरायक्षरक्षोगन्धर्वकिंनराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥ (अमरकोष १।१।११)

बचानेवाला कोई नहीं है। ऐसा विचार करके वे वहींसे आलन्दीके लिये चल पड़े, जहाँ संत ज्ञानेश्वरजी जीवित समाधि ले चुके थे। फिर वे जीवनभर वहीं रहे, घर आये ही नहीं। सन्तकी शरणमें जानेसे उनका विद्याका अभिमान चला गया और सन्त-कृपासे वे भी सन्त बन गये !

जो स्त्री पर-पुरुषका चिन्तन करती रहती है तथा जिसकी पुरुषमें बहुत ज्यादा आसक्ति होती है, वह मरनेके बाद 'चुड़ैल' बन जाती है। भूत-प्रेतोंका प्रायः यह नियम रहता है कि पुरुष भूत-प्रेत पुरुषोंको ही पकड़ते हैं और स्त्री भूत-प्रेत स्त्रियोंको ही पकड़ते हैं; परन्तु चुड़ैल केवल पुरुषोंको ही पकड़ती है। चुड़ैल दो प्रकारकी होती है—एक तो पुरुषका शोषण करती रहती है अर्थात् उसका खून चूसती रहती है, उसकी शक्ति क्षीण करती है; और दूसरी पुरुषका पोषण करती है, उसको सुख-आराम देती है। ये दोनों ही प्रकारकी चुड़ैलें पुरुषको अपने वशमें रखती हैं।

एक सिपाही था। वह रातके समय कहींसे अपने घर आ रहा था। रास्तेमें उसने चन्द्रमाके प्रकाशमें एक वृक्षके नीचे एक सुन्दर स्त्री देखी। उसने उस स्त्रीसे बातचीत की तो उस स्त्रीने कहा—मैं आ जाऊँ क्या ? सिपाहीने कहा—हाँ, आ जा। सिपाहीके ऐसा कहनेपर वह स्त्री, जो चुड़ैल थी, उसके पीछे आ गयी। अब वह रोज रातमें उस सिपाहीके पास आती, उसके साथ सोती, उसका सङ्ग करती और सबेरे चली जाती। इस तरह वह उस सिपाहीका शोषण करने लगी। एक बार रातमें वे दोनों लेट गये, पर बत्ती जलती रह गयी तो सिपाहीने उससे कहा कि तू बत्ती बन्द कर दे। उसने लेटे-लेटे ही अपना हाथ लम्बा करके बत्ती बन्द कर दी। अब सिपाहीको पता लगा कि यह कोई सामान्य स्त्री नहीं है, यह तो चुड़ैल है ! वह बहुत घबराया। चुड़ैलने उसको धमकी दी कि अगर तू किसीको मेरे बारेमें बतायेगा तो मैं तेरेको मार डालूँगी। इस तरह वह रोज रातमें आती और सबेरे चली जाती। सिपाहीका शरीर दिन-प्रतिदिन सूखता जा रहा था। लोग उससे पूछते कि भैया ! तुम इतने क्यों सूखते जा रहे हो ? क्या बात है, बताओ तो सही । परन्तु चुड़ैलके डरके मारे वह किसीको कुछ बताता नहीं था। एक दिन वह दूकानसे दवाई लाने गया। दूकानदारने दवाईकी पुड़िया बाँधकर दे दी। सिपाही उस पुड़ियाको जेबमें डालकर घर चला आया। रातके समय जब वह चुड़ैल आयी, तब वह दूरसे ही खड़े-खड़े बोली कि तेरी जेबमें जो पुड़िया है, उसको निकालकर फेंक दे। सिपाहीको विश्वास हो गया कि इस पुड़ियामें जरूर कुछ करामात है, तभी तो आज यह चुड़ैल मेरे पास नहीं आ रही है ! सिपाहीने उससे कहा कि मैं पुड़िया नहीं फेकूँगा। चुड़ैलने बहुत कहा, पर सिपाहीने उसकी बात मानी नहीं। जब चुड़ैलका उसपर वश नहीं चला, तब वह चली गयी। सिपाहीने जेबमेंसे पुड़ियाको निकालकर देखा तो वह गीताका फटा हुआ पन्ना था ! इस तरह गीताका प्रभाव देखकर वह सिपाही हर समय अपनी जेबमें गीता रखने लगा। वह चुड़ैल फिर कभी उसके पास नहीं आयी।

जो लोग भगवान्के मन्दिरमें रहते हैं; गीता, रामायण, भागवत आदिका पाठ करते हैं; भगवान्की आरती, स्तुति, प्रार्थना करते हैं, भगवन्नामका जप करते हैं, पर साथ-ही-साथ लोगोंको ठगते हैं, भगवान्की भोग-सामग्री, वस्त्र आदिकी चोरी करते हैं, ठाकुरजीको पैसा कमानेका साधन मानते हैं, ऐसे मनुष्य भी मरनेके बाद भगवदपराधके कारण भूत-प्रेत बन सकते हैं। ये किसीमें प्रविष्ट हो जाते हैं तो उसको दुःख नहीं देते। पूर्वजन्ममें भगवत्पूजा, आरती, स्तुति-प्रार्थना आदि करनेका स्वभाव पड़ा हुआ होनेसे ऐसे भूत-प्रेत भगवन्नामका जप करते हैं, हाथमें गोमुखी रखते हैं, मन्दिरमें जाते हैं, परिक्रमा करते हैं, भगवान्की स्तुति प्रार्थना आदि भी करते हैं। परन्तु किसी मनुष्यमें प्रविष्ट हुए बिना ये भगवान्की स्तुति-प्रार्थना नहीं कर सकते। वृन्दावनमें बाँकेबिहारीजीके मन्दिरमें एक छोटा बालक आया करता था। वह संस्कृत जानता ही नहीं था, पर बिहारीजीके सामने खड़े होकर वह संस्कृतमें भगवान्के स्तोत्रोंका जोर-जोरसे पाठ किया करता था। पाठ करते समय उसकी आवाज भी बालक-जैसी नहीं रहती थी, प्रत्युत बड़े आदमी-जैसी आवाज सुनायी दिया करती थी। कारण यह था कि उसमें एक प्रेत प्रविष्ट होता था और भगवान्की स्तुति करता था, पर वह उस बालकको दुःख नहीं देता था। भगवदपराधका फल भोगनेके बाद भगवत्कृपासे ऐसे भूत-प्रेतोंकी सद्गति हो जाती है, प्रेतयोनि छूट जाती है।

जैसे मनुष्योंमें जो अधिक पापी होते हैं, दुर्गुणी-दुराचारी होते हैं, हिंसात्मक कार्य करनेवाले होते हैं, वे भगवान्की कथा, कीर्तन, सत्सङ्ग आदिमें ठहर नहीं सकते, वहाँसे उठ जाते हैं, ऐसे ही भयंकर पापोंके कारण जो भूत-प्रेतकी नीच योनियोंमें जाते हैं, वे भगवन्नाम-जप, कथा-कीर्तन, सत्सङ्ग आदिके नजदीक नहीं आ सकते। जो लोग भगवन्नाम, कथा-कीर्तन, सत्सङ्ग आदिका विरोध करते हैं, निन्दा-तिरस्कार करते हैं, वे भी भूत-प्रेत बननेपर कथा-कीर्तन, सत्सङ्ग आदिके नजदीक नहीं आ सकते अगर वे कथा-कीर्तन आदिके नजदीक आ जायँ तो उनके शरीरमें दाह होने लगता है।

अगर पुजारियोंके मनमें सांसारिक वस्तुओंका महत्त्व न हो, प्रत्युत ठाकुरजीका महत्त्व हो, ठाकुरजीके अर्पित चीजोंमें प्रसादकी भावना हो, भगवान्‌की वस्तु प्रसादरूपसे मिलनेपर वे गद्‌गद हो जाते हों और अपनेको बड़ा भाग्यशाली मानते हों कि हमें भगवान्‌की चीज मिल गयी, प्रसाद मिल गया—इस तरह वस्तुओंमें भगवान्‌के सम्बन्धका महत्त्व हो तो भगवान्‌के अर्पित वस्तुओंको स्वीकार करनेपर भी उनको दोष, भगवदपराध नहीं लगता। अन्तःकरणमें भगवान्‌का महत्त्व होनेके कारण वे कभी भूत-प्रेत बन ही नहीं सकते। परन्तु जिनके अन्तःकरणमें वस्तुओंका महत्त्व है, वस्तुओंकी कामना, ममता, वासना है, वे तीर्थस्थानमें, मन्दिरमें रहनेपर भी मरनेके बाद वासना आदिके कारण भूत-प्रेत हो जाते हैं। उन्होंने क्रियारूपसे भगवान्‌की पूजा, आरती आदि की है, इस कारण वे उस तीर्थ-स्थानमें ही रहते हैं। इस प्रकार उनको भगवदपराधका फल (भूत-प्रेतयोनि) भी मिल जाता है और भगवत्सम्बन्धी क्रियाओंका फल (तीर्थ-स्थानमें निवास) भी मिल जाता है।

प्रश्न—जो भगवन्नामका जप, स्वाध्याय आदि करते हैं, वे भी मरनेके बाद क्या भूत-प्रेत बन सकते हैं?

उत्तर—प्रायः ऐसे मनुष्य भूत-प्रेत नहीं बनते। परन्तु नामजपकी रुचिकी अपेक्षा जिनकी सांसारिक पदार्थोंमें, अपनी सेवा करनेवालोंमें, अपने अनुकूल चलनेवालोंमें ज्यादा रुचि (आसक्ति) हो जाती है और अन्तसमयमें साधनमें स्थिति न रहकर सांसारिक पदार्थोंकी, सेवा करनेवालोंकी याद आ जाती है, वे मरनेके बाद भूत-प्रेत बन सकते हैं। ऐसे भूत-प्रेत किसीको तंग नहीं करते किसीको दुःख नहीं देते।

कर्मोंकी गति बड़ी ही गहन है—'**गहना कर्मणो गतिः**' (४। १७)। अतः पाप-पुण्य, भाव आदिमें तारतम्य रहनेसे भूत-प्रेत आदिकी योनि मिल जाती है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि कर्म और अकर्म क्या है—इस विषयमें बड़े-बड़े विद्वान्‌लोग भी मोहित हो जाते हैं (४। १६)।

प्रश्न—दुर्घटनामें मरनेवाले एवं आत्महत्या करनेवाले प्रायः भूत-प्रेत क्यों बनते हैं?

उत्तर—बीमारीमें तो 'मेरेको मरना है'—ऐसी सावधानी, होश रहता है; अतः बीमार व्यक्ति संसारसे उपराम होकर भगवान्‌में लग सकता है। परन्तु दुर्घटनाके समय मनमें कुछ-न-कुछ मनोरथ, चिन्तन रहता है, जिसके रहते हुए मनुष्य अचानक मर जाता है। अगर उस समय मनमें खराब चिन्तन हो, भगवान्‌का चिन्तन न हो तो वह आदमी भूत-प्रेत बन जाता है। दुर्घटनाके समय मारनेवालेकी तरफ मनोवृत्ति होनेसे उसीका चिन्तन होता है, इस कारण भी दुर्घटनामें मरनेवाला भूत-प्रेत बन जाता है। परन्तु जो संसारसे उपराम होकर पारमार्थिक मार्गमें लगा हुआ हो, वह दुर्घटना आदिमें अचानक मर भी जाय तो भी वह भूत-प्रेत नहीं बनता। तात्पर्य है कि अन्तःकरणमें सांसारिक राग, आसक्ति, कामना, ममता आदि रहनेसे ही मनुष्यकी अधोगति होती है। जिसके अन्तःकरणमें सांसारिक राग आदि नहीं है, उसका शरीर किसी भी देशमें, किसी भी जगह, किसी भी समय छूट जाय तो वह भूत-प्रेत नहीं बनता; क्योंकि भूत-प्रेतयोनिमें ले जानेवाली सामग्री ही उसमें नहीं होती।

जो क्रोधमें आकर अथवा किसी बातसे दुःखी होकर आत्महत्या कर लेता है, वह दुर्गतिमें चला जाता है अर्थात् भूत-प्रेत-पिशाच बन जाता है। आत्महत्या करनेवाला महापापी होता है। कारण कि यह मनुष्य-शरीर भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है; अतः भगवत्प्राप्ति न करके अपने ही हाथसे मनुष्य-शरीरको खो देना बड़ा भारी पाप है, अपराध है, दुराचार है। दुराचारीकी सद्‌गति कैसे होगी? अतः मनुष्यको कभी भी आत्महत्या करनेका विचार मनमें नहीं आने देना चाहिये।

मनुष्यपर कोई बड़ी भारी आफत आ जाय, कोई भयंकर रोग हो जाय तो वह यही सोचता है कि अगर मैं मर जाऊँ तो सब कष्ट मिट जायँगे। परन्तु वास्तवमें आत्महत्या करनेपर कर्मोंका भोग (कष्ट) समाप्त नहीं होता, उसको तो किसी-न-किसी योनिमें भोगना ही पड़ेगा। आत्महत्या करके वह एक नया पापकर्म करता है, जिसके फलस्वरूप उसको नीच योनिमें जाना पड़ेगा, भूत-प्रेत बनना पड़ेगा और हजारों वर्षोंतक दुःख पाना पड़ेगा।

प्रश्न—भूत-प्रेत कहाँ रहते हैं?

उत्तर—भूत-प्रेत प्रायः श्मशानमें, श्मशानके वृक्षोंमें रहते हैं। वे सरोवरके किनारे रहते हैं। वे सरोवरका पानी नहीं पी सकते, पर जलकी ठण्डी हवा उनको अच्छी लगती है, उससे उनको सुख मिलता है। पीपलके वृक्षका स्वभाव सबको आश्रय देनेका होनेसे उसकी छायामें भी भूत-प्रेत रहते हैं। कोई उनके नामसे छतरी बनवा देता है तो वे उसके भीतर रहते हैं। कोई मकान कई दिनसे सूना पड़ा हो तो उसमें भी भूत-प्रेत रहने लग जाते हैं।

प्रश्न—भूत-प्रेत किसी मनुष्यको पकड़ते हैं तो वे उसके शरीरमें किस द्वारसे प्रवेश करते हैं?

उत्तर—भूत-प्रेतोंका शरीर वायुप्रधान होता है; अतः वे मनुष्य-शरीरमें किसी भी द्वारसे प्रवेश कर सकते हैं। वे आँख,

कान, त्वचा आदि किसी भी इन्द्रियसे शरीरमें प्रविष्ट हो सकते हैं। परन्तु वे प्रायः मलिन द्वारसे अर्थात् मल-मूत्रके स्थानसे अथवा प्राणोंसे ही मनुष्य शरीरमें प्रविष्ट होते हैं।

प्रश्न—शरीरमें प्रविष्ट होनेपर भूत-प्रेत कहाँ रहते हैं?

उत्तर—शरीरमें प्रविष्ट होकर भूत-प्रेत अहंवृत्तिमें अर्थात् अन्तःकरणमें रहते हैं।

'अहम्' दो प्रकारका होता है—(१) अहंकार और (२) अहंवृत्ति। अहंकार जीवात्मामें रहता है और अहंवृत्ति अन्तःकरणमें रहती है। भूत-प्रेत श्वास आदिके द्वारा मनुष्यके शरीरमें प्रविष्ट होकर अहंवृत्तिमें रहकर इन्द्रियोंके स्थानोंको काममें लेते हैं।

प्रश्न—क्या शरीरमें एकसे अधिक भूत-प्रेत भी रह सकते हैं?

उत्तर—हाँ, रह सकते हैं। किसी-किसी व्यक्तिके शरीरमें एकसे अधिक भूत-प्रेत भी प्रविष्ट हो जाते हैं। जब वे उसके मुखसे बोलते हैं, तब सबकी अलग-अलग आवाज सुनायी पड़ती है।

प्रश्न—मनुष्य-शरीरमें प्रविष्ट होनेके बाद भूत-प्रेत हरदम उसीमें रहते हैं क्या?

उत्तर—भूत-प्रेत उसमें प्रायः आते-जाते रहते हैं। वे उसके पासमें ही घूमते रहते हैं और उनकी वायुके समान तेज गति होनेसे वे दूर भी चले जाते हैं। कुछ ऐसे भूत-प्रेत भी होते हैं, जो हरदम उसीमें रहते हैं।

भूत-प्रेत हरेकको दुःख देनेमें, हरेक शरीरमें प्रविष्ट होनेमें स्वतन्त्र नहीं होते। वे अपनी मनमानी नहीं कर सकते। वे जिनके शासनमें रहते हैं, उनकी आज्ञाके अनुसार ही वे कार्य करते हैं अर्थात् शासकके आज्ञानुसार ही वे किसीके शरीरमें प्रविष्ट होते हैं, किसीको दुःख देते हैं। अगर शासक आज्ञा न दे तो वे हरेक व्यक्तिमें हरेक समयमें भी प्रविष्ट नहीं हो सकते। जैसे, शुभ कर्मोंके फलस्वरूप जो स्वर्गादि लोकोंमें जाते हैं, वे अगर मृत्युलोकमें किसीके साथ सम्बन्ध करते हैं तो उन लोकोंके शासकोंकी आज्ञाके अनुसार ही करते हैं। स्वतन्त्ररूपसे वे मृत्युलोकमें किसीके साथ बातचीत भी नहीं कर सकते। इसी तरह भूत-प्रेतयोनिमें भी शासक रहते हैं, जिनकी आज्ञाके अनुसार ही भूत-प्रेत सब कार्य करते हैं।

जैसे, नरकोंमें प्राणियोंको उबलते हुए तेलमें डाल देते हैं, उनके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं, फिर भी जिन पापकर्मोंके कारण वे नरकोंमें गये हैं, उन कर्मोंके समाप्त होनेतक वे प्राणी मरते नहीं। ऐसे ही मनुष्यका कोई बुरे कर्मोंका भोग आ जाता है तो उनमें भूत-प्रेत प्रविष्ट हो जाते हैं। जबतक कर्मोंका भोग बाकी रहता है, तबतक कितने ही उपाय करनेपर, मन्त्र-यन्त्र आदिका प्रयोग करनेपर भी भूत-प्रेत निकलते नहीं। जब कर्मोंका भोग समाप्त हो जाता है, तब किसी निमित्तसे वे निकल जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जिनको प्रारब्धके अनुसार दुःख भोगना है, उन्हींमें प्रविष्ट होकर भूत-प्रेत उनको दुःख देते हैं।

ऐसा देखा जाता है कि कुटुम्बका कोई व्यक्ति मरकर पितर बन जाता है तो वह जब आता है, तब किसी एक व्यक्तिमें ही आता है, हरेकमें नहीं आता। इससे पता लगता है कि जिसके साथ पुराना ऋणानुबन्ध होता है, उसीमें पितर आते हैं। इसी तरह भूत-प्रेत भी उसीमें आते हैं, जिसके साथ पुराना ऋणानुबन्ध होता है।

भूत-प्रेत मनुष्यकी आयु रहते हुए उसको मार नहीं सकते। उसकी आयु समाप्त होनेपर ही वे उसको मार सकते हैं। इस विषयमें हमने एक बात सुनी है। लगभग सौ वर्ष पुरानी राजस्थानकी घटना है। कुछ मुसलमान गायोंको कसाईखाने ले जा रहे थे। वहाँके राजाको इसकी खबर मिली तो उसने अपने सिपाहियोंको भेजा। सिपाहियोंने उन मुसलमानोंको मारकर गायें छुड़ा लीं। उनमेंसे एक मुसलमान मरकर जिन्न बन गया और वह राजाके पीछे लग गया। राजाने बहुत उपाय किये, पर उसने छोड़ा नहीं। जिन्न कहता कि मैं एक आदमीकी बलि लेकर ही जाऊँगा। आखिर एक ठाकुरने कहा कि मैं अपनी बलि देनेके लिये तैयार हूँ। जिन्नने राजाको छोड़ दिया और तुरन्त उस ठाकुरको मार दिया। ठाकुरके इच्छानुसार उसके शवको (श्मशान-भूमिमें ले जानेसे पहले) उसके गुरुके पास ले जाया गया। जब लोग ठाकुरके शवको उसके गुरुके चारों तरफ घुमाकर (परिक्रमा दिलाकर) ले जाने लगे, तब गुरुके पास बैठे एक दूसरे सन्तने कहा कि शव खाली जा रहा है, कुछ देना चाहिये। गुरु बोले कि कुछ कर नहीं सकते, इसकी आयु पूरी हो गयी है। फिर विचार करके दोनों सन्तोंने अपनी आयुमेंसे बारह वर्षकी आयु देकर ठाकुरको जीवित कर दिया। तात्पर्य है कि राजाकी आयु पूरी नहीं हुई थी, इसलिये जिन्न उसको मार नहीं सका। परन्तु ठाकुरकी आयु पूरी हो चुकी थी, अतः जिन्नने उसको मार दिया।

प्रश्न—मृगीरोगवाले और प्रेतबाधावाले मनुष्योंके लक्षण प्रायः एक समान दीखते हैं; अतः उन दोनोंकी अलग-अलग पहचान कैसे हो?

उत्तर—मृगीरोगवाले व्यक्तिको तो मूर्च्छा होती है, पर प्रेतबाधावाले व्यक्तिको प्रायः मूर्च्छा नहीं होती, वह

कुछ-न-कुछ बकता रहता है। मृगीरोगवाले व्यक्तिमें तो एक ही जीवात्मा रहती है, पर प्रेतबाधावाले व्यक्तिमें जीवात्माके साथ प्रेतात्मा भी रहती है, जो उस व्यक्तिको कई तरहसे दुःख देती है, तंग करती है। मृगीरोगवाला व्यक्ति तो दवासे ठीक हो जाता है, पर प्रेतबाधावाला व्यक्ति दवासे ठीक नहीं होता।

प्रश्न—जो भूत-प्रेतकी बाधाको दूर किया करते हैं, ऐसे तान्त्रिकोंकी मरनेके बाद क्या गति होती है?

उत्तर—भूत-प्रेतकी बाधा दूर करनेवाले तांत्रिक भी मरनेके बाद प्रायः भूत-प्रेत ही बनते हैं; इसके अनेक कारण हैं; जैसे—

(१) भूत-प्रेतको निकालनेवाले तान्त्रिकोंकी विद्या प्रायः मलिन होती है। उनका खान-पान एवं चिन्तन भी मलिन होता है। उस मलिनताके कारण उनकी दुर्गति होती है अर्थात् वे मरनेके बाद प्रेतयोनिमें चले जाते हैं।

(२) भूत-प्रेत किसीके शरीरमें प्रविष्ट होते हैं तो उनको वहाँ सुख मिलता है, खाने-पीनेके लिये अच्छे पदार्थ मिलते हैं; अतः वे वहाँसे निकलना नहीं चाहते। परंतु तान्त्रिक लोग मन्त्रोंके द्वारा उनको जबरदस्ती निकालते हैं और मदिराकी बोतलमें बन्द करके उनको जमीनमें गाड़ देते हैं अथवा किसी वृक्षमें कीलित कर देते हैं, जहाँ वे सैकड़ों वर्षोंतक भूखे-प्यासे रहकर महान् दुःख पाते रहते हैं। उनको इस प्रकार दुःख देना बड़ा भारी पाप है; क्योंकि किसी भी जीवको दुःख देना पाप है। अतः उस पापके फलस्वरूप वे तांत्रिक मरनेके बाद प्रेतयोनियोंमें चले जाते हैं।

(३) भूत-प्रेतको निकालनेवाले तान्त्रिकोंमें प्रायः दूसरोंके हितकी भावना नहीं होती। वे केवल पैसोंके लोभसे ही इस कार्यमें प्रवृत्त होते हैं। वे ठगाई और चालाकी भी करते हैं। इस कारण भी उनको मरनेके बाद भूत-प्रेत बनना पड़ता है।

अगर तान्त्रिकोंमें निःस्वार्थभावसे सबका हित करनेकी, उपकार करनेकी भावना हो अर्थात् जिसको भूत-प्रेतने पकड़ा है, उस व्यक्तिको सुखी करनेकी और भूत-प्रेतको निकालकर उसकी (गयाश्राद्ध आदिके द्वारा) सद्गति करनेकी भावना हो, चेष्टा हो तो वे भूत-प्रेत नहीं बन सकते। जिनमें सबके हितकी भावना है, उनकी कभी दुर्गति हो ही नहीं सकती। भगवान्‌ने कहा है कि जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहते हैं, वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः**' (१२।४)।

प्रश्न—भूत-प्रेतोंको बोतलमें बन्द करने, कीलित करने आदिमें उन भूत-प्रेतोंके कर्म कारण हैं या बन्द करनेवाले कारण हैं?

उत्तर—मुख्यरूपसे उनके कर्म ही कारण हैं। उनका कोई ऐसा पापकर्म आ जाता है, जिसके कारण वे पकड़में आ जाते हैं। अगर उनके कर्म न हों तो वे किसीकी पकड़में नहीं आ सकते। परन्तु जो उनको कीलित आदि करनेमें निमित्त बनते हैं, वे बड़ा भारी पाप करते हैं। अतः मनुष्यको भूत-प्रेतोंके बन्धन, कीलनमें निमित्त बनकर पापका भागी नहीं होना चाहिये। हाँ, उनके उद्धारके लिये उनके नामसे भागवत-सप्ताह, गयाश्राद्ध, भगवन्नाम-जप आदि करना चाहिये अथवा वे भूत-प्रेत अपनी मुक्तिका जो उपाय बतायें, उस उपायको करना चाहिये। जो इस प्रकार प्रेतात्माओंकी सद्गति करता एवं कराता है, उसको बड़ा भारी पुण्य होता है एवं वे दुःखी प्रेतात्मा भी प्रेतयोनिसे छूटनेपर उसको आशीर्वाद देते हैं।

प्रश्न—भूत-प्रेतोंको कीलित करनेवाले तान्त्रिक तो उनके कर्मोंका फल भुगतानेमें सहायक ही बनते हैं, तो फिर उनको पाप क्यों लगता है?

उत्तर—वे जिनको कीलित कर देते हैं, जमीनमें गाड़ देते हैं, उन भूत-प्रेतोंका तो यह कर्मफल-भोग है, पर उनको कीलित करनेवालोंका यह नया पाप-कर्म है, जिसका दण्ड उनको आगे मिलेगा। जैसे, कोई जानवरको मारता है तो जानवर अपनी मृत्यु आनेसे ही मरता है। उसकी मृत्यु आये बिना उसको कोई मार ही नहीं सकता। परन्तु उसको मारनेवाला नया पाप करता है; क्योंकि वह लोभ, कामना, स्वार्थ आदिको लेकर ही उसको मारता है। जब कामना आदिको लेकर किया हुआ शुभ कर्म भी बन्धनका कारण बन जाता है तो फिर जो कामना आदिको लेकर अशुभ कर्म करता है, वह तो पापसे बँधेगा ही।

तात्पर्य है कि किसीको दुःख देना, तंग करना, मारना आदि मनुष्यका कर्तव्य नहीं है, प्रत्युत अकर्तव्य है। अकर्तव्यमें मनुष्य कामनाको लेकर ही प्रवृत्त होता है (३।३७)। अतः मनुष्यको कामना, स्वार्थ आदिका त्याग करके सबके हितके लिये ही उद्योग करते रहना चाहिये।

प्रश्न—जिन भूत-प्रेतोंको बोतलमें बंद कर दिया गया है, कीलित कर दिया गया है, वे कबतक वहाँ जकड़े रहते हैं?

उत्तर—मन्त्रोंकी शक्तिकी भी एक सीमा होती है, उम्र होती है। उम्र पूरी होनेपर जब मन्त्रोंकी शक्ति समाप्त हो जाती है अथवा प्रेतयोनिकी अवधि (उम्र) पूरी हो जाती है, तब वे भूत-प्रेत वहाँसे छूट जाते हैं। अगर उनकी उम्र बाकी रहनेपर भी कोई अनजानमें कील निकाल दे, जमीनको खोदते समय

बोतल फूट जाय, पेड़के गिरनेसे बोतल फूट जाय तो वे भूत-प्रेत वहाँसे छूट जाते हैं और अपने स्वभावके अनुसार पुनः दूसरोंको दुःख देने लग जाते हैं।

प्रश्न—अगर कोई पेड़में गड़ी हुई कीलको निकाल दे, जमीनमें गड़ी हुई बोतलको फोड़ दे तो उसमें बन्द भूत-प्रेत उसको पकड़ेंगे तो नहीं?

उत्तर—वहाँसे छूटनेपर भूत-प्रेत उसको पकड़ सकते हैं; अतः हरेक आदमीको ऐसा काम नहीं करना चाहिये। जो भगवान्‌के परायण हैं, जिनको भगवान्‌का सहारा है, हनुमान्‌जीका सहारा है, वे अगर भूत-प्रेतोंको वहाँसे मुक्त कर दें तो भूत-प्रेत उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते, प्रत्युत उनके दर्शनसे उन भूत-प्रेतोंका उद्धार हो जाता है। सन्त-महापुरुषोंने बहुत-से भूत-प्रेतोंका उद्धार किया है।

प्रश्न—कुछ तान्त्रिकलोग भूत-प्रेतोंको अपने वशमें करके उनसे अपने घरका, खेतका काम कराते हैं तो ऐसा करना उचित है या अनुचित?

उत्तर—किसी भी जीवको परवश करना मनुष्यके लिये उचित नहीं है। हाँ, जैसे किसी मनुष्यको मजदूरी देकर उससे काम कराते हैं, ऐसे भूत-प्रेतोंको खुराक देकर, उनको प्रसन्न करके उनसे काम करानेमें कोई दोष नहीं है। परन्तु पारमार्थिक साधनामें लगे हुए साधकको ऐसा नहीं करना चाहिये। ऐसा काम वे ही लोग कर सकते हैं, जो संसारमें ही रचे-पचे रहना चाहते हैं।

प्रश्न—भूत-प्रेतोंको खुराक कैसे मिलती है? वे कैसे तृप्त होते हैं?

उत्तर—भूत-प्रेतोंका शरीर वायुप्रधान होता है; अतः इत्र आदि सुगन्धित वस्तुओंको सूँघकर उनको खुराक मिल जाती है और वे बड़े प्रसन्न हो जाते हैं। उनके निमित्त किसी ब्राह्मणको अथवा अपनी बहन, बेटी या भानजीको बढ़िया-बढ़िया मिठाई खिलानेसे उनको खुराक मिल जाती है।

दस-बारह वर्षका एक बालक जलमें डूबकर मर गया और प्रेत बन गया। वह अपनी बहनमें आया करता और अपना दुःख सुनाया करता था। एक दिन वह अपनी बहनमें आकर बोला कि मैं बहुत भूखा हूँ। तब उसके परिवारवालोंने उसके नामसे एक ब्राह्मणको भोजन कराया। जब ब्राह्मण भोजन करने लगा, तब जैसे भोजन करते समय मनुष्यका मुख हिलता है, वैसे ही दूसरे कमरेमें बैठी उस प्रेतकी बहनका भी मुख हिलने लगा। जब ब्राह्मणने भोजन कर लिया, तब वह प्रेत बहनके मुखसे बोला कि मेरी तृप्ति हो गयी! अतः प्रेतात्माके नामसे शुद्ध-पवित्र ब्राह्मणको भोजन करानेसे वह भोजन उसको मिलता है।

पासमें ही तालाब है, नदी बह रही है और उसके जलको प्रेत देखते भी हैं, पर वे उस जलको पी नहीं सकते, प्यासे ही रहते हैं! स्नानके बाद प्रेतके नामसे अथवा 'अज्ञात नामवाले प्रेतात्माओंको जल मिल जाय'—इस भावसे गीली धोतीको किसी स्थानपर निचोड़ दिया जाय तो प्रेत उस जलको पी लेते हैं। शौचसे बचा हुआ जल काँटेदार वृक्षपर अथवा आकके पौधेपर डाल दिया जाय तो उस जलको भी प्रेत पी लेते हैं और तृप्त हो जाते हैं।

तुलसीदासजी महाराज शौच जाते थे तो बचा हुआ जल प्रतिदिन यों ही एक काँटेवाले पेड़पर डाल दिया करते थे। उस पेड़में एक प्रेत रहता था, जो उस अशुद्ध जलको पी लेता था। एक दिन वह प्रेत तुलसीदासजीके सामने प्रकट होकर बोला—मैं बहुत प्यासा मरता था, तुम्हारे जलसे अब मैं बहुत तृप्त हो गया हूँ। तुम मेरेसे जो माँगना चाहो, माँग लो। तुलसीदासजी महाराजको भगवद्दर्शनकी लगन लगी हुई थी; अतः उन्होंने कहा—मेरेको भगवान् रामके दर्शन करा दो! प्रेतने कहा—दर्शन तो मैं नहीं करा सकता, पर दर्शनका उपाय बता सकता हूँ। तुलसीदासजीने कहा—उपाय ही सही, बता दो। उसने कहा—अमुक स्थानपर रातमें रामायणकी कथा होती है। वहाँपर कथाको सुननेके लिये हनुमान्‌जी आया करते हैं। तुम उनके पैर पकड़ लेना, वे तुमको भगवान्‌के दर्शन करा देंगे। तुलसीदासजीने कहा—वहाँ तो बहुत-से लोग आते होंगे, उनमेंसे मैं हनुमान्‌जीको कैसे पहचानूँ? प्रेतने कहा—हनुमान्‌जी कोढ़ीका रूप धारण करके और मैले-कुचैले कपड़े पहनकर आते हैं तथा कथा समाप्त होनेपर सबके चले जानेके बाद जाते हैं। तुलसीदासजी महाराजने वैसा ही किया तो उनको हनुमान्‌जीके दर्शन हुए और हनुमान्‌जीने उनको भगवान् रामके दर्शन करा दिये—

तुलसी नफा पिछानिये, भला बुरा क्या काम।
प्रेतसे हनुमत मिले, हनुमत से श्री राम॥

प्रेतोंके नामसे पिण्ड-पानी दिया जाय, ब्राह्मणोंको छाता आदि दिया जाय तो वे वस्तुएँ प्रेतोंको मिल जाती हैं। परन्तु जिसके नामसे छाता आदि दिया जाय, उसके साथी प्रेत अगर प्रबल होते हैं तो वे बीचमें ही छाता आदि छीन लेते हैं, उसको मिलने ही नहीं देते। अतः बड़ी सावधानीसे, उसके नामसे ही उसके निमित्त ही पिण्ड-पानी आदि दे तो वह सामग्री उसको मिल जाती है।

प्रश्न—भूत-प्रेतकी बाधाको दूर करनेके क्या उपाय हैं?

उत्तर—प्रेतबाधाको दूर करनेके अनेक उपाय हैं; जैसे—

(१) शुद्ध पवित्र होकर, सामने धूप जलाकर पवित्र आसनपर बैठ जाय और हाथमें जलका लोटा लेकर 'नारायणकवच' (श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ६, अध्याय ८ में आये) का पूरा पाठ करके लोटेपर फूँक मारे। इस तरह कम-से-कम इक्कीस पाठ करे और प्रत्येक पाठके अन्तमें लोटेपर फूँक मारता रहे। फिर उस जलको प्रेतबाधावाले व्यक्तिको पिला दे और कुछ जल उसके शरीरपर छिड़क दे।

(२) गीताप्रेससे प्रकाशित 'रामरक्षास्तोत्र' को उसमें दी हुई विधिसे सिद्ध कर ले। फिर रामरक्षास्तोत्रका पाठ करते हुए प्रेतबाधावाले व्यक्तिको मोरपंखोंसे झाड़ा दे।

(३) शुद्ध-पवित्र होकर 'हनुमानचालीसा' के सात, इक्कीस या एक सौ आठ बार पाठ करके जलको अभिमन्त्रित करे। फिर उस जलको प्रेतबाधावाले व्यक्तिको पिला दे।

(४) गीताके '**स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या**……' (११। ३६)—इस श्लोकके एक सौ आठ पाठोंसे अभिमन्त्रित जलको भूतबाधावाले व्यक्तिको पिला दे।

(५) प्रेतबाधावाले व्यक्तिको भागवतका सप्ताह-पारायण सुनाना चाहिये।

(६) प्रेतसे उसका नाम आदि पूछकर किसी शुद्ध-पवित्र ब्राह्मणके द्वारा साङ्गोपाङ्ग विधि-विधानसे गया-श्राद्ध कराना चाहिये।

(७) प्रेतबाधावाले व्यक्तिके पास गीता, रामायण, भागवत रख दे और उसको 'विष्णुसहस्रनाम' का पाठ सुनाता रहे।

(८) जिस स्थानपर श्रद्धापूर्वक साङ्गोपाङ्ग विधिसे गायत्रीमन्त्रका पुरश्चरण, वेदोंका सस्वर पाठ, पुराणोंकी कथा हुई हो, वहाँ प्रेतबाधावाले व्यक्तिको ले जाना चाहिये। वहाँ जाते ही प्रेत शरीरसे बाहर निकल जाता है, क्योंकि भूत-प्रेत पवित्र स्थानोंमें नहीं जा सकते। प्रेतबाधावाले व्यक्तिको कुछ दिन वहीं रहकर भगवन्नामका जप, हनुमानचालीसाका पाठ, सुन्दरकाण्डका पाठ आदि करते रहना चाहिये, जिससे वह प्रेत पुनः प्रविष्ट न हो। अगर ऐसा नहीं करेंगे तो वह प्रेत बाहर ही घूमता रहेगा और उस व्यक्तिके बाहर आते ही उसको फिर पकड़ लेगा।

(९) सोलह कोष्ठकका 'चौंतीसा यन्त्र' सिद्ध कर ले*। फिर मंगलवार या शनिवारके दिन अग्निमें खोपरा, घी, जौ, तिल और सुगन्धित द्रव्योंकी १०८ आहुतियाँ दे। प्रत्येक आहुति '**स्थाने हृषीकेश**……' (११। ३६)—इस श्लोकसे डाले और प्रत्येक आहुतिके बाद चौंतीसा यन्त्रको अग्निपर घुमाये। इसके बाद उस यन्त्रको ताबीजमें डालकर प्रेतबाधा-वाले व्यक्तिके गलेमें लाल या काले धागेसे पहना दे।

—श्रद्धा-विश्वासपूर्वक कोई एक उपाय करनेसे प्रेत-बाधा दूर हो सकती है। इस तरहके अनुष्ठानोंमें प्रारब्धके बलाबलका भी प्रभाव पड़ता है। अगर प्रारब्धकी अपेक्षा अनुष्ठान बलवान् हो तो पूरा लाभ होता है अर्थात् कार्य सिद्ध हो जाता है, परन्तु अनुष्ठानकी अपेक्षा प्रारब्ध बलवान् हो तो थोड़ा ही लाभ होता है, पूरा लाभ नहीं होता।

प्रश्न—ब्रह्मराक्षस-(जिन्न-)से छुटकारा पानेके क्या उपाय हैं?

उत्तर—(क) जो भगवान्के भजनमें तत्परतासे लगे हुए

---

* चौंतीसा यन्त्र और उसको लिखनेकी तथा सिद्ध करनेकी विधि इस प्रकार है—

९	१६	५	४
७	२	११	१४
१२	१३	८	१
६	३	१०	१५

इस यन्त्रको सफेद कागज या भोजपत्रपर अनारकी कलमसे अष्टगन्ध (सफेद चन्दन, लाल चन्दन, केसर, कुंकुम, कपूर, कस्तूरी, अगर एवं तगर) के द्वारा लिखना चाहिये। इस यन्त्रमें एकसे लेकर सोलहतक अङ्क आये हैं; न तो कोई अङ्क छूटा है और न ही कोई अङ्क दो बार आया है। यन्त्र लिखते समय भी क्रमसे ही अङ्क लिखने चाहिये; जैसे—पहले १ लिखे, फिर २ लिखे, फिर ३ आदि।

इस चौंतीसा यन्त्रको सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण या दीपावलीकी रात्रिको एक सौ आठ बार लिखनेसे यह सिद्ध हो जाता है। शीघ्र सिद्ध करना हो तो शनिवारके दिन धोबी-घाटपर बैठकर उपर्युक्त प्रकारसे एक-एक यन्त्र लिखकर धोबीकी पानीसे भरी नाँदमें डालता जाय। इस तरह एक सौ आठ यन्त्र नाँदमें डालनेके बाद उन सभी यन्त्रोंको नाँदमेंसे निकालकर बहते हुए जलमें बहा दे। ऐसा करनेसे यन्त्र सिद्ध हो जाता है। यन्त्र सिद्ध करनेके बाद भी प्रत्येक ग्रहणके समय और दीपावली-होलीकी रात्रिमें यह यन्त्र एक सौ आठ या चौंतीस बार लिखकर नदीमें बहा देना चाहिये। [इस यन्त्रको 'चौंतीसा यन्त्र' इसलिये कहा गया है कि इसको ६४ प्रकारसे गिननेपर कुल संख्या ३४ आती है। यहाँ चौंतीसा यन्त्रका एक प्रकार दिया गया है। इस यन्त्रको ३८४ प्रकारसे बनाया जा सकता है।]

हैं, साधनमें जिनकी अच्छी स्थिति है, जिनमें भजन-स्मरणका जोर है, उन साधकोंके पास जानेसे ब्रह्मराक्षस भाग जाते हैं; क्योंकि भागवती शक्तिके सामने उनकी शक्ति काम नहीं करती।

(ख) अगर ब्रह्मराक्षससे ग्रस्त व्यक्ति किसी सिद्ध महापुरुषके पास चला जाय तो वह व्यक्ति उस ब्रह्मराक्षससे छूट जाता है और उस ब्रह्मराक्षसका भी उद्धार हो जाता है।

(ग) अगर ब्रह्मराक्षस गया श्राद्ध कराना स्वीकार कर ले तो उसके नामसे गयाश्राद्ध कराना चाहिये। इससे उसकी सद्‌गति हो जायगी।

प्रश्न—भूत-प्रेत किन लोगोंके पास नहीं आते?

उत्तर—भूत-प्रेतोंका बल उन्हीं मनुष्योंपर चलता है, जिनके साथ पूर्वजन्मका कोई लेन-देनका सम्बन्ध रहा है अथवा जिनका प्रारब्ध खराब आ गया है अथवा जो भगवान्‌के (पारमार्थिक) मार्गमें नहीं लगे हैं अथवा जिनका खान-पान अशुद्ध है और जो शौच-स्नान आदिमें शुद्धि नहीं रखते अथवा जिसके आचरण खराब हैं। जो भगवान्‌के परायण हैं, भगवन्नामका जप-कीर्तन करते हैं, भगवत्कथा सुनते हैं, खान-पान, शौच-स्नान आदिमें शुद्धि रखते हैं, जिनके आचरण शुद्ध हैं, उनके पास भूत-प्रेत प्रायः नहीं आ सकते।

जो नित्यप्रति श्रद्धासे गीता, भागवत, रामायण आदि सद्ग्रन्थोंका पाठ करते हैं, उनके पास भी भूत-प्रेत नहीं जाते। परन्तु कई भूत-प्रेत ऐसे होते हैं, जो स्वयं गीता, रामायण आदिका पाठ करते हैं। ऐसे भूत-प्रेत पाठ करनेवालोंके पास जा सकते हैं, पर उनको दुःख नहीं दे सकते। अगर ऐसे भूत-प्रेत गीता आदिका पाठ करनेवालोंके पास आ जायँ तो उनका निरादर नहीं करना चाहिये; क्योंकि निरादर करनेसे वे चिढ़ जाते हैं।

जो रोज गङ्गाजलका चरणामृत लेता है, उसके पास भी भूत-प्रेत नहीं आते। हनुमानचालीसा अथवा विष्णुसहस्रनामका पाठ करनेवालेके पास भी भूत-प्रेत नहीं आते। एक बार दो सज्जन बैलगाड़ीपर बैठकर दूसरे गाँव जा रहे थे। रास्तेमें गाड़ीके पीछे एक पिशाच (प्रेत) लग गया। उसको देखकर वे दोनों सज्जन डर गये। उनमेंसे एक सज्जनने विष्णुसहस्रनामका पाठ शुरू कर दिया। जबतक दूसरे गाँवकी सीमा नहीं आयी, तबतक वह पिशाच गाड़ीके पीछे-पीछे ही चलता रहा। सीमा आते ही वह अदृश्य हो गया। इस तरह विष्णुसहस्रनामके प्रभावसे वह गाड़ीपर आक्रमण नहीं कर सका।

जिसके गलेमें तुलसी, रुद्राक्ष अथवा बद्ध पारदकी माला होती है, उसका भूत-प्रेत स्पर्श नहीं कर सकते। एक सज्जन प्रातः लगभग चार बजे घोड़ेपर बैठकर किसी आवश्यक कामके लिये दूसरे गाँव जा रहे थे। ठण्डीके दिन थे। सूर्योदय होनेमें लगभग डेढ़ घण्टेकी देरी थी। जाते-जाते वे ऐसे स्थानपर पहुँचे, जो इस बातके लिये प्रसिद्ध था कि वहाँ भूत-प्रेत रहते हैं। वहाँ पहुँचते ही उनके सामने अचानक एक प्रेत पेड़-जैसा लम्बा रूप धारण करके रास्तेमें खड़ा हो गया। घोड़ा बिचक जानेसे वे सज्जन घोड़ेसे गिर पड़े। उनके दोनों हाथोंमें मोच आ गयी। पर वे सज्जन बड़े निर्भय थे; अतः पिशाचसे डरे नहीं। जबतक सूर्योदय नहीं हुआ, तबतक वह पिशाच उनके सामने ही खड़ा रहा, पर उसने उनपर आक्रमण नहीं किया, उनका स्पर्श नहीं किया; क्योंकि उनके गलेमें तुलसीकी माला थी। सूर्योदय होनेपर पिशाच अदृश्य हो गया और वे सज्जन पुनः घोड़ेपर बैठकर अपने घर वापस आ गये।

सूर्यास्तसे लेकर आधीराततक तथा मध्याह्नके समय भूत-प्रेतोंमें ज्यादा बल रहता है, उनका ज्यादा जोर चलता है। यह सबके अनुभवमें भी आता है कि रात्रि और मध्याह्नके समय श्मशान आदि स्थानोंमें जानेसे जितना भय लगता है, उतना भय सवेरे और सन्ध्याके समय नहीं लगता। अगर रात्रि अथवा मध्याह्नके समय किसी एकान्त, निर्जन स्थानपर जाना पड़े और वहाँ पीछेसे कोई (प्रेत) पुकारे अथवा 'मैं आ जाऊँ'—ऐसा कहे तो उत्तरमें कुछ नहीं बोलना चाहिये, प्रत्युत चलते-चलते भगवन्नाम-जप, कीर्तन, विष्णुसहस्रनाम, हनुमानचालीसा, गीता आदिका पाठ शुरू कर देना चाहिये। उत्तर न मिलनेसे वह प्रेत वहींपर रह जायगा। अगर हम उत्तर देंगे, 'हाँ, आ जा'—ऐसा कहेंगे तो वह प्रेत हमारे पीछे लग जायगा।

जहाँ प्रेत रहते हैं, वहाँ पेशाब आदि करनेसे भी वे पकड़ लेते हैं; क्योंकि उनके स्थानपर पेशाब करना उनके प्रति अपराध है। अतः मनुष्यको जहाँ-कहीं भी पेशाब नहीं करना चाहिये।

हमें दुर्गतिमें, प्रेतयोनिमें न जाना पड़े—इस बातकी सावधानीके लिये और गयाश्राद्ध करके, पिण्ड-पानी देकर प्रेतात्माओंके उद्धारकी प्रेरणा करनेके लिये ही यहाँ प्रेतविषयक चर्चा की गयी है।

सांसारिक भोग और ऐश्वर्यकी कामनावाले मनुष्य अपने-अपने इष्टके पूजन आदिमें तत्परतासे लगे रहते हैं और इष्टकी प्रसन्नताके लिये सब काम करते हैं; परन्तु भगवान्‌के भजन-ध्यानमें लगनेवाले जिस तत्त्वको प्राप्त होते हैं, उसको

प्राप्त न होकर वे बार-बार सांसारिक तुच्छ भोगोंको और नरकों तथा चौरासी लाख योनियोंको प्राप्त होते रहते हैं। इस तरह जो मनुष्य-जन्म पाकर भगवान्‌के साथ प्रेमका सम्बन्ध जोड़कर उनको भी आनन्द देनेवाले हो सकते थे, वे सांसारिक तुच्छ कामनाओंमें फँसकर और तुच्छ देवता, पितर आदिके फेरेमें पड़कर कितनी अनर्थ-परम्पराको प्राप्त होते हैं। इसलिये मनुष्यको बड़ी सावधानीसे केवल भगवान्‌में ही लग जाना चाहिये।

देवता, पितर, ऋषि, मुनि, मनुष्य आदिमें भगवद्बुद्धि हो और निष्कामभावपूर्वक केवल उनकी पुष्टिके लिये, उनके हितके लिये ही उनकी सेवा-पूजा की जाय तो भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इन देवता आदिको भगवान्‌से अलग मानना और अपना सकामभाव रखना ही पतनका कारण है।

भूत, प्रेत, पिशाच आदि योनि ही अशुद्ध है और उनकी पूजा-विधि सामग्री, आराधना आदि भी अत्यन्त अपवित्र है। इनका पूजन करनेवाले इनमें न तो भगवद्बुद्धि कर सकते हैं और न निष्कामभाव ही रख सकते हैं। इसलिये उनका तो सर्वथा पतन ही होता है। इस विषयमें थोड़े वर्ष पहलेकी एक सच्ची घटना है। कोई 'कर्णपिशाचिनी'की उपासना करनेवाला था। उसके पास कोई भी कुछ पूछने आता तो वह उसके बिना पूछे ही बता देता कि यह तुम्हारा प्रश्न है और यह उसका उत्तर है। इससे उसने बहुत रुपये कमाये।

अब उस विद्याके चमत्कारको देखकर एक सज्जन उसके पीछे पड़ गये कि 'मेरेको भी यह विद्या सिखाओ, मैं भी इसको सीखना चाहता हूँ।' तो उसने सरलतासे कहा कि 'यह विद्या चमत्कारी बहुत है, पर वास्तविक हित, कल्याण करनेवाली नहीं है।' उससे यह पूछा गया कि 'आप दूसरेके बिना कहे ही उसके प्रश्नको और उत्तरको कैसे जान जाते हो?' तो उसने कहा कि 'मैं अपने कानमें विष्ठा लगाये रखता हूँ। जब कोई पूछने आता है, तो उस समय कर्णपिशाचिनी आकर मेरे कानमें उसका प्रश्न और प्रश्नका उत्तर सुना देती है और मैं वैसा ही कह देता हूँ।' फिर उससे पूछा गया कि 'आपका मरना कैसा होगा'—इस विषयमें आपने कुछ पूछा है कि नहीं? इसपर उसने कहा कि 'मेरा मरना तो नर्मदाके किनारे होगा'। उसका शरीर शान्त होनेके बाद पता लगा कि जब वह (अपना अन्त-समय जानकर) नर्मदामें जाने लगा, तब कर्णपिशाचिनी सूकरी बनकर उसके सामने आ गयी। उसको देखकर वह नर्मदाकी तरफ भागा, तो कर्णपिशाचिनीने उसको नर्मदामें जानेसे पहले ही किनारेपर मार दिया। कारण यह था कि अगर वह नर्मदामें मरता तो उसकी सद्‌गति हो जाती। परन्तु कर्णपिशाचिनीने उसकी सद्गति नहीं होने दी और उसको नर्मदाके किनारेपर ही मारकर अपने साथ ले गयी।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि देवता, पितर, आदिकी उपासना स्वरूपसे त्याज्य नहीं है; परन्तु भूत, प्रेत, पिशाच आदिकी उपासना स्वरूपसे ही त्याज्य है। कारण कि देवताओंमें भगवद्भाव और निष्कामभाव हो तो उनकी उपासना भी कल्याण करनेवाली है। परन्तु भूत, प्रेत आदिकी उपासना करनेवालोंकी कभी सद्गति होती ही नहीं, दुर्गति ही होती है।

हाँ, पारमार्थिक साधक भूत-प्रेतोंके उद्धारके लिये उनका श्राद्ध-तर्पण कर सकते हैं। कारण कि उन भूत-प्रेतोंको अपना इष्ट मानकर उनकी उपासना करना ही पतनका कारण है। उनके उद्धारके लिये श्राद्ध-तर्पण करना अर्थात् उनको पिण्ड-जल देना कोई दोषकी बात नहीं है। सन्त-महात्माओंके द्वारा भी अनेक भूत-प्रेतोंका उद्धार हुआ है।

★

आहार-शुद्धि

मनुष्योंकी जो स्वाभाविक वृत्ति, स्थिति, भाव बनता है, उसके बननेमें कई कारण होते हैं। उनमें आहार भी एक कारण है। कहावत भी है कि *'जैसा खाये अन्न, वैसा बने मन।'* अतः आहार जितना सात्त्विक होता है, मनुष्यकी वृत्ति उतनी ही सात्त्विक बनती है अर्थात् सात्त्विक वृत्तिके बननेमें सात्त्विक आहारसे सहायता मिलती है।

गीतामें आहारका स्वतन्त्ररूपसे वर्णन नहीं हुआ है, प्रत्युत आहारी-(व्यक्ति-)का वर्णन होनेसे आहारका वर्णन हुआ है; जैसे—सात्त्विक व्यक्तिको प्रिय होनेसे सात्त्विक आहारका, राजस व्यक्तिको प्रिय होनेसे राजस आहारका और तामस व्यक्तिको प्रिय होनेसे तामस आहारका वर्णन हुआ है (१७।८—१०)। अतः गीतामें जहाँ-जहाँ आहारकी बात आयी है, वहाँ-वहाँ भगवान्ने आहारीका ही वर्णन किया है; जैसे—**'नियताहाराः'** (४।३०) पदमें नियमित आहार करनेवालेका, **'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।'** (६।१६) पदोंमें अधिक खानेवाले और बिल्कुल न खानेवालेका, **'युक्ताहारविहारस्य'** (६।१७) पदमें नियमित खानेवालेका, **'यदश्नासि'** (९।२७) पदमें भोजनके पदार्थको भगवान्के अर्पण करनेवालेका और **'लघ्वाशी'** (१८।५२) पदमें अल्प भोजन करनेवालेका वर्णन किया गया है।

गीतामें जो तीनों (सत्त्व, रज और तम) गुणोंका वर्णन हुआ है, उनमें भी तारतम्य रहता है। सात्त्विक मनुष्यमें सत्त्वगुणकी प्रधानता होनेपर भी साथमें राजस-तामस भाव रहते हैं। राजस मनुष्यमें रजोगुणकी प्रधानता होनेपर भी साथमें सात्त्विक-तामस भाव रहते हैं। तामस मनुष्यमें तमोगुणकी प्रधानता होनेपर भी साथमें सात्त्विक-राजस भाव रहते हैं। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि त्रिगुणात्मक है (१८। ४०)। दो गुणोंको दबाकर एक गुण प्रधान होता है (१४। १०)। अतः सात्त्विक मनुष्यको सात्त्विक पदार्थ स्वाभाविक प्रिय लगनेपर भी तीनों गुणोंका मिश्रण रहनेसे अथवा पहले राजस-तामस पदार्थोंके सेवनके अभ्याससे अथवा शरीरमें किसी पदार्थकी कमी होनेसे अथवा शरीर बीमार हो जानेसे कभी-कभी राजस-तामस भोजनकी इच्छा हो जाती है। जैसे, खूब नमक या नमकीन पदार्थ पानेकी मनमें आ जाती है अथवा अधपका साग आदि पदार्थ पानेकी मनमें आ जाती है।

राजस मनुष्यको राजस पदार्थ स्वाभाविक प्रिय लगनेपर भी तीनों गुणोंका मिश्रण रहनेसे अथवा पहले सात्त्विक-तामस पदार्थोंके सेवनके अभ्याससे अथवा अन्य किसी कारणसे कभी-कभी सात्त्विक-तामस पदार्थोंकी इच्छा हो जाती है। जैसे, पहले दूध, काजू, पिस्ता, बादाम आदिका सेवन किया है, तो बीमारीके कारण शरीर कमजोर होनेपर बल बढ़ानेके लिये उन सात्त्विक पदार्थोंकी इच्छा हो जाती है। ऐसे ही कभी-कभी लहसुन, प्याज आदि तामस पदार्थोंकी भी इच्छा हो जाती है।

तामस मनुष्यको तामस पदार्थ स्वाभाविक प्रिय लगनेपर भी शरीरमें कमजोरी आ जाने आदि कारणोंसे दूध, घी आदि सात्त्विक तथा खट्टे, नमकीन आदि राजस पदार्थोंकी इच्छा हो जाती है।

सात्त्विक मनुष्यकी पूर्वसंस्कार आदिके कारण राजस-तामस भोजनकी इच्छा हो जानेपर भी वह इच्छा राजस-तामस पदार्थोंका सेवन करनेके लिये बाध्य नहीं करती; क्योंकि उसमें सत्त्वगुणकी प्रधानता रहनेसे विवेक जाग्रत् रहता है। इतना ही नहीं, सात्त्विक पदार्थ स्वाभाविक प्रिय होनेपर भी उसमें सात्त्विक पदार्थोंकी प्रबल इच्छा नहीं रहती। तीव्र वैराग्य होनेपर तो सात्त्विक पदार्थोंकी भी उपेक्षा हो जाती है। राजस मनुष्यमें शरीरको पुष्ट एवं ठीक रखनेवाले सात्त्विक तथा तामस पदार्थोंकी इच्छा हो जाती है। रागकी प्रधानता होनेसे यह इच्छा उन पदार्थोंका सेवन करनेके लिये उसको बाध्य कर देती है। तामस मनुष्यमें भी सात्त्विक-राजस मनुष्योंके सङ्गसे सात्त्विक-राजस पदार्थोंके सेवनकी इच्छा (रुचि) हो जाती है; परन्तु मोह—मूढ़ताकी प्रधानता होनेसे इस इच्छाका उसपर विशेष असर नहीं होता।

सात्त्विक मनुष्य भी अगर सात्त्विक पदार्थों-(भोजन-) का रागपूर्वक अधिक मात्रामें सेवन करेगा, तो वह भोजन राजस हो जायगा, जो परिणाममें दुःख, शोक, एवं रोगोंको देनेवाला हो जायगा। अगर वह लोभमें आकर अधिक मात्रामें पदार्थोंका सेवन करेगा तो वह सात्त्विक भोजन भी तामस हो जायगा, जो अधिक निद्रा, आलस्यमें लगा देगा।

राजस मनुष्य भी अगर राजस भोजनको रागपूर्वक करेगा तो परिणाममें रोग, पेटमें जलन आदि होंगे। अगर वह उन्हीं पदार्थोंका सेवन अधिक मात्रामें करेगा तो जलन, दुःख, रोग आदिके साथ-साथ निद्रा, आलस्य आदि भी बढ़ जायँगे। अगर वह विवेक-विचारसे उसी भोजनको थोड़ी मात्रामें करेगा तो उसका परिणाम राजस (दुःख, शोक आदि) न होकर सात्त्विक होगा अर्थात् अन्तःकरणमें निर्मलता, शरीरमें हलकापन, ताजगी आदि होंगे। निद्रा कम आयेगी, आलस्य नहीं आयेगा; क्योंकि उसने युक्ताहार किया है।

तामस मनुष्य अगर तामस भोजनको मोहपूर्वक करेगा तो तामसी वृत्तियाँ ज्यादा पैदा होंगी। अगर उसी भोजनको वह थोड़ी मात्रामें करेगा तो वैसी वृत्तियाँ पैदा नहीं होंगी, सामान्य वृत्तियाँ रहेंगी अर्थात् अधिक मोहित करनेवाली वृत्तियाँ नहीं होंगी।

भोजनके पदार्थ सात्त्विक होनेपर भी अगर वे न्याययुक्त एवं सच्ची कमाईके नहीं होंगे, प्रत्युत निषिद्ध रीतिसे पैदा किये होंगे, तो उनका नतीजा अच्छा नहीं होगा। वे कुछ-न-कुछ राजसी-तामसी वृत्तियाँ पैदा करेंगे, जिससे पदार्थोंमें राग बढ़ेगा, निद्रा-आलस्य भी ज्यादा होंगे। अतः भोजनके पदार्थ सात्त्विक हों, सच्ची कमाईके हों, पवित्रतापूर्वक बनाये जायँ भगवान्‌को भोग लगाकर शान्तिपूर्वक थोड़ी मात्रामें पाये जायँ तो उनका नतीजा बहुत ही अच्छा होता है।

राजस भोजन न्याययुक्त और सच्ची कमाईका होनेपर भी तत्काल तो भोजनका ही असर होगा अर्थात् पेटमें जलन आदि होंगे। कारण कि भोज्य पदार्थोंका शरीरके साथ ज्यादा सम्बन्ध होता है। परन्तु भोजन सच्ची कमाईका होनेसे परिणाममें वृत्तियाँ अच्छी बनेंगी और राजसी वृत्तियाँ ज्यादा देर नहीं ठहरेंगी। वृत्तियोंमें शोक, चिन्ता आदिकी तीव्रता नहीं रहेगी, शान्ति रहेगी।

तामस भोजन सच्ची कमाईका होनेपर भी तामसी वृत्तियाँ तो बनेंगी ही। हाँ, सच्ची कमाईका होनेसे तामसी वृत्तियोंका

स्थायित्व नहीं रहेगा, कभी-कभी सात्त्विक वृत्तियाँ भी आ जायँगी।

सात्त्विक मनुष्यमें विवेक जाग्रत् रहता है; अतः वह पहले भोजनके परिणामको देखता है अर्थात् उसकी दृष्टि पहले परिणामकी तरफ ही जाती है। इसलिये सात्त्विक आहारमें पहले फल-(परिणाम-) का और पीछे भोजनके पदार्थोंका वर्णन हुआ है (१७।८)। राजस मनुष्यमें राग रहता है, भोज्य पदार्थोंकी आसक्ति रहती है; अतः उसकी दृष्टि पहले भोजनके पदार्थोंकी तरफ ही जाती है। इसलिये राजस आहारमें पहले भोज्य पदार्थोंका और पीछे फल-(परिणाम-)का वर्णन हुआ है (१७।९)। तामस मनुष्यमें मोह—मूढ़ता रहती है; अतः वह मोहपूर्वक ही भोजन करता है। इसलिये तामस आहारमें केवल तामस पदार्थोंका ही वर्णन आया है; फल-(परिणाम-)का वर्णन आया ही नहीं (१७।१०)।

किसी भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदायका मनुष्य क्यों न हो, अगर वह पारमार्थिक मार्गमें लगेगा, साधन करेगा तो उसकी रुचि (प्रियता) स्वाभाविक ही सात्त्विक आहारमें होगी, राजस-तामस आहारमें नहीं। सात्त्विक आहार करनेसे वृत्तियाँ सात्त्विक बनती हैं और सात्त्विक वृत्तियोंसे सात्त्विक आहारमें प्रियता होती है।

कर्मयोगीमें निष्कामभावकी, ज्ञानयोगीमें विवेकपूर्वक त्यागकी और भक्तियोगीमें भगवद्भावकी मुख्यता रहती है। उनके सामने भोजनके पदार्थ आनेपर भी उन पदार्थोंमें उनका खिंचाव, प्रियता पैदा नहीं होती। जैसे, कर्मयोगीके सामने भोजन आ जाय तो उसमें सुख एवं भोग-बुद्धि न रहनेसे वह रागपूर्वक भोजन नहीं करता; अतः भोजनमें सात्त्विकताकी कमी रहनेपर भी निष्कामभाव होनेसे भोजनमें साङ्गोपाङ्ग सात्त्विकता आ जाती है। ज्ञानयोगी सम्पूर्ण पदार्थोंसे विवेकपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद करता है; अतः भोज्य पदार्थोंसे सम्बन्ध न रहनेके कारण वह जो भोजन करता है, वह सात्त्विक हो जाता है। भक्तियोगी भोज्य पदार्थोंको पहले भगवान्‌के अर्पण करके फिर उनको प्रसादरूपसे ग्रहण करता है, अतः वह भोजन सात्त्विक हो जाता है।

ज्ञातव्य

प्रश्न—आयुर्वेद और धर्मशास्त्रमें विरोध क्यों है? जैसे, आयुर्वेद अरिष्ट, आसव, मदिरा, मांस आदिका विधान करता है और धर्मशास्त्र इनका निषेध करता है; ऐसा क्यों?

उत्तर—शास्त्र चार प्रकारके हैं—नीतिशास्त्र, आयुर्वेद-शास्त्र, धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र। '**नीतिशास्त्र**' में धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, वैभव आदिको प्राप्त करनेका एवं रखनेका उद्देश्य ही मुख्य है। नीतिशास्त्रमें कूटनीतिका वर्णन भी आता है, जिसमें दूसरोंके साथ छल-कपट, विश्वासघात आदि करनेकी बात भी आती है, जो कि ग्राह्य नहीं है। '**आयुर्वेदशास्त्र**' में शरीरकी ही मुख्यता है, अतः उसमें वही बात आती है, जिससे शरीर ठीक रहे। वह बात कहीं-कहीं धर्मशास्त्रसे विरुद्ध भी पड़ती है। '**धर्मशास्त्र**' में सुखभोगकी मुख्यता है; अतः उसमें वही बात आती है, जिससे यहाँ भी सुख हो और परलोकमें भी (स्वर्गादि लोकोंमें) सुख हो। '**मोक्षशास्त्र**' में जीवके कल्याणकी मुख्यता है; अतः उसमें वही बात आती है, जिससे जीवका कल्याण (उद्धार) हो जाय। मोक्षशास्त्रमें धर्मविरुद्ध बात नहीं आती। उसमें सकामभावका भी वर्णन आता है, पर उसकी उसमें महिमा नहीं कही गयी है, प्रत्युत निन्दा ही की गयी है। कारण कि साधकमें जबतक सकामभाव रहता है, तबतक परमात्मप्राप्तिमें देरी लगती ही है। इहलोक और परलोकके सुखकी कामनाका त्याग करनेपर धर्मशास्त्र भी मोक्षमें सहायक हो जाता है।

आयुर्वेदमें शरीरकी ही मुख्यता रहती है। अतः किसी भी तरहसे शरीर स्वस्थ, नीरोग रहे—इसके लिये आयुर्वेदमें जड़ी-बूटियोंसे बनी दवाइयोंके तथा मांस, मदिरा, आसव आदिके सेवनका विधान आता है। धर्मशास्त्रमें सुखभोगकी मुख्यता रहती है; अतः उसमें भी स्वर्ग आदिकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले अश्वमेध आदि यज्ञोंमें पशुबलिका, हिंसाका वर्णन आता है। वैदिक मन्त्रोंके द्वारा विधि-विधानसे की हुई (वैदिकी) हिंसाको हिंसा नहीं माना जाता। हिंसा न माननेपर भी हिंसाका पाप तो लगता ही है।* इसके सिवाय मांसका सेवन करते-करते मनुष्यका स्वभाव बिगड़ जाता है। फिर उसमें परलोककी प्रधानता न रहकर स्थूलशरीरकी प्रधानता हो जाती है और वह शास्त्रीय विधानके बिना भी मांसका सेवन करने लग जाता है।

आयुर्वेदमें हिंसाकी सीमा नहीं होती; क्योंकि उसमें स्थूलशरीरको ठीक रखनेकी मुख्यता है। अतः उसमें परलोकके बिगड़नेकी परवाह नहीं होती। धर्मशास्त्रमें सीमित हिंसा होती है। जिससे परलोक बिगड़ जाय, ऐसी हिंसा नहीं होती। परंतु धर्मशास्त्रमें मनुष्यके कल्याण-(मोक्ष-) की

* शतक्रतु इन्द्र (सौ यज्ञ करके इन्द्र बननेवाला) भी दुःखी होता है, उसपर भी आफत आती है। उसके मनमें भी ईर्ष्या, भय, अशान्ति आदि होते हैं कि मेरा पद कोई छीन न ले आदि। यह वैदिकी हिंसाके पापका ही फल है।

परवाह नहीं होती। तात्पर्य है कि आयुर्वेद और धर्मशास्त्र—दोनों ही प्रकृतिके राज्यमें हैं। जबतक अन्तःकरणमें नाशवान् पदार्थोंका महत्त्व रहता है, तबतक मनुष्य पापसे, हिंसासे बच ही नहीं सकता। वह अपनी भी हिंसा (पतन) करता है और दूसरोंकी भी। परन्तु जिसमें सकामभाव नहीं है, उसके द्वारा हिंसा नहीं होती। अगर उसके द्वारा हिंसा हो भी जाय तो भी उसको पाप नहीं लगता; क्योंकि पाप कामना-(राग-)में ही है, क्रियामें नहीं।

लोगोंकी प्रायः ऐसी धारणा बन गयी है कि औषधरूपमें मांस आदि अशुद्ध चीज खाना बुरा नहीं है। परन्तु ऐसा माननेवाले वे ही लोग हैं, जिनका केवल शरीरको ठीक रखनेका, सुख-आरामका ही लक्ष्य है; जो धर्मकी अथवा अपने कल्याणकी परवाह नहीं करते। औषधरूपमें भी अभक्ष्य-भक्षण करनेसे हिंसा और अपवित्रता तो आ ही जाती है। अतः औषधरूपमें भी अभक्ष्य-भक्षण नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—अगर शरीर रहेगा तो मनुष्य साधन-भजन करेगा; अतः अभक्ष्य-भक्षण करनेसे अगर शरीर बच जाय तो क्या हानि है?

उत्तर—अभक्ष्य-भक्षण करनेसे शरीर बच जाय, मौत टल जाय—यह कोई नियम नहीं है। अगर आयु शेष होगी तो शरीर बच जायगा और आयु शेष नहीं होगी तो शरीर नहीं बचेगा; क्योंकि शरीरका बचना अथवा न बचना प्रारब्धके अधीन है, वर्तमानके कर्मोंके अधीन नहीं। अभक्ष्य-भक्षणसे शरीर बच नहीं सकता, केवल शरीरकी किञ्चित् पुष्टि हो सकती है, पर अभक्ष्य-भक्षणसे जो पाप होगा, उसका दण्ड तो भोगना ही पड़ेगा।

मनुष्य साधन-भजनका तो केवल बहाना बनाता है, वास्तवमें तो शरीरमें राग-आसक्ति रहनेसे ही वह अशुद्ध दवाइयोंका सेवन करता है। जिसका शरीरमें राग नहीं है, जिसका उद्देश्य अपना कल्याण करना है, वह प्रतिक्षण नष्ट होनेवाले शरीरके लिये अशुद्ध चीजोंका सेवन करके पाप क्यों करेगा?

प्रश्न—आजकल कई लोग जीवरहित अण्डा खानेमें दोष नहीं मानते; यह कहाँतक उचित है?

उत्तर—जीवरहित होनेपर भी वह साग-सब्जीकी तरह शुद्ध नहीं है, प्रत्युत महान् अशुद्ध है; क्योंकि वह अण्डा महान् अपवित्र रज (रक्त) और मांससे ही बनता है।

माताएँ-बहनें जब रजस्वला हो जाती हैं, तब उनको हम छूते भी नहीं, दूरसे ही नमस्कार करते हैं; क्योंकि उनको छूनेसे अपवित्रता आती है। रजस्वला स्त्रीकी छाया पड़नेसे साँप अन्धे हो जाते हैं और पापड़ काले पड़ जाते हैं। जलाशयको छूनेसे उसमें जीव-जन्तु पैदा हो जाते हैं। अन्न, वस्त्र आदिको छूनेसे वे अपवित्र हो जाते हैं। कारण कि रजस्वला स्त्रीके शरीरसे जहर निकलता है, जिसके निकल जानेपर वह शुद्ध हो जाती है। इस प्रकार जिस रजको अपवित्र मानते हैं, उसी रजसे अण्डा बनता है। अतः अण्डा खानेवालेमें वह अपवित्रता आयेगी ही।

जो व्यक्ति जीवरहित अण्डा खाने लग जायगा, वह फिर जीववाला अण्डा भी खाने लगेगा। इसके सिवाय जीवरहित अण्डोंमें जीववाले अण्डोंकी मिलावट न हो—इसका भी क्या पता? अतः प्रत्येक दृष्टिसे अण्डा खाना निषिद्ध है, पाप है।

प्रश्न—जड़ी-बूटियाँ उखाड़नेमें भी हिंसा होती है। अतः उनसे बनी हुई दवाइयाँ लेनी चाहिये या नहीं?

उत्तर—चतुर्थाश्रमी संन्यासी, त्यागी अगर जड़ी-बूटियोंसे बनी शुद्ध दवाई भी न लें तो अच्छा है; क्योंकि उनमें त्याग ही मुख्य है। ऐसे तो त्याग सबके लिये ही अच्छा है, पर गृहस्थ आदि यदि जड़ी-बूटियोंसे बनी दवाइयाँ लें तो उनके लिये उतना दोष नहीं है। जैसे, जो खेती आदि करते हैं, उनके द्वारा अनेक जीव-जन्तुओंकी हिंसा होती है, पर उस हिंसाका उतना दोष नहीं लगता; क्योंकि खेतीसे उत्पन्न होनेवाले अन्न आदिके द्वारा प्राणियोंका जीवन चलता है। ऐसे ही जो लोग जड़ी-बूटियाँ उखाड़ते हैं, उनके द्वारा हिंसा तो होती है, पर उसका उतना दोष नहीं लगता, क्योंकि उस औषधिके द्वारा लोगोंको नीरोगता प्राप्त होती है।

पद्मपुराणमें आता है कि मनुष्य किसी भी जलाशयका पानी पीये तो उस जलाशयमेंसे थोड़ी-सी मिट्टी निकालकर किनारेपर डाल दे। इसका तात्पर्य यह है कि वह जलाशय किसी दूसरे व्यक्तिने खुदवाया है। अतः उसमेंसे मिट्टी निकालनेसे जलाशयके खोदनेमें हमारा भी हिस्सा हो जायगा, जिससे उस जलाशयका पानी पीने (पराया हक लेने) का दोष हमें नहीं लगेगा। ऐसे ही जो जड़ी-बूटियाँ औषध बनानेके काममें आती हों, उनको जल आदिसे पुष्ट करना चाहिये, उनकी विशेष रक्षा करनी चाहिये, उनको निरर्थक नहीं उखाड़ना चाहिये।

प्रश्न—रोग किस प्रकार पैदा होते हैं?

उत्तर—रोग दो प्रकारसे पैदा होते हैं—प्रारब्धसे और कुपथ्यसे। पुराने पापोंका फल भुगतानेके लिये शरीरमें जो रोग पैदा हो जाते हैं, वे 'प्रारब्धजन्य' हैं। जो रोग निषिद्ध खान-पानसे, आहार-विहारसे पैदा होते हैं, वे 'कुपथ्यजन्य' हैं।

प्रश्न—रोगकी हम कैसे पहचान करें कि यह रोग तो

प्रारब्धजन्य है और यह रोग कुपथ्यजन्य है ?

उत्तर—पथ्यका सेवन करनेसे, संयमपूर्वक रहनेसे और दवाई लेनेसे भी जो रोग मिटता नहीं, उसको 'प्रारब्धजन्य' जानना चाहिये। दवाई और पथ्यका सेवन करनेसे जो रोग मिट जाता है, उसको 'कुपथ्यजन्य' जानना चाहिये।

कुपथ्यजन्य रोग चार प्रकारके होते हैं—साध्य, कृच्छ्र-साध्य, याप्य और असाध्य। जो रोग दवाई लेनेसे मिट जाते हैं, वे '**साध्य**' हैं। जो रोग कई दिनतक दवाई और पथ्यका विशेषतासे सेवन करनेपर दूर होते हैं, वे '**कृच्छ्र-साध्य**' हैं। जो रोग पथ्य आदिका सेवन करते रहनेसे दबे रहते हैं, जड़से नहीं मिटते वे '**याप्य**' हैं। जो रोग दवाई आदिका सेवन करनेपर भी मिटते नहीं, वे '**असाध्य**' हैं।

प्रारब्धसे होनेवाला रोग तो असाध्य होता ही है, कुपथ्यसे होनेवाला रोग भी कभी-कभी असाध्य हो जाता है। ऐसे असाध्य रोग प्रायः दवाइयोंसे दूर नहीं होते। किसी सन्तके आशीर्वादसे, मन्त्रोंके प्रबल अनुष्ठानसे, भगवत्कृपासे ऐसे रोग दूर हो सकते हैं।

प्रश्न—कुपथ्यजन्य रोगके असाध्य होनेमें क्या कारण है ?

उत्तर—इसमें कई कारण हो सकते हैं; जैसे—(१) रोग बहुत दिनका (पुराना) हो जाय, (२) तात्कालिक रुचिके कारण रोगी कुपथ्यका सेवन कर ले, (३) दवाइयोंके बनानेमें मात्रा आदिकी कमी रह जाय, (४) जिन जड़ी-बूटियों आदिसे दवाइयाँ बनायी जायँ, वे पुरानी हों, ताजी न हों, (५) रोगीका वैद्यपर और औषधपर विश्वास न हो (६) रोगी खान-पान आदिमें संयम नहीं रखे (७) रोगी ब्रह्मचर्यका पालन नहीं करे, आदि-आदि कारणोंसे कुपथ्यजन्य रोग भी जल्दी नहीं जाते।

जो रोगी बार-बार तरह-तरहकी दवाइयाँ लेता रहता है, दवाइयोंका अधिक मात्रामें सेवन करता है, उसको दवाइयोंसे विशेष लाभ नहीं होता; क्योंकि दवाइयाँ उसके लिये आहार-रूप हो जाती हैं। देहातमें रहनेवाले प्रायः दवाई नहीं लेते, पर कभी वे दवाई ले लें तो उनपर दवाई बहुत जल्दी असर करती है। जो मदिरा, चाय आदि नशीली वस्तुओंका सेवन करते हैं, उनकी आँतें खराब हो जाती हैं, जिससे उनके शरीरपर दवाइयाँ असर नहीं करतीं। जो धर्मशास्त्र और आयुर्वेदशास्त्रके विरुद्ध खान-पान, आहार-विहार करता है, उसका कुपथ्यजन्य रोग दवाइयोंका सेवन करनेपर भी दूर नहीं होता।

कुपथ्यका त्याग और पथ्यका सेवन करना तथा संयमसे रहना—ये तीनों बातें दवाइयोंसे भी बढ़कर रोग दूर करनेवाली हैं।

रोगीके साथ खाने-पीनेसे, रोगीके पात्रमें भोजन करनेसे, रोगीके आसनपर बैठनेसे, रोगीके वस्त्र आदिको काममें लेने आदिसे ऐसे संकर (मिश्रित) रोग हो जाते हैं, जिनकी पहचान करना बड़ा कठिन हो जाता है। जब रोगकी पहचान ही नहीं होगी तो फिर उसपर दवा कैसे काम करेगी ?

युगके प्रभावसे जड़ी-बूटियोंकी शक्ति क्षीण हो गयी है। कई दिव्य जड़ी-बूटियाँ लुप्त हो गयी हैं। दवाइयाँ बनानेवाले ठीक ढंगसे दवाइयाँ नहीं बनाते और पैसोंके लोभमें आकर जिस दवाईमें जो चीज मिलानी चाहिये, उसे न मिलाकर दूसरी ही चीज मिला देते हैं। अतः उस दवाईका वैसा गुण नहीं होता।

देहातमें रहनेवाले मनुष्य खेतीका, परिश्रमका काम करते हैं तथा माताएँ-बहनें घरमें चक्की चलाती हैं, परिश्रमका काम करती हैं और उनको अन्न, जल, हवा आदि भी शुद्ध मिलते हैं; अतः उनको कुपथ्यजन्य रोग नहीं होते। परन्तु जो शहरमें रहनेवाले हैं, वे शारीरिक परिश्रम भी नहीं करते और उनको शुद्ध, अन्न, जल, हवा आदि भी नहीं मिलते; अतः उनको कुपथ्यजन्य रोग होते हैं। हाँ, प्रारब्धजन्य रोग तो सबको ही होते हैं, चाहे वे देहाती हों, चाहे शहरी।

मनुष्यको शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार शुद्ध दवाइयोंका सेवन करना चाहिये। अगर कोई साधु, संन्यासी, गृहस्थ रोगी होनेपर भी दवाई न ले तो इससे भी रोग दूर हो जाता है; क्योंकि दवाई न लेना भी एक तप है, जिससे रोग दूर होते हैं। जो रोगोंके कारण दुःखी, अप्रसन्न रहता है, उसपर रोग ज्यादा असर करते हैं। परन्तु जो भजन-स्मरण करता है, संयमसे रहता है, प्रसन्न रहता है, उसपर रोग ज्यादा असर नहीं करते। चित्तकी प्रसन्नतासे उसके रोग नष्ट हो जाते हैं।

प्रारब्धजन्य रोगके मिटनेमें दवाई तो केवल निमित्त मात्र बनती है। मूलमें तो प्रारब्धकर्म समाप्त होनेसे ही रोग मिटता है। जिन कर्मोंके कारण रोग हुआ है, उन कर्मोंसे बढ़कर कोई पुण्यकर्म, प्रायश्चित्त, मन्त्र आदिका अनुष्ठान किया जाय तो प्रारब्धजन्य रोग मिट जाता है। परन्तु इसमें प्रारब्धके बलाबलका प्रभाव पड़ता है अर्थात् प्रारब्धकी अपेक्षा अनुष्ठान प्रबल हो तो रोग मिट जाता है और अनुष्ठानकी अपेक्षा प्रारब्ध प्रबल हो तो रोग नहीं मिटता अथवा थोड़ा ही लाभ होता है।

प्रश्न—गलितकुष्ठ, प्लेग आदिसे ग्रस्त रोगियोंके सम्पर्कमें आनेसे किसीको ये रोग हो जायँ तो इसमें उसका प्रारब्ध कारण है या कुछ और ?

उत्तर—जिनका प्रारब्ध कच्चा है अर्थात् प्रारब्धकर्मके

अनुसार जिनको रोग होनेवाला है, उन्हींको ये रोग होते हैं, सबको नहीं। प्रारब्धसे होनेवाले रोगोंमें गलितकुष्ठ आदिके रोगियोंका सम्पर्क केवल निमित्त बन जाता है।

प्रश्न—रोगोंको मिटानेके लिये कौन-सी चिकित्सा करनी चाहिये ?

उत्तर—चिकित्सा पाँच प्रकारकी होती है—मानवीय, प्राकृतिक, यौगिक, दैवी और राक्षसी। जड़ी-बूटी आदिसे बने औषधसे जो इलाज किया जाता है, वह '**मानवीय चिकित्सा**' है। अन्न, जल, हवा, धूप, मिट्टी आदिके द्वारा जो इलाज किया जाता है, वह '**प्राकृतिक चिकित्सा**' है। व्यायाम, आसन, प्राणायाम, संयम, ब्रह्मचर्य आदिके द्वारा रोगोंको दूर करना '**यौगिक चिकित्सा**' है। मन्त्र, तन्त्र आदिसे तथा आशीर्वादके द्वारा रोगोंको दूर करना '**दैवी चिकित्सा**' है। चीड़-फाड़ (आपरेशन) आदिसे जो इलाज किया जाता है, वह '**राक्षसी चिकित्सा**' है। इन सबमें शरीरके लिये, रोगोंको हटानेके लिये 'यौगिक चिकित्सा' ही श्रेष्ठ है; क्योंकि इसमें खर्चा नहीं है, पराधीनता भी नहीं है और आसन, प्राणायाम, संयम आदि करनेसे शरीरमें रोग भी नहीं होते।

प्रश्न—व्यायाम, आसन, प्राणायाम आदि करनेसे कौनसे रोग नहीं होते—कुपथ्यजन्य या प्रारब्धजन्य ?

उत्तर—आसन, प्राणायाम, संयम, ब्रह्मचर्यपालन आदिसे कुपथ्यजन्य रोग तो होते ही नहीं और प्रारब्धजन्य रोगोंमें भी उतनी तेजी नहीं रहती, उनका शरीरपर कम प्रभाव होता है। कारण कि आसन, प्राणायाम आदि भी कर्म हैं; अतः उनका भी फल होता है।

प्रश्न—व्यायाम और आसनमें क्या भेद है ?

उत्तर—व्यायामके ही दो भेद हैं—(१) कुश्तीका व्यायाम; जैसे—दण्ड-बैठक आदि और (२) आसनोंका (यौगिक) व्यायाम; जैसे—शीर्षासन, सर्वाङ्गासन, मत्स्यासन आदि।

जो लोग कुश्तीका व्यायाम करते हैं, उनकी मांसपेशियाँ मजबूत, कठोर हो जाती हैं और जो लोग आसनोंका व्यायाम करते हैं, उनकी मांसपेशियाँ लचकदार, नरम हो जाती हैं। दूसरी बात, जो लोग कुश्तीका व्यायाम करते हैं, उनका शरीर जवानीमें तो अच्छा रहता है, पर वृद्धावस्थामें व्यायाम न करनेसे उनके शरीरमें, सन्धियोंमें पीड़ा होने लगती है। परन्तु जो लोग आसनोंका व्यायाम करते हैं, उनका शरीर जवानीमें तो ठीक रहता ही है, वृद्धावस्थामें अगर वे आसन न करें तो भी उनके शरीरमें पीड़ा नहीं होती।* इसके सिवाय आसनोंका व्यायाम करनेसे नाड़ियोंमें रक्तप्रवाह अच्छी तरहसे होता है, जिससे शरीर नीरोग रहता है। ध्यान आदि करनेमें भी आसनोंका व्यायाम बहुत सहायक होता है। अतः आसनोंका व्यायाम करना ही उचित मालूम देता है।

प्रश्न—लोगोंका कहना है कि आसन करनेसे शरीर कृश हो जाता है, क्या यह ठीक है ?

उत्तर—हाँ, ठीक है; परन्तु आसनसे शरीर कृश होनेपर भी शरीरमें निर्बलता नहीं आती। आसन करनेसे शरीर नीरोग रहता है, शरीरमें स्फूर्ति आती है, शरीरमें हल्कापन रहता है। आसन न करनेसे शरीर स्थूल हो सकता है पर स्थूल होनेसे शरीरमें भारीपन रहता है, शरीरमें शिथिलता आती है, काम करनेमें उत्साह कम होता है, चलने-फिरने आदिमें परिश्रम होता है, उठने-बैठनेमें कठिनता होती है, बिस्तरपर पड़े रहनेका मन करता है, शरीरमें रोग भी ज्यादा होते हैं। अतः शरीरकी स्थूलता इतनी श्रेष्ठ नहीं है, जितनी कृशता श्रेष्ठ है। किसीका शरीर कृश है, पर नीरोग है और किसीका शरीर स्थूल है पर रोगी है, तो दोनोंमें शरीरका कृश होना ही अच्छा है।

प्रश्न—आसनोंका व्यायाम करना किन लोगोंके लिये ज्यादा उपयोगी है ?

उत्तर—जो लोग खेतीका, परिश्रमका काम करते हैं, उनका तो स्वाभाविक ही व्यायाम होता रहता है और उनको हवा भी शुद्ध मिल जाती है; अतः उनके लिये व्यायामकी जरूरत नहीं है। परन्तु जो लोग बौद्धिक काम करते हैं; दूकान, आफिस आदिमें बैठे रहनेका काम करते हैं, उनके लिये आसनोंका व्यायाम करना बहुत उपयोगी होता है।

प्रश्न—व्यायाम कितना करना चाहिये ?

उत्तर—कुश्तीके व्यायाममें तो दण्ड-बैठक करते-करते शरीर गिर जाय, थक जाय तो वह व्यायाम अच्छा होता है। परन्तु आसनोंके व्यायाममें ज्यादा जोर नहीं लगाना चाहिये, प्रत्युत शरीरमें कुछ परिश्रम मालूम देनेपर आसन करना बन्द कर देना चाहिये। आसनोंका व्यायाम करते समय भी बीच-बीचमें शवासन करते रहना चाहिये।

प्रश्न—व्यायाम किस जगह करना चाहिये ?

उत्तर—जहाँ शुद्ध हवा हो, जंगल हो वहाँ व्यायाम करनेसे विशेष लाभ होता है। कुश्तीके व्यायाममें तो अगर शुद्ध हवा न मिले तो भी काम चल सकता है, पर आसनोंके

* वृद्धावस्थामें भी आसनोंका सूक्ष्म (हलका) व्यायाम करना चाहिये, इससे शरीरमें स्फूर्ति, हलकापन रहेगा।

व्यायाममें शुद्ध हवाका होना जरूरी है। जो लोग शहरोंमें रहते हैं, वे लोग मकानकी छतपर अथवा कमरेमें हलका-सा पंखा चलाकर आसन कर सकते हैं।

प्रश्न—व्यायाम करनेवालोंको किस वस्तुका सेवन करना चाहिये ?

उत्तर—कुश्तीका व्यायाम करनेवालोंको दूध, घी आदिका खूब सेवन करना चाहिये। दूध, घी आदि लेते हुए अगर उल्टी हो जाय तो भी उसकी परवाह नहीं करनी चाहिये, पर जितना पचा सकें, उतना तो लेना ही चाहिये। परन्तु आसनोंके व्यायाममें शुद्ध, सात्त्विक तथा थोड़ा आहार करना चाहिये (६।१७)।

प्रश्न—शरीरमें शक्ति कम होनेपर ज्यादा रोग होते हैं—यह बात कहाँतक ठीक है ?

उत्तर—इस विषयमें दो मत हैं—आयुर्वेदका मत और धर्मशास्त्रका मत। आयुर्वेदकी दृष्टि शरीरपर ही रहती है; अतः वह 'शरीरमें शक्ति कम होनेपर रोग ज्यादा पैदा होते हैं'—ऐसा मानता है। परन्तु धर्मशास्त्रकी दृष्टि शुभ-अशुभ कर्मोंपर रहती है; अतः वह रोगोंके होनेमें पाप-कर्मोंको ही कारण मानता है।

जब मनुष्योंके क्रियमाण-(कुपथ्यजन्य-) कर्म अथवा प्रारब्ध-(पाप-) कर्म अपना फल देनेके लिये आ जाते हैं, तब कफ, वात और पित्त—ये तीनों विकृत होकर रोगोंको पैदा करनेमें हेतु बन जाते हैं और तभी भूत-प्रेत भी शरीरमें प्रविष्ट होकर रोग पैदा कर सकते हैं; कहा भी है—

वैद्या वदन्ति कफपित्तमरुद्विकारान्
ज्योतिर्विदो ग्रहगतिं परिवर्तयन्ति।
भूता विशन्तीति भूतविदो वदन्ति
प्रारब्धकर्म बलवन्मुनयो वदन्ति॥

'रोगोंके पैदा होनेमें वैद्यलोग कफ, पित्त और वातको कारण मानते हैं, ज्योतिषीलोग ग्रहोंकी गतिको कारण मानते हैं, प्रेतविद्यावाले भूत-प्रेतोंके प्रविष्ट होनेको कारण मानते हैं; परन्तु मुनिलोग प्रारब्धकर्मको ही बलवान् (कारण) मानते हैं।'

भोजनके लिये आवश्यक विचार

उपनिषदोंमें आता है कि जैसा अन्न होता है, वैसा ही मन बनता है—'**अन्नमयं हि सोम्य मनः।**' (छान्दोग्य० ६।५।४) अर्थात् अन्नका असर मनपर पड़ता है। अन्नके सूक्ष्म सारभागसे मन (अन्तःकरण) बनता है, दूसरे नम्बरके भागसे वीर्य, तीसरे नम्बरके भागसे मल बनता है, जो कि बाहर निकल जाता है। अतः मनको शुद्ध बनानेके लिये भोजन शुद्ध, पवित्र होना चाहिये। भोजनकी शुद्धिसे मन-(अन्तःकरण-) की शुद्धि होती है—'**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**' (छान्दोग्य० २।२६।२)। जहाँ भोजन करते हैं, वहाँका स्थान, वायुमण्डल, दृश्य तथा जिसपर बैठकर भोजन करते हैं, वह आसन भी शुद्ध, पवित्र होना चाहिये। कारण कि भोजन करते समय प्राण जब अन्न ग्रहण करते हैं, तब वे शरीरके सभी रोमकूपोंसे आसपासके परमाणुओंको भी खींचते—ग्रहण करते हैं। अतः वहाँका स्थान, वायुमण्डल आदि जैसे होंगे, प्राण वैसे ही परमाणु खींचेंगे और उन्हींके अनुसार मन बनेगा। भोजन बनानेवालेके भाव, विचार भी शुद्ध सात्त्विक हों।

भोजनके पहले दोनों हाथ, दोनों पैर और मुख—ये पाँचों शुद्ध, पवित्र जलसे धो ले। फिर पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके शुद्ध आसनपर बैठकर भोजनकी सब चीजोंको '**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥**' (गीता ९।२६)—यह श्लोक पढ़कर भगवान्‌के अर्पण कर दे। अर्पणके बाद दायें हाथमें जल लेकर '**ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥**' (गीता ४।२४)—यह श्लोक पढ़कर आचमन करे और भोजनका पहला ग्रास भगवान्‌का नाम लेकर ही मुखमें डाले। प्रत्येक ग्रासको चबाते समय '***हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥***'—इस मन्त्रको मनसे दो बार पढ़ते हुए या अपने इष्टका नाम लेते हुए ग्रासको चबाये और निगले। इस मन्त्रमें कुल सोलह नाम हैं और दो बार मन्त्र पढ़नेसे बत्तीस नाम हो जाते हैं। हमारे मुखमें भी बत्तीस ही दाँत हैं। अतः (मन्त्रके प्रत्येक नामके साथ बत्तीस बार चबानेसे वह भोजन सुपाच्य और आरोग्यदायक होता है एवं थोड़े अन्नसे ही तृप्ति हो जाती है तथा उसका रस भी अच्छा बनता है और इसके साथ ही भोजन भी भजन बन जाता है।

भोजन करते समय ग्रास-ग्रासमें भगवन्नाम-जप करते रहनेसे अन्नदोष भी दूर हो जाता है।

जो लोग ईर्ष्या, भय और क्रोधसे युक्त हैं तथा लोभी हैं, और रोग तथा दीनतासे पीड़ित और द्वेषयुक्त हैं, वे जिस भोजनको करते हैं, वह अच्छी तरह पचता नहीं अर्थात् उससे अजीर्ण हो जाता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह भोजन करते समय मनको शान्त तथा प्रसन्न रखे। मनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोषोंकी वृत्तियोंको न आने दे। यदि कभी आ जायँ तो उस समय भोजन न करे; क्योंकि वृत्तियोंका असर भोजनपर पड़ता है और उसीके अनुसार अन्तःकरण बनता है। ऐसा भी सुननेमें आया है कि फौजी लोग जब गायको दुहते हैं,

तब दुहनेसे पहले बछड़ा छोड़ते हैं और उस बछड़ेके पीछे कुत्ता छोड़ते हैं। अपने बछड़ेके पीछे कुत्तेको देखकर जब गाय गुस्सेमें आ जाती है, तब बछड़ेको लाकर बाँध देते हैं और फिर गायको दुहते हैं। वह दूध फौजियोंको पिलाते हैं, जिससे वे लोग खूँखार बनते हैं।

ऐसे ही दूधका भी असर प्राणियोंपर पड़ता है। एक बार किसीने परीक्षाके लिये कुछ घोड़ोंको भैंसका दूध और कुछ घोड़ोंको गायका दूध पिलाकर उन्हें तैयार किया। एक दिन सभी घोड़े कहीं जा रहे थे। रास्तेमें नदीका जल था। भैंसका दूध पीनेवाले घोड़े उस जलमें बैठ गये और गायका दूध पीनेवाले घोड़े उस जलको पार कर गये। इसी प्रकार बैल और भैंसेका परस्पर युद्ध कराया जाय तो भैंसा बैलको मार देगा; परन्तु यदि दोनोंको गाड़ीमें जोता जाय तो भैंसा धूपमें जीभ निकाल देगा, जबकि बैल धूपमें भी चलता रहेगा। कारण कि भैंसके दूधमें सात्त्विक बल नहीं होता, जबकि गायके दूधमें सात्त्विक बल होता है।

जैसे प्राणियोंकी वृत्तियोंका पदार्थोंपर असर पड़ता है, ऐसे ही प्राणियोंकी दृष्टिका भी असर पड़ता है। बुरे व्यक्तिकी अथवा भूखे कुत्तेकी दृष्टि भोजनपर पड़ जाती है तो वह भोजन अपवित्र हो जाता है। अब वह भोजन पवित्र कैसे हो? भोजनपर उसकी दृष्टि पड़ जाय तो उसे देखकर मनमें प्रसन्न हो जाना चाहिये कि भगवान् पधारे हैं! अतः उसको सबसे पहले थोड़ा अन्न देकर भोजन करा दे। उसके देनेके बाद बचे हुए शुद्ध अन्नको स्वयं ग्रहण करे तो दृष्टिदोष मिट जानेसे वह अन्न पवित्र हो जाता है।

दूसरी बात, लोग बछड़ेको पेटभर दूध न पिलाकर सारा दूध स्वयं दुह लेते हैं। वह दूध पवित्र नहीं होता; क्योंकि उसमें बछड़ेका हक आ जाता है। बछड़ेको पेटभर दूध पिला दे और इसके बाद जो दूध निकले, वह चाहे पावभर ही क्यों न हो, बहुत पवित्र होता है।

भोजन करनेवाले और करानेवालेके भावका भी भोजनपर असर पड़ता है; जैसे—(१) भोजन करनेवालेकी अपेक्षा भोजन करानेवालेकी जितनी अधिक प्रसन्नता होगी, वह भोजन उतने ही उत्तम दर्जेका माना जायगा। (२) भोजन करानेवाला तो बड़ी प्रसन्नतासे भोजन कराता है; परन्तु भोजन करनेवाला 'मुफ्तमें भोजन मिल गया; अपने इतने पैसे बच गये; इससे मेरेमें बल आ जायगा' आदि स्वार्थका भाव रख लेता है तो वह भोजन मध्यम दर्जेका हो जाता है और (३) भोजन करानेवालेका यह भाव है कि 'यह घरपर आ गया तो खर्चा करना पड़ेगा, भोजन बनाना पड़ेगा, भोजन कराना ही पड़ेगा' आदि और भोजन करनेवालेमें भी स्वार्थभाव है तो वह भोजन निकृष्ट दर्जेका हो जायगा।

इस विषयमें गीताने सिद्धान्तरूपसे कह दिया है—**'सर्वभूतहिते रताः'** (५। २५, १२। ४)। तात्पर्य यह है कि जिसका सम्पूर्ण प्राणियोंमें हितका भाव जितना अधिक होगा, उसके पदार्थ, क्रियाएँ आदि उतनी ही पवित्र हो जायँगी।

★

कर्म-रहस्य

पुरुष और प्रकृति—ये दो हैं। इनमेंसे पुरुषमें कभी परिवर्तन नहीं होता और प्रकृति कभी परिवर्तनरहित नहीं होती। जब यह पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब प्रकृतिकी क्रिया पुरुषका 'कर्म' बन जाती है; क्योंकि प्रकृतिके साथ सम्बन्ध माननेसे तादात्म्य हो जाता है। तादात्म्य होनेसे जो प्राकृत वस्तुएँ प्राप्त हैं, उनमें ममता होती है और उस ममताके कारण अप्राप्त वस्तुओंकी कामना होती है। इस प्रकार जबतक कामना, ममता और तादात्म्य रहता है, तबतक जो कुछ परिवर्तनरूप क्रिया होती है, उसका नाम 'कर्म' है।

तादात्म्यके टूटनेपर वही कर्म पुरुषके लिये 'अकर्म' हो जाता है अर्थात् वह कर्म क्रियामात्र रह जाता है, उसमें फलजनकता नहीं रहती—यह 'कर्ममें अकर्म' है। अकर्म-अवस्थामें अर्थात् स्वरूपका अनुभव होनेपर उस महापुरुषके शरीरसे जो क्रिया होती रहती है, वह 'अकर्ममें कर्म' है।* तात्पर्य यह हुआ कि अपने निर्लिप्त स्वरूपका अनुभव न होनेपर भी वास्तवमें सब क्रियाएँ प्रकृति और उसके कार्य शरीरमें होती हैं; परन्तु प्रकृति या शरीरसे अपनी पृथक्ताका अनुभव न होनेसे वे क्रियाएँ 'कर्म' बन जाती हैं।†

कर्म तीन तरहके होते हैं—क्रियमाण, सञ्चित और प्रारब्ध। अभी वर्तमानमें जो कर्म किये जाते हैं, वे 'क्रियमाण'

* कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ (गीता ४। १८)

† प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (गीता ३। २७)

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ (गीता १३। २९)

पसीना निकलता है—यह दृष्टका 'तात्कालिक' फल है और कुपथ्यके कारण परिणाममें पेटमें जलन और रोग, दुःख आदिका होना—यह दृष्टका 'कालान्तरिक' फल है।

सर्वसुहृद्, सर्वसमर्थ भगवान्‌का विधान है कि पापसे अधिक दण्ड कोई नहीं भोगता और जो दण्ड मिलता है, वह किसी-न-किसी पापका ही फल होता है।‡

---

* जो भी नये कर्म और उनके संस्कार बनते हैं, वे सब केवल मनुष्यजन्ममें ही बनते हैं (गीता ४। १२; १५। २), पशु-पक्षी आदि योनियोंमें नहीं; क्योंकि वे योनियाँ केवल कर्मफल-भोगके लिये ही मिलती हैं।

† यहाँ दृष्टका 'कालान्तरिक' फल और अदृष्टका 'लौकिक' फल—दोनों फल एक समान ही दीखते हैं, फिर भी दोनोंमें अन्तर है। जो 'कालान्तरिक' फल है, वह सीधे मिलता है, प्रारब्ध बनकर नहीं; परन्तु जो 'लौकिक' फल है, वह प्रारब्ध बनकर ही मिलता है।

‡ एक सुनी हुई घटना है। किसी गाँवमें एक सज्जन रहते थे। उनके घरके सामने एक सुनारका घर था। सुनारके पास सोना आता रहता था और वह गढ़कर देता रहता था। ऐसे वह पैसे कमाता था। एक दिन उसके पास अधिक सोना जमा हो गया। रात्रिमें पहरा लगानेवाले सिपाहीको इस बातका पता लग गया। उस पहरेदारने रात्रिमें उस सुनारको मार दिया और जिस बक्सेमें सोना था, उसे उठाकर चल दिया। इसी बीच सामने रहनेवाले सज्जन लघुशङ्काके लिये उठकर बाहर आये। उन्होंने पहरेदारको पकड़ लिया कि तू इस बक्सेको कैसे ले जा रहा है? तो पहरेदारने कहा—'तू चुप रह, हल्ला मत कर। इसमेंसे कुछ तू ले ले और कुछ मैं ले लूँ।' सज्जन बोले—'मैं कैसे ले लूँ? मैं चोर थोड़े ही हूँ!' पहरेदारने कहा—'देख, तू समझ जा, मेरी बात मान ले, नहीं तो दुःख पायेगा।' पर वे सज्जन माने नहीं। तब पहरेदारने बक्सा नीचे रख दिया और उस सज्जनको पकड़कर जोरसे सीटी बजा दी। सीटी सुनते ही और जगह पहरा लगानेवाले सिपाही दौड़कर वहाँ आ गये। उसने सबसे कहा कि 'यह इस घरसे बक्सा लेकर आया है और मैंने इसको पकड़ लिया है।' तब सिपाहियोंने घरमें घुसकर देखा कि सुनार मरा पड़ा है। उन्होंने उस सज्जनको पकड़ लिया और राजकीय आदमियोंके हवाले कर दिया। जजके सामने बहस हुई तो उस सज्जनने कहा कि 'मैंने नहीं मारा है, उस पहरेदार सिपाहीने मारा है।' सब सिपाही आपसमें मिले हुए थे, उन्होंने कहा कि 'नहीं इसीने मारा है, हमने खुद रात्रिमें इसे पकड़ा है,' इत्यादि।

मुकदमा चला। चलते-चलते अन्तमें उस सज्जनके लिये फाँसीका हुक्म हुआ। फाँसीका हुक्म होते ही उस सज्जनके मुखसे निकला—'देखो, सरासर अन्याय हो रहा है! भगवान्‌के दरबारमें कोई न्याय नहीं! मैंने मारा नहीं, मुझे दण्ड हो और जिसने मारा है, वह बेदाग छूट जाय, जुर्माना भी नहीं; यह अन्याय है!' जजपर उसके वचनोंका असर पड़ा कि वास्तवमें यह सच्चा बोल रहा है, इसकी किसी तरहसे जाँच होनी चाहिये। ऐसा विचार करके उस जजने एक षड्यन्त्र रचा।

सुबह होते ही एक आदमी रोता-चिल्लाता हुआ आया और बोला—'हमारे भाईकी हत्या हो गयी, सरकार! इसकी जाँच होनी चाहिये।' तब जजने उसी सिपाहीको और कैदी सज्जनको मरे व्यक्तिकी लाश उठाकर लानेके लिये भेजा। दोनों उस आदमीके साथ वहाँ गये, जहाँ लाश पड़ी थी। खाटपर लाशके ऊपर कपड़ा बिछा था। खून बिखरा पड़ा था। दोनोंने उस खाटको उठाया और उठाकर ले चले। साथका दूसरा आदमी खबर देनेके बहाने दौड़कर आगे चला गया। तब चलते-चलते सिपाहीने कैदीसे कहा—'देख, उस दिन तू मेरी बात मान लेता तो सोना मिल जाता और फाँसी भी नहीं होती, अब देख लिया सच्चाईका फल?' कैदीने कहा—'मैंने तो अपना काम सच्चाईका ही किया था, फाँसी हो गयी तो हो गयी! हत्या की तूने और दण्ड भोगना पड़ा मेरेको! भगवान्‌के यहाँ न्याय नहीं!'

खाटपर झूठमूठ मरे हुएके समान पड़ा हुआ आदमी उन दोनोंकी बातें सुन रहा था। जब जजके सामने खाट रखी गयी तो खूनभरे कपड़ेको हटाकर वह उठ खड़ा हुआ और उसने सारी बात जजको बता दी कि रास्तेमें सिपाही यह बोला और कैदी यह बोला। यह सुनकर जजको बड़ा आश्चर्य हुआ। सिपाही भी हक्का-बक्का रह गया। सिपाहीको पकड़कर कैद कर लिया गया। परन्तु जजके मनमें सन्तोष नहीं हुआ। उसने कैदीको एकान्तमें बुलाकर कहा कि 'इस मामलेमें तो मैं तुम्हें निर्दोष मानता हूँ, पर सच-सच बताओ कि इस जन्ममें तुमने कोई हत्या की है क्या?' वह बोला—बहुत पहलेकी घटना है। एक दुष्ट था, जो छिपकर मेरे घर मेरी स्त्रीके पास आया करता था। मैंने अपनी स्त्रीको तथा उसको अलग-अलग खूब समझाया, पर वह माना नहीं। एक रात वह घरपर था और अचानक मैं आ गया। मेरेको गुस्सा आया हुआ था। मैंने तलवारसे उसका गला काट दिया और घरके पीछे जो नदी है, उसमें फेंक दिया। इस घटनाका किसीको पता नहीं लगा। यह सुनकर जज बोला—'तुम्हारेको इस समय फाँसी होगी ही; मैंने भी सोचा कि मैंने किसीसे घूस (रिश्वत) नहीं खायी, कभी बेईमानी नहीं की, फिर मेरे हाथसे इसके लिये फाँसीका हुक्म लिखा कैसे गया? अब सन्तोष हुआ। उसी पापका फल तुम्हें यह भोगना पड़ेगा। सिपाहीको अलग फाँसी होगी।'

[उस सज्जनने चोर सिपाहीको पकड़कर अपने कर्तव्यका पालन किया था। फिर उसको जो दण्ड मिला है, वह उसके कर्तव्य-पालनका फल नहीं है, प्रत्युत उसने बहुत पहले जो हत्या की थी, उस हत्याका फल है। कारण कि मनुष्यको अपनी रक्षा करनेका अधिकार है, मारनेका अधिकार नहीं। मारनेका अधिकार रक्षक क्षत्रियका, राजाका है। अतः कर्तव्यका पालन करनेके कारण उस पाप-(हत्या-) का फल उसको यहीं मिल गया और परलोकके भयंकर दण्डसे उसका छुटकारा हो गया। कारण कि इस लोकमें जो दण्ड भोग लिया जाता है, उसका थोड़ेमें ही छुटकारा हो जाता है, थोड़ेमें ही शुद्धि हो जाती है, नहीं तो परलोकमें बड़ा भयंकर (ब्याजसहित) दण्ड भोगना पड़ता है।]

इस कहानीसे यह पता लगता है कि मनुष्यके कब किये हुए पापका फल कब मिलेगा—इसका कुछ पता नहीं। भगवान्‌का विधान विचित्र है। जबतक पुराने पुण्य प्रबल रहते हैं तबतक उग्र पापका फल भी तत्काल नहीं मिलता। जब पुराने पुण्य खत्म होते हैं, तब उस पापकी बारी आती है। पापका फल (दण्ड) तो भोगना ही पड़ता है, चाहे इस जन्ममें भोगना पड़े या जन्मान्तरमें।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्। नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटिशतैरपि॥

इसी तरह धन-सम्पत्ति, मान, आदर, प्रशंसा, नीरोगता आदि अनुकूल परिस्थितिके रूपमें पुण्य-कर्मोंका जितना फल यहाँ भोग लिया है, उतना अंश तो यहाँ नष्ट हो ही गया और जितना बाकी रह गया है, वह परलोकमें फिर भोगा जा सकता है। यदि पुण्यकर्मोंका पूरा फल यहीं भोग लिया गया है तो पुण्य यहींपर समाप्त हो जायँगे।

क्रियमाण-कर्मके संस्कार-अंशके भी दो भेद हैं—शुद्ध एवं पवित्र संस्कार और अशुद्ध एवं अपवित्र संस्कार। शास्त्रविहित कर्म करनेसे जो संस्कार पड़ते हैं, वे शुद्ध एवं पवित्र होते हैं और शास्त्र, नीति, लोकमर्यादाके विरुद्ध कर्म करनेसे जो संस्कार पड़ते हैं, वे अशुद्ध एवं अपवित्र होते हैं।

इन दोनों शुद्ध और अशुद्ध संस्कारोंको लेकर स्वभाव

(प्रकृति, आदत) बनता है। उन संस्कारोंमेंसे अशुद्ध अंशका सर्वथा नाश करनेपर स्वभाव शुद्ध, निर्मल, पवित्र हो जाता है; परन्तु जिन पूर्वकृत कर्मोंसे स्वभाव बना है, उन कर्मोंकी भिन्नताके कारण जीवन्मुक्त पुरुषोंके स्वभावोंमें भी भिन्नता रहती है। इन विभिन्न स्वभावोंके कारण ही उनके द्वारा विभिन्न कर्म होते हैं पर वे कर्म दोषी नहीं होते, प्रत्युत सर्वथा शुद्ध होते हैं और उन कर्मोंसे दुनियाका कल्याण होता है।

संस्कार-अंशसे जो स्वभाव बनता है, वह एक दृष्टिसे महान् प्रबल होता है—**'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते'** अतः उसे मिटाया नहीं जा सकता।* इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंका जो स्वभाव है, उसमें कर्म करनेकी मुख्यता रहती है। इसलिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि जिस कर्मको तू मोहवश नहीं करना चाहता, उसको भी अपने स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा (गीता १८। ६०)।

अब इसमें विचार करनेकी एक बात है कि एक ओर तो स्वभावकी महान् प्रबलता है कि उसको कोई छोड़ ही नहीं सकता और दूसरी ओर मनुष्य-जन्मके उद्योगकी महान् प्रबलता है कि मनुष्य सब कुछ करनेमें स्वतन्त्र है। अतः इन दोनोंमें किसकी विजय होगी और किसकी पराजय होगी? इसमें विजय-पराजयकी बात नहीं है। अपनी-अपनी जगह दोनों ही प्रबल हैं। परन्तु यहाँ स्वभाव न छोड़नेकी जो बात है, वह जाति-विशेषके स्वभावकी बात है। तात्पर्य है कि जीव जिस वर्णमें जन्मा है, जैसा रज-वीर्य था, उसके अनुसार बना हुआ जो स्वभाव है, उसको कोई बदल नहीं सकता; अतः वह स्वभाव दोषी नहीं है, निर्दोष है। जैसे, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंका जो स्वभाव है, वह स्वभाव नहीं बदल सकता और उसको बदलनेकी आवश्यकता भी नहीं है तथा उसको बदलनेके लिये शास्त्र भी नहीं कहता। परन्तु उस स्वभावमें जो अशुद्ध-अंश (राग-द्वेष) है, उसको मिटानेकी सामर्थ्य भगवान्‌ने मनुष्यको दी है। अतः जिन दोषोंसे मनुष्यका स्वभाव अशुद्ध बना है, उन दोषोंको मिटाकर मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक अपने स्वभावको शुद्ध बना सकता है। मनुष्य चाहे तो कर्मयोगकी दृष्टिसे, अपने प्रयत्नसे राग-द्वेषको मिटाकर स्वभाव शुद्ध बना ले †, चाहे भक्तियोगकी दृष्टिसे सर्वथा भगवान्‌के शरण होकर अपना स्वभाव शुद्ध बना ले ‡। इस प्रकार प्रकृति-(स्वभाव-) की प्रबलता भी सिद्ध हो गयी और मनुष्यकी स्वतन्त्रता भी सिद्ध हो गयी। तात्पर्य यह हुआ कि शुद्ध स्वभावको रखनेमें प्रकृतिकी प्रबलता है और अशुद्ध स्वभावको मिटानेमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता है।

जैसे, लोहेकी तलवारको पारस छुआ दिया जाय तो तलवार सोना बन जाती है; परन्तु उसकी मार, धार और आकार—ये तीनों नहीं बदलते। इस प्रकार सोना बनानेमें पारसकी प्रधानता रही और 'मार-धार-आकार' में तलवारकी प्रधानता रही। ऐसे ही जिन लोगोंने अपने स्वभावको परम शुद्ध बना लिया है, उनके कर्म भी सर्वथा शुद्ध होते हैं। परन्तु स्वभावके शुद्ध होनेपर भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, साधन-पद्धति, मान्यता आदिके अनुसार आपसमें उनके कर्मोंकी भिन्नता रहती है। जैसे, किसी ब्राह्मणको तत्त्वबोध हो जानेपर भी वह खान-पान आदिमें पवित्रता रखेगा और अपने हाथसे बनाया हुआ भोजन ही ग्रहण करेगा; क्योंकि उसके स्वभावमें पवित्रता है। परन्तु किसी हरिजन आदि साधारण वर्णवालेको तत्त्वबोध हो जाय तो वह खान-पान आदिमें पवित्रता नहीं रखेगा और दूसरोंकी जूठन भी खा लेगा; क्योंकि उसका स्वभाव ही ऐसा पड़ा हुआ है। पर ऐसा स्वभाव उसके लिये दोषी नहीं होगा।

जीवका असत्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेका स्वभाव अनादिकालसे बना हुआ है, जिसके कारण वह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा हुआ है और बार-बार ऊँच-नीच योनियोंमें जाता है। उस स्वभावको मनुष्य शुद्ध कर सकता है अर्थात् उसमें जो कामना, ममता और तादात्म्य हैं, उनको मिटा सकता है। कामना, ममता और तादात्म्यके मिटनेके बाद जो स्वभाव रहता है, वह स्वभाव दोषी नहीं रहता। इसलिये उस स्वभावको

---

* व्याघ्रस्तुष्यति कानने सुगहनं सिंहो गुहां सेवते हंसो वाञ्छति पद्मिनीं कुसुमितां गृध्रः श्मशाने स्थले।
साधुः सत्कृतिसाधुमेव भजते नीचोऽपि नीचं जनं या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता केनापि न त्यज्यते॥

'व्याघ्र घने वनमें संतुष्ट रहता है, सिंह गहन गुफाका सेवन करता है, हंस खिली हुई कमलिनीको चाहता है, गीध श्मशान-भूमिमें रहना पसंद करता है, सज्जन पुरुष अच्छे आचरणोंवाले सज्जन पुरुषोंमें और नीच पुरुष नीच लोगोंमें ही रहना चाहते हैं। सच है, स्वभावसे पैदा हुई जिसकी जैसी प्रकृति है, उस प्रकृतिको कोई नहीं छोड़ता।'

† इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ (गीता ३। ३४)

‡ तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ (गीता १८। ६२)

मिटाना नहीं है और मिटानेकी आवश्यकता भी नहीं है।

जब मनुष्य अहंकारका आश्रय छोड़कर सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जाता है, तब उसका स्वभाव शुद्ध हो जाता है; जैसे—लोहा पारसके स्पर्शसे शुद्ध सोना बन जाता है। स्वभाव शुद्ध होनेसे फिर वह स्वभावज कर्म करते हुए भी दोषी और पापी नहीं बनता (गीता १८।४७)। सर्वथा भगवान्‌के शरण होनेके बाद भक्तका प्रकृतिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। फिर भक्तके जीवनमें भगवान्‌का स्वभाव काम करता है। भगवान् समस्त प्राणियोंके सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५।२९) तो भक्त भी समस्त प्राणियोंका सुहृद् हो जाता है—**'सुहृदः सर्वदेहिनाम्'** (श्रीमद्भा० ३।२५।२१)।

इसी तरह कर्मयोगकी दृष्टिसे जब मनुष्य राग-द्वेषको मिटा देता है, तब उसके स्वभावकी शुद्धि हो जाती है, जिससे अपने स्वार्थका भाव मिटकर केवल दुनियाके हितका भाव स्वतः हो जाता है। जैसे भगवान्‌का स्वभाव प्राणिमात्रका हित करनेका है, ऐसे ही उसका स्वभाव भी प्राणिमात्रका हित करनेका हो जाता है। जब उसकी सब चेष्टाएँ प्राणिमात्रके हितमें हो जाती हैं, तब उसकी भगवान्‌की सर्वभूतसुहृत्ता-शक्तिके साथ एकता हो जाती है। उसके उस स्वभावमें भगवान्‌की सुहृत्ता-शक्ति कार्य करने लगती है।

वास्तवमें भगवान्‌की वह सर्वभूतसुहृत्ता-शक्ति मनुष्यमात्रके लिये समान रीतिसे खुली हुई है; परन्तु अपने अहङ्कार और राग-द्वेषके कारण उस शक्तिमें बाधा लग जाती है अर्थात् वह शक्ति कार्य नहीं करती। महापुरुषोंमें अहंकार (व्यक्तित्व) और राग-द्वेष नहीं रहते, इसलिये उनमें यह शक्ति कार्य करने लग जाती है।

सञ्चित कर्म
- फल-अंश → प्रारब्ध
- संस्कार-अंश → स्फुरणा

अनेक मनुष्य-जन्मोंमें किये हुए जो कर्म (फल-अंश और संस्कार-अंश) अन्तःकरणमें संगृहीत रहते हैं, वे सञ्चित कर्म कहलाते हैं। उनमें फल-अंशसे तो 'प्रारब्ध' बनता है और संस्कार-अंशसे 'स्फुरणा' होती रहती है। उन स्फुरणाओंमें भी वर्तमानमें किये गये जो नये क्रियमाण कर्म सञ्चितमें भरती हुए हैं, प्रायः उनकी ही स्फुरणा होती है। कभी-कभी सञ्चितमें भरती हुए पुराने कर्मोंकी स्फुरणा भी हो जाती है।* जैसे—किसी बर्तनमें पहले प्याज डाल दें और उसके ऊपर क्रमशः गेहूँ, चना, ज्वार, बाजरा, डाल दें तो निकालते समय जो सबसे पीछे डाला था, वही (बाजरा) सबसे पहले निकलेगा, पर बीचमें कभी-कभी प्याजका भी भभका आ जायेगा। परन्तु यह दृष्टान्त पूरा नहीं घटता; क्योंकि प्याज, गेहूँ आदि सावयव पदार्थ हैं और सञ्चित कर्म निरवयव हैं। यह दृष्टान्त केवल इतने ही अंशमें बतानेके लिये दिया है कि नये क्रियमाण कर्मोंकी स्फुरणा ज्यादा होती है और कभी-कभी पुराने कर्मोंकी भी स्फुरणा होती है।

इसी तरह जब नींद आती है तो उसमें भी स्फुरणा होती है। नींदमें जाग्रत्-अवस्थाके दब जानेके कारण सञ्चितकी वह स्फुरणा स्वप्नरूपसे दीखने लग जाती है, उसीको स्वप्नावस्था कहते हैं।† स्वप्नावस्थामें बुद्धिकी सावधानी न रहनेके कारण क्रम, व्यतिक्रम और अनुक्रम ये नहीं रहते। जैसे शहर तो

* स्फुरणा सञ्चितके अनुसार भी होती है और प्रारब्धके अनुसार भी। सञ्चितके अनुसार जो स्फुरणा होती है, वह मनुष्यको कर्म करनेके लिये बाध्य नहीं करती। परन्तु सञ्चितकी स्फुरणामें भी यदि राग-द्वेष हो जायँ तो वह 'संकल्प' बनकर मनुष्यको कर्म करनेके लिये बाध्य कर सकती है। प्रारब्धके अनुसार जो स्फुरणा होती है, वह (फल-भोग करानेके लिये) मनुष्यको कर्म करनेके लिये बाध्य करती है; परन्तु वह विहित कर्म करनेके लिये ही बाध्य करती है, निषिद्ध कर्म करनेके लिये नहीं। कारण कि विवेकप्रधान मनुष्यशरीर निषिद्ध कर्म करनेके लिये नहीं है। अतः अपनी विवेकशक्तिको प्रबल करके निषिद्धका त्याग करनेकी जिम्मेवारी मनुष्यपर है और ऐसा करनेमें वह स्वतन्त्र है।

† जाग्रत्-अवस्थामें भी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाएँ होती हैं; जैसे मनुष्य जाग्रत्-अवस्थामें बड़ी सावधानीसे काम करता है तो यह जाग्रत्‌में जाग्रत्-अवस्था है। जाग्रत्-अवस्थामें मनुष्य जिस कामको करता है, उस कामके अलावा अचानक जो दूसरी स्फुरणा होने लगती है, वह जाग्रत्‌में स्वप्न-अवस्था है। जाग्रत्-अवस्थामें कभी-कभी काम करते हुए भी उस कामकी तथा पूर्वकर्मोंकी कोई भी स्फुरणा नहीं होती, बिलकुल वृत्ति-रहित अवस्था हो जाती है, वह जाग्रत्‌में सुषुप्ति-अवस्था है।

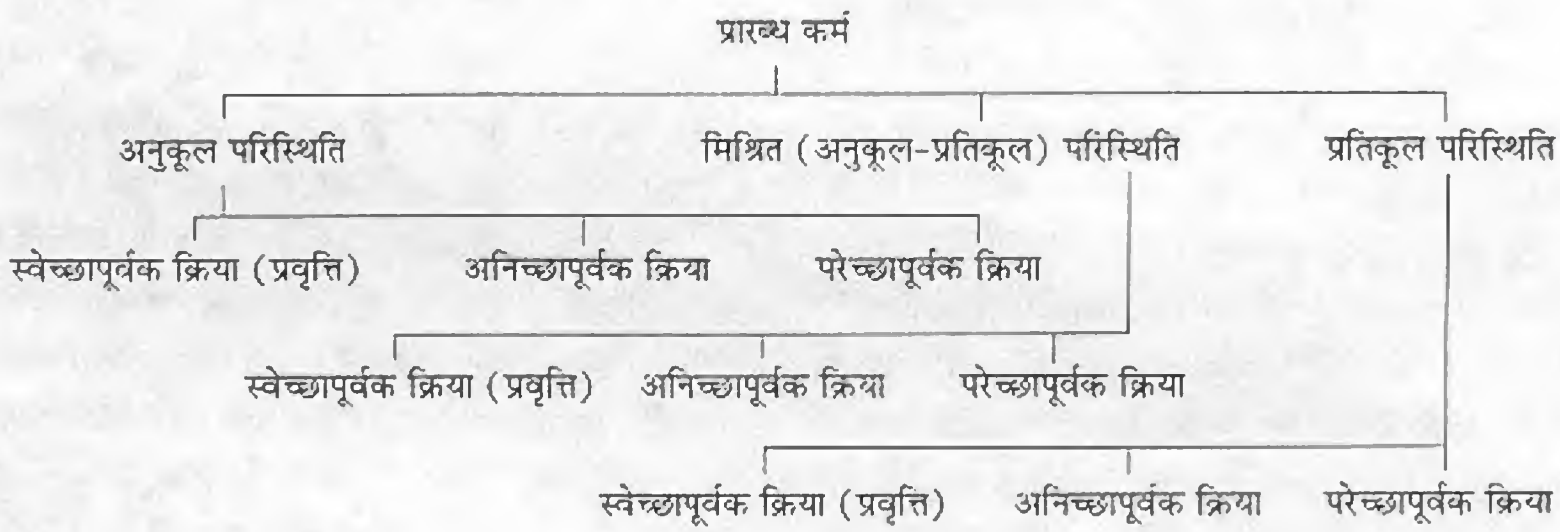
कर्म करनेका वेग ज्यादा रहनेसे जाग्रत्-अवस्थामें जाग्रत् और स्वप्न-अवस्था तो ज्यादा होती है पर सुषुप्ति-अवस्था बहुत थोड़ी होती है। अगर कोई साधक जाग्रत्‌की स्वाभाविक सुषुप्तिको स्थायी बना ले तो उसका साधन बहुत तेज हो जायगा; क्योंकि जाग्रत्-सुषुप्तिमें साधकका परमात्माके साथ निरावरणरूपसे स्वतः सम्बन्ध होता है। ऐसे तो सुषुप्ति-अवस्थामें भी संसारका सम्बन्ध टूट जाता है; परंतु बुद्धि-वृत्ति अज्ञानमें लीन हो जानेसे स्वरूपका स्पष्ट अनुभव नहीं होता। जाग्रत्-सुषुप्तिमें बुद्धि जाग्रत् रहनेसे स्वरूपका स्पष्ट अनुभव होता है।

यह जाग्रत्-सुषुप्ति समाधिसे भी विलक्षण है; क्योंकि यह स्वतः होती है और समाधिमें अभ्यासके द्वारा वृत्तियोंको एकाग्र तथा निरुद्ध करना पड़ता है। इसलिये समाधिमें पुरुषार्थ साथमें रहनेके कारण शरीरमें स्थिति होती है; परन्तु जाग्रत्-सुषुप्तिमें अभ्यास और अहंकारके बिना वृत्तियाँ स्वतः निरुद्ध होनेके कारण स्वरूपमें स्थिति होती है अर्थात् स्वरूपका अनुभव होता है।

दिल्लीका दीखता है और बाजार बम्बईका तथा उस बाजारमें दूकानें कलकत्ताकी दीखती हैं, कोई जीवित आदमी दीख जाता है अथवा किसी मरे हुए आदमीसे मिलना हो जाता है, बातचीत हो जाती है, आदि-आदि।

जाग्रत्-अवस्थामें हरेक मनुष्यके मनमें अनेक तरहकी स्फुरणाएँ होती रहती हैं। जब जाग्रत्-अवस्थामें शरीर, इन्द्रियाँ और मनपरसे बुद्धिका अधिकार हट जाता है, तब मनुष्य जैसा मनमें आता है, वैसा बोलने लगता है। इस तरह उचित-अनुचितका विचार करनेकी शक्ति काम न करनेसे वह 'सीधा-सरल पागल' कहलाता है। परन्तु जिसके शरीर, इन्द्रियाँ और मनपर बुद्धिका अधिकार रहता है, वह जो उचित समझता है, वही बोलता है और जो अनुचित समझता है, वह नहीं बोलता। बुद्धि सावधान रहनेसे वह सावचेत रहता है, इसलिये वह 'चतुर पागल' है!

इस प्रकार मनुष्य जबतक परमात्मप्राप्ति नहीं कर लेता, तबतक वह अपनेको स्फुरणाओंसे बचा नहीं सकता। परमात्मप्राप्ति होनेपर बुरी स्फुरणाएँ सर्वथा मिट जाती हैं। इसलिये जीवन्मुक्त महापुरुषके मनमें अपवित्र बुरे विचार कभी आते ही नहीं। अगर उसके कहलानेवाले शरीरमें प्रारब्धवश (व्याधि आदि किसी कारणवश) कभी बेहोशी, उन्माद आदि हो जाता है तो उसमें भी वह न तो शास्त्रनिषिद्ध बोलता है और न शास्त्रनिषिद्ध कुछ करता ही है; क्योंकि अन्तःकरण शुद्ध हो जानेसे शास्त्रनिषिद्ध बोलना या करना उसके स्वभावमें नहीं रहता।



सञ्चितमेंसे जो कर्म फल देनेके लिये सम्मुख होते हैं, उन कर्मोंको प्रारब्ध कर्म कहते हैं।* प्रारब्ध कर्मोंका फल तो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें सामने आता है; परन्तु उन प्रारब्ध कर्मोंको भोगनेके लिये प्राणियोंकी प्रवृत्ति तीन प्रकारसे होती है—(१) स्वेच्छापूर्वक, (२) अनिच्छा-(दैवेच्छा-)पूर्वक और (३) परेच्छापूर्वक। उदाहरणार्थ—

(१) किसी व्यापारीने माल खरीदा तो उसमें मुनाफा हो गया। ऐसे ही किसी दूसरे व्यापारीने माल खरीदा तो उसमें घाटा लग गया। इन दोनोंमें मुनाफा होना और घाटा लगना तो उनके शुभ-अशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धके फल हैं; परन्तु माल खरीदनेमें उनकी प्रवृत्ति स्वेच्छापूर्वक हुई है।

(२) कोई सज्जन कहीं जा रहा था तो आगे आनेवाली नदीमें बाढ़के प्रवाहके कारण एक धनका टोकरा बहकर आया और उस सज्जनने उसे निकाल लिया। ऐसे ही कोई सज्जन कहीं जा रहा था तो उसपर वृक्षकी एक टहनी गिर पड़ी और उसको चोट लग गयी। इन दोनोंमें धनका मिलना और चोट लगना तो उनके शुभ-अशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धके फल हैं; परन्तु धनका टोकरा मिलना और वृक्षकी टहनी गिरना—यह प्रवृत्ति अनिच्छा-(दैवेच्छा-)पूर्वक हुई है।

(३) किसी धनी व्यक्तिने किसी बच्चेको गोद ले लिया अर्थात् उसको पुत्र-रूपमें स्वीकार कर लिया, जिससे उसका सब धन उस बच्चेको मिल गया। ऐसे ही चोरोंने किसीका सब धन लूट लिया। इन दोनोंमें बच्चेको धन मिलना और चोरीमें धनका चला जाना तो उनके शुभ-अशुभ कर्मोंसे बने हुए

* 'प्रकर्षेण आरब्धः प्रारब्धः' अर्थात् अच्छी तरहसे फल देनेके लिये जिसका आरम्भ हो चुका है, वह 'प्रारब्ध' है।

प्रारब्धके फल हैं; परन्तु गोदमें जाना और चोरी होना—यह प्रवृत्ति परेच्छापूर्वक हुई है।

यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिये कि कर्मोंका फल 'कर्म' नहीं होता, प्रत्युत 'परिस्थिति' होती है अर्थात् प्रारब्ध कर्मोंका फल परिस्थितिरूपसे सामने आता है। अगर नये (क्रियमाण) कर्मको प्रारब्धका फल मान लिया जाय तो फिर 'ऐसा करो, ऐसा मत करो'—यह शास्त्रोंका, गुरुजनोंका विधि-निषेध निरर्थक हो जायगा। दूसरी बात, पहले जैसे कर्म किये थे, उन्हींके अनुसार जन्म होगा और उन्हींके अनुसार कर्म होंगे तो वे कर्म फिर आगे नये कर्म पैदा कर देंगे, जिससे यह कर्म-परम्परा चलती ही रहेगी अर्थात् इसका कभी अन्त ही नहीं आयेगा।

प्रारब्ध कर्मसे मिलनेवाले फलके दो भेद हैं—प्राप्त फल और अप्राप्त फल। अभी प्राणियोंके सामने जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आ रही है, वह 'प्राप्त' फल है और इसी जन्ममें जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भविष्यमें आनेवाली है वह 'अप्राप्त' फल है।

क्रियमाण कर्मोंका जो फल-अंश सञ्चितमें जमा रहता है, वही प्रारब्ध बनकर अनुकूल, प्रतिकूल और मिश्रित परिस्थितिके रूपमें मनुष्यके सामने आता है। अतः जबतक सञ्चित कर्म रहते हैं, तबतक प्रारब्ध बनता ही रहता है और प्रारब्ध परिस्थितिके रूपमें परिणत होता ही रहता है। यह परिस्थिति मनुष्यको सुखी-दुःखी होनेके लिये बाध्य नहीं करती। सुखी-दुःखी होनेमें तो परिवर्तनशील परिस्थितिके साथ सम्बन्ध जोड़ना ही मुख्य कारण है। परिस्थितिके साथ सम्बन्ध जोड़ने अथवा न जोड़नेमें यह मनुष्य सर्वथा स्वाधीन है, पराधीन नहीं है। जो परिवर्तनशील परिस्थितिके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, वह अविवेकी पुरुष तो सुखी-दुःखी होता ही रहता है। परन्तु जो परिस्थितिके साथ सम्बन्ध नहीं मानता, वह विवेकी पुरुष कभी सुखी-दुःखी नहीं होता; अतः उसकी स्थिति स्वतः साम्यावस्थामें होती है, जो कि उसका स्वरूप है।

कर्मोंमें मनुष्यके प्रारब्धकी प्रधानता है या पुरुषार्थकी? अथवा प्रारब्ध बलवान् है या पुरुषार्थ?—इस विषयमें बहुत-सी शङ्काएँ हुआ करती हैं। उनके समाधानके लिये पहले यह समझ लेना जरूरी है कि प्रारब्ध और पुरुषार्थ क्या है?

मनुष्यमें चार तरहकी चाहना हुआ करती है—एक धनकी, दूसरी धर्मकी, तीसरी भोगकी और चौथी मुक्तिकी। प्रचलित भाषामें इन्हीं चारोंको अर्थ, धर्म, काम और मोक्षके नामसे कहा जाता है—

(१) अर्थ—धनको 'अर्थ' कहते हैं। वह धन दो तरहका होता है—स्थावर और जङ्गम। सोना, चाँदी, रुपये, जमीन, जायदाद, मकान आदि स्थावर हैं और गाय, भैंस, घोड़ा, ऊँट, भेड़, बकरी आदि जङ्गम हैं।

(२) धर्म—सकाम अथवा निष्कामभावसे जो यज्ञ, तप, दान, व्रत, तीर्थ आदि किये जाते हैं, उसको 'धर्म' कहते हैं।

(३) काम—सांसारिक सुख-भोगको 'काम' कहते हैं। वह सुखभोग आठ तरहका होता है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मान, बड़ाई और आराम।

(क) शब्द—शब्द दो तरहका होता है—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। व्याकरण, कोश, साहित्य, उपन्यास, गल्प, कहानी आदि 'वर्णात्मक' शब्द हैं।* खाल, तार और फूँकके तीन बाजे और तालका आधा बाजा—ये साढ़े तीन प्रकारके बाजे 'ध्वन्यात्मक' शब्दको प्रकट करनेवाले हैं।† इन वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक शब्दोंको सुननेसे जो सुख मिलता है, वह शब्दका सुख है।

(ख) स्पर्श—स्त्री, पुत्र, मित्र आदिके साथ मिलनेसे तथा ठण्डा, गरम, कोमल आदिसे अर्थात् उनका त्वचाके साथ संयोग होनेसे जो सुख होता है, वह स्पर्शका सुख है।

(ग) रूप—नेत्रोंसे खेल, तमाशा, सिनेमा, बाजीगरी, वन, पहाड़, सरोवर, मकान आदिकी सुन्दरताको देखकर जो सुख होता है, वह रूपका सुख है।

(घ) रस—मधुर (मीठा), अम्ल (खट्टा), लवण (नमकीन), कटु (कड़वा), तिक्त (तीखा) और कषाय (कसैला)—इन छः रसोंको चखनेसे जो सुख होता है, वह रसका सुख है।

(ङ) गन्ध—नाकसे अतर, तेल, फुलेल, लवेण्डर,

---

* वर्णात्मक शब्दमें भी दस रस होते हैं—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त और वात्सल्य। ये दसों ही रस चित्त द्रवित होनेसे होते हैं। इन दसों रसोंका उपयोग भगवान्‌के लिये किया जाय तो ये सभी रस कल्याण करनेवाले हो जाते हैं और इनसे सुख भोगा जाय तो ये सभी रस पतन करनेवाले हो जाते हैं।

† ढोल, ढोलकी, तबला, पखावज, मृदङ्ग आदि 'खाल' के; सितार, सारङ्गी, मोरचंग आदि 'तार' के; मशक, पेटी (हारमोनियम), बाँसुरी, पूँगी आदि 'फूँक' के और झाँझ, मंजीरा, करताल आदि 'ताल' के बाजे हैं।

पुष्प आदि सुगन्धवाले और लहसुन, प्याज आदि दुर्गन्धवाले पदार्थोंको सूँघनेसे जो सुख होता है, वह गन्धका सुख है।

(च) मान—शरीरका आदर-सत्कार होनेसे जो सुख होता है, वह मानका सुख है।

(छ) बड़ाई—नामकी प्रशंसा, वाह-वाह होनेसे जो सुख होता है, वह बड़ाईका सुख है।

(ज) आराम—शरीरसे परिश्रम न करनेसे अर्थात् निकम्मे पड़े रहनेसे जो सुख होता है, वह आरामका सुख है।

(४) मोक्ष—आत्मसाक्षात्कार, तत्त्वज्ञान, कल्याण, उद्धार, मुक्ति, भगवद्दर्शन, भगवत्प्रेम आदिका नाम 'मोक्ष' है।

इन चारों (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) में देखा जाये तो अर्थ और धर्म—दोनों ही परस्पर एक-दूसरेकी वृद्धि करनेवाले हैं अर्थात् अर्थसे धर्मकी और धर्मसे अर्थकी वृद्धि होती है। परन्तु धर्मका पालन कामनापूर्तिके लिये किया जाय तो वह धर्म भी कामनापूर्ति करके नष्ट हो जाता है और अर्थको कामनापूर्तिमें लगाया जाय तो वह अर्थ भी कामनापूर्ति करके नष्ट हो जाता है। तात्पर्य है कि कामना धर्म और अर्थ—दोनोंको खा जाती है। इसीलिये गीतामें भगवान्‌ने कामनाको 'महाशन' (बहुत खानेवाला) बताते हुए उसके त्यागकी बात विशेषतासे कही है (३। ३७—४३)। यदि धर्मका अनुष्ठान कामनाका त्याग करके किया जाय तो वह अन्तःकरण शुद्ध करके मुक्त कर देता है। ऐसे ही धनको कामनाका त्याग करके दूसरोंके उपकारमें, हितमें, सुखमें खर्च किया जाय तो वह भी अन्तःकरण शुद्ध करके मुक्त कर देता है।

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—इन चारोंमें 'अर्थ' (धन) और 'काम' (भोग) की प्राप्तिमें प्रारब्धकी मुख्यता और पुरुषार्थकी गौणता है, तथा 'धर्म' और 'मोक्ष'में पुरुषार्थकी मुख्यता और प्रारब्धकी गौणता है। प्रारब्ध और पुरुषार्थ—दोनोंका क्षेत्र अलग-अलग है और दोनों ही अपने-अपने क्षेत्रमें प्रधान हैं। इसलिये कहा है—

संतोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्तव्यः स्वाध्याये जपदानयोः॥

अर्थात् अपनी स्त्री, पुत्र, परिवार, भोजन और धनमें तो सन्तोष करना चाहिये और स्वाध्याय, पाठ-पूजा, नाम-जप, कीर्तन और दान करनेमें कभी सन्तोष नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यह हुआ कि प्रारब्धके फल—धन और भोगमें तो सन्तोष करना चाहिये; क्योंकि वे प्रारब्धके अनुसार जितने मिलनेवाले हैं, उतने ही मिलेंगे, उससे अधिक नहीं। परन्तु धर्मका अनुष्ठान और अपना कल्याण करनेमें कभी सन्तोष नहीं करना चाहिये; क्योंकि यह नया पुरुषार्थ है और इसी पुरुषार्थके लिये मनुष्य-शरीर मिला है।

कर्मके दो भेद हैं—शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप)। शुभ कर्मका फल अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होना है और अशुभ कर्मका फल प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होना है। कर्म बाहरसे किये जाते हैं, इसलिये उन कर्मोंका फल भी बाहरकी परिस्थितिके रूपमें ही प्राप्त होता है। परन्तु उन परिस्थितियोंसे जो सुख-दुःख होते हैं, वे भीतर होते हैं। इसलिये उन परिस्थितियोंमें सुखी तथा दुःखी होना शुभाशुभकर्मोंका अर्थात् प्रारब्धका फल नहीं है, प्रत्युत अपनी मूर्खताका फल है। अगर वह मूर्खता चली जाय, भगवान्‌पर* अथवा प्रारब्धपर † विश्वास हो जाय तो प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी चित्तमें प्रसन्नता होगी, हर्ष होगा। कारण कि प्रतिकूल परिस्थितिमें पाप कटते हैं, आगे पाप न करनेमें सावधानी आती है और पापोंके नष्ट होनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।

साधकको अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिका सदुपयोग करना चाहिये, दुरुपयोग नहीं। अनुकूल परिस्थिति आ जाय तो अनुकूल सामग्रीको दूसरोंके हितके लिये सेवाबुद्धिसे खर्च करना अनुकूल परिस्थितिका सदुपयोग है और उसका सुख-बुद्धिसे भोग करना दुरुपयोग है। ऐसे ही प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय तो सुखकी इच्छाका त्याग करना और 'मेरे पूर्वकृत पापोंका नाश करनेके लिये, भविष्यमें पाप न करनेकी सावधानी रखनेके लिये और मेरी उन्नति करनेके लिये ही प्रभु-कृपासे ऐसी परिस्थिति आयी है'—ऐसा समझकर परम प्रसन्न रहना प्रतिकूल परिस्थितिका सदुपयोग है और उससे दुःखी होना दुरुपयोग है।

---

* लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके। तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः॥

'जिस प्रकार बच्चेका पालन करने और ताड़ना करने—दोनोंमें माताकी कहीं अकृपा नहीं होती, उसी प्रकार जीवोंके गुण-दोषोंका नियन्त्रण करनेवाले परमेश्वरकी कहीं किसीपर अकृपा नहीं होती।'

† यद्भावि तद्भवत्येव यदभाव्यं न तद्भवेत्। इति निश्चितबुद्धीनां न चिन्ता बाधते क्वचित्॥ (नारदपुराण, पूर्व ३७।४७)

'जो होनेवाला है, वह होकर ही रहता है और जो न होनेवाला है, वह कभी नहीं होता—ऐसा निश्चय जिनकी बुद्धिमें होता है, उन्हें चिन्ता कभी नहीं सताती।'

मनुष्य-शरीर सुख-दुःख भोगनेके लिये नहीं है। सुख भोगनेके स्थान स्वर्गादिक हैं और दुःख भोगनेके स्थान नरक तथा चौरासी लाख योनियाँ हैं। इसलिये वे भोगयोनियाँ हैं और मनुष्य कर्मयोनि है। परन्तु यह कर्मयोनि उनके लिये है जो मनुष्यशरीरमें सावधान नहीं होते, केवल जन्म-मरणके सामान्य प्रवाहमें ही पड़े हुए हैं। वास्तवमें मनुष्यशरीर सुख-दुःखसे ऊँचा उठनेके लिये अर्थात् मुक्तिकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। इसलिये इसको कर्मयोनि न कहकर 'साधनयोनि' ही कहना चाहिये।

प्रारब्ध-कर्मोंके फलस्वरूप जो अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति आती है, उन दोनोंमें अनुकूल परिस्थितिका स्वरूपसे त्याग करनेमें तो मनुष्य स्वतन्त्र है, पर प्रतिकूल परिस्थितिका स्वरूपसे त्याग करनेमें मनुष्य परतन्त्र है अर्थात् उसका स्वरूपसे त्याग नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि अनुकूल परिस्थिति दूसरोंका हित करने, उन्हें सुख देनेके फलस्वरूप बनी है और प्रतिकूल परिस्थिति दूसरोंको दुःख देनेके फलस्वरूप बनी है। इसको एक दृष्टान्तसे इस प्रकार समझ सकते हैं—

श्यामलालने रामलालको सौ रुपये उधार दिये। रामलालने वायदा किया कि अमुक महीने मैं ब्याजसहित रुपये लौटा दूँगा। महीना बीत गया पर रामलालने रुपये नहीं लौटाये तो श्यामलाल रामलालके घर पहुँचा और बोला—'तुमने वायदेके अनुसार रुपये नहीं दिये! अब दो।' रामलालने कहा—'अभी मेरे पास रुपये नहीं हैं, परसों दे दूँगा।' श्यामलाल तीसरे दिन पहुँचा और बोला—'लाओ मेरे रुपये!' रामलालने कहा—'अभी मैं आपके पैसे नहीं जुटा सका, परसों आपके रुपये जरूर दूँगा।' तीसरे दिन फिर श्यामलाल पहुँचा और बोला—'रुपये दो!' तो रामलालने कहा—'कल जरूर दूँगा।' दूसरे दिन श्यामलाल फिर पहुँचा और बोला— 'लाओ मेरे रुपये!' रामलालने कहा—'रुपये जुटे नहीं, मेरे पास रुपये हैं नहीं तो मैं कहाँसे दूँ? परसों आना।' रामलालकी बातें सुनकर श्यामलालको गुस्सा आ गया और 'परसों-परसों करता है, रुपये देता नहीं'—ऐसा कहकर उसने रामलालको पाँच जूते मार दिये। रामलालने कोर्टमें नालिश (शिकायत) कर दी। श्यामलालको बुलाया गया और पूछा गया—'तुमने इसके घरपर जाकर जूता मारा है?' तो श्यामलालने कहा—'हाँ साहब, मैंने जूता मारा है।' मैजिस्ट्रेटने पूछा—'क्यों मारा?'

श्यामलालने कहा—'इसको मैंने रुपये दिये थे और इसने वायदा किया था कि मैं इस महीने रुपये लौटा दूँगा। महीना बीत जानेपर मैंने इसके घरपर जाकर रुपये माँगे तो कल-परसों, कल-परसों कहकर इसने मुझे बहुत तंग किया। इसपर मैंने गुस्सेमें आकर इसे पाँच जूते मार दिये तो सरकार! पाँच जूतोंके पाँच रुपये काटकर शेष रुपये मुझे दिला दीजिये।'

मैजिस्ट्रेटने हँसकर कहा—'यह फौजदारी कोर्ट है। यहाँ रुपये दिलानेका कायदा (नियम) नहीं है। यहाँ दण्ड देनेका कायदा है। इसलिये आपको जूता मारनेके बदलेमें कैद या जुर्माना भोगना ही पड़ेगा। आपको रुपये लेने हों तो दीवानी कोर्टमें जाकर नालिश करो, वहाँ रुपये दिलानेका कायदा है; क्योंकि वह विभाग अलग है।'

इस तरह अशुभ कर्मोंका फल जो प्रतिकूल परिस्थिति है, वह 'फौजदारी' है, इसलिये उसका स्वरूपसे त्याग नहीं कर सकते और शुभ कर्मोंका फल जो अनुकूल परिस्थिति है, वह 'दीवानी' है, इसलिये उसका स्वरूपसे त्याग किया जा सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यके शुभ-अशुभ कर्मोंका विभाग अलग-अलग है। इसलिये शुभ कर्मों (पुण्यों) और अशुभ कर्मों-(पापों-) का अलग-अलग संग्रह होता है। स्वाभाविकरूपसे ये दोनों एक-दूसरेसे कटते नहीं अर्थात् पापोंसे पुण्य नहीं कटते और पुण्योंसे पाप नहीं कटते। हाँ, अगर मनुष्य पाप काटनेके उद्देश्यसे (प्रायश्चित्तरूपसे) शुभ कर्म करता है तो उसके पाप कट सकते हैं।

संसारमें एक आदमी पुण्यात्मा है, सदाचारी है और दुःख पा रहा है तथा एक आदमी पापात्मा है, दुराचारी है और सुख भोग रहा है— इस बातको लेकर अच्छे-अच्छे पुरुषोंके भीतर भी यह शङ्का हो जाया करती है कि इसमें ईश्वरका न्याय कहाँ है?* इसका समाधान यह है कि अभी पुण्यात्मा जो

* महाभारत, वनपर्वमें एक कथा आती है। एक दिन द्रौपदीने युधिष्ठिरजी महाराजसे कहा कि आप धर्मको छोड़कर एक कदम भी आगे नहीं रखते, पर आप वनवासमें दुःख पा रहे हैं और दुर्योधन धर्मकी किञ्चिन्मात्र भी परवाह न करके केवल स्वार्थ-परायण हो रहा है, पर वह राज्य कर रहा है, आरामसे रह रहा है और सुख भोग रहा है? ऐसी शङ्का करनेपर युधिष्ठिरजी महाराजने कहा कि जो सुख पानेकी इच्छासे धर्मका पालन करते हैं, वे धर्मके तत्त्वको जानते ही नहीं! वे तो पशुओंकी तरह सुख-भोगके लिये लोलुप और दुःखसे भयभीत रहते हैं, फिर बेचारे धर्मके तत्त्वको कैसे जानें! इसलिये मनुष्यकी मनुष्यता इसीमें है कि वे अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिकी परवाह न करके शास्त्रके आज्ञानुसार केवल अपने धर्म-(कर्तव्य-)का पालन करते रहें।

दुःख पा रहा है, यह पूर्वके किसी जन्ममें किये हुए पापका फल है, अभी किये हुए पुण्यका नहीं। ऐसे ही अभी पापात्मा जो सुख भोग रहा है, यह भी पूर्वके किसी जन्ममें किये हुए पुण्यका फल है, अभी किये हुए पापका नहीं।

इसमें एक तात्त्विक बात और है। कर्मोंके फलरूपमें जो अनुकूल परिस्थिति आती है, उससे सुख ही होता है और प्रतिकूल परिस्थिति आती है, उससे दुःख ही होता है—ऐसी बात है नहीं। जैसे, अनुकूल परिस्थिति आनेपर मनमें अभिमान होता है, छोटोंसे घृणा होती है, अपनेसे अधिक सम्पत्तिवालोंको देखकर उनसे ईर्ष्या होती है, असहिष्णुता होती है, अन्तःकरणमें जलन होती है और मनमें ऐसे दुर्भाव आते हैं कि उनकी सम्पत्ति कैसे नष्ट हो तथा वक्तपर उनको नीचा दिखानेकी चेष्टा भी होती है। इस तरह सुख-सामग्री और धन-सम्पत्ति पासमें रहनेपर भी वह सुखी नहीं हो सकता। परन्तु बाहरी सामग्रीको देखकर अन्य लोगोंको यह भ्रम होता है कि वह बड़ा सुखी है। ऐसे ही किसी विरक्त और त्यागी मनुष्यको देखकर भोग-सामग्रीवाले मनुष्यको उसपर दया आती है कि बेचारेके पास धन-सम्पत्ति आदि सामग्री नहीं है, बेचारा बड़ा दुःखी है! परन्तु वास्तवमें विरक्तके मनमें बड़ी शान्ति और बड़ी प्रसन्नता रहती है। वह शान्ति और प्रसन्नता धनके कारण किसी धनीमें नहीं रह सकती। इसलिये धनका होनामात्र सुख नहीं है और धनका अभावमात्र दुःख नहीं है। सुख नाम हृदयकी शान्ति और प्रसन्नताका है और दुःख नाम हृदयकी जलन और सन्तापका है।

पुण्य और पापका फल भोगनेमें एक नियम नहीं है। पुण्य तो निष्कामभावसे भगवान्‌के अर्पण करनेसे समाप्त हो सकता है; परन्तु पाप भगवान्‌के अर्पण करनेसे समाप्त नहीं होता। पापका फल तो भोगना ही पड़ता है; क्योंकि भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध किये हुए कर्म भगवान्‌के अर्पण कैसे हो सकते हैं? और अर्पण करनेवाला भी भगवान्‌के विरुद्ध कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कैसे कर सकता है? प्रत्युत भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार किये हुए कर्म ही भगवान्‌के अर्पण होते हैं। इस विषयमें एक कहानी आती है।

एक राजा अपनी प्रजा-सहित हरिद्वार गया। उसके साथमें सब तरहके लोग थे। उनमें एक चमार भी था। उस चमारने सोचा कि ये बनिये लोग बड़े चतुर होते हैं। ये अपनी बुद्धिमानीसे धनी बन गये हैं। अगर हम भी उनकी बुद्धिमानीके अनुसार चलें तो हम भी धनी बन जायँ! ऐसा विचार करके वह एक चतुर बनियेकी क्रियाओंपर निगरानी रखकर चलने लगा। जब हरिद्वारके ब्रह्मकुण्डमें पण्डा दान-पुण्यका सङ्कल्प कराने लगा, तब उस बनियेने कहा—'मैंने अमुक ब्राह्मणको सौ रुपये उधार दिये थे, आज मैं उनको दानरूपमें श्रीकृष्णार्पण करता हूँ!' पण्डेने सङ्कल्प भरवा दिया। चमारने देखा कि इसने एक कौड़ी भी नहीं दी और लोगोंमें प्रसिद्ध हो गया कि इसने सौ रुपयोंका दान कर दिया, कितना बुद्धिमान् है! मैं भी इससे कम नहीं रहूँगा। जब पण्डेने चमारसे संकल्प भरवाना शुरू किया, तब चमारने कहा—'अमुक बनियेने मुझे सौ रुपये उधार दिये थे तो उन सौ रुपयोंको मैं श्रीकृष्णार्पण करता हूँ।' उसकी ग्रामीण बोलीको पण्डा पूरी तरह समझा नहीं और सङ्कल्प भरवा दिया। इससे चमार बड़ा खुश हो गया कि मैंने भी बनियेके समान सौ रुपयोंका दान-पुण्य कर दिया!

सब घर पहुँचे। समयपर खेती हुई। ब्राह्मण और चमारके खेतोंमें खूब अनाज पैदा हुआ। ब्राह्मण-देवताने बनियेसे कहा—'सेठ! आप चाहें तो सौ रुपयोंका अनाज ले लो, इससे आपको नफा भी हो सकता है। मुझे तो आपका कर्जा चुकाना है।' बनियेने कहा—'ब्राह्मण देवता! जब मैं हरिद्वार गया था, तब मैंने आपको उधार दिये हुए सौ रुपये दान कर दिये।' ब्राह्मण बोला—'सेठ! मैंने आपसे सौ रुपये उधार लिये हैं, दान नहीं लिये। इसलिये इन रुपयोंको मैं रखना नहीं चाहता, ब्याजसहित पूरा चुकाना चाहता हूँ।' सेठने कहा— 'आप देना ही चाहते हैं तो अपनी बहन अथवा कन्याको दे सकते हैं। मैंने सौ रुपये भगवान्‌के अर्पण कर दिये हैं, इसलिये मैं तो लूँगा नहीं।' अब ब्राह्मण और क्या करता? वह अपने घर लौट गया।

अब जिस बनियेसे चमारने सौ रुपये लिये थे, वह बनिया चमारके खेतमें पहुँचा और बोला—'लाओ मेरे रुपये। तुम्हारा अनाज हुआ है, सौ रुपयोंका अनाज ही दे दो।' चमारने सुन रखा था कि ब्राह्मणके देनेपर भी बनियेने उससे रुपये नहीं लिये। अतः उसने सोचा कि मैंने भी सङ्कल्प कर रखा है तो मेरेको रुपये क्यों देने पड़ेंगे? ऐसा सोचकर चमार बनियेसे बोला—'मैंने तो अमुक सेठकी तरह गङ्गाजीमें खड़े होकर सब रुपये श्रीकृष्णार्पण कर दिये तो मेरेको रुपये क्यों देने पड़ेंगे?' बनिया बोला—'तेरे अर्पण कर देनेसे कर्जा नहीं छूट सकता; क्योंकि तूने मेरेसे कर्जा लिया है तो तेरे छोड़नेसे कैसे छूट जायगा? मैं तो अपने सौ रुपये ब्याजसहित पूरे लूँगा; लाओ मेरे रुपये!' ऐसा कहकर उसने चमारसे अपने रुपयोंका अनाज ले लिया।

इस कहानीसे यह सिद्ध होता है कि हमारेपर दूसरोंका जो कर्जा है, वह हमारे छोड़नेसे नहीं छूट सकता। ऐसे ही हम

भगवदाज्ञानुसार शुभ कर्मोंको तो भगवान्‌के अर्पण करके उनके बन्धनसे छूट सकते हैं, पर अशुभ कर्मोंका फल तो हमारेको भोगना ही पड़ेगा। इसलिये शुभ और अशुभ कर्मोंमें एक कायदा, कानून नहीं है। अगर ऐसा नियम बन जाय कि भगवान्‌के अर्पण करनेसे ऋण और पाप-कर्म छूट जायँ तो फिर सभी प्राणी मुक्त हो जायँ; परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। हाँ, इसमें एक मार्मिक बात है कि अपने-आपको सर्वथा भगवान्‌के अर्पित कर देनेपर अर्थात् सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जानेपर पाप-पुण्य सर्वथा नष्ट हो जाते हैं* (गीता १८। ६६)।

दूसरी शङ्का यह होती है कि धन और भोगोंकी प्राप्ति प्रारब्ध कर्मके अनुसार होती है—ऐसी बात समझमें नहीं आती; क्योंकि हम देखते हैं कि इन्कम-टैक्स, सेल्स-टैक्स आदिकी चोरी करते हैं तो धन बच जाता है और टैक्स पूरा देते हैं तो धन चला जाता है तो धनका आना-जाना प्रारब्धके अधीन कहाँ हुआ? यह तो चोरीके ही अधीन हुआ!

इसका समाधान इस प्रकार है। वास्तवमें धन प्राप्त करना और भोग भोगना—इन दोनोंमें ही प्रारब्धकी प्रधानता है। परन्तु इन दोनोंमें भी किसीका धन-प्राप्तिका प्रारब्ध होता है, भोगका नहीं और किसीका भोगका प्रारब्ध होता है, धन-प्राप्तिका नहीं तथा किसीका धन और भोग दोनोंका ही प्रारब्ध होता है। जिसका धन-प्राप्तिका प्रारब्ध तो है पर भोगका प्रारब्ध नहीं है, उसके पास लाखों रुपये रहनेपर भी बीमारीके कारण वैद्य, डॉक्टरके मना करनेपर वह भोगोंको भोग नहीं सकता, उसको खानेमें रूखा-सूखा ही मिलता है। जिसका भोगका प्रारब्ध तो है पर धनका प्रारब्ध नहीं है, उसके पास धनका अभाव होनेपर भी उसके सुख-आराममें किसी तरहकी कमी नहीं रहती।† उसको किसीकी दयासे, मित्रतासे, काम-धंधा मिल जानेसे प्रारब्धके अनुसार जीवन-निर्वाहकी सामग्री मिलती रहती है।

अगर धनका प्रारब्ध नहीं है तो चोरी करनेपर भी धन नहीं मिलेगा, प्रत्युत चोरी किसी प्रकारसे प्रकट हो जायगी तो बचा हुआ धन भी चला जायगा तथा दण्ड और मिलेगा। यहाँ दण्ड मिले या न मिले, पर परलोकमें तो दण्ड जरूर मिलेगा। उससे वह बच नहीं सकेगा। अगर प्रारब्धवश चोरी करनेसे धन मिल भी जाय तो भी उस धनका उपभोग नहीं हो सकेगा। वह धन बीमारीमें, चोरीमें, डाकेमें, मुकदमेमें, ठगाईमें चला जायगा। तात्पर्य यह कि वह धन जितने दिन टिकनेवाला है, उतने ही दिन टिकेगा और फिर नष्ट हो जायगा। इतना ही नहीं, इन्कम-टैक्स आदिकी चोरी करनेके जो संस्कार भीतर पड़े हैं, वे संस्कार जन्म-जन्मान्तरतक उसे चोरी करनेके लिये उकसाते रहेंगे और वह उनके कारण दण्ड पाता रहेगा।

अगर धनका प्रारब्ध है तो कोई गोद ले लेगा अथवा मरता हुआ कोई व्यक्ति उसके नामसे वसीयतनामा लिख देगा अथवा मकान बनाते समय नींव खोदते ही जमीनमें गड़ा हुआ धन मिल जायगा, आदि-आदि। इस प्रकार प्रारब्धके अनुसार जो धन मिलनेवाला है, वह किसी-न-किसी कारणसे मिलेगा ही।‡

परन्तु मनुष्य प्रारब्धपर तो विश्वास करता नहीं, कम-से-कम अपने पुरुषार्थपर भी विश्वास नहीं करता कि हम मेहनतसे कमाकर खा लेंगे। इसी कारण उसकी चोरी आदि दुष्कर्मोंमें प्रवृत्ति हो जाती है, जिससे हृदयमें जलन रहती है, दूसरोंसे छिपाव करना पड़ता है, पकड़े जानेपर दण्ड पाना पड़ता है, आदि-आदि। अगर मनुष्य विश्वास और सन्तोष रखे

---

* देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥
(श्रीमद्भा० ११। ५। ४१)

राजन्! 'जो सारे कार्योंको छोड़कर सम्पूर्णरूपसे शरणागतवत्सल भगवान्‌की शरणमें आ जाता है, वह देव, ऋषि, कुटुम्बीजन और पितृगण—इन किसीका भी ऋणी और सेवक नहीं रहता।'

† सर्वथा त्यागीको भी अनुकूल वस्तुएँ बहुत मिलती हुई देखी जाती हैं (यह बात अलग है कि वह उन्हें स्वीकार न करे)। त्यागमें तो एक और विलक्षणता भी है कि जो मनुष्य धनका त्याग कर देता है, जिसके मनमें धनका महत्त्व नहीं है और अपनेको धनके अधीन नहीं मानता, उसके लिये धनका एक नया प्रारब्ध बन जाता है। कारण कि त्याग भी एक बड़ा भारी पुण्य है, जिससे तत्काल एक नया प्रारब्ध बनता है।

धान नहीं धीणों नहीं, नहीं रुपैयो रोक। जिमण बैठे रामदास, आन मिलै सब थोक॥

‡ प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो दैवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः। तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्॥
(पञ्चतन्त्र मित्रसम्प्राप्ति ११२)

'प्राप्त होनेवाला धन मनुष्यको मिलता ही है, दैव भी उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। इसलिये न तो मैं शोक करता हूँ और न मुझे विस्मय ही होता है; क्योंकि जो हमारा है, वह दूसरोंका नहीं हो सकता।'

तो हृदयमें महान् शान्ति, आनन्द, प्रसन्नता रहती है तथा आनेवाला धन भी आ जाता है और जितना जीनेका प्रारब्ध है, उतनी जीवन-निर्वाहकी सामग्री भी किसी-न-किसी तरह मिलती ही रहती है।

जैसे व्यापारमें घाटा लगना, घरमें किसीकी मृत्यु होना, बिना कारण अपयश और अपमान होना आदि प्रतिकूल परिस्थितिको कोई भी नहीं चाहता पर फिर भी वह आती ही है, ऐसे ही अनुकूल परिस्थिति भी आती ही है, उसको कोई रोक नहीं सकता। भागवतमें आया है—

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च।
देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः॥

(श्रीमद्भा० ११।८।१)

'राजन्! प्राणियोंको जैसे इच्छाके बिना प्रारब्धानुसार दुःख प्राप्त होते हैं, ऐसे ही इन्द्रियजन्य सुख स्वर्गमें और नरकमें भी प्राप्त होते हैं। अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह उन सुखोंकी इच्छा न करे।'

जैसे धन और भोगका प्रारब्ध अलग-अलग होता है अर्थात् किसीका धनका प्रारब्ध होता है और किसीका भोगका प्रारब्ध होता है, ऐसे ही धर्म और मोक्षका पुरुषार्थ भी अलग-अलग होता है अर्थात् कोई धर्मके लिये पुरुषार्थ करता है और कोई मोक्षके लिये पुरुषार्थ करता है। धर्मके अनुष्ठानमें शरीर, धन आदि वस्तुओंकी मुख्यता रहती है और मोक्षकी प्राप्तिमें भाव तथा विचारकी मुख्यता रहती है।

एक 'करना' होता है और एक 'होना' होता है। दोनों विभाग अलग-अलग हैं। करनेकी चीज है—कर्तव्य और होनेकी चीज है—फल। मनुष्यका कर्म करनेमें अधिकार है, फलमें नहीं—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** (गीता २।४७)। तात्पर्य यह है कि होनेकी पूर्ति प्रारब्धके अनुसार अवश्य होती है, उसके लिये 'यह होना चाहिये और यह नहीं होना चाहिये'—ऐसी इच्छा नहीं करनी चाहिये और करनेमें शास्त्र तथा लोक-मर्यादाके अनुसार कर्तव्य-कर्म करना चाहिये। 'करना' पुरुषार्थके अधीन है और 'होना' प्रारब्धके अधीन है। इसलिये मनुष्य करनेमें स्वाधीन है और होनेमें पराधीन है। मनुष्यकी उन्नतिमें खास बात है—'करनेमें सावधान रहे और होनेमें प्रसन्न रहे।'

क्रियमाण, सञ्चित और प्रारब्ध—तीनों कर्मोंसे मुक्त होनेका क्या उपाय है?

प्रकृति और पुरुष—ये दो हैं। प्रकृति सदा क्रियाशील है, पर पुरुषमें कभी परिवर्तनरूप क्रिया नहीं होती। प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध माननेवाला 'प्रकृतिस्थ' पुरुष ही कर्ता-भोक्ता बनता है। जब वह प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, तब उसपर कोई भी कर्म लागू नहीं होता।

प्रारब्ध-सम्बन्धी अन्य बातें इस प्रकार हैं—

(१) बोध हो जानेपर भी ज्ञानीका प्रारब्ध रहता है—यह कथन केवल अज्ञानियोंको समझानेमात्रके लिये है। कारण कि अनुकूल या प्रतिकूल घटनाका घट जाना ही प्रारब्ध है। प्राणीको सुखी या दुःखी करना प्रारब्धका काम नहीं है, प्रत्युत अज्ञानका काम है। अज्ञान मिटनेपर मनुष्य सुखी-दुःखी नहीं होता। उसे केवल अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान होता है। ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत सुख-दुःखरूप विकार होना दोषी है। इसलिये वास्तवमें ज्ञानीका प्रारब्ध नहीं होता।

(२) जैसा प्रारब्ध होता है, वैसी बुद्धि बन जाती है। जैसे, एक ही बाजारमें एक व्यापारी मालकी बिक्री कर देता है और एक व्यापारी माल खरीद लेता है। बादमें जब बाजार-भाव तेज हो जाता है, तब बिक्री करनेवाले व्यापारीको नुकसान होता है तथा खरीदनेवाले व्यापारीको नफा होता है और जब बाजार-भाव मन्दा हो जाता है, तब बिक्री करनेवाले व्यापारीको नफा होता है तथा खरीदनेवाले व्यापारीको नुकसान होता है। अतः खरीदने और बेचनेकी बुद्धि प्रारब्धसे बनती है अर्थात् नफा या नुकसानका जैसा प्रारब्ध होता है, उसीके अनुसार पहले बुद्धि बन जाती है, जिससे प्रारब्धके अनुसार फल भुगताया जा सके। परन्तु खरीदने और बेचनेकी क्रिया न्याययुक्त की जाय अथवा अन्याययुक्त की जाय—इसमें मनुष्य स्वतन्त्र है; क्योंकि यह क्रियमाण (नया कर्म) है, प्रारब्ध नहीं।

(३) एक आदमीके हाथसे गिलास गिरकर टूट गया तो यह उसकी असावधानी है या प्रारब्ध?

कर्म करते समय तो सावधान रहना चाहिये पर जो (अच्छा या बुरा) हो गया, उसे पूरी तरहसे प्रारब्ध—होनहार ही मानना चाहिये। उस समय जो यह कहते हैं कि यदि तू सावधानी रखता तो गिलास न टूटता—इससे यह समझना चाहिये कि अब आगेसे मुझे सावधानी रखनी है कि दुबारा ऐसी गलती न हो जाय। वास्तवमें जो हो गया, उसे असावधानी न मानकर होनहार मानना चाहिये। इसलिये करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहे।

(४) प्रारब्धसे होनेवाले और कुपथ्यसे होनेवाले रोगमें क्या फर्क है?

कुपथ्यजन्य रोग दवाईसे मिट सकता है; परन्तु प्रारब्धजन्य रोग दवाईसे नहीं मिटता। महामृत्युञ्जय आदिका

जप और यज्ञ-यागादि अनुष्ठान करनेसे प्रारब्धजन्य रोग भी कट सकता है, अगर अनुष्ठान प्रबल हो तो।

रोगके दो प्रकार हैं—आधि (मानसिक रोग) और व्याधि (शारीरिक रोग)। आधिके भी दो भेद हैं—एक तो शोक, चिन्ता आदि और दूसरा पागलपन। चिन्ता, शोक आदि तो अज्ञानसे होते हैं और पागलपन प्रारब्धसे होता है। अतः ज्ञान होनेपर चिन्ता-शोकादि तो मिट जाते हैं पर प्रारब्धके अनुसार पागलपन हो सकता है। हाँ, पागलपन होनेपर भी ज्ञानीके द्वारा कोई अनुचित, शास्त्रनिषिद्ध क्रिया नहीं होती।

(५) आकस्मिक मृत्यु और अकाल मृत्युमें क्या फरक है? कोई व्यक्ति साँप काटनेसे मर जाय, अचानक ऊपरसे गिरकर मर जाय, पानीमें डूबकर मर जाय, हार्टफेल होनेसे मर जाय, किसी दुर्घटना आदिसे मर जाय तो यह उसकी 'आकस्मिक मृत्यु' है। स्वाभाविक मृत्युकी तरह आकस्मिक मृत्यु भी प्रारब्धके अनुसार (आयु पूरी होनेपर) होती है।

कोई व्यक्ति जानकर आत्महत्या कर ले अर्थात् फाँसी लगाकर, कुएँमें कूदकर, गाड़ीके नीचे आकर, छतसे कूदकर, जहर खाकर, शरीरमें आग लगाकर मर जाय तो यह उसकी 'अकाल मृत्यु' है। यह मृत्यु आयुके रहते हुए ही होती है। आत्महत्या करनेवालेको मनुष्यकी हत्याका पाप लगता है। अतः यह नया पाप-कर्म है, प्रारब्ध नहीं। मनुष्यशरीर परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है; अतः उसको आत्महत्या करके नष्ट करना बड़ा भारी पाप है।

कई बार आत्महत्या करनेकी चेष्टा करनेपर भी मनुष्य बच जाता है, मरता नहीं। इसका कारण यह है कि उसका दूसरे मनुष्यके प्रारब्धके साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ रहता है; अतः उसके प्रारब्धके कारण वह बच जाता है। जैसे, भविष्यमें किसीका पुत्र होनेवाला है और वह आत्महत्या करनेका प्रयास करे तो उस (आगे होनेवाले) लड़केका प्रारब्ध उसको मरने नहीं देगा। अगर उस व्यक्तिके द्वारा भविष्यमें कोई विशेष अच्छा काम होनेवाला हो, लोगोंका उपकार होनेवाला हो अथवा इसी जन्ममें, इसी शरीरमें प्रारब्धका कोई उत्कट भोग (सुख-दुःख) आनेवाला हो तो आत्महत्याका प्रयास करनेपर भी वह मरेगा नहीं।

(६) एक आदमीने दूसरे आदमीको मार दिया तो यह उसने पिछले जन्मके वैरका बदला लिया और मरनेवालेने पुराने कर्मोंका फल पाया, फिर मारनेवालेका क्या दोष?

मारनेवालेका दोष है। दण्ड देना शासकका काम है, सर्वसाधारणका नहीं। एक आदमीको दस बजे फाँसी मिलनी है। एक-दूसरे आदमीने उस (फाँसीकी सजा पानेवाले) आदमीको जल्लादोंके हाथोंसे छुड़ा लिया और ठीक दस बजे उसे कत्ल कर दिया! ऐसी हालतमें उस कत्ल करनेवाले आदमीको भी फाँसी होगी कि यह आज्ञा तो राज्यने जल्लादोंको दी थी पर तुम्हें किसने आज्ञा दी थी?

मारनेवालेको यह याद नहीं है कि मैं पूर्वजन्मका बदला ले रहा हूँ, फिर भी मारता है तो यह उसका दोष है। दूसरेको मारनेका अधिकार किसीको भी नहीं है। मरना कोई भी नहीं चाहता। दूसरेको मारना अपने विवेकका अनादर है। मनुष्य-मात्रको विवेकशक्ति प्राप्त है और उस विवेकके अनुसार अच्छे या बुरे कार्य करनेमें वह स्वतन्त्र है। अतः विवेकका अनादर करके दूसरेको मारना अथवा मारनेकी नीयत रखना दोष है।

यदि पूर्वजन्मका बदला एक-दूसरे ऐसे ही चुकाते रहें तो यह शृङ्खला कभी खत्म नहीं होगी और मनुष्य कभी मुक्त नहीं हो सकेगा।

पिछले जन्मका बदला अन्य (साँप आदि) योनियोंमें लिया जा सकता है। मनुष्ययोनि बदला लेनेके लिये नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि पिछले जन्मका हत्यारा व्यक्ति हमें स्वाभाविक ही अच्छा नहीं लगेगा, बुरा लगेगा। परन्तु बुरे लगनेवाले व्यक्तिसे द्वेष करना या उसे कष्ट देना दोष है; क्योंकि यह नया कर्म है।

जैसा प्रारब्ध है, उसीके अनुसार उसकी बुद्धि बन गयी, फिर दोष किस बातका?

बुद्धिमें जो द्वेष है, उसके वशमें हो गया—यह दोष है। उसे चाहिये कि वह उसके वशमें न होकर विवेकका आदर करे। गीता भी कहती है कि बुद्धिमें जो राग-द्वेष रहते हैं (३।४०), उनके वशमें न हो—**'तयोर्न वशमागच्छेत्'** (३।३४)।

(७) प्रारब्ध और भगवत्कृपामें क्या अन्तर है?

इस जीवको जो कुछ मिलता है, वह प्रारब्धके अनुसार मिलता है पर प्रारब्ध-विधानके विधाता स्वयं भगवान् हैं। कारण कि कर्म जड होनेसे स्वतन्त्र फल नहीं दे सकते, वे तो भगवान्के विधानसे ही फल देते है। जैसे, एक आदमी किसीके खेतमें दिनभर काम करता है तो उसको शामके समय कामके अनुसार पैसे मिलते हैं पर मिलते हैं खेतके मालिकसे।

पैसे तो काम करनेसे ही मिलते हैं, बिना काम किये पैसे मिलते हैं क्या?

पैसे तो काम करनेसे ही मिलते हैं; परन्तु बिना मालिकके पैसा देगा कौन? यदि कोई जंगलमें जाकर दिनभर मेहनत करे तो क्या उसको पैसे मिल जायँगे? नहीं मिल सकते। उसमें

यह देखा जायगा कि किसके कहनेसे काम किया और किसकी जिम्मेवारी रही।

अगर कोई नौकर कामको बड़ी तत्परता, चतुरता और उत्साहसे करता है पर करता है केवल मालिककी प्रसन्नताके लिये तो मालिक उसको मजदूरीसे अधिक पैसे भी दे देता है और तत्परता आदि गुणोंको देखकर उसको अपने खेतका हिस्सेदार भी बना देता है। ऐसे ही भगवान् मनुष्यको उसके कर्मोंके अनुसार फल देते हैं। अगर कोई मनुष्य भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार, उन्हींकी प्रसन्नताके लिये सब कार्य करता है, उसे भगवान् दूसरोंकी अपेक्षा अधिक ही देते हैं; परन्तु जो भगवान्‌के सर्वथा समर्पित होकर सब कार्य करता है, उस भक्तके भगवान् भी भक्त बन जाते हैं!* संसारमें कोई भी नौकरको अपना मालिक नहीं बनाता; परन्तु भगवान् शरणागत भक्तको अपना मालिक बना लेते हैं। ऐसी उदारता केवल प्रभुमें ही है। ऐसे प्रभुके चरणोंकी शरण न होकर जो मनुष्य प्राकृत—उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंके पराधीन रहते हैं, उनकी बुद्धि सर्वथा ही भ्रष्ट हो चुकी है। वे इस बातको समझ ही नहीं सकते कि हमारे सामने प्रत्यक्ष उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थ हमें कहाँतक सहारा दे सकते हैं।

(गीता १८। १२ की व्याख्यासे)

---

* एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्। (श्रीमद्भा० १०। ८६। ५९)

देवता कौन ?

मनुष्योंके पृथ्वीतत्त्वप्रधान शरीरोंकी अपेक्षा देवताओंके शरीर तेजस्तत्त्वप्रधान, दिव्य और शुद्ध होते हैं। मनुष्योंके शरीरोंसे मल, मूत्र, पसीना आदि पैदा होते हैं। अतः जैसे हमलोगोंको मैलेसे भरे हुए सूअरसे दुर्गन्ध आती है, ऐसे ही देवताओंको हमारे (मनुष्योंके) शरीरोंसे दुर्गन्ध आती है। देवताओंके शरीरोंसे सुगन्ध आती है। उनके शरीरोंकी छाया नहीं पड़ती। उनकी पलकें नहीं गिरतीं। वे एक क्षणमें बहुत दूर जा सकते हैं और जहाँ चाहें, वहाँ प्रकट हो सकते हैं। इस दिव्यताके कारण ही उनको देवता कहते हैं।

बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दो अश्विनीकुमार—ये तैंतीस कोटि (तैंतीस प्रकारके) देवता सम्पूर्ण देवताओंमें मुख्य माने जाते हैं। उनके सिवाय मरुद्गण, गन्धर्व, अप्सराएँ आदि भी देवलोकवासी होनेसे देवता कहलाते हैं।

देवता तीन तरहके होते हैं—

(१) आजानदेवता—जो महासर्गसे महाप्रलयतक (एक कल्पतक) देवलोकमें रहते हैं, वे 'आजानदेवता' कहलाते हैं। ये देवलोकके बड़े अधिकारी होते हैं। उनके भी दो भेद होते हैं—

(क) ईश्वरकोटिके देवता—शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य और विष्णु—ये पाँचों ईश्वर भी हैं और देवता भी। इन पाँचोंके अलग-अलग सम्प्रदाय चलते हैं। शिवजीके शैव, शक्तिके शाक्त, गणपतिके गाणपत, सूर्यके सौर और विष्णुके वैष्णव कहलाते हैं। इन पाँचोंमें एक ईश्वर होता है तो अन्य चार देवता होते हैं। वास्तवमें ये पाँचों ईश्वरकोटिके ही हैं।

(ख) साधारण देवता—इन्द्र, वरुण, मरुत्, रुद्र, आदित्य, वसु आदि सब साधारण देवता हैं।

(२) मर्त्यदेवता—जो मनुष्य मृत्युलोकमें यज्ञ आदि करके स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त करते हैं, वे 'मर्त्यदेवता' कहलाते हैं। ये अपने पुण्योंके बलपर वहाँ रहते हैं और पुण्य क्षीण होनेपर फिर मृत्युलोकमें लौट आते हैं—

'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

(गीता ९। २१)

(३) अधिष्ठातृदेवता—सृष्टिकी प्रत्येक वस्तुका एक मालिक होता है, जिसे 'अधिष्ठातृदेवता' कहते हैं। नक्षत्र, तिथि, वार, महीना, वर्ष, युग, चन्द्र, सूर्य, समुद्र, पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सृष्टिकी मुख्य-मुख्य वस्तुओंके अधिष्ठातृदेवता 'आजानदेवता' बनते हैं। और कुआँ, वृक्ष आदि साधारण वस्तुओंके अधिष्ठातृ-देवता 'मर्त्यदेवता' (जीव) बनते हैं।

प्रश्न—जीवोंको अधिष्ठातृदेवता कौन बनाता है ?

उत्तर—भगवान्‌ने ब्रह्माजीको सृष्टि-रचनाका अधिकार दिया है, अतः ब्रह्माजीके बनाये हुए नियमके अनुसार अधिष्ठातृदेवता स्वतः बनते रहते हैं। जैसे यहाँ किसीको किसी पदपर नियुक्त करते हैं तो उसको उस पदके अनुसार सीमित अधिकार दिया जाता है, ऐसे ही पुण्योंके फलस्वरूप जो जीव अधिष्ठातृदेवता बनते हैं, उनको उस विषयमें सीमित अधिकार मिलता है।

प्रश्न—ये अधिष्ठातृदेवता क्या काम करते हैं ?

उत्तर—ये अपने अधीन वस्तुकी रक्षा करते हैं। जैसे, कुएँका भी अधिष्ठातृदेवता होता है। यदि कुआँ चलानेसे पहले उसके अधिष्ठातृदेवताका पूजन किया जाय, उसको प्रणाम किया जाय अथवा उसका नाम लिया जाय तो वह कुएँकी विशेष रक्षा करता है, कुएँके कारण कोई नुकसान नहीं होने देता। ऐसे ही वृक्ष आदिका भी अधिष्ठातृदेवता होता है। रात्रिमें किसी वृक्षके नीचे रहना पड़े तो उसके अधिष्ठातृ-देवतासे प्रार्थना करें कि 'हे वृक्षदेवता ! मैं आपकी शरणमें हूँ, आप मेरी रक्षा करें' तो रात्रिमें रक्षा होती है।

जंगलमें शौच जाना हो तो वहाँपर ***'उत्तम भूमि मध्यम काया, उठो देव मैं जंगल आया'***—ऐसा बोलकर शौच जाना चाहिये, नहीं तो वहाँ रहनेवाले देवता तथा भूत-प्रेत कुपित होकर हमारा अनिष्ट कर सकते हैं।

वर्तमानमें अधिष्ठातृदेवताओंका पूजन उठ जानेसे जगह-जगह तरह-तरहके उपद्रव हो रहे हैं।

प्रश्न—भूत, प्रेत, पिशाच आदिको भी देवयोनि क्यों कहा गया है? जैसे—**'विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥'** (अमरकोष १।१।११)

उत्तर—हमलोगोंके शरीरोंकी अपेक्षा उनका शरीर दिव्य होनेसे उनको भी देवयोनि कहा गया है। उनका शरीर वायु-तत्त्वप्रधान होता है। जैसे वायु कहीं भी नहीं अटकती, ऐसे ही उनका शरीर कहीं भी नहीं अटकता। उनके शरीरमें वायुसे भी अधिक विलक्षणता होती है। घरके किवाड़ बंद करनेपर वायु तो भीतर नहीं आती, पर भूत-प्रेत भीतर आ सकते हैं। तात्पर्य है कि पृथ्वीतत्त्वप्रधान मनुष्यशरीरकी अपेक्षा ही भूत-प्रेत आदिको देवयोनि कहा गया है।

प्रश्न—माता, पिता आदिको देवता क्यों कहा गया है; जैसे **'मातृदेवो भव'** आदि ?

उत्तर—**'मातृदेवो भव'** आदिमें 'देव' नाम परमात्माका है। अतः माता, पिता आदिको साक्षात् ईश्वर मानकर निष्काम-भावसे उनका पूजन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न—देवताओंको कौन-से रोग होते हैं, जिनका इलाज अश्विनीकुमार करते हैं ?

उत्तर—हमारे शरीरमें जैसे रोग (व्याधि) होते हैं, वैसे रोग देवताओंको नहीं होते। देवताओंको चिन्ता, भय, ईर्ष्या, जलन आदि मानसिक रोग (आधि) होते हैं और उन्हींका इलाज अश्विनीकुमार करते हैं।

प्रश्न—देवता और भगवान्‌के शरीरमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—देवताओंका शरीर भौतिक और भगवान्‌का अवतारी शरीर चिन्मय होता है। भगवान्‌का शरीर सत्-चित्-आनन्दमय, नित्य रहनेवाला, अलौकिक और अत्यन्त दिव्य होता है। अतः देवता भी भगवान्‌को देखनेके लिये लालायित रहते हैं (गीता ११।५२)।

प्रश्न—देवलोक और भगवान्‌के लोकमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—देवलोक क्षय होनेवाला, अवधिवाला और कर्म-साध्य है। परन्तु भगवान्‌का लोक (धाम) अक्षय, अवधिरहित और भगवत्कृपासाध्य है।

प्रश्न—मनुष्य स्वर्ग पानेकी और देवता मर्त्यलोकमें मनुष्यजन्म पानेकी अभिलाषा क्यों करते हैं ?

उत्तर—मनुष्य सुख-भोगके लिये ही स्वर्गलोककी इच्छा करते हैं। मनुष्यशरीरसे सब अधिकार प्राप्त होते हैं। मोक्ष, स्वर्ग आदि भी मनुष्यशरीरसे ही प्राप्त होते हैं। देवता भोगयोनि हैं। वे नया कर्म नहीं कर सकते। अतः वे नया कर्म करके ऊँचा उठनेके लिये मर्त्यलोकमें मनुष्यजन्म चाहते हैं। जैसे राजस्थानके लोग धन कमानेके लिये दूसरे नगरोंमें तथा विदेशमें जाते हैं, ऐसे ही देवता ऊँचा पद प्राप्त करनेके लिये मृत्युलोकमें आना चाहते हैं।

प्रश्न—मनुष्यजन्म देवताओंको भी दुर्लभ क्यों है ?

उत्तर—मनुष्यशरीरमें नये कर्म करनेका, नयी उन्नति करनेका अधिकार है। इसमें मुक्ति, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। परंतु देवता भोगपरायण रहते हैं और केवल पुण्यकर्मोंका फल भोगते हैं। उनको नये कर्म करनेका अधिकार नहीं है। अतः मनुष्यशरीर देवताओंको भी दुर्लभ है।

प्रश्न—भगवान्‌के दर्शन करनेपर भी देवता मुक्त क्यों नहीं होते ?

उत्तर—मुक्ति भावके अधीन है, क्रियाके अधीन नहीं। देवता केवल भोग भोगनेके लिये ही स्वर्गादि लोकोंमें गये हैं। अतः भोगपरायणताके कारण उनमें मुक्तिकी इच्छा नहीं होती। इसके सिवा देवलोकमें मुक्तिका अधिकार भी नहीं है।

भगवान्‌के दो रूप होते हैं—सच्चिदानन्दमयरूप और देवरूप। प्रत्येक ब्रह्माण्डके जो अलग-अलग ब्रह्मा, विष्णु और महेश होते हैं, वह भगवान्‌का देवरूप है और जो सबका मालिक, सर्वोपरि परब्रह्म परमात्मा है, वह भगवान्‌का सच्चिदानन्दमयरूप है। इस सच्चिदानन्दमयरूपको ही शास्त्रोंमें महाविष्णु आदि नामोंसे कहा गया है। भगवान्‌को भक्तिके वशमें होकर भक्तोंके सामने तो सच्चिदानन्दमयरूपसे प्रकट होना पड़ता है, पर देवताओंके सामने वे देवरूपसे ही प्रकट

होते हैं। कारण कि देवता केवल अपनी रक्षाके लिये ही भगवान्‌को पुकारते हैं, मुक्त होनेके लिये नहीं।

मनु और शतरूपा तप कर रहे थे तो ब्रह्माण्डके ब्रह्मा, विष्णु और महेश कई बार उनके पास आये, पर उन्होंने अपना तप नहीं छोड़ा। अन्तमें जब परब्रह्म परमात्मा उनके पास आये, तब उन्होंने अपना तप छोड़ा और उनसे वरदान माँगा।

वास्तवमें भगवान्‌का सच्चिदानन्दमयरूप और देवरूप—दोनों एक ही हैं। मनु-शतरूपा भगवान्‌के सच्चिदानन्दमयरूप (महाविष्णु) को देखना चाहते थे, इसलिये भगवान् उनके सामने उसी रूपसे आये, अन्यथा ब्रह्माण्डके विष्णु तथा महाविष्णुमें कोई भेद नहीं है। अवतारके समय भी भगवान् सबको सच्चिदानन्दमयरूपसे अर्थात् भगवत्स्वरूपसे नहीं दीखते—**'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः'** (गीता ७। २५)। अर्जुनको भगवान् जैसे दीखते थे, वैसे दुर्योधनको नहीं दीखते थे। परशुरामको भगवान् राम पहले राजकुमारके रूपमें दीखते थे, पीछे भगवत्स्वरूपसे दीखने लगे! तात्पर्य है कि भगवान् एक होते हुए भी दूसरेके भावके अनुसार अलग-अलग रूपसे प्रकट होते हैं।

प्रश्न—भक्तोंके सामने भगवान् किस रूपसे आते हैं?

उत्तर—सामान्य भक्त (आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी आदि) के सामने भगवान् देवरूपसे आते हैं और विशेष भक्ति-(अनन्यभाव-) वाले भक्तके सामने भगवान् सच्चिदानन्दमय (महाविष्णु आदि) रूपसे आते हैं। परंतु भक्त उन दोनों रूपोंको अलग-अलग नहीं जान सकता। यदि भगवान् जना दें, तभी वह जान सकता है।

वास्तवमें देखा जाय तो दोनों रूपोंमें तत्त्वसे कोई भेद नहीं है, केवल अधिकारमें भेद है। भगवान् देवरूपमें सीमित शक्तिसे प्रकट होते हैं और सच्चिदानन्दमयरूपमें असीम शक्तिसे।

प्रश्न—यज्ञ आदि करनेसे देवताओंकी पुष्टि होती है और यज्ञ आदि न करनेसे वे क्षीण हो जाते हैं— इसका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—जैसे वृक्ष, लता आदिमें स्वाभाविक ही फल-फूल लगते हैं; परन्तु यदि उनको खाद और पानी दिया जाय तो उनमें फल-फूल विशेषतासे लगते हैं। ऐसे ही शास्त्र-विधिके अनुसार देवताओंके लिये यज्ञादि अनुष्ठान करनेसे देवताओंको खुराक मिलती है, जिससे वे पुष्ट होते हैं और उनको बल मिलता है, सुख मिलता है। परंतु यज्ञ आदि न करनेसे उनको विशेष बल, शक्ति नहीं मिलती।

यज्ञ आदि न करनेसे मर्त्यदेवताओंकी शक्ति तो क्षीण होती ही है, आजानदेवताओंमें जो कार्य करनेकी क्षमता होती है, उसमें भी कमी आ जाती है। उस कमीके कारण ही संसारमें अनावृष्टि, अतिवृष्टि आदि उपद्रव होने लगते हैं।

प्रश्न—क्या देवोपासना सबके लिये आवश्यक है?

उत्तर—जैसे प्राणिमात्रको ईश्वरका स्वरूप मानकर आदर-सत्कार करना चाहिये, ऐसे ही देवताओंको ईश्वरका स्वरूप मानकर उनकी तिथिके अनुसार उनका पूजन करना गृहस्थ और वानप्रस्थके लिये आवश्यक है। परन्तु उनका पूजन कोई भी कामना न रखकर, केवल भगवान् और शास्त्रकी आज्ञा मानकर ही किया जाना चाहिये।

प्रश्न—देवोपासना करनेसे क्या लाभ है?

उत्तर—निष्कामभावसे देवताओंका पूजन करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और वे देवता यज्ञ (कर्तव्यकर्म) की सामग्री भी देते हैं। उस सामग्रीका सदुपयोग करके मनुष्य मनोऽभिलषित वस्तुकी प्राप्ति कर सकते हैं।*

प्रश्न—क्या देवोपासना करनेसे मुक्ति हो सकती है?

उत्तर—देवताओंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर निष्कामभावसे उपासना करनेसे मुक्ति हो सकती है। मृत्यु-लोकमें भी पुत्र माता-पिताको, पत्नी पतिको ईश्वर मानकर उनकी निष्कामभावसे सेवा करे तो भगवत्प्राप्ति हो सकती है। यदि सम्पूर्ण प्राणियोंमें ईश्वरभाव करके निष्कामभावसे केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे उनकी सेवा, आदर, पूजन किया जाय तो उससे भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है।†

अगर सकामभावसे देवोपासना की जाय तो उससे मुक्ति

---

* काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः। क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ (गीता ४। १२)

'कर्मोंकी सिद्धि (फल) चाहनेवाले मनुष्य देवताओंकी उपासना किया करते हैं; क्योंकि इस मनुष्यलोकमें कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि जल्दी मिल जाती है।'

† यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ (गीता १८। ४६)

'जिस परमात्मासे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्मके द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

नहीं होगी। हाँ, देवोपासनासे कामनाओंकी पूर्ति हो जायगी और उसका अधिक-से-अधिक यह फल होगा कि उन देवताओंके लोकोंकी प्राप्ति हो जायगी—**'यान्ति देवव्रता देवान्'** (गीता ९। २५)।

मुक्तिका उपाय

पुराण भारतीय संस्कृतिकी अमूल्य निधि हैं। पुराणोंमें मानव-जीवनको ऊँचा उठानेवाली अनेक सरल, सरस, सुन्दर और विचित्र-विचित्र कथाएँ भरी पड़ी हैं। उन कथाओंका तात्पर्य राग-द्वेषरहित होकर अपने कर्तव्यका पालन करने और भगवान्‌को प्राप्त करनेमें ही है। पद्मपुराणके भूमिखण्डमें ऐसी ही एक कथा आती है।

अमरकण्टक तीर्थमें सोमशर्मा नामके एक ब्राह्मण रहते थे। उनकी पत्नीका नाम था सुमना। वह बड़ी साध्वी और पतिव्रता थी। उनके कोई पुत्र नहीं था और धनका भी उनके पास अभाव था। पुत्र और धनका अभाव होनेके कारण सोमशर्मा बहुत दुःखी रहने लगे। एक दिन अपने पतिको अत्यन्त चिन्तित देखकर सुमनाने कहा कि 'प्राणनाथ! आप चिन्ताको छोड़ दीजिये; क्योंकि चिन्ताके समान दूसरा कोई दुःख नहीं है। स्त्री, पुत्र और धनकी चिन्ता तो कभी करनी ही नहीं चाहिये। इस संसारमें ऋणानुबन्धसे अर्थात् किसीका ऋण चुकानेके लिये और किसीसे ऋण वसूल करनेके लिये ही जीवका जन्म होता है। माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र, सेवक आदि सब लोग अपने-अपने ऋणानुबन्धसे ही इस पृथ्वीपर जन्म लेकर हमें प्राप्त होते हैं। केवल मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी ऋणानुबन्धसे ही प्राप्त होते हैं।'

'संसारमें शत्रु, मित्र और उदासीन— ऐसे तीन प्रकारके पुत्र होते हैं। शत्रु-स्वभाववाले पुत्रके दो भेद हैं। पहला, किसीने पूर्वजन्ममें दूसरेसे ऋण लिया, पर उसको चुकाया नहीं तो दूसरे जन्ममें ऋण देनेवाला उस ऋणीका पुत्र बनता है। दूसरा, किसीने पूर्वजन्ममें दूसरेके पास अपनी धरोहर रखी, पर जब धरोहर देनेका समय आया, तब उसने धरोहर लौटायी नहीं, हड़प ली तो दूसरे जन्ममें धरोहरका स्वामी उस धरोहर हड़पनेवालेका पुत्र बनता है। ये दोनों ही प्रकारके पुत्र बचपनसे माता-पिताके साथ वैर रखते हैं और उसके साथ शत्रुकी तरह बर्ताव करते हैं। बड़े होनेपर वे माता-पिताकी सम्पत्तिको व्यर्थ ही नष्ट कर देते हैं। जब उनका विवाह हो जाता है, तब वे माता-पितासे कहते हैं कि यह घर, खेत आदि सब मेरा है, तुमलोग मुझे मना करनेवाले कौन हो? इस तरह वे कई प्रकारसे माता-पिताको कष्ट देते हैं। माता-पिताकी मृत्युके बाद वे उनके लिये श्राद्ध-तर्पण आदि भी नहीं करते। मित्र-स्वभाववाला पुत्र बचपनसे ही माता-पिताका हितैषी होता है। वह माता-पिताको सदा संतुष्ट रखता है और स्नेहसे, मीठी वाणीसे उनको सदा प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करता है। माता-पिताकी मृत्युके बाद वह उनके लिये श्राद्ध-तर्पण, तीर्थयात्रा, दान आदि भी करता है। उदासीन-स्वभाववाला पुत्र सदा उदासीनभावसे रहता है। वह न कुछ देता है और न कुछ लेता है। वह न रुष्ट होता है, न संतुष्ट; न सुख देता है, न दुःख*। इस प्रकार जैसे पुत्र तीन प्रकारके होते हैं, ऐसे ही माता, पिता, पत्नी, पुत्र, भाई आदि और नौकर, पड़ोसी, मित्र तथा गाय, भैंस, घोड़े आदि भी तीन प्रकारके (शत्रु, मित्र और उदासीन) होते हैं। इन सबके साथ हमारा सम्बन्ध ऋणानुबन्धसे ही होता है।'

'प्रियतम! जिस मनुष्यको जितना धन मिलना है, उसको बिना परिश्रम किये ही उतना धन मिल जाता है और जब धन जानेका समय आता है, तब कितनी ही रक्षा करनेपर भी वह चला जाता है—ऐसा समझकर आपको धनकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। वास्तवमें धर्मके पालनसे ही पुत्र और धनकी प्राप्ति होती है। धर्मका आचरण करनेवाले मनुष्य ही संसारमें सुख पाते हैं। इसलिये आप धर्मका अनुष्ठान करें। जो मनुष्य मन वाणी, और शरीरसे धर्मका आचरण करता है, उसके लिये संसारमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रहती।'

ऐसा कहनेके बाद सुमनाने विस्तारसे धर्मका स्वरूप तथा उसके अङ्गोंका वर्णन किया। उसको सुनकर सोमशर्माने प्रश्न किया कि 'तुम्हें इन सब गहरी बातोंका ज्ञान कैसे हुआ?' सुमनाने कहा—'आप जानते ही हैं कि मेरे पिताजी धर्मात्मा और शास्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाले थे, जिससे साधुलोग भी उनका आदर किया करते थे। वे खुद भी अच्छे-अच्छे सन्तोंके पास जाया करते तथा सत्सङ्ग किया करते थे। मैं उनकी एक ही बेटी होनेके कारण वे मेरेपर बड़ा स्नेह रखा करते तथा अपने साथ मुझे भी सत्संगमें ले जाया करते थे। इस प्रकार सत्सङ्गके प्रभावसे मुझे भी धर्मके तत्त्वका ज्ञान हो गया।'

* कोई व्यक्ति किसी सन्तकी खूब लगनसे सेवा करता है। अन्तसमयमें किसी कारणसे सन्तको उस सेवककी याद आ जाय तो वह उस सेवकके घरमें पुत्ररूपसे जन्म लेता है और उदासीनभावसे रहता है।

यह सब सुनकर सोमशर्माने पुत्रकी प्राप्तिका उपाय पूछा। सुमनाने कहा कि 'आप महामुनि वसिष्ठजीके पास जायँ और उनसे प्रार्थना करें। उनकी कृपासे आपको गुणवान् पुत्रकी प्राप्ति हो सकती है।' पत्नीके ऐसा कहनेपर सोमशर्मा वसिष्ठजीके पास गये। उन्होंने वसिष्ठजीसे पूछा कि 'किस पापके कारण मुझे पुत्र और धनके अभावका कष्ट भोगना पड़ रहा है ?' वसिष्ठजीने कहा—'पूर्वजन्ममें तुम बड़े लोभी थे तथा दूसरोंके साथ सदा द्वेष रखते थे। तुमने कभी तीर्थयात्रा, देवपूजन, दान आदि शुभकर्म नहीं किये। श्राद्धका दिन आनेपर तुम घरसे बाहर चले जाते थे। धन ही तुम्हारा सब कुछ था। तुमने धर्मको छोड़कर धनका ही आश्रय ले रखा था। तुम रात-दिन धनकी ही चिन्तामें लगे रहते थे। तुम्हें अरबों-खरबों स्वर्णमुद्राएँ प्राप्त हो गयीं, फिर भी तुम्हारी तृष्णा कम नहीं हुई, प्रत्युत बढ़ती ही रही। तुमने जीवनमें जितना धन कमाया, वह सब जमीनमें गाड़ दिया। स्त्री और पुत्र पूछते ही रह गये; किंतु तुमने उनको न तो धन दिया और न धनका पता ही बताया। धनके लोभमें आकर तुमने पुत्रका स्नेह भी छोड़ दिया। इन्हीं कर्मोंके कारण तुम इस जन्ममें दरिद्र और पुत्रहीन हुए हो। हाँ, एक बार तुमने घरपर अतिथिरूपसे आये एक विष्णुभक्त और धर्मात्मा ब्राह्मणकी प्रसन्नतापूर्वक सेवा की। उनके साथ तुमने अपनी स्त्रीसहित एकादशीव्रत रखा और भगवान् विष्णुका पूजन भी किया। इस कारण तुम्हें उत्तम ब्राह्मण-वंशमें जन्म मिला है। विप्रवर ! उत्तम स्त्री, पुत्र, कुल, राज्य, सुख, मोक्ष आदि दुर्लभ वस्तुओंकी प्राप्ति भगवान् विष्णुकी कृपासे ही होती है। अतः तुम भगवान् विष्णुकी ही शरणमें जाओ और उन्हींका भजन करो।'

वसिष्ठजीके द्वारा इस प्रकार समझाये जानेपर सोमशर्मा अपनी स्त्री सुमनाके साथ बड़ी तत्परतासे भगवान्के भजनमें लग गये। उठते, बैठते, चलते, सोते आदि सब समयमें उनकी दृष्टि भगवान्की तरफ ही रहने लगी। बड़े-बड़े विघ्न आनेपर भी वे अपने साधनसे विचलित नहीं हुए। इस प्रकार उनकी लगनको देखकर भगवान् उनके सामने प्रकट हो गये। भगवान्के वरदानसे उनको मनुष्यलोकके उत्तम भोगोंकी और भगवद्भक्त तथा धर्मात्मा पुत्रकी प्राप्ति हो गयी।

सोमशर्माके पुत्रका नाम सुव्रत था। सुव्रत बचपनसे ही भगवान्का अनन्य भक्त था। खेल खेलते समय भी उसका मन भगवान् विष्णुके ध्यानमें लगा रहता था। जब माता सुमना उससे कहती कि 'बेटा ! तुझे भूख लगी होगी, कुछ खा ले' तब वह कहता कि 'माँ भगवान्का ध्यान महान् अमृतके समान है, मैं तो उसीसे तृप्त रहता हूँ !' जब उसके सामने मिठाई आती तो वह उसको भगवान्के ही अर्पण कर देता और कहता कि 'इस अन्नसे भगवान् तृप्त हों।' जब वह सोने लगता, तब भगवान्का चिन्तन करते हुए कहता कि 'मैं योगनिद्रापरायण भगवान् कृष्णकी शरण लेता हूँ।' इस प्रकार भोजन करते, वस्त्र पहनते, बैठते और सोते समय भी वह भगवान्के चिन्तनमें लगा रहता और सब वस्तुओंको भगवान्के अर्पण करता रहता। युवावस्था आनेपर भी वह भोगोंमें आसक्त नहीं हुआ, प्रत्युत भोगोंका त्याग करके सर्वथा भगवान्के भजनमें ही लग गया। उसकी ऐसी भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु उसके सामने प्रकट हो गये। भगवान्ने उससे वर माँगनेके लिये कहा तो वह बोला—'श्रीकृष्ण ! अगर आप मेरेपर प्रसन्न हैं तो मेरे माता-पिताको सशरीर अपने परमधाममें पहुँचा दें और मेरे साथ मेरी पत्नीको भी अपने लोकमें ले चलें।' भगवान्ने सुव्रतकी भक्तिसे संतुष्ट होकर उसको उत्तम वरदान दे दिया। इस प्रकार पुत्रकी भक्तिके प्रभावसे सोमशर्मा और सुमना भी भगवद्धामको प्राप्त हो गये।

इस कथामें विशेष बात यह आयी है कि संसारमें किसीका ऋण चुकानेके लिये और किसीसे ऋण वसूल करनेके लिये ही जन्म होता है; क्योंकि जीवने अनेक लोगोंसे लिया है और अनेक लोगोंको दिया है। लेन-देनका यह व्यवहार अनेक जन्मोंसे चला आ रहा है और इसको बंद किये बिना जन्म-मरणसे छुटकारा नहीं मिल सकता।

संसारमें जिनसे हमारा सम्बन्ध होता है, वे माता, पिता, स्त्री, पुत्र तथा पशु-पक्षी आदि सब लेन-देनके लिये ही आये हैं। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह उनमें मोह-ममता न करके अपने कर्तव्यका पालन करे अर्थात् उनकी सेवा करे, उन्हें यथाशक्ति सुख पहुँचाये। यहाँ यह शंका हो सकती है कि अगर हम दूसरेके साथ शत्रुताका बर्ताव करते हैं तो इसका दोष हमें क्यों लगता है; क्योंकि हम तो ऐसा व्यवहार पूर्वजन्मके ऋणानुबन्धसे ही करते हैं ? इसका समाधान यह है कि मनुष्यशरीर विवेकप्रधान है। अतः अपने विवेकको महत्त्व देकर हमारे साथ बुरा व्यवहार करनेवालेको हम माफ कर सकते हैं और बदलेमें उससे अच्छा व्यवहार कर सकते हैं*। मनुष्यशरीर बदला लेनेके लिये नहीं है, प्रत्युत जन्म-मरणसे

* देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥
(श्रीमद्भा० ११।५।४१)

सदाके लिये मुक्त होनेके लिये है। अगर हम पूर्वजन्मके ऋणानुबन्धसे लेन-देनका व्यवहार करते रहेंगे तो हम कभी जन्म-मरणसे मुक्त हो ही नहीं सकेंगे। लेन-देनके इस व्यवहारको बंद करनेका उपाय है—निःस्वार्थभावसे दूसरोंके हितके लिये कर्म करना। दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे पुराना ऋण समाप्त हो जाता है और बदलेमें कुछ न चाहनेसे नया ऋण उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार ऋणसे मुक्त होनेपर मनुष्य जन्म-मरणसे छूट जाता है।

अगर मनुष्य भक्त सुव्रतकी तरह सब प्रकारसे भगवान्‌के ही भजनमें लग जाय तो उसके सभी ऋण समाप्त हो जाते हैं अर्थात् वह किसीका भी ऋणी नहीं रहता।* भगवद्भजनके प्रभावसे वह सभी ऋणोंसे मुक्त होकर सदाके लिये जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाता है और भगवान्‌के परमधामको प्राप्त हो जाता है।

★

* उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥ (मानस ५।४१।४)

गीतामें चरित्र-निर्माण

(भगवान्‌की सम्मुखता)

मनुष्यशरीर केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। इसलिये एक परमात्मप्राप्तिका निश्चय हो जाय तो मनुष्य परमात्माके सम्मुख हो जाता है। परमात्माके सम्मुख होनेसे उसमें सद्‌गुण-सदाचार स्वतः आने लगते हैं, जिससे उसके चरित्रका ठीक निर्माण होने लगता है। परन्तु जब मनुष्य परमात्मप्राप्तिको भूलकर सांसारिक पदार्थोंका संग्रह करने और भोग भोगनेमें लग जाता है, तब उसका चरित्र गिर जाता है। जिसका चरित्र नीचे गिर जाता है, वह मनुष्य कहलानेके योग्य भी नहीं रहता।

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद॥

(मानस ७।३९)

भगवद्गीताका पूरा उपदेश चरित्र-निर्माणके लिये ही है। अर्जुनका भाव पहले युद्धका ही था, इसलिये उन्होंने भगवान्‌को युद्धके लिये आमन्त्रित करके उनको अपने 'सारथि' के रूपमें स्वीकार किया और युद्धक्षेत्रमें युद्ध करनेके लिये तैयार भी हो गये। परन्तु भगवान्‌का विचार अर्जुनका उद्धार करनेका था। अर्जुनने कहा कि दोनों सेनाओंके बीचमें रथको खड़ा कीजिये; मैं देखूँ कि मेरे साथ दो हाथ करनेवाला कौन है? भगवान्‌ने वैसे ही दोनों सेनाओंके बीच रथको खड़ा करके कहा कि इन कुरुवंशियोंको देख (१।२१—२५)। कुरुवंशियोंको देखनेकी बात सुननेसे अर्जुनको शरीरकी प्रधानतावाला अपना कुटुम्ब याद आ गया। ये सब मर जायँगे—इस विचारसे वे घबरा गये और अपने कर्तव्यसे विमुख होकर बोले कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। कर्तव्यसे विमुख होना ही चरित्र-निर्माणमें बाधक होता है। भगवान्‌ने कहा—अरे! क्या करता है तू? युद्ध करना तो तेरा कर्तव्य है। इसलिये मोह और कायरताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा (२।२-३)।

मनुष्यको कर्तव्य-पथपर प्रवृत्त करनेके लिये ही भगवद्गीताका आविर्भाव हुआ है। अधिकार-त्यागपूर्वक अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेसे ही चरित्रका निर्माण होता है और कर्तव्यसे च्युत होनेसे ही चरित्रका नाश होता है। भगवान् **'न त्वेवाहं जातु नासं** ······'(२।१२)—यहाँसे उपदेश आरम्भ करते हैं और पहले देह और देही, विनाशी और अविनाशीका विवेचन करते हैं। तात्पर्य यह है कि विनाशी वस्तुकी ओर ध्यान न देकर अविनाशीकी ओर ध्यान दिया जाय। ऐसा होनेसे ही चरित्र-निर्माण होता है।

एक मार्मिक बात है कि अविनाशीका लक्ष्य होनेसे विनाशी वस्तुएँ स्वतः आयेंगी। उनके लिये दुःख नहीं पाना पड़ेगा। परन्तु विनाशीका लक्ष्य होनेसे अविनाशी तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी और विनाशी वस्तुओंके लिये भी चिन्ता करनी पड़ेगी एवं परिश्रम होगा। आगे चलकर भगवान्‌ने कहा कि यदि स्वधर्मको देखें तो भी क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्ध करनेमें ही लाभ है (२।३१)। तात्पर्य है कि अपने कर्तव्यका पालन करनेसे ही मनुष्यकी उन्नति होती है और अकर्तव्यकी ओर जानेसे ही पतन होता है। कर्तव्य-पालनमें कामना, ममता और आसक्तिका त्याग मुख्य है। इनके त्यागका यह अभिप्राय है कि जडका उद्देश्य नहीं रखना है। शरीर आदि वस्तुएँ पहले हमारी नहीं थीं, पीछे हमारी नहीं रहेंगी और अब भी प्रतिक्षण हमसे वियुक्त हो रही हैं। ऐसी जागृति रहेगी तो जडका उद्देश्य नहीं रहेगा और स्वतः इन्द्रियोंका, अन्तःकरणका संयम होगा। संयममें ही चरित्र-निर्माण होता है। असंयमसे प्रवृत्तियाँ उच्छृङ्खल हो जाती हैं

एवं उनसे चरित्र गिर जाता है।

तीसरे अध्यायके आरम्भमें अर्जुन पूछते हैं कि मुझको घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? भगवान् बताते हैं—'ऊपरसे घोर कर्म दीखनेपर भी स्वार्थ, ममता, अहंता, कामनाका त्याग करके अपने कर्तव्यका पालन किया जाय तो वह घोरपना नहीं रहता, केवल क्रिया रहती है। क्रिया तो वर्ण और आश्रमके अनुसार तरह-तरहकी होती है, पर जो घोरपना, तीक्ष्णपना, मलिनता, पतन करनेकी बात होती है, वह कामनाके कारण होती है। कामना रख करके पारमार्थिक ग्रन्थ पढ़ें, दूसरोंको सुनायें तो (लक्ष्य पैसा आदि रहनेसे) आसुरी-सम्पत्तिसे, पापोंसे बच नहीं सकते; कहने-सुननेपर भी सच्चरित्रता आ नहीं सकती क्योंकि कामनासे ही सब पाप होते हैं (३।३७)। परन्तु परमात्माका लक्ष्य हो तो लौकिक कर्तव्य-कर्म करते हुए भी स्वतः सच्चरित्रता आ जाती है। इसलिये तीसरे अध्यायमें भगवान्ने कामनाका त्याग कर कर्तव्य-कर्म करनेपर बहुत जोर दिया है। ऐसे ही चौथे अध्यायमें बताया कि जब अपनी कामना नहीं रहती, कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता, तब सब कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् कर्मोंको करते हुए भी मनुष्य बँधता नहीं; क्योंकि उसका उद्देश्य परमात्माकी ओर चलनेका है। पाँचवें अध्यायमें भी अपने कर्तव्यका पालन करनेकी बात बतायी—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

(५।१२)

'जो युक्त (योगी) होता है, वह कर्मफलका त्याग करके नैष्ठिकी, सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है और जो अयुक्त होता है अर्थात् जिसके मन-इन्द्रियाँ वशमें नहीं होते, वह कामनाके कारण फलमें आसक्त होकर बँध जाता है।' फल (पदार्थ) तो उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है, पर उसमें जो कामना है, वही बन्धनका कारण है। कामनासे चरित्र गिरता है। चरित्र गिरनेसे अशान्ति पैदा हो जाती है और चरित्र-निर्माणसे शान्ति मिलती है। मनमें दुर्भाव उत्पन्न होते ही अशान्ति हो जाती है और सद्भाव होते ही शान्ति होने लगती है।

यदि ध्यान दे तो यह प्रत्येक मनुष्यका अनुभव है कि वह जितना-जितना नाशवान्की कामनाका त्याग करता है, उतनी-उतनी शान्ति, आनन्द, समता, सद्गुण उसमें आते रहते हैं और जितनी-जितनी नाशवान् वस्तुओंकी कामना करता है, उतनी-उतनी अशान्ति, विषमता, दुःख, सन्ताप, जलन, दुर्गुण आते हैं।

छठे अध्यायमें भी परमात्मामें तत्परतासे लगनेकी बात कही है। वे परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं। उन परमात्माको जो सब प्राणियोंमें देखता है और सब प्राणियोंको परमात्माके अन्तर्गत देखता है, उससे परमात्मा अदृश्य नहीं होते और वह परमात्मासे अदृश्य नहीं होता—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६।३०)

जो मनुष्य दूसरोंके दुःख-सुखको अपने शरीरके दुःख-सुखके समान समझता है, वह परमयोगी होता है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३२)

किसीको भी दुःख न पहुँचे—ऐसा जिसका भाव है, वह परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है। सबका दुःख दूर कैसे हो ? सभी सुखी कैसे हो जायँ ? ऐसे भाववालेका चरित्र सबसे ऊँचा होता है। आगे मनको वशमें करनेकी बात आयी तो अभ्यास और वैराग्यको बताया (६।३५) अर्थात् वहाँ भी भगवान्की ओर लगने और संसारसे हटनेकी बात कही। परलोकमें गतिके विषयमें भी यही बात है। जो परमात्माकी ओर चलता है, उसका साधन बीचमें ही छूट जाय और वह मर जाय तो उसका भी उद्धार ही होता है, दुर्गति नहीं होती (६।४०)। कल्याणकारी काम करनेवालेका काम अधूरा रहनेपर भी उसको लाभ ही होता है। जो भगवान्में ही मन और बुद्धिको लगा देता है, वह योगियोंमें श्रेष्ठ योगी माना गया है (६।४७)। भगवान्की ओर लगना ही श्रेष्ठता है।

जो भक्ति नहीं करते, उनको भगवान् दुष्कृती बताते हैं (७।१५) और जो भक्ति करते हैं, उनको सुकृती बताते हैं (७।१६)। तात्पर्य है कि परमात्माकी तरफ चलनेवाले सुकृती और संसारकी ओर चलनेवाले दुष्कृती हैं। आगे बताया कि जिनके कर्म पवित्र हैं, जिनका चरित्र बढ़िया है, वे दृढ़व्रत होकर भगवान्का भजन करते हैं (७।२८)।

भगवान्की ओर चलनेमें स्मृतिकी बात मुख्य है। आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर भगवान्ने कहा कि जो अन्त समयमें मेरा स्मरण करते हुए जाता है, वह मुझको प्राप्त होता है—इसमें संदेह नहीं (८।५)। कारण कि मनुष्य जिस-जिस भावको स्मरण करते हुए शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है (८।६)। इसलिये भगवान् कहते हैं कि तू सब समयमें मेरा स्मरण कर—'**सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर**' (८।७)। फिर भगवान्ने विशेष बात बतायी कि

जो निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उसके लिये मैं सुलभ हूँ—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८। १४)

भगवान्‌का स्मरण करना दैवीसम्पत्तिका, सच्चरित्रताका वास्तविक मूल है। स्मरण करनेका तात्पर्य है— भगवान्‌के साथ अपना जो वास्तविक सम्बन्ध है, उसको स्मरण करना कि मेरा तो भगवान्‌के साथ ही सम्बन्ध है, संसारके साथ सम्बन्ध नहीं है। संसारके साथ सम्बन्ध केवल माना हुआ है, इसलिये यह सम्बन्ध टिकता नहीं। प्रत्यक्ष देखते हैं कि इस जन्ममें जो सम्बन्धी हैं, वे पहले जन्ममें नहीं थे और आगेके जन्ममें भी नहीं रहेंगे। अभी बाल्यावस्थामें भी जो दशा थी, वह अभी नहीं रही और जो अभी है, वह आगे नहीं रहेगी। इस प्रकार संसार तो निरन्तर बदल रहा है, पर परमात्मा वे ही हैं और 'मैं' (स्वयं) भी वही हूँ। इसलिये परमात्माके साथ मेरा सम्बन्ध नित्य है। इस बातकी याद रहना ही स्मृति है। चिन्तन तो संसारका भी हो सकता है, पर स्मृति भगवान्‌की ही होती है। ऐसी स्मृति रहनेसे सच्चरित्रता स्वतः आती रहती है।

जो केवल भगवान्‌की ओर चलता है, वह सबसे श्रेष्ठ हो जाता है। वेद, यज्ञ, तप, दान, तीर्थ, व्रत आदिसे जो लाभ होता है, उससे अधिक लाभ भगवान्‌का उद्देश्य रखकर भगवान्‌की ओर चलनेवालेको होता है (८। २८)। इसलिये भगवान्‌की तरफ चलनेको सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी बताया गया है (९। २)। भगवान् अपने-आपको इतना सुगम बताते हैं कि 'जो भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मेरे अर्पण कर देता है, उसका मैं भोजन कर लेता हूँ' (९। २६)। 'इसलिये चलना-फिरना, खाना-पीना, सोना-जगना आदि सब कुछ मेरे अर्पण कर दे तो सब पुण्यों और पापोंसे मुक्त होकर मुझको प्राप्त हो जायगा' (९। २७-२८)।

मनुष्य दुराचारी है या सदाचारी है—इसकी कोई चिन्ता नहीं। खास बात है कि वह भगवान्‌में लग जाय। भगवान्‌में लगनेपर उसका दुराचार टिक ही नहीं सकता। वह बहुत शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शाश्वती शान्तिको प्राप्त हो जाता है (९। ३०-३१)। 'दुराचारी, पापयोनि (पशु आदि), स्त्री, वैश्य, शूद्र, क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि किसी जाति, वर्ण, आश्रम, देश आदिका कोई क्यों न हो, भगवान्‌में लग जाय तो उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है' (९। ३२-३३)। जितनी जातियाँ, वर्ण आदि हैं, उनमें बाहरसे तो प्रकृतिकी भिन्नता है, पर भीतरसे सब परमात्माके अंश हैं। इसलिये संसारके व्यवहारमें तो अपने वर्ण आदिके अनुसार चलनेकी मुख्यता है, पर पारमार्थिक मार्गमें वर्ण आदिकी मुख्यता नहीं है; क्योंकि परमार्थरूपसे (परमात्माका अंश होनेसे) सबका स्वरूप शुद्ध है और सबका परमात्मापर समानरूपसे अधिकार है। भगवान् कहते हैं कि 'मेरा ही भक्त बन, मुझमें ही मनवाला हो, मेरा ही पूजन कर, मेरेको ही नमस्कार कर' (९। ३४)। तात्पर्य है कि केवल मेरी तरफ लग जा।

दसवें अध्यायमें अर्जुनके द्वारा प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने अपनी विभूतियों और योगशक्तिका वर्णन किया। उसमें सार बात यह कही कि 'मैं सब संसारमें व्यापक हूँ। जहाँ-जहाँ तुम्हें विशेषता दीखे, वहाँ-वहाँ मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान' (१०। ४१)। विशेषता तो मेरे कारणसे ही है। तात्पर्य है कि जहाँ जो कुछ विशेषता, अधिकता, विलक्षणता दीखे, वहाँ भी भगवान्‌की ही तरफ वृत्ति जानी चाहिये। फिर कहते हैं कि 'तुझे बहुत जाननेसे क्या, मैं सम्पूर्ण संसारको एक अंशसे व्याप्त करके स्थित हूँ' (१०। ४२)। ऐसी बात सुनकर अर्जुनने, जिसके एक अंशमें सब संसार है, वह विश्वरूप देखना चाहा। उसे देखनेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्य चक्षु दिये।* विश्वरूप देखकर अर्जुन चकरा गये, भयभीत हो गये, मोहित हो गये। तब भगवान्‌ने कहा कि यह तेरी मूर्खता है। मैं तो वही हूँ। फिर तू भयभीत क्यों होता है?

बारहवें अध्यायमें अर्जुनने पूछा कि 'जो ज्ञानमार्गसे चलते हैं और जो भक्तिमार्गसे चलते हैं, उन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ हैं?' भगवान्‌ने भक्तिमार्गसे चलनेवालोंको श्रेष्ठ बताया (१२। २) ज्ञानमार्गमें तो स्वयं (अपने बलपर) चलते हैं, पर भक्तिमार्गमें भगवान्‌के आश्रित हो जाते हैं। ज्ञानमार्गमें तो दैवीसम्पत्तिके गुणोंका, विवेक-वैराग्य आदिका उपार्जन करना

* भगवान्‌ने अर्जुनको विश्वरूप दिव्यदृष्टिसे अपने शरीरके एक अंशमें दिखाया है, ज्ञानदृष्टिसे समझाया नहीं है। इस विषयमें भगवान्, अर्जुन और संजय—तीनोंके वचन प्रमाण हैं; जैसे—भगवान् कहते हैं—'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे गुडाकेश ……' (११। ७); अर्जुन कहते हैं—'पश्यामि देवांस्तव देव देहे' (११। १५), और संजय कहते हैं—'तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा। अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे ………' (११। १३)।

पड़ता है, पर भक्तिमार्गमें प्रभुके चरणोंकी शरण होनेपर दैवीसम्पत्तिके सद्गुण-सदाचार स्वतः स्वाभाविक आते हैं। ऐसे शरणागत भक्तोंका भगवान् बहुत जल्दी उद्धार करते हैं (१२।७)। इसलिये भगवान् कहते हैं कि 'तू अपने मन-बुद्धि मुझको ही दे दे, मेरे ही परायण हो जा।' ऐसे भगवत्परायण पुरुषके लिये भगवान् कहते हैं कि वह मुझे बहुत प्यारा है। ऐसे तो संसारके सम्पूर्ण जीव भगवान्‌को प्यारे हैं, पर जो भगवान्‌के शरण हो जाते हैं, वे भगवान्‌को बहुत प्यारे होते हैं। केवल भगवत्परायण होनेसे सद्गुण-सदाचार विना कोई प्रयत्न किये अपने-आप आ जाते हैं।

तेरहवें अध्यायमें भगवान् ज्ञानका वर्णन करते हैं तो उसमें अमानित्व आदि सद्गुणोंका वर्णन करते हुए अव्यभिचारिणी भक्तिकी बात कहते हैं—'**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी**।' (१३।१०)। चौदहवें अध्यायमें भी भक्तिकी बात कहते हैं कि 'जो भक्तियोगके द्वारा मुझको भजता है, वह तीनों गुणोंको अतिक्रमण कर जाता है' (१४।२६)। गुणोंके सङ्गसे ही आसुरी सम्पत्ति आती है, जिससे ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होता है।* भगवान्‌की ओर चलनेसे उन गुणोंका अतिक्रमण हो जाता है।

पंद्रहवें अध्यायमें भगवान्‌ने अपना विशेष प्रभाव बताया और कहा कि 'क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी जीव)—इन दोनोंसे उत्तम पुरुष मैं हूँ' (१५।१६—१८)। जो मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वविद् है अर्थात् सब कुछ जाननेवाला है और सर्वभावसे मेरा ही भजन करता है। जो भगवान्‌का भजन करते हैं, उनमें दैवीसम्पत्ति स्वाभाविक प्रकट होती है। इसलिये सोलहवें अध्यायमें भगवान्‌ने दैवीसम्पत्तिका वर्णन किया। परन्तु जो भगवान्‌से विमुख होकर अपने ही शरीरको पुष्ट करना, भोगोंको भोगना और संग्रह करना चाहते हैं, उनमें आसुरी सम्पत्ति आती है। उस आसुरी सम्पत्तिका भगवान्‌ने सोलहवें अध्यायमें बहुत विस्तारसे वर्णन किया। दैवी सम्पत्तिसे मुक्ति होती है (१६।५)। आसुरी सम्पत्तिसे बन्धन होता है (१६।५), चौरासी लाख योनियोंकी प्राप्ति होती है (१६।१९) और नरकोंकी प्राप्ति होती है (१६।२०)।

सत्रहवें अध्यायमें सात्त्विक, राजस और तामस—तीन प्रकारके भावोंका वर्णन किया। इसमें भी देखें तो संसारसे विमुख और परमात्माके सम्मुख होनेवालोंमें ही सात्त्विक भाव होते हैं। वे राजस और तामस भावोंसे ऊँचा उठ जाते हैं। परमात्माके लिये किये हुए यज्ञ, तप, दान आदि कर्म सात्त्विक और मुक्ति देनेवाले हो जाते हैं (१७।२५)। परन्तु संसारके लिये अर्थात् मान, बड़ाई, सुख, आराम आदिके लिये तथा प्रमाद और मूढ़तापूर्वक किये हुए यज्ञ, तप, दान आदि कर्म राजसी-तामसी हो जाते हैं।

अठारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने संन्यास (सांख्ययोग) और त्याग-(कर्मयोग-) का विस्तारसे वर्णन किया। अन्तमें भगवान्‌ने यह निर्णय दिया कि सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर केवल एक मेरी शरणमें आ जा—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८।६६)

संसारके जितने काम हैं, जितनी सिद्धियाँ हैं, जितनी उन्नति है, वे सब-की-सब इस एक ही बात-(शरणागति-) में आ जायँगी। भगवान् कहते हैं कि जितने पाप हैं, दुर्गुण-दुराचार हैं, उनसे मैं मुक्त कर दूँगा। तू चिन्ता मत कर। मेरी कृपासे दैवी सम्पत्ति अपने-आप आ जायगी।

जैसे बालक माँकी गोदीमें रहता है तो उसका स्वाभाविक ही पालन-पोषण एवं वर्धन हो जाता है, ऐसे ही एक प्रभुका आश्रय ले लिया जाय तो सब-के-सब सद्गुण-सदाचार बिना जाने ही आ जायँगे। अपने-आप ही चरित्र-निर्माण हो जायगा।

इस तरह गीताभरमें देखा जाय तो एक ही बात है—परमात्माकी तरफ चलना अर्थात् परमात्माके सम्मुख होना। परमात्माकी ओर चलनेका उद्देश्य ही चरित्र-निर्माणमें हेतु है और संसारकी ओर चलनेका उद्देश्य ही चरित्र गिरनेमें हेतु है। सांसारिक भोग और संग्रहकी इच्छासे ही सब दुर्गुण-दुराचार आते हैं। सबसे अधिक पतन करनेवाली वस्तु है—रुपयोंका महत्त्व और आश्रय। इससे मनुष्यका चरित्र गिर जाता है। चरित्र गिरनेसे उसकी मनुष्योंमें निन्दा होती है, अपमान होता है। चरित्रहीन मनुष्य पशुओं तथा नारकीय जीवोंसे भी नीचा है; क्योंकि पशु और नारकीय जीव तो पहले किये हुए पाप-कर्मोंका फल भोगकर मनुष्यताकी तरफ आ रहे हैं, पर चरित्रहीन मनुष्य पापोंमें लगकर पशुता तथा नरकोंकी तरफ जा रहा है! ऐसे मनुष्यका संग भी पतन करनेवाला है। इसीलिये कहा है—

* दैवी और आसुरी सम्पत्तिके विस्तृत विवेचनके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित गीताकी हिन्दी-टीका 'साधक-संजीवनी' में सोलहवें अध्यायकी व्याख्या देखनी चाहिये।

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥
(मानस ५।४६।४)

अतः अपना चरित्र सुधारनेके लिये भगवान्‌के सम्मुख हो जायँ कि मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं। मैं संसारका नहीं हूँ, संसार मेरा नहीं है।

मनुष्यसे भूल यह होती है कि जो अपने नहीं हैं, उन सांसारिक वस्तुओंको तो अपना मान लेता है और जो वास्तवमें अपने हैं, उन भगवान्‌को अपना नहीं मानता। वास्तवमें देखा जाय तो सदुपयोग करनेके लिये ही सांसारिक वस्तुएँ अपनी हैं और अपने-आपको देनेके लिये ही भगवान् अपने हैं। कारण कि वस्तुएँ संसारकी हैं, इसलिये उन्हें संसारकी सेवामें अर्पित करना है और मनुष्य स्वयं भगवान्‌का है, इसलिये स्वयंको भगवान्‌के अर्पित करना है। न तो संसारसे कुछ लेना है और न भगवान्‌से ही कुछ लेना है। अगर लेना ही है तो केवल भगवान्‌को ही लेना है।

सांसारिक वस्तुओंकी कामनासे संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। कामना ममतासे उत्पन्न होती है अर्थात् शरीर, स्त्री, पुत्र, धन आदिको अपना माननेसे कामना उत्पन्न होती है। अब विचार करें कि जिन शरीर, स्त्री, पुत्र, धन आदिको हम अपना मानते हैं, उनपर हमारा स्वतन्त्र अधिकार है क्या? उनको जितने दिन चाहें, उतने दिन रख सकते हैं क्या? खुद उनके साथ सदा रह सकते हैं क्या? अगर कहा जाय कि नहीं तो फिर उनमें अपनापन छोड़नेमें क्या कठिनता है? उनमें भूलसे माना हुआ अपनापन छोड़नेसे कामना उत्पन्न नहीं होगी। कामना उत्पन्न न होनेसे भगवान्‌में स्वतः अपनापन होगा; क्योंकि वे सदासे अपने हैं और नित्यप्राप्त हैं। भगवान्‌में अपनापन होनेसे सब आचरण और भाव स्वतः शुद्ध हो जायँगे।

शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि पदार्थ सत् हैं या असत् हैं—यह विकल्प तो हो सकता है, पर उनके साथ हमारा सम्बन्ध असत् है—इसमें संदेहकी सम्भावना ही नहीं है। असत्‌को असत् जान लेनेपर असत्-सम्बन्धका त्याग सुगमतापूर्वक हो जाता है और भगवान्‌की सम्मुखता होनेपर भगवान्‌का नित्य सम्बन्ध स्वतः जाग्रत् हो जाता है। फिर मनुष्यमें सच्चरित्रता स्वतः आ जाती है और वह चरित्र-निर्माणका आचार्य बन जाता है अर्थात् उसका चरित्र दूसरोंके लिये आदर्श हो जाता है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(गीता ३।२१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरे लोग भी (उसके आचरणोंको आदर्श मानते हुए) वैसा-वैसा ही आचरण करने लगते हैं; और वह जो प्रमाण देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बर्ताव करने लग जाता है।'

इस चरित्र-निर्माणमें किञ्चिन्मात्र भी परतन्त्रता नहीं है। इसमें सब-के-सब स्वतन्त्र हैं, समर्थ हैं, योग्य हैं, अधिकारी हैं।

गीतोक्त सदाचार

भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर मनुष्यमात्रको सदाचारयुक्त जीवन बनाने तथा दुर्गुण-दुराचारोंका त्याग करनेकी अनेक युक्तियाँ श्रीमद्भगवद्गीतामें बतलायी हैं। वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुरूप विहित कर्तव्य कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हुए भगवान् कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं।'

वस्तुतः मनुष्यके आचरणसे ही उसकी वास्तविक स्थिति जानी जा सकती है। आचरण दो प्रकारके होते हैं— (१) अच्छे आचरण, जिन्हें सदाचार कहते हैं और (२) बुरे आचरण, जिन्हें दुराचार कहते हैं।

सदाचार और सद्गुणोंका परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। सद्गुणसे सदाचार प्रकट होता है और सदाचारसे सद्गुण दृढ़ होते हैं। इसी प्रकार दुर्गुण-दुराचारका भी परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। सद्गुण-सदाचार (सत् होनेसे) प्रकट होते हैं, पैदा नहीं होते। 'प्रकट' वही तत्त्व होता है, जो पहलेसे (अदर्शनरूपसे) रहता है। दुर्गुण-दुराचार मूलमें हैं नहीं, वे केवल सांसारिक कामना और अभिमानसे उत्पन्न होते हैं। दुर्गुण-दुराचार स्वयं मनुष्यने ही उत्पन्न किये हैं। अतः इनको दूर करनेका उत्तरदायित्व भी मनुष्यपर ही है। सद्गुण-सदाचार कुसङ्गके प्रभावसे दब सकते हैं, परंतु नष्ट नहीं हो सकते, जब कि दुर्गुण-दुराचार सत्सङ्गादि सदाचारके पालनसे सर्वथा नष्ट हो सकते हैं। सर्वथा दुर्गुण-दुराचाररहित सभी हो सकते हैं, किंतु कोई भी व्यक्ति सर्वथा सद्गुण-सदाचारसे रहित नहीं हो सकता।

यद्यपि लोकमें ऐसी प्रसिद्धि है कि मनुष्य सदाचारी होनेपर सद्गुणी और दुराचारी होनेपर दुर्गुणी बनता है, किंतु वास्तविकता यह है कि सद्गुणी होनेपर ही व्यक्ति सदाचारी

सद्गुणके पश्चात् दानरूप सदाचार प्रकट होता है। इसी प्रकार पहले चोरपने (दुर्गुण) का भाव अहंता (मैं) में उत्पन्न होनेपर व्यक्ति चोरीरूप दुराचार करता है। अतः मनुष्यको सद्गुणोंका संग्रह और दुर्गुणोंका त्याग दृढ़तासे करना चाहिये। दृढ़ निश्चय होनेपर दुराचारी-से-दुराचारीको भी भगवत्प्राप्तिरूप सदाचारके चरम लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान् घोषणा करते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है।'

तात्पर्य है कि बाहरसे साधु न दीखनेपर भी उसको साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने यह पक्का निश्चय कर लिया है कि अब मेरेको केवल भजन ही करना है। स्वयंका निश्चय होनेके कारण वह किसी प्रकारके प्रलोभनसे अथवा विपत्ति आनेपर भी अपने ध्येयसे विचलित नहीं किया जा सकता।

साधक तभी अपने ध्येय-लक्ष्यसे विचलित होता है, जब वह असत्—संसार और शरीरको 'है' अर्थात् सदा रहनेवाला मान लेता है। असत्की स्वतन्त्र सत्ता न होनेपर भी भूलसे मनुष्यने उसे सत् मान लिया और भोग-संग्रहकी ओर आकृष्ट हो गया। अतः असत्—संसार, शरीर, परिवार, रुपये-पैसे, जमीन, मान, बड़ाईसे विमुख होकर (इन्हें अपना मानकर इनसे सुख न लेकर और सुख लेनेकी इच्छा न रखकर) इनका यथायोग्य सदुपयोग करना है तथा सत्-तत्त्व (परमात्मा) को ही अपना मानना है। श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार असत् (संसार) की सत्ता नहीं है और सत्-तत्त्व (परमात्मा) का अभाव नहीं है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(२। १६)

जिस वास्तविक तत्त्वका कभी अभाव अथवा नाश नहीं होता, उसका अनुभव हम सबको हो सकता है। हमारा ध्यान सत्-तत्त्वका विवेचन गीतामें भगवान्ने पाँच प्रकारसे किया है।

(१) सद्भावे (गीता १७। २६)

(२) साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।

(गीता १७। २६)

(३) प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥

(गीता १७। २६)

(४) यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।

(गीता १७। २७)

(५) कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

(गीता १७। २७)

यह सत्-तत्त्व ही सद्गुणों और सदाचारका मूल आधार है। अतः उपर्युक्त सत् शब्दका थोड़ा विस्तारसे विचार करें।

(१) 'सद्भावे'—सद्भाव कहते हैं—परमात्माके अस्तित्व या होनेपनको। प्रायः सभी आस्तिक यह बात तो मानते ही हैं कि सर्वोपरि सर्वनियन्ता कोई विलक्षण शक्ति सदासे है और वह अपरिवर्तनशील है। जो संसार प्रत्यक्ष प्रतिक्षण बदल रहा है, उसे 'है' अर्थात् स्थिर कैसे कहा जाय ? यह तो नदीके जलके प्रवाहकी तरह निरन्तर बह रहा है। जो बदलता है, वह 'है' कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि इन्द्रियों, बुद्धि आदिसे जिसको जानते, देखते हैं, वह संसार पहले नहीं था, आगे भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें भी जा रहा है —यह सभीका अनुभव है। फिर भी आश्चर्य यह है कि 'नहीं' होते हुए भी वह 'है' के रूपमें स्थिर दिखायी दे रहा है। ये दोनों बातें परस्पर सर्वथा विरुद्ध हैं। वह होता, तब तो बदलता नहीं और बदलता है तो 'है' अर्थात् स्थिर नहीं। इससे सिद्ध होता है कि यह 'होनापन' संसार-शरीरादिका नहीं है, प्रत्युत सत्-तत्त्व (परमात्मा) का है, जिससे नहीं होते हुए भी संसार 'है' दीखता है। परमात्माके होनेपनका भाव दृढ़ होनेपर सदाचारका पालन स्वतः होने लगता है।

भगवान् हैं—ऐसा दृढ़तासे माननेपर न पाप, अन्याय, दुराचार होंगे और न चिन्ता, भय आदि ही। जो सच्चे हृदयसे सर्वत्र परमात्माकी सत्ता मानते हैं, उनसे पाप हो ही कैसे सकते हैं ?* परम दयालु, परम सुहृद् परमात्मा सर्वत्र हैं, ऐसा

---

* जो व्यक्ति भगवान्को भी मानता हो और असत्-आचरण (दुराचार) भी करता हो, उसके द्वारा असत्-आचरणोंका विशेष प्रचार होता है, जिससे समाजका बड़ा नुकसान होता है। कारण कि जो व्यक्ति भीतरसे भी बुरा हो और बाहरसे भी बुरा हो, उससे बचना बड़ा सुगम होता है; क्योंकि उससे दूसरे लोग सावधान हो जाते हैं। परन्तु जो व्यक्ति भीतरसे बुरा हो और बाहरसे भला बना हो, उससे बचना बड़ा कठिन होता है। जैसे, सीताजीके सामने रावण और हनुमान्जीके सामने कालनेमि राक्षस आये तो उनको सीताजी और हनुमान्जी पहचान नहीं सके; क्योंकि उनका वेश साधुओंका था।

१-यद्यपि गीता सर्वशास्त्रमयी है और उसमें सर्वत्र सदाचारकी ही चर्चा है, फिर भी भगवान्ने कृपा करके इतने छोटेसे ग्रन्थमें अनेक प्रकारसे कई स्थानोंपर सदाचारी पुरुषके लक्षणोंका विभिन्न रूपोंमें वर्णन किया है, जिनमें निम्नलिखित स्थल प्रमुख हैं— (१) दूसरे अध्यायके ५५ वें श्लोकसे ७१ वें श्लोकतक स्थितप्रज्ञ-सदाचारीका वर्णन, (२) बारहवें अध्यायके १३वें श्लोकसे २०वें श्लोकतक भक्तसदाचारीका वर्णन, (३) तेरहवें अध्यायके ७वें श्लोकसे ११वें श्लोकतक ज्ञानके नामसे सदाचारका वर्णन, (४) चौदहवें अध्यायके २२वें श्लोकसे २५वें श्लोकतक गुणातीत सदाचारीके लक्षण-आचरण और प्राप्तिके उपायका वर्णन और (५) सोलहवें अध्यायके पहले श्लोकसे तीसरे श्लोकतक दैवी (भगवान्की) सम्पत्तिरूप सदाचारका वर्णन।

माननेपर न भय होगा और न चिन्ता होगी। भय लगने अथवा चिन्ता होनेपर 'मैंने भगवान्‌को नहीं माना'—इस प्रकार विपरीत धारणा नहीं करनी चाहिये, किंतु भगवान्‌के रहते चिन्ता, भय कैसे आ सकते हैं—ऐसा माने। दैवी-सम्पत्ति (सदाचार) के छब्बीस लक्षणोंमें प्रथम 'अभय' है (गीता १६। १)।

अच्छे आचरण करनेवालेको कोई यह नहीं कहता कि तुम अच्छे आचरण क्यों करते हो, पर बुरे आचरण करने-वालेको सब कहते हैं कि तुम बुरे आचरण क्यों करते हो? प्रसन्न रहनेवालेको कोई यह नहीं कहता कि तुम प्रसन्न क्यों रहते हो, पर दुःखी रहनेवालेको सब कहते हैं कि तुम दुःखी क्यों रहते हो? तात्पर्य है कि भगवान्‌का ही अंश होनेसे जीवमें दैवी सम्पत्ति स्वाभाविक है—***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥'*** (मानस ७। ११७। १)। आसुरी सम्पत्ति स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत आगन्तुक है और नाशवान्‌के संगसे आती है। जब जीव भगवान्‌से विमुख होकर नाशवान् (असत्) का संग कर लेता है अर्थात् शरीरमें अहंता-ममता कर लेता है, तब उसमें आसुरी-सम्पत्ति आ जाती है और दैवी सम्पत्ति दब जाती है। नाशवान्‌का संग छूटते ही सद्गुण-सदाचार स्वतः प्रकट हो जाते हैं।

(२) **'साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते'**—अन्तःकरणके श्रेष्ठ भावोंको 'साधुभाव' कहते हैं। परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले होनेसे श्रेष्ठ भावोंके लिये 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। श्रेष्ठ भाव अर्थात् सद्‌गुण-सदाचार दैवी सम्पत्ति है। 'देव' नाम भगवान्‌का है और उनकी सम्पत्ति 'दैवी सम्पत्ति' कहलाती है। भगवान्‌की सम्पत्तिको अपनी माननेसे अथवा अपने बलसे उपार्जित माननेसे अभिमान आ जाता है, जो आसुरी सम्पत्तिका मूल है। अभिमानकी छायामें सभी दुर्गुण-दुराचार रहते हैं।

सद्गुण-सदाचार किसीकी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है। अगर ये व्यक्तिगत होते तो एक व्यक्तिमें जो सद्गुण-सदाचार हैं, वे दूसरे व्यक्तियोंमें नहीं आते। वास्तवमें ये सामान्य धर्म हैं, जिनको मनुष्यमात्र धारण कर सकता है। जैसे पिताकी सम्पत्तिपर सन्तानमात्रका अधिकार होता है, ऐसे ही भगवान्‌की सम्पत्ति (सद्‌गुण-सदाचार) पर प्राणिमात्रका समान अधिकार है।

अपनेमें सद्गुण-सदाचार होनेका जो अभिमान आता है, वह वास्तवमें सद्गुण-सदाचारकी कमीसे अर्थात् उसके साथ आंशिकरूपसे रहनेवाले दुर्गुण-दुराचारसे ही पैदा होता है। जैसे, सत्य बोलनेका अभिमान तभी आता है; जब सत्यके साथ आंशिक असत्य रहता है। सत्यकी पूर्णतामें अभिमान आ ही नहीं सकता। असत्य साथमें रहनेसे ही सत्यकी महिमा दीखती है और उसका अभिमान आता है। जैसे, किसी गाँवमें सब निर्धन हों और एक लखपति हो तो उस लखपतिकी महिमा दीखती है और उसका अभिमान आता है। परन्तु जिस गाँवमें सब-के-सब करोड़पति हों, वहाँ लखपतिकी महिमा नहीं दीखती और उसका अभिमान नहीं आता। तात्पर्य है कि अपनेमें विशेषता दीखनेसे ही अभिमान आता है। अपनेमें विशेषता दीखना परिच्छिन्नताको पुष्ट करता है।

सद्गुण-सदाचारकी स्वतन्त्र सत्ता है, पर दुर्गुण-दुराचारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कारण कि असत्‌को तो सत्‌की जरूरत है, पर सत्‌को असत्‌की जरूरत नहीं है। झूठ बोलनेवाला व्यक्ति थोड़े-से पैसोंके लोभमें सत्य बोल सकता है, पर सत्य बोलनेवाला व्यक्ति कभी झूठ नहीं बोल सकता।

(३) **'प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते'**—'तथा हे पार्थ! उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है।' दान, पूजा, पाठादि जितने भी शास्त्र-विहित शुभकर्म हैं, वे स्वयं ही प्रशंसनीय होनेसे सत्कर्म हैं, किंतु इन प्रशस्त कर्मोंका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध नहीं रखनेसे वे 'सत्' न कहलाकर केवल शास्त्र-विहित कर्ममात्र रह जाते हैं। यद्यपि दैत्य-दानव भी प्रशंसनीय कर्म तपस्यादि करते हैं, परन्तु असद् भाव—दुरुपयोग करनेसे इनका परिणाम विपरीत हो जाता है—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

(गीता १७। १९)

'जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है।' वस्तुतः प्रशंनीय कर्म वे होते हैं, जो स्वार्थ और अभिमानके त्यागपूर्वक **'सर्वभूतहिते रताः'** भावसे किये जाते हैं। शास्त्र-विहित सत्कर्म भी यदि अपने लिये किये जायँ तो वे असत्कर्म हो जाते हैं, बाँधनेवाले हो जाते हैं। उनसे यदि ब्रह्मलोककी प्राप्ति भी हो जाय तो वहाँसे लौटकर आना पड़ता है—**'आब्रह्म-भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।'** (गीता ८। १६)

भगवान्‌के लिये कर्म करनेवाले सदाचारी पुरुषका कभी नाश नहीं होता—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥

(गीता ६। ४०)

'हे पार्थ ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है और न परलोकमें ही। क्योंकि हे प्यारे ! कल्याणकारी (भगवत्प्राप्तिके लिये) कर्म करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।'

(४) **'यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते'**— (गीता १७। २७)। 'यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्'—कही जाती है।' सदाचारमें यज्ञ, दान और तप—ये तीनों प्रधान हैं; किंतु इनका सम्बन्ध भगवान्से होना चाहिये। यदि इन (यज्ञादि) में मनुष्यकी दृढ़ स्थिति (निष्ठा) हो जाय तो स्वप्नमें भी उसके द्वारा दुराचार नहीं हो सकता। ऐसे दृढ़निश्चयी सदाचारी पुरुषके विषयमें ही कहा गया है—

निष्पीडितोऽपि मधु द्युद्गमतीक्षुदण्डः।

'ईखको पेरनेपर भी उसमेंसे मीठा रस ही प्राप्त होता है।'

(५) **'कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते'**—(गीता १७। २७) 'उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है।' अपना कल्याण चाहनेवाला निषिद्ध आचरण कर ही नहीं सकता। जबतक अपने जाननेमें आनेवाले दुर्गुण-दुराचारका त्याग नहीं करता, तबतक वह चाहे कितनी ज्ञान-ध्यानकी ऊँची-ऊँची बातें बनाता रहे, उसे सत्-तत्त्वका अनुभव नहीं हो सकता। निषिद्ध और विहित कर्मोंके त्याग-ग्रहणके विषयमें भगवान् कहते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २४)

'इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है।' विहित कर्म करनेकी अपेक्षा निषिद्धका त्याग श्रेष्ठ है। निषिद्ध आचरणके त्यागके बाद जो भी क्रियाएँ होंगी, वे सब भगवदर्थ होनेपर सत्-आचार (सदाचार) ही कहलायेंगी। भगवदर्थ कर्म करनेवालोंसे एक बड़ी भूल यह होती है कि वे कर्मोंके दो विभाग कर लेते हैं। (१) संसार और शरीरके लिये किये जानेवाले कर्म अपने लिये और (२) पूजा-पाठ, जप-ध्यान, सत्सङ्गादि सात्त्विक कर्म भगवान्के लिये मानते हैं; वास्तवमें जैसे पतिव्रता स्त्री घरका काम, शरीरकी क्रिया, पूजा-पाठादि सब कुछ पतिके लिये ही करती है, वैसे ही साधकको भी सब कुछ केवल भगवदर्थ करना चाहिये। भगवदर्थ कर्म सुगमतापूर्वक करनेके लिये पाँच बातें (पञ्चामृत) सदैव याद रखनी चाहिये—(१) मैं भगवान्का हूँ, (२) भगवान्के घर (दरबार) में रहता हूँ, (३) भगवान्के घरका काम करता हूँ, (४) भगवान्का दिया हुआ प्रसाद पाता हूँ और (५) भगवान्के जनों (परिवार) की सेवा करता हूँ। इस प्रकार शास्त्र-विहित कर्म करनेपर सदाचार स्वतः पुष्ट होगा। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् आज्ञा देते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(९। २७)

'हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो यज्ञ करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।' यहाँ यज्ञ, दान और तपके अतिरिक्त **'यत्करोषि'** और **'यदश्नासि'**— ये दो क्रियाएँ और आयी हैं। तात्पर्य यह है कि यज्ञ, दान और तपके अतिरिक्त हम जो कुछ भी शास्त्र-विहित कर्म करते हैं और शरीर-निर्वाहके लिये खाना, पीना, सोना आदि जो भी क्रियाएँ करते हैं, वे सब भगवान्के अर्पण करनेसे 'सत्' हो जाती हैं। साधारण-से-साधारण स्वाभाविक-व्यावहारिक कर्म भी यदि भगवान्के लिये किया जाय तो वह भी 'सत्' हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा उस परमात्माकी पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।' जैसे, एक व्यक्ति प्राणियोंकी साधारण सेवा केवल भगवान्के लिये ही करता है और दूसरा व्यक्ति केवल भगवान्के लिये ही जप करता है। यद्यपि स्वरूपसे दो प्रकारकी छोटी-बड़ी क्रियाएँ दीखती हैं, परंतु दोनों (साधकों) का उद्देश्य परमात्मा होनेसे वस्तुतः उनमें किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं है; क्योंकि परमात्मा सर्वत्र समानरूपसे परिपूर्ण हैं। वे जैसे जप-क्रियामें हैं, वैसे ही साधारण सेवा-क्रियामें भी हैं।

भगवान् 'सत्' स्वरूप हैं। अतः उनसे जिस किसीका भी सम्बन्ध होगा, वह सब 'सत्' हो जायगा। जिस प्रकार अग्निसे सम्बन्ध होनेपर लोहा, लकड़ी, ईंट, पत्थर, कोयला—ये सभी एक-से चमकने लगते हैं, वैसे ही भगवान्के लिये (भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे) किये गये छोटे-बड़े सब-के-सब कर्म 'सत्' हो जाते हैं, अर्थात् सदाचार बन जाते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें सदाचार-सूत्र[१] यही बतलाया गया है कि यदि मनुष्यका लक्ष्य (उद्देश्य) केवल सत् (परमात्मा)

हो जाय तो उसके समस्त कर्म भी 'सत्' अर्थात् सदाचारस्वरूप ही हो जायँगे। अतएव सत्स्वरूप एवं सर्वत्र परिपूर्ण सच्चिदानन्दघन परमात्माकी ओर ही अपनी वृत्ति रखनी चाहिये, फिर सद्गुण, सदाचार स्वतः प्रकट होने लगेंगे।

★

भगवान् विष्णु

परब्रह्म परमात्मा एक ही हैं। उनसे बढ़कर दूसरा कोई व्यापक, निर्विकार, सदा रहनेवाला तत्त्व नहीं है। गीतामें उस तत्त्वका 'ज्ञेय' नामसे वर्णन किया गया है (१३। १२-१७) जिसको जान सकते हैं, जो जाननेयोग्य है तथा जिसको अवश्य जानना चाहिये, उसको 'ज्ञेय' कहते हैं। उसको जान लेनेपर मनुष्य ज्ञातज्ञातव्य होकर सदाके लिये जन्म-मरणसे रहित हो जाता है। उस अनादि और परब्रह्म परमात्मतत्त्वको सत् भी नहीं कह सकते और असत् भी नहीं कह सकते अर्थात् उसमें सत्-असत् शब्दोंकी पहुँच नहीं होती; क्योंकि वह शब्दातीत है।

जैसे स्याहीमें सब जगह सब तरहकी लिपियाँ विद्यमान रहती हैं और सोनेमें सब जगह सब तरहके गहने, मूर्तियाँ और उनके अवयव विद्यमान रहते हैं, ऐसे ही उस परमात्मतत्त्वमें सब जगह अनन्त वस्तुएँ, व्यक्ति और उनके अवयव विद्यमान रहते हैं। इसलिये वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोंको अपने एक अंशसे व्याप्त करके स्थित हैं—**'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'** (गीता १०। ४२)।

वे परमात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करते हैं, आसक्तिरहित होनेपर भी सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण करते हैं और निर्गुण होनेपर भी गुणोंके भोक्ता बनते हैं। वे सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण हैं और उन प्राणियोंके रूपमें भी वे ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)। देश, काल और वस्तु— तीनों ही दृष्टियोंसे वे परमात्मा दूर-से-दूर भी हैं और नजदीक-से-नजदीक भी हैं*। अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे वे इन्द्रियों और अन्तःकरणकी पकड़में नहीं आते।

वे परमात्मा स्वयं विभाग-रहित होनेपर भी अलग-अलग प्राणियोंमें विभक्तकी तरह प्रतीत होते हैं। वे सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करते हैं, पर उनको कोई प्रकाशित नहीं कर सकता। वे ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप परमात्मा सबके हृदयमें नित्य-निरन्तर विद्यमान हैं। ऐसे वे जाननेयोग्य एक परमात्मा ही रजोगुणकी प्रधानता स्वीकार करके ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करते हैं, सत्त्वगुणकी प्रधानता स्वीकार करके विष्णुरूपसे सबका भरण-पोषण करते हैं और तमोगुणकी प्रधानता स्वीकार करके शिवरूपसे सबका संहार करते हैं—**'भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च'** (गीता १३। १६)†। ऐसा करनेपर भी वे सम्पूर्ण गुणोंसे रहित और निर्लिप्त रहते हैं।

वे परब्रह्म परमात्मा ही सगुणरूपमें 'महाविष्णु' नामसे कहे जाते हैं। अनन्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश अनन्त हैं, पर महाविष्णु एक ही है। उस महाविष्णुसे ही अलग-अलग ब्रह्माण्डोंके अलग-अलग ब्रह्मा, विष्णु और महेश प्रकट होते हैं—

संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥

(मानस १। १४४। ३)

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें उस परब्रह्म परमात्माको ही द्विभुज कृष्ण और चतुर्भुज विष्णुरूपसे बताया गया है—

त्वमेव भगवानाद्यो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
अर्द्धाङ्गो द्विभुजः कृष्णोऽप्यर्द्धाङ्गेन चतुर्भुजः॥

(प्रकृति० १२। १५)

'आप सबके आदि, निर्गुण और प्रकृतिसे अतीत भगवान

* दूर-से-दूर देशमें भी वे परमात्मा हैं और नजदीक-से-नजदीक देशमें भी वे परमात्मा हैं। सबसे पहले भी वे परमात्मा थे, सबके बाद भी वे परमात्मा रहेंगे और अब भी वे परमात्मा हैं। सम्पूर्ण वस्तुओंके पहले भी वे परमात्मा थे, सम्पूर्ण वस्तुओंके अन्तमें भी वे परमात्मा रहेंगे और अब वस्तुओंके रूपमें भी वे परमात्मा हैं।

† सृष्टिस्थित्यन्तकरणाद् ब्रह्माविष्णुशिवात्मकः। स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥ (पद्मपुराण, सृष्टि० २। ११४)
'एक ही भगवान् जनार्दन सृष्टि, पालन और संहार करनेके कारण ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव नाम धारण करते हैं।'

ही अपने आधे अंगसे द्विभुज कृष्ण और आधे अंगसे चतुर्भुज विष्णुके रूपमें प्रकट हुए हैं।'

द्विभुजो राधिकाकान्तो लक्ष्मीकान्तश्चतुर्भुजः।
गोलोके द्विभुजस्तस्थौ गोपैर्गोपीभिरावृतः॥
चतुर्भुजश्च वैकुण्ठं प्रययौ पद्मया सह।
सर्वांशेन समौ तौ द्वौ कृष्णनारायणौ परौ॥

(प्रकृति० ३५। १४-१५)

'द्विभुज कृष्ण राधिकापति हैं और चतुर्भुज विष्णु लक्ष्मीपति हैं। कृष्ण गोप-गोपियोंसे आवृत होकर गोलोकमें और विष्णु वैकुण्ठमें स्थित हैं। वे कृष्ण और विष्णु—दोनों सब प्रकारसे समान ही हैं।'

जब भगवान्‌के अत्युग्र विराट्‌रूप (सहस्रभुजरूप) को देखकर अर्जुन भयभीत हो गये, तब उनको आश्वासन देनेके लिये भगवान् पहले चतुर्भुजरूपसे और फिर द्विभुजरूपसे अर्जुनके सामने प्रकट हुए—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥

(गीता ११। ५०)

'वासुदेव भगवान्‌ने अर्जुनसे ऐसा कहकर फिर उसी प्रकारसे अपना देवरूप (चतुर्भुजरूप) दिखाया और महात्मा श्रीकृष्णने पुनः सौम्यरूप (द्विभुजरूप) होकर भयभीत अर्जुनको आश्वासन दिया*।'

तात्पर्य है कि एक ही परब्रह्म परमात्मा द्विभुज, चतुर्भुज, सहस्रभुज आदि अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं। उपासकोंकी प्रकृति, श्रद्धा-विश्वास, रुचि आदिको लेकर वे एक ही परमात्मा विष्णु, सूर्य, शिव, गणेश और शक्ति—इन पाँच रूपोंको धारण करते हैं—

सौराश्च शैवा गाणेशा वैष्णवाः शक्तिपूजकाः।
मामेव प्राप्नुवन्तीह वर्षापः सागरं यथा॥
एकोऽहं पञ्चधा जातः क्रीडया नामभिः किल।
देवदत्तो यथा कश्चित् पुत्राद्याह्वाननामभिः॥

(पद्मपुराण, उत्तर० ९०। ६३-६४)

'जैसे वर्षाका जल सब ओरसे समुद्रमें ही जाता है, ऐसे ही विष्णु, सूर्य, शिव, गणेश और शक्तिके उपासक मेरेको ही प्राप्त होते हैं। जैसे एक ही देवदत्त नामक व्यक्ति पुत्र, पिता आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाता है, ऐसे ही लीलाके लिये मैं एक ही पाँच रूपोंमें प्रकट होकर अनेक नामोंसे पुकारा जाता हूँ।'

भगवान्‌के इन पाँचों रूपोंको लेकर पाँच सम्प्रदाय चले हैं— वैष्णव, सौर, शैव, गाणपत और शाक्त। साधक किसी भी सम्प्रदायका हो, उसका ऐसा दृढ़ निश्चय रहना चाहिये कि भगवान्‌के जितने भी रूप हैं, वे सब तत्त्वसे एक ही हैं। रूप दूसरा है, पर तत्त्व दूसरा नहीं है। अगर वह ऐसा दृढ़ निश्चय न कर सके तो वह अपने इष्ट रूपको सर्वोपरि मानकर दूसरे रूपोंको उसका अनुयायी माने। जैसे, उसका इष्ट विष्णु है तो वह ऐसा माने कि सूर्य, शिव आदि सभी देवता विष्णुके उपासक हैं, अनुयायी हैं। ऐसा भी निश्चय न बैठे तो सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदिमें एक ही परमात्मतत्त्व सत्ता-रूपसे विद्यमान है—ऐसा मानकर बाहर-भीतरसे चुप (चिन्तनरहित) हो जाय।

अगर विष्णुका ध्यान करते समय शिव, गणेश आदि याद आ जायँ तो 'मेरे इष्ट ही अपनी मरजीसे शिव आदिके रूपमें आये हैं'—ऐसा मानकर साधकको प्रसन्न होना चाहिये। अगर संसार याद आ जाय तो भी साधक उसको भगवान्‌का ही रूप समझे†।

सम्प्रदायोंमें परस्पर जो राग-द्वेष, खटपट देखी जाती है, उसका कारण बेसमझी है। एक अनुयायी होता है और एक पक्षपाती (जय बोलनेवाला) होता है। अनुयायी तो अपने सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका पालन करता है, पर पक्षपाती सिद्धान्तोंके पालनका खयाल नहीं करता। खटपट पक्षपातीके द्वारा ही होती है, अनुयायीके द्वारा नहीं।

जबतक 'अहम्' रहता है, तभीतक दार्शनिक भेद तथा अपने-अपने सम्प्रदायका पक्षपात रहता है। 'अहम्'का सर्वथा अभाव होनेपर दार्शनिक और साम्प्रदायिक भेद नहीं रहता, प्रत्युत एक तत्त्व रहता है। जहाँ तत्त्व है, वहाँ भेद नहीं है और जहाँ भेद है, वहाँ तत्त्व नहीं है। ऐसा वह तत्त्व ही महाविष्णु, सदाशिव, महाशक्ति, परात्पर परब्रह्म राम तथा कृष्ण आदि नामोंसे कहा जाता है और वही समस्त साधकोंका साध्य-तत्त्व है।

═══ ★ ═══

* द्विभुज होनेके कारण सौम्यरूपको मनुष्यरूप भी कहा गया है—'दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन' (गीता ११। ५१)।

† खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के ही शरीर हैं अर्थात् सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् प्रकट हैं— ऐसा समझकर जो भी भक्तके सामने आ जाता है, उसको वह अनन्य-भावसे प्रणाम करता है।'

भगवान् शंकर

'शंकर' का अर्थ है—कल्याण करनेवाला। अतः भगवान् शंकरका काम केवल दूसरोंका कल्याण करना है। जैसे संसारमें लोग अन्नक्षेत्र खोलते हैं, ऐसे ही भगवान् शंकरने काशीमें मुक्तिका क्षेत्र खोल रखा है। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

मुक्ति जन्म महि जानि ग्यान खानि अघ हानि कर।
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइअ कस न॥

(मानस ४। १ सो०)

शास्त्रमें भी आता है—**'काशीमरणान्मुक्तिः'**। काशीको 'वाराणसी' भी कहते हैं। 'वरुणा' और 'असी'—दोनों नदियाँ गङ्गाजीमें आकर मिलती हैं, उनके बीचका क्षेत्र 'वाराणसी' कहलाता है। इस क्षेत्रमें मरनेवालेकी मुक्ति हो जाती है।

यहाँ शंका होती है कि काशीमें मरनेवालेके पापोंका क्या होता है? इसका समाधान है कि काशीमें मरनेवाले पापीको पहले 'भैरवी यातना' भुगतनी पड़ती है, फिर उसकी मुक्ति हो जाती है। भैरवी यातना बड़ी कठोर यातना है, जो थोड़े समयमें सब पापोंका नाश कर देती है। काशी केदारखण्डमें मरनेवालेको तो भैरवी यातना भी नहीं भोगनी पड़ती!

सालगरामजीने कहा है—

जगमें जिते जड़ जीव जाकी अन्त समय,
जम के जबर जोधा खबर लिये करे।
काशीपति विश्वनाथ वाराणसी वासिन की,
फाँसी यम नाशनको शासन दिये करे॥
मेरी प्रजा ह्वै के किम पेहैं काल दण्डत्रास,
सालग, यही विचार हमेश हिये करे।
तारक की भनक पिनाकी यातें प्रानिन के,
प्रान के पयान समय कान में किये करे॥

काशीमें मरनेवालोंके दायें कानमें भगवान् शंकर तारक-मन्त्र—'राम' नाम सुनाते हैं, जिसको सुननेसे उनकी मुक्ति हो जाती है। अध्यात्मरामायणमें शंकरजी कहते हैं—

अहं भवन्नाम गृणन्कृतार्थो
वसामि काश्यामनिशं भवान्या।
मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं
दिशामि मन्त्रं तव राम नाम॥

(युद्ध० १५। ६२)

'हे प्रभो! आपके नामोच्चारणसे कृतार्थ होकर मैं दिन-रात पार्वतीके साथ काशीमें रहता हूँ और वहाँ मरणासन्न मनुष्योंको उनके मोक्षके लिये आपके तारक-मन्त्र राम-नामका उपदेश देता हूँ।'

गोस्वामीजी कहते हैं—

महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासीं मुकुति हेतु उपदेसू॥

(मानस १। १९। २)

भगवान् शंकरका राम-नामपर बहुत स्नेह है। एक बार कुछ लोग एक मुरदेको श्मशानमें ले जा रहे थे और 'राम-नाम सत् है' ऐसा बोल रहे थे। शंकरजीने राम-नाम सुना तो वे भी उनके साथ हो गये। जैसे पैसोंकी बात सुनकर लोभी आदमी उधर खिंच जाता है, ऐसे ही राम-नाम सुनकर शंकरजीका मन भी उन लोगोंकी ओर खिंच गया। अब लोगोंने मुरदेको श्मशानमें ले जाकर जला दिया और वहाँसे लौटने लगे। शंकरजीने देखा तो विचार किया कि बात क्या है? अब कोई आदमी राम-नाम ले ही नहीं रहा है! उनके मनमें आया कि उस मुरदेमें ही कोई करामात थी, जिसके कारण ये सब लोग राम-नाम ले रहे थे। अतः उसीके पास जाना चाहिये। शंकरजीने श्मशानमें जाकर देखा कि वह तो जलकर राख हो गया है। अतः शंकरजीने उस मुरदेकी राख अपने शरीरमें लगा ली और वहीं रहने लगे! राख और मसान—दोनोंके पहले अक्षर लेनेसे 'राम' हो जाता है! एक कविने कहा है—

रुचिर रकार बिन तज दी सती-सी नार,
कीनी नाहिं रति रुद्र पायके कलेश को।
गिरिजा भई है पुनि तप ते अपर्णा तबे,
कीनी अर्धंगा प्यारी लागी गिरिजेश को॥
विष्णुपदी गंगा तउ धूर्जटी धरि न सीस,
भागीरथी भई तब धारी है अशेष को।
बार-बार करत रकार व मकार ध्वनि,
पूरण है प्यार राम-नाम पे महेश को॥

सतीके नाममें 'र' कार अथवा 'म' कार नहीं है, इसलिये शंकरजीने सतीका त्याग कर दिया। जब सतीने हिमाचलके यहाँ जन्म लिया, तब उनका नाम गिरिजा (पार्वती) हो गया। इतनेपर भी शंकरजी मुझे स्वीकार करेंगे या नहीं—ऐसा सोचकर पार्वतीजी तपस्या करने लगीं। जब उन्होंने सूखे पत्ते भी खाने छोड़ दिये; तब उनका नाम 'अपर्णा' हो गया। गिरिजा और अपर्णा—दोनों नामोंमें 'र' कार आ गया तो शंकरजी इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने पार्वतीजीको अपनी अर्धाङ्गिनी बना लिया। इसी तरह शंकरजीने गङ्गाको स्वीकार नहीं किया। परन्तु जब गङ्गाका नाम 'भागीरथी' पड़ गया, तब शंकरजीने उनको अपनी जटामें धारण कर लिया। अतः भगवान्

शंकरका राम-नाममें विशेष प्रेम है। वे दिन-रात राम-नामका जप करते रहते हैं—

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥

(मानस १।१०८।४)

केवल दुनियाके कल्याणके लिये ही वे राम-नामका जप करते हैं, अपने लिये नहीं।

शंकरके हृदयमें विष्णुका और विष्णुके हृदयमें शंकरका बहुत अधिक स्नेह है। शिव तामसमूर्ति हैं और विष्णु सत्त्वमूर्ति हैं, पर एक-दूसरेका ध्यान करनेसे शिव श्वेतवर्णके और विष्णु श्यामवर्णके हो गये। वैष्णवोंका तिलक (ऊर्ध्वपुण्ड्र) त्रिशूलका रूप है और शैवोंका तिलक (त्रिपुण्ड्र) धनुषका रूप है। अतः शिव और विष्णुमें भेदबुद्धि नहीं होनी चाहिये—

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥

(मानस ६।२)

उभयोः प्रकृतिस्त्वेका प्रत्ययभेदेन भिन्नवद् भाति।
कलयति कश्चिन्मूढा हरिहरभेदं विनाशास्त्रम्॥

अर्थात् (१) हरि और हर—दोनोंकी प्रकृति (वास्तविक तत्त्व) एक ही है, पर निश्चयके भेदसे दोनों भिन्नकी तरह दीखते हैं। कुछ मूर्खलोग हरि और हरको भिन्न-भिन्न बताते हैं, जो विनाश करनेका अस्त्र **(विनाश-अस्त्रम्)** है।

(२) हरि और हर—दोनोंकी प्रकृति एक ही है अर्थात् दोनों एक ही **'हृ'** धातुसे बने हैं, पर प्रत्यय ('इ' और 'अ') के भेदसे दोनों भिन्नकी तरह दीखते हैं। कुछ मूर्खलोग हरि और हरको भिन्न-भिन्न बताते हैं, जो शास्त्रसे विरुद्ध **(विना-शास्त्रम्)** है।

अतः शिव और विष्णुमें कभी भेदबुद्धि नहीं करनी चाहिये—

शिवश्च हृदये विष्णोः विष्णोश्च हृदये शिवः।

कहीं-कहीं ऐसा भी आता है कि वैष्णव शिवलिङ्गको नमस्कार न करे। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि वैष्णवका शंकरसे द्वेष है। इसका तात्पर्य यह है कि वैष्णवोंके मस्तकपर ऊर्ध्वपुण्ड्रका जो तिलक रहता है, उसमें विष्णुके दो चरणोंके बीचमें लक्ष्मीजीका लाल रंगका चिह्न (श्री) रहता है। लक्ष्मीजीको शिवलिङ्गके पास जानेमें लज्जा आती है। अतः वैष्णवोंके लिये शिवलिङ्गको नमस्कार करनेका निषेध आया है।

गोस्वामीजी महाराजने कहा है—

'सेवक स्वामि सखा सिय पी के।'

(मानस १।१५।२)

अर्थात् भगवान् शंकर रामजीके सेवक, स्वामी और सखा—तीनों ही हैं। रामजीकी सेवा करनेके लिये शंकरने हनुमान्‌जीका रूप धारण किया। वानरका रूप उन्होंने इसलिये धारण किया कि अपने स्वामीकी सेवा तो करूँ, पर उनसे चाहूँ कुछ भी नहीं, क्योंकि वानरको न रोटी चाहिये, न कपड़ा चाहिये और न मकान चाहिये। वह जो कुछ भी मिले, उसीसे अपना निर्वाह कर लेता है। रामजीने पहले रामेश्वर शिवलिङ्गका पूजन किया, फिर लंकापर चढ़ाई की। अतः भगवान् शंकर रामजीके स्वामी भी हैं। रामजी कहते हैं—***'संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास। ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥'*** अतः भगवान् शंकर रामजीके सखा भी हैं।

भगवान् शंकर आशुतोष (शीघ्र प्रसन्न होनेवाले) हैं। वे थोड़ी-सी उपासना करनेसे ही प्रसन्न हो जाते हैं। इस विषयमें अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। एक बधिक था। एक दिन उसको खानेके लिये कुछ नहीं मिला। संयोगसे उस दिन शिवरात्रि थी। रात्रिके समय उसने वनमें एक शिवमन्दिर देखा। वह भीतर गया। उसने देखा कि शिवलिङ्गके ऊपर स्वर्णका छत्र टँगा हुआ है। अतः वह उस छत्रको उतारनेके लिये जूतीसहित शिवलिङ्गपर चढ़ गया। इसने अपने-आपको मेरे अर्पण कर दिया— ऐसा मानकर भगवान् शंकर उसके सामने प्रकट हो गये।

एक कुतिया खरगोशको मारनेके लिये उसके पीछे भागी। खरगोश भागता-भागता एक शिवमन्दिरके भीतर घुस गया। वहाँ वह शिवलिङ्गकी परिक्रमामें भागा तो आधी परिक्रमामें ही कुतियाने खरगोशको पकड़ लिया। शिवलिङ्गकी आधी परिक्रमा हो जानेसे उस खरगोशकी मुक्ति हो गयी।

भगवान् शंकर बहुत सीधे-सरल हैं। भस्मासुरने उनसे यह वरदान माँगा कि मैं जिसके सिरपर हाथ रखूँ, वह भस्म हो जाय तो शंकरजीने उसको वरदान दे दिया। अब पार्वतीको पानेकी इच्छासे वह उलटे शंकरजीके ही सिरपर हाथ रखनेके लिये भागा। तब भगवान् विष्णु उन दोनोंके बीचमें आ गये और भस्मासुरको रोककर बोले कि कम-से-कम पहले परीक्षा करके तो देख लो कि शंकरका वरदान सही है या नहीं! भस्मासुरने विष्णुकी मायासे मोहित होकर अपने सिरपर हाथ रखा तो वह तत्काल भस्म हो गया। इस प्रकार सीधे-सरल होनेसे शंकर किसीपर सन्देह करते ही नहीं, किसीको जानना चाहते ही नहीं, नहीं तो वे पहले ही भस्मासुरकी नीयत जान लेते।

भगवान् शंकरसे वरदान माँगना हो तो भक्त नरसीजीकी तरह माँगना चाहिये, नहीं तो ठगे जायँगे। जब नरसीजीको भगवान् शंकरने दर्शन दिये और उनसे वरदान माँगनेके लिये कहा, तब नरसीजीने कहा कि जो चीज आपको सबसे अधिक प्रिय लगती हो, वही दीजिये। भगवान् शंकरने कहा कि मेरेको कृष्ण सबसे अधिक प्रिय लगते हैं, अतः मैं तुम्हें उनके ही पास ले चलता हूँ। ऐसा कहकर भगवान् शंकर उनको गोलोक ले गये। तात्पर्य है कि शंकरसे वरदान माँगनेमें अपनी बुद्धि नहीं लगानी चाहिये।

शंकरकी प्रसन्नताके लिये साधक प्रतिदिन आधी रातको (ग्यारहसे दो बजेके बीच) ईशानकोण (उत्तर-पूर्व) की तरफ मुख करके '**ॐ नमः शिवाय**' मन्त्रकी एक सौ बीस माला जप करे। यदि गङ्गाजीका तट हो तो अपने चरण उनके बहते हुए जलमें डालकर जप करना अधिक उत्तम है। इस तरह छः मास करनेसे भगवान् शंकर प्रसन्न हो जाते हैं और साधकको दर्शन, मुक्ति, ज्ञान दे देते हैं।

——★——

परमात्मा सगुण हैं या निर्गुण ?

शास्त्रमें आया है कि जीवकी उपाधि अविद्या है, जो मलिन सत्त्वप्रधान है और ईश्वर (सगुण) की उपाधि माया है, जो शुद्ध सत्त्वप्रधान है। इस बातको लेकर ऐसी मान्यता है कि परमात्माका सगुण रूप मायिक है, वास्तविक रूप तो निर्गुण-निराकार ही है। परन्तु वास्तविक दृष्टिसे देखें तो यह मान्यता सही नहीं है। जीवको नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप ब्रह्म माना गया है—**'अयमात्मा ब्रह्म'**, **'तत्त्वमसि'** आदि। विचार करना चाहिये कि जब अविद्यामें पड़ा हुआ, मलिन-सत्त्वकी उपाधिवाला जीव भी स्वरूपसे ब्रह्म ही है तो फिर शुद्ध-सत्त्वप्रधान ईश्वर नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप क्यों नहीं है? वह मायिक कैसे हो गया ? ईश्वर तो मायाका अधिपति है। सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) से किसीने कहा कि ईश्वर और जीव—ये दोनों मायारूपी धेनुके बछड़े हैं। सेठजी बोले कि मायारूपी धेनुका बछड़ा जीव है, ईश्वर नहीं। ईश्वर तो साँड़ अर्थात् मायाका अधिपति है। जैसे साँड़ गायोंका मालिक होता है, ऐसे ही ईश्वर मायाका मालिक है—

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

(गीता ४।६)

माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥

(मानस ७।७८।३-४)

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू॥

(मानस १।११७।४)

भागवतमें आया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(१।२।११)

'तत्त्वज्ञ पुरुष उस ज्ञानस्वरूप एवं अद्वितीय तत्त्वको ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन नामोंसे कहते हैं।' तात्पर्य है कि परमात्मतत्त्व निर्गुण-निराकार (ब्रह्म) भी है, सगुण-निराकार (परमात्मा) भी है और सगुण-साकार (भगवान्) भी है।

गीतामें निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार—तीनोंके लिये 'ब्रह्म' शब्द आया है। जैसे, निर्गुण-निराकारके लिये **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥'** (५।१९), **'अक्षरं ब्रह्म परमम्'** (८।३), **'अनादिमत्परं ब्रह्म'** (१३।१२) आदि; सगुण-निराकारके लिये **'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥'** (३।१५), **'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।'** (१७।२३) आदि और सगुण-साकारके लिये **'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि'** (५।१०), **'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।'** (१०।१२) पद आये हैं।

जैसे किसी आदमीको कपड़ोंके सहित कहें अथवा कपड़ोंसे रहित कहें, आदमी तो वही है, ऐसे ही परमात्माको गुणोंके सहित (सगुण) कहें अथवा गुणोंसे रहित (निर्गुण) कहें, परमात्मा तो वही (एक ही) हैं। भेद हमारी दृष्टिमें है। परमात्मामें भेद नहीं है। सगुण-निर्गुणका भेद बद्ध जीवकी दृष्टिसे है। मुक्तकी दृष्टिसे तो एक परमात्मतत्त्व ही है—**'वासुदेवः सर्वम्।'** बद्धकी दृष्टि वास्तविक नहीं होती, प्रत्युत मुक्तकी दृष्टि वास्तविक होती है। अतः कोई सगुणकी उपासना करे अथवा निर्गुणकी, उसकी मुक्तिमें कोई सन्देह नहीं है। कारण कि वह गुणोंकी उपासना नहीं करता, प्रत्युत भगवान्‌की उपासना करता है। गुण तो बाँधनेवाले होते हैं*।

कोई परमात्माको सगुण मानता है और कोई निर्गुण

* सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ (गीता १४।५)
'हे महाबाहो ! प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण अविनाशी देहीको देहमें बाँध देते हैं।'

मानता है तो यह उनका अपना दृष्टिकोण है। इस विषयको समझनेके लिये एक दृष्टान्त है। पाँच अन्धे थे। उन्होंने एक आदमीसे कहा कि भाई, हमें हाथी दिखाओ। हम जानना चाहते हैं कि हाथी कैसा होता है ? उस आदमीने उनको एक हाथीके पास ले जाकर खड़ा कर दिया। एक अन्धेके हाथमें हाथीकी सूँड़ आयी। दूसरेके हाथमें हाथीका दाँत आया। तीसरेके हाथमें हाथीका पैर आया। चौथेके हाथमें हाथीकी पूँछ आयी। पाँचवेंको हाथीके ऊपर बैठा दिया। उन्होंने अपने-अपने हाथ फेरकर हाथीको देख लिया कि ठीक है, यही हाथी है ! अब वे पाँचों आपसमें झगड़ा करने लगे। एकने कहा कि हाथी तो ओवरकोटकी बाँहकी तरह होता है। दूसरेने कहा कि नहीं, हाथी तो मूसलकी तरह होता है। तीसरा बोला कि तुम दोनों झूठे हो, हाथी तो खम्भेकी तरह होता है। चौथेने कहा कि बिलकुल गलत कहते हो, हाथी तो रस्सेकी तरह होता है। पाँचवाँ बोला कि हाथी तो छप्परकी तरह होता है, यह मेरा अनुभव है। इस तरह सबका वर्णन सही होते हुए भी गलत है; क्योंकि वह एक अंगका वर्णन है, सर्वांगका नहीं। सबने हाथीके एक-एक अंगको हाथी मान लिया, पर वास्तवमें सब मिलकर एक हाथी है। ऐसे ही सगुण-निर्गुण, साकार-निराकारका झगड़ा है। वास्तवमें सब मिलकर एक ही परमात्माका वर्णन है। एक ही वस्तु अलग-अलग कोणसे देखनेपर अलग-अलग दिखायी देती है, ऐसे ही एक ही परमात्मा अलग-अलग दृष्टिकोणसे अलग-अलग दीखते हैं।

गीतामें आया है कि परमात्मा सत् भी हैं, असत् भी हैं—**'सदसच्चाहम्'** (९।१९), वे सत्-असत्से पर भी हैं—**'सदसत्तत्परं यत्'** (११।३७) और वे न सत् हैं, न असत् हैं—**'न सत्तन्नासदुच्यते'** (१३।१२)। तात्पर्य है कि परमात्माका वर्णन नहीं किया जा सकता। वे सगुण भी हैं, निर्गुण भी हैं, साकार भी हैं, निराकार भी हैं और इन सबसे विलक्षण भी हैं, जिसका अभीतक शास्त्रोंमें वर्णन नहीं आया है ! उसका पूरा वर्णन हो सकता भी नहीं। प्राकृत मन, बुद्धि, वाणीके द्वारा प्रकृतिसे अतीत तत्त्वका वर्णन हो ही कैसे सकता है ?

द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि जितने भी मत-मतान्तर हैं, उन सबसे परिणाममें एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है—

पहुँचे पहुँचे एक मत, अनपहुँचे मत और।
संतदास घड़ी अरठ की, ढुरे एक ही ठौर॥

अरहटकी घड़ियाँ अलग-अलग, ऊँची-नीची रहती हैं। जब वे नीचे जाकर पानीसे भरकर ऊपर आती हैं, तब अलग-अलग होनेपर भी वे ढुलती एक ही जगह हैं।

नारायण अरु नगर के, रज्जब राह अनेक।
भावे आवो किधर से, आगे अस्थल एक॥

एक ही नगरमें जानेके कई मार्ग होते हैं। कोई पूर्वसे आता है, कोई पश्चिमसे आता है, कोई उत्तरसे आता है, कोई दक्षिणसे आता है। उनसे कोई पूछे कि नगर किस दिशामें है तो पूर्वसे आनेवाला कहेगा कि नगर पश्चिममें है। पश्चिमसे आनेवाला नगरको पूर्वमें बतायेगा। उत्तरसे आनेवाला नगरको दक्षिणमें बतायेगा। दक्षिणसे आनेवाला कहेगा कि नगर उत्तरमें है। सभी अपने-अपने अनुभवको सच्चा बतायेंगे और दूसरेके अनुभवको झूठा बतायेंगे कि तुम झूठ कहते हो, हमने तो खुद वहाँ जाकर देखा है। वास्तवमें सभी सच्चे होते हुए भी झूठे हैं ! पूर्व, पश्चिम आदिका भेद तो अपने दृष्टिकोण, आग्रहके कारण है। नगर न तो पूर्वमें है, न पश्चिममें है, न उत्तरमें है और न दक्षिणमें है। वह तो अपनी जगहपर ही है। अलग-अलग दिशाओंमें बैठे होनेसे ही वे नगरको अलग-अलग जगहपर बताते हैं।

हम किसी महात्माके विषयमें पहले कल्पना करते हैं कि वह ऐसा होगा, ऐसी उसकी दाढ़ी होगी, ऐसा उसका शरीर होगा आदि-आदि। परन्तु वहाँ जाकर उस महात्माको देखते हैं तो वह वैसा नहीं मिलता। ऐसे ही किसी शहरके विषयमें जैसी धारणा करते हैं, वहाँ जाकर देखनेपर वह वैसा नहीं मिलता। जब लौकिक विषयमें भी हम जो धारण करते हैं, वह सही नहीं निकलती, फिर जो सर्वथा असीम, अनन्त अपार, अलौकिक, गुणातीत परमात्मा हैं, उनके विषयमें धारणा सही कैसे निकलेगी ?

उपासना करनेवालोंके लिये 'भगवान्‌का स्वरूप क्या है'—इस विषयमें दो ही बातें हो सकती हैं, एक तो भगवान् पहले अपना स्वरूप दिखा दें, फिर उसके अनुसार उपासना करें और दूसरी, हम पहले भगवान्‌का कोई भी स्वरूप मान लें, फिर उपासना करें। इन दोनोंमें दूसरी बात ही ठीक बैठती है। कारण कि भगवान् पहले अपना स्वरूप दिखा दें, फिर हम साधन करें तो उस स्वरूपका ध्यान, वर्णन आदि करनेमें हमारेसे कहीं-न-कहीं गलती हो ही जायगी, जिसका हमें दोष लगेगा। भगवान् भी कह सकते हैं कि तुमने भूल क्यों की ? इसलिये भगवान्‌ने कृपा करके यह नियम बनाया है कि साधक उनके जिस रूपका ध्यान करें, जिस नामका जप करें, उसको वे अपना ही मान लेते हैं; क्योंकि भगवान् सब कुछ हैं।

अगर हमने यह सिद्धान्त बना लिया कि परमात्मतत्त्व सगुण ही है अथवा निर्गुण ही है, तो फिर उसकी प्राप्ति हो ही

गयी, हमने उसको जान ही लिया, फिर साधन करनेकी क्या जरूरत रही? अगर हम उसकी प्राप्ति नहीं मानते, अपनेको ज्ञात-ज्ञातव्य नहीं मानते और साधन करनेकी जरूरत समझते हैं तो हमने अभी उसको तत्त्वसे जाना नहीं है। वास्तवमें आजतक वेद, पुराण, सन्तवाणी आदिमें परमात्माका जितना वर्णन हो चुका है, जितना वर्णन वर्तमानमें हो रहा है और जितना वर्णन भविष्यमें होगा, वह सब-का-सब मिलकर भी परमात्माका पूरा वर्णन हो ही नहीं सकता। परमात्माके विषयमें हम जितनी कल्पना कर सकते हैं, परमात्मा उससे भी विलक्षण हैं?* वेद, पुराण, सन्तवाणी आदिमें परमात्माका जो वर्णन हुआ है, वह वाद-विवादके लिये नहीं है, प्रत्युत उसका उद्देश्य, उसकी सार्थकता यही है कि मनुष्य परमात्माको वैसा मानकर उनके सम्मुख हो जाय और उनकी प्राप्तिमें तत्परतासे लग जाय तथा उनकी प्राप्ति कर ले।

परमात्मा सगुण हैं, निर्गुण नहीं हैं अथवा परमात्मा निर्गुण हैं, सगुण नहीं हैं—इसमें विधि-अंश (परमात्मा सगुण हैं या परमात्मा निर्गुण हैं—ऐसा) मानना तो ठीक है, पर निषेध-अंश (परमात्मा सगुण नहीं हैं या परमात्मा निर्गुण नहीं हैं—ऐसा) मानना बहुत बड़ी गलती है। कारण कि निषेध-अंश माननेसे हमने एक तो परमात्माको सीमित मान लिया, उनमें कमी मान ली और दूसरे, जिसका हमने निषेध किया, उसकी उपासना करनेवालोंके हृदयको ठेस पहुँचायी, उनको विचलित किया, जो कि एक बड़ा अपराध है। कारण कि दूसरे मतको माननेवाला साधक कोई निषिद्ध आचरण (पाप) नहीं करता, प्रत्युत जिस किसी प्रकारसे भगवान्में ही लगा हुआ है। अतः उसकी निन्दा करनेसे उसका तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, पर अपनी हानि हो ही जायगी अर्थात् हमारी उपासनामें बाधा लग ही जायगी। परमात्मा सगुण नहीं हैं अथवा निर्गुण नहीं हैं—इस प्रकार हम अपने उपास्यको सीमित बनायेंगे तो उसकी उपासना भी सीमित ही होगी। भगवान्के एक रूपको माननेवालोंके साथ राग होगा और दूसरे रूपको माननेवालोंके साथ द्वेष होगा तो इस प्रकार राग-द्वेषके रहते हुए परमात्माकी प्राप्ति कैसे होगी? हम अपनी समझ बता सकते हैं कि हमें तो भगवान्का अमुक रूप समझमें आता है, पर परमात्माका ठेका लेना कि वे ऐसे ही हैं—यह गलतीकी बात है।

हमें तो सगुण ही प्रिय लगता है अथवा हमें तो निर्गुण ही ठीक लगता है या हमें तो द्वैत सिद्धान्त ही ठीक जँचता है अथवा हम तो अद्वैत सिद्धान्तको ही ठीक समझते हैं—ऐसा कहना तो साधकके लिये ठीक है, पर दूसरेके इष्ट, सिद्धान्त, मत आदिकी निन्दा या खण्डन करना साधकके लिये महान् बाधक है। भगवान्के एक रूपको ही मानकर उसका आग्रह, पक्षपात रखना 'अनन्यता' नहीं है। अनन्यताका तात्पर्य है—भगवान्के सिवाय संसारमें कहीं भी आसक्ति न करना।

साधकको अपने मत, सम्प्रदाय आदिका आग्रह नहीं रखना चाहिये, प्रत्युत उसका अनुसरण करना चाहिये। अपने मतका आग्रह रखनेसे उसका दूसरे मतसे द्वेष हो जायगा, जिससे वह दूसरे मतकी बातोंको निष्पक्ष होकर नहीं सुन सकेगा। सभी मत, सम्प्रदाय आदिमें अच्छे-अच्छे सन्त-महापुरुष हुए हैं। अपने मतका आग्रह रहनेसे साधक उन सन्त-महापुरुषोंकी अच्छी-अच्छी बातोंसे वञ्चित रह जायगा। अतः साधकको चाहिये कि वह प्रत्येक मत, सम्प्रदाय आदिकी बातोंको निष्पक्ष होकर सुने, उनपर गहराईसे विचार करे और जो बातें उपयोगी लगें, उनको ग्रहण करे। साधकको सारग्राही बनना चाहिये। अगर उसको अपने या दूसरेके मतमें कोई शंका पैदा हो जाय तो जिनपर उसकी श्रद्धा हो, उनसे पूछकर समाधान कर लेना चाहिये। न समझनेके कारण अपने मतमें कोई कमी या बाधा दीखे तो उसका त्याग कर देना चाहिये। उपनिषद्में आचार्य अपने शिष्योंको उपदेश देते हैं—

'यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।'

(तैत्तिरीय० १। ११)

'जो-जो निर्दोष कर्म हैं, उनका ही तुम्हें सेवन करना चाहिये, दूसरे (दोषयुक्त) कर्मोंका कभी आचरण नहीं करना चाहिये। हमारे आचरणोंमेंसे भी जो-जो अच्छे आचरण दीखें, उनका ही तुम्हें सेवन करना चाहिये, दूसरोंका कभी नहीं।'

इसका अर्थ यह नहीं है कि उन आचार्योंमें कोई कमी या दोष है। कमी हमारी समझमें है, उनमें नहीं। अतः उनकी कोई क्रिया हमारी समझमें न आये, उसमें हमारी दोषदृष्टि हो जाय तो उसका अनुसरण नहीं करना चाहिये।

साधकका वास्तविक गुरु उसका 'विवेक' ही है। अतः अपने विवेकका आदर करनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। जितना जानते हैं, उसको मान लें—यह विवेकका आदर है। यह नाशवान् है—ऐसा जानते हुए भी उसमें प्रियता करना

* देखें—गीताप्रेससे प्रकाशित 'सहज साधना' पुस्तकमें 'वर्णनातीतका वर्णन' शीर्षक लेख।

अपने विवेकका अनादर है। जिसकी नाशवान्‌में प्रियता है, वह अविनाशी तत्त्वको कैसे समझेगा ? अगर वह असत्‌में ही उलझा रहेगा तो सत्-तत्त्वकी प्राप्ति कैसे होगी ? जिसकी भोग और संग्रहमें प्रियता है, वह परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति तो दूर रही, उसकी प्राप्तिका निश्चय भी नहीं कर सकता—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

(गीता २।४४)

'उस पुष्पित (भोगोंका वर्णन करनेवाली) वाणीसे जिनका अन्तःकरण हर लिया गया है अर्थात् भोगोंकी तरफ खिंच गया है और जो भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती।'

साधकके लिये केवल इतना ही मान लेना आवश्यक है कि 'परमात्मतत्त्व है' अथवा 'संसार नहीं है'। परमात्मतत्त्व कैसा है—यह जाननेकी जरूरत नहीं है। कारण कि परमात्म-तत्त्व विचारका विषय नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासका, मान्यताका विषय है* परन्तु 'परमात्मा है'—इसकी दृढ़ताके लिये 'संसार नहीं है'—यह विचार करनेकी आवश्यकता है। जैसे, शरीर प्रतिक्षण बदल रहा है, अभावमें जा रहा है—यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। बचपनमें जैसा शरीर था, वैसा अब नहीं रहा, सर्वथा बदल गया, पर मैं (स्वयं) वही हूँ—इस प्रकार शरीरके बदलनेका ज्ञान सबको है, पर अपने बदलनेका ज्ञान किसीको भी नहीं है; क्योंकि अपना स्वरूप कभी बदलता ही नहीं। ऐसा विचार करके साधक बदलनेवाले (संसार) से विमुख हो जाय तो उसको न बदलनेवाले (परमात्मतत्त्व) का अनुभव हो जायगा।

—★—

* इस विषयको अच्छी तरह समझनेके लिये 'सहज साधना' पुस्तकमें 'जिज्ञासा और बोध' शीर्षक लेख पढ़ना चाहिये।

साधकका कर्तव्य

साधकका मुख्य कर्तव्य है—साधनविरुद्ध कार्य न करना अर्थात् जो कार्य परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक हो, उसका त्याग करना। साधनविरुद्ध कार्यका त्याग करनेपर साधन करना नहीं पड़ता, प्रत्युत स्वतः होता है। स्वतः होनेवाले साधनमें कर्तृत्वाभिमान (करनेका अभिमान) नहीं आता। वास्तवमें साधन स्वतःसिद्ध है। साधनविरुद्ध कार्य तो हमने पकड़ा है। जैसे, बालक स्वतः सत्य बोलता है, पर जब वह झूठको स्वीकार कर लेता है अर्थात् झूठ बोलना सीख जाता है, तब उसको सत्य बोलनेके लिये उद्योग करना पड़ता है। उद्योगसे किये गये साधनसे कर्तृत्वाभिमान पैदा होता है। तात्पर्य है कि जैसे साध्य (परमात्मा) अविनाशी है, ऐसे ही साधन भी अविनाशी है†। परन्तु जब साधक साधनको अविनाशी न मानकर कृतिसाध्य (अपने उद्योगसे किया गया) मान लेता है, तब उसमें कर्तृत्वाभिमान आ जाता है।

जो अपना नहीं है, प्रत्युत मिला हुआ है और बिछुड़ जायगा, उसको अपना मानना और जो अनादिकालसे स्वतः अपना है, उसको अपना न मानना साधनविरुद्ध कार्य है। अतः साधनविरुद्ध कार्यके त्यागका तात्पर्य है—जो मिला है, उसको अपना नहीं मानना। कारण कि जो मिला है, वह बिछुड़ेगा—यह नियम है। इसलिये मिले हुएको अपना न मानकर, प्रत्युत संसारका ही मानकर उसका सदुपयोग करना है।

साधकको जो देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि मिली हैं, उसका सदुपयोग करना चाहिये। सदुपयोग करनेका तात्पर्य है—प्राप्त वस्तु आदिको अपनी न मानकर, प्रत्युत अभावग्रस्तोंकी ही मानकर निःस्वार्थभावसे उनकी सेवामें लगा देना। यह '**कर्मयोग**' है।

साधकको अपनी जानकारीका आदर करना चाहिये, उसको महत्त्व देना चाहिये। अपनी जानकारीको महत्त्व देनेका तात्पर्य है—अपने विवेकसे जैसा जाना है, वैसा मान लेना और वैसा ही आचरण करना। जैसे किसी भी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिके साथ हमारा सम्बन्ध था नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं और वर्तमानमें भी उससे निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है—इस प्रकार साधक अपनेको असंग स्वीकार करे। यह '**ज्ञानयोग**' है।

साधकको एकमात्र भगवान्पर ही विश्वास करना चाहिये। विश्वास करनेका तात्पर्य है—भगवान्के सिवाय दूसरी चीजको भूलकर भी अपना न मानना और उसपर विश्वास, भरोसा न करना‡। यह '**भक्तियोग**' है।

मिली हुई वस्तु आदिका सदुपयोग करनेकी अपेक्षा

† इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। (गीता ४। १)

'इस अविनाशी योगको मैंने सूर्यसे कहा था।'—यहाँ भगवान्ने योग (साधन) को अविनाशी कहा है।

‡ एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास। एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥ (दोहावली २७७)

उसका दुरुपयोग न करना श्रेष्ठ है*। अपनी जानकारीका आदर करनेकी अपेक्षा उसका अनादर न करना श्रेष्ठ है। भगवान्‌पर विश्वास करनेकी अपेक्षा संसारपर विश्वास न करना श्रेष्ठ है। कारण यह है कि विधिकी अपेक्षा निषेध श्रेष्ठ और बलवान् होता है। विधि सीमित होती है और निषेध (त्याग) असीम होता है। विधिमें कमी रह सकती है और अभिमान भी आ सकता है, पर निषेधमें कोई कमी नहीं रहती और अभिमान भी नहीं आता। जैसे, सत्य बोलनेवाला कभी झूठ भी बोल सकता है और उसको 'मैं सत्य बोलनेवाला हूँ' ऐसा अभिमान भी आ सकता है; परन्तु झूठ न बोलनेवाला सावधान साधक जब भी बोलेगा, सत्य ही बोलेगा अथवा चुप रहेगा और उसको सत्य बोलनेका अभिमान भी नहीं आयेगा†।

अगर साधक प्राप्त वस्तु, परिस्थिति आदिका दुरुपयोग न करे तो **'कर्मयोग'**सिद्ध हो जायगा अर्थात् कुछ करना बाकी नहीं रहेगा। अगर वह अपनी जानकारीका अनादर न करे तो **'ज्ञानयोग'** सिद्ध हो जायगा अर्थात् कुछ जानना बाकी नहीं रहेगा। अगर वह संसारपर विश्वास न करे तो **'भक्तियोग'** सिद्ध हो जायगा अर्थात् कुछ पाना बाकी नहीं रहेगा। साधकसे भूल यही होती है कि वह प्राप्त वस्तु, परिस्थिति आदिका सदुपयोग न करके अप्राप्त वस्तु, परिस्थिति आदिकी इच्छा करता है,अपनी जानकारीको महत्त्व न देकर नाशवान्‌को महत्त्व देता है और भगवान्‌पर विश्वास न करके संसारपर विश्वास करता है। इस भूलके कारण उसका करना, जानना और पाना बाकी रहता है अर्थात् उसको पूर्णताकी प्राप्ति नहीं होती।

अगर साधक प्राप्त वस्तुका दुरुपयोग न करे तो उसमें अपनी जानकारीका आदर करनेकी योग्यता आ जाती है तथा अपनी जानकारीका आदर करनेसे भगवान्‌पर विश्वास करनेकी योग्यता आ जाती है।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनोंमेंसे किसी भी एक साधनकी सिद्धि होनेपर शेष दोनों साधनोंकी सिद्धि स्वतः हो जाती है। परन्तु साधकमें अपने साधनका आग्रह और अभिमान रहेगा तो ऐसा होनेमें कठिनता है! हाँ, यदि साधक अपना आग्रह और अभिमान न रखे तो सच्ची बात स्वतः प्रकट हो जायगी।

साधकको इस बातकी सावधानी रखनी चाहिये कि उसके द्वारा कोई साधनविरुद्ध काम न हो। साधनविरुद्ध काम न करनेसे साधककी स्वतः उन्नति होती है और साधनविरुद्ध काम करनेसे साधकका स्वतः पतन होता है। तात्पर्य है कि मनुष्यमें क्रियाका एक वेग रहता है। यदि उसके द्वारा उन्नतिकी क्रिया नहीं होगी तो फिर पतनकी क्रिया होगी। कारण कि स्थिर न रहना, प्रतिक्षण बदलना संसारका स्वभाव है। अतः साधक या तो उन्नतिमें जायगा या पतनमें जायगा। इसलिये साधक किसी भी जाति, वर्ण, आश्रम, मत, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो, उसको साधनविरुद्ध कार्यका त्याग करना ही पड़ेगा‡। अर्थात् प्राप्त वस्तुका दुरुपयोग, अपनी जानकारीका अनादर और संसारपर विश्वास—इन तीनोंका त्याग करना ही पड़ेगा। साधनविरुद्ध कार्यके त्यागमें ही उसके साधनकी पूर्णता है।

प्रश्न—साधनविरुद्ध कार्यके मूलमें क्या है?

उत्तर—साधनविरुद्ध कार्यके मूलमें सुखभोगकी आसक्ति है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें सुखासक्ति बहुत बाधक है। सुखासक्ति अधिक होनेसे उसका त्याग कठिन, असम्भव दीखता है। परन्तु साधक इस सुखासक्तिके त्यागमें स्वतन्त्र है और विचारपूर्वक इसका त्याग कर सकता है। वह विचार करे कि मुझे वह सुख लेना है, जिसमें कोई कमी न हो तथा जो कभी नष्ट न हो—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।

(गीता ६। २२-२३)

'जिस लाभकी प्राप्ति होनेपर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ उसके माननेमें भी नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता।'

'जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है, उसीको **'योग'** नामसे जानना चाहिये।'

मनुष्यमें विचारकी जितनी शक्ति है, उतनी देवताओंमें भी नहीं है। वह विचार नहीं करता तो यह उसका प्रमाद है, असावधानी है।

---

* मिली हुई वस्तुको अपनी मानना तथा उसको अपने सुखभोगमें लगाना उसका दुरुपयोग है।

† इस विषयको भलीभाँति समझनेके लिये 'साधन और साध्य' नामक पुस्तकमें 'निषेधात्मक साधन' शीर्षक लेख पढ़ना चाहिये।

‡ न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥ (गीता ६। २)
'संकल्पोंका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी नहीं हो सकता।'

सुखभोगसे भोग्य वस्तुका नाश और अपना पतन होता है—यह नियम है। जैसे, रागपूर्वक धनका भोग करते हैं तो धनका नाश और अपना पतन करते हैं। अपनेमें धनका महत्त्व, कामना, लोभ, आसक्ति, जडता, गुलामी आदि आना ही अपना पतन है। रागपूर्वक भोजन करते हैं तो अन्नका नाश और अपना पतन करते हैं। अपनेमें भोजनकी आसक्ति बढ़ना ही अपना पतन है।

सांसारिक सुखभोगका तो कहना ही क्या है, साधनजन्य सुखका भोग करनेसे भी साधकका पतन हो जाता है! जैसे, त्यागसे जो शान्ति मिलती है, उस शान्तिका उपभोग करनेसे वह त्याग नहीं रहता और साधकका पतन हो जाता है। कारण कि साधनजन्य सुखके भोगसे मरा हुआ अहंकार भी जीवित हो जाता है अर्थात् व्यक्तित्व जाग्रत् हो जाता है और दृढ़ हो जाता है, जो कि महान् अनर्थका, जन्म-मरणका हेतु है। जबतक अपनेमें अच्छेपनका भाव रहता है, अपनेमें कोई विशेषता दीखती है, तबतक व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता अर्थात् अपनेमें एकदेशीयपना रहता है। अतः साधनमें ऊँची स्थिति होनेपर भी तथा अपनेमें जीवन्मुक्त या गुणातीत-अवस्थाकी मान्यता होनेपर भी उसका सुख नहीं भोगना चाहिये। इस विषयमें साधकको बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता है।

═ ★ ═

विवेककी जागृति

मानवशरीरकी महिमा विवेकके कारण ही है। विवेक प्राणिमात्रमें है; परन्तु जिससे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर सकें, ऐसा (सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्यका) विवेक मनुष्यमें ही है। यह विवेक कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत भगवत्प्रदत्त है। यह बुद्धिमें आता है, बुद्धिका गुण नहीं है। अतः बुद्धि तो कर्मानुसारिणी होती है, पर विवेक कर्मानुसारी नहीं होता। अगर विवेकको पुण्य-कर्मोंका फल मानें तो यह शंका पैदा होगी कि बिना विवेकके पुण्यकर्म कैसे हुए? कारण कि ये पुण्यकर्म हैं और ये पापकर्म हैं—ऐसा विवेक पहले होनेपर ही मनुष्य पापोंका त्याग करके पुण्यकर्म करता है। अतः विवेक पुण्यकर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत यह पुण्यकर्मोंका कारण और अनादि है।

लौकिक पदार्थोंकी प्राप्ति तो क्रियासे होती है, पर परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति विवेकसे होती है। मुक्त करनेकी शक्ति विवेकमें है, क्रियामें नहीं। अगर मनुष्यमें विवेककी प्रधानता हो तो वह प्रत्येक देशमें, प्रत्येक कालमें, प्रत्येक अवस्थामें, प्रत्येक परिस्थितिमें परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर सकता है। कारण कि परमात्मतत्त्वसे कभी किसीका वियोग नहीं है। अतः मनुष्यका खास काम है—प्राप्त विवेकका आदर करना, उसको महत्त्व देना। विवेकका आदर करनेसे वह विवेक ही बढ़कर तत्त्वबोधमें परिणत हो जाता है।

प्रश्न—अन्तःकरणको शुद्ध किये बिना विवेकका आदर कैसे होगा?

उत्तर—विवेक अन्तःकरणकी शुद्धिके आश्रित नहीं है, प्रत्युत अन्तःकरणकी शुद्धि विवेकके आश्रित है। विवेक अनादि तथा अनन्त है और अन्तःकरणकी अशुद्धि सादि और सान्त है। विवेक असीम है और अशुद्धि सीमित है। विवेक स्वतःसिद्ध है, अशुद्धि स्वतः सिद्ध नहीं है। विवेक नित्य है, अशुद्धि अनित्य है। नित्यको अनित्य कैसे ढक सकता है? जडताका महत्त्व ही अन्तःकरणको अशुद्ध करनेवाली चीज है। अतः विवेकको महत्त्व देनेसे अन्तःकरण स्वतः शुद्ध हो जाता है।

शुद्ध करनेसे अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता। कारण कि शुद्ध करनेसे अन्तःकरणके साथ सम्बन्ध बना रहता है। जबतक 'मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जाय'—यह भाव रहेगा, तबतक अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ममता ही अशुद्धिका कारण है—***'ममता मल जरि जाइ'*** (मानस ७। ११७ क)। इसलिये गीताने अन्तःकरणके साथ ममता न रखनेकी बात कही है; जैसे—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
(५। ११)

'कर्मयोगी आसक्तिका त्याग करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये केवल अर्थात् ममतारहित इन्द्रियाँ-शरीर-मन-बुद्धिके द्वारा कर्म करते हैं।' कारण कि ममता-आसक्ति रखनेसे कर्म होते हैं, कर्मयोग नहीं होता।

विवेकके बिना केवल क्रियासे अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होती*। शक्ति विवेकमें है, क्रियामें नहीं। क्रिया करनेमें

* अन्तःकरणकी शुद्धि क्रियासे नहीं होती, प्रत्युत भाव और विवेकसे होती है। इसलिये कर्मयोगमें निष्कामभावसे, ज्ञानयोगमें विवेकसे और भक्तियोगमें प्रेमभावसे अन्तःकरण स्वतः शुद्ध हो जाता है। सकामभावसे की गयी क्रियासे भी अन्तःकरणमें एक तरहकी शुद्धि आती है, पर वह शुद्धि उस क्रियाका फल भोगनेमें ही काम आती है, पारमार्थिक उन्नतिमें काम नहीं आती।

करणकी मुख्यता रहेगी तो करणका आदर होगा। करणका आदर (महत्त्व) ही अन्तःकरणकी अशुद्धि है।

अन्तःकरणकी अशुद्धि वास्तवमें कर्ताकी अशुद्धि है; क्योंकि कर्ताका दोष ही करणमें आता है। जैसे, मनुष्य चोरी करनेसे चोर नहीं बनता, प्रत्युत चोर बनकर चोरी करता है। चोरी करनेसे उसका चोरपना दृढ़ होता है। अगर कर्ताकी नीयत शुद्ध हो तो वह चोरी नहीं कर सकता। अतः करणको शुद्ध करनेकी उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी कर्ताको शुद्ध होनेकी आवश्यकता है। अगर करणको शुद्ध करेंगे तो परिणाममें क्रिया शुद्ध होगी, कर्ता कैसे शुद्ध होगा ? जैसे, कलम बढ़िया होगी तो लेखन-कार्य बढ़िया होगा, लेखक कैसे बढ़िया हो जायगा ? कर्ता शुद्ध होता है—अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर और अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है—विवेकका आदर करनेसे।

एक मार्मिक बात है कि अन्तःकरण अशुद्ध होनेपर भी विवेक जाग्रत् हो सकता है। इसीलिये गीतामें आया है कि पापी-से-पापी और दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी ज्ञान और भक्ति प्राप्त कर सकता है*। तात्पर्य है कि अपने कल्याणका दृढ़ उद्देश्य हो जाय तो पूर्वकृत पाप विवेककी जागृतिमें बाधक नहीं हो सकते। पाप तभी बाधक हो सकते हैं, जब विवेक कर्मोंका फल हो। परन्तु विवेक कर्मोंका फल है ही नहीं। कर्मोंके साथ विवेकका सम्बन्ध है ही नहीं। अतः विवेकका पापोंसे विरोध नहीं है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह अपने विवेकको जाग्रत् करे।

प्रश्न—विवेक कैसे जाग्रत् होता है ?

उत्तर—विवेक दो चीजोंसे जाग्रत् होता है—सत्सङ्गसे† और दुःख (आफत) से। सत्सङ्ग परमात्मामें लगाता है और दुःख संसारसे हटाता है। परमात्मामें लगना भी योग है '**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८) और संसारसे हटना भी योग है '**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (गीता ६। २३)।

रामचरितमानसमें आया है—'***बिनु सतसंग बिबेक न होई***' (१। ३। ४) इसका तात्पर्य यह है कि सत्सङ्गके बिना विवेक जाग्रत् नहीं होता। सत्सङ्गसे बहुत विलक्षण लाभ होता है और स्वाभाविक शुद्धि होती है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

(श्रीमद्भा० ३। २५। २५)

'संतोंके संगसे मेरे पराक्रमोंका यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली कथाएँ होती हैं। उनका सेवन करनेसे शीघ्र ही मोक्षमार्गमें श्रद्धा, प्रेम और भक्तिका क्रमशः विकास होगा।'

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(मानस ७। ६१)

केवल सत्सङ्गसे, सन्तोंकी आज्ञाका पालन करनेसे साधकको परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३। २५)

'दूसरे जो मनुष्य इस प्रकार ध्यानयोग, ज्ञानयोग आदि साधनोंको नहीं जानते, प्रत्युत केवल जीवन्मुक्त महात्माओंसे सुनकर उपासना करते हैं अर्थात् उनके वचनोंको महत्त्व देते हैं तथा उसके अनुसार अपना जीवन बनाते हैं, ऐसे वे सुननेके परायण मनुष्य भी मृत्युको तर जाते हैं।'

अतः जहाँतक बने, साधकको सत्सङ्ग नहीं छोड़ना चाहिये और कुसङ्गसे बचना चाहिये। सत्सङ्गसे जितना लाभ होता है, उतनी ही कुसङ्गसे हानि होती है। परन्तु दोनोंमें फर्क है। कुसङ्गसे होनेवाली हानि तो फल देकर नष्ट हो जाती है, पर सत्सङ्गसे होनेवाला लाभ (विवेक) फल देकर नष्ट नहीं होता; क्योंकि यह सत् है और सत् कभी मिटता नहीं—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)।

संसारकी एक चाल है कि वह विश्वासघात करता ही है। वास्तवमें उससे विश्वासघात होता है, वह करता नहीं। कारण कि जीव संसारको सुखदायी समझकर उसकी तरफ आकृष्ट होता है, पर वह दुःखदायी सिद्ध होता है! इस प्रकार जब विश्वासघात होता है, तब हृदयमें एक रेख आती है कि 'संसारमें मेरा कोई नहीं'! यह रेख ही

---

* अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ (गीता ४। ३६)
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ (गीता ९। ३०)

† सच्छास्त्रोंका अध्ययन करना भी सत्सङ्ग है।

मनुष्यको साधनमें लगा देती है, उसका विवेक जाग्रत् करा देती है।

दुःख आनेपर भी यदि सुखकी इच्छा रहेगी तो विवेक जाग्रत् नहीं होगा; क्योंकि सुखकी इच्छा महान् दोषी है। सुखके द्वारा दुःख दूर करनेकी इच्छा होनेपर दुःखकी वृद्धि ही होती है। कारण कि वास्तवमें सुखकी इच्छा ही सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है। अतः दुःख आनेपर सुखकी इच्छाका त्याग करना चाहिये और दुःखके कारणकी खोज करनी चाहिये। सुखकी इच्छाका त्याग करनेपर और दुःखके कारणकी खोज करनेपर विवेक जाग्रत् हो जाता है।

★

भोग और योग

साधकोंके सामने प्रायः यह समस्या आती है कि हम जप करते हैं, पाठ करते हैं, सत्सङ्ग करते हैं, विचार करते हैं, चिन्तन करते हैं, ध्यान करते हैं, तीर्थ-व्रतादिक करते हैं, फिर भी तत्त्वका अनुभव नहीं हो रहा है, वास्तविक स्थिति नहीं हो रही है, क्या कारण है? कहाँ और क्या बाधा लग रही है? इस समस्याका मूल कारण है—संयोगजन्य सुखकी लोलुपता। विनाशी वस्तुके सम्बन्धसे होनेवाला जो सुख है, उस सुखकी जो लोलुपता है, भीतरमें जो इच्छा है कि यह सुख मिले, यह सुख बना रहे, यह सुख बढ़ता रहे—यही खास बाधा है। इसीके कारण वास्तविक स्थितिका अनुभव नहीं हो रहा है।

सुखका आना खराब नहीं है, प्रत्युत सुखका भोग और उसकी इच्छा खराब है। यह सुखकी इच्छा बहुत दूरतक साधकके लिये बाधक होती है। जहाँ उसने सुख भोगा, वहीं बाधा लग जायगी! संयोगजन्य सुखसे अतीत जो समताका, शान्तिका सुख है, उसका भी यदि साधक भोग करेगा तो वह आंशिक समता, शान्ति भी स्थायी नहीं रहेगी, प्रत्युत आती-जाती रहेगी। कारण कि साधनजन्य सात्त्विक सुखका भोग भी बाँधनेवाला है—'**सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ**' (गीता १४। ६)। साधनजन्य सुखका ज्ञान बाँधनेवाला नहीं होता, प्रत्युत उसका भोग बाँधनेवाला होता है। साधनजन्य सुखमें राजी होना, उसके कारण अपनेमें दूसरोंकी अपेक्षा विशेषता देखना भोग है। यह सिद्धान्त है कि हम जिस चीजका भोग करते हैं, वह चीज नष्ट हो जाती है और हमारा पतन होता है; जैसे—धनका भोग करनेसे धन नष्ट (खर्च) हो जाता है और हमारा पतन होता है अर्थात् आदत बिगड़ती है।

संसारमें सुख भी आता है और दुःख भी; क्योंकि सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता संसारका स्वरूप है। परंतु हमें न सुखका भोग करना है, न दुःखका। कारण कि सुखी होना भी बन्धन है और दुःखी होना भी बन्धन है। अगर सुखी-दुःखी होना ही हो तो सुखमें भी सुखी हों और दुःखमें भी सुखी हों तो ठीक हो जायगा अथवा सुखमें भी दुःखी हों और दुःखमें भी दुःखी हों तो ठीक हो जायगा। सुखमें भी सुखी और दुःखमें भी सुखी होनेका तात्पर्य है कि चाहे सुख आये, चाहे दुःख आये, दोनोंसे अपना कोई मतलब न रखें, उनसे निर्लिप्त रहें। सुखमें भी दुःखी और दुःखमें भी दुःखी होनेका तात्पर्य है कि सुखमें सुखी हो जानेपर यह दुःख हो जाय कि मैं सुखी क्यों हो गया अर्थात् मेरेपर सुखका असर क्यों हो गया? और दुःखमें दुःखी हो जानेपर यह दुःख हो जाय कि मैं दुःखी क्यों हो गया? तात्पर्य है कि जिस किसी तरह अपनेमें समता और निर्लिप्तता आनी चाहिये।

वास्तवमें भोग ही योगमें बाधक है। अतः न तो सुखका भोग करना है और न दुःखका ही भोग करना है। जब हम सुख और दुःख दोनोंमें सम रहेंगे, प्रसन्न रहेंगे, तब सुख-दुःखका भोग नहीं होगा। अतः जैसे सुख आनेपर प्रसन्नता होती है, ऐसे ही दुःख आनेपर भी प्रसन्नता होनी चाहिये। बीमारीमें, घाटा लगनेमें, प्रियकी मृत्युमें भी प्रसन्नता होनी चाहिये और ऐसा हो सकता है! दुःखमें भी सुख हो सकता है। तेज बुखार चढ़े, शरीरमें पीड़ा हो तो उसमें भी आनन्द हो सकता है। अपमान हो जाय, घाटा लग जाय तो उसमें भी आनन्द हो सकता है। अगर यह बात समझमें आ जाय तो बड़े भारी लाभकी बात है! अनुकूलतामें सुखी और प्रतिकूलतामें दुःखी तो पशु, पक्षी, भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस आदि भी होते हैं। अगर यही दशा हमारी भी है तो मनुष्य-शरीरकी क्या विशेषता हुई! हमारेमें और पशुओंमें क्या फर्क हुआ? अतः हमें प्रत्येक परिस्थितिमें प्रसन्न रहना है। सुख आनेपर भी प्रसन्न रहना है और दुःख आनेपर भी प्रसन्न रहना है— '**मनःप्रसादः सौम्यत्वम्**' (गीता १७। १६)।

प्रश्न—दुःख आनेपर भी प्रसन्न कैसे रहें!

उत्तर—जैसे, पैरमें काँटा गड़ जाय तो उसको लोहेके काँटेसे ही निकालते हैं। इसलिये काँटा निकालते समय बड़ी पीड़ा होती है। परन्तु 'काँटा निकल रहा है'—इस बातको लेकर उस पीड़ामें भी सुखका अनुभव होता है। प्रसवके समय स्त्रीको बहुत पीड़ा होती है। सन्तोंने भी लिखा है—*'बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा'* (मानस १। ९७। २)।

परन्तु उस समय भी जब वह सुनती है कि 'लड़का जन्मा है', तब उसको उस पीड़ामें भी प्रसन्नताका अनुभव होता है। हम कर्जा चुकाते हैं तो घरसे पैसे देने पड़ते हैं, पर 'कर्जा उतर गया' इस बातसे बड़ी प्रसन्नता होती है। घरसे सौ रुपये निकल जायँ तो दुःख होता है, पर सौ रुपये निकलनेपर कर्जा उतरता हो तो भले आदमीको बड़ा सुख होता है कि बहुत अच्छा हुआ! इससे सिद्ध हुआ कि दुःखमें भी सुखका अनुभव हो सकता है।

पाप-पुण्यकी दृष्टिसे विचार करें तो दुःखमें पापोंका नाश होता है और सुखमें पुण्योंका। विचार करें कि हम पापोंका नाश चाहते हैं या पुण्योंका? कोई भी यह नहीं चाहता कि मेरे पुण्योंका नाश हो जाय। सभी यह चाहते हैं कि हमारे पाप नष्ट हो जायँ। ज़ो भी दुःख आता है, कष्ट आता है, उससे पुराने पापोंका नाश होता है और नयी सावधानी होती है—यह बिलकुल सच्ची बात है। जितनी प्रतिकूलता आती है, उतना ही पापोंका नाश होता है। पापोंका नाश होनेपर तो प्रसन्नता होनी चाहिये!

जितनी दुःखदायी परिस्थिति आती है, उतना ही अन्तःकरण निर्मल होता है—यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। कोई आदमी बहुत अधिक बीमार हो जाय और फिर ठीक हो जाय तो ठीक होनेके बाद जब वह सत्संगकी बातें सुनता है, तब वह गद्‌गद हो जाता है, उसकी आँखोंसे आँसू आने लगते हैं। कारण यह है कि रोगका कष्ट भोगनेसे उसके पाप नष्ट हुए हैं और अन्तःकरण निर्मल हुआ है, जिससे उसपर सत्संगकी बातोंका बड़ा असर होता है। जैसे शरीर नीरोग होता है तो भूख लगती है। भूख लगनेपर रूखी रोटी भी बड़ी अच्छी लगती है और बल देनेवाली होती है। भूख नहीं हो तो बढ़िया भोजन भी अच्छा नहीं लगता, उसका रस भी नहीं बनता और वह बल भी नहीं देता। ऐसे ही कष्ट भोगनेपर पापोंका नाश होता है और परमात्माकी भूख लगती है। भूख लगनेपर पारमार्थिक बातें, सत्संगकी बातें बड़ी अच्छी लगती हैं और जीवनमें आती हैं।

दुःखमें मनुष्यका विकास होता है। ऐसे बहुत कम शूरवीर आदमी मिलेंगे, जिन्होंने सुखमें विकास कर लिया। प्रायः दुःखमें विकास करनेवाले साधक ही मिलते हैं। कारण कि दुःखमें विकास होना सुगम है। सुखमें विकास नहीं होता, प्रत्युत विनाश होता है; क्योंकि इसमें पुराने पुण्य नष्ट होते हैं और सुखभोगमें उलझ जानेके कारण आगे उन्नति नहीं होती। जो प्रतिकूलता आनेपर भी साधन करता रहता है, वह अनुकूलतामें भी सुगमतापूर्वक साधन कर सकता है। परन्तु जो अनुकूलतामें ही साधन करता है, उसके सामने यदि प्रतिकूलता आ जाय तो वह साधन नहीं कर सकता। इसलिये गृहस्थका उद्धार जल्दी होता है, पर साधुका उद्धार जल्दी नहीं होता। कारण कि साधु तो थोड़ी भी प्रतिकूलता सह नहीं सकता और प्रतिकूलता आनेपर कमण्डलु उठाकर चल देता है, पर गृहस्थ प्रतिकूलता आनेपर कहाँ जाय? वह माँ-बाप, स्त्री-पुत्रको कैसे छोड़े? अतः वह वहीं बँधा रहता है और प्रतिकूलता सह लेता है। प्रतिकूलता सहनेसे उसकी सहनशक्ति बढ़ जाती है। जो थोड़ी भी प्रतिकूलता नहीं सह सकता, वह उन्नति कैसे करेगा? वह तो कायर ही रहता है, शूरवीर नहीं हो सकता। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

(२।१४)

'हे कौन्तेय! इन्द्रियोंके जो विषय (जड पदार्थ) हैं, वे अनुकूलता और प्रतिकूलताके द्वारा सुख और दुःख देनेवाले हैं। वे आने-जानेवाले और अनित्य हैं। हे भारत! उनको तुम सहन करो।'

सहन करनेसे क्या होगा? इसको बताते हैं—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(गीता २।१५)

'हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! सुख-दुःखमें सम रहनेवाले जिस धीर मनुष्यको ये मात्रास्पर्श (पदार्थ) व्यथा नहीं पहुँचाते, वह अमर होनेमें समर्थ हो जाता है अर्थात् जन्म-मरणसे रहित हो जाता है।'

सुखमें सुखी होना और दुःखमें दुःखी होना—दोनों ही व्यथा है। अतः सुखमें सुखी नहीं होना और दुःखमें दुःखी नहीं होना अर्थात् सुख-दुःखमें सम रहना ही सुख-दुःखको सहना है। जो सुखी-दुःखी हो गया, उससे सुख भी नहीं सहा गया और दुःख भी नहीं सहा गया।

सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥

(मानस २।१५०।४)

भगवत्कृपाकी दृष्टिसे विचार करें तो दुःखमें भगवान्‌की कृपा अधिक होती है। जैसे, बच्चे खेल रहे हों और किसी माँके मनमें भाव आ जाय तो वह सब बच्चोंको लड्डू दे सकती है। परन्तु बच्चे शरारत करें तो वह सबको थप्पड़ नहीं लगा सकती, प्रत्युत अपने बच्चेको ही थप्पड़ लगा सकती है। तात्पर्य है कि थप्पड़ लगानेमें जितना अपनापन है, लड्डू देनेमें

उतना अपनापन नहीं है। इसी तरह दुःख आनेपर ऐसा सोचें कि भगवान्‌का मेरेपर अपनापन है। अपनापन जितना सुखदायी है, उतना थप्पड़ (दुःख) दुःखदायी नहीं है। यदि अपनेपनको देखें तो दुःख भी आनन्द देनेवाला हो जाता है ! अतः दुःख आनेपर आनन्द मनाना चाहिये कि भगवान्‌ने बड़ी कृपा कर दी !

विवेककी दृष्टिसे विचार करें तो एक सीधी-सरल बात है कि सुखमें भी हम रहते हैं और दुःखमें भी हम रहते हैं, अतः सुख-दुःखको न देखकर अपने स्वरूपको देखें कि हम स्वयं तो वही हैं। सुख-दुःख आनेपर हम तो एक ही रहे, हमारा क्या बिगड़ा ? जो सुखके समय हम थे, वे ही दुःखके समय हम हैं और जो दुःखके समय हम थे, वे ही सुखके समय हम हैं। हमारा स्वरूप सुख और दुःख दोनोंमें सम है—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**' (गीता १४ । २४) । सुख और दुःख तो आने-जानेवाले हैं, पर स्वरूप कहीं आने-जानेवाला नहीं है, प्रत्युत ज्यों-का-त्यों स्थित है। न सुख रहता है और न दुःख रहता है, पर हम स्वरूपसे वैसे-के-वैसे ही रहते हैं; फिर आने-जानेवालोंको लेकर हम सुखी-दुःखी क्यों हों ? यदि हमारेपर सुख-दुःखका असर पड़ गया, हम सुखी-दुःखी हो गये, आगन्तुक विकारोंमें बँध गये तो फिर हमारी स्थिति स्वरूपमें नहीं रही। हम स्वस्थ नहीं रहे, प्रत्युत अस्वस्थ हो गये !

जैसे, हम दरवाजेपर खड़े हैं। हमारे सामने रास्तेपर मोटरें आ गयीं तो हम प्रसन्न हो गये और मोटरें नहीं आयीं तो दुःखी हो गये तो यह कितनी मूर्खताकी बात है ? मोटर आ गयी तो हमें क्या मिल गया ? मोटर नहीं आयी तो हमारा क्या नुकसान हो गया ? ऐसे ही घरमें बेटा आ गया तो क्या हो गया ? और बेटा मर गया तो क्या हो गया ? सब आने-जानेवाले हैं। अतः मनुष्यमात्रमें यह विवेक जाग्रत् रहना चाहिये कि सुख और दुःख आने-जानेवाले हैं और हम स्वरूपसे रहनेवाले हैं। रहनेवाला आने-जानेवालोंसे सुखी-दुःखी क्यों हो ? इसलिये चाहे पाप-पुण्यकी दृष्टिसे देखें, चाहे भगवत्कृपाकी दृष्टिसे देखें और चाहे विवेककी दृष्टिसे देखें, हमें सुखी-दुःखी नहीं होना है।

सुखी-दुःखी न होनेका उद्देश्य बननेके बाद अगर सुख-दुःखका असर पड़ भी जाय तो साधकको डरना नहीं चाहिये और अपनी हार स्वीकार नहीं करनी चाहिये। असर पड़ गया तो पड़ गया, उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये। पूर्वसंस्कारसे सुख-दुःख होता है तो वह आता नहीं है, प्रत्युत मिटता है। साधकको दृढ़ विचार कर लेना चाहिये कि सुखका असर पड़ गया तो पड़ गया, पर मेरेको सुख नहीं भोगना है। दुःखका असर पड़ गया तो पड़ गया, पर मेरेको दुःख नहीं भोगना है। मुझे भोगी नहीं बनना है, प्रत्युत योगी बनना है। सुख-दुःखमें सुखी-दुःखी होना भोग है और सुखी-दुःखी न होकर सम रहना योग है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २ । ४८) । अगर साधकका यह दृढ़ विचार हो जाय कि संसारके संयोग-वियोगको लेकर मुझे सुखी-दुःखी नहीं होना है तो फिर ऐसा ही होने लग जायगा ! कारण कि वास्तविक तत्त्व सुख और दुःख दोनोंसे रहित है। वहाँ न सुख है, न दुःख, प्रत्युत एक स्वतःसिद्ध स्वाभाविक आनन्द है। इस आनन्दको ही गीताने 'अक्षय सुख' नामसे कहा है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥

(५ । २१)

'बाह्यस्पर्श (नाशवान् पदार्थ)में आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मा (अन्तःकरण)में जो सात्त्विक सुख है, उसको प्राप्त होता है। फिर वह ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित मनुष्य अक्षय सुखका अनुभव करता है।'

उद्देश्यकी दृढ़तासे लाभ

मनुष्यजन्मका उद्देश्य क्या है, हमारे जीवनका लक्ष्य क्या है—इसको जानना बहुत आवश्यक है। जैसे, कोई आदमी अपने घरसे तो निकल जाय, पर कहाँ जाना है—इसका पता ही न हो तो क्या दशा होती है? वह किसीसे पूछे कि मुझे मार्ग बताओ। कहाँका बतायें? कहींका बता दो! तो फिर कहीं चले जाओ, बतानेकी जरूरत क्या है? अगर यह उद्देश्य बन जाय कि हमें बद्रीनारायण जाना है तो फिर उसका मार्ग भी मिल जायगा, वहाँ जानेके साधन भी मिल जायँगे और बतानेवाला भी मिल जायगा। कहाँसे जाना है, कैसे जाना है, पैदल जाना है कि मोटरसे, यह सब तो बादमें हो जायगा, पर 'हमें बद्रीनारायण जाना है'—यह विचार तो पहले ही खुदका होना चाहिये। ऐसे ही मनुष्यजन्मका मूल उद्देश्य भगवान्‌की प्राप्ति करना है। परन्तु मनुष्यजन्म पाकर भी इस उद्देश्यको न पहचाननेके कारण मनुष्य पतनके मार्गपर जा रहा है!

यह मनुष्यजन्म बहुत जन्मोंके अन्तमें मिलता है—

'लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते'

(श्रीमद्भा॰ ११।९।२९)

'बहूनां जन्मनामन्ते' (गीता ७।१९)

एक मार्मिक बात है कि यह मनुष्यजन्म सब जन्मोंका आदि जन्म भी है और अन्तिम जन्म भी है। जन्मोंका आरम्भ भी मनुष्यजन्मसे हुआ है और उनका अन्त भी मनुष्यजन्ममें ही होगा। जन्मोंका आरम्भ कब हुआ, कैसे हुआ, किसने किया आदि बातोंको जान भी नहीं सकते और जाननेकी जरूरत भी नहीं है। परन्तु जन्मोंका अन्त कर सकते हैं और अन्त करनेकी जरूरत भी है। गीतामें आया है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
(८।६)

'हे कौन्तेय! मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उस (अन्तकाल)के भावसे सदा भावित होता हुआ उस-उसको ही प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।'

—इस बातसे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यजन्म मिलनेके बाद आगेका जन्म हम तैयार करते हैं—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥**' (गीता १३।२१)। तात्पर्य है कि जन्म-मरणमें जानेके लिये अथवा उससे मुक्त होनेके लिये हम स्वतन्त्र हैं। अगर हमें सदाके लिये जन्म-मरणसे मुक्त होना है तो इसके लिये सबसे मुख्य बात यह है कि हमारा एकमात्र उद्देश्य परमात्माकी प्राप्ति हो। अपना कल्याण करना है, जीवन्मुक्त होना है, मुक्ति प्राप्त करनी है, विदेह कैवल्य प्राप्त करना है, सदाके लिये जन्म-मरणसे छूटना है, दुःखोंका अत्यन्त अभाव करना है, महान् आनन्दको प्राप्त करना है, परतन्त्रतासे छूटकर परम स्वतन्त्रताको प्राप्त करना है, भगवान्के दर्शन करना है, भगवत्प्रेम प्राप्त करना है—ये अलग-अलग नाम साधनके अनुसार हैं, पर तत्त्वसे एक ही हैं। साधन अलग-अलग हैं, पर उद्देश्य सबका एक ही है। वह उद्देश्य जितना दृढ़ होगा, उतना ही मनुष्य स्वतः आगे बढ़ जायगा।

जैसे भाई-बहन सत्संगमें आते हैं तो सबसे पहले उनका यह विचार होता है कि हमें सत्संगमें चलना है। फिर किस तरह चलना है, बससे चलना है, टैक्सीसे चलना है, साईकिलसे चलना है या पैदल चलना है—यह सब प्रबन्ध हो जाता है। सत्संगमें जानेके लिये तो दूसरेकी सहायता भी ले सकते हैं; पर वहाँ जानेका विचार तो खुदको ही करना पड़ेगा। ऐसे ही हमारा यह विचार बन जाय कि अब हमें परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करनी है। दूसरे लोग क्या करते हैं, क्या नहीं करते—इससे हमारा कोई मतलब न रहे।

तेरे भावें जो करौ, भलौ बुरौ संसार।
नारायन तू बैठि कै, अपनौ भुवन बुहार॥

संसार अच्छा करे या बुरा करे, हमें उससे क्या मतलब? हमें तो अपना असली काम करना है। परमात्म-प्राप्तिके सिवाय कोई भी काम स्थायी नहीं है। कोई धन कमाता है, कोई यश कमाता है, कोई शरीरको ठीक करता है, कोई नीरोगताके पीछे लगा है, पर ये काम सिद्ध होनेवाले नहीं हैं। अगर हो भी जायँ तो इन सबका अन्त होगा। परन्तु परमात्मप्राप्ति होगी तो वह सदाके लिये होगी, उसका अन्त नहीं होगा।

एक मार्मिक बात है कि सब-के-सब मनुष्य परमात्म-प्राप्तिके अधिकारी हैं। भगवान्ने कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
(गीता ९।३०—३३)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत श्रेष्ठ और अच्छी तरह कर लिया है। वह तत्काल धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे कुन्तीनन्दन! तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरे भक्तका विनाश (पतन) नहीं होता।'

'हे पार्थ! जो भी पापयोनिवाले हों तथा जो भी स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र हों, वे भी सर्वथा मेरे शरण होकर निःसन्देह परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं। जो पवित्र आचरणवाले ब्राह्मण और ऋषिस्वरूप क्षत्रिय भगवान्के भक्त हों, वे परमगतिको प्राप्त हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है। इसलिये इस अनित्य और सुखरहित शरीरको प्राप्त करके तू मेरा भजन कर'।

यहाँ भगवान्ने परमात्मप्राप्तिके सात अधिकारियोंके नाम लिये हैं—दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय। इन सातोंसे बाहर कोई भी मनुष्य नहीं है। कैसा ही जन्म हो, कैसी ही जाति हो, कैसा ही आचरण हो और पूर्वजन्मके कितने ही पाप हों, पर भगवान्की प्राप्तिमें सब अधिकारी हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों

वर्णोंका नाम आ गया। कोई चारों वर्णोंमें केवल पुरुष-ही-पुरुष न समझ ले, इसलिये स्त्रियोंका नाम अलगसे आया है। जो चारों वर्णोंसे नीचे हैं, वे यवन, हूण, खस् आदि सब पापयोनिमें आ गये* । मनुष्योंके सिवाय दूसरे जीव (पशु, पक्षी आदि) भी 'पापयोनि'में लिये जा सकते हैं; क्योंकि जीवमात्र भगवान्‌का ही अंश होनेसे भगवान्‌की तरफ चलनेमें (भगवान्‌की ओरसे) किसीके लिये भी मना नहीं है। जो वर्तमानमें पाप कर रहा है, वह 'दुराचारी' है और पूर्वजन्मके पापोंके कारण जिसका नीच योनिमें जन्म हुआ है, वह 'पापयोनि' है। तात्पर्य है कि दुराचारी-से-दुराचारी और नीच-से-नीच योनिवाला भी परमात्मप्राप्तिका अधिकारी है। जो पूर्वजन्मके पुण्यात्मा हैं, उनको पवित्र आचरणवाले ब्राह्मण कहा और जो इस जन्ममें पुण्यात्मा हैं, उनको ऋषिस्वरूप क्षत्रिय कहा, ऐसे ही जो पूर्वजन्मके पापी हैं, उनको पापयोनि कहा और जो इस जन्ममें पापी हैं, उनको सुदुराचारी कहा। ये सभी प्रकारके मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये अनित्य और सुखरहित इस शरीरको पाकर अर्थात् हम जीते रहें और सुख भोगते रहें—ऐसी कामनाको छोड़कर भगवान्‌का भजन करना चाहिये। यह मनुष्यशरीर भजन करनेके लिये है सुखभोगके लिये नहीं—*'एहि तन कर फल बिषय न भाई'* (मानस ७। ४४। १)। भजन करनेके लिये ही सबसे पहला काम है—अपने उद्देश्यको पहचानना। उद्देश्यकी दृढ़ता होनेपर उसकी पूर्तिकी सामग्री अपने-आप मिलेगी।

'किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा'—इसके बीचमें **'भक्ताः'** पद आया है, जिसका तात्पर्य है कि पवित्र आचरणवाले ब्राह्मणोंकी और ऋषिस्वरूप क्षत्रियोंकी महिमा नहीं है, प्रत्युत उनमें जो भक्ति है, उस भक्तिकी महिमा है। इसलिये भगवान्‌ने पहले ही कह दिया—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(गीता ९। २९)

'मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान हूँ। उन प्राणियोंमें न तो कोई मेरा द्वेषी है और न कोई प्रिय है। परन्तु जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मेरेमें हैं और मैं उनमें हूँ।'

तात्पर्य है कि भगवान्‌का न तो दुराचारी तथा पापयोनिके साथ द्वेष है और न पुण्यात्मा ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंके साथ स्नेह है। वे तो सब प्राणियोंमें समान हैं। परन्तु जो भक्तिपूर्वक भगवान्‌का भजन करता है, वह किसी भी देश, वेश, वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो, उसका भगवान्‌से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये भगवान्‌ने भजन करनेकी आज्ञा दी है—**'भजस्व माम्'**। परन्तु यह तभी सिद्ध होगा, जब हमारा यह दृढ़ उद्देश्य होगा कि हमें इसी जन्ममें परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना है।

यह कितनी विलक्षण बात है कि हम कैसे ही हों, पर भगवत्प्राप्तिके लिये हम सब-के-सब अधिकारी हैं। भगवान्‌ने कितनी छूट दी है! भगवान्‌ने भजन करनेके लिये मनुष्यशरीर दिया है तो फिर भजन करनेकी सामग्री भी बचाकर नहीं रखी है, अन्यथा **'ये भजन्ति तु मां भक्त्या'** और **'भजस्व माम्'** कैसे कहते? हम भी भगवान्‌से कह सकते थे कि महाराज! आपने हमारेको साधन-सामग्री दी ही नहीं, हमारी सहायता की ही नहीं, फिर हम भजन कैसे करें? पर हम ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि भगवान्‌ने सबको भजनकी पूरी साधन-सामग्री दी है। जैसे, कहीं सत्संगका आयोजन होता है तो पहले उसकी तैयारी करते हैं, बादमें लोगोंको निमन्त्रण देते हैं। पण्डाल पहले बनता है, लोगोंको बादमें बुलाते हैं। ऐसे ही भगवान्‌ने मनुष्यजन्म दिया है तो अपनी प्राप्तिकी सामग्री पहले दी है। भगवान्‌ने दुराचारी-से-दुराचारी तथा पापयोनिको भी अपनी प्राप्तिका निमन्त्रण दिया है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा स्त्रियोंको भी अपनी प्राप्तिका निमन्त्रण दिया है। अब जरूरत इस बातकी है कि हम अपना उद्देश्य भगवत्प्राप्तिका बना लें।

संसारमें बिना स्वार्थके सबका हित करनेवाले दो ही हैं—भगवान् और उनके भक्त।

---

* किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः। येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥
(श्रीमद्भा० २। ४। १८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन, खस आदि अधम जातिके लोग और इनके सिवाय अन्य पापीलोग भी शुद्ध हो जाते हैं, उन जगत्प्रभु भगवान् विष्णुको नमस्कार है।'

जैसे भगवान्‌ने पापी-से-पापी व्यक्तिको भी भक्तिका अधिकारी बताया है, ऐसे ही उसको ज्ञानका अधिकारी भी बताया है; जैसे—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ (गीता ४। ३६)

'अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है, तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।'

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस ७।४७।३)

परोक्षरूपसे सबका हित करनेवाले भगवान् हैं और प्रत्यक्ष तथा परोक्ष—दोनों रूपसे सबका हित करनेवाले सन्त-महात्मा हैं। भगवान्‌में एक विलक्षणता और भी है कि वे सब कुछ देकर भी लेनेवालेको उसका पता नहीं लगने देते। इस ढंगसे देते हैं कि लेनेवाला उन वस्तुओंको अपनी ही समझने लगता है। यह विलक्षणता एक नम्बरमें भगवान्‌में है और दो नम्बरमें सन्तोंमें। भगवान् और सन्त बिना हेतु सबका उपकार करते हैं, किसी हेतुको लेकर नहीं। वे किसी देश, वेश, व्यक्ति, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका पक्षपात न करके स्थावर-जंगमरूप मात्र जगत्‌का उपकार करते हैं। ऐसे परम उपकारी भगवान्‌ने कृपा करके मानव-जीवनका समय दिया है, सामग्री दी है, समझ दी है और सामर्थ्य दी है। ये चारों चीजें भगवान्‌ने केवल जीवमात्रके उद्धारके लिये दी हैं।

समय, सामग्री, समझ और सामर्थ्य—ये चारों सबके पास बराबर नहीं हैं; किसीके पास कम हैं, किसीके पास ज्यादा। परन्तु एक मार्मिक बात है कि हमारे पास जितना समय है, जितनी सामग्री है, जितनी समझ है और जितनी सामर्थ्य है, उतनी भगवान्‌में लगा दें तो पूर्णता प्राप्त हो जायगी, भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी। साधकसे गलती यह होती है कि वह प्राप्त सामग्री आदिका सदुपयोग न करके और अधिक (नयी-नयी) सामग्री आदिकी इच्छा करता है, उसको और अधिक बढ़ाना चाहता है। वह सामग्री आदिको जितना महत्त्व देता है, उतना भगवान्‌को महत्त्व नहीं देता। सामग्री आदिको महत्त्व देना भगवत्प्राप्तिमें बाधक होता है। अतः हमें जो समय, सामग्री आदि मिली है, उसीसे भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। अगर कोई कमी रह जायगी तो उसकी पूर्ति भगवान् कर देंगे। भगवान्‌का दरबार सबके लिये सब समय खुला है—***'यहि दरबार दीन को आदर, रीति सदा चलि आई॥'*** (विनय० १६५।५)। हमारेमें जिस चीजकी कमी होगी, आवश्यकता पड़नेपर उसकी पूर्ति भी हो जायगी। जैसे, चलते-चलते थक जाते हैं तो बिना कुछ उद्योग किये, चुपचाप पड़े-पड़े पुनः चलनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है—यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है। सदुपयोगसे शक्ति बढ़ती है और दुरुपयोगसे नष्ट होती है।

एक शंका होती है कि भगवान्‌ने हमें समय, समझ, सामग्री आदि सब कुछ तो दे दिया, पर स्वतन्त्रता क्यों दी? इस स्वतन्त्रताका हम सदुपयोग भी कर सकते हैं और दुरुपयोग भी कर सकते हैं; पाप भी कर सकते हैं और पुण्य भी कर सकते हैं; बन्धनमें भी जा सकते हैं और मुक्तिमें भी जा सकते हैं, सब कुछ कर सकते हैं। अतः जिससे हम अपना पतन कर लें, ऐसी स्वतन्त्रता भगवान्‌ने क्यों दी? इसका समाधान यह है कि अगर भगवान् मनुष्यको परतन्त्र बना देते तो मनुष्यशरीरका कुछ महत्त्व ही नहीं रहता। उत्तम-से-उत्तम शरीर गायका है, जिसका गोबर और गोमूत्र भी शुद्ध होता है; परन्तु वह भगवान्‌का भजन-स्मरण नहीं कर सकती; क्योंकि वह केवल भोगयोनि है। अगर भगवान् मनुष्यको स्वतन्त्रता नहीं देते तो वह भी सदाके लिये भोगयोनि बन जाता, कर्मयोनि (साधनयोनि) नहीं बनता। भगवान्‌ने स्वतन्त्रता दी है अपना कल्याण करनेके लिये। परन्तु हम अपना कल्याण न करके उस स्वतन्त्रताको दूसरे कामोंमें लगा देते हैं। इस प्रकार भगवान्‌से मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग तो हम करते हैं और उलाहना भगवान्‌को देते हैं कि उन्होंने हमें स्वतन्त्रता क्यों दी! अगर भगवान् स्वतन्त्रता न देते तो हम पुण्य भी नहीं कर सकते। अशुभ काम नहीं कर सकते तो शुभ काम भी नहीं कर सकते। स्वतन्त्रता मुक्तिके लिये मिली है, बन्धनके लिये नहीं। शिवलिङ्ग पूजा करनेके लिये होता है, पर उससे कोई अपना सिर फोड़ ले तो भगवान् शंकर क्या करें? इसलिये भगवान्‌ने कृपा करके हमें जो स्वतन्त्रता दी है, उसका सदुपयोग करना हमारा कर्तव्य है।

कोई कैसा ही प्राणी क्यों न हो, उसको भगवान्‌ने मुक्तिका पूरा अवसर दिया है। मनुष्यको भगवान्‌ने दो चीजें दी हैं—भोगके लिये कर्म-सामग्री और मोक्षके लिये विवेक। कर्म-सामग्रीके साथ विवेक इसलिये दिया है कि मनुष्यको यह जानकारी रहे कि इन कर्मोंसे वह चौरासी लाख योनियोंमें तथा नरकोंमें जायगा, इन कर्मोंसे वह स्वर्गमें जायगा, इन कर्मोंसे वह पुनः मनुष्यजन्ममें आयेगा और इन कर्मोंसे (कर्मोंसे सम्बन्धविच्छेद होनेपर) वह सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जायगा। अब इस विवेकका वह सदुपयोग करे या दुरुपयोग करे, इसमें वह स्वतन्त्र है। भगवान्‌ने मनुष्यको कितनी स्वतन्त्रता दी है कि वह जिस-जिस भावका स्मरण करता हुआ शरीर छोड़े, उस-उसको ही प्राप्त हो जाता है। यह भगवान्‌की कितनी उदारता है!

जो दयालु होता है, वह न्यायकारी नहीं हो सकता और जो न्यायकारी होता है, वह दयालु नहीं हो सकता। न्याय करनेवालेको तो ठीक मर्यादामें चलना पड़ेगा। अगर वह दया करेगा तो ठीक मर्यादामें नहीं चल सकेगा। परन्तु यह अड़चन तभी आती है, जब कानून बनानेवाला निर्दयी हो। भगवान् तो

अनन्त दयालु हैं; अतः उनके बनाये हुए कानूनमें न्याय भी है और दया भी! उनकी न्यायकारितामें दयालुता परिपूर्ण है और दयालुतामें न्यायकारिता परिपूर्ण है। जैसे, अन्तकालमें मनुष्य भगवान्‌का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है तो वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है और कुत्तेका स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है तो कुत्तेकी योनिको प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य है कि जितने मूल्यमें कुत्तेकी योनि मिलती है, उतने ही मूल्यमें भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—यह भगवान्‌के न्यायमें भी महान् दया भरी हुई है। जिस स्वतन्त्रतासे नीच योनि मिल जाय, उसी स्वतन्त्रतासे देवादि ऊँची योनि प्राप्त हो जाय, कल्याण हो जाय, मुक्ति हो जाय—यह भगवान्‌ने कितनी विलक्षण स्वतन्त्रता दी है। जो अन्तकालमें किसीका स्मरण नहीं करता, प्रत्युत केवल ममता और अहंकारका त्याग कर देता है, वह भी निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है*। इस प्रकार भगवान्‌ने कल्याणकी सामग्री देनेमें कोई कमी नहीं रखी है। प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्‌की दया लबालब भरी हुई है! पुण्यके फल (अनुकूल परिस्थिति) में भी भगवान्‌की दया है और पापके फल (प्रतिकूल परिस्थिति) में भी भगवान्‌की कृपा है†। अनुकूल परिस्थितिमें साधन करनेमें सहायता मिलती है और प्रतिकूल परिस्थितिमें पापोंका नाश होकर कष्ट सहनेकी सामर्थ्य आती है। चाहे अनुकूल परिस्थिति आये, चाहे प्रतिकूल परिस्थिति आये, हमारा काम तो भगवान्‌के सम्मुख होकर उनका भजन करना है‡ और वह भजन तब होगा, जब हम दृढ़तापूर्वक एक उद्देश्य, लक्ष्य बना लेंगे कि हमें तो भगवान्‌की प्राप्ति ही करनी है। जैसा कि पार्वतीजीने कहा है—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू। आप कहहिं सत बार महेसू॥

(मानस १।८१।५)

एक भक्त इमलीके वृक्षके नीचे बैठकर भगवान्‌का भजन कर रहा था। एक दिन वहाँ नारदजी महाराज आ गये। उस भक्तने नारदजीसे कहा कि आप इतनी कृपा करें कि जब भगवान्‌के पास जायँ, तब उनसे पूछ लें कि वे मुझे कब मिलेंगे? नारदजी भगवान्‌के पास गये और पूछा कि अमुक स्थानपर एक भक्त इमलीके वृक्षके नीचे बैठा है और भजन कर रहा है, उसको आप कब मिलेंगे? भगवान्‌ने कहा कि उस वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने जन्मोंके बाद मिलूँगा। ऐसा सुनकर नारदजी उदास हो गये। वे उस भक्तके पास गये, पर उससे कुछ कहा नहीं। भक्तने प्रार्थना की कि भगवान्‌ने क्या कहा है, कह तो दो। नारदजी बोले कि तुम सुनोगे तो हताश हो जाओगे। जब भक्तने बहुत आग्रह किया, तब नारदजी बोले कि इस वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने जन्मोंके बाद भगवान्‌की प्राप्ति होगी। भक्तने उत्सुकतासे पूछा कि क्या भगवान्‌ने खुद ऐसा कहा है? नारदजीने कहा कि हाँ, खुद भगवान्‌ने कहा है। यह सुनकर वह भक्त खुशीसे नाचने लगा कि भगवान् मेरेको मिलेंगे, मिलेंगे, मिलेंगे!! क्योंकि भगवान्‌के वचन झूठे नहीं हो सकते। इतनेमें ही भगवान् वहाँ प्रकट हो गये! नारदजीने देखा तो उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे भगवान्‌से बोले कि महाराज! अगर यही बात थी तो मेरी फजीती क्यों करायी? आपको जल्दी मिलना था तो मिल जाते। मेरेसे तो कहा कि इतने जन्मोंके बाद मिलूँगा और आप अभी आ गये! भगवान्‌ने कहा कि नारद! जब तुमने इसके विषयमें पूछा था, तब यह जिस चालसे भजन कर रहा था, उस चालसे तो इसको उतने ही जन्म लगते। परन्तु अब तो इसकी चाल ही बदल गयी! यह तो 'भगवान् मेरेको मिलेंगे'—इतनी बातपर ही मस्तीसे नाचने लग गया! इसलिये मुझे अभी ही आना पड़ा। कारण कि उद्देश्यकी सिद्धिमें जो अटल विश्वास, अनन्यता, दृढ़ता, उत्साह होता है, उससे भजन तेज हो जाता है।

एक सन्त थे। वे एक जाटके घर गये। जाटने उनकी बड़ी सेवा की। सन्तने उससे कहा कि रोजाना नामजप करनेका कुछ नियम ले लो। जाटने कहा कि बाबा, हमारेको

---

* विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति। स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ (गीता २।७१-७२)

'जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके निर्मम, निरहंकार और निःस्पृह होकर विचरता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है। हे पृथानन्दन! यह ब्राह्मी स्थिति है। इसको प्राप्त होकर कभी कोई मोहित नहीं होता। इस स्थितिमें यदि अन्तकालमें भी स्थित हो जाय तो निर्वाण (शान्त) ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।'

† मनुष्यको कर्मबन्धनसे मुक्त करनेके लिये भगवान् उसके मनके अनुकूल परिस्थिति भेजते हैं तो यह भगवान्‌की 'दया' है और उसके पापोंका नाश करनेके लिये उसके मनके प्रतिकूल परिस्थिति भेजते हैं तो यह भगवान्‌की 'कृपा' है।

‡ भगवान्‌की प्राप्तिके उद्देश्यसे जप, चिन्तन, विचार आदि करना 'भजन' है।

वक्त नहीं मिलता। सन्तने कहा कि अच्छा, रोजाना एक बार ठाकुरजीकी मूर्तिका दर्शन कर आया करो। जाटने कहा कि मैं तो खेतमें रह जाता हूँ, ठाकुरजीकी मूर्ति गाँवके मन्दिरमें है, कैसे करूँ? सन्तने उसको कई साधन बताये कि वह कुछ-न-कुछ नियम ले ले, पर वह यही कहता रहा कि मेरेसे यह बनेगा नहीं। मैं खेतमें काम करूँ या माला लेकर जप करूँ! इतना समय मेरे पास कहाँ है? बाल-बच्चोंका पालन-पोषण करना है; तुम्हारे-जैसे बाबाजी थोड़े ही हूँ कि बैठकर भजन करूँ। सन्तने कहा कि अच्छा, तू क्या कर सकता है? जाट बोला कि हमारे पड़ोसमें एक कुम्हार रहता है, उसके साथ मेरी मित्रता है; खेत भी पास-पासमें हैं और घर भी पास-पासमें है; रोजाना नियमसे एक बार उसको देख लिया करूँगा। सन्तने कहा कि ठीक है, उसको देखे बिना भोजन मत करना। जाटने स्वीकार कर लिया। जब उसकी स्त्री कहती कि रोटी तैयार हो गयी, भोजन कर लो तो वह चट बाड़पर चढ़कर कुम्हारको देख लेता और भोजन कर लेता। इस नियममें वह पक्का रहा।

एक दिन जाटको खेतमें जल्दी जाना था, इसलिये भोजन जल्दी तैयार कर लिया। उसने बाड़पर चढ़कर देखा तो कुम्हार दीखा नहीं। पूछनेपर पता लगा कि वह तो मिट्टी खोदने बाहर गया है! जाट बोला कि कहाँ मर गया, कम-से-कम देख तो लेता। अब जाट उसको देखनेके लिये तेजीसे भागा। उधर कुम्हारको मिट्टी खोदते-खोदते एक हाँडी मिल गयी, जिसमें तरह-तरहके रत्न, अशर्फियाँ भरी हुई थीं। उसके मनमें आया कि कोई देख लेगा तो मुश्किल हो जायगी! अतः वह देखनेके लिये ऊपर चढ़ा तो सामने वह जाट आ गया! कुम्हारको देखते ही जाट वापिस भागा तो कुम्हारने समझा कि उसने वह हाँडी देख ली और अब वह आफत पैदा करेगा। कुम्हारने आवाज लगायी कि अरे, जा मत, जा मत! जाट बोला कि बस, देख लिया, देख लिया! कुम्हार बोला कि अच्छा, देख लिया तो आधा तेरा, आधा मेरा, पर किसीसे कहना मत! जाट वापिस आया तो उसको धन मिल गया। उसके मनमें विचार आया कि सन्तसे अपना मनचाहा नियम लेनेमें इतनी बात है, अगर सदा उनकी आज्ञाका पालन करूँ तो कितना लाभ है! ऐसा विचार करके वह जाट और उसका मित्र कुम्हार—दोनों ही भगवान्‌के भक्त बन गये।

तात्पर्य यह है कि हम दृढ़तासे अपना एक उद्देश्य बना लें कि चाहे जो हो जाय, हमें तो भगवान्‌की तरफ चलना है, भगवान्‌का भजन करना है। उद्देश्य बनानेकी अपेक्षा भी उद्देश्यको पहचान लें। कारण कि उद्देश्य पहले बना है, मनुष्यजन्म पीछे मिला है। मनुष्यजन्म केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है—इस उद्देश्यको पहचान लें, सन्देहरहित मान लें तो फिर भजन अपने-आप होगा।

हम बद्रीनारायण जाते हैं तो रास्तेमें बढ़िया-से-बढ़िया जगह आ जाय तो भी वहाँ ज्यादा नहीं टिकते और घटिया-से-घटिया जगह आ जाय तो भी जाना बन्द नहीं करते, हमारी चाल वैसी ही रहती है। खराब-से-खराब रास्ता आ जाय, चढ़ाई आ जाय, तेज धूप पड़ने लगे, पसीना आने लगे तो भी हम चलते रहते हैं और आगे बढ़िया रास्ता आ जाय, जंगलसे पुष्पोंकी सुगन्ध आने लगे, बादलोंकी छाया हो जाय, ठण्डी हवा चलने लगे तो भी हम चलते रहते हैं। ऐसा मनमें नहीं आता कि अच्छी जगह है, पुष्पोंकी सुगन्ध आ रही है; अतः यहीं आसन लगा लें। कारण कि यह हमारा उद्देश्य नहीं है। जगह अच्छी हो या गन्दी, ये सब तो मार्गकी बातें हैं; हमें तो बद्रीनारायण जाना है। ऐसे ही परिस्थिति अनुकूल हो या प्रतिकूल, ये तो मार्गकी बातें हैं; हमें तो भगवान्‌की प्राप्ति करनी है। कैसी ही परिस्थिति क्यों न आये, हमारे भजनमें कमी नहीं आनी चाहिये। अगर इस प्रकार हमारा उद्देश्य दृढ़ रहे तो उसकी सिद्धि भगवान्‌की कृपासे शीघ्र हो जायगी। सिद्धि करनेमें हमारेको जोर नहीं पड़ेगा। भगवान्‌ने अपनी ओरसे कृपा करनेमें कोई कमी नहीं रखी है। जैसे बछड़ा एक स्तनसे ही दूध पीता है, पर भगवान्‌ने गायको चार स्तन दिये हैं। ऐसे ही भगवान् चारों तरफसे हमारेपर कृपा कर रहे हैं! हमें तो निमित्तमात्र बनना है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥

(गीता ११। ३३)

'ये सभी मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन्! तुम निमित्तमात्र बन जाओ।' तथा—

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा-
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥

(गीता ११। ३४)

'मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीरोंको तुम मारो। तुम व्यथा मत करो और युद्ध करो। युद्धमें तुम निःसन्देह वैरियोंको जीतोगे।'

अर्जुनके सामने युद्ध था, इसलिये भगवान् उनसे कहते हैं कि तुम निमित्तमात्र बनकर युद्ध करो, तुम्हारी विजय होगी। ऐसे ही हमारे सामने साधन है; अतः हम भी निमित्तमात्र बनकर साधन करें तो संसारपर हमारी विजय हो जायगी। संसारमें राग, आसक्ति, कामना न करें, सावधान रहें, यही निमित्तमात्र

बनना है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि ये सभी शूरवीर मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं, ऐसे ही ये राग आदि भी पहलेसे ही मारे हुए हैं, सत्तारहित हैं। इनको हमने ही सत्ता दी है। संसार नित्यनिवृत्त है—'**नासतो विद्यते भावः**' और परमात्मा नित्यप्राप्त हैं—'**नाभावो विद्यते सतः**'। नित्यनिवृत्तिकी ही निवृत्ति करनी है और नित्यप्राप्तकी ही प्राप्ति करनी है।

═══ ★ ═══

मुक्तिमें सबका समान अधिकार

मुक्ति अथवा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें खास बाधक है—अहङ्कार। जड प्रकृतिके कार्य शरीरको अपना स्वरूप मान लेनेसे अहङ्कार अर्थात् देहाभिमान उत्पन्न होता है, अहङ्कारसे एकदेशीयता उत्पन्न होती है तथा एकदेशीयतासे फिर वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिको लेकर सैकड़ों-हजारों भेद उत्पन्न होते हैं; जैसे—मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं वानप्रस्थ हूँ, मैं संन्यासी हूँ, आदि-आदि। तात्पर्य है कि सब भेद अहङ्कारसे ही पैदा होते हैं। जबतक अहङ्कार रहता है, तबतक भेदका नाश नहीं होता। जहाँ भेद है, वहाँ ज्ञान नहीं है और जहाँ ज्ञान है, वहाँ भेद नहीं है। अतः मुक्ति अथवा तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति अहङ्कार मिटनेसे ही होती है। इसलिये गीतामें जहाँ ज्ञानप्राप्तिके साधनोंका वर्णन आया है, वहाँ (साधनमें भी) अहङ्कारसे रहित होनेकी बात कही गयी है—**'अनहङ्कार एव च'** (१३। ८)। कारण कि ज्ञानप्राप्तिमें देहाभिमान मुख्य बाधा है—

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(गीता १२। ५)

'देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्त-विषयक गति कठिनतासे प्राप्त की जाती है।'

संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥

(मानस ७। ७४। ३)

अतः जो कहता है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं संन्यासी हूँ' और जो कहता है कि 'मैं अन्त्यज हूँ', 'मैं गृहस्थ हूँ', उन दोनोंके देहाभिमानमें क्या फर्क हुआ? देहाभिमानकी दृष्टिसे दोनों ही समान हैं। देहका अध्यास ही ब्राह्मण, संन्यासी आदि है और देहका अध्यास ही अन्त्यज, गृहस्थ आदि है। वास्तवमें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति न ब्राह्मणको होती है, न क्षत्रियको होती है, न वैश्यको होती है, न शूद्रको होती है, न ब्रह्मचारीको होती है, न गृहस्थको होती है, न वानप्रस्थको होती है, न संन्यासीको होती है, प्रत्युत जिज्ञासुको होती है। तात्पर्य है कि जो तीव्र जिज्ञासु होता है, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नहीं होता—

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ
न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रः।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो
भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः॥

(हस्तामलकस्तोत्र)

संतो, अब हम आपा चीन्हा।
निज स्वरूप प्राप्त है नित ही, अचरज सहित स कीन्हा॥
ना हम मानुष देवता नाहीं, ना गिरही वनखण्डी।
ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यहु नाहीं, ना हम शूद्र न दण्डी॥
ना हम ज्ञानी चतुर न मूरख, ना हम पण्डित पोथी।
ना हम सागर न मरजीवा, ना हम सीप न मोती॥
ना हम स्वर्गलोक को जाते, ना हम नरक सिधारे।
हम सब रूप सबन ते न्यारा, ना जीता ना हारे॥
ना हम अमर मरे ना कबहूँ, कबीर ज्यों-का-त्यों ही।
व्यास कपिल मुनि वामदेव ऋषि, सबका अनुभव यों ही॥

अतः जिज्ञासुमें न तो वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका अभिमान होना चाहिये, न इनका आग्रह होना चाहिये और न दूसरे वर्ण, आश्रम आदिके प्रति ऊँच-नीचका भाव ही होना चाहिये। वर्ण, आश्रम आदिका भेद मनुष्योंकी मर्यादाके लिये है और मर्यादा संसारके संचालनके लिये है। परन्तु मुक्तिके लिये वर्ण, आश्रम आदिका भेद आवश्यक नहीं है। कारण कि मुक्ति शरीरकी नहीं होती, प्रत्युत स्वयंकी होती है, जो कि मुक्तस्वरूप ही है। वर्ण-आश्रमका भेद शरीरको लेकर है। जब शरीर अपना स्वरूप है ही नहीं तो फिर वर्ण-आश्रमका भेद अपना स्वरूप कैसे?

तस्मादन्यगता वर्णा आश्रमा अपि नारद।
आत्मन्यारोपिताः सर्वे भ्रान्त्या ते नात्मवेदिना॥

(नारदपरिव्राजक० ६। १४)

'नारद! सभी वर्ण और आश्रम अन्यगत (शरीरगत) होनेपर भी भ्रान्तिवश आत्मामें आरोपित कर लिये जाते हैं; परंतु आत्मवेत्ता पुरुष ऐसा नहीं करते।'

इसलिये मुक्ति होनेपर स्वयंका शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है, शरीरका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता अर्थात् स्वयं शरीरसे असंग (अलग) होता है, शरीर संसारसे असंग नहीं होता। कारण कि प्रतिक्षण बदलनेवाले शरीरका सम्बन्ध संसारसे है, स्वयंसे नहीं।

वर्ण-आश्रमकी मान्यता केवल स्वाँगके लिये है। हमारा

स्वरूप ब्राह्मण आदि नहीं है। जैसे नाटकमें लक्ष्मण बना हुआ व्यक्ति बाहरसे अपने स्वाँगका ठीक तरहसे पालन करते हुए भी भीतरसे अपनेको लक्ष्मण नहीं मानता। उसके भीतर निरन्तर यह भाव रहता है कि यह तो स्वाँग है, वास्तवमें मैं लक्ष्मण हूँ ही नहीं। ऐसे ही बाहरसे अपने वर्ण-आश्रमका शास्त्र और लोक-मर्यादाके अनुसार ठीक तरहसे पालन करते हुए भी भीतरमें यह भाव रहना चाहिये कि मैं तो भगवान्‌का अंश हूँ!

जो जिस वर्ण-आश्रमका हो, उस वर्ण-आश्रमके अनुसार विहित कर्मोंका ठीक तरहसे पालन करे और निषिद्ध कर्मोंका त्याग करे तो उसकी अहंता सुगमतापूर्वक छूट जायगी। अगर वह विहितके साथ-साथ निषिद्ध काम भी करता रहेगा तो उसकी अहंता छूटेगी नहीं। निषिद्धके त्यागपर इतना जोर रहना चाहिये कि भूलसे भी मन उस तरफ न जाय। जैसे, राजा दुष्यन्तका मन शकुन्तलाकी तरफ चला गया तो उनको दृढ़ विश्वास हो गया कि यह ब्राह्मण-कन्या नहीं है, प्रत्युत क्षत्रिय-कन्या ही है। कारण कि अगर यह ब्राह्मण-कन्या होती तो मेरा मन उसकी तरफ जाता ही नहीं!

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

(अभिज्ञान० १। २१)

'इसमें सन्देह नहीं कि यह क्षत्रियद्वारा ग्रहण करनेयोग्य है, जिससे मेरा विशुद्ध मन भी इसको चाहता है; क्योंकि जहाँ सन्देह हो, वहाँ सत्पुरुषोंके अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही प्रमाण होती है।'

यही बात भगवान् रामके विषयमें भी आती है। उनका मन सीताजीकी तरफ गया तो वे समझ गये कि यह परनारी नहीं है; क्योंकि मेरा सम्बन्ध इसीके साथ होना है—

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी॥

(मानस १। २३१। ३)

जो अपनेको किसी एक वर्ण और आश्रमका मानते हैं, वे शास्त्रीय विधि-निषेधके अधिकारी होते हैं। यदि वे निषिद्धका त्याग करके विहित (अपने कर्तव्य) का पालन करें तो उनकी उन्नति अवश्य होगी। यदि वे निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करें और अपनी अहंताको बदल दें कि मैं किसी वर्ण-आश्रमका नहीं हूँ, प्रत्युत केवल योगी, जिज्ञासु अथवा भक्त हूँ तो वे मुक्तिके अधिकारी हो जायँगे।

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंकी रचना प्रकृतिजन्य गुणोंके अनुसार होती है; जैसे—सत्त्वगुणकी प्रधानतासे ब्राह्मणकी, रजोगुणकी प्रधानता तथा सत्त्वगुणकी गौणतासे क्षत्रियकी, रजोगुणकी प्रधानता तथा तमोगुणकी गौणतासे वैश्यकी और तमोगुणकी प्रधानतासे शूद्रकी रचना की गयी है। जिसमें ब्राह्मणत्वका अभिमान और आग्रह है, उसकी स्थिति गुणोंमें होनेसे गुणोंके अनुसार ही उसकी ऊँच-नीच गति होगी, पर मुक्ति नहीं होगी—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। गुणोंके अभिमानवाला गुणातीत कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। गुणातीत होनेपर वर्ण-आश्रमका अभिमान और आग्रह नहीं रह सकता। अतः अपने वर्ण-आश्रमका अभिमान और आग्रह छोड़कर बाहरसे वर्ण-आश्रमकी मर्यादाका पालन करना और भीतरसे 'मैं तो केवल भगवान्‌का हूँ, किसी वर्ण-आश्रमका नहीं हूँ'—ऐसा भाव रखना बहुत आवश्यक है।

जब साधकका उद्देश्य एकमात्र परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेका हो जाता है, तब वह अपनेको केवल योगी, केवल जिज्ञासु अथवा केवल भक्त मानता है। ऐसा माननेसे ही वह सच्चा साधक होता है और उसके द्वारा निरन्तर साधन होता है। अगर वह अपनेको साधक माननेके साथ-साथ 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं बालक हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मैं रोगी हूँ, मैं नीरोग हूँ' आदि भी मानेगा तो उसके साधनमें अदृढ़ता (कमी) रहेगी, जो कि उसके कल्याणमें बाधक होगी। उसको चाहिये कि वह अपने साधनमें इतना तल्लीन हो जाय कि साधक न रहे, साधनमात्र रह जाय अर्थात् योगी न रहे, योगमात्र रह जाय; जिज्ञासु न रहे, जिज्ञासामात्र रह जाय; भक्त न रहे, भक्तिमात्र रह जाय। साधनमात्र रहते ही साधन साध्यसे एक हो जाता है अर्थात् साध्य-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है।

शास्त्रमें ऐसे अनेक वचन मिलते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि प्रत्येक वर्ण और आश्रमका मनुष्य तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकता है; जैसे—

तस्माज्ज्ञानं सर्वतो मार्गितव्यं सर्वत्रस्थं चैतदुक्तं मया ते।
तत्स्थो ब्रह्मा तस्थिवांश्चापरो यस्तस्मै नित्यं मोक्षमाहुर्नरेन्द्र॥

(महा० शान्ति० ३१८। ९२)

'नरेन्द्र! सब ओरसे ज्ञान प्राप्त करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये। यह तो मैं तुमसे बता ही चुका हूँ कि सभी वर्णोंके लोग अपने-अपने आश्रममें रहते हुए ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अतः ब्राह्मण हो अथवा दूसरे किसी वर्णका हो, जो मनुष्य ज्ञानमें स्थित है, उसके लिये मोक्ष नित्य प्राप्त है।'

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(गीता १८।४५)

'अपने-अपने कर्ममें तत्परतापूर्वक लगा हुआ मनुष्य सम्यक् सिद्धि (परमात्मतत्त्व) को प्राप्त कर लेता है।'

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

'उस परमात्माका अपने कर्मके द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

तात्पर्य है कि जिस पदको ब्राह्मण अपने कर्तव्यका पालन करके प्राप्त करता है, उसी पदको शूद्र भी अपने कर्तव्यका पालन करके प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, तीव्र जिज्ञासा होनेपर पापी-से-पापी मनुष्यको भी तत्त्वज्ञान प्राप्त हो सकता है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥

(गीता ४।३६)

'अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।'

भगवद्भक्तिके तो मात्र मनुष्य अधिकारी हैं—

आनिन्द्योन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत्।

(शाण्डिल्य० ७८)

'जैसे दया, क्षमा आदि सामान्य धर्मोंके मात्र मनुष्य अधिकारी हैं, ऐसे ही भगवद्भक्तिके नीची-से-नीची योनिसे लेकर ऊँची-से-ऊँची योनितक सब प्राणी अधिकारी हैं।'

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादि भेदः।

(नारद० ७२)

'उन भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिका भेद नहीं है।'

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

(गीता ९।३२-३३)

'हे पार्थ! जो भी पापयोनिवाले हों तथा जो भी स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र हों, वे भी सर्वथा मेरे शरण होकर निःसन्देह परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं। फिर जो पवित्र आचरणवाले ब्राह्मण और ऋषिस्वरूप क्षत्रिय भगवान्के भक्त हों, वे परमगतिको प्राप्त हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है!'

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

(श्रीमद्भा० २।४।१८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन, खस आदि अधम जातिके लोग और इनके सिवाय अन्य पापीलोग भी शुद्ध हो जाते हैं, उन जगत्प्रभु भगवान् विष्णुको नमस्कार है।'

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

(मानस ३।३५।३)

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

'व्याधका कौन-सा श्रेष्ठ आचरण था? ध्रुवकी कौन-सी बड़ी उम्र थी? गजेन्द्रके पास कौन-सी विद्या थी? विदुरकी कौन-सी ऊँची जाति थी? यदुपति उग्रसेनका कौन-सा पराक्रम था? कुब्जाका कौन-सा सुन्दर रूप था? सुदामाके पास कौन-सा धन था? फिर भी उन लोगोंको भगवान्की प्राप्ति हो गयी! कारण कि भगवान्को केवल भक्ति ही प्यारी है। वे केवल भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं, आचरण, विद्या आदि गुणोंसे नहीं।'

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥
दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः।
खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः॥

(श्रीमद्भा० ७।७।५१-५२, ५४)

'दैत्यबालको! भगवान्को प्रसन्न करनेके लिये केवल ब्राह्मण, देवता या ऋषि होना, सदाचार और विविध ज्ञानोंसे सम्पन्न होना तथा दान, तप, यज्ञ, शारीरिक और मानसिक शौच और बड़े-बड़े व्रतोंका अनुष्ठान ही पर्याप्त नहीं है। भगवान् केवल निष्काम प्रेम-भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं। और सब तो विडम्बनामात्र है! भगवान्की भक्तिके प्रभावसे दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ, शूद्र, गोपालक, अहीर, पक्षी, मृग और बहुत-से पापी जीव भी भगवद्भावको प्राप्त हो गये हैं।'

इतना ही नहीं, पापी-से-पापी मनुष्य भी भक्तिका अधिकारी हो सकता है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत श्रेष्ठ और अच्छी तरह कर लिया है। वह तत्काल धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे कुन्तीनन्दन! तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरे भक्तका विनाश (पतन) नहीं होता।'

तात्पर्य है कि भगवान्‌का अंश होनेसे जीवमात्रमें भगवान्‌की तरफ चलनेका, भगवान्‌को प्राप्त करनेका अधिकार, स्वतन्त्रता और सामर्थ्य स्वतः है। प्रत्येक जीव स्वरूपसे नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप है—**'अयमात्मा ब्रह्म'**, **'तत्त्वमसि'**। अतः जीवमात्र स्वरूप-बोधमें अधिकारी, स्वतन्त्र और समर्थ है।

वर्ण, आश्रम आदिको लेकर ऐसा मानना कि अमुक वर्ण अथवा आश्रमका मनुष्य तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका अधिकारी हैं और अमुक वर्ण अथवा आश्रमका मनुष्य तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका अधिकारी नहीं है—यह शास्त्र और युक्ति-संगत नहीं दीखता। उत्थान और पतन प्रत्येक वर्ण-आश्रममें हो सकता है। प्रत्येक वर्ण-आश्रमका मनुष्य तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, वह तत्त्वज्ञान देनेका अधिकारी भी हो सकता है—

प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात् क्षत्रियाद् वा
वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम्।
श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं
न श्रद्धिनं जन्ममृत्यू विशेताम्॥

(महा॰ शान्ति॰ ३१८। ८८)

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा नीच वर्णमें उत्पन्न हुए मनुष्यसे भी यदि ज्ञान मिलता हो तो उसे प्राप्त करके मनुष्यको सदा उसपर श्रद्धा रखनी चाहिये। जिसके भीतर श्रद्धा है, उस मनुष्यमें जन्म-मृत्युका प्रवेश नहीं हो सकता।'

उदाहरणार्थ, वेदव्यासजीके पुत्र शुकदेवजी ज्ञान-प्राप्तिके लिये राजर्षि जनकके पास गये थे। ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेके लिये एक साथ छः ऋषि महाराज अश्वपतिके पास गये थे। इस प्रसङ्गमें शंकराचार्यजी महाराजके ये वचन ध्यान देनेयोग्य हैं—

'यत एवं महाशाला महाश्रोत्रिया ब्राह्मणाः सन्तो महाशालत्वाद्यभिमानं हित्वा समिद्भारहस्ता जातितो हीनं राजानं विद्यार्थिनो विनयेनोपजग्मुः' (छान्दोग्य॰ ५। ११। ७ का भाष्य)।

'इस प्रकार महागृहस्थ और परमश्रोत्रिय ब्राह्मण होनेपर भी वे महागृहस्थत्व आदिके अभिमानको छोड़कर, हाथोंमें समिधाएँ लेकर तथा विद्यार्थी बनकर अपनेसे हीन जातिवाले राजाके पास विनयपूर्वक गये थे। इसलिये ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेकी इच्छावाले अन्य पुरुषोंको भी ऐसा ही होना चाहिये।'

नीच वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी विदुर, कबीर, रैदास, सदन कसाई, धर्मव्याध आदि अनेक महापुरुष जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी माने जाते हैं और ऊँच वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी रावण आदि अनेक पापी हो गये हैं। गार्गी, देवहूति, शबरी, कुन्ती, व्रजगोपियाँ, मीराबाई आदि स्त्री-जातिकी थीं। समाधि, तुलाधार, आदि वैश्य थे। विदुर, सञ्जय, निषादराज गुह आदि शूद्र थे। प्रह्लाद, विभीषण आदि असुर तथा वृत्रासुर आदि राक्षस थे। गजेन्द्र, जटायु, कपोत-कपोती आदि पशु-पक्षी थे। इन सबमें जो भी विलक्षणता, विशेषता थी, वह किसी वर्ण, आश्रम आदिको लेकर नहीं थी, प्रत्युत भगवान्‌के सम्बन्धको लेकर थी*। भगवान्‌का सम्बन्ध स्वरूपके साथ है, शरीरके साथ नहीं। ऊँचे वर्ण-आश्रमवाला मनुष्य भी अगर भगवान्‌से विमुख है,

---

* सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः। गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः। रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः। वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः। व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे॥
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः। अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः॥ (श्रीमद्भा॰ ११। १२। ३—७)

भगवान् बोले—'हे निष्पाप उद्धवजी! यह एक युगकी नहीं, सभी युगोंकी एक-सी बात है। सत्संग (मेरे सम्बन्ध)के द्वारा दैत्य-राक्षस, पशु-पक्षी, गन्धर्व-अप्सरा, नाग-सिद्ध, चारण-गुह्यक और विद्याधरोंको मेरी प्राप्ति हुई है। मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि रजोगुणी-तमोगुणी प्रकृतिके बहुत-से जीवोंने मेरा परमपद प्राप्त किया है। वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ, यज्ञपत्नियाँ और दूसरे लोग भी सत्संगके प्रभावसे मुझे प्राप्त हुए हैं। उन लोगोंने न तो वेदोंका स्वाध्याय किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना ही की थी। उन्होंने कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत तथा कोई तपस्या भी नहीं की थी। बस, केवल सत्संग, अर्थात् मेरे सम्बन्धके प्रभावसे ही वे मुझे प्राप्त हो गये!'

उसके भाव और आचरण शुद्ध नहीं हैं तो उसका महान् पतन हो सकता है; जैसे—

यस्तु प्रव्रजितो भूत्वा पुनः सेवेत मैथुनम्।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः॥

(वायुपुराण)

'जो संन्यास-आश्रममें जानेके बाद पुनः स्त्रीसंग करता है, वह साठ हजार वर्षोंतक विष्ठाका कीड़ा होता है।'

एक नीतिशास्त्र होता है, एक धर्मशास्त्र होता है और एक मोक्षशास्त्र होता है। नीतिशास्त्रमें स्वार्थसिद्धि है, धर्मशास्त्रमें विधि-निषेध है और मोक्षशास्त्रमें सत्-असत्का विवेक है। नीतिसे धर्म और धर्मसे मोक्षशास्त्र बलवान् होता है। वर्ण-आश्रमकी व्यवस्था धर्मशास्त्रमें है, मोक्षशास्त्रमें नहीं। वर्ण, आश्रम आदि सब भेद असत्के हैं। सत्का कोई भेद नहीं है—**'नेह नानास्ति किञ्चन'** (कठ० २।१।११, बृहदा० ४।४।१९), **'एकमेवाद्वितीयम्'** (छान्दोग्य० ६।२।१)। जहाँ सत्-असत्का विवेक होगा, वहाँ तो असत्का त्याग ही मुख्य रहेगा*। अतः चाहे ब्राह्मणका शरीर हो, चाहे शूद्रका शरीर हो, लोक-व्यवहारमें तो उनमें फर्क रहेगा, पर परमात्म-तत्त्वकी प्राप्तिमें कोई फर्क रहेगा ही नहीं। कारण कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर होती है। जिससे सम्बन्ध-विच्छेद करना है, वह चाहे बढ़िया हो या घटिया, उससे क्या मतलब ?

कर्मोंके अनुसार जीव नीच योनिसे क्रमशः शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण भी बन सकता है और क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा नीच योनिमें भी जा सकता है। ऊँच-नीचका यह क्रम (गति) कर्मानुसार फलभोगके लिये ही है। मुक्तिमें ऐसा कोई क्रम नहीं है। अतः शास्त्रमें कहीं किसी एक वर्ण-आश्रमको प्राप्त होकर मुक्तिका अधिकारी होनेकी बात आयी है तो वह कोई सिद्धान्त नहीं है, प्रत्युत वह व्यक्ति-विशेषके लिये ही कही गयी बात है। इतिहासके आधारपर सत्यका निर्णय नहीं हो सकता; क्योंकि किसने किस परिस्थितिमें किया और क्यों किया तथा किस परिस्थितिमें कुछ कहा और क्यों कहा—इसका पूरा पता चलता नहीं! अतः इतिहासमें आयी अच्छी बातोंसे मार्ग-दर्शन तो हो सकता है, पर सत्यका निर्णय विधि-निषेधसे ही होता है। इतिहाससे विधि प्रबल है और विधिसे भी निषेध प्रबल है। अतः यों करें अथवा यों करें—इस विषयमें इतिहासको प्रमाण न मानकर शास्त्रके विधि-निषेधको ही प्रमाण मानना चाहिये।

कलियुगमें ठीक विधि-विधानसे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ-आश्रमका पालन करके संन्यास-आश्रममें जाना तथा संन्यास-आश्रमके नियमोंका पालन करना बहुत कठिन है। इसलिये शास्त्रमें संन्यासको कलिवर्ज्य (कलियुगमें वर्जित) माना गया है†। अगर ऐसा मानें कि संन्यासी हुए बिना मनुष्य कल्याण (मोक्ष)का अधिकारी नहीं हो सकता, तो फिर कलियुगमें किसीका कल्याण होगा ही नहीं, जब कि कलियुगमें अन्य युगोंकी अपेक्षा कल्याण होना बहुत सुगम बताया गया है!‡

विष्णुपुराणमें एक कथा आती है। एक बार अनेक ऋषि मिलकर श्रेष्ठताका निर्णय करनेके लिये वेदव्यासजी महाराजके पास गये। वेदव्यासजीने आदर-सत्कारपूर्वक उन सबको बैठाया और स्वयं गङ्गामें स्नान करने चले गये। स्नान करते हुए उन्होंने कहा कि 'कलियुग, तुम धन्य हो! शूद्रों, तुम धन्य हो! स्त्रियों, तुम धन्य हो!' § जब वे स्नान करके वापिस आये, तब ऋषियोंने उनसे कहा कि महाराज! आपने

* सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक। गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥ (मानस ७।४१)
'गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः' (श्रीमद्भा० ११।१९।४५)

† अग्निहोत्रं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्। देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥

‡ यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्। द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥ (विष्णुपुराण ६।२।१५)

'जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य, जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रातमें प्राप्त कर लेता है।'

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास। गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥ (मानस ७।१०३ क)

§ मग्नोऽथ जाह्नवीतोयादुत्थायाह सुतो मम। शूद्रस्साधुः कलिस्साधुरित्येवं शृण्वतां वचः॥
तेषां मुनीनां भूयश्च ममज्ज स नदीजले। साधु साध्विति चोत्थाय शूद्र धन्योऽसि चाब्रवीत्॥
निमग्नश्च समुत्थाय पुनः प्राह महामुनिः। योषितः साधु धन्यास्तास्ताभ्यो धन्यतरोऽस्ति कः॥ (विष्णुपुराण ६।२।६—८)

कलियुगको, शूद्रोंको और स्त्रियोंको धन्यवाद क्यों दिया ?—यह हमारी समझमें नहीं आया ! वेदव्यासजीने कहा कि कलियुगमें अपने-अपने कर्तव्यका पालन करनेसे शूद्रों और स्त्रियोंका कल्याण जल्दी और सुगमतासे हो जाता है, इसलिये ये तीनों धन्यवादके पात्र हैं।

जो वर्ण-आश्रममें जितना ऊँचा होता है, उसके लिये धर्म-पालन भी उतना ही कठिन होता है और नीचे गिरनेपर चोट भी उतनी ही अधिक लगती है ! ऊँचा कहलानेके कारण देहाभिमान भी अधिक होता है; अतः कल्याण भी कठिनतासे होता है—

नीच नीच सब तर गये, राम भजन लवलीन।
जातिके अभिमान से, डूबे सभी कुलीन॥
जात नहीं जगदीश के, जन के कैसे होय।
जात पाँत कुल कीच में, बंध मरो मत कोय॥

तात्पर्य यह हुआ कि लौकिक व्यवहार (भोजन, विवाह आदि)में तो जातिकी, वर्ण-आश्रमकी ही प्रधानता है, पर भगवत्प्राप्तिमें भाव और विवेककी प्रधानता है। अतः ऊँचे वर्ण, आश्रम आदिसे संसारमें अधिकार मिल सकता है, पर भगवान्‌को प्राप्त करनेका अधिकार केवल भगवान्‌के सम्बन्धसे ही मिलता है। जैसे सब-के-सब बालक माँकी गोदीमें जानेके समान अधिकारी हैं, ऐसे ही भगवान्‌का अंश होनेसे सब-के-सब जीव भगवान्‌को प्राप्त होनेके समान अधिकारी हैं। जीव-मात्रका भगवान्‌पर पूरा अधिकार है। अतः भगवत्प्राप्तिके लिये किसी भी मनुष्यको कभी निराश नहीं होना चाहिये। सब-के-सब मनुष्य परमात्मतत्त्वको, मुक्तिको, तत्त्वज्ञानको, कैवल्यको, भगवत्प्रेमको, भगवद्दर्शनको* प्राप्त कर सकते हैं।

यहाँ 'वज्रसूची' नामक उपनिषद् दी जा रही है। मुक्तिक-उपनिषद्‌में जहाँ एक सौ आठ उपनिषदोंके नाम दिये गये हैं, वहाँ इस उपनिषद्‌का भी नाम आया है।†

---

* भगवान्‌को अपना माननेका सबको अधिकार है। अनन्यभावसे भगवान्‌को अपना माननेसे भगवान्‌में प्रेम हो जाता है।

† ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः । ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा॥
ब्रह्मकैवल्यजाबालश्वेताश्वो हंस आरुणिः। गर्भो नारायणो हंसो बिन्दुर्नादशिरः शिखा॥
मैत्रायणी कौषीतकी बृहज्जाबालतापनी। कालाग्निरुद्रमैत्रेयी सुबालक्षुरिमन्त्रिका॥
सर्वसारं निरालम्बं रहस्यं <u>वज्रसूचिकम्</u>। तेजोनादध्यानविद्यायोगतत्त्वात्मबोधकम्॥
परिव्राट् त्रिशिखी सीता चूडा निर्वाणमण्डलम्। दक्षिणा शरभं स्कन्दं महानारायणाद्वयम्॥
रहस्यं रामतपनं वासुदेवं च मुद्गलम्। शाण्डिल्यं पैङ्गलं भिक्षुमहच्छारीरकं शिखा॥
तुरीयातीतसंन्यासपरिव्राजाक्षमालिका । अव्यक्तैकाक्षरं पूर्णा सूर्याक्ष्यध्यात्मकुण्डिका॥
सावित्र्यात्मा पाशुपतं परं ब्रह्मावधूतकम्॥
त्रिपुरातपनं देवी त्रिपुरा कठभावना। हृदयं कुण्डली भस्म रुद्राक्षगणदर्शनम्॥
तारसारमहावाक्यपञ्चब्रह्माग्निहोत्रकम् । गोपालतपनं कृष्णं याज्ञवल्क्यं वराहकम्॥
शाट्यायनी हयग्रीवं दत्तात्रेयं च गारुडम्। कलिजाबालिसौभाग्यरहस्यऋचमुक्तिका॥
एवमष्टोत्तरशतं भावनात्रयनाशनम्। ज्ञानवैराग्यदं पुंसां वासनात्रयनाशनम्॥ (मुक्तिकोपनिषद्)

१. 'ईश, २. केन, ३. कठ, ४. प्रश्न, ५. मुण्डक, ६. माण्डूक्य, ७. तैत्तिरीय, ८. ऐतरेय, ९. छान्दोग्य, १०. बृहदारण्यक, ११. ब्रह्म, १२. कैवल्य, १३. जाबाल, १४. श्वेताश्वतर, १५. हंस, १६. आरुणिक, १७. गर्भ, १८. नारायण, १९. परमहंस, २०. अमृतबिन्दु, २१. अमृतनाद, २२. अथर्वशिरस्, २३. अथर्वशिखा, २४. मैत्रायणी, २५. कौषीतकिब्राह्मण, २६. बृहज्जाबाल, २७. नृसिंहतापनीय, २८. कालाग्निरुद्र, २९. मैत्रेयी, ३०. सुबाल, ३१. क्षुरिका, ३२. मन्त्रिका, ३३. सर्वसार, ३४. निरालम्ब, ३५. शुकरहस्य, ३६. वज्रसूचिका, ३७. तेजोबिन्दु, ३८. नादबिन्दु, ३९. ध्यानबिन्दु, ४०. ब्रह्मविद्या, ४१. योगतत्त्व, ४२. आत्मप्रबोध, ४३. नारदपरिव्राजक, ४४. त्रिशिखिब्राह्मण, ४५. सीता, ४६. योगचूडामणि, ४७. निर्वाण, ४८. मण्डलब्राह्मण, ४९. दक्षिणामूर्ति, ५०. शरभ, ५१. स्कन्द, ५२. त्रिपाद्विभूतिमहानारायण, ५३. अद्वयतारक, ५४. रामरहस्य, ५५. रामतापनीय, ५६. वासुदेव, ५७. मुद्गल, ५८. शाण्डिल्य, ५९. पैंगल, ६०. भिक्षुक, ६१. महत्, ६२. शारीरक, ६३. योगशिखा, ६४. तुरीयातीत, ६५. संन्यास, ६६. परमहंसपरिव्राजक, ६७. अक्षमाला, ६८. अव्यक्त, ६९. एकाक्षर, ७०. अन्नपूर्णा, ७१. सूर्य, ७२. अक्षि, ७३. अध्यात्म, ७४. कुण्डिका, ७५. सावित्री, ७६. आत्मा, ७७. पाशुपत, ७८. परब्रह्म, ७९. अवधूत, ८०. त्रिपुरातापनीय, ८१. देवी, ८२. त्रिपुरा, ८३. कठरुद्र, ८४. भावना, ८५. रुद्रहृदय, ८६. योगकुण्डली, ८७. भस्मजाबाल, ८८. रुद्राक्षजाबाल, ८९. गणपति, ९०. जाबालदर्शन, ९१. तारसार, ९२. महावाक्य, ९३. पञ्चब्रह्म, ९४. प्राणाग्निहोत्र, ९५. गोपालतापनीय, ९६. कृष्ण, ९७. याज्ञवल्क्य, ९८. वराह, ९९. शाट्यायनीय, १००. हयग्रीव, १०१. दत्तात्रेय, १०२. गरुड़, १०३. कलिसंतरण, १०४. जाबालि, १०५. सौभाग्यलक्ष्मी, १०६. सरस्वतीरहस्य, १०७. बह्वृच, १०८. मुक्तिकोपनिषद्—ये एक सौ आठ उपनिषदें मनुष्यके आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—तीनों तापोंका नाश करती हैं। इनके पाठ और स्वाध्यायसे ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्ति होती है तथा लोकवासना, शास्त्रवासना एवं देहवासनारूप त्रिविध वासनाओंका नाश होता है।

वज्रसूचिकोपनिषद्

शान्तिपाठ

'ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्। अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

हे परब्रह्म परमात्मन्! मेरे सम्पूर्ण अंग, वाणी, प्राण, नेत्र, कान और सब इन्द्रियाँ तथा शक्ति परिपुष्ट हों। यह जो सर्वरूप उपनिषत्-प्रतिपादित ब्रह्म है, उसको मैं अस्वीकार न करूँ और वह ब्रह्म मेरा परित्याग न करे। उसके साथ मेरा अटूट सम्बन्ध हो और मेरे साथ उसका अटूट सम्बन्ध हो। उपनिषदोंमें प्रतिपादित जो धर्मसमूह हैं, वे सब उस परमात्मामें लगे हुए मुझमें हों, वे सब मुझमें हों। हे परमात्मन्! त्रिविध तापोंकी शान्ति हो।'

चित्सदानन्दरूपाय सर्वधीवृत्तिसाक्षिणे।
नमो वेदान्तवेद्याय ब्रह्मणेऽनन्तरूपिणे ॥

'सच्चिदानन्दस्वरूप, सबकी बुद्धिका साक्षी, वेदान्तके द्वारा जाननेयोग्य और अनन्त रूपोंवाले ब्रह्मको मैं नमस्कार करता हूँ।'

ॐ वज्रसूचीं प्रवक्ष्यामि शास्त्रमज्ञानभेदनम्।
दूषणं ज्ञानहीनानां भूषणं ज्ञानचक्षुषाम् ॥

'अब मैं अज्ञानका नाश करनेवाला 'वज्रसूची' नामक शास्त्र कहता हूँ, जो अज्ञानियोंके लिये दूषणरूप और ज्ञानचक्षुवालोंके लिये भूषणरूप है।'

ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशूद्रा इति चत्वारो वर्णास्तेषां वर्णानां ब्राह्मण एव प्रधान इति वेदवचनानुरूपं स्मृतिभिरप्युक्तम्। तत्र चोद्यमस्ति को वा ब्राह्मणो नाम किं जीवः किं देहः किं जातिः किं ज्ञानं किं कर्म किं धार्मिक इति ॥

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं। उन वर्णोंमें ब्राह्मण मुख्य है, ऐसा वेदोंमें तथा स्मृतियोंमें भी कहा गया है। उस विषयमें यह शंका उत्पन्न होती है कि ब्राह्मण नाम किसका है? क्या जीव ब्राह्मण है? क्या देह ब्राह्मण है? क्या जाति ब्राह्मण है? क्या ज्ञान ब्राह्मण है? क्या कर्म ब्राह्मण है? अथवा क्या धार्मिक व्यक्ति ब्राह्मण है?'

तत्र प्रथमो जीवो ब्राह्मण इति चेत्तन्न। अतीतानागतानेकदेहानां जीवस्यैकरूपत्वादेकस्यापि कर्मवशादनेकदेहसम्भवात् सर्वशरीराणां जीवस्यैकरूपत्वाच्च। तस्मान्न जीवो ब्राह्मण इति ॥

'जीव ब्राह्मण है—ऐसा नहीं हो सकता। कारण कि पहले हुए और आगे होनेवाले अनेक शरीरोंमें जीव एकरूप ही रहता है। जीव एक होनेपर भी कर्मोंके कारण अनेक शरीरोंको धारण करता है; परन्तु सब शरीरोंमें जीव एकरूप ही रहता है (इसलिये यदि जीवको ब्राह्मण मानें तो फिर सभी शरीरोंको ब्राह्मण मानना पड़ेगा)।'

तर्हि देहो ब्राह्मण इति चेत्तन्न। आचाण्डालादिपर्यन्तानां मनुष्याणां पाञ्चभौतिकत्वेन देहस्यैकरूपत्वाज्जरामरणधर्माधर्मादिसाम्यदर्शनाद्ब्राह्मणः श्वेतवर्णः क्षत्रियो रक्तवर्णो वैश्यः पीतवर्णः शूद्रः कृष्णवर्ण इति नियमाभावात्। पित्रादिशरीरदहने पुत्रादीनां ब्रह्महत्यादिदोषसम्भवाच्च। तस्मान्न देहो ब्राह्मण इति ॥

'तो क्या देह ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। चाण्डालसे लेकर मनुष्यपर्यन्त सबके शरीर पाञ्चभौतिक होनेसे एकरूप ही हैं। जरा-मृत्यु, धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) आदि भी सबके समान ही देखे जाते हैं। ब्राह्मणका श्वेतवर्ण, क्षत्रियका लाल वर्ण, वैश्यका पीला वर्ण और शूद्रका काला वर्ण होता है—ऐसा नियम भी नहीं है। यदि देहको ब्राह्मण मानें तो पिता आदिके मृत शरीरको जलानेसे पुत्र आदिको ब्रह्महत्या आदि पाप लगनेकी सम्भावना रहती है। अतः देह ब्राह्मण नहीं है।'

तर्हि जातिर्ब्राह्मण इति चेत्तन्न। तत्र जात्यन्तरजन्तुष्वनेकजातिसम्भवा महर्षयो बहवः सन्ति। ऋष्यशृङ्गो मृग्याः, कौशिकः कुशात्, जाम्बूको जम्बूकात्, वाल्मीको वल्मीकात्, व्यासः कैवर्तकन्यकायाम्, शशपृष्ठाद् गौतमः, वसिष्ठ उर्वश्याम्, अगस्त्यः कलशे जात इति श्रुतत्वात्। एतेषां जात्या विनाप्यग्रे ज्ञानप्रतिपादिता ऋषयो बहवः सन्ति। तस्मान्न जातिर्ब्राह्मण इति ॥

'तो क्या जाति ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। विभिन्न जातिवाले प्राणियोंसे अनेक जातिवाले बहुत-से महर्षि उत्पन्न हुए हैं; जैसे—मृगीसे ऋष्यशृंग, कुशसे कौशिक, जम्बूक (सियार) से जाम्बूक, वल्मीकसे वाल्मीकि, मल्लाहकी कन्यासे व्यास, शशपृष्ठ (खरगोशकी पीठ) से गौतम, उर्वशीसे वसिष्ठ, कलश (घट) से अगस्त्य उत्पन्न हुए—ऐसा सुना जाता है। इनमें जातिके बिना भी पहले बहुत-से पूर्ण ज्ञानवान् ऋषि हुए हैं। अतः जाति ब्राह्मण नहीं है।'

तर्हि ज्ञानं ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयोऽपि परमार्थदर्शिनोऽभिज्ञा बहवः सन्ति। तस्मान्न ज्ञानं ब्राह्मण इति ॥

'तो क्या ज्ञान ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो

सकता। बहुत-से (जनक, अश्वपति आदि) क्षत्रिय आदि भी परमार्थको जाननेवाले तत्त्वज्ञ हुए हैं। अतः ज्ञान ब्राह्मण नहीं है।'

तर्हि कर्म ब्राह्मण इति चेत्तन्न। सर्वेषां प्राणिनां प्रारब्ध-सञ्चितागामिकर्मसाधर्म्यदर्शनात्कर्माभिप्रेरिताः सन्तो जनाः क्रियाः कुर्वन्तीति। तस्मान्न कर्म ब्राह्मण इति ॥

'तो क्या कर्म ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। सम्पूर्ण प्राणियोंमें प्रारब्ध, संचित तथा क्रियमाण कर्मोंमें सधर्मता देखी जाती है और कर्मोंसे प्रेरित होकर वे मनुष्य क्रिया करते हैं। अतः कर्म ब्राह्मण नहीं है।'

तर्हि धार्मिको ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयो हिरण्यदातारो बहवः सन्ति। तस्मान्न धार्मिको ब्राह्मण इति ॥

'तो क्या धार्मिक व्यक्ति ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। बहुत-से क्षत्रिय आदि भी स्वर्णका दान करनेवाले हुए हैं। अतः धार्मिक व्यक्ति ब्राह्मण नहीं है।'

तर्हि को वा ब्राह्मणो नाम। यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं षडूर्मिषड्भावेत्यादिसर्वदोषरहितं सत्य-ज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारमशेष-भूतान्तर्यामित्वेन वर्तमानमन्तर्बहिश्चाकाशवदनुस्यूतमखण्डा-नन्दस्वभावमप्रमेयमनुभवैकवेद्यमपरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत्साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया काम-रागादिदोषरहितः शमदमादिसम्पन्नभावमात्सर्यतृष्णाशा-मोहादिरहितो दम्भाहंकारादिभिरसंस्पृष्टचेता वर्तत एवमुक्त-लक्षणो यः स एवं ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासा-नामभिप्रायः। अन्यथा हि ब्राह्मणत्वसिद्धिर्नास्त्येव ॥

'तो फिर ब्राह्मण नाम किसका है? जो कोई अद्वितीय आत्मा जाति, गुण तथा क्रियासे रहित है, छः ऊर्मियों तथा छः विकारों* आदि समस्त दोषोंसे रहित है; सत्-चित्-आनन्द तथा अनन्तस्वरूप है, स्वयं निर्विकल्प है, अनन्त कल्पोंका आधार है, अनन्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे रहनेवाला है, सदा वर्तमान (नित्य रहनेवाला) है, आकाशकी तरह सबके भीतर-बाहर परिपूर्ण है, अखण्ड आनन्द स्वभाववाला है, अप्रमेय है अर्थात् इन्द्रियों और अन्तःकरणका विषय नहीं है, केवल अनुभवसे जाननेयोग्य है तथा अपरोक्षरूपसे प्रकाशित होनेवाला है, उस परमात्मतत्त्वका हस्तामलककी तरह साक्षात्कार करके जो कृतकृत्य (ज्ञातज्ञातव्य, प्राप्तप्राप्तव्य) हो गया है और जो काम, राग आदि दोषोंसे रहित है; शम, दम आदिसे सम्पन्न भाववाला है; मात्सर्य, तृष्णा, आशा, मोह आदिसे रहित है; और जिसका चित्त दम्भ, अहङ्कार आदि दोषोंसे निर्लिप्त है, वही वास्तविक ब्राह्मण है—ऐसा श्रुति, स्मृति, पुराण एवं इतिहासका अभिप्राय है। इसके सिवाय अन्य किसी भी प्रकारसे ब्राह्मणत्वकी सिद्धि नहीं होती।

सच्चिदानन्दमात्मानमद्वितीयं ब्रह्म भावयेदात्मानं सच्चिदानन्दं ब्रह्म भावयेदित्युपनिषत् ॥

'आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म है (उसका साक्षात्कार करनेवाले ब्राह्मण हैं)—ऐसा मानना चाहिये। आत्माको सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म मानना चाहिये। यह उपनिषद् है।'

वज्रसूचिकोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

'ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत् अनिराकरणमस्त्व-निराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥'

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

* भूख, प्यास, शोक, मोह, जन्म तथा मृत्यु—ये छः ऊर्मियाँ हैं। उत्पन्न होना, सत्तावाला दीखना, बदलना, बढ़ना, घटना और नष्ट होना—ये छः विकार हैं।

सत्सङ्ग सुननेकी विद्या

सत्सङ्ग सुननेकी भी एक विद्या है। यदि उस विद्याको काममें लिया जाय तो सत्सङ्गसे बहुत लाभ उठाया जा सकता है। अगर किसीको सत्सङ्ग सुननेकी विद्या आ जाय तो वह बहुत बड़ा विद्वान् बन जाय! पढ़ाई करके कोई इतना विद्वान् नहीं बनता, जितना सत्सङ्गसे बनता है। सत्सङ्गमें जैसी पढ़ाई होती है, वैसी पढ़ाई ग्रन्थ पढ़नेसे नहीं होती। ग्रन्थ पढ़नेसे तो एक विषयका ज्ञान होता है, पर सत्सङ्गसे पारमार्थिक और व्यावहारिक सब तरहका ज्ञान होता है, सत्सङ्ग करनेवाला भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, लययोग, राजयोग, अष्टाङ्ग-योग, हठयोग आदि अनेक विषयोंसे परिचित हो जाता है। इतना ही नहीं, जिस विषयको सत्सङ्गमें सुना ही नहीं, उस विषयमें भी उसकी बुद्धि काम करने लगती है। जैसे सत्सङ्गमें

विवाहकी चर्चा सुनी ही न हो, पर उसमें भी सत्सङ्ग करनेवालेकी बुद्धि काम करेगी। मेरी तो ऐसी धारणा है कि कोई ठीक तरहसे सत्सङ्ग सुनेगा अथवा गीताका ठीक तरहसे अध्ययन करेगा, उसकी बुद्धि किसी विषयमें प्रवेश न करे—यह नहीं हो सकेगा। वह जिस विषयमें चाहे, उसीमें उसकी बुद्धि प्रविष्ट हो जायगी। इसलिये मन लगाकर सत्सङ्ग सुनना चाहिये।

जो प्रत्येक काम मन लगाकर करता है, वही मन लगाकर सत्सङ्ग सुन सकेगा। इसलिये जो भी काम करें, मन लगाकर करें। रसोई बनायें तो मन लगाकर बनायें, भोजन करें तो मन लगाकर करें, शौच-स्नान आदि करें तो मन लगाकर करें। ऐसा करनेसे प्रत्येक काम मन लगाकर करनेका स्वभाव पड़ जायगा। वह स्वभाव पारमार्थिक मार्गमें भी काम आयेगा, जिससे सत्सङ्ग, भजन, ध्यान आदिमें मन लगने लगेगा। इसलिये ऐसा न समझें कि केवल भजन-ध्यान ही मन लगाकर करने हैं, दूसरे काम मन लगाकर नहीं करने हैं। प्रत्येक काम मन लगाकर करना है, जिससे काम भी बढ़िया होगा और स्वभाव भी सुधरेगा। वास्तवमें काम सुधरनेसे इतना लाभ नहीं है, जितना स्वभाव सुधरनेसे लाभ है। स्वभावमें सुधार होनेसे प्रत्येक काममें बुद्धि प्रवेश करेगी, प्रत्येक काम करनेकी विद्या आ जायगी।

यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि जिस कामको लोग वर्षोंसे प्रतिदिन करते आ रहे हैं, उसको भी वे ठीक तरहसे नहीं करते। जैसे, स्त्रियाँ उम्रभर बालकोंको पालते-पालते बूढ़ी हो जाती हैं, पर बालकोंको भोजन कराना प्रायः नहीं आता! बालकको एक साथ ज्यादा परोस दें तो वह थोड़ा खाकर छोड़ देगा, पर थोड़ा-थोड़ा करके परोसें तो वह ज्यादा खा लेगा। इसी तरह वक्ताको प्रायः कहना नहीं आता और श्रोताको प्रायः सुनना नहीं आता। इसका कारण यह है कि प्रत्येक काम मन लगाकर करनेका स्वभाव नहीं है।

कई सज्जन प्रश्न किया करते हैं कि मन कैसे लगे? अतः मन लगानेकी एक सुगम युक्ति बतायी जाती है। चुपचाप बैठ जायँ और मनसे भगवन्नामका जप करें तथा मनसे ही उसकी गिनती करें। हाथमें न तो माला रखें, न अँगुलियोंसे गिनें और न मुँहसे ही बोलें, केवल मनसे ही गिनती करें। इस प्रकार कम-से-कम एक माला (१०८ बार) भगवन्नामका जप करें। गिनतीमें चूकें नहीं। अगर चूक जायँ तो पुनः एकसे शुरू करें। ऐसा करके देखें तो बड़ा लाभ होगा। कुछ लोग केवल तमाशेकी तरह पूछ लेते हैं कि मन कैसे लगे, पर जो उपाय बताया जाता है, उसको करते ही नहीं! किसी व्यक्तिने एक सन्तसे पूछा कि महाराज! मन कैसे लगे? तो उन्होंने पूछा कि तुमने यह प्रश्न मेरेसे ही किया है या पहले और भी किसीसे किया था? उसने कहा कि और भी किसीसे किया था। सन्तने पूछा कि उसने क्या उपाय बताया था? वह बोला कि यह तो मेरेको याद नहीं है। सन्त बोले—तो फिर यही दशा मेरी भी होगी! मेरेसे उपाय पूछकर मेरी फजीती ही करोगे!

कई भाई-बहन सत्सङ्गके समय माला फेरते रहते हैं अथवा कापीमें भगवन्नाम लिखते रहते हैं। अगर तत्परतासे मन लगाकर सत्सङ्ग सुनते हों, पर पूर्वाभ्यासके कारण (स्वभाववश) स्वतः जप होता हो तो कोई बाधा नहीं आती। परन्तु ध्यान एक तरफ ही रहेगा, दो तरफ नहीं। जो कभी सत्सङ्गमें ध्यान रखता है और कभी मालामें ध्यान रखता है, उसको सत्सङ्ग सुनना आता ही नहीं। सत्सङ्गके समय जिसका मन और जगह चला जाता है, घर आदिकी बातें याद आती रहती हैं, वह ठीक तरहसे सत्सङ्ग सुन ही नहीं सकता। स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) में गङ्गाजीके तटपर वटवृक्षके नीचे सत्सङ्ग हो रहा था। वहाँ मैंने भाई-बहनोंसे कहा कि आपलोग ध्यान देकर सुनोगे तो एक ही बात सुन सकोगे, दो बात नहीं सुन सकोगे। मैंने उदाहरण दिया कि अभी गङ्गाजीका शब्द हो रहा है न? वे बोले कि हाँ, हो रहा है। मैंने पूछा कि इतनी देरसे क्या आप गङ्गाजीका शब्द सुन रहे थे? वे बोले—नहीं सुन रहे थे। क्यों नहीं सुन रहे थे? कि मन सत्सङ्ग सुननेमें लगा था। कान भी थे और शब्द भी था, पर मन उस तरफ न रहनेसे वह सुनायी नहीं देता था। इसी तरह श्रोताका मन दूसरी तरफ रहेगा तो वह सत्सङ्ग नहीं सुन सकेगा। जैसे सत्सङ्ग सुनते समय अपने-आप श्वास चलते हैं, नब्ज चलती है, उसमें मन नहीं लगाना पड़ता, ऐसे ही बिना मन लगाये अपने-आप जप होता हो तो सत्सङ्ग सुना जा सकता है। परन्तु सत्सङ्ग सुनते समय कोई जप करना चाहे तो नहीं हो सकता और लिखना तो हो ही नहीं सकता। मेरे विचारसे जिनको घरमें राम-राम लिखनेके लिये समय नहीं मिलता, घरमें काम-धंधा रहता है, वे सोचते हैं कि यहाँ निकम्मे बैठे हैं, कोई काम तो है नहीं, इसलिये यहाँ राम-रामकी कापी भर लें! तात्पर्य यह निकला कि जो सत्सङ्गको फालतू समझते हैं, वे वहाँ बैठकर कापी भरते हैं। ऐसे लोग सत्सङ्ग नहीं सुन सकते।

ध्यानपूर्वक सत्सङ्ग न सुननेसे मन संसारका चिन्तन

करने लगता है, जिससे सात्त्विकी वृत्ति नहीं रहती, प्रत्युत राजसी वृत्ति आ जाती है। राजसी वृत्ति आनेसे फिर तत्काल तामसी वृत्ति आ जाती है, जिससे श्रोताको नींद आ जाती है। तात्पर्य है कि मन लगाकर सत्सङ्ग न सुननेसे सात्त्विकी वृत्तिसे सीधे तामसी वृत्ति (नींद) नहीं आती, प्रत्युत क्रमसे सात्त्विकीसे राजसी और राजसीसे तामसी वृत्ति पैदा होती है।

सत्सङ्गके समय श्रोताको चाहिये कि वह अपनी दृष्टि वक्ताके मुखपर रखे। वक्ताके मुखकी तरफ देखते हुए ध्यानपूर्वक सुननेसे उसकी बातें हृदयमें धारण हो जाती हैं। जो कभी इधर और कभी उधर देखते हुए सुनते हैं, उनको सुनना नहीं आता। सुनते समय तत्परतासे मन लगाकर सुनना चाहिये कि वक्ताने किस विषयपर बोलना आरम्भ किया और उसमें कौन-सा दृष्टान्त दिया, कौन-सी युक्ति दी, कौन-सा दोहा या श्लोक कहा आदि-आदि। इस प्रकार मन लगाकर सुननेसे श्रोताको पहले ही यह पता चल जाता है कि अब वक्ता आगे क्या कहेगा ? कौन-सा विषय कहेगा ?

सत्सङ्गके समय जब वक्ता दुर्गुण-दुराचारके त्यागकी बात कहता है, तब श्रोता दूसरे व्यक्तियोंमें दुर्गुण-दुराचारका चिन्तन करता है और जब वक्ता सद्गुण-सदाचारको ग्रहण करनेकी बात कहता है, तब श्रोता अपनेमें सद्गुण-सदाचारका चिन्तन करने लगता है—इन दोनों बातोंसे सत्सङ्गके समय कुसङ्ग होने लगता है ! कारण कि दूसरे व्यक्तिमें अवगुणोंका चिन्तन करनेसे उन अवगुणोंसे तादात्म्य हो जाता है और तादात्म्य होनेसे वे अवगुण अपनेमें स्वतः-स्वाभाविक आने लगते हैं तथा दूसरोंमें दोषदृष्टि करनेका स्वभाव बन जाता है। अपनेमें सद्गुणोंका चिन्तन करनेसे अपनेमें अभिमान आ जाता है, जो अवगुणोंका मूल है। अतः अवगुणोंकी बात सुननेपर श्रोताको यह देखना चाहिये कि मेरेमें कौन-कौनसे अवगुण हैं और मेरेको किन-किन अवगुणोंका त्याग करना है ? सद्गुणोंकी बात सुननेसे श्रोताको यह विचार करना चाहिये कि दैवी अर्थात् भगवान्‌की सम्पत्ति होनेसे सभी सद्गुण भगवान्‌के हैं और उनकी कृपासे ही अपनेमें आते हैं और आये हैं। ऐसा विचार करते हुए श्रोता भगवान्‌में तल्लीन हो जाय। भगवान्‌में तल्लीन होनेसे वे सद्गुण अपनेमें स्वतः-स्वाभाविक आने लगते हैं।

अनुभवी पुरुष यदि किसी विषयका विवेचन करता है तो उसका विवेचन और तरहका (विलक्षण) होता है और जो शास्त्रकी दृष्टिसे विवेचन करता है, उसका विवेचन और तरहका होता है। दोनोंमें बड़ा फर्क होता है। शास्त्रकी दृष्टिसे विवेचन करनेसे वे विषय श्रोताको याद हो जाते हैं। इससे वह श्रोता वक्ता तो बन सकता है, पर उसका जीवन नहीं बदल सकता। परन्तु अनुभवी पुरुषके द्वारा विवेचन करनेसे श्रोताका जीवन बदल जाता है। गीता, रामायण, भागवत आदि सुननेसे, भगवान्‌की लीलाएँ सुननेसे भी असर पड़ता है। परन्तु वे भी यदि अनुभवी पुरुषके द्वारा, प्रेमी भक्तके द्वारा सुना जाय तो उसमें बड़ी विलक्षणता होती है। भगवान्‌के भक्तोंके चरित्र पढ़ने, सुनने, कहनेसे स्वाभाविक ही अन्तःकरण निर्मल होता है। इसलिये मैं भाई-बहनोंसे बहुत कहा करता हूँ कि आप भक्तोंके चरित्र पढ़ो और बालकोंको भी पढ़ाओ तथा उनसे सुनो। बालक उनको कहानीके रूपमें शौकसे पढ़ेंगे तो उनपर भगवद्भावोंका असर पड़ेगा। भगवान् और उनके भक्तोंके चरित्रोंमें एक विलक्षण शक्ति है। उनको यदि मन लगाकर सुना जाय तो हृदय गद्गद हो जायगा, नेत्रोंमें आँसू आ जायँगे, गला भर जायगा, एक मस्ती आ जायगी ! श्रीमद्भागवतमें आया है—

वागगद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(११।१४।२४)

'जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीलाका वर्णन करते-करते गद्गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओंका चिन्तन करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बारम्बार रोता रहता है, कभी हँसने लग जाता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है और कभी नाचने लग जाता है, ऐसा मेरा भक्त सारे संसारको पवित्र कर देता है।'

अन्तःकरणकी जो सूक्ष्म वासना है, वह जैसे भगवच्चरित्रोंको पढ़ने-सुननेसे दूर होती है, वैसे विवेकसे दूर नहीं होती। विवेकपूर्वक गहरे उतरकर वेदान्तके ग्रन्थोंको पढ़नेसे उतना लाभ नहीं होता, जितना लाभ भगवान् तथा उनके भक्तोंके चरित्रोंको मन लगाकर पढ़नेसे होता है। वेदान्तके ग्रन्थोंको मन लगाकर पढ़नेसे विवेक विकसित होता है और भगवान् तथा उनके भक्तोंका चरित्र मन लगाकर पढ़नेसे अन्तःकरण निर्मल तथा कोमल होता है। अन्तःकरणका कोमल होनेसे स्वतः भगवद्भक्ति होती है। तात्पर्य है कि विवेकमें अन्तकरण पिघलता नहीं, प्रत्युत कठोर रहता है; परन्तु भक्तिमें अन्तःकरण पिघलता है, जिससे उनमें भक्तिके

नये संस्कार बैठते हैं।

विवेक '**विचिर् पृथग्भावे**' धातुसे बनता है। तात्पर्य है कि विवेकमें दो चीजें होती हैं; जैसे—सत् और असत्, नित्य और अनित्य, शुभ और अशुभ, कर्तव्य और अकर्तव्य, ग्राह्य और त्याज्य आदि। सत् और असत्के विवेकमें साधक असत्का त्याग करता है। असत्का त्याग करनेपर भी असत्की सूक्ष्म सत्ता बनी रहती है। परन्तु तत्परतापूर्वक भगवान्के चरित्रोंको, स्तोत्रोंको तल्लीन होकर पढ़नेसे एक भगवान्की ही सत्ता रहती है, दूसरी सत्ता नहीं रहती। इसलिये भीतरकी जो सूक्ष्म वासनाएँ हैं, वे भगवान् और उनके भक्तोंके चरित्र पढ़ने-सुननेसे सुगमतापूर्वक नष्ट हो जाती हैं—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उ० ४९। ३)

भूख लगनेपर भोजन जितना गुण करता है, वैसा बिना भूखके नहीं करता; क्योंकि भूखके बिना रस नहीं बनता और रस बने बिना शक्ति नहीं आती। अतः भूखके बिना बढ़िया भोजन भी किस कामका? इसी तरह अगर श्रोतामें जाननेकी भूख हो और वक्ता अनुभवी हो तो श्रोताके अन्तःकरणमें वक्ताकी बात प्रविष्ट हो जाती है। श्रोतामें तीव्र जिज्ञासा हो और किसी एक मतका पक्षपात न हो तो सुननेमात्रसे बोध हो जाता है। गीतामें आया है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक वास्तविक सिद्धिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सिद्धोंमें कोई एक ही मुझे तत्त्वसे जानता है।'

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि तत्त्वकी प्राप्ति कठिन है। इसका तात्पर्य है कि श्रोता ध्यान नहीं देते। हजारों मनुष्योंमें कोई एक ठीक ढंगसे सुनता है और तत्त्वप्राप्तिके लिये साधन करता है। जो साधन करके बहुत दूरतक पहुँच गये हैं, ऐसे सिद्धोंमें भी कोई एक ही तत्त्वसे जानता है। इस प्रकार इस श्लोकमें मनुष्योंकी सामान्य वस्तुस्थितिका वर्णन किया गया है, तत्त्वप्राप्तिकी कठिनताका वर्णन नहीं किया गया है। तत्त्वप्राप्तिकी अलौकिकताका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

(गीता २। २९)

'कोई इस शरीरीको आश्चर्यकी तरह देखता अर्थात् अनुभव करता है। वैसे ही अन्य कोई इसका आश्चर्यकी तरह वर्णन करता है तथा अन्य कोई इसको आश्चर्यकी तरह सुनता है और इसको सुन करके भी कोई नहीं जानता।'

उस तत्त्वका अनुभव, वर्णन आदि सब विलक्षण रीतिसे होता है, लौकिक बातोंकी तरह नहीं होता। 'अन्य' कहनेका तात्पर्य है कि तत्त्वका अनुभव करनेवालोंमें भी वर्णन करनेवाला कोई एक ही होता है। सब-के-सब अनुभव करनेवाले उसका वर्णन नहीं। कर सकते*। इसको सुन करके भी कोई नहीं जानता; क्योंकि वह मन लगाकर जिज्ञासापूर्वक नहीं सुनता।

'यत्न करनेवाले सिद्धोंमें कोई एक ही मुझे तत्त्वसे जानता है'—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि यत्नसे अर्थात् भीतरकी लगनसे ही परमात्मतत्त्वको जाना जा सकता है और 'इसको सुन करके भी कोई नहीं जानता'—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि सुननेमात्रसे अर्थात् अभ्याससे उस तत्त्वको कोई नहीं जान सकता। अभ्यासमें मन-बुद्धिकी प्रधानता होती है, पर लगनमें स्वयंकी प्रधानता होती है। अभ्याससे एक नयी अवस्थाका निर्माण होता है, जबकि लगनसे स्वयंमें सदासे विद्यमान तत्त्व प्रकट हो जाता है।

अनुभवी मनुष्यके द्वारा सुना जाय तो भीतर एक शक्ति प्रवेश करती है। पर सब आदमी उसकी बातोंको पकड़ नहीं पाते। कारण कि वक्ताका जो अनुभव है, उसको वह वाणीके द्वारा नहीं कह सकता। उसका जो अनुभव है, उतना बुद्धिमें नहीं आता। बुद्धिमें जितनी बातें आती हैं, उतनी मनमें नहीं आतीं। मनमें जितनी बातें आती हैं, उतनी वाणीमें नहीं आतीं। वाणीमें जितनी बातें आती हैं, उतनी श्रोताके कानोंतक नहीं पहुँचतीं। कानोंतक जितनी बातें पहुँचती हैं, उतनी उसका मन

---

* शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पण्डितः। वक्ता शतसहस्रेषु दाता जायेत वा न वा॥

(व्यासस्मृति ४। ५८-५९; स्कन्दपुराण मा० कुमा० २। ७०)

सैकड़ों मनुष्योंमें कोई एक शूर पैदा होता है, हजारोंमें कोई एक पण्डित पैदा होता है, लाखोंमें कोई एक वक्ता पैदा होता है, दाता तो पैदा हो भी अथवा न भी हो!'

मनन नहीं करता। मन जितनी बातोंका मनन करता है, उतनी बातोंका बुद्धिमें निश्चय नहीं होता। बुद्धिमें जितना निश्चय होता है, उतना अनुभवमें नहीं आता। इस प्रकार क्रमसे देखें तो कहनेवालेके अनुभव और सुननेवालेके अनुभवमें बहुत अन्तर पड़ जाता है। परन्तु यदि श्रोता जिज्ञासु हो और वह मन लगाकर सुने तो बहुत जल्दी अनुभव हो जाता है।

सतगुरु भूठा इन्द्र सम, कमी न राखे कोय।
वैसा ही फल नीपजै, जैसी भूमिका होय॥

जैसे वर्षा सब जगह एक समान ही बरसती है। वर्षा, जमीन, खाद, धूप, वायु और जलमें कोई फर्क न होनेपर भी एक साथ पैदा होनेवाले मतीरेके स्वादमें और तस्तुम्बा (विसलुम्बा)के स्वादमें बड़ा भारी फर्क होता है; क्योंकि दोनोंका बीज अलग-अलग होता है। जैसा बीज होता है, वैसा ही फल होता है। परन्तु मनुष्यकी बात इससे विलक्षण है! मनुष्यका बीज अर्थात् भाव पलट भी सकता है और वह दुष्टसे सन्त बन सकता है, दुरात्मासे महात्मा बन सकता है (गीता ९। ३०-३१); क्योंकि मूलमें वह परमात्माका ही अंश है। परन्तु उसमें दो बातें होनी चाहिये—वह कपटरहित हो और आज्ञाके अनुसार चले—'**अमाययानुवृत्त्या**' (श्रीमद्भा० ११। ३। २२)। इसलिये श्रोतामें कपट नहीं होना चाहिये अर्थात् भीतरमें किसी बातका कोई आग्रह, कोई पकड़ नहीं होनी चाहिये। अपनी बातका आग्रह होगा तो वह दूसरेकी बात सुन नहीं सकेगा और सुनेगा भी तो पकड़ नहीं सकेगा। कारण कि अपना आग्रह रहनेसे श्रोताका हृदय वक्ताकी बातको फेंकता है, ग्रहण नहीं करता। इससे वक्ताकी अच्छी बात भी हृदयमें बैठती नहीं। अतः अपने मत, सिद्धान्त, सम्प्रदायका आग्रह तत्त्वप्राप्तिमें बहुत बाधक है।

श्रोता अपनी कोई आड़ न लगाये तो अनुभवी महापुरुषके भाव उसके भीतर शीघ्र प्रविष्ट हो जाते हैं।

पारस केरा गुण किसा, पलटा नहीं लोहा।
कै तो निज पारस नहीं, कै बिच रहा बिछोहा॥

यदि लोहेसे सोना नहीं बना तो पारस असली नहीं है अथवा लोहा असली नहीं है। यदि पारस भी असली हो और लोहा भी असली हो, जंग लगा हुआ न हो तथा पारस और लोहेके बीचमें कोई आड़ (मिट्टी, पत्ता आदि) न हो तो पारससे स्पर्श होते ही लोहा तत्काल सोना बन जाता है। इसी तरह अगर कहनेवाला अनुभवी हो, सुननेवाला जिज्ञासु हो और बीचमें अपनी कुछ अटकल न लगाये तो वह पारस हो जाता है! इतना ही नहीं, वह पारससे भी विलक्षण हो जाता है—

पारसमें अरु संत में, बहुत अंतरौ जान।
वह लोहा कंचन करै, वह करै आपु समान॥

पारससे बना हुआ सोना दूसरे लोहेको सोना नहीं बना सकता। कारण कि पारस लोहेको सोना बनाता है, पारस (अपने समान) नहीं बनाता। परन्तु अनुभवी महापुरुष निष्कपटभावसे सुननेवाले और आज्ञाके अनुसार चलनेवालेको भी अपने समान सन्त बना देता है, मानो पारसकी टकसाल खुल जाती है!

यदि श्रोतामें एकमात्र परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य नहीं है और वह केवल सीखनेके लिये, सीखकर व्याख्यान देनेके लिये सत्सङ्ग सुनता है तो वह सत्सङ्गको बुद्धिका विषय बनाता है और सीखे हुए ज्ञानको ही अनुभव मान लेता है। ऐसे (सीखनेके उद्देश्यसे सत्सङ्ग करनेवाले) श्रोताको सत्सङ्गमें नयापन नहीं दीखता और वह कहता है कि इन बातोंको मैं जानता हूँ, इनको बार-बार सुननेसे क्या लाभ? सीखे हुए ज्ञानसे श्रोता पण्डित, वक्ता, लेखक तो हो सकता है, पर तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी नहीं हो सकता। वह दूसरोंको उनके प्रश्नोंका उत्तर दे सकता है, उनको ज्ञानकी बातें सिखा सकता है, पुस्तक लिख सकता है, पर तत्त्वका अनुभव नहीं करा सकता। कारण कि वाचिक ज्ञानी बननेसे उसमें ज्ञानका अभिमान पैदा हो जाता है। जैसे बहेड़ेकी छायामें कलियुग रहता है, ऐसे ही अभिमानकी छायामें सम्पूर्ण दोष और उनके कारण विद्यमान रहते हैं। परन्तु जो सच्चे हृदयसे परमात्मप्राप्ति करना चाहता है, वह तो अनुभवके लिये ही सुनता है, सीखनेके लिये नहीं। वह सत्सङ्गको केवल बुद्धिका विषय ही नहीं बनाता, प्रत्युत साथ-साथ उसमें तल्लीन भी होता है।

यद्यपि आध्यात्मिक पुस्तकें पढ़नेसे तथा प्रवचनोंकी कैसेट सुननेसे भी लाभ होता है, तथापि अनुभवी पुरुषके द्वारा सुननेसे बहुत अधिक विचित्र लाभ होता है। जिसने पहले प्रवचन सुना है, वह यदि उस प्रवचनकी कैसेट सुने तो उसपर जितना असर पड़ता है, उतना नये आदमीपर नहीं पड़ता। कारण कि जिसने पहले सत्सङ्ग सुना है, वह उसकी कैसेट सुनेगा तो वह सब-का-सब दृश्य उसके मनके सामने आ जायगा, जिससे एक विलक्षण असर पड़ेगा। इसी तरह सत्सङ्ग सुननेसे जितना असर पड़ता है, उतना पुस्तक पढ़नेसे नहीं पड़ता। कारण कि सत्सङ्ग सुननेसे वक्ताके नेत्र, हाथ आदिकी मुद्रा, उसके भाव, उसकी दृष्टिका श्रोतापर एक विलक्षण असर पड़ता है। सुननेमें तो सुनानेवालेकी बुद्धिकी

प्रधानता रहती है, पर पुस्तक पढ़नेमें तथा कैसेट सुननेमें अपनी बुद्धिकी प्रधानता रहती है। अगर श्रोता वक्ताके विवेचनको ध्यानपूर्वक सुने तो उसकी बुद्धि वक्ताकी बुद्धिमें प्रविष्ट हो जाती है। श्रोता अपनी बुद्धिसे उतना नहीं समझ सकता, जितना सुनानेवालेकी बुद्धिसे समझ सकता है। अगर सुनानेवालेकी कृपादृष्टि हो जाय तो उससे बहुत विशेष लाभ होता है। जैसे गायका बछड़ा अपनी माँके स्तनोंसे दूध पीकर ही पुष्ट होता है। अगर बछड़ेकी माँ मर जाय और उसको दूसरी गायका दूध पिलाया जाय तो वह उतना पुष्ट नहीं होता। कारण कि स्तनपान कराते समय गाय अपने बछड़ेको स्नेहपूर्वक चाटती है, हुंकार करती है तो उससे बछड़ेकी जैसी पुष्टि होती है, वैसी केवल दूध पीनेसे नहीं होती। ऐसे ही सन्त-महात्मा कृपा करके विशेषतासे कहें और सुननेवाला उनके सम्मुख होकर लगनपूर्वक सुने तो तत्काल तत्त्वकी प्राप्ति होती है।

हरेक काममें भविष्य होता है, पर परमात्मतत्त्वमें भविष्य नहीं होता। परमात्माकी प्राप्ति धीरे-धीरे नहीं होती, प्रत्युत तत्काल होती है। सुनानेवाला अनुभवी पुरुष भी विद्यमान हो, सुननेवाला जिज्ञासु साधक भी विद्यमान हो और परमात्मतत्त्व तो विद्यमान है ही, फिर भविष्यका क्या काम ? देरी होनेका कोई कारण ही नहीं है ! परमात्मतत्त्व नित्य-निरन्तर सबमें विद्यमान है। सुनानेवालेने उधर दृष्टि करायी और सुननेवालेने उसको जान लिया—इसमें देरी किस बातकी ? बहुत-से भाई-बहनोंने ऐसी भावना कर रखी है कि सुनते-सुनते, साधन करते-करते, धीरे-धीरे कभी परमात्माकी प्राप्ति होगी। परन्तु वास्तवमें सांसारिक काम ही 'कभी' होगा, पारमार्थिक काम 'कभी' नहीं होगा, वह तो 'अभी' ही होगा।

जो वस्तु पैदा होनेवाली होती है, उसीकी प्राप्तिमें भविष्य होता है। जो पैदा होनेवाली नहीं है, प्रत्युत नित्य-निरन्तर रहनेवाली वस्तु (परमात्मतत्त्व) है, उसकी प्राप्तिमें भविष्य कैसे होगा ? सुननेकी भूख ही नहीं है, परमात्मतत्त्वकी तीव्र जिज्ञासा ही नहीं है, उसके लिये तड़पन ही नहीं है, उसके लिये व्याकुलता ही नहीं है, इसी कारण देरी हो रही है !

★

संयोग, वियोग और योग

गीतामें भगवान् कहते हैं—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्। (६।२३)

जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है, उसको योग नामसे जानना चाहिये।'

सुख और दुःख दोनों आने-जानेवाले हैं, पर जिस प्रकाशमें इन दोनोंके आने-जानेका भान होता है, उसका नाम 'योग' है। उस प्रकाशमें सुख और दुःख दोनों ही नहीं हैं। अगर सुख-दुःखकी सत्ता मानें तो सुख और दुःख दोनों भिन्न-भिन्न हैं। सुखके समय दुःख नहीं है और दुःखके समय सुख नहीं है। परन्तु ज्ञानमें, चिति शक्तिमें ये दोनों ही नहीं हैं। ये दोनों आने-जानेवाले और अनित्य हैं—**'आगमापायिनोऽनित्याः'** (गीता २।१४)। परन्तु ये दोनों सुख और दुःख जिससे प्रकाशित होते हैं, वह प्रकाश सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। उस प्रकाशको ही 'योग' अथवा 'नित्ययोग' कहते हैं। उस नित्ययोगमें स्थिति करनी नहीं है, प्रत्युत उसमें हमारी स्वतःस्वाभाविक स्थिति है। केवल उधर लक्ष्य करके अनुभव करना है। अगर स्थिति करेंगे तो कर्तृत्वाभिमान आ जायगा।

जैसे किसी सत्संग-भवनमें बिजलीका प्रकाश हो रहा हो तो जब वहाँ कोई भी आदमी नहीं आता, तब भी प्रकाश रहता है, जब सब आदमी आ जाते हैं, तब भी प्रकाश रहता है और जब सब आदमी चले जाते हैं, तब भी प्रकाश रहता है। आदमी आयें अथवा चले जायँ, कम आयें अथवा ज्यादा आयें, प्रकाशमें कोई फर्क नहीं पड़ता, वह ज्यों-का-त्यों रहता है। परन्तु हमारा लक्ष्य प्रकाशकी तरफ नहीं रहता, प्रत्युत आदमियोंकी तरफ रहता है कि इतने आदमी आ गये, इतने आदमी चले गये। इसी तरह संयोग हो या वियोग हो, नित्ययोगमें कोई फर्क नहीं पड़ता, वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। नित्ययोगमें न संसार है और न संसारका संयोग-वियोग है। हमें केवल उधर लक्ष्य करना है। गीतामें आया है—

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्। (६।२५)

तात्पर्य है कि कुछ भी चिन्तन न करे। आत्माका, अनात्माका, परमात्माका, संसारका, संयोगका, वियोगका कुछ भी चिन्तन न करे। करनेसे उपासना होती है, तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। तत्त्वकी प्राप्ति तो केवल लक्ष्य करनेसे होती है कि 'यह है'!

कोई तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी महापुरुष हो या साधारण आदमी हो, ज्ञानी हो या अज्ञानी हो, सदाचारी हो या दुराचारी हो, सज्जन हो या दुष्ट हो, भक्त हो या कसाई हो, तत्त्वमें कोई फर्क नहीं पड़ता। तत्त्वमें न श्रवण है, न मनन है, न निदिध्यासन है, न ध्यान है, न समाधि है, न व्युत्थान है।

केवल उधर लक्ष्य करना है। गुरु भी वास्तवमें कोई नया ज्ञान नहीं देता, प्रत्युत जो ज्ञान शिष्यके भीतर पहलेसे ही विद्यमान है, उसकी तरफ लक्ष्य कराता है। लक्ष्य करानेसे तत्त्वकी जागृति हो जाती है। अगर गुरुके भीतर यह अभिमान आता है कि मैंने शिष्यको ज्ञान दे दिया, उसका अज्ञान मिटा दिया, उसका कल्याण कर दिया तो वह वास्तवमें गुरु है ही नहीं! वास्तविक गुरुके भीतर तो यह भाव रहता है कि मैंने शिष्यकी बात ही उसको बतायी है, उसके अनुभवकी तरफ ही उसकी दृष्टि करायी है, नया कुछ नहीं दिया है। इसलिये तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी महात्माओंमें कभी यह स्फुरणा होती ही नहीं कि मैंने इसको कुछ दे दिया, इसका कल्याण कर दिया। परन्तु शिष्यकी दृष्टिसे देखें तो गुरुने कृपा करके इतना दे दिया जिसका कोई अन्त ही नहीं है! दूसरा कोई इतना दे ही नहीं सकता। कारण कि अनन्त जन्मोंसे जिसकी तरफ लक्ष्य नहीं गया था, उस तत्त्वकी तरफ लक्ष्य करा दिया, जिससे उसकी जागृति हो गयी। अनादिकालसे संसारमें भटकते जीवको इतना दिया कि कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहा!

जैसे एक आदमी दिनभर खेतमें काम करता है तो शामको मालिक उसको पैसे देता है। अगर ऐसा मानें कि पैसे उसको काम करनेसे मिले तो फिर किसी जंगलमें जाकर काम करनेसे पैसे क्यों नहीं मिलते? अगर ऐसा मानें कि पैसे मालिकसे मिलते हैं तो फिर बिना काम किये मालिक पैसे क्यों नहीं देता? अतः वास्तवमें पैसे न तो काम करनेसे मिलते हैं और न मालिकसे मिलते हैं, प्रत्युत अपने प्रारब्धसे मिलते हैं। ऐसे ही तत्त्व न गुरुसे मिलता है, न भगवान्‌से मिलता है, प्रत्युत अपनी जिज्ञासासे मिलता है। अगर शिष्यमें जिज्ञासा न हो, तत्त्वको जाननेकी चाहना न हो तो गुरु क्या करेगा?

दीन्ही थी लागी नहीं, बाँस नलीमें फूँक।
गुरु बेचारा क्या करे, चेले माँही चूक॥

इसलिये तत्त्वको जाननेके लिये कोई विशेष अधिकारी बननेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत केवल जिज्ञासाकी जरूरत है। जिसके भीतर जिज्ञासा है, वह तत्त्वको जाननेका अधिकारी हो गया!

योग अनित्य नहीं है, प्रत्युत नित्य है। भगवान्‌ने भी योगको अव्यय कहा है—'**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्**' (गीता ४।१)। साधक कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि किसी मार्गसे चले, अन्तमें उसको नित्ययोगकी ही प्राप्ति होगी। साधककी कर्मयोगमें रुचि है तो वह कर्मयोगसे नित्ययोगका अनुभव कर लेगा, ज्ञानयोगमें रुचि है तो वह ज्ञानयोगसे नित्ययोगका अनुभव कर लेगा, भक्तियोगमें रुचि है तो वह भक्तियोगसे नित्ययोगका अनुभव कर लेगा और ध्यानयोगमें रुचि है तो वह ध्यानयोगसे नित्ययोगका अनुभव कर लेगा। इस नित्ययोगका कभी किसी भी अवस्थामें अभाव नहीं होता। यह अज्ञान-अवस्थामें भी वैसा ही रहता है और ज्ञान-अवस्थामें भी वैसा ही रहता है। जाग्रत्-अवस्था हो, स्वप्न-अवस्था हो, सुषुप्ति-अवस्था हो, मूर्च्छा-अवस्था हो अथवा समाधि-अवस्था हो, यह नित्ययोग सदा ज्यों-का-त्यों रहता है, इसमें किञ्चिन्मात्र भी फर्क नहीं पड़ता।

यह नित्ययोग सबको निरन्तर स्वतः प्राप्त है, पर जिज्ञासाके बिना साधक इसको पकड़ता नहीं। करण कि जिज्ञासामें ही इसको पकड़नेकी शक्ति है। जैसे, भोजन बढ़िया हो, पर भूखके बिना उसको पा नहीं सकते और पा लें तो उसका रस नहीं बनता, जिससे वह शक्ति नहीं देता। जबतक जिज्ञासा जाग्रत् नहीं होती, तभीतक तत्त्वप्राप्तिमें देरी है। जिज्ञासा जाग्रत् होनेपर कुछ देरी नहीं है। किसी भी तरहका दूसरा कोई आग्रह न हो तो जिज्ञासा जाग्रत् होनेपर तत्काल नित्ययोगकी प्राप्ति हो जायगी। अगर साधक अपने सम्प्रदायका, मतका, द्वैतका, अद्वैतका, भक्तिका, ज्ञानका, योगका कोई आग्रह रखेगा तो उसको जल्दी तत्त्वप्राप्ति नहीं होगी। सन्तोंने कहा है—

मतवादी जानै नहीं, ततवादी की बात।
सूरज ऊगा उल्लुवा, गिनै अँधेरी रात॥
हरिया तत्त विचारियै, क्या मत सेती काम।
तत्त बसाया अमरपुर, मतका जमपुर धाम॥

प्रश्न—नित्ययोगका अनुभव करनेका सुगम उपाय क्या है?

उत्तर—संसारमें हम अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख, भाव-अभाव, आदर-निरादर, निन्दा-स्तुति आदि जितने भी द्वन्द्व देखते हैं, उन सबका संयोग और वियोग होता है। इस संयोग और वियोग—दोनोंपर विचार करें तो संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है। अगर संसारके नित्य वियोगको स्वीकार कर लें तो परमात्माके साथ नित्ययोगका अनुभव हो जायगा।

संसारकी किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिसे हमारा संयोग (मिलन) हुआ है तो अन्तमें उसका वियोग अवश्य होगा—

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥

(वाल्मीकि॰ २।१०५।१६; महा॰ आश्व॰ ४४।१९)

'समस्त संग्रहोंका अन्त विनाश है, लौकिक उन्नतियोंका अन्त पतन है, संयोगोंका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है।'

संसारका वियोग नित्य है—इसका अनुभव मनुष्य-मात्रको है। यह कोई नयी बात नहीं है। पहले भी वियोग था, बादमें भी वियोग रहेगा और संयोगके समय भी निरन्तर वियोग हो रहा है; अतः वियोग नित्य है। नित्यको स्वीकार कर लें तो अनित्यका त्याग हो जायगा। अनित्यका त्याग करना ही साधकका मुख्य कार्य है। वास्तवमें वियोगका ही महत्त्व है, संयोगका नहीं। साधकसे गलती यह होती है कि वह संयोगको सच्चा मानकर उसको महत्त्व देता है, पर वियोगको महत्त्व नहीं देता। वह वियोगमें संयोगकी लालसा रखता है; जैसे—धन नहीं हो तो धनकी लालसा रखता है। अगर वह संयोगके साथ सम्बन्ध न रखकर वियोगके साथ सम्बन्ध रखे, वियोगको ही महत्त्व दे तो निहाल हो जाय! जो नित्य (वियोग) को महत्त्व दे, वह साधक है और जो अनित्य (संयोग)को महत्त्व दे, वह संसारी है। जो नित्यका आदर करता है, वह ज्ञानी है और जो अनित्यका आदर करता है, वह अज्ञानी है। नित्य तत्त्वको न पकड़कर अनित्य तत्त्वको पकड़ना ही जन्म-मरणका कारण है। गीतामें आया है—

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(१३।२१)

'गुणोंका संग ही ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होनेका कारण है।'

गुणोंका संग अनित्य है और गुणोंसे असंगता नित्य है। असंगता अपना स्वरूप है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदा॰ ४।३।१५)। अगर नित्य (गुणोंसे असंगता)को पकड़ें तो जन्म-मरण हो ही नहीं सकता।

संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है—यह सम्पूर्ण वेदों और शास्त्रोंकी सार बात है। संसारके वियोगका अनुभव कर लेना ही नित्ययोग है—'**तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (गीता ६।२३)। मिलना नित्य नहीं रहेगा, पर बिछुड़ना नित्य रहेगा। हम मिलनकी इच्छा रखते हैं, मिलनको महत्त्व देते हैं—यह मूर्खता है। यह मूर्खता सत्संगसे मिटती है।

संसारका वियोग नित्य है—यह किसी एक व्यक्ति, मत, सम्प्रदाय, धर्म आदिकी बात नहीं है, प्रत्युत सबकी बात है। इसमें कोई मतभेद नहीं है। जिससे नित्य वियोग है, उसके संयोगको स्वीकार कर लिया, उसको सत्ता और महत्ता दे दी, इसीलिये नित्ययोगका अनुभव नहीं हो रहा है। जो 'नहीं' है, उसको 'है' मान लिया, इसीलिये 'है' होते हुए भी दीखना बन्द हो गया। 'है' तो सदा 'है' ही रहता है, कभी 'नहीं' में बदलता नहीं। सदा साथ रहनेवालेको देखनेका यही उपाय है कि सदा बिछुड़नेवालेको साथ न मानें। जिसका वियोग अवश्य होगा, उसके वियोगको वर्तमानमें ही स्वीकार कर लें। तात्पर्य है कि जिसका वियोग हो जायगा, उसमें राग न करें, उसको महत्त्व न दें, उसके प्रभावको स्वीकार न करें। जब सब संयोगोंका वियोग हो जायगा अर्थात् संयोगोंमें राग नहीं रहेगा, तब नित्ययोगका अनुभव हो जायगा।

कुछ लोग ऐसी शंका करते हैं कि नित्ययोगका अनुभव होनेपर अर्थात् ज्ञान होनेपर व्यवहार कैसे होगा? वास्तमवें ज्ञान अज्ञानका निवर्तक होता है, व्यवहारका निवर्तक नहीं होता। अतः ज्ञान होनेपर व्यवहारमें कोई बाधा नहीं आयेगी, प्रत्युत कामना, ममता, स्वार्थ आदि दोषोंके मिट जानेसे बड़ा अच्छा और सुन्दर व्यवहार होगा। उस व्यवहारसे स्वतः-स्वाभाविक सबका हित होगा।

संसारमें जितना भी संयोग देखनेमें आता है, सबका निरन्तर वियोग हो रहा है। संकल्प-विकल्प भी मिट रहे हैं। कोई बड़ी आफत आ जाय तो वह भी मिट रही है। किसी मनुष्यके मरनेका शोक होता है तो वह शोक भी बिना उद्योग किये, अपने-आप मिट जाता है। तात्पर्य है कि संसारकी सब चीजें वियुक्त होनेवाली, मिटनेवाली हैं और मिट रही हैं—

ऊगा सोई आथवें, फूला सो कुम्हलाय।
चिण्या देवल ढह पड़े, जाया सो मर जाय॥

अगर इस नित्यवियोगको अभी स्वीकार कर लें तो इतनेसे ही बड़ी शान्ति मिलेगी, मनकी हलचल मिटेगी। कोई आदमी मर जाता है तो हृदयमें एक धक्का लगता है। धन चला जाता है तो एक धक्का लगता है। क्यों धक्का लगता है? उनके संयोगको स्थायी मान लिया, इसलिये धक्का लगता है। अतः पहलेसे ही यह स्वीकार कर लें कि इन सबका वियोग होनेवाला है। कोई मर गया, कोई चला गया तो नयी बात क्या हुई! ये सब तो जानेवाले ही हैं। सूर्य अस्त होनेपर व्यवहारमें बाधा लग जाती है; परन्तु 'उदय हुआ है तो अस्त होगा ही'—यह भाव होनेसे दुःख नहीं होता। इसी तरह जो जन्मा है, वह मरेगा ही; जो आया है, वह जायगा ही—यह भाव

होगा तो फिर किसीकी मृत्युपर अथवा जानेपर दुःख नहीं होगा। जैसे बालकपना चला गया तो अब उसको ला नहीं सकते, ऐसे ही जितनी चीजोंका वियोग हो गया, उनमेंसे किसी भी चीजको ला नहीं सकते और अभी जो चीजें हैं, वे भी जा रही हैं, उनको रख नहीं सकते। पहलेवाली चली गयी, अभीवाली जा रही है तो भविष्यमें आनेवाली कौन-सी टिकेगी? जानेवालेको महत्ता क्या दें? क्या जानेवाली, मिटनेवाली चीजकी भी कोई महत्ता होती है? उसको महत्ता न दें तो नित्ययोगका अनुभव हो जायगा।

संसार पहले भी हमारे साथ नहीं था, पीछे भी हमारे साथ नहीं रहेगा और अभी भी हमारे साथ नहीं है, इसलिये उससे नित्यवियोग है। परमात्मा पहले भी हमारे साथ थे, पीछे भी हमारे साथ रहेंगे और अभी भी हमारे साथ हैं, इसलिये उनसे नित्ययोग है। इस नित्यवियोग अथवा नित्ययोगका कोई चिन्तन नहीं करना है। यह तो है ही ऐसा। केवल इसका अनुभव करना है। यही सहजावस्था है।

॥ श्रीहरिः॥

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या

समाज-सुधार

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

समाज-सुधार

गीता और रामायणके क्रियात्मक प्रचारकी आवश्यकता

परम कृपालु प्रभुकी परम अनुकम्पासे मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। इस शरीरकी महिमा ऋषि-महर्षि सभी बड़े हर्षसे गाते हैं; क्योंकि इससे बहुत बड़े प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है कि जिस लाभसे बढ़कर कोई लाभ नहीं और जिसमें स्थित होनेपर बड़ा भारी दुःख कभी भी विचलित नहीं कर सकता—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(६। २२)

—ऐसा अनुपम लाभ अभी इसी शरीरमें और हर एक मनुष्यको हो सकता है। मूर्ख-से-मूर्ख एवं पापी-से-पापी मनुष्य भी थोड़े-से-थोड़े समयमें दुर्लभ परमपद परमात्माको प्राप्त कर सकता है। भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०। १०)

भगवान् स्वयं जब बुद्धियोग प्रदान करेंगे, तब मूर्खसे भी मूर्ख क्यों न हो, उसे उनकी प्राप्तिमें कौन-सी अड़चन रहेगी। भगवान्‌ने यहाँतक कह दिया कि **'अपि चेत्सुदुराचारः'** सुष्ठुदुराचारी अर्थात् साङ्गोपाङ्ग पापी भी अनन्यभाक् होकर भजन करे तो उसको भी साधु मानना चाहिये; क्योंकि उसने निश्चय बहुत ही अच्छा कर लिया है। इससे वह क्षिप्र—बहुत ही शीघ्र धर्मात्मा बन जायगा और शाश्वती शान्तिको प्राप्त हो जायगा। अधिक समयकी भी आवश्यकता भगवान् नहीं बताते—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(८। ५)

इस श्लोकमें **'च'** अव्यय **'अपि'** के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ होता है कि 'अन्तकालमें भी मुझको याद करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, तो भी मुझको प्राप्त हो जाता है—इसमें संदेह नहीं।' तब, जो सब समय भगवान्‌का चिन्तन करे, उसके कल्याणमें तो कहना ही क्या है। गीता आदि ग्रन्थोंके विचार करनेपर यह बात समझमें आती है कि प्रभुकी प्राप्ति वास्तवमें कठिन नहीं तथा उसके लिये अधिक समयकी भी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है—अपनी हार्दिक लगनकी तथा परमात्माकी प्राप्तिके मार्ग—तरीके जाननेकी।

मार्गोंको जानने और बतानेवाले हैं—सच्चे महात्मा एवं शास्त्र, वेद, स्मृति, पुराण, इतिहास आदि ग्रन्थ। इनमें महात्माओंको तो हरेक मनुष्य पहचान ही नहीं सकता, तब वह उनसे कैसे लाभ उठाये और वेदादि ग्रन्थोंका सम्यक् रीतिसे अध्ययन करके विचारपूर्वक यथाधिकार साधन चुन लेना साधारण बात नहीं। शास्त्रका पारावार नहीं, ऐसी हालतमें हमें सुगमतासे सरल और सुखमय मार्गका बोध करा देनेवाले छोटे तथा सरल ग्रन्थ हों तो हम अनायास ही अपने जीवनको सफल बना सकते हैं और इसके लिये मेरी साधारण बुद्धिके अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीतुलसीदासकृत मानस-रामायण—ये दो ग्रन्थ बहुत ही उपादेय हैं। श्रीगीतोपदेशके समय अर्जुनकी जो दशा थी, वही किंकर्तव्य-विमूढ़ दशा आज भारतवर्षकी है और इधर राज्यव्यवस्थाको देखते रामायणकी अर्थात् रामराज्यकी अत्यधिक आवश्यकता प्रतीत होती है। जीवनमें रामजीका आदर्श बर्ताव नितान्त प्रयोजनीय है और इसके लिये रामायण और गीताका श्रद्धापूर्वक पाठ करना, उसका अर्थ समझना और उसीके अनुसार जीवन बनाना परम आवश्यक है और यह सब तभी सम्भव है, जब कि हम गीता और रामायणको अच्छी तरह समझकर तदनुकूल आचरण करें—उनको अपने जीवनमें उतारें। इसलिये गीता और रामायणका स्वयं पठन-पाठन करना चाहिये और

दूसरोंसे करवाना चाहिये। उन बालकोंको जो आधुनिक समयानुसार धर्मरहित शिक्षा पाये हुए हैं* विशेषरूपसे सच्ची धार्मिक शिक्षाकी आवश्यकता है, हमारे शास्त्रोंका तो कहना है—'**धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।**' यह पशुवृत्ति बड़े जोरोंसे हमारे देशमें फैल रही है और घर कर रही है। अतः इसे निकालनेके लिये उनकी शरण लेनी चाहिये जो स्वार्थ-त्यागी और हमारे यथार्थ हितैषी हैं। ऐसे हैं—भगवान् और उनके प्यारे भक्त—

सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥
हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

संतन मिलि निरनै कियो मथि पुरान इतिहास।
भजिबे को दोई सुघर, कै हरि, कै हरिदास॥

इन दोनोंके ही साक्षात् वचनामृतरूप ये दो पवित्र ग्रन्थरत्न हैं— श्रीभगवान्‌के श्रीमुखकी वाणी गीता और भक्तराज तुलसीकी मधुर वाणी श्रीरामायण। भाषाएँ अनेक हैं, पर उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं—देवभाषा संस्कृत और दूसरी है राष्ट्रभाषा हिंदी। गीता संस्कृतमें है और रामायण हिंदीमें। हमारे अवतार भी दो ही मुख्य माने जाते हैं—एक श्रीराम और दूसरे श्रीकृष्ण। उक्त दोनों ग्रन्थ भी इन दोनोंकी महिमा हैं। उपदेश देनेके तरीके भी दो ही हैं—एक मुखसे कहकर और एक आचरण करके।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(३।२१)

वही श्रीगीतामें श्रीभगवान्‌ने कहकर उपदेश दिया और भगवान् श्रीरामजीने श्रीरामायणमें उसीको करके दिखलाया। काव्य भी दो ही तरहके होते हैं—एक दृश्य और दूसरा श्रव्य। रामायण दृश्य और गीता श्रव्य है।

श्रीमद्भगवद्गीता संक्षिप्त उपदेशसे और रामायण विशद उदाहरणों और लीला-कथाओंसे हमें समझा रही है। इसलिये इन दोनों ग्रन्थरत्नोंका अच्छी तरहसे अध्ययन करके अनुसरण करना चाहिये।

★

* धर्मरहित राज्य, ब्राह्मणरहित धर्मविधान, क्षत्रियरहित शासन, वैश्यरहित व्यापार, शूद्ररहित सेवा, अन्त्यजरहित स्वच्छता—सफाई, वृक्षरहित उद्यान, फलरहित वृक्ष, सुगन्धरहित पुष्प, गोरस-घृतादिरहित मिष्टान्न-भोजन, घृतरहित हवन, अनुभव और आचरणरहित उपदेश, त्यागरहित प्रेम, गुण और धर्मरहित शिक्षा, आदररहित आतिथ्य, श्रद्धारहित साधन, योग्यतारहित अधिकार, भजनरहित जीवन, कर्तव्यरहित क्रिया, गो-महिष रहित घृत, अश्व-गजरहित सवारी, ईश्वररहित जनसमुदाय, न्यायरहित निर्णय, स्त्रीरहित गृहस्थी, पुरुषरहित सेना, साहसरहित उद्योग, समत्वरहित ज्ञान, अनुरागरहित भक्ति, कुशलतारहित कर्म, पूर्ण निर्भरतारहित शरणागति, पूर्ण समर्पणरहित आत्मनिवेदन, गुरुओं (अध्यापकों और आचार्यों) पर शिष्योंका (विद्यार्थियोंका) शासन, माता-पितापर पुत्रका शासन, धार्मिकोंपर अधार्मिकोंका शासन, न्यायशील राजापर प्रजाका शासन और पुरुषोंपर स्त्रियोंका शासन आदि ऐसी चीजें हैं कि जिनसे समाज और राष्ट्रका सर्वनाश हो जाता है।

कर्मचारियोंके तथा उद्योग-संचालकोंके कर्तव्य

प्रश्न—कर्मचारी-संघ यानी यूनियन कब और क्यों बनते हैं?

उत्तर—जिस संस्थामें कर्मचारी काम करते हैं, उसके मालिकोंका जब स्वार्थपूर्ण व्यवहार होने लगता है, वे उनपर अभिमानवश अनुचित शासन करते हुए उनको नीची दृष्टिसे देखकर उनके साथ असत् एवं अनुचित व्यवहार करने लगते हैं, तब कर्मचारियोंके मनमें द्वेष एवं प्रतिहिंसाकी भावना जाग्रत् होती है, साथ-ही-साथ उनके मनमें अपनी स्वार्थसिद्धिका विफल भ्रम भी पैदा हो जाता है। वे लोभके कारण अपने लाभका स्वप्न देखने लगते हैं। तब वे '**संघे शक्तिः कलौ युगे**' की नीति अपनाते हैं और प्रतिहिंसाकी भावनासे मालिकोंको दबानेके लिये यूनियन बना लेते हैं। परंतु यह याद रखना चाहिये कि जिस संस्था या संघका निर्माण द्वेष या प्रतिहिंसाकी भावनासे किया जाता है, उसके परिणाममें कभी भी शान्ति तथा यथार्थ लाभ नहीं मिलता; क्योंकि यह नियम है कि जिसकी आधारशिला ही क्रोध और लोभयुक्त होगी, उसका परिणाम किसीके लिये भी कभी हितकर नहीं हो सकता।

प्रश्न—संघके कर्मचारियोंका क्या कर्तव्य होना चाहिये?

उत्तर—उनका कर्तव्य है कि उनके अपने लिये जो नियम बनाये गये हैं, प्रत्येक कर्मचारी उसपर ध्यान दे और अपने कर्तव्यका सुचारुरूपसे पालन करे।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः। (गीता १८। ४५)

अपने पीछे यूनियनके बलके अभिमानसे प्रेरित होकर द्वेष-वृत्तिसे संस्थाको नुकसान पहुँचानेकी चेष्टा

की जाती है, वह सर्वथा निन्दनीय है। ऐसी चेष्टा कभी न हो, ऐसा दृढ़ संकल्प होना चाहिये। कारण, संस्थाकी सर्वतोमुखी उन्नतिपर ही उनकी उन्नति निर्भर है।

अपने साथियोंमें किसीकी कुछ भी त्रुटि हो तो उसको दूर करना अपना परम कर्तव्य समझें। अहितके भयसे किसीकी त्रुटि या दोषको छिपानेसे उस व्यक्तिका नैतिक पतन होगा और संघमें अन्यायका प्रचार होकर परिणाममें उलटा अहित ही होगा। इसलिये दोषीको कभी प्रोत्साहन नहीं देना चाहिये।

आर्थिक उन्नति चाहनेवालोंका यह अटल ध्येय होना चाहिये कि वे जहाँ कार्य करते हैं, उस संस्थाकी एवं सभीकी न्यायपूर्वक आर्थिक उन्नति कैसे हो—यह सोचें और करें। केवल व्यक्तिगत आर्थिक उन्नतिकी इच्छा रखनेवालोंकी सुखदायी तथा स्थायी आर्थिक उन्नति नहीं हो सकती। यह नियम है।

अपने समयका बड़ी सावधानीसे सदुपयोग करना चाहिये। हम किसी संस्थामें समय लगाकर बदलेमें पैसा लेते हैं, अतः काम कम करना, पैसा अधिक चाहना—यह भाव बहुत ही हानिकारक है। हम जितने पैसे लेते हैं, उससे अधिक कार्य कर दें, जिससे हमारी कमाई शुद्ध होगी और न्यायपूर्वक कमाईके पैसोंका अन्न खानेसे हमारी बुद्धि पवित्र होगी। उससे उत्तरोत्तर लौकिक और पारलौकिक उन्नति होगी। क्योंकि सब जगह विजय धर्मकी ही होती है। हमारे लिये जितने समय काम करनेकी जिम्मेदारी है, उस समयके बीचमें आर्थिक, शारीरिक और व्यावहारिक हानि करनेवाले प्रमाद एवं आलस्य और अनावश्यक कार्यमें समय नष्ट न हो जाय, इसके लिये विशेष सावधानी रखनी चाहिये।

कर्मचारियोंका कर्तव्य है कि वे संस्थाकी उन्नतिके साधनोंपर विशेष ध्यान रखें। उपभोक्ताओंके साथ उत्तम व्यवहार करें, चीजें शुद्धताके साथ बढ़िया बनावें एवं संस्थाकी कोई भी सामग्री कहीं भी नष्ट होती हो तो उसे अपनी व्यक्तिगत वस्तुकी तरह सँभालकर रखें। साथ ही संस्थाके प्रबन्धकोंका आदेश आदर और सत्कारपूर्वक पालन करनेकी चेष्टा करें।

प्रश्न—संस्थाके प्रबन्धकोंका क्या कर्तव्य होना चाहिये?

उत्तर—संसारमें लौकिक और पारलौकिक उन्नति सभी चाहते हैं। बुद्धिमान् वे ही कहे जा सकते हैं, जिनका मुख्य ध्येय आध्यात्मिक उन्नति ही होता है। आध्यात्मिक उन्नति चाहनेवालोंको अपने उद्देश्यकी ओर सदा-सर्वदा सजग रहना चाहिये। मेरे सहयोगी रोटी, कपड़े तथा लौकिक वस्तुओंके अभावमें दुःख न पायें, मेरी तथा मेरे साथ काम करनेवालोंकी वास्तविक उन्नति कैसे हो, यह सोचते रहना चाहिये। यह तभी सम्भव है, जब अपनी भावना यह होगी कि उनका वास्तविक हित और उनके चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेना मेरा प्रधान कर्तव्य है। आध्यात्मिक उन्नतिका लक्ष्य हर समय जाग्रत् रहना चाहिये।

कार्यकर्ता, ग्राहक, सत्संगी, बाहरसे आनेवाले अतिथि एवं घरवालोंके साथ भीतरसे दोष-दृष्टिरहित होकर हितभरी भावनासे आदर, नम्रता और प्रेमपूर्वक व्यवहार करनेका स्वभाव बनाना चाहिये।

'मैं कहीं अधिकारके अभिमानमें आकर कभी भी उनका अहित तो नहीं सोच लेता हूँ, उनका अपमान और तिरस्कार तो नहीं कर बैठता हूँ, उनके हकसे उन्हें वञ्चित तो नहीं करता हूँ, उनकी न्यायपूर्ण माँगोंकी उपेक्षा तो नहीं करता तथा उनके दुःखका कारण तो नहीं बन जाता हूँ—इस प्रकार विचार करते रहना चाहिये; क्योंकि दूसरोंका अहित सोचने, करने तथा उन्हें दुःख पहुँचानेसे अपना ध्येय तो कभी सिद्ध होता ही नहीं, वरं परिणाममें अहित तथा दुःखकी ही प्राप्ति होती है। इसलिये हर समय सभीके हितमें लगे रहना चाहिये, जिससे अपने ध्येयकी सिद्धि सुगमतासे होगी।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२।४)

यदि किसी कर्मचारीके द्वारा वास्तवमें कोई भूल ही हो गयी हो तो उसे सबके सामने अपमानित नहीं करना चाहिये। एकान्तमें प्रेमपूर्वक मीठे शब्दोंमें उसकी हितभरी भावनासे उसका दोष बताकर भविष्यमें इस प्रकारकी भूल न हो, इसके लिये चेतावनी देनी चाहिये।

प्रश्न—मनुष्य अपनी ही विजय चाहता है। सच्ची विजयका मार्ग क्या है?

उत्तर—विजयका वास्तविक स्वरूप है दूसरेके हृदयपर अधिकार प्राप्त करना। बलपूर्वक शक्तिसे दबाकर विजय प्राप्त करना, वास्तविक विजय नहीं किंतु पराजय ही है; क्योंकि पराजितके हृदयमें दबा हुआ द्वेष अवसर पाकर भयंकर रूप धारण कर लेता है और विजय प्राप्त करनेवालेकी भविष्यमें पराजय करनेमें समर्थ होता है। अतः किसीको भी निर्बल समझकर उसका अनिष्ट करनेकी भावना कभी किंचित्-मात्र भी मनमें नहीं रखनी चाहिये। भगवान्

श्रीरामने अंगदसे कहा—

काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करहु बतकही सोई॥

वास्तविक विजय वहीं होती है, जहाँ इष्ट भगवान् और पालनीय धर्म होता है; क्योंकि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं और धर्मका फल स्थायी है। इसलिये भगवान्का आश्रय और धर्मका आचरण होनेसे विजय होती है तथा लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति भी वहीं होती है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

(गीता १८। ७८)

जहाँ कृष्ण योगेश्वर हरि हों, जहाँ धनुर्धर पार्थ महान्।
वहीं विजय, श्री, ध्रुवा नीति रहतीं बिभूति-मति मेरी जान॥

जहाँ पैसा ही इष्ट हो और उपाय झूठ-कपट हो, वहाँ पाप, दुःख, आपसमें संघर्ष, अन्याय तथा अहितरूपसे पराजय ही होगी।

वास्तविक विजयकी इच्छा रखनेवालोंको अपना तथा दूसरोंका तत्काल तथा परिणाममें हित हो, वही काम करना चाहिये। इनमें तत्कालकी अपेक्षा परिणामकी और अपने हितकी अपेक्षा दूसरेके हितकी प्रधानता है। कोई भी संस्था हो, जिसमें व्यक्तिगत स्वार्थके त्यागी, सत्यवादी, कर्तव्यपरायण और दूसरोंके हितैषी कार्यकुशल एवं तत्परतावाले पुरुष अधिक होंगे, वहाँ सफलता, न्याय और विजय स्वतः होगी। अपनी संख्या अधिक बढ़ाना अपनी वास्तविक विजयमें खास कारण नहीं है, किंतु जितने हैं, उतने ही उत्तम आचरणवाले बनें, इसीसे विजय होती है। जैसे अधिक संख्यावाले कौरवोंपर कम संख्यावाले पाण्डवोंकी विजय हो गयी।

चंदनकी चुटकी भली, गाडी भलौ न काठ।
बुद्धिवान एकहि भलौ, मूरख भला न साठ॥

वर्ण-व्यवस्थाका तात्पर्य

(१)

कर्म दो तरहके होते हैं—(१) जन्मारम्भक कर्म और (२) भोगदायक कर्म। जिन कर्मोंसे ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होता है, वे 'जन्मारम्भक कर्म' कहलाते हैं और जिन कर्मोंसे सुख-दुःखका भोग होता है, वे 'भोगदायक कर्म' कहलाते हैं। भोगदायक कर्म अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको पैदा करते हैं, जिसको गीतामें अनिष्ट, इष्ट और मिश्र नामसे कहा गया है (१८।१२)।

गहरी दृष्टिसे देखा जाय तो मात्र कर्म भोगदायक होते हैं अर्थात् जन्मारम्भक कर्मोंसे भी भोग होता है और भोगदायक कर्मोंसे भी भोग होता है। जैसे, जिसका उत्तम कुलमें जन्म होता है, उसका आदर होता है, सत्कार होता है और जिसका नीच कुलमें जन्म होता है, उसका निरादर होता है, तिरस्कार होता है। ऐसे ही अनुकूल परिस्थितिवालेका आदर होता है और प्रतिकूल परिस्थितिवालेका निरादर होता है। तात्पर्य है कि आदर और निरादररूपसे भोग तो जन्मारम्भक और भोगदायक—दोनों कर्मोंका होता है। परन्तु जन्मारम्भक कर्मोंसे जो जन्म होता है, उसमें आदर-निरादररूप भोग गौण होता है; क्योंकि आदर-निरादर कभी-कभी हुआ करते हैं, हरदम नहीं हुआ करते और भोगदायक कर्मोंसे जो अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है, उसमें परिस्थितिका भोग मुख्य होता है; क्योंकि परिस्थिति हरदम आती रहती है।

भोगदायक कर्मोंका सदुपयोग-दुरुपयोग करनेमें मनुष्य-मात्र स्वतन्त्र है अर्थात् वह अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिसे सुखी-दुःखी भी हो सकता है और उसको साधन-सामग्री भी बना सकता है। जो अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिसे सुखी-दुःखी होते हैं, वे मूर्ख होते हैं, और जो उसको साधन-सामग्री बनाते हैं, वे बुद्धिमान् साधक होते हैं। कारण कि मनुष्यजन्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है; अतः इसमें जो भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आती है, वह सब साधन-सामग्री ही है।

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको साधन-सामग्री बनाना क्या है? अनुकूल परिस्थिति आ जाय तो उसको दूसरोंकी सेवामें, दूसरोंके सुख-आराममें लगा दे और प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय तो सुखकी इच्छाका त्याग कर दे। दूसरोंकी सेवा करना और सुखेच्छाका त्याग करना—ये दोनों साधन हैं।

(२)

शास्त्रोंमें आता है कि पुण्योंकी अधिकता होनेसे जीव स्वर्गमें जाता है और पापोंकी अधिकता होनेसे नरकोंमें जाता है तथा पुण्य-पाप समान होनेसे मनुष्य बनता है। इस दृष्टिसे किसी भी वर्ण, आश्रम, देश, वेश आदिका कोई भी मनुष्य सर्वथा पुण्यात्मा या पापात्मा नहीं हो सकता।

पुण्य-पाप समान होनेपर जो मनुष्य बनता है, उसमें भी अगर देखा जाय तो पुण्य-पापोंका तारतम्य रहता है अर्थात्

किसीके पुण्य अधिक होते हैं और किसीके पाप अधिक होते हैं।* ऐसे ही गुणोंका विभाग भी है। कुल मिलाकर सत्त्व-गुणकी प्रधानतावाले ऊर्ध्वलोकमें जाते हैं। रजोगुणकी प्रधानतावाले मध्यलोक अर्थात् मनुष्यलोकमें आते हैं और तमोगुणकी प्रधानतावाले अधोगतिमें जाते हैं। इन तीनोंमें भी गुणोंके तारतम्यसे अनेक तरहके भेद होते हैं।

सत्त्वगुणकी प्रधानतासे ब्राह्मण, रजोगुणकी प्रधानता और सत्त्वगुणकी गौणतासे क्षत्रिय, रजोगुणकी प्रधानता और तमोगुणकी गौणतासे वैश्य तथा तमोगुणकी प्रधानतासे शूद्र होता है। यह तो सामान्य रीतिसे गुणोंकी बात बतायी। अब इनके अवान्तर तारतम्यका विचार करते हैं—रजोगुण-प्रधान मनुष्योंमें सत्त्वगुणकी प्रधानतावाले ब्राह्मण हुए। इन ब्राह्मणोंमें भी जन्मके भेदसे ऊँच-नीच ब्राह्मण माने जाते हैं और परिस्थितिरूपसे कर्मोंका फल भी कई तरहका आता है अर्थात् सब ब्राह्मणोंकी एक समान अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति नहीं आती। इस दृष्टिसे ब्राह्मणयोनिमें भी तीनों गुण मानने पड़ेंगे। ऐसे ही क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी जन्मसे ऊँच-नीच माने जाते हैं और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति भी कई तरहकी आती है। इसलिये गीतामें कहा गया है कि तीनों लोकोंमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो तीनों गुणोंसे रहित हो (१८।४०)।

अब जो मनुष्येतर योनिवाले पशु-पक्षी आदि हैं, उनमें भी ऊँच-नीच माने जाते हैं; जैसे गाय आदि श्रेष्ठ माने जाते हैं और कुत्ता, गधा, सूअर आदि नीच माने जाते हैं। कबूतर आदि श्रेष्ठ माने जाते हैं और कौआ, चील आदि नीच माने जाते हैं। इन सबको अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति भी एक समान नहीं मिलती। तात्पर्य है कि ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगतिवालोंमें भी कई तरहके जाति-भेद और परिस्थिति-भेद होते हैं।

(गीता १८।४१ की व्याख्यासे)

* जैसे परीक्षामें अनेक विषय होते हैं और उन विषयोंमेंसे किसी विषयमें कम और किसी विषयमें अधिक नम्बर मिलते हैं। उन सभी विषयोंके नम्बरोंको मिलाकर कुल जितने नम्बर आते हैं, उनसे परीक्षाफल तैयार होता है। ऐसे ही प्रत्येक मनुष्यके किसी विषयमें पुण्य अधिक होते हैं और किसी विषयमें पाप अधिक होते हैं और कुल मिलाकर जितने पुण्य-पाप होते हैं, उसके अनुसार उसको जन्म मिलता है। अगर अलग-अलग विषयोंमें सबके पुण्य-पाप समान होते तो सभीको बराबर अनुकूल- प्रतिकूल परिस्थिति मिलती पर ऐसा होता नहीं। इसलिये सभीके पुण्य-पापोंमें अनेक प्रकारका तारतम्य रहता है। यही बात सत्त्वादि गुणोंके विषयमें भी समझनी चाहिये।

जाति जन्मसे मानी जाय या कर्मसे ?

ऊँच-नीच योनियोंमें जितने भी शरीर मिलते हैं, वे सब गुण और कर्मके अनुसार ही मिलते हैं। † गुण और कर्मके अनुसार ही मनुष्यका जन्म होता है; इसलिये मनुष्यकी जाति जन्मसे ही मानी जाती है। अतः स्थूलशरीरकी दृष्टिसे विवाह, भोजन आदि कर्म जन्मकी प्रधानतासे ही करने चाहिये अर्थात् अपनी जाति या वर्णके अनुसार ही भोजन, विवाह आदि कर्म होने चाहिये।

दूसरी बात, जिस प्राणीका सांसारिक भोग, धन, मान, आराम, सुख आदिका उद्देश्य रहता है, उसके लिये वर्णके अनुसार कर्तव्य-कर्म करना और वर्णकी मर्यादामें चलना आवश्यक हो जाता है। यदि वह वर्णकी मर्यादामें नहीं चलता तो उसका पतन हो जाता है। ‡ परन्तु जिसका उद्देश्य केवल परमात्मा ही है, संसारके भोग आदि नहीं, उसके लिये सत्सङ्ग, स्वाध्याय, जप, ध्यान, कथा, कीर्तन, परस्पर विचार-विनिमय आदि भगवत्सम्बन्धी काम मुख्य होते हैं। तात्पर्य है कि परमात्माकी प्राप्तिमें प्राणीके पारमार्थिक भाव, आचरण आदिकी मुख्यता है, जाति या वर्णकी नहीं।

तीसरी बात, जिसका उद्देश्य परमात्माकी प्राप्तिका है, वह भगवत्सम्बन्धी कार्योंको मुख्यतासे करते हुए भी वर्ण-आश्रमके अनुसार अपने कर्तव्य-कर्मोंको पूजन-बुद्धिसे केवल भगवत्-

† कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु। (गीता १३। २१)
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्। रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ (गीता १४। १६)
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ (गीता १४। १८)

‡ आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः। छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥ (वसिष्ठस्मृति)

'शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष—इन छहों अङ्गोंसहित अध्ययन किये हुए वेद भी आचारहीन पुरुषको पवित्र नहीं करते। पंख पैदा होनेपर पक्षी जैसे अपने घोंसलेको छोड़ देता है, ऐसे ही मृत्युसमयमें आचारहीन पुरुषको वेद छोड़ देते हैं।'

(गीता १८।४६)

इस श्लोकमें भगवान्‌ने बड़ी श्रेष्ठ बात बतायी है कि जिससे सम्पूर्ण संसार पैदा हुआ है और जिससे सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका ही लक्ष्य रखकर, उसके प्रीत्यर्थ ही पूजन-रूपसे अपने-अपने वर्णके अनुसार कर्म किये जायँ। इसमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। देवता, असुर, पशु, पक्षी आदिका स्वतः अधिकार नहीं है; परन्तु उनके लिये भी परमात्माकी तरफसे निषेध नहीं है। कारण कि सभी परमात्माका अंश होनेसे परमात्माकी प्राप्तिके सभी अधिकारी हैं। प्राणिमात्रका भगवान्‌पर पूरा अधिकार है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि आपसके व्यवहारमें अर्थात् रोटी, बेटी और शरीर आदिके साथ बर्ताव करनेमें तो 'जन्म' की प्रधानता है और परमात्माकी प्राप्तिमें भाव, विवेक और 'कर्म' की प्रधानता है। इसी आशयको लेकर भागवतकारने कहा है कि जिस मनुष्यके वर्णको बतानेवाला जो लक्षण कहा गया है, वह यदि दूसरे वर्णवालेमें भी मिले तो उसे भी उसी वर्णका समझ लेना चाहिये।* अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणके शम-दम आदि जितने लक्षण हैं, वे लक्षण या गुण स्वाभाविक ही किसीमें हों तो जन्ममात्रसे नीचा होनेपर भी उसको नीचा नहीं मानना चाहिये। ऐसे ही महाभारतमें युधिष्ठिर और नहुषके संवादमें आया है कि जो शूद्र आचरणोंमें श्रेष्ठ है, उस शूद्रको शूद्र नहीं मानना चाहिये और जो ब्राह्मण ब्राह्मणोचित कर्मोंसे रहित है, उस ब्राह्मणको ब्राह्मण नहीं मानना चाहिये † अर्थात् वहाँ अपनी परिस्थितिको उन्नत कर सकता है, इसमें सन्देहकी कोई बात नहीं है। इतना ही नहीं, वह उसी वर्णमें रहता हुआ शम, दम आदि जो सामान्य धर्म हैं, उनका साङ्गोपाङ्ग पालन करता हुआ अपनी श्रेष्ठताको प्रकट कर सकता है। जन्म तो पूर्वकर्मोंके अनुसार हुआ है। ‡ इसमें वह बेचारा क्या कर सकता है? परन्तु वहीं (नीच वर्णमें) रहकर भी वह अपनी नयी उन्नति कर सकता है। उस नयी उन्नतिमें प्रोत्साहित करनेके लिये ही शास्त्र-वचनोंका आशय मालूम देता है कि नीच वर्णवाला भी नयी उन्नति करनेमें हिम्मत न हारे। जो ऊँचे वर्णवाला होकर भी वर्णोचित काम नहीं करता, उसको भी अपने वर्णोचित काम करनेके लिये शास्त्रोंमें प्रोत्साहित किया है; जैसे—

'ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।'

(श्रीमद्भा० ११।१७।४२)

जिन ब्राह्मणोंका खान-पान, आचरण सर्वथा भ्रष्ट है, उन ब्राह्मणोंका वचनमात्रसे भी आदर नहीं करना चाहिये—ऐसा स्मृतिमें आया है (मनु० ४।३०,१९२)। परन्तु जिनके आचरण श्रेष्ठ हैं, जो भगवान्‌के भक्त हैं, उन ब्राह्मणोंकी भागवत आदि पुराणोंमें और महाभारत, रामायण आदि इतिहास-ग्रन्थोंमें बहुत महिमा गायी गयी है।

भगवान्‌का भक्त चाहे कितनी ही नीची जातिका क्यों न हो, वह भक्तिहीन विद्वान् ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है।§

ब्राह्मणको विराट्‌रूप भगवान्‌का मुख, क्षत्रियको हाथ,

---

* यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्। यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्॥ (श्रीमद्भा० ७।११।३५)

† शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः। यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥ (महाभारत, वनपर्व १८०।२५-२६)

‡ सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। (योगदर्शन २-१३)

§ १. अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्। तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
(श्रीमद्भा० ३।३३।७)

'अहो! वह चाण्डाल भी सर्वश्रेष्ठ है, जिसकी जीभके अग्रभागपर आपका नाम विराजता है। जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन—सब कुछ कर लिया।'

२. विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥ (श्रीमद्भा० ७।९।१०)

'मेरी समझसे बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् कमलनाभके चरण-कमलोंसे विमुख हो तो वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राणोंको भगवान्‌के अर्पण कर दिया है; क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलतकको पवित्र कर देता है; परन्तु बड़प्पनका अभिमान रखनेवाला भगवद्विमुख ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता।'

३. चाण्डालोऽपि मुनेः श्रेष्ठो विष्णुभक्तिपरायणः। विष्णुभक्तिविहीनस्तु द्विजोऽपि श्वपचोऽधमः॥ (पद्मपुराण)

'हरिभक्तिमें लीन रहनेवाला चाण्डाल भी मुनिसे श्रेष्ठ है और हरिभक्तिसे रहित ब्राह्मण चाण्डालसे भी अधम है।'

४. अवैष्णवाद् द्विजाद् विप्र चाण्डालो वैष्णवो वरः। सगणः श्वपचो मुक्तो ब्राह्मणो नरकं व्रजेत्॥
(ब्रह्मवैवर्त०, ब्रह्म० ११।३९)

'अवैष्णव ब्राह्मणसे वैष्णव चाण्डाल श्रेष्ठ है; क्योंकि वह वैष्णव चाण्डाल अपने बन्धुगणोंसहित भव-बन्धनसे मुक्त हो जाता है और वह अवैष्णव ब्राह्मण नरकमें पड़ता है।'

५. न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः। सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने॥ (महाभारत)

'यदि भगवद्भक्त शूद्र है तो वह शूद्र नहीं, परमश्रेष्ठ ब्राह्मण है। वास्तवमें सभी वर्णोंमें शूद्र वह है, जो भगवान्‌की भक्तिसे रहित है।'

वैश्यको ऊरु (मध्यभाग) और शूद्रको पैर बताया गया है। ब्राह्मणको मुख बतानेका तात्पर्य है कि उनके पास ज्ञानका संग्रह है, इसलिये चारों वर्णोंको पढ़ाना, अच्छी शिक्षा देना और उपदेश सुनाना—यह मुखका ही काम है। इस दृष्टिसे ब्राह्मण ऊँचे माने गये।

क्षत्रियको हाथ बतानेका तात्पर्य है कि वे चारों वर्णोंकी शत्रुओंसे रक्षा करते हैं। रक्षा करना मुख्यरूपसे हाथोंका ही काम है; जैसे—शरीरमें फोड़ा-फुंसी आदि हो जाय तो हाथोंसे ही रक्षा की जाती है; शरीरपर चोट आती हो तो रक्षाके लिये हाथ ही आड़ देते हैं, और अपनी रक्षाके लिये दूसरोंपर हाथोंसे ही चोट पहुँचायी जाती है; आदमी कहीं गिरता है तो पहले हाथ ही टिकते हैं। इसलिये क्षत्रिय हाथ हो गये। अराजकता फैल जानेपर तो जन, धन आदिकी रक्षा करना चारों वर्णोंका धर्म हो जाता है।

वैश्यको मध्यभाग कहनेका तात्पर्य है कि जैसे पेटमें अन्न, जल, औषध आदि डाले जाते हैं तो उनसे शरीरके सम्पूर्ण अवयवोंको खुराक मिलती है और सभी अवयव पुष्ट होते हैं, ऐसे ही वस्तुओंका संग्रह करना, उनका यातायात करना, जहाँ जिस चीजकी कमी हो वहाँ पहुँचाना, प्रजाको किसी चीजका अभाव न होने देना वैश्यका काम है। पेटमें अन्न-जलका संग्रह सब शरीरके लिये होता है और साथमें पेटको भी पुष्टि मिल जाती है; क्योंकि मनुष्य केवल पेटके लिये पेट नहीं भरता। ऐसे ही वैश्य केवल दूसरोंके लिये ही संग्रह करे, केवल अपने लिये नहीं। वह ब्राह्मण आदिको दान देता है, क्षत्रियोंको टैक्स देता है, अपना पालन करता है और शूद्रोंको मेहनताना देता है। इस प्रकार वह सबका पालन करता है। यदि वह संग्रह नहीं करेगा, कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य नहीं करेगा तो क्या देगा?

शूद्रको चरण बतानेका तात्पर्य है कि जैसे चरण सारे शरीरको उठाये फिरते हैं और पूरे शरीरकी सेवा चरणोंसे ही होती है, ऐसे ही सेवाके आधारपर ही चारों वर्ण चलते हैं। शूद्र अपने सेवा-कर्मके द्वारा सबके आवश्यक कार्योंकी पूर्ति करता है।

उपर्युक्त विवेचनमें एक ध्यान देनेकी बात है कि गीतामें चारों वर्णोंके उन स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन है, जो कर्म स्वतः होते हैं अर्थात् उनको करनेमें अधिक परिश्रम नहीं पड़ता। चारों वर्णोंके लिये और भी दूसरे कर्मोंका विधान है, उनको स्मृति-ग्रन्थोंमें देखना चाहिये और उनके अनुसार अपने आचरण बनाने चाहिये। यही बात गीताजीने कही है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(१६। २४)

अतः तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है—ऐसा जानकर तू इस लोकमें शास्त्रविधिसे नियत कर्तव्य कर्म करनेयोग्य है।'

वर्तमानमें चारों वर्णोंमें गड़बड़ी आ जानेपर भी यदि चारों वर्णोंके समुदायोंको इकट्ठा करके अलग-अलग समुदायमें देखा जाय तो ब्राह्मण-समुदायमें शम, दम आदि गुण जितने अधिक मिलेंगे, उतने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-समुदायमें नहीं मिलेंगे। क्षत्रिय-समुदायमें शौर्य, तेज आदि गुण जितने अधिक मिलेंगे, उतने ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र-समुदायमें नहीं मिलेंगे। वैश्य-समुदायमें व्यापार करना, धनका उपार्जन करना, धनको पचाना (धनका भभका ऊपरसे न दीखने देना) आदि गुण जितने अधिक मिलेंगे, उतने ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र-समुदायमें नहीं मिलेंगे। शूद्र-समुदायमें सेवा करनेकी प्रवृत्ति जितनी अधिक मिलेगी, उतनी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-समुदायमें नहीं मिलेगी। तात्पर्य यह है कि आज सभी वर्ण मर्यादारहित और उच्छृङ्खल होनेपर भी उनके स्वभावज कर्म उनके समुदायोंमें विशेषतासे देखनेमें आते हैं अर्थात् यह चीज व्यक्तिगत न दीखकर समुदायगत देखनेमें आती है।

जो लोग शास्त्रके गहरे रहस्यको नहीं जानते, वे कह देते हैं कि ब्राह्मणोंके हाथमें कलम रही, इसलिये उन्होंने 'ब्राह्मण

सबसे श्रेष्ठ है' ऐसा लिखकर ब्राह्मणोंको सर्वोच्च कह दिया। जिनके पास राज्य था, उन्होंने ब्राह्मणोंसे कहा—क्यों महाराज! हमलोग कुछ नहीं हैं क्या? तो ब्राह्मणोंने कह दिया—नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं। आपलोग भी हैं, आपलोग दो नम्बरमें हैं। वैश्योंने ब्राह्मणोंसे कहा—क्यों महाराज! हमारे बिना कैसे जीविका चलेगी आपकी? ब्राह्मणोंने कहा—हाँ, हाँ, आपलोग तीसरे नम्बरमें हैं। जिनके पास न राज्य था, न धन था, वे ऊँचे उठने लगे तो ब्राह्मणोंने कह दिया—आपके भाग्यमें राज्य और धन लिखा नहीं है। आपलोग तो इन ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्योंकी सेवा करो। इसलिये चौथे नम्बरमें आपलोग हैं। इस तरह सबको भुलावेमें डालकर विद्या, राज्य और धनके प्रभावसे अपनी एकता करके चौथे वर्णको पददलित कर दिया—यह लिखनेवालोंका अपना स्वार्थ और अभिमान ही है।

इसका समाधान यह है कि ब्राह्मणोंने कहीं भी अपने ब्राह्मणधर्मके लिये ऐसा नहीं लिखा है कि ब्राह्मण सर्वोपरि हैं, इसलिये उनको बड़े आरामसे रहना चाहिये, धन-सम्पत्तिसे युक्त होकर मौज करनी चाहिये इत्यादि, प्रत्युत ब्राह्मणोंके लिये ऐसा लिखा है कि उनको त्याग करना चाहिये, कष्ट सहना चाहिये; तपश्चर्या करनी चाहिये। गृहस्थमें रहते हुए भी उनको धन-संग्रह नहीं करना चाहिये, अन्नका संग्रह भी थोड़ा ही होना चाहिये—कुम्भीधान्य अर्थात् एक घड़ा भरा हुआ अनाज हो, लौकिक भोगोंमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये, और जीवन-निर्वाहके लिये किसीसे दान भी लिया जाय तो उसका काम करके अर्थात् यज्ञ, होम, जप, पाठ आदि करके ही लेना चाहिये। गोदान आदि लिया जाय तो उसका प्रायश्चित्त करना चाहिये।

यदि कोई ब्राह्मणको श्राद्धका निमन्त्रण देना चाहे तो वह श्राद्धके पहले दिन दे, जिससे ब्राह्मण उसके पितरोंका अपनेमें आवाहन करके रात्रिमें ब्रह्मचर्य और संयमपूर्वक रह सके। दूसरे दिन वह यजमानके पितरोंका पिण्डदान, तर्पण ठीक विधि-विधानसे करवाये। उसके बाद वहाँ भोजन करे। निमन्त्रण भी एक ही यजमानका स्वीकार करे और भोजन भी एक ही घरका करे। श्राद्धका अन्न खानेके बाद गायत्री-जप आदि करके शुद्ध होना चाहिये। दान लेना, श्राद्धका भोजन करना ब्राह्मणके लिये ऊँचा दर्जा नहीं है। ब्राह्मणका ऊँचा दर्जा त्यागमें है। वे केवल यजमानके पितरोंका कल्याण करनेकी भावनासे ही श्राद्धका भोजन और दक्षिणा स्वीकार करते हैं, स्वार्थकी भावनासे नहीं; अतः यह भी उनका त्याग ही है।

ब्राह्मणोंने अपनी जीविकाके लिये ऋत, अमृत, मृत, सत्यानृत और प्रमृत—ये पाँच वृत्तियाँ बतायी हैं*—

(१) ऋत-वृत्ति सर्वोच्च वृत्ति मानी गयी है। इसको शिलोञ्छ या कपोत-वृत्ति भी कहते हैं। खेती करनेवाले खेतमेंसे धान काटकर ले जायँ, उसके बाद वहाँ जो अन्न (ऊमी, सिट्टा आदि) पृथ्वीपर गिरा पड़ा हो, वह भूदेवों (ब्राह्मणों) का होता है; अतः उनको चुनकर अपना निर्वाह करना 'शिलोञ्छवृत्ति' है अथवा धान्यमण्डीमें जहाँ धान्य तौला जाता है, वहाँ पृथ्वीपर गिरे हुए दाने भूदेवोंके होते हैं; अतः उनको चुनकर जीवन-निर्वाह करना 'कपोतवृत्ति' है।

(२) बिना याचना किये और बिना इशारा किये कोई यजमान आकर देता है तो निर्वाहमात्रकी वस्तु लेना 'अमृत-वृत्ति' है। इसको 'अयाचितवृत्ति' भी कहते हैं।

(३) सुबह भिक्षाके लिये गाँवमें जाना और लोगोंको वार, तिथि, मुहूर्त आदि बताकर (इस रूपमें काम करके) भिक्षामें जो कुछ मिल जाय, उसीसे अपना जीवन-निर्वाह करना 'मृत-वृत्ति' है।

(४) व्यापार करके जीवन-निर्वाह करना 'सत्यानृत-वृत्ति' है।

(५) उपर्युक्त चारों वृत्तियोंसे जीवन-निर्वाह न हो तो खेती करे पर वह भी कठोर विधि-विधानसे करे; जैसे—एक बैलसे हल न चलाये, धूपके समय हल न चलाये आदि, यह 'प्रमृतवृत्ति' है।

उपर्युक्त वृत्तियोंमेंसे किसी भी वृत्तिसे निर्वाह किया जाय, उसमें पञ्चमहायज्ञ, अतिथि-सेवा करके यज्ञशेष भोजन करना चाहिये।†

* ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा। सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥ (मनुस्मृति ४।४)

'ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृत—इनमेंसे किसी भी वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करे; परन्तु श्वानवृत्ति अर्थात् सेवावृत्तिसे कभी भी जीवन-निर्वाह न करे।'

† ब्राह्मण और क्षत्रियके लिये यह निषेध आया है कि वह श्ववृत्ति अर्थात् सेवावृत्ति कभी न करे—'न श्ववृत्त्या कदाचन' (मनु॰ ४।४), 'सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्' (मनु॰ ४।६)। वास्तवमें सेवावृत्तिका ही निषेध किया गया है, सेवाका नहीं। माता-पिताकी तरह वे नीच-से-नीच वर्णकी नीची-से-नीची सेवा कर सकते हैं। नीच वर्णोंकी सेवा करनेमें उनकी महत्ता ही है। इसलिये वृत्तिकी ही निन्दा की गयी है। मान, बड़ाई, उपार्जन आदि स्वार्थके लिये सेवा करनेकी निन्दा है, स्वार्थका त्याग करके सेवा करनेकी निन्दा नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीतापर विचार करते हैं तो ब्राह्मणके लिये पालनीय जो नौ स्वाभाविक धर्म बताये गये हैं, उनमें जीविका पैदा करनेवाला एक भी धर्म नहीं है। क्षत्रियके लिये सात स्वाभाविक धर्म बताये हैं। उनमें युद्ध करना और शासन करना—ये दो धर्म कुछ जीविका पैदा करनेवाले हैं। वैश्यके लिये तीन धर्म बताये हैं—खेती, गोरक्षा और व्यापार; ये तीनों ही जीविका पैदा करनेवाले हैं। शूद्रके लिये एक सेवा ही धर्म बताया है, जिसमें पैदा-ही-पैदा होता है। शूद्रके लिये खान-पान, जीवन-निर्वाह आदिमें भी बहुत छूट दी गयी है।

भगवान्‌ने **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** (गीता १८।४५) पदोंसे कितनी विचित्र बात बतायी है कि शम, दम आदि नौ धर्मोंके पालनसे ब्राह्मणका जो कल्याण होता है, वही कल्याण शौर्य, तेज आदि सात धर्मोंके पालनसे क्षत्रियका होता है, वही कल्याण खेती, गोरक्षा और व्यापारके पालनसे वैश्यका होता है और वही कल्याण केवल सेवा करनेसे शूद्रका हो जाता है।

आगे भगवान्‌ने एक विलक्षण बात बतायी है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने वर्णोचित कर्मोंके द्वारा उस परमात्माका पूजन करके परम सिद्धिको प्राप्त हो जाते हैं—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (१८।४६) वास्तवमें कल्याण वर्णोचित कर्मोंसे नहीं होता, प्रत्युत निष्कामभावपूर्वक पूजनसे ही होता है। शूद्रका तो स्वाभाविक कर्म ही परिचर्यात्मक अर्थात् पूजनरूप है; अतः उसका पूजनके द्वारा पूजन होता है अर्थात् उसके द्वारा दुगुनी पूजा होती है! इसलिये उसका कल्याण जितनी जल्दी होगा, उतनी जल्दी ब्राह्मण आदिका नहीं होगा।

शास्त्रकारोंने उद्धार करनेमें छोटेको ज्यादा प्यार दिया है; क्योंकि छोटा प्यारका पात्र होता है और बड़ा अधिकारका पात्र होता है। बड़ेपर चिन्ता-फिक्र ज्यादा रहती है, छोटेपर कुछ भी भार नहीं रहता। शूद्रको भाररहित करके उसकी जीविका बतायी गयी है और प्यार भी दिया गया है।

वास्तवमें देखा जाय तो जो वर्ण-आश्रममें जितना ऊँचा होता है, उसके लिये शास्त्रोंके अनुसार उतने ही कठिन नियम होते हैं। उन नियमोंका साङ्गोपाङ्ग पालन करनेमें कठिनता अधिक मालूम देती है। परन्तु जो वर्ण-आश्रममें नीचा होता है, उसका कल्याण सुगमतासे हो जाता है। इस विषयमें विष्णुपुराणमें एक कथा आती है—एक बार बहुत-से ऋषि-मुनि मिलकर श्रेष्ठताका निर्णय करनेके लिये भगवान् वेदव्यासजीके पास गये। व्यासजीने सबको आदरपूर्वक बिठाया और स्वयं गङ्गामें स्नान करने चले गये। गङ्गामें स्नान करते हुए उन्होंने कहा—'कलियुग, तुम धन्य हो! स्त्रियो, तुम धन्य हो! शूद्रो, तुम धन्य हो! जब व्यासजी स्नान करके ऋषियोंके पास आये तो ऋषियोंने कहा—महाराज! आपने कलियुग, स्त्रियों और शूद्रोंको धन्यवाद कैसे दिया! तो उन्होंने कहा कि कलियुगमें अपने धर्मका पालन करनेसे स्त्रियों और शूद्रोंका कल्याण जल्दी और सुगमतापूर्वक हो जाता है।

यहाँ एक और बात सोचनेकी है कि जो अपने स्वार्थका काम करता है, वह समाजमें और संसारमें आदरका पात्र नहीं होता। समाजमें ही नहीं, घरमें भी जो व्यक्ति पेटू और चट्टू होता है, उसकी दूसरे निन्दा करते हैं। ब्राह्मणोंने स्वार्थ-दृष्टिसे अपने ही मुँहसे अपनी (ब्राह्मणोंकी) प्रशंसा, श्रेष्ठताकी बात नहीं कही है। उन्होंने ब्राह्मणोंके लिये त्याग ही बताया है। सात्त्विक मनुष्य अपनी प्रशंसा नहीं करते, प्रत्युत दूसरोंकी प्रशंसा, दूसरोंका आदर करते हैं। तात्पर्य है कि ब्राह्मणोंने कभी अपने स्वार्थ और अभिमानकी बात नहीं कही। यदि वे स्वार्थ और अभिमानकी बात कहते तो वे इतने आदरणीय नहीं होते, संसारमें और शास्त्रोंमें आदर न पाते। वे जो आदर पाते हैं, वह त्यागसे ही पाते हैं।

इस प्रकार मनुष्यको शास्त्रोंका गहरा अध्ययन करके उपर्युक्त सभी बातोंको समझना चाहिये और ऋषि-मुनियोंपर, शास्त्रकारोंपर झूठा आक्षेप नहीं करना चाहिये।

ऊँच-नीच वर्णोंमें प्राणियोंका जन्म मुख्यरूपसे गुणों और कर्मोंके अनुसार होता है—**'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'** (गीता ४।१३); परन्तु ऋणानुबन्ध, शाप, वरदान, सङ्ग आदि किसी कारणविशेषसे भी ऊँच-नीच वर्णोंमें जन्म हो जाता है। उन वर्णोंमें जन्म होनेपर भी वे अपने पूर्व स्वभावके अनुसार ही आचरण करते हैं। यही कारण है कि ऊँचे वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी उनके नीच आचरण देखे जाते हैं, जैसे धुन्धुकारी आदि; और नीच वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी वे महापुरुष होते हैं, जैसे विदुर, कबीर, रैदास आदि।

आज जिस समुदायमें जातिगत, कुलपरम्परागत, समाजगत और व्यक्तिगत जो भी शास्त्र-विपरीत दोष आये हैं, उनको अपने विवेक-विचार, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदिके द्वारा दूर करके अपनेमें स्वच्छता, निर्मलता, पवित्रता लानी चाहिये, जिससे अपने मनुष्यजन्मका ध्येय सिद्ध हो सके।

(गीता १८।४४ की व्याख्यासे)

अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन

मनुस्मृतिमें ब्राह्मणोंके लिये छः कर्म बताये गये हैं—स्वयं पढ़ना और दूसरोंको पढ़ाना, स्वयं यज्ञ करना और दूसरोंसे यज्ञ कराना तथा स्वयं दान लेना और दूसरोंको दान देना* (इनमें पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना—ये तीन कर्म जीविकाके हैं और पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना—ये तीन कर्तव्यकर्म हैं)। उपर्युक्त शास्त्रनियत छः कर्म और शम-दम आदि नौ स्वभावज कर्म तथा इनके अतिरिक्त खाना-पीना, उठना-बैठना आदि जितने भी कर्म हैं, उन कर्मोंके द्वारा ब्राह्मण चारों वर्णोंमें व्याप्त परमात्माका पूजन करें। तात्पर्य है कि परमात्माकी आज्ञासे, उनकी प्रसन्नताके लिये ही भगवद्बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक सबकी सेवा करें।

ऐसे ही क्षत्रियोंके लिये पाँच कर्म बताये गये हैं—प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना और विषयोंमें आसक्त न होना।† इन पाँच कर्मों तथा शौर्य, तेज आदि सात स्वभावज कर्मोंके द्वारा और खाना-पीना आदि सभी कर्मोंके द्वारा क्षत्रिय सर्वत्र व्यापक परमात्माका पूजन करें।

वैश्य यज्ञ करना, अध्ययन करना, दान देना और ब्याज लेना तथा कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य ‡—इन शास्त्रनियत और स्वभावज कर्मोंके द्वारा और शूद्र शास्त्रविहित तथा स्वभावज कर्म सेवाके § द्वारा सर्वत्र व्यापक परमात्माका पूजन करें अर्थात् अपने शास्त्रविहित, स्वभावज और खाना-पीना, सोना-जागना आदि सभी कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की आज्ञासे, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये भगवद्बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक सबकी सेवा करें।

शास्त्रोंमें मनुष्यके लिये अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जो-जो कर्तव्य-कर्म बताये गये हैं, वे सब संसाररूप परमात्माकी पूजाके लिये ही हैं। अगर साधक अपने कर्मोंके द्वारा भावसे उस परमात्माका पूजन करता है तो उसकी मात्र क्रियाएँ परमात्माकी पूजा हो जाती हैं। जैसे, पितामह भीष्मने (अर्जुनके साथ युद्ध करते हुए) अर्जुनके सारथि बने हुए भगवान्‌की अपने युद्धरूप कर्मके द्वारा (बाणोंसे) पूजा की। भीष्मके बाणोंसे भगवान्‌का कवच टूट गया, जिससे भगवान्‌के शरीरमें घाव हो गये और हाथकी अङ्गुलियोंमें छोटे-छोटे बाण लगनेसे अंगुलियोंसे लगाम पकड़ना कठिन हो गया। ऐसी पूजा करके अन्त समयमें शरशय्यापर पड़े हुए पितामह भीष्म अपने बाणोंद्वारा पूजित भगवान्‌का ध्यान करते हैं—'युद्धमें मेरे तीखे बाणोंसे जिनका कवच टूट गया है, जिनकी त्वचा विच्छिन्न हो गयी है, परिश्रमके कारण जिनके मुखपर स्वेदकण सुशोभित हो रहे हैं, घोड़ोंकी टापोंसे उड़ी हुई रज जिनकी सुन्दर अलकावलिमें लगी हुई है, इस प्रकार बाणोंसे अलङ्कृत भगवान् कृष्णमें मेरे मन-बुद्धि लग जायँ।' $

लौकिक और पारमार्थिक कर्मोंके द्वारा उस परमात्माका पूजन तो करना चाहिये, पर उन कर्मोंमें और उनको करनेके करणों-उपकरणोंमें ममता नहीं रखनी चाहिये। कारण कि जिन वस्तुओं, क्रियाओं आदिमें ममता हो जाती है, वे सभी चीजें अपवित्र हो जानेसे × पूजा-सामग्री नहीं रहतीं (अपवित्र फल, फूल आदि भगवान्‌पर नहीं चढ़ते)। इसलिये 'मेरे पास जो कुछ है, वह सब उस सर्वव्यापक परमात्माका ही है, मुझे तो केवल निमित्त बनकर उनकी दी हुई शक्तिसे उनका पूजन करना है'—इस भावसे जो कुछ किया जाय, वह सब-का-सब परमात्माका पूजन हो जाता है। इसके विपरीत उन क्रियाओं, वस्तुओं आदिको मनुष्य जितनी अपनी मान लेता है, उतनी ही वे (अपनी मानी हुई) क्रियाएँ, वस्तुएँ (अपवित्र होनेसे) परमात्माके पूजनसे वञ्चित रह जाती हैं।

(गीता १८।४६ की व्याख्यासे)

---

* अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ (मनु० १।८८)

† प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ (मनु० १।८९)

‡ पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ (मनु० १।९०)

§ एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ (मनु० १।९१)

$ युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये। मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा॥ (श्रीमद्भा० १।९।३४)

x 'ममता मल जरि जाइ' (मानस ७।११७ क)

समता कैसे करें ?

आजकल समतापर विशेष चर्चा चल रही है। सबके साथ समताका बर्ताव करो—ऐसा प्रचार किया जा रहा है। परन्तु वास्तवमें समता किसे कहते हैं और वह कब आती है—इसे समझनेकी बड़ी आवश्यकता है।

समता कोई खेल-तमाशा नहीं है, प्रत्युत परमात्माका साक्षात् स्वरूप है। जिनका मन समतामें स्थित हो जाता है, वे यहाँ जीते-जी ही संसारपर विजय प्राप्त कर लेते हैं और परब्रह्म परमात्माका अनुभव कर लेते हैं* । यह समता तब आती है, जब दूसरोंका दुःख अपना दुःख और दूसरोंका सुख अपना सुख हो जाता है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

(६।३२)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष अपने शरीरकी तरह सब जगह सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सब जगह सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

जैसे शरीरके किसी भी अङ्गमें पीड़ा होनेपर उसको दूर करनेकी लगन लग जाती है, ऐसे ही किसी प्राणीको दुःख, सन्ताप आदि होनेपर उसको दूर करनेकी लगन लग जाय, तब समता आती है। सन्तोंके लक्षणोंमें भी आया है—

'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर' ॥

(मानस ७।३८।१)

जबतक अपने सुखकी लालसा है, तबतक चाहे जितना उद्योग कर लें, समता नहीं आयेगी। परन्तु जब हृदयसे यह लगन लग जायगी कि दूसरोंको सुख कैसे पहुँचे ? उनको आराम कैसे हो ? उनको लाभ कैसे हो? उनका कल्याण कैसे हो ? तब समता स्वतः आ जायगी। इसका आरम्भ सर्वप्रथम अपने घरसे करना चाहिये। हृदयमें ऐसा भाव हो कि किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख या कष्ट न पहुँचे, किसीका कभी अनिष्ट न हो। चाहे मैं कितना ही कष्ट पाऊँ पर मेरे माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-भौजाई आदिको सुख होना चाहिये। घरवालोंको सुख पहुँचानेसे अपने हृदयमें शान्ति आयेगी ही। जहाँ अपने घरका भी सम्बन्ध नहीं है, वहाँ सुख पहुँचायेंगे तो विशेष आनन्दकी लहरें आने लग जायँगी। परन्तु ममतापूर्वक सुख पहुँचानेसे हमारी उन्नति नहीं होगी। जहाँ हमारी ममता न हो, वहाँ सुख पहुँचायें अथवा जहाँ हम ममतापूर्वक सुख पहुँचाते हैं, वहाँसे अपनी ममता हटा लें—दोनोंका परिणाम एक ही होगा।

चित्रकूटमें लक्ष्मणजी भगवान् राम और सीताकी सेवा कैसे करते हैं, यह बताते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि ॥

(मानस २।१४२।१)

अर्थात् लक्ष्मणजी भगवान् राम और सीताजीकी वैसे ही सेवा करते हैं, जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने शरीरकी सेवा करता है। अपने शरीरकी सेवा करना, उसे सुख पहुँचाना समझदारी नहीं है। अपने शरीरकी सेवा तो पशु भी करते हैं। जैसे, बँदरीकी अपने बच्चेपर इतनी ममता रहती है कि उसके मरनेके बाद भी वह उसके शरीरको पकड़े हुए चलती है, छोड़ती नहीं। परन्तु जब कोई वस्तु खानेके लिये मिल जाती है, तब वह स्वयं तो खा लेती है पर बच्चेको नहीं खाने देती। बच्चा खानेकी चेष्टा करता है तो उसे ऐसी घुड़की मारती है कि वह चीं-चीं करते भाग जाता है। अतः ममताके रहते हुए समताका आना असम्भव है।

जिससे हमें कुछ लेना नहीं है, जिससे हमारा कोई स्वार्थ नहीं है, ऐसे व्यक्तिके साथ भी हम प्रेमपूर्वक अच्छा-से-अच्छा बर्ताव करें, जिससे उसका हित हो। कोई व्यक्ति मार्गमें भटक गया है, उसे मार्गका पता नहीं है और वह हमसे पूछता है। हम उसे बड़ी प्रसन्नतासे मार्ग बतायें अथवा कुछ दूरतक उसके साथ चलें तो हमें हृदयमें प्रत्यक्ष सुखका, शान्तिका अनुभव होगा। परन्तु यदि हम जानते हुए भी उसे मार्ग नहीं बतायेंगे तो हमारे हृदयमें सुख नहीं होगा। यह अनुभवकी बात है, कोई करके देख ले। किसीको प्यास लगी है तो उसे बता दे कि भाई, इधर आओ, इधर ठण्डा जल है। फिर हम अपना हृदय देखें। हमारे हृदयमें प्रसन्नता आयेगी, सुख आयेगा। यह सुख हमारा कल्याण करनेवाला है। दूसरा दुःख पाये पर मैं सुख ले लूँ—यह सुख पतन करनेवाला है। इससे न तो व्यवहारमें हमारी उन्नति होगी और न परमार्थमें। हम सत्सङ्गका आयोजन करते हैं। उसमें आनेवाले व्यक्तियोंके बैठनेकी व्यवस्था करते हैं तो उनसे प्रेमपूर्वक कहें कि आइये, यहाँ बैठिये। उन्हें वहाँ बैठायें, जहाँसे वे ठीक तरहसे सुन सकें। वे आरामसे कैसे बैठ सकें ? ठीक तरहसे कैसे सुन सकें—ऐसा भाव रखकर उनसे बर्ताव करें। ऐसा करनेसे हमारे हृदयमें प्रत्यक्ष शान्ति

---

* इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ (गीता ५।१९)

आयेगी। पर वहीं हुक्म चलायें कि क्या करते हो? इधर बैठो, इधर नहीं तो बात वही होनेपर भी हृदयमें शान्ति नहीं आयेगी। भीतरमें जो अभिमान है, वह दूसरोंको चुभेगा, बुरा लगेगा। ऐसा बर्ताव करें और चाहें कि समता आ जाय तो वह कभी आयेगी नहीं।

सबके हितमें जिसकी प्रीति हो गयी है, उन्हें भगवान् प्राप्त हो जाते हैं—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः**' (गीता १२।४)। कारण कि भगवान् प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं (गीता ५।२९)। वे प्राणिमात्रका पालन-पोषण करनेवाले हैं। आस्तिक-से-आस्तिक हो अथवा नास्तिक-से-नास्तिक, दोनोंके लिये भगवान्‌का विधान बराबर है। एक व्यक्ति बड़ा आस्तिक है, भगवान्‌को बहुत मानता है और उन्हें पानेके लिये साधन-भजन करता है और एक व्यक्ति ऐसा नास्तिक है कि संसारसे भगवान्‌का खाता उठा देना चाहता है। भगवान्‌को माननेसे और भगवान्‌के कारण ही दुनिया दुःख पा रही है, भगवान् नामकी कोई चीज है ही नहीं—ऐसा उसके हृदयमें भाव है और ऐसा ही प्रचार करता है। ऐसे नास्तिक-से-नास्तिक व्यक्तिकी भी प्यास जल मिटाता है और यही जल आस्तिक-से-आस्तिक व्यक्तिकी भी प्यास मिटाता है। जलमें यह भेद नहीं है कि वह आस्तिककी प्यास ठीक तरहसे शान्त करे और नास्तिककी प्यास शान्त न करे। वह समान रीतिसे सबकी प्यास मिटाता है। ऐसे ही सूर्य समान रीतिसे सबको प्रकाश देता है, हवा समान रीतिसे सबको श्वास लेने देती है, पृथ्वी समान रीतिसे सबको रहनेका स्थान देती है। इस प्रकार भगवान्‌की रची हुई प्रत्येक वस्तु सबको समान रीतिसे मिलती है।

समताका अर्थ यह नहीं है कि समान रीतिसे सबके साथ रोटी-बेटी (भोजन और विवाह) का बर्ताव करें। व्यवहारमें समता तो महान् पतन करनेवाली चीज है। समान बर्ताव यमराजका, मौतका नाम है; क्योंकि उसके बर्तावमें विषमता नहीं होती। चाहे महात्मा हो, चाहे गृहस्थ हो, चाहे साधु हो, चाहे पशु हो, चाहे देवता हो, मौत सबकी बराबर होती है। इसलिये यमराजको 'समवर्ती' (समान बर्ताव करनेवाला) कहा गया है*। अतः जो समान बर्ताव करते हैं, वे भी यमराज हैं।

पशुओंमें भी समान बर्ताव पाया जाता है। कुत्ता ब्राह्मणकी रसोईमें जाता है तो पैर धोकर नहीं जाता। ब्राह्मणकी रसोई हो अथवा हरिजनकी, वह तो जैसा है, वैसा ही चला जाता है; क्योंकि यह उसकी समता है। पर मनुष्यके लिये यह समता नहीं है, प्रत्युत महान् पशुता है। समता तो यह है कि दूसरेका दुःख कैसे मिटे, दूसरेको सुख कैसे हो, आराम कैसे हो। ऐसी समता रखते हुए बर्तावमें पवित्रता, निर्मलता रखनी चाहिये। बर्तावमें पवित्रता रखनेसे अन्तःकरण पवित्र, निर्मल होता है। परंतु बर्तावमें अपवित्रता रखनेसे, खान-पान आदि एक करनेसे अन्तःकरणमें अपवित्रता आती है, जिससे अशान्ति बढ़ती है। केवल बाहरका बर्ताव समान रखना शास्त्र और समाजकी मर्यादाके विरुद्ध है। इससे समाजमें संघर्ष पैदा होता है।

वर्णोंमें ब्राह्मण ऊँचे हैं और शूद्र नीचे हैं—ऐसा शास्त्रोंका सिद्धान्त नहीं है। ब्राह्मण उपदेशके द्वारा, क्षत्रिय रक्षाके द्वारा, वैश्य धन-सम्पत्ति, आवश्यक वस्तुओंके द्वारा और शूद्र शरीरसे परिश्रम करके सभी वर्णोंकी सेवा करे। इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे अपने कर्तव्य-पालनमें परिश्रम न करें, प्रत्युत अपने कर्तव्य-पालनमें समान रीतिसे सभी परिश्रम करें। जिसके पास जिस प्रकारकी शक्ति, विद्या, वस्तु, कला आदि है, उसके द्वारा चारों ही वर्ण चारों वर्णोंकी सेवा करें, उनके कार्योंमें सहायक बनें। परन्तु चारों वर्णोंकी सेवा करनेमें भेदभाव न रखें।

आजकल वर्णाश्रमको मिटाकर पार्टीबाजी हो रही है। आज वर्णाश्रममें इतनी लड़ाई नहीं है, जितनी लड़ाई पार्टीबाजीमें हो रही है—यह प्रत्यक्ष बात है। पहले लोग चारों वर्णों और आश्रमोंकी मर्यादामें चलते थे और सुख-शान्तिपूर्वक रहते थे। आज वर्णाश्रमकी मर्यादाको मिटाकर अनेक पार्टियाँ बनायी जा रही हैं, जिससे संघर्षको बढ़ावा मिल रहा है। गाँवोंमें सब लोगोंको पानी मिलना कठिन हो रहा है। जिनके अधिकारमें कुआँ है, वे कहते हैं कि तुमने उस पार्टीको वोट दिया है, इसलिये तुम यहाँसे पानी नहीं भर सकते। माँ, बाप और बेटा—तीनों अलग-अलग पार्टियोंको वोट देते हैं और घरमें लड़ते हैं। भीतरमें वैर बाँध लिया कि तुम उस पार्टीके और हम इस पार्टीके। कितना महान् अनर्थ हो रहा है!

यदि समता लानी हो तो दूसरा व्यक्ति किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय, मत आदिका क्यों न हो, उसे सुख देना है, उसका दुःख दूर करना है और उसका वास्तविक हित करना है। उनमें यह भेद हो सकता है कि आप राम-राम कहते हैं, हम कृष्ण-कृष्ण कहेंगे; आप वैष्णव हैं, हम शैव

* 'समवर्ती परेतराट्' (अमरकोष १।१।५८)

हैं; आप मुसलमान हैं, हम हिन्दू हैं, इत्यादि। परन्तु इससे कोई बाधा नहीं आती है। बाधा तब आती है, जब यह भाव रहता है कि वे हमारी पार्टीके नहीं हैं, इसलिये उनको चाहे दुःख होता रहे पर हमें और हमारी पार्टीवालोंको सुख हो जाय। यह भाव महान् पतन करनेवाला है। इसलिये कभी किसी वर्ण आदिके मनुष्योंको कष्ट हो तो उनके हितकी चिन्ता समान रीतिसे होनी चाहिये और उन्हें सुख हो तो उससे प्रसन्नता समान रीतिसे होनी चाहिये। जैसे, ब्राह्मणों और हरिजनोंमें संघर्ष हुआ। उसमें हरिजनोंकी हार और ब्राह्मणोंकी जीत होनेपर हमारे मनमें प्रसन्नता हो अथवा ब्राह्मणोंकी हार और हरिजनोंकी जीत होनेपर हमारे मनमें दुःख हो तो यह विषमता है, जो बहुत हानिकारक है। ब्राह्मणों और हरिजनों—दोनोंके प्रति ही हमारे मनमें हितकी समान भावना होनी चाहिये। किसीका भी अहित हमें सहन न हो। किसीका भी दुःख हमें समान रीतिसे खटकना चाहिये। यदि ब्राह्मण दुःखी है तो उसे सुख पहुँचायें और यदि हरिजन दुःखी है तो उसे सुख न पहुँचायें—ऐसा पक्षपात नहीं होना चाहिये, प्रत्युत हरिजनको सुख पहुँचानेकी विशेष चेष्टा होनी चाहिये। हरिजनोंको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करते हुए भी ब्राह्मणोंके दुःखकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय आदिको लेकर पक्षपात नहीं होना चाहिये। सभीके प्रति समान रीतिसे हितका बर्ताव होना चाहिये। यदि कोई निम्नवर्ग है और उसे हम ऊँचा उठाना चाहते हों तो उस वर्गके लोगोंके भावों और आचरणोंको शुद्ध और श्रेष्ठ बनाना चाहिये; उनके पास वस्तुओंकी कमी हो तो उसकी पूर्ति करनी चाहिये; उनकी सहायता करनी चाहिये; परन्तु उन्हें उकसाकर उनके हृदयोंमें दूसरे वर्गके प्रति ईर्ष्या और द्वेषके भाव भर देना अत्यन्त ही अहितकर, घातक है तथा लोक-परलोकमें पतन करनेवाला है। कारण कि ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान आदि मनुष्यका महान् पतन करनेवाले हैं। यदि ऐसे भाव ब्राह्मणोंमें हैं तो उनका भी पतन होगा और हरिजनोंमें हैं तो उनका भी पतन होगा। उत्थान तो सद्भावों, सद्गुणों, सदाचारोंसे ही होता है।

भोजन, वस्त्र, मकान आदि निर्वाहकी वस्तुओंकी जिनके पास कमी है, उन्हें ये वस्तुएँ विशेषतासे देनी चाहिये, चाहे वे किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय आदिके क्यों न हों। सबका जीवन-यापन सुखपूर्वक होना चाहिये। सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभीका हित हो, कभी किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख न हो*—ऐसा भाव रखते हुए यथायोग्य बर्ताव करना ही समता है, जो सम्पूर्ण मनुष्योंके लिये हितकर है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(५।१८)

'ज्ञानी महापुरुष विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणमें और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी एवं कुत्तेमें भी समरूप परमात्माको देखनेवाले होते हैं।'

ब्राह्मण और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी एवं कुत्तेमें व्यवहारकी विषमता अनिवार्य है। इनमें समान बर्ताव शास्त्र भी नहीं कहता, उचित भी नहीं और कर सकते भी नहीं। जैसे पूजन विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणका ही हो सकता है न कि चाण्डालका; दूध गायका ही पीया जाता है, न कि कुतियाका; सवारी हाथीकी ही हो सकती है न कि कुत्तेकी। इन पाँचों प्राणियोंका उदाहरण देकर भगवान् मानो यह कह रहे हैं कि इनमें व्यवहारकी समता सम्भव न होनेपर भी तत्त्वतः सबमें एक ही परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है। महापुरुषोंकी दृष्टि उस परमात्मतत्त्वपर ही सदा-सर्वदा रहती है। इसलिये उनकी दृष्टि कभी विषम नहीं होती।

यहाँ एक शङ्का हो सकती है कि दृष्टि विषम हुए बिना व्यवहारमें भिन्नता कैसे होगी ? इसका समाधान यह है कि अपने शरीरके सब अङ्गों-(मस्तक, पैर, हाथ, गुदा आदि)में हमारी दृष्टि अर्थात् अपनेपन और हितकी भावना समान रहती है, फिर भी हम उनके व्यवहारमें भेद रखते हैं; जैसे—किसीको पैर लग जाय तो क्षमा-याचना करते हैं पर किसीको हाथ लग जाय तो क्षमा-याचना नहीं करते। प्रणाम मस्तक और हाथोंसे करते हैं, पैरोंसे नहीं। गुदासे हाथ लगनेपर हाथ धोते हैं, हाथसे हाथ लगनेपर नहीं। इतना ही नहीं एक हाथकी अंगुलियोंमें भी व्यवहारमें भेद रहता है। किसीको तर्जनी अंगुली दिखाने और अँगूठा दिखानेका भेद तो सब जानते ही हैं। इस प्रकार शरीरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंके व्यवहारमें तो भेद होता है पर आत्मीयतामें भेद नहीं होता। इसलिये शरीरके किसी भी पीड़ित अङ्गकी उपेक्षा नहीं होती। व्यवहारमें भेद होनेपर भी पीड़ा मिटानेमें हम समानताका व्यवहार करते हैं। शरीरके सभी अङ्गोंके सुख-दुःखमें हमारा एक ही भाव रहता है। इसी प्रकार प्राणियोंमें खान-पान, गुण, आचरण, जाति

* सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

आदिका भेद होनेसे उनके साथ ज्ञानी महापुरुषोंके व्यवहारमें भी भेद होता है और होना भी चाहिये। परन्तु उन सब प्राणियोंमें एक ही परमात्मतत्त्व परिपूर्ण होनेके कारण महापुरुषकी दृष्टिमें भेद नहीं होता। उन प्राणियोंके प्रति महापुरुषकी आत्मीयता, प्रेम, हित, दया, आदिके भावमें कभी फरक नहीं पड़ता। उनके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, ममता, आसक्ति, अभिमान, पक्षपात, विषमता आदिका सर्वथा अभाव होता है। जैसे अपने शरीरके किसी अङ्गका दुःख दूर करनेकी चेष्टा स्वाभाविक होती है, वैसे ही पता लगनेपर दूसरे प्राणीका दुःख दूर करनेकी और उसे सुख पहुँचानेकी चेष्टा भी उनके द्वारा स्वाभाविक होती है। यही कारण है कि भगवान्‌ने यहाँ महापुरुषोंको समदर्शी कहा है, न कि समवर्ती। गीतामें दूसरी जगह भी सम देखनेकी या समबुद्धिकी ही बात आयी है; जैसे—**'समबुद्धिर्विशिष्यते'** (६। ९); **'सर्वत्र समदर्शनः'** (६। २९); **'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति'** (६। ३२); **'सर्वत्र समबुद्धयः'** (१२। ४); **'समं सर्वेषु भूतेषु…… यः पश्यति स पश्यति'** (१३। २७); और **'समं पश्यन् हि सर्वत्र'** (१३। २८)।

श्रीशङ्कराचार्यजी महाराज कहते हैं—

भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कुत्रचित्।

(तत्त्वोपदेश)

'भावमें ही सदा अद्वैत होना चाहिये, क्रिया—(व्यवहार)में कहीं नहीं'।

(गीता ५। १८ की व्याख्यासे)

संघर्षका कारण

आजकल ऐसा प्रचार किया जाता है कि जातिभेदके कारण ही समाजमें संघर्ष होता है; अतः जातिभेदको नहीं मानना चाहिये। यह बिलकुल गलत मान्यता है। वास्तवमें संघर्ष जातिको लेकर नहीं होता, प्रत्युत अहंकारसे पैदा होनेवाले स्वार्थ और अभिमानको लेकर होता है।

सृष्टिमें जातिभेद स्वाभाविक है। विभिन्न देशोंमें मनुष्योंकी अनेक जातियाँ विद्यमान हैं। केवल मनुष्यमें ही नहीं, प्रत्युत पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदिमें भी जातिभेद स्वाभाविक विद्यमान है। गाय, भैंस, भेड़, बकरी, घोड़ा, ऊँट, कुत्ता आदिकी अनेक जातियाँ हैं और उनकी एक-एक जातिमें भी अनेक भेद हैं। जातिसे ही उनके गुणोंकी पहचान होती है। इनका क्रय-विक्रय करनेवाले लोग इनकी जातियोंसे भलीभाँति परिचित होते हैं। जातिको देखकर ही इनका मूल्य लगाया जाता है। ऐसे ही वृक्षोंमें भी एक-एक वृक्षकी अनेक जातियाँ होती हैं। फलों तथा सब्जियोंमें और अनाजोंमें भी अनेक जातियाँ होती हैं। इस जातिभेदका कारण यह है कि सृष्टि विषम है और इसमें एक समान दीखनेवाली दो चीजें भी वास्तवमें समान नहीं होतीं। अतः वैरका कारण जाति नहीं है। स्वार्थ और अभिमानको लेकर ही वैर पैदा होता है, जो कि आसुरी सम्पत्ति है।

एक बात यह भी देखनेमें आती है कि अलग-अलग जातिमें परस्पर लड़ाई या वैर नहीं होता, प्रत्युत एक ही जातिमें परस्पर स्वार्थ और अभिमानको लेकर वैर होता है। जैसे, पुरुष जातिका पुरुष जातिसे और स्त्री जातिका स्त्री जातिसे वैर होता है। पशुओंमें भी नरकी लड़ाई नरसे और मादाकी लड़ाई मादासे होती है। जैसे, कुत्ता कुत्तासे ही लड़ता है और कुतिया कुतियासे ही लड़ती है, दूसरा इस लड़ाईमें सहायकमात्र होता है। बन्दरोंमें भी बँदरियोंके समूहमें एक बन्दर होता है। अगर किसी बँदरीका नर बच्चा पैदा होता है तो वह उसको लेकर भाग जाती है; क्योंकि अपने भोगका स्वार्थ रहनेसे बन्दर उस नर बच्चेको मार डालता है! परन्तु मादा बच्चा पैदा होनेपर वह उसको नहीं मारता। यही बात कुत्तोंमें भी पायी जाती है। नर बच्चा पैदा हो तो उसको कुत्ता मार देता है और मादा बच्चा पैदा हो तो उसको कुतिया मार देती है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके बीच परस्पर लड़ाई या वैर नहीं होता। ब्राह्मणका ब्राह्मणसे, क्षत्रियका क्षत्रियसे, वैश्यका वैश्यसे और शूद्रका शूद्रसे वैर होता है। तात्पर्य है कि जहाँ एक जीविका होती है, वहीं स्वार्थवश लड़ाई होती है। अगर सब काममें सबका अधिकार मान लिया जाय तो इससे संघर्ष बहुत ज्यादा बढ़ेगा। कारण कि ऐसा माननेसे जिस जीविकासे अधिक रुपये, मान-बड़ाई आदि प्राप्त होते हों, उसको सब करने लगेंगे और जिस जीविकामें रुपये, मान-बड़ाई आदि कम प्राप्त होते हों, उसको कोई नहीं करेगा। ऊँचा काम सब करना चाहेंगे, पर नीचा काम कोई करना नहीं चाहेगा। जैसे, पहले राज्यके लिये केवल राजपूत ही लड़ते थे, पर अब राज्यके लिये सभी लड़ते हैं। पहले

चारों वर्ण अपना-अपना कार्य करते थे, पर अब चारों वर्णोंके कामोंमें सबका अधिकार होनेसे संघर्ष भी कम-से-कम सोलह गुना तो बढ़ेगा ही! पहले लोग अपने-अपने वर्ण और आश्रमकी मर्यादामें चलते थे और सुख-शान्तिपूर्वक रहते थे। परन्तु आज वर्णाश्रमकी मर्यादाको मिटाकर स्वार्थवश अनेक पार्टियाँ बन रही हैं, जो राज्यके लिये आपसमें लड़ती हैं। दूसरे सम्प्रदायवालोंके वोटके लिये हिन्दू ही हिन्दुओंका नाश कर रहे हैं! माँ, बाप और बेटा—तीनों अलग-अलग पार्टियोंको वोट देते हैं और घरमें लड़ते हैं! प्रचार तो यह किया जाता है कि सबमें परस्पर एकता होनी चाहिये, पर वास्तवमें एक एकता हो रही है अर्थात् माँ अलग, बाप अलग, पत्नी अलग, बेटा अलग, भाई अलग—सब एक-एक हो रहे हैं! कारण यह है कि वर्णाश्रमकी रचना तो मर्यादा, कर्तव्यको लेकर हुई थी, पर पार्टियोंकी रचना स्वार्थको लेकर हुई है।

स्वार्थ और अभिमानके कारण ही विभिन्न वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके मनुष्योंमें अपने वर्ण आदिका पक्षपात रहता है, जिससे वे अपने वर्ण आदिका मण्डन और दूसरे वर्ण आदिका खण्डन करते हैं। इस विषयमें एक कहानी है। एक वेश्या थी। उसके मनमें विचार आया कि मेरा कल्याण कैसे हो? अपने कल्याणके लिये वह साधुओंके पास गयी। उन्होंने कहा कि तुम साधुओंका संग करो। साधु त्यागी होते हैं, इसलिये उनकी सेवा करो तो कल्याण होगा। फिर वह ब्राह्मणोंके पास गयी तो उन्होंने कहा कि साधु तो बनावटी हैं, पर हम जन्मसे ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण सबका गुरु होता है। अतः तुम ब्राह्मणोंकी सेवा करो तो कल्याण होगा। इसके बाद वह संन्यासियोंके पास गयी तो उन्होंने कहा कि संन्यासी सब वर्णोंका गुरु होता है, इसलिये उसकी सेवा करनेसे कल्याण होगा। फिर वह वैरागियोंके पास गयी तो उन्होंने कहा कि वैरागी सबसे तेज होता है; अतः उसकी सेवा करो तो कल्याण होगा। फिर वह अलग-अलग सम्प्रदायोंके गुरुओंके पास गयी तो उन्होंने कहा कि हम सबसे ऊँचे हैं, शेष सब पाखण्डी हैं। तुम हमारी चेली बन जाओ, हमारेसे मन्त्र लो, तब हम वह बात बतायेंगे, जिससे तुम्हारा कल्याण हो जायगा। इस प्रकार वह वेश्या जहाँ भी गयी, वहीं उसको अपने-अपने वर्ण, आश्रम, मत, सम्प्रदाय आदिका पक्षपात दिखायी दिया। यह देखकर उसके मनमें आया कि अब तत्त्व समझमें आ गया! युक्ति हाथ लग गयी! साधु कहते हैं कि साधुओंको पूजो, ब्राह्मण कहते हैं कि ब्राह्मणोंको पूजो तो हम क्यों न वेश्याओंको पूजें! ऐसा सोचकर उसने वेश्याभोज करनेका विचार किया। उसमें सब वेश्याओंको निमन्त्रण दिया। निश्चित समयपर सब वेश्याएँ वहाँ आने लगीं।

उस गाँवके बाहर एक विरक्त, त्यागी सन्त रहते थे। उन्होंने देखा तो विचार किया कि आज क्या बात है? जब उनको मालूम हुआ कि आज वेश्याभोज हो रहा है तो वे वेश्याको क्रियात्मक शिक्षा देनेके लिये वहाँ पहुँच गये। रसोई बन रही थी। रसोई बनानेवालोंने पकाये हुए चावलोंका पानी (माँड़) नालीमें गिराया। वेश्या छतपर खड़ी होकर जिधर देख रही थी, उधर बाबाजी बैठ गये और उस माँड़से हाथ धोने लगे। वेश्याने देखा तो बोली कि बाबाजी, यह क्या कर रहे हो? बाबाजीने कहा कि तू अन्धी है क्या? तेरेको दिखायी नहीं देता, मैं तो अपने हाथ धो रहा हूँ! वेश्याने बाबाजीको ऐसा करनेसे रोका तो वे माने नहीं। वेश्या उतरकर नीचे आयी और बोली कि बाबाजी, यह चावलोंका पानी है, इससे तो हाथ और मैले होंगे! आप साफ पानीसे हाथ धोओ। बाबाजीने कहा कि अगर इससे हाथ मैले हो जायँगे तो क्या वेश्याएँ ज्यादा साफ, निर्मल हैं, जिससे इनकी सेवासे कल्याण हो जायगा? हाथ मैले पानीसे साफ होते हैं या साफ पानीसे ? यह सुनकर वेश्याको होश आया कि बाबाजी बात तो ठीक कहते हैं! तो फिर कल्याण कैसे होगा? बाबाजी बोले—जिस सन्तमें किसी मत, सम्प्रदाय आदिका पक्षपात, आग्रह न हो, जिसके आचरण शुद्ध हों, जिसके भीतर एक ही भाव हो कि जीवका कल्याण कैसे हो, जिसमें किसी प्रकारकी कामना न हो—वह सन्त चाहे स्त्री हो या पुरुष, साधु हो या ब्राह्मण, किसी भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो, उस सन्तका संग करो, उनकी बातें सुनो तो कल्याण होगा।

तात्पर्य यह हुआ कि जहाँ स्वार्थ और अभिमान होगा, भोग और संग्रहकी इच्छा होगी, वहाँ आसुरी सम्पत्ति आयेगी ही। जहाँ आसुरी सम्पत्ति आयेगी, वहाँ शान्ति नहीं रहेगी, प्रत्युत अशान्ति होगी, संघर्ष होगा, पतन होगा।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(गीता १६ । २१)

'काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके दरवाजे जीवात्माका पतन करनेवाले हैं, इसलिये इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये।'

——★——

गृहस्थमें कैसे रहें ?

रुद्रो मुण्डधरो भुजङ्गसहितो गौरी तु सद्भूषणा
स्कन्दः शम्भुसुतः षडाननयुतस्तुण्डी च लम्बोदरः।
सिंहक्रेलिममूषकं च वृषभस्तेषां निजं वाहन-
मित्थं शम्भुगृहे विभिन्नमतिषु चैक्यं सदा वर्तते॥

भगवान् शंकर मुण्डमाला एवं सर्प धारण किये हुए रहते हैं और पार्वती सुन्दर-सुन्दर आभूषण धारण किये हुए रहती हैं। शंकरके पुत्र कार्तिकेय छः मुखवाले तथा गणेश लम्बी सूँड़ और बड़े पेटवाले हैं। भगवान् शंकर आदिके अपने-अपने वाहन—बैल, सिंह, मोर और मूषक भी आपसमें एक-एकका भक्षण करनेवाले हैं। ऐसा होनेपर भी भगवान् शंकरके विभिन्न (परस्पर-विरुद्ध) स्वभाववाले परिवारमें सदा एकता रहती है। [इसी प्रकार गृहस्थमें विभिन्न स्वभाववालोंके साथ अपने अभिमान और सुखभोगका त्याग करके दूसरोंके हित और सुखका भाव रखते हुए आपसमें प्रेमपूर्वक एकता रहनी चाहिये।]

★

गृहस्थ-धर्म

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता न दुर्भाषिणी
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मृष्टान्नपानं गृहे
साधोः सङ्गमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः॥

'घरमें सब सुखी हैं, पुत्र बुद्धिमान् हैं, पत्नी मधुरभाषिणी है, अच्छे मित्र हैं, अपनी पत्नीका ही संग है, नौकर आज्ञापरायण हैं, प्रतिदिन अतिथि-सत्कार एवं भगवान् शंकरका पूजन होता है, पवित्र एवं सुन्दर खान-पान है और नित्य ही सन्तोंका संग किया जाता है—ऐसा जो गृहस्थाश्रम है, वह धन्य है!'

प्रश्न—विवाह क्यों करें? क्या विवाह करना आवश्यक है?

उत्तर—हमारे यहाँ दो तरहके ब्रह्मचारी होते हैं—नैष्ठिक और उपकुर्वाण। जो आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, वे 'नैष्ठिक ब्रह्मचारी' कहलाते हैं और जो विचारके द्वारा भोगेच्छाको नहीं मिटा पाते और केवल भोगेच्छाको मिटानेके लिये ही विवाह करते हैं, वे 'उपकुर्वाण ब्रह्मचारी' कहलाते हैं। तात्पर्य है कि जो विचारके द्वारा भोगेच्छाको न मिटा सके, वह विवाह करके देख ले, जिससे यह अनुभव हो जाय कि यह भोगेच्छा भोग भोगनेसे मिटनेवाली नहीं है। इसलिये गृहस्थके बाद वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रममें जानेका विधान किया गया है। सदा गृहस्थमें ही रहकर भोग भोगना मनुष्यता नहीं है।

जिसके मनमें भोगेच्छा है अथवा जो वंश-परम्परा चलाना चाहता है और (वंश-परम्परा चलानेके लिये) उसका कोई भाई नहीं है, उसको केवल भोगेच्छा मिटानेके उद्देश्यसे अथवा वंश-परम्परा चलानेके लिये विवाह कर लेना चाहिये। अगर उपर्युक्त दोनों इच्छाएँ न हों तो विवाह करनेकी जरूरत नहीं है। शास्त्रोंमें निवृत्तिको सर्वश्रेष्ठ बताया गया है—**'निवृत्तिस्तु महाफला।'**

प्रश्न—कलियुगमें तो संन्यास लेना मना किया गया है, अतः मनुष्य निवृत्ति कैसे करे?

उत्तर—कलियुगमें संन्यास लेना इसलिये मना किया गया है कि कलियुगमें संन्यास-धर्मका पालन करनेमें बहुत कठिनता पड़ती है, जिससे मनुष्य ठीक तरहसे संन्यास-धर्मको निभा नहीं सकता। अतः जैसे सरकारी कर्मचारी नौकरीसे रिटायर होते हैं, ऐसे ही मनुष्यको घरसे रिटायर हो जाना चाहिये और बेटों-पोतोंको काम-धंधा सौंपकर घरमें रहते हुए ही भजन-स्मरण करना चाहिये। यदि बेटे चाहते हों तो घरसे केवल भोजन, वस्त्र आदि निर्वाहमात्रका सम्बन्ध रखना चाहिये। यदि बेटे न चाहें तो निर्वाहमात्रका सम्बन्ध भी छोड़ देना चाहिये। निर्वाह कैसे होगा, इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि—

प्रारब्ध पहले रचा, पीछे रचा सरीर।
तुलसी चिन्ता क्यों करे, भज ले श्रीरघुबीर॥

प्रश्न—गृहस्थका खास धर्म क्या है?

उत्तर—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चारों आश्रमोंकी सेवा करना गृहस्थका खास धर्म है; क्योंकि गृहस्थ ही सबका माँ-बाप है, पालक है, संरक्षक है अर्थात् गृहस्थसे ही ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी उत्पन्न

होते हैं और पालित एवं संरक्षित होते हैं। अतः चारों आश्रमोंका पालन-पोषण करना गृहस्थका खास धर्म है।

अतिथि-सत्कार करना; गाय-भैंस, भेड़-बकरी आदिको सुख-सुविधा देना; घरमें रहनेवाले चूहे आदिको भी अपने घरका सदस्य मानना; उन सबका पालन-पोषण करना गृहस्थका खास धर्म है। ऐसे ही देवता, ऋषि-मुनिकी सेवा करना, पितरोंको पिण्ड-पानी देना, भगवान्‌की विशेषतासे सेवा (भजन-स्मरण) करना गृहस्थका खास धर्म है।

प्रश्न—गृहस्थाश्रममें कैसे रहना चाहिये ?

उत्तर—यह मनुष्य-शरीर और इसमें भी गृहस्थ-आश्रम उद्धार करनेकी पाठशाला है। भोग भोगने और आराम करनेके लिये यह मनुष्य-शरीर नहीं है। ***'एहि तन कर फल बिषय न भाई'*** (मानस, उत्तर० ४४। १)। शास्त्रविहित यज्ञ आदि कर्म करके ब्रह्मलोक आदि लोकोंकी प्राप्ति करना भी खास बात नहीं है; क्योंकि वहाँ जाकर फिर पीछे लौटकर आना ही पड़ता है—**'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः'** (गीता ८। १६)। अतः प्राणिमात्रके हितकी भावना रखते हुए गृहस्थ-आश्रममें रहना चाहिये और अपनी शक्तिके अनुसार तन, मन, बुद्धि, योग्यता, अधिकार आदिके द्वारा दूसरोंको सुख पहुँचाना चाहिये। दूसरोंकी सुख-सुविधाके लिये अपने सुख-आरामका त्याग करना ही मनुष्यकी मनुष्यता है।

प्रश्न—गृहस्थमें काम-धंधा करते हुए जो हिंसा होती है, उससे छुटकारा कैसे हो ?

उत्तर—गृहस्थमें रोज ये पाँच हिंसाएँ होती हैं—(१) जहाँ रसोई बनती है, वहाँ आगमें चींटी आदि छोटे-छोटे जीव मरते हैं, लकड़ियोंमें रहनेवाले जीव मरते हैं, आदि। (२) जहाँ जल रखते हैं, वहाँ घड़ा इधर-उधर करने आदिसे भी जीव मरते हैं। (३) झाड़ू लगाते समय बहुत-से जीव मरते हैं। (४) चक्कीमें अनाज पीसते समय भी बहुत-से जीव पीसे जाते हैं। (५) ऊखलमें चावल आदि कूटते समय भी जीव मरते हैं। इन हिंसाओंसे छूटनेके लिये गृहस्थको प्रतिदिन बलिवैश्वदेव, पञ्चमहायज्ञ करना चाहिये। जो सर्वथा भगवान्‌के ही शरण हो जाता है, उसको यह हिंसा नहीं लगती। वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है।

प्रश्न—हम चक्की नहीं चलाते, धान नहीं कूटते तो हमें हिंसा नहीं लगेगी ?

उत्तर—आप पीसा हुआ आटा, कूटा हुआ धान अपने काममें लेते हैं तो उस आटेको पीसनेमें, धानको कूटनेमें जो हिंसा हुई है, वह आपको लगेगी ही।

प्रश्न—खेतीमें अनेक जीवोंकी हिंसा होती है, तो क्या किसान खेती न करे ?

उत्तर—खेती जरूर करे, पर खयाल रखे कि हिंसा न हो। किसानके लिये खेती करनेका विधान होनेसे उसको पाप कम लगता है, अतः उसको पापसे डरकर अपने कर्तव्यका त्याग नहीं करना चाहिये। हाँ, जहाँतक बने, हिंसा न हो, ऐसी सावधानी अवश्य रखनी चाहिये।

प्रश्न—आजकल किसानलोग फसलकी सुरक्षाके लिये जहरीली दवाएँ छिड़कते हैं तो क्या यह ठीक है ?

उत्तर—किसानको यह काम कभी नहीं करना चाहिये। पहले लोग ऐसी हिंसा नहीं करते थे तो अनाज सस्ता मिलता था। आजकल हिंसा करते हैं तो अनाज महँगा मिलता है। दीखनेमें तो ऐसा दीखता है कि जीवोंको मार देनेसे अनाज अधिक होता है, पर इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा।

प्रश्न—शास्त्रोंमें गृहस्थपर पाँच ऋण बताये गये हैं—पितृऋण, देवऋण, ऋषिऋण, भूतऋण और मनुष्यऋण। इनमेंसे पितृऋण क्या है और उससे छूटनेका उपाय क्या है ?

उत्तर—माता-पिता, दादा-दादी, परदादा-परदादी, नाना-नानी, परनाना-परनानी आदिके मरनेपर जो कार्य किये जाते हैं, वे सब 'प्रेतकार्य' हैं और परम्परासे श्राद्ध-तर्पण करना, पिण्ड-पानी देना आदि जो कार्य पितरोंके उद्देश्यसे किये जाते हैं, वे सब 'पितृकार्य' हैं। मरनेके बाद प्राणी देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी, भूत-प्रेत, वृक्ष-लता आदि किसी भी योनिमें चला जाय तो उसकी 'पितर' संज्ञा होती है।

माता-पिताके रज-वीर्यसे शरीर बनता है। माताके दूधसे और पिताके कमाये हुए अन्नसे शरीरका पालन-पोषण होता है। पिताके धनसे शिक्षा एवं योग्यता प्राप्त होती है। माता-पिताके उद्योगसे विवाह होता है। इस तरह पुत्रपर माता-पिताका, माता-पितापर दादा-दादीका और दादा-दादीपर परदादा-परदादीका ऋण रहता है। परम्परासे रहनेवाले इस पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये, पितरोंकी सद्गतिके लिये उनके नामसे पिण्ड-पानी देना चाहिये। श्राद्ध-तर्पण करना चाहिये।

पुत्र जन्मभर माता-पिता आदिके नामसे पिण्ड-पानी देता है, पर आगे पिण्ड-पानी देनेके लिये सन्तान उत्पन्न नहीं करता तो वह पितृऋणसे मुक्त नहीं होता अर्थात् उसपर पितरोंका ऋण रहता है। परन्तु सन्तान उत्पन्न होनेपर उसपर पितृऋण नहीं रहता, प्रत्युत वह पितृऋण सन्तानपर आ जाता है। पितर पिण्ड-पानी चाहते हैं; अतः पिण्ड-पानी मिलनेसे वे सुखी रहते हैं और न मिलनेसे वे दुःखी हो जाते हैं। पुत्रकी

सन्तान न होनेसे भी वे दुःखी हो जाते हैं कि आगे हमें पिण्ड-पानी कौन देगा !

प्रश्न—क्या पितरोंके नामसे दिया हुआ उनको मिल जाता है ?

उत्तर—पितरोंके नामसे जो कुछ दिया जाय, वह सब उनको मिल जाता है। वे चाहे किसी भी योनिमें क्यों न हों, उनके नामसे दिया हुआ पिण्ड-पानी उनको उसी योनिके अनुसार खाद्य या पेय पदार्थके रूपमें मिल जाता है। जैसे, पितर पशुयोनिमें हों तो उनके नामसे दिया हुआ अन्न उनको घास बनकर मिल जायगा और देवयोनिमें हों तो अमृत बनकर मिल जायगा। तात्पर्य है कि जैसी वस्तुसे उनका निर्वाह होता हो, वैसी वस्तु उनको मिल जाती है। जैसे हम यहाँसे अमेरिकामें किसीको मनीआर्डरके द्वारा रुपये भेजें तो वे वहाँ डालर बनकर उसको मिल जाते हैं, ऐसे ही हम पितरोंके नामसे पिण्ड-पानी देते हैं, दान-पुण्य करते हैं, तो वह जिस योनिमें पितर हैं, उसी योनिके अनुसार खाद्य या पेय पदार्थके रूपमें पितरोंको मिल जाता है।

आज हमें बड़े आदरसे जो रोटी-कपड़ा आदि मिलता है, वह हमारे पूर्वकृत पुण्योंका फल भी हो सकता है और हमारे पूर्वजन्मके पुत्र-पौत्रादिकोंके द्वारा किये हुए श्राद्ध-तर्पणका फल भी हो सकता है, पर है यह हमारा प्रारब्ध ही।

जैसे किसीने बैंकमें एक लाख रुपये जमा किये। उनमेंसे उसने कुछ अपने नामसे, कुछ पत्नीके नामसे और कुछ पुत्रके नामसे जमा किये, तो वह अपने नामसे जमा किये हुए पैसे ही निकाल सकता है, अपनी पत्नी और पुत्रके नामसे जमा किये हुए पैसे नहीं। वे पैसे तो उसकी पत्नी और पुत्रको ही मिलेंगे। ऐसे ही पितरोंके नामसे जो पिण्ड-पानी दिया जाता है, वह पितरोंको ही मिलता है, हमें नहीं। हाँ, हम जीते-जी गयामें जाकर अपने नामसे पिण्ड-पानी देंगे तो मरनेके बाद वह हमें ही मिल जायगा। गयामें तो पशु-पक्षीके नामसे दिया हुआ पिण्ड-पानी भी उनको मिल जाता है। एक सज्जनका अपनी गायपर बड़ा स्नेह था। वह गाय मर गयी तो वह उसको स्वप्नमें बुहत दुःखी दिखायी दी। उसने गयामें जाकर उस गायके नामसे पिण्ड-पानी दिया। फिर वह गाय स्वप्नमें दिखायी दी तो वह बहुत प्रसन्न थी।

जैसे हमारे पास एक तो अपना कमाया हुआ धन है और एक पिता, दादा, परदादाका कमाया हुआ धन है तो अपने कमाये हुए धनपर ही हमारा अधिकार है; पिता, दादा आदिके कमाये हुए धनपर हमारा उतना अधिकार नहीं है। वंश-परम्पराके अनुसार पिता, दादा आदिके धनपर हमारे पुत्र-पौत्रोंका अधिकार है। ऐसे ही पितरोंको वंश-परम्पराके अनुसार पुत्र-पौत्रोंका दिया हुआ पिण्ड-पानी मिलता है। अतः पुत्र-पौत्रोंपर पिता, दादा आदिके पिण्ड-पानी देनेका दायित्व है।

एक पितृलोक भी है, पर मरनेके बाद सब पितृलोकमें ही जाते हों—यह कोई नियम नहीं है। कारण कि अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही सबकी गति होती है।

प्रश्न—यदि किसीके माता-पिता (पितर) मुक्त हो गये हैं, भगवद्धाममें चले गये हैं तो उनके नामसे दिये हुए पिण्ड-पानीका क्या होगा ?

उत्तर—पुत्रको तो यह पता नहीं रहता कि मेरे माता-पिता मुक्त हो गये, भगवद्धाममें चले गये; पर वह उनके नामसे आदरपूर्वक जो पिण्ड-पानी देता है, दान-पुण्य करता है, वह सब उसके नामपर जमा हो जाता है और मरनेके बाद उसीको मिल जाता है। जैसे, हम किसीके नामसे बम्बई पैसे भेजते हैं, पर वह व्यक्ति वहाँ नहीं है तो वे पैसे वापिस हमें ही मिल जाते हैं।

प्रश्न—क्या सन्तान उत्पन्न किये बिना भी मनुष्य पितृऋणसे छूट सकता है ?

उत्तर—हाँ, छूट सकता है। जो भगवान्‌के सर्वथा शरण हो जाता है, उसपर कोई भी ऋण नहीं रहता—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

(श्रीमद्भा० ११। ५। ४१)

'राजन्! जो सारे कार्योंको छोड़कर सम्पूर्णरूपसे शरणागतवत्सल भगवान्‌की शरणमें आ जाता है, वह देव, ऋषि, प्राणी, कुटुम्बीजन और पितृगण इनमेंसे किसीका भी ऋणी और सेवक (गुलाम) नहीं रहता।'

प्रश्न—देवऋण क्या है और उससे छूटनेका उपाय क्या है ?

उत्तर—वर्षा होती है, घाम तपता है, हवा चलती है, पृथ्वी सबको धारण करती है, रात्रिमें चन्द्रमा और दिनमें सूर्य प्रकाश करता है, जिससे सबका जीवन-निर्वाह चलता है—यह सब हमपर देवऋण है। हवन, यज्ञ करनेसे देवताओंकी पुष्टि होती है और हम देवऋणसे मुक्त हो जाते हैं।

प्रश्न—ऋषिऋण क्या है और उससे छूटनेका उपाय क्या है ?

उत्तर—ऋषि-मुनियोंने, सन्त-महात्माओंने जो ग्रन्थ

बनाये हैं, स्मृतियाँ बनायी हैं, उनसे हमें प्रकाश मिलता है, शिक्षा मिलती है, कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान होता है; अतः उनका हमपर ऋण है। उनके ग्रन्थोंको पढ़नेसे, स्वाध्याय करनेसे, पठन-पाठन करनेसे, सन्ध्या-गायत्री करनेसे हम ऋषिऋणसे मुक्त हो जाते हैं।

प्रश्न—भूतऋण क्या है और उससे छूटनेका उपाय क्या है ?

उत्तर—गाय-भैंस, भेड़-बकरी, ऊँट-घोड़ा आदि जितने प्राणी हैं, उनसे हम अपना काम चलाते हैं, अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। वृक्ष-लता आदिसे फल, फूल, पत्ती, लकड़ी आदि लेते हैं। यह हमपर दूसरोंका, प्राणियोंका ऋण है। पशु-पक्षियोंको घास, अन्न आदि देनेसे, जल पिलानेसे, वृक्ष-लता आदिको खाद और जल देनेसे हम इस भूतऋणसे मुक्त हो जाते हैं।

प्रश्न—मनुष्यऋण क्या है और उससे छूटनेका उपाय क्या है ?

उत्तर—बिना किसीकी सहायता लिये हमारा जीवन-निर्वाह नहीं होता। हम दूसरोंके बनाये हुए रास्तेपर चलते हैं, दूसरोंके बनाये हुए कुएँका पानी काममें लेते हैं, दूसरोंके लगाये हुए पेड़-पौधोंको काममें लेते हैं, दूसरोंके द्वारा उत्पन्न किये हुए अन्न आदि खाद्य पदार्थोंको काममें लेते हैं—यह उनका हमपर ऋण है। दूसरोंकी सुख-सुविधाके लिये कुआँ खुदवानेसे, प्याऊ लगानेसे, बगीचा लगानेसे, रास्ता बनवानेसे, धर्मशाला बनवानेसे, अन्न-क्षेत्र चलानेसे हम मनुष्यऋणसे मुक्त हो सकते हैं।

पितृऋण, देवऋण, ऋषिऋण, भूतऋण और मनुष्य-ऋण—ये पाँचों ऋण गृहस्थपर ही लागू होते हैं। जो भगवान्‌के सर्वथा शरण हो जाता है, वह पितर, देवता आदि किसीका भी ऋणी नहीं रहता, सभी ऋणोंसे छूट जाता है।

प्रश्न—यदि कोई सन्तान न हो तो अपने सम्बन्धियोंके अथवा अनाथ बालक-बालिकाओंको गोद लेना चाहिये या नहीं ?

उत्तर—आजकलके जमानेमें गोद न लेना ही अच्छा है; क्योंकि अपना पैदा किया हुआ बेटा भी सेवा नहीं करता, आज्ञा नहीं मानता तो गोद लिया हुआ बेटा क्या निहाल करेगा ! यद्यपि पिण्ड-पानी देनेके लिये गोद लेनेका विधान तो है, पर वह पिण्ड-पानी ही नहीं देगा तो उसको गोद लेना किस कामका ? यदि हमारे लिये लड़केकी आवश्यकता होती तो भगवान् दे देते। हमारे लिये लड़केकी आवश्यकता नहीं है, इसलिये भगवान्‌ने नहीं दिया है। अतः हम गोद लेकर अपने लिये आफत क्यों पैदा करें ! प्रायः ऐसा देखा गया है कि गोद लिये हुए लड़के माँ-बापको दुःख-ही-दुःख देते हैं, उनकी सेवा नहीं करते। अतः अनाथ बालकोंको पढ़ाना चाहिये, उनकी सेवा करनी चाहिये, उनके शरीर-निर्वाहका प्रबन्ध करना चाहिये।

प्रश्न—अगर कोई बेटा नहीं होगा तो वृद्धावस्थामें हमारी सेवा कौन करेगा ?

उत्तर—जिनके बेटे हैं, क्या वे सभी अपने माँ-बापकी सेवा करते हैं ? आजकलके बेटे तो माँ-बापकी धन-सम्पत्ति अपने नाम करवाना चाहते हैं और श्राद्ध-तर्पणको फालतू समझते हैं तो ऐसे बेटे क्या सेवा करेंगे ? वे तो केवल दुःखदायी होते हैं। वास्तवमें प्रारब्धसे जैसी सेवा बननेवाली है, जितना सुख-आराम मिलनेवाला है, वह तो मिलेगा ही, चाहे पुत्र हो या न हो। हमने यह प्रत्यक्ष देखा है कि विरक्त सन्तोंकी जितनी सेवा होती है, उतनी सेवा गृहस्थोंके बेटे नहीं करते। तात्पर्य है कि बेटा होनेसे ही सेवा होती है, यह बात नहीं है।

प्रश्न—अगर कोई बेटा नहीं होगा तो मरनेके बाद हमें पिण्ड-पानी कौन देगा और पिण्ड-पानी न मिलनेसे हमारी गति कैसे होगी ?

उत्तर—पिण्ड-पानी देनेसे पिण्ड-पानी लेनेवालोंका आगे जन्म-मरण चालू होता है। जैसे रास्तेमें चलनेवाला व्यक्ति भूख-प्यासके कारण कहीं रुक जाता है, रास्तेमें अटक जाता है और अन्न-जल मिलनेके बाद फिर अपने रास्तेपर चल पड़ता है, ऐसे ही मृतात्माओंको पिण्ड-पानी न मिलनेसे वे एक जगह अटक जाते हैं, रुक जाते हैं और पिण्ड-पानी मिलनेसे वे वहाँसे चल पड़ते हैं अर्थात् उनकी आगे गति शुरू हो जाती है, उनका जन्म-मरण चालू हो जाता है; परन्तु उनकी मुक्ति, कल्याण नहीं होता।

वास्तवमें मुक्ति होना, कल्याण होना सन्तानके अधीन किंचिन्मात्र भी नहीं है। अगर मुक्ति सन्तानके अधीन हो तो मुक्ति पराधीन ही हुई ! फिर मनुष्य-जन्मकी स्वतन्त्रता कहाँ रही ? कल्याणमें, मुक्तिमें जब शरीरकी आसक्ति भी बाधक है, तो फिर मरनेके बाद भी पुत्रसे पिण्ड-पानीकी आशा कल्याण कैसे होने देगी ? वह तो बन्धनमें ही डालेगी। अतः जो अपना कल्याण चाहता है, उसको पुत्रैषणा (पुत्रकी इच्छा), लोकैषणा (संसारमें आदर-सत्कार, मान-बड़ाईकी इच्छा) और वित्तैषणा (धनकी इच्छा)—इन तीनोंका त्याग

कर देना चाहिये, क्योंकि ये तीनों ही परमात्मप्राप्तिमें बाधक हैं।

जिसको सन्तानकी, पिण्ड-पानीकी इच्छा है, वह जन्म-मरणके चक्रमें पड़े रहना चाहता है; क्योंकि कहीं जन्म होगा, तभी तो वह पिण्ड-पानी चाहेगा। अगर जन्म होगा ही नहीं तो पिण्ड-पानी किसको चाहिये !

पुत्र न होनेसे कल्याण नहीं होता—यह बात बिलकुल गलत है। अगर सन्तान होनेसे कल्याण होता तो सूकरीके ग्यारह और सर्पिणीके एक सौ आठ बच्चे होते हैं, फिर उनका तो कल्याण हो ही जाना चाहिये ! ऐसे ही ज्यादा बच्चेवालोंका कल्याण जल्दी होना चाहिये, पर वह होता नहीं।

सन्तान हो अथवा न हो, मनुष्यको केवल भगवान्‌में ही लगना चाहिये; भगवान्‌के परायण होकर भगवान्‌का भजन करना चाहिये। अगर पुत्रकी इच्छा न मिटती हो तो निःसन्तान मनुष्यको चाहिये कि वह श्रीरामलल्लाको, श्रीकृष्णलल्लाको अपना पुत्र मान ले और पुत्र-भावसे उनका लाड़-प्यार करे। वह पुत्र (भगवान्) जैसी सेवा करेगा, वैसी सेवा पैदा किया हुआ पुत्र कर ही नहीं सकता ! वह पुत्र तो लोक-परलोकका सब काम कर देगा।

प्रश्न—गृहस्थमें बाल-बच्चोंके भरण-पोषण, विवाह आदिको लेकर अनेक चिन्ताएँ रहती हैं, उन चिन्ताओंसे छुटकारा कैसे पाया जा सकता है ?

उत्तर—प्रत्येक प्राणी अपने प्रारब्धके अनुसार ही जन्मता है। प्रारब्धमें तीन चीजें होती हैं—जन्म, आयु और भोग।* इन तीनोंमें प्राणीका 'जन्म' तो हो चुका है; उसकी जितनी 'आयु' है, उतना तो वह जीयेगा ही; और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंका आना 'भोग' है। वास्तवमें परिस्थिति किसीको भी सुखी-दुःखी नहीं करती, प्रत्युत मनुष्य ही अज्ञानवश परिस्थितिसे सुखी-दुःखी हो जाता है।

कन्या बड़ी हो जाय तो ऐसी परिस्थितिमें उसके विवाहको लेकर चिन्ता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि कन्या अपने प्रारब्ध (भाग्य)को लेकर ही आयी है। अतः उसको अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति उसके प्रारब्धके अनुसार ही मिलेगी। माता-पिताको तो उसके विवाहके विषयमें यह विचार करना है कि जहाँ हमारी कन्या सुखी रहे, वहीं उसको देना है। ऐसा विचार करना माता-पिताका कर्तव्य है। परन्तु हम उसको सुखी कर ही देंगे, उसको अच्छा परिवार मिल ही जायगा, यह उनके हाथकी बात नहीं है। अतः कर्तव्यका पालन तो होना चाहिये, पर चिन्ता नहीं होनी चाहिये।

एक चिन्ता होती है और एक विचार होता है। चिन्ता अज्ञान (मूर्खता) से पैदा होती है और उससे अन्तःकरण मैला होता है, नया विकास नहीं होता। परन्तु विचारसे बुद्धिका विकास होता है। अतः हरेक काम कैसे करना है, किस रीतिसे करना है आदि विचार तो करना चाहिये, पर चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिये। यदि चिन्तासे रहित होकर विचार किया जाय तो कोई-न-कोई उपाय जरूर मिल जाता है।

प्रश्न—यदि बेटे वृद्धावस्थामें सेवा न करें तो क्या करना चाहिये ?

उत्तर—बेटोंसे अपनी ममता उठा लेनी चाहिये। यही मानना चाहिये कि ये हमारे बेटे नहीं हैं। कोई भी सेवा न करे तो ऐसी अवस्थामें कुटुम्बियोंसे जो सुख-सुविधा पानेकी आशा होती है, उसीसे दुःख होता है—**'आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्'**। अतः उस आशाका ही त्याग कर देना चाहिये और असुविधामें तपकी भावना करनी चाहिये कि 'भगवान्‌की बड़ी कृपासे हमें स्वतः तप करनेका अवसर मिला है। अगर परिवारवाले हमारी सेवा करने लग जाते तो हम उनकी मोह-ममतामें फँस जाते, पर भगवान्‌ने कृपा करके हमें फँसने नहीं दिया !'

मनुष्य मोह-ममतामें फँस जाता है—यही उसकी आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधा है। उस बाधाको जो हटाते हैं, उनका तो उपकार ही मानना चाहिये कि ये हमें बाधारहित कर रहे हैं, हमारा कल्याण कर रहे हैं, उनकी हमपर बड़ी भारी कृपा है !

जीवनभर सेवा लेते रहनेसे वृद्धावस्थामें असमर्थताके कारण परिवारवालोंसे सेवा लेनेकी इच्छा ज्यादा हो जाती है। अतः मनुष्यको पहलेसे ही सावधान रहना चाहिये कि मैं सेवा लेनेके लिये यहाँ नहीं आया हूँ, मैं तो सबकी सेवा करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ; क्योंकि मनुष्य, देवता, ऋषि-मुनि, पितर, पशु-पक्षी, भगवान् आदि सबकी सेवा करनेके लिये ही यह मनुष्य-शरीर है। अतः किसीसे भी सुख-सुविधा नहीं चाहनी चाहिये। अगर हम पहलेसे ही किसीसे सुख-सुविधा, सेवा नहीं चाहेंगे तो वृद्धावस्थामें सेवा न होनेपर भी दुःख नहीं होगा। हाँ, हमारे मनमें सेवा लेनेकी इच्छा न रहनेसे दूसरोंके मनमें हमारी सेवा करनेकी इच्छा जाग्रत् हो जायगी !

हरेक क्षेत्रमें त्यागकी आवश्यकता है। त्यागसे तत्काल

* सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। (योगदर्शन २।१३)

शान्ति मिलती है। प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी प्रसन्न रहना बड़ा भारी तप है। अन्तःकरणकी शुद्धि तपसे होती है, सुख-सुविधासे नहीं। सुख-सुविधा चाहनेसे अन्तःकरण अशुद्ध होता है। अतः मनुष्य सुख कभी चाहे ही नहीं, प्रत्युत अपने मन-वाणी-शरीरसे दूसरोंको सुख पहुँचाये।

प्रश्न—यदि परिवारमें कोई मर जाय तो मृतात्माकी शान्तिके लिये तथा अपना शोक दूर करनेके लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर—(१) मृतात्माके लिये विधिवत् नारायणबलि, श्राद्ध-तर्पण आदि करना चाहिये। (२) जब-जब उसकी याद आये, तब-तब उसको भगवान्‌के चरणोंमें देखना चाहिये। (३) उसके निमित्त गीता-पाठ, भागवत-सप्ताह, श्रीरामचरितमानसका नवाह्नपारायण, नाम-जप, कीर्तन आदि करने चाहिये। (४) उसके निमित्त गरीब बालकोंको मिठाई बाँटनी चाहिये। मिठाई मिलनेसे बालक प्रसन्न हो जाते हैं। उनकी प्रसन्नतासे मृतात्माको भी शान्ति मिलती है और खुदको भी।

सत्सङ्ग, कथा-कीर्तन, मन्दिर, तीर्थ आदिमें जानेके विषयमें शोक नहीं रखना चाहिये, प्रत्युत वहाँ जरूर जाना चाहिये। इनमें भी सत्सङ्गकी विशेष महिमा है, क्योंकि सत्सङ्गसे सब प्रकारका शोक दूर होता है।

★

बोलीं कि पिताजी ! मैं आपके लिये जल लायी हूँ, पी लो। चमारने कहा कि बेटी ! मैं अभी नन्दगाँवकी सीमामें हूँ; अतः मैं यहाँका पानी नहीं पी सकता। राधाजीने कहा कि पिताजी ! मैं तो बरसानेका जल लायी हूँ। उसने वह जल पी लिया और कहा कि बेटी ! अब तुम जाओ, मैं आता हूँ। राधाजी चली गयीं। चमार अपने घर पहुँचा तो उसने अपनी बेटीको गोदमें लेकर कहा कि बेटी ! तुमने जल पिलाकर मेरे प्राण बचा लिये ! अगर तुम जल लेकर नहीं आती तो मेरे प्राण चले जाते। कन्याने कहा कि पिताजी ! मैं तो जल लेकर आयी ही नहीं थी ! तब चमार समझ गया कि राधाजी ही मेरी कन्याका रूप धारण करके जल पिलाने आयी थीं। तात्पर्य है कि पहले लोग अपनी बेटीके गाँवका भी अन्न-जल नहीं लेते थे।

जबतक कन्याकी सन्तान न हो जाय, तबतक उसके घरका अन्न-जल नहीं लेना चाहिये। परंतु कन्याकी सन्तान होनेपर माता-पिता कन्याके यहाँका अन्न-जल ले सकते हैं। कारण कि दामादने केवल पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये ही दूसरेकी कन्या स्वीकार की है। उससे सन्तान होनेपर दामाद पितृऋणसे मुक्त हो जाता है; अतः कन्यापर माँ-बापका अधिकार हो जाता है, तभी तो दौहित्र अपने नाना-नानीका श्राद्ध-तर्पण करता है, उनको पिण्ड-पानी देता है और परलोकमें नाना-नानी अपने दौहित्रके द्वारा किया हुआ श्राद्ध-तर्पण, पिण्ड-पानी स्वीकार भी करते हैं। यदि कन्याकी सन्तान पुत्री हो, पुत्र न हो, तो भी उसके घरका अन्न-जल ले सकते हैं; क्योंकि सन्तान होनेसे कन्यादान सफल हो जाता है।

प्रश्न—माता-पिता और पुत्र-पुत्रीका आपसमें कैसा व्यवहार होना चाहिये ?

उत्तर—माता-पिताका यही भाव होना चाहिये कि पुत्र-पुत्रीने हमारे घर जन्म लिया है; अतः हमें इनके लोक-परलोकका सुधार करना है। हमें केवल अपना सुख-आराम नहीं देखना है, प्रत्युत 'इनका सुधार कैसे हो' इस भावसे पुत्र-पुत्रीपर शासन करना है, उनको अच्छी शिक्षा देनी है और समयपर ताड़ना भी करनी पड़े तो वह भी उनके हितके लिये ही करनी है।

पुत्र-पुत्रीका यही भाव होना चाहिये कि जिस शरीरसे हम परमात्माकी प्राप्ति कर सकते हैं, महान् आनन्दकी प्राप्ति कर सकते हैं, वह शरीर हमें माँ-बापसे मिला है; अतः हमारे द्वारा इनको कभी दुःख न हो। हमारे कारण इनका अपयश न हो। हमारे ऐसे आचरण हों, जिनसे लोगोंमें इनका आदर-सम्मान बढ़े। हम तीर्थ, व्रत आदि जो कुछ शुभ कर्म करें, उनका फल (पुण्य) माता-पिताको ही मिले। ऐसे भावसे आपसमें प्रेम बढ़ेगा, वर्तमानमें परिवार सुखी होगा और भविष्यमें सबका कल्याण होगा।

प्रश्न—पति और पत्नीका आपसमें कैसा व्यवहार होना चाहिये ?

उत्तर—पतिका यही भाव रहना चाहिये कि यह अपने माता-पिता, भाई आदि सबको छोड़कर मेरे पास आयी है तो इसने कितना बड़ा त्याग किया है ! अतः इसको किसी तरहका कष्ट न हो, शरीर-निर्वाहके लिये इसको रोटी, कपड़े, स्थान आदिकी कमी न हो, मेरी अपेक्षा इसको ज्यादा सुख मिले। ऐसा भाव रखनेके साथ-साथ उसके पातिव्रत-धर्मका भी खयाल रखना चाहिये, जिससे वह उच्छृङ्खल न बने और उसका कल्याण हो जाय।

पत्नीका यही भाव रहना चाहिये कि मैं अपने गोत्र और सब कुटुम्बियों आदिका त्याग करके इनके पास आयी हूँ तो समुद्र लाँघकर अब किनारे आकर मैं डूब न जाऊँ अर्थात् मैं इतना त्याग करके आयी हूँ तो अब मेरे कारण इनको दुःख न हो, इनका अपमान, निन्दा, तिरस्कार न हो। अगर मेरे कारण इनकी निन्दा आदि होगी तो बड़ी अनुचित बात हो जायगी। मैं चाहे कितना ही कष्ट पा लूँ, पर इनको किञ्चिन्मात्र भी कष्ट न हो। इस तरह वह अपने सुख-आरामका त्याग करके पतिके सुख-आरामका खयाल रखे; उनका लोक-परलोक कैसे सुधरे—इसका खयाल रखे।

प्रश्न—सास और बहूका आपसमें कैसा व्यवहार होना चाहिये ?

उत्तर—सासका तो यही भाव होना चाहिये कि यह अपनी माँको छोड़कर हमारे घरपर आयी है और मेरे ही बेटेका अंग है, अतः मेरा कोई व्यवहार ऐसा नहीं होना चाहिये, जिसके कारण इसको अपनी माँ याद आये।

बहूका यही भाव होना चाहिये कि मेरा जो सुहाग है, उसकी यह खास जननी है। जो मेरा सर्वस्व है, वह इसी वृक्षका फल है। अतः इनका आदर होना चाहिये, प्रतिष्ठा होनी चाहिये। कष्ट मैं भोगूँ और सुख इनको मिले। ये मेरे साथ चाहे जैसा कड़वा बर्ताव करें, वह मेरे हितके लिये ही है। यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि मेरे बीमार होनेपर मेरी सास जितनी सेवा करती है, उतनी सेवा दूसरा कोई नहीं कर सकता। वास्तवमें मेरे साथ हितैषितापूर्वक जैसा सासका व्यवहार है, वैसा व्यवहार और किसीका दीखता नहीं और सम्भव भी नहीं ! इन्होंने मेरेको बहूरानी कहा है और अपना उत्तराधिकार मेरेको ही दिया है। ऐसा अधिकार दूसरा कौन दे

सकता है ! इनका बदला मैं कई जन्मोंमें भी नहीं उतार सकती। अतः मेरे द्वारा इनको किंचिन्मात्र भी किसी प्रकारका कष्ट न हो। इसी तरह अपने भाई-बहनोंसे भी जेठ-जेठानी, देवर-देवरानीका आदर ज्यादा करना है। जेठ-जेठानी माता-पिताकी तरह और देवर-देवरानी पुत्र-पुत्रीकी तरह हैं। अतः यही भाव रखना चाहिये कि इनको सुख कैसे हो ! मैं केवल सेवा करनेके लिये ही इनके घरमें आयी हूँ; अतः मेरी छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी क्रिया केवल इनके हितके लिये, सुख-आरामके लिये ही होनी चाहिये। मेरे साथ इनका कैसा व्यवहार है—इस तरफ मुझे खयाल करना ही नहीं है; क्योंकि इनके कड़वे व्यवहारमें भी मेरा हित ही है।

प्रश्न—भौजाई और देवरका आपसमें कैसा व्यवहार होना चाहिये ?

उत्तर—भौजाई सीताजीकी तरह और देवर भरतकी तरह व्यवहार करे। सीताजी भरतको पुत्रकी तरह समझती थीं। कैकयीने बिना कारण रामजीको वनमें भेज दिया, पर सीताजीने कभी भी भरतपर दोषारोपण नहीं किया, भरतका निरादर नहीं किया, प्रत्युत चित्रकूटमें जब भरतजीने सीताजीकी चरण-रजको अपने सिरपर चढ़ाया, तब सीताजीने उन्हें आशीर्वाद दिया ! ऐसे ही भौजाईको चाहिये कि देवर कितना ही निरादर, अपमान करे, पर वह अपना मातृभाव, हितैषीभाव कभी न छोड़े और देवरको चाहिये कि भौजाईका माँकी तरह आदर करे। यद्यपि सीताजी अवस्थामें उतनी बड़ी नहीं थीं, फिर भी भरत, लक्ष्मण आदिका सीताजीमें मातृभाव था।

प्रश्न—बहनोई और सालेका आपसमें कैसा व्यवहार होना चाहिये ?

उत्तर—बहनोईका यह भाव होना चाहिये कि जैसे मेरेको मेरी स्त्री प्यारी लगती है, ऐसे ही मेरी स्त्रीका प्यारा भाई होनेसे साला प्यारका पात्र है। इनके घरसे समय-समयपर कुछ-न-कुछ मिलता ही रहता है; अतः लौकिक दृष्टिसे देखा जाय तो भी फायदा-ही-फायदा है। पारमार्थिक भावमें तो त्यागकी मुख्यता है ही।

सालेका यह भाव होना चाहिये कि ये मेरी बहनके ही आदरणीय अङ्ग हैं; अतः ये मेरे भी आदरके पात्र हैं। जैसे बहन और बेटीको देनेका माहात्म्य है, ऐसे ही बहनका अङ्ग होनेसे बहनोईको भी देनेका माहात्म्य है। ये प्यारके, दानके पात्र हैं; अतः हृदयसे आदर करते हुए इनको देते रहना चाहिये।

प्रश्न—भाई और बहनका आपसमें कैसा व्यवहार होना चाहिये ?

उत्तर—प्रायः भाईकी तरफसे ही गलती होती है। बहनकी तरफसे कम गलती होती है। अतः भाईका यह भाव रहना चाहिये कि यह सुआसिनी है, दयाकी मूर्ति है, इसका ज्यादा आदर, प्यार करना है। ब्राह्मणको भोजन करानेका जैसा पुण्य होता है, वैसा ही पुण्य बहन-बेटीको देनेका होता है।

सरकारने पिताकी सम्पत्तिमें बहनके हिस्सेका जो कानून बनाया है, उससे भाई-बहनमें लड़ाई हो सकती है, मनमुटाव होना तो बहुत मामूली बात है। वह जब अपना हिस्सा माँगेगी, तब बहन-भाईमें प्रेम नहीं रहेगा। हिस्सा पानेके लिये जब भाई-भाईमें भी खटपट हो जाती है, तो फिर भाई-बहनमें खटपट हो जाय, इसमें कहना ही क्या है ! अतः इसमें बहनोंको हमारी पुरानी रिवाज (पिताकी सम्पत्तिका हिस्सा न लेना) ही पकड़नी चाहिये, जो कि धार्मिक और शुद्ध है। धन आदि पदार्थ कोई महत्त्वकी वस्तुएँ नहीं हैं। ये तो केवल व्यवहारके लिये ही हैं। व्यवहार भी प्रेमको महत्त्व देनेसे ही अच्छा होगा, धनको महत्त्व देनेसे नहीं। धन आदि पदार्थोंका महत्त्व वर्तमानमें कलह करानेवाला और परिणाममें नरकोंमें ले जानेवाला है। इसमें मनुष्यता नहीं है। जैसे, कुत्ते आपसमें बड़े प्रेमसे खेलते हैं, पर उनका खेल तभीतक है, जबतक उनके सामने रोटी नहीं आती। रोटी सामने आते ही उनके बीच लड़ाई शुरू हो जाती है ! अगर मनुष्य भी ऐसा ही करे तो फिर उसमें मनुष्यता क्या रही ?

धर्मको, अपने कर्तव्यको, भगवान् और ऋषियोंकी आज्ञाको और त्यागको महत्त्व देनेसे लोक-परलोक स्वतःसिद्ध हो जाते हैं। परन्तु मान, बड़ाई, स्वार्थ आदिको महत्त्व देनेसे लोक-परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं।

प्रश्न—गृहस्थको अतिथिके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये ?

उत्तर—अतिथिका अर्थ है—जिसके आनेकी कोई तिथि, निश्चित समय न हो। अतिथि-सेवाकी मुख्यता गृहस्थ-आश्रममें ही है। दो नम्बरमें इसकी मुख्यता वानप्रस्थ-आश्रममें है। ब्रह्मचारी और संन्यासीके लिये इसकी मुख्यता नहीं है।

जब ब्रह्मचारी स्नातक बनता है अर्थात् ब्रह्मचर्य-आश्रमके नियमोंका पालन करके दूसरे आश्रममें जानेकी तैयारी करता है, तब उसको यह दीक्षान्त उपदेश दिया जाता है—'**मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।**' (तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षा० ११। २) अर्थात् माता, पिता, आचार्य और अतिथिको ईश्वर समझकर

उनकी सेवा करो। गृहस्थ-आश्रममें जानेवालोंके लिये ये खास नियम हैं। अतः गृहस्थको अतिथिका यथायोग्य आदर-सत्कार करना चाहिये।

अतिथि-सेवामें आसन देना, भोजन कराना, जल पिलाना आदि बहुत-सी बातें हैं, पर मुख्य बात अन्न देना ही है। जब रसोई बन जाय, तब पहले विधिसहित बलिवैश्वदेव करे। बलिवैश्वदेव करनेका अर्थ है—विश्वमात्रको भोजन अर्पित करना। फिर भगवान्‌को भोग लगाये। फिर कोई अतिथि, भिक्षुक आ जाय तो उसको भोजन कराये। भिक्षुक छः प्रकारके कहे गये हैं—

ब्रह्मचारी यतिश्चैव विद्यार्थी गुरुपोषकः।
अध्वगः क्षीणवृत्तिश्च षडेते भिक्षुकाः स्मृताः॥

'ब्रह्मचारी, साधु-संन्यासी, विद्याध्ययन करनेवाला, गुरुकी सेवा करनेवाला, मार्गमें चलनेवाला और क्षीणवृत्ति-वाला (जिसके घरमें आग लगी हो; चोर-डाकू सब कुछ ले गये हों, कोई जीविका न रही हो आदि)—ये छः भिक्षुक कहे जाते हैं'; अतः इन छहोंको अन्न देना चाहिये।

यदि बलिवैश्वदेव करनेसे पहले ही अतिथि, भिक्षुक आ जाय तो? समय हो तो बलिवैश्वदेव कर ले, नहीं तो पहले ही भिक्षुकको अन्न दे देना चाहिये। ब्रह्मचारी और संन्यासी तो बनी हुई रसोईके मालिक हैं। इनको अन्न न देकर पहले भोजन कर ले तो पाप लगता है, जिसकी शुद्धि चान्द्रायण-व्रत* करनेसे होती है। अतिथि घरपर आकर खाली हाथ लौट जाय तो वह घरके मालिकका पुण्य ले जाता है और अपने पाप दे जाता है। अतः अतिथिको अन्न जरूर देना चाहिये।

गृहस्थको भीतरसे तो अतिथिको परमात्माका स्वरूप मानना चाहिये और उसका आदर करना चाहिये, उसको अन्न-जल देना चाहिये, पर बाहरसे सावधान रहना चाहिये अर्थात् उसको घरका भेद नहीं देना चाहिये, घरको दिखाना नहीं चाहिये आदि। तात्पर्य है कि भीतरसे आदर करते हुए भी उसपर विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि आजकल अतिथिके वेशमें न जाने कौन आ जाय!

प्रश्न—गृहस्थका धर्म तो पहले संन्यासी आदिको भोजन देनेका है और संन्यासीका धर्म गृहस्थके भोजन करनेके बाद भिक्षाके लिये जानेका है, तो दोनों बातें कैसे?

उत्तर—गृहस्थको चाहिये कि रसोई बन जानेपर पहले बलिवैश्वदेव कर ले, फिर अतिथि आ जाय तो उसको यथाशक्ति भोजन दे और अतिथि न आये तो एक गाय दुहनेमें जितना समय लगता है, उतने समयतक दरवाजेके बाहर खड़े होकर अतिथिकी प्रतीक्षा करे। अतिथि न आये तो उसका हिस्सा अलग रखकर भोजन कर ले।

संन्यासी कुछ भी संग्रह नहीं करता। अतः जब उसको भूख लगे, तब वह भिक्षाके लिये गृहस्थके घरपर जाय। जब गृहस्थ भोजन कर ले और बर्तन माँजकर अलग रख ले, उस समय वह भिक्षाके लिये जाय। तात्पर्य है कि गृहस्थपर भार न पड़े, उसकी रसोई कम न पड़े। घरमें एक-दो आदमियोंकी रसोई बनी हो और भिक्षुक आ जाय तो रसोई कम पड़ेगी! हाँ, घरमें पाँच-सात आदमियोंकी रसोई बनी हो तो कोई फर्क नहीं पड़ेगा; परन्तु उस घरपर भिक्षुक ज्यादा आ जायँ तो उनपर भी भार पड़ेगा। अतः गृहस्थके भोजन करनेके बाद ही संन्यासीको भिक्षाके लिये जाना चाहिये और जो बचा हो, वह लेना चाहिये। संन्यासीको चाहिये कि वह भिक्षाके लिये गृहस्थके घरपर ज्यादा न ठहरे। अगर गृहस्थ मना न करे तो एक गाय दुहनेमें जितना समय लगता है, उतने समयतक गृहस्थके घरपर ठहरे। अगर गृहस्थके मनमें देनेकी भावना न हो तो वहाँसे चल देना चाहिये, पर क्रोध नहीं करना चाहिये। ऐसे ही गृहस्थको भी क्रोध नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—गृहस्थको अपने पड़ोसीके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये?

उत्तर—पड़ोसीको अपने परिवारका ही सदस्य मानना चाहिये। यह अपना है और यह पराया है—ऐसा भाव तुच्छ हृदयवालोंका होता है। उदार हृदयवालोंके लिये तो सम्पूर्ण पृथ्वी ही अपना कुटुम्ब है†। भगवान्‌के नाते सब हमारे भाई हैं। अतः खास घरके आदमियोंकी तरह ही पड़ोसीसे बर्ताव करना चाहिये। घरमें कभी मिठाई या फल आ जायँ और सामने अपने तथा पड़ोसीके बालक हों तो मिठाई आदिका वितरण करते हुए पहले पड़ोसीके बालकोंको थोड़ा ज्यादा

---

* चान्द्रायणव्रतकी विधि इस प्रकार है—अमावस्याके बाद प्रतिपदाको एक ग्रास, द्वितीयाको दो ग्रास—इस क्रमसे एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए पूर्णिमाको पन्द्रह ग्रास अन्न ग्रहण करे। फिर पूर्णिमाके बाद प्रतिपदासे एक-एक ग्रास कम करे अर्थात् प्रतिपदाको चौदह, द्वितीयाको तेरह आदि। तात्पर्य है कि चन्द्रमाकी कला बढ़ते समय ग्रास बढ़ाना और कला घटते समय ग्रास घटाना 'चान्द्रायणव्रत' है। ग्रासके सिवाय और कुछ भी नहीं लेना चाहिये।

† अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥ (पञ्चतन्त्र, अपरीक्षित० ३७)

और बढ़िया मिठाई आदि दे। उसके बाद बहन-बेटीके बालकोंको अधिक मात्रामें और बढ़िया मिठाई आदि दे। फिर कुटुम्बके तथा ताऊ आदिके बालक हों तो उनको दे। अन्तमें बची हुई मिठाई आदि अपने बालकोंको दे। इसमें कोई शंका करे कि हमारे बालकोंको कम और साधारण चीज मिले तो हम घाटेमें ही रहे ? इसमें घाटा नहीं है। हम पड़ोसी या बहन-बेटीके बालकोंके साथ ऐसा बर्ताव करेंगे तो वे भी हमारे बालकोंके साथ ऐसा ही बर्ताव करेंगे, जिससे माप-तौल बराबर ही आयेगा। खास बात यह है कि ऐसा बर्ताव करनेसे आपसमें प्रेम बहुत बढ़ जायगा। प्रेमकी जो कीमत है, वह वस्तु-पदार्थोंकी नहीं है।

पड़ोसीकी कोई गाय-भैंस घरपर आ जाय तो पड़ोसीसे झगड़ा न करे और उन पशुओंको पीटे भी नहीं, प्रत्युत प्रेमपूर्वक पड़ोसीसे कह दे कि 'भैया ! तुम्हारी गाय-भैंस हमारे घरपर आ गयी है। वह फिर न आ जाय, इसका खयाल रखना।' हम ऐसा सौम्य बर्ताव करेंगे तो हमारी गाय-भैंस पड़ोसीके यहाँ जानेपर वह भी ऐसा ही बर्ताव करेगा। यदि पड़ोसी क्रूर बर्ताव करे तो भी हमारेको उसपर क्रोध नहीं करना चाहिये, प्रत्युत इस बातकी विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि हमारी गाय-भैंस आदिसे पड़ोसीका कोई नुकसान न हो।

हमारे घर कोई उत्सव हो, विवाह आदि हो और उसमें बढ़िया-बढ़िया मिष्टान्न आदि बने तो उसको पड़ोसीके बालकोंको भी देना चाहिये; क्योंकि पड़ोसी होनेसे वे हमारे कुटुम्बी ही हैं। इससे भी अधिक प्रेमका बर्ताव करना हो तो जैसे अपनी बहन-बेटीके विवाहमें देते हैं, ऐसे ही पड़ोसीकी बहन-बेटीके विवाहमें भी देना चाहिये; जैसे अपने दामादके साथ बर्ताव करते हैं, ऐसे ही पड़ोसीके दामादके साथ भी बर्ताव करना चाहिये।

प्रश्न—नौकरके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये ?

उत्तर—नौकरके साथ अपने बालककी तरह बर्ताव करना चाहिये। नौकर दो तरहसे रखा जाता है—(१) नौकरको तनखाह भी देते हैं और भोजन भी। (२) नौकरको केवल तनखाह देते हैं, भोजन वह अपने घरपर करता है। जो नौकर तनखाह भी लेता है और भोजन भी करता है, उसके साथ भोजनमें विषमता नहीं करनी चाहिये। प्रायः घरोंमें नौकरके लिये तीन नम्बरका, घरके सदस्योंके लिये दो नम्बरका और अपने पति-पुत्रके लिये एक नम्बरका भोजन बनाया जाता है तो यह तीन तरहका भोजन न बनाकर एक तरहका ही भोजन बनाना चाहिये। भोजन मध्यम दर्जेका बनाना चाहिये और सबको देना चाहिये। समयपर कोई भिक्षुक आ जाय तो उसको भी देना चाहिये।

जो नौकर केवल तनखाह लेता है, भोजन नहीं करता, वह जैसा उचित समझे, बनाये और खाये। परन्तु हमारे घरपर कभी विशेषतासे मिठाई आदि बने तो नौकरके बाल-बच्चोंको देनी चाहिये। विवाह आदिमें उसको कपड़े आदि देने चाहिये। उसको तनखाह तो यथोचित ही देनी चाहिये, पर समय-समयपर उसको इनाम, कपड़ा, मिठाई आदि भी देते रहना चाहिये। अधिक तनखाहका उतना असर नहीं पड़ता, जितना इनाम आदिका असर पड़ता है। नौकरको इनाम आदि देनेसे देनेवालेके हृदयमें उदारता आती है और आपसमें प्रेम बढ़ता है, जिससे वह समयपर चोर-डाकू आदिसे हमारी रक्षा भी करेगा; विवाह आदिके अवसरपर वह उत्साहसे काम करेगा।

प्रश्न—घरमें चूहे, छिपकली, मच्छर, खटमल आदि जीवोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये ?

उत्तर—घरमें रहनेवाले चूहे आदिको भी अपने घरका सदस्य मानना चाहिये; क्योंकि वे भी अपना घर बनाकर हमारे घरमें रहते हैं। अतः उनका भी हमारे घरमें रहनेका अधिकार है। तात्पर्य है कि अपनी रक्षा करते हुए जहाँतक बने, उनका भी पालन करना चाहिये। परन्तु आजकल लोग उनको मार देते हैं, यह ठीक नहीं है। मनुष्यको अपनी रक्षा करनेका ही अधिकार है, किसीको मारनेका अधिकार नहीं है। जैसे मनुष्य पृथ्वीपर अपना घर बनाकर रहता है, ऐसे ही चूहे आदि भी अपना घर बनाकर रहते हैं; अतः उनको मारना नहीं चाहिये। घरमें साँप, बिच्छू आदि जहरीले जीव हों तो उनको युक्तिसे पकड़कर घरसे दूर सुरक्षित स्थानपर छोड़ देना चाहिये।

अपनी सफाई न रखनेसे, अशुद्धि रखनेसे ही मच्छर, खटमल आदि पैदा होते हैं। अतः घरमें पहलेसे ही स्वच्छता, निर्मलता रखनी चाहिये, जिससे वे पैदा हों ही नहीं। स्वच्छता रखते हुए भी वे पैदा हो जायँ, तो भी उनको मारनेका हमें अधिकार नहीं है।

प्रश्न—घरमें कुत्ता पालना चाहिये या नहीं ?

उत्तर—घरमें कुत्ता नहीं रखना चाहिये। कुत्तेका पालन करनेवाला नरकोंमें जाता है। महाभारतमें आया है कि जब पाँचों पाण्डव और द्रौपदी वीरसंन्यास लेकर उत्तरकी ओर चले तो चलते-चलते भीमसेन आदि सभी गिर गये। अन्तमें जब युधिष्ठिर भी लड़खड़ा गये, तब इन्द्रकी आज्ञासे मातलि रथ लेकर वहाँ आया और युधिष्ठिरसे कहा कि आप इसी शरीरसे स्वर्ग पधारो। युधिष्ठिरने देखा कि एक कुत्ता उनके पास खड़ा

है। उन्होंने कहा कि यह कुत्ता मेरी शरणमें आया है; अतः यह भी मेरे साथ स्वर्गमें चलेगा। इन्द्रने युधिष्ठिरसे कहा—

स्वर्गे लोके श्ववतां नास्ति धिष्ण्यमिष्टापूर्तं क्रोधवशा हरन्ति।
ततो विचार्य क्रियतां धर्मराज त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति॥

(महाभारत, महाप्र० ३। १०)

'धर्मराज! कुत्ता रखनेवालोंके लिये स्वर्गलोकमें स्थान नहीं है। उनके यज्ञ करने और कुआँ, बावड़ी आदि बनवानेका जो पुण्य होता है, उसे क्रोधवश नामक राक्षस हर लेते हैं। इसलिये सोच-विचारकर काम करो और इस कुत्तेको छोड़ दो। ऐसा करनेमें कोई निर्दयता नहीं है।'

युधिष्ठिरने कहा कि मैंने इसका पालन नहीं किया है, यह तो मेरी शरणमें आया है। मैं इसको अपना आधा पुण्य देता हूँ, इसीसे यह मेरे साथ चलेगा। युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर उस कुत्तेमेंसे धर्मराज प्रकट हो गये और बोले कि मैंने तेरी परीक्षा ली थी। तुमने मेरेपर विजय कर ली, अब चलो स्वर्ग!

तात्पर्य है कि गृहस्थको घरमें कुत्ता नहीं रखना चाहिये। महाभारतमें आया है—

भिन्नभाण्डं च खट्वां च कुक्कुटं शुनकं तथा।
अप्रशस्तानि सर्वाणि यश्च वृक्षो गृहेरुहः॥
भिन्नभाण्डे कलिं प्राहुः खट्वायां तु धनक्षयः।
कुक्कुटे शुनके चैव हविर्नाश्नन्ति देवताः।
वृक्षमूले ध्रुवं सत्त्वं तस्माद् वृक्षं न रोपयेत्॥

(महाभारत, अनु० १२७। १५-१६)

'घरमें फूटे बर्तन, टूटी खाट, मुर्गा, कुत्ता और अश्वत्थादि वृक्षका होना अच्छा नहीं माना गया है। फूटे बर्तनमें कलियुगका वास कहा गया है। टूटी खाट रहनेसे धनकी हानि होती है। मुर्गे और कुत्तेके रहनेपर देवता उस घरमें हविष्य ग्रहण नहीं करते तथा मकानके अन्दर कोई बड़ा वृक्ष होनेपर उसकी जड़के भीतर साँप, बिच्छू आदि जन्तुओंका रहना अनिवार्य हो जाता है, इसलिये घरके भीतर पेड़ न लगाये।'

कुत्ता महान् अशुद्ध, अपवित्र होता है। उसके खान-पानसे, स्पर्शसे, उसके जगह-जगह बैठनेसे गृहस्थके खान-पानमें, रहन-सहनमें अशुद्धि, अपवित्रता आती है और अपवित्रताका फल भी अपवित्र (नरक आदि) ही होता है।

प्रश्न—खेत आदिकी रक्षाके लिये कुत्ता रखा जाय तो क्या हानि है?

उत्तर—कुत्तेको केवल खेत आदिकी रक्षाके लिये ही रखे। समय-समयपर उसको रोटी दे, पर अपनेसे उसको दूर ही रखे। उसको अपने साथ रखना, अपने साथ घुमाना, मर्यादारहित छुआछूत करना ही निषिद्ध है। तात्पर्य है कि कुत्तेका पालन करना, उसकी रक्षा करना दोष नहीं है, प्रत्युत प्राणिमात्रका पालन करना तो गृहस्थका खास कर्तव्य है। परन्तु कुत्तेके साथ घुल-मिलकर रहना, उसको साथमें रखना, उसमें आसक्ति रखना पतनका कारण है, क्योंकि अन्तसमयमें यदि कुत्तेका स्मरण हो जायगा तो अगले जन्ममें कुत्ता ही बनना पड़ेगा*।

प्रश्न—घरकी छतपर या दीवारपर पीपल लग जाय तो उसको हटाना चाहिये या नहीं?

उत्तर—उसको उखाड़कर चौराहेमें या मन्दिरके सामने अथवा गलीमें अच्छी जगह लगा देना चाहिये और उसको जल देते रहना चाहिये। छत या दीवार तोड़नी पड़े तो कोई बात नहीं, उसकी फिर मरम्मत करा लेनी चाहिये, पर जहाँतक बन सके, पीपलको काटना नहीं चाहिये। पीपल, वट, पाकर, गूलर, आँवला, तुलसी आदि पवित्र वृक्षोंका विशेष आदर करना चाहिये, जो मनुष्योंको पवित्र करनेवाले हैं।

प्रश्न—गृहस्थको जीवन-निर्वाहके लिये धन कैसे कमाना चाहिये?

उत्तर—गृहस्थको शरीरसे परिश्रम करके और 'दूसरेका हक न आ जाय' ऐसी सावधानी रखकर धन कमाना चाहिये। जितना धन पैदा हो जाय, उसमेंसे दसवाँ, पन्द्रहवाँ अथवा बीसवाँ हिस्सा दान-पुण्यके लिये निकालना चाहिये। धन कमानेमें कुछ-न-कुछ दोष आ जाते हैं; अतः उन दोषोंके प्रायश्चित्तके लिये धन निकालना चाहिये।

प्रश्न—आजकल सरकारी कानून ऐसे हैं कि हम सच्चाईसे धन कमा नहीं सकते; अतः क्या करना चाहिये?

उत्तर—सरकारी कानूनसे बचनेका उपाय है—अपना खर्चा कम करना; स्वाद-शौकीनी, सजावट आदिमें खर्चा न करना; साधारण रीतिसे निर्वाह करना; बड़ी सादगीसे सात्त्विक जीवन बिताना। कारण कि धन कमाना हाथकी बात नहीं है। धन तो जितना मिलनेवाला है, उतना ही मिलेगा; पर खर्चा

---

* यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ (गीता ८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उसी भावसे सदा भावित होता हुआ उस-उसको ही प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।'

बालक-सम्बन्धी बातें

प्रश्न—आदर्श सन्तान कैसे उत्पन्न हो ?

उत्तर—आदर्श सन्तान तभी उत्पन्न हो सकती है, जब माता-पिताके आचरण, भाव आदर्श हों और सन्तानकी उत्पत्ति केवल पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये ही हो, अपने सुखके लिये न हो; क्योंकि अपनी सुखासक्तिसे उत्पन्न की हुई सन्तान प्रायः कम श्रेष्ठ होती है। कुन्तीके आचरण, भाव आदर्श थे तो धर्मराज स्वयं उनकी गोदमें आये थे।

माताओंको चाहिये कि जब वे गर्भवती हो जायँ, तब वे अपनी सन्तानको श्रेष्ठ, अच्छा बनानेकी इच्छासे भगवान्‌की कथाएँ एवं भगवद्भक्तोंके चरित्र सुनें, उनका ही चिन्तन करें और वैसे ही चित्र देखें। इस तरह माँपर अच्छे संगका असर होनेसे श्रेष्ठ सन्तान पैदा होती है। जैसे, जब प्रह्लादजीकी माँ गर्भवती थी, तब नारदजीने गर्भस्थ बालकको लक्ष्य करके उसको भगवान्‌की कथा सुनायी, उपदेश दिया, जिससे राक्षसकुलमें होते हुए भी प्रह्लादजी श्रेष्ठ हुए।

सत्कर्म (सदाचार), सच्चिन्तन, सच्चर्चा और सत्सङ्ग—ये चार हैं। अच्छे कर्म करना 'सत्कर्म' है। दूसरेके हितका और भगवान्‌का चिन्तन करना 'सच्चिन्तन' है। आपसमें भगवान् और भक्तोंके चरित्रोंका वर्णन करना और सुनना 'सच्चर्चा' है। मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् ही मेरे हैं—इस तरह भगवान्‌के साथ अटलरूपसे स्थित रहना 'सत्सङ्ग' है। इन चारोंसे सन्तान आदर्श, श्रेष्ठ बन सकती है।

मनुष्यशरीरमें ही यह स्वतन्त्रता है कि मनुष्य नया निर्माण कर सकता है, अपनी उन्नति कर सकता है, अपनेको श्रेष्ठ बना सकता है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह सन्त-महात्माओंका संग करे। सन्त-महात्मा न मिलें तो साधनमें तत्परतासे लगे हुए साधकोंका संग करे। ऐसे साधक भी न मिलें तो गीता, रामायण आदि सत्-शास्त्रोंका पठन-पाठन एवं मनन करे और अपने कल्याणका विचार रखे। इससे वह श्रेष्ठ पुरुष बन सकता है।

प्रश्न—माता-पिताके आचरण, भाव आदि तो बड़े अच्छे हैं, पर उनकी सन्तान अच्छी नहीं निकलती—इसका क्या कारण है ?

उत्तर—इसमें खास कारण संग-दोष अर्थात् बालकको अच्छा संग न मिलना ही है। ऋणानुबन्धसे पूर्वजन्मका बदला लेनेके लिये भी ऐसी सन्तान पैदा होती है। जो पुत्र कुसङ्गसे बिगड़ता है, वह सत्सङ्गसे सुधर सकता है। परन्तु जो पूर्वजन्मका बदला लेनेके लिये आता है, वह तो दुःख ही

---

* अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति। प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं तद्विनश्यति॥
'अन्यायसे कमाया हुआ धन दस वर्षतक ठहरता है और ग्यारहवाँ वर्ष प्राप्त होनेपर वह मूलसहित नष्ट हो जाता है।'

देनेवाला होता है। अतः अपने आचरण, भाव अच्छे होते हुए भी यदि ऐसी सन्तान पैदा हो जाय तो पूर्वका ऋणानुबन्ध समझकर प्रसन्न रहना चाहिये कि हमारा ऋण कट रहा है ।

विश्रवा ब्राह्मण-कुलके थे; परन्तु उनकी पत्नी कैकसी राक्षस-कुलकी थी, जिसके कारण रावण पैदा हुआ। उग्रसेन धर्मात्मा पुरुष थे; परन्तु एक दिन एक राक्षसने उग्रसेनका रूप धारण करके उनकी पत्नीसे सहवास किया, जिससे कंस पैदा हुआ।

प्रश्न—माता-पिताके आचरण तो अच्छे नहीं हैं, पर उनकी सन्तान अच्छी निकलती है—इसका क्या कारण है ?

उत्तर—प्रायः माँ-बापका स्वभाव ही सन्तानमें आता है, पर ऋणानुबन्धसे अथवा गर्भाधानके समय कोई अच्छा संस्कार पड़नेसे अथवा गर्भावस्थामें किसी सन्त-महात्माका संग मिलनेसे श्रेष्ठ सन्तान पैदा हो जाती है। जैसे, हिरण्यकशिपुके यहाँ प्रह्लादजी पैदा हुए। प्रह्लादजीके विषयमें आता है कि तपस्यामें बाधा पड़नेसे हिरण्यकशिपु स्त्रीसे मिलनेके लिये घर आया तो गर्भाधानके समय बातचीतमें उसके मुखसे कई बार 'विष्णु' नामका उच्चारण हुआ। जब उसकी स्त्री कयाधू गर्भवती थी, तब गर्भस्थ बच्चेको लक्ष्य करके नारदजीने उसको भक्तिकी बातें सुनायीं। इन कारणोंसे प्रह्लादजीके भीतर भक्तिके संस्कार पड़ गये। जैसे जलका रस मधुर ही होता है, पर जमीनके संगसे जलका रस बदल जाता है, अलग-अलग हो जाता है (प्रत्येक कुएँका जल अलग-अलग होता है), ऐसे ही संगके कारण मनुष्यके भाव बदल जाते हैं।

प्रश्न—पिताकी आत्मा ही पुत्रके रूपमें आती है—इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—जैसे कोई किसी ब्राह्मणको अपना कुलगुरु मानता है, कोई यज्ञोपवीत देनेवालेको गुरु मानता है; परन्तु उनका शरीर न रहे तो उनके पुत्रको गुरु माना जाता है और उनका जैसा आदर-सत्कार किया जाता था, वैसा ही उनके पुत्रका आदर-सत्कार किया जाता है* । जैसे पिता धनका मालिक होता है और पिता मर जाय तो पुत्र धनका मालिक बन जाता है। ऐसे ही पुत्र उत्पन्न होता है तो वह पिताका प्रतिनिधि होता है, पिताकी जगह काम करनेवाला होता है।

यहाँ 'आत्मा'का अर्थ गौणात्मा है अर्थात् 'आत्मा' शब्द शरीरका वाचक है। शरीरसे शरीर (पुत्र) पैदा होता है; अतः व्यवहारमें पुत्र पिताका प्रतिनिधि होता है; परन्तु परमार्थ (कल्याण) में पुत्र कोई कारण नहीं है।

प्रश्न—बालकोंको शिक्षा कैसे दी जाय, जिससे वे श्रेष्ठ बन जायँ ?

उत्तर—बालक प्रायः देखकर ही सीखते हैं। इसलिये माता-पिताको चाहिये कि वे उनके सामने अपने आचरण अच्छे रखें, अपना जीवन संयमित और पवित्र रखें। ऐसा करनेसे बालक अच्छी बातें सीखेंगे और श्रेष्ठ बनेंगे।

बालकोंकी उन्नतिके लिये एक नम्बरमें तो माता-पिता अपने आचरण अच्छे रखें और दो नम्बरमें उनको अच्छी बातें सुनायें, ऊँचे दर्जेकी शिक्षा दें, भक्तोंके और भगवान्के चरित्र सुनायें। अच्छी शिक्षा वह होती है, जिससे बालक व्यवहारमें परमार्थकी कला सीख जायँ। इस विषयमें थोड़ी बातें बतायी जाती हैं।

माता-पिता कहीं बाहर जाना चाहते हैं तो वे बच्चोंसे कहते हैं कि 'तुम यहीं रहो'। ऐसा कहनेसे बच्चे मानते नहीं, जिद करते हैं, जिससे माता-पिताको भी विक्षेप हो जाता है और बच्चे भी दुःखी हो जाते हैं तथा घरमें अशान्ति हो जाती है। अतः बच्चोंको पहलेसे ही यह कह देना चाहिये कि 'हम कहीं जायँ तो जिद मत किया करो; जैसा हम कहें, वैसा किया करो।' रोज दिनमें दो-तीन बार ऐसा कह देनेसे बच्चे इस बातको स्वीकार कर लेंगे। फिर कहीं जाते समय बच्चोंको कह दें कि 'जिद नहीं करना; हम जैसा कहें, वैसा करना।' तो वे आपकी बात मान लेंगे।

घरमें मिठाई आती है, फल आता है, अच्छा खाद्य पदार्थ आता है तो बच्चा उसको लेनेके लिये जिद करता है। अतः जिस समय खाद्य पदार्थ सामने न हो, उस समय दिनमें दो-तीन बार बच्चेसे कह देना चाहिये कि 'कोई खानेकी चीज हो तो पहले दूसरेको देनी चाहिये, बची हुई खुद खानी चाहिये।' फिर बढ़िया चीज सामने आनेपर वह जिद करे तो उस समय उससे कहें कि 'देखो बेटा ! जिद नहीं करना और दूसरोंको खिलाकर खाना— बाँटकर खाना, वैकुण्ठमें जाना।' फिर वह जिद नहीं करेगा। इस तरह आप बच्चोंको जो-जो बातें सिखाना चाहते हैं,

* जब अर्जुन अश्वत्थामाको बाँधकर द्रौपदीके सामने लाते हैं, तब द्रौपदी अश्वत्थामाको छोड़ देनेका आग्रह करते हुए अर्जुनसे कहती है कि जिनकी कृपासे आपने सम्पूर्ण शस्त्रास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त किया है, वे आपके आचार्य द्रोण ही पुत्र (अश्वत्थामा) के रूपमें आपके सामने खड़े हैं—'स एष भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते'। (श्रीमद्भा० १।७।४५)

उन बातोंको दिनमें दो-तीन बार बच्चोंसे कह दिया करें और उनसे प्यारपूर्वक स्वीकार करा लिया करें।

बच्चोंको अच्छी-अच्छी बातें सिखानी चाहिये; जैसे— 'देखो बेटा ! कभी किसी चीजकी चोरी नहीं करना। माँसे माँगकर लेना, न दे तो रोकर लेना, पर चोरी नहीं करना। छोटे भाई-बहनोंसे प्यार करो। उनको खिलाओ, खेलाओ। जैसे भगवान् राम भरत आदिसे प्यार करते थे, प्यारसे समझाते थे, ऐसे ही तुम भी अपने भाई-बहनोंके साथ प्यारसे रहो, उनसे लड़ाई मत करो। आपसमें वाद-विवाद हो जाय तो उनकी बात मानो। अपनी बात मनानेकी जिद मत करो। माँ-बाप जैसा कहें, उसके अनुसार घरका काम-धंधा करो। समय फालतू मत खोओ, अच्छे काममें लगे रहो। दूसरोंका हक मत मारो। दूसरोंकी चीजको अपनी मत मानो। चीजोंको अच्छे-से-अच्छे काममें लगाओ, आदि-आदि।' इस तरह बच्चोंको जो-जो शिक्षा देनी हो, उसको रोज दो-तीन बार बच्चोंसे कह देना चाहिये। इससे उनके भीतर इन बातोंका असर हो जायगा।

तात्पर्य है कि बालकोंको एक तो अच्छा आचरण करके दिखाना चाहिये और दूसरा, उनको अच्छी शिक्षा देनी चाहिये। इस विषयमें माता-पिताको भगवान्के इन वचनोंका मनन करना चाहिये—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

(गीता ३। २२—२४)

'हे पार्थ ! मुझे तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, फिर भी मैं कर्तव्य-कर्ममें ही लगा रहता हूँ। अगर मैं किसी समय सावधान होकर कर्तव्य-कर्म न करूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताको करनेवाला तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।'

प्रश्न—आजकल स्कूलोंका वातावरण अच्छा नहीं है; अतः बच्चोंकी शिक्षाके लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर—बच्चेको प्रतिदिन घरमें शिक्षा देनी चाहिये। उसको ऐसी कहानियाँ सुनानी चाहिये, जिनमें यह बात आये कि जिसने माता-पिताका कहना किया, उसकी उन्नति हुई और जिसने माता-पिताका कहना नहीं किया, उसका जीवन खराब हुआ। जब बच्चा पढ़ने लग जाय, तब उसको भक्तोंके चरित्र पढ़नेके लिये देने चाहिये। बच्चेसे कहना चाहिये कि 'बेटा ! हरेक बच्चेके साथ स्वतन्त्र सम्बन्ध मत रखो, ज्यादा घुल-मिलकर बात मत करो। पढ़कर सीधे घरपर आ जाओ। बड़ोंके पास रहो। कोई चीज खानी हो तो माँसे बनवाकर खाओ, बाजारकी चीज मत खाओ; क्योंकि दूकानदारका उद्देश्य पैसा कमानेका होता है कि पैसा अधिक मिले, चीज चाहे कैसी हो। अतः वह चीजें अच्छी नहीं बनाता। बचपनमें अग्नि तेज होनेसे अभी तो बाजारकी चीजें पच जायँगी, पर उनका विकार (असर) आगे चलकर मालूम होगा।'

गृहस्थको चाहिये कि वह धन कमानेकी अपेक्षा बच्चोंके चरित्रका ज्यादा खयाल रखें; क्योंकि कमाये हुए धनको बच्चे ही काममें लेंगे। अगर बच्चे बिगड़ जायँगे तो धन उनको और ज्यादा बिगाड़ेगा ! इस विषयमें अच्छे पुरुषोंका कहना है—***'पूत सपूत तो क्यों धन संचै ? पूत कपूत तो क्यों धन संचै ?'*** अर्थात् पुत्र सपूत होगा तो उसको धनकी कमी रहेगी नहीं और कपूत होगा तो संचय किया हुआ सब धन नष्ट कर देगा, फिर धनका संचय क्यों करें ?

प्रश्न—बच्चोंको ईसाई-स्कूलोंमें शिक्षा दिलानी चाहिये या नहीं ?

उत्तर—ईसाई-स्कूलोंमें बच्चोंको पढ़ाओगे तो वे घरमें रहते हुए भी ईसाई बन जायँगे अर्थात् आपके बच्चे ऊपरसे हिन्दू और भीतरसे ईसाई बन जायँगे। यह बड़ी शर्मकी बात है कि हजारों मील दूर रहनेवाले यहाँ आकर आपके बच्चोंको ईसाई बना लेते हैं और आप अपने घरके बच्चोंको भी हिन्दू बनाये नहीं रख सकते ! बच्चे आपके देशकी खास सम्पत्ति हैं, उनकी रक्षा करो।

बड़े आदमियोंको चाहिये कि वे निजी स्कूल, कालेज बनायें, जिनमें अच्छा अनुशासन हो और बच्चोंको अच्छी शिक्षा देनेकी व्यवस्था हो। पढ़ानेवाले शिक्षकोंके आचरण भी अच्छे हों। यद्यपि अच्छे आचरणवाले शिक्षक मिलने कठिन हैं, तथापि उद्योग किया जाय तो मिल सकते हैं। ऐसे स्कूल-कालेजोंमें अपने धर्मकी और गीता, रामायण आदि ग्रन्थोंकी शिक्षा भी बच्चोंको दी जानी चाहिये। धार्मिक शिक्षाके लिये एक घण्टा तो अनिवार्य रखना ही चाहिये।

आप स्वयं भी सादगी रखें और बच्चोंको भी सादगी

सिखायें। आप स्वाद-शौकीनी, ऐश-आरामका त्याग करें और अच्छे-से-अच्छे काममें लगे रहें तो इसका बच्चोंपर भी अच्छा असर पड़ेगा। घरमें भगवान्‌का मन्दिर हो, भगवान्‌का पूजन हो। भगवान्‌का चरणामृत छोटे-बड़े सभी लें। घरमें भगवत्-सम्बन्धी चर्चा हो, भगवन्नाम-कीर्तन हो, अच्छे-अच्छे पदोंका गान हो। आप जितने अच्छे बनोगे, बच्चे भी उतने ही अच्छे बनेंगे। वचनोंकी अपेक्षा आचरणोंका असर ज्यादा पड़ता है।

प्रश्न—पुत्र-पुत्रीके विवाहके लिये माता-पिताको क्या करना चाहिये?

उत्तर—मुख्य बात तो यह है कि पुत्र और पुत्रीका जैसा भाग्य होगा, वैसा ही होगा। परन्तु माता-पिताका कर्तव्य है कि यदि पुत्रका विवाह करना हो तो लड़कीका स्वभाव देखना चाहिये; क्योंकि उम्रभर उससे काम पड़ेगा। उसके शरीरमें कोई भयंकर रोग न हो, उसकी माँका स्वभाव ठीक हो आदि जितनी जाँच कर सकें, करनी चाहिये। यदि कन्याका विवाह करना हो तो घर भी अच्छा हो, वर भी अच्छा हो, उसमें योग्यता भी हो आदि बातोंका विचार करके ही अपनी कन्या देनी चाहिये। शास्त्रमें वरके विषयमें सात बातें देखनेके लिये कहा गया है—

कुलं च शीलं च वपुर्यशश्च विद्यां च वित्तं च सनाथतां च।
एतान्गुणान्सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम्॥

'वरके कुल, शील, शरीर, यश, विद्या, धन और सनाथता (बड़े लोगोंका सहारा)—इन सात गुणोंकी परीक्षा करके अपनी कन्या देनी चाहिये।'

वास्तवमें वर अच्छा हो और वरकी माँ अच्छी हो तो वहाँ कन्या सुखसे रहती है। कन्याको एकदम नजदीक भी नहीं देना चाहिये और बहुत दूर भी नहीं देना चाहिये; क्योंकि नजदीक देनेसे खटपट ज्यादा हो सकती है* और दूर देनेसे कन्याका माँ-बापसे मिलना कठिन होता है।

तात्पर्य है कि अपनी सन्तान सुख पाये, वह सुख-सुविधासे रहे, उसको किसी तरहका कष्ट न हो और वंशकी वृद्धि हो—ऐसे भावसे सन्तानका विवाह करे।

प्रश्न—क्या दहेज लेना पाप है?

उत्तर—हाँ, पाप है।

प्रश्न—अगर पाप है तो फिर शास्त्रोंमें इसका विधान क्यों है?

उत्तर—शास्त्रोंमें केवल दहेज देनेका विधान है, लेनेका विधान नहीं है। दहेज लेना नहीं चाहिये और न लेनेकी ही महिमा है। कारण कि दहेज देना तो हाथकी बात है, पर दहेज लेना हाथकी बात नहीं है।

चाहना दो तरहकी होती है—(१) हमारी चीज हमारेको मिल जाय—यह चाहना न्याययुक्त है, परन्तु परमात्मप्राप्तिमें यह चाहना भी बाधक है। (२) दूसरोंकी चीज हमारेको मिल जाय—यह चाहना नरकोंमें ले जानेवाली है। ऐसे ही दहेज लेनेकी जो इच्छा है, वह नरकोंमें ले जानेवाली है। दहेज कम मिले, ज्यादा मिले और न भी मिले—यह तो प्रारब्धपर निर्भर है, पर अन्यायपूर्वक दूसरोंका धन लेनेकी जो इच्छा है, वह घोर नरकोंमें ले जानेवाली है। मनुष्यशरीर प्राप्त करके घोर नरकोंमें जाना कितना बड़ा नुकसान है, पतन है! अतः मनुष्यको कम-से-कम घोर नरकोंमें ले जानेवाली इच्छाका, पराये धनकी इच्छाका तो त्याग करना ही चाहिये।

वास्तवमें धन प्रारब्धके अनुसार ही मिलता है, इच्छामात्रसे नहीं। अगर धन इच्छामात्रसे मिलता तो कोई भी निर्धन नहीं रहता। धनकी इच्छा कभी किसीकी पूरी हुई नहीं, होगी नहीं और हो सकती भी नहीं। उसका तो त्याग ही करना पड़ेगा। धन मिलनेवाला हो तो इच्छा न रखनेसे सुगमतापूर्वक मिलता है और इच्छा रखनेसे कठिनतापूर्वक, पाप-अन्यायपूर्वक मिलता है। गीतामें अर्जुनने पूछा कि मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप क्यों कर बैठता है? तो भगवान्‌ने उत्तर दिया कि कामना ही सम्पूर्ण पापोंका मूल है (३। ३६-३७)।

पुराने जमानेमें दहेजमें बेटेके ससुरालसे आया हुआ धन बाहर ही वितरित कर दिया करते थे, अपने घरमें नहीं रखते थे और 'दूसरोंकी कन्या दानमें ली है'—इसके लिये प्रायश्चित्तरूपसे यज्ञ, दान, ब्राह्मण-भोजन आदि किया करते थे। कारण कि दूसरोंकी कन्या दानमें लेना बड़ा भारी कर्जा (ऋण) है। परन्तु गृहस्थाश्रममें कन्या दानमें लेनी पड़ती है; अतः उनका यह भाव रहता था कि हमारे घर कन्या होगी तो हम भी कन्यादान करेंगे।

जो ब्राह्मण विधि-विधानसे गाय आदिको दानमें लेते हैं, वे भी उसके लिये प्रायश्चित्त-रूपसे यज्ञ, गायत्री-जप करते

* नजदीक होनेसे वह लड़की अपने प्रत्येक दुःखकी बात आकर अपनी माँसे कह देगी और माँ उस बातको सहन न करके लड़कीकी सास आदिसे कोई ऐसी बात कह देगी, जिससे लड़कीके ससुरालमें खटपट हो जायगी। लड़कीको भी चाहिये कि वह अपने दुःखकी बात किसीसे भी न कहे, प्रत्युत घरकी बात घरमें ही रखे, नहीं तो उसकी अपनी ही बेइज्जती होगी, उसपर ही आफत आयेगी; जहाँ उसको रात-दिन रहना है, वहीं अशान्ति हो जायगी।

हैं—ऐसा हमने देखा है। जब दूसरोंका धन लेना भी दोष है, तो फिर दहेजमें धन लेना दोष है ही। अगर कहीं दहेज लेना भी पड़े तो केवल देनेवालेकी इच्छापूर्ति, प्रसन्नताके लिये ही लेना चाहिये। अपनी किञ्चिन्मात्र भी लेनेकी इच्छा नहीं हो और केवल देनेवालेकी प्रसन्नताके लिये ही थोड़ा लिया जाय, तो वह लेना भी देनेके समान ही है।

प्रश्न—मेरा ऐसा पुत्र हो जाय, उसका कल्याण हो जाय—इस उद्देश्यसे माँ-बापने थोड़े ही संग किया ! उन्होंने तो अपने सुखके लिये संग किया। हम पैदा हो गये तो हमारेपर उनका ऋण कैसे ?

उत्तर—केवल सुखासक्तिसे संग करनेवाले स्त्री-पुरुषके प्रायः श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न नहीं होते। जो स्त्री-पुरुष शास्त्रके आज्ञानुसार केवल पितृ-ऋणसे मुक्त होनेके लिये ही सन्तान उत्पन्न करते हैं, अपने सुखका उद्देश्य नहीं रखते, वे ही असली माता-पिता हैं। परन्तु पुत्रके लिये तो कैसे हों, किसी भी तरहके माता-पिता हों, वे पूज्य ही हैं; क्योंकि उन्होंने मानव-शरीर देकर पुत्रको परमात्मप्राप्तिका अधिकारी बना दिया ! उपनिषदोंमें आता है कि विद्यार्थी जब विद्या पढ़कर, स्नातक होकर गृहस्थमें प्रवेश करनेके लिये गुरुजीसे आज्ञा लेता, तब गुरुजी उसको आज्ञा देते कि **'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव'** अर्थात् तुम माता-पिताको साक्षात् ईश्वररूप मानकर उनकी आज्ञाका पालन करो; उनकी सेवा करो। यह ऋषियोंकी दीक्षान्त शिक्षा है और इसके पालनमें ही हमारा कल्याण है। अतः पुत्रको जिनसे शरीर मिला है, उनका कृतज्ञ होना ही चाहिये।

प्रश्न—माता-पिताने हमें जन्म देकर संसार-बन्धनमें डाल दिया, आफतमें डाल दिया; फिर हमारेपर उनका ऋण कैसे ?

उत्तर—यह बात बिलकुल गलत है। माता-पिताने तो मनुष्यशरीर देकर संसार-बन्धनसे, जन्म-मरणसे छूटनेके लिये बड़ा भारी अवसर दिया है। माता-पिताने पुत्रको न तो बन्धनमें डाला है और न उनका पुत्रको बन्धनमें, आफतमें डालनेका उद्देश्य ही है। वे प्रत्येक अवस्थामें, जाने-अनजाने सदा पुत्रका भला ही चाहते हैं और भला ही करते हैं। परन्तु हम पदार्थोंमें, भोगोंमें, परिस्थितियोंमें, व्यक्तियोंमें ममता करके उनसे सुख भोगनेकी इच्छासे ही बन्धनमें, आफतमें पड़ते हैं। तात्पर्य है कि अपने सुखकी इच्छा, सुखका भोग, सुखकी आशाका त्याग करके यदि पुत्र माता-पिताकी सेवाको परमात्मप्राप्तिका साधन मानकर तत्परतासे उनकी सेवा करे तो उसको संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी।

पुत्रको माता-पिताके कर्तव्यकी तरफ दृष्टि डालनी ही नहीं चाहिये। उसे तो केवल अपना ही कर्तव्य देखना चाहिये। जो अपने कर्तव्यको न देखकर माता-पिताके कर्तव्यको देखता है, वह अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है अर्थात् कर्तव्य-पालनसे पतित हो जाता है। किसी भी शास्त्रमें किसीको भी माता-पिताके, गुरुजनोंके कर्तव्यको देखनेका अधिकार नहीं दिया गया है। पहले मनुष्य किसीके कर्तव्यको नहीं देखते थे, प्रत्युत अपना कर्तव्य देखते थे, अपने कर्तव्यका पालन करते थे, इसीसे वे जीवन्मुक्त, भगवद्भक्त होते थे। अगर वे दूसरोंका कर्तव्य देखते, अपना ही स्वार्थ देखते तो आजकी तरह ही मनुष्य-समुदाय होता। जिन्होंने केवल अपना कर्तव्य देखा है, उसका पालन किया है, उन सन्त-महात्माओं, धर्मात्माओंको भारतकी जनता कितनी आदरदृष्टिसे देखती है ! अतः मनुष्यको अपने कर्तव्यका कभी परित्याग नहीं करना चाहिये।

कर्तव्यके विषयमें एक मार्मिक बात है कि केवल कर्तव्य समझकर उसका पालन करनेसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है; जैसे—जो माता-पिताकी सेवा केवल अपना कर्तव्य समझकर करते हैं, उनका माता-पितासे सम्बन्ध-विच्छेद होता है, उनका माता-पिताके चरणोंमें प्रेम नहीं होता। परन्तु जो अपने शरीरको माता-पिताका ही मानकर तत्परतासे आदर और प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करते हैं, उनका माता-पितामें प्रेम हो जाता है। जैसे मनुष्य भोजन करनेको, जल पीनेको अपना कर्तव्य नहीं मानते, प्रत्युत प्राणोंका आधार मानते हैं, ऐसे ही माता-पिताकी सेवाको प्राणोंका आधार मानना चाहिये। उनकी सेवाको ही अपना जीवन मानना चाहिये, अपना खास काम मानना चाहिये—

सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥

(मानस, अयोध्या० १४२। २)

इस प्रकार माता-पिताकी सेवाको अपने प्राणोंका, जीवनका आधार मानकर करनेसे 'मैं' और 'मेरा'-पन मिट जाता है; क्योंकि शरीरको माता-पिताका ही मानकर उनकी सेवामें अर्पण करनेसे, शरीरपर अपना कोई अधिकार न माननेसे अहंता-ममता नहीं रहती।

प्रश्न—मनुष्य माता-पिताकी सेवाको भगवत्प्राप्तिका साधन मानता है, साध्य नहीं मानता। अगर वह माता-पिताकी सेवाको ही साध्य मानेगा, अपने प्राणोंका आधार मानेगा तो उसका माता-पिताके चरणोंमें ही प्रेम होगा, फिर उसको भगवत्प्रेम, भगवत्प्राप्ति कैसे होगी ?

उत्तर—इसमें तीन बातें हैं—(१) जो माता-पिताकी सेवाको ही साधन और साध्य मानकर उनकी सेवा करता है, उनकी सेवाको अपने प्राणोंका आधार मानता है, उसकी माता-पिताके चरणोंमें प्रेम एवं भक्ति हो जाती है और अन्तमें उसको पितृलोककी प्राप्ति होती है। (२) जो परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखते हुए माता-पिताकी सेवाको अपना कर्तव्य

समझकर करता है, उसको माता-पितासे सम्बन्ध-विच्छेद होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। (३) जो माता-पिताको साक्षात् भगवत्स्वरूप मानकर उनकी सेवा करता है, उसको भगवत्प्राप्ति हो जाती है। इन तीनोंमेंसे जिसमें जिसका भाव बैठे, वही करना चाहिये।

जैसे पतिव्रता स्त्री भगवान्‌की, शास्त्रोंकी, महापुरुषोंकी आज्ञाके अनुसार तन-मनसे पतिकी सेवा करती है, उसको पतिलोककी प्राप्ति होती है अर्थात् जो लोक पतिका है, वही लोक पतिव्रताका होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अगर दुराचारी होनेके कारण पतिका लोक नरक है तो पतिव्रताका लोक भी नरक होगा! जिस स्त्रीने पतिसेवाको अपना धर्म (कर्तव्य) समझकर पातिव्रत धारण किया है, वह नरकोंमें कैसे जा सकती है? नहीं जा सकती। उसने पातिव्रत धारण किया है; अतः उसका जो लोक होगा, वही लोक पतिका भी होगा। तात्पर्य है कि पातिव्रतके तपोबलसे उसका और पतिका दोनोंका कल्याण हो जायगा। ऐसे ही जो माता-पिताकी सेवाको ही साधन और साध्य मानकर उनकी सेवा करता है, उसको और उसके माता-पिताको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि जो लोक पुत्रका होगा, वही लोक माता-पिताका (पितृलोक) होगा।

प्रश्न—कहा गया है कि यह शरीर हमारे कर्मोंसे, भाग्यसे मिला है—***'बड़े भाग मानुष तनु पावा';*** और भगवान्‌ने विशेष कृपा करके मनुष्यशरीर दिया है—***'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥'*** तो फिर यह शरीर माता-पितासे मिला है—यह कहना कहाँतक उचित है?

उत्तर—इस शरीरके मिलनेमें प्रारब्ध (कर्म) और भगवत्कृपा तो निमित्त कारण है और माता-पिता उपादान कारण हैं। जैसे, घड़ा मिट्टीसे बनता है तो मिट्टी घड़ेका उपादान कारण है और कुम्हार घड़ा बनानेमें निमित्त बनता है तो कुम्हार निमित्त कारण है। उपादान कारण (खास कारण) वह कहलाता है, जो कार्यरूपमें परिणत होनेमें कारण बनता है। निमित्त कारण कई होते हैं; जैसे—घड़ेके बननेमें कुम्हार, चक्का, डण्डा आदि कई निमित्त कारण हैं, पर कुम्हार मुख्य निमित्त कारण है। ऐसे ही शरीरके पैदा होनेमें माता-पिता ही खास उपादान कारण हैं; क्योंकि उनके रज-वीर्यसे ही शरीर बनता है।

जन्म और आयुके होनेमें तथा अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिके बननेमें कर्म निमित्त कारण हैं और 'किस कर्मका कब, कहाँ क्या फल होगा; कैसी परिस्थिति बनेगी'—इस तरह कर्मफलकी व्यवस्था करनेमें, कर्मफल देनेमें भगवत्कृपा निमित्त कारण है अर्थात् यह सब भगवदिच्छासे, भगवान्‌के विधानसे ही होता है; क्योंकि कर्म जड होनेसे स्वयं कर्मफल नहीं दे सकते। अगर कर्मफलका विधान जीवोंके हाथमें होता तो वे शुभ कर्मका ही फल लेते, अशुभ कर्मका फल लेते ही क्यों? जैसे संसारमें यह देखा जाता है कि मनुष्य शुभ कर्मका फल स्वयं स्वीकार करता है और अशुभ कर्म (चोरी, डकैती आदि) का फल (दण्ड) स्वयं स्वीकार नहीं करता तो उसको राजकीय व्यवस्थासे दण्ड दिया जाता है।

माँ बच्चेके लिये कितना कष्ट उठाती है, उसको गर्भमें धारण करती है, जन्म देते समय असह्य पीड़ा सहती है, अपना दूध पिलाती है, बड़े लाड़-प्यारसे पालन-पोषण करती है, खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना आदि सिखाती है, ऐसी माँका ऋण पुत्र नहीं चुका सकता। अतः पुत्रको माँके प्रति कृतज्ञ होना ही चाहिये। ऐसे ही पिता बिना कहे ही पुत्रके भरण-पोषणका पूरा प्रबन्ध करता है, विद्या पढ़ाकर योग्य बनाता है, जीविका चलानेकी विद्या सिखाता है, विवाह कराता है, ऐसे पिताका ऋण थोड़े ही चुकाया जा सकता है! अतः माता-पिताका कृतज्ञ होकर जीते-जी उनकी आज्ञाका पालन करना, उनकी सेवा करना, उनको प्रसन्न रखना और मरनेके बाद उनको पिण्ड-पानी देना, श्राद्ध-तर्पण करना आदि पुत्रका खास कर्तव्य है।

प्रश्न—माता-पिताने बचपनमें ही बच्चोंको अच्छी शिक्षा नहीं दी; अतः पुत्र माता-पिताकी सेवा नहीं करते तो इसमें पुत्रोंका क्या दोष?

उत्तर—माता-पिताके द्वारा अच्छी शिक्षा नहीं दी गयी तो उसके दोषी माता-पिता हुए; क्योंकि उन्होंने अपने कर्तव्यका पालन नहीं किया। परन्तु माता-पिताके दोष देखना पुत्रका कर्तव्य नहीं है। उसको तो अपना कर्तव्य देखना चाहिये। दूसरोंका कर्तव्य देखनेसे मनुष्य अपने कर्तव्यसे पतित हो जाता है। दूसरोंका कर्तव्य देखना ही भयंकर दोष है। गीताने भी अपने-आपसे अपना उद्धार करनेकी, अपना सुधार करनेकी बात कही है*; क्योंकि अच्छी शिक्षा मिलनेपर भी

---

* उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ (गीता ६। ५)
'अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे; क्योंकि आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

धारण तो खुद ही करेगा। अच्छी शिक्षा मिलनेपर भी बालक उसको धारण न करे, बिगड़ जाय तो यह दोष स्वयं बालकका ही है। अतः अपना उद्धार और पतन मुख्यतासे अपनेपर ही लागू होता है।

प्रश्न—अगर माता-पिता पुत्रके साथ कठोरताका बर्ताव करें; पक्षपात करें तो उस पुत्रको क्या करना चाहिये ?

उत्तर—उस पुत्रको माँ-बापका कर्तव्य नहीं देखना चाहिये। उसको तो अपना ही कर्तव्य देखना चाहिये और माँ-बापकी उत्साहपूर्वक विशेषतासे सेवा करनी चाहिये। रामचरितमानसमें तो हरेकके लिये कहा गया है—***'मंद करत जो करइ भलाई ॥'*** (५।४१।७)।

अगर माता-पिता पुत्रका आदर करते हैं तो आदरमें पुत्रकी सेवा खर्च हो जाती है, बिक जाती है। परन्तु वे आदर न करके पुत्रका निरादर करते हैं तो पुत्रकी सेवा पूरी रह जाती है, खर्च नहीं होती। वे कष्ट देते हैं तो उससे पुत्रकी शुद्धि होती है, सहनशीलता बढ़ती है, तप बढ़ता है, महत्त्व बढ़ता है। अतः माता-पिताके दिये हुए कष्टको परम तप समझकर प्रसन्नतासे सहना चाहिये और यह समझना चाहिये कि 'मेरेपर माँ-बापकी बड़ी कृपा है, जिससे मेरी सेवाका किञ्चिन्मात्र भी व्यय न होकर मेरेको शुद्ध सेवा, शुद्ध तपश्चर्याका लाभ मिल रहा है ! ऐसा अवसर तो किसी भाग्यशालीको ही मिलता है और मेरा यह अहोभाग्य है कि माता-पिता मेरी सेवा स्वीकार कर रहे हैं !' अगर वे सेवा स्वीकार न भी करें तो भी पुत्रका काम तो उनकी सेवा करना ही है। सेवामें कोई कमी, त्रुटि मालूम दे तो उसको तत्काल सुधार देना चाहिये और सेवामें ही तत्पर रहना चाहिये।

जो पुत्र धन, जमीन, मकान आदि पानेकी आशासे माँ-बापकी सेवा करता है, वह वास्तवमें धन आदिकी ही सेवा करता है, माँ-बापकी नहीं। पुत्रको तो केवल सेवाका ही सम्बन्ध रखना चाहिये। उसको माता-पितासे यही कहना चाहिये कि आपके पास जो धन-सम्पत्ति हो वह चाहे मेरे भाईको दे दो, चाहे बहनको दे दो, जिसको आप चाहो, उसको दे दो, पर सेवा मेरेसे लो। माता-पिता हमारेसे सेवा ले लें—इसीमें उनकी कृपा माने।

प्रश्न—माता-पिता अनुचित, निषिद्ध कर्म करनेकी आज्ञा दें तो पुत्रको क्या करना चाहिये ?

उत्तर—अनुचित आज्ञा दो तरहकी होती है—(१) 'अमुकको मार दो' आदि दूसरोंका अनिष्ट करनेकी आज्ञा देना और (२) 'तुम घर छोड़कर वनमें जाओ' आदि आज्ञा देना। इनमेंसे दूसरी आज्ञाका तो पालन करना चाहिये, पर पहली आज्ञाका पालन नहीं करना चाहिये। उसमें पिताकी सामर्थ्य देखनी चाहिये। अगर पिता समर्थ हो तो उस आज्ञाका पालन करनेमें कोई हर्ज नहीं है। जैसे, जमदग्निने अपने पुत्र परशुरामजीसे कहा कि तुम्हारी माँ व्यभिचारिणी है और तुम्हारे भाई मेरी आज्ञाका पालन नहीं करते; अतः इनको मार डालो, तो परशुरामजीने उनका गला काट डाला। जमदग्निने प्रसन्न होकर कहा कि तुम वरदान माँगो। परशुरामजीने कहा कि माँ और भाइयोंको जीवित कर दो और उनको मेरे द्वारा मारे जानेकी बात याद न रहे। जमदग्निने 'तथास्तु' कहा और सब जीवित हो गये।

अगर पिता समर्थ नहीं है और वह अनुचित आज्ञा देता है तो पुत्रको उस आज्ञाका पालन नहीं करना चाहिये। कारण कि अगर पुत्र उस अनुचित आज्ञाका पालन करेगा तो पिताको नरक होगा। जिस आज्ञाके पालनसे पिताको नरक हो, दुःख पाना पड़े, ऐसी आज्ञाका पालन नहीं करना चाहिये। मैं भले ही नरकमें चला जाऊँ, पर पिता नरकमें न जाय—ऐसा भाव होनेसे न पुत्रको नरक होगा और न पिताको। तात्पर्य है कि पिताको नरकसे बचानेके लिये उनकी आज्ञा भंग कर दे, पर अनुचित काम कभी न करे।

अगर पिता समर्थ नहीं है और वह अनुचित आज्ञा देता है, पर पुत्रने उम्रभर माता-पिताकी किसी भी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं किया है तो पुत्र उस अनुचित आज्ञाके पालनमें जल्दबाजी न करे, उसपर विचार करे और भगवान्‌को याद करे। जैसे, गौतमने अपने पुत्र चिरकारीसे कहा कि तुम्हारी माँ व्यभिचारिणी है, इसको मार डालो; और ऐसा कहकर वे वनमें चले गये। चिरकारीने तलवार निकाली और पिताकी आज्ञापर विचार करने लगा। वहाँ गौतमके मनमें विचार आया कि उसको क्यों मारें, उसका त्याग भी तो कर सकते हैं। ऐसा विचार करके वे लौटकर आये तो उन्होंने देखा कि चिरकारी हाथमें तलवार लिये खड़ा है; अतः उन्होंने चिरकारीको मना कर दिया कि माँको मत मारो।

प्रश्न—गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी ॥

—प्रह्लादने पिताका, विभीषणने भाईका, भरतने माँका, बलिने गुरुका और गोपियोंने पतिका त्याग कर दिया, तो क्या

उनको दोष नहीं लगा ?

उत्तर—यहाँ यह बात ध्यान देनेकी है कि उन्होंने पिता आदिका त्याग किस विषयमें, किस अंशमें किया ? हिरण्यकशिपु प्रह्लादजीको बहुत कष्ट देता था, पर प्रह्लादजी उसको प्रसन्नतापूर्वक सहते थे। वे इस बातको मानते थे कि यह शरीर पिताका है; अतः वे इस शरीरको चाहे जैसा रखें, इसपर उनका पूरा अधिकार है। इसीलिये उन्होंने पिताजीसे कभी यह नहीं कहा कि आप मेरेको कष्ट क्यों दे रहे हैं ? परन्तु मैं (स्वयं) साक्षात् परमात्माका अंश हूँ; अतः मैं भगवान्‌की सेवामें, भजनमें लगा हूँ। पिताजी इसमें बाधा देते हैं, मुझे रोकते हैं—यह उचित नहीं है। इसलिये प्रह्लादजीने पिताजीकी उस आज्ञाका त्याग किया, जिससे उनको नरक न हो जाय। अगर वे पिताजीकी आज्ञा मानकर भगवद्भक्तिका त्याग कर देते तो इसका दण्ड पिताजीको भोगना पड़ता। पुत्रके द्वारा ऐसा कोई भी काम नहीं होना चाहिये, जिससे पिताको दण्ड भोगना पड़े। इसी दृष्टिसे उन्होंने पिताकी आज्ञा न मानकर पिताका हित ही किया, पिताका त्याग नहीं किया।

रावणने विभीषणको लात मारी और कहा कि तुम यहाँसे चले जाओ तो विभीषणजी रामजीके पास चले गये। अतः विभीषणने भाईका त्याग नहीं किया। प्रत्युत उसके अन्यायका त्याग किया; अन्यायका समर्थन, अनुमोदन नहीं किया। विभीषणने रावणको उसके हितकी बात ही कही और उसका हित ही किया।

माँने रामजीको वनमें भेज दिया, दुःख दिया—इस विषयमें ही भरतने माँका त्याग किया है। भरतका कहना था कि जैसे कौसल्या अम्बा मेरेपर रामजीसे भी अधिक स्नेह करती हैं, ऐसे ही तेरेको भी रामजीपर मेरेसे भी अधिक स्नेह करना चाहिये था; परन्तु रामजीको तूने वनमें भेज दिया ! जब तू रामजीकी भी माँ नहीं रही, तो फिर मेरी माँ कैसे रहेगी ? इस विषयमें तेरेको दण्ड देना मेरे लिये उचित नहीं है। मैं तो यह कर सकता हूँ कि तेरेको 'माँ' नहीं कहूँ, और मैं क्या करूँ !

बलिने गुरुका इस अंशमें त्याग किया कि साक्षात् भगवान् ब्राह्मणवेशमें आकर मेरेसे याचना कर रहे हैं, पर गुरुजी मेरेको दान देनेसे रोक रहे हैं; अतः मैं गुरुकी बात नहीं मानूँगा। गुरुकी बातका त्याग भी बलिने गुरुके हितके लिये ही किया। बलि दान देनेके लिये तैयार ही थे। अगर उस समय वे गुरुकी बात मानते तो उसका दोष गुरुको ही लगता। अतः उन्होंने गुरुका शाप स्वीकार कर लिया और उस दोषसे, अहितसे गुरुको बचा लिया। स्वयं दण्ड भोग लिया, पर गुरुको दण्डसे बचा लिया तो यह गुरु-सेवा ही हुई !

पति भगवान्‌के सम्मुख होनेके लिये रोक रहे थे—इसी विषयमें गोपियोंने पतियोंका त्याग किया। अगर वे पतिकी बात मानतीं तो पति पापके भागी होते; अतः पतिकी बात न मानकर उन्होंने पतियोंको पापसे ही बचाया।

तात्पर्य है कि मनुष्यशरीरकी सार्थकता परमात्माको प्राप्त करनेमें ही है। अतः उसमें सहायक होनेवाला हमारा हित करता है और उसमें बाधा देनेवाला हमारा अहित करता है। प्रह्लाद आदि सभीने परमात्मप्राप्तिमें बाधा देनेवालेका ही त्याग किया है, पिता आदिका नहीं। इसीलिये उनका मङ्गल-ही-मङ्गल हुआ।

प्रश्न—माताका दर्जा ऊँचा है या पिताका ? और ऊँचा होनेमें क्या कारण है ?

उत्तर—ऊँचा दर्जा माँका ही है। माँका दर्जा पितासे सौ गुणा अधिक बताया गया है—'**सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते**' (मनु॰ २।१४५)। रामजी जब वनवासके लिये जाने लगे, तब वे माँके पास गये और माँके चरणोंमें पड़कर कहा कि 'माँ ! मुझे वनवासकी आज्ञा हुई है।' माँने कहा कि अगर केवल पिताकी ऐसी आज्ञा है तो फिर माँको बड़ी समझकर तुम वनमें मत जाओ—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥

(मानस, अयोध्या॰ ५६।१)

हाँ, अगर तुम्हारी छोटी माँ और पिताने वनमें जानेके लिये कह दिया है तो* वन तुम्हारे लिये सौ अयोध्याके समान है—

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

(मानस, अयोध्या॰ ५६।२)

पिता तो धन-सम्पत्ति आदिसे पुत्रका पालन-पोषण करता है, पर माँ अपना शरीर देकर पुत्रका पालन-पोषण करती है। धन-सम्पत्ति आदि तो ममताकी वस्तुएँ हैं और शरीर अहंताकी। ममतासे अहंता नजदीक होती है। ममताकी वस्तुएँ आती-जाती रहती हैं और शरीर अपेक्षाकृत रहता है। अतः

* कौसल्या अम्बाने अपनेसे भी अधिक छोटी माँ (विमाता) का आदर करनेकी जो बात कही है, यह उनका उदारभाव है। कौसल्याने सबको यह शिक्षा दी है कि माँसे भी विमाताका अधिक आदर करना चाहिये, जिससे परिवारमें परस्पर प्रेम बना रहे।

माँका दर्जा ऊँचा होना ही चाहिये।

माँने अपनी युवावस्थाका नाश किया है। अपना शरीर देकर, अपना दूध पिलाकर पालन-पोषण किया है। माँने दाईका, नाईका, धोबीका, दर्जीका, गुरुका काम भी किया है! और तो क्या, टट्टी-पेशाब उठाकर मेहतरका काम भी किया है! वह काम भी भाररूपसे नहीं, प्रत्युत बड़े स्नेहपूर्वक, ममतापूर्वक, उत्साहपूर्वक किया है और बदलेमें लेनेकी भावना नहीं रखी है। जब बच्चा बीमार हो जाता है, तब माँके शरीरका बल घट जाता है। अतः संसारमें माँके समान बच्चेका पालन-पोषण करनेवाला और कौन है! **'मात्रा समं नास्ति शरीरपोषणम्।'** इसीलिये माँका दर्जा ऊँचा है। शास्त्रोंमें आया है कि पुत्र साधु-संन्यासी बन जाय, फिर भी यदि माँ सामने आ जाय तो वह माँको साक्षात् दण्डवत् प्रणाम करे। इतना ऊँचा दर्जा और किसका हो सकता है!

प्रश्न—माता-पिताकी सेवासे क्या लाभ है?

उत्तर—माता-पिताकी सेवासे लोक-परलोक दोनों सुधरते हैं, भगवान् प्रसन्न होते हैं। जो माता-पिताकी सेवा नहीं करते, उनपर भगवान् विश्वास नहीं करते कि यह अपने माँ-बापकी भी सेवा, भक्ति नहीं करता तो फिर मेरी भक्ति कहाँतक करेगा!

पुण्डरीकने तन-मनसे तत्परतापूर्वक माता-पिताकी सेवा की। उसकी सेवासे प्रसन्न होकर भगवान् बिना बुलाये ही पुण्डरीकके घर आ गये और बोले—'पुण्डरीक! तेरी माता-पिताकी भक्तिसे प्रसन्न होकर मैं स्वयं तेरे पास तेरेको दर्शन देने आया हूँ।' पुण्डरीक उस समय माता-पिताकी सेवामें लगे हुए थे; अतः वे भगवान्से बोले— 'माता-पिताकी जिस सेवाके कारण आप यहाँ मुझे दर्शन देने आये हैं, उस सेवाको मैं क्यों छोड़ूँ? अभी मैं माता-पिताकी सेवामें लगा हुआ हूँ; सेवा पूरी होनेपर ही मैं आपके दर्शन कर सकता हूँ; तबतक आप रुकना चाहें तो इन ईंटोंपर खड़े हो जायँ।' ऐसा कहकर पुण्डरीकने दो ईंटें पीठके पीछे फेंक दीं। भगवान् उनपर खड़े हो गये! ईंटोंपर खड़े होनेके कारण भगवान्का नाम 'विट्ठल' पड़ गया। भगवान्के इस रूपका कोई दर्शन करना चाहे तो पण्ढरपुर (महाराष्ट्र) में कर सकता है। इसी प्रकार महाभारतमें मूक चाण्डालकी बात आती है। मूक चाण्डालकी माता-पितामें भक्ति देखकर स्वयं भगवान् उसके घरपर रहते थे! तात्पर्य है कि माता-पिताकी सेवासे लौकिक-पारलौकिक सब तरहके लाभ होते हैं।

प्रश्न—जब माता-पिताकी सेवाका इतना माहात्म्य है तो फिर उनकी सेवाको छोड़कर मनुष्य साधु-संन्यासी क्यों हो जाते हैं?

उत्तर—जैसे कोई मर जाता है तो वह माता-पिताकी सेवाको छोड़कर ही मरता है, पर वह दोषका भागी नहीं होता, ऐसे ही जिसको संसारसे असली वैराग्य हो जाता है, वह दोषका भागी नहीं होता। इसी तरह जो सर्वथा भगवान्के शरण हो जाता है, उसको भी कोई दोष नहीं लगता; क्योंकि उसपर किसीका भी ऋण नहीं रहता—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

(श्रीमद्भा० ११।५।४१)

'राजन्! जो सब कामोंको छोड़कर सम्पूर्णरूपसे शरणागतवत्सल भगवान्की शरणमें आ जाता है, वह देव, ऋषि, प्राणी, कुटुम्बीजन और पितृगण—इनमेंसे किसीका भी ऋणी और सेवक नहीं रहता।'

तात्पर्य है कि जो मनुष्यजन्मके वास्तविक ध्येय भगवान्में लगा है, उसके द्वारा यदि माता-पिताकी सेवाका, परिवारका त्याग हो जाय तो उसको दोष नहीं लगता।

प्रश्न—दो-चार लड़के हों और उनमेंसे कोई साधु-संन्यासी बन जाय तो कोई बात नहीं, पर किसीका एक ही लड़का हो, वह अगर साधु-संन्यासी बन जाय तो उसके माता-पिता किसके सहारे जियें?

उत्तर—उस लड़केको चाहिये कि जबतक माता-पिता हैं, तबतक उनकी सेवा करता रहे, उनको छोड़े नहीं; क्योंकि भगवत्प्राप्तिमें साधु होना कोई कारण नहीं है, प्रत्युत संसारसे वैराग्य और भगवान्में प्रेम होना ही कारण है। अतः वह माता-पिताकी सेवा करते हुए ही भजन-स्मरण करे तो उसके लिये भगवत्प्राप्ति होनेमें कोई बाधा नहीं है, प्रत्युत माता-पिताकी प्रसन्नतासे भगवत्प्राप्तिमें सहायता ही मिलेगी। तात्पर्य है कि माता-पिताके ऋणको अदा किये बिना उनका त्याग नहीं करना चाहिये। परन्तु तीव्र वैराग्य हो जाय, भगवान्के चरणोंमें अनन्य प्रेम हो जाय, ऐसी अवस्थामें माता-पिताकी सेवा छूट जाय तो उसको दोष नहीं लगेगा।

जो घरमें बैठा है, पर माँ-बापकी सेवा नहीं करता केवल अपने स्त्री-पुत्रोंके पालनमें ही लगा है, उसको दोष (पाप) लगेगा ही। ऐसे ही जो माँ-बापको, घर-परिवारको छोड़कर साधु बना है और मकान, आश्रम बनाता है, रुपये इकट्ठा करता है, चेला-चेली बनाता है, ऐश-आराम करता है, उसको माँ-बापकी सेवा न करनेका पाप लगेगा ही।

प्रश्न—अगर कोई साधु-संन्यासी बनकर रुपये इकट्ठा करता है और माता-पिता, स्त्री-पुत्रोंको रुपये भेजता है, उनका पालन-पोषण करता है तो क्या उसको दोष लगेगा ?

उत्तर—जो साधु-संन्यासी बनकर माँ-बाप आदिको रुपये भेजते हैं, वे तो पापके भागी हैं ही, पर जो उनके दिये हुए रुपयोंसे अपना निर्वाह करते हैं, वे भी पापके भागी हैं; क्योंकि वे दोनों ही शास्त्र-आज्ञाके विरुद्ध काम करते हैं। माता-पिताकी सेवा तो वे गृहस्थाश्रममें ही रहकर करते, पर वे अवैध काम करके संन्यास-आश्रमको दूषित करते हैं तो उनको पाप लगेगा ही। वे पापसे बच नहीं सकते !

प्रश्न—अगर घरमें माँका पालन करनेवाला, सँभालनेवाला कोई न रहा हो तो उस अवस्थामें साधु-संन्यासी बना हुआ लड़का माँका पालन कर सकता है या नहीं ?

उत्तर—माँका कोई आधार न रहे तो साधु बननेपर भी वह माँका पालन कर सकता है और पालन करना ही चाहिये। असमर्थ अवस्थामें तो दूसरे प्राणियोंकी भी सेवा करनी चाहिये, फिर माँ तो शरीरकी जननी है ! वह अगर असमर्थ अवस्थामें है तो उसकी सेवा करनेमें कोई दोष नहीं है।

प्रश्न—पुत्री (कन्या) तो पतिके घर चली जाती है, तो फिर वह माँ-बापकी सेवा कैसे कर सकती है और सेवा किये बिना माँ-बापका ऋण माफ कैसे हो सकता है ?

उत्तर—जैसे, किसीपर इतना अधिक ऋण हो जाय कि उसको चुकानेकी मनमें होनेपर भी वह चुका न सके तो वह ऋणदाताके पास जाकर कह दे कि मैं और मेरे स्त्री-पुत्र, घर, जमीन आदि सब आपके समर्पित हैं; अब आप इनका जैसा उपयोग करना चाहें, वैसा कर सकते हैं। ऐसा करनेसे उसपर ऋण नहीं रहता, ऋण माफ हो जाता है। इसी तरह कन्या बचपनसे ही माता-पिताके समर्पित रहती है। वह अपने मनकी कुछ भी नहीं रखती। माता-पिता जहाँ उसका सम्बन्ध (विवाह) करा देते हैं, वह प्रसन्नतापूर्वक वहीं चली जाती है। वह अपने गोत्रको भी पतिके गोत्रमें मिला देती है। जिसने ऐसा त्याग किया है, उसपर माता-पिताका ऋण कैसे रह सकता है ? नहीं रह सकता।

प्रश्न—माँ-बापका कोई सहारा न रहे तो ऐसी अवस्थामें विवाहित पुत्री माँ-बापका पालन कर सकती है या नहीं ?

उत्तर—वह असहाय माँ-बापकी सेवा कर सकती है। यदि विवाहित पुत्रीकी सन्तान है तो माँ-बाप उसके घरका अन्न-जल ले सकते हैं, उसके घरपर रह सकते हैं। परन्तु यदि उसकी कोई सन्तान नहीं है तो माँ-बापको उसके घरका अन्न-जल लेनेका अधिकार नहीं है।

माता-पिताने कन्याका दान (विवाह) कर दिया तो अब वे उसके घरका अन्न नहीं ले सकते; क्योंकि दान दी हुई वस्तुपर दाताका अधिकार नहीं रहता। परन्तु कन्यासे सन्तान (पुत्र या पुत्री) होनेपर माता-पिता कन्याके यहाँका अन्न ले सकते हैं। कारण यह है कि कन्याके पति (दामाद) ने केवल पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये ही दूसरेकी कन्या स्वीकार की है और उससे सन्तान होनेपर वह पितृऋणसे मुक्त हो जाता है। अतः सन्तान होनेपर माता-पिताका कन्यापर अधिकार हो जाता है, तभी तो गोत्र न होनेपर भी दौहित्र अपने नाना-नानीका श्राद्ध-तर्पण कर सकता है।

यदि माता-पिता असहाय अवस्थामें हों तथा उनकी सेवा करनेवाला कोई न हो तो उनकी सेवा करनेकी जिम्मेवारी पुत्रीपर ही है। अतः अपनी सन्तान न होनेपर भी विवाहित पुत्रीको उनकी सेवा करनी चाहिये। दूसरी बात, वर्तमान कानूनमें पिताकी सम्पत्तिमें पुत्र और पुत्रीका समान अधिकार माना गया है। अतः वर्तमान कानूनकी दृष्टिसे भी देखा जाय तो जब पुत्रीको सम्पत्ति देनेका अधिकार है तो फिर उससे सेवा लेनेका भी माता-पिताको अधिकार है !

सम्बन्ध नहीं जोड़ा है। परन्तु गोद जानेवाला पुत्र माता-पिताकी सेवा नहीं करता तो उसको विशेष दण्ड भोगना पड़ता है; क्योंकि उसने जानकर सम्बन्ध जोड़ा है। कोई किसीके यहाँ नौकरी करता है और नौकरीमें गलती करता है तो उसको माफी नहीं होती; क्योंकि उसने नौकरी स्वयं स्वीकार की है। हाँ, दयालु मालिक उसको माफ कर सकता है, पर वह माफीका अधिकारी नहीं होता। कोई किसीको अपना गुरु बनाता है तो गुरुकी आज्ञाका पालन करना उसकी विशेष जिम्मेवारी होती है। यदि वह गुरु-आज्ञाका पालन नहीं करता, गुरुका तिरस्कार करता है, निन्दा करता है तो उसको भयङ्कर दण्ड भोगना पड़ता है। उसको भगवान् भी माफ नहीं कर सकते। भगवान् कुपित हो जायँ तो गुरु माफ करा सकता है, पर गुरु कुपित हो जायँ तो भगवान् भी माफ नहीं करा सकते। अतः स्वयंवर करनेवाली कन्यापर विशेष जिम्मेवारी रहती है।

प्रश्न—कन्या विवाह न करके साधन-भजनमें ही जीवन बिताना चाहे तो क्या यह ठीक है?

उत्तर—कन्याके लिये विवाह न करना उचित नहीं है; क्योंकि वह स्वतन्त्र रहकर अपना जीवन-निर्वाह कर ले—ऐसा बहुत कठिन है अर्थात् विवाह न करनेसे उसके जीवन-निर्वाहमें बहुत कठिनता आयेगी। जबतक माँ-बाप हैं, तबतक तो ठीक है, पर जब माँ-बाप नहीं रहते, तो फिर प्रायः भाईलोग (अपनी स्त्रियोंके वशीभूत होनेसे) बहनका आदर नहीं करते, प्रत्युत बहनका तिरस्कार करते हैं, उसको हीन दृष्टिसे देखते हैं। भौजाइयाँ भी उसको तिरस्कारकी दृष्टिसे देखती हैं। इससे कन्याके मनमें पराधीनताका अनुभव होता है। अतः विवाह कर लेना अच्छा है।

हमने ऐसे स्त्री-पुरुषोंको भी देखा है, जिन्होंने विवाहसे पहले ही यह प्रतिज्ञा कर ली कि हम स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध न रखकर केवल साधन-भजन ही करेंगे; और वे अपनी प्रतिज्ञा निभाते आये हैं। यद्यपि आजके जमानेमें ऐसे लड़के मिलने कठिन हैं, जो केवल साधन-भजनके लिये ही विवाह करें, तथापि उनका मिलना असम्भव नहीं है।

मीराबाईकी तरह जो बचपनसे ही भजन-स्मरणमें लग जाय, उसकी तो बात ही अलग है; परन्तु यह विधान नहीं है, भाव है। इस भावमें भी कठिनता आती है। मीराबाईके जीवनमें बहुत कठिनता आयी थी, पर भगवान्के दृढ़ विश्वासके बलपर वह सब कठिनताओंको पार कर गयी। ऐसा दृढ़ विश्वास बहुत कम होता है। जिसमें ऐसा दृढ़ विश्वास हो, उसके लिये यह विधान नहीं है कि वह विवाह न करे अथवा वह विवाह करे। तात्पर्य है कि भगवान्पर दृढ़ श्रद्धा-विश्वास हो तो मनुष्य कहीं भी रहे, वह श्रेष्ठ हो ही जायगा।

प्रश्न—क्या स्त्रीको साधु-संन्यासी बनना उचित है?

उत्तर—पुरुषको तो यह अधिकार है कि उसको संसारसे वैराग्य हो जाय तो वह घर आदिका त्याग करके, विरक्त होकर भजन-स्मरण करे, पर स्त्रियोंके लिये ऐसी आज्ञा हमने कहीं देखी नहीं है। अतः स्त्रीको साधु-संन्यासी बनना उचित नहीं है। उसको तो घरमें ही रहकर अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये। वह घरमें ही त्यागपूर्वक, संयमपूर्वक रहे—इसीमें उसकी महिमा है।

वास्तवमें त्याग-वैराग्यमें जो तत्त्व है, वह साधु-संन्यासी बननेमें नहीं है। जिसके भीतर पदार्थोंकी गुलामी नहीं है, वह घरमें रहते हुए ही साध्वी है, संन्यासिनी है।

प्रश्न—पतिव्रता, साध्वी और सती किसे कहते हैं?

उत्तर—यद्यपि शब्दकोशके अनुसार पतिव्रता, साध्वी और सती—तीनों नाम एक ही अर्थमें हैं, तथापि तीनोंमें भेद किया जाय तो पतिके रहते हुए जो अपने नियममें दृढ़ रहती है, वह 'पतिव्रता' है; पतिके न रहनेपर जो अपने नियममें, त्यागमें दृढ़ रहती है, वह 'साध्वी' है; और जो सत्यका पालन करती है, जिसका पतिके साथ दृढ़ सम्बन्ध रहता है, जो पतिके मरनेपर उसके साथ सती हो जाती है, वह 'सती' है।

प्रश्न—सतीप्रथा उचित है या अनुचित?

उत्तर—सती होना 'प्रथा' है ही नहीं। पतिके साथ जल जाना सती होना नहीं है। जिसके मनमें सत् आ जाता है, उत्साह आ जाता है, वह आगके बिना भी जल जाती है और उसको जलनेका कोई कष्ट भी नहीं होता। यह कोई प्रथा नहीं है कि वह ऐसा ही करे, प्रत्युत यह तो उसका सत्य है, धर्म है, शास्त्र-मर्यादापर विश्वास है।

हरदोई जिलेमें इकनोरा नामका गाँव है। वहाँ एक लड़की अपनी ननिहालमें थी। पति बीमार था, वह मर गया। उसको पतिके मरनेका समाचार मिला। उसने मामासे पूछा कि सती सुलोचनाको पतिका सिर नहीं मिलता तो वह क्या करती? मामाने कहा कि मुझे क्या पता? उसने कहा कि मामाजी! मैं सती होऊँगी। मामाने कहा कि ऐसा नहीं करना बेटी! उसने कहा कि मैं करती नहीं हूँ, होता है। उसने दीपक जलाया और उसपर अपनी अँगुली रखी तो उसकी अँगुली मोमबत्तीकी तरह जलने लगी। उसने मामासे कहा कि आप मुझे सती होनेकी आज्ञा देते हैं या नहीं। नहीं तो आपका यह सारा घर भस्म हो जायगा। मामाने कहा कि अच्छा तेरी जैसी

मरजी हो, वैसा कर। उसने जलती हुई अँगुलीको एक दीवारपर बुझाया और घरसे बाहर जाकर पीपलवृक्षके नीचे खड़ी हो गयी तथा मामासे कहा कि मुझे लकड़ी दो। मामाने कहा कि हम न लकड़ी देंगे, न आग। गाँवके लोग वहाँ इकट्ठे हो गये थे। उसने हाथ जोड़कर सूर्यभगवान्‌से प्रार्थना की कि हे नाथ ! आप आग दो। ऐसा कहते ही वह वहाँ खड़ी-खड़ी अपने-आप जल गयी ! उस आगसे पीपलके पत्ते जल गये। यह सब गाँवके लोगोंने अपनी आँखोंसे देखा। वहाँके मुसलमानोंसे पूछा गया तो उन्होंने भी कहा कि यह सब घटना हमारे सामने घटी है। करपात्रीजी महाराज भी वहाँ गये थे और उन्होंने दीवारपर काली लकीर देखी, जहाँ उसने अपनी जलती हुई अँगुली बुझायी थी और पीपलके जले हुए पत्ते भी देखे।

तात्पर्य है कि यह सतीप्रथा नहीं है। यह तो उसका खुदका धार्मिक उत्साह है। इस विषयमें प्रभुदत्त ब्रह्मचारीजीने 'सतीधर्म हिन्दूधर्मकी रीढ़ है' नामक पुस्तक लिखी है*, उसको पढ़ना चाहिये।

प्रश्न—पतिव्रताके भाव और आचरण कैसे होते हैं ?

उत्तर—उसमें धार्मिक भावोंकी प्रबलता होती है, जिससे वह तन-मनसे पतिकी सेवा करती है। पतिके मनमें ही अपना मन मिला देती है, अपना कुछ नहीं रखती। उसका मन पतिमें ही खिंचा रहता है। उसका यह पातिव्रत ही उसकी रक्षा करता है।

प्रायः पतिव्रताका सम्बन्ध पूर्वजन्मके पतिके साथ ही होता है। कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि बचपनमें कन्याको अच्छी शिक्षा, अच्छा संग मिलनेसे उसके भाव अच्छे बन जाते हैं तो वह विवाह होनेपर पतिव्रता बन जाती है।

प्रश्न—पतिव्रताकी पहचान क्या है ?

उत्तर—पतिव्रताके घरमें शान्ति रहती है और सभी अपने-अपने धर्मका पालन करनेवाले होते हैं। उसकी सन्तान भी श्रेष्ठ, माता-पिताकी भक्त होती है। पड़ोसियोंपर, मोहल्लेवालोंपर भी उसके भावोंका असर पड़ता है।

पतिव्रताको देखनेवालेका दुर्भाव मिट जाता है। परन्तु सब जगह यह नियम लागू नहीं होता; क्योंकि पतिव्रताको देखकर अपने भीतरके अच्छे भाव ही जाग्रत् होते हैं। जिसके भीतर अच्छे भाव, संस्कार नहीं हैं, उसपर पतिव्रताका उतना असर नहीं पड़ता। जैसे, एक व्याधने दमयन्तीको अजगरके मुखसे छुड़ाया, पर उसके रूपको देखकर वह मोहित हो गया और उसके भीतर दुर्भाव पैदा हो गया। दमयन्तीके शापसे वह वहीं भस्म हो गया। युधिष्ठिर बड़े धर्मात्मा, सात्त्विक पुरुष थे, परन्तु दुर्योधनपर उनका असर नहीं पड़ा।

प्रश्न—क्या वर्तमान समयमें पातिव्रतधर्मका पालन हो सकता है ?

उत्तर—पातिव्रतधर्मका पालन करनेमें वर्तमान समय कोई बाधक नहीं है। अपने धर्मका पालन करनेमें सबको सदासे स्वतन्त्रता है। धर्मसे विरुद्ध काम करनेमें ही शास्त्र, धर्म, मर्यादा आदि बाधक हैं।

प्रश्न—क्या पति पत्नीका त्याग कर सकता है ?

उत्तर—पत्नी अच्छी है, सुशील है, पर रंगकी काली है, माँके साथ उसकी नहीं बनती, कभी माँका कहना नहीं मानती और माँ कहती है कि इसको छोड़ दो—ऐसी स्थितिमें जो पत्नीको छोड़ देता है, वह महापाप करता है, घोर अन्याय करता है; अतः वह घोर नरकोंमें जायगा। आजकलके लड़के पत्नीको दोषी समझकर उसका त्याग कर देते हैं तो क्या वे खुद सर्वथा दूधके धोये हुए हैं ! अतः पत्नीका कभी त्याग नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—अगर पत्नी दुश्चरित्रा, व्यभिचारिणी हो तो उसका त्याग करना चाहिये या नहीं ?

उत्तर—आजकलके जमानेमें जहाँतक बने, उस पत्नीका त्याग नहीं करना चाहिये। अपनी सामर्थ्यके अनुसार उसपर शासन करना चाहिये, उसको सुधारनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यदि उसको दण्ड ही देना हो तो उससे बातचीत न करे और उसके हाथसे बना भोजन भी न करे।

प्रश्न—पतिका आधा पुण्य पत्नीको और पत्नीका आधा पाप पतिको मिलता है—ऐसा क्यों ?

उत्तर—पत्नीने अपने माता-पिता, भाई-भौजाई आदि सबका, घरभरका त्याग किया है और पुण्य त्यागसे होता है। उसने अपने गोत्रतकका त्याग करके पतिके मनमें अपना मन मिला दिया है ! अतः वह पुण्यकी भागी होती है। पति सन्ध्या-गायत्री आदि करता है तो उसका भी आधा फल (पुण्य) पत्नीको मिलता है। इसीलिये पतिके दो जनेऊ होते हैं—एक अपना और एक पत्नीका।

स्त्रीको बचपनमें शिक्षा देना माता-पिता, भाई आदिके अधीन होता है और विवाह होनेपर शिक्षा देना पतिके अधीन होता है। अगर पतिसे अच्छी शिक्षा न मिलनेके कारण पत्नी

* इस पुस्तकके मिलनेका पता है—संकीर्तन-भवन, धार्मिक ट्रस्ट, प्रतिष्ठानपुर (झूसी), इलाहाबाद।

पाप करती है तो उसका आधा पाप पतिको लगता है।

अगर पति अच्छी शिक्षा देता है, पर पत्नी पतिका कहना नहीं मानती, पाप करती है तो उसका आधा पाप पतिको नहीं लगता; क्योंकि उसने अपनी जिम्मेवारी खुदपर ही ली है। ऐसे ही जो स्त्री पतिके कहनेमें चलती है, पतिके अधीन रहती है, वही पतिके आधे पुण्यकी भागीदार होती है। जो पतिके कहनेमें नहीं चलती, वह पतिके आधे पुण्यकी भागीदार नहीं होती।

प्रश्न—विधर्मी लोग किसी स्त्रीका अपहरण करके ले जायँ तो उस स्त्रीको क्या करना चाहिये?

उत्तर—उसको जहाँतक बने, वहाँसे छूटनेका प्रयास करना चाहिये और मौका लगनेपर वहाँसे भाग जाना चाहिये। कोई भी उपाय न चले तो भगवान्‌को पुकारना चाहिये। भगवान् किसी-न-किसी प्रकारसे छुड़ा देंगे।

एक स्त्रीको मुखमें कपड़ा ठूँसकर, दोनों हाथ पीठके पीछे बाँधकर और ऊपरसे बुरका पहनाकर विधर्मीलोग रेलमें ले जा रहे थे। लखनऊ स्टेशनपर जब टीटी टिकट देखनेके लिये उस स्त्रीके पास आकर खड़ा हुआ, तब उस स्त्रीने अपने पैरसे टीटीका पैर दबाया। टीटीने विचार किया कि इसने मेरा पैर क्यों दबाया! इसमें कुछ-न-कुछ रहस्य है! उसने रेलवे पुलिसको बुलाया। पुलिसने जाँच करके उस स्त्रीको छुड़ा लिया और उसका अपहरण करनेवालोंको पकड़ लिया। ऐसे ही नोआखालीमें विधर्मीने एक स्त्रीको पकड़ लिया। उस स्त्रीने भगवान्‌को पुकारा। इतनेमें दूसरा विधर्मी आया और कहने लगा कि इसको मैं अपनी स्त्री बनाऊँगा। इसी बातको लेकर दोनों आदमियोंमें लड़ाई हो गयी। वे दोनों आपसमें लड़कर मर गये और उस स्त्रीकी रक्षा हो गयी।

प्रश्न—जिसकी स्त्रीको विधर्मी ले गये, उस पुरुषका क्या कर्तव्य है?

उत्तर—पुरुषमें उसको छुड़ाकर लानेकी सामर्थ्य हो और वह प्रसन्नतासे आना चाहे तो उसको अपने घरमें ले आना चाहिये। कारण कि उसके साथ जबर्दस्ती हुई है, अतः उसका एक पतिव्रत नहीं रहा, पर उसका धर्म नहीं बिगड़ा। धर्म तो स्वयं (अपनी इच्छासे) छोड़नेपर ही बिगड़ता है। जबर्दस्ती करके कोई भी किसीका धर्म नहीं छुड़ा सकता, उसको धर्मभ्रष्ट नहीं कर सकता। कोई जबर्दस्ती किसीके मुखमें गोमांस भी दे दे, तो भी वह उसका धर्म नहीं छुड़ा सकता। अतः यदि उस स्त्रीका मन नहीं बिगड़ा है, उसने संगका सुख नहीं लिया है तो उसका पातिव्रतधर्म नष्ट नहीं हुआ है। इसलिये यदि वह वापिस आ जाय तो उसको गीता, रामायण, भागवत आदिके पाठद्वारा तथा गङ्गाजलसे स्नान कराकर शुद्ध कर लेना चाहिये। यह सब करनेके बाद जब वह रजस्वला हो जायगी, तब वह सर्वथा शुद्ध हो जायगी—**'रजसा शुद्ध्यते नारी।'**

जमदग्नि ऋषिकी पत्नी रेणुका प्रतिदिन अपने पातिव्रतधर्मके प्रभावसे कपड़ेमें जल भरकर लाया करती थी। एक दिन उसको नदीके किनारेपर सोनेकी तरह चमकीले एवं सुन्दर बाल दीखे। उसके मनमें आया कि ये बाल इतने सुन्दर हैं तो वह पुरुष कितना सुन्दर होगा! इस तरह मनमें विकार आते ही उसका धर्म नष्ट हो गया और वह पहलेकी तरह कपड़ेमें जल भरकर नहीं ला सकी।

इन्द्रने गौतम ऋषिका रूप धारण करके अहल्याको भ्रष्ट किया तो उसका धर्म भ्रष्ट नहीं हुआ, प्रत्युत एक पतिव्रत नष्ट हुआ। यद्यपि पतिने क्रोधमें आकर उसको पत्थरका बना दिया, तथापि भगवान् रामने उसका उद्धार कर दिया; क्योंकि वह अपने धर्ममें दृढ़ थी।

गीताप्रेसके संस्थापक श्रीजयदयालजी गोयन्दका शुद्धि एवं पवित्रताका बहुत खयाल रखा करते थे। उन्होंने भी कहा था कि विधर्मियोंने जबर्दस्ती करके जिन स्त्रियोंको भ्रष्ट किया है, उनका धर्म भ्रष्ट नहीं हुआ है। अतः यदि वे हिन्दूधर्ममें आना चाहें तो उनको ले लेना चाहिये और गङ्गास्नान, गीता-रामायणपाठ आदिसे शुद्ध करा लेना चाहिये। उन्होंने यह भी कहा था कि यदि दूसरे धर्मको माननेवाला व्यक्ति हिन्दूधर्ममें आना चाहे तो उसको ले लेना चाहिये अर्थात् वह भी हिन्दू हो सकता है और हिन्दूधर्मकी पद्धतिके अनुसार जप-ध्यान, पूजा-पाठ आदि कर सकता है।

प्रश्न—पत्नी अपनी इच्छासे कहीं चली जाय और फिर लौट आये तो क्या करना चाहिये?

उत्तर—उसको अपनी पत्नी नहीं मानना चाहिये, उसके साथ पत्नी-जैसा व्यवहार नहीं करना चाहिये। जैसे, सन्त कूबाजी महाराजकी पत्नी उनको छोड़कर दूसरेके पास चली गयी। वहाँ उसकी सन्तान भी हो गयी। परन्तु उसका वह पति मर गया। अब उसके लिये जीवन-निर्वाह करना भी बड़ा मुश्किल हो गया। अतः वह पुनः कूबाजीके पास आ गयी। कूबाजीने उसके निर्वाहके लिये अन्न, जल, वस्त्र आदिका प्रबन्ध कर दिया, पर उसको अपनी पत्नी नहीं माना।

प्रश्न—पति दुश्चरित्र हो तो पत्नीको क्या करना चाहिये?

उत्तर—पत्नीको दुश्चरित्र पतिका त्याग नहीं करना

चाहिये, प्रत्युत अपने पातिव्रतधर्मका पालन करते हुए उसको समझाना चाहिये। जैसे, मन्दोदरीने रावणको समझाया, पर उसका त्याग नहीं किया।

विवाहके समय स्त्री-पुरुष दोनों ही परस्पर वचनबद्ध होते हैं। उसके अनुसार पतिको सलाह देनेका, पतिसे अपने मनकी बात कहनेका पत्नीको अधिकार है। गान्धारी कितने ऊँचे दर्जेकी पतिव्रता थी कि जब उसने सुना कि जिससे मेरा विवाह होनेवाला है, उसके नेत्र नहीं हैं, तो उसने भी अपने नेत्रोंपर पट्टी बाँध ली; क्योंकि नेत्रोंका जो सुख पतिको नहीं है, वह सुख मुझे भी नहीं लेना है ! परन्तु समय आनेपर उसने भी पति (धृतराष्ट्र) को समझाया कि आपको दुर्योधनकी बात नहीं माननी चाहिये, नहीं तो कुलका नाश हो जायगा। ऐसी सलाह उसने कई बार दी, पर धृतराष्ट्रने उसकी सलाह नहीं मानी, जिससे कुलका नाश हो गया। तात्पर्य है कि पतिको अच्छी सलाह देनेका पत्नीको पूरा अधिकार है।

शास्त्रोंमें आया है कि जो पतिव्रता स्त्री तन-मनसे पतिकी सेवा करती है, अपने धर्मका पालन करती है, वह मृत्युके बाद पतिलोकमें (पतिके पास) जाती है। अगर पति दुश्चरित्र है तो पतिका लोक नरक होगा; अतः पतिव्रता स्त्रीका लोक भी नरक ही होना चाहिये ! परन्तु पतिव्रता स्त्री नरकोंमें नहीं जा सकती; क्योंकि उसने शास्त्रकी, भगवान्‌की, सन्त-महात्माओंकी आज्ञाका पालन किया है, पातिव्रतधर्मका पालन किया है। अतः वह अपने पातिव्रतधर्मके प्रभावसे पतिका उद्धार कर देगी अर्थात् जो लोक पत्नीका होगा, वही लोक पतिका हो जायगा। तात्पर्य है कि अपने कर्तव्यका पालन करनेवाला मनुष्य दूसरोंका उद्धार करनेवाला बन जाता है।

प्रश्न—अगर पति पत्नीको व्यभिचारके लिये प्रेरित करे तो पत्नीको क्या करना चाहिये ?

उत्तर—पतिको यह अधिकार नहीं है कि वह अपनी स्त्री दूसरोंको दे; क्योंकि पत्नीके पिताने पतिको ही दान दिया है। अन्न, वस्त्र आदिका दान लेनेवाला तो अन्न आदि दूसरोंको दे सकता है, पर कन्यादान लेनेवाला पति दूसरोंको अपनी पत्नी नहीं दे सकता। अगर वह ऐसा करता है तो वह महापापका भागी होता है। ऐसी स्थितिमें पत्नीको पतिकी बात बिल्कुल नहीं माननी चाहिये। उसको अपने पतिसे साफ कह देना चाहिये कि मेरे पिताने आपको ही कन्यादान किया है; अतः दूसरोंको देनेका आपका अधिकार नहीं है। इस विषयमें वह पतिकी आज्ञा भंग करती है तो उसको कोई दोष नहीं लगता; क्योंकि पतिकी यह आज्ञा अन्याय है और अन्यायको स्वीकार करना अन्यायको प्रोत्साहित करना है, जो कि सबके लिये अनुचित है। दूसरी बात, अगर पत्नी पतिकी धर्मविरुद्ध आज्ञाका पालन करेगी तो इस पापके कारण पतिको नरकोंकी प्राप्ति होगी। अतः पत्नीको ऐसी आज्ञाका पालन नहीं करना चाहिये, जिससे पतिको नरकोंमें जाना पड़े।

अगर पति स्वयं भी शास्त्रनियमके विरुद्ध स्त्रीसंग करता है तो वह अन्याय, पाप करता है। धर्मयुक्त काम भगवान्‌का स्वरूप है—**'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥'** (गीता ७। ११); अतः इसमें दोष, पाप नहीं है। परन्तु धर्मसे विरुद्ध स्त्रीको मनमाना काममें लेना अन्याय है। मनुष्यको सदा शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार ही प्रत्येक कार्य करना चाहिये (गीता १६। २४)।

प्रश्न—अगर पति मांस-मदिरा आदिका सेवन करता हो तो पत्नीको क्या करना चाहिये ?

उत्तर—पतिको समझाना चाहिये, निषिद्ध आचरणसे छुड़ाना चाहिये। अगर पति न माने तो लाचारी है, पर पतिको समझाना स्त्रीका धर्म है, अधिकार है। पत्नीको तो अपना खान-पान शुद्ध ही रखना चाहिये।

प्रश्न—पति मार-पीट करे, दुःख दे तो पत्नीको क्या करना चाहिये ?

उत्तर—पत्नीको तो यही समझना चाहिये कि मेरे पूर्वजन्मका कोई बदला है, ऋण है, जो इस रूपमें चुकाया जा रहा है; अतः मेरे पाप ही कट रहे हैं और मैं शुद्ध हो रही हूँ। पीहरवालोंको पता लगनेपर वे उसको अपने घर ले जा सकते हैं; क्योंकि उन्होंने मार-पीटके लिये अपनी कन्या थोड़े ही दी थी !

प्रश्न—अगर पीहरवाले भी उसको अपने घर न ले जायँ तो वह क्या करे ?

उत्तर—फिर तो उसको अपने पुराने कर्मोंका फल भोग लेना चाहिये, इसके सिवाय बेचारी क्या कर सकती है ! उसको पतिकी मार-पीट धैर्यपूर्वक सह लेनी चाहिये। सहनेसे पाप कट जायँगे और आगे सम्भव है कि पति स्नेह भी करने लग जाय। यदि वह पतिकी मार-पीट न सह सके तो पतिसे कहकर उसको अलग हो जाना चाहिये और अलग रहकर अपनी जीविका-सम्बन्धी काम करते हुए एवं भगवान्‌का भजन-स्मरण करते हुए निधड़क रहना चाहिये।

पुरुषको कभी भी स्त्रीपर हाथ नहीं चलाना चाहिये। शिखण्डी भीष्मजीको मारनेके लिये ही पैदा हुआ था; परन्तु वह जब युद्धमें भीष्मजीके सामने आता है, तब भीष्मजी बाण

चलाना बन्द कर देते हैं। कारण कि शिखण्डी पूर्वजन्ममें स्त्री था और इस जन्ममें भी स्त्रीरूपसे ही जन्मा था, पीछे उसको पुरुषत्व प्राप्त हुआ था। अतः भीष्मजी उसको स्त्री ही मानते हैं और उसपर बाण नहीं चलाते।

विपत्तिके दिन किसी पापके कारण ही आते हैं। उसमें उत्साहपूर्वक भगवान्‌का भजन-स्मरण करनेसे दुगुना लाभ होता है। एक तो पापोंका नाश होता है और दूसरा भगवान्‌को पुकारनेसे भगवद्विश्वास बढ़ता है। अतः विपत्ति आनेपर स्त्रियोंको हिम्मत नहीं हारनी चाहिये।

विपत्ति आनेपर आत्महत्या करनेका विचार भी मनमें नहीं लाना चाहिये; क्योंकि आत्महत्या करनेका बड़ा भारी पाप लगता है। किसी मनुष्यकी हत्याका जो पाप लगता है, वही पाप आत्महत्याका लगता है। मनुष्य सोचता है कि आत्महत्या करनेसे मेरा दुःख मिट जायगा, मैं सुखी हो जाऊँगा। यह बिलकुल मूर्खताकी बात है; क्योंकि पहलेके पाप तो कटे नहीं, नया पाप और कर लिया! जिन्होंने आत्महत्याका प्रयास किया और बच गये, उनसे यह बात सुनी है कि आत्महत्या करनेमें बड़ा भारी कष्ट होता है और पश्चात्ताप होता है कि मैं ऐसा नहीं करता तो अच्छा रहता, अब क्या करूँ? आत्महत्या करनेवाले प्रायः भूत-प्रेत बनते हैं और वहाँ भूखे-प्यासे रहते हैं, दुःख पाते हैं। तात्पर्य है कि आत्महत्या करनेवालोंकी बड़ी भारी दुर्गति होती है।

प्रश्न—अगर पति त्याग कर दे तो स्त्रीको क्या करना चाहिये?

उत्तर—वह अपने पिताके घरपर रहे। पिताके घरपर रहना न हो सके तो ससुराल अथवा पीहरवालोंके नजदीक किरायेका कमरा लेकर उसमें रहे और मर्यादा, संयम, ब्रह्मचर्यपूर्वक अपने धर्मका पालन करे, भगवान्‌का भजन-स्मरण करे। पितासे या ससुरालसे जो कुछ मिला है, उससे अपना जीवन-निर्वाह करे। अगर धन पासमें न हो तो घरमें ही रहकर अपने हाथोंसे कातना-गूँथना, सीना-पिरोना आदि काम करके अपना जीवन-निर्वाह करे। यद्यपि इसमें कठिनता होती है, पर तपमें कठिनता ही होती है, आराम नहीं होता। इस तपसे उसमें आध्यात्मिक तेज बढ़ेगा, उसका अन्तःकरण शुद्ध होगा।

माता-पिता, भाई-भौजाई आदिको विशेष ध्यान देना चाहिये कि बहन-बेटी धर्मकी मूर्ति होती है; अतः उसका पालन-पोषण करनेका बहुत पुण्य होता है। उनको यह उक्ति अक्षरशः चरितार्थ कर लेनी चाहिये—*'बिपति काल कर सतगुन नेहा'* (मानस, किष्किन्धा० ७। ३) अर्थात् विपत्तिके समय बहन-बेटी आदिसे सौगुना स्नेह करे। यदि वे ऐसा न कर सकें तो लड़कीको विचार करना चाहिये कि जंगलमें रहनेवाले प्राणियोंका भी भगवान् पालन-पोषण करते हैं, तो क्या वे मेरा पालन-पोषण नहीं करेंगे! सबके मालिक भगवान्‌के रहते हुए मैं अनाथ कैसे हो सकती हूँ! इस बातको दृढ़तासे धारण करके भगवान्‌के भरोसे निधड़क रहना चाहिये, निर्भय, निःशोक, निश्चिन्त और निःशंक रहना चाहिये। एक विधवा बहन थी। उसके पास कुछ नहीं था। ससुरालवालोंने उसके गहने भी दबा लिये। वह कहती थी कि मुझे चिन्ता है ही नहीं! दो हाथोंके पीछे एक पेट है, फिर चिन्ता किस बातकी!

लड़कियोंको बचपनसे ही कातना-गूँथना, सीना-पिरोना, पढ़ना-पढ़ाना आदि सीख लेना चाहिये। विवाह होनेपर पतिकी सेवामें कमी नहीं रखनी चाहिये, पर भीतरमें भरोसा भगवान्‌का ही रखना चाहिये। असली सहारा भगवान्‌का ही है। ऐसा सहारा न पतिका है, न पुत्रका है और न शरीरका ही है—यह बिलकुल सच्ची बात है। अतः यदि पति त्याग कर दे तो घबराना नहीं चाहिये। इस विषयमें अपनी कोई त्रुटि हो तो तत्काल सुधार कर लेना चाहिये और अपनी कोई त्रुटि न हो तो बिलकुल निधड़क रहना चाहिये। हृदयमें कमजोरी तो अपने भाव और आचरण ठीक न रहनेसे ही आती है। अपने भाव और आचरण ठीक रहनेसे हृदयमें कमजोरी कभी आती ही नहीं। अतः अपने भावों और आचरणोंको सदा शुद्ध, पवित्र रखते हुए भगवान्‌का भजन-स्मरण करते रहना चाहिये। भगवान्‌के भरोसे किसी बातकी परवाह नहीं करनी चाहिये।

आजके युवकोंको चाहिये कि वे स्त्रियोंको छोड़ें नहीं। स्त्रीका त्याग करना महापाप है, बड़ा भारी अन्याय है। ऐसा करनेवाले भयंकर नरकोंमें जाते हैं।

प्रश्न—पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है या नहीं?

उत्तर—अगर पहली स्त्रीसे सन्तान न हुई हो तो पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये, केवल सन्तान-उत्पत्तिके लिये पुरुष शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार दूसरा विवाह कर सकता है। अपने सुखभोगके लिये वह दूसरा विवाह नहीं कर सकता; क्योंकि यह मनुष्यशरीर अपने सुख-भोगके लिये है ही नहीं।

पुनर्विवाह अपनी पूर्वपत्नीकी आज्ञासे, सम्मतिसे ही करना चाहिये और पत्नीको भी चाहिये कि वह पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये पुनर्विवाहकी आज्ञा दे दे। पुनर्विवाह करनेपर भी पतिको अपनी पूर्वपत्नीका अधिकार सुरक्षित रखना चाहिये;

उसका तिरस्कार, निरादर कभी नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उसको बड़ी मानकर दोनोंको उसका सम्मान करना चाहिये।

जिसकी सन्तान तो हो गयी, पर स्त्री मर गयी, उसको पुनर्विवाह करनेकी जरूरत ही नहीं है; क्योंकि वह पितृऋणसे मुक्त हो गया। परन्तु जिसकी भोगासक्ति नहीं मिटी है, वह पुनर्विवाह कर सकता है; क्योंकि अगर वह पुनर्विवाह नहीं करेगा तो वह व्यभिचारमें प्रवृत्त हो जायगा, वेश्यागामी हो जायगा, जिससे उसको भयंकर पाप लगेगा। अतः इस पापसे बचनेके लिये और मर्यादामें रहनेके लिये उसको शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार पुनर्विवाह कर लेना चाहिये।

प्रश्न—पहले राजालोग अनेक विवाह करते थे तो क्या ऐसा करना उचित था ?

उत्तर—जो राजालोग अपने सुखभोगके लिये अधिक विवाह करते थे, वे आदर्श नहीं माने गये हैं। केवल राजा होनेमात्रसे कोई आदर्श नहीं हो जाता। जो शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चलते थे, धर्मका पालन करते थे, वे ही राजालोग आदर्श माने गये हैं।

वास्तवमें विवाह करना कोई ऊँचे दर्जेकी चीज नहीं है और आवश्यक भी नहीं है। आवश्यक तो परमात्मप्राप्ति करना है। इसीके लिये मनुष्यशरीर मिला है, विवाह करनेके लिये नहीं। स्त्री-पुरुषका संग तो देवतासे लेकर भूत-प्रेत आदितक स्थावर-जंगम हरेक योनिमें होता है; अतः यह कोई महत्ताकी बात नहीं है। परन्तु परमात्मप्राप्तिका अवसर, अधिकार, योग्यता आदि तो मनुष्यजन्ममें ही है। मनुष्य परमात्मप्राप्तिका जन्मजात अधिकारी है। जो विचारके द्वारा अपनी विषयासक्तिको, भोगासक्तिको नहीं छोड़ पाते, ऐसे कमजोर मनुष्योंके लिये ही विवाहका विधान किया गया है। भोगोंको भोगकर उनसे विरक्त होनेके लिये, उनमें अरुचि करनेके लिये ही गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिये। जो विषयासक्तिको नहीं छोड़ पाते, उनपर ही पितृऋण रहता है अर्थात् उपकुर्वाण ब्रह्मचारीपर ही वंश-परम्परा चलानेका दायित्व रहता है, नैष्ठिक ब्रह्मचारी और भगवान्‌के भक्तपर नहीं। तात्पर्य है कि पितृऋण उसी पुरुषपर रहता है, जो भोगासक्ति नहीं मिटा सका। जिसमें भोगासक्ति नहीं है, उसपर कोई ऋण रहता ही नहीं, चाहे वह कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, भक्तियोगी आदि कोई भी क्यों न हो ! कारण कि इन्कमपर ही टैक्स लगता है, मालपर ही जगात लगती है। जिसके पास इन्कम है ही नहीं, उसपर टैक्स किस बातका ? माल है ही नहीं तो जगात किस बातकी ?

प्रश्न—स्त्री पुनर्विवाह क्यों नहीं कर सकती ?

उत्तर—माता-पिताने कन्यादान कर दिया तो अब उसकी कन्या संज्ञा ही नहीं रही; अतः उसका पुनः दान कैसे हो सकता है ? अब उसका पुनर्विवाह करना तो पशुधर्म ही है।

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥

(मनुस्मृति ९।४७; महाभारत वन॰ २९४।२६)

'कुटुम्बमें धन आदिका बँटवारा एक ही बार होता है, कन्या एक ही बार दी जाती है और 'मैं दूँगा'—यह वचन भी एक ही बार दिया जाता है। सत्पुरुषोंके ये तीनों कार्य एक ही बार होते हैं।'

शास्त्रीय, धार्मिक, शारीरिक और व्यावहारिक—चारों ही दृष्टियोंसे स्त्रीके लिये पुनर्विवाह करना अनुचित है। शास्त्रीय दृष्टिसे देखा जाय तो शास्त्रमें स्त्रीको पुनर्विवाहकी आज्ञा नहीं दी गयी है। धार्मिक दृष्टिसे देखा जाय तो पितृऋण पुरुषपर ही रहता है। स्त्रीपर पितृऋण आदि कोई ऋण नहीं है। शारीरिक दृष्टिसे देखा जाय तो स्त्रीमें कामशक्तिको रोकनेकी ताकत है, एक मनोबल है। व्यावहारिक दृष्टिसे देखा जाय तो पुनर्विवाह करनेपर उस स्त्रीकी पूर्वसन्तान कहाँ जायगी ? उसका पालन-पोषण कौन करेगा ? क्योंकि वह स्त्री जिससे विवाह करेगी, वह उस सन्तानको स्वीकार नहीं करेगा। अतः स्त्रीजातिको चाहिये कि वह पुनर्विवाह न करके ब्रह्मचर्यका पालन करे, संयमपूर्वक रहे।

शास्त्रमें तो यहाँतक कहा गया है कि जिस स्त्रीकी पाँच-सात सन्तानें हैं, वह भी यदि पतिकी मृत्युके बाद ब्रह्मचर्यका पालन करती है तो वह नैष्ठिक ब्रह्मचारीकी गतिमें जाती है। फिर जिसकी सन्तान नहीं है, वह यदि पतिके मरनेपर ब्रह्मचर्यका पालन करती है तो उसकी नैष्ठिक ब्रह्मचारीकी गति होनेमें कहना ही क्या है ?

प्रश्न—यदि युवा स्त्री विधवा हो जाय तो उसको क्या करना चाहिये ?

उत्तर—जीवित अवस्थामें पति जिन बातोंको अच्छा मानते थे और जो बातें उनके अनुकूल थीं, उनकी मृत्युके बाद भी विधवा स्त्रीको उन्हींके अनुसार आचरण करते रहना चाहिये। उसको ऐसा विचार करना चाहिये कि भगवान्‌ने जो प्रतिकूलता भेजी है, यह मेरी तपस्याके लिये है। जान-बूझकर की गयी तपस्यासे यह तपस्या बहुत ऊँची है। भगवान्‌के विधानके अनुसार किये गये तप, संयमकी बहुत अधिक महिमा है। ऐसा विचार करके उसको मनमें हर समय उत्साह

रखना चाहिये कि मैं कैसी भाग्यशालिनी हूँ कि भगवान्‌ने मेरेको ऐसा तप करनेका सुन्दर अवसर दिया है ! भागवतमें आया है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।८)

'जो मनुष्य क्षण-क्षणपर बड़ी उत्सुकतासे आपकी कृपाका ही भलीभाँति अनुभव करता रहता है और प्रारब्धानुसार जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त होता है, उसे निर्विकार मनसे भोग लेता है एवं जो प्रेमपूर्ण हृदय, गद्‌गद वाणी और पुलकित शरीरसे अपनेको आपके चरणोंमें समर्पित करता रहता है—इस प्रकार जीवन व्यतीत करनेवाला मनुष्य ठीक वैसे ही आपके परमपदका अधिकारी हो जाता है, जैसे अपने पिताकी सम्पत्तिका पुत्र !'

विधवा स्त्रीको अपने चरित्रकी विशेष रक्षा करनी चाहिये। अगर वह व्यभिचार करती है तो वह अपने दोनों कुलोंको कलङ्कित करती है, मर्यादाका नाश करती है और मरनेके बाद घोर नरकोंमें जाती है। अतः उसको मर्यादामें रहना चाहिये, धर्म-विरुद्ध काम नहीं करना चाहिये। माता कुन्तीकी तरह उसको अपने वैधव्य-धर्मका पालन करना चाहिये। माता कुन्तीको याद करनेसे अपने धर्मके पालनका बल मिलता है।

प्रश्न—आजकल स्त्रीको पुरुषके समान अधिकार देनेकी बात कही जाती है, क्या यह ठीक है ?

उत्तर—यह ठीक नहीं है। वास्तवमें स्त्रीका समान अधिकार नहीं है, प्रत्युत विशेष अधिकार है ! कारण कि वह अपने पिता आदिका त्याग करके पतिके घरपर आयी है; अतः घरमें उसका विशेष अधिकार होता है। वह घरकी मालकिन, बहूरानी कहलाती है। बाहर पतिका विशेष अधिकार होता है। जैसे रथ दो पहियोंसे चलता है, पर दोनों पहिये अलग-अलग होते हैं। अगर दोनों पहियोंको एक साथ लगा दिया जाय तो रथ कैसे चलेगा ? जैसे दोनों पहिये अलग-अलग होनेसे ही रथ चलता है, ऐसे ही पति और पत्नीका अपना अलग-अलग अधिकार होनेसे ही गृहस्थ चलता है। अगर समान अधिकार दिया जाय तो स्त्रीकी तरह पुरुष गर्भ-धारण कैसे करेगा ? अतः अपना-अपना अधिकार ही समान अधिकार है। इसीमें दोनोंकी स्वतन्त्रता है।

अपना-अपना अधिकार ही श्रेष्ठ है, उत्तम है। हमारेको थोड़ा अधिकार दिया गया है और पुरुषको ज्यादा अधिकार दिया गया है—इस बातको लेकर ही भीतरमें यह वासना होती है कि हमारेको समान अधिकार मिले, पूरा अधिकार मिले। इस वासनामें हेतु है—बेसमझी, मूर्खता। समझदारी हो तो थोड़ा ही अधिकार बढ़िया है। कर्तव्य अधिक होना चाहिये। कर्तव्यका दास अधिकार है, पर अधिकारका दास कर्तव्य नहीं है। यदि अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन किया जाय तो संसार, सन्त-महात्मा, शास्त्र और भगवान्—ये सब अधिकार दे देते हैं।

अधिकार प्राप्त करनेकी इच्छा जन्म-मरणका हेतु है और नरकोंमें ले जानेवाली है। हमने देखा है कि एक मोहल्लेका कुत्ता दूसरे मोहल्लेमें जाता है तो उस मोहल्लेका कुत्ता उसको काटनेके लिये दौड़ता है। दोनों कुत्ते आपसमें लड़ते हैं। आगन्तुक कुत्ता नीचे गिर जाय, पैर ऊपर कर दे, नम्रता स्वीकार कर ले तो उस मोहल्लेका कुत्ता उसके ऊपर खड़ा होकर राजी हो जाता है। कारण कि वह उस मोहल्लेपर अपना अधिकार मानता है, पर आगन्तुक कुत्ता उस मोहल्लेपर अपना अधिकार नहीं मानता, उसके सामने नम्रता स्वीकार कर लेता है तो लड़ाई मिट जाती है। इससे सिद्ध होता है कि अधिक अधिकार पानेकी लालसा तो कुत्तोंके भीतर भी रहती है। ऐसी ही लालसा यदि मनुष्योंके भीतर भी रहे तो मनुष्यता कैसी ? अधिक अधिकार पानेकी लालसा नीच मनुष्योंमें होती है। जो श्रेष्ठ मनुष्य होते हैं, वे अपने कर्तव्यका ही उत्साहपूर्वक तत्परतासे पालन करते हैं। कर्तव्यका पालन करनेसे उनका अधिकार स्वतः ऊँचा हो जाता है।

वास्तवमें देखा जाय तो स्त्रियोंका अधिकार कम नहीं है। वे घरकी मालकिन, गृहलक्ष्मी कहलाती हैं। घरके जितने भी लोग बाहर काम-धंधा करते हैं, वे आकर स्त्रियोंका ही आश्रय लेते हैं। स्त्रियाँ घरभरके प्राणियोंको आश्रय देनेवाली होती हैं। वे सबकी सेवा करती हैं, सबका पालन करती हैं। अतः उनका अधिकार ज्यादा है। परन्तु जब वे अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाती हैं, तभी उनके मनमें अधिक अधिकार पानेकी लालसा पैदा होती है।

प्रश्न—आजकल मँहगाईके जमानेमें स्त्री भी नौकरी करे तो क्या हर्ज है ?

उत्तर—स्त्रीका हृदय कोमल होता है, अतः वह नौकरीका कष्ट, ताड़ना, तिरस्कार आदि नहीं सह सकती। थोड़ी भी विपरीत बात आते ही उसके आँसू आ जाते हैं। नौकरीको चाहे गुलामी कहो, चाहे दासता कहो, चाहे तुच्छता कहो, एक ही बात है। गुलामीको पुरुष तो सह सकता है, पर स्त्री नहीं सह सकती। अतः नौकरी, खेती, व्यापार आदिका

लड़ाई-झगड़ेका समाधान

प्रश्न—परिवारमें झगड़ा, कलह, अशान्ति आदि होनेका क्या कारण है ?

उत्तर—हरेक प्राणी अपने मनकी कराना चाहता है, अपनी अनुकूलता चाहता है, अपना सुख-आराम चाहता है, अपनी महिमा चाहता है, अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है—ऐसे व्यक्तिगत स्वार्थके कारण ही परिवारमें झगड़ा, कलह, अशान्ति आदि होते हैं। जैसे, कुत्ते आपसमें बड़े प्रेमसे खेलते हैं, पर रोटीका टुकड़ा सामने आते ही लड़ाई शुरू हो जाती है; अतः लड़ाईका कारण रोटीका टुकड़ा नहीं है, प्रत्युत व्यक्तिगत स्वार्थ है।

कुटुम्बमें जो केवल अपना सुख-आराम चाहता है, वह कुटुम्बी नहीं होता, प्रत्युत एक व्यक्ति होता है। कुटुम्बी वही होता है, जो कुटुम्बमें बड़े, छोटे और समान अवस्थावाले—सबका हित चाहता है और हित करता है। अतः जो कुटुम्बमें शान्ति चाहता है, कलह नहीं चाहता, उसको अपना कर्तव्य और दूसरोंका अधिकार देखना चाहिये अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये और दूसरोंका हित करना चाहिये, आदर-सत्कार, सुख-आराम देना चाहिये।

प्रश्न—भाई-भाई आपसमें लड़ें तो माता-पिताको क्या करना चाहिये ?

उत्तर—माता-पिताको न्यायकी बात कहनी चाहिये। वे छोटे पुत्रसे कहें कि तुम भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नको देखो कि वे रामजीके साथ कैसा बर्ताव करते थे; भीम, अर्जुन आदि अपने बड़े भाई युधिष्ठिरके साथ कैसा बर्ताव करते थे। बड़े पुत्रसे कहें कि तुम रामजीको देखो कि उन्होंने अपने छोटे भाइयोंके साथ कैसा बर्ताव किया था*; और युधिष्ठिर अपने छोटे भाइयोंके साथ कैसा बर्ताव करते थे। अतः तुम सबलोग उनके चरित्रोंको आदर्श मानकर अपने आचरणमें लाओ।

प्रश्न—बहन-भाई आपसमें लड़ें तो माता-पिताको क्या करना चाहिये ?

उत्तर—माता-पिताको लड़कीका पक्ष लेना चाहिये; क्योंकि वह सुवासिनी है, दानकी पात्र है†, थोड़े दिन रहनेवाली है; अतः वह आदरणीय है। लड़का तो घरका मालिक है, घरमें ही रहनेवाला है। लड़केको एकान्तमें समझाना चाहिये कि 'बेटा ! बहनका निरादर मत करो। यह यहाँ रहनेवाली नहीं है। यह तो अपने घर चली जायगी। तुम तो यहाँके मालिक हो।'

बहनको चाहिये कि वह भाईसे कुछ भी आशा न रखे। भाई जितना दे, उसमेंसे थोड़ा ही ले। उसको यह सोचना चाहिये कि भाईके घरसे लेनेसे हमारा काम थोड़े ही चलेगा ! हमारा काम तो हमारे घरसे ही चलेगा।

प्रश्न—बेटा और बहू आपसमें लड़ें तो माता-पिताका क्या कर्तव्य होता है ?

उत्तर—माता-पिता उन दोनोंको समझायें कि हम कबतक बैठे रहेंगे ? इस घरके मालिक तो आप ही हो। यदि आप ही परस्पर लड़ोगे तो इस कुटुम्बका पालन कौन करेगा ? क्योंकि भार तो सब आपपर ही है।

बेटेको अलगसे समझाना चाहिये कि बेटा ! तुम्हारे लिये ही तुम्हारी पत्नीने अपने माता-पिता आदि सबका त्याग किया है। तुम तो अपने बापकी गद्दीपर बैठे हुए हो, तुमने क्या त्याग किया ? अतः ऐसी त्यागमूर्ति स्त्रीको तन, मन, धन आदिसे प्रसन्न रखना, उसका पालन करना तुम्हारा खास कर्तव्य है। पर हाँ, यह याद रखना कि तुम पति हो; अतः स्त्रीकी दासतामें मत फँसना, उसका गुलाम मत बनना। जिसमें उसका हित हो, आसक्तिरहित होकर वही कार्य करो। मनुष्यमात्रका यह कर्तव्य है कि वह जीवमात्रका हित करे। तुम एक पत्नीका भी हित नहीं करोगे तो क्या करोगे ?

पुत्रवधूको समझाना चाहिये कि बेटी ! तुमने केवल पतिके लिये अपने माता-पिता, भाई-भौजाई, भतीजे आदि सबका त्याग कर दिया, अब उसको भी राजी नहीं रख

---

* इसके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'तत्त्वचिन्तामणि'के दूसरे भागमें 'रामायणमें आदर्श भ्रातृप्रेम' नामक लेखको मननपूर्वक पढ़ना चाहिये।

† बहन, बेटी और भानजीको भोजन कराना ब्राह्मणको भोजन करानेके समान पुण्य माना गया है।

सकती, उसकी भी सेवा नहीं कर सकती तो और क्या कर सकती हो। कोई समुद्र तर जाय, पर किनारेपर आकर डूब जाय तो यह कितनी शर्मकी बात है ! तुमको तो एक ही व्रत निभाना है—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा ॥

(मानस, अरण्य० ५।४)

प्रश्न—ननद (लड़की) और भौजाई (बहू) आपसमें लड़ें तो माता-पिताको क्या करना चाहिये ?

उत्तर—माँ लड़कीको समझाये कि 'देखो बेटी ! यह (भौजाई) तो आजकलकी छोरी है। यह कुछ भी कह दे, तुम बड़ी समझकर इसका आदर करो। यह घरकी मालकिन है; अतः तुम मेरेसे भी बढ़कर विशेषतासे इसका आदर करो। मेरा आदर कम करोगी तो मैं जल्दी नाराज नहीं होऊँगी; क्योंकि मेरी कन्या होनेके नाते मेरे साथ तुम्हारी ममता है।'

भौजाईको चाहिये कि वह ननदका ज्यादा आदर करे; क्योंकि वह अतिथिकी तरह आयी है। वह ननदके बच्चोंको अपने बच्चोंसे भी ज्यादा प्यार करे*। बच्चे राजी होनेसे उनकी माँ भी राजी हो जाती है—यह सिद्धान्त है। इस तरह ननदको राजी रखना चाहिये। दूसरोंको राजी रखना अपने कल्याणमें कारण है।

बेटीमें मोह होनेके कारण माँ बेटीको कुछ देना चाहे तो बेटीको नहीं लेना चाहिये। बेटीको माँसे कहना चाहिये कि 'मेरी भौजाई देगी, तभी मैं लूँगी। अगर तू देगी तो भौजाईको बुरा लगेगा और वह आपसे लड़ेगी तो मैं कलह कराने यहाँ थोड़े ही आयी हूँ ! माँ ! तेरेसे लूँगी तो थोड़े ही दिन मिलेगा, पर भौजाईके हाथसे लूँगी तो बहुत दिनतक मिलता रहेगा। अतः त्यागदृष्टिसे, व्यवहारदृष्टिसे और स्वार्थदृष्टिसे भौजाईके हाथसे लेना ही अच्छा है।'

प्रश्न—बड़ा भाई माता-पितासे लड़े तो छोटे भाइयोंका क्या कर्तव्य है ?

उत्तर—छोटे भाई बड़े भाईके चरणोंमें प्रणाम करके प्रार्थना करें कि 'भाई साहब ! आप ऐसा बर्ताव करोगे तो हमलोग किसको आदर्श मानेंगे ? अतः आप हमलोगोंपर कृपा करके माँ-बापके साथ अच्छा-से-अच्छा बर्ताव करो। ऐसा करनेसे आपको दो प्रकारसे लाभ होगा, एक तो आपके अच्छे बर्तावका कुटुम्बपर, मोहल्लेपर अच्छा असर पड़ेगा और दूसरा, आपके आचरणोंको देखकर हमलोग भी वैसा ही आचरण करेंगे, जिसका आपको पुण्य होगा। अतः आपका आचरण आदर्श होना चाहिये। हम तो आपसे केवल प्रार्थना ही कर सकते हैं; क्योंकि आप हमारे पिताके समान हैं।'

प्रश्न—छोटे भाई माता-पितासे लड़ें तो बड़े भाईका क्या कर्तव्य है ?

उत्तर—बड़ा भाई छोटे भाइयोंको समझाये कि 'देखो भाई ! मैं और आप सब बालक हैं। माता-पिता हमारे लिये सर्वथा आदरणीय हैं, पूज्य हैं। जिस शरीरसे हम भगवत्प्राप्ति कर सकते हैं, वह हमें माता-पिताकी कृपासे ही मिला है। हम उनके ऋणसे कभी मुक्त नहीं हो सकते। हाँ, हम उनके अनुकूल होंगे तो उनके राजी होनेसे वह ऋण माफ हो सकता है। हम अपने चमड़ेकी जूती बनाकर माता-पिताको पहना दें तो भी उनका ऋण नहीं चुका सकते; क्योंकि वह चमड़ा आया कहाँसे ? उनकी वस्तु ही उनको दी है, हमने अपना क्या दिया ? उनकी वस्तुको हम अपना मानते हैं, यही गलती है। वे हमारेको चाहे जैसा रखें, उनका हमपर पूरा अधिकार है।'

प्रश्न—बहन माता-पितासे लड़े तो भाईका क्या कर्तव्य है ?

उत्तर—भाई न्याय देखे और न्यायमें भी वह बहनका पक्ष ले और माता-पितासे कहे कि यह तो अतिथिकी तरह आयी है। इसका लाड़-प्यार करना चाहिये। परन्तु बहनका अन्याय हो तो बहनको एकान्तमें समझाये कि बहन ! आपसमें प्रेमकी ही महिमा है, कलहकी नहीं। माँ-बाप आदरणीय हैं। अतः तुम और हम सब माँ-बापका आदर करें। तुच्छ चीजोंके लिये उनका निरादर क्यों करें ?

प्रश्न—छोटा भाई भौजाईसे लड़े तो बड़े भाईका क्या कर्तव्य है ?

उत्तर—बड़ा भाई छोटे भाईको धमकाये कि 'तुम क्या कर रहे हो ? शास्त्रकी दृष्टिसे बड़े भाईकी स्त्री माँके समान होती है। लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नने सीताजीके साथ कैसा बर्ताव किया था; उनके चरित्रोंको बार-बार पढ़ो और मनन करो, जिससे तुम्हारे भीतर निर्मल भाव पैदा होंगे, तुम्हारी बुद्धि स्वाभाविक ही शुद्ध हो जायगी।'

प्रश्न—जेठानी और देवरानी आपसमें लड़ें तो भाइयोंको क्या करना चाहिये ?

* बहूको एक नम्बरमें (सबसे अधिक) ननदके बच्चोंको लाड़-प्यार करना चाहिये। ऐसे ही दूसरे नम्बरमें देवरानीके बच्चोंको, तीसरे नम्बरमें जेठानीके बच्चोंको, चौथे नम्बरमें सासके बच्चोंको और पाँचवें नम्बरमें अपने बच्चोंको लाड़-प्यार करना चाहिये।

उत्तर—वे अपनी-अपनी स्त्रीको समझायें। छोटा भाई अपनी स्त्रीको समझाये कि 'देखो ! तुम्हें मेरे बड़े भाईको पिताके समान और भौजाईको माँके समान समझकर उनका आदर करना चाहिये।' बड़ा भाई अपनी स्त्रीको समझाये कि 'तुम्हारे लिये मेरा छोटा भाई पुत्रके समान और उसकी स्त्री पुत्रीके समान है; अतः तुम्हें उनको प्यार करना चाहिये। उसकी स्त्री कुछ भी कह दे, तुम्हें उसको क्षमा कर देना चाहिये; क्योंकि तुम बड़ी हो। अगर तुम उसकी बात नहीं सहोगी तो तुम्हारा दर्जा बड़ा कैसे हुआ ? उसकी बातोंको सहनेसे, उसको प्यार करनेसे ही तो दर्जा ऊँचा होगा ! क्रोध करनेवाला अन्तमें हार जाता है और दूसरेके क्रोधको धैर्य-पूर्वक सहनेवाला जीत जाता है।

दोनों भाइयोंको यह सावधानी रखनी चाहिये कि वे स्त्रियोंकी कलहको अपनेमें न लायें। स्त्रियोंमें सहनेकी शक्ति (स्वभाव) कम होती है; अतः भाइयोंको बड़ी सावधानीसे बर्ताव करना चाहिये, जिससे आपसमें खटपट न हो। अगर स्त्रियोंकी आपसमें बने ही नहीं तो अलग-अलग हो जाना चाहिये*, पर अलग-अलग भी प्रेमके लिये ही होना चाहिये। यदि अलग-अलग होकर भी आपसमें खटपट रहती है तो फिर अलग-अलग होनेसे क्या हुआ ? अतः प्रेमके लिये ही साथ रहना है और प्रेमके लिये ही अलग होना है। अलग होनेपर अपने हिस्सेके लिये कलह भी नहीं होनी चाहिये। छोटे भाईको चाहिये कि बड़ा भाई जितना दे दे, उतना ही ले ले, पर बड़े भाईको चाहिये कि वह अपनी दृष्टिसे छोटे भाईको अधिक दे; क्योंकि वह छोटा है, प्यारका पात्र है। अपनी दृष्टिसे अधिक देनेपर भी यदि छोटा भाई (अपनी दृष्टिसे) ठीक न माने तो बड़े भाईको छोटे भाईकी दृष्टिका ही आदर करना चाहिये, अपनी दृष्टिका नहीं।

त्याग ही बड़ी चीज है। तुच्छ चीजोंके लिये राग-द्वेष करना बड़ी भारी भूल है; क्योंकि चीजें तो यहीं रह जायँगी, पर राग-द्वेष साथमें जायँगे। इसलिये मनुष्यको हरदम सावधान रहना चाहिये और अपने अन्तःकरणको कभी मैला नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—पुत्र आपसमें लड़ें तो भाइयोंको क्या करना चाहिये ?

उत्तर—जहाँतक बने, अपने पुत्रका पक्ष न लें, भाईके पुत्रका पक्ष लें। यदि भाईके पुत्रका अन्याय हो तो उसको शान्तिसे समझाना चाहिये। तात्पर्य है कि अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करें तो सबके साथ अच्छा बर्ताव होगा।

प्रश्न—माँ और पत्नी (सास और बहू) आपसमें लड़ें तो पुत्रका क्या कर्तव्य होता है ?

उत्तर—ऐसी स्थितिमें पुत्रके लिये बड़ी आफत होती है ! वह अगर माँका पक्ष ले तो स्त्री रोने लग जाती है और स्त्रीका पक्ष ले तो माँ दुःखी हो जाती है कि यह तो स्त्रीका हो गया, मेरा नहीं रहा ! ऐसे समयमें पुत्र तो विशेषतासे माँका ही आदर करे, माँकी ही बात रखे और स्त्रीको एकान्तमें समझाये कि 'मेरी माँके समान मेरे लिये और तेरे लिये भी पूजनीय, आदरणीय और कोई नहीं है। उसके समान हम दोनोंका हित करनेवाला और हित चाहनेवाला भी और कोई नहीं है। माँ तेरेको खरी-खोटी सुना भी दे, तो भी भीतरसे वह कभी तेरा अहित नहीं चाहती, प्रत्युत सदा हित ही चाहती है। अगर तू मेरेको राजी रखना चाहती है तो माँको राजी रख। पुत्रको चाहिये कि वह स्त्रीके वशमें होकर, उसके कहनेमें आकर किसीसे कलह, लड़ाई, द्वेष न करे। स्त्रीके कहनेमें आकर माँ, बहन आदिका तिरस्कार, अपमान कर देना बहुत बड़ा अपराध है।

माँको भी एकान्तमें समझाये कि 'माँ ! यह बेचारी अपने माँ-बाप, भाई-भौजाई आदि सबको छोड़कर आयी है; अतः आप ही इसका लाड़-प्यार कर सकती हैं। इसका दुःख सुननेवाला दूसरा कौन है ? यह अपने सुख-दुःखकी बात किससे कहे ? आप ही इसकी माँ हैं। इसके द्वारा आपके मनके प्रतिकूल बर्ताव भी हो जाय तो भी सहन करके इसको निभाना चाहिये। हम दोनों ही इसका खयाल नहीं करेंगे तो यह कहाँ जायगी ? अतः माँ ! इसको क्षमा कर दें। मैंने बचपनमें कई बार आपकी गोदीमें टट्टी-पेशाब कर दिया, पर आपने मेरेको अपना ही अंग मानकर मेरेपर कभी गुस्सा नहीं किया, प्रत्युत क्षमा कर दिया और उसको मेरा अपराध माना ही नहीं। ऐसे ही इसको अपना अंग समझकर क्षमा कर दें। जैसे दाँतोंसे जीभ कट जाय तो दाँतोंके साथ वैर नहीं होता, उनपर गुस्सा नहीं आता, ऐसे ही इसके द्वारा कोई अपकार भी हो जाय तो आपको गुस्सा नहीं आना चाहिये; क्योंकि यह आपका ही अंग है। जैसे मैं आपका अंग हूँ, ऐसे ही मेरा अंग होनेसे यह भी आपका ही अंग हुआ।'

प्रश्न—पत्नी और पुत्रवधू आपसमें लड़ें तो पति

* रोजानारी राड़ आपसकी आछी नहीं, बने जहाँतक बाड़ चटपट कीजै चाकरिया।

(ससुर)को क्या करना चाहिये ?

उत्तर—पतिको चाहिये कि वह अपनी पत्नीको धमकाये और पुत्रवधूको आश्वासन दे कि मैं तुम्हारी सासको समझाऊँगा। अपनी पत्नीको एकान्तमें समझाये कि 'देखो ! तुम ही इसकी माँ हो। यह अपने माता-पिता, भाई-भौजाई आदि सबको छोड़कर हमारे घर आयी है। अतः तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम इसका अपनी पुत्रीकी तरह पालन करो, प्यार करो। यह अपने दुःखकी बात तुम्हारे सिवाय किसको कहेगी ? अपना आधार, आश्रय किसको बनायेगी ?'

पुत्रवधूको समझाना चाहिये कि 'देख बेटी ! सास जो करती है बहूके हितके लिये ही करती है। पुत्र जन्मता है, तभीसे वह आशा रखती है कि मेरी बहू आयेगी, मेरा कहना करेगी, मेरी सेवा करेगी ! ऐसी आशा रखनेवाली सास बहूका अहित कैसे कर सकती है ? बचपना होनेके कारण, अपने मनके अनुकूल न होनेसे तेरेको सासकी बात बुरी लगती है। बेटी ! तू अपने माँ-बाप आदि सबको छोड़कर यहाँ आयी है तो क्या एक सासको भी राजी नहीं रख सकती ! सास कितने दिनकी है ? यहाँकी मालकिन तो तुम ही हो। तुम दोनोंकी लड़ाई भले आदमी सुनेंगे तो इसमें दोष (गलती) तुम्हारा ही मानेंगे; जैसे—बड़े-बूढ़े और बालक आपसमें लड़ें तो दोष बच्चोंका ही माना जाता है, बड़े-बूढ़ोंका नहीं। अतः इन सब बातोंको खयालमें रखते हुए तुम्हें अपने व्यवहारका सुधार करना चाहिये, जिससे तुम्हारा व्यवहार सासको बुरा न लगे। कभी तुमसे कटु बर्ताव हो भी जाय तो सासके पैरोंमें पड़कर, रोकर क्षमा माँग लेनी चाहिये। इसका सासपर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ेगा, जिससे तुम दोनोंकी तथा घरकी शोभा होगी, घर सुखी होगा। एक तुम्हारे बिगड़नेसे पूरा घर अशान्त हो जायगा। घरकी अशान्तिका कारण तुम क्यों बनती हो ? तुम बड़ोंकी आज्ञाका पालन करो; सुबह-शाम बड़ोंके चरणोंमें पड़ो। सास कुछ भी कह दे, उसके सामने बोलो मत। जब वह शान्त हो जाय, तब अपने मनकी बात बड़ी शान्तिसे उसको बता दो। वह माने तो ठीक , न माने तो ठीक, तुम्हारा कोई दोष नहीं रहेगा।'

प्रश्न—पिता और माता आपसमें लड़ें तो पुत्रका क्या कर्तव्य है ?

उत्तर—जहाँतक बने, पुत्रको माँका पक्ष लेना चाहिये; परन्तु पिताको इस बातका पता नहीं लगना चाहिये कि यह अपनी माँका पक्ष लेता है। पितासे कहना चाहिये कि 'पिताजी ! आप हम सबके मालिक हैं। मेरी माँ कुछ भी कहेगी तो आपसे ही कहेगी। आपके सिवाय उसकी सुननेवाला कौन है ? विवाहके समय आपने अग्नि और ब्राह्मणके सामने जो वचन दिये थे, उसका पालन करना चाहिये। माँ अपने दिये हुए वचन निभाती है या नहीं, इसका खयाल न करके आपको अपना ही कर्तव्य निभाना चाहिये। आप मर्यादा रखेंगे तो मेरे और मेरी माँके लोक-परलोक दोनों सुधर जायँगे, नहीं तो हम दोनों कहाँ जायँगे ? आपके बिना हमारी क्या दशा होगी ? मैं आपको शिक्षा नहीं दे रहा हूँ, केवल याद दिला रहा हूँ। मैं कुछ अनुचित भी कह दूँ तो आपको क्षमा कर देना चाहिये; क्योंकि आप बड़े हैं—***'क्षमा बड़नको चाहिये, छोटनको उत्पात। कहा विष्णुको घट गयो, जो भृगु मारी लात ॥'*** भृगुने लात मारी तो विष्णुभगवान्‌का घटा कुछ नहीं, प्रत्युत महिमा ही बढ़ी ! अतः आप खुद सोचें। आपको मैं क्या समझाऊँ, आप खुद जानकार हैं।'

परिवारमें कलह न हो—इसके लिये प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है कि वह अपने अधिकारका त्याग करके दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करे। प्रत्येक व्यक्ति अपना आदर और सम्मान चाहता है; अतः दूसरोंको आदर और सम्मान देना चाहिये।

प्रश्न—सास पुत्रका पक्ष लेकर तंग करे तो बहूको क्या करना चाहिये ?

उत्तर—बहूको यही समझना चाहिये कि ये तो घरके मालिक हैं। मैं तो दूसरे घरसे आयी हूँ। अतः ये कुछ भी कहें, कुछ भी करें मुझे तो वही करना है, जिससे ये राजी रहें। बहूको सासके साथ अच्छा बर्ताव करना चाहिये, उससे द्वेष नहीं करना चाहिये। उसको अपने भावोंकी रक्षा करनी चाहिये, अपने भावोंको अशुद्ध नहीं होने देना चाहिये। उसको भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे नाथ ! इनको सद्‌बुद्धि दो और मेरेको सहिष्णुता दो।'

प्रश्न—पति और ससुर आपसमें लड़ें तो स्त्रीको क्या करना चाहिये ?

उत्तर—स्त्रीका कर्तव्य है कि वह अपने पतिको समझाये; जैसे—'यहाँ जो कुछ है, वह सब पिताजीका ही है। आपकी माँको भी पिताजी ही लाये हैं। धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, घर, वैभव आदि सब पिताजीका ही कमाया हुआ है। अतः उनका सब तरहसे आदर करना चाहिये। उनकी बात मानना न्याय है, धर्म है और आपका कर्तव्य है। कुछ भी लिखा-पढ़ी किये बिना आप उनकी सम्पत्तिके स्वतःसिद्ध उत्तराधिकारी हैं। अतः वे कुछ भी कहें, वह सब आपको मान्य होना चाहिये। आपको शरीर, मन, वाणी

आदिसे सर्वथा उनका आदर करना चाहिये। वे कभी गुस्सेमें आकर कुछ कह भी दें तो आपको यही सोचना चाहिये कि उनके समान मेरा हित करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। अतः उनका चित्त कभी नहीं दुखाना चाहिये। मैं भी कुछ अनुचित कह दूँ तो आपको मेरी परवाह न करके पिताजीकी बातका ही आदर करना चाहिये।'

प्रश्न—पति और पुत्र आपसमें लड़ें तो स्त्रीको क्या करना चाहिये?

उत्तर—स्त्रीको तो पतिका ही पक्ष लेना चाहिये और पुत्रको समझाना चाहिये कि 'बेटा! तुम्हारे पिताजी जो कुछ कहें, जो कुछ करें, पर वास्तवमें उनके हृदयमें स्वतः तुम्हारे प्रति हितका भाव है। वे कभी तुम्हारा अहित नहीं कर सकते और दूसरा कोई तुम्हारा अहित करे तो वे सह नहीं सकते। अतः इन भावोंका खयाल रखकर तुम्हें पिताजीकी सेवामें ही तत्पर रहना चाहिये। तुम मेरा आदर भले ही कम करो, पर पिताजीका आदर ज्यादा करो। वास्तवमें हमारे मालिक तो ये ही हैं। मेरा आदर तुम कम भी करोगे तो मैं नाराज नहीं होऊँगी, पर तुम्हारे पिताजी नाराज नहीं होने चाहिये। मैं भी उनको प्रसन्न रखना चाहती हूँ और तुम्हारा भी कर्तव्य है कि उनको प्रसन्न रखो।'

प्रश्न—पत्नी और पुत्र आपसमें लड़ें तो पुरुषका क्या कर्तव्य है?

उत्तर—उसे पुत्रको समझाना चाहिये कि 'बेटा! माँको प्रसन्न रखना तुम्हारा विशेष कर्तव्य है। संसारमें जितने भी सम्बन्ध हैं, उन सबमें माँका सम्बन्ध ऊँचा है। अतः अपनी स्त्रीके वशीभूत होकर तुम्हें माँका चित्त नहीं दुखाना चाहिये।'

पत्नीसे कहना चाहिये कि 'तुमने इसको पेटमें रखा है, जन्म दिया है, अपना दूध पिलाया है। अपनी गोदमें टट्टी-पेशाब करनेपर भी तुमने इसपर कभी गुस्सा नहीं किया, प्रत्युत प्रसन्नतासे उत्साहपूर्वक कपड़े धोये। अब यह तुम्हें कुछ कड़ुआ भी बोल दे तो भी अपना प्यारा पुत्र मानकर इसको क्षमा कर दो; क्योंकि तुम माँ हो। पुत्र कुपुत्र हो सकता है, पर माता कुमाता नहीं हो सकती—'**कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति**'।

प्रश्न—परिवारमें प्रेम और सुख-शान्ति कैसे रहे?

उत्तर—जब मनुष्य अपने उद्देश्यको भूल जाता है, तभी सब बाधाएँ, आफतें आती हैं। अगर वह अपने उद्देश्यको जाग्रत् रखे कि चाहे जो हो जाय, मुझे अपनी आध्यात्मिक उन्नति करनी ही है, तो फिर वह सुख-दुःखको नहीं गिनता—'**मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्**॥' और अपने स्वार्थ एवं अभिमानका त्याग करनेमें उसको कोई कठिनाई भी नहीं होती। स्वार्थ और अभिमानका त्याग होनेसे व्यवहारमें कोई बाधा, अड़चन नहीं आती। व्यवहारमें, परस्पर प्रेम होनेमें बाधा तभी आती है, जब मनुष्य अपनी मूँछ रखना चाहता है, अपनी बात रखना चाहता है, अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है।

दूसरेका भला कैसे हो, उसका कल्याण कैसे हो, उसका आदर-सम्मान कैसे हो, उसको सुख-आराम कैसे मिले—यह बात जब आचरणमें आ जाती है, तब सब कुटुम्बी प्रसन्न हो जाते हैं। किसी समय कोई कुटुम्बी अप्रसन्न भी हो जाय तो उसकी अप्रसन्नता टिकेगी नहीं, स्थायी नहीं रहेगी; क्योंकि जब कभी वह अपने लिये ठीक विचार करेगा, तब उसकी समझमें आ जायगा कि मेरा हित इसी बातमें है। जैसे बालकको पढ़ाया जाय तो खेलकूदमें वृत्ति रहनेके कारण उसको पढ़ाई बुरी लगती है, पर परिणाममें उसका हित होता है। ऐसे ही कोई बात ठीक होते हुए भी किसीको बुरी लगती है तो उस समय भले ही उसकी समझमें न आये, पर भविष्यमें जरूर समझमें आयेगी। कदाचित् उसकी समझमें न भी आये तो भी हमें अपनी नीयत और आचरणपर सन्तोष होगा कि हम उसका भला चाहते हैं और हमारे भीतर एक बल रहेगा कि हमारी बात सच्ची और ठोस है।

आपसमें प्रेम रहनेसे ही परिवारमें सुख-शान्ति रहती है। प्रेम होता है अपने स्वार्थ और अभिमानके त्यागसे। जब स्वार्थ और अभिमान नहीं रहेगा, तब प्रेम नहीं होगा तो क्या होगा! दूसरा व्यक्ति अपने स्वार्थके वशीभूत होकर हमारे साथ कड़ुआ बर्ताव करता है तो कभी-कभी यह भाव पैदा होता है कि मैं तो इसके साथ अच्छा बर्ताव करता हूँ, फिर भी यह प्रसन्न नहीं हो रहा है, मैं क्या करूँ! ऐसा भाव होनेमें हमारी सूक्ष्म सुख-लोलुपता ही कारण है; क्योंकि दूसरे व्यक्तिके तत्काल सुखी, प्रसन्न होनेसे एक सुख मिलता है। अतः इस सुख-लोलुपताका पता लगते ही इसका त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि हमें केवल अपना कर्तव्य निभाना है, दूसरेका आदर करना है, उसके प्रति प्रेम करना है। हमारे भाव और आचरणका उसपर असर पड़ेगा ही। हाँ, अन्तःकरणमें कठोरता होनेके कारण उसपर असर न भी पड़े तो भी हमने अपनी तरफसे अच्छा किया—इस बातको लेकर हमें सन्तोष होगा। सन्तोष होनेसे हमारा प्रेम घटेगा नहीं और परिवारमें भी सुख-शान्ति रहेगी।

★

आवश्यक शिक्षा

मनुष्यमात्र वास्तवमें विद्यार्थी ही है। देवता, यक्ष, राक्षस, पशु, पक्षी आदि जितनी स्थावर-जंगम योनियाँ हैं, वे सब भोगयोनियाँ हैं। उनमें मनुष्ययोनि केवल ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेके लिये है, अविद्या और भोग प्राप्त करनेके लिये नहीं।

मनुष्यशरीर केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है; अतः परमात्मप्राप्ति कर लेना ही वास्तवमें मनुष्यता है। इसलिये मनुष्ययोनि वास्तवमें साधनयोनि ही है। मनुष्ययोनिमें जो अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती हैं, यदि उनमें मनुष्य सुखी-दुःखी होता है तो वह भोगयोनि ही हुई और भोग भोगनेके लिये वह नये कर्म करता है तो भी उसमें भोगयोनिकी ही मुख्यता रही। अतः अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको साधन-सामग्री बना लेना और भोग भोगने तथा स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे नये कर्म न करना, प्रत्युत परमात्मप्राप्तिके लिये शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार कर्तव्यकर्म करना ही मनुष्यता है। इस दृष्टिसे मनुष्यमात्रको साधक, विद्यार्थी कह सकते हैं।

मनुष्य-जीवनमें आश्रमोंके चार विभाग किये गये हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। जैसे, सौ वर्षकी आयुमें पचीस वर्षतक ब्रह्मचर्याश्रम, पचीससे पचास वर्षतक गृहस्थाश्रम, पचाससे पचहत्तर वर्षतक वानप्रस्थाश्रम और पचहत्तरसे सौ वर्षतक संन्यासाश्रम बताया गया है। ब्रह्मचर्याश्रम (विद्यार्थी-जीवन) में गुरु-आज्ञाका पालन, गृहस्थाश्रममें अतिथि-सत्कार, वानप्रस्थाश्रममें तपस्या और संन्यासाश्रममें ब्रह्मचिन्तन करना मुख्य है।

ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) दो तरहके होते हैं—नैष्ठिक और उपकुर्वाण। नैष्ठिक ब्रह्मचारी वे होते हैं, जो अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए, विवेक-विचारके द्वारा भोगासक्तिका त्याग करके परमात्माकी तरफ ही चल पड़े हैं। उपकुर्वाण ब्रह्मचारी वे होते हैं, जो विचारके द्वारा भोगासक्तिका त्याग नहीं कर सके; अतः केवल भोगासक्तिको मिटानेके लिये गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करते हैं। वे शास्त्रविधिपूर्वक विवाह करते हैं और धर्मका पालन करते हुए त्यागदृष्टिसे उपार्जन और भोग करते हैं। उनके सामने धर्मकी मुख्यता रहती है। धर्मका पालन करनेसे उनको भोग और संग्रहसे स्वतः वैराग्य हो जाता है—*'धर्म तें बिरति'* (मानस ३। १६। १) और वे परमात्माकी तरफ चल पड़ते हैं।

प्रश्न—विद्यार्थी किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो केवल विद्याध्ययन करना चाहता है, उसको विद्यार्थी कहते हैं। 'विद्यार्थी' शब्दका अर्थ है—विद्याका अर्थी अर्थात् केवल विद्या चाहनेवाला। कौन-सी विद्या ? विद्याओंमें श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या—**'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्'** (गीता १०। ३२)

प्रश्न—विद्याका वास्तविक स्वरूप क्या है ?

उत्तर—कुछ भी जानना विद्या है। अनेक शास्त्रोंका, कला-कौशलोंका, भाषाओं आदिका ज्ञान विद्या है। वास्तवमें विद्या वही है, जिससे जानना बाकी न रहे, जीवकी मुक्ति हो जाय—**'सा विद्या या विमुक्तये'** (विष्णुपुराण १। १९। ४१)। अगर जानना बाकी रह गया तो वह विद्या क्या हुई !

एक शब्दब्रह्म (वेद) है और एक परब्रह्म (परमात्म-तत्त्व) है। अगर शब्दब्रह्मको जान लिया, पर परब्रह्मको नहीं जाना तो केवल परिश्रम ही हुआ—

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥

(श्रीमद्भा० ११। ११। १८)

अतः परमात्मतत्त्वको जानना ही मुख्य विद्या है और इसीमें मनुष्यजीवनकी सफलता है।

जिससे जीविकाका उपार्जन हो, नौकरी मिले, वह भी विद्या है, पर वह विद्या परमात्मप्राप्तिमें सहायक नहीं होती, प्रत्युत कहीं-कहीं उस विद्याका अभिमान होनेसे वह विद्या परमात्मप्राप्तिमें बाधक हो जाती है। विद्याके अभिमानीको कोई ब्रह्मनिष्ठ महात्मा मिल जाय तो वह तर्क करके उनकी बातको काट देगा, उनको चुप करा देगा, जिससे वह वास्तविक लाभसे वञ्चित रह जायगा। अतः कहा गया है—

षडङ्गादिवेदो मुखे शास्त्रविद्या
कवित्वादि गद्यं सुपद्यं करोति।
यशोदाकिशोरे मनो वै न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्॥

'छहों अंगोंसहित वेद और शास्त्रोंको पढ़ा हो, सुन्दर गद्य और पद्यमय काव्य-रचना करता हो, पर यदि यशोदानन्दनमें मन नहीं लगा तो उन सभीसे क्या लाभ है ?'

प्रश्न—विद्या ग्रहण करनेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—विद्याके बिना मनुष्यजन्म सार्थक नहीं होगा, प्रत्युत मनुष्यजन्म और पशुजन्म एक समान ही होंगे। अतः विद्याकी अत्यन्त आवश्यकता है।

कोई भी आरम्भ होता है तो वह किसी उद्देश्यको लेकर ही होता है। मनुष्यजन्म केवल दुःखोंका अत्यन्ताभाव और परमानन्दकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही मिला है। इस उद्देश्यकी

सिद्धि अगर नहीं हुई तो मनुष्यता नहीं है। जैसे पशु-पक्षी आदि भोगयोनि हैं, ऐसे ही परमात्मप्राप्तिके बिना मनुष्य भी भोगयोनि ही है। कारण कि परमात्मप्राप्तिका अवसर प्राप्त करके भी मनुष्य केवल भोगोंमें लगा रहा तो वह भोगयोनि ही हुई और उसका पतन ही हुआ—**'तमारूढच्युतं विदुः'** (श्रीमद्भा० ११।७।७४)।

यदि मनुष्यजन्म चौरासी लाख योनियोंमें जानेके लिये, बार-बार जन्मने-मरनेके लिये ही हुआ तो फिर उसमें मनुष्यता क्या हुई? अतः मनुष्यजन्ममें विद्यार्थीको परमात्माकी प्राप्ति कर लेनी चाहिये, जिससे बढ़कर कोई लाभ नहीं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६।२२)

'जिस लाभकी प्राप्ति होनेपर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ माननेमें भी नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर मनुष्य बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता।'

वास्तवमें ब्रह्मविद्या ही विद्या है, अन्य विद्या तो अविद्या है। कारण कि ब्रह्मविद्याके प्राप्त होनेपर कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रहता परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य (लौकिक) विद्याएँ नहीं पढ़नी चाहिये। अन्य विद्याएँ भी पढ़नी चाहिये। अन्य भाषाओं, लिपियों आदिका ज्ञान-सम्पादन करना उचित है, पर उनमें ही लिप्त रहना उचित नहीं है; क्योंकि उनमें ही लिप्त रहनेसे मनुष्यजन्म निरर्थक चला जायगा। दूसरी बात, लौकिक विद्याओंको पढ़नेसे 'मैं पढ़ा-लिखा हूँ'—ऐसा एक अभिमान पैदा हो जायगा, जिससे बन्धन और दृढ़ हो जायगा।

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान्पुरुषः स विद्वान्।

'शास्त्रोंको पढ़कर भी लोग मूर्ख बने रहते हैं। वास्तवमें विद्वान् वही है, जो शास्त्रके अनुकूल आचरण करता है।'

मनुष्यजन्मका उद्देश्य है—परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करना और उसका साधन है—संसारकी सेवा। अतः लौकिक विद्या, धन, पद आदिका उपयोग संसारकी सेवामें ही है। ये संसारकी सेवामें ही काम आ सकते हैं, परमात्मप्राप्तिमें नहीं, क्योंकि परमात्मप्राप्ति लौकिक विद्याके अधीन नहीं है। जिसके पास लौकिक विद्या आदि है, उसीपर संसारकी सेवा करनेकी जिम्मेवारी है। मालपर ही जकात लगती है और इन्कमपर ही टैक्स लगता है। माल नहीं हो तो जकात किस बातकी? इन्कम नहीं हो तो टैक्स किस बातका?

लौकिक विद्या, धन, पद आदिको लेकर संसारमें मनुष्यकी जो प्रशंसा होती है, वह एक तरहसे मनुष्यकी निन्दा ही है। तात्पर्य है कि महिमा तो लौकिक विद्या आदिकी ही हुई, खुदकी तो निन्दा ही हुई! अतः जो लौकिक विद्या आदिसे अपनेको बड़ा मानता है, वह वास्तवमें अपनेको छोटा ही बनाता है।

प्रश्न—विद्याध्ययन बाल्यावस्थामें ही करना चाहिये या आजीवन?

उत्तर—बाल्यावस्थामें विद्याध्ययन करनेका नियम केवल उपकुर्वाण ब्रह्मचारीके लिये ही है। जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी है, उसको तो आजीवन शास्त्रोंका, ब्रह्मविद्याका अध्ययन करते रहना चाहिये।

प्रश्न—अगर कोई विद्यार्थी विद्याध्ययन करते हुए बीचमें ही मर जाय तो उसकी क्या गति होगी?

उत्तर—विद्याध्ययन एक तपश्चर्या है, जो विद्यार्थीको शुद्ध कर देती है—**'स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते'** (गीता १७।१५)। अतः संसारमें भोग और संग्रहमें लगे हुए प्राणियोंसे वह बहुत अच्छा है। उसने जितनी मात्रामें भोग और संग्रहका त्याग किया है, उतना तो वह श्रेष्ठ है ही।

अन्त समयमें विद्यार्थीकी जिस प्रकारके विद्याध्ययनकी वृत्ति रही है, अगले जन्ममें वह पूर्वसंस्कारके अनुसार उसी विद्याको पढ़ेगा।

जो केवल जीविका चलानेके उद्देश्यसे विद्या पढ़ता है, वह अगर बीचमें मर जाय तो जैसे साधारण आदमीकी गति होती है, वैसे ही उसकी गति होगी। कारण कि कल्याण करनेवाला भाव है, क्रिया नहीं।

जो केवल दूसरोंको नीचा दिखानेके लिये और अपने अभिमानको पुष्ट करनेके लिये विद्याध्ययन करता है, वह अगर बीचमें मर जाय तो भूत-प्रेत, पिशाच आदि नीच योनिमें चला जायगा।

जिसकी केवल ग्रन्थ पढ़नेकी, ग्रन्थोंकी जानकारी प्राप्त करनेकी रुचि है, वह अगर बीचमें मर जाय तो उस रुचिके अनुसार आगे मनुष्यजन्म लेकर उन ग्रन्थोंको पढ़ेगा। ऐसे विद्यार्थीको फिर मनुष्य-जन्म मिल गया तो यह काम कोई कम नहीं हुआ है! अगर वह ब्रह्मविद्या पढ़ते हुए मर जाय और मरते समय उसमें तत्त्वजिज्ञासा रही तो वह मुक्त हो जायगा और तत्त्वजिज्ञासा न रही तो वह योगभ्रष्ट हो जायगा।

जो केवल भगवान्‌की आज्ञा मानकर विद्याध्ययनरूप कर्तव्यका पालन करता है, वह अगर बीचमें मर जाय और

मरते समय उसको भगवान्‌की स्मृति हो जाय तो उसका उद्धार हो जायगा* और भगवान्‌की स्मृति न हो तो वह योगभ्रष्ट हो जायगा।

प्रश्न—प्राचीन और आधुनिक विद्यार्थियोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—प्राचीन विद्याको विद्यार्थी ज्यों-ज्यों सीखते थे, पढ़ते थे, अनुभव करते (अपने तथा दूसरोंके काममें लाते) थे, त्यों-त्यों उनमें निरभिमानिता, नम्रता आती थी। वे जिस विषयको पढ़ते थे, उसमें बड़े गहरे उतरते थे। दूसरा क्या करता है—इस तरफ वे खयाल ही नहीं करते थे। परन्तु आधुनिक विद्याको विद्यार्थी केवल पढ़ते हैं, सीखते हैं, अनुभव नहीं करते। अतः उनमें अभिमान आ जाता है। अनुभवके बिना सीखा हुआ ज्ञान अपने लिये और दुनियाके लिये खतरनाक होता है!

केवल सीखे हुए ज्ञानवाले तथा भोग और संग्रहमें आसक्त विद्यार्थियोंको यह वहम हो जाता है कि 'हम ठीक जानते हैं, पुराने जमानेके लोग ठीक नहीं जानते थे।' वे प्राचीन विद्याकी खिल्ली उड़ाते हैं कि 'प्राचीन दर्शन तो अँधेरेमें काली बिल्लीपर हाथ फेरना है अर्थात् प्राचीन दर्शन फालतू हैं,' वे खिल्ली क्यों उड़ाते हैं? क्योंकि उन्होंने केवल सीखा है, अनुभव नहीं किया है। परन्तु जिन्होंने अनुभव किया है, वे प्राचीन दार्शनिकोंका और उनके अनुभवका आदर करते हैं।

प्राचीन विद्वान् केवल पढ़े हुए नहीं थे। विद्याके साथ-साथ उनमें प्रभु-उपासना भी थी। अतः उनमें जोश नहीं था, होश था। आजकलके पढ़े-लिखोंमें जोश तो होता है, पर होश नहीं होता, क्योंकि वे गहरे नहीं उतरते।

प्राचीन विद्वानोंको भी विद्याका अभिमान आता था। परन्तु वे ज्यों-ज्यों विद्यामें गहरे उतरते थे, त्यों-ही-त्यों उनका अभिमान गलता जाता था और जैसे बुखार उतरनेपर शरीर हलका हो जाता है, ऐसे ही वे भीतरसे हलके हो जाते थे। अर्थात् उनमें अभिमानका लेश भी नहीं रहता था। भर्तृहरिजीने कहा है—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

(नीतिशतक)

'जब मैं थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त करके हाथीके समान मदान्ध हो रहा था, उस समय मेरा मन 'मैं ही सर्वज्ञ हूँ'—ऐसा सोचकर घमण्डसे पूर्ण था। परन्तु जब विद्वानोंके संगसे कुछ-कुछ ज्ञान होने लगा, तब 'मैं मूर्ख हूँ'—ऐसा समझनेके कारण मेरा वह मद (अभिमान) ज्वरकी तरह उतर गया।'

उन दार्शनिकोंमें किञ्चित् अहंभाव रहनेसे उनके दर्शनोंमें भेद रहता था; अतः सभी दार्शनिकोंकी विवेचन-शैली भिन्न-भिन्न होती थी। परन्तु परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेपर उनका वह सूक्ष्म अहंभाव मिट जाता था। तात्पर्य है कि जबतक दार्शनिकोंमें अहंभाव रहता था, तभीतक उनमें भेदबुद्धि रहती थी और उसके रहनेसे ही अपना दर्शन बढ़िया और दूसरोंका दर्शन घटिया मालूम देता था। परन्तु जब उनका अहंभाव मिट जाता था, तब प्रक्रियाभेद रहते हुए भी भेदबुद्धि नहीं रहती थी। आजकलके दार्शनिक उस भेदतक ही पहुँचते हैं, उससे आगे उनके अनुभवतक नहीं पहुँचते।

पुराने जमानेमें विद्यार्थी गुरुसे आदरसहित विद्या पढ़ते थे और आजकल विद्यार्थी नौकरोंसे पढ़ते हैं अर्थात् गुरुपर हुक्म चलाते हैं। नौकरसे ली हुई विद्या विकसित नहीं होती। पहले गुरु चाहे जिस विद्यार्थीको निकाल देते थे और चाहे जिसको रख लेते थे। परन्तु आजकल विद्यार्थी चाहे जिस गुरु (अध्यापक) को निकाल देते हैं और चाहे जिसको रख लेते हैं। पहले गुरु गद्दीपर विराजमान होकर विद्या देते थे और शिष्य (विद्यार्थी) नीचे आसनपर बैठते थे। परन्तु आजके विद्यार्थी बेंचोंपर, कुर्सियोंपर बैठते हैं और अध्यापक काले बोर्डके पास खड़े-खड़े विद्यार्थियोंको पढ़ाते हैं।

पहले विद्यार्थी लौकिक व्यवहारके लिये पढ़ाई करते हुए भी परलोककी तरफ मुख्यरूपसे दृष्टि रखते थे। वे लौकिक विद्याको भी जानते थे और पारमार्थिक तत्त्वको भी। उनकी दृष्टि उच्च, श्रेष्ठ रहती थी। परन्तु आजकलके विद्यार्थी लौकिक विद्याको भी ठीक तरहसे नहीं जानते, फिर वे पारमार्थिक तत्त्वको क्या जानेंगे! उन्होंने जितना पढ़ा है, उसको भी वे दूसरोंको ठीक तरहसे नहीं पढ़ा सकते। केवल सर्टिफिकेट

* अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ (गीता ८।५)
'जो मनुष्य अन्तकालमें भी मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़कर जाता है, वह मेरेको ही प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है।'

पानेके लिये वे नकल करके उत्तीर्ण होते हैं और अपने नामके साथ बी॰ ए॰, एम्॰ ए॰, शास्त्री, आचार्य आदि उपाधियाँ जोड़कर राजी हो जाते हैं। वे केवल व्यवहारमें आनेवाली बातोंको ही सीखते हैं और जिनसे अधिक धन पैदा हो, अधिक भोग भोगें, उन्हीं उपायोंमें लगे रहते हैं। मनुष्यजन्म क्यों मिला है, इसका खास प्रयोजन क्या है, अपना कल्याण कैसे हो—इस तरफ उनकी दृष्टि जाती ही नहीं।

जैसे दो दीपक पासमें रख दें तो एक-दूसरेके प्रकाशसे दोनोंके नीचेका अँधेरा दूर हो जाता है, ऐसे ही पहले विद्यार्थी परस्पर वाद-विवाद करते थे, लौकिक-पारलौकिक बातोंपर विचार करते थे, जिससे उनको दोनों लोकोंकी बातोंका ज्ञान हो जाता था। परन्तु आजकलके विद्यार्थी ऐसा बहुत कम करते हैं। वे तो अपनेको ही विद्वान् मानकर बैठ जाते हैं, जिससे उनका विकास रुक जाता है।

पहलेके विद्यार्थी बड़े नम्र एवं गुरुके भक्त होते थे। परन्तु आजके विद्यार्थी प्रायः बड़े उद्दण्ड, उच्छृखल होते हैं। वे स्कूल, कालेज, स्टेशन आदिपर दूसरोंकी हँसी उड़ाते हैं, दिल्लगी करते हैं। दूसरोंको कष्ट देते हैं, तंग करते हैं। उनमें माँ-बापकी और गुरुजनोंकी न भक्ति है, न आदर है, प्रत्युत वे उनका तिरस्कार, अपमान करते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि वे बड़े होनेपर अपनी सन्तानसे तिरस्कृत होते हैं और मजबूर होकर उनको तिरस्कृत होना ही पड़ता है। उनके लिये यह लोक भी सुखदायी नहीं होता, फिर परलोक कैसे सुखदायी हो सकता है?

प्राचीन विद्यार्थी ग्रन्थोंके गहरे तत्त्वको समझते थे और उनका उस विद्यापर अधिकार हो जाता था तथा वे उस विद्यासे नये आविष्कार भी कर सकते थे। ऐसे विद्यार्थी 'आचार्य' कहलाते थे। परन्तु आधुनिक विद्यार्थी विद्याके वास्तविक तत्त्वको समझते नहीं और समझना चाहते भी नहीं। हाँ, यदि उनमें लगन हो, उत्कण्ठा हो तो वे समझ सकते हैं।

प्राचीन विद्यार्थियोंको कोई नयी बात मिल जाती थी तो वे उसमें चिपक जाते थे, उसका आदर करते थे, उसको महत्त्व देते थे, उसका तत्त्व समझते थे, उसका ठीक मनन करके उसको धारण कर लेते थे। अतः वह बात, वह विद्या उनमें स्थायी हो जाती थी। परन्तु आधुनिक विद्यार्थियोंको कोई विशेष बात मिल जाय तो उनको उसमें विशेषता मालूम नहीं देती, क्योंकि वे उसमें प्रविष्ट नहीं होते।

पहले विद्यार्थी बाहरकी चमक-दमकमें न फँसकर भीतरके गहरे भावोंको समझते थे और समझनेकी उत्कण्ठा रखते थे। वे जितना नहीं जानते थे, उतना अनजानपना उनको खटकता रहता था और आगे जाननेकी उत्कण्ठा बनी रहती थी। आजकलके विद्यार्थियोंमें प्रायः वैसा उत्साह देखनेमें नहीं आता। वे जितना नहीं जानते, उतना अनजानपना उनको खटकता नहीं।

पहले विद्यार्थी गुरुकी सेवा करते थे, उनके अनुकूल रहते थे, उनकी प्रसन्नतामें अपनी प्रसन्नता मानते थे। वे भीतरसे गुरुके साथ (विचार, सिद्धान्त, मान्यता आदिसे) एक हो जाते थे। अतः शिष्यमें गुरुका अवतार हो जाता था। वे विद्याकी प्राप्तिमें गुरु-कृपाको ही कारण मानते थे। वास्तवमें जो विद्या गुरु-कृपासे मिलती है, वह अपने उद्योगसे, पुरुषार्थसे नहीं मिलती।

पहले विद्यार्थी कार्यारम्भ या विद्यारम्भमें गुरुका स्मरण करते थे, जिससे उन्हें उसमें सफलता मिलती थी। जैसे, लव-कुशने अपनी माता सीतासे ही धनुर्विद्या सीखी थी; अतः वे माँको गुरु मानते थे। जब रामजीके यज्ञीय घोड़ेको पकड़नेपर शत्रुघ्न आदिके साथ युद्ध हुआ, तब लव-कुशने युद्धके आरम्भमें माँ सीताका स्मरण किया। अतः युद्धमें लव-कुशकी विजय हुई। उन्होंने सब सेनाको हरा दिया तथा हनुमान्‌जी और अंगदको पकड़कर माँके पास ले गये। तात्पर्य है कि पहले विद्यार्थी गुरुजनोंके कृतज्ञ होते थे। परन्तु आजके विद्यार्थी गुरुजनोंके कृतज्ञ न होकर कृतघ्न होते हैं। गुरुजनोंके विरोधमें वे आन्दोलन छेड़ देते हैं! अतः उनकी विद्या फलीभूत नहीं होती। अभिमानके कारण वे अपने ही अध्ययनसे अपनेमें विशेषता मानते हैं; अतः उनकी विशेषता सीमित होती है।

पुराने विद्यार्थी विशेष संयम रखते थे, ब्रह्मचर्यका पालन करते थे। वे स्वाद और शौकीनीके नजदीक भी नहीं जाते थे। पर आजके विद्यार्थी शृङ्गार, सुन्दर कपड़े, स्वाद-शौकीनी, सुख-आराम आदिको ज्यादा पसन्द करते हैं। अतः उनमें संयम, ब्रह्मचर्यका पालन नहीं होता। कोई-कोई तो संयम रखनेको दोष मानते हैं और कहते हैं कि इन्द्रियाँ सुख भोगनेके लिये ही मिली हैं।

पहले विद्यार्थी गुरुकुलमें गुरुके पास जाकर पढ़ते थे। अतः उनमें नम्रता होती थी। जैसे आमका पेड़ फलान्वित होता है तो वह नीचे झुक जाता है अर्थात् फल पाकर वह नम्र हो जाता है। आजके विद्यार्थी गुरुको अपने घरपर बुलाकर पढ़ते हैं और उनकी हाजिरी लेते हैं कि आप इतना समय देरीसे आये; अतः आपको इतने पैसे कम मिलेंगे! विद्या

पढ़नेपर भी उनमें नम्रता नहीं आती, प्रत्युत वे ज्यादा उद्दण्ड हो जाते हैं। जैसे, एरण्डके वृक्षमें जब फल आते हैं, तब वह नीचे नहीं झुकता, प्रत्युत ऊपरकी ओर जाता है*।

पहले विद्यार्थियोंमें 'कर्तव्य' की प्रधानता थी। वे कर्तव्य-पालनमें ही अपना अधिकार मानते थे, फलमें नहीं—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** (गीता २।४७)। अतः वे मुक्त हो जाते थे। आजके विद्यार्थियोंमें 'फल' की प्रधानता है। अतः वे फलमें आसक्त होकर बँध जाते हैं—**'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५।१२)।

प्राचीन विद्यार्थी विद्याध्ययनको ही मुख्य मानते थे और उसीमें अपना समय लगाते थे। आजकलके विद्यार्थी राजनीति आदिमें पड़ जाते हैं, जिससे उनका विद्याध्ययन छूट जाता है, विद्याध्ययनमें उनकी तत्परता नहीं रहती, उनका मन नहीं लगता।

पहले विद्यार्थियोंमें आस्तिकताकी प्रधानता थी। वे जिस विद्याको पढ़ते थे, वह लोक और परलोक दोनोंमें काम आती थी। आजके विद्यार्थियोंमें नास्तिकता ज्यादा होती है। वे जिस विद्याको पढ़ते हैं, वह इस लोकमें भी प्रायः काम नहीं आती, फिर वह परलोकमें क्या काम आयेगी!

प्रश्न—प्राचीन और आधुनिक विद्यामें क्या अन्तर है?

उत्तर—प्राचीन (आध्यात्मिक) विद्या स्वयंको शान्ति देनेवाली है। उससे अशान्ति, कलह, अभाव आदि मिट जाते हैं। परन्तु आजकलकी (लौकिक) विद्या केवल बाहर काम आनेवाली है, स्वयंको शान्ति देनेवाली नहीं है। इससे अशान्ति, आपसका कलह बढ़ता है। जैसे धन आनेसे तृष्णा, धनका अभाव अधिक बढ़ता है, ऐसे ही आधुनिक विद्या सीखनेसे अभाव बढ़ता है।

आजकल तरह-तरहके आविष्कार होनेपर भी शान्ति नहीं मिल रही है; क्योंकि उनमें परवशता है, स्वतन्त्रता नहीं है अर्थात् मनुष्यको उनके परवश होना पड़ता है। परन्तु प्राचीन विद्यासे मनुष्यको परवश नहीं होना पड़ता और उसको स्वयंका बोध हो जाता है।

प्राचीन विद्या मनुष्यको परमात्माके सम्मुख कराती है और आधुनिक विद्या मनुष्यको नाशवान्‌के सम्मुख कराती है, नाशवान्‌को महत्त्व देती है।

आधुनिक विद्या व्यवहारमें काम आती है; अतः इसको व्यवहारकी जगह ही महत्त्व देना चाहिये। इसको सर्वोपरि महत्त्व देना ही गलती है। वास्तवमें विद्या वही है, जो मनुष्यका कल्याण कर दे—**'सा विद्या या विमुक्तये'** (विष्णुपुराण १।१९।४१)।

प्रश्न—विद्वान् किसे कहते हैं और विद्यार्थी विद्वान् कब कहलाता है?

उत्तर—साधारण दृष्टिसे जो जिस विषयमें अधिक जानकार है, वह उस विषयका विद्वान् कहलाता है। लौकिक विद्यामें जो चारों वेद, छहों शास्त्र, अठारह पुराण, उपपुराण आदिका जानकार है, वह विद्वान् कहलाता है। परन्तु वास्तविक विद्वान् तो परमात्मतत्त्वको जाननेवाला ही होता है, चाहे वह पढ़ा-लिखा भी न हो! (गीता ४।१९; ५।१८)।

जब दूसरा व्यक्ति विद्यार्थीको अपनेसे अधिक पढ़ा-लिखा स्वीकार कर लेता है, तब वह उस विद्यार्थीको विद्वान् कह देता है। परन्तु विद्यार्थीको अपनी दृष्टिसे अपनेको विद्वान् नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत अपनी कमीको देखना चाहिये और उस कमीको दूर करनेकी चेष्टामें ही तत्पर रहना चाहिये। ऐसा करनेसे विद्यार्थीमें कमी नहीं रहेगी और वह अच्छा विद्वान् बन जायगा। परन्तु जहाँ उसने अपनेको विद्वान् माना कि वहीं उसकी प्रगति रुक जायगी और उसमें अभिमान आ जायगा। अभिमान सम्पूर्ण दोषोंका स्थान है—

संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥

(मानस ७।७४।३)

भगवान्‌का भी अभिमानसे द्वेषभाव और दैन्यसे प्रियभाव है—**'ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च।'** (नारद-भक्तिसूत्र २७)। तात्पर्य है कि भगवान्‌को अभिमान अच्छा नहीं लगता; क्योंकि वह मनुष्यका पतन करता है और सरलता, नम्रता अच्छी लगती है; क्योंकि वह मनुष्यका उद्धार करती है।

प्रश्न—विद्यार्थीके लिये विज्ञानकी पढ़ाई अच्छी है या वाणिज्यकी?

उत्तर—विद्यार्थीको दोनों ही पढ़ाई करनेकी आवश्यकता है। इनमें भी वाणिज्यकी पढ़ाई व्यवहारमें ज्यादा और जल्दी काम आनेवाली है। विज्ञानकी पढ़ाई व्यवहारमें इतनी जल्दी काम नहीं आती।

एक बात विशेष है कि पारमार्थिक बातोंको गहरा

* वास्तवमें देखा जाय तो अभिमान अधूरेपनमें, अधूरी जानकारीमें ही आता है। पूर्ण जानकारीमें अभिमान नहीं आता, प्रत्युत ज्यों-ज्यों पूर्णता आती है, त्यों-त्यों नम्रता, सरलता आती है।

समझनेसे परमार्थ और व्यवहार दोनों ठीक हो जाते हैं। परन्तु केवल व्यवहार सीखनेसे परमार्थ सिद्ध नहीं होता; क्योंकि सीमित विद्यासे सीमित ही मिलता है और असीम तत्त्वको समझनेसे सब बातें ठीक समझमें आ जाती हैं।

प्रश्न—डॉक्टर और वकालतकी पढ़ाई करनी चाहिये या नहीं?

उत्तर—डॉक्टरकी पढ़ाईमें हिंसा और वकालतकी पढ़ाईमें झूठ-कपट रहता है। यदि हिंसा और झूठ-कपट छोड़कर पढ़ाई करे, काम-धन्धा करे तो कोई दोष नहीं है। लोगोंने हिंसा और झूठ-कपटको आवश्यक मान लिया है, अपना कर्तव्य मान लिया है, इसलिये इन दोनों विद्याओंमें हिंसा और झूठ-कपटकी प्रधानता हो रही है तथा ईमानदारीसे काम करनेमें कठिनता मालूम दे रही है।

प्रश्न—क्या विद्यार्थीके लिये संस्कृतकी पढ़ाई आवश्यक है?

उत्तर—विद्यार्थीके लिये तो सभी भाषाओंका ज्ञान आवश्यक है, पर संस्कृतका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। कारण कि संस्कृत-भाषामें जैसे गहरे ग्रन्थ हैं, वैसे दूसरी भाषाओंमें नहीं हैं। संस्कृत-भाषा बहुत मर्यादित एवं परिष्कृत है। यह व्याकरणके नियमोंसे बँधी हुई है। संस्कृत-व्याकरणके समान दूसरी किसी भी भाषाका व्याकरण नहीं है। संस्कृत-व्याकरणका ज्ञान होनेपर दूसरी भाषाओंका ज्ञान सुगमतासे हो जाता है। परन्तु दूसरी भाषाओंका ज्ञान होनेपर संस्कृत-भाषाका ज्ञान सुगमतासे नहीं होता, प्रत्युत संस्कृतका ज्ञान करनेमें कठिनता मालूम देती है।

जो अपनी संस्कृतिको छोड़कर पाश्चात्त्य विद्या, भाषाको सीखता है और वैसा ही बन जाता है, उसने वास्तवमें विद्या ली नहीं है, प्रत्युत अपने-आपको खो दिया है। अतः अपनी संस्कृति सुरक्षित रखते हुए ही विद्या लेनी चाहिये, भाषा सीखनी चाहिये।

प्रश्न—विद्यार्थीको कौन-सी विद्याएँ ग्रहण करनी चाहिये?

उत्तर—विद्या तो हरेक ग्रहण करनी चाहिये, पर जो विद्या भोग और संग्रहमें लगाये, वह वास्तवमें अविद्या ही है। ऐसी विद्याकी विद्यार्थीके लिये जरूरत नहीं है अर्थात् विद्यार्थीके लिये नाटक, सिनेमा, उपन्यास आदिकी विद्या सीखनेकी कोई जरूरत नहीं है और इनको सीखना भी नहीं चाहिये। जो अपने ध्येय (विद्याध्ययन अथवा परमात्म-प्राप्ति)के प्रतिकूल न हो, वही विद्या ग्रहण करनी चाहिये।

प्रश्न—विद्यार्थीके आचरण और व्यवहार कैसे होने चाहिये?

उत्तर—मनुष्यके आचरण और व्यवहार उसकी अहंता (मैं-पन) के अनुसार ही होते हैं। अतः विद्यार्थीमें यह भाव मुख्य रहना चाहिये कि 'मैं विद्यार्थी हूँ; अतः विद्याध्ययन करना ही मेरा काम है, और कोई भी काम मेरा नहीं है।' उसको शरीर-निर्वाहके लिये खाना-पीना आदि काम भी केवल विद्याध्ययनरूपसे अर्थात् विद्यामें तल्लीन रहते हुए ही करना चाहिये। विद्याध्ययनके बिना एक क्षण भी खाली नहीं जाना चाहिये। उसको उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते हरदम विद्यापरायण ही रहना चाहिये।

विद्यार्थीके लिये संयमकी बहुत आवश्यकता है। जब देवताओंके वैद्य दोनों अश्विनीकुमार ब्रह्मविद्याको प्राप्त करनेके लिये दध्यङ् ऋषिके पास गये, तब ऋषिने कहा कि तुमलोग ब्रह्मचर्यका पालन करो। ऋषिके कहे अनुसार उन्होंने ब्रह्मचर्यका पालन किया। फिर उन्होंने ऋषिके पास जाकर ब्रह्मविद्याके लिये प्रार्थना की। ऋषिने उनको पुनः ब्रह्मचर्यका पालन करनेके लिये कहा। वे फिर जाकर ब्रह्मचर्यका पालन करने लगे। इस तरह ऋषिने उनको तीन बार ब्रह्मचर्यका पालन करनेके लिये भेजा और उन्होंने तीन बार अर्थात् सौ वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन किया। फिर वे ब्रह्मविद्या लेनेके लिये ऋषिके पास गये। ऋषिने उनसे कहा कि तुमलोगोंके जानेके बाद इन्द्र मेरे पास आया और उसने ब्रह्मविद्या देनेके लिये आग्रह किया तो मैंने कहा कि 'तुम ब्रह्मविद्याके पात्र नहीं हो।' इस बातपर इन्द्र चिढ़ गया और उसने कहा कि 'मैं भी ब्रह्मविद्याका अधिकारी नहीं हूँ तो फिर और कौन अधिकारी होगा! अब यदि तुम किसीको ब्रह्मविद्या दोगे तो मैं तुम्हारा सिर काट लूँगा।' अतः मैं तो तुमलोगोंको ब्रह्मविद्या दे सकूँगा नहीं और फिर तुमलोग दूसरी जगह जाओगे तो पहलेसे ही तुमलोग किसी दूसरेके पास जाकर ब्रह्मविद्या ग्रहण करो। अश्विनीकुमारोंने कहा कि 'ऋषिवर! आपकी आज्ञा हो तो हम आपकी बाधा दूर कर सकते हैं। हम आपका मस्तक काटकर रख लेंगे और उसकी जगह दूसरा मस्तक लगा देंगे। उस मस्तकसे आप हमें ब्रह्मविद्या दें। जब इन्द्र आकर उसको काट देगा तो हम पुनः आपका पहला मस्तक जोड़ देंगे। फिर इन्द्रको वह मस्तक काटनेका अधिकार नहीं है। इस प्रकार इन्द्रका काम भी हो जायगा और हमें ब्रह्मविद्या भी मिल जायगी!' ऋषिने उनकी बात स्वीकार कर ली। अश्विनी-कुमारोंने ऋषिका सिर काटकर अपने पास रख लिया और

घोड़ेका सिर लगा दिया। ऋषि घोड़ेके मुखसे अश्विनी-कुमारोंको ब्रह्मविद्या देने लगे। इन्द्रने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार घोड़ेका सिर काटकर कहीं फेंक दिया। अश्विनीकुमारोंने पुनः ऋषिका सिर जोड़ दिया। इसपर कुपित होकर इन्द्रने यज्ञमें अश्विनीकुमारोंका भाग छीन लिया। आगे चलकर जब अश्विनीकुमारोंने च्यवन ऋषिकी आँखें ठीक कर दीं तब उन्होंने यज्ञमें पुनः अश्विनीकुमारोंका भाग दिला दिया। इस तरह ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे अश्विनीकुमारोंको ब्रह्मविद्या भी मिल गयी और यज्ञमें भाग भी मिल गया। तात्पर्य है कि विद्यार्थीको ब्रह्मचर्यका पालन अवश्य करना चाहिये। ब्रह्मचर्यका पालन किये बिना विद्यार्थी विद्याको धारण नहीं कर सकता।

विद्यार्थीको हर समय सावधान रहना चाहिये और अपनेमें विद्यार्थी-भाव जाग्रत् रखना चाहिये। जो विद्यार्थी होता है वह एक क्षण भी विद्याध्ययनके बिना नष्ट नहीं करता—

क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
क्षणत्यागे कुतो विद्या कणत्यागे कुतो धनम्॥

'क्षण-क्षण करके विद्याका और कण-कण करके धनका संग्रह करना चाहिये। क्षणका त्याग करनेवालेको विद्या कहाँ और कणका त्याग करनेवालेको धन कहाँ?'

विद्यार्थीके लिये एक कहावत है—***'गलमें घाले गूदड़ी, निश्चय मांडे मरण। घो-पू-चि निशि-दिन करे, तब आवे व्याकरण॥'*** 'घो' अर्थात् पढ़े हुए पाठको घोटता (रटता) रहे, 'पू' अर्थात् गुरुजनोंसे पूछता रहे और 'चि' अर्थात् पढ़े हुए पाठका चिन्तन करता रहे। ऐसा करनेसे व्याकरण आता है। ऐसे ही व्याकरणके विद्यार्थीके लिये आया है—'वैयाकरणखसूची' अर्थात् वह आकाशकी तरफ ही देखता रहे, जिससे न नींद आये और न सङ्कल्प-विकल्प हों; क्योंकि आँखें बन्द करनेसे नींद आती है और आँखें खुली रहनेसे संसारका दृश्य सामने आता है।

विद्यार्थीको सुखकी आसक्तिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये—

सुखार्थी चेत् त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी च त्यजेत् सुखम्।
सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम्॥

(चाणक्यनीति१०।३)

'यदि सुखकी इच्छा हो तो विद्याको छोड़ दे और यदि विद्याकी इच्छा हो तो सुखको छोड़ दे; क्योंकि सुख चाहने-वालेको विद्या कहाँ और विद्या चाहनेवालेको सुख कहाँ?'

विद्याध्ययन करना भी तप है और तपमें सुखका भोग नहीं होता। जब सुख लेना ही नहीं है, तो फिर खेल-तमाशा, सिनेमा, टेलीविजन आदिका तो कहना ही क्या है! ये तो सर्वथा त्याज्य हैं; क्योंकि इनको देखनेसे समय तो जाता ही है, उनके संस्कार भी अन्तःकरणमें पड़ जाते हैं, जो विद्याध्ययनमें बड़ी भारी बाधा डालते हैं। अतः विद्यार्थीको चाहिये कि वह 'मेरे लिये संसार मर गया और संसारके लिये मैं मर गया'—इस तरह संसारसे सर्वथा उदासीन होकर केवल विद्यापरायण हो जाय। ऐसा होनेसे ही वह अच्छा विद्वान् बनेगा क्योंकि अच्छा विद्यार्थी ही अच्छा विद्वान् बनता है।

विद्यार्थीको विद्याध्ययन अथवा परमात्मप्राप्तिके एक ध्येयपर ही डटे रहना चाहिये; क्योंकि निश्चयवाली बुद्धि एक ही होती है—**'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह'** (गीता २।४१)। उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ अपने ध्येयकी सिद्धिके लिये ही होनी चाहिये। ऐसी तत्परता दृढ़ निश्चय होनेपर भगवान्, सन्त-महात्मा, धर्म, शास्त्र, नीति आदि सब-के-सब उसके पक्षमें हो जाते हैं और उसको ध्येयकी सिद्धि अवश्य हो जाती है—इसमें सन्देह नहीं।

विद्यार्थीके पाँच लक्षण बताये गये हैं—

काकचेष्टा बकध्यानं श्वाननिद्रा तथैव च।
स्वल्पाहारी ब्रह्मचारी विद्यार्थिपञ्चलक्षणम्॥

(१) काकचेष्टा—जैसे, कौआ हरेक चेष्टामें सावधान रहता है। वह इतना सावधान रहता है कि उसको जल्दी कोई पकड़ नहीं सकता। ऐसे ही विद्यार्थीको विद्याध्ययनके विषयमें हर समय सावधान रहना चाहिये। विद्याध्ययनके बिना एक क्षण भी निरर्थक नहीं जाना चाहिये।

(२) बकध्यान—जैसे, बगुला पानीमें धीरेसे पैर रखकर चलता है, पर उसका ध्यान मछलीकी तरफ ही रहता है। ऐसे ही विद्यार्थीको खाना-पीना आदि सब क्रियाएँ करते हुए भी अपना ध्यान, दृष्टि विद्याध्ययनकी तरफ ही रखनी चाहिये।

(३) श्वाननिद्रा—जैसे, कुत्ता निश्चिन्त होकर नहीं सोता। वह थोड़ी-सी नींद लेकर फिर जग जाता है। ऐसे ही विद्यार्थीको आरामकी दृष्टिसे निश्चिन्त होकर नहीं सोना चाहिये, प्रत्युत केवल स्वास्थ्यकी दृष्टिसे थोड़ा सोना चाहिये।

(४) स्वल्पाहारी—विद्यार्थीको उतना ही आहार करना चाहिये, जिससे आलस्य न आये, पेट याद न आये; क्योंकि पेट दो कारणोंसे याद आता है—अधिक खानेपर और बहुत कम खानेपर।

(५) ब्रह्मचारी—विद्यार्थीको ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये।

प्रश्न—विद्यार्थीको उन्नत करनेवाली बातें कौन-सी हैं?

उत्तर—ये सात बातें मनुष्यको उन्नत करनेवाली हैं—

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च सिद्धिः स्वयं याति निवासहेतोः॥

'उत्साही, अदीर्घसूत्री, क्रियाकी विधिको जाननेवाले, व्यसनोंसे दूर रहनेवाले, शूर, कृतज्ञ तथा स्थिर मित्रतावाले मनुष्यको सिद्धि स्वयं अपने निवासके लिये ढूँढ़ लेती है।'

इन सात बातोंका विस्तार इस प्रकार है—

(१) विद्यार्थीमें यह उत्साह होना चाहिये कि मैं विद्याको पढ़ सकता हूँ, क्योंकि उत्साही आदमीके लिये कठिन काम भी सुगम हो जाता है और अनुत्साही आदमीके लिये सुगम काम भी कठिन हो जाता है।

(२) हरेक कामको बड़ी तत्परता और सावधानीके साथ करना चाहिये। थोड़े समयमें होनेवाले काममें अधिक समय नहीं लगाना चाहिये। जो थोड़े समयमें होनेवाले काममें अधिक समय लगा देता है, उसका पतन हो जाता है—**'दीर्घसूत्री विनश्यति'**।

(३) कार्य करनेकी विधिको ठीक तरहसे जानना चाहिये। कौन-सा कार्य किस विधिसे करना चाहिये, इसको जानना चाहिये। शौच-स्नान, खाना-पीना, उठना-बैठना, पाठ-पूजा आदि कार्योंकी विधिको ठीक तरहसे जानना चाहिये और वैसा ही करना चाहिये।

(४) व्यसनोंमें आसक्त नहीं होना चाहिये। जूआ खेलना, मदिरापान, मांसभक्षण, वेश्यागमन, शिकार (हत्या) करना, चोरी करना और परस्त्रीगमन—ये सात व्यसन तो घोरातिघोर नरकोंमें ले जानेवाले हैं*। इनके सिवाय चाय, काफी, अफीम, बीड़ी-सिगरेट आदि पीना और ताश-चौपड़, खेल-तमाशा, सिनेमा देखना, वृथा बकवाद, वृथा चिन्तन आदि जो भी पारमार्थिक उन्नतिमें और न्याय-युक्त धन आदि कमानेमें बाधक हैं, वे सब-के-सब व्यसन हैं। विद्यार्थीको किसी भी व्यसनके वशीभूत नहीं होना चाहिये।

(५) हरेक काम करनेमें शूरवीरता होनी चाहिये। अपनेमें कभी कायरता नहीं लानी चाहिये।

(६) जिससे उपकार पाया है, उसका मनमें सदा एहसान मानना चाहिये, उसका आदर-सत्कार करना चाहिये, कभी कृतघ्न नहीं बनना चाहिये।

(७) जिसके साथ मित्रता करे, उसको हर हालतमें निभाये।

जैसे मुसाफिर स्वयं धर्मशालाको ढूँढ़कर उसके पास आते हैं, ऐसे ही उपर्युक्त सात गुणोंवाले व्यक्तिको ढूँढ़कर सिद्धि स्वयं उसके पास आती है।

प्रश्न—विद्यार्थीको राजनीतिमें भाग लेना चाहिये या नहीं ?

उत्तर—राजनीतिमें पड़नेसे विद्यार्थीकी बाह्य वृत्ति ज्यादा हो जाती है, जिससे विद्याध्ययन, साधन-भजन आदि ठीक नहीं होता। मान-बड़ाई, आदर-सत्कार, वाह-वाह आदिमें समय बीत जाता है अर्थात् जिस समयसे विद्या अथवा परमात्माकी प्राप्ति कर सकते हैं, वह समय निरर्थक चला जाता है। राजनीतिमें भाग लेनेसे अन्तःकरणमें भौतिक पदार्थोंकी मुख्यता आ जाती है, जो पढ़ाई एवं भजनमें बाधक है।

प्रश्न—आजकल विद्यार्थी छात्रसंघ (यूनियन) बनाते हैं, यह उचित है क्या ?

उत्तर—यूनियन बनाकर विद्यार्थी उच्छृंखलता करते हैं, कॉलेजोंमें वस्तुओंकी तोड़-फोड़ करते हैं तो वे स्वयं अपना ही नुकसान करते हैं; क्योंकि भविष्यमें वे ही उनके मालिक होनेवाले हैं। अध्यापकोंके विरोधी आन्दोलनमें भाग लेना; रेलगाड़ी, बस आदिमें यात्रियोंको तंग करना, बाजारमें दूकानदारोंको तंग करना आदि भाव विद्यार्थियोंमें आयेंगे तो वे अच्छे नागरिक कैसे बनेंगे ? समाज अच्छा कैसे बनेगा ? अच्छे समाजके बिना देश अच्छा कैसे बनेगा ? नहीं बन सकता। विद्यार्थी तो देशकी मूल चीज हैं; अतः विद्यार्थियोंके सुधरनेसे ही देशकी उन्नति होगी और इसकी जिम्मेवारी विद्यार्थियोंपर ही है।

अपनी, समाजकी, जाति आदिकी रक्षाके लिये संघ बनाना, समुदाय बनाना, अस्त्र-शस्त्र चलाना-सीखना दोष नहीं है। कोई अनुचित काम करता हो तो उसको ठीक रास्तेपर लानेके लिये विद्यार्थीको सजग रहना ही चाहिये। परन्तु संघ बनाकर अपनी मनमानी करना, दूसरोंपर अनुचित शासन करना, शिक्षकोंको दबाना, गुरुजनोंका अपमान-तिरस्कार करना दोष है।

अन्यायपूर्ण अनुचित शासनको सहना भी अन्याय ही है। अतः अन्यायका प्रतिकार करनेके लिये विद्यार्थीको उत्साह रखना चाहिये, कभी भयभीत नहीं होना चाहिये।

प्रश्न—विद्यार्थीकी दिनचर्या कैसी होनी चाहिये ?

उत्तर—विद्यार्थीको चाहिये कि वह सूर्योदयसे पहले

---

* द्यूतं च मद्यं पिशितं च वेश्या पापर्द्धि चौर्यं परदारसेवा। एतानि सप्त व्यसनानि लोके घोरातिघोरं नरकं नयन्ति॥

उठे। अगर सोते हुए सूर्योदय हो जाय तो दिनभर उपवास करे, उसका प्रायश्चित्त करे। अपने समयका बड़ी सावधानीके साथ सदुपयोग करे, जिससे एक क्षण भी निरर्थक न चला जाय। नींद खुलते ही—

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

—यह श्लोक बोले। इसके बाद माता, पिता आदि गुरुजनोंको नमस्कार करे। फिर शौच-स्नान करे। शास्त्रके आज्ञानुसार सन्ध्या-गायत्री करे, भगवान्‌की उपासना करे। स्वास्थ्यके लिये आसनोंका व्यायाम करे।

विद्यार्थीको अपना पाठ ऐसे याद करना चाहिये कि वह बिना पुस्तक भी पाठ ठीक पढ़ सके। इसकी विधि यह है कि दिनमें जो पढ़ाई की है, रात्रिमें सोनेसे पहले उसको यथासम्भव याद करके सो जाय और सवेरे उठते ही पाठ करे तो वह बिना परिश्रमके याद हो जायगा। आगेका पाठ करना हो तो वह भी सबेरे करना चाहिये; क्योंकि सबेरेका समय सात्त्विक होता है और उस समय पाठ जल्दी याद हो जाता है।

विद्यार्थीको चाहिये कि वह आवश्यकता पड़नेपर माता-पिताकी आज्ञाके अनुसार घरका काम-धन्धा करे, फिर विद्यालयमें जाय। विद्यालयमें समयसे पहले ही हाजिर हो जाय। गुरुजनोंको नमस्कार करे। उनकी आज्ञाके अनुसार पढ़ाई करे। पढ़ते समय उनके मुख और नेत्रोंकी तरफ देखते हुए वे जैसा कहें, उसको ठीक तरहसे समझे और वैसा ही धारण कर ले। समझमें न आये तो गुरुकी आज्ञा लेकर उनसे पूछ ले। किसी विषयमें शंका हो तो अपने अध्यापकसे उसका समाधान कर ले। अपनी पढ़ाईमें कमी न रखे।

विद्यार्थीमें ऐसा उत्साह रहना चाहिये कि मैं जितना पढ़ा हूँ, उतना दूसरोंको पढ़ा सकता हूँ। इस तरह पढ़कर विद्यालयसे घर आये और बड़े शिष्टाचार-पूर्वक माता-पिताके साथ भोजन करे। भोजन सात्त्विक होना चाहिये, राजस और तामस नहीं (गीता १७।८—१०)। सात्त्विक आहार करनेसे बुद्धि सात्त्विक होती है, जिससे विद्याध्ययनमें बड़ा भारी लाभ होता है—

यादृशं भक्षयेदन्नं बुद्धिर्भवति तादृशी।
दीपकस्तिमिरमश्नाति कज्जलं च प्रसूयते॥

'मनुष्य जैसा अन्न खाता है, वैसी ही उसकी बुद्धि होती है; जैसे—दीपक अन्धकारको खाता है तो उससे काजल उत्पन्न होता है।'

भोजन करके थोड़ा घूमे और फिर लेट जाय। सीधे लेटकर आठ श्वास, दायीं करवट लेटकर सोलह श्वास और बायीं करवट लेटकर बत्तीस श्वास लेकर उठ जाय और फिर अपना अध्ययन आदि कार्य करे। सायंकालमें अपने अधिकारके अनुसार सन्ध्या-गायत्री आदि करे। सन्ध्याके विषयमें आता है कि प्रातःकाल तारोंके रहते हुए सन्ध्या करना उत्तम, तारोंके छिपनेपर सन्ध्या करना मध्यम और सूर्योदय होनेपर सन्ध्या करना कनिष्ठ है। ऐसे ही सायंकाल सूर्यके रहते हुए सन्ध्या करना उत्तम, सूर्यके अस्त होनेपर सन्ध्या करना मध्यम और तारोंके दीखनेपर सन्ध्या करना कनिष्ठ है। इसलिये जहाँतक बने, उत्तम सन्ध्या करनी चाहिये।

रात्रिका भोजन करके उपर्युक्त विधिसे घूमना आदि क्रिया करे। फिर अपनी पढ़ाई करे और गीता, रामायण आदि ग्रन्थोंका अध्ययन करे। फिर पढ़ाई और गीता, रामायण आदिका चिन्तन करते-करते सो जाय।

विद्यार्थी-जीवन मानवमात्रकी आधारशिला, नींव है। यह ठीक होगा तो सब-का-सब जीवन ठीक होगा। अतः इसको ठीक रखनेमें विशेष सावधान रहे और अपने भाव, आचरण आदि सात्त्विक रखे। भागवतमें आया है—

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः॥
(११।१३।४)

'शास्त्र, जल, प्रजाजन, देश, समय, कर्म, योनि, ध्यान (चिन्तन), मन्त्र और संस्कार— ये दस वस्तुएँ यदि सात्त्विक हों तो सत्त्वगुणकी, राजस हों तो रजोगुणकी और तामस हों तो तमोगुणकी वृद्धि करती हैं।'

यदि ये वस्तुएँ सात्त्विक होंगी तो बुद्धि और स्वभाव भी सात्त्विक होंगे।

प्रश्न—विद्यार्थीको बौद्धिक और शारीरिक विकासके लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर—भगवच्चिन्तनसे बुद्धिका विकास होता है; अतः हरेक विद्यार्थीको, चाहे वह लौकिक हो या पारमार्थिक, भगवच्चिन्तन जरूर करना चाहिये। हमने ऐसा देखा है कि जो पाठ-पूजा, जप-ध्यान आदि पारमार्थिक कार्य करते हैं, वे परीक्षामें कभी फेल नहीं होते। कारण कि जप-ध्यान आदि करनेसे सात्त्विकता आती है और सात्त्विकतासे बुद्धिका विकास होता है। अतः विद्याध्ययनमें समय थोड़ा लगनेपर भी अधिक लाभ होता है।

भगवत्परायण होनेपर बुद्धि विशेषरूपसे विकसित होती है। कारण कि जो भगवत्परायण हो गया, उसका जीवन सही

रास्तेपर आ गया; अतः उसके लिये प्रायः प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति आदि फलमें अनुकूल हो जाती है, उसकी सहायक हो जाती है, जिससे उसके ध्येयकी सिद्धि अनायास ही हो जाती है। मनुष्यके जीवनमें अड़चन तभी आती है, जब उसका ध्येय, लक्ष्य एक नहीं होता। एक ध्येय बननेपर कभी कोई अड़चन आती ही नहीं।

ब्रह्मचर्य और संयम रखनेसे मनुष्यकी बुद्धिमें बिना पढ़े, बिना अध्ययन किये, बिना समझे अनेक विषयोंका ज्ञान होने लगता है। उसकी बुद्धि हरेक विषयमें बड़ी शीघ्रतासे प्रविष्ट होती है।

संयमसे शारीरिक बल स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। संयमपूर्वक सात्त्विक भोजन करनेसे जो शक्ति आती है, वह उच्छृंखलतापूर्वक और स्वादकी दृष्टिसे किये गये राजस-तामस भोजनसे नहीं आती। संयम, ब्रह्मचर्य, परमात्मचिन्तन, बड़े-बूढ़ोंकी सेवा आदिसे शरीर और अन्तःकरणमें एक सात्त्विक बल आता है। सात्त्विक बलसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—ये दोष स्वाभाविक ही शान्त हो जाते हैं और धैर्य, समता, शान्ति, प्रसन्नता आदि गुण स्वतः स्वाभाविक आ जाते हैं। इन गुणोंका असर स्थूलशरीरपर भी पड़ता है। शरीरमें रोग स्वाभाविक कम होते हैं। यदि प्रारब्ध-जन्य रोग हो जायँ तो भी उनका असर अन्तःकरणपर नहीं पड़ता।

विद्यार्थीको नियमितरूपसे आसन, प्राणायाम आदि करने चाहिये*। इससे अध्ययनमें भी सहायता मिलती है। आसन करनेसे शरीरमें भारीपन, आलस्य नहीं रहता। शरीर हलका रहता है। शरीरमें स्फूर्ति रहती है। हरेक कामको करनेमें उत्साह रहता है। उत्साह रहनेसे कठिन काम भी सुगम हो जाता है और हिम्मत हारनेसे सुगम काम भी कठिन हो जाता है।

प्रश्न—आजकल विद्यार्थियोंमें सिगरेट, शराब आदिके नशेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है, इसका कारण और निराकरण क्या है?

उत्तर—इसका कारण तो मूर्खता है, बेसमझी है। वे दूसरोंको देखकर तो खाना-पीना सीख जाते हैं, पर स्वयं विचार नहीं करते कि नशीले पदार्थोंसे बुद्धि बिगड़ती है† और बुद्धि बिगड़नेसे विद्या कैसे आयेगी? अतः विद्यार्थीको नशीले और इन्द्रियोंको उत्तेजित करनेवाले पदार्थोंका कभी सेवन नहीं करना चाहिये; क्योंकि इनके सेवनसे बौद्धिक, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यकी हानि होती है। इस विषयमें माता-पिता एवं अध्यापकोंको विशेष ध्यान देना चाहिये कि बच्चे बिगड़ें नहीं।

प्रश्न—परीक्षामें फेल होनेपर कोई-कोई विद्यार्थी आत्म-हत्या कर लेता है, इसका कारण और निराकरण क्या है?

उत्तर—आदर-सत्कार, मान-बड़ाई आदिकी इच्छामें बाधा पड़नेसे ही वह आत्महत्या करता है। आत्महत्या करनेमें कोई सुख नहीं है। जो आत्महत्या करनेकी चेष्टा तो करते हैं, पर बच जाते हैं, वे बताते हैं कि आत्महत्या करनेमें बड़ा भारी कष्ट होता है। आत्महत्या करनेवाला महापापी होता है। उसको मनुष्यकी हत्याका भयंकर पाप लगता है और आगे घोर यातना भोगनी पड़ती है। अतः विद्यार्थियोंको सच्छास्त्र, सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये। इनके संस्कार ही ऐसे पापकी बातोंको मिटा सकते हैं।

प्रश्न—विद्यार्थीको खेल-कूदमें भाग लेना चाहिये या नहीं?

उत्तर—विद्यार्थीको वे ही खेल-कूद करने चाहिये, जिनसे शारीरिक अथवा बौद्धिक उन्नति हो। उसको केवल व्यायामकी दृष्टिसे खेल-कूदमें भाग लेना चाहिये, टोली नहीं बनानी चाहिये अर्थात् जिससे संघर्ष पैदा हो, ऐसा काम कभी नहीं करना चाहिये। टोली बनानेसे अपनी उन्नति करनेमें लगी हुई बुद्धि दूसरोंको नीचा दिखानेमें लग जायगी, जिससे अपनी बड़ी हानि हो जायगी। ताश-चौपड़ आदि खेल कभी नहीं खेलने चाहिये। तात्पर्य है कि जिनसे शारीरिक एवं बौद्धिक विकास न हो, जिनसे प्रमाद, आलस्य, भोग आदिमें प्रवृत्ति हो और जिनसे समय बर्बाद हो, वे खेल नहीं खेलने चाहिये। अतः विद्यार्थीको खेल-कूद आदिमें भी विशेष सावधान रहना चाहिये।

प्रश्न—विद्यार्थीको मनोरञ्जनके लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर—विद्यार्थीका मनोरञ्जन विद्यामें ही होना चाहिये। विद्यार्थी आपसमें मिलकर अपने अध्ययनके विषयमें प्रश्नोत्तर

* दण्ड-बैठक आदि 'कुश्तीका व्यायाम' और पद्मासन, मत्स्यासन आदि 'आसनोंका व्यायाम' है। इन दोनोंमें आसनोंका व्यायाम करना ही उचित है, लाभप्रद है।

† 'बुद्धिं' लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।' (शार्ङ्गधरसंहिता १।४।२२)

करें तो मनोरञ्जन बहुत बढ़िया होता है। उसमें नयी-नयी बातें पैदा होती हैं। मनोरञ्जनके लिये विद्यार्थीको सिनेमा, टी० वी० आदि देखनेकी जरूरत नहीं है। टी०वी० आदि देखनेसे आँखें एवं मन खराब होते हैं; संस्कार खराब पड़ते हैं, जो पढ़ाई एवं भजन-ध्यानमें बाधक होते हैं। बुद्धिमें, अन्तःकरणमें कूड़ा-कचरा भरनेसे क्या फायदा ?

प्रश्न—विद्या पढ़नेका तरीका क्या है ?

उत्तर—पढ़ते समय विद्यार्थीको चाहिये कि वह पढ़ानेवालेके नेत्रों एवं मुखकी तरफ देखता रहे और उनके एक-एक वाक्यको ध्यानपूर्वक सुनकर धारण करता रहे। उस समय वह दूसरा चिन्तन न करे और तत्परतासे सुनता रहे। उसमें यह अभिमान भी नहीं आना चाहिये कि 'मैं तत्परतासे पढ़ता हूँ, दूसरे विद्यार्थी ऐसी तत्परतासे नहीं पढ़ते' ! ऐसा अभिमान आनेसे वह विद्या अविद्या हो जायगी, अभिमानको बढ़ानेवाली हो जायगी।

विद्यार्थी पढ़े हुए पाठकी बिना पुस्तक बार-बार आवृत्ति करता रहे, जिससे उसकी जागृति रहे। ग्रन्थोंको इस रीतिसे पढ़े कि उसको वह दूसरोंको भी निःसन्देह होकर पढ़ा सके। खुद पढ़नेसे विद्यार्थीको ग्रन्थ उतना उपस्थित नहीं होता, जितना दूसरोंको पढ़ानेसे होता है।

विद्यार्थीको अध्यापकके सामने तथा दूसरोंके सामने नम्र होकर रहना चाहिये; क्योंकि **'विद्या ददाति विनयम्'**—विद्या विनय प्रदान करती है।

प्रश्न—किसी विषयको कण्ठस्थ करनेका तरीका क्या है ?

उत्तर—छोटी अवस्थामें तो श्लोक आदिको कण्ठस्थ करनेके बाद उसका अर्थ समझमें आता है, पर बड़ी अवस्थामें अर्थ समझनेके बाद कण्ठस्थ करना सुगम होता है।

कण्ठस्थ करनेके लिये सबेरेका समय बहुत बढ़िया रहता है। सबेरे जल्दी याद हो जाता है। अतः सबेरे तीन-साढ़े तीन बजे उठे और शौच जाकर, हाथ-पैर धोकर, कुल्ला करके पाठ कण्ठस्थ करना आरम्भ करे। जैसे, कोई श्लोक याद करना हो तो पहले श्लोकका प्रथम चरण याद करे। जब वह याद हो जाय, तब दूसरा चरण याद करे। जब वह याद हो जाय, तब प्रथम और द्वितीय चरण एक साथ बिना पुस्तक कण्ठस्थ कर ले। इसी तरह श्लोकका तीसरा चरण और चौथा चरण याद करे। जब वह याद हो जाय, तब तीसरा और चौथा चरण एक साथ बिना पुस्तक कण्ठस्थ कर ले। फिर पूरा श्लोक बिना पुस्तक कण्ठस्थ कर ले। इसके बाद दूसरा श्लोक उपर्युक्त विधिसे याद करे। फिर पहला और दूसरा श्लोक बिना पुस्तक कण्ठस्थ कर ले। इसके बाद तीसरा श्लोक याद करके पहले, दूसरे और तीसरे श्लोककी बिना पुस्तक आवृत्ति कर ले। इस प्रकार जितने श्लोक याद करने हों, उपर्युक्त विधिसे याद करके छोड़ दे। फिर रातमें सोते समय उन श्लोकोंका एक बार बिना पुस्तक पाठ कर ले और सो जाय। सबेरे नींदसे उठते ही उन श्लोकोंका पाठ करे तो वे बड़ी सुगमतासे धड़ाधड़ याद आ जायँगे !

नये कण्ठस्थ किये हुए श्लोकोंका तीन-चार दिनतक रोज दिनमें तीन-चार बार बिना पुस्तक पाठ कर लेना चाहिये और पुराने कण्ठस्थ किये हुए श्लोकोंकी भी दिनमें एक बार बिना पुस्तक आवृत्ति कर लेनी चाहिये। इस तरह कण्ठस्थ किये हुए पाठकी बिना पुस्तक आवृत्ति करनेका स्वभाव विद्यार्थीको अवश्य बना लेना चाहिये। यदि विद्यार्थी कण्ठस्थ किये हुए विषयका पुस्तक देखकर पाठ करेगा तो वह कुछ ही दिनोंमें कण्ठस्थ किया हुआ विषय भूल जायगा !

कण्ठस्थ करनेका दूसरा उपाय है—जो विषय कण्ठस्थ करना हो, उसका प्रतिदिन पुस्तक देखकर पाठ कर लेना चाहिये। जैसे, किसीको गीता कण्ठस्थ करनी हो तो वह प्रतिदिन ध्यानपूर्वक पुस्तक देखकर गीताका पूरा पाठ कर ले। इस तरह एक वर्षतक पाठ करे। एक वर्षके बाद बिना पुस्तक पाठ करे और जहाँ अटक जाय, वह श्लोक या चरण उसी समय कण्ठस्थ कर ले, फिर आगे पाठ करे। इस तरह जब पूरी गीता कण्ठस्थ हो जाय तो फिर प्रतिदिन बिना पुस्तक पाठ करता रहे। ऐसा करनेसे गीता कण्ठस्थ रहेगी। यदि फिर पुस्तक देखकर पाठ करेगा तो गीता भूल जायगा।

प्रश्न—स्मरण-शक्ति बढ़ानेके क्या उपाय हैं?

उत्तर—स्मरणशक्ति बुद्धि बढ़ानेका मुख्य उपाय है—ब्रह्मचर्यका पालन। वीर्य खर्च न होनेसे, वीर्यका संग्रह होनेसे एक ओज-बल बढ़ता है, एक विशेष शक्ति आती है, जिससे बुद्धि विकसित होती है। शारीरिक बल तो हाथीमें ज्यादा होता है, पर ओज-बल सिंहमें ज्यादा होता है, क्योंकि सिंह सिंहनीसे उम्रमें एक बार ही संग करता है। अतः वीर्यका संग्रह होनेसे सिंहमें ओज-बल होता है, विशेष शक्ति होती है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे विद्यार्थीमें ओज-बल बढ़ता है, जिससे उसकी बुद्धि विकसित होती है, उसमें उत्साह, धैर्य, शान्ति आदि गुण आने लगते हैं।

भोगेच्छा जितनी कम होती है, ब्रह्मचर्यके पालनमें उतनी ही सहायता मिलती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—

ये पाँच विषय तथा आदर-सत्कार और बड़ाई—इनसे राजस सुख मिलता है। प्रमाद, आलस्य और निद्रासे तामस सुख मिलता है। इन राजस-तामस सुखोंका त्याग करनेसे ब्रह्मचर्यमें सहायता मिलती है।

गहरी रीतिसे ग्रन्थोंका अध्ययन करनेसे भी बुद्धिका विकास होता है। केवल परमात्मप्राप्तिकी इच्छा होनेसे, लगन लगनेसे भी बुद्धि विकसित होती है; क्योंकि यह लगन स्वयंकी होती है। अतः इससे स्वाभाविक ही संयम होता है। परमात्म-प्राप्तिका लक्ष्य पक्का होनेपर मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाता है, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है, जिससे हरेक विषयको समझनेमें उसकी बुद्धि विशेष काम करती है।

गायका दूध, घी और ब्राह्मी, मीठी बच, शंखपुष्पी आदि ओषधियोंका सेवन करनेसे भी बुद्धि विकसित होती है। शिव, गणेश और सरस्वतीकी उपासना करनेसे भी बुद्धि विकसित होती है। इनकी उपासनाकी विधि इस प्रकार है—

(१) एकान्तमें प्रतिदिन रात्रिमें ग्यारह बजे ऊन या टाटके आसनपर ईशान (पूर्व और उत्तरके बीचकी) दिशाकी ओर मुख करके बैठ जाय और रुद्राक्षकी मालासे '**ॐ नमः शिवायः**'—इस मन्त्रका एक सौ बीस माला जप करे। ऐसा छः महीनेतक लगातार करनेसे बुद्धि विकसित होती है तथा अभीष्ट कार्यकी सिद्धि भी होती है। यदि जलके किनारे बैठकर अथवा बहते हुए जलमें पैर रखकर इस मन्त्रका जप किया जाय तो विशेष सिद्धि होती है।

यह अनुष्ठान कृष्णपक्षकी त्रयोदशीसे आरम्भ करना चाहिये। यदि शिवरात्रिसे आरम्भ किया जाय तो बहुत बढ़िया है। सोमवारसे भी आरम्भ कर सकते हैं। यदि श्रावणका सोमवार हो तो और बढ़िया है। अनुष्ठान आरम्भ करनेसे पहले शिवजीका पूजन कर लेना चाहिये। अनुष्ठान-कालमें प्रदोष-(त्रयोदशीके दिन) व्रत भी करना चाहिये। व्रतके दिन एक समय फलाहार करना चाहिये। परन्तु एक समय ज्यादा पाना ठीक नहीं। इसकी अपेक्षा दो समय थोड़ा-थोड़ा पाना अच्छा है।

(२) प्रतिदिन प्रातः शौच-स्नानादि करनेके बाद लाल आसनपर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके बैठ जाय और रुद्राक्ष या मूँगेकी मालासे '**ॐ गं गणपतये नमः**'—इस मन्त्रका कम-से-कम इक्कीस माला जप करे। ऐसा छः महीनेतक लगातार करनेसे बुद्धि विकसित होती है।

यह अनुष्ठान शुक्लपक्षकी चतुर्थीसे आरम्भ करना चाहिये। अगर भाद्रपद महीनेके शुक्लपक्षकी चतुर्थी हो तो बहुत बढ़िया है। अनुष्ठानके आरम्भमें गणेशजीका पूजन कर लेना चाहिये। अनुष्ठान-कालमें चतुर्थीका व्रत भी करना चाहिये।

गणेशस्तोत्र, गणेशाष्टक, गणेशसहस्रनाम आदिका पाठ करनेसे भी बुद्धिका विकास होता है।

(३) प्रतिदिन प्रातः लाल वस्त्र पहनकर लाल आसनपर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके बैठ जाय और रुद्राक्ष या मूँगेकी मालासे '**ऐं श्रीसरस्वत्यै नमः**'—इस मन्त्रका ग्यारह, इक्कीस, इक्यावन, एक सौ एक आदि जितनी माला जप कर सके, उतना जप करे। ऐसा लगभग एक वर्षतक करनेसे बुद्धि विकसित होती है।

यह अनुष्ठान शुक्लपक्षकी अष्टमी या नवमीसे आरम्भ करना चाहिये। अनुष्ठानके आरम्भमें लाल पुष्पोंसे सरस्वतीका पूजन कर लेना चाहिये।

प्रातः नींदसे उठते ही ऐसी कल्पना, भावना करे कि जीभपर '**ऐं**' लिखा हुआ है और मनसे उसको जीभपर देखता हुआ '**ऐं**'—इस बीजमन्त्रका एक सौ आठ बार जप करे। इससे भी बुद्धि विकसित होती है।

शिव, गणेश और सरस्वतीके उपर्युक्त अनुष्ठानोंमेंसे किसीको भी '**बुद्धिवृद्ध्यर्थं क्रियते मया**'—ऐसा संकल्प करके आरम्भ करना चाहिये।

रामचरितमानसका एक वर्षतक प्रत्येक महीने एक पाठ (कुल बारह पाठ) करनेसे बुद्धि विकसित होती है। अगर रामचरितमानसका प्रतिदिन एक पाठ अथवा नौ दिनोंमें एक पाठ करते हुए कुल नौ पाठ किये जायँ तो भी बुद्धिका विकास होता है। अगर रामचरितमानसका प्रतिदिन एक पाठ अथवा नौ दिनोंमें एक पाठ करते हुए कुल एक सौ आठ पाठ किये जायँ तो बुद्धि विकसित होनेके साथ-साथ भगवान्‌के साथ विशेष सम्बन्ध भी हो जाता है।

ऊपर जितने अनुष्ठान बताये गये हैं, उनका अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये भी प्रयोग किया जा सकता है।

भगवन्नाम तो सर्वश्रेष्ठ है ही। भगवन्नाम विद्यारूपी वधूका जीवन है, प्राण है—'**विद्यावधूजीवनम्।**' भगवन्नामका जप करनेसे मनुष्यमें विलक्षणता आ जाती है—ऐसा कई सन्त-महात्माओंका अनुभव है। एक वैरागी साधु थे। वे एक बार कुम्भ-मेलेके अवसरपर त्र्यम्बकेश्वर (नासिक) गये। वहाँ एक जगह विद्वान्‌लोग तत्त्वका निर्णय करनेके लिये परस्पर विचार कर रहे थे। वे वैरागी बाबा बीचमें ही बोल पड़े। पण्डितलोग कहने लगे कि 'बाबाजी !

पण्डितोंकी बातोंको तुम क्या जानो ! तुम तो जाकर भजन-स्मरण करो।' बाबाजी वास्तवमें अपढ़ थे। परन्तु उनको पण्डितोंपर गुस्सा आ गया। वे जंगलमें चले गये और वहाँ घास-फूसकी कुटिया बनाकर उसमें *'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥'* इस मन्त्रका तत्परतासे जप करने लगे। जपके प्रभावसे उनको बिना पढ़े ही संस्कृत आ गयी और वे संस्कृतमें बोलने लग गये ! यह बात एक पण्डितने लिखी है कि 'मैं द्वारका जा रहा था। वहाँ एक जगह रास्ता भूल गया और जंगलमें भटक गया। जंगलमें घूमते-भटकते मैं बाबाजीकी कुटियाके पास पहुँच गया। बाबाजीने मेरे साथ संस्कृतमें बातें की। मैंने उनसे पूछा कि 'आपने क्या पढ़ाई की है ? उन्होंने अपनी जीवनी बता दी और कहा कि 'नाम-जपके प्रभावसे मैंने संस्कृतके अनेक ग्रन्थ पढ़ लिये हैं। आजकल अद्वैतसिद्धि पढ़ रहा हूँ।'

अतः विद्यार्थीको भगवन्नामका स्मरण, जप और कीर्तन अवश्य करना चाहिये—

(१) नाम-स्मरण—केवल मनसे भगवान्‌के नामको याद करना नाम-स्मरण है।

(२) नाम-जप—यह तीन तरहका होता है—(क) नामका मनसे जप करना 'मानसिक' जप है। इस जपमें होठ और कण्ठ नहीं हिलते, आवाज नहीं आती। (ख) जबानसे बोलकर जप किया जाय, पर आवाज अपने कानोंतक ही पहुँचे तो यह 'उपांशु' जप है। (ग) मुखसे बोलकर जप करना 'साधारण' जप है। इसमें आवाज आती है। साधारण जपसे दसगुणा उपांशु जपका और उपांशु जपसे दसगुणा मानसिक जपका माहात्म्य है।

(३) कीर्तन—जो गाजे-बाजेके साथ जोरसे बोलकर किया जाता है, वह कीर्तन होता है। कीर्तन तीन तरहका होता है—(क) भगवान्‌के राम, कृष्ण आदि नामोंको गाजे-बाजेके साथ, साज-बाजके साथ रागपूर्वक जोरसे बोलना 'नाम-कीर्तन' है। (ख) भगवान्‌के गुणोंका वर्णन करना, गुणोंके पद गाना, भगवान्‌के गुणोंका वर्णन करनेवाले श्लोकों एवं स्तोत्रोंको पढ़ना 'गुण-कीर्तन' है। (ग) जिनमें भगवान्‌की बाललीलाओं आदिका वर्णन हो, ऐसे पद गाना 'लीला-कीर्तन' है।

नाम-स्मरण, नाम-जप और कीर्तन— तीनोंमेंसे जिसमें जिसका मन जितना अधिक लगेगा, तल्लीन होगा, उसके लिये वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ हो जायगा।

प्रश्न—विद्यार्थीको किस नामका जप करना चाहिये ?

उत्तर—विद्यार्थीका जिस नाममें श्रद्धा, विश्वास और प्रेम अधिक होगा तथा जिस नामके जपमें तल्लीनता अधिक होगी, वही नाम उसके लिये अधिक लाभदायक होगा; अतः उसको उसी नामका जप करना चाहिये।

प्रश्न—शिक्षकके प्रति विद्यार्थीका क्या कर्तव्य होना चाहिये ?

उत्तर—जैसे माता-पिताके प्रति विद्यार्थीका पूज्यभाव होता है, वैसे ही शिक्षकके प्रति पूज्यभाव होना चाहिये। आजकलके जमानेमें तो शिक्षक किसी भी वर्णका हो सकता है। यदि शिक्षक ब्राह्मण है और उससे शिक्षा अच्छी मिली है तो उसमें जीवनभर गुरुभाव रखना चाहिये। यदि शिक्षक ब्राह्मण नहीं है, अपनेसे नीचे वर्णका है तो पढ़ाई करते समय उसका गुरुके समान आदर-सत्कार करना चाहिये। पढ़ाई करनेके बाद उसका कृतज्ञ तो बने रहना चाहिये, पर उसमें गुरुभाव रखनेकी जरूरत नहीं है।

प्रश्न—आजकल स्कूल-कॉलेजोंमें तो प्रत्येक घण्टेमें शिक्षक बदलता है ! अतः विद्यार्थी किसके प्रति गुरुभाव रखे ?

उत्तर—जिन-जिनसे जितना लाभ लिया है, उन-उनके प्रति उतना आदरभाव जरूर रखना चाहिये, उनके कृतज्ञ बने रहना चाहिये।

विद्या प्राप्त करनेके तीन साधन हैं—

गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थं नैव कारणम्॥

गुरुकी सेवा करनेसे विद्या आती है। अपने पास धन हो तो धन देकर विद्या लेनी चाहिये अथवा अपने पास कोई विद्या हो और उसको उस विद्याकी गरज हो तो विद्या देकर विद्या लेनी चाहिये। इन तीनों उपायोंके सिवाय विद्या लेनेका चौथा कोई साधन नहीं है।

अगर किसी विद्वान्‌की केवल दूसरोंको पढ़ानेकी ही रुचि है और वह केवल पढ़ाना ही चाहता है, विद्यार्थियोंसे कुछ भी नहीं चाहता, उससे भी विद्या प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इससे विद्यार्थीपर उसका ऋण रहेगा। जब विद्यार्थी अच्छा विद्वान् बन जायगा और उस विद्याके कारण उसकी प्रसिद्धि हो जायगी तथा उस प्रसिद्धिको सुनकर विद्या पढ़ानेवाला प्रसन्न हो जायगा, तब वह ऋण माफ हो सकता है। दूसरोंको वह विद्या पढ़ाकर, विद्वान् बनाकर भी विद्यार्थी उस ऋणसे उऋण हो सकता है। तात्पर्य है कि जैसे माँ-बापकी सेवा करके

उनकी प्रसन्नता लेनेसे उनका ऋण माफ हो सकता है, पर उनके ऋणको कोई चुका नहीं सकता, ऐसे ही बिना कारण विद्या पढ़ानेवालेके प्रसन्न होनेपर उसका ऋण माफ हो सकता है, पर उसके ऋणको कोई चुका नहीं सकता।

यदि विद्यार्थीमें पढ़नेकी जोरदार लालसा, लगन हो तो भगवान् किसी भी रूपसे उसको पढ़ा देते हैं, उसको गुरुकी प्राप्ति करा देते हैं—*'जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥'* भगवान् जगद्गुरु हैं—**'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।'** केवल भगवन्नामका जप करनेसे भी विद्या आ जाती है। एक सन्तको कोई व्याकरण पढ़ानेवाला मिलता नहीं था तो उनको स्वयं पतञ्जलि महाराजने महाभाष्य पढ़ाया। चरणदासजीको स्वयं शुकदेवजीने भागवत पढ़ाई।

प्रश्न—विद्यार्थीको मित्रता किनसे करनी चाहिये?

उत्तर—विद्यार्थीको विद्यार्थियोंसे मित्रता करनी चाहिये अर्थात् जो विद्याके प्रेमी हों, पढ़ाईमें उत्साह रखते हों, सहारा देते हों, उनसे मित्रता करनी चाहिये। जो पढ़ाईमें उत्साह न रखते हों, उनके सम्पर्कमें नहीं रहना चाहिये; परन्तु वे भी तत्परतासे पढ़ाईमें कैसे लगें—ऐसा उपाय सोचते रहना चाहिये और जो उपाय दीखे, उसको काममें लाना चाहिये। अपनी पढ़ाईकी तरफ तो विशेष ध्यान देना ही चाहिये।

प्रश्न—मित्रोंके प्रति विद्यार्थीका क्या कर्तव्य होना चाहिये?

उत्तर—अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके उनका जैसे हित हो, वैसा बर्ताव उनके साथ करना चाहिये। विद्यार्थीको ऐसा भाव रखना चाहिये कि ये मेरे साथी एवं मित्र सब-के-सब श्रेष्ठ बन जायँ, विद्वान् बन जायँ, जिससे मैं इनसे भी अधिक विद्वान् बन सकूँ। तात्पर्य है कि यदि मित्र (दूसरा विद्यार्थी) आगे नहीं बढ़ेगा तो विद्यार्थीमें आगे बढ़नेकी लालसा नहीं रहेगी। वह जहाँ है, वहीं सन्तोष कर लेगा; अतः उसका आगे बढ़ना रुक जायगा। परन्तु मित्र आगे बढ़ेगा तो विद्यार्थीको उससे भी आगे बढ़नेका अवसर मिलेगा। अतः विद्यार्थीको हृदयसे अपने मित्रोंकी उन्नति चाहनी चाहिये और उनके उन्नत होनेपर बड़ा प्रसन्न होना चाहिये।

जैसे भगवान् कृष्णने सुदामाके साथ व्यवहार किया था, ऐसे ही विद्यार्थीको अपने मित्रोंके साथ व्यवहार करना चाहिये। रामायणमें आया है—

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

(मानस, किष्किन्धा० ७। २-३)

प्रश्न—माता-पिताके प्रति विद्यार्थीका क्या कर्तव्य है?

उत्तर—हरेक लौकिक अथवा पारमार्थिक विद्यार्थीको चाहिये कि वह अपने माँ-बापकी प्रसन्नता ले; क्योंकि उनकी प्रसन्नतासे विद्याध्ययनमें सहायता मिलती है। शास्त्रमें आया है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनु० २। १२१)

'जिसका प्रणाम करनेका स्वभाव है और जो नित्य वृद्धोंकी सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं।'

माँ-बाप किसी कारणसे, कार्यसे पढ़ाईके लिये मना भी करें तो रोकर उनसे आज्ञा माँग लेनी चाहिये कि अभी मेरा पढ़ाईका समय है। परीक्षा आनेवाली हो तो रातों जगकर विशेषतासे पढ़ाई करे। कई जगह ऐसी बात देखनेमें आती है कि बच्चा रातों जगकर पढ़ता है तो माँको चिन्ता हो जाती है कि यह कहीं बीमार न हो जाय। वास्तवमें यदि भीतरमें पढ़ाईकी लगन, रुचि न हो, फिर भी जबर्दस्ती पढ़ाई की जाय, तभी उसका शरीरपर बुरा असर पड़ता है, बीमारी आती है। यदि भीतरमें पढ़ाईकी लगन हो तो पढ़ाई करनेसे शरीरपर बुरा असर नहीं पड़ता।

श्रेष्ठ पुरुष वे ही हैं, जो जिस कार्यको स्वीकार कर लेते हैं, उस कार्यको कितनी ही बाधाएँ, विघ्न आनेपर भी छोड़ते नहीं—**'विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति'**। जिस कार्यको स्वीकार किया है, उस कार्यको तत्परतापूर्वक साङ्गोपाङ्ग करनेसे मनुष्यका एक ऐसा स्वभाव बन जाता है, जिससे वह हरेक कार्यमें अग्रसर एवं विजयी हो जाता है और ऐसा मनुष्य ही श्रेष्ठ एवं आदर्श होता है। अतः विद्यार्थीको भी अपना स्वभाव ऐसा ही बना लेना चाहिये।

विद्यार्थीको अपने मनमें धैर्य एवं उत्साह रखना चाहिये। जैसा धैर्य एवं उत्साह सफलतामें रहता है, विफलतामें भी वैसा ही धैर्य एवं उत्साह रहना चाहिये। इस तरह धैर्य एवं उत्साह रहनेसे लौकिक पढ़ाई करते हुए, अपने कर्तव्यका पालन करते हुए भी विद्यार्थी अलौकिक, पारमार्थिक पढ़ाईमें पारंगत हो सकता है। भगवान्ने कहा है—**'असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः'** (गीता ३। १९)। 'आसक्तिरहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

पारमार्थिक विद्यार्थी

लौकिक विद्यार्थी और पारमार्थिक विद्यार्थीके उद्देश्यमें

तो भेद रहता है, पर उनकी चालमें भेद नहीं रहता। अगर चालमें भेद होता भी है तो पारमार्थिक विद्यार्थीकी चाल तेज होती है; क्योंकि उसका प्रत्येक कार्य साधनरूपसे होता है।

पारमार्थिक विद्यार्थी (साधक) के लिये प्रतिकूल परिस्थिति ज्यादा लाभदायक होती है। कारण कि प्रतिकूल परिस्थितिमें पुराने पाप नष्ट होते हैं और नया उत्साह विशेषतासे पैदा होता है; परन्तु अनुकूल परिस्थितिमें पुराने पुण्य नष्ट होते हैं और भोगासक्ति, प्रमाद, आलस्य आदि आनेकी सम्भावना रहती है। अतः पारमार्थिक विद्यार्थीके लिये प्रतिकूल परिस्थिति तपके समान होती है, जो पारमार्थिक मार्गमें बड़ी सहायक होती है। आजतक जितने सन्त-महात्मा हुए हैं, उनके जीवनमें प्रायः प्रतिकूलता आयी है और प्रतिकूलता आनेसे उनका भगवान्‌की तरफ विश्वास अधिक बढ़ा है, जैसे ध्रुव, प्रह्लाद, मीराबाई आदिका जीवन देखें। अतः प्रतिकूलता बाधक नहीं होती, प्रत्युत साधक ही होती है। प्रतिकूलता भोगीके लिये बाधक और योगीके लिये साधक होती है। तात्पर्य है कि संसारके त्यागमें प्रतिकूलता सहायक होती है।

प्रश्न—पारमार्थिक विद्यार्थी और साधकमें क्या अन्तर है?

उत्तर—कोई अन्तर नहीं है। जो पारमार्थिक विद्यार्थी होता है, वही साधक होता है और जो साधक होता है, वही पारमार्थिक विद्यार्थी होता है। वास्तवमें मनुष्यजन्म केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिलनेसे मनुष्यमात्र जन्मजात विद्यार्थी है, साधक है। हाँ वह साधन करे या न करे, यह उसकी मरजी है।

प्रश्न—पारमार्थिक विद्यार्थीकी दिनचर्या कैसी होनी चाहिये?

उत्तर—पारमार्थिक विद्यार्थीके लिये मुख्य बात है कि 'मेरेको भगवत्प्राप्ति ही करनी है' इस उद्देश्यको दृढ़तासे धारण करे और उसको निरन्तर जाग्रत् रखते हुए उसकी पूर्तिके लिये ही सब काम करे। इस उद्देश्यको सामने रखकर वह सवेरे नींदसे उठते ही भगवान्‌को आदरपूर्वक प्रणाम करके प्रार्थना करे कि 'हे नाथ! मैं आपकी आज्ञाके अनुसार ही सब काम करता रहूँ। आप ही मेरे कल्याणके लिये अनेक रूपोंमें प्रकट हुए हैं। आपका उद्देश्य केवल मेरा उद्धार करना ही है। जहाँ मैं श्रोता बनता हूँ वहाँ वक्ता बनकर आप ही आते हैं। मैं वक्ता बनता हूँ तो केवल मेरेको बोध करानेके लिये श्रोता बनकर आप ही जिज्ञासुरूपसे मेरे सामने प्रश्न करते हैं। उस समय यदि मेरे मनमें यह बात आती है कि मैं उनको समझा दूँ तो यह मेरी गलती है। सही बात तो यह है कि आप केवल मुझे समझानेके लिये ही जिज्ञासु बन जाते हैं, मुझे बोध करानेके लिये ही अज्ञ (अनजान) बन जाते हैं और मुझे अपनी ओर अग्रसर करनेके लिये ही श्रोतारूपसे कह देते हैं कि आपने बहुत अच्छी बात कही, मेरा समाधान हो गया!'

'मैं कोई भी चाहना करता हूँ तो उसके अनुरूप आप ही प्रकट होते हैं। और तो क्या, भूख लगे तो अन्नरूपसे और प्यास लगे तो जलरूपसे आप ही आते हैं? मानकी इच्छा करता हूँ तो मानरूपसे, कीर्तिकी इच्छा करता हूँ तो कीर्तिरूपसे आप ही आते हैं। तात्पर्य है कि केवल मेरेको बोध करानेके लिये, केवल मेरा उद्धार करनेके लिये आप तरह-तरहकी लीलाएँ करते हैं; जड़-चेतन, स्थावर-जंगम-रूपसे मेरे सामने आते हैं। मैं इस बातको भूल जाता हूँ तो आप शास्त्र, सन्त, गुरुजन, गीताके श्लोक एवं हृदयमें प्रेरणाके द्वारा मेरा अज्ञान दूर करते हैं।'

'मैं सभी काम आपको प्रसन्न करनेके लिये ही करता हूँ। शौच-स्नान, घूमना-फिरना, उठना-बैठना तथा गीता-रामायणपाठ, नामजप, नित्यकर्म आदि जो कुछ करता हूँ, वह सब आपकी आज्ञासे और आपकी प्रसन्नताके लिये ही करता हूँ। वास्तवमें मेरे सम्पूर्ण कर्म आपकी प्रसन्नताके लिये ही होने चाहिये और मैं ऐसा करता भी हूँ; परन्तु समयपर संसारकी सत्ता और महत्ता बुद्धिमें आ जानेसे मैं भूल जाता हूँ। फिर भी आप मेरेको चेताते रहते हैं।'

छोटी-बड़ी प्रत्येक क्रिया भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही हो—यह भाव साधकमें हरदम जाग्रत् रहना चाहिये। कर्म चाहे शास्त्रीय हो, चाहे लौकिक हो, चाहे व्यावहारिक हो, चाहे शारीरिक हो, उसमें क्रियाभेद तो होना चाहिये, पर भावभेद बिलकुल नहीं होना चाहिये। इस प्रकार साधककी दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, वर्षचर्या और आयुचर्या केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होनी चाहिये। चौबीस घण्टोंमें एक मिनट, एक सेकेन्ड भी भगवान्‌की आज्ञाके बिना कोई कार्य नहीं होना चाहिये। उसके भीतर यह भाव हरदम जाग्रत् रहना चाहिये कि 'मैं केवल भगवान्‌का हूँ; भगवान्‌के ही घरमें रहता हूँ; भगवान्‌का ही प्रसाद पाता हूँ; बोलता हूँ 'तो भगवान्‌के ही गुण गाता हूँ, पाठ-पूजा, भजन-ध्यान आदि सब उनकी प्रसन्नताके लिये ही करता हूँ।' भागवतमें आया है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

(११।२।३६)

'शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहंकारसे अथवा अनुगत स्वभावसे मनुष्य जो-जो करे, वह सब परमपुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है, इस भावसे उन्हें समर्पित कर दे।'

'यह समर्पण भी मैं करता नहीं हूँ, प्रत्युत भगवान् स्वयं ही अपनी दी हुई शक्तिसे, बुद्धिसे ऐसा करवा लेते हैं। अतः मेरेको तो केवल उनकी कृपा मानकर प्रसन्न रहना है। मेरेको अपने लिये कुछ करना है ही नहीं। मेरे लिये न क्रिया है, न पदार्थ है, न अवस्था है और न कोई परिस्थिति ही है। केवल उनकी दी हुई बुद्धिसे यावन्मात्र क्रियाएँ हो रही हैं। भोजन आदि भी मैं करता नहीं हूँ, प्रत्युत उनकी शक्तिसे होता है।'

इस प्रकार यावन्मात्र क्रियाएँ 'होनेमें' बदल जायँ और 'होना' परमात्मामें बदल जाय; बस, यही पूर्णता है। इसमें न 'मैं' रहता है और न 'मेरा' रहता है। इसीको गीतामें **'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'** (८।७;१२।१४) कहा गया है। इसमें केवल एक आनन्दघन चिद्घन तत्त्व रह जाता है। वहाँ मन-बुद्धि नहीं पहुँच सकते।

विद्यार्थी पढ़ाई करते हैं, अध्यापक पढ़ाते हैं, सैनिक लड़ते हैं, किसान खेती करते हैं— इस तरह देश, काल, अवस्था, परिस्थितिके अनुसार स्त्री-पुरुषोंके कार्य अलग-अलग होंगे और बदलते रहेंगे, पर उनका उद्देश्य (भगवत्प्राप्ति) एक ही होगा, वह कभी बदलेगा नहीं।

प्रश्न—पारमार्थिक विद्यार्थी (साधक) के आचरण कैसे होते हैं?

उत्तर—बाहरसे देखनेमें तो एक साधारण सज्जन आदमी और एक साधक—इन दोनोंके आचरणोंमें भेद मालूम नहीं देता; क्योंकि साधारण सज्जन आदमीके आचरण भी दैवी सम्पत्तिके होते हैं और साधकके आचरण भी दैवी सम्पत्तिके होते हैं। इसलिये उनके आचरणोंमें तो भेद मालूम नहीं देता, परन्तु उनके उद्देश्यमें भेद होता है।

साधारण सज्जन आदमीका उद्देश्य सांसारिक होता है अर्थात् काम-धन्धा, व्यवहार, व्यापार सच्चाईके साथ हो, जिससे हरेक आदमी मेरेपर विश्वास करे; संसारमें मेरी प्रतिष्ठा हो, मान हो आदि उद्देश्य होता है। परन्तु साधकका उद्देश्य समता होता है। उसकी दृष्टि समतापर ही रहती है अर्थात् कार्यकी सिद्धि-असिद्धि और सफलता-विफलतामें, शरीरके आदर-निरादरमें, नामकी निन्दा-स्तुतिमें समताका ही लक्ष्य रहता है। उसमें निर्विकारता जितनी अधिक होती है, उतना ही साधन ऊँचा होता है और साधन जितना ऊँचा होता है, उतनी ही निर्विकारता अधिक होती है। इसमें तीन बातें हैं—(१) उसमें विकार कम होंगे (२) विकार होंगे तो उनका वेग कम होगा (३) वेग होगा तो भी वे ठहरेंगे नहीं अर्थात् थोड़ी देरमें शान्त हो जायँगे। उसमें यह अन्तर क्रमशः पड़ता ही रहेगा। कभी-कभी साधकको ऐसा भी मालूम देता है कि पहले विकार कम आते थे, अब वे ज्यादा आने लग गये! वास्तवमें निर्विकारता ज्यादा रहनेसे थोड़ा भी विकार ज्यादा (बड़ा) मालूम देता है। अतः साधकको घबराना नहीं चाहिये। उसको कोई प्रायश्चित्त या दूसरा साधन करनेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत वह जो साधन कर रहा है, उसीमें तत्परतासे लगे रहना चाहिये।

एक और बात ध्यान देनेकी है कि मनुष्यजन्म परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। अतः सांसारिक कामनाएँ पूरी हों और न भी हों, पर पारमार्थिक सिद्धि अवश्यम्भावी है। पारमार्थिक मार्गमें निराशाके लिये कोई स्थान नहीं है।

गीतामें आया है—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥

(१८।२६)

'जो कर्ता रागरहित, अनहंवादी, धैर्य और उत्साहयुक्त तथा सिद्धि और असिद्धिमें निर्विकार है, वह सात्त्विक कहा जाता है।'

—इस श्लोकके अनुसार साधकको निश्चिन्त होकर अपने साधनमें लगे रहना चाहिये। फिर साधकका साधन ही आगे साधन बतानेवाला हो जायगा, उसका विवेक ही मार्गदर्शक बन जायगा। व्यवहारमें भी ऐसी घटनाएँ घटेंगी, जो उसको सावधान करेंगी।

प्रश्न—कर्मयोगके विद्यार्थीके आचरण कैसे होते हैं?

उत्तर—उसके आचरणोंमें अपने स्वार्थका त्याग और दूसरोंके हितकी मुख्यता रहती है; अतः उसके द्वारा संसारकी सेवा विशेषतासे होती है। उसमें सेवक-भाव तो रहता है, पर सेवकपनका अभिमान नहीं रहता अर्थात् सेवा करते समय 'मैं सेवा करता हूँ' यह भाव नहीं रहता। जब साधन बढ़ता है, तब उसमें यह भाव रहता है कि मैं शरीर आदिसे जिसकी सेवा करता हूँ, वह सब सेवा-सामग्री भी उसीकी है, मेरी नहीं है। इस तरह उसके पदार्थ और क्रियाएँ दूसरोंकी सेवामें ही समर्पित हो जाती हैं अर्थात् पदार्थ और क्रियाओंमें उसका अपनापन नहीं रहता। अन्तमें उसका व्यक्तित्व भी गलकर मिट जाता है और वह सेवा बनकर सेव्यरूप हो जाता है। ऐसे

ही अन्तमें व्यक्तित्व मिटनेपर ज्ञानयोगी ज्ञान बनकर ज्ञानस्वरूप हो जाता है और भक्तियोगी भक्ति बनकर भगवत्स्वरूप हो जाता है।

प्रश्न—ज्ञानयोगके विद्यार्थीके आचरण कैसे होते हैं?

उत्तर—उसके आचरणोंमें उदासीनता, तटस्थता, निर्विकारता विशेष होती है। उसका स्वभाव अधिकतर एकान्तमें रहनेका होता है। एकान्त न मिलनेपर उसको थोड़ी उकताहट भी होती है, पर वह उकताहट कम होते-होते मिट जाती है। कारण कि शरीरके साथ सम्बन्ध माननेसे ही एकान्त न मिलनेपर उकताहट होती है, जबकि ज्ञानयोगीका मुख्य उद्देश्य शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेका ही होता है।

दूसरोंके शरीरोंके साथ उसका जैसा बर्ताव होता है, वैसा ही बर्ताव इस शरीरके साथ होता है। जैसे दूसरोंके शरीरोंके साथ बर्ताव होनेपर इस शरीरपर असर नहीं पड़ता, ऐसे ही इस शरीरके साथ बर्ताव होनेपर भी असर नहीं पड़ता। उसको **'न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१) 'न करता है, न लिप्त होता है'—इसका अनुभव हो जाता है और अनुभव होनेपर उसमें स्वतः अहंकृतभाव और लिप्तता नहीं रहती—**'यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते'** (गीता १८। १७)

प्रश्न—भक्तियोगके विद्यार्थीके आचरण कैसे होते हैं?

उत्तर—उसके आचरणोंमें नम्रता विशेष रहती है। उसकी संसारमें भगवद्बुद्धि विशेषतासे होती है। वह प्रत्येक परिस्थितिमें भगवत्कृपाको देखकर विशेष प्रसन्न, निश्चिन्त रहता है। उसकी दृष्टि सदा भगवान्‌की कृपाकी तरफ ही रहती है। शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरणके विरुद्ध घटना घटनेपर भी उसका असर कम होता है और कम होते-होते मिट जाता है। जैसे, काकभुशुण्डिजीको कौआ बननेका शाप मिलनेपर भी उनके मनमें न कुछ भय हुआ, न दीनता आयी, प्रत्युत इसमें उन्होंने भगवान्‌की कृपा ही मानी। इसी तरह भक्तको प्रतिकूलतामें भगवत्कृपाका विशेष अनुभव होता है। भगवत्कृपाके बलपर वह निर्भय, निःशोक, निश्चिन्त और निःशंक रहता है।

प्रश्न—क्या कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगके विद्यार्थीको गुरुकी आवश्यकता है?

उत्तर—गुरुकी आवश्यकता तो सबके लिये रहती है, पर सन्तोषजनक गुरु न मिले तो निराश नहीं होना चाहिये और भगवत्प्राप्तिके लिये हतोत्साह भी नहीं होना चाहिये; क्योंकि यह शरीर भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है। सन्तोषजनक गुरु न मिले तो भगवान्‌का आश्रय लेकर, भगवान् श्रीकृष्णको गुरु मानकर साधनमें लग जाना चाहिये; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण जगत्‌के गुरु हैं—**'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'** अतः वे मेरे गुरु हैं ही; मैं जगत्‌से अलग नहीं हूँ।

वास्तवमें तीनों योगोंमें गुरुकी आवश्यकता है; परन्तु आवश्यकता होते हुए भी गुरुका अभाव नहीं है; क्योंकि भगवान् सदा मौजूद हैं। जो बातें गुरु नहीं बता सकते, वे बातें भगवान् साधकके अन्तःकरणसे (वृत्ति, स्फुरणासे), ग्रन्थोंसे, घटनाओंसे बता देते हैं। उनको बतानेके कई तरीके आते हैं। जैसे दो आदमी आपसमें बात करते हैं तो उनके द्वारा उत्तर मिल जाता है। कोई पुस्तक अचानक खोलकर देखनेसे शंकाका समाधान हो जाता है। भगवान् नये-नये तरीकोंसे साधकको समझाते हैं; क्योंकि वे सबके परम सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्व भूतानाम्'** (गीता ५। २९)।

भगवान्‌का यह एक विलक्षण स्वभाव है कि दुनिया तो उपकारको जनाती है कि 'मैंने उपकार किया' पर भगवान् उपकारको जनाते ही नहीं और यह भाव भी नहीं रखते कि दूसरे मेरा उपकार मानें। जैसे सूर्यमें यह अभिमान नहीं होता कि मैं प्रकाश करता हूँ, ऐसे ही भगवान्‌में कभी यह अभिमान नहीं आता कि मैं उपकार करता हूँ, प्रत्युत उनके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक उपकार होता है, प्रकाश मिलता है। जो भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है,उसको वह प्रकाश विशेषतासे मिल जाता है। अतः साधकको गुरुके अभावमें हतोत्साह और निराश कभी नहीं होना चाहिये।

भगवान्‌ने सभीको विवेकरूपी गुरु दे रखा है अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्य, सार-असार, ग्राह्य-त्याज्य, धर्म-अधर्म आदिका ज्ञान मनुष्यमात्रको दे रखा है। अगर मनुष्य उस विवेकका आदर करे तो वह विवेक बढ़ जायगा और अन्तमें वही विवेक तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जायगा।

प्रश्न—क्या एक ही गुरु कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगकी शिक्षा दे सकता है?

उत्तर—हाँ, दे सकता है; परन्तु उसमें मुख्यता उसीकी रहेगी, जिस मार्गसे वह चला है। कारण कि गुरु जिस मार्गसे चला है, उसी मार्गका उसको विशेष अनुभव रहता है और उसका उपदेश देनेमें उसे विशेष सुविधा होती है, पर दूसरे मार्गकी बात भी वह बता सकता है। यद्यपि महापुरुषोंकी प्रकृति अलग-अलग होती है, किसीकी उदासीन होती है और किसीकी उपकारी होती है, तथापि शिष्यकी जिज्ञासा होगी तो वह उसकी जिज्ञासाके अनुसार ज्ञान दे देगा, साधन बता देगा,

इसमें सन्देह नहीं है। जैसे बछड़ेके आते ही गायके स्तनोंमें दूध आ जाता है, ऐसे ही जिज्ञासुके सामने आते ही महापुरुषके अन्तःकरणमें स्वतः ज्ञान प्रकट हो जाता है। यद्यपि जीवन्मुक्त महापुरुषका अपने लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता, फिर भी वे केवल जिज्ञासुओंके लिये ही जीते हैं; जैसे माँ बच्चेके लिये ही होती है।

प्रश्न—क्या एक ही विद्यार्थी तीनों योगमार्गोंकी शिक्षा ले सकता है?

उत्तर—हाँ, ले सकता है; परन्तु साधकके लिये एक मार्गकी निष्ठा ही लाभदायक है, उत्तम है, श्रेष्ठ है। एक मार्गकी निष्ठा होनेपर दूसरे मार्गोंकी बातें भी उसके साधनमें सहायक हो जायँगी।

यदि साधक एक ही साधनकी मुख्यता रखे तो साथमें दूसरे साधन आ ही जायँगे। वह दूसरे साधनोंसे सर्वथा रहित हो जाय, यह बात नहीं है; जैसे—वह कर्मयोग करे और ज्ञानयोग तथा भक्तियोगसे शून्य हो जाय, यह बात नहीं है; वह ज्ञानयोग करे और कर्मयोग तथा भक्तियोगसे शून्य हो जाय, यह बात नहीं है; वह भक्तियोग करे और कर्मयोग तथा ज्ञानयोगसे शून्य हो जाय, यह बात नहीं है। कारण कि तत्त्वतः योग एक ही है। योगकी परिभाषा करते हुए भगवान्‌ने कहा है—'**तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्**' (गीता ६। २३) अर्थात् दुःखके संयोगके वियोगका नाम 'योग' है। तात्पर्य है कि संसारके साथ संयोग मानना, सम्बन्ध जोड़ना ही दुःख है और इस संयोगका वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) होते ही परमात्माके साथ योग (सम्बन्ध) का अनुभव हो जायगा।

प्रश्न—कौन-सा विद्यार्थी कर्मयोग, ज्ञानयोग अथवा भक्तियोगका अधिकारी है?

उत्तर—जिसकी संसारमें आसक्ति है, पर जो अपना कल्याण चाहता है, वह 'कर्मयोग' का अधिकारी है। जिसका संसारसे स्वतः वैराग्य है, वह 'ज्ञानयोग' का अधिकारी है। जो न अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त है, वह 'भक्तियोग' का अधिकारी है।

प्रश्न—तीनों योगमार्गोंके विद्यार्थियोंको किन ग्रन्थोंका मुख्यतासे अध्ययन करना चाहिये?

उत्तर—विद्यार्थियोंको मुख्यरूपसे गीताका ही अध्ययन करना चाहिये; क्योंकि इस छोटे-से ग्रन्थमें तीनों योगमार्गोंकी पूरी सामग्री आ गयी है। संक्षेपसे कहनेपर भी भगवान्‌ने कमी नहीं रखी है, प्रत्युत तीनों योगोंका साङ्गोपाङ्ग पूर्णतया वर्णन कर दिया है। अतः साधकके लिये एक भगवद्गीता ही पर्याप्त है।

साधक चाहे किसी भी मार्गका हो, यदि वह प्रभुके चरणोंका आश्रय लेकर गीताका अध्ययन करे तो उसको साधनकी पूरी सामग्री गीतामें अवश्य मिल जायगी। वह रामायण, भागवत आदि ग्रन्थ भी पढ़े तो अच्छी बात है, पर भगवद्गीता पढ़नेपर कुछ भी बाकी नहीं रहेगा।

किसानोंके लिये शिक्षा

खेती करनेवाले तथा करानेवाले—दोनोंके लिये कुछ उपयोगी बातें लिखी जाती हैं। मेरी प्रार्थना है कि इन बातोंपर विशेष ध्यान दें।

खेतीमें हिंसा

लोगोंके मनमें यह बात जँची हुई है कि खेतीके जन्तु, कीड़े-मकोड़े मारनेसे अनाज बहुत पैदा होता है। यह बिलकुल वहमकी बात है। पहले ऐसी हत्या नहीं हुआ करती थी। पहले इतनी टिड्डी आया करती थी कि जैसे बादल हों और जमीनपर छाया हो जाती थी! उस समय लोग कहते कि इस साल वर्षा होगी और फसल अच्छी होगी; क्योंकि भगवान् हमारे लिये नहीं करेंगे, पर इन जीवोंके लिये तो करेंगे ही। इसलिये जिस साल टिड्डी आती थी, उस साल अकाल नहीं पड़ता था। वे तीन वर्ष लगातार आती थीं, फिर बारह वर्षतक नहीं आतीं। बारह वर्षके बाद फिर आती थीं। अब उस टिड्डीको मारकर नष्ट कर दिया! खेतोंमें तरह-तरहकी दवाइयाँ छिड़कते हैं, जिससे जन्तु मर जायँ। पहले चौमासेके दिनोंमें दीपकपर जितने जन्तु आते थे, उतने अब नहीं आते। परन्तु जन्तुओंको मारनेसे कभी भला नहीं होता। पहले गेहूँ-बाजराके क्या भाव थे और आज क्या भाव हैं? अगर जन्तुओंको मारनेसे अनाज ज्यादा पैदा होता है तो फिर आज अनाज सस्ता होना चाहिये। परन्तु अनाज महँगा क्यों हो गया? हत्याके कारण हो गया। अगर आप हत्या न करें तो इससे नुकसान नहीं होता।

आज आप मनुष्य हो, इसलिये जानवरोंको मारते हो। परन्तु कभी आपकी भी जानवर बननेकी बारी आयेगी और वे मनुष्य बनेंगे तो वे आपको मारेंगे। किये हुए कर्मोंका फल अवश्य भोगना पड़ता है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटिशतैरपि॥

आप बड़े होकर छोटे जीवोंको मारते हो और बड़ोंसे

कृपा चाहते हो, क्या यह न्याय है ? सन्त-महात्मा हमारेपर कृपा करें, भगवान् हमारेपर कृपा करें, बड़े आदमी हमारेपर कृपा करें— ऐसा चाहनेका हक है आपका ? अगर आप छोटोंपर कृपा करो तो बड़े भी आपपर कृपा करेंगे, नहीं तो आपको कृपा माँगनेका कोई हक नहीं है। जो छोटोंपर कृपा नहीं करते, उनपर बड़ोंको कृपा नहीं करनी चाहिये। परन्तु बड़े छोटोंपर कृपा करते ही रहते हैं, इसलिये आपको भी छोटोंपर कृपा करते रहना चाहिये।

आप तरह-तरहकी दवाइयाँ खरीदकर कीड़ोंको मारते हो, क्या यह बड़ोंका काम है ? समर्थ तो वह है, जो दूसरोंको भी समर्थ बना दे, बड़ा बना दे। जो दूसरोंका नाश करे, वह समर्थ नहीं है, प्रत्युत महान् असमर्थ है ! लोमड़ी अगर ब्याई हुई हो और कोई आदमी पासमें आ जाय तो वह पकड़कर फाड़ देती है; क्योंकि उसके मनमें भय रहता है कि मेरे बच्चोंका कहीं नुकसान न हो जाय ! तो क्या लोमड़ी समर्थ हो गयी ? समर्थ वह है, जो सबकी रक्षा करे, सबका पालन करे। आपको भगवान्ने बुद्धि दी है, खेत दिये हैं, जमीन दी है, उसमें अनाज पैदा करो। यह दूसरोंको मारनेके लिये नहीं दी है।

खेतोंमें जो जहरीली दवाएँ डालते हैं, उनका अनाजपर बुरा असर पड़ता है, जिससे स्वास्थ्य खराब होता है। शहरोंमें भी पानीमें दवाई डाल देते हैं। पानीमें उसकी दुर्गन्ध आती है। उससे भी स्वास्थ्य खराब होता है। हिम्मटसर (नोखा) की बात है। घासको कीड़ोंसे बचानेके लिये उसमें दवा छिड़क दी, जिससे उस घासको खाकर गाय मर गयी। दवामें ऐसा जहर होता है, जिससे जानवर मर जाते हैं। ऐसी खतरनाक दवाओंसे आप अनाज पैदा करते हो तो उससे स्वास्थ्यका कितना नुकसान होगा ?

खेतोंमें जो कचरा होता है, उसमें आग लगा देते हैं, जिससे छोटे-छोटे असंख्य जीव जलकर मर जाते हैं। रायड़ा आदिका जो कचरा हो, उसको जंगलमें फेंक दो तो घास पैदा होगी और खेतोंमें फेंक दो तो उसकी खाद बन जायगी। जंगलमें घास पैदा होगी तो गायोंको लाभ होगा। परन्तु उसमें आग लगाकर दूसरोंका नाश क्यों करते हो ? आपको थोड़ी-सी आग लग जाय तो कैसी बुरी लगती है ? पर आप आग लगाकर कितने जीवोंका नाश कर देते हो !

कीड़ी-नगरेको सींचनेके विषयमें भी एक बात ध्यान देनेकी है। गरमीके दिनोंमें जब तेज धूप हो, कीड़ियाँ बाहर नहीं हों, उस समय कीड़ी-नगरेके ऊपर सूखे काँटे (पायी) रख दे और उसके ऊपर मोटे-मोटे पत्थर रख दे। ऐसे ही जाड़ेके दिनोंमें जब रातमें तेज ठण्डी हो जाय, कीड़ियाँ बाहर नहीं हों, उस समय कीड़ी-नगरेके ऊपर काँटे रख दे। अगर कीड़ियाँ बाहर होंगी तो काँटोंमें पोई जायँगी, इसलिये जब कीड़ियाँ बिलके भीतर हों, तब काँटे रखे। काँटे नहीं रखनेसे कौवे, चिड़ियाँ, स्याल आदि आकर कीड़ियों-सहित अन्नको खा जाते हैं, जिससे आप करते हो पुण्य, हो जाता है पाप ! काँटोंके ऊपर बड़े-बड़े पत्थर रख दे, नहीं तो स्याल आकर काँटोंको अलग कर देता है और अनाजसहित कीड़ियोंको खा जाता है।

आपसे प्रार्थना है कि कृपानाथ ! जन्तुओंको मारना बन्द करो। पाप करके अपने लोक और परलोकका नाश मत करो।

गौरक्षा

खेती करनेवाले सज्जनोंको चाहिये कि वे गाय, बछड़ा, बैल आदिको बेचें नहीं। खेती और गायका परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। खेतीसे गाय पुष्ट होती है और गायसे खेती पुष्ट होती है। गोबर और गोमूत्रसे जमीन बड़ी पुष्ट होती है। मैंने सौ-सौ वर्षोंकी ढाणियाँ तथा उनके खेतोंको देखा है, जो अभीतक पुराने नहीं हुए और उनमें खेती हो रही है। कारण कि उसमें गायें बैठती हैं, बैल बैठते हैं और उनके गोमूत्र तथा गोबरसे जमीन पुष्ट होती रहती है, खराब नहीं होती। अब विदेशी खाद लाकर खेतोंमें डालते हैं तो उससे आरम्भमें कुछ वर्ष खेती अच्छी होगी, पर कुछ वर्षोंके बादमें जमीन उपजाऊ नहीं रहेगी, निकम्मी हो जायगी। विदेशोंमें तो खादसे जमीन खराब हो गयी है और वे लोग बम्बईसे जहाजोंमें गोबर लादकर ले जा रहे हैं, जिससे गोबरसे जमीन ठीक हो जाय। गायोंके गोबर और गोमूत्रसे होनेवाली खाद बहुत बढ़िया होती है। गाँवोंमें तो भेड़-बकरी बैठनेके लिये पैसा देते हैं कि आज रात एवड़ (भेड़-बकरीके समूह) को हमारे यहाँ ही रखो, जिससे वहाँ खाद हो जाय। एवड़को रखनेके लिये उलटा पैसा देते हैं ! गायका गोबर और गोमूत्र तो बड़ा पवित्र होता है। गोबरमें लक्ष्मीका और गोमूत्रमें गङ्गाका निवास है। घरमें किसीकी मृत्यु हो जाय अथवा बालक पैदा हो जाय तो घरकी शुद्धिके लिये गोमूत्र लाकर छिड़कते हैं, गोबरका चौका लगाते हैं। कोई मरनेवाला हो तो गोबरका चौका लगाकर उसपर सुलाते हैं। जब बालकका नामकरण करते हैं, तब गोबरका चौका लगाकर उसपर बालकको बैठाते हैं। इतनी पवित्र चीज पैदा करती हैं गायें ! उन गायोंको ही आज खत्म कर रहे हैं, फिर गोबर कहाँसे मिलेगा ? इसलिये खेती करनेवालोंसे कहना है कि गायोंको, बछड़ोंको बेचो मत। बूढ़े

बैल और बूढ़ी गायोंकी बिक्री मत करो । उनको कसाइयोंके हाथ मत बेचो। गाय बूढ़ी हो गयी, बछड़ा नहीं देती, दूध नहीं देती, उसको बेच देते हो, फिर घरमें जो बूढ़ी माताएँ हैं, बूढ़े पिता हैं, उनको क्या करोगे ? सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दका कहा करते थे कि जैसे गायोंके लिये पिंजरापोल खोलते हैं, ऐसे ही बूढ़ोंके लिये भी पिंजरापोल खोलना पड़ेगा! कोलायतमें मैंने अपनी आँखोंसे देखा है कि एक अन्धा और बहरा बूढ़ा घाटके पासमें ही गलीपर बैठा था और बार-बार 'भूखाँ मरूँ रे !' ऐसे कह रहा था। पूछनेपर पता चला कि एक छोटा छोरा उसको यहाँ लाया और छोड़कर भाग गया ! अब अन्धा और बहरा बूढ़ा बेचारा कहाँ जाय ! यह दशा हो रही है ! कितनी स्वार्थपरता चल पड़ी है !

बम्बईमें देवनार-कसाईखानेमें मैंने देखा है कि वहाँ अच्छे-अच्छे, जवान-जवान बैल ट्रकोंमें भरकर लाये जाते हैं और खड़े कर दिये जाते हैं। दूर-दूरतक सींग-ही-सींग दीखते थे। ऐसे बैलोंको मशीनोंके द्वारा बड़ी बुरी तरहसे मारते हैं। जीते-जी उनका चमड़ा उतारा जाता है; क्योंकि जीते हुएका चमड़ा उतारा जाय तो वह बहुत नरम होता है। जो गायों और बैलोंको बेचते हैं, उनको यह हत्या लगती है !

नागौरके बैल बड़े नामी होते हैं। एक आदमीने थानेमें आकर शिकायत की कि मेरे बैलोंको गाड़ीमें जोतकर चोर ले गये हैं। उन्होंने कहा कि अभी घोड़ोंपर चढ़कर जाते हैं और बैलोंको छुड़ाते हैं। वह आदमी बोला कि घोड़ोंपर चढ़कर मेरे बैलोंको पकड़ा नहीं जा सकता। सिपाहियोंको उसकी बातपर विश्वास नहीं हुआ और वे उसके साथ घोड़ोंपर चढ़कर वहाँसे चल पड़े। कुछ दूर जानेपर वे बैल जाते हुए दिख पड़े। उस आदमीने देखा कि अगर मेरे बैलोंको पकड़ लिया तो मेरी बात झूठी हो जायगी। वह जोरसे चिल्लाया—'अरे ! रास खाँच थारे बापों री जोरसे !' चोरोंने रास खींची और बैल इतनी तेजीसे भागे कि घोड़े पीछे रह गये ! सिपाहियोंने कहा कि बैलोंको तो चोर ले गये न ? वह बोला—बैल भले ही चले गये, पर मेरे बाड़ेकी आब (इज्जत) तो रह गयी ! ऐसे बैल नागौर पट्टीके हुआ करते थे, जिनका आज नाश किया जा रहा है ! उनके छोटे बछड़े-बछड़ियाँ बेच देते हैं। कारण कि गाय-बैलोंकी अपेक्षा बछड़े-बछड़ियोंका मांस विदेशोंमें बहुत महँगा बिकता है।

गाय और माय बेचनेकी नहीं होती। जबतक गाय दूध और बछड़ा देती है, बैल काम करता है, तबतक उनको रखते हैं। जब वे बूढ़े हो जाते हैं, तब बेच देते हैं। यह कितनी कृतघ्नताकी बात है ! कितने पापकी बात है ! गाँधीजीने 'नवजीवन' अखबारमें लिखा था कि बूढ़ा बैल जितना गोबर और गोमूत्र करता है, उससे कम खर्चा करता है। जितना घास खाता है, उतना गोबर और गोमूत्र कर देता है।

राजस्थानमें कई जगह ऐसा हुआ है कि बिजली चली जाती है, जिससे टोंटीमें जल आना बन्द हो जाता है और जलके बिना लोग दुःख पाते हैं ! पहले घरोंमें बैल होते, लाव (रस्सी) और चरस होता, जिससे कुएँमेंसे पानी निकाल लेते थे। अब बैल बेच दिये, फिर कुएँसे जल कैसे आये ? मेहनत किये बिना खाने-पीनेकी आदत पड़ गयी। बस, टोंटी खोल दी और पानी आ गया। परन्तु बिना मेहनत मिलनेवाली चीज अधिक दिन चलेगी नहीं। वैज्ञानिकोंने कहा है कि एक समय ऐसा आनेवाला है, जब न बिजली मिलेगी, न पेट्रोल-डीजल ! फिर क्या दशा होगी लोगोंकी ? इसलिये आप लोगोंसे कहता हूँ कि गाय-बैलको, बछड़ा-बछड़ीको बेचो मत। अभी भी तेल महँगा हो रहा है और आप ट्रेक्टरोंसे तेल खर्च कर रहे हो। जब तेल नहीं मिलेगा, तब बिना ट्रेक्टरोंके खेती कैसे करोगे ? बैलोंको तो खत्म कर रहे हो !

जब ट्रेक्टर चलता है, तब बड़ी हत्या होती है। खेतमें रहनेवाले कितने ही चूहे, गिलहरियाँ आदि जीव मारे जाते हैं। जहाँ पाला, घास, सेवन आदि होती है, वहाँ ट्रेक्टर चलता है तो पाला आदि नहीं होता। पाला, घास, बूर, सेवन, बुड़ेसी, गँठिया आदिकी जड़ें उखड़ जाती हैं और वे नष्ट हो जाते हैं। ट्रेक्टरोंके कारण गायोंके खानेके लिये घास आदि नहीं होता। खेतोंकी पुष्टि गाय-बैलोंसे होती है, ट्रेक्टरोंसे नहीं। इसलिये गाय-बैलोंकी रक्षा करो।

गर्भपात महापाप

गर्भपात करना, नसबन्दी करना आदि महापापोंसे भी आप बचो। पराशरस्मृतिमें आया है—

यत्पापं ब्रह्महत्याया द्विगुणं गर्भपातने।
प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति तस्यास्त्यागो विधीयते॥

(४।२०)

ब्रह्महत्याका जितना पाप लगता है, उससे दुगुना पाप गर्भपातका लगता है। उसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। जिस स्त्रीने गर्भपात किया हो, उसका त्याग कर देना चाहिये। परन्तु आज तो पुरुष भी गर्भपातमें सहमत हो जाते हैं; घरवाले भी सहमत हो जाते हैं। सब-के-सब पापी हो गये, क्या करें ? शास्त्रोंकी बात सुनते ही नहीं। न तो स्वयं पढ़ते हैं, न पढ़े हुएकी बात सुनते हैं। **'सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः'** 'शास्त्र सभीके नेत्र हैं। जिसको शास्त्रकी जानकारी नहीं है, वह अन्धा ही है।'

जो पुत्रको ही खा जाय, वह सर्पिणी होती है। अण्डे फूटनेपर जो बच्चे सर्पिणीके घेरेसे बाहर निकल जाते हैं, वे तो बच जाते हैं; परन्तु जो भीतर रह जाते हैं, उनको सर्पिणी खा जाती है। आज तो सन्तानको जन्मने ही नहीं देते, पहले ही उसकी हत्या कर देते हैं। इतना बड़ा पाप आपलोग मत करो। माँ बनो, सर्पिणी मत बनो! गर्भ गिरानेवाली स्त्री माँ कहलानेके लायक है ही नहीं।

हम नारनौल गये थे। वहाँ देखा कि गर्भ गिरानेके काममें कई मोटरें लगी हुई हैं, जिनसे जगह-जगह जाकर आपरेशन करते हैं, गर्भ गिराते हैं। गर्भका जो खून गिरता है, उसको पीपोंमें भरकर ले जाते हैं। उसका वे क्या करते हैं, यह भगवान् जानें! मेरेको तो ऐसा वहम होता है कि गर्भको राक्षसी लोग खा जाते होंगे। गर्भपात, नसबन्दी, ऑपरेशन करवानेवालोंको सरकार रुपये देती है। अभी यहाँ एक सज्जन मेरे पास आये थे। उन्होंने कहा कि मेरेको आज्ञा हुई है कि दो-तीन ऑपरेशनके केस तुम लाओ, तभी नौकरीमें रखेंगे, नहीं तो नौकरीसे निकाल देंगे! कितने अन्यायकी बात है! ऑपरेशनसे नौकरीमें क्या फायदा होगा। केवल जनताका नाश करना है! राजस्थानमें फरमान निकला है कि जिसके दोसे अधिक बच्चे हैं, वह पंचके चुनाव (इलेक्शन) में खड़ा नहीं हो सकता। अब बच्चोंसे और चुनावसे क्या मतलब है? मतलब केवल हिन्दुओंका नाश करनेसे है। मुसलमानलोग तीन-तीन, चार-चार ब्याह करते हैं। एक मुसलमानके साठ बालक होनेकी बात मैंने सुनी है। उसकी तीन स्त्रियाँ हैं और चौथा ब्याह करनेको तैयार है। यहाँसे भी लड़कियोंको ले जाकर पाकिस्तान, ईरान, इराक आदि मुस्लिम देशोंमें उनकी बिक्री की जाती है।

पिछले दिनोंमें हिन्दू-मुसलमानोंकी लड़ाई हुई तो मुसलमान लोग एक हिन्दू स्त्रीके मुँहमें कपड़ा डालकर तथा उसके हाथ पीछे बाँधकर बुरका पहनाकर ले जा रहे थे। टिकटकी जाँच करने टीटी आया तो उस स्त्रीने टीटीके पैरको अपने पैरसे दबाया। उसने सोचा कि स्त्री मेरा पैर क्यों दबा रही है? बात क्या है? बुरका हटाया तो वह स्त्री निकली। फिर टीटीने रेलवे पुलिससे कहकर स्त्रीको उन लोगोंसे मुक्त किया। इस प्रकार वे स्त्रियोंको ले जाकर अपनी बना रहे हैं और ज्यादा-से-ज्यादा सन्तान पैदा कर रहे हैं। भारतकी स्वतन्त्रताके समय कितने हिन्दू और मुसलमान थे, अब कितने हिन्दू और मुसलमान हैं? अभी जो जनगणना हुई है, उसमें सरकारने यह प्रकट नहीं किया है कि हिन्दू कितने हैं और मुसलमान कितने हैं? सरकार प्रकट करते हुए काँप रही है! सरकार कितना अन्याय कर रही है! अब भी वह मुसलमानोंका पक्ष ले रही है—केवल वोटोंके लिये। मुसलमानोंके साथ हमारा पीढ़ियोंसे काम पड़ा है। क्या दशा हुई, आप जानते हैं। नागौरमें ऐसी बात मैंने सुनी है। मुसलमानोंने कहा कि यह बाजार हमारेको दे दो, यह दुकान हमारेको दे दो तो हम तुम्हारेको वोट दे देंगे। नेतालोग तो पाँच वर्षोंतक पदपर रहेंगे, पर उनकी जायदाद उम्रभरके लिये हो गयी! हिन्दू तो जमीन बेच रहे हैं और वे जमीन खरीद रहे हैं।

हमारा मुसलमानोंसे कोई विरोध नहीं है। हमारे तो सत्संगमें मुसलमान आते हैं। मुसलमान गीता पढ़ते हैं। किशनगढ़में जब हमने चातुर्मास किया, तब एक मुसलमान सत्संगमें आता था, जो गीताका पाठ किया करता था तथा कई बातें पूछता था। कलकत्तेमें ईरानके मुसलमान हमारे सत्संगमें आये। मेरी उनके साथ बातें भी हुई हैं। तात्पर्य है कि उनमें भी अच्छे आदमी होते हैं। ऐसा ठेका नहीं है कि अच्छे आदमी हिन्दुओंमें ही होते हैं, मुसलमानोंमें नहीं होते। सब जातियोंमें सब तरहके आदमी होते हैं। साधुओंमें अच्छे-अच्छे साधु भी होते हैं और रावण तथा कालनेमि भी होते हैं। उन्होंने साधु-वेश धारण किया था। स्त्रियोंमें सीता, सावित्री-जैसी स्त्रियाँ भी होती हैं और शूर्पणखा-जैसी स्त्रियाँ भी होती हैं। समुद्रमें बड़े-बड़े रत्न भी होते हैं और शङ्ख तथा कौड़ियाँ भी होती हैं।

एक सच्ची बात मैंने सुनी है। मेरे पास पक्का प्रमाण नहीं है, पर मैंने सुना है कि सौ वर्षोंमें हिन्दू नष्ट हो जायँ—ऐसी एक दुरभिसन्धि है। जितने मरेंगे, उतने तो कम होंगे ही, नसबंदी, ऑपरेशन आदि करानेसे हिन्दू और कम हो जायँगे और सौ वर्षोंतक सब नष्ट हो जायँगे—ऐसा विचार हो गया है। उसी स्कीमको आप काममें ले रहे हो! मेरेको कई साधुओंने कहा कि ये बातें आप क्यों कहते हो? यह काम तो गृहस्थोंका है। परन्तु विचार करें, गृहस्थोंमेंसे ही तो साधु होते हैं। हिन्दू गृहस्थ नहीं रहेंगे तो फिर साधु कौन होगा? गीता, रामायण आदि ग्रन्थ कौन पढ़ेगा? क्या ईसाई और मुसलमान पढ़ेंगे?

आज खेतीके लिये मजदूर नहीं मिलते। मिलें भी कैसे? गर्भ गिराकर, ऑपरेशन करके, नसबंदी करके आदमियोंको नष्ट कर दिया। खेती करनेवाले कहते हैं कि मजदूरोंको चालीस-पचास रुपया प्रतिदिन और कारीगरोंको

डेढ़-दो सौ रुपया प्रतिदिन देना पड़ता है। अगर आपके घर बालकोंकी कमी न हो तो दूसरोंको इतना रुपया क्यों देना पड़े? अगर घरमें दस बालक हों, वे अगर काम करें तो चालीस रुपयेके हिसाबसे चार सौ रुपये रोजाना आयेंगे। अन्न इतना महँगा तो है नहीं कि वे चार सौ रुपयेका अन्न रोजाना खा जायँ! अगर चार सौ रुपयोंमेंसे दो सौ रुपयेका अन्न खा लें, तो भी दो सौ रुपये बचते हैं! दूसरी बात, घरके आदमी जितना काम करेंगे, उतना काम मजदूर नहीं करेंगे।

सारा अन्न इकट्ठा करनेपर बस, इतना ही है, अब ज्यादा आदमी पैदा हो जायँगे तो उनके हिस्सेमें थोड़ा-थोड़ा ही आयेगा—यह बात है ही नहीं! जहाँ आदमी ज्यादा होंगे, वहाँ अन्न भी ज्यादा होगा। जहाँ वृक्ष ज्यादा होते हैं, वहाँ वर्षा भी ज्यादा होती है। आवश्यकता आविष्कारकी जननी है। भगवान्‌के यहाँ कोई अँधेरा नहीं है। आप थोड़े-से लोभमें आकर बड़ा भारी पाप, अन्याय और नाश (भ्रूणहत्या) कर रहे हो! खेतीमें तो ज्यादा पैदा करनेकी चेष्टा करते हो और आदमियोंका नाश करनेकी चेष्टा करते हो। पर विचार करो कि खेती किसके काम आयेगी? इकट्ठा किया हुआ धन किसके काम आयेगा?

नशा-सेवन

दूसरा महापाप है—मदिरा पीना। ऋषिकेशमें एक सन्तसे बात हुई तो उन्होंने कहा कि अपने-आप मरी हुई गायका मांस खानेसे हिन्दूको जो पाप लगता है, उससे भी ज्यादा पाप मदिरा पीनेसे लगता है। इसलिये भाइयो! मदिराका त्याग करो। मदिरा पीनेमें महान् नुकसान है। शरीरका नुकसान है। पैसोंका नुकसान है। तीस-चालीस रुपये रोजाना मजदूरीमें लेते हैं, पर घरमें तंगी रहती है। मदिरामें रुपये खो देते हैं। मदिराके कारण बड़े-बड़े राज्य चले गये। मदिरा पीनेमें बड़ी भारी हानि है। मदिरा पीकर पुरुष आपसमें लड़ते हैं, गालियाँ निकालते हैं, स्त्रियोंको मारते हैं; बच्चोंको मारते हैं! घरमें भी कलह करते हैं, बाहर भी कलह करते हैं। ऐसा खराब व्यसन मत करो।

अन्न और जल—इन दोनोंके सिवाय और किसी चीजका व्यसन नहीं होना चाहिये। अन्न और जलके बिना काम नहीं चलता। जीनेके लिये इन्हें लेना ही पड़ता है। परन्तु चाय, काफी, बीड़ी, सिगरेट, जर्दा, तम्बाकू, अफीम, चिलम आदि न लें तो मनुष्य मरता थोड़े ही है?

नशा काढ़ लीवी नसां, नशा किया सब नाश।
नशा नाकिया नरक में, अड़ी नशा में आश॥

नशा-सेवन करके अपनी आदत खराब कर रहे हो, समय खराब कर रहे हो, पैसा खराब कर रहे हो, शरीर खराब कर रहे हो। नशा-सेवनसे कई बीमारियाँ लग जाती हैं। जो चाय पीते हैं, मदिरा पीते हैं, उनकी भीतरी आँतें जल जाती हैं, जिससे उनको कोई दवाई नहीं लगती। एक बार नशेसे थोड़ा भभका-सा आता है, पर वह शक्ति स्थायी नहीं होती। जोधपुरमें मेरा काम पड़ा तो नहीं कहनेलायक बात मैंने कह दी! मैंने कहा कि जो ज्यादा-से-ज्यादा नशा करनेवाला हो, वह चाहे तो मेरे साथ कुश्तीके लिये आ जाय! जैसे मैं बोलता हूँ, वैसे वह बोले; जितना मैं चलता हूँ, उतना वह चले। किसी काममें मेरे साथ बराबरी करके दिखाये! परन्तु उन बेचारोंके पास बल कहाँ है? खर्चा लगा-लगाकर कमजोरी खरीदते हैं! दाम दे-देकर परतन्त्रता खरीदते हैं! जगत्‌में पराधीन होनेके समान कोई दुःख नहीं है—***'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं'*** (मानस १।१०२।३)। परन्तु आप मदिराके वशमें हो गये, चिलमके वशमें हो गये, हुक्काके वशमें हो गये, बीड़ी-सिगरेटके वशमें हो गये! इनके बिना रहा नहीं जाता। मालवेकी भाषामें कहा है—

हुक्को हिड़क्यो टेकड़ो, चिलम बणी है चंगी।
पीवणवाला ऐसे लपके, ज्यूँ बाज पर भंगी॥

आप साक्षात् भगवान्‌के अंश हो—***'ममैवांशो जीवलोके'*** (गीता १५।७), ***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥'*** (मानस ७।११७।१)। ऐसे होते हुए भी आप नशेके वशमें हो गये, उसके गुलाम बन गये! कितने पतनकी बात है! चिलम-तम्बाकू पीकर पैसोंका धुआँ कर दिया, समयका धुआँ कर दिया, स्वतन्त्रताका धुआँ कर दिया, जीवनका धुआँ कर दिया, स्वास्थ्यका धुआँ कर दिया! जोधपुरमें मैंने कहा कि जो भाई चिलम पीते हैं, वे मेरेको बता दें कि चिलममें बड़े गुण हैं तो मैं भी खूब मौजसे चिलम खींचना शुरू कर दूँगा! अगर इसमें बड़ा लाभ है तो मैं पीछे क्यों रहूँ? परन्तु वास्तवमें कोई लाभ नहीं है, नुकसान-ही-नुकसान है। हमारे यहाँ तो साधुओंमें अगर कोई नशा करे तो उसे पंक्तिमें नहीं बैठाते।

भाई-बहनोंसे प्रार्थना है कि आप नशा-सेवनसे बचो। आप मेरेपर कृपा करो, अपने-आपपर कृपा करो, अपने बाल-बच्चोंपर कृपा करो। आप व्यसन करोगे तो आपके बच्चे भी वैसा ही सीख जायँगे। बालकपनमें ही उनको व्यसन लग जायगा तो फिर पीछे छूटना मुश्किल हो जायगा। इसलिये सावधान रहो। आजकल बहनें-माताएँ छोटे-छोटे बच्चोंको

चाय पीना सिखा देती हैं। आजकलके बच्चे दूध नहीं पीते। बालकपनमें हम दूधमें घी डालकर पिया करते थे। माँसे कहते थे कि दूध लूखा है, इसमें घी डालकर तारा कर दे ! परन्तु आजकल दूधमें मलाई भी दीख जाय तो बच्चे नाक-मुँह सिकोड़ते हैं ! पीछे वे कमजोर ही रहते हैं। आजकल बालकोंको जवानी आती ही नहीं; बालकपनसे सीधे वृद्धावस्थामें चले जाते हैं ! बालकपनमें घी-दूधसे जो ताकत आती है, जो शरीर बनता है, वह वृद्धावस्थामें भी काम देता है। नशेसे तो बच्चे छोटी अवस्थामें ही नष्ट हो जायँगे ! इसलिये बहनों-माताओंसे प्रार्थना है कि वे बालकोंको चाय पीना, अफीम, पानपराग आदि खाना मत सिखायें। बच्चा बीमार हो जाय, टट्टी लग जाय तो अफीम दे देती हैं, जिससे बड़ा नुकसान होता है। बच्चा बीमार हो तो माँको दवाई लेनी चाहिये, जिससे माँका दूध पीकर बच्चा ठीक हो जाय। वास्तवमें वही माँ कहलानेलायक है।

मुफ्तमें अपना नुकसान मत करो। भगवान्‌का दिया अन्न-जल लो। साधारण कपड़ा पहनो, जिससे लज्जाका निवारण हो, शीत-घामका निवारण हो। इससे आपके लोक और परलोक दोनोंका सुधार होगा।

चाहे तो ज्यादा पैदा कर लो और चाहे फालतू खर्चा मिटा दो—दोनोंका टोटल एक बैठेगा। ज्यादा पैदा करना तो हाथकी बात नहीं है, पर ज्यादा खर्चा नहीं करना, व्यसन नहीं करना हाथकी बात है। इसलिये फालतू खर्चा मत करो और अन्न तथा जलके सिवाय किसी भी नशेका सेवन मत करो।

निरर्थक बातचीतमें अपना समय बर्बाद मत करो, बैठकर हथाई मत करो। हथाई (निरर्थक बातचीत) करनेमें, चिलम पीनेमें समय बरबाद मत करो, अपनी आदत खराब मत करो।

मालिकोंके प्रति

ये जो बड़े-बड़े सेठ हैं, धनी हैं, ये भी मजदूरोंको दबाते हैं और उनको कम दाम देकर ज्यादा-से-ज्यादा अनाज खींचते हैं ! उधर तो वे दान-पुण्य करते हैं, सन्तोंको, ब्राह्मणोंको भोजन कराते हैं, पर इधर बेचारे गरीबोंपर छुरी चलाते हैं ! एक गरीब आदमी साहूकारके यहाँ गया। वह उससे उधार लिया करता था। साहूकारके कानपर टँगी कलम नीचे गिर गयी तो वह बोला सेठजी ! सेठजी !! आपकी छुरी नीचे गिर गयी। सेठजीने कहा कि यह तो कलम है, छुरी कहाँ है ? वह आदमी बोला कि महाराज ! मेरा गला तो इसीने काटा है ! आप साहूकार कहलाते हो तो गरीबोंकी रक्षा करो, उनको पैसा ज्यादा दो, उनके घरमें वस्तु बचाओ।

दरसावे जगमें दया, पाप उठावे पोट।
हितमें चितमें हाथमें, खतमें मतमें खोट॥

सब जगह खोट-ही-खोट है। किसानोंसे अनाज लेते समय तो अधिक लेते हो, कम दाम देते हो, पर उनको वस्तु देते समय कम वस्तु देते हो, कितना पाप है !

लेतां तो बदतो लेवे, देतां कसर पाव री।
पीपां प्रत्यक देखिये, बजारां में बावरी॥

गरीबोंका कितना नुकसान करते हो और कहते हो कि दान-पुण्य करते हैं ! दान-पुण्यका फल तो कम होगा, पर पापका पलड़ा बहुत भारी होगा। दान-पुण्य करनेसे पाप नहीं कटते। दान-पुण्य करना 'दीवानी' है और पाप करना 'फौजदारी' है। दीवानी और फौजदारी—दोनों परस्पर कटते नहीं हैं। पुण्यका फल अलग होगा, पापका फल अलग होगा।

ऐरण की चोरी करै, करै सुई को दान।
चढ़ चौबारे देखण लाग्यो, कद आसी बीमान॥

एक वेश्या थी। उसने सुन लिया कि सोमवती अमावस्याके दिन ब्राह्मणोंको जिमाने (भोजन कराने) से और दक्षिणा देनेसे बड़ा भारी पुण्य होता है। उसने जाकर ब्राह्मणोंसे कहा कि आप हमारे घर जीमने आओ। ब्राह्मणोंने कहा कि हम तेरा अन्न नहीं खायेंगे। एक भाँड़ (बहुरूपिया) था और उसने ब्राह्मणका रूप धारण किया हुआ था। वेश्याने उसके पास जाकर पूछा कि तुम कौन हो ? उसने कहा कि मैं पांडिया हूँ, तुम कौन हो ? वेश्याने कहा कि मैं तो खत्राणी हूँ। अच्छा पांडियोजी ! अमावस्याके दिन हमारे यहाँ भोजन कर लो। वह बोला—हाँ-हाँ, कर लेंगे। सुबह पांडेजी आ गये। वेश्याने खीर, मालपूआ आदि बढ़िया-बढ़िया भोजन बनाकर खिलाया और दक्षिणा भी खूब दी। यह सब करनेके बाद वेश्या बाहर आकर आकाशकी तरफ देखने लगी। पांडे बने हुए भाँड़ने पूछा कि क्या देखती हो ? वह बोली कि सोमवती अमावस्याके दिन ब्राह्मणको भोजन कराकर दक्षिणा दे तो ठाकुरजीका विमान आता है, उसको देखती हूँ कि कहाँसे आता है ? भाँड़ बोला—

तू खत्राणी मैं पांडियो, तू बेश्या मैं भाँड।
तेरे जिमाये मो जीमने, पत्थर पड़सी राँड॥

तात्पर्य है कि इस तरह करनेसे पुण्य नहीं होगा। आप अपना हृदय सीधा-सरल, सच्चा रखो। पाप मत करो। कपड़ा मैला करके पीछे धोते हो, तो पहले मैला ही क्यों करो ?

पहलेसे ही सावधान रहो, पाप करो ही मत, जिससे पीछे उसे धोना ही न पड़े। मैला नहीं करोगे तो कपड़ा ज्यादा दिन चलेगा और बार-बार मैला करोगे तथा साबुनसे धोओगे तो कपड़ा बहुत जल्दी फट जायगा। इसलिये बाहरसे भी सफाई रखो और भीतरसे भी।

सुख-शान्तिका उपाय

खेती करनेवालोंसे प्रार्थना है कि वे अमावस्याके दिन खेती न करें और उस दिन भगवान्का नाम लें, कीर्तन करें। साहूकारोंसे, मजदूरोंसे सबसे कहना है कि वे कम-से-कम अमावस्याके दिन छुट्टी रखें और भजन-कीर्तन, गीता-पाठ, रामायण-पाठ आदिमें समय बितायें। गीता और रामायण प्रासादिक ग्रन्थ हैं। जिनको पढ़ना-लिखना नहीं आता, ऐसे भाई-बहन भी गीता-रामायण पढ़नेका अभ्यास करें तो उनको पढ़ना आ जायगा। ये ग्रन्थ खुद कृपा करते हैं। ये कल्पवृक्ष हैं, जो शरणमें आये हुएका दुःख दूर करते हैं। इनके पाठसे लोक-परलोक दोनों सुधरते हैं। एक आदमीको टीबी हो गयी। उसने रामायणका पाठ किया तो उसका रोग ठीक हो गया। ऐसी कई घटनाएँ घटी हैं। नापासरमें वर्षा नहीं हुई। सबने मिलकर सात-आठ दिनतक कीर्तन किया तो वर्षा हो गयी। एक घरमें आग लगती थी। बन्द बक्सोंके भीतर पड़े कपड़े भी जल जाते थे। वहाँ सात दिनतक नगाड़ा बजाकर कीर्तन किया तो शान्ति हो गयी। भगवन्नाममें अपार शक्ति है, जिससे जीवकी मुक्ति हो जाय, कल्याण हो जाय। आप रोजाना भगवन्नामकी कम-से-कम एक माला फेरनेका नियम ले लो। छोटे बच्चोंसे भी नामजप करवाओ। वे कहें कि भूख लगी है तो कहो कि पहले माला फेरो, फिर रोटी देंगे। इससे उनकी माला फेरनेकी आदत पड़ जायगी। उनसे बड़ोंके चरणोंमें नमस्कार कराओ। आप भी जहाँ मजदूरी करो, वहाँ मालिकोंको नमस्कार करो। घरमें जो बड़े-बूढ़े हैं, उनको नमस्कार करो। माँके चरणोंमें मस्तक रखकर नमस्कार करो। माँके समान संसारमें दूसरा कोई नहीं है। माँका दर्जा सबसे ऊँचा है। कौसल्या माँ रामजीसे कहती हैं—

जौं केवल आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

(मानस २।५६।१)

घरमें परस्पर प्रेमका बर्ताव रखो। एक-दूसरेका हित करो, सेवा करो। बहनों-माताओंसे कहना है कि सासका, काकी सासका, बड़ी सासका आदर करो। जेठानी, ननद, भौजाईका आदर करो। घरमें बड़ोंको खुद भी नमस्कार करो और बच्चोंको भी नमस्कार करना सिखाओ। ऐसा करनेसे घरमें परस्पर प्रेम रहेगा, लड़ाई नहीं होगी। नमस्कार करेंगे तो लड़ाई कैसे करेंगे? सुबह-शाम दोनों समय नमस्कार करनेका नियम ले लें। दिनमें लड़ाई हो जाय तो शामके नमस्कारसे मिट जायगी और रातमें लड़ाई हो जाय तो सुबहके नमस्कारसे मिट जायगी। कितनी सीधी-सरल बात है! चरणोंमें नमस्कार करके माफी माँगी और लड़ाई मिटी! लड़ाईको फैलने मत दो। सप्ताहमें एक दिन सब मिलकर घरमें कीर्तन करो और उस दिन नमस्कार करके, माफी माँगकर या माफी देकर लड़ाई मिटा दो। घरोंमें कलह मत रहने दो। कलह नाम कलिका है। गीता-रामायण पढ़ो, नल-दमयन्तीकी कथा पढ़ो, जिससे कलियुग अपनेपर असर न करे।* नामजप करो। कीर्तन करो। काम-धंधा करते हुए भगवान्को याद रखो। पित्तका बुखार आता है तो मिश्री कड़वी लगती है। परन्तु मिश्री चूसना शुरू कर दे तो वह मीठी लगने लग जायगी। ऐसे ही आपको राम-नाम लेना अच्छा न लगे तो भी राम-राम करना शुरू कर दो तो वह मीठा लगने लग जायगा।

हाथ काम मुख राम है, हिरदै साची प्रीत।
दरिया गृहस्थी साधकी, याही उत्तम रीत॥

अगर सुख-शान्ति चाहते हो, लोक-परलोकका सुधार चाहते हो तो इन बातोंको काममें लाओ।

* कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च। ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम्॥ (महा० वन० ७९।१०)

गोहत्या—एक अभिशाप

बड़े दुःखकी बात है कि हमारे देशमें बड़े पैमानेपर गोहत्या हो रही है। अभी दस-बारह वर्षोंमें तो पहलेसे करीब-करीब दुगुनी हत्या होने लग गयी है। केरल और कलकत्तामें तो बहुत ज्यादा मात्रामें गोहत्या होती है। केरलके मुख्यमन्त्रीने कहा था कि बारह महीनोंमें हमारे यहाँ चौदह लाख गायें मारी जाती हैं! हम अपने यहाँकी गायें नहीं मारते; जो गायें दूसरे प्रान्तोंसे लायी जाती हैं, वे यहाँ मारी जाती हैं। बम्बईके देवनार कत्लखानेमें बैल काटे जाते हैं। कानूनमें तो बूढ़े बैलोंको ही काटनेकी बात है, पर वहाँ जवान बैल भी काटे जाते हैं—यह हम लोग देखकर आये हैं! इससे धर्मकी

हानि तो है ही, साथ-साथ देशकी भी बड़ी भारी हानि है।

अन्न और वस्त्र—ये दो चीजें खेतीसे होती हैं। जहाँ अभी बैलोंसे खेती होती है, वहाँ तो ठीक है; परन्तु जहाँ यन्त्रोंके द्वारा खेती की जाती है, उसके विषयमें वैज्ञानिकोंका कहना है कि मात्र भूमण्डलमें जितना कोयला, मिट्टीके तेल, पेट्रोल, डीजल आदि है, वह सब बीस वर्षोंके भीतर-भीतर खत्म हो जायगा ! तब ये यन्त्र कुछ काम नहीं करेंगे। अभी तो यन्त्रोंके मोहमें आकर बैलोंकी उपेक्षा कर रहे हैं, उनका नाश कर रहे हैं, पर जब ये यन्त्र काम नहीं करेंगे और बैल भी नहीं रहेंगे, तब क्या दशा होगी ! खेती कैसे होगी ? बिना खेतीके रोटी और कपड़ा कैसे मिलेगा ? इनके बिना जीवन-निर्वाह कैसे होगा ? राजस्थानमें तो कई जगह बैलोंके द्वारा ही कुओंसे पानी निकालते हैं। बैल खत्म हो जानेपर जल कैसे मिलेगा ? यह बड़ी भारी समस्या है; परंतु भाई लोग अभी इस तरफ ध्यान नहीं दे रहे हैं। कितना अनर्थ होगा—इस तरफ ख्याल नहीं है।

बड़े-बूढ़े बालकोंसे कहते हैं कि पढ़ाई करो, पर खेलमें बालकोंका जैसा मन लगता है, वैसा पढ़ाईमें नहीं लगता। इसी तरहसे अभी आप खेलमें लगे हुए हो, पढ़ाईमें नहीं। अभी अपने भविष्यका अध्ययन नहीं कर रहे हो, यह बड़ी भारी हानि है। आगे इतनी बड़ी हानि होगी, जिसको सँभालना मुश्किल हो जायगा ! बम्बईके देवनार कत्लखानेमें हमने देखा कि झुण्ड-के-झुण्ड बैल बहुत दूरतक खड़े हैं। वहाँ थोड़े-से लोग सत्याग्रह कर रहे हैं, धरना देकर बैठे हैं कि हम बैलोंको काटने नहीं देंगे। उनको पुलिसके आदमी उठाकर मोटरोंसे और जगह भेज देते हैं। बैलोंको अन्दर ले लेते हैं और कत्ल कर देते हैं। अब इस तरह सत्याग्रह करनेवाले भाई लोग भी तैयार नहीं होते हैं, नींदमें सोये हुएकी तरह सोये हुए हैं ! छोटी लड़की विधवा हो जाती है तो माँ चिन्ता करती है। कारण कि माँ उसके भविष्यको देखती है, जिसका पता अभी उस लड़कीको नहीं है। इसी तरहकी दशा आज देशकी हो रही है। यह बड़ी भारी हानिकी बात है। परन्तु पैसे कमाने और संग्रह करनेके लोभसे अंधे हुए लोग बड़े जोरोंसे गायोंको मारनेमें लग रहे हैं। पता नहीं कि इतने रुपयोंका क्या करेंगे ? पर उनको छोड़कर मरेंगे—यह हमें, आपको, सबको पता है। दस-बीस लाख, करोड़-दो-करोड़ कम छोड़कर मर जाओ तो क्या फर्क पड़ता है, और ज्यादा छोड़कर मर जाओ तो क्या फर्क पड़ता है ? **'सम्मीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति'**—आँख बन्द होनेपर कुछ भी नहीं है। परन्तु आज इस तरफ खयाल नहीं कर रहे हैं, चेत नहीं रहे हैं, होशमें नहीं आ रहे हैं कि आगे देशकी क्या दशा होगी ? सरकार भी सोचती नहीं है ! बस, किसी तरहसे रुपया मिल जाय। धनके लोभके कारण आज मनुष्य कितना अंधा हो रहा है—इसका कोई ठिकाना नहीं है !

मेरे विचारमें तो जैसे भगवान्‌का आश्रय कल्याण करनेवाला है, ऐसे ही रुपयोंका आश्रय नरकोंमें और चौरासी लाख योनियोंमें ले जानेवाला है। रुपयोंका आश्रय, रुपयोंका भरोसा, रुपयोंका लोभ, रुपयोंकी आसक्ति, रुपयोंकी प्रियता ही पतन करनेवाली है, रुपये नहीं। कोई ऐसा दोष नहीं, कोई ऐसा पाप नहीं, कोई ऐसा दुःख नहीं, कोई ऐसी जलन नहीं, कोई ऐसा संताप नहीं, जो रुपयोंके लोभसे पैदा न होता हो। जितने दुःख हैं, वे सब-के-सब रुपयोंके लोभमें ही हैं। अगर लोभका त्याग करके धनको अच्छे कार्यमें लगाया जाय तो आपका धन सफल हो जाय, जीवन सफल हो जाय और दुनिया भी आफतसे बच जाय। एक दिन यह सब धन छूट जायगा, पर उससे कल्याण नहीं होगा। अगर छूटनेसे ही कल्याण होता हो तो सभी मरनेवालोंका कल्याण होना चाहिये; क्योंकि उनका शरीर, धन, सम्पत्ति, वैभव, कुटुम्बी आदि सब छूट जाते हैं। परंतु इससे मुक्ति नहीं होती। मुक्ति भीतरसे त्याग करनेपर होती है। लोभ है भीतर और रुपये हैं बाहर। रुपये दोषी नहीं हैं, रुपयोंका जो लोभ है, जो प्रियता है, लगन है कि संख्या बढ़ती ही चली जाय—यह वृत्ति ही महान् अनर्थ करनेवाली है। इसलिये सज्जनो ! आप सावधान हो जाओ तो बड़ी अच्छी बात है। तीस वर्षोंके भीतर-भीतर हम बड़े-बूढ़े तो शायद ही रहें, पर आगे आनेवाली पीढ़ीके लिये आपने क्या सोचा है ? उनकी क्या दशा होगी ? प्रत्यक्ष सोचनेकी बात है। परन्तु मनुष्य दीर्घ दृष्टिसे सोचता ही नहीं ! सरकारकी कुर्सी भी कितने दिन रहेगी ? पर अनर्थ कितना भारी हो जायेगा—इसकी तरफ खयाल ही नहीं करते। पर किसको समझायें ? किसको कहें ?

कौन सुनै कासौं कहूँ, सुने तो समुझै नाहिं।
कहना सुनना समझना, मन ही का मन माहिं॥

इसलिये भाइयो, चेत करो। होशमें आओ और स्वयं विचार करो कि क्या दशा होगी देशकी ? बहुत-सी सम्पत्ति तो नष्ट हो गयी है। अभी अगर बचा लो तो कुछ बच सकता है।

केवल रुपयोंके लोभके कारण चमड़ेका, मांसका, गायोंका, बैलोंका व्यापार करते हैं; क्योंकि इसमें रुपये ज्यादा पैदा होते हैं। मांस, हड्डी, खून, जीभ, आँतें, सींग, खुर, कलेजा, चमड़ा आदि अलग-अलग कर दिये जायँ तो बहुत दाम बँटते हैं। कसाईखानेके पास आते ही गायके चार

हजार रुपये हो जाते हैं। केवल रुपयोंके लोभसे ही गोहत्या हो रही है।

नरकोंके तीन दरवाजे बताये गये हैं—काम, क्रोध और लोभ। इनमें भी महान् नरकोंका दरवाजा है—भोग और संग्रहका लोभ। इसलिये आप लोगोंसे प्रार्थना है कि थोड़ा जाग्रत् हो जाओ। क्या करें ? एक तो चमड़ा काममें न लायें। एक बात और आयी मनमें कि जितने घरके सदस्य हैं, वे रोजाना एक-एक मुट्ठी चून (आटा) गायोंकी रक्षाके लिये निकालें और उनका संग्रह करके गोशाला आदिमें दे दें। यह बात भी मैंने अपनी प्रकृतिसे विपरीत कही है। काममें लायें तो बहुत अच्छा और नहीं लायें तो मर्जी आपकी। ऐसी बहुत-सी बातें हैं, आप लोग ज्यादा सोच सकते हैं।

★

गायकी महत्ता और आवश्यकता

गाय विश्वकी माता है—'**गावो विश्वस्य मातरः।**' सूर्य, वरुण, वायु आदि देवताओंको यज्ञ, होममें दी हुई आहुतिसे जो खुराक, पुष्टि मिलती है, वह गायके घीसे ही मिलती है। होममें गायके घीकी ही आहुति दी जाती है, जिससे सूर्यकी किरणें पुष्ट होती हैं। किरणें पुष्ट होनेसे वर्षा होती है और वर्षासे सभी प्रकारके अन्न, पौधे, घास आदि पैदा होते हैं, जिनसे सम्पूर्ण स्थावर-जंगम, चर-अचर प्राणियोंका भरण-पोषण होता है*।

हिन्दुओंके गर्भाधान, जन्म, नामकरण आदि जितने संस्कार होते हैं, उन सबमें गायके दूध, घी, गोबर आदिकी मुख्यता होती है। द्विजातियोंको जो यज्ञोपवीत दिया जाता है, उसमें गायका पञ्चगव्य (दूध, दही, घी, गोबर और गोमूत्र) का सेवन कराया जाता है। यज्ञोपवीत-संस्कार होनेपर वे वेद पढ़नेके अधिकारी होते हैं। अच्छे ब्राह्मणका लड़का भी यज्ञोपवीत-संस्कारके बिना वेद पढ़नेका अधिकारी नहीं होता। जहाँ विवाह-संस्कार होता है, वहाँ भी गायके गोबरका लेप करके शुद्धि करते हैं। विवाहके समय गोदानका भी बहुत माहात्म्य है। पुराने जमानेमें वाग्दान (सगाई) के समय बैल दिया जाता था। जननाशौच और मरणाशौच मिटानेके लिये गायका गोबर और गोमूत्र ही काममें लिया जाता है; क्योंकि गायके गोबरमें लक्ष्मीका और गोमूत्रमें गङ्गाजीका निवास है।

जब मनुष्य बीमार हो जाता है, तब उसको गायका दूध पीनेके लिये देते हैं; क्योंकि गायका दूध तुरंत बल, शक्ति देता है। अगर बीमार मनुष्यको अन्न भी न पचे तो उसके पास गायके घी और खाद्य पदार्थोंकी अग्निमें आहुति देनेपर उसके धुएँसे उसको खुराक मिलती है। जब मनुष्य मरने लगता है, तब उसके मुखमें तुलसीमिश्रित गङ्गाजल या गायका दही देते हैं। कारण कि कोई मनुष्य यात्राके लिये रवाना होता है तो उस समय गायका दही लेना माङ्गलिक होता है। जो सदाके लिये यहाँसे रवाना हो रहा है, उसको गायका दही अवश्य देना चाहिये, जिससे परलोकमें उसका मङ्गल हो। अन्तकालमें मनुष्यको जैसे गङ्गाजल देनेका माहात्म्य है, वैसा ही माहात्म्य गायका दही देनेका है।

वैतरणीसे बचनेके लिये गोदान किया जाता है। श्राद्ध-कर्ममें गायके दूधकी खीर बनायी जाती है; क्योंकि पवित्र होनेसे इस खीरसे पितरोंकी बहुत ज्यादा तृप्ति होती है। मनुष्य, देवता, पितर आदि सभीको गायके दूध, घी आदिसे पुष्टि मिलती है। अतः गाय विश्वकी माता है।

गायके अङ्गोंमें सम्पूर्ण देवताओंका निवास बताया गया है। गायकी छाया भी बड़ी शुभ मानी गयी है। यात्राके समय गाय या साँड़ दाहिने आ जाय तो शुभ माना जाता है और उसके दर्शनसे यात्रा सफल हो जाती है। दूध पिलाती गायका दर्शन बहुत शुभ माना जाता है—'**सुरभी सनमुख सिसुहि पिआवा**' (मानस, बाल० ३०३। ३) गाय महान् पवित्र होती है। उसके शरीरका स्पर्श करनेवाली हवा भी पवित्र होती है। उसके गोबर-गोमूत्र भी पवित्र होते हैं। जहाँ गाय बैठती है, वहाँकी भूमि पवित्र होती है। गायके चरणोंकी रज (धूल) भी पवित्र होती है।

गायसे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—इन चारोंकी सिद्धि होती है। गोपालनसे, गायके दूध, घी, गोबर आदिसे धनकी वृद्धि होती है। कोई भी धार्मिक कृत्य गायके बिना नहीं होता। सम्पूर्ण धार्मिक कार्योंमें गायका दूध, दही, घी, गोबर और गोमूत्र काममें आते हैं। कामनापूर्तिके लिये किये जानेवाले यज्ञोंमें भी गायका घी आदि काममें आता है। बाजीकरण आदि प्रयोगोंमें भी गायके दूध और घीकी मुख्यता रहती है। निष्कामभावसे गायकी सेवा करनेसे मोक्ष होता है। गायकी सेवा करनेमात्रसे

* अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा॥ (मनु० ३। ७६)

अन्त:करण निर्मल होता है। भगवान् श्रीकृष्णने भी बिना जूतीके गायोंको चराया था, जिससे उनका नाम 'गोपाल' पड़ा। प्राचीन कालमें ऋषिलोग वनमें रहते हुए अपने पास गायें रखा करते थे। गायके दूध-घीका सेवन करनेसे उनकी बुद्धि बड़ी विलक्षण होती थी, जिससे वे बड़े-बड़े ग्रन्थोंकी रचना किया करते थे। आजकल तो उन ग्रन्थोंको ठीक-ठीक समझनेवाले भी कम हैं। गायके दूध-घीसे वे दीर्घायु होते थे। गायके घीका एक नाम 'आयु' भी है। बड़े-बड़े राजालोग भी उन ऋषियोंके पास आते थे और उनकी सलाहसे राज्य चलाते थे।

गाय इतनी पवित्र है कि देवताओंने भी उसको अपना निवास-स्थान बनाया है। जिसका गोबर और गोमूत्र भी इतना पवित्र है, फिर वह स्वयं कितनी पवित्र होगी! एक गायका पूजन करनेसे सब देवताओंका पूजन हो जाता है, जिससे सब देवताओंको पुष्टि मिलती है। पुष्ट हुए देवताओंके द्वारा सम्पूर्ण सृष्टिका संचालन, पालन, रक्षण होता है।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—गायके घीसे आहुति देनेपर वर्षा होती है—ऐसा शास्त्रमें आता है। आजकल प्राय: लोग गायके घीसे यज्ञ, होम आदि नहीं करते तो भी वर्षा होती ही है—इसका कारण क्या है?

उत्तर—प्राचीन कालसे जो यज्ञ, होम होते आये हैं, उनका संग्रह अभी बाकी है। उसी संग्रहसे अभी वर्षा हो रही है। परंतु अभी यज्ञ आदि न होनेसे वैसी व्यवस्था नहीं रही है, इसलिये कहीं अतिवृष्टि और कहीं अनावृष्टि हो रही है। वर्षा भी बहुत कम हो रही है।

प्रश्न—वर्षा अग्निमें आहुति देनेसे ही होती है या कर्तव्यका पालन करनेसे होती है?

उत्तर—कर्तव्य-पालनके अन्तर्गत यज्ञ, होम, दान, तप आदि सब कर्म आ जाते हैं। गीताने भी यज्ञ आदिको कर्तव्य-कर्मके अन्तर्गत ही माना है। अगर मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन करेंगे तो सूर्य, वरुण, वायु आदि देवता भी अपने कर्तव्यका पालन करेंगे और समयपर वर्षा करेंगे।

प्रश्न—विदेशोंमें यज्ञ आदि नहीं होते, फिर वहाँ देवतालोग वर्षा क्यों करते हैं?

उत्तर—जिन देशोंमें गायें नहीं हैं अथवा जिन देशोंके लोग यज्ञ आदि नहीं करते, वहाँ भी अपने कर्तव्य-कर्मका पालन तो होता ही है। वहाँके लोग अपने कर्तव्यका पालन करते हैं तो देवता भी अपने कर्तव्यका पालन करते हैं अर्थात् वहाँ वर्षा आदि करते हैं।

प्रश्न—ट्रैक्टर आदि यन्त्रोंसे खेती हो जाती है, फिर गाय-बैलकी क्या जरूरत है?

उत्तर—वैज्ञानिकोंने कहा है कि अभी जिस रीतिसे तेल खर्च हो रहा है, ऐसे खर्च होता रहा तो लगभग बीस वर्षोंमें ये तेल आदि सब समाप्त हो जायँगे, जमीनमें तेल नहीं रहेगा। जब तेल ही नहीं रहेगा, तब यन्त्र कैसे चलेंगे? उस समय गाय-बैल ही काम आयेंगे।

प्रश्न—तेल नहीं रहेगा तो उसकी जगह कोई नया आविष्कार हो जायगा, फिर गायोंकी क्या आवश्यकता?

उत्तर—नया आविष्कार हो अथवा न हो, पर जो चीज अभी अपने हाथमें है, उसको क्यों नष्ट करें? जो चीज अभी हाथमें नहीं है, भविष्यपर निर्भर है, उसको लेकर अभीकी चीजको नष्ट करना बुद्धिमानी नहीं है। जैसे, गर्भके बालककी आशासे गोदके बालकको समाप्त करना बुद्धिमानी नहीं है, प्रत्युत बड़ी भारी भूल है, महान् मूर्खता है, घोर पाप, अन्याय है। गायोंकी परम्परा तो युगोंतक चलती रहेगी, पर आविष्कारोंकी परम्परा भी चलती रहेगी—इसका क्या भरोसा? अगर विश्वयुद्ध छिड़ जाय तो क्या आविष्कार सुरक्षित रह सकेंगे? पीछेको कदम तो उठा लिया और आगे जगह मिली नहीं तो क्या दशा होगी? इसलिये आगे आविष्कार होगा—इस विचारको लेकर गायोंका नाश नहीं करना चाहिये, प्रत्युत प्रयत्नपूर्वक उनकी रक्षा करनी चाहिये। उत्पादनके जितने उपाय हों, उतना ही बढ़िया है। उनको नष्ट करनेसे क्या लाभ? अगर आगे आविष्कार हो भी जाय तो भी गायें निरर्थक नहीं हैं। गायोंके गोबर-गोमूत्रसे अनेक रोग दूर होते हैं। उनसे बनी खादके समान कोई खाद नहीं है। गायके दूधके समान कोई दूध नहीं है। गायसे होनेवाले लाभोंकी गणना नहीं की जा सकती।

प्रश्न—भैंसे और ऊँटके द्वारा भी खेती हो सकती है, फिर गाय-बैलकी क्या जरूरत?

उत्तर—खेतीमें जितनी प्रधानता बैलोंकी है, उतनी प्रधानता अन्य किसीकी भी नहीं है। भैंसेके द्वारा भी खेती की जाती है, पर खेतीमें जितना काम बैल कर सकता है, उतना भैंसा नहीं कर सकता। भैंसा बलवान् तो होता है, पर वह धूप सहन नहीं कर सकता। धूपमें चलनेसे वह जीभ निकाल देता है, जबकि बैल धूपमें भी चलता रहता है। कारण कि भैंसेमें सात्त्विक बल नहीं होता, जबकि बैलमें सात्त्विक बल होता है। बैलोंकी अपेक्षा भैंसे कम भी होते हैं। ऊँटसे भी खेती की जाती है, पर ऊँट भैंसोंसे भी कम होते हैं और बहुत महँगे होते हैं। खेती करनेवाला हरेक आदमी ऊँट नहीं खरीद सकता। आजकल बड़ी संख्यामें अच्छे-अच्छे जवान बैल मारे जानेके कारण बैल भी महँगे हो गये हैं, तो भी वे ऊँट-जितने महँगे नहीं हैं। यदि घरोंमें

गायें रखी जायँ तो बैल घरोंमें ही पैदा हो जाते हैं, खरीदने नहीं पड़ते। विदेशी गायोंके जो बैल होते हैं, वे खेतीमें काम नहीं आ सकते; क्योंकि उनके कंधे न होनेसे उनपर जुआ नहीं रखा जा सकता। वे गरमी भी सहन नहीं कर सकते। वास्तवमें जिस देशका पशु है, वह उसी देशमें काम आ सकता है। अतः अपने देशकी गायोंका पालन करना चाहिये, उनकी विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये।

बैलोंसे जितनी बढ़िया खेती होती है, उतनी ट्रैक्टरोंसे नहीं होती। देखनेमें तो ट्रैक्टरोंसे और रासायनिक खादसे खेती जल्दी हो जाती है, पर जल्दी होनेपर भी वह बढ़िया नहीं होती। बैलोंसे की गयी खेतीका अनाज बड़ा पवित्र होता है। गोबर-गोमूत्रकी खादसे जो अन्न पैदा होता है, वह बड़ा पवित्र, शुद्ध, निर्मल होता है।

खेतका और गायका घनिष्ठ सम्बन्ध है। खेतमें पैदा होनेवाले घास आदिसे गायकी पुष्टि होती है और गायके गोबर-मूत्रसे खेतकी पुष्टि होती है। विदेशी खाद डालनेसे कुछ ही वर्षोंमें जमीन खराब हो जाती है अर्थात् उसकी उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाती है। परंतु गोबर-गोमूत्रसे जमीनकी उपजाऊ शक्ति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। इसलिये पुराने जमानेमें खेतोंमें खाद डालनेकी प्रथा ही नहीं थी और सौ-सौ वर्षोंतक खेतोंमें अन्न पैदा होता रहता था। विदेशोंमें रासायनिक खादसे बहुत-से खेत खराब हो गये हैं, जिनको उपजाऊ बनानेके लिये वे गोबर काममें ले रहे हैं।

प्रश्न—गायके दूधकी क्या महिमा है?

उत्तर—गायका दूध जितना सात्त्विक होता है, उतना सात्त्विक दूध किसीका भी नहीं होता। हमारे देशकी गायें सौम्य और सात्त्विक होती हैं, इसलिये उनका दूध भी सात्त्विक होता है। जिसको पीनेसे बुद्धि तीक्ष्ण होती है और स्वभाव सौम्य, शान्त होता है। विदेशी गायोंका दूध तो ज्यादा होता है, पर उनके दूधमें उतनी सात्त्विकता नहीं होती तथा उनमें गुस्सा भी ज्यादा होता है। अतः उनका दूध पीनेसे मनुष्यका स्वभाव भी क्रूर होता है। विदेशी गायोंके दूधमें घी कम होता है और वे खाती भी ज्यादा हैं।

भैंसके दूधमें घी ज्यादा होनेसे वह शरीरको मोटा तो करता है, पर वह दूध सात्त्विक नहीं होता। गाड़ी चलानेवाले जानते ही हैं कि गाड़ीका हार्न सुनते ही गायें सड़कके किनारे हो जाती हैं, जबकि भैंस सड़कमें ही खड़ी रहती है। इसलिये भैंसके दूधसे बुद्धि स्थूल होती है। सैनिकोंके घोड़ोंको गायका दूध पिलाया जाता है, जिससे वे घोड़े बहुत तेज होते हैं। एक बार सैनिकोंने परीक्षाके लिये कुछ घोड़ोंको भैंसका दूध पिलाया, जिससे घोड़े खूब मोटे हो गये। परंतु जब नदी पार करनेका काम पड़ा, तब वे घोड़े पानीमें बैठ गये! भैंस पानीमें बैठा करती है, इसलिये वही स्वभाव घोड़ोंमें भी आ गया।

ऊँटनीका दूध भी निकलता है, पर उस दूधका दही, मक्खन होता ही नहीं। उसका दूध तामसी होनेसे दुर्गतिमें ले जानेवाला होता है। स्मृतियोंमें ऊँट, कुत्ते, गधे आदिको अस्पृश्य बताया गया है। बकरीका दूध नीरोग करनेवाला एवं पचनेमें हलका होता है, पर वह गायके दूधकी तरह बुद्धिवर्धक और सात्त्विक बात समझनेके लिये बल देनेवाला नहीं होता।

गायके दूधसे निकला घी 'अमृत' कहलाता है। स्वर्गकी अप्सरा उर्वशी राजा पुरूरवाके पास गयी तो उसने अमृतकी जगह गायका घी पीना ही स्वीकार किया—'**घृतं मे वीर भक्ष्यं स्यात्**' (श्रीमद्भा० ९।१४।२२)।

प्रश्न—गायके गोबर और गोमूत्रकी क्या महिमा है?

उत्तर—गायके गोबरमें लक्ष्मीजीका और गोमूत्रमें गङ्गाजीका निवास माना गया है। इसलिये गायके गोबर-गोमूत्र भी बड़े पवित्र हैं। गोबरसे लिपे हुए घरोंमें प्लेग, हैजा आदि भयंकर बीमारियाँ नहीं होतीं। इसके सिवाय युद्धके समय गोबरसे लिपे हुए मकानोंपर बमका उतना असर नहीं होता, जितना सीमेंट आदिसे बने हुए मकानोंपर होता है।

गोबरमें जहर खींचनेकी विशेष शक्ति होती है। काशीमें कोई आदमी साँप काटनेसे मर गया। लोग उसकी दाह-क्रिया करनेके लिये उसको गङ्गाके किनारे ले गये। वहाँ एक साधु रहता था। उसने पूछा कि इस आदमीको क्या हुआ? लोगोंने कहा कि यह साँप काटनेसे मरा है। साधुने कहा कि यह मरा नहीं है, तुमलोग गायका गोबर ले आओ। गोबर लाया गया। साधुने जमीनपर गोबर डालकर उसपर उस आदमीको लिटा दिया और उसकी नासिकाको छोड़कर पूरे शरीरपर गोबर थोप दिया। आँखें मीचकर, उनपर कपड़ा रखकर उसके ऊपर भी गोबर रख दिया। आधे घंटेके बाद दूसरी बार उसपर गोबर थोप दिया। कुछ घंटोंमें उस आदमीके श्वास चलने लगे और वह जी उठा! अगर किसी अङ्गमें बिच्छू काट जाय तो जहाँतक विष चढ़ा हुआ है, वहाँतक गोबर लगा दिया जाय तो विष उतर जाता है। हमने सुना है कि शरीरमें कोई भी रोग हो, जमीनमें गहरा गड्ढा खोदकर उसमें रोगीको खड़ा कर दे और उसके गलेतक वह गड्ढा गोबरसे भर दे। लगभग आधे घंटेतक अथवा जितनी देरतक रोगी सुगमतापूर्वक सहन कर सके, उतनी देरतक वह गड्ढेमें खड़ा रहे। जबतक रोग शान्त न हो जाय, तबतक प्रतिदिन यह प्रयोग करता रहे।

आजकल गोबरसे गैस पैदा की जाती है। उस गैससे बिजली भी पैदा की जाती है, जिसको कई जगह

काममें लिया जाता है। गैस निकलनेके बाद गोबरकी तेजी कम हो जाती है और वह खेतोंमें देनेके लिये बढ़िया खाद हो जाती है।

संखिया, भिलावा आदि बड़े-बड़े जहरोंकी शुद्धि भी गोमूत्रसे ही होती है। सोना, चाँदी आदि धातुएँ भी गोमूत्रसे शुद्ध की जाती हैं। भस्म बनाते समय उन धातुओंको तपाकर तेलमें, गायकी छाछमें और गोमूत्रमें बुझाकर शुद्ध किया जाता है।

छोटी बछड़ीका गोमूत्र प्रतिदिन तोला-दो-तोला पीनेसे पेटके रोग दूर होते हैं। यकृत्-पीडामें भी गोमूत्रका सेवन बड़ा लाभदायक होता है। एक संतको दमारोग था। उन्होंने छोटी बछड़ीका गोमूत्र प्रात: खाली पेट एक तोला प्रतिदिन लेना शुरू किया तो उनका रोग बहुत कम हो गया। छातीमें, कलेजेमें दर्द होता हो तो एक बर्तनमें गोमूत्र लेकर उसको गरम करे। उस बर्तनपर एक लोहेकी छलनी रखकर उसपर कपड़ा या पुरानी रुई रख दे। वह कपड़ा या रुई गरम हो जाय तो उससे छातीपर सेक करता रहे। इससे दर्द दूर हो जाता है। गोमूत्रसे स्नान करनेसे शरीरकी खुजली मिटती है।

—इस प्रकार गोबर और गोमूत्रसे अनेक रोग दूर होते हैं।

प्रश्न—गोरक्षासे क्या लाभ हैं?

उत्तर—गायकी रक्षासे मनुष्य, देवता, भूत-प्रेत, यक्ष-राक्षस, पशु-पक्षी, वृक्ष-घास आदि सबकी रक्षा होती है। पृथ्वीपर कोई भी ऐसा स्थावर-जंगम प्राणी नहीं है, जो गायसे पुष्टि न पाता हो। गाय अर्थ, धर्म, काम और मोक्षको सिद्ध करनेवाली, लोक-परलोकमें सहायता करनेवाली और नरकोंसे उद्धार करनेवाली है।

गोरक्षाके लिये बलिदान करनेवालोंकी कथाओंसे इतिहास, पुराण भरे पड़े हैं। बड़े भारी दु:खकी बात है कि आज हमारे देशमें पैसोंके लोभसे प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें गायोंकी हत्या की जा रही है! अगर इसी तरह गोहत्या होती रही तो एक समय गोवंश समाप्त हो जायगा। जब गायें नहीं रहेंगी, तब देशकी क्या दशा होगी, कितनी आफतें आयेंगी—इसका अंदाजा नहीं लगाया जा सकता। जब गायें खत्म हो जायँगी और जमीनसे तेल निकलना बंद हो जायगा, तब खेती कैसे होगी? खेती न होनेसे अन्न तथा वस्त्र (कपास) कैसे मिलेगा? लोगोंको शरीर-निर्वाहके लिये अन्न, जल और वस्त्र मिलना भी मुश्किल हो जायगा। राजस्थानके गाँवोंमें मैंने देखा है कि पहले वहाँ बैलोंके द्वारा जमीनसे पानी निकाला जाता था। फिर वहाँ बिजली आनेसे बिजलीसे पानी निकलने लगा और बैलोंको लोगोंने बिक्री कर दिया। अब अगर बिजली बंद हो जाय तो पानी भी बंद हो जाता है और लोग दु:ख पाते हैं! यह प्रत्यक्ष देखी हुई बात है।

गोरक्षासे सब तरहका लाभ है—इस बातको धर्मप्राण भारतवर्ष ही समझ सकता है, दूसरे देश नहीं समझ सकते; क्योंकि उनके पास गहरी धार्मिक और पारमार्थिक बातोंको समझनेके लिये वैसी बुद्धि नहीं है और वैसे शास्त्र भी नहीं हैं। जो लोग विदेशी संस्कृति, सभ्यतासे प्रभावित हैं तथा केवल भौतिक चकाचौंधमें फँसे हुए हैं, वे भी गायका महत्त्व नहीं समझ सकते। वे ऋषि-मुनियोंकी बातोंको तो मानते नहीं और स्वयं जानते नहीं! ऋषि-मुनियोंने, राजा-महाराजाओंने, धर्मात्माओंने गोरक्षाके लिये बड़े-बड़े कष्ट सहे तो क्या वे सब बेसमझ थे? क्या समझ अब ही आयी है?

प्रश्न—लोगोंमें गोरक्षाकी भावना कम क्यों हो रही है?

उत्तर—गायके कलेजे, मांस, खून आदिसे बहुत-सी अँग्रेजी दवाइयाँ बनती हैं। उन दवाइयोंका सेवन करनेसे गायके मांस, खून आदिका अंश लोगोंके पेटमें चला गया है, जिससे उनकी बुद्धि मलिन हो गयी है और उनकी गायके प्रति श्रद्धा, भावना नहीं रही है।

लोग पापसे पैसा कमाते हैं और उन्हीं पैसोंका अन्न खाते हैं, फिर उनकी बुद्धि शुद्ध कैसे होगी और बुद्धि शुद्ध हुए बिना सच्ची, हितकर बात अच्छी कैसे लगेगी?

स्वार्थबुद्धि अधिक होनेसे मनुष्यकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, बुद्धि तामसी हो जाती है, फिर उसको अच्छी बातें भी विपरीत दीखने लगती हैं* । आजकल मनुष्योंमें स्वार्थ-भावना बहुत ज्यादा बढ़ गयी है, जिससे उनमें गोरक्षाकी भावना कम हो रही है।

गायके मांस, चमड़े आदिके व्यापारमें बहुत पैसा आता हुआ दीखता है। मनुष्य लोभके कारण पैसोंकी तरफ तो देखता है, पर गोवंश नष्ट हो रहा है, परिणाममें हमारी क्या दशा होगी, कितने भयंकर नरकोंमें जाना पड़ेगा, कितनी यातना भोगनी पड़ेगी—इस तरफ वह देखता ही नहीं! तात्पर्य है कि तात्कालिक लाभको देखनेसे मनुष्य भविष्यपर विचार नहीं कर सकता; क्योंकि लोभके कारण उसकी विचार करनेकी शक्ति कुण्ठित हो जाती है, दब जाती है। लोभके कारण वह अपना वास्तविक हित सोच ही नहीं सकता।

प्रश्न—गायमें सब देवताओंका निवास है, फिर वे गायकी हत्या क्यों होने देते हैं?

उत्तर—गायमें देवताओंका निवास पवित्रताकी दृष्टिसे कहा गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि देवता गायमें

* अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धि: सा पार्थ तामसी॥ (गीता १८। ३२)
'तमोगुणसे घिरी हुई जो बुद्धि अधर्मको धर्म और सम्पूर्ण चीजोंको उल्टा ही मानती है, वह तामसी है।'

साक्षात् रूपसे निवास करते हैं। जैसे दियासलाईमें अग्नि रहती है, पर उसको रुईके भीतर रख दिया जाय तो उससे रुई नहीं जलती; क्योंकि अग्नि दियासलाईमें अप्रकटरूपसे, निराकार-रूपसे रहती है। परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें रहते हैं, फिर भी प्राणी मरते हैं; क्योंकि परमात्मा निर्लिप्तरूपसे, अप्रकटरूपसे रहते हैं। ऐसे ही गायके शरीरमें सम्पूर्ण देवता अप्रकटरूपसे, निर्लिप्तरूपसे रहते हैं। जैसे परमात्माको सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें विद्यमान कहनेका तात्पर्य है कि हृदय पवित्र और परमात्माका उपलब्धि-स्थान है, ऐसे ही देवताओंको गायके शरीरमें विद्यमान कहनेका तात्पर्य है कि गाय महान् पवित्र है और उसकी सेवा-पूजासे सम्पूर्ण देवताओंकी सेवा-पूजा हो जाती हैं।

प्रश्न—गोसेवासे क्या लाभ है?

उत्तर—जैसे भगवान्‌की सेवा करनेसे त्रिलोकीकी सेवा होती है, ऐसे ही निष्कामभावसे गायकी सेवा करनेसे विश्वमात्रकी सेवा होती है; क्योंकि गाय विश्वकी माता है। गायकी सेवासे लौकिक और पारलौकिक—दोनों तरहके लाभ होते हैं। गायकी सेवासे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—ये चारों पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। रघुवंश भी गायकी सेवासे ही चला था।

प्रश्न—गोरक्षाके लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर—गायोंकी रक्षाके लिये उनको अपने घरोंमें रखना चाहिये और उनका पालन करना चाहिये। गायके ही दूध-घीका सेवन करना चाहिये, भैंस आदिका नहीं। गायोंकी रक्षाके उद्देश्यसे ही गोशालाएँ बनानी चाहिये, दूधके उद्देश्यसे नहीं। जितनी गोचर-भूमियाँ हैं, उनकी रक्षा करनी चाहिये तथा सरकारसे और गोचर-भूमियाँ छुड़ाई जानी चाहिये। सरकारकी गोहत्या-नीतिका कड़ा विरोध करना चाहिये और वोट उनको ही देना चाहिये, जो पूरे देशमें पूर्णरूपसे गोहत्या बंद करनेका वचन दें।

खेती करनेवाले सज्जनोंको चाहिये कि वे गाय, बछड़ा, बैल आदिको बेचें नहीं। गाय और माय बेचनेकी नहीं होती। जबतक गाय दूध और बछड़ा देती है, बैल काम करता है, तबतक उनको रखते हैं। जब वे बूढ़े हो जाते हैं, तब उनको बेच देते हैं—यह कितनी कृतघ्नताकी, पापकी बात है! गाँधीजीने 'नवजीवन' अखबारमें लिखा था कि 'बूढ़ा बैल जितना घास (चारा) खाता है उतना गोबर और गोमूत्र पैदा कर देता है अर्थात् अपना खर्चा आप ही चुका देता है।'

बंबईके देवनार-कसाईखानेमें मैंने देखा है कि वहाँ अच्छे-अच्छे, जवान-जवान बैल ट्रकोंमें भरकर लाये जाते हैं और खड़े कर दिये जाते हैं। दूरतक सींग-ही-सींग दीखते थे। ऐसे बैलोंको मशीनोंके द्वारा बड़ी बुरी तरहसे मारते हैं। जीते-जी उनका चमड़ा उतारा जाता है; क्योंकि जीते हुएका चमड़ा उतारा जाय तो वह बहुत नरम होता है। जो गायों और बैलोंको बेचते हैं, उनको यह हत्या लगती है! अत: अपनी पूरी शक्ति लगाकर हर हालतमें गायोंकी रक्षा करना, उनको कत्लखानोंमें जानेसे रोकना तथा उनका पालन करना, उनकी वृद्धि करना हमारा परम कर्तव्य है।

उपसंहार

स्वराज्य-प्राप्तिसे पहले जितनी गोहत्या होती थी, उससे बहुत गुना अधिक गोहत्या आज होती है। चमड़ेके निर्यातमें भारतका मुख्य स्थान है। पशुओंको निर्दयतापूर्वक बड़ी तेजीसे नष्ट किया जा रहा है। गायोंका तो वंश ही नष्ट हो रहा है। पैसोंके लोभसे बड़ी मात्रामें गोमांसका निर्यात किया जा रहा है। रुपयोंके लोभसे बुद्धि इतनी भ्रष्ट हो गयी है कि पशुओंके विनाशको 'मांस-उत्पादन' माना जा रहा है! भेड़-बकरियों, मछलियों, मुर्गियों आदिका तो पालन और संवर्धन किया जा रहा है, पर जिनका गोबर-गोमूत्र भी उपयोगी होता है, उन गायोंकी हत्या की जा रही है! खुदमें तो अक्ल नहीं और दूसरेकी मानते नहीं—यह दशा हो रही है!

रुपयोंसे वस्तुएँ श्रेष्ठ हैं, वस्तुओंसे पशु श्रेष्ठ हैं, पशुओंसे मनुष्य श्रेष्ठ हैं, मनुष्योंमें भी विवेक श्रेष्ठ है और विवेकसे भी सत्-तत्त्व (परमात्मतत्त्व) श्रेष्ठ है। परंतु आज सत्-तत्त्वकी उपेक्षा हो रही है, तिरस्कार हो रहा है और असत्-वस्तु रुपयोंको बड़ा महत्त्व दिया जा रहा है। रुपयोंके लिये अमूल्य गोधनको नष्ट किया जा रहा है। गायोंसे रुपये पैदा किये जा सकते हैं, पर रुपयोंसे गायें पैदा नहीं की जा सकतीं। गायोंकी परम्परा तो गायोंसे ही चलती है। जब गायें नहीं रहेंगी, तब रुपयोंसे क्या होगा? उल्टे देश निर्बल और पराधीन हो जायगा। गायें भी खत्म हो जायँगी, रुपये भी। रुपये तो गायोंके जीवित रहनेसे ही पैदा होंगे। गायोंको मारकर रुपये पैदा करना बुद्धिमानी नहीं है। बुद्धिमानी तो इसीमें है कि गायोंकी वृद्धि की जाय। गायोंकी वृद्धि होनेसे दूध, घी आदिकी वृद्धि होगी, जिनसे मनुष्योंका जीवन चलेगा, उनकी बुद्धि बढ़ेगी। बुद्धि बढ़नेसे विवेकको बल मिलेगा, जिससे सत्-तत्त्वकी प्राप्ति होगी। सत्-तत्त्वकी प्राप्ति होनेपर पूर्णता हो जायगी अर्थात् मनुष्य कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जायगा।

★

मातृशक्तिका घोर अपमान

मन जाने सब बात, जान बूझ अवगुण करे।
क्यों चाहत कुसलात, कर दीपक कूएँ पड़े॥

वर्तमानमें ऐसे भयंकर-भयंकर पाप हो रहे हैं कि सुनकर रोंगटे खड़े हो जायँ, आँखें डबडबा जायँ, हृदय द्रवित हो जाय! राम-राम-राम, कितना घोर अन्याय, घोर पाप आप कर रहे हो, पर उधर आपका खयाल ही नहीं है! मनुष्यशरीरको सबसे दुर्लभ बताया गया है—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
(श्रीमद्भा० ११। २। २९)

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
(श्रीमद्भा० ११। ९। २९)

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
(मानस ७। ४३। ७)

ऐसे दुर्लभ मनुष्यशरीरके आरम्भको ही खत्म कर देना, काट देना जीवोंके साथ कितना घोर अपराध है, कितना अन्याय है, कितना पाप है! मेरे मनमें बड़ा दुःख हो रहा है, जलन हो रही है, पर क्या करूँ! जिस मनुष्यशरीरसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाय, उस मनुष्यशरीरको पैदा ही नहीं होने देना, नष्ट कर देना पापकी आखिरी हद है! किसी जीवको दुर्लभ मनुष्यशरीर प्राप्त न हो जाय, किसीका कल्याण न हो जाय, उद्धार न हो जाय, इसलिये गर्भको होने ही नहीं देना है, पहले ही दवाइयाँ लेकर नष्ट कर देना है, गिराकर नष्ट कर देना है, काटकर नष्ट कर देना है, गर्भस्राव करके नष्ट कर देना है, गर्भपात करके नष्ट कर देना है, भ्रूणहत्या करके नष्ट कर देना है; हमारा पाप भले ही हो, हम नरकोंमें भले ही जायँ, पर किसीको कल्याणका मौका नहीं मिलने देना है—ऐसी कमर कस ली है! अब मैं क्या करूँ? किसको कहूँ? और कौन सुने मेरी? कोई सुनता नहीं?

हम साधुओंके लिये शास्त्रोंमें कहा गया है कि चातुर्मासमें मत घूमो। हम दो महीने एक जगह रहते हैं, कई तीन महीने रहते हैं, कई चार महीने रहते हैं। कारण यह है कि चातुर्मासमें वर्षा होती है तो हरेक बीजका अङ्कुर उगता है। अङ्कुर होकर वह पौधा बनता है और फिर बड़ा होकर वृक्ष बनता है। चलने-फिरनेसे अङ्कुर पैरोंके नीचे आकर नष्ट हो जाते हैं। इसलिये चातुर्मासमें चलना-फिरना बन्द करते हैं, जिससे किसीकी हिंसा न हो जाय। भागवतमें आया है कि अगर हिंसापर विजय प्राप्त करनी हो तो शरीरकी चेष्टा कम करो—'**हिंसा कायाद्यनीहया**' (७। १५। २३)। जब स्थावर जीवोंकी हिंसाका भी इतना विचार है कि चातुर्मासमें घूमना-फिरना मना कर दिया तो फिर जङ्गम जीवोंके विषयमें कहना ही क्या है! परन्तु आज लोग जङ्गम जीवोंमें भी सबसे श्रेष्ठ, यहाँतक कि देवताओंसे भी श्रेष्ठ मनुष्यशरीरका नाश करनेके लिये उद्योग कर रहे हैं, क्या दशा होगी!

मैं अभिमानसे नहीं कहता हूँ, प्रत्युत मैंने जैसा सुना है, समझा है, वैसा कहता हूँ कि हिन्दू-संस्कृतिने जीवके उद्धारके लिये जितना उद्योग किया है, इतना दूसरी किसी संस्कृतिने नहीं किया है। ईसाई, मुसलमान, यहूदी, बौद्ध, पारसी आदि किस सम्प्रदायने जीवोंके कल्याणके लिये उद्योग किया है? कौन-सा सम्प्रदाय केवल जीवोंके कल्याणके लिये बना है? आप खुद देख लें। वे अपनी संख्या बढ़ानेका, अपने मतका प्रचार करनेका उद्योग तो करते हैं, पर जीवमात्रके कल्याणका उद्योग नहीं करते। जो संस्कृति केवल जीवोंके कल्याणके लिये ही है, उसमें किसी जीवको न आने देना, उसको पहलेसे ही रोक देना, नष्ट कर देना कितना भयंकर पाप है! आश्चर्यकी बात है कि इस पापको आज सामाजिक सभ्यता माना जा रहा है! इसका यही अर्थ हुआ कि जल्दी-से-जल्दी नरकोंमें जाना है, भयंकर-से-भयंकर नरक भोगना है, अगर नरकोंमें जानेसे आड़ लग गयी तो गजब हो जायगा!

विचार करें, किसीकी भी उन्नति रोक देना क्या पुण्य है? कोई धनी होना चाहे तो धनी नहीं होने देंगे, धर्मात्मा होना चाहे तो धर्मात्मा नहीं होने देंगे, कल्याण करना चाहे तो कल्याण नहीं होने देंगे, शरीरसे हृष्ट-पुष्ट होना चाहे तो हृष्ट-पुष्ट नहीं होने देंगे, क्या यह पुण्य है? अपनी थोड़ी सुख-सुविधाके लिये दूसरे जीवोंका नाश कर देना; जो भगवत्प्राप्तिके मार्गमें जा सकते थे, उनको जन्म नहीं लेने देना कितने भारी अन्याय-अत्याचारकी बात है! जान-जानकर घोर पाप मत करो अन्नदाता! इतनी तो कृपा रखो। आपके घरोंका बालक हूँ, आपसे ही पला हूँ, अभी भी आपसे ही निर्वाह होता है। आप सब माँ-बाप हो! थोड़ी कृपा करो कि ऐसा घोर पाप मत करो। पाराशरस्मृतिमें आया है—

यत्पापं ब्रह्महत्याया द्विगुणं गर्भपातने।
प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति तस्यास्त्यागो विधीयते॥
(४। २०)

'ब्रह्महत्यासे जो पाप लगता है, उससे दुगुना पाप गर्भपात करनेसे लगता है। इस गर्भपातरूपी महापापका कोई प्रायश्चित्त नहीं है, इसमें तो उस स्त्रीका त्याग कर देनेका उसको अपनी स्त्री न माननेका ही विधान है।'

अगर कम सन्तान ही चाहते हो तो ब्रह्मचर्यका पालन करो। उसका हम अनुमोदन करेंगे। आप ब्रह्मचर्यका पालन करो तो आपको पाप नहीं लगेगा, प्रत्युत शरीर नीरोग होगा, हृष्ट-पुष्ट होगा। परन्तु शरीरका नाश करना और सन्तान पैदा नहीं करना—यह कितनी लज्जाकी, कितने दु:खकी बात है!

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

धर्मसर्वस्व सुनो और सुनकर धारण कर लो। जो आचरण अपनेसे प्रतिकूल हो, उसको दूसरोंके प्रति मत करो। कोई आपकी उन्नति रोक दे, आपका जन्म रोक दे, आपका बढ़ना रोक दे, आपका पढ़ना रोक दे, आपका भजन-ध्यान रोक दे, आपके इष्टकी प्राप्ति रोक दे तो उसको पाप लगेगा कि पुण्य लगेगा? जरा सोचें। कोई जीव मनुष्यजन्ममें आ रहा है, उसमें रुकावट डाल देना, उसको जन्म ही नहीं लेने देना कितने बड़े पापकी बात है! हाँ, आप ब्रह्मचर्यका पालन करो तो आपका शरीर भी ठीक रहेगा और पाप भी नहीं लगेगा। परन्तु भोग तो भोगेंगे शरीरका नाश तो करेंगे, पर सन्तान पैदा नहीं होने देंगे—यह बड़े भयंकर पतनकी बात है।

छोटे-छोटे जीव-जन्तुओंको आप मार देते हो। वे बेचारे कुछ भी कर नहीं सकते; परन्तु क्या भगवान्के यहाँ न्याय नहीं है? निर्बलको नष्ट कर देना कितना बड़ा पाप है! महाभारतकी कथा आप सुनो-पढ़ो। युद्धमें दूसरेको चेताते हैं कि सावधान हो जाओ, मैं बाण चलाता हूँ! शत्रुपर बाण भी चलाते हैं तो पहले उसको सावधान करते हैं, फिर बाण चलाते हैं। जो बेचारे कुछ कर नहीं सकते, अपना बचाव भी नहीं कर सकते और आपका अनिष्ट भी नहीं कर सकते, ऐसे क्षुद्र जन्तुओंको नष्ट कर देना बड़ा भारी अन्याय, अत्याचार है। सज्जनो! इन बातोंपर थोड़ा ध्यान दो, जरा सोचो। आप अपना बुरा नहीं चाहते हो तो दूसरोंका बुरा करनेका आपको क्या अधिकार है? अत: किसीके भी सुखमें बाधा मत दो, किसीकी भी उन्नतिमें बाधा मत दो, किसीके भी जन्ममें बाधा मत दो, किसीका भी भला होनेमें बाधा मत दो। जो बात आप अपने लिये नहीं चाहते, उसको औरोंके लिये भी मत चाहो। यह सबसे पहला धर्म है।

जो जीव असमर्थ हैं, कुछ कर नहीं सकते, उनके साथ अत्याचार करना भगवान्को सह्य नहीं है। जो दूसरोंका नाश करनेके लिये समर्थ होते हैं, उनको गीताने असुर बताया है—'**प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः**' (१६। ९)। जान-जानकर मूक, असमर्थ जीवोंकी हत्या करते हो और चाहते हो कि हमारा भला हो जाय; कैसे हो जायगा? कल्याण कैसे हो जायगा? मैं तो हृदयसे चाहता हूँ कि आपकी दुर्गति न हो, आपका कल्याण हो, आपका उद्धार हो! पर मैं करूँ क्या?

हिन्दू-संस्कृति जितनी आध्यात्मिक उन्नति बताती है, उतनी दूसरी कौन-सी संस्कृति बताती है? ईसाई, मुसलमान आदि सब अपनी-अपनी टोली बढ़ानेके लिये काम करते हैं कि हमारे सम्प्रदायको माननेवाले लोगोंकी संख्या ज्यादा हो जाय, हमारा नाम ज्यादा हो जाय। परन्तु जीवमात्रका कल्याण हो जाय, उद्धार हो जाय, वह दु:खोंसे, नरकोंसे, जन्म-मरणसे छूट जाय, उसको सदाके लिये परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाय—ऐसी लगन किसमें है? विश्वशान्तिके लिये, विश्वके कल्याणके लिये यज्ञ आदि कौन करता है? मैंने दिल्लीमें छपा एक पन्ना देखा। उसमें लिखा था कि जो मूर्तिपूजा करे, उसको मार दो! जो मूर्तिपूजा करते हैं, वे कौन-सा अन्याय करते हैं? कौन-सा पाप करते हैं? किसका नुकसान करते हैं? वे मूर्तिपूजा करें तो तुम्हारे क्या बाधा लगी? अब आप बतायें कि ऐसा कौन-सा सम्प्रदाय है, जो जीवके कल्याणकी ही बात कहता हो?

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥
(मानस ५। ४१। ७)

ऐसी बात जिस संस्कृतिमें आयी है, उसमें कोई जीव न आ जाय, इसके लिये आरम्भमें ही नसबन्दी कर देना, गर्भपात कर देना, आपरेशन करा लेना कितना महान् अत्याचार है! अगर कोई जीव मनुष्य बननेवाला है और उसको रोक दोगे तो वे हिन्दू-संस्कृतिको न माननेवाले विधर्मियोंके यहाँ पैदा होंगे और हिन्दुओंका नाश करेंगे! विधर्मियोंकी संख्या बढ़ेगी तो वे क्या करेंगे? सबका कल्याण हो जाय—ऐसी चेष्टा किस सम्प्रदायमें है? घोर-से-घोर युद्ध भी कल्याणकारी हो जाय—ऐसा

उपदेश गीताने दिया है। महाभारतका युद्ध भी धर्मक्षेत्र 'कुरुक्षेत्र' में जाकर किया गया; क्योंकि उस जगह मरनेसे कल्याण होता है। युद्ध भी उस भूमिपर किया जाय, जिसपर मरनेसे कल्याण हो जाय—इस प्रकार जो संस्कृति प्रत्येक परिस्थितिमें कल्याणकी बात सामने रखती है, उस संस्कृतिमें जीवको जन्म ही नहीं लेने देना कितना घोर अपराध है! मैं अभिमानकी बात नहीं करता हूँ; पर बात अभिमानकी है, इसलिये क्षमा माँग लेता हूँ। आज यहाँ सत्संगका जो समारोह हो रहा है, रामचरितमानसके नवाह्न पारायणका आयोजन हो रहा है—इस तरहका सम्पूर्ण जीवोंके कल्याणके लिये समारोह ईसाइयोंमें होता है कि मुसलमानोंमें होता है कि यहूदियोंमें होता है कि पारसियोंमें होता है? कहीं होता हो तो बताओ? हमारे सत्संग-समारोहका, रामायण-पाठका उद्देश्य क्या है? टोली बढ़ानेके लिये, रुपया इकट्ठा करनेके लिये, यश-प्रतिष्ठाके लिये, मान-बड़ाईके लिये, भोगकी प्राप्तिके लिये, सांसारिक उन्नतिके लिये, किसके लिये यह समारोह हो रहा है?

रामजीने शत्रुका भी अनहित नहीं किया—'*अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा*' (मानस २। १८३। ६)। अङ्गदको रावणके पास भेजा तो उससे भी कहा—'*काजु हमार तासु हित होई*' (६। १७। ८)। जो सीताजीको हरकर ले गया और मरने-मारनेको तैयार है, उसके पास भी दूतको इसलिये भेजते हैं कि काम तो हमारा बन जाय, हमें हमारी स्त्री मिल जाय, पर उसका हित हो जाय! यह बात किस संस्कृतिमें है? उस संस्कृतिमें जन्म लेना बन्द कर देना कितना बड़ा भारी अन्याय है! शास्त्र जिसको महापाप कहता है, जिस महापापको आप जानते हो, उसको बड़े जोरोंसे कर रहे हो और चाहते हो कि सद्गति हो जाय, कैसे हो जायगी?

दो जाट थे। दोनोंके पास गाय-भैंस, भेड़-बकरी आदि खूब धन था। खेती भी बहुत अच्छी होती थी। उनमेंसे एक परिवारकी स्त्री दूसरे परिवारके साथ वैर रखती थी। वह उनके बाड़ेमें जाकर घास जला देती, उनकी खेती नष्ट कर देती, पर ऐसा करनेपर भी उसके बेटे-पोते, गाय-भैंस खूब बढ़ते! उस स्त्रीका पति कहता कि भगवान्‌के घर बड़ा अंधेर है! वह दूसरोंका अनिष्ट करती है, पर अच्छी तरह फलती-फूलती है! ऐसा करते-करते कई वर्ष बीत गये। अब उस स्त्रीके जवान-जवान बेटे मरने लगे, धन नष्ट हो गया, खेती होनी भी बन्द हो गयी! तब वह बोला कि भगवान्‌के घर अंधेर नहीं, देर है! वास्तवमें देर भी नहीं है! भगवान्‌के विधानसे जो होना चाहिये, वह समयपर हो रहा है। मनुष्यकी दृष्टि तुच्छ है, इसलिये उसको ऐसा दीखता है कि देर है।

बहुत-से लोग यह शङ्का किया करते हैं कि जो धर्मका पालन करते हैं, वे दु:ख पा रहे हैं और जो पाप करते हैं, वे बड़ी उन्नति कर रहे हैं, आरामसे रह रहे हैं, सुख पा रहे हैं। परन्तु इस बातका अभी पता नहीं है। जब परिणाम (फल) सामने आयेगा, तब पता लगेगा। परन्तु फिर रोनेके सिवाय कुछ नहीं होगा!

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

(मानस ७। ४३)

इसलिये पहले ही चेत कर लो तो बड़ी अच्छी बात है। कम-से-कम जान-बूझकर तो महान् अत्याचार, महान् पाप मत करो।

जब पाण्डव वनमें रहते थे, उस समय द्रौपदीने युधिष्ठिर महाराजसे प्रश्न किया कि महाराज! आप धर्मको छोड़कर एक पाँव भी आगे नहीं रखते, किसीका भी अनिष्ट नहीं करते, पर जंगलमें भटकते हो! अन्न-जल आदि भी पासमें नहीं है, फल-फूल आदि खाकर जीवन-निर्वाह करते हो! परन्तु जो अन्याय-ही-अन्याय करता है, वह दुर्योधन खूब मौज कर रहा है, राज्य कर रहा है! तो धर्म-कर्म कुछ है कि नहीं? ईश्वर कोई न्याय करता है कि नहीं? युधिष्ठिरजीने कहा कि देवी! तेरे भीतर यह बात कैसे पैदा हुई? जो अपनी सुख-सुविधाके लिये धर्मका पालन करता है, वह धर्मके तत्त्वको नहीं जानता। धर्मका तत्त्व तो वह जानता है, जो कष्ट पानेपर भी धर्मका त्याग नहीं करता। धर्मका महत्त्व है, सुख-सुविधाका नहीं। सुख-सुविधाका महत्त्व तो पशुओंमें भी है! मैं सुख-सुविधा पानेके लिये धर्मका पालन नहीं करता। विचार करें, जब धर्मका पालन भी अपनी सुख-सुविधाके लिये नहीं किया जाता, तो फिर उस सुख-सुविधाके लिये जो गर्भपात जैसे भयंकर पाप कर रहे हैं, उनकी क्या दशा होगी? गर्भपातमें भी विशेषरूपसे गर्भमें स्थित कन्याको गिरा देते हैं, इससे बढ़कर भयंकर पाप और क्या होगा?

मैंने बोर्डपर लिखा हुआ देखा है कि गर्भमें लड़का है, कि लड़की है—इसकी परीक्षा करो। इसका भाव यही है कि अगर गर्भमें लड़की है तो गर्भ गिरा दो!

संसारमें स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंको बड़ा दर्जा दिया गया है; परन्तु मातृशक्तिकी जो महिमा है, वह पुरुषशक्तिकी नहीं है! माँका दर्जा पितासे हजार गुना अधिक माना गया है—

सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥

(मनु० २। १४५)

पहले माँका नाम लेते हैं, पीछे पिताका नाम लेते हैं; जैसे—राधेश्याम, सीताराम, लक्ष्मीनारायण, गौरीशङ्कर आदि। कन्याको गर्भसे गिरा देना उस मातृशक्तिका महान् अपमान है। ये जितने भाई-बहन बैठे हैं, सब माँकी गोदीसे आये हैं, बापकी गोदीसे नहीं आये हैं। सबका पालन माँने किया है, बापने नहीं किया है। सबने दूध माँका पिया है, बापका नहीं पिया है। गायका बछड़ा जब दूध पीता है, तब गाय उसको चाटती है, उसकी तरफ देखती है, जिससे वह हृष्ट-पुष्ट होता है। अगर उसको दूसरी गायका दूध पिलाया जाय तो वह वैसा पुष्ट नहीं होता। कारण कि माँके प्यारसे, स्नेहसे बच्चेका जो पालन होता है, वह केवल दूधसे नहीं होता। माँकी बड़ी विलक्षण महिमा है! आप अपने सुख और सुविधाके लिये लोभमें आकर मातृशक्तिका नाश करते हो, कन्याको गिरा देते हो, यह बड़ा भारी पाप है। मातृशक्तिका इतना बड़ा अपमान कोई हो नहीं सकता! गर्भमें जो बच्ची है, वह मातृशक्ति है। उस मातृशक्तिका गर्भसे ही निवारण कर दोगे, उसको जन्म ही नहीं लेने दोगे तो कहाँ जन्मोगे? किसका दूध पीओगे? गोदी कहाँसे लाओगे? किस जगह प्यार पाओगे? कौन हृदयसे लगायेगा?

काशीके विद्वान् मदनमोहनजी महाराज कहते थे कि एक बार मैं किसीके विवाहमें गया हुआ था। उसमें बहनें-माताएँ बढ़िया-से-बढ़िया कपड़े-गहने पहनकर आयी थीं। एक बहनकी गोदमें छोटा बच्चा था। वह बच्चा टट्टी फिर गया। पासमें बैठी एक बहनने उससे कहा कि देख, तेरा बच्चा टट्टी फिर रहा है! यह सुनते ही वह बोली—अरे, चुप रह, हल्ला मत कर, बच्चेकी टट्टी रुक जायगी! ऐसी दया माँके सिवाय किसमें है, बताओ? बढ़िया रेशमी साड़ी खराब हो रही है, पर उसका खयाल न होकर बच्चेका खयाल है कि उसकी टट्टी रुक जायगी तो वह बीमार हो जायगा! कितनी विलक्षण बात है! उस मातृशक्तिका इतना अपमान, इतना तिरस्कार कि उसके गर्भको ही गिरा दो! कौन हमारा पालन करेगा? कौन रक्षा करेगा? कौन गर्भमें धारण करेगा? आजकल स्त्री और पुरुषके समान अधिकारकी बात कही जाती है, तो फिर स्त्रीकी तरह पुरुषको भी गर्भधारण करना चाहिये! वास्तवमें स्त्रियोंका समान अधिकार नहीं है, प्रत्युत ऊँचा अधिकार है; क्योंकि ये माँ हैं, माँ! साधुओंके बहुत मकान होते हैं, पर वे घर नहीं कहलाते। घर तो स्त्रीके कारण ही कहलाता है। इसलिये शास्त्रमें आया है—

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।

(महा० शान्ति० १४४। ६)

अर्थात् घरका नाम घर नहीं है, प्रत्युत स्त्री (गृहिणी) ही घर कहलाती है। पुरुष बाजारमें नथ खरीदता है, लहँगा खरीदता है तो कोई उससे पूछे कि क्या आप नथ पहनते हो? वह कहेगा कि नहीं, घरमें चाहिये। गृहलक्ष्मी ही खास घर है। बहू घरमें आती है तो बहनें-माताएँ कहती हैं कि बहूरानी आ गयी! अब घर इसका है। लोग डींग हाँकते हैं कि नारी-जातिका बड़ा अपमान किया गया है, सम्मान तो हम अब करते हैं! वास्तवमें अब नारी-जातिका जितना अपमान हो रहा है, उतना पहले कभी नहीं हुआ। नारीके सम्मानके लिये ही महाभारतका युद्ध हुआ। नारी-जातिकी रक्षाके लिये ही रामजीने रावणसे युद्ध किया। नारी-जातिके सम्मानके लिये ही भीष्मजीने अपने प्राण त्याग दिये, पर शिखण्डी (जो पहले स्त्री था, वर्तमानमें नहीं) पर बाण नहीं चलाया। परन्तु आज नारीकी मातृशक्तिको (परिवार-नियोजनके द्वारा) नष्ट करके उसको केवल भोग्य वस्तु बनाया जा रहा है। गर्भमें आयी कन्याको गिराया जा रहा है। क्या यह नारी-जातिका सम्मान है? यह तो नारी-जातिका घोर अपमान है।

बच्चीको गर्भसे गिरा दोगे तो आगे चलकर क्या दशा होगी? विवाह कहाँ करोगे? आपका गृहस्थ कैसे चलेगा? लड़की लेनेके लिये रुपया देना पड़ेगा! बचपनकी बात मेरेको याद है। उस समय जब बनियोंके यहाँ लड़की जन्मती थी, तब वे कहते थे कि रुपयोंकी थैली आयी है! परन्तु आज कहते हैं कि भाटा (पत्थर) आया है! ये दोनों बातें मेरी देखी हुई हैं। रुपयोंकी थैली इसलिये कहते थे कि विवाहमें रुपया आयेगा! अब यही दशा आगे हो जायगी!

यह बात सुनकर बड़ा आश्चर्य होता है कि आदमी अधिक हो जायँगे तो लोगोंको अन्न कैसे मिलेगा? यह बात तो वहाँ लागू होती है, जहाँ पहलेसे सीमित अन्न हो और आगे अन्न पैदा होनेकी सम्भावना न हो। ऐसी दशामें कह सकते हैं कि भाई, अन्न तो इतना ही है, पर जनसंख्या बढ़ रही है तो सबके हिस्सेमें कैसे आयेगा! परन्तु यह बात है ही नहीं! जनसंख्या बढ़ रही है तो

अन्न भी पैदा हो रहा है। जहाँ वृक्ष अधिक होते हैं, वहाँ वर्षा अधिक होती है; मनुष्य अधिक होंगे तो क्या अन्न अधिक पैदा नहीं होगा? परन्तु आज अकाल क्यों पड़ता है? अकाल इसलिये पड़ता है कि मनुष्योंने पशुओंको खाना शुरू कर दिया; अतः मनुष्योंके लिये अन्नकी जरूरत नहीं और पशुओंके लिये घासकी जरूरत नहीं, फिर वर्षाकी क्या जरूरत है? आज खेतीमें जीवोंको मार देते हैं, टिड्डियोंको मार देते हैं, चूहोंको मार देते हैं, पक्षियोंको मार देते हैं, छोटे-छोटे जन्तुओंको मार देते हैं कि खेती ज्यादा हो जायगी। परन्तु आज अन्नका क्या भाव है? पहले जीवोंको नहीं मारते थे, तब अनाजका क्या भाव था और आज क्या भाव है? हिंसाका नतीजा बड़ा भयंकर होता है। अभी आप दुर्बलोंको मारते हो तो वे कभी सबल होकर आपको मारेंगे। इसलिये सज्जनो! कृपा करो, गर्भको मत गिराओ, भ्रूणहत्या मत करो।

एक कानूनकी बात है कि जो पुरुष अच्छी चीजका तिरस्कार करता है, उसको फिर वह चीज नहीं मिलती। जो पुरुष अन्नका तिरस्कार करता है, उसको निरर्थक नष्ट करता है, जूठन छोड़ देता है, उसको अन्नके बिना भूखों मरना पड़ेगा; चाहे इस जन्ममें हो, चाहे अगले जन्ममें! जो जलका निरर्थक नाश करता है, उसको जलके बिना प्यासा मरना पड़ेगा। जो नौकर अच्छे मालिकका त्याग करता है, अपमान करता है, ठीक नौकरी नहीं करता, उसको अच्छा मालिक नहीं मिलेगा। जो मालिक अच्छे नौकरका तिरस्कार करता है, उसको अच्छा नौकर नहीं मिलेगा। अच्छे सन्त-महात्मा मिल जायँ, पर उनका तिरस्कार करते हो, उनकी बात नहीं मानते हो तो आगे अच्छे सन्त नहीं मिलेंगे। मनुष्य बन जाओ तो भी अच्छे सन्त नहीं मिलेंगे; क्योंकि उनका आपने तिरस्कार किया है। मनुष्यजन्मको निरर्थक नष्ट करोगे, उसको अच्छे कामोंमें नहीं लगाओगे तो फिर मनुष्य-शरीर नहीं मिलेगा। ऐसे ही गर्भपात करोगे, मनुष्यशरीरका तिरस्कार करोगे तो अगले जन्ममें सन्तानके बिना रोना पड़ेगा! एक सन्तसे किसीने पूछा कि इन स्त्रीकी सन्तान नहीं हुई, क्या कारण है? उन्होंने कहा कि इसने पूर्वजन्ममें बच्चेकी हत्या की है, इसलिये इसका बच्चा नहीं हुआ और न आगे होगा। उस स्त्रीकी जन्मभर कोई सन्तान नहीं हुई—यह मैं जानता हूँ, सच्ची बात है, पर नाम नहीं बताता हूँ। अगर कोई कहे कि गर्भपात करनेवालेकी सन्तान होती है, तो यह उसके पूर्वजन्ममें किये कर्मोंका फल है। इस जन्ममें किये गर्भपातरूप महान् पापका फल उसको अगले जन्ममें भोगना ही पड़ेगा। पिछले वर्ष की गयी खेतीका अन्न तो खाते हो, पर और खेती नहीं करते हो तो अगले वर्ष क्या खाओगे? अभी किये गये पापोंका भयंकर परिणाम भोगना पड़ेगा। इसलिये पापोंसे बचो, घोर पाप मत करो!*

★

* इस विषयको भलीभाँति समझनेके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'महापापसे बचो' पुस्तक पढ़नी चाहिये।

दहेज-प्रथासे हानि

किसीने पूछा है कि अनजानपनेमें नसबन्दी करवा ली तो इसका प्रायश्चित्त क्या है? इस विषयमें जोधपुरके एक डॉक्टरने बताया था कि नसबन्दी वापिस खुल सकती है, ठीक हो सकती है और जिन्होंने ऐसा किया है, उनकी फिर सन्तान भी हुई है। अत: अच्छे डॉक्टरसे नसबन्दी पुन: ठीक करा लेनी चाहिये। इसका प्रायश्चित्त यह है कि अब नसबन्दी कभी नहीं कराऊँगा और दूसरोंको ऐसा करनेकी सलाह भी नहीं दूँगा—ऐसा निश्चय कर लें। सच्चा पश्चात्ताप हो जाय तो प्रायश्चित्त हो जाता है अर्थात् मेरेसे भूल हो गयी, अब ऐसी भूल कभी नहीं करूँगा—ऐसा कहकर भगवान्‌से माफी माँग लें और आगे वैसी भूल न करें तो प्रायश्चित्त हो जाता है।

कर्मोंका पूरा फल भोगकर मुक्त हो जायँ—यह असम्भव बात है। जब कभी मुक्ति होती है, भगवान्‌की कृपासे ही होती है। उनके माफ कर देनेसे ही होती है। भगवान्‌की कृपासे क्या नहीं हो सकता? सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप हो तो भगवान् माफ कर देते हैं।

दूसरी बात यह आयी है कि कई लोग गर्भपात, भ्रूणहत्या इस कारण करते हैं कि लड़कियाँ ज्यादा हो जायँगी तो दहेज कहाँसे देंगे! अगर धनी आदमी कृपा करें और दहेज लेना छोड़ दें तो यह महापाप (भ्रूणहत्या) मिट सकता है। धनी आदमी ही दहेजके ज्यादा भूखे होते हैं। अन्याय भी ज्यादा वे करते हैं, जिनके पास पैसे ज्यादा हैं। अत: कृपा करके कम-से-कम यह बात मान

लो, परायी चीज लेनेकी इच्छा मत रखो। यद्यपि हम परायी रोटी खाते हैं, पराया कपड़ा पहनते हैं, परायी पुस्तक पढ़ते हैं, पराये मकानमें रहते हैं, पराये किरायेसे भ्रमण करते हैं, तथापि यह देनेवालेकी इच्छापर निर्भर है। हम परायी चीज लेनेकी इच्छा नहीं रखते।

हमने सन्तोंसे सुना है कि पाँच प्रकारकी वृत्ति (भिक्षा) में सबसे बढ़िया माधुकरी वृत्ति है। बढ़िया क्यों है? कि उसमें देनेवालेकी प्रसन्नता है। जिसमें देनेवालेकी प्रसन्नता होती है, वह चीज पवित्र होती है। जिसमें लेनेवालेकी इच्छा होती है, वह चीज पवित्र नहीं होती। मेरे सामने किसीने एक सन्तसे प्रश्न किया कि बढ़िया भोजन कौन-सा है? तो सन्तने उत्तर दिया कि जिसमें खानेवालेकी अपेक्षा खिलानेवालेको ज्यादा आनन्द आये, वह भोजन बढ़िया होता है। जिसमें खानेवाला और खिलानेवाला दोनों राजी होते हैं, वह भोजन मध्यम दर्जेका होता है। जिसमें खानेवालेको ज्यादा आनन्द आये, खिलानेवालेको नहीं, वह भोजन सबसे निकृष्ट होता है। बाघ गायको मारकर खाये तो गायको आनन्द आता है क्या? यह तो बड़ी हत्या है!

सहज मिले सो दूध सम, माँग लिया सो पानि।
खैंचातानी रक्त सम, यह सन्तों की बानि॥

अपने-आप आयी वस्तु दूधके समान होती है और माँगकर ली हुई वस्तु पानीके समान होती है। परन्तु जहाँ खींचातानी होती है कि हम तो इतना रुपया लेंगे तो यह दूसरेका खून पीना है! ऐसे पैसोंसे भला नहीं होगा। अभी थोड़े दिन भले ही भला दीख जाय, पर परिणाम महान् भयंकर होगा!

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं तद्विनश्यति॥

(अन्यायसे कमाया हुआ धन दस वर्षतक ठहरता है और ग्यारहवाँ वर्ष प्राप्त होनेपर वह मूलसहित नष्ट हो जाता है)।

अन्यायपूर्वक जो धन इकट्ठा किया जाता है, उसकी अवधि दस वर्ष मानी गयी है। कुछ न्यायका साथ होनेसे वह कुछ वर्ष अधिक टिक सकता है, पर अवधि पूरी होनेपर वह समूल नष्ट हो जायगा। जैसे सरोवरमें नेष्टा (अधिक जलको निकालनेका मार्ग) रखते हैं तो सरोवर भरा रहता है। अगर नेष्टा न रखा जाय तो अधिक जल भर जानेके कारण वह फूट जायगा और पूरा खाली हो जायगा। ऐसे ही जो धन इकट्ठा करता है और दान-पुण्य नहीं करता, वह दरिद्री अवश्य होगा, बचा नहीं सकता कोई भी। पूर्वके पुण्य ज्यादा होनेसे कुछ दिन भले ही ठीक निकल जायँ, पर अन्तमें दुर्दशा होगी—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

दूसरेका दिल दुखाना बहुत बड़ा पाप है। *'दिल किसीका मत दुखा, दिल खुदाका नूर है!'* दिलमें भगवान्‌का निवास है; अतः किसी भी जीवका दिल दुखाना ठीक नहीं। गाय हमारी माता है। उसका हम दूध पीते हैं तो कपड़ेसे छानकर पीते हैं कि कहीं उसमें रोयाँ न आ जाय! एक भी रोयाँ टूटता है तो गायको दुःख होता है। जो प्रसन्नतापूर्वक मिलता है, वह दूध होता है और जो अप्रसन्नतापूर्वक मिलता है, वह खून होता है। अतः माँगकर दहेज लेना बड़ा भारी पाप है।

एक लड़का था। जब वह पढ़-लिखकर बहुत अच्छा विद्वान् बन गया, तब उसके लिये कई सम्बन्ध आने लगे। परन्तु उसने कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया। आखिर उसने अपने गोत्रवाली ऐसी लड़कीसे विवाह किया, जो अन्धी थी! उसके मित्रोंने ऐसा करनेके लिये मना किया तो, उसने कहा कि मैं तो उससे सम्बन्ध करना चाहता हूँ, जिसकी मैं सेवा कर सकूँ। मैं सेवा लेनेके लिये नहीं, प्रत्युत सेवा करनेके लिये सम्बन्ध करना चाहता हूँ। रसोई बनाना, कपड़े धोना आदि कार्य वह खुद किया करता था। उसकी सन्तान भी हुई। इस प्रकार उसका दाम्पत्य-जीवन सुखसे बीता। ऐसी बात मनुष्यमें ही हो सकती है, पशुओंमें नहीं। कुत्ते बड़े प्रेमसे खेलते हैं, पर रोटीका टुकड़ा सामने आते ही लड़ाई शुरू हो जाती है। इस तरह यदि मनुष्यमें भी 'मैं खाऊँ! मैं खाऊँ!' होने लगे तो यह बहुत ही पतनकी बात है!

एक मार्मिक बात है कि जितना आप कमाते हो, उतना आप खर्च कर सकते ही नहीं! आप जो संग्रह करते हो, वह सब आपके काम आयेगा ही नहीं; परन्तु जितना पाप हुआ है, वह सब आपके साथ चलेगा, कौड़ी एक पीछे रहेगा नहीं। यहाँ रहनेवाले धनके लिये साथमें जानेवाली पापकी पोटली बाँधनेवालेको बुद्धिमान् कहें तो फिर निर्बुद्धि किसको कहेंगे? अब तो राजी होते हो, पर परिणाममें दुर्दशा होगी! *'पड़ेगा काम दूतों से, धरेंगे मार जूतों से'!* इसलिये कृपा करके विचार कर लो कि इतना दिन हुआ सो हुआ, अब ऐसा काम नहीं करेंगे, किसीको दबाकर कभी कुछ नहीं लेंगे। किसीको

दबाकर पैसे लेना, डाका डालना, चोरी करना बड़ा भारी पाप है। इस पापसे कब बचोगे? वह कौन-सा दिन आयेगा, जब आप पापोंसे बचोगे?

लड़केवाले दहेज माँगते हैं कि हम तो इतना लेंगे! खुद लड़कीवाला बोल नहीं सकता। वह दूसरोंके द्वारा कहलवाता है कि हमारी यह कन्या है, लड़केवाले स्वीकार कर लें तो अच्छा है। लड़केवाले पूछते हैं कि रुपये कितने देगा? वह कहता है कि दस हजार। तो वे कहते हैं कि दूसरा तीस हजार देता था, पर हमने नहीं लिये! अब लड़का नीलाम हो रहा है! पचास हजार कीमत हो गयी! जो दे, वह पा ले। इस तरह लड़केका नीलाम करना क्या मनुष्यपना है? थोड़ा-सा तो विचार करो। घरकी सन्तानका मोल करते हो कि जो ज्यादा रुपया देगा, उसको लड़का मिलेगा। अब लड़कीवाला इतने रुपये कहाँसे लाये? वह बेचारा क्या करे? यह आफत किसने की है धनियोंने। भूखे भी ज्यादा कौन हैं? धनवाले। गरीब इतने भूखे नहीं हैं? '**को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः**' प्यास किसको ज्यादा है? जो ज्यादा पानी पी ले, वह ज्यादा प्यासा है। ऐसे ही ज्यादा दरिद्री कौन है? जो ज्यादा धनवान् है, वह ज्यादा दरिद्री है; क्योंकि उसकी भूख बहुत ज्यादा होती है। धनी आदमीको घाटा भी लाखों रुपयोंका होता है, जब कि गरीबको पीढ़ियोंसे कभी लाख रुपयोंका घाटा नहीं हुआ! धनीलोग कहते हैं कि क्या करें, आजकल पैदा नहीं है; लगभग दस हजार किरायेका आ जाता है, इतना कुछ ब्याज आ जाता है, इतना व्यापारमें आ जाता है; आजकल इतनी पैदा नहीं है! तो कितने बड़े दरिद्री हैं वे कि इतनी पैदा उनको दीखती ही नहीं! थोड़ी पैदा तो पैदा ही नहीं मानी जाती और घाटा लगता है लाखों रुपयोंका! दान भी वे उतना नहीं कर सकते, जितना गरीब करता है। दस-बीस हजार रुपया दान कर दिया अथवा लाख रुपया दान कर दिया, पर पीछे कितना रुपया पड़ा है? एक आदमीके पास पाँच रुपये हैं। कहीं भूखी गायोंके लिये देनेका काम पड़ जाय तो वह उन पाँच रुपयोंमेंसे एक रुपया सुखपूर्वक दे देगा। क्या ऐसे सुखपूर्वक सौ रुपयोंवाला बीस रुपये दे देगा? हजार रुपयोंवाला दो सौ रुपये दे देगा? लाख रुपयोंवाला बीस हजार रुपये दे देगा? तंग करनेपर, दुःख देनेपर भी नहीं देगा, सुखपूर्वक तो क्या देगा वह? पाँच रुपयोंवाला एक रुपया देता है तो उसके निर्वाहमे तंगी आ जायगी; परन्तु लाख रुपयोंवाला बीस हजार रुपये देता है तो उसके निर्वाहमें तंगी नहीं आयेगी; क्योंकि पीछे अस्सी हजार रुपये पड़े हैं। अतः गरीबके दानके समान धनीका दान नहीं हो सकता। भगवान्‌के यहाँ रुपयोंकी गिनती नहीं देखी जाती।

सत्त सारु दत्त बाँटिये, 'नापो' कहत नरां।
निपट नकारो न दीजिये, उणत देख घरां॥*

शक्तिके अनुसार दान करना चाहिये, तो क्या धनवान् शक्तिके अनुसार दान करते हैं? लोग गिनती देखते हैं कि किसने ज्यादा दिया। वास्तवमें गिनतीमें जिसने ज्यादा दिया, वह दानी नहीं है। दानी वह है, जो साधारण स्थितिमें भी दान कर देता है। पासमें एक रोटी है, और उसमेंसे आधी रोटी दे देता है, वह दानी है। पासमें बहुत पड़ा है, उसमेंसे लाख-दो-लाख दे दिया तो क्या दे दिया? जितना छोटेका दान होता है, उतना बड़ेका दान नहीं होता। अन्याय भी बड़े आदमी ही करते हैं। बाजार-का-बाजार महँगा कर देते हैं। माल खरीदकर एक जगह कर लेते हैं, फिर महँगा करके बेचते हैं। अपने हाथमें सारा माल आ गया, अब वे चाहे जो करें। ऐसे-ऐसे अनर्थ करते हैं वे! मैं आपको दुःखी करनेकी नीयतसे यह बात नहीं कहता हूँ, प्रत्युत सदाके लिये सुखी करनेकी नीयतसे, नरकोंके महान् दण्डसे बचानेके लिये यह बात कहता हूँ। यदि आप अन्यायपूर्वक धन न कमाओ, दूसरोंका दिल न दुखाओ तो आप सदाके लिये सुखी हो जाओगे।

यह भ्रूणहत्या क्यों होती है? इन धनी आदमियोंके कारणसे; क्योंकि दहेज ज्यादा माँगते हैं। बहनोंको मिठाई, फल आदि सामान ज्यादा चाहिये और भाइयोंको रुपये ज्यादा चाहिये। यह भूख बड़ी खराब है! किसी तरहसे इस भूखको मिटाओ! बहू मिठाई कम लाती है तो सास कहती है कि इतना-सा लायी है, मेरा बड़ा परिवार है, किस-किसको दें! इस तरह वह बहू और उसकी माँकी निन्दा करती है। कोई दिन सासका है तो कोई दिन बहूका भी आयेगा, तब देखना तमाशा! फिर कहेंगे कि बहू कहना नहीं मानती। आपने बहूका कितना आदर किया? वह मिठाई ज्यादा लेकर आये—इस लोभसे उसका कितना तिरस्कार किया? अगर मिठाई कम है तो

* नापो कवि कहते हैं कि मनुष्यो! अपनी शक्तिके अनुसार दान दो। घरमें अभाव देखकर किसीको साफ 'ना' मत कहो, प्रत्युत कुछ-न-कुछ दो।

इसे लोगोंसे मत कहो। इसे छिपाओ, किसीके कानमें मत पड़ने दो और ठीक वैसी मिठाई घरमें बनाओ। फिर वह मिठाई मिलाकर सभीको बाँटो कि बेटेके ससुरालसे मिठाई आयी है। आप कहेंगे कि बाबाजी! कहनेमें जोर नहीं आता; ऐसा करनेमें रुपये लगते हैं! हम कहते हैं कि चालीस-पचास, सौ रुपये ही तो लगे, पर सौ रुपयोंमें बहू खरीदी गयी, बहू तुम्हारी हो गयी! बहूपर इस बातका कितना असर पड़ेगा कि मेरी माँकी महिमाके लिये सासने मिठाई घरपर बनाकर बाँटी! सौ रुपयोंमें एक आदमी खरीदा जाय तो सस्ता ही है, महँगा क्या है? पर यह होगा लोभ छोड़नेसे। लोभ नरकोंका दरवाजा है (गीता १६। २१), इसका त्याग करो। लोभमें महान् पाप है। लोभी आदमी अन्धा हो जाता है, देख नहीं सकता।

लोभके कारण दहेज आदि देनेसे बचनेके लिये कन्याका गर्भ गिरा देना नारी-जातिका घोर अपमान है। कन्याका जन्म होता है तो बूढ़ी माताएँ कहती हैं—'भाटो (पत्थर) आयो है, भाटो'! अब उनसे पूछो कि जब तुम आयी थीं, तब रत्न आया था क्या? तुम भी तो भाटो ही थीं! आज दादी-माँ बन गयी तो अब कन्याका तिरस्कार करती हो! कन्याका दान होता है, उत्सव होता है? कन्यादानके दिन माता-पिता भूखे रहते हैं और कन्यादान (विवाह) होनेके बाद भोजन करते हैं। कन्यादान कोई मामूली दान नहीं है। इससे अगलेके वंशकी वृद्धिके लिये नींव डाल दी है। जिससे उसका वंश बढ़े, ऐसी अपनी प्यारी पुत्री लक्ष्मीरूप कन्याको विष्णुरूप वरको देते हैं—'**विष्णुरूपाय वराय सालङ्कारां सवस्त्रां लक्ष्मीरूपिणीं कन्यां सम्प्रददे**'। ऐसी कन्याकी गर्भमें ही हत्या कर देना बड़ा भारी भयंकर पाप है। आपलोगोंसे यह प्रार्थना है कि गर्भमें चाहे कन्या हो, या लड़का हो, उसको गिराओ मत, उसकी हत्या मत करो। एक बात और ध्यान देकर सुनो। कन्या आयेगी तो अपना भाग्य लेकर आयेगी। वह आपके भाग्यके भरोसे नहीं आयेगी। ऐसी बात देखनेमें भी आती है। एकने मुझे बताया कि एक बार व्यापारमें ज्यादा रुपये पैदा हो गये। जब कन्याकी शादी की, तब आना-पाईसहित उतने रुपये लग गये! अतः कन्याके भाग्यका अपने-आप आयेगा, आप घबराओ मत। पहले कठिनता दीखती है, पर समयपर ठीक तरहसे विवाह हो जाता है।

आप कन्याओंका गर्भ गिरा दोगे तो लड़कोंका विवाह कहाँ करोगे? ब्राह्मणोंका ब्राह्मणोंमें, क्षत्रियोंका क्षत्रियोंमें अनादिकालसे विवाह होता आया है और लड़का-लड़की दोनों जन्मते आये हैं। कन्याएँ पैदा न हों तो वंश नष्ट हो जाय। राजपूतोंमें टीकेकी रीति (दहेज-प्रथा) ज्यादा होने लगी तो उन्होंने कन्याओंको मारना शुरू कर दिया। इस कारण उनके वंश नष्ट हो गये। भागवत आदिमें जितने राजपूतोंकी कथा आती है, उतने राजपूत आज देखनेमें नहीं आते। थोड़ा-सा विचार तो करो? कन्याकी हत्यासे बड़ा भारी अनर्थ होगा! कन्याका जन्म रोकनेके लिये तो गर्भपात करते हो और विधवाओंका विवाह शुरू करना चाहते हो! विधवाएँ तैयार हो जायँगी तो कन्याओंको वर कैसे मिलेंगे? पहले ही कन्याओंका विवाह नहीं हो रहा है, फिर विधवाओंको और तैयार कर लिया! विधवा-विवाह शास्त्रकी रीतिसे भी निषिद्ध है। पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये सन्तान पैदा करनेकी जिम्मेवारी पुरुषपर है। स्त्रीपर कोई जिम्मेवारी नहीं है। पुरुष भी यदि सुख-लोलुपतासे दूसरा विवाह करता है तो वह पाप करता है। जो बिना विवाह किये भोगोंका त्याग नहीं कर सकता, उसीके लिये विवाह करनेका विधान है। विवाह करना कोई बड़ा काम नहीं है। त्यागकी जितनी महिमा है, उतनी भोगोंकी महिमा कभी हुई नहीं, हो सकती नहीं, सम्भव ही नहीं है। फिर कहते हैं कि विधवाका विवाह होना चाहिये! विधवाका विवाह हो सकता ही नहीं। विवाह संज्ञा ही उसकी होती है, जिसमें कन्यादान होता है। अब विधवाका दान कौन करे? विधवा-विवाह वास्तवमें विवाह है ही नहीं। यह तो एक नाता है, जो कुत्ता-कुतियामें, गधा-गधीमें भी होता है! यह कोई आदरकी, आदर्शकी बात थोड़े ही है! परन्तु आज लोग कहते हैं कि विधवाओंका विवाह होना चाहिये। ऐसे ही साधु भी मिलकर कहेंगे कि साधुओंका भी विवाह होना चाहिये, तो क्या दशा होगी! संयम रखनेकी कुछ तो जगह रखो। कृपा करके ठीक रास्तेपर आ जाओ।

प्रश्न—क्या दहेज लेना पाप है?

उत्तर—हाँ, पाप है।

प्रश्न—अगर पाप है तो फिर शास्त्रोंमें इसका विधान क्यों है?

उत्तर—शास्त्रोंमें केवल दहेज देनेका विधान है, लेनेका विधान नहीं है। दहेज लेना नहीं चाहिये और न लेनेकी ही महिमा है। कारण कि दहेज देना तो हाथकी

बात है, पर दहेज लेना हाथकी बात नहीं है।

चाहना दो तरहकी होती है—(१) हमारी चीज हमारेको मिल जाय यह चाहना न्याययुक्त है; परन्तु परमात्मप्राप्तिमें यह चाहना भी बाधक है। (२) दूसरोंकी चीज हमारेको मिल जाय यह चाहना नरकोंमें ले जानेवाली है। ऐसे ही दहेज लेनेकी जो इच्छा है, वह नरकोंमें ले जानेवाली है। दहेज कम मिले, ज्यादा मिले और न भी मिले यह तो प्रारब्धपर निर्भर है, पर अन्यायपूर्वक दूसरोंका धन लेनेकी जो इच्छा है, वह घोर नरकोंमें ले जानेवाली है। मनुष्य-शरीर प्राप्त करके घोर नरकोंमें जाना कितना बड़ा नुकसान है, पतन है! अत: मनुष्यको कम-से-कम घोर नरकोंमें ले जानेवाली इच्छाका, पराये धनकी इच्छाका तो त्याग करना ही चाहिये।

वास्तवमें धन प्रारब्धके अनुसार ही मिलता है, इच्छामात्रसे नहीं। अगर धन इच्छामात्रसे मिलता तो कोई भी निर्धन नहीं रहता! धनकी इच्छा कभी किसीकी पूरी हुई नहीं, होगी नहीं और हो सकती भी नहीं। उसका तो त्याग ही करना पड़ेगा। धन मिलनेवाला हो तो इच्छा न रखनेसे सुगमतापूर्वक मिलता है और इच्छा रखनेसे कठिनतापूर्वक, पाप-अन्यायपूर्वक मिलता है। गीतामें अर्जुनने पूछा कि मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप क्यों कर बैठता है? तो भगवान्‌ने उत्तर दिया कि कामना ही सम्पूर्ण पापोंका मूल है (३। ३६-३७)।

पुराने जमानेमें दहेजमें बेटेके ससुरालसे आया हुआ धन बाहर ही वितरित कर दिया करते थे, अपने घरमें नहीं रखते थे और 'दूसरोंकी कन्या दानमें ली है'—इसके लिये प्रायश्चित्त-रूपसे यज्ञ, दान, ब्राह्मण-भोजन आदि किया करते थे। कारण कि दूसरोंकी कन्या दानमें लेना बड़ा भारी कर्जा (ऋण) है। परन्तु गृहस्थाश्रममें कन्या दानमें लेनी पड़ती है; अत: उनका यह भाव रहता था कि हमारे घर कन्या होगी तो हम भी कन्यादान करेंगे।

जो ब्राह्मण विधि-विधानसे गाय आदिको दानमें लेते हैं, वे भी उसके लिये प्रायश्चित्त-रूपसे यज्ञ, गायत्री-जप करते हैं—ऐसा हमने देखा है। जब दूसरोंका धन लेना भी दोष है, तो फिर दहेजमें धन लेना दोष है ही। अगर कहीं दहेज लेना भी पड़े तो केवल देनेवालेकी इच्छापूर्ति, प्रसन्नताके लिये ही लेना चाहिये। अपनी किञ्चिन्मात्र भी लेनेकी इच्छा नहीं हो और केवल देने-वालेकी प्रसन्नताके लिये ही थोड़ा लिया जाय, तो वह लेना भी देनेके समान ही है।

★

'ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी'

किसी ग्रन्थमें लिखी हुई बातपर विचार करना हो तो पहले उस ग्रन्थको देखें। जिस प्रसंगमें वह बात आयी हो, उसे पढ़ें और समझें। एक बार मेरा एक कालेजमें जानेका काम पड़ा तो अपने स्वभाववश मैंने कहा कि बोलो, क्या सुनाऊँ? तब एक पढ़ी-लिखी महिलाने आकर कहा कि गोस्वामीजीने नारी-जातिकी बड़ी निन्दा की है और कहा है—*'ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥'*

मैंने पूछा कि यह चौपाई कहाँ लिखी है? तो उसने कहा कि रामायणमें लिखी है। फिर पूछा कि रामायणमें किस जगह लिखी है? तो कहा कि अयोध्याकाण्डमें लिखी है! किस प्रसंगमें लिखी है? तो कहा कि जहाँ स्त्रियोंका वर्णन है, उसमें लिखी है! तब मैंने कहा कि देखो, तुम पढ़ी-लिखी हो, ग्रेजुएट हो; पढ़े-लिखे व्यक्तिको चाहिये कि वह कुछ बोले तो ठीक ढंगसे बोले। कोई व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा रखना चाहे तो उसे सोच-विचारकर बोलना चाहिये—

बैठ सभा बिच मूँडे बाहर, वचन काढ़ि जे सोच-बिचार।

आपकी कोई शङ्का हो तो पहले उस मूल ग्रन्थको देखें कि यह चौपाई कहाँ आती है? गोस्वामीजीने किसके द्वारा कहलवायी है? कौन बोलता है? कम-से-कम इतना विचार कर लें, फिर पीछे शङ्का करें। बिना विचार किये सीधे गोस्वामीजीपर कलङ्क लगाना कि उन्होंने नारी-जातिपर आक्षेप किया है, यह बड़ी भारी भूल है—*'निज अग्यान राम पर धरहीं'* (मानस ७। ७३। ९)

यदि पुरुष-जाति स्त्री-जातिपर आक्षेप करती है अथवा स्त्री-जाति पुरुष-जातिपर आक्षेप करती है तो वे दोनों ही बेईमान हैं। अपनी जातिको बढ़िया बताना और दूसरी जातिको खराब बताना मनुष्यता नहीं है। गोस्वामीजी सीताजीके चरणोंकी वन्दना करते हैं—

जनकसुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥
ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ॥

(मानस, बाल० १८। ७-८)

वे स्त्री-जातिकी निन्दा कैसे कर सकते हैं? भला

आदमी दूसरेकी निन्दा नहीं कर सकता, प्रत्युत अपनी निन्दा कर सकता है कि भाई! हम तो ऐसे हैं! पार्वतीजी शङ्करजीसे कहती हैं—

जासु भवनु सुरतरु तर होई। सहि कि दरिद्र जनित दुखु सोई॥
ससिभूषन अस हृदयँ बिचारी। हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी॥

× × ×

जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी॥
गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥
अति आरति पूछउँ सुरराया। रघुपति कथा कहहु करि दाया॥

(मानस, बाल० १०८। ११०)

पार्वतीजीके शब्दोंमें कितनी विनम्रता है! उन्होंने अपनेको ऊँचा नहीं बताया है। भला आदमी कभी अपनेको ऊँचा और दूसरेको नीचा नहीं बतायेगा। यदि ब्राह्मण भला आदमी हो तो वह कभी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रपर आक्षेप नहीं करेगा। यदि शूद्र भला आदमी हो तो वह कभी ब्राह्मणपर आक्षेप नहीं करेगा। आज जो दूसरोंपर आक्षेप करते हैं, ब्राह्मणोंपर आक्षेप करते हैं, साधुओंपर आक्षेप करते हैं, वे स्वयं कैसे आदमी हैं, आप सोच लें! वे भले आदमी नहीं हो सकते।

व्यक्तियोंमें सभी तरहके व्यक्ति होते हैं। स्त्रियोंमें सीताजी भी हैं, शूर्पणखा भी है। पुरुषोंमें श्रीरामजी भी हैं, रावण भी है। ग्रन्थोंमें सब तरहकी बातें आती हैं, पर वे शिक्षाके लिये आती हैं, आक्षेपके लिये नहीं। उनकी शिक्षा है—**'रामादिवद् वर्तितव्यं न तु रावणादिवत्'** अर्थात् बर्ताव करना हो तो श्रीराम आदिकी तरह करना चाहिये, रावण आदिकी तरह नहीं।

श्रीरामचरितमानसके सुन्दरकाण्डमें आता है—

सभय सिंधु गहि पद प्रभु केरे। छमहु नाथ सब अवगुन मेरे॥
गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी॥
तव प्रेरित मायाँ उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाए॥
प्रभु आयसु जेहि कहँ जस अहई। सो तेहि भाँति रहें सुख लहई॥
प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही। मरजादा पुनि तुम्हरी कीन्ही॥
ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥

(५९। १—६)

—यह बात समुद्र कह रहा है। समुद्र मनुष्यरूपसे भगवान् रामके सामने आता है और क्षमा माँगता है। वह कहता है कि 'नाथ! आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचों ही जड हैं। जल होनेसे मैं भी जड स्वभाववाला हूँ। सृष्टिके लिये आपने ही इन पाँचोंको उत्पन्न किया है। जिसके लिये जैसी आज्ञा दी गयी है, वह उसीके अनुसार अपनी मर्यादामें रहनेसे सुख पाता है। प्रभुने अच्छा किया जो मुझे शिक्षा दी। परंतु मर्यादा भी आपकी ही बनायी हुई है। ढोल, गँवार, शूद्र, पशु और नारी—ये सब ताड़ना अर्थात् शिक्षाके अधिकारी हैं।'

समुद्र कहता है—*'मरजादा पुनि तुम्हरी कीन्ही'* अर्थात् जिस मर्यादामें हम रहते हैं, वह आपकी ही बनायी हुई है; अतः इसमें हमारा दोष कहाँ हुआ? दोष तो आपका ही हुआ! फिर कहा कि *'ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥'* अब 'ताड़ना' शब्दपर विचार करना है कि इसका क्या अर्थ है? समुद्रने जो कहा कि *'प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही'* अर्थात् प्रभुने अच्छा किया कि मुझे शिक्षा दी, तो इस प्रसंगसे पता चलता है कि 'ताड़ना' नाम शिक्षाका है। चाणक्यनीतिमें आया है—

लालयेत् पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रवदाचरेत्॥

यदि बालकको पाँचवें वर्षसे मारने लगें तो वह बेचारा दस वर्ष पूरे होनेसे पहले ही मर जायगा! अतः 'ताड़ना' शब्दका अर्थ मारना नहीं है, प्रत्युत शिक्षा देना है। इसमें एक मार्मिक बात है कि ढोल, गँवार, शूद्र, पशु और नारी—ये सब शिक्षाके अधिकारी हैं; अतः यदि इन्हें ठीक शिक्षा नहीं मिलती तो दोष इनका नहीं होता, प्रत्युत शिक्षा देनेवालेका होता है। ढोल ठीक तरहसे नहीं बोल रहा है तो ढोलका दोष नहीं है, बजानेवालेका दोष है। गँवार ठीक नहीं है तो वह जिसके पास रहा है, उस शिक्षकका दोष है। शूद्र ठीक नहीं है तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका दोष है। पशु ठीक नहीं है तो उसे शिक्षा देनेवालेका दोष है। बैल, घोड़ा, ऊँट आदिको शिक्षित करते हुए उनमें कोई दोष आ जाय, खराबी आ जाय तो वह उम्रभर ठीक नहीं होता। ऐसे ही स्त्री ठीक नहीं है तो उसके माता-पिताका, पतिका दोष है। तात्पर्य यह है कि ये सब शिक्षाके अधिकारी हैं। अधिकारीको शिक्षा न मिले तो शिक्षा देनेवालेका दोष है। मैंने समाजमें देखा है कि कोई लड़की विवाह होनेपर ससुरालमें आती है और उसे ठीक तरहसे काम करना नहीं आता तो कहते हैं कि इसे माँने सिखाया नहीं है। काम तो लड़की नहीं करती, पर बदनामी होती है माँकी! अतः दोष माँका हुआ, लड़कीका क्या दोष है? अतः ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी—ये

सब शिक्षाके अधिकारी हैं। अब इन्हें शिक्षा न मिले तो इनका दोष कैसे हुआ? परंतु इस बातको न समझनेवाले बुद्धिहीन लोग कहते हैं कि इस चौपाईमें नारी-जातिकी निन्दा की गयी है; अत: इसमेंसे 'नारी' शब्दको हटा दो और लिख दो—*'ढोल गवाँर सूद्र पसु चारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥'* बुद्धि तो खुदमें नहीं है, दोष दूसरेपर धरते हैं! यदि 'नारी' की जगह 'चारी' शब्द ले लें तो फिर 'सकल' शब्द गलत हो जायगा! जो बात हमारे मनके अनुकूल न हो, उसे पुस्तकमें बदल दो, उसे काटकर दूसरी बात लिख दो—यह बहुत अपराधकी बात है। यह गोस्वामीजी महाराजकी वाणीकी हत्या करना है। बारीकीसे देखा जाय तो वाणीकी हत्या मनुष्यकी हत्यासे भी अधिक बड़ा पाप है। जो बात समझमें न आये, उसे गलत बताना बुद्धिका अजीर्ण है। बात पसंद न आये तो पुस्तकको बदल दो, गुरु पसंद न आये तो गुरुको बदल दो—यदि ऐसी बात रहेगी तो फिर आप शिक्षा किससे लेंगे, समझदार कैसे बनेंगे? आपको तो उनके अनुकूल बनना है, न कि उन्हें बदलना है।

आजकलका जमाना बहुत विचित्र है! जो बात अपनी समझमें न आये, उसे गलत कह देंगे। थोड़ी-सी कृपा करें, कम-से-कम उस बातको समझनेकी चेष्टा तो करें। परंतु बुद्धिका अजीर्ण हो गया! अपनेमें इतनी बुद्धि मान ली कि अब उसमें खाली जगह रही ही नहीं। एक बार कोई भाई मुझसे बात करने लगा तो मैंने कहा कि देख भाई, हम दोनों पण्डित हैं; तेरे मनमें तू पण्डित है और मेरे मनमें मैं पण्डित हूँ। तेरी बात मैं नहीं सुनता, और मेरी बात तू नहीं सुनता। न तुझे मुझसे सीखना है और न मुझे तुझसे सीखना है। दो पत्थर आपसमें टकरायेंगे तो भीतरसे चिनगारी ही निकलेगी! दो पण्डित आपसमें लड़ेंगे तो क्या इसमें कोई शान्ति मिलेगी? कोई तो शिष्य होना चाहिये, कोई तो नम्र होना चाहिये! घड़ा कुछ तो खाली होना चाहिये, भरे हुए घड़ेमें और कैसे भरा जायगा! कुछ जगह खाली होगी तो कुछ-न-कुछ और बात मिलेगी।

'ताड़ना' शब्दका अर्थ है—शिक्षा। समुद्रने कहा है—*'प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही'* यह नहीं कहा है कि *'मोहि ताड़ना दीन्ही'*। 'ताड़ना' का अर्थ 'मारना' कैसे होगा? जो प्रसंग चल रहा है उसके अनुसार ही अर्थ होगा। बात शिक्षाकी है, मारनेकी है ही नहीं। ढोल, गँवार आदि खराब हैं तो उनके शिक्षकका दोष है, उनका खुदका दोष नहीं है।

श्रोता—यह तो उनकी प्रशंसा हुई!

स्वामीजी—हाँ, प्रशंसा हुई। उनमें कोई दोष आये तो वह उनका नहीं है, शिक्षकोंका है। बात तो यह है, पर दोष देते हैं कि गोस्वामीजीने नारी-जातिकी निन्दा कर दी। कृपा करो अन्नदाता! थोड़ा-सा समझो कि किस प्रसंगमें कौन-सी बात आयी है, किसने कही है? कहनेवाला अपनी नम्रता प्रकट कर सकता है; वह दोषारोपण करके दूसरेको नीचा कैसे दिखा सकता है? समुद्र नम्रतापूर्वक कहता है कि आपने अच्छा किया कि मुझे शिक्षा दे दी, हम तो शिक्षाके अधिकारी हैं। ठीक तरहसे शिक्षा देनेको ही 'ताड़ना' कहते हैं। इसलिये कहा है—

लालनाद् बहवो दोषास्ताडनाद् बहवो गुणाः।
तस्मात् पुत्रं च शिष्यं च ताडयेत् न तु लालयेत्॥

माँके पास रहता हुआ बालक इतना नहीं सुधरता, जितना पिताके पास रहता हुआ सुधरता है; पिताके पास रहता हुआ इतना नहीं सुधरता, जितना अध्यापकके पास सुधरता है; और अध्यापकके पास इतना नहीं सुधरता, जितना संत-महात्माओंके पास रहता हुआ सुधरता है। तात्पर्य यह है कि बालकपर जितना अधिक मोह होगा, उसका उतना ही अधिक पतन होगा। माँके पासमें रहनेवाला बालक प्राय: सुधर नहीं सकता; क्योंकि माँका बालकपर अधिक मोह होता है, दया होती है। जो बालकको मूर्ख बना दे, जिससे बालकका अहित हो, वह दया कैसी? दया तो वह है, जिससे बालक विज्ञ बने, श्रेष्ठ बने! पिताका मोह कम होता है और पितासे भी अध्यापकका मोह कम होता है। संत-महात्मा निर्मोह होते हैं तो उनके पास रहनेसे बालक विलक्षण हो जाता है। गोस्वामीजी महाराज बचपनमें संत नरहरिजी महाराजके पास रहे थे। वे कहते हैं कि बचपनमें मैंने सूकर क्षेत्रमें गुरुसे रामचरित सुना, पर उस समय मैं बालक था, मुझे चेत नहीं था, इसलिये मैं उस कथाको समझा नहीं*। परंतु ऐसा होनेपर भी वे कितने ऊँचे दर्जेके संत हो गये और उन्होंने रामचरितको कितना समझ लिया!

★

* मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत। समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥
(मानस १। ३० (क))

महापापसे बचो

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ॥
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह।

(मनुस्मृति ११। ५४)

'ब्राह्मणकी हत्या करना, मदिरा पीना, स्वर्ण आदिकी चोरी करना और गुरुपत्नीके साथ व्यभिचार करना—ये चार महापाप हैं। इन चारोंमेंसे किसी भी महापापको करनेवालेके साथ कोई तीन वर्षतक रहता है, उसको भी वही फल मिलता है, जो महापापीको मिलता है।'*

१. ब्रह्महत्या

चारों वर्णोंका गुरु ब्राह्मण है—**'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः'**; शास्त्रीय ज्ञानका जितना प्रकाश ब्राह्मण-जातिसे हुआ है, उतना और किसी जातिसे नहीं हुआ है। अतः ब्राह्मणकी हत्या करना महापाप है। इसी तरह जिससे दुनियाका हित होता है, ऐसे हितकारी पुरुषोंको, भगवद्भक्तको तथा गाय आदिको मारना भी महापाप ही है। कारण कि जिसके द्वारा दूसरोंका जितना अधिक हित होता है, उसकी हत्यासे उतना ही अधिक पाप लगता है।

२. मदिरापान

मांस, अण्डा, सुल्फा, भाँग आदि सभी अशुद्ध और नशा करनेवाले पदार्थोंका सेवन करना पाप है; परंतु मदिरा पीना महापाप है। कारण कि मनुष्यके भीतर जो धार्मिक भावनाएँ रहती हैं; धर्मकी रुचि, संस्कार रहते हैं, उनको मदिरापान नष्ट कर देता है। इससे मनुष्य महान् पतनकी तरफ चला जाता है।

मदिराके निर्माणमें असंख्य जीवोंकी हत्या होती है। गङ्गाजी सबको शुद्ध करनेवाली हैं; परन्तु यदि गङ्गाजीमें मदिराका पात्र डाल दिया जाय तो वह शुद्ध नहीं होता। जब मदिराका पात्र भी (जिसमें मदिरा डाली जाती है) इतना अशुद्ध हो जाता है, तब मदिरा पीनेवाला कितना अशुद्ध हो जाता होगा—इसका कोई ठिकाना नहीं है। मुसलमानोंके धर्मकी यह बात मैंने सुनी है कि शरीरके जिस अंगमें मदिरा लग जाय, उस अंगकी चमड़ी काटकर फेंक देनी चाहिये।

प्रश्न—आजकल कई अंग्रेजी दवाइयोंमें मदिरा मिली रहती है। अगर स्वास्थ्यके लिये ओषधिरूपसे उनका सेवन किया जाय तो क्या महापाप लगेगा?

उत्तर—जिनमें मदिरा है, उन ओषधियोंके सेवनसे महापाप लगेगा ही।

प्रश्न—अगर परिवारमें एक व्यक्ति मदिरापान करता है तो उसके संगके कारण पूरे परिवारको महापाप लगेगा क्या?

उत्तर—नहीं। परिवारवालोंकी दृष्टिमें वह कुटुम्बी है; अतः वे मदिरा पीनेवालेका संग नहीं करते, प्रत्युत परवशतासे कुटुम्बीका संग करते हैं। ऐसे ही अगर पति मदिरा पीता हो और स्त्रीको रात-दिन उसके साथ रहना पड़ता है तो स्त्रीको महापाप नहीं लगेगा; क्योंकि वह मदिरा पीनेवालेका संग नहीं करती, प्रत्युत परवशतासे पतिका संग करती है। रुचिपूर्वक संग करनेसे ही कुसंगका दोष लगता है।

प्रश्न—जो पहले अनजानमें मदिरा पीता रहा है, पर अब होशमें आया है तो वह महापापसे कैसे शुद्ध हो?

उत्तर—वह सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप करके मदिरा पीना सर्वथा छोड़ दे और निश्चय कर ले कि आजसे मैं कभी भी मदिरा नहीं पीऊँगा तो उसका सब पाप माफ हो जायेगा। जीव स्वतः शुद्ध है—***'चेतन अमल सहज सुखरासी ॥'*** अतः अशुद्धिको छोड़ते ही उसको नित्यप्राप्त शुद्धि प्राप्त हो जायेगी, वह शुद्ध हो जायेगा।

३. चोरी

किसी भी चीजकी चोरी करना पाप है; परन्तु सोना, हीरा आदि बहुमूल्य चीजोंकी चोरी करना महापाप है। तात्पर्य है कि जो वस्तु जितनी अधिक मूल्यवान् होती है, उसकी चोरी करनेपर उतना ही अधिक पाप लगता है।

४. गुरुपत्नीगमन

वीर्य (ब्रह्मचर्य)-नाशके जितने उपाय हैं, वे सभी पाप हैं†; परन्तु गुरुपत्नीगमन करना महापाप है। कारण कि हमें

---

* स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरꣳस्तैरिति ॥ (छान्दोग्य० ५। १०। ९)

† वीर्यकी एक बूँदमें हजारों जीव होते हैं। स्त्री-संगसे जो वीर्य नष्ट होता है, उसमेंसे जो जीव गर्भाशयमें रजके साथ चिपक जाता है, वही गर्भ बनता है। शेष सब जीव मर जाते हैं, जिनकी हिंसाका पाप लगता है। हाँ, केवल सन्तानोत्पत्तिके उद्देश्यसे ऋतुकालमें स्त्री-संग करनेसे पाप नहीं लगता (पाप होता तो है, पर लगता नहीं); क्योंकि यह शास्त्रकी, धर्मकी आज्ञाके अनुसार है—'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' (गीता १८। ४७); 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि' (गीता ७। ११)। परंतु केवल भोगेच्छासे स्त्रीका संग करनेसे उस हिंसाका पाप लगता ही है। इसलिये कहा है—

एक बार भग भोग ते, जीव हतै नौ लाख। जन मनोर नारी तजी, सुन गोरख की साख ॥

विद्या देनेवाले, हमारे जीवनको निर्मल बनानेवाले गुरुकी पत्नी माँसे भी बढ़कर होती है। अतः उसके साथ व्यभिचार करना महापाप है।

परस्त्रीगमन करना भी महापाप है, इसलिये इसको व्यभिचार अर्थात् विशेष अभिचार (हिंसा) कहा गया है। अगर पुरुष परस्त्रीगमन करता है अथवा स्त्री परपुरुषगमन करती है तो माँ-बाप, भाई-बहन आदिको तथा ससुरालमें पति, सास-ससुर, देवर आदिको महान् दुःख होता है। इस प्रकार दो परिवारोंको दुःख देना पाप है और निषिद्ध भोग भोगकर शास्त्र, धर्म, समाज, कुल आदिकी मर्यादाका नाश करना भी पाप है। ये दोनों पाप एक साथ बननेसे परस्त्रीगमन अथवा परपुरुषगमन करना विशेष अभिचार है, महापाप है। एक बुद्धिमान् सज्जनने अपना अनुभव बताया था कि परस्त्री-गमन करनेसे हृदयका आस्तिकभाव नष्ट हो जाता है और नास्तिकभाव आ जाता है, जो कि महान् अनर्थका मूल है।

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि कोई भी क्यों न हो, सभीको ऐसे महापापोंका त्याग करना चाहिये। मनुष्य-शरीर मिला है तो कम-से-कम महापापोंसे तो बचना ही चाहिये; जिससे आगे दुर्गति न हो, भूत-प्रेत आदि योनियोंकी प्राप्ति न हो।

गर्भपात महापापसे दुगुना पाप है

जैसे ब्रह्महत्या महापाप है, ऐसे ही गर्भपात भी महापाप है। शास्त्रमें तो गर्भपातको ब्रह्महत्यासे भी दुगुना पाप बताया गया है—

यत्पापं ब्रह्महत्याया द्विगुणं गर्भपातने ॥
प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति तस्यास्त्यागो विधीयते ।

(पाराशरस्मृति ४ । २०)

'ब्रह्महत्यासे जो पाप लगता है, उससे दुगुना पाप गर्भपात करनेसे लगता है। इस गर्भपातरूपी महापापका कोई प्रायश्चित्त नहीं है, इसमें तो उस स्त्रीका त्याग कर देनेका ही विधान है।'

भगवान् विशेष कृपा करके जीवको मनुष्य-शरीर देते हैं, पर नसबन्दी, आपरेशन, गर्भपात, लूप, गर्भनिरोधक दवाओं आदिके द्वारा उस जीवको मनुष्य-शरीरमें न आने देना, उस परवश जीवको जन्म ही न लेने देना, जन्मसे पहले ही उसको नष्ट कर देना बड़ा भारी पाप है। उसने कोई अपराध भी नहीं किया, फिर भी उस निर्बल जीवकी हत्या कर देना उसके साथ कितना बड़ा अन्याय है। वह जीव मनुष्य-शरीरमें आकर न जाने क्या-क्या अच्छे काम करता, समाजकी सेवा करता, अपना उद्धार करता, पर जन्म लेनेसे पहले ही उसकी हत्या कर देना घोर अन्याय है, बड़ा भारी पाप है। अपना उद्धार, कल्याण न करना भी दोष, पाप है, फिर दूसरोंको भी उद्धारका मौका प्राप्त न होने देना कितना बड़ा पाप है! ऐसा महापाप करनेवाले स्त्री-पुरुषकी अगले जन्मोंमें कोई सन्तान नहीं होगी। वे सन्तानके बिना जन्म-जन्मान्तरतक रोते रहेंगे।

यह प्रत्यक्ष बात है कि जो मालिक अच्छे नौकरोंका तिरस्कार करता है, उसको फिर अच्छे नौकर नहीं मिलेंगे; और जो नौकर अच्छे मालिकका तिरस्कार करता है, उसको फिर अच्छा मालिक नहीं मिलेगा। अच्छे सन्त-महात्माओंका संग पाकर जो अपना उद्धार नहीं करता, उसको फिर वैसा संग नहीं मिलेगा। जिनसे लाभ हुआ है, ऐसे अच्छे सन्तोंका जो त्याग करता है, उनकी निन्दा, तिरस्कार करता है, उसको फिर वैसे सन्त नहीं मिलेंगे। जैसे माता-पिता प्रसन्न होकर बालकको मिठाई देते हैं, पर बालक उस मिठाईको न खाकर गन्दी नालीमें फेंक देता है तो फिर माता-पिता उसको मिठाई नहीं देते। ऐसे ही भगवान् विशेष कृपा करके मनुष्य-शरीर देते हैं, पर मनुष्य उस शरीरसे पाप करता है, उस शरीरका दुरुपयोग करता है तो फिर उसको मनुष्य-शरीर नहीं मिलेगा। माता-पिता तो फिर भी बालकको मिठाई दे देते हैं; क्योंकि बालक नासमझ होता है, पर जो समझपूर्वक, जानकर पाप करता है, उसको भगवान् फिर मनुष्य-शरीर नहीं देंगे। इसी तरह जो गर्भपात करते हैं, उनकी फिर अगले जन्मोंमें सन्तान नहीं होगी।

ब्रह्मवैवर्तपुराण (प्रकृतिखण्ड, अध्याय २)में आता है कि सृष्टिके आरम्भमें भगवान् श्रीकृष्णकी चिन्मयी शक्ति मूल प्रकृति (श्रीराधा)ने अपने गर्भको ब्रह्माण्ड-गोलकके अथाह जलमें फेंक दिया। यह देखकर भगवान्‌ने उसको शाप दे दिया कि 'आजसे तेरी कोई सन्तान नहीं होगी। इतना ही नहीं, तेरे अंशसे जो-जो दिव्य स्त्रियाँ उत्पन्न होंगी, उनकी भी कोई सन्तान नहीं होगी'*! इसके बाद मूल प्रकृति-देवीकी जीभके

---

* दृष्ट्वा डिम्बञ्च सा देवी हृदयेन विभूषिता। उत्ससर्ज च कोपेन ब्रह्माण्डं गोलके जले॥
दृष्ट्वा कृष्णश्च तत्त्यागं हाहाकारं चकार ह। शशाप देवीं देवेशस्तत्क्षणं च यथोचितम्॥
यतोऽपत्यं त्वया त्यक्तं कोपशीले सुनिष्ठुरे। भव त्वमनपत्यापि चाद्यप्रभृतिनिश्चितम्॥
या यास्त्वदंशरूपा च भविष्यन्ति सुरस्त्रियः। अनपत्याश्च ताः सर्वास्तत्समा नित्ययौवनाः॥ (प्रकृति० २। ५०—५३)

अग्रभागसे सरस्वती प्रकट हुई। फिर कुछ समय बीतनेपर वह मूल प्रकृति दो रूपोंमें प्रकट हो गयी। आधे बायें अंगसे वह 'लक्ष्मी' और आधे दायें अंगसे वह 'राधा' हो गयी। भगवान् श्रीकृष्ण भी उस समय दो रूपोंमें प्रकट हो गये। आधे बायें अंगसे वे 'चतुर्भुज विष्णु' और आधे दायें अंगसे वे 'द्विभुज कृष्ण' हो गये*। तब भगवान् श्रीकृष्णने लक्ष्मी और सरस्वती—दोनों देवियोंको विष्णुकी सेवामें उपस्थित होनेकी आज्ञा दी। मूल प्रकृतिसे प्रकट होनेके कारण लक्ष्मी और सरस्वतीकी भी कोई सन्तान नहीं हुई †। इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णके रोमकूपोंसे असंख्य गोप प्रकट हुए और श्रीराधाके रोमकूपोंसे असंख्य गोप-कन्याएँ प्रकट हुईं। भगवान्‌के शापके कारण इन गोप-कन्याओंकी भी कोई सन्तान नहीं हुई ‡। इस कथासे यह सिद्ध होता है कि जो स्त्री गर्भ गिराती है, वह अगले जन्मोंमें सन्तानका सुख नहीं देख सकेगी!

प्रश्न—ऐसा देखनेमें आता है कि जिन्होंने गर्भपात किया है, वे स्त्रियाँ भी पुनः गर्भवती होती हैं और उनकी सन्तान भी होती है। अतः यह कैसे मानें कि गर्भपात करनेवालेकी फिर सन्तान नहीं होगी?

उत्तर—इस जन्मका तो पहले ही प्रारब्ध बन चुका है; अतः उस प्रारब्धके अनुसार उनकी सन्तान हो सकती है। परंतु अगले जन्ममें (नया प्रारब्ध बननेपर) उनकी सन्तान नहीं होगी। इस जन्ममें किये गये गर्भपातरूप महापापका फल उनको अगले जन्मोंमें भोगना ही पड़ेगा।

प्रश्न—गर्भस्राव, गर्भपात और भ्रूणहत्या—इन तीनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—गर्भमें जीवका शरीर बनना शुरू होनेसे पहले ही रज-वीर्य गिर जाय तो उसको 'गर्भस्राव' कहते हैं। जब गर्भमें शरीर बनना शुरू हो जाय, तब उसको गिरा देना, 'गर्भपात' कहलाता है। जब गर्भमें स्थित जीवके हाथ, पाँव, मस्तक आदि अंग निकल आते हैं और यह बच्चा है या बच्ची—इसका भेद स्पष्ट होने लगता है, तब उसको गिरा देना 'भ्रूण-हत्या' कहलाती है। गर्भस्राव, गर्भपात और भ्रूण-हत्या—इन तीनोंको किसी भी तरहसे करनेपर महापाप लगता है। हाँ, अपने-आप गर्भ गिर जाय तो उसका पाप नहीं लगता। जैसे, संसारमें बहुत-से जीव अपने-आप मर जाते हैं, पर उसका पाप हमें नहीं लगता; क्योंकि हमने उनको मारा भी नहीं और मारनेकी इच्छा भी नहीं की।

प्रश्न—गर्भमें जीव (प्राण) तो रहता नहीं, बादमें आता है, फिर गर्भपात पाप कैसे?

उत्तर—पुरुषके वीर्यकी एक बूँदमें हजारों जीव होते हैं। उनमेंसे जो जीव रजके साथ चिपक जाता है, गर्भाशयमें रह जाता है, वही बढ़कर गर्भ बनता है। जीवके बिना न तो वीर्य रजके साथ चिपक सकता है और न गर्भ बढ़ ही सकता है। प्राणशक्तिके बिना गर्भ बढ़ ही नहीं सकता। जीवमें प्राणशक्ति पहले सूक्ष्म होती है, पर गर्भमें आते ही प्राणशक्ति स्थूल हो जाती है और गर्भ बढ़ने लगता है। गर्भ बढ़नेपर जब प्राण-शक्ति विशेषतासे प्रतीत होती है और गर्भमें हलचल होने लगती है, तब लोग कह देते हैं कि अब गर्भमें जीव आ गया।

प्रश्न—किसीका गर्भ अपने-आप गिर जाय तो?

उत्तर—यह एक रोग है और इसका इलाज करना चाहिये। एक स्त्रीके पाँच-छः गर्भ गिर गये। एक सन्तने उसके परिवारवालोंको बताया कि उसके गर्भाशयमें गरमी बहुत है, जिससे गर्भ झुलस जाता है और गिर जाता है; अतः इसके लिये एक उपाय करो। जब उसके गर्भ रह जाय, तब वह इस विधिसे गायका दूध पिये। एक बर्तनपर दूध छाननेवाला कपड़ा डाल दें और कपड़ेपर महीन पिसी मिश्री रख दें। फिर उसपर गायका दूध दुहें, जिससे वह मिश्री दूधमें मिलकर बर्तनमें चली जायेगी। यह धारोष्ण दूध वह स्त्री तत्काल गायके सामने ही बैठकर प्रतिदिन प्रातः खाली पेट एक महीनेतक पिये। सन्तके कहे अनुसार उस स्त्रीने दूध पिया तो उसका गर्भ गिरा नहीं और उसकी संतान हो गयी। वह सन्तान अब भी जीवित है।

इस रोगको मिटानेकी कई ओषधियाँ हैं, जिनको आयुर्वेदमें निष्णात अनुभवी वैद्यसे लेना चाहिये।

प्रश्न—किसी रोगके कारण गर्भपात कराना अनिवार्य हो जाय तो क्या करें?

---

* अथ कालान्तरे सा च द्विधारूपा बभूव ह। वामार्द्धाङ्गा च कमला दक्षिणार्द्धा च राधिका॥
एतस्मिन्नन्तरे कृष्णो द्विधारूपो बभूव ह। दक्षिणार्द्धश्च द्विभुजो वामार्द्धश्च चतुर्भुजः॥ (प्रकृति० २। ५६-५७)

† अनपत्ये च ते द्वे च यतो राधांशसम्भवाः। (प्रकृति० २। ६०)

‡ राधाङ्गलोमकूपेभ्यो बभूवुर्गोपकन्यकाः। राधातुल्याश्च सर्वास्ताः राधातुल्याः प्रियंवदाः॥
रत्नभूषणभूषाढ्याः शश्वत् सुस्थिरयौवनाः। अनपत्याश्च ताः सर्वाः पुंसः शापेन सन्ततम्॥ (प्रकृति० २। ६४-६५)

उत्तर—गर्भपातका पाप तो लगेगा ही। स्त्रीके बचावके लिये लोग गर्भपात करा देते हैं, पर ऐसा नहीं करना चाहिये, प्रत्युत इलाज करना चाहिये। जो होनेवाला है, वह तो होगा ही। स्त्री मरनेवाली होगी तो गर्भ गिरानेपर भी वह मर जायेगी। यदि उसकी आयु शेष होगी तो गर्भ न गिरानेपर भी वह नहीं मरेगी। मृत्यु तो समय आनेपर ही होती है, निमित्त चाहे कुछ भी बन जाय। अतः गर्भपात कभी नहीं कराना चाहिये।

प्रश्न—कुँवारी अवस्थामें गर्भ रह जाय तो उसको गिराना चाहिये या नहीं?

उत्तर—जिसके संगसे गर्भ रह जाय, उसके साथ विवाह करा देना चाहिये। अगर विवाह न करा सकें तो भी उस गर्भको गिराना नहीं चाहिये। उसका पालन करना चाहिये और थोड़ा बड़ा होनेपर उस बच्चेको अनाथालयमें भरती करा देना चाहिये अथवा कोई गोद लेना चाहे तो उसको दे देना चाहिये।

यदि कोई कन्याके साथ जबर्दस्ती (बलात्कार) करे तो जबर्दस्ती करनेवालेको बड़ा भारी पाप लगेगा। यदि कन्याने उसमें (संगका) सुख लिया है तो उतने अंशमें उसको भी पाप लगेगा; क्योंकि सभी पाप भोगेच्छासे ही होते हैं। सर्वथा भोगेच्छा न होनेपर पाप नहीं लगता।

यदि कुँवारी कन्याके गर्भ रह जाय तो उसके माता-पिताको भी असावधानीके कारण उसका पाप लगता है। अतः माता-पिताको चाहिये कि वे शुरूसे ही बड़ी सावधानीके साथ अपनी कन्याकी सुरक्षा रखें, उसको स्वतन्त्रता न दें।

प्रश्न—लोगोंको पता लगेगा तो उस कन्याकी बदनामी होगी तथा उसके साथ कोई विवाह भी नहीं करेगा, तो फिर वह क्या करे?

उत्तर—पाप किया है तो बदनामी सहनी ही पड़ेगी। गर्भ गिरा देना, आत्महत्या कर लेना और घरसे भाग जाना—इन तीन हत्याओं (पापों) से बचनेके लिये बदनामी सह लेना अच्छा है। उस कन्याके साथ कोई विवाह करना स्वीकार न करे तो वह घर बैठे ही भजन-स्मरण करे। इससे उसके पापका प्रायश्चित्त भी हो जायेगा।

प्रश्न—यदि कोई विवाहिता स्त्रीसे बलात्कार करे और गर्भ रह जाय तो क्या करना चाहिये?

उत्तर—जहाँतक बने, स्त्रीके लिये चुप रहना ही बढ़िया है। पतिको पता लग जाय तो उसको भी चुप रहना चाहिये। दोनोंके चुप रहनेमें ही फायदा है। वास्तवमें पहलेसे ही सावधान रहना चाहिये, जिससे ऐसी घटना हो ही नहीं। गर्भ गिरानेमें हमारी सम्मति नहीं है, क्योंकि गर्भकी हत्या महापाप है।

प्रश्न—नसबन्दी, ऑपरेशन करवानेसे क्या हानि है?

उत्तर—यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है कि जिन लोगोंने नसबन्दी करवायी है, उनमेंसे बहुतोंके शरीर और हृदय कमजोर हो गये हैं। उनके शरीरमें कई रोग पैदा हुए हैं, हो रहे हैं और होते रहेंगे। पशुओंमें भी हम देखते हैं कि जो बछड़े बैल बना दिये जाते हैं, उनका पुरुषत्व नष्ट होनेसे उनके मांसमें वह शक्ति नहीं रहती, जो शक्ति बैल न बनाये हुए बछड़ोंके मांसमें रहती है। अतः बैल बनाये हुए बछड़ोंका मांस ईराक, ईरान आदि देशोंमें सस्ता बिकता है और बिना बैल बनाये हुए बछड़ोंका मांस महँगा बिकता है—ऐसा हमने सुना है। इसलिये नसबन्दीके द्वारा पुरुषत्वका अवरोध करनेसे, नष्ट करनेसे शारीरिक शक्ति भी नष्ट होती है और उत्साह, निर्भयता आदि मानसिक शक्ति भी नष्ट होती है।

जो नसबन्दीके द्वारा अपना पुरुषत्व नष्ट कर देते हैं, वे नपुंसक (हिंजड़े) हैं। उनके द्वारा पितरोंको पिण्ड-पानी नहीं मिलता*। ऐसे पुरुषको देखना भी अशुभ माना गया है। यात्राके समय ऐसे व्यक्तिका दीखना अपशकुन है।

जिन माताओंने नसबन्दी ऑपरेशन करवाया है, उनमेंसे बहुतोंको लाल एवं सफेद प्रदर हो गया है, जिसका कोई इलाज नहीं है। राजस्थानमें ही नसबन्दी ऑपरेशनके कारण अबतक सैकड़ों स्त्रियाँ मर चुकी हैं और कइयोंको ऐसे रोग हो गये हैं कि डाक्टरोंने जवाब दे दिया है। यह बात समाचारपत्रोंमें भी आयी है। ऑपरेशन करवानेसे स्त्रियोंके शरीरमें कमजोरी आ जाती है; उठते-बैठते समय आँखोंके आगे अँधेरा आ जाता है, छाती और पीठमें दर्द होने लगता है और काम करनेकी हिम्मत नहीं होती। ऐसा हमने डाक्टरोंसे सुना है।

जो स्त्रियाँ नसबन्दी ऑपरेशन करा लेती हैं, उनका स्त्रीत्व अर्थात् गर्भ-धारण करनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है। ऐसी स्त्रियोंका दर्शन भी अशुभ है, अपशकुन है। भगवान्‌की दी हुई शक्तिका नाश करनेका किसीको भी अधिकार नहीं है। उसका नाश करना अनधिकार चेष्टा है, अपराध है। जिन्होंने ऑपरेशनके द्वारा अपना स्त्रीत्व नष्ट किया है, वे तो पापकी

* अङ्गहीनाश्रोत्रियषण्ढशूद्रवर्जम्। (कात्यायनश्रौतसूत्रम् १।१।५)

भागिनी हैं ही, पर जो दूसरोंको ऑपरेशन करवानेकी प्रेरणा करती हैं, आग्रह करती हैं, वे नया पाप करती हैं। जैसे गीताके अध्ययनका बड़ा माहात्म्य है, पर उससे भी अधिक गीताके प्रचारका माहात्म्य है (गीता १८। ६९), ऐसे ही जो दूसरोंमें ऑपरेशनका प्रचार करती हैं, वे बड़ा भारी पाप करती हैं और गोघातकोंकी संख्या बढ़ानेमें सहायक होनेसे गोहत्याके पापमें भागीदार होती हैं। भोली बहनोंको इस बातका पता नहीं है, इसलिये वे अनजानमें बड़ा भारी अपराध, पाप कर बैठती हैं। उन्हें इस पापसे बचना चाहिये।

जो कोई भी किसी प्रकारका अपराध करता है, उसकी प्राण-शक्तिका जल्दी नाश हो जाता है और उसकी मृत्यु जल्दी हो जाती है। अपराध, पाप करनेपर अथवा उसको करनेकी मनमें आनेपर श्वास तेजीसे चलने लगते हैं, प्राण क्षुब्ध हो जाता है—यह प्रत्यक्ष बात है। कोई भी अनुभव करके देख सकता है।

नसबन्दी ऑपरेशन कराना व्यभिचारको खुला अवसर देना है, जो बड़ा भारी पाप है। पशुओंकी बलि देने, वध करनेको 'अभिचार' कहते हैं। उससे भी जो विशेष अभिचार होता है, उसको 'व्यभिचार' कहते हैं। इससे मनुष्यकी धार्मिक, पारमार्थिक रुचि (भावना) नष्ट हो जाती है और उसका महान् पतन हो जाता है।

मनुष्य-शरीर केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है, पर उसको परमात्माकी तरफ न लगाकर केवल भोग भोगनेमें ही लगाना और इतना ही नहीं, केवल भोग भोगनेके लिये बड़े-बड़े पाप करना, गर्भपात करना, नसबन्दी करना, ऑपरेशन करना कितने भारी अनर्थकी बात है! गर्भपात, नसबन्दी आदि करनेसे सिवाय भोग भोगनेके और क्या सिद्ध होता है? नसबन्दीसे क्या किसीको कोई धार्मिक-पारमार्थिक लाभ हुआ है, होगा और हो सकता है? नसबन्दी करनेसे केवल भोगपरायणता ही बढ़ रही है। जितनी भोगपरायणता आज मनुष्योंमें हो रही है, उतनी पशुओंमें भी नहीं है। यदि आप सन्तान नहीं चाहते तो संयम रखो, जिससे आपके शरीरमें बल रहेगा, उत्साह रहेगा और आपमें धर्म-परायणता, ईश्वर-परायणता आयेगी। आपका मनुष्य-जन्म सफल हो जायेगा। सन्तोंने कहा है—

के शत्रवः सन्ति निजेन्द्रियाणि
तान्येव मित्राणि जितानि यानि।

(प्रश्नोत्तरी ४)

अर्थात् मनुष्य इन्द्रियोंके वशमें हो जाता है तो वे इन्द्रियाँ उसकी शत्रु बन जाती हैं, जिससे उसके लोक-परलोक बिगड़ जाते हैं। परंतु वह इन्द्रियोंको जीत लेता है तो वे इन्द्रियाँ उसकी मित्र बन जाती हैं, जिससे उसके लोक-परलोक सुधर जाते हैं। इसलिये गीताने कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(६। ५)

'अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे, क्योंकि आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

प्रश्न—गर्भपात करनेसे क्या हानि है?

उत्तर—गर्भपातसे तो हानि-ही-हानि है। कृत्रिम गर्भस्राव, गर्भपात करानेसे स्त्रीका शरीर खराब हो जाता है, कमजोर हो जाता है। जवानी अवस्थामें भले ही कमजोरीका पता न लगे, पर थोड़ी अवस्था ढलनेपर इसका पता लगने लगेगा। जबतक शरीरमें खून बनता है, तबतक कमजोरीका पूरा पता नहीं लगता, पर खून बनना कम होनेपर कमजोरीका पता लगता ही है। गर्भपातसे बहुतोंको प्रदर हो जाता है। इसके सिवाय गर्भपातसे खून गिरनेका एक रास्ता खुल जाता है।

बच्चा पैदा होनेसे स्त्रीका शरीर खराब नहीं होता; क्योंकि बच्चा पैदा होना प्राकृत है और वह समयपर होता है। तात्पर्य है कि प्राकृत चीजोंसे स्वाभाविक ही खराबी पैदा नहीं होती, खराबी तो कृत्रिम चीजोंसे ही होती है।

प्रश्न—एक-दो बार सन्तान होनेसे स्त्री माँ बन ही गयी, अब वह नसबन्दी आपरेशन करवा ले तो क्या हर्ज है?

उत्तर—वह माँ तो पहले थी, अब तो नसबन्दी आपरेशन करवा लेनेपर उसकी 'स्त्री' संज्ञा ही नहीं रही। कारण कि शुक्र-शोणित मिलकर जिसके उदरमें गर्भका रूप धारण करते हैं, उसका नाम स्त्री है*। जो गर्भ धारण न कर सके, उसका नाम स्त्री नहीं है; और जो गर्भ-स्थापन न कर सके, उसका नाम पुरुष नहीं है। आपरेशनके द्वारा सन्तानोत्पत्ति करनेकी शक्ति नष्ट करनेपर पुरुषका नाम तो हिंजड़ा होगा, पर स्त्रीका क्या नाम होगा—इसका हमें पता नहीं।

परिवार-नियोजन नारी-जातिका घोर अपमान है; क्योंकि इससे नारी-जाति केवल भोग्या बनकर रह जाती है। कोई आदमी वेश्याके पास जाता है तो क्या वह सन्तान-प्राप्तिके लिये जाता है? अगर कोई आदमी स्त्रीसे सन्तान नहीं चाहता,

* 'स्त्यै शब्दसंघातयोः'। स्त्यायतः—संगते भवतः अस्यां शुक्रशोणिते इति स्त्री। (सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा)

प्रत्युत केवल भोग करता है तो उसने स्त्रीको वेश्या ही तो बनाया! यह क्या नारी-जातिका सम्मान है? नारी-जातिका सम्मान तो माँ बननेसे ही है, भोग्या बननेसे कभी नहीं। अगर स्त्री आपरेशन आदिके द्वारा अपनी मातृशक्तिको नष्ट कर देती है तो वह पैरकी जूतीकी तरह केवल भोग्य वस्तु रह जाती है। यह नारी-जातिका कितना बड़ा अपमान है, निरादर है!

प्रश्न—जिसकी स्वाभाविक ही सन्तान नहीं होती, उसको दोष लगता है या नहीं?

उत्तर—किसीकी स्वाभाविक ही सन्तान नहीं होती तो यह उसका दोष नहीं है। जो कृत्रिम उपायोंसे मातृशक्तिका, सन्तान उत्पन्न करनेकी शक्तिका नाश करती है, उसीको दोष-पाप लगता है।

प्रश्न—जो स्त्रियाँ गर्भाधानके पहले ही गोलियाँ खा लेती हैं, जिससे गर्भ रहे ही नहीं, उनको भी पाप लगता है क्या?

उत्तर—जीव मनुष्य-शरीरमें आकर परमात्माको प्राप्त कर सकता है; अपना और दूसरोंका भी उद्धार कर सकता है; परंतु अपनी भोगेच्छाके वशीभूत होकर उस जीवको ऐसा मौका न आने देना पाप है ही। गीतामें भी भगवान्‌ने कामना—भोगेच्छा, सुखेच्छाको ही सम्पूर्ण पापोंका हेतु बताया है (३। ३७)। यह भोगेच्छा ही सम्पूर्ण पापोंकी जड़ है। परिवार-नियोजनका मतलब केवल भोगेच्छा ही है। अतः गोलियाँ खाकर सन्तति-निरोध करना पाप ही है।

प्रश्न—यदि कोई स्त्री अपने पतिको बताये बिना गर्भपात करवा ले तो क्या करना चाहिये?

उत्तर—इसके लिये शास्त्रने आज्ञा दी है कि उस स्त्रीका सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये—'**तस्यास्त्यागो विधीयते**' (पाराशरस्मृति ४। २०)।

गर्भपात करना महान् पाप है और पतिसे छिपाव करना अपराध है। छिपकर किये गये पापका दण्ड बहुत भयंकर होता है। अगर सन्तानकी इच्छा न हो तो संयम रखना चाहिये। संयम रखना पाप, अन्याय नहीं है, प्रत्युत बड़ा भारी पुण्य है, बड़ा त्याग है, बड़ी तपस्या है।

प्रश्न—वर्तमान सरकार गर्भपात, नसबन्दी आदिको पाप नहीं मानती, प्रत्युत अच्छा कार्य मानती है तो क्या ऐसा करनेवालोंको पाप नहीं लगेगा?

उत्तर—पाप तो लगेगा ही, मानो चाहे मत मानो। जितने भी पाप होते हैं, वे किसीके मानने और न माननेपर निर्भर नहीं करते। पापके विषयमें अर्थात् अमुक कार्य पाप है—इसमें वेद, शास्त्र और सन्त-वचन ही प्रमाण हैं।

पाप-कर्म करनेसे पाप लगता ही है और उसका फल भी भोगना पड़ता है। हमने देखा है कि जिस पशुकी बलि चढ़ती है, उसको पीछेकी टाँगोंसे जिस वृक्षमें लटका देते हैं, वह वृक्ष भी उस पापके कारण सूख जाता है। जो कसाई पैसे लेकर पशुओंको काटते हैं, उनके हाथ बादमें काम नहीं करते; अतः वे हाथमें छुरी बाँधकर पशुओंको काटनेका काम करते हैं। भेड़ियेके सात-सात बच्चे होते हैं और हिरनके एक-दो बच्चे ही होते हैं, फिर भी झुण्ड हिरनोंका ही होता है, भेड़ियोंका नहीं। तात्पर्य है कि हिंसा आदि पाप करनेवालोंकी परम्परा ज्यादा समय नहीं चलती।

एक सन्तसे किसीने पूछा—'जिन शास्त्रोंमें, सम्प्रदायोंमें बलि देनेकी, कुरबानी करनेकी आज्ञा दी गयी है, उस आज्ञाका पालन करनेवाले व्यक्तियोंको पाप नहीं लगता होगा; क्योंकि वे अपने ही शास्त्र, सम्प्रदायकी आज्ञाका पालन करते हैं।' उन्होंने उत्तर दिया—'जो बलि देते हैं, कुरबानी करते हैं, वे भी अगर छः महीने हृदयसे भगवान्‌के नामका जप करें तो फिर वे बलि दे ही नहीं सकते, कुरबानी कर ही नहीं सकते।' शुद्ध अन्तःकरणवाला व्यक्ति शास्त्रकी आज्ञा होनेपर भी पाप नहीं कर सकता। अतः जिन शास्त्रोंमें बलि आदिकी आज्ञा दी गयी है, उस आज्ञाको नहीं मानना चाहिये।

एक धर्मशास्त्र होता है और एक अर्थशास्त्र। धर्मशास्त्र मनुष्यको कर्तव्यका ज्ञान कराता है, जिससे मनुष्यके लोक-परलोक सुधरते हैं। अर्थशास्त्र दृष्ट फलका वर्णन करता है। जो मनुष्य कामनाके वशीभूत होकर दृष्ट फल (धन-सम्पत्ति, पुत्र, स्वर्ग आदिकी प्राप्ति)के लिये अर्थशास्त्रकी आज्ञा मानकर पाप करते हैं, वे पापके भागी होते हैं। कारण कि अर्थशास्त्रमें कामना, सकामभावकी मुख्यता होती है और कामना सब पापोंकी जड़ है (गीता ३। ३७)। जो सौ यज्ञ करके इन्द्र (शतक्रतु) बनता है, उसके द्वारा भी शास्त्रके अनुसार (वैध) हिंसा होती है। उस हिंसाके पापका फल भोगना ही पड़ता है। इसीलिये इन्द्रपर आफत (प्रतिकूल परिस्थिति) आती है, उसकी हार होती है, वह डरके मारे भागता-फिरता है, छिपता है, उसके हृदयमें जलन होती है। अतः हिंसाका फल मिलता ही है, कोई हिंसा माने, चाहे न माने। तात्पर्य है कि जहाँ धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रके वचन हों, वहाँ धर्मशास्त्रके ही वचन मानने चाहिये; क्योंकि अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र श्रेष्ठ है, बलवान् है*।

* स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान्व्यवहारतः। अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः॥

आज सरकार गर्भ गिरानेको पाप नहीं मानती, पर न माननेसे पाप नहीं लगेगा—यह बात नहीं है। पाप तो लगेगा ही, कोई माने चाहे न माने। जैसे पहले राजालोग निषिद्ध काम करनेके लिये प्रजाको आज्ञा देते थे, प्रेरणा करते थे तो उसका पाप राजा और प्रजा दोनोंको लगता था (उदाहरणार्थ, राजा वेनने स्वयं भी निषिद्ध काम किये और प्रजासे भी करवाये), ऐसे ही आज सरकार गर्भपात आदि निषिद्ध काम करनेकी प्रेरणा करती है तो सरकारको भी पाप लगेगा और जनता (निषिद्ध काम करनेवाले) को भी।

प्रश्न—रामचरितमानसमें आता है—*'समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥'* (बाल० ६९।४)। अतः जिनको राज्य मिला है, बड़ा पद मिला है, वे (राजा, सरकार) समर्थ हैं तो फिर उनको पाप कैसे लगेगा ?

उत्तर—वे समर्थ नहीं हैं। समर्थ वे हैं, जिनमें दूसरोंके दोषोंको नष्ट करनेकी शक्ति है। जैसे—सूर्य गन्दगीका शोषण कर लेता है; अपवित्रको पवित्र, अशुद्धको शुद्ध बना देता है; सबके जलीय भागको खींच लेता है; समुद्रके खारे जलको खींचकर मीठा जल बना देता है। परंतु ऐसा करनेपर भी सूर्य खुद कभी अशुद्ध, अपवित्र नहीं होता। अग्नि सब गन्दगीको जला देती है, सबका भक्षण कर जाती है, सबको शुद्ध कर देती है, पर वह अशुद्ध नहीं होती, उसको दोष नहीं लगता। गङ्गाजी गन्दे जलको पवित्र कर देती हैं, पापोंका नाश कर देती हैं, पर उनको दोष नहीं लगता। तात्पर्य है कि अशुद्धको शुद्ध बना देना, उसके दोषोंको नष्ट कर देना और स्वयं ज्यों-का-त्यों ही रहना—यह समर्थपना है। जिसको राज्य, वैभव मिल गया, वे समर्थ हैं—यह बात है ही नहीं।

सांसारिक पद, अधिकार, वैभव आदि मिलनेसे मनुष्य समर्थ नहीं होता; क्योंकि उसकी सामर्थ्य पद, अधिकार आदिके अधीन है। वह तो पद, अधिकार आदिका गुलाम है, दास है, पराधीन है; अतः वह खुद समर्थ कैसे हुआ ? तात्पर्य है कि जो मिली हुई चीजसे अपनेको समर्थ मानता है, वह वास्तवमें असमर्थ ही है, क्योंकि उसमें जो सामर्थ्य दीखती है, वह उस चीजकी है, खुदकी नहीं है। जो वास्तवमें समर्थ होते हैं, उनकी सामर्थ्य किसीके अधीन नहीं होती; जैसे—सूर्य, अग्नि और गङ्गाजीकी सामर्थ्य किसीके अधीन नहीं है, प्रत्युत स्वयंकी है। अतः राज्यके, पदके मदमें आकर जो पाप करते-करवाते हैं, वे अपनी सामर्थ्यका महान् दुरुपयोग करते हैं, जिसका दण्ड उनको भोगना ही पड़ेगा। उनकी सामर्थ्य पापोंको दूर करनेवाली न होकर पाप करानेवाली है। इसलिये वास्तवमें जो समर्थ नहीं है, उस सरकारको समर्थ मानकर उसकी प्रेरणासे मनुष्यको कभी पाप नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—सरकारका आदेश होनेसे यदि डाक्टरलोग गर्भपात, नसबन्दी, आपरेशन करते हैं तो क्या उन्हें महापाप लगेगा ?

उत्तर—उनको तो अवश्य ही महापाप लगेगा। लोभ पापका बाप है ही। थोड़े-से लोभके लिये वे कितने जीवोंकी हत्या कर देते हैं ! ऐसा घृणित कार्य करके, महापाप करके कमाये हुए पैसोंका अन्न खानेसे उनकी बड़ी दुर्दशा होगी।

शास्त्रमें आया है कि यदि अन्नपर गर्भपात करनेवालीकी दृष्टि भी पड़ जाय तो वह अन्न अभक्ष्य (न खानेयोग्य) हो जाता है—

भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया।
पतत्रिणाऽवलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च॥

(मनुस्मृति ४। २०८)

'गर्भहत्या करनेवालेका देखा हुआ, रजस्वला स्त्रीका स्पर्श किया हुआ, पक्षीका खाया हुआ और कुत्तेका स्पर्श किया हुआ अन्न न खाये।'

नौकरीमें अपना समय देकर, काम करके पैसे लिये जाते हैं, अपना धर्म, कर्तव्य, सत्कर्म देकर पैसे नहीं लिये जाते। पाप, अन्याय, हत्या, हिंसा आदि करके पैसे लेना तो कोरा पाप है। अतः यदि कोई मालिक पाप, अन्याय करनेके लिये कहे तो नौकरको चाहिये कि वह मालिकसे नम्रतापूर्वक कह दे कि 'मैं आपके काममें घण्टा-दो-घण्टा समय अधिक दे सकता हूँ, पर अपने धर्मका नाश करके पाप, हिंसा करनेमें मैं बाध्य नहीं हूँ; आप नौकरीपर रखें, चाहे न रखें, आपकी मरजी।'

एक सज्जनने गर्भपात, नसबन्दी कार्य नहीं किया तो उसको नौकरीसे निकाल दिया गया। उसने मुकदमा किया और उसमें वह जीत गया। अतः उसको पुनः नौकरीपर रखना पड़ा। अगर सरकारका ऐसा कानून है तो वह ईसाई, मुसलमान, पारसी आदि सबके लिये होना चाहिये, केवल हिन्दुओंके लिये ही नहीं। किसी एक जातिपर, एक वर्णसमुदायपर ज्यादती करना, उसको पाप करनेके लिये बाध्य करना और पाप करनेका कानून बनाना सरकारके लिये उचित नहीं है।

प्रश्न—किसीने भूलसे, अनजानमें नसबन्दी आपरेशन करवा लिया तो अब वह क्या करे ?

उत्तर—डॉक्टरोंका कहना है कि ऑपरेशनमें केवल नस ही काटी गयी हो तो वह पुनः जोड़ी जा सकती है; परंतु जिसका गर्भाशय ही निकाल दिया गया हो, उसका कोई इलाज नहीं है। अतः केवल नसबन्दी ही की गयी हो तो उसको फिर ठीक करवा लेना चाहिये। ऐसा काम हुआ भी है और जिन्होंने ऐसा किया है, उनकी फिर सन्तान भी हुई है।

इस प्रकार नसबन्दी ठीक करवा ले, अपना पुरुषत्व और स्त्रीत्व ठीक कर ले और पहले किये हुए अपराधका पश्चात्ताप करे तो उसके हाथसे पितरोंको पिण्ड-पानी मिल सकता है। अगर ब्रह्मचर्यका पालन करे तो तेज बढ़ेगा, ओज-शक्ति बढ़ेगी, उत्साह बढ़ेगा।

प्रश्न—किसीने अनजानमें गर्भपात करवा लिया तो अब वह उसका क्या प्रायश्चित्त करे?

उत्तर—उसको चाहिये कि वह एक वर्षतक प्रतिदिन एक लाख रामनामका जप करे। परंतु जो जानकर गर्भपात करती है, वह अगर इस प्रकार नामजप करे तो भी उसके पापका प्रायश्चित्त नहीं होगा। उसको तो पापका दण्ड भोगना ही पड़ेगा। कारण कि जो नाम महापापोंका नाश करनेवाला है, उस नामके सहारे कोई पाप करता है तो नाम उसकी रक्षा नहीं करता। अतः उसके पाप नष्ट नहीं होते, प्रत्युत वज्रलेप हो जाते हैं। पहले तो बिना नामके वह पाप करनेसे डरता था, पर अब वह नामके सहारे पाप करनेसे नहीं डरता तो यह नामका महान् दुरुपयोग है, नामापराध है, जिसका दण्ड उसको भोगना ही पड़ेगा।

प्रश्न—परिवार-नियोजन नहीं करेंगे तो जनसंख्या बहुत बढ़ जायेगी, जिससे लोगोंको अन्न नहीं मिलेगा, फिर लोग जीयेंगे कैसे?

उत्तर—यह प्रश्न सर्वथा ही अयुक्त है, युक्तियुक्त नहीं है। कारण कि जहाँ मनुष्य पैदा होते हैं, वहाँ अन्न भी पैदा होता है। भगवान्‌के यहाँ ऐसा अँधेरा नहीं है कि मनुष्य पैदा हों और अन्न पैदा न हो।

प्रारब्ध पहले रचा, पीछे रचा सरीर।
तुलसी चिंता क्यों करे, भज ले श्रीरघुवीर॥

माँके स्तनोंमें दूध पहले पैदा होता है, बच्चा पीछे पैदा होता है। इसका क्या पता? जब बच्चा पैदा होता है, तब माताएँ स्तनोंमेंसे पुराना दूध निकालकर बच्चेको नया दूध पिलाती हैं। हम भी कहीं जाते हैं तो वहाँ व्यवस्था पहले होती है, हम पीछे पहुँचते हैं। ऐसा नहीं होता कि व्याख्यान पहले होगा, पण्डाल पीछे बनेगा। बारात ठहरनेकी जगह पहले तैयार की जाती है या बारात आनेके बाद? कोई उत्सव होता है तो उसकी व्यवस्था पहले होती है। ऐसा नहीं होता कि पहले उत्सव हो, फिर व्यवस्था हो। ऐसा देखा भी जाता है और वैज्ञानिकोंका भी कहना है कि जहाँ वृक्ष अधिक होते हैं, वहाँ वर्षा अधिक होती है। जहाँ वृक्ष नहीं होते, वहाँ वर्षा कम होती है। ऐसे ही मनुष्य अधिक होंगे तो अन्न भी अधिक पैदा होगा। अन्नमें कमी कैसे आयेगी? क्या मनुष्य वृक्षोंसे भी नीचे हैं?

प्रश्न—आज अन्न इतना महँगा क्यों हो गया है?

उत्तर—विचारपूर्वक देखें कि जबसे परिवार-नियोजन होता गया, तबसे अन्न भी महँगा होता गया, कम पैदा होता गया। जब मनुष्योंकी संख्या कम होगी तो फिर अन्न अधिक क्यों पैदा होगा? तात्पर्य है कि परिवार-नियोजनकी प्रथा चलनेसे ही यह दशा हुई है।

आज 'मांस खाओ, मछली खाओ, अण्डा खाओ'—ऐसा प्रचार किया जाता है, तो फिर वर्षा और खेती क्यों हो? कारण कि मांस खानेसे पशु नहीं रहेंगे तो उनके लिये घासकी जरूरत नहीं और मनुष्य मांस खायेंगे तो उनके लिये अन्नकी जरूरत नहीं, फिर निरर्थक घास और अन्न पैदा क्यों हों!

जब मनुष्य अधिक हों और वस्तुएँ कम हों, तब महँगाई होती है। वस्तुएँ तभी कम होती हैं, जब मनुष्य काम न करें, आलस्य-प्रमाद करें। आज भी यही दशा है। लोग काम तो कम करते हैं और खर्चा ज्यादा करते हैं, इसीलिये इतनी महँगाई हो रही है। काम कम करनेसे वस्तुएँ कम पैदा होंगी ही। अतः महँगाईका कारण जनसंख्याका अधिक होना नहीं है, प्रत्युत मनुष्योंमें अकर्मण्यता, आलस्य, प्रमाद आदि दोषोंका बढ़ना ही है। सरकारकी अव्यवस्था भी इसमें कारण है।

प्रश्न—हमें काम-धंधा नहीं मिलता तो हम क्या करें?

उत्तर—काम-धंधा न मिलनेमें कारण है कि मनुष्य जिस क्षेत्र एवं समुदायमें जाता है, वहाँ वह अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन नहीं करता, प्रत्युत आलस्य-प्रमादमें अपना समय बरबाद करता है। वास्तवमें कामकी कमी नहीं है, प्रत्युत काम करनेवालोंकी कमी है। काम बहुत है, पर ईमानदारीसे तत्परतापूर्वक काम करनेवाले कम हैं। कोई ईमानदार आदमी हो और उसको काम न मिले— ऐसा हो ही नहीं सकता। आलस्य, प्रमाद, काम करनेकी नीयत न होना आदि दोष होनेपर ही उसको काम नहीं मिलता।

प्रश्न—आज महँगाईके जमानेमें अधिक सन्तान होगी तो उनका पालन-पोषण आदि कैसे करेंगे?

उत्तर—आप विचार करें कि आवश्यकता ही आविष्कारकी जननी है; अतः जनसंख्या बढ़ेगी, सन्तान अधिक होगी तो उसके पालन-पोषणकी व्यवस्था भी जरूर होगी। पहले जमानेमें हमारी यह देखी हुई बात है कि जिस वर्ष टिड्डियाँ अधिक आती थीं, उस वर्ष खेती अच्छी होती थी, अकाल नहीं पड़ता था। टिड्डियोंके आनेपर लोग उत्साहसे कहते थे कि इस बार वर्षा अधिक होगी; क्योंकि इतने जन्तु आये हैं तो उनके भोजनकी व्यवस्था (खेती) भी अधिक होगी। भगवान्‌की जो व्यवस्था पहले थी, वह आज भी जरूर होगी। आप परिवार-नियोजन करते हैं और व्यवस्थाका भार अपनेपर लेते हैं, इसीका यह परिणाम है कि आज व्यवस्था करनेमें मुश्किल हो रही है। अतः आप अपनेपर भार मत लो और अपने कर्तव्यमें तत्पर रहो तो आपके और परिवारके पालन-पोषणकी व्यवस्था भगवान्‌की तरफसे जरूर होगी।

पहले राजा-महाराजाओंके यहाँ हजारों सन्तानें पैदा होती थीं और उनका पालन-पोषण भी होता था। जैसे, राजा सगरके साठ हजार पुत्र थे। राजा अग्रसेनके अनेक पुत्र हुए, जिनके वंशज आज अग्रवाल कहलाते हैं। धृतराष्ट्रके सौ पुत्र थे। इस प्रकार एक-एक आदमीकी सैकड़ों, हजारों सन्तानें हुई हैं। कोई जानना चाहे तो मैं बता सकता हूँ कि गाँव-के-गाँव एक-एक आदमीकी सन्तानोंसे बसे हुए हैं।

यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि जो वास्तवमें विरक्त सन्त होते हैं, जो अपने निर्वाहकी परवाह ही नहीं करते, चेष्टा ही नहीं करते, उनके निर्वाहकी व्यवस्था जनता करती है। जो अपने निर्वाहके लिये चेष्टा करते हैं, उनकी अपेक्षा उन विरक्त सन्तोंके निर्वाहका प्रबन्ध अच्छा होता है।

आप थोड़ा विचार करें; जो मुसलमान भाई हैं, वे चार-चार विवाह करते हैं। हमने सुना है कि एक भाईकी डेढ़ सौ सन्तानें हुईं और एक भाईके उन्नीस बालक हुए, उनमेंसे दो मर गये और सत्रह मौजूद हैं। इस प्रकार वे प्रायः परिवार-नियोजन नहीं करते, फिर भी उनकी सन्तानका पालन-पोषण हो रहा है। क्या केवल हिन्दू ही अन्न खाते हैं, कपड़े पहनते हैं, पढ़ाई करते हैं? दूसरे लोग क्या अन्न नहीं खाते, कपड़े नहीं पहनते, पढ़ाई नहीं करते? मुसलमान भाई तो कहते हैं कि सन्तान होना खुदाका विधान है, उसको बदलनेका अधिकार मनुष्यको नहीं है। जो उसके विधानको बदलते हैं, वे अनधिकार चेष्टा करते हैं। वास्तवमें परिवार-नियोजन करनेवालोंकी जनसंख्या कम हो जाती है। अतः मुसलमानोंने यह सोचा कि परिवार-नियोजन नहीं करेंगे तो अपनी जनसंख्या बढ़ेगी और जनसंख्या बढ़नेसे अपना ही राज्य हो जायेगा; क्योंकि वोटोंका जमाना है। इसलिये वे केवल अपनी संख्या बढ़ानेकी धुनमें हैं। परंतु हिन्दू केवल अपनी थोड़ी-सी सुख-सुविधाके लिये नसबन्दी, गर्भपात आदि महापाप करनेमें लगे हुए हैं। अपनी संख्या तेजीसे कम हो रही है—इस तरफ भी उनकी दृष्टि नहीं है और परलोकमें इस महापापका भयङ्कर दण्ड भोगना पड़ेगा—इस तरफ भी उनकी दृष्टि नहीं है। केवल खाने-पीने, सुख भोगनेकी तरफ तो पशुओंकी भी दृष्टि रहती है। अगर यही दृष्टि मनुष्यकी भी है तो यह मनुष्यता नहीं है।

हिन्दू-धर्ममें मनुष्य-जन्मको दुर्लभ बताया गया है और कल्याणको सुगम बताया गया है। अतः कोई जीव मनुष्य-जन्ममें, हिन्दू-धर्ममें आ रहा हो तो उसको रोकना नहीं चाहिये। अगर आप उसको रोक दोगे तो वह जीव विधर्मियोंके यहाँ पैदा होगा और आपके धर्मका, हिन्दुओंका नाश करेगा; क्योंकि जीवका ऋणानुबन्ध केवल एकके साथ नहीं होता, प्रत्युत कइयोंके साथ होता है।

कौरव और पाण्डव—दोनोंकी नौ-नौ अक्षौहिणी सेनाएँ थीं। परंतु एक अक्षौहिणी नारायणी सेना और एक अक्षौहिणी शल्यकी सेना कौरवोंकी तरफ चली जानेसे कौरवोंकी सेना पाण्डवोंकी सेनासे चार अक्षौहिणी बढ़ गयी अर्थात् पाण्डवोंकी सेना सात अक्षौहिणी और कौरवोंकी सेना ग्यारह अक्षौहिणी हो गयी! इसी प्रकार हिन्दूलोग नसबन्दी, आपरेशन आदिके द्वारा सन्तति-निरोध करेंगे तो जो सन्तान उनके यहाँ पैदा होनेवाली थी, वह विधर्मियोंके यहाँ पैदा हो जायगी। जैसे, अबतक हिन्दुओंके यहाँ लगभग बारह करोड़ शिशुओंका जन्म रोका गया है* । अतः वे बारह करोड़ शिशु गोघातक विधर्मियोंके यहाँ जन्म लेंगे तो विधर्मियोंकी संख्या हिन्दुओंकी संख्यासे चौबीस करोड़ बढ़ जायगी। विधर्मियोंकी संख्या बढ़ेगी तो फिर वे हिन्दुओंका ही नाश करेंगे। अतः हिन्दुओंको अपनी सन्तान-परम्परा नष्ट नहीं करनी चाहिये और गोघातकोंकी संख्या बढ़ाकर गोहत्याके पापमें भागीदार नहीं बनना चाहिये।

---

* जिन व्यक्तियोंने सन्तति-निरोध किया है, उनकी आगे होनेवाली कई सन्तानोंका भी स्वतः निरोध हुआ है। अगर प्रत्येक व्यक्तिकी आगे होनेवाली दो या तीन सन्तानोंका भी निरोध माना जाय तो यह संख्या चौबीस या छत्तीस करोड़तक पहुँच जाती है!

प्रश्न—सन्तान कम होगी तो उनका पालन-पोषण भी अच्छा होगा और परिवार भी सुखी रहेगा; अतः परिवार-नियोजन करनेमें हानि क्या है ?

उत्तर—कम सन्तानसे परिवार सुखी रहेगा—यह बात नहीं है। जिनकी सन्तान नहीं है, वे भी दुःखी हैं; जिनकी सन्तान कम है, वे भी दुःखी हैं और जिनकी अधिक सन्तान है, वे भी दुःखी हैं। हमने बिना सन्तानवालोंको भी देखा है, थोड़ी सन्तानवालोंको भी देखा है और अधिक सन्तानवालोंको भी देखा है तथा उनसे हमारी बातें हुई हैं। वास्तवमें सन्तानका ज्यादा-कम होना सुख-दुःखमें कारण नहीं है। जो कम सन्तान होनेके कारण सुखी हो, ऐसा आदमी संसारमें एक भी हो तो बताओ। संसारमें क्या, सृष्टिमें भी नहीं है ! दुःखका कारण है—भोगपरायणता—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।'** (गीता ५।२२)। भोगपरायण आदमी कभी सुखी हो सकता ही नहीं, सम्भव ही नहीं। जो भोगपरायण है, उसकी सन्तान चाहे ज्यादा हो, चाहे कम हो, चाहे बिल्कुल न हो, वह तो दुःखी रहेगा ही।

विवाहके बाद आरम्भमें स्त्रीका पुरुषके प्रति और पुरुषका स्त्रीके प्रति विशेष आकर्षण रहता है, इसलिये पहली जो सन्तान होती है, वह केवल भोगेच्छासे ही होती है। भोगेच्छासे पैदा हुई सन्तान प्रायः अच्छी नहीं होती, भोगी होती है। आज जितना भी अच्छे भावोंका प्रचार हुआ है, समाजका सुधार हुआ है, वह सब अच्छे व्यक्तियोंके द्वारा ही हुआ है। क्या भोगी, लोलुप, चोर, डकैत व्यक्तियोंके द्वारा समाजका कभी सुधार हुआ है ? और क्या उनके द्वारा समाजका सुधार होनेकी सम्भावना है ? अतः सन्तान कम होनेसे प्रायः भोगी सन्तान ही पैदा होगी, जिससे समाजका पतन ही होगा।

प्रश्न—भगवान् राम और भरत आदिने भी परिवार-नियोजन किया था—***'दुइ सुत सुंदर सीताँ जाए'*** और ***'दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे'*** (मानस उत्तर० २५।३-४)। अतः अब भी दो ही संतान रखें तो क्या हानि है ?

उत्तर—किसी भी रामायणमें यह नहीं आया है कि श्रीरामने नसबन्दी की थी, सीताजीने आपरेशन किया था। यह नसबन्दी, आपरेशन आदि तो हमारे देखते-देखते अभी शुरू हुआ है। यह विदेशी काम है, हमारे देशका काम नहीं है। राम, भरत आदि खुद भी चार भाई थे। भगवान् कृष्णकी सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंमें प्रत्येकके दस-दस पुत्र और एक-एक कन्या हुई थी। किसी-किसीकी स्वाभाविक ही सन्तान कम होती है और किसी-किसीकी स्वाभाविक ही सन्तान ज्यादा होती है।

प्रश्न—सन्तान अधिक पैदा करेंगे तो उसके पालन-पोषणमें ही सारा समय चला जायगा, फिर भगवान्का भजन कैसे करेंगे ?

उत्तर—हमारा आशय यह नहीं है कि आप सन्तान अधिक पैदा करें, प्रत्युत हमारा आशय है कि आप कृत्रिम उपायोंसे सन्तति-निरोध करके थोड़े-से सुखके लिये अपने शरीर, बल, उत्साह आदिका नाश मत करें। खेती तो करेंगे, हल तो चलायेंगे, पर बीज नहीं बोयेंगे—यह कोई बुद्धिमानी है ? **'हतं मैथुनमप्रजम्'**—सन्तान पैदा न हो तो स्त्रीका संग करना व्यर्थ है। अतः हमारा आशय यही है कि आप इन्द्रियोंके गुलाम न बनें, उनके परवश न रहें, प्रत्युत स्वतन्त्र रहें।

प्रश्न—अधिक सन्तान चाहते नहीं और संयम हो पाता नहीं, ऐसी अवस्थामें क्या करें ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। अगर आप संयम करना चाहते हैं तो संयम अवश्य हो सकता है। मैंने बहुत समय पहले 'ब्रह्मचर्य ही जीवन है' नामक एक पुस्तक पढ़ी थी। उसके लेखक शिवानन्द नामके व्यक्ति थे। उन्होंने उस पुस्तकमें लिखा था कि 'मैं विवाहित हूँ; परंतु दोनोंने (मैंने और स्त्रीने) सलाह करके ब्रह्मचर्यका पालन किया, जिससे मुझे बहुत लाभ हुआ। वह लाभ सबको हो जाय, इसलिये मैंने यह पुस्तक लिखी है।' एक माताजीने हमें सुनाया कि हमारे पड़ोसमें एक जैन परिवार था। रोज रातमें उनके बोलनेकी आवाज आती थी। एक दिन मैंने उनसे पूछा कि आपलोग रातमें बातें करते हैं, सोते नहीं हैं क्या ? उन्होंने अपनी बात सुनायी कि विवाहके पहले ही हम दोनोंमेंसे एकने कृष्णपक्षमें और एकने शुक्लपक्षमें ब्रह्मचर्यका पालन करनेकी सौगन्ध ले ली थी। अब तीसरा पक्ष कहाँसे लायें ? अतः एक कमरेमें रहनेपर भी हम आपसमें धर्मकी चर्चा किया करते हैं। तात्पर्य है कि आप गृहस्थमें रहते हुए संयम कर सकते हैं। आप उत्साह रखें, हिम्मत मत हारें कि हमारेसे संयम नहीं होता। आप संयम नहीं करेंगे तो कौन करेगा ? हिम्मत रखनेसे असम्भव भी सम्भव हो जाता है—

हिम्मत मत छाँड़ो नराँ, मुख ते कहताँ राम।
हरिया हिम्मत से किया, ध्रुव का अटल धाम॥

अतः उत्साह रखें, भगवान्का भरोसा रखें और उनसे प्रार्थना करें कि 'हे नाथ ! हम संयम रखनेका नियम लेते हैं, आप शक्ति दो।' इस प्रकार आप जितने तत्पर रहेंगे, भगवान्का भरोसा रखेंगे, उतना ही आपको अलौकिक

चमत्कार देखनेको मिलेगा, करके देख लें।

पहले जमानेमें नसबन्दी, ऑपरेशन आदि नहीं होते थे। उस जमानेमें लोग संयम रखते थे तो अब भी संयम रखना चाहिये। वर्तमानमें जो संयम आदि गुणोंको, दैवी-सम्पत्तिको अपनेमें लानेमें कठिनताका अनुभव होता है, उसका कारण यह है कि पहले असंयम आदिका, आसुरी-सम्पत्तिका स्वभाव बना लिया है।

विचार करें कि सत्य बोलनेवाला व्यक्ति है, उससे कहा जाय कि हम आपको एक हजार रुपये देते हैं, आप झूठ बोल दें तो वह झूठ नहीं बोलेगा। परंतु जो झूठ-सचका खयाल नहीं रखते, उनसे कहा जाय कि हम आपको पाँच रुपये देंगे, आप सच्ची बात बोल दें तो वे सच्ची बात बोल देंगे। जो मांस नहीं खाते, उनसे कहा जाय कि हम आपको एक हजार रुपये देंगे, आप मांस खाओ तो वे मर जायेंगे, पर मांस नहीं खायेंगे। परंतु जो मांस खाते हैं, उनसे कहा जाय कि आप मांस-मछली मत खाओ, और जगह भोजन न करके केवल हमारे यहाँ ही शाकाहार भोजन करो तो हम आपको रोज एक रुपया देंगे तो वे महीनेभर आपके यहाँ भोजन कर लेंगे। किसीको मदिरा आदिका व्यसन नहीं है, उनको भय, लोभ आदि दिखाकर मदिरा पीनेके लिये कहा जाय तो वे मदिरा नहीं पी सकते। परंतु जिनको मदिरा पीनेका व्यसन है, वे भी सन्त-महात्माओंके संगमें आकर, नीरोगता आदिके लोभमें आकर व्यसन छोड़ देते हैं। तात्पर्य है कि सच बोलना, मांस-मदिराका त्याग करना तो सुगम है, पर झूठ बोलना, मांस-मदिराका सेवन करना कठिन है। उसी प्रकार संयमका त्याग करना कठिन है, संयम करना कठिन नहीं है। यह अनुभवसिद्ध बात है।

एक बात और है कि संयम स्वतःसिद्ध है और असंयम कृत्रिम है, बनावटी है। स्वतःसिद्ध बात कठिन क्यों लगती है—इसपर थोड़ा ध्यान दें। जो लोग संयमका त्याग करके अपना जीवन असंयमी बना लेते हैं, उनके लिये फिर संयम करना कठिन हो जाता है। अगर पहलेसे ही संयमित जीवन रखा जाय तो दुर्व्यसनोंका, दुर्गुणोंका त्याग होनेसे मनुष्यमें शूरवीरता, उत्साह रहता है, शान्ति रहती है। संयम करनेसे जितनी प्रसन्नता, नीरोगता, बल, धैर्य, उत्साह रहता है, उतना असंयम करनेसे नहीं रहता। आप कुछ दिनोंके लिये अच्छे संगमें रहें और संयम करें तो आपको इसका अनुभव हो जायगा कि संयमसे कितना लाभ होता है ! संसारमें जितने रोग हैं, वे सब प्रायः असंयमसे ही होते हैं। प्रारब्धजन्य रोग बहुत कम होते हैं। संयमी पुरुषोंको रोग बहुत कम होते हैं। संयमी पुरुष बेफिक्र रहता है, जब कि असंयमी पुरुषमें चिन्ता, भय आदि बहुत ज्यादा होते हैं। जैसे, असंयमी रावण जब सीताको लानेके लिये जाता है, तब वह डरके मारे इधर-उधर देखता है—*'सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं ॥'* (मानस, अरण्य० २८ । ५) । परंतु संयमी सीता राक्षसोंकी नगरीमें और राक्षसोंके बीच बैठकर भी निर्भय है ! अकेली और स्त्री-जाति होनेपर भी उसको किसीसे भय नहीं है। यहाँतक कि वह रावणको भी अधम, निर्लज्ज आदि कहकर फटकार देती है—*'सठ सूनें हरि आनेहि मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही ॥'* (मानस, सुन्दर० ९ । ५) ।

हमारे शास्त्रोंमें ब्रह्मचर्यका बड़ा माहात्म्य है और विदेशी सज्जनोंने भी इसका आदर किया है। उन्होंने कहा है कि जीवनभरमें पुरुष एक ही बार अपनी स्त्रीका संग करे। एक बारमें न रह सके तो वर्षमें एक बार करे। वर्षमें एक बार भी न रह सके तो महीनेमें एक बार संग करे अर्थात् केवल ऋतुगामी बने। इसमें भी न रह सके तो अपने कफनका कपड़ा खरीदकर रख ले ! कारण कि बार-बार संग करनेसे आयु जल्दी नष्ट होती है और मनुष्य जल्दी (अल्पायुमें) मरता है। ऐसे तो अल्पायुमें मरनेके अनेक कारण हैं, पर उनमें वीर्य-नाश करना खास कारण है। अतः दीर्घायु होनेके लिये, स्वास्थ्यके लिये, नीरोग रहनेके लिये ब्रह्मचर्यका पालन करना बहुत आवश्यक है। सिंह जीवनभरमें केवल एक ही बार सिंहनीका संग करता है* । अतः उसमें वीर्यकी रक्षा अधिक होनेसे विशेष ओजबल रहता है, जिससे वह अपनेसे अत्यन्त बड़े हाथीको भी मार देता है। परंतु जो मनुष्य बार-बार स्त्रीका संग करता है, उसमें वह ओजबल नहीं आता, प्रत्युत निर्बलता आती है। ओजबल ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे ही उत्पन्न होता है।

ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे बड़े-बड़े रोग आक्रमण नहीं करते। ब्रह्मचर्यका पालन करनेवालोंकी सन्तान तेजस्वी और नीरोग होती है। परंतु ब्रह्मचर्य-पालन न करनेवालोंकी सन्तान तेजस्वी और नीरोग नहीं होती; क्योंकि बार-बार संग करनेसे रज-वीर्यमें वह शक्ति नहीं रहती। भोगासक्तिसे जो सन्तान पैदा होती है, वह भोगी और रोगी ही होती है। अतः धर्मको

* सिंह गमन, सज्जन बचन, कदलि फलै इक बार। तिरिया तेल, हम्मीर हठ, चढ़ै न दूजी बार॥

प्रधानता देकर ही सन्तान उत्पन्न करनी चाहिये, जिससे सन्तान धर्मात्मा, नीरोग पैदा हो। भगवान्‌ने भी धर्मपूर्वक कामको अपना स्वरूप बताया है—**'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'** (गीता ७।११)।

जो केवल शास्त्रमर्यादाके अनुसार सन्तानोत्पत्तिके लिये ऋतुकालमें अपनी स्त्रीका संग करता है, वह गृहस्थमें रहता हुआ भी ब्रह्मचारी माना जाता है। परंतु जो केवल भोगेच्छा, सुखेच्छासे अपनी स्त्रीका संग करता है, वह पाप करता है। गीताने विषय-भोगोंके चिन्तनमात्रसे पतन होना बताया है (२।६२-६३) और कामको सम्पूर्ण पापोंका मूल तथा नरकोंका दरवाजा बताया है (३।३६, १६।२१)। तात्पर्य है कि भोगेच्छासे अपनी स्त्रीका संग करना नरकोंका दरवाजा है; पापोंका, अनर्थोंका कारण है।

पक्का विचार होनेपर ब्रह्मचर्यका पालन करना कठिन नहीं है। ब्रह्मचर्यका पालन मनुष्यके लिये खास बात है। अगर मनुष्य संयम नहीं करता तो वह पशुओंसे भी गया-बीता है। पशुओंमें गधा, कुत्ता नीच माना जाता है। परंतु वर्षमें एक महीना ही उनकी ऋतु होती है। उस महीनेमें उनकी रक्षा की जाय तो उनका संयम हो जाता है। जैसे, श्रावण मासमें गधेकी, कार्तिक मासमें कुत्तेकी और माघ मासमें बिल्लीकी रक्षा की जाय, उनसे ब्रह्मचर्यका पालन कराया जाय तो उनका संयम हो जाता है। परंतु मनुष्यके लिये बारह महीने खुले हैं, अतः दूसरा कोई उनकी रक्षा नहीं कर सकता, वह खुद ही चाहे तो अपनी रक्षा कर सकता है। इसीलिये शास्त्रोंमें मनुष्यको ब्रह्मचर्य-पालनकी आज्ञा दी गयी है। ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति हो जाती है, महान् आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न—पुरुष तो संयम रखे, पर स्त्री संयम न रखे तो क्या करना चाहिये?

उत्तर—यह बात नहीं है कि स्त्री संयम न रखे। वास्तवमें पुरुष ही स्त्रीको बिगाड़ता है। स्त्रियोंमें काम-वेगको रोकनेकी जितनी शक्ति होती है, उतनी पुरुषोंमें नहीं होती।

अगर पहलेसे ही संयम रखा जाय तो संयम सुगमतासे होता है। भोगवृत्ति ज्यादा होनेपर संयम रखना कठिन हो जाता है। अतः जब कामका वेग न हो, तब स्त्री-पुरुष दोनोंको शान्तचित्त होकर विचार करना चाहिये कि हम अधिक सन्तान नहीं चाहते तो हमें संयम रखना चाहिये, जिससे हमारा शरीर, स्वास्थ्य भी ठीक रहेगा। ऐसा विचार करके दोनोंको रात्रिमें अलग-अलग रहना चाहिये।

मनुष्य संयम तो सदा रख सकता है, पर भोग सदा नहीं कर सकता—यह स्वतःसिद्ध बात है। अतः संयमके विषयमें हिम्मत नहीं हारनी चाहिये और गर्भपात, नसबन्दी-जैसे महापापसे बचना चहिये।

जबतक यह हिन्दू-समाज गर्भपात-जैसे महापापसे नहीं बचेगा, तबतक इसका उद्धार मुश्किल है; क्योंकि अपना पाप ही अपने-आपको खा जाता है। अगर यह समुदाय अपनी उन्नति और वृद्धि चाहता है तो इस घोर महापापसे, ब्रह्महत्यासे दुगुने पापसे बचना चाहिये। एक भाईने हमें बताया कि गत वर्ष भारतमें लगभग इक्कीस लाख गर्भपात किये गये! ऐसी लोक-परलोकको नष्ट करनेवाली महान् हत्यासे समाजकी क्या गति होगी, इसे भगवान् ही जाने! धर्मपरायण भारतमें कितना धर्मविरुद्ध काम हो रहा है, इसका कोई पारावार नहीं है। इसका परिणाम बड़ा भयंकर निकलेगा, इसलिये समय रहते चेत जाना चाहिये—

का बरषा सब कृषी सुखानें। समय चुकें पुनि का पछितानें॥

(मानस, बाल० २६०।३)

हमारा उद्देश्य किसीकी निन्दा करना, किसीको नीचा दिखाना है ही नहीं। हमारा यह कहना है कि मनुष्य-शरीरमें आकर कम-से-कम गर्भपात-जैसे महापापोंसे तो बचें।

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥

(मानस, उत्तर० ४३।४)

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस, उत्तर० ४४।३)

'दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।'

(श्रीमद्भा० ११।२।२९)

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।

(श्रीमद्भा० ११।९।२९)

—इस प्रकार जिस मनुष्य-शरीरको इतना दुर्लभ बताया गया है, उस मनुष्य-शरीरमें जीवको न आने देना, जीवको ऐसा दुर्लभ शरीर न मिलने देना कितना महान् पाप है! ऐसे महापापसे बचो।

★

गृहस्थोंके लिये

(यदि यह लेख आपके मनके अनुकूल न भी पड़े तो भी कम-से-कम एक बार तो अवश्य ही मनोयोगपूर्वक पढ़नेकी कृपा करें—यह प्रार्थना है।)

जनसंख्या-वृद्धिको रोकनेके लिये सरकारने परिवार-नियोजन-कार्यक्रम चला रखा है, जिसके अन्तर्गत वह गर्भाधानको रोकनेके लिये अथवा गर्भपात-जैसे महापापको करनेके लिये लोगोंको प्रोत्साहित कर रही है। इसके लिये वह नये-नये उपायोंकी खोज करके उनका व्यापक स्तरपर प्रचार एवं प्रसार कर रही है। सरकारका यह कार्यक्रम कहाँतक उचित है—इसपर कुछ विचार किया जा रहा है—

परिवार-नियोजन-कार्यक्रमके प्रचार एवं प्रसारके कारण

परिवार-नियोजन-कार्यक्रमका आरम्भ सर्वप्रथम उन पश्चिमी देशोंमें हुआ था, जो ईश्वर, धर्म और परलोकसे प्रायः अनभिज्ञ हैं। वहाँके लोगोंने यह विचार किया कि हमारी जनसंख्या जिस गतिसे बढ़ रही है, उसको देखते हुए भविष्यमें हमें भरपेट खानेको नहीं मिलेगा, रहनेके लिये पर्याप्त जगह नहीं मिलेगी, हमारा जीवन-निर्वाह कठिन हो जायगा, हमारा जीवन-स्तर गिर जायगा आदि। उन्होंने जनसंख्याकी वृद्धिकी ओर तो देखा, पर इस ओर नहीं देखा कि जनसंख्या-वृद्धिके साथ-साथ जीवन-निर्वाहके साधनोंकी भी वृद्धि होती है; क्योंकि आवश्यकता ही आविष्कारकी जननी है। फलस्वरूप परिवार-नियोजन-कार्यक्रमसे जीवन-निर्वाहके साधनोंमें तो वृद्धि नहीं हुई, पर ऐसी अनेक बुराइयोंकी वृद्धि अवश्य हुई, जिनसे समाजका घोर पतन हुआ!

वास्तवमें जीवन-निर्वाहके साधनोंमें कमी होनेका कारण जनसंख्याकी वृद्धि नहीं है, प्रत्युत अपने सुखभोगकी इच्छाओंकी वृद्धि है। भोगेच्छाकी वृद्धि होनेसे मनुष्य आरामतलब और अकर्मण्य हो जाता है, जिससे वह जीवन-निर्वाहके साधनोंका उपभोग तो अधिक करता है, पर उत्पादन कम करता है। इससे जीवन-निर्वाहके साधनोंमें कमी आने लगती है। इतना ही नहीं, अपनी इच्छाओंकी पूर्तिके लिये मनुष्य तरह-तरहके पाप करने लगता है, जिनमें गर्भपात आदि संतति-निरोधके उपाय भी शामिल हैं। गीताने काम अर्थात् भोगेच्छाको सम्पूर्ण पापोंका मूल बताया है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। यह बहुत खानेवाला और महापापी है। इस विषयमें तू इसको ही वैरी जान।' भोग-विलासकी चीजोंको मनुष्यने अपनी आवश्यक चीजें बना लिया है। वह उन चीजोंके इतने अधीन हो गया है कि उनके बिना उसको अपना जीवन भी भारी लगने लगा है, जिसका कारण आलस्य, प्रमाद और आरामतलबी है। जब उसके लिये अपनी जरूरतोंको पूरा करना भी कठिन हो गया है, तो फिर वह अपनी संतानकी जरूरतोंको कहाँतक पूरा करे! अतः उसने संतति-निरोधके उपायोंको काममें लाना शुरू कर दिया है। उसमें काम-वासना भी इतनी बढ़ गयी है कि उसने स्त्रीको मात्र भोग-सामग्री बनाना तो ठीक समझा है, पर भोगके प्राकृतिक परिणाम—संतानका होना ठीक नहीं समझा है। वह यह विचार तो करता है कि संतान न होनेसे स्त्री अधिक समयतक युवा बनी रहेगी, हमारे भोगके योग्य बनी रहेगी, पर यह विचार नहीं करता कि लाख कोशिश करनेपर भी जवानीके बाद बुढ़ापा आयेगा ही और बुढ़ापेके बाद मौत आयेगी ही, जो कि अनिवार्य है। उसके हृदयमें न तो ईश्वरका विश्वास रहा है, न अपने भाग्यका विश्वास रहा है और न अपने पुरुषार्थ-(कर्तव्य-)पर ही विश्वास रहा है। तात्पर्य है कि ईश्वर सबका पालन करनेवाला है, हरेक व्यक्ति अपने भाग्यके अनुसार पाता है और अपने पुरुषार्थ-(उद्योग-) से मैं कमा सकता हूँ और अपने परिवारका पालन-पोषण कर सकता हूँ—इन बातोंपरसे मनुष्यका विश्वास हट गया है। इन सब कारणोंसे परिवार-नियोजन-कार्यक्रमका तेजीसे प्रचार एवं प्रसार हुआ और हो रहा है।

क्या परिवार-नियोजन आवश्यक है?

जनसंख्या-वृद्धिसे होनेवाली जिन हानियोंका प्रचार किया जा रहा है, वह केवल कपोल-कल्पना है, उसमें वास्तविकताकी बात ही नहीं है। परिवार-नियोजनके समर्थक कहते हैं कि जनसंख्या बढ़नेपर अन्नकी कमी

हो जायगी, जिससे सबको भरपेट अन्न नहीं मिल सकेगा। यह बात तो तभी लागू पड़ती है, जब अन्न एक निश्चित मात्रामें जमा रखा गया हो और आगे अन्न पैदा होनेकी गुंजाइश न हो। जनसंख्याकी वृद्धिको लेकर अन्नकी चिन्ता करनेवाले लोग यह भूल जाते हैं कि जनसंख्या बढ़नेसे केवल खानेवाले ही नहीं बढ़ते, प्रत्युत पैदा करनेवाले (कमानेवाले) भी बढ़ते हैं। प्रत्येक व्यक्तिके पास केवल पेट ही नहीं होता, प्रत्युत दो हाथ, दो पैर और एक मस्तिष्क भी होता है, जिनसे वह केवल अपना ही नहीं, प्रत्युत कई प्राणियोंका भरण-पोषण कर सकता है। वास्तवमें अन्नादि वस्तुओंकी कमी तभी आ सकती है, जब मनुष्य काम न करें और भोगी, ऐयाश, आरामतलब हो जायँ। आवश्यकता ही आविष्कारकी जननी है। अत: जब जनसंख्या बढ़ेगी, तब उसके पालन-पोषणके साधन भी बढ़ेंगे, अन्नकी पैदावार भी बढ़ेगी, वस्तुओंका उत्पादन भी बढ़ेगा, उद्योग भी बढ़ेंगे। जहाँतक हमें ज्ञात हुआ है, पृथ्वीमें कुल सत्तर प्रतिशत खेतीकी जमीन है, जिसमें केवल दस प्रतिशत भागमें ही खेती हो रही है, जिसका कारण खेती करनेवालोंकी कमी है! अत: जनसंख्याकी वृद्धि होनेपर अन्नकी कमीका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। यदि भूतकालको देखें तो पता लगता है कि जनसंख्यामें जितनी वृद्धि हुई है, उससे कहीं अधिक अन्नके उत्पादनमें वृद्धि हुई है। इसलिये जे० डी० बर्नेल आदि विशेषज्ञोंका कहना है कि जनसंख्यामें वृद्धि होनेपर भी आगामी सौ वर्षोंतक अन्नकी कमीकी कोई सम्भावना मौजूद नहीं है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कोलिन क्लार्कने तो यहाँतक कहा है कि 'अगर खेतीकी जमीनका ठीक-ठीक उपयोग किया जाय तो वर्तमान जनसंख्यासे दस गुनी ज्यादा जनसंख्या बढ़नेपर भी अन्नकी कोई समस्या पैदा नहीं होगी' (पापुलेशन ग्रोथ एण्ड लिविंग स्टैण्डर्ड)।

सन् १८८० में जर्मनीमें जीवन-निर्वाहके साधनोंकी बहुत कमी थी, पर उसके बाद चौंतीस वर्षोंके भीतर जब जर्मनीकी जनसंख्या बहुत बढ़ गयी, तब जीवन-निर्वाहके साधन और कम होनेकी अपेक्षा इतने अधिक बढ़ गये कि उसको काम करनेके लिये बाहरसे आदमी बुलाने पड़े! इंग्लैंडकी जनसंख्यामें तीव्रगतिसे वृद्धि होनेपर भी वहाँ जीवन-निर्वाहके साधनोंमें कोई कमी नहीं आयी। यह प्रत्यक्ष बात है कि संसारमें कुल जनसंख्या जितनी बढ़ी है, उससे कहीं अधिक जीवन-निर्वाहके साधन बढ़े हैं।

परिवार-नियोजनके समर्थनमें एक बात यह भी कही जाती है कि जनसंख्या बढ़नेपर लोगोंको रहनेके लिये जगह मिलनी कठिन हो जायगी। विचार करें, यह सृष्टि करोड़ों-अरबों वर्षोंसे चली आ रही है, पर कभी किसीने यह नहीं देखा, पढ़ा या सुना होगा कि किसी समय जनसंख्या बढ़नेसे लोगोंको पृथ्वीपर रहनेकी जगह नहीं मिली! जनसंख्याको नियन्त्रित रखना और उसके जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध करना मनुष्यके हाथमें नहीं है, प्रत्युत सृष्टिकी रचना करनेवाले भगवान्‌के हाथमें है। भगवान् कहते हैं—

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।

(गीता १५। १३)

'मैं ही पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपनी शक्तिसे समस्त प्राणियोंको धारण करता हूँ।'

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(गीता १५। १७)

'वह अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबका भरण-पोषण करता है।'

ब्रिटिश एसोसिएशनके अध्यक्ष सर विलियम क्रोक्सने भी सन् १८९८ में आजकी तरह यह चेतावनी दी थी कि 'जनसंख्या-वृद्धिके कारण पृथ्वीमें जीवन-निर्वाहके साधन आगामी तीस वर्षोंसे अधिक हमारी आवश्यकताओंकी पूर्ति नहीं कर सकेंगे। अत: इंग्लैंड आदि देशोंको शीघ्र ही अकालका सामना करना पड़ सकता है!' परंतु आगामी तीस वर्षोंमें अकाल पड़ना तो दूर रहा, अन्नकी इतनी अधिक पैदावार हुई कि उसके भावोंमें अत्यधिक मन्दी आ गयी, जिसके कारण अमेरिका आदि कुछ देशोंको अपना अधिक गेहूँ जलाकर अथवा समुद्रमें डालकर नष्ट कर देना पड़ा!

वर्तमानमें करोड़ों एकड़ जमीन खाली पड़ी है। अत: जनसंख्या-वृद्धिको लेकर यह हल्ला करना व्यर्थ है कि भविष्यमें लोगोंको खानेके लिये अन्न और रहनेके लिये जगह नहीं मिलेगी। भारतकी तो प्राकृतिक सम्पत्ति इतनी है कि वर्तमान जनसंख्यासे दुगुनी अधिक जनसंख्या हो जाय तो भी सबका जीवन-निर्वाह हो सकता है। भारतकी प्राकृतिक सम्पत्ति संसारमें सबसे अधिक है। जितनी चीजें यहाँ पैदा होती हैं, उतनी अन्य किसी भी देशमें पैदा नहीं होतीं। अगर जनसंख्या कम हो जायगी तो उनका उत्पादन कौन करेगा? कारण कि जनसंख्यामें कमी होनेसे अन्न आदिका उत्पादन करनेवाले कुशल व्यक्तियोंका, उत्पादन करनेकी शक्तियोंका और उत्पादन करनेके साधनोंका भी अभाव हो जाता है।

यदि सरकार जनसंख्या-वृद्धिको एक समस्या मानती है तो इसका उचित और वास्तविक समाधान यही है कि

जीवन-निर्वाहके साधनोंमें वृद्धि की जाय, नये-नये साधनोंकी खोज की जाय। जिन देशोंने इस समाधानको अपनाया है, उनके जीवन-निर्वाहके साधनोंमें जनसंख्या-वृद्धिकी अपेक्षा भी बहुत अधिक वृद्धि हुई है। कारण कि वास्तवमें जीवन-निर्वाहके साधनोंमें कमी होनेका सम्बन्ध जनसंख्या-वृद्धिके साथ है ही नहीं। जीवन-निर्वाहके साधनोंमें कमी तब आती है, जब मनुष्य आलसी, प्रमादी, भोगी और अकर्मण्य बननेके कारण अपनी जिम्मेवारीका काम नहीं करते। वे खर्चा तो अधिक करते हैं, पर काम कम करते हैं, जो कि देशको दरिद्र बनानेवाली चीज है।

देशकी समस्याओंके समाधानके लिये परिवार-नियोजन-कार्यक्रमको अपनाना वास्तवमें अपनी पराजय स्वीकार करना है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य इतना आलसी और अकर्मण्य हो गया है कि वह अपनी आवश्यकताओंके अनुसार जीवन-निर्वाहके साधनोंमें वृद्धि न करके खुदको ही समाप्त कर देना ठीक समझता है! जैसे, शरीरपर कोई कपड़ा ठीक न आये तो कपड़ेका आकार ठीक करनेकी अपेक्षा शरीरको ही काटकर छोटा करनेका प्रयत्न किया जाय! कपड़ा मनुष्यके लिये है, मनुष्य कपड़ेके लिये नहीं। अगर मनुष्य कपड़ेके लिये हो जायगा तो फिर मनुष्यमें मनुष्यता रहेगी ही नहीं। कोलिन क्लार्कने लिखा है कि 'आर्थिक सलाहकारोंका काम यह बताना है कि अर्थ-व्यवस्थाको जनसंख्याके अनुसार कैसे ठीक किया जाय, न कि यह बताना कि जनसंख्याको अर्थ-व्यवस्थाके अनुसार कैसे ठीक किया जाय। किसी भी अर्थशास्त्रीको, चाहे वह कितना ही बड़ा विद्वान् हो और किसी भी सरकारको, चाहे वह कितनी ही शक्तिशाली हो, यह अधिकार नहीं है कि वह माँ-बापसे संतान कम पैदा करनेके लिये अथवा पैदा न करनेके लिये कहे। परंतु हर माँ-बापको यह अधिकार अवश्य है कि वे अर्थशास्त्रियोंसे और सरकारसे यह माँग करें कि वे अर्थ-व्यवस्थाको इतना सुदृढ़ बनायें कि उनके परिवारकी जीवन-निर्वाह-सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी हो सकें।'

एक आदमीके शरीरसे एक बार स्त्रीसंगके समय जितना वीर्य निकलता है, उससे करोड़ों बच्चे पैदा हो सकते हैं! कारण कि उसमें लगभग पच्चीससे पचास करोड़तक शुक्राणु विद्यमान रहते हैं, जिनमेंसे प्रत्येक शुक्राणुमें एक मनुष्य बननेकी पूरी क्षमता होती है। परंतु उनमेंसे कोई एक ही शुक्राणु स्त्रीके रजसे मिलकर मनुष्य बन पाता है। मनुष्यकी इस संतानोत्पादक शक्तिको किसी देशकी सरकारने अथवा खुद मनुष्यने सीमित नहीं किया है, प्रत्युत उसने सीमित किया है, जो इस सम्पूर्ण संसारका रचयिता, पालनकर्ता और संहारकर्ता है*। जनसंख्याके नियोजनका, उसको बढ़ाने-घटानेका कार्य उसके विभागमें है, सरकारके विभागमें नहीं। तात्पर्य है कि सरकारका अधिकार जनसंख्याको सीमित करना नहीं है, प्रत्युत जितनी जनसंख्या है, उसके जीवन-निर्वाहका, उसकी सुरक्षाका भलीभाँति प्रबन्ध करना है। यदि जनसंख्या और जीवन-निर्वाहके साधनोंके बीच संतुलनको ठीक रखनेका प्रयत्न किया जायगा तो संतुलन ठीक होनेकी अपेक्षा और बिगड़ जायगा। कारण कि जीवन-निर्वाहके साधन मनुष्योंके लिये हैं, न कि मनुष्य उनके लिये। मनुष्योंको कम करके अन्नको अधिक पैदा करनेकी चेष्टा वैसी ही है, जैसी चेष्टा संतानको गर्भमें न आने देकर माँका दूध अधिक प्राप्त करनेकी है! जहाँ वृक्ष अधिक होते हैं, वहाँ वर्षा अधिक होती है, फिर मनुष्य अधिक होंगे तो क्या अन्न अधिक नहीं होगा? यह प्रत्यक्ष बात है कि जब देशमें परिवार-नियोजन-कार्यक्रमका आरम्भ नहीं हुआ था, तब अन्न जितना सस्ता था, उतना आज नहीं है।

अगर सरकार जनसंख्यापर नियन्त्रण रखना ही चाहती है तो उसको 'जन्म' पर नियन्त्रण रखनेके साथ-साथ 'मृत्यु' पर भी नियन्त्रण रखना चाहिये। अगर वह मृत्युपर नियन्त्रण नहीं रख सकती तो उसको जन्मपर भी नियन्त्रण रखनेका अधिकार नहीं है! मनुष्य पैदा होने तो कम हो जायँ, पर मृत्यु पहलेकी तरह अपना काम करती रहे तो क्या परिणाम होगा? युद्ध, अकाल, बाढ़, भूकम्प, महामारी आदि कारणोंसे जितने मनुष्योंकी मृत्यु होती है, उसकी कोई सीमा नहीं है। अत: परिवार-नियोजनके द्वारा सरकार जनसंख्याकी सीमा निश्चित नहीं कर सकती कि अमुक सीमातक जनसंख्या कम कर दी जाय और फिर उस सीमासे उसको कम न होने दिया जाय; अगर कम हो जाय तो तत्काल उसकी पूर्ति कर दी जाय! तात्पर्य है कि जनसंख्याकी व्यवस्था भगवान्‌के हाथमें है। उसकी ओरसे अरबों वर्षोंसे ठीक व्यवस्था चलती आयी है।

* गीतामें भगवान् कहते हैं—'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ' (७। ११) 'मनुष्योंमें धर्मसे अविरुद्ध अर्थात् धर्मयुक्त काम मैं हूँ;' 'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः' (१०। २८) 'संतानोत्पत्तिका हेतु काम मैं हूँ।'

मनुष्योंको इस विषयमें हस्तक्षेप करनेका अधिकार नहीं है। इस विषयमें हस्तक्षेप करनेवाले देश इसका दुष्परिणाम भुगत चुके हैं।

संतति-निरोध नास्तिकवाद-रूपी विषवृक्षकी उपज है। जो मनुष्य नास्तिक, आलसी-प्रमादी और भोगी हैं, उन लोगोंने ही संतति-निरोध-कार्यक्रमका आरम्भ किया है, वे ही लोग संतति-निरोधके समर्थनमें दी गयी दलीलोंसे प्रभावित होते हैं और वे ही लोग इसका दुष्परिणाम भी भोगेंगे!

परिवार-नियोजन-कार्यक्रमके दुष्परिणाम

इंग्लैण्ड, अमेरिका, जर्मनी, फ्रैंस आदिमें पिछले सौ वर्षोंके भीतर जो तीव्रगतिसे परिवार-नियोजन-कार्यक्रम अपनाया गया, उसके परिणामोंका विश्लेषण करते हुए अमेरिकाके जनसंख्या-विशेषज्ञ प्रो० वारेन थम्पसनने लिखा है कि 'जिस समाजने सन्तति-निरोधको अपनाया है, उस समाजमें शारीरिक योग्यतावाले लोगोंकी संख्या तो बढ़ रही है, पर बौद्धिक कुशलतावाले विचारशील लोगोंकी संख्या घट रही है।' अन्य विदेशी विद्वान् अल्डुस हक्सले, बर्ट्रेण्ड रसेल आदिने भी यही बात कही है कि 'परिवार-नियोजन-कार्यक्रमके परिणामस्वरूप लोगोंका स्वास्थ्य और बौद्धिक स्तर गिर रहा है और अल्पबुद्धिवाले एवं अकुशल लोगोंकी संख्या बढ़ रही है।' कारण यह है कि विवाहके बाद आरम्भमें स्त्रीका पुरुषके प्रति और पुरुषका स्त्रीके प्रति विशेष आकर्षण रहता है, जिससे उनमें प्रबल भोगेच्छा रहती है। इसलिये आरम्भमें जो सन्तान होती है, वह केवल भोगेच्छासे ही पैदा होती है। भोगेच्छासे पैदा हुई सन्तान प्राय: अच्छी नहीं होती और बादमें होनेवाली सन्तानकी अपेक्षा अल्पबुद्धिवाली, विवेकहीन, भोगी होती है। इसलिये गीतामें आया है कि भोगेच्छारहित योगियोंके कुलमें ही श्रेष्ठ बुद्धिवाले योगभ्रष्ट साधकोंका जन्म होता है—**'योगिनामेव कुले भवति धीमताम्'** (६। ४२)

परिवार-नियोजन-कार्यक्रम अपनानेसे समाजमें बच्चों तथा जवानोंकी संख्या कम हो जाती है और बूढ़ोंकी संख्या अधिक हो जाती है, जिसके कारण देशकी आर्थिक उन्नति रुक जाती है और वह विभिन्न दृष्टियोंसे काफी पिछड़ जाता है। बच्चों और बूढ़ोंका अनुपात बिगड़नेसे देशकी सारी व्यवस्था डाँवाडोल हो जाती है। लार्ड कीन्स और प्रो० हेन्सनके मतानुसार 'जनसंख्याकी वृद्धिसे आर्थिक तेजी आती है। बेरोजगारीकी वृद्धिका कारण जनसंख्याकी कमी है।' कोलन क्लार्कने लिखा है कि अगर जनसंख्यामें वृद्धि हो और बाजारका आकार बढ़ जाय तो प्रति व्यक्ति उत्पादन बढ़ जायगा, कम नहीं होगा। अगर अमेरिका और पश्चिमी यूरोपमें अधिक जनसंख्या न होती तो कई वर्तमान उद्योग संकटमें पड़ जाते और उनका उत्पादन-व्यय भी बहुत बढ़ जाता।'

सन्तति-निरोधके उपायोंके व्यापक प्रचार एवं प्रसारसे भोगेच्छा बहुत बढ़ जाती है। भोगेच्छा बढ़नेसे उनका प्रयोग विवाहित स्त्री-पुरुषोंतक ही सीमित नहीं रहता, प्रत्युत अविवाहित लड़के-लड़कियाँ भी उनका प्रयोग आरम्भ कर देते हैं, जिससे समाजमें व्यभिचार बढ़ जाता है और समाजकी मर्यादा भंग हो जाती है। मर्यादा भंग होनेसे मनुष्य पशुओंकी तरह हो जाता है। फिर कन्याएँ भी गर्भवती होने लगती हैं और विधवाएँ भी गर्भवती होने लगती हैं; क्योंकि उनको गर्भ रोकने अथवा गिरानेका उपाय मिल जाता है। व्यभिचार बढ़नेसे सुजाक, उपदंश, एड्स आदि भयंकर रोगोंकी भी वृद्धि हो जाती है। लोगोंका चरित्र गिरनेसे देशका घोर नैतिक पतन हो जाता है। परिवार-नियोजन-कार्यक्रमका यह दुष्परिणाम पश्चिमी देशोंमें प्रत्यक्ष रूपसे देखनेमें आ रहा है। वहाँ यौन-अपराधोंमें अत्यधिक वृद्धि हुई है और बीस वर्षसे भी कम उम्रवाले लड़के-लड़कियोंमें सुजाक, उपदंश आदि गुप्तरोग तेजीसे फैल रहे हैं।

विदेशोंमें पति-पत्नीके सम्बन्धोंमें शिथिलता और तलाककी अधिकता पाये जानेके कारणोंमें सन्तति-निरोध भी एक कारण है। अधिकतर वे ही पति-पत्नी तलाक लेते हैं, जिनकी कोई सन्तान नहीं है अथवा जिनकी बहुत कम सन्तान है। कारण कि सन्तान पैदा होनेसे पति-पत्नीका सम्बन्ध दृढ़ होता है और वे माँ-बापके रूपमें एक श्रेष्ठ पदको प्राप्त करते हैं। परन्तु सन्तति-निरोधसे पति-पत्नीका सम्बन्ध शिथिल होकर केवल काम-वासनाकी पूर्तिके लिये सीमित हो जाता है। स्त्रीको माँका ऊँचा दर्जा प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत वह पुरुषके लिये भोग्या बनकर रह जाती है, जो कि उसके पतनका चिह्न है। जब पति-पत्नीके सम्बन्ध शिथिल हो जाते हैं, तब समाजमें तलाक, व्यभिचार आदि दोषोंकी अधिकता हो जाती है, जिसका परिणाम भयंकर दु:ख होता है।

स्त्रीका आदर माँ बननेसे ही होगा, भोग्या बननेसे नहीं। भोग्या बननेपर जब वह भोगके योग्य नहीं रहेगी, तब उसका निर्वाह कौन करेगा? उलटे उसका तिरस्कार होगा। पति तलाक दे दे और बेटे हों नहीं, तो फिर उसका पालन कौन करेगा? सन्तान नहीं होगी तो बूढ़ी और बीमार स्त्रीकी सेवा कौन करेगा? कारण कि माँको

कष्ट न हो, उसकी सेवा बन जाय—यह भाव जितना बेटे-पोतोंमें होता है, उतना दूसरोंमें नहीं होता।

जब मनुष्योंकी बुद्धिमें यह स्वार्थभाव पैदा हो जायगा कि बच्चे कम पैदा होनेसे हम सुखी रहेंगे, हमारा जीवन-स्तर अच्छा रहेगा, तब यह भाव बच्चे कम पैदा करने अथवा न पैदा करनेतक ही सीमित नहीं रहेगा। उनको अपनी स्वार्थसिद्धिमें केवल अपनी सन्तान ही बाधक नहीं दीखेगी, प्रत्युत बूढ़े माँ-बाप भी बाधक दीखने लगेंगे, अपने भाई-बहन भी बाधक दीखने लगेंगे, परिवारके रोगी, अपाहिज, असमर्थ और निर्धन व्यक्ति भी बाधक दीखने लगेंगे! पश्चिमी देशोंमें यही दशा देखनेमें आ रही है। जो अपनी सन्तानका ही पालन-पोषण करनेके लिये तैयार न हो, वह दूसरोंका पालन-पोषण कैसे करेगा? अत: सन्तति-निरोधके प्रचार-प्रसारसे मनुष्योंमें सेवा, त्याग, प्रेम, परहित आदिकी भावनाएँ नष्ट हो जायँगी और वे पहलेसे अधिक स्वार्थी बन जायँगे।

प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने परिवारको, अपनी परिस्थितिको, अपने स्वार्थको देखकर सन्तति-निरोध करता है, न कि देशको देखकर। देशको अपनी शक्ति बनाये रखनेके लिये कम-से-कम कितनी जनसंख्याकी जरूरत है, यह बात व्यक्तिकी दृष्टिमें नहीं रहती। जो स्त्री-पुरुष केवल एक या दो सन्तान पैदा करेंगे, वे अपनी सन्तानसे प्राय: यही आशा रखेंगे कि वह हमारे पास रहकर हमारी सेवा करे, हमारे स्वार्थोंको पूरा करे, हमारी आवश्यकताओंकी पूर्ति करे*। हमारी सन्तान देशकी सेवा करे, सेनामें भरती होकर देशकी शत्रुओंसे रक्षा करे—यह भाव प्राय: उन्हीं माता-पिताके मनमें आयेगा, जिनकी अधिक सन्तान हैं। अगर एक-दो सन्तान होगी तो घरका काम ही पूरा नहीं होगा, फिर कौन फौजमें भरती होगा? कौन साधु बनेगा? कौन शास्त्रोंका विद्वान् बनेगा? कौन व्याख्यानदाता बनेगा? ज्यादा सन्तान होगी तो कोई फौजमें चला जायगा, कोई खेती करेगा, कोई व्यापार करेगा, कोई फैक्ट्री लगायेगा। परिवार-नियोजनके समर्थक कहते हैं कि जनसंख्या बढ़नेपर लोग भूखों मरेंगे, पर हम कहते हैं कि जनसंख्या कम होनेपर लोग भूखों मरेंगे, कारण कि खेती करनेके लिये आज भी आदमी कम मिलते हैं, फिर भविष्यमें जनसंख्या और कम होनेपर आदमी कैसे मिलेंगे? जो आदमी मिलते भी हैं, वे भी पैसा तो पूरा लेते हैं, पर लगन और परिश्रमके साथ काम नहीं करते। यह प्रत्यक्ष बात है कि घरके आदमी (बेटे) जितनी लगन और परिश्रमके साथ काम करते हैं, उतना मजदूर या नौकर नहीं करते। विदेशी विशेषज्ञोंका अनुमान है कि यदि एक हजार ऐसे व्यक्ति हैं, जिनकी केवल दो-दो सन्तानें हैं तो तीस वर्ष बाद उनकी संख्या घटकर ३३१ रह जायगी, साठ वर्ष बाद उनकी संख्या घटकर १८६ रह जायेगी और डेढ़ सौ वर्ष बाद उनकी संख्या घटकर केवल ९२ रह जायगी। जनसंख्या अधिक कम होनेपर लोग अकाल, बाढ़, भूकम्प आदि प्राकृतिक प्रकोपोंसे तथा शत्रुओंसे अपनी रक्षा नहीं कर पाते और परिणामस्वरूप अपने अस्तित्वको ही नष्ट कर देते हैं। अत: जो जाति परिवार-नियोजनको अपनाती है, वह वास्तवमें आत्महत्या करती है।

अमेरिकाने जापानपर जो एटम बम फेंका था, वह बीस हजार टी० एन० टी० की शक्तिका था और उससे ७८,१५० व्यक्ति मर गये, ३७,४२५ व्यक्ति घायल हो गये तथा १३,०८३ व्यक्ति लापता हो गये। परन्तु आज दस करोड़ टी० एन० टी० या इससे भी अधिक शक्तिशाली एटम बम बनाये जा रहे हैं। अगर भविष्यमें इस तरहके विनाशकारी अस्त्रोंसे युद्ध लड़ा गया तो युद्धकी लपेटमें आनेवाले देशोंकी जनसंख्या सहसा कितनी कम हो जायगी—इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। जिस देशकी जनसंख्या पहलेसे ही कम की जा रही है, उसका तो ऐसे युद्धमें सर्वथा विनाश ही निश्चित है!

लगभग दो हजार वर्ष पूर्व यूनानमें भी गर्भपात आदिका प्रचलन हो गया था और उसकी जनसंख्या कम हो रही थी। उसी समय वहाँ गृहयुद्ध छिड़ गया। इस दुगुने नुकसानको यूनान सह नहीं सका और परिणाममें उसको दूसरोंका गुलाम बनकर रहना पड़ा। किसी समय फ्राँसकी गणना संसारकी मुख्य शक्तियोंमें होती थी। परन्तु जब वह विश्वयुद्धमें पराजित हो गया, तब मार्शल पीतानें स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया कि 'इस पराजयका मूल कारण हमारी जनसंख्याका कम होना है।'

राजनीतिक दृष्टिसे देखा जाय तो जनसंख्या-वृद्धिका बहुत महत्त्व है। जनसंख्याकी कमी परिणाममें राजनीतिक शक्तिके ह्रासका कारण बनती है। प्रो० ओरगांस्की अलब्रेनोने कहा था कि 'यूरोपको विश्वकी सबसे बड़ी शक्ति बनानेमें जनसंख्या-वृद्धिका हाथ है' (पापुलेशन एण्ड पॉलिटिक्स)। पश्चिमी देशोंमें जनसंख्याकी कमीके साथ-साथ राजनीतिक

* मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं॥ (मानस, उत्तर० ९९।४)

शक्तिका भी ह्रास हुआ, जिसका पता विश्वयुद्धके बाद लगा। अतः उन देशोंने जनसंख्याको बढ़ानेपर जोर देना आरम्भ कर दिया। इतना ही नहीं, अपनी पूर्व शक्तिको वापिस लानेके लिये पश्चिमी देश पूर्वी देशोंपर यह दबाव डाल रहे हैं कि वे परिवार-नियोजनके द्वारा अपनी जनसंख्याको कम करें। आर्थरमेक कारमेकने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि 'विकसित देश यह चाहते हैं कि विकासशील देशोंकी जनसंख्या कम हो जाय, क्योंकि उनकी जनसंख्या-वृद्धिको वे देश अपने उच्च जीवन-स्तर और राजनीतिक सुरक्षाके लिये खतरा समझते हैं। उनका उद्देश्य पिछड़े देशोंको और अधिक पिछड़ा बना देना है, मुख्यरूपसे काले लोगोंको, जिससे कि गोरे लोगोंका आधिपत्य बना रहे' (अनलिसिस ऑफ लाइफ इन सोसाइटी)। यही कारण है कि विश्वबैंक तथा पश्चिमी देश भारतको इस शर्तपर कर्जा देते हैं कि वह अपनी जनसंख्याको अधिक-से-अधिक कम करे। कारण कि भारतकी जनसंख्या कम हो जायगी और वह कर्जदार हो जायगा तो उसपर उन देशोंका अधिकार हो जायगा!

वर्तमान वोट-प्रणालीका तो जनसंख्याके साथ सीधा सम्बन्ध है। इस प्रणालीके अनुसार सौ मूर्ख निन्यानबे बुद्धिमानोंको हरा सकते हैं, जबकि वास्तवमें सौ मूर्ख मिलकर भी एक बुद्धिमान्‌की समानता नहीं कर सकते। विचार करें कि समाजमें विद्वानोंकी संख्या अधिक है या मूर्खोंकी? सज्जनोंकी संख्या अधिक है या दुष्टोंकी? ईमानदारोंकी संख्या अधिक है या बेईमानोंकी? जिनकी संख्या अधिक होगी, वे ही वोटोंसे जीतेंगे और देशपर शासन करेंगे। जिस जातिकी जनसंख्या अधिक होगी, वही जाति देशपर राज्य करेगी।

पारिवारिक दृष्टिसे देखा जाय तो जिस परिवारमें बच्चोंकी संख्या अधिक होती है, वे परिवार अधिक उन्नत होते हैं। प्रो० कोलन क्लार्कने लिखा है कि 'अधिक बच्चोंवाले और कम बच्चोंवाले—दोनों प्रकारके परिवारोंका व्यापक सर्वेक्षण करनेपर यह निष्कर्ष निकला है कि छोटे परिवारवाले बच्चोंकी अपेक्षा बड़े परिवारवाले बच्चे जीवनमें अधिक सफल रहे हैं' (दैनिक टाइम्स १५.३.५९)

मनोवैज्ञानिकोंका कहना है कि जिस बच्चेको अपनेसे छोटे अथवा बड़े भाई-बहनके साथ खेलने-कूदने, रहने, परस्पर विनोद करने आदिका मौका नहीं मिलता, उसका भलीभाँति मानसिक विकास नहीं होता और वह कई नैतिक गुणोंसे वञ्चित रह जाता है। अगर अपनी और भाई-बहनकी उम्रके बीच बहुत फर्क हो तो (अपनी उम्रके नजदीक उम्रवाला भाई-बहन न मिलनेसे) उसमें मानसिक अवरोध (न्यूरोसिस) तक पैदा हो सकता है।

जिस समय स्त्री और पुरुष सन्तानोत्पत्तिके योग्य होते हैं, वही समय उनके यौवनका होता है और जिस समय वे सन्तानोत्पत्तिके अयोग्य होते हैं, वही समय उनके बुढ़ापेका होता है। तात्पर्य है कि सन्तान पैदा करनेकी शक्ति न रहनेसे मनुष्यकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ शिथिल हो जाती हैं। स्त्रीका शरीर तो मुख्यरूपसे सन्तानोत्पत्तिके लिये ही निर्मित हुआ है। युवावस्था आते ही उसका मासिक धर्म आरम्भ हो जाता है, जो हर महीने उसको गर्भवती होनेके योग्य बनाता रहता है। गर्भवती होनेके बाद उसके शरीरकी अधिकतम शक्ति बच्चेके पालन-पोषणमें लग जाती है। इसलिये बच्चेका पालन-पोषण जितना स्त्री कर सकती है, उतना पुरुष नहीं कर सकता। अगर स्त्री मर जाय तो पुरुष बच्चोंको सास, नानी या बहन आदिके पास भेज देता है। परन्तु पति मर जाय तो स्त्री स्वयं कष्ट उठाकर भी बच्चोंका पालन कर लेती है, उनको पढ़ा-लिखाकर तैयार कर देती है। कारण कि स्त्री मातृशक्ति है, उसमें पालन करनेकी विलक्षण योग्यता, स्नेह, कार्यक्षमता है। इसलिये कहा है—'**मात्रा समं नास्ति शरीरपोषणम्**' अर्थात् माताके समान शरीरका पालन-पोषण करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। माताके रूपमें स्त्रीको पुरुषकी अपेक्षा भी विशेष अधिकार दिया गया है—'**सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते**' (मनु० २। १४५) अर्थात् माताका दर्जा पितासे हजार गुना अधिक माना गया है। वर्तमानमें गर्भ-परीक्षण किया जाता है और गर्भमें कन्या हो तो गर्भ गिरा दिया जाता है। क्या यह मातृशक्तिका घोर अपमान नहीं है? क्या यह स्त्रीको समान अधिकार देना है? सन्तति-निरोधके द्वारा स्त्रीको केवल भोग्या बना दिया गया है। भोग्या स्त्री तो वेश्या होती है। क्या यह स्त्री-जातिका घोर अपमान नहीं है?

नोबेल पुरस्कारप्राप्त डॉ० एलेक्सिज कारेलने लिखा है कि 'सन्तानोत्पत्ति स्त्रीका कर्तव्य है और इस कर्तव्यका पालन करना स्त्रीकी पूर्णताके लिये अनिवार्य है' (मैन, दि अननौन)। इसी तरह यौन-मनोविज्ञानके विशेषज्ञ डॉ० ऑस्वाल्ड श्वार्जने लिखा है कि 'काम-वासनाका सम्बन्ध सन्तानोत्पत्तिसे है। स्त्रीके शरीरकी रचना मुख्यरूपसे गर्भधारण तथा सन्तान पैदा करनेके लिये ही हुई है। इसलिये अगर उसको सन्तानोत्पत्ति करनेसे रोका जायगा

तो इसका उसके शरीर और मनपर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, जिससे उसका व्यक्तित्व पराजय, अभाव तथा नीरसतासे युक्त हो जायगा' (दि साइकोलॉजी आफ सेक्स)। जो पुरुष स्त्रीसंग तो करता है, पर गर्भाधान नहीं करता, वह उस मूर्ख किसानकी तरह है, जो हल तो चलाता है, पर बीज नहीं डालता अथवा उस मूर्ख आदमीकी तरह है, जो केवल जीभके स्वादके लिये भोजन चबाता है, पर उसको गलेसे उतारनेके बदले बाहर थूक देता है!

डॉ० मेरी शारलीबने अपने चालीस वर्षोंके अनुभवके आधारपर लिखा है कि 'सन्तति-निरोधके उपायोंको काममें लेते रहनेका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि स्त्रीमें प्रसन्नताकी कमी, चिड़चिड़ापन, अनिद्रा, उद्विग्नता, हृदय एवं मस्तिष्ककी कमजोरी, रक्त-प्रवाहकी कमी, हाथ-पैरोंमें सुन्नता, मासिक धर्मकी अनियमितता आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं।' अन्य डॉक्टरोंने भी यह मत प्रकट किया है कि सन्तति-निरोधके उपायोंसे स्त्रीमें स्मरणशक्ति क्षीण होना, पागलपन, स्वभावमें उत्तेजना, मासिक धर्मका कष्टपूर्वक एवं अनियमितरूपसे आना, कमरमें दर्द होना, मुखकी शोभा तथा सौन्दर्य नष्ट होना आदि दोष उत्पन्न होते हैं। यदि वह स्त्री कभी गर्भवती होती हैं तो उसको गर्भावस्थामें तथा प्रसवकालमें अधिक कष्ट उठाना पड़ता है। डॉ० आर्नल्ड लोरेण्डने अपनी पुस्तक 'लाइफ शॉर्टनिंग हेबिट्स एण्ड रिजूविनेशन' में सन्तति-निरोधके उपायोंसे होनेवाली हानियोंका विस्तारसे वर्णन किया है। सन्तति-निरोधके उपायोंके विषयमें डॉक्टरोंका मत है कि 'इनमेंसे कोई भी उपाय विश्वसनीय और हानिरहित नहीं है।' इंग्लैण्डके डॉक्टर रेनियल ड्यूक्स आदिका मत है कि 'सन्तति-निरोधक गोलियोंके प्रयोगसे कैंसर-जैसा भयंकर रोग भी पैदा हो सकता है!'

तात्पर्य यह हुआ कि अपने सुखभोगके लिये किया हुआ सन्तति-निरोध आरम्भमें तो मूर्खतावश अमृतकी तरह प्रतीत होता है, पर परिणाममें वह विषकी तरह विनाशकारी होता है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
(१८। ३८)

'जो सुख इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे आरम्भमें अमृतकी तरह और परिणाममें विषकी तरह होता है, वह सुख राजस कहा गया है।'

परिवार-नियोजनके दुष्परिणाम भुगत चुके देशोंकी प्रतिक्रिया

परिवार-नियोजनके दुष्परिणाम भुगतनेके बाद अनेक देशोंने सन्तति-निरोधपर प्रतिबन्ध लगा दिया और जनसंख्या-वृद्धिके उपाय लागू कर दिये। जर्मनीकी सरकारने सन्तति-निरोधके उपायोंके प्रचार एवं प्रसारपर रोक लगा दी और विवाहको प्रोत्साहन देनेके लिये विवाह-ऋण देने शुरू कर दिये। सन् १९३५ में एक कानून बनाया गया, जिसके अनुसार एक बच्चा पैदा होनेपर इन्कम टैक्समें १५ प्रतिशत छूट, दो बच्चे होनेपर ३५ प्रतिशत छूट, तीन बच्चे होनेपर ५५ प्रतिशत छूट, चार बच्चे होनेपर ७५ प्रतिशत छूट, पाँच बच्चे होनेपर ९५ प्रतिशत छूट और छः बच्चे होनेपर इन्कम टैक्स माफ कर देनेकी बात कही गयी। इससे वहाँकी जनसंख्यामें पर्याप्त वृद्धि हुई।

फ्रांसकी सरकारने भी सन्तति-निरोधके उपायोंके प्रचार एवं प्रसारपर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया तथा जनसंख्याकी वृद्धिके लिये अनेक उपाय लागू कर दिये। अधिक सन्तान पैदा करनेवालोंके टैक्स कम कर दिये गये, उनका वेतन तथा पेंशन बढ़ा दी गयी, उनको अनेक प्रकारकी आर्थिक सहायता दी जाने लगी और पुरस्कार भी दिये जाने लगे।

इंग्लैण्डके प्रथम विश्वयुद्धके समय जनसंख्याकी कमीको देखते हुए स्वास्थ्य-मन्त्रालयके मुख्य चिकित्साधिकारी सर जार्ज न्यूमनने चेतावनी दी कि यदि जनसंख्याकी इस कमीको न रोका गया तो ब्रिटेनकी शक्ति चौथे दर्जेकी हो जायगी। इस कमीको दूर करनेके लिये 'लीग ऑफ नेशनल लाइफ' नामक समिति बनायी गयी। वहाँके अधिकारियोंने विचार किया कि यदि इंग्लैण्डको अपना अस्तित्व बनाये रखना है तो उसको जनसंख्याकी कमीपर तुरन्त रोक लगानी होगी। इसके लिये सन् १९४४में एक 'रायल कमीशन'की स्थापना की गयी, जिसका उद्देश्य जनसंख्याकी कमीको दूर करनेके विभिन्न उपायोंकी खोज करना था। सन् १९४९ में उसने अपनी रिपोर्टमें जनसंख्या-वृद्धिके अनेक उपाय लागू करनेकी सलाह दी; जैसे—अधिक सन्तानवाले लोगोंको आर्थिक सहायता दी जाय, उनपर टैक्स कम लगाये जायँ, ऐसे मकानोंका निर्माण किया जाय अथवा उनके निर्माणमें सहायता दी जाय, जिनमें सोनेके लिये तीनसे अधिक कमरे हों आदि-आदि। इसके अनुसार इंग्लैण्डमें कई कानून बनाये गये। लोग अधिक सन्तान पैदा करनेमें

रुचि लेने लगें—इसके लिये वहाँ विभिन्न प्रकारकी आर्थिक सहायता तथा पढ़ाई, आवास आदिकी सुविधाएँ दी जाने लगीं। परिणामस्वरूप वहाँ तीव्रगतिसे जनसंख्याकी वृद्धि हुई।

उपर्युक्त देशोंके सिवाय स्वीडन, इटली आदि देशोंने भी सन्तति-निरोधपर प्रतिबन्ध लगाया। इटलीमें तो यहाँतक कानून बना दिया गया कि सन्ततिनिरोधका प्रचार एवं प्रसार करनेवालेको एक वर्षकी कैद तथा जुर्माना किया जा सकता है। आश्चर्यकी बात है कि परिवारनियोजनके जिन दुष्परिणामोंको पश्चिमी देश भुगत चुके हैं, उनको देखनेके बाद भी भारत-सरकार इस कार्यक्रमको बढ़ावा दे रही है! '**विनाशकाले विपरीतबुद्धिः**'! *

★

* इस विषयमें और भी बहुत-सी बातें जाननेके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'महापापसे बचो' नामक पुस्तक पढ़नी चाहिये।

देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम

स्वराज्य-प्राप्तिके बाद भारतका बहुत ही पतन हुआ है। धर्मकी दृष्टिसे, आचरणकी दृष्टिसे, शरीरकी दृष्टिसे, हृदयके भावोंकी दृष्टिसे, चरित्रकी दृष्टिसे, शीलकी दृष्टिसे—सब दृष्टियोंसे बहुत पतन हुआ है। पहले भारतमें कितनी विलक्षण विद्याएँ थीं, कला-कौशल थे, पर अब वे सब नष्ट हो रहे हैं। इतना पतन पहले कभी नहीं हुआ था। देशभक्तोंने कितना बलिदान देकर अँग्रेजोंसे स्वराज्य प्राप्त किया था, पर स्वराज्य पानेके बाद देशकी यह दशा हुई कि लोग अँग्रेजोंके राज्यकी प्रशंसा करने लग गये, यह कहने लग गये कि अँग्रेजोंका राज्य अच्छा था। यह कितनी शर्मकी बात है!

भारतमें अपार प्राकृतिक सम्पत्ति है। परंतु इस प्राकृतिक सम्पत्तिका सदुपयोग करना तो दूर रहा, उलटे इसका विनाश किया जा रहा है। इतना ही नहीं, विनाशको उत्पादन माना जा रहा है! पशुओंके विनाशको 'मांसका उत्पादन' कहा जाता है! गर्भपातरूपी महापापको और मनुष्यकी उत्पादक-शक्तिके विनाशको 'परिवार-कल्याण' कहा जाता है! स्त्रियोंकी उच्छृङ्खलताको, मर्यादाके नाशको 'नारी-मुक्ति' कहा जाता है! पहले स्त्री घरकी स्वामिनी (गृहलक्ष्मी) होती थी, अब घरसे बाहर अनेक पुरुषोंकी दासता (नौकरी) करनेको 'नारीकी स्वाधीनता' कहा जाता है! इस प्रकार पराधीनताको स्वाधीनताका लक्षण माना जा रहा है! नैतिक पतनको उन्नतिकी संज्ञा दी जा रही है! पशुताको सभ्यताका चिह्न माना जा रहा है! धार्मिकताको साम्प्रदायिकता और धर्मविरुद्धको धर्म-निरपेक्ष कहा जा रहा है! बुद्धिकी बलिहारी है! '**विनाशकाले विपरीतबुद्धिः**'। गीताने इसको तामसी बुद्धि बताया है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(गीता १८। ३२)

'हे पार्थ! तमोगुणसे घिरी हुई जो बुद्धि अधर्मको धर्म और सम्पूर्ण चीजोंको उलटा मानती है, वह तामसी है।'

मन्दोदरी रावणसे कहती है—

काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा॥
निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥

(मानस, लंका० ३७। ४)

ईश्वर और प्रकृतिके विधानका तिरस्कार

ईश्वर और प्रकृतिके विधानके अनुसार सृष्टिके आरम्भसे ही जीवोंके जन्म और मरण होते चले आये हैं। जन्म-मरणका कार्य मनुष्यके हाथमें नहीं है, प्रत्युत ईश्वर और प्रकृतिके हाथमें है। जैसे किसी जीवको मार देना मनुष्यका अधिकार नहीं है, प्रत्युत पाप है, ऐसे ही किसी जीवको जन्म लेनेसे रोक देना भी मनुष्यका अधिकार नहीं है, प्रत्युत महापाप है। तात्पर्य है कि ईश्वर और प्रकृतिके विधानसे जन्म और मृत्युका नियन्त्रण अर्थात् जनसंख्याका नियन्त्रण अनादिकालसे स्वतः-स्वाभाविक होता आया है। जैसे, कुत्ते, बिल्ली, सूअर आदिके कई बच्चे होते हैं और वे परिवार-नियोजन भी नहीं करते, फिर भी उनसे पृथ्वी भरी हुई नहीं दिखायी देती; क्योंकि उनका नियन्त्रण ईश्वर और प्रकृतिके विधानसे स्वतः होता आया है। उनके विधानमें हस्तक्षेप करना, दखल देना पाप, अन्याय है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी तथा हिन्दूधर्मके अन्तर्गत आनेवाले जैन, सिख, आर्यसमाजी आदि कोई क्यों न हों, जो कृत्रिम उपायोंसे संतति-निरोध करते हैं, वे धर्मविरुद्ध, नीतिविरुद्ध, ईश्वरविरुद्ध, प्रकृतिविरुद्ध कार्य करते हैं, जिसका इस लोकमें और परलोकमें भयंकर दण्ड भोगना पड़ेगा!

एक बड़े दयालु और परहितमें लगे हुए साधु थे। उनको एक बार भगवान्‌ने दर्शन दिये और वर माँगनेके

लिये कहा तो साधुने कहा कि 'मैं जहाँ जाता हूँ, वहीं लोग कहते हैं कि महाराज, ऐसी कृपा करो कि वर्षा हो जाय। अत: आप ऐसा वर दें कि मैं जहाँ चाहूँ, वहीं वर्षा हो जाय।' भगवान्‌ने वर दे दिया। अब बाबाजी जगह-जगह खूब वर्षा करने लगे। अधिक वर्षा होनेसे जहरीले जीव-जन्तु अधिक पैदा हो गये, जिससे खेती नष्ट होने लगी। जहरीले पौधे पैदा हो गये। पशु बीमार हो गये। ज्वर फैलनेसे लोग बीमार होने और मरने लगे। बाबाजीने भगवान्‌को याद किया। भगवान्‌ने कहा कि वर्षाके बाद कुछ दिन सूर्य तपनेसे जलवायु शुद्ध हो जाती है; परंतु लगातार वर्षा होती रहनेसे विष फैल जाता है। अत: तुम्हारी मनचाही वर्षा होनेसे ही यह दशा हुई है! बाबाजीने भगवान्‌से कहा कि अब यह व्यवस्था आप ही सँभालो; क्योंकि कब कहाँ किस चीजकी आवश्यकता है, इसको आप ही पूरा जानते हैं—

मेरी चाही मत करो, मैं मूरख अग्यान।
तेरी चाही में प्रभो, है मेरा कल्यान॥

तात्पर्य है कि भगवान् और प्रकृतिके विधानसे जो होता है, वह ठीक ही होता है; क्योंकि उनकी दीर्घदृष्टि है, जबकि मनुष्यकी अल्पदृष्टि है। जब लोगोंके हितकी दृष्टिसे भी भगवान् और प्रकृतिका काम अपने हाथमें लेनेसे नुकसान हो गया, तो फिर जिनमें परहितका भाव नहीं है, प्रत्युत स्वार्थभाव है, उनके द्वारा भगवान् और प्रकृतिका काम अपने हाथमें लेनेसे कितना नुकसान होगा?

ईश्वर और प्रकृतिके द्वारा प्रदत्त उत्पादक-शक्तिका नाश कर देना महान् विनाशकारक है। सम्पूर्ण योनियोंमें सर्वश्रेष्ठ मनुष्ययोनिकी उत्पादक-शक्तिका ही निषेध करेंगे तो उन्नति कैसे होगी? परिणाममें पतन ही होगा। मनुष्योंमें भी हिन्दू जाति सर्वश्रेष्ठ है। इसमें बड़े विलक्षण-विलक्षण ऋषि-मुनि, संत-महात्मा, दार्शनिक, वैज्ञानिक, विचारक पैदा होते आये हैं। जब इस जातिके मनुष्योंको जन्म ही नहीं लेने देंगे, तो फिर ऐसे श्रेष्ठ, विलक्षण पुरुष कैसे और कहाँ पैदा होंगे?

विचार करें, एक ओर तो हम देशकी उन्नतिके लिये उत्पादन बढ़ाना चाहते हैं, दूसरी ओर हम उत्पादक-शक्तिपर रोक लगा रहे हैं! जब उत्पादक ही नहीं रहेगा, तो फिर उत्पादन कैसे होगा? जैसे भोजनालयमें ज्यादा आदमी आ जायँ तो हमारा काम ज्यादा रसोई बनाना है, न कि आदमियोंको आनेसे रोकना। ऐसे ही जनसंख्या बढ़ती है तो बुद्धिमानी इसी बातमें है कि उत्पादन अधिक बढ़ाया जाय, न कि मनुष्योंको जन्म लेनेसे रोक दिया जाय! आज भी खेतोंमें काम करनेवाले आदमियोंकी कमी हो रही है। जब एक या दो ही संतान होगी तो घरका काम ही पूरा नहीं होगा, फिर कौन खेती करेगा? कौन बूढ़े माँ-बापकी सेवा करेगा? कौन समाजकी सेवा करेगा? कौन सेनामें भरती होगा? कौन कला-कौशल सीखेगा और कौन सिखायेगा? कौन वैज्ञानिक बनेगा? कौन फैक्ट्रियाँ चलायेगा? कौन नया-नया आविष्कार करेगा? कौन शास्त्रोंका पण्डित बनेगा? परिणाममें क्या दशा होगी—इसपर विचार करनेसे रोंगटे खड़े हो जाते हैं!

मृत्युको कोई रोक नहीं सकता। जन्म लेनेके बाद मरना जितना अवश्यम्भावी है, उतना दूसरा कोई भी काम अवश्यम्भावी नहीं है। बालक जन्म लेता है तो वह बड़ा होगा कि नहीं होगा, पढ़ेगा कि नहीं पढ़ेगा; व्यापार, नौकरी आदि करेगा कि नहीं करेगा; डॉक्टर, इंजीनियर आदि बनेगा कि नहीं बनेगा, धनी होगा कि नहीं होगा, विवाह करेगा कि नहीं करेगा, उसकी सन्तान होगी कि नहीं होगी आदि सब बातोंमें सन्देह है, पर वह मरेगा कि नहीं मरेगा—इस बातमें कोई सन्देह नहीं है। वह मरेगा ही। ऐसी अवश्यम्भावी मौत हर समय खुली है। ऐसा कोई वर्ष, महीना, दिन, घण्टा, मिनट अथवा सेकेण्ड नहीं है, जिसमें कोई मनुष्य मरता न हो। बालक भी मरते हैं, जवान भी मरते हैं और बूढ़े भी मरते हैं। रोगी भी मरते हैं और नीरोग भी मरते हैं। मैंने सुना है कि एक गाँवमें किसीके दो लड़के थे। वे दोनों ही मर गये और आज बूढ़े माँ-बापको पानी पिलानेवाला भी कोई नहीं है! एकके छ:-सात लड़के थे, पर उनमें एक ही जीवित रहा, बाकी सब मर गये! विचार करें, जो एक-दो सन्तानके बाद नसबन्दी, ऑपरेशन करवा लेते हैं, उनकी सन्तान अगर प्रारब्धवश जीवित न रहे तो क्या दशा होगी!

शंका—जापान, इजरायल, ब्रिटेन आदि राष्ट्रोंकी जनसंख्या कम है, फिर भी वे बहुत उन्नत हैं और भारतकी जनसंख्या अधिक है, फिर भी यह बेरोजगारी, गरीबी आदिके कारण पिछड़ा हुआ है। अत: भारतके उत्थानके लिये जनसंख्याकी वृद्धिकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत जनसंख्याको कम करनेकी आवश्यकता है। कारण कि एक सिंह कई बकरियोंसे श्रेष्ठ होता है!

समाधान—मैं न तो जनसंख्या बढ़ानेका पक्षपाती हूँ और न जनसंख्या घटानेका ही पक्षपाती हूँ, प्रत्युत जनताका हित कैसे हो—इसका पक्षपाती हूँ। जनसंख्याको बढ़ानेकी इच्छा करना भी मूर्खता है और घटानेकी इच्छा

करना भी महामूर्खता है; क्योंकि यह काम मनुष्यका नहीं है, प्रत्युत ईश्वर अथवा प्रकृतिका है। जनसंख्याका बढ़ना देशके लिये घातक नहीं है, प्रत्युत संतति-निरोधके कृत्रिम उपायोंसे उसको कम करनेकी चेष्टा करना महान् घातक है। कारण कि इन उपायोंके प्रचार-प्रसारसे समाजमें प्रत्यक्ष रूपसे व्यभिचार, भोगपरायणता आदि दोषोंकी वृद्धि हो रही है और चरित्र, शील, संयम, लज्जा आदि गुणोंका ह्रास हो रहा है। जब लोगोंमें चरित्र, शील आदि नहीं रहेंगे, तो फिर देश बलवान् कैसे होगा? अँग्रेजीकी एक कहावत प्रसिद्ध है—

धन गया तो कुछ नहीं गया,
स्वास्थ्य गया तो कुछ गया,
चरित्र गया तो सब कुछ गया!

जापान आदि देशोंमें जो उन्नति देखनेमें आ रही है, वह कम जनसंख्याके कारण नहीं है, प्रत्युत वहाँके लोगोंकी कर्तव्यपरायणता, ईमानदारी, परिश्रम, देशभक्ति आदि गुणोंके कारण है*। हमारे देशके पिछड़ेपन (बेरोजगारी, गरीबी) का कारण जनसंख्याकी वृद्धि नहीं है, प्रत्युत अकर्मण्यता, चरित्रहीनता, आलस्य, प्रमाद, भ्रष्टाचार आदिकी वृद्धि है। परंतु यहाँ कर्मण्यता, सच्चरित्रता, संयम, त्याग आदिकी तरफ ध्यान न देकर जनसंख्याको कम करनेके उपायोंकी तरफ ही ध्यान दिया जा रहा है, जो कि इन दुर्गुणोंको बढ़ानेवाले हैं। यह देशके लिये बहुत घातक है! उदाहरणके लिये—सिनेमा, वीडियो, पत्र-पत्रिकाओं आदिके द्वारा लोगोंका चरित्र, शील भ्रष्ट किया जा रहा है, उनको व्यभिचार, हिंसा, चोरी आदिकी शिक्षा दी जा रही है। जगह-जगह शराबकी दूकानें खोलकर, पान-मसाला आदि वस्तुओंका प्रचार करके लोगोंको व्यसनी बनाया जा रहा है और उनका स्वास्थ्य नष्ट किया जा रहा है। विभिन्न रीतियोंसे लोगोंको काम कम करनेकी तथा खर्चा अधिक करनेकी ऐश—आराम करनेकी प्रेरणा की जा रही है; जैसे—सप्ताहमें पाँच दिन काम करो, अमुक समय दूकानें मत खोलो, आदि। कर्मचारी काम कम करें या न करें, पर उनको वेतन पूरा दिया जाता है, फिर वे काम अधिक करनेका परिश्रम क्यों करें? वे ताश खेलने, चाय तथा बीड़ी-सिगरेट पीने आदि व्यर्थके कार्योंमें अपना समय बरबाद करते हैं। सरकारी कार्यालयोंमें प्राय: घूसके बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। प्रत्येक क्षेत्रमें भ्रष्टाचार व्याप्त हो रहा है। जो रक्षक हैं, वे भक्षक बन रहे हैं। जिसको जिस पदके अनुसार काम करना आता ही नहीं, उसकी नियुक्ति उस पदपर केवल जातिके आधारपर कर दी जाती है। जो योग्य व्यक्ति हैं, उनको नौकरी नहीं मिलती। स्कूलोंमें बालकोंकी भरतीके लिये हजारों रुपयोंकी घूस ली जाती है और उसको 'डोनेशन' (दान) कहा जाता है! अध्यापकलोग स्कूलमें बालकोंको ठीक ढंगसे नहीं पढ़ाते और ट्यूशन लगानेके लिये प्रेरणा करते हैं।

देशी बाजरीके एक पौधेमें सौ-डेढ़ सौ सिट्टियाँ निकलती हैं। मैंने एक पौधेमें लगभग तीन सौ सिट्टियाँतक निकलनेकी बात सुनी है। परंतु सरकार किसानोंको देशी बाजरीका बीज न देकर विदेशी बाजरीका बीज देती है, जिसके पौधेमें केवल एक ही सिट्टा निकलता है! यह कैसी बुद्धि है—समझमें नहीं आता!

राज्य वही अच्छा होता है, जिसमें प्रजाके पास खूब धन-धान्य हो और जिसमें कोई वैरी न हो—'**अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यम्**' (गीता २। ८)। परन्तु आज अलग-अलग समुदायोंमें एक-दूसरेके प्रति द्वेष पैदा करके उनको आपसमें लड़ाया जाता है। दोनों एक-दूसरेके व्यक्तियोंका तथा उनकी सम्पत्तिका नाश करते हैं। परिणामस्वरूप देशकी जनता और सम्पत्तिका ही नाश होता है। जिस देशकी जनता और सम्पत्तिका नाश होता हो, वह देश सुखी और समृद्ध, धनी कैसे हो सकता है? उस देशमें सुख-शान्ति कैसे पनप सकते हैं?

—इस प्रकार अनेक ऐसे कारण हैं, जिनसे देशकी व्यवस्था बिगड़ रही है। ऐसी स्थितिमें क्या जनसंख्या कम करनेसे बेरोजगारी, गरीबी दूर हो जायगी? दूर नहीं होगी, उलटे देश निर्बल और पराधीन हो जायगा।

जनसंख्या कम होनेसे सब सिंहकी तरह बलवान् नहीं हो जायँगे। सिंहमें तो ब्रह्मचर्यकी शक्ति है, पर संतति-निरोधके उपायोंसे ब्रह्मचर्यका नाश हो रहा है; क्योंकि कृत्रिम संतति-निरोधके पीछे मूल भाव यही है कि भोग तो भोगें, ब्रह्मचर्यका नाश तो करें, पर संतान पैदा न हो! अगर संतति-निरोध करना ही हो तो ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये।

---

* विदेशोंमें जो कर्तव्यपरायणता, ईमानदारी आदि गुण दीख रहे हैं, वे धर्म और ईश्वरको लेकर नहीं हैं, प्रत्युत व्यावहारिक सुविधाको लेकर हैं, जिससे व्यवस्था ठीक बनी रहे। परन्तु ये गुण भी अधिक समयतक टिकेंगे नहीं; क्योंकि धर्म और ईश्वर सद्गुण-सदाचारके मूल हैं; इनके बिना सद्गुण-सदाचार टिक ही नहीं सकते—'मूलाभावे कुतः शाखा' 'मूलके बिना शाखा कहाँ?'

यद्यपि जनसंख्या बढ़ाना मेरा उद्देश्य नहीं है, तथापि अगर कोई ऐसा मान ले कि मैं जनसंख्या बढ़ानेकी बात कहता हूँ तो भी यह अनुचित नहीं है; क्योंकि शास्त्रोंमें (ब्रह्माजीकी) जनसंख्या बढ़ानेकी आज्ञा तो आती है, पर घटानेकी आज्ञा कहीं नहीं आती! दूसरी बात, आजकल वोटका जमाना है। सिंह भले ही बकरियोंसे श्रेष्ठ तथा बलवान् हो, पर वोट डाले जायँ तो संख्या कम होनेसे सिंह हार जायगा और बकरियोंका राज्य हो जायगा!

संतति-निरोधके कृत्रिम उपायोंके प्रचारसे स्त्री और पुरुष—दोनों इतने क्रूर, निर्दय, हिंसक हो गये हैं कि गर्भमें स्थित अपनी सन्तानकी भी हत्या (भ्रूणहत्या या गर्भपात) करनेमें हिचकते नहीं, जो कि ब्रह्महत्यासे भी दुगुना पाप है*! अपने गर्भको नष्ट करनेवाली स्त्री सर्पिणीकी तरह है, जो अपनी सन्तानको भी खा जाती है। गाय बहुत सौम्य होती है, पर वह भी किसीको अपने बछड़ेके पास नहीं आने देती। भेड़-बकरियोंका पालन करनेवाले बताते हैं कि किसी-किसी बच्चेको भेड़ त्याग देती है, पर यदि कोई कुत्ता उस त्यक्त बच्चेपर छोड़ा जाय तो भेड़ उस बच्चेको अपना लेती है और उसकी रक्षा करती है। परन्तु आजकलकी स्त्रियाँ गायकी तरह होना तो दूर रहा, सर्वथा मूर्ख (जड) कहलानेवाली भेड़की तरह भी नहीं रहीं और महान् जहरीली सर्पिणीकी तरह हो रही हैं! कहाँ तो कहा गया है कि माँके समान शरीरका पालन-पोषण करनेवाला दूसरा कोई नहीं है—'**मात्रा समं नास्ति शरीरपोषणम्**' और कहाँ आजकलकी स्त्रियोंको अपनी सन्तानका पालन-पोषण कष्टप्रद लग रहा है! यह कितने नैतिक पतनकी बात है!

शंका—विदेशोंमें प्रायः लोगोंका चरित्र गिर रहा है, वहाँ व्यभिचार, हिंसा आदि पाप भी अधिक हो रहे हैं, फिर भी वे देश उन्नत क्यों हैं?

समाधान—वह उन्नति भौतिक है। भौतिक उन्नति वास्तवमें उन्नति है ही नहीं। आध्यात्मिक उन्नति ही वास्तविक उन्नति है। जिनकी आध्यात्मिक दृष्टि नहीं है, प्रत्युत भौतिक दृष्टि है, उनको ही भौतिक उन्नति बड़ी दीखती है। विदेशोंमें भौतिक उन्नति होनेपर भी लोग भीतरसे दुःख, अशान्ति, संतापसे जल रहे हैं, जिससे वहाँ आत्महत्याएँ बढ़ रही हैं। भौतिक उन्नतिका परिणाम विनाश है। हमारे देशमें पहले राक्षसोंके पास बहुत भौतिक उन्नति थी, पर उन्होंने दूसरोंका भी नाश किया और खुद भी नष्ट हो गये। रावणने बहुत अधिक भौतिक उन्नति की थी, पर परिणाममें उसका, प्रजाका और भौतिक उन्नतिका विनाश ही हुआ। ऐसी दशा हुई कि पीछे रोनेवाला कोई नहीं रहा!

महाभारत (वनपर्व, अध्याय ९७) में एक कथा आती है। महर्षि अगस्त्यकी पत्नी लोपामुद्राने एक बार सुन्दर वस्त्राभूषणोंकी इच्छा प्रकट की। धन प्राप्त करनेके लिये अगस्त्यजी क्रमशः श्रुतर्वा, ब्रध्नश्व और त्रसदस्यु—तीन राजाओंके पास गये। परन्तु तीनों ही राजाओंके यहाँ उन्होंने आय और व्ययका हिसाब बराबर देखा। इनसे कुछ भी धन लेनेसे प्राणियोंको दुःख होगा—ऐसा विचार करके अगस्त्यजीने उन राजाओंसे कुछ नहीं लिया। तब उन राजाओंने आपसमें विचार करके कहा कि इल्वल नामक राक्षस सबसे अधिक धनवान् है; अतः धन प्राप्त करनेके लिये उसीके पास जाना चाहिये। फिर वे तीनों राजा महर्षि अगस्त्यके साथ इल्वलके पास गये। वहाँसे उनको बहुत-सा धन प्राप्त हुआ। तात्पर्य है कि आवश्यकतासे अधिक धन यक्ष-राक्षसोंके पास ही होता था, राजाओंके पास नहीं। इसलिये जो केवल धनका संग्रह तथा उसकी रक्षा करता है, वह यक्षवित्त कहलाता है। यक्षवित्तका पतन होता है—'**यक्षवित्तः पतत्यधः**' (श्रीमद्भा० ११। २३। २४)।

मातृशक्तिका तिरस्कार

वर्तमानमें नारी-जातिका महान् तिरस्कार, घोर अपमान किया जा रहा है। नारीके महान् मातृरूपको नष्ट करके उसको मात्र भोग्या स्त्रीका रूप दिया जा रहा है। भोग्या स्त्री तो वेश्या होती है। जितना आदर माता (मातृशक्ति) का है, उतना आदर स्त्री (भोग्या) का नहीं है। परंतु जो स्त्रीको भोग्या मानते हैं, स्त्रीके गुलाम हैं, वे भोगी पुरुष इस बातको क्या समझें? समझ ही नहीं सकते। विवाह माता बननेके लिये किया जाता है, भोग्या बननेके लिये नहीं। सन्तान पैदा करनेके लिये ही पिता कन्यादान करता है और संतान पैदा करने (वंशवृद्धि) के लिये ही वरपक्ष कन्यादान स्वीकार करता है। परंतु आज नारीको माँ बननेसे रोका जा रहा है और उसको केवल भोग्या

* यत्पापं ब्रह्महत्याया द्विगुणं गर्भपातने। प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति तस्यास्त्यागो विधीयते॥ (पाराशरस्मृति ४। २०)
'ब्रह्महत्यासे जो पाप लगता है, उससे दुगुना पाप गर्भपात करनेसे लगता है। इस गर्भपातरूपी महापापका कोई प्रायश्चित्त नहीं है, इसमें तो उस स्त्रीका त्याग कर देनेका ही विधान है।'

बनाया जा रहा है। यह नारी-जातिका कितना महान् तिरस्कार है!

नारी वास्तवमें मातृशक्ति है। वह स्त्री और पुरुष—दोनोंकी जननी है। वह पत्नी तो केवल पुरुषकी ही बनती है, पर माँ पुरुषकी भी बनती है और स्त्रीकी भी। पुरुष अच्छा होता है तो उसकी केवल अपने ही कुलमें महिमा होती है, पर स्त्री अच्छी होती है तो उसकी पीहर और ससुराल—दोनों कुलोंमें महिमा होती है। राजा जनकजी सीताजीसे कहते हैं—*'पुत्रि पबित्र किए कुल दोऊ'* (मानस, अयोध्या० २८७। १)

आजकल विवाहसे पहले कन्याके स्वभाव, सहिष्णुता, आस्तिकता, धार्मिकता, कार्य-कुशलता आदि गुणोंको न देखकर शारीरिक सुन्दरताको ही देखा जाता है। कन्याकी परीक्षा परिणामकी दृष्टिसे न करके तात्कालिक भोगकी दृष्टिसे की जाती है। यह विचार नहीं करते कि अच्छा स्वभाव तो सदा साथ रहेगा, पर सुन्दरता कितने दिनतक टिकेगी?* भोगी व्यक्तिको संसारकी सब स्त्रियाँ मिल जायँ, तो भी वह सन्तुष्ट नहीं हो सकता—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥

(श्रीमद्भा० ९। १९। १३)

'पृथ्वीपर जितने भी धान्य, स्वर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब-के-सब मिलकर भी उस पुरुषके मनको सन्तुष्ट नहीं कर सकते, जो कामनाओंके प्रहारसे जर्जर हो रहा है।'

ऐसे भोगी व्यक्ति ही नसबंदी, गर्भपात आदि महापाप करते हैं। विवाह वंशवृद्धिके लिये किया जाता है। यदि कन्या सद्‌गुणी-सदाचारी होगी तो विवाहके बाद उसकी सन्तान भी सद्‌गुणी-सदाचारी होगी; क्योंकि प्रायः माँका ही स्वभाव सन्तानमें आता है। एक मारवाड़ी कहावत है—*'नर नानाणे जाये है'* अर्थात् मनुष्यका स्वभाव उसके ननिहालपर जाता है। *'माँ पर पूत, पिता पर घोड़ा। बहुत नहीं तो थोड़ा थोड़ा।'*

कन्याका दान देनेमें भी उसका आदर है, तिरस्कार नहीं। यह दूसरे दानकी तरह नहीं है। दूसरे दानमें तो दान दी हुई वस्तुपर दाताका अधिकार नहीं रहता, पर कन्यासे संतान पैदा होनेके बाद माता-पिताका कन्यापर अधिकार हो जाता है और वे आवश्यकता पड़नेपर उसके घरका अन्न-जल ले सकते हैं। कारण कि कन्याके पतिने केवल पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये ही कन्या स्वीकार की है और उससे संतान पैदा होनेपर वह पितृऋणसे मुक्त हो जाता है। इसलिये गोत्र दूसरा होनेपर भी दौहित्र अपने नाना-नानीका श्राद्ध-तर्पण करता है, जो कि लोकमें और शास्त्रमें प्रसिद्ध है।

हमारे शास्त्रोंमें नारी-जातिको बहुत आदर दिया गया है। स्त्रीकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे शास्त्रने उसको पिता, पति अथवा पुत्रके आश्रित रहनेकी आज्ञा दी है, जिससे वह जगह-जगह ठोकरें न खाती फिरे, वेश्या न बन जाय†। स्त्री नौकरी करे तो यह उसका तिरस्कार है। उसकी महिमा तो घरमें रहनेसे ही है। घरमें वह महारानी है, पर घरसे बाहर वह नौकरानी है। घरमें तो वह एक पुरुषके अधीन रहेगी, पर बाहर उसको अनेक स्त्री-पुरुषोंके अधीन रहना पड़ेगा, अपनेसे ऊँचे पदवाले अफसरोंकी अधीनता, फटकार, तिरस्कार सहन करना पड़ेगा, जो कि उसके कोमल हृदय, स्वभावके विरुद्ध है। वह आदरके योग्य है, तिरस्कारके योग्य नहीं। पिता, पति अथवा पुत्रकी अधीनता वास्तवमें स्त्रीको पराधीन बनानेके लिये नहीं है, प्रत्युत महान् स्वाधीन बनानेके लिये है। घरमें बूढ़ी 'माँ' का सबसे अधिक आदर होता है, बेटे-पोते आदि सब उसका आदर करते हैं, पर घरसे बाहर बूढ़ी 'स्त्री' का सब जगह तिरस्कार होता है।

स्त्री बाहरका काम ठीक नहीं कर सकती और पुरुष घरका काम ठीक नहीं कर सकता। स्त्री नौकरी करती है तो वहाँ भी वह स्वेटरें बुनती है—घरका काम करती है! पुरुष शेखी बघारते हैं कि स्त्रियाँ घरमें क्या काम करती हैं, काम तो हम करते हैं, पैसा हम कमाते हैं! अगर पुरुष घरमें एक दिन भी रसोईका काम करे और बच्चेको गोदीमें रखे तो पता लग जायगा कि स्त्रियाँ

---

* द्रौपदीके अत्यन्त सुन्दर होनेके कारण ही जयद्रथ, कीचक और अठारह अक्षौहिणी सेना मारी गयी! इसलिये कहा गया है—

ऋणकर्ता पिता शत्रुः माता च व्यभिचारिणी। भार्या रूपवती शत्रुः पुत्रः शत्रुरपण्डितः॥ (चाणक्यनीति० ६। १०)

'कर्जदार पिता, व्यभिचारिणी माता, सुन्दर पत्नी और मूर्ख पुत्र—ये चारों शत्रुकी तरह (दुःख देनेवाले) हैं।'

†भ्रमन्संपूज्यते राजा भ्रमन्संपूज्यते द्विजः। भ्रमन्संपूज्यते योगी भ्रमन्ती स्त्री विनश्यति॥ (चाणक्यनीति० ६। ४)

'भ्रमण करनेसे राजा पूजित होता है, भ्रमण करनेसे ब्राह्मण पूजित होता है, भ्रमण करनेसे योगी पूजित होता है; परन्तु स्त्री भ्रमण करनेसे विनष्ट हो जाती है अर्थात् उसका पतन हो जाता है।'

क्या काम करती हैं! अगर स्त्री मर जाय तो बच्चोंको सास, नानी या बहन-बूआके पास भेज देते हैं; क्योंकि पुरुष उनका पालन नहीं कर सकते। परंतु पति मर जाय तो स्त्री कष्ट सहकर भी बच्चोंका पालन कर लेती है, उनको पढ़ा-लिखाकर योग्य बना देती है। कारण कि स्त्री मातृशक्ति है, उसमें पालन करनेकी योग्यता है। मैंने छोटे लड़के-लड़कियोंको देखा है। लड़कीको कोई चीज मिल जाय तो वह उसको जेबमें रख लेती है कि अपने छोटे बहन-भाइयोंको दूँगी, पर लड़केको कोई चीज मिले तो वह खा लेता है। कोई साधु, दरिद्र, भूखा आदमी बैठा हो तो कई पुरुष पाससे निकल जायँगे, उनके मनमें खिलानेका भाव आयेगा ही नहीं। परंतु स्त्रियाँ पूछ लेंगी कि बाबाजी, कुछ खाओगे? कारण कि स्त्रियोंमें दया है। उनको बालकोंका पालन-पोषण करना है, इसलिये भगवान्‌ने उनको ऐसा हृदय दिया है।

आजकल स्त्रियोंको पुरुषके समान अधिकार देनेकी बात कही जाती है, पर शास्त्रोंने माताके रूपमें स्त्रीको पुरुषकी अपेक्षा भी विशेष अधिकार दिया है—

सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥

(मनु० २। १४५)

'माताका दर्जा पितासे हजार गुना अधिक माना गया है।'

सर्ववन्द्येन यतिना प्रसूर्वन्द्या प्रयत्नतः॥

(स्कन्दपुराण, काशी० ११। ५०)

'सबके द्वारा वन्दनीय संन्यासीको भी माताकी प्रयत्नपूर्वक वन्दना करनी चाहिये।'

वर्तमानमें गर्भ-परीक्षण किया जाता है और गर्भमें कन्या हो तो गर्भ गिरा दिया जाता है, क्या यह स्त्रीको समान अधिकार दिया जा रहा है?

'माँ' शब्द कहनेसे जो भाव पैदा होता है, वैसा भाव 'स्त्री' कहनेसे नहीं पैदा होता। इसलिये श्रीशंकराचार्यजी महाराज भगवान् श्रीकृष्णको भी 'माँ' कहकर पुकारते हैं—'**मातः कृष्णाभिधाने**' (प्रबोध० २४४)। उपनिषदोंमें '**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव**' कहकर सबसे पहले माँकी सेवा करनेकी आज्ञा दी गयी है। '**वन्दे मातरम्**' में भी माँकी ही वन्दना की गयी है। हिन्दूधर्ममें मातृशक्तिकी उपासनाका विशेष महत्त्व है। ईश्वरकोटिके पाँच देवताओंमें भी मातृशक्ति (भगवती) का स्थान है। देवीभागवत, दुर्गासप्तशती आदि अनेक ग्रन्थ मातृशक्तिपर ही रचे गये हैं। जगत्‌की सम्पूर्ण स्त्रियोंको मातृशक्तिका ही रूप माना गया है—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।

(दुर्गासप्तशती ११। ६)

परंतु भोगीलोग मातृशक्तिको क्या समझें? समझ ही नहीं सकते। वे तो उसको भोग्या ही समझते हैं।

शास्त्रोंमें स्त्रियोंको पुनर्विवाह न करके विधवा-धर्मका पालन करनेके लिये कहा है तो यह उनका आदर है, तिरस्कार नहीं। धर्म-पालनके लिये कष्ट सहना तिरस्कार नहीं है, प्रत्युत तितिक्षा, तपस्या है। तितिक्षु, तपस्वी व्यक्तिका समाजमें बड़ा आदर होता है। पुरुष स्त्रीका तिरस्कार करे, उसको दुःख दे, उसको तलाक दे, उसको मारे-पीटे—ऐसा शास्त्रोंमें कहीं नहीं कहा गया है। इतना ही नहीं, स्त्रीसे कोई बड़ा अपराध भी हो जाय, तो भी उसको मारने-पीटनेका विधान नहीं है, प्रत्युत वह क्षम्य है।

भीष्मजी कौरवसेनाकी रक्षा करनेवाले थे—'**अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्**' (गीता १। १०); परंतु दुर्योधन उनकी भी रक्षा करनेके लिये अपनी सेनाको आदेश देता है—'**भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि**' (गीता १। ११)। कारण कि दुर्योधन जानता था कि शिखण्डीके सामने आनेपर भीष्मजी उसपर कभी शस्त्र नहीं चलायेंगे, भले ही अपने प्राण चले जायँ! शिखण्डी पहले स्त्री था, वर्तमानमें नहीं; परन्तु वर्तमानमें पुरुषरूपसे होनेपर भी भीष्मजी उसको स्त्री ही मानते हैं और उसपर शस्त्र नहीं चलाते, प्रत्युत मरना स्वीकार कर लेते हैं—यह स्त्री-जातिका कितना सम्मान है!

थोड़े वर्ष पहलेकी बात है। एक बार जोधपुरके राजा सर उम्मेदसिंहजी और बीकानेरके राजा सर शार्दूलसिंहजी शिकारके लिये जंगल गये। वहाँ शार्दूलसिंहजीकी गोली पैरमें लगनेसे एक सिंहनी घायल हो गयी। घायल होकर वह गुर्राती हुई उनकी तरफ आयी तो उम्मेदसिंहजीने कहा—'हीरा! यह क्या किया? यह तो मादा है!' पता लगनेपर उन्होंने पुनः उसपर गोली नहीं चलायी और खुद चेष्टा करके उससे अपना बचाव किया। यह नारी-जातिका कितना सम्मान है!

शास्त्रोंने पुरुषोंके लिये तो सन्ध्योपासना, अग्निहोत्र, यज्ञ, वेदपाठ आदि कई कर्तव्य-कर्म बताये हैं, पर स्त्रियोंको उन सब कर्तव्य-कर्मोंसे, पितृऋण आदि ऋणोंसे

मुक्त रखा है* और उसको पतिके आधे पुण्यकी भागीदार बनाया है। परंतु शास्त्रको न जाननेवाले इस विषयको क्या समझें? आज स्त्रियोंको उनके कर्तव्यसे विमुख करके अनेक झंझटोंमें फँसाया जा रहा है। शास्त्रोंने केवल पुरुषको ही यज्ञोपवीत धारण करके सन्ध्योपासना आदि विशेष कर्मोंको करनेकी आज्ञा दी है। परंतु आज स्त्रीको यज्ञोपवीत देकर उसको उलटे आफतमें डाला जा रहा है! क्या यह बुद्धिमानीकी बात है? पत्नी पतिके द्वारा किये गये पुण्य-कर्मोंकी भागीदार तो होती है, पर पाप-कर्मोंकी भागीदार नहीं होती। उसको मुफ्तमें आधा पुण्य मिलता है। समाजमें भी देखा जाता है कि अगर डॉक्टर, पण्डित आदिकी पत्नी अनपढ़ हो तो भी वह डॉक्टरनी, पण्डितानी आदि कहलाती है! वास्तवमें आज अभिमानको मुख्यता दी जा रही है, इसलिये नम्रता बढ़ानेकी बात न कहकर अभिमान बढ़ानेकी बात ही कही और सिखायी जा रही है, जो कि पतनका हेतु है। 'पुरुष ऐसा करते हैं तो हम क्यों न करें? हम पीछे क्यों रहें?'—यह केवल अभिमान बढ़ानेकी बात है। अभिमान जन्म-मरणका मूल और अनेक प्रकारके क्लेशों तथा समस्त शोकोंको देनेवाला है—

संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥

(मानस, उत्तर० ७४। ३)

अभिमानी व्यक्ति शास्त्रोंकी बातोंको क्या समझेगा? समझ ही नहीं सकता।

संसारके हितके लिये मातृशक्तिने बहुत काम किया है। रक्तबीज आदि राक्षसोंका संहार भी मातृशक्तिने ही किया है। मातृशक्तिने ही हमारी हिन्दू-संस्कृतिकी रक्षा की है। आज भी प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि हमारे व्रत-त्योहार, रीति-रिवाज, माता-पिताके श्राद्ध आदिकी जानकारी जितनी स्त्रियोंको रहती है, उतनी पुरुषोंको नहीं रहती। पुरुष अपने कुलकी बात भी भूल जाते हैं, पर स्त्रियाँ दूसरे कुलकी होनेपर भी उनको बताती हैं कि अमुक दिन आपकी माता या पिताका श्राद्ध है, आदि। मन्दिरोंमें, कथा-कीर्तनमें, सत्संगमें जितनी स्त्रियाँ जाती हैं, उतने पुरुष नहीं जाते। कार्तिक-स्नान, व्रत, दान, पूजन, रामायण आदिका पाठ जितना स्त्रियाँ करती हैं, उतना पुरुष नहीं करते। तात्पर्य है कि स्त्रियाँ हमारी संस्कृतिकी रक्षा करनेवाली हैं। अगर उनका चरित्र नष्ट हो जायगा तो संस्कृतिकी रक्षा कैसे होगी? एक श्लोक आता है—

असंतुष्टा द्विजा नष्टाः संतुष्टाश्च महीभुजः।
सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलाङ्गनाः॥

(चाणक्यनीति० ८। १८)

'संतोषहीन ब्राह्मण नष्ट हो जाता है, संतोषी राजा नष्ट हो जाता है, लज्जावती वेश्या नष्ट हो जाती है और लज्जाहीना कुलवधू नष्ट हो जाती है अर्थात् उसका पतन हो जाता है।'

वर्तमानमें संतति-निरोधके कृत्रिम उपायोंके प्रचार-प्रसारसे स्त्रियोंमें लज्जा, शील, सतीत्व, सच्चरित्रता, सदाचरण आदिका नाश हो रहा है। परिणामस्वरूप स्त्री-जाति केवल भोग्य वस्तु बनती जा रही है। यदि स्त्री-जातिका चरित्र भ्रष्ट हो जायगा तो देशकी क्या दशा होगी? आगे आनेवाली पीढ़ी अपने प्रथम गुरु माँसे क्या शिक्षा लेगी? स्त्री बिगड़ेगी तो उससे पैदा होनेवाले बेटी-बेटा (स्त्री-पुरुष) दोनों बिगड़ेंगे। अगर स्त्री ठीक रहेगी तो पुरुषके बिगड़नेपर भी संतान नहीं बिगड़ेगी। अत: स्त्रियोंके चरित्र, शील, लज्जा आदिकी रक्षा करना और उनको अपमानित, तिरस्कृत न होने देना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है।

धर्मका तिरस्कार

धर्मके बिना नीति विधवा है और नीतिके बिना धर्म विधुर है। अत: धर्म और राजनीति दोनों साथ-साथ होने चाहिये, तभी शासन बढ़िया होता है। परंतु आज धर्मका तिरस्कार हो रहा है। इस कारण देशमें तीन पाप तेजीसे बढ़ रहे हैं—व्यभिचार, हिंसा और चोरी। इन तीनोंके बढ़नेसे देशका भयंकर पतन हो रहा है!

(१) व्यभिचारकी वृद्धि—संतति-निरोधके कृत्रिम उपायोंके प्रचार-प्रसारसे महान् व्यभिचार बढ़ रहा है और कुँआरे लड़के, कुँआरी लड़कियाँ और विधवाएँ—सबका भयंकर पतन हो रहा है। कुँआरी लड़कियाँ और विधवाएँ भी गर्भवती हो रही हैं; क्योंकि उनको गर्भ रोकने अथवा गिरानेकी छूट मिल गयी! लोगोंमें सच्चरित्रता, सदाचार, शील, लज्जा आदिका महान् ह्रास हो रहा है।

जिस गतिसे संतति-निरोधके उपायोंका प्रसार हो रहा है, ऐसे होता रहा तो समाजमें बहुत अधिक व्यभिचार

---

*वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः। पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥ (मनु० २। ६७)

'स्त्रियोंके लिये वैवाहिक विधिका पालन ही वैदिक संस्कार (यज्ञोपवीत), पतिकी सेवा ही गुरुकुलवास (वेदाध्ययन) और गृहकार्य ही अग्निहोत्र कहा गया है।'

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥ (मानस, अरण्य० ५। ५)

फैल जायगा। जिस पुरुषने नसबंदी करवा ली, उसके लिये कोई परस्त्री (विवाहिता, अविवाहिता, विधवा) बाकी नहीं रहेगी और जिस स्त्रीने ऑपरेशन करवा लिया, उसके लिये कोई परपुरुष बाकी नहीं रहेगा। न कोई मर्यादा रहेगी, न कोई भय रहेगा। अभी पुराने धार्मिक संस्कारोंके प्रवाहके कारण उतना पतन देखनेमें नहीं आ रहा है, पर यह प्रवाह कबतक रहेगा? ठेलेको धक्का देनेसे वह कुछ दूरतक अपने-आप चलता रहता है, फिर रुक जाता है। इसी तरह जब धार्मिक संस्कारोंका प्रवाह रुक जायगा, तब स्त्रियों और पुरुषोंमें कोई मर्यादा नहीं रहेगी। माँका पता है, पर बापका पता ही नहीं—ऐसी दशा तो विदेशोंमें अभी सुननेमें आ ही रही है! व्यभिचार फैलनेसे देशकी क्या दशा होगी, कितना अनर्थ होगा—इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। परिणाम यह होगा कि पशु और मनुष्यमें कोई फर्क नहीं रहेगा। जैसे कुत्ता, गधा, सूअर, ऊँट, चूहा, बिल्ली आदि हैं, ऐसे ही मनुष्य भी हो जायँगे। जैसे कुत्ते, गधे आदिको हम कोई अच्छी बात समझाना चाहें तो नहीं समझा सकते, ऐसे ही उन मनुष्यरूपी पशुओंको भी कोई अच्छी बात नहीं समझा सकेंगे।

संतति-निरोधके मूलमें केवल सुखभोगकी इच्छा विद्यमान है। अपनी संतान इसलिये नहीं सुहाती कि वह हमारे सुखभोगमें बाधक है। ऐसी स्थितिमें अपने माँ-बाप, भाई-बहन कैसे सुहायेंगे? जब चोर चोरी करने जाता है, तब उसको दूसरा कोई आदमी नहीं सुहाता। व्यभिचारीको कोई स्त्री मिलती है, तब वह भी यही चाहता है कि पासमें दूसरा कोई आदमी न रहे*। इसी तरह जब मनुष्योंमें सुखभोगकी इच्छा बढ़ जायगी, तब उनको दूसरा कोई आदमी सुहायेगा नहीं, इतना ही नहीं, उनको त्यागी साधु-संत भी नहीं सुहायेंगे, अच्छी शिक्षा देनेवाले और संयम, मर्यादा, धर्मकी बात कहनेवाले भी नहीं सुहायेंगे; क्योंकि वे सुखभोगसे, व्यभिचारसे रोकते हैं। अपने सुखभोगमें बाधक समझकर भोगीलोग उनको भी मारने लगेंगे। गलती मत मिटाओ, गलती बतानेवालेको मिटाओ—ये प्रस्ताव पारित किये जायँगे! जैसे, बच्चोंकी सभा हो तो वे यही प्रस्ताव पारित करेंगे कि सब स्कूलोंको बंद करो; ये एक तरहके जेलखाने हैं। कारण कि पढ़ाईमें परतन्त्रता होती है, स्वतन्त्रतामें बड़ी बाधा लगती है!

(२) **हिंसाकी वृद्धि**—देशमें हिंसा बहुत बढ़ रही है। प्राप्त समाचारोंके अनुसार इस समय देशमें तीन हजार छः सौ कसाईखाने हैं। इनमें दस बड़े यान्त्रिक (मशीनी) कसाईखाने हैं। इन कसाईखानोंमें लगभग ढाई लाख पशु प्रतिदिन कटते हैं। इन पशुओंमें लगभग पचास हजार गायें प्रतिदिन कटती हैं। प्रतिवर्ष हजारों टन मांस निर्यात होता है। इसके सिवाय विभिन्न क्षेत्रोंमें हिंसा बढ़ रही है। मनुष्योंकी हत्याओंमें भी वृद्धि हो रही है। खेतोंमें जहरीली दवाएँ छिड़की जाती हैं, जिससे अनुपयोगी समझे जानेवाले जीवोंके साथ-साथ उपयोगी जीव भी मर जाते हैं। वास्तवमें भगवान्‌की सृष्टिमें कोई जीव अनुपयोगी है ही नहीं। परंतु लोभसे अन्धे हुए मनुष्यको दूसरे जीवकी उपयोगिता दिखायी देती ही नहीं!

देशमें जिस गतिसे हिंसा बढ़ रही है, ऐसे बढ़ती रही तो एक समय पशुधन नष्ट हो जायगा और मांसाहारी मनुष्य मनुष्योंको ही खाने लगेंगे! ऐसे मनुष्य ही राक्षस होते हैं। रामावतारके समय भी ऐसी दशा हुई थी कि राक्षसोंने मुनियोंको खा-खाकर उनकी हड्डियोंके ढेर लगा दिये थे—

अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया॥
जानतहूँ पूछिअ कस स्वामी। सबदरसी तुम्ह अंतरजामी॥
निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुबीर नयन जल छाए॥

(मानस, अरण्य० ९। ३-४)

राक्षसोंने गृहस्थोंको न खाकर मुनियोंको ही क्यों खाया? ऐसा अनुमान होता है कि घास खानेवालेके मांसकी अपेक्षा अन्न खानेवालेका मांस बढ़िया होना चाहिये। सिंहके मुखमें भी मनुष्यका मांस लग जाय तो वह नरभक्षी बन जाता है। मनुष्योंमें भी जो संयमी, ब्रह्मचारी और साधु पुरुष हैं, उनका मांस ज्यादा बढ़िया होना चाहिये; क्योंकि संयमी पुरुषकी हर चीज बढ़िया होती है। आजकल भी हम देखते हैं कि जो बछड़े बैल बना दिये जाते हैं, उनके मांसमें वह शक्ति नहीं होती, जो बैल न बनाये हुए बछड़ोंके मांसमें रहती है। अतः बैल बनाये हुए बछड़ोंका मांस मुस्लिम देशोंमें सस्ता बिकता है और बिना बैल बनाये हुए बछड़ोंका मांस बहुत मँहगा बिकता है। इसलिये राक्षसोंने गृहस्थोंको न खाकर संयमी मुनियोंको खाया। जितने भी श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, वे संयमी ही होते हैं। संयमी पुरुषोंके नाशसे कितना महान् पतन होगा!

(३) **चोरीकी वृद्धि**—देशमें चोरी भी बहुत बढ़ रही है। सरकारने बहुत ज्यादा टैक्स लगा दिये और ऐसे कानून बना दिये, जिनसे बचनेके लिये लोगोंने चोरी करनेके तरह-तरहके रास्ते खोज लिये हैं। वकील भी टैक्सकी चोरीके तरीके बताते हैं। सरकारने ज्यादा टैक्स इसलिये लगाये कि धनियोंका धन हमारे हाथमें आ

*सुवरण को ढूँढ़त फिरत, कवि व्यभिचारी चोर। चरण धरत धड़कत हियो, नेक न भावत शोर॥

जाय। परंतु धन तो मिला नहीं, उलटे धनीलोगोंको बेईमान बना दिया! धनीलोग भी ऐसे होशियार हैं कि सरकार फिरे डाल-डाल तो ये फिरें पात-पात! सरकार कितने ही कानून बनाये, पर ये कोई-न-कोई उपाय निकाल ही लेते हैं। इस तरह सरकार और जनता—दोनोंमें ही अनैतिकता, अधर्म, अन्याय बढ़ रहा है।

जिस गतिसे चोरी बढ़ रही है, ऐसे बढ़ती रही तो समाजमें लूट-मार शुरू हो जायगी। जैसे बड़ी मछली छोटी मछलीको खा जाती है, ऐसे ही बलवान् लोग निर्बलोंको लूटने लगेंगे। चोर-डाकुओंकी संख्या अधिक होनेसे उनका वोट अधिक होगा, जिससे राज्य भी ऐसे ही लोगोंके हाथमें चला जायगा। अभी भी ऐसी दशा हो रही है कि किरायेदार मकानका मालिक बन बैठता है, खेत बोनेवाला खेतका मालिक बन बैठता है, आदि-आदि। प्राचीन कालमें एक समय महाराज अश्वपतिने कहा था—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

(छान्दोग्य० ५। ११। ५)

'मेरे राज्यमें न तो कोई चोर है, न कोई कृपण है, न कोई मदिरा पीनेवाला है, न कोई अनाहिताग्नि (अग्निहोत्र न करनेवाला) है, न कोई अविद्वान् है और न कोई परस्त्रीगामी ही है, फिर कुलटा स्त्री (वेश्या) तो होगी ही कैसे?'

परंतु अब इससे उलटी स्थिति हो रही है अर्थात् चोर, कृपण, मदिरा पीनेवाले, अनाहिताग्नि, अविद्वान्, परस्त्रीगामी और वेश्या—इनकी ही मुख्यता हो रही है।

व्यभिचार, हिंसा और चोरी—इन तीनोंके बढ़नेका परिणाम बहुत भयंकर होगा। कितना भयंकर होगा—इसका हम अनुमान नहीं कर सकते। शास्त्रमें आया है—

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।
त्रीणि तत्र प्रजायन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्॥

(स्कन्दपुराण, मा० के० ३। ४८)

'जहाँ अपूज्य व्यक्तियोंका पूजन होता है और पूज्य व्यक्तियोंका तिरस्कार होता है, वहाँ तीन बातें अवश्य होती हैं—अकाल, मृत्यु और भय।'

भूमण्डलपर भारत-भूमिका एक विशेष प्रभाव है, जो प्रत्यक्ष देखनेमें नहीं आता। इस भूमिमें ऋषि-मुनियोंकी बहुत शक्ति है। यह देश दुनियामात्रका जीवन है, हित करनेवाला है। अतः भारतके पतनसे भूमण्डलके सब लोगोंका पतन है, अहित है। अभी जो हो रहा है, यह एक भयंकर महाभारतकी, महान् संहारकी तैयारी है। इसके बिना सुधारका, शान्तिका कोई उपाय भी नहीं दीखता! जब लोगोंका भीषण संहार होगा, शक्ति और सम्पत्तिका विनाश होगा, तभी शान्तिकी स्थापना हो सकेगी।

——★——

घोर पापोंसे बचो

अशुद्ध प्रकृतिवाले संसारी मनुष्योंको संसारमें ही सुख दीखता है। संसारके सुखसे बढ़कर भी कोई पारमार्थिक सुख है—इस बातको वे बिलकुल भी नहीं जानते। ऐसे आसुरी स्वभाववाले मनुष्य सांसारिक भोगोंको लेकर कहते हैं कि जो कुछ है, बस, इतना ही है—'**कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः**' (गीता १६। ११), '**नान्यदस्तीति वादिनः**' (गीता २। ४२)। परन्तु शुद्ध प्रकृतिवाले पारमार्थिक साधकोंको परमात्मामें ही सुख दीखता है और उस सुखसे बढ़कर भी कोई सुख है—ऐसा उनके माननेमें ही नहीं आता—'**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः**' (गीता ६। २२)।

संसारी मनुष्य और साधक—दोनोंमें फर्क यह है कि संसारी मनुष्य पारमार्थिक सुखको जानते ही नहीं, जबकि साधक पारमार्थिक सुखके साथ-साथ सांसारिक सुखको भी जानते हैं। जैसे, बालक केवल बालकपनेको ही देखता है, जवानी तथा बुढ़ापेका उसको अनुभव नहीं है। बालकसे भी जवान ज्यादा जानता है; क्योंकि उसने बालकपनेका भी अनुभव किया है और जवानीका भी। इसलिये बालक उसको ठगना चाहे तो वह उसकी ठगाईमें नहीं आता। जवानसे भी बूढ़ा ज्यादा जानता है; क्योंकि उसने बालकपना, जवानी और बुढ़ापा—तीनोंका अनुभव किया है। मनुष्य जिस विषयको नहीं जानता, उस विषयमें वह बालक कहलाता है*। कारण कि बालक नाम अनजान (बेसमझ) का है और अनजान होनेसे ही उसको शिक्षा दी जाती है। इस दृष्टिसे संसारमें रचे-पचे लोग बालक हैं। उनसे साधक ज्यादा जानता है

* सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। (गीता ५। ४)
'बालक अर्थात् बेसमझ लोग सांख्ययोग और कर्मयोगको अलग-अलग फलवाले कहते हैं, न कि पण्डितजन।'

और साधकसे भी सिद्ध, तत्त्वज्ञ महात्मा ज्यादा जानता है। तत्त्वज्ञ महात्मा ही वास्तवमें पूर्ण जानकार होता है*; क्योंकि पहले वह साधारण मनुष्योंमें रहा, फिर उसने अनेक ग्रन्थोंका अध्ययन किया, सत्संग किया, साधन किया और फिर तत्त्वका अनुभव किया। इस प्रकार वह आरम्भसे अन्ततक सबको पूरा जानता है। वह संसारको भी पूरा जानता है और परमात्मतत्त्वको भी†।

संसारी मनुष्य सांसारिक विषयको ही पूरा नहीं जानते, पारमार्थिक विषयको जानना तो दूर रहा! कारण कि संसारका ज्ञान संसारसे अलग होनेपर ही होता है और परमात्माका ज्ञान परमात्मासे अभिन्न होनेपर ही होता है। अशुद्ध प्रकृतिका ज्ञान अशुद्ध प्रकृतिसे अलग होनेपर ही होता है। अशुद्ध प्रकृतिसे अलग हुए बिना मनुष्य शुद्ध प्रकृतिको आदर दे ही नहीं सकता। दूसरा बड़ा भारी फर्क यह है कि संसारी (अशुद्ध प्रकृतिवाले) लोग पारमार्थिक (शुद्ध प्रकृतिवाले) साधकोंसे वैर करते हैं‡; परन्तु पारमार्थिक साधक संसारी लोगोंसे वैर करते ही नहीं§।

गर्भपात, नसबन्दी आदिके द्वारा कृत्रिम सन्तति-निरोध करना अशुद्ध प्रकृतिवाले मनुष्योंका काम है। अशुद्ध प्रकृति ज्यादा होनेपर फिर मिटनी कठिन होती है। जैसे दुर्व्यसनोंकी ज्यादा आदत पड़ जाय तो उनको छोड़ना बड़ा कठिन होता है, ऐसे ही कृत्रिम उपायोंसे सन्तति-निरोध करनेकी आदत या रीति पड़ जायगी तो उसको हटाना बड़ा कठिन हो जायगा!$ यह आदत मनुष्यको ही नष्ट कर देगी, मनुष्यताको तो नष्ट करेगी ही! कारण कि नाशकी तरफ बुद्धि लगेगी तो फिर उधर-ही-उधर चलेगी, नाशकी तरफ ही बुद्धिका विकास होगा, नाश करनेके नये-नये तरीकोंका आविष्कार होगा। इसका परिणाम भयंकर अनर्थकारी होगा।

देशमें आज भोगेच्छाका ताण्डव नृत्य हो रहा है! सन्तति-निरोधके पीछे भी भोगेच्छाके सिवाय दूसरा कोई कारण नहीं है। भोगी व्यक्ति ज्यादा होनेसे पुरुषार्थियोंकी कमी हो रही है। पुरुषार्थी व्यक्तियोंकी कमीसे उत्पादन कम और खर्चा अधिक हो रहा है; क्योंकि सांसारिक आवश्यकताएँ भोगियोंको ही ज्यादा होती हैं, त्यागियोंको नहीं। खर्चा अधिक होनेसे देश कर्जदार होता चला जा रहा है।

वास्तवमें भारतके लिये परिवार-नियोजनकी आवश्यकता है ही नहीं। कारण कि भारतमें अपार प्राकृतिक सम्पदा है। भारत-भूमिपर सूर्यकी पूर्ण किरणें पड़ती हैं। अत: भारतमें छ: ऋतुएँ होती हैं और अनेक प्रकारकी जलवायु मिलती है। ऐसा अन्य किसी देशमें नहीं मिलता। भारतमें जितने प्रकारकी ओषधियाँ, जड़ी-बूटियाँ, वृक्ष, खनिज पदार्थ, अन्न, फल, सब्जियाँ आदि पैदा होती हैं, उतनी अन्य किसी देशमें पैदा नहीं होतीं। जितनी विद्याएँ, कला-कौशल भारतमें मिलते हैं, उतने दूसरे किसी देशमें नहीं मिलते। एक-एक विषयपर जितने ग्रंथ यहाँ पाये जाते हैं, उतने अन्य किसी देशमें नहीं पाये जाते। आविष्कार करनेके लिये भारतके पास बहुत सामग्री है। भारतमें जैसे शूरवीर, सतियाँ, योगी, त्यागी सन्त, सिद्ध पुरुष, ऋषि-मुनि, तपस्वी, राजा, संयमी पुरुष हुए

---

*भगवान्‌ने तत्त्वज्ञ महात्माको 'सर्ववित्' (सर्वज्ञ) कहा है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ (गीता १५। १९)

'हे भरतवंशी अर्जुन! इस प्रकार जो मोहरहित मनुष्य मुझे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ सब प्रकारसे मेरा ही भजन करता है।'

†या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने:॥ (गीता २। ६९)

'सम्पूर्ण मनुष्योंकी जो रात (परमात्मासे विमुखता) है, उसमें संयमी मनुष्य जागता है, और जिसमें साधारण मनुष्य जागते हैं (भोगोंमें लगे रहते हैं), वह तत्त्वको जाननेवाले मुनिकी दृष्टिमें रात है।'

‡मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम्। लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति॥

(नारदपुराण, पूर्व० ३७। ३८; भर्तृहरिनीति० ६१)

'हरिण, मछली और सज्जन क्रमश: तृण, जल और सन्तोषपर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं (किसीको दु:ख नहीं देते); परन्तु व्याध, मछुए और दुष्टलोग बिना कारण इनसे वैर करते हैं।'

§उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(मानस, उत्तर० ११२ ख)

$ उदाहरणार्थ, तमिलनाडुके उसलियाम पट्टी और उसके आस-पासके गाँवोंमें नवजात कन्याकी हत्या कर देनेकी ऐसी रीति पड़ गयी है कि उसको बन्द करवानेमें 'भारतीय बालकल्याण-परिषद्' एवं वहाँकी सरकारके भी सारे प्रयास विफल हो रहे हैं। सन् १९९३-९४ के बीच वहाँ ४१० नवजात कन्याओंकी हत्या की गयी! यह बात अनेक समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओंमें प्रकाशित हुई है।

हैं, वैसे अन्य किसी भी देशमें नहीं हुए। अगर सरकार यहाँके वैज्ञानिकों आदिको प्रोत्साहन दे और वे विदेशोंमें न जाकर यहाँ रहकर खोज करें तो भारतमें बहुत विलक्षण आविष्कार हो सकते हैं, जिससे यह देश दुनियाको शिक्षा देनेवाला हो सकता है।

अगर जनसंख्या अधिक होगी तो पैदावार भी अधिक होगी, जिसका लाभ दूसरे देशोंको भी मिलेगा। प्रत्यक्ष बात है कि पहले जनसंख्या कम थी तो अनाज विदेशोंसे मँगाना पड़ता था। परन्तु अब जनसंख्या बढ़ गयी तो अनाज तथा अन्य कई वस्तुएँ बाहर भेजी जाती हैं। यह बात सरकारसे छिपी नहीं है, पर वह इधर ध्यान नहीं देती। आवश्यकता आविष्कारकी जननी है। जनसंख्या बढ़ती है तो उसके जीवन-निर्वाहके साधन भी बढ़ते हैं, अन्नकी पैदावार भी बढ़ती है, वस्तुओंका उत्पादन भी बढ़ता है, उद्योग भी बढ़ते हैं। परन्तु आज उलटी बुद्धि हो रही है! उत्पादनको तो बढ़ाना चाहते हैं, पर उत्पादन करनेवालोंको जन्म लेनेसे रोक रहे हैं। सरकारका कर्तव्य अपने देशमें जन्म लेनेवाले प्रत्येक नागरिकके जीवन-निर्वाहकी व्यवस्था करना है, न कि उसके जन्मपर ही रोक लगा देना। एक आदमीके पास खेती करनेके लिये लगभग आठ सौ बीघा जमीन पड़ी है। उसके दो लड़के हैं, एक बम्बईमें नौकरी करता है और एक माता-पिताके पास रहकर उनकी सेवा करता है। अब उस खेतीको सँभालनेवाला कोई नहीं है। जनसंख्या कम करनेसे यही दशा होनेवाली है!

जनसंख्याको नियन्त्रण करनेका काम प्रकृतिका है, मनुष्यका नहीं। प्रकृतिके द्वारा जो कार्य होता है, उसके द्वारा सबका हित होता है; क्योंकि वह परमात्माके इशारेपर चलती है*। परन्तु मनुष्य भोगबुद्धिसे जो कार्य करता है, उसके द्वारा सबका महान् अहित होता है। अगर मनुष्य प्रकृतिके कार्यमें हस्तक्षेप करेगा तो इसका परिणाम बड़ा भयंकर होगा।

अरबों वर्षोंसे सृष्टि चली आ रही है। प्रकृतिके द्वारा सदासे जनसंख्यापर नियन्त्रण होता आया है। कभी जनसंख्या बहुत बढ़ी है तो भूकम्प, उल्कापात, बाढ़, सूखा, अकाल, युद्ध, महामारी आदिके कारण वह कम भी हुई है। परन्तु आजतक इतिहासमें ऐसी बात पढ़ने-सुननेमें नहीं आयी कि लोगोंने व्यापक रूपसे गर्भपात, नसबंदी आदि कृत्रिम साधनोंके द्वारा जनसंख्याको कम करनेका प्रयत्न किया हो। कुत्ते, बिल्ली, सूअर आदिके एक-एक बारमें कई बच्चे होते हैं और वे सन्तति-निरोध भी नहीं करते, फिर भी उनसे सब सड़कें, गलियाँ भरी हुई नहीं दीखतीं। उनका नियन्त्रण कैसे होता है? वास्तवमें मनुष्योंपर जनसंख्या-नियन्त्रणका भार, जिम्मेवारी है ही नहीं। एक मनुष्यके पैदा होनेमें नौ-दस महीने लग जाते हैं, पर मरनेमें समय नहीं लगता। प्राकृतिक प्रकोपसे सैकड़ों-हजारों मनुष्य एक साथ मर जाते हैं। मनुष्य कृत्रिम उपायोंसे सन्तति-निरोध करेगा तो ऐसी रीति पड़नेसे मनुष्योंके जन्मपर तो रोक लग जायगी, पर मृत्युपर रोक कैसे लगेगी? मृत्यु तो सदाकी तरह अपना काम करती रहेगी। फिर इसका परिणाम क्या होगा? एक गाँवकी सच्ची बात है। एक सज्जनके दो लड़के थे। उन्होंने नसबन्दी करवा ली। बादमें एक लड़केकी मृत्यु हो गयी। कुछ समयके बाद दूसरा लड़का भी मर गया। अब बूढ़े माता-पिताकी सेवा करनेवाला भी कोई नहीं रहा! हम दक्षिणकी यात्रापर गये थे। वहाँ एक पति-पत्नीने आकर मेरेसे कहा कि हमारे दो लड़के थे। हमने ऑपरेशन करवा लिया। एक लड़का पागल कुत्तेके काटनेसे मर गया। अब एक लड़का रहा है। आप आशीर्वाद दें कि वह मरे नहीं! मैंने कहा कि आपके घरमें सन्तान पैदा करनेकी खान थी। वह तो आपने बन्द कर दी और आशीर्वाद मेरेसे माँगते हो! मैं अपनेमें आशीर्वाद देनेकी योग्यता नहीं मानता।

कुछ लोग कहते हैं कि जनसंख्या अधिक होनेसे पाप अधिक बढ़ गये हैं। यह बिलकुल गलत बात है। पाप जनसंख्या अधिक होनेसे नहीं बढ़ते, प्रत्युत मनुष्योंमें धार्मिकता और आस्तिकता न होनेसे तथा भोगेच्छा होनेसे बढ़ते हैं, जिसमें सरकार कारण है। लोगोंको शिक्षा ही ऐसी दी जा रही है, जिससे उनका धर्म और ईश्वरपरसे विश्वास उठ रहा है तथा भोगेच्छा बढ़ रही है। इसी कारण तरह-तरहके पाप बढ़ रहे हैं। इसी तरह बेरोजगारी, निर्धनता आदिका कारण भी जनसंख्याका बढ़ना नहीं है, प्रत्युत मनुष्योंमें अकर्मण्यता, प्रमाद, आलस्य, व्यसन आदिका बढ़ना है। मनुष्योंमें भोगबुद्धि बहुत ज्यादा हो गयी है। भोगी मनुष्य ही पापी, अकर्मण्य, प्रमादी,

*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ (गीता ९।१०)

'प्रकृति मेरी अध्यक्षतामें सम्पूर्ण चराचर जगत्को रचती है। हे कुन्तीनन्दन! इसी हेतुसे जगत्का विविध प्रकारसे परिवर्तन होता है।'

आलसी और व्यसनी होते हैं। साधन करनेवाले सात्त्विक मनुष्योंके पास तो खाली समय रहता ही नहीं!

किसी देशका नाश करना हो तो दो तरीके हैं—पैदा न होने देना और मार देना। आज मनुष्योंको तो पैदा होनेसे रोक रहे हैं और पशुओंको मार रहे हैं। मनुष्योंके विनाशका नाम रखा है—परिवार-कल्याण और पशुओंके विनाशका नाम रखा है—मांस-उत्पादन! जब विनाशकाल नजदीक आता है, तभी ऐसी विपरीत राक्षसी बुद्धि होती है। मन्दोदरी रावणसे कहती है—

निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥

(मानस, लंका० ३७। ४)

आजकलके मनुष्य तो राक्षसोंसे भी गये-बीते हैं! राक्षसलोग तो देवताओंकी उपासना करते थे, तपस्या करते थे, मन्त्र-जप करते थे और उनसे शक्ति प्राप्त करते थे। परन्तु आजकलके मनुष्योंकी वृत्ति तो राक्षसोंकी (दूसरोंका नाश करनेकी) है, पर देवताओंको, तपस्याको, मन्त्र-जप आदिको मानते ही नहीं, प्रत्युत इनको फालतू समझते हैं!

जिस माँके लिये कहा गया है—'**मात्रा समं नास्ति शरीरपोषणम्**' 'माँके समान शरीरका पालन-पोषण करनेवाला दूसरा कोई नहीं है', उसी माँका परिवार-नियोजन-कार्यक्रमके प्रचारसे इतना पतन हो गया है कि अपने गर्भमें स्थित अपनी ही सन्तानका नाश कर रही है! एक सास-बहूकी बात मैंने सुनी है। बहू दो सन्तानके बाद गर्भपात करानेवाली थी, पर सासने उसको ऐसा करनेसे रोक दिया। उसके गर्भसे लड़केने जन्म लिया। फिर चौथी बार गर्भवती होनेपर उसने सासको बिना बताये पीहरमें जाकर गर्भपात और ऑपरेशन करवा लिया। अब वह तीसरा लड़का बड़ा हुआ तो उसको अँग्रेजी स्कूलमें भरती करा दिया। सासने मना किया कि हमारी साधारण स्थिति है, अँग्रेजी स्कूलमें खर्चे बहुत होते हैं और वहाँ बालकपर संस्कार भी अच्छे नहीं पड़ते। इसपर बहू सासको डाँटती है कि यह आफत तुमने ही पैदा की है! तुमने ही गर्भपात करानेसे रोका था। आज माँकी यह दशा है कि अपनी सन्तान भी नहीं सुहाती। सासने घोर पापसे बचाया, पर बहू उसकी ताड़ना करती है। अन्तःकरणमें पापका कितना आदर है!

मनुष्यको अपनी सीमा, मर्यादामें रहना चाहिये। अगर जनसंख्या-नियन्त्रणका काम मनुष्य अपने हाथमें लेगा तो इससे प्रकृति कुपित होगी, जिसका नतीजा बड़ा भयंकर होगा! मनुष्यपर केवल अपने कर्तव्यका पालन करनेकी, दूसरोंकी सेवा करनेकी, भगवान्‌का स्मरण करनेकी, भोगोंका त्याग करनेकी, संयम करनेकी जिम्मेवारी है। भोगोंका त्याग और संयम मनुष्य ही कर सकता है। अगर सन्तानकी इच्छा न हो तो संयम रखना चाहिये। हल तो चलाये, पर बीज डाले ही नहीं—यह बुद्धिमानीका काम नहीं है। पशु भी स्वतः मर्यादा, संयममें रहते हैं; जैसे—गधा श्रावण मासमें, कुत्ता कार्तिक मासमें, बिल्ली माघ मासमें ही ब्रह्मचर्य-भंग करते हैं, बाकी समय वे संयमसे रहते हैं। मनुष्य अगर चाहे तो सदा संयमसे रह सकता है। एक सत्संगी बहनकी दो सन्तानें हैं। मैंने उससे पूछा कि तुमने कृत्रिम उपायोंसे सन्तति-निरोध तो नहीं किया? वह बोली कि जब आप इनका निषेध करते हैं तो फिर यह काम हम क्यों करें? आप संयमकी बात कहते हैं, इसलिये हम संयमसे रहते हैं। इस प्रकार और भी न जाने कितने स्त्री-पुरुष संयमसे रहते होंगे! संयम रखनेसे शारीरिक, पारमार्थिक सब तरहकी उन्नति होती है। ज्यादा रोग असंयमसे ही पैदा होते हैं। संयमसे स्वास्थ्य ठीक रहता है और उम्र बढ़ती है।

हमारे देशमें सदासे संयमकी प्रधानता रही है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—चारों आश्रमोंमें केवल गृहस्थाश्रममें ही सन्तानोत्पत्तिका विधान है, पर संयमकी प्रधानता चारों ही आश्रमोंमें है, परन्तु सरकार आश्रम-व्यवस्थाको मानती नहीं, साधुओंका तिरस्कार करती है, सत्संग, सदाचार, संयमके प्रचारसे परहेज रखती है और कृत्रिम सन्तति-निरोधके उपायोंद्वारा लोगोंको भोगी, असंयमी बननेकी प्रेरणा करती है!

शासक पिताके समान होता है और प्रजा पुत्रके समान। सरकारका काम अपने देशके नागरिकोंको पापोंसे बचाकर कर्तव्य-पालनमें, धर्म-पालनमें लगाना है। परन्तु आज सरकार उलटे लोगोंको पापोंमें लगा रही है, विभिन्न प्रचार-माध्यमोंसे उनको गर्भपात, मांस-मछली-अण्डा-भक्षण आदि पाप करनेके लिये प्रेरित कर रही है! उनको भय और प्रलोभन देकर गर्भपात; नसबन्दी आदि पाप करनेके लिये बाध्य कर रही है। गर्भपात, नसबन्दीके इतने केस लाओ तो पुरस्कार देंगे, नहीं तो नौकरीसे निकाल देंगे, वेतन नहीं देंगे अर्थात् पाप करो तो पुरस्कार देंगे, नहीं तो दण्ड देंगे—यह सरकारकी कितनी अन्यायपूर्ण नीति है! इतना ही नहीं, सरकारको पापोंसे सन्तोष भी नहीं हो रहा है और वह गर्भपातके, सन्तति-निरोधके नये-नये उपाय ढूँढ़ रही है, पशुओंका वध करनेके लिये नये-नये कसाईखाने खोल रही है। रामायणमें आया है—

ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥

(मानस, लंका० ८०। ४)

कृपाणकी तीन तरफ धार होती है—बायें, दायें और आगे। अत: वह तीनों तरफसे शत्रुओंका नाश करती है। सन्तोषको कृपाण कहनेका तात्पर्य है कि वह काम, क्रोध और लोभ—तीनों शत्रुओंका नाश कर देती है*। सरकार सन्तोष न करके काम, क्रोध और लोभ—तीनों शत्रुओंकी वृद्धि कर रही है, फिर देशमें सुख-शान्ति कैसे होंगे?

——★——

* बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥ (मानस, उत्तर० ९० । १)
नहिं संतोष त पुनि कछु कहहू। जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू॥ (मानस, बाल० २७४ । ४)
उदित अगस्ति पंथ जल सोषा। जिमि लोभहि सोषइ संतोषा॥ (मानस, किष्किधा० १६ । २)

गर्भपात महापाप क्यों ?

जितने भी पाप होते हैं, वे किसीके मानने और न माननेपर निर्भर नहीं करते। पापके विषयमें अर्थात् अमुक कार्य पाप है—इसमें वेद, पुराण, स्मृति, शास्त्र और अनुभवी तत्त्वज्ञ महापुरुषोंके वचन ही प्रमाण हैं। गर्भस्राव (सफाई), गर्भपात या भ्रूणहत्या हिन्दू-धर्मके, भारतीय संस्कृतिके सर्वथा विरुद्ध है। संसारका कोई भी श्रेष्ठ धर्म इस पापको समर्थन नहीं देता और न दे ही सकता है। कारण कि यह काम मनुष्यताके विरुद्ध है। क्रूर और हिंसक पशु भी ऐसा काम नहीं करते।

पृथ्वीमें मनुष्यजाति सर्वश्रेष्ठ है। संसारमें जितने भी प्राणी हैं, उन सबकी रक्षा, सेवा, पालन-पोषण करनेका अधिकार, योग्यता, सामर्थ्य, सामग्री और दयाभाव मनुष्यमें ही है। उस मनुष्यकी हत्या कर देना बहुत बड़ा पाप है। मनुष्यमें भी बच्चेकी हत्या कर देना सबसे बड़ा पाप है; क्योंकि बच्चा निरपराध, निर्बल, निर्दोष होता है। परन्तु जिस बच्चेने अभी जन्म ही नहीं लिया, जो अभी गर्भमें ही है, उसकी हत्या कर देना महान् भयंकर पाप है।

गर्भमें जीव निर्बल और असहाय अवस्थामें रहता है। वह अपने बचावके लिये कोई उपाय भी नहीं कर सकता तथा प्रतीकार भी नहीं कर सकता। वह अपनी हत्यासे बचनेके लिये पुकार भी नहीं सकता, रो भी नहीं सकता, चिल्ला भी नहीं सकता। उसका कोई अपराध, कसूर भी नहीं है। वह सर्वथा निर्दोष है। ऐसी अवस्थामें उस निरपराध-निर्दोष शिशुकी हत्या कर देना कितना महान् पाप है!

वैर-विरोधको लेकर किये जानेवाले युद्धमें भी शत्रुकी हत्याका ही उद्देश्य रहता है, फिर भी उसमें निहत्थे सैनिकपर शस्त्र नहीं चलाया जाता। पहले उसे सावधान करते हुए युद्धके लिये ललकारते हैं, फिर शस्त्र चलाते हैं। परन्तु गर्भस्थ शिशु तो सर्वथा असहाय होकर पड़ा हुआ है। उसको इस बातका ज्ञान ही नहीं है कि कोई मुझे मार रहा है! ऐसी अवस्थामें उस मूक प्राणीकी दर्दनाक हत्या कर देना कितना भयंकर पाप है? कितना घोर अन्याय है?

एक कहावत है कि अपने द्वारा लगाया हुआ विषवृक्ष भी काटा नहीं जाता—**'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।'** जिस गर्भको स्त्री-पुरुष मिलकर पैदा करते हैं, उसकी अपने ही द्वारा हत्या कर देना कितना महान् पाप है! कसूर (असंयम) तो खुद करते हैं, पर हत्या बेकसूर गर्भकी करते हैं, कितना बड़ा अन्याय है! जो माता-पिता अपने बच्चेका स्नेहपूर्वक पालन और रक्षा करनेवाले होते हैं, वे ही अपने गर्भस्थ बच्चेकी हत्या कर देंगे तो किससे रक्षाकी आशा की जायगी?† सन्तानके लिये तो माता-पिता ईश्वरके समान हैं—**'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव'**। यदि वे अपनी सन्तानका जन्मसे पहले ही नाश कर देंगे तो फिर रक्षा कौन करेगा?

साधुलोग चातुर्मासमें एक ही जगह इस कारण रहते हैं कि स्थावर पेड़-पौधोंके अंकुर यात्रा करते समय पैरोंके नीचे आकर नष्ट न हो जायँ। जब स्थावर प्राणियोंकी भी हिंसाका इतना पाप माना जाता है, फिर जो जंगम प्राणी हैं, उनकी हिंसाका कितना पाप है? जंगम प्राणियोंमें भी मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। उस मनुष्यकी गर्भमें ही हत्या कर देना कितना महान् पाप है? इससे बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं है!

† समर्थं वासमर्थं वा कृशं वाप्यकृशं तथा। रक्षत्येव सुतं माता नान्यः पोष्टा विधानतः॥ (महाभारत, शान्ति० २६६। २९)

'पुत्र असमर्थ हो या समर्थ, दुर्बल हो या हृष्ट-पुष्ट, माता उसकी रक्षा करती ही है। माताके सिवा दूसरा कोई विधिपूर्वक पुत्रका पालन-पोषण नहीं कर सकता।'

नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः। नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया॥ (महा० शान्ति० २६६। ३१)

'बच्चेके लिये माताके समान दूसरी कोई छाया नहीं है अर्थात् माताकी छत्रछायामें जो सुख है, वह कहीं नहीं है। माताके तुल्य दूसरा कोई सहारा नहीं है, माताके सदृश अन्य कोई रक्षक नहीं है तथा माताके समान दूसरी कोई प्रिय वस्तु नहीं है।'

गर्भमें आया जीव जन्म लेनेके बाद न जाने कितने अच्छे-अच्छे लौकिक और पारमार्थिक काम करता, समाजकी और देशकी सेवा करता, अनेक लोगोंकी सहायता करता, सन्त-महात्मा बनकर अनेक लोगोंको सन्मार्गमें लगाता,अपना तथा औरोंका कल्याण करता, खेती करता, अनेक कारखाने खोलता आदि-आदि। परन्तु जन्म लेनेसे पहले ही उसकी हत्या कर देना कितना महान् पाप है! क्या हम जानते हैं कि गर्भमें आया जीव कौन है? कैसा है? अगर महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक, स्वामी विवेकानन्द आदिका जन्मसे पहले ही गर्भपात कर दिया गया होता तो देशकी कितनी क्षति हुई होती!

जिसको जीवित नहीं कर सकते, उसको मारनेका अधिकार कैसे हो सकता है? जीवमात्रको जीनेका अधिकार है। उसको गर्भमें ही नष्ट करके उसके अधिकारको छीनना महान् पाप है। मनुष्यको दूसरोंकी सेवा करने, उसको सुख पहुँचानेका अधिकार है, किसीका नाश करनेका कभी अधिकार नहीं है। अगर गर्भपातकी प्रथा चल पड़ेगी तो फिर मनुष्य राक्षसोंसे भी बहुत नीचे हो जायँगे! रावण और हिरण्यकशिपुके राज्यमें भी गर्भपात-जैसा महापाप नहीं हुआ।

शास्त्रोंमें जगह-जगह गर्भपातको महापाप माना गया है। पाराशरस्मृतिमें तो इसको ब्रह्महत्यारूपी महापापसे भी दुगुना पाप बताया गया है—

यत्पापं ब्रह्महत्याया द्विगुणं गर्भपातने।
प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति तस्यास्त्यागो विधीयते॥

(४ । २०)

'ब्रह्महत्यासे जो पाप लगता है, उससे दुगुना पाप गर्भपात करनेसे लगता है। इस गर्भपातरूपी महापापका कोई प्रायश्चित्त भी नहीं है, इसमें तो उस स्त्रीका त्याग कर देनेका ही विधान है।'

यदि अन्नपर गर्भपात करनेवाले पापीकी दृष्टि भी पड़ जाय तो वह अन्न अभक्ष्य (न खानेयोग्य) हो जाता है—

भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया।
पतत्रिणाऽवलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च॥

(मनुस्मृति ४ । २०८)

'गर्भहत्या करनेवालेका देखा हुआ, रजस्वला स्त्रीका स्पर्श किया हुआ, पक्षीका खाया हुआ और कुत्तेका स्पर्श किया हुआ अन्न न खाये।'

मनुष्य-शरीरको बड़ा दुर्लभ बताया गया है—

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥

(मानस, उत्तर० ४३ । ४)

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।

(श्रीमद्भा० ११ । २ । २९)

परमकृपालु भगवान् विशेष कृपा करके जीवको मनुष्य-शरीर देते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस, उत्तर० ४४ । ३)

जीव मनुष्य-शरीरमें आकर अपना और दूसरोंका भी उद्धार कर सकता है। वह सबकी सेवा कर सकता है, यहाँतक कि भगवान्‌की भी सेवा कर सकता है! परन्तु अपनी भोगेच्छाके वशीभूत होकर उस जीवको ऐसा दुर्लभ मौका न मिलने देना, उसको मनुष्य-शरीरमें न आने देना, उसको जन्म ही न लेने देना, जन्म लेनेसे पहले ही उसकी हत्या कर देना कितना महान् पाप है! उस जीवके साथ कितना घोर अन्याय है!

ऐसा महान् पाप करनेवालोंको घोर नरकों तथा नीच योनियोंकी भयंकर यातना भोगनी पड़ेगी। उनको कभी मनुष्यजन्म मिल जाय तो उसमें उनकी सन्तान नहीं होगी। सन्तानके बिना वे रोते रहेंगे! ब्रह्मवैवर्तपुराण (प्रकृतिखण्ड, द्वितीय अध्याय) में आया है कि मूल प्रकृतिने अपने गर्भको ब्रह्माण्ड-गोलकके जलमें फेंक दिया तो आगे उससे प्रकट होनेवाली लक्ष्मी, सरस्वती, राधा तथा राधासे प्रकट होनेवाली गोपियोंमेंसे किसीकी भी कोई सन्तान नहीं हुई।

शंका—गर्भपात करनेसे अगले जन्मोंमें सन्तान नहीं होगी तो यह अभीष्ट ही है अर्थात् जनसंख्या नहीं बढ़ेगी, फिर सन्तान न होनेसे क्या हानि है?

समाधान—सन्तानके सुखसे वञ्चित होनेकी अवस्थाका अनुभव उन्हीं गृहस्थोंको हो सकता है, जिनकी कोई सन्तान हुई ही नहीं। मनुष्यमें पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा—ये तीन मुख्य एषणाएँ (इच्छाएँ) मानी गयी हैं। जिनकी सन्तान नहीं होती, वे सन्तानके लिये जगह-जगह भटकते हैं, डॉक्टरोंके पास जाते हैं, सन्त-महात्माओंके पास जाते हैं, तीर्थोंमें जाते हैं, औषध लेते हैं, मन्त्र-जप करते हैं, देवी-देवताओंकी मनौती करते हैं, ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं, आदि-आदि।

राजा दिलीपकी कोई सन्तान नहीं थी तो राजा-रानी दोनोंने वसिष्ठजीकी गायकी रात-दिन तन-मनसे सेवा की। गायके वरदानसे उनको पुत्रकी प्राप्ति हुई। उस पुत्र (रघु) से 'रघुवंश' चला। राजा दशरथ भी सन्तानके बिना दुःखी हुए और इसके लिये उन्होंने पुत्रेष्टि यज्ञ करवाया—

एक बार भूपति मन माहीं। भै गलानि मोरें सुत नाहीं॥

सृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा। पुत्रकाम सुभ जग्य करावा॥
(मानस, बाल० १८९।१, ३)

कारण कि सन्तान न होनेसे पिताको चिन्ता होती है कि मेरा वंश आगे कैसे चलेगा? मेरी धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदादका मालिक कौन बनेगा? हम बीमार अथवा बूढ़े हो जायँगे तो हमारी सेवा कौन करेगा? हमारे मरनेके बाद हमें पिण्ड-पानी कौन देगा, आदि-आदि।

बच्चोंको देखनेसे, उनको खिलाने और खेलानेसे बड़ा सुख मिलता है। अपने बच्चोंका तो कहना ही क्या, कुत्ते, गधे आदिके भी नवजात शिशुको देखकर एक हर्ष होता है, उसको प्यार करनेकी इच्छा होती है!

ऐसा देखा गया है कि घरमें जब जेठानीकी सन्तान नहीं होती और वह देवरानीके बच्चोंको तथा उसकी बहुओंको देखती है तो उसके मनमें बड़ा दु:ख होता है कि मैं बड़ी हूँ, पर मेरी सन्तान नहीं है। यदि मेरी सन्तान होती तो मैं उसका विवाह करती, बहूको घरमें लाती, वह मेरी सेवा करती! बेटेकी सन्तान—पोता तो बेटेसे भी ज्यादा प्यारा लगता है। एक कहावत भी है कि मूलसे भी ब्याज ज्यादा प्यारा लगता है। इस प्रकार सन्तान होनेका जो सुख होता है, वे गर्भपात करनेवाले जन्म-जन्मान्तरोंतक नहीं देख सकेंगे। कारण कि गर्भपात करनेवालेकी अगले मनुष्यजन्ममें सन्तान नहीं होगी।

यह सिद्धान्त है कि जो जिस वस्तुका दुरुपयोग करता है, उसको वह वस्तु पुन: नहीं मिलती। माँ बच्चेको मिठाई देती है, पर वह उसको न खाकर नालीमें फेंक देता है तो फिर माँ उसको मिठाई न देकर थप्पड़ लगाती है। ऐसे ही भगवान् कृपा करके मनुष्य-शरीर देते हैं, पर मनुष्य उस शरीरका दुरुपयोग करता है, पाप करता है, तो फिर भगवान् उसको पुन: मनुष्य-शरीर न देकर नरकों और नीच योनियोंमें डालते हैं। बालक तो नासमझ होता है, इसलिये माँ उसको पुन: मिठाई दे देती है, पर मनुष्य समझपूर्वक, जान-बूझकर पाप करता है; अत: उसको भगवान् पुन: मनुष्य-शरीर नहीं देंगे। इसी तरह जो अन्न-जलको निरर्थक नष्ट करता है, उसको भूख प्यासका कष्ट उठाना पड़ेगा। जो मालिक अच्छे नौकरका तिरस्कार करता है, उसको फिर अच्छा नौकर नहीं मिलेगा। जो नौकर अच्छे मालिकका तिरस्कार करता है, उसको फिर अच्छा मालिक नहीं मिलेगा। जो अच्छे सन्तका तिरस्कार करता है अर्थात् उनसे लाभ नहीं उठाता, उसको फिर अच्छे सन्त नहीं मिलेंगे! ऐसे ही जो गर्भमें आये जीवकी हत्या करता है, उसकी फिर मनुष्यजन्ममें सन्तान नहीं होगी। गर्भपात तो सबसे भयंकर अपराध है; क्योंकि एक तो सन्तानके उद्देश्यके बिना केवल भोग भोगा—'**हतं मैथुनमप्रजम्**' और दूसरा, उससे पैदा हुए गर्भकी हत्या की! नाशका परिणाम भयंकर विनाश होता है। अत: भावी घोर यातनासे बचनेके लिये समझदार स्त्री-पुरुषोंको कभी गर्भपातरूपी महापाप नहीं करना चाहिये।

★

सबसे बड़ा पाप—गर्भपात

संसारी लोगोंकी दृष्टिमें जो सबसे बड़ा सुख है, जिस सुखके बिना भोगी मनुष्य रह नहीं सकता, जिस सुखका वह त्याग नहीं कर सकता, उस सुखको देनेवाले गर्भकी वह (कृत्रिम गर्भपातद्वारा) हत्या कर देता है—इससे बढ़कर पाप और क्या होगा? यह पापकी, कृतघ्नताकी, दुष्टताकी, अन्यायकी आखिरी हद है।

मनुष्यशरीर सबसे दुर्लभ है, जिसको पानेकी इच्छा चर-अचर सभी प्राणी करते हैं—*'नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥'* (मानस, उत्तर० १२१।५) जब मनुष्यकी हत्याको बहुत बड़ा पाप मानते हैं और अपराधी मनुष्यको भी फाँसीकी सजा न देकर आजीवन कारावासकी सजा देते हैं, तो फिर यह गर्भपात क्या है? क्या यह निरपराध मनुष्यकी हत्या नहीं है? बुद्धि कितनी मारी गयी है! एक मारवाड़ी कहावत है—बुद्धिमें कुत्ता मूत गया! अपना भला चाहनेवाला कोई भी मनुष्य ऐसा घृणित पाप नहीं कर सकता। कोई भी धर्माचार्य इस पापका अनुमोदन नहीं करता।

गर्भपातसे बढ़कर कोई पाप नहीं, कोई हिंसा नहीं, कोई दुष्टता नहीं, कोई कृतघ्नता नहीं, कोई अन्याय नहीं, कोई अत्याचार नहीं, कोई राक्षसपना नहीं! इसके समान भी कोई घृणित पाप नहीं है, फिर बढ़कर तो हो ही कैसे? इससे बढ़कर कोई पाप सम्भव ही नहीं है। जिसको हम पैदा नहीं कर सकते, उसको नष्ट कर देनेका हमें कोई अधिकार नहीं है।

सुखकी इच्छा सम्पूर्ण पापोंका मूल है। जैसे वृक्षके एक बीजमें मीलोंतकका जंगल भरा हुआ है, ऐसे ही सुखभोगकी इच्छामें सम्पूर्ण पाप, दुःख भरे हुए हैं। अतः जब मनुष्य केवल अपने सुखकी इच्छासे ही स्त्रीका संग

करता है, सन्तानकी इच्छासे नहीं, तो यह पहला महान् पाप हुआ। फिर जब स्त्रीमें गर्भ पैदा होता है, तब उस गर्भको नष्ट कर देते हैं—यह गर्भहत्यारूप दूसरा महान् पाप हुआ। एक कहावत है कि अपने द्वारा लगाया गया विषका वृक्ष भी काटा नहीं जाता, फिर अपने ही द्वारा पैदा किये गये बेकसूर गर्भकी आप ही हत्या कर देना कितना भयंकर पाप है! ऐसे पापका बड़ा भयंकर फल भोगना ही पड़ेगा, इससे कोई बच नहीं सकता—**'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'**।

याद रखें, दूसरेके सुखके लिये भोगा गया दुःख परिणाममें महान् आनन्द देनेवाला होता है; परन्तु अपने सुखके लिये दूसरेको दिया गया दुःख परिणाममें भयंकर दुःख देनेवाला होता है। अब आप ही फैसला करें कि आपको क्या चाहिये—महान् आनन्द या महान् दुःख?

गर्भमें आये जीवको अनेक जन्मोंका ज्ञान होता है*। इसलिये श्रीमद्भागवतमें गर्भस्थ जीवको 'ऋषि' (ज्ञानी) कहा गया है—

'नाथमान ऋषिर्भीतः' (३। ३१। ११)

'एवं कृतमतिर्गर्भे दशमास्यः स्तुवन्नृषिः' (३। ३१। २२)

गर्भहत्या करनेसे एक ऋषिकी हत्या होती है। इससे बढ़कर और क्या पाप होगा? शास्त्रमें इसके समान भयंकर पाप हमें कोई मिला नहीं। ऐसा भयंकर महापाप करनेवालोंकी क्या दशा होगी, भगवान् जानें!

गर्भस्थ बच्चेकी हत्याका आँखोंदेखा विवरण

अमेरिकामें सन् १९८४ में एक सम्मेलन हुआ था—**'नेशनल राइट्स टू लाईफ कन्वैन्शन'**। इस सम्मेलनके एक प्रतिनिधिने डॉ० बर्नार्ड नेथेनसनके द्वारा गर्भपातकी बनायी गयी एक अल्ट्रासाउण्ड फिल्म **'साइलेण्ट स्क्रीम'** (गूँगी चीख) का जो विवरण दिया था, वह इस प्रकार है—

'गर्भकी वह मासूम बच्ची अभी दस सप्ताहकी थी व काफी चुस्त थी। हम उसे अपनी माँकी कोखमें खेलते, करवट बदलते व अँगूठा चूसते हुए देख रहे थे। उसके दिलकी धड़कनोंको भी हम देख पा रहे थे और वह उस समय १२० की साधारण गतिसे धड़क रहा था। सब कुछ बिलकुल सामान्य था; किन्तु जैसे ही पहले औजार (सक्सन पम्प) ने गर्भाशयकी दीवारको छुआ, वह मासूम बच्ची डरसे एकदम घूमकर सिकुड़ गयी और उसके दिलकी धड़कन काफी बढ़ गयी। हलाँकि अभीतक किसी औजारने बच्चीको छुआतक भी नहीं था, लेकिन उसे अनुभव हो गया था कि कोई चीज उसके आरामगाह, उसके सुरक्षित क्षेत्रपर हमला करनेका प्रयत्न कर रही है।

हम दहशतसे भरे यह देख रहे थे कि किस तरह वह औजार उस नन्हीं-मुन्नी मासूम गुड़िया-सी बच्चीके टुकड़े-टुकड़े कर रहा था। पहले कमर, फिर पैर आदिके टुकड़े ऐसे काटे जा रहे थे जैसे वह जीवित प्राणी न होकर कोई गाजर-मूली हो और वह बच्ची दर्दसे छटपटाती हुई, सिकुड़कर घूम-घूमकर तड़पती हुई इस हत्यारे औजारसे बचनेका प्रयत्न कर रही थी। वह इस बुरी तरह डर गयी थी कि एक समय उसके दिलकी धड़कन २०० तक पहुँच गयी! मैंने स्वयं अपनी आँखोंसे उसको अपना सिर पीछे झटकते व मुँह खोलकर चीखनेका प्रयत्न करते हुए देखा, जिसे डॉ० नेथेनसनने उचित ही 'गूँगी चीख' या 'मूक पुकार' कहा है। अन्तमें हमने वह नृशंस व वीभत्स दृश्य भी देखा, जब सँडसी उसकी खोपड़ीको तोड़नेके लिये तलाश रही थी और फिर दबाकर उस कठोर खोपड़ीको तोड़ रही थी; क्योंकि सिरका वह भाग बगैर तोड़े सक्शन ट्यूबके माध्यमसे बाहर नहीं निकाला जा सकता था।'

हत्याके इस वीभत्स खेलको सम्पन्न करनेमें करीब पन्द्रह मिनटका समय लगा और इसके दर्दनाक दृश्यका अनुमान इससे अधिक और कैसे लगाया जा सकता है कि जिस डॉक्टरने यह गर्भपात किया था और जिसने मात्र कौतूहलवश इसकी फिल्म बनवा ली थी, उसने जब स्वयं इस फिल्मको देखा तो वह अपना क्लीनिक छोड़कर चला गया और फिर वापस नहीं आया!

(—गीताप्रेससे प्रकाशित 'गर्भपात' नामक पुस्तकसे)

गर्भपातके विषयमें धर्मशास्त्रके वचन

यत्पापं ब्रह्महत्याया द्विगुणं गर्भपातने।
प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति तस्यास्त्यागो विधीयते॥

(पाराशरस्मृति ४। २०)

'ब्रह्महत्यासे जो पाप लगता है, उससे दुगुना पाप गर्भपात करनेसे लगता है। इस गर्भपातरूपी महापापका कोई प्रायश्चित्त भी नहीं है, इसमें तो उस स्त्रीका त्याग कर देनेका ही विधान है।'

---

* अथ नवमे मासि सर्वलक्षणसम्पूर्णो भवति पूर्वजातीः स्मरति कृताकृतं च कर्म भवति शुभाशुभं च कर्म विन्दति। (गर्भोपनिषद् ३)

अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे। तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात्कर्म जन्मशतोद्भवम्॥ (श्रीमद्भा० ३। ३१। ९)

भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया।
पतत्रिणाऽवलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च॥

(मनुस्मृति ४। २०८)

'गर्भहत्या करनेवालेका देखा हुआ, रजस्वला स्त्रीका स्पर्श किया हुआ, पक्षीका खाया हुआ और कुत्तेका स्पर्श किया हुआ अन्न न खाये।'

गर्भपात करनेवालेकी अगले जन्ममें सन्तान नहीं होती—इस बातको प्रकट करनेवाले अनेक श्लोक 'वृद्धसूर्यारुणकर्मविपाक' नामक ग्रन्थमें आये हैं। उनमेंसे कुछ श्लोक इस प्रकार हैं—

पूर्वे जनुषि या नारी गर्भघातकरी ह्यभूत्।
गर्भपातेन दुःखार्ता साऽत्र जन्मनि जायते॥

(४७७। १)

'जो स्त्री पूर्वजन्ममें गर्भपात करती है, वह इस जन्ममें भी गर्भपातका दुःख भोगनेवाली होती है अर्थात् उसकी सन्तान नहीं होती।'

वन्ध्येयं या महाभाग पृच्छति स्वं प्रयोजनम्।
गर्भपातरता पूर्वे जनुष्यत्र फलं त्विदम्॥

(६५९। १, ८५६। १, ९२१। १, १८५७। १)

'जो कोई स्त्री पूछती है कि मैं इस जन्ममें वन्ध्या (सन्तानहीन) किस कारण हुई, तो इसका उत्तर है कि यह पूर्वजन्ममें तेरे द्वारा किये गये गर्भपातका ही फल है।'

गर्भपातनपापाढ्या बभूव प्राग्भवेऽण्डज।
साऽत्रैव तेन पापेन गर्भस्थैर्यं न विन्दति॥

(११८७। १)

'हे अरुण! जो पूर्वजन्ममें गर्भपात करती है, इस जन्ममें उस पापके कारण उसका गर्भ नहीं ठहरता अर्थात् वह सन्तानहीन होती है।'

सर्वश्रेष्ठ हिन्दूधर्म और उसके ह्रासका कारण

सर्वश्रेष्ठ धर्म

संसारमें मुख्यरूपसे चार धर्म प्रचलित हैं—हिन्दूधर्म (सनातनधर्म), मुस्लिमधर्म, बौद्धधर्म और ईसाईधर्म। इन चारों धर्मोंमेंसे एक-एक धर्मको माननेवाले करोड़ों मनुष्य हैं। इन चारों धर्मोंमें भी अवान्तर कई धर्म हैं। हिन्दूधर्मको छोड़कर शेष तीनों धर्मोंके मूलमें धर्म चलानेवाला कोई व्यक्ति मिलेगा; जैसे—मुस्लिमधर्मके मूलमें मोहम्मद साहब, बौद्धधर्मके मूलमें गौतम बुद्ध और ईसाईधर्मके मूलमें ईसामसीह मिलेंगे। परन्तु हिन्दूधर्मके मूलमें कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा। कारण कि हिन्दूधर्म किसी व्यक्तिके द्वारा चलाया हुआ धर्म नहीं है, प्रत्युत यह अनादिकालसे चला आ रहा है। जैसे भगवान् सनातन (शाश्वत) हैं, ऐसे ही हिन्दूधर्म भी सनातन है। इसलिये हिन्दूधर्मको 'सनातनधर्म' भी कहते हैं। भगवान्ने भी इस सनातनधर्मको अपना स्वरूप बताया है—'**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं—शाश्वतस्य च धर्मस्य०**' (गीता १४। २७)। जिस युगमें जब-जब इस सनातनधर्मका ह्रास होता है, हानि होती है, तब-तब भगवान् अवतार लेकर इसकी संस्थापना करते हैं।* तात्पर्य है कि भगवान् भी इसकी संस्थापना, रक्षा करनेके लिये ही अवतार लेते हैं, इसको बनाने अथवा उत्पन्न करनेके लिये नहीं। अर्जुनने भी भगवान्को सनातनधर्मका रक्षक बताया है—'**त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता**' (गीता ११। १८)।

एक उपज होती है और एक खोज होती है। जो वस्तु पहले मौजूद न हो, उसकी उपज होती है; और जो वस्तु पहलेसे ही मौजूद हो, उसकी खोज होती है। मुस्लिम, बौद्ध और ईसाई—ये तीनों ही धर्म व्यक्तिके मस्तिष्ककी उपज हैं। परन्तु सनातन हिन्दूधर्म किसी व्यक्तिके मस्तिष्ककी उपज नहीं है, प्रत्युत यह विभिन्न ऋषियोंके द्वारा किया गया अन्वेषण (खोज) है—'**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः**'। अतः हिन्दूधर्मके मूलमें किसी व्यक्तिविशेषका नाम नहीं लिया जा सकता। यह अनादि, अनन्त और शाश्वत है। अन्य सभी धर्म तथा मत-मतान्तर भी इसी हिन्दूधर्मसे उत्पन्न हुए हैं। इसलिये उन धर्मोंमें मनुष्योंके कल्याणके लिये जो साधन बताये गये हैं, उनको भी हिन्दूधर्मकी ही देन मानना चाहिये। अतः उन धर्मोंमें बताये गये अनुष्ठानोंका भी निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर पालन किया जाय तो कल्याण होनेमें सन्देह नहीं करना चाहिये†। प्राणिमात्रके कल्याणके लिये जितना गहरा विचार हिन्दूधर्ममें किया गया है, उतना और किसी धर्ममें

* यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४। ७-८)

† प्रत्येक धर्ममें कुधर्म, अधर्म और परधर्म—ये तीनों होते हैं। दूसरेके अनिष्टका भाव, कूटनीति आदि 'कुधर्म' है, यज्ञमें पशुबलि देना आदि 'अधर्म' है और जो अपने लिये निषिद्ध है, ऐसा दूसरे वर्ण आदिका धर्म 'परधर्म' है। कुधर्म, अधर्म और परधर्म—इन तीनोंसे कल्याण नहीं होता। कल्याण उस धर्मसे होता है, जिसमें स्वार्थ और अभिमानके त्यागपूर्वक अपना तथा दूसरेका वर्तमान और भविष्यमें हित होता हो।

नहीं मिलता। हिन्दूधर्मके सभी सिद्धान्त पूर्णतया वैज्ञानिक और कल्याण करनेवाले हैं। अतः हिन्दूधर्म सर्वश्रेष्ठ है।

हिन्दुओंकी वृद्धि आवश्यक क्यों?

हिन्दूधर्ममें मुक्ति, तत्त्वज्ञान, कल्याण, परमशान्ति, परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति जितनी सुगमतासे बतायी गयी है, उतनी सुगमतासे प्राप्तिकी बात ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध, यहूदी, पारसी आदि किसी भी धर्ममें नहीं सुनी गयी है। इसलिये मैं चाहता हूँ कि हिन्दुओंकी वृद्धि हो। कारण कि हिन्दूधर्मके अलौकिक, विलक्षण ग्रन्थोंकी बातोंको हिन्दुओंके सिवाय और कौन सुनेगा और उनका आदर करेगा? मुसलमानोंने तो हिन्दूधर्मके असंख्य अच्छे-अच्छे ग्रन्थोंको जला डाला। इसलिये आज वेदोंकी पूरी संहिता नहीं मिलती, सभी शास्त्र नहीं मिलते। इस कारण कितनी विलक्षण-विलक्षण विद्याएँ नष्ट हो गयीं, कला-कौशल नष्ट हो गये, जिनसे केवल हिन्दुओंको ही नहीं, संसारमात्रको लाभ पहुँचता। अब मुसलमानोंकी संख्या बढ़ रही है और हिन्दुओंकी संख्या घट रही है तो आगे चलकर क्या दशा होगी? हिन्दुओंमें कोई-न-कोई तो हिन्दूधर्मके ग्रन्थोंको पढ़ेगा, पर जो हिन्दुओंके ग्रन्थोंको जला-जलाकर हमामका पानी गरम करते रहे, उन मुसलमानोंसे क्या ये आशा रखें कि वे हिन्दुओंके ग्रन्थोंको पढ़ेंगे? जो हिन्दुओंका धर्म-परिवर्तन करके उनको मुसलमान या ईसाई बनानेमें लगे हुए हैं, उनसे क्या यह आशा की जाय कि वे हिन्दुओंके ग्रन्थोंका आदर करेंगे? असम्भव है। इसी दृष्टिसे मैं हिन्दुओंमें परिवार-नियोजनका विरोध किया करता हूँ। वास्तवमें मेरा यह उद्देश्य बिलकुल नहीं है कि हिन्दुओंकी संख्या बढ़ जाय, जिससे उनको राज्य मिल जाय। मेरा उद्देश्य यह है कि मनुष्यका जल्दी और सुगमतासे कल्याण हो जाय। मैं कल्याणका पक्षपाती हूँ, राज्यका पक्षपाती नहीं।

मेरे मनमें मुसलमानोंके प्रति किञ्चिन्मात्र भी द्वेष नहीं है। परन्तु वे हिन्दुओंका नाश करना चाहते हैं, इसलिये उनकी क्रिया मेरेको अच्छी नहीं लगती। कोई मेरेसे वैर, द्वेष रखनेवाला हो, मेरा बुरा करनेवाला हो, वह भी अगर मेरेसे अपने कल्याणकी बात पूछे तो मैं उसको वैसे ही बड़े प्रेमसे कल्याणका उपाय बताऊँगा, जैसे मैं अपनेमें श्रद्धा-प्रेम रखनेवालेको बताया करता हूँ। अगर कोई मुसलमान हृदयसे अपने कल्याणका उपाय पूछे तो मैं सबसे पहले उसको बताऊँगा, पीछे हिन्दूको बताऊँगा। मेरा कभी किसीसे भेदभाव रखनेका विचार है ही नहीं।

जीवमात्र परमात्माका अंश है। अतः मेरा जो स्वरूप है, वही-का-वही स्वरूप मुसलमानोंका भी है। जैसे मेरा स्वरूप परमात्माका अंश है, ऐसे ही मुसलमानोंका स्वरूप भी परमात्माका अंश है। अगर मैं उनसे वैर करता हूँ तो वास्तवमें अपने स्वरूपसे तथा अपने इष्टसे वैर करता हूँ। कारण कि जो दूसरे सम्प्रदायकी निन्दा करते हैं, वे वास्तवमें अपने सिद्धान्तका अपमान करते हैं। जैसे—कोई विष्णुका भक्त है और वह शङ्करकी निन्दा करता है तो वह समझता है कि विष्णुकी महिमा बढ़ा रहा हूँ और मेरा विष्णुमें अनन्यभाव है। परन्तु वास्तवमें शङ्करकी निन्दा करनेसे यह सिद्ध होता है कि शङ्कर और शङ्करके भक्तोंमें विष्णु नहीं है। अतः दूसरेके इष्टदेवकी निन्दा करनेवाला वास्तवमें अपनी ही हानि करता है, अपने ही इष्टदेवको कमजोर सिद्ध करता है। ऐसे ही अगर मैं मुसलमानोंकी निन्दा करूँगा तो उनमें मेरा परमात्मा नहीं है—यह सिद्ध होगा। इसलिये मुसलमान मेरे निजस्वरूप, आत्मस्वरूप, अभिन्नस्वरूप हैं। परन्तु मुसलमान हिन्दुओंकी हत्या करते हैं, उनकी स्त्रियोंका अपहरण करते हैं, उनके ग्रन्थोंको जलाते हैं, उनके मन्दिरोंको तोड़ते हैं, उनकी गायोंकी हत्या करते हैं—सब प्रकारसे हिन्दुओंका नाश-ही-नाश करते हैं, यह क्रिया मुझे बहुत बुरी लगती है।

जब देशमें मुसलमानोंका राज्य हुआ, तब उन्होंने कितने हिन्दुओंको मारा, कितनी स्त्रियोंका अपहरण किया, कितने मन्दिरोंको तोड़ा, हिन्दुओंपर कितना अत्याचार किया—इसका कोई पारावार नहीं है! चित्तौड़में मुसलमानोंने इतने हिन्दुओंकी हत्या की थी कि केवल उनके जनेऊ साढ़े चौहत्तर मन इकट्ठे हुए थे! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तो जनेऊ धारण करते हैं, पर शूद्र आदि जनेऊ धारण नहीं करते। ऐसी स्थितिमें कितने हिन्दू मारे गये, इसकी कोई गणना नहीं! लोग अबतक चिट्ठियोंपर साढ़े चौहत्तरका अंक ७४॥ —इस प्रकार लिखा करते थे, जिसका अभिप्राय यह होता था कि अन्य कोई व्यक्ति इस चिट्ठीको खोलकर पढ़ेगा तो उसको चित्तौड़के नरसंहारका पाप लगेगा। विचार करें, अगर देशमें पुनः मुसलमानोंकी बहुलता हो गयी और उनका राज्य हो गया तो फिर क्या

दशा होगी? वोट-प्रणालीमें जिसकी संख्या अधिक होती है, उसीकी विजय होती है, उसीका राज्य होता है। इसलिये देशमें हिन्दुओंकी वृद्धि अत्यन्त आवश्यक है। इसमें केवल हिन्दुओंका ही नहीं, प्रत्युत सभी धर्मोंके लोगोंका हित निहित है; क्योंकि हिन्दूधर्म प्राणिमात्रका हित चाहता है। हिन्दू ही 'विश्व-कल्याण-यज्ञ' के आयोजन करता है। 'विश्वका कल्याण हो'—यह नारा भी हिन्दू ही लगाता है। घर-घरमें '**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥**'—ऐसी प्रार्थना भी हिन्दू ही करता है। 'वासुदेवः सर्वम्', 'सब जग ईश्वररूप है'—ऐसी शिक्षा भी हिन्दू ही देता है।

हिन्दुओंके ह्रासका मुख्य कारण

पिछली जनगणनाके परिणामके अनुसार सन् १९८१—१९९१ के बीच भारतमें मुसलमानोंकी जनसंख्या ३२.७६ प्रतिशत और हिन्दुओंकी जनसंख्या २२.७८ प्रतिशत बढ़ी है। इस बातसे देशका हित चाहनेवाली हिन्दू-संस्थाओंका चिन्तित होना स्वाभाविक है। उन संस्थाओंका विचार है कि देशमें मुसलमानोंकी संख्यामें वृद्धि होनेका मुख्य कारण 'धर्मान्तरण' है अर्थात् प्रतिवर्ष बहुत बड़ी संख्यामें हिन्दू लोभवश अपना धर्म छोड़कर मुसलमान बन जाते हैं, जिससे मुसलमानोंकी संख्या बढ़ रही है। अतः धर्माचार्योंको, साधु-सन्तोंको यथासम्भव धर्मान्तरण रोकनेका और धर्मान्तरित हुए हिन्दुओंको वापिस हिन्दूधर्ममें लानेका प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु वास्तविक बात दूसरी ही है! हिन्दुओंकी संख्या कम होनेका मुख्य कारण 'परिवार-नियोजन' है। इस तरफ हिन्दू-संस्थाओंकी दृष्टि नहीं जाती तो यह बड़े आश्चर्य एवं खेदकी बात है!

परिवार-नियोजन अधिकतर हिन्दू ही करते हैं और यह हिन्दुओंपर ही जबर्दस्ती लागू किया जाता है। दूसरी बात, कानूनकी दृष्टिसे हिन्दू एकसे अधिक विवाह नहीं कर सकता, जब कि मुसलमानोंको चार विवाह करनेकी छूट है। इसलिये हिन्दू तो कहते हैं—'हम दो, हमारे दो', पर मुसलमान कहते हैं—'हम पाँच, हमारे पचीस'! जो ईसाई या मुसलमान राज्य पानेके लोभसे अपनी संख्या बढ़ानेमें लगे हुए हैं और इसके लिये हिन्दुओंका धर्म-परिवर्तन भी कर रहे हैं, उनसे क्या यह आशा रखी जा सकती है कि वे परिवार-नियोजनके द्वारा अपनी जनसंख्या बढ़नेसे रोकेंगे?

परम्परासे मैंने एक बात सुनी है कि कुछ समय पहले दिल्लीकी एक मस्जिदमें मुसलमानोंकी सभा हुई। उसमें एक मुस्लिम नेताने कहा कि मुसलमानोंको अधिक बच्चे पैदा करने चाहिये। यह सुनकर एक मुसलमान बोला कि हम गरीब हैं, अधिक बच्चोंका पालन कैसे करेंगे? तो उस नेताने उत्तर दिया कि अभी आपलोग थोड़ा कष्ट सह लो, पीछे हिन्दुओंकी सम्पत्ति हमारी ही तो होगी! उसके कथनका अभिप्राय यह था कि गरीब हिन्दुओंको तो हम युक्तिसे मुसलमान बना लेंगे और धनी हिन्दू परिवार-नियोजन करके धीरे-धीरे अपने-आप खत्म हो जायँगे। आजकल वोटका जमाना है। जिसकी संख्या अधिक होगी, उसीका राज्य होगा।

मैं लगभग उन्तीस-तीस वर्षोंसे परिवार-नियोजनके विरुद्ध बोल रहा हूँ। परन्तु अभीतक हिन्दू-संस्थाओंने इस विषयपर थोड़ा भी गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया अथवा उनको मेरी बात जँची ही नहीं! परिवार-नियोजनके द्वारा परिश्रम करके, समय खर्च करके, रुपये खर्च करके, तरह-तरहके उपायोंके द्वारा लाखों-करोड़ोंकी संख्यामें हिन्दुओंको पैदा होनेसे रोका जा रहा है। परन्तु इस तरफ ध्यान न देकर हिन्दुओंकी कम होती जनसंख्या और मुसलमानोंकी बढ़ती जनसंख्या पर चिन्ता प्रकट की जा रही है—यह आश्चर्यकी बात है। अगर हिन्दुओंकी घटती जन्मदर (अल्पमत) चिन्ताका विषय है, तो फिर परिवार-नियोजनके द्वारा घरमें खुली हिन्दुओंकी खानको बन्द करनेकी चेष्टा क्यों की जा रही है? अगर परिवार-नियोजन (कम जनसंख्या) अभीष्ट है तो फिर धर्मान्तरित लोगोंको पुनः हिन्दू बनाकर हिन्दुओंकी जनसंख्या बढ़ानेका परिश्रम क्यों किया जा रहा है?

धर्मान्तरित हिन्दुओंको पुनः हिन्दूधर्ममें लानेमें अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, परिश्रम करना पड़ता है, खर्चेके लिये बहुत रुपयोंकी व्यवस्था करनी पड़ती है, बहुत समय लगाना पड़ता है। धर्मान्तरित लोग वापिस हिन्दू बन भी जायँ तो उनसे हिन्दुओंको कोई विशेष लाभ नहीं होता। कारण कि जिनका अन्तःकरण इतना अशुद्ध है कि अपने सुखभोग, स्वार्थके लिये अपने धर्मका भी त्याग कर देते हैं, वे यदि वापिस हिन्दूधर्ममें आ भी जायँ तो क्या निहाल करेंगे? परन्तु जो हिन्दू जन्म ले रहे हैं, उनको न रोकनेमें कोई कठिनता नहीं, कोई परिश्रम नहीं, कोई खर्चा नहीं। धर्मान्तरण रोकनेके लिये जो धन खर्च किया जाता है, वह धन हिन्दू बालकोंके पालन-पोषण, शिक्षा आदिमें लगाया जा सकता है। जो हिन्दुओंके घरोंमें जन्म लेंगे, उनमें हिन्दूधर्मके संस्कार स्वाभाविक एवं स्थायीरूपसे पड़ेंगे। धर्मान्तरित लोगोंको वापिस हिन्दू बनाना अपने हाथकी बात भी नहीं है। जो अपने हाथकी बात नहीं है, उसके लिये उद्योग करना और

जो (हिन्दुओंको जन्म देना) अपने हाथकी बात है, उसको रोकनेका उद्योग करना बुद्धिमानीका काम नहीं है।

वास्तवमें परिवार-नियोजन-कार्यक्रमसे हिन्दुओंका जितना नुकसान हुआ है, उतना नुकसान मुसलमानों और ईसाइयोंने भी कभी नहीं किया और वे कर सकेंगे भी नहीं! जितने हिन्दू धर्मान्तरित हुए हैं, उससे कई गुना अधिक हिन्दू जन्म लेनेसे रोके गये हैं। जनवरी ८, १९९१ में समाचार-पत्रोंमें छपा था कि देशमें परिवार-नियोजन-कार्यक्रमसे अबतक लगभग बारह करोड़ बच्चोंका जन्म रोका गया है। यह जानकारी तत्कालीन स्वास्थ्य मंत्रीने राज्यसभामें दी थी। उस समय तो परिवार-नियोजन-कार्यक्रमोंमें बहुत अधिक तेजी नहीं थी। उसके बादके वर्षोंमें इस कार्यक्रममें बहुत तेजी आयी है। एक बच्चेका भी जन्म रोकनेसे आगे उससे होनेवाली सन्तानोंका जन्म भी स्वत: रुक जाता है। अत: धर्मान्तरणके घाटेकी पूर्ति तो हो सकती है, पर परिवार-नियोजनके घाटेकी पूर्ति किसी प्रकार हो ही नहीं सकती, असम्भव ही है।

धर्मान्तरित लोग तो वापिस हिन्दूधर्ममें आ सकते हैं, पर जिनका जन्म रोका गया है, वे वापिस हिन्दुओंके यहाँ जन्म न लेकर मुसलमानों और ईसाइयोंके यहाँ ही जन्मेंगे। कारण कि भगवान्‌ने कृपापूर्वक जिन जीवोंको अपना कल्याण करनेके लिये मनुष्यशरीर दिया है, उनको हिन्दूलोग अपने यहाँ नहीं आने देंगे तो फिर वे मुसलमानों और ईसाइयोंके यहाँ ही जन्मेंगे। अगर हिन्दू उनके विशेष ऋणानुबन्धसे अपने यहाँ होनेवाले जन्मको रोकेंगे तो वे सामान्य ऋणानुबन्धसे विधर्मियोंके यहाँ जन्मेंगे। कारण कि हिन्दुओंका ज्यादा सम्बन्ध मुसलमानों और ईसाइयोंसे रहता है; उनकी बनायी वस्तुओंसे वे सुख-आराम लेते हैं; अत: उनके साथ ऋणानुबन्ध रहनेसे वहीं उनका जन्म होगा। तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्यशरीरमें आनेवाले जीवोंको अपने यहाँ आनेसे रोककर हिन्दूलोग मुसलमानों और ईसाइयोंकी संख्याको ही तीव्र गतिसे बढ़ा रहे हैं। इसलिये वास्तवमें परिवार-नियोजनके द्वारा हिन्दूलोग मूलरूपसे मुसलमानों और ईसाइयोंकी ही संख्या बढ़ानेका उद्योग कर रहे हैं। सन्तति-निरोध करके वे असली (जन्मसे ही) मुसलमान और ईसाई पैदा करनेमें सहायता दे रहे हैं और नकली (धर्मान्तरण करके) मुसलमान और ईसाई बननेवालोंको रोकनेका प्रयास कर रहे हैं। कितने आश्चर्यकी बात है!

कृत्रिम सन्तति-निरोधसे हानि

सब दृष्टियोंसे प्राणी-पदार्थोंके उत्पादन, वृद्धि और संरक्षणमें लाभ-ही-लाभ है और उनके ह्रास अथवा नाशमें हानि-ही-हानि है। किसी भी प्राणी और पदार्थका ह्रास अथवा नाश समष्टि शक्ति (ईश्वर अथवा प्रकृति) के अधीन है, व्यष्टि मनुष्यके अधीन नहीं है। ईश्वर अथवा प्रकृतिके विधानमें हस्तक्षेप करना मनुष्यकी अनधिकार चेष्टा है, जिसका परिणाम भयंकर विनाशकारी होगा।

पालतू पशुओंमें कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा, गधा, ऊँट और जंगली पशुओंमें सियार, लोमड़ी आदि असंख्य जातिके पशु हैं, जो परिवार-नियोजन नहीं करते। कुत्ते, बिल्ली, सूअर आदिके एक-एक बारमें अनेक बच्चे होते हैं। परन्तु परिवार-नियोजन न करनेसे क्या उनकी संख्या बढ़ गयी? क्या उन्होंने बहुत-सी जगह रोक ली? फिर उनकी संख्याका नियन्त्रण कौन करता है? जो उनकी संख्याका नियन्त्रण करता है, वही मनुष्योंकी संख्याका भी नियन्त्रण करता है।

भोग-भोगनेसे और आपरेशनसे, कृत्रिम गर्भपातसे शरीर स्वाभाविक कमजोर होता है तथा आयुका ह्रास होता है। अत: जल्दी मरनेके दो रामबाण उपाय हैं—भोग-भोगना और आपरेशन (नसबन्दी आदि), गर्भपात आदि करवाना। आश्चर्यकी बात है कि मरना तो चाहते नहीं, पर उद्योग मरनेका ही कर रहे हैं! घरमें आग लगाकर हर्षित होते हैं कि अहा! कितना बढ़िया प्रकाश हो रहा है कि हाथकी एक-एक रेखा साफ दीख रही है! जब परिणाम सामने आयेगा, तब होश होगा!

मनुष्यको अपना शरीर और रुपये—दोनों बहुत प्यारे लगते हैं और इनको वह बहुत महत्त्व देता है। गर्भपात करवानेसे शरीर भले ही कमजोर हो जाय और रुपये भले ही खर्च हो जायँ, फिर भी गर्भपातरूपी महान् पाप करते हैं—यह कितने पतनका चिह्न है! मनुष्य रुपये पैदा करता है, रुपये मनुष्यको पैदा नहीं करते। उन रुपयोंको खर्च करके उनके उत्पादक (मनुष्य) का नाश कर देना कितनी बेसमझी है!

गर्भ-स्थापन कर सकनेके सिवाय कोई पुरुषत्व नहीं है और गर्भ-धारण कर सकनेके सिवाय कोई स्त्रीत्व नहीं है। पुरुषत्वके बिना पुरुष और स्त्रीत्वके बिना स्त्री निस्तत्त्व, नि:सार है। पुरुष और स्त्रीमें जो तत्त्व, सार है, उसीको वर्तमानमें नष्ट कर रहे हैं! अगर पुरुषमें पुरुषत्व न रहे और स्त्रीमें स्त्रीत्व न रहे तो वे मात्र भोगी ही रहे, मनुष्य रहे ही नहीं। पुरुष भोगी बनकर लम्पट हो गया और स्त्री भोग्या बनकर वेश्या हो गयी! पुरुष पिता न बनकर लम्पट बन जाय और स्त्री

राजाका कर्तव्य

सामाजिक व्यवस्थापर समाजका अधिकार है, राजा (शासक या सरकार) का अधिकार नहीं। अतः समाजके नियम बनाना राजाका कर्तव्य नहीं है। विवाह, व्यापार, जीविका, सन्तानोत्पत्ति, वर्णाश्रमधर्मका पालन आदि प्रजाके धर्म हैं। प्रजाके धर्मोंमें हस्तक्षेप करना राजाका कर्तव्य नहीं है। अगर राजा उनमें हस्तक्षेप करता है तो यह अन्याय है। राजाका मुख्य कर्तव्य है—प्रजाकी रक्षा करना और उससे बलपूर्वक धर्मका पालन करवाना।

कोई धर्मका उल्लंघन न करे, इसलिये धर्मका पालन करवाना राजाका अधिकार है। परन्तु धर्मशास्त्रके विरुद्ध कानून बनाना राजाका घोर अन्याय है। हिन्दू एकसे अधिक विवाह न करे, अमुक उम्रमें विवाह करे, दोसे अधिक सन्तान पैदा न करे आदि कानून बनाना राजाका अधिकार नहीं है। राजाका कर्तव्य अपने राज्यमें जन्म लेनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके जीवन-निर्वाहकी व्यवस्था करना है, न कि उसके जन्मपर ही रोक लगा देना। अपने धर्म, वर्ण, आश्रम, जाति आदिके अनुसार आचरण करना प्रजाका अधिकार है। अगर प्रजा धर्म, वर्णाश्रम आदिकी मर्यादाके विरुद्ध चले तो उसको शासनके द्वारा मर्यादामें लगाना राजाका कर्तव्य है।

एष राज्ञां परो धर्मो ह्यार्तानामार्तिनिग्रहः।

(श्रीमद्भा० १। १७। ११)

'राजाओंका परम धर्म यही है कि वे दुःखियोंका दुःख दूर करें।'

राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्थानुपालनम्।
शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रमनापद्युत्पथानिह॥

(श्रीमद्भा० १। १७। १६)

'बिना आपत्तिकालके मर्यादाका उल्लंघन करनेवालोंको शास्त्रानुसार दण्ड देते हुए अपने धर्ममें स्थित लोगोंका पालन करना राजाओंका परम धर्म है।'

य उद्धरेत्करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन्।
प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगं च स्वं जहाति सः॥

(श्रीमद्भा० ४। २१। २४)

'जो राजा प्रजाको धर्ममार्गकी शिक्षा न देकर केवल उससे कर वसूल करनेमें लगा रहता है, वह केवल प्रजाके पापका ही भागी होता है और अपने ऐश्वर्यसे हाथ धो बैठता है।'

श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञो यत्साम्पराये सुकृतात् षष्ठमंशम्।
हर्तान्यथा हृतपुण्यः प्रजानामरक्षिता करहारोऽघमत्ति॥

(श्रीमद्भा० ४। २०। १४)

'राजाका कल्याण प्रजापालनमें ही है। इससे उसे परलोकमें प्रजाके पुण्यका छठा भाग मिलता है। इसके विपरीत जो राजा प्रजाकी रक्षा तो नहीं करता, पर उससे कर वसूल करता जाता है, उसका सारा पुण्य प्रजा छीन लेती है और बदलेमें उसे प्रजाके पापका भागी होना पड़ता है।'

यस्य राष्ट्रे प्रजाः सर्वास्त्रस्यन्ते साध्व्यसाधुभिः।
तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्तिरायुर्भगो गतिः॥

(श्रीमद्भा० १। १७। १०)

'जिस राजाके राज्यमें दुष्टोंके उपद्रवसे सारी प्रजा त्रस्त रहती है, उस मतवाले राजाकी कीर्ति, आयु, ऐश्वर्य और परलोक नष्ट हो जाते हैं।'

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥

(मानस, अयोध्या० ७१। ३)

प्रजाका शासक राजा होता है और राजाके शासक वीतराग सन्त-महात्मा होते हैं। धर्म और धर्माचार्यपर राजाका शासन नहीं चलता। उनपर शासन करना राजाका घोर अन्याय है। धर्म और धर्माचार्यका राजापर शासन होता है। यदि उनका राजापर शासन न हो तो राजा उच्छृंखल हो जाय! निर्बुद्धि राजा ही धर्म और धर्माचार्यपर शासन करता है, उनपर अपनी आज्ञा चलाता है; क्योंकि वह समझता है कि बुद्धि मेरेमें ही है! दूसरा भी कोई बुद्धिमान् है—यह बात उसको जँचती ही नहीं।

पहले हमारे देशमें राजालोग राज्य तो करते थे, पर सलाह ऋषि-मुनियोंसे लिया करते थे। कारण कि अच्छी सलाह वीतराग पुरुषोंसे ही मिल सकती है, भोगी पुरुषोंसे नहीं। इसलिये कानून बनानेका अधिकार वीतराग पुरुषोंको ही है। महाराज दशरथ और भगवान् राम भी प्रत्येक कार्यमें वसिष्ठजीसे सम्मति लेते थे और उनकी आज्ञासे सब काम करते थे। परन्तु आजकलके शासक सन्तोंसे सम्मति लेना तो दूर रहा, उलटे उनका तिरस्कार, अपमान करते हैं। जो शासक खुद वोटोंके लोभमें, स्वार्थमें लिप्त हैं, उसके बनाये हुए कानून कैसे ठीक होंगे? धर्मके बिना नीति विधवा है और नीतिके बिना धर्म विधुर है। अतः धर्म और राजनीति—दोनों साथ-साथ होने चाहिये, तभी शासन बढ़िया होता है। बढ़िया शासनका नमूना महाराज अश्वपतिके इन वचनोंसे मिलता है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

(छान्दोग्य० ५। ११। १५)

'मेरे राज्यमें न तो कोई चोर है, न कोई कृपण है, न कोई मदिरा पीनेवाला है, न कोई अनाहिताग्नि (अग्निहोत्र न करनेवाला) है, न कोई अविद्वान् है और न कोई परस्त्रीगामी ही है, फिर कुलटा स्त्री (वेश्या) तो होगी ही कैसे?'

जो वोटोंके लिये आपसमें लड़ते हैं, कपट करते हैं, हिंसा करते हैं, लोगोंको रुपये दे-देकर, फुसला-फुसलाकर वोट लेते हैं, उनसे क्या आशा रखी जाय कि वे न्याययुक्त राज्य करेंगे? नेतालोग वोट लेने तो आ जाते हैं, पर वोट मिलनेके बाद सोचते ही नहीं कि लोगोंकी क्या दशा हो रही है? वोट लेनेके लिये तो खूब मोटरें दौड़ायेंगे, तेल फूँकेंगे, लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करेंगे, अपना और लोगोंका समय बरबाद करेंगे, पर वोट मिलनेके बाद आकर पूछेंगे ही नहीं कि भाई, तुमलोगोंकी सहायतासे हमें वोट मिले हैं, तुम्हारे घरमें कोई तकलीफ तो नहीं है? तुम्हारा जीवन-निर्वाह कैसा हो रहा है? पहले राजालोग शासन करते थे तो वे राज्यकी सम्पत्तिको अपनी न मानकर प्रजाकी ही मानते थे और उसको प्रजाके ही हितमें खर्च करते थे। प्रजाके हितके लिये ही वे प्रजासे कर लेते थे। सूर्यवंशी राजाओंके विषयमें महाकवि कालिदास लिखते हैं—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥

(रघुवंश १। १८)

'वे राजालोग अपनी प्रजाके हितके लिये प्रजासे उसी प्रकार कर लिया करते थे, जिस प्रकार सहस्रगुना

करके बरसानेके लिये ही सूर्य पृथ्वीसे जल लिया करता है।'

जब राजाओंमें स्वार्थभाव आ गया और वे प्रजाकी सम्पत्तिका खुद उपभोग करने लगे, तब उनका परम्परासे अरबों वर्षोंसे चला आया राज्य भी नहीं रहा। आज झूठ-कपट आदिके बलपर जीतकर आये हुए नेतालोग सोचते हैं कि हमें तो पाँच वर्षोंतक कुर्सीपर रहना है, आगेका कोई भरोसा नहीं; अतः जितना संग्रह करके लाभ उठा सकें, उतना उठा लें, देश चाहे दरिद्र हो जाय। वे यह सोचकर नीति-निर्धारण करते हैं कि धनियोंका धन कैसे नष्ट हो? यह नहीं सोचते कि सब-के-सब धनी कैसे हो जायँ? महाभारतमें आया है—

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया॥

(महा० उद्योग० ३४। १७)

'जैसे भौंरा फूलोंकी रक्षा करता हुआ ही उनके मधुको ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजाको कष्ट दिये बिना ही उनसे धन (कर) ग्रहण करे।' परन्तु आज सरकार धनियोंका धन छीननेके लिये उनके घरों और दूकानोंमें छापा मारती है, जो कि डाका डालना ही है, और धनीलोग टैक्ससे बचनेके लिये तरह-तरहकी बेईमानी सीखते हैं। दोनों ही देशका हित नहीं सोचते कि इस नीतिसे भविष्यमें देशकी क्या दशा होगी? सरकार धनियोंसे जबर्दस्ती धन लेनेकी चेष्टा करेगी तो धनियोंके भीतर भी जबर्दस्ती धन छिपानेका भाव पैदा होगा। इसलिये सरकारको चाहिये कि वह धनियोंका धन न छीनकर उनके भीतर उदारताका, परोपकारका भाव जाग्रत् करे। यह भाव वीतराग पुरुषोंके द्वारा ही जाग्रत् किया जा सकता है।

वर्तमान राजनीति संघर्ष पैदा करनेवाली है। हमें वोट दो, दूसरी पार्टीको वोट मत दो, वह ठीक नहीं है—इससे संघर्ष पैदा होता है। वोट-प्रणालीमें मूर्खताकी प्रधानता है। जिस समाजमें मूर्खोंकी प्रधानता होती है, वहीं वोट-प्रणाली लागू की जाती है। महात्मा गाँधीका भी एक वोट और भेड़ चरानेवालेका भी एक वोट! सज्जन पुरुषका भी एक वोट और दुष्ट पुरुषका भी एक वोट! यह समानता मूर्खोंमें ही होती है। *'अँधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।'* वोट-प्रणालीमें भी बेईमानी होती है। जिनके हाथमें सत्ता होती है, वे वोट-प्रणालीका खूब दुरुपयोग करते हैं। वोट प्राप्त करनेके लिये विधर्मियोंका पक्ष लेते हैं, समाजकण्टकोंका पक्ष लेते हैं, अपराधियोंका सहारा लेते हैं। ये बातें किसीसे छिपी नहीं हैं।

वास्तवमें वोट देनेका, सरकार चुननेका अधिकार केवल उन्हीं पुरुषोंको है, जो सच्चे समाजसेवक, त्यागी, धर्मात्मा, सदाचारी, परोपकारी हैं। उनमें भी विशेष अधिकार जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुषोंको है। माँ कोई कार्य करती है तो बालककी सलाह नहीं लेती; क्योंकि बालक मूर्ख (बेसमझ) होता है। परन्तु वोट देनेकी वर्तमान प्रणालीके अनुसार यदि बुद्धिमानोंकी संख्या निन्यानबे है और मूर्खोंकी संख्या सौ है तो एक वोट अधिक होनेसे मूर्ख जीत जायँगे, बुद्धिमान् हार जायँगे, जब कि वास्तवमें सौ मूर्ख मिलकर भी एक बुद्धिमान्की बराबरी नहीं कर सकते*। वर्तमान वोट-प्रणालीके अनुसार जिसकी संख्या अधिक होती है, वह जीत जाता है और राज्य करता है और जिसकी संख्या कम होती है, वह हार जाता है। विचार करें, समाजमें विद्वानोंकी संख्या अधिक होती है या मूर्खोंकी? सज्जनोंकी संख्या अधिक होती है या दुष्टोंकी? ईमानदारोंकी संख्या अधिक होती है या बेईमानोंकी? अध्यापकोंकी संख्या अधिक होती है या विद्यार्थियोंकी? जिनकी संख्या अधिक होगी, वे ही वोटोंसे जीतेंगे और देशपर शासन करेंगे, फिर देशकी क्या दशा होगी—विचार करें!

★

* चन्दनकी चुटकी भली, गाड़ी भलौ न काठ। बुद्धिवान एकहि भलौ, मूरख भलौ न साठ॥

आवश्यक चेतावनी

—ध्यानपूर्वक पढ़ें तथा विचार करें

१. परिवार-नियोजन कार्यक्रमसे जीवन-निर्वाहके साधनोंमें तो वृद्धि नहीं हुई है, पर ऐसी अनेक बुराइयोंकी वृद्धि अवश्य हुई है, जिनसे समाजका घोर पतन हुआ है।

२. जीवन-निर्वाहके साधनोंमें कमी (बेरोजगारी, निर्धनता आदि) होनेका कारण जनसंख्याकी वृद्धि नहीं है, प्रत्युत अपने सुखभोगकी इच्छाओंकी वृद्धि है। भोगेच्छाकी वृद्धि होनेसे मनुष्य आरामतलब, आलसी और अकर्मण्य हो जाता है, जिससे वह जीवन-निर्वाहके साधनोंका उपभोग (खर्चा) तो अधिक करता है, पर उत्पादन कम करता है।

३. परिवार-नियोजनका कारण है कि मनुष्यका न तो 'ईश्वर' पर विश्वास है कि ईश्वर सबका पालन करनेवाला है, न अपने 'भाग्य' पर विश्वास है कि हरेक व्यक्ति अपने भाग्यके अनुसार पाता है और न अपने 'पुरुषार्थ' पर विश्वास है कि मैं अपने पुरुषार्थसे कमाकर परिवारका पालन-पोषण कर सकता हूँ।

४. सरकारका कर्तव्य अपने देशमें जन्म लेनेवाले प्रत्येक नागरिकके जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध करना है, न कि उसके जन्मपर ही रोक लगा देना। जन्मपर रोक लगाना वास्तवमें अपनी पराजय (प्रबन्ध करनेमें असमर्थता) स्वीकार करना है।

५. जनताकी आवश्यकताओंके अनुसार जीवन-निर्वाहके साधनोंमें वृद्धि न करके जनसंख्याको ही कम करना वैसे ही है, जैसे शरीरपर कोई कपड़ा ठीक न आये तो कपड़ेका आकार ठीक करनेकी अपेक्षा शरीरको ही काटकर छोटा करना! अथवा भोजनालयमें ज्यादा आदमी आने लगें तो ज्यादा भोजन न बनाकर आदमियोंको ही मारना शुरू कर देना!

६. मनुष्योंको पैदा होनेसे रोककर अधिक अन्न पैदा करनेकी चेष्टा वैसे ही है, जैसे बच्चेको गर्भमें न आने देकर माँका दूध अधिक पैदा करनेकी चेष्टा करना!

७. जहाँ वृक्ष अधिक होते हैं, वहाँ वर्षा अधिक होती है, फिर मनुष्य अधिक होंगे तो क्या अन्न अधिक नहीं होगा? प्रत्यक्ष बात है कि पहले जनसंख्या कम थी तो अनाज विदेशोंसे मँगाना पड़ता था; परन्तु अब जनसंख्या बढ़ गयी तो अनाज, फल आदि वस्तुएँ विदेशोंमें भेजी जाती हैं।

८. आवश्यकता ही आविष्कारकी जननी है। यदि जनसंख्या बढ़ेगी तो उसके पालन-पोषणके साधन भी बढ़ेंगे, अन्नकी पैदावार भी बढ़ेगी, वस्तुओंका उत्पादन भी बढ़ेगा, उद्योग भी बढ़ेगा। फिर जनसंख्या-वृद्धिकी चिन्ता क्यों?

९. मनुष्यके पास केवल पेट ही नहीं होता, प्रत्युत दो हाथ, दो पैर और एक मस्तिष्क भी होता है, जिनसे वह केवल अपना ही नहीं, प्रत्युत कई प्राणियोंका भरण-पोषण कर सकता है। फिर जनसंख्या-वृद्धिकी चिन्ता क्यों?

१०. उत्पादनको तो बढ़ाना चाहते हैं, पर उत्पादक-(जनसंख्या) का ह्रास कर रहे हैं—यह कैसी बुद्धिमानी है?

११. एक-दो सन्तान होगी तो घरका काम ही पूरा नहीं होगा, फिर समाजका काम कौन करेगा? खेती कौन करेगा? सेनामें कौन भरती होगा? सच्चा मार्ग बतानेवाला साधु कौन बनेगा? बूढ़े माँ-बापकी सेवा कौन करेगा?

१२. जन्मपर तो नियन्त्रण, पर मौतपर कोई नियन्त्रण नहीं—यह कैसी बुद्धिमानी? जो मृत्युपर नियन्त्रण नहीं रख सकता, उसको जन्मपर भी नियन्त्रण रखनेका अधिकार नहीं है। अगर वह ऐसा करेगा तो इसका परिणाम नाश-ही-नाश होगा!

१३. जन्म-मरणका कार्य (जनसंख्याका नियन्त्रण) मनुष्यके हाथमें नहीं है, प्रत्युत सृष्टिकी रचना करनेवाले ईश्वर और प्रकृतिके हाथमें है। ईश्वर और प्रकृतिके विधानसे जनसंख्याका नियन्त्रण अनादिकालसे स्वतः-स्वाभाविक होता आया है। अगर मनुष्य उनके विधानमें हस्तक्षेप करेगा तो इसका परिणाम बड़ा भयंकर होगा।

१४. कुत्ते, बिल्ली, सूअर आदिके एक-एक बारमें कई बच्चे होते हैं और वे सन्तति-निरोध भी नहीं करते, फिर भी उनसे सब सड़कें, गलियाँ भरी हुई नहीं दीखतीं। उनकी संख्याका नियन्त्रण जिस शक्तिके द्वारा होता है, उसीके द्वारा मनुष्योंकी संख्याका भी नियन्त्रण होता है। इसकी जिम्मेवारी मनुष्योंपर है ही नहीं।

१५. गर्भ-स्थापन कर सकनेके सिवाय कोई पुरुषत्व नहीं है और गर्भधारण कर सकनेके सिवाय कोई स्त्रीत्व नहीं है। अगर पुरुषमें पुरुषत्व न रहे और स्त्रीमें स्त्रीत्व न रहे तो वे मात्र भोगी जीव ही रहे; न मनुष्य रहे, न मनुष्यता रही!

१६. जिसका मरना निश्चित है, उसके भरोसे सन्तति-निरोध करा लेना कितनी बेसमझीकी बात है! अभी एक-दो सन्तान है, वह अगर मर जाय तो क्या दशा होगी?

१७. मनुष्योंमें हिन्दू जाति सर्वश्रेष्ठ है। इसमें बड़े विलक्षण-विलक्षण ऋषि-मुनि, सन्त-महात्मा, दार्शनिक, वैज्ञानिक, विचारक पैदा होते आये हैं। जब इस जातिके मनुष्योंको जन्म ही नहीं लेने देंगे तो फिर ऐसे श्रेष्ठ, विलक्षण पुरुष कैसे और कहाँ पैदा होंगे?

१८. वर्तमान वोट-प्रणालीका जनसंख्याके साथ सीधा सम्बन्ध है। अतः जिस जातिकी जनसंख्या अधिक होती है, वही जाति बलवान् होकर (वोटके बलपर) देशपर राज्य करती है। जो जाति परिवार-नियोजनको अपनाती है, वह परिणाममें अपने अस्तित्वको ही नष्ट कर देती है। वर्तमानमें परिवार-नियोजन और धर्मान्तरणके द्वारा हिन्दुओंकी संख्या तेजीसे कम हो रही है। फिर किसका राज्य होगा और क्या दशा होगी? जरा सोचो!

१९. संतति-निरोधके कृत्रिम उपायोंके प्रचार-

प्रसारसे समाजमें प्रत्यक्षरूपसे व्यभिचार, भोगपरायणता आदि दोषोंकी वृद्धि हो रही है, कन्याएँ और विधवाएँ भी गर्भवती हो रही हैं, लोगोंमें चरित्र, शील, संयम, लज्जा, ब्रह्मचर्य आदि गुणोंका ह्रास हो रहा है, जिससे देशका सब दृष्टियोंसे घोर पतन हो रहा है।

२०. संतति-निरोधके द्वारा नारीके मातृरूपको नष्ट करके उसको केवल भोग्या बनाया जा रहा है। भोग्या स्त्री तो वेश्या होती है। यह नारी-जातिका कितना महान् अपमान है!

२१. संतति-निरोधके मूलमें केवल सुखभोगकी इच्छा विद्यमान है। अपनी सन्तान इसलिये नहीं सुहाती कि वह हमारे सुखभोगमें बाधक है, फिर अपने माँ-बाप, भाई-बहन कैसे सुहायेंगे?

२२. अगर सन्तानकी इच्छा न हो तो संयम रखना चाहिये। संयम रखनेसे स्वास्थ्य ठीक रहता है, उम्र बढ़ती है, शारीरिक-पारमार्थिक सब तरहकी उन्नति होती है। हल तो चलाये, पर बीज डाले ही नहीं—यह कैसी बुद्धिमानी है?

२३. संतति-निरोधकी भावनासे मनुष्य इतना क्रूर, निर्दय, हिंसक हो जाता है कि गर्भमें स्थित अपनी सन्तानकी भी हत्या (भ्रूणहत्या या गर्भपात) करनेमें हिचकता नहीं, जो कि ब्रह्महत्यासे भी दुगुना पाप है!

२४. गर्भपातके समान दूसरा कोई भयंकर पाप है ही नहीं। संसारका कोई भी श्रेष्ठ धर्म इस महान् पापको समर्थन नहीं देता और न दे ही सकता है। कारण कि यह काम मनुष्यताके विरुद्ध है। क्रूर और हिंसक पशु भी ऐसा काम नहीं करते।

२५. गर्भमें स्थित शिशु अपने बचावके लिये कोई उपाय नहीं कर सकता, प्रतीकार भी नहीं कर सकता, अपनी रक्षाके लिये पुकार भी नहीं सकता, चिल्ला भी नहीं सकता, उसका कोई अपराध, कसूर भी नहीं है। ऐसी अवस्थामें उस निर्बल, असहाय, निरपराध, निर्दोष, मूक शिशुकी हत्या कर देना कितना महान् पाप है!

२६. एक कहावत है कि अपने द्वारा लगाया हुआ विषवृक्ष भी काटा नहीं जाता। जिस गर्भको स्त्री-पुरुष मिलकर पैदा करते हैं, उसकी अपने ही द्वारा हत्या कर देना कितनी कृतघ्नता है! कसूर (असंयम) तो खुद करते हैं, पर हत्या बेकसूर गर्भकी करते हैं, यह कितना बड़ा अन्याय है!

२७. गर्भमें आया जीव जन्म लेकर न जाने कितने अच्छे लौकिक तथा पारमार्थिक कार्य करता, समाज तथा देशकी सेवा करता, अनेक लोगोंकी सहायता करता, सन्त-महात्मा बनकर अनेक लोगोंको सन्मार्गमें लगाता, अनेक तरहके आविष्कार करता आदि-आदि। परन्तु जन्म लेनेसे पहले ही उसकी हत्या कर देना कितना महान् पाप है, अपराध है!

२८. जीवमात्रको जीनेका अधिकार है। उसको गर्भमें ही नष्ट करके उसके अधिकारको छीनना महान् पाप है।

२९. जब मनुष्यकी हत्याको बहुत बड़ा पाप मानते हैं और अपराधी मनुष्यको भी फाँसीकी सजा न देकर आजीवन कारावासकी सजा देते हैं, तो फिर यह गर्भपात क्या है? क्या यह निरपराध मनुष्यकी हत्या नहीं है?

३०. गर्भमें आये जीवको अनेक जन्मोंका ज्ञान होता है, इसलिये भागवतमें उसको 'ऋषि' (ज्ञानी) नामसे कहा गया है। अत: गर्भपात करनेसे एक ऋषिकी हत्या होती है। इससे बढ़कर और पाप क्या होगा?

३१. लोग गर्भ-परीक्षण करवाते हैं और गर्भमें कन्या हो तो गर्भपात करा देते हैं, क्या यह नारी-जातिको समान अधिकार देना है? क्या यह नारी-जातिका सम्मान करना है?

३२. संसारी लोगोंकी दृष्टिमें जो सबसे बड़ा सुख है, जिस सुखके बिना भोगी मनुष्य रह नहीं सकता, जिस सुखका वह त्याग नहीं कर सकता, उस सुखको देनेवाले गर्भकी हत्या कर देना कितना महान् पाप है! यह पापकी, कृतघ्नताकी, दुष्टताकी, नृशंसताकी, क्रूरताकी, अमानुषताकी, अन्यायकी आखिरी हद है! अर्थात् इससे बढ़कर अपराध कोई हो नहीं सकता।

३३. मनुष्यशरीरको बड़ा दुर्लभ बताया गया है। मनुष्यशरीरमें आकर जीव अपना और दूसरोंका भी कल्याण कर सकता है। परन्तु उस जीवको ऐसा दुर्लभ मौका न मिलने देना, संतति-निरोध करके उसको जन्म ही न लेने देना अथवा जन्म लेनेसे पहले ही गर्भपात करके उसकी हत्या कर देना कितना महान् पाप है!

३४. जो माता-पिता अपने बच्चेका स्नेहपूर्वक पालन और रक्षा करनेवाले होते हैं, वे ही अपने गर्भस्थ बच्चेकी हत्या कर देंगे तो किससे रक्षाकी आशा की जायगी?

———★———

उपर्युक्त बातोंको विस्तारसे समझनेके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित ये दो पुस्तकें अवश्य पढ़ें—(१) महापापसे बचो (२) देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम।